॥ श्रीः ॥

विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला

११

पण्डितराज श्रीजगन्नाथ विरचितः

रसगङ्गाधरः

'चन्द्रिका' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

संस्कृतव्याख्याकारः

मैथिलश्रोत्रियकविशेखर—

पण्डित श्री बदरीनाथ झा

मुजफ्फरपुरस्थराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य भूतपूर्वप्रधानाचार्यः

हिन्दीव्याख्याकारः

व्याकरण-न्याय-साहित्याचार्य—

पण्डित श्री मदनमोहन झा

मुजफ्फरपुरस्थराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य साहित्यप्रधानाध्यापकः

चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस-१

वि० सं० २०११] [ई० १९५५

प्रस्तावना

अलङ्कार-शास्त्र

'उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः, (काव्यमीमांसा)

'उपकारक होने से अलङ्कार (शास्त्र) सप्तम अङ्ग (वेदाङ्ग) है'

कविराज राजशेखर ने अपने 'काव्य-मीमांसा' नामक ग्रन्थ के शास्त्र-निर्देशाध्याय में जिस अलङ्कार-शास्त्र की चर्चा की है, वह कौन सा शास्त्र है ? उस शास्त्र की परिभाषा क्या हो सकती है ? यह सर्व प्रथम विचारणीय वस्तु है ।

विचार करने से विदित होता है कि उस विचार-पुञ्ज को अलङ्कार-शास्त्र कहते हैं, जो राजशेखर के कथनानुसार पञ्चदश विद्या-स्थान[1] काव्य-पदार्थ का शासन करता है अर्थात् काव्यरूप-लक्ष्य के लक्षण जिस शास्त्र में किये गये हों, उसका नाम अलङ्कार-शास्त्र है अथवा अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिये यह कहा जा सकता है कि उन विविध आलोचनाओं का नाम अलङ्कार-शास्त्र है, जिनके द्वारा काव्य की बारीकियाँ, अच्छा और बुरापन ज्ञात हो सके ।

इस शास्त्र को साहित्य शास्त्र भी कहते हैं, यद्यपि संस्कृत साहित्य, हिन्दी साहित्य इत्यादि-स्थल में 'वाङ्मय' रूप व्यापक अर्थ में भी साहित्यपद का प्रयोग होता है, राजशेखर ने साहित्य शब्द का अर्थ 'काव्य' माना है[2], तथापि शास्त्रपद के साथ प्रयुक्त साहित्यपद का तात्पर्यार्थ काव्य-नियामक-विषय ही समझा जाता है ।

अलङ्कारशास्त्र का प्रारम्भकाल

अलङ्कार के विषय में विचार करनेवाला सबसे प्राचीन निबन्ध 'अग्निपुराण' उपलब्ध होता है, उसमें शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, विभाव और रीति आदि के विवेचन किये गये हैं, अतः अलङ्कार-शास्त्र का मूल अग्निपुराण को ही मानना पड़ेगा । परन्तु इन विवेचनों को शास्त्र कहलाने का गौरव दण्डी, भामह आदि विद्वानों ने प्रदान किया, क्योंकि अग्निपुराण के बाद सबसे प्राचीन अलङ्कार विषयक निबन्ध इन्हीं महात्माओं को प्राप्त हुए और इन्होंने ही सर्व प्रथम काव्य के नियमन करनेवाली आलोचनाओं को अलङ्कारशास्त्र कहना प्रारम्भ किया ।

अलङ्कारशास्त्र के नामकरण का बीज

[illegible] शास्त्र में अलङ्कारों के साथ साथ रस, गुण, दोष आदि सभी काव्याङ्गों का निरूपण किया गया है, तथापि 'अलङ्कार-शास्त्र' ही नाम क्यों पड़ा ? इस प्रश्न का उत्तर कुछ विद्वान् यह देते हैं कि सामान्यतः अलङ्कार पद 'अलङ्क्रियते अनेन' इस करणव्युत्पत्ति से अनुप्रास आदि का बोधक नहीं, अपि तु **'अलङ्कृतिः अलङ्कारः'** इस भावव्युत्पत्ति से दोष-त्याग और गुणालङ्कारादि-ग्रहण प्रयुक्त सौन्दर्य का बोधक है और इस सौन्दर्य के प्रतिपादक होने के कारण उक्त शास्त्र का व्यवहार 'अलङ्कार-शास्त्र' नाम से किया गया है । इस तर्क की

---

१. 'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्'

२. 'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'

पुष्टि 'वामन' के सन्दर्भ से भी होती है। उन्हों ने कहा है कि 'अलङ्कार-युक्त होने से काव्य का ग्रहण (ज्ञान) करना चाहिये। सौन्दर्य को ही अलङ्कार कहते हैं। अलङ्कार पद भावसाधन होने से अलङ्कृति-परक है। करणव्युत्पत्ति मानकर इस पद का प्रयोग यमक, उपमा आदि में भी होता है। वह सौन्दर्य काव्य में दोष का त्याग और गुण, अलङ्कार आदि के ग्रहण से उत्पन्न होता है'[1]

वस्तुतः 'अलङ्कार शास्त्र' के नामकरण का बीज यह प्रतीत होता है कि दण्डी, भामह, भट्टोद्भट, रुद्रट और वामन पर्यन्त जिन प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कारशास्त्रसम्बन्धी प्रबन्धों की रचना की वे सब के सब ध्वन्यमान अर्थ को वाच्यार्थोपकारक मानकर अलङ्कार-कोटि में ही समाविष्ट किये। अत एव उन लोगों ने काव्य में अलङ्कार को ही सर्व-प्रधान माना, फिर तो 'प्रधान के अनुसार व्यवहार होते हैं, जैसे अन्य लोगों का आवास रहने पर भी मल्लप्रधान ग्राम में 'मल्लग्राम' ऐसा व्यवहार होता[2] है' इस सिद्धान्त के अनुसार उन लोगों के युग में प्रकृतशास्त्र का 'अलङ्कार-शास्त्र' यह नामकरण प्रमाणयुक्त ही था। बाद में 'ध्वन्यालोक' के निर्माता 'आनन्दवर्धन' ने अनेक युक्तियों से काव्य में ध्वन्यमान अर्थ की प्रधानता स्थापित कर दी, तदनन्तर भावी आचार्यों ने ध्वन्यमान अर्थों में भी रस आदि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों के ही सर्व प्रधान होने की व्यवस्था दी, तदनुसार यद्यपि आज के युग में प्रकृतशास्त्र का नाम उक्त युक्ति से 'ध्वनिशास्त्र' अथवा 'रस-शास्त्र' होना चाहिये, तथापि ऐसा हुआ नहीं, क्योंकि हम भारतीय सदा से रूढ़ि के भक्त रहे, फिर यहां एकबार ही उस भक्ति को कैसे भुला बैठते ? फलतः हम आज भी प्राचीन परम्परा के अनुरोध से काव्य-नियामक प्रबन्धों के विषय में 'अलङ्कार-शास्त्र' इसी नाम से व्यवहार करते हैं।

अलङ्कारशास्त्र में उत्तरोत्तर विकास

इस अलङ्कारशास्त्र में जितनी गम्भीर आलोचनायें की जाती हैं, उतनी अधिक मर्मस्पर्शिता उसमें उत्तरोत्तर उत्पन्न होती है और उसके फलभूत काव्य में भी अधिकाधिक उपादेयता सम्पन्न होती है।

प्रायः सभी समालोचक एक स्वर से इस बात को स्वीकार करते हैं कि अखिल भाषा साहित्यों का उद्गमस्रोत वह संस्कृत वाङ्मय ही है जिसका साहित्य अनादि है और अन्तस्तलस्पर्शी साहित्यकारों के गम्भीरतम विवेचनाओं से क्रमशः मार्मिकता की चरम सीमा पर पहुंच चुका है। प्रायः प्राचीन काल से आज तक सभी आलङ्कारिकों ने अपने अपने निबन्धों में इस बात का मार्मिक विचार किया है कि 'रुचिरार्थक शब्दों का समुचित सन्निवेशरूप काव्य' किन किन साधनों से सहृदयों के हृदयावर्जन करने में अधिक सक्षम होगा। स्थूल रूप से उनके विचारों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) एक युग वह था, जब विच्छित्ति-विशेषवती पद-रचना को ही आलङ्कारिक लोग काव्य की आत्मा मानते[3] थे, और काव्य के शरीरस्थानीय शब्द तथा अर्थ में परिलक्षित होने वाले

---

१. 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्, सौन्दर्यमलङ्कारः। नालंकृतिरलङ्कारः। करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कार-शब्दो यमकोपमादिषु वर्तते। स दोषगुणालङ्कारहानोपादानाभ्याम्।' (अलङ्कारसूत्र)

२. 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति, मल्लग्रामादिवत्।'

३. 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। (वामन.)

अलंकारों को ही काव्य में चमत्कार का कारण बतलाते थे। भामह आदि कतिपय विद्वानों की दृष्टि वाच्य से आगे तक गई और उन्होंने व्यङ्ग्य अर्थ को देखा—समझा—परन्तु उस व्यङ्ग्य अर्थ को भी उन्होंने वाच्य का ही पोषक माना, अत एव उनके मतानुसार व्यङ्ग्य भी अलङ्कार-श्रेणी में ही रह गया, उससे ऊपर नहीं उठ सका। रुद्रट आदि आचार्यों ने यद्यपि रसभाव आदि पदार्थों को भी ढूंढ़ निकाला, तथापि उनमें भी अपने साहित्यिक पूर्वजों का संस्कार अनुवर्तमान था, जिससे उन्होंने वाच्यार्थ का पोषक मान कर रसभावादि को भी 'रसवत्' 'प्रेय' आदि अलङ्कारों की ही संज्ञा प्रदान की।

(२) बाद में अलङ्कार-जगत् का दूसरा युग आया, जब अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य इन तीनों वृत्तियों से अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा वाच्य और लक्ष्य से भिन्न व्यङ्ग्य अर्थ अनेक प्रकार के वादविवाद के बाद सुदृढ़रूप से सिद्ध कर दिया गया और वही व्यङ्ग्य अर्थ विश्रान्तिधाम होने के कारण सर्वप्रधान समझा गया, तथा उत्तम संज्ञक ध्वनिकाव्य का कारण कहलाया। इस मध्यकाल में आनन्दवर्धन के स्वारस्य के अनुसार मम्मटभट्ट आदि आलङ्कारिकशिरोमणि वस्तु, अलङ्कार और रस इन तीनों प्रकार की ध्वनियों को काव्य की आत्मा मानने लगे।

(३) इसके अनन्तर आज वह युग भी उपस्थित है, जब उक्त तीनों ध्वनियों को काव्यात्मा न मानकर केवल रसरूप ध्वनि को ही विद्वज्जन काव्य की आत्मा कहने लगे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि उत्तरोत्तर अन्तस्तल की गवेषणा करता हुआ आलङ्कारिकों का हृदय चरम विश्रान्तिस्थान रस को पाकर ही सुप्रसन्न हो सका।

ऊपर के विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्वसाहित्य के जन्मदाता संस्कृत साहित्यकारों की मर्म-गवेषिणी दृष्टि उत्तरोत्तर तात्विक आलोचन करने में सफल हुई।

अलङ्कारशास्त्र की यह मार्मिक आलोचनापद्धति पण्डितराज जगन्नाथ तक आकर विश्रान्त हो गई। इनके बाद आजतक किसी ने उनके काव्यार्थों पर सर्वाङ्गपूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध की सृष्टि नहीं की। यद्यपि आज भी संस्कृत का अलङ्कारशास्त्र सर्वथा नवीनता से हीन नहीं है, तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि रसगङ्गाधर की श्रेणी में आने योग्य निबन्ध की रचना न फिर हुई और न आगे ही होने की आशा है।

रसगङ्गाधर

आलोचना अलङ्कारशास्त्र का प्राणभूत है,[1] अतः अलङ्कारशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों में उत्कृष्ट और अपकृष्टता के तारतम्य-विवेचन करने के लिये सबसे पहले इसी बात पर ध्यान देना होगा कि किस ग्रन्थ की आलोचना-पद्धति कैसी है?

इस दृष्टिकोण से विचार करने पर 'रसगङ्गाधर' सर्वश्रेष्ठ अलङ्कार-ग्रन्थ सिद्ध होता है, क्योंकि रसगङ्गाधर का जितना भाग उपलब्ध है और इसमें अलङ्कारशास्त्र के जो विषय प्रतिपादित हैं, वह पूर्व के निबन्धों की अपेक्षा अति विशद है और अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित प्रतिपादन शैली के द्वारा स्थिर किया गया है तथा वस्तुतत्त्व के अनुकूल नव्यन्याय की भाषा में व्यक्त हुआ है, जिससे अब अलङ्कार-क्षेत्र में जिस किसी की बुद्धि इसको नव्य समझ कर प्रविष्ट नहीं

---

१. 'संक्षिप्तमपि साहित्यं तरस्यन्नात् रसाङ्गनम्। एकमापि तमधुरमनन्यालोचनामृतम् ॥'

सकती। इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यही है कि इसमें सभी विषयों की अन्तस्तलस्पर्शिनी आलोचना की गई है। प्राचीनों के निबन्धों में उस प्रकार की आलोचना करने के लिए उतनी सुविधा भी नहीं थी, क्योंकि प्रायः वे सभी निबन्ध पद्यबद्ध थे। पद्यनिर्माण में निपुणतम विद्वान् भी गिनेगिनाए अक्षरों में उन उन शास्त्रों के सभी अतिशयों को समाविष्ट नहीं कर सकते। काव्य-प्रकाश की कारिकाओं से क्या सभी प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट अवगत होते हैं ? यदि हां, तो फिर मम्मटभट्ट स्वयं वृत्ति में उन्हीं विषयों को विशद करने की चेष्टा क्यों करते ?

दूसरी असुविधा यह थी कि प्राचीन साहित्य निबन्धकारों के समय में बहुत विषय ऐसे थे, जिनके स्वरूप ही सर्वथा निर्णीत नहीं हो सके थे, जैसे वामन आदि के समय में ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया था। फिर तादृश विषयों की चरम आलोचना उन निबन्धों में कैसे हो सकती थी ? बहुत विषय ऐसे होते हैं जो विकासवाद के सिद्धान्तानुसार क्रमिक आवर्तन-परिवर्तनों से नाना प्रकार की परिस्थितियों का अनुभव कर लेने के बाद ही पूर्ण परिनिष्ठित होते हैं।

काव्यों की जितनी अधिक सृष्टि होती है, अलङ्कारशास्त्र में गुण-दोषों की गवेषणा, नानाविध उदाहरणों के सामने में रहने से, उतनी ही अधिक मर्माभिमुखी होती है। ऐसा होना समुचित और स्वाभाविक भी है, क्योंकि अनेक प्रकार के लक्ष्यों के उपस्थित रहने पर ही लक्षणसंबन्धी प्रचुर विचारों का अवसर प्राप्त होता है, अत एव व्याकरणशास्त्र में यह एक सिद्धान्त ही मान लिया गया है कि 'उत्तरोत्तर मुनि प्रमाणभूत' हैं'[१]।

रसगङ्गाधर में ये सभी सुविधायें जुट गईं। नाट्यशास्त्रप्रवर्तक भरत मुनि से लेकर आनन्द-वर्धन, अभिनवगुप्त आदि तक के विद्वानों ने काव्य के जीवातुभूत जिन तत्त्वों की गवेषणा की, वे वादि-प्रतिवादियों के नानाविध संघर्षों के बाद सिद्धान्तित होकर पण्डितराज जगन्नाथ से प्राक्तन आचार्यों के निबन्धों में पूर्ण परिनिष्ठित हो चुके थे। अतः उन तत्त्वों के स्थापन में पण्डितराज को आयास नहीं करना पड़ा, केवल पूर्वस्थापित विषयों में मार्मिक परिष्कार करना ही उनके लिये अवशिष्ट रहा, जिसको उन्होंने बहुत ही सुन्दर और सफल रीति से सम्पन्न किया है। इसकी पुष्टि करने के लिये मैं उदाहरण देना आवश्यक नहीं समझता, अधिकारप्राप्त सहृदय पाठक ग्रन्थ के अध्ययन करने पर स्वयमेव इस बात की सत्यता का अनुभव करेंगे।

विषयप्रतिपादनशैली

रसगङ्गाधर की प्रतिपादनशैली बहुत ही प्राञ्जल है। वक्तव्य वस्तु का प्रतिपादन ऐसे नपे तुले, प्रौढ तथा साथ साथ मधुर अक्षरों के द्वारा किया गया है, जिसमें सन्देह किंवा अर्थान्तर-कल्पना का थोड़ा भी अवकाश नहीं रह जाता। पद्यबद्ध लक्षण ग्रन्थों में जिस तरह विवश होकर लेखक को वर्णनीय विषय का संकोच करना पड़ता है अथवा अन्वय के हेर-फेर से अर्थान्तर-कल्पना का अवसर टीकाकारों को प्राप्त हो जाता है, उस प्रकार इस ग्रन्थ में नहीं होता।

'काव्यप्रकाश' में इस प्रकार के दोष अत्यधिक मात्रा में दीख पड़ते हैं। उस ग्रन्थ की प्रतिपादनशैली इतनी संक्षिप्त और अस्पष्ट है, कि अनेकानेक टीका टिप्पणियों के होने पर भी उस ग्रन्थ की दुरूहता ही ज्यों कि त्यों नहीं बनी रही, अपितु टीकाकारों की परस्पर विरोधिनी नाना-विध व्याख्याओं से और अधिक भ्रान्ति की ही सृष्टि हुई। मेरा यह कथन कहाँ तक सत्य है,

१. 'उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'।

इसका अनुभव काव्यप्रकाश के मर्मज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं, अतः काव्यप्रकाश के उद्धरण देकर प्रस्तुत प्रस्तावना का कायवर्धन व्यर्थ है।

रसगङ्गाधर की प्रतिपादनशैली इन दोषों से सर्वथा निर्मुक्त है। यद्यपि इस ग्रन्थ की शैली में नव्यन्याय के ढङ्ग की (अवच्छेदकतावच्छिन्न से युक्त) भाषा अपनाई गई है, जिससे नव्यन्याय से सर्वथा परिचय नहीं रखने वाले अल्पज्ञ व्यक्तियों को आपाततः यह ग्रन्थ कठिन प्रतीत होता है, तथापि यह कठिनता भिन्न प्रकार की वस्तु है, इसके रहने पर भी उक्त दोषों का प्रसङ्ग नहीं आता। वस्तुतः इस कठिनता का अनुभव नव्यन्याय की शैली से परिचित पाठकों को होता भी नहीं है।

कुछ लोग यहां यह प्रश्न उठा सकते हैं कि साहित्य ग्रन्थ में नव्यन्याय की भाषा अपनाई ही क्यों जाय, जिससे बेचारे नव्यन्यायानभिज्ञ पाठक इस ग्रन्थ के रसास्वादन से वञ्चित रहें? मैं समझता हूं कि इसका उत्तर उस वादयुग से पूछना चाहिये, जिसमें बिना उस भाषा को अपनाये या उस शैली का अनुसरण किये, किसी का निबन्ध पण्डितमण्डली की प्रखर कसौटी पर खरा उतर ही नहीं सकता था। संस्कृत साहित्य का वह एक बड़ा ही विचित्र वादयुग था, उस युग में एक, दूसरे का खण्डन करने के लिये मुँह बाये खड़ा रहता था। यदि किसी के ग्रन्थ में भाषाकृत अथवा शैलीकृत किंवा विषयजन्य थोड़ी भी शिथिलता आ जाती थी, तो अविलम्ब ही प्रतिवादी उसको टुकड़े टुकड़े करके दूर फेंक देते थे, फलतः लेखक को कीर्ति के बदले अकीर्ति ही हाथ आती थी। अतः पण्डितराज को विवश होकर उस प्रकार की प्रौढ भाषा और शैली का ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि प्रतिवादियों के प्रहार से बचने के लिये वही एक रास्ता था।

इस प्रकार की भाषा तथा शैली को अपनाने का दूसरा कारण यह भी रहा होगा कि इस ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व साहित्यशास्त्र को उसी भाषा और शैली के अभाव के कारण, प्रौढ पण्डित हीनदृष्टि से देखते थे और विद्या की यह पवित्र शाखा नटभार्या हो रही थी, सभी उस पर अधिकारी होने का दावा करते थे, अधकचरे संस्कृतज्ञ भी साहित्यशास्त्र में अपनी चोंच गड़ाने लगे थे, यह स्थिति साहित्यमर्मज्ञ पण्डितराज को सह्य नहीं हुई, अतः उन्होंने जानबूझ कर इस ग्रन्थ में उस प्रौढशैली को अपनाया। उनका उद्देश्य पूर्ण भी हुआ। इस ग्रन्थ के निर्माण हो जाने के बाद अलङ्कारशास्त्र एक अभेद्य दुर्ग हो गया। अब इस शास्त्र में साधारण संस्कृतज्ञों का प्रवेश हो ही नहीं सकता। प्रौढ पण्डितों के लिये भी अब यह शास्त्र हीन दृष्टि से देखने योग्य नहीं समझा जाता है। इस शास्त्र पर वे ही विद्वान् दावा कर सकते हैं, जो इसके उचित अधिकारी हैं। मेरी तो यहां तक धारणा है कि बिना उस शैली को अपनाये विषय का तलस्पर्शी विश्लेषण होता ही नहीं, जिसका आभास पाठकों को अग्रिम सन्दर्भ से प्राप्त होगा।

विषयों का स्पष्ट और तलस्पर्शी विश्लेषण

पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में विषयों का जैसा स्पष्ट और तलस्पर्शी विश्लेषण किया है, वैसा अन्य अलङ्कार-ग्रन्थों में मिलना दुर्लभ है। इस ग्रन्थ में जिस विषय को पकड़ा है, उसका मूर्तरूप मानो पाठकों के सामने खड़ा कर दिया है। इस बात की जांच करने के लिये इस ग्रन्थ का रसनिरूपण देखिये। अभिनवगुप्त के मत की व्याख्या काव्यप्रकाश में मम्मट ने और

रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने भी की है, परन्तु रसगङ्गाधर के अध्ययन के बिना काव्यप्रकाशमात्र के अध्ययन से क्या उस मत का स्वरूप स्पष्ट होता है ? भट्टनायक का मत तो काव्यप्रकाश में और अधिक अस्पष्ट है। 'स्वगतत्वेन रस का बोध नहीं हो सकता' इतना कहकर 'प्रकाश' मौन हो जाता है। 'क्यों नहीं स्वगतत्वेन रस का बोध हो सकता है ? इस स्वाभाविक जिज्ञासा की शान्ति करने के लिये कुछ लिखना प्रकाशकार को आवश्यक नहीं प्रतीत हुआ। किन्तु पण्डितराज पाठकों की जिज्ञासा को समझते थे, उन्होंने स्वगतत्वेन रसप्रतीति न हो सकने का कारण मार्मिक शब्दों में विशदरूप से लिखा है।

'नवों रसों के रति आदि ९ स्थायीभाव हैं' इतना सभी आलंकारिक लिखते हैं, मम्मटभट्ट ने भी लिखा है, परन्तु क्यों ये स्थायीभाव हैं ? ये ही क्यों स्थायीभाव हैं ? व्यभिचारीभाव (हर्ष आदि) भी स्थायी क्यों नहीं कहलाते ? इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिये रसगङ्गाधर का अध्ययन आवश्यक होगा, अन्यथा स्थायीभावों के विषय में स्पष्ट ज्ञान होना असम्भव है।

शृङ्गाररस के दो भेद हैं, संयोग और वियोग इतना सभी कहते हैं और साहित्य से थोड़ा भी संबन्ध रखने वाले सभी लोग जानते भी हैं, परन्तु संयोग और वियोग से यहां क्या विवक्षित है इस बात को किसी ने भी नहीं लिखा, फिर यदि साधारण पाठक संयोग का अर्थ सामानाधिकरण्य (एक जगह रहना) और वियोग का अर्थ वैयधिकरण्य (भिन्न स्थान पर रहना) समझें, तो इसमें उनका क्या दोष ?

वस्तुतः संयोग और वियोग पद के अर्थ यहां सामानाधिकरण्य तथा वैयधिकरण्य नहीं विवक्षित है, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तो मानावस्था में जो एक शय्यासीन दम्पति में भी वियोग माना जाता है, एवम् एक जगह नहीं रहने पर भी मान आदि के न रहने पर परस्पर प्रेम की वर्तमानता दशा में जो संयोग वर्णित होता है, वह असंगत हो जायगा, अतः संयोग तथा वियोग पद से यहाँ वे चित्तवृत्तियाँ विवक्षित हैं, यत्प्रयुक्त 'संयुक्त हूं' और 'वियुक्त हूं' इस तरह की बुद्धि होती है। यह है रसगङ्गाधर का विश्लेषण।

कितना गिनाया जाय, पाठकों को पद पद पर रसगङ्गाधर में पण्डितराज का विश्लेषण-पाण्डित्य परिलक्षित होगा, अलंकार-प्रकरण में पण्डितराज की यह विश्लेषणचातुरी और अधिक प्रकट हुई है। परन्तु इस प्रकरण से प्रस्तुत भाग का संबन्ध नहीं है, अतः उस प्रकरण का विवेचन द्वितीय भाग की प्रस्तावना में ही देखिये

पद-रचना-संबन्धी अनुपम मार्मिक विचार

यद्यपि काव्य की आत्मा व्यङ्ग्य अर्थ है, परन्तु उस व्यङ्ग्य अर्थ का भी आधार शरीरस्थानीय पद-रचना (शब्द) ही है अतः काव्य में पद-रचना का भी एक स्वतंत्र महत्त्व है। कान्ता-सम्मित-उपदेश जो एक काव्यका प्रमुख प्रयोजन माना गया है, उसके लिये श्रोताओं को अभिमुख करनेवाले काव्य-तत्त्वों में पद-रचना ही प्रथम है। यदि सर्व प्रथम सामने आनेवाली पद-रचना ही श्रोता के मन को आकृष्ट नहीं कर सकेगी, तब उससे आगे बढ़कर अर्थ समझने की चेष्टा ही कौन करेगा ? अतः कवि में पदरचना-कौशल सर्वाधिक समपेक्षित है। आकर ग्रन्थों में कहा हुआ है—'रूपक आदि अलङ्कार तो बाह्य हैं, वस्तुतः वचनों की अलङ्कृति सुप् तथा तिङ् का

व्युत्पत्ति है। इसी को सौशब्द्य कहते हैं, अर्थव्युत्पत्ति ऐसी वस्तु नहीं है[1]।' अतिप्राचीन आचार्यों ने तो पद-रचना को यहाँ तक गौरव-प्रदान किया कि उसी को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया।[2] मध्यकालिक आचार्यों ने भी उत्तरोत्तर उसका महत्व अधिक ठहराया है। एतन्मूलक ही और निम्न प्रशंसोक्तियाँ हैं—

'किंवा कवितया राजन्! किंवा वनितया तया।
पदविन्यासमात्रेण मनो नापहृतं यया॥'

अपि च—

'अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि च हरति दृशं मालती-माला॥'

'उस कविता अथवा वनिता से क्या प्रयोजन जो पद-विन्यास (चरणन्यास तथा पद-रचना) मात्र से मन को नहीं हर लेती।' एवम् 'गुणज्ञान न होने पर भी सत्कवियों की उक्ति कानों में मधुधारा बरसाती है। ठीक ही है—सौरभ का अनुभव न होने पर भी दूर से ही मालती माला दृष्टि का हरण करती ही है।'

किन्तु व्याकरण के जटिल नियमों से बद्ध इस संस्कृत भाषा में मधुर-रसों के अनुकूल केवल मधुर पदों का ही गुम्फन कठिन ही नहीं, अपितु एक प्रकार से असम्भव सा ही है। इस उक्ति से संस्कृत भाषा में रचना करने वाले पाठक घबड़ायें नहीं, सूक्ष्म दृष्टि से मेरे कथन पर विचार करें। टवर्ग, ल्यप्, संयोग आदि को छोड़ कर करुण, विप्रलम्भ आदि कोमलतम रसों में केवल कोमल पदावली की रचना कितनी कठिन है, इस बात को वे ही समझ सकते हैं, जो स्वयं तादृश रचना करने का प्रयास कभी किये होंगे। देखिये—पूर्वकालिक अर्थ पद-पद पर आता है, और वहाँ के लिये अनुशिष्ट 'क्त्वा' प्रत्यय ऐसा है कि मधुराक्षर-युक्त हलन्त धातु को भी 'दृष्ट्वा' 'कृत्वा' इत्यादि कटुतररूप में परिणत कर देता है।

यदि उपसर्ग जोड़ कर 'ल्यप्' के रूप में उसको लाते हैं, तथापि दो व्यञ्जनों का संयोग अनिवार्य ही रहेगा। इसी तरह हलन्त धातु से 'क्त' 'तुमुन्' आदि प्रत्यय करने पर भी कठोराक्षरता सामने आती है, कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत भाषा में केवल मधुर वर्णों की रचना करना साधारण कवियों का काम नहीं है। अमरुक के समान महाकवि—जिनका एक-एक पद्य सौ प्रबन्धों के समान माना जाता[3] है—भी इस विषय में स्थान-स्थान पर सर्वथा असफल हो गये हैं। आचार्य मम्मट भट्ट भी शृङ्गार रस के उदाहरण में उन पद्यों को उद्धृत करने के कारण पद-रचना के औचित्य से अपरिचित से ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि अमरुक के एक पद्य[4] को

---

१. 'रूपकादिरलंकारं बाह्यमाचक्षते परे। सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम्'॥

२. 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। ३. 'अमरुककवेरेकं पद्यं प्रबन्धशतायते'।

४. शून्यं वास-गृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैः।
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्॥
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम्।
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥

इस पद्य में—उत्थाय, किञ्चिच्छनैः, शनैर्निद्रा, निर्वर्ण्यपत्युर्मुखम्, विस्रब्धम्, परिचुम्ब्य, लज्जा-नम्र, इत्यादि पद माधुर्य के विरुद्ध हैं।

उन्होंने शृङ्गाररस के उदाहरण में उद्धृत किया है, जिसमें बहुतेरे पद माधुर्य गुण के प्रतिकूल हैं। सत्य बात तो यह है कि अलङ्कार-शास्त्र-प्रणेता आचार्यों ने माधुर्य गुण के लिये 'टवर्गहीन, संयुक्ताक्षर-रहित' इत्यादि रूप से वर्णों की गणना अवश्य की है, परन्तु प्रयोग में उसका निर्वाह वे स्वयं भी नहीं कर सके हैं।

इस प्रसङ्ग पर अधिक विस्तृत विचार करने की आवश्यकता नहीं है, अलङ्कारशास्त्र की कोई भी पुस्तक उठाइये उसमें मधुर रसों के उदाहरणरूप से आये हुये कतिपय पद्य ही ऐसे मिलेंगे, जो सर्वथा निषिद्ध संयुक्ताक्षरादि से रहित होकर निर्दोष सिद्ध हों।

प्रायः प्राकृत साहित्य के सहयोग से संस्कृत के कवियों ने भी जब पदरचना-विषयक इस मार्मिकता को अपनाया तब पद-रचना में अधिक ध्यान दिया जाने लगा। मार्मिक विद्वान् देखेंगे कि मम्मट भट्ट के समय में संस्कृत भाषा की मधुर रचना के विषय में जितना विचार किया गया तदपेक्षया साहित्यदर्पण के निर्माण काल में उसका विचार कुछ अधिक होने लगा। अत एव स्वयं साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के द्वारा अथवा तत्समकालिक अन्य कवियों के द्वारा रचे हुए संस्कृत के पद्य, अधिक ललित पदावली से अलंकृत हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ का काल वह था जब संस्कृत साहित्य से सुन्दर-सुन्दर अंशों को लेकर समृद्ध होती हुई व्रजभाषा (हिन्दी) पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी। सन्त सूर, तुलसी और 'सतसई' के निर्माता बिहारीलाल द्वारा हिन्दी कविता अधिक आहलित हो उठी थी। हिन्दी भाषा में तद्भव शब्दों के द्वारा अक्षरों को लघु तथा गुरु बना लेने की बड़ी स्वतन्त्रता थी, जिससे बिहारीलाल को रचना में महान् सौविध्य प्राप्त हुआ। बिहारीलाल का प्रत्येक पद्य प्रायः इस बात का उदाहरण हो सकता है। वे दृष्टि, द्युति, गात्र, कर्कश और स्पर्श आदि शुद्ध संस्कृत शब्दों के स्थान में क्रमशः दीठि, दुति, गात, करकस और परस आदि तद्भव शब्दों का प्रयोग करते हैं[1], जिससे मूल संस्कृत शब्दों के द्वारा रचे गये पद्यों की अपेक्षा उन तद्भव शब्दों के द्वारा बनाये गये पद्यों में लाख गुना माधुर्य बढ़ गया है इस बात को कौन सहृदय नहीं मानेगा। पण्डितराज बिहारी लाल की कविताओं से पूर्ण परिचित थे अतः उन पर बिहारीलाल की कोमलकान्तपदावली का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

यह मानना होगा कि पहले जैसे प्राकृत भाषा के सहयोग से संस्कृत की पद-रचना में अधिक ध्यान दिया जाने लगा था, वैसे पण्डितराज के समय में हिन्दी साहित्य का भी प्रचुर प्रभाव संस्कृत-पद-रचना पर पड़ा होगा। जब हिन्दी के कवि शृङ्गार-करुण आदि रसों में तदनुकूल मधुरवर्ण-योजना का यथोचित निर्वाह करते हैं और तद्द्वारा रसपरिपोष का प्रसार होता है, तब संस्कृत भाषा में ही यह नियम शिथिल होकर केवल अलङ्कार-ग्रन्थों में ही पड़ा रहे-प्रयोग में नहीं आसके-यह सर्वतोमुख प्रतिभासम्पन्न पण्डितराज को कैसे सह्य हो सकता, अत एव संस्कृत साहित्य के सभी विषयों को अपने विचार-निकष पर कसने वाले पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में पद-रचना विषयक नियमों को दृढ़ किया है और शृङ्गार आदि रसों में संयुक्ताक्षर विषयक बहुत से नवीन नियमों का आविर्भाव किया है। उसके स्वरूप से परिचित होने के लिये पाठक को रसगङ्गाधर का उक्त प्रकरण देखना चाहिये।

---

१. 'दीठिन परत समान दुति कनक, कनक से गात।
भूषन कर करकस लगत परस पिछाने जात॥'

पण्डितराज प्रतिभाशाली विद्वानों में चूड़ामणि हैं, अत एव उन्होंने संस्कृत साहित्य में पदरचना सम्बन्धी तादृश मार्मिक विचार को जन्म दिया, जिसके सामने हिन्दी के पोषकों को भी निष्प्रभ होना पड़ा है। किस वर्ण के अनन्तर किस वर्ण के आने से कटुता बढ़ जाती है इसके विषय में जिस मार्मिक विचार को पण्डितराजने प्रस्तुत किया है, वह किसी भी भाषा के साहित्य में नहीं है।

पण्डितराज वाग्देवतावतार मम्मट के समान केवल नियमनिर्माण में ही प्रवीण नहीं थे, प्रत्युत स्वरचित उदाहरणों में उन नियमों का अनुवर्तन भी पूर्णरूप से करते थे। मधुर रचना के ऐसे ऐसे उदाहरण[1] वे रसगङ्गाधर में बना कर दिये हैं, जिनमें प्रतिपक्षी किसी भी तरह दोष नहीं दिखला सकता।

अनुप्रास की छटा

वैसे तो अनुप्रास, यमक आदि शब्दालङ्कारों का विधान सभी आलङ्कारिकों ने अपने अपने निबन्धों में किया है और संस्कृत के कवियों ने स्थान-स्थान पर उनके प्रयोग भी किये हैं, परन्तु पण्डितराज के समय में ब्रजभाषा-कवियों के द्वारा विशेषकर घनाक्षरीछन्दों में[2] पदान्तानुप्रास का बहुत ही आकर्षक प्रयोग होने लगा था। इस अन्त्यानुप्रास का प्रयोग प्राचीन संस्कृत काव्यों में नहीं हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। बहुत ही जगह उसका प्रयोग सफल रूप में पाया जाता है। परन्तु पण्डितराज के पद्यों में विशेषतः मालभारिणी छन्दमें[3] पदान्तानुप्रास की एक निराली ही छटा दीख पड़ती है। इसी प्रकार शिखरिणी छन्द में भी इस अनुप्रास का प्रयोग शङ्कराचार्य आदि ने भी किया है[4], परन्तु पण्डितराज की शिखरिणियों में इस अनुप्रास का लोकोत्तर प्रयोग हुआ है।

अनुप्रासी छन्द में जिस तरह का अनुप्रास होता है, ठीक उसी तरह के अनुप्रासों का प्रयोग हिन्दी भाषाके अमृतध्वनि आदि अन्य छन्दों में भी है और उस प्रयोग में हिन्दी के कवियों को अधिक सफलता भी मिली है। फिर भला पण्डितराज उस चमत्कार को संस्कृत में बिना लाये कैसे रहते। उन्होंने भी स्थान-स्थान पर उस तरह के अनुप्रासों का परिपक्व प्रयोग किया है[5]। कहने का सारांश यह है कि समसामयिक हिन्दी कवियों की कविताओं में प्रयुक्त इस अनुप्रासशैली से प्रभावित होकर ही पण्डितराजने संस्कृत में उसका प्रयोग प्रारम्भ किया यह बात सत्य है, परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि पण्डितराज अपनी प्रतिभा से उसमें और अधिक परिपाक लाये।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पण्डितराज के हर एक पद्य में गवेषकों को शब्दकृत चमत्कार अवश्य मिलेगा। तात्पर्य यह कि उनकी कविताओं में अर्थगत चमत्कार के साथ साथ शब्दकृत अतिशय भी कोई न कोई अवश्य रहता है और उसका रहना आवश्यक भी है, क्योंकि उसी के

---

१. 'कस्तूरिकातिलकमालि! विधाय सायम्...... इत्यादि (पृ. २६१-६२)

२. 'सुन्दरी बिलोकि अकुलानी [illegible] पानी [illegible], [illegible] कैसी निसाचर न [illegible]।
'[illegible] आनन की लाज [illegible] की [illegible] बीतन [illegible] सावन की रतियां ॥'

३. '[illegible] [illegible] [illegible] वत्र यामे चरणे निवेदितायाः......' (पृ. २०१)

४. 'तवोत्सङ्गे गङ्गे यदि पतति कायस्तनुभृताम्।
तदा मातः शातक्रतवपदलाभोऽप्यतिलघुः ॥' (शङ्कराचार्य)

५. '[illegible]......' ([illegible])

द्वारा पहले विनेयों का आकर्षण होता है। कविप्रतिभा का प्रधान आधार भी शब्द ही है। अतएव काव्यलक्षण में भी पण्डितराज ने 'शब्द काव्य है' इस पर पूरा जोर लगाया है।

जो कोई शब्द चमत्कार पर बल देने वाले कवि को 'शब्दकवि' कहकर एक तरह से उसकी निन्दा करता है, वह वास्तविक विचार न करने के कारण ही वैसा करता है। अर्थचमत्कार से शून्य केवल शब्दचमत्कार भले ही निन्दास्पद हो, परन्तु अर्थचमत्कार के साथ रहने वाला शब्द-चमत्कार सोने में सुगन्ध का काम करता है।

सामयिक प्रभाव

पण्डितराज का आविर्भाव मुगल बादशाहों के विलासमय काल में हुआ था. वे स्वयं भी दिल्ली दरबार में रहकर बहुत कुछ उन विलासों का अनुभव किये थे, अतः स्थान-स्थान पर उनकी कविताओं में मुगल-राजधानी के विलासमय चित्र स्पष्ट झलकते दीख पड़ते हैं। रसाभास प्रकरण में बहुनायक विषयक रति का उदाहरण[1] देकर पण्डितराज लिखते हैं कि 'एक अनुपम सुन्दरी कहीं से आ रही थी, मार्ग में बहुतेरे मनचले युवक उसके सौन्दर्य तथा यौवन से वशीभूत होकर उसके पीछे लग गये, परन्तु नयनसुख के अलावा कुछ भी उनको हाथ नहीं लगा, उसकी मधुरवाणी सुनने के लिये भी वे तरसते ही रहे, अन्त में उस नायिका का निवास स्थान भी आ पहुँचा, वह अपने भवन में प्रवेश करने लगी, अब बेचारे वे युवक क्या करते? रास्ते पर खड़े हो गये, उनके मन में हो रहा था कि यदि यह अपने श्रीमुख से जाने की आज्ञा भी दे देती, तो हम उस आज्ञा को ही परम लाभ मान कर अपनी सेवा को सार्थक समझ लेते, वह चतुर नायिका उनके मनोभावों को समझ रही थी, दूरतक अनुगमन रूप उनके परिश्रम के स्मरण से उसके हृदय में करुणा उमड़ आई और उसने मुख से तो नहीं परन्तु उन सबों की ओर एक नजर देखकर एक तरह से जाने की आज्ञा दे दी'[2]।

इसी तरह उस समय मुगल जातीय विलासी लोग घर में कबूतरों की जोड़ी पालते थे, यह मुगल जाति की प्रमुख विनोद की चीज थी। आज भी उस सम्प्रदाय के लोग प्रायः उस परम्परा को निभा रहे हैं। पण्डितराज ने उन कबूतरों की जोड़ी पर भी एक मार्मिक कविता लिखी है[3]।

अन्य अलङ्कार ग्रन्थों से रसगङ्गाधर में सैद्धान्तिक विशेष

सैद्धान्तिक दृष्टि से भी अन्य अलङ्कार-ग्रन्थों की अपेक्षा रसगंगाधर में अनेक विशेषताएँ हैं। जैसे—काव्यप्रकाश में शब्दार्थ युगल को काव्य माना गया है, रसगंगाधर में शब्दमात्र को। काव्यप्रकाश काव्य में गुण तथा अलंकारों का रहना आवश्यक बतलाता है, पर रसगंगाधर ऐसा नहीं कहता। काव्यप्रकाश काव्य के प्रति शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों को कारण कहता है, पर रसगङ्गाधर प्रतिभामात्र को काव्य का कारण मानकर अदृष्ट एवं व्युत्पत्ति-अभ्यास को स्वतन्त्र भेद से प्रतिभा का कारण बतलाता है। काव्यप्रकाश के अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम भेद से काव्य के तीन प्रकार होते हैं, साहित्यदर्पण के अनुसार अधम भेद भी नहीं होता, उत्तम

---

१. 'भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु।' (पृ. २३९)

२. 'अत्र कुतश्चिदागच्छन्त्याः……' इत्यादि (पृ. २४०)

३. 'निरुद्ध्य यान्तीं तरसा कपोतीं कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने।……' (पृ. २८०)

और मध्यम दो ही भेद होते हैं, परन्तु रसगङ्गाधर के हिसाब से उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से काव्य के चार प्रकार माने जाते हैं।

अन्य सभी अलङ्कार-ग्रन्थों में दान, दया, युद्ध और धर्म इन चार उपाधियों के भेद से उत्साहरूप स्थायीभाव के चार भेद मानकर वीर रस के चार ही प्रकार प्रतिपादित हुये हैं, किन्तु रसगङ्गाधर का कथन है कि शृङ्गार रस के समान वीर रस के भी बहुत भेद हो सकते हैं और तदनुसार युक्ति एवम् उदाहरण देकर सत्यवीर, पाण्डित्यवीर, क्षमावीर और बलवीर ये चार भेद अधिक उसमें प्रतिपादित हुये हैं।

सभी प्राचीन आलंकारिक निबन्धगुणों को रसमात्र धर्म मानते हैं, किन्तु निबन्धराज रसगंगाधर में प्रचुर खण्डन मण्डन के बाद गुणों को शब्द, अर्थ, रस और रचना इन चारों के धर्म स्थिर किये गये हैं।

प्राक्तन सभी अलङ्कारग्रन्थों में भावध्वनि के समान पृथक् भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शबलता की ध्वनियों की व्यवस्था की गई है, किन्तु रसगङ्गाधर में ये ध्वनियां भी भावध्वनि में ही गतार्थ कर दी गई हैं और गतार्थता के लिये दी गई युक्तियाँ भी बड़ी मार्मिक हैं।

सभी अन्य निबन्ध रसभावादि को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही मानते हैं, परन्तु रसगङ्गाधर स्थानविशेष में रसभावादि को भी संलक्ष्यक्रम बतलाता है।

द्वितीय आनन में और भी बहुत से सैद्धान्तिक मतभेद हैं, जो द्वितीयभाग की भूमिका में दिखलाये गये हैं।

रसगङ्गाधर का एक असाधारण वैशिष्ट्य

इस अनन्त जीवमय संसार में नर-देह दुर्लभ है और नर-देह प्राप्त होने पर भी विद्वान् होना दुर्लभतर है इसी प्रकार विद्वान् होने पर भी कवि होना दुर्लभ है और कवि हो जाने पर शक्ति (प्रतिभा) शाली होना तो परम दुर्लभ है[1]। शारदा के वरदपुत्र पण्डितराज में इन सभी दुर्लभ गुणों का समवाय समाविष्ट था। वे अपने युग के महामानव होने के साथ साथ विश्रुतकीर्ति विद्वान् और प्रतिभाशाली महाकवि भी थे।

किसी भी अन्य अलङ्कार-निबन्ध-निर्माता में उक्त सभी गुण उस मात्रा में नहीं थे, जिस मात्रा में कि पण्डितराज में थे। श्रीमान् मम्मटभट्ट विद्वान् बहुत बड़े अवश्य थे, अलङ्कारशास्त्र का ज्ञान उनमें महान् था, परन्तु वे कवि नहीं थे. अतः उन्हें अपने प्रसिद्ध अलङ्कार निबन्ध काव्यप्रकाश में उदाहरण के लिये परमुखापेक्षी होना पड़ा। प्रायः यही कारण था कि काव्यीय विविध वस्तुओं के कितने भेद बुद्धि में स्फुरित होने पर भी उदाहरणाभाव से उन्होंने नहीं लिखे। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने यद्यपि अपने को अष्टादश-भाषा-वारविलासिनी-भुजङ्ग की उपाधि से विभूषित किया है और जब तब 'इदं मम' कहकर स्वनिर्मित पद्य को उदाहरण के रूप में उपस्थित भी किये हैं, तथापि विद्वान् लोग उन्हें पण्डितराज के समान प्रतिभाशाली महाकवि नहीं मानते, क्योंकि यदि उनमें उच्चकोटि की कवित्वशक्ति होती, तो वे अपने निबन्ध 'साहित्यदर्पण' में परकीय पद्यों को उदाहरण के रूप में क्यों रखते ? अन्य अलङ्कार ग्रन्थों में भी प्रायः परकीय उदाहरण ही लिये गये हैं।

---

१. 'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा। कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥'

किन्तु एक पण्डितराज ही इस अंश में अपवादभूत हैं । उनकी प्रतिज्ञा है कि 'कस्तुरी का जन्म देनेवाला मृग पुष्पों का गन्ध-ग्रहण नहीं करता । मैं इस रसगङ्गाधर में एक भी परकीय पद्य उदाहरण के रूप में नहीं लिखूँगा[1] । इस प्रतिज्ञा की पूर्ति उन्होंने खूब ही की है । एक से एक सुन्दर स्वनिर्मित पद्य उदाहरण रूप से सम्पूर्ण रसगंगाधर में उपस्थित किये हैं। वे पद्य भिन्न-भिन्न प्रसङ्ग पर भिन्न-भिन्न रसों से ओत-प्रोत हैं, रसगङ्गाधर में आये हुये ऐसे पद्यों की संख्या भी बहुत बड़ी है, यद्यपि उन पद्यों में से कतिपय पद्य पण्डितराज के अन्य काव्य तथा स्तोत्र ग्रन्थों में भी आ चुके हैं, तथापि ऐसे भी श्लोक कम नहीं हैं, जो पण्डितराज के भी अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते । इस दृष्टिकोण से देखने पर रसगंगाधर अलङ्कारशास्त्र के शिरोभूषण होने के साथ साथ एक सुन्दर मुक्तक कविताओं का संग्रहात्मक काव्यग्रन्थ भी है।

प्रकृत पुस्तक के कतिपय प्रधान विषयों का विशद विवेचनः—

काव्य-प्रयोजन

'मन्दबुद्धियों की भी प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होती[2]' इस न्याय के अनुसार ग्रन्थों के आरम्भ में प्रयोजनकथन की रीति प्रचलित है। अत एव काव्य-लक्षणकारों में भी लक्षण करने से पहले काव्य-प्रयोजन के प्रतिपादन करने की परम्परा है, पण्डितराज ने भी रसगंगाधर में इस परम्परा की रक्षा की है अर्थात् इन्होंने भी काव्य के प्रयोजन दिखलाये हैं, परन्तु संक्षेप में इनकी अपेक्षा मम्मट और विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण में इसके विषय में कुछ अधिक लिखा है। इन्हीं तीनों आचार्यों के कथनों का विवेचन इस प्रकरण में करना है।

सबसे पहले यह समझ लेना चाहिये कि इन ग्रन्थों में जो काव्य-प्रयोजन दिखलाये गये हैं उनमें दो तरह के प्रयोजन हैं। कुछ तो काव्य-निर्माण के और कुछ काव्याध्ययन के।

यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अनर्थ-निवृत्ति, परम सुख और कान्तासम्मित उपदेश इन काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख मम्मट ने किया[3] है। इनमें यश, अर्थ और अनर्थनिवृत्ति ये तीन काव्यनिर्माण के प्रयोजन हैं तथा व्यवहार-ज्ञान और उपदेश ये दो काव्याध्ययन के प्रयोजन हैं, अवशिष्ट 'परमसुख' रूप प्रयोजन दोनों का हो सकता है। काव्य पाठकों के समान काव्य-निर्माता भी अपने काव्य के पाठक होते हैं, अतः काव्याध्ययनजन्य सुख तो उन्हें मिलता ही है साथ साथ काव्य-निर्माण-प्रयुक्त भी एक प्रकार का सुख उन्हें मिलता है, काव्यनिर्माण से जो सुख प्राप्त होता है, उसका अनुभव काव्यनिर्माताओं को ही हो सकता है, पाठकों को चाहिये कि उस सुखानुभव का भी यत्न करें।

इसके बाद नम्बर आता है दर्पणकार विश्वनाथ का। उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थचतुष्टय की सुखपूर्वक प्राप्ति को काव्य-प्रयोजन कहा[4] है तथा काव्य से इन प्रयोजनों

---

१. 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्। (पृ० ६)

२. 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'।

३. 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' ॥

४. 'चतुर्वर्ग-फल-प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥'

की प्राप्ति कैसे होगी इस प्रसङ्ग में बहुत सी युक्तियां भी बतलाई हैं, उन युक्तियों के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये प्रयोजन काव्य के निर्माता और अध्येता दोनों के लिये बराबर हैं।

पण्डितराज ने काव्य-प्रयोजन के संबन्ध में केवल एक पङ्क्ति लिखी है, जिसमें यश, परम आनन्द और गुरु, राजा तथा देवता आदि की प्रसन्नता से काव्य-प्रयोजन बतलाये गये[1] हैं, ये सभी प्रयोजन काव्य-निर्माण के ही हो सकते हैं, काव्याध्ययन के नहीं। यह बात दूसरी है कि इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिये लोगों की प्रवृत्ति काव्य-निर्माण की ओर होगी और काव्य के निर्माण के लिये उसका अध्ययन आवश्यक होगा।

वस्तुतः इन प्रयोजनों का उल्लेख लोगों को काव्य के निर्माण और अध्ययन की दिशा में प्रवृत्त कराने के लिये उस प्रकार का एक प्ररोचक उपायमात्र है, जिस तरह का विक्रेताओं का सीपी के चमकीले टुकड़ों के विषय में क्रेताओं के प्रति यह कथन होता है कि 'ये बड़े अच्छे मोती हैं, जरूर खरीद लीजिये'। परमार्थतः काव्य का प्रयोजन रसास्वाद-मूलक आनन्दातिशय ही है। यद्यपि लोग कीर्ति आदि के लिये भी काव्य-निर्माण करते ही हैं तथा जीविका आदि के लिये भी काव्य पढ़ते ही हैं, तथापि वे सब काव्य के अनन्य साधारण प्रयोजन नहीं हो सकते, क्योंकि कीर्ति आदि के लिये अनेक रास्ते हैं और जीविका आदि के लिये भी विविध उपाय किये जा सकते हैं। इन सब गौण प्रयोजनों को लक्ष्य बनाकर काव्य का लिखना-पढ़ना सर्वथा सफल भी नहीं होता। कहने का अभिप्राय है कि रसास्वाद करने-कराने के लिये लिखा गया काव्य ही पूर्ण सफल हो सकता है, एवम् रसास्वाद के लिये किया गया काव्याध्ययन ही वास्तविक अध्ययन कहा जा सकता है।

काव्य

काव्य पदार्थ का विवेचन करने से पूर्व कविशब्दार्थ का विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि व्याकरण के अनुसार काव्य पद का अर्थ होता है 'कवि का कर्म'[2] अतः कविशब्दार्थ का ज्ञान बिना कराये काव्यपदार्थ का ज्ञान नहीं कराया जा सकता।

अच्छा, तो हम पहले यही विचार करें कि कवि किसे कहते हैं? शब्द-स्वारस्य के अनुसार किसी वस्तु के वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं क्योंकि काव्यमीमांसा में 'कवृ वर्णे' धातु से कवि पद की सिद्धि मानी गई है[3]। कुछ लोगों का कथन है कि 'कवृ वर्णे' धातु से कवि शब्द सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह पवर्गीयोपध है, अतः 'कुङ् शब्दे' धातु से कविपद की सिद्धि माननी चाहिये। यदि यही व्युत्पत्ति ठीक हो, तथापि अर्थ में कोई अधिक अन्तर नहीं होता क्योंकि तदनुसार भी किसी विषय का कहने वाला ही कवि पद का अर्थ होता है। कोष में कवि पद का अर्थ पण्डित किया गया[4] है। अतः योग तथा रूढि दोनों की समन्वयात्मक दृष्टि

---

१. 'कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य'' इत्यादि' (पृ. ८)।

२. 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति ष्यञ्।

३. 'कविशब्दश्च कवृ वर्णे इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो रूपम्' (काव्यमीमांसा)।

४. 'संख्यावान् पण्डितः कविः' (अमर)

से विचार करने पर यह सिद्ध हुआ कि किसी वस्तु का वर्णन प्रतिपादन करने वाले विद्वान् को कवि कहा जा सकता है।

कवि पद के इसी मूल अर्थ के अनुसार वेदार्थ के वर्णयिता सर्वज्ञ परमात्मा को कवि कहा गया है[1]। इसके बाद लौकिक भाषा के द्वारा रामचरित के वर्णन करने वाले वाल्मीकि को 'आदि कवि' की पदवी दी गई। तदनन्तर महाभारत तथा पुराणों के रचयिता वेदव्यास कवि कहलाये हैं। इस तरह प्रायः पुराणयुग तक सभी (सुन्दर अथवा असुन्दर) वर्णन करने वाले विद्वानों में कवि पद का प्रयोग होता रहा, अत एव राजनीति विषयों के प्रतिपादक शुक्राचार्य को भी कवि संज्ञा दी गई[2] है।

किन्तु पुराणयुग के बाद वर्णयितामात्र को कवि कहने की प्रथा समाप्त हो गई। अब चमत्कृतिपूर्ण वर्णन करने वाले विद्वान् को ही कवि कहा जाने लगा अर्थात् अब उस विशिष्ट वर्णयिता को कवि पदवी का अधिकारी समझा जाने लगा, जिसके चमत्कारमय वर्णन को सुनकर सहृदय श्रोताओं के मानस में परमानन्द की रुचिर वीचियां उठने लगती थीं। इसीलिये छन्दोबद्ध ग्रन्थ लिखने पर भी स्मृतिकारों (मनु, याज्ञवल्क्य आदि) को कवि कहलाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका।

यद्यपि आज के विद्वान् कवि की बहुत तरह की परिभाषायें बनाते हैं—जैसे कवि कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में किसी का कथन है कि—'कवि सृष्टि के सौन्दर्य का मर्मज्ञ है। वह एक ऐसा यन्त्र है, जिसके द्वारा सृष्टि का सौन्दर्य देखा जाता है। कवि सौन्दर्य का उपभोग करता है, और जब उन्मत्त हो जाता है, तब उसके प्रलापरूप में उसकी उन्मत्तता का कुछ प्रसाद सहृदय-जनों को मिल जाता है। वह प्रलाप ही काव्य है। तत्त्ववेत्ता और कवि में अन्तर है। तत्त्ववेत्ता मस्तिष्क का निवासी है और कवि हृदय का हृदय मनुष्य मात्र के हैं। पर कुछ तो हृदय के मर्म को समझते ही नहीं, कुछ समझते तो हैं, पर उनकी वाणी में इतनी शक्ति नहीं होती कि वे उसे प्रकट कर सकें। कवि हृदय की बातें भी समझता है और उसे कह भी सकता है। साधारणजन और कवि में यही अन्तर है इत्यादि।' परन्तु कवि पद की इसतरह की सभी व्याख्याओं का आधार वही पूर्वोक्त कवि पद का स्वारसिक अर्थ है यह समझना कुछ कठिन नहीं है।

अस्तु, यह तो हुई कवि की बात, अब देखना यह है कि कवि का कार्य क्या है? कवि क्या करता है किसको काव्यपद व्यक्त करता है? इसका उत्तर साधारणतया स्पष्ट है कि किसी विषय का चमत्कृतिपूर्ण-श्रोताओं को मुग्ध कर देने वाला-वर्णन ही कवि का कर्म है। वर्णन यद्यपि अर्थ का होता है, परन्तु वह शब्द के रूप में ही होता है, अतः यह कहना होगा कि वह शब्द ही कवि का कर्म है।

यद्यपि कवि शब्दों को नहीं गढ़ता, अपितु उनका ललित गुम्फनमात्र को रचता है, तथापि ललित गुम्फन से युक्त वह पदावली कवि का कार्य कहलाती है, जैसे घटनिर्माणकर्ता कुम्भकार का कार्य घट कहलाता है। इसतरह यह सिद्ध हुआ कि जिस किसी विषय का चमत्कारी, श्रोतृजनहृदयहारी, वर्णन जिन शब्दों के द्वारा किया जाता है, वे शब्द ही काव्य हैं;

---

१. 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' (शुक्लयजुःसंहिता अ. ४० म. ८)

२. 'उशना भार्गवः कविः' (अमर)

यह तो हुआ काव्य का सामान्य रेखाचित्र। अब विवेचनीय यह है कि किस किसने अपनी प्रतिभारूप तूलिका से रङ्ग भरकर उस रेखाचित्र का कैसा कैसा रूप तैयार किया है। अभिप्राय यह है कि काव्य के उक्त साधारण लक्षण में परिवर्तन-परिवर्धन करके भिन्न भिन्न आचार्यों के द्वारा आज तक कितने प्रकार के काव्यलक्षण तैयार हुये हैं, यही इस प्रकरण का विवेच्य विषय है।

अबतक प्रायः निम्नलिखित आचार्य प्रधान काव्यलक्षणकार हुये हैं। (१) अग्निपुराणकार, (२) दण्डी, (३) रुद्रट, (४) वामन, (५) आनन्दवर्धन, (६) भोज, (७) मम्मट, (८) वाग्भट, (९) पीयूषवर्ष, (१०) विश्वनाथ, (११) गोविन्दठाकुर और (१२) पण्डितराज जगन्नाथ।

अब यहां क्रमशः इन्हीं आचार्यों के काव्यलक्षणों की चर्चा संक्षेप में की जायगी।

(१) 'अभिष्ट अर्थ को संक्षेप में प्रकट कर देने वाली पदावली काव्य[1] है' यह लक्षण अग्निपुराण में किया गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि वक्तव्य विषय को सुन्दर ढङ्ग से प्रतिपादित करने वाला नपा-तुला पदसमूहात्मक वाक्य काव्य कहलाता है। संक्षेप पद का लक्षण में समावेश करने से लक्षणकार का अभिप्राय यह है कि व्यर्थ पदों का आडम्बर काव्य में नहीं होना चाहिये। अग्निपुराण का निर्माणकाल यद्यपि निश्चित नहीं है, तथापि इतना निश्चित है कि उपलब्ध काव्यलक्षणों में सब से प्रथम लक्षण यही है।

(२) आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' नामक निबन्ध में जो काव्यलक्षण किया है, उसे अग्निपुराण के लक्षण से भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'इष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न (नपी-तुली) पदावली काव्य का शरीर[2] है' यह जो उनका लक्षण है, उसमें अग्निपुराणलक्षणगत 'संक्षेपात्' और 'वाक्यम्' इन दो पदों को केवल हटा दिया गया है, जो वस्तुतः व्यर्थ ही थे। कारण यह कि 'व्यवच्छिन्न' तथा 'पदावली' इन दोनों पदों से ही उक्त दोनों पदों के अर्थ निकल जाते हैं। दण्डी का काल अनुमान के आधार पर छठी शताब्दी माना जाता है।

(३) इसके बाद आचार्य रुद्रट ने काव्यलक्षण में एक महान् परिवर्तन उपस्थित किया। अब तक जो केवल शब्द को काव्य कहा जाता रहा, वह उनकी गवेषणात्मक स्वतन्त्रबुद्धि में ठीक नहीं जचा, अतः उन्होंने उसमें अर्थ को भी जोड़ दिया अर्थात् वे शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य कहने लगे[3]। तात्पर्य यह कि उनके विचार से सम्मिलित शब्दार्थ युगल ही काव्य सिद्ध हुआ। विचार करने से उनका कथन बहुत सुन्दर प्रतीत होता है, क्योंकि काव्य पद का मूलभूत अर्थ जो 'कविकी कृति' है, उसके अनुसार अर्थ को भी काव्य मानने में किसी तरह की आपत्ति नहीं होती, कारण यह है कि शब्द की तरह उसका अर्थ भी वस्तुतः कवि की ही कृति होता है अर्थात् काव्य में वर्णित अर्थ वास्तविक नहीं होते, वरन केवल कल्पना-प्रसूत रहते हैं, इतिहासप्रसिद्ध पदार्थों को भी कवि अपने ढङ्ग से नवीन रूप में ही उपस्थित करता है। भास की वासवदत्ता, कालिदास की शकुन्तला और श्रीहर्ष की दमयन्ती ऐतिहासिक नायिकायें होकर भी वास्तविक से सर्वथा भिन्न हैं। मैं तो यहां तक कहूंगा कि वाल्मीकि के राम-लक्ष्मण और कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) के कृष्ण अर्जुन भी

---

१. 'संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यम्........।'

२. 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'।

३. 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्'।

वास्तविक उनसे बहुत कुछ भिन्न ही हैं। प्रकरण (जो एक रूपक का भेद है और जिसके पात्र ऐतिहासिक नहीं होते) के पात्रों में यह बात और अधिक स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है भवभूति के 'मालतीमाधव' में वर्णित मालती तथा माधव आदि और शूद्रक (?) के 'मृच्छकटिक' में वर्णित वसन्तसेना एवम् चारुदत्त आदि का तो इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः अगत्या उन पात्रों को तो कवि-कृति मानना ही पड़ेगा, फिर उसी दृष्टान्त से इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों के विषय में भी यह समझना अनुचित नहीं हो सकता, कि वे कवि के ही गढ़े हुये होते हैं। 'काव्यात्मक अनन्त संसार में कवि ही स्रष्टा होता है, उसके पसन्द के मुताबिक ही जगत् को बन जाना पड़ता है[1]' यह लिखकर आलङ्कारिकशिरोमणि आनन्दवर्धनाचार्य ने भी काव्यवर्णित पदार्थों को मानस होने की बात की पुष्टि की है। अतः रुद्रट का शब्दार्थयुगल-काव्यतावाद नितान्त सर्वसम्मत है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इनका समय अनुमानतः वामन से पूर्व का माना जाता है।

(४) इसके अनन्तर अलङ्कारसूत्रकार वामन ने काव्यलक्षण के विषय में कुछ और नवीन बात कही। उन्होंने कहा कि 'अलङ्कार रहने के कारण काव्य ग्राह्य है[2]' और 'अलङ्कार कहते हैं सौन्दर्य को[3]'। इस तरह उनके कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि सौन्दर्ययुक्त होने के कारण काव्य का ग्रहण करना समुचित है। अब जिज्ञासा यह उठती है कि काव्य में सौन्दर्य का कारण क्या हो सकता है? इसका उत्तर वामन यह देते हैं कि 'दोषों के त्याग और गुण तथा अलङ्कारों के ग्रहण करने से काव्य में वह सौन्दर्य उत्पन्न होता है[4]'। अत एव अन्तमें उन्होंने काव्य-लक्षण के सम्बन्ध में कहा है कि 'यह काव्य शब्द, गुण तथा अलङ्कारों से सुसंस्कृत शब्दार्थयुगल का वाचक है[5]।'

गुणालङ्कारहीन शब्दार्थयुगल में प्रयुक्त काव्य पद को उन्होंने लाक्षणिक माना है[6]। उनके कथन का आशय यह होता है कि वस्तुतः गुणालङ्कार युक्त शब्दार्थ समूह को ही काव्य कहना चाहिये, परन्तु प्राचीन आचार्यों ने जब केवल शब्दार्थसमूह को ही काव्य कहा, तब से काव्य पद शब्दार्थयुगल में रूढ हो गया, अतः आज भी लोग केवल शब्दार्थयुगल को ही काव्य कहा करते हैं। परमार्थतः तादृश प्रयोग में 'कलिङ्ग साहसी है' के समान रूढिमूला लक्षणा ही समझनी चाहिये, वामन का समय नवम शताब्दी के पूर्वार्ध से पूर्व का माना जाता है।

(५) ध्वनिमार्ग-प्रवर्तक आनन्दवर्धन ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में काव्यलक्षण नहीं लिखा है। काव्य का लक्षण करना उनका उद्देश्य भी नहीं था, ध्वनि का स्थापन करना जो उनका उद्देश्य था, उसकी पूर्ति उन्होंने खूब ही की है। व्यक्तिविवेक के लेखक महिमभट्ट को छोड़कर प्रायः सभी अनन्तरभावी आलङ्कारिक बहुत अंशों में उनके अनुयायी ही हैं। अस्तु, प्रकृत में मुझे कहना यह है कि काव्य का लक्षण न लिख कर भी आनन्दवर्धन ने 'शब्दार्थ युगल ही काव्य है, केवल शब्द नहीं' इस सिद्धान्त में अपनी सम्मति प्रकट की है, क्योंकि प्रसङ्गवश एक स्थान पर ध्वन्यालोक में वे लिखते हैं कि 'काव्य का शरीर शब्दार्थसमूह है[7]।' इनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्ध समझा जाता है।

---

१. 'अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥'

२. 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्'। ३. 'सौन्दर्यमलङ्कारः'। ४. 'स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्'।

५. 'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते'।

६. 'भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनो गृह्यते'। ७. 'शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्'।

(६) इसके बाद संस्कृत के परम अनुरागी, संस्कृतज्ञों के कल्पतरु, अथच अनेक कमनीय निबन्धों के निर्माता धाराधिपति भोज का समय आता है। यद्यपि उन्होंने काव्यलक्षण पर खासकर अपनी लेखनी नहीं चलाई, तथापि काव्य-प्रशंसा के प्रसङ्ग पर अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'सरस्वती कण्ठाभरण' में एक पद्य लिखकर काव्यलक्षण के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है। उस पद्य का भाव यह है कि 'दोषरहित, गुणरहित, अलंकारों से अलंकृत और सरस काव्य को बनाने वाला कवि कीर्ति के साथ सुख को भी पाता है[1]।' इस उक्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे भी शब्दार्थ युगल को काव्य मानते हैं, क्योंकि शब्दमात्र को काव्य मानने पर 'सरस' विशेषण सर्वथा संगत नहीं हो सकता, कारण? रसका केवल शब्दसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। और 'अलङ्कारों से' इस बहुवचन से शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों ही उनके विवक्षित ज्ञात होते हैं, यदि शब्दमात्र में उन्हें काव्यत्व अभिमत होता तो अर्थालंकार का समावेश क्यों करते? अर्थालंकार शब्द को अलंकृत नहीं कर सकता। इनका काल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है।

(७) अब अलङ्कार ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रचलित काव्यप्रकाश के लेखक वाग्देवता के अपर अवतार महामान्य मम्मट का उदय हुआ। इन्होंने काव्यलक्षण में वामन का अनुवर्तन किया, परन्तु गुण तथा अलङ्कारों का समान स्थान काव्य में इन्हें समुचित प्रतीत नहीं हुआ अर्थात् काव्य में गुण का रहना इनके विचार से नान्तरीयक समझा गया और अलङ्कार का होना आनुषङ्गिक। स्पष्ट आशय यह हुआ कि अलङ्कार के रहने पर काव्य की श्रेष्ठता इन्हें भी स्वीकृत है, किन्तु उसके स्पष्ट न रहने पर भी काव्यत्व इन्हें इष्ट है, अतः इन्होंने 'दोषरहित और गुण सहित शब्दार्थ को काव्य कहा और अलङ्कार के विषय में कहा कि अधिकतर स्थानों में अलङ्कार का रहना आवश्यक है, पर कहीं यदि स्पष्ट अलङ्कार न भी रहें तो कोई हानि नहीं[2]।'

एक बात और यद्यपि मम्मट ने काव्यलक्षण में रस की चर्चा नहीं की, तथापि उनके विचार से काव्य में रस का सर्वोच्च स्थान से विदित होती है, क्योंकि जिन गुणों का रहना काव्य में हो वे स्पष्ट शब्दों में रसका धर्म मानते हैं[3]। इनका आविर्भाव काल बारहवीं शताब्दी निश्चित है।

(८) मम्मट के बाद उसी शताब्दी में एक वाग्भट नाम के आचार्य हुये, जिनका वाग्भटालंकार नामक ग्रन्थ है। उनके युग तक आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि की स्थापना कर दी थी, ध्वनियों में भी रस आदि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों की प्रधानता निश्चित हो चुकी थी, अतः इन्होंने वामन तथा मम्मट दोनों के मतों को जोड़ कर एक नवीन काव्यलक्षण का निर्माण कर दिया, जिसका स्वरूप यह है कि 'गुण, अलंकार, रीति और रस से युक्त तथा दोषरहित अच्छे शब्दार्थों का समूह काव्य है[4]।'

(९) इसके अनन्तर चन्द्रालोक नामक निबन्ध के निर्माता 'पीयूषवर्ष' उपाधि से भूषित जयदेव का अवसर आया। इनसे पूर्वभावी आचार्यों के द्वारा जितने काव्यतत्त्व निरूपित हुये थे,

---

१. 'निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिञ्च विन्दति॥'

२. 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'

३. 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः॥'

४. 'गुणालंकाररीतिरसोपेतः साधुशब्दार्थसन्दर्भः काव्यम्।'

उन सभी तत्त्वों को इन्होंने काव्यलक्षण में समाविष्ट कर दिया और 'दोषहीन गुण, अलङ्कार, लक्षण, रीति, रस तथा वृत्ति इन समस्त उपादानों से परिपूर्ण वाणी को काव्यसिद्ध किया[1]।'

परन्तु इनके लक्षण में बहुत पदार्थों का समावेश हो जाने के कारण अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषों की शंका अधिक हो सकती है और यह लक्षण अनुगत भी नहीं हो सकता, अतः इसको लक्षण न मानकर काव्यतत्वों का संग्राहक वाक्यमात्र माने तो अधिक उपयुक्त होगा। इनका समय भी बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही है।

(१०) इसके अनन्तर काव्य-जगत् में कुछ नवीन सन्देश लेकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ अवतीर्ण हुये। इन्होंने अग्निपुराणकार से लेकर पीयूषवर्ष तक के आचार्यों ने जो उत्तरोत्तर लम्बा काव्यलक्षण तैयार किया था उसको काट छाँट कर संक्षिप्त कर दिया और काव्य में केवल रस-भाव आदि असंलक्ष्यक्रम कहे जानेवाले व्यङ्ग्यार्थों का रहना आवश्यक समझा। अलङ्कार इनके विचारानुसार केवल उत्कर्ष के कारण हैं—स्वरूपाधायक नहीं। इसी तरह दोष केवल अपकर्ष के हेतु हैं—स्वरूपविघटक नहीं। यह विचार उनका ठीक भी है। अलंकारहीन होने पर भी मनुष्य में मनुष्यता की हानि नहीं होती और काणत्वादि दोषों के रहने पर भी मनुष्य मनुष्यत्व को नहीं खोता। अतः इन्होंने 'रसात्मक वाक्य[2]' को काव्य कहा और 'रस' पद से आस्वादयोग्य रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावप्रशम और भावशबलता इन सभी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों का संग्रह किया। यद्यपि विश्वनाथ का यह लक्षण सर्वथा अभिनव नहीं है। इनसे बहुत पहले शौद्धोदनि नामक एक आचार्य ने अपने अलंकारसूत्र में 'रसादिमत्[3] वाक्य' को काव्य कहा था, तथापि आदि पद से अलङ्कार का बोध कराकर अलङ्कार का भी स्थान उन्होंने रसके समकक्ष ही मान लिया था, जिसका स्पष्टीकरण करते हुये केशव मिश्र ने अलंकारशेखर में लिखा है कि रस अथवा अलंकार दोनों में से किसी एक के रहने पर वाक्य काव्य कहलाता है। परन्तु विश्वनाथ को अलङ्कार रस का समकक्ष नहीं जचा, अतः इन्होंने अपने लक्षण में अलङ्कारबोधक आदि पद को स्थान नहीं दिया। विश्वनाथ का समय चौदहवीं शताब्दी निर्णीत सा है।

(११) इसके बाद नम्बर आता है गोविन्दठक्कुर का। यद्यपि ये मूलकार नहीं हैं, तथापि काव्यप्रकाश पर लिखा हुआ इनका 'प्रदीप' बहुत अंशों में मौलिकता रखता है, अत एव आलंकारिक जगत् में इनकी प्रतिष्ठा किसी मूलकार से कम नहीं है।

इन्होंने काव्यप्रकाशीय काव्यलक्षण का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि मम्मट रसहीन और स्पष्ट अलङ्कार से भी रहित शब्द अर्थ को काव्य मानते हैं, परन्तु उनकी यह मान्यता समुचित नहीं है, क्योंकि रस तथा अलंकार ये दोनों पदार्थ काव्य में चमत्कारजनक हैं, फिर यदि इन दोनों में से एक भी न रहे, तब चमत्कार कहाँ से आवेगा और जहाँ चमत्कार ही नहीं हो, उसे काव्य कहेंगे ही कैसे? कारण यह कि काव्य में चमत्कार ही सार है। अतः यह मानना उचित होगा कि सरस स्थल में भले ही अलंकार की अपेक्षा नहीं हो, पर नीरस स्थल में अलङ्कार का

---

१. 'निर्दोषं गुणालंकारलक्षणरीतिवृत्तिमत् वाक्यं काव्यम्'।

२. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।

३. 'रसादिमत् वाक्यं काव्यम्'।

रहना आवश्यक है[१]।' फलतः इनके कथन से भी वही बात सिद्ध हुई जो केशव मिश्र ने कही थी। गोविन्द ठक्कुर मैथिल ब्राह्मण थे और इनका समय सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित है।

(१२) इसके अनन्तर ही रसगङ्गाधर के निर्माता पण्डितराज जगन्नाथ का काल आता है। इन्होंने काव्यलक्षण का जो रूप स्थिर किया है और उसके सम्बन्ध में जो कुछ मार्मिक बातें कहीं हैं, वे सब प्रकृत पुस्तक में देखी जा सकती है, अतः उनका उल्लेख यहाँ पिष्टपेषण समझकर नहीं किया जाता है, जिज्ञासुओं को ग्रन्थ में वे बातें देखनी चाहिये।

अब इस प्रकरण के उपसंहार-भाग में मुझे यह कहना है कि—प्रारम्भ में सौन्दर्यपूर्ण अथवा सौन्दर्यरहित सभी वर्णनों को काव्य कहा जाता था। बादमें केवल सौन्दर्यपूर्ण वर्णन को काव्य कहा जाने लगा, पर अबतक काव्य का कोई खास लक्षण नहीं बना था। सर्वप्रथम अग्निपुराण में काव्य का खास लक्षण किया गया, जिसके अनुसार सौन्दर्यमय अर्थों का सुन्दर प्रतिपादन करनेवाले शब्द काव्य समझे जाने लगे। दण्डी तक यह शब्दमात्र काव्यता-वाद चला। इसके अनन्तर रुद्रट के काल में शब्दार्थोभयकाव्यतावाद की घोषणा हुई, जो मम्मट भट्ट तक चलता रहा। पर सौन्दर्य का कारण क्या है इस विषय में इस बीच के आचार्यों में भी मतभेद बना रहा। वामन आदि कतिपय आचार्य सौन्दर्य का कारण समानरूप से गुण तथा अलंकार को मानते रहे। आगे चलकर मम्मट ने अलंकार को गौण बना दिया और गुण तथा गुणव्यञ्जक रचना को प्रमुख माना। काव्य में दोष का न होना वामन से लेकर मम्मट पर्यन्त आचार्यों के मत में समानरूप से आवश्यक समझा जाता रहा।

विश्वनाथ के समय में आकर पुनः काव्यलक्षण का रुख बदला। अब फिर शब्दमात्र को काव्य माना जाने लगा, अर्थ को काव्यलक्षण से बहिष्कृत कर दिया गया। इस युग में आकर गुणालङ्कारों का स्थान भी नगण्य सा होगया अर्थात् ऐसा समझा जाने लगा कि गुण अलङ्कार काव्य में रहें, तो अच्छी बात है, पर वे यदि न भी रहें, तब भी शब्दविशेष को काव्य कहलाने में बाधा नहीं हो सकती। इस समय में दोषों पर भी कुछ दया दिखलाई गई। तात्पर्य यह है कि उसके रहने पर भी शब्दविशेष को काव्य कहने में लोगों को आपत्ति नहीं रही। प्राचीन मान्यताओं में इन सब शिथिलताओं के आगमन का प्रधान हेतु यह हुआ कि विश्वनाथ तथा उनके समकालीन अन्य विद्वज्जन काव्य में सौन्दर्य का कारण एकमात्र रस को मानने लगे। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि रस पद से यहाँ सकल असंलक्ष्यक्रमों का संग्रह अभीष्ट है।

यद्यपि वस्तु, अलंकार और रसादिरूप त्रिविध ध्वनियों का अन्वेषण तथा आधान्य विश्वनाथ से बहुत पूर्व ही आनन्दवर्धन के द्वारा स्थापित हो चुका था, परन्तु काव्यलक्षण में ध्वन्यर्थ का प्रवेश विश्वनाथ से पहले किसी ने नहीं कराया था। ध्वनियों में भी केवल रस को काव्य की

---

१. [illegible], सालंकारत्वविशेषणानुपादानादिति न वाच्यम्, यतः 'क्वापि'-रसनिवेश[illegible] शब्दार्थौ काव्यम्, [illegible] स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः, [illegible], अलङ्कारस्य चमत्कारित्वे एव विश्रान्तेः। नीरसेऽस्फुटालङ्कारे काव्यत्वमिष्टमेवेति [illegible]। यत्तु [illegible] नीरसे स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वम्, ततो रसादिरलङ्कारश्च द्वयं चमत्कारहेतुः। तथा च यत्र रसादीनामवस्थानं न तत्र स्फुटालङ्कारापेक्षा। नीरसे तु यदि न स्फुटोऽलङ्कारः स्यात् तर्हि कुतश्चमत्कारः स्यात्। चमत्कारसारञ्च काव्यम् इत्यतस्तत्र स्फुटालङ्कारापेक्षा।'

आत्मा मानकर वस्तु तथा अलंकाररूप ध्वनि को विश्वनाथ ने गौण बना दिया। पण्डितराज ने केवल रस को काव्यसौन्दर्य का साधन न मानकर सभी अर्थों (वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य) को सौन्दर्य का स्वरूप योग्य कारण माना है, अन्य अंशों में पण्डितराज विश्वनाथ का ही समर्थन करते हैं।

काव्य-कारण

इस प्रकरण में मुझे भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों के आधार पर यह विचार करना है कि काव्य का कारण क्या है ?

अच्छा तो पहले यह समझिये कि काव्य-कारण के विषय में प्रधानतया विद्वानों के दो मत हैं। रुद्रट, वामन और पण्डितराज आदि केवल प्रतिभा को काव्य का कारण मानते हैं और दण्डी, वाग्भट और पीयूषवर्ष आदि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को काव्य का कारण बतलाते हैं। काव्यमीमांसाकार राजशेखर इस विषय में इन सबों से कुछ भिन्न ही मत रखते हैं।

अब मैं उनके विचारों को संक्षेप में यहां उपस्थित करता हूँ, जिससे पाठक उन सब विचारों को समालोचनात्मक दृष्टिकोण से पढ़कर अपना मत निश्चित कर सकें।

दण्डी का कथन है कि 'स्वाभाविक प्रतिभा, प्रचुर और दोषहीन शास्त्र-श्रवण अर्थात् व्युत्पत्ति, एवम् परिपूर्ण अभ्यास-अर्थात् पुनः पुनः काव्य बनाते रहना ये सब काव्यसम्पत्ति अर्थात् काव्य की उत्कृष्टता के कारण हैं[1]।

इसके आगे उन्होंने एक बात और कही है, वह यह है कि 'पूर्वजन्म की वासना के गुणों से संबद्ध अद्भुत प्रतिभा यदि न भी हो, तथापि शास्त्रश्रवण-अर्थात् व्युत्पत्ति और यत्न-अर्थात् अभ्यास के द्वारा सेवित वाग्देवी सेवकों पर कुछ अनुग्रह अवश्य ही करती है[2]।'

इन उक्तियों से दण्डी का अभिप्राय ऐसा जान पड़ता है कि उत्कृष्ट काव्य के प्रति प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों कारण हैं पर साधारण काव्य प्रतिभा के अभाव में भी केवल व्युत्पत्ति और अभ्यास से बन सकता है।

रुद्रट केवल शक्ति (प्रतिभा) को ही कारण मानते हैं और शक्ति का विवेचन इस प्रकार करते हैं—

'जिसकी प्राप्ति होने पर, समाधिस्थ (सर्वथा एकाग्र) मन में अनेक प्रकार के अर्थ स्फुरित होते हैं और कोमल कान्त पदावली दृष्टिगोचर होने लगती है, उसको 'शक्ति' कहते हैं।[3]

इसके आगे पुनः वे लिखते हैं कि 'उस शक्ति के दो भेद हैं—एक सहज अर्थात् स्वभावसिद्ध, जो ईश्वर-प्रदत्त अथवा अदृष्ट-जन्य होती है और दूसरी उत्पाद्य-अर्थात् उत्पन्न की जानेवाली, जो

---

१. 'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्य-सम्पदः॥'

२. 'न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥'

३. 'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥'

उत्कृष्ट व्युत्पत्ति से उत्पादित होती है[1]।' इस कथन से यह आशय निकलता है कि प्रतिभा दो प्रकार की होती है, एक अदृष्टजन्य और दूसरी व्युत्पत्ति-जन्य।

इसके बाद वामन ने भी केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना है। उनका कथन है कि 'कवित्व का बीज प्रतिभान[2] है।'

इससे आगे चलकर काव्यप्रकाशकार मम्मट ने पुनः दण्डी के कारणत्रयवाद को अपनाया। वे काव्यप्रकाश में लिखते हैं कि 'शक्ति (प्रतिभा) और लोकव्यवहार, शास्त्राध्ययन तथा काव्य परिशीलन आदि से उत्पन्न निपुणता (व्युत्पत्ति) एवम् काव्यज्ञ अर्थात् काव्य के निर्माता तथा समालोचयिता से शिक्षा प्राप्त कर तदनुसार अभ्यास ये तीनों ही सम्मिलित रूप से काव्य के कारण[3] हैं।' मम्मट की इस उक्ति में दण्डी की उक्त उक्ति से नवीनता केवल इतनी है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास की व्याख्या सुचारुरूप से कर दी गई है।

वाग्भट इस प्रसङ्ग में लिखते हैं कि—'प्रतिभा काव्य का कारण है, व्युत्पत्ति भूषण है और अभ्यास काव्यरचना में प्रगति लाता है[4]।' इसका स्पष्ट अभिप्राय यह होता है कि काव्य को उत्पन्न केवल प्रतिभा करती है व्युत्पत्ति उसमें सौन्दर्य लाती है और अभ्यास से शीघ्र काव्य तैयार होता है। फलतः घुमा फिरा कर तीनों को वाग्भट कारण मानते हैं।

पीयूषवर्ष भी वाग्भट की बात को ही दृष्टान्त के साथ दुहराते हैं। उनका कथन है कि—'व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से युक्त प्रतिभा उसी तरह काव्य के प्रति हेतु है, जिसतरह मृत्तिका और जल के सहयोग से बीज लता के प्रति[5]।' इसका भी अभिप्राय यही होता है कि जैसे लता का बीज उत्पादक, मृत्तिका पोषक और जल सम्वर्धक कारण है, वैसे ही कविता का प्रतिभा उत्पादक, व्युत्पत्ति पोषक और अभ्यास सम्वर्धक कारण है।

अब पण्डितराज इस प्रसङ्ग पर कहते हैं कि [illegible] केवल प्रतिभा है और प्रतिभा के स्थलभेद से दो कारण हैं, कहीं देवता [illegible] प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट और कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति-अभ्यास[6]।

अब यह भी एक विचारणीय वस्तु है कि प्रतिभा क्या चीज है? इसके रूप के विषय में भी उक्त आचार्यों का परस्पर बड़ा मत-भेद है। दण्डी के हिसाब से 'प्रतिभा' का अर्थ एक प्रकार की बुद्धि है। यद्यपि शब्दतः उन्होंने प्रतिभा की व्याख्या नहीं की है, तथापि प्रतिभा में जिन दो विशेषणों को उन्होंने जोड़ा है, उनसे उनका उक्त अभिप्राय स्पष्ट होता है। उन्होंने एक जगह प्रतिभा का विशेषण 'नैसर्गिकी' कहा है और दूसरी जगह 'पूर्ववासनागुणानुबन्धि'। ये दोनों

---

१. 'सहजोत्पाद्या न सा दिव्या भवति, श्लाघ्या तु कल्पिता व्युत्पत्त्या जन्यते परया।'

२. कवित्वस्य बीजं प्रतिभानम्; यस्माद् विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्॥

३. 'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥'

४. 'प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्। भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा॥'

५. 'प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति। हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजोत्पत्तिर्लतामिव॥'

६. 'तस्य (काव्यस्य) च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासौ।'

ही विशेषण-यदि प्रतिभा का अर्थ अदृष्ट अथवा संस्कार-विशेष किया जाय—तब संगत नहीं होते, क्योंकि अदृष्ट पुरुष-प्रयत्न से उत्पन्न किया जाता है, फिर वह नैसर्गिक—स्वाभाविक कैसे हो सकता है ? संस्कार भी अनुभवजन्य होने से पुरुष-प्रयास-साध्य ही है, स्वभाविक नहीं, और वह वासना रूप ही है, वासना गुणानुबन्धी नहीं, अतः यह मानना पड़ेगा कि प्रतिभा का अर्थ उन्हें बुद्धि ही अभीष्ट है ।

रुद्रट की भी प्रतिभापरपर्यायाशक्ति बुद्धि ही हो सकती है, अदृष्ट अथवा संस्कार नहीं, क्योंकि द्वितीय भेद उत्पाद्यशक्ति को उन्होंने व्युत्पत्तिजन्य माना है और व्युत्पत्ति से अदृष्ट अथवा संस्कार की उत्पत्ति विद्वज्जन-सिद्धान्त-सम्मत नहीं । हां, बुद्धि-ज्ञान-की व्युत्पत्ति से उत्पत्ति अनुभवसिद्ध और सिद्धान्तानुकूल भी है ।

वामन ने प्रतिभा की व्याख्या शब्दतः की है और प्रतिभा का अर्थ संस्कार माना है[१] ।

मम्मट ने भी वामन की व्याख्या को ही उन्हीं शब्दों में दुहराया[२] है, अतः उनके मत से भी प्रतिभा का अर्थ संस्कार ही सिद्ध होता है ।

वाग्भट और पीयूषवर्ष ने न तो प्रतिभा की शब्दतः कुछ व्याख्या की है और न कोई ऐसा विशेषण उसमें जोड़ा है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि वे प्रतिभा का क्या अर्थ मानते थे ।

पण्डितराज प्रतिभा की व्याख्या में लिखते हैं कि 'जिनसे काव्य बनसके, ऐसे शब्दार्थों की उपस्थिति प्रतिभा है[३] ।' इस व्याख्या से सिद्ध होता है कि पण्डितराज के विचार से भी प्रतिभा एक प्रकार की बुद्धि का ही नाम है ।

प्रतिभा की यह व्याख्या उस आप्तजनोक्ति से भी समर्थित होती है, जिसमें 'उस बुद्धि-विशेष को प्रतिभा कहा गया है, जिसके द्वारा नई-नई सूझ पैदा हो[४] ।'

ये तो हुये उन आचार्यों के मत, अब यदि मैं इन मतों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालता हूं, तो पण्डितराज का ही मत सबसे तथ्य-पूर्ण प्रतीत होता है, क्यों कि काव्य बनाने में कवि को सुन्दर पदों तथा अर्थों की योजना ही तो करनी पड़ती है और यह काम बुद्धि-विशेष से ही हो सकता है । स्रक्चन्दनादिके समान अदृष्ट से वह सिद्ध रूप में प्राप्त नहीं होता और न गुणस्वरूप संस्कार से ही बन सकता है । हां, यह बात मानने योग्य अवश्य है कि हमारी नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि के प्रति अदृष्ट और संस्कार कारण हो सकते हैं ।

काव्यकारण के विषय में राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में बहुत सुन्दर और विशद विचार किया है, जो मैं पहले भी कह चुका हूँ, अब मैं यहां पाठकों के ज्ञानवैशद्य के लिये संक्षेप में उनके विचारों को उपस्थित कर देना अच्छा समझता हूँ ।

---

१. 'कवित्वस्य बीजं प्रतिभानम्' की व्याख्या में वामन लिखते हैं कि 'कवित्वस्य बीजं संस्कार-विशेषः कश्चित्'

२. 'शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कार-विशेषः, यां विना काव्यं न प्रसरेत् , प्रसृतं वा उपहसनीयम् स्यात् ।'

३. 'सा (प्रतिभा) च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः ।'

४. 'बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ।'

काव्यमीमांसा के विचार इस प्रकार हैं:—

'काव्यकर्म में कवि की 'समाधि' सर्वोत्कृष्ट व्यापार करती है, यह श्यामदेव का मत है। समाधि मन की एकाग्रता को कहते हैं। समाधिस्थ चित्त अर्थों को देखता है। 'अभ्यास' काव्य-कर्म में सब से बड़ा सहायक है, यह मङ्गल का मत है। लगातार काव्य-निर्माण-प्रयास को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास सब में सर्वविषयक हो सकता है और वह सब विषयों में मनुष्य को अतिकुशल बना देता है।

यायावर (राजशेखर) का मत है कि समाधि मानस और अभ्यास बाह्य प्रयास है, ये दोनों ही मिलकर शक्ति को प्रकट करते हैं और उन दोनों से प्रकट की गई शक्ति ही काव्य का कारण है। यह शक्ति प्रतिभा और व्युत्पत्ति से बहुत दूर की वस्तु है। शक्ति प्रतिभा और व्युत्पत्ति को उत्पन्न करती है। शक्तिशाली को ही कुछ भासित होता है और शक्तिशाली ही व्युत्पन्न होता है। शब्द-समूह, अर्थ-समूह, अलङ्कारतन्त्र और उक्ति-शैली एवं इसी तरह की अन्य कवित्वापेक्षित विषयों को जो हृदय में झलका दे, उसी को प्रतिभा कहते हैं। प्रतिभा हीन के लिये सामने की वस्तु भी परोक्ष के समान ही रहती है और प्रतिभाशालियों के लिये आंखों से दूर की वस्तु भी प्रत्यक्ष के समान हो जाती है।

यह प्रतिभा दो प्रकार की होती है—एक कारयित्री और दूसरी भावयित्री। इन दोनों में प्रथम पुनः तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। ये तीनों कवि के उपकारक होने से कारयित्री कहलाती हैं। भावुक-सहृदयों का उपकार करने वाली प्रतिभा भावयित्री कहलाती है। वही कवि के श्रम तथा अभिप्राय का ज्ञान कराती है। कवि-व्यापार-वृक्ष उसी के बलसे सफल होता है, अन्यथा वह निष्फल हो जायगा[1]।

कितने सुन्दर हैं काव्यमीमांसा के ये विचार? पाठकों को पूर्वोद्धृत मतों की अपेक्षा इन विचारों में अवश्य नूतनता प्रतीत होगी। इस प्रसङ्ग के और भी बहुतेरे नवीन विचार उस ग्रन्थ में किये गये हैं, जिनको मैं यहां विस्तार-भय से उद्धृत नहीं कर सका हूँ। जिज्ञासुओं को उक्त ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये।

रस

रस पर कुछ कहने से पूर्व दृश्यकाव्य की उत्पत्ति के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक

---

१. 'काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते' इति श्यामदेवः। मनस एकाग्रता समाधिः। समाहितं चित्तमर्थान्तरं पश्यति। 'अभ्यास' इति मङ्गलः। अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः। स हि सर्व-गामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते। समाधिरान्तरः प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः। तावुभावपि शक्ति-मुद्भासयतः। 'सा केवलं काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः। विप्रसृतिश्च (दूरवर्तिनी) सा प्रतिभा-व्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति, शक्तश्च व्युत्पद्यते। या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। सापि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च। भावकस्योप-कुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुः अन्यथा सोऽवकेशी स्यात्।' (काव्यमीमांसा)

है, क्योंकि दृश्यकाव्य के माध्यम से ही मुझे रस का विवेचन करना है और ऐसा इसलिये करता है कि दृश्यकाव्य के द्वारा ही रस का अनुभव स्पष्टरूप से किया अथवा कराया जा सकता है।

हार्दिक आनन्दातिरेक के सूचक बच्चों के खेल-कूद ही दृश्यकाव्य की उत्पत्ति के मूल हैं। बच्चे जब किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति करते हैं अथवा जब उनके किसी अनिष्ट का जिस किसी तरह निवारण होता है, तब उनके हृदय में आनन्द की बाढ़ सी आ जाती है, उस आनन्द की बड़ी बाढ़ को वे अपने छोटे हृदय-सरोवर में केन्द्रित नहीं कर पाते। फलतः वह आनन्द हृदय से बाहर आकर उनके अङ्ग-अङ्ग में फूट पड़ता है और वे उछल-कूद मचाने लगते हैं, आनन्द के इस प्रदर्शन में उन आनन्दित बच्चों से सहानुभूति रखने वाले दूसरे बच्चे भी सम्मिलित हो जाते हैं। बच्चों का यह आनन्द-प्रदर्शन (उछल-कूद) बड़े अभिभावकों को भी रुचिकर ही प्रतीत होता है।

जब लोगों ने इस तरह के आनन्द-प्रदर्शन के दर्शन से अपना मनोरञ्जन होते देखा, तब कुछ जागरूक और कल्पना-शील हृदय वालों ने इस मनोरञ्जक साधन का अनुकरण करके मनोरञ्जन करने की परिपाटी चलाई। पीछे उस युग के कवियों ने इस सम्बन्ध में कुछ और अधिक सोचकर यह तय किया कि यदि इन अनुकृत उछल कूदोंके साथ तदनुकूल वाणी भी रहे तो लोगों का और अधिक मनोरञ्जन हो सकता है। इस निष्कर्ष के अनुसार वे अतीत अथवा वर्तमान कल्पित किंवा सत्य घटनाओं को पद्यबद्ध करके उनका अनुकरण करने-कराने लगे जो वस्तुतः मूल अनुकरण से अधिक रोचक सिद्ध हुआ। आज भी उस तरह के अनुकरणात्मक पद्यबद्ध खेल ग्रामों में यत्र तत्र दृष्टि-गोचर होते हैं।

उन्हीं अनुकरणों का नाम पीछे आकर 'अभिनय' पड़ा। जिस पर पश्चात् अनेक पुस्तकें लिखी गईं, उसके अनेक भेद (आङ्गिक, वाचिक आदि) किये गये। इस तरह हमें मानना पड़ता है कि उन्हीं अभिनयों के विकसित रूप आज के दृश्यकाव्य (नाटक, ड्रामा आदि) हैं।

प्रारम्भ में उहापोह वाले शिक्षित जन उन अभिनयों से आनन्दान्वित होकर यह सोचने के लिये अन्तःकरण के द्वारा विवश किये गये कि नाटकीय वस्तुओं में वह कौन सी वस्तु है जिसमें यह आनन्द छिपा रहता है।

उन तर्कशील मानवों की गवेषणा का विषय वह आनन्द ही साहित्यिक परिभाषा में 'रस' कहा जाता है, क्योंकि व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार 'रस' शब्द का अर्थ होता है वह वस्तु-विशेष जिसका आस्वादन किया जा सके[1]।

बहुत कुछ सोचने विचारने के बाद उन तर्कशील मनुष्यों ने पहले यह तय किया कि नट अथवा नटी को अभिनय करते देख कर जिस प्रेमी अथवा प्रेमिका का स्मरण दर्शकों को हो आता है और उन स्मृतिपथारूढ प्रेमी-प्रेमिकाओं के बार-बार अनुसन्धान करने से एक प्रकार का आनन्द अनुभूत होने लगता है, वह प्रेम का आलंबन साहित्यिक परिभाषा में विभाव ही 'रस' है। तदनुसार कुछ दिनों तक यह स्थूल सिद्धान्त प्रचलित रहा कि 'आस्वाद्यमान विभाव ही रस है[2]'।

कुछ दिनों के बाद लोगों की विचार-धारा में परिवर्तन हुआ, उक्त सिद्धान्त अप्रौढ़ प्रतीत

---

१. 'रस्यते=आस्वाद्यते इति रसः'। २. 'भाव्यमानो विभाव एव रसः'।

होने लगा, क्योंकि उन परिवर्तित विचार-धारा वाले आलोचकों ने सोचा—यदि आलंबन विभाव ही रस रूप हो, तब उस आलंबन विभाव-स्थानीय नट में रति आदि के अनुकूल चेष्टाओं के नहीं रहने पर भी उसके दर्शन से आनन्द का अनुभव होना चाहिये, परन्तु वह होता नहीं, अतः विभाव रस नहीं है प्रत्युत उसकी वे चेष्टायें अर्थात् अनुभाव ही रस है जो पुनः पुनः भाव्यमान होकर आनन्द देता है। इस विचार के अनुसार यह सिद्धान्त आपाततः स्थिर हुआ कि 'पुनः पुनः अनुसंधीयमान अनुभाव ही रस है[1]।'

इस विचार से कुछ समय के लिये लोगों के मन में तुष्टि मिली, परन्तु आगे चलकर लोगों को उक्त विचार में त्रुटि प्रतीत होने लगी और लोगों की गवेषणात्मिका बुद्धि नवीन सिद्धान्त को प्रकट करने के लिये छटपटा उठी।

उक्त सिद्धान्त में असन्तोष का कारण यह हुआ कि लोगों की दृष्टि आलंबन विभाव की चित्त-वृत्तियों पर पड़ी, उनपर दृष्टि पड़ते ही उन्हें भान होने लगा कि ये चित्तवृत्तियां ही आनन्ददायिनी हैं—विभाव अथवा उनकी चेष्टायें नहीं, क्योंकि नट अथवा नटी नाना प्रकार की प्रेमपाशीय चेष्टाओं का प्रदर्शन करके भी तब तक दर्शकों को आनन्दानुभूति नहीं करा पाते, जब तक कि वे प्रेमी की हर्ष, आवेग आदि चित्तवृत्तियों का सफल प्रदर्शन नहीं करते। अतः उन विचारकों ने यह स्थिर किया कि 'पुनः पुनः अनुसंधान के द्वारा व्यभिचारी भाव (हर्षादिक चित्त-वृत्तियाँ) ही रस रूप में परिणत हो जाते हैं[2]।'

इस तरह उक्त तीनों सिद्धान्तों का जब क्रमिक विकास हो चुका, तब उन मतों पर आलोचायें होने लगीं और आलोचना करने पर विदित हुआ कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव इन तीनों में से नियमतः किसी एक को आनन्ददायक मानना ठीक नहीं, क्योंकि किसी किसी में रमणीय-रूप-माधुरी-मेदुर-नट को देख कर ही आनन्द का अनुभव होता है, तो किसी नाटक में नट के आङ्गिक अभिनयों को देख कर दर्शक मुग्ध हो उठते हैं, एवम् किसी नाटक में नट के द्वारा किया गया मनोभावों का रुचिर चित्रण ही लोगों को चमत्कृत करता है। अतः यह मानना उचित है कि 'इन तीनों भावों में जो जहाँ चमत्कारी हो, वहाँ वही रस है और चमत्कार-हीन होने पर कोई भी रस नहीं है[3]।'

इतने पर भी विद्वानों की गवेषणात्मक बुद्धि विरत नहीं हुई, रस-विषयक गवेषणा का क्रम जारी ही रहा, जिससे यह ज्ञात हुआ कि विभाव और अनुभाव की अपेक्षा चित्तवृत्यात्मक व्यभिचारी-भाव प्रधान हैं और उनसे भी रति, शोक, उत्साह, रोष, भय, विस्मय, जुगुप्सा और निर्वेद ये आठ भाव प्रधान हैं, क्योंकि इन आठों में से एक एक भी ऐसा है, जो भिन्न-भिन्न नाटकों में आदि से अन्त तक प्रतीत होता रहता है। जैसे-शृङ्गार रस प्रधान नाटक में रति और करुण प्रधान नाटक में शोक आदि। अन्य हर्ष, स्मृति आदि ऐसे ज्ञात हुये, जो कभी अनुभूत होते थे, कभी नहीं।

इस अनुभव के आधार पर उन विद्वानों ने भावों का नाम स्थायी रखा जो नाटक भर में प्रतीयमान थे। इसी तरह वे भाव व्यभिचारी कहलाये, जो कभी कभी अनुभूत होते थे।

इस प्रकार जब विद्वानों को स्थायीभावों का ज्ञान हुआ तब उन्हीं के आधार पर उन लोगों

---

१. 'अनुभावस्तथा'।   २. 'व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति'।

३. 'त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः, अन्यथा त्रयोऽपि न'।

ने रस को नौ भागों में विभक्त कर दिया। तदनुसार उसके बाद से आज तक शृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, रौद्र बीभत्स अद्भुत और शान्त ये नव-विध रस सर्वसम्मत हो कर प्रचलित हैं। परन्तु इस विभाग के हो जाने पर फिर विद्वानों के समक्ष 'रस क्या है?' यह प्रश्न विकट रूप में उपस्थित हुआ, क्योंकि इस वर्गीकरण के अनुसार पूर्वोक्त रसस्वरूपबोधक चारों ही मत तथ्यहीन प्रतीत होने लगे।

विद्वानों की वह प्रतीति बिलकुल सत्य थी, कारण यह कि एक ही वस्तु अनेक रस का विभाव हो सकती है, जैसे व्याघ्र, वीर, रौद्र और भयानक तीनों रसों का विभाव हो सकता है। इसी तरह अनुभाव भी अनेक रसों का एक हो सकता है, जैसे अश्रुपात, शृङ्गार, करुण और भयानक ये तीनों ही रसों के अनुभाव हैं।

व्यभिचारीभाव भी नियमित नहीं है, चिन्ता आदि व्यभिचारीभाव शृङ्गार, वीर, करुण तथा भयानक इन सभी रसों के पोषक होते हैं।

अब सोचिये कि इस स्थिति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव इन तीनों में से किसी एक को (चाहे वह चमत्कारी हो अथवा अचमत्कारी) रस कैसे माना जा सकता है, क्योंकि जब ये अनेक रसों में समानरूप से देखे जाते हैं, तब इनमें से एक एक से किसी निश्चित रस की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, अतः लोगों ने स्थिर किया कि—'विभाव अनुभाव और व्यभिचारी-भाव इन तीनों का समूह रस है[1]।' इस सिद्धान्त के अनुसार अब उक्त दोष का प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकता, क्योंकि विभावादि त्रिक में से एक-एक भले ही अनेक रस साधारण हों, पर उन तीनों का समूह भिन्न-भिन्न रस का भिन्न-भिन्न निश्चित ही रहेगा, अतः अब नियत रस की अभिव्यक्ति सम्भव है।

इसके बाद ही नाट्यशास्त्रप्रणेता भरतमुनि का आविर्भाव हुआ, उन्होंने अब तक जो रस का स्वरूप अनिश्चय के हिंडोले में इधर-उधर झूल रहा था, उसे निश्चित स्थान पर बैठा कर रस की एक ऐसी सुव्यवस्थित परिभाषा बनाई कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग, अर्थात् मिश्रण से स्थायीभाव रसरूप में परिणत हो गया है[2]।'

तात्पर्य यह है कि 'जैसे भोजन-विशेषज्ञ नमक, तेल और मसाले आदि नाना विध वस्तुओं से बने हुये व्यञ्जनों के साथ मिलाकर भात खाते हैं और व्यञ्जनों के मिश्रण से भात में एक विलक्षण आस्वाद का अनुभव करते हैं, वैसे ही विद्वज्जन भावों (विभावादिकों) और अभिनयों से सम्बद्ध स्थायीभावों का आस्वादन करते हैं[3]।'

इस सिद्धान्त के मूल में वह समालोचना काम करती है, जिसके द्वारा यह विदित होता है कि रति आदि उक्त आठों चित्तवृत्तियों—जो नाटक भर में प्रतीयमान होने के कारण स्थायीभाव कहलाती हैं—को विभाव उत्पन्न करते हैं, अनुभाव उन आठों वृत्तियों से उत्पन्न होते हैं और व्यभिचारीभाव यदा-कदा उनके साथ रह कर उन्हें पुष्ट करते हैं। अतः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव उनके उपकरणमात्र हैं, प्रधान वे चित्तवृत्त्यात्मक आठो भाव ही हैं, वे ही अभिनय

---

१. 'विभावादयस्त्रयः समुदिता रसाः'। २. 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

३. 'यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्। आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥

भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः। आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥

भी आनन्ददायक हैं, और उन्हीं आठों भावों का आस्वादन हम सभ्यगण करते हैं, फिर तो उन्हीं को रस मानना युक्तियुक्त है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों को पृथक्-पृथक् अथवा समुदित रूप में रस मानना युक्तिहीन अत एव अनुचित है।

इसके उपरान्त रस के विषय में भरतमुनि की उक्त परिभाषा को प्रमाणभूत मानकर उसकी व्याख्या आरम्भ हुई। भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ये चार आचार्य भरत-सूत्र के प्रधान व्याख्याकार हुये। यद्यपि अभिनवगुप्त के अतिरिक्त प्रथम तीन आचार्यों के व्याख्याग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं होते, तथापि काव्यप्रकाश आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में उनके मतों का अनुवाद नामोल्लेखपूर्वक किया गया है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि किसी युग में उन आचार्यों के द्वारा रचित नाट्यशास्त्र के व्याख्या ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे थे।

उक्त चारों आचार्यों ने रससम्बन्धी भरतसूत्र की भिन्न-भिन्न व्याख्या की है। चारों व्याख्याओं में प्रधानतया दो बातों पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है, एक तो इस पर कि रस का या रसात्मक बोध कैसा है? अर्थात्—ज्ञान के जो अनेक प्रसिद्ध भेद हैं प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्द आदि उनमें से रस का कौन सा ज्ञान होता है? और दूसरे इस पर कि जिस रस का हमें अनुभव होता है, वह वस्तुतः किस में रहता है? अनुकार्य रामादि में अथवा अनुकर्ता नटादि में, किंवा सहृदय सभ्यों में?

इन दोनों ही प्रश्नों का समाधान उक्त चारों आचार्यों ने अपने-अपने ढङ्ग से अपनी-अपनी व्याख्या में किया है।

(१) प्रथम व्याख्याकार भट्ट लोल्लट ने कहा है कि रस वस्तुतः अनुकार्य रामादि में ही रहता है, परन्तु नट आदि अनुकर्ता में भी राम आदि के आरोप कर लेने के कारण रह सकता है। इनके मत के अनुसार रस का ज्ञान 'सीताविषयक रति से युक्त यह (नट) राम है इत्यादि' रूप से होता है जो प्रत्यक्षात्मक है और 'सुरभिचन्दनम्' के समान सामने में उपस्थित विशेष्यभूत नट' अंश में लौकिक तथा सामने में अनुपस्थित सीतादि के अंश में अलौकिक माना जाता है। इनकी व्याख्या मीमांसादर्शन के अनुसार समझी जाती है।

(२) द्वितीय व्याख्याकार आचार्य शङ्कुक को लोल्लट का मत ठीक नहीं जंचा। इन्होंने कहा—संसार में सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशयज्ञान और सादृश्यज्ञान ये चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं। 'यह राम ही है', 'यही राम है' और 'यह राम है ही' ये तीनों ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं। इन तीनों ज्ञानों में क्रमशः 'इसके राम न होने का' 'इसके अतिरिक्त अन्य किसी के राम होने का' और 'इसके सर्वथा राम न होने का' निवारण होता है। इन्हीं निवारणों को क्रमशः अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद तथा अत्यन्तायोगव्यवच्छेद कहते हैं।

'यह राम नहीं है' इस तरह के उत्तरकालिक बाधज्ञान से पूर्वकाल में होने वाले 'यह राम है' इस तरह के ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं। 'यह राम है या नहीं' इस प्रकार के एकधर्मिकविरुद्ध विशेषद्वयावगाही ज्ञान को संशय-ज्ञान कहते हैं। 'यह राम के सदृश है' इस प्रकार के ज्ञान को सादृश्य ज्ञान कहते हैं।

परन्तु अभिनेता नट को देखकर जो हमें 'यह राम है' इत्यादि ज्ञान हमें होता है, यह उक्त चारों ज्ञानों से भिन्न है, वह उसी तरह का ज्ञान है। जिस तरह का ज्ञान चित्र में घोड़े को देखकर 'यह घोड़ा है' इत्यादि रूप से होता है।

इस तरह के ज्ञान के द्वारा नट को राम आदि समझ लेने पर अभिनय-निपुण नट के कौशल से स्थायीभाव के कारण कार्य और सहकारी अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक प्रतीत होने लगते हैं, और तब सहृदय सामाजिक, रामादि-निष्ठ सीतादि-विषयक रति की अनुमिति नट में कर लेते हैं। उसी अनुमिति का नाम रस है। इस मत के अनुसार वस्तुतः रस अनुकार्य में ही रहता है, परन्तु उसका आस्वादन अनुमिति द्वारा सामाजिकों को होता है अतः 'सामाजिकों में रस है' ऐसा व्यवहार भी किया जाता है। ज्ञान इस मत में अनुमित्यात्मक सिद्ध हुआ। इनका मत न्यायदर्शन से प्रभावित माना जाता है।

(३) भरतसूत्र के तृतीय व्याख्याकार भट्टनायक को यह मत भी पसन्द नहीं आया। उन्होंने कहा—काव्य के तीन व्यापार होते हैं, अभिधा, भावना और भोगकृत्व इनमें से प्रथम व्यापार के द्वारा काव्य के वाच्यार्थ ज्ञात होते हैं। द्वितीय व्यापार से राम, सीता आदि नाटकीय पात्र साधारण कर दिये जाते हैं अर्थात् व्यक्तिविशेषधर्म—रामत्व-सीतात्व आदि से रहित होकर केवल नायक-नायिका आदि के रूप में उपस्थित करा दिये जाते हैं और तृतीय व्यापार के जरिये रस का अनुभव होता है। परमार्थतः आत्मानन्द में विश्राम ही भोग है अतः वही रस है। इस मत के अनुसार रस सामाजिकों में रहता है और उसका ज्ञान आत्मसाक्षात्काररूप है। यह मत सांख्यदर्शनानुयायी कहलाता है।

(४) भरत सूत्र के चतुर्थ व्याख्याकार आचार्य अभिनवगुप्त का मत रस के विषय में सर्वाधिक मान्य है, अत एव प्रचार भी आज तक इसी मत का सबसे अधिक है। इन्होंने भट्ट नायक के मत में भी दोष दिखला कर कहा कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों से अभिव्यक्त अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा ज्ञात रति आदि स्थायीभाव रस है'। इस मत के अनुसार सामाजिकों की आत्मा में वासनारूप से स्थित अपनी रति आदि चित्तवृत्तियाँ ही रस रूप हो जाती हैं, ज्ञान इस मत के अनुसार शाब्द है, पर शाब्द होकर भी साक्षात्कार रूप है जैसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्यबोध शाब्द होकर भी साक्षात्कार रूप है।

कुछ नवीन विद्वानों का कथन है कि काव्य-श्रवण अथवा नाटक-दर्शन से विभावादिकों के ज्ञान हो जाने पर सहृदय पुरुष व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा रामादिनिष्ठ सीतादिविषयक रति का ज्ञान करते हैं, तदनन्तर सहृदयतासहकृत पुनः पुनः अनुसन्धान रूप भावनात्मक दोष से सामाजिकों अथवा श्रोताओं की अन्तरात्मा अज्ञानावृत हो जाती है, फिर उस अज्ञानावृत आत्मा में, सीप में चाँदी के समान अनिर्वचनीय रति आदि स्थायीभाव उत्पन्न हो जाते हैं और उनका सहृदयों को आत्मचैतन्य के साथ अनुभव होता है उन्हीं रति आदि का नाम रस है।

अन्य विद्वान् कहते हैं कि राम आदि की रत्यादि ज्ञान करने के लिये व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है, न अनिर्वचनीय रति आदि की कल्पना की ही आवश्यकता है। अभिनेता अथवा पाठकों की चेष्टा आदि से सीता आदि की रत्यादि राम आदि में अनुमित होती है और तदनन्तर उक्त भावनात्मक दोष से अपने को राम आदि समझने वाले सहृदयों में एक भ्रम उत्पन्न होता है कि 'मैं सीताविषयक रतिवाला राम हूँ'। इसी भ्रम को रस समझना चाहिये।

इस तरह रस के विषय में ११ मतों का उल्लेख पण्डितराज ने अपने रसगङ्गाधर में किया है और प्रथम तीन मतों को छोड़ कर शेष नौ मतों में भरत-सूत्र का संगमन भी किया है। परन्तु

लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मतों से भिन्न मतों की चर्चा अन्यत्र नहीं दीख पड़ती, अतः मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि पण्डितराज ने स्वयम् उन मतों का आविष्कार अपनी प्रखर-प्रतिभा के द्वारा किया है।

रसों की संख्या के संबन्ध में भी नाना मत-भेद है, अधिक लोग पूर्वोक्त नौ रस मानते हैं। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो शान्तरस नहीं मानते विशेषकर नाटक में उसको असम्भव बतलाते हैं[1]।

भवभूति केवल करुण रस को ही मानते हैं और अन्य रसों को उसी के विकार कहते हैं[2]। धाराधराधीश भोज केवल शृङ्गार को ही रस कहते हैं और अन्य रसों में रसप्रसिद्धि को ऐतिह्य-मूलक बतलाते हैं[3]। नारायण पण्डित अद्भुत को ही रस मान कर अन्य रसों का प्रत्याख्यान करते हैं[4]।

अग्निपुराण में रस का विचार कुछ भिन्न ही ढङ्ग का उपलब्ध होता है। उसमें कहा गया है कि 'वेदान्तदर्शन के द्वारा जो व्यापक नित्य परब्रह्म प्रतिपादित हुआ है, उसमें सहज आनन्द विद्यमान है। वह आनन्द किसी किसी समय पर प्रकट होता है, उसी आनन्दाभिव्यक्ति को चैतन्य चमत्कार और रस कहते हैं। उस आनन्दाभिव्यक्ति का प्रथम विकार ही अहङ्कार है। उस अहङ्कार से अभिमान (ममता) उत्पन्न होता है, जिस ममता में समस्त त्रिलोकी आबद्ध है। उसी ममता से रति (प्रेम) उत्पन्न होती है। वही रति व्यभिचारीभावों की समानता से पुष्ट होकर शृङ्गार रस कहलाती है। उसी के हास्य आदि अनेक भेद हैं। वही रति सत्वादि गुणों के प्रसार से राग, तीक्ष्णता, गर्व और संकोच इन चार रूपों में परिणत होती है, उनमें राग से शृङ्गार की, तीक्ष्णता से रौद्र की, गर्व से वीर की और संकोच से बीभत्स की उत्पत्ति होती है। अतः स्वभावतः ये चार ही रस हैं। किन्तु अनन्तर शृङ्गार से हास, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक की सृष्टि हुई तथा रति के अभावरूप निर्वेद से शान्त की सृष्टि हुई[5]।

---

१. 'शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात्। अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥'

२. 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नान् पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुद-तरङ्गमयान् विकारानम्भो यथा सलिलमेव च तत्समस्तम् ॥'

३. 'शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः ॥'
वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति ।
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेतामेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः ॥'

४. 'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते । तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्.............' ।

५. अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम् । वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन । व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहङ्कार इति स्मृतः । ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम् ॥
अभिमानाद् रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी । व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते ॥

गुण

इस प्रकरण में मुझे निम्नलिखित विषय-खण्डों पर विचार करना है। (१) गुणों की संख्या, (२) गुणों का काव्य में स्थान और (३) गुणों के लक्षण।

(१) गुण-निरूपण-परक-मतों को प्रधानतया दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, एक प्राचीनों का मत, दूसरा नवीनों का मत। नवीन-मत में गुणों की संख्या निश्चित सी हो गई है, परन्तु प्राचीन मत में उनकी संख्या सर्वथा अनिश्चित है।

प्राचीन मत के प्रथम आविष्कारक भरतने श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति ये दश गुण मानते हैं[1]।

अग्निपुराणकार ने श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, सती और यौगिकी ये सात शब्दगुण[2], माधुर्य संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि और सामयिकत्व ये छः अर्थगुण,[3] तथा प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, उदारता, पाक और राग ये छः उभय गुण—अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों के गुण[4] मिलाकर उन्नीस गुण बतलाये हैं।

वामन ने प्राचीन मत के अनुसार गुणों का विशद विवेचन किया है। प्राचीन मतों में सबसे अधिक प्रचार इन्हीं के मत का हुआ, अत एव परवर्त्ती मम्मट आदि आचार्यों ने इन्हीं के मत का खण्डन अपने अपने ग्रन्थों में किया है। इनके हिसाब से गुणों की संख्या बीस है, जिनमें दश शब्द गुण और दश अर्थगुण, यहां जो नाम दश शब्दगुण के हैं, वे ही अर्थ गुणों के भी रखे गये हैं, किन्तु लक्षणों में भेद कर दिए गये है। वे नाम हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता अर्थ-व्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि[5]। प्रकृत पुस्तक में वामन के मत का बहुत सुन्दर निरूपण किया गया है

भोजराज ने वामन के दशशब्द गुणों के अतिरिक्त उदात्तता, ऊर्जितता, प्रेयान्, सुशब्दता, सूक्ष्मता गम्भीरता, विस्तर, संक्षेप, संमितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि ये चौदह अन्य गुण मानकर इनकी संख्या चौबीस कर दी है[6]।

तद्भेदाः कामतोऽस्य हास्याद्या अप्यनेकशः। स्वस्वस्थायि विशेषोऽथपरिपोषस्वलक्षणाः ॥
सत्त्वादिगुणसन्तानाज्जायन्ते परमात्मनः। रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते ॥
वीरोऽवष्टम्भजः संकोचभूर्बीभत्स इष्यते। शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः ॥
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्बीभत्साद्भयानकः। शृङ्गारवीरकरुणरौद्रवीरभयानकाः ॥
बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः। लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा ॥

१. 'श्लेषः प्रसादः समताः समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥' (नाट्यशास्त्र)

२. श्लेषो लालित्यगाम्भीर्ये सौकुमार्यमुदारता। सत्येव यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा ॥

३. माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता। प्रौढिः सामयिकत्वं च तद्भेदाः षट् चकासति ॥

४. तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यमुदारता। पाको राग इति प्राज्ञैः षट् प्रपञ्चाः प्रपञ्चिताः ॥

५. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ॥

६. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता ॥

इसके अतिरिक्त दण्डी, वाग्भट और पीयूषवर्ष ने भी गुण पर लेखनी चलाई है परन्तु इनके मतों में कोई खास नवीनता नहीं है। दण्डी और वाग्भट तो भरत मत के एक तरह से अनुवादक मात्र हैं। पीयूषवर्ष ने भरत के गुणों में से ही कान्ति को शृङ्गार-रस में और अर्थव्यक्ति को प्रसाद गुण में गतार्थ मानकर उनकी संख्या दश से घटाकर आठ कर दी है।

इस प्रकार इन प्राचीनों में गुणों की संख्या में ही मतभेद नहीं है, अपितु लक्षण में भी परस्पर बहुत अधिक मत-भेद है। फलतः यही कहना पड़ता है कि इन आचार्यों के समय में गुण के संबन्ध में पूर्ण विचार नहीं किया गया, एक ने दूसरे के कथन की निष्पक्ष समालोचना नहीं की, वरन, जिसके मन में जब जो बात आई, उसी को उसने अपने ग्रन्थ में लिख दिया, जिसका कुपरिणाम यह हुआ कि इनके समय तक गुण के विषय में अराजकता की सी स्थिति बनी रही।

गुण के विषय में नवीन मत के आविर्भावक प्रथम आचार्य भामह हुए। इन्होंने प्राचीनों के मतों की अत्यधिक समालोचना करके स्थिर किया कि गुण तीन हैं—ओज, प्रसाद और माधुर्य।

भामह ने त्रिगुणवाद का स्थापन तो किया, परन्तु इस मत का पूर्ण प्रचार हुआ मम्मट के समय में। मम्मट ने प्राचीनों के कतिपय गुणों को दोषाभावरूप, कुछ को ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्यरूप तथा कुछ को वैचित्र्य मात्र रूप प्रमाणित कर दिया और शेष को इन्हीं तीनों गुणों में गतार्थ कर दिया। तब से आजतक इसी त्रिगुणवाद का प्रचार है। पण्डितराज ने भी गुणों की संख्या के विषय में मम्मट का अनुगमन ही किया है।

(२) काव्य में गुणों का क्या स्थान है इसके विषय में वामन तथा भोज का कथन है कि—'काव्य युवती के रूप के तुल्य है, क्योंकि जैसे युवती का रूप शील पातिव्रत्य आदि अच्छे गुण और अच्छे-अच्छे अलंकारों के योग से अधिक आकर्षक होता है, वैसे ही काव्य भी माधुर्यादिगुण और अनुप्रास तथा उपमादि अलंकारों के सम्बन्ध से अधिक रुचिकर होता है, एवम् गुणहीन काव्य यौवनविहीन नायिका के शरीर के समान है, उस स्थिति में जन-प्रिय अलंकार भी अप्रीतिकर हो जाते हैं[1]।' इससे यह सिद्ध होता है कि काव्य में गुण अलंकारों की अपेक्षा अधिक अपेक्षित वस्तु है।

भोज ने इस बात को और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है। वे कहते हैं—'सालंकार होने पर भी गुण-हीन काव्य सुनने योग्य नहीं होता। क्योंकि गुण और अलंकार के योग में गुण का योग प्रधान है[2]।'

ओजस्तथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता। तद्वत् समाधिः सौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमथ विस्तरः॥
संक्षेपः सम्मितत्वं च भाविकत्वं गतिस्तथा। रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिः........इत्यादि।

(सरस्वतीकण्ठाभरण)

१ युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥

२. अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्। गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥

काव्यप्रकाशकार आदि ने भी काव्य में अलंकारों की अपेक्षा गुणों की मुख्यता स्वीकार की है, क्योंकि वे कहते हैं कि गुण साक्षात् रस को उत्कृष्ट बनाते हैं और अलंकार शब्द-अर्थ के द्वारा।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि काव्य में गुणों का स्थान अलंकारों से ऊपर और रसादि आत्मस्थानीय व्यङ्ग्यों से नीचा है।

(३) गुण के लक्षण के संबन्ध में भी विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। भरत दोषों का निरूपण करके लिखते हैं कि 'इन दोषों के विपरीत जो कुछ वस्तु हैं वे गुण हैं[1]।

अग्निपुराणकार कहते हैं कि 'काव्य में विपुल शोभा को जन्म देने वाली वस्तु शब्द गुण है[2]।' 'शब्दप्रतिपाद्य जिस किसी वस्तु को उत्कृष्ट बनानेवाली चीज अर्थगुण है[3]।' और 'शब्द तथा अर्थ दोनों का उपकारक जो हो वह शब्दार्थोभय गुण है[4]।'

दण्डी का कथन है कि 'जो वस्तु विशिष्ट रचना का प्राण हो, वह गुण है[5]।' वामन कहते हैं कि 'काव्य-शोभा-कारक धर्मगुण हैं[6]।'

इसके अनन्तर यह शंका उत्पन्न हुई कि जब शब्द और अर्थ को उत्कृष्ट बनाने वाले पदार्थ-विशेष ही गुण और अलंकार भी है, तब इन दोनों में भेद क्या है?

इसके उत्तर में वामन ने कहा कि 'काव्यशोभा के जन्मदायक धर्मगुण हैं और उस शोभा को अतिशयित करने वाले धर्म अलंकार हैं[7]।'

परन्तु आनन्दवर्धन के द्वारा आविष्कृत ध्वनिवाद के अनुसार रसादि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों की काव्यात्मता स्थापित हो जाने पर गुण के विषय में लोगों का मत बदला और मम्मट ने कहा कि 'आत्मा के शौर्य आदि के समान काव्य में अङ्गिभूत रस (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) के उत्कर्ष धर्म गुण हैं और ये गुण काव्य में अचलस्थिति-अर्थात् अवश्य रहने वाले हैं[8]।' इस कथन से गुणालंकार में परस्पर भेद भी सिद्ध हो जाता है—अर्थात् रस के धर्म और काव्य में नियमतः रहनेवाले गुण और शब्दार्थ के धर्म तथा अनियमित रूप में रहनेवाले अलंकार हैं। एतन्मूलक ही ध्वनिकारानुयायियों का यह कथन है कि 'शब्द तथा अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस आदि आत्मा हैं, गुण शूरता आदि के समान हैं, दोष काणत्वादि के तुल्य हैं और अलंकार कटककुण्डलादियों के सदृश हैं[9]।

यह तो हुई गुण के सामान्य लक्षण की बात, अब विशेष लक्षण की ओर चलिये। प्राचीनों के गुणों के खण्डन हो जाने के बाद जिस त्रिगुणवाद की स्थापना नवीनों ने की उसके अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद ये जो तीन नाम गुणों के रखे गये, उसके मूल में कोमल-कठोर

---

१. 'गुणाविपर्ययादेषाम्'। २. 'यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णाति असौ गुणः।'

३. 'उच्यमानस्य शब्देन यस्य कस्यापि वस्तुनः। उत्कर्षमावहन्नर्थो गुण इत्यभिधीयते॥'

४. 'शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुणः स्मृतः।'

५. 'एते वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।' (काव्यादर्श)

६. 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।' (अलंकारसूत्र)

७. 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।

८. 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः॥'

९. 'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्।'

और स्पष्टार्थक यह रचना की विविधता ही है, यह समझ कर कुछ लोग गुणों को रचनावृत्ती ही मानने लगे।

परन्तु आगे चलकर जब यह विभाग किया गया कि शृङ्गार, करुण और शान्तरसों के लिये कोमल, वीर, रौद्र और वीभत्स रसों के लिये कठोर तथा सभी रसों के लिये स्पष्टार्थक रचना आवश्यक है, तब इन रचनाओं से युक्त रसों के आस्वादन से मन पर पड़ने वाले प्रभाव का भी अन्वेषण किया गया, जिससे यह निश्चय हुआ कि कोमल-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्तद्रुत होता है, कठोर-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्त उद्दीप्त होता है और स्पष्टार्थक-रचना-युक्त-रसास्वाद से चित्त विकसित होता है।

कुछ और अधिक गम्भीर आलोचन करने पर यह भी ज्ञात हुआ कि चित्त पर उक्त प्रकार के प्रभावों को डालने वाली रचनायें नहीं हैं वरन् रस है, क्योंकि विरुद्ध रस में विरुद्ध रचना उस तरह का प्रभाव नहीं डाल पाती। फलतः यह निर्णय हुआ कि कोमल रसों में रहनेवाली आह्लादकता ही माधुर्य, कठोर रसों में रहने वाली उद्दीपकता ही ओज है और शुष्केन्धन में अग्नि के समान शीघ्र चित्त को व्याप्त करने वाली विकासकता ही प्रसाद है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि गुण वस्तुतः रस-धर्म हैं परन्तु आरोप के द्वारा 'यह रचना मधुर है' इत्यादि व्यवहार भी होते हैं।

पण्डितराज के विचार से द्रुति, दीप्ति और विकास ये चित्तवृत्तियाँ ही क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण हैं, रस उनके प्रयोजक हैं, अतः प्रयोजकता संबन्ध से रस में भी ये गुण रहने वाले हुये अत एव 'रस मधुर है' इत्यादि व्यवहार किये जाते हैं। एक बात उन्होंने और कही है, वह यह कि जिस तरह रस गुणों के प्रयोजक होते हैं, उसी तरह शब्द, अर्थ और रचना भी, अतः उनमें भी प्रयोजकता संबन्ध से वे गुण रहते ही हैं, फिर उपचार के द्वारा 'शब्द मधुर है', 'रचना मधुर है' इत्यादि व्यवहार को सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ तैलङ्ग ब्राह्मण थे[1]। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट[2] अथवा पेरमभट्ट[3] था। इनकी जननी लक्ष्मी नाम से प्रसिद्ध थी[4]। इनके पिता पेरुभट्ट अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने ज्ञानेन्द्रभिक्षु नामक किसी संन्यासी से वेदान्तशास्त्र का, महेन्द्र नामक विद्वान् से न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का, खण्डदेवोपाध्याय से पूर्व मीमांसा का और शेषवीरेश्वर पण्डित से व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन किया[5] था। इतना ही नहीं, इन शास्त्रों से भिन्न वेदादि शास्त्रों में भी वे परम प्रवीण थे[6]।

पण्डितराज ने अपने सर्वविद्याविशारद पिता से ही सब विषयों का अध्ययन किया, परन्तु अपने पिता के गुरु शेषवीरेश्वर से भी प्रायः कुछ पढ़ा था, ऐसा माना जाता है, क्योंकि मनोरमा

१. [illegible])

२. '[illegible] पेरुभट्टात्मजम्...' (पृ० २) ३. प्राणाभरण में।

४. 'लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्...' (पृ० ३) ५. 'श्रीमद्ज्ञानेन्द्रभिक्षोः...' इत्यादि (पृ० ३)

६. रसगंगाधर के 'सर्वविद्याधर' पद से सूचित होता है।

कुचमर्दन' नामक अपने ग्रन्थ में पण्डितराज ने अपने गुरु के रूप में उनका स्मरण किया है[१]।

पण्डितराज स्वयं भी सब शास्त्रों में प्रगाढ पण्डित थे, विशेष कर दर्शन और साहित्यशास्त्र पर इनका अद्भुत अधिकार था। इस बात की पुष्टि रसगङ्गाधर में स्थान-स्थान पर व्यक्त किये गये विचारों से होती है, अतः इसकी पुष्टि के लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

पण्डितराज अपने युग के विद्वानों में सर्वाधिक भाग्यशाली समझे जा सकते हैं, क्योंकि ये युवावस्था में ही अपनी विमलविद्या के प्रभाव से तत्कालीन बादशाह शाहजहाँ के कृपा-पात्र बन गये और उन्हीं से 'पण्डितराज' की उपाधि प्राप्त कर उन्हीं के आश्रय में अपनी युवावस्था को सुखपूर्वक विताये[२]। शाहजहाँतनय दाराशिकोह का वर्णन पण्डितराज ने अपने 'जगदाभरण' नामक निबन्ध में किया है, अतः दाराशिकोह की छत्रच्छाया में भी इनके जीवन का कुछ अंश व्यतीत हुआ था ऐसा भी लोगों का अनुमान है।

स्थितिकाल

यह निश्चित है कि पण्डितराज शाहजहाँ के दरबार में बहुत दिनों तक रहे और शाहजहाँ के विषय में इतिहास बतलाता है कि १६२८ ई० में उसका राज्याभिषेक हुआ और १६५८ ई० में अपने पुत्र औरङ्गजेब के द्वारा वह कैद कर लिया गया, तथा १६६६ ई० में मर गया, अतः यह निश्चित होता है कि पण्डितराज का भी स्थितिकाल वही है। हाँ यह सम्भव है कि शाहजहाँ के मरण के बाद भी पण्डितराज अपनी स्थिति से इस भूतल को कुछ समय तक कृतार्थ करते रहे हों।

किंवदंतियाँ

पण्डितराज के विषय में अनेक तरह की किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं और सभी किंवदंतियाँ कुछ अंशों में भिन्न होने पर भी बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं, अतः उन किंवदंतियों में तथ्य अवश्य होगा ऐसा मेरा व्यक्तिगत विश्वास है।

कुछ लोगों का कथन है कि 'पण्डितराज अध्ययन के बाद आरम्भ में जयपुर आये और वहाँ उन्होंने एक पाठशाला स्थापित की और वहीं दिल्ली से आये हुये किसी काजी को, मुसलमानों के मजहबी ग्रन्थों को शीघ्र पढ़कर विवाद में परास्त कर दिया। जब वह काजी जयपुर से लौटकर दिल्ली गया तब बादशाह के आगे उसने पण्डितराज की बड़ी प्रशंसा की। बादशाह काजी के मुख से पण्डितराज की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुआ और पण्डितराज को दिल्ली बुला लिया।

विलासमय दिल्ली दरबार में बादशाह के कृपाभाजन बने हुये पण्डितराज किसी यवन-कन्या पर आसक्त हो गये और बादशाह की अनुकम्पा से उस यवनी प्रेयसी के साथ पाणि-ग्रहण करने में भी समर्थ हुये। इस तरह इन्होंने अपनी युवावस्था बादशाह के आश्रय में ही सुखपूर्वक बिताई। परन्तु वृद्ध होने पर उस यवन प्रेयसी को साथ लेकर वे काशी चले आये। किन्तु काशी में अप्पय दीक्षित आदि विद्वानों ने 'यवनी-संसर्ग-दूषित' कह कर इनका बहुत अपमान किया और जातिच्युत भी कर दिया।

---

१. 'अस्मद्गुरुपण्डितवीरेश्वराणाम्……' (मनोरमाकुचमर्दन)

२. 'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः' (भामिनीविलास)

काशी में पण्डितराज अपने को पवित्र सिद्ध करने के लिये गङ्गा-तट पर सब से ऊपर की सीढ़ी पर बैठकर तत्काल रचित स्वकीय पद्यों से (जिनका संग्रह गङ्गालहरी नाम से प्रकाशित है) गंगा की स्तुति करने लगे। आपकी स्तुति से गंगा जी प्रसन्न होकर प्रति पद्य पर एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ती हुई बावनवें पद्य पर आपके निकट पहुँच गईं और यवनकन्या सहित आप गंगा जी के पावन जल में समाविष्ट हो गये।

ईर्ष्यालु काशीवासी पण्डित-मण्डल पण्डितराज के इस चमत्कार को देख कर चकित हो उठे और उसी दिन से सभी पण्डितराज की स्तुति करने लगे।'

कुछ लोग कहते हैं कि—'बादशाह की कृपा से अतुल सम्पत्ति पाकर पण्डितराज धनोन्मत्त हो उठे, यौवनरूप वह्नि में उस सम्पत्ति ने घृताहुति का काम किया, उनकी विवेक-ज्योति लुप्त हो गई और वे अन्ध होकर किसी यवन-तरुणी पर आसक्त हो गये। परन्तु कुछ ही समय के बाद उस यवनी की मृत्यु हो गई। उसके मरण से पण्डितराज के हृदय पर बड़ी चोट लगी, दिल्ली भी उन्हें अप्रिय प्रतीत होने लगी, अतः वे दिल्ली छोड़ कर काशी चले आये, किन्तु काशी में भी उन्हें शान्ति नहीं मिली, प्रेयसी का विरह तो इन्हें सता ही रहा था, साथ ही साथ काशी के पण्डितों ने भी इन्हें सताना आरम्भ कर दिया। यवनी संसर्ग की बात सुन कर काशी के पण्डित बात-बात में इनका अनादर करने लगे। अन्त में पण्डितराज अपने जीवन से ऊब गये और वर्षा की उमड़ती हुई गङ्गा की धारा में स्व-निर्मित गंगालहरी का पाठ करते हुये कूद पड़े-डूब मरे।'

एक किंवदन्ती यह भी है कि—'वृद्धावस्था में एक दिन काशी के गङ्गा-तट पर पण्डितराज अपनी यवन-प्रेयसी को बगल में दबाये सो रहे थे और इनकी शुक्ल शिखा खटिया से नीचे लटक रही थी, मुख वस्त्र से ढका था। इसी समय संयोग से अप्पयदीक्षित उसी घाट पर स्नान करने के लिये आये और एक वृद्ध का ऐसा निकृष्ट आचरण देख कर कह उठेः—

'किं निश्शङ्कं शेषे शेषे वयसि त्वमागते मृत्यौ।'

'इस शेष वय में जब मृत्यु शिर पर लटक रही है—इस तरह निश्शङ्क होकर क्या सो रहे हो?'—अब भी तो विषय-भोग से मुख मोड़ो, कुछ ईश्वर का चिन्तन करो।

इस पद्यांश को सुनकर पण्डितराज ने जब मुख निकाल कर उनकी ओर देखा, तब उन्हें पहचान कर दीक्षित जी हार कह उठेः—

'अथवा सुखं शयीथा निकटे जागर्ति जाह्नवी भवतः॥'

'अथवा आप सुख से सोयें, क्योंकि आपके निकट में गङ्गा जी वर्तमान हैं।'

कुछ लोग इससे भी कुछ भिन्न तरह की किंवदन्ती कहते हैं। उसका सारांश यह है कि 'पाठावस्था में ही जयपुरनरेश मिर्जा राजा जयसिंह जी काशी से इन्हें जयपुर ले आये। कारण यह था कि बादशाह के दरबार में मुल्ला लोग उक्त जयपुरनरेश पर आक्षेप करते हुये कहते थे कि 'आप लोग वास्तविक क्षत्रिय नहीं हैं, क्योंकि परशुराम जी ने जब इक्कीस बार इस पृथ्वी को निःक्षत्रिय बना डाला, तब आपके पूर्वज बचे कैसे? दूसरे यह कि अरबी भाषा संस्कृत से प्राचीन है'।

यह आक्षेप जयपुर नरेश को बराबर खटकता था, परन्तु इन आक्षेपों का कोई उपयुक्त उत्तर सूझ नहीं पड़ता था, अतः वे किसी ऐसे प्रतिभाशाली विद्वान् के अन्वेषण में थे, जो इन आक्षेपों का उत्तर दे सके। पण्डितराज में उन्हें वह स्फुरन्मुखी प्रतिभा दीख पड़ी, उनसे उन्होंने उक्त आक्षेपों की बात कही। पण्डितराज ने उन मुल्लों को निरुत्तर करने की प्रतिज्ञा की, इसके बाद पण्डितराज जयपुर लाये गये। जयपुर आकर पण्डितराज ने कहा कि प्रथम आक्षेप का उत्तर तो मैं अभी दे सकता हूँ, परन्तु द्वितीय आक्षेप के उत्तर देने के लिये मुझे अरबी का अध्ययन करना आवश्यक होगा, इस पर जयपुरनरेश ने आगरे में रख कर पण्डितराज को अरबी पढ़ने का अवसर दिया। जब पण्डितराज ने अरबी का अध्ययन कर लिया, तब जयपुरनरेश उन्हें दिल्ली के साही दरबार में ले गये। वहाँ जाकर पण्डितराज ने प्रथम आक्षेप का उत्तर यह दिया कि 'परशुराम ने पृथ्वी को २१ बार निःक्षत्रिय किया' इस लोकोक्ति का यह अर्थ नहीं हो सकता कि एक भी क्षत्रिय नहीं बचा, क्योंकि यदि वैसा अर्थ माना जाय तब २१ बार वाली बात मिथ्या हो जायगी—अर्थात् प्रथमबार में ही जब सब क्षत्रिय मारे जा चुके, तब फिर क्षत्रिय आये ही कहाँ से जो फिर-फिर उन्होंने पृथ्वी को निःक्षत्रिय किया? अतः यह मानना होगा कि अधिकतर क्षत्रियों के मर जाने पर भी कुछ क्षत्रियशिशु बचे रहे फिर यदि २० बार तक कुछ कुछ क्षत्रिय बच रहे, तो २१ वीं बार भी कुछ बच गये होंगे और वे ही इन क्षत्रिय राजाओं के पूर्वज हैं।

दूसरे आक्षेप के उत्तर में उन्होंने यह कहा कि 'मुसलमानों के 'हदीस' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'मुसलमानों को हिन्दुओं से सर्वथा विपरीत आचरण करना चाहिये, यही उनका धर्म है'।

इस वाक्य से सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व हिन्दुओं का कोई धर्म था और धर्म भाषा के बिना हो नहीं सकता, अतः यह भी सिद्ध है कि हिन्दुओं की कोई धार्मिक भाषा थी और वह भाषा संस्कृत से अतिरिक्त हो नहीं सकती, अत एव यह निर्णीत हो जाता है कि अरबी से संस्कृत भाषा प्राचीन है।'

इन उत्तरों को सुनकर गुणग्राही बादशाह शाहजहाँ परम प्रसन्न हुआ और पण्डितराज को अपने यहां आदरपूर्वक रख लिया।

इन किंवदंतियों से जो तथ्य निकलते हैं, वे ये हैं—पण्डितराज का बादशाह के दरबार में प्रवेश जयपुर महाराज के द्वारा हुआ। वहां पण्डितराज ने किसी यवनी पर आसक्त हो कर उसको अपनी प्रेयसी बनाया। अन्तिम अवस्था में वे काशी में अप्पयदीक्षित आदि विद्वानों से अपमानित हुये। पण्डितराज किसी यवन सुन्दरी पर आसक्त थे इस बात की पुष्टि उन्हीं के बनाये कतिपय पद्यों से भी होती है[१]।

---

१. 'यवनी नवनीतकोमलाङ्गी, शयनीये यदि नीयते कदापि।
अवनीतलमेव साधु मन्ये, न वनी माघवनी विनोदहेतुः॥
न याचे गजालिं न वा वाजिराजं, न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदापि।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता, लवङ्गी कुरङ्गी दृगङ्गी करोतु॥
सुरधुनिमुनिकन्ये! तारयेः पुण्यवन्तम्।

अप्पयदीक्षित और पण्डितराज

कुछ लोग कहते हैं कि पण्डितराज अप्पयदीक्षित के समकालिन नहीं थे, क्योंकि दीक्षित जी के भ्रातृपौत्र नीलकण्ठ दीक्षित अपने नीलकण्ठ-विजय चम्पू' में लिखते हैं कि 'यह नीलकण्ठ विजयकाव्य कलियुग के ४७३८ वर्ष बीतने पर लिखा गया है[1]।

यह समय ईसवी सन् १६३९ के लगभग होता है, जो शाहजहां का राज्य-काल था। अतः यह सिद्ध होता है कि नीलकण्ठ दीक्षित ही पण्डितराज के समकालीन थे, न कि उनके पितामह-भ्राता अप्पयदीक्षित।

पण्डितराज अप्पयदीक्षित के समकालीन नहीं थे इसमें दूसरी युक्ति यह दी जाती है कि—'शेष-श्रीकृष्ण के पुत्र शेषवीरेश्वर पण्डितराज के पिता के गुरु थे और शेषश्रीकृष्ण के छात्र थे भट्टोजि-दीक्षित, जो अप्पयदीक्षित के समकालीन थे, फिर पण्डितराज अपने पिता के गुरु के पिता के काल में होने वाले दीक्षित के समकालीन कैसे हो सकते हैं? और जब ये दोनों विद्वान् समकालीन थे ही नहीं, तब इन दोनों में परस्पर विरोध की बात भी निराधार ही है इत्यादि।'

परन्तु गम्भीर विचार करने पर इन दोनों का समकालीनत्व असंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इन दोनों के समकालीन होने में किंवदन्तियों के साथ साथ बहुत कुछ प्रमाण भी प्राप्त होते हैं, जैसे—'सिद्धान्तलेशसंग्रह' के कुंभकोणवाले संस्करण की भूमिका में एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'घमंडी द्राविड़ (अप्पयदीक्षित आदि) के दुराग्रहरूप-भूतावेश से गुरुद्रोही भट्टोजिदीक्षित ने भरी सभा में बिना सोचे-समझे पण्डितराज को म्लेच्छ कह दिया था, जिसको धैर्यनिधि पण्डितराज ने उनका (भट्टोजिदीक्षित की) मनोरमा का कुच मर्दन करके सत्य कर दिखाया, अर्थात् उनके मनोरमा नामक ग्रन्थ का खण्डन कर दिया और अप्पयदीक्षित आदि (भट्टोजिदीक्षित के समर्थक) देखते ही रह गये।'

> दृप्यद्द्राविडदुर्ग्रहग्रहवशान्म्लिष्टं गुरुद्रोहिणा,
>
> यन्म्लेच्छेति वचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना।
>
> तत्सत्यापितमेव धैर्यनिधिना यत्स व्यमृद्नात् कुचम्,
>
> निर्बध्याऽस्य मनोरमामवशयन्नप्पय्याद्यान् स्थितान्॥

---

१. 'जयति [illegible] ।
[illegible],
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥'

२. 'अष्टात्रिंशदुपस्कृतसप्तशताधिकचतुःसहस्रेषु।
कलिवर्षेषु गतेषु ग्रथितः किल नीलकण्ठविजयोऽयम्॥'

इस पद्य से सिद्ध होता है कि भट्टोजिदीक्षित, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज एक काल में ही इस धरा को सुशोभित कर रहे थे।

एक दूसरा भी श्लोक इस प्रसंग पर उद्धृत करने योग्य उपलब्ध है जिसका सारांश है कि—'अप्पयदीक्षित अपने जीवन के ७२ वें वर्ष के पूर्वार्ध में विश्वजित् याग करने के प्रसङ्ग से पृथ्वी के चारों ओर भ्रमण करते हुये भट्टोजिदीक्षित आदि सकल विद्वानों को विजय किया और उस प्रसिद्ध पण्डितराज जगन्नाथ (जो पहले जातिच्युत किये गये थे) का उद्धार कर दिया। फिर उसी वर्ष के उत्तरार्ध में विश्वजित् याग करके चिदम्बरम् क्षेत्र में सभी सज्जनों के सामने आत्मज्योति को प्राप्त कर गये।'

यष्टुं विश्वजिता यता परिधरं सर्वे बुधा निर्जिता,
भट्टोजिप्रमुखाः, स पण्डितजगन्नाथोऽपि निस्तारितः।
पूर्वेऽर्धे, चरमे, द्विसप्ततितमस्याब्दस्य सद् विश्वजि-
द्याजी यश्च चिदम्बरे स्वमभजज् ज्योतिः सतां पश्यताम् ॥

इस श्लोक के अनुसार भी पण्डितराज, अप्पयदीक्षित और भट्टोजिदीक्षित का समकालीनत्व सिद्ध होता है।

बात रही उक्त दोनों विरोधी युक्तियों की, पर उनका समाधान भी कठिन नहीं है, क्योंकि प्रथम युक्ति के द्वारा पण्डितराज अप्पयदीक्षित के भ्रातृ-पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के समकालीन सिद्ध किये गये हैं, यदि यह बात मान भी ली जाय, तथापि पण्डितराज और अप्पयदीक्षित के समकालीनत्व में कोई बाधा नहीं होती अर्थात् यह संभव है कि 'नीलकण्ठ-विजय' के निर्माणकाल तक अप्पयदीक्षित जीवित रहे हों। युवक पौत्र को देखने वाले वृद्ध आज भी सर्वथा दुर्लभ नहीं हैं, उस युग में तो लोग और अधिक दीर्घायु होते थे और नीलकण्ठ दीक्षित तो अप्पयदीक्षित के अपना पौत्र भी नहीं, वरन भ्रातृ-पौत्र थे, फिर तो यह सर्वथा सम्भव है कि ३० वर्ष के भ्रातृ-पौत्र के समय में ७२ वर्ष के पितामहभ्राता वर्तमान रहा हो।

द्वितीय युक्ति का समाधान भी इसी तरह किया जा सकता है—अर्थात् भट्टोजिदीक्षित और अप्पयदीक्षित समकालीन थे, यह बात निर्णीत है और भट्टोजिदीक्षित शेषश्रीकृष्ण के छात्र थे, एवं शेषवीरेश्वर-जो पण्डितराज के गुरु थे—उनके पुत्र थे, फिर पण्डितराज और अप्पयदीक्षित की समकालीनता में सन्देह करने का कोई अवसर ही नहीं है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि जब पण्डितराज युवक रहे होंगे, तब दीक्षित जी वृद्ध हो गये होंगे, अत एव द्राविड़, महाराष्ट्र और तैलङ्ग इन सहभोजी जातियों में उनकी सरपञ्ची तथा उनके द्वारा पण्डितराज की जातिच्युति की बात भी संगत होती है।

स्वभाव

पण्डितराज का स्वभाव अत्यन्त उग्र था, वे कटु सत्य को भी अनायास व्यक्त करने में संकुचित नहीं होते थे। एक समय किसी ने पण्डितराज को अपनी कविता सुनाना चाहा। परन्तु उन्होंने कविता सुनने के पहले ही कह दिया—'मित्र ! यदि आप पूर्ण परिपक्व होने के कारण चूते हुये दाख के रस की मधुरता के गर्व को खर्व कर देने में समर्थ वचनों

के मर्मज्ञ हैं, तब तो मेरे सामने सुख से अपनी कविता पढ़िये। अन्यथा यदि आप उस तरह की वाणी के मर्मज्ञ न हों तो स्वकृत पापाचरण के समान अपनी कविता को हृदय से बाहर मत कीजिये[1]।'

विधाता ने पण्डितराज के स्वभाव में अभिमान को कूट-कूट कर भर दिया था। इनकी गर्वोक्तियाँ संस्कृत समाज में प्रसिद्ध हैं। वे कहते हैं—'दुनियां में कविता करने वाले बहुत लोग हैं, परन्तु मृद्वीकापाक अर्थात् अत्यन्त मधुर-वाणी का आचार्य मैं ही हूँ, इस पद के अधिकारी होने का सौभाग्य दूसरे को कहाँ[2]?' कितनी बड़ी गर्वोक्ति है? किसी नायिका के वर्णन में आप कहते हैं—'यह नायिका मेरी कविता के समान[3] मनोहर है? गर्व को अभिव्यक्त करने की कैसी निराली छटा है? आपकी कविता से जिन्हें आनन्द का अनुभव नहीं होता, उन्हें आप जीवित-मृतक कहते हैं।[4]

उग्र स्वभाव के कारण ही पण्डितराज प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित विद्वानों की उक्तियों में दोष दिखलाने में नहीं चूकते। अप्पयदीक्षित से तो पण्डितराज का स्वाभाविक विरोध ही था, अतः यदि उनके ग्रन्थों का खण्डन उन्होंने दुराग्रहपूर्वक किया है तो उतना अनुचित नहीं, क्योंकि विरोधियों का खण्डन सभी करते हैं। परन्तु जिन आनन्दवर्धन, मम्मट आदि विद्वानों का स्थान स्थान पर आपने आदर से स्मरण किया है, उनके वचनों में भी यत्र-यत्र दोष-दर्शाने में आप बाज नहीं आये हैं।

धर्म और अन्तिम काल

पण्डितराज ने यद्यपि स्थान-स्थान पर सभी देवताओं का स्मरण मङ्गलरूप में किया है, थापि आप प्रधानतया वैष्णव धर्म के अनुयायी थे, ऐसा प्रतीत होता है। आपके जीवन का अन्तिम भक्तिमय समय काशी अथवा मथुरा में व्यतीत हुआ।[5]

---

१. [illegible]

[illegible]

काव्यं तर्हि सखे सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां,

नो चेद्दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्बहिर्मा कृथाः॥

२. 'आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधेः,

यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।

मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां,

वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥'

३. '[illegible] मनोऽभिरामा

[illegible]।'

४. 'ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो,

न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथ-भणितिः।'

५. 'सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्त्वं परं चिन्त्यते'

यह पाठ भामिनीविलास के कुछ पुस्तकों में है और कुछ पुस्तकों में तो—'सम्प्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते' ऐसा पाठ है।

पण्डितराज के ग्रन्थ

१—**अमृतलहरी**—इसमें यमुनाजी की स्तुति की गई है। यह काव्यमाला में मुद्रित हो चुकी है।

२—**आसफविलास**—इसमें नवाब आसफखाँ का वर्णन किया गया है। काव्यमाला में इसकी कुछ पङ्क्तियाँ ही प्रकाशित हुई हैं।

३—**करुणालहरी**—इसमें विष्णु की स्तुति है। यह काव्यमाला में मुद्रित है।

४—**चित्रमीमांसाखण्डन**—इसमें अप्पयदीक्षित कृत चित्रमीमांसा का खण्डन है। यह भी काव्यमाला में प्रकाशित हो चुका है।

५—**जगदाभरण**—इसमें शाहजहाँतनय दाराशिकोह का वर्णन है। यह भी काव्यमाला में मुद्रित है।

६—**पीयूषलहरी**—यह भी काव्यमाला में तथा अन्यत्र भी मुद्रित है, इसका प्रसिद्ध नाम गंगालहरी है।

७—**प्राणाभरण**—यह नेपालनरेश प्राणनारायण का वर्णनपरक खण्डकाव्य है। काव्यमाला में इसका प्रकाशन हो चुका है।

८—**भामिनीविलास**—इसके अनेक संस्करण हो चुके हैं, इसमें पण्डितराज की फुटकर कविताओं का संग्रह है।

९—**मनोरमाकुचमर्दन**—यह भट्टोजिदीक्षित कृत मनोरमा ग्रन्थ का खण्डन है, यह 'हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला' काशी में प्रकाशित है।

१०—**यमुनावर्णन**—यह ग्रन्थ आज तक प्राप्त नहीं हुआ, केवल रसगंगाधर में उद्धृत कतिपय अंशों से इस गद्यमय ग्रन्थ का पता चलता है।

११—**लक्ष्मीलहरी**—लक्ष्मी स्तुति परक यह पुस्तक काव्यमाला आदि में छप चुकी है।

१२—**रसगंगाधर**—यह ग्रन्थ पाठक के हाथों में है। पण्डितराज की कीर्ति-इसी पर निर्भर है। परन्तु खेद है कि पण्डितराज का यह ग्रन्थरत्न अपूर्ण ही उपलब्ध होता है।

अन्य जगन्नाथ

संस्कृत साहित्य में ग्रन्थनिर्माण करने वाले अन्य ११ जगन्नाथ नामधारी पण्डितों का भी पता चलता है। परन्तु इनमें एक भी पण्डितराज उपाधिधारी नहीं हुये। उनके बनाये ग्रन्थ—रेखागणित, सिद्धान्तसम्राट्, सिद्धान्तकौस्तुभ, विवादभंगार्णव, अनङ्गचन्द्रिका नाटक, अनङ्गविजयभाण, सभातरङ्ग, अद्वैतामृत, समुदायप्रकरण, शरभराजविलास और ज्ञानविलास आदि हैं।

रसगङ्गाधर के संस्करण

प्रायः रसगङ्गाधर का प्रथम संस्करण जयपुर से काव्यमाला द्वारा हुआ। परन्तु इस संस्करण में शुद्ध पुस्तक की प्राप्ति न होने से तथा ग्रन्थ की अति दुरूहता से स्थान-स्थान पर अशुद्धियाँ रह गईं।

तदनन्तर द्वितीय संस्करण काशी से महामहोपाध्याय गंगाधरशास्त्री जी के तत्त्वावधान में प्रकाशित हुआ। उक्त संस्करण में कतिपय स्थलों पर महामहोपाध्याय जी की टिप्पणी विशेष महत्व रखती है।

इसके बाद जयपुरनिवासी कविशिरोमणि पण्डितवर मथुरानाथ जी भट्ट कृत संक्षिप्त सरला टीका सहित, उन्हीं के तत्त्वावधान में सुसम्पादित संस्करण भी विद्वज्जनों के सामने आ चुका है।

प्रस्तुत संस्करण के गुण-दोषों का विवेचन पाठक ही करेंगे। मैं आशा करता हूँ कि प्रकाशक की उदारता और सत्प्रयास से यह संस्करण पाठकों को अवश्य सन्तुष्ट करेगा।

रसगङ्गाधर की टीकायें

अन्य अलङ्कार-ग्रन्थों पर अनेकानेक टीका-टिप्पणियाँ लिखी गईं परन्तु अलङ्कार शास्त्र के चरम चूडान्तभूत इस ग्रन्थराट् पर आज तक बहुत कम विद्वानों ने लेखनी चलाई। प्रायः इसका निदान ग्रन्थ की अत्यधिक जटिलता ही है।

रसगङ्गाधर पर वैयाकरण शिरोमणि नागेश भट्ट की सबसे प्राचीन टीका उपलब्ध होती है। प्राचीनतम होने के कारण इस टीका की महत्ता अवश्य है, परन्तु वस्तुतः यह टीका नहीं टिप्पणी मात्र है, क्योंकि यह अति संक्षिप्त है। अधिकतर स्थान में मूल का स्पर्श नहीं किया गया है। जहाँ कहीं मूल का स्पर्श किया भी गया है, वहाँ भी प्रायः मूल का खण्डन ही किया गया है जो सर्वत्र समुचित भी नहीं है। इससे ऐसा भान होता है कि इस टीका के द्वारा पण्डितराज का दोषोद्भावन करना ही नागेश भट्ट का लक्ष्य था। फिर भी इस लघु टीका के द्वारा पाठकों को कुछ लाभ अवश्य हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। मथुरानाथ जी भट्ट ने अपनी भूमिका में नागेश कृत टीका के बहुत से दोषों का संग्रह किया है।

भट्ट जी की यह लघु टीका पाठकों के लिये बहुत ही उपकारक सिद्ध हुई है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु अति संक्षिप्त होने के कारण यह भी ग्रन्थ पर चिरकाल से अपेक्षित टीका की कमी की पूर्ति नहीं कर सकी।

रसगङ्गाधर का हिन्दी अनुवाद पं० श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी जी ने बहुत अच्छा किया है। चतुर्वेदी जी का यह प्रयास बहुत ही श्लाघ्य है। यद्यपि भट्ट जी ने अपनी भूमिका में यत्र-तत्र इसकी आलोचना की है। मैंने भी एक आध जगह अपनी टीका में इस विषय का निर्देश किया है। परन्तु सर्वांश में विचार करने पर अनुवाद उपादेय है, इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इस अनुवाद का उद्देश्य है हिन्दी भाषा के विद्वानों को रसगंगाधर का रसास्वादन कराना, इस उद्देश्य की सिद्धि सोलह आना इस अनुवाद से हुई है, किन्तु संस्कृत के विद्वानों को इस अनुवाद मात्र से सन्तोष नहीं होता, क्योंकि इसके साथ मूल नहीं है और कहीं कहीं 'अवच्छेदकतामय भाषा' का 'बाल की खाल निकालना कहकर' अनुवाद करना भी छोड़ दिया गया है।

'रुचिरा' संस्कृत-हिन्दी टीका

प्रस्तुत प्रथम भाग में कविशेखर प० बदरीनाथ झा जी की संस्कृत टीका प्रकाशित हुई है, यह टीका बहुत ही सुन्दर है, इसमें सरल शब्दों के द्वारा ग्रन्थ के मर्म को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया गया है। यह टीका न अधिक विस्तृत है और न अधिक संक्षिप्त ही। मुझे विश्वास है कि इस टीका से विद्वज्जन प्रसन्न होंगे और मध्यम कोटि के विद्वान् भी इस टीका के आधार पर भली प्रकार इस ग्रन्थ का अध्ययन अध्यापन कर सकेंगे। परीक्षार्थी छात्रों के लिये तो यह टीका अत्यधिक उपादेय है।

'कविशेखर जी' की संस्कृत टीका के साथ साथ मेरी हिन्दी टीका यत्र-तत्र कुछ विस्तृत हो गई है, जिसका कारण-वैसा करने का मेरा दुराग्रह नहीं वरन जटिल विषयों को अधिक से अधिक सरल बनाने का प्रयासमात्र है। मेरा विश्वास है कि इस विस्तृत विवरण से पाठकों को ग्रन्थ के रहस्यों को समझने में जो सुविधा होगी, वह संक्षिप्त विवरण से नहीं। मैंने राष्ट्र भाषा को पवित्र रखने का भरसक यत्न किया है, तथापि जो त्रुटि रह गई हो, उसकी सूचना पाठक मुझे दें, ताकि अग्रिम संस्करण में उसका संशोधन किया जा सके।

एक बात और यह कि कहीं कहीं मुझे समालोचक का रूप धारण कर मूलकार के विरुद्ध भी लिखना पड़ा है। परन्तु वह विरुद्ध आलोचना कहाँ तक ठीक हुई है, इसका निर्णय विद्वान् पाठक ही करेंगे। हिन्दी भाषा में भी मैंने ग्रन्थ-ग्रन्थि-विमोचन का प्रयास सर्वत्र ही किया है, सफलता अथवा असफलता का निर्णय करना तो मेरा काम नहीं, वह विज्ञ पाठकों का ही कर्तव्य होगा।

उपकार

रसगङ्गाधर की हिन्दी टीका लिखने में मुझे सबसे बड़ी सहायता पूज्यवर कविशेखर प० श्री बदरीनाथ जी झा की संस्कृत टीका से मिली है। हिन्दी टीका लिखने की मेरी स्वीकृति पाते ही प्रकाशक महोदय ने झाजी की संस्कृत टीका मेरे पास भेज दी थी। इसे एक सुयोग ही समझना चाहिये। यदि उनकी टीका मेरे पास न होती, तो मुझे हिन्दी टीका लिखने में इतनी सुविधा नहीं होती, यह एक निश्चित सत्य है।

कहीं, कहीं—यद्यपि ऐसे स्थल बहुत कम हैं—आप से मेरा मत-भेद भी हुआ है। यद्यपि उचित तो यह था कि मैं अपनी टीका लिखने से पूर्व आप से मिलकर एकवाक्यता कर लेता, परन्तु समयाभाव के कारण ऐसा नहीं हो सका। अस्तु, यदि उन मतभेद-स्थलों में मेरे मत संगत हों, तो उसका श्रेय भी आप गुरुजनों को ही प्राप्त है और यदि मेरे मत संगत नहीं हों, तो उसका दोषी मैं हूँ, परन्तु उस स्थिति में मैं इस धृष्टता के लिये आदरणीय 'गुरुवर' से क्षमा प्रार्थी हूँ।

उपकारकों में दूसरा स्थान है प० श्री पुरुषोत्तम शर्मा जी चतुर्वेदी के अनुवाद का। उनके अनुवाद से भी मुझे स्थान-स्थान पर यथाविधि सहायता मिली है। इस पुस्तक की भूमिका के विषयविवेचन भाग की तो आधार-भित्ति उनकी भूमिका ही है।

उपकारकों में सम्माननीय मथुरानाथ जी भट्ट का नाम भी स्तुति करने योग्य है। आपके सम्पादित रसगङ्गाधर और उसकी 'सरला' टीका से भी मुझे अधिक सहायता मिली है, विशेषतः भूमिका लिखने में तो आपकी भूमिका अधिक पथप्रदर्शक हुई है।

कृतज्ञता-ज्ञापन

जिन-जिन महानुभावों की कृतियों से मैं इस टीका के प्रणयन में लाभान्वित हुआ हूँ उनके प्रति मैं जिन शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापन करूँ, वे शब्द ढूँढे नहीं मिलते। शब्दों के द्वारा कृतज्ञता-प्रकाशन एक प्रथामात्र है। वास्तविक कृतज्ञता-ज्ञापन तो हृदय से होता है, अतः आप महानुभाव मेरी मूक पर सच्ची हार्दिक कृतज्ञता स्वीकार करें, यही मेरी विनम्र प्रार्थना है।

इस कृतज्ञता-ज्ञापन के प्रसङ्ग पर मैं श्रेष्ठिवर बाबू जयकृष्णदास जी गुप्त, अध्यक्ष 'चौखम्बा संस्कृत सीरिज' तथा 'चौखम्बा विद्या भवन' बनारस को भी नहीं भूल सकता, जिनके सहृदयसौजन्य से मुझे इस टीका के निर्माण का सुअवसर प्राप्त हुआ।

अन्त में अपने अकृत्रिम स्नेही बन्धु पं० श्री रामचन्द्र जी झा के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशन करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ, जिनके सौहार्द से मेरा संबन्ध उक्त कार्यालय से हुआ।

गुरुपूर्णिमा
सं० २०१२

विनीत—
मदनमोहन झा
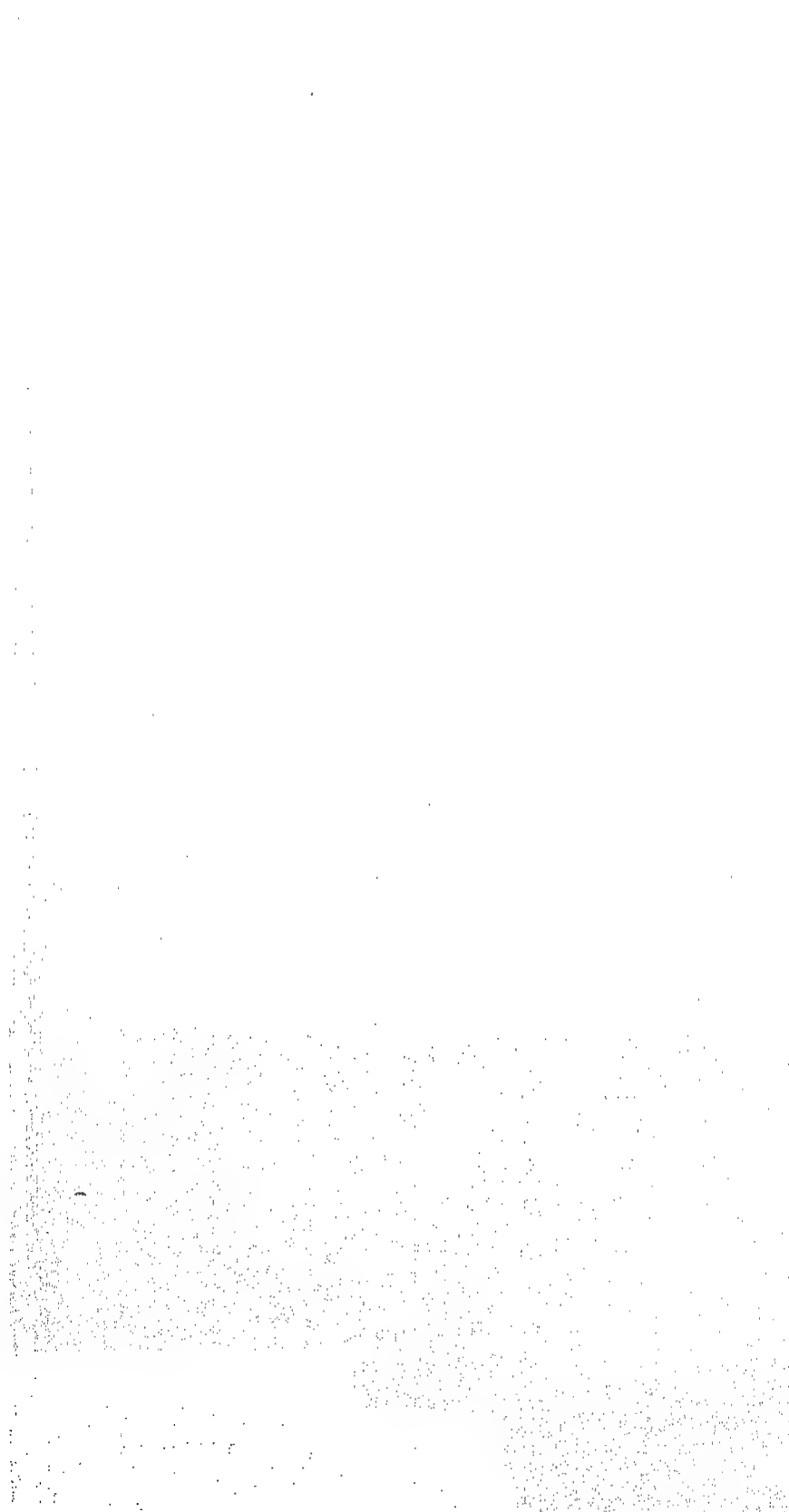
निवेदनम्

'धातुश्चतुर्मुखीकण्ठशृङ्गाटकविहारिणीम् ।
नित्यं प्रगल्भवाचालामुपतस्थे सरस्वतीम् ॥'

जनजीवने क्षणा आयान्ति यान्ति च तत्र पुण्यास्ते क्षणा यत्र जनः किमपि महत्त्वमयं कार्यमारभते, समारब्धकर्मपरिसमाप्तये सपरिकरबन्धं प्रयतते, प्रारब्धपरिसमाप्तौ परितुष्यति च ।

अहमपि निजजीवनस्य तान् क्षणानतिपुण्यमयान् जाने यत्र निखिलालङ्कारग्रन्थगर्वखर्वणनिपुणस्य श्रीजगन्नाथपण्डितराजनिबद्धस्य रसगङ्गाधराख्यस्य महानिबन्धस्य व्याख्या मयाऽऽरभ्यत, प्रत्यूहव्यूहैः साकं समरमुपक्राम्यत, तत्परिसमापनाय प्रायत्यत, तत्परिसमाप्तौ च कृतकृत्यताजन्मा महानामोदोऽन्वभूयत ।

रसगङ्गाधरव्याख्यानावसरलाभः

मैथिलब्राह्मणजातीयश्रोत्रियशाखायां लब्धजन्माऽभिनन्दनीयकविकर्मा पूजनीयः कविशेखरश्रीबदरीनाथशर्मा बिहारप्रान्तीयमुजफ्फरपुरस्थ-राजकीय-धर्म-समाजसंस्कृतमहाविद्यालयस्थप्रधानाचार्यपदमलङ्कुर्वन् 'ध्वन्यालोक-दीधिति'-'रसमञ्जरी-सुरभी'त्याद्यनेकान् व्याख्याग्रन्थान् 'राधापरिणय'प्रभृतीन् कियन्तो मौलिक-संस्कृतकाव्यनिबन्धांश्च निर्माय प्रकाशितान् विधाप्य च ततो लब्धदीर्घावकाशो ग्रामे धर्माचरणचणं जीवनं यापयन् वार्धक्य-प्रभाव-परवशोऽप्यहीनस्फूर्तिः रसगङ्गाधरप्रथमाननस्य चन्द्रिकाख्यां संस्कृतभाषामयीं व्याख्यां विरचय्य प्रकाशनाय चौखम्बा-विद्याभवनाभिधाने वाराणसीगते ग्रन्थालये प्रायच्छत् ।

उक्तग्रन्थालयाधिपतिः श्रेष्ठिप्रवरः श्रीजयकृष्णदासगुप्तमहोदयश्च तदीयां तां व्याख्यां हिन्दीव्याख्यया सहैव प्रकाशयितुं कामयमानो हिन्दीव्याख्यामपि विधातुं तमेव लब्धप्रतिष्ठमाचार्यप्रवरं प्राक् प्रार्थयामास । परं ततो नकारात्मकमुत्तरमुपलभ्य तदनुमत्यैव मह्यं तावतो भागस्य हिन्दीव्याख्यां कर्तुं भारमार्पयत् । इतः पूर्वमेव मम 'रसगङ्गाधररहस्य'-नामकमेकं लघुपुस्तकं परीक्षार्थिच्छात्रजनानुरोध-बललब्ध-समुद्भवं तस्मिन् ग्रन्थालये प्रकाशितमासीत् ।

यदा तं भारं ग्रन्थागारप्रकाशकमहोदयो मम पुरः समुपस्थितोऽभूत्, तदा प्रथमं रसगङ्गाधरस्य अत्यन्तायाससाध्यस्य हिन्दीव्याख्याया दुष्करतामिवानुध्यायन्नहं तं भारमङ्गीकर्तुमिव नानुमतोऽभवम् । परन्तु तत्क्षण एव श्रीगणपतिप्रेरितं किमपि विलक्षणं साहसं मम मानसे समचरत् । यत्फलं मन्मुखात् झटिति स्वीकारोक्तिनिःसृतिः समभूत् । भारो मयाऽङ्गीकृतः । किन्तु यदा तद्भारवहनाय स्कन्धौ दीक्षितौ तदा विविधा विघ्नाः सम्मुखमापतिताः । कदाचिदतिगुरुभारौ स्कन्धावेवान्दोलनमिवाकलयन्तौ प्रतीयेतेस्म, कदाचित्समयाभावोऽनुभूयतेस्म, कदाचिदस्वास्थ्यादीनि मार्गरोधकानि प्रतिभान्तिस्म ।

परमेतान् विघ्नान् विद्राव्य यथाकथञ्चिदहं तं महान्तं भारं वहन् व्याख्यानिर्माणसरणावग्रेऽसरम्। अस्यामग्रेसरतायां तत्साहसमेव सर्वाधिकं सहायकं समभवत्।

अन्ततस्तेऽपि दिवसाः समागता यदा रसगङ्गाधरप्रथमाननस्य हिन्दीव्याख्या सम्पूर्णा, विशाला प्रस्तावनाऽपि प्रस्तुता, प्रकाशनाय यन्त्रमारूढा च।

यदा तत्पुस्तकं यन्त्रस्थमतिष्ठत्तदा ममान्तःकरणे के के भावाः प्रादुर्भूय विनश्यन्तिस्म तान् कथं कथयामि, 'मम व्याख्यामवलोक्य विद्वांसः किं कथयिष्यन्ति ? श्लोघयिष्यन्ति ? निन्दिष्यन्ति वा ?' इत्यादयो भयमिश्रितास्ते भावा आसन्, एतावदेव साम्प्रतं वक्तुं पारयामि। परन्तु यदा प्रकाशितं तत्पुस्तकं विदुषां करेषु स्थानमापत्तदाऽसन्तोषस्य कोऽप्यवसरो नोपस्थितः, यतो विद्वांसो मम व्याख्यायाः प्रशंसां यदि नाकुर्वन् तर्हि निन्दामपि नैव प्राकटयन्, प्रत्युत कर्णाकर्णितया तस्या व्याख्यायाः प्रशंसैव श्रुतिपथातिथ्यमयासीत्।

अथ तेनैव प्रकाशकश्रेष्ठेन श्रेष्ठिवरेण श्रीजयकृष्णदासगुप्तमहोदयेन रसगङ्गाधराग्रिमभागस्यापि पूर्वभागस्येव संस्कृत-हिन्दी-टीका-द्वयोपेतं संस्करणं प्रकाशयितुकामेन पुनः स एव विख्यातकीर्तिः प्रथमभागसंस्कृतटीकाकारो द्वितीयभागटीकाकरणायामन्त्रितः। किन्तु मादृशश्रद्धावनतासंख्यजनसौभाग्येन जीवन्नपि स वार्धक्यवशाल्लौकिकप्रपञ्चवैमुख्यवशाच्च द्वितीयभागस्य व्याख्यां कर्तुं नैच्छत्। ततः पुनस्तदादेशेनैव श्रेष्ठिप्रवरोऽसौ रसगङ्गाधरद्वितीयभागस्य द्वितीयाननाद्युत्प्रेक्षान्तस्य संस्कृत-हिन्दी-भाषा-युगलनिबद्धां व्याख्यां विधातुं मामन्वरुणत्।

मयापि प्रथमभागगतहिन्दीटीकासाफल्यसमुत्साहितेन सहर्षं तथा विधातुं स्वीया स्वीकृतिर्वितीर्णा समारब्धा च प्रथमभागगतसंस्कृतटीकाकारविहितचन्द्रिकाख्ययैव संस्कृतव्याख्यया सह राष्ट्रभाषाहिन्दीव्याख्यया।

परिस्थितिः

भावावेशदशायां विहित एव लेखो भावकेभ्यो रोचत इति प्रायः सर्वेषां लेखकानां तुल्योऽनुभवः। भावावेशदशासम्पत्तिश्च तदैव सम्भवति, यदि नियमतः समयापहारकं किमपि कार्यान्तरं न भवेत्, जीवनयापनोपयोगिनोऽर्थस्य कार्कश्यं न लिप्सेत्, कोऽपि व्याधिः कायं नाक्रामेत्, आधिर्हृदयं न चुम्बेत्, लेखकजनोपयुक्तरहःप्रकोष्ठाभावो वा न भवेत्।

मम पुरस्तु व्याख्याकरणकाले पुरोदीरितनर्थप्रतियोगिन एव नियमतोऽतिष्ठन्। यतो महाविद्यालयेऽध्यापकपदासीनस्य मम समयापहारकं महाविद्यालयसम्बन्ध्यध्यापनादिकार्यं नियमतस्तिष्ठत्येव।

अथाधिरेव विधिविधानाधीनोऽवशिष्यते। सोऽपि यादृक् प्रकृतटीकाटीकनकाले समुपस्थितो, न तादृक् प्राक् कदाचिन्मम जीवने। यमवलोक्य नानाविधं मनोरथं कृपोऽश आसम्। यो न ममैव, अपि तु समस्तस्य परिवारस्य प्राणेभ्योऽपि प्रियोऽभवत्, यो लघुनि निजजीवने भविष्णुताया अनेकानि प्रमाणानि प्राकटयत्, यदीया रूपमाधुरी यदीयं स्वभावसौन्दर्यं, यदीय आचारक्रमो नात्मीयानेव, किन्तु तटस्थानपि प्रामादयत्, स सप्तवर्षीयो वीरेन्द्रमोहनाभिधस्तनयोऽकस्माच्चिकित्साया अवसरमदत्त्वैव विसूचिकारोगेण कवलीऽ-

स्थानमपहाय परमपितुः क्रोडे क्रीडितुमिव लोकान्तरमगमत् । हन्त ! भगवन् ! नैतादृशं दुरवसरं कस्मैचिद्देहि ।

दैवदुर्विलासासादितयाऽनया दुर्घटनया तादृश आघातो हृदयेऽलगद् येन प्रक्रान्तव्याख्यापूर्त्तेः सम्भावना समाप्तप्राया समजनि । परन्तु समयः सर्वं शमयति । ममापि शोकः क्रमशः शिथिलतामासादयत् । पुनरहं 'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति' इत्याप्तजनोक्तिमनुस्मरन् व्याख्याकर्मणि संलग्नोऽभवम् ।

अस्या विषमपरिस्थितेः सुनिश्चितः परिणामोऽयमभवद्यन्महाविलम्बेन व्याख्याकार्यं समपद्यत । समपद्यत, एतदेव बहु मन्तव्यम् ।

'आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बिसिद्ध्योः कार्यस्य कार्यस्य शुभा विभाति ?'

संस्कृतव्याख्या

मदीया संस्कृतव्याख्या कीदृशी सञ्जाताऽस्तीति यद्यपि न मम निर्णेयो विषयः, अपि तु सहृदयानामालोचनात्मकदृष्टिकोणं पुरो निधाय पाठकानामेव, तथापि वक्तव्यमेव मयाऽस्मिन्नेतावद्यदस्यां व्याख्यायां ग्रन्थकारस्य हृदयं स्प्रष्टुं महान् श्रमो विहितः यत्नतः प्रतिपादनशैली सरलाकृता, सर्वत्रावतरण-ग्रन्थलापनयोरनन्तरं सारांशो लिखितः ।

इयं व्याख्याशैली भवेदन्यैर्व्याख्याकारैरन्यत्र क्षुण्णा, परन्तु मया ज्ञानपुरस्सरं न कस्यापि शैली समनुहृता । सम्भवति—टीकाकरणे प्रथमप्रवृत्तस्य मम तद्विषयकाचातुर्येण बुद्धिदोषेण वा कियत्यस्त्रुटयो भवेयुरिति ।

हिन्दीव्याख्या

व्याख्यानुवादयोर्महदन्तरं भवतीति सर्वानुभवगामिकं वस्तु । मया यद्यपि हिन्दीभाषायामपि व्याख्यैव कृता, नानुवादस्तथापि क्वचित्क्वचिदनुवादशैली-छाया तत्र लक्ष्येत भावकैः । तत्र व्याख्या शैली-समपेक्षित-द्विरुक्त्यादिदोष-प्रसक्ति-परिहार-परिजिहीर्षैव हेतुः । सम्भवति—दुरूहस्थलीय-भावस्फोरणं कामयमानेनापि मया सर्वथा हिन्दीभाषायां न कृतं भवेदिति । इदमपि सम्भवति भाषा सर्वथा परिमार्जिता न स्यादिति । यद्यप्येवमादिभिर्दोषैर्मुक्तं निजलेखं मुक्तं रक्षितुं मया नाल्पं समवधानं स्वीकृतम् तथापि स्वतः समासादिविधिवशात् स्वल्पैरेवाक्षरैर्विशालमर्थजातं क्रोडीकुर्वत्यां, परतो नव्य-न्याय-शैली-समुपबृंहितायां संस्कृतभाषायामुपनिबद्धस्य प्रौढतरस्य निबन्धस्य भाव-स्फोरणं तादृशवैशिष्ट्यविरहिते भाषान्तरे दुष्करं भवतीति ते दोषा नासम्भाविनः ।

प्रस्तावना

अथात्रैव ग्रन्थगतविषयाणां संक्षेपतो दिग्दर्शनेन सहैव तेषु विषयेषु विभिन्नाचार्याणां मतानि यथा विज्ञातानि भवन्ति तादृशं पर्यालोचनात्मिकाम् अत एव दीर्घां प्रस्तावनामपेक्षन्ते पाठका इत्यनुभवता प्रकाशकमहाभागेनानुरुद्धोऽहमपि तादृशीमेव प्रस्तावनां पुस्तकेऽस्मिन् निर्माय समयोजयम् ।

प्रस्तावनायामस्यां केचन तथाविधा अपि सैद्धान्तिका विषयाः प्रतिपादिताः सन्ति येऽद्यावधि मया हस्तेनाङ्गीकृता अपि परेषामनभिमता भवेयुः तत्र यदि केऽपि युक्तियुक्तं

विरोधं विधास्यन्ति तदा तत्कालादारभ्याहमपि स्वविचारं परिवर्तयिष्यामि, तदनुसारं समुचितं संशोधनमपि भाविनि संस्करणे करिष्यामीति ।

साहाय्यम्

व्याख्याकरणकाले विख्यातकीर्तिभिः विद्वच्चूडामणिभिर्नागेशभट्टैः कृतया गुरुमर्मप्रकाशाख्यया व्याख्यया, कविवरैः श्रीमथुरानाथभट्टमहोदयैः कृतया सरलाभिधया टिप्पण्या च संयुक्तं मूलरसगङ्गाधरपुस्तकम् , विद्वद्वरैः श्रीपुरुषोत्तमशर्मचतुर्वेदिमहोदयैः लिखितं हिन्दी-रसगङ्गाधरपुस्तकञ्च ममाग्रेऽवर्ततां म् । रसगङ्गाधरस्य तेभ्योऽन्यटीकाटिप्पण्यादिकमुपलब्धमपि नास्त्येव । अतो यदल्पं महद् वा साहाय्यं समभूत्तत् एवेति स्वीकरणे न मम सङ्कोचः । भूमिकाभागे तु चतुर्वेदमहोदयानां पुस्तकेन सहैव लब्धप्रतिष्ठस्य समालोचकमूर्धन्यश्रीबलदेवोपाध्यायमहाशयानां भारतीयसाहित्यशास्त्रनामकेन पुस्तकेनापि विपुलं साहाय्यं मम कृतमिति सत्यतरं वचः ।

धन्यवादज्ञापनम्

येषां पुस्तकेभ्यो मया साहाय्यं लब्धं तेभ्यो प्रागुक्तनामधेयेभ्यो विद्वद्भ्यः शतधा-सहस्रधा वा धन्यवादानहं मनसा विदधामि । सहैव यैरत्रत्यैः सहवासिभिर्वयस्यकल्पैर्विद्वद्भिः सार्कं समये समये कृता व्याख्येयग्रन्थगूढस्थलविचारवार्ता मार्गदर्शिका समभूत् तानपि धन्यवादवचोभिः संवर्धयामि ।

आलोचकान् प्रति

नवप्रकाशितस्य मौलिकग्रन्थस्य व्याख्याग्रन्थस्य वा समालोचनं कर्तव्यमेव विज्ञैरालोचकैः यत आलोचनैव नव-नव-रहस्योन्मेषजननी । परन्तु समालोचकैर्दोषैकदृग्भिर्न भाव्यम् । गुणानपश्यन्तः पश्यन्तोऽपि वाऽप्रकटयन्तो दोषदृशः समालोचका व्रणमात्रगवेषिकाभिर्मक्षिकाभिरेवोपमीयन्ते । अतो गुणदोषोभयप्रकटनपरैः पक्षपातरहितैः स्वयं कृतकृतिभी राजशेखराभिनन्दितकोटिकैस्तत्त्वाभिनिवेशिभिरालोचकैर्भवितव्यम् ।

उपसंहारः

दोषमयेऽस्मिन् प्रपञ्चे न निर्दोषं किञ्चित् । लेखकाः सदोषाः, सम्पादकाः सदोषाः, प्रकाशकाः सदोषाः, प्रकाशनयन्त्रमपि सदोषमेव । एवं दोषकवलितानां समाजे स्वरूपं लभमानं पुस्तकं सर्वथा निर्दोषं स्यादिति दुराशामात्रम् । अतः प्रकाशमेष्यतोऽस्य पुस्तकस्य सम्भावितानां दोषाणां कृते क्षमासारान् सतः पाठकान् क्षमामहं याचे, प्रयाचे च दोषान् सूचयितुम् । सूचिता दोषाः कालान्तरे दूरीकर्तुं शक्या भवेयुरित्याशासे ।

अन्ते चाहम्—

'व्याख्ये मे विदुषां प्रीतिं प्राप्नुतामिति साञ्जलिः ।
करुणाकारिणं याचे पार्वती-रमणं प्रभुम् ॥'

जानकी-विवाहपंचमी
वि० सं० २०१४

विदुषां विधेयस्य
—मदनमोहनझा शर्मणः

प्रस्तावना

(द्वितीय भाग)

उपक्रम

'विना न साहित्यविदा परत्र गुणः कथञ्चित् प्रथते कवीनाम् ।

आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दुः ॥' ([illegible])

वस्तुतः कमनीय-कविता-कालिन्दी का एक कूल यदि कवि है तो दूसरा कूल आलोचक। कवि यदि आनन्दानुभूति की सामग्री प्रस्तुत करता है तो आलोचक आनन्दानुभावक दृष्टि प्रदान करता है। यदि साहित्यमर्मआलोचकों की नानाविध आलोचनायें सामने न आतीं तो आज हम वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास, भवभूति आदि की कविताओं को पढ़कर एवं नाटकों को देखकर वह आनन्द प्राप्त न कर सकते, जो आज प्राप्त करते हैं।

उन्हीं आलोचकों में से एक मुकुटायमान आलोचक की आलोचनाओं का सिंहावलोकन इस प्रस्तावना द्वारा कराने का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है।

पूर्वाभास

प्राचीन आलङ्कारिक आचार्यों में से कतिपय आचार्यों ने काव्य के उत्तम (ध्वनि), मध्यम (गुणीभूतव्यङ्ग्य) और अधम (व्यङ्ग्यशून्य) ये तीन भेद माने हैं। अन्य (रससम्प्रदायवादी) आचार्यों ने प्रथम दो भेदों को ही स्वीकृत किया है—रसशून्य होने के कारण तृतीय (अधम) भेद में उन्हें काव्यत्व अभीष्ट नहीं है।

प्रकृत निबन्ध-प्रणेता पण्डितराज जगन्नाथ ने [illegible] । [illegible] उत्तम, मध्यम और अधम ये चार भेद किये हैं। उत्तमोत्तम नामक [illegible] स्थूलरूप में पाँच भेद किये गये हैं। इन भेदों का विवरण प्रकृत निबन्ध में निम्न रूप से किया गया है—

'अभिधा और लक्षणामूलध्वनि दो प्रकार की होती है। उनमें प्रथम के पुनः तीन प्रकार होते हैं—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि। द्वितीय के भी पुनः दो प्रकार हो जाते हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य।'

इसका तात्पर्य यह है कि व्यङ्ग्य अर्थ अथवा व्यञ्जक शब्द के भेद से 'ध्वनिकाव्य' का भेद होता है और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति तब होती है जब शब्द अभिधा अथवा लक्षणाद्वारा अपना अर्थ उपस्थित कर लेते हैं। अभिधा अथवा लक्षणाद्वारा शब्द का कोई अर्थ ज्ञात हुए बिना व्यङ्ग्य अर्थ प्रकाशित नहीं हो सकता। अतः व्यङ्ग्य अर्थ सर्वप्रथम दो भागों में विभक्त किये जाते हैं—एक वे जो अभिधाद्वारा शब्दार्थज्ञान होने के बाद प्रतीत होते हैं, दूसरे वे जो लक्षणाद्वारा शब्दार्थ-गोचर होते हैं। इनमें पहले को अभिधामूलक व्यञ्जना और दूसरे को लक्षणामूला व्यञ्जना कहते हैं। इन्हीं को काव्यप्रकाशकार आदि, क्रमशः 'विवक्षितान्यपरवाच्य' और 'अविवक्षितवाच्य' भी कहते हैं।

'रसध्वनि' नामक जो अभिधामूलक ध्वनिभेद कहा गया है उसको 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' और शेष भेदों को 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' कहते हैं।

'ध्वनि' शब्द के पाँच अर्थ होते हैं—व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जना वृत्ति, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति और व्यङ्ग्यार्थ-प्रधान काव्य।[1] इन पाँचों अर्थों में 'ध्वनिकार आनन्दवर्धन' ने 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है। रसगङ्गाधरकार प्रायः व्यङ्ग्य और काव्य अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग करते हैं।

उपर्युक्त पाँचों अर्थों में से अन्तिम अर्थ के अनुसार व्यङ्ग्यार्थप्रधान सर्वोत्कृष्ट (उत्तमोत्तम अथवा प्राचीन मत से उत्तम) काव्य की संज्ञा 'ध्वनि' मानी गई है जिसके पाँच भेद पहले लिखे गये हैं।

रसध्वनि के भेद व्यङ्ग्य-भेद के आधार पर न करके व्यञ्जक-भेद के आधार पर इसलिये किये गये हैं कि रसादिरूप व्यङ्ग्यों की संख्या अनन्त हो जाती है—उनकी गणना संभव नहीं। अतः असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वरूप से वहाँ व्यङ्ग्य का एक ही भेद माना जाता है।

प्रकाशकारादि के मत से व्यञ्जक-भेद छै प्रकार के होते हैं—प्रबन्ध (पूरा ग्रन्थ), वाक्य, पद, पदैकभाग (प्रकृति-प्रत्यय), वर्ण और रचना। इन भेदों के कारण ही असं ध्वनिकाव्य के भी छै भेद वे लोग मानते हैं। किन्तु रसगङ्गाधरकार वर्ण तथा रचना को रस-व्यञ्जक न मानकर गुण-व्यञ्जक ही मानते हैं, अतः उनके मत से चार ही भेद होते हैं। यह बात दूसरी है कि रसगङ्गाधरकार राग आदि को भी रसव्यञ्जक मानते हैं और तदनुसार और भी भेद हो सकते हैं।

[यहाँ तक का विवेचन प्रथम भाग (प्रथमानन) में आ चुका है। प्रसंगवश पूर्वाभास के रूप में, उचित समझकर, यहाँ भी उसका दिग्दर्शन कर दिया गया है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि-भेदों के निरूपण से द्वितीय आनन आरम्भ होता है। मध्य में प्रसङ्गवश अभिधा तथा लक्षणावृत्तियों का और लक्षणानिरूपण के मध्य में ही प्रसङ्ग आ जाने से, 'उपमा' तथा 'रूपक' अलङ्कारों के भेदों का विशद विचार किया गया है। शेष अंश में अलङ्कारों का निरूपण है।]

विषय-विवेचन

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेद

वाच्यार्थ की प्रतीति होने के अनन्तर ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, यह सूत्र उपक्रम में सूचित किया जा चुका है। व्यङ्ग्यार्थ दो प्रकार का हो सकता है—पहला वस्तुरूप और दूसरा अलङ्काररूप। यद्यपि अलङ्कार भी 'वस्तु' के अन्दर आ जाता है, पर यहाँ अलङ्कार का

---

१. 'अत्र हि काव्ये पञ्चानामप्यस्य ध्वनिशब्दस्य व्यवहारात्—ध्वनतीति ध्वनिः शब्दः, ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनिः शब्दादिशक्तिः, ध्वन्यते (यः) इति रसादिरर्थः, ध्वननं ध्वनिरिति रसादिप्रतीतिः, ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः काव्यम् इत्येवं ध्वनिर्धीना उपलभ्यन्ते। इति साहित्यदर्पणभूमिकायां म० म० श्रीदुर्गाप्रसादमहाभागाः।' (चतुर्वेदीजी के हिन्दी रसगङ्गाधर की भूमिका से उद्धृत)

पृथक् ग्रहण करने से 'वस्तु' के अन्दर अलङ्कारातिरिक्त वस्तुओं का समावेश समझना चाहिये। फलतः 'वस्तु' पद से साधारण वस्तु का और 'अलङ्कार' पद से वैचित्र्य-विशिष्ट वस्तु का ग्रहण होता है। इसी रहस्य को स्पष्ट करने के लिये 'प्रकाशकार' आदि ने 'अविचित्र' और 'विचित्र' नाम से भेद किया है।

उक्त दोनों प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ कहीं शब्द-सामर्थ्य से और कहीं अर्थ-सामर्थ्य से प्रतीत होते हैं। शब्द-सामर्थ्य से प्रतीत होनेवाले व्यङ्ग्यार्थ शब्दशक्तिमूलक और अर्थ-सामर्थ्य से प्रतीत होनेवाले व्यङ्ग्यार्थ अर्थ-शक्तिमूलक कहलाते हैं। इस तरह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के प्रथमतः ये ही दो भेद होते हैं। उनमें शब्दशक्तिमूलक व्यङ्ग्य के उक्त रीति से वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि ये दो ही भेद होते हैं। पर अर्थशक्तिमूलक के आठ भेद हो जाते हैं, क्योंकि जिस अर्थ के सामर्थ्य से व्यङ्ग्य-प्रतीति की बात कही गई है वह अर्थ भी साधारणतया वस्तुरूप और अलङ्काररूप भेद से दो प्रकार का होता है और काव्य-जगत् में आकर उन दोनों प्रकारों के भी पुनः दो-दो प्रकार—अर्थात् वस्तुरूप और अलङ्काररूप अर्थ भी स्वाभाविक तथा कविकल्पित दो-दो प्रकार—के हो जाते हैं। अलङ्कारशास्त्र में स्वाभाविक अर्थ को 'स्वतःसम्भवी' और कविकल्पित अर्थ को 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' कहते हैं।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि व्यञ्जक अर्थ चार प्रकार के होते हैं—स्वतःसम्भवी वस्तु, स्वतःसम्भवी अलङ्कार, कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु और कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार। इन चार प्रकार के व्यञ्जक अर्थों से अभिव्यक्त होनेवाला (व्यङ्ग्य) अर्थ भी वस्तुरूप तथा अलङ्काररूप—दोनों प्रकार का हो सकता है। अतः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अर्थशक्तिमूलक भेद आठ होते हैं। फलतः पूर्वोक्त शब्दशक्तिमूलक दो भेदों को लेकर, 'पण्डितराज' के मत से संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक 'ध्वनि'-काव्य के कुल दस भेद होते हैं।

यद्यपि काव्यप्रकाशकार आदि इन भेदों के अतिरिक्त चार भेद और मानते हैं, क्योंकि उन लोगों के विचार से कविकल्पित व्यञ्जक अर्थ के समान कविकल्पित वक्ता के द्वारा कल्पित अर्थ भी व्यञ्जक हो सकता है। इस प्रकार के अर्थों की संज्ञा उन लोगों ने 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-सिद्ध' रखी है। यह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ भी वस्तु तथा अलङ्कार भेद से दो प्रकार का हो सकता है और इन दोनों अर्थों के सामर्थ्य से होनेवाले व्यङ्ग्य भी वस्तु तथा अलङ्कार दोनों रूप हो सकते हैं, अतः उनके मत से, अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद और शब्दशक्ति-मूलक के उक्त दो भेद (इस तरह कुल चौदह भेद) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के होते हैं।

पण्डितराज का तर्क यहाँ यह है कि—कविकल्पित वक्ता के द्वारा कल्पित अर्थ भी वस्तुतः कविकल्पित अर्थ ही है, अतः तत्प्रयुक्त पृथक् भेदों की गणना उचित नहीं। यदि इस तरह भेद-संख्या में वृद्धि की जायगी तो कविकल्पित वक्ता से कल्पित वक्ता आदि द्वारा कल्पित अर्थ को व्यञ्जक मानकर अनन्त भेदों की कल्पना हो जायगी।

[illegible] में शब्द तथा अर्थ दोनों का अनुसन्धान अपेक्षित होता है, अतः सभी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक भी होते ही हैं, फिर कुछ को केवल शब्दशक्तिमूलक और कुछ को केवल अर्थशक्तिमूलक मानना आपाततः अयुक्त प्रतीत होता है, तथापि वस्तुतः वैसा मानना अयुक्त नहीं है, क्योंकि वैसा मानने का तात्पर्य है—जैसा

व्यवहार करना और व्यवहार होता है प्रधानानुरोधी। जैसे सामान्य लोगों के रहने पर भी अधिकतर पहलवान से युक्त ग्राम में 'मल्लग्राम (पहलवानों का ग्राम)' ऐसा व्यवहार होता है। इस दृष्टिकोण से सोचने पर जहाँ परिवृत्तिसह (जिनका पर्यायान्तरद्वारा परिवर्तन कर देने पर भी व्यङ्ग्य होता ही रहे ऐसे) शब्दों की प्रचुरता हो वहाँ शब्दशक्ति रह कर भी प्रधानशक्ति की अनुगामिनी अर्थशक्ति प्रधान सिद्ध होती है, अतः वैसे स्थलों में अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार सर्वथा उचित है। इसी तरह जहाँ परिवृत्त्यसह (परिवर्तन को न सह सकने वाले) शब्दों की अधिकता रहेगी, वहाँ शब्दशक्ति की ही प्रधानता और अर्थशक्ति की अनुगामिता सिद्ध होगी, अतः वैसे स्थलों पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार सुसंगत ही है।

इसी विश्लेषण से एक और साहित्यिक तथ्य उद्भूत हो जाता है कि जहाँ परिवृत्तिसह तथा परिवृत्त्यसह दोनों प्रकार के शब्द समान मात्रा में हों—किन्हीं एक प्रकार के शब्दों की प्रचुरता न हो—वहाँ शब्दार्थोभयशक्तिमूलक व्यङ्ग्य की सत्ता ही माननी पड़ेगी, अतः वैसे स्थलों में 'द्व्युत्थ (शब्द तथा अर्थ दोनों की शक्तियों से उत्थित)' ध्वनि का ही व्यवहार होगा। फलतः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का एक और भेद सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त लक्षणामूलक ध्वनि-भेदों का प्रसङ्ग इस ग्रन्थ में आता होता है जिसका सारांश यह है कि रूढिमूला लक्षणा के स्थल में व्यङ्ग्यार्थ का कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता। बची प्रयोजनमूला लक्षणा, उसके छै भेद होते हैं—सारोपा गौणी, साध्यवसाना गौणी, जहत्स्वार्था शुद्धा, अजहत्स्वार्था शुद्धा, सारोपा शुद्धा और साध्यवसाना शुद्धा। इन छै भेदों में से केवल जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था ये दो भेद ही ऐसे हैं जहाँ 'ध्वनिकाव्यता' संभव है, क्योंकि अन्य चार भेद अलङ्काररूप में परिणत हो जाते हैं—अर्थात् गौणी सारोपा रूपक अलङ्काररूप में, गौणी साध्यवसाना अतिशयोक्ति अलङ्काररूप में और शुद्धा सारोपा तथा साध्यवसाना शुद्धा हेतु अलङ्काररूप में परिणत हो जाती हैं। यह सर्वमत-सिद्ध सिद्धान्त है कि जहाँ अलङ्कार की प्रधानता हो जाती है वहाँ ध्वनिकाव्य का लक्षण संघटित नहीं होता। फलतः लक्षणामूलक ध्वनि के जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्थामूलक दो भेद होते हैं। प्राचीन (प्रकाशकार आदि) आचार्य इन दोनों (जहत्स्वार्था-अजहत्स्वार्था) लक्षणाओं को उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा कहते हैं।

यहाँ पण्डितराज उक्त ध्वनिभेदों में से द्व्युत्थ ध्वनि को केवल वाक्यगत और अन्य सभी भेदों को पदगत तथा वाक्यगत मानते हैं।

इस तरह रसगङ्गाधरकार के मत में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि के चार, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के दो, अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के आठ, शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि का एक और लक्षणामूलक ध्वनि के दो, इस प्रकार कुल सत्रह ध्वनिभेद प्रथमतः होते हैं। उनमें शब्दशक्तिमूलक दो, अर्थशक्तिमूलक आठ और लक्षणामूलक दो—इन बारह भेदों के पुनः पदगत तथा वाक्यगत भेद से दो-दो भेद हो जाते हैं। फलतः उक्त सत्रह में बारह और जोड़ देने पर कुल उनतीस ध्वनिभेद होते हैं। ध्वनिभेद के विषय में पण्डितराज ने संक्षेपतः इतनी ही बातें कही हैं।

ध्वनिभेद के सम्बन्ध में प्रकाशकारादि के मत

यह पहले लिखा जा चुका है कि प्रकाशकार असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के छै भेद और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेदों में से अर्थशक्तिमूलक के बारह भेद मानते हैं। साथ-साथ वे उन बारह भेदों के

पदगत, वाक्यगत तथा प्रबन्धगतरूप से पुनः तीन-तीन भेद करते हैं, अतः उनके मत से अर्थशक्तिमूलक के कुल छत्तीस भेद होने पर ध्वनि के शुद्ध भेद इक्यावन होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—असंलक्ष्यक्रम के प्रबन्धगत, वाक्यगत, पदगत, पदांशगत, वर्णगत और रचनागत छै भेद एवं संलक्ष्यक्रम में अभिधामूलक के एकतालिस भेद (शब्दशक्तिमूलक के पदगत वस्तु, पदगत अलंकार, वाक्यगत वस्तु और वाक्यगत अलंकार—चार भेद, अर्थशक्तिमूलक के उक्त रीति से छत्तीस तथा उभयशक्तिमूलक का एक भेद) और लक्षणामूलक के चार (अर्थान्तरसंक्रमित पदगत, वाक्यगत और अत्यन्ततिरस्कृत पदगत, वाक्यगत)। इस तरह उक्त इक्यावन संख्या सिद्ध होती है।

काव्यप्रकाश में इन भेदों का एक से दूसरे का मिश्रण भी चार प्रकार का माना गया है जिसमें संदेहसंकर, अङ्गाङ्गिभावसंकर तथा एकव्यञ्जकानुप्रवेशरूपसंकर, ये तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि है। तदनुसार एक-एक भेद के इक्यावन भेदों को चौगुने करने पर (५१ × ५१ × ४ =) १०४०४ (दस हजार चार सौ चार) मिश्रित भेद भी होते हैं। इन मिश्रित भेदों में शुद्ध भेदों (इक्यावन) को जोड़ देने पर प्रकाशकार के मत से समग्र ध्वनिभेद १०४५५ (दस हजार चार सौ पचपन) होते हैं।

साहित्यदर्पणकार का मत

मूलभूत इक्यावन भेदों को प्रकाशकार के समान दर्पणकार भी मानते हैं, पर मिश्रित भेदों की संख्या में वे प्रकाशकार का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि एक तो अपने साथ अपना कोई मिश्रण नहीं हो सकता, दूसरे जब एक भेद का संकर दूसरे के साथ लिख दिया गया तब दूसरे के साथ उस भेद का संकर भी वही वस्तु हुई—अर्थात् जब अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के साथ मिश्रण लिखा जा चुका है तब फिर अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के साथ मिश्रण कोई अतिरिक्त भेद नहीं रह जाता, अतः ऐसे भेदों की गणना नहीं करनी चाहिए। फलतः उनके मत से कुल मिश्रित भेद ५३०४ (पाँच हजार तीन सौ चार) होते हैं। उनमें शुद्ध इक्यावन भेदों को जोड़ने पर समग्र ध्वनिभेद उनके मत में ५३५५ (पाँच हजार तीन सौ पचपन) होते हैं।

साहित्यदर्पणकार के मत का खण्डन

काव्यप्रकाश के सुप्रसिद्ध टीकाकार मैथिल पण्डित श्री गोविन्द ठक्कुर ने उक्त दर्पणकार के मत का खण्डन किया है। उनके कथन का सारांश यह है कि—एक ही ध्वनि यदि भिन्न-भिन्न रूपों में आवे—जैसे कि कहीं दो प्रकार की वस्तुध्वनि हो—तो उनके संकर तथा संसृष्टि मानने में कोई बाधा नहीं। अतः 'अपने साथ अपना मिश्रण नहीं हो सकता' यह दर्पणकार का कथन अयुक्त है एवं दर्पणकार का यह कथन भी ठीक नहीं है कि 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के साथ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के मिश्रण को अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के भेदों में गिन देने पर अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के भेदों में उन्हीं भेदों को गिनना अनुचित है।' क्योंकि जैसे सभी इक्षु(ईख)रस के साधारण दृष्टि से एकरस होने पर भी रसभोजियों की दृष्टि में पौंड़े आदि विशिष्ट ईख के रस तथा साधारण ईख के रस के स्वाद में भेद होता ही है, ऐसी अवस्था में जहाँ पौंड़े के रस की अधिकता

और पौड़े के रस की न्यूनता होगी उसे—इन दोनों मिश्रणों को—एक रूप नहीं कहा जा सकता, वैसे ही जहाँ जिस व्यङ्ग्य की प्रधानता होगी वहाँ उस व्यङ्ग्य के साथ अन्य व्यङ्ग्य का मिश्रण माना जायगा और अन्यत्र अन्य का। अतः दर्पणकार की दूसरी युक्ति भी शिथिल हो जाती है। अब यदि यहाँ यह शंका हो कि—जहाँ दोनों भेद समान मात्रा में मिश्रित होंगे, किसी एक की प्रधानता नहीं रहेगी, वहाँ एक भेद और मानना पड़ेगा—तो इसका समाधान यह है कि वैसी स्थिति में उस भेद का दोनों नामों में से किसी भी नाम से व्यवहार किया जा सकता है। फिर उसका तीसरा नाम रखने की कोई आवश्यकता नहीं।

पर्यवसितार्थ

इस तरह पर्यवसित यह हुआ कि प्रकाशकार आदि द्वारा माने गए मूलभूत इक्यावन भेदों में बाइस भेदों को पण्डितराज नहीं मानते। वे बाइस भेद निम्न हैं—असंलक्ष्यक्रम में वर्णगत तथा रचनागत दो, अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम में कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धअर्थमूलक चार और इस प्रकार स्वमतसिद्ध अर्थशक्तिमूलक आठ भेदों को प्रबन्धगत नहीं मानने से गुणनप्रक्रिया में घट जाने वाले सोलह। अभिप्राय यह है कि प्रकाशकार आदि व्यञ्जक अर्थ के स्वतःसंभवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध—तीन प्रकार मानते हैं और ये तीनों ही प्रकार वस्तु और अलंकारभेद से दो-दो प्रकार के होते हैं, अतः उनके मत से व्यञ्जक अर्थ छै प्रकार के हो जाते हैं और उनसे अभिव्यक्त होनेवाले अर्थ भी वस्तु एवं अलंकारभेद से दो प्रकार के होते हैं। इस तरह उनके मत से अर्थशक्तिमूलक के जो पहले बारह भेद कहे गये हैं उन बारहों के पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत होने से समग्र भेद छत्तीस हो जाते हैं। पर पण्डितराज के मत में व्यञ्जक अर्थ चार ही प्रकार के सिद्ध होते हैं और उनसे वस्तु तथा अलङ्कार द्विविध अर्थ की अभिव्यक्ति होने से आठ भेद बनते हैं और उन आठ के पदगत तथा वाक्यगत होने से सोलह भेद हो जाते हैं।

अब यहाँ विचार यह करना है कि पण्डितराज के मत में यह भेदों की कमी यादृच्छिक है अथवा युक्तिपूर्ण। इस प्रसङ्ग में ध्वन्यालोक की ओर अनायास ध्यान चला जाता है, क्योंकि ध्वनिविचार में परवर्ती सभी आचार्यों के उपजीव्य ध्वन्यालोककार ही हैं। ध्वन्यालोककार वर्ण और रचना को भी असंलक्ष्यक्रम-व्यञ्जक मानते हैं।[1] पण्डितराज उन दोनों को गुण-व्यञ्जक कहते हैं। पर वस्तुतः जब वे खास-खास वर्णों तथा रचनाओं को खास-खास रस के प्रति प्रतिकूल अथवा अनुकूल मानते हैं, तब उन्हें रसव्यञ्जक भी मानना ही चाहिये।

ध्वन्यालोककार ने भी कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध की चर्चा नहीं की है और तदनुसार पण्डितराज ने भी उसको नहीं माना है और न मानने में युक्ति भी दी है। यद्यपि नागेश ने पण्डितराजोक्त युक्ति का खण्डन किया है, तथापि इस विषय में पण्डितराज का ही मत सुन्दर प्रतीत होता है।

---

१. 'यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु।
वाक्ये सङ्घटनायाञ्च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते॥' (ध्वन्यालोक)

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि को प्रबन्धगत मानने या न मानने की बात ध्वन्यालोक में भी विवादास्पद ही है। मूलध्वन्यालोक की कुछ पङ्क्तियाँ ऐसी हैं जिनसे आपाततः उक्त ध्वनि का प्रबन्धगत होना सिद्ध होता है, पर प्रसिद्ध रसवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन में उन पङ्क्तियों की जो व्याख्या की है उस व्याख्या के अनुसार वे पङ्क्तियाँ रसध्वनिपरक सिद्ध होती हैं। ध्वन्यालोक की 'दीधिति' टीका के रचयिता कविशेखर आचार्य बदरीनाथ झा जी ने काव्यप्रकाश आदि के स्वारस्यानुकूल उन पङ्क्तियों की व्याख्या में अर्थशक्तिमूलक ध्वनि को ही प्रबन्धगत सिद्ध किया है। पण्डितराज यहाँ अभिनवगुप्त का ही अनुसरण करते हैं। यद्यपि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि को प्रबन्धगत न मानने में कहीं किसी ने कुछ भी युक्ति नहीं दी है, तथापि उनकी हृदयगत युक्तियों का तर्क किया जा सकता है, और वे युक्तियाँ प्रायः ये हैं—एक तो प्रबन्ध से किसी एक अर्थ अथवा अलंकार की अभिव्यक्ति नहीं होती यह अनुभवसिद्ध है, दूसरे जिस महाभारतगत गृध्र-गोमायु-संवाद को उक्त ध्वनि के उदाहरणरूप में चुना गया है उसको अनेक वाक्यों का एकवाक्यतापन्न महावाक्यरूप वाक्य भी माना जा सकता है—अर्थात् प्रबन्ध पद से किसी पूरे ग्रन्थ का ही बोध मानना उचित है और वह वैसा नहीं है।

संकर-संसृष्टि-प्रयुक्त होने वाले भेदों के विषय में भी रसगङ्गाधरकार का मत स्पष्ट नहीं है। ध्वन्यालोककार ने ध्वनि-संकर तथा ध्वनि-संसृष्टि का विस्तृत विवेचन किया है। पण्डितराज ध्वनिसंकर को भी नहीं मानते अथवा नहीं मानना चाहते ऐसी बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि उभय(शब्द-अर्थ)शक्तिमूलक ध्वनि का निरूपण करते समय 'जहाँ शब्द तथा अर्थ दोनों की शक्तियाँ समानभाव से किसी अर्थ की अभिव्यक्ति में काम करती हैं वहाँ शब्दशक्ति-मूलक और अर्थशक्तिमूलक ध्वनियों का संकर ही मान लिया जाय—अतिरिक्त उभयशक्तिमूलक-ध्वनिभेद मानने की क्या आवश्यकता?' इस शंका के उत्तर में उन्होंने '**व्यङ्ग्यभेद एव सङ्कर-स्येष्टेः**' लिखकर ध्वनिसंकर को भी स्वीकार की है। फिर भी जो उन्होंने उन भेदों का निरूपण या खण्डन नहीं किया इसके कारणों में एक तो यह हो सकता है कि वे आगे किसी प्रसङ्ग पर उन भेदों की चर्चा करते, पर ग्रन्थ की अपूर्णता से ऐसा नहीं हो सका। दूसरे, उनकी प्रायः ऐसी ही मान्यता है कि 'वे भेद शास्त्रार्थप्रक्रिया से सिद्ध तो किए जा सकते हैं, ध्वनि की महत्ता सिद्ध करने को एकमात्र लक्ष्य मानकर ध्वनिकार ने वैसा किया भी है, पर वस्तुतः उन भेदों में परस्पर विलक्षण चमत्कार अनुभूत नहीं होता और जितने भेद माने गए हैं उन सभी के उदाहरण भी प्राप्त नहीं होते। अतः उन भेदों की गणना करना एक प्रकार व्यर्थ ही है'।

वैसे विचार से तो उभयशक्तिमूलक ध्वनि के संबन्ध में भी पण्डितराज ने अपनी एकान्त सम्मति नहीं दी है, क्योंकि उसको न मानने वाले मत का भी उन्होंने युक्तिपूर्ण उल्लेख किया है। और भी यदि, ध्वनिसंकर के संबन्ध में अधिक संभव यही है कि—अग्रिम आनन (जो दुर्भाग्यवश नहीं लिखा गया) में पण्डितराज उसका विचार करते। इस आधार पर यदि पण्डितराज के मत से ध्वनिसंकर आदि का हिसाब लगाया जाय तो मिश्रित भेद तीन हजार तीन सौ सत्तर होंगे और उनमें शुद्ध उनतीस भेदों को जोड़ देने पर समग्र भेद तीन सौ निरानबे हो जायँगे।

इसके बाद काव्यभेदों में गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि का प्रसङ्ग आता है, पर इस अपूर्ण निबन्ध में वे सब प्रसङ्ग नहीं आ सके। उन प्रसङ्गों पर पण्डितराज क्या विचार करते इसकी आशंका तो

अब असंभव ही है और प्रकाशकार आदि ने इस प्रसङ्ग पर जो कुछ कहा है उसमें अधिक मतभेद किंवा जटिलता नहीं है, अतः उनकी चर्चा यहाँ नहीं की जाती। जिज्ञासुओं को उनके विषय में अपेक्षित जानकारी तत्तद्ग्रन्थों से प्राप्त हो सकती है।

शब्दशक्तिमूलक व्यङ्ग्यार्थ के विषय में शास्त्रार्थ

द्वितीयानन के प्रारम्भ में ही शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के लक्ष्य स्थिर करने के लिये एक लम्बा विवरण उपस्थित किया गया है। प्राचीनों के मत से शब्दशक्तिमूलक ध्वनि वहाँ होती है जहाँ अनेकार्थक शब्द हों क्योंकि श्लेष से भिन्न स्थानों पर अनेकार्थक शब्दों का एक ही अर्थ प्रस्तुत रहता है, दूसरे अर्थ का प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। पर ऐसी स्थिति में भी जो कहीं-कहीं दूसरा अर्थ भी हमें प्रतीत हो जाता है, वह अभिधा से नहीं, अपितु व्यञ्जना से प्रतीत होता है और उसी अप्राकरणिक अर्थ को वैसी स्थिति में शब्दशक्तिमूलक व्यङ्ग्य कहते हैं। तात्पर्य यह कि यदि बहनोई आदि परिहासी कुटुम्बी जनों के भोजन के समय साले लोग कहें कि **'सैन्धवमानय** (सैन्धव लाओ)' तो उसका अर्थ अभिधा से 'नमक लाओ' होगा, क्योंकि प्रकरण (भोजन) से उसी अर्थ का सम्बन्ध है, पर वहाँ उस वाक्य का 'घोड़ा लाओ' अर्थ भी सहृदयों को ज्ञात अवश्य होता है और वह व्यञ्जना से ही होता है।

यहाँ 'अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधा से क्यों नहीं होता?' इस प्रश्न का उत्तर देने में शास्त्रार्थ उठ खड़ा होता है। प्राचीनों ने उक्त प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से किया है, जिसका रूप नकारात्मक है अर्थात् उन दोनों ही प्रकारों में 'उक्त अर्थ का बोध अभिधा से नहीं होता' यह सिद्ध किया गया है। पर पण्डितराज ने उन दोनों प्रकारों का प्रबल युक्तियों के आधार पर खण्डन करके सिद्ध कर दिया है कि—'अभिधा से अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध होता है'। उक्त तीनों मतों का सारांश निम्न रूप का है—

१—अनेकार्थक शब्दों का श्रवण होने पर यद्यपि प्रथमतः उस शब्द के सभी अर्थ स्मृति-पथ में आते हैं, क्योंकि कोष आदि से उस पद का संकेत समानरूप से सभी अर्थों में ज्ञात हुआ रहता है, पर प्रकरण आदि (संयोगो विप्रयोगश्च······ इत्यादि, जिसका विशद वर्णन इस ग्रन्थ में यथा प्रसङ्ग पर आगे किया गया है) से वक्ता का तात्पर्य किसी एक ही अर्थ में ज्ञात होता है और इस तात्पर्यनिर्णय के होते-होते प्रथम स्मृति विलीन-सी हो जाती है, अतः पुनः पदार्थ का स्मरण होता है और यह द्वितीय बार का स्मरण केवल प्राकरणिक अर्थ का होता है। अतएव अभिधा से उक्तरीत्या स्मृत एकमात्र प्राकरणिक अर्थ का बोध हो पाता है, अप्राकरणिक अर्थ का नहीं। ऐसी स्थिति में अप्राकरणिक अर्थ की स्मृति जब व्यञ्जना की सहायता से होती है तब उसका बोध होता है, अतः वह अप्राकरणिक अर्थ व्यङ्ग्य कहलाता है, वाच्य नहीं। यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि प्रकरण आदि व्यञ्जनाद्वारा होने वाली अप्राकरणिकार्थस्मृति को क्यों नहीं रोकते? तो इसका समाधान यह है कि प्रकरण आदि वैयञ्जनिक स्मृति को नहीं रोकते, क्योंकि व्यञ्जना का प्रादुर्भाव ऐसे ही अर्थों का स्मरण कराने के लिये हुआ है। (यह है प्रथम मत का सारांश)।

२—अनेकार्थक शब्दों से होने वाले अर्थ-बोध में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय भी एक हेतु है, अतः कोष आदि द्वारा समानरूप से सभी अर्थों में संकेत ज्ञात होने के कारण अनेकार्थक

शब्द-श्रवणोत्तर सभी अर्थों की स्मृति होने पर भी अन्वयबोध प्राकरणिक अर्थ का ही होता है, क्योंकि प्रकरण आदि द्वारा वक्ता का तात्पर्य उसी अर्थ में निर्णीत होता है । इस तरह वक्तृ-तात्पर्यविषयीभूत अर्थ का जो बोध होता है वह व्यञ्जना के सिवा अन्य किसी उपाय से साध्य नहीं है । व्यञ्जना से होने वाले बोध में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय सर्वत्र अपेक्षित नहीं है क्योंकि जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ भी अनेक हों वहाँ वैयञ्जिक बोध में भी तात्पर्यनिर्णय हेतु है किन्तु जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ एक ही हो वहाँ वैयञ्जिक बोध में तात्पर्यनिर्णय हेतु नहीं होता । (यह है द्वितीय मत का सारांश) ।

प्रथम और द्वितीय मत में अन्तर यह हुआ कि प्रथम मत में दुबारा केवल एक अर्थ का स्मरण मानना पड़ता था और प्रकरण आदि के ज्ञान से अप्राकरणिक अर्थ के स्मरण का प्रतिबन्ध (रुकावट) स्वीकार करना पड़ता था, किन्तु द्वितीय मत में ये दोनों बातें नहीं माननी पड़तीं ।

१—'अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थों में, प्रकरणादि के द्वारा, केवल एक अर्थ का ही स्मरण होता है, अन्य का नहीं' यह जो प्रथम मत में कहा गया है वह मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि संस्कार तथा उद्बोधक दोनों के रहने पर स्मरण का न होना असम्भव है । यदि अनेकार्थक शब्द के एक ही अर्थ का स्मरण हो, अन्य का नहीं, तो 'पय सुन्दर है' इस वाक्य के 'पय' शब्द का अर्थ जब वक्ता के तात्पर्य (दूध) के विरुद्ध कोई 'जल' कहता है तब जो प्रकरणादि समझनेवाला यह कहता सुना जाता है कि 'महाशय ! यहाँ इस शब्द का अर्थ दूध है, जल नहीं' वह नहीं बन सकता, निषेध करने वाले को प्रकरण आदि ज्ञात रहने से अप्राकरणिक (जल-रूप) अर्थ उपस्थित ही नहीं होगा, फिर उसका निषेध वह कैसे कर सकता है । अतः प्रथम मत अयुक्त है ।

द्वितीय मत में वक्तृतात्पर्य-निर्णय को आभिधिक अन्वय-बोध के प्रति कारण मानकर प्राकरणिक अर्थ का ही अभिधा से बोध समर्थित हुआ है, पर वह समर्थन असंगत है, क्योंकि आभिधिक अथवा वैयञ्जनिक—किसी भी प्रकार के अर्थबोध में वक्तृतात्पर्य-निर्णय को कारण मानना अनुचित है । यदि ऐसा कार्यकारणभाव माना जाय, तब शुक आदि पक्षियों के द्वारा उक्त वाक्यों का अर्थबोध ही नहीं होगा, क्योंकि वहाँ वक्ता (पक्षियों) का किसी भी अर्थ में तात्पर्य नहीं रहता । वे (पक्षी) तो किसी अर्थ का बोध कराने की इच्छा से वाक्य नहीं बोलते वरन् सुने हुए वाक्यों को बिना अर्थ समझे दुहरा भर देते हैं । इस पर यदि शंका हो कि तात्पर्य-निर्णय का क्या कहीं कुछ उपयोग है ही नहीं तो इसका समाधान यह है कि उसका उपयोग अर्थबोध में नहीं, अपितु श्रोता की प्रवृत्ति में है अर्थात् अनेकार्थक शब्दों से अनेक अर्थों को समझ कर भी श्रोता प्रवृत्त उसी अर्थ में होता है जिसमें वक्ता का तात्पर्य उसे निर्णीत होता है । अतः अनेकार्थक शब्द के सभी (प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक) अर्थों का अभिधा से बोध मानने में कोई बाधा नहीं । यह बात तो तब हुई जब सभी अनेकार्थक शब्दों के स्थल में अप्राकरणिक अर्थ की भी [illegible] प्रतीति मानी जाय ।

पर यदि वक्तृतात्पर्य के ज्ञान अथवा श्रोता की विशिष्ट बुद्धि-शक्ति को कारण मानकर यह माना जाय कि अप्राकरणिक अर्थ को समझाने वाली व्यञ्जना कहीं प्रादुर्भूत होती है और कहीं नहीं, तो यह भी संगत नहीं, क्योंकि तात्पर्य-ज्ञान को वैयञ्जनिक बोध-स्थल में कारण नहीं

माना जाता। रही श्रोता की बुद्धि-शक्ति, सो उसे व्यञ्जना का प्रादुर्भावक मानने की अपेक्षा प्रकरणादि के ज्ञान से दबी हुई अभिधाशक्ति को उद्बुद्ध करने वाली ही क्यों न माना जाय? वह किसी पद की अप्राकरणिकार्थोपस्थापक अभिधा को उद्बुद्ध न करके व्यञ्जना को उद्बुद्ध करे, यह मान्यता युक्तिविहीन है। इस तरह दोनों मत खण्डित हो जाते हैं।

अब यदि कहा जाय कि जहाँ अप्राकरणिक अर्थ अबाधित रहेगा वहाँ उसका बोध भले ही अभिधा से हो पर जहाँ अप्राकरणिक अर्थ जुगुप्सित अतएव वह्निकरणक सेक के समान बाधित रहेगा वहाँ तो उसका बोध अभिधा से नहीं हो सकता, क्योंकि बाध-निश्चय को शाब्दबुद्धि के प्रति सभी प्रतिबन्धक मानते हैं, अतः वैसे अप्राकरणिक अर्थ के बोध के लिये व्यञ्जना की ही शरण लेनी पड़ेगी, क्योंकि वैयञ्जनिक बोध में बाधनिश्चय प्रतिबन्ध नहीं करता, तो इसका समाधान यह है कि जैसे अपह्नुति, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों के स्थल में वाच्य अर्थ ही बाधित रहते हैं—अतः शाब्दज्ञान में बाध-निश्चय प्रतिबन्धक नहीं होता वैसे यहाँ भी बाधित अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधा से ही हो जा सकता है।

इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि अनेकार्थक शब्दस्थल में द्वितीय (अप्राकरणिक) अर्थ का बोध व्यञ्जना द्वारा नहीं, किन्तु अभिधा द्वारा ही होता है। हाँ, प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों की उपमा अवश्य ही व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होती है।

इस प्रकार प्राचीनों की शिथिल होती हुई युक्ति को बल देने के लिये पण्डितराज ने एक ऐसा स्थल भी ढूँढ़ निकाला है जहाँ व्यञ्जना के बिना द्वितीय अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। वह स्थल है—योगरूढ शब्दों से बने पद्य।

'रूढियोगापहारिणी' इस नियम के अनुसार योगरूढ शब्दों के रूढ अर्थ ही अभिधाद्वारा ज्ञात हो सकते हैं। वहाँ यौगिक अर्थों का बोध व्यञ्जना से ही करना पड़ेगा। अतः वस्तुतः शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का लक्ष्य वैसा ही पद्य हो सकता है जो योगरूढ पदों से बना हो। इतना कह देने के बाद यह भी कहा जा सकता है कि जब योगरूढ-शब्द-स्थल के लिये व्यञ्जना माननी ही पड़ी तब अनेकार्थक शब्दस्थल में भी द्वितीय अर्थ का बोध व्यञ्जना से मानना ही सरल पक्ष है। यह है प्राचीन मत का सारांश। यहाँ इस सारांश-संकलन का प्रयोजन यह है कि अग्रगत विशद शास्त्रार्थ को समझने में पाठकों को सुविधा हो।

शब्द-शक्ति

अब यहाँ शब्दों की उन शक्तियों के सम्बन्ध में विचार करना है जिनके आधार पर उक्त विशाल 'ध्वनि-प्रासाद' खड़ा किया गया है। उन शक्तियों के पृथक्-पृथक् विवेचन से पूर्व सामान्य ज्ञान के लिये यह समझ लेना आवश्यक है कि ये शक्तियाँ संख्या में तीन हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। यद्यपि अन्य शास्त्रों में अभिधा और लक्षणा ये दो ही शब्द-शक्तियाँ मानी गई हैं तथापि यहाँ अलङ्कार-शास्त्र के माध्यम से ही शब्द-शक्ति के सम्बन्ध में विचार करना है और अलङ्कार-शास्त्र में उक्त तीनों ही शक्तियाँ स्वीकृत हुई हैं, अतः शक्तियों की संख्या तीन ही समझते हुए यह भी समझना चाहिए कि अलङ्कारशास्त्र के समान व्याकरणशास्त्र में भी व्यक्त

तीन शक्तियाँ समर्पित हुई हैं। इन शक्तियों का वर्णन शास्त्रों में 'वृत्ति' शब्द से भी किया गया है, अतएव अलङ्कार-शास्त्र में 'शक्ति' शब्द का प्रयोग केवल 'अभिधा' के लिये ही हुआ है अर्थात् अलङ्कार-शास्त्र में 'शक्ति' पद का अर्थ 'अभिधा' समझना चाहिए।

अलङ्कारशास्त्र के जिन ग्रन्थों में, मुख्यरूप से इन वृत्तियों का विवेचन किया गया है, वे ग्रन्थ निम्न हैं—

अग्निपुराण, अभिधावृत्तिमातृका, शब्दव्यापारविचार, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, वृत्तिवार्तिक और रसगङ्गाधर। इनमें अग्निपुराणगत वृत्ति-निरूपण कुछ भिन्न ही प्रकार का है, अतः उसकी चर्चा यहाँ तीनों वृत्तियों का विवेचन कर लेने के बाद ही की जायगी।

अभिधावृत्तिमातृका में प्रायः मीमांसकों के मतानुसार अभिधा तथा लक्षणा को ही मान्यता दी गई है और व्यञ्जना नहीं मानी गई है। शब्दव्यापारविचार और काव्यप्रकाश के निर्माता एक ही व्यक्ति (मम्मट) हैं, अतः उनमें मतभेद की सम्भावना ही नहीं है। साहित्यदर्पण भी इस अंश में बहुत कुछ प्रकाश का ही अनुगमन करता है। और जो कुछ विशेष है उसका उल्लेख यथावसर आगे किया जायगा। वृत्तिवार्तिक के रचयिता अप्पयदीक्षित के मत का तो सर्वत्र पण्डितराज खण्डन ही करते हैं, अतः वृत्तिविचार में भी उनके मत का खण्डन ही इस ग्रन्थ में किया गया है।

अभिधा

शब्द तथा अर्थ के पारस्परिक संबन्ध-विशेष का नाम अभिधा है। यह संबन्धविशेष शब्द-शक्ति-स्वरूप एक स्वतन्त्र पदार्थ है यह कुछ लोगों (मीमांसकों) का मत है। नैयायिक लोग इस संबन्ध-विशेष अथवा अभिधा को 'इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए' इस रूप में होने वाली अथवा 'यह पद इस अर्थ को समझावे' इस रूप में होने वाली ईश्वर की इच्छा अथवा किसी तरह आधुनिक मनुष्यों की इच्छा मानते हैं। पर यहाँ प्रथम मत ही श्रेष्ठ है, क्योंकि, द्वितीय मत में एक तो यह प्रतिबन्दी खड़ी हो जाती है कि यदि उक्तप्रकारक ईश्वरेच्छा को अभिधा माना जाय तब उक्तप्रकारक ईश्वर-ज्ञान को ही अभिधा क्यों नहीं माना जाय ? दूसरे, यदि अभिधा को ईश्वरेच्छारूप माना जाय तो लक्षणा (और विशेषतः रूढिमूला लक्षणा) को भी ईश्वरेच्छारूप क्यों नहीं माना जाय ? फलतः सिद्ध हुआ कि अभिधा का अर्थ है पद और पदार्थ का पारस्परिक संबन्ध और वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है—एक प्रकार की शब्द-शक्ति है, इच्छा आदि रूप नहीं।

इसी प्रसङ्ग पर यह भी समझ लेना चाहिए कि हमें अभिधा को समझने का साधन क्या है ? शास्त्र में, शक्तिग्रह (अभिधा-ज्ञान) के ये आठ साधन बतलाए गए हैं[1]। व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण और सिद्ध पद का सान्निध्य। इन साधनों में व्यवहार को शक्तिग्राहक-शिरोमणि (सबसे मुख्य साधन) कहा गया है। अतः, उस मुख्य साधन के आधार पर ही यहाँ इस प्रसङ्ग की कुछ मीमांसा की जाती है।

---

१. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

देखा जाता है कि किसी व्यक्ति से 'गामानय (गौ को लाओ)' ऐसा कहते ही वह गौ को ले आता है। अब यदि वहाँ कोई बालक (जिसको उक्त वाक्य का अर्थज्ञान नहीं रहता) उपस्थित रहता है, तो उसे उक्त व्यवहार में उक्त वाक्य का (अन्त में उस वाक्य के अन्दर आए हुए पदों का भी) शक्ति-ग्रह होता है और वह इस प्रकार होता है कि पहले बालक प्रत्यक्ष प्रमाण से उन वस्तुओं को देखता तथा सुनता है अर्थात् वाक्य को कान से सुनता है और वक्ता के बोद्धव्य (जिसके प्रति वक्ता उक्त वाक्य कहता है) को तथा लाई जाती हुई गौ को आँखों से देखता है। इसके बाद वह बालक बोद्धव्यगत ज्ञान का अनुमान करता है अर्थात् 'इस बोद्धव्य व्यक्ति ने, उक्त वाक्य से अवश्य ही गौ का लाना समझा है, क्योंकि उसकी चेष्टा उसी तरह की हो रही है—वह गौ को ला रहा है' यह समझता है। इसके बाद उस बालक के मन में स्वभावतः यह जिज्ञासा उठती है कि क्यों इसने (बोद्धव्य ने) उक्त वाक्य का वही अर्थ (गौ का लाना) समझा, दूसरा कोई अर्थ क्यों नहीं समझा, अतः अवश्य ही उस वाक्य का उस ('गामानय' का 'गौ का लानारूप अर्थ') के साथ कोई सम्बन्ध है। इस तरह, उक्त वाक्य तथा उक्त वाक्यार्थ के बीच जिस पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान तीन प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्ति) की सहायता से, बालक को होता है वही अभिधा है और उस अभिधा का उक्त प्रकार से होने वाला ज्ञान ही व्यवहार द्वारा होनेवाला 'शक्ति-ग्रह' है। पर यह शक्ति-ग्रह अखण्ड वाक्य का अखण्ड वाक्यार्थ में हुआ, अर्थात् उक्त व्यवहार से बालक इतना समझ सका कि 'गामानय' यह एक अखण्ड वाक्य है जिसका 'गौ का लानारूप अर्थ के साथ संबन्ध है। यह नहीं समझ सका कि इस वाक्य के अन्दर 'गाम्' एक पद है और उसका संबन्ध 'गौ' से है, इसी तरह 'आनय' दूसरा पद है और उसका संबन्ध 'लाने' से है। इस तरह का पद-शक्ति-ज्ञान बालक को तब होता है, जब वक्ता कहता है—'गाम् बधान (गौ को बाँध दो)' 'अश्वम् आनय (घोड़े को ले आओ)'। तात्पर्य यह कि जब उक्त वाक्य को सुन कर तदनुसार आचरण करते हुए बोद्धव्य को बालक देखता है तब उक्त प्रक्रिया से बालक को उस पद की अभिधा ज्ञात होती है। उसी का नाम 'बोध्यबोधकभाव' अथवा 'वाच्यवाचकता' किंवा 'तादात्म्य' है।

यहाँ यह भी समझ लेना उचित है कि अभिधा-ज्ञान से शब्दार्थ का ज्ञान कैसे होता है। संबन्धियों के विषय में यह नियम है कि—एक संबन्धी का ज्ञान होने पर दूसरे संबन्धी का अपने आप स्मरण हो आता है[१], जैसे 'मोहन' का घर देखने पर 'मोहन' का स्मरण तुरन्त हो आता है। इसी नियम के अनुसार हमें किसी भी नाम (जो एक प्रकार का शब्द है) के सुनते ही उससे संबन्ध रखनेवाली वस्तु का और किसी भी वस्तु के देखते ही उसके नाम का स्मरण हो आता है तथा इस प्रकार से स्मृतिपथ में आए हुए अर्थों का पीछे अन्वयबोध होता है। उक्त नियम के अनुसार शब्दश्रवण के अनन्तर उस शब्द से संबन्ध रखने वाले अर्थ का स्मरण उसी को होता है जो उस संबन्ध (अभिधा) को जानता रहता है। अतः किसी भी शब्द के अर्थ को समझने के लिये इस पूर्वोक्त संबन्धरूप अभिधा का ज्ञान आवश्यक है।

---

१. एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिनं स्मारयति।

अभिधा के भेद

अभिधा के तीन भेद हैं—रूढ़ि, योग और योगरूढ़ि। कुछ लोग यौगिकरूढ़ि नामका एक चतुर्थ भेद भी मानते हैं। इन सबका सोदाहरण विवरण प्रकृत ग्रन्थ में ही यथास्थान विशद रूप में आया है।

वाच्य अर्थ

इस अभिधा किंवा शक्तिनामक वृत्ति से जिस अर्थ का बोध होता है उसको वाच्य अर्थ कहते हैं। शब्दान्तर में इस प्रकार कह सकते हैं कि उक्त अभिधाज्ञापक साधनों से जिस अर्थ का बोध होता है उसका नाम वाच्य अर्थ है। यह वाच्य अर्थ अभिधेय, शक्य अथवा मुख्य अर्थ के नाम से भी कहा जाता है।

वाचक शब्द

अभिधाशक्ति द्वारा अर्थ का बोध कराने वाला शब्द वाचक कहलाता है।

लक्षणा

प्रायः देखा जाता है कि शब्दों का प्रयोग पूर्वोक्त मुख्य अर्थ से अन्य अर्थ में भी कभी-कभी होता है। सहृदय पुरुष अपकार करने वाले से कहता है—'तुमने बड़ा उपकार किया, तुम सौ बरस जीओ'। इन वाक्यों में क्रमशः 'उपकार' का अर्थ 'अपकार' और 'जीओ' का अर्थ 'नहीं जीओ' है। पर उक्त दोनों पदों के उक्त दोनों अर्थ हो नहीं सकते, क्योंकि उन अर्थों में उन शब्दों की अभिधा; कोष किंवा व्याकरण अथवा व्यवहार आदि से ज्ञात नहीं होती और तब तक किसी शब्द का कोई अर्थ हो नहीं सकता जब तक उस शब्द में उस अर्थ की बोधिका कोई वृत्ति न हो। ऐसी ही स्थिति में, ऐसे ही अर्थों को सिद्ध करने—समझने—के लिये 'लक्षणा' की आवश्यकता होती है।

लक्षणा का स्वरूप

विश्लेषण करने पर विदित होता है कि शब्द पहले अपने साक्षात् सम्बन्ध—अभिधा के द्वारा वाच्य अर्थ को समझाता है, पर जब वह अर्थ वक्ता के तात्पर्य से विरुद्ध पड़ता है, तब उस पद के वाच्य अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी ऐसे अर्थ को उस पद का अर्थ मानना पड़ता है जो वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल होता है। अभिप्राय यह कि ऐसा अर्थ पद और पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्धद्वारा नहीं, अपि तु पद के वाच्य अर्थ से सम्बन्ध रखने के कारण ज्ञात होता है।

स्पष्ट रूप में इस बात को यों भी कह सकते हैं कि पद दो तरह से अर्थ का प्रतिपादन करता है—एक अपने साक्षात्सम्बन्धद्वारा और दूसरे परंपरा-सम्बन्ध (अपने संबन्धी-वाच्य-अर्थ के संबन्ध) द्वारा। इनमें प्रथम संबन्ध को अभिधा और द्वितीय संबन्ध को लक्षणा कहते हैं। जब केवल प्रथम संबन्ध कार्यकारी नहीं होता (वक्ता के तात्पर्य के विषयीभूत अर्थ का बोधक नहीं हो पाता) तभी द्वितीय संबन्ध का उपयोग किया जाता है। अतएव अभिधा प्रथम वृत्ति और लक्षणा अभिधा की पुच्छभूत वृत्ति समझी जाती है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अन्य वाच्य (मुख्य) अर्थ के संबन्ध का नाम लक्षणा है। लक्षणा का यही स्वरूप (लक्षण)

प्रकृत निबन्ध में स्वीकृत हुआ है। न्यायदर्शनप्रणेता आचार्यों ने भी लक्षणा के इस स्वरूप का ही समर्थन किया है।

अभिधावृत्तिमातृकाकार मुकुल भट्ट की यह उक्ति भी लक्षणा के इसी स्वरूप की ओर इङ्गित करती है। वे कहते हैं—'शब्द के व्यापार से जिसकी प्रतीति होती है वह अर्थ मुख्य कहलाता है और शब्द के अर्थ द्वारा जो अर्थ ज्ञात होता है अर्थात् जिस अर्थ के समझने में मुख्य अर्थ मध्य में पड़ता है उस अर्थ को लक्ष्य (लक्षणाद्वारा ज्ञात) समझना चाहिए।'[1]

लक्षणास्वरूप के विषय में मतान्तर

कतिपय प्राचीन विद्वान् 'वाच्य अर्थ के संबन्धद्वारा वाच्य अर्थ से भिन्न अर्थ की ज्ञान (स्मरण)' को लक्षणा मानते हैं।[2] काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट-कृत लक्षण से भी लक्षणा का यही प्राचीन-सम्मत-स्वरूप फलित होता है क्योंकि उन्होंने काव्यप्रकाश में कहा है—'मुख्य अर्थ का बाध रहने पर रूढि अथवा प्रयोजन से जो अन्य अर्थ ज्ञात होता है वह शक्ति लक्षणा है, शब्द में यह लक्षणा आरोपित की जाती है'।[3] इस लक्षण में 'अन्य अर्थ जो लक्षित होता है वह लक्षणा है' इतना अंश स्वरूपकथन-परक है और अन्य अंश लक्षणा-हेतु-कथनपरक है। इस लक्षण से लक्षणा का उक्त प्राचीनाभिमत स्वरूप ही पर्यवसित होता है।

यद्यपि कतिपय टीकाकारों ने मम्मटीय लक्षणास्वरूपबोधक कारिका की व्याख्या अपने ढङ्ग से करके 'शक्य-संबन्ध लक्षणा है' ऐसा अभिप्राय निकाला है, पर वह अभिप्राय वस्तुतः मम्मट का नहीं है, क्योंकि मम्मट ने **'मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः'** लिखकर स्पष्ट शब्दों में शक्य-सम्बन्ध को लक्षणा का कारण माना है और 'शक्य-संबन्ध'रूप लक्षणा का कारण शक्यसंबन्ध हो नहीं सकता।

भट्टवार्तिककार कुमारिल भट्ट (मीमांसक) का लक्षण भी बहुत कुछ इसी ढङ्ग का है। उनका कथन है—'मुख्य अर्थ का स्वीकार करना यदि अन्य प्रमाण (प्रत्यक्ष आदि) से विरुद्ध पड़ता हो तब अभिधेय (वाच्य) अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ की जो प्रतीति होती है वह लक्षणा है[4]।' इन सभी मतान्तरों का सारांश एक होने से इन सब को एक मतान्तर कह सकते हैं।

कुछ लोग 'शक्यतावच्छेदकारोप' को लक्षणा कहते हैं। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि मुख्य अर्थ में रहने वाले असाधारणधर्म का मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ में आरोप करना ही लक्षणा का स्वरूप है। जैसे—'गङ्गा में घोष' इस वाक्य में गङ्गापदशक्यतावच्छेदक गङ्गात्व का गङ्गापदार्थ-प्रवाह-विशेष से सम्बद्ध तट में आरोप करना। अन्य लोग वक्ता के तात्पर्य (इच्छा-विशेष) को ही लक्षणा कहते हैं।

---

१. शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते॥

२. 'शक्यसंबन्धेनाशक्यप्रतिपत्तिर्लक्षणा' इति प्राचां लक्षणम्।

३. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽर्थप्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥

४. 'मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे।
अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥'

समीक्षा

यहाँ प्रथम मतान्तर संगत नहीं, क्योंकि शब्द से अर्थ का स्मरण होने में जिसका ज्ञान कारणरूप हो वह पदार्थ शब्द की वृत्ति अथवा शक्ति कहलाता है। वैसा पदार्थ स्मरण नहीं अपि तु सम्बन्धविशेष ही हो सकता है, क्योंकि 'पूर्वोक्त स्मरण (ज्ञान) का ज्ञान' लक्ष्य अर्थ के बोध का कारण नहीं है। सारांश यह कि ज्ञान का कारण वृत्ति है, ज्ञान ही नहीं। अतः संबन्ध को ही लक्षणा मानना उचित है, न कि स्मृति को।

यदि किसी तरह मम्मट की कारिका से शक्य-संबन्ध का लक्षणा होना सिद्ध किया जा सके, और अग्रिम तदीय-ग्रन्थ का विरोध परिहृत कर दिया जाय, तब प्रकाशगत लक्षण को ही ठीक माना जा सकता है।

इसी तरह कुमारिलभट्ट के वार्तिक की व्याख्या यदि 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिः' पद का 'अभिधेयसम्बन्ध अर्थ की प्रतीति हो जिससे' वह पदार्थ अर्थ मानकर की जाय तब वह लक्षण भी ठीक ही है।

शक्यतावच्छेदकारोप को लक्षणा मानना भी उचित नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर—

'कचतस्त्रस्यति वदनं वदनात् कुचकुड्मलं बिभेति।
मध्याद् बिभेति नयनं नयनादधरः समुद्विजति॥

अर्थात् केश से मुख डरता है, मुख से उत्तुंग स्तन भीत होता है, मध्यभाग (कटि) से नयन भयभीत है और नयन से अधर उद्विग्न हो उठता है।'
इस पद्य में लक्षणा करने का कोई फल नहीं हो सकेगा। तात्पर्य यह कि—यहाँ कच, वदन, कुचकुड्मल, मध्य, नयन तथा अधर शब्द, क्रमशः राहु चन्द्र, कमल, सिंह, हरिण और पल्लवरूप अर्थ में लाक्षणिक हैं। अब यदि शक्यतावच्छेदकारोप को लक्षणा माना जाय तब कचत्व आदि का राहु आदि में आरोप किया जायगा, पर उससे प्रकृत में कोई लाभ नहीं, क्योंकि उस तरह के आरोप से राहु आदि भी केश आदि ही समझे जायँगे, फिर उनसे चन्द्र आदि के डरने का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

अन्तिम मत भी अच्छा नहीं है क्योंकि आगे दिखलाया जायगा कि लक्षणा का एक कारण तात्पर्य की अनुपपत्ति है। यदि तात्पर्य ही लक्षणा हो तब पूरा कार्यस्वरूप ही कारण के पेट में समा जायगा, फिर उक्त दोनों पदार्थों का कार्यकारणभाव कैसे बन सकता है।

लक्षणा के कारण

अब यहाँ शंका यह उठती है कि—लक्षणा किन्हीं कारणों के आधार पर होती है अथवा वैसे ही? इसके उत्तर में कहना पड़ेगा कि—कारणों के आधार पर ही लक्षणा होती है क्योंकि यदि वैसे ही लक्षणा की जाय तब सर्वत्र सभी पदों की जिस किसी संबद्ध अर्थ में लक्षणा मान ली जा सकेगी। अब देखना यह है कि वे कारण कौन से हैं जिनके आधार पर लक्षणा होती है। प्रथम कारण वक्ता के तात्पर्य की अनुपपत्ति (असिद्धि) है, अर्थात् जब किसी पद के मुख्य अर्थ से वक्ता का तात्पर्य (जो कुछ वक्ता कहना चाहता है वह वाक्यार्थ) सिद्ध नहीं हो पाता तब उस पद की लक्षणा होती है।

कुछ लोग अन्वय की अनुपपत्ति को लक्षणा का प्रथम कारण मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि—जब मुख्य अर्थ का अन्वय वाक्यान्तर्गत अन्य पद के अर्थ के साथ नहीं हो सके तब लक्षणा होती है। पर यह पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि यदि इसी कारण के आधार पर लक्षणा हो तब तो 'गङ्गा में घोष' ऐसा कहने पर जो नियमतः गङ्गा पद की तट में लक्षणा मानी जाती है वह आवश्यक नहीं रह जायगा—अर्थात् घोषपदार्थ में गङ्गापदार्थ का अन्वय नहीं हो सकने के कारण ही जब लक्षणा का आश्रयण करना ठहरा, तब इसकी क्या आवश्यकता कि गङ्गा पद की ही लक्षणा तट में मानी जाय। घोष पद की मीन-शैवाल आदि में लक्षणा मानकर भी 'गङ्गा में मीन अथवा शैवाल' यह अन्वित अर्थ किया जा सकता है।

इसी तरह 'कौओं से दही की रक्षा कीजिए' इस प्रसिद्ध लक्षणोदाहरण में लक्षणा का कोई प्रसङ्ग ही नहीं रह जायगा, क्योंकि यहाँ अन्वय की अनुपपत्ति नहीं है अर्थात् केवल कौओं से दही की रक्षा कर देने पर भी वाक्य अन्वितार्थक हो ही जाता है।

तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का कारण मानने वालों के मत से तो यहाँ लक्षणा का प्रसङ्ग होता है, क्योंकि वक्ता का तात्पर्य उन सभी प्राणियों से दही की रक्षा करने में है जिनसे दही की बरबादी संभव हो, फिर यदि कौओं से बचाकर भी कुत्तों से दही नष्ट करा दिया जाय तब वक्ता का तात्पर्य अनुपपन्न होता है, अतः काक पद की लक्षणा दध्युपघातक में होती है। इसी तरह अन्यत्र भी दोष हो सकते हैं। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का प्रथम कारण मानना चाहिए—अन्वयानुपपत्ति को नहीं।

यदि तात्पर्यानुपपत्तिरूप एक ही कारण लक्षणा का माना जाय तो वक्ता कुछ भी बोले, कुछ भी अर्थ लगावे, उसे रोका नहीं जा सकता, और ऐसी स्थिति में वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है यह समझना एकदम असंभव हो जाय, अतः लक्षणा के ये दो नियामक कारण और हैं—रूढ़ि (प्रसिद्धि) और प्रयोजन। अतः तात्पर्यानुपपत्ति के अतिरिक्त इन दोनों में से किसी एक का होना भी लक्षणा के लिये अनिवार्य है।

इस सब का सारांश यह हुआ कि—मुख्यार्थ का वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल न होना और उस अर्थ में उस शब्द की प्रसिद्धि अथवा कोई प्रयोजन—इन दोनों में से एक—ये लक्षणा के दो कारण हैं। ये जब तक न हों तब तक कोई लक्षणा नहीं हो सकती।

लक्षणा के भेद

पण्डितराज का मत

रूढ़ि (प्रसिद्धि) तथा प्रयोजनरूप कारणों के भेद से प्रथमतः लक्षणा के दो भेद होते हैं। उनमें रूढ़ि के कारण होनेवाली लक्षणा को रूढ़ा किंवा निरूढ़ा और प्रयोजन के कारण होनेवाली लक्षणा को प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने रूढ़ा लक्षणा के भेद नहीं माने। पण्डितराज ने भी अरुचिग्रस्त रूप में ही उनके भेद किए हैं, क्योंकि उन्होंने उक्त प्रकार से दो भेद करके कहा है कि उन दोनों (रूढ़ा तथा प्रयोजनवती) भेदों में द्वितीय (प्रयोजनवती) के पुनः दो भेद होते हैं—गौणी तथा शुद्धा। उनमें प्रथम (गौणी) के भी दो भेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना। और द्वितीय (शुद्धा) के चार भेद होते हैं—जहत्स्वार्था, अजह-

त्स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना। इतना कहकर रूढ़ा के दो उदाहरण दिखलाए जिनमें एक जगह शक्य का संबन्ध सादृश्यरूप और दूसरी जगह सादृश्य से भिन्नरूप देखा गया, अतः रूढ़ा लक्षणा के भी गौणी और शुद्धा—दो भेद मानते हैं ऐसा लिखा, फिर प्रयोजनवती के उदाहरणों का विचार आरम्भ किया। इस कथन-क्रम से ऐसा प्रतीत होता है कि रूढ़ा लक्षणा के उक्त दो भेदों के विषय में ग्रन्थकार की पूर्ण सम्मति नहीं है। जो कुछ भी हो, इस तरह पण्डितराज के मत से प्रयोजनवती लक्षणा के गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा जहत्स्वार्था, शुद्धा अजहत्स्वार्था, शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना—ये छै भेद होते हैं। इन छै भेदों में यदि रूढ़ा के दो भेद मानकर उन्हें भी सम्मिलित कर लिया जाय तो कुल लक्षणाभेद आठ और यदि उसका एक ही भेद मान कर सम्मिलित कर लें तो पण्डितराज के मत से कुल लक्षणाभेद सात सिद्ध होते हैं।

जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था का नामान्तर

अन्यत्र जहत्स्वार्था को जहल्लक्षणा अथवा लक्षणलक्षणा और अजहत्स्वार्था को अजहल्लक्षणा अथवा उपादान-लक्षणा भी कहा गया है।

जहदजहत्स्वार्था भेद का निराकरण

वृत्तिवार्तिक के रचयिता अप्पयदीक्षित ने वेदान्तियों के मतानुसार प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा का एक जहदजहत्स्वार्था नामक भेद और माना है। पर प्रकृत ग्रन्थ में उस भेद की कहीं चर्चा ही नहीं हुई है, अतः यह मानना पड़ता है कि पण्डितराज इस भेद को नहीं मानते क्योंकि जहाँ वाचक शब्द अन्य अर्थ के लिये अपने अर्थ (वाच्य) को अर्पित कर दे वहाँ जहत्स्वार्था लक्षणा होती है। यह बात दूसरी है कि वह अर्थ को सर्वांश में अथवा किसी अंश-विशेष में छोड़े। इस प्रकार जिस तरह सर्वांश में वाचकद्वारा अपने अर्थ को छोड़ देने की स्थिति में जहत्स्वार्था मानी जाती है, उसी तरह किसी अंश-विशेष में वाचकद्वारा अपने अर्थ को छोड़ने की स्थिति में भी जहत्स्वार्था मानी ही जा सकती है, फिर द्वितीय स्थिति में जो एक जहदजहत्स्वार्था नामक नवीन भेद कहा जाता है उसकी कोई आवश्यकता नहीं, अर्थात् जिसको आप नवीन भेद मानना चाहते हैं वह जहत्स्वार्था नामक भेद में ही अन्तर्भूत हो जाता है। यह विचार काव्यप्रकाश की प्रदीप तथा उद्योत नामक टीकाओं में व्यक्त किया गया है। वृत्तिदीपिकाकार ने भी कुछ और शास्त्रार्थीय ढङ्ग की युक्तियों के आधार पर इसी तथ्य को पुष्ट किया है।

लक्षणा के भेदों का उपयोग

लक्षणा के आठ भेदों में निरूढा लक्षणा व्यङ्ग्यरहित होती है, अतः साहित्यशास्त्र में उसका कोई सुन्दर उपयोग नहीं होता, अर्थात् उसके आधार पर न तो कोई ध्वनिकाव्य होता है, न अलंकार। प्रयोजनवती के भेदों में से गौणी सारोपा का रूपक अलंकार में, गौणी साध्यवसाना का अतिशयोक्ति अलंकार में और शुद्धा सारोपा तथा शुद्धा साध्यवसाना (दोनों) का हेतुअलंकार में उपयोग होता है। यह बात प्रसङ्गवश पहले भी लिखी जा चुकी है। रहे दो भेद, उनमें से शुद्धा जहत्स्वार्था को मूल मानकर 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' और शुद्धा अजहत्स्वार्था को मूल मानकर 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' नामक दो ध्वनिभेद होते हैं।

मम्मट का मत

मम्मटभट्ट ने अपने काव्यप्रकाश में लक्षणा के भेद इस प्रकार किए हैं—लक्षणा प्रथमतः दो प्रकार की होती है—रूढ़िमूला तथा प्रयोजनमूला। उनमें प्रयोजनमूला के प्रथमतः दो भेद होते हैं—शुद्धा और गौणी। उनमें प्रथम भेद (शुद्धा) के चार भेद हो जाते हैं—शुद्धा उपादान-लक्षणा सारोपा, शुद्धा उपादानलक्षणा साध्यवसाना, शुद्धा लक्षणलक्षणा सारोपा और शुद्धा लक्षणलक्षणा साध्यवसाना। गौणी के दो भेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना। इस तरह प्रयोजनमूला के छै भेद होते हैं। इन छै भेदों के पुनः दो दो भेद हो जाते हैं, क्योंकि प्रयोजन-रूप व्यङ्ग्य गूढ़ (सहृदयमात्रवेद्य) तथा अगूढ़ (सर्वजनवेद्य) भेद से दो प्रकार का हो सकता है। फलतः मम्मटभट्ट के मत से, रूढिमूला का एक और प्रयोजनमूला के बारह—इस तरह समग्र लक्षणाभेद तेरह सिद्ध होते हैं।

यद्यपि अन्य कतिपय आलोचकों ने रूढ़िमूला के भी गौणी शुद्धा भेद मान कर मम्मट के मत से कुल चौदह लक्षणा-भेद माने हैं, पर काव्यप्रकाश में रूढ़िमूला लक्षणा के दो भेदों की कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती, अतः मम्मट के मत से उक्त भेद-संख्या संगत नहीं हो सकती। काव्य-प्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार वामनाचार्य ने भी अपनी टीका में तेरह भेद ही माने हैं।[1]

विश्वनाथ का मत

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज लक्षणा के प्रथमतः दो भेद करते हैं—रूढ़िमूला और प्रयोजनमूला। इन दोनों भेदों के भी उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा-भेद से पुनः दो दो भेद मानते हैं। इस तरह सिद्ध किए गए चार भेदों के पुनः सारोपा तथा साध्यवसाना-भेद से दो दो भेद कर देते हैं। इस तरह लक्षणा के आठ भेद-सिद्ध किए जाते हैं। ये आठों भेद पुनः गौणी-शुद्धा-भेद से दो दो प्रकार के माने जाते हैं। इस प्रकार लक्षणा के प्रधान भेद सोलह सिद्ध किए जाते हैं। इस तरह उनके मत से, १—रूढ़िमूला उपादानलक्षणा सारोपा शुद्धा, २—रूढ़िमूला उपादानलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा, ३—रूढ़िमूला लक्षणलक्षणा सारोपा शुद्धा, ४—रूढ़िमूला लक्षणलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा, ५—रूढ़िमूला उपादानलक्षणा सारोपा गौणी, ६—रूढ़िमूला उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी, ७—रूढ़िमूला लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी और ८—रूढ़िमूला लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी—ये आठ रूढ़िमूला लक्षणा के और इसी तरह इन्हीं नामों वाले आठ प्रयोजनमूला लक्षणा के भेद होते हैं। इनमें रूढ़िमूला के उक्त आठ ही भेद रह जाते हैं, पर प्रयोजनमूला लक्षणा के उक्त आठों भेदों के पुनः प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य के गूढागूढ़भेद से दो-दो भेद कर दिए जाते हैं। इस तरह प्रयोजनमूला के सोलह भेद सिद्ध होते हैं और ये सोलहों भेद पुनः फल (प्रयोजन) के धर्मी तथा धर्मगत होने से दो-दो प्रकार के बन कर बत्तीस हो जाते हैं। इस तरह प्रयोजनमूला के बत्तीस और रूढ़िमूला के आठ—कुल चालिस भेद लक्षणा के कर दिए जाते हैं। किन्तु इतने पर भी दर्पणकार को सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि जिस तरह वैयाकरण लोग अर्धमात्रा-लाघव से पुत्रोत्सव मनाते हैं[2],

---

१. 'तथा च व्यङ्ग्यरहिता रूढिलक्षणा एकविधा, उक्तषड्विधा प्रयोजनलक्षणा गूढव्यङ्ग्या-गूढव्यङ्ग्यत्वेन द्विविधा, मिलित्वा लक्षणा त्रयोदशविधा बोध्या।

२. अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।

उसी तरह आलंकारिक लोग भेद-वर्धन से अपनी कृतकृत्यता मानते हैं। फलतः उक्त चालीस भेदों को भी पदगत और वाक्यगत मान कर विश्वनाथ कविराज लक्षणा-भेदों को अस्सी तक खींच ले गए हैं।

विभिन्न मतों की समीक्षा

पाठक कृपया इस सूत्र का ध्यान रक्खें कि प्रकृतोपयोग तथा चरम बिन्दु तक पदार्थ का सूक्ष्मतम विश्लेषण, इन दो दृष्टिकोणों से लक्षणा के विषय में—किसी भी पदार्थ के विषय में—विचार किया जा सकता है। यह जो भिन्न-भिन्न ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न प्रकार का लक्षणा-निरूपण दृष्टिगोचर होता है उसका रहस्य बहुत कुछ उक्त दृष्टिकोण-विभिन्नता में ही निहित है। अभिप्राय यह कि—रसगङ्गाधर का लक्षणा-विचार सर्वथा अलंकारशास्त्र में उसके उपयोग को दृष्टि में रखकर किया गया है। काव्यप्रकाश का लक्षणा-विचार भी यद्यपि उसी दृष्टिकोण को मुख्य मान कर हुआ है तथापि उसमें कुछ-कुछ दूसरा दृष्टिकोण भी झलकता है। साहित्यदर्पण का लक्षणा-विचार विशुद्ध पदार्थविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से किया गया प्रतीत होता है।

अलंकारशास्त्र में होने वाले उपयोग को दृष्टि में रख कर यदि विचार किया जाय तो वस्तुतः निरूढालक्षणा का भेद दिखलाना ही नहीं, एक तरह से उसकी चर्चा ही निरर्थक है क्योंकि निरूढालक्षणा तो फलतः अभिधा ही है। चिरप्रसिद्धि के कारण जब कोई शब्द अपने योगार्थ को छोड़ कर सदा के लिये अन्य अर्थ में रूढ हो जाता है तब उसमें वाचक शब्द से कुछ अन्तर नहीं रह जाता। जैसे—आज 'लावण्य' शब्द के योगबललभ्य 'नमकीन' रूप अर्थ की ओर किसी का ध्यान भी नहीं जाता, बिना अवान्तर शक्य-संबन्धादि ज्ञान के उस पद से सौन्दर्य-विशेष की प्रतीति आपामर को होती है। फिर ऐसे निरूढलाक्षणिक शब्दों में 'यहाँ शक्य का संबन्ध क्या है' इत्यादि बातों की छानबीन करना भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। अलंकारशास्त्रोपयोगिता की दृष्टि से तो सर्वथा उक्त छानबीन निरर्थक है, क्योंकि अलंकारशास्त्र में शब्द के उपयोगानुपयोग का विचार व्यङ्ग्य अर्थ के आधार पर ही किया जाता है, स्पष्ट शब्दों में ध्वनिमार्गप्रस्थापक परमाचार्य आनन्दवर्धन ने महाकवियों को यत्नपूर्वक व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्दों को ही पहचानने की सलाह दी है[1]। और उक्त निरूढलाक्षणिक शब्दों के स्थल में व्यङ्ग्यार्थ रहता नहीं है।

ऐसी स्थिति में कम से कम साहित्यिकों के लिये इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि—लक्षणा का एक निरूढा भेद भी होता है—इससे अधिक की उन्हें आवश्यकता नहीं है। इसी दृष्टिकोण से प्राचीनों ने और मम्मटभट्ट ने भी निरूढालक्षणा के भेद करना उचित नहीं समझा और पण्डितराज ने भी परकीय मत के रूप में—सादृश्य तथा सादृश्यातिरिक्तसंबन्धमूलक गौणी-शुद्धा—दो भेद उसके लिख कर मौन साध लिया।

पर साहित्यदर्पणकार का दृष्टिकोण दूसरा था—वे लक्षणा का निरूपण शुद्ध पदार्थ-विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से करना चाहते थे, अलंकारशास्त्रोपयोगिता की दृष्टि से नहीं, अतः

---

१. सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगीशब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥ (ध्वन्यालोक)

उन्होंने निरूढालक्षणा के भी आठ भेद खोज निकाले जो उचित हैं, क्योंकि उन्होंने उन आठों भेदों के जो उदाहरण उपस्थित किए हैं वे सर्वथा उपयुक्त हैं, तथा उन्हीं के आधार पर वे भेद माने जा सकते हैं। विस्तार-भय से यहाँ उन उदाहरणों का उल्लेख नहीं किया गया है।

रसगङ्गाधरकार तथा काव्यप्रकाशकार ने प्रयोजनवती गौणीलक्षणा के जहत्स्वार्था-अजहत्स्वार्था-भेद नहीं किए क्योंकि उन भेदों का प्रकृत शास्त्र में उपयोग नहीं है और उन आचार्यों की दृष्टि पदार्थविश्लेषण की अपेक्षा प्रकृतोपयोग पर अधिक थी। यद्यपि काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने उक्त भेदों को असंभव भी ठहराया है—कतिपय आलोचकों ने भी उक्त टीकाकारों की युक्तियों को उद्धृत कर दर्पणकार को गलत कहा है, पर वह एक शास्त्रार्थ की शैली है, उस शैली से दर्पणकार के मत को भी ठीक किया जा सकता है। जैसे—

उक्त टीकाकारों ने उक्त भेदों की असंभविता में युक्ति दी है कि—'जहाँ प्रयोजनवती गौणीलक्षणा के जहत्स्वार्था-अजहत्स्वार्था भेद कहे जाते हैं वहाँ लक्षणा का बीजभूत (प्राचीन मत से) लक्षणारूप (नवीन मत से) संबन्ध सादृश्य है अथवा अन्य? यदि सादृश्य है तब वहाँ अजहत्स्वार्थाभेद नहीं हो सकता, क्योंकि वह भेद तभी होता है जब लक्ष्य अर्थ के अन्दर मुख्य अर्थ भी रहे—उसका त्याग न होता हो और सादृश्य को संबन्ध मानने पर लक्ष्य के अन्दर मुख्य का रहना संभव नहीं, क्योंकि अपने में अपना सादृश्य नहीं हो सकता—अर्थात् सादृश्य भेदघटित पदार्थ है, अतः वह दूसरे में दूसरे का ही हो सकता है। यदि सादृश्य से अन्य कोई संबन्ध वहाँ माना जाय तब उस भेद को गौणी नहीं कह सकते, क्योंकि सादृश्यसंबन्ध-मूलक लक्षणा को ही गौणी मानते हैं।' यही है उनकी युक्ति और काव्यप्रकाश का समर्थन करने के लिये वह ठीक भी है, पर साहित्यदर्पण के समर्थन में यह भी तो कहा जा सकता है कि यहाँ सादृश्य पदार्थ को भेदाघटित ही मानते हैं—रूपकालंकार में भेदाघटित सादृश्य का ही प्रवेश अधिकारियों ने माना है, अतः अपना सादृश्य अपने में हो ही सकता है और तदनुसार प्रयोजनवती गौणी का अजहत्स्वार्थभेद मानने में कोई बाधा नहीं। काव्यप्रकाश में जहाँ उक्त विरोधि-युक्ति है वहीं प्रसिद्ध विद्वान् नागेश ने अपने 'उद्योत' में इस (मेरे द्वारा उपस्थित की गई) युक्ति का उल्लेख किया है।

व्यङ्ग्य के गूढागूढत्व भेद से होने वाले लक्षणा-भेदों का रसगङ्गाधरकार उल्लेख नहीं करते। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि—पण्डितराज व्यङ्ग्य की भिन्नरूपता के आधार पर लक्षणा का प्रभेद करना उचित नहीं समझते, क्योंकि व्यङ्ग्य की भिन्नता से शक्यसंबन्धात्मक लक्षणास्वरूप में किसी तरह की भिन्नता नहीं होती। काव्य के भेद करते समय अवश्य व्यङ्ग्य भेद का मूल्य होता है।

काव्यप्रकाशकार ने व्यङ्ग्य के गूढागूढत्व के आधार पर लक्षणा के भेद माने हैं। इस अंश में 'लक्षणा में एक यह भी वैचित्र्य होता है' इस बात को प्रकट करना ही उनका सही अभिप्राय हो सकता है। वस्तुतः व्यङ्ग्यभेद लक्षणा के भेदक नहीं हो सकते।

दर्पणकार ने तो व्यङ्ग्य के गूढागूढत्व के आधार पर जो भेद किए वह किए ही, फल को धर्मी तथा धर्मगत मानकर भी भेद माने; पदगतत्व और वाक्यगतत्व के आधार पर भी भेद

किए। इस भेदपुञ्ज का रहस्य लक्षणास्थलीय विविध वैचित्र्य का विश्लेषण द्वारा प्रकटन ही है। प्रकृतोपयोग की दृष्टि से देखने पर इन भेदों की कोई आवश्यकता नहीं है, यह कथन अभ्रान्त सत्य है। किसी आलोचक का यह कथन कि 'लक्षणा वस्तुतः अर्थ का संबन्ध है, अतः उसका पद अथवा वाक्य में रहना नहीं बन सकता,' कुछ अर्थ नहीं रखता, क्योंकि आखिर लक्षणा को पदनिष्ठ वृत्ति तो सभी मानते ही हैं और आरोप अथवा परम्परासंबन्ध के आधार पर ही ऐसा मानते हैं, फिर उस रीति से वाक्य में भी उसको क्यों नहीं रक्खा जा सकता? वाक्यलक्षणावादी भी कुछ आचार्य हैं ही। जाति-गुण-क्रिया आदि के आधार पर लक्षणा के भेद नहीं किए गए, अतः जो भेद किए गए वे असंगत हैं ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। लक्षणा का सूक्ष्म विश्लेषण करते समय यदि वैसे भेद भी किए जाँय तो उसको असंगत नहीं कहा जा सकता। किन्तु अलंकारशास्त्र में वैसे भेदों का कोई खास उपयोग नहीं है, यह आरम्भ में ही लिखा जा चुका है।

तात्पर्य यह है कि—शुद्ध पदार्थविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से विचार करने के कारण दर्पणकार के कहे हुए भेद भी अपनी जगह पर ठीक हैं और प्रकृतोपयोग के दृष्टिकोण से विचार करने के कारण रसगङ्गाधरकार तथा काव्यप्रकाशकार के भेद भी सुसङ्गत हैं।

लक्ष्य अर्थ तथा लाक्षणिक शब्द

लक्षणा द्वारा ज्ञात होने वाले अर्थ लक्ष्य, औपचारिक, लाक्षणिक, अमुख्य आदि नामों से अभिहित किये जाते हैं। इस तरह लक्षणा द्वारा किसी अर्थ के बोधक शब्द को लक्षक किंवा लाक्षणिक कहते हैं।

व्यञ्जना

वृत्ति-विवेचन-प्रसङ्ग में अब व्यञ्जना का नम्बर प्राप्त है। यद्यपि इस असम्पूर्ण रसगंगाधर निबन्ध में व्यञ्जना-निरूपण-प्रकरण नहीं आ सका, तथापि साहित्यशास्त्र में सर्वाधिक महत्त्व रखने वाली इस व्यञ्जना वृत्ति के विवेचन से विरहित यह प्रसङ्ग अधूरा न रहे, इसलिये ग्रन्थान्तर के आधार पर यहाँ व्यञ्जना का विचार प्रस्तुत किया जाता है।

सामान्य परिचय

शब्द में अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त एक अन्य वृत्ति भी रहती है। उदाहरण रूप में 'चन्द्र-मण्डल उदित हुआ' इस वाक्य को यदि कोई विरहिणी सखी के समक्ष कहती है तो सखी को नायिका का यह अभिप्राय ज्ञात होता है कि 'यह अब अपने जीवन को असम्भव मान रही है,' यदि दूती अभिसारिका से कहती है तो वह (अभिसारिका) समझती है कि 'अभिसार की तैयारी करनी चाहिए', यदि अभिसारिका ही दूती से कहती है तो वह (दूती) समझती है कि 'चाँदनी में पहचाने जाने के भय से यह अभिसार का निषेध कर रही है' इत्यादि।

उस वाक्य के ये अर्थ किसी कोष में नहीं लिखे हैं तब इस वाक्य के द्वारा ये और ऐसे ही अन्य अर्थ कैसे ज्ञात होते हैं? इस वाक्य से ये अर्थ ज्ञात होते ही नहीं ऐसी बात तो कोई अनुभव-शक्ति-सम्पन्न जन कह नहीं सकता। अतः मानना पड़ेगा कि इन अर्थों को समझाने की शक्ति भी इस वाक्य में अवश्य है।

पर इस शक्ति को 'अभिधा' नहीं कह सकते, क्योंकि इस वाक्य में रहनेवाली 'अभिधा' को कोष आदि की सहायता से पूर्णरूपेण जानने वाला भी सहृदयता आदि के अभाव में उन अर्थों को नहीं समझ पाता। 'लक्षणा' भी इस शक्ति को नहीं मान सकते, क्योंकि मुख्यार्थबाध और रूढिप्रयोजनान्यतररूप कारणों के अभाव में 'लक्षणा' का प्रसङ्ग ही नहीं आता—और यहाँ न मुख्य अर्थ का बाध है, न रूढि है, न प्रयोजन, अतः यहाँ 'लक्षणा' नहीं मानी जा सकती। फलतः उक्त वाक्य में उक्त अर्थों को समझाने वाली जो एक तीसरी वृत्ति माननी पड़ेगी उसी का नाम 'व्यञ्जना' है।

लक्षण

व्यञ्जना का जो सामान्य परिचय ऊपर दिया जा चुका है, उसी के आधार पर साहित्यदर्पण-कारादि प्रायः सभी आलंकारिक व्यञ्जना का लक्षण इस प्रकार करते हैं—'अभिधा आदि वृत्तियों के विरत हो जाने पर (अपने-अपने अर्थों का बोध कराकर क्षीण हो जाने पर) जिससे अन्य (वाच्य तथा लक्ष्य से भिन्न) अर्थ का बोध होता है उस वृत्ति को व्यञ्जना कहते हैं[1]।'

नागेशभट्ट ने व्याकरणग्रन्थ में व्यञ्जना का लक्षण इस प्रकार किया है—'उस संस्कार-विशेष का नाम व्यञ्जना है जो बिना मुख्यार्थबाध की अपेक्षा किये अर्थ का बोध कराता हो, जो मुख्य अर्थ से संबद्ध तथा असंबद्ध—दोनों तरह के अर्थों का बोधक होता हो, जो प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध—दोनों ही प्रकार के अर्थों को अपना विषय बनाता हो और जो वक्ता आदि की विलक्षणता के ज्ञान तथा प्रतिभा आदि से उद्बुद्ध होता हो[2]।'

सारांश यह कि—अभिधा केवल प्रसिद्ध (संकेतित) अर्थों को ही समझा सकती है, अप्रसिद्ध अर्थों को नहीं, और लक्षणा मुख्य अर्थ से संबद्ध अर्थ को ही समझा सकती है और वह भी तब, जब मुख्य अर्थ बाधित हो, किन्तु व्यञ्जना के लिये ऐसी किसी भी शर्त की आवश्यकता नहीं है, वह तो सर्वत्र अप्रतिहत रूप से अपना स्थान बनाती है। अतएव 'चन्द्रमण्डल उदित हुआ' इस वाक्य के पूर्वोक्त अर्थ करने में न तो व्याकरण तथा कोष में उन अर्थों के लिखे रहने की ही आवश्यकता पड़ती है और न मुख्य अर्थ के बाधित होने की।

अन्य वृत्तियों की अपेक्षा व्यञ्जना की एक खास विलक्षणता

अभिधा तथा लक्षणा ये दोनों वृत्तियाँ शब्द में ही रहती हैं, उनका क्षेत्र शब्द तक ही सीमित है, पर व्यञ्जना का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। यह वृत्ति शब्द (वाक्य, पद, पदैकदेश= प्रकृति तथा प्रत्यय, वर्ण, प्रकरण, प्रबन्ध), अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य) और चेष्टा आदि में समान रूप से रहती है। सारांश यह कि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति जिस तरह किसी शब्द-विशेष से होती है उसी तरह उक्त सभी व्यञ्जकों (व्यञ्जना के आश्रयों) से होती है।

---

१. 'विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम·················॥' (साहित्यदर्पण)

२. 'मुख्यार्थबाधनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसंबन्धासंबन्धसाधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जना।' (परमलघुमञ्जूषा)

व्यञ्जक

व्यञ्जना द्वारा अर्थ-प्रतिपादक, शब्द अर्थ आदि सभी व्यञ्जक कहलाते हैं। 'ध्वनि' शब्द के जो अनेक अर्थ पहले लिखे जा चुके हैं उनमें एक के अनुसार व्यञ्जक को 'ध्वनि' भी कहते हैं।

व्यङ्ग्य अर्थ

व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ को व्यङ्ग्य कहते हैं। उक्त अनेक अर्थों में से एक के अनुसार उसे 'ध्वनि' भी कहते हैं।

व्यञ्जना के विरुद्ध मत

संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में 'व्यञ्जनावाद' एक ऐसा विषय है जिसके विरोध में भिन्न-भिन्न संप्रदाय के आचार्यों द्वारा बहुतेरे आक्षेप किए गए हैं जिनमें से कतिपय प्रमुख आक्षेपों की चर्चा यहाँ की जाती है—

(१) अभिधावादी आचार्यों का कथन है कि 'व्यञ्जना' 'अभिधा' में ही गतार्थ है अर्थात् अभिधा से अतिरिक्त व्यञ्जना नाम की कोई वृत्ति नहीं है। तात्पर्य यह कि जिन अर्थों को लोग व्यङ्ग्य कहना चाहते हैं वे अभिधेय (वाच्य) अर्थ ही हैं, उनका बोध भी अभिधा से ही होता है।

(२) लक्षणावादी आचार्यों की मान्यता है कि—लक्ष्य से अन्य व्यङ्ग्य कोई वस्तु नहीं है, अतः व्यञ्जना भी लक्षणा से अतिरिक्त वृत्ति नहीं है।

(३) अनुमानवादी आचार्यों का कहना है कि—अभिधा और लक्षणा ये दो ही वृत्तियाँ हैं। अब यदि कुछ ऐसे अर्थ हैं जिनका बोध उक्त दोनों में से किसी भी वृत्ति से नहीं हो पाता तो उस स्थिति में भी उन अर्थों का बोध कराने के लिये किसी नवीन वृत्ति (व्यञ्जना) की आवश्यकता नहीं है, अपितु उस तरह के अर्थों का बोध अनुमान से होता है यही मानना चाहिए।

(४) कुछ लोगों का कथन है कि—व्यञ्जनावृत्ति की बात असंगत है, क्योंकि व्यञ्जना मानने के बाद भी प्रश्न उठेगा कि यह व्यञ्जना स्वरूपसती (अज्ञात रूप से रहनेवाली) बोधक है अथवा ज्ञाता? दोनों ही पक्ष दोषग्रस्त हैं क्योंकि स्वरूपसती व्यञ्जना को बोधक मानने पर व्यञ्जक पद से सदा सभी को व्यङ्ग्य अर्थ का बोध होना चाहिए जो होता नहीं, ज्ञाता व्यञ्जना को बोधक मानना बन ही नहीं सकता, क्योंकि जिस तरह अभिधा-ज्ञापक कोष-व्याकरण आदि हैं उस तरह व्यञ्जनाज्ञापक ही कोई नहीं है, फिर व्यञ्जना ज्ञाता हो ही नहीं सकती। अतः व्यङ्ग्य अर्थों का मानस बोध ही मानना चाहिए।

(५) कुछ लोग कहते हैं कि—'अर्थापत्ति-प्रमाण' से व्यङ्ग्य कहे जाने वाले अर्थों का बोध होता है, अतः व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नहीं।

(६) अन्य कतिपय विद्वान् कहते हैं कि वे अर्थ 'सूचनबुद्धिवेद्य' ही हैं जिनको आप व्यङ्ग्य कहते हैं।

उपर्युक्त सभी आक्षेपों के मूल में रहस्यभूत वस्तु एक यही है कि ध्वनिस्थापक आनन्दवर्धन से पूर्व स्वतन्त्र व्यङ्ग्य अर्थ की सत्ता से प्रायः विद्वन्मण्डली अपरिचित ही थी, अतः जब उक्त

ध्वनिस्थापक आचार्य ने 'ध्वन्यालोक' नामक विलक्षण निबन्ध बना कर व्यङ्ग्य और व्यञ्जना की स्थापना ही नहीं, अपितु साहित्यशास्त्र में प्रमुखता भी सिद्ध कर दी तब विद्वन्मण्डली में एक तूफान-सा उठ पड़ा। पुरानी लीक पर आँख मूँद कर चलने वाले विद्वानों ने व्यञ्जना का विरोध किया, व्यञ्जना के विरोध में युक्तियाँ खोजी जाने लगीं, निबन्ध बनने लगे। इस तरह ध्वनिकार के बाद में और पहले भी उक्त व्यञ्जनाविरोधी मतों की सृष्टि हुई। पर ध्वन्यालोक के निष्पक्ष अध्येता आलंकारिकों ने और महावैयाकरण नागेश भट्ट ने अपने निबन्धों में उक्त आक्षेपों का सुन्दर तथा प्रबल युक्तियों के आधार पर खण्डन कर ध्वनि (व्यञ्जना) का स्थापन किया और आचार्य आनन्दवर्धन को अलंकारशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ मौलिक आलोचक सिद्ध कर दिया।

यद्यपि आनन्दवर्धन को 'ध्वनि' के विषय में व्याकरण के मूलभूत सिद्धान्त (ध्वनि व्यङ्ग्य स्फोटात्मक शब्द) से प्रेरणा अवश्य मिली थी, पर इससे उनकी मौलिकता पर आँच नहीं आती। क्योंकि 'ध्वनि' शब्द की चर्चा रहने पर भी नागेश से प्राचीन व्याकरणशास्त्रीय निबन्धप्रणेता किसी आचार्य ने पृथक् रूप से व्यञ्जनावृत्ति का निरूपण अपने निबन्धों में नहीं किया। अस्तु, उक्त आक्षेपों का समाधान संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

प्रथम आक्षेप का खण्डन

व्यञ्जना अभिधा में गतार्थ तभी हो सकती है जब व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ में गतार्थ हो जाय—अर्थात् व्यङ्ग्य तथा वाच्य अर्थों की एकरूपता सिद्ध हो सके। किन्तु वस्तुस्थिति उन दोनों अर्थों की एकरूपता सिद्ध नहीं होने देती, क्योंकि वाच्य अर्थ का बोद्धा पद-पदार्थ-ज्ञान वाला कोरा वैयाकरण भी होता है और व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञाता सहृदय ही होता है, वाच्य जहाँ विधिरूप रहता है वहीं व्यङ्ग्य निषेधरूप हो जाता है, वाच्य जिस पद का एक रहता है उससे होने वाले व्यङ्ग्य अनेक हो जाते हैं, वाच्य का ज्ञान पहले होता है व्यङ्ग्य का पीछे, वाच्य का विषय दूसरा रहता है व्यङ्ग्य का दूसरा और वाच्य का आश्रय शब्द मात्र होता है व्यङ्ग्य का आश्रय शब्द, शब्द का एकदेश, अर्थसंघटना आदि सभी होते हैं। इतने भेदों के रहने पर व्यङ्ग्य वाच्य नहीं हो सकता और जब वाच्य से भिन्न व्यङ्ग्य अर्थ सिद्ध है तब वाच्यार्थबोधक वृत्ति से भिन्न व्यङ्ग्यार्थबोधक वृत्ति भी माननी ही पड़ेगी, नाम उस वृत्ति का व्यञ्जना रक्खें अथवा और कुछ।

अभिधा की गति अधिक से अधिक वाक्यार्थ तक होती है (वस्तुतः पदार्थ तक ही) और व्यङ्ग्य अर्थ वाक्यार्थज्ञान के बाद विदित होता है फिर वहाँ तक अभिधा की गति सम्भव भी नहीं है। और भी बहुत सी युक्तियाँ इस प्रसङ्ग पर ग्रन्थों में दी गई हैं, पर यहाँ उन सबका उल्लेख संभव नहीं।

द्वितीय आक्षेप का खण्डन

लक्षणा में व्यञ्जना गतार्थ तब हो सकती जब नियमतः व्यङ्ग्य अर्थ का बोध मुख्य अर्थ के बाधित रहने पर ही होता, पर ऐसा होता नहीं है, क्योंकि वहाँ भी व्यङ्ग्य अर्थ का बोध होते देखा जाता है जहाँ मुख्य अर्थ बाधित नहीं रहता। दूसरे, लक्षणा वृत्ति नियमतः अभिधा की अपेक्षा करती है—अभिधा जब तक अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर लेती तब तक लक्षणा का

प्रसङ्ग ही नहीं आता, पर व्यञ्जना में ऐसा नियम नहीं है, वह तो चेष्टा (इशारे) आदि में भी रहती है, फिर उसे अभिधा की अपेक्षा क्या ? लक्षणा द्वारा नियमतः मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ ही ज्ञात होता है, पर व्यञ्जना द्वारा कहीं मुख्यार्थ से संबद्ध, कहीं असंबद्ध और कहीं असंबद्ध-संबद्ध सभी तरह के अर्थ ज्ञात होते हैं। ऐसी स्थिति में व्यञ्जना को लक्षणा से गतार्थ कहना दुराग्रह मात्र है।

तृतीय आक्षेप का खण्डन

अनुमान में हेतु का निर्दोष होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है, अतः अनुमान से व्यङ्ग्य अर्थ नहीं समझे जा सकते। न्यायग्रन्थों में जिन पाँच दोषों का निरूपण किया गया है उनमें से यदि एक भी दोष हेतु में रहेगा तो उस हेतु से अनुमिति नहीं हो सकती। पर व्यञ्जना में यह बात नहीं होती, यहाँ हेतु (व्यञ्जक) दुष्ट हो अथवा अदुष्ट, उससे व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती ही है और काव्य में कल्पनामूलक हेतुओं में दोष का रहना निश्चितप्राय है। दूसरी बात यह कि शब्दस्थल में किसी तरह अनुमिति के कारण जुटाए भी जाँय तो चेष्टा आदि से होने वाले व्यङ्ग्य-बोध-स्थल में उनका जुटना सर्वथा असम्भव है, अतः व्यञ्जना अनुमान में भी अन्तर्भूत नहीं हो सकती।

चतुर्थ आक्षेप का खण्डन

चतुर्थ आक्षेप में व्यङ्ग्यों का मानस बोध मानने की बात कही गई है जो संगत नहीं है क्योंकि मानस बोध से वैयञ्जनिक बोध में विलक्षणता उपलब्ध होती है। हम यदि भावना द्वारा दुष्यन्त-शकुन्तला आदि के वृत्तान्तों को अपने अन्दर लाकर उनका मानस बोध करते हैं तब वैसा आनन्द नहीं आता, जैसा उन्हीं वृत्तान्तों का काव्यशब्द द्वारा वैयञ्जनिक बोध करने पर आता है, अतः मानना पड़ता है कि वैयञ्जनिक बोध मानस बोध से भिन्न वस्तु है। अब रहा इस आक्षेप का वह अंश जिसमें व्यञ्जना का स्वरूपसती अथवा ज्ञाता किसी भी रूप में बोधक न हो सकने की बात कही गई है, पर उस गुत्थी को भी बड़े सुन्दर ढङ्ग से आलङ्कारिकों ने सुलझाया है। उन्होंने कहा है कि—व्यञ्जना स्वरूपसती ही बोधक होती है—अर्थात् व्यञ्जना को रहना भर चाहिए, उसका ज्ञात होना आवश्यक नहीं है। यदि यह शंका की जाय कि—तब सभी को सदा व्यञ्जना से अर्थबोध क्यों नहीं होता ? तो इसका समाधान यह है कि—व्यङ्ग्य बोध के प्रति वासना (प्राक्तन और इदानीतन संस्कारविशेष) कारण है, अतः जिसमें वह वासना नहीं रहती अथवा रह कर भी प्रसुप्त रहती है, उसको व्यङ्ग्य बोध नहीं होता।

पञ्चम आक्षेप का खण्डन

पञ्चम आक्षेप में 'अर्थापत्ति' से व्यङ्ग्य बोध की बात कही गई है जो समुचित नहीं है क्योंकि अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न वस्तु नहीं है, क्योंकि जिस तरह अनुमान व्याप्ति रहने पर होता है उसी तरह अर्थापत्ति भी व्याप्ति के रहने पर ही बोधक होती है। 'जीवति चात्र गोष्ठ्याम् अविद्यमानोऽयः अर्थात् इस गोष्ठी में अनुपस्थित चैत्र जीता है' ऐसा कहने पर जो चैत्र का बाहर रहना ज्ञात होता है उसी को अर्थापत्ति का उदाहरण माना जाता है, पर वस्तुतः यह अनुमान का ही उदाहरण है—अर्थात् 'जो जीता है वह कहीं न कहीं अवश्य रहता है' इस तरह की व्याप्ति निश्चित रहने पर ही उक्त वाक्य से चैत्र का बाहर रहना ज्ञात होता है, फलतः

यहाँ अनुमान का ही यह प्रकार हुआ कि—'चैत्र बाहर कहीं अवश्य है, क्योंकि यहाँ नहीं है और जीवित है।'

इस तरह जब अर्थापत्ति अनुमानरूप सिद्ध हुई, तब उससे व्यङ्ग्यबोध की बात चल ही नहीं सकती क्योंकि अनुमान से व्यङ्ग्य-बोध के न हो सकने की बात पहले कही जा चुकी है।

षष्ठ आक्षेप का खण्डन

'सूचन बुद्धि' भी अनुमान का ही एक प्रकार है, क्योंकि विक्रेता अँगुली के इशारे से जो अपने सहायकों को मूल्य आदि की बात समझा देता है, वहाँ 'सूचन बुद्धि' का उपयोग माना जाता है और वहाँ विक्रेता के इशारे से उनके सहायकों को उस वस्तु का ज्ञान इसलिये ही आता है कि पहले उसे यह व्याप्ति ज्ञात करा दी गई रहती है कि मैं यदि एक अँगुली दिखाऊँ तो तुम उसका अर्थ २० समझ लेना, फलतः वह अनुमान ही हुआ और अनुमान से व्यञ्जना की अगतार्थता की बात दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

एक चतुर्थ वृत्ति भी है

शास्त्रों में उक्त तीन वृत्तियों से भिन्न एक चतुर्थ वृत्ति (तात्पर्य) का भी उल्लेख हुआ है। यह वाक्य की वृत्ति मानी जाती है अर्थात् यह वृत्ति पद में नहीं, अपितु पद-समूहात्मक वाक्य में ही रहती है। इस वृत्ति से पदार्थों के सम्बन्ध का बोध होता है। इस वृत्ति को मानने में युक्ति यह दी जाती है कि—वाक्यान्तर्गत पदों में रहने वाली अभिधा अपने अर्थों का बोध कराकर विरत (क्षीण) हो जाती है, अतः उस वृत्ति से एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता—अर्थात् दो पदार्थों का सम्बन्ध उस वृत्ति से ज्ञात नहीं हो सकता, अतः उस सम्बन्ध का बोध कराने के लिये तात्पर्यवृत्ति की आवश्यकता मानी जाती है। इस युक्ति के आविष्कारक आचार्य 'अभिहितान्वयवादी' कहलाते हैं, जिसका अर्थ होता है अभिहित=अभिधा द्वारा बोधित अर्थों का अन्वय=संबन्ध, अन्य पदार्थों के साथ होता है ऐसा कहने वाले। दूसरे आचार्य ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि अन्वित अर्थ का ही अभिधा से बोध होता है—अर्थात् अन्वयांश का भी बोध अभिधा से ही हो जाता है, उसके लिये किसी अन्य वृत्ति का मानना आवश्यक नहीं। ऐसे आचार्य 'अन्विताभिधानवादी' कहलाते हैं।

नैयायिक लोग सम्बन्धांश को आकांक्षा-भास्य मानते हैं—अर्थात् 'राजा का पुरुष' ऐसा कहने पर राजा और पुरुष का बोध तो उन दोनों पदों की अभिधा से होता है, पर सम्बन्ध (स्वस्वामिभाव) का बोध अपने आप हो जाता है, क्योंकि राजा पुरुष अंश में और पुरुष राजा अंश में साकांक्ष है, अतः सम्बन्धांश-बोधक वृत्ति की आवश्यकता नहीं होती।

सारांश यह हुआ कि वह वृत्ति एकदेशीय है, गौण है। अतएव पहले उक्त तीन वृत्तियों के साथ इसकी चर्चा नहीं की गई।

अग्निपुराणगत वृत्ति-विचार

पहले लिखा जा चुका है कि—वृत्ति-विचार के अन्त में अग्निपुराणगत वृत्ति-विचार प्रस्तुत किया जायगा, अतः अब अग्निपुराण का वह अंश हिन्दी रसगङ्गाधरकार श्रीमान् आचार्य पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी जी की भूमिका से उद्धृत किया जाता है—

'साहित्यशास्त्र में सर्वप्रथम वृत्तियों का विचार अग्निपुराण में ही किया गया है। अग्निपुराण में तीन प्रकार के अलङ्कारों का वर्णन है—शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और शब्दार्थालङ्कार। इनमें शब्दार्थालङ्कारों के वर्णन में ही वृत्तियों का भी विचार है। वहाँ 'अभिव्यक्ति' नाम से एक शब्दार्थालङ्कार माना गया है, जिसका विवरण करते हुए अग्निपुराणकार ने लिखा है—'शब्द से अर्थ के प्रकट होने को अभिव्यक्ति कहते हैं। उसके दो भेद हैं—श्रुति (अभिधा-लक्षणा) तथा आक्षेप (व्यञ्जना)। उनमें शब्द का अपने अर्थ को अर्पित करना श्रुति कहलाता है। श्रुति दो प्रकार की है—नैमित्तिकी (किसी निमित्त = प्रयोजन को मानकर होने वाली) और पारिभाषिकी (किसी परिभाषा को मानकर होनेवाली—अर्थात् रूढ़ि)। बिना किसी निमित्त के किए गए संकेत को परिभाषा कहते हैं, उनके द्वारा होनेवाली श्रुति पारिभाषि की कहलाती है। नैमित्तिकी और पारिभाषिकी दोनों ही श्रुतियाँ मुख्या (अभिधा) और औपचारिकी (लक्षणा) इस प्रकार दो तरह की होती हैं। जिस श्रुति के द्वारा, अपने वाच्य में जिसकी स्थिति स्खलित हो रही है ऐसा अर्थात् वाच्य अर्थ को ठीक-ठीक प्रतिपादन न करने वाला शब्द किसी निमित्त (प्रयोजन अथवा रूढ़ि) के कारण मुख्य से भिन्न अर्थ का वाचक हो जाता है वह श्रुति औपचारिकी मानी जाती है और उसे ही लाक्षणिकी (रूढलक्षणारूप) कहते हैं। गौणी लक्षणा गुणों के योग (अर्थात् सादृश्य) के कारण होती है। वाच्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं।

वाच्य अर्थ के साथ (साधारण) सम्बन्ध द्वारा, समीपता द्वारा, समवाय द्वारा, विपरीतता द्वारा और क्रिया के योग द्वारा लक्षणा पाँच प्रकार की मानी गई है। गौणी लक्षणा गुणों के अनन्त होने के कारण अनन्त प्रकार की होती है। जहाँ लोक-मर्यादा का उल्लङ्घन न करते हुए (अर्थात्—पारम्परिक समय को न तोड़ते हुए) व्यक्ति के द्वारा 'गौणी' के कथन की इच्छा से अन्य वस्तु का धर्म अन्य वस्तु में आरोपित किया जाता है उसे इस शास्त्र में समाधि कहते हैं।

श्रुति (अभिधा-लक्षणा) द्वारा न प्राप्त होने वाला अर्थ जिस वृत्ति के द्वारा सहृदयों को प्रतीत होता है, वह वृत्ति 'आक्षेप' कहलाती है और वही ध्वनि है, क्योंकि ध्वनि के द्वारा वहाँ शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं एवं जहाँ किसी विशेष को बताने की इच्छा से निषेध सा होता है उसे भी आक्षेप कहते हैं।'[1]

---

१. 'प्रकटत्वमभिव्यक्तिः, श्रुतिराक्षेप इत्यपि। तस्या भेदौ श्रुतिस्तत्र शाब्दं स्वार्थसमर्पणम्॥ भवेन्नैमित्तिकी पारिभाषिकी द्विविधैव सा। संकेतः परिभाषेति ततः स्यात्पारिभाषिकी॥ मुख्यौपचारिकी चेति सा च सा च द्विधा द्विधा॥ सा(त्वा)भिधेयस्खलद्वृत्तिरमुख्यार्थस्य वाचकः। यथा शब्दो निमित्तेन केनचित्सौपचारिकी॥ सा च लाक्षणिकी गौणी लक्षणा गुणयोगतः। अभिधेया विनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते॥ अभिधेयेन सम्बन्धात् सामीप्यात् समवायतः। वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता॥ गौणी गुणानामानन्त्यादनन्ता, तद्विवक्षया। अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना। सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः॥ श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद्भाति सचेतसाम्। स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः॥ शब्देनार्थेन यत्रार्थः कृत्वा स्वयमुपार्जनम्। प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया॥ तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र.........॥'

(अग्निपुराण, अध्याय ३४५, श्लो० ७—१५)

उपमा और रूपक में भेद

'मुखं चन्द्रः—अर्थात् मुख चन्द्र है' यह जो रूपक का प्रसिद्ध उदाहरण है वही गौणी सारोपा लक्षणा का भी उदाहरण होता है। तात्पर्य यह कि रूपकस्थल में सर्वत्र नियमतः सारोपा गौणी लक्षणा रहती ही है। लक्षणा यहाँ चन्द्रपद की चन्द्रसदृश अर्थ में होती है, चन्द्रसादृश्यरूप धर्म में नहीं, क्योंकि वैसा करने पर चन्द्रपदार्थ (चन्द्रसादृश्य) का मुखपदार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि दो नामार्थों में अभेद से अतिरिक्त सम्बन्ध नहीं होता यह नियम है और यहाँ चन्द्रसादृश्य का मुख के साथ अभेद बाधित है। फलतः ऐसे स्थलों में चन्द्र आदि पदों की स्वसदृश अर्थों में ही लक्षणा माननी पड़ती है और तदनुसार 'चन्द्रसदृश से अभिन्न मुख' इत्यादि रीति से ही बोध मानना पड़ता है।

अब प्रश्न उठता है कि—जब 'मुखं चन्द्रः' इस रूपकस्थल में 'चन्द्रसदृश से अभिन्न मुख' ऐसा बोध होता है तब 'चन्द्रसदृशम् मुखम्, चन्द्र इव मुखम्' इस उपमा से उक्त रूपक में भेद क्या रहा—अर्थात् ये दो अलङ्कार कैसे हुए, क्योंकि इन उपमावाक्यों से भी 'चन्द्रसदृश से अभिन्न मुख' ऐसा ही बोध होता है। प्राचीन आचार्य तीन प्रकार से इसका समाधान करते हैं।

(१) प्रथम समाधान का सारांश यह है कि—श्लेषस्थल के समान उक्तरूपकस्थल में चन्द्र तथा तत्सदृश अर्थ की उपस्थिति एक चन्द्रपद से ही होती है, अतः यहाँ एकपदोपादानरूप युक्ति के बल से व्यञ्जना का उत्थान होता है जिससे उक्त सामान्यबोध के बाद मुख में चन्द्र का तादूप्य प्रतीत होता है और उक्त उपमास्थल में चन्द्र तथा तत्सदृश अर्थ की उपस्थिति एक पद से नहीं, अपितु दो पदों (चन्द्र और सदृश अथवा इव) से होती है, अतः एकपदोपादानरूप युक्ति के अभाव में व्यञ्जना का उत्थान नहीं होता, फलतः वहाँ चन्द्रतादूप्य की प्रतीति मुख में नहीं होती। इस तरह से सिद्ध यह हुआ कि उपमा और रूपक के स्वरूप में यद्यपि कोई भेद नहीं होता, तथापि फलांश (लक्षणा के फल अंश) में भेद होने से दोनों अलङ्कारों में भेद हो जाता है।

(२) द्वितीय समाधान का सारांश यह है कि—रूपकस्थल में लाक्षणिक चन्द्रपद से यद्यपि चन्द्रसदृश रूप में ही अर्थ की उपस्थिति होती है, तथापि मुख के साथ अन्वयबोध होता है चन्द्ररूप में ही—अर्थात् रूपकस्थल में 'चन्द्राभिन्न मुख' ऐसा ही बोध होता है। क्योंकि उन-उन पदों की लक्षणा के ज्ञान को—उन-उन पदों के शक्यतावच्छेदक (चन्द्रत्व आदि) जिसमें प्रकार हों और लक्ष्य (मुख आदि) जिसमें विशेष्य हों ऐसे—बोध के प्रति हेतु मानते हैं। यहाँ यदि कहें कि पदार्थ की उपस्थिति और पदार्थ के शाब्दबोध में जो समानाकारता का नियम है—अर्थात् यह जो नियम है कि जिस रूप से पदार्थ की उपस्थिति हो, शाब्दबोध भी उसी रूप से हो, उसका क्या होगा? अभिप्राय यह कि आप जिस तरह बोध करते हैं उसमें उक्त नियम का विरोध होता है—अर्थात् चन्द्रसदृश रूप में पदार्थोपस्थिति और चन्द्ररूप में पदार्थबोध मानने में उक्त नियम का अतिक्रमण होता है, तो इसका उत्तर यह है कि लाक्षणिक पदों से होनेवाले बोधों में इस तरह की विलक्षणता होती है यह अनुभव से ही सिद्ध है, अतः उक्त समानाकारकतानियम को लाक्षणिकबोध से अन्यस्थलपरक मानना चाहिए। इस तरह उपमा से रूपक का स्वरूपज्ञानकृत तथा फलज्ञानकृत दोनों ही प्रकार का भेद स्पष्ट है।

(३) तृतीय समाधान का अभिप्राय यह है कि—सादृश्य दो तरह का होता है, एक में भेद का प्रवेश माना जाता है और दूसरे में नहीं—अर्थात् एक मत से 'तद्भिन्न में तद्गत अधिकतर धर्मों का रहना' सादृश्य है और दूसरे मत से 'तद्गत अधिकतर धर्मों का रहना' मात्र सादृश्य है, उन दोनों में भेद का ज्ञान आवश्यक नहीं है। इन दो तरह के सादृश्यों में से प्रथम—अर्थात् भेदघटितसादृश्य उपमा का नियामक है और द्वितीय—अर्थात् भेदाघटितसादृश्य गौणी सारोपा लक्षणा का। अतः उपमास्थल में चन्द्र का भेद मुख में ज्ञात होता है और रूपकस्थल में उसका उसमें अभेद। इस तरह दोनों के स्वरूप-ज्ञान में ही भेद सिद्ध हो जाता है, फिर फलज्ञानकृत भेद तक जाना व्यर्थ ही है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के समाधान प्राचीनों के हैं। नवीन विद्वान् (अप्पयदीक्षित आदि) तो उक्त तीनों प्रकारों से भिन्न एक चतुर्थ प्रकार से ही उक्त प्रश्न का उत्तर करते हैं। उनके कथन का सारांश यह है कि—रूपकस्थल में लक्षणा होती ही नहीं, लक्षणा के बिना ही 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि स्थलों में मुख तथा चन्द्र का अभेदान्वय होता है। "—'मुख चन्द्र नहीं है' इस तरह के बाधनिश्चय की विद्यमानतादशा में 'चन्द्राभिन्न मुखं' यह अभेदान्वयबोध कैसे हो सकता है" इस प्रश्न का उत्तर वे यह देते हैं कि—जैसे आहार्यबोध को बाधनिश्चय नहीं रोकते, वैसे शब्दजन्य बोध को भी नहीं रोकते ऐसा मानना चाहिए। अतएव 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि—अर्थात् जो अर्थ (आकाशपुष्प आदि) वस्तुतः दुनिया में नहीं भी रहते, उनका भी ज्ञान शब्द द्वारा ही देता है' यह प्राचीनों का कथन भी संगत होता है।

अथवा रूपकस्थल में आहार्य शाब्दबोध ही मानना चाहिए और आहार्यबोध को बाधनिश्चय नहीं रोकते यह सर्वमतसिद्ध सिद्धान्त है। 'प्रत्यक्षात्मक ज्ञान ही आहार्य होता है' यह एक नियम है, फिर परोक्षात्मक शाब्दज्ञान आहार्य कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में उनका कहना है कि—उक्त नियम में कोई प्रमाण नहीं है, अर्थात् प्रत्यक्ष-परोक्ष सभी ज्ञान आहार्य हो सकते हैं। इस मत के अनुसार रूपकस्थल में सादृश्य का बोध होता ही नहीं और उपमास्थल में वह होता है, अतः दोनों में भेद स्वतःसिद्ध है।

उपर्युक्त नवीन मत का खण्डन पण्डितराज ने किया है और खण्डन में युक्ति यह दी है कि—चमत्कारी साधारणधर्म जब-तक उपस्थित नहीं होता तब-तक उपमा के समान रूपक की भी सिद्धि नहीं होती यह बात सभी सहृदयों के अनुभव से सिद्ध है, अन्यथा 'यह नगर चन्द्रमण्डल है' इतने वाक्य को सुन लेने पर भी जो रूपक ज्ञात नहीं होता, वही रूपक, उक्त वाक्य में नगर का 'सकलकलं' विशेषण लगा देने पर जो ज्ञात होने लगता है वह नहीं संगत होगा। तात्पर्य यह कि 'कलकलध्वनिसहित' और 'सकलकलायुक्त' इन दो अर्थों वाले उक्त श्लिष्ट विशेषण के श्रवण होने पर एक विशेषणविशिष्टत्वरूप साधारणधर्म की उपस्थिति होने से रूपक ज्ञात होता है, अन्यथा नहीं। यह बात 'मुखचन्द्र' आदि प्रसिद्ध रूपकस्थल में भी है, अर्थात् वहाँ भी आह्लादकत्व आदि साधारणधर्म की उपस्थिति होने पर ही रूपक ज्ञात होता है। अन्तर इतना ही है कि अप्रसिद्ध साधारणधर्मबोधक पद के उच्चारण की अपेक्षा होती है, अन्यथा उसकी उपस्थिति नहीं हो पाती और प्रसिद्ध साधारणधर्मबोधक पद के उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती, उसके बिना भी उसकी उपस्थिति हो जाती है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि रूपकस्थल में भी साधारणधर्मोपस्थिति आवश्यक है। अब आप सोचें कि—यदि साधारणधर्मवत्त्वरूप सादृश्य का प्रवेश रूपक में नहीं माना जाय तब जो साधारणधर्म की अनुपस्थितिदशा में रूपक सिद्ध नहीं होता, चमत्कार की प्रतीति नहीं होती, सो क्यों ? आहार्य अभेदबुद्धि तो साधारणधर्म की अनुपस्थिति-दशा में भी हो सकती थी। फलतः रूपकस्थल में लक्षणा अवश्य होती है और फिर भी जो उपमा तथा रूपक दो अलंकार माने जाते हैं उसका कारण प्राचीन मतों में कथित रूपकस्थलीय ताद्रूप्यप्रतीति ही है।

अलङ्कारों का उद्गम

अलंकारों का उदय प्रायः वाङ्मय के साथ ही हुआ, क्योंकि संस्कृतवाङ्मय के प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद की ऋचाओं में अलंकार का प्रयोग प्राप्त होता है। यद्यपि वैदिक साहित्य में अलंकारशास्त्र का निर्देश नहीं मिलता, तथापि मूलभूत अलंकार—उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हमें वैदिक संहिताओं और उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। अलंकारों में उपमा अत्यन्त प्राचीन है। इसका संबन्ध कविता के प्रथम आविर्भाव से ही है। इसीलिये कतिपय आचार्य उपमा को अन्य सभी अर्थालंकारों की जननी मानते हैं[1] और राजशेखर उपमा को कवि-माता कहते हैं[2]। इस उपमा का तो उदाहरण ऋग्वेद में प्राप्त होता ही है साथ-साथ अन्य अलंकारों के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। उषाविषयक एक ऋचा में एक साथ चार उपमाओं का प्रयोग किया गया है—

'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची, गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा, उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥' (ऋ. वे. १।१२४।७)

अतिशयोक्ति अलंकार का भी प्रयोग किया गया है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति॥' (ऋ. वे. १।१६४।२०)

रूपकालंकार का सुन्दर प्रयोग कठोपनिषद् के एक मन्त्र में किया गया है—

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च॥' (कठोपनिषद् १।३।३)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रों में अलंकारों की सत्ता स्पष्टतः विद्यमान है। यही क्यों ? उपमाशब्द भी ऋग्वेद (५।३४।९, १।३१।१५) में उपलब्ध होता है जिसका अर्थ सायण ने किया है—उपमान या दृष्टान्त। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इतने प्राचीन काल में उपमा का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया था। यह सामान्य निर्देश मात्र है।

इसके बाद निरुक्त तथा निघण्टु में उपमा अलंकार का विवेचन शास्त्रीय ढङ्ग पर उपलब्ध होता है। निघण्टु में वैदिक उपमा के द्योतक बारह निपातों (अव्ययों) का उल्लेख मिलता है।

---

१. उपमैषा शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥

२. उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम।

इसी प्रसङ्ग में यास्क ने उपमा के अनेक भेद तथा गार्ग्य नामक वैयाकरण द्वारा रचित उपमा-लक्षण का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है। गार्ग्य निरुक्तकार यास्क से भी प्राचीन आचार्य हैं। उनका उपमा-लक्षण इस प्रकार है—'उपमा वहाँ होती है जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होते हुए भी उसी के सदृश हो।' साथ-साथ गार्ग्य ने यह भी कहा है कि—'उपमान सामान्यतः उपमेय की अपेक्षा अधिकगुणयुक्त होता है, पर कहीं-कहीं न्यूनगुण-युक्त उपमान से भी अधिक-गुणयुक्त उपमेय की तुलना की जाती है[१]।' यह उपमालक्षण मम्मट के उपमा-लक्षण[२] से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

यास्क ने अपने ग्रन्थ में पाँच प्रकार की उपमा का वर्णन किया है। उपमाद्योतक निपात-इव, यथा, न, चित्, नु और आ हैं। इन वाचक पदों का प्रयोग रहने पर यास्क के अनुसार 'कर्मोपमा' होती है। '*भ्राजन्तो अग्नयो यथा*' (ऋ. वे. १।५०।३) = 'अग्नि के समान चमकते हुए' यह कर्मोपमा का उदाहरण है। 'भूतोपमा' वहाँ होती है जहाँ उपमेय स्वयम् उपमान बन जाता है। 'रूपोपमा' वहाँ होती है जहाँ उपमेय उपमान के साथ स्वरूप के विषय में समता रखता है। 'सिद्धोपमा' में उपमान स्वतःसिद्ध रहता है और एक विशिष्ट गुण या कर्म के द्वारा अन्य वस्तुओं से बढ़कर रहता है। 'वत्' प्रत्यय के जोड़ने पर यह उपमा निष्पन्न होती है, जैसे—'ब्राह्मणवत्,' 'वृषलवत्'। अन्तिम भेद 'अर्थोपमा' है जिसका दूसरा नाम 'लुप्तोपमा' है। यह पश्चात्कालिक आलङ्कारिक का रूपकालङ्कार है।

इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि यास्क के समय में अलङ्कार का शास्त्रीय विवेचन आरब्ध हो चुका था।

इसके अनन्तर पाणिनि के समय में उपमा की यह शास्त्रीय कल्पना सर्वत्र स्वीकृत हो चुकी थी यह स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि पाणिनि को अष्टाध्यायी में उपमा, उपमान, उपमित तथा सामान्य जैसे अलङ्कारशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है।[३]

इसके बाद भगवान् पतञ्जलि ने भी पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त 'उपमान' पद की व्याख्या महाभाष्य (२।१।५५) में की है। उनका कथन है कि—मान उस वस्तु की संज्ञा है जो किसी अज्ञात वस्तु के निर्धारण के लिये प्रयुक्त की जाती है। 'उपमान' मान के समान होता है और वह किसी वस्तु का अत्यन्त रूप से नहीं प्रत्युत सामान्य रूप से निर्देश करता है, जैसे—'गौरिव गवयः' = गाय के समान नीलगाय होती है[४]। यद्यपि काव्यपद्धति से चमत्कार-विहीन होने के कारण 'गौरिव गवयः'

---

१. उपमा यत् अतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वोपमिमीते, अथापि कनीयसा ज्यायांसम्। (निरुक्त ३।१३)

२. साधर्म्यमुपमा भेदे। (काव्यप्रकाश)

३. तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्। (२।३।७२)
उपमानानि सामान्यवचनैः। (२।१।५५)
उपमितं व्याघ्रादिभिः **सामान्याप्रयोगे**। (२।१।५६)

४. मानं हि नाम अनिर्ज्ञातार्थमुपादीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यत् नात्यन्ताय मिमीते तद् उपमानम् गौरिव गवय इति। (पाणिनि पर महाभाष्य २।१।५५)

उपमालङ्कार का उदाहरण नहीं हो सकता, तथापि शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक दृष्टि से पतञ्जलि का यह उपमानिरूपण महत्त्व रखता है। अलङ्कारों के सम्बन्ध में अब तक जिन बातों का निर्देश किया गया है वे अलंकारशास्त्र के प्रारम्भिक युग की कही जा सकती हैं—अर्थात् अलंकारशास्त्र का इतिहास जब से आरम्भ होता है उससे पहले की वे बातें हैं, क्योंकि अलंकारशास्त्र का इतिहास भरत के नाट्यशास्त्र से ही आरम्भ होता है।

यद्यपि कुछ विद्वान् अग्निपुराण को नाट्यशास्त्र से भी प्राचीन मानते हैं और तदनुसार अलंकारशास्त्रीय इतिहास का आरम्भ नाट्यशास्त्र से न मानकर अग्निपुराण से मानते हैं, पर नवीनतम अन्वेषणों से निश्चित रूप में यह बात सिद्ध हो चुकी है कि अग्निपुराण का वह भाग—जिसमें अलंकारशास्त्रीय विषयों का वर्णन प्राप्त होता है—उतना प्राचीन नहीं है, अपितु उसका काल भोजराज तथा विश्वनाथ कविराज के मध्य का है, अतः अलंकारों के विकास का मूल खोजने के लिये, पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतञ्जलि के महाभाष्य के बाद भरत के नाट्यशास्त्र की ओर ही अग्रसर होना पड़ता है।

भरत का नाट्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र का आदिग्रन्थ ही नहीं, अपितु अलंकारशास्त्र का विश्वकोष है। इसमें नाट्योत्पत्ति, नाट्यगृह, अलंकार, छन्द, नृत्यकला, रस, अभिनय, सङ्गीत आदि का सुन्दर और साङ्गोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध होता है। भरत के पहले यद्यपि राजशेखर के द्वारा काव्यमीमांसा में वर्णित इतिहास के अनुसार अलंकारशास्त्र की उत्पत्ति हो चुकी थी, तथापि आज उन ग्रन्थों की उपलब्धि न होने के कारण अलंकार तथा रस के सर्वप्रथम विवेचन का श्रेय भरत को ही प्राप्त है।

नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में वाचिक अभिनय-निरूपण-प्रसङ्ग पर अलंकारों का भी निरूपण किया गया है। पर अलंकारनिरूपण होने के बावजूद भी इस महानिबन्ध का नाम नाट्यशास्त्र ही हुआ और 'अलंकारशास्त्र' यह नाम प्रागभाव रूप में उसके अन्दर समाविष्ट रहा।

'अलंकारशास्त्र' यह नाम संसार में तब प्रकट हुआ जब आचार्य भामह का आविर्भाव इस धराधाम में हुआ। यद्यपि भरत और भामह के मध्य का लंबा काल अलंकारशास्त्रीय विवेचनों से सर्वथा शून्य ही रहा हो यह संभव नहीं है—भामह ने अपने ग्रन्थ में मेधावी रुद्र नामक किसी एक अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थप्रणेता आचार्य और उनके कतिपय सिद्धान्तों का उल्लेख किया भी है, पर उनका ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं होता। फलतः भामह ही स्वतन्त्र अलंकारशास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं।

भामह का 'काव्यालंकार' ही अलंकारशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है। भामह ने यद्यपि रसवादी आचार्य भरत से ही प्रेरणा प्राप्त की है, पर वे भरत के समान रसवादी न रह कर अलंकारवादी बन गए। इसका कारण यह हुआ कि भामह श्रव्यकाव्य के विविध उपादानों का विवेचन करने के लिये प्रवृत्त हुए थे और उन्हें श्रव्यकाव्यों में रस की प्रधानता अभीष्ट नहीं थी—दृश्यकाव्यों में ही रस की मुख्यता उन्हें मान्य थी। अतः भामह ने अपने काव्यालंकार में मुख्यतया अलंकारों का ही विवेचन किया। यह बात दूसरी है कि काव्यस्वरूप दोष, गुण आदि अन्य काव्यतत्त्वों का भी वर्णन उनके ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, उद्देश्य उनका अलंकारों की व्यवस्था करना ही था। उनके लिये ऐसा करना उचित भी था क्योंकि वे अलंकार को ही काव्य में मुख्य मानते थे।

भामह ने जब अलंकारशास्त्र का स्वतन्त्र अस्तित्व कायम कर दिया तब इस शास्त्र को विकसित करनेवाले बहुतेरे आचार्य हुए जिन्होंने इस शास्त्र के भिन्न-भिन्न अङ्गों का विश्लेषण सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में करके इस शास्त्र को चरम विकास की अवस्था में पहुंचा दिया। इन अलंकारशास्त्र-विकासक आचार्यों में भामह के बाद दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, भोजराज, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, वाग्भट, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ आदि प्रमुख हैं।

ये आचार्य 'काव्य में मुख्यता किस तत्त्व की है' इस प्रश्न के उत्तर में यद्यपि भिन्न-भिन्न मत रखते हैं, तथापि अलंकारतत्त्व का अपलाप किसी ने नहीं किया और प्रधान अथवा गौण रूप में अलंकारों का विवेचन सभी ने अपने अपने ग्रन्थ में सुन्दर ढङ्ग से किया है।

इस तरह सुदीर्घ काल में भिन्न-भिन्न आचार्यों के द्वारा जो अलंकारतत्त्व का विश्लेषण हुआ उसमें दृष्टिकोण से मतभेद का होना स्वाभाविक ही था, वह मतभेद भी एक अंश में नहीं, प्रत्युत अनेक अंशों में हुआ है, जैसे—अलंकारों के मूलभूत तत्त्व के विषय में, अलंकारों के स्वरूप के विषय में, अलंकारों से अलंकृत होनेवाले काव्यतत्त्व के विषय में और अलंकारों की संख्या के विषय में मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

अलंकारशास्त्र के आदि आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अर्थालंकारों का मूल माना है[१]। अतिशयोक्ति ही भामह की वक्रोक्ति है क्योंकि वक्रोक्ति का लक्षण भामह ने नहीं किया और अतिशयोक्ति का लक्षण 'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्—अर्थात् वह उक्ति जिसमें लोक (साधारण जन) के कथन का अतिक्रमण (उल्लङ्घन) किया गया हो।' इस तरह से करके उसके साथ वक्रोक्ति की समता दिखलाई है। वक्रोक्ति से भिन्न उक्ति को भामह 'वार्ता' कहते हैं[२]।

आनन्दवर्धन भी इस विषय में भामह के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने कहा है कि 'सभी अलंकारों में मूलतत्त्व के रूप में अतिशयोक्ति रक्खी जा सकती है। अतिशयोक्ति जिस अलंकार के अन्दर विराजती रहती है उसी में कविप्रतिभाहेतुक चारुत्वातिशय का योग रहता है, फलतः वैसा अलंकार ही वस्तुतः अलंकार है, इससे भिन्न तरह के अलंकार तो केवल नाम भर के अलंकार हैं, अतः अलंकरणयोग्यतासंपादक होने के कारण अतिशयोक्ति ही सकल-अलंकाररूप है[३]।'

१—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥'

२—'गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यम्? वार्तामेनां प्रचक्षते॥'

३. 'अतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलंकारमात्रतैवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालंकाररूपा।'

दण्डी 'स्वभावोक्ति' को आदिअलंकार कहते हैं। उपमादि अलंकारों का मूल उनकी दृष्टि में भी वक्रोक्ति ही है[१]।

रुद्रट औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलंकारमूल मानते हैं। एकावलीकार विद्याधर औपम्य, विरोध, तर्क आदि को अलंकारमूल कहते हैं। अलंकारों के स्वरूप में भी भेद प्राप्त होता है। भामह के विचार से जो वक्रोक्ति 'लोकातिक्रान्त-गोचर वचन' रूप सिद्ध होकर सभी अलंकारों का मूलभूत सामान्य अलंकार था, वह वामन के विचार से 'सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः' होकर अर्थालंकारविशेष हो गया, और रुद्रट के विचार से वही वक्रोक्ति अपह्नव-मूलक शब्दालंकाररूप हो गया।

वामन ने आक्षेपनामक एक अलंकार मानकर उसके दो भेद किए हैं, पर मम्मट ने उनमें से एक भेद को प्रतीप अलंकार का और दूसरे को समासोक्ति अलंकार का रूप दे दिया। यह तो एक दिग्दर्शनमात्र है, सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन करने पर भिन्न-भिन्न आलंकारिकों के मत से अनेक अलंकारों के स्वरूप भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो परवर्ती आचार्यों ने जो पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा किए गये तत्तत् अलंकारों के लक्षणों का खण्डन करके नवीन-नवीन लक्षण प्रस्तुत किए हैं वह कैसे संभव हो पाता? आखिर एक लक्षण का खण्डन कर अन्य लक्षण का निर्माण करना लक्षणीय वस्तु के स्वरूप को भिन्न सिद्ध करना ही तो है।

अलंकार्य कहे जाने वाले काव्यतत्त्व के विषय में भी प्रचुर मतभेद उपलब्ध होता है। अलंकार-सम्प्रदायवादी आचार्य शब्द और मुख्य वाच्यार्थ को ही अलंकारों से अलंकृत होनेवाले काव्यतत्त्व के रूप में स्वीकार करेंगे, दूसरा रास्ता ही नहीं है, क्योंकि वे रस आदि प्रतीयमान काव्यतत्त्व को काव्य में मुख्य मानते ही नहीं हैं। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने वस्तुस्वभाव को ही अलंकार्य कहा है[२]। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वन्यमान अर्थ (वस्तु-अलंकार-रसादिरूप त्रिविध व्यङ्ग्य) को अलंकार्य माना है। रसवादी आचार्यों ने केवल असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यनाम से व्यवहृत होने वाले रस आदि व्यङ्ग्यों को अलंकार्य कोटि में रखा है। रसगङ्गाधरकार ने तो कवितात्पर्य-विषयीभूत मुख्य वाक्यार्थ (ऐसा अर्थ उनके विचार से कहीं रसादि, कहीं तद्भिन्न व्यङ्ग्य, कहीं रमणीय वाच्यार्थ भी हो सकता है) को अलंकारों से उपस्कृत होने वाला कहा है[३]।

---

१. 'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
द्विधाभिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥' (काव्यादर्श)
'स्वभावोक्तिराद्यालंकारः। वक्रोक्तिशब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलंकारा उच्यन्ते।'
(हृदयंगमा टीका)

२. 'अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते॥
शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुतेऽपरम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति।'

३. 'इयं चैवंभेदोपमा वस्त्वलङ्काररसरूपाणां प्रधानव्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कारयोर्वाच्ययोश्चोप-स्कारकतया पञ्चधा।' (भट्ट मथुरानाथ कृत संस्करण, पृष्ठ २२५)

अलंकारों की संख्या के विषय में तो सबसे अधिक मतभेद है। प्रायः किन्हीं दो आलंकारिकों के मत इस विषय में समान नहीं हैं।

नाट्यशास्त्र में अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक इन चार ही अलंकारों का नाम-निर्देश मिलता है, अतः मानना पड़ेगा कि मूलभूत अलंकार ये ही चार हैं जिनमें एक (अनुप्रास) शब्दालंकार है और तीन अर्थालंकार। इन्हीं चार अलंकारों से विकसित तथा परिवर्धित होकर कुवलयानन्द में अलंकारों की संख्या १२५ तक पहुँच गई है, जो प्रायः अलंकारों के संबन्ध में सबसे बड़ी संख्या है। अन्य आलंकारिक इन्हीं दो संख्याओं के मध्य की भिन्न-भिन्न संख्या अलंकारों की मानते हैं, जैसे—काव्यादर्शकार दण्डी अलंकारों की संख्या ३५ मानते हैं। अलंकारसारसंग्रह-प्रणेता उद्भट भट्ट अलंकारों की संख्या ४१ बतलाते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण-रचयिता भोजराज शब्दालंकार २४, अर्थालंकार २४ और उभयालंकार भी २४—कुल अलंकार-संख्या ७२ कहते हैं। काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र शब्दालंकार ६ और अर्थालंकार २९—कुल अलंकार-संख्या ३५ मानते हैं। वाग्भटालंकार वाग्भट शब्दालंकार ४ और अर्थालंकार ३५—कुल ४९ अलंकार-संख्या लिखते हैं। काव्यानुशासनकार वाग्भट द्वितीय ६३ अर्थालंकार और ६ शब्दालंकार—कुल ६९ अलंकारों की गणना करते हैं।

काव्यप्रकाशकार मम्मट कुल अलंकारसंख्या ६७ मानते हैं जिसमें शब्दालंकारों की संख्या ६ और अर्थालंकारों की संख्या ६७ है। मम्मट भट्ट ने काव्यप्रकाश में निम्नलिखित अलंकारों का खण्डन अथवा स्वसम्मत अलंकारों में अन्तर्भाव दिखलाया है—१-अत्युक्ति, २-अनुगुण, ३-अनुज्ञा, ४-अनुपलब्धि, ५-अनुमान, ६-अर्थापत्ति, ७-अल्प, ८-अवज्ञा, ९-असंभव, १०-असम, ११-उदाहरण, १२-उन्मीलित, १३-उपमान, १४-उल्लास, १५-उल्लेख, १६-ऊर्जस्वि, १७-ऐतिह्य, १८-गूढोक्ति, १९-छेकोक्ति, २०-जाति, २१-निरुक्ति, २२-परिकर, २३-परिणाम, २४-पिहित, २५-पूर्वरूप, २६-प्रत्यक्ष, २७-प्रत्यनीक, २८-प्रहर्षण, २९-प्रेयः, ३०-प्रौढोक्ति, ३१-भाषा, ३२-मिथ्याध्यवसिति, ३३-मुद्रा, ३४-युक्ति, ३५-रत्नावली, ३६-रसवत्, ३७-ललित, ३८-लेश, ३९-लोकोक्ति, ४०-वर्धमान, ४१-वक्रोक्त्यलंकार, ४२-विकल्प, ४३-विकस्वर, ४४-विचित्र, ४५-वितर्क, ४६-विधि, ४७-विवृतोक्ति, ४८-विशेष, ४९-विषाद, ५०-शब्द, ५१-संभव, ५२-समाहित और ५३-हेतु।

इनमें कतिपय अलंकारों का पण्डितराज ने अपने रसगंगाधर में सयुक्तिक पुनःस्थापन किया है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ६ शब्दालंकार और ७२ अर्थालङ्कार—कुल ७८ अलङ्कार मानते हैं। इसी तरह भामह, रुद्रट, वामन आदि आलङ्कारिकों का भी अलंकार-संख्या-विषयक मत समान नहीं है।

अलङ्कारों की संख्या के विषय में दृष्टिगोचर होनेवाला यह मतभेद कोई आश्चर्य में डालने-वाली बात नहीं है क्योंकि उक्ति की विचित्रता ही अलङ्काररूप में परिणत होती है और उक्ति-वैचित्र्य की कोई इयत्ता नहीं है—वह अनन्त है—**'अनन्ता वाङ्मयस्यास्य गेयस्येव विचित्रता'** यह सिद्धान्त बहुत ही प्राचीन है। अतः जिस आचार्य को जितने प्रकार के उक्ति-वैचित्र्य प्रतिभासित हुए उसने उतने प्रकार के अलङ्कारों की कल्पना कर ली।

अब तक जितने प्रकार के अलङ्कारों की कल्पना की जा चुकी है, भविष्य में उनसे और अधिक प्रकार के अलंकारों की कल्पना की जा सकती है।

अलङ्कार की सामान्य परिभाषा

'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते' (काव्यादर्श)

इस परिभाषा के द्वारा आचार्य दण्डी को उन सभी काव्यतत्त्वों का संग्रह अभीष्ट है जो काव्य में चमत्कारोत्पादक हैं। इस तरह उनके हिसाब से प्रसाद, माधुर्य आदि गुण ही नहीं, प्रत्युत नाट्य के शोभाविधायक अङ्ग—सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति आदि भी अलङ्कार शब्द के अर्थ हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप में लिखा है कि 'शास्त्रान्तर में जो तत्त्व सन्ध्यङ्ग, वृत्त्यङ्ग, लक्षण आदि पदों से अभिहित हुए हैं वे सभी मुझे अलङ्काररूप से ही इष्ट हैं[1]।'

इस व्यापकता को हटाने के लिये कतिपय आचार्यों ने कहा—

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः'।

अर्थात् काव्य में शोभा उत्पन्न करनेवाले तत्त्व गुण हैं और गुण के द्वारा उत्पन्न शोभा को अतिशयित करनेवाले तत्त्व अलङ्कार हैं।

पर इन उल्लेखों से वस्तुस्थिति सर्वथा स्पष्ट हुई नहीं, अतः भिन्न-भिन्न आलङ्कारिकों के फुटकर उल्लेखों के आधार पर प्रस्तुत अलंकारतत्त्व की कुछ और छान-बीन करना आवश्यक है।

आनन्दवर्धन ने अलङ्कार की मूल भावना का निर्देश इन शब्दों में किया है—'**अलङ्कारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः**—अर्थात् अलङ्कार काव्य में चारुता के कारणरूप से प्रसिद्ध तत्त्व है।' अभिनव गुप्त ने अलंकार को सदा ही विच्छित्ति-प्रकार स्वीकार किया है। कुन्तक ने अलङ्कार-स्वरूप में दो बातों पर विशेष जोर दिया है—वैचित्र्य और कविप्रतिभानिर्वर्तितत्व। यद्यपि ये दोनों लक्षणा काव्य की ही मूल कल्पना के साथ सम्बद्ध हैं, तथापि अलंकार में भी इनका अस्तित्व अवश्य रहता है।

अलंकार को विचित्र और चारुत्वसम्पन्न होना ही चाहिए और इसके लिये आवश्यक है कि वह कवि की प्रतिभा के द्वारा प्रस्तुत किया जाय। इसीलिये भिन्न आलङ्कारिकों ने अपने ग्रन्थों में अलङ्कार के प्रसङ्ग में विच्छित्ति, चारु, सुन्दर आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। अतः यह सिद्ध हुआ कि विच्छित्तिविशेष का सामान्य अभिधान अलङ्कार है—'**वैचित्र्यमलङ्कारः**।' कुन्तक की इस अलङ्कारत्वमीमांसा का प्रभाव अवान्तरकालीन आलंकारिकों पर विशेषरूप से पड़ा है। मम्मट भी अलङ्कार को वैचित्र्यरूप ही मानते हैं। वही अलङ्कार काव्य का शोभाधायक हो सकता है जो विचित्रता या रुचिरता उत्पन्न करे। वे अलङ्कार के साथ रसजन्य चमत्कार के भी पक्षपाती हैं, परन्तु रस के अभाव में अलङ्कार के ही कारण उक्ति की विचित्रता में किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता। मम्मट की स्पष्ट उक्ति है—'**यत्र तु नास्ति रसः तत्र उक्तिवैचित्र्यमात्र-पर्यवसायिनः**।'

---

१. 'यच्च सन्ध्यङ्ग-वृत्त्यङ्ग-लक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः॥' (काव्यादर्श)

'हेतु' को अलंकार की श्रेणी में स्थान न देने का कारण मम्मट ने स्पष्टतः वैचित्र्य का अभाव कहा है—'**वैचित्र्याभावात्तु हेतुर्नालङ्कारः।**' रुय्यक भी इस विषय में कुन्तक से प्रभावित हैं। वे भी अलङ्कार को कविप्रतिभोत्थित मानते हैं। संदेहालङ्कार के विषय में उनका कहना है—'**कविप्रतिभोत्थिते संदेहे संदेहालङ्कारः।**' 'भ्रान्ति' अलङ्कार के विषय में भी कविप्रतिभोत्थित भ्रान्ति को ही उन्होंने अलङ्कार कहा है।

इन विवेचनों से कुन्तक की दृष्टि में अलंकार का सामान्य स्वरूप होगा—'**कविप्रतिभोत्थितः विच्छित्तिविशेषः अलंकारः**' अर्थात्—कवि की प्रतिभा से उत्थापित विच्छित्ति-विशेष-चमत्कार का एक प्रकार ही अलंकार है। पर यह परिभाषा भी व्यापक हो जाती है और काव्यत्व-नियामक सभी तत्वों को अपने अन्दर समेट लेती है, अतः यदि उक्त परिभाषा में कथित प्रतिभोत्थित विच्छित्तिविशेष का संबन्ध शब्द अथवा अर्थ के साथ जोड़ दें, अर्थात् यह कहें कि 'शब्द अथवा अर्थ में रहने वाले कविप्रतिभोत्थित विच्छित्ति-विशेष, का नाम अलंकार है' तो अलंकार की सही-सही सामान्य परिभाषा बन जाती है।

'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तो तेऽलंकारा अङ्गदादिवत्॥'

अर्थात् शब्द-अर्थ के अनियत शोभातिशायी और रस आदि के उपकारक धर्मों का नाम अलंकार है। यह नाम लौकिक अङ्गद आदि अलंकारों की समता के कारण प्रचलित है। इस परिभाषा में दो विशेषणों पर ध्यान देना है—एक '**अस्थिराः**' और दूसरा '**रसादीनुपकुर्वन्तः**'। इनमें से प्रथम विशेषण गुणों को अलंकार-श्रेणी से पृथक् करने के लिये कहा गया है। गुणों में भी सभी अन्य अलंकारत्व-नियामक तत्त्व विद्यमान रहते हैं, पर वे काव्य के स्थिर (नियत) धर्म हैं और अलंकार हैं अस्थिर (अनियत)। दूसरा विशेषण अलंकारों के कर्तव्य की ओर इङ्गित करता है, अर्थात् काव्यवाक्य के मुख्य अर्थ को उपकृत करना—पुष्ट बनाना ही अलंकारों का कर्तव्य है, उस कर्तव्य से विमुख तत्त्व अलंकार पद से अभिहित हो ही नहीं सकते।

यहाँ पण्डितराज अलंकारनिरूपण के आरम्भ में अवतरणरूप से लिखते हैं कि—'**अथास्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकारा निरूप्यन्ते।**' इस अवतरणग्रन्थ में 'रसादेः' न लिख कर 'व्यङ्ग्यस्य' जो लिखा गया है उससे पण्डितराज का यह अभिमत निकाला जाता है कि—'पण्डितराज त्रिविध (वस्तु, अलंकार तथा रसादि) व्यङ्ग्यों को काव्यात्मा मानते हैं।' किन्तु उपमानिरूपण प्रकरण में एक स्थल पर पण्डितराज लिखते हैं—'**इत्थं चैवंभेदोपमा वस्त्वलंकाररसरूपाणां प्रधानव्यङ्ग्यानाम् वस्त्वलङ्कारयोश्चोपस्कारकतया पञ्चधा।**' प्रसङ्गवश पहले भी यह पंक्ति टिप्पणी में उद्धृत की जा चुकी है। इसका अर्थ है—'उपमा पाँच प्रकार की होती है क्योंकि यह (उपमा) कहीं वस्तुरूप प्रधानव्यङ्ग्य को, कहीं अलंकाररूप प्रधानव्यङ्ग्य को, कहीं रसादिरूप प्रधानव्यङ्ग्य को—इस तरह त्रिविध व्यङ्ग्य को—और कहीं प्रधान वाच्यवस्तु को तथा कहीं प्रधानवाच्य अलंकार को अलंकृत करती है।' इस उल्लेख से तो पण्डितराज की काव्यात्मत्वविषयक धारणा कुछ भिन्न ही प्रतीत होती है, क्योंकि यह निश्चित है कि जिस तत्त्व को जो काव्यात्मा माना है वह उसी तत्त्व को अलंकार्य

बतलाता है। इस हिसाब से यदि पण्डितराज त्रिविध व्यङ्ग्य मात्र को काव्यात्मा मानते होते तब वाच्यवस्तु (अलंकार) को अलंकार्य (उपस्कार्य) नहीं कहते। ऐसा लगता है कि पण्डितराज सभी प्रकार के रमणीय अर्थों को काव्यात्मा मानने वाले हैं। इस धारणा की पुष्टि पण्डितराज की अन्य उक्ति से भी होती है। उपमालक्षण में सादृश्य का विशेषण 'वाक्यार्थोपस्कारकम्' कहा गया है, 'व्यङ्ग्यार्थोपस्कारकम्' नहीं। इससे स्पष्ट है कि पण्डितराज केवल रमणीय वाच्यार्थ के रहने पर भी, अर्थात् रमणीय व्यङ्ग्य अर्थ के नहीं रहने पर भी, वाक्य को काव्य मानते हैं। विचार करने की बात है कि—काव्यात्मभूत तत्त्व के अभाव में भी क्या काव्यत्व माना जा सकता है ? नहीं। अतः माना जाता है कि पण्डितराज आलंकारिक जगत् में ध्वनिवादी होते हुए भी रमणीयतावादी हैं।

उक्त अवतरण के बाद उपमानिरूपण से अलंकारनिरूपण प्रकरण आरम्भ होता है। अलंकारसामान्य की परिभाषा—जो विशेषविषयक जिज्ञासा के प्रति सामान्य ज्ञान को कारण मानने वालों के मत से आवश्यक समझी जाती है—नहीं दी गई है।

यद्यपि नागेश ने उक्त अवतरणग्रन्थ में ही अलंकारसामान्यलक्षण, खोज निकाला है। अर्थात् नागेश की दृष्टि में उक्त अवतरण का **'व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजकाः'** यह अंश अलंकारसामान्य का लक्षण है। फलतः नागेश के कथनानुसार पण्डितराज का अलंकारसामान्यलक्षण हुआ 'व्यङ्ग्यरमणीयताप्रयोजककाव्यधर्मत्व'। पर यह संगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि ऊपर दिखलाया जा चुका है कि पण्डितराज अलंकार को केवल व्यङ्ग्य अर्थ की रमणीयता का प्रयोजक नहीं मानते हैं। वस्तुतः स्पष्ट उल्लेख नहीं रहने पर भी पण्डितराज के मत से अलंकारसामान्य का लक्षण—**'कविप्रतिभानिर्वर्तितमुख्यवाक्यार्थोपस्कारकसुन्दरशब्दार्थधर्मत्व'** समझा जा सकता है, क्योंकि स्मरणालंकारनिरूपण में एक जगह पण्डितराज ने लिखा है—**'प्रधानव्यङ्ग्यव्यावृत्त्यर्थं पुनरुपस्कारकत्वं सर्वेषु अलंकारलक्षणेषु देयम्'**, ससंदेहालंकारगत रमणीय विशेषण की व्याख्या—**'चमत्कारिणीत्यर्थः'** इन शब्दों में करके कहा—**'एतच्च विशेषणं सामान्यालंकारलक्षणप्राप्तमेव। एवमुपस्कारकत्वमपि बोध्यम्'**। इसी तरह भ्रान्तिमान् अलंकार के लक्षण का विवरण करते हुए कहा है—**'चमत्कारीति। कविप्रतिभानिर्वर्तित इत्यर्थः।'** इन उल्लेखों से उक्त अलंकारसामान्यलक्षण ही फलित होता है, जो बहुत कुछ पूर्वोक्त कुन्तक के विचार से प्रभावित है।

रसगंगाधर ग्रन्थ में निम्न ७० अलंकारों का निरूपण किया गया है—

१. उपमा, २. उपमेयोपमा, ३. अनन्वय, ४. असम, ५. उदाहरण, ६. स्मरण, ७. रूपक, ८. परिणाम, ९. ससन्देह, १०. भ्रान्तिमान्, ११. उल्लेख, १२. अपह्नुति, १३, उत्प्रेक्षा, १४. अतिशयोक्ति, १५. तुल्ययोगिता, १६. दीपक, १७. प्रतिवस्तूपमा, १८. दृष्टान्त, १९. निदर्शना, २०. व्यतिरेक, २१. सहोक्ति, २२. विनोक्ति, २३. समासोक्ति, २४. परिकर, २५. श्लेष, २६. अप्रस्तुतप्रशंसा, २७. पर्यायोक्त, २८. व्याजस्तुति, २९. आक्षेप, ३०. विरोध, ३१. विभावना, ३२. विशेषोक्ति, ३३. असंगति, ३४ विषम, ३५. सम, ३६. विचित्र, ३७. अधिक, ३८. अन्योन्य, ३९. विशेष, ४०. व्याघात, ४१. कारणमाला, ४२. एकावली, ४३. सार, ४४. काव्यलिङ्ग, ४५. अर्थान्तरन्यास, ४६. अनुमान, ४७. यथासंख्य, ४८. पर्याय, ४९. परिवृत्ति, ५०. परिसंख्या,

५१. अर्थापत्ति, ५२. विकल्प, ५३. समुच्चय, ५४. समाधि, ५५. प्रत्यनीक, ५६. प्रतीप, ५७. प्रौढोक्ति, ५८. ललित, ५९. प्रहर्षण, ६०. विषादन, ६१. उल्लास, ६२. अवज्ञा, ६३. अनुज्ञा, ६४. तिरस्कार, ६५. लेश, ६६. तद्गुण, ६७. अतद्गुण, ६८. मीलित, ६९. सामान्य और ७०. उत्तर। यहाँ अन्तिम उत्तरालंकारनिरूपण में ही अकस्मात् ग्रन्थ खण्डित होकर समाप्त हो गया है। इस प्रकार समाप्ति होने के दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो लिखते समय ही लेखक की अकस्मात् मृत्यु हो जाना और दूसरा किसी कारणवश अग्रिम अंश का पण्डितराज-लिखित मूल प्रति से नष्ट हो जाना। जो भी हो, इस स्थिति में आज यद्यपि पण्डितराजाभिमत अलंकारों की संख्या बतलाना असंभव है तथापि इतना निश्चित है कि पण्डितराज अलंकार-निरूपण में चन्द्रालोकीय अर्थालंकारानुक्रमणिका को ही आधार मानकर चले हैं, क्योंकि उक्त सत्तर अलंकारों में केवल उदाहरण, सार, अनुमान और तिरस्कार ये चार ही अलंकार ऐसे हैं जो चन्द्रालोकीय अर्थालंकारानुक्रमणिका से बहिर्भूत हैं। चन्द्रालोककार पीयूषवर्ष जयदेव ने अपनी अनुक्रमणिका में सौ अलंकारों का निर्देश किया है जिसमें उत्तरालंकारपर्यन्त अलंकारों में से आवृत्ति, दीपक, परिकराङ्कुर, प्रस्तुताङ्कुर, व्याजनिन्दन, असंभव, अल्प, मालादीपक, साधक, कारकदीपक, विकस्वर, संभावन, मिथ्याध्यवसिति, रत्नावली, पूर्वरूप, उन्मीलित और निमीलित इन सोलह अलंकारों की चर्चा पण्डितराज ने स्वतन्त्र अलंकार के रूप में न करके अन्य अलंकारों में ही उनका अन्तर्भाव दिखलाया है। फलतः उत्तर के आगे चन्द्रालोकगत सूक्ष्मपिहित, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि और हेतु ये सोलह अलंकार बच जाते हैं। इन सोलहों के संबन्ध में पण्डितराज क्या लिखते, इन्हें स्वतन्त्र अलंकार मानते अथवा नहीं, यह आज नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पण्डितराजाभिमत अलंकारों की संख्या भी प्रायः सौ के लगभग ही होती।

(१) उपमा

आरम्भ में अति उपयुक्त उपमा-लक्षण कहा गया है। तदनन्तर लक्षण में निविष्ट पदों के फल स्पष्ट किए गए हैं। इसके बाद कल्पितोपमा—जिसमें उपमान कल्पित पदार्थ रहता है, अतः जिसे प्राचीन आलंकारिक अलंकारान्तर की संज्ञा प्रदान करते हैं—को उपमा के अन्दर सयुक्तिक संगृहीत किया गया है। इसके अनन्तर साधारणधर्म के विषय में विचार करते हुए 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' तथा 'वस्तुप्रतिवस्तुभाव' का ऐसा सुन्दर विश्लेषण किया गया है जैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इसके बाद एक सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया गया है। इसके अनन्तर प्राचीन आचार्यों के द्वारा रचित उपमालक्षणों की आलोचना की गई है जिसमें अप्पयदीक्षित, विद्यानाथ, मम्मट, अलंकारसर्वस्वकार, अलंकाररत्नाकरकार आदि के लक्षणों का सयुक्तिक खण्डन किया गया है। इसके अनन्तर प्राचीनोक्त पचीस भेदों को गिनाकर उनके उदाहरण दिए गए हैं। इसके बाद 'इतरान्सानपि भेदानन्ये निगदन्ति—' से आरम्भ करके कतिपय प्राचीनमतसिद्ध अन्य भेदों की चर्चा की गई है और उनमें से कुछ का खण्डन किया गया है। इसी प्रसङ्ग में यत्र-तत्र अप्पयदीक्षित के मत का भी खण्डन किया गया है। इसके बाद उपस्कार्यभेद से उपमा के पाँच भेद करके उनके उदाहरण दिए गए हैं। इसी प्रसङ्ग में अलंकार से अलंकार भी उपस्कार्य

कैसे हो सकता है इस बात की सुन्दर मीमांसा की गई है जो अन्यत्र अप्राप्य ही है। इस तरह पच्चीस भेद मानने वाले प्राचीनों के मत से प्रत्येक के पञ्चविध हो जाने से एक सौ पच्चीस और बत्तीस भेद मानने वाले प्राचीनों के मत में एक सौ साठ भेद हो सकते हैं यह बात कही गई है। इसके बाद पण्डितराज ने अपनी प्रतिभा के बल से और बहुत भेदों की उद्भावना की है। साधारणधर्म के अनुगामी, केवल बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न, उभय, वस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बित बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न, उपचरित और केवल शब्दात्मक भेद मानकर उपमा के भेद किए गए हैं और सभी भेदों के सटीक उदाहरण भी उपस्थित किए गए हैं। इसके बाद भी **'प्रकारान्तरं च सुधीभिः स्वयमुन्नेतुं शक्यम्'** कह कर एक विलक्षण भेद और दिखलाया गया है जिसमें उपमा को ही उपमा का साधारणधर्म सिद्ध किया गया है। उदाहरण भी इस भेद का देखने योग्य दिया गया[1] है। अन्त में भेदों के सम्बन्ध में **'इयमेवंभेदा प्राचीनैर्भेदैर्गुणने वागगोचरं भूमानं भजमाना नेयत्तामर्हति'** लिख कर ही ग्रन्थकार ने सन्तोष किया है। इसके बाद शाब्दबोध का विचार विशद रूप से किया गया है जो अलंकारशास्त्र को न्याय आदि शास्त्रों के समान प्रौढ़ि प्रदान करता है। अन्ततः यह निश्चित है कि उपमा का जैसा मर्मस्पर्शी तथा विशद विचार इस ग्रन्थ में हुआ है वैसा किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं हुआ है।

(२) उपमेयोपमा

उपमेयोपमा को यद्यपि पण्डितराज उपमा का ही प्रभेद मानते हैं,[2] तथापि इसका निरूपण उन्होंने स्वतन्त्र अलंकार के रूप में किया है और लक्षण, उदाहरण आदि सब कुछ अलग लिखे हैं। उनका उल्लेख है कि इसके भी उपमा की तरह अनन्त भेद हो सकते हैं[3]। उपमेयोपमा-निरूपण में भी अप्पयदीक्षित, अलंकारसर्वस्वकार तथा विमर्शिनीकार के मतों का खण्डन किया गया है।

(३) अनन्वय

अनन्वय-निरूपण में लक्षण, उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण दिखलाने के बाद भेदकथन है। उपमा के समान अनन्वय का भी पहले पूर्णलुप्त भेद माना गया है, फिर पूर्णभेद के पूर्णोपमा की तरह छे भेद हो सकने की बात कही गई है। लुप्तभेद में धर्मलुप्त के पुनः पाँच भेद मान कर वाचकलुप्त भेद भी दिखलाया गया है। धर्मवाचकोभयलुप्तभेद भी स्वीकृत हुआ है। असुन्दर होने के कारण इसके उपमानलुप्तादि भेद नहीं हो सकते इस कथन से भेदविवरण समाप्त किया गया है। इसके बाद रत्नाकर के त्रिविध अनन्वयलक्षण तथा उदाहरणों का उल्लेख करके खण्डन किया गया है और अलंकारसर्वस्वकार तथा अप्पयदीक्षित की उक्तियों का भी खण्डन किया गया है।

---

१. 'यथा लतायाः स्तबकानतायाः स्तनावनम्रे नितरां समासि।
तथा लता पल्लविनी सगर्वे शोणाधरायाः सदृशी तवापि॥'

२. 'मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपे, चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्र इत्युपमेयोपमायां च सादृश्यस्य चमत्कारित्वात्रातिप्रसङ्गः शङ्कनीयः, तयोः संग्राह्यत्वात्।' (उपमानिरूपणे)

'अथास्या एव भेद उपमेयोपमा निरूप्यते—' (उपमेयोपमानिरूपणस्यावतरणग्रन्थः)

३. 'एवं पूर्णालुप्तादयोऽप्यस्याः (उपमेयोपमायाः) उपमाया इव प्रायशः सर्वेऽपि भेदाः सम्भवन्ति।'

(४) असम

अलंकार-संसार में अल्प-मत-समर्थित 'असम' अलंकार को मान कर इस अलंकार का निरूपण करते समय लक्षणोल्लेख के बाद सर्वप्रथम पण्डितराज कहते हैं कि 'यद्यपि असम-पदार्थ अनन्वय में नियमतः व्यङ्ग्य होता है, तथापि वहाँ वह अलंकार-पदव्यवहार्य होने योग्य नहीं होता, क्योंकि वहाँ वह अनन्वय के चमत्कार का ही पोषक रहता है, इसीलिये रूपक-दीपक आदि में नियमतः अभिव्यक्त होने पर भी उपमा अलंकारपद से व्यवहृत नहीं होती। जहाँ 'असम' वाच्य रहता है वहाँ वह स्वतन्त्र चमत्कार का उत्पादक होता है, और तब उसको स्वतन्त्र अलंकार भी मानना ही चाहिए।' रत्नाकर के मत का खण्डन यहाँ भी हुआ है। यह शङ्का भी की गयी है कि—'असमालंकार' ध्वनन से ही चमत्कार उत्पन्न होता है ऐसा मानकर 'अनन्वय' का अस्वीकार क्यों नहीं कर दिया जाय ? उत्तर में कहा गया है कि उपमा-ध्वनन से कृतार्थता मान कर दीपकादि का भी अपलाप क्यों नहीं कर देते ? इत्यादि। अन्त में यह भी कह दिया गया है कि प्राचीन इस अलङ्कार को नहीं मानते।

(५) उदाहरण

यह अलंकार भी अलंकारजगत के आचार्यों का बहुमत नहीं प्राप्त कर सका है। पर पण्डितराज का समर्थन इसे प्राप्त है। 'सामान्य-विशेष का वाच्य अवयवावयविभाव' इसका संक्षिप्त स्वरूप है। इव, यथा, निदर्शन, दृष्टान्त आदि शब्दों को इस अलंकार का बोधक माना गया है। इव और यथा शब्द सादृश्य-वाचक हैं, सामान्यविशेषभाव के बोधक ये कैसे हो सकते हैं इस शंका के समाधान में कहा गया है कि—अभिधावृत्ति द्वारा भले ही इव और यथा पद सामान्य-विशेषभाव के बोधक नहीं हों, पर लक्षणावृत्ति द्वारा तो हो ही सकते हैं। अन्यथा उत्प्रेक्षा-बोधक भी ये पद नहीं हो सकेंगे। 'अनन्तरत्नप्रभवस्य'—इस कालिदासीय प्रसिद्ध पद्य में पण्डित-राज यही (उदाहरण) अलंकार मानते हैं। 'अर्थान्तरन्यास' से इसमें वैलक्षण्य यह माना गया है कि—इसमें अवयवावयविभावबोधक इवादि पद प्रयुक्त होते हैं और सामान्य विशेष दोनों अर्थों का अन्वय एक ही विधेय (क्रिया) के साथ होता है, अर्थान्तरन्यास में ये दोनों बातें नहीं होतीं। सामान्य-विशेषात्मक दो पदार्थों में सादृश्य उल्लसित ही नहीं हो सकता, अतः उपमा में भी इसकी गतार्थता संभव नहीं। अन्त में यह भी कह दिया गया है कि—प्राचीन इस अलंकार को उपमा में ही गतार्थ मानते हैं और 'सामान्य' विशेष से अतिरिक्त नहीं होता—अतः सादृश्योल्लास की व्यवस्था दे देते हैं।

(६) स्मरण

पण्डितराजकृत स्मरणालंकार के लक्षण में बहुत कुछ नवीनता है। अलंकारसर्वस्व, रत्नाकर आदि में 'सदृशपदार्थानुभवजन्य स्मृति' को स्मरणालंकार माना गया है। अन्यत्र भी स्मरण-पदार्थ का स्वरूप अनुभवजन्यत्वघटित ही प्रायः माना गया है। पर पण्डितराज का कथन है कि—यदि सदृशानुभवजन्य स्मरण को ही अलंकार माना जाय तब जहाँ सदृशपदार्थ के स्मरण से संस्कारोद्बोधकमेण स्मरण उत्पन्न होता है वहाँ स्मरणालंकार नहीं हो सकेगा। उदाहरण भी वैसा (स्मरणप्रयोज्य स्मरण का) सुन्दरतम उपस्थित किया गया है। अतः पण्डितराज ने

'सादृश्यज्ञान से उद्बुद्ध जो संस्कार उससे साक्षात् अथवा परम्परया सम्पन्न होनेवाले स्मरण" को स्मरणालङ्कार माना है। यह लक्षण उक्त सभी स्मरणों में संघटित होता है।

(७) रूपक

पण्डितराजकृत रूपक-विचार भी अतलस्पर्शी और विशद है। लक्षण ही पहले विलक्षण है। विलक्षणता नवीनपदार्थ-निर्वचनांश में नहीं है, अपितु परम्परागत रूपकपदार्थ के स्फुटीकरणांश में है। परमत की समीक्षा भी सुन्दर ढङ्ग से की गई है। रत्नाकर ने उपमान-उपमेय के अभेद की तरह कार्य-कारण के अभेद को भी रूपक माना है, पर पण्डितराज ने उसका सयुक्तिक खण्डन करके सादृश्यमूलक—फलतः उपमानोमेय के—तादात्म्य को ही रूपक कहे जाने का प्रमाण-पत्र दिया है। अप्पयदीक्षित का खण्डन करना तो पण्डितराज के आवश्यक कर्तव्यों में था अतः उस कर्तव्य की पूर्ति रूपकनिरूपण में भी खूब की गई है। रूपक के प्रभेदों के विषय में भी पण्डितराज ने अपनी मौलिक प्रतिभा का चमत्कार परिपूर्ण मात्रा में दिखलाया है।

आरम्भ में प्रकाशकारादिसम्मत आठ भेदों की साङ्गोपाङ्ग चर्चा की गई है। इसी प्रसङ्ग में परम्परितरूपकत्वनियामक आरोपद्वय का उपायोपेयभाव कैसे संभव है? 'शशिपुण्डरीक' आदि में पुण्डरीकरूपक का व्यवहार कैसे होता है क्योंकि पुण्डरीक-तादात्म्य की प्रतीति नहीं होती, प्रतीति होती है शशितादात्म्य की, तदनुसार शशिरूपक का व्यवहार होना चाहिए, इत्यादि शङ्काओं का विलक्षण समाधान उपस्थित किया गया है जो सर्वथा नवीन प्रतीत होता है। तदनन्तर पण्डितराज ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि से अनेक नवीन भेदों की कल्पना की है, जिसमें वाक्यार्थरूपक की कल्पना सर्वथा नवीन ज्ञात होती है। इसी अवसर पर 'रूपक में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव नहीं होता' इस प्राचीन मत का प्रबल युक्तियों के आधार पर खण्डन किया गया है। अन्त में नव्यन्याय की शैली से शाब्दबोध का विचार करके अलङ्कारशास्त्रीय आलोचना-पद्धति को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया गया है।

(८) परिणाम

'उपमान जहाँ उपमेयरूप से ही प्रकृत कार्य में उपयुक्त होता हो, स्वतन्त्रतया नहीं, वहाँ परिणाम होता है' यह लक्षण पहले किया गया है। फिर 'परिणाम में विषय का अभेद विषयी में उपयोगी सिद्ध होता है, रूपक में ऐसा नहीं होता' यह परिणाम तथा रूपक में परस्पर भेद बतलाया गया है। इसके बाद समानाधिकरण परिणाम के वाक्यगत समासगत दो भेद और व्यधिकरण परिणाम का एक भेद इस तरह कुल तीन भेद करके उन भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं और दीक्षितोक्त व्यधिकरण परिणामोदाहरण का खण्डन किया गया है, सर्वस्वकारकृत लक्षण उदाहरण दोनों का सयुक्तिक खण्डन किया गया है और 'केचित्तु' कह कर उन प्राचीनों का मत उपस्थित किया गया है जो परिणाम को रूपक से भिन्न अलंकार नहीं मानते और कहते हैं कि—कहीं केवल उपमेय अपने रूप में प्रकृतकार्य में उपयुक्त नहीं सिद्ध होता, अतः आरोप्यमाण (उपमान) से अभिन्न रूप में स्थित होकर उपयुक्त होता है वैसी जगह आरोप्यमाण परिणाम होता है। कहीं आरोप्यमाण (उपमान) अपने रूप से उपयुक्त न हो सकने के कारण उपमेय से अभिन्न होकर उपयोग (काम) करता है वहाँ विषयपरिणाम होता है,

पर वस्तुतः ये दोनों ही प्रकार रूपक के ही हैं, क्योंकि उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक में से किसी एक को आगे रख कर निश्चित किया जाने वाला उपमान अथवा उपमेय ही रूपक का स्वरूप है। अन्त में परिणामवाक्य के शाब्दबोध का विचार किया गया है।

(९) ससन्देह

वैसे तो अलङ्कार आदि सभी काव्यतत्त्वों के निरूपण में पण्डितराज ने अपनी विलक्षण विद्वत्ता का परिचय दिया है, पर ससन्देहालङ्कार के निरूपण में तो आपकी प्रतिभा दर्शनीय है। विलक्षण लक्षण, पवित्र पदकृत्य-कथन-प्रणाली, उदाहरणों की अनुपम अनुरूपता। कहाँ तक कहा जाय। अस्तु, एक लक्षण लिख लेने के बाद 'यद्वा' कहकर दूसरा भी लक्षण किया गया है। लक्षण के बाद पहले प्राचीनों के हिसाब से शुद्ध, निश्चयगर्भ और निश्चयान्त इन तीन भेदों का उल्लेख करके उन भेदों के उदाहरण दिए गये हैं। उन उदाहरणों में वर्णित संशय में पिटारी में बन्द कटक-कुण्डलादि की तरह अलङ्कार-व्यवहार माना गया है, अर्थात् स्वयं-प्रधान वाक्यार्थरूप ये संशय उपस्कारकता के अभाव से केवल स्वरूपयोग्यता के कारण अलङ्कारपद से व्यवहृत होते हैं। सादृश्यमूलक संशय ही अलंकाररूप होता है, इस सिद्धान्त के समर्थन में प्रत्युदाहरणरूप से विचित्र हृदयग्राही तत्कालरचित वाक्य उपस्थित किया गया है। 'अद्भुत धैर्य, वीर्य और गाम्भीर्य से युक्त तथा एक क्षण के लिये भी प्राणप्रिया सीता को समीप से हटाने में अक्षम भगवान् रामचन्द्र को जो पहले देख चुका था, वह उनको दीन तथा प्रियाविरहकातर देखकर 'यह राम हैं अथवा नहीं' इस संशय में पड़ गया।' भाव माधुर्य तो इस व्याख्या से परख में आ गया, अब पदमाधुरी भी देखें—

> 'तं दृष्टवान् प्रथममद्भुतधैर्यवीर्य-गाम्भीर्यमक्षणविमुक्तसमीपजानिम्।
> वीक्ष्याथ दीनमबलाविरहव्यथार्तं रामो न वायमिति संशयमाप लोकः ॥' (पृ. ५६४).

कैसी सीधी-सादी पर कितना गहरा असर डालने वाली भाषा है। 'अबला' पद की ध्वनि कितनी मार्मिक है। अपने लिये भगवान् राम को उतना दुःख नहीं, जितना उस 'अबला' के लिये है। सन्देहालङ्कार आरोपमूलक होता है, पर विमर्शिनीकार उसको अध्यवसानमूलक भी मानते हैं, उदाहरण भी यथासाध्य उपयुक्त उपस्थित करते हैं। किन्तु पण्डितराज की कसौटी पर कसे जाने के बाद वह उदाहरण भी आरोपमूलक ही ठहरता है। संशयालङ्कार-निरूपण में अनेक बार भिन्न-भिन्न प्रसङ्ग पर दीक्षितमत की आलोचना की गई है और सभी आलोचनाओं का निष्कर्ष दीक्षित के विरुद्ध ही निकला है। अभिनव भेद भी बहुतेरे किए गए हैं। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन का स्मरण विशद रूप में और अत्यादर के साथ यहाँ किया गया है।

(१०) भ्रान्तिमान्

लक्षण-कथन के बाद सर्वप्रथम यह कहा गया है कि अलङ्कार का नाम वस्तुतः भ्रान्ति है भ्रान्तिमान् नहीं, भ्रान्तिमान् तो वह वाक्सन्दर्भ कहला सकता है, जिसमें यत्किञ्चित् भ्रान्ति का अनुवाद किया जाता है। इस अलङ्कार के मूल में भी सादृश्य का रहना पण्डितराज आवश्यक मानते हैं। भ्रमात्मक एक ही निश्चय को अलङ्कार सिद्ध करने के लिये पण्डितराज ने लक्षण में 'निश्चयः' ऐसा एकवचनान्त प्रयोग किया है ताकि भ्रान्तिसमूहात्मक उल्लेखालङ्कार

में भ्रान्ति-लक्षण-प्राप्ति का निरास हो। दीक्षितोक्त लक्षण का खण्डन करते समय उनके द्वारा उत्तरोत्तर भ्रान्ति के उदाहरणरूप में उद्धृत निम्न पद्य की आलोचना की गई है—

'शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुगं चुम्बितं चञ्चरीकैः,
तत्रासोल्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदष्टाः।
तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिताः काकलोकै-
रित्थं चोलेन्द्रसिंह त्वदरिमृगदृशां नाप्यरण्यं शरण्यम् ॥' (पृ. ५९७)

चोल-नरेश की यह स्तुति है। कवि कहता है—'राजन्! तुम्हारे शत्रुओं की कामिनियों के लिये अरण्य भी शरण-दायक नहीं हो सका, क्योंकि चञ्चरीकों ने उनके स्तनकलशयुगल को मञ्जरी-भ्रम से चूम लिया, उनके भय से उल्लसित ललित लीलाओं वाले करों को कीरों ने किसलय-भ्रान्ति से काट खाया, और उनके वारणार्थ अनाप-शनाप बकती हुई उन कामिनियों को कौओं ने कोकिल-कलरव-भ्रम से ताड़ना दी।'

कितना अच्छा पद्य है। पण्डितराज की आलोचना से पूर्व प्रायः इस पद्य में किसी को कोई दोष नहीं दिखलाई पड़ा था—दीक्षित जैसे मर्मज्ञ विद्वान् ने अपने ग्रन्थ में इस पद्य को आदर के साथ स्थान दिया। पर पण्डितराजीय आलोचना के बाद वही पद्य दोष का आकर बन गया। पण्डितराज इस पद्य को उद्धृत करके प्रकृत निबन्ध में लिखते हैं—

"तत्र विचार्यते स्तनकलशयुगे हि न तावन्मञ्जरीसादृश्यं कविसमयसिद्धम्, येन तन्मूला चञ्चरीकाणां भ्रान्तिरुपनिबध्येत। दोषान्तरमूला तु सा नालङ्कारः। अपि च धर्मिणि कलशरूपकानुवादेन मञ्जरीभ्रान्तिरूपमलङ्कारान्तरमुपनिबध्यमानमुद्वेजकमेव सहृदयानाम्। न हि सादृश्यमूलैकालङ्कारावच्छिन्ने सादृश्यमूलमलङ्कारान्तरं शोभते……। प्रत्युत कलशरूपकेण मञ्जरीसादृश्यतिरस्काराच्च। 'तत्रासोल्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदष्टाः' इत्यत्र विधेयाविमर्शाद्विधेयान्तरमाकाङ्क्षितम्। कीरैर्दष्टा इति तु भाव्यम्। जाता इत्यध्याहारेऽपि विवक्षितस्याविधेयत्वमविवक्षितस्य च विधेयत्वं प्रसज्येत। एवं 'तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिताः काकलोकैः' इत्यत्र न तावत्पिकनिनदा-स्ताडनयोग्याः काकानाम् येन तद्धिया आलपन्त्यस्तैस्ताड्येरन्। नापि पिकनिनदभ्रम आलपन्तीषु सम्भवति। सम्भवन् वा न सादृश्यमूलः। पिकनिकरधियेति तु भाव्यम्।… इत्यादि।" (पृ. ५९७)

अन्त में सर्वस्वकारकृत भ्रान्ति-लक्षण को भी पण्डितराज ने कुलक्षण सिद्ध कर दिया है।

(११) उल्लेख

लक्षण (तदीय पदकृत्य) कथन के बाद शुद्ध (अलङ्कारान्तर से अमिश्रित) उल्लेख का एक उदाहरण दिया गया है। ईदृशोदाहरण-दान-प्रयास उन आलङ्कारिकों के मुखमुद्रणार्थ किया गया है जो उल्लेखालङ्कार को नियमतः अलङ्कारान्तर से मिश्रित ही मानते हैं। इसके बाद संकीर्ण भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इसी प्रसङ्ग में दीक्षितमत का खण्डन किया गया है। दीक्षितजी ने अपह्नुतिसंकीर्ण उल्लेख में अतिव्याप्तिनिराकरणार्थ उल्लेखलक्षण में 'निषेधास्पृष्ट' विशेषण जोड़ने की जो बात कही है उसका खण्डन पण्डितराज ने यह कह कर किया है कि यदि संकीर्ण उल्लेख आपको

मान्य नहीं हो तब तो उक्त विशेषण से निर्वाह नहीं होगा क्योंकि भ्रान्ति आदि अन्य अलङ्कारों से संकीर्णतास्थल में अतिव्याप्ति रह ही जायगी। यदि उल्लेख के संकीर्णभेद भी आपके अभिमत हों तब उक्त विशेषण की आवश्यकता ही क्या है? अपह्नुतिसंकीर्ण उल्लेख मानने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसके बाद स्वरूपोल्लेख, फलोल्लेख आदि भेदों को मानकर उन भेदों के उदाहरण दिए गए हैं और एक भिन्न प्रकार के उल्लेख का लक्षण आदि प्रस्तुत किया गया है। अनन्तर द्विविध उल्लेखों में भेदक तत्त्वों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि एक प्रकार में ग्रान्तांश चमत्कारी रहता है और द्वितीय प्रकार में केवल प्रकारांश। इसके बाद एकरूपेण दोनों लक्षणों का अनुगम करने का प्रयास किया गया है। अन्त में उल्लेखध्वनियाँ उदाहृत हुई हैं।

(१२) अपह्नुति

सर्वप्रथम लक्षण किया गया है। तदुत्तर रूपक से इसमें भेद दिखलाते हुए कहा गया है कि अपह्नुति में उपमेयतावच्छेदक का निषेध किया जाता है जिससे उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक (उपमेय उपमान में रहने वाले खास-खास धर्मों) का विरोध अभिव्यक्त होता है और रूपक में वह विरोध निवृत्त हो जाता है, क्योंकि वहाँ उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक का सामानाधिकरण्य रहता है। इसके बाद अपह्नुति के सावयव-निरवयव आदि भेद उदाहरण द्वारा दिखलाये गए हैं। हेत्वपह्नुति भी उन्हीं उदाहरणों में कही गयी है। इसके अनन्तर यह स्पष्टीकरण किया गया है कि अपह्नुति में कहीं वाक्यभेद होता है और कहीं वाक्यैक्य। जहाँ नञ् आदि द्वारा साक्षात् अथवा परमतसिद्धता की चर्चा करके—अर्थात् दूसरे ऐसा कहते हैं, मैं ऐसा नहीं कहता, इस तरह से—उपमेय का निषेध होता है वहाँ वाक्यभेद हो जाता है, पर जहाँ मिष, छल आदि पदों द्वारा उपमेय का निषेध किया जाता है वहाँ वाक्य-भेद नहीं होता। इसके बाद इस बात की चर्चा की गई है कि अपह्नुति में कहीं पहले निषेध होता है बाद में आरोप, कहीं पहले आरोप ही कर लिया जाता है फिर निषेध, कहीं निषेध और आरोप दोनों शब्दतः कथित होते हैं, कहीं इन दोनों में से कोई एक ही शब्दतः उक्त होता है और कहीं दोनों के दोनों अनुक्त रहकर भी अर्थतः ज्ञात होते हैं। कहीं अपह्नुति विधेय होती है और कहीं अनुवाद्य। इस तरह अनेक प्रकार अपह्नुति के हो सकते हैं, पर इनमें सभी प्रकारों को अलङ्कार-कोटि में नहीं गिना जा सकता, क्योंकि सर्वत्र वैचित्र्य नहीं उपलब्ध होता और वैचित्र्य ही अलङ्कार है। अन्ततः सिद्ध यह हुआ कि जहाँ-जहाँ वैचित्र्य प्रतीत हो वहाँ-वहाँ अलङ्कारता मान्य होगी, अन्यत्र नहीं।

अपह्नुति-निरूपण में कुवलयानन्दकार दीक्षित के मत को बहुत विशद रूप में उद्धृत किया गया है और खण्डन भी उतने ही विस्तृत रूप में किया गया है, जिसका सारांश यह है कि दीक्षित के मत से अपह्नुति का एक पर्यस्तापह्नुति नाम का भी भेद होता है, जिसका उदाहरण **'नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्'** यह वाक्य है, पर पण्डितराज के विचार से यह भेद अपह्नुति का नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ अपह्नुतिसामान्यलक्षण की संगति नहीं होती अतः उक्त वाक्य को दृढारोप रूपक का ही उदाहरण मानना चाहिये। अपह्नुतिध्वनि के दीक्षितोक्त उदाहरण का भी खण्डन किया गया है।

(१३) उत्प्रेक्षा

प्रस्तुत निबन्ध में उत्प्रेक्षा-निरूपण भी अति विस्तृतरूप से किया गया है। प्रायः सभी आलङ्कारिक उत्प्रेक्षालङ्कार के मूलतः दो भेद मानते हैं, एक धर्म्युत्प्रेक्षा और दूसरा धर्मोत्प्रेक्षा। पर इसके आगे आलङ्कारिकों में दो मत हो जाते हैं अथवा यह समझिए कि पण्डितराज ही मतभेद उत्पन्न करते हैं, क्योंकि इनसे पूर्व के अतिप्राचीन तथा मध्यकालीन आचार्य इस अंश में प्रायः एकमत ही थे। मतभेद का विषय यह है कि—प्राचीन एकधर्मी में दूसरे धर्मी की संभावना को धर्म्युत्प्रेक्षा कहते हैं और एक धर्म में दूसरे धर्म की संभावना को धर्मोत्प्रेक्षा, फलतः उनके विचार से दोनों ही स्थलों पर संबन्ध तादात्म्य ही होता है और पण्डितराज धर्म्युत्प्रेक्षा के संबन्ध में उक्त प्राचीनों के कथन से सहमत होते हुए भी धर्मोत्प्रेक्षा के संबंध में भिन्न मत रखते हैं। उनका कथन है कि धर्मोत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ एक धर्मी में अन्य धर्मिगत धर्म की संभावना की गई होती है। फलतः पण्डितराज के मत से दोनों स्थलों पर संबन्ध दो हो जाते हैं—अर्थात् प्रथमस्थल में ठीक तादात्म्यसंबन्ध होता है पर द्वितीय स्थल में तादात्म्य नहीं, अपितु तदितर समवायादि-संबन्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि पण्डितराज के मत में उत्प्रेक्षा का लक्षण दो प्रकार का होगा—एक तादात्म्यसंबन्धघटित-अर्थात् भेदघटित और दूसरा संबन्धान्तरघटित अर्थात् अत्यन्ताभावघटित। इन दोनों प्रकार के लक्षणों का उल्लेख पण्डितराज ने एक ही वाक्य द्वारा आरम्भ में किया है। लक्षण में प्रविष्ट पदों के फल बड़े सुन्दर ढङ्ग से दिखलाए गए हैं। इसके बाद उत्प्रेक्षा के प्रधान दो भेदों (वाच्य, प्रतीयमान) की व्यवस्था की गई है। प्राचीनों ने भी यह व्यवस्था ठीक इसी रूप में दी है। पर इन दोनों भेदों की स्थिति कब कैसे होती है इसका स्पष्टीकरण पण्डितराज जैसा प्राचीनों ने नहीं किया। पण्डितराज का स्पष्टीकरण इस विषय में यह है कि, **इव, नूनम्, मन्ये, जाने, अवैमि, ऊहे, तर्कयामि, शङ्के, उत्प्रेक्षे** इत्यादि वाचक पद हों और उत्प्रेक्षा की सामग्री (रमणीय संभाव्यधर्म संबन्धादिरूप) भी, तब वाच्या, और उक्त वाचक पदों के अभाव में उक्त सामग्री के रहने पर प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है।

जहाँ सामग्री के अभाव में केवल वाचक पद हों वहाँ सम्भावना मात्र है उत्प्रेक्षा नहीं—अर्थात् अलङ्काररूप नहीं। फिर स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा नाम से उक्त दोनों भेदों के तीन-तीन भेद किए गए हैं। प्राचीनों ने भी ये भेद किए हैं। पर प्राचीनों ने इन तीनों ही भेदों के और बहुत से भेद किए हैं। जैसे—जाति की जाति में, गुण की गुण में, क्रिया की क्रिया में और द्रव्य की द्रव्य में उत्प्रेक्षा, और वह भी कहीं जाति को निमित्त बनाकर, कहीं गुण को निमित्त बनाकर, कहीं क्रिया को निमित्त मानकर और कहीं द्रव्य को निमित्त ठहरा कर, उसमें भी कहीं एक को निमित्त मानकर, कहीं अनेक को, इत्यादि। इन भेदों का वर्णन यद्यपि पण्डितराज ने भी सङ्गोपाङ्ग (उदाहरणादिसहित) किया है, पर अन्त में लिख दिया है कि प्राचीनों के अनुरोध से ये सब भेद उदाहृत हुए हैं। वस्तुतः इन सभी भेदों में अनुभूत होने वाले चमत्कारों में कोई परस्पर विलक्षणता अनुभूत नहीं होती, अतः ये सब भेद उदाहरणीय नहीं हैं। हाँ, हेतु, फल और स्वरूप की उत्प्रेक्षाओं में विलक्षण-विलक्षण चमत्कार अवश्य अनुभूत होता है, अतः वे भेद उदाहरण के योग्य हैं।

इसके बाद पूर्वोक्त प्राचीन-नवीन के मतभेदों की बात विशद रूप में कही गई है। इसी के मध्य में प्रसङ्गवश व्याकरणशास्त्रीय विवाद (आख्यात क्या है ? उसका अर्थ क्या है ? शाब्दबोध में प्रधानता किसकी होती है ? **'भावप्रधानमाख्यातम्, सत्त्वप्रधानानि नामानि'** इत्यादि वाक्यों के क्या तात्पर्य हैं ? इत्यादि) उठाया गया है। इसी क्रम में दीक्षितोक्ति का भी खण्डन किया गया है। अलङ्कारसर्वस्वकारकृत उत्प्रेक्षाविचार की समीक्षा भी की गई है। अन्त में अपना विशिष्ट मत दिखलाया गया है। अपना मत लिख लेने के बाद **'इत्यलं स्वगोत्रकलहेन'** कहकर इस प्रसङ्ग को समाप्त किया गया है। इसके अनन्तर उत्प्रेक्षा-लक्षण-निविष्ट धर्म का विश्लेषण अपने ढङ्ग से अतिसुन्दर किया गया है जिसमें कहा गया है कि धर्म कोई स्वतःसाधारण (उपमानोपमेयोभयवृत्ती) होता है और कोई उपाय द्वारा साधारण बनाया जाता है। साधारण बनाने के उपाय स्थलभेद से रूपक, श्लेष, अपह्नुति, बिम्बप्रतिबिम्बभाव, उपचार और अभेदाध्यवसाय ही सकते हैं। इन सभी उपायों का स्पष्टीकरण उदाहरण द्वारा किया गया है।

काव्यात्मा

अब यद्यपि इस द्वितीयानन के उत्प्रेक्षालङ्कारान्त द्वितीय भाग के प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन समाप्त है और इसके साथ ही प्रस्तुत प्रस्तावना की भी समाप्ति होनी चाहिए। पर आरम्भभाग में कृत प्रतिज्ञा के अनुसार एक अति आवश्यक अथ च व्यापक विषय (जो इस ग्रन्थ में प्रातिस्विकरूपेण विवेचित नहीं हो सका है) का विवेचन अवशिष्ट रह गया है। वह विषय है काव्यात्मा।

काव्याङ्गभूत अनेक तत्त्वों में वह कौन-सा तत्त्व है जो सबसे प्रधान है—जिसे आत्म-पद प्रदान किया जाय—जिसके बिना काव्यत्व सत्तारूढ़ नहीं हो सके, इस प्रश्न का समाधान देना अलङ्कारशास्त्रियों के लिये परमावश्यक था। पर इस प्रश्न का समाधान देने में अलङ्कारशास्त्रप्रवर्तक आचार्य एकमत नहीं हो सके। यह ऐकमत्य का अभाव कुछ तो क्रमिक विकासवाद-सिद्धान्त की सत्यता के कारण हुआ है, कुछ दृष्टिकोणभेद के कारण भी। अस्तु उक्त प्रश्न का सबसे प्राचीन समाधान 'रस' शब्द से किया गया है—यह सर्वसम्मत कथा है, क्योंकि आज परिचित अलंकारशास्त्रियों में भरत अथवा अग्निपुराणकार ही सर्वपुरातन आचार्य हैं। जो रसवादी हैं, वे काव्य में सबसे मुख्य तत्त्व 'रस' को मानते हैं, अतः उनके हिसाब से 'रस' ही काव्य की आत्मा ठहरता है। यद्यपि अग्निपुराण की इतनी प्राचीनता विवादग्रस्त है, तथापि भरतकृत नाट्यशास्त्र की परम प्राचीनता सकलालोचक-स्वीकृत-वस्तु है। दूसरा उत्तर उक्त प्रश्न का 'अलंकार' शब्द से किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि भरत के बाद सबसे पहले आचार्य भामह का ही नाम हम इतिहास में पाते हैं जो अलङ्कारवादी हैं। भामह अलङ्कार को ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रधान काव्यतत्त्व अङ्गीकार करते हैं।

यद्यपि यह कुछ विचित्र सा लगता है कि 'रस' जैसे सूक्ष्मतत्त्व पर पहुँच कर फिर 'अलंकार' जैसे स्थूल तत्त्व पर कैसे साहित्यसंसार लौट आया, पर मनन करने पर यह विचित्रता उतनी आश्चर्यजनक नहीं रह जाती क्योंकि प्राचीन रससिद्धान्त नाट्य तक सीमित सा था, भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाट्य का ही विचार किया है, करना अभीष्ट भी था, जो 'नाट्यशास्त्र' इस

नाम से भी सूचित होता है। श्रव्यकाव्य की चर्चा भी भरत ने नहीं की है। ऐसा लगता है जैसे उस समय तक श्रव्यकाव्य की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। यद्यपि राजशेखर ने जो अपनी 'काव्य-मीमांसा' में साहित्यशास्त्र के विकास का इतिहास दिया है, उससे ऐसा प्रतीत अवश्य होता है कि भरत से पूर्व भी अथवा उनके समकाल में ही नाट्यातिरिक्त काव्यों के निर्माता भी हो गए थे, श्रव्यकाव्यादि भेदों से लोगों का परिचय हो चुका था, पर आज उनके बनाए ग्रन्थ उपलब्ध नहीं, नाम भी उन आचार्यों के डूब से गए, राजशेखर से अन्य ग्रन्थकार उनका स्मरण भी प्रायः नहीं करते।

भरत के बाद कई शताब्दियों तक का इतिहास अन्धकारपूर्ण है। उनके बाद के सर्वप्रथम आचार्य भामह उनसे अनेक शताब्दियों का अन्तराल रखते हैं। ऐसा लगता है कि बीच में किसी अज्ञात कारणवश भरत के द्वारा आरब्ध आलोचनापद्धति की परम्परा नष्ट हो गई हो। अतः भामह के युग में प्रायः रस का संबन्ध नाट्य के साथ ही मान लिया गया। नए सिरे से श्रव्यकाव्य को माध्यम बनाकर आलोचना शुरू हुई। श्रव्य-काव्य को नाट्य से सर्वथा पृथक् वस्तु समझा गया और श्रव्यकाव्य में शब्दार्थ की ओर—उसकी विलक्षणताओं की ओर—अधिक ध्यान दिया गया। यह कुछ अंश में उचित भी था, क्योंकि दृश्यकाव्यों के दर्शक अब श्रव्य-काव्य के पाठक बन गए थे। दृश्यकाव्य में जहाँ सहृदय नेत्रों के द्वारा आनन्दजनक सामग्री को प्राप्त करते थे वहाँ श्रव्य-काव्य में वे कानों के द्वारा उक्त सामग्री को प्राप्त करने लगे। फलतः शब्द-अर्थ की ओर आकृष्ट आलोचक भी शब्दार्थधर्म अलंकार को काव्य में मुख्य तत्त्व मानने लगे। अतः उस युग में 'अलंकार' काव्यात्म पद पर आसीन हुआ।

इतनी बात कही जा सकती है कि इस युग में प्रायः काव्य पद से श्रव्यकाव्य ही अभीप्सित रहता था। अभिप्राय यह कि काव्य-पद प्रवृत्ति-निमित्त 'श्रव्य' तक ही सीमित हो गया था। उनका दृष्टिकोण प्रायः यह था कि कविकृतित्व की प्रधानता 'श्रव्य' में ही है, दृश्य में तो अभिनेतृ-कृतित्व की प्रधानता है। दृश्य को प्रायः काव्य समझा ही नहीं जाता था, उसको नाट्य समझा जाता था जो नट से संबन्ध जोड़े हुए है। श्रव्य अवश्य ही काव्य है और कवि से संबन्ध जोड़े हुए है। इस युग के व्यापक प्रभाव के कारण ही आज तक 'नाट्य-काव्य' ऐसा दो समानान्तर तत्त्वों के लिये प्रयोग किया जाता है। फलतः अलंकारशास्त्र का प्रथम अध्याय भामह से ही आरम्भ होता है, उससे पूर्व नाट्यशास्त्र था। अलंकारसर्वस्वकार ने भी अलंकारशास्त्रीय सिद्धान्त-विकास की समीक्षा भामह के अलंकारप्राधान्य-परक युग से ही शुरू किया है।

अलंकारतत्त्व की प्रधानता इस युग में किस हद तक मानी गई इसका स्पष्ट आभास हमें परवर्ती अलंकारसम्प्रदायानुयायी आचार्य चन्द्रालोककार जयदेव की उस उक्ति से मिलता है जिसमें उन्होंने कहा है कि 'जो अलंकाररहित शब्द-अर्थ को काव्य मानने के पक्षपाती हैं वे विद्वज्जन अनुष्ण पदार्थ को अग्नि क्यों नहीं मानते[1] ?' भला अग्नि की उष्णता के समान अलंकारात्मक-काव्यतत्त्व के सामने अन्य किस काव्यतत्त्व को आत्म-पद दिया जा सकता था?

---

१. 'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

अलंकारतत्त्व को काव्यात्मा माननेवाले प्रधान आचार्य भामह, उद्भट, रुद्रट, जयदेव आदि हैं। इन्हें रसतत्त्व भी अपरिचित नहीं था, होता भी कैसे, जब कि इनसे पूर्व भरत का रसवाद पूर्ण प्रचार प्राप्त कर चुका था, पर उस रसतत्त्व को भी ये लोग अलंकारतत्त्व के अन्दर ही काव्यक्षेत्र में समाविष्ट समझते थे। रसवदादि अलंकार इसी युग में कल्पित हुए हैं। प्रतीयमान अर्थ—जिसका विश्लेषण बहुत बाद में आनन्दवर्धन ने व्यापक रूप से किया—का भी पता अलंकारप्राधान्यवादी आचार्यों को अवश्य था, क्योंकि प्रतीयमान अर्थ के आधार पर ही समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रसंशा आदि अलंकारों की कल्पना की गई है। अलंकारयुग का महत्त्व इस शास्त्र के इतिहास में सर्वाधिक है, क्योंकि अलंकारों के गम्भीर मनन-चिन्तन से ही परवर्ती ध्वनि-युग, वक्रोक्तियुग आदि का आविर्भाव संभव हो सका है। काव्यक्षेत्र में स्वतन्त्र रसयुग का उदय भी अलंकारयुग के मथन का ही परिणाम है। इस युग का प्रभाव बाद के युग में अवतीर्ण होने वाले आचार्यों पर इतना गहरा पड़ा कि कि प्रधानता काव्य में अलंकारेतर तत्त्व की मानकर भी ये लोग अलंकारतत्त्व के निरूपण में अलंकारप्राधान्यवादियों से भी आगे बढ़ गए। यद्यपि 'अलंकार काव्य की आत्मा है' ऐसा कहीं स्पष्ट शब्दों में लिखा हुआ नहीं उपलब्ध होता, पर उसकी सर्वाधिक महत्ता मानने का ही अर्थ हो जाता है कि उस युग में अलंकार ही काव्यात्मभूत तत्त्व माना जाता था।

इसके बाद उक्त प्रश्न का समाधान 'रीति' शब्द से किया गया—अर्थात् वामन ने रीति को काव्य में सर्वातिशायी तत्त्व स्वीकार किया, अतः उन्होंने घोषणा की—**'रीतिरात्मा काव्यस्य'** और रीति है विशिष्ट रचना। रचना में यह विशिष्टता गुणों के कारण उत्पन्न होती है। रीति गुणों के ऊपर अवलंबित रहती है। इसलिये 'रीतिमत' 'गुणसंप्रदाय' के नाम से पुकारा जाता है। रीतियों के स्पष्ट विभाजन का श्रेय आचार्य दण्डी को है। गुण और अलंकार के भेद को वामन ने पहली बार स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। वामन का कथन है कि काव्य-शोभा के करनेवाले धर्म गुण हैं और उसके अतिशय करनेवाले धर्म अलंकार हैं। रीति-काव्यात्मतावादी आचार्य वामन भी रसतत्त्व किंवा ध्वनितत्त्व से अपरिचित नहीं थे, अपितु अलंकारकाव्यात्मता-वादी आचार्यों की अपेक्षा, उनका परिचय उन तत्त्वों से गहरा ही था, क्योंकि अलंकारप्राधान्य-वादियों ने रस को अलंकार मानकर उसे काव्य का बहिरङ्ग साधन ही स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने कान्तिनामक गुण के अन्दर रस का अन्तर्भाव मान कर काव्य में रस की महत्ता पर अधिक ध्यान दिया है। ध्वनितत्त्व का अन्तर्भाव वामन ने सादृश्यमूलक लक्षणा से अभिन्न वक्रोक्ति में किया है। पर काव्य की आत्मा उन्होंने रीति को ही माना। उनका दृष्टिकोण प्रायः यह था कि विशिष्ट ढङ्ग से पदों की योजना करने से ही काव्य में चमत्कार उत्पन्न होता है।

इसके अनन्तर उक्त प्रश्न का उत्तर अलङ्कारजगत् में युगान्तरकार आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' शब्द से दिया। अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन का नाम सदा अजर-अमर रहेगा। व्याकरणशास्त्र में जो स्थान पाणिनि को प्राप्त है तथा अद्वैत वेदान्त में जो स्थान शंकराचार्य को मिला है, अलङ्कारशास्त्र में वही स्थान आनन्दवर्धन का है। आलोचनाशास्त्र को एक नवीन दिशा में ले जाने का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। पण्डितराज जगन्नाथ का यह कथन

यथार्थ है कि—ध्वन्यालोककार (आनन्दवर्धन) ने आलङ्कारिकों का मार्ग सदा के लिये व्यवस्थित कर दिया। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' वस्तुतः युगान्तरकारी ग्रंथ है।

आनन्दवर्धन ने प्राक्तन आचार्यों के द्वारा उद्भावित अलङ्कारतत्त्व के गम्भीर चिन्तन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि काव्य में शरीरस्थानीय शब्द-अर्थ दोनों ही गौण हैं, उनके धर्म अलङ्कार आदि भी गौण हैं। मुख्य तो हैं प्रतीयमान अर्थ, क्योंकि उन्हीं अर्थों के ज्ञान से सहृदयों को आनन्दविशेष प्राप्त होता है, अतः इन्होंने स्थिर किया कि **'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'** अर्थात् ध्वनि (प्रतीयमान अर्थ) ही काव्य की आत्मा है। प्रतीयमान अर्थ के प्रधानतः उन्होंने तीन भेद किए—रस आदि, वस्तु और अलङ्कार। इन तीनों में यद्यपि रस आदि की मुख्यता ध्वनिकार को भी अभिमत है, पर ऐसी बात नहीं है कि वे रस आदि के रहने पर ही काव्यता स्वीकार करते हों, चमत्कारी वस्तुव्यङ्ग्य तथा अलङ्कारव्यङ्ग्य के रहने पर भी काव्यत्व उन्हें मान्य है, अतः सामान्यतः ध्वनि (त्रिविध व्यङ्ग्य) ही उनके मत से काव्य की आत्मा है, रसादि ध्वनिमात्र नहीं। इसी युग में दृश्य तथा श्रव्य दोनों को स्पष्टरूप से काव्यात्मक एक तरु की दो शाखायें माना गया और दोनों ही शाखाओं में काव्यत्वनियामक तत्त्व एक ही प्रतीयमान को माना गया और उसी आत्मभूत तत्त्व के पोषक अन्य अलङ्कार गुण, रीति आदि काव्यतत्त्वों को स्थिर किया गया। इस मत के अनुयायी सबसे अधिक हैं। मम्मट आदि प्रसिद्ध आचार्य इसी मत के समर्थक हैं।

इसके बाद आचार्य कुन्तक ने उक्त प्रश्न का उत्तर 'वक्रोक्ति' शब्द से दिया—अर्थात् उन्होंने कहा—**'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्** (वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है)' और वक्रोक्ति का लक्षण उन्होंने किया **'वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः वक्रोक्तिः'**—अर्थात् किसी वस्तु का साधारण लौकिक प्रकार से भिन्न, अलौकिक ढङ्ग से कथन। यह मत आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिक्रियारूप में उत्पन्न हुआ। अभिप्राय यह कि—अलङ्कारसिद्धान्त पर मुग्ध कुन्तक के हृदय में ध्वनिसिद्धान्त की जानकारी होने पर बड़ी झुँझलाहट पैदा हुई। उन्होंने सोचा कि—क्या अलङ्कारसिद्धान्त में कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो ध्वनि के समकक्ष होकर खड़ा हो सके? आखिर उन्होंने ध्वनि के समकक्ष तत्त्व वक्रोक्ति को खोज निकाला। इस खोज में उन्हें प्राक्तन अलङ्कार-वादी आचार्यों के विभिन्न विचारों से प्रभूत प्रेरणा प्राप्त हुई।

वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीनकाल से संस्कृत वाङ्मय में चला आ रहा है और यह शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में इस पद का प्रयोग अनेक बार किया है। उन्होंने चन्द्रापीड की राजधानी का वर्णन करते हुए वहाँ के विलासीजनों को वक्रोक्तिनिपुण बतलाया है—**'वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन।'** अन्यत्र शुक के द्वारा शारिका के लिये कहा गया है—**'एषापि बुध्यत एव एतावतीः वक्रोक्तीः।'** यहाँ वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग क्रीडा-कलाप अथवा परिहास-कथा के अर्थ में किया गया है। अमरुशतक में भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में दीख पड़ता है। 'वक्रोक्ति' का अर्थ ही है वक्र उक्ति—अर्थात् टेढ़ा कथन। प्राचीनकाल से आलङ्कारिकों ने काव्य में किसी अतिशय कथन की सत्ता मानी है। साधारण बोलचाल में शब्दों का जिन अर्थों में व्यवहार होता है क्या उन्हीं अर्थों को लेकर कमनीय काव्य की रचना हो सकती है? कदापि नहीं। इसके लिये किसी न किसी प्रकार

की विचित्र उक्ति की आवश्यकता होती है। काव्य में व्यापार की ही तो प्रधानता रहती है। साधारण लोगों के कथन-प्रकार से भिन्न तथा अधिक चमत्कृत कथन-प्रकार वक्रोक्ति के नाम से अभिहित होता है। अलङ्कारजगत् में वक्रोक्ति की कल्पना भामह से आरम्भ होती है। भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का ही नामान्तर मानते हैं और इसे काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका यह श्लोक प्रसिद्ध ही है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

(भामह-काव्यालङ्कार)

अभिनवगुप्त ने भामह के 'वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।' इस पद्य को उद्धृत करके वक्रोक्ति का लक्षण यह दिया है—'शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता, लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्' (लोचन)। शब्द तथा अर्थ की वक्रता क्या है? इनकी लोकोत्तर रूप से स्थिति। भावार्थ यह है कि लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप से होता है उस रूप में न हो कर उससे विलक्षण रूप में होना वक्रोक्ति कहलाता है। जैसे 'वह मर गया' ऐसा न कह कर 'वह कीर्तिशेष हो गया' कहना वक्रोक्ति के भीतर आता है।

आचार्य दण्डी ने समग्र वाङ्मय को दो भागों में बाँटा है—(१) स्वभावोक्ति तथा (२) वक्रोक्ति। स्वभावोक्ति के भीतर उन स्थानों का अन्तर्भाव किया जाता है जिनमें वस्तुओं का यथार्थ कथन विद्यमान हो। स्वभावोक्ति ही 'काव्यादर्श' में जाति नामक आद्य अलङ्कार के रूप में गृहीत हुई है। स्वभावकथन से भिन्न होने के कारण वक्रोक्ति में 'अतिशय-कथन' का समावेश किया गया है। इस प्रकार उपमा आदि अर्थालङ्कार तथा रसवत्, प्रेय आदि रससम्बद्ध अलङ्कार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति-कल्पना को स्वीकार किया है। भामह में वक्रोक्ति सब अलङ्कारों की मूल थी। परन्तु दण्डी ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति के क्षेत्र से पृथक् कर दिया है क्योंकि इस अलङ्कार के लिये वे अतिशय कथन को आवश्यक नहीं मानते।

वामन में भी वक्रोक्ति का वर्णन है परन्तु उसका रूप भामह-प्रदर्शित वक्रोक्ति से सर्वथा भिन्न है। जहाँ भामह ने वक्रोक्ति को अलङ्कारों का सामान्य मूलभूत आधार माना था, वहाँ वामन उसे अर्थालङ्कारों में परिगणित करते हैं। वक्रोक्ति उनकी दृष्टि से सादृश्य के ऊपर आश्रित होने वाली लक्षणा ही है।

रुद्रट के समय में आकर वक्रोक्ति एक शब्दालंकार बन जाता है। परन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति इन सबसे विलक्षण है। कुन्तक ने उक्त विचारों से प्रेरणा ग्रहण करके भी अपनी मौलिक प्रतिभा से वक्रोक्ति के स्वरूप को अतिव्यापक बना दिया। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार किया। वक्रोक्ति को काव्य का जीवन—आत्मा—मानने के कारण ही कुन्तक का ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' कहलाता है। कुन्तक बड़े ही प्रौढ़ तथा मार्मिक आलोचक थे। उनकी मौलिकता के कारण यदि उन्हें आनन्दवर्धन के समकक्ष माना जाय तो अनुचित नहीं होगा। वे रस ध्वनि आदि समस्त उपादेय तत्त्वों का समावेश वक्रोक्ति में ही करते हैं। प्रधानतया वक्रोक्ति के छै भेद—१. वर्ण-वक्रता, २. पदपूर्वार्धवक्रता, ३. पदोत्तरार्धवक्रता, ४. वाक्यवक्रता, ५. प्रकरणवक्रता और

६. प्रबन्धवक्रता नाम से उन्होंने किए हैं। इन भेदों के अवान्तर भेद भी बहुत हैं। उपचार-वक्रता नामक भेद में ध्वनि के प्रचुर भेदों को गतार्थ किया गया है। खेद है कि इस मत के अनुयायी बाद के आचार्य नहीं हुए और इस सिद्धान्त को किसी ने अग्रसर नहीं किया। साहित्य-दर्पण आदि में जो **'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'** का खण्डन किया गया वह सर्वथा वक्रोक्तिजीवित-कार के अभिप्राय को नहीं समझ कर। ऐसा लगता है कि जैसे 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ को खण्डनकर्ताओं ने नहीं देखा, केवल **'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'** इस एक पङ्क्ति को कहीं से सुन लिया और वक्रोक्ति का स्वरूप वही समझ लिया जो रुद्रट ने लिखा था।

इसके अनन्तर आलङ्कारिक समय ने पलटा खाया और साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ आदि आचार्यों ने असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहे जाने वाले रस, भाव आदि को काव्य की आत्मा कहना आरम्भ किया। इस मत के प्रवर्तक आचार्यों में सबसे प्रधान लोचनकार अभिनवगुप्त हैं। अभिनव-गुप्त आलङ्कारिक होने के साथ बहुत बड़े दार्शनिक भी थे। 'शैवागम' के प्रधान ग्रन्थकार आप ही हैं। आधुनिक रसवाद पर शैवागम का प्रभाव आपके सम्बन्ध से ही विद्वज्जन मानते हैं। आप भरतकृत नाट्यशास्त्र के ऊपर एक मात्र उपलब्ध टीका अभिनव भारती के रचयिता हैं। अतः भरत के रसवाद का ग्रहण आपने सर्वात्मना किया है। इतना कहा जा सकता है कि भरत के समय में प्रायः 'रस' शब्द का अर्थ शृङ्गार, वीर आदि नवविध रस ही था, पर अभिनवगुप्त के आलोचनाकाल में 'रस्यते = आस्वाद्यते' इस व्युत्पत्ति के बल पर उसका अर्थ समस्त असंलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य हो गया जिसको मानकर विश्वनाथ आदि ने **'रसात्मकं वाक्यम् काव्यम्'** यह काव्यलक्षण प्रस्तुत किया।

यहाँ आकर अग्निपुराणकार से भी एकवाक्यता हो गई, क्योंकि उन्होंने भी **'वाग्वैदग्ध्य-प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्'** कहा है। ध्वनिविरोधी आचार्य महिमभट्ट ने भी इसी मत में अपनी आस्था प्रकट की है, क्योंकि उनका भी **'काव्यस्यात्मनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः'** ऐसा कथन है। यह बात दूसरी है कि उन्होंने रसबोध के लिए व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं मानी और अनुमान से रस का बोध माना। इस सिद्धान्त के अनुयायियों का तर्क है कि वस्तु, अलङ्कार आदि त्रिविध व्यङ्ग्यों के रहने पर भी रसानुभव का भूखा सहृदयों का हृदय रसानु-भव से ही सन्तुष्ट हो पाता है। रस आनन्दरूप है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। जो वस्तु संसार में भय, शोक आदि की भी उत्पन्न करती है अथवा क्रोध का कारण बनती है वह भी काव्य में वर्णित होते ही अलौकिक रूप धारण कर लेती है और इसीलिये वह आनन्द का उद्बोधन करती है।

साहित्य में रस मत की महत्ता अवश्य है। लौकिक संस्कृत का प्रथम पद्य, जो क्रौञ्चवध से समाहित महर्षि वाल्मीकि के मुख से उद्गत हुआ था, रसमय ही था। इस सिद्धान्त का मूलभूत सूत्र है—**'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र छोटा-सा प्रतीत होने पर भी परमसारगर्भित है। भरत ने इस सूत्र पर जो भाष्य लिखा है वह बड़ा ही सरल तथा सुबोध है। परन्तु पीछे के टीकाकारों ने इस सीधे तथा सरल सूत्र की व्याख्या करने में अपना सारा बुद्धि-वैभव खर्च कर दिया है। किसी कमनीय काव्य के पढ़ने से तथा रमणीय नाट्य

के देखने से चित्त में जो अलौकिक आनन्द हुआ करता है वही रस है। इसकी व्यवस्था करने में भरत के टीकाकारों ने अपनी विशिष्ट दृष्टि से इसका विभिन्न प्रकार से अर्थ किया है। वैसे तो पण्डितराज ने रस के विषय में ग्यारह मतों का उल्लेख करके उनमें से आठ मतों में उक्त सूत्र को संघटित किया है, पर इस विषय में चार मत अतीव सुप्रसिद्ध हैं। इन मतों के व्यवस्थापक आलङ्कारिकों के नाम ये हैं—(१) भट्ट लोल्लट, (२) भट्ट शङ्कुक, (३) भट्ट नायक तथा (४) अभिनवगुप्ताचार्य। इनके मतों का सारांश-सङ्कलन पूर्वभाग की भूमिका में किया जा चुका है। यहाँ इतना भर कहना है कि—भट्टनायक का मत विलक्षण है और विलक्षणता यह है कि इन्होंने रसबोध के लिये व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं मानी, और काव्य में व्यापारों की प्रधानता स्वीकार की। इनके मत से अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व इन तीन व्यापारों की सहायता से रस ज्ञात होता है। भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के बल पर नाट्य में अभिनीत व्यक्ति अपने ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत निर्देश को छोड़ कर सामान्य पुरुषरूप में ही गृहीत होता है। इस साधारणीकरण की चर्चा अभिनवगुप्त के मत में भी की गई है और यह तथ्य भी है कि रसानुभव से पूर्वक्षण में विभाव, अनुभाव आदि सभी पदार्थों का अनुभव सामान्य रूप से ही होता है, व्यक्तिविशेष के सम्बन्धीरूप में नहीं। इस तरह सामान्यरूप से गृहीत विभावादिकों से ही रस की अभिव्यञ्जना होती है।

ललित वस्तुओं के गुणग्रहण के अवसर पर प्रत्येक पदार्थ साधारणरूप से ही तथा संबन्ध-रहित होकर ही स्वीकृत होता है। किसी वाटिका में लगे हुए गुलाब के फूल की शोभा देखते हुए जब आपका चित्त आह्लादित होता है तब उसके प्रति कैसी भावना होती है, उसे यदि आप अपना समझते तो उसे तोड़ने के लिये आगे बढ़ते, शत्रु का समझते तो उससे द्वेष उत्पन्न होता, यदि किसी तटस्थ व्यक्ति का समझते तो उससे विरक्ति उत्पन्न होती। फलतः यह गुलाब का सुन्दर फूल न तो आपका है, न तो आपके शत्रु का है, और न किसी उदासीन का है[1]।

इस विषय में संबन्ध के ग्रहण तथा परित्याग की कोई बात ही नहीं उठती। गुलाब एक सुन्दर फूल है। वह सुन्दर वस्तु का प्रतिनिधि है। ललितकला के विषय में साधारणीकरण का यही भाव सर्वत्र जागरूक रहता है। रसमीमांसा के अवसर पर भी इस सामान्य नियम का प्रयोग भट्टनायक और अभिनवगुप्त दोनों आचार्यों ने किया है। पर अभिनवगुप्त जहाँ रस पदार्थ की प्रधानता स्वीकार कर उसको काव्य की आत्मा कहते हैं, वहाँ भट्टनायक पदार्थ की नहीं, अपितु उसको समझाने वाले व्यापार की प्रधानता मानते हैं, और वही है उनका तीसरा व्यापार भोजकत्व अथवा भोग किंवा भुक्ति। इस तरह यद्यपि भट्टनायक के मत से यह भोग-व्यापार ही काव्य का आत्मा है तथापि इस मत को रसमत में ही अन्तर्भूत समझना चाहिए। इस तरह काव्यात्मा के विषय में निम्नलिखित छै मत पर्यवसित होते हैं—

(१) अलङ्कार काव्य की आत्मा है। (भामह, उद्भट, रुद्रट आदि)

(२) रीति काव्य की आत्मा है। (वामन)

(३) ध्वनि = त्रिविध (वस्तु अलङ्कार रसादि) व्यङ्ग्य काव्य की आत्मा है।

(आनन्दवर्धन–आदि)

१—परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥ (साहित्यदर्पण)

(४) वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है। (कुन्तक)

(५) रस (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) काव्य की आत्मा है। (अभिनवगुप्त विश्वनाथ आदि)

(६) भोग काव्य की आत्मा है। (भट्टनायक)

काव्यात्मतत्त्व के विषय में मतभेद होने के कारण ही अलङ्कारशास्त्र में सम्प्रदायों की सृष्टि हुई। वे सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं—

(१) अलङ्कारसम्प्रदाय।

(२) गुण अथवा रीति-सम्प्रदाय।

(३) वक्रोक्तिसम्प्रदाय।

(४) ध्वनिसम्प्रदाय।

(५) रससम्प्रदाय (भट्टनायक के भोगवाद को इसी में अन्तर्भूत समझना चाहिए)

इस विषय का स्पष्टीकरण अलङ्कारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने बड़े अच्छे ढङ्ग से किया है। उनका कथन है कि—विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से संभव हो सकती है—

(१) धर्म से, (२) व्यापार से, (३) व्यङ्ग्य से।

धर्म दो प्रकार के होते हैं—नित्य और अनित्य। अनित्य धर्म की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नहीं रहती जितनी नित्य धर्म की। अनित्य धर्म है अलङ्कार और नित्य धर्म का नाम है गुण। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने वाले दो संप्रदाय हुए—(१) अलङ्कार-संप्रदाय (२) गुण या रीतिसंप्रदाय। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—भणिति-वैचित्र्य (वक्रोक्ति) तथा भोगकृत्त्व। इस प्रकार व्यापारमूलक वैशिष्ट्यप्रतिपादक भी दो संप्रदाय होने चाहिएँ—(१) वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और (२) भोगसंप्रदाय। पर भोगसंप्रदाय स्वतन्त्र नहीं हो सका, क्योंकि आखिर भट्टनायक ने रस की निष्पत्ति समझाने के लिये ही इस व्यापार की कल्पना की थी, अतः यह रस संप्रदाय के ही अन्दर समाविष्ट समझा जाता है। यद्यपि समुद्रबन्ध ने स्वतन्त्र रससंप्रदाय का भी उल्लेख नहीं किया है क्योंकि ध्वन्यालोकीय सिद्धान्त का विवरण करने वाले मूल सर्वस्वकार के आधार पर ही अपनी व्याख्या उन्हें प्रस्तुत करनी थी और ध्वन्यालोक में त्रिविध व्यङ्ग्य को एक कोटि में ही रक्खा गया है जिसका विवरण समुद्रबन्ध व्यङ्ग्यमूलक वैशिष्ट्य कह कर करते हैं[1] तथापि भरत, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ आदि के मतानुसार स्वतन्त्र रससंप्रदाय भी पूर्ण सम्मानित है।

समुद्रबन्ध के उक्त विवरण में औचित्यसंप्रदाय भी असंगृहीत है। इस संप्रदाय का संग्रह समुद्रबन्ध के विवरण में इसलिये नहीं हो सका है कि उनसे अर्वाचीन हैं औचित्यसंप्रदाय-प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र। क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्यविचारचर्चा में औचित्य का बहुत अच्छा विश्लेषण किया है तथा औचित्य को ही काव्य में सबसे मुख्य तत्त्व अतएव आत्मपदप्राप्तियोग्य ठहराया।

---

१. 'इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यङ्ग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽपि अलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैधम्। इति पञ्चसु पक्षेषु आद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन पञ्चम आनन्दवर्धनेन।'

है। इस प्रकार काव्यात्मा के विषय में पूर्वोक्त छै मतों के अतिरिक्त एक सातवाँ मत भी है (**औचित्यमात्मा काव्यस्य**) ऐसा समझना चाहिए।

औचित्य साहित्यशास्त्र का व्यापकतम सिद्धान्त है। इसे काव्य की आत्मा मानने का श्रेय यद्यपि क्षेमेन्द्र को प्राप्त है, तथापि औचित्य की कल्पना साहित्यसंसार में बहुत ही प्राचीन काल से चली आती थी। भरत के नाट्यशास्त्र में ही सिद्धान्तरूप में तो नहीं परन्तु व्यवहार-रूप में औचित्य का विधान पाया जाता है। भरत का कहना है कि—लोक ही नाट्य का प्रमाण है। लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस वेश में, जिस देश में व्यवहृत होती है उस देश के नायक-नायिकाओं का चित्रण उसी रूप में करना चाहिए। इस प्रसङ्ग में भरत का यह श्लोक अतिसारगर्भित है—

'अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसिबन्धे च हास्यायैव प्रजायते॥' (नाट्यशास्त्र)

जिस देश का जो वेश है, जो आभूषण जिस अङ्ग में पहना जाता है उससे भिन्न देश में उसका विधान करने पर वह शोभा नहीं पाता। यदि कोई मेखला को छाती पर पहन ले तो वह हास्यास्पद ही होगा। इस पद्य से सिद्ध है कि आद्य आलोचक भरत को ललितकला में औचित्य का सिद्धान्त मान्य था। आनन्दवर्धन ने भी औचित्य को व्यापक काव्यतत्त्व स्वीकार किया है। रसभंग की व्याख्या के अवसर पर उन्होंने कहा है—

'अनौचित्याद् ऋते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥' (ध्वन्यालोक)

अनौचित्य ही रसभंग का प्रधान कारण है। अनुचित वस्तु के सन्निवेश से रस का परिपाक काव्य में उत्पन्न नहीं होता। रस के उन्मेष का मुख्य रहस्य है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन, काव्य में कल्पना और विधान। इसके अलावे अन्य प्राचीन अलंकारग्रन्थप्रणेता आचार्यों ने भी औचित्यतत्त्व को स्वीकार किया है। पर औचित्य को व्यापक काव्यतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है आचार्य क्षेमेन्द्र ने ही। औचित्य किसे कहते हैं? उचित का भाव औचित्य कहलाता है और जो वस्तु जिसके सदृश हो, जिससे जिसका मेल मिले उसे कहते हैं 'उचित'।

'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥' (औचित्यविचारचर्चा)

यह औचित्य ही रस का जीवितभूत है, प्राण है तथा काव्य में चमत्कारकारी है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥' (औचित्यविचारचर्चा)

क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किए हैं। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिङ्ग, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखलाकर तथा इसके अभाव को अन्यत्र बतला-कर क्षेमेन्द्र ने साहित्यरसिकों का बड़ा उपकार किया है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य को साहित्यशास्त्र में व्यवस्थित रूप दिया है। पर उन्हें ही इस तत्त्व का उद्भावक नहीं कहा जा सकता। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि क्षेमेन्द्र ने औचित्य के विषय में भरत तथा आनन्द-

वर्धन से प्रेरणा प्राप्त की थी। इतना ही नहीं, क्षेमेन्द्र का औचित्यविषयक निम्ननिर्दिष्ट पद्य भी पूर्वोक्त भारतीय पक्ष का परिष्कृत रूपान्तर मात्र प्रतीत होता है।

'कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्तिके हास्यतां
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणा॥'

यह तो हुआ प्राक्तन आचार्यों के मतों का संकलन। अब यहाँ यह विचार कर लेना भी उचित होगा कि पण्डितराज का काव्यात्मा के सम्बन्ध में क्या मत है? पण्डितराज उक्त सम्प्रदायों में से किस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं[1]? वैसे तो पण्डितराज अथवा उनके ग्रन्थों की अब तक बहुत थोड़ी आलोचना हो सकी है, पर जो भी आलोचना हुई है, उसमें पण्डितराज को ध्वनिसम्प्रदायानुयायी सिद्ध किया गया है, तदनुसार पण्डितराज के मत से ध्वनि (त्रिविध व्यङ्ग्य) को काव्यात्मा ठहराया गया है। वस्तुतः पण्डितराज जगन्नाथ विश्वनाथ आदि के समान रसवादी नहीं हैं—अर्थात् वे केवल रस (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) को काव्य की आत्मा नहीं मानते, क्योंकि ऐसी मान्यता का परिणाम यह होता कि चमत्कारी वस्तुव्यङ्ग्य तथा चमत्कारी अलंकारव्यङ्ग्य की प्रतीति होते रहने पर भी रस-प्रतीति के अभाव में किसी गद्य अथवा पद्य को वे काव्य नहीं मानते, किन्तु उनके ग्रन्थ (रसगङ्गाधर) में एक नहीं, अनेक ऐसे प्रमाण प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर सबल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वे रसाव्यञ्जक होने पर भी रमणीय वस्तुअलंकाराभिव्यञ्जक पद्य को काव्य अवश्य मानते हैं।

त्रिविध व्यङ्ग्यों को अलङ्कारोपस्कार्य मानना भी पण्डितराज को ध्वनिवादी ही सूचित करता है, रसमात्रवादी नहीं। ऐसी स्थिति में पण्डितराज को मम्मट, अप्पयदीक्षित आदि के समान ध्वनिसंप्रदायानुयायी मानना समुचित ही है। परन्तु रसगङ्गाधर के मनन से ऐसा भास होता है कि—पण्डितराज ध्वनिवादी होते हुए भी अन्य ध्वनिवादियों से कुछ अधिक प्रगतिशील थे। जिस तरह रसवादी रस की, ध्वनिवादी त्रिविध व्यङ्ग्यों में से किसी एक व्यङ्ग्य की सत्ता को काव्यत्व के लिये आवश्यकतम मानते हैं, उस तरह पण्डितराज नहीं मानते। वे तो रमणीय अर्थ (यह अर्थ चाहे रस हो अथवा वस्तु तथा अलंकारव्यङ्ग्य हो, किं वा वाच्य तथा लक्ष्य ही हो) की सत्ता को काव्यत्व के लिये अपेक्षित समझते हैं, इसीलिये वे **'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** इस काव्य-लक्षण में 'व्यञ्जक' पद नहीं कह कर वाचक, लक्षक, व्यञ्जक तीनों प्रकार के शब्दों के संग्रहार्थ सामान्य 'प्रतिपादक' शब्द कहते हैं। इतना ही नहीं, व्यङ्ग्य अर्थों के साथ-साथ वाच्य—अर्थविशेष—को भी पण्डितराज अलङ्कारों से अलंकृत होने वाला कहते हैं[2]। ऐसी स्थिति में अकामेनापि यह मानना पड़ेगा कि—किसी तरह का चमत्कारी

१. यद्यपि पहले भी प्रसङ्गवश यह विचार किया जा चुका है, तथापि यहाँ कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक था।

२. देखिए—रसगङ्गाधर का उपमालक्षण तथा उपमानिरूपण का वह अग्रिम भाग जो पीछे अलंकारविवेचन के अवसर पर उद्धृत भी किया जा चुका है।

व्यङ्ग्य न हो और रमणीय वाच्यार्थ हो तब भी पण्डितराज को काव्यत्व इष्ट है। अब यदि पण्डितराज केवल व्यङ्ग्य अर्थ (ध्वनि) को काव्यात्मा मानते होते, तब उसके अभाव में उन्हें काव्यत्व कैसे इष्ट हो सकता था ? आत्मभूत तत्त्व के अभाव में तो किसी भी संप्रदाय के आचार्यों को काव्यत्व इष्ट नहीं होता। अतः वाच्य अथवा लक्ष्य किंवा व्यङ्ग्य कोई भी अर्थ रहे पर यदि वह रमणीय हो—लोकोत्तर आह्लादजनक हो—तो उसे पण्डितराज काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में थे, **'रमणीयोऽर्थः काव्यस्यात्मा'** यही पण्डितराज का मत है फलतः पण्डितराज का संप्रदाय साहित्यजगत् में अभिनव ही है। यदि उस संप्रदाय का नाम-करण किया जाय तो मेरे विचार से उसका नाम **'रामणीयक-संप्रदाय'** होना चाहिए।

उपसंहार

जो स्वयं उच्चकोटिका कवि नहीं, उसे उच्च कोटि की कविता की परख कैसे हो सकती है ? काव्य-शास्त्र का सच्चा आलोचक वही हो सकता है जो स्वयं उच्च कोटि का कवि हो। आचार्यों का यह कथन सत्य ही है—**'कविर्भावयति भावकश्च कविः'**—कवि ही भावना करता है और भावक ही काव्य-सृष्टि करता है। भावक (आलोचक) कवि कभी अधम दशा प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी प्रतिष्ठा सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक होती है—

'प्रतिभातारतम्येन, प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा।
भावकस्तु कविः प्रायो, न भजत्यधमां दशाम्॥' (काव्यमीमांसा)

बात यह है कि कारयित्री तथा भावयित्री दोनों तरह की प्रतिभाओं की स्थिति एकत्र असंभव नहीं, तो दुर्लभ अवश्य है।

इसीलिये तो काव्यमीमांसाकार राजशेखर को भी कहना पड़ा—

'नह्येकस्मिन्नतिशयवतां संनिपातो गुणानाम्।
एकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः॥'

पर, इसके साथ ही, इसी पद्य के प्रथम दो चरणों के रूप में ही, यह भी कहना पड़ा—

'कश्चिद् वाचां रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्ताम्।
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति॥'

पण्डितराज जगन्नाथ की सर्जक और आलोचक उभयविध प्रतिभा विश पाठकों को विस्मय में डाल देती है। भाग्यवान् हैं वे सुधीजन जिन्हें पण्डितराजीय प्रतिभा से विस्मित होने का शुभवसर प्राप्त होता है। अन्त में रसधाम घनश्याम से मेरी प्रार्थना है कि वे विद्वन्मण्डल के मन में रसगङ्गाधराध्ययन द्वारा उक्त विस्मय-सरोवरावगाहन की प्रेरणा प्रदान करें।

ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

विनीत—
मदनमोहन झा

रसगङ्गाधरे प्रमापकाः

प्रथमानने

द्वितीयाननस्योत्प्रेक्षान्तभागे

विषय-सूची

(प्रथमाननान्तो भागः)

विषय-सूची

(द्वितीयाननस्योत्प्रेक्षान्तो भागः)

॥ श्रीः ॥

'चन्द्रिका' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

प्रथममाननम्

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी,
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी ॥ १ ॥

पुण्यश्लोकौ गौरी-गङ्गाधरतामवापितौ तपसा ।
मायाविद्यानाथौ प्रणम्य करुणानिधी पितरौ ॥
प्रत्यूहपङ्ककतक-क्षोदः प्रतिभाप्रभासहस्रांशुः ।
तन्वी स्मृतिरपि यस्या निधाय तां भारतीमन्तः ॥
नित्यं व्रजे लसन्ती सितशितिमहसी नमस्यता शश्वत् ।
रसगङ्गाधरविवृतिर्'बदरीनाथेन' चन्द्रिका क्रियते ॥

अथ साहित्यपदार्थानामान्वीक्षिकीप्रथितपथेन यथायथं सूक्ष्मसमीक्षया परीक्षकप्रेक्षावतां प्रसादाय, प्रतिपक्षस्मयान्धतमसावसादाय च तैलङ्गपण्डितराजो जगन्नाथभट्टः कमपि नूतनं प्रबन्धमारभमाणस्तत्समाप्तिप्रचारादिप्रतिबन्धकान्तरायसन्ततिशान्तये श्रुतिबोधितेतिकर्तव्यताकं मङ्गलमाचरन् शिष्यान् विशिष्य शिक्षयितुं निबध्नाति—स्मृतापीति ।

स्मृता स्मरणविषयीकृताऽपि (किमुत स्मर्यमाणा, दृष्टा स्पृष्टा वा न तु दृष्टैव दृष्टिद्वारा स्पृष्टैव वा) नृणां मनुष्याणाम्, (सर्वेषां, न तु कस्यचिदेकस्यैव) तरुणं प्रौढं तीव्रमिति यावत्, आतपं दिनकरद्योतं तच्छेनाध्यवसितमाधिभौतिकादिसन्तापम्, करुणया निजनैसर्गिकजीवानुकम्पया, हरन्ती नाशयन्ती (न पुनर्हृतवती हरिष्यन्ती वा) तथा—अभङ्गुराः अनश्वरास्तनुषां वपुषां त्विषः कान्तयो यासां, तास्तथोक्ताः, तासां विद्युतां चपलानां तच्छेनाध्यवसितानामाभीरवामभ्रुवां, शतैरनेकशतसङ्ख्याभिः (वस्तुतस्तत्सङ्ख्याभिरेताभिः) वलयिता परिवृता, तथा—कलिन्दगिरिनन्दिन्या यमुनायाः, तटे तीरे (वृन्दावने विद्यमानान्) सुरद्रुमान् मन्दारादिदेववृक्षान् हरिप्रियापरपर्यायितान् कदम्बपादपान् वा, यद्वा—तट एव सकलाभिलषपूरकत्वात् सुरद्रुमस्तम्, अवलम्बते स्वनिलयाधिष्ठानतयाऽऽश्रयति तच्छीला, काऽप्यनिर्वचनीयत्वेन प्रसिद्धकादम्बिन्या विलक्षणा, कादम्बिनी मेघमाला तच्छेनाध्यवसिता शृङ्गाराधिष्ठातृदैवतश्रीकृष्णमूर्तिः, मदीयमतेर्मामकीनबुद्धेः चुम्बिनी विषयीभूता भवत्वित्यर्थः ।

तथा च 'प्रकाशोद्योत आतपः' 'नीपप्रियक-कदम्बास्तु हरिप्रियः' 'कादम्बिनी मेघमाला' इत्यमरः। इह यद्यपि विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः सङ्ख्येयसंख्ययोः॥' इत्यमरानुशासनेन सङ्ख्यावाचकस्य शतशब्दस्यैकवचनान्तत्वमेव प्राप्तम्, किन्त्वनेकशतसङ्ख्याविवक्षायां 'सङ्ख्याऽर्थे द्विबहुत्वे स्तः' इति तस्यैवानुशिष्टेः 'सार्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त! कान्ता' 'कृतास्पदाभूमिभृतां सहस्रैः' इत्यादिवद् बहुवचनान्तत्वं प्रयुक्तम्। अत एव 'दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलङ्कृते॥' 'हर्षस्थान-सहस्राणि शोकस्थानशतानि च॥' इत्यादयो भागवत-भारतप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते। न चैवं तदनुशासने सदापदोपादानवैयर्थ्यप्रसङ्गः, तस्य द्वित्वबहुत्वानवच्छिन्नशतत्वसङ्ख्या-तदवच्छिन्नयोर्विवक्षणे सार्थक्यस्य व्यवस्थापनात्। सङ्ख्याया आश्रयद्वारा वलयनक्रियायां कर्तृत्वमिति कर्तरि तृतीया। अभेदे तृतीयेति कश्चित्। वस्तुतस्त्वेतादृशस्थलेषु शतशब्दस्तन्त्रेण सङ्ख्यायाः सङ्ख्येयानां च वाचक इति सङ्ख्येयनिष्ठैवात्रापि कर्तृता, विद्युन्निष्ठशतत्वसङ्ख्याविशिष्ट-तत्कर्तृकवलयनस्यैव प्रतीतिश्च। वलयितेत्यत्र वलयं करोतीत्यर्थे णिच्, तदन्ताच्च क्तः।

आतपत्वेन त्रिविधसन्तापस्य, विद्युत्त्वेन वल्लवचर्षणिनीनाम्, कादम्बिनीत्वेन श्रीकृष्णमूर्तेश्चोपमेयानां निगरणाद्भेदेऽभेदाध्यवसानात्मिकाऽतिशयोक्तिः। प्रसिद्धा किल कादम्बिनी क्षणभङ्गशीलकान्तिभिर्विद्युल्लताभिर्वेष्टिता, जडतया सुतरां कारुण्यविरहिणी, दर्शनादेव, वृष्टिद्वारा स्पर्शनादेव वा, केषांचित् स्वावच्छिन्नाकाशतले विद्यमानानामेव ग्रीष्ममिहिरातपं हरति। इयन्त्वातपसन्तापहारित्वादिसाधर्म्यभागपि पूर्वप्रतिपादितप्रकारैस्तद्विलक्षणेति व्यतिरेकः। स्मृताऽपीत्यपिना दर्शनाद्यर्थापादनादर्थापत्तिः। तट एव सुरद्रुम इति पद्ये रूपकञ्च। तत्र मिथोनिरपेक्षाभ्यामर्थापत्तिरूपकाभ्यां सङ्कीर्णो व्यतिरेकोऽतिशयोक्तिं पुष्णातीति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करोऽलङ्कारः। रूपकातिशयोक्तेरतिरिक्तालङ्कारत्वेनाङ्गीकारस्त्वर्वाचामरोचकं जनयतीत्यवसरे प्रतिपादयिष्यामः। 'नियमिकृतनियमरहिताम्' इत्यादिवच्चोपमेयवैलक्षण्यसमर्पकविशेषणैरेवोपमान-साम्ययोराक्षेपाद् व्यतिरेकसत्ता न दुर्घटा। कालिन्दीकूलस्थलवैधुर्यात् कालिकायाः, वर्णवैपरीत्याद् राधायाश्च कादम्बिनीत्वेनाध्यवसानं तु दुरवसानमेव।

अपिः कैमुतिकन्यायेन दर्शनादेरधिकतापापनोदत्वम्, तापस्य तारुण्यमसहनीयत्वद्वारेण त्वरयाऽपनयनौचितीम्, करुणयेति तापोपशमनस्य बुद्धिपूर्वकत्व-सार्वत्रिकत्वे, शतृप्रत्ययो हरणस्य वर्तमानकालिकत्वेन स्पृहणीयतमत्वम्, नृणामिति बहुवचनं साकल्यमुखेनान्यतो व्यतिरेकम्, तनुत्विडभङ्गुरता विजातीयताम्, विद्युत्त्वेन गोपनितम्बिनीनां निगरणमद्वितीयसौन्दर्यसाम्राज्यम्, शतैरित्येकत्वादिव्यवच्छेदद्वारा प्रसिद्धवैजात्यम्, वलयितेति संयोगस्याक्षणिकत्वेन सुषमाऽतिरेकम्, कालिन्दीकूलनिलिम्पपादपावलम्बिता स्वेतरव्यतिरेकम्, श्रीकृष्णमूर्तेः कादम्बिनीत्वाध्यवसानं सवऽफलदानार्हताशोभोत्कर्षौ, मतेरमूर्ततया चुम्बनकर्मत्वासम्भवात् तच्चुम्बनं नियतविषयविषयिभावसम्बन्धम्, भवत्विति लोट्लकारः प्रार्थनाम्, सानन्दः सन्दर्भः कविसमवेतं श्रीकृष्णविषयकरतिभावं च व्यनक्ति। पृथ्वी छन्दः॥ १॥

सादर करता हूँ अर्पित, शत प्रणति पुष्प प्रभु पद पर;
नष्ट सब आपत्ति सत्वर हों, हैं, जहाँ नानाविध पुनर॥

ग्रन्थसमाप्ति में प्रतिबन्ध उपस्थित करने वाली सम्भावित विघ्न बाधाओं के प्रशमन की कामना से ग्रन्थकार शिष्टजन परम्परा प्राप्त मङ्गलबोधक पद्य की रचना करते हैं— 'स्मृतापि'—इत्यादि।

जो स्मृतिमात्र विषय होकर भी (न कि दृष्टि किंवा दृष्टिद्वारा स्पर्श का विषय होकर ही) मनुष्यों के (न कि किसी एक व्यक्ति के) तीव्र आतप (आधिदैविक, आधिभौतिक,

आध्यात्मिक त्रिविध ताप) को दया से हर लेती है, जो कभी भग्न नहीं होने वाली शरीर प्रभा से युक्त (न कि क्षणभर चमकने वाली) विद्युन्माला से वेष्टित है और जो कलिन्दकन्या-यमुना के तीर (वृन्दावन) के सुरतरु (कदम्ब) को (विलास के लिये) आश्रयण कर वर्तमान रहती है, वह प्रसिद्धातिरिक्त घनघटा (घनश्याम श्रीकृष्णचन्द्रजी की मनोहर मूर्ति) मेरी मति को चूमने वाली बने—सदा उस मञ्जुल मूर्ति का ज्ञान मुझे होता रहे।

भावार्थ यह है कि जो मेघमाला प्रसिद्ध है, वह देखने पर ही व्यक्तिविशेष के ताप को शान्त करती है, उसको परिवृत करने वाली बिजली क्षणभङ्गुर है, यमुनातट के कदम्ब-तरु उसका आलम्बन भी नहीं है, अचेतन होने से उसमें करुणा की सम्भावना भी नहीं, इन सब कारणों से कवि की विवक्षित मेघमाला वह नहीं अपितु कृष्णमूर्ति ही सकती है। इसी व्यतिरेक को स्पष्ट करने के लिए कवि ने 'कादम्बिनी' का विशेषण 'काऽपि' कहा है। अत एव इस श्लोक में व्यतिरेक अलङ्कार है और सन्ताप, गोपिकायें, तथा कृष्ण मूर्ति, जो यहाँ उपमेय हैं, उनका क्रमशः आतप, विद्युत्, कादम्बिनी रूप उपमानों से निगरण होने के कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार भी है। इन दोनों अलङ्कारों के परस्पर सापेक्ष रहने से सङ्कर नामक तृतीय अलङ्कार होता है। (तत्तत्पदों से होने वाले व्यङ्ग्यों का ज्ञान संस्कृत टीका से करना चाहिए।)

अथ स्वोक्तेरुपादेयतमत्वं द्योतयितुं गुरुवन्दनापदेशेन विद्याजन्मवंशयोः परिशुद्धिं पद्यद्वयेन प्रतिपादयति—

> श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः,
> काणादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत्।
> देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयं,
> शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणितिरभूत् सर्वविद्याधरो यः ॥ २ ॥
> पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया ॥
> तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम् ॥ ३ ॥

यः (पेरुभट्टः) श्रीः सरस्वती, तद्वांश्चासौ ज्ञानेन्द्रस्तन्नामा भिक्षुः सन्न्यासी, तस्मादुपाध्यायात्, अधिगतो ज्ञातः पठित इति यावत्, सकलः कृत्स्नो ब्रह्मविद्याया वेदान्तस्य प्रपञ्चो विस्तरो येन तादृशः। तथा यः, महेन्द्रात् तदाख्यविदुषः, काणादीः कणादेन प्रोक्ता वैशेषिकरूपाः, अपिच—आक्षपादीः अक्षपादेन गौतमेन प्रोक्ता न्यायलक्षणाः, गहनगिरो गम्भीरार्थकवाणीः, अवेदीत्–अज्ञासीत् पपाठेति यावत्। तथा यः स्मरहरस्य शिवस्य नगरे काश्याम्, देवात् खण्डदेवनामकपण्डितादेव (नतु यतः कुतश्चित्) जैमिनीयं जैमिनिना प्रोक्तं शासनं पूर्वमीमांसादर्शनशास्त्रम्, अध्यगीष्ट अपाठीत्। तथा यः शेष इत्यङ्को नामैकदेशतया चिह्नं यस्य स शेषाङ्कः, तस्माच्छेषवीरेश्वरकोविदात् प्राप्ता लब्धा ज्ञाता [illegible], शेषस्य पतञ्जलेः, अमला निर्दूषणाः भणितयो व्याकरणमहाभाष्यरूपा गिरो येन, तथाभूतः सन्, सर्वविद्याधरः सर्वासां चतुर्दशानामष्टादशानां वा विद्यानां धारकोऽभूत्।

किञ्च यस्य लीलया शिक्षणवेलया पक्षे सत्क्रीडया, पाषाणादपि जडतोऽपि प्रस्तरखण्डादपि (यतः, किमुत [illegible] विद्वज्जनात्) पक्षे प्रस्तरादपि, पीयूषं माधुर्येणामृततुल्यं काव्यम्, पक्षेऽमृतम्, स्यन्दते प्रादुर्भवति, पक्षे स्रवति। तं लक्ष्म्याः तदाख्याया मातुः पक्षे रमायाः, कान्तं नाथम्, पेरुभट्टाख्यं पेरुभट्टनामानम्, महान्तं ज्ञान-सर्वविद्याशिक्षणाभ्यां पक्षे स्वगुणैः श्रेष्ठम्, गुरुं पितरं पक्षे महनीयं विष्णुम्, वन्देऽभिवादयामीत्यर्थः।

इह श्रीशब्दस्य सरस्वतीवाचकत्वं 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' इति श्रुतिः, 'श्रीलक्ष्मी-

रमणं नौमि' इत्यादयः प्रयोगाश्च प्रमाणम् । तस्य ब्रह्मवर्चसवाचकता तु केनचित् कल्पितैव प्रमाणानुपलम्भात् । एवमेवशब्दस्य प्रसिद्धार्थकत्वमप्यप्रसिद्धम् । सत्यभामा सत्येतिवत् खण्डदेवो देवपदेन बोध्यते । शेषोपाधेः श्रीकृष्णादौ सत्त्वेऽप्यौचित्याद् वीरेश्वरस्य ग्रहणम् । अधिगतविद्यानामुपादानं तु क्रमविरुद्धम्, सर्वतः आग्वेदान्तस्य सर्वान्ते व्याकरणस्य चोपादानात् ।

गुरोः सर्वविद्याऽधिगन्तृतया स्वस्मिन् सर्वासामपि तासां सङ्क्रान्तिः, तया स्वपाण्डित्यप्रकर्षमुखेन स्वोक्तेरुपादेयतमत्वम्, स्वस्वकीयरचनोद्भवयोः पाषाण-पीयूषस्रवतादात्म्यप्रदर्शनेन स्वस्य विनयः स्वरचनायाश्चमत्कारकत्वं च, अपिनाऽर्थापत्तिपल्लवकेन परत्र तत्सौकर्यातिशयः, लीलामात्रस्यैव तावत्सम्पादकत्वेन गुरोरतुलमहिमशालिता, तथा वन्दनौचिती च सूच्यते ।

पूर्वस्मिन् पद्ये यमकानुप्राससंसृष्टं काव्यलिङ्गम्, परस्मिन्नर्थापत्ति-काव्यलिङ्गोपस्कृता समासोक्तिरतिशयोक्तिर्वाऽलङ्कारः, क्रमेण स्रग्धराऽनुष्टुप् च छन्दः ॥ २-३ ॥

ग्रन्थकार गुरुवन्दन—व्याज से अपने विद्या तथा जन्मवंशों की परिशुद्धि को दिखलाते हैं—'श्रीमज्ज्ञान' इत्यादि।

श्रीमान् 'ज्ञानेन्द्र' नामक संन्यासी से जिन्होंने समग्र ब्रह्मविद्या का विस्तार वेदान्तशास्त्र (लक्षण या उस शास्त्र का ज्ञान यहाँ विवक्षित है) प्राप्त किया, काणाद तथा गौतम की (अर्थबहुल होने से) गम्भीर उक्तियाँ (वैशेषिक तथा न्यायदर्शन) 'महेन्द्रशास्त्री' से समझीं, 'खण्डदेवोपाध्याय' से जैमनीयशास्त्र (पूर्व मीमांसा) काशी में रह कर पढ़ा और 'शेष' उपाधिधारी वीरेश्वर पण्डित से शेषावतार पतञ्जलि की निर्मल उक्तियाँ (महाभाष्य) अधिगत कीं, इस प्रकार जो सब विद्याओं का धारण करने वाले हुए।

जिनकी लीला-शिक्षणचेष्टा और इच्छा से पाषाण—पत्थर, अथ च पाषाण तुल्य नीरस मुझसे भी अमृत-अथच अमृत तुल्य सरस काव्य झर रहा है—प्रादुर्भूत हो रहा है, उन जन्म तथा शिक्षा दोनों के प्रदायक लक्ष्मीकान्त (लक्ष्मी नाम्नी मेरी माता के पति अथवा विष्णुरूप) 'पेरुभट्ट' नामक महान्—पूज्य गुरुदेव—पिताजी को मैं प्रणाम करता हूँ।

यहाँ संन्यासी से ब्रह्मविद्याज्ञानलाभ की बात कह कर व्यञ्जनया गृहस्थों में ब्रह्मविद्याज्ञान की अपरिपक्वता को सूचित करते हैं, 'अवेदीत्' इस क्रियापद से 'वैशेषिक तथा न्यायदर्शन को उन्होंने समझा न कि केवल रट लिया' इस विशेष को अभिव्यक्त करते हैं और गुरु को सर्वविद्यानिधान बतला कर उनके मेधावी शिष्य अपने में भी उन विद्याओं के संक्रमण को व्यक्त करते हैं। इसी तरह अपने में पाषाण के तथा अपनी कविता में पीयूष के तादात्म्य का प्रदर्शन कर अपने में विनय एवं अपनी कविता में चमत्कारातिशय को सूचित करते हैं। प्रथम पद्य में 'यमक तथा अनुप्रास' इन दोनों शब्दालङ्कारों से संसृष्ट काव्यलिङ्ग अलङ्कार और द्वितीय पद्य में काव्यलिङ्ग से सहकृत अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

स्वप्रबन्धस्य सुविचार्य विहितत्वेन श्रेयस्त्वं सूचयति—

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं, मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः ।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवतामलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥

मननमनुध्यानमेव गम्भीरतया जलधिः समुद्रस्तस्य, अन्तरुदरम् उदरमध्येऽन्तस्तल इति यावत्, क्लेशैर्बहुभिर्दुःखैः (नत्वनायासम्) नितरामत्यन्तं मग्नेन (नतुपदेन प्रविष्टेन) मया जगन्नाथेन, लोके मर्त्यभुवने, उन्नीतः नीतः उद्धृत उपनीत इत्यर्थान्तरम्,

ललितो निर्दूषणत्वेन गुणालङ्कारोपहितत्वेन वा सुन्दरो रसगङ्गाधरस्तन्नामाऽयं प्रबन्ध एव स्फुटपदार्थप्रतिभासकत्वेन मणिः, गुणवतां वैदग्ध्यभृतां (नत्वसहृदयानाम्) हृदयं चित्तं वक्षश्च, अधिरूढः प्रविष्ट आरूढश्च, अन्तर्ध्वान्तं मानसिकं साहित्यपदार्थविषयकाज्ञानम् आन्तरालिकं तमश्च, हरन्नपनयन्, सर्वानशेषान् (नतु कतिपयानेव) अलङ्कारान् लङ्कारप्रतिपादकान् ग्रन्थान् भूषणानि च, गलितः स्वयमेव च्युतो गर्वोऽसाधारण्यमदो येषां तादृशान्, रचयतु करोत्वित्यर्थः ।

अत्र परेणापि रत्नोद्धारिणा समुद्राभ्यन्तरे चिरं मग्नेन दुष्करप्रयासैरुद्धृतो मणिर्महीयसां वक्षस्थलमारूढः स्वेतरभूषणानि स्वापेक्षया हीनकान्तीनि करोतीति प्रतीतौ रूपकानुप्राणिता समासोक्तिरलङ्कारः । अन्तरशब्दस्य द्विरुपादानं किञ्चिद् विच्छित्तिं चिच्छिनत्ति । सम्पूर्णेन सन्दर्भेण सुचिन्त्य विहितोऽयं प्रबन्धः परकीयालङ्कारप्रबन्धेभ्यः सर्वथोत्कृष्ट इति वदताऽभिधेयचतुष्टयं प्रकाश्यते । गुणवतामित्यनेन 'मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः, किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ॥ इति पद्यार्धार्थः प्रतिपाद्यते । अलङ्कारेषु गर्वस्य चित्तवृत्तिविशेषात्मनोऽयोग्यतया तद्गलनस्यासम्भवेन तिरस्कृतवाच्यत्वम् । रचयत्विति प्रार्थनायां लोट् । शिखरिणी छन्दः ॥ ४ ॥

अपने प्रबन्ध की प्रशंसा करते हैं—'निमग्नेन' इत्यादि ।

मैंने (साहित्यिक पदार्थों के) अनुचिन्तनरूप समुद्र के अन्तस्थल में बड़े दुःखों से—न कि अनायास, निश्शेष मग्न होकर—न कि थोड़ा सा प्रविष्ट होकर, संसार में इस 'रसगङ्गाधर' रूप सुन्दर मणि को निकाला है । इस तरह निकाली गई यह (रसगङ्गाधर रूप) मणि, गुणिगणों के हृदयों में प्रविष्ट होकर आभ्यन्तरिक अन्धकार (साहित्यशास्त्र विषयक अज्ञान) को हरण करती हुई, सभी अलङ्कारों (अलङ्कारसम्बन्धी निबन्धों तथा आभूषणों) को गर्वरहित कर दे । तात्पर्य यह है कि—मैंने खूब सोच समझ कर इस ग्रन्थ को लिखा है, यह अलङ्कार ग्रन्थों में मणि रूप है, इससे साहित्यशास्त्र विषयक समस्त भ्रान्त धारणायें दूर हो जायँगी, अतः सहृदय जन इस ग्रन्थ को अपने हृदयों में स्थान अवश्य देंगे, इस ग्रन्थरत्न के प्रभाव से और-और अलङ्कार ग्रन्थ नगण्य हो जायँगे । सम्पूर्ण सन्दर्भ से यह बात निकली कि इस निबन्ध में अन्य निबन्धों की अपेक्षा बहुत कुछ महत्ता है, अतः उपादेय है ।

यहाँ यह अर्थ प्रतीत होता है कि—किसी ने बड़े क्लेशों से समुद्र में गोता लगा कर एक मणि निकाली, शौकीनों ने उसे हार में गूँथ कर अपने उरःस्थल पर धारण किया और उसकी पवित्र प्रभा के सामने सब सुवर्णादि निर्मित अलङ्कारों की प्रभा हीन हो गई । इसलिये इस पद्य में रूपकानुप्राणित समासोक्ति अलङ्कार है ।

इत्थं स्वग्रन्थस्य प्राचीनैरगतार्थत्वं प्रतिपाद्य नवीनैरपि स्वसजातीयग्रन्थान्तरैरगतार्थत्वं प्रतिपादयति—

परिष्कुर्वन्त्वर्थान् सहृदयधुरीणाः कतिपये,
तथाऽपि क्लेशो मे कथमपि गतार्थो न भविता ।
तिमीन्द्राः सङ्क्षोभं विदधतु पयोधेः पुनरिमे,
किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरेः ॥ ५ ॥

कतिचन (भूयांसोऽपि) सहृदयधुरीणाः सचेतसां प्रवराः, अर्थान् साहित्यशास्त्रीयपदार्थान्, परिष्कुर्वन्तु स्वप्रतिभाऽनुरूपं यथेच्छं (ग्रन्थान् रचयन्तः) विवेचयन्तु । तथाऽपि तेषां विवेचनेनापि, मे मम, क्लेश एतद्ग्रन्थरचनाप्रयासः कथमपि केनापि प्रकारेण (ईषदपि) गतार्थोऽन्यथासिद्धप्रयोजनकः, न भविता नैव भविष्यति इमे लोकैर्दृश्यमानाः,

तिमीन्द्रा महामत्स्याः, पुनर्भूयः, पयोधेः सागरस्य, सङ्क्षोभं मुहुरुद्वर्तनैः सम्यगालोडनम्, विदधतु कुर्वन्तु, एतेन तिमीन्द्रास्फालनेन, मन्दरगिरेर्मन्थाचलस्य, आयासो रत्नोद्धाराय समुद्रमन्थनपरिश्रमः, किं विफलो व्यर्थो भवति ? अपितु न भवतीत्यर्थः ।

इह यथा तिमीन्द्रास्फालनेन रत्नोद्धरणरूपप्रयोजनानिष्पत्त्या कथमपि मन्दरस्य प्रयासो न निष्फलो भवति, तथैव साहित्यपदार्थानामितरविद्वत्परिष्कारेण सिद्धान्तावधारणलक्षणप्रयोजनासिद्ध्या कथमपि ममैतद्ग्रन्थरचनाश्रमो गतार्थो न भविष्यतीति वाक्यार्थसाम्यस्य गम्यत्वात्, सत्त्वाभावरूपस्यैकस्यैवोभयसाधारणधर्मस्य 'न भविता' 'किं भवति' इति शब्दभेदेन वाक्यद्वये द्विर्निर्देशाच्च प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः । नत्वर्थान्तरन्यासः, वाक्यार्थयोः सामान्यविशेषभाव-कार्यकारणभावयोरभावात् ।

भवितेति भविष्यत्सामान्यबोधकलृटोऽप्रयोगेण स्वतुल्यकाले क्रियतामेतादृशप्रबन्धरचनाक्षमाणां विचक्षणानां सद्भावस्य सम्भवेऽप्यग्रे सर्वथा तदसम्भवः सूच्यत इति केचित् । शिखरिणी छन्दः ॥ ५ ॥

सहृदयों में मूर्धन्य माने जाने वाले कुछ पण्डित अर्थों का परिष्कार करें—ग्रन्थ बना-बना कर साहित्य पदार्थों का विवेचन करते रहें, परन्तु उन लोगों के विवेचन से मेरा कष्ट—'रसगङ्गाधर'-निर्माण में होने वाला श्रम—किसी तरह, गतार्थ-निष्प्रयोजन नहीं हो सकता। ये प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाले बड़े-बड़े मत्स्य समुद्र को क्षुब्ध करते हैं, सो करें, परन्तु इससे क्या मन्दराचल का श्रम-मथनप्रयासनिष्फल होता है ? यहाँ 'जैसे मत्स्यों के आलोड़न से रत्नोद्धरण रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होने के कारण रत्नों को निकालने वाला मन्दराचल का मथनक्लेश विफल नहीं होता, उसी तरह अन्य विद्वानों के विवेचनों से साहित्यसिद्धान्त-निर्णय-रूप-प्रयोजन की सिद्धि न होने के कारण, साहित्यसिद्धान्त-निर्णायक इस ग्रन्थ के निर्माण में होने वाला मेरा श्रम भी किसी तरह व्यर्थ नहीं, अपितु सर्वथा सार्थक है' ऐसा वाक्यार्थ गम्यमान है और 'न भविता, तथा किं भवति' इन दोनों से एक ही सत्ता का अभाव रूप धर्म दो वाक्यों में निर्दिष्ट है, अतः प्रति वस्तूपमा अलङ्कार होता है ।

स्वपाण्डित्यप्रकर्षं प्रकाशयन्नेतत्प्रबन्धस्य सजातीयव्यतिरेकं प्रदर्शयति—

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं, काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित् ।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः, कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥६॥

उदाहरणानुरूपं ध्वनिगुणालङ्कारादिलक्ष्यत्वयोग्यम्, नूतनं नवीनं भामिनीविलासादयं काव्यम्, मया निर्माय रचयित्वा, अत्र रसगङ्गाधरे, परस्यान्यस्य, किञ्चिदीषदपि 'उदाहरणम्' न निहितं नैव निबद्धम् । कस्तूरिकाजननशक्तिभृता कस्तूर्युत्पादनसामर्थ्यभाजा, मृगेण, सुमनसां कुसुमानां, गन्धः परिमलः, मनसाऽपि (किं पुनर्नासिकया) किं सेव्यत उपादीयते ? अपि नेत्यर्थः ।

अत्र पूर्ववत् प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः । कस्तूरिकाभृतेत्यनुक्त्वा तज्जननशक्तिभृतेति कथनं स्वस्य यावदपेक्षितपद्योत्पादनक्षमत्वम्, समस्तवाक्यार्थश्च परेषां साहित्यग्रन्थकाराणां परकीयोदाहरणग्रहणात् तदभावम्, तत आत्मनस्तेभ्यः, एतद्ग्रन्थस्य तद्ग्रन्थेभ्यो वैलक्षण्यमवगमयति । वसन्ततिलकं छन्दः ॥ ६ ॥

अन्य निबन्धों से अपने निबन्ध में विलक्षण विशेष का दिग्दर्शन कराते हैं—'निर्माय' इत्यादि ।

इस निबन्ध में उदाहरणों के अनुरूप-ध्वनिगुण अलङ्कारों में जिसका जैसा लक्ष्य होना चाहिए वैसा—काव्य बनाकर मैंने उपस्थित किया है, दूसरे का कुछ भी नहीं लिया,

(ठीक ही है) जो कस्तूरी की सृष्टि कर सकता है वह मृग क्या कभी मन से भी किसी पुष्पसौरभ की सेवा करने की कामना करता है ? यहाँ भी पूर्ववत् प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार समझना चाहिए।

'कस्तूरी को धारण करने वाला' ऐसा न कहकर 'कस्तूरीजनन की शक्ति को धारण करने वाला' इस कथन से स्वगत-समस्त-काव्य-निर्माण-सामर्थ्य और समग्र वाक्यार्थ से अन्य अलङ्कार-ग्रन्थ-निर्माताओं में परकीय उदाहरणों के ग्रहण करने के कारण उस कवित्वशक्ति का अभाव व्यङ्ग्य होता है, उस व्यङ्ग्य से भी अन्य-पण्डितापेक्षया अपने में तथा तत्कृत ग्रन्थापेक्षया स्वकृत ग्रन्थ में वैलक्षण्य व्यक्त होता है।

'सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते॥ शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥' इत्यभियुक्तोक्तेरभिधेयस्य प्रकाशाय प्रतिजानीते—

मननतरितीर्णविद्याऽर्णवो जगन्नाथपण्डितनरेन्द्रः।
रसगङ्गाधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम् ॥ ७॥

मननमेव पारनायकत्वेन तरिर्नौः, तया तीर्णः प्राप्तपारः, विद्या एव गाम्भीर्येण दुस्तरतया चाऽर्णवः समुद्रो येन सः, जगन्नाथश्चासौ पण्डितानां नरेन्द्रः पण्डितनराणामिन्द्रः पण्डितेषु नरेन्द्र इव, पण्डितश्चासौ नरेन्द्रो नरश्रेष्ठः पण्डितराजपराभिधानो वा, इमां रसगङ्गाधरनाम्नीं काव्यस्य (तदङ्गानामलङ्कारादीनां च) मीमांसा विचार उद्देशलक्षणपरीक्षा यत्र, तादृशीं रचनां, कुतुकेन कुतूहलेन (न तु क्लेशेन) करोतीत्यर्थः।

इह रूपकमनुप्रासश्चालङ्कारः। पूर्वार्धेन प्रगल्भपण्डितविहितत्वेन प्रबन्धस्योपादेयत्वम्, काव्यमीमांसामित्यनेन विषयः प्रयोजनं च, कुतुकेनेत्यनेन स्वस्यैतादृशग्रन्थरचनेऽपि क्लेशाभावद्वारेण पाण्डित्यातिरेकश्च व्यज्यते। आर्या छन्दः॥ ७॥

ग्रन्थ के आरम्भ में अनुबन्धचतुष्टय (प्रतिपाद्य विषय उस विषय के साथ ग्रन्थ का सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी) अवश्य कहना चाहिए अन्यथा उस ग्रन्थ के अध्ययन में लोगों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा नियम है। अतः प्रकृत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है ? इसकी सूचना देने के साथ साथ ग्रन्थकार अपना तथा अपने ग्रन्थ का नाम निर्देश करते हैं—'मननतरि' इत्यादि। जिसने मननरूप (विद्या समुद्र से पार ले जाने की शक्ति रखने के कारण) नौका से दुरवगाह होने के कारण विद्या-रूप-समुद्र को पार कर लिया है, वह पण्डितराज 'जगन्नाथ' कौतुक से (न कि अभ्यास से) काव्य-विवेचनमय 'रसगङ्गाधर' नामक-निबन्ध की रचना करता है। यहाँ 'मननतरि' इत्यादि विशेषण से ग्रन्थकार-गत-प्रौढ-पाण्डित्य सूचित होता है, जिससे तन्निर्मित प्रबन्ध में उपादेयता व्यक्त होती है, 'काव्यमीमांसाम्' इस पद से विषय तथा प्रयोजन की सूचना मिलती है। अलङ्कार यहाँ रूपक तथा अनुप्रास है।

स्वप्रबन्धस्य प्रचारमाशंसति—

रसगङ्गाधरनामा सन्दर्भोऽयं चिरं जयतु।
किञ्च कुलानि कवीनां निसर्गसम्यञ्चि रञ्जयतु ॥ ८॥

रसा एव जलायमानत्वेन गङ्गा, तस्या धरः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धेन धारकः, यद्वा रसानां प्रतिपादनेन गङ्गाधरः शङ्कर इव, रसगङ्गाधर इति नाम यस्य, तादृशः, अयं बुद्धिगोचरीकृतः सन्दर्भः पदावलीरूपो ग्रन्थः, चिरमनल्पकालं, जयतु सर्वेभ्यः साहित्यग्रन्थेभ्य उत्कृष्टतया वर्तताम्। किञ्च तथा, निसर्गात् स्वभावात् (न तु व्याजात्) सम्यञ्चि सत्काव्यविरचन-विवेचनकुशलतया समीचीनानि, कवीनां काव्यस्य निर्मातॄणां विवेचकसहृदयविदुषां च, कुलानि वृन्दानि, रञ्जयतु साहित्यसिद्धान्तनिष्कर्षोपवर्णनेनानन्दयत्वित्यर्थः।

अत्र यमकमलङ्कारः । वाक्यस्य पञ्चाङ्गानि तु—'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ॥
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥' इत्यनेन भक्तचरणैर्दर्शितानि । 'सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः' इत्यमरानुशासनात् कविशब्दस्य विद्वद्वाचकत्वमपि । कुलपदस्यात्र वंशपरत्वं तु चिन्त्यमेव, तद्वंशपरम्पराया वैदुष्ये प्रमाणाभावाद् रञ्जनानर्हत्वात् । आर्या छन्दः ॥ ८ ॥

ग्रन्थकार स्वकृत ग्रन्थ के प्रति अपनी शुभकामना प्रकट करते हैं—रसगङ्गाधर इत्यादि । 'रसगङ्गाधर' (रसरूप गङ्गा को धारण करने वाला, अथवा रस के विषय में गङ्गाधर-शिव के सदृश) नामक यह निबन्ध चिरकाल तक विजयी बने सर्वोत्कृष्ट होकर रहे और अत्यन्त मनोहर स्वभाव से ही उत्तम कवियों (काव्यकारों तथा काव्यालोचक-कोविदों) के समाजों का अनुरञ्जन करता रहे । परोत्कर्षासहिष्णु दुराग्रही दुर्जनों का मनोरञ्जन भले ही इस ग्रन्थ से न हो पर जो सज्जन गुणग्राही होंगे, उनका हृदय इस ग्रन्थ के अध्ययन से अवश्य ही सुखी होगा, यह बात यहाँ 'निसर्गसुन्दर' इस कविकुल विशेषण से अभिव्यक्त होती है । अलङ्कार यहाँ यमक है ।

तत्र तावत् काव्यलक्षणसूत्रमवतारयति—

तत्र कीर्ति-परमाह्लाद-गुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य व्युत्पत्तेः कविसहृदययोरावश्यकतया गुणालङ्कारादिभिर्निरूपणीये तस्मिन् विशेष्यताऽवच्छेदकं तदितरभेदबुद्धौ साधनं च तल्लक्षणं तावन्निरूप्यते—

तत्र चिकीर्षिते ग्रन्थे । कीर्तिर्यशः, परमाह्लादो वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यत्वेनाद्वितीय आनन्दः, गुरूणां राज्ञां देवतानां च प्रसादः स्तुतिविरचनाकलनाभ्यां प्रसन्नता चादिर्येषां, तानि तादृशान्यनेकानि प्रयोजनानि फलानि यस्य तत् तथोक्तम्, तथाभूतस्य, काव्यस्य वक्ष्यमाणलक्षणक-कविकर्मविशेषस्य, व्युत्पत्तेर्नैपुण्यलक्षण-तद्विषयकविशेषज्ञानस्य, कवेः काव्यकर्तुः, सहृदयस्य तद्रसा-स्वादयितुश्च, परमावश्यकतया नितरामपेक्षितत्वेन, गुणा माधुर्यादयः, अलङ्कारा अनुप्रासोपमाऽऽदयश्चादयो येषां तादृशैः रसभावप्रभृतिभिर्हेतुभिः, निरूपणीये उद्देशलक्षण-परीक्षाभिर्विवेचनीये, तस्मिन् काव्ये, विशेष्यताऽवच्छेदकं काव्यनिष्ठायाः 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इति शाब्दबोधीयविशेष्यतायाः, अवच्छेदकमन्यूनानतिप्रसक्तो धर्मः, च तथा, तदितरभेदबुद्धौ 'काव्यं काव्येतरेभ्यो भिन्नं रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वात्' इति भेदानुमितौ, साधनं हेतुभूतं, तस्य काव्यस्य लक्षणं तावदादौ निरूप्यते प्रतिपाद्य विवेच्यत इत्यर्थः । इह तत्रेति तावन्निरूप्यत इत्यनेन सम्बद्धम् । प्रथमेनादिपदेन व्यवहारज्ञान-कान्तासम्मितोपदेशयोरेवादानम्, कीर्ति-परनिर्वृत्योः कण्ठतः, धनप्राप्तेः राजप्रसादजन्यत्वेन, प्रत्यवायधृतेश्च गुरु-देवताप्रसादसाध्यत्वेन प्रतिपादनात् । तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥' इति ।

अत्रैव चतुर्वर्गप्राप्तेरप्यन्तर्भावः ।

प्रदीपकृद्दर्शितदिशा कविसहृदययोः काव्यप्रयोजनभेदो यथायथमवधार्यः । कवेः कवित्वं न तदनुभवप्रयोजकम्, किन्तु सहृदयत्वमेव । आवश्यकताशब्दस्य सार्थकत्वमस्मद्रसगङ्गाधरी-सुरभिटिप्पनेऽवलोकनीयम् । द्वितीयेनादिपदेन रसभावाद्युपस्करग्रहणम् । निरूपणं हि शाब्दबोधानुकूलो व्यापार उद्देश-लक्षण-परीक्षारूपः । तस्मिन्निति सप्तम्यर्थो निष्ठत्वम् । केषाञ्चिन्मते प्रकारस्यापि विशेष्यताऽवच्छेदकत्वस्वीकारात् काव्यासाधारणधर्मस्य तल्लक्षणस्य काव्ये प्रकारत्वेऽपि तन्निष्ठविशेष्यतावच्छेदकत्वमक्षुण्णमवधारणीयम् । काव्यलक्षणज्ञानस्यैव तत्र प्रवृत्तिप्रयोजकत्वेन तद्विषयकेच्छीयविषयताऽवच्छेदकत्वं च तस्यैवावसेयम् ।

अब ग्रन्थकार काव्यलक्षण की अवतारणा करते हैं—'तत्र कीर्ति' इत्यादि। यश, लोकोत्तर आनन्द, गुरु, राजा और देवताओं की प्रसन्नता, प्रभृति अनेक जिस काव्य के प्रयोजन हैं, उस काव्य की व्युत्पत्ति (निपुणता–रूप–तद्–विषयक–विशिष्ट–ज्ञान) कवि, (काव्यनिर्माता) और सहृदय (काव्यानन्द का अनुभव करने वाला) के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये पहले काव्यलक्षण का निरूपण करते हैं। यदि यहाँ आप यह शङ्का करें कि कविसहृदयों को काव्यज्ञान कराने के लिये पहले काव्यलक्षण निरूपण की क्या आवश्यकता थी ? क्योंकि गुण, अलङ्कार, रस, भाव आदि के ज्ञान से ही तो काव्य का ज्ञान होगा, फिर उन्हीं वस्तुओं का निरूपण पहले करना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि गुण अलङ्कार आदि के निरूपण के बाद जो 'काव्यं गुणादिमत्' ऐसा ज्ञान होगा—चाहे कराया जायगा, वह तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि काव्यत्व का ज्ञान न हो जाय। यदि आप पूछेंगे ऐसा क्यों ? तो मैं कहूँगा कि उक्त ज्ञान में काव्य विशेष्य है, और गुणादि विशेषण अतः 'काव्यम्' ऐसा ज्ञान पहले से रहना आवश्यक है, कारण ? यदि विशेष्य स्वयम् असिद्ध–अज्ञात रहेगा तब उसमें विशेषण नहीं लगाया जा सकता और 'काव्यम्' इस विशिष्ट ज्ञान में काव्यत्व–रूप–विशेषण–ज्ञान (जो कारण है) की अपेक्षा है, अतः 'काव्यं गुणादिमत्' इस ज्ञान में विशेष्यतावच्छेदक (जो प्रवर्तक ज्ञान विषय होने से इष्टतावच्छेदक भी है) का अर्थात् 'रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वरूप' काव्यत्व का निरूपण पहले करते हैं। पहले लक्षण निरूपण करने का दूसरा कारण यह भी है कि किसी एक वस्तु से किसी दूसरी वस्तु में भेद रहता है, इसका समझना व्यवहार के लिए उपयोगी है, उस भेदज्ञान के बिना कोई व्यवहार चल ही नहीं सकता, मान लीजिये कोई जङ्गली 'जो घट तथा पट में कोई भेद नहीं समझता' अगर व्यवहार में प्रवृत्त हो तो क्या होगा ? घट का कार्य पट से और पट का कार्य घट से लेने लगेगा। अब यह बात स्पष्ट हो गई कि 'किसी एक वस्तु में तदतिरिक्त समस्त वस्तुओं से भेद है' यह समझना आवश्यक है। यह नियम काव्य के सम्बन्ध में भी लागू होगा अर्थात् काव्य अतिरिक्त सकल पदार्थों से भिन्न है ऐसा ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है, अन्यथा लोग काव्यानन्द को घड़ों में ढूंढने लग जायँ, और काव्य में इतरभेद ज्ञान, प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव नहीं, कारण ? काव्य अमूर्त वस्तु है, फिर अगत्या उस ज्ञान के लिये अनुमान प्रमाण की शरण लेनी होगी, जैसे—'काव्यं काव्येतरस्मात् भिद्यते'—काव्य काव्यातिरिक्त वस्तु से भिन्न है, क्यों ? 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक–शब्दत्वात्'–रमणीय अर्थों का प्रतिपादन करने वाला जो शब्द तद्रूप होने से, यही हेतु दिया जायगा अर्थात् सब जगह इतर भेदानुमिति में लक्षण ही हेतु होता है, इस लिये भी प्रथम काव्यलक्षण निरूपण की आवश्यकता समझनी चाहिये।

काव्यं लक्षयति—

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ॥ १ ॥

रमणीयस्य स्वज्ञानकालिक–विलक्षणचमत्कारकारणतया सुन्दरस्यार्थस्य वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्या-न्यतमस्य, प्रतिपादको बोधकः शब्दः काव्यं काव्यपदेन व्यपदेश्य इति शब्दार्थः। रमणी-यार्थप्रतिपादकत्वे सति शब्दत्वमिति तावल्लक्षणम्। तत्र रमणीयस्यानुरागादर्थस्य व्यञ्जके कलाकलितेऽपार्थेऽतिव्याप्तिं वारयितुं विशेष्यदलम्। अत्र चमत्कारकार्थबोधके 'घटमानय' इत्यादिवाक्येऽतिप्रसङ्गनिरासार्थमर्थस्य रमणीयत्वविशेषणम्। रमणीयार्थनिरूपितस्य वाच-कत्वस्य निवेशे तादृशार्थव्यञ्जके, व्यञ्जकत्वस्य निवेशे च तादृशार्थवाचके शब्देऽव्याप्तिं निरसितुं तदुभयसाधारणस्य प्रतिपादकत्वस्य प्रवेशः। रमणीयशब्दप्रतिपादके व्याकरणेऽ-तिव्याप्तिं परिहर्तुं चार्थस्य प्रवेशोऽवसेयः।

काव्य लक्षण के स्वरूप कहते हैं—'रमणीय' इत्यादि।

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाला—अर्थात् जिस शब्द से रमणीय अर्थ का बोध

हो, वह शब्द काव्य है। इस लक्षण में यदि 'शब्द' पद नहीं कहें, अर्थात् 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाला जो हो वह काव्य है' इतना ही लक्षण करें, तो रमणीय अनुराग रूप अर्थ को व्यक्त करने वाला रमणी-कटाक्ष-निक्षेप भी काव्य हो जायगा, अतः 'शब्द' का निवेश लक्षण में किया गया है। अर्थ में रमणीय विशेषण लगाने का फल, अरमणीय-अर्थ-बोधक 'घटमानय' इत्यादि साधारण वाक्यों में काव्यत्व का निरास समझना चाहिये। वाचक, लक्षक, व्यञ्जक ये जो तीन प्रकार के शब्द साहित्यशास्त्र में स्वीकृत हुए हैं, वे तीनों ही काव्य कहला सकते हैं, यदि उनके अर्थ (वाच्य अथवा लक्ष्य किंवा व्यङ्ग्य) रमणीय हों, इसी अर्थ को सूचित करने के लिये लक्षण में 'वाचक अथवा व्यञ्जक' न कहकर सामान्य 'प्रतिपादक' पद कहा गया है। रमणीय शब्द के प्रतिपादक तो व्याकरण के भी शब्द हैं, उनमें काव्यत्वापत्ति न हो जाय इसलिये 'अर्थ' पद का निवेश समझना चाहिये।

लोकरुचिवैचित्र्येणार्थनिष्ठाया रमणीयताया अव्यवस्थानाद्व्यवस्थितिमाचष्टे—

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।

चकारस्त्वर्थकः। लोकोत्तरस्यालौकिकस्य, आह्लादस्यानन्दस्य, जनकमुत्पादकं यज्ज्ञानं, तद्गोचरतातन्निरूपितविषयतारूपाऽर्थनिष्ठा रमणीयतेत्यर्थः।

अर्थ में रमणीयता क्या हो सकती है? यदि आप कहें अच्छा लगना ही अर्थ में रमणीयता है, तो मैं कहूँगा कि बात आपकी ठीक है, परन्तु यह रमणीयता अव्यवस्थित होगी, कारण? रुचिभेद से एक ही अर्थ किसी को अच्छा और किसी को बुरा लग सकता है, अतः ग्रन्थकार व्यवस्थित रमणीयता का निर्वचन करते हैं—'रमणीयता च' इत्यादि।

जिसके ज्ञान से लोकोत्तर (अलौकिक) आनन्द उपलब्ध हो, वह अर्थ रमणीय है।

नन्वाह्लादनिष्ठं लोकोत्तरत्वं सातिशयं निरतिशयं वा ?, आद्ये तद्विशेषेऽपि बहुविधा-नामानन्दानां पूर्ववत् सङ्ग्रहेणाननुगमः, द्वितीये तु ब्रह्मानन्दस्यैव तेन ग्रहणादनुपपत्ति-रित्यतो लोकोत्तरत्वं निर्वक्ति—

लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।

आह्लादगत आनन्दनिष्ठः, चमत्कारत्वं विस्मयलक्षण-चित्तविस्तारात्मकवृत्तिवृत्तिधर्म-विशेषोऽपरः पर्यायो नामान्तरं यस्य तादृशः, तथा अनुभवः सहृदयसमवेतं प्रत्यक्षं चर्वणालक्षणं साक्षी प्रमाणं यस्मिंस्तथाभूतश्च, जातिविशेषो विलक्षणसामान्यम्। अनुभवसाक्षिकत्वकथनेन 'सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्' इति दर्पणदर्शितस्तत्र प्रत्यक्षेतरप्रमाणविरहो बोध्यते। तथा चान्येषामानन्दानामेतादृशलोकोत्तरत्वानुपगमेन सङ्ग्रहीतुमशक्यत्वान्न दोषः।

अब प्रश्न यह उठता है कि लोकोत्तर आनन्द किसको कहेंगे? अर्थात् आनन्दगत लोकोत्तरत्व यदि सातिशय (जिससे बड़ा दूसरा भी आनन्द हो सकता हो, ऐसा) विवक्षित मानेंगे, तब लोकोत्तर कहने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि व्यक्तिभेद से रुचिभेद से भिन्न-भिन्न आनन्द लोकोत्तर सिद्ध हो जायगा, जिससे अव्यवस्था बनी ही रहेगी। यदि आनन्दगत लोकोत्तरत्व निरतिशय (जिससे बड़ा दूसरा आनन्द न हो) विवक्षित करेंगे, तो ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त आनन्द (काव्यानन्द, जिसको विषयसम्पृक्त होने के कारण ब्रह्मानन्द सहोदर होने पर भी उससे भिन्न माना गया है) संगृहीत नहीं हो सकेगा, जिसका संग्रह करना ही इस प्रयोजन का मुख्य उद्देश्य है, इसलिये इन दोनों से विलक्षण लोकोत्तरत्व का निर्वचन करते हैं—'लोकोत्तरत्वं' इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ का लोकोत्तरत्व सातिशय, निरतिशय, कुछ नहीं, घटत्व, पटत्व जैसा आनन्द में रहने वाला एक जातिविशेष है, चमत्कारत्व जिसका दूसरा नाम है, सहृदयों का अनुभव ही इस जाति की सत्ता में प्रमाण है, अर्थात् जिस जिस आनन्द में सहृदयों को 'लोकोत्तरः, लोकोत्तरः' ऐसा अनुभव हो, वही आनन्द लोकोत्तर है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने

भी इस प्रसङ्ग में कहा है—'सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्' अब अव्यवस्था की शङ्का नहीं हो सकती है।

नन्वीदृशं लोकोत्तरचमत्कारं को जनयतीत्याकाङ्क्षायामाह—

कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनःपुनरनुसन्धानात्मा।

चस्त्वर्थे। तदवच्छिन्ने चमत्कारत्वरूप-लोकोत्तरत्वजात्यवच्छिन्नेऽलौकिकाह्लादे, पुनः-पुनरनुसन्धानं काव्यार्थस्य भूयोभूयः समानविषयकः स्मृतिविशेष आत्मा स्वरूपं यस्य, तादृशो भावनाविशेषस्तु कारणमित्यर्थः। इह न्यायनयोक्तभावनाऽऽख्यसंस्कारस्य व्यवच्छेदाय पुन-रित्याद्युपात्तम्। काव्यार्थस्य निरन्तरस्मरणेनैव लोकोत्तराह्लादो जन्यते, नत्वन्यादृशार्थज्ञान-मात्रेणेत्याशयः। केचित् तार्किकाङ्गीकृतभावनायाः संस्कारात्मकत्वेन ज्ञानजन्यत्वात् पुनःपु-नरनुसन्धानादात्मा यस्येति व्यधिकरणबहुव्रीहिरित्यपि वदन्ति।

पूर्वोक्त लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करने वाले कारण का निर्देश करते हैं—'कारणं च' इत्यादि। चमत्कारत्वापरपर्याय लोकोत्तरत्व जाति से अवच्छिन्न-परिचित अर्थात् विशिष्ट लोकोत्तर आनन्द में पुनः पुनः अनुसन्धानरूप अर्थात् धारावाहिक, भावनाविशेष शाब्दबोधात्मक-अनुभव ही कारण है। सार यह समझना चाहिये कि जब हम किसी काव्यवाक्य को सुनते हैं, तब शक्ति स्मरणादि जो शाब्दबोध की सामग्री मानी गई है, तदनुसार पहले वाच्यार्थ बोध होता है, तदुत्तर यदि वहां व्यङ्ग्य अर्थ रहा, तो व्यञ्जना वृत्ति द्वारा उसका बोध होता है, जो सहृदयों को अच्छा लगता है, अतः सहृदयजन बार बार उस बोध को करना चाहते हैं, जिसके लिए पुनः पुनः उन शब्दों को पढ़ते हैं, इस तरह सम्पन्न की गयी वह बोधधारा सहृदयों की आत्मा में पूर्वोक्त लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करती है। जहां व्यङ्ग्य अर्थ नहीं रहता, वहां विलक्षण वाच्यार्थ की तादृश बोधधारा (भावना) ही आनन्द की सृष्टि करती है।

आह्लादे लोकोत्तरत्वनिवेशस्य फलं दर्शयति—

'पुत्रस्ते जातः' 'धनं ते दास्यामि' इति वाक्यार्थधीजन्याह्लादस्य न लोको-त्तरत्वम्, अतो न तस्मिन् वाक्ये काव्यत्वप्रसक्तिः।

प्रसक्ति[illegible] जन्यत एव, किन्तु तदा-नन्दस्य [illegible] रमणीयार्थप्रतिपादकत्व-विधुरतया नैतद्वाक्यद्वये काव्यलक्षणातिव्याप्तिरित्यभिसन्धिः।

आनन्द में लोकोत्तर विशेषण लगाने का फल कहते हैं—'पुत्रस्ते' इत्यादि। यद्यपि 'तुम्हारे घर में लड़का पैदा हुआ' 'तुमको मैं धन दूँगा' इन वाक्यों से होने वाली भावना भी आनन्ददायिनी है, तथापि ये वाक्य काव्य नहीं हो सकते, क्योंकि इन वाक्यार्थों की भावना से होने वाला आनन्द लोकोत्तर नहीं है, सहृदयों को उस आनन्द में लोकोत्तरत्व की प्रतीति नहीं होती। मूल लक्षण में यद्यपि 'शब्दः' यह एकवचनान्त प्रयोग किया गया है, तथापि वह एकत्व संख्या विवक्षित नहीं है, अतः संक्षेपतः काव्य का यह स्वरूप हुआ कि 'जिस शब्द अथवा जिन शब्दों के अर्थ की भावना करने से किसी अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, उसको अथवा उनको काव्य कहते हैं'।

अथ काव्यलक्षणनिष्कर्षं क्रमेण प्रपञ्चयति—

इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादक-शब्दत्वम्, यत्प्रतिपादि-तार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनकताऽ-वच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्।

अथमनुना प्रकारेणोक्तार्थसिद्धौ सत्यां, चमत्कारस्य लोकोत्तराह्लादस्य जनिका या भावना काव्यार्थविषयकपुनःपुनरनुसन्धानम्, तस्या विषयो योऽर्थः, तस्य प्रतिपादकत्वे सति

शब्दत्वं काव्यत्वमिति फलितमिति सर्वत्रान्वयः। अस्मिन् प्रथमलक्षणे प्रागुक्तं ज्ञानपदं विहाय भावनापदप्रवेशस्य प्रयोजनं किमिति चेत्, श्रूयताम्—यत्र कस्यचित् पुंसः सामग्रीबलेन काव्यार्थविषयकं तदितराचमत्कारकार्थविषयकं चैकमेव समूहालम्बनात्मकं ज्ञानं जायेत, तत्र तदितरवाक्यार्थस्यापि चमत्कारजनक-तत्पुरुषसमवेत-काव्यार्थविषयकज्ञानीयविषयताऽऽश्रयत्वेन तत्प्रतिपादकशब्दे काव्यवदकाव्येऽपि काव्यत्वं तदितरवाक्ये प्रसज्येत। भावनानिवेशे तु, तस्याः स्मृतिविशेषरूपत्वेन समूहालम्बनात्मकत्वविरहाद् विषयान्तरस्य तज्ज्ञाने प्रवेशासम्भवाच्च दोषः। पुनःपुनरनुसन्धानस्य हि युगपदनेकविषयकतायाः फलबलेन सामग्रीसंचलनासम्भवः कथञ्चित् कल्पनीयः। संस्कारस्यापि क्वचित् समूहालम्बनत्वमन्यत्र व्यवस्थापितमिति तदुपादानाच्च दोषनिस्तारः।

अत्रापि लक्षणेऽतिव्याप्ते'र्यत्प्रतिपादिते'त्यादिना द्वितीयं लक्षणं विहितम्। तथाहि—यत्र कस्यचित् काव्यवाक्यार्थविषयिका निरन्तरोत्पद्यमानतया धारावाहिनी स्मृतिविशेषरूपा भावना जायेत, तत्र चमत्कारजनकभावनाविषयीभूतानां सर्वेषामेव समानाकाराणां तेषां वाक्यार्थानां प्रतिपादकत्वात्सरूपे तादृशवाक्यकदम्बके काव्यलक्षणातिव्याप्तिः स्फुटैव। तत्र हि सर्वेषां तादृशवाक्यानां चमत्कारानाधायकत्वात् काव्यत्वं न कस्यापि सम्मतम्, अपितु एकस्यैव तेषु कस्यचिदित्यापत्तिरेषितुमपि न शक्या। येन यादृशानुपूर्वीमता शब्देन, प्रतिपादिते बोधिते, अर्थे निष्ठा वृत्तिमती, या विषयता, तन्निरूपिता या भावनानिष्ठा विषयिता, तदवच्छेदकं भावनात्वम्, चमत्कारनिष्ठजन्यतानिरूपित-भावनानिष्ठजनकताया विषयतासम्बन्धेनावच्छेदकम्, तादृशानुपूर्वीमत्त्वं काव्यत्वमिति लक्षणार्थः। तथा च प्रकृतवाक्यसमूहरूपशब्दस्य चमत्कारजनकत्वविरहात् तादृशानुपूर्वीमत्त्वाभावान्नातिव्याप्तिः। आनुपूर्वी तु तद्वर्णोत्तर-तद्वर्णत्वरूपः श्रावणप्रत्यक्षविषयताऽवच्छेदको धर्मः।

अस्मिन्नपि लक्षणे यदादिपदप्रतिपाद्यार्थानां प्रकारतया शाब्दबोधे विषयीभावाद् वृत्तिज्ञानाधीनतत्तदुपस्थितीनां कारणत्वेनापेक्षणाद् गौरवम्, यत्तच्छब्दयोरव्यवस्थितार्थकतयाऽननुगमश्च दूषणं दुरुद्धरमिति स्वविशिष्टेत्यादिना तृतीयं लक्षणमभिहितम्। अत्र हि संसर्गविधया भासमानानां तदर्थानामुपस्थितेः शाब्दबोधेऽनपेक्षणाल्लाघवम्, यत्तच्छब्दविरहादननुगमाभावश्च व्यक्तमवसीयते। स्वशब्दस्तूपात्तोऽपि वैशिष्ट्यघटकार्थोपस्थापकत्वेनानुगतार्थक एव। स्वशब्देनात्र चमत्कारत्वस्य ग्रहणम्। तथा च स्वविशिष्टा चमत्कारत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपिता या भावनानिष्ठा जनकता भावनायामर्थस्य विषयतासम्बन्धेन विशेषणात्। तदवच्छेदको योऽर्थः, तत्प्रतिपादकत्वं सम्बन्धः, तेन सम्बन्धेन चमत्कारत्वविशिष्टत्वे सति शब्दत्वं काव्यत्वमिति पर्यवसितम्।

तादृशचमत्कारत्ववत्त्वसमानाधिकरणं तदेव काव्यं 'काव्य'मित्याद्यनुगतप्रतीतिविषयताऽवच्छेदकतयाऽऽस्वादविशेषजनकताऽवच्छेदकतया वा सिद्धं जातिविशेषरूपमुपाधिरूपं वा लक्ष्यताऽवच्छेदकमिति व्याख्यातारः।

लक्षणमिदं जगन्नाथस्य न सर्वथा स्वोपज्ञम् 'संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥ काव्यम्' इत्याग्नेयेन, काव्यमुपक्रम्य 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' इति दण्डिभट्टेन च प्रतिपादनात्। खण्डनन्तु केवलशब्दवृत्तिकाव्यत्वाङ्गीकारनिरसनप्रसङ्गेन गुरुत्वाभस्त्रीभविष्यति।

अब नव्य न्याय की शैली से काव्यलक्षण का परिष्कार करते हैं—'चमत्कारजनक' इत्यादि। चमत्कार (लोकोत्तर आनन्द) को उत्पन्न करने वाली जो भावना (ज्ञानधारा)

उसका विषय (जिसकी भावना हो वह) जो अर्थ, तत्प्रतिपादक शब्द का नाम हुआ काव्य और तादृश शब्दत्व का काव्यत्व। इस प्रथम परिष्कृत लक्षण में ज्ञान पद न कह कर ज्ञानधारा-वाचक-भावना-पद क्यों कहा गया, इस शङ्का का समाधान निम्नलिखित समझना चाहिये। कभी-कभी ज्ञातव्य विषयक ज्ञान सामग्री से होने वाला ज्ञान अकस्मात् विषयान्तरोद्बोधक सामग्री के जुट जाने से उदासीन वस्तु को भी विषयक बना लेता है—अर्थात् ज्ञातव्य तथा उदासीन-दोनों का एक ही ज्ञान हो जाता है, ऐसे ज्ञान को समूहालम्बन ज्ञान कहते हैं, अब आप कल्पना कीजिये कि—जहां 'शून्यं वासगृहम्' इत्यादि काव्यार्थ-विषयक-चमत्कारकारी ज्ञान में उद्बोधकान्तर-समवधान से घटरूप अर्थ भी भासित हो गया, वहां काव्यार्थ विषयक होने के नाते चमत्कार-जनक-ज्ञान का विषय घटरूप अर्थ भी हुआ, अतः उस घटरूप अर्थ के प्रतिपादन करने वाला 'घटः' इत्याकारक शब्द में भी काव्यत्व प्राप्त हो जायगा, उसी काव्यत्वापत्ति को हटाने के लिए ज्ञान पद न कह कर भावना पद कहा गया है। भावना पद कहने पर आपत्ति इसलिये नहीं हुई कि एक बार भले ही उद्बोधकान्तर के जुट जाने से काव्यार्थ विषयक ज्ञान में घटरूप अर्थ भासित हो जाय परन्तु काव्यार्थ विषयक ज्ञानधारा में उसका भासित होना असम्भव है, कारण ? अकस्मात् जुटने वाला उद्बोधक बराबर जुटता रहेगा, ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती है। यदि कोई वादी ऐसा दुराग्रह करे कि—हां, महाशय, जब-जब काव्यार्थ-विषयक ज्ञान हुआ तब-तब, उद्बोधक जुटता ही रहा, उदासीन घटादि रूप अर्थ उस ज्ञान में भासित होता ही गया, तब तो भावना पद निवेश से भी निस्तार नहीं, अतः 'यत्प्रतिपादितार्थ' इत्यादि द्वितीय परिष्कृत लक्षण करने की आवश्यकता हुई, जिससे वादी का उक्त दुराग्रह भी दूर हो जाय, कहने का आशय यह है कि-'शून्यवासगृहम्' इत्यादि काव्य वाक्य तथा 'घटः' इन दोनों शब्दों से प्रतिपादित-अर्थ-विषयक-भावना के एक होने पर भी काव्य शब्द प्रतिपादितार्थ विषयक भावनात्व, एवं 'घटः' इत्यादि उदासीन शब्द प्रतिपादितार्थविषयक भावनात्व एक नहीं, भिन्न है। इस स्थिति में चमत्कार-जनकता का अवच्छेदक (परिचायक) काव्य शब्द प्रतिपादितार्थविषयक भावनात्व ही हो सकता है, दूसरा नहीं, क्योंकि—जिसका जो धर्म अन्यून (अल्पदेश में न रहने वाला) और अनतिप्रसक्त (अधिक देश में न रहने वाला) होता है, वही धर्म उसका अवच्छेदक हो सकता है, उदासीन 'घटः' इत्यादि शब्द-प्रतिपादितार्थ-विषयक-भावनात्व शुद्ध 'घटः' इत्यादि शब्द-प्रतिपादितार्थ-विषयक-भावना पर भी है, जहां चमत्कार-जनकता नहीं है, अतः वह अधिक देशवृत्ती (अतिप्रसक्त) धर्म होने से चमत्कार-जनकता का अवच्छेदक समूहालम्बन स्थल में नहीं होगा, फिर द्वितीय लक्षण के हिसाब से उक्त स्थल में आपत्ति नहीं हुई। किन्तु इस द्वितीय लक्षण में भी एक नई आपत्ति यह उपस्थित हो जाती है कि—यह लक्षण उस यत् और तत् पद से घटित है, जिसका अर्थ अननुगत है—अर्थात् कोई एक निश्चित नहीं है, अतः तादृश यत्तत् पद घटित लक्षण भी अननुगत होगा, फिर लक्षण बनाने का उद्देश्य (अनुगम करना) सिद्ध नहीं हो सकेगा, दूसरी बात यह है कि कारणपद जनकतावच्छेदक गुरु हो जाने से गौरव भी होगा, अर्थात् लक्षण को लघु होना चाहिये, सो नहीं हुआ, इसलिये 'स्वविशिष्टजनकता' इत्यादि तृतीय लक्षण का अवतार समझना चाहिये। तृतीय परिष्कार के अनुसार काव्य का लक्षण 'चमत्कारत्ववत्त्व' मात्र हुआ, जो न बड़ा है, न यत्, तत् पद घटित ही, अतः गौरव किंवा अननुगम की शङ्का जाती रही। यहां लोकोत्तरत्व का पर्यायवाची चमत्कारत्व जाति विशेष माना गया है, जो, यद्यपि साक्षात्सम्बन्ध (समवाय) से चमत्कार—लोकोत्तर आनन्द में ही रह सकता है, काव्य में नहीं तथापि ग्रन्थोक्त 'स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थ प्रतिपादकता' रूप परम्परा सम्बन्ध से काव्य में रहेगा। यद्यपि यह सम्बन्ध लम्बा अवश्य है, तथापि सम्बन्ध लक्षण घटक नहीं कहलाता, इसलिये अब उक्त दोषों का प्रसङ्ग नहीं उपस्थित हो सकता,

ऐसा समझना चाहिये। इस सम्बन्ध में स्वपद से चमत्कारत्व का ग्रहण करना चाहिये, समवाय सम्बन्ध से तद्विशिष्ट होगा चमत्कार, उसकी (तन्निरूपित) जनकता रहेगी भावना (ज्ञानधारा) में, उस जनकता से निरूपित विषयता सम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकता रहेगी काव्यार्थ में, अर्थात्—विषयता सम्बन्ध से काव्यार्थ भी भावना में प्रकार होता है, अतः वह (काव्यार्थ) भी भावनानिष्ठ जनकता का अवच्छेदक होगा—उस, काव्यार्थ का प्रतिपादक होगा शब्द, अतः तादृश प्रतिपादकता सम्बन्ध से स्व (चमत्कारत्व) शब्द में रहेगा। इसी तरह से लक्षण का समन्वय करना चाहिये।

इत्थं स्वकीयं काव्यलक्षणं प्रतिपाद्य काव्यप्रकाशकृतस्तत् खण्डयितुमुपक्रम्य तत्र प्रथमं विशेष्यदलेऽर्थस्य निक्षेपमाक्षिपति—

यत्तु प्राञ्चः—'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्याहुः। तत्र विचार्यते—शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात्, 'काव्यमुच्चैः पठ्यते' 'काव्यादर्थोऽवगम्यते' 'काव्यं श्रुतम्, अर्थो न ज्ञातः' इत्यादिविश्वजनीनव्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च।

तुना वक्ष्यमाणाऽरुचिः सूच्यते। प्राञ्चः काव्यप्रकाशकाराः। आहुरित्यग्रिमेणान्वयः। विचार्यते युक्तायुक्तत्वमितिशेषः। विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो जनेभ्यो हितो विश्वजनीनो व्यवहारः। प्रत्युतोक्तवैपरीत्ये। एवकारः शब्दार्थयोरर्थमात्रस्य व्यवच्छेदकः।

प्राचीनैः शब्दार्थोभयस्य काव्यत्वमङ्गीक्रियत इति न शोभनम्, यतः शब्दार्थयोः काव्यत्वस्य ज्ञापकं किञ्चिदपि प्रमाणं नोपलभ्यते। किञ्चार्थस्य कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्योच्चारणलक्षणपाठायोग्यत्वेन 'काव्यमुच्चैः पठ्यते' इत्यादिरूपः, अर्थस्यापि काव्यपदार्थत्वेन पृथक् तदुल्लेखानर्हत्वात् 'काव्यादर्थोऽवगम्यते' इत्यादिरूपः, अर्थस्य श्रवणासम्भवात् काव्यपदार्थत्वेनैव सद्ग्राह्यत्वाच्च 'काव्यं श्रुतम्, अर्थो न ज्ञातः' इत्यादिरूपश्च सर्वानुमतो व्यवहारो नोपपद्यते। अर्वाचीनमते तु प्रमाणान्तराभावेऽपि, शब्द विशेषमात्रस्य काव्यत्वाभ्युपगमेन प्रादुर्भवन्ती तद्व्यवहारोपपत्तिरेव प्रमाणीभवतीति तत्त्वम्।

अब पण्डितराज स्वसम्मत काव्यलक्षण निरूपण कर लेने के बाद प्राचीन आचार्य द्वारा किए गये काव्य लक्षणों के खण्डन प्रसङ्ग में सर्वप्रथम काव्यप्रकाशकार मम्मट कृत लक्षण की चर्चा करते हैं—'यत्तु प्राञ्चः' इत्यादि। काव्यप्रकाशकार ने 'दोषरहित, गुण तथा अलङ्कार सहित शब्दार्थ युगल' को काव्य माना है, हां, अलङ्कार के अंश में इतनी छूट उन्होंने अवश्य दी है कि—कहीं-कहीं स्पष्ट अलङ्कार नहीं रहने पर भी और अंश के रहने पर शब्दार्थसमूह को काव्य कहा जा सकता है, परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के विचार से यह लक्षण ठीक नहीं है, कारण? पहले 'शब्दार्थ युगल' को काव्य मानने में कोई प्रमाण नहीं। प्रत्युत 'काव्य जोर से पढ़ा जा रहा है, काव्य से अर्थ समझा जाता है, काव्य सुना अर्थ ज्ञात न हो सका' इत्यादि सार्वजनिक व्यवहार से विशिष्ट प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है, अर्थ नहीं क्योंकि 'शब्द और अर्थ' दोनों को काव्य मानने पर उक्त व्यवहार नहीं बन सकते—अर्थात् यदि अर्थ भी काव्य होता तो उसका पाठ कैसे सम्भव हो सकता, अर्थ के भी काव्य के अन्दर आ जाने पर काव्य से अर्थ का समझना भी नहीं बन पड़ता, और अर्थमिश्रित काव्य का श्रवण भी समुचित नहीं जान पड़ता, अतः शब्दमात्र को ही काव्य मानना ठीक है 'शब्द अर्थ' दोनों को नहीं।

प्रतिपक्षिपक्षमुपक्षिप्याक्षिपति—

व्यवहारः शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति चेत्, स्यादप्येवम्, यदि काव्यपदार्थतया पराभिमते शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्तेः प्रमापकं दृढतरं किमपि प्रमाणं स्यात्। तदेव तु न पश्यामः।

व्यवहारः 'काव्यमुच्चैः पठ्यते' इत्यादिशब्दप्रयोगरूपः । अवयवावयविभावरूपशक्य-सम्बन्धमूलकगौणवृत्त्या । पराभिमते काव्यप्रकाशकारादिसम्मते । काव्यशब्दशक्तेः काव्यपद-निष्ठाभिधायाः । प्रमापकं ज्ञापकम् । तदेव शब्दार्थोभयशक्तिग्राहकं प्रमाणमेव ।

यथा 'पूर्वे पञ्चालाः' इत्यादौ समस्तपञ्चालदेशवाचकानां पञ्चालादिशब्दानां तदेकदेशे लक्षणया प्रयोगः, तथैवोक्तव्यवहारेषु शब्दार्थोभयवाचकस्य काव्यशब्दस्य स्वार्थैकदेशे शब्द-मात्रे लक्षणायाः स्वीकारेण व्यवहाराणामुपपत्तिः स्यादित्यपि वक्तुं न युक्तम्, काव्यपदनि-ष्ठायाः शब्दार्थोभयनिरूपिताभिधाया ग्राहकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्यानुपलम्भादिति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि—जहाँ शब्दमात्र के लिये काव्य पद का प्रयोग किया गया हो, वहाँ लक्षणावृत्ति से काम लिया गया है, अर्थात्—उक्त व्यावहारिक वाक्यों में काव्यपद का लाक्षणिक प्रयोग है, शब्दार्थ युगल वाचक काव्यपद का प्रयोग लक्षणावृत्ति के द्वारा केवल शब्द में भी हो सकता है, जैसे समस्त-पाञ्चाल-देश-वाचक पाञ्चाल शब्द का प्रयोग 'पूर्वे पाञ्चालाः' इत्यादि स्थलों में देश के एक भाग में भी लक्षणा से होता है, इस तर्क का उत्तर पण्डितराज यह देते हैं कि—आपका यह (लक्षणा द्वारा काम चलाने वाला) कथन तब सङ्गत हो सकता था, जब आप किसी प्रबल प्रमाण से यह सिद्ध कर दें कि काव्यपद का मुख्य (वाच्य) अर्थ 'शब्द और अर्थ' दोनों ही हैं । परन्तु ऐसा प्रमाण ही तो नहीं दृष्टिगोचर होता ।

ननु तत्र कथं प्रमाणाभावः, प्रमाणान्तरविरहेऽपि काव्यप्रकाशकारादिप्राचीनोक्तेरेव प्रमाणत्वादित्यत आह—

विमतवाक्यं त्वश्रद्धेयमेव ।

अनुपपत्तिप्रकटनेन तन्मतनिराकरणपरैरस्माभिस्तद्वाक्यमेव कथं प्रमाणत्वेन विश्वसनीय-मिति भावः ।

यदि आप कहें कि प्रमाण क्यों नहीं दृष्टिगोचर होता? क्या आप शब्दप्रमाण को नहीं मानते? अर्थात् आचार्य मम्मट का वाक्य ही शब्दार्थ युगल को काव्यपद वाच्य होने में प्रमाण है । हाँ, शब्द को मैं प्रमाण मानता हूँ, परन्तु आप्त के शब्द को—वादी के शब्द को नहीं, मम्मट तो वादी हैं उन्हीं के साथ मेरा विवाद है फिर उनके शब्द को ही प्रमाण कैसे मान लूँ?

उपसंहरति—

इत्थं चासति काव्यशब्दस्य शब्दार्थयुगलशक्तिग्राहके प्रमाणे प्रागुक्ताद् व्यवहारतः शब्दविशेषे सिद्ध्यन्तीं शक्तिं को नाम निवारयितुमीष्टे ।

इत्थं प्रतिपक्षिवाक्यस्याश्रद्धेयत्वेनाप्रामाण्येन । प्रागुक्तात् 'काव्यमुच्चैः पठ्यते' इत्यादि-रूपात् । शब्दविशेषे रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दमात्रे । को नाम नैवकश्चित् । ईष्टे शक्नोति ।

इदमुच्यते—'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति, सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ।'

इति तार्किकसिद्धान्तादिह व्याकरणादिशक्तिग्राहकप्रमाणान्तरानुपलम्भेऽपि पूर्वं कथितो व्यवहार एव काव्यपदस्य शब्दमात्रशक्तिग्रहे प्रमाणम्, तस्यापि शक्तिग्राहकोक्तत्वात् ।

इस तरह जब कि 'शब्द और अर्थ' दोनों में काव्यपद की अभिधाशक्ति को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, तब पूर्वोक्त व्यवहाररूप प्रमाण से शब्दमात्र में सिद्ध होने वाली काव्य-पद-शक्ति को कौन रोक सकता है।

एकतरपक्षे विनिगमनाविरहादुभयत्र शब्दार्थयोः काव्यशब्दशक्तिं स्वीकुर्वतां मतं निराकरोति—

एतेन विनिगमनाऽभावादुभयत्र शक्तिरिति प्रत्युक्तम् ।

एतेन पूर्वोक्तव्यवहाररूपविनिगमकसद्भावेन । एकतरपक्षपातिनी युक्तिर्विनिगमना । प्रत्युक्तं खण्डितम् ।

इसी से 'शब्दमात्र को काव्य मानने में कोई विशेष युक्ति नहीं है, इसलिये 'शब्द और अर्थ' दोनों को काव्य मानना चाहिये' इस तर्क का भी उत्तर हो जाता है, क्योंकि शब्दमात्र को काव्य मानने में पूर्वोक्त-लौकिक-व्यवहाररूप-विनिगमक (एकतरपक्षपातिनीयुक्ति) वर्तमान है ।

पर्यवसितमाचष्टे—

तदेवं शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वे सिद्धे, तस्यैव लक्षणं वक्तुं युक्तम् , न तु स्वकल्पितस्य काव्यपदार्थस्य ।

प्राक् प्रदर्शितव्यवहारैर्यदा काव्यपदस्य शब्दविशेषमात्रे शक्तिर्निर्धारिता, तदा तादृश-शब्दमात्रवृत्त्यैव काव्यस्य लक्षणं कथयितुमुचितम् , न पुनः शब्दार्थोभयवृत्तीति सारम् ।

इस तरह विशिष्ट प्रकारक शब्द को ही काव्य सिद्ध हो जाने पर तदनुसार शब्दमात्र-गत-काव्यलक्षण बनाना उचित है, न कि अपनी ओर से काव्यरूप में कल्पित-शब्दार्थ युगल-गत लक्षण बनाना ।

स्वमतं द्रढयितुं प्रसङ्गादाह—

एषैव च वेदपुराणादिलक्षणेष्वपि गतिः। अन्यथा तत्रापीयं दुरवस्था स्यात् ।

एषैव शब्दविशेषमात्रवृत्तित्वस्वीकृतिरेव । गतिरुपायः। आदिपदेनेतिहासप्रभृतिपरिग्रहः । अन्यथा वेदत्वादेरपि शब्दार्थोभयवृत्तित्वस्वीकारे । दुरवस्थातत्तद्व्यवहारविरोधापत्तिः ।

'वेद उच्चैः पठ्यते' 'वेदादर्थोऽवगम्यते' 'वेदः श्रुतः, अर्थो न ज्ञातः' इत्यादितत्तद्व्यवहारेभ्यो वेदपुराणादिशब्दानामपि शब्दविशेष एव शक्तिमवधार्य शब्दविशेषमात्रवृत्त्यैव वेदादिलक्षणं विधेयम् । शब्दार्थोभयवृत्तितल्लक्षणनिर्माणे तु काव्यवद् व्यवहारविरोधः स्फुट एवेत्याशयः ।

एतच्च 'स्वर्गविशेषजनकताऽवच्छेदकजातिभेदकफलोद्देश्यकप्रमाजन्यप्रयत्नविषयवाक्य-परम्परा ग्रन्थः । तद्वृत्तिग्रन्थत्वं जातिः । ग्रन्थत्वव्याप्या एव वेदत्वादिजातयः ।' इत्यादि-सन्दर्भेण काव्यप्रकाशविवरणे विस्तरेण प्रपञ्चितम् ।

स्वमत को पुष्ट करने के लिये प्रसङ्ग प्राप्त विषयान्तर की चर्चा करते हैं—'एषैव च' इत्यादि । वेद, पुराण, इतिहास, प्रभृति के लक्षणों के सम्बन्ध में भी यही उपाय करना होगा, अर्थात् इन सबों का लक्षण भी शब्दविशेष मात्र वृत्ती ही बनाना चाहिये अन्यथा वहाँ भी इसी तरह की गड़बड़ी होगी, कहने का तात्पर्य यह है कि—यदि शब्दार्थ समूह को वेद आदि मानेंगे तो 'वेद जोर से पढ़ा जाता है, वेद से अर्थ समझा जाता है, वेद सुना, अर्थ समझ में नहीं आया' इत्यादि व्यवहार विरुद्ध हो जायँगे ।

प्राचीनमतं पुनरपाकरोति—

यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम् , तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्ट-मित्याहुः, तन्न, रागस्यापि रसव्यञ्जकतया ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिकसम्मतत्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः । किं बहुना नाट्याङ्गानां सर्वेषामपि प्रायशस्तथा-त्वेन तत्त्वापत्तिर्दुर्वारैव ।

आहुरित्यनेन यत्त्वित्यन्वेति । अविशिष्टं तुल्यं साधारणमिति यावत् । रागस्य सङ्गीतानु-शासनोक्त-गीतस्वरविशेषस्य भैरवादिसञ्ज्ञकस्य । गीतशब्दानां रसव्यञ्जकता ध्वनिकृता तृतीयोद्द्योते दर्शिता । लक्षणीयत्वापत्ते रागस्यापि रसव्यञ्जकतयाऽऽस्वादोद्बोधकत्वलक्षण-

लक्ष्यताऽवच्छेदकाकान्तत्वेन तत्र काव्यलक्षणातिव्याप्त्यापत्तेः। सर्वेषां नाट्याङ्गानां भरतोक्तानां मातोद्यकरणाङ्गहारादीनाम् । प्रायशो बाहुल्येन, तेन कस्यचित् तदभावोऽपि । तथात्वेन-स्वादोद्बोधकत्वेन । तथात्वापत्तिः । काव्यत्वातिव्याप्तिः ।

'अलौकिकास्वादस्यैव काव्यस्य प्रधानप्रयोजनत्वेनाभियुक्तोक्तेस्तद्व्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वं वक्तुं युक्तम्। आस्वादव्यञ्जकता च क्वचिच्छब्दे क्वचिदर्थे क्वचिच्चोभयत्रेत्यगत्या शब्दार्थयोरेव काव्यत्वमभ्युपगन्तव्यम्, न पुनः शब्दमात्रे' इति केषांचिन्मतमसङ्गतम्, आस्वादव्यञ्जकत्वमात्रस्य रसव्यञ्जकेषु रागेषु कतिपयेषु नाट्याङ्गेषु चातिप्रसक्तत्वात्। न चेष्टाऽऽपत्तिः, तेषामुपदेशादिप्रयोजनान्तरानुत्पादकत्वादित्याकूतम् ।

यहाँ मम्मट-मत-समर्थक कुछ लोग एक और नवीन तर्क उपस्थित करते हैं। उनका कथन यह है कि—काव्य उसको कहना चाहिये, जिससे रस का उद्बोध होता हो, जिससे सहृदयों को अलौकिक आह्लाद प्राप्त होता हो और उस आह्लाद को देने की शक्ति शब्द और अर्थ दोनों में समानरूप से है, अतः 'शब्द और अर्थ' दोनों को काव्य कहना न्याय प्राप्त है। पण्डितराज का कथन है—आपका यह तर्क ठीक नहीं। यदि रस को उद्बुद्ध करने वाली जो भी चीज हो उसको काव्य माना जाय तो राग को भी काव्य मानना पड़ेगा क्योंकि ध्वनिकार 'आनन्दवर्धन' आदि सभी साहित्यिक मनीषियों ने राग को रस व्यञ्जक माना है। यदि आप कहें कि—राग को भी काव्य मान लेने में आपत्ति ही क्या है, तो सुनिये—रसव्यञ्जक होने से यदि किसी को काव्य माना जाय, तो फिर राग मात्र को ही काव्य मान लेने से छुटकारा थोड़े ही मिल जायगा, नाटक के जितने अङ्ग (नृत्य, वाद्य, नेपथ्य सामग्री, आदि) हैं सभी को काव्य मानना पड़ेगा, जो किसी को भी इष्ट नहीं हो सकता।

आंशिकं मतान्तरं निरस्यति—

एतेन रसोद्बोधसमर्थस्यैवात्र लक्ष्यत्वमित्यपि परास्तम् ।

एतेन रागादिष्वतिप्रसङ्गेन । रसोद्बोधसामर्थ्यं व्यञ्जना, तच्च शब्दवदर्थेऽप्यक्षतमित्युभयोरेव काव्यत्वम् । लक्ष्यत्वं काव्यत्वमेवेति शेषः । अपिना पूर्वमतसंग्रहः ।

इसी कारण से 'जो रसोद्बोधन में समर्थ हो—जिससे सहृदयों का आत्मानन्द जाग्रत् हो उठे—वही काव्यलक्षण का लक्ष्य है' यह कथन भी खण्डित समझना चाहिये।

उक्तमतानि पुनर्विकल्पोपन्यासेन दूषयति—

अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तम्? प्रत्येकपर्याप्तं वा? नाद्यः, 'एको न द्वौ' इति व्यवहारस्येव 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इति व्यवहारस्यापत्तेः। न द्वितीयः, एकस्मिन् काव्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः।

प्रवृत्तिनिमित्तं शक्यताऽवच्छेदकम्, 'वाच्यत्वे सति, वाच्यवृत्तित्वे सति, वाच्योपस्थितिप्रकारत्वम्' इति तल्लक्षणस्यान्यत्राभिधानात् । व्यासक्तं व्यासज्यवृत्ति एकमेवोभयं व्याप्य तिष्ठत् । प्रत्येकमेकस्मिन्नेकस्मिन् शब्दे चार्थे च पर्याप्तं पर्याप्तिसम्बन्धेन विद्यमानम्, समूहावृत्ति । वाशब्दो विकल्पार्थकः । नाद्यः पक्षः सङ्गत इति शेषः, स च काव्यत्वस्य शब्दार्थोभयव्यासज्यवृत्तित्वप्रतिपादकः । द्वितीयस्तु प्रत्येकपर्याप्तत्वप्रतिपादकः ।

प्रत्येकवृत्तिधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकनिरूपकस्य, व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकनिरूपकस्य तु भेदस्यैकत्वात् 'एको न द्वौ' इति व्यवहारः 'घटो न घटपटौ' इत्यादि व्यवहारवद् यथा भवति, तथैव प्रकृते काव्यत्वस्य शब्दार्थोभयव्यासज्यवृत्तितायां स्वीकारे श्लोकवाक्यात्मकशब्दमात्रपर्याप्तिविरहाच्छ्लोकवाक्यत्वावच्छिन्नानुयोगिताक-तादृशशब्दार्थोभयत्वावच्छिन्न-

प्रतियोगिताकभेदस्य सुवचत्वेन 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इति व्यवहारो भवेत्। शब्दमात्र-पर्याप्त्यङ्गीकारे तु भेदीयप्रतियोगिताऽवच्छेदकानुयोगिताऽवच्छेदकयोरैक्याद् 'घटो न घटः' इत्यादिवच्च तथा व्यवहारस्यापत्तिः। शब्दे चार्थे च प्रत्येकमपि काव्यत्वं पर्याप्त्या वर्तत इत्यास्थाने पुनः शब्दांशे पृथक् काव्यत्वम् अर्थांशे च पृथक् तदादाय सर्वाभिमत एकस्मिन्नपि काव्ये 'काव्यद्वयमिदम्' इति व्यवहारस्यापत्तिः। न चैतावता का क्षतिरिति वाच्यम्, तादृशस्थले 'नैकं काव्यम्' इत्याकारकौत्तरकालिकबाधग्रहविरहात् 'एकं काव्यम्' इति प्रमाऽऽत्मकप्रतीत्युच्छेदापत्तेरिति भावः।

महामहोपाध्यायगोकुलनाथचरणास्तु—'यद्यप्यर्थो न कविकर्म, तथाऽपि प्रथमप्रकाश्य-मेवात्र कर्माभिधीयते। अन्यथा शब्दनित्यतावादे मौनिना लिखित्वा ज्ञापिते च शब्देऽपि कविकर्मत्वं न स्यात्। तथाच विनिगमनाविरहादर्थविशेषावरुद्धः शब्द इव शब्दविशेषाव-रुद्धोऽर्थोऽपि लोकोत्तरचमत्कारव्यञ्जकतया काव्यमित्युभयोः प्राधान्येन निर्देशः। 'काव्यं शृणोति' इति व्यवहारस्त्वर्थांशेऽपि शाब्दबोधार्थकशृणोतिनोपपादयितुं शक्यते 'आत्मा श्रोतव्यः' इति वत्। यत्तु 'शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली' इति वचनम्, तत्र व्यवच्छेदः समुच्चय एव, नत्ववच्छिन्नत्वम्, विनिगमनाविरहात्। 'रसवच्छब्दार्थोभयत्वं काव्य-लक्षणम्। तत्र गीतादावतिव्याप्तेर्वारणायार्थः, अभिनेयार्थवारणाय शब्दोऽप्युपात्तः।' इत्याहुः।

नागेशभट्टास्तु—'यदित्वास्वादव्यञ्जकत्वस्याप्युभयत्राप्यविशेषा चमत्कारिबोधजनकज्ञान-विषयताऽवच्छेदकधर्मवत्त्वरूपस्यानुपहसनीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युक्तलक्ष्यताऽवच्छेदक-स्योभयवृत्तित्वाच्च 'काव्यं पठितम्' 'श्रुतं काव्यम्' 'बुद्धं काव्यम्' इत्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यवृत्ति। अत एव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादकः 'तदधीते' इत्यादिसूत्रस्थो भगवान् पतञ्जलिः[1] सङ्गच्छते। लक्षणयाऽन्यतरस्मिन्नपि तत्त्वाद् 'एको न द्वौ' इति वच्च तदापत्तिः। तेनानुपहसनीयकाव्यलक्षणं प्रकाशोक्तं निर्बाधम्। एव मास्वादादौ वैलक्षण्यनिवेशादुक्तलक्षणद्वयमपि निर्बाधमिति नान्यमतमपि दुष्टमित्युच्यते, तथ्यंस्तु तथा।' इत्याचक्षते।

म० म० गङ्गाधरशास्त्रिणस्तु—'अत्रेदमवधेयम्' 'तददोषौ शब्दार्थौ' 'अदोषं गुणवत् काव्यम्' इत्यादिषु प्रदर्शितानां दोषाभावगुणालङ्काराणां काव्यसामान्यलक्षणोद्देश्यताऽवच्छे-दककोटिप्रवेशो नास्त्येव। उद्देश्यता पुनः शब्दार्थयोरेव, न तु शब्दमात्रे, शब्दमात्रे कविसं-रम्भगोचरत्वायोगेन लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्मताया उभयत्राप्यविशेषात्, कव्युच्चारणकर्म-तायाः शब्दे, कविसमवेतरसबोधौपयिकसामग्रीसङ्घटनविषयकज्ञानकर्मताया अर्थे सत्त्वात्। अर्थपदेन वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यात्मनस्त्रिविधस्यापि विवक्षायाः सर्वैरेवालङ्कारिकैस्त्रितयनिरूपणेना-वश्यमभ्युपगन्तव्यतया सर्वविधस्यापि व्यङ्ग्यस्य निरुक्तज्ञानकर्मतया काव्यत्वस्य दुर्वारत्वात्।

इत्थं च कविकर्तृकरसविषयकज्ञानौपयिकसामग्रीसङ्घटनविषयकज्ञानविषयत्वं शब्दार्थयो-रनुगतं काव्यत्वम् 'अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तु शब्दस्य सहकारिता' 'अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सह-

---

[1] तथाच 'तदधीते तद्वेद। किमर्थमुभावप्यर्थौ निर्दिश्येते। न योऽधीते वेत्त्यप्यसौ। यस्तु वेत्त्यधीतेऽप्यसौ। नैतयोरावश्यकः समावेशः। भवति हि कश्चित् सम्पाठं पठति न वेत्ति, तथा कश्चिद् वेत्ति, न च सम्पाठं पठति।' इति भाष्यम्। 'यो हि यं ग्रन्थमधीते, स तं स्वरूपतोऽवश्यं वेत्ति। यं च स्वरूपतो वेत्ति, सोऽवश्यमधीत इति भावः। नैतयोरिति—अर्थावबोधो वेदनमभिप्रेतम्, न तु स्वरूपमात्रवेदनम्। तत्र परस्परव्यभिचारदर्शनादुभयोपादानमित्यर्थः। सम्पाठमिति—अर्थनिरपेक्षं स्वाध्यायं पठतीत्यर्थः।' इति च तत्प्रदीपः।

कारितया मतः ।' इत्युक्तदिशोभयस्यापि निरुक्तसामग्रीघटकतायाः सूपपादत्वात् । इत्थं च न लास्याङ्गानां काव्यत्वापत्तिः, तस्य कविकर्तृकनिरुक्तज्ञानविषयताया अभावात्, विषयान्तरव्यासक्तसामाजिकमनसां तद्विषयाभिमुख्यपरिहारपूर्वकं काव्यार्थभावना प्रवणतासम्पादकत्वेन रसोद्बोधं प्रति परम्परया प्रयोजकत्वेऽपि प्रदर्शितसामग्रीघटकताया अभावाच्च ।

अत एवार्थदोषाणामर्थगुणानामर्थालङ्काराणामर्थशक्तिमूलकध्वनीनां च निरूपणमुपपद्यते । शब्दमात्रस्य काव्यत्वे तद्गतानामेव दोषगुणालङ्कारध्वनीनां निरूपणस्यौचित्येन भूयसामर्थगतानां तेषां निरूपणस्याप्रसक्त्या तन्निरूपणस्योन्मत्तप्रलापत्वापत्तेः । न च तेषामुक्तमाद्यन्यतमकाव्यपदार्थप्रवेशाभावेऽपि रसोपयोगितामात्रेण निबन्धनमुपपद्यत इति वाच्यम्, काव्याङ्गनिरूपणं प्रतिज्ञाय तेषां निरूपणस्यासङ्गत्यापत्तेर्दुस्समाधानत्वात् । प्रत्युत त्वदापादितप्रकारेण लास्याङ्गानां निरूपणीयताऽऽपत्तेस्त्वन्मत एव दोषत्वात् । एवं च 'काव्यं श्रुतम्' इत्यादिप्रतीतीनामपि ऋक्त्वादेरर्थशब्दोभयवृत्तिताया महाभाष्यकारादिनिरुक्तत्वेन 'ऋचः पठति' इत्यादिप्रतीतीनामिव भाक्तत्वमेव ।

'एतेन वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इति शब्दमात्रे काव्यसामान्यलक्षणयोगितां प्रतिजानानः, स्वयमेवाग्रे-'दृश्यश्रव्यविभेदेन पुनः काव्यं द्विधामतम्' इत्यभिदधत् पूर्वापरविरोधमप्यनाकलयन् दर्पणग्रन्थोऽन्योऽपि तज्जातीयो ग्रन्थश्चिन्त्य एवेति सहृदया विभावयन्तु ।' इति व्याहरन्ति ।

तदेतन्निखिलमपि समासेन प्रदर्शितमस्माभिः साहित्यमीमांसायां काव्यलक्षणनिरूपणप्रसङ्गेन ।

'शब्द और अर्थ' दोनों काव्य नहीं हैं इस सिद्धान्त के समर्थन में पण्डितराज कुछ और नवीन युक्ति बतलाते हैं— 'अपिच' इत्यादि । इस सन्दर्भ का भाव यह है कि किसी समुदाय में ही रहने वाला धर्म व्यासज्यवृत्ति कहलाता है—जैसे द्वित्व, बहुत्व आदि, और एक में रहने वाला धर्म कहलाता है, प्रत्येक पर्याप्त जैसे मनुष्यत्व आदि। अब विचार यह करना है कि काव्य-पद-प्रवृत्ति-निमित्त (काव्यत्व) किस कोटि का धर्म है? शब्दार्थ समूह में रहने वाला, व्यासज्यवृत्ती ? किंवा शब्द और अर्थ में रहने वाला, प्रत्येक पर्याप्त ? अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य कहलाते हैं, अथवा प्रत्येक, पृथक् पृथक् ? यदि आप प्रथम पक्ष को कबूल करते हैं, तब तो जैसे 'एक, दो नहीं है, घट, घट-पटोभय नहीं है' ये सब व्यवहार होते हैं—अर्थात् एक में दो का भेद मानते हैं, दो के अवयव प्रत्येक एक को दो नहीं कह सकते, उसी तरह 'श्लोक वाक्य काव्य नहीं है' ऐसा व्यवहार होने लगेगा, अर्थात् श्लोक वाक्य को आप काव्य नहीं कह सकेंगे, क्योंकि वाक्य, काव्य का एक अवयव मात्र है। यदि द्वितीय पक्ष को अपनाते हैं, तब भी एक ही श्लोक में 'यहाँ दो काव्य हैं' ऐसा व्यवहार होने लगेगा, अर्थात् शब्दभाग को लेकर एक काव्य और अर्थभाग को लेकर दूसरा काव्य कहलायगा, इष्टापत्ति तो कर नहीं सकते, कारण ? इष्टापत्ति करने से एक पद्य में होने वाली 'यह एक काव्य है' इस प्रमात्मक प्रतीति का उच्छेद हो जायगा। 'यह प्रतीति प्रमात्मक नहीं है' यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि जब उत्तरकाल में बाध ज्ञान नहीं होता, तब उस प्रतीति को भ्रम कैसे माना जा सकता है!

पर्यवसितं निगमयति—

तस्माद् वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता ।

शास्त्रं स्मृतिदर्शनादि । एवकारोऽर्थनिष्ठत्वं व्यवच्छिनत्ति । इह चकाव्यं आनुरूप्येण ।

इसलिये वेद, शास्त्र, (स्मृति, दर्शन प्रभृति) और पुराणों के लक्षणों की तरह काव्य का लक्षण भी शब्दनिष्ठ ही होना चाहिये। अर्थात् शब्दमात्र को काव्य मानना चाहिये,

शब्द-अर्थ दोनों को नहीं। यद्यपि महामहोपाध्याय 'गोकुलनाथ उपाध्याय', महावैयाकरण 'नागेशभट्ट' और महामहोपाध्याय 'गङ्गाधरशास्त्री' ने भिन्न-भिन्न युक्तियों से शब्द-काव्यत्व-वाद का खण्डन कर शब्दार्थ युगल में काव्यत्व को स्थिर किया है, तथापि मैं ग्रन्थ विस्तारभय से यहाँ उन सब युक्तियों का उल्लेख नहीं करता हूँ। जिज्ञासुओं को संस्कृतटीका से उनका ज्ञान करना चाहिये।

इत्थं मम्मटभट्टोक्तकाव्यलक्षणघटकं विशेष्यदलं निरस्य विशेषणदलमपि निरसितुमुपक्रमते—

लक्षणे गुणालङ्कारादिनिवेशोऽपि न युक्तः, 'उदितं मण्डलं विधोः' इति काव्ये दूत्यभिसारिकाविरहिण्यादिसमुदीरितेऽभिसरणविधिनिषेधजीवनाभावादिपरे 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ चाव्याप्त्यापत्तेः।

लक्षणे काव्यसामान्यलक्षणे। प्रथमेनादिपदेन दोषाभावः, मध्यमेन सहचरीप्रभृतिः, चरमेण च तन्नभासत्तिप्रमुखं परामृश्यते। 'उदितं मण्डलं विधोः' इति चन्द्रबिम्बकर्तृकोदय-क्रियाऽर्थकम्। दूत्याद्युदीरितशब्दानामभिसरणविध्यादिभिर्व्यङ्ग्यैः सह यथासङ्ख्यमन्वयः। तथा चाभिसरणस्य विधिर्व्यङ्ग्यो दूत्याः, निषेधोऽभिसारिकायाः, जीवनाभावश्च विरहिण्याः 'गतोऽस्तमर्कः' इति च सूर्यकर्तृकास्तङ्गमनार्थकम्। अव्याप्त्यापत्तिश्च तयोर्गुणालङ्काराभावात्।

यदि काव्यसामान्यलक्षणे सगुणत्वं सालङ्कारत्वं शब्दार्थयोर्निवेश्येत, तर्हि 'उदितं मण्डलं विधोः' इति वाक्यस्य दूत्या नायिकां प्रत्यभिहितस्याभिसारं कुर्विति व्यञ्जकतया, अभिसारिकया दूतीं प्रति कथितस्य 'तमसां ध्वंसादिदानीं कथमभिसरिष्यामि' इति व्यञ्जकतया, विरहिण्योदीरितस्य 'वियोगवेदनाबाहुल्येन मम जीवनमधुनाऽसम्भवि' इति व्यञ्जकतया च काव्यत्वेन सर्वसम्मतस्यापि गुणालङ्कारवैधुर्यात्तत्त्वं न स्यादित्यव्याप्तिः स्पष्टैव। एवं 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादावपि प्रकरणवैलक्षण्येन तत्तदर्थव्यञ्जकत्वेऽपि गुणालङ्कारविरहात् काव्यत्वस्याव्याप्तिरापद्येत। तस्मान्न सामान्यलक्षणे गुणालङ्कारनिवेशः समुचितः। न वा दोषाभावनिवेशोऽपि, तथा सति हि। 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि पद्ये तत्तदर्थव्यञ्जकतया ध्वनिकारादिभिरुत्तमकाव्यत्वेनाभ्युपगतेऽपि द्विधा विधेया विमर्शदोषसंस्पर्शात् काव्यत्वस्यापि स्यादव्याप्तिरिति तात्पर्यम्।

प्रदीपकारास्तु—'नीरसे स्फुटालङ्कारविरहिणि न काव्यत्वम्, यतो रसादिरलङ्कारश्च द्वयं चमत्कारहेतुः। तथा च यत्र रसादीनामनवस्थानम्, न तत्र स्फुटालङ्कारापेक्षा। अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—'अत एव रसानुगुणार्थविशेषनिबन्धनमलङ्कारविरहेऽपि छायाऽतिशयं पुष्णाति।' इति तस्मात् सालङ्कारत्वमात्रं न विशेषणम्, किन्तु स्फुटालङ्काररसान्यतरवत्त्वम्।' इत्यवोचन्।

परेतु गुणालङ्कारयोः काव्ये सर्वत्र स्थितिरावश्यकी, तदभावे विच्छित्तिविशेषानाधानात् काव्यत्वमेव दुर्वचम्, तत्त्वस्य तत्प्रयोज्यत्वात्। अन्यथा चित्रवृत्तान्तवर्णनपराणामितिहासभागानामपि तत्त्वापत्तिः। अत एव 'नहि कवेरितिवृत्तमात्रवर्णनेनात्मलाभः, इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः।' इति ध्वनिकारेणाप्युक्तम्। लोकदृष्टान्तस्त्वलौकिके काव्यवस्तुनि सर्वथा नोपयुज्यते। अन्यथा लोकविरुद्धा दुःखकारणेभ्योऽपि काव्ये सुखोत्पत्तिर्नोपपद्येत। विभावादिनिमित्तकारणनाशेऽपि रसरूपकार्यनाशाभावश्च लोकप्रतिकूलो नोपपद्येत। गुणसत्ता रसासत्त्वेऽप्यवसातुं शक्यैव, व्यापकत्वात्। 'नहि प्राणिमन्तो देशा इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तो देशाः' इति केनाप्युच्यते' इत्यादिः कस्यचिदुक्तिस्त्वाग्रहनिबन्धनैव, उपपादकवैधुर्यात्। अन्यथा मीमांसकाङ्गीकृताऽर्थापत्तिर्विहस्तीभवति। शब्दार्थयोर्गुणवत्ता तु व्यङ्ग्यव्यञ्जक-

भावेन 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' इत्यभियुक्तोक्तेः। निर्गुणशब्दार्थयोः काव्यलक्षणाव्याप्तिस्त्विष्टैव, 'अचलस्थितयो गुणाः' इत्यभिधानात्। अलङ्कारस्त्वस्फुटोऽपि चमत्कारकः, स्फुटस्तु सुतराम्, 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताऽऽननम्' इतिप्रतिपादनात्। किञ्च नञोऽल्पार्थकत्वेन तस्या स्फुटत्वे तस्य च विवक्षितप्रतीत्यप्रतिबन्धकत्वे पर्यवसानाददोषत्वमपि काव्यसामान्यलक्षणघटकशब्दार्थविशेषणमुचितमेव। तथाच 'न्यक्कारः' इत्यादौ तत्तद्व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिजनितचमत्कृतिसम्पदा क्रशीयान् विधेयाविमर्शो विवक्षितां रसादिप्रतीतिं प्रतिबन्धुं तिरोहितशक्तिकत्वेन नेष्ट इति तत्र काव्यत्वाव्याप्तेरसम्भवः। तादृशकाव्यमेव 'दुष्टं काव्यम्' इत्यादि व्यवहारविषयः। 'त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतम्' इत्यादौ तु तादृशव्यङ्ग्यबोधनचमत्कारव्यतिरेकाद् दोषस्य तिरोधानविरहादकाव्यत्वमिष्टमेव' इत्याहुः।

इस तरह मम्मटोक्त लक्षणों में विशेष्य दल का खण्डन हो चुका, अब विशेषण दल का खण्डन करने के लिये लिखते हैं—'लक्षणे गुणालङ्कार' इत्यादि। मम्मट ने जो काव्य लक्षण में 'शब्दार्थौ' के साथ सगुण, सालङ्कार और अदोष ये तीन विशेषण लगाये हैं, वे भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि गुण और अलङ्कार के रहने पर ही काव्य कहलावे, तब 'उदितं मण्डलं विधोः' (चन्द्रमण्डल उदित हुआ) और 'गतोऽस्तमर्कः' (सूर्य अस्त हुआ) ये सब वाक्य गुण तथा अलङ्कार से रहित होने के कारण काव्य नहीं कहे जा सकेंगे। यदि आप पूछें कि—इन वाक्यों को काव्य मानते ही क्यों हैं? इनको काव्य माना ही जाय, यह जरूरी तो है, नहीं, फिर अगर ये वाक्य काव्य कहलावें, तो क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि—चमत्कारी व्यङ्ग्य अर्थ (जो काव्य का जीवन माना गया है) जब यहाँ है तब उन वाक्यों को काव्य कैसे नहीं मानें? अर्थात्—उक्त दोनों वाक्यों में प्रथम वाक्य को जब कोई दूती बोलती है, तब 'चान्दनी बरस रही है, मार्ग स्पष्ट दिखाई देता है, अब कांटे चूभने का भय नहीं, अतः शौक से तुम अभिसार करने के लिये सङ्केत स्थान पर जा सकती हो' यह व्यङ्ग्य अर्थ ज्ञात होता है। उसी वाक्य को जब अभिसारिका स्वयं बोलता है, तब 'चन्द्रमा के इस प्रसन्न प्रकाश में सङ्केत स्थान तक कैसे जाऊँ? दूर से भी देख कर लोग मुझे पहचान लेंगे, फिर तो मेरी सब प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायगी' यह व्यङ्ग्य स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि वह वाक्य विरहणी के मुख से निकलता है, तब 'उद्दीपक इस चन्द्रिका को देख कर मेरी विरह वेदना अत्यधिक बढ़ रही है अतः अब मेरा मरण निश्चित है' यह व्यङ्ग्य विदित होता है। द्वितीय वाक्य से भी प्रसङ्ग भेद प्रयुक्त असंख्य व्यङ्ग्य अवगत होते हैं, जैसे चरवाहों को 'अब गायों को रोको,' दूर जाने वाले पथिकों को 'अब आगे नहीं जाना चाहिये' दिन भर धूप में चलने वालों को 'अब ताप नहीं है' धार्मिकों को 'अब सन्ध्या की उपासना करनी चाहिये' इत्यादि व्यङ्ग्य ज्ञान होता है। अतः इन वाक्यों को काव्य मानना आवश्यक है।

संस्कृत टीकाकार महोदय ने यहाँ भी प्राचीनों की विविध युक्तियों का विवरण देकर बहुत कुछ मम्मट-मत की मरमती की है, जिसको जिज्ञासुजन संस्कृत टीका देख कर समझें।

पुनराशङ्क्य समादधाति—

न चेदमकाव्यमिति शक्यं वदितुम्, काव्यतया पराभिमतस्यापि तथा वक्तुं शक्यत्वात्। काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव। गुणत्वालङ्कारत्वादेरननुगमाच्च। 'दुष्टं काव्यम्' इति व्यवहारस्य बाधकं विना लाक्षणिकत्वायोगाच्च।

इदम् 'उदितं मण्डलं विधोः' इति वाक्यम्। अकाव्यं गुणालङ्कारहीनत्वात्। चमत्कारित्वं चमत्कारः।

ननु 'उदितम्' इत्यादौ गुणालङ्कारशून्यत्वादव्याप्तिरिष्टैवेति चेत्, मैवम्, यतश्चमत्कृतिरेव काव्यतायाः प्रधानं साधनम्। तान्तु गुणालङ्कारापेक्षया भूयसीमेव त्रिविधं व्यङ्ग्यमु-

त्पादयति। तच्च वस्तुस्वरूपमिहापि चकास्त्येवेति कुतः काव्यत्वाव्याप्तिः। अन्यथा परैः प्रकाशकारादिभिर्गुणालङ्कारयुक्तत्वाद् यत् किञ्चित् काव्यमित्यङ्गीक्रियते, तदस्माभिरपि व्यवस्थापकविरहादकाव्यमित्युच्येत। तस्माच्चमत्कार एव प्राधान्येन तत्त्वप्रयोजकोऽङ्गीकार्यः। इत्थं चमत्कृतेरिहाप्यनुव्यवसीयमानतयाऽकाव्यत्वमस्य वक्तुं न युक्तम्। किञ्च गुणानामलङ्काराणां च प्राचीननवीनमतभेदेनानियमाद् गुणत्वमलङ्कारत्वं चानुगतं न सम्भवतीति कथं तयोः काव्यलक्षणे प्रवेशः स्यात्।

यदि च 'रसवृत्तित्वे सति रसोपयोगित्वम्' गुणत्वम्, 'शब्दार्थान्यतरवृत्तित्वे सति परम्परया रसोपकारकत्वम्' अलङ्कारत्वं चानुगतमित्युच्यते, तर्हि शब्दार्थयोरिहादोषाविति विशेषणाद् दोषाभाव एव काव्यत्वाद् दुष्टं काव्यम्' इति सर्वजनीनव्यवहारस्यानुपपत्तिरेवापत्तिः प्रतिपत्तव्या। न च 'दुष्टं काव्यम्' इत्यत्र काव्यपदस्य गुणालङ्कारमात्रवत्त्वेन काव्यसदृशे शब्दार्थोभये लक्षणेत्यपि वक्तुं युक्तम्, काव्यलक्षणे दोषाभावनिवेशे बलवत्प्रमाणविरहेण मुख्यार्थान्वयबाधलक्षण-लक्षणाकारणवैधुर्येण लक्षणाया असम्भवात्। अधिकमिह वक्तव्यं तु प्रागुक्तमेव।

'यह काव्य नहीं है' ऐसा आप किसी तरह नहीं कह सकते, कारण? काव्य के जीवातुभूत चमत्कार के रहने पर भी यदि आप उन वाक्यों को काव्य नहीं मानेंगे तो आप जिसे काव्य मानेंगे, उसको भी दूसरे काव्य मानने के लिये तैयार नहीं होंगे। काव्य लक्षण में गुण और अलङ्कार के निवेश को असङ्गत सिद्ध करने का यह भी दूसरा पर्याप्त कारण है कि—गुणत्व और अलङ्कारत्व का अनुगमनी नहीं है—अर्थात् आज तक यह निश्चित नहीं हो सका कि गुण और अलङ्कार क्या हैं, कितने हैं, भिन्न-भिन्न आलङ्कारिक उनकी भिन्न-भिन्न संख्या मानते हैं। इस स्थिति में अनुगमक लक्षण में उनका निवेश अनुचित है, क्योंकि जो स्वयम् अननुगत (अनिश्चित) हैं, वे दूसरे को अनुगत (निश्चित) नहीं बना सकते। यदि आप 'रस में रह कर जो साक्षात् रस को उपकृत करे वह गुण है और जो शब्द अथवा अर्थ में रह कर परम्परया रस का उपकार करे, वह अलङ्कार है' इस तरह गुण और अलङ्कारों का अनुगम कर दिखायेंगे, तब भी 'दोष रहित' कहना तो अनुचित ही है, क्योंकि लोक में 'यह काव्य दुष्ट है' ऐसा व्यवहार होता है। अर्थात् काव्यपद दोष रहित ही में नहीं अपितु दोष सहित में भी प्रयुक्त होता है। यदि आप कहें कि—दोष सहित में काव्यपद का प्रयोग मुख्य नहीं, गौण है—अर्थात् निर्दोष वाचक काव्य पद की सदोष में वहाँ लक्षणा है, तो यह भी ठीक नहीं, कारण? मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध, रूढ़ि अथवा प्रयोजन (जो लक्षणा के कारण माने गये हैं) के बिना लक्षणा हो ही नहीं सकती।

प्राचीनमतेन पुनराशङ्क्य निराकरोति—

न च संयोगाभाववान् वृक्षः संयोगीतिवदंशभेदेन दोषरहितं दुष्टमिति व्यवहारे बाधकं नास्तीति वाच्यम्, 'मूले महीरुहो विहङ्गमसंयोगी, न शाखायाम्' इति प्रतीतेरिवेदं पद्यं पूर्वार्धे काव्यमुत्तरार्धे तु न काव्यमिति स्वरसवाहिनो विश्वजनीनानुभवस्य विरहादव्याप्यवृत्तिताया अपि तस्यायोगात्। शौर्यादिवदात्मधर्माणां गुणानां हारादिवदुपस्कारकाणामलङ्काराणां च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च।

स्वरसवाहिनः स्वारसिकस्य। विश्वजनीनानुभवस्य सर्वलोकानुकूलप्रत्यक्षस्य। अपिः पूर्वोक्तखण्डनहेतुं समुच्चिनोति। तस्य दोषाभावस्य। अयोगादसम्भवात्।

यथा तार्किका वृक्षस्य मूलावच्छेदेन पक्षिसंयोगं शाखाऽवच्छेदेन तदभावं चावसाय पक्षिसंयोगाभावं तत्राव्याप्यवृत्तिं मन्वानाः 'पक्षिसंयोगवान् वृक्षः पक्षिसंयोगाभाववान्' इति व्यवहरन्ति, तथैव प्रकृते काव्ये यत्किञ्चिद्देशावच्छेदेन दोषस्य तदितरदेशावच्छेदेन दोषाभावस्य च सम्भवादव्याप्यवृत्तिं दोषाभावमादाय 'दुष्टं काव्यम्' इति व्यवहारः सम्भवत्येवेति न काचिदनुपपत्तिरितिचेत्, स्यादेवम्, यदि तद्वत् 'इदं वाक्यं पूर्वार्धावच्छेदेन (दोषविरहात्) काव्यम्, उत्तरार्धावच्छेदेन तु (दोषवत्तया) अकाव्यम्' इति सर्वलोकानुभवः स्यात्। स एव तु नानुव्यवसीयते। तर्हि कथमव्याप्यवृत्तित्वं दोषाभावस्य स्वीकर्तुं शक्यम्। तस्याव्याप्यवृत्तित्वाभावे वा कथं व्यवहार उपपद्यताम्। अथ यदि काव्यस्य सामान्यलक्षणे दोषाभावमनिवेश्य विशेषलक्षणे च निवेश्य काव्यसामान्यतात्पर्येण 'दुष्टं काव्यम्' इति व्यवहार उपपाद्येत, तदा सगुणौ सालङ्काराविति विशेषणद्वयमेव शब्दार्थयोर्नोपपद्यत इति दोषस्तदवस्थ एव। तथाहि—यथा शौर्यादयो गुणा लोकस्यात्मनिष्ठाः हाराद्यश्चालङ्काराः शरीरनिष्ठाः, नतु शरीरीभूताः, तथा माधुर्यादयो गुणाः काव्यस्य रसनिष्ठाः, अनुप्रासोपमाऽऽदयश्चालङ्काराश्शब्दार्थनिष्ठाः, नतु तद्रूपा एवेति शब्दार्थलक्षणस्य काव्यस्य सगुणत्वादिविशेषणानुपपत्तिरिति तात्पर्यम्।

वस्तुतस्त्वलङ्काराणामुपस्कारकत्वेऽपि शब्दार्थाव्यतिरेकत्व ध्वनिकाराद्यङ्गीकाराच्च शरीरघटकत्वानुपपत्तिः। समाधानान्तरमपि प्रागुक्तरीत्या विधेयम्।

'अदोष' इस विशेषण को सङ्गत सिद्ध करने के लिये प्राचीनों ने एक और नवीन युक्ति दी है, उसका भी खण्डन करते हैं 'न च संयोगाभाववान्' इत्यादि। पूर्व पक्ष वालों का कथन है कि जैसे एक ही तरु के मूल देश में पक्षि प्रभृति का संयोग और शाखा देश में उसका अभाव जब रहता है, अर्थात् वृक्ष की जड़ में पक्षी बैठा हो और डाल पर वह न बैठा हो तब 'संयोगाभाववान् वृक्षः संयोगी' (संयग रहित वृक्ष संयोग वाला है) ऐसा व्यवहार होता है, उसी तरह एक ही वाक्य अंश भेद से दोष रहित (काव्य) और दुष्ट (अकाव्य) कहलायगा। परन्तु यह कथन भी उनका उचित नहीं, क्योंकि 'मूले महीरुहो विहङ्गम संयोगी न शाखायाम्' (वृक्ष की जड़ में पक्षी है और डाल पर नहीं) ऐसी स्वारसिक प्रतीति सब लोगों को होती है, अतः संयोग को अव्याप्यवृत्ती माना है, तद्वत् यदि 'यह पद्य पूर्वार्ध में काव्य है और उत्तरार्ध में नहीं' ऐसी प्रतीति होती रहती, तो काव्यत्व को भी अव्याप्यवृत्ती मान सकते थे, सो होती नहीं। अर्थात् अव्याप्यवृत्ती पदार्थ ही एक आधार पर अंश भेद से कहीं रहता, कहीं नहीं भी रहता, जैसे, उक्त संयोग। जो पदार्थ व्याप्यवृत्ती है, (जैसे काव्यत्व) वह तिल में तेल जैसे जब रहेगा, तब सम्पूर्ण आधार में ही, नहीं तो कहीं नहीं, अतः उक्त दृष्टान्त के मुताबिक 'दोष रहित दुष्ट' यह व्यवहार नहीं हो सकता है। एक बात और है—जिसके कारण गुण तथा अलङ्कार काव्यलक्षण में प्रविष्ट नहीं हो सकते। वह यह है कि जिस तरह शूरता एवं वीरता प्रभृति आत्मा के धर्म हैं, शरीर में नहीं रह सकते, वैसे ही गुण भी काव्यात्मा रस के धर्म हैं, शब्द और अर्थ (जो काव्य के शरीर हैं) में नहीं रह सकते हैं और जिस तरह अलङ्कार (हार आदि) शरीर को शोभित करने वाली चीजें हैं, शरीर के अवयव नहीं, उसी तरह काव्यालङ्कार, अनुप्रास, उपमा प्रभृति काव्य शरीर—शब्दार्थ को अलङ्कृत करने वाले हैं, अतः उसके (शरीर स्थानीय शब्द अर्थ के) अवयव नहीं हो सकते हैं।

पर्यन्ते विश्वनाथकृतं काव्यलक्षणमाक्षिपति—

यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न, वस्त्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। नचेष्टाऽऽपत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्या-

कुलीभावप्रसङ्गात्। तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि, कपिबालादिविलसितानि च। न च तत्रापि कथञ्चित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेतिवाच्यम्, ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौश्चलति' 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात्। अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक्।

रसवद् रसादिव्यञ्जकं वाक्यमितिशेषः। यत्त्वलङ्कारप्रधानानां प्राधान्येन वस्तुव्यञ्जकानाम् 'पन्थिअ ! ण एत्थ' इत्यादीनाम्, प्राधान्येनालङ्कारव्यञ्जकानाम् 'महिलासहस्सभरिए' इत्यादीनां च। अकाव्यत्वापत्ते रसादिव्यञ्जकत्वाभावात्। सम्प्रदायः पारम्परिकः समुदाचारः। आकुलीभाव उच्छेदः। तथा चेत्यादीना सम्प्रदायस्य प्रदर्शनम्। जलस्य प्रवाहो निपतनं नीचैर्गमनम्, उत्पतनमुच्चैर्गमनं च। कपीनां बालानां बालिकानां च विलसितानि क्रीडाश्चेष्टा वा। आदिपदेन पक्षिप्रभृतीनां परिग्रहः। तत्रापि जलप्रवाहादिवर्णनेष्वपि। यथाकथञ्चित् परम्परया स्वव्यञ्जकविभावादिप्रतिपादकत्वेन। स्पर्शः सम्बन्धः। अतिप्रसक्तत्वेनातिव्याप्तत्वेन। अप्रयोजकत्वान्निष्फलत्वात्। अर्थमात्रस्य सर्वेषामेव पदार्थानाम्।

रसादिव्यञ्जकवाक्यमात्रस्य काव्यत्वाङ्गीकारे काव्यत्वेन सर्वानुमतेष्वपि वस्तुमात्रस्यालङ्कारमात्रस्य वा व्यञ्जकेषु वाक्येष्वव्याप्तिः। तदापत्तेरभ्युपगमे तु प्राचीनसम्प्रदायस्योच्छेदः। तद्रक्षायै तेषु विभावादिद्वारकरसादिसम्बन्धकल्पनायां तु 'गौश्चलति' इत्याद्यचमत्कारकवाक्येष्वतिव्याप्तिः स्यादितिसारम्।

इह शब्दमात्रस्य काव्यत्वाङ्गीकारे पुरस्तात् प्रतिपादितानि दूषणान्यप्याकलनीयानि।

शास्त्रिचरणास्तु—'प्रकृते रसरूपेण परिणंस्यमानरत्यादिविषयकसंस्कारोद्बोधकताया असार्वत्रिकत्वादियं प्रौढिः, विशिष्टवाक्यार्थानां रसतात्पर्यकत्वाभावे तत्सामग्रीघटकोद्बोधकताया अभावात्। यत्र त्वस्ति तत्तात्पर्यकत्वम्, तत्राक्षेपादिष्यत एव विशिष्टबोधजननमुखेन चमत्कारित्वम्। यथाऽऽह—

'सद्भावश्चेद् विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते ॥' इति।

एवञ्च जलप्रवाहादिवर्णनेऽप्युक्तरीत्या महावाक्यार्थद्वारा वा रसोद्बोधकत्वस्य सत्त्वात् काव्यत्वस्य न क्षतिः।' इति व्याजहुः।

अब पण्डितराज, दर्पणकार विश्वनाथकृत काव्य लक्षण की खण्डनात्मक समीक्षा करते हैं—'यत्तु' इत्यादि। 'विश्वनाथ' ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है, उनके हिसाब से काव्य में रस का रहना नितान्त आवश्यक है, उसके बिना कोई वाक्य काव्य नहीं कहला सकता। परन्तु उनका उक्त कथन युक्तिसङ्गत नहीं जँचता। कारण? यदि उनका कथन मान लिया जाय, तब जिन काव्यों में वस्तु-वर्णन अथवा अलङ्कार-वर्णन ही मुख्य है—अर्थात् 'पथिक ! नात्र स्रंस्तरमस्ति, महिलासहस्रभरिते' इत्यादि स्थलों में जहाँ क्रमशः वस्तुव्यङ्ग्य तथा अलङ्कारव्यङ्ग्य का बोध ही चमत्कारजनक है—वे सब काव्य, काव्य नहीं कहला सकेंगे। वे सब वाक्य काव्य नहीं ही हैं, ऐसी इष्टापत्ति तो नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसी इष्टापत्ति करने पर महाकवियों की चिरकाल से आने वाली व्यावहारिक परम्परा उच्छिन्न हो जायगी। उन लोगों ने समय-समय पर जल के प्रवाह, वेग, पतन, उच्छलन और भ्रमण, एवं बन्दरों और बालकों की क्रीड़ाओं का वर्णन अपने में किया है। क्या आप उनको अकाव्य कहेंगे? यदि आप कहें कि नहीं जी, हम उनको अकाव्य क्यों कहेंगे, वे सब काव्य हैं और इसलिये काव्य हैं, कि उनमें रस का स्पर्श है, क्योंकि वे सब यथाकथ

पदार्थ किसी न किसी रस के उद्दीपन विभाव ही तो रहते, फिर रस का सम्बन्ध तो हो ही गया। इसका उत्तर पण्डितराज कहते हैं वाहजी, ऐसा रस स्पर्श भी कहीं काव्य कहलाने का कारण हो सकता है ? यदि हाँ, तो फिर 'गौश्चलति, मृगो धावति' (बैल चलता है, मृग दौड़ता है) ये सब वाक्य क्यों नहीं काव्य कहलाते ? जब कि किसी तरह रसस्पर्श यहाँ भी हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार की सभी वस्तुएँ विभाव-अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव हो सकती हैं, फिर तो दुनिया के सभी वाक्य काव्य कहलाने लग जायँ। अतः रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानना युक्तिसङ्गत नहीं। म० म० गङ्गाधर शास्त्रीजी ने यहाँ भी पण्डितराज के मत का खण्डन किया है, उनकी विचारशैली संस्कृत टीका में देखनी चाहिये।

इत्थं काव्यस्य लक्षणं निरूप्य कारणं निरूपयति—

तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः। तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणताऽवच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेष उपाधिरूपं वा खण्डम्।

तस्य काव्यस्य। चस्त्वर्थकः। कविगता कविसमवेता। केवला तन्मात्रम्, न तु व्युत्पत्त्यभ्यासावपि। प्रतिभा नव नवोन्मेषशालिनी बुद्धिः, 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते।' इति प्राच्योक्तेः। सा प्रतिभा। काव्यस्य घटनाया रचनाया अनुकूलस्य जनकस्य शब्दार्थोभयस्य उपस्थितिः स्मृतिझटिति स्फूर्तिरिति यावत्। अनुकूलत्वान्तमुपस्थितिविशेषणं वा। तद्गतं प्रतिभानिष्ठम्। स्वविषयकज्ञानसमवायित्वसम्बन्धेन काव्यं प्रति समवायेन प्रतिभा कारणमिति कार्यकारणभावात्मकानुकूलतर्कमूलकात् 'स्वविषयकज्ञानसमवायित्वसम्बन्धावच्छिन्नकाव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतिभानिष्ठा कारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, घटनिष्ठकारणतानिरूपितदण्डनिष्ठकारणतावत्' इत्यनुमानात् सिद्धः प्रमाणितः, 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्' इति जातिलक्षणसमन्वयाच्च जातिविशेषः। उपाधित्वस्य त्यागे जातित्वस्य चाङ्गीकारे तत्र बीजानुपलम्भान्नीलघटत्ववत् सखण्डोपाधिरूपं वा प्रतिभात्वम्। तस्य च नवनवोन्मेषशालित्ववैशिष्ट्यादखण्डत्वासम्भवाद् 'अखण्डम्' इति पाठस्त्वसङ्गत एव।

काव्ये प्रतिभामात्रस्य कारणत्वं तु न विचारसहम्, अनुपहसनीयकाव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताया दण्डचक्रादिन्यायेन प्रत्येकं प्रतिभाप्रभृतिषु त्रिष्वपि स्वीकारस्यापरिहार्यत्वात्। तथा चाहुः शास्त्रिणः—अत्र 'प्रतिभा कारणं तत्र व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्, भृशोत्पत्तिकृदभ्यासः' इति क्रमेण विशिष्टकाव्यं प्रति त्रितयस्यैवसामग्रीघटकतावाद एवोपपन्नः। शक्तिर्हि द्विविधा उत्पादिका व्युत्पादिका च। आद्यया पदसङ्घातस्य योजनेऽपि, द्वितीयस्या अभावे विनेयसमवेतविलक्षणवाक्यार्थविषयोऽसम्भवेन लोकोत्तरवर्णनानैपुण्यस्य कविगतस्याभावात् विशिष्टकविकर्मतायास्तत्सत्त्व एव सम्भवात्। तत्र द्वितीयैव निपुणता नाम। अभ्यासो लोकोत्तरत्वं प्रत्येवोपयुज्यते। तथा च लोकोत्तरवर्णनानिपुणताविशिष्टकविकर्मरूपं काव्यं प्रति त्रितयस्यैकसामग्रीघटकत्वमुचितमेव।' इति।

इदं पुनरिहावधेयम्—केचन 'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य। अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥' इत्यभियुक्तोक्तेः शक्तिशब्दव्यपदेश्यं कवित्वबीजभूतं भावनामयं वासनास्वरूपं वा देवताप्रसादादिजन्यं संस्कारविशेषं काव्यकारणीभूतप्रतिभात्वेनोररीकुर्वन्ति। तथा च 'प्रणिधानसहकृते चेतसि यो झटित्युद्भूयते

क्लिष्टपदपदार्थगोचरः संस्कारः, सा प्रतिभा चिह्नदादिपदप्रवृत्तिनिमित्तम् ।' इति तदीय-माख्यानम् ।

परे तु 'असौ कविरमुं विषयं घटयत्विति सारस्वतेच्छास्वरूपं देवताप्रसादमेव शक्तिमभि-धाय तत्त्वेनाभिदधते । अपरे तु देवताप्रसादादिजन्यमदृष्टमेव प्रतिभामभ्युगत्य कवित्वस्य निमित्ततयाऽऽचक्षते ।

तत्र नाद्यः पक्षः क्षोदक्षमः, संस्कारस्य तादृशस्मृत्यात्मकस्फूर्तिमात्रजनकत्वेन काव्यं प्रत्यजनकत्वात्, 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते' इति कोशानुशासनविरोधाच्च । न चा द्वितीयः, तादृशदेवतेच्छायाः कालादिवत्साधारणकारणत्वेनासाधारणकारणतया परिगण-नानुपपत्तेः । नापि तृतीयः, कार्यमात्रं प्रत्यदृष्टस्यापि साधारणकारणताया एव सर्वसम्मतत्वात्, अदृष्टस्य प्रतिभाकारणताया वक्ष्यमाणत्वेन काव्यं प्रत्यन्यथासिद्धेर्दुर्वारत्वाच्च ।

तस्मादुल्लिखितकोशसाहाय्येन काव्यघटनानुकूलपदपदार्थविषयकझटितिस्फूर्तिवपुषं बुद्धि-विशेषमेव प्रतिभापदार्थं काव्यजनकतया निश्चिन्वन्त्यर्वाञ्चः ।

पूर्वोक्त रीति से काव्यलक्षण निरूपण कर लेने के बाद पण्डितराज काव्यकारण का निर्देश करते हैं—'तस्य च कारणम्' इत्यादि । मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों ने 'शक्ति, निपुणता और अभ्यास' इन तीनों को काव्य के प्रति कारण माना है । परन्तु पण्डितराज ऐसा नहीं मानते, वे कहते हैं—केवल प्रतिभा ही काव्य का कारण है और प्रतिभा कहते हैं—काव्यनिर्माण के लिये जो शब्द तथा अर्थ अनुकूल, उपयुक्त हों, जिनसे काव्य निर्माण हो सके, उनकी उपस्थिति को, अर्थात् काव्यनिर्माण के लिये जहाँ जिस शब्द की और जिस अर्थ की आवश्यकता हो, वहाँ तत्काल उसका स्मरण हो जाना प्रतिभा है । कोश-कार ने भी नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि को प्रतिभा कही है । प्रतिभा में रहने वाला प्रतिभात्व एक जाति विशेष है, जिसकी सिद्धि के प्रसङ्ग में निम्नलिखित बातें समझनी चाहिये—जाति की सिद्धि दो प्रकार से होती है, किसी-किसी जाति की सिद्धि अनुगताकार (एक तरह की) प्रतीति से होती है, जैसे घटत्व आदि जाति की सिद्धि सब घटों में होने वाली 'घटः, घटः' इस तरह की एकाकार आपामर प्रतीति से होती है और किसी-किसी जाति की सिद्धि अनुमान से होती है, जैसे द्रव्यत्व आदि जाति की । अब हमें यह विचार करना है कि प्रसङ्ग प्राप्त प्रतिभात्व जाति की सिद्धि कैसे होगी? उत्तर यह है कि अनुमान से । अर्थात् स्व (काव्य) विषयक-ज्ञान-समवायित्व-सम्बन्ध से काव्य के प्रति समवाय सम्बन्ध से प्रतिभा कारण है, इस कार्यकारण भाव के सिद्ध हो जाने पर तन्मूलक अनुमान (जिसका आकार संस्कृत टीका में लिखित है) प्रतिभात्व जाति की सिद्धि होगी । आशय यह है कि सभी कारणतायें किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न हुआ करती हैं, अतः प्रतिभा में रहने वाली कारणता भी किसी धर्म से अवच्छिन्न अवश्य होगी और वह धर्म प्रतिभात्व से अतिरिक्त हो नहीं सकता । यद्यपि यहाँ भी यह शङ्का उपस्थित की जा सकती है कि—उक्त अनुमान से जिस प्रतिभात्व की सिद्धि हुई, वह जातिरूप है, धर्ममात्र नहीं, इसमें क्या प्रमाण? इसका उत्तर यह है कि उस प्रतिभात्व को धर्ममात्र मानने से उसका अनन्त ध्वंस, अनन्त प्रागभाव और अनन्त सृष्टि मानने पड़ेंगे, क्योंकि धर्मरूप में वह प्रतिभात्व अनित्य ही होगा । इसी गौरव के भय से प्रतिभात्व को नित्य जाति मान लेते हैं, ऐसा मान लेने से कोई क्षति हुई ही नहीं और लाघव हुआ, सो लाभ अलग । अथवा प्रतिभात्व को जाति न मान कर नीलघटत्व के ऐसे सखण्ड उपाधि ही मान लें ।

काव्यकारणीभूतायाः प्रतिभायाः कारणमाह—

तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्, क्वचिच्च विल-क्षणव्युत्पत्ति-काव्यकरणाभ्यासौ ।

तस्याः प्रतिभायाः। क्वचित्त तु सर्वत्र। महापुरुषा विपुलतपोमाहात्म्यभाजः सिद्धपुरुषाः। प्रसादोऽनुग्रह इत्यनर्थान्तरम्। आदिपदेनोग्रतपस्याप्रभृतेः परिग्रहः। अदृष्टं पुण्यम्। विलक्षणा नानविधलोकवृत्त-शास्त्र-काव्येतिहासप्रभृतिपर्यालोचनप्रसूता. व्युत्पत्तिर्निपुणता विशिष्टज्ञानमिति यावत्। विलक्षणः काव्यज्ञशिक्षाप्रयोज्यः। काव्यस्य करणे निर्माणेऽभ्यासः पौनःपुन्येन प्रवृत्तिश्च हेतुरिति शेषः।

कस्यचिद् देवताऽऽदिप्रसादजन्यादृष्टेनैव, कस्यचित् पुनर्व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यामेवोत्पादिता प्रतिभा काव्यं जनयतीतिसारम्।

काव्यकारणीभूत प्रतिभा का क्या कारण है, इसका अब विचार करते हैं— 'तस्याश्च हेतुः' इत्यादि। प्रतिभा के कारण दो हैं—एक तो, किसी देवता अथवा किसी महात्मा पुरुष की प्रसन्नता से उत्पन्न भाग्यविशेष और दूसरा—विलक्षण (विविध लोकाचार, शास्त्र, काव्य, इतिहास, प्रभृति के पर्यालोचन से होने वाली) व्युत्पत्ति (निपुणता—विशिष्ट ज्ञान) और पुनः पुनः काव्य बनाने का अभ्यास—अर्थात् किसी में देवता या महात्माओं की कृपा से नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिरूपा प्रतिभा उत्पन्न होती है और किसी में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा उत्पन्न होती है, दोनों ही प्रतिभाओं का कार्य यह होता है कि काव्यधारा प्रवाहित हो उठती है—उक्त प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति काव्य-निर्माण करने में सफल सिद्ध होता है।

अदृष्टादीनां स्वातन्त्र्येण प्रतिभां प्रति कारणत्वं व्यवस्थापयति—

न तु त्रयमेव, बाला[1]देस्तौ विनाऽपि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः।

त्रयमदृष्टं व्युत्पत्तिरभ्यासश्च, कारणमिति शेषः। तौ व्युत्पत्त्यभ्यासौ। प्रसादपदं तज्ज-न्यादृष्टपरम्। प्रतिभोत्पत्तेर्दर्शनादिति शेषः।

अयं भावः—प्रतिभात्वावच्छिन्नं प्रत्यदृष्टस्य व्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च तृणारणिमणिन्यायेनैव कारणता, अन्यथा कर्णपूरप्रभृतीनां बाल्य एव व्युत्पत्त्यभ्यासवैधुर्येऽपि प्रतिभोत्पत्तेर्दर्शनात् व्यभिचारः स्यात्। पृथक्कारणत्वे तु कार्यताऽवच्छेदककोटावव्यवहितोत्तरत्वनिवेशेन व्यभिचारो वारणीयः।

नागेशभट्टास्तु—'विलक्षणत्रितयजन्यप्रतिभा चातिविलक्षणा, तज्जन्यं काव्यं चातिविल-क्षणमेवेति न दोषः' इति वदन्ति।

प्रतिभा के प्रति अदृष्ट, पृथक् और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास, पृथक् कारण हैं, सम्मिलित नहीं, इसी बात को युक्ति से स्पष्ट करते हैं—'न तु त्रयमेव' इत्यादि। कहने का भाव यह है कि अदृष्ट, व्युत्पत्ति, अभ्यास ये तीनों मिलकर प्रतिभा को उत्पन्न करते हैं, ऐसी बात नहीं है, अपितु पूर्वोक्त रीति से कहीं अदृष्ट स्वतन्त्र तथा प्रतिभा का उत्पादक होता है, और कहीं व्युत्पत्ति तथा अभ्यास मिलकर प्रतिभा की सृष्टि करते हैं। यदि तीनों मिलकर ही प्रतिभा की सृष्टि करें, तब तो किसी बालक में महापुरुषों के कृपामात्र से जो प्रतिभा उत्पन्न होती देखी गई है, (कवि कर्णपूर के विषय में इस तरह की किंवदन्ती है) वहाँ उक्त कार्यकारणभाव व्यभिचरित हो जायगा, अर्थात् जिस बच्चे ने कभी व्युत्पत्ति नहीं बनाई, अभ्यास नहीं किया फिर भी उसमें केवल महापुरुष कृपा से प्रतिभा उत्पन्न हो गई, उसमें सम्मिलित कारणताओं के हिसाब से कारण के बिना ही कार्य हुआ, इसी को व्यभिचार कहते हैं।

---

[1]. पञ्चवर्षवयस्कस्य नूतरय कर्णपूरस्य मुखे प्रसादं श्रीकृष्णचैतन्येनाङ्गुष्ठं प्रवेश्य सद्यो विल-क्षणा कविताशक्तिराविर्भाविरितेति जनश्रुतिः।

दर्शितस्य व्यभिचारस्य वारणमाशङ्क्य निरस्यति—

न च तत्र तयोर्जन्मान्तरीययोः कल्पनं वाच्यम्, गौरवान्मानाभावात् कार्यस्यान्यथाऽप्युपपत्तेश्च।

तत्र महापुरुषादिप्रसादमात्रात् प्रतिभोत्पत्तिस्थले। तयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः। तस्मिन्नेव बालेऽन्यस्मिञ्जन्मनि विद्यमानयोः। कल्पनमनुमानम्। न चेति वाच्यमित्यनेनानुषक्तम्। गौरवं तादृशानुमानविधानेन। मानाभावस्तत्त्रितयस्य समुदितस्य कारणतायाम्। कार्यस्य प्रतिभायाः। अन्यथाऽपि केवलादृष्टेनापि।

यथा नास्तिकग्रन्थेषु मङ्गलाभावेऽपि समाप्तिदर्शनादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयं तन्मङ्गलमनुमीयते, तथैव कविकर्णपूरादिबालेष्वपि साम्प्रतिकव्युत्पत्त्यभ्यासयोर्विरहेऽपि प्रतिभोत्पत्तिदर्शनाज्जन्मान्तरीयौ व्युत्पत्त्यभ्यासावनुमेयाविति व्यभिचाराभावात् त्रयाणां समुदितानां कारणतायाः सिद्धिरिति पूर्वपक्षाशयः।

जन्मान्तरीयव्युत्पत्त्यभ्यासयोरिहानुमितौ गौरवम्। तथा मङ्गलसमाप्त्योः कार्यकारणभावः प्रमाणान्तरसिद्ध इति तत्र क्वचिदुपस्थितव्यभिचारवारणाय मङ्गलानुमानभारः सोढव्यो भवति, प्रकृते तु कार्यकारणभाव एव प्रमाणभाव इति तद्गौरवमसहनीयमेव। किञ्च यदि व्युत्पत्त्यभ्यासौ विनाऽदृष्टात् क्वचिदपि प्रतिभा नोत्पद्येत, तदैवानायत्या तत्कल्पनमौचितीं चुम्बेत्। न तु तथा प्रकृत एव व्यभिचारस्य स्फुटत्वात्। एतावतैव कार्यानुपपत्तिरेवात्र मानमित्यपि न वक्तुं शक्यम्। तस्मात् कुतो व्युत्पत्त्यभ्यासयोरिह कल्पना, कथं वा समुदितानां त्रयाणां कारणतेत्युत्तरपक्षस्य तात्पर्यम्।

अदृष्ट आदि समुदित कारणतावादी द्वारा उक्त व्यभिचार वारण के लिये उपस्थित किये गये समाधान का खण्डन करते हैं—'न च तत्र तयोः' इत्यादि। जहाँ कहीं आपको व्युत्पत्ति अभ्यास के विना अदृष्टमात्र से प्रतिभा उत्पन्न होती दीखती है, वहाँ भी अदृष्टमात्र से प्रतिभा नहीं हुई है, अपितु अदृष्ट, व्युत्पत्ति, अभ्यास इन तीनों से ही, यद्यपि उसने इस जन्म में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास नहीं किये, तथापि जन्मान्तर (पूर्वजन्म) में अवश्य किये होंगे, ऐसी कल्पना करेंगे, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वजन्मगत व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की सिद्धि अनुमान प्रमाण से ही तो करेंगे और अनुमिति सामग्री को जुटाने में गौरव होगा। दूसरी बात यह कि—इन तीनों को सम्मिलितरूप में प्रतिभा के प्रति कारण मानने में प्रमाण भी नहीं है। यदि आप कहें कि प्रमाण है, क्यों नहीं, कार्यानुपपत्ति भी तो एक प्रमाण है—अर्थात् तीनों को कारण विना माने कार्य होता नहीं, अतः तीनों को कारण मानिये? परन्तु यह दलील भी सङ्गत नहीं, कारण? जब अदृष्टमात्र से कार्य होते देखते हैं, तब कार्यानुपपत्तिरूप प्रमाण का यहाँ अवसर ही नहीं है।

उत्तरपक्षस्याशयं विवृणोति—

लोके हि बलवता प्रमाणेनागमादिना सति कारणतानिर्णये पश्चादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयमन्यथाऽनुपपत्त्या कारणं धर्माधर्मादि कल्प्यते। अन्यथा तु व्यभिचारोपस्थित्या पूर्ववृत्तकारणतानिर्णये भ्रमत्वप्रतिपत्तिरेव जायते।

लोके सर्वत्रप्रकृतेतरस्थलेषु। आगमः श्रुतिः, तदादयः स्मृतीतिहासप्रभृतयः। प्रमाणस्य बलवत्त्वं श्रुत्यादिरूपत्वात्। अन्यथा बलवत्तरश्रुत्यादिप्रमाणहेतुककारणतानिर्णयाभावे तु। पूर्ववृत्ते प्राग्जाते कारणताया निर्णये निश्चयात्मकज्ञाने। भ्रमत्वस्य प्रतिपत्तिः प्रतीतिः। एवकारस्तादृशनिर्णयस्य प्रामाण्यव्यावृत्त्या कार्यासाधकत्वं सूचयति।

यदि श्रुत्यादिप्रमाणैः कार्यकारणभावेऽवधारितेऽपि क्वचिद्व्यभिचार आपतति, तर्हि तत्र तादृशप्रमाणानुरोधेनोपस्थितव्यभिचारवारणाय जन्मान्तरीयकारणानुमानविधानगौरवमगत्या मृष्यते । तादृशप्रमाणविरहे तु तादृक्कार्यकारणभावज्ञानस्यैव भ्रमात्मकत्वमङ्गीक्रियत इति सम्प्रदायः । प्रकृते तु प्रमाणाभावान्नैव तदनुमितिरिति भावः ।

उक्त बातों का ही स्पष्टीकरण करते हैं—'लोके हि' इत्यादि । नास्तिक ग्रन्थों में मङ्गल के बिना समाप्ति हो जाने से उपस्थित व्यभिचार वारण के लिये जैसे आचार्यों ने जन्मान्तरीय मङ्गल की कल्पना करने में होने वाले गौरव को सह्य माना है, उसी तरह यहाँ जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति एवम् अभ्यास की कल्पना करने में जो गौरव होगा, उसको सहना चाहिये । हाँ, दृष्टान्त तो आपने खोज निकाला, परन्तु यहाँ वह लागू नहीं हो सकता, क्योंकि वेदादि प्रबल प्रमाणों से जब किसी कार्य के प्रति कोई कारण निश्चित हो चुका रहता है और किसी स्थलविशेष पर उस कार्यकारणभाव में व्यभिचार (कारण के बिना भी कार्य हो जाना या कारण के रहने पर भी कार्य का न होना) उपस्थित होता है, तब अगत्या (क्योंकि वेदादि मिथ्या नहीं हो सकते) जन्मान्तरीय कारण की कल्पना की जाती है, परन्तु जहाँ वेदादि प्रमाण से कार्यकारणभाव निश्चित नहीं हुआ है बल्कि स्वयं हम आप एक प्रकारके कार्यकारण भाव को मान बैठे हैं, वहाँ यदि पीछे किसी जगह व्यभिचार आपतित होता है, तब यही समझा जाता है कि हम लोगों का कार्यकारणभाव ज्ञान सही नहीं था, भ्रम था अर्थात् 'मङ्गल समाप्ति के प्रति कारण है' ऐसा कार्यकारणभाव वेदबोधित है, अतः नास्तिक ग्रन्थ में व्यभिचार होते देखकर नास्तिक-कृत-जन्मान्तरीय मङ्गल की कल्पना की जाती है, यहां तो प्रतिभा के प्रति अदृष्टादित्रितय की कारणता वेदादिबोधित नहीं अपितु स्वकल्पित है, अतः इस जगह व्यभिचार उपस्थित होने पर जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति अभ्यास की कल्पना नहीं की जा सकती है वरन् समुदित कारणता ज्ञान भ्रम है—कार्यजनन में असमर्थ है, यही माना जायगा ।

तत्र मतान्तरं निराकरोति—

नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वदितुम्, कियन्तंचित् कालं काव्यं कर्तुमशक्नुवतः कथमपि सञ्जातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभायाः प्रादुर्भावस्य दर्शनात् ।

नापीति वदितुं शक्यमित्यनेनान्वेति । केवलपदं स्पष्टार्थम्, एवकारोपादानात् । कारणं प्रतिभां प्रतीति शेषः । अदृष्टं पुण्यम्, पापस्य प्रतिबन्धकत्वात् । अपिः प्रागुक्तपक्षस्य [illegible] । [illegible]र्विरहेण प्रतिभानुदयात् । कथमपि केनापि [illegible] व्युत्पत्त्यभ्यासयोः सतोरिति शेषः ।

अदृष्टाभावेऽपि क्वचित् व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यामेव प्रतिभोत्पत्तेरुपलम्भेन व्यभिचारा[illegible] प्रतिभाः अदृष्टमेव कारणम्, किन्तु व्युत्पत्त्यभ्यासावपि । किञ्च यद्यदृष्टमेव कारणं स्यात्, तर्हि तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासोत्पत्तेः प्रागपि कदाचित् प्रतिभा प्रादुर्भूय काव्यं जनयेदित्यभिप्रायः ।

अब अदृष्टमात्र कारणतावाद का निराकरण करते हैं—'नापि' इत्यादि । यदि कोई कहे कि व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को पृथक् कारण मानने की आवश्यकता ही क्या है ? अदृष्टमात्र को सब जगह प्रतिभा के प्रति कारण मान लीजिये तो सो भी ठीक नहीं, कारण ? कतिपय मनुष्य ऐसे भी देखने में आते हैं, जो बहुत काल तक काव्य बनाना नहीं जानते, पर कुछ समय के बाद जब किसी तरह व्युत्पत्ति तथा अभ्यास हो जाता है, तब उनमें प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है; वे काव्यनिर्माण करने लगते हैं अर्थात् वहां अदृष्ट के अभाव में

भी केवल व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा की उत्पत्ति देखते हैं, अतः उन दोनों को भी पृथक् प्रतिभा के प्रति कारण मानना उचित है।

तत्राप्याशङ्कां खण्डयति—

तत्राप्यदृष्टस्याङ्गीकारे प्रागपि ताभ्यां तस्याः प्रसक्तेः।

तत्रापि किञ्चित्कालानन्तरोत्पन्नव्युत्पत्त्यभ्यासोत्तरजायमानप्रतिभोत्पत्तावपि। अदृष्टस्याङ्गीकारे कारणत्वेनेति शेषः। ताभ्यां व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्याम्। तस्याः प्रतिभायाः। प्रसक्तेरुत्पत्त्यापत्तेः।

ननु तादृशस्थले तत्र पुरुषेऽदृष्टं तिष्ठत्येवेति तेनैव प्रतिभा जन्यते, न तु व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यामिति चेत्, तदादृष्टस्य तत्र जन्मनः प्रभृत्येव विद्यमानतया व्युत्पत्त्यभ्यासोत्पत्तेः पूर्वमपि प्रतिभोत्पत्तिरापद्यत इत्यदृष्टमात्रस्य कारणत्वं दुर्वचमेवेति तात्पर्यम्।

यदि आप कहें कि अदृष्ट तो अदृष्ट ही है वह दृष्टिगोचर तो होता नहीं, फिर वहां (जहां आप व्युत्पत्ति अभ्यासमात्र से प्रतिभोत्पत्ति मानते हैं) अदृष्ट नहीं है इसमें क्या प्रमाण? मैं कहूँगा कि वहां भी अदृष्ट है, उसीसे प्रतिभा उत्पन्न होती है, तो यह दलील भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि यदि वहां अदृष्ट था और उसीसे प्रतिभा उत्पन्न हुई, तो व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से पहले उनमें वह अदृष्ट प्रतिभा को क्यों पैदा कर दिया? व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से पूर्व वे क्यों काव्य बनाने में असमर्थ रहे? अर्थात् 'तदुदितः स हि यो यदनन्तरः' के हिसाब से व्युत्पत्त्यभ्यास प्रयुक्त ही वहां प्रतिभोत्पत्ति माननी पड़ेगी।

भूयोऽत्राभिनिवेशिनो मतमुपन्यस्य निरस्यति—

न च तत्र प्रतिभायाः प्रतिबन्धकमदृष्टान्तरं कल्प्यमिति वाच्यम्, तादृशानेकस्थलगतादृष्टद्वयकल्पनापेक्षया क्लृप्तव्युत्पत्त्यभ्यासयोरेव प्रतिभाहेतुत्वकल्पने लाघवात्। अतः प्रागुक्तसरणिरेव ज्यायसी।

न चेति वाच्यमित्यनेनानुषक्तम्। तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासप्राक्कालिकादृष्टहेतुकप्रतिभोत्पत्तौ। अदृष्टान्तरमन्यदृष्टं पापरूपम्। कल्प्यं प्रतिभाऽनुत्पत्तेरनुमेयम्, प्रत्यक्षाविषयत्वात्। एकमदृष्टं प्रतिभोत्पत्तौ साधकम्, अपरं च बाधकमित्यदृष्टद्वयम्। व्युत्पत्त्यभ्यासयोः क्लृप्तत्वं च प्रतिबन्धकादृष्टनिवर्तकत्वेन। एवशब्दोऽदृष्टद्वयकल्पनाव्यावृत्तिपरः। लाघवमत्र पक्षे प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनाभावात्। प्रागुक्ता सरणिः क्वचिददृष्टं क्वचिच्च व्युत्पत्त्यभ्यासौ प्रतिभायाः कारणमित्येवं स्वीकारः। ज्यायसी श्रेष्ठा दोषवैधुर्यात्।

नन्वत्र व्युत्पत्त्यभ्यासतः प्राक् प्रतिभाया उत्पादकादृष्टस्य सत्त्वेऽपि प्रतिबन्धकादृष्टस्य सत्त्वान्न तदुत्पत्तिरिति चेत्, तर्हि नवीनादृष्ट—तत्प्रतिबन्धकत्वयोः कल्पनागौरवमेव दूषणम्। मतान्तरे तु व्युत्पत्त्यभ्यासौ पुनः क्लृप्तावेव, तद्धेतुता केवलं कल्पनीयेति लाघवम्। तस्माददृष्टस्य व्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च तृणारणिमणिन्यायेन पृथगेव प्रतिभां प्रति कारणत्वमिति प्रागुक्तमेव युक्तमिति सारम्।

यदि आप कहें कि जिस मनुष्य में कुछ दिनों के बाद प्रतिभा देखने में आती है, उसमें पहले कोई बुरा अदृष्ट था, जिसने प्रतिभा की उत्पत्ति के कुछ दिनों के लिये रोक रखा था, किसी तरह उस दुरदृष्ट के हटने पर शुभ अदृष्ट ने अपना काम किया, प्रतिभा उत्पन्न हुई, इस तरह अदृष्ट मात्र को प्रतिभा के प्रति कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं दीख पड़ती, व्यर्थ व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को कारण की श्रेणी में घुसेड़ने से क्या लाभ? इसका उत्तर यह है कि—व्युत्पत्ति तथा अभ्यास होने पर ही काव्य बनाने वाले प्रायः अधिक होते हैं, इसलिये अनेक जगहों पर दो-दो (अच्छे और बुरे) अदृष्ट मानने की अपेक्षा प्रतिभोत्पत्ति को

रोक देने वाले दुरदृष्ट के नाश करने के लिये आप जिन व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की कल्पना करते हैं—जिनके आगमन से प्रतिबन्धक दुरदृष्ट नष्ट हो जाता है, उन्हीं (व्युत्पत्ति और अभ्यास) को कारण मान लेना समुचित है—अर्थात् प्रतिबन्धक अदृष्ट को हटाने के लिये जब आपको भी व्युत्पत्ति और अभ्यास की कल्पना करनी ही पड़ती है, तब एक प्रतिभोत्पादक अदृष्ट और एक प्रतिभोत्पत्ति-प्रतिबन्धक अदृष्ट इन दो-दो अदृष्टों को मान कर व्यर्थ गौरव-भार को ढोने से क्या लाभ? अतः पूर्वोक्त मार्ग (अर्थात् अदृष्ट को पृथक् और व्युत्पत्ति-अभ्यास को पृथक् प्रतिभा के प्रति कारण मानना) ही श्रेष्ठ है।

नन्वेवमप्यदृष्टमात्रोत्पन्नप्रतिभास्थले व्युत्पत्त्यभ्यासरूपतत्कारणाभावेऽपि प्रतिभालक्षण-कार्योत्पत्तिदर्शनाद् व्यतिरेकव्यभिचारः स्यादेवेत्यत आह—

तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यताऽवच्छेदकम्, अतो न व्यभिचारः।

प्रतिभावृत्तिवैलक्षण्यमदृष्टाव्यवहितोत्तरोत्पद्यमानत्वं व्युत्पत्त्यभ्यासाव्यवहितोत्तरोत्पद्यमानत्वं च।

अदृष्टाव्यवहितोत्तरजायमानप्रतिभात्वावच्छिन्नं प्रत्यदृष्टं कारणम्, व्युत्पत्त्यभ्यासाव्यवहितोत्तरजायमानप्रतिभात्वावच्छिन्नं प्रति तु व्युत्पत्त्यभ्यासौ कारणमिति कार्यताऽवच्छेदककोटावव्यवहितोत्तरत्वनिवेशाददृष्टोत्पन्नप्रतिभाया व्युत्पत्त्यभ्यासौ न कारणमिति व्युत्पत्त्यभ्यासयोरभावेऽपि प्रतिभाया उत्पत्तौ नैव व्यभिचार इत्यभिसन्धिः।

अब यहाँ यह शङ्का उठती है कि जब आप प्रतिभा के प्रति अदृष्ट को अलग और व्युत्पत्ति-अभ्यास को अलग कारण कहते हैं—अर्थात् दो कार्यकारण भाव मानते हैं, तब दोनों कार्यकारण भावों में व्यतिरेक व्यभिचार होगा, क्योंकि कारण दो हैं और कार्य एक, ऐसी स्थिति में अदृष्ट के बिना व्युत्पत्ति-अभ्यास से और उसके बिना अदृष्ट से प्रतिभा होगी। इसका उत्तर यह है कि—अदृष्ट के बाद होने वाली प्रतिभा के प्रति अदृष्ट और व्युत्पत्ति-अभ्यास के बाद होने वाली प्रतिभा के व्युत्पत्ति-अभ्यास को कारण मानना ही मेरा अभीष्ट—अर्थात् जैसे कारण दो हैं, वैसे कार्य भी दो ही हैं, एक नहीं, अतः व्यभिचार की शङ्का समाप्त हो गई।

नन्वथापि भिन्नयोर्द्वयोः प्रतिभयोर्द्वे काव्ये प्रति पृथक्कारणत्वे मिथो व्यभिचार आपतेदेवेत्याचष्टे—

प्रतिभात्वं च कवितायाः कारणताऽवच्छेदकम्, प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा विलक्षणकाव्यं प्रतीति नात्रापि सः।

अत्रापि द्वितीयस्मिन् प्रतिभाकाव्यकार्यकारणभावेऽपि। स व्यभिचारः।

प्रतिभात्वं हि काव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताऽवच्छेदकतयैव सिद्धमतः काव्यं प्रति प्रतिभा कारणमिति सामान्याकारेणैव कार्यकारणभावः। तथासति यदि व्यभिचार आपद्यते, तर्हि पूर्वोक्तं वैलक्षण्यमादाय विलक्षणकाव्यं प्रति विलक्षणप्रतिभा कारणमित्येवं विशेषाकारेण कार्यकारणभावमवलम्ब्य व्यभिचारो वारणीय इत्याशयः।

इह विकल्पार्थक-वाशब्दोपादानेन कल्पद्वयमुपस्थाप्यते। तत्र प्रथमः कल्पः प्रसङ्गादेवोक्तः प्रकृतानुपयोगित्वात्। यद्वा सामान्यरूपेण कार्यकारणभावप्रदर्शनमप्यावश्यकमेव 'यत्रोर्विशेषेण कार्यकारणभावः, तयोः सामान्येनापि' इति न्यायात्।

अब कहते हैं कि—अच्छा भाई, यहाँ तो आपने व्यभिचार-पाप से पिण्ड छुड़ाया, परन्तु अब दो तरह की (अदृष्टजन्य और व्युत्पत्ति-अभ्यासजन्य) प्रतिभा से काव्यरूप एक कार्य होगा, तब फिर यह व्यभिचार उपस्थित हो जायगा। यहाँ समाधान दो प्रकार

से हो सकता है—१. एक तो यह कि जैसे काव्यरूप कार्य एक मानते हैं, वैसे प्रतिभारूप कारण को भी एक ही मान लेंगे—अर्थात् कारण (प्रतिभा) में अदृष्टजन्यत्व तथा व्युत्पत्ति-अभ्यासजन्यत्व विशेषण नहीं देकर 'काव्य के प्रति प्रतिभा कारण है' इस तरह एक ही सामान्य कार्यकारणभाव बनायेंगे जिसका स्पष्ट आशय यह हुआ कि काव्य निर्माण के लिये प्रतिभा चाहिये, वह प्रतिभा कैसे बनी ? किससे बनी ? इस गवेषणा की आवश्यकता नहीं, सब प्रतिभाओं से कार्य (काव्य) एक सा ही होगा। २. दूसरा समाधान पूर्वोक्त रीति से कार्य को भी दो बना देना है—अर्थात् अदृष्टजन्य प्रतिभा के बाद होने वाले विलक्षण काव्य के प्रति अदृष्टजन्य प्रतिभा और व्युत्पत्ति-अभ्यास-जन्य-प्रतिभा के बाद होने वाले विलक्षण काव्य के प्रति व्युत्पत्ति-अभ्यास-जन्य-प्रतिभा को कारण मान लेने से व्यभिचार की सम्भावना जाती रहेगी।

अथ पूर्वकार्यकारणभावे व्यभिचारमापाद्यापनुदति—

न च सतोरपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यत्र न प्रतिभोत्पत्तिः, तत्रान्वयव्यभिचार इति वाच्यम्, तत्र तयोस्तादृशवैलक्षण्ये मानाभावेन कारणताऽवच्छेदकानवच्छिन्नत्वात्।

कारणसत्त्वेऽपि कार्याभावो ह्यन्वयव्यभिचारः, स चात्र व्युत्पत्त्यभ्यासात्मककारणसत्त्वेऽपि प्रतिभारूपकार्यानुत्पत्तेः प्रसक्त इति चेन्न यथा प्रतिभानिष्ठं वैलक्षण्यं कार्यताऽवच्छेदकम्, तथैव व्युत्पत्त्यभ्यासनिष्ठमपि, तच्च वैलक्षण्यमिह व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यदि स्यात्, तदा प्रतिभा जायेतैव, न च जायते प्रतिभेति कारणताऽवच्छेदकावच्छिन्नत्वाभाववतोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोरत्रौदासीनतया तत्सत्त्वे प्रतिभाऽनुदयस्य व्यभिचाररूपत्वाभावादिति भावः।

इस प्रसङ्ग में एक बात और विचारणी यह रह जाती है कि—बहुत मनुष्य ऐसे भी देखने में आते हैं, जो जीवन भर व्युत्पत्ति और अभ्यास करते रहे, परन्तु उनमें प्रतिभा उत्पन्न नहीं हुई, काव्य बनाने की लालसा उनकी अपूर्ण ही रह गई। अब सोचिये कि वहाँ कारण के रहने पर भी कार्य क्यों नहीं हुआ ? और जब किसी भी हेतु से कारण के रहने पर कार्य नहीं हुआ, तब अन्वय व्यभिचार क्यों नहीं हुआ ? उत्तर दोनों का एक है कि—विलक्षण व्युत्पत्ति अभ्यास को ही हम प्रतिभा के प्रति कारण मानते हैं, फिर आप जहाँ व्युत्पत्ति-अभ्यास के रहने पर भी प्रतिभा नहीं देखते, वहाँ समझना चाहिये कि उस व्युत्पत्ति-अभ्यास में वह विलक्षणता नहीं थी, अतः प्रतिभा नहीं हुई और जब कारण कार्य कुछ भी नहीं हुआ, तब व्यभिचार कैसा ?

ननु व्युत्पत्त्यभ्यासनिष्ठं वैलक्षण्यमदृष्टासहकृतत्वमेव वक्तव्यम्, तच्चात्र तयोरस्त्येवेति कुतो व्यभिचार इत्यरुचेः पक्षान्तरमुपाददाति।

पापविशेषस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वकल्पनाद्वा न दोषः।

तत्र तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासतः प्रतिभोत्पत्तौ। पापविशेषस्य दुरदृष्टस्य। दोषो व्यभिचारः।

सत्यपि व्युत्पत्त्यभ्यासात्मके कारणे तत्र दुरदृष्टरूपस्य प्रतिबन्धकस्य सद्भावादेव न प्रतिभोत्पत्तिर्भवतीति नान्वयव्यभिचार इति भावः।

व्युत्पत्ति-अभ्यास-गत-वैलक्षण्य का निर्वचन असम्भव है, अतः पक्षान्तर कहते हैं—'पापविशेषस्य' इत्यादि। कहने का आशय यह है कि व्युत्पत्ति-अभ्यास के रहने पर भी प्रतिभा उत्पन्न नहीं हो तो, वहां कोई विशिष्ट प्रकार का पाप (बुरा अदृष्ट) प्रतिबन्धक था, अतः कारण विशेष (व्युत्पत्ति-अभ्यास) के रहने पर भी प्रतिभा उत्पन्न नहीं हुई।

ननु तर्हि प्रतिबन्धकादृष्टाभावस्य कारणताकल्पनादेव गौरवमित्यत आह—

प्रतिबन्धकाभावस्य च कारणता समुदितशक्त्यादित्रयहेतुतावादिनः शक्तिमात्रहेतुतावादिनश्चाविशिष्टा।

अविशिष्टा तुल्या ।

प्रतिबन्धकादृष्टाभावस्य करणत्वकल्पनं न नवीनम्, यन्मे गौरवाय कल्पेत, अपि तु शक्तिव्युत्पत्त्यभ्यासानां समुदितानां कारणत्वं वदद्भिर्भवद्भिरपि कल्पनीयमेव प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्य कार्यमात्रं प्रति कारणतायाः सर्वसिद्धान्तसिद्धत्वादित्याशयः ।

यदि आप कहें कि—इस तरह प्रतिबन्धक पाप के अभाव को कारण मानने में गौरव होगा, तो इसका उत्तर पण्डितराज यह देते हैं कि यह गौरव मुझे ही नहीं सबको सहना पड़ता है, क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव को कार्यमात्र के प्रति सामान्य कारण माना गया है, अतः यह गौरव, शक्ति आदि तीनों इकट्ठे कारण मानने वाले मम्मट के मत में भी दुर्निवार ही है।

हेतुप्रदर्शनेनोक्तमर्थं द्रढयति—

प्रतिवादिना मन्त्रादिभिः कृते कतिपयदिवसव्यापिनि वाक्स्तम्भे विहितानेकप्रबन्धस्यापि कवेः काव्यानुदयस्य दर्शनात् ।

कवेर्विहितेत्यादिविशेषणं प्रतिभाऽऽदिकारणसमवधानप्रत्यायकम् ।

यत्रानेककाव्यानिरचितवतोऽपि कवेः क्रुद्धः प्रतिवादी स्वकीयमन्त्रादिप्रभावेण कियतो दिवसान् यावद् वाचः स्तम्भनं करोति, तत्र तत्कवेरेकमपि काव्यं तदा नोत्पद्यते, कवितत्प्रतिभाप्रभृतिकारणानां सद्भावेऽपि प्रतिबन्धकस्य मन्त्रादिजन्यादृष्टस्य सत्त्वादितीहापि यदि प्रतिबन्धकसन्निधानात् कार्यं न जायते, तर्हि न किञ्चिदद्भुतमित्यभिप्रायः ।

शक्त्यादि समुदित हेतुतावादी के मत में भी प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानना क्यों आवश्यक होगा ? इसका स्पष्टीकरण करते हैं—'प्रतिवादिना' इत्यादि । ऐसा देखने में आता है कि जो पूर्ण प्रतिभाशाली है, अनेक उत्तम काव्य बनाकर कवि के प्रतिष्ठित पद पर अभिषिक्त हो चुका है, वह भी तब कुछ काल के लिये काव्य बनाने में असमर्थ हो जाता है, जब कोई तान्त्रिक प्रतिवादी उसकी वाणी को मन्त्रबल से स्तम्भित कर देता है, अब सोचिये कि ऐसा क्यों होता है ? प्रतिभा उसमें है ही, फिर उससे काव्य क्यों नहीं बनता ? अगत्या प्रतिवादिकृत-मन्त्र-प्रयोग को प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा, अतः प्रतिबन्धक संसर्गाभाव की कारणता मेरे मत (प्रतिभाकारण काव्य के प्रति कारण है, इस पक्ष) में और आपके मत (शक्त्यादि समुदित कारणतावाद) में भी अयत्न सिद्ध है।

इत्थं काव्यस्य कारणं निरूप्य प्रकारान् व्याहरति—

तच्चोत्तमोत्तमो-त्तम-मध्यमा-धमभेदाच्चतुर्धा ।

तत् काव्यम् उत्तमोत्तमम्, उत्तमम्, मध्यमम्, अधमं चेति चतुर्विधमित्यर्थः ।

इस तरह से काव्यकारण के निरूपण कर लेने के बाद काव्य के भेदों को कहते हैं—'तच्च' इत्यादि । जिस काव्य के सम्बन्ध में इतनी विवेचना की गई है, उस काव्य के चार भेद हैं । १. उत्तमोत्तम, २. उत्तम, ३. मध्यम और ४. अधम ।

तत्र प्रथमं प्रकारं सूत्रेण लक्षयति—

शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम् ॥२॥

यत्र काव्ये, शब्दो वाचकः, अर्थो वाच्यश्च[1] गुणीभावितात्मानौ व्यङ्ग्यार्थापेक्षयाऽप्रधानीकृतस्वरूपौ कमपि चमत्कारातिशयाधानेनानिर्वचनीयं प्रधानमर्थम् अभिव्यङ्क्तो व्यञ्जनया बोधयतः, तत् काव्यमाद्यमुत्तमोत्तमं भवतीत्यर्थः । एतदेव ध्वनिकाव्यमन्यैरभिहितम् ।

---

१. वाच्यपदमिदं लक्ष्यव्यङ्ग्ययोरपि संग्राहकम् । अन्यथा तयोरुपसर्जनीभावेन व्यञ्जकताया अव्याप्तिः ।

तथा च ध्वनिग्रन्थः—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।

व्यङ्क्तः, काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥' इति ।

जिसमें शब्द और अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य) दोनों अपने को गौण (अप्रधान) बनाकर किसी (चमत्कार जनक अत एव प्रधान) अर्थ को अभिव्यक्त करें—व्यञ्जना वृत्ति द्वारा समझावें, उसे 'उत्तमोत्तम' काव्य कहते हैं ।

लक्षणघटकपदकृत्यमभिदधाति—

कमपीति-चमत्कृतिभूमिम्, तेनातिगूढस्फुटव्यङ्ग्ययोर्निरासः। अपराङ्ग-वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्यस्यापि चमत्कारितया तद्वारणाय—गुणीभावितात्मानाविति स्वापेक्षया व्यङ्ग्यप्राधान्याभिप्रायकम् ।

भूमिराश्रयस्तदुत्पादनात् । अतिगूढादिपदमसुन्दरव्यङ्ग्यस्याप्युपलक्षकम् । निरासो व्यावृत्तिः । अपरादिपदञ्च सन्दिग्धप्राधान्य-तुल्यप्राधान्य-काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्यानामप्युपसंग्राहकम् । इति विशेषणतोपस्थापकः, तद्विशेषणमेव स्वापेक्षयेत्यादिप्रतिपाद्यम् । स्वशब्दो व्यञ्जकग्राही । गुणीभावितेत्यादिविशेषणेनाप्यतिगूढव्यङ्ग्यादीनां निरासः सम्भवतीति सूचयितुं द्वयोः सहैवोक्तिः ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकाराष्टकेऽस्य लक्षणस्य नातिव्याप्तिः, अतिगूढव्यङ्ग्य-स्फुटव्यङ्ग्या-सुन्दरव्यङ्ग्येषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारानाधायकत्वात्, तेषु ततोऽवशिष्टेषु च प्रकारेषु व्यङ्ग्यस्य शब्दार्थापेक्षया प्राधान्यस्य विरहात् । अपराङ्गव्यङ्ग्यादिषु कतिपयेषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कार-जनकत्वाच्च प्रथमांशेनैव निर्वाह इत्याशयः ।

लक्षण वाक्य में निविष्ट पदों का फल दिखलाते हैं—'कमपीति-चमत्कृतिभूमि' इत्यादि। इस लक्षण में 'कमपि' पद से चमत्कारजनक होने के कारण प्रधान अर्थ विवक्षित है, अतः जिसमें व्यङ्ग्य अत्यन्त गूढ़ (छिपा हुआ) अथवा अत्यन्त स्पष्ट (वाच्य सा) हो, वह काव्य उत्तमोत्तम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे व्यङ्ग्य चमत्कारजनक नहीं रहते हैं। असुन्दर व्यङ्ग्य का भी वारण इसी विशेषण से समझना चाहिये । अपराङ्ग (अर्थात् किसी दूसरे अर्थ का अङ्ग) और वाच्यसिद्ध्यङ्ग (अर्थात् जिसके बिना वाच्य अर्थ की सिद्धि असम्भव हो) व्यङ्ग्य भी चमत्कारजनक होते हैं, अतः इस भेद में उनका भी ग्रहण न हो जाय, इसलिये लक्षण में 'अपने को गौण बनकर' कहा गया है जिसका आशय यह है कि शब्द और अर्थ (वाच्यादि) से व्यङ्ग्य में प्रधानता होनी चाहिये, सो अपराङ्ग प्रभृति व्यङ्ग्यों में नहीं होती अर्थात् वे सब व्यङ्ग्य स्वयं गौण रहते हैं, अतः वे (तादृश व्यङ्ग्य वाले) काव्य भी उत्तमोत्तम नहीं हो सकते हैं ।

प्रतिज्ञाऽनुरूपं स्वीयं पद्यमुदाहरति—

उदाहरणम्—

कश्चिन्नवधूवृत्तान्तं वर्णयति—

'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् ।

दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥'

अहो अद्भुतम्, सविधे दयितस्य सन्निधौ, शयिताऽपि प्रणयिसखीजनैर्निर्गमनात् भोगावासस्य विविक्तत्वादनुरागाङ्कुरोत्पत्तेश्च कृतशयनाऽपि, मनोरथान् स्वहृदि विद्यमानान् नानाऽऽकारकक्रीडाविषयकाभिलाषान्, सफलीकर्तुं चरितार्थयितुं तदनुरूपमाचरितुमिति यावत्, अनीश्वरा त्रपासाध्वसातिरेकेणासमर्था, दयिता 'जाता वामतयैव सम्प्रति मम प्रीत्यै नवोढप्रिया' इत्युक्तेः प्रेयसी नायिका, दरमीषन्मीलती त्रपौत्सुक्यसाङ्कर्येण सङ्कुचती नयने

लोचने यस्यास्तादृशी सती, दयितस्य परिचयवशेन किञ्चित्प्रणयोद्‌गमनात् प्रियस्य, आननाम्बुजं मुखकमलं, निरीक्षते केवलं विलोकते, न तु चुम्बितुमालिङ्गितुमाघ्रातुं वोपक्रमते, नापि नयने नितरां निमीलयति, न वा तादृङ्निरीक्षणाद् विरमतीत्यर्थः।

इह सविधशयनरूपकारणस्य सत्त्वेऽपि मनोरथसफलीकरणलक्षणकार्यानुद्गमाद् विशेषोक्तिमहोशब्दः प्रकाशयति। वियोगिनी छन्दः।

अब 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपम्' इस प्रतिज्ञा के अनुसार पण्डितराज स्वरचित पद्य उत्तमोत्तम काव्य के उदाहरणरूप में प्रस्तुत करते हैं—'शयिता' इत्यादि। नववधू अपने प्रियतम के समीप सोई है, परन्तु आश्चर्य है कि वह अपने मनोगत मनोरथों को सफल बनाने में असमर्थ है—वह चाहती तो बहुत कुछ है, किन्तु लज्जा और भय ने उसे इस प्रकार दबा रखा है, जिससे वह कुछ कर नहीं पाती, इस स्थिति में प्रियतम की अभिलाषायें भी पूर्ण नहीं हो पातीं, यह स्वतः सिद्ध है, फिर भी वह प्रियतम की दयिता है, प्रेयसी है, हो क्यों नहीं, केलि-विमुख भी नवोढ़ा पत्नी सहृदय प्रेमियों के लिये, अप्रीतिकर नहीं, अपितु प्रीतिवर्धक ही होती है। इससे पाठक यह नहीं समझें कि वह केवल पति के बगल में मुर्दा सी पड़ी है, वह बराबर प्रियतम के मुखकमल को देख रही है, चूमने का, आलिङ्गन करने का साहस भले ही उसे न हो पर देखने से वह विरत नहीं होती, हाँ, उसके देखने में भी कुछ विलक्षणता अवश्य है, इच्छा रहने पर भी उसकी उत्सुक आँखें सर्वथा विस्फारित नहीं, वरन् कुछ कुछ मुंदी हुई सी रहती हैं। यहाँ 'अहो' पद समीपशयनरूप कारण के रहने पर भी मनोरथ साफल्यरूप कार्य के अभावरूप विशेषोक्ति अलङ्कार को प्रकाशित करता है।

अत्र व्यङ्ग्यं निर्दिशति—

अत्रालम्बनस्य नायकस्य, सविधशयनाक्षिप्तस्य रहःस्थानादेरुद्दीपनस्य च विभावस्य, मुखनिरीक्षणादेरनुभावस्य, त्रपौत्सुक्यादेश्च व्यभिचारिणः संयोगाद् रतिरभिव्यज्यते।

रह एकान्तम्, तथा च यदि तत् स्थानमेकान्तं न स्यात्, तदा ताऽपरजनापातशङ्कया तत्र नायकस्य समीपे कथमपि न शयीतेति नायकसमीपशयनान्यथाऽनुपपत्त्या तत्स्थानस्यैकान्तत्वं कल्प्यते। निरीक्षणे तादृशत्वमीषन्मुकुलीकृतनेत्रकत्वम्। नयनेषन्मीलनेन लज्जा, निरीक्षणेन चौत्सुक्यं सूच्यते। संयोग आलम्बनादिभिः सह स्थायिभावस्य रतेः सम्बन्धः। रतिश्चात्र नायकालम्बना नायिकाऽऽश्रया, तस्याश्चेह परिपोषेण निरीक्षणस्य च प्रवृत्तत्वेन सम्भोगशृङ्गाररसरूपता।

इह नायिकानिष्ठरतेः स्थायिभावस्य नायकरूपालम्बनविभावेन, एकान्तस्थानरूपोद्दीपनविभावेन, मुकुलीकृतनयननिरीक्षणलक्षणानुभावेन, लज्जौत्सुक्यलक्षणाभ्यां व्यभिचारिभावाभ्यां च सम्बन्धात् प्राधान्येन सम्भोगशृङ्गाररसास्वादः, वाच्यवाचकयोस्तु गुणीभाव एवेति सुतरामुत्तमोत्तमत्वमस्य काव्यस्य सिद्ध्यतीत्याशयः।

अब यहाँ ग्रन्थकार इस पद्य से होने वाले उस व्यङ्ग्य को दरसाते हैं, जिसके बल पर यह श्लोक उत्तमोत्तम काव्य का उदाहरण होता है—'अत्र' इत्यादि। यहाँ नायिका-निष्ठ-रति का, आलम्बनविभावनायक वाच्य है, एकान्तस्थानरूप-उद्दीपन-विभाव, पति-पत्नी के समीपशयन से लक्षित होता है, नायिका-कर्तृक-नायक-मुख-निरीक्षणरूप-अनुभाव भी वाच्य ही है, लज्जा तथा औत्सुक्यरूप-व्यभिचारी भाव क्रमशः नयन-पात-दर मीलन से और निरीक्षण से व्यक्त होते हैं। इन सब भावों के संयोग से नायक-विषयक-नायिका-निष्ठ-रति (स्थायी भाव) व्यङ्ग्य होती है, जो परिपुष्ट होने से सम्भोग

शृङ्गार, रस, रूप है—सहृदय पाठकों का आस्वाद्य है। यहाँ का यह व्यङ्ग्य अत्यन्त चमत्कारी है तथा शब्द अर्थ गौण है, अतः उत्तमोत्तम काव्य का लक्षण संघटित हुआ।

नन्वालम्बनादीनि तत्र किं स्वरूपाणीत्याकाङ्क्षायामाह—

आलम्बनादीनां स्वरूपं वक्ष्यते।

वक्ष्यते पुरस्तादस्मिन्नेवानने 'एवमेषां स्थायिभावानाम्' इत्यादिना सन्दर्भेण।

आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव तथा स्थायिभावों के स्वरूप आगे (इसी आनन में) कहेंगे।

अत्र नायिकेच्छाविशेषस्यैव प्रधानव्यङ्ग्यतामाशङ्क्य परिहरति—

नच 'यद्ययं शयितः स्यात्, तदाऽस्याननं चुम्बेयम्' इति नायिकेच्छाया एव व्यङ्ग्यत्वमत्रेति वाच्यम्, 'मनोरथान् सफलीकर्तुमसमर्था' इत्यनेन मनोरथाः सर्वेऽस्या हृदि तिष्ठन्तीति प्रतीतेः, स्वशब्देन मनोरथपदेन मनोरथत्वाकारेण तादृशेच्छाया अपि निवेदनात्।

अयं नायकः। शयित इति जाग्रतो लज्जा-प्रत्यालिङ्गनादिभीत्योः सम्भवः। इति शब्दो नायिकेच्छाऽऽकारपरामर्शकः। एवकारः प्रागुक्तव्यङ्ग्यव्यावर्तनपरः। स्वशब्देनेत्यस्य विवरणं मनोरथपदेनेति।

नायिकायाः सव्रीडं सस्पृहं च नायकमुखनिरीक्षणेन मूलोल्लिखिताकारिकेच्छैवात्र प्राधान्येन व्यज्यत इति कस्यचिन्मतम्, अयुक्तमेव, यतः सर्वेषां मनोरथानां नायिकाया हृदि सद्भावो मनोरथान् सफलीकर्तुमनीश्वरेत्यनेन विशेषणेन सूच्यते, तथा च मनोरथ-चुम्बनविषयकेच्छयोः सामान्यविशेषभावादयमिच्छाविशेषोऽपि मनोरथपदेनेच्छात्वरूपसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिगोचरः क्रियत एवेति वाक्यपदवीमारूढश्चमत्कारविशेषानाधानाश्च प्रधानमितिसारम्।

इस श्लोक में नायिका का इच्छा विशेष ही प्रधान व्यङ्ग्य क्यों नहीं है ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं—'न च यद्ययं शयितः' इत्यादि। शङ्का करने वालों का अभिप्राय है कि इस पद्य में 'सलज्जित नायिका सस्पृह भाव से नायक के मुख को बारबार देख रही है' यह बात वर्णित है, जिससे 'यदि यह (नायक) सो गया हो, तो मैं इसका मुख चूम लूँ' इस तरह की नायिका की इच्छा व्यङ्ग्य होती है, फिर इसी व्यङ्ग्य को प्रधान मानकर यहाँ काव्यलक्षण का समन्वय करना चाहिए, पूर्वोक्त रतिरूप व्यङ्ग्य को प्रधान मानकर नहीं। समाधान का आशय यह है कि नायिका की उक्त इच्छा यहाँ व्यङ्ग्य हो ही नहीं सकती, क्योंकि 'नायिका अपने मनोरथों को सफल करने में असमर्थ है' यह बात इस पद्य में वर्णित है, जिससे यह सूचित होता है कि नायिका के हृदय में सब मनोरथ वर्तमान हैं, और चुम्बन की इच्छा भी एक तरह का मनोरथ ही है—जो सामान्यरूप से मनोरथ पद का वाच्य अर्थ ही होता है, फिर व्यङ्ग्य कैसे होगा ?

पुनराशङ्क्य समाधत्ते—

न च मनोरथपदेन मनोरथत्वाकारेण सामान्येच्छाया अभिधानेऽपि, 'चुम्बेयम्' इति विषयविशेषविशिष्टेच्छात्वेन व्यङ्ग्यत्वे किं अपकर्षोऽस्ति वाच्यम्, चमत्कारो न स्याद्विरम्यस्यैव वाचकत्वात्।

विषयविशेषचुम्बनम्। चमत्कारपदं तदतिशयपरम्, यत्किञ्चिच्चमत्कारस्य ततोऽपि सम्भवात्। अन्यथा वाच्यप्रधानभेदस्य काव्यत्वानापत्तिः, चुम्बनेच्छाया इत्यादिना द्वितीयहेतुप्रदर्शनानवकाशश्च।

सामान्यधर्मेणेच्छात्वेनात्रेच्छाया वाच्यत्वेऽपि, विशेषधर्मेण चुम्बनेच्छात्वेन व्यङ्ग्यत्वं कुतो न स्यादित्यपि वक्तुं न युक्तम्, इच्छाया अभिधाबोध्यत्वेनोत्तमोत्तमकाव्यत्वसम्पादकस्य चमत्कारातिशयस्यैव ततोऽनुदयादित्यर्थः।

यदि आप कहें कि मनोरथ पद से सामान्य इच्छा के वाच्य होने पर भी चुम्बन विषयक इच्छा (जो विशेष है) वाच्य हुई नहीं, फिर उसको व्यङ्ग्य होने में क्या बाधा है ? इसका समाधान यह है कि—चमत्कार नहीं होगा—अलौकिक आनन्द की अनुभूति नहीं होगी—बस, यही बाधक है।

व्यङ्ग्यस्य हि प्रकारान्तरेणापि वाच्यत्वे चमत्कारोत्कर्षाजननेन गुणीभावान्न प्राधान्यमिति भावः। तदेवाह—

नहि विशेषाकारेण व्यङ्ग्योऽपि सामान्याकारेणाभिहितोऽर्थः सहृदयानां चमत्कृतिमुत्पादयितुमीष्टे, कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वेनालङ्कारिकैः स्वीकारात्।

हि यतः। विशेषाकारेण विशेषधर्मावच्छिन्नत्वेन। अभिहितोऽभिधावृत्त्या बोधितो वाच्यः। चमत्कृतिस्तदुत्कर्षः। ईष्टे क्षमते। कथमपि केनापि प्रकारेण वाच्यवृत्तिरभिधा, तयाऽनालिङ्गितस्याबोधितस्य। एवशब्दो वाच्यव्यवच्छेदकः।

आलङ्कारिका हि—

'नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च शश्वत् सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः॥'

इत्यभियुक्तोक्तेर्व्यञ्जनावृत्तिमात्रबोध्यस्यार्थस्य चमत्कारोत्कर्षाधायकत्वं मन्यन्ते। प्रकृते तु चुम्बनेच्छाया इच्छात्वेन मनोरथपदवृत्त्यभिधया बोधितत्वान्न चमत्कृतिप्रकर्षोत्पादकत्वमित्याकूतम्। एतच्च गूढव्यङ्ग्यरूपगुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारनिरूपणे पञ्चमोल्लासे, रसदोषनिरूपणे सप्तमोल्लासे च काव्यप्रकाशे स्फुटम्।

इस पर यदि आप पूछें कि आपके कहने ही से चमत्कार नहीं होगा ? या उसके न होने में कुछ युक्ति भी है ? इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं ही ऐसा नहीं कहता, अपितु अलङ्कार शास्त्र के सभी मर्मज्ञों ने एक स्वर से उसी व्यङ्ग्य को चमत्कारी स्वीकार किया है, जो किसी तरह भी अभिधावृत्ति का स्पर्श न करे, अतः जो पदार्थ सामान्यरूप से भी वाच्य हो चुका है, वह विशेष रूप से व्यङ्ग्य होने पर भी सहृदयों के मन में चमत्कार को उत्पन्न नहीं कर सकता—अभिधावृत्ति मानो वह छूत का रोग है, जिससे छू जाने पर स्वस्थ व्यङ्ग्य भी अस्वस्थ हो जाता और उसकी चमत्कारजनक शक्ति नष्ट हो जाती है।

ननु कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारोत्पादकत्वाभ्युपगमे 'यदेवोच्यते, तदेव व्यङ्ग्यम्। यथा तु व्यङ्ग्यम्, न तथोच्यते।' इति मम्मटभट्टोक्तेः पर्यायोक्तालङ्कारे वाच्यस्यैव व्यङ्ग्यत्वे चमत्कारिताऽनुपपत्तिरित्यस्वरसेः पूर्वोक्तखण्डनस्य हेत्वन्तरं व्याहरति—

चुम्बनेच्छाया रत्यनुभावतयैव सुन्दरत्वेन तदव्यञ्जने 'चुम्बेयम्' इति शब्दवदाच्चुम्बनेच्छावदचमत्कारित्वाच्च।

रतिपदं तत्स्थायिकशृङ्गारपरम्। एवकारस्तदितरप्रकारव्यावृत्तिसूचकः। सुन्दरत्वेन चमत्कारविधायकत्वेन। तदव्यञ्जनेन रतिहेतुकशृङ्गारस्य परामर्शः। 'चुम्बयामि' इति पाठस्तु भ्रान्तिमूलकः, णिजर्थासङ्गतेः। शब्देत्यादेः शब्दजन्यप्रतीतिविषयीभूतेच्छावदित्यर्थः।

यदा रतिस्थायिकः शृङ्गारः प्रधानतया व्यज्यते, तदैव तदनुभावत्वेन व्यज्यमानायाश्चुम्बनेच्छायाश्चमत्कारोत्कर्षकनकत्वम्, इतरथा तु शाब्दबोधगोचरीभूततादृशेच्छातो वैलक्षण्याभावाच्च तत्त्वम्, अतः शृङ्गारस्यैव प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वमिहोचितमिति तात्पर्यम्। इदं पुरः 'सर्वथा वाच्यवृत्त्यचुम्बितस्यैव तथात्वमिति ध्वनिमार्गप्रवर्तकैः सिद्धान्तितत्वात्।' इति सन्दर्भेण ससन्देहालङ्कारनिरूपणे स्फुटीकरिष्यति ग्रन्थकृत्।

नायिका की इच्छा को प्रधान व्यङ्ग्य न मानकर रति को प्रधान व्यङ्ग्य मानने में दूसरी युक्ति भी देते हैं—'चुम्बनेच्छाया' इत्यादि। चुम्बनेच्छा रति (प्रेम) का फल है, यदि रति न हो, तो चुम्बनेच्छा हो ही नहीं सकती, यदि किसी कारण से हो भी तो उसमें सौन्दर्य नहीं रहेगा, रति के अनुभाव (कार्य) रूप में जब उसकी प्रतीति होती है तभी वह अच्छी लगती है, इस स्थिति में यदि यहाँ रति व्यङ्ग्य न हो तब, चुम्बनेच्छा व्यङ्ग्य होकर भी उसी तरह अचमत्कारी होगी, जिस तरह 'चूमूंगा' इस शब्द से अभिहित होने पर वह अचमत्कारी होती है। अतः रति को प्रधानतया व्यक्त होना आवश्यक है, उसके अभिव्यक्त हो जाने के बाद यदि उसीके अनुभावरूप से उक्त इच्छा भी अभिव्यक्त हो, तो कोई आपत्ति नहीं।

इत्थमिच्छायाः प्रधानव्यङ्ग्यतां निरस्य लज्जाया अपि परेणाशङ्क्यमानां तां निराकरोति—

एवं त्रपाया अपि न प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वम्, अनुवाद्यताऽवच्छेदकतया प्रतीतायां तस्यां मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात्।

एवं चमत्कारविशेषानुत्पादकत्वेन। अपिः पूर्वोक्तेच्छासंग्राहकः। अङ्गत्वेन व्यङ्ग्यत्वस्येष्टत्वात् प्राधान्येनेति। अनुवाद्यतोद्देश्यत्वम्। तस्यां त्रपायाम्। मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात् प्राधान्येन वाक्यतात्पर्यविषयतासम्बन्धाभावात्।

एवमिह दरेत्यादिपदेन यद्यपि लज्जा व्यज्यते, तथाऽपि तस्या न प्राधान्यम्, यतोऽत्र दरमीलन्नयनात्वमुद्दिश्य निरीक्षणं विधीयत इति निरीक्षणनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताया उक्तविशेषणनिष्ठाया अवच्छेदकत्वं लज्जाया उद्देश्यविशेषणीभूताया इत्युद्देश्यताऽवच्छेदकतया प्रतीयमाना लज्जाऽत्र न विधेयीभवितुमर्हति। न चाविधेयीभूयोऽर्थस्तात्पर्यीयमुख्यविशेष्यतामाश्रयितुं शक्नोति। न वा तदनाश्रयणेऽपि कस्यचन प्राधान्यमित्यभिसन्धिः।

'लज्जा ही इस पद्य में प्रधान व्यङ्ग्य है' इस मत का खण्डन करते हैं—'एवं त्रपाया' इत्यादि। किसी-किसी का मत है कि यहाँ 'नेत्रों को कुछ-कुछ मुकुलित करती हुई' इस नायिकाविशेषण से जो लज्जा व्यक्त होती है, उसीको प्रधान व्यङ्ग्य मान कर इस श्लोक में तन्मूलक काव्यता स्वीकार करनी चाहिये। परन्तु यह मत ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ नायिका को उद्देश्य बना कर निरीक्षण का विधान किया गया है और उस उद्देश्यभूत नायिका का विशेषण है, 'दरमीलन्नयना—' 'कुछ-कुछ नेत्रों को मुकुलित करती हुई' जिससे लज्जा अभिव्यक्त होती है, इस प्रकार से लज्जा की प्रतीति उद्देश्यतावच्छेदक (उद्देश्य विशेषण) रूप में होती दीखती है, फिर वह लज्जा, प्रधान वाक्यार्थ कैसे हो सकता है? अर्थात् जो अंश विधेय रहता है, उसीमें वाक्य का तात्पर्य होता है और तात्पर्यविषयभूत अर्थ ही मुख्य वाक्यार्थ कहलाता है, अतः लज्जा किसी तरह मुख्य वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता है।

पुनरपरथाऽऽशङ्क्य समादधाति—

न च दरमीलन्नयनात्वविशिष्टनिरीक्षणं विधेयमिति नानुवाद्यताऽवच्छेदकत्वं तस्या इति वाच्यम्, एवमपि नयनगतदरमीलनस्य तत्कार्यत्वेऽपि दरमीलन्नयनात्वविशिष्टनिरीक्षणस्य रतिमात्रकार्यत्वात्।

उभयत्र वैशिष्ट्यं सामानाधिकरण्येन । तस्या त्रपायाः । एवमपि विशिष्टस्य विधानेऽपि । तत्कार्यत्वेऽपि त्रपाजन्यत्वेऽपि । मात्रशब्देन त्रपाप्रभृतीनां व्यावृत्तिः ।

इदमुच्यते—दरमीलन्नयनात्वविशिष्टनिरीक्षणस्य विधानेन यद्यपि लज्जाया विधेयकोटि-प्रविष्टेन नयनेषन्निमीलनेन व्यङ्ग्यतया नोद्देश्यताऽवच्छेदकत्वम्, तथाऽपि तस्याः प्राधान्यं दुरूहमेव, यतो नयनेषन्निमीलनमेव लज्जाजन्यमिति तेनैव स्वकारणीभूता लज्जा व्यज्यते, समस्तेन नयनेषन्निमीलनविशिष्टेक्षणेन विधेयेन तु स्वहेतुभूता रतिरेव सूचयितुं शक्यत इति सर्वतोमुखं पार्यन्तिकं प्राधान्यं लज्जाया न सम्भवति ।

यदि आप कहें कि लज्जा को प्रधान वाक्यार्थ न मानने में आपने जो युक्ति दी है, वह तब ठीक होती, यदि हम लज्जा का भान उद्देश्यतावच्छेदक रूप में मानते होते, उसीको हम नहीं मानते हैं, हम तो दरमीलन्नयनात्व विशिष्ट निरीक्षण को विधेय मान कर विधेयतावच्छेदक (विधेय विशेषण) रूप में ही उसका भान स्वीकार करते हैं—अर्थात् वह निरीक्षण ऐसा है, जिसमें नेत्र कुछ-कुछ मुकुलित हो रहे हैं, यही वक्ता का अभिप्राय है, अब तो लज्जा को प्रधान व्यङ्ग्य मानने में कोई आपत्ति नहीं उठ सकती। इसका उत्तर यह है कि इस तरह लज्जा को आप विधेयकोटि में ले आ सकते हैं, परन्तु तब भी वह मुख्य नहीं हो सकती, क्योंकि नेत्रों का कुछ-कुछ मुकुलित होना, भले ही लज्जा का कार्य हो, किन्तु निरीक्षण उसका कार्य नहीं हो सकता, वह तो रति (प्रेम) का ही कार्य है, फिर प्रधान-विधेय-निरीक्षण से अभिव्यक्त होने वाली रति को प्रधान न मान कर, विधेय विशेषण-नयन-गत-दर-मीलन से व्यक्त होने वाली लज्जा को प्रधान मानना युक्ति-सङ्गत नहीं होगा।

ननु मीलन्नयनात्वमात्रमत्र विधेयमास्ताम्, तथा च समग्रविधेयदलव्यङ्ग्यतया त्रपायाः प्राधान्यमक्षतमेवेत्याशङ्कां निराकरोति—

त्रपाया एव मुख्यत्वेन व्यङ्ग्यत्वे निरीक्षणोक्तेरनतिप्रयोजनकत्वापत्तेः ।

यद्यत्र त्रपामात्रस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं कवेरभिमतं स्यात्, तर्हि स निरीक्षणपर्यन्तं नोपाददीत, ईषन्नयननिमीलनेनैव तदभीष्टस्य त्रपाव्यञ्जनस्य सिद्धेः अधिकोपादानस्य निष्फलत्वापत्तेश्च । रतेः कार्यत्वेन तद्व्यञ्जकं निरीक्षणमप्युपाददता कविना प्राधान्येन रतेरेव व्यङ्ग्यता बोधिता । तस्मान्नात्र त्रपायाः प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वस्य बोधनायेषन्मीलन्नयनात्वस्य विधेयतेत्यभिप्रायः ।

इसके बाद भी यदि आप यह प्रमाणित करें कि हम निरीक्षण को भी विधेय नहीं मानेंगे, अपितु निरीक्षण करने वाली नायिका को उद्देश्य बनाकर दरमीलन्नयनात्व का ही विधान करेंगे, फिर तो प्रधान-विधेय-व्यङ्ग्य होने के नाते लज्जा प्रधान होगी। इस प्रमाण का उत्तर यह है कि—हां ! भाई ! आप वाद में बड़े निपुण हैं, इस तरह लज्जा को प्रधान बना सकते हैं, परन्तु बनाना नहीं चाहिये, कारण ? यदि इस तरह से लज्जा को ही प्रधानतया व्यक्त करना कवि को अभिमत होता, तो कवि निरीक्षण की बात ही नहीं उठाते, केवल इतना ही कहते कि 'आंखों को मुकुलित कर रही है', लज्जा की अभिव्यक्ति तो तावन्मात्र से हो ही जाती, अर्थात् लज्जा को प्रधान मानने में 'देखती है' यह कथन निष्प्रयोजन ही नहीं होता वरन बाधक भी होता है, अतः रति को ही प्रधान व्यङ्ग्य मानना चाहिये, लज्जा को नहीं।

ननु विधेयकोटौ विशेष्यविशेषणभावं विपर्यस्य निरीक्षणविशिष्टेषन्मीलन्नयनात्वमेव निवेशी-करणीयम्, तथा चेह विधेयविशेष्यांशव्यङ्ग्यत्वेन त्रपायाः प्राधान्यं स्यादित्याशङ्कां निरस्यति—

वाच्यवृत्त्या रतेरनुभावे निरीक्षणे त्रपाया अनुभावस्य दरमीलनस्येव, व्यञ्ज-नया तस्यां तथा अपि गुणीभावप्रत्ययौचित्यात् ।

वाच्यस्य बोधिका वृत्तिर्व्यापारोऽभिधा तया वाच्यवृत्त्या। अनुभावत्वं लोके तत्कार्यत्वेन। तस्यां रतौ। तस्यास्त्रपायाः। गुणीभावोऽप्राधान्यम्। प्रत्ययः प्रतीतिः।

अभिधावृत्त्या यथा रतेरनुभावो निरीक्षणं प्राधान्येन, त्रपाया अनुभावो नयनेषन्निमीलनन्तु तदङ्गत्वेन प्रत्याय्यते, तथैव व्यञ्जनयाऽपि रतेः प्राधान्येन, त्रपायास्तदङ्गत्वेन प्रत्यायनमेवोचितम्, इतरथा 'भावप्रधानमाख्यातं, सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति यास्कसिद्धान्तविरोधो दुष्परोधो भवेदिति तात्पर्यम्।

लज्जा को गौण व्यङ्ग्य मानने में ही औचित्य की रक्षा भी होती है इसी बात को स्पष्ट करते हैं—'वाच्यवृत्त्या'इत्यादि। अभिप्राय यह है कि रति का कार्य 'देखना' और लज्जा का कार्य 'आंखों को कुछ कुछ मुकुलित करना' दोनों वाच्य हैं, जिनमें रति का कार्य 'देखना' प्रधान है और लज्जा का कार्य 'आंखों को कुछ कुछ मुकुलित करना' गौण है, अब आप सोचिये कि इन दोनों कार्यों से व्यक्त होने वाले कारण-रति तथा लज्जा में किसको प्रधान होना उचित है? उत्तर स्पष्ट है कि वाच्य कोटि में जिसका कार्य प्रधान है, व्यङ्ग्यकोटि में उस कार्य से व्यक्त होने वाला वह कारण प्रधान और वाच्यकोटि में जिसका कार्य गौण है व्यङ्ग्यकोटि में उस कार्य से अभिव्यक्त होने वाला वह कारण गौण हो यही समुचित है, क्या अब भी रति को प्रधान और लज्जा को गौण होने में कुछ सन्देह किया जा सकता है? नहीं, अर्थात् वाच्यकोटि में जब निरीक्षण प्रधान है, तब व्यङ्ग्यकोटि में उस निरीक्षण से अभिव्यक्ति रति प्रधान होगी और वाच्यकोटि में गौण-नयन-गत-दर-मीलन से व्यक्त होने वाली त्रपा व्यङ्ग्यकोटि में भी गौण ही रहेगी।

व्युत्पत्तिनिमित्तं किञ्चिद्विलक्षणमुदाहरणान्तरं दर्शयति—

यथा वा—

उत्तमोत्तमकाव्यस्योदाहरणमिति योजना। नायको वयस्यं व्याहरति, स्वयं वा विमृशति—

'गुरुमध्यगता मया नताङ्गी, निहता नीरजकोरकेण मन्दम्।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽऽसीत्॥'

गुरूणां श्वश्रूप्रभृतीनां मध्यगता तन्निकटस्थानोपविष्टा, नताङ्गी शालीनतौचित्यात् सङ्घातावयवा, सा, मया, नीरजकोरकेण कमलमुकुलेन, मन्दं शनैर्निभृतमिति यावत्, निहता नितरां ताडिता, दरमीषत् कुण्डलस्य ताण्डवं नटनं, यत्र, तद् यथा स्यात्, तथा, किञ्च नताऽस्थानखलीकरणजन्यमन्युना नम्रीभूता भ्रूलतिका यत्र तद् यथा स्यात्, तथा, चकितं श्वश्र्वादिसान्निध्यान्मयि साभ्यसूयं च माम्, अवलोक्य ('धृष्ट! किमेवं गुरुजनमध्ये खलीकरोषि' इति मनसैवोपालभमाना) घूर्णिता भ्रान्ताऽऽसीदित्यर्थः।

निघातस्य मान्द्येन कुण्डलताण्डवस्येषत्त्वं, गुरुमध्ये निघातेन भ्रूनमनं चोपपाद्यत इति हेतुहेतुमद्भावेन काव्यलिङ्गालङ्कारो मालभारिणीच्छन्दश्च।

इह 'दुर्विदग्ध! किमिदं रहसि विधेयं गुरुजननिकटेऽपि विहितवानसि' इति वस्तुव्यञ्जनपुरस्सरं नायकविषयकोऽमर्षो व्यभिचारिभावो वाच्यवाचकापेक्षयाऽधिकचमत्कारितया प्राधान्येन व्यज्यत इत्यस्योत्तमोत्तमकाव्यत्वम्।

पूर्वोक्त उदाहरण रस (सम्भोग शृंगार) का दिया गया था, अब भाव (हर्ष आदि व्यभिचारीभाव) का उदाहरण देते हैं— 'गुरुमध्यगता' इत्यादि। नायक अपने मित्र से कह रहा है अथवा स्वयं मन में सोच रहा है—सास, ननद प्रभृति गुरुजनों के बीच बैठी हुई तथा शालीनता को प्रकट करने के लिये नम्रमुखी, प्रिया को मैंने धीरे से—अर्थात् लोगों की आँखें बचा कर एक कमल कलिका से मार दिया। (मार पड़ने के बाद) उसने तीर्यक् दृष्टि से मुझे देखा और फिर दूसरी तरफ घूम गई—मुख फेर लिया। यद्यपि

गुरुजनों के मध्य में बैठी हुई नवीना कुलकामिनी का पति की ओर देखना शालीनता का विरोधी था पर वह बेचारी करे तो क्या ? पति महोदय के असामयिक आचरण से वह क्षुब्ध हो उठी थी—उसके हृदय में अमर्षभाव जाग उठा था, अतः पति पर एक तीर्यक् दृष्टि डालने के लिये वह विवश हो गई, फिर भी उसे अपनी शालीनता-मर्यादा का ध्यान था, अतएव वह साफ मस्तक उठा कर न देख सकी, नवा अपने अमर्ष को ही स्पष्ट रूप से प्रकट कर सकी, उसका देखना ऐसा हुआ, जिससे कान के कुण्डल थोड़ा नाच उठे तथा भ्रूलतायें नीची हो गईं—अर्थात् उसके इस दर्शन व्यापार को पति के अतिरिक्त कोई जान भी न सका। यहाँ प्रहार-गत-मान्द्य-कथन से कुण्डल-नर्तन की अल्पता तथा गुरुजनों के मध्य में उस प्रहार के होने से भ्रूलता का नम्रीभाव उत्पन्न किये जाते हैं, अतः हेतुहेतुमद्भावमूलक का व्यङ्ग्य अलङ्कार वाच्य है।

तदेवाचष्टे—

अत्र 'घूर्णिताऽऽसीत्' इत्यनेन 'असमीक्ष्यकारिन् ! किमिदमनुचितं कृतवानसि' इत्यर्थसंवलितोऽमर्षश्चर्वणाविश्रान्तिधामत्वात् प्राधान्येन व्यज्यते। तत्र शब्दोऽर्थश्च गुणः।

संवलितो विशिष्टः, वैशिष्ट्यं चाङ्गाङ्गिभावेन, तथाहि—वस्तुरूपव्यङ्ग्यस्यामर्षं प्रति पोषकत्वेनाङ्गत्वम्। विश्रान्तिधामत्वं पार्यन्तिकास्वादविषयत्वम्। तत्रामर्षे। अर्थो वाच्यो वस्तुस्वरूपव्यङ्ग्यश्च। गुणोऽङ्गमप्रधानमिति यावत्। पूर्वोदाहृते व्यङ्ग्यस्य वाच्यार्थापेक्षयैव प्राधान्यं दर्शितम्, इह तु वस्तुरूपव्यङ्ग्यार्थापेक्षयाऽपीति वैलक्षण्यमीक्षणीयम्।

इस श्लोक में 'घूर्णितासीत्-घूम गई' इस उक्ति से 'ऐ अविचारिन्- असामयिक काम करने वाले ! तुमने यह अनुचित कार्य क्यों किया' इस अर्थ से युक्त अमर्ष (व्यभिचारीभाव) प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है। यहाँ वस्तु व्यङ्ग्य के रहने पर भी उक्त भावव्यङ्ग्य ही क्यों प्रधान होगा, इस शङ्का की निवृत्ति के लिये उसकी प्रधानता में कारण का निर्देश करते हैं—'चर्वणाविश्रान्तिधामत्वात्'। आशय यह है कि सहृदयहृदयों में उक्त वस्तु-व्यङ्ग्य को आधार बना कर उठी हुई आस्वादधारा पर्यवसान में उक्त भावव्यङ्ग्य के आस्वाद में ही विश्रान्त होती है, अतः वह भावव्यङ्ग्य ही प्रधान है। प्रथम उदाहरण में वाच्यार्थ से ही व्यङ्ग्यार्थ में प्रधानता दिखलायी गई थी और इस द्वितीय उदाहरण में वाच्यार्थ तथा वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ दोनों की अपेक्षा भावव्यङ्ग्य की प्रधानता कही गई है।

पुनः किञ्चिद्विलक्षणमुदाहरणान्तरं दर्शयति—

यथा वा—

अचिरप्रवत्स्यत्पतिकनवोढवधूवृत्तं कश्चिद् वक्ति—

'तल्पगताऽपि च सुतनुः श्वासासङ्गं न या सेहे।
सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति॥'

या नवोढवधूः, सुतनुः सुन्दरी नितरां कोमलाङ्गी; अत एव तल्पे केलिनिलयस्थशय्यायां, गताऽपि कथञ्चन सहचरीसहस्रानुरोधेन शयितापि च (का चर्चा बहिःस्थितायाः) श्वासस्य पत्युर्निश्वासवायोः, आसङ्गमीषत्सम्पर्कम् (का कथोपगूहनादीनाम्) न सेहे नैव असहत (निश्वासानपि सम्पर्कोऽसह्यत् बहिरपससार वा) सा (सैव, न त्वन्या) सम्प्रति प्रियविदेश-मात्रापूर्वाश्रुनिर्वाणी, हृदयगतं सशङ्केन प्रियेण हृदये वक्षसि निहितं, प्रियस्य पाणिं करम्, मन्दं शनैर्विरहातङ्केन शनैः (न तु झटिति तरसैव) आक्षिपति नवोढा जातिस्वभावात् स्वस्थानं प्रापयन्त्यपसारयतीत्यर्थः। काव्यलिङ्गालङ्कार उपगीतिश्छन्दश्च।

अत्र श्लोकेन यद्वाक्यकः प्रियस्यान्वयः पदार्थैकदेशतया दुर्घटः। उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य-भावाभावेन गतशब्दस्य पौनरुक्त्यं च सहृदयानां हृदयं दुनोति।

ग्रन्थकार पुनः उत्तमोत्तम काव्य का ही एक और विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, वह विलक्षणता क्या है ? इस जिज्ञासा की शान्ति अग्रिम प्रसङ्ग से होगी। जिसका पति कहीं दूर देश में जाने के लिये तैयार बैठा है, उस प्रवत्स्यत्पतिका नवोढ़ा वधू का वृत्तान्त 'तल्पगताऽपि' इस पद्य में वर्णित है। पद्य का अर्थ निम्नलिखित है—जो अतिकोमलाङ्गी सुन्दरी, नव–प्रणयिनी (सहचरियों के अनुरोध से) पलङ्ग पर सोई हुई भी, पति के श्वास के ईषत्सम्पर्क को भी (आलिङ्गनादि की बात ही क्या ?) नहीं सह सकती थी—अर्थात् पति के श्वास के लगने से भी अङ्गों को सिकोड़ने लगती थी, वही सम्प्रति (पति के विदेश जाने की पूर्व रजनी में) हृदय पर रक्खे हुये शङ्कित पति के हाथ को भाविविरहातङ्क से धीरे–धीरे (न कि पूर्ववत् शीघ्रता से) हटा रही है। यहाँ 'सम्प्रति' पद के अर्थ से आक्षेप–गत–मान्द्य की उपपत्ति की जाती है, अतः 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है।

उदाहरणमिदं विवरीतुमवतरणिकां भणति—

इदञ्च पद्यं मन्निर्मितप्रबन्धगतत्वेन पूर्वसाकाङ्क्षमिति दिङ्मात्रेण व्याख्यायते—

अयं तल्पगतेत्यादिश्लोको यद्यपि जगन्नाथपण्डितराजरचिते भामिनीविलासाभिधप्रबन्धे नवोढाप्रकरणे पठित इति तत्प्रकरणघटकश्लोकान्तरसम्बद्धतया पूर्वं व्याख्यातुमशक्योऽपि किञ्चिद्व्याख्यायत इति सारम्।

यह पद्य पण्डितराज–रचित–'भामिनीविलास' नामक–प्रबन्ध का है, अतः इसका सम्बन्ध दूसरे पद्यों से भी है, इसलिये यद्यपि इस पद्य की व्याख्या पूर्ण रूप से नहीं की जा सकती, तथापि दिशा प्रदर्शन के अभिप्राय से कुछ–कुछ व्याख्या कर दी जाती है।

व्याख्यानमेव निर्दिशति—

या नववधूः पल्यङ्कशयिता श्वासस्यासङ्गमात्रेणापि सङ्कुचदङ्गलतिकाऽभूत्, सा, सम्प्रति प्रस्थानपूर्वरजन्यां प्रवत्स्यत्पतिका प्रियेण सशङ्केन समर्पितं हृदि पाणिं नववधूजातिस्वाभाव्यादाक्षिपति, परन्तु मन्दम्।

पल्यङ्कः खट्वाविशेषः। श्वासस्यासहनादेवाङ्गलतासङ्कोचः। आसङ्गाक्षेपपदयोराक्षेप-दर्पकः। प्रवत्स्यन् विदेशं गमिष्यन् पतिर्यस्याः सा प्रवत्स्यत्पतिका। स्वभाव एव स्वाभाव्यम्, ब्राह्मणादिगणस्याकृतिगणतया तदन्तर्गते सर्ववेदादिगणे स्वभावशब्दस्य पाठं कल्पयित्वा 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति पाणिनीयसूत्रेण स्वार्थे ष्यञोविधानाद् रूपं साधनीयम्। नववधूनां जातेर्नववधूत्वस्य स्वाभाव्यान्निसर्गात्। प्रियस्य पाण्यर्पणे शङ्का प्राग्वत् सरभसनिवारणपलायनादेः। आक्षेपस्य मान्थर्ये प्रवत्स्यत्पतिकात्वोचिता सत्वर-भाविप्रियविप्रयोगाद् भीतिरुपपादिका।

जो बात पद्य के अर्थरूप में लिखी गई है उसीको ग्रन्थकार अपनी भाषा में कहते हैं—'या नववधूः' इत्यादि। कहने का अभिप्राय यह है कि—नवोढ़ाओं के हृदय में पति के प्रति प्रेम नहीं रहता है, अथवा अल्प प्रेम रहता है, ऐसी बात नहीं है प्रेम तो अधिक ही रहता है, परन्तु उस प्रेम के साथ लज्जा और भय का भाव भी मिले रहते हैं, जो स्वाभाविक भी है अतः वे (नवोढ़ायें) पति के पास जाने में हिचकिचाती रहती हैं, लेकिन सखियाँ खींचातानी कर उन्हें पति की शय्या पर सुलाकर ही छोड़ती हैं। इस तरह वे पति की शय्या पर पड़ी अवश्य रहती है पर कुछ खिंची–तानी सी अर्थात् पति जो कुछ चाहते रहते हैं उनमें वे सम्मिलित नहीं होतीं, स्थिति यह हो जाती है कि पति के श्वासों का लगना भी उन्हें असह्य सा प्रतीत होता रहता है, फिर अगर पति उनके देहों पर हाथ रखना चाहें तो उसको वे नवोढ़ायें कैसे बर्दाश्त कर सकती हैं, फल यह होता है कि जभी पति महाशय उनके अङ्गों पर हाथ रखते, तभी वे उन हाथों को उठाकर दूर फेंक देती हैं, इसी तरह नवदम्पतियों की रातें आशा तथा असफलताओं के बीच में झूलती रहती हैं, परन्तु

जब वह रात आती है, जिसके प्रभात में पति महाशय चले जायँगे, तब स्थिति बहुत कुछ बदल जाती है, उस अन्तिम रात में पति सशङ्क होकर भी कुछ साहस से काम लेने के लिए कृत सङ्कल्प से हो जाते हैं, परन्तु उन्हें प्रायः साहस से काम लेने का अवसर नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उधर नववधुओं की दशा—मनोवृत्ति भी पहले जैसी नहीं रह जाती, वे सोचती हैं क्या आज भी ये निगोड़ी लज्जा और भय मेरा पीछा नहीं छोड़ेंगे ? यदि ऐसी बात हुई, तब तो बड़ा अनर्थ होगा, न जाने कब फिर उनसे (पति से) भेंट हो, नहीं, आज किसी तरह भय या लज्जा को अपने पास फटकने नहीं दूँगी, इस तरह वे नवोढायें प्रस्थान पूर्व रजनी में सन्नद्ध होकर ही पति की शय्या पर जाती हैं, फिर भी जब पति के हाथ उनके हृदय पर पड़ते हैं तब वे एक बार कुछ चौंक उठती हैं, और पति के हाथों को भी अपने हृदय पर से अलग अवश्य करती हैं। हाँ! इतना अन्तर अवश्य रहता है कि आज पति के हाथों को दूर हटाने में वह वेग नहीं रहता जो और दिनों में रहता था, अर्थात् नववधू-जाति-स्वभाव से बद्ध होने के नाते वे हाथों को हटाती जरूर हैं, परन्तु धीरे-धीरे।

उपादानसङ्गतये व्यङ्ग्यं प्रकटयति—

अत्र शनैः स्वस्थानप्रापणात्मना मन्दाक्षेपेण रत्याख्यः स्थायी संलक्ष्य-क्रमतया व्यज्यते।

अत्र तल्पेत्यादिपद्ये। शनैर्न तु वेगेन। स्वस्थानप्रापणमात्मा स्वरूपं यस्येति बहुव्रीहिः। एतेन रभसनिवारणाभावः सूचितः। आक्षेपे मान्द्यं रतेरनुभावः, प्रणयसद्भाव एव तस्य सम्भवात्। रतेः स्थायितोपादानाद् रसरूपत्वं प्रतीयते। संलक्ष्यक्रमत्वमेव रतिव्यञ्जकस्येह पूर्वोदाहरणद्वयाद्विशेषः।

यहाँ 'मन्दमाक्षिपति' का वाच्यार्थ है धीरे-धीरे अपने स्थान पर रख देना, जिससे रतिनामक स्थायीभाव (जो सम्भोगशृङ्गार के रूप में परिणत हो जाता है) संलक्ष्यक्रम होकर अभिव्यक्त होता है, क्योंकि रति के बिना हाथ का धीरे-धीरे हटाना सम्भव नहीं है।

ननु रत्यादीनां स्थायिनामन्यत्र सर्वैरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यताया एव व्यवस्थापनादिह रतेः संलक्ष्यक्रमतया व्यञ्जनमसङ्गतमित्यतोऽभिदधाति—

उपपादयिष्यते च रत्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्।

उपपादयिष्यते रसनिरूपणप्रकरणेऽत्रैवानने मयेति शेषः। तथाहि—यत्र प्रकरणस्य स्पष्टार्थकतया द्रुततरं प्रतीयमानैर्विभावादिभिः सहृदयानामतिशीघ्रं रसपदवीमासादयतां रत्यादीनां प्रतीतिर्जायते, तत्र वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योः कार्यकारणभावेन कल्पितस्यापि पूर्वापरीभावरूपस्य क्रमस्याशुतरभावितया सम्यग् लक्षयितुमशक्यत्वेनासंलक्ष्यक्रमत्वम्। यत्र तु प्रकरणस्यास्पष्टार्थकतया विभावादीनां प्रतीतावेव विलम्बेन रत्यादिप्रतीतावास्वादपदवी-प्रापकसामग्रीसंवलनविलम्बात् क्रमस्य सम्यग् लक्ष्यता, तत्र रत्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमत्वम्। यथा प्रकृतश्लोके—'सम्प्रति' इति शब्देन पूर्वापरसन्दर्भसम्यक्त्वेन 'तस्या नववधूभावे पूर्वमन्यादृशः सङ्कोच आसीत्, सम्प्रति तु क्रमेण न्यूनतयाऽन्यादृश एवाभूत्' इत्याद्यर्थस्य विलम्बेन प्रत्यायनाद् रत्यादिप्रतीतेर्विलम्बितया संलक्ष्यक्रमत्वम्।

परे तु—'वाच्यार्थतात्पर्यग्राहकप्रकरणस्यास्पष्टार्थकत्वे वाच्यप्रतीतावेव विलम्बेन रत्यादिव्यङ्ग्यप्रतीतेर्न संलक्ष्यक्रमत्वम्। व्यङ्ग्यार्थतात्पर्यग्राहकप्रकरणस्यास्पष्टार्थकत्वे तु गूढ-व्यङ्ग्यचमत्कारोदयविलम्बात् सहृदयवैमुख्येनोत्कर्षव्याघात एवेति कुतो रत्यादिव्यङ्ग्यस्य संलक्ष्यक्रमता' इति व्याहरन्ति।

यदि यहाँ कोई यह शङ्का करे कि आजतक सभी आलङ्कारिक आचार्यों ने तो रति आदि स्थायीभावों को असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ही माना है, फिर आप यहाँ रति को संलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य क्यों और कैसे कहते हैं, इसी प्रसङ्ग में ग्रन्थकार लिखते हैं—'उपपादयिष्यते च' इत्यादि। अर्थात् स्थायीभाव भी क्यों और कैसे संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य हो जाते हैं, यह बात आगे कही जायगी, तात्पर्य यह है कि प्राचीन सभी आचार्य स्थायीभावों को असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य मानते हैं, उनका आशय है कि यद्यपि स्थायीभावों-रसों की प्रतीति के पूर्व विभाव आदि की प्रतीति अवश्य माननी पड़ेगी, क्योंकि उन दोनों प्रतीतियों में कार्य कारणभाव है, विभावादि-प्रतीति, कारण है, और रसादि-प्रतीति, कार्य, अतः उन दोनों में पूर्वापरीय (आगे पीछे का) भाव अवश्य है, परन्तु मध्य के समय अतिसूक्ष्म होने के कारण उनका वह क्रम (पूर्वापर भाव) हमें लक्षित नहीं होता, जैसे जब हम कमल के सौ पत्तों को एक के ऊपर एक के हिसाब से रखकर उनमें सूई को चुभाते हैं, तब यद्यपि एक के बाद ही दूसरे पत्ते में छेद होता होगा पर मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक ही बार सब पत्तों में छेद हो गया। इसके विरुद्ध पण्डितराज का कथन है कि हाँ, स्थायीभाव असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य है, पर सब जगह नहीं, जहाँ प्रकरण स्पष्ट रहता है, वहाँ विभावादि-प्रतीति में विलम्ब नहीं होता और सहृदयों को ऐसा ही भान होता है कि एक साथ ही विभावादि तथा स्थायीभाव की प्रतीति हो गई, और जहाँ प्रकरण स्पष्ट नहीं रहता वहाँ तो विभावादि की प्रतीति में ही अति विलम्ब हो जाता है, फिर वहाँ क्रम लक्षित क्यों नहीं होगा? अर्थात् स्थायीभाव भी दोनों प्रकार के होते हैं, कहीं संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य और कहीं असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य, प्रकृत पद्य में प्रकरण स्पष्ट नहीं है अतः यहाँ का रतिरूप स्थायीभाव संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ही है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन का भी यही सिद्धान्त है।

अस्य काव्यप्रकारस्य स्वकपोलकल्पितत्वं परिहर्तुं प्राचीनमतसंवादं दर्शयति—

अमुमेव च प्रभेदं ध्वनिमामनन्ति।

अमुमुत्तमोत्तमरूपम्। अभ्यासार्थकस्यापि मनतेरुपसर्गयोगात् स्वीकारार्थकत्वम्। ध्वनिकारप्रभृतय इति शेषः। व्यङ्ग्यस्य वाच्यवाचकापेक्षयाऽधिकचमत्काराधायकत्वे ध्वनिकार-प्रभृतयः प्राचीनाचार्या यं ध्वनिमाचक्षते, स एवायम्, न तु नूतनः कश्चित् प्रकार इति भावः।

काव्य के इसी (उत्तमोत्तम) भेद को प्राचीन आचार्य ध्वनि काव्य कहते हैं।

अथ 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादिपद्ये ध्वनित्वस्थापनार्थमप्पय्यदीक्षितावलम्बितां व्याख्यानपद्धतिं दूषयितुमुपपादयति—

यत्तु 'चित्रमीमांसायामप्पय्यदीक्षितैः' 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इति पद्यं ध्वन्युदाहरणप्रसङ्गे व्याख्यातम्—'उत्तरीयकर्षणेन चन्दनच्युतिरित्यन्यथासिद्धिपरिहाराय निश्शेषग्रहणम्। ततश्चन्दनच्युतेः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन सम्भोगचिह्नोद्घाटनाय तटग्रहणम्। स्नाने हि सर्वत्र चन्दनच्युतिः स्यात्, तत्र तु स्तनयोस्तट उपरिभाग एव दृश्यते, इयमाश्लेषकृतैव।

तथा 'निर्मृष्टरागोऽधरः' इत्यत्र ताम्बूलग्रहणविलम्बात् प्राचीनरागस्य किञ्चिन्मृष्टतेत्यन्यथासिद्धिपरिहाराय 'निर्मृष्टरागः' इति रागस्य निश्शेषमृष्टतोक्ता। पुनः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन सम्भोगचिह्नोद्घाटनाय 'अधरः' इति विशिष्य-ग्रहणम्। 'उत्तरोष्ठे सरागेऽधरोष्ठमात्रस्य निर्मृष्टरागता चुम्बनकृतैव।' इत्यादिना 'इदमपि ध्वनेरुदाहरणम्।' इत्यन्तेन सन्दर्भेण 'तटादिघटिता वाक्यार्थाः स्नानव्यावृत्तिद्वारा सम्भोगाङ्गानामाश्लेषचुम्बनादीनां प्रतिपादनेन प्रधानव्यङ्ग्यव्यञ्जने साहायकमाचरन्ति।' इति।

'निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि ! दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडाऽऽगमे
वापीं स्नातुमितो गताऽसि, न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥'

इत्ययं पूर्णः श्लोकोऽमरुशतकघटकः । नायकमानेतुं प्रहितां तमुपभुज्य समायातां दूतीमुद्दिश्य स्नानकार्यप्रकाशनद्वारा सम्भोगं प्रकाशयन्त्या विदग्धोत्तमनायिकाया उक्तिरियम् । अयि ! मिथ्यावादिनि ! 'मत्प्रसादनेनापि नायको नायातः' इति मृषाभाषिणि ! बान्धवजनस्य बान्धवो 'बन्धुमित्रयोः' इति हैमकोशाद् मद्रूपस्य मित्रजनस्य अज्ञातः स्वार्थान्धतयाऽविभावितः पीडाऽऽगमः क्लेशप्राप्तिर्यया, तथाभूते !, दूति ! सन्देशहारिणि ! (न तु सखि ! नापि यथार्थवादिनि ! मत्प्रतारणकर्तृत्वात्) इतो मदन्तिकात्, स्नातुं सलिलावगाहनं कर्तुम्, वापीं दीर्घिकाम्, गताऽसि, अधमस्य नितरामनुचिताचरणान्नीचस्य, तस्य नायकस्य, अन्तिकं समीपं तु पुनः, न गताऽसि । (यतः) तव स्तनयोर्वक्षोजयोः, तटं प्रान्तसमदेश उपरिभागो वा निश्शेषं यथा स्यात् तथा च्युतं गलितं चन्दनं श्रीखण्डं घुसृणं वा यतस्तादृशमस्ति । तथा—अधरो निम्नोष्ठः, निश्शेषं यथा स्यात्तथा (न त्वीषत्) मृष्टः प्रक्षालितो रागस्ताम्बूलरसरक्तिमा यस्य, तादृशोऽस्ति । तथा—नेत्रे नयने, दूरं प्रान्तभागेऽत्यन्तं वा अनञ्जने कज्जलरहिते स्तः । तथा—इयं पुरोलक्ष्यमाणा तनुर्देहयष्टिः तन्वी (सद्यः स्नानात्) कोमला, पुलकिता जातरोमाञ्चा चास्तीत्यर्थः ।

उत्तरीयवसनसङ्घर्षणादपि स्तनयोश्चन्दनच्युतिः सम्भवतीति तत्परिहाराय—निश्शेषेत्युक्तम् । तथा च निश्शेषं चन्दनच्युतिः उत्तरीयवसनसङ्घर्षणान्न सम्भवति, किन्तु सम्मर्दनबहुलात् सम्भोगादेव । तथाऽपि निश्शेषचन्दनच्युतेः प्रक्षालनप्रधानात् स्नानादपि सम्भव इति तदीयं स्नानसाधारण्यं निवारयितुं–तटपदमुपात्तम् । तेन तु स्तनोपरिदेश एव चन्दनच्युतिः सम्भोगादेव न तु स्नानादिति सम्भोगस्य व्यञ्जनम् । एवं ताम्बूलभक्षणे विलम्बादपि पूर्वरागस्य म्लानिः सम्भवतीति–निरित्युपसर्ग उपात्तः । तथा च ताम्बूलभक्षणविलम्बात् रागस्यात्यन्तम्लानिर्नोपपद्यते, अपि तु सम्भोगादेवाधरपानप्रधानात् 'आभियोगाधरास्वादः सुरतादतिरिच्यते' इति कामशास्त्रानुशासनात् । तथाऽपि रागात्यन्तम्लानेः स्नानादपि सम्भव इत्यसाधारण्यं सम्पादयितुमधरपदस्योपादानम् । तथा चोत्तरोष्ठस्य चुम्बनं कामशास्त्रप्रतिकूलमित्यधरमात्रस्य रागात्यन्तम्लानिः सम्भोगादेवेति तद्व्यञ्जनम् । आदिपदप्रतिपाद्यन्तु नेत्रयोरञ्जनात्यन्तराहित्यं तनोस्तानवं पुलकितत्वं च । तथा चाञ्जनग्रहणविलम्बात् स्नानाच्च नेत्रयोः किञ्चिदेवाञ्जनराहित्यं सम्भवति, न त्वत्यन्तमिति नेत्रयोरत्यन्ताञ्जनराहित्येन सम्भोगमात्रजन्येन तद्व्यञ्जनम् । एवं तनोस्तानवं पुलकित्वं च कारणान्तरात् स्नानादपि किञ्चिदेव सम्भवति, न तु प्रभूततरमीदृशमित्येतत् सम्भोगमात्रजन्यमित्यतोऽपि तद्व्यञ्जनम् । दूरशब्दस्यात्यन्तवाचकत्वं व्यक्तम्, प्रान्तभाग इति तु मानसिकोऽर्थः । 'तदादिघटिताः' इत्यादि 'आचरन्ति' इत्यन्तं वाक्यं निर्गलितार्थबोधकम् । वाच्यार्थो निश्शेषेत्यादीनां विशेषणवाक्यानामर्थाः । आदिपदेन सुरतसम्मर्दादिग्रहः । प्रधानव्यङ्ग्यः सम्भोगः साहाय्यकं साहाय्यस्य कर्म–उपकरणम् ।

इह स्नानात् सम्भोगाच्च सम्भविनोऽपि स्तनचन्दनच्युतिप्रभृतिपदार्था निरादिशब्दार्थसम्बन्धमहिम्ना सम्भोगमात्रजन्यत्वेन प्रत्याय्यमानाः प्रतिपादयिष्यमाणेनाधमपदार्थेनोप-

विक्रियमाणाः प्राधान्येन सम्भोगमेवावगमयन्तः काव्यस्य ध्वनित्वं सम्पादयन्तीत्याकूतम् ।

प्रसिद्ध आलङ्कारिक 'अप्पयदीक्षित' ने 'चित्रमीमांसा' नामक अपने निबन्धन में 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इस पद्य को ध्वनिकाव्य का उदाहरण माना है और उसमें ध्वनि-काव्यता की सिद्धि करने के लिये उस पद्य की व्याख्या अपने ढङ्ग से की है, परन्तु उनकी व्याख्या 'पण्डितराज' को अभिमत नहीं, अतः 'पण्डितराज' 'दीक्षित' के मत का खण्डन करने के लिये पहले उनके मत का उपपादन करते हैं—'यत्तु' इत्यादि । किसी विरहिणी नायिका ने एक दूती को दूर स्थित अपने प्रियतम को बुला लाने के लिये भेजा, किन्तु वह दूती स्वयम् उससे सम्भोग करके लौट आई और नायिका के पास आकर झूठमूठ बात बनाने लगी कि—'तुम्हारा नायक लाख अनुनय-विनय करने पर भी नहीं आया' इत्यादि। चतुर नायिका को असल बात समझ में आ गई, परन्तु वह उस बात को स्पष्ट कैसे कहे, अतः उस नायिका ने स्नान साधारण वाक्यार्थों के द्वारा उस बात को व्यक्त किया, इसी प्रसङ्ग पर 'निःशेषच्युतचन्दनम्' यह पद्य 'अमरुशतक' में कहा गया है, (सम्पूर्ण पद्य संस्कृत टीका में देखना चाहिये) अर्थ इसका यह है कि-हे झूठ बोलने वाली दूती! तू अपने बान्धव की (मेरी) पीड़ा को नहीं समझ सकी—उसके दिल में जो वेदना है—उसको नहीं जान सकी, अतएव तू उस अधम (नायक) के पास न जाकर बावड़ी नहाने चली गई । यह बात तेरी चेष्टाओं से स्पष्ट सूचित हो रही है, देखो, तेरे स्तनों के ऊपर भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है, नीचे के होठ की लाली (ताम्बूलकृत) बिलकुल नष्ट हो गई है, नेत्र अत्यन्त अञ्जन रहित हो गए हैं और दुर्बल यह तेरा शरीर रोमाञ्चयुक्त हो उठा है यह तो हुई इस पद्य की सामान्य व्याख्या, अब 'दीक्षित की विशिष्ट' व्याख्या सुनिये—उनका कथन है कि 'स्तनों का चन्दन वस्त्र के सङ्घर्ष से भी मिट सकता है, सो नहीं समझा जाय इसलिये नायिका के मिटने का विशेषण 'सर्वथा' कहा, जिससे यह सूचित होता है कि चन्दन का सर्वथा मिट जाना मर्दन के बिना वस्त्र के सङ्घर्ष मात्र से सम्भव नहीं । इसी तरह स्नान से भी चन्दन को मिटने की सम्भावना थी, उस सम्भावना को दूर करने के लिये चन्दन का विशेषण 'ऊपर भाग का' कहा, जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्नान से यह नहीं हुआ है क्योंकि स्नान से जब चन्दन मिटेगा, तब समग्र स्थान का, पर तेरा चन्दन तो स्तन के ऊपरी भाग में ही मिटा है ऐसा आलिङ्गन से ही हो सकता है । इसी प्रकार ताम्बूल खाये बहुत देर हो जाने से भी होठ की लाली नष्ट हो जा सकती है, परन्तु यहाँ सो नहीं है, यह स्पष्ट करने के लिये ताम्बूल नाश का विशेषण 'बिलकुल' कहा, अर्थात् ताम्बूल खाये बहुत देर हो जाने पर भी होठ की लाली बिलकुल नष्ट नहीं हो सकती, अलबत्ते कुछ फीकी हो जाय, इसी तरह स्नान से भी यह लाली नष्ट नहीं हुई है इस बात को सूचित करने के लिये 'अधर' पद कह दिया, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह लाली का विनाश चुम्बन से ही हुआ है स्नान से नहीं क्योंकि स्नान से यदि लाली नष्ट होती तो ऊपर तथा नीचे दोनों ही होठों की, न केवल निचले होठ की ही, चुम्बन से तो ऐसा सम्भव है, क्योंकि ऊपरी होठ का चुम्बन कामशास्त्र में निषिद्ध है।' यहाँ से लेकर 'यह भी ध्वनि का उदाहरण है' यहाँ तक के सन्दर्भ से 'दीक्षित' ने यह सिद्ध किया है कि 'ऊपर भाग' आदि पदों से युक्त उक्त वाक्यों के जो अर्थ हैं, वे सम्भोग के अङ्ग—आलिङ्गन, चुम्बन आदि के व्यञ्जन या प्रतिपादन के द्वारा मुख्य व्यङ्ग्य (सम्भोग) की अभिव्यक्ति करने में साहाय्य प्रदान करते हैं। सारांश यह है कि इस तरह की उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि दूती के अङ्गों में परिलक्षित होने वाले ये विकार नायक के साथ किये गये सम्भोग से ही उत्पन्न हुए हैं, दूसरे किसी तरीके से नहीं ।

खण्डयति—

तदेतदलङ्कारशास्त्रतत्त्वानवबोधनिबन्धनम्, प्राचीनसकलग्रन्थविरुद्धत्वादुपपत्तिविरोधाच्च ।

उपपत्तिर्युक्तिरौचितीत्यनर्थान्तरम् ।

अब पण्डित राज 'दीक्षित' कृत पूर्वोक्त विवेचन का खण्डन करते हैं—'तदेतदलङ्कार' इत्यादि । 'दीक्षित' का उक्त विवेचन अनभिज्ञता का सूचक है, अर्थात् वे अलङ्कार शास्त्रों के मर्म को नहीं समझते, अतः वैसा कहते हैं, क्योंकि उनका उक्त विवेचन प्राचीन सब ग्रन्थों से तथा युक्तियों से विरुद्ध है ।

प्राचीनग्रन्थस्य काव्यप्रकाशस्य सन्दर्भे विरोधं दर्शयितुमुपन्यस्यति—

तथाहि पञ्चमोल्लासशेषे—'निश्शेषेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, यतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोपात्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि ।' इति काव्यप्रकाशकृतोक्तम् ।

गमकतया—अनुमितिहेतुत्वेन । कारणान्तरतोऽपि—स्नानरूपकारणादपि । उपभोग एव प्रतिबद्धानि—भवदभिमते दूतीकर्तृकसम्भोगरूपसाध्यव्याप्यानि । अनैकान्तिकानि—स्नानसाधारण्येन व्यभिचारितानि । अस्मिन्नेव पद्ये स्नानजन्यत्वेनोपादीयमानत्वाच्चन्दनच्युतिर्हि सम्भोगात् स्नानाच्च सम्भवन्ती न सम्भोगव्याप्या, तस्मात् कुतस्तया व्यभिचारिण्या सम्भोगोऽनुमातुं शक्य इति सम्भोगावगमनाय व्यञ्जनाशक्तिरभ्युपेयैवेति तद्ग्रन्थाशयः ।

चन्दनच्यवनादीनां सम्भोगव्यभिचारित्वं प्रतिपादयताऽमुना ग्रन्थेन सह सम्भोगव्याप्यत्वं प्रतिपादयतो दर्शितचित्रमीमांसाग्रन्थस्य विरोधः स्फुटोऽवधारणीयः ।

प्राचीन ग्रन्थ से विरोध दिखलाने के लिये 'काव्यप्रकाश' का उद्धरण देते हैं—'तथाहि पञ्चमोल्लासशेषे' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि 'प्रकृत (निःशेषच्युत इत्यादि) श्लोक में जो सम्भोगरूप अर्थ व्यङ्ग्य माना जाता है, उसके ज्ञान के लिये व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता नहीं है, अनुमान से ही उस अर्थ का ज्ञान हो जा सकता है' इस मत के खण्डन प्रसङ्ग में मम्मट कहते है कि सम्भोग का ज्ञान अनुमान से तब होता, यदि श्लोक में उक्त चन्दनच्युति प्रभृति सम्भोग व्याप्य होते—अर्थात् सम्भोग से ही वे सब (चन्दनच्युति आदि) होने वाले रहते, सो तो है नहीं, क्योंकि सम्भोग से अतिरिक्त कारणों से भी वे हो सकते हैं, जैसे इसी पद्य में उनको स्नानरूप कारण का कार्य कहा गया है, इसलिये चन्दनच्युति वगैरह सम्भोग के व्यभिचारी (उसके बिना भी होने वाले) हैं, अतः उन हेतुओं से सम्भोग की अनुमिति नहीं हो सकती । यहाँ इस सन्दर्भ को उद्धृत करने का तात्पर्य है कि मम्मट चन्दनच्युति प्रभृति को सम्भोग, स्नान आदि अनेक कारणों से होने वाला साधारण पदार्थ मानते हैं और आप (दीक्षित) बनाते हैं, उसको सम्भोग मात्र से होने वाला असाधारण पदार्थ । अतः मम्मट के ग्रन्थ से आपका विवेचन विरुद्ध हुआ ।

काव्यप्रकाशस्यैव पुनः स्थलान्तरं विरोधप्रकाशनार्थमुपाददाति—

तथा तत्रैव तेन—

'भम धम्मिअ ! वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मरिओ देण ।
गोलाणइकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण ॥'

इत्यादौ लिङ्गलिङ्गिज्ञानरूपेणानुमानेन व्यक्तिं गतार्थयतो व्यक्तिविवेककृतो मतं प्रत्याचक्षाणेन व्यभिचारित्वेनासिद्धत्वेन च सन्दिह्यमानादपि लिङ्गाद् व्यञ्जनमभ्युपगतम् ।

तत्रैव—काव्यप्रकाशपञ्चमोल्लास एव । तेन—मम्मटभट्टेन—

भ्रम धार्मिक ! विश्वस्तः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छनिकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥' इति संस्कृतच्छाया ।

पुष्पावचयाय स्वसङ्केतनिकेतनीभूतगोदावरीतीरनिकुञ्जं प्रति प्रयाणाभिमुखस्य कस्यचित् स्वरहस्यप्रकाशशङ्कया वारणाय कस्याश्चन पुंश्चल्या भणितिरियम् । धार्मिक ! हे धर्मात्मन् ! विश्वस्तः सविश्वासं स्वैरमिति यावत् , न तु प्राग्वत् सत्रासम् , भ्रम कुसुमान्यवचेतुं (मद्गृहपरिसरे न तु गोदावरीतीरे) सञ्चर । यतः स त्वत्प्रात्यहिकत्रासस्य हेतुतया प्रसिद्धः शुनकः श्वा कुक्कुरः, अद्य-अस्मिन्नहनि तेन दुर्दान्ततया सर्वत्र प्रसिद्धेन, अद्यस्त्वया केवलमज्ञातेन, गोदानद्या गोदावरीसरितः, कच्छनिकुञ्जे तीरस्थलतामण्डपे, वासिना सार्वदिकनिवसनशीलेन, न त्वकस्मादागतेन, दृप्तेन प्रसह्य जीवजीवनापहरणदर्पोद्धतेन, सिंहेन केसरिणा, मारितो हत इत्यर्थः । जघनविपुला छन्दः ।

अत्र त्रासकारणीभूतस्य शुनो विनाशोपन्यासेन धार्मिकस्य गृहपरिसरे भ्रमणविधानं वाच्यम् । शुनोऽपि भीरोस्तस्य गोदावरीतीरनिकुञ्जे सिंहसद्भावप्रतिपादनेन भ्रमणनिषेधस्तु वस्तुरूपः पुंश्चल्या वक्त्र्या वैशिष्ट्येन व्यङ्ग्यः । विशेषविचारस्त्वस्मदीयध्वन्यालोकदीधिता-वालोचनीयः ।

लिङ्गं पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टोऽनुमानस्य हेतुः, तज्जन्यं यल्लिङ्गिनः साध्यस्य ज्ञानं, तदेवानुमानम् । व्यक्तिर्व्यञ्जना । व्यक्तिविवेककृतस्तार्किकमतानुयायिनो महिमभट्टस्य । प्रत्याचक्षाणेन खण्डयता । अभ्युपगतमङ्गीकृतम् । तेनेत्यभ्युपगत-मित्यनेन सम्बद्धम् ।

अयमाशयः—'गोदावरीतीरनिकुञ्जं श्वभीरुभ्रमणायोग्यम् , सिंहवत्त्वात्' इत्यनुमितिरेवात्र भ्रमणनिषेधलक्षणं व्यङ्ग्यं गोचरयितुमलम् , कृतं व्यञ्जनायाः स्वीकारेणेति महिमभट्टस्य मतं काव्यप्रकाशकारस्तादृशहेतोर्व्यभिचारित्वमसिद्धत्वं च प्रदर्श्याखण्डयत् । तथाहि-क्वचिद्धार्मिकत्वेन स्पर्शदोषाच्छुनो भीरोरपि वीरस्वभावस्य गुरु-प्रभुनिदेश-प्रियाऽनुराग-निधिलाभसम्भावनाऽऽदिपारवश्येन सिंहाधिष्ठानेऽपि स्थाने गमनस्य दर्शनाद्धेतौ व्यभिचारः, तत्र सिंहसद्भावस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणासिद्धत्वेन पुंश्चल्युच्चारितत्वादप्रमाणीभूततादृशवाक्यमात्रवेद्यतया चासिद्धत्वमिति द्विधा दुष्टेन हेतुनाऽनुमितेः सर्वथाऽसम्भवः । व्यञ्जनापक्षे तु व्यभिचारिणः सन्देहगोचरादपि हेतोर्नियतो व्यङ्ग्यार्थावगमः, तत्र व्याप्त्याद्यनुसन्धानानपेक्षणात् । तथा च प्रकृते हेतोरव्यभिचारित्वप्रदर्शनप्रयासात् काव्यप्रकाशेन सह विरोधः स्फुट एव बोध्यः ।

प्राचीन ग्रन्थ से 'दीक्षित' मत में पड़ने वाले विरोध को दृढ़ करने के लिये पुनः काव्यप्रकाश के ही दूसरे स्थल को उद्धृत करते हैं—'तथा तत्रैव तेन' इत्यादि। 'भ्रमधम्मिअ!' इत्यादि श्लोक संलक्ष्य क्रमध्वनि (वस्तुव्यङ्ग्य) का उदाहरण है। किसी व्यभिचारिणी नायिका ने गोदावरी नदी के तटवर्ती किसी कुञ्ज को अपना सङ्केत स्थान बना रखा था, परन्तु कोई एक धार्मिक पुरुष वहाँ नित्य पुष्प चुनने के लिये आया करता था, अतः उस व्यभिचारिणी ने अपने स्वैर विहार में बाधा पड़ती देख कर उस धार्मिक से कहा—हे धर्मधुरन्धर ! अब आप विश्वास पूर्वक (न कि पहले जैसे डरते हुए) घूमिये (फूल चुनने के लिये मेरे घर के अगल-बगल न कि गोदावरी तट पर फिरते रहिये) क्योंकि जिस कुत्ते का भय बराबर बना रहता था, उसको गोदावरी नदी के जलप्राय प्रदेश की झाड़ी में बसने वाले (न कि अकस्मात् आये हुये) मत्त सिंह ने मार डाला। सारांश यह है कि घर के पास कुत्ते से भी डरने वाले पण्डितजी ! अब आप धोखे से भी गोदा के कुञ्ज में मत जाइये, क्योंकि वहाँ सिंह रहता है, यदि जाने का दुस्साहस कीजियेगा, तो प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। इस तरह से यहाँ भ्रमण का विधान (घूमो) वाच्य है और

भ्रमण-निषेध (मत घूमो) व्यङ्ग्य, यह व्यञ्जनावादी का मत है, परन्तु लिङ्ग-हेतु से लिङ्गी-साध्य का ज्ञान—जो अनुमान है—उससे व्यञ्जना को गतार्थ (व्यर्थ) करने वाले व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट का कथन है कि यहाँ भ्रमण निषेध का ज्ञान करने के लिये व्यञ्जना का स्वीकार व्यर्थ है, क्योंकि 'गोदावरी तटवर्ती कुञ्ज कुत्तों से डरने वालों के भ्रमण करने योग्य नहीं है, क्योंकि वहाँ सिंह है' इस अनुमान से ही उसका (भ्रमण निषेध का) ज्ञान हो ही जायगा। व्यक्ति विवेककार के इस मत के खण्डन के प्रसङ्ग में काव्यप्रकाशकार कहते हैं कि उक्त अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ के हेतु (सिंह का रहना) में व्यभिचारित्व-अन्यगामित्व तथा असिद्धत्व का सन्देह है अर्थात् स्पर्श दोष से बचने वाला धार्मिक यदि वीर हो तो कुत्ते से डरकर भी सिंह से नहीं डरेगा। अथवा डरते रहने पर भी गुरु अथवा प्रभु की आज्ञा, प्रेयसी के अनुराग तथा निधि लाभ की आशा से सिंह युक्त स्थान में भी जा सकता है, इसलिये उक्त हेतु में व्यभिचारित्व (भ्रमणाभावरूप साध्यरहित पक्ष में रहने का) सन्देह है और 'गोदावरी तट पर सिंह है' इसका निर्णय कैसे होगा? स्वयं तो उस धार्मिक ने देखा नहीं, पुँश्चली नायिका का कथन तो प्रमाण नहीं हो सकता, वह झूठ कहती हो ऐसा भी सम्भव है, अतः उक्त हेतु में असिद्धि का संशय है, यदि आप पूछें कि व्यञ्जनावादियों को भी तो 'सिंह है' इस उक्ति से ही भ्रमण निषेध का ज्ञान होता है, सो कैसे? इसका उत्तर यह है कि व्यञ्जनावादियों को 'सिंह है' यह उक्ति सत्य है किंवा मिथ्या इस बात की खोज नहीं करनी है, क्योंकि व्यङ्ग्यकरन में व्यञ्जक का सत्य होना असाधारण (अव्यभिचारी) होना आवश्यक नहीं माना गया है और अनुमान में हेतु का वैसा होना आवश्यक माना गया है। अब स्पष्ट हो गया कि सन्दिग्ध तथा साधारण व्यञ्जक से भी व्यक्ति का प्रतिपादन करने वाले इस प्रकाश ग्रन्थ से असन्दिग्ध तथा असाधारण व्यञ्जक से ही अभिव्यक्ति का समर्थन करने वाला दीक्षित ग्रन्थ विरुद्ध है।

विरोधे ध्वनिकर्तुरपि मतसंवादं दर्शयति—

इत्थमेव च ध्वनिकृताऽपि प्रथमोद्द्योते।

अभ्युपगतमिति ध्वन्यालोक इति च शेषः।

वाच्य-व्यङ्ग्ययोः स्वरूपभेदप्रदर्शनप्रसङ्गेन ध्वनिकारोऽप्यत्र व्यभिचारसिद्धिदूषितादपि सिंहसद्भावरूपाद्धेतोर्व्यङ्ग्यस्य भ्रमणनिषेधस्यावगमं स्वीचकारेति तदपि हेतोरव्यभिचारित्वसम्पादकेनाप्पय्यदीक्षितस्य अकृतप्रयासेन विरुद्धमेवेत्यभिसन्धिः।

इसी प्रकार ध्वन्यालोककार राजानक 'आनन्दवर्धनाचार्य' ने भी ध्वन्यालोक का प्रथम उद्द्योत में कहा है, अर्थात् उन्होंने भी 'भ्रमधम्मिअ' इस पद्य में साधारण तथा सन्दिग्ध व्यञ्जक व्यङ्ग्य का होना स्वीकार किया है, अतः ध्वन्यालोक ग्रन्थ से भी दीक्षित के उक्त विवेचन विरुद्ध होता है।

तदेवाचष्टे—

एवं च व्यञ्जकानां साधारण्यं प्रतिपादयतां प्रामाणिकानां ग्रन्थैः सहासाधारण्यं प्रतिपादयतस्तव ग्रन्थस्य विरोधः स्फुटः।

एवमुक्तप्रकारेण। व्यञ्जकानां चन्दनच्यवनादीनाम्। साधारण्यं व्यङ्ग्यव्यापकत्वं व्यभिचारित्वमिति यावत्। ग्रन्थैः काव्यप्रकाशादिभिः। तव ग्रन्थस्य चित्रमीमांसायाः।

प्रामाणिक-प्राचीनग्रन्थेषु व्यभिचारिणाऽपि हेतुना व्यङ्ग्यस्य प्रतीतिः प्रतिपादिता, त्वया पुनः प्रकृते व्यञ्जकहेतुनामव्यभिचारित्वसम्पत्त्यै महीयान् प्रयासः क्रियत इत्येतत् सर्वथा प्राचीनपक्षप्रतिकूलत्वादप्रामाणिकतयोपेक्षणीयमेव स्यादिति सारम्।

इस प्रकार से यह बात स्पष्ट हो गई कि व्यञ्जक चन्दनच्युति आदि की साधारणता (व्यङ्ग्य तथा तदतिरिक्त वस्तुओं से सम्बन्ध रखना) के प्रतिपादन करने वाले प्रकाशकार

आदि के ग्रन्थों से व्यञ्जक की असाधारणता (व्यङ्ग्यमात्र से सम्बन्ध रखना) का प्रतिपादक अप्पय्य दीक्षित का ग्रन्थ विरुद्ध अवश्य है।

ननु व्यञ्जकानां साधारण्येऽपि व्यञ्जनमभ्युपगच्छद्भिः प्राचीनग्रन्थकारैरसाधारण्ये तेषां तत् सुतरामभ्युपगतमेवेति व्यञ्जकासाधारण्य एव व्यञ्जनं प्रतिपादयतो मद्ग्रन्थस्य तद्ग्रन्थैः सह नास्ति विरोध इत्यतोऽरुचेरुपपत्तिविरोधलक्षणं दूषणान्तरं क्रमेणोपपादयति-

किञ्च यदिदं निश्शेषेत्याद्यवान्तरवाक्यार्थानां वापीस्नानव्यावृत्तिद्वारेण व्यङ्ग्यासाधारण्यं सम्पाद्यते, तत् किमर्थमिति पृच्छामः। व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जनार्थमिति चेत्, न, व्यञ्जकगतासाधारण्यस्य व्यञ्जनानुपायत्वात्।

अवान्तरवाक्यानि श्लोकरूपमहावाक्यघटकानि निश्शेषेत्यादिवाक्यानि, तेषामर्थाः निश्शेषच्यन्दनच्यवनादयः। व्यावृत्तिर्व्यवच्छेद इत्यनर्थान्तरम्। सम्पाद्यते क्रियते त्वयेति शेषः। व्यङ्ग्यस्य सम्भोगस्य। उपायत्वं प्रयोजकता।

व्यञ्जकानां वाक्यार्थानामव्यभिचारित्वसम्पादनार्थमियानयं प्रयासस्तथाऽपि विफलः, व्यभिचारिभिरपि तैर्व्यञ्जनस्य शतशोऽनुभवादिति भावः।

यदि आप कहें कि जब साधारण व्यञ्जक से भी व्यङ्ग्य का होना प्रकाशकार आदि प्राचीन आचार्यों को अभिमत है, तब असाधारण व्यञ्जक से उसका होना तो सुतराम् उन लोगों का अभिमत सिद्ध होता है, फिर तो असाधारण व्यञ्जक से व्यङ्ग्य का होना (जो दीक्षित का अभिप्राय है) विरुद्ध नहीं होता। अतः अब पण्डितराज युक्तिविरोध दिखलाते हैं—'किञ्च यदिदम्' इत्यादि। पण्डितराज दीक्षितजी से पूछते हैं कि आप जो 'ऊपर भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है' इत्यादि बीच के वाक्यों के अर्थों को वापी स्नान में सङ्गत नहीं होने वाले बता कर केवल व्यङ्ग्य (सम्भोग) के ही सङ्गत होने वाले (असाधारण) बनाते हैं, सो क्यों ? व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति हो सके इसलिये ? यह उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि व्यञ्जक का असाधारण होना अर्थात् व्यञ्जक वस्तु व्यङ्ग्यमात्र से सम्बन्ध रक्खे और किसीसे नहीं, इस बात का होना आवश्यक नहीं है।

तदेव व्यभिचारस्थलमुदाहरति—

'ओण्णिद्दं दोब्बल्लं चिंता अलसत्तणं सणीससिअम्।
मह मंदभाइणीए केरं सहि! तुह वि परिभवइ॥'

'औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्ताऽलसत्वं सनिश्श्वसितम्।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि! त्वामपि परिभवति॥' इति संस्कृतच्छाया।

कामुकान्तिके प्रहिता स्वयमेव तमुपभुज्य तद्वियोगेन व्याकुलीभवन्तीं सखीं प्रति विदितसकलरहस्यायाः कस्याश्चन नायिकाया उक्तिरियम्। अयि सखि! मन्दः शोभनफलाभिकृष्टश्चासौ भागो भागधेयमस्त्यस्यामिति मन्दभागिनी हीनभाग्या, तस्या मम कृते मदर्थम्, औन्निद्र्यं निद्राराहित्यं प्रजागर इति यावत्, दौर्बल्यं दुर्बलता, चिन्ता विषयानुध्यानम्, सनिश्श्वसितं निश्श्वाससहितम्, अलसत्वमालस्यं च त्वामपि परिभवति पीडयतीत्यर्थः।

तथा च 'अर्थे कृतेऽव्ययं तादर्थ्ये-वर्तते द्वयम्' इति कोशसारः, 'भागो रूपार्धके प्रोक्तो भागधेयैकदेशयोः' इति विश्वश्च। आर्या छन्दः। काव्यप्रकाशसम्मते पाठे तु चतुर्थचरणेऽहहेत्यधिकशब्दसमावेशेन मात्रात्रयाधिक्याद् गीतिश्छन्दः।

'व्यञ्जक का असाधारण होना आवश्यक नहीं है' इसको पुष्ट करने के लिये उस तरह का उदाहरण दिखलाते हैं, जहाँ साधारण व्यञ्जक से व्यङ्ग्य हुआ है—'ओण्णिद्दं' इत्यादि। नायक से स्वयं सम्भोग करके आई हुई दूती की चेष्टाओं को देख कर उससे नायिका

कहती है—हे सखि ! मुझ अभागी के लिये तुझे भी जागरण, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य और दम फूलना, ये सब पीड़ा दे रहे हैं अर्थात् मेरा दुर्भाग्य ऐसा प्रबल है जिससे मैं स्वयं तो दुःख भोग ही रही हूँ, साथ-साथ मेरे लिये तुझे भी कष्ट भोगना पड़ता है।

प्रकृतोपादानमुपपादयति—

इत्यादौ साधारणानामेवौन्निद्र्यादीनां वक्त्रादिवैशिष्ट्यवशादर्थविशेषव्यञ्जकताया अभ्युपगतेः।

आदिमेनादिपदेन दौर्बल्यप्रभृतीनां द्वितीयेन च प्रतिपाद्यायाः सख्याः संग्रहः। अर्थविशेषः कामुकोपभोगः।

अत्रौन्निद्र्यादीनां रोगात् प्रियतमवियोगाच्चापि सम्भव इति रोग-वियोगोभयसाधारणत्वेऽपि वक्त्र्या ज्ञातरहस्याया निभृततर्जनपराया नायिकायाः, प्रतिपाद्यायाः पूर्वमनेकदा दृष्टदुष्टचेष्टायाः सख्याश्च वैशिष्ट्यात् तत्कामुकोपभोगो व्यज्यत इत्याचार्यैरङ्गीकृतम्। तच्चौन्निद्र्यादीनां व्यञ्जकानामसाधारण्यविरहादसङ्गतं स्यादित्यसाधारण्यस्य व्यञ्जनानुपयोगित्वं निश्चीयत इत्याशयः।

यहाँ जागरण आदि व्यञ्जक पदार्थ सर्वथा साधारण हैं, अर्थात् सम्भोग, वियोग, रोग प्रभृति कतिपय कारणों से हो सकते हैं, फिर भी इन (जागरण आदि) व्यञ्जकों से दूती का सम्भोग व्यङ्ग्य होता है, ऐसा सभी आचार्यों ने माना है। यद्यपि आप यहाँ यह प्रश्न उठा सकते हैं कि भाई ! जब जागरण आदि ऐसे पदार्थ हैं, जो सम्भोग, वियोग, रोग सबसे हो सकते हैं, तब उनसे सम्भोग ही क्यों व्यङ्ग्य हुआ ? इसका समाधान यह है कि बोलने वाली नायिका और प्रतिपाद्य दूती में कुछ ऐसी विलक्षणता है, जिस पर गौर करने से सहृदयों के मन में सम्भोगरूप अर्थ अभिव्यक्त हो उठता है। अर्थात् कहने वाली नायिका का मुख तमतमाया सा है, वाणी रूक्ष है, जो समवेदनासूचक नहीं हो सकती इसी तरह दूती के मुख पर भय की छाया है, उसकी दुष्ट चेष्टायें अनेक बार पहले पकड़ी जा चुकी हैं, इन सब विलक्षणताओं पर ध्यान देने से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि दूती अपराधिनी है और नायिका उसे प्रच्छन्नरूप से तर्जना दे रही है। इतना समझ लेने पर दूती के (नायिका के पति के साथ) सम्भोगरूप अपराध को समझने में किसी सहृदय को विलम्ब कैसे हो सकता है ? इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि व्यञ्जक का असाधारण होना व्यङ्ग्य होने का उपाय नहीं है, किन्तु वक्ता और प्रतिपाद्य का वैशिष्ट्य ही इसका नियामक है।

नन्वसाधारण्यस्य व्यञ्जनानुपयोगित्वेऽपि क्वचित्पुनस्तस्य सति संभवे कथनं कथमसङ्गतमित्यरुचेर्दोषान्तरमाह—

प्रत्युतासाधारण्यस्य व्याप्त्यपरपर्यायस्यानुमानानुकूलतया व्यक्तिप्रतिकूलत्वाच्च।

प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्यार्थकमव्ययम्। व्याप्यत्वेनाभिमतस्य व्यापकाभावाधिकरणावृत्तित्वं व्याप्तिः। यदि व्यञ्जकानामपि हेतूनामनुमितिहेतुवद् व्याप्यत्वरूपमसाधारण्यं कथमपि भवेत्, तर्हि ततो व्यङ्ग्यस्य सुतरामनुमितिरेव स्यात्, तथा च व्यञ्जनाया आनर्थक्यमिति व्यञ्जकासाधारण्यप्रतिपादनस्य व्यञ्जनोच्छेदलक्षणं विपरीतमेव फलमापद्येत, तस्मान्नासाधारण्यं व्यञ्जकानामुचितमित्यभिसन्धिः।

यदि आप कहें कि सर्वत्र असाधारण्य व्यञ्जन का उपयोगी भले ही न हो परन्तु स्थलविशेष में अगर व्यञ्जक असाधारण हो तो उसका प्रतिपादन असङ्गत क्यों होगा ? इसी अरुचि को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार दोषान्तर का उल्लेख करते हैं—'प्रत्युत' इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि कहीं भी असाधारण्य व्यञ्जन का उपयोगी नहीं हो सकता,

अपितु प्रतिकूल ही होगा, क्योंकि असाधारण्य अर्थात् व्यञ्जक अर्थ का व्यङ्ग्य अर्थ मात्र से सम्बन्ध रखना व्याप्तिरूप ही सिद्ध होगा, फिर तो उस व्याप्ति से विशिष्ट, व्यञ्जक-रूप हेतु से व्यङ्ग्य का अनुमान ही हो सकता है व्यञ्जन नहीं, सारांश यह कि इस प्रकार मानने पर व्यञ्जनावृत्ति का उच्छेद ही हो जायगा जो व्यञ्जनावादी दीक्षित को भी अभिमत नहीं हो सकता है।

व्यञ्जकासाधारण्यं पुनरपरथा निराकरोति—

अथ तटादिघटितत्वेऽपि न निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानामसाधारण्यम्, सलिलार्द्रवसनकरणकप्रोञ्छनादिनाऽपि तत्सम्भवादिति चेत्, तर्हि वापीस्नानव्यावर्तनेन कः पुरुषार्थः ? एकत्रानैकान्तिकत्वस्येव बहुष्वनैकान्तिकताया अपि ज्ञाताया अनुमितिप्रतिकूलत्वाद् व्यक्त्यप्रतिकूलत्वाच्च।

प्रथम आदिशब्दोऽधररागम्लान्यतिशयादीन्, द्वितीयस्तु जलबिन्दुपातादीन् सङ्गृह्णाति। सलिलेनार्द्रं क्लिन्नं यद्वसनं, तत्करणं यस्य यत्र वा, तत्सादृशं प्रोञ्छनं यस्य = प्रकृत्यङ्गानाम्। 'वापीस्नानव्यावर्तनेनेत्यतः प्राक् 'तटाद्युपादानात्' इति शेषः। पुरुषार्थः पुरुषोद्यमफलम्। व्यभिचारस्य तथाऽपि जागरूकत्वं फलाभावे हेतुः। 'ज्ञातायाः' इत्यत्र 'जातायाः' इति पाठस्तु कस्यचिच्चिन्त्य एव व्यभिचारस्य ज्ञातस्यैव (न तु स्वरूपसतः) व्याप्तिग्रहविघटकतयाऽनुमितिप्रतिबन्धकत्वात्।

तटाद्युपादानेन वापीस्नानं व्यावर्त्य निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानां कामुकोपभोगासाधारण्यं सम्पिपादयिषतस्तवाभीष्टसिद्धिर्दुर्घटैव, तेषां स्तनतटात्यन्तचन्दनच्यवनादीनामार्द्रवसनकरणकप्रोञ्छनादिभिरपि जननसम्भवात् कामुकोपभोगमात्रजन्यत्ववैधुर्येण व्यभिचारस्य जागरूकतयाऽसाधारण्यस्य प्रतिष्ठानासम्भवात्। इत्थं च यथाऽनेकेषु स्थलेषु, तथा कुत्रचिदेकत्रापि स्थले दृष्टोऽपि व्यभिचारोऽनुमितेः प्रतिबन्धक इतीह हेतोर्व्यभिचारितया त्वन्मते व्यङ्ग्यबोधविरह एवापद्येत। मन्मते तु वैयञ्जनिकबोधे हेतुसाधारण्यस्याप्रतिबन्धकत्वान्न क्षतिरिति तात्पर्यम्।

यदि आप कहें कि 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इस पद्य में 'उपरिभागवाचक तट आदि पदों से रचित वाक्यों का अर्थ यद्यपि ऐसा है जो स्नान प्रभृति में नहीं लग सकते, तथापि वे असाधारण नहीं हैं अर्थात् सम्भोगमात्र से होने वाले नहीं हैं, क्योंकि गीले कपड़े से पोंछ देने पर भी सर्वथा ऊपर भाग मात्र का चन्दन मिट सकता है, और जब वे असाधारण नहीं होंगे, तब अनुमान की बात उठ नहीं सकती, इसके उत्तर में हम प्रश्नकर्ता से यह पूछना चाहेंगे कि जब आप 'ऊपरभाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है' इत्यादि व्यञ्जक वाक्यार्थ को असाधारण नहीं बनाना चाहते अर्थात् गीले कपड़े से पोंछने पर भी होने वाले ही मानते हैं, तब वापी स्नान से वे नहीं हो सकते ऐसा कहकर क्या लाभ उठाये ? क्योंकि जैसे एक स्थान पर व्यभिचरित होना, सम्भोग से भिन्न कारण से सम्बन्ध रखना, अनुमान के प्रतिकूल और व्यञ्जन के अनुकूल है, वैसे ही अनेक स्थानों पर व्यभिचरित होना भी। अतः चन्दन मिटने का सम्बन्ध सबसे रहने दीजिये, किसी से उसके सम्बन्ध को विच्छिन्न करने का प्रयास व्यर्थ है।

नन्विहैव श्लोके 'तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते' इत्येवकारघटितवाक्यमुल्लिखद्भिर्मम्मटभट्टैर्यदेव व्यञ्जकानामसाधारण्यं सूचितम्, तदेव मयाऽपि वापीस्नानव्यावर्तनमुखेनोक्तम्, न तु नूतनं किञ्चिदिति मनसिकृत्याभिधत्ते—

अपि चात्र हि तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति व्यङ्ग्यशरीरे तदन्तिकगमनं रमणरूपफलांशश्चेति द्वयं घटकम्। तत्र तावत् तदन्तिकं गताऽसीत्यंशस्य त्वन्मते

व्यङ्ग्यत्वं दुरुपपादम्, त्वदुक्तरीत्या विशेषणवाक्यार्थानां निश्शेषेत्यादिप्रतिपाद्यानां वाच्यार्थे वापीस्नाने बाधितत्वात् वाच्यकक्षागतप्रधानवाक्यार्थीभूत-विधि-निषेधप्रतिपादकाभ्यां 'गता' 'न गता' इति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणया निषेधस्य विधेश्च प्रतीतेरुपपत्तेः।

अपि चेति खण्डनप्रकारान्तरत्वसूचकम्। शरीरमाकारः स्वरूपमिति यावत्। घटकं तदन्तर्वर्ति। त्वन्मत इत्यनेन स्वमते तद्व्यङ्ग्यतायाः सूपपादत्वं सूच्यते। त्वदुक्तरीत्या विशेषणवाक्यार्थानां तदादिघटितत्वे [illegible]। वापीस्नाने तेषां बाधितत्वं सम्भोगासाधारण्यादेव। [illegible] ...गमौ, प्रधानवाक्यार्थीभूतौ 'वापींस्नातुमितो गताऽसि' 'तस्याधमस्यान्तिकं पुनर्न गताऽसि' इति वाक्यार्थयोः क्रमेण प्रधानीभूतौ यौ विधि-निषेधौ, तयोः प्रतिपादकाभ्यां बोधकाभ्यां 'गता' 'न गता' इति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणया 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' इत्यादिवद्वैपरीत्यलक्षणसम्बन्ध-मूलकलक्षणलक्षणया, क्रमेण (गतेत्यनेन) निषेधस्य (न गतेत्यनेन) विधेश्च प्रतितेरिति सम्बन्धः।

यदि त्वदभिमतं निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानां सम्भोगमात्रजन्यत्वं स्यात्, तदा वापीस्नान-जन्यत्वाभावात् तत्र तेषां बाधितत्वमिति विपरीतलक्षणया गतेत्यनेन गतिनिषेधस्य, न गते-त्यनेन गतिविधेश्च प्रतीतिः, तन्मूलकव्यञ्जनया पुनः प्रयोजनस्य रमणरूपस्य केवलस्य प्रतीतिः स्यादिति 'तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसी'ति सम्पूर्णवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्य व्यङ्ग्यत्वम-सम्भवमेव। मन्मते तु विशेषणवाक्यार्थानां सम्भोगासाधारण्याभावाद् वापीस्नानेऽपि बाधि-तत्वविरहेणात्र लक्षणायाः प्रसरणाभावात् समस्तवाक्यार्थस्य व्यङ्ग्यत्वमक्षतमेवेति तेषाम-साधारण्यं विशेषणवाक्यार्थानां दुरुपपादमेवेत्याकूतम्।

दीक्षित-मत-खण्डन-प्रसङ्ग में अब एक दूसरी युक्ति ग्रन्थकार देते हैं—'अपिचात्र' इत्यादि, 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इस कथन से यह व्यङ्ग्य होता है कि 'तूँ (दूती) उसके पास रमण करने गई थी।' इस व्यङ्ग्य में दो अंश हैं। उनमें से एक अंश है 'उसके पास गई थी' यह और दूसरा अंश है 'रमण' जो फलरूप है। अब दीक्षित की व्याख्या के अनुसार 'उसके पास गई थी' यह अंश व्यङ्ग्य नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी व्याख्या के मुताबिक 'निःशेषच्युतचन्दन' इत्यादि वाक्यों का जो मुख्य अर्थ है 'वापी में स्नान करने गई थी, उस अधम के पास नहीं' वह बाधित है अर्थात् स्नान में नहीं लग सकता। अतः अगत्या 'मुख्यार्थबाधे तद्युक्तः' इत्यादि रीति से यहाँ विपरीत लक्षणा करनी पड़ेगी, जिससे वाच्यकोटि में जहाँ 'नहीं गई थी' है वहाँ 'गई थी' अर्थ होगा, और जहाँ 'गई थी' है, वहाँ 'नहीं गई थी' अर्थ होगा, अन्यथा वाच्य अर्थ सङ्गत ही नहीं हो सकेगा और जब लक्षणावृत्ति से ही 'उसके पास गई थी' यह अंश ज्ञात हो जायगा, तब उस अंश को व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता है।

ननु तदन्तिकगमनांशस्यात्र बाधितत्वेन लक्षणागम्यत्वेऽपि व्यञ्जनाविषयत्वं कुतो नेत्यत आह—

न हि मुख्यार्थबाधेनोन्मीलितेऽर्थे व्यक्तिवेद्यतोचिता।

उन्मीलिते लक्षणया बोधिते। व्यक्तिवेद्यता व्यञ्जनाबोध्यता।

मुख्यार्थबाधहेतुत्थापितलक्षणाजन्यप्रतीतिविषयोऽर्थो यस्मात् व्यञ्जनाजन्यबोधविषयो न भवति, तस्मात् तदन्तिकगमनांशस्य व्यङ्ग्यत्वमसम्भवीति तात्पर्यम्।

यदि आप कहें कि लक्ष्य (लक्षणावृत्ति से समझ में आ जाने वाला) अर्थ व्यङ्ग्य क्यों नहीं हो सकता है? इस शङ्का का समाधान करते हैं—'नहि मुख्यार्थ' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि साहित्य जगत् में औचित्य की रक्षा आवश्यक मानी गई है। 'अनौचित्या-

इते नान्यद्दसभङ्गस्यकारणम्' कहा गया है। और किसी भी युक्ति से समझ में आ जाने वाले अर्थ को पुनः व्यञ्जना से समझें यह अनुचित तथा व्यर्थ है। अतः लक्षणा से समझा गया 'उसके पास गई थी' यह अर्थ व्यञ्जना से समझने योग्य नहीं रह जाता है, अर्थात् व्यङ्ग्य नहीं हो सकता है।

उदाहरणप्रदर्शनोक्तमर्थं द्रढयति—

यथा—'अहो! पूर्णं सरो यत्र लुठन्तः स्नान्ति मानवाः।' इत्यत्र कर्तृविशेषणानुपपत्त्यधीनोल्लासे पूर्णत्वाभावे।

शुष्ककल्पं तडागं निन्दतः कस्यचिद् भणितिरियम्। यत्र यस्मिन् सरसि लुठन्त इतस्ततः परिवर्तमाना न तु स्नानोचितजलाभावेन निमङ्क्तुं शक्नुवन्तः, मानवाः, स्नान्ति, तादृशमिदम्, अहो अद्भुतं, पूर्णं सलिलैररिक्तं, सरः सरोवरमस्तीत्यर्थः। कर्तॄणां स्नानकर्तॄणां विशेषणस्य लोठनस्यानुपपत्त्यधीनः सरसः पूर्णत्वेऽन्वयानुपपत्त्या जनित उल्लासो लाक्षणिको बोधो यस्य, तादृशे पूर्णत्वाभावे रिक्तत्वे न व्यञ्जनेति शेषः।

'लुठन्तः' इति विशेषणपदार्थस्य पूर्णपदवाच्यार्थेऽन्वयस्य बाधाल्लक्षणया प्रत्याय्यमानः पूर्णत्वाभावो यथा व्यञ्जनाजन्यप्रतीतिविषयो न भवति, तथैव प्रकृते भवदुक्तव्यङ्ग्यप्रथमांशोऽपि न भवेदिति भावः।

अमुमेवार्थं चित्रमीमांसाखण्डने—'एवं च तटादिघटितानां वाक्यार्थानां मुख्यार्थवापीस्नानपक्षे बाधितत्वाद् विरोधिलक्षणया 'वापीं स्नातुं न गताऽसि, किन्तु तदन्तिकम्' इति प्रतिपत्तौ विगलितव्यञ्जनाव्यापारेण यथा—'अहो! पूर्णं सरो यत्र लुठन्तः स्नान्ति मानवाः' इत्यत्र 'लुठन्तः' इति विशेषणस्य मुख्येऽर्थेऽनुपपत्त्या विरुद्धोऽर्थो भासमानोऽपि न व्यङ्ग्यः।' इति सन्दर्भेण पण्डितराजः स्वयं स्फुटीचकार।

लक्षणा-बोध्य-अर्थ व्यङ्ग्य नहीं कहलाता, इस बात को उदाहरण दिखलाकर दृढ करते हैं—'यथा' इत्यादि। 'अहा! सरोवर अधिक भरा हुआ है, जिसमें मनुष्य लोटते हुए स्नान करते हैं'। जो जलाशय जल से पूर्ण रहेगा उसमें लोग लोटते हुए स्नान नहीं करते, अपितु डुबकियाँ लगाते हैं, और यहाँ स्नानकर्ता का विशेषण 'लोटते हुये' कहा गया है, जिससे सरोवर का विशेषण जो कहा गया है 'भरा हुआ' उसका अर्थ बाधित हो जाता है अर्थात् उसका अन्वय 'लोटते हुए' के साथ नहीं बैठता, अतः पूर्ण पद की पूर्णत्वाभाव (नहीं भरा हुआ) में विपरीत लक्षणा करनी पड़ती है, इस स्थिति में जैसे 'सरोवर पूर्ण नहीं है अर्थात् शुष्क है' यह अर्थ लक्ष्य ही कहलाता है, व्यङ्ग्य नहीं, वैसे ही दीक्षित की रीति से 'उसके समीप गई थी, नहाने नहीं' यह अर्थ विपरीत लक्षणा के विषय हो जाने से व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता है।

नन्वेवमपि कामुकोपभोगरूपस्य द्वितीयांशस्य व्यञ्जनाबोध्यत्वं त्वक्षतमेवेत्याक्षेपं समादधाति—

अथ तदन्तिकगमनस्य लक्षणावेद्यत्वेऽपि रमणस्य फलांशस्य लक्ष्यशक्तिमूलध्वननवेद्यत्वमव्याहतमेवेति चेत्, 'अधमत्वमप्रकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा वा भवति। तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वदति' इत्यादिना सन्दर्भेण भवत्तैवार्थापत्तिवेद्यतायाः स्फुटं वचनात्।

लक्षणावेद्यत्वेऽपि विपरीतलक्षणाजन्यबोधविषयत्वेऽपि। रमणं कामुकोपभोगः। लक्ष्यस्य बोधिका शक्तिर्वृत्तिर्लक्षणा मूलं यस्य, तादृशं ध्वनने लक्षणाभूला व्यञ्जना। चित्रमीमांसाग्रन्थसंवादाय 'वक्तीत्यस्य स्थाने वदतीति पाठ एव निहितः। उत्कृष्टजातिकनायिकाया अपकृष्टजातिकनायकेऽनुरागानौचित्यात् तन्नायिकायास्तत्कथनानौचित्यम्। आदिशब्देन 'भापि

स्वापराधपर्यवसायिदूतीसम्भोगादिहीनकर्मातिरिक्तेन कर्मणा । तादृशं दूतीप्रेषणात् प्राचीनं सर्वं सोढमेवेति नोद्धाटनार्हम् । अन्यथा स्वयं दूतीसम्प्रेषणानुपपत्तेः ।' इत्यादि पुरस्तान्मूलेऽप्युपदेक्ष्यमाणं चित्रमीमांसाप्रकरणं परामृश्यते ।

अप्पय्यदीक्षितमते रमणरूपफलांशस्यापि व्यङ्ग्यत्वं न सम्भवति, किन्त्वर्थापत्तिगम्यत्वमेव, यतस्तदुक्तरीत्या रमणं विना नायकाधमत्वस्यान्यथाऽनुपपत्त्या तेनार्थापत्त्यैव स्वोपपादकं तद् बोध्यते, न तु व्यञ्जनया तत्प्रत्याय्यते । तथाहि—जात्या नायकस्याधमत्वमनयोत्तमनायिकयाऽनौचित्याद् दुर्वचमेव, दूतीसम्प्रेषणानुपपत्तेस्तस्मात् पुरातनानामपराधानां सोढत्वाच्च तैरप्यधमत्वं दुरुपपादमेवेत्यनायत्या दूतीसम्प्रेषणोत्तरकालिकं दूतीसम्भोगलक्षणमेव कामानुशासनगर्हितं नायकस्य कर्म तदुपपादकमागूर्यत इति स्फुटतरे तदीयसन्दर्भाशयेऽर्थापत्तिवेद्यत्वमेवात्र व्यङ्ग्यस्येत्यभिप्रायः ।

अब यदि यहाँ आप कहें कि 'उसके पास गई थी' यह अंश लक्षणा से ज्ञात हो जाने के कारण व्यङ्ग्य नहीं हो सकता, न हो 'रमण' जो फलरूप होने से मुख्य है—अंशतोलक्षणामूला व्यञ्जना से व्यङ्ग्य होगा ही और उसी मुख्य व्यङ्ग्य को लेकर इस श्लोक में ध्वनिकाव्य का लक्षण सङ्घटित करेंगे । यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आपने ही 'चित्रमीमांसा' में उस अंश को भी 'अर्थापत्ति' प्रमाण से समझने योग्य कहा है । यदि कोई पूछे कि कैसे ? तो सुनिये—'चित्रमीमांसा' में उसने कहा 'अधम का मतलब है अपकृष्ट और अपकृष्ट कोई दो ही तरीके से हो सकता है, जाति से अथवा कर्म से । अब सोचिये कि प्रकृत श्लोक में जो नायिका ने नायक के लिये अधम शब्द का प्रयोग किया है, वह किस आशय से ? जाति से अपकृष्ट समझकर अथवा कर्म से ? उत्तर स्पष्ट है कि कर्म से ही अपकृष्ट समझकर उक्त प्रयोग नायिका ने किया होगा, क्योंकि उत्तम नायिका किसी भी हालत में अपने पति को जाति से हीन होने के नाते अपकृष्ट नहीं समझ सकती और न उसके चलते अधम ही कह सकती' इत्यादि । अब जरा सहृदयगण गौर करें कि 'रमण' 'अर्थापत्ति' से ज्ञात होगा या नहीं ? मैं कहूँगा अवश्य होगा, क्योंकि नायिका जिस कर्म के चलते नायक को अधम समझने लगी वह कर्म दूतीप्रेषण से पूर्वकाल का नहीं हो सकता, अन्यथा दूती को वह भेजती ही नहीं, फलतः दूती के भेजने के बाद का जो अल्पकाल है, उसी में नायक के द्वारा किये गये किसी कुकर्म को लक्ष्य कर नायिका नायक को अधम कह रही है यह निश्चित है फिर तो अधम कहने से मध्यकालिक नायक का वह दूतीसम्भोग-रूप-कुकर्म अर्थात् लब्ध हो ही जायगा ।

ननु दूतीसम्भोगस्यार्थापत्तिवेद्यत्वेऽपि व्यञ्जनावेद्यत्वमपि स्यादिति को दोष इत्यत आचष्टे—

अनन्यलभ्यस्य च शब्दार्थताया अस्वीकृतेः ।

'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति सिद्धान्तेन प्रकृते दूतीसम्भोगस्यार्थापत्तिबोध्यत्वेऽन्यलभ्यत्वाद् व्यञ्जनाबोध्यत्वं न स्यादित्यर्थः ।

यदि आप कहें कि 'रमण' अर्थापत्तिवेद्य होकर भी व्यञ्जनावेद्य क्यों नहीं कहलायगा ? इसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—'अनन्य' इत्यादि । 'अन्य किसी भी युक्ति से जो समझ में नहीं आ सकता हो, उसी को किसी शब्द का अर्थ मानना चाहिये' ऐसा नियम है । अतः अन्य—अर्थापत्ति प्रमाण से लभ्य समझ में आने योग्य उक्त 'रमण' शब्द का व्यङ्ग्य अर्थ नहीं हो सकता है ।

नन्वर्थापत्तेर्व्यतिरेकव्याप्तिविधयैव चारितार्थ्यात् प्रमाणान्तरत्वस्य तार्किकादिभिरनभ्युपगमाद् वृत्तित्वाभावाच्चात्र सम्भोगस्य तद्वेद्यत्वेऽपि व्यञ्जनावेद्यत्वं निर्बाधमेवेत्याशङ्कामभ्युपगम्य प्रकारान्तरेण निरस्यति—

अपि च यथाकथञ्चिदङ्गीकुरु नाऽत्र व्यञ्जनाव्यापारम्, तथापि न तवेष्ट-

सिद्धिः, वाच्यानां निश्शेषच्युतचन्दनस्तनतटत्वादीनामधमत्वस्य च त्वदुक्त-रीत्या प्रकारान्तरेणानुपपद्यमानतया दूतीसम्भोगमात्रनिष्पाद्यत्वेन गुणीभूत-व्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गात् ।

यथाकथञ्चिदर्थापत्तेरतिरिक्तत्वाभावादिस्वीकारेण । तव विशेषणवाक्यार्थासाधारण्य-वादिनः । इष्टस्य प्राधान्येन दूतीसम्भोगव्यञ्जकतया प्रकृतकाव्ये ध्वनित्वस्य न सिद्धिः । त्वदु-क्तरीत्याऽसाधारण्येन । प्रकारान्तरेण दूतीसम्भोगातिरिक्तेन कर्मणा जात्या वा । गुणीभूतव्य-ङ्ग्यत्वस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्यत्वरूपस्य प्रसङ्गादापत्तेः ।

सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि तं विना वाच्याधमत्वादेरनुपपत्त्या तदुपपादकत्वेन व्यङ्ग्यस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभूतत्वादस्य काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेव न तु ध्वनित्वं भवदभि-मतमिति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि 'अर्थापत्ति' तो कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, नैयायिकों ने उसको अनुमान में ही गतार्थ किया है, फिर उसको पृथक् प्रमाण मानकर उससे किसी अर्थ को समझने की बात करना उन्मत्त प्रलाप सा है, अतः 'रमण' को व्यङ्ग्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है, तो पण्डितराज इस तर्क को स्वीकार कर दूसरे तरीके से दीक्षित मत का खण्डन करते हैं—'अपि च' इत्यादि कहने का तात्पर्य यह है कि यदि 'रमण' किसी तरह व्यङ्ग्य हो सकता है, यह बात मान भी ली जाय तथापि आप को इष्टसिद्धि नहीं हो सकती, अर्थात् यह पद्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'स्तनों के ऊपर भाग का चन्दन मिटना, नीचले होठ का ही रङ्ग उड़ना तथा नायक का अधम होना' ये सब जो वाच्य अर्थ हैं, वे आपके हिसाब से केवल दूती सम्भोग से ही हो सकते हैं, वापीस्नान आदि से नहीं और वह दूती सम्भोग वाच्य नहीं, व्यङ्ग्य है, अतः यह सिद्ध हुआ कि उक्त व्यङ्ग्य ही वाच्य अर्थ को सङ्गत बनाने वाला है फिर वह व्यङ्ग्य वाच्य अर्थ की अपेक्षा गौण हो जायगा, जिससे यह पद्य 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक मध्यम काव्य का उदाहरण होगा, 'ध्वनि' नामक उत्तम काव्य का नहीं ।

उपसंहरति—

एवं चोपपत्तिविरोधोऽपि स्फुटतर एव ।

एवमुक्तरीत्या विशेषणवाक्यार्थासाधारण्येन काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गे च । उपपत्तिविरोधो गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः, काव्यप्रकाशकाराद्यनुरोधत्यागश्चापि [illegible]

इस तरह से दीक्षित के मत में युक्ति विरोध भी है, अतः उनका मत असङ्गत है ।

इत्थमप्यप्पय्यदीक्षितदर्शितदिशा सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वमपास्य काव्यप्रकाशाद्यनुरोध-परवशः स्वमतेन पुनरपरथा स्थापयितुमुपक्रमते—

तस्माद् वाच्यार्थसाधारण्यमेवोचितमतिविदग्धनायिकानिरूपितानां विशेषण-वाक्यार्थानाम् ।

तस्मादसाधारण्याङ्गीकारे प्रागुक्तदोषापातात् । वाच्यार्थे वापीस्नाने साधारण्यमेव, न तु व्यङ्ग्यसम्भोगमात्रव्याप्यत्वम् । विदग्धा सहृदया, तथा च 'द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्य-वस्तु' इति नयेन व्यङ्ग्यसम्भोगवाच्यवापीस्नानयोः साधारण्या एव तदुक्तेरौचित्यम्, न तु पामरनारीवत् स्पष्टतरार्थायाः । निरूपितानां बोधितानां कथितानां वा ।

इसलिये यह समझना चाहिये कि अति चतुर नायिका के मुख से निकले हुए 'निःशेष-च्युतचन्दनम्' इत्यादि विशेषणों का अर्थ ऐसा ही होना चाहिये जो वाच्य अर्थ (वापीस्नान) और व्यङ्ग्य अर्थ (सम्भोग) दोनों में साधारण हो अर्थात् दोनों में लग सके, न कि ऐसा जो केवल व्यङ्ग्य सम्भोग में ही लगे ।

न हि विदग्धा नायिका स्फुटतरं वक्तुं शक्नुयाद्रहस्यमिति वाच्यव्यङ्ग्योभयसाधारण्यमेवोचितं विशेषणवाक्यार्थानामिति सारम् ।

सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वोपपत्तये स्वयं तत्पद्यं विवृणोति—

तथाहि—'अपि बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे ! स्वार्थपरायणे ! स्नानकालातिक्रमभयवशेन नदी-मदीयप्रिययोरन्तिकमगत्वैव, वापीं स्नातुम्, इतो मदन्तिकाद् गताऽसि, न पुनस्तस्य परवेदनानभिज्ञतया दुःखदातृत्वेनाधमस्यान्तिकम् । यतो निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनयोस्तटमेव नीरःस्थलम्, वापीगतबहुलयुवजन-त्रपापारवश्यादंसद्वयलग्नाग्र-स्वस्तिकीकृत-भुजलतायुगलेन तटस्यैवोन्नततया मुहुरामर्शात् । एवं त्वरया सम्यगक्षालनेनोत्तरोष्ठो न निर्मृष्टरागः, अधरस्तु तदपेक्षया गण्डूषजल-रदनशोधनाङ्गुल्यादीनामधिकसम्मर्दमावहतीति तथा । किं च—सम्यगक्षालनेन नेत्रे जलमात्रसंसर्गाद् दूरमुपरिभाग एवानञ्जने । शीतवशात् तानवाच्च तव तनुः पुलकिता, इति । एवं तस्या विदग्धाया गूढतात्पर्यवोक्तिरुचिता, अन्यथा वैदग्ध्यभङ्गापत्तेः ।

एवं साधारणेष्वेषु वाक्यार्थेषु मुख्यार्थे बाधाभावात् [illegible] नाकलनात् कुतोऽत्र लक्षणाऽवकाशः । अनन्तरं च वाच्यार्थप्रतिपत्तिवक्तृबोद्धव्य-नायकादीनां वैशिष्ट्यस्य प्रतीतौ सत्यामधमपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दुःखदातृत्वरूपो धर्मः साधारणात्मा वाच्यार्थदशायामपराधान्तर-निमित्तक-दुःखदातृत्वरूपेण स्थितो व्यञ्जनाव्यापारेण दूतीसम्भोगनिमित्तक-दुःखदातृत्वाकारेण पर्यवस्यतीत्यालङ्कारिकसिद्धान्तनिष्कर्षः ।

स्वार्थपरायण इत्यनेन बान्धवेत्यादिसम्बोधनफलितार्थकथनम् । नद्या नायिकाप्रियस्य च दूरस्थतया तदन्तिकागमने वापीगमने च स्नानकालातिक्रमो हेतुः । इत इत्यस्य विवरणं मदन्तिकादिति । व्यङ्ग्यसम्भोगस्यागूढतापरिहाराय [illegible] । वाप्यां गताः स्नानाद्यर्थं स्थिताः, बहुला भूयांसो ये यु[illegible] या त्रपा तव युवत्या लज्जा, तस्याः पारवश्यात् तत्पारतन्त्र्यात् । अंसद्वये स्कन्धयुगले, लग्नः सम्बद्धः, अग्रः कररूपोऽग्रभागो यस्य, तादृशं स्वस्तिकीकृतमर्धमुकुलीकृतं च यद् भुजलतायुगलं तेनेति सम्बन्धः । मुहुरामर्शे स्तनतटौन्नत्यं हेतुः । एवं—त्रपापारवश्यात् । त्रपापारवश्यं त्वराया मूलम्, त्वरामूलकश्च सम्यक् क्षालनाभावः । तथा—निर्मृष्टरागः । मात्रशब्देनाङ्गुलिसंसर्गव्यवच्छेदः । शीतेति भावप्रधाननिर्देशः । तानवं कोमलता कार्श्यं च । व्याख्यानपर्यवसानसूचक इति शब्दः । एवमुक्तैः प्रकारैः । तस्या वक्त्र्या नायिकायाः । गूढं साधारणधीशालिजनावेद्यं तात्पर्यमाशयो यस्या इति बहुव्रीहिः । उक्तेर्गूढतात्पर्यत्वे बीजं वैदग्ध्येन । अत एवोक्तेरगूढार्थकत्वे तद्भङ्गप्रसङ्गः । मुख्यार्थबाधविरहे विशेषणवाक्यार्थानामुभयसाधारण्यं हेतुः । एवं मुख्यार्थबाधविरहाल्लक्षणाया अप्रसक्तेः । मुख्यार्थे वापीस्नाने । अनन्तरं वाच्यार्थबोधोत्तरम् । वक्त्री विदग्धोत्तमनायिका, बोद्धव्या पुंश्चली दूती, काक्वप्रयुक्तिश्चादिपदेन प्रतिपाद्यते । तात्पर्यार्थस्य वक्त्रीसमवेतेच्छाविषयीभूतलक्ष्यार्थस्य झटिति व्यञ्जनाव्यापारेण विनाऽनाकलनादनुपस्थितेः । स्वप्रवृत्तिप्रयोजकः स्वोच्चारणकारणीभूतः । अपराधान्तरं तीव्रविरहवेदनोपेक्षाऽऽदिरूपा अन्येऽपराधा निमित्तं यस्य, तादृशं दुःखदातृत्वम् । तच्च दुःखं

वाच्यप्रतीतावपराधान्तरनिमित्तकं, व्यङ्ग्यप्रतीतौ तु निषिद्धदूतीसम्भोगनिमित्तकं भासते। आलङ्कारिकसिद्धान्तनिष्कर्ष इत्यनेन स्वमतस्य द्रढिमा सूच्यते।

इदमाकूतम्—इह पामरीवद् विदग्धोत्तमनायिकाया व्यक्ततरार्थकवाक्योपादानानौचित्याद् विशेषणवाक्यार्थानां सम्भोगासाधारण्ये व्यङ्ग्यप्रतीतिरूपाभीष्टसिद्धेरभावात्, तेषां सम्भोगस्नानयोरुक्तरीत्या साधारण्यमेवोचितम्। अधमत्वसम्पादकधर्मोऽपि दुःखदातृत्वरूप एव ग्रहीतुं युक्तः, वाच्यव्यङ्ग्यकक्षयोरन्वयानुकूल्यात्। पदार्थोपस्थितिकाल एव वाच्यार्थान्वयबाधग्रहवैधुर्याच्च न विपरीतलक्षणा। किन्तु स्नानपक्षीयवाच्यार्थप्रतीतौ वाच्यमात्रविदामवसितायां, प्रकरणादिपर्यालोचनेन काव्यार्थभावनाप्रसाधितधियां सम्भोगपक्षीयोऽर्थः प्राधान्येन वैयञ्जनिकप्रतीतिपदवीमवतरं चमत्कारातिरेकसम्पादकत्वात् काव्यमिदमुत्तमोत्तमीकुर्वन् ध्वनित्वेन व्यपदेशयति। दीक्षितदर्शितदिशा तु ग्रन्थोपपत्तिविरोधो वज्रलेपायित एव।

अब जिससे उक्त दोषों का अवकाश न हो, तथा यह पद्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण हो सके, ऐसी व्याख्या उक्त श्लोक की पण्डितराज करते हैं—'तथाहि' इत्यादि। 'दो अर्थ वाले पदों से रहस्य वस्तु को सूचित करना चाहिये' इस नियम के अनुसार चतुर नायिका दूती से कहती है—'हे दूति! तू बड़ी स्वार्थिनी है, तभी तो मुझ जैसी सखी के दिल में बढ़ती हुई पीड़ा का कुछ भी ख्याल न कर अपने स्नान समय के चूक जाने के भय से मेरे प्रिय के पास नहीं गई, न नदी किनारे ही गई (क्योंकि वह भी दूर था) और सीधे मेरे पास से वापी पर स्नान करने चली गई। दूसरे की पीड़ा को (जानते हुए भी) न जानकर दुःख देने वाला मेरा वह नायक भी अधम ही है (अन्यथा बुलाने के लिये तुझे भेजने की अपेक्षा ही नहीं पड़ती) तू उस अधम के पास नहीं गई वरन स्नान करने चली गई यह बात तेरी चेष्टाओं से ही सूचित हो रही है। देखो तेरी छाती में चन्दन ज्यों का त्यों बना हुआ है पर स्तनों के ऊपर भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है और ऐसा इसलिये हुआ है कि वापी पर बहुतेरे युवक स्नान करते रहे होंगे, अतः तूने लज्जा के मारे अपने मुड़े हुये हाथों को कन्धे पर रखकर केहुनी से स्तनों को मला होगा, जिससे ऊँचे स्तन के ऊपर भाग पर ही सङ्घर्षण हो सका, निम्नभाग में नहीं इसी तरह शीघ्रता से ठीक से न धो सकने के कारण ऊपर के होठ की लाली कुछ-कुछ बनी रही परन्तु नीचे का होठ ऊपरी होठ की अपेक्षा अधिक कुल्लों का जल, दांत स्वच्छ करने की अङ्गुली आदि के सङ्घर्षण लगाने से सर्वथा स्वच्छ हो गया और ठीक से नहीं धो सकने के कारण ही आँखों में जल का ही संसर्ग हो पाया (अङ्गुलियों का नहीं) इसलिये ऊपर ऊपर का ही कज्जल मिट सका (भीतर का नहीं) इसी तरह अधिक ठण्ड पड़ने से दुबला, पतला तेरा शरीर रोमाञ्चित हो गया है।' इस प्रकार चतुर नायिका की उक्ति ऐसी ही होनी चाहियें, जिसका अभिप्राय छिपा हुआ हो, अन्यथा उसकी चतुरता ही नष्ट हो जायगी। इसी तरह से जब इन वाक्यों के अर्थ साधारण (स्नान, सम्भोग आदि अनेक कारणों से होने वाले) होंगे, तब मुख्य (स्नान करने के लिये जाना) अर्थ बाधित नहीं होगा, वक्ता का तात्पर्य झट से समझने में नहीं आवेगा, अतः लक्षणा का प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकेगा। वाच्य अर्थ के ज्ञान हो जाने पर जब बोलने वाली नायिका जिसके प्रति यह पद्य कहा जा रहा है, उस दूती जिसको बुलाने के लिये दूती को भेजा गया था, उस नायक तथा वक्तव्य की विलक्षणताओं पर ध्यान दिया गया अर्थात् जब काव्य मर्मज्ञ सहृदय सोचेंगे कि यह नायिका विरहणी है, दूती स्वेच्छाचारिणी है, इस तरह पतिव्रता प्रेयसी की उपेक्षा करने वाला नायक भी व्यभिचारी होगा और नायिका की उक्ति भी अनेक अर्थों से युक्त है, अगर स्नान की ही बात कहनी होती तो फिर इस तरह के दो दो अर्थ वाले पदों के प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी? इत्यादि तब सहृदयों के मस्तिष्क में यह बात आयगी कि हमने जो 'नायिका साधारण दुःख देने के कारण ही नायक को अधम कह रही है' ऐसा

वाच्य अर्थ समझा है, वह ठीक नहीं है अवश्य कोई विशेष कष्ट नायिका को नायक ने दिया है, अतः वह नायक को अधम कह रही है, परन्तु वह विशेष कष्ट कौन सा हो सकता है ? इस तरह जिज्ञासा उत्पन्न होने पर व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा यह ज्ञात होता है कि नायक ने इस दूती से सम्भोग किया है जिसका ज्ञान हो जाने से नायिका को दुःख हो रहा है और साथ ही कुछ क्रोध भी, अत एव नायिका पतिव्रता होकर भी पति के प्रति कटु वचन का प्रयोग कर रही है, अधम कह रही है। यही अलङ्कारशास्त्रमर्मज्ञों के सिद्धान्त का सार है।

पूर्वोक्तनीत्यैव पुनरप्यप्पय्यदीक्षितोक्तमधमपदार्थव्याख्यानमपि दूषयति—

एतेन—'अधमत्वमपकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा वा भवति। तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वक्ति। नापि स्वापराधपर्यवसायि-दूतीसम्भोगातिरिक्तेन कर्मणा। तादृशं च दूतीसम्प्रेषणात् प्राचीनं सोढमेवेति नोद्घाटनार्हमितीतरव्यावृत्त्या सम्भोगरूपमेव पर्यवस्यति।' इति यदुक्तम्, तदपि निरस्तम्, विदग्धोत्तमनायिकायाः सखीसमक्षं तदुपभोगरूपस्य स्वनायकापराधस्य स्फुटं प्रकाशयितुमतितमामनौचित्येन प्राचीनानामेव सोढानामप्यपराधानामसह्यतया दूतीं प्रति प्रतिपिपादयिषितत्वादिति दिक्।

एतेन विदग्धोत्तमनायिकया कामुकापराधरूपदूतीसम्भोगस्य सखीसमक्षं स्पष्टमुद्घाटयितुमत्यन्तमनर्हत्वेन, मद्दर्शितदिशा व्यङ्ग्यमर्यादयैव तद्बोधनौचित्येन च। अधमेत्यादिश्चित्रमीमांसाग्रन्थो दीक्षितस्य। जात्याऽधमत्वं द्विजातिभिन्नानाम्, कर्मणा तु द्विजातीनामपि। नायिकाया उत्तमत्वमुच्चकुलोत्पन्नत्वेन विदग्धतया प्रकृत्या च। जात्यपकर्षकथने नायिकाया नीचकुलोत्पन्ननायकानुरागानौचित्यादुत्तमत्वभङ्गप्रसङ्गः। स्वस्य नायिकाया अपराधपर्यवसायी दुःखोत्पादकत्वेनापराधरूपो यो दूतीसम्भोगो नायकस्य दूतीकर्मकोपभोग आदिर्येषां तानि यावन्ति हीनान्यपकर्षप्रयोजकानि कर्माणि, तेभ्योऽतिरिक्तेन भिन्नेन। अतितमाम्प्राचीनं-दूती[illegible] पूर्वकाले [illegible]। [illegible]व्यावृत्त्याऽधमत्वप्रयोजककर्मान्तरव्यवच्छेदेन। इतिशब्दः [illegible], [illegible]स्तादृशकोटिसम्भावनां च सूचयतः।

दूतीसम्भोगात्मकनायकापराधस्य स्फुटाख्याने नायिकाया वैदग्ध्यभङ्गप्रसङ्गात् पूर्ववदधमपदमप्यसाधारणस्य तस्य व्यञ्जकमेवेति सारम्।

[illegible] दीक्षिताकूतम्। वाच्यसिद्ध्यङ्ग (व्यङ्ग्य)-[illegible] चर्वणाविश्रमधाम, न तु व्यङ्ग्यार्थान्तरापस्कारकमपि। यथा त्वयैवोदाहृते—'राघवविरह—' इत्यादि पद्ये। 'कुप्यन्ति' इति कोपस्यैव व्यङ्ग्यार्थोपस्कृतस्य प्राधान्यम्, न तु तेनाप्यन्यद्ध्वन्यते।

यत्र तु वाच्यार्थताऽवच्छेदकमेव स्वरूपेणानुपपन्नं व्यङ्ग्यं स्वोपपादकतया न्यग्भावयति, यथा—'गच्छाम्यच्युत !' इत्यादि पद्ये, 'आमन्त्रणभङ्गिसूचित—' इति सूचनपदार्थताऽवच्छेदकस्याच्युतादिपदध्वननीयार्थमन्तर्भाव्यैव निराकाङ्क्षशाब्दधीपर्यवसायित्वम्, तत्र विशिष्टबोधप्राधान्यविरहेऽपि कविसंरम्भपर्यवसानभूमितासामान्यात् पूर्वप्रदर्शितस्वरूपकत्वं न हीयते।

अन्यथा 'स नास्ति कश्चिद् विषयः' इत्यादि प्रकाशदर्शितदिशा सामाजिकप्रतिभामात्रकल्पनीयव्यङ्ग्यविरहासम्भवेन सर्वस्यैव काव्यस्य मध्यमकाव्यदल एवोदाहरणीयताऽऽपत्तेः।

अत एवाहुः—'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति । प्राधान्यं चात्रार्थं न तु शाब्दम्, तस्य प्रवृत्त्यादावौदासीन्यात् ।

एवञ्च प्रकृतेऽधमपदव्यञ्जनीय–सम्भोगसम्भावकतामात्र उपयोक्ष्यमाणानां स्तनतटादिपदद्योत्यार्थानां गुणीभावेऽपि सम्भोगस्यावाच्यतया लक्षणाफलत्वेनालक्षणीयतया च स्वतर्कितत्वप्रकारकबुबोधयिषालक्षणार्थप्राधान्यसद्भावेन तत्प्रयुक्तमुत्तमत्वं को निवारयेत् ।

अन्यथा भवदुत्प्रेक्षितदिशावपि वापीगमनोपपादकतामात्रेण गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं कथं निवारणीयम् । प्रत्युत भवत्प्रदर्शितक्रम एष दोषो दुर्वारो वापीगमनस्य वाच्यत्वात् । सम्भोगस्य तु व्यङ्ग्यत्वेन वैपरीत्यात् ।

यदि तु नायिकाविश्रान्तिभूमितायाः सम्भोग एव कल्पनेन परिहरिष्यसि, तर्हि व्यङ्ग्यतामनपह्नुत्य तुष्यतु भवान् । अत एव च नायं काव्यलिङ्गस्य विषयः, उपपाद्योपपादकयोरुभयोरपि व्यङ्ग्यत्वात् । तटादिपदार्थानां केवलाभिधाबलेनोपस्थितानां स्नानसम्भोगसाधारणत्वेन विदग्धनायिकावैशिष्ट्यनिश्चयव्यञ्जनीयावधारणानां पुलकितेत्यत्र तथाविधविरोधस्य च व्यङ्ग्यताया दुरपह्नवत्वात् ।

यत्तु सम्भोगस्य स्तनतटाद्यवधारणव्यञ्जनीयत्वाभ्युपगमेऽनुमानप्रकारान्तःपातितया व्यञ्जनाव्यापारनैरर्थक्यभयेन साधारण्येन बोधविषयतोपपादनम्, तत् प्रकाशपञ्चमोल्लासशेषदर्शितदिशाऽधमत्वादेरिव स्तनतटादिमात्रचन्दनच्यव(नादेरपि)प्रमाणप्रतिपन्नताविरहेणाप्रमितस्यानुमापकतानङ्गीकारेण व्याप्तिपरामर्शज्ञाने अनपेक्ष्य, प्रतिभामात्रद्योत्यतया अनुभवसिद्धत्वेन च न किञ्चित् । इतरथा 'उअ णिच्चल !' इत्यादावपि निस्पन्दत्वेनाश्वस्तताया अनुमेयत्वस्यैवापत्तेरिति निपुणतरमालोचनीयम्' इत्याहुः ।

उक्त नीति से ही दीक्षित द्वारा की गई अधम पद की व्याख्या में दोष दिखलाते हैं—'एतेन' इत्यादि । 'अधम पद का अर्थ अपकृष्ट–हीन है और अपकृष्टता मनुष्य में दो तरह से आसकती है—एक जाति द्वारा दूसरा कर्मद्वारा, अर्थात् हीन जातिके होने से कोई हीन हो सकता है, अथवा हीन कर्म करने से हीन हो सकता है । उन दोनों में अपने नायक की जातिमूलक हीनता को उत्तम नायिका जबान पर नहीं ला सकती है । अब रही कर्ममूलक हीनता, वह अनेक प्रकार की हो सकती है, कारण ? हीन बनाने वाले कर्म विविध हैं, परन्तु उन सब कर्मों में से दूती संभोगरूप हीन कर्म करने वाले अपने नायक को ही उत्तम नायिका हीन–अधम कहती है, वह भी इस लिये कि दूती सम्भोगरूप हीनकर्म, घुमा फिरा कर नायिका का अपना ही अपराध सिद्ध हो जाता है, इस तरह के हीन कर्म करने वाले नायक को उत्तम से उत्तम नायिका को भी लोग कह बैठते हैं—कि जब तुम में कोई खास दुर्गुण है, तब न तुम्हारा नायक तुम जैसी सुन्दरी कुलीना को छोड़कर एक साधारण दूती पर आसक्त है । और वैसे कर्म भी जो दूती को भेजने से पहले हुए थे वे सब सह ही लिए गए थे, अतः वे अब बोलने योग्य रह ही नहीं गए, इस लिये और सब कर्मों के छूट जाने से नायक का दूतीसम्भोगरूप हीन कर्म ही ऐसा सिद्ध होता है, जिससे रुष्ट अथवा खिन्न होकर नायिका उसको अधम कहने लगी है' इत्यादि जो दीक्षित ने कहा है, वह भी पूर्वोक्त खण्डन युक्ति से ही खण्डित है, क्योंकि चतुर तथा उत्तम नायिका सखियों के समक्ष में ही उस (दूती) के साथ किए गए सम्भोग रूप अपने नायक के अपराध को स्पष्ट कहे, यह परम अनुचित है, अतः यह समझना चाहिए कि सह लिए गए नायक के पुराने अपराध ही आज नायिका के मन में किसी कारण से असह्य हो उठे हैं, जिससे नायिका उन अपराधों को ही दूती के सामने बोल उठी ।

एवं प्रथमं प्रकारमुत्तमोत्तमं निरूप्य द्वितीयमुत्तमं लक्षयति—

यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम् ।

यत्र यस्मिन् काव्ये । अप्रधानं व्यङ्ग्यान्तरापेक्षया वाच्यापेक्षया च गुणीभूतम् । एवका-रोऽवधारणे, तेन न कथमपि प्रधानमित्यर्थः । द्वितीयमुत्तमं काव्यम् ।

यस्मिन् काव्ये वाच्यार्थापेक्षया व्यङ्ग्यार्थान्तरापेक्षया च गुणीभूतो न तु प्रधानं व्यङ्ग्यार्थः स्वज्ञानद्वारा चमत्कारस्य जनको भवति, तद् द्वितीयमुत्तमं काव्यमित्यर्थः ।

इस तरह से काव्य के प्रथम भेद 'उत्तमोत्तम' का निरूपण कर चुकने के बाद अब काव्य के द्वितीय भेद 'उत्तम' का लक्षण बतलाते हैं—'यत्र' इत्यादि । जिस काव्य में व्यङ्ग्य अप्रधान होकर ही चमत्कार का कारण हो, वह द्वितीय 'उत्तम' नामक काव्य कहलाता है, अर्थात् जहाँ का व्यङ्ग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा तथा अन्य व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा भी गौण हो—किसी भी अर्थ से मुख्य नहीं हो—फिर भी चमत्कारजनक हो, वह 'उत्तम' काव्य है ।

लक्षणवाक्य एवकारनिवेशस्य फलमाह—

वाच्यापेक्षया प्रधानीभूतं व्यङ्ग्यान्तरमादाय गुणीभूतं व्यङ्ग्यमादायातिव्या-प्तिवारणायावधारणम् । तेन तस्य ध्वनित्वमेव ।

प्रधानीभूतं गुणीभूतमिति च व्यङ्ग्यस्यैव विशेषणं न विरुद्धम् , वाच्य–व्यङ्ग्यान्तररूप-निरूपकभेदात् । तेन द्वितीयकाव्यलक्षणासमन्वयेन, तस्यापरव्यङ्ग्याङ्गभूतव्यङ्ग्यस्य, ध्वनित्व-मुत्तमोत्तमत्वमेव, न तूत्तमत्वम् , व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यात् ।

एवशब्दस्य निवेशाभावे यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानं सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयमित्येव लक्षणं स्यात् । तथासति—'अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः । नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥' इत्यादिष्वपराङ्गव्यङ्ग्योदाहरणेषु शृङ्गाररूपव्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्येऽपि प्रधानीभूतव्यङ्ग्यकरुणरसापेक्षयाऽप्राधान्याल्लक्षणसमन्वयेनातिव्याप्तिः स्यात् । एवशब्दस्य निवेशे तु तस्य सर्वथाऽप्राधान्यं विवक्षितमिति शृङ्गारव्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्याल्लक्षणसङ्गमनाभावान्नातिव्याप्तिः

न चात्र वाच्यस्यैव शृङ्गारापेक्षया शोकोत्कर्षकतया प्राधान्यादेवकारनिवेशेऽप्यतिव्याप्तिः स्यादेवेति वाच्यम् , व्यङ्ग्यरसापेक्षया वाच्यवस्तुनः प्राधान्यं निबध्नतश्चमत्कारोत्कर्षस्य सद्भावे प्रमाणाभावात् , प्रदीपोद्द्योतयोः शृङ्गारस्यैव करुणोत्कर्षकताऽभिधानाच्च, वाच्यापेक्षया शृङ्गा-रस्यैव प्राधान्यात् ।

शृङ्गारपदन्त्वत्र शृङ्गाररसस्थायिभावरतिपरम् , रसस्यापरिच्छिन्नात्मकतया पराङ्गत्वा-सम्भवात् । प्रधानीभूतकरुणरसमादाय ध्वनित्वम् , गुणीभूतं शृङ्गारस्थायिरतिमादाय चापरा-ङ्गव्यङ्ग्यरूपगुणीभूतत्वं चेत्याकलनीयम् ।

लक्षणवाक्य में 'अप्रधान होकर ही' इस अवधारण—नियम का निवेश क्यों किया गया इसका फल दिखलाते हैं—'वाच्यापेक्षया' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि यदि उक्त अव-धारण नहीं करेंगे, तब 'व्यङ्ग्य अप्रधान होकर चमत्कारजनक हो' यही लक्षण होगा, और ऐसा लक्षण होने पर जहाँ का व्यङ्ग्य वाच्य [अर्थ से प्रधान और मुख्य व्यङ्ग्य से गौण होगा, वहाँ उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, जैसे 'अयं स रसनोत्कर्षी, पीनस्तन विमर्दनः । नाभ्यूरुजघनस्पर्शी, नीवीविस्रंसनः करः ॥' इस अपराङ्गव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य के उदाहरण में (जहाँ शृङ्गार तथा करुण दोनों रस व्यङ्ग्य है, परन्तु आलम्बन नायक

की मृत्यु हो जाने से करुण मुख्य और शृङ्गार तदपेक्षया गौण है) वाच्य से प्रधान होने पर भी शृङ्गार रूप व्यङ्ग्य करुण से तो गौण है, अतः उक्त लक्षण के संघटित हो जाने से यह श्लोक उत्तम (द्वितीय भेद) काव्य कहलाने लगेगा। अतः 'अवधारण' का निवेश किया गया है। निवेश करने पर दोष नहीं हुआ, क्योंकि उस निवेश से यह मतलब निकलता है कि जो व्यङ्ग्य किसी से प्रधान न हो—सब से गौण ही हो, और वहाँ का शृङ्गार करुण से गौण होने पर भी वाच्य से प्रधान है। इस प्रकरण में शृङ्गार अथवा करुण पद से रति तथा शोकरूप स्थायीभाव समझना चाहिए अन्यथा रसों के सिद्धान्त दृष्टि से अपरिच्छिन्न पूर्ण घनानन्दस्वरूप माने जाने के कारण उनमें गौण प्रधानभाव असंगत होगा।

चमत्कारकारणमिति निवेशस्य प्रयोजनं प्रतिपादयति—

लीनव्यङ्ग्य-वाच्यचित्रातिप्रसङ्गवारणाय चमत्कारेत्यादि।

लीनव्यङ्ग्यमस्फुटव्यङ्ग्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य काव्यतृतीयभेदस्य प्रभेदः। वाच्यचित्रमर्थालङ्कारोपस्कृतमविवक्षितव्यङ्ग्यं चित्राख्यं चतुर्थमधमकाव्यम्। तत्र व्यङ्ग्यस्य सर्वथाऽप्राधान्याद् द्वितीयकाव्यलक्षणातिव्याप्तिः स्यादतश्चमत्कारकारणमिति निवेशितम्। तन्निवेशे तु तयोर्व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वविरहान्न दोषः। 'अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता। नादृष्टेन न दृष्टेन भवताऽलभ्यते सुखम्।' इत्यस्फुटव्यङ्ग्योदाहरणे 'यथाऽदृष्टः कदाऽपि न स्याः, तथा कुरु' इति व्यङ्ग्यस्य सत्त्वेऽपि सुखेन सहृदयैरपि प्रत्येतुमशक्यतया यथाऽचमत्कारित्वम्, तथैव 'वाणीर-कुडङ्गुड्डीण सउणि-कोलाहलं सुणन्तीए। घरकम्म-वावडाए वहुए सीअन्ति अङ्गाइँ।'

'वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वत्याः। गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि॥'

(इतिच्छाया) इत्यसुन्दरव्यङ्ग्योदाहरणे 'दत्तसङ्केतो नायको वेतसीलताकुञ्जं प्रविष्टः' इति व्यङ्ग्यस्यापीति तदुपलक्षणमपीदमवगन्तव्यम्। इतरेषां तु गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकाराणां पूर्वेणैव व्यावृत्तिः। एवं वाच्यचित्रपदं शब्दचित्रस्याप्युपलक्षकम्। यत्तु शब्दचित्रे व्यङ्ग्याभाव इति कैश्चिदुक्तम्, तन्न, तत्रापि बहुत्र भावव्यक्तेरानुभविकत्वादव्यङ्ग्यपदस्याविवक्षितव्यङ्ग्यपरतयैवाभियुक्तव्याख्यानात्।

अब लक्षणघटक व्यङ्ग्य में जो 'चमत्कार का कारण हो' ऐसा विशेषण दिया गया है, उसका प्रयोजन कहते हैं—'लीनव्यङ्ग्य' इत्यादि। वाच्यचित्र काव्यों में व्यङ्ग्य लीन रहता है अर्थात् वाच्य उपमारूपक आदि के चमत्कार में उसका चमत्कार तिरोहित हो जाता है, फलतः व्यङ्ग्य में चमत्कार नहीं रहता, अतः उन काव्यों में यह लक्षण नहीं जाता है, अथ चमत्कार कारण नहीं कहने पर लक्षण उनमें भी चला जायगा, इस लिये 'चमत्कार कारण' कहते हैं। कुछ लोग यहाँ की मूल पंक्ति में लीन व्यङ्ग्य और वाच्य चित्र को अलग अलग दोषस्थल मानते हैं, उनके हिसाब से लीन व्यङ्ग्य अर्थात् अस्फुट व्यङ्ग्य नामक तृतीय काव्य और वाच्यचित्र नामक चतुर्थ काव्य दोनों जगह अतिव्याप्तिवारण के लिये लक्षण में चमत्कार-कारण विशेषण लगाया गया है, ऐसा समझना चाहिये।

गुणीभूतव्यङ्ग्य-प्रसङ्गसङ्गत्या भट्टमम्मटकृततल्लक्षणे व्याख्यातृनिवेशितं चित्रान्यत्वं निराकरोति—

यत्तु—'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यम्' इत्यादिकाव्यप्रकाशगतलक्षणे चित्रान्यत्वं टीकाकारैर्दत्तम्, तन्न, पर्यायोक्त-समासोक्त्यादिप्रधानकाव्येष्वव्याप्त्यापत्तेः। तेषां गुणीभूतव्यङ्ग्यतायाश्चित्रतायाश्च सर्वालङ्कारिकसम्मतत्वात्।

'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्ये व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।' इति पूर्णं लक्षणम्। लक्षणे गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणमध्यमकाव्यप्रकारस्येति शेषः। चित्रान्यत्वं चित्रकाव्यभिन्नत्वं दत्तं निवेशितम्। पर्यायोक्तसमासोक्त्यादयः प्रधानानि येष्विति बहुव्रीहिः। आदिपदेन चमत्कारिव्यङ्ग्यभाजामाक्षेपाप्रस्तुतप्रशंसाप्रभृतीनामलङ्काराणां परिग्रहः।

यदि गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यलक्षणे चित्रभिन्नत्वं निवेश्येत, तर्हि पर्यायोक्तप्रभृत्यलङ्कारयुक्तानां काव्यानामर्थचित्रत्वसत्त्वाद् व्यावृत्त्याऽप्रधानीभूतचमत्कारजनकव्यङ्ग्यसद्भावादिष्टमपि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं न स्यादतश्चित्रान्यत्वं न निवेशनीयम् । न चैकत्रैव काव्यद्वयव्यवहारोऽप्रसिद्ध इति वाच्यम्, व्यवहारस्य सर्वालङ्कारिकसम्प्रदायसिद्धत्वादित्याकूतम् ।

इदं पुनश्चिन्तनीयम्—पर्यायोक्ताद्यलङ्कृतकाव्येषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारिताया भवदभिमतायाः सद्भावेनाव्यङ्ग्यत्वरूपाया अविवक्षितव्यङ्ग्यत्वलक्षणाया वा चित्रताया असम्भवात् । तथाहि—'चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव, चकार यो राहुवधूजनस्य । आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं, रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम् ।' इत्यादौ पर्यायोक्तोदाहरणे राहुशिरश्छेदनात्मनो व्यङ्ग्यस्य यद्यविवक्षितत्वम्, तर्हि न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्, अथवा यदि विवक्षितत्वम्, तदा कुतश्चित्रता, व्यङ्ग्यस्य विवक्षिताविवक्षितत्वयोर्विरोधेन गुणीभूतव्यङ्ग्य-चित्रत्वयोरपि विरुद्धत्वात् । इत्थं च सर्वालङ्कारिकसम्मतत्वमपि चिन्त्यमेव, ध्वनिकार-मम्मट-प्रदीपकृदाद्यसम्भतत्वादिति सहृदयैरालोचनीयम् ।

यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य का प्रसङ्ग उपस्थित है, अतः एक और विचार करना आवश्यक दीखता है, वह विचार यह है कि काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने 'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्य व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्' इस गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के लक्षण में चित्रान्यत्व का निवेश आवश्यक बतलाया है। उनका आशय यह है कि जहाँ अलङ्कार प्रधान हो, वह चित्रनामक काव्य का एक पृथक् भेद है। उसमें गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का लक्षण नहीं जाना चाहिए। परन्तु मम्मट का उक्त लक्षण उसमें भी चला जासकता है, अतः यह कहना उचित है कि गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य वही है, जो 'चित्र (अलङ्कार प्रधान) काव्य न हो। पर उन टीकाकारों का उक्त कथन समुचित नहीं, क्योंकि पर्यायोक्ति, समासोक्ति, आक्षेप, अप्रस्तुत प्रशंसा प्रभृति अलङ्कार जहाँ प्रधान हैं, अत एव चित्रकाव्यत्व इष्ट है, वहाँ चित्रान्यत्व घटित गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य का लक्षण नहीं घट सकेगा, यदि कोई कहे कि जब उन अलङ्कारप्रधान काव्यों में चित्रत्व इष्ट है तब तो वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का लक्षण न घटे यही उचित है अर्थात् चित्रकाव्य गुणीभूत व्यङ्ग्य भी हो यह आवश्यक नहीं है, इसका उत्तर यह है कि उन अलङ्कार प्रधान काव्यों में चित्रत्व तथा गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व दोनों ही इष्ट हैं, अर्थात् आलङ्कारिकों ने उन अलङ्कार प्रधान काव्यों को दोनों (चित्र तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य) ही माना है।

द्वितीयं काव्यमुदाहरति—

उदाहरणम्—

वैदेहीविरहसन्तापं वनवासिनो रामचन्द्रस्य कश्चिद् वर्णयति—

'राघवविरहज्वाला-सन्तापितसह्यशैलशिखरेषु ।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय ॥' इति ।

राघवस्य श्रीरामचन्द्रस्य यो विरहो वैदेहीवियोगः, तस्य वह्नेरिवान्तर्दाहकत्वाद् या ज्वाला कीलस्ताप इति यावत्, तया सन्तापितेषूष्मवत्कृतेषु, सह्यस्य तदाख्यदाक्षिणात्यशैलस्य, शिखरेषु शृङ्गेषु, शिशिरे शीतर्तौ, सुखं वस्त्राद्यभावेऽप्यशीतक्लेशं यथा स्यात्, तथा शयानाः स्वपन्तः, कपयः सुग्रीवस्य वानराः, पवनतनयाय (वैदेहीकुशलवार्तासूचनेन रामस्य सन्तापं शमितवते) हनुमते, कुप्यन्ति पुनश्शीतबाधां सम्भावयन्तस्तमुद्दिश्य कुप्यन्तीत्यर्थः । इह रघुनाथसुग्रीवयोरतिवल्लभं कपीनामपि सर्वदा हितकरं हनुमन्तं प्रति तेषामाकस्मिको वाच्यभूतः कोपोऽन्यथाऽनुपपन्न इति तदुपपादककाकुच्छायामनाश्रयता जानकीकुशलश्रवणविहितरामविरहसन्तापापनोदनात्मा व्यङ्ग्यार्थ एव पुरः स्फुरत्वसङ्गतां भजन्नपि,

यथा दौर्भाग्येण दासीभावमापन्नाऽपि राजमहिषी, काञ्चनविलक्षणां नैसर्गिकीं सुषमामावहति, तथैव कश्चिद् विलक्षणं चमत्कारं करोतीति व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि चमत्कारितोत्कर्षेण द्वितीयकाव्योदाहरणत्वमेतस्य ।

द्वितीय काव्यभेद उत्तम का उदाहरण देते हैं—'राघव' इत्यादि। रामचन्द्र के विरह की ज्वालाओं से (यहाँ ज्वाला की उक्ति से विरह में वह्निरूपता व्यङ्ग्य होती है) तप्त बनाये गये सह्यनामक पर्वत के शिखरों पर, शीत ऋतु के समय में, सुख पूर्वक सोने वाले बन्दर पवनतनय–हनूमान् पर प्रकुपित होते हैं—क्रोध करते हैं।

तदाह—

अत्र जानकीकुशलावेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यङ्ग्यमाकस्मिककपिकर्तृकहनुमद्विषयककोपोपपादकतया गुणीभूतमपि, दुर्दैववशतो दास्यमनुभवद्राजकलत्रमिव कामपि कमनीयतामावहति ।

शिशिरीकृतः शीतलीकृतः ।

इस पद्य का व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि 'हनूमान् ने जानकी की कुशलवार्ता सुनाकर रामचन्द्र को शीतल बना दिया, अर्थात् हनूमान् के मुख से सीता की सकुशल लङ्का में रहने की बात सुनकर रामचन्द्र का वियोग–ताप शान्त हो गया' और वाच्य–अर्थ है 'हनूमान् पर बन्दरों का सहसा होने वाला कोप'। इन दोनों (व्यङ्ग्य तथा वाच्य) अर्थों में अङ्ग–अङ्गी (पोष्य–पोषक) भाव है, अर्थात् व्यङ्ग्य है पोषक और वाच्य है पोष्य, क्योंकि जो हनूमान् रामचन्द्र तथा सुग्रीव दोनों का कृपापात्र था—स्नेहभाजन था और बन्दरों का भी प्रिय–हित–चिन्तक था, उसी पर अकस्मात् बन्दर सब क्रुद्ध हो उठे, यह वाच्य अर्थ तब तक संगत प्रतीत नहीं होता, जब तक उक्त व्यङ्ग्य अर्थ न समझ लिया जाय अर्थात् जब हम 'हनूमान् ने राम के विरहताप को शान्त कर दिया, जिससे विरह–ज्वाला–तप्त सह्य–शिखर, शीतल हो गये और शीत के मारे बन्दरों के सुख–शयन में बाधा पड़ने लगी' इस व्यङ्ग्य अर्थ को समझ लेते हैं, तब हनूमान् पर बन्दरों का कोप संगत जँचता है। इस तरह से उक्त व्यङ्ग्य अर्थ, वाच्य–अर्थ के साधक होने के कारण यद्यपि गौण हो गया तथापि जिस प्रकार दुरदृष्ट की मारी हुई कोई राजाङ्गना, किसी की दासी बनकर रहने पर भी, अपने सहज–सौन्दर्य को नहीं छोड़ती अर्थात् उस दशा में भी उसकी सुन्दरता झलकती ही है, उसी प्रकार उक्त व्यङ्ग्य में भी (गौण होने के फलस्वरूप) विलक्षण चमत्कार परिलक्षित होता है। अब 'जहाँ व्यङ्ग्य गौण होकर चमत्कार–जनक हो' इस लक्षण का समन्वय, उक्त पद्य में, स्वयं स्पष्ट है।

'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इत्यादिप्रागुक्तप्रथमकाव्योदाहृतौ द्वितीयकाव्योदाहरणतामाशङ्क्य समादधाति—

नन्वेवं प्रागुक्तमाक्षेपगतं मान्द्यमपि नववधूप्रकृतिविरोधादनुपपद्यमानं व्यङ्ग्येनैवोपपाद्यत इति कथमुत्तमोत्तमता तस्येति चेत्, न यतो ह्यनुदिनसख्युपदेशादिभिरनतिचमत्कारिभिरप्युपपद्यमानं मान्द्यमिदं प्रथमचित्तचुम्बिनीं विप्रलम्भरतिमप्रकाशयन्न प्रभवति स्वातन्त्र्येण परनिर्वृतिचर्वणागोचरतामाधातुम् ।

प्राक् उत्तमोत्तमकाव्यतृतीयोदाहरणे 'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इत्यादौ । व्यङ्ग्येनैव विप्रलम्भरतिरूपश्रृङ्गारस्थायिभावेनैव, न तु वाच्यादिना । उपपाद्यते सङ्गतीक्रियते । अनुदिनं प्रत्यहं यः सखीनामुपदेशः केलिकलासु वामतापरित्यागाय शिक्षा, स आदिर्येषां, ते तदादयः सततसान्निध्य- प्रचुरपरिचयप्रभृतयः, तैः । इदमाक्षेपगतं मान्द्यम् । प्रथमचित्तचुम्बिनीं प्रागेव बुद्धिगोचरीभवन्तीम् । स्वातन्त्र्येण स्वरूप(मन्दत्व)मात्रेण । परनिर्वृतेः परमानन्दस्य, या चर्वणाऽऽस्वादः, तस्या गोचरतां विषयताम् । आधातुं वोढुम् ।

यथा प्रकृते वाच्यस्य हनूमदुपरि कपिकोपस्यान्यथाऽसम्भवादनुपपन्नस्य, हनूमता सीताकुशलनिवेदनेन रामस्य शीतलीकरणं व्यङ्ग्यं कपिसुखसुप्तिव्याघातादुपपादकं वाच्याङ्गीभूय, काव्यमिदमुत्तमोत्तमकक्षातोऽपकर्षति, तथैव 'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इत्यादौ पूर्वोक्त उत्तमोत्तमकाव्यतृतीयोदाहरणे, वाच्यस्य प्रियकराचेपमान्द्यस्य नवोढवधूस्वभावविरुद्धत्वादन्यथाऽनुपपन्नस्य, व्यज्यमाना विप्रलम्भशृङ्गारस्थायिनी रतिरुपपादिकाऽङ्गीभवतीति कथं तत्राप्युत्तमोत्तमत्वम्, वैषम्ये बीजाभावादिति न वाच्यम्, उभयोर्वैषम्यस्य जागरूकत्वात्। तथाहि प्रकृते तद्व्यङ्ग्यमन्तरेण किमप्यर्थान्तरं वाच्यस्योपपादकं नोपलब्धुं शक्यते। 'तल्पगताऽपि च' इत्यादौ त्वाचेपमान्द्यं वाच्यं, यथा व्यङ्ग्या विप्रलम्भरतिः, तथैव प्रात्यहिकसखीशिक्षाप्रभृतिरप्युपपादयितुमर्हतीत्यन्यथाऽनुपपत्तेर्विरह इत्यभिप्रायः।

'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इत्यादि पूर्वोक्त प्रथम-काव्य (उत्तमोत्तम) के उदाहरण में 'वह भी द्वितीय (उत्तम) काव्य का ही उदाहरण क्यों नहीं ? बल्कि वही होना उचित है' इस शङ्का का उत्थान कर खण्डन करते हैं—'नन्वेवम्' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जैसे 'राघव-विरह-ज्वाला' यहाँ पर अन्यथा (व्यङ्ग्य-ज्ञान के बिना) अनुपपन्न होने वाला, हनूमान् के ऊपर अकस्मात् बन्दरों का क्रोध, (वाच्य) हनूमान् के द्वारा राम की विरह-ताप-शान्ति (व्यङ्ग्य) से उपपन्न किया जाता है, अतः वह व्यङ्ग्य गौण हो जाने से चमत्कारजनक होकर भी स्वव्यञ्जक-पदावली को उत्तमोत्तम काव्य नहीं बना सका, वैसे ही 'तल्पगताऽपि च सुतनुः' यहाँ पर भी 'प्रियकर को मन्द मन्द हटाना' रूपवाच्य, नव-वधू-स्वभाव-विरुद्ध होने से अनुपपन्न है अर्थात् नवोढा का यही स्वभाव होता है कि अपने अङ्गों पर धरे हुये पति-करों को झट से हटा देती है और यहाँ 'नवोढा मन्द मन्द प्रियकर को हटा रही है' ऐसा कहा हुआ है जो असंगत सा दीखता है। फिर तो रतिरूप व्यङ्ग्य से ही वह (वाच्य) उपपन्न बनाया जायगा अर्थात् जब हम यह समझ लेंगे, कि—उस नवोढा को अब पति से प्रीति होने लगी है और शीघ्र ही उस प्रीतिलता पर विरह के ओले गिरने वाले हैं, तभी नववधू का धीरे-धीरे प्रियकर को हटाना सङ्गत प्रतीत होगा, इस स्थिति में यहां का विप्रलम्भ रतिरूप व्यङ्ग्य भी वाच्य अर्थ के उपपादक होने से गौण ही हुआ, अतः उसे भी उत्तमोत्तम-काव्य-व्यवहार-नियामक नहीं होना चाहिये अर्थात् इन दोनों स्थलों के व्यङ्ग्यों की स्थिति समान है, इसलिये दोनों पद्य उत्तम काव्य के ही उदाहरण हो सकते हैं, उत्तमोत्तम के नहीं, यह है शङ्का। समाधान यह है कि आपने दोनों पद्यों के व्यङ्ग्यों को समान कोटिक समझ रहे हैं, वह आप का भ्रम है क्योंकि दोनों जगहों में वैषम्य स्पष्ट है, देखिये—'राघव-विरह-ज्वाला' यहां का व्यङ्ग्य ऐसा है जिसके बिना वाच्य सिद्ध हो ही नहीं सकता अर्थात् व्यङ्ग्य से भिन्न कोई बात ऐसी नहीं जो वाच्य को सिद्ध कर सके और 'तल्पगताऽपि' यहां का व्यङ्ग्य ऐसा नहीं है अर्थात् यहां का व्यङ्ग्य ऐसा है जिससे भिन्न बातें भी वाच्य को सिद्ध कर सकती हैं, जैसे दिन दिन के सखियों के उपदेश, सतत सान्निध्य, प्रचुर परिचय आदि से भी 'प्रियकर को धीरे-धीरे हटाना' रूपवाच्य सिद्ध हो सकता है, अतः उसको सिद्ध करने के लिये विप्रलम्भ रति की ही विशेष आवश्यकता नहीं है। फलतः यह सारांश निकला कि वाच्यसिद्धि का अङ्ग वही व्यङ्ग्य कहलाता है, जो वाच्यसिद्धि का एक मात्र कारण हो, विप्रलम्भ-रति-रूप-व्यङ्ग्य ऐसा नहीं है, अतः वह गौण नहीं हुआ फिर वह 'तल्पगताऽपि' इस पद्य को उत्तमोत्तम काव्य क्यों नहीं बना सकता ? यदि आप कहें कि जब सख्युपदेशादि से भी 'तल्पगता' का वाच्य सिद्ध हो जाता है, तब उस वाच्य से विप्रलम्भ रतिव्यङ्ग्य होवी ही क्यों ? इसका उत्तर यह है कि मार्मिक सहृदयों के हृदय में पहले यही बात उठ खड़ी होती है कि 'नववधू होकर भी जो यह धीरे धीरे स्वाङ्ग-पतित-पति-करों को हटा रही है, जल्द नहीं, वह आसन्नविरहकालिक प्रेम की फल

है। इसको विना ध्वनित किए सख्युपदेशादि से होने वाला मान्ध (धीरे धीरे हटाना) पर-आनन्द (जिसके सम्बन्ध में 'ब्रह्मास्वादसहोदरः' कहा हुआ है) के आस्वाद का विषय हो भी तो नहीं सकता।

तुल्यन्यायादाचष्टे—

इत्थं 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादिपद्येऽधमत्वादीनि वाच्यानि व्यङ्ग्याऽतिरिक्तेनार्थेनापाततो निष्पन्नशरीराणि व्यञ्जकानीति न तत्रापि गुणीभावः शङ्कनीयः।

अधमत्वं नायकस्य। व्यङ्ग्यातिरिक्तेन दूतीसम्भोगरूपव्यङ्ग्यभिन्नेनापराधान्तरनिमित्तकदुःखदातृत्वरूपेणार्थेन। आपाततस्तत्काले, पर्यन्ते त्वन्यत्र तात्पर्यविरहाद् दूतीसम्भोगनिमित्तकदुःखदातृत्वस्यैव तदुपपादकत्वात्। निष्पन्नशरीराणि कृतोपपादनानि, वाच्याधमत्वस्य दूतीसम्भोगातिरिक्तापराधैरप्युपपादयितुं शक्यत्वात् गुणीभावो व्यङ्ग्यस्य।

इसी तरह 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि पद्यों में भी अधमत्व प्रभृति वाच्य की सिद्धि जैसे व्यङ्ग्य दूती-सम्भोग से हो सकती है, वैसे ही अपराधान्तर (नायक के दूती-सम्भोग से भिन्न अपराध) से हो सकती है, अतः उक्त व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का एक मात्र कारण नहीं है। इसलिये न वह व्यङ्ग्य वाच्यसिद्धि का अङ्ग हुआ, न गौण, यह विदित करना चाहिये।

अधमत्वस्य वाच्यस्योपपत्तिर्यथा व्यङ्ग्येन दुःखजनकेन दूतीसम्भोगेन विधीयते, तथैव वाच्यार्थप्रत्ययावसरेऽपराधान्तरेणापि विधातुं शक्यत इत्यन्यथाऽनुपपत्तिवैधुर्याद् दूतीसम्भोगरूपप्रधानव्यङ्ग्यस्य न वाच्याङ्गत्वमिति भावः। ननु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारितायास्तुल्यतया काव्यप्रथम-द्वितीयप्रकारयोर्भेदः कुतः स्वीक्रियत इत्याशङ्कायां ब्रवीति—

अनयोर्भेदयोरनपह्नवनीयचमत्कारयोरपि प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्ति कश्चित् सहृदयवेद्यो विशेषः।

अनयोरुत्तमोत्तमोत्तमरूपयोः। भेदयोः काव्यप्रथम-द्वितीयप्रकारयोः। प्राधान्याप्राधान्याभ्यां व्यङ्ग्यस्येति शेषः। विशेषो वैलक्षण्यं भेद इति यावत्।

यद्यप्युभयोरपि भेदयोश्चमत्कारिव्यङ्ग्यसद्भावात् तुल्यत्वमेव, किन्तूत्तमोत्तमे व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यम्, उत्तमे पुनरप्राधान्यमिति भेदस्य सहृदयानुभवसाक्षिकत्वात् पृथग्भेदद्वयाङ्गीकार इत्यभिसन्धिः।

इदं पुनरत्र विचारणीयम्—'चमत्कारोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' इति ध्वनिकारानुशासने जाग्रति, व्यङ्ग्यस्य यदीह वाच्यापेक्षया चमत्कारोत्कर्षः, तर्हि नाप्राधान्यम्, अथाप्राधान्यम्, तर्हि न चमत्कारोत्कर्षः। यदि च व्यङ्ग्यस्य चमत्कारोत्कर्षेऽपि वाच्योपपादकतयाऽङ्गत्वमिष्यते, तदा तदङ्गत्वमप्यकिञ्चित्करम्, चमत्कारोत्कर्षनिबन्धनस्य शिष्टपरिपाटीसम्मतप्राधान्यस्य तथाप्यव्याहतत्वात्। किञ्च यत्र तुल्यचमत्काराधायकत्वेन वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं सन्दिग्धं वा प्राधान्यम्, तयोर्गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारयोर्भवन्मते कुत्रान्तर्भावः? न चाव्यापिरेषितुं शक्यते, 'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये। जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते।' 'हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः। उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।' इत्यनयोश्चमत्कारस्यापलापानर्हत्वेन मध्यमकाव्यतायाः सर्वसम्मतत्वात्।

यद्यपि उत्तमोत्तम तथा उत्तम इन दोनों काव्य-भेदों में व्यङ्ग्य चमत्कारजनक रहता है—व्यङ्ग्य की चमत्कार-जनकता का अपलाप नहीं किया जा सकता, तथापि उत्तमोत्तम का व्यङ्ग्य प्रधान रहता है और उत्तम का अप्रधान अर्थात् उत्तमोत्तम का व्यङ्ग्य वाच्य-

सिद्धि का अङ्ग नहीं रहता और उत्तम काव्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का अङ्ग रहता है, इसलिये इन दोनों भेदों में एक की अपेक्षा दूसरे में कुछ विशेष अवश्य है, जिसे सहृदयहृदय वाले ही समझ सकते हैं। दोनों प्रभेदों को एक ही क्यों नहीं मान लिया जाय इस शङ्का का अवसर नहीं है। यही इस विशेष प्रदर्शन का तात्पर्य है।

'प्रहरविरतौ' इत्यादावप्पय्यदीक्षितप्रतिपादितं गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं निरस्यति—

यत्तु चित्रमीमांसाकृतोक्तम् ।

चित्र-मीमांसाकार अप्पय्यदीक्षित द्वारा दिये गये गुणीभूत व्यङ्ग्य के उदाहरण का खण्डन करते हैं—'यत्तु' इत्यादि। चित्र-मीमांसाकार ने जो कहा है।

बालाप्रियस्य प्रवासनिवृत्तिकारणं कश्चिद् व्याहरति—

'प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेण वा,
किमुत सकले याते वाऽह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालाऽऽलापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥' इति ।

हे प्रिय ! वल्लभ ! (प्रवासानन्तरं पुनः) त्वं, प्रहरस्यैकयामस्य, विरतौ समाप्तौ ? वाऽथवा, अह्नो दिवसस्य, मध्ये प्रहरद्वयान्तराले ? वा यद्वा, ततोऽपि मध्याह्नतोऽपि, परेण पश्चादपराह्ने तृतीयप्रहर इति यावत् ? किमुत वा किंवा, सकले सम्पूर्णे, अह्नि दिने, याते विगते सायं समये सति, इह मदन्तिके, एष्यस्यागमिष्यसि ?, इतीत्येवं रूपैः, सबाष्पगलज्जलैर्बाष्पवद्विगलदश्रुमिश्रितैः, आलापैः प्रश्नात्मकभाषणैः, दिनानां शतेन (ननु पञ्चषैर्दिनैः, पक्षेण, मासेन वा) प्राप्यं गन्तुं योग्यं (दूरतरं) देशं जनपदं, यियासतः कार्यानुरोधेन गन्तुमिच्छतः, प्रियस्य वल्लभस्य, गमनं प्रस्थानं, बाला नववधूर्मुग्धा हरति निवारयतीत्यर्थः। पृथ्वी छन्दः।

अस्मिन् पद्ये प्रियपदस्य द्विरुपादानात् कथितपदत्वम्। जलशब्दस्य पृथक्कथनाद् बाष्प उष्णमात्रम्। अपि च क्रमेण प्रहरान्तमध्याह्न-पराह्ण-दिनान्तमात्रस्य प्रियागमनसमयस्य, नायिकया प्रश्नगोचरी-करणेन व्यज्यमानम् 'समस्तं दिनमेव परमोऽवधिस्तद्विरहे मम जीवनस्य, दिनात्परं तु त्वदनागमने नाहं कथमपि जीविष्यामीति नन्वु' आलापैः प्रियस्य गमनं बाला हरतीति पदकदम्बकाभिधीयमानस्य बालाकर्तृकालापकरणकप्रियगमननिवारणस्योपपादकतयाऽङ्गमिति वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्यरूपगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति दीक्षितस्य कथनन्तु न युक्तम्, यतस्तत्र बाष्पवद्विगलदश्रुमिश्रितालापरूपं वाच्यमेव गमननिवारणलक्षणं व्यङ्ग्यमुपपादयितुमीष्टे, न तु तदर्थं व्यङ्ग्यस्यापेक्षा। तादृशालापानां गमननिवारणक्रियां प्रति गतार्थत्वमकारणतारूपकरणत्वाभावे करणे तृतीयाऽनुपपत्तिश्च वाच्यस्यैव वाच्योपपादकतां साधयति। तस्मान्नात्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्, किन्तु व्यङ्ग्यस्य पार्यन्तिकविश्रान्तिधामतया ध्वनित्वमेव।

कोई नवोढा का पति, किसी दूर देश में जाने के लिये उत्सुक था यात्रा की सब तैयारी कर चुका था, परन्तु गया नहीं, क्यों ? इसका कारण किसी ने बतलाया है—'प्रहरविरतौ' इत्यादि। प्रिय ! क्या तुम एक पहर के बाद लौट आओगे या दोपहर में अथवा उसके भी बाद ? किंवा समूचा दिन बीत जाने पर ही लौटोगे ? गरम-गरम आँसू-सहित इन आलापों से बाला (नवोढा), जहाँ सैकड़ों दिनों में पहुँचा जा सकेगा, उस देश में जाने के लिये उद्यत अपने प्रेमी के गमन का वारण कर रही है।

तदाह—

अत्र सकलमहः परमावधिस्ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीति व्यङ्ग्यं प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गमतो गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति, तन्न,

सबाष्पगलज्जलानां 'प्रहरविरता'वित्याद्यालापानामेव प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गतया व्यङ्ग्यस्य गुणीभावाभावात्। 'आलापै'रिति तृतीयया प्रकृत्यर्थस्य हरणक्रियाकरणतायाः स्फुटं प्रतिपत्तेः।

गुणीभावोऽप्राधान्यम्। प्रकृत्यर्थस्यालापपदवाच्यस्य।

पूर्वोल्लिखितवाच्यव्यङ्ग्ययोर्मध्ये प्रियगमनहरणरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गतया वाच्य एव विनिगमनाहेतुः करणतृतीयैवेति पृथक् तदुपन्यासो बोध्यः।

इस श्लोक में नवोढानायिका अपने प्रेमी से एक पहर के बाद, दो पहर में, अपराह्ण में, अथवा शाम तक आने की बात पूछती है और उसके बाद में आने की बात नहीं पूछती—अर्थात् कल, परसों, तरसों, आओगे, ऐसा प्रश्न नहीं करती जिससे सारा दिन पूर्ण अवधि है, उसके बाद तेरे विरह में मैं न जी सकूँगी' यह व्यङ्ग्य होता है। परन्तु यह व्यङ्ग्य प्रेमी के गमन का निवारणरूप वाच्य की सिद्धि में अङ्गभूत है अर्थात् प्रेमी का गमन तभी रुक सकता है, जब वह यह जानले कि 'यह मेरी नवोढा प्रेयसी मेरी अनुपस्थिति में एक दिन के बाद न जी सकेगी'। इस तरह से वह व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि के अङ्ग हो जाने से गौण है और चमत्कारी भी, अतः यह गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य का उदाहरण है। परन्तु यह चित्रमीमांसाकार का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उष्ण-अश्रुधारा-मिश्रित 'क्या तुम एक पहर के बाद लौट आओगे' इत्यादि उक्ति से ही 'प्रियगमन-निवारण रूप वाच्य उपपन्न हो जाता है इसके लिये व्यङ्ग्य की कोई अपेक्षा नहीं है—अर्थात् व्यङ्ग्य अवगत होने पर ही वह वाच्य उपपन्न होगा ऐसी बात नहीं है, 'आलापैः'—आलापों से यहाँ करण अर्थ में तृतीया हुई है और करण वही कहलाता है जो क्रिया का प्रकृष्टतम साधक हो, अतः यह सिद्ध हुआ कि उक्त आलाप ही निवारण क्रिया को सिद्ध करने वाले हैं। अतः उक्त व्यङ्ग्य गौण नहीं है, फिर यह पद्य गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण कैसे हो सकता है? यह तो ध्वनि (उत्तमोत्तम) काव्य का ही उदाहरण है, क्योंकि उक्त वस्तु व्यङ्ग्य बहुत ही चमत्कारी है और प्रधान भी।

पुनराशङ्क्य समाधत्ते—

न च व्यङ्ग्यस्यापि वाच्यसिद्ध्यङ्गताऽत्र सम्भवतीति तथोक्तमिति वाच्यम्, 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादावविवाधमत्वरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गताया दूतीसम्भोगादौ सम्भवाद् गुणीभावापत्तेः।

व्यङ्ग्यस्य ततःपरं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीत्यस्य। अपिनाऽऽलापरूपो वाच्यार्थः समुच्चीयते।

गमननिवारणरूपवाच्यस्य तादृशालापरूपवाच्येनोपपत्तावपि, ततःपरमित्यादिव्यङ्ग्यस्यापि वाच्योपपादकत्वसम्भवाद् वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमस्य काव्यस्य न युक्तमिति न युक्तम्, यत एवं सति, 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादावपि नायकाधमत्वरूपवाच्यस्य निश्शेषस्तनचन्दनच्यवनादिरूपवाच्येनैवोपपत्तावपि दूतीसम्भोगरूपव्यङ्ग्यस्यापि तदुपपादकत्वसम्भवाद् वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं भवतोऽप्यनभिमतमापद्येत। तस्माद् वाच्येनैवोपपत्तौ, व्यङ्ग्यस्योपपादकत्वसम्भवेऽपि न गुणीभाव इति भावः।

उक्त खण्डन के बाद दीक्षित मतको स्थिर करने वाली एक और नवीन युक्ति का उत्थान कर पुनः खण्डन करते हैं—'न च' इत्यादि। यदि आप कहें कि 'प्रहर विरतौ' यहाँ 'आलापों से' इस तृतीयान्त पद के वाच्यार्थ से यद्यपि 'गमननिवारण' रूप वाच्य की सिद्धि होती है, तथापि उक्त व्यङ्ग्य से भी तो उस वाच्य की सिद्धि हो सकती है, अत एव हमने उस व्यङ्ग्य को गुणीभूत कहा है, तो यह युक्ति भी आपकी संगत नहीं है क्योंकि वाच्य सिद्धि की समता मात्र रखने पर यदि व्यङ्ग्य गुणीभूत हो जाय तो 'निश्शेषच्युत-

चन्दनम्' इत्यादि पद्य में भी 'दूती सम्भोग' रूप व्यङ्ग्य गुणीभूत हो जायगा, क्योंकि वह व्यङ्ग्य भी नायक की अधमतारूप वाच्य को सिद्ध करने की योग्यता रखता है, और उस दूतीसम्भोग को गुणीभूत मानना तो आपको भी इष्ट नहीं है, अतः ऐसा मानना चाहिए कि वाच्य से यदि वाच्य की सिद्धि हो जाती हो तब व्यङ्ग्य से उसकी सिद्धि की सम्भावना रहने पर भी उस (व्यङ्ग्य) को गुणीभूत नहीं समझा जाय।

ननु नायिकायास्तादृशालापा नायकस्य गमनोत्तरं विदेशे चिरस्थितेर्निवारकत्वेनापि कृतकृत्या भवितुं शक्नुवन्तीतिपूर्वोक्तवाच्योपपादनसामर्थ्यमिह व्यङ्ग्यस्यैव, न तु वाच्यस्यापीति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमभ्युपगत्य प्रकारान्तरेण ध्वनित्वं व्यवस्थापयति—

अस्तु वा 'ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमि' इति व्यङ्ग्यस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभावः, तथाऽपि नायकादेर्विभावस्य, बाष्पादेरनुभावस्य, चिन्तावेगादेश्च सञ्चारिणः संयोगादभिव्यज्यमानेन विप्रलम्भेन ध्वनित्वं को निवारयेत्।

अस्तु वेत्यभ्युपगमार्थस्य गुणीभाव इत्यनेन सम्बन्धः। तथाऽपि तादृशसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि। ध्वनित्वं काव्यस्येति शेषः।

यद्यपि वस्तुलक्षणं व्यङ्ग्यमिह गुणीभवति, तथाऽपि विप्रलम्भशृङ्गाररसरूपव्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन काव्यस्य ध्वनित्वं सेत्स्यत्येवेत्याशयः।

नागेशभट्टास्तु—'आन्तरालिकव्यङ्ग्यमादायैव ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यादिव्यवहारस्योपपद्यमानतया विप्रलम्भेन ध्वनित्वं को निवारयेत्' इति चिन्त्यम्, अन्यथा 'ग्रामतरुणम्' इत्यादिगुणीभूतव्यङ्ग्यीयप्रकाशायुक्तोदाहरणानामव्यसङ्गत्यापत्तौ व्याकुलीस्यात्। तत्रापि व्यङ्ग्यसङ्केतभङ्गेन वाच्यमुखमालिन्यातिशयरूपानुभावसुखेनैव विप्रलम्भाभासपोषणम्, न केवलेन सङ्केतभङ्गेन, तस्याकर्तव्यत्वबुद्ध्याऽपि सम्भवात्' इतीह व्याजहुः।

न हि सर्वत्र पार्यन्तिकेनैव व्यङ्ग्येन ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वव्यपदेशः, किन्त्वान्तरालिकेनापि सः। इतरथा 'ग्रामतरुणम्' इत्यादौ पार्यन्तिकव्यङ्ग्ये शृङ्गाररसाभासे जाग्रति, ध्वनित्वस्यैवानिवार्यतयाऽऽन्तरालिकं वस्तुरूपव्यङ्ग्यमादाय विहिता आलङ्कारिपरम्परया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वसिद्धान्तो नितरां व्याकुप्येत। तस्मादयं पण्डितराजस्य प्रौढिवाद एवेति तदभिप्रायः।

उक्त वस्तुव्यङ्ग्य को गुणीभूत मान लेने पर भी 'प्रहर विरतौ' इत्यादि पद्यको मुख्य विप्रलम्भ-शृङ्गाररूप व्यङ्ग्य के अनुसार ध्वनिकाव्य का ही उदाहरण मानना समुचित है, यही बात अब कहते हैं—'अस्तु वा' इत्यादि। तात्पर्य है कि यदि आप कहें कि नायिका के 'एक पहर बाद आओगे' इत्यादि अश्रुमिश्रित आलाप तो 'विदेश में अधिक दिनों तक नहीं ठहरना' इस बात को सिद्ध करके भी चरितार्थ हो सकते हैं, फिर उन आलापों में 'सर्वथा जाने का निवारण' रूप अर्थ को सिद्ध करने का सामर्थ्य नहीं है, वह सामर्थ्य यदि है तो 'उसके बाद में न जी सकूँगी' इस व्यङ्ग्य में ही, अतः यह व्यङ्ग्य गुणीभूत अवश्य है। इस पर पण्डितराज कहते हैं—अच्छा, उक्त व्यङ्ग्य को वाच्यसिद्धि का अङ्ग बनाकर गौण समझिये किन्तु नायक प्रभृति विभाव, अश्रु आदि अनुभाव तथा चिन्तावेग आदि संचारीभावों के संयोग से व्यक्त होने वाले विप्रलम्भ-शृङ्गार के कारण जो ध्वनि काव्यता इस पद्य में प्राप्त होती है, उसको कौन रोक सकता है। वस्तुतः यहाँ दीक्षित मत के खण्डन करने में पण्डित राज जगन्नाथ का दुराग्रह ही झलकता है। क्योंकि सर्वत्र चरम व्यङ्ग्य के आधार पर ही 'ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्य' काव्य की व्यवस्था हो, आन्तरालिक (बीच के) व्यङ्ग्य के आधार पर नहीं, ऐसा नियम आलङ्कारिकों से आदृत नहीं है, अन्यथा (तादृश-

नियम के आदर करने पर) 'ग्रामतरुणम्' इत्यादि पद्य में भी चरम शृङ्गाररसाभास रूप व्यङ्ग्य के आधार पर ध्वनि काव्यता ही हो जायगी, फिर तो 'संकेत भंग' रूप वीच के व्यङ्ग्य को आधार मान कर उक्त पद्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण मानना आलङ्कारिकों का असङ्गत ही हो जायगा। इस दृष्टिकोण से देखने पर 'इसके बाद में न जा सकूंगी' इस आन्तरालिक व्यङ्ग को आधार मानकर 'प्रहर-विरतौ' इत्यादि श्लोक को गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण मानना दीक्षित का अनुचित नहीं प्रतीत होता है।

अथ तृतीयप्रकारं मध्यमकाव्यं लक्षयति—

यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम्।

व्यङ्ग्यचमत्कारस्याधिकरणेऽवर्तमानो व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणः। तत्त्वं च वाच्य-चमत्कारे व्यङ्ग्यचमत्कारस्यास्फुटत्वात्।

यत्र काव्ये व्यङ्ग्यप्रतीतिजन्यश्चमत्कारो लेशतः प्रादुर्भवन्नपि वाच्यप्रतीतिजन्यचमत्का-रस्य सर्वतोमुखीनस्यान्तर्निगीर्णः स्पष्टतयाऽनुभवगोचरतां नायाति, तत् तृतीयं मध्यमं काव्यमित्यर्थः।

इह व्यङ्ग्यचमत्कारस्य सर्वथाऽसद्भावस्तु नाभिधेयः, तथासति वाच्यचमत्कारस्याप्यस-म्भव इत्यनुपदमेव स्फुटीकरिष्यति मूलकृत्।

अब काव्य के तृतीय भेद 'मध्यम' का लक्षण करते हैं—'यत्र' इत्यादि। जहाँ वाच्य अर्थ का चमत्कार व्यङ्ग्य अर्थ के चमत्कार के अधिकरण में न रहे—अर्थात् जिस काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ का चमत्कार लघु अंश में रहकर भी व्यापक वाच्य अर्थ के चमत्कार में अन्तर्भुक्त हो जाने से स्पष्टतया अनुभूत न हो, वह 'मध्यम' नामक काव्य कहलाता है।

मध्यमं काव्यमुदाहरति—

यथा यमुनावर्णने—'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृत-जलधिजठरप्रविष्ट-हिमगि-रिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी' इति।

तनयः (हिमालयस्य) सुतश्चासौ मैनाकस्तन्नामा शैलः, तस्य (इन्द्रभिया समुद्रान्त-र्लीनस्य) गवेषणायान्वेषणाय, लम्बीकृताऽऽयतीकृता, जलधेः समुद्रस्य, जठर उदरे, प्रविष्टा, हिमगिरेर्हिमाचलस्य, भुजा बाहुरिवाचरतीति तस्याः, भगवत्याः परमेश्वर्याः, भागीरथ्या गङ्गायाः, सखी सहचरी, यमुनेत्यर्थः।

अत्र श्वेतायतपूरप्रवाहा गङ्गा हिमालयस्य भुजेव, समुद्रपूरे निमग्नस्य तनयस्य मैनाक-स्यान्वेषणाय प्रविष्टेति सदृशाचारार्थकक्यङः सत्त्वादुपक्रम उपमायाः, पर्यवसाने तु सम्भाव-नायाः प्रतीतेरुपमोपक्रमोत्प्रेक्षा वाच्यैव चमत्कारस्य कारणम्। गङ्गायाः स्वच्छता-पाताल-पर्यन्तानुधावनप्रभृति व्यङ्ग्यं तु पश्चात् प्रतीतिपदवीमवतरदपि तावन्तमेव चमत्कारं कर्तुं प्रभवति, यावान् वाच्यचमत्कारकुक्षावेव निक्षिप्तो भवति, न त्वधिकं पृथक् प्रतीयते, यथा स्वभावगौराङ्ग्याऽनभिज्ञनायिकया कल्पितस्य काश्मीरद्रवेणाङ्गरागस्य प्रभया तस्या अङ्गानां गौरता तिरोधीयते।

ततश्चात्र व्यङ्ग्यचमत्कारस्य वाच्यचमत्कारे निलीनतयाऽस्फुटत्वाद् व्यङ्ग्यचमत्कारा-सामानाधिकरण्यं वाच्यचमत्कारस्येति तृतीयप्रकारत्वमित्याशयः।

मध्यम काव्य का उदाहरण देते हैं—'यथा यमुनावर्णने' इत्यादि। (यह यमुना) उस गङ्गा की सखी है, जो, मानो, अपने पुत्र मैनाक को खोजनेके लिये लम्बी की हुई तथा समुद्र के उदर में पैठी हुई हिमालय पर्वत की भुजा है।

तदाह—

अत्रोत्प्रेक्षा वाच्यैव चमत्कृतिहेतुः। श्वैत्य-पातालतलचुम्बित्वादीनां चमत्कारो लेशतया सन्नप्युत्प्रेक्षाचमत्कृतिजठरनिलीनो नागरिकेतरनायिकाकल्पितकाश्मीर-द्रवाङ्गरागनिगीर्णो निजाङ्गगौरिमेव प्रतीयते।

एवकारः श्वैत्यादिव्यङ्ग्यं व्यवच्छिनत्ति। चमत्कृतिहेतुत्वं ज्ञानद्वारकम्। मैनाकस्य समुद्रान्तःपातालद्वारस्थतया पातालतलचुम्बित्वप्रतीतिः। सन्नपीति कथनेनात्रभेदे व्यङ्ग्यचमत्कारासद्भावनिवेशाभावः पुष्यते। नायिकाया नागरिकेतरत्वेन प्रसाधनानभिज्ञता सूच्यते। काश्मीरं सम्प्रति 'केसर' इति प्रसिद्धं गन्धद्रव्यम्। द्रवो रसः। यथा प्रसाधनानभिज्ञया ग्राम्य-नायिकया स्वतः सुषमाजनकमपि स्वकीयाङ्गगौरत्वं कल्पितेन पीततरकाश्मीराङ्गरागेणाच्छादितं नैव मुख्यतमां सुषमां जनयति, तथा प्रकृतोदाहरणे व्यज्यमानतया यत्किञ्चिच्चमत्कार-जनकोऽपि भागीरथीश्वैतिमादिश्चमत्कारकतमवाच्योत्प्रेक्षाचमत्कारेणाच्छादितः प्राधान्यं नाद-धातीति काव्यतृतीयप्रभेदत्वमेवैतस्येति तात्पर्यम्।

यहाँ संस्कृत में 'क्यङ्' प्रत्यय से और हिन्दी में 'मानो' पद से वाच्य होने वाली उत्प्रेक्षा (अलङ्कार) ही चमत्कार का कारण है। यहाँ उत्प्रेक्षा शुद्ध नहीं अपितु उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा है, यह समझना चाहिए क्योंकि 'क्यङ्' प्रत्यय सदृश आचार अर्थ में व्याकरण से अनुशिष्ट है, अतः आरम्भ में उपमा की प्रतीति होती है, परन्तु अन्त में सम्भावना की ही प्रतीति स्थिर रहती है। यद्यपि इस गद्यांश में, गङ्गा में की गई हिमालय-भुजोत्प्रेक्षा से गङ्गा की 'श्वेतता' और 'पुत्र मैनाक को खोजने के लिये समुद्र के उदर में पैठी हुई' इस उक्ति से गङ्गा का 'पाताल के तह तक पहुँचना' व्यङ्ग्य होते हैं, जो किसी अंश में चमत्कार-जनक भी है ही, तथापि वह चमत्कार वाच्य उत्प्रेक्षा के चमत्कार के भीतर छिपा हुआ है, जैसे किसी ग्राम्य नायिका की गौरता, केसर-रस के लेप के भीतर छिप जाती है। कहने का सारांश यह है कि वाच्य उत्प्रेक्षा की प्रतीति से होने वाला चमत्कार स्पष्ट है—प्रदीप्त है, और उसके सामने उक्त व्यङ्ग्य की प्रतीति से पीछे होने वाला चमत्कार अस्पष्ट है—क्षीण है, अतः यह मध्यम काव्य का उदाहरण ठीक है।

सर्वथा व्यङ्ग्यासद्भावनिवेशाभावबीजमुपपादयति—

न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनामृष्टप्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामधातुं प्रभवति।

मनागीषत्। अनामृष्टप्रतीयमानोऽस्पृष्टव्यङ्ग्यो व्यङ्ग्यसम्बन्धशून्य इति यावत्। व्यङ्ग्य-सम्बन्धेनैव वाच्यस्य चमत्कारिता, सर्वथा तदभावे तु रमणीयताविरहात् काव्यत्वमेव न स्यादतो यत्किञ्चिद्व्यङ्ग्यसम्बन्ध आवश्यकः। अत एव व्याख्यातृभावो न निवेशित इति भावः।

इस मध्यम नामक काव्य के तृतीय भेद में व्यङ्ग्य का सर्वथा न रहना अभीष्ट नहीं है, क्योंकि कोई भी वाच्य अर्थ ऐसा है ही नहीं, जो थोड़ा भी व्यङ्ग्य अर्थ के साथ बिना सम्बन्ध रक्खे स्वयं चमत्कार को पैदा कर सके—अर्थात् वाच्य अर्थ को चमत्कारी होने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि उसका सम्बन्ध किसी व्यङ्ग्य से रहे। फिर यदि इस तृतीय भेद में व्यङ्ग्य का सर्वथा न रहना ही अभीष्ट मान लिया जाय, तब तो असम्भव ही हो जायगा—एक भी लक्ष्य नहीं मिलेगा।

नन्वलङ्कारप्रधानानि काव्यान्येतेषु प्रभेदेषु क्वान्तर्भवन्तीत्याकाङ्क्षायामभिदधाति—

अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रविष्टं निखिलमलङ्कारप्रधानं काव्यम्।

एवशब्दः प्रथमचतुर्थप्रकारव्यवच्छेदकः। जागरूको 'राघवविरह—'इत्यादाविव चमत्का-

त्विशेषाधायकतया चर्वणागोचरो गुणीभूतो वाच्यार्थोपपादकत्वेनाप्रधानीभूतो व्यङ्ग्यो यत्र, तथाऽजागरूकः 'तनयमैनाक—'इत्यादाविव चमत्कारविशेषानाधायकतया चर्वणाऽगोचरो गुणीभूतो वाच्यार्थापेक्षयाऽप्रधानीभूतो व्यङ्ग्यो यत्रेति च बहुव्रीहिः। इत्थमलङ्कारश्चमत्कारितया प्रधानं यत्र तदलङ्कारप्रधानम्। अलङ्कारपदमर्थालङ्कारपरं सन्दर्भशुद्ध्यनुरोधात्।

इदमुच्यते—समासोक्तिप्रभृतिष्वलङ्कारेषु व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि चमत्कारितया तत्प्रधानककाव्यस्य द्वितीयभेदेऽन्तर्भावः। दीपकादिष्वलङ्कारेषूपमाऽऽदिरूपव्यङ्ग्यस्य तु तदभावात् तत्प्रधानकाव्यस्य तृतीयभेदेऽन्तर्भावः। इत्थमलङ्कारप्रधानं सकलमपि काव्यमुक्तभेदद्वय एवान्तर्भवति।

अलङ्कार प्रधान काव्यों का अन्तर्भाव किस भेद में होगा? इस जिज्ञासा की शान्ति करते हैं—'अनयोरेव' इत्यादि। इन दोनों (द्वितीय तथा तृतीय) ही भेदों में व्यङ्ग्य यद्यपि गुणीभूत रहता है, तथापि, एक (द्वितीय) में, व्यङ्ग्य, जागरूक—अर्थात् चमत्कार-विशेषजनक होने से अनुभव योग्य रहता है, और एक (तृतीय) में व्यङ्ग्य, चमत्कार-विशेष-जनक नहीं होने से अनुभव के अयोग्य। अतः समासोक्ति प्रभृति जिन अर्थालङ्कारों में व्यङ्ग गौण होकर भी चमत्कारी हों उन अलङ्कारों से युक्त काव्यों का द्वितीय भेद में और दीपक आदि जिन अर्थालङ्कारों में व्यङ्ग्य गौण तो हों ही, साथ-साथ चमत्कारी भी नहीं हों, उन अलङ्कारों से युक्त काव्यों का तृतीय भेद में अन्तर्भाव समझना चाहिए।

अथ चतुर्थं प्रकारं काव्यस्य लक्षयति—

यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं, तदधमं चतुर्थम्।

शब्दार्थयोश्चमत्कृतिजनकत्वमलङ्कारनिमित्तकं प्रतीतिद्वारकं च। उपस्कारो गुणाधानम्। अत एवाङ्गता शब्दचमत्कृतावर्थचमत्कृतेः।

यत्र हि वाच्यार्थप्रतीतिजन्यचमत्कारपोषितस्य शब्दप्रतीतिजन्यचमत्कारस्य प्राधान्यम्, न तु कथञ्चित् सतोऽप्ययोग्यतयाऽविवक्षितस्य व्यङ्ग्यस्य, तदधमं नाम चतुर्थं काव्यमित्यर्थः।

अब काव्य के चतुर्थ प्रकार 'अधम' का लक्षण करते हैं—'यत्रार्थचम' इत्यादि। जिस काव्य में वाच्य अर्थ के चमत्कार से परिपोषित होकर शब्द का चमत्कार प्रधान हो, उसको 'अधमकाव्य' कहते हैं। इस काव्य में भी कुछ न कुछ व्यङ्ग्य अवश्य रहता है, परन्तु वह रह कर भी चमत्कार जनक न होने से अविवक्षित रहता है अतः उसकी प्रधानता नहीं रहती ऐसा समझना चाहिए।

चतुर्थं काव्यमुदाहरति—

यथा—

भक्तः कश्चिद् भगवन्तं स्तौति—

'मित्रात्रिपुत्रनेत्राय, त्रयीशात्रवशत्रवे।
गोत्रारिगोत्रजत्राय, गोत्रात्रे ते नमो नमः॥' इति।

मित्रः सूर्योऽत्रिपुत्रश्चन्द्रश्च नेत्रे यस्य, तस्मै, त्रय्या ऋग्यजुस्सामवेदानां शात्रवस्यापहारकतया रिपोर्हयग्रीवदैत्यस्य शत्रवे नाशकाय, गोत्राणां पर्वतानां पक्षच्छेदनादरिरिन्द्रस्तस्य गोत्रजान् वंश्यान् देवांस्त्रायते रक्षतीति तथाभूताय, गोः पृथिव्या गवां धेनूनां वा त्रात्रे रक्षकाय, ते विष्णवे नमो नमोऽस्त्विति विष्णुपक्षेऽर्थः। शिवपक्षे तु त्रय्या ध्वंसनाच्छात्रवाणामसुराणाम्, यद्वा त्रय्या विज्ञानप्रतिबन्धनाच्छात्रवस्य कामदेवस्य शत्रवे, गोर्वृषस्य त्रात्रे, ते शिवायेति विशेषः।

तथा च 'सूर्याचन्द्रमसौ विराजः पुरुषस्य दक्षिणवामे चक्षुषी' इति प्रसिद्धिः। 'मित्रं

सुहृदि न द्वयोः। पुंसि सूर्ये' 'गोत्रः, शैले गोत्रं कुलाख्ययोः' इति मेदिनी। 'स्त्रियामृक्साम-यजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी' इत्यमरः। 'गौः स्वर्गे वृषभे रश्मौ वज्रे शीतकरे पुमान्। अर्जुनी-नेत्रदिग्बाण-भूवाग्वादिषु योषिति' इतिविश्वश्च।

इह वृत्त्यनुप्रासात्मकशब्दालङ्कारप्रयोज्यश्चमत्कार एव कविसंरम्भगोचरतया प्रधानम्। वाच्यार्थप्रतीतिजन्मा, भगवद्विषयक-वक्तृनिष्ठ-रतिभावादिव्यङ्ग्यप्रतीतिजन्मा वा लेशतः सन्नपि चमत्कारोऽस्फुटत्वाल्लीनोऽङ्गतामेव भजतीति निर्बाधश्चतुर्थकाव्यलक्षणसमन्वयः।

चतुर्थ 'अधम' काव्य का उदाहरण देते हैं—'यथा, मित्रात्रि' इत्यादि। कोई भक्त भगवान् की स्तुति करता है—मित्र-सूर्य और अत्रिपुत्र-चन्द्र जिनके नेत्र हैं, त्रयी वेदों के शत्रुओं (असुरों) के जो शत्रु हैं तथा गोत्र-पर्वत के अरि-शत्रु (इन्द्र) के गोत्रजों-वंशजों (देवताओं) के त्राता-रक्षक हैं, उन गोत्राता (गोपाल) अथवा वृषभवाहन (शिव) आपको बार-बार नमस्कार है।

तदाह—

अत्रार्थचमत्कृतिः शब्दचमत्कृतौ लीना।

यहाँ वृत्त्यनुप्रासरूप शब्दालङ्कार का चमत्कार ही प्रधान है क्योंकि कवि का मुख्य प्रयास उसी अंश में हुआ है यह शब्द श्रवण से स्पष्ट प्रतीत होता है। अर्थ का चमत्कार अथवा भक्तनिष्ठ भगवद्विषयक भावरूप व्यङ्ग्य का चमत्कार लेशतः यद्यपि है तथापि वह शब्द के चमत्कार में छिपा हुआ है।

न्यायप्राप्तस्य काव्यपञ्चमप्रकारनिरूपणस्याकरणान्न्यूनतामापादयति—

यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्दचमत्कृतिस्तत् पञ्चममधमाधममपि काव्यविधासु गणयितुमुचितम्। यथैकाक्षर-पद्यार्धावृत्तियमक-पद्मबन्धादि।

काव्यस्य त्रिधा प्रकारः। एकाक्षरानुप्रासो यथा—'दाददो दुद्ददुद्दादी दादादो दूददी-ददोः। दुद्दादं दददे दुद्दे ददाददददोऽददः।' इति। समुद्गापरनामकं पद्यार्धावृत्तियमकं यथा—'अयशोऽभिदुरालोके कोपधामरणाहते। अयशोभिदुरालोके कोपधामरणाहते॥' इति। पद्मबन्धो यथा—'मारमासुषमा चारुरुचा मारवधूत्तमा। मात्तधूर्ततमावासा सा वामा मेऽस्तु मारमा॥' इति। आदिपदेन द्व्यक्षराद्यनुप्रासमहायमकापरान्यपद्यावृत्तियमक-चक्र-खड्ग-मुरज-हार-नाग-शक्ति-गोमूत्रिका-सर्वतोभद्रबन्धादीनि दुष्करशब्दसन्निवेशानि गृह्यन्ते।

मित्रात्रीत्यादिपद्येऽर्थचमत्कारोऽस्फुटोऽप्यस्त्येव। यत्र पुनरेकाक्षरानुप्रासादिशालिपद्येषु काममर्थचमत्कारो नास्त्येव, किन्तु केवलं शब्दचमत्कारः स्फुरति, तादृशानामपि बहूनां काव्यानामुपलम्भाच्छब्दचमत्कृतिमात्रवान् पञ्चमोऽपि काव्यप्रकारः कुतो नात्र गणित इत्यभिप्रायः।

यद्यपि जिस काव्य में अर्थ का चमत्कार बिलकुल नहीं हो और शब्द का चमत्कार हो जैसे एकाक्षरपद्य, अर्धावृत्तियमक, पद्मबन्ध आदि, उस काव्य के पाँचवाँ भेद 'अधमाधम' की भी गणना काव्य प्रभेदों में करनी चाहिए।

समाधत्ते—

तथाऽपि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दतारूप-काव्यसामान्यलक्षणानाक्रान्ततया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन, महाकविभिः प्राचीनपरम्परामनुरुन्धानैस्तत्रतत्र काव्येषु निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्, वस्तुस्थितेरवानुरोध्यत्वात्।

अयं भावः—एकाक्षरादिचित्रेष्वार्थिकचमत्कारस्य सर्वथाऽनुपलम्भाद् रमणीयार्थप्रति-

पादकशब्दत्वरूपं मदुक्तकाव्यसामान्यलक्षणमेव यदा न समन्वेति, तर्हि तेषु मन्मते वास्तविकं काव्यत्वमेव नास्तीति कुतस्तत्प्रकारत्वेन तेषां गणना स्यात्। का वा तदगणने ग्रन्थस्य न्यूनता स्यात्।

ननु माघादिमहाकविभिश्शिशुपालवधादिमहाकाव्येषु सन्निवेशितानामेकाक्षरादिचित्राणां कथं काव्यत्वमिति चेत्, सत्यम्, नास्त्येव तेषु वास्तविकं काव्यत्वम्, रमणीयार्थप्रतिपादक-शब्दत्वाभावात्। तैस्तु गतानुगतिकतयैव प्राचीनानां महाकवीनां परम्परया अनुरोधेन तथा विहितम्, न तु वस्तुतत्त्वविवेकेन। तद्विवेकपुरस्सरं प्रवर्तमानैरस्माभिस्तु तातकूपक्षा-रजलन्यायेन तदुपेक्षितमेव, असद्विषये महाजनानुसरणस्यानौचित्यात्।

तदाहुरिह शास्त्रिणः—'सर्वथाऽर्थरहितसन्निवेशमात्रे चमत्कृत्यनिर्वाहकतया दुष्करशब्द-सन्निवेशनिर्वाहणीयविशिष्टवाक्यार्थधीजनकस्यैकाक्षरादिचित्रस्य कथञ्चिदपि कृत्याकृत्यप्रवृ-त्तिनिवृत्त्यौदासीन्याच्चमत्कृतिविशेषजनकत्वेऽपि काव्यत्वं नाङ्गीक्रियते। इति।

वयन्तु—न ह्येकाक्षरादिचित्रेषु सर्वथाऽर्थराहित्यम्, चमत्कृतिराहित्यं वा, अनुभव-विरोधात्, तच्छुश्रूषया प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च। आर्थिक एव चमत्कारः काव्यत्वप्रयोजको न तु शाब्दिक इति त्वभियुक्तोक्त—चित्रोदाहरणेष्वव्याप्तिमुपेक्षमाणेन प्राचीनस्थितिलङ्घनैक-व्रतेन भवतैव केवलं व्याह्रियते, न तु केनाप्यन्येन। कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्यं तु 'भम धम्मिअ!' इत्यादावपि तुल्यमेव। एवं सत्यर्थचमत्काराच्छब्दचमत्कारस्य निकर्षेऽपि प्राचीनकविपरम्पराऽनुमतं निकृष्टकाव्यत्वमेकाक्षरादिचित्रेषु निर्बाधमेवेति विज्ञः।

किन्तु 'एकाक्षरपद्य' आदि रचनाओं में जब अर्थकृत चमत्कार बिलकुल नहीं रहता, तब तो वे शब्द रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाले नहीं हुए, फिर तो मेरे हिसाब से उन शब्दों में काव्य का सामान्य लक्षण ही सङ्घटित नहीं होता, अतः काव्यप्रभेदों में उनकी गणना करने की बात सर्वथा असङ्गत है। यद्यपि महाकवियों (माघ आदि) ने प्राचीन परिपाटी के अनुरोध से अपने काव्यों में जहाँ तहाँ उस तरह की रचनायें की हैं, तथापि हमने उस तरह का काव्य-भेद इसलिये नहीं माना कि वास्तविकता का ही अनुरोध करना उचित है न कि अन्धपरम्परा का।

मम्मटादिसम्मतं काव्यस्य त्रिप्रकारत्वमात्रं निराकर्तुमुपक्रमते—

केचिदिमानपि चतुरो भेदानगणयन्त उत्तममध्यमाधमभावेन त्रिविधमेव काव्यमाचक्षते।

केचित् काव्यप्रकाशकारप्रभृतयः प्राचीनाचार्याः, इमानिहोक्तानुत्तमोत्तमादीन्, चतुरः काव्यस्य भेदान् प्रकारानपि, अगणयन्तोऽमन्वाना उत्तमत्वेन मध्यमत्वेनाधमत्वेन च त्रिविधं त्रिप्रकारकमेव, न तु चतुष्प्रकारकं काव्यमाचक्षते कथयन्तीत्यर्थः। नामानुल्लेखेन तन्मतेऽरुचिः सूच्यते।

कुछ सज्जन काव्य के ये चार भेद नहीं मानते। वे—उत्तम मध्यम तथा अधम—तीन प्रकार के ही काव्य मानते हैं।

निराकरोति—

तत्रार्थचित्र-शब्दचित्रयोरविशेषेणाधमत्वमयुक्तं वक्तुम्, तारतम्यस्य स्फुट-मुपलब्धेः।

अर्थालङ्कारयुक्तमविवक्षितव्यङ्ग्यं ह्यर्थचित्रम्, शब्दालङ्कारयुक्तमविवक्षितव्यङ्ग्यन्तु शब्दचित्रम्, तयोरविशेषेण तुल्यतया, अधमत्वं निकृष्टकाव्यत्वं वक्तुमयुक्तम्, तारतम्यस्य तयोर्न्यूनाधिकभावस्य, स्फुटं स्पष्टम्, उपलब्धेरनुभवादित्यर्थः।

अर्थचित्रेऽधिकचमत्कारस्य शब्दचित्रे च न्यूनचमत्कारस्य स्पष्टमनुभूयमानत्वात् काव्य-प्रकाशकारादिसम्मतमुभयोः साम्यमयुक्तमित्याशयः ।

इह तरतमयोर्भावस्तारतम्यमित्यनुकरणे तरतमशब्दात् ष्यञ् । अन्यथा केवलप्रत्यय-परतायां साधुत्वं दुर्घटम् ।

उनके सम्बन्ध में पण्डितराज का कथन है कि अर्थ-चित्र (अर्थालङ्कारों से युक्त अविवक्षित व्यङ्ग्य काव्य, जो प्रकृत ग्रन्थ के हिसाब से तृतीय भेद में आता है) और शब्द-चित्र (शब्दालङ्कारों से युक्त अविवक्षित व्यङ्ग्य, काव्य, जो इस ग्रन्थ के अनुसार चतुर्थ भेद में समाविष्ट होता है) दोनों को एक सा-अधम-ही कहना समुचित नहीं, क्योंकि उन दोनों में तारतम्य-न्यूनाधिक भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है अर्थात् अर्थचित्र में अधिक चमत्कार का और शब्द चित्र में उसकी अपेक्षा कम चमत्कार का अनुभव होता है, फिर दोनों को एक कोटि में घसीट कर लाना अनुचित है

पूर्वोक्तामयुक्तिमुपपादयति—

को ह्येवं सहृदयः सन् 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्' 'स छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुः' इत्यादिभिः काव्यैः 'स्वच्छन्दोच्छलद्–' इत्यादीनां पामरश्लाघ्यानामवि-शेषं ब्रूयात् । सत्यपि तारतम्ये यद्येकभेदत्वं कस्तर्हि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययो-रीषदन्तरयोर्विभिन्नभेदत्वे दुराग्रहः ।

'भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् । ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला, निमीलिताक्षीवभियाऽ-मरावती ॥' इति प्रथमस्य, 'तस्योपरिष्टात् पवनावधूतः । अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य, पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे ॥' इति द्वितीयस्य, 'अच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा–मूर्च्छ-न्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाऽऽह्नाय वः । भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम–द्रोहोद्रेक-महोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ।' इति तृतीयस्य च पद्यस्य शेषांशः । प्रथमं मम्मट-भट्टेन, द्वितीयमप्पय्यदीक्षितेन चार्थचित्रोदाहरणतयोपन्यस्तम् , तृतीयन्तु मम्मटेन शब्दचि-त्रोदाहरणतयेत्यवसेयम् ।

आद्ययोरुत्प्रेक्षाऽर्थालङ्कारस्यैव चमत्कारितया, व्यङ्ग्यस्य लेशतः सतोऽपि चमत्काराप्र-धानादर्थचित्रत्वमिति सम्प्रदायविदः ।

प्रदीपकारास्तु—'विनिर्गतम्' इत्यादौ हयग्रीवप्रभावातिशयलक्षणव्यङ्ग्यस्य जागरूकतया विवक्षणादर्थचित्रत्वं व्यपास्य 'मध्ये व्योम स्फुरति सुमनो धन्वनः शाणचक्रं, मन्दाकिन्या विपुलपुलिनाभ्यागतो राजहंसः । अह्नश्छेदे त्वरितचरणन्यासमाकाशलक्ष्म्याः, संसर्पन्त्याः श्रवणपतितं पुण्डरीकं सुधांशुः ॥' इति रूपकप्राचुर्यशालिनि स्वकीयग्रन्थे तद् व्यवस्थापयाञ्चक्रुः ।

एवं तारतम्यान्वितत्वा । काव्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धिशाली रसास्वादकुशलो वा सहृदयः, आहारादिज्ञाननिपुणोऽज्ञो ग्राम्यजनस्तु पामरः । अविशेषमैक्यं तुल्यत्व-मिति यावत् ।

इदमाकूतम्—'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च' इत्यभि-युक्तोक्तेरत्यन्तविजातीयचमत्कारवत्तया विरुद्धधर्माध्यासाद् विभिन्नयोरपि, शब्दार्थचित्रयो-र्यद्येकप्रकारत्वं स्वीक्रियते, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याप्राधान्यमात्रात्मकहेतुकभेदभाजोर्ध्वनिगुणी-भूतव्यङ्ग्ययोः काव्ययोर्विभिन्नप्रकारत्वं कुतोऽङ्गीक्रियते, तयोरप्येकप्रकारत्वमङ्गीक्रियताम् ।

कौन ऐसा होगा जो सहृदय होकर—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।

ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥[1]

तथा

सच्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाऽऽबभासे ॥[2]

इत्यादि काव्यों के साथ—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाऽह्नाय वः।
भिन्द्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घा दरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥[3]

इत्यादि काव्यों का केवल निम्नश्रेणी के अल्पज्ञ जन जिनकी प्रशंसा करते हैं, साम्य कह सकता है। और तारतम्य के रहने पर भी यदि दोनों को एक भेद में गिना जाय, तब जिनमें बहुत ही कम (व्यङ्ग की प्रधानता और अप्रधानता का ही) अन्तर है, उन 'ध्वनि' तथा 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को अलग अलग भेद में गिनने का दुराग्रह क्यों? अतः काव्य के चार भेद मानना ही युक्तिसङ्गत है।

ननु यत्र लक्ष्ये शब्दचमत्कृतिरर्थचमत्कृतिश्च सहैव तिष्ठतः, तस्यातिरिक्तप्रकारत्वं स्यादिति चेत्, न तयोश्चमत्कृत्योः सामानाधिकरण्येऽपि सूक्ष्मेक्षिकया कस्चिदेकस्याः प्राधान्यमपरस्या अप्राधान्यं लक्षितं स्यादेव। ततश्च पूर्वोक्तलक्षणानुसारमर्थचमत्कृतेः सूक्ष्मेऽपि प्राधान्ये मध्यमकाव्यत्वम्, शब्दचमत्कृतेः प्राधान्येऽधमकाव्यत्वं व्यपदेश्य-मित्याह—

यत्र च शब्दार्थचमत्कृत्योरैकाधिकरण्यम्, तत्र तयोर्गुणप्रधानभावं पर्या-लोच्य यथालक्षणं व्यवहर्तव्यम्।

ऐकाधिकरण्यं समानाधिकरणत्वम्।

जिस लक्ष्य में शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार दोनों साथ साथ हों, वह क्या काव्य का एक अतिरिक्त (पञ्चम) भेद होगा? नहीं तो उसका समावेश किस भेद में होगा? इसका उत्तर देते हैं—'यत्र च' इत्यादि। आशय यह है कि यदि किसी काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार एक साथ रहेगा, तब वहाँ विचार से काम लेना होगा

---

१. इस पद्य में हयग्रीव राक्षस का प्रभाव वर्णित है। इसका अर्थ इस प्रकार है—अपने इष्टजनों को सम्मान देने वाले तथा अनिष्टजनों के सम्मान को नष्ट करने वाले जिस हयग्रीव का स्वेच्छा-पूर्वक भी (न कि आक्रमण करने के लिये) अपने भवन से निकलना सुनकर घबड़ाए हुए इन्द्र के द्वारा शीघ्रता से गिरवाई गई हैं अर्गलें (कीलें) जिसमें ऐसी अमरावती (देव-पुरी) मानो भय से नेत्र मूंद ली है।

२. यह पद्य युद्ध वर्णन के प्रसङ्ग का है। इसका अर्थ इस प्रकार है—सैन्य-सम्मर्द से जो धूलि उड़ी, उसकी जड़ शोणित ने काट दी अर्थात् शोणित से धरा आर्द्र हो गई जिससे भूतल से ऊपर उठती हुई धूलि का ताँता टूट गया, पर अकाश में धूलि उड़ती ही रही। (इस अवस्था में) वह धूलि ऐसी शोभित होती थी मानो आग के केवल अङ्गारे शेष रह गए हैं उससे जो पहले निकल चुका था वह धुआँ ऊपर उड़ रहा है।

३. यह गङ्गा का वर्णन है। इसका अर्थ इस प्रकार है—वह गङ्गा आपकी मन्दता-अज्ञता को शीघ्र दूर करें, जल प्रायः प्रदेश के गड्ढों में छात=दुर्बल-इतर=प्रबल, स्वतन्त्रतापूर्वक उछलते हुए, और स्वच्छ जल की परम्परा से नष्ट हो रहे हैं मोह-अज्ञान जिनके ऐसे महर्षिगण, हर्षपूर्वक जिसमें स्नान तथा दैनिक कर्म (सन्ध्यावन्दन) करते हैं और जो (गङ्गा) दीर्घ पड़ने वाले, विशाल मेढकों का आवास स्थानभूत कन्दराओं से युक्त है और बड़े बड़े पेड़ों के द्रोह (गिराने) में अधिक-शक्तिशाली महान् तरङ्ग ही जिस (गङ्गा) का गहरा गर्व है।

अर्थात् यदि शब्द का चमत्कार प्रधान होगा तो चतुर्थ अधम काव्य में और यदि अर्थ का चमत्कार प्रधान होगा तो तृतीय मध्यम काव्य में समावेश किया जायगा। अतिरिक्त काव्यभेद मानने की आवश्यकता नहीं है।

ननु यत्र सूक्ष्मेक्षिकायामपि द्वयोरर्थ-शब्दचमत्कृत्यो तुल्यमेव, (न त्वेकस्याः कस्याश्चि-न्न्यूनमधिकं वा) प्राधान्यं स्यात्, तत्र का गतिरित्याकाङ्क्षायामाख्याति—

समप्राधान्ये तु मध्यमतैव।

मध्यमता प्रागुक्तकाव्यतृतीयप्रकारत्वम्, व्यङ्ग्यचमत्कृत्यसमानाधिकरणवाच्यचमत्कृ-तेरुपलम्भात्। शब्दचमत्कृतिप्राधान्यस्य तूपलम्भेऽप्यविरोधित्वम्।

यदि सूक्ष्म-विचार करने पर भी प्रधानता का निर्णय न हो अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों का समान ही प्राधान्य लक्षित हो, तब क्या होगा—उसका समावेश कहाँ किया जायगा? इसका समाधान करते हैं—'समप्राधान्ये' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि उस स्थिति में उसको मध्यम काव्य ही माना जायगा, क्योंकि व्यङ्ग्य-चमत्कार-रहित, वाच्य-चमत्कार वहाँ उपलब्ध रहेगा और शब्द-चमत्कार की प्रधानता रहने से भी कोई विरोध नहीं होगा।

चमत्कृतिद्वयतुल्यप्राधान्यमुदाहरति—

यथा—

कविरुदितं भानुमन्तं वर्णयति—

'उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पन्धयानां
　निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम्।
उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः
　सङ्घातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत्॥'

फुल्लानां विकसितानां, पङ्केरुहाणां कमलानां, पटलात् समूहात्, पटले समूहे वा पतन्तो निस्सरन्तः, पतन्तः प्रत्यासीदन्तो वा, ये पुष्पन्धया भ्रमराः, तेषामुल्लासो नैशाकु-शयकोशबन्धनमोचकत्वात्, स्वच्छन्दमकरन्दमरास्वादसामग्रीसम्पादनाद्वा आनन्दः, तद्धेतुर्वा, शोकः प्रियतमविप्रयोगजन्मा चित्तवृत्तिविशेष एव तापातिशयदानाद् दावानलो वनवह्निः, तेन विकलं खिन्नं, हृदयं मनो यासां ताः शोकदावानलविकलहृदः, तासां शोकदा-वानलविकलहृदाम्, कोकसीमन्तिनीनां चक्रवाकवधूनाम्, आश्वासनविधानान्निस्तारश्शोक-सागरपारगमनं तत्सम्पादको वा, तामसानां तिमिरनिकराणां तमस्स्वभावतया तमस्विनी-सञ्चरणशीलोलूकादीनां वा, उत्पातो विनाशः उच्चाटनं तन्निदानं वा, उपहतं तिमिरावरणाद् विनष्टं महः पदार्थसार्थग्राहकप्रकाशो येषां, तादृशां चक्षुषां दृशां तत्तिमिरावरणतिरोधापनात् पक्षपातः साहाय्यकं तत्कारको वा, अयमुदीयमानः, कोऽपि दीपक-खद्योतादिविलक्षणः, धाम्नां तेजसां, सङ्घातः समुदायः सूर्यः, उदयगिरेः पूर्वाचलस्य प्रान्ततः शिखरात्, प्रादुरा-सीत् प्रातराविरभूदित्यर्थः।

उल्लासेति निर्देशोऽद्यतनभूतकाले लङ्विधिश्चिन्त्यः। वैकल्पिकताङ्गीकारेण वोपपाद्यः। पकारादिवर्णानामसकृदावृत्तेः 'अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा। एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते।' इति दर्पणलक्षितो वृत्त्यनुप्रासः शब्दालङ्कारः, पूर्वोक्तवर्णावृत्तेर्वृत्त्यनुप्रासस्य वैशिष्ट्यात् 'आवृत्तवर्णसम्पूर्णं वृत्त्यनुप्रासवद् वचः। ओजः स्यात्' इति प्राचीनलक्षित ओ-जोऽभिधानश्शब्दगुणश्च शब्दं भूषयति, तथाऽऽशयेन स्फुटतयाऽर्थावगमनात् 'यस्मादन्तःस्थितः सर्वः स्वयमर्थोऽवभासते। सलिलस्येव सूक्तस्य स प्रसाद इति स्मृतः' इति प्राचीनलक्षितः

प्रसादनामाऽर्थगुणः, सूर्यरूपे तेजस्सङ्घाते पुष्पन्धयोल्लासत्व–कोकसीमन्तिनीशोकनिस्तारत्व–तामसोत्पातत्व–चक्षुःपक्षपातत्वलक्षणधर्मचतुष्टयारोपात् 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' 'माला तु पूर्ववत्' इति प्रकाशलक्षितं मालारूपकम्, उल्लासादिधर्मकारणस्य तेजःपुञ्जस्योल्लासादिकार्य्यैरभेदेनाभिधानात् 'अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह' इति पुनर्दर्पणलक्षितो हेत्वलङ्कारो वा वाच्यार्थं प्रसाधयतीति शब्दस्यार्थस्य च चमत्कारस्तुल्यकक्ष एवेत्युभयोः प्राधान्यान्मध्यमकाव्यत्वम् । शब्देऽलङ्कारगुणयोरर्थे च गुणालङ्कारयोरुपन्यासेनात्र क्रमविपर्यासोऽवधेयः । ताद्रूप्यारोपापेक्षया तादात्म्याध्यासे विच्छित्तिविशेष इत्यर्थालङ्कारान्तरोपादानस्य निदानम् । 'यत्तूल्लासादीनां तत्कार्यत्वात् कथं रूपक'मित्यलङ्कारान्तरोपादानबीजप्रदर्शनं टीकाकृतः, तच्चिन्तनीयम्, 'मुखं चन्द्रः' इत्यादावपि बाधग्रहे जाग्रत्येव तत्त्वारोपाद् रूपकस्य सर्वसम्मतत्वात्, कार्यकारणयोरभेदस्याप्येवं बाधग्रासादलङ्कारान्तरोपादानस्याप्यसङ्गतत्वाच्च ।

शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार जहाँ समानरूप से प्रधान है ऐसे उदाहरण का निर्देश करते हैं—'यथा, उल्लासः' इत्यादि । 'मयूरभट्ट' अपने सूर्यशतक नामक ग्रन्थ में उदयाचलावलम्बी प्रातः कालिक सूर्य का वर्णन करते हैं । खिले हुए कमलों के समूह से निकलते हुए अथवा खिले हुए कमलों के समूह पर गिरते हुए (रातभर मधुपान करने के कारण अथवा मधुपान की आशा से) मत्त, भ्रमरों का उल्लास, (आनन्ददायक) शोकरूप दावानल से विकल हृदय वाली चक्रवाकियों का निस्तार (प्रिय–वियोग–सम्पादक होने से शोक–कारणीभूत–रात्रि का अन्त करके दुःख का नाशक) अन्धकार के समूहों का उत्पात (नाशक) और अन्धकार के कारण जिनके तेज नष्ट हो गए हैं उन नेत्रों का पक्षपात, (सहायक) यह कोई तेजःपुञ्ज, उदयाचल के प्रान्त–भाग से प्रादुर्भूत हुआ ।

तदेवाह—

अत्र वृत्त्यनुप्रासप्राचुर्यादोजोगुणप्रकाशकत्वाच्च शब्दस्य, प्रसादगुणयोगादनन्तरमेवाधिगतस्य रूपकस्य हेत्वलङ्कारस्य वा वाच्यस्य, चमत्कृत्योस्तुल्यस्कन्धत्वात् सममेव प्राधान्यम् ।

लकारादीनामप्यावृत्तेर्वृत्त्यनुप्रासस्य प्राचुर्यम् । ओजसः शब्देन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावात् प्रकाशनोक्तिः । तुल्यस्कन्धत्वं साम्यम् । अन्यत् सुगमम् ।

यहाँ पकारादि अक्षरों की बारबार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास की प्रचुरता है और सम्पूर्ण श्लोक में उस वृत्त्यनुप्रास के वर्तमान रहने से इस पद्य की पदावली 'ओजगुण' को व्यक्त करती है, इसलिये इस पद्य में शब्द का चमत्कार प्रधान है और प्रसाद–गुण–युक्त होने से शब्द–श्रवण के बाद शीघ्र ज्ञात हुए 'रूपक' अथवा 'हेतु' अलङ्कार–रूप वाच्य–अर्थ का चमत्कार भी प्रधान ही है । अतः इस पद्य को मध्यम काव्य कहना उचित है।

अथ रसध्वनिलक्षणाय समासेन ध्वनिप्रकारान् निर्देष्टुमवतरणमभिदधाति—

तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यासंलक्ष्यक्रमभेदस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरूप्यन्ते—

तत्र तेषु चतुर्षु काव्यप्रकारेषु मध्ये, उत्तमोत्तमस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य ध्वनेः । असंलक्ष्यक्रमभेदस्यापि विभावादिभेदानन्त्यप्रयोज्यानन्तप्रकारकत्वव्द्–रसादिध्वनिघटितत्वात् प्रातिस्विकरूपेणागणनीयप्रकारस्यापि, सामान्यतोऽविशेषरूपेण, केऽपि साधारणाः, भेदाः प्रकाराः, निरूप्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इत्यर्थः ।

यद्यपि रसादिध्वनिघटितत्वाद् ध्वनिप्रकारा विशेषरूपेण सङ्ख्यातुमशक्या इति सङ्क्षिरूपणमशक्यमेव । तथापि केचन परिगणिता विवक्षितान्यपरवाच्या–विवक्षितवाच्यत्वादिसामान्यधर्मपुरस्कारेण भेदा इह निरूप्यन्त इति सारम् ।

उक्त चार प्रकार के काव्यों में 'ध्वनि' नाम का जो उत्तमोत्तम काव्य है, उसके यद्यपि असङ्ख्य-भेद हैं अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि के भेद से ध्वनि-काव्य के भेद अनन्त हो सकते हैं अतः उन सब भेदों का एक एक कर उल्लेख करना असम्भव है तथापि सामान्य-रूप से कुछ भेदों का यहां उल्लेख किया जाता है ।

तानेव ध्वनिसामान्यभेदान् निरूपयति—

द्विविधो ध्वनिः, अभिधामूलो लक्षणामूलश्च । तत्राद्यस्त्रिविधः—रस-वस्त्वलङ्कारध्वनिभेदात् । रसध्वनिरित्यसंलक्ष्यक्रमोपलक्षणाद् रस-भाव-तदाभास-भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानां ग्रहणम् । द्वितीयश्च द्विविधः—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च ।

अन्यत्राभिधामूलत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनेः प्रथममुपादेयत्वेऽपि सूचीकटाहन्यायेनोपादानलाघवाल्लक्षणामूलस्याविवक्षितवाच्यध्वनेरेव प्रागुपादानम् । इह त्वभिधाया लक्षणोपजीव्यत्वात् । तन्न्यायमुपेक्ष्य प्राकृतमेव क्रममनुसृत्य तदिति न विपर्यासः । द्विविधः सामान्यरूपेणेति शेषः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । अभिधामूलत्वादेव विवक्षितवाच्यत्वं, लक्षणामूलत्वादेव चाविवक्षितवाच्यत्वमवसेयम् । तथाहि—विवक्षितो वाच्यताऽवच्छेदकरूपेणान्वयबोधविषयत्वेनापेक्षितोऽन्यपरोव्यङ्ग्योपसर्जनीभूतो वाच्योऽर्थो यत्र, स विवक्षितान्यपरवाच्योऽभिधामूलो ध्वनिः, पदार्थोपस्थित्यवसर एवान्वयबाधे जागरूकेऽविवक्षितो वाच्यजात्यादिरूपेणान्वयबोधविषयतयाऽनपेक्षितो वाच्योऽर्थो यत्र, स चाविवक्षितवाच्यो लक्षणामूलो ध्वनिः । चकारः समुच्चयार्थकः । तत्र तयोर्ध्वन्योर्मध्ये । आद्योऽभिधामूलो विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिः । त्रिविधो रसध्वनिर्वस्तुध्वनिरलङ्कारध्वनिश्चेति त्रिप्रकारकः । रसपदं रस्यन्त आस्वाद्यन्त इति व्युत्पत्तियोगाद् रस-भाव-रसाभास-भावाभास-भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलतानामुपलक्षणं प्रत्यायकम् ।

अन्यत्र रसध्वनेः पश्चान्निर्दिष्टत्वेऽपीह सर्वप्राधान्यबोधनाय पूर्वनिर्देशः । द्वितीयो लक्षणामूलोऽविवक्षितवाच्यध्वनिः । चकारस्त्वर्थकः । पदार्थान्तरान्वययोग्यत्वायोग्यत्वाभ्यां वाच्यस्य विवक्षाविवक्षे बोध्ये ।

ध्वनि-काव्य के दो भेद हैं—एक अभिधामूलक और दूसरा लक्षणामूलक । उनमें प्रथम अर्थात् अभिधामूलक ध्वनि-काव्य के पुनः तीन भेद होते हैं—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि । यहां 'रस-ध्वनि' पद, असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि (जिसमें व्यञ्जक-ज्ञान और व्यङ्ग्य-ज्ञान के बीच में होने वाला क्रम (पूर्व-पश्चाद्-भाव) लक्षित नहीं होता) का बोधक है, अतः 'रस-ध्वनि' पद से रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-सन्धि तथा भाव-शबलता सब का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि ये सब असंलक्ष्य-क्रम ध्वनि के अन्दर आ जाते हैं । द्वितीय अर्थात् लक्षणामूलक-ध्वनि-काव्य के दो भेद हैं—एक अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और दूसरा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य । (यहाँ यह विशेष समझना चाहिये कि 'अभिधामूलक ध्वनि को 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' और 'लक्षणामूलकध्वनि' को 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' भी कहते हैं) ।

रसध्वनेः प्राधान्यं शब्देन बोधयन् स्वरूपस्य निरूपणमवतारयति—

एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते—

एवं—पूर्वोक्तरसध्वन्यादिभिः प्रकारैः, पञ्चात्मके-पञ्चस्वरूपे, ध्वनौ (घटकत्वस्य सप्तम्यर्थत्वात्) ध्वनिघटकस्य, रसध्वनेः प्रथमस्य, परमरमणीयतयाऽलौकिकास्वादजनकत्वेन, तदात्मा तस्य रसादिध्वनेः आत्मा जीवनाधायकत्वात् प्रधानम्, रसो वक्ष्यमाणस्वरूपः, तावदादौ (सर्वेभ्यः प्रथमम) अभिधीयते कथ्यत इत्यर्थः ।

रसादिध्वनेः परमरमणीयत्वं तु 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' इतीतरव्यवच्छेदार्थमेवकारगुम्फनिबन्धनता ध्वनिकताऽपि प्रतिपादितम्।

इस तरह ध्वनि-काव्य के सामान्यतः पांच भेद हैं। उनमें 'रस-ध्वनि' सबसे अधिक रमणीय (आस्वाद-जनक) होता है, इसलिये रसध्वनि की आत्मा (साररूप होने से प्रधान) जो 'रस' है, उसका निरूपण पहले करते हैं।

प्रथममाचार्याभिनवगुप्तादिसम्मतं रसस्वरूपमाह—

समुचित-ललित-सन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः, सहृदयहृदयं प्रविष्टैः, तदीयसहृदयतासहकृतेन, भावनाविशेषमहिम्ना, विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः, शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः, अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च, सम्भूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण, तत्काल-निवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा, स्वप्रकाशतया वास्तवेन, निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेवरसः।

समुचितो रसादिप्रतीत्यनुकूलः, अत एव ललितो मनोरमः, सन्निवेशः शब्दार्थयोर्गुम्फनम्, तेन चारुणा सुन्दरेण, काव्येनोक्तलक्षणेन कविकर्मविशेषेण, समर्पितैरुपस्थापितैः, अत एव सहृदयानां सचेतसां, (न त्वसचेतसामपि) हृदयं प्रविष्टैश्चमत्कारितया मनोरमैः, तदीया तेषां सहृदयसामाजिकानां सम्बन्धिनी (तन्निष्ठा) या सहृदयता वैदग्धी (रसास्वादनचातुरी) तया सहकृतेन विहितसाहाय्येन (उपोद्बलितेन) भावनाविशेषस्य सहृदयेतरदुष्करत्वाद् विलक्षणस्य शाश्वतिकतदर्थानुसन्धानस्य, महिम्ना प्रभावेण, विगलितः प्रतीत्यविषयीभूतः शकुन्तलादिनिष्ठो दुष्यन्तरमणीत्वादिर्लौकिकोऽसाधारणधर्मो येषां तैः, लोकोत्तर-विभावनानुभावन-व्यभिचारणव्यापारवत्तयाऽलौकिकविभावानुभाव-व्यभिचारि(भाव)-शब्दैः(नामभिः) व्यपदेश्यैर्व्यवहार्यैः, शकुन्तलादिभिः (आदिशब्दो नायिकान्तरबोधकः) आलम्बनकारणैरालम्बनविभावाख्यैः, चन्द्रिकादिभिः (आदिना मलयानिलादिग्रहणम्) उद्दीपनकारणैरुद्दीपनविभावाख्यैः, अश्रुपातादिभिः (आदिपदेन कटाक्षभुजक्षेपादि गृह्यते) कार्यैरनुभावाख्यैः, च पुनः, चिन्तादिभिः (आदिपदं लज्जादिग्राहकम्) सहकारिभिर्व्यभिचारिभावाख्यैः, (प्रतीतिगोचरीक्रियमाणैः) सम्भूय विभाव्यविभावकभावादिसम्बन्धैर्मिलित्वा, प्रादुर्भावितेनोत्पादितेन, अलौकिकेन लोकोत्तरेणाद्भुतेनेति यावत्, व्यापारेण भावकत्वापरपर्यायेण भावनाविशेषरूपेण (कारणेन), तत्काले तस्मिन् भावनाविष्करण एव समये, तत्कालेन वा, निवर्तितमपसारितम्, आनन्दांशस्य चिदात्मरूपस्य, आवरणमवरोधकमज्ञानं यस्य, तादृशेन (भावनाविशेषापसारित-सच्चिदानन्दस्वरूपात्माज्ञानेनेति प्रमातृविशेषणम्), अत एव-आवरणरूपाज्ञानापसारणादेव (यावत्प्रमेयप्रत्ययसम्भवात्) प्रमुष्टो लुप्तः परिमितप्रमातृत्वादिरियत्तावत् (परिच्छिन्न) पदार्थज्ञातृत्वप्रभृतिर्निजधर्मो जीवात्मनैसर्गिकधर्मो यस्य, तादृशेन, प्रमात्रा ज्ञात्रा (सहृदयेन) स्वप्रकाशतया (तादृशज्ञानस्यात्माभेदेनात्मनैव प्रति-

भासात्) प्रकाशान्तराप्रकाश्यत्वेन, वास्तवेन प्रमात्मक-प्रत्यक्षविषयतया सत्येन, 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेर्निजस्यात्मनः स्वरूपेणानन्देन, सहाभेदेन ('रसोऽहम्' इत्यादिप्रतीतेः) गोचरीक्रियमाणोऽनुभूयमानः, प्राक् पूर्वं जन्मान्तरेऽत्र जन्मनि च, विनिविष्टाऽन्तःकरणे प्रविष्टा, वासना रत्यादिविषयकसंस्कारविशेष एव रूपं यस्य, तादृशो रत्यादी रत्युत्साहप्रभृतिस्तत्तद्रसस्थायिभाव एव रस इत्यर्थः ।

इदमुच्यते—रजस्तमोऽभिभवेन सत्त्वगुणोत्कर्षे, श्रव्यकाव्यश्रवणेन, दृश्यकाव्याभिनयदर्शनेन वा, धन्यानां केषांचन सहृदयानां हृदये, रत्यादेः, शकुन्तला-चन्द्रिकाप्रभृतीन्यालम्बनोद्दीपनकारणानि, अश्रुपातादीनि कार्याणि, चिन्तादीनि सहकारिकारणानि च, वस्तुसौन्दर्येण चर्व्यमाणानि, सहृदयसामाजिकनिष्ठवैदग्धीपरिपोषिताया भूयोभूयोऽनुसन्धानलक्षणविलक्षण-भावनाया बलेन, लौकिकासाधारण-शकुन्तलात्व-दुष्यन्तरमणीत्वादिधर्माणां प्रमोषेऽलौकिक-साधारण-कान्तात्वादिधर्मपुरस्कारेण ज्ञायमानान्यलौकिकविभावनादिव्यापारवत्तयाऽलौकिकविभावादिपदवाच्यत्वं प्रतिपद्यन्ते । तैश्च परस्परं सङ्गतेः प्रभावादलौकिको भावकत्वव्यापारः प्रादुर्भाव्यते । तेन तु व्यापारेण, सद एव, सच्चिदानन्दरूपस्यात्मनो दीपस्येव शरावादिरावणरूपमज्ञानमपसार्यते । अथाज्ञानस्य विगलनादेव, तस्य सचेतसः, परि[illegible] तेषु जीवधर्मेषु विनष्टेषु, समुज्जृ[illegible] नित्यत्वाज्ज्ञानरूपत्वादानन्दरूपत्वाच्चाभेदेन, जन्मान्तराणामेतज्जन्मनश्च वासनाख्यसंस्काररूपेण पूर्वं हृदि प्रविष्टो भोजकत्वापरपर्यायेण रसनाव्यापारेण, आस्वादपदवीं नीयमानो रत्यादिस्तत्तद्रसस्थायी भाव एव रसोऽस्ति ।

तथा चोक्तम्—

'विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा । रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ॥'
'सत्त्वोद्रेकादखण्ड-स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः । वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः । स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥'
'पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम् । सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ॥'
निर्वासनास्तु रङ्गान्तःकाष्ठकुड्याश्मसन्निभाः ॥ इत्यादि ।

अब रस-निरूपण-प्रसङ्ग में सर्वप्रथम 'मम्मट तथा अभिनवगुप्त' आदि विद्वानों के अभिमत-'रस'-स्वरूप का उल्लेख करते हैं—'समुचित' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि अपने जीवन में मनुष्य बहुतेरे भावों का अनुभव करता है, वह कभी किसी से प्रेम करता है, तो कभी किसी का शोच, कभी किसी पर क्रोध करता है तो कभी किसी पर घृणा, कभी किसी से भय खाता है, तो कभी किसी काम में उत्साह दिखलाता है, कभी किसी पर हँसता है, तो कभी किसी बात पर आश्चर्य (विस्मय) प्रकट करता है । इसी तरह कभी वह शान्ति का अनुभव भी करता है । ये अनुभव तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु मनुष्य के हृदय में उनका संस्कार सदा के लिये अमिट हो जाता है अर्थात् वासनारूप में वे सब भाव मानवों के हृदय में सर्वदा बसने लगते हैं । वे ही वासनारूप से मानव हृदयों में बसने वाले भाव साहित्यशास्त्र में रति, शोक, क्रोध, जुगुप्सा, भीति, उत्साह, हास, विस्मय और शम इन नामों से स्थायीभाव कहलाते हैं, जो वस्तुतः एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं, जिनका वर्णन विशदरूप से आगे स्वयं ग्रन्थकार करेंगे । जब वे स्थायीभाव 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि वेदवाक्य के अनुसार सत्य तथा विज्ञानरूप होने से स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होते हैं, तब वे (स्थायीभाव) ही 'रस' संज्ञा

को प्राप्त करते हैं। उसी अवस्था में 'रसोऽहं' ऐसी प्रतीति हुआ करती है। परन्तु उन स्थायीभावों को आत्मानन्द का साथ तब तक नहीं हो सकता, न उनके साथ उनका अनुभव ही तबतक किया जा सकता, जबतक उस आनन्द स्वरूप आत्मा के ऊपर जो अज्ञान का आवरण छाया रहता है, वह हट नहीं जाय, अतः उस आवरण को हटाने के लिये एक अलौकिक व्यापार (क्रिया) की सृष्टि की जाती है। जिस (व्यापार) का नाम है, 'भावकत्व'। जब वह लोकोत्तर व्यापार, आनन्द-स्वरूप-आत्मा को ढकने वाले उस अज्ञानावरण को हटा देता है, तब अनुभवकर्ता में जो अल्पज्ञता रहती है, वह कुछ पदार्थों का ही ज्ञाता हो पाता है-संसार के समस्त पदार्थों का नहीं, वह नष्ट हो जाती है अर्थात् मनुष्य में जो जीवधर्म (अल्पज्ञता परस्पर का भेद-भाव आदि) रहते हैं, वे लुप्त हो जाते हैं और परमात्म-धर्म-सर्वज्ञत्व आदि जागरित हो जाते हैं। तब उस अनुभवकर्ता को आत्मानन्द के साथ रति आदि स्थायीभावों का अनुभव होने लगता है। उस लोकोत्तर 'भावकत्व' व्यापार की सृष्टि, विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव परस्पर मिलकर करते हैं। अब यहां उस 'भावकत्व' व्यापार की सृष्टि करने वाले विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारीभावों का परिचय प्राप्त करना पाठकों को आवश्यक प्रतीत होगा, अतः संक्षेप में उन भावों का परिचय कराया जाता है। आत्मानन्द के साथ अनुभूत होने पर 'रस' संज्ञा को प्राप्त करने वाले चित्त-वृत्ति-विशेष-स्वरूप, 'रति' आदि स्थायीभाव जिन कारणों से उत्पन्न होते हैं, वे उन स्थायीभावों के आलम्बन कारण कहलाते हैं, और अपने अपने आलम्बन कारणों से उत्पन्न वे स्थायीभाव, जिनसे उद्दीप्त होते हैं, वे कहलाते हैं उद्दीपन कारण। इसी प्रकार उन चित्तवृत्ति-विशेषात्मक स्थायीभावों के उत्पन्न होने पर उनके परिणाम-स्वरूप शरीर आदि में जो कुछ विशेष प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं, वे कहलाते हैं कार्य। इसी तरह उन चित्तवृत्ति-विशेषात्मक स्थायीभावों के साथ ही कुछ और चित्तवृत्तियां उत्पन्न होती हैं, जो स्थायीभावात्मक चित्तवृत्तियों की सहायता करने के कारण सहकारी कारण कहलाती हैं। उदाहरण के द्वारा ये बातें और अच्छी तरह समझी जा सकती हैं। अतः निम्नलिखित एक उदाहरण पर ध्यान दीजिये—शकुन्तला को देखकर उसके विषय में दुष्यन्त के हृदय में रति-प्रेम उत्पन्न हुआ, अतः उस रति का उत्पादक होने के नाते शकुन्तला आलम्बन कारण हुई, एकान्त स्थान चन्द्र-ज्योत्स्ना, कुसुमित कानन आदि उस प्रेम को उद्दीप्त करने वाले हुये, अतः वे तथा उसी तरह की दूसरी चीजें उद्दीपन-कारण हुईं। इस तरह प्रेम के दृढ हो जाने पर अकस्मात् शकुन्तला दुष्यन्त के लिये दुर्लभ हो गई, उसके विरह में दुष्यन्त रोने लगे उनका वह रोना उस रति का कार्य हुआ और उस प्रेम के साथ ही दुष्यन्त के हृदय में चिन्ता ने भी जन्म-ग्रहण किया—अर्थात् 'शकुन्तला कैसे मिलेगी' इत्यादि तरह की चिन्ता उस रति की सहायता करने वाली हुई, अतः वह सहकारि-कारण हुई। यह उदाहरण तो केवल शृङ्गार-रस विषयक हुआ, इसी तरह करुण आदि रसों के स्थायीभाव शोक आदि के विषय में भी समझना चाहिए। अब उक्त रीति से लोक में जो शकुन्तला प्रभृति रति आदि के आलम्बन कारण होते हैं, चन्द्रिका आदि उद्दीपन कारण होते हैं, उनसे संयोगावस्थान में रोमाञ्च आदि और वियोगावस्था में अश्रुपात आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, एवं हर्ष अथवा चिन्ता आदि रति के सहकारी भाव होते हैं, वे ही सब जब, जहाँ जिस रस का वर्णन हो, उसके उपयुक्त तथा सुन्दर शब्दों के गुम्फन से मनोहर काव्यों के द्वारा उपस्थापित होकर सहृदयों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं, तब सहृदयता तथा काव्यार्थ के पुनः-पुनः अनुसन्धानरूप भावना के प्रभाव से, लौकिक तथा असाधारण शकुन्तलात्व, दुष्यन्तत्व आदि धर्म उनमें से निकल जाते हैं और कान्तात्व आदि अलौकिक तथा साधारण धर्म उनमें आ जाते हैं, अतः जो कारण थे वे विभाव, जो कार्य थे वे अनुभाव और जो सहकारी थे वे व्यभिचारी-भाव कहलाने लगते हैं। इसी अलौकिकीकरण के लिये 'दर्पणकार' आदि आचार्यों ने काव्य में 'साधारणीकृति' नामक एक व्यापार माना है—'व्यापारोऽस्ति विभावेः नाम्ना

साधारणीकृतिः' इत्यादि । इन्हीं अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों के द्वारा उत्पादित भावकत्व व्यापार से अज्ञान-रूप आवरण के भङ्ग होने पर पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार वासनारूप में पहले से हृदय में स्थित और 'भोजकत्व अथवा रसना किंवा व्यञ्जना' नामक व्यापार से आस्वाद्य बनाया गया, रत्यादि स्थायीभाव 'रस' है ।

उक्तार्थस्य प्रामाणिकत्वं प्रकटयति—

तथा चाहुः—'व्यक्तः सतैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः ।' इति ।

आहुरित्यत्र 'काव्यप्रकाशे मम्मटभट्टाः' इति शेषः । बहुवचनेन तदुक्तौ गौरवं सूच्यते ।

आचार्य मम्मट भी अपने काव्यप्रकाश में इसी बात को प्रमाणित करते हैं—'व्यक्तः' इत्यादि । अर्थात् विभावादिकों से जब स्थायीभाव (रति प्रभृति) व्यक्त होता है, तब 'रस' कहलाता है ।

कारिकाघटक 'व्यक्त' पदं विवृणोति—

व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः ।

रसनाजन्यास्वादाभिन्नचैतन्यगोचरीकृत इत्यर्थः ।

मम्मटोक्त कारिका में विद्यमान 'व्यक्त' पद की व्याख्या करते हैं—'व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः' इति । 'व्यक्त होने' का अर्थ यह है कि चित् शक्ति का विषय होना—उसके द्वारा भासित होना ।

व्यक्तिरन्यत्र व्यञ्जनैव प्रसिद्धेति प्रकृतेऽपि तद्भ्रान्तेर्निरासार्थमाह—

व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित् ।

चस्त्वर्थे । भग्नमावरणमज्ञानं यस्यास्तादृशी शुद्धा चिच्चैतन्यमास्वाद इह व्यक्तिर्न तु तदास्वाद कारणीभूता रसनावृत्तिः । सा हि—

'सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः ।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः ॥' इति ।

दर्पणोक्तेर्व्यञ्जनाप्रकारविशेषः ।

व्यक्ति पद का अर्थ अन्यत्र व्यञ्जनावृत्ति प्रसिद्ध है, अतः यहाँ भी उस पद का अर्थ वही होगा इस भ्रम के निराकरणार्थ कहते हैं—'व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्' इति । अर्थात् व्यक्ति पद से यहाँ वह शुद्ध आस्वादनरूप चैतन्य विवक्षित है जिसका अज्ञानरूप आवरण दूर हो गया है, न कि व्यञ्जनावृत्ति ।

निदर्शनप्रदर्शनेनोक्तमर्थं समर्थयति—

यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन् ।

हेत्वर्थको हिः—

यथा शरावादिना मृत्पात्रविशेषेण, पिहित आच्छादितो दीपः (न प्रकाशयति पदार्थान् न वा स्वयं प्रकाशते) तस्यावरणस्य निवृत्तावपसरणे तु, सन्निहितान् समीपस्थान् पदार्थान् घटपटादीन्, प्रकाशयति स्वभासा लोकलोचनगोचरीकरोति, स्वयं दीपश्च, प्रकाशते दृष्टिपथमायाति, एवं तथा, आत्मैव ज्ञानस्वरूपत्वाच्चैतन्यम्, अज्ञानरूपस्यावरणस्य विनाशे, सन्निहितान् अन्तःकरणवृत्तितया सन्निकृष्टान्, विभावानुभावव्यभिचारिसंज्ञकैर्विभावादिभिः संवलितान् सम्बद्धान् रत्यादिस्थायिभावान् प्रकाशयति चर्वणागोचरीकरोति, स्वयं च 'रसो वै सः' इत्यादिश्रवणात् तदभेदेन प्रकाशते आस्वादविषयीभवतीत्यर्थः ।

दृष्टान्त दिखला कर उक्त विषय का समर्थन करते हैं—'यथा हि' इत्यादि । जैसे 'सकोरे' आदि से ढँका हुआ दीपक सन्निहित वस्तुओं को प्रकाशित नहीं करता है, न स्वयं

प्रकाशित हो पाता है और उस (कशोरे आदि) ढक्कन के हट जाने पर निकटस्थ वस्तुओं को प्रकाशित करता है तथा स्वयं भी दृष्टिगोचर होता है, इसी तरह आत्मरूप-चैतन्य, अज्ञानरूप-आवरण के हट जाने पर अन्तःकरण-वृत्ति-रूप होने से सन्निहित तथा विभावादि से मिश्रित रति आदि स्थायीभावों को प्रकाशित करता है—आस्वाद का विषय बनाता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है—'रसो वै सः' इस श्रुति के अनुसार रति आदि से अभिन्न होकर आस्वाद का विषय होता है।

ननु 'मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्' इति परिभाषितस्यान्तःकरणस्य, ये धर्मा वासनारूपा रत्यादयः, ते साक्षादात्मना भासिता भवन्तु, ये तु घटपटादय इव विभावादयोऽन्तःकरणधर्मतो भिन्ना बाह्याः पदार्था अन्तःकरणसंयोगेन परम्परयाऽऽत्मना भासनीयाः, तेषां कथं साक्षादात्मभास्यत्वमित्याशङ्कायां व्याहरति—

अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगतेः।

साक्षिभास्यत्वं साक्षादात्मभास्यत्वम्। पञ्चम्यर्थो हेतुरग्रिमेण'विरुद्ध'मित्यनेनान्वेति।

वेदान्तेऽन्तःकरणधर्मा ज्ञानादयः साक्षादात्मना भास्यत्वात् साक्षिभास्याः, बाह्यत्वादनन्तःकरणधर्मा घटपटादिपदार्थास्त्वन्तःकरणद्वारकेण पारम्परिकसम्बन्धेनात्मभास्या इत्यन्तःकरणभास्या मन्यन्ते। एवं सति प्रकृते वासनारूपाणां रत्यादीनामन्तःकरणधर्मत्वात् साक्षिभास्यत्वेऽपि, विभावादीनामन्तःकरणद्वारेण घटादीनामिव परम्परासम्बन्धेनात्मभास्यानां साक्षादात्मभास्यत्वं विरुद्धमिति न विभावनीयम्, लोके नायिकादिपदार्था घटादय इव बाह्या अपि, काव्ये लोकोत्तरविभावनादिव्यापारवत्तयाऽलौकिकाश्वर्णनावसरे रत्याद्येकीभूतास्तद्वदन्तःकरणधर्मतां भजन्तः साक्षिभास्या भवन्तीति सङ्गतेः सत्त्वादित्याकूतम्।

'रति आदि स्थायीभावों को आत्म—चैतन्य प्रकाशित करता है' इसमें युक्ति बतलाते हैं—'अन्तःकरण' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि वेदान्त-दर्शन के अनुसार संसार के सभी पदार्थ मिथ्या हैं अर्थात् नहीं हैं, सत् केवल आत्मा (ब्रह्म) है, बाह्य घट, पट आदि पदार्थ, आत्मा के वृत्ति-रूप हैं अर्थात् अन्तःकरणरूप नली के द्वारा आत्मा-प्रकाश ही घट-पट-रूप में भासित होता है, और अन्तःकरण की वृत्तियाँ सुख-दुःख आदि भी आत्मा-प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं, अन्तर केवल यह होता है कि बाह्य-पदार्थों को प्रकाशित करने में आत्मा को अन्तःकरण की सहायता अपेक्षित होती है और अन्तःकरण वृत्तियों (सुख आदि) को प्रकाशित करने में उसकी सहायता अपेक्षित नहीं होती, उनको आत्मा स्वयं प्रकाशित करती है अतएव अन्तःकरण वृत्तियाँ साक्षि (आत्म) भास्य कहलाती हैं। रति आदि स्थायीभाव भी अन्तःकरण के धर्म (वृत्तियाँ) हैं अतः साक्षि-भास्य हैं—आत्मा से प्रकाशित होने वाले हैं।

तदेव दृष्टान्तद्वयदर्शनेन द्रढयति—

विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव, रङ्गरजतादीनामिव, साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम्।

अपीरत्यादिसमुच्चायकः। स्वप्नतुरगादिः स्वप्नावस्थादृष्टान्तः, रङ्गरजतादिस्तु जाग्रद्दशादृष्टान्त इत्युभयनिर्देशः। तुरगोऽश्वः, रङ्गं रजतं च धातू।

यथा—स्वप्नदशायां प्रत्यक्षीक्रियमाणास्तुरगादयो बाह्यपदार्थाः काल्पनिका इन्द्रियव्यापारोपरमात् साक्षादात्मनैव भास्याः। यथा वा-जाग्रद्दशायां चाकचिक्यदोषाद् रङ्गे रजतरूपभ्रान्तौ जायमानायां रजतं बाह्यं प्रातिभासिकमितीन्द्रियसंयोगशून्यं साक्षादात्मभास्यं, तथैव नायिकादयोऽपि बाह्या अपि भावनावलम्बिताः साक्षादात्मभास्या इतीह न कोऽपि विरोध इति तात्पर्यम्।

रति आदि स्थायीभाव अन्तःकरण के धर्म होने के कारण साक्षि-भास्य हो सकते हैं परन्तु विभाव आदि अर्थात् शकुन्तला प्रभृति—जो घट-पट के जैसे बाह्य-पदार्थ है—का केवल आत्मा के द्वारा भान कैसे होगा—साक्षिभास्य वे कैसे कहलायेंगे अर्थात् उनके भान में घट आदि बाह्य पदार्थों के जैसे आत्मा को अन्तःकरण की सहायता लेनी पड़ेगी, इसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—'विभावादीनामपि' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि घोड़े, रङ्ग और रजत ये सब बाह्य पदार्थ हैं अतः साक्षिभास्य कहलाने योग्य नहीं है परन्तु सपने में जब घोड़े का ज्ञान होता है अथवा जागते में जब राँगे में रजत का भ्रम, दूरत्व तथा चाकचिक्य आदि दोषों से होता है, तब वे (घोड़े तथा रजत) साक्षिभास्य ही माने जाते हैं अर्थात् केवल आत्मा के द्वारा ही उन चीजों का भान होता है, क्योंकि उस अवस्था में वस्तुतः वे चीजें हैं नहीं केवल काल्पनिक हैं, उसी तरह उन विभावादि को भी साक्षिभास्य मानने में कोई विरोध नहीं अर्थात् शकुन्तला आदि भी भावनारूढ होने पर वास्तविक नहीं काल्पनिक ही हैं अतः उस अवस्था में उन सबों का भान भी आत्मचैतन्य-मात्र से हो सकता है बाह्य चक्षुरादि इन्द्रियों से नहीं।

नन्वेवमात्मचैतन्याभिन्नत्वाङ्गीकारे रसस्य नित्यत्वे, 'उत्पन्नो रसः' 'विनष्टो रसः' इति सर्वानुभवगोचरौ तदुत्पत्तिविनाशौ कथमुपपादनीयाविति शङ्कां समादधाति—

व्यञ्जकविभावादिचर्वणाया आवरणभङ्गस्य वोत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रस उपचर्येते, वर्णनित्यतायामिव, व्यञ्जकताल्वादिव्यापारस्य गकारादौ।

व्यञ्जकत्वं रसादिनिरूपितम्। चर्वणाऽऽस्वादः। आवरणभङ्गः प्रागुक्ताज्ञाननाशः। उत्पत्तिविनाशाभ्यामिति हेतौ पञ्चमी, उत्पत्तिविनाशयोः सत्त्वादिति बोधयति। उपचार आरोपः। वर्णानां नित्यता वैयाकरणानां मीमांसकानां चाभिमता। गकारादावुत्पत्तिविनाशावुपचर्येते इति सम्बन्धः।

यथा वैयाकरणादिमते 'उत्पन्नो गकारः' 'विनष्टो गकारः' इत्यादिप्रतीतिगोचरयोरुत्पत्तिविनाशयोर्नित्येषु वर्णेषु वस्तुतोऽसम्भवात् तद्व्यञ्जककण्ठताल्वादिव्यापारेषु च सम्भवादारोपः, तथैव रसादिषु नित्येषु 'उत्पन्नो रसः' 'विनष्टो रसः' इत्यादिप्रतीतिगोचरयोरुत्पत्तिविनाशयो रसादिव्यञ्जिकायां विभावादिचर्वणायां विद्यमानयोश्चर्वणाविषयीभूतेषु रसादिष्वारोप इत्यर्थः।

रसादिव्यञ्जकविभावादिचर्वणाया रसाद्यभिन्नतया वास्तविकावुत्पत्तिविनाशौ न सम्भवत इति घटादिकार्येषु विद्यमानावुत्पत्तिविनाशौ प्रथमं कादाचित्कत्वेन साधर्म्येण रसादिचर्वणायां, पश्चात् तद्विषयतया रसादिष्वारोप्येते इति साक्षात्सम्बन्धाभावेऽप्यारोपाङ्गीकारक्षमत्वेः पक्षान्तरमुपस्थापितमावरणभङ्गस्य वेति। आवरणभङ्गस्योत्पत्तिविनाशयोर्विभावादिव्यञ्जकरसादिचर्वणायामारोप इति तदर्थः। तथा चोक्तम्—'यद्यपि रसानन्यतया चर्वणस्यापि न कार्यत्वम्, तथापि तस्य कादाचित्कतयोपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते।' इति। 'गकारस्य तालव्यतया ताल्वादिव्यापारस्य गकारादौ' इति नोचितम्, किन्त्वक्षरसमाम्नायेऽकारस्य, स्थानेषु च कण्ठस्य प्राथम्येनोपदेशात् 'व्यञ्जककण्ठादिव्यापारस्याकारादौ' इतीह मूले परिवर्तयितुमुचितम्। तथा व्यापारस्य = 'उत्पत्त्यादेः' इति स्वपक्षव्याख्यानम्, वर्णोच्चारणानुकूलकण्ठाद्यभिघातक्रियाया एव तद्व्यापारपदार्थत्वादुत्पत्तेरभिव्यक्तेर्वा तज्जन्यत्वेन तद्भिन्नत्वात्।

रस को आत्म-चैतन्य-स्वरूप मानने पर 'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार असङ्गत हो जायँगे क्योंकि आत्म-चैतन्य नित्य है, अतः तत्स्वरूप रस भी नित्य होगा, इस शङ्का का समाधान करते हैं—'व्यञ्जक' इत्यादि। जैसे वैयाकरणों के मत में वर्णों को नित्य मानने पर भी उनके (वर्णों के) व्यञ्जक, कण्ठ तालु आदि स्थानों के व्यापारों में होने वाले उत्पत्ति तथा विनाश के आरोप वर्णों में करके 'गकार उत्पन्न हुआ,

गकार विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार होते हैं, उसी प्रकार रस के नित्य होने पर भी उसके (रस के) व्यञ्जक विभावादि-चर्वणा अथवा आवरण-भङ्ग में होने वाले उत्पत्ति और विनाश रस में आरोपित होते हैं, जिससे 'रस उत्पन्न हुआ, विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार किये जाते हैं। यहाँ 'विभावादि-चर्वणा' का उल्लेख कर पुनः 'अथवा आवरण-भङ्ग' ऐसा उल्लेख इसलिये किया गया है कि रसादि-व्यञ्जक विभावादि-चर्वणा रस से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न ही है, फिर तो जैसे रस में उत्पत्ति-विनाश असम्भव है, वैसे विभावादि-चर्वणा में भी, अतः 'विभावादि-चर्वणा के उत्पत्ति-विनाश, रस में आरोपित होते हैं' ऐसा कहना अनुचित था। गकारवर्ण, व्याकरण के मत से तालुस्थानीय नहीं है अतः 'व्यञ्जकताल्वादि-व्यापारस्य गकारादौ' यह मूलपाठ सङ्गत नहीं होता, इसलिये 'व्यञ्जक-कण्ठादि-व्यापारस्य अकारादौ' ऐसा मूलपाठ मानना चाहिए क्योंकि वर्ण-समाम्नाय में अकार प्रथम है और स्थान में कण्ठ।

नन्वावरणभङ्गे जाते विभावादिचर्वणोपरतावपि, रत्यादिस्थायिनां कथं न तथाऽवभास इत्याक्षेपं क्षपयति—

विभावादिचर्वणाऽवधित्वादावरणभङ्गस्य, निवृत्तायां तस्यां प्रकाशस्याऽऽवृतत्वाद् विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते।

विभावादिचर्वणाऽवधिः सीमा (तदुत्तरं तदसत्त्वात्) यस्येति बहुव्रीहिः। तस्यां विभावादिचर्वणायाम्। प्रकाशस्य चिदानन्दास्वादस्य। विद्यमानः सूक्ष्माकारेणान्तरिति शेषः। यथासमवायिकारणसत्तावधिरेव कार्यसत्ता, तथाऽऽवरणभङ्गस्तावदेव तिष्ठति, यावद् विभावादिचर्वणा भवतीति विभावादिचर्वणायां विनष्टायामावरणभङ्गेऽपि विनष्टे, ज्ञानात्मनि प्रकाशे पुनरज्ञानेनावृते, शरावपिहितदीपवदन्तस्तिष्ठतोऽपि रत्यादिस्थायिनो नास्वाद इत्यभिप्रायः।

अब यहाँ एक शङ्का यह उपस्थित होती है कि जब रति आदि स्थायीभाव, वासनारूप में सदा वर्तमान रहता है, तब सर्वदा रस-रूप में उसका भान क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि जभी तक आत्मा के ऊपर रहने वाला आवरण अज्ञान हटा रहता है, तभी तक आत्मा, रति आदि को भासित करती है, बाद में नहीं और अज्ञान का आवरण आत्मा पर से तभी तक हटा रहता है, जब तक विभाव आदि की चर्वणा विद्यमान रहती है अर्थात् जब विभाव आदि की चर्वणा समाप्त हो जाती है तब आवरण-भङ्ग भी नहीं रहता—आत्मा फिर अज्ञानावरण से ढंक जाती है, अतः उस दशा में स्थायी (रति आदि) विद्यमान रह कर भी [प्रकाशित नहीं होता, जैसे दीपक के ढँक जाने पर समीप में पड़ी हुई चीजें भी प्रकाशित नहीं हो पातीं।

मतेऽस्मिन् भावकत्वव्यापारोऽधिकः कल्पनीयो भवतीत्यरुचेर्लाघवाय पक्षान्तरमुपन्यस्यति—

यद्वा—विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहित-स्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्।

सहृदयस्य निजसहृदयतावशात् स्ववैदग्धीबलात्, उन्मिषितेनाभ्युदितेन, विभावादीनां या चर्वणा, तस्या महिम्ना प्रभावेण (कारणेन) योगिनः समाधौ योगचरमाङ्गे निर्विकल्प-नामनीव, तैस्तैश्च स्थायिभी रत्यादिभिः, उपहितं विषयतया सम्बद्धं, स्वमात्मा सच्चिदानन्द-लक्षणः स्वरूपं यस्याः (अत एव) आनन्द आकारो यस्यास्तादृशी सच्चिदानन्दात्मरूप-रसाभिन्ना तन्मयीभावरूपा रसात्मतादात्म्यावगाहिनी चित्तवृत्तिर्ज्ञानम् (आस्वादः) उपजायते भवतीत्यर्थः।

इहानन्दाकारेत्यस्य तद्विषयेति विवृतिर्न युक्ता, आनन्दस्य रसात्मरूपेण (न तु विषय-

तया) प्रतीतेः। तथा निर्विकल्पकसमाधावानन्दाकारकचित्तवृत्तेरभावमभिधाय समाधिपदेन सविकल्पकसमाधेरेव ग्रहणमित्यभिधानमसमञ्जसम्, आनन्दात्मचैतन्यस्य निर्बीजसमाधावपि सर्वानुमतत्वात्। अत एव रसाद्यास्वादस्य ब्रह्मास्वादसहोदरत्वं सङ्गच्छते। एवं तन्मयीभवनमित्यस्य 'आनन्दविषयतया तत्प्रचुरेत्यर्थः' इति विवरणमपि नोपपत्तिसहम्, आनन्द-रस-चैतन्यानां तादात्म्येन विषयविषयिभावासम्भवात् स्वरूपार्थ एव (न तु प्राचुर्यार्थे) मयटोऽत्र विधानौचित्यात्। श्रद्धाजाड्ये तु भेदमभ्युपेत्य सर्वमुपपादनीयमिति सुधीभिराकलनीयम्।

अत्र मते रसात्मकतादृश-प्रतीत्युत्पत्तौ केवलं काव्यव्यञ्जनाख्यस्य रसनापरपर्याय-भोजकत्वव्यापारस्यापेक्षा, न तु भावकत्वस्यापीति स्फुटं लाघवम्। ननु भावकत्वव्यापार-मन्तरेणाज्ञानावरणनिरासो दुर्घट इति चेत्, न, यतः प्रकृत्यर्थप्रकारस्यैव भावत्वाद् भावनैव भावकत्वम्। सा च सहृदयस्य स्वीयसहृदयतासहकारेण काव्यार्थविषयिणी पूर्वोत्पन्नैव विभावादीनां साधारणीकरणं प्रमातुरावरणभङ्गं च कर्तुमीशीतेति न तदर्थभावान्तरिक-व्यापा-रान्तरकल्पनाऽऽवश्यकीत्याशयः।

उक्त प्रथम पक्ष में अज्ञानावरण को हटाने के लिये एक अलौकिक व्यापार (भावकत्व) की कल्पना करनी पड़ती थी, जिससे गौरव होता था, अतः अब पक्षान्तर का उल्लेख करते हैं—'यद्वा' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि अज्ञानरूप आवरण को हटाने के लिये किसी नवीन व्यापार की कल्पना आवश्यक नहीं है, क्योंकि सहृदयता की सहायता से परिपक्व बनी हुई काव्यार्थ-विषयक-भावना ही सहृदयों की आत्मा पर छाये हुए अज्ञानावरण को दूर कर देगी और विभावादि का साधारणीकरण भी करेगी, 'भावकत्व' भी तो भावना से अतिरिक्त कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता, 'प्रकृति-जन्य-बोधे प्रकारीभूतो धर्मो भाव-प्रत्ययार्थः' इस नियम के अनुसार भावकत्व का पर्यवसित अर्थ भावना ही होगा। इस लिये ऐसा समझना चाहिए कि उक्त भावना से साधारणीकृत विभावादिकों का जो आस्वादन सहृदय-जन करते हैं, उसका प्रभाव उनके ऊपर सहृदयता के कारण गहरा पड़ता है, और उस प्रभाव के द्वारा काव्यवर्ती व्यञ्जना-वृत्ति से सहृदयों के चित्तों में रति आदि स्थायीभावों से युक्त, अज्ञानावरण से मुक्त आत्मचैतन्यस्वरूप आनन्दाकार वृत्ति उत्पन्न होती है अर्थात् सहृदयगण उस आनन्द में लीन हो जाते हैं-डूब जाते हैं तन्मय हो जाते हैं, जैसे योगियों के चित्तों में सविकल्पक समाधिकाल में आनन्दाकार वृत्ति होती है अर्थात् उस अवस्था में योगियों को सांसारिक किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वे सब ब्रह्मानन्द में लीन रहते हैं, उन्हीं स्थायिभावों से युक्त आनन्दाकार चित्तवृत्ति को साहित्यशास्त्र में 'रस' कहते हैं।

नन्वस्यापि चित्तवृत्तिविशेषरूपस्यानन्दस्य लौकिकतया, लौकिक-स्रक्चन्दनाद्युपभोग-जन्यसुखेभ्योऽविशेषो विशेषो वा ? आद्ये तानि विहाय किमिति परीक्षकः सहृदयोऽस्मै प्रवर्तेत। द्वितीये को नाम स इत्याकाङ्क्षां मनसिकृत्याह—

आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्।

अयं पूर्वकथितवृत्तिविशेषरूप आनन्दः (सुखविशेषः) ब्रह्मानन्दभिन्नत्वाल्लौकिक-सामग्रीजन्यत्वाच्च लौकिकोऽपि, यान्यन्यानि स्रक्चन्दनाद्युपभोगजन्यानि लौकिकसुखानि, तैः साधारणस्तुल्यो नास्ति (किन्तु तद्विलक्षणोऽस्ति), अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वादन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपत्वाभावात्।

अन्येषां हि लौकिकसुखानामन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपत्वं, रसरूपानन्दस्य तु शुद्ध-चैतन्यरूपतयाऽन्तःकरणवृत्तिरूपावच्छेदकरहितत्वादनवच्छिन्नत्वादनन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न-

चैतन्यरूपत्वम्। रसात्मकानन्दानुभवे चित्तवृत्तेरानन्दरूपतयैव परिणमनादेतदानन्दस्य तद्वृत्तिरूपावच्छेदकाभावान्निरवच्छिन्नतया, लौकिकसुखान्तरानुभवे त्वन्तःकरणवृत्तिरूपावच्छेदकसद्भावान्निरवच्छिन्नत्वाभावान्मिथो वैलक्षण्यमिति सारम्।

यदि कोई कहे कि यह चित्त-वृत्ति-विशेषात्मक आनन्द तो अलौकिक नहीं है, अतः लौकिक सुखों से इसमें कुछ विशेष नहीं रहेगा और जब विशेष नहीं रहेगा, तब कोई अन्य लौकिक सुखों को छोड़कर इस काव्यसुख की स्पृहा क्यों करेगा, इस शंका का उत्तर देते हैं—'आनन्दो ह्ययम्' इत्यादि। यद्यपि ब्रह्मानन्द से भिन्न तथा लौकिक कारणों से उत्पन्न होने के कारण यह पूर्वोक्त चित्तवृत्ति विशेषात्मक आनन्द (सुखविशेष) लौकिक अवश्य है, तथापि अन्य (स्रक्, चन्दन, वनितादि-उपभोग-जन्य) लौकिक सुखों के समान नहीं अपितु विलक्षण है क्योंकि अन्य लौकिक सुख अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यस्वरूप रहते हैं अर्थात् उन सुखों के अनुभव करते समय चैतन्य का अन्तःकरण की वृत्तियों के साथ सम्बन्ध रहता है, और यह रसरूप आनन्द अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यस्वरूप नहीं अपितु शुद्ध चैतन्यस्वरूप है अर्थात् रसात्मक आनन्द के अनुभव करते समय चित्तवृत्ति आनन्दरूप में ही परिणत हो जाती है, अतः वह चित्तवृत्ति उस आनन्द का अवच्छेदक (इयत्ता-ग्राहक) नहीं हो पाती, जिससे यह आनन्द अनवच्छिन्न (इयत्ता-रहित) ही रहता है, यही अन्य लौकिक सुखों की अपेक्षा इस रसात्मक सुख में विलक्षणता है।

उपसंहरति—

इत्थं चाभिनवगुप्त-मम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्।

इत्थमुक्तरीत्याऽभिनवगुप्त-मम्मटभट्टादीनां ये ध्वन्यालोकलोचन-काव्यप्रकाशप्रभृतयो ग्रन्थास्तेषां स्वारस्येनाभिप्रेततया, भग्नमज्ञानरूपमावरणं यस्याः सा भग्नावरणा चित् (विशुद्धचैतन्यम्) तद्विशिष्टस्तद्विषयीभूतो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितं पर्यवसन्नमित्यर्थः।

काव्यप्रकाशे रसनिरूपणप्रकरणे चतुर्थस्याचार्याभिनवगुप्तमतस्यैव सर्वाभ्यर्हितत्वेनोपात्तस्य, साधारणीकृत-चैतन्यविषयीभूतरत्यादिस्थायिभाव एव रस इति सारम्।

अब अभिनवगुप्तादि सम्मत रससम्बन्धी मत का उपसंहार करते हैं—'इत्थं च' इत्यादि। इस तरह अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोक की लोचन नामक टीका को बनाने वाले) तथा मम्मट (काव्यप्रकाश के रचयिता) आदि के ग्रन्थों के अनुसार 'अज्ञानरूप आवरण से मुक्त, शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायीभाव 'रस' है' यह स्थिर हुआ।

नन्वेवं रसस्य रत्यादिस्थायिरूपतया चैतन्यभिन्नत्वे, चैतन्याभेदप्रतिपादिकाः 'रसो वै सः' इत्यादिश्रुतयो विरुध्यन्तीति सिद्धान्तमतमभिदधाति—

वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।

रत्यादीनां विषयतया निरवच्छेदकत्वम्। रत्यादिविषयकं भग्नावरणं चैतन्यमेव रसो न तु चैतन्यविषयीभूतरत्यादिः, श्रुतिस्वारस्यभङ्गप्रसङ्गादित्याशयः।

इस प्रक्रिया के अनुसार जब रस रति-आदि स्थायीभाव के स्वरूप हुआ चैतन्यस्वरूप नहीं, तब तो चैतन्य और रस को अभिन्न बतलाने वाली 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुति विरुद्ध हो जायगी, अतः सिद्धान्तभूत मत का उल्लेख करते हैं—'वस्तुतस्तु' इत्यादि। आशय यह है कि उक्त श्रुति के अनुरोध से रति आदि स्थायीभाव जिसके विषय हों, ऐसे आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य को ही 'रस' कहना चाहिए, न कि चैतन्यविषयीभूत रत्यादि को।

मतद्वयेऽपि रसस्य नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धमेवेति दर्शयति—

सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय, नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धम्।

सर्वथैव–उभयथाऽपि (कल्पद्वयेऽपि) विशिष्टात्मनोऽवच्छेद्यावच्छेदकभावेन चिद्विशिष्टरत्यादिरूपाया रत्यादिविशिष्टचिद्रूपाया वा, अस्या रसादिव्यक्तेः रसादिरूपतया मताया श्रितो वा, पूर्वकल्पे रत्यादेर्विशेष्यत्वाद् विशेषणम्, उत्तरकल्पे रत्यादेर्विशेषणत्वाद् विशेष्यं वा चिदंशं चैतन्यरूपम्, आदायावलम्ब्य, नित्यत्वमुत्पत्तिविनाशराहित्यं, स्वप्रकाशत्वं प्रकाशान्तराप्रकाश्यत्वं च सिद्धं निष्पन्नमित्यर्थः।

विशेषणतया विशेष्यतया वा चितोऽङ्गीकारे कल्पद्वयेऽपि रसादीनां नित्यता स्वप्रकाशता च परिहीयेतेति सारम्।

दोनों ही मतों में रस की नित्यता तथा स्वप्रकाशता सिद्ध ही है' यही बात कहते हैं—'सर्वथैव' इत्यादि। ज्ञानात्मक चैतन्य के विषयीभूत रति आदि स्थायीभावों को रस कहिये अथवा रति आदि स्थायीभाव विषयक चैतन्यात्मक ज्ञान को, दोनों प्रकारों में यह निश्चित है कि रस के स्वरूप में रति आदि स्थायीभाव और चैतन्य दोनों ही आंशिकरूप से हैं, अन्तर केवल इतना है कि प्रथम प्रकार में चैतन्य विशेषण और रति आदि विशेष्य है और द्वितीय प्रकार में चैतन्य ही विशेष्य है और रति आदि विशेषण। दोनों ही कल्पों में विशेषणीभूत अथवा विशेष्यीभूत चैतन्यांश को लेकर रस नित्य तथा स्वप्रकाश है।

ननु यथा 'नित्यो रसः', 'स्वप्रकाशो रसः' इत्यादिव्यवहारा रसविषयका भवन्ति, तथैव 'उत्पन्नो रसः' 'विनष्टो रसः' 'इतरभास्यो रसः' इत्यादयोऽपि व्यवहारा ये भवन्ति, तेषां कथमुपपत्तिरिति पृच्छायां व्याहरति—

रत्याद्यंशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्वं च।

अस्या विशेष्यं विशेषणं वेति शेषः।

अस्या रसव्यक्तेः, पूर्वस्मिन् कल्पे विशेष्यम्, परस्मिंश्च कल्पे विशेषणं रत्याद्यंशमादाय तु, अनित्यत्वमुत्पत्तिविनाशशालित्वम्, इतरभास्यत्वं परप्रकाश्यत्वं च सिद्धमित्यर्थः।

रत्यादेरनित्यत्वमितरभास्यत्वं चारोप्य रसविषयकाः प्रागुक्तव्यवहारा उपपादनीया इत्यभिसन्धिः।

'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहारों से प्रतीत होने वाली रस की अनित्यता के सम्बन्ध में कहते हैं—'रत्याद्यंश' इत्यादि। कहने का तात्पर्य है कि जिस तरह चैतन्यांश को लेकर रस नित्य और स्वप्रकाश है, उसी तरह रति आदि अंश को लेकर रस अनित्य भी है और परप्रकाश भी। अतः उक्त व्यवहार भी असङ्गत नहीं कहे जा सकते।

'चर्व्यमाणो रसः' इति प्राचीनव्यवहारोपपत्तये चर्वणां निरूपयति—

चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकाराऽन्तःकरणवृत्तिर्वा।

अस्य रसस्य पूर्वकल्पे (अभिनवगुप्तादिमते) चिद्गतावरणभङ्गश्चैतन्यावरणाज्ञानध्वंस एव, वाऽथवोत्तरकल्पे (नव्यमते) तदाकारा रत्याद्यवच्छिन्नात्मानन्दरूपाऽन्तःकरणवृत्तिश्चैतन्यैव चर्वणेत्यर्थः।

रसचर्वणयोस्तादात्म्यस्यान्यत्र निर्णीतत्वेन लोकोत्तरचमत्कारप्राणत्वादिह चर्वणायाः पूर्वकल्पोक्तभावरणभङ्गरूपत्वमचमत्कारित्वापत्तेरनौचित्यमिति पक्षान्तरोपन्यासोऽवसेयः। उभयोस्तादात्म्ये 'रसश्चर्व्यते' इत्यादिव्यवहारास्तु भेदारोपान्निर्वाहणीयाः।

'रसः चर्व्यते' ऐसा व्यवहार प्राचीनकाल से होता आ रहा है, अतः रस की यह

चर्वणा क्या चीज है ? ऐसी जिज्ञासा स्वाभाविक थी, उसी जिज्ञासा की शान्ति के लिये चर्वणा का निर्वचन करते हैं—'चर्वणा च' इत्यादि। चैतन्य के ऊपर से अज्ञानरूप आवरण का हट जाना ही रस की चर्वणा (आस्वादन) है, अथवा अन्तःकरण की आनन्दाकार वृत्ति को रस-चर्वणा समझनी चाहिए। यहाँ अभिनवगुप्त मत की प्रथम व्याख्या के हिसाब से पूर्वकल्प और उनकी द्वितीय व्याख्या के हिसाब से उत्तरकल्प कहा गया है ऐसा समझना चाहिए।

इदानीं रसचर्वणाया ब्रह्मास्वाद् वैलक्षण्यं वर्णयति—

इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दालम्बनत्वात्। भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात्।

इयं पूर्वोक्ता रसचर्वणा परब्रह्मणः सच्चिदानन्दस्यास्वादो यत्र तादृशात् समाधेरसम्प्रज्ञातयोगचरमाङ्गात् (वस्तुतस्तु तत्कालोत्पद्यमानपरब्रह्मसाक्षात्कारात्) विलक्षणा भिन्ना, विभावादिभिर्विषयैर्यैः संवलितो विशिष्टश्चिदानन्दो रस आलम्बनं विषयो यस्यास्तत्त्वात्। च पुनरियं चर्वणा काव्यव्यापारमात्रात् केवलया व्यञ्जनया (न तु श्रवणादिव्यापारैः) भाव्योत्पाद्या भवतीत्यतोऽपि ब्रह्मसाक्षात्काराद् भिन्नेत्यर्थः।

परब्रह्मसाक्षात्कारो विषयासंवलितत्वाद् विशुद्धब्रह्मविषयकः श्रवणादिव्यापारजन्यश्च, रसास्वादस्तु विभावादिसंवलितत्वाद् विशिष्टरसविषयको व्यञ्जना(रसना)मात्रजन्यश्चेति तयोर्विषयकारणविशेषाद् विशेषो न यत्नप्रतिपाद्यः। साम्यं पुनरलौकिकनित्यानन्दचिन्मयत्वेन स्फुटम्। न च भेदाङ्गीकारे 'ब्रह्मैव रसः' 'रसो वै सः' इत्याद्यभेदप्रतिपादकश्रुतिविरोधः, तासामपि 'आदित्यो यूपः' इत्यादीनामिव सादृश्य एव तात्पर्यपर्यवसानात्।

अत्रापि समाधिपदस्य सविकल्पकयोगपरत्वं परोक्तं न युक्तम्, पूर्वोक्तयुक्तेः, समाधौ ब्रह्मसाक्षात्कारो न तु समाधिरेव स इति तयोर्भेदस्य सिद्धत्वेनासाध्यत्वाच्च।

ब्रह्मास्वाद से रस-चर्वणा में जो वैलक्षण्य है उसका वर्णन करते हैं—'इयं च' इत्यादि। सविकल्पक समाधिकाल में जो ब्रह्मानन्दास्वाद होता है, उससे यह रस-चर्वणा (रसास्वाद) विलक्षण—भिन्न तरह की है क्योंकि रस-चर्वणा का आलम्बन विभावादि-विषयों (सांसारिक पदार्थों) से मिश्रित आत्मानन्द है और काव्य की व्यञ्जना (व्यापार) से ही यह चर्वणा होती है इसके विरुद्ध ब्रह्मानन्दास्वाद का आलम्बन, विषय-विहीन-शुद्ध आत्मानन्द है और श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप व्यापारों से वह होता है। अतः ब्रह्मास्वाद तथा रसास्वाद में कारण एवं विषय दोनों के भिन्न होने से भेद है ऐसा समझना चाहिए।

अथ रसचर्वणाया आनन्दमयत्वं वाकोवाक्येन व्यवस्थापयति—

अथास्यां सुखांशभाने किं मानमिति चेत्, समाधावपि तद्भाने किं मानमिति पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात्।

अस्यां रसास्वादलक्षणायां चर्वणायाम्। पर्यनुयोगस्य प्रतिप्रश्नस्य।

यथा समाधिकालिकप्रतीतौ भवदभिमतमानन्दसानन्दस्य भानम्, तथैव रसचर्वणायामपि मदभिमतं तद् भवतीत्युभयोस्तुल्यतायाम्—'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि तादृशः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥' इत्युक्तेरेकस्यैव शिरसि प्रश्नसमाधानभारारोपो नोचित इति भावः।

यदि आप पूछें कि इस रसास्वाद में सुख का अंश भासित होता है इसमें प्रमाण क्या है ? तो हम पूछेंगे कि समाधि में भी सुख भासित होता है, इसमें क्या प्रमाण है ? तात्पर्य यह है कि जैसे समाधि में सुख का भान मानते हैं वैसे ही रसास्वाद में भी सुख का भान मानना चाहिए।

ननु नोभयोस्तुल्यता समाधौ सुखांशभाने शब्दप्रमाणस्य जागरूकत्वादित्याह—

'सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।' इत्यादिः शब्दोऽस्ति तत्र मानमिति चेत् ।

तत्र समाधिसुखांशभाने—आत्यन्तिकं सकललौकिकसुखातिशायि, बुद्धिग्राह्यं बुद्धिमात्रवेद्यम्, अतएवातीन्द्रियं 'मनसस्तु परा बुद्धिः' इत्युक्तेन्द्रियागोचरीभूतं, यत् सुखं परमाह्लादः, तद्, अयं योगी, वेत्तिसाक्षात्करोतीत्यर्थकः शब्दो गीताषष्ठाध्याये भगवद्वाक्यं, मानमस्तीति नोभयोः साम्यमिति चेद् यदि, कथ्यत इत्यर्थः । 'वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।' इति पद्योक्तांशः ।

यदि आप कहें कि समाधि में सुख भान को 'सुखमात्यन्तिकम्' इत्यादि गीता के शब्द प्रमाणित करते हैं अर्थात् गीता में कहा हुआ है कि 'समाधि में जो अत्यन्त सुख है, वह बुद्धि-मात्र से वेद्य है इन्द्रियों से नहीं' । इस तरह से 'समाधि में सुख का भान होता है' इसमें शब्द प्रमाण मिलता है और रसास्वाद में सुख का भान होता है इसमें तो कुछ प्रमाण नहीं मिलता ।

रसचर्वणायामपि सुखांशभाने प्रमाणद्वयं दर्शयति—

अस्त्यत्रापि 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' इत्यादिश्रुतिः, सकलसहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम् ।

अत्रापि रसास्वादे सुखांशभानेऽपि, स सच्चिदानन्दरूप आत्मा, वै निश्चयेन, रसः इत्यर्थिका, हि निश्चयेन अयमात्मा, रसं, लब्ध्वाऽऽस्वाद्य, एव न त्वन्यथा आनन्दीभवति परमाह्लादरूपतां प्रतिपद्यत इत्यर्थिका च श्रुतिर्वेदः, काव्यरसास्वादसमये सकलसहृदयानां सर्वविद्बुधानां, प्रत्यक्षमनुभवश्चेति प्रमाणद्वयमुभे प्रमाणे स्त इति कथं न तुल्यतेत्यर्थः ।

रसास्वाद में भी सुख का भान मानने में प्रमाण है, देखिये श्रुति कहती है—'रसोवै सः' (वह आत्मा रसरूप है) और 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' (रस को पाकर ही यह आनन्दरूप होता है) इस तरह से समाधि में सुखभानका प्रमापक यदि गीता का शब्द है तो रसास्वाद में उसका प्रमापक वेद-शब्द है, अब आप स्वयं सोच सकते हैं कि किधर का पलरा भारी है, इतना ही नहीं, 'रसास्वाद में सुखका भान होता है' इसमें तो सकलसहृदय समाज का हृदय भी प्रबलतम दूसरा प्रमाण उपस्थित है । सभी सहृदय रसास्वाद में सुख का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

अथ रसचर्वणायाः प्रसङ्गाच्छाब्दापरोक्षज्ञानात्मकतां व्यवस्थापयति—

येयं द्वितीयपक्षे तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्वणोपन्यस्ता, सा शब्दव्यापारभाव्यत्वाच्छाब्दी, अपरोक्षसुखालम्बनत्वाच्चापरोक्षात्मिका ।

द्वितीयपक्षे यद्वेतिमते, या इयमुपादीयमाना, रसचर्वणा, उपन्यस्ता प्रतिपादिता, सा शब्दव्यापारभाव्यत्वादभिधाऽऽदिशब्दनिष्ठवृत्तिजन्यत्वाच्छाब्दी शाब्दबोधरूपा, अपरोक्षं प्रत्यक्षविषयीभूतं यत् सुखमानन्द आत्मलक्षणं, तदालम्बनत्वात् तद्विषयत्वाच्च, अपरोक्षात्मिका प्रत्यक्षरूपा चास्तीति शेषः ।

अब इस बात की व्यवस्था करते हैं कि रसचर्वणा शाब्दज्ञानरूप होकर भी अपरोक्षात्मक है—'येयम्' इत्यादि । 'यद्वा' मत में जो आनन्दाकार चित्तवृत्ति को रस की चर्वणा कही गई है वह (चर्वणा) शब्दके व्यञ्जना-व्यापार से उत्पन्न होती है, अतः शाब्दी अर्थात् शाब्द बोधरूप है और प्रत्यक्षसुख अर्थात् आत्मानन्द उस (चर्वणा) का आलम्बन है अतः अपरोक्षात्मक-प्रत्यक्षात्मक भी है । कहने का तात्पर्य है कि यद्यपि शाब्दबोध की

गणना परोक्षज्ञान में ही अन्यत्र की गई है तथापि रसचर्वणा शाब्दबोधरूप होकर भी प्रत्यक्षात्मक है।

दृष्टान्तोपन्यासेनैकस्या एव प्रतीतेः शाब्दत्वं प्रत्यक्षत्वं चोपपादयति—

तत्त्वं वाक्यजबुद्धिवत्।

भवेन्न्यायादिनये शाब्दत्व-प्रत्यक्षत्वयोर्विरोधः, किन्तु वेदान्तमते, वाक्यं 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिवाक्यं, तस्माज्जाता बुद्धिर्जीवब्रह्मैक्यप्रतीतिः, तस्या यथा वेदान्तिभिः शब्दजन्यत्वाच्छाब्दत्वम्, अपरोक्षब्रह्मालम्बनत्वाच्चापरोक्ष(प्रत्यक्ष)त्वं चाङ्गीक्रियते, तथैव रसप्रतीतेरपि शाब्दत्वमपरोक्षत्वं च स्यादित्यर्थः।

एक ज्ञान में शाब्दत्व तथा प्रत्यक्षात्मकत्व दोनों कहीं कहीं रहते हैं, इसमें दृष्टान्त दिखलाते हैं—'तत्त्व'मित्यादि। आशय यह है कि शाब्दत्व और प्रत्यक्षत्व में विरोध नैयायिक लोग मानते हैं, वेदान्ती नहीं, वे तो—'तत्त्वमसि' इस वेद वाक्य से जो जीव तथा ब्रह्म में ऐक्य बुद्धि होती है,—उस बुद्धि को शब्दजन्य होने के कारण शाब्द और अपरोक्ष ब्रह्म विषयक होने से प्रत्यक्षरूप मानते हैं, उसी तरह साहित्यिक भी रसचर्वणा को प्रत्यक्ष और शाब्द दोनों मानते हैं।

आद्यमभिनवगुप्ताचार्यमतमध्यवसितमवगमयति—

इत्याहुरभिनवगुप्ताचार्यपादाः।

लौकिककारणादिजनितो वासनारूपेण सहृदयस्य हृदयं प्रविष्टो रत्यादिस्तत्सहृदयत्वसहकृतभावनाप्रभावाधिगतसाधारण्यालौकिकविभावादिभाव-विभावादिप्रादुर्भावितभावनाविशेषरूपभावकत्वव्यापारसम्पादितावरणाज्ञानध्वंसेन समुदितसात्त्विकेन सहृदयेनात्मस्वरूपेणानन्देन सहात्माभेदेनास्वाद्यमानस्तथाविधरत्याद्यास्वादो वा रस इत्यवसितस्य प्रथममतस्य सारम्।

यह प्रथम मत आचार्य अभिनव गुप्त का है।

अथ हृदयदर्पणादिनिर्मातुर्भट्टनायकस्य भट्टमम्मटेनाप्युपात्तं मतं द्वितीयत्वेनोपक्षिपति—

(२) भट्टनायकास्तु—ताटस्थ्येन रसप्रतीतावनास्वाद्यत्वम्। आत्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः, शकुन्तलाऽऽदीनां सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वात्।

ताटस्थ्येनौदासीन्येन स्वसम्बन्धराहित्येन 'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमा'नित्याद्याकारवत्त्वेनेति यावत्। अनास्वाद्यत्वमचमत्कारित्वम्। आत्मगतत्वेन स्वसम्बन्धितया 'अहं शकुन्तलाविषयकरतिमा'नित्याद्याकारवत्त्वेनेत्यनर्थान्तरम्। प्रत्यय आस्वादात्मिका प्रतीतिः। दुर्घटोऽसम्भवः। सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वात् दुष्यन्तेतरसहृदयनिष्ठशृङ्गाररसालम्बनत्वाभावात्।

अभिज्ञानशाकुन्तलाभिनयदर्शनावसरे यदि सामाजिकानां 'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमा'नित्याकारिका प्रतीतिः स्यात्, तदा स्वसम्बन्धराहित्येन तस्याश्चमत्कारित्वं न स्यात् 'सर्वं खल्वात्मनः कामाय प्रियं भवति' इत्यादिवचनात्। तथा च तत्र रसत्वमेव न स्यात्, 'रसे सारश्चमत्कारः' 'लोकोत्तरचमत्कारप्राणः' इत्याद्युक्तेः। शकुन्तला मातृवन्मम पूज्येति ज्ञाने जागरूके, 'अहं शकुन्तलाविषयकरतिमा'निति प्रतीतेरप्यसम्भव इत्यर्थः।

साम्प्रदायिकास्त्वत एव सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानवसायिसाधारण्येन, विभावादिप्रतीतिमूरीकुर्वन्तीति—'परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च॥ तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥' इत्यादिनाऽन्यत्र स्फुटम्।

अब पण्डितराज 'हृदय-दर्पण' आदि ग्रन्थों के निर्माता भट्टनायक के मत को रस-निरूपण-प्रसङ्ग में द्वितीय स्थान देते हैं—'भट्टनायकास्तु' इत्यादि। भट्टनायक का कथन है कि तटस्थभाव से अर्थात् 'दुष्यन्त शकुन्तलाविषयक रतिवाला है' इस रूप से रसकी प्रतीति होने पर उसमें आस्वाद्यता-चमत्कार नहीं होगा और जब चमत्कार ही नहीं रहेगा तब वह रस होगा ही कैसे? क्योंकि 'रसे सारश्चमत्कारः' ऐसा सिद्धान्त सर्व-सम्मत है। उदासीन भाव से शकुन्तलादि रति की प्रतीति होने पर उसमें चमत्कार का न होना भी समुचित ही है क्योंकि 'सर्वं खल्वात्मनःकामाय प्रियं भवति' इस सिद्धान्त के अनुसार अपने में प्रतीयमान किसी के प्रेम (रति) में ही चमत्कार (आस्वाद) हो सकता है। यदि आप कहें कि अपने में ही रस की प्रतीति मानिये अर्थात् 'मैं शकुन्तला-विषयक रतिवाला हूँ' ऐसी ही प्रतीति इष्ट है, तब तो आस्वाद होने में कोई बाधा नहीं होगी, सो भी ठीक नहीं क्योंकि जब शकुन्तला आदि सामाजिकों के विभाव नहीं हैं—उनसे सामाजिकों का कोई नाता नहीं है, तब उक्त प्रतीति हो ही नहीं सकती अर्थात् उदासीन शकुन्तला का प्रेम अपने में समझना बन ही नहीं सकता है।

ननु विभावादिप्रतीतिं विनैव रसप्रतीतिर्भवत्वित्याशङ्कामपास्यति—

विना विभावमनालम्बनस्य रत्यादेरप्रतिपत्तेः।

अनालम्बनस्यालम्बनविभावरूपाधारशून्यस्य। आदिपदेनानुभावादिपरिग्रहः। तेषूद्दीपनादिशून्यस्येति योज्यम्।

रसादीनामुद्गमादि हि कश्चिदर्थमालम्ब्यैव भवतीति तदालम्बनादिभावमन्तरेणानुभविक्यपि रसादिप्रतीतिः सामाजिकानां न सम्भवतीति भावः।

विभाव के बिना ही रस की प्रतीति मानें? सो भी संगत नहीं, कारण? आलम्बन रहित रति आदि का ज्ञान नहीं हो सकता अर्थात् प्रेम पात्र के अभाव में भी कोई अपने को प्रेमी समझे यह कैसे सम्भव है।

पुनराशङ्क्य निराकरोति—

न च कान्तात्वं साधारणविभावतावच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्, अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितागम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटाववश्यं निवेश्यत्वात्।

अत्रापि शकुन्तलाऽऽदिभूमिकां गृहीतवत्यां नट्यामपि, साधारणविभावतावच्छेदकमालम्बनविभावतासमनियतसामान्यधर्मः, कान्तात्वं नायिकात्वम्, अस्त्येव, तस्मात् तदालम्ब्यैव रसोद्गमः स्यादिति च न वाच्यम्, 'भ्रान्तिज्ञानमप्रमाणम्' इति निश्चयो यद्विषयको जागृत, तदप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितं यत् 'इयं ममागम्या' इत्याकारकमगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानम्, तस्य विरहोऽभावस्तस्य, विशेष्यतैव सम्बन्धस्तदवच्छिन्ना या प्रतियोगिता तन्निरूपकस्य, (तादृशाभाववैशिष्ट्यस्य) विभावतायाः आलम्बनविभावतायाः, अवच्छेदकस्य समनियतधर्मस्य, कोटौ कुक्षौ, अवश्यं नियमेन, निवेश्यत्वादित्यर्थः।

ननु कल्पितशकुन्तलायामपि विभावतावच्छेदकसामान्यधर्मः कान्तात्वमस्त्येवेति तस्या आलम्बनविभावत्वे निर्बाधे, रसप्रतिपत्तिः स्यादेवेति चेत्, न, यतः—न केवलं कान्तात्वमालम्बनविभावतावच्छेदकम्, अपि तु स्वस्रादीनां तत्त्वस्य व्यवच्छेदाय, विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकेनाप्रामाण्यनिश्चयाविषयागम्यात्वप्रकारकज्ञानाभावेन सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन विशिष्टं कान्तात्वमितीदृशकान्तात्वरूपालम्बनविभावतावच्छेदकस्य तत्राभावाद्रसप्रतिपत्तिर्न सम्भवतीति तात्पर्यम्।

कान्ताविशेष्यकागम्यात्वप्रकारकज्ञाने जायमानेऽपि तज्ज्ञानविषयकाप्रामाण्यनिश्चये सति न कार्यसिद्धिरित्यप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितत्वं ज्ञानविशेषणम्।

अनालिङ्गितत्वमविषयत्वम् 'ज्ञानविशेषः' इति त्वपव्याख्यानं ज्ञानविषयतयोर्भेदात्। अगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानं विशेष्यतया कान्तायामिति विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्तदभावोऽपेक्षितः। 'विशेष्यतासम्बन्धः समवायः' इति विवृतिरपि चिन्तनीयैव, समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य तादृशज्ञानाभावस्य सर्वत्र कान्तासु सद्भावात् तादृशाभावविशिष्टकान्तात्वस्य विभावताऽवच्छेदकोटौ निवेशेऽपि 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' इति न्यायेन न स्वस्रादेस्तत्त्वस्य परिहार इत्यापत्तेः स्फुटत्वात्। कान्तात्वस्य तादृशज्ञानाभावस्य चैकत्र कान्तायां सत्त्वात् परस्परं समानाधिकरण्यसम्बन्धः।

यदि आप कहें कि अनालम्बन रति आदि की प्रतीति नहीं हो सकती यह तो ठीक है परन्तु यहाँ आलम्बन का अभाव थोड़े ही है ? शकुन्तला प्रभृति आलम्बन उपस्थित हैं, अब रही बात यह कि शकुन्तला आदि सामाजिकों का विभाव नहीं बन सकती सो बात भी अकिञ्चित् कर ही है क्योंकि किसी नायक को प्रेम (रति) का कारण कहलाने के लिये कान्ता-सुन्दर नायिका का होना ही पर्याप्त है और शकुन्तला आदि सुन्दर नायिकायें हैं ही फिर वे सामाजिकों की रति के आलम्बन क्यों नहीं होंगी ? इसका उत्तर यह है कि केवल कान्ता होना ही नायकमात्र की रति के आलम्बन कारण बनने के लिये पर्याप्त नहीं है यदि ऐसी बात मानली जाय तब तो कान्ता होने के नाते माँ बहन भी पुत्र तथा भ्राता की रति के आलम्बन कारण हो जाँय अतः यह कहना पड़ेगा कि जिस नायिका में जिस नायक को 'यह अगम्य है—सम्भोगयोग्य नहीं है' ऐसा ज्ञान न हो, वही नायिका उसी नायक की रति के आलम्बन-विभाव हो सकती है, माँ बहनों में तो पुत्र भ्रातादिकों को वैसा (यह अगम्य है) ज्ञान रहता ही है अतः वे उनके प्रेम के कारण नहीं होतीं। एक बात और कल्पना कीजिये किसी नायिकाके सम्बन्ध में पहले किसी को यह ज्ञान हुआ कि 'यह नायिका अगम्य है' और इस ज्ञान के दूसरे क्षण में उस ज्ञान में अप्रमात्व का निश्चय हुआ अर्थात् उस नायिका को मेरा अगम्य समझना अप्रमाण है ऐसा निश्चय हुआ, तब क्या होगा ? वह नायिका उसकी रति का विभाव होगी या नहीं ? उत्तर 'हाँ' में ही देना होगा, यदि आप कहें कि उस नायिका में विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभाव तो नहीं है अर्थात् 'यह अगम्या है' ऐसा ज्ञान ही उस नायिका में विशेष्यता सम्बन्ध से है, फिर वह तत्पुरुषीय रति का आलम्बन विभाव कैसे होगी ? बात ठीक है, इसीलिये ग्रन्थकार अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान में 'अप्रमाण्यनिश्चयानालिङ्गित' विशेषण लगाया है अर्थात् उस नायिका में शुद्ध अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभाव के न रहने पर भी अप्रमाण्य निश्चयानालिङ्गितत्वविशिष्ट उक्त ज्ञान का अभाव रहेगा, इसी तरह के अभाव को 'विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव' कहते हैं, अतः वह नायिका उस नायक के प्रेम का आलम्बन अवश्य हो सकती है। अच्छा अब प्रकृत में विचार कीजिये कि इस परिष्कार के अनुसार शकुन्तला आदि सामाजिकों की रीति के आलम्बन विभाव होगी या नहीं ? उत्तर ग्रन्थकार का नकारात्मक है कारण ? शकुन्तला आदि-जो पूज्य कोटि में हैं—में 'अगम्या' इत्याकारक ज्ञान ही सामाजिकों को रहता है और उस ज्ञान में कभी अप्रामाण्यनिश्चय अर्थात् 'अगम्या' यह ज्ञान मिथ्या है ऐसी धारणा भी नहीं होती, अतः विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक, अप्रमाण्यनिश्चयानालिङ्गित अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभाव-विशिष्टकान्तात्वरूप विभावतावच्छेदकधर्म शकुन्तला आदि में नहीं है। सारांश यह कि आत्मगतत्वेन रसकी प्रतीति नहीं हो सकती—अर्थात् 'शकुन्तलाविषयक रतिवाला मैं हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं बन सकता है।

उक्तनिवेशाभावे दोषं दर्शयति—

अन्यथा स्वस्त्रादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्तेः ।

अन्यथा शृङ्गारालम्बनविभावताऽवच्छेदककोटावुक्तनिवेशाकरणे । स्वस्त्रादिपदेनागम्याङ्गनान्तरपरिग्रहः । तत्त्वं भ्रात्रादिनिष्ठशृङ्गारालम्बनविभावत्वम् ।

अप्रामाण्यनिश्चयविषयागम्यात्वप्रकारकज्ञानीयविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविशिष्टकान्तात्वस्य शृङ्गारालम्बनविभावताऽवच्छेदकतयाऽनभ्युपगमे, भगिनीप्रभृत्यगम्यस्त्रीणामपि, सामान्यधर्मस्य कान्तात्वस्य सत्त्वाद्, भ्रात्रादिनिष्ठशृङ्गारालम्बनविभाववत्त्वमापद्येत, तस्मादुक्तनिवेश आवश्यक इत्यभिप्रायः ।

कान्तामात्र को रति का विभाव मान लेने पर जो दोष होगा, उसका उल्लेख करते हैं—'अन्यथा' इत्यादि । कहने का सारांश यह है कि रति के आलम्बन विभाव होने के लिये नायिका में जिन सब विशेषों का रहना आवश्यक बतलाया गया है, उनका अङ्गीकार यदि न किया जाय, केवल कान्तात्व को ही विभावतावच्छेदक माना जाय, अर्थात् नायिका होना ही रति के आलम्बन होने के लिये पर्याप्त समझा जाय, तब माँ बहने भी कान्ता होने के नाते पुत्र तथा भ्राता की रति के आलम्बन हो जायगीं, यह बात मैं पहले भी लिख चुका हूँ ।

रसान्तरेष्वप्येवं निवेशस्यावश्यकतां प्रकटयति—

एवमशोच्यत्व-कापुरुषत्वादिज्ञानविरहस्य तथाविधस्य करुणरसादौ ।

अशोच्यत्वमशोचनीयत्वं, तच्च पुंसः सर्वथा कृतकृत्यत्वाज्जीवद्दशाजायमानविषमयातनानिवर्तनाद्वा, कापुरुषत्वं तु पौरुषोचितानाचरणात् कदाचरणाद्वा । तथाविधस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य ।

एवं शृङ्गाररसोक्तरीत्या, करुणरसादावपि विभावताऽवच्छेदककोटावशोच्यत्वकापुरुषत्वप्रकारकज्ञानीयविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसमानाधिकरणविनष्टपुरुषत्वमेवालम्बनविभावताऽवच्छेदकम् । अन्यथा विनष्टस्याशोच्यस्यापि पुरुषस्य विनष्टपुरुषत्वादिसामान्यधर्मयोगात् करुणरसालम्बनविभावत्वमापद्येत (एवमेव रसान्तरेष्वप्यूहनीयम्) इत्याशयः ।

केवल शृङ्गार रस के ही नहीं अपितु अन्य रसों के विभाव के विषय में भी उक्त प्रकार का विचार करना पड़ेगा, यही बात कहते हैं—'एवम्' इत्यादि । आशय यह है कि जैसे शृङ्गार रस में आलम्बन विभावतावच्छेदक केवल कान्तात्व को न मान कर उक्त विशेषणविशिष्ट कान्तात्व को माना गया है, उसी तरह करुण रस के विभावतावच्छेदक भी केवल मृत जनत्व को न मान कर अप्रमाणत्वनिश्चयानालिङ्गित, अशोच्यत्व अथवा कापुरुषत्व प्रकारक ज्ञानाभावविशिष्टमृतजनत्व को मानना चाहिये, अर्थात् करुण रस का—शोक का—आलम्बन-विभाव (कारण) केवल मरा हुआ व्यक्ति विशेष नहीं हो सकता, अन्यथा वह व्यक्ति भी शोक का आलम्बन हो जायगा, जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद मरा है—जिसको जीवन मरण में कोई विशेष नहीं भासित होता था, अथवा जो कापुरुष था—निन्दित था, अर्थात् जिसके मरण से लोगों को खुशी ही होती है, अपितु वह व्यक्ति विशेष ही मृत होकर शोक का आलम्बन होता है, जिसमें 'वह अशोच्य था, कुत्सित आचरण करने वाला था' ऐसा ज्ञान हो । शेष विचार शृङ्गार रस के विभाव-निरूपण के अनुसार ही करना चाहिए ।

अवच्छेदककोटिनिवेशितताहशज्ञानाभावः सुलभ इत्यत आह—

ताहशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिबन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपादः ।

ताहशस्याप्रामाण्यज्ञानाविषयागम्यात्वादिप्रकारकं यज्ज्ञानं, तस्यानुत्पादोऽनुत्पत्तिः, तु

पुनः, तत्प्रतिबन्धकान्तराणां तज्ज्ञानोत्पत्तिप्रतिरोधकानामन्येषां, निर्वचनं निरूपणम्, अन्तरेण विना, दुरुपपादो दुर्वच इत्यर्थः ।

शकुन्तलादिविषयकमगम्यात्वप्रकारकज्ञानं तावन्नावरुध्येत, यावदेतद्भिन्नं तत्प्रतिबन्धकं किञ्चिन्न परिकल्प्येत । तन्निवेशे तु विशिष्टविभावताऽवच्छेदकविरहात् प्रकृते रसप्रतीत्यभाव इति भावः ।

यदि आप कहें कि 'शकुन्तला आदि के विषय में सामाजिकों को 'ये हमारे लिये अगम्य हैं' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होगा' यह कथन ठीक नहीं, मैं कहता हूँ उक्त ज्ञान सामाजिकों को नहीं उत्पन्न होगा, इस झगड़े को सुलझाने के लिये कहते हैं 'तादृश' इत्यादि । कहने का तात्पर्य यह है कि परस्त्रीमात्र के विषय में 'यह अगम्य है' ऐसा ज्ञान होना ही सत्पुरुष के लिये उचित तथा सम्भव है, सीता, शकुन्तला, दमयन्ती प्रभृति की तो बात ही क्या ? उन सबको सभी पूज्य समझते हैं, अतः उनके विषय में उक्त ज्ञान का होना अनिवार्य सा है. हाँ, निःसन्देह तब वह नहीं हो सकता, यदि उस ज्ञान की उत्पत्ति को रोक देने वाला कोई प्रतिबन्धक उपस्थित रहे, परन्तु वैसा प्रतिबन्धक कोई दृष्टि-गोचर होता नहीं, फिर तो सामाजिकों को शकुन्तला आदि के विषय में अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान होगा ही ।

तत्र पुनराशङ्क्य समादधाति—

स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरेव तथेति चेत्, न, नायके धराधौरेयत्व-धीरत्वादेरात्मनि चाधुनिकत्व-कापुरुषत्वादेर्वैधर्म्यस्य स्फुटं प्रतिपत्तेरभेदबोध-स्यैव दुर्लभत्वात् ।

स्वात्मनीति सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम् । तथाऽगम्यात्वादिप्रकारकज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धिका । धराधौरेयत्वं भूभारवाहनक्षमत्वम् । धीरत्वं प्राज्ञतमत्वं धृतिविशेषशालित्वं वा । प्रथमेनादि-शब्देन स्वात्मनि सर्वथाऽसम्भाव्यानां प्राचीनकालवृत्तित्व-लोकोत्तरशौर्यादिगुणानां द्वितीयेन चाल्पज्ञत्वादीनां स्वदोषाणां ग्रहणम् । वैधर्म्यं विरुद्धो धर्मः । प्रतिपत्तिर्ज्ञानम् ।

स्वात्मविशेष्यकं दुष्यन्तप्रकारकमभेदसंसर्गकं 'दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारकं सामाजिकस्य यदि जायेत, तर्हि शकुन्तलाविषयकमगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानं सामग्रीविरहान्नोत्पद्येत, नहि तादृशज्ञानानुत्पत्तये प्रतिबन्धकान्तरकल्पना, दुष्यन्ताभेदबुद्ध्यैवागम्यात्वप्रकारकज्ञानोत्पत्ति-प्रतिबन्धसम्भवादिति कथनं तु न सङ्गतम्, स्वात्मन्यसम्भाव्यानां धराधौरेयत्वादीनां दुष्यन्तगुणानां, दुष्यन्तेऽसम्भाव्यानामाधुनिकत्वादीनामात्मदोषाणां च मिथोविरुद्धधर्माणां ज्ञाने स्फुटं विद्यमाने, बाधितस्य स्वात्मविशेष्यकदुष्यन्ताभेदज्ञानस्योत्पत्तुमेवाशक्यत्वादित्यभिसन्धिः ।

यदि आप कहें कि शकुन्तला आदि के विषय में अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान को रोकने वाला प्रतिबन्धक आपको दृष्टिगोचर नहीं होता, यह तो आपका दृष्टि-दोष है, मैं तो प्रतिबन्धक को देखता हूँ और आपको भी दिखला सकता हूँ, देखिये—अभिज्ञानशाकुन्तल आदि के अभिनय देखते समय प्रत्येक सामाजिक अपने को दुष्यन्त समझता रहता है, वही दुष्यन्तादिक (जिनकी शकुन्तला आदि प्रेयसियाँ थीं) और अपने में होने वाली अभेद-बुद्धि अर्थात् 'मैं दुष्यन्त हूँ' यह बुद्धि ही शकुन्तला आदि में अगम्यात्व ज्ञान की प्रतिबन्धिका है, यह भी तर्क ठीक नहीं, क्योंकि शकुन्तला आदि के नायक दुष्यन्त आदि प्राचीन काल के धराधीश और धीर पुरुष थे और हम इस युग के क्षुद्र मानव हैं, यह विरुद्ध धर्म जब स्पष्ट प्रतीत होता रहेगा, तब 'मैं दुष्यन्त हूँ' इस तरह के अभेद ज्ञान का होना ही दुर्लभ है—असम्भव है ।

ननूक्तवैधर्म्यज्ञाने कथञ्चिदजाते, जातेवेच्छामूलकमाहार्यरूपं दुष्यन्ताभेदज्ञानं भवेदेवेत्यरुचेः, प्रकारान्तरेण खण्डनमुपक्रमते—

किं च केयं प्रतीतिः ? प्रमाणान्तरानुपस्थानाच्छाब्दीति चेत्, न व्यावहारिकशब्दान्तरजन्यनायकमिथुनवृत्तान्तवित्तीनामिवास्या अप्यहृद्यत्वापत्तेः ।

किञ्चेत्यादिना प्रथमकोप्युपपादनं तत्खण्डनं च । इयं रसत्वेनाभिमता, प्रतीतिः का किमात्मिकेति प्रश्नः । प्रमाणान्तराणां प्रत्यक्षानुमानोपमानानाम् । शाब्दी शब्दजन्या शाब्दबोधरूपा । व्यावहारिकशब्दान्तराणि काव्यातिरिक्तलौकिकव्यवहारप्रयुक्ता अन्ये शब्दाः । नायकमिथुनं नायिका नायकश्च । वित्तिर्बोधः । अस्याः काव्यशब्दजन्यरसप्रतीतेः । अहृद्यत्वमचमत्कारिता ।

इदमुच्यते—रसत्वेनाभिमतेयं सामाजिकप्रतीतिः शब्दजन्यत्वादभिधाऽऽदिवृत्तिसापेक्षत्वाच्च न प्रत्यक्षम् । व्याप्तिग्रहाद्यनपेक्षणाच्चानुमानम् । सादृश्यज्ञानामूलकत्वाच्च नोपमानमित्यनायत्या, शाब्दबोधस्वरूपैवाभ्युपगता स्यात् । एवं सति प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञानानामचमत्कारित्वस्य सर्वसम्मतत्वादस्या अपि चमत्कारशून्यतया 'रसे सारश्चमत्कारः' इत्युक्ते रसत्वं न स्यात् । अन्यथा नायकमिथुनवृत्तान्तबोधककाव्यातिरिक्तशब्दजन्याया अचमत्कारकप्रतीतेरपि रसत्वमापद्येति भावः ।

अभिनेयकाव्यजप्रतीतेः शब्दजन्यत्वाभावाच्छाब्दत्वं तु चिन्तनीयम् ।

यदि किसी कारण से उक्त विरुद्ध धर्म का ज्ञान न हो, अथवा उक्त विरुद्ध धर्म के ज्ञान होने पर भी इच्छामूलक 'दुष्यन्तोऽहम्' ऐसा आहार्यज्ञान तो हो ही सकता है क्योंकि आहार्यज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान ही बाध्यनिश्चय का प्रतिबध्य होता है, अतः प्रकारान्तर से खण्डन का उपक्रम करते हैं—'किञ्च' इत्यादि। अब हम आपसे पूछते हैं—जिसको आप रस कहते हैं वह सामाजिकों की आत्मा में होने वाली प्रतीति क्या है ? क्या उसका स्वरूप है ? शब्दजन्य तथा अभिधा आदि वृत्ति-सापेक्ष होने से वह प्रतीति प्रत्यक्ष रूप नहीं हो सकती, व्याप्तिज्ञान आदि की अपेक्षा नहीं करने से अनुमिति रूप भी उसको नहीं कह सकते, सादृश्य-ज्ञान-मूलक नहीं होते, उपमित्यात्मक भी नहीं मानी जा सकती, फिर अगत्या शब्द-प्रमाणजन्य होने से शाब्दबोधक रूप ही उस प्रतीति को कहेंगे, परन्तु सो ठीक नहीं, कारण ? प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञानों को सब लोग अचमत्कारी मानते हैं और शाब्दबोध भी प्रत्यक्षातिरिक्त है, अतः यह भी अचमत्कारी होने से रसरूप नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'रसे सारश्चमत्कारः' ऐसा सिद्धान्त है, अन्यथा दिन रात व्यवहार में आने वाले काव्य भिन्न शब्दों के द्वारा ज्ञात हुए स्त्री-पुरुषों के वृत्तान्तों का ज्ञान भी रस संज्ञा को प्राप्त कर लेगा।

ननु सा प्रतीतिर्मानस्येव भवेदित्याशङ्कायामाह—

नापि मानसी, चिन्तोपनीतानां तेषामेव पदार्थानां मानस्याः प्रतीतेरस्या वैलक्षण्योपलम्भात् ।

अपिः प्रागुक्तशाब्दधीसमुच्चायकः ।

मानसी ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिजन्यालौकिकप्रत्यक्षलक्षणाऽपि सा प्रतीतिर्न भवितुमर्हति, चिन्तया पुनःपुनरनुसन्धानरूपभावनया, उपनीतानां 'सुरभिचन्दनम्' इत्यत्र सौरभांशवदलौकिकप्रत्यक्षगोचरीकृतानां, तेषां शकुन्तलाऽऽदीनामेव पदार्थानां या मानसी प्रतीतिः, तस्याः (सकाशात्) अस्याः काव्यशब्दजरसप्रतीतेः, वैलक्षण्यस्य चमत्कृतिप्रयुक्तभेदस्य, उपलम्भादनुभवादित्यर्थः ।

अयमाशयः—सुरभिचन्दनमित्यादौ ज्ञानलक्षणालौकिकसन्निकर्षेण सौरभादीनां स्मरणमिव भानमेव भवति, न तु तत्कृतः कश्चन चमत्कारः। इह तु चमत्कारोऽपीत्युभयोः कार्यभेदाद् भेदस्यानुभवसिद्धत्वाचैकत्म्यम्।

यदि आप उस प्रतीति को मानस अर्थात् ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्ति-जन्य अलौकिक प्रत्यक्षरूप कहना चाहें तो सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि चिन्ता (पुनः पुनः अनुसन्धान-रूप भावना) के द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष के विषय बनाये गये अर्थात् समझे गये उन्हीं शकुन्तला आदि पदार्थों की मानस प्रतीति से काव्यशब्दजन्यरसप्रतीति में विलक्षणता उपलब्ध होती है अर्थात् 'सुरभिचन्दनम्' इत्यादि स्थलों में ज्ञानलक्षणारूप अलौकिक सम्बन्ध से होने वाले सौरभांश-ज्ञान में कोई चमत्कार अनुभूत नहीं होता और यहाँ रसात्मकप्रतीति में वह अनुभूत होता है, अतः रसात्मक प्रतीति मानस नहीं हो सकती।

नन्वेवमनुभूतिभिन्ना सा प्रतीतिः स्मृतिरेवाङ्गीक्रियतामित्यत आचष्टे—

न च स्मृतिः, तथा प्रागननुभवात्

चकारेण प्रागुक्तशाब्दबोधादिसङ्ग्रहः। अस्तीति शेषः।

स्मरणानुभवयोः कार्यकारणभावस्य सर्वत्र निर्णीतत्वादिह शकुन्तलादिपदार्थविषयकानुभवस्य प्रागभावादस्य ज्ञानस्य न स्मरणत्वमित्याशयः।

अस्याः प्रतीतेः स्मृतिरूपताऽङ्गीकारे परोक्षात्मकतयाऽचमत्कारित्वप्रसङ्गः स्यादित्यपि न विस्मरणीयम्।

स्मृतिरूप भी रस प्रतीति को नहीं मान सकते, क्योंकि स्मृति के प्रति अनुभव कारण है अर्थात् जिन चीजों का जिस रूप में पहले अनुभव हुआ करता है उन्हीं चीजों का उस रूप में पीछे स्मरण होता है, यहाँ तो शकुन्तला आदि पदार्थों का उसरूप में पहले कभी अनुभव ही नहीं हुआ है, फिर उनका स्मरण कैसे हो सकता है?

इत्थं विकल्पान् निरस्य भट्टनायकसम्मतं रसस्वरूपमुपन्यस्यति—

तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्था भावकत्वव्यापारेणागम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते। एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्त-शकुन्तला-देश-काल-वयोऽवस्थाऽऽदिषु, पङ्क्तौ पूर्वव्यापारसहिमनि, तृतीयस्य भोगकृत्त्वव्यापारस्य महिम्ना, निगीर्णयो रजस्तमसोरुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्कारेण, विषयीकृतो भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादिः स्थायी रसः।

तस्मात्—पूर्वोक्तरीत्या प्रकारान्तरासम्भवात्। निवेदिताः—श्रव्यकाव्येऽभिधया बोधिताः, दृश्यकाव्येत्विन्द्रियग्राभिकर्षेण प्रत्यक्षविषयतां नीताः। पदार्था दुष्यन्तादयो रत्यादयश्च। भावकत्वं हि साधारणीकरणलक्षणः काव्ये विभावादिव्यापारः, तदुक्तम्—

> 'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
> तत्प्रभावेण यस्या सन् पाथोधिप्लवनादयः॥
> प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते॥' इति
> 'साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते॥' इति च।

अगम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा—शकुन्तलादिविषयकमगम्यात्वादिप्रकारकम् (अत एव) रसस्य ज्ञानलक्षणस्य प्रतिबन्धकत्वाद् विरोधि प्रतिकूलं, यज्ज्ञानं तस्य प्रतिबन्धद्वारा तत्प्रतिबन्धं प्राग् विधाय कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेण कान्तात्वादयो ये रसानुकूला रसप्रतीत्युपयोगिनो धर्माः, तेषां पुरस्कारेण वैशिष्ट्येन। अवस्थाप्यन्ते

प्रतीतिविषयीक्रियन्ते । एवम्—उक्तभावकत्वव्यापारेण । साधारणीकृतेषु सामान्यधर्मावच्छिन्नत्वेन (विशेषधर्मानवच्छिन्नतया) बोधितेषु । सीतादिशब्दवच्छकुन्तलाशब्दस्य पूर्वनिपात उचितः । देश उपवनादिस्थानम् । कालो वसन्तादिसमयः । वयो बाल्यादि । अवस्था संयोगविप्रयोगादिदशा । आदिपदेन रत्यादि स्थायि–लज्जादिव्यभिचारि–कटाक्षविक्षेपाद्यनुभावादीनां ग्रहणम् । पङ्गौ कृतकृत्यत्वाद् विरते सतीति शेषः । पूर्वव्यापारो भावकत्वम् । तृतीयत्वं भोजकत्वस्याभिधा–भावकत्वापेक्षया बोध्यम् । भोगकृत्त्वं भोजकत्वमित्यनर्थान्तरम् । निगरणमधःकरणमभिभव इति यावत् । उद्रिक्तं रजस्तमोगुणावभिभूयाविर्भूतं यत् सत्त्वं (गुणः) तज्जनितेनेति साक्षात्कारविशेषणम् । निजा स्वीया (आत्मरूपा) चित्स्वभावा चैतन्याकारा, या निर्वृतिरानन्दो विश्रान्तिर्वेद्यविषयान्तरपरिहारेणावस्थितिलक्षणं स्वरूपं यस्य, तादृशेन, साक्षात्कारेणापरोक्षज्ञानेन, विषयीकृतो गोचरतां नीतः । भावनयोपनीत उपस्थापितः (अत एव) साधारणात्मा सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नरूपः ।

अभिधयोपस्थापितेषु, भावकत्वेन साधारणीकृतेषु विभावादिषु, भोजकत्वेन साक्षात्कारविषयतां नीतो रत्यादिः स्थायी वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः सच्चिदानन्दरूपो रस इत्येतन्मतनिष्कर्षः ।

इस तरह से अनेक विकल्पों का खण्डन कर अब भट्टनायकाभिमत रसस्वरूप का उपपादन करते हैं—'तस्मादभिधया' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त एक भी प्रकार ठीक नहीं हो सका, अतः ऐसे समझना चाहिए कि श्रव्यकाव्य में अभिधा के द्वारा और दृश्यकाव्य में चक्षुरिन्द्रिय से पहले शकुन्तला आदि पदार्थों का बोध होता है, उसके बाद काव्य में रहने वाले 'भावकत्व' व्यापार से—शकुन्तला आदि के विषय में जो रस विरोधी 'अगम्या इयम्' इत्यादि ज्ञान होता था—वह रोक दिया जाता है और कान्तात्व आदि रसोपयोगी धर्म के साथ उन (शकुन्तला आदि) पदार्थों की उपस्थिति करा दी जाती है । इस तरह वह 'भावकत्व' व्यापार शकुन्तला, दुष्यन्त, देश, काल, वय और संयोग, वियोग आदि दशा सबको साधारण बना देता है, अर्थात् उनमें किसी प्रकार की विशेषता नहीं रहने देता कि जिससे रसोद्बोध में बाधा पड़े । बस, इतना कार्य करके वह व्यापार विरत हो जाता है । इसके बाद 'भोगकृत्व–भोजकत्व' नामक तृतीय काव्य व्यापार से रजोगुण और तमोगुण निगीर्ण कर लिये जाते हैं—दबा दिये जाते हैं और सत्त्वगुण उद्रिक्त–प्रबुद्ध हो जाता है, जिससे हम (सामाजिक) सांसारिक समस्त विषयों से छुटकारा पाकर अपने चैतन्यस्वरूप आत्मानन्द का साक्षात्कार करने लगते हैं, बस, उसी साक्षात्कार–आत्मानन्दानुभव का विषय बना हुआ रति आदि स्थायीभाव 'रस' कहलाता है, जिस स्थायीभाव को पूर्वोक्त 'भावकत्व–भावनाविशेष' साधारण रूप में उपस्थित कर चुका था । यहाँ यह भी एक समझ लेने की बात है कि सत्त्वगुण के उद्रेक से जो आत्मानन्द प्रकाशित होता है, उसी चैतन्यात्मक ज्ञान को 'भोग' कहते हैं, जिसके विषय बन जाने पर रति आदि स्थायी भावों की संज्ञा 'रस' पड़ती है ।

श्रुतिस्वारस्यरक्षायै प्राग्वद् विकल्पयति—

तत्र भुज्यमानो रत्यादिः, रत्यादिभोगो वेत्युभयमेव रसः ।

तत्र भोगविशिष्ट इत्यादिरूपे । उभयं भोगविषयीभूतरत्यादी रत्यादिविषयकभोगश्चेति विकल्पनाद् द्वयम् ।

उक्तिश्रुतिविरोधरूपविनिगमकस्योपलम्भेऽपि 'विनिगमनाविरहादाह—'इत्यवतरणं तु चिन्तनीयम् ।

इस पक्ष में भी प्रथम पक्ष की तरह ही भोग किए जाते हुए अर्थात् चैतन्य से युक्त रति आदि स्थायीभाव अथवा रति आदि स्थायी भावों का भोग अर्थात् रति आदि से युक्त चैतन्य ये दोनों ही 'रस' हैं ।

आस्वादात्मनोऽस्य रसभोगस्य, ब्रह्मास्वादाद् वैलक्षण्यं सादृश्यप्रदर्शनकपटेन प्रकटयति—

सोऽयं भोगो विषयसंवलनाद् ब्रह्मास्वादसविधवर्तीत्युच्यते ।

विषयसंवलनात्—स्वेतरविषयसम्बन्धात् । ब्रह्मास्वादस्य सविधवर्ती—निकटस्थः सदृशः (नत्वेकः) इति यावत् ।

इदमुच्यते—ब्रह्मास्वादोऽविशिष्टविषयकत्वात् स्वभिन्नविषयासम्पृक्तो निर्विषयः, रसभोगस्तु विभावादिविशिष्टस्थायिविषयकत्वात् स्वभिन्नविषयसम्पृक्तः सविषय इत्युभयोर्भेदः, सच्चिदानन्दशाब्दापरोक्षसाक्षात्काररूपतया च तुल्यत्वम् । रजस्तमसोः सत्त्वेनाभिभूतत्वादनयोः साक्षात्कारयोः केवलानन्दरूपता, लौकिकसुखसाक्षात्कारे तु रजस्तमसोरनभिभवात् कदाचित् दुःखमोहयोरपि सम्भेदस्य सम्भवात् ततो भेदः, सत्त्वरजस्तमसां क्रमेण सुखदुःखमोहलक्षणपरिणतेः साङ्ख्याभिमतत्वात् ।

यह भोग—रसास्वाद, ब्रह्मास्वाद का सविधवर्ती—सहोदर अर्थात् सदृश कहलाता है, ब्रह्मास्वादरूप नहीं, क्योंकि यह रसास्वाद—भोग, विभाव आदि से विशिष्ट स्थायिभाव को विषय रूप में साथ रक्खे रहता है और ब्रह्मास्वाद अपने से अतिरिक्त किसी भी वस्तु को विषयरूप में साथ नहीं रखता अर्थात् रसास्वाद सविषयक होता है और ब्रह्मास्वाद निर्विषयक, अतः इन दोनों में भेद है, परन्तु भेद के रहने पर भी शब्दजन्य, सच्चिदानन्दमय, अपरोक्ष—साक्षात्काररूप होने से ये दोनों समान कहलाने योग्य अवश्य हैं ।

इदानीमुपसंहरति—

एवं च त्रयोंऽशाः काव्यस्य—'अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च ।।' इत्याहुः ।

अंशा व्यापाराः । अभिधेति लक्षणेन्द्रियसन्निकर्षयोरप्युपलक्षणम् , लाक्षणिकदृश्यकाव्ययोरनुरोधात् । भोगीकृतिर्भोगस्य निदानं भोजकत्वम् । भोगो भुक्तिरास्वाद इत्यनर्थान्तरम् । आहुरित्यस्य पूर्वोक्तेन 'भट्टनायकाः' इत्यनेन सम्बन्धः ।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि काव्य के तीन अंश हैं अर्थात् काव्य में तीन व्यापार रहते हैं—एक अभिधा, जिससे सर्वप्रथम काव्यार्थों को समझा जाता है, यहाँ अभिधा पद को दृश्य तथा श्रव्यकाव्य के अनुरोध से लक्षणा तथा इन्द्रिय सन्निकर्षों का भी उपलक्षण समझना चाहिए। दूसरा अंश काव्य का है—भावना या भावकत्व, जिससे शकुन्तला आदि का साधारणीकरण होता है और तीसरा अंश है भोगीकृति या भोगकृत्व अथवा भोजकत्व, जिससे रति आदि का रस रूप में आस्वादन होता है।

अभिनवगुप्तमताद् भट्टनायकमतस्य विशेषमविशेषं च दर्शयति—

मतस्यैतस्य पूर्वस्मान्मताद् भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः । भोगस्तु व्यक्तिः । भोगकृत्त्वं तु व्यञ्जनादविशिष्टम् । अन्या तु सैव सरणिः ।

एतस्य भट्टनायकमतस्य, पूर्वस्मात् प्रागुक्ताद् अभिनवगुप्तस्य मताद् , भावकत्वमेव व्यापारान्तरं पूर्वोक्ताद् भिन्नो व्यापारः, तस्य स्वीकार एव विशेषो वैधर्म्यम्, अस्तीति शेषः। एवमग्रेऽपि योजनीयम् । भोगस्तु भुक्तिर्व्यक्तिर्भग्नावरणचिद्रूप आस्वाद इति यावत् । भोगकृत्त्वं भोजकत्वरूपं तु पुनः, व्यञ्जनाद् रसनाख्यवृत्तेः, अविशिष्टमविलक्षणमभिन्नमित्यनर्थान्तरम् । अन्या तदतिरिक्ता तु साऽभिनवगुप्तोक्ता, एव, न तु तद्भिन्ना, सरणिः पद्धतिरित्यर्थः।

प्रथममते यथा व्यञ्जनाऽज्ञानावरणमपसार्य, सत्त्वोद्रेके सति, भग्नावरणचिदवच्छिन्नरत्यादि, रत्याद्यवच्छिन्न—भग्नावरणचितं वा, सच्चिदानन्दास्वादपदवीं नीत्वा रसत्वेन व्यवहारयति । तथैव द्वितीयमते भोजकत्वं सत्त्वोद्रेके सति, स्वीयभग्नावरणसच्चिदानन्दरूपेण

साक्षात्कारेण, रत्यादिं गोचरयित्वा रसत्वेन व्यवस्थापयतीति व्यञ्जनास्थानीयमेव भोजकत्वम्। केवलं भावकत्वव्यापारस्य स्वीकारो नवीन इत्याकूतम्।

ननु भावकत्वमपि न व्यापारान्तरम्, 'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः' इत्यादिना विभावादीनां साधारणीकरणाय तस्याद्यमतेऽप्यभ्युपगमादिति चेत्, उच्यते, आद्यमते विभावादीनां साधारण्यं सहृदयनिष्ठ-तदीयसहृदयत्वप्रभावित-भावनाविशेषमहिम्नैव सम्पद्यते। इह तु तदर्थं विभावादिनिष्ठस्य नूतनव्यापारस्याङ्गीकार इत्युभयोर्भेदः। 'व्यापारोऽस्ति विभावादेः' इत्याद्युक्तिस्तु द्वितीयमतानुसारिणी। तस्या आद्यमतानुसारिता तु भावकत्वस्य सहृदयभावनाविशेषरूपताऽभ्युपगमेन बोध्या।

पूर्व मत से इस मत में क्या अन्तर है इसकी समीक्षा करते हैं—'मतस्यैतस्य' इत्यादि। अभिनवगुप्त ने जिस वस्तु को 'भग्नावरणचित्' कहा है, उसी वस्तु को भट्टनायक 'भोग' कहते हैं, अर्थात् संज्ञामात्र के भेद रहने पर भी पदार्थ में कोई भेद नहीं है। भोगकृत्व या भोजकत्व व्यञ्जना का ही नामान्तर है क्योंकि दोनों का कार्य एक ही है अर्थात् दोनों ही सत्त्वगुणोद्रेक द्वारा अज्ञानावरण को हटा कर रसरूप [illegible] कराते हैं। और तौर-तरीके भी प्रायः दोनों मतों में समान ही हैं, [illegible] द्वितीय मत में अवश्य है और वह है नवीन भावकत्व व्यापार का स्वीकार करना अर्थात् द्वितीय मत में साधारणीकरण के लिये एक विलक्षण भावकत्व या भावना नाम का व्यापार काव्य के शब्दों में अभिधा आदि के जैसे मान लिया गया है और प्रथम मत में सहृदयतासहकृत, काव्यार्थों का पुनः पुनः अनुसन्धानरूप भावना से ही साधारणीकरण होगा, इसके लिये काव्य शब्दों में किसी मुख्य व्यापार का स्वीकार करना आवश्यक नहीं है, ऐसा उपसंहार में मान लिया गया है।

अथ तृतीयं नव्यमतमुपपादयितुमुपक्रमते—

(३) नव्यास्तु—'काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्य-शकुन्तलादिविषयक-रत्यादिरेव रसः।'

नव्या इत्यस्य 'इत्याहुः' इत्यनेन सम्बन्धः। विभावादिषु काव्ये (नाट्यस्य पृथगुपादानात्) श्रव्यकाव्ये, च तथा नाट्ये तौर्यत्रिकमये नटाभिनेये दृश्यकाव्ये, कविना शब्दैर्नटेन चतुर्विधाभिनयैश्च प्रकाशितेषु बोधितेषु सत्सु, व्यञ्जनव्यापारेण व्यक्त्या, शकुन्तलादिरतौ शकुन्तलादिविषयकरतौ, दुष्यन्तादौ दुष्यन्ताद्यधिकरणी, सहृदयेन गृहीतायां ज्ञातायां सत्याम्, अनन्तरं तदनु, सहृदयस्य या सहृदयता, तयोल्लासितस्य प्रादुर्भावितस्य, पोषितस्य वा, भावनाविशेषरूपस्य प्रागुक्तविलक्षणभावनात्मकस्य, दोषस्य वक्ष्यमाणभ्रमकारणस्य, महिम्ना प्रभावेण, कल्पितमात्मन्यसदपि सत्त्वेन ज्ञातमवास्तविकं, यद् दुष्यन्तत्वं तेनावच्छादिते तदवच्छिन्नविशेष्यताभृति अज्ञानावच्छिन्ने तदभाववद्विशेष्यक-तत्प्रकारकज्ञानस्यैव भ्रमत्वाभ्युपगमाद् दुष्यन्तत्वाभाववन्तमप्यात्मानं दुष्यन्तत्वेन जानाने, सहृदयस्य स्वात्मनि, शुक्तिकाशकले शुक्तिखण्डे वास्तविकरजतत्वाभाववत्यपि रजतत्वेन ज्ञायमाने, इव यथा, समुत्पद्यमानः प्रातिभासिकसत्ताश्रितत्वाज्जायमानः, अनिर्वचनीयो वास्तविकत्वाभावान्न सन्, प्रत्यक्षगोचरत्वाच्च नासन्निति सदसद्विलक्षणतया निर्वचनानर्हः, रजतखण्डः, तथैव साक्षिभास्योऽन्तःकरणाभा-

स्यत्वात् साक्षाद्‌आत्मभास्यः, शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव (न तु तज्ज्ञानादि किञ्चिदन्यत्) रसोऽस्तीत्यर्थः ।

चाकचिक्यदोषेण शुक्तिखण्डे रजतभ्रमे यथाऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यश्च रजतखण्डः प्रातिभासिकसत्तां लभते, तथैव विलक्षणभावनादोषेण सहृदयस्य स्वात्मनि शकुन्तलादि-रत्यादिमद्दुष्यन्तादिभ्रमे, रत्यादिः प्रतिभासमानो रसत्वं लभत इति मतेऽस्मिन् न नवीन-व्यापारकल्पनापेक्षेति सारम् ।

अब रस के विषय में नवीन विद्वानों के तृतीय मत का प्रतिपादन करते हैं—'नव्यास्तु' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि श्रव्य-काव्य में कवि शब्दों के द्वारा विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों को प्रकाशित करता है, दृश्यकाव्य में नट अभिनयों के द्वारा उनको प्रकाशित करता है, हम (समाजिकों) को श्रव्यकाव्य के पठन से और दृश्य के अवलोकन से उन विभावादिकों का ज्ञान पहले होता है, तदनन्तर हम काव्य की व्यञ्जना-वृत्ति से दुष्यन्त आदि में रहने वाली शकुन्तला आदि की रति का ज्ञान करते हैं अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा हम यह समझते हैं कि—'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्'—दुष्यन्त शकुन्तला का प्रेमी था। इसके बाद हमारी सहृदयता हममें एक प्रकार की भावना पैदा करती है अर्थात् हम सहृदय होने के नाते दुष्यन्त आदि के सम्बन्ध में पुनः पुनः अनुसन्धान करने लग जाते हैं, और वह भावना पुनः पुनः दुष्यन्त आदि के विषय में अनुसन्धान-एक ऐसा दोष है, जिससे हमारी अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् उस भावनारूप दोष के चलते हम अपने को दुष्यन्त समझने लगते हैं और जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं, तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमी समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती अर्थात् उक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छन्न आत्मा में कल्पित शकुन्तला विषयक रति भी भासित होने लगती है, जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीप के टुकड़े अज्ञान से ढक जाते हैं—वास्तविकरूप में नहीं समझ पड़ते, तब उन टुकड़ों में ही चाकचिक्य दोष से चाँदी के टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं—अर्थात् वे सीप के टुकड़े चाँदी के टुकड़े प्रतीत होने लगते हैं। यद्यपि न हम में शकुन्तला आदि की रति वास्तविकरूप में रहती है, न सीप के टुकड़ों में चाँदीपन तथापि साक्षी-आत्मा उनका भान करा देती है। इस तरह वे दोनों (हम में भासित होने वाली शकुन्तला आदि की रति और सीप के टुकड़ों में प्रतीयमान चाँदीपन) अनिर्वचनीय हैं, अर्थात् उनको कल्पित होने के कारण सत् नहीं कह सकते और प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने के कारण असत् भी नहीं मान सकते, अतः वे सत् असत् इन शब्दों से नहीं कहे जाने योग्य होकर अनिर्वचनीय ही सिद्ध होते हैं। बस, उक्त भावना दोष से 'मैं दुष्यन्त हूँ' इस भ्रम में पड़े हुए सामाजिकों में उत्पन्न होने वाली, साक्षिभास्य अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयक रति आदि स्थायीभाव ही 'रस' है।

'उत्पन्नो रसः' 'विनष्टो रसः' इत्यादिव्यवहारसिद्धये रसोत्पत्तिविनाशयोः कारणे प्रतिपादयति—

अयं च कार्यो दोषविशेषस्य, नाश्यश्च तन्नाशस्य ।

अयं रसः । च पुनः । दोषविशेषस्य प्रागुक्तविलक्षणभावनायाः । कार्यो निष्पाद्यः प्रादुर्भाव्य इति वा । तन्नाशस्य भावनाविशेषरूपदोषध्वंसस्य । नाश्यो ध्वंस्यस्तिरोधाप्यो वा ।

विलक्षणभावनायां सत्यामेव रस उत्पद्यते, तस्यां विनष्टायामेव विनश्यतीति तद्भावनायाः सत्त्वासत्त्वयोरेव रसस्योत्पत्तिविनाशव्यवहारः, यथा शुक्तिधर्मिकभ्रान्तेः सत्त्वासत्त्वयोरेव रजतखण्डस्योत्पत्तिविनाशव्यवहारः। इतरथा नित्ये तस्मिंस्तद्व्यवहारानुपपत्तिरित्यभिसन्धिः।

यह रस पूर्वोक्त भावनारूप दोष का कार्य है और उस दोष के नाश के अधीन ही उसका नाश है अर्थात् प्रथम और द्वितीय मत में रस को नित्य माना गया है अतः परकीय

उत्पत्ति-विनाश के आरोप से 'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार सिद्ध किये गये हैं परन्तु इस तृतीय मत में आरोप के द्वारा उन व्यवहारों को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, कारण ? रस को इस मत में स्वयम् उत्पत्ति-विनाश-शाली मान लिया गया है, उक्त दोष ही रस का उत्पादक है और उसके नाश हो जाने पर रस भी नष्ट हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक उक्त दोष का प्रभाव हम पर रहता है, तभी तक शकुन्तला आदि की रति (जो रस है) की प्रतीति अपने में होती है और जब उस दोष का प्रभाव नष्ट हो जाता है तब उस रति की प्रतीति भी अपने में नहीं होती। ठीक भी है, बाध-निश्चय हो जाने पर भ्रम दूर हो ही जाता है, जब हम चाँदी समझकर सीप के टुकड़ों के समीप में पहुँच जाते हैं और यह समझ लेते हैं कि ये सीप के टुकड़े हैं (रजत नहीं) तब रजतत्व (चाँदीपन) की प्रतीति नहीं ही होती है।

प्रसङ्गाद् रसस्यानन्दरूपतां प्रतिपादयति—

स्वोत्तरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदाग्रहात् सुखपदव्यपदेश्यो भवति।

स्वं रसस्तदुत्तरं तदव्यवहितानन्तरं भावी भविता यो लोकोत्तराह्लादो लौकिकसुखविलक्षणः परमानन्दः, तेनः, सहास्य भेदाग्रहात् 'तस्मादयं भिन्नः' इति ज्ञानाभावात् तादात्म्येन ज्ञायमानत्वात्, सुखपदेन (सुखपदस्यानन्दाद्युपलक्षकत्वेन) सुखानन्दप्रभृतिशब्देन, व्यपदेश्यो व्यवहार्यः, अयं रसो भवतीत्यर्थः।

रसानन्दयोरुत्पत्तिपौर्वापर्येण भेदेऽप्यतिसन्निकर्षाद् दूरस्थभिन्नवस्तुद्वयवद् भेदाज्ञानादैक्यव्यहार इति तात्पर्यम्।

यद्यपि यह (रस) वास्तविक में सुखरूप नहीं है, तथापि 'मैं शकुन्तला विषयक रति वाला दुष्यन्त हूँ' इत्यादि प्रतीति के बाद जो अलौकि सुख होता है, उसमें और उक्त रतिरूप रस में भेद (जो वस्तुतः है) ज्ञात नहीं होता अर्थात् उन दोनों को हम अभिन्न ही समझते हैं, अतः 'रस सुखरूप है' ऐसा व्यवहार किया जाता है।

ननु रसस्य लोकोत्तराह्लादेन सह भेदाग्रहात् व्यञ्जनासाक्षात्सम्पर्कशून्यतया व्यङ्ग्यत्वम्, अनिर्वचनीयतया वर्णनीयत्वं च न सम्भवतीत्याशङ्कायामभिधत्ते—

स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तदग्रहात् तद्रतिस्वैकत्वाध्यवसानाद्वा व्यङ्ग्यो वर्णनीयश्चोच्यते।

स्वस्माद् रसात् (रसोत्पत्तेः) पूर्वं प्राक् (अव्यवधानेन) उपस्थितेन व्यञ्जनया प्रतीतिगोचरीभूतेन व्यङ्ग्येन, काल्पनिकत्वाभावान्निर्वचनीयेन च इत्यादिना (दुष्यन्तादिनिष्ठेन) सह, अस्य स्वात्मनिष्ठ-दोषविशेषकल्पित-रत्यादिरूपरसस्य, तदग्रहाद् भेदाज्ञानाद्, भेदाग्रहेऽपि परकीयधर्मलाभासम्भवे तु, वाऽथवा, तद्रतिस्वैकत्वाध्यवसानाद् व्यङ्ग्यरति-कल्पितरत्योरैक्यारोपात्, अयं रसः, व्यङ्ग्यो वर्णनीयश्च, उच्यते कथ्यत इत्यर्थः।

सहृदयहृदये यः प्राग् वासनारूपेण विनिविष्टो इत्यादिः, स व्यञ्जनागम्यो निर्वचनार्हश्च प्रसिद्धः, तेन सहास्य रसस्य भेदाग्रहादैक्यारोपाद्वा व्यङ्ग्यत्वं वर्णनीयत्वं चोपपद्यत इत्याशयः।

इसी तरह रस वस्तुतः न व्यङ्ग्य है न वर्णन करने योग्य, परन्तु इस रस के उत्पन्न होने से पूर्व व्यञ्जनावृत्ति से जो शकुन्तला आदि के विषय में दुष्यन्त आदि की रति आदि गृहीत-ज्ञात हुये थे, उसका और दोष के कारण अपने में भासित होने वाली, झूठी, रसरूप, शकुन्तला आदि की रति आदि का भेद ज्ञात नहीं होता अथवा उस वास्तविक और इस कल्पित रति को एक समझ लेते हैं अतः यह रस व्यङ्ग्य और वर्णनीय कहलाता है अर्थात् दुष्यन्तादिनिष्ठ शकुन्तलादिविषयक वास्तविक रति आदि का ज्ञान वस्तुतः हमें व्यञ्जना के द्वारा होता है और उसका वर्णन भी कविगण वस्तुतः काव्यों में करते

हैं अतः वह रति आदि वस्तुतः व्यङ्ग्य और वर्णनीय है, अब यह कल्पित रसरूप रति आदि यदि वस्तुतः व्यञ्जना से ज्ञात न भी होता, कवि उसका वर्णन न भी करता, तथापि उस वस्तुतः व्यङ्ग्य और वर्णनीय रति से इस कल्पित रति को अभिन्न समझ लेने के कारण हम ऐसा कहते हैं कि यह व्यञ्जनावृत्ति से प्रकाशित हुआ है और कवि ने इसका वर्णन किया है।

सचेतसाऽऽत्मनि कल्पितस्यावच्छादकस्य दुष्यन्तत्वस्य तत्त्वमाचष्टे—

अवच्छादकं दुष्यन्तत्वमप्यनिर्वचनीयमेव। अवच्छादकत्वं च रत्यादिविशिष्टबोधे विशेष्यताऽवच्छेदकत्वम्।

यथा सहृदयस्यात्मनि इत्यादिः काल्पनिकत्वादनिर्वचनीयः, तथैव 'शकुन्तलाविषयकरतिमान् दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारकप्रतीतौ रत्यादिनिष्ठप्रकारतानिरूपितस्वात्मनिष्ठविशेष्यताया अवच्छेदकमवच्छादकप्रतिपाद्यं दुष्यन्तत्वमपि कल्पनामात्रनिष्पन्नत्वादनिर्वचनीयमेवेति सारांशः।

जिस तरह हम सहृदय सामाजिकों में शकुन्तला आदि की रति कल्पना मात्र प्रसूत होने से अनिर्वचनीय है उसी तरह सहृदयों की आत्मा को आच्छादित करने वाला दुष्यन्तत्व भी काल्पनिक होने के कारण अनिर्वचनीय ही है। उस दुष्यन्तत्व में अवच्छादकत्व अर्थात् आत्मा का अवच्छादन करना क्या वस्तु है यह भी समझ लेना चाहिए। वह यह है कि 'शकुन्तलाविषयक रति वाला मैं दुष्यन्त हूँ' इत्याकारक रत्यादि विशिष्ट ज्ञान में विशेष्यतावच्छेदक होना ही दुष्यन्तत्व में अवच्छादकत्व है अर्थात् उक्त ज्ञान में शकुन्तला की रति 'मैं' पदार्थ में प्रकारतया—विशेषणरूप से भासित हुई है अतः उक्त ज्ञान में विशेष्य हुआ 'मैं' जो वस्तुतः दुष्यन्त नहीं है, इसलिये उस 'मैं' पदार्थ में रहने वाली विशेष्यता का अवच्छेदक—परिचायक दुष्यन्तत्व को नहीं होना चाहिये वरन 'मैं' पदार्थ में रहने वाले धर्म आत्मत्व या स्वत्व को होना चाहिये परन्तु जिस लिये मैं अपने आपको दुष्यन्त समझ रहा था, इसलिये दुष्यन्तत्व ही विशेष्यता का अवच्छेदक होगया और यही अवच्छेदक हो जाना आत्मा को अवच्छादित करना हुआ।

पर्यवसितं प्रतिवादिमतनिरासं प्रकाशयति—

एतेन 'दुष्यन्तादिनिष्ठस्य रत्यादेरनास्वाद्यत्वान्न रसत्वम्। स्वनिष्ठस्य तु तस्य शकुन्तलादिभिरतत्सम्बन्धिभिः कथमभिव्यक्तिः। स्वस्मिन् दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपराहता।' इत्यादिकमपास्तम्।

एतेन भावनाविशेषस्य दोषत्वाङ्गीकारेण। अतत्सम्बन्धिभिः सहृदयनिष्ठरत्याद्यालम्बनत्वशून्यैः। इत्यादिकं प्रतिवादिमतमपास्तमित्यन्वयः।

विलक्षणभावनात्मकदोषप्रभावादनिर्वचनीयदुष्यन्तत्वेन ज्ञायमाने सहृदयस्यात्मनि, शकुन्तलाविषयकरतेरनिर्वचनीयाया रसत्वेनाभिमताया भानं न बाधितम्, न वाऽचमत्कारीति सर्वसामञ्जस्ये, द्वितीयमतत्वेनोपन्यस्ताः परकीयाक्षेपा निरस्ता इत्यभिप्रायः।

भट्टनायक के द्वारा द्वितीय मत में उठाई गईं अनेक शङ्काओं का इस मत में अवकाश नहीं रह जाता, यही दिखलाते हैं—'एतेन' इत्यादि। आशय यह है कि 'दुष्यन्त आदि में रहने वाली शकुन्तला आदि की रति रसरूप नहीं हो सकती, क्योंकि उदासीन होने से उस रति में सामाजिकों के लिये आस्वाद्यता नहीं रहती। स्वनिष्ठरति की अभिव्यक्ति उस शकुन्तला आदि से होगी ही क्यों? जिससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कहें कि अपने को दुष्यन्त आदि से अभिन्न समझ लेने पर तो शकुन्तला आदि के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध ठहर जाता है, फिर शकुन्तला आदि से स्वनिष्ठ रति की अभिव्यक्ति हो सकती है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जब 'दुष्यन्त प्राचीन युग के धीर सम्राट् थे और मैं वर्तमान युग का एक साधारण मनुष्य हूँ, 'अतः मैं दुष्यन्त से अभिन्न नहीं हो सकता'

ऐसा बाध-निश्चय है, तब उक्त अभेदबुद्धि हो ही नहीं सकती' इन शङ्काओं का इस मत में अवसर ही नहीं आता, क्योंकि इस मत में सहृदयतामूलक भावना विशेषरूप दोष से दुष्यन्त आदि की अभेद-बुद्धि सिद्ध की गई है, जिस (अभेद-बुद्धि) को बाध-निश्चय नहीं रोक सकता। कारण? दोषविशेषाजन्य-अर्थात् दोषमूलक जो नहीं हो उस बुद्धि के प्रति ही बाध-निश्चय को प्रतिबन्धक माना गया है।

नन्वेतन्मते दोषविशेषकल्पनैव भारायत इत्याक्षेपं समादधाति—

यदपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम्, तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु, दोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्। अतोऽवश्यकल्प्ये दोषविशेषे, तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा।

प्राचीनैरभिनवगुप्तादिभिरपि यदपि, विभावादीनां साधारण्यं शकुन्तलादीनां कान्तात्वादिसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिविषयत्वमुक्तम्, तदपि निसर्गतः शकुन्तलात्वादिविशेषधर्मप्रकारकबोधजनकैः शकुन्तलादिशब्दैः काव्येन प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु, विलक्षणभावनात्मकदोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादं दुःखेनोपपादयितुं योग्यं यतोऽस्ति, अतोऽस्माद् विभावादिसाधारण्यसम्पादकत्वाद्धेतोः, दोषविशेषेऽवश्यकल्प्ये, तेन दोषविशेषेणैव, स्वात्मनि स्वधर्मिका दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि दुष्यन्ताभेदप्रकारकप्रतीतिरपि, सूपपादासुखेनोपपादयितुं योग्येत्यर्थः।

काव्यघटकानां शकुन्तलादिशब्दानां शकुन्तलात्वादिविशेषधर्मावच्छिन्ने शक्तत्वाच्छकुन्तलादीनां कान्तात्वादिसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिविषयत्वरूपं साधारण्यं दोषविशेषप्रभावेणैव कथञ्चन भवितुमर्हतीति दोषविशेषकल्पना प्राचीनैरप्यङ्गीकृतत्वान्न नवीना। तदर्थं कल्पिते च दोषविशेषे, 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी' इति न्यायेन तेनैव शुक्तौ रजताभेदबोध इव सहृदयात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबोधोऽपि सम्पद्यत इति भावः।

दोष-विशेष की कल्पना भी इस मत की नयी चीज नहीं है, प्राचीन-मतों में भी वह कल्पना करनी पड़ती है यही बात कहते हैं—'यदपि' इत्यादि। मम्मटभट्ट आदि प्राचीन आचार्यों ने शकुन्तला प्रभृति विभावादिकों का साधारणीकरण माना है अर्थात् उन्होंने कहा है कि साधारणीकरण व्यापार के बल से शकुन्तला आदि अपने व्यक्तिगत धर्म शकुन्तलात्व आदि को छोड़ कर कान्तात्व आदि साधारण धर्म के साथ सहृदयों के सामने उपस्थित होते हैं, परन्तु यह बात दोषविशेष की कल्पना किये बिना बन नहीं सकती क्योंकि काव्योंमें शकुन्तला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुन्तला आदि का प्रतिपादन किया रहता है जो शब्द शकुन्तलात्वेन शकुन्तला आदि के बोधक हैं फिर कान्तात्वेन उनका बोध कैसे हो सकता है? अतः भावनारूप दोष की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी अर्थात् यह अवश्य मानना पड़ेगा कि सहृदयतामूलक भावनारूप दोष के कारण ही हमें (सहृदयोंको) शकुन्तला, साधारण कान्ता के रूप में समझ पड़ती है, इस तरह जब वह दोष मानना ही पड़ा, तब उसी से सहृदयों को अपने में दुष्यन्त की अभेद-बुद्धि भी हो जायगी।

अथ प्रसङ्गात् करुणादिरसस्थायिनः शोकादेर्दुःखजनकतामाशङ्कते—

नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि सुखविशेषजनकता, करुणरसादिषु तु स्थायिनः शोकादेर्दुःखजनकतया प्रसिद्धस्य कथमिव सहृदयाह्लादहेतुत्वम्? प्रत्युत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवौचित्यात्।

न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्वं क्लृप्तम्, न कल्पितस्येति नायकाना-

मेव दुःखम्, न सहृदयस्येति वाच्यम्, रज्जुसर्पादेर्भयकम्पाद्यनुत्पादकतापत्तेः, सहृदये रतेरपि कल्पितत्वेन सुखजनकतानुपपत्तेश्चेति चेत्।

एवमपि शृङ्गारस्याह्लादमयत्वे साधितेऽपि रतिर्यूनोः प्रीतिः, शोकत्वमीष्टनाशादिजन्यं वैक्लव्यम्। शोकादेरित्यादिपदेन भय-क्रोध-जुगुप्सानां ग्रहणम्। प्रत्युतोक्तवैपरीत्ये। न चेत्यादिनाऽऽवान्तरिकी शङ्का, रज्ज्वित्यादिना तदुत्तरं च निर्दिश्यते। सत्यस्य वास्तविकस्य। क्लृप्तं निश्चितम्। कल्पितस्य भ्रान्त्या भासितस्य। नायकानामित्यत्रैकवचनमुचितं सन्दर्भशुद्ध्यनुरोधात्। रज्जौ भ्रान्त्या भासितः सर्पो रज्जुसर्पः। अनुचितापतनमापत्तिः। उचितासङ्घटनमनुपपत्तिः। इति चेदित्यन्तं शङ्कादलम्।

प्रणयात्मिकाया रतेर्लोके नायक इव, काव्ये सहृदये सुखविशेषोत्पादकत्वाच्छृङ्गाररसस्यानन्दमयतायाः सिद्धावपि, शोक-भय-क्रोध-जुगुप्सानां वैक्लव्यादिरूपाणां पुनर्लोक इव काव्येऽप्यनुभावकदुःखजनकत्वस्यैवौचित्यात् करुण-भयानक-रौद्र-बीभत्सरसानामानन्दमयत्वं नोपपद्यते।

ननु लोके शोकादीनां वास्तविकत्वाद् दुःखजनकत्वमुचितम्, काव्ये तु काल्पनिकत्वात् कथं तत्त्वमिति चेत्, न, तथाऽङ्गीकारे रज्जौ भ्रान्तिभासितस्य सर्पस्याप्यवास्तविकत्वाद् भयकम्पादिजनकताऽऽनुभविक्यपि न सिध्येत्, काव्ये रतेरपि काल्पनिकत्वेन सुखजनकता न स्यादिति शङ्कापक्षः स्थेयानिति भावः।

अब यहाँ एक शङ्का यह उपस्थित होती है कि आपने 'रस यद्यपि स्वतः सुखरूप नहीं है तथापि अनिर्वचनीय रति आदि स्थायीभावस्वरूप रस की प्रतीति के बाद जो विलक्षण सुख उत्पन्न होता है, उससे उक्त रति आदिरूप रस में भेद का ज्ञान नहीं होता अतः रस को सुखरूप कहा जाता है' इस विवेचन के द्वारा जो 'अनिर्वचनीयस्थायीभावात्मकरस-प्रतीति के बाद विलक्षण सुख की उत्पत्ति' स्वीकार की है, वह सर्वांश में ठीक नहीं जंचता, क्योंकि वास्तविक शकुन्तला की रति वास्तविक दुष्यन्त में सुख-जनक होती है अतः कल्पित शकुन्तला विषयक रति, कल्पित दुष्यन्त स्वरूप सहृदयों में भी सुख को उत्पन्न कर सकती है, परन्तु वास्तविक, शोक, भय, क्रोध, जुगुप्सा आदि तो संसार में दुःख-जनकरूप से प्रसिद्ध हैं, फिर वे जहाँ कल्पित होकर रस बनेंगे, वहाँ उनसे सहृदयों में सुख कैसे उत्पन्न होगा? और वे रस सुखरूप कैसे कहलायेंगे? प्रत्युत उनसे जैसे वास्तविक नायक को दुःख हुआ था उसी तरह सहृदयों को भी उनसे दुःख ही होना चाहिए। यदि आप कहें कि सच्चे शोक आदि से दुःख होता है कल्पित से नहीं, अतः नायकों को जिनमें शोक आदि सत्य थे—दुःख हुआ होगा और कल्पित शोक आदि के अनुभव करने वाले सहृदयों को दुःख नहीं होता, यह तर्क भी संगत नहीं, क्योंकि हम रस्सी में भ्रमवश कल्पित सर्प से भी भय, कम्प होते देखते हैं, आपके हिसाब से वह नहीं होना चाहिए। दूसरी बात यह कि जब आप कल्पित शोक आदि से दुःख की उत्पत्ति नहीं मानते, तब सहृदयों में कल्पित रति से सुख की उत्पत्ति भी नहीं माननी चाहिए, परन्तु शृङ्गाररस-स्थल में वैसा मान चुके हैं।

अभ्युपगम्य प्रथमकल्पेन समाधत्ते—

सत्यम्, शृङ्गारप्रधानकाव्येभ्य इव, करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकः, तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाल्लोकोत्तरव्यापारस्यैवाह्लादप्रयोजकत्वमिव, दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम्।

सत्यं यथार्थमित्यभ्युपगमः। शृङ्गाररसप्रधानानि शाकुन्तलादीनि, करुणरसप्रधानानि उत्तररामचरितादीनि काव्यानि। केवलो दुःखासम्भिन्न आह्लाद एव, न तु दुःखमिश्रितः।

सहृदयानां हृदयं साक्षात्कारित्वात् प्रमाणं यत्र स सहृदयहृदयप्रमाणकः। कार्यानुरोधेन कारणानि कल्प्यन्त इति सिद्धान्तः। लोकोत्तरव्यापारोऽत्र मते दोषात्मा विलक्षणभावना।

यथा शाकुन्तलाद्यभिनयदर्शनाद् रसास्वादसमये सहृदयानां लेशतोऽपि न दुःखानुभवः, तथैव यद्युत्तररामचरिताद्यभिनयदर्शनाद् रसास्वादसमयेऽप्यनुभवसिद्धः, तर्हि सहृदयप्रत्यक्षप्रमाणबलाद् दुःखोत्पत्त्यभावरूपकार्यानुरोधेन दोषरूपविलक्षणभावनैव तत्र (दुःखानुत्पत्तौ) प्रतिबन्धकत्वेन निर्णेया। अन्यत्रापि सुरतावसरे नखदशनाघातरूपविलक्षणव्यापारस्य सुखविशेषजनकत्वं दुःखोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं च प्रसिद्धमेव। एवं भावनया प्रतिबद्धं दुःखं तत्र नोत्पद्यत इत्याशयः।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि जिस प्रकार शृङ्गार-रस-प्रधान काव्यों से सुख उत्पन्न होता है, उसी तरह करुण-रस-प्रधान काव्यों से भी केवल सुख ही उत्पन्न होता है यह बात यदि सहृदयों के हृदय के द्वारा प्रमाणित हो चुकी हो, तब 'कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए' इस नियम के अनुसार लोकोत्तर दोषात्मक उक्त भावना में आनन्द-जनकताके जैसे दुःख-प्रतिबन्धकता की भी कल्पना कर लेनी चाहिए, अर्थात् जिस तरह उक्त भावनाको आनन्दका उत्पन्न करने वाला मानते हैं, उसी तरह उसको दुःख का रोकनेवाला भी मान लेगें। सम्भोग कालीन दन्तक्षतादि व्यापार में सुखजनकत्व तथा दुःख-प्रतिबन्धकत्व दोनों प्रसिद्ध ही हैं।

प्रतिवादिमतं सर्वथोन्मूलयितुं द्वितीयं कल्पमुपन्यस्यति--

अथ यथाह्लाद एव दुःखमपि प्रमाणसिद्धम्, तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम्। स्वस्वकारणवशाच्चोभयमपि भविष्यति।

अथेति प्रश्नार्थकम्। आह्लादशब्दस्य पुंस्त्वात् प्रमाणसिद्धमित्यस्य विभक्तिविपरिणामः। प्रतिबन्धकत्वं दुःखोत्पत्तेरिति शेषः। उभयं सुखं दुःखं च।

काव्यात् सुखस्य दुःखस्य चोत्पत्तौ सहृदयहृदयानुभव एव प्रमाणमिति करुणरसप्रधानकाव्याकलनात् सहृदयाः सुखमिव दुःखमप्यनुभवन्ति, तदा कार्यानुरोधेन दुःखोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं लोकोत्तरव्यापारस्य न कल्पनीयम्, दुःखोत्पत्तेरेव तत्र सुखस्य कारणात् सुखोत्पत्तिः, दुःखस्य च कारणाद् दुःखोत्पत्तिरिति कारणभेदादेकत्र विरुद्धयोरपि सुखदुःखयोरुत्पत्तौ न बाधः।

करुण-रस-प्रधान काव्यों से सुख और दुःख दोनों ही होते हैं यही बात यदि सहृदय-हृदय-द्वारा प्रमाणित होती हो, तब उक्त भावना में दुःख-प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करनी चाहिये अर्थात् यह नहीं मानना चाहिये कि उक्त भावना दुःखोत्पत्ति को रोकती है। अपने-अपने कारण से सुख और दुःख दोनों होंगे अर्थात् काव्य के अलौकिक व्यापार से सुख की और शोक आदि से दुःख की उत्पत्ति होगी।

दुःखोत्पत्तिस्वीकारिणि द्वितीयमते पुनराशङ्कते—

अथ तत्र कवीनां कर्तुम्, सहृदयानां च श्रोतुं कथं प्रवृत्तिः ?, अनिष्टसाधनत्वेन निवृत्त्येरुचितत्वादिति चेत्।

तत्र करुणरसप्रधानकाव्ये कवीनां कर्तुं सहृदयानां श्रोतुं च प्रवृत्तिः कथं स्यात्, प्रवृत्तिं प्रतीष्टसाधनत्वग्रहस्य कारणतायाः प्रसिद्धेः। प्रकृते दुःखरूपानिष्टसाधनत्वग्रहस्य सद्भावात्ततो निवृत्तेरेवौचित्यादिति पूर्वपक्षः।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि करुण आदि रस प्रधान काव्यों से दुःख की उत्पत्ति होती है, तब ऐसे काव्यों की रचना करने के लिये कवि की और सुनने के लिये सहृदयों की प्रवृत्ति क्यों होती है ? क्योंकि जब ऐसे काव्य अनिष्ट (दुःख) के साधन हैं, तब उनसे निवृत्त होना ही उचित है।

द्वितीयमत उत्तरयति—

इष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलेपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः।

घर्षणादिश्रमजन्यदुःखरूपानिष्टस्याल्पत्वात् सौरभशैत्यानुभवजन्यसुखरूपेष्टस्य बहुलत्वाच्च यथा चन्दनद्रवलेपे सर्वेषां निर्विचिकित्सा प्रवृत्तिर्भवति, तथैवात्रापि दुःखापेक्षया सुखस्य बाहुल्यात् प्रवृत्तिर्भवतीत्यभिप्रायः।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं—'इष्टस्येति'। अर्थात् करुण आदि रसों में दुःख के होने पर भी उसकी मात्रा अल्प रहती है और सुख की मात्रा अधिक, अतः करुण आदिर स-प्रधान काव्यों में प्रवृत्ति होती है, जैसे चन्दन घिसने में अंशतः दुःख के रहने पर भी सौरभ-शीतलता आदि के अनुभव से सुख अधिक होने के कारण चन्दन-लेपन में लोगों की प्रवृत्ति होती है।

प्रथममते प्रवृत्त्युपपादनप्रयोजनाभावमाह—

केवलाह्लादवादिनां तु प्रवृत्तिरप्रत्यूहैव।

केवलाह्लादवादिनां—

'हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्। शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः॥
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात्। सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः॥'

इत्यादिना करुणरसप्रधानकाव्यादपि सुखमात्रोत्पत्तिवादिनां मतेऽनिष्टसाधनत्वग्रहस्यासम्भवात् तत्र प्रवृत्तिर्निष्प्रत्यूहा निर्बाधैव स्यादिति सारम्।

जो लोग उक्त भावनात्मक व्यापार को दुःख-प्रतिबन्धक मानकर करुण रस प्रधान काव्यों से भी केवल सुख ही मानते हैं उन लोगों की प्रवृत्ति में तो कोई विघ्न बाधा है ही नहीं।

ननु प्रथममते तत्र दुःखानङ्गीकारे दुःखकार्याणि कथमश्रुपातादीनि जायन्त इत्याक्षेपं समादधाति—

अश्रुपातादयोऽपि तत्तदानन्दानुभवस्वाभाव्यात्, न तु दुःखात्।

अश्रुपातप्रभृतयो न केवलं दुःखादेव, अपि तु सुखादपि भवन्तीति प्रकृतेऽश्रुपातादीनामानन्दजन्यानां सम्भवान्न क्षतिः। तदुक्तम्—

'अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मताः।' इति।

करुण-रस-प्रधान काव्यों से भी केवल आनन्द ही होता है ऐसी मान्यता वालों से यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि करुण आदि रसों में भी केवल सुख ही सुख होता है, तब उसके अनुभव से अश्रुपात आदि क्यों होते हैं? इसी का उत्तर देते हैं—'अश्रुपातादयोऽपि' इत्यादि। अश्रुपात केवल दुःख से ही होता है ऐसी बात नहीं है, किसी-किसी आनन्द के अनुभव से भी वह होता है, करुण रस के अनुभव करते समय जो अश्रुपात होता है वह आनन्दातिरेक के कारण ही—दुःख के कारण नहीं।

निदर्शनदर्शनेनोक्तमर्थं समर्थयति—

अत एव भगवद्भक्तानां भगवद्वर्णनाकर्णनादश्रुपातादय उपपद्यन्ते। न हि तत्र जात्वपि दुःखानुभवोऽस्ति।

अत एव सुखादप्यश्रुपातादिसम्भवादेव। उपपद्यन्ते युज्यन्ते। जातु कदाचित्। भगवद्वर्णनश्रवणजन्य-दुःखासम्भिन्नसुखजन्यानामश्रुपातादीनां भगवद्भक्तेषु दर्शनात् केवलादप्यानन्दादश्रुपातादीनामुत्पत्तिर्निश्चितैवेतिभावः।

आनन्द से भी अश्रु-पात होता है इसमें दृष्टान्त दिखलाते हैं—'अत एव' इत्यादि। भगवद्-कथा-श्रवण-काल में भक्तों की आँखों से अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित होती

रहती है, वह क्या दुःख से ? नहीं दुःख का तो वहां लेश भी नहीं रहता, अत्यधिक आनन्द का ही वह फल है, उसी तरह करुणरसानुभव से होने वाला अश्रुपात आनन्दातिरेक का ही सूचक है, दुःख का नहीं।

करुणरसादावाह्लादोत्पत्तेरयोग्यतां पुनराशङ्कते—

न च करुणरसादौ स्वात्मनि शोकादिमद्दशरथादितादात्म्यारोपे यद्याह्लादः, तदा स्वप्नादौ सन्निपातादौ वा स्वात्मनि तदारोपेऽपि स स्यात्, आनुभविकं च तत्र केवलं दुःखमितीहापि तदेव युक्तमिति वाच्यम् ।

न चेति वाच्यमित्यत्रान्वेति। स्वात्मनि सहृदयस्येति शेषः। सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम्। स्वप्नादौ स्वप्ने व्यामोहे वा। सन्निपातादौ त्रिदोषज्वरेऽपस्मारादिरोगान्तरे वा। तदारोपे शोकादिमद्दशरथादितादात्म्यारोपे। स आह्लादः। आनुभविकमनुभवप्रमाणसिद्धम्। इहापि करुणरसादावपि। तदेव दुःखमेव।

सहृदयस्य पुत्रवियोगजशोकवद्दशरथोऽहमित्याकारक-शोकादिप्रकारक-स्वात्मविशेष्यक-प्रतीतेरेव यदि करुणरसादावाह्लादः स्वीक्रियते, तर्हि स्वप्न-सन्निपातादावपि कदाचित् सहृदयस्य तादृश्याः प्रतीतेः सम्भवात् तत्राप्याह्लादः स्वीक्रियताम्, पूर्वोक्ततादात्म्यारोपस्योभयत्र तुल्यत्वात्। न च तत्राप्याह्लादोऽभ्युपगन्तुं शक्यः, स्वाप्नादितादृशबोधाद् दुःखस्यैव सर्वानुभवसिद्धत्वात्। एवं सति करुणरसादावपि तादृशप्रतीतेः केवलदुःखोत्पत्तिरेव युक्तेतिपूर्वपक्षाभिप्रायः।

यदि आप यह प्रश्न करें कि करुण आदि रसों में शोक आदि से युक्त दशरथ आदि का अभेद अपने में मान लेने पर जब सहृदयों को आनन्द होता है, तब स्वप्न आदि में अथवा सन्निपात आदि रोग में अपने में शोक आदि से युक्त दशरथ आदि के अभेद का आरोप कर लेने पर भी आनन्द ही होना चाहिये, परन्तु अनुभव सिद्ध तो यह है कि उन अवस्थाओं में दुःख ही होता है, अतः यहां (करुण आदि रसों में) भी केवल दुःख होना ही उचित है।

समाधत्ते—

अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति ।

काव्यस्य व्यापारोऽत्र व्यञ्जनावृत्तिः। यत्प्रयोज्या व्यञ्जनाजन्यप्रतीतिविषयाः। य एव लोके दुःखजनकत्वेन प्रसिद्धाः पदार्थाः, त एव काव्ये समुपनिबद्धास्तदीयव्यञ्जनाव्यञ्जनाव्यापारमहिम्नाऽलौकिकीभूता अलौकिकं सुखमेव जनयन्ति, न तु मनागपि दुःखमिति सर्वानुभवविरुद्धत्वात् करुणरसादौ न दुःखोत्पत्तिरित्युत्तरपक्षाशयः।

इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि यह अलौकिक काव्यव्यापार (व्यञ्जना) की महिमा है कि उसके द्वारा ज्ञात किये गये असुन्दर (दुःखजनक) शोक आदि पदार्थ भी अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने लगते हैं।

काव्यव्यापारजप्रतीतेरलौकिकतया वैलक्षण्यमेव व्याहरति—

विलक्षणो हि कमनीयकाव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात् ।

इतरव्यापारप्रमाणजन्यानुभवानामचमत्कारितया न कमनीयता, काव्यव्यापारजन्यास्वादरूपानुभवस्य त्वलौकिकतया चमत्कारित्वेन कमनीयतेत्युभयोर्वैलक्षण्यमित्याकूतम्।

अन्य प्रमाणों से उत्पन्न होने वाले अनुभवों की अपेक्षा काव्य के रमणीयव्यापार से उत्पन्न होने वाला आस्वाद (अनुभवविशेष) विलक्षण है। अर्थात् अन्य अनुभवों में चमत्कार नहीं होता और काव्यजन्य अनुभव में वह होता है।

नन्वास्वादस्य व्यञ्जनासाक्षाज्जन्यत्वाभावात् कथं काव्यव्यापारजन्यत्वमित्यत आचष्टे—

जन्यत्वं च स्वजन्यभावनाजन्यरत्यादिविषयकत्वम् ।

स्वं काव्यव्यापारो व्यञ्जना, तज्जन्या या तद्व्यापारान्तररूपा भावना, तज्जन्यत्वे सति रत्यादिविषयकत्वमास्वादस्य काव्यव्यापारजन्यत्वमितिस्वीकारे रसास्वादस्य व्यञ्जनासाक्षाज्जन्यत्वविरहेऽपि तत्त्वमबाधमित्यभिप्रायः ।

यद्यपि इस मत में अलौकिक आनन्दजनक आस्वाद (रस) काव्य की व्यञ्जना से उत्पन्न नहीं होता, फिर पूर्वोक्त वाक्य के 'काव्य के व्यापार से उत्पन्न होने वाला' इस अंश का क्या अर्थ हो सकता है ? इस जिज्ञासा की शान्ति करने के लिये कहते हैं— 'जन्यत्वम्' इत्यादि । उक्त अंश का अर्थ यह है कि काव्य के व्यापार (व्यञ्जना) से उत्पन्न होने वाली उक्त दोषात्मक भावना से उत्पन्न रति आदि का आस्वाद । अतः अब उक्त अंश के अर्थ में दीख पड़ने वाली असंगति समाप्त हो गई ।

तदाह—

तेन रसास्वादस्य काव्यव्यापाराजन्यत्वेऽपि न क्षतिः ।

जन्यत्वस्य परिष्कृतत्वादित्याशयः ।

इस तरह से व्याख्या कर देने पर यदि रसास्वाद साक्षात् काव्यव्यापारव्यञ्जना से उत्पन्न होने वाला नहीं भी है, तथापि कोई क्षति नहीं ।

अत्रापि प्रागुक्तदोषमुद्धरन् नव्यमतमुपसंहरति—

शकुन्तलादावगम्यात्वज्ञानोत्पादस्तु स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्ध्या प्रतिबध्यते । इत्याहुः ।

शकुन्तलादिविशेष्यकमगम्यात्वप्रकारकं रसविरोधिज्ञानं सहृदयस्य, 'दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारकेण स्वात्मविशेष्यक-दुष्यन्ताभेदप्रकारक-ज्ञानेन प्रतिबद्धं नोत्पत्तुं तत्र शक्नुयादिति तृतीयं नव्यानां मतं सम्पूर्णम् ।

मतेऽस्मिन् प्राचीनैरेवाङ्गीकृताया भावनाया दोषत्वस्य, रसानां प्रातिभासिकत्वेनानिर्वचनीयत्वस्य चाङ्गीकृतिः, न तु व्यापारान्तरस्य नवीनस्य कल्पनेति लाघवम् ।

अब रही एक बात और वह यह कि शकुन्तला आदि में 'यह मेरे लिये अगम्य है' यह ज्ञान हम सहृदयों को क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि दोषात्मक भावना से जो दुष्यन्त आदि की अभेद बुद्धि अपने में हम लोगों को होती है, उसी बुद्धि से उक्त अगम्यात्वज्ञान रोक दिया जाता है अर्थात् जब हम स्वयं दुष्यन्त बन जाते हैं, तब फिर शकुन्तला को स्वसंभोग योग्य नहीं समझें, यह असम्भव है ।

अथ चतुर्थं परकीयमतमुपन्यस्यति—

(४) परे तु—व्यञ्जनव्यापारस्यानिर्वचनीयख्यातेश्चानभ्युपगमेऽपि, प्रागुक्तदोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमद्भेदबोधो मानसः काव्यार्थभावनाजन्मा विलक्षणविषयताशाली रसः ।

तुरीयं मतमिदम् । परेत्विति वदन्तीत्यनेनान्वेति ।

व्यञ्जनव्यापारस्य दुष्यन्तादिनिष्ठ-शकुन्तलादिविषयकरतिग्राहकस्य, अनिर्वचनीयख्यातेः 'साक्षिभास्यः सदसद्विलक्षणः शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः' इत्यनुभवविषयीभूतानिर्वचनीयत्वस्य च तृतीयमतेऽङ्गीकृतस्य, अनभ्युपगमेऽनङ्गीकारेऽपि, प्राक् तृतीयमते उक्तस्य दोषस्य भावनाविशेषस्य, महिम्नाप्रभावेण, स्वात्मनि स्वात्मविशेष्यकः, दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही दुष्यन्ताद्यभेदविषयकः, शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमद्भेदबोधः शकु-

न्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदप्रकारको 'दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इत्याकारको यो मानसो मनस्सन्निकर्षजन्मा, काव्यार्थस्य भावनाया जन्म यस्य तादृशः, विलक्षणविषयताशाली लोकोत्तर इत्यादिनिष्ठविषयतानिरूपकः, बोध आस्वादः, स एव रस इत्यर्थः।

अब रस के विषय में अन्य विद्वानों के चतुर्थ मत का विवेचन करते हैं—'परे तु' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि व्यञ्जना व्यापार के जिसे प्राचीन तथा नवीन सभी विद्वान् किसी न किसी रूप में अवश्य मानते हैं) और अनिर्वचनीय ख्याति के (जिसे नवीन विद्वान् मानते हैं) मानने की कोई आवश्यकता नहीं, अर्थात् रस को व्यङ्ग्य अथवा अनिर्वचनीय मानना आवश्यक नहीं है। फिर रस है क्या? सुनिये—तृतीय मत में जिस भावनात्मक दोष की चर्चा की गई है, उसके प्रभाव से सहृदयों को एक प्रकार का मानस-मनःसन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला (जिसमें बाह्य इन्द्रियों के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं पड़ती) ज्ञान होता है, वही (ज्ञान) 'रस' है। उस ज्ञान में सहृदयों की आत्मा विशेष्य होती है, जिस (आत्मा) में दुष्यन्त आदि का तादात्म्य-अभेद भासित होता रहता है और शकुन्तला आदि की रति आदि प्रकार होता है, अर्थात् 'मैं दुष्यन्त, शकुन्तला विषयक रति वाला हूं' ऐसा ज्ञान होता है। यह ज्ञान काव्यार्थों के पुनः पुनः अनुसन्धान से होता है। लोकोत्तर-विलक्षण रति आदि इस ज्ञान के विषय होते हैं अत एव यह ज्ञान विलक्षण-विषयता-शाली कहा जाता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार के भ्रम को 'रस' कहते हैं।

नन्वेवं स्वप्नकालिकज्ञानस्यापि मानसत्वाद् रसत्वापत्तिरित्यत आह—

स्वप्नादिस्तु तादृशबोधो न काव्यार्थचिन्तनजन्मेति न रसः। तेन न तत्र तादृशाह्लादापत्तिः।

स्वप्नकालिको हि शकुन्तलाविषयकरतिमद्दुष्यन्ताभेदप्रकारकबोधो मनस्सन्निकर्षजन्यः सन्नपि, न काव्यार्थभावनाजन्य इति न तस्य रसत्वम्, न वा तत्राह्लादविशेष आपद्यत इत्यभिप्रायः।

आप कहेंगे कि यदि इस तरह के मानसज्ञान को ही रस कहा जाय, तब तो स्वप्न आदि में जो इसीप्रकार का मानसज्ञान होता है, उसको भी रस कहना पड़ेगा। इसी शङ्का का समाधान देते हैं—'स्वप्नादिस्तु' इत्यादि। स्वप्न आदि में भी इस तरह का मानसज्ञान होता है, यह बात सही है, परन्तु वहाँ का वह ज्ञान काव्यार्थ के पुनः पुनः अनुसन्धान से नहीं हुआ रहता, अतः रस नहीं कहला सकता और न उसमें उस प्रकार का आनन्द ही आ सकता है, क्योंकि काव्यार्थ के अनुसन्धान से होने वाले उस कप्रार का ज्ञान ही रस कहा गया है तथा आनन्दजनक माना गया है।

सहृदये वास्तविकरतेरभावादनुभवे च विषयसत्त्वस्य कारणतयाऽपेक्षणात् प्रकृते रत्यादिबोधस्यासम्भव इत्याशङ्कते—

एवमपि स्वस्मिन्नविद्यमानस्य रत्यादेरनुभवः कथं नाम स्यात्?।

एवमपि सहृदयस्य शकुन्तलादिरतिमद्दुष्यन्ताभेदप्रकारकमानसबोधस्वीकारेऽपि, स्वस्मिन् सहृदयात्मनि। इतरत् स्फुटम्।

इस तरह मानने पर भी एक शङ्का यह रह जाती है कि जो रति आदि हम में हैं ही नहीं केवल मनगढन्त हैं, उनका अनुभव हो कैसे होगा? क्योंकि अनुभव के प्रति विषय-सत्ता को कारण माना गया है।

समादधाति—

मैवम्, नह्ययं लौकिकसाक्षात्कारो रत्यादेः, येनावश्यं विषयसद्भावोऽपेक्षणीयः स्यात्। अपि तु भ्रमः।

लौकिकप्रत्यक्षे हि कारणतया विषयस्य वस्तुतः सत्त्वमपेक्ष्यते, भ्रमे तु रज्जावसतोऽपि सर्पस्य भानमिति सहृदयसमवेतरत्यादिप्रतीतेर्दोषजन्यत्वाद् भ्रमत्वेन न वास्तविकविषयसद्भावापेक्षेति भावः।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि लौकिक प्रत्यक्ष के प्रति ही विषय-सत्ता कारण है अर्थात् लौकिक अनुभव के सम्बन्ध में ही यह नियम है कि जिन वस्तुओं का अनुभव होता है वे आँख, कान, नाक आदि ज्ञान-जनक इन्द्रियों के सामने अवश्य उपस्थित रहते हैं, भ्रम में ऐसा नियम नहीं है अर्थात् भ्रम विषय के विना भी होता है, जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम विषय (सर्प) के न रहने पर भी होता है, भावनारूप दोषप्रयुक्त यह रति आदि का ज्ञान भी एक प्रकार का भ्रम ही है अतः उस रति आदि विषय के वस्तुतः न रहने पर भी उसके ज्ञान होने में किसी तरह की बाधा नहीं हो सकती।

नन्वेतन्मते भ्रमात्मकस्य रत्यादिज्ञानस्यैव रसत्वात् तद्विषयकज्ञानान्तरानुत्पत्तेरास्वादो रसविषयक इति व्यवहारो नो पपद्यत इत्यतोऽभिधत्ते—

आस्वादनस्य रसविषयकत्वव्यवहारस्तु रत्यादिविषयकत्वालम्बनः इत्यपि वदन्ति।

भ्रमरूप-रस-विषयीभूतरत्यादीनामास्वाद एव रसास्वादव्यवहारः, तत्रत्यरसपदस्य रसत्वानुकूलरत्यादिपरत्वस्य विचक्षणादिति तात्पर्यम्।

आप कहेंगे कि जब रस भ्रमात्मक ज्ञान रूप है, तब 'रस का आस्वादन होता है' यह व्यवहार असङ्गत हो जायगा क्योंकि आस्वादन भी एक प्रकार का ज्ञान है, फिर ज्ञान का ज्ञान क्या होगा? इसका उत्तर देते हैं—'आस्वादनस्य' इत्यादि। रति आदि जो भ्रम का विषय है अर्थात् जिस रति आदि के विषय में भ्रम होता है उसका आस्वादन हो सकता है, होता भी है, बस उसी विषय (रति आदि) गत आस्वादन का विषयी (भ्रमात्मक-रस) में आक्षेप करके उक्त व्यवहार होता है। वस्तुतः रस का आस्वादन ही नहीं होता। ये लोग यह भी कहते हैं।

तुरीयमते विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि-भ्रमात्मकज्ञानरूपरसस्य विनिगमनाविरहात् त्रैविध्यं प्रतिपादयति—

एतैश्च स्वात्मनि दुष्यन्तत्वधर्मिताऽवच्छेदक-शकुन्तलादिविषयकरति-वैशिष्ट्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्ट-दुष्यन्तता-दात्म्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्व-शकुन्तलाविषयकरत्योर्वैशिष्ट्यावगाही वा त्रिविधोऽपि बोधो रसपदार्थतयाऽभ्युपेयः।

एतैस्तुरीयमतालम्बिभिः। एतैरित्यभ्युपेयमित्यनेनान्वेति। स्वं सहृदयः। रतिवैशिष्ट्यं धर्मो दुष्यन्तश्च धर्मी। दुष्यन्तत्वं धर्मिताऽवच्छेदकं यत्र, तादृशं यच्छकुन्तलाविषयकरति-वैशिष्ट्यम्, तदवगाहीतद्विषयकः 'अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इत्याकारक एको मानसो बोधः।

स्वात्मत्वविशिष्टे निजात्मनि, शकुन्तलाविषयकरतिविशिष्टो यो दुष्यन्तस्तस्य तादात्म्य-मभेदमवगाहते विषयीकरोति, तादृशः शकुन्तलाविषयकरतिमद्दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारको द्वितीयो बोधः।

स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्वस्य शकुन्तलाविषयकरतेश्च यद् वैशिष्ट्यं सम्बन्धः, तदव-गाही 'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमांश्चाहम्' इत्याकारकश्च तृतीयो बोधः।

त्रिषु विषयैक्येऽपि विनिगमनाविरहादुद्देश्यविधेयभावभेदाद् बोधभेदः। त्रिविधोऽयं बोध एवात्र मते रसपदार्थतयाऽभ्युपेयः स्वीकार्य इत्यर्थः।

इस मत के अनुसार जिस ज्ञान को रस कहते हैं, उसका स्वरूप तीन प्रकार का हो सकता है यही दिखलाते हैं—'एतेन' इत्यादि। ज्ञान के तीनों स्वरूप निम्नलिखित हैं— १. दुष्यन्त आदि में रहनेवाली जो शकुन्तला आदि की रति है, उस (रति आदि) से युक्त मैं हूं। २. मैं शकुन्तलादि-विषयक रति-युक्त-दुष्यन्त से अभिन्न हूं। ३. मैं दुष्यन्तत्व से और शकुन्तला विषयक रति से भी युक्त हूं। इन तीनों ही ज्ञानों को इस मत के अनुसार रस मानना पड़ेगा, क्योंकि एक को ही रस मानने में कोई खास युक्ति नहीं है। यद्यपि इन तीनों ज्ञानों में विषय एक सा ही है, तथापि उद्देश्य-विधेय-भाव के भेद से ये ज्ञान परस्पर भिन्न होते हैं अर्थात् प्रथम ज्ञान में 'मैं' उद्देश्य है और दुष्यन्त में रहने वाली रति विधेय। द्वितीय ज्ञान में उद्देश्य वही 'मैं' है परन्तु विधेय है शकुन्तला-विषयकरति युक्त-दुष्यन्त का अभेद। और तृतीय ज्ञान में भी उद्देश्य 'मैं' ही है किन्तु विधेय दो हैं—एक दुष्यन्तत्व और दूसरा शकुन्तला-विषयक-रति, अत एव यह तृतीय ज्ञान समुच्चयात्मक है।

मतेऽस्मिन् रत्यादिग्राहकस्यानुमानस्यावश्यकतामाचष्टे—

तत्र रतेर्विशेषणीभूतायाः शब्दादप्रतीतत्वाद्, व्यञ्जनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया अनभ्युपगमाच्चेष्टादिलिङ्गकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानमभ्युपेयम्।

तत्र बोधत्रये, स्वात्मनि विशेषणीभूता या रतिः, तस्याः शब्दादप्रतीतत्वाद्वाचक-शब्दादज्ञातत्वात्, तत्प्रत्यायिकाया रतिबोधिकायाः, व्यञ्जनायाश्चात्रमतेऽनभ्युपगमादस्वीकाराच्च, आदौ प्रथमम्, चेष्टा नटादिव्यापार एव लिङ्गं हेतुर्यत्र, तादृशम् 'अयं (नटरूपो) दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्, तद्विषयककटाक्षभुजविक्षेपादिचेष्टावत्त्वात्' इत्याकारक-मनुमानं विशेषणज्ञानार्थं रतिप्रत्ययनिमित्तम्, अभ्युपेयमङ्गीकरणीयमित्यर्थः।

अत्र मते पूर्वं दुष्यन्तत्वेन ज्ञाते नटे चेष्टया शकुन्तलारतेरनुमानम्, पश्चात् तादृश-दुष्यन्तेन सहात्मनस्तादात्म्यावगाहि प्रागुक्तं त्रिविधं मानसं ज्ञानमेव रस इति सारम्। तुरीयं मतमगसितम्।

इस मत में रति के ज्ञान करने के लिये अनुमान की आवश्यकता पड़ेगी, इसी बात का प्रतिपादन करते हैं—'तत्र' इत्यादि। आशय यह है कि इन तीनों ज्ञानों में रति विशेषण-रूप से प्रविष्ट है अतः इन ज्ञानों के होने से पूर्व रति का ज्ञान हो जाना आवश्यक है, परन्तु उसका ज्ञान होगा कैसे? काव्य के शब्दों से हो नहीं सकता, क्योंकि काव्यों में रति आदि के वाचक शब्द लिखे नहीं रहते और उसका बोध करानेवाली जो व्यञ्जना अन्य मतों में स्वीकृत थी, उसका स्वीकार इस मत में किया ही नहीं गया है, फिर तो अगत्या विशेषणीभूत उस रति आदि के ज्ञान के लिये अनुमान की शरण इस मत में लेनी ही पड़ेगी, अर्थात् उक्त ज्ञानों से पहले नट आदि की चेष्टा को हेतु बनाकर 'दुष्यन्त, शकुन्तला विषयक रति वाला है, क्योंकि उस रति से होने वाली चेष्टा उसमें विद्यमान है' ऐसा अनुमान करना पड़ेगा।

पञ्चमं भट्टलोल्लटादीनां मतमुपपादयति—

(५) 'मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादिः कमनीयविभावाद्यभिनय-प्रदर्शनकोविदे दुष्यन्ताद्यनुकर्तरि नटे समारोप्य, साक्षात्क्रियते'। इत्येके।

मुख्यतया साक्षात्सम्बन्धेन वस्तुतः, दुष्यन्तादिगतोऽनुकार्यवृत्तिरेव, नत्वनुकर्तृ-नटादिवृत्तिः, तत्र तस्यारोपितत्वेनावास्तविकत्वात्। कमनीयो यो विभावादीनामभिनयोऽ-

वस्थानुकारः, तस्य प्रदर्शने कोविदो निपुणः। दुष्यन्तादीनामनुकर्ताऽनुकरणकृत्। इदं दृश्यकाव्ये, श्रव्यकाव्ये त्वनुकरणाभावात् काव्यपाठके स्वात्मनि समारोपः। एके प्राचीनेष्वपि प्रसिद्धतमा भट्टलोल्लटप्रभृतयो वदन्तीति शेषः।

अब रस के विषय में भट्ट लोल्लट आदि कतिपय पण्डितों के मतों का उपपादन करते हैं—'मुख्यतया' इत्यादि। वस्तुतः साक्षात् सम्बन्ध से दुष्यन्त आदि अनुकार्य में रहने वाले रति आदि ही रस हैं, उन रति आदि को ही नाटक में विभाव आदि के सुन्दर अभिनय दिखाने में निपुण दुष्यन्त आदि का पार्ट करने वाले नट पर और काव्य में उसके पाठकों के ऊपर आरोपित करके हम उनका अनुभव करते हैं।

एतन्मतप्रतिपाद्य शेषमाचष्टे—

मतेऽस्मिन् साक्षात्कारो 'दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलादिविषयकरतिमान्' इत्यादिः प्राग्वद्धर्म्यंशे लौकिक आरोप्यांशे त्वलौकिकः।

साक्षात्कारः प्रत्यक्षात्मकं ज्ञानम्। प्राग्वच्चतुर्थमत इव विनिगमनाविरहादुद्देश्यविधेयभाववैलक्षण्येन त्रिविधः। धर्मी इदन्त्वेन गृह्यमाणो नटः, तस्य चक्षुस्सन्निकृष्टत्वात् साक्षात्कारो लौकिकः। आरोप्यं दुष्यन्तत्वादि, तस्य चासन्निकृष्टत्वादलौकिकः साक्षात्कारो भवतीति शेषः। भरतसूत्रव्याख्याता भट्टलोल्लटो मीमांसक इत्येतन्मतं मीमांसकमतत्वेनान्यत्रोल्लिखितम्। तथाहि—'विभावैर्जनितः, अनुभावैः प्रकाशितः, व्यभिचारिभावैश्च पोषितश्च शकुन्तलादिविषयको दुष्यन्तादावनुकार्ये वास्तविकः अभिनयकौशलेन दुष्यन्तादित्वेन ज्ञायमानेऽनुकर्तरि नटे चारोपितः, सहृदयैः पश्चाद् भावनारूपदोषजन्य-नटतादात्म्याध्यासादात्मनि साक्षात्क्रियमाणो रत्यादिः स्थायी रस इत्यन्यत्र तन्मतम्। पञ्चममतं सम्पूर्णम्।

इस मत में भी रस-ज्ञान का स्वरूप, पूर्वमत की तरह 'शकुन्तला विषयक रति से युक्त यह (नट) दुष्यन्त है' इत्यादि रीति से उद्देश्य-विधेय-भाव में भेद होने के कारण तीन प्रकार का होगा यह समझना चाहिये। ये तीनों ही ज्ञान नटरूप धर्मी (विशेष्य) अंश में उसके आँखों के सामने उपस्थित रहने के कारण लौकिक और आरोप्य (जिसका आरोप करते हैं) दुष्यन्तत्व अंश में अलौकिक होते हैं क्योंकि वह अंश आँखों के सामने उपस्थित नहीं रहता।

काव्यप्रकाशे द्वितीयमतत्वेनोपात्तं षष्ठं तार्किकश्रीशङ्कुकमतमभिधत्ते—

(६) 'दुष्यन्तादिगतो रत्यादिर्नटे पक्षे दुष्यन्तत्वेन गृहीते, विभावादिभिः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैः, भिन्ने विषयेऽनुमितिसामग्र्या बलवत्त्वादनुमीयमानो रसः।' इत्यपरे।

अपरे वदन्तीति शेषः। दुष्यन्तत्वेन गृहीते 'दुष्यन्तोऽहम्' इति दुष्यन्तत्वप्रकारकज्ञानविषयीकृते, नटेऽनुकर्तरि शैलूषे, पक्षे सन्दिग्धसाध्यवति, कृत्रिमैः क्रियया निर्वृत्तैः शिक्षाभ्यासादिमात्रविहितत्वादवास्तविकैरपि, अकृत्रिमतया गृहीतैः साम्यातिशयेन वास्तविकतया ज्ञातैः, विभावादिभिर्हेतुभूतैः, समाने विषये प्रत्यक्षसामग्र्या बलवत्त्वेऽपि, विभिन्नविषयेऽनुमितिसामग्र्या एव बलवत्त्वात्तद्विषयकप्रत्यक्षप्रतिबन्धनादनुमीयमानो दुष्यन्तादिगतः शकुन्तलादिविषयको रत्यादिरेव रसः। अयमपि भरतसूत्रस्य व्याख्याता।

इदमिहावगन्तव्यम्—'दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयकरतिमान्, तद्विषयककटाक्षभुजविक्षेपादिचेष्टावत्त्वात्' इत्यनुमित्याकारः। अनुमेयवस्तुसौन्दर्यबलादस्यानुमानस्येतरानुमानेभ्यो रमणीयत्वम्, मृदादिघटस्य इव कनकघटस्य। इन्द्रियसन्निकर्षरूप-नटविषयकप्रत्यक्षसामग्रीसद्भावेऽपि, रत्यादिसाध्यविषयकानुमितिसामग्र्या विभिन्नविषयकत्वेनेतरप्रतीतिप्रतिबन्धक-

त्वाद् रत्याद्यनुमितिरेव भवति, नतु नटप्रत्यक्षम्। परोक्षज्ञानस्याचमत्कारित्वं चात्र पक्षेऽरुचिबीजम्। षष्ठं मतं समाप्तम्।

अब रस के विषय में श्रीशङ्कुक के छठे मत का प्रतिपादन करते हैं—'दुष्यन्तादिगतो' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि जब हम 'अभिज्ञानशाकुन्तल आदि नाटक देखते रहते हैं उस समय नट में हमें दुष्यन्त आदि का ज्ञान होता है और वह ज्ञान–चित्र–लिखित तुरंग को देखकर जो 'यह घोड़ा है' ऐसा ज्ञान होता है—ठीक वैसा ही है अर्थात् वह ज्ञान सम्यक्, मिथ्या, सादृश्य ज्ञानों से विलक्षण रहता है क्योंकि वस्तुतः दुष्यन्त से भिन्न में होने के कारण उस ज्ञान को सम्यक् (प्रमात्मक) नहीं कह सकते, उत्तर-काल में बाध न होने से उसको मिथ्या (भ्रमात्मक) भी नहीं मान सकते, सादृश्य-अंश की प्रतीति न होने से सादृश्यज्ञान भी उसको नहीं बतला सकते, फलतः वह ज्ञान विलक्षण है, यही कहा जासकता है। वस्तुतः पूर्वमत की तरह विशेष्य अंश में लौकिक और विशेषण अंश में अलौकिक भ्रमात्मक ज्ञान ही वह है। इस तरह हम सहृदयों से दुष्यन्त आदि रूप में समझा गया और अभिनय करने में निपुण नट आदि के द्वारा प्रकाशित विभाव आदि—जो वस्तुतः कृत्रिम–अवास्तविक रहते हैं—अकृत्रिम–वास्तविक मालूम पड़ने लगते हैं, अतः वास्तविक–स्वाभाविक मालूम पड़ने वाले उन विभावादिकों से दुष्यन्तादि रूप से समझे गये नट रूप पक्ष में शकुन्तला आदि की रति की अनुमिति होती है और उसी अनुमिति का विषयीभूत रति आदि 'रस' है। यद्यपि अन्य अनुमितियों में चमत्कार–आस्वाद नहीं होता अतः इस अनुमिति में भी वह नहीं होगा ऐसी शङ्का यहाँ की जासकती है, तथापि यहाँ अनुमेय वस्तुओं के सौन्दर्य से अनुमिति में चमत्कार पैदा हो जाता है ऐसा समझना चाहिये अत एव सहृदयजन बार बार उस अनुमिति को करते हैं, जिससे उस रति आदि की चर्वणा उन्हें होती है। यद्यपि अनुमान के द्वारा किसी चीज की एक बार सिद्धि हो जाने पर दुबारा उस चीज की अनुमिति उसी व्यक्ति के द्वारा नहीं की जासकती क्योंकि सिद्धि को अनुमिति का प्रतिबन्धक माना गया है तथापि अनुमित्सा–अनुमिति की इच्छा के रहने पर सिद्धि प्रतिबन्धक नहीं होती यह ज्ञात होना चाहिये। अनुमिति का आकार यह होता है कि 'यह (नट) दुष्यन्त–शकुन्तला–विषयक रतिवाला है, क्योंकि तद्विषयक कटाक्ष भुजक्षेप आदि चेष्टाओं से वह युक्त है'। एक बात और—यहाँ यह शङ्का उठ सकती है कि जिस क्षण में अनुमिति होती है उस क्षण में वहाँ और और भी बहुतसी दर्शनीय वस्तुयें आँखों के सामने उपस्थित रहती हैं, जिससे उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष भी अवसर प्राप्त रहता है, फिर उस समय में उक्त अनुमिति न होकर उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष ही क्यों नहीं होता? पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिये कि एक काल में दो ज्ञान नहीं हो सकते, अतः दोनों ही (अनुमिति और प्रत्यक्ष) होंगे यह बात नहीं कही जासकती। इसका उत्तर यह है कि जहाँ एक ही समय में एक वस्तु की प्रत्यक्ष सामग्री और दूसरी वस्तु की अनुमिति–सामग्री जुट जाती है, वहाँ उस स्थिति में अनुमिति ही होती है, प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति भिन्नविषयक अनुमिति सामग्री को दार्शनिकों ने प्रतिबन्धक माना है। क्यों उसको प्रतिबन्धक माना गया है? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए। भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति भिन्नविषयक अनुमिति–सामग्री को प्रतिबन्धक मानने का पहला कारण यह है कि उस स्थिति में अनुमिति का होना ही अनुभव सिद्ध है। दूसरा कारण यह भी है कि प्रत्यक्ष सामग्री की अपेक्षा अनुमिति–सामग्री गुरु–भूत रहती है, अर्थात् प्रत्यक्ष–सामग्री (चक्षुःसन्निकर्ष आदि) को जुटाना नहीं पड़ता अगर किसी अंश में जुटाना भी पड़े तो उसमें बहुत अल्प अभ्यास करना पड़ता है और अनुमिति–सामग्री (व्याप्तिज्ञान आदि जिसकी संख्या अधिक है) को जुटाना पड़ता है जिसमें बहुत अधिक अभ्यास करना पड़ता है, ऐसी स्थिति में अगर उक्त दोनों सामग्रियों में से किसी

एक सामग्री को व्यर्थ करना पड़े तो लोग किसको व्यर्थ करना चाहेंगे ? उत्तर स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष-सामग्री को, क्योंकि वह थोड़ी है और उसमें आयास भी कम करना पड़ा था। अब नाटक देखते समय भिन्न विषयक प्रत्यक्ष-सामग्री के जुटी रहने पर भी शकुन्तलादि विषयक रति की अनुमिति ही क्यों होती है इस शङ्का का उत्तर पाठकों को स्पष्ट रूप से समझ आ जायगा। यह तो हुई नाटक की बात, काव्य में उसके पाठकों पर ही यह नगाड़ा बजता है अर्थात् उन्हीं को दुष्यन्त आदि समझा जाता है और उन्हीं को पक्ष बनाकर रति आदि की अनुमिति की जाती है।

अथ प्रकीर्णे मतपञ्चके प्रथमं पूर्वक्रमाच्च सप्तमं मतं निर्दिशति—

(७) 'विभावादयस्त्रयः समुदिता रसाः' इति कतिपये।

समुदिताः परस्परं मिलिताः, विभावादयो विभावानुभावव्यभिचारिस्थायिभावा एव रसा रसनव्यापारयोगादास्वाद्या इति कतिपये कियन्तो व्याहरन्तीत्यर्थः।

'प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते। ततः सम्मिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम्॥
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्॥'

इत्युक्तेः खण्डमरिचादीनामिव विभावादीनां मिथस्सम्मेलनेन प्रपाणकरस इव काव्यरसः कोऽपि निष्पद्यत इत्याशयः।

अब रस-विषयक सप्तम मत का प्रतिपादन करते हैं—'विभावादयः' इत्यादि। कुछ लोगों का कहना है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव ये तीनों ही सम्मिलित होने पर 'रस' कहलाते हैं।

द्वितीयं पूर्वक्रमादष्टमं मतमुपन्यस्यति—

(८) 'त्रिषु य एव चमत्कारी, स एव रसः। अन्यथा तु त्रयोऽपि न।' इति बहवः।

त्रिषु विभावानुभावव्यभिचारिषु, य एवान्यतमः स्वपोषकसामग्रीप्रकर्षात्, चमत्कारी चिच्छित्तिविशेषशाली, स एव, न तु चमत्कृतिशून्योऽपि, रसो भवतीति शेषः। अन्यथा चमत्कारिताविरहे तु, त्रयो विभावादयो मिलिता अपि, किमुतैकः, न रस इति बहवो व्याहरन्तीत्यर्थः। लोकोत्तरचमत्कारस्यैव रसत्वव्यवस्थापकत्वात् तदभावे विभावादित्वमात्रेणैव न रसत्वमिति भावः।

अब रस-सम्बन्धी अष्टम मत का उपादान करते हैं—'त्रिषु' इत्यादि। कतिपय विद्वानों का कथन है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव इन तीनों में जो चमत्कारी हो वही रस है और यदि चमत्कारी न हों, तब एक की बात ही क्या, तीनों मिलकर भी रस नहीं कहला सकते क्योंकि लोकोत्तर चमत्कार को ही काव्य का प्राण माना गया है।

तृतीयं पूर्वक्रमान्नवमं मतं प्रकाशयति—

(९) 'भाव्यमानो विभाव एव रसः' इत्यन्ये।

भाव्यमानः पुनःपुनरनुसन्धानरूपभावनाविषयीक्रियमाणो विभाव आलम्बनोद्दीपनात्मक एव, न त्वनुभावव्यभिचारिणावपि, रस इत्यन्ये मन्यन्त इत्यर्थः।

प्रादुर्भावकेषु विभावस्यैव प्राथम्येन प्राधान्याद् रसत्वमिति तात्पर्यम्।

अब रस-सम्बन्धी नवम मत का उल्लेख करते हैं—'भाव्यमानः' इत्यादि। अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि पुनः पुनः अनुसन्धान किया गया विभाव (आलम्बन और उद्दीपन कारण) ही रस है (अनुभाव और सञ्चारी नहीं)।

चतुर्थं पूर्वक्रमाद् दशमं मतमभिदधाति—

(१०) 'अनुभावस्तथा' इतीतरे।

अनुभावः स्थायिकार्यरूपः, तथा भाव्यमानो रस इतीतरे प्रतिपादयन्तीत्यर्थः।

भावनायाः = प्रभावेण, कारणापेक्षया कार्यस्य विच्छित्तिविशेषाधायकत्वे न चानुभावस्यैव रसत्वं मन्तव्यमित्याकूतम्।

अब रस-सम्बन्धी दशम मत की चर्चा करते हैं—'अनुभाव' इत्यादि। कुछ पण्डितों का मत है कि पुनः पुनः चिन्तन किया गया अनुभाव ही रस है (विभाव सञ्चारी नहीं)।

पञ्चमं पूर्वक्रमादेकादशं मतमाचष्टे—

(११) 'व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति' इति केचित्।

पूर्वस्तथाशब्दो भाव्यमानार्थको द्वितीयश्च रसार्थकः।

तथा भावनाविशेषविषयीक्रियमाणो व्यभिचारी भाव एव तथा रसरूपतया परिणमतीत्येके कथयन्तीत्यर्थः।

अब रससम्बन्धी ग्यारह वें मत का प्रतिपादन करते हैं—'व्यभिचार्येव' इत्यादि। अनेक पण्डितों का कथन है कि व्यभिचारी भाव ही पुनः पुनः चिन्ता का विषय होकर रस रूप में परिणत हो जाता है।

भावनामहिम्ना प्राधान्यं भजन् व्यभिचार्यपि भावत्वमिव रसत्वं प्रतिपद्यत इति भावः।

उक्तमतेष्वष्टानां क्रमेण प्रामाणिकत्वं दर्शयितुमुपक्रमते—

तत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इतिसूत्रं तत्तन्मतपरतया व्याख्यायते—

तत्र तेष्वेकादशसु मतेषु, समूलकत्वं साधयितुमाचार्यभरतस्य विभावेत्यादिसूत्रं, तत्तन्मतपरतया तेषां तेषामादितोऽष्टानां मतानामनुकूलतया व्याख्यायते मयेति शेषः।

अब उक्त मतों में कितने प्रामाणिक और कितने अप्रामाणिक हैं इस बात का निर्णय करने के लिये रससम्बन्धी मूलभूत-भरतसूत्र की व्याख्या करने का उपक्रम करते हैं—'तत्र' इत्यादि। उस उस मत के अनुसार 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः' इस सूत्र की व्याख्या करते हैं।

आद्याचार्याभिनवगुप्तमते द्विविधकल्पानुकूलां सूत्रव्याख्यामाह—

'विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोगाद् व्यञ्जनाद् रसस्य चिदानन्दविशिष्टस्थाय्यात्मनः, स्थाय्युपहितचिदानन्दात्मनो वा निष्पत्तिः स्वरूपेण प्रकाशनम्।' इत्याद्ये।

विभावेनानुभावेन व्यभिचारिभावेन (सह) संयोगाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्धात् प्रथमकल्पे चिदानन्दविशिष्टस्थाय्यात्मनश्चैतन्याह्लादविषयीभूतरत्यादिरूपस्य, द्वितीयकल्पे स्थाय्युपहितचिदानन्दात्मनो रत्यादिविषयकचैतन्याह्लादरूपस्य, रसस्य, निष्पत्तिः स्वरूपेण-प्रकाशनमित्याद्यमते सूत्रार्थः।

प्रथम आचार्य अभिनव गुप्त-मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' इत्यादि। 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा, संयोग अर्थात् ध्वनित होने से, आत्मानन्द-सहित स्थायीभावरूप अथवा स्थायीभावात्मक उपाधि से युक्त आत्मानन्दरूप रस की निष्पत्ति होती है अर्थात् वह अपने वास्तवरूप में प्रकाशित होता है' यह प्रथम मत में अर्थ है।

द्वितीये भट्टनायकमते सूत्रव्याख्यामभिधत्ते—

'विभावानुभावव्यभिचारिणां सम्यक् साधारणात्मतया योगाद् भावकत्वव्यापारेण भावनाद्, रसस्य स्थाय्युपहित-सत्त्वोद्रेकप्रकाशित-स्वात्मानन्दरूपस्य, निष्पत्तिर्भोगाख्येन साक्षात्कारेण विषयीकृतिः।' इति द्वितीये।

संयोगस्य सम्यग् योगादिति, सम्यगित्यस्य साधारणात्मतयेति, योगादित्यस्य भावकत्वव्यापारेण भावनादिति, रसस्येत्यस्य सत्त्वोद्रेकोद्भासित-रत्यादिविषयक-स्वात्मानन्दरूपार्थकं स्थाय्युपहितेत्यादि, निष्पत्तिरित्यस्य भुक्त्यपरपर्याय-भोगात्मकसाक्षात्कारविषयीकरणार्थकं भोगाख्येनेत्यादि च द्वितीयमते सूत्रार्थः ।

द्वितीय भट्टनायक-मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' इत्यादि । 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के (सं+योग) सम्यक् अर्थात् साधारणरूप से योग अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावना करने से स्थायीभावरूप उपाधि के सहित सत्वगुण की अभिवृद्धि से प्रकाशित, स्वकीय आत्मानन्द रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् भोग नामक साक्षात्कार का विषय बनाना' यह द्वितीय मत में सूत्रार्थ है ।

तृतीये नव्यमते सूत्रव्याख्यां ब्रवीति—

विभावानुभावव्यभिचारिणां संयोगाद् भावनाविशेषरूपाद् दोषाद् रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः' इति तृतीये ।

इह भावनाविशेषरूपो दोष एव संयोगः, अनिर्वचनीयभावापन्नो दुष्यन्तादिनिष्ठ-शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः, प्रातिभासिकोत्पत्तिरेव निष्पत्तिरिति विशेषः ।

तृतीय 'नव्य' मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' इत्यादि । 'विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग अर्थात् सहृदयता मूलक काव्यार्थभावनारूप दोष से दुष्यन्त आदि के अनिर्वचनीय रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति' यह तृतीय मत में सूत्र का अर्थ है ।

चतुर्थे परकीयमते सूत्रव्याख्यां ब्रूते—

'विभावादीनां संयोगाज् ज्ञानाद्, रसस्य ज्ञानविशेषात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः ।' इति चतुर्थे ।

अत्र संयोगो ज्ञानम् , रसश्च मानसप्रत्यक्षरूप इति विशेषः ।

चतुर्थ 'पर' मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभावादीनाम्' इत्यादि । 'विभाव आदि के संयोग अर्थात् ज्ञान से ज्ञान-विशेष रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति' यह चतुर्थ मत में सूत्र का अर्थ है ।

पञ्चमे भट्टलोल्लटमते सूत्रव्याख्यां व्याहरति—

'विभावादीनां सम्बन्धाद् रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरारोपः' इति पञ्चमे ।

इह संयोगः सम्बन्धः, नट आरोप्यमाणो रत्यादी रसः, निष्पत्तिरारोपः । सामाजिकस्य तु भावनात्मकदोषवशात् कथञ्चिन्नटेन सह तादात्म्याध्यासादास्वाद इति विशेषः ।

पञ्चम भट्ट लोल्लट-मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' इत्यादि । 'विभाव आदि के संयोग अर्थात् सम्बन्ध से रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् नट आदि पर आरोप' यह पञ्चम मत में सूत्र का अर्थ है ।

षष्ठे श्रीशङ्कुकमते सूत्रव्याख्यां प्रतिपादयति—

'विभावादिभिः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैः संयोगादनुमानाद् रसस्यरत्यादेर्निष्पत्तिरनुमितिः, नटादौ पक्ष इति शेषः' इति षष्ठे ।

अत्र संयोगोऽनुमितिहेतु-व्याप्तिज्ञानरूपमनुमानम् , अनुमेयो रत्यादी रसः, निष्पत्तिश्चानुमितिरिति विशेषः ।

षष्ठ श्रीशङ्कुक मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभादिभिः' इत्यादि । 'कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक रूप में समझे गए विभावादिकों (हेतु) के साथ संयोग अर्थात्

व्याप्ति नामक सम्बन्ध से रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् अनुमिति (नट रूप पक्ष में)' यह षष्ठ मत में सूत्र का अर्थ है।

सप्तमे कतिपयमते सूत्रव्याख्यामुपन्यस्यति—

'विभावादीनां त्रयाणां संयोगात् समुदायाद् रसनिष्पत्तौ रसपदव्यवहारः' इति सप्तमे।

इह संयोगो मिथस्सम्मेलनेन समुदायः, निष्पत्ती रसपदप्रतिपाद्यत्वेन व्यपदेश इति विशेषः।

सप्तम मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या—'विभाव आदि तीनों से संयोग अर्थात् सम्मेलन से रस की निष्पत्ति अर्थात् उस समूह में रस पद का व्यवहार' यह सप्तम मत में सूत्र का अर्थ है।

अष्टमे बहुमते सूत्रव्याख्यां निगदति—

'विभावादिषु सम्यग् योगाच्चमत्कारात्' इत्यष्टमे।

अत्र संयोगश्चमत्कार इति विशेषः।

अष्टम मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या—'विभाव आदि में सम्यक् योग अर्थात् चमत्कार से रस कहलाता है' यह अष्टम मत के अनुसार सूत्र का अर्थ है।

उपसंहरति—

तदेवं पर्यवसितस्त्रिषु मतेषु सूत्रविरोधः।

एवमुक्तप्रकारेण, केवलं पूर्वोक्तेष्वष्टसु मतेषु भरतसूत्रानुसारित्वस्य सम्भवात्, त्रिष्वन्यमेषु त्वेकैकमात्रोपादानाद् विभावादीनां त्रयाणामनुपादानाद् भरतसूत्रस्य प्रागुल्लिखितस्य, विरोधः पर्यवसित इत्यर्थः।

भरतसूत्रानुसारि मताष्टकमेव साधीयः, तद्विरुद्धमतत्रयं तु निर्मूलकत्वादनुपादेयमेवेति सारम्।

इदमपीहाकलनीयम्—यथा भरतसूत्रविरोधादिहान्तिमं मतत्रयं हेयम्, भावकत्वरूपाधिकव्यापारस्वीकारगौरवाद् द्वितीयम्, भावनादोषत्वकल्पनागौरवाद्, रसस्यानिर्वचनीयत्वाङ्गीकारेऽवास्तविकत्वापाताच्च तृतीयम्, मानसज्ञानात्मनो रसस्य भ्रमत्वाभ्युपगमेऽतात्त्विकत्वापत्तेस्तुरीयम्, रसस्य नटवृत्तेर्वस्तुतः सामाजिकवृत्तित्वानङ्गीकारेण विलक्षणास्वादासम्भवात् पञ्चमम्, प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञानानामचमत्कारित्वस्य सर्वमतसिद्धतया रसस्यानुमेयत्वस्वीकारेऽचमत्कारित्वप्रसङ्गात् षष्ठम्, विभावादिसमूहनमात्रेण लोकोत्तररसत्वप्राप्त्यसम्भवात् सप्तमम्, एकस्य विभावाद्यन्यतमस्य रसासारचमत्कार-परिपूर्णताऽसद्भावादष्टमं च मतमर्वाचीनप्रासादनादेयमेव।

अवशिष्ट तीन मतों में सूत्र का अर्थ संगत नहीं होता, अतः उन मतों में सूत्र का विरोध पर्यवसित होता है—अर्थात् वे मत स्वतन्त्र हैं, सूत्रानुसारी नहीं।

ननु भरतसूत्र एव सम्मिलितानां विभावादीनां त्रयाणामुपादानस्य किं बीजम्?, येन विभावादिष्वेकमात्रावलम्बि चरमं मतत्रयं सूत्रविरोधादुपेक्ष्यत इत्याशङ्कां निरस्यति—

विभावानुभावव्यभिचारिणामेकस्य तु रसान्तरसाधारणतया नियतरसव्यञ्जकताऽनुपपत्तेः सूत्रे मिलितानामुपादानम्।

इदमुक्तं भवति—विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च कियन्तोऽनेकरससाधारणास्त्वेकरसनियताः सन्तीति तत्रैकमात्रोपादाने रसप्रतीतावनियमः स्यात्, मिलिता विभावादयस्त्रयस्त्वे-

करसाधारणा इति तदुपादाने न व्यभिचार इति सूत्रे मिलितानां त्रयाणामुपादानमावश्यकम् । तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे—'व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव रौद्राद्भुतवीराणाम् , अश्रुपाताद्योऽनुभावाः शृङ्गारस्येव करुणभयानकयोः, चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव करुणवीरभयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः ।' इति । 'वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघम्' इत्यादौ केवलविभावानाम् , 'परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गम्' इत्यादौ केवलानुभावानाम् , 'दूरादुत्सुकमागते विवलितम्' इत्यादौ केवलव्यभिचारिणां चोपादाने शृङ्गाररसप्रतीतेः प्रसिद्धत्वात् त्रयाणां मिलितानामुपादानमावश्यकमित्युक्तिर्निर्मूलेति चेत् , न, उक्तस्थलेष्वेकमात्रस्य शृङ्गाररसासाधारणस्योपादानेऽप्यवशिष्टान्यद्वयस्य तादृशस्यैव झटित्याक्षेपेण लाभाद् व्यभिचारासम्भवात् । तदुक्तम्—

> 'सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत् ।
> झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते ।' इति ।

विभावादिकों में से प्रत्येक से रस की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती इस शंका का समाधान देते हैं—'विभावानुभाव' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव इनमें से केवल एक अर्थात् केवल विभाव, केवल अनुभाव, अथवा केवल व्यभिचारीभाव किसी नियत रस का व्यञ्जक नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही विभाव, एक ही अनुभाव अथवा एक ही व्यभिचारीभाव अनेक रस का हो सकता है, जैसे व्याघ्र आदि जिस तरह भयानक रस के विभाव हो सकते हैं, उसी तरह वीर, अद्भुत और रौद्र रस के भी, अश्रु-पात आदि जिस तरह शृङ्गार के अनुभाव हो सकते हैं, उसी तरह करुण और भयानक रस के भी, चिन्ता आदि जिस तरह शृङ्गार के व्यभिचारीभाव हो सकते हैं, उसी तरह करुण, वीर और भयानक रस के भी । अतः भरत-सूत्र में तीनों का उल्लेख किया गया है ।

तदेवाह—

एवं च प्रामाणिके मिलितानां व्यञ्जकत्वे, यत्र क्वचिदेकस्मादेवासाधारणाद् रसोद्बोधः, तत्रेतरद्वयमाक्षेप्यम् , अतो नानैकान्तिकत्वम् ।

अनैकान्तिकत्वं व्यभिचारः ।

इस तरह जब यह प्रमाणित हो चुका कि तीनों (विभाव अनुभाव और व्यभिचारीभाव) सम्मिलित रूप में ही किसी खास रस को व्यक्त कर सकते हैं, तब यदि कहीं, किसी असाधारण (जो किसी एक ही रस का सम्बन्धी हो सकता हो) विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारीभाव में से किसी एक से ही खास रस की अभिव्यक्ति होती है, तब वहां जो एक वर्णित हो, उसके अतिरिक्त दो का उचित रूप से आक्षेप कर लेना चाहिये, अतः सूत्र का विरोध वहां नहीं होगा । इस प्रसङ्ग में मम्मट ने उदाहरणार्थ निम्नलिखित तीन श्लोक काव्य प्रकाश में उद्धृत किये हैं । (१) 'वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघम्' इत्यादि । (२) 'परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गम्' इत्यादि । (३) 'दूरादुत्सुकमागते विवलितम्' इत्यादि । इन श्लोकों में क्रमशः प्रथम में केवल विभावों का, द्वितीय में केवल अनुभावों का और तृतीय में केवल व्यभिचारी भावों का वर्णन किया गया है, परन्तु वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव असाधारण हैं अर्थात् केवल शृङ्गार रस में ही होने वाले हैं, अतः यहाँ अनेक रसों के व्यङ्ग्य होने का सन्देह नहीं हो सकता । तब बात रही यह कि शृङ्गार भी एक एक से कैसे अभिव्यक्त होगा, जिसका उत्तर ऊपर दिया ही जा चुका है कि वर्णित से अतिरिक्त दो का आक्षेप कर लिया जायगा ।

प्रकृतं रसस्वरूपनिरूपणमुपसंहरति—

इत्थं च नानाजातीयाभिः शेमुषीभिर्नानारूपतयाऽवसितोऽपि, मनीषिभिः

परमाह्लादाविनाभावितया प्रतीयमानः, प्रपञ्चेऽस्मिन् रसो रमणीयतामावहतीति निर्विवादम् ।

इत्थमुक्तरीत्या, नानाजातीयाभिरनेकविधाभिः, शेमुषीभिर्बुद्धिभिः, मनीषिभिः काव्यकोविदैः, नानारूपतयाऽनेकप्रकारकत्वेन, अवसितो ज्ञातोऽवधारितो वापि, परमाह्लादाविनाभावितया लोकोत्तरानन्दव्याप्यत्वेन, प्रतीयमान आस्वादपदवीमवतरन्, रसः, अस्मिन् प्रपञ्चे सन्दर्भे विश्वस्मिन् वा, रमणीयतामावहति सुषमाविशेषं चमत्कारोत्कर्षं वाऽऽदधातीति निर्विवादं निर्णीतमित्यर्थः ।

बुधानां बुद्धिवैविध्येन रसस्य स्वरूपनिरूपणे प्रकारबाहुल्येऽपि विच्छित्तिविशेषाधायकत्वे न काचिद्विमतिरित्यभिसन्धिः ।

इस प्रकार विद्वज्जनों ने, यद्यपि अनेक प्रकार की बुद्धियों के द्वारा रस को अनेक रूपों में समझा है, तथापि इस बात में किसी तरह का विवाद नहीं है कि रस अलौकिक आनन्द का व्याप्य पदार्थ है और वह संसार में एक सौन्दर्यमय वस्तु है।

एवं रसस्य स्वरूपं निरूप्य प्रकारानाचष्टे—

स च—

> 'शृङ्गारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा ।
> हास्यो भयानकश्चैव, बीभत्सश्चेति ते नव ॥'

इत्युक्तेर्नवधा ।

स रसः शृङ्गारादिभेदेन नवधा नवप्रकारक इत्यर्थः ।

अब रस के भेदों को दिखलाते हैं—'स च' इत्यादि। पूर्वोक्त रस के शृङ्गार, करुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और बिभत्स ये नौ भेद हैं।

नन्वेतदुक्तौ किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायामभिदधाति—

मुनिवचनं चात्र प्रमाणम् ।

अत्रास्यां रसनवविधावुक्तौ, मुनेर्महर्षिभरतस्य—'शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः । बीभत्सा-द्भुत-शान्ताश्च काव्ये नवरसाः स्मृताः ॥' इति नाट्यशास्त्रोक्तं वचनं च (चकारात्सहृदयानुभवः) प्रमाणमस्तीत्यर्थः ।

रस की इस सङ्ख्या में भरत मुनि का वचन ही प्रमाण है। अपने नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने 'शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः। बीभत्साद्भुत-शान्ताश्च काव्ये नवरसाः स्मृताः ॥' यह वचन कहा है।

अथ नाट्ये शान्तरसस्याभावमाशङ्कते—

केचित्तु—

> 'शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात् ।
> अष्टावेव रसा नाट्ये, न शान्तस्तत्र युज्यते ॥' इत्याहुः ।

नामानुपादानेन तुना चैतन्मतस्यारुचिग्रस्तता सूच्यते ।

शान्तस्य रसस्य, शमसाध्यत्वाच्छान्तिस्थायिकत्वात्, नटे वास्तविकसहृदयतानिधुरे केवलशिक्षाभ्यासादिनाऽनुकरणपटीयसि, तस्य शमस्यासम्भवाच्च हेतोः, नाट्येऽभिनेयकाव्ये, अष्टौ शृङ्गारप्रभृतय एव रसा भवन्ति, तत्र नाट्ये शान्तो रसो न युज्यते (नटस्य शमाभावात्) इत्यर्थः । केचिदित्यस्य—इत्याहुरित्यनेन सम्बन्धः ।

शान्तरसस्थायिशमस्य नटेऽसहृदयेऽसम्भवान्नाट्ये शान्तातिरिक्ता एवाष्टौ रसा इति पूर्वपक्षस्य सारम् ।

नाटक में शान्त-रस नहीं हो सकता इस परकीय शङ्का का स्वरूप दिखलाते हैं—'केचित्तु' इत्यादि। नाटक में आठ ही रस होते हैं, शान्त नहीं, ऐसा कुछ लोग कहते हैं और वे अपने कथन में युक्ति यह देते हैं कि शान्त रस की सिद्धि शम (शान्ति) से ही हो सकती है, जो (शान्ति) वैराग्य से सम्बन्ध रखता है और नट ठहरा सांसारिक झमेलों में आसक्त जीव, अतः उसमें शान्ति की सम्भावना नहीं, फिर नाटक में शान्तरस हो, तो, कैसे?

समादधाति—

तच्चापरे न क्षमन्ते। तथाहि—नटे शमाभावादिति हेतुरसङ्गतः, नटे रसाभिव्यक्तेरस्वीकारात्। सामाजिकानां शमवत्त्वेन तत्र रसोद्बोधे बाधकाभावात्।

इदमुच्यते—नटे शमासम्भवो न तु सामाजिके। नटे तु 'यतः कश्चिन्न रसं स्वदते नटः' इत्युक्तेर्नटे रसास्वादाभावः। सहृदयत्वमेव हि रसास्वादकताऽवच्छेदकं न तु नटत्वम्। यश्च क्वचिन्नटस्यास्वादः, स तस्य काव्यार्थभावनया, सहृदयत्वेनैव 'काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्' इति दर्पणात्। किञ्च—वक्ष्यमाणक्रमेण श्रव्ये महाभारतादौ शान्तरसस्वीकृतौ न कस्यापि विमतिः। दृश्यकाव्ये तु नटे वास्तविकशमाभावादभिनयासम्भवात् केचिन्न मन्यन्ते। परेतु तत्रापि 'अष्टावेव रसा नाट्ये-ष्विति केचिदचूचुदन्। तदचारु, यतः, 'कश्चिन्न रसं स्वदते नटः॥' इत्यभियुक्तोक्तिमनुसृत्य, प्रबोधचन्द्रोदयाद्यभिनये रसं साक्षात्कृत्य च तमूरीकुर्वन्ति। तस्य स्थायिनं केचन निर्वेदं मन्यन्ते। अपरे निर्वेदस्य विश्वविषयालम्प्रत्ययात्मकस्यात्मावमानरूपस्य वा, चमत्कारित्वाभावं व्यपदिश्य, सकलतृष्णानिवृत्तिजन्यात्मपरिपूर्णत्वरूपविलक्षणानन्दलक्षणम्—'यच्च काम सुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।' इत्युक्तमहिमानं शममेव तथा व्याहरन्तीति दिक्।

उक्त शङ्का का समाधान करते हैं—'तच्चापरे' इत्यादि। दूसरे लोग उक्त शङ्का-कारक की बात को मानना नहीं चाहते। उनका कथन है कि नाटक में शान्तरस के न होने में आपने जो यह हेतु दिया है कि 'नट में शान्ति की सम्भावना नहीं है', वह संगत नहीं, क्योंकि हम लोग नट में रस की अभिव्यक्ति मानते ही नहीं, फिर उसकी शान्ति अथवा अशान्ति से हमें क्या लेना देना? जहाँ हम रस की अभिव्यक्ति मानते हैं, वे सामाजिक यदि शान्ति-युक्त होंगे, तब उनमें रसोद्बोध होगा ही, वहाँ उसके होने में तो किसी तरह की बाधा है नहीं।

नटे शमानङ्गीकारेऽनुपपत्तिं प्रकाश्य निरस्यति—

न च नटस्य शमाभावात् तदभिनयप्रकाशत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, तस्य भयक्रोधादेरप्यभावेन तदभिनयप्रकाशकताया अप्यसङ्गत्यापत्तेः।

प्रथमेन तच्छब्देन शमस्य, मध्यमेन नटस्य, चरमेण च भयक्रोधादेः परामर्शः।

यदि नटे शमः स्यात्, तदा स तदभिनयं विधातुं क्षमेत। न च तथा, तस्माद्भिनेयकाव्ये शान्तरसो नोचित इति पूर्वपक्षे, यद्यपि नटे वास्तविकः कोऽपि स्थायी न तिष्ठति, तथापि शिक्षाभ्यासादियत्नेन तदभिनयं सोऽनुतिष्ठतीति वस्तुस्थितौ, नटे शमस्याविरहेऽपि तदभिनयानुष्ठानेनासङ्गतिः। अन्यथा नटे रौद्रस्थायिक्रोधस्य, भयानकस्थायिभयस्य चासत्त्वात्तदभिनयानुष्ठानस्याप्यसङ्गत्यापत्तिरित्युत्तरम्।

यदि आप कहें कि शान्ति-विहीन नट शान्त-रस के अभिनयों को प्रकाशित नहीं कर सकता, तब हम आपसे कहेंगे कि नट, भयानक अथवा रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिये अभिनय करता है, यह तो आप भी मानते हैं, परन्तु आपके शान्तरस विषयक इस नूतन तर्क के अनुसार वह भी असंगत हो जायगा, क्योंकि नट में जैसे वास्तविक शान्ति नहीं

रहती, उसी तरह वास्तविक भय और क्रोध भी नहीं रहते, अतः इस कारण से अगर शान्तरस के अभिनय करने का अधिकारी वह नहीं होता तो भयानक और रौद्र रस के अभिनय का अधिकारी न होना भी उसके लिये उचित प्राप्त है।

पुनः पूर्वपक्षं विधाय निराकरोति—

यदि च नटस्य क्रोधादेरभावेन वास्तवतत्कार्याणां वधबन्धादीनामुत्पत्त्यसम्भवेऽपि, कृत्रिमतत्कार्याणां शिक्षाभ्यासादित उत्पत्तौ नास्तिबाधकमिति निरीक्ष्यते, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्।

नटे वास्तवस्य क्रोधादेरभावाद्वास्तवानि क्रोधादिकार्याणि शत्रूणां वधबन्धप्रभृतीनि नोत्पत्तुं सम्भवन्ति, किन्त्ववास्तवक्रोधादीनां सत्त्वादवास्तवानि तत्कार्याणि गर्जनतर्जनादीनि शिक्षाभ्यासादिबलाद् बाधकवैधुर्यात् कथं नोत्पद्येरन्निति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमालोक्यते चेत्, तर्हि नटेऽपि वास्तवशमाभावेन वास्तवशमाकार्याणां सकलतृष्णाविरामादीनामुत्पत्तेरभावेऽपि, कल्पितशमकार्याणामक्षिनिमीलनादीनां शिक्षाभ्यासादिबलादुत्पत्तिबोधकाभावात् कथं न स्यादुभयोर्वैषम्यविरहादित्याशयः।

यदि आप कहें कि नट में क्रोध आदि के न होने के कारण क्रोधादिक के वास्तविक कार्य वध-बन्धन आदि के उत्पन्न न होने पर भी कृत्रिम (बनावटी) वध-बन्धन आदि की शिक्षा और अभ्यास आदि से उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं होती, तब हम कहेंगे कि यहां भी वैसा ही समझिये अर्थात् वास्तविक शम के अभाव में वास्तविक शम-कार्य शरीर में अनास्था आदि के न होने पर भी शिक्षादि से नट बनावटी शम के कार्यों को दिखला सकता है।

पुनरशङ्कते—

अथ नाट्ये गीतवाद्यादीनां विरोधिनां सत्त्वात्, सामाजिकेष्वपि विषयवैमुख्यात्मनः शान्तस्य कथमुद्रेक इति चेत्।

गीतवाद्यादयो हि विशेषेण श्रोतुर्मनः सिन्वन्तीति विषया मनोविक्षेपकृतः, तेषां शमविरोधिनां नाट्ये प्राचुर्येण सत्त्वाद् विषयेभ्यो वैमुख्यमात्मास्वरूपं यस्य, तादृशस्य विषयविरुद्धस्वभावस्य शान्तरसस्य, सहृदयेऽपि (किमुत नटे) कथम्, उद्रेक आविर्भावो भवेत्? तस्मान्न नाट्ये शान्तो रस इति पूर्वपक्षाभिप्रायः।

एक शङ्का आप यह उपस्थित कर सकते हैं कि नाटक में शान्त रस के विरोधी गीत, वाद्य आदि वस्तुओं के विद्यमान रहने पर सामाजिकों में भी शान्तरस का उदय कैसे होगा? क्योंकि विषयों से विमुख होना ही शान्त रस का स्वरूप है।

उत्तरयति—

नाट्ये शान्तरसमभ्युपगच्छद्भिः फलबलात् तद्गीतवाद्यादेस्तस्मिन् विरोधिताया अकल्पनात्।

ये नाट्येऽपि शान्तं रसं स्वीकुर्वन्ति, ते दैवविषयकभावे विषयवैमुख्यसद्भावेऽपि, तद्भावानुकूलस्य गीतवाद्यादेर्यथा फलानुरोधेन विरोधितां न मन्यन्ते, तथाऽत्रापीत्युत्तरपक्षाशयः।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि शान्तरस-प्रधान नाटक के दर्शन से सहृदय सामाजिकों में शान्त रस का उदय होते देखते हैं, अतः नाटक में शान्त रस को स्वीकार करने वाले उन गीत-वाद्यादिकों को शान्त रस के विरोधी नहीं मानेंगे, क्योंकि फल के अनुसार ही कारण की कल्पना की जाती है।

उत्तरपक्षं समर्थयन्नुक्तव्यवस्थातिक्रमे दोषमाह—

विषयचिन्तासामान्यस्य तत्र विरोधित्वस्वीकारे, तदीयालम्बनस्य संसारा-

नित्यत्वस्य, तदुद्दीपनस्य पुराणश्रवण-सत्सङ्ग-पुण्यवन-तीर्थावलोकनादेरपि विषयत्वेन विरोधित्वापत्तेः।

तत्र शान्तरसे। पुण्यवनानि वृन्दावन-नैमिषारण्यप्रभृतीनि। तीर्थानि काश्यादीनि।

विषयचिन्तासामान्यमेव शान्तरसविरोधीति गीतवाद्याद्यनुकूलविषयसम्बन्धेऽपि, न नाट्ये शान्तरस इत्यपि वक्तुं न शक्यम्, यत एवमङ्गीकारे शान्तरसालम्बनोद्दीपनयोरपि विषयत्वाच्छ्रव्यकाव्येऽपि तदसत्त्वमापद्येत, तस्मादनुकूलानां विषयाणां विरोधित्वं न कल्पनीयमित्यभिप्रायः।

दूसरी बात यह कि विषय-चिन्तन-मात्र को यदि शान्त रस के विरोधी मान लिया जाय, तब शान्त रस का आलम्बन-संसार का अनित्य होना एवम् उसके उद्दीपन-पुराणों का सुनना, सत्सङ्ग, पवित्र वन और तीर्थों के दर्शन आदि भी विषय ही हैं, अतः वे सब भी शान्त रस के विरोधी हो जायँगे। इसलिये जिनमें शान्त रस के अनुकूल वर्णन हो, वे भजन-कीर्तन आदि उसके विरोधी नहीं हैं, अपितु उसके अभिव्यञ्जक ही हैं, ऐसा मानना चाहिए।

उक्तार्थे प्राचीनसम्मतिं दर्शयन् निगमयति—

अत एव च चरमाध्याये सङ्गीतरत्नाकरे—

> 'अष्टावेव रसा नाट्ये-ष्विति केचिदचूचुदन्।
> तदचारु, यतः कञ्चिन्न रसं स्वदते नटः॥'

इत्यादिना नाट्येऽपि शान्तो रसोऽस्तीति व्यवस्थापितम्।

अत एवेत्यस्य व्यवस्थापितमित्यत्र सम्बन्धः। सङ्गीतरत्नाकरनामा प्राचीनसङ्गीतविधाप्रबन्धः। अचूचुदन् व्याहार्षुः। अचारु सङ्गतिशून्यतयाऽसुन्दरम्। यत इत्यादिना तद्धेतूपन्यासः। कञ्चित् कञ्चिदपि। स्वदत इत्यन्तर्भावितण्यर्थत्वादास्वादयतीत्यर्थकम्। अन्यथाऽर्थासङ्गतिर्नटपदाच्चतुर्थ्या दुर्निवारत्वं च स्यात्।

यथा नटे नानास्वादितानामपि रसान्तराणां नाट्ये सत्त्वं स्वीक्रियते, तथैव शान्तस्यापि स्वीकरणीयम्, वैषम्ये बीजानुपलम्भादित्याकूतम्।

उक्त अर्थ में प्राचीनों की सम्मति दिखलाते हैं—'अत एव च' इत्यादि। जिसलिये वे गीत-वाद्य, शान्त रस के विरोधी नहीं हैं और नाटक में भी शान्त रस का होना उचित है, इसी लिये 'संगीत रत्नाकर' के अन्तिम अध्याय में 'अष्टावेव रसानाट्ये' इत्यादि अर्थात् नाटकों में आठ ही रस होते हैं' ऐसा कुछ लोग कहते हैं, परन्तु उनका वह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि नट किसी रस का आस्वादन नहीं करता-इत्यादि उक्ति के द्वारा-नाटकों में भी शान्त रस होता है यह सिद्ध किया है।

नाट्ये शान्तरसाभावाभ्युपगमेऽप्यन्यत्र तत्सत्त्वस्वीकृतिरावश्यकीत्याह—

यैरपि नाट्ये शान्तो रसो नास्तीत्यभ्युपगम्यते, तैरपि बाधकाभावान्महाभारतादिप्रबन्धानां शान्तरसप्रधानताया अखिललोकानुभवसिद्धत्वाच्च काव्ये सोऽवश्यं स्वीकार्यः।

नाट्ये शान्तरसाभावं वदन्तोऽपि बाधकानुपलम्भात् महाभारतप्रभृतिप्रबन्धेषु शान्तरसप्राधान्यस्य सकलसहृदयानुभवसिद्धतयाऽनपह्नवनीयत्वेन शान्तरसस्य नाट्येतरकाव्ये सत्तामवश्यं स्वीकुर्युरित्येतावताऽपि शान्तरससत्ता. रसानां नवता न सिध्यत्येवेत्यभिसन्धिः।

नाटकों में शान्त रस को न मानने पर भी काव्य में उसका मानना आवश्यक है इसी बात का उल्लेख करते हैं—'यैरपि' इत्यादि। आशय यह है कि जो लोग नाटकों में शान्त रस नहीं मानते हैं उन्हें भी काव्यों में उसको (शान्त रस को) अवश्य मानना

चाहिए क्योंकि उनके हिसाब से भी वहां उसको मानने में किसी तरह की बाधा नहीं है और 'महाभारत आदि ग्रन्थों में शान्त रस ही प्रधान है' यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है।

पुनः शान्तरससत्तामेव समर्थयन् सन्दर्भमुपसंहरति—

अत एव 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इत्युपक्रम्य, 'शान्तोऽपि नवमो रसः' इति मम्मटभट्टा अप्युपसमहार्षुः।

अत एव काव्ये शान्तरससत्त्वादेव। उपक्रम्य प्रारभ्य। उपसमहार्षुः समाप्तिमकार्षुः।

श्रव्यकाव्येऽपि शान्तरसानङ्गीकारे 'शान्तोऽपि नवमो रसः' इत्युपसंहारोक्तिर्मम्मटभट्टानां शान्तरसस्य, तन्नवमत्वस्य चाभावश्च सङ्गच्छेत, तस्मात् काव्ये शान्तरससत्ता निर्विवादैवेति सारम्।

इसीलिये मम्मट भट्ट ने भी 'नाटकों में आठ रस होते हैं' इस तरह से आरम्भ करके 'शान्त नामक एक नवम रस भी है' इस रूप में उपसंहार किया है। अर्थात् काव्यों में शान्त रस का होना मम्मट भट्ट के मतानुसार भी सिद्ध है। अतः रसों की कुल संख्या नौ है, यह निस्सन्देह बात है।

एवं रसान् परिगणय्य, तेषामास्वादे भेदाभावान्मिथोऽभेदे प्रसक्ते, स्थायिभेदेन भेदं दिदर्शयिषुः स्थायिभावान् क्रमेण परिगणयति—

अमीषां च—

रतिः शोकश्च निर्वेद-क्रोधोत्साहाश्च विस्मयः।
हासो भयं जुगुप्सा च, स्थायिभावाः क्रमादमी॥

अमीषां शृङ्गारादिरसानाम्। क्रमात् शृङ्गारस्य रतिः, करुणस्य शोकः, शान्तस्य निर्वेदः, रौद्रस्य क्रोधः, वीरस्योत्साहः, अद्भुतस्य विस्मयः, भयानकस्य भयम्, बीभत्सस्य च जुगुप्सा स्थायिभावः। एतेषां स्वरूपमग्रे स्फुटीभविष्यति।

अब इन रसों के स्थायीभावों के नाम गिनते हैं—'अमीषां च' इत्यादि। उक्त रसों के क्रमशः रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, भय और जुगुप्सा ये स्थायीभाव होते हैं। अर्थात् शृङ्गार का रति, करुण का शोक, शान्त का निर्वेद, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय, हास्य का हास, भयानक का भय और बीभत्स का जुगुप्सा स्थायीभाव होता है।

अथ प्रागुक्तमतभेदेन रसानां स्थायिभ्यो भेदं दर्शयति—

रसेभ्यः स्थायिभावानां घटादेर्घटाद्यवच्छिन्नाकाशादिव प्रथम-द्वितीयमतयोः, सत्यरजतस्यानिर्वचनीयरजतादिव तृतीये, विषयस्य (रजतादेः) ज्ञानादिव चतुर्थे भेदो बोध्यः।

अभिनवगुप्त-भट्टनायकमतयो रत्याद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य रसत्वाङ्गीकारात् तयोरवच्छेद्यावच्छेदभावरूपो भेदः। तृतीये नव्यमते प्रातिभासिकरत्यादेरसत्वाङ्गीकारात् तयोः सादृश्यात्माभेदः। चतुर्थे परकीयमते रत्यादिविषयकज्ञानस्य रसत्वाङ्गीकाराद् विषयविषयिभावरूपो भेदो बोध्य इत्यर्थः।

पञ्चमषष्ठमतयोस्तु रस-स्थायिनोरभेदः। सप्तमादिषु तु मतेषु स्थायिनोऽनुपादानमेवेति मतचतुष्टय एव भेदो दर्शितः।

रसों और स्थायीभावों में क्या भेद होता है इसी बात का विवेचन मतभेद से करते हैं—'रसेभ्यः' इत्यादि। अभिनव गुप्त और भट्टनायक के मतों (जो इस ग्रन्थ में प्रथम

और द्वितीय है) के अनुसार रस और स्थायीभाव में परस्पर वैसा ही भेद है, जैसा घट और उसके अन्तर्गत आकाश में है। अर्थात् जैसे व्यापक आकाश घटरूप उपाधि के अन्दर घिर कर छोटा सा हो जाता है, उसी तरह व्यापक चैतन्य रति आदि स्थायीभाव रूप उपाधि से ग्रस्त होकर केन्द्रित सा हो जाता है। तृतीय नव्य मत के अनुसार रस और स्थायीभाव में वैसा भेद है, जैसा सत्य-चाँदी और काल्पनिक चांदी में है अर्थात् रस काल्पनिक चांदी सा है और स्थायीभाव सत्य चांदी सा। चतुर्थ परकीय मत के हिसाब से उन दोनों में उस तरह का भेद है, जिस तरह का भेद ज्ञान और उसके विषय में होता है अर्थात् रस ज्ञानरूप है और स्थायीभाव विषयरूप।

ननु रत्यादीनां पारमार्थिकस्थिरत्वाभावात् कथं स्थायित्वमित्यत आचष्टे—

तत्र आ प्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्।

रत्यादीनां वस्तुतः कूटस्थत्वविरहेऽपि, तत्र काव्येषु, आप्रबन्धं प्रबन्धमभिव्याप्य, स्थिरत्वात् स्थायित्वमित्यर्थः।

रत्यादयो हि कूटस्थतया न स्थायिनः, किन्तु व्यभिचार्यपेक्षया नियमेन प्रबन्धव्यापकस्थितिशालित्वादिति सारांशः।

ये पूर्वोक्त भाव सब स्थायी क्यों कहलाते हैं इसका कारण बतलाते हैं—'तत्र' इत्यादि। ये भाव कूटस्थ नित्य नहीं हैं, वरन् जैसे व्यभिचारीभाव किसी भी सम्पूर्ण प्रबन्ध में अनेक बार आते, जाते और बदलते रहते हैं, उस तरह ये भाव बदलते नहीं अर्थात् ग्रन्थ समाप्ति पर्यन्त बने रहते हैं, अत एव स्थायी कहलाते हैं।

पुनरशङ्कते—

न च चित्तवृत्तिविशेषरूपाणामेषामाशुविनाशित्वेन स्थिरत्वं दुर्लभम्, वासनारूपतया स्थिरत्वं तु व्यभिचारिष्वतिप्रसक्तमिति वाच्यम्।

एषां रत्यादीनाम्। अतिप्रसक्तमतिव्याप्तम्।

चित्तस्यातिचपलत्वात् तद्वृत्तीनां क्षणभङ्गुरतया वक्ष्यमाणरीत्या तदेकरूपाणां रत्यादीनां स्थिरत्वं न सम्भवति। न च तेषां क्षणिकत्वेऽपि तद्वासनाख्यसंस्काराणामक्षणिकत्वात् तद्रूपाणामेव तेषां स्थिरत्वं सम्भवति, एवं सति, व्यभिचारिवासनाया अप्यक्षणिकत्वाद् व्यभिचारिणामपि स्थायित्वप्रसङ्गादिति पूर्वपक्षः।

यदि आप कहें कि ये रति आदि भाव तो चित्तवृत्तिरूप हैं, अत एव क्षणभर के बाद नष्ट हो जाने वाले पदार्थ हैं इसलिये सम्पूर्ण ग्रन्थ में इनका स्थिर रहना असम्भव है, फिर ये (भाव) स्थायी कैसे कहला सकते हैं? और वासना (संस्कार) रूप से इनको स्थिर मानने पर व्यभिचारी भाव भी स्थायी कहलाने लगेंगे, क्योंकि वासनारूप से वे भी अन्तःकरण में सदा वर्तमान रहते हैं।

समादधाति—

वासनारूपाणाममीषां मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेरेव स्थिरपदार्थत्वात्। व्यभिचारिणां तु नैव, तदभिव्यक्तेविद्युद्द्योतप्रायत्वात्।

अमीषां रत्यादीनाम्। मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेः पुनःपुनःप्रतीतेः। विद्युद्द्योतप्रायत्वात् कादाचित्कत्वात्।

नैरन्तर्येण भूयो भूयो वा प्रतीयमानत्वमेवात्र स्थिरत्वम्। तच्च स्थायिनामेव, न तु व्यभिचारिणाम्, विद्युत्प्रकाश इव कदाचिदेव तेषां प्रतीतिरिति प्रसिद्धत्वादित्युत्तरम्।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि वासनारूप रति आदि भावों की पुनः पुनः अभिव्यक्ति ही यहां स्थिरता विवक्षित है अर्थात् रति आदि भाव समग्र ग्रन्थ में बार बार प्रतीत होते

हैं यही उनकी स्थायिता है व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति तो बिजली की तरह क्षण-भङ्गुर होती है अर्थात् जिस तरह बिजली कभी कभी ही चमकती है बराबर नहीं, उसी तरह ग्रन्थ भर में दो चार बार भले ही किसी व्यभिचारी भाव की प्रतीति हो जाय, परन्तु नियमतः सम्पूर्ण ग्रन्थ में उसकी प्रतीति नहीं होती अतः वे स्थिर नहीं कहला सकते।

उक्तार्थं प्रमाणयति—

यदाहुः—

> 'विरुद्धैरविरुद्धैर्वा, भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
> आत्मभावं नयत्याशु, स स्थायी लवणाकरः ॥
> चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते, सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
> रसत्वं ये प्रपद्यन्ते, प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ॥

चिरमिति व्यभिचारिवारणाय। अनुबन्धिभिर्विभावाद्यैः ।

तथा—

> 'सजातीयविजातीयै-रतिरस्कृतमूर्त्तिमान् ।
> यावद्रसं वर्त्तमानः, स्थायिभाव उदाहृतः ॥' इति ।

अनुबन्धिभिः सम्बधिभिर्विभावादिभिः । लवणाकरः क्षारसमुद्रसदृशः ।

यथा क्षारसमुद्रः स्वादिष्टैरस्वादिष्टैर्वा नदीपूरैर्मिश्रितोऽपि स्वभावं न जहाति, किन्तु तानेव स्वभावं प्रापयति, तथैव यो भावः प्रतिकूलैरनुकूलैर्वा विभावादिभिर्मिलितोऽपि स्वभावं न जहाति (विच्छेदं न प्राप्नोति), अपितु तान् भावानेव स्वभावं प्रापयति, स स्थायी भाव इति प्रथमकारिकार्थः ।

ये (वासनारूपेण) चिरं (नतु व्यभिचारिवत् कदाचिदेव) चित्ते तिष्ठन्ति, तथाऽनुबन्धिभिर्विभावादिभिः सम्मिलिता भवन्ति, किञ्च रसत्वं प्राप्नुवन्ति, तेऽत्र काव्ये स्थायिनो भावाः प्रसिद्धा भवन्तीति द्वितीयकारिकार्थः ।

सदृशैरसदृशैर्वा भावैर्यस्य स्वरूपपरिवर्तनं न भवति, तथा यः स्रक्सूत्रन्यायेन रससत्तामभिव्याप्य तिष्ठति स काव्ये स्थायीभावः कथितो भवतीति तृतीयकारिकार्थः । तदेवोक्तमन्यत्रापि—विरुद्धा 'अविरुद्धा वा, यं तिरोधातुमक्षमाः । आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ, भावः स्थायीति सञ्ज्ञितः ।' इति । विरुद्धत्वं तु तत्र केषाञ्चिद् व्यभिचारिभावानां बोध्यम् ।

उक्त अर्थ को प्राचीनों की सम्मति दिखलाकर प्रमाणित करते हैं—'यदाहुः' इत्यादि। प्राचीनों ने भी उक्त अर्थ को अपनी अपनी सम्मति देकर प्रमाणित किया है। उन लोगों ने लिखा है कि स्थायीभाव उसको कहते हैं, जो विरोधी अथवा अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता, परन्तु विरोधीभावों को भी शीघ्र अपने रूप में परिणत कर लेता है, और क्षारसमुद्र के समान है अर्थात् जिस तरह क्षार समुद्र में जाकर सब वस्तुएँ क्षार हो जाती हैं, उसी तरह जिससे मिलकर सब तद्रूप हो जाते हैं। जो भाव बहुत काल तक चित्त में वासना रूप से रहते हैं, विभावादिकों के साथ सम्बद्ध होते हैं और अन्त में रसरूप बन जाते हैं, वे यहाँ (साहित्य में) स्थायीभाव नाम से प्रसिद्ध हैं। तथा—जिस भाव का स्वरूप, सजातीय अथवा विजातीय किसी भाव से तिरस्कृत अर्थात् परिवर्तित न हो सके, और जो जब तक रस का आस्वादन हो, तब तक वर्तमान रहे, उसीको स्थायीभाव कहते हैं।

स्थायिलक्षणे मतान्तरमुपन्यस्य निरस्यति—

केचित्तु रत्याद्यन्यतमत्वं स्थायित्वमाहुः, तन्न, रत्यादीनामेकस्मिन् प्ररूढेऽन्यस्याप्ररूढस्य व्यभिचारित्वोपगमात् ।

यतो रत्यादयः स्वरूपेणैव न स्थायिभावाः, किन्तु प्ररोहेण, अप्ररोहे तु तेऽपि प्ररूढस्य

भावान्तरस्य वक्ष्यमाणरीत्या व्यभिचारिभावा एव भवन्तीत्यस्यां स्थितौ, रत्याद्यन्यतमत्वं स्थायित्वमिति लक्षणस्य, नाममात्रेण स्थायिषु, प्ररोहाभावात्तु व्यभिचारितामापन्नेषु रत्यादिष्वेवातिव्याप्तिः। तस्मादेतल्लक्षणमसङ्गतमिति भावः। यदि च तदतिव्याप्तिवारणाय रत्यादिषु प्ररूढत्वं निवेश्येत, तथापि तत्तद्भिन्नभिन्नत्वस्यान्यतमत्वादनुयोगि-प्रतियोगि-त्वाभ्यां जगतः प्रवेशेन गौरवमापतेत्। तत्तद्भेदकूटप्रतियोगिकाभाववत्त्वमेवान्यतमत्वमित्यङ्गी-कारे तु न गौरवमिति विभावनीयम्।

स्थायीभाव के लक्षण के विषय में परमत का उत्थान कर उसका खण्डन करते हैं—'केचित्तु' इत्यादि। कुछ लोगों का कथन है कि—पूर्वोक्त रति आदि नौ भावों में से अन्यतम (कोई एक) होना ही स्थायीभाव कहलाने के लिये पर्याप्त परिचय है। परन्तु यह परिचय पर्याप्त हो नहीं सकता, क्योंकि वे रति आदि भाव तत्तन्नामधारी होने पर भी जहाँ अप्ररूढ़ अर्थात् दबे हुए रहते हैं, वहाँ उन्हीं रति आदि भावों में से जो प्ररूढ़ अर्थात् समृद्ध रहता है उसके व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। इस स्थिति में यदि रति आदि नामधारी होने से वे भाव स्थायी भी कहलाने लगें, तब तो, वहाँ भी वे स्थायी कहलाने लगेंगे जहाँ अप्ररूढ होने के कारण वस्तुतः वे व्यभिचारी हो गये हैं। अतः उक्त परिचय-पत्र (लक्षण) ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त उस लक्षण में अन्यतमत्व का प्रवेश कराया गया है और अन्यतमत्व पदार्थ तत्तद्भेद-कूट-प्रतियोगिकाभाववत्व रूप है, जिसमें अनेक नञर्थ सन्निविष्ट हैं, अतः उक्त लक्षण गौरव-ग्रस्त होने के कारण भी अग्राह्य-कोटि में जा पड़ता है, यह समझना चाहिए।

प्रसङ्गाद् भावानां प्ररोहाप्ररोहौ निरूपयति—

प्ररूढत्वाप्ररूढत्वे बह्वल्पविभावजत्वे।

बहुविभावजन्यत्वं प्ररूढत्वम्, अल्पविभावजन्यत्वं त्वप्ररूढत्वमित्यर्थः।

ऊपर के ग्रन्थ में आये हुए 'प्ररूढ' और 'अप्ररूढ' शब्द की व्याख्या करते हैं—'प्ररूढ' इत्यादि। अर्थात् बहुत विभावों से जिसकी उत्पत्ति हो वह प्ररूढ और थोड़े विभावों से जिसकी उत्पत्ति हुई हो, वह अप्ररूढ कहलाता है।

तत्र दार्ढ्याय प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

तदुक्तं रत्नाकरे—

'रत्यादयः स्थायिभावाः, स्युर्भूयिष्ठविभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्ना—स्त एव व्यभिचारिणः॥' इति।

भूयिष्ठं विपुलं स्तोकं चाल्पम्। विभावपदमनुभाव-व्यभिचारिभावयोरप्युपलक्षणम्। अत्रैव प्राचीनरत्नाकरोक्त-विभावपदोत्तरबहुवचनस्वरसः। भूयिष्ठैर्विभावादिभिर्जनिताः 'कारण-गुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इत्युक्तेर्बलवत्तमा रत्यादयः स्थायिभावाः, अल्पैर्विभावादिभिर्जनि-तास्तु दुर्बला व्यभिचारिणो भवन्तीत्यर्थः।

प्ररूढ और अप्ररूढ पद की स्वकृत व्याख्या को प्राचीनों के उद्धरण देकर प्रमाणित करते हैं—'तदुक्तं रत्नाकरे' इत्यादि। रत्नाकरकार ने भी उक्त व्याख्या के अनुकूल भाव व्यक्त किये हैं। उन्होंने लिखा है कि प्रभूत विभावादिकों से उत्पन्न हुए रति आदि स्थायी भाव होते हैं, और वे ही अल्प विभाव आदि से उत्पन्न होकर व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

इदानीं कस्य स्थायिनः कुत्र रसे व्यभिचारित्वमविनाभावित्वं च भवतीत्याख्याति—

एवं च वीररसे प्रधाने क्रोधः, रौद्रे चोत्साहः, शृङ्गारे हासः, व्यभिचारी भवति नान्तरीयकश्च।

मध्यमश्चकारो भिन्नक्रमः सङ्गत्यनुरोधात्।

एकभावप्ररोहेऽपरभावाप्ररोहाभ्युपगमादुत्साहप्ररोहेण वीररसे प्रधाने, रौद्रस्थाय्यपि क्रोधोऽप्ररूढत्वेन व्यभिचारी, क्रोधं विना वीररसपरिपोषासम्भवादत्यावश्यकतया नान्तरीयकश्च भवति, रौद्ररसे प्रधाने वीरस्थाय्युत्साहः, श्रृङ्गाररसे प्रधाने हास्यस्थायी हासश्च व्यभिचारी नान्तरीयकश्च भवतीत्यर्थः। एवमेकस्यैवैकत्र स्थायितायाः परत्र व्यभिचारितायाश्च प्ररोहाप्ररोहाभ्यां दर्शनाद् रत्याद्यन्यतमत्वं स्थायिलक्षणं न सङ्गतमिति भावः।

इस प्रकार स्वीकार करने पर वीर रस के प्रधान होने पर क्रोध, रौद्र रस के प्रधान होने पर उत्साह और श्रृङ्गार रस के प्रधान होने पर हास व्यभिचारी हो जाते हैं और उनका वहाँ रहना आवश्यक भी है अर्थात् क्रोध के बिना वीर, उत्साह के बिना रौद्र और हास के बिना श्रृङ्गार रस हो भी नहीं सकते, क्योंकि वे ही उन रसों के पोषक हैं।

विशेषमाह—

यदा तु प्रधानपरिपोषार्थं सोऽपि बहुविभावजः क्रियते, तदा तु रसालङ्कार इत्यादि बोध्यम्।

यदा पुनः प्रधानस्य मुख्यस्य, रसस्य परिपोषार्थं सोऽङ्गभूतो भावोपि; बहुविभावजो रसत्वसम्पादकविभावादिसामग्रीसंचलितः क्रियते, तदा सामग्रीसमवधानाद् रसत्वमापन्नस्य तस्य प्रधानीभूतरसाङ्गत्वाद् रसालङ्कारो रसवदलङ्कारो भवतीत्यर्थः। तदुक्तं ध्वनिकारेण—

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे, यत्राङ्गन्तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥' इति।

अन्यत्र तु रतेरन्योन्यनिष्ठत्वे श्रृङ्गारस्थायित्वम्, अपरिपोषे देवादिविषयकत्वे वा भावत्वम्, उपपतिविषयकत्वादौ च भावाभासत्वम्। तथाहि—'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः' इति प्रकाशे। 'रत्यादिश्चेन्निरङ्गः स्याद् देवादिविषयोऽथवा। अन्याङ्गभावभाग् वा स्यान्न तदा स्थायिशब्दभाक्॥' इति प्रदीपे। 'उपनायकसंस्थायां, मुनिगुरुपत्नीगतायां च। बहुनायकविषयायां, रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्। प्रतिनायकनिष्ठत्वे, तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते श्रृङ्गारेऽनौचित्यम्' इति दर्पणे च।

क्वचित् पुनः—नायकनिष्ठानान्योन्यविषयिका रतिः श्रृङ्गाररसस्थायिभावः, देवादिपूज्यविषयिका च श्रद्धाभक्तिरसस्थायिभावः, पुत्राद्यनुकम्पनीयविषयिका च वात्सल्यं वत्सलरसस्थायिभावः, प्रत्यपादि।

अब प्रधान रस को पुष्ट करने के लिये उस अङ्गभूत क्रोध आदि को भी बहु-विभावजन्य बना देते हैं, तब वे व्यभिचारी भाव न कहलाकर 'रसवत' अलंकार कहलाते हैं—इत्यादि समझना चाहिए।

अथ स्थायिभावान् क्रमेण लक्षयन्नादौ श्रृङ्गाररसस्थायिरतिं लक्षयति—

तत्र—

स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायिभावः। गुरु-देवता-पुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी।

तत्र तेषां स्थायिभावानां मध्ये, नायिकानिष्ठो नायकविषयकः, नायकनिष्ठो नायिकाविषयकश्च प्रेमाख्यः प्रीत्यपरपर्यायश्चित्तवृत्तिविशेषः 'रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्' इत्युक्तस्वरूपो मनस उत्कण्ठाविशेष एव 'भवं वासयं सावधारणम्' इतिदर्शनाद् रतिःश्रृङ्गाररसस्य स्थायिभावो भवति विपुलविभावादिजन्यत्वादित्यर्थः।

अब स्थायीभावों के लक्षण करने के क्रम में सर्व प्रथम रति का लक्षण करते हैं—'स्त्री

पुंसयो' इत्यादि । स्त्री-पुरुष की, एक दूसरे के विषय में, प्रेम नामक जो चित्त-वृत्ति होती है, उसको रति संज्ञक स्थायीभाव कहते हैं। वही प्रेम यदि गुरु, देवता अथवा पुत्र आदि के विषय में हो, तब व्यभिचारीभाव कहलाता है।

द्वितीयं करुणरसस्थायिभावं शोकं लक्षयति—

पुत्रादिवियोग-मरणादिजन्मावैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः।

पुत्रादीनां पुत्रप्रभृत्यभीष्टसम्बन्धिनां वियोगान्मरणादेश्च जन्मोत्पत्तिर्यस्य, तादृशो वैक्लव्याख्योऽवसादलक्षणः 'इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्' इत्यन्यत्रोक्तस्वरूपश्चित्तवृत्तिविशेषो बहुविभावजः शोकः करुणरसस्य स्थायिभावो भवतीत्यर्थः।

अन्ये तु—'इष्ट नाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्' इत्यादिदर्शनादिष्टनाशवदनिष्टाप्तेरपि वैक्लव्यजनकत्वम्, मनुष्याणामिव मनुष्येतराभीष्टप्राणिनाम्, प्राणीतराभीष्टवस्तूनां च विनाशाद्, अनिष्टानां प्राणिनामप्राणिनामप्यापतनाच्चोत्पन्नं चित्तावसादं शोकं करुणरसस्थायिनं व्याहरन्ति।

शोक का लक्षण करते हैं—'पुत्रादि' इत्यादि । पुत्र-प्रभृति इष्ट जनों के वियोग अथवा मरण आदि से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता नामक जो एक चित्त-वृत्ति होती है उसको शोक कहते हैं। यहाँ एक बात और समझने योग्य है। 'इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्' अर्थात् इष्ट के विनाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण नामक रस होता है। इस प्राचीनोक्ति के अनुसार कतिपय विद्वानों का मत है कि जैसे इष्ट के विनाश से व्याकुलता उत्पन्न होती है, उसी तरह अनिष्ट की प्राप्ति से भी, साथ साथ उस इष्ट अथवा अनिष्ट का मनुष्य होना ही आवश्यक नहीं है, वह मनुष्य भी हो सकता है, मनुष्य से भिन्न प्राणी भी हो सकता है और प्राणी से भी भिन्न कोई अचेतन वस्तु हो सकती है, इस तरह से पर्यवसित यह हुआ कि किसी भी इष्ट पदार्थ के नाश से अथवा किसी भी अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति से जो व्याकुलता होती है, वह शोक और करुण रस का स्थायी भाव भी है। इस मत के अनुसार प्रिय कुत्ता का मरण, प्रिय अँगूठी का कहीं खो जाना तथा लिए गये कर्ज के रुपये मांगने के लिये आया हुआ प्यादा आदि को भी आधार बनाकर करुण रस प्रधान काव्य की सृष्टि की जा सकती है।

ननु लक्षणघटकपुत्रादिपदेन्याश्चापि ग्रहणात् तद्वियोगेऽपि शोकस्याङ्गीकाराद् विरहहेतुको विप्रलम्भश्रृङ्गारो निर्विषयः स्यादित्यत आह—

स्त्रीपुंसयोस्तु वियोगे जीवितत्वज्ञानदशायां वैक्लव्यपोषितायाः रतेरेव प्राधान्याच्छृङ्गारो विप्रलम्भाख्यो रसः, वैक्लव्यं तु सञ्चारिमात्रम्।

स्त्रीपुंसयोः स्त्री च पुमांश्च तयोः, वियोगे विभिन्नस्थानवासे, एकत्रापि दर्शनायोगे, जीवितत्वज्ञानदशायां मम प्रणयिजनो जीवितेति न तु मृत इति ज्ञानस्य स्थितौ, वैक्लव्येन पोषितायाः श्रृङ्गारस्थायिरतेरेव प्राधान्याद्धेतोः, विप्रलम्भाख्यो विरहहेतुकविप्रलम्भनामा श्रृङ्गारः (न तु करुणः) रसः, करुणस्थायिचित्तवैक्लव्यस्याप्राधान्यादित्यर्थः।

स्त्री पुरुष के परस्पर वियोग से जो व्याकुलता उत्पन्न होती है, वह शोक तो अवश्य है, परन्तु वह शोक करुण रस का स्थायीभाव तभी हो सकता है यदि वह प्रेमपात्र के मरण-ज्ञान के साथ हो, अन्यथा अर्थात् 'प्रेम-पात्र कहीं जीता है' ऐसे ज्ञान के रहने पर वह शोक स्थायीभाव नहीं, वरन् व्यभिचारीभाव मात्र होता है, क्योंकि उस अवस्था में शोक से पुष्ट की गई रति की ही प्रधानता रहती है, अतः वहाँ विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस ही होता है।

करुणरसस्य विषयमभिदधाति—

मृतत्वज्ञानदशायां तु रतिपोषितस्य वैक्लव्यस्येति करुण एव।

प्रणयिजनमरणज्ञाने जाते तु, रतिरूपालम्बनस्य विच्छेदाद् दौर्बल्येनाङ्गभूतया रत्या पोषितस्य करुणस्थायिनो मनोवैक्लव्यस्यैव प्राधान्यात् करुण एव रसो न तु शृङ्गार इत्यर्थः।

प्रेम-पात्र के मरण ज्ञान के रहने पर स्त्री पुरुष के वियोग से उत्पन्न व्याकुलता ही प्रधान होती है और रति होती है उस को पुष्ट करने वाली, अतः उस स्थिति में करुण रस ही होगा। यह बात मैं पहले भी लिख चुका हूँ।

तत्रैव विशेषमाह—

यदा तु सत्यपि मृतत्वज्ञाने, देवताप्रसादादिना पुनरुज्जीवनज्ञानं कथञ्चित् स्यात्, तदालम्बनस्यात्यन्तिकनिरासाभावाच्चिरप्रवास इव विप्रलम्भ एव, न स करुणः।

मरणज्ञानेऽपि यदि देवताप्रसादिना केनापि कारणेन, पुनःप्रत्युज्जीवनज्ञानं भवेत्, तर्हि चिरप्रवासे दीर्घतमकालव्यापिनि परदेशवास इवात्राप्यालम्बनस्य प्रणयिजनस्यात्यन्तविच्छेदाभावाद् रतेरेव प्राधान्याद् विप्रलम्भ एव रस इत्यर्थः।

प्रेम-पात्र के मर जाने का ज्ञान होने पर भी जब देवता की प्रसन्नता आदि से किसी तरह, उसके पुनः जीवित होने का ज्ञान रहेगा, तब आलंबन (प्रेम-पात्र) के सर्वथा के लिये विनष्ट न हो जाने के कारण चिरकालिक परदेश-वास की तरह विप्रलम्भ' ही होता है, करुण नहीं।

तं विप्रलम्भमुदाहरति—

यथा-चन्द्रापीडं प्रति महाश्वेतावाक्येषु।

महाश्वेतायाः पुण्डरीकमरणज्ञानेऽपि, गगनचारिवचनात् पुनःप्रायुज्जीवनज्ञानस्य जननादालम्बनात्यन्तिकविच्छेदाभावाद् यथा कादम्बरी प्रबन्धे महाश्वेतोक्तिषु विप्रलम्भशृङ्गार एव रसस्तथात्रापीत्यभिप्रायः।

ईदृश विप्रलम्भ का उदाहरण दिखलाते हैं—'यथा' इत्यादि। कादम्बरी-ग्रन्थ में चन्द्रापीड के प्रति महाश्वेता ने जो वाक्य कहे हैं, उनमें इसी तरह का 'विप्रलम्भ' अभिव्यक्त हुआ है, क्योंकि पुण्डरीक की मृत्यु की बात को जानती हुई भी महाश्वेता आकाशवाणी के द्वारा उसके पुनः जीवित होने की बात जान चुकी थी।

इह मतान्तरमुपन्यस्यति—

केचित्तु—रसान्तरमेवात्र करुण-विप्रलम्भाख्यमिच्छन्ति।

अत्र पुनःप्रत्युज्जीवनज्ञानस्थले। तदुक्तं दर्पणे—

'यूनोरेकतरस्मिन्, गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैक-स्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः॥' इति।

पूर्वोक्तरीत्या विप्रलम्भमात्रस्वीकारेणैव निर्वाहे, करुणविप्रलम्भरूपरसान्तरस्वीकारो व्यर्थ इत्यरुचिः केचित्त्वित्यनेन सूच्यते।

अपरे तु—निरपवादे निश्लेषे रत्यप्यालम्बनध्वंसाभावाद् रतेरविच्छिन्नतया प्राधान्येन, वैक्लव्यस्य यथाकथञ्चित्सत्त्वेनाल्पनिभावजत्वात् सजातित्वम्, तथा मरण-पुनःप्रत्युज्जीवन-योर्ज्ञाने न सम्भवति, तत्रालम्बनध्वंसस्य कालिकान्यान्यप्रतिहतेऽपि वास्तविकत्वेन प्रति-भातस्य पूर्वापेक्षया किञ्चित्क्षीणप्रायत्वेन, वैक्लव्यस्य चेषदाधिक्येन, करुणरसेन पोषितस्य विप्रलम्भशृङ्गाररसस्य करुणविप्रलम्भाख्यप्रकारस्य स्वीकारेऽपि न गौरवम्, नवा रसान्तर-त्वमित्युदाहरन्ति।

कुछ लोगों की इच्छा है कि जहाँ प्रेम-पात्र के मरणोत्तर काल में किसी कारण वश पुनः

उस के जीवित हो जाने की आशा है-विश्वास है, वहाँ न 'करुण रस' का होना उचित है, न 'विप्रलम्भ शृङ्गार रस' का, अतः वहाँ 'करुण-विप्रलम्भ' नामक एक तृतीय रस मानना चाहिए।

तृतीयं शान्तरसस्थायिभावं निर्वेदं लक्षयति—

नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः।

नित्यानित्ययोर्वस्तुनोर्ब्रह्मजगतोर्विचाराद्विवेकाज्जन्म यस्य तादृशः, विषयेभ्योऽनित्यवस्तुभ्यो विरागाख्यो वितृष्णीभावरूपश्चित्तवृत्तिविशेषो निर्वेद इति सूत्रार्थः।

अब निर्वेद का लक्षण करते हैं—'नित्यानित्य' इत्यादि। वेदान्त आदि के द्वारा नित्य (ब्रह्म) और अनित्य (संसार) वस्तुओं के विचार करने से जिसकी उत्पत्ति होती है, उस विषय-विरक्ति (अनित्य वस्तुओं से वितृष्णा-वैमुख्य) नामक चित्त-वृत्ति को 'निर्वेद' कहते हैं।

क्षणिको निर्वेदस्तु न स्थायी, किन्तु व्यभिचार्येवेत्याह—

गृहकलहजादिस्तु व्यभिचारी।

आदिपदमन्येषामपि कादाचित्कनिर्वेदकारणानामुपलक्षकम्। निर्वेदस्य निरन्तरस्थितेरभावाच्च स्थायित्वमित्यवधेयम्।

घरेलू झगड़ा आदि से उत्पन्न, 'निर्वेद' तो व्यभिचारी भाव कहलाता है, स्थायीभाव नहीं।

चतुर्थं रौद्ररसस्थायिभावं क्रोधं लक्षयति—

गुरुबन्धुवधादि-परमापराधजन्मा प्रज्वलनाख्यः क्रोधः।

गुरूणां पित्रादीनां बन्धूनां च वधादिर्हत्याऽऽदिर्येषां तादृशेभ्यः परमापराधेभ्यो जन्म यस्य, स प्रज्वलनाख्यश्चित्तस्य दीप्तत्वरूपो वृत्तिविशेषः क्रोधो रौद्ररसस्थायिभाव इत्यर्थः।

अपराधानां परमत्वं गुरुतमत्वेनासहनीयत्वम्।

'क्रोध' का लक्षण करते हैं—'गुरुबन्धु' इत्यादि। गुरु, अथवा पुत्र-प्रभृति-बन्धु की हत्या आदि परम (असहनीय) अपराध से उत्पन्न होनेवाली प्रज्वलन (जलन) नामक चित्त-वृत्ति 'क्रोध' है।

रौद्ररस-स्थायिक्रोध-व्यभिचार्यमर्षयोर्भेदं दर्शयति—

अयं च परविनाशादिहेतुः। क्षुद्रापराधजन्मा तु पुरुषवचनासम्भाषणादिहेतुः। अयमेवामर्षाख्यो व्यभिचारीति विवेकः।

अयं परमापराधजन्यः च तु, परेषामपराधिनां (रिपूणां) विनाशादेर्हेतुर्निमित्तं क्रोधः स्थायी, क्षुद्रोऽवज्ञादिरूपोऽल्पमात्रो योऽपराधः, तस्माज्जन्म यस्य तादृशस्तु चित्तवृत्तिविशेषोऽल्पविभावजत्वात् पुरुषवचनं कटूक्तिः, असम्भाषणमपराधिना सहानालपनमादिर्येषां तादृशकार्याणां हेतुः, अमर्षाख्यो व्यभिचारीभावो भवतीत्युभयोर्विवेकः पार्थक्यमस्तीत्यर्थः।

कारणगौरवलाघवाभ्यां कार्यगौरवलाघवाभ्यां च क्रोधामर्षयोर्भेदो बोध्य इत्यभिप्रायः।

क्रोध शत्रु के विनाश आदि का कारण होता है। यही जलन रूप वृत्ति यदि किसी छोटे मोटे अपराध से उत्पन्न होती है, तब वह शत्रु-विनाश का कारण न होकर केवल कठोर वचन, अपराधी के साथ बोल-चाल का बन्द करना आदि का कारण होती है, और तब वह 'अमर्ष' नामक व्यभिचारी कहलाती है, क्रोध नहीं, 'अमर्ष' और 'क्रोध' में यही भेद है।

पञ्चमं वीररसस्थायिभावमुत्साहं लक्षयति—

परपराक्रम-दानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः।

परेषामन्येषां रिपूणां वा, पराक्रमस्य दानादेश्च श्लाघ्यकर्मणः, स्मृत्याः स्मरणाज्जन्म यस्य, तादृशश्चित्तस्यौन्नत्यरूपो वृत्तिविशेष उत्साहो वीररसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः।

अन्यत्र तु—'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।' इति लक्षणम्, 'कार्यारम्भेषु, सन्निकृष्टकार्येषु स्थेयान् संरम्भ उत्कट आवेश उत्साहः' इति तद्विवरणञ्च स्फुटम्।

षष्ठमद्भुतरसस्थायिभावं विस्मयं लक्षयति—

अब 'उत्साह' का लक्षण लिखते हैं—'परपराक्रम' इत्यादि। दूसरे के पराक्रम तथा दान आदि के स्मरण से उत्पन्न होनेवाली उन्नतता नामक चित्त वृत्ति को 'उत्साह' कहते हैं। कहीं कहीं 'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते' अर्थात् उपस्थित कार्यों में उत्कट आग्रह उत्साह कहलाता है, यह उत्साह का लक्षण किया गया है।

अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः।

अलौकिकानां लोकोत्तराणां वस्तूनां दर्शनादेः साक्षात्कारस्मरणप्रभृतेः, जन्म यस्य तादृशः, चित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषोऽद्भुतरसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः।

अन्यत्र तु—'विविधेषु पदार्थेषु, लोकसीमातिवर्तिषु। विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः।' इति लक्षणम्, 'लोकसीमातिवर्तिषु लोकव्यवहारातिक्रान्तेषु, विस्फारो विस्तारः। स च दृष्टहेतुस्योऽसम्भवित्वज्ञानेन हेत्वनुसन्धाने मनोव्यापाररूपः।' इति तद्विवरणञ्च स्फुटम्।

अब 'विस्मय' का लक्षण करते हैं—'अलौकिक' इत्यादि। लोकोत्तर किसी वस्तु के दर्शन अथवा स्मरण आदि से उत्पन्न होनेवाली विकास-(आश्चर्य)-नामक चित्त-वृत्ति को 'विस्मय' कहते हैं।

सप्तमं हास्यरसस्य स्थायिभावं हासं लक्षयति—

वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः।

अन्यस्य वाचि-अङ्गेषु, आदिपदेन वेषे भूषणे च विकारस्यान्यथाभावस्य दर्शनात् (क्वचित् स्मरणादपि) जन्म यस्य, तादृशश्चित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषो हासो हास्यरसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः।

तदुक्तम्—'वागादिवैकृतैश्चेतो-विकासो हास इष्यते।' इति।

अब 'हास' का लक्षण करते हैं—'वागङ्गादि' इत्यादि। दूसरों के अङ्ग, वचन, वेष और भूषण में विकार (अन्यथाभाव-गड़बड़ी) के दर्शन से (कहीं कहीं श्रवण से भी) उत्पन्न होनेवाली विकास (खिल जाना) नामक चित्त-वृत्ति 'हास' कहलाती है।

अष्टमं भयानकरसस्य स्थायिभावं भयं लक्षयति—

व्याघ्रदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैक्लव्याख्यः स भयम्।

व्याघ्रपदमन्येषामपि सद्योमरणानाम्, आदिपदं सन्निकर्षस्मरणयोश्चोपलक्षणम्। परमानर्थविषयको मरणाद्यनर्थसम्पादकः। वैक्लव्यं विह्वलत्वम्।

व्याघ्रादिसद्योमरणकारणवस्तुदर्शनस्मरणादेर्जन्म यस्य तादृशः, चित्तस्य वैक्लव्यरूपो वृत्तिविशेषो भयं भयानकरसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः।

अब 'भय' का लक्षण लिखते हैं—'व्याघ्र' इत्यादि। व्याघ्र आदि के दर्शन (जिससे परम अनर्थ-मरण सम्भावित हो) से उत्पन्न होनेवाली वैक्लव्य-विह्वलता-नामक चित्त-वृत्ति 'भय' कहलाती है।

स्थायिनोभयस्य व्यभिचारिणस्त्रासाद् भेदमाह—

परमानर्थविषयकत्वाभावे तु स एव त्रासो व्यभिचारी।

स एव चित्तवैक्लव्यरूपवृत्तिविशेष एव, परमानर्थविषयकत्वाभावे सद्योमरणप्रयोजकत्वा-

भावे क्षुद्रवैक्लव्यसम्पादकत्वे, त्रासोऽल्पविभावजत्वाद् भयानकरसस्य व्यभिचारी, नतु स्थायीभावो भवतीत्यर्थः।

अत्र हि कार्यभेदाद् भयत्रासयोर्भेदोऽवधारणीयः।

'रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्' इति परोक्तं लक्षणन्तु चिन्तनीयम्, चित्तवैक्लव्यस्यैव भयत्वात् तत्कारणस्य भयत्वाङ्गीकारे तु चित्तवृत्तिविशेषरूपत्वभङ्गप्रसङ्गात्।

यदि व्याघ्रादि-दर्शन-जन्य-विह्वलता से परम अनर्थ-मरण की सम्भावना नहीं हो, तो वह भयानक रस का स्थायीभाव 'भय' न कहलाकर उसी रस का व्यभिचारीभाव 'त्रास' कहलाता है। भय और त्रास में परस्पर यही भेद है।

भयत्रासयोः स्वरूपभेदे मतान्तरमुल्लिखति—

अपरे तु-औत्पातिकप्रभवस्त्रासः, स्वापराधद्वारोत्थं भयमिति भयत्रासयोर्भेदमाहुः।

महावात—वज्रनिर्घातप्रभृत्युत्पातप्रभूतः (स्वल्पः) मनःक्षोभस्त्रासः, स्वापराधद्वारोत्थं गुरुतरनिजापराधजन्यं बलवच्चित्तचाञ्चल्यं तु भयमित्युभयोः कारणभेदाद् भेदमपर आहुरित्यर्थः।

इह 'उत्पातप्रभवस्त्रासः स्वापराधोत्थं भयम्' इति मूलपाठः समुचितः। अथवौत्पातिक उत्पातजन्यः प्रभव उत्पत्तिर्यस्य सः, स्वापराध एव द्वारम्, तस्मादुत्थमुत्पन्नं स्वापराधद्वारोत्थमिति कथञ्चिज्ज्ञापनीयम्।

कुछ विद्वान् कहते हैं कि भयङ्कर आंधी, वज्र-पात आदि उत्पातों से उत्पन्न होने वाली विह्वलता का नाम 'त्रास' और अपने अपराधों से उत्पन्न होने वाली विह्वलता का नाम 'भय' है। यही भय और त्रास में भेद है।

नवमं बीभत्सरसस्थायिभावं जुगुप्सां लक्षयति—

कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा।

कदर्याणां घृणोत्पादकत्वात् कुत्सितानां वस्तूनां विलोकनाज्जन्म यस्य, स विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा बीभत्सरसस्थायिभाव इत्यर्थः।

'विचिकित्सा तु संशयः' इत्यमरकोशे, 'जुगुप्सा गर्हणाऽर्थानां दोषसन्दर्शनादिभिः।' इत्यन्यत्र च दर्शनाद् विचिकित्सास्थाने मूले गर्हणाया उपादानमुचितं प्रतिभाति।

अब 'जुगुप्सा' का लक्षण करते हैं—'कदर्य' इत्यादि। किसी घृणित वस्तु के देखने से उत्पन्न होने वाली विचिकित्सा (घृणा) नामक चित्त-वृत्ति को 'जुगुप्सा' कहते हैं।

इत्थं रसानां स्थायिभावाल्लक्षयित्वा विभावानुभावव्यभिचारिभावाल्लिँलक्षयिषुः प्रथमं विभावाल्लँक्षयति—

एवमेषां स्थायिभावानां लोके तत्तन्नायकगतानां यान्यालम्बनतयोद्दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि, तान्येषु काव्यनाट्ययोर्व्यज्यमानेषु विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते।

नायकपदं तत्तत्स्थायिभावाश्रयपरम्। आलम्बनत्वमुद्दीपनत्वं च प्रसिद्धौ हेतुः, कारणत्वं च प्रकारः।

एवममुना प्रकारेण, एषां रत्यादिस्थायिभावानां लोके यानि वस्तूनि, आलम्बनतयोद्दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि, तेषु रत्यादिस्थायिभावेषु काव्यनाट्ययोः श्रव्यदृश्यकाव्ययो र्व्यज्यमानेषु सत्सु, तान्यालम्बनोद्दीपनकारणानि विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते व्यवह्रियन्त इत्यर्थः।

अब विभाव-पदार्थ का परिचय कराते हैं—'एवमेषाम्' इत्यादि। सांसारिक नायक नायिकाओं में हम इन पूर्वोक्त रति आदि (स्थायी) भावों का अनुभव दिन रात करते हैं और इनके (रति आदि भावों के) कारणों का भी अनुभव करते हैं, जो (कारण) दो प्रकार के होते हैं, एक आलंबन अर्थात् रति आदि जिनके विषय में होते हैं, वे-जैसे रति का विषय नायिका। दूसरा उद्दीपन अर्थात् उन स्थायी भावों में जो जोस पैदा करते हैं—जैसे रति में जोस पैदा करने वाले, एकान्त स्थान आदि। इस तरह कारण रूप में हम जिन आलंबन और उद्दीपन को जानते हैं, वे ही जब काव्य अथवा नाटक में वर्णित होकर उक्त स्थायीभावों के व्यञ्जक होते हैं, तब विभाव कहलाते हैं।

विभावसञ्ज्ञाया व्युत्पत्तिं दर्शयति—

विभावयन्तीतिव्युत्पत्तेः।

हेतौ पञ्चमीति विभावशब्देन व्यपदिश्यन्त इत्यनेन प्राचीनेनान्वयः।

विभावयन्ति रत्यादीन् विशेषेणास्वादाङ्कुरयोग्यतामानयन्तीति विभावा उच्यन्त इत्यर्थः।

क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार, विभाव-शब्द का अर्थ, रति आदि स्थायीभावों को विशेषरूप से आस्वाद के योग्य बनाना होता है।

अनुभावाल्लँक्षयति—

यानि च कार्यतया, तान्यनुभावशब्देन।

लोके स्थायिभावानां यानिकार्यतया प्रसिद्धानि, काव्यनाट्ययोर्व्यज्यमानानां स्थायिनां तान्यनु(पश्चाद्)भावयन्ति (बहिःप्रकाशयन्ति) इत्यनुभावा उच्यन्त इत्यर्थः।

तदुक्तम्—'उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैः—बहिर्भावं प्रकाशयन्।

लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥' इति।

'उक्ताः स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजाः।

तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि॥' इति च।

अनुभाव पदार्थ का परिचय कराते हैं—'यानि च' इत्यादि। उन रति आदि स्थायीभावों के जो कार्य लोक में प्रसिद्ध हैं—जैसे रति के रोमाञ्च आदि। उनको काव्य तथा नाटक में अनुभाव कहते हैं।

अनुभावसञ्ज्ञाव्युत्पत्तिं दर्शयति—

अनुपश्चाद्भाव उत्पत्तिर्येषाम्, अनुभावयन्तीति वा व्युत्पत्तेः।

अनुभावानां स्थायिकार्यत्वात् पश्चादुत्पत्तिः। लाघवं प्राचीनपरम्पराऽनुरोधश्च द्वितीयव्युत्पत्त्युपन्यासे बीजम्।

क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार अनुभाव पद का अर्थ स्थायीभावों के पश्चात् उत्पन्न होने वाला भाव (चित्तवृत्तिविशेष) अथवा विभावों के द्वारा आस्वादयोग्य बने हुए स्थायीभावों का अनुभव कराने वाला भाव होता है।

व्यभिचारिभावाल्लँक्षयति—

यानि व्यभिचरन्ति, तानि व्यभिचारिशब्देन।

यानि हर्षादीनि स्थायिभावेन सहचरन्ति फेनबुद्बुदन्यायेन सम्मिलन्ति, तानि व्यभिचारिशब्देन व्यपदिश्यन्त इति शेषः। तदुक्तम्—

'विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः।

स्थायिन्युन्मग्न-निर्मग्ना-स्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः॥' इति।

'येतूपकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम्।

उपकृत्य च गच्छन्ति, ते मता व्यभिचारिणः॥' इति च।

अब व्यभिचारी पदार्थ का परिचय कराते हैं—'यानि' इत्यादि। रति आदि स्थायीभावों के साथ अनियमित रूप से रहने वाली चित्तवृत्तियों को व्यभिचारीभाव कहते हैं—जैसे चिन्ता आदि।

अथ रसानां विभावानुभावव्यभिचारिभावान् विभज्य दर्शयन्नादौ शृङ्गाररसस्य समाहृत्य दर्शयति—

तत्र शृङ्गारस्य स्त्रीपुंसावालम्बने, चन्द्रिका-वसन्त-विविधोपवन-रहस्थानादय उद्दीपनविभावाः, तन्मुखावलोकन-तद्गुणश्रवणकीर्त्तनादयोऽन्ये सात्त्विकभावाश्चानुभावाः, स्मृतिचिन्तादयो व्यभिचारिणः।

तत्र तेषु रसेषु। स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ, नायिका नायकश्च परस्परमालम्बनम्। आदिमादिपदेन मलयानिल-मधुपगुञ्जन-कोकिलकूजनप्रभृतयः संग्राह्याः। तच्छब्देन रतिविषयीभूतव्यक्तिर्बोध्या। मध्यमादिपदेन ललनालङ्कार-कटाक्षभुजविक्षेपादयो ज्ञेयाः। 'विकाराः सत्त्वसम्भूताः सात्त्विकाः परिकीर्त्तिताः' इत्यन्यत्र लक्षिताः, 'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः। वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः।' इति परिगणिताश्च सात्त्विकभावाः। तेषां चेष्टात्वेऽपि गोबलीवर्दन्यायेन पृथगुपादानम्। 'त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः' इति व्यवच्छिन्नेभ्योऽन्ये हर्षप्रभृतयोऽन्तिमादिपदावसेयाः।

अब उक्त नव-विध रसों के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का पृथक्-पृथक् प्रदर्शन करने के क्रम में सर्वप्रथम शृङ्गाररस सम्बन्धी उन भावों का वर्णन करते हैं—'तत्र' इत्यादि। शृङ्गार-रस के स्त्री-पुरुष आलंबन विभाव, चन्द्र-ज्योत्स्ना, वसन्त ऋतु, अनेक तरह के बाग-बगीचे, एकान्त स्थान आदि उद्दीपन विभाव, प्रेमपात्र के मुख का दर्शन, उसके गुणों का श्रवण और कीर्तन प्रभृति तथा स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, विवर्णता, अश्रुपात, प्रलय ये आठों 'सात्विक भाव' अनुभाव, स्मरण और चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

करुणस्यालम्बनादीनि दर्शयति—

करुणस्य बन्धुनाशादय आलम्बनानि, तत्सम्बन्धिगृहतुरगाभरणदर्शनादयस्तत्कथाश्रवणादयश्चोद्दीपकाः, गात्रक्षेपाश्रुपातादयोऽनुभावाः, ग्लानिक्षयमोह-विषाद-चिन्तौत्सुक्य-दीनता-जडतादयो व्यभिचारिणः।

प्रथमादिशब्देनाभिघातेः संग्रहः, 'इष्टनाशादनिष्टाप्तेः' इत्याद्युक्तेः। गात्राणामङ्गानां शोकवेगप्रकर्षाद् विह्वलानामितस्ततो न्यासः क्षेपः।

अब करुण-रस के विभावादिकों का वर्णन करते हैं—'करुणस्य' इत्यादि। करुण-रस के इष्टजनों के विनाश आदि आलंबन विभाव, उसके व्यवहार में आने वाली वस्तुओं (घर, घोड़े, आभूषण आदि) के दर्शन आदि तथा उसके संबन्ध में कही गई बातों का श्रवण आदि उद्दीपन विभाव, अङ्गों का इधर उधर फेंकना और अश्रुपात आदि अनुभाव और ग्लानि, क्षय, मोह, विषाद, चिन्ता, उत्सुकता, दीनता और जड़ता आदि व्यभिचारीभाव होते हैं।

शान्तस्य विभावादीन् दर्शयति—

शान्तरसस्यानित्यत्वेन ज्ञातं जगदालम्बनम्, वेदान्तश्रवण-तपोवन-तापसदर्शनाद्युद्दीपनम्, विषयारुचि-शत्रुमित्रौदासीन्य-चेष्टाहानि-नासाग्रदृष्ट्यादयोऽनुभावाः, हर्षोन्मादस्मृतिमत्यादयो व्यभिचारिणः।

जगतोऽनित्यत्वेन ज्ञानमेव तद्विषयकनिर्वेदोत्थापकम्। विषयेषु सांसारिकभोग्यवस्तुष्वरुचिरप्रीतिः। शत्रुमित्रयोरौदासीन्यं समानभावः। चेष्टाहानिर्निस्पृहत्वेन प्रवृत्तिराहित्यम्।

अब शान्त-रस के विभावादिकों का वर्णन करते हैं—'शान्त' इत्यादि। शान्त-रस के अनित्य रूप से समझा गया संसार आलंबन विभाव, वेदान्त-शास्त्र का श्रवण तपोवन तथा तपस्वियों के दर्शन आदि उद्दीपन विभाव, सांसारिक वस्तुओं से अरुचि, शत्रु तथा मित्र के विषय में उदासीनता (समान भाव), निश्चेष्टता, नासिका के अग्र भाग पर बराबर दृष्टि को जमा कर रखना आदि अनुभाव और हर्ष, उन्माद, स्मरण, मति आदि व्यभिचारीभाव होते हैं।

रौद्रस्य विभावादीन् दर्शयति—

रौद्रस्यागस्कृत्पुरुषादिरालम्बनम्, तत्कृतोऽपराधादिरुद्दीपकः, वधबन्धादिफलको नेत्रारुण्य-दन्तपीडन-परुषभाषण-शस्त्रग्रहणादिरनुभावः, अमर्ष-वेगौग्र्य-चापलादयः सञ्चारिणः।

आगस्कृदपराधकर्ता पुरुषः। आदि पदेन तादृग् योषिदपि। तच्छब्दोऽपराधिबोधकः। वधोबन्धादिश्च फलं यस्येति बहुव्रीहिः। अमर्षो वेग औग्र्यं चापलं च पृथक् सञ्चारी।

अब रौद्र-रस के विभावादिकों का वर्णन करते हैं—'रौद्रस्य' इत्यादि। रौद्र-रस के अपराध करने वाला पुरुष आदि आलंबन विभाव, उसके द्वारा किये गये अपराध आदि उद्दीपन विभाव, आंखें लाल करना, दांत कटकटाना, कठोर भाषण करना, शस्त्र-ग्रहण करना आदि जिनका फल (अपराधी का) वध अथवा बंधन आदि होते हैं, अनुभाव और अमर्ष, वेग, उग्रता, चञ्चलता आदि व्यभिचारीभाव होते हैं।

वीराद्भुतहास्यभयानकबीभत्सरससम्बन्धिविभावाद्यनभिधानोत्थन्यूनतां परिहरति—

एवं यस्याश्चित्तवृत्तेर्यो विषयः, स तस्या आलम्बनम्, निमित्तानि चोद्दीपकानीति बोध्यम्।

एवं शृङ्गाराद्युक्तरीत्या, यस्याश्चित्तवृत्तेर्यस्य स्थायिभावस्य, यो विषयो भवति, स तस्याश्चित्तवृत्तेः स्थायिभावस्य, आलम्बनमालम्बनविभावः, यानि च तस्या निमित्तानि कारणानि, तान्युद्दीपकान्युद्दीपनविभावः, यानि पुनस्तत्कार्याणि, तान्यनुभावयानि च तत्पोषकाणि तानि सञ्चारिभाव इत्यर्थः।

तथाहि—वीररसस्य द्विषदाद्यालम्बनम्, तत्पराक्रमदर्शनाद्युद्दीपनम्, प्रहारप्रतिप्रहारादिरनुभावः, हर्षवेगादिश्च व्यभिचारिभावः अद्भुतरसस्यालौकिकचमत्कारकृद्वस्त्वालम्बनम्, तत्साक्षात्काराद्युद्दीपनम्, नेत्रविस्फारस्तम्भरोमाञ्चादिरनुभावः, वितर्कादिश्च व्यभिचारिभावः। हास्यरसस्य विकृतवागादिमत्पुरुषादिरालम्बनम्, तद्विकृतिरुद्दीपनम्, रदनप्रकाशादिरनुभावः, श्रमोद्वेगादिश्च व्यभिचारिभावः। भयानकरसस्य भयावहवस्त्वालम्बनम्, तद्विकटव्यापाराद्युद्दीपनम्, मुखशोषपलायनादिरनुभावः, जाड्यकम्पादिश्च व्यभिचारिभावः। बीभत्सरसस्य च जुगुप्सितवस्त्वालम्बनम्, तद्गन्धाद्युद्दीपनम्, निष्ठीवनादिरनुभावः, ग्लान्यादिश्च व्यभिचारिभाव इत्यन्यत्र स्फुटम्।

इस तरह जो चित्त-वृत्ति (रति आदि) जिसके विषय में होती है, वह (विषय) उस (रति आदि) चित्तवृत्ति (स्थायीभाव) का आलंबन और जिस चित्तवृत्ति (स्थायीभाव) के जो निमित्त (कारण) हैं, वे उसके उद्दीपन होते हैं—यह समझना चाहिए। इसी प्रकार जिस चित्तवृत्ति के जो कार्य हैं वे (कार्य) उस (चित्त-वृत्ति) के अनुभाव और जिस चित्तवृत्ति का पोषण जो चित्तवृत्तियां करती हैं, वे वृत्तियां उस वृत्ति के व्यभिचारीभाव होती हैं, यह भी ज्ञात करना चाहिए। जैसे—वीर रस के शत्रु आलंबन शत्रु के पराक्रमों के दर्शन उद्दीपन, दोनों ओर से होने वाले प्रहार आदि अनुभाव और हर्ष, वेग आदि व्यभिचारी हैं। अद्भुत रस के आश्चर्य-जनक वस्तु आलंबन, उस वस्तु

के दर्शन आदि उद्दीपन, नेत्रों का विकास, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि अनुभाव और वितर्क आदि व्यभिचारी भाव हैं। हास्य-रस के विकृत-वाणी-अङ्ग-वेष आदि से युक्त व्यक्ति आलंबन उसके वे अङ्गादि-विकार उद्दीपन, दांत निपोड़ना आदि अनुभाव और श्रम, उद्वेग आदि व्यभिचारी हैं। भयानक-रस के व्याघ्र आदि भयावह वस्तु आलम्बन, उस भयावह वस्तु की भयङ्कर क्रियायें उद्दीपन, मुख का सूखना, भागना आदि अनुभाव और जड़ता कम्प आदि व्यभिचारी हैं। विभत्स-रस के घृणास्पद वस्तु आलंबन, उसके गन्ध आदि उद्दीपन, थूकना आदि अनुभाव और ग्लानि आदि व्यभिचारी हैं।

अथ श्रृङ्गाररसस्य प्रकारद्वयं निरूपयति—

तत्र श्रृङ्गारो द्विविधः, संयोगो विप्रलम्भश्च। रतेः संयोगकालावच्छिन्नत्वे प्रथमः, वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः।

संयोगः सम्भोगः सयुँक्ता सयुँक्तो वाऽस्मीति बुद्धिरूपोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषः, वियोगो विप्रलम्भो वियुक्ता वियुक्तो वाऽस्मीति बुद्धिरूपोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषश्च यस्मिन् काले भवति, तत्कालवर्तिनी या रतिः, सा कालस्यावच्छेदकतया संयोगकालावच्छिन्ना सयुँक्तत्वप्रकारकज्ञानसमकालिकी, तत्सत्त्वे प्रथमः प्रकारः श्रृङ्गारस्य संयोगो भवति। रतेर्वियोगकालावच्छिन्नत्वे वियुक्तत्वप्रकारकज्ञानसमकालिकत्वे तु द्वितीयः प्रकारः श्रृङ्गारस्य विप्रलम्भो भवतीत्यर्थः।

अब रसों के अवांतर भेद और उदाहरण आदि के प्रदर्शन-क्रम में पहले श्रृङ्गार-रस के अवान्तर भेद और उदाहरण का प्रदर्शन कराते हैं—'तत्र' इत्यादि। श्रृङ्गार-रस के दो भेद हैं—एक संयोग और दूसरा विप्रलम्भ। रति जब-स्त्री पुरुषों के संयोग काल में उपभुक्त होती रहती है, तब 'संयोग-श्रृङ्गार' और जब रति स्त्री पुरुषों के वियोगकाल में उपभुक्त नहीं होती रहती है, तब 'विप्रलम्भ-श्रृङ्गार' कहलाता है।

संयोगस्यैकाधिकरणवृत्तित्वरूपतां, वियोगस्य च विभिन्नाधिकरणवृत्तित्वरूपतां निराकृत्य, प्रागुक्त-सयुँक्तत्व-वियुक्तत्वप्रकारकज्ञानरूपतां व्यवस्थापयति—

संयोगो न दम्पत्योः सामानाधिकरण्यम्, एकशयनेऽपीर्ष्यादिसद्भावे विप्रलम्भस्यैव वर्णनात्। एवं वियोगोऽपि न वैयधिकरण्यम्, दोषस्योक्तत्वात्। तस्माद् द्वाविमौ संयोगवियोगाख्यावन्तःकरणवृत्तिविशेषौ, यत् सयुँक्तो वियुक्तश्चास्मीति धीः।

यदि जायापत्योः सामानाधिकरण्यं संयोगो वैयधिकरण्यं च वियोगः स्यात्, तदा तयोरेकस्यां शय्यायां शयितयोरपि ईर्ष्यायां जाग्रत्यां सर्वाभिमतस्य विप्रलम्भस्याभावः, सर्वानभिमतस्य संयोगस्य च सद्भावः प्रसज्येत। तयो रन्तःकरणवृत्तिविशेषरूपत्वाङ्गीकारे तु ज्ञानविशेषरूपस्य विप्रलम्भस्यैव तत्र सत्त्वान्न काऽपि हानिरित्याशयः।

संयोग शब्द का अर्थ यहाँ 'स्त्री-पुरुषों का एक स्थान पर रहना' नहीं है, क्योंकि एक शय्या पर सोते रहने पर भी, यदि ईर्ष्या आदि रहता है, तब विप्रलम्भ श्रृङ्गार का ही वर्णन प्राचीन काल से आज तक कवि लोग करते आये हैं। इसी प्रकार वियोग पद का अर्थ भी यहां, अलग-अलग रहना' नहीं है, क्योंकि दोष उक्त है अर्थात् ऐसा मानने पर पुनः स्त्री-पुरुषों के एक शय्या पर रहने की हालत में 'विप्रलम्भ-श्रृङ्गार' का वर्णन असंभव हो जायगा। इसलिये ऐसा मानना चाहिए कि 'संयोग और वियोग' ये दोनों एक प्रकार की चित्त-वृत्तियां हैं, जिनके चलते 'मिला हुआ हूं' और 'बिछुड़ा हुआ हूं' ये ज्ञान होते हैं अर्थात् 'मिला हुआ हूं' इस प्रकार का मनोभाव ही संयोग है और 'बिछुड़ा हुआ हूं' इस प्रकार का मनोभाव ही वियोग है।

सम्भोगश्रृङ्गारमुदाहरति—

तत्राद्यो यथा—

संयोग और विप्रलम्भ के मध्य में संयोग जैसे—

तत्र संयोग-विप्रलम्भयोः ।

'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा' इत्यत्र निरूपितः ।

निरूपित उत्तमोत्तमकाव्योदाहरणप्रसङ्गेन पूर्वमिति शेषः ।

उत्तमोत्तम काव्य के उदाहरण, प्रसङ्ग से 'शयिता सविधे' इत्यादि श्लोक में निरूपित हो चुका है ।

अप्पय्यदीक्षितदर्शितं सम्भोगश्रृङ्गारध्वनेरुदाहरणं दूषयति—

यत्तु चित्रमीमांसायाम्—'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' इत्यत्र रसध्वनिः, निरतिशयप्रेमशालिताव्यञ्जनात्' इति, तद् ध्वनिमार्गानाकलननिबन्धनम्, पार्वतीपरमेश्वरविषयक-कविरतौ प्रधाने निरतिशयप्रेम्णो गुणीभावात् ।

मुख्यार्थत्वे प्रधानशब्दो नित्यनपुंसकलिङ्ग इति न स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । 'वागर्थप्रतिपत्तये । जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।' इति पद्यस्यावशिष्टांशः । वागर्थौ वाणी-तदभिधेयाविव सम्पृक्तावन्योन्यं सदासम्मिलितौ, न तु कदाचिदपि विश्लिष्टौ, जगतः स्थावरजङ्गमात्मकविश्वस्य, पितरौ प्रसूजनयितारौ, पार्वती-परमेश्वरौ गिरिजागिरीशौ, वागर्थयोः शब्दाभिधेययोः, प्रतिपत्तये ज्ञानाय, वन्दे नौमीति तदर्थः ।

अत्र नतिकर्मीभूतयोर्गौरीगिरीशयोर्वागर्थवच्चिरस्थयाश्लेषात् तत्कारणीभूतरतेः प्राधान्येन व्यज्यमानत्वात् सम्भोगश्रृङ्गारध्वनेरिदमुदाहरणमिति चित्रमीमांसाकर्तुरभिधानं ध्वनिसिद्धान्तविरुद्धम्, इह श्लोके कवि (कालिदास) निष्ठाया गौरीगिरीशविषयाया अपुष्टत्वाद्भावरूपाया रतेरेव प्राधान्येन व्यङ्ग्यतया, पार्वतीपरमेश्वरश्रृङ्गारस्य च तत्पोषकत्वेनाङ्गतया रसध्वनेरसम्भवादित्याकूतम् ।

अब अप्पय्य दीक्षित द्वारा दिये गये सम्भोग श्रृङ्गारोदाहरण का खण्डन करते हैं—'यत्तु' इत्यादि । 'चित्रमीमांसा' में जो यह लिखा है कि 'वागर्थाविव संपृक्तौ वागार्थ-प्रतिपत्तये, जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ' (अर्थात् शब्द और अर्थ की तरह परस्पर सटे हुए, संसार के जननी-जनक पार्वती और परमेश्वर (शिव) को शब्द और अर्थ के ज्ञान के लिये, प्रणाम करता हूं) इस श्लोक में श्रृङ्गार-रस की ध्वनि है, क्योंकि यहां की 'वागर्थाविव संपृक्तौ' अर्थात् शब्द और अर्थ की तरह सदा सटे हुए कभी अलग नहीं रहने वाले इस उपमा से सदा सटे रहने का कारण शिव-पार्वती के निरतिशय प्रेम ध्वनित होता है ।' वह ध्वनिमार्ग अज्ञान-मूलक है । क्योंकि इस श्लोक में पार्वती और परमेश्वर के विषय में कवि की रति-जो भाव कहलाती है—प्रधान है और शिव पार्वती का परस्पर प्रेम व्यज्यमान होकर भी उस (कविनिष्ठ रति) की अपेक्षा गौण हो गया है ।

उक्तमेवार्थं समर्थयति—

नहि गुणीभूतस्य रत्यादे रसध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं युक्तम्, 'भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः' इति सिद्धान्तात् ।

'रसभाव-तदाभास- भावशान्त्यादिरक्रमः' इति काव्यप्रकाशे कारिकायाः-पूर्वांशः ।

इदमिहाकलनीयम्—ध्वनिमजानाना उद्भटमतानुयायिनः कतिपये रसादीनां प्राधान्ये रसवदाद्यलङ्कारान्, गौणत्वे तूदात्तालङ्कारद्वितीयप्रकारमूरीकुर्वन्ति । ध्वनिकारास्तु—'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे, यत्राङ्गन्तु रसादयः । काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ।' इत्यादिसन्दर्भेण रसादीनां प्राधान्येऽलङ्कार्यत्वेनालङ्कारत्वाभावाच्चमत्कारोत्कर्षाच्च रसादिध्वनीन्,

गौणत्वे तु रसवदाद्यलङ्कारांश्च निर्णयन्ति। तदेवाभिप्रेत्य भट्टमम्मटोऽपीमां कारिकामुपन्यस्यति—अक्रमोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्योऽलङ्कार्यतयाऽङ्गितया स्थितो रसादिः, रसाद्यलङ्काराद् रसवदाद्यलङ्काराद्, भिन्नोऽङ्गत्वाभावादतिरिक्तोऽस्तीति तदर्थः। एवं सति 'वागर्थाविव' इत्यादौ शृङ्गाररस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि कविनिष्ठरतिभावाङ्गतयाऽलङ्कार्यत्वविरहाच्च ध्वनिव्यवहारकारणत्वमिति।

गौण रति आदि 'यहां रस-ध्वनि है' इस व्यवहार का हेतु नहीं हो सकता अर्थात् गौण रति आदि को लेकर रस-ध्वनि नहीं हो सकती, कारण ? यह सिद्धान्त है—भिन्नो· रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः'। अर्थात् जिसको अलंकार आदि से शोभित किया जाता है, वह (रस आदि) रस-भाव आदि को शोभित करने वाले अलंकार रूप रस आदि से भिन्न है। अभिप्राय यह है कि अप्रधान रस आदि अलंकार कहलाते हैं, ध्वनि नहीं, अतः उक्त स्थल (वागर्थाविव) में शृङ्गार-रस व्यङ्ग्य होकर भी अलंकार ही कहलायगा, जिससे शिव-पार्वती विषयक कवि-निष्ठ भाव अलंकृत होता है, फलतः यह पद्य भाव-ध्वनि का उदाहरण हो सकता है, रस-ध्वनि का नहीं।

विप्रलम्भाख्यं द्वितीयं शृङ्गाररसप्रकारमुदाहरति—

द्वितीयो यथा—

शृङ्गारस्य द्वितीयः प्रकारः।

> 'वाचो माङ्गलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पं जने
> केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा।
> निश्वासग्लपिताधरोपरिपतद्बाष्पार्द्रवक्षोरुहा
> बाला लोलविलोचना शिव ! शिव !! प्राणेश मालोकते ॥'

प्रयाणसमये प्राणेशस्य प्रवासाय प्रस्थानावसरे, जने परिजने गुरुजने वा, माङ्गलिकीः कल्याणप्रयोजनाः 'शिवास्ते सन्तु पन्थानः' इत्यादिकाः, वाचो वाणीः, अनल्पमजस्रं, जल्पति व्याहरति सति, केलीमन्दिरस्य कौतुकागारस्य, मारुतायनमुखे गवाक्षाग्रभागे, विन्यस्तं तद्दिदृक्षौत्सुक्येन संलग्नीकृतं वक्त्राम्बुमुखकमलं यया, तादृशी, निश्वासैः सद्योभवद्विप्रयोगजयातनावशान्निस्सरद्भिर्नासानिलैः ग्लपितस्य शोषान्म्लापितस्याधरस्य, उपर्यूर्ध्वभागे, पतद्भिर्निरन्तरं स्खलद्भिः, बाष्पैरश्रुभिः, आर्द्रौ क्लिन्नौ वक्षोरुहौ कुचौ यस्याः, सा लोलविलोचना प्रतीकारानवधारणात् तरलनयना, बाला मुग्धा, शिवशिव ! आः कष्टं, प्राणेशं प्राणनाथम्, आलोकते प्रतिषेधाक्षमतया केवलं पश्यति, नत्वपत्रपया प्रयाणनिषेधकवचनं किञ्चिदुच्चारयतीत्यर्थः।

अब 'विप्रलम्भ-शृङ्गार' का उदाहरण देते हैं—'द्वितीयो यथा' इत्यादि। 'वाचो माङ्गलिकीः' इत्यादि श्लोक शृङ्गार के द्वितीय प्रकार विप्रलम्भ का उदाहरण है। नायिका की सखी अपने मन में सोचती है, अथवा एक सखी दूसरी सखी से कहती है—पतिदेव परदेश के लिए यात्रा कर रहे हैं, शुभचिन्तक लोग जोर-जोर से माङ्गलिक वचनों को बोल रहे हैं, परन्तु वह बाला (मुग्धा) रति-मन्दिर के वातायनों में मुख-कमल को डाल कर बैठी है, उसके श्वास प्रबल वेग से चल रहे हैं, जिससे उसके अधर शुष्क होकर म्लान हो चुके हैं और उन अधरों पर गिरकर नीचे की ओर प्रवाहित होने वाली अश्रु-धारा से उसके उरोज भीग गये हैं, शिव ! शिव !! इस दुर्दशा में पड़ी हुई वह (बाला) चञ्चल नेत्रों से अपने प्राणेश्वर को देख रही है। उस बेचारी को यात्रा काल में अश्रु-पात से होनेवाले अशकुन का बोध नहीं है, लोक-लज्जा की शंका भी नहीं है क्योंकि वह मुग्धा है।

उक्तपद्यस्योदाहरणत्वमुपपादयति—

अत्राप्यालम्बनस्य नायकस्य, निश्श्वासाश्रुपातादेरनुभावस्य, विषादचिन्ताऽऽवेगादेश्च व्यभिचारिणः संयोगाद् रतिरभिव्यज्यमाना, वियोगकालावच्छिन्नत्वाद् विप्रलम्भरसपदव्यपदेशहेतुः ।

अत्रापि 'वाचो माङ्गलिकीः' इत्यादिपद्येऽपि । आलम्बनस्य नायिकानिष्ठरतेरिति शेषः । संयोगो विभाव्यविभावकभावादिसम्बन्धः । रतेरिह वियोगकालावच्छिन्नत्वं विप्रलम्भश्रृङ्गाररसव्यपदेशनिदानम् ।

इस श्लोक में नायक-रूप आलम्बन, निश्वास, अश्रुपातादि रूप अनुभाव और विषाद, चिन्ता, आवेग आदि व्यभिचारी भाव के संयोग से नायिका की रति अभिव्यक्त होती है, जो वियोग काल में रहने के कारण 'विप्रलम्भ रस' शब्द से व्यवहृत होती है ।

स्थूणाभिखननन्यायेन पुनरुदाहरति—

यथा वा—

'आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनोः
　　कान्तिः काचिन्निखिलनयनाकर्षणे कार्मणज्ञा ।
श्वासो दीर्घस्तदवधि मुखे, पाण्डिमा गण्डयुग्मे ।
　　शून्या वृत्तिः कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत् ॥'

यदवधि यस्मात् कालादारभ्य, नन्दसूनोर्नन्दनन्दनस्य कृष्णचन्द्रस्य, मधुस्यन्दिनी-लोकलोचनासेचनकतया मधुस्राविणी, निखिलनयनानां सकलजीवलोचनानाम्, आकर्षणे वशीकरणे, कार्मणज्ञा कार्मणं तद्वशीकरणसाधकमन्त्रादि जानातीति तथाभूता, अञ्जसैव वशीकारिणी, काचिदनिर्वचनीया, कान्तिर्देहद्युतिः, आविर्भूता प्रकटीभूताऽभूत्, तदवधि तस्मात्कालादारभ्य, कुलमृगदृशां कुलीनहरिणाक्षीणां, रमणासत्त्वात् मुखे दीर्घः श्वासः, गण्डयुग्मे कपोलयुगले, पाण्डिमा पीतभावः, चेतसि चित्ते, विषादोत्कर्षेण शून्या निरालम्बना, वृत्तिर्व्यापारश्च प्रादुरासीत् प्राकटीदित्यर्थः ।

इह कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययादतिशयोक्तिरलङ्कारः । श्रीकृष्णस्यालम्बनस्य, श्वासादेरनुभावस्य, तद्व्यङ्ग्यविषादप्रभृतेश्च व्यभिचारिणः संयोगाद् व्यज्यमाना, कुलीनमृगाक्षीनिष्ठा वियोगकालावच्छिन्ना रतिर्विप्रलम्भश्रृङ्गारत्वं भजति ।

विप्रलम्भ रस का दूसरा उदाहरण देते हैं—'यथा वा' इत्यादि । 'आविर्भूता' इत्यादि पद्य भी विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस का उदाहरण है । गोकुलवासिनी कोई नायिका अपने मन में सोच रही है—जब से मधु-वृष्टि करने वाली और जीवमात्र के नेत्रों को आकृष्ट करने का जादू जानने वाली नन्द-तनय कृष्णचन्द्र की अनिर्वचनीय देह-द्युति संसार में प्रकट हुई, तभी से कुलाङ्गनाओं के मुख में दीर्घ श्वास, कपोल-युगल में श्वेतता तथा चित्त में शून्यवृत्ति (ज्ञान-राहित्य) प्रादुर्भूत हो गई है । यहाँ कृष्णचन्द्ररूप आलंबन, श्वास आदि अनुभाव, व्यङ्ग्य विषाद आदि व्यभिचारी भाव के संयोगसे कुलकामिनी निष्ठ, वियोगकालिक रति की अभिव्यक्ति होती है, अतः विप्रलम्भ श्रृङ्गार का यह उदाहरण हुआ ।

पुनरुदाहरति—

यथा वा—

'नयनाञ्चलावमर्शं, या न कदाचित् पुरा सेहे ।
आलिङ्गिताऽपि जोषं, तस्थौ सागन्तुकेन दयितेन ॥'

या नवोढा, पुरा प्रस्थानदिवसात् पूर्वम्, नयनाञ्चलस्य लोचनाग्रभागस्य कटाक्षस्य,

अवमर्शं संस्पर्शं (किमुत समग्रनयननिरीक्षणम्) ह्रिया भिया वा, न सेहे नामृष्यत्, सा सैव, नत्वन्या, गन्तुकेन जिगमिषुणा निर्णीतविदेश-गमनेनेति यावत्, प्रियेण वल्लभेन, आलिङ्गिता गाढमुपगूढाऽपि, जोषं तूष्णीं तस्थौ, न तु चचाल, नवा निवारयाञ्चकारेत्यर्थः।

नयनाञ्चलावमर्शमित्यस्य नयनपक्ष्मस्पर्शमिति विवरणन्त्वर्थासङ्गतेश्चिन्त्या।

पुनः विप्रलम्भ का ही एक और उदाहरण देते हैं—'नयनाञ्चल' इत्यादि। प्रवत्स्यत्पति का नायिका की बात किसी से कोई कह रहा है—जो नायिका, (नवोढा) पहले कभी पति-नयन-कोण (कटाक्ष) के स्पर्श को भी नहीं सहती थी अर्थात् जो कनखी से भी पति को अपनी ओर देखते देखकर भाग खड़ी होती थी, वही परदेश जाने के लिये उद्यत प्रिय से आलिङ्गित होकर भी चुप ही रही-भागने की बात क्या, मुख से भी निवारण नहीं की।

अनुभावादिप्रदर्शनेनास्य पद्यस्य विप्रलम्भध्वनित्वं प्रतिपादयति—

इहापि सहजचाञ्चल्यनिवृत्तिर्जडता चानुभावव्यभिचारिणौ।

इह नयनेत्यादिपद्ये। अपिः 'आविर्भूते'त्यादिपूर्वपद्यप्रतिपाद्यान् विप्रलम्भव्यञ्जकान् समुच्चिनोति। सहजस्य स्वाभाविकस्य चाञ्चल्यस्य निवृत्तिः स्तिमितीभावोऽनुभावः, तत्कारणतया व्यज्यमाना जडता च व्यभिचारिभावः, प्रिय आलम्बनविभावश्च सम्भूय, नवोढायाः प्रवसत्पतिकाया वियोगकालावच्छिन्नां रतिं विप्रलम्भपदवीं नयति।

इस श्लोक में भी स्वाभाविक चञ्चलता की निवृत्ति अनुभाव और जड़ता व्यभिचारी भाव है। अर्थात् उक्त अनुभाव, व्यभिचारीभाव और प्रियरूप आलम्बनविभाव के संयोग से यहाँ भी विप्रलम्भ श्रृङ्गार व्यक्त होता है।

मम्मटाद्यभिमतं विप्रलम्भस्य भेदपञ्चकं निरस्यति—

इमं च पञ्चविधं प्राञ्चः प्रवासादिभिरुपाधिभिरामनन्ति। ते च प्रवासाभिलाष-विरहेर्ष्या-शापानां विशेषानुपलम्भान्नास्माभिः प्रपञ्चिताः।

इमं विप्रलम्भम्। चस्त्वर्थकः।

प्राञ्चः काव्यप्रकाशकारादयः, इमं विप्रलम्भश्रृङ्गाररसं, प्रवासेनानुरक्तयोरपि गुरुकार्यवशाद् विभिन्नदेशस्थित्या, अभिलाषेण पूर्वरागरूपेण कदाचिदप्यसमागतयोरपि नायकयोर्गुणश्रवणादिजैकतरानुरागेण परस्परप्रेप्सया वा, विरहेण समानाधिकरणयोरपि गुरुजनलज्जापारवश्यादिप्रतिबन्धेन, ईर्ष्यया मानजन्यया, शापेन वियोगजनक-तपस्विवाग्विशेषेण चोपाधिभिर्निमित्तैरुपलक्षितं, पञ्चविधं प्रवासादिनिमित्तकाकारपञ्चकविशिष्टम्, आमनन्ति कथयन्ति।

अस्माभिस्तु प्रवासाद्युपाधीनां विशेषस्य मिथोवैलक्षण्यस्य, अनुपलम्भात् प्रतीतिगोचरत्वाभावात्, ते भेदाः प्रवासनिमित्तकादिप्रकाराः, न प्रपञ्चिता नैव विस्तरेण वर्णिताः, किन्त्वेकप्रकार एवायं सामान्येनासंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यवद् गणित इत्यर्थः।

विशेषानुपलम्भादित्ययं प्रौढिवाद एव, प्रवासादिषु विमुक्तप्रकारकतुर्वेकतरत्वेऽपि तद्व्यक्तिकारणानां भेदस्य स्फुटं प्रतीयमानत्वात्, कार्येऽपि भेदस्यावश्यमभ्युपेयत्वाद्, 'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद् विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च' इत्याद्यभियुक्तोक्तेः। अन्यथाऽन्यत्रापि भेदाधिगमो दुर्घटः स्यात्। 'यूनोरेकतरस्मिन्' इत्यादिना लक्षितं करुणविप्रलम्भाख्यमपि प्रकारं प्रायुक्तरीत्या व्याहरन्ति केचिदिति प्रेक्षावद्भिः परीक्षणीयम्।

प्राचीन आचार्यों ने इस विप्रलम्भ रस को प्रवास आदि उपाधियों से पाँच प्रकार का माना है परन्तु प्रवास, अभिलाष, विरह, ईर्ष्या और शापरूप पाँच उपाधियों के कारण जो वियोग होता है उनमें किसी वैलक्षण्य की उपलब्धि न होने से हमने विस्तारपूर्वक उनका वर्णन नहीं किया। यहाँ अब प्रवासादि का स्वरूप भी समझ लेना चाहिये अनुरक्त-

नायक-नायिका में से किसी एक के कार्यवश परदेश में रहने पर प्रवास, समागम से पहले ही गुणश्रवण आदि से अभिलाष, गुरुजनों की लज्जादि के कारण समागम से वञ्चित रहने पर विरह, मान से ईर्ष्या और किसी तपस्वी आदि के अपराधी होने पर उनके वाग्विशेषरूप शाप कहलाते हैं।

करुणरसं निरूपयति—

करुणो यथा—

अब 'करुण' रस का उदाहरण देते हैं—'करुणो यथा' इति। 'करुण' रस जैसे—

सद्योमृतं पुत्रमुद्दिश्य पिता ब्रवीति—

'अपहाय सकलबान्धव-चिन्तामुद्वास्य गुरुकुलप्रणयम्।
हा तनय! विनयशालिन्! कथमिव परलोकपथिकोऽभूः॥'

हा विनयशालिन् सुविनीत! तनय पुत्र! सकलबान्धवानां भ्रात्रादिसर्वात्मीयजनानां, 'मां विना कथमेते प्राणान् धारयिष्यन्ती'ति चिन्ताम्, अपहाय त्यक्त्वाऽकृत्वेति यावत्। तथा गुरुकुलस्योपाध्यायगृहस्य पित्रादिपूज्यजनस्य वा प्रणयं प्रेमाणम् (भक्तिम्) उद्वास्य समुपेक्ष्यागणयित्वेत्यनर्थान्तरम्, कथमिव केन प्रकारेण, त्वं परलोकस्य पथिकोऽध्वन्योऽभूरित्यर्थः।

बन्धुवर्गचिन्तां गुरुजनप्रणयं चोपेक्ष्य तवासमये परलोकप्रस्थानं सर्वथाऽनौचित्येन नितरां शोचनीयमित्यभिसन्धिः।

तुरत मरे हुए पुत्र को उद्देश्य कर पिता कहता है—'अपहाय' इत्यादि। अर्थात् हाय! अति-विनीत पुत्र! तू सब बन्धुओं की चिन्ता को त्यागकर और गुरुकुल के प्रेम को भी बिसारकर कैसे परलोक का पथिक हो गया?

तत्र विभावादीन् दर्शयति—

अत्र प्रयाततनय आलम्बनम्, तत्कालावच्छिन्नबान्धवदर्शनाद्युद्दीपनम्, रोदनमनुभावः, दैन्यादयः सञ्चारिणः।

अत्रापहायेत्यादिपद्ये। प्रमीतोऽनुतश्चासौ तनय इति कर्मधारयः। तत्कालो मरणस्य कालः। कालस्यावच्छेदकत्वमधिकरणत्वेन। 'स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते' इत्याद्युक्ते बान्धवजनदर्शनस्य शोकोद्दीपकत्वम्।

इहालम्बनविभावादिसामग्रीसमवधानाच्छोकस्थायिक-करुणरसस्याभिव्यक्तिर्भवति। अस्य करुणविप्रलम्भाद् भेदस्तु स्थायिभेदेनान्यत्र दर्शितः।

यहाँ मृत पुत्र आलम्बन है, उस समय में वहाँ पर उपस्थित बान्धवों का दर्शन आदि उद्दीपन है, रोना अनुभाव है और दीनता आदि व्यभिचारी भाव है।

शान्तरसं निरूपयति—

शान्तो यथा—

कश्चित् स्थितप्रज्ञः परामृशति—

'मलयानिलकालकूटयो-रमणीकुन्तल-भोगिभोगयोः।
श्वपचात्मभुवोर्निरन्तरा, मम जाता परमात्मनि स्थितिः॥'

मलयानिलो दक्षिणपवनः सुखजनकतयाऽनुकूलः, कालकूटो गरलं मृत्युजनकतया प्रतिकूलस्तयोः, तथा रमण्याः ललनायाः कुन्तलश्चिकुरोऽनुकूलः, भोगिनो भुजगस्य भोगः फणादिकायः प्रतिकूलस्तयोः, एवं श्वपचश्चण्डालो नीचतया प्रतिकूल आत्मभूर्ब्रह्माऽऽत्मज्ञानीत्याद्युत्कृष्टतयाऽनुकूलस्तयोः, निरन्तरा निर्विकल्पा (तुल्या) स्थितिर्धारणा प्रतिष्ठा प्रतिपत्तिर्वा मम समदृशः, परमात्मनि परब्रह्मणि, जातोत्पन्नाऽभूदित्यर्थः।

अब 'शान्त-रस' का उदाहरण देते हैं—'शान्तो यथा' इत्यादि। किसी आत्म-ज्ञानी की उक्ति है—मलयपर्वत के पवन और विष में कामिनियों के केश-कलाप और सर्प की फणा में एवम् चाण्डाल तथा ब्रह्मा में तुल्य अर्थात् भेद-भाव-रहित मेरी स्थिति परमात्मा में हो गई है।

उदाहरणे विभावादीन् निर्दिशति—

अत्र प्रपञ्चः सर्वोऽप्यालम्बनम्, सर्वत्र साम्यमनुभावः, मत्यादयः सञ्चारिणः।

सर्वोऽपि प्रपञ्चश्चराचररूपः क्षणभङ्गुरतया निर्धारित आलम्बनविभावस्तमालम्ब्यैव निर्वेदोद्गमात्, सर्वत्रोत्तमेष्वधमेषु च, अनुकूलेषु प्रतिकूलेषु वा, साम्यं समादृष्टिरनुभावो निर्वेदस्य कार्यत्वात्, मत्यादिपदोपस्थाप्य। धृतिप्रभृतयः सञ्चारिभावाश्च निर्वेदेन स्थायिना सम्भूय शान्तरसास्वादं जनयन्ति।

यहाँ सम्पूर्ण संसार आलम्बन है, सब पदार्थों में समानता की बुद्धि अनुभाव है और मति आदि सञ्चारीभाव हैं।

उक्तोदाहरणे भग्नप्रक्रमत्वमाशङ्क्य निराकरोति—

यद्यपि प्रथमार्धे उत्तमाधमयोरुपक्रमाद्, द्वितीयार्धेऽधमोत्तमवचनं प्रक्रमभङ्गमावहति, तथापि वक्तुर्ब्रह्मात्मकतयोत्तमाधमज्ञानवैकल्यं सम्पन्नमिति द्योतनाय क्रमभङ्गो गुण एव।

आवहति जनयति। तथा चाक्रमत्वदोषाद्दुष्टं काव्यमिति विश्वतिस्तु चिन्तनीयैव, अक्रमत्वस्य वाचकातिरिक्तक्रमव्यत्यासस्थल एवाङ्गीकारात्।

प्रथमार्धे आदिचरणद्वये, उत्तमस्य मलयानिलस्य रमणीकुन्तलस्य च पूर्वम्, अधमस्य कालकूटस्य भोगिभोगस्य च पश्चान्निर्देशो य उपक्रान्तः, उत्तरार्धेऽधमस्य श्वपचस्य पूर्वम्, उत्तमस्यात्मभुवश्च पश्चान्निर्देशेन व्यत्यासः कृत इति पूर्वप्रत्युत्थिताकाङ्क्षाविषयीकृतप्रकारेण पश्चादनुक्तेः प्रक्रमभङ्गात् काव्यमिदं दुष्टमिति न विभावनीयम्, यतो ब्रह्मभूयमासादितवतः सर्वत्र समदृशो वक्तुरुत्तमाधमत्वादिप्रकारकज्ञानशून्यत्वाद् वचसि प्रक्रमभङ्गो वक्तुः स्थितप्रज्ञत्वातिशयमेव प्रकाशयन् गुणत्वमेव प्रयाति, न तु दोषत्वमित्यभिसन्धिः।

यद्यपि उक्त पद्य के पूर्वार्ध में यह क्रम है कि पहले मलय-पवन आदि उत्तम वस्तुओं का निर्देश, बाद में विष आदि अधम वस्तुओं का, परन्तु उत्तरार्ध में उस क्रम को छोड़कर पहले अधम चाण्डाल का, बाद में उत्तम ब्रह्मा का निर्देश किया गया है। अतः क्रम-भङ्ग दोष यहाँ होता है, तथापि 'वक्ता ब्रह्म-रूप हो जाने के कारण उत्तम-अधम के ज्ञान से शून्य हो गया है' इस बात को प्रकाशित करने से 'क्रम-भङ्ग' गुण ही है।

विशिष्य शिष्यप्रतिपत्तये प्रत्युदाहरणमाह—

इदं पुनर्नोदाहार्यम्—

कश्चिद्भगवद्भक्तस्तदीयसाक्षात्कारमाशंसति—

'सुरस्रोतस्विन्याः पुलिनमधितिष्ठन् नयनयो-
विधायान्तर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विषयान्।
विधूतान्तर्ध्वान्तो मधुरमधुरायां चिति कदा,
निमग्नः स्यां कस्यां चन नवनभस्याम्बुदरुचि॥'

अहं कदा कस्मिन् काले, सुरस्रोतस्विन्या देवनद्या गङ्गायाः, पुलिनं तीरम्, अधितिष्ठन् पुलिने वर्तमानः, नयनयोर्दृशोः, अन्तर्मुद्रामभ्यन्तरनिमीलिनं तत्पूर्वध्यानम्, विधाय कृत्वा, अथ तदनु, सपदि शीघ्रं, विषयानिन्द्रियग्राह्यबाह्यपदार्थान्, विद्राव्य द्रवयित्वा, विधूतं

ज्ञानोदयाद् विध्वस्तमन्तर्ध्वान्तं मानसाज्ञानं यस्य, तादृशः सन्, कस्यां च नानिर्वचनीयायां, मधुरमधुरायामतिमनोरमायां, नवनभस्याम्बुदरुचि नवीनभाद्रपदीयजलदकान्तौ, चिति चैतन्यात्मनि श्रीकृष्णचन्द्रे, निमग्नो नितरां लीनः, स्यां भवेयमित्यर्थः।

पद्येऽस्मिन्नन्तरशब्दस्य द्विरुपादानं सौन्दर्यं किञ्चिदाकुञ्चयतीति चिन्त्यम्।

अब जिज्ञासुओं के विशद-ज्ञान के लिये 'शान्त-रस' के प्रत्युदाहरण भी दिखलाते हैं—'इदं पुनर्नोदाहार्यम्' इत्यादि। कोई भगवद्भक्त भगवत्साक्षात्कार की आशंसा करता है— सुरनदी (गङ्गा) के तीर में बैठा हुआ मैं अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख बनाकर शीघ्र समस्त सांसारिक विषयों को दूर हटाकर, अत एव अन्तःकरण के अन्धकार (अज्ञान) से हीन होकर भादोमास के नवीन जलद के तुल्य कान्ति वाले किसी (अनिर्वचनीय) अतिमधुर चैतन्य (कृष्णचन्द्र) में कब निमग्न होऊँगा ?

इह निर्वेदस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि, यथा न शान्तरसध्वनिव्यपदेश स्तथा प्रतिपादयति—

अत्रापि यद्यपि विषयगणालम्बनः सुरस्रोतस्विनीतटाद्युद्दीपितो नयननिमीलनादिभिरनुभावितः स्थायी निर्वेदः प्रतीयते, तथापि भगवद्वासुदेवालम्बनायां कविरतौ गुणीभूत इति न शान्तरसव्यपदेशहेतुः।

अत्रापीत्यपिः पूर्वपद्यसमुच्चायकः। तथा च पूर्वश्लोक इवात्र श्लोके निर्वेदस्य शान्तस्थायिनः, विषयसमुदयालम्बन-सुरधुनीतीराद्युद्दीपन-नेत्रनिमीलनाद्यनुभावसम्बन्धाच्छान्तरसध्वनिव्यवहारो न भवति, निर्वेदस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि सर्वप्राधान्येन व्यज्यमानायां कविनिष्ठायां श्रीकृष्णविषयकरतौ सामग्रीसङ्गनाभावादपुष्टतया भावे, गुणीभावाद् भावध्वने रसवदलङ्कारस्य वा व्यपदेशस्यौचित्यादित्याकूतम्।

यद्यपि इस श्लोक में भी विषयों के अनादररूप आलम्बन से अङ्कुरित गङ्गा के तीर आदि उद्दीपन से उद्दीपित दृष्टि के अन्तर्मुखीकरण आदि अनुभवों से प्रतीति योग्य बनाया गया स्थायीभाव निर्वेद प्रतीयमान है, तथापि कृष्णचन्द्र-विषयक कवि-निष्ठ रति की अपेक्षा वह गौण हो गया है, अतः उसके रहने पर भी यहाँ 'शान्त-रस' की ध्वनि नहीं हो सकती क्योंकि प्रधान स्थायीभाव ही रसरूप में परिणत होता है यह पहले लिखा जा चुका है। तात्पर्य यह है कि यहाँ का 'निर्वेद' कथञ्चित् रसालङ्कार ही कहला सकता है। एक बात और—यहाँ का 'विषयगणालम्बनः' यह मूलपाठ भ्रामक है, क्योंकि 'विषय-समूह शान्त रस का आलम्बन है' यह अर्थ उस पाठ से प्रतीत होता है, जो सङ्गत नहीं जँचता, क्योंकि ? शान्तरस में विषयों से विमुखता अपेक्षित मानी गई है, फिर विषय उस रस का आलम्बन कैसे होगा ? अतः 'अनादरणीयत्वेन ज्ञात' यह विशेषण 'विषय' में जोड़ना पड़ेगा, तब कहीं मूलपाठ सङ्गत हो सकेगा, इससे अच्छा है कि 'विषयावगणनालम्बनः' ऐसा मूलपाठ माना जाय, जिससे भ्रम का अवसर ही न आ सके।

भावध्वनित्वमेवोक्तपद्यस्य समर्थयति—

इदं च पद्यं मन्निर्मितायां भगवद्भक्तिप्रधानायां 'करुणालहर्या'मुपनिबद्धमिति तत्प्रधानभावप्राधान्यमेवार्हति।

भक्तिर्भगवद्विषयारतिः। तस्यां करुणालहर्यां प्रधानं यो भावः (रतिः) तस्य प्राधान्यमेव, न तु गुणीभूतनिर्वेदस्य।

करुणालहरीप्रबन्धे रतिभावप्राधान्यात् तद्घटकेऽस्मिन् पद्येऽपि यतो भावप्राधान्यमेव युक्तम्, अतश्शान्तरसध्वनिर्नेह सम्भवतीत्याशयः।

यह पद्य पण्डितराज रचित 'करुणा-लहरी' का है और उस ग्रन्थ में भगवान् की भक्ति-भाव (भगवत्प्रेम) ही प्रधान है, अतः इस पद्य में भी भाव की ही प्रधानता समुचित है।

पुनरन्यथा शान्तरसाप्राधान्यमिह दर्शयति—

शान्तरसाननुगुणश्चायमोजस्वी गुम्फ इति चानुदाहार्यमेवैतत्।

ओजस्वितया शान्तरसाननुगुणत्वम्। अयं सुरस्रोतस्वीत्यादिश्लोकः। ओजस्वी वक्ष्यमाणपरिपाट्यौजोगुणव्यञ्जकः। गुम्फो रचितश्लोकसन्दर्भः। इतिर्हेतौ। चकारः समुच्चये।

अस्य श्लोकस्य समासरेफ-संयोग-टवर्गादिघटितत्वाच्छान्तरसप्रतिकूलौजोगुणव्यञ्जकत्वादपि न शान्तरसध्वन्युदाहरणत्वमुचितमिति भावः।

दूसरी बात यह है कि इस श्लोक की रचना समास रेफ-संयोग और टवर्ग आदि से युक्त होने के कारण ओजस्विनी है, जो शान्त-रस के प्रतिकूल पड़ती है, इसलिये भी इस पद्य को शान्तरस का उदाहरण नहीं माना जा सकता है।

नन्वेवं मलयेत्यादिपद्येऽपि वक्तृनिष्ठ-परमात्मविषयकरतेः प्रतीतेस्तस्य कथं शान्तरसध्वन्युदाहरणत्वमित्याशङ्कामपास्यति—

पूर्वपद्ये तु 'परमात्मनि स्थितिः' इत्यनेन तत्ताद्रूप्यावगमाद् रतेरप्रतिपत्तिः।

तस्य परब्रह्मणस्ताद्रूप्यस्य तदैकात्म्यस्य अवगमाद् बोधाद् रतेरप्रतिपत्तिरप्रतीतिः।

तादात्म्ये पूज्यपूजकभावावसायाभावाद् रतेरसम्भवाच्च प्रतीतिरिति न तत्प्राधान्यस्य सम्भव इति तुशब्दव्यङ्ग्यमुदाहरणप्रत्युदाहरणयोर्वैषम्यमतिरोहितमित्यभिप्रायः।

यदि कहें कि 'मलयानिलकालकूटयोः'......इस पूर्वोक्त पद्य में भी 'परमात्मा में स्थिति का वर्णन है', अतः वहाँ भी भाव की प्रधानता होनी चाहिये, 'शान्त-रस' के उदाहरणरूप में उसको कैसे उपस्थित कर दिया? इसका उत्तर यह है कि वहाँ 'परमात्मा में स्थिति' इस उक्ति के द्वारा वक्ता की ब्रह्म-रूपता दिखलाई गई है, अतः परमात्मा में वक्ता का प्रेम नहीं प्रतीत होता, क्योंकि प्रेम, प्रेम-पात्र और प्रेम करने वालों में भेद रहने पर ही बन सकता है, उन दोनों में ऐक्य-ज्ञान होने पर नहीं।

अथ रौद्ररसं निरूपयति—

रौद्रो यथा—

शिवशरासनभङ्गध्वनिभग्नसमाधिः समुद्दीपितकोपः परशुरामो ब्रवीति—

'नवोच्छलितयौवन-स्फुरदखर्वगर्वज्वरे, मदीयगुरुकार्मुकं गलितसाध्वसं वृश्चति।
अयं पततु निर्दयं दलितदृप्तभूभृद्गलस्खलद्रुधिरघस्मरो मम परश्वधो भैरवः॥'

नवोच्छलितेन नूतनोल्लसितेन, यौवनेन तारुण्येन, स्फुरन् विजृम्भमाणः, अखर्वोऽनल्पो गर्वोऽभिमान एव तापकत्वाज्ज्वरः सन्तापो यस्य, तस्मिन्, तथा मदीयगुरोर्ममशस्त्रास्त्रविद्याध्यापकस्य शम्भोः, कार्मुकं धनुः, गलितसाध्वसं निर्भयं यथा भवति, तथा वृश्चति छिन्दति, उत्कटापराधकारित्वादप्राप्तनामनि जने, अयमुत्तोल्यमानः, दलितेभ्यः, समरे खण्डितेभ्यः, दृप्तानां दर्पोद्धतानां, भूभृतां क्षितिपतीनां गलेभ्यः कण्ठेभ्यः, स्खलतो निर्गलतः, रुधिरस्य शोणितस्य, घस्मरः पाता, ममाद्भुतपराक्रमस्य भार्गवस्य, परश्वधः परशुः, निर्दयं निष्करुणं यथा भवति तथा, पतत्वित्यर्थः।

अब 'रौद्र-रस' का उदाहरण देते हैं—'रौद्रो यथा' इत्यादि। शिव-धनु-भंङ्ग से प्रकुपित परशुराम की उक्ति है। नवीन उछलती हुई युवावस्था के कारण बढ़े हुए अत्यधिक अभिमानरूप ज्वर से युक्त किसी ने निर्भय होकर मेरे गुरु-शिवजी-के धनुष को तोड़ डाला है। अच्छा, अब युद्ध में काटे गये गर्वीले भूपों के गले से चूते हुये शोणित को पीने वाला यह मेरा भयङ्कर फरसा उसके ऊपर निर्दयतापूर्वक गिरे।

प्रकृते रौद्ररसव्यञ्जकसामग्र्यां प्रथममालम्बनविभावं दर्शयति—

अत्र तदानीं रामत्वेनाज्ञातो गुरुकार्मुकभञ्जक आलम्बनम् ।

अत्रोक्तोदाहरणे । तदानीं क्रोधोद्रेकावसरे । रामत्वेनाज्ञातो रामोऽयमित्याकारकज्ञाना-विषयीकृतः, गुरुकार्मुकभञ्जकः शिवधनुस्त्रोटको राम आलम्बनं क्रोधस्येति शेषः ।

गुरु (शिवजी) के धनुष को तोड़ने वाला वह राम यहाँ आलम्बन है, जिसका रामरूप से ज्ञान परशुरामजी को उस समय तक नहीं था।

तत्र रामनामानुपादानस्य हेतुं दर्शयन्नुक्तं समर्थयति—

अत एव विशेष्यानुपादानम्, गुरुद्रुहो नामग्रहणानौचित्यात्, क्रोधाविष्काराद्वा।

अत एव गुरुद्रोहस्य बलवदपराधस्य वा कर्तुर्जनस्याग्राह्यनामत्वादेव । विशेष्यस्य रामस्यानुपादानं नामाग्रहणम् । क्रोधस्याविष्कार उद्रेकः ।

इदमुच्यते—'आलापात् प्राक् परशुरामेण दाशरथिरामस्य नाम न ज्ञातम्, ज्ञातमपि वा दुःक्षमापराधविधानजन्यमन्युभरेण नोपात्तमिति क्रोधोद्रेकव्यञ्जनादुचितमेव । अन्यथा नवेत्यादिविशेषणद्वयोपादानेऽपि विशेष्यरामानुपादानमनुचितमेव प्रतिभायात् ।

अथवा गुरु-द्रोही का नाम नहीं लेना चाहिए इस कारण, या क्रोध उत्पन्न हो जाने के कारण 'तोड़ने वाला' यह विशेषण-मात्र कहा गया है, विशेष्य (तोड़ने वाले का नाम) नहीं कहा गया।

उद्दीपनविभावं वक्ति—

ध्वनिविशेषानुमितो निश्शङ्कधनुर्भङ्ग उद्दीपकः ।

ध्वनिविशेषो धनुर्भङ्गोत्थितस्तुमुलनिनादः, स च धनुषो निश्शङ्कभञ्जनं विना कथमपि न सम्भवतीत्यनुमानेन गृहीतं तादृशं रामस्य धनुर्भञ्जनसाहसमिह क्रोधस्योद्दीपनमिति सारम् ।

विलक्षण ढङ्ग की जगद्व्यापी ध्वनि से अनुमान किया हुआ 'निर्भय होकर धनुष का तोड़ देना' उद्दीपन है।

अनुभावमाह—

परुषोक्तिरनुभावः ।

भार्गवस्य कटूक्तिः क्रोधस्य कार्यत्वादनुभाव इति तात्पर्यम् ।

कटु वचन अनुभाव है।

व्यभिचारिणो व्याहरति—

गर्वोग्रत्वादयः सञ्चारिणः ।

गर्व उग्रता चादि पदग्राह्या आमर्षप्रभृतयो व्यभिचारिभावाः क्रोधस्य पोषकत्वात् ।

गर्व और उग्रता आदि व्यभिचारी हैं।

प्रकरणं प्रकाशयति—

एषा च धनुर्भङ्गध्वनि-श्रवणसमाधिभङ्गे भार्गवस्योक्तिः ।

एषा नवेत्यादिः । अकस्मादुत्कटशब्दश्रवणात् समाधेर्भङ्गः । तथाच क्रोधोदयौचित्यम् ।

यह धनुष के भङ्ग की ध्वनि से समाधि टूट जाने पर परशुरामजी की उक्ति है।

रौद्ररसानुकूलवृत्तिदर्शनादप्युक्तं समर्थयति—

वृत्तिरप्यत्र महोद्धता रौद्रस्य परमौजस्वितां परिपुष्णाति ।

महोद्धता दीर्घसमासबहुला संयुक्ताक्षरमयी परुषानाम्नी वृत्तिरप्यत्र पद्ये ओजोगुणा-श्रयस्य रौद्ररसस्य व्यञ्जने परमोपकारकतया रौद्ररसस्य पोषिकाऽस्तीति रौद्ररसोदाहरणमिदम् ।

लम्बे समासों से युक्त, संयुक्ताक्षरमय, 'परुषा' नाम की वृत्ति (रचना-विशेष) भी इस पद्य में 'रौद्र-रस' की परम ओजस्विता को पुष्ट करती है।

पुना रौद्ररसव्यञ्जनक्षमतामेव दर्शयति—

अन्यत्र गुरुस्मरणे सत्यहम्भावविगमस्यावश्यकतया, प्रकृते चाजहत्स्वार्थ-लक्षणामूलध्वननेन मदीयेत्यनेन गर्वोत्कर्षस्यैव प्रकाशनात् स्फुटं गम्यमानेन विवेकशून्यत्वेन क्रोधस्याधिक्यं गम्यते।

अन्यत्र क्रोधानुदयावसरे। अहम्भावोऽहङ्कारः। प्रकृते क्रोधोद्रेके। अजहत्स्वार्थोपादानलक्षणा, वाच्यस्यापि लक्ष्येण सह प्रधानप्रतीति विषयत्वात्। अक्रुद्धावस्थायां, गुरोः स्मरणे, विनयोदयादहङ्कोपशमस्यैवौचित्यम्। सम्प्रति क्रोधदशायान्तु, मदीयेत्यस्मच्छब्देनैकविंशति वारान् क्षितिनिःक्षत्रियत्वसम्पादननिश्शङ्कं मातृभ्रातृवधानुष्ठानपित्रादेशपरिपालनाद्यद्भुतकर्मशालिस्वात्मन्युपादानलक्षणया, व्यज्यमानेन, बीजभूतेन गर्वोत्कर्षेण, विवेकशून्यत्वं द्वारीकृत्य, व्यज्यमानं क्रोधाधिक्यं, रौद्ररसं गोचरयतीति रौद्ररसध्वनेरिदमुदाहरणम्।

यद्यपि, जहाँ क्रोध का अवसर नहीं रहता, गुरु का स्मरण होने पर विनय-भाव के उदित हो जाने से अहङ्कार निवृत्त हो जाता है, परन्तु यहाँ वैसा नहीं हुआ है, यह बात स्पष्ट है क्योंकि यहाँ गुरु में जो 'मदीय' (मेरे) विशेषण लगाया गया है, वह लाक्षणिक है अर्थात् मदीय पद की इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय बनाने वाले अस्मच्छब्दार्थ में अजहत्स्वार्था (उपादान) लक्षणा है, जिससे अस्मच्छब्दार्थ (परशुराम) का गर्वोत्कर्ष ध्वनित होता है, उससे परशुराम की विवेकहीनता प्रतीत होती है, (गुरु के सामने अपना गर्वोत्कर्ष दिखलाना विवेक-हीनता का सूचक होता है) उस (प्रतीयमान-विवेक-हीनता) से भी परशुराम का क्रोधाधिक्य व्यक्त होता है। इस तरह स्थायीभाव 'क्रोध' की सब तरह से पुष्टि होने के कारण यह पद्य 'रौद्र-रस' का उदाहरण होता है।

प्रत्युदाहरणं व्याहरति—

इदं पुनर्नोदाहार्यम्—

क्रुद्धं परशुरामं कश्चिद् वर्णयति—

'धनुर्विदलनध्वनिश्रवण-तत्क्षणाविर्भवन्
महागुरुवधस्मृतिः श्वसनवेगधूताधरः।
विलोचनविनिस्सरद्बहुलविस्फुलिङ्गव्रजो
रघुप्रवरमाक्षिपञ्जयति जामदग्न्यो मुनिः॥'

धनुषः शिवकार्मुकस्य विदलनात् खण्डनाद् (उद्भूतः) ध्वनिर्निनादः, तस्य श्रवणादाकर्णनात्, तत्क्षणे सद्यः, आविर्भवन्ती समुत्पद्यमाना, महागुरोः पितुर्जमदग्निमुनेः, वधस्य सहस्रबाहुसूनुकर्तृकघातस्य, स्मृतिः स्मरणं यस्य सः, तथा श्वसनस्य क्षत्रियकृतापराधस्मरणोद्भूतक्रोधोद्भावितश्वासस्य, वेगेन रंहसा, धूतः कम्पितोऽधरो निम्नोष्ठो यस्य, सः, तथा विलोचनाभ्यां क्रोधलोहितनेत्राभ्यां, विशेषेण प्राचुर्येण, निस्सरन् निर्गच्छन्, बहुलो विपुलो विस्फुलिङ्गव्रजोऽग्निकणगणो यस्य, तादृशो रघुप्रवरं रामचन्द्रम्, आक्षिपन् धनुर्भञ्जनापराधकारित्वादाक्रोशन्, जामदग्न्यो जमदग्निसूनुर्मुनिः परशुरामो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यर्थः।

रौद्र-रस का प्रत्युदाहरण दिखलाते हैं—'इदं पुनर्नोदाहार्यम्' इत्यादि। 'धनुर्विदलन…' यह श्लोक 'रौद्र-रस' के उदाहरणरूप में उपस्थित करने योग्य नहीं है। कोई, क्रुद्ध-परशुराम का वर्णन करता है—धनुष टूटने का शब्द सुनते ही, तत्काल, जिनको महागुरु-पिता जमदग्नि की सहस्रबाहुतनय द्वारा की गई हत्या का स्मरण हो आया, अत एव निश्वास-वायु के वेग में नीचे का होंठ फड़कने लगा और आँखों से आग की चिनगारियाँ

का महान् पुञ्ज झरने लगा, वे ऐसी स्थिति में, रामचन्द्र पर आक्षेप करते हुए मुनि परशुराम, सबसे उत्कृष्ट हैं।

धनुरित्यादिपद्यस्य कुतो न रौद्रध्वन्युदाहरणत्वमित्युपपादयति—

अत्राप्यपराधास्पदेन रघुनन्दनेनालम्बितो धनुर्विदलनध्वनिश्रवणेनोद्दीपितो निश्वास-नेत्रज्वलनादिभिरनुभावितो महागुरुवधस्मृति-गर्वोग्रत्वादिभिश्च सञ्चारितः क्रोधो यद्यपि व्यज्यते, तथाप्यसौ तत्प्रभाववर्णनबीजभूतायां कविरतौ गुणीभूत इति न रौद्ररसध्वनिव्यपदेशहेतुः।

अपिः पूर्वश्लोकसमुच्चायकः। अपराधो धनुर्भञ्जनरूपः, तदनुष्ठायी रामचन्द्र आलम्बनम्, धनुर्भङ्गध्वनिश्रवणमुद्दीपनम्, निश्वासो नेत्रज्वलनादिश्चानुभावः, पितृवधस्मृतिर्गर्व उग्रता च व्यभिचारिभावः, सम्भूय क्रोधं रौद्रस्थायिनं रसत्वं नयतीति रौद्ररसोदाहरणत्वमस्य प्राप्तम्, किन्तु 'जयति जामदग्न्यो मुनिः' इति कथनाद् वर्णनीयजामदग्न्यविषयककविनिष्ठरतिभावस्यैव प्राधान्याद् भावध्वनेरेवेदमुदाहरणम्। क्रोधस्त्वत्र व्यज्यमानोऽपि रतेः पोषकत्वेनाङ्गभूत एवेति नेदं रौद्रध्वनेरुदाहरणमित्यभिसन्धिः।

यद्यपि इस पद्य में भी उस 'क्रोध-रूप' स्थायीभाव की अभिव्यक्ति होती है, जिसका आलम्बन, अपराधी रामचन्द्र है, उद्दीपन, धनु-भंग-ध्वनि का श्रवण है, अनुभाव, श्वास तथा नेत्रों का जलना है और सञ्चारी—पिता की हत्या का स्मरण, गर्व, एवम् उग्रता आदि हैं, तथापि वह (क्रोध) 'रौद्र-रस' रूप नहीं हो सकता, क्योंकि जिसके कारण कवि ने परशुरामजी का वर्णन किया है, उस (परशुराम विषयक) कवि-निष्ठ-रति की अपेक्षा वह गौण हो गया है अर्थात् कवि इस पद्य के द्वारा परशुरामजी के प्रति अपने 'भाव' को ही प्रधानरूप से प्रकट करना चाहता है, रौद्र-रस' के स्थायीभाव क्रोध को नहीं। अतः यह श्लोक रौद्र-रस-ध्वनि' का उदाहरण नहीं हो सकता है।

काव्यप्रकाशोल्लिखितमुदाहरणं दूषयति—

काव्यप्रकाशगतरौद्ररसोदाहरणे तु—'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्' इतिपद्ये रौद्ररसव्यञ्जनक्षमा नास्ति वृत्तिः, अतस्तत्कवेरशक्तिरेव।

वक्ष्यमाणाग्रिमस्तुना सूच्यते। 'मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः॥ नरकरिपुणा सार्धं सभीमकिरीटिना-मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्॥' इति पद्यावशिष्टांशः। वेणीसंहारे-द्रोणाचार्यशिरश्छेदात् क्रुद्धस्याश्वत्थाम्नोऽर्जुनं प्रत्युक्तिरियम्। रौद्ररसस्य व्यञ्जने क्षमा समास-संयुक्ताक्षरबहुला परुषा वृत्तिः। तामेव गौडीं रीतिं वामनादयो मन्यन्ते। तत्कवेर्वेणीसंहारकर्तुर्भट्टनारायणस्य। अशक्तिः प्रतिभाऽल्पता, एव नत्वत्र कथञ्चन समाधेः सम्भवः।

रौद्ररसोचितायाः परुषाया वृत्तेरनिबन्धनात् कवेरशक्तिरिह प्रतीयत इति नादुष्टमिदमुदाहरणम्, 'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्येव भासते।' इति ध्वनिकारोक्तेरित्याकूतम्।

परंतु—ओजोनिरूपणमुपक्रम्य द्वितीय उद्द्योते-'तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः। यथा—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादौ। तृतीये पुनः 'रथा रौद्रादिष्वसमासा दृश्यन्ते। यथा—'यो यः शस्त्रम्' इत्यादौ।' इति ध्वनिकृतैव समासादिप्रयोज्यशब्दकाठिन्यविरहेऽप्यर्थकाठिन्यमात्रादप्योजोगुणस्य तदाश्रयरौद्रादिरसानां च व्यज्यमानताया निर्बाधमभिधानात् 'कृतमनुकृतम्' इत्यादौ रौद्ररसव्यञ्जनाक्षमवृत्तिनिबन्धनात् कवेरशक्तिकृतदोषस्योद्घोषः पण्डितराजस्यैव विवेकाशक्तिं सूचयति, न तु कवेः, सहृदयानुभवसाक्षिकविच्छित्तिरक्षतत्वादिति व्याहरन्ति।

अब काव्यप्रकाशकार मम्मट के द्वारा उल्लिखित 'रौद्ररस के उदाहरण' में दूषण दिखलाते हैं—'काव्यप्रकाशगत' इत्यादि। मम्मट ने यह पद्य 'रौद्ररस' के उदाहरण दिखलाने के लिये उद्धृत किया है—

'कृतमनुमतं दृष्टं वा········करोमि दिशां बलिम् ॥'

'वेणीसंहार' नाटक में द्रोणाचार्य की हत्या से क्रुद्ध अश्वत्थामा की, अर्जुन के प्रति यह उक्ति है—शस्त्र उठाने वाले 'मर्यादा-रहित, जिन, नर-पशुओं ने यह (द्रोणवधरूप) महापाप किया है या अनुमति दी है अथवा उस कुकर्म को आंखों के सामने होता देखा है—कृष्ण के साथ साथ—उन, भीम, अर्जुन प्रभृति सभी लोगों के शोणित, मज्जा तथा मांस से मैं अकेला ही दिक्पालों की बलि करता हूँ। इस पद्य की रचना 'रौद्र-रस' को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है क्योंकि इसकी रचना में न समास की बहुलता है, न संयुक्ताक्षरों की और संयुक्ताक्षर-बहुल रचनारूप 'परुषा' वृत्ति अथवा वामन आदि आचार्यों के मत से तादृश गौणी रीति को ही 'रौद्ररस'-व्यञ्जक माना गया है। अतः यहां यही मानना पड़ेगा कि कवि में शक्ति की कमी थी, जिससे वह रौद्ररसाभिव्यक्ति की अभिलाषा रख कर भी तद्योग्य पदावली की रचना नहीं कर सका।

अथ वीररसं विभज्य निरूपयति—

वीरश्चतुर्धा, दान-दया-युद्ध-धर्मैस्तदुपाधेरुत्साहस्य चतुर्विधत्वात्।

तदुपाधेर्वीररसोपादानस्योत्साहस्य दान-दया-युद्ध-धर्मरूपविषयभेदेन भिन्नतयोपधेयस्य वीररसस्यापि चतुर्भेदकत्वं भवतीत्यर्थः।

अब 'वीररस' का विभाग प्रदर्शनपूर्वक निरूपण करते हैं—'वीर' इत्यादि। 'वीररस' के चार भेद हैं क्योंकि वीररस का स्थायीभाव 'उत्साह' दान, दया, युद्ध और धर्मरूप विषय के भेद से चार प्रकार का हो सकता है।

दानवीरमुदाहरति—

तत्राद्यो यथा—

विप्रवेषेण याचमानायेन्द्रायादेयकवचादिदानाङ्गीकारमाकलय्य चकितान् सभ्यान् कर्णो ब्रवीति—

> 'कियदिदमधिकं मे यद् द्विजायार्थयित्रे
> कवचमरमणीयं कुण्डले चार्पयामि'।
> अकरुणमवकृत्त्य द्राक् कृपाणेन निर्यद्-
> बहलरुधिरधारं मौलिमावेदयामि ॥'

मे यस्मै कस्मैचिदपि याचकाय महार्घ्यमपि सदा सोल्लासं वितरणात् प्रसिद्धस्य कर्णस्य मम, अर्थयित्रे याचमानाय, द्विजाय विप्राय, अरमणीयं चर्मरूपत्वादसुन्दरम्, सुवर्णनिर्मितत्वात् साधारणे कुण्डले च, यद् अर्पयामि ददामि, इदं तत् कियदधिकम् (अल्पतु च्छमेव)। द्राग् झटिति, अकरुणं निर्दयं यथा स्यात् तथा कृपाणेन खड्गेन, अवकृत्त्य छित्त्वा, निर्यती निस्स्रवन्ती बहला विपुला रुधिरस्य धारा यस्मात् तादृशं मौलिमात्ममस्तकम्, आवेदयामि समर्पयामीत्यर्थः।

क्षोदीयऽकवचादिदानादेव यूयं किमिति चकिताः? अहं तु ब्राह्मणेन याचितः सद्यः स्वशिरोऽपि छित्त्वा समर्पयितुमर्हामीति सारम्।

उनमें प्रथम अर्थात् दानवीर जैसे—याचक-रूप में ब्राह्मण-वेष धारण करके उपस्थित इन्द्र को कवच और कुण्डल देने के लिये उद्यत देखकर उस दान से चकित सभ्यों के प्रति

कर्ण की उक्ति है—मेरे लिये यह कौन बड़ी बात है कि मैं याचक ब्राह्मण को, साधारण, कवच और कुण्डल अर्पण कर रहा हूँ। निर्दयता-पूर्वक, तलवार से तत्काल काट कर बहती हुई प्रगाढ़-रुधिर-धारा से युक्त अपने मस्तक को भी उनके आगे निवेदित करता हूँ—समर्पित कर सकता हूँ।

प्रकरणमुपन्यस्यति—

एषा द्विजवेषायेन्द्राय कवचकुण्डलदानोद्यतस्य कर्णस्य तद्दानविस्मितान् सभ्यान् प्रत्युक्तिः।

पित्रा भगवता भास्करेण कर्णस्य रक्षार्थं कवचादीनां दत्तत्वाददेयानामपि दानोद्यमेन सभ्यानामाश्चर्यम्। एषेत्युक्तिविशेषणम्।

(यहाँ का अनुवाद श्लोकार्थ के अवतरणरूप में ऊपर किया जा चुका है।)

आलम्बनादीन् दर्शयति—

अत्र याचमान आलम्बनम्। तदुदीरिता स्तुतिरुद्दीपिका। कवचादिवितरणं तत्र लघुत्वबुद्ध्यादिकं चानुभावः। 'मे' इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वन्युत्थापितो गर्वः, स्वकीयलोकोत्तरपितृजन्यत्वादिस्मृतिश्च सञ्चारिणौ।

अत्र 'कियदि'त्याद्युदाहरणे। याचमानोऽर्थी द्विजवेष इन्द्रः। स्तुतिर्याचककृता प्रशंसा। तत्र कवचादिषु, लघुत्वबुद्धिस्तुच्छत्वज्ञानम्। 'मे' इत्यस्मच्छब्दस्योच्चारयितृभिन्नेऽभिधा, निरशङ्क समस्तैश्वर्यदानदक्षत्वादिधर्मविशिष्टस्वार्थेऽजहत्स्वार्था प्रयोजनवती लक्षणा, स्वकीया द्वितीयदानशौण्डत्वादिप्रयोजने च व्यञ्जनेत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिः। तेन व्यज्यमानो गर्व आत्मनोऽमर्त्यादित्यजन्यत्वस्मृतिभावश्च व्यभिचारिभावौ विभावादिभिः सम्भूय दानोत्साहं दानवीररसत्वं प्रापयन्तीति हृदयम्।

यहाँ याचक (द्विज-वेष-धारी इन्द्र) आलम्बन है, उसके द्वारा की गई प्रशंसा उद्दीपन है, कवच आदि का समर्पण और उस समर्पण में तुच्छता का ज्ञान अनुभाव है और मूल के 'मे' और अनुवाद के 'मेरे लिये' पद से व्यक्त होने वाला गर्व तथा अलौकिक पिता सूर्य से अपनी उत्पत्ति का स्मरण सञ्चारी भाव हैं। यहाँ 'मे अथवा मेरे लिये' पद से गर्व आदि क्यों और कैसे व्यक्त होते हैं यह भी समझ लेना चाहिए—'अस्मद्' शब्द उच्चारणकर्ता का वाचक है अतः उस पद के न रहने पर भी वाक्य के वाच्यार्थ में कोई कमी नहीं रहती, फिर वह पद कहा ही क्यों गया? इसका उत्तर यह होगा कि 'मे' पद लाक्षणिक है—वाचक नहीं, अतः उस पद से केवल उच्चारणकर्ता का बोध नहीं होता, वरन् विलक्षण-दान-शक्ति आदि धर्मविशिष्ट उच्चारणकर्ता का बोध होता है। जिससे उक्त अर्थ—जो लक्षणा का प्रयोजन है—व्यक्त होता है। इसीको अर्थान्तर-संक्रमितवाच्यध्वनि कहते हैं।

इहत्यवृत्तेरपि रसानुकूलतां प्रकटयति—

वृत्तिरप्यत्र तत्तदर्थानुरूपोद्गम—विरामशालितया सहृदयैकचमत्कारिणी। तथाहि—उत्साहपोषकं कवचकुण्डलार्पणयोर्लघुत्वनिरूपणं विधातुं पूर्वार्धे तदनुकूलशिथिलबन्धात्मिका। उत्तरार्धे तु 'मौलि'तः प्राग् वक्तृगत-गर्वोत्साहपरिपोषणायोद्धता। ततः परं ब्राह्मणे सविनयत्वं प्रकाशयितुं तन्मूलीभूतं गर्वराहित्यं ध्वनयितुं पुनः शिथिलैव। अत एवावेदयामीत्युक्तम्, न तु ददामि वितरामीति वा।

अत्रोदाहरणे। वृत्तिरुपनागरिकादित्रितयान्यतमरूपा। तत्तदर्थानुरूपोद्गमविरामशालितया—तस्य तस्य यार्थस्यानुरूपौ तुल्यौ यावुद्गमविरामौ आरम्भसमाप्ती, ताभ्यां शालितया तद्रूपेण। एकशब्दो मुख्यार्थकः, मुख्यत्वं चात्यन्तत्वपर्यवसायि। कवचस्य कुण्डलयोश्चार्प-

णस्य दानस्य यल्लघुत्वस्य तुच्छतायाः निरूपणम्, तत् तद्दानविषयकोत्साहस्य पोषकम्। शिथिलबन्धात्मिका मृदुलवर्णघटिता कोमलाख्या वृत्तिः। मौलितो 'मौलि'मित्यस्मात्, निर्विभक्तिकानुकरणात्तसिल्। उद्धता कर्कशवर्णघटितापरुषा वृत्तिः। शिथिला कोमलैव, न तु परुषा। ददामीत्यादेर्गर्वप्रकाशसम्भवः।

अयं भावः—इह पद्ये वर्णनीयार्थानुसारी वृत्तिसन्निवेशः सहृदयहृदयङ्गमः। तथा चादिमचरणद्वये देयकवचादिलघुत्वविभावनाद् दातुरुत्साहस्य पुष्टिरिति वीररसोचिता परुषा वृत्तिः। तृतीय-चतुर्थचरणयोः 'मौलिम्' इति शब्दात् पूर्वं वक्तुः कर्णस्य, गर्वोत्साहयोर्बोधनाच्च सैव वृत्तिः। तदूर्ध्वं दानीयविप्रप्रस्तावादौद्धत्यपरिहारनम्रताप्रदर्शनयोरौचित्येन तदनुकूला कोमला वृत्तिः सन्निवेशिता। ददामि वितरामीत्याद्युक्तौ वक्तरि दातृत्वाभिमानः प्रतीयते, समर्पणार्थकावेदयामीति कथनेन तु विनयातिशय इति विवेकः।

इस पद्य में वृत्ति (पद-योजना की शैली) भी उन-उन अर्थों के अनुकूल कहीं प्रौढ और कहीं कोमल होने के कारण सहृदयमात्र को चमत्कृत करने वाली है। देखिए— पूर्वार्ध में कवच और कुण्डल के समर्पण में तुच्छता का भान—जो उत्साह को पुष्ट करता है—कराने के लिये पद-योजना शिथिल (कोमल) है और उत्तरार्ध में "'मौलि' से पहले, वक्ता के गर्व और उत्साह को पुष्ट बनाने के लिये, उद्धत (प्रौढ) है, उसके बाद फिर ब्राह्मण के विषय में विनय प्रकाशित करने के लिये, विनय के मूलभूत गर्वराहित्य को अभिव्यक्त करने वाली कोमल रचना है। इसीलिये 'आवेदयामि—निवेदन करता हूँ—' कहा, किन्तु 'ददामि—देता हूँ' 'वितरामि—वितरण करता हूँ' नहीं कहा।

प्रत्युदाहरणं दर्शयति—

इदन्तु नोदाहरणीयम्—

'दानवीर' का यह उदाहरण नहीं देना चाहिए—

दानवीरं नरेशं कश्चिद् वर्णयति—

'यस्योद्दामदिवानिशार्थिविलसद्दानप्रवाहप्रथा-
माकर्ण्यावनिमण्डलागत-वियद्बन्दीन्द्रवृन्दाननात्।
ईर्ष्यानिर्भरफुल्लरोमनिकर-व्यावल्गदूधस्स्रवत्-
पीयूषप्रकरैः सुरेन्द्रसुरभिः प्रावृट्पयोदायते॥'

यस्य नृपस्य, उद्दामो निरन्तरप्रवृत्तत्वादनवरुद्धः, दिवानिशं रात्रिन्दिवम्, अर्थिषु याचकेषु, विलसन् प्रवर्तमानो यो दानस्य प्रवाहः परम्परा, तस्य प्रथां ख्यातिम्, अवनिमण्डलाद् भूलोकाद्, आगतस्य वियद्बन्दीन्द्रवृन्दस्य स्वर्गस्तुतिपाठकश्रेष्ठसमूहस्य, आननान्मुखात्, आकर्ण्य श्रुत्वा, सुरेन्द्रसुरभिर्देवराजकामधेनुः, ईर्ष्यया प्रतिस्पर्धिदानयशस्समुत्कर्षश्रवणासहिष्णुतया, निर्भरमतिमात्रं फुल्लोऽञ्चितो रोमनिकरो लोमपालिर्यस्य, तादृशम्, अत एव व्यावल्गात् क्षोभेण सञ्चलद्, यद् ऊधः स्तनभारः, तस्मात् स्रवतां निर्गलतां, पीयूषाणां नवीनदुग्धानां, प्रकरैः पूरैः (हेतुभिः) प्रावृट्पयोदायते वर्षर्तुमेघ इवाचरतीत्यर्थः।

यस्य राज्ञः सार्वदिकदानातिशयश्रवणात् कामधेनुः प्रतिस्पर्धया वर्षामेघ इव नितरां पयः प्रवाहयति, तादृशो दानिनामग्रणीरेष राजेति तात्पर्यम्।

इन्द्र शब्दस्यात्र द्विरुपादानं चारुतां किञ्चिदपकर्षतीति सहृदयैर्वेद्यम्।

कवि किसी दानी राजा का वर्णन करता है—भूमण्डल से लौट कर आये हुये स्वर्गीय बन्दीजनों के मुख से, उस दान-प्रवाह—जो बिना रुकावट के रातदिन याचकों को दिया जाता है—की ख्याति को सुनकर, कामधेनु, ईर्ष्या के कारण अत्यन्त उत्फुल्ल (कण्टकित)

रोमराजि से तने हुये स्तन-भार से चूते हुये अमृत तुल्य नवीन दुग्ध के समूहों से वर्षा कालिक जलद सी हो जाती है अर्थात् राजा की दानकीर्ति को सुन कर कामधेनु के मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है, जिससे उसके अङ्गों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और रोम के खड़े हो जाने से उसके स्तन-स्थान में एक प्रकार की गुदगुदी पैदा होती है जिससे दूध की अविरल धारा प्रवाहित होने लगती है।

कुतो नेदमुदाहरणमित्युपपादयति—

अत्रेन्द्रसभामध्यगतसकलनिरीक्षकालम्बनः, अवनिमण्डलागत-वियद्वन्दी-वृन्दवदननिर्गत-राजदानवर्णनोद्दीपितः, ऊधःप्रस्नुतपीयूषप्रकरैरनुभावितः, असूयादिभिः सञ्चारिभिः परिपोषितोऽपि कामगवीगत उत्साहो राजस्तुतिगुणीभूत इति न रसव्यपदेशहेतुः।

इह 'यस्ये'त्यादिपद्ये यद्यपि देवसभावृत्तान्तवर्णनात् तत्सदस्य वर्गालम्बनस्य, भूलोकागतवन्दिकृतराजदानवर्णनरूपोद्दीपनस्य, कामधेनुस्तनक्षीरक्षरणलक्षणानुभावस्य, ईर्ष्याजनकतया व्यङ्ग्यस्यासूयादेश्च व्यभिचारिभावस्य, सम्बन्धात् कामधेनुनिष्ठो दानोत्साहो दानवीररसत्वमासादयति, तथाप्यसौ रसः स्तुतिव्यङ्ग्यायां वन्दिनिष्ठराजरतावङ्गिभूतायामङ्गत्वमेव दधातीति नेदं दानवीररसध्वनेरुदाहरणम्, अपि तु रतिभावध्वनेरित्यभिप्रायः।

यद्यपि इस पद्य में भी कामधेनु का उत्साह अभिव्यक्त होता है क्योंकि उसके अभिव्यञ्जक सामग्री यहाँ वर्तमान है, जैसे—इन्द्र की सभा में उपस्थित सब दर्शक आलम्बन हैं, भूलोक से आगत दिव्य बन्दीजनों के मुख से निस्सृत, राजा के दान का वर्णन (तत्परक वाक्य) उद्दीपन है, स्तनभार से चूते हुये अमृतोपम नूतन दुग्धसमूह अनुभाव है और ईर्ष्या की उक्ति से व्यक्त होने वाली ईर्ष्या-कारण असूया आदि सञ्चारीभाव हैं। तथापि वह उत्साह 'दानवीर' रस के रूप में परिणत नहीं हो सकता, क्योंकि वह कवि-विवक्षित राजविषयक स्तुति की अपेक्षा गौण है अर्थात् कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव ही यहाँ प्रधान है और उक्त उत्साह उसके पोषक होने से अङ्ग है, अतः यह श्लोक भावध्वनि का उदाहरण हो सकता है—रसध्वनि का नहीं।

वीररसस्याङ्गत्वादन्यत्रापि तद्ध्वनिव्यपदेशाभावं दर्शयति—

अत एवेदमपि नोदाहरणम्—

इसी कारण से यह उदाहरण भी नहीं देना चाहिए—

बलिवामनवृत्तं कश्चिद् वर्णयति—

'साब्धिद्वीपकुलाचलां वसुमतीमाक्रम्य सप्तान्तरां
　　सर्वां द्यामपि, सस्मितेन हरिणा मन्दं समालोकितः।
प्रादुर्भूतपरप्रमोद-विदलद्रोमाञ्चितस्तत्क्षणं
　　व्यानम्रीकृतकन्धरोऽसुरवरो मौलिं पुरोन्यस्तवान्॥'

अब्धिभिः सप्तभिः क्षारादिभिः समुद्रैः, द्वीपैः सप्तभिः पार्श्वद्वयस्थतोयावृतभूभागैः पुष्करादिभिः, कुलाचलैः सप्तभिर्विन्ध्यादिभिर्वाऽष्टसंख्या-पर्वतैश्च सहितां वसुमतीं पृथ्वीम्, अपि तथा सप्तान्तरां स्वरादिसप्तप्रकारां, सर्वां सम्पूर्णां, द्यामूर्ध्वभुवनावलीम्, पद्भ्याम्, आक्रम्य, सस्मितेन परपराजयजनितोपहसितेन, हरिणा त्रिविक्रमेण, मन्दं (द्वाभ्यामेव पद्भ्यां छलेन सर्वस्वग्रहणात्) स्तिमितं यथा स्यात् तथा समालोकितो दृष्टः, प्रादुर्भूतो भगवत्साक्षात्कारेणोत्पन्नः, परः आनन्दान्तरेभ्य उत्कृष्टो यः प्रमोदः सुखविशेषः, तेन विदलन् विकसन् रोमाञ्चो रोमविकारः सञ्जातो यस्मिंस्तादृशः, तत्क्षणं सद्यः, (प्रणामाय) व्यानम्रीकृता

विशेषेण नतीकृता कन्धरा ग्रीवा येन, तादृशश्च, असुरवरो दैत्यश्रेष्ठो वलिः, मौलिं मस्तकम् (तृतीयचरणारोपणाय) पुरो भगवतोऽग्रे, न्यस्तवानतिष्ठिपदित्यर्थः ।

कोई कवि वलि तथा वामनावतार भगवान् का वर्णन करता है—सात समुद्रों, सात द्वीपों तथा सात प्रधान पर्वतों से युक्त पृथवी को और सात परकोट वाले सम्पूर्ण स्वर्ग को भी चरणों से आक्रमण कर लेने के बाद जब भगवान् त्रिविक्रम ने ईषद्धास्य पूर्वक राजा वलि की ओर तिरछी नजर से देखा, तब उस असुरराज ने उत्कृष्ट सुख की उत्पत्ति के कारण रोमाञ्चित होकर उसी काल में नतानन होकर मस्तक सामने रख दिया। सारांश यह है कि भगवान् राजा वलि को छलने के लिये बौने का रूप धर कर उसके द्वार पर गये और तीन पग पृथवी उससे मागें, उदार चूडामणि वलि ने इस साधारण याचना को सहर्ष स्वीकार कर लिया, परन्तु भगवान् ने एक पग में समग्र भूलोक और दूसरे पग में सम्पूर्ण स्वर्गलोक को नाप लिया, फिर 'तीसरा पग मापने के लिये तुम्हारे पास जगह नहीं है, अब अपनी प्रतिज्ञा की पूर्त्ति कैसे करोगे ?' इस मनोभाव को झलकाने के लिये वलि की ओर देख कर कटाक्ष करने लगे, तब वलि उन्हें साक्षात् परमेश्वर समझ उनके दर्शन से आनन्दमन्थर हो उठा और तीसरा पग धरने के लिये अपना मस्तक उनके आगे रख दिया, इस व्यापार से उसने यह प्रार्थना की कि मेरा मस्तक तो आपने अभी तक मापा नहीं, वह मेरा अभी तक अपना है, अब आप उसीको माप कर मेरी प्रतिज्ञा को पूर्ण करें।

अत एवेत्येतदभिप्रेतमर्थं प्रकाशयति—

इह च भगवद्वामनालम्बनः, तत्कर्तृकमन्दनिरीक्षणोद्दीपितः, रोमाञ्चादिभिरनुभावितः, हर्षादिभिः पोषितः, उत्साहो व्यज्यमानोऽपि गुणः ।

अत्र श्लोके त्रिविक्रमेणालम्बनेन, तत्कृतमन्दालोकनोद्दीपनेन, रोमाञ्चादिभिरनुभावैः, हर्षादिभिर्व्यभिचारिभावैश्च सम्भूयाभिव्यज्यमानो वलिनिष्ठो दानोत्साहो दानवीररसत्वमासादयन्नपि वलिस्तुतेः प्रधानीभूताया उपकारकत्वादङ्गमिति नेदं वीररसध्वनेरुदाहरणमित्याशयः ।

प्रमोदपदेनेह सुखमुच्यते, हर्षस्तु तदंशावच्छिन्नावरणभङ्गकश्चित्तवृत्तिविशेष इति न हर्षस्य वाच्यत्वम् , न च तस्य वाच्यत्वे व्यभिचारिवाच्यत्वरूपरसदोषापातः ।

इस श्लोक में भी यद्यपि भगवान् वामनरूप आलम्बन, तत्कृत ईषत् दर्शनरूप उद्दीपन, रोमाञ्च आदि अनुभाव और हर्ष आदि सञ्चारी भावों के संयोग से वलि का 'उत्साह' व्यक्त होता है तथापि वह गौण है।

निदर्शनदर्शनेनोत्साहस्याङ्गत्वमिह समर्थयति—

प्रागन्यगतस्येव प्रकृते राजगतस्याऽपि तस्य राजस्तुत्युत्कर्षकत्वात् ।

हेतौ पञ्चमी ।

प्राग् 'यस्ये'त्यादिश्लोकेऽन्यगतस्य (कामगवीवृत्तेरुत्साह(स्थायिकवीररस)स्य यथावर्णनीयराजस्तुतेरुत्कर्षकत्वम् , तथा प्रकृते 'साब्धी'त्यादिश्लोके राजा वलिस्तन्निष्ठस्यापि तस्योत्साह(स्थायिकवीर)स्य स्वकीयस्तुतेरुत्कर्षत्वम् । तस्मादङ्गप्रधानयोः पूर्वत्र भिन्नसम्बन्धित्वम् , प्रकृते त्वेकसम्बन्धित्वमिति विशेषेऽपि, परोत्कर्षकत्वेनाविशेषादुभयोरप्युत्साह(स्थायिकवीर)योरङ्गत्वमेव नतु प्राधान्यमिति भावः ।

उत्साह को गौण होने का कारण बतलाते हैं—'प्रागन्य' इत्यादि। पूर्व (यस्योद्दाम इत्यादि) पद्य में अन्य (कामधेनु) का उत्साह जिस तरह राजा की स्तुति को उत्कृष्ट बनाने वाला था, उसी तरह यहाँ राजा (वलि) का उत्साह भी राजा वलि की स्तुति को उत्कृष्ट बनाता है। अतः इन दोनों पद्यों में स्तुति प्रधान और उत्साह गौण है।

सारबोधिन्यां काव्यप्रकाशविवृत्तौ श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्येणोल्लिखितं दानवीरोदाहरणं खण्डयति—

एतेन 'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमही-निर्व्याजदानावधिः' इति श्रीवत्सलाञ्छनोक्तमुदाहरणं परास्तम्, तस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन रसध्वनिप्रसङ्गेऽनुदाहरणीयत्वात्।

'उत्पत्तिर्जमदग्नितः, स भगवान् देवः पिनाकी गुरु-र्वीर्यं यत्तु, न तद् गिरां पथि, ननु व्यक्तं हि तत् कर्मभिः ॥ त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमही-निर्व्याजदानावधिः, सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं किं न लोकोत्तरम् ॥' इत्ययं सम्पूर्णः श्लोकः। एतेन—परशुरामनिष्ठोत्साहस्थायिकवीररसस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि, कविनिष्ठतद्विषयकरतौ गुणीभूतत्वेन। तस्य—उत्साहस्थायिकवीरस्य। अङ्गत्वाद् गुणीभूतत्वम्।

श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्येण 'त्यागः' इत्यादिपद्यस्य दानवीररसध्वन्युदाहरणत्वं यदुक्तम्, तदसमञ्जसम्, 'साब्धी'-त्यादाविवात्राप्युत्साहस्थायिकवीरस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि पराङ्गतया गुणीभावादित्यभिसन्धिः।

इससे 'सार-बोधिनी' नामक 'काव्यप्रकाश' की टीका में 'श्रीवत्सलाञ्छन' भट्टाचार्य के द्वारा दिया गया 'दानवीर रसध्वनि' का उदाहरण भी खण्डित हो गया, ऐसा समझना चाहिए। उन्होंने—

'उत्पत्तिर्जमदग्नितः ·············न लोकोत्तरम् ॥'

इस श्लोक को वीररस ध्वनि का उदाहरण कहा है। यह श्लोक 'महावीरचरित' नाटक के द्वितीय अङ्क में आया है, धनुर्भङ्ग से क्रुद्ध परशुराम को रामचन्द्रजी कह रहे हैं—भगवान्! आपका क्या-क्या लोकोत्तर नहीं है अर्थात् आपकी सभी क्रियायें अलौकिक ही हुई हैं, आपका जन्म जगत्प्रसिद्ध जमदग्नि मुनि से हुआ है; धनुर्धारी साक्षात् शिवजी आपके गुरु हैं—उन्हीं से आपने धनुर्विद्या प्राप्त की है, आपका पराक्रम आपके कर्मों से ही प्रकट होता है—वचनों से वह प्रकट नहीं किया जा सकता, त्याग भी आपका निराला ही है, सात समुद्रों से परिवेष्टित अर्थात् समूची पृथवी का अकपट भाव से दान कर देना साधारण बात नहीं है। आप क्षत्रियोचित तथा ब्राह्मणोचित दोनों तरह की तपस्या के निधान हैं। परन्तु यह पद्य 'रसध्वनि' का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ का 'उत्साह' रूप स्थायीभाव वाला 'दानवीररस' व्यङ्ग्य होकर भी कविनिष्ठ परशुराम विषयक रतिभाव का अङ्ग हो गया है, अतः यह श्लोक 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' का अथवा भावध्वनि का उदाहरण हो सकता है।

तुल्यन्यायेनाक्षिपति—

ननु 'अकरुणमकृत्य' इत्यत्रापि प्रतीयमानस्य दानवीररसस्य कर्णस्तुत्यङ्गत्वात् कथं ध्वनित्वमिति चेत्।

पूर्वोक्ते 'कियदिदम्' इत्यादिपद्ये व्यज्यमानस्य दानवीररसस्याप्येवं कर्णस्तुतेरङ्गत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वात् कथं रसध्वनित्वम्, तुल्यन्यायादित्याक्षेप्तुराशयः।

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि 'अकरुणमकृत्य···' इत्यादि पद्य में भी जिस 'दानवीर रस' की प्रतीति होती है, वह भी कर्ण की स्तुति का पोषक है अतः अङ्ग है—प्रधान नहीं, फिर वह पद्य भी 'दानवीर रसध्वनि' का उदाहरण नहीं हो सकता?

उत्तरयति—

सत्यम्, अत्र। कवेः कर्णवचनानुवादमात्रतात्पर्यकत्वेन कर्णस्तुतौ तात्पर्यविरहात्।

नात्र तुल्य न्यायावसरः, उभयोस्तौल्याभावात्, तथाहि—'अकरुणमवकृत्य' इत्यादिपद्ये कवेर्दानवीर-कर्ण-वचनानुवादमात्रे तात्पर्यम्, न तु कर्णस्य स्तुतौ, तेन कर्णस्तुतेस्तात्पर्यविषयत्वभावान्नाङ्गित्वम्, नवा वीररसस्य तदङ्गत्वम्। 'साब्धिद्वीपे'त्यादौ तु स्तुतेरेव वक्तृतात्पर्यविषयत्वात् प्राधान्यमित्युभयोर्वैषम्यमित्याशयः।

उक्त शङ्का ठीक है, परन्तु जरा गम्भीरतापूर्वक विचार कर देखिये, वहाँ कवि का तात्पर्य केवल कर्ण के वचनों का अनुवाद करने में है, न कि कर्ण की स्तुति करने में।

ननु कवेरिह कर्णस्तुतौ तात्पर्याभावेऽपि, कर्णस्यैव चेदात्मस्तुतौ तात्पर्यम्, तर्हि न कथं स्तुतेः प्राधान्यमित्याशङ्कां निरस्यति—

कर्णस्य च महाशयत्वेनात्मस्तुतौ तात्पर्यानुपपत्तेः स्तुतिरवाक्यार्थ एव।

चस्त्वर्थकः। महाशय उदात्तमनाः। तात्पर्यस्यानुपपत्तिरसङ्गतिः। अवाक्यार्थस्तात्पर्यविषयत्वाभावाद् वाक्यार्थबोधाविषयः।

न हि महाशया आत्मश्लाघिनो भवन्तीति महाशयस्य कर्णस्यात्मस्तुतौ तात्पर्यासम्भवादत्र स्तुतेः सत्त्वेऽपि, तात्पर्यविषयत्वाभावान्न प्राधान्यसम्भावनेति वीररसस्य गुणीभावाभावाद् रसध्वनेरेवेदमुदाहरणमित्याकूतम्।

यदि आप कहें कि प्रशंसा-सूचक होने से उक्त श्लोक स्तुतिवाक्य तो अवश्य है, तब रही बात यह कि कवि उस वाक्य का अनुवादक मात्र है, अतः उसका स्तुति में तात्पर्य नहीं माना जा सकता, ठीक है, परन्तु मूल वक्ता कर्ण का तात्पर्य अपनी स्तुति में कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि कर्ण महाशय पुरुष है और अपने मुख से अपनी स्तुति कोई क्षुद्राशय ही कर सकता है। फलतः स्तुति उस वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ नहीं है।

ननु 'कियदिदम्' इत्यादिपद्ये प्रतीयमाना स्तुतिरपलपितुमशक्या, तात्पर्यविषयत्वविरहाद् यदि न शाब्दधीविषयः, तर्हि कागतिरित्यत आह—

परन्तु वीररसप्रत्ययानन्तरं तादृशोत्साहेन लिङ्गेन स्वाधिकरणे साऽनुमीयते राजवर्णनपद्ये तु राजस्तुतौ तात्पर्याद्वाक्यार्थतैव तस्याः।

लिङ्गेन हेतुना। स्वाधिकरणे श्रोतुरात्मनि। सा स्तुतिः।

दानवीररसप्रधानक—शाब्दात्मकवाक्यार्थबोधे पर्यवसन्ने, व्यक्त्या प्रतीतेन कर्णस्योत्साहेन हेतुना, श्रोत्रात्मनि 'कर्णः स्तुत्यो (विभावाद्यभिव्यक्त)दानविषयकोत्साहवत्त्वात्' इत्याकाराऽनुमितिर्जायत इति प्रतीयमाना स्तुतिरत्रानुमितेर्गोचरो नतु शाब्दबोधस्येत्याशयः।

इतनी बात अवश्य है कि 'दानवीर रस' की प्रतीति हो जाने के बाद उस उत्साहरूप हेतु से सहृदयों के हृदय में वह (कर्ण की स्तुति) अनुमित होती है। इस तरह से यहाँ जो स्तुति की प्रतीति होती है, वह अनुमितरूप है–शाब्दबोधरूप नहीं। परन्तु जहाँ राजा का वर्णन किया गया हो, वहाँ तो राजा की स्तुति में ही श्लोक वाक्य का तात्पर्य रहता है अतः वहाँ स्तुति की प्रधानता माननी ही पड़ती है।

अथ दयावीररसध्वनिमुदाहरति—

द्वितीयो यथा—

दूसरा दयावीर, जैसे—

राजा शिविः शरणापन्नं कपोतरूपं धर्मं वक्ति—

'न कपोत ! भवन्तमण्वपि, स्पृशतु श्येनसमुद्भवं भयम् ।
इदमद्य मया तृणीकृतं, भवदायुःकुशलं कलेवरम् ॥'

हे कपोत पारावत ! श्येनात् पक्षिघातकविहङ्गात् समुद्भव उत्पत्तिर्यस्य, तादृशं भयं भवन्तम्, अण्वपि मनागपि, न स्पृशतु (द्रागपि श्येनान्माभैषीः) यत इदं पुरोवर्ति, भवदायुःकुशलं रक्षकत्वाद् भवदायुषः क्षेमकरं, कलेवरं (स्वस्य) शरीरम्, अद्य, मया दीनदयाव्रतिना शिविना, तृणीकृतं भवद्रक्षणाय श्येनाय भक्षयितुं समर्प्यमाणत्वात् तृणवत्तुच्छं मतमित्यर्थः ।

इह शिवेर्दयालुतापरीक्षायै श्येनरूपेणेन्द्रेणाक्रम्यमाणो भीतः कपोतरूपो धर्मः प्राणपरित्राणाय शिविं शरणमगात् । स च दयार्द्रचेताः स्वशरीरसमर्पणेन श्येनात् कपोतमरक्षीदिति पौराणिकमितिवृत्तम् ।

अत्र दयाविषयकशिशिविवृत्तिरुत्साहः स्थायी, कपोत आलम्बनम्, तदीयव्याकुलत्वमुद्दीपनम्, शरीरार्पणमनुभावः, धृत्यादयश्च व्यभिचारिणः सम्भूय दयावीररसमास्वादपदवीं नयन्ति ।

हे पारावत ! (कबूतर !) बाज से उत्पन्न होने वाला भय थोड़ा भी तेरा स्पर्श न करे, (यह मैं चाहता हूँ) अर्थात् तू बाज से मत डर । (क्योंकि) आज मैंने तेरे प्राणों की रक्षा करने में समर्थ इस अपने शरीर को तृण बना दिया है। तात्पर्य यह है कि हे कपोत ! तेरे शरीर के बदले मैं अपना शरीर बाज को दे रहा हूँ, जिसके भक्षण से तृप्त होकर बाज तेरे ऊपर आघात नहीं करेगा, फिर तुझे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है ।

कपोतापेक्षया श्येनं प्रत्युक्त्या भूयो भयनिवृत्तेः सम्भवात् पाठान्तरं कल्पयति—

अथवैवं विन्यासः—

विन्यासः पदानामिति शेषः ।

अथवा इस पद्य के स्थान पर इसतरह की रचना समझिये—

शिविः श्येनं ब्रूते—

'न कपोतकपोतकं तव, स्पृशतु श्येन ! मनागपि स्पृहा ।
इदमद्य मया समर्पितं, भवते चारुतरं कलेवरम् ॥'

हे श्येन ! तव स्पृहा जिघत्सा, मनागपि, कपोतक-पोतकं पारावतस्यानुकम्पनीयशावकं न स्पृशतु । यत इदं चारुतरं कपोतशरीरापेक्षयाऽधिकमांसलत्वादतिमनोरमं कलेवरम्, अद्य मया भवते समर्पितमित्यर्थः ।

हे श्येन ! (बाज !) तेरी स्पृहा (मारने की इच्छा) दयनीय इस कबूतर के बच्चे का थोड़ा भी स्पर्श न करे (ऐसी मेरी अभिलाषा है) । मैंने आज तेरे लिये इस सुन्दरतम शरीर को अर्पित किया अर्थात् तू मेरे शरीर को खाकर अपनी क्षुधा-ज्वाला को शान्त कर और कबूतर के उस बच्चे को मत मार । प्रथम पद्य में कबूतर के बच्चे को निर्भय रहने का आश्वासन दिया गया है और द्वितीय पद्य में बाज को, कपोत-पोतक का हनन नहीं करने की सम्मति दी गई है जो उक्त आश्वासन की अपेक्षा अधिक सङ्गत है । अत एव ग्रन्थकार ने प्रथम पद्य को द्वितीय पद्य में बदलना आवश्यक समझा । इस श्लोकार्थ का आधार एक पौराणिक कथा है—राजा शिवि की दयालुता की ख्याति बहुत हो चुकी थी, इन्द्र ने उनकी दयालुता की परीक्षा करनी चाही, अतः इन्द्र स्वयं बाज बन गये और धर्म को कपोत बनाया । फिर उस बाज से अभिद्रुत होकर उस कपोत ने राजा शिवि की शरण ली ? और शिवि ने अपना शरीर देकर बाज से कपोत की रक्षा की ।

प्रकरणमालम्बनादि च प्रकाशयति—

एषा शिवेः कपोतं श्येनं प्रति चोक्तिः। अत्र कपोत आलम्बनम्, तद्गतं-व्याकुलीभवनमुद्दीपनम्, तस्य कृते स्वकलेवरार्पणमनुभावः।

पाठभेदेन बोधनीयव्यक्तिभेदः। तद्गतं कपोतनिष्ठम्। तस्य कृते कपोतस्य जीवनरक्षार्थे। धृत्यादिर्व्यभिचारिभावश्च बोध्यः।

यह राजा शिवि की प्रथम श्लोक में कबूतर के बच्चे के प्रति और द्वितीय श्लोक में बाज के प्रति उक्ति है। यहां कबूतर का बच्चा आलम्बन है, उसकी व्याकुलता उद्दीपन है और उसकी रक्षा के लिये अपने शरीर का समर्पण अनुभाव है। इसी तरह धैर्य आदि सञ्चारी हैं, यह भी समझ लेना चाहिये। सारांश यह है कि इन सब भावों के संयोग से 'दया-वीररस ध्वनि' के व्यवहार का कारण होता है।

इहोदाहरणे दानवीरध्वनित्वमाशङ्क्य निराकरोति—

न चात्र शरीरदानप्रत्ययाद्‌ दानवीरध्वनित्वापत्तिरिति वाच्यम्, श्येनकपोतयोर्भक्ष्यभक्षकभावापन्नत्वेन शिबिशरीरस्यार्थिनोऽभावात् तदप्रतिपत्तेः।

प्रत्ययो ज्ञानम्। श्येनो भक्षकः, कपोतश्च भक्ष्यः। श्येनः कपोतशरीरस्यार्थी, नतु शिबिशरीरस्येत्यर्थिनोऽभावः शिबिशरीरस्य। तदप्रतिपत्तेः शरीरदानाप्रतीतेः।

अत्र पद्ये कपोतरक्षार्थं शिबिकर्तृक-श्येनोद्देश्यक-शरीरदानं प्रतीयत इति पूर्ववद् दान-वीरध्वनेरपीदमुदाहरणमिति पूर्वपक्षः।

श्येनो हि भक्ष्यस्य कपोतशरीरस्यार्थी, नत्वभक्ष्यस्य शिबिशरीरस्य, तस्माद्याचकस्याभावेऽत्र दानप्रतीतेरसम्भवान्न दानवीररसध्वनिरित्युत्तरपक्षश्चावसेयः।

यहां शरीर-दान की प्रतीति होती है अतः यह पद्य 'दानवीर ध्वनि' का ही उदाहरण है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि बाज का खाद्य कबूतर है, अतः वह कबूतर का याचक हो सकता है, राजा के शरीर का नहीं, और जिस चीज का याचक जहां नहीं हो, वहां उस चीज का दान कैसे हो सकता है अर्थात् यहां दान की प्रतीति होती ही नहीं है।

ननु शिबिकृतं शरीरार्पणमेव दानमिति कुतो न दानप्रतिपत्तिरित्याशङ्कयामभिदधाति—

श्येनशरीरनिवेदनस्य कपोतशरीरत्राणोपाधिकतया विनिमयपदवाच्यत्वात्।

उपाधिः प्रयोजनरूपं निमित्तम्।

यतः शिबिः कपोतशरीररक्षार्थं तत्परिवर्ते स्वशरीरमार्पिपत्। ततो (द्रव्यस्य) विनिमयो न तु दानं प्रतीयते, निरुपाधिकस्थल एव दानस्य प्रत्ययादित्याशयः।

यदि आप कहें—शिवि के द्वारा शरीर का अर्पण दान नहीं तो क्या है? इसी का उत्तर देते हैं—'श्येनशरीर' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि यहाँ कपोत-शरीर की रक्षा के लिये शिवि ने अपना शरीर दिया है, फिर वह दान कैसे कहलाया? क्योंकि किसी चीज के बदले में जो दूसरी चीज दी जाती है वह विनिमय (लेन-देन) कहलाता है—दान नहीं।

युद्धवीररसध्वनिमुदाहरति—

तृतीयो यथा—

तृतीय 'युद्धवीर' जैसे—

समराङ्गणे सन्नद्धं रावणं श्रीरामो ब्रवीति—

'रणे दीनान् देवान् दशवदन! विद्राव्य, वहति,
प्रभावप्रागल्भ्यं त्वयि तु मम कोऽयं परिकरः।
ललाटोद्यज्ज्वाला-कवलितजगज्जालविभवो
भवो मे कोदण्डच्युतविशिखवेगं कलयतु ॥'

रे दशवदन रावण! दीनान् निरतिशयपराक्रमहीनतया दुर्गतान्, देवानिन्द्रादीन्, रणे समरे, विद्राव्य कान्दिशीकान् विधाय, प्रभावप्रागल्भ्यं प्रभुत्वप्रौढिमनुभावधृष्टतां वा, वहति धारयति (स्वल्पबलामरविजयाद् वीरमानिनि) त्वयि विषये, तु पुनः, मम त्रिभुवनैकवीरस्य, परिकरः समराय सन्नाहः समारम्भो वा, कोऽयं कीदृशः?। (किन्तु) ललाटाद् भालाद् उद्यन्त्या, ज्वालया तृतीयनयनानलशिखया, कवलितो भक्षितः (भस्मीकृतः) जगज्जालस्य ब्रह्माण्डमण्डलस्य, विभवो विभूतिर्येन, तादृशः (तृतीयनेत्रोन्मीलनमात्रभस्मीकृतत्रिभुवनस्त्वत्साहाय्यार्थमुपस्थितः) भवः स्वयं भगवान् पिनाकी, मे रामस्य, कोदण्डाद् धनुषः, च्युतस्य निर्गतस्य बाणस्य वेगं रंहः, कलयतु, धारयतु जानातु वेत्यर्थः।

क्षुद्रवीर्यामरविजयमात्रेण प्रभुत्वगर्वाध्मातेन त्वया सह त्रिभुवनैकवीरस्य मे युद्धं नोचितम्, केवलमेकनेत्रोन्मीलनभस्मीकृताशेषभुवनेन भवेनैव मे युद्धमुचितमिति भावः।

हे दशमुख रावण! पराक्रमहीन-दीन देवताओं को युद्ध में खदेड़कर महा-सामर्थ्यशाली बनने वाले तेरे विषय में तो मेरी (त्रिभुवनैकवीर की) तैयारी क्या हो सकती है, हाँ, जिनके ललाट से निकलती हुई ज्वालायें समग्र सृष्टि के वैभव को ग्रास कर लेती हैं, वे देवाधिदेव महादेव मेरे धनुष से निकले हुये बाणों के वेग को सम्हालें। अभिप्राय यह है कि मैं तुझे तो अपने सामने कोई चीज ही नहीं समझता, परन्तु यदि समस्त संसार के संहारक महाकाल हर भी युद्ध में मेरे सामने आवें तो वे भी मेरे बाणों के वेग को देखकर विस्मित हुये बिना नहीं रहेंगे।

प्राग्वत् प्रसङ्गादि दर्शयति—

एषा दशवदनं प्रति भगवतो रामस्योक्तिः। इह भव आलम्बनम्, रणदर्शनमुद्दीपनम्, दशवदनावज्ञाऽनुभावः, गर्वः सञ्चारी। वृत्तिरत्र देवानां प्रस्तावे तद्गतकातर्यप्रकाशनद्वारा वीररसानालम्बनत्वावगतयेऽनुद्धतैव, दशवदनप्रस्तावे तु देवदर्पदमनवीरत्वप्रतिपादनायोद्धताऽपि, तस्यावज्ञया रामगतोत्साहानालम्बनत्वेन, तदालम्बनस्य रसस्याप्रत्ययान्न प्रकर्षवती, भगवतो भवस्य तु परमोत्साहालम्बनविभावत्वात् तत्प्रस्तावे तदालम्बनस्यौजस्विनो वीररसस्य निष्पत्तेः प्रकृष्टोद्धता।

गर्वो रामस्य वीरोक्तिव्यङ्ग्यः। तद्गतस्य देवनिष्ठस्य, कातर्यस्य भीरुत्वस्य। अनुद्धता कोमला वृत्तिर्दशवदनेति यावत्। उद्धता परुषा प्रागल्भ्यं यावत्। तदालम्बनस्य रावणालम्बनस्य। न प्रकर्षवती नाधिकोद्धता। उत्तरार्धे तु शिवस्य प्रस्ताव उपादानम्। ओजस्विन ओजोगुणाश्रयस्य। निष्पत्तिरास्वादः। प्रकृष्टोद्धताऽतिपरुषा।

इदमुच्यते—पद्येऽस्मिन् प्रतीयमानस्य वीररसस्यावज्ञापात्रतया रावणो नालम्बनम्। तेन रावणालम्बनकवीररसस्य न प्रतीतिः। अत एव द्वितीयचरणे रावणस्यामरविद्रावणसामर्थ्यसूचनाय यद्यप्युद्धता, किन्तु न प्रकृष्टोद्धतावृत्तिः। विश्वविदितपराक्रमो भगवान् भवस्तु सर्वथाऽऽलम्बनत्वयोग्य इति तदालम्बनकवीररसप्रतीतिः। तस्मादुत्तरार्धे तदनुकूलैव प्रकृष्टोद्धता वृत्तिः। सर्वत्र रसानुसारिणी वृत्तिव्यवस्था बोध्या।

यह रावण के प्रति भगवान् रामचन्द्र की उक्ति है। यहां शिव आलम्बन हैं, युद्ध-दर्शन उद्दीपन है, रावण का तिरस्कार अनुभाव है और उक्त वीरतापूर्ण उक्ति से व्यङ्ग्य होने वाला राम का गर्व सञ्चारीभाव है। वृत्ति (रचनाविशेष) देवताओं के प्रस्ताव में उद्धत (गाढ) नहीं है अर्थात् कोमल है, जिससे उनकी (देवताओं की) कातरता प्रकट होती है और कातरता की अभिव्यक्ति से यह सिद्ध होता है कि भगवान् रामचन्द्र उनको वीररस का आलम्बन नहीं समझते। हां, रावण के प्रस्ताव में देवताओं के दर्प को दमन

करने वाली उसकी वीरता का प्रतिपादन करने के लिये रचना उद्धत अवश्य है, परन्तु उस औद्धत्य में प्रकर्ष नहीं है क्योंकि राम ने उसका तिरस्कार किया है, उसको अपनी बराबरी का नहीं समझा है अतः वह उनके उत्साह का आलम्बन होने योग्य नहीं है, फिर उसका आलम्बन मानकर रस की प्रतीति नहीं हो सकती। परन्तु भगवान् शङ्कर अत्युत्तम आलम्बन विभाव हैं और उनको आलम्बन मान कर ही ओजोगुणयुक्त वीररस की सिद्धि होती है, अतः उनके प्रस्ताव में रचना पूर्ण उद्धत है।

धर्मवीररसध्वनिमुदाहरति—

चतुर्थो यथा—

चतुर्थ धर्मवीर जैसे—

अधर्मेणापि शत्रुविजयं विधेहीति वदन्तं युधिष्ठिरो व्याहरति—

'सपदि विलयमेतु राजलक्ष्मी-रुपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः।
अपहरतुतरां शिरः कृतान्तो-मम तु मतिर्न मनागपैति धर्मात्॥'

राज्यलक्ष्मीः (मम), सपदि शीघ्रं, विलयं नाशम्, एतु प्राप्नोतु। अथवा (मम) उपरि, कृपाणस्य खड्गस्य, धाराः पतन्तु। (अथवा) कृतान्तोऽन्तकः (मम) शिरः, अपहरतुतरां नितरां छिनत्तु। तु पुनः (तथापि) मम धर्मैकनिष्ठस्य युधिष्ठिरस्य, मतिर्बुद्धिः धर्मात्, मनागीषदपि, न, अपैति नापसरतीत्यर्थः।

राज्यनाश-शरीराघात-शिरश्छेदापेक्षयाऽपि धर्मापेक्षा मे दुस्सहेत्याशयः।

चाहे राज्य-लक्ष्मी तुरन्त नष्ट हो जाय अथवा खड्गों की धारायें मेरे ऊपर गिरें, किंवा स्वयं यम मेरे शिर को काट ले, पर मेरी बुद्धि तो धर्म से अणुमात्र भी विचलित नहीं होती।

अत्र प्रसङ्गादि प्रतिपादयति—

एषाऽधर्मेणापि रिपुर्जेतव्य इति वदन्तं प्रति युधिष्ठिरस्योक्तिः। अत्र धर्मविषय आलम्बनम्, 'न जातु कामान्न भयान्न लोभा-द्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।' इत्यादिवाक्यालोचनमुद्दीपनम्, शिरश्छेदाद्यङ्गीकारोऽनुभावः, धृतिः सञ्चारिणी।

धर्मस्य विषयः सम्बन्ध्यनुष्ठानम्, धर्म एव वाऽनुष्ठानोद्देश्यतया विषयः। 'धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥' इति भारतीयपद्यस्यावशिष्टांशः। आलोचनं समीक्षा।

यह 'अधर्म से भी शत्रु को जीतना चाहिये' ऐसा कहने वाले के प्रति युधिष्ठिर की उक्ति है। यहां धार्मिक विषय आलंबन है, 'काम, भय अथवा लोभ के लिये, किं बहुना प्राण के लिये भी धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिये' इत्यादि वचनों का विचार करना उद्दीपन है, मस्तक कर्तन आदि का स्वीकार करना अनुभाव है और धैर्य सञ्चारीभाव है।

वीररसस्य प्रकारचतुष्टयवत्त्वेऽरुचिं सूचयन्नुपसंहरति—

इत्थं वीररसस्य चातुर्विध्यं प्रपञ्चितं प्राचामनुरोधात्।

प्राचां मम्मटादीनामनुरोधात्, न तु स्वविचारात्।

इस तरह मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से वीर-रस के चार भेद दिखलायें गये हैं।

तमेव स्वविचारं प्रकाशयति—

वस्तु तस्तु—बहवो वीररसस्य शृङ्गारस्येव प्रकारा निरूपयितुं शक्यन्ते। तथाहि—प्राचीन एव 'सपदि विलयमेतु' इत्यादिपद्ये 'मम तु मतिर्न मनागपैति

सत्यात्' इति चरमपादव्यत्यासेन पद्यान्तरतां प्रापिते सत्यवीरस्यापि सम्भवात्।

प्राचीने धर्मवीरोदाहरणतया प्रागुपात्ते। तथाहीत्यादिना प्रकारबाहुल्यप्रतिपादनम्।

एवं यदि किञ्चिद्वैलक्षण्यमात्रेण प्रकारभेदः स्यात्, तर्हि शृङ्गाररसवद् वीररसस्यापि भूयांसः प्रकारा भवेयुः। तस्मान्नेदं प्रकारभेदकल्पनं युक्तमिति स्वरसः।

वस्तुतः शृङ्गार की तरह वीर-रस के भी बहुत ही भेद दिखलाये जा सकते हैं। देखिये,— यदि पूर्वोक्त 'सपदि विलयमेतु......' इत्यादि पद्य को 'मम तु मतिर्न मनागपैतिसत्यात्' अर्थात् 'मेरी बुद्धि तो थोड़ा भी सत्य से विचलित नहीं होती' इस तरह चतुर्थ चरण को बदल कर पद्यान्तर के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, तब 'सत्य-वीर' भी एक भेद हो सकता है।

प्राचीनपक्षपाती शङ्कते—

न च सत्यस्यापि धर्मान्तर्गततया धर्मवीररस एव तद्वीरस्याप्यन्तर्भाव इति-वाच्यम्।

सत्यमपि धर्म एवेति धर्मवीरेणैव सत्यवीरस्यापि गतार्थतया नाधिकप्रकारकल्पनासम्भव इत्यभिप्रायः।

यदि आप कहें कि सत्य भी धर्म के अन्दर आ ही जाता है, अतः 'सत्य-वीर' की भी अन्तर्भाव 'धर्म-वीर-रस' में ही हो जायगा फिर अतिरिक्त भेद मानने की क्या आवश्यकता ?

समादधाति—

दानदययोरपि तदन्तर्गततया तद्वीरयोरपि धर्मवीरात् पृथग्गणनानौचित्यात्।

प्रथमस्तच्छब्दो धर्मस्य, द्वितीयस्तु दानदययोः परामर्शकः।

यथा सत्यं धर्म एव, तथैव दानं दया चेति तुल्यन्यायात् सत्यवीरवद् दानवीर-दया-वीरयोरप्युपादानं पृथङ् न सङ्गच्छते। तस्मात् प्राचां प्रकारपरिगणना नोचितेत्याशयः।

तब मैं कहूंगा कि दान और दया भी तो धर्म के अन्तर्गत ही हैं, फिर 'दान-वीर' और 'दया-वीर' को भी पृथक् भेद के रूप में गिनना व्यर्थ है।

सत्यवीररूपनवीनप्रकाराभ्युपगमेऽपि न निस्तार इत्याचष्टे—

एवं पाण्डित्यवीरोऽपि प्रतीयते।

एवं—दानादिवीरवत्।

इसी तरह 'पाण्डित्य-वीर' की भी प्रतीति होती है।

उदाहरति—

यथा—

हयग्रीवोपासनालब्धसिद्धिः कश्चन पण्डितः सदसि ब्रूते—

'अपि वक्ति गिरां पतिः स्वयं, यदि तासामधिदेवताऽपि वा।
अयमस्मि पुरो हयानन-स्मरणोल्लङ्घितवाङ्मयाम्बुधिः॥'

यदि स्वयं गिरां पतिर्बृहस्पतिरपि (का कथा मानवपण्डितानाम्) वक्ति शास्त्रार्थविचारे पूर्वपक्षमुपक्षिपति, यदि वा तासां गिराम् अधिदेवता वाग्देवी (स्वयं) सरस्वत्यपि वक्ति, (तर्हि) हयाननस्य भगवतो हयग्रीवस्य, स्मरणेन, उल्लङ्घितः उत्तीर्णो वाङ्मयं शब्दब्रह्मैवा-पारत्वादम्बुधिर्येन, तादृशो हयग्रीवध्यानासादितसकलशास्त्रतत्त्वावगमः, अयं सम्मुखस्थोऽहम्, पुरस्तदुत्तरदानायाग्रेऽस्मि भवामीत्यर्थः।

हयग्रीवोपासनालब्धपाण्डित्यसिद्धिरहं साक्षाद्बृहस्पतिना सरस्वत्या च शास्त्रार्थविचारे न मनागपि बिभेमि, किमुतान्यैः सहेति सारम्।

जैसे—हयग्रीव की उपासना से अद्वितीय विद्वत्ता को प्राप्त करने वाला कोई पण्डित सभा में बैठ कर कह रहा है—'अपि वक्ति' इत्यादि। यदि स्वयं बृहस्पति अथवा साक्षात् वागधिष्ठात्री देवी भी बोलें तथापि हयग्रीव के स्मरण से समस्त वाङ्मय-समुद्र को पार करने वाला यह मैं आगे में उपस्थित हूं अर्थात् जब मैं बृहस्पति तथा सरस्वती से भी वाद में डरने वाला नहीं हूं तब इस सभा में उपस्थित आप जैसे साधारण पण्डितों की बात ही क्या ? जिसका मन करे, आकर मुझसे शास्त्रार्थ-विचार कर सकता है।

स्वोक्तं समर्थयितुमालम्बनाद्याह—

अत्र बृहस्पत्याद्यालम्बनः सभादिदर्शनोद्दीपितो निखिलविद्वत्तिरस्कारानुभावितो गर्वेण सञ्चारिणा पोषित उत्साहो वक्तुः प्रतीयते।

स्थायिन उत्साहस्य बृहस्पतिः सरस्वती चालम्बनम्, सभा तद्घटकपण्डितमण्डली चेष्टा चोद्दीपनम्, सभास्थसकलविद्वत्तिरस्कारोऽनुभावः, पाण्डित्यविषयको गर्वश्च व्यभिचारीति वक्तृगतस्य पाण्डित्यवीररसप्रतीतिर्भवतीति शेषः।

यहां बृहस्पति और सरस्वती आलम्बन हैं, सभा आदि का दर्शन उद्दीपन है, सम्पूर्ण विद्वन्मण्डली का तिरस्कार करना अनुभाव है और गर्व सञ्चारीभाव है, इन भावों से वक्ता का पाण्डित्य-विषयक उत्साह अभिव्यक्त होता है, जो 'पाण्डित्य-वीर-रस' का स्थायीभाव होकर उस रस के व्यवहार को प्रश्रय देगा।

पाण्डित्यवीरं युद्धवीरेऽग्रुक्तेऽन्तर्भाव्याक्षेपपरिहारमाशङ्कते—

ननु चात्र युद्धवीरत्वम्, युद्धत्वस्य वादसाधारणस्य वाच्यत्वादिति चेत्।

शस्त्रयुद्ध-शास्त्रयुद्धयोर्विजिगीषैकमूलकत्वेन युद्धत्वस्योभयत्रापि सत्त्वेनाभेदात् पाण्डित्यवीरस्य युद्धवीर एवान्तर्भवति, नत्वतिरिक्त इति शङ्कापक्षाशयः।

यदि आप कहेंगे कि यह तो 'युद्ध-वीर' ही है क्योंकि वाद-विवाद में भी जिगीषा रहती है, अतः युद्ध से उसका भी संग्रह हो जाता है।

समाधत्ते—

क्षमावीरे किं ब्रूयाः ?

पाण्डित्यवीरस्य युद्धवीरेऽन्तर्भावेऽपि क्षमावीररूपः प्रकारो नूतनोऽपलपितुमशक्य एवेति प्राचां प्रकारपरिगणनमसङ्गतमेवेति भावः।

तो, मैं भी आप के कथनानुसार कथंचित् वाद को युद्ध मान लेता हूं किन्तु फिर भी तो आप की इष्ट-सिद्धि होती नहीं दीखती, क्योंकि 'क्षमा-वीर' के सम्बन्ध में आप क्या कहेंगे ? अर्थात् उसका अपलाप तो नहीं किया जा सकेगा।

क्षमावीरमुदाहरति—

यथा—

क्षमावान् व्याहरति—

'अपि बहलदहनजालं, मूर्ध्नि रिपुर्मे निरन्तरं धमतु।
पातयतु वाऽसिधारा महमणुमात्रं न किञ्चिदाभाषे॥'

रिपुः शत्रुर्मे मम मूर्ध्नि शिरसि, बहलं भूयिष्ठम्, दहनजालमग्निपुञ्जम्, अपि निरन्तरं सन्ततं धमतु वायुसंयोगेन वर्धयतु, असिधारां करवाललतां, वा पातयतु, (तथापि) अहं तितिक्षुः, अणुमात्रमीषदपि, न किञ्चिद् आभाषे निवारकवचनं वदामीत्यर्थः।

जैसे—शत्रु भले ही मेरे मस्तक पर अग्नि-पुञ्ज को फूंक-फूंक कर बढ़ावें (प्रज्वलित करें) अथवा तलवार को गिरावें, पर मुझे कुछ भी बोलना नहीं है।

प्रसङ्गमाह—

क्षमावत उक्तिरियम् ।

अत्रोत्साहस्य रिपुकृतापकार आलम्बनम्, तटस्थप्रशंसाद्युद्दीपनम्, मौनमनुभावो धृतिश्च व्यभिचारिभावः ।

यह किसी क्षमा-शील पुरुष की उक्ति है। यहां शत्रुकृत अपराधरूप आलम्बन से अङ्कुरित, उदासीन व्यक्ति-कृत प्रशंसारूप उद्दीपन से उद्दीपित मौन-धारण-रूप अनुभाव से अनुभावित और धैर्य आदि सञ्चारी भावों से पोषित वक्ता का क्षमाविषयक उत्साह-जो 'क्षमा-वीर' का स्थायीभाव है—प्रतीयमान होकर 'क्षमा-वीर-रस-व्यवहार' का कारण होता है।

क्षमावीरवद् बलवीररूपप्रकारस्यापि सम्भवात् परिगणनमयुक्तमेवेत्याह—

बलवीरे वा किं समादध्याः ?

उक्तरीत्या बलवीरोऽपि प्रकारः सम्भवतीति तत्प्रश्ने किं समाधानं कुर्याः । न हि तस्य प्रकारान्तरेऽन्तर्भावः कथमपि कर्तुं शक्य इत्याशयः ।

अथवा 'बल-वीर' के विषय में क्या समाधान देंगे ? अर्थात् 'बल-वीर' नाम का भी 'वीर-रस' का एक भेद अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा।

बलवीररसध्वनिमुदाहरति—

यथा—

वैनतेयो वासवं ब्रवीति—

'परिहरतु धरां फणिप्रवीरः, सुखमयतां कमठोऽपि तां विहाय ।
अहमिह पुरुहूत ! पक्षकोणे, निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि ॥'

हे पुरुहूत महेन्द्र ! फणिप्रवीरः सर्पश्रेष्ठः शेषः, धरां शिरसि धृतां वसुधां, परिहरतु परित्यजतु, कमठः कूर्मो भगवानपि तां पृष्ठस्थां पृथ्वीं विहाय विसृज्य सुखं स्वास्थ्यम्, अयतां प्राप्नोतु । अहं वैनतेयः, इहात्र पक्षस्य गरुतः, कोण एकदेशे (न तु समस्ते पक्षे) इदं प्रत्यक्षगोचरम्, निखिलं सम्पूर्णं, (धारादिघटितं) जगदण्डकं ब्रह्माण्डमण्डलं, वहामि (हेलयैव) धारयामीत्यर्थः ।

इह शेषः शिरसः, कमठः पृष्ठेन च कथञ्चन पृथ्वीं बिभर्त्ति, अहं पुनः पक्षकोणेनाप्य-खण्डब्रह्माण्डमण्डलं हेलया वोढुमलमिति शेषकमठापेक्षयाऽऽत्मनो व्यतिरेकः प्रतीयते ।

जैसे—सर्पों में सब से वीर शेषनाग अपने ऊपर से पृथिवी को हटा दें और कच्छप भगवान् भी उसे त्याग कर सुख-लाभ करें। हे देवेन्द्र ! मैं अकेला ही अपने पंख के एक कोने पर इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मण्डल को धारण कर लेता हूं।

प्रसङ्गमभिधत्ते—

पुरुहूतं प्रत्येषा गरुत्मत उक्तिः ।

अत्रापि शेषकूर्मालम्बनस्य, तत्प्रशंसाकर्णनाद्युद्दीपनस्य, धराधारणोद्यमाद्यनुभावस्य, गर्वादिव्यभिचारिणश्च आत्मवद्धो निधेयः । चरमचरणे 'जगदण्डकम्' इति व्याख्यात्रनुमतः पाठ एवाङ्गीकृतः । 'जगदकलमम्' इति पाठस्तु व्यतिरेकपोषकत्वादुचितोऽपि ब्रह्माण्डमण्डलस्य सर्वापेक्षया महत्त्वगत्वेन गौरवोत्कर्षबोधकत्वात् परित्यक्तः ।

यह इन्द्र के प्रति गरुड़ की उक्ति है। यहां 'बल-वीर-रस' की प्रतीति होती है।

उक्तोदाहरणद्वये वीररसध्वनेरभावमाशङ्कते—

ननु 'अपि वक्ति' 'परिहरतु धराम्' इति पद्यद्वये गर्व एव, नोत्साहः । मध्य-

स्थपद्ये तु धृतिरेव व्यन्यत इति भावध्वनय एवैते, न रसध्वनय इति चेत्।

मध्यस्थं पद्यम् 'अपि बहले'त्यादि।

प्रथम-तृतीयपद्ययोः प्राधान्येन गर्वस्यैव, द्वितीयपद्ये च धृतेरेव व्यभिचारिभावस्य, नतूत्साहस्य स्थायिनः प्रतीतिरिति 'व्यभिचारी तथाऽञ्जितः' इत्युक्तेरेतानि त्रीण्यपि भावध्वनेरेव, न तु रसध्वनेरुदाहरणानीति शङ्कादलतात्पर्यम्।

यहां शङ्का यह होती है कि 'अपि वक्ति······' और 'परिहरतु धराम्······' इन दोनों जिनको आप क्रमशः 'पाण्डित्य-वीर' और 'बल-वीर' के उदाहरण मानते हैं—पद्यों में गर्व की ही प्रतीति होती है—उत्साह की नहीं, और 'अपिबहल······' इत्यादि पद्य में धैर्य की ही प्रतीति होती है—उत्साह की नहीं, अतः ये तीनों पद्य 'रस-ध्वनि' के उदाहरण नहीं हो सकते, वरन, 'भाव-ध्वनि' के उदाहरण हो सकते हैं क्योंकि 'व्यभिचारी तथाञ्जितः' इस सिद्धान्त के अनुसार व्यज्यमान व्यभिचारी भावों को 'भाव' माना गया है।

समादधति—

तर्हि युद्धवीरादिष्वपि गर्वादिध्वनितामेव किं न ब्रूयाः? रसध्वनिसामान्यमेव वा किं न तद्व्यभिचारिध्वननेन गतार्थयेः?

'तद्व्यभिचारध्वननेन' इति पाठस्तु सन्दर्भाशुद्धेरितिरस्कृतः।

यदि व्यभिचारिप्रतीतेरेव भावध्वनित्वं तेषूच्यते, तदा दानदयायुद्धवीरेष्वपि गर्वस्य, सत्यवीरे च धृतेर्व्यभिचारिभावस्य प्रतीतेर्भावध्वनित्वमुच्यताम्, वीररसध्वनेरुच्छेद एव क्रियताम्। अथवेत्थं सर्वेषु रसध्वनिषु तत्तद्रसव्यभिचारिभावस्यावश्यं प्रतीतेः सर्वत्र भावध्वनिरेवाङ्गीक्रियताम्, तेनैव रसध्वनिर्गतार्थीक्रियताम्, इत्थं हि सकलरसतन्त्रव्याकुलीभावः स्यादित्यहो तव मूलच्छेदी पाण्डित्यप्रकर्ष इति समाधानपक्षाशयः।

परन्तु उक्त शङ्का ठीक नहीं हैं क्योंकि यदि इस तरह उक्त पद्यों में भावध्वनियों का स्वीकार किया जाय, तब 'युद्ध-वीर' आदि उदाहरणों में भी गर्व आदि भावों की ध्वनियां ही क्यों नहीं मान ली जाय? क्योंकि दान, दया और युद्ध-वीरों के उदाहरणों में गर्व की और धर्म तथा सत्यवीर के उदाहरणों में धैर्य की प्रतीति अवश्य ही होती है। अथवा जहां जिस रस की ध्वनि होती है, वहां उस रस के समुचित व्यभिचारी भावों की प्रतीति का होना आवश्यक ही है, फिर उन सब जगहों में उन उन व्यभिचारीभावों की ध्वनियों को ही मान कर 'रस-ध्वनिमात्र' का उच्छेद क्यों नहीं कर दिया जाय? अर्थात् आपके हिसाब से 'रसध्वनि' नाम की कोई चीज ही साहित्यशास्त्र में नहीं रह जायगी।

ननु रसध्वनिषु व्यभिचारिभावापेक्षया स्थायिभावस्योत्कटा प्रतीतिरिति तद्बलाद्रसध्वनिव्यपदेशः, उक्तोदाहरणेषु तु गर्वादिव्यभिचारिभावस्योत्कटा प्रतीतिरिति भावध्वनित्वमेवोच्यत इति चेत्, न, उभयत्रोत्साहस्यैव स्थायिभावस्योत्कटत्वेन प्रतीयमानत्वात्। किञ्च बलवीरादुदाहरणेषूत्साहस्य प्रतीतिर्न भवति, दानदयायुद्धवीरोदाहरणेषु तु भवतीति कस्यचिदुक्तिरपि राजाज्ञेयोपजिविनारवष्टितैव, उभयत्र वैलक्ष्यानुभवात्। तस्मात् प्राचीनानां वीररसप्रकारपरिगणनमप्राज्ञतमित्येवाह—

स्थायिप्रतीतिर्दुरपह्नवा चेत्, तुल्यं प्रकृतेऽपि। अनन्तरोक्तपद्ये तु नोत्साहः प्रतीयते, दयावीरादिषु प्रतीयत इति राजाज्ञामात्रम्।

दुरपह्नवत्वेनोत्कटत्वं प्रतीतेः। अनन्तरोक्तपद्यं 'परिहरतु' इत्यादि।

यदि आप कहें कि 'रस-ध्वनि' के जो सर्वसम्मत उदाहरण हैं, उनमें व्यभिचारीभावों की अपेक्षा स्थायीभावों की प्रतीति उत्कट रूप से होती है, अतः वहां रस-ध्वनि मानते हैं, तब मैं कहूंगा—यहां (पाण्डित्य-वीर आदि में) भी उत्साहरूप स्थायीभाव की उत्कट

प्रतीति होती है, अतः यहां भी वीर-रस-ध्वनि मानिये । 'युद्ध-वीर' आदि में उत्साह की प्रतीति होती है और 'पाण्डित्य-वीर' आदि में नहीं, ऐसा कथन तो राजाज्ञामात्र होगा-युक्ति संगत नहीं । सारांश यह है कि प्राचीनों की 'वीर-रस के चार भेद हैं' यह मान्यता अल्प ज्ञतामूलक है, वस्तुतः उसके बहुत भेद हो सकते हैं।

अथाद्भुतरसध्वनिमुदाहरति—

अद्‌भुतो यथा—

अब 'अद्‌भुत-रस' का उदाहरण दिखलाते हैं-'अद्‌भुतो यथा' इति। 'अद्भुत-रस' जैसे—

वदनान्तर्गतविश्वदर्शनचकिता यशोदा गोविन्दं वदति—

'चराचरजगज्जाल-सदनं वदनं तव ।
गलद्गगनगाम्भीर्यं, वीक्ष्यास्मि हृतचेतना ॥'

हे कृष्ण ! चराचरजगज्जालस्य स्थावरजङ्गमात्मकविश्वमण्डलस्य, सदनमधिकरणम्, गलच्चरयद् गगनस्य व्योम्नः (किमुतान्यवस्तूनाम्) गाम्भीर्यमगाधत्वं यस्मात्, तादृशम्, तव बालकृष्णस्य, वदनं मुखं, वीक्ष्य विलोक्य, हृतचेतना विस्मयातिशयेन जडीभूताऽस्मीत्यर्थः।

जो स्थावर और जङ्गम-सम्पूर्ण संसार का निवास-स्थान है और जिसके सामने में गगन की भी गम्भीरता नष्ट हो जाती है, उस तेरे मुख को देख कर मेरा चैतन्य लुप्त हो गया है—आश्चर्य से मैं हत-बुद्धि हो गई हूं ।

प्रकरणादि प्रदर्शयति—

कदाचिद् भगवतो वासुदेवस्य वदनमालोकितवत्या यशोदाया इयमुक्तिः । अत्र वदनमालम्बनम्, अन्तर्गतचराचरजगज्जालदर्शनमुद्दीपनम्, हृतचेतनत्वम्, तेन गम्यं रोमाञ्च-नेत्रस्फारणादि चानुभावः, त्रासादयो व्यभिचारिणः ।

कदाचिज्जृम्भावसरे, तथा च श्रीमद्भागवते—'पीतप्रायस्य जननी, सा तस्य रुचिर-स्मितम् । मुखं लालयती राजन् !, जृम्भतो ददृशे इदम् ॥ खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः, सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च । द्वीपान् नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि, भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि ॥ सा वीक्ष्य विश्वं सहसा, राजन् ! सञ्जातवेपथुः । सम्मील्य मृगशावाक्षी, नेत्रे आसीत् सुविस्मिता ॥' अन्तर्गतं कृष्णमुखमध्यस्थम् । तेन हृतचेतनत्वेन गम्यं वाचकशब्दविरहात् कार्यतया व्यङ्ग्यम् । नेत्रयोः स्फारणमतिविकासनम् ।

इह प्राधान्येन प्रतीयमानस्य स्थायिनो विस्मयस्यालम्बनादिसामग्रीसमवधानाद्-द्भुतरसध्वनिः ।

यह किसी समय भगवान् श्रीकृष्ण के विवृत वदन को देखने के बाद यशोदा की उक्ति है । यहां विवृत-मुख आलम्बन है, उसके अन्दर सम्पूर्ण स्थावर जंगमात्मक संसार का अवलोकन उद्दीपन है, चैतन्य-लोप तथा उससे व्यक्त होनेवाले रोमाञ्च एवं नयन-विकास आदि अनुभाव हैं और त्रास आदि सञ्चारीभाव हैं। तात्पर्य यह है कि इन सब भावों के संयोग से अभिव्यक्त विस्मयाख्य स्थायीभाव की यहां प्रधानता है, अतः 'अद्भुत-रस' की ध्वनि यहां होती है ।

अत्र रतिभावध्वनित्वमाशङ्कितं खण्डयति—

नैवात्र पुत्रगता प्रीतिः प्रतीयते, व्यञ्जकाभावात् ।

नन्वत्र यशोदानिष्ठायाः पुत्रविषयकरतेरेव प्राधान्ये व्यज्यमानत्वाद् भावध्वनेरिदमु-दाहरणं नत्वद्भुतरसध्वनेः, विस्मयस्य प्राधान्येनाप्रत्ययादिति चेत्, न, पुत्रविषयकरतेरत्र व्यञ्जकविरहेणाव्यङ्ग्यत्वादित्याशयः ।

यहां यशोदा का पुत्र-प्रेम, वस्तुतः रहकर भी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उसकी प्रतीति

कराने वाला एक भी पद इस पद्य में नहीं है, अतः पुत्र-विषयक रति-रूप-भाव-ध्वनि का ही यह उदाहरण है-'अद्भुत-रस-ध्वनि' का नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये।

ननु पूर्वापरसन्दर्भपर्यालोचनयाऽत्रापि रतिप्रत्ययो भवत्येवेत्यत्राह—

प्रतीतायां वा तस्यां विस्मयस्य गुणत्वं न युज्यते।

तस्यां पुत्ररतौ। गुणत्वमप्राधान्यम्।

प्रकरणपर्यवेक्षणेनात्र पुत्ररतिप्रतीतिर्यद्यनुभविकी, तथापि तस्या अङ्गत्वाद् हृतचेतनत्वेन मुख्यतया व्यज्यमानस्य विस्मयस्य प्रधानत्वान्न रतिभावध्वनिः, अपित्वद्भुतरसध्वनिरेवेति भावः।

यदि प्रकरण-पर्यालोचन से यहां पुत्र-प्रीति की प्रतीति होती है यह बात अनुभव-सिद्ध हो, तब भी वह (पुत्र-प्रीति) चैतन्य-लोप की बात से प्रधानतया व्यक्त होनेवाले विस्मय की अपेक्षा गौण ही होगी, विस्मय उसकी अपेक्षा गौण नहीं हो सकता।

अत्रैव भक्तिरसध्वनित्वं केनाप्याशङ्कितं निराकरोति—

एवं 'कश्चिन्महापुरुषोऽयम्' इति भक्तिरपि, तस्याः 'पुत्रो ममायं बालः' इति निश्चयेन प्रतिबन्धादुत्पत्तुमेव नेष्टे। अतस्तस्यामपि विस्मयस्य गुणीभावो न शङ्क्यः।

एवं विस्मयस्यैवाङ्गित्वेन व्यक्तौ। तस्या यशोदायाः। ईष्टे शक्नोति। तस्यां भक्तौ।

ननु वदनान्तर्गतविश्वविलोकनाद् यशोदायाः 'कोऽपि महानुभावः पुरुषोऽयम्' इत्याकारकबुद्धावुत्पन्नायां जायमाना तद्विषयकभक्तिरिहास्ति प्रधानम्, विस्मयस्तु तत्पोषकत्वादङ्गमितिपुनर्नायमद्भुतरसध्वनिरिति न शङ्कनीयम्, यशोदायाः 'पुत्रो ममायं बालः' इत्याकारकनिश्चयात्मकप्रतीतौ जागरूकायां, समाने विषये निश्चयस्य तदितरज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वात् 'महापुरुषोऽयम्' इति ज्ञानस्य प्रतिबद्धत्वादिहानुत्पत्तेर्भक्तेः सर्वथाऽसम्भवादिति तात्पर्यम्।

इसी तरह 'यह कोई महापुरुष है' यह समझ कर भक्ति भी यहां उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि 'यह बालक मेरा पुत्र है' इस प्रकार का यशोदा का निश्चय उसकी उत्पत्ति में प्रतिबन्धक है, अतः भक्ति की अपेक्षा भी विस्मय की गौणता अशङ्कनीय ही है।

अथ काव्यप्रकाशकृता दत्तमद्भुतरसध्वनेरुदाहरणं दूषयति—

यत्तु सहृदयशिरोमणिभिः प्राचीनैरुदाहृतम्—

'चित्रं महानेष नवावतारः, क कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः।
लोकोत्तरं धैर्यमहो! प्रभावः, काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः॥' इति।

चित्रमाश्चर्यम्, एष महान् परमोत्कृष्टः, नवावतारो नूतनो महापुरुषस्याविर्भावः, एषाऽस्य शरीरे विद्यमाना कान्तिर्द्युतिः क्व? (कुत्राप्यन्यत्र न) अभिनवाऽभूतपूर्वैवास्य भङ्गीरीतिः, लोकोत्तरं मनुष्यलोकाप्राप्यं, धैर्यं धृतिः, अहो अद्भुतः प्रभावोऽनुभावः, काऽप्यनिर्वचनीयैव, आकृतिराकारः (अङ्गसन्निवेशः) एष (तस्माद् धातुः) नूतनोऽभूतपूर्वः, सर्गः सृष्टिरस्तीत्यर्थः।

अब काव्यप्रकाशकार द्वारा उपस्थित 'अद्भुत-रस-ध्वनि' के उदाहरण को दूषित करने के लिये उसका स्वरूप पहले दिखलाते हैं—'यत्तु' इत्यादि। सहृदय-शिरोमणि प्राचीन आचार्यों ने 'चित्रं महानेष......' इत्यादि श्लोक को 'अद्भुत-रस-ध्वनि' के उदाहरणरूप में लिखा है। उस श्लोक का अर्थ यह है—यह महान् नूतन, अवतार आश्चर्यजनक है, ऐसी कान्ति आज तक कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुई, यह चलने, बैठने, बोलने और देखने का ढङ्ग भी सर्वथा नवीन ही है, अलौकिक धैर्य है, विलक्षण-आश्चर्य-चकित कर देनेवाला प्रभाव है, अनिर्वचनीय आकार है, यह एक नई सृष्टि है अर्थात् अब तक ऐसा कोई उत्पन्न नहीं हुआ, जरूर इस रूप में यह किसी महापुरुष का आविर्भाव हुआ है। यह भगवान् वामन के दर्शन से विस्मित बलि की उक्ति है।

इह विस्मयस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यतयाऽद्भुतरसध्वनिरिति भट्टमम्मटः। तन्मतं खण्डयति—

तत्रेदं वक्तव्यम्—प्रतीयतां नामात्र विस्मयः, परन्त्वसौ कथङ्कारं ध्वनिव्यपदेशहेतुः? प्रतिपाद्यमहापुरुषविशेषविषयायाः प्रधानीभूतायाः स्तोतृगतभक्तेः प्रकर्षकत्वेनास्य गुणीभूतत्वात्।

तत्र मम्मटोक्तविषये। असौ विस्मयः। कथङ्कारं केन प्रकारेण।

अत्रोदाहरणे प्रतीयमानोऽपि विस्मयो वर्णनीयमहापुरुषविषयाया भक्तेरङ्गिभूताया उत्कर्षप्रयोजकत्वादङ्गम्। तस्मान्महापुरुषविषयकभक्तिप्राधान्याद् भावध्वनेरेवोदाहरणमिदम् त्वद्भुतरसध्वनेः, विस्मयस्य गुणीभावादित्याशयः।

यहाँ प्रधानतया विस्मय व्यङ्ग्य होता है, अतः यह 'अद्भुत-रस-ध्वनि' का उदाहरण है; इस मम्मट-मत का खण्डन करते हैं—'तत्रेदं वक्तव्यम्' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि इस पद्य में 'विस्मय' स्थायीभाव की प्रतीति होती है, हो, मैं उसका अपलाप करना नहीं चाहता, पर उस विस्मय के कारण यहां अद्भुत-रस-ध्वनि का व्यवहार कैसे हो सकता है? क्योंकि इस श्लोक में जिस महापुरुष का वर्णन किया गया है, उसके विषय में स्तुति करने वाले (बलि) की जो भक्ति है, वही यहाँ प्रधान है और विस्मय उसको उत्कृष्ट बनाता है, अतः उसकी अपेक्षा वह गौण हो गया है।

निदर्शनदर्शनेन स्वमतं द्रढयति—

यथा महाभारते गीतासु विश्वरूपं दृष्टवतः पार्थस्य—'पश्यामि देवांस्तव देव! देहे, सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्॥' इत्यादौ वाक्यसन्दर्भे।

पार्थस्य वाक्यसन्दर्भे इति सम्बन्धः।

यथा भगवतो विश्वरूपं विलोक्यार्जुनेनाभिहितायां 'पश्यामि देवांस्तव देव! देहे' इत्यादिभगवद्गीताघटकवाक्यपरम्परायां भक्तिः (भगवद्विषया रतिः) प्रतीयमाना प्रधानम्, अदृष्टपूर्वरूपदर्शनजन्यो विस्मयस्तु भक्तिपोषकतयाऽङ्गमिति भावध्वनिरद्भुतरसस्याङ्गत्वेन रसवदलङ्कारश्च, तथैव प्रकृते 'चित्रम्' इत्यादावपि भक्तेः प्राधान्यमद्भुतस्य चाङ्गत्वमित्यभिसन्धिः।

ऐसे स्थलों पर भक्ति की ही प्रधानता होती है और विस्मय गौण रहता है इसमें दृष्टान्त दिखलाते हैं—'यथा' इत्यादि। भगवान् ने मुग्ध अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखलाया, जिसको देखकर अर्जुन भगवान् से कहते हैं—हे देव! मैं आपके शरीर में सब देवताओं को तथा नाना तरह के सब प्राणियों को देख रहा हूं। इत्यादि गीता के वाक्यों में यद्यपि विस्मय की प्रतीति होती है, तथापि उस भक्ति की अपेक्षा वह गौण है, जो अर्जुन के हृदय में भगवान् के प्रति उत्पन्न हुई। तात्पर्य यह है कि जैसे वहां विस्मय की प्रधानता नहीं है, वैसे ही उक्त पद्य में भी उसकी प्रधानता नहीं ही है।

पर्यवसितमाह—

इत्थं चास्य रसालङ्कारत्वमुचितम्।

अस्य प्राचीनोक्ताद्भुतरसध्वन्युदाहरणस्य। रसालङ्कारत्वं रसवदलङ्कारोदाहरणत्वम्। एतद् भावध्वन्युदाहरणतायाप्युपलक्षकम्, पूर्वसन्दर्भानुरोधात्।

पर्यवसित अर्थ यह हुआ कि 'चित्रं महानेष······' इत्यादि श्लोक अद्भुत-रस-ध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता, अपितु भाव-ध्वनि का उदाहरण हो सकता है, हाँ, विस्मय भी यहाँ वस्तु-विभावजन्य है, अतः तन्मूलक 'रसवत्' अलंकार यहाँ होगा।

अत्रैव पुनरन्यथाऽऽशङ्क्य निरस्यति—

भक्तिर्नैवात्र प्रतीयत इति चेत्, दरमुकुलितलोचनं चिदाकुर्वन्तु सहृदयाः।

यदि न भक्तिरत्रोदाहरणे प्रतीयत एव न, दूरे तस्याः प्राधान्याप्राधान्यपरीक्षा, तथा

सति विस्मयस्यैवात्र प्राधान्येनाद्भुतरसध्वनित्वमेवेति प्राचीनपक्षपातेन कश्चित् कथयेत्, तर्हि विषयेऽस्मिन् तटस्था परमाप्ताः सहृदया एव भावनयेषन्मीलितनयनं यथा स्यात्, तथा तथ्यातथ्यं जानन्तु, वयं न किञ्चिद्ब्रूम इति सारम्।

आग्रहं विहाय सहृदयैर्विहिते विचारे भक्तेरिह प्राधान्यं विस्मयस्य चाप्राधान्यं व्यक्तं प्रतिभायादिति भावः।

यदि आप कहें कि 'चित्रं महानेष'''''' इत्यादि श्लोक में भक्ति की प्रतीति होती ही नहीं, तब मैं इसका उत्तर क्या दे सकता हूं? केवल सहृदयों से इतनी प्रार्थना करूँगा कि आप जरा आँखें मूंद कर स्वस्थ होकर सोचें और फिर कहें कि यहां भक्ति की प्रतीति होती है अथवा नहीं अर्थात् दुराग्रह छोड़कर विचार करने से आप को भी यहाँ भक्ति की प्रधानता अवश्य अवगत होगी।

अथ हास्यरसमुदाहरति—

हास्यो यथा—

रसविशेषणतयैव पुंस्त्वम्, अन्यथा 'हासो हास्यं च' इत्यमरात् क्लीबत्वमेव।

अब 'हास्य-रस' का उदाहरण देते हैं—'हास्यो यथा' इत्यादि। हास्य जैसे—

बालिशो नवतार्किकपुत्रो ब्रवीति—

'श्रीतातपादैर्विहिते निबन्धे, निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा।
अङ्गं गवां पूर्वमहो पवित्रं, कथं न वा रासभधर्मपत्न्याः॥'

श्रीतातपादैः श्रीमद्भिः पितृचरणैः, विहिते विरचिते, निबन्धे धर्मानुशासनग्रन्थे, एषा साम्प्रतमुदीर्यमाणा, नूतनाऽनाविष्कृतपूर्वा, युक्तिस्तर्कः निरूपिता निर्धारिता, अहो आश्चर्यम्, (यदि) गवां धेनूनाम्, पूर्वमङ्गं पूर्वकायः, पवित्रं मेध्यम्, (तदा तुल्यन्यायात्) रासभस्य गर्दभस्य, धर्मपत्न्या गर्दभ्याः (पूर्वमङ्गम्) कथं नवा पवित्रमस्तीति शेषः। गवां पश्चार्धस्यैव धर्मशासनानुमते पवित्रत्वे, पूर्वार्धस्य तत्त्वकथनं तत्तुल्यस्कन्धतया गर्दभ्या अपि पूर्वार्धस्य नवीनतर्केण पवित्रत्वोपपादनं चात्र हास्यकरमवसेयम्।

किसी तार्किक का पुत्र कहता है—श्रीमान् पिताजी से रचे गये निबन्ध में यह एक नवीन युक्ति दीख पड़ी कि जब गायों का पूर्व अङ्ग पवित्र है, तब गदहे की धर्मपत्नी का वह अङ्ग पवित्र क्यों नहीं माना जाय? अर्थात् गौ और गर्दभी एक समान हैं। धर्मशास्त्र में गौ के पश्चार्ध भाग को ही पवित्र कहा गया है, परन्तु यहां उसके पूर्वार्ध भाग को पवित्र घोषित किया गया है और तत्तुल्य न्याय से गर्दभी के उस भाग को भी पवित्र मानने की सलाह दी गई है—यही असंगत बात यहाँ हास्यास्पद है।

आलम्बनाद्याह—

तार्किकपुत्रोऽत्रालम्बनम्, तदीया निश्शङ्कोक्तिरुद्दीपिका, रदनप्रकाशादिरुद्वेगादयश्चानुभाव-व्यभिचारिणः।

तार्किक उक्ताद्भुततर्कवित्। निश्शङ्का हठोक्तिः। रदनप्रकाशो दन्तविवृतिस्तदादिरनुभावः। उद्वेगादयो व्यभिचारिणः।

यहां तार्किक का पुत्र आलम्बन है, उसका निःशङ्क कथन उद्दीपन है, दांत का निपोड़ना अनुभाव है और उद्वेग आदि सञ्चारी भाव हैं।

अथ हास्यस्य भेदं दर्शयितुं प्राचीनोक्तिमनुवदति—

अत्राहुः—

'आत्मस्थः परसंस्थश्चेत् यस्य भेदद्वयं मतम्।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः॥'

हसन्तमपरं दृष्ट्वा, विभावश्चोपजायते ।
योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः, परस्थः परिकीर्त्तितः ॥
उत्तमानां मध्यमानां, नीचानामप्यसौ भवेत् ।
त्र्यवस्थः कथितस्तस्य, षड्भेदाः सन्ति चापरे ॥
स्मितं च हसितं प्रोक्त-मुत्तमे पुरुषे बुधैः ।
भवेद् विहसितं चोप-हसितं मध्यमे नरे ॥
नीचेऽपहसितं चाति-हसितं परिकीर्त्तितम् ।
ईषत्फुल्लकपोलाभ्यां, कटाक्षैरप्यनुल्बणैः ॥
अदृश्यदशनो हासो-मधुरः स्मितमुच्यते ।
वक्त्रनेत्रकपोलैश्चे-दुत्फुल्लैरुपलक्षितः ॥
किञ्चिल्लक्षितदन्तश्च, तदाहसितमिष्यते ।
सशब्दं मधुरं काय-गतं वदनरागवत् ॥
आकुञ्चिताक्षिमन्द्रं च, विदुर्विहसितं बुधाः ।
निकुञ्चितांसशीर्षश्च, जिह्मदृष्टिविलोकनः ॥
उत्फुल्लनासिको हासो-नाम्नोपहसितं मतम् ।
अस्थानजः आश्रुदृष्ट-राकम्पस्कन्धमूर्धजः ॥
शार्ङ्गदेवेन गदितो-हासोऽपहसिताह्वयः ।
स्थूलकर्णकटुध्वानो-बाष्पपूरप्लुतेक्षणः ॥
करोपगूढपार्श्वश्च, हासोऽतिहसितं मतम् ।' इति ।

यत्र द्रष्टुरालम्बनविभावदर्शनात् स्वयमुत्पद्यते हासः, स आत्मस्थः । यत्र चापरं हसन्तं दृष्ट्वोत्पद्यते, स परस्थ इति प्रकारद्वयं हास्यरसस्य । अस्य हास्यरसस्य विभावस्तु परकीय-हास्यदर्शनादुद्भवति । आश्रयस्योत्तम-मध्यमा-धमत्वैर्हास्यस्यापि त्रैविध्यं जायते । तस्य हास्यस्य स्मित-हसित-विहसितो-पहसिता-पहसितातिहसितरूपाः षड्भेदाः । तेषु प्रथमं द्विकमुत्तमे, द्वितीयं मध्यमे, तृतीयं चाधमे । अनुल्बणैरनुत्कटैः कटाक्षैरुपलक्षित इति शेषः । कायगतं सकलशरीरव्यापि । कालगतमिति पाठान्तरम् । वदनरागवन्मुखलौहित्यविशिष्टम् । मन्द्रं गम्भीरध्वनियुतम् । निकुञ्चितानि सङ्कुचितान्यंसौ स्कन्धौ शीर्षं शिरश्च यस्मिन्निति बहुव्रीहिः । जिह्मया कुटिलया दृष्ट्या विलोकनं यत्र तादृशः । अस्थानेऽनुचितावसरे जातः । आकम्पा अभिव्याप्तकम्पाः स्कन्धौ मूर्धजाः केशाश्च यत्र तादृशः । शार्ङ्गदेव आचार्यैः । स्थूलः प्रबलः कर्णकटुः कर्णारुन्तुदो ध्वानः शब्दो यत्र सः । बाष्पपूरेणाश्रुसमूहेन प्लुते व्याप्ते ईक्षणे नेत्रे यत्र सः । कराभ्यामुपगूढे हास्यवेगधारणायावलम्बिते पार्श्वे यत्र सः ।

अब हास्य के विविध भेदों को दिखाने के लिये प्राचीन आचार्यों की उक्ति का अनुवाद करते हैं—'आत्मस्थः' इत्यादि । हास्य-रस के दो भेद हैं—एक आत्मस्थ, दूसरा परस्थ । आत्मस्थ उसको कहते हैं, जो विभाव (हास्य के विषय) के दर्शनमात्र से द्रष्टा में स्वयं समुत्पन्न हो जाता है और जो हास्य-रस दूसरे को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है तथा जिसका कारण भी हास्य ही रहता है, उसको हास्य-रस के विशेषज्ञ जन परस्थ कहते हैं । यह हास्यरस उत्तम, मध्यम और अधम तीनों श्रेणी के व्यक्तियों में उत्पन्न होता है, अतः इसकी तीन अवस्थायें कहलाती हैं । इसी तरह हास्य के दूसरे छः भेद हैं—उत्तम पुरुष में स्मित और हसित, मध्यम पुरुष में विहसित और उपहसित, एवं नीच पुरुष में

अपहसित और अतिहसित होते हैं। जिसमें कपोल अल्प विकसित हों, नेत्रकोण अधिक विस्तार को प्राप्त नहीं करें, दांत दृष्टि-गोचर न होने पावें और जो मधुर हो, वह हास्य स्मित कहलाता है। जिस हास में मुख, नयन और कपोल विकसित हो जायँ और दांत भी थोड़ा दृष्टिगोचर हो जायँ, वह हसित कहा जाता है। जिस हास में शब्द सुनाई दे, फिर भी मधुर हो, जिसके विकार शरीर के सब अङ्गों में उत्पन्न हो जायँ, जिसके होने से मुख लाल हो जाय, आंखें कुछ टेढ़ी हो उठें और गम्भीर हो, उसको बुधगण विहसित कहते हैं। जिसमें कन्धे और सिर सिकुड़ जायँ, वक्र दृष्टि से देखना पड़े और नाक फैल जाय, उस हास की संज्ञा उपहसित है। जो हास अनवसर का हो जिससे आंखों में आंसू आजाय और कन्धे तथा केश खूब कम्पमान हो उठे उसका नाम शार्ङ्गदेव आचार्य ने अपहसित रखा है। जिसमें कर्ण को कटु लगनेवाला बहुत जोर का शब्द हो, नेत्रों में अश्रु की बाढ़ सी आ जाय और हाथों से पार्श्व-भागों को पकड़ना पड़े, उस हास को अतिहसित मानते हैं।

अथ भयानकरसध्वनिमुदाहरति—

भयानको यथा—

अब 'भयानक रस' का उदाहरण देते हैं—'भयानको यथा' इति। भयानक-रस जैसे—

श्येनाद्भीतस्य लावकस्य वृत्तं वर्णयति—

> 'श्येनमम्बरतलादुपागतं, शुष्यदाननविलो विलोकयन्।
> कम्पमानतनुराकुलेक्षणः, स्पन्दितुं नहि शशाक लावकः॥'

अम्बरतलादाकाशमण्डलात्, उपागतं सन्निकृष्टम्, श्येनं पक्षिघातकपक्षिविशेषम्, विलोकयन् पश्यन्, शुष्यद् मृत्योर्भयाच्छोषं गच्छद् आननं मुखमेव विलं यस्य, तादृशः, कम्पमाना वेपथुमती तनुः शरीरं यस्य, तादृशः, तथा आकुले विह्वले ईक्षणे यस्य तादृशः, लावको वर्तकजातीयो लावेति प्रसिद्धः पक्षिविशेषः, स्पन्दितुमीषच्चलितुम् (अपि) न शशाक न च क्षम इत्यर्थः।

मरणं सन्निहितं विभावयन् भीतिविमूढो बभूवेति तात्पर्यम्।

किसी दर्शक का कथन है कि विवश लावक (एक प्रकार का पक्षी, जिसे बगेड़ी कहते हैं) ने जभी गगनतल से झपटते हुये बाज को देखा तभी उसका मुख सूख गया, देह कांपने लगी, आंखें आकुल हो गईं, इस तरह वह हिल भी न सका।

आलम्बनादि दर्शयति—

अत्र श्येन आलम्बनम्, सवेगापतनमुद्दीपनम्, आननशोषादयोऽनुभावाः दैन्यादयः सञ्चारिणः।

सवेगं वेगवदम्बरादापतनं श्येनस्यात्रसेयम्।

यहां बाज आलम्बन है, उसका बहुत वेग से झपटना उद्दीपन है, मुख सूखना आदि अनुभाव है और दैन्य आदि व्यभिचारीभाव है।

अथ बीभत्सरसध्वनिमुदाहरति—

बीभत्सो यथा—

अब 'बीभत्स-रस' का उदाहरण दिखलाते हैं—'बीभत्सो यथा इति।' 'बीभत्स-रस' जैसे—

श्मशानं वर्णयति—

> 'नखैर्विदारितान्त्राणां, शवानां पूयशोणितम्।
> आननेष्वनुलिम्पन्ति, हृष्टा वेतालयोषितः॥'

हृष्टा अञ्जसा विपुलभक्ष्यलाभात् प्रसन्नाः, भूतविशेषस्त्रियः, नखैर्विदारितानि पाटितान्य-

न्त्राणि येषां ते विदारितान्त्रास्तेषां, शवानां मृतकशरीराणां, पूयानां शोणितानां च समाहारः पूयशोणितम्, (पीतावशेषम्) आननेषु स्वमुखेषु मिथः सहचरीवदनेषु च अनुलिम्पन्तीत्यर्थः।

हर्षयुक्त वेतालों की स्त्रियां नखों से मुरदों की अतड़ियों को फाड़ कर मवाद और रुधिर को मुख पर लेप रही हैं। यह श्मशान अथवा रण-क्षेत्र का वर्णन है।

आलम्बनादि दर्शयति—

शवा इहालम्बनम्, अन्त्रविदारणाद्युद्दीपनम्, आक्षिप्ता रोमाञ्च-नेत्रनिमीलनाद्योऽनुभावाः, आवेगादयः सञ्चारिणः।

इह बीभत्सरसे। आक्षिप्ता जुगुप्साकार्यतया वैयञ्जनिकप्रतीतिगोचराः।

यहाँ मुरदे आलम्बन हैं, अतड़ियों का फाड़ना उद्दीपन है, आक्षेप के द्वारा लब्ध रोमाञ्च, आंखों का मूदना आदि अनुभाव हैं और आवेग आदि सञ्चारीभाव हैं।

बीभत्स-हास्यरसयोरालम्बनाश्रययो पृथगप्रतीते रसान्तरेभ्यो वैषम्यमाशङ्कते—

ननु रति-क्रोधो-त्साह-भय-शोक-विस्मय-निर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु, यथाऽऽलम्बनाश्रययोः सम्प्रत्ययः, न तथा हासे जुगुप्सायां च, तत्रालम्बनस्यैव प्रतीतेः।

इह रत्यादीनामुपदेश-प्रतिनिर्देशयोः क्रमविपर्यासे मूलं मृग्यम। 'प्रागुदाहृतेषु' इत्यत्र 'पूर्वमुदाहृतेषु' इत्युचितः पाठः सन्ध्यश्लीलत्वदूषणप्रासात्। तत्र हासजुगुप्सयोः।

शृङ्गारादिरसेषु यथा रत्यादीनामालम्बनादाश्रयः पृथक् प्रतीयते, न तथा हास्ये बीभत्से च। तत्र हासजुगुप्सोरालम्बनाद्विकृताकारादिमतपुरुषादेः पृथक् तयोराश्रयस्य हासादिमतोऽप्रतीतेः प्रागुक्तरससप्तकापेक्षया हास्य-बीभत्सयोर्वैषम्यमिति शङ्कादलाशयः।

यहाँ एक शङ्का यह हो सकती है कि रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद इन स्थायीभावों में जिस प्रकार आलम्बन और आश्रय दोनों की प्रतीति होती है, जैसे नल और दमयन्ती में जो परस्पर रति (प्रेम) है, उसका उन दोनों में से एक आलम्बन और दूसरा आश्रय होता है अर्थात् नल का प्रेम दमयन्ती में वर्णित हो तो दमयन्ती आलम्बन और नल आश्रय तथा दमयन्ती का प्रेम नल में वर्णित हो तो नल ही आलम्बन और दमयन्ती आश्रय के रूप में प्रतीत होती हैं। उस प्रकार हास और जुगुप्सा में नहीं होती अर्थात् इन दोनों में केवल आलम्बन की ही प्रतीति होती है, आश्रय की नहीं।

पुनरावान्तरिकीं शङ्कामुपन्यस्योन्मूलयन् पूर्वपक्षं समापयति—

पद्यश्रोतुश्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिकहासजुगुप्साश्रयत्वानुपपत्तेरिति चेत्।

ननु हासप्रधानकं जुगुप्साप्रधानकं च शृण्वन् पुरुष एव हास-जुगुप्सयोराश्रयः स्यादतो न रसान्तरेभ्यो वैषम्यमिति चेत्, उच्यते—लौकिकत्वेनालौकिकत्वेन च हास-जुगुप्सयोरपि रत्यादिवद् द्वैविध्यम्। तत्र पद्यश्रोता काव्योपनिबद्धत्वादलौकिकत्वमापन्नयोरेव हास-जुगुप्सयोराश्रयो भवितुमर्हति न तु लौकिकयोरपि, तस्माल्लौकिकयोर्हासजुगुप्सयो रत्यादिवत् पृथगाश्रयानुपलम्भात् वैषम्यं स्थितमेवेति पूर्वपक्षः।

यदि आप कहें कि उक्त दोनों स्थायीभावों में श्रोता ही आश्रय होते हैं, तो यह समुचित नहीं, क्योंकि वे तो रसास्वाद के आश्रय हैं—उन्हें तो अलौकिक रस की चर्वणा होती है; अतः वे अलौकिक हास और जुगुप्सा के आश्रय नहीं हो सकते।

समाधानमभिदधाति—

सत्यम्, तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात्।

तदाश्रयस्य लौकिकहासजुगुप्सयोरधिकरणस्य। तत्र हास्य-बीभत्सयोः। आक्षेप्यत्वादाधेयानुरोधेनाधारस्य कल्पनीयत्वात्।

लौकिकयोर्हासजुगुप्सयोरपि कर्तृत्वादाश्रयः कश्चिल्लौकिकः पुरुषः स्यादेव। स एवानयो-राश्रयः कल्पनीय इति न वैषम्यमित्युत्तरपक्षाभिप्रायः।

उक्त शङ्का सच है, परन्तु वहां उन दोनों भावों के आश्रय किसी दर्शक पुरुष-विशेष का आक्षेप कर लेना चाहिये अर्थात् ऊपर से उसको समझ लेना चाहिये।

ननु तदाश्रयाक्षेपाभावे कागतिरित्यत आह—

तदनाक्षेपे तु, श्रोतुः स्वीयकान्तावर्णनपद्यादिव रसोद्बोधे बाधकाभावात्।

तदनाक्षेपे तु—आश्रयपुरुषविशेषाकल्पनेऽपि। पुरुषः स्वकान्तावर्णनपद्यं शृण्वन् लौकिक-रतेराश्रयोऽपि यथा शृङ्गारस्थायिभावस्यालौकिकरतेरप्याश्रयो भवति, तथैव हासजुगुप्सयोरपि लौकिकालौकिकयोरेक एवाश्रयः स्यात्, लौकिकभावस्याश्रयोऽवस्थाभेदेनाप्यलौकिकभावस्या श्रयो न स्यादिति नियमस्याभावादिति सारम्।

यदि उक्त आक्षेप करना नहीं चाहें, तो श्रोता को ही आश्रय समझिये, जहां स्वपत्नी विषयक वर्णन वाले पद्यों को सुनकर पति को रस का उद्बोध होता है, वहां जैसे लौकिक प्रेम और अलौकिक रस दोनों का आश्रय वह पति ही होता है, वैसे यहाँ भी एक ही श्रोता को लौकिक हास-जुगुप्सा और अलौकिक हास्य-बीभत्स रस दोनों का आश्रय मान लेने में कोई बाधा नहीं।

उपसंहरति—

एवं च संक्षेपेण निरूपिता रसाः।

एवमुक्तप्रकारेण। आलम्बनाद्यनन्ततया रसानामनवधिप्रभेदानां निरूपयितुमनर्हत्वेन संक्षेपेणैव निरूपणमवसेयम्।

इस तरह संक्षेप से रसों का निरूपण समाप्त हुआ।

अथ रसध्वने रसवदलङ्कारस्य च स्वसम्मतं विषयविभागं निर्दिशति—

एषां प्राधान्ये ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम्, गुणीभावे तु रसालङ्कारत्वम्।

रसस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वे ध्वनिः, अङ्गत्वेन व्यङ्ग्यत्वे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदो रस-वदलङ्कार इत्युभयोर्विभक्तविषयव्यवस्थेत्यर्थः।

अब रसध्वनि तथा रसवत् आदि अलङ्कार के लक्षणों का विभाग करते हैं 'एषाम्' इत्यादि। जहाँ ये रस प्रधानतया व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ 'रसध्वनि' का व्यवहार होता है और जहाँ ये 'रस' अङ्गरूप से व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ 'रसालङ्कार' व्यवहार का होता है।

उभयोर्विभागे परकीयमतं प्रतिपादयति—

केचित्तु—'प्राधान्य एवैषां रसत्वम्, अन्यथाऽलङ्कारत्वमेव। रसालङ्कार-व्यपदेशस्त्वलङ्कारध्वनिव्यपदेशवद्, ब्राह्मणश्रमणन्यायात्। एवमसंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यतायामेव, अन्यथा तु वस्तुमात्रम्।' इत्याहुः।

एषां—रसानां प्राधान्ये सत्येव रसध्वनित्वम्, अन्यथा—प्राधान्याभावे (प्रधानीभूतान्य-स्य, पोषकत्वे) तु पुनरलङ्कारत्वं रसवदलङ्कारत्वमेव, नतु ध्वनित्वं भवति। रसानां काव्या-त्मतया स्वयमलङ्कार्यत्वादलङ्कार (रसवदलङ्कार) त्वस्य व्यवहारस्तु, ब्राह्मणश्रमणन्यायात् तथाहि—यथा पूर्वं ब्राह्मणे पश्चाद् बौद्धसन्न्यासिनि (श्रमणे) 'साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्व-स्यावगतिः' इति सिद्धान्तेन तात्कालिकब्राह्मणत्वाभावेऽपि प्राचीनब्राह्मणत्वमादाय 'ब्राह्मण-श्रमणोऽयम्' इति व्यवहारः, यथा वा प्राधान्येन व्यज्यमानतया ध्वनिरूपतां भजत्यलङ्कारे स्वयमलङ्कार्यत्वेन परालङ्कारकत्वलक्षण-तात्कालिकालङ्कारत्वविरहेऽपि भूतपूर्वालङ्कारत्व-मादाय 'अलङ्कारध्वनिः' इति व्यवहारः, तथैव रसानामलङ्कार्यत्वेऽपि भूतपूर्वगत्या रसालङ्का-

रत्वव्यवहारो बोध्यः। एवं-रसध्वनित्वं रसवदलङ्कारत्वं च, एषां रसानाम्, असंलक्ष्य-क्रमतायामेव, अन्यथा-संलक्ष्यक्रमतायां तु तेऽर्था व्यङ्ग्यं वस्तुमात्रं, नतु रसा इति केचिदाहुरित्यर्थः।

केचिदित्यनेन सूचितारुचिबीजन्तु पूर्वोक्तरीत्यैव रसालङ्कारत्वोपपत्तौ, तदर्थं भूतपूर्वगत्याद्याश्रयणमधिकमनुचितमिति व्याख्यातारः।

कुछ लोगों का कथन है कि जब ये प्रधान हों तभी इनको रस कहना चाहिये, गौण हो जाने पर तो ये अलङ्कार-मात्र कहे जा सकते हैं अर्थात् उनमें तब रस-विशेषण नहीं लगाया जा सकता। क्योंकि रस वे तभी तक कहला सकते हैं, जब तक अलङ्कार्य हैं और जब वे गौण हो जाने से स्वयम् अलङ्कार हो जाते हैं, तब उनमें रस कहलाने की योग्यता ही नहीं रह जाती। फिर भी जो लोग गौण रसों में केवल अलङ्कार पद का प्रयोग न कर रसालङ्कार पद का प्रयोग करते हैं, उसको अलङ्कार-ध्वनि पद का प्रयोग जैसा समझना चाहिये अर्थात् ध्वनि (व्यङ्ग्य) अर्थ को अलङ्कृत करने वालों को अलङ्कार कहा जाता है और ध्वनि (व्यङ्ग्य) को अलङ्कार्य। इस स्थिति में जो ध्वनि (व्यङ्ग्य) हो गया, वह यद्यपि अलङ्कार नहीं कहला सकता, अतः अलङ्कार-ध्वनि ऐसा व्यवहार उचित नहीं, तथापि जैसे कोई ब्राह्मण बौद्धमत की दीक्षा लेकर 'श्रमण' (बौद्ध-भिक्षुक) बन जाय, तब वह ब्राह्मण नहीं रह जाता, फिर भी लोग उसे पहले ब्राह्मण रहने के कारण 'ब्राह्मण-श्रमण' कहा करते हैं, जिसका अभिप्राय यह रहता है कि इसने ब्राह्मण-कुल से आकर संन्यास लिया है, उसी तरह 'अलङ्कारध्वनि' इस व्यवहार का तात्पर्य है—जो पहले अलङ्कार था, अब वह ध्वनि है। अब गौण रसों में जो 'रसालङ्कार' ऐसा व्यवहार होता है, उसका भी आशय स्पष्ट हो गया अर्थात् जो कभी रस था, वह अभी अलङ्कार है यही तात्पर्य वहाँ भी समझना चाहिये। उन लोगों का एक सुझाव यह भी है कि ये (स्थायीभाव) रस तभी कहे जाते हैं, जब असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में रहते हैं, संलक्ष्यक्रम हो जाने पर तो वस्तु शब्द से ही इनका व्यवहार होता है।

रसानामसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वं व्यवस्थापयति—

एते चासंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्याः सहृदयेन रसव्यक्तौ झगिति जायमानायां विभावानुभावव्यभिचारिविमर्शक्रमस्य सतोऽपि, सूचीशतपत्रपत्रशतवेधक्रमस्येवालक्षणात्।

एते-निरूप्यमाणाः, रसा भावादयश्च असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्या न सम्यग् लक्ष्य आशुभावितया प्रत्येतुं योग्यो वाच्यव्यङ्ग्यार्थप्रतीत्योः-क्रमो येषु तादृशा भवन्ति, रसव्यक्तौ कार्यरूपायां रस(प्रभृति)प्रतीतौ, झगिति शीघ्रतरं, जायमानायां, कारणरूपस्य वाच्य-विभावादिविमर्शस्य, यः क्रमः पूर्वापरीभावः, तस्य सतो विद्यमानस्यापि, सूच्या शतपत्रस्य कमलस्य, पत्राणां शतस्य वेधे यः क्रमस्तस्येव सम्यक् समीचीनतया, अलक्षणादलक्ष्यत्वा-दित्यर्थः। यथा सूच्या कमलदलशतवेधे द्रुततरं क्रियमाणो पूर्वापरक्रम औपपत्तिकत्वेन कल्प्यमानोऽप्याशुभावितया न सम्यग् लक्ष्यः, तथैव वाच्यविभावादिप्रतीतिव्यङ्ग्यरसादि-प्रतीत्योः कार्यकारणरूपतया क्रमः कल्पितोऽप्याशुभावितया सहृदयेन न सम्यग् लक्षणीय इत्यसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्या एव रसादय इत्याशयः।

ये रस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहलाते हैं, क्योंकि सहृदयों को रस की प्रतीति बहुत शीघ्र होती है, अतः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के विमर्श (प्रतीति) और रस की प्रतीति के मध्य में जो क्रम वस्तुतः रहता है, वह लक्षित नहीं होता अर्थात् उसका ज्ञान नहीं होता। देखिये—व्यङ्ग्यों की असंलक्ष्यक्रमता को दृढ़ करने के लिये ग्रन्थकार

ने कितना उपयुक्त दृष्टान्त पेश किया है, शतपत्र कमल के सौ पत्तों को तहाकर रखिये, फिर उस पर सूई चुभोइये, सौ-के-सौ पत्ते निमिषमात्र में विध जायँगे, अब आप सोचिये कि वे सब पत्ते एक ही बार विधे, या क्रमशः ? विवेक कहेगा क्रमशः, परन्तु मन ऐसा नहीं समझता अर्थात् मन में ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक ही बार सब पत्ते विध गये। वास्तविकता यह है कि पत्तों के शीघ्र विध जाने से वेध के आगे पीछे का क्रम ज्ञात नहीं हो पाता, यही रीति यहाँ भी समझनी चाहिये।

ननु मा क्रमः कल्प्यतामित्याशङ्कां निराकरोति—

न त्वक्रमव्यङ्ग्यताः, व्यक्तेस्तद्धेतूनां च हेतु-हेतुमद्भावासङ्गत्यापत्तेः।

व्यक्तिर्व्यञ्जनिकप्रतीतिः। हेतुहेतुमद्भावः कार्यकारणभावः।

विभावादिप्रतीति-रसादिप्रतीत्योः क्रमो नास्त्येवेति वक्तुं न शक्यम्, यतस्तयोः क्रमाभावे (यौगपद्ये) कार्यकारणभावस्यैवासम्भवः, कार्योत्पत्त्यव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवर्तिन एव कारणत्वस्य स्वीकारादित्यभिसन्धिः।

अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहने से रसों को अक्रमव्यङ्ग्य नहीं समझना चाहिये अर्थात् क्रम है ही नहीं ऐसा समझना गलत होगा, क्रम है अवश्य, केवल वह ज्ञात नहीं होता, यदि क्रम रहता ही नहीं, तो विभाव आदि की प्रतीति को कारण और रस की प्रतीति को कार्य जो माना गया है, वह असङ्गत हो जायगा क्योंकि कार्योत्पत्ति के पूर्वक्षण में जो वहाँ (कार्योत्पत्ति देश में) नियमतः उपस्थित रहे वही कारण कहलाता है, फिर तो कारण और कार्य के मध्य में क्रम (पूर्वपश्चाद् भाव) का होना अनिवार्य है।

अथ भक्तेरतिरिक्तरसत्वमाशङ्कते—

अथ कथमेत एव रसाः ? भगवदालम्बनस्य, रोमाञ्चाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य, हर्षादिभिः परिपोषितस्य, भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य, भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात्। भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः।

अथेति प्रश्नार्थकम्। अत एव नवैव। हर्षादिभिर्व्यभिचारिभावैः। भगवद्भक्तैः सहृदयैः। अनुभूयमानस्यास्वाद्यमानस्य। अनुरागः प्रीतिरतिरित्यनर्थान्तरम्। स्थायिभाव—रसरूपयोर्भक्त्योर्हास्ययोरिव लौकिकालौकिकत्वाभ्यां भेदोऽवसेयः।

स्थायिभाव-विभावादिसमग्रसामग्रीसंवलनात् सहृदयभगवद्भक्तानुभवप्रमाणितस्य भक्तिरसस्यापि दशमस्यापलपितुमशक्यतया रसानां नवत्वमेवेति नियमो न सङ्गच्छत इति पूर्वपक्षसारांशः।

अब भक्ति नामक दशम रस की शङ्का करते हैं—'अथ' इत्यादि। रस इतने (नौ) ही क्यों हैं ? क्योंकि भागवत आदि पुराणों के श्रवण करते समय भक्त लोग जिसका स्पष्ट अनुभव करते हैं, वह 'भक्ति' नामक दशम रस भी अपलाप करने योग्य नहीं है। साक्षात् भगवान् उस रस के आलम्बन हैं, भागवत-श्रवण आदि उद्दीपन हैं, रोमाञ्च, अश्रुपात आदि अनुभाव हैं और हर्ष आदि सञ्चारीभाव हैं। तथा इसका स्थायीभाव है भगवान् के विषय में प्रेम-रूप 'भक्ति'।

अवान्तरे भक्तिरसस्य शान्तरसेऽन्तर्भावमाशङ्क्य खण्डयति—

न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भवितुमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्।

असौ भक्तिरसः।

भक्तिरसस्थायिभावस्य भगवदनुरागरूपत्वाच्छान्तरसस्थायिनो निर्वेदस्य च वैराग्यरूपत्वाद् विरुद्धस्थायिकस्य रसस्य विरुद्धस्थायिके रसेऽन्तर्भावासम्भवान्न भक्तेः शान्तेऽन्तर्भाव इति भावः।

यदि आप कहें कि 'भक्ति-रस' का अन्तर्भाव शान्त-रस में ही हो जायगा, अतः वह अतिरिक्त नहीं तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'भक्ति-रस' का स्थायीभाव अनुराग है, और 'शान्त-रस' का वैराग्य (निर्वेद), जो दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, फिर उन दोनों स्थायीभावों को आधार बनाकर होने वाले 'भक्ति' और 'शान्त' रसों में से कोई एक दूसरे में अन्तर्भूत नहीं हो सकता।

समादधाति—

उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः।

'रतिर्देवादिविषया, व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्त-स्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः॥'

इति हि प्राचां सिद्धान्तात्।

उच्यते समाधिरिति शेषः।

देव-गुरु-पितृप्रभृतिविषयकरतिः, प्राधान्येन अञ्जितोऽभिव्यक्तिविषयीकृतो व्यभिचारिभावश्च भावः प्रोक्तः। अनौचित्येन लौकिकोपपत्तिराहित्येन प्रवर्तिताः काव्ये व्यवहृता रसा भावाश्च तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्चेति कारिकार्थः। प्राचां काव्यप्रकाशकाराणाम्।

भक्तेर्देवादिविषयकरतिरूपायाः काव्यप्रकाशकारादिप्राचीनालङ्कारिकसिद्धान्तानुमतत्वेन यतो भावत्वमेव, नतु रसत्वम्, अतोऽतिरिक्तस्य दशमस्य भक्तिरसस्य न सम्भव इति समाधानपक्षाभिप्रायः।

उक्तरीति से दशम 'भक्तिरस' है, यह शङ्का स्थिर हो चुकी, अब उसका समाधान देते हैं—'उच्यते' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि देवता आदि के विषय में जो रति (प्रेम) होती है, उसी को भक्ति कहते हैं, अतः वह भाव है, रस नहीं, क्योंकि देवता आदि के विषय में होने वाली रति और व्यञ्जनावृत्ति से ज्ञात हुये व्यभिचारीभाव 'भाव' कहलाते हैं और अनुचित रीति से प्रवृत्त रस तथा भाव क्रमशः 'रसाभास' और 'भावाभास' कहलाते हैं यह प्राचीन आचार्यों का सिद्धान्त है।

[illegible]

न च तर्हि कामिनीविषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु, रतित्वाविशेषात्। अस्तु वा भगवद्भक्तेरेव स्थायित्वम्, कामिन्यादिरतीनां च भावत्वम्, विनिगमकाभावादिति वाच्यम्।

यथा कामिनीविषयकरतौ रतित्वं, तथैव देवादिविषयकरतिष्वपीति तुल्यतायां कामिनीविषयकरतेरेव कथं स्थायित्वम्, अपरासां च रतीनां साधारणभावत्वमङ्गीक्रियते? वैषम्ये बीजाभावादित्येकः पूर्वपक्षः। अथवा विनिगमकाभावाद् भवदङ्गीकृतिप्रतिकूलं भगवद्विषयकरतेरेव स्थायित्वम्, कामिन्यादिविषयकरतीनामेव च भावत्वमङ्गीक्रियतामिति द्वितीयः पूर्वपक्षः।

आप कहेंगे—यदि ऐसी ही बात है, तो कामिनी के विषय में जो रति (प्रेम) होती है, उसको भी 'भाव' मानिये, क्योंकि देवतादि विषयकप्रेम और कामिनीविषय प्रेम में कोई भेद नहीं है—आखिर दोनों प्रेम ही तो हैं, अथवा भगवद्भक्ति को ही शृङ्गार का स्थायीभाव मान लीजिये और कामिनीविषयक रति को ही सञ्चारीभाव, क्योंकि इसमें कोई खास युक्ति तो है नहीं कि इन दोनों में से अमुक को ही स्थायीभाव मानना चाहिये।

द्वयोः पूर्वपक्षयोरेकमेव समाधानमाह—

भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्ययोगात्।

अत्र साहित्ये, भरतप्रभृतिमुनिवचनानामेव, न तु साधारणजनोक्तीनां रसत्वस्य भाव-

त्वस्य च व्यवस्थापने स्वातन्त्र्ययोगः सर्वाधिकारिता यतोऽस्ति, तस्मात् स्वेच्छया विपरीतकल्पना नात्र कर्तुं शक्यत इत्याशयः।

'स्वातन्त्र्यायोगात्' इति पाठे तु भरतादिभिन्नवचनानां रसभावव्यवस्थापने स्वातन्त्र्याभावादित्यर्थः।

उक्त शङ्का के उत्तर में मेरा कथन है कि साहित्य में रस-भाव आदि की व्यवस्था भरत-आदि मुनियों के वचनों के अनुसार की जाती है, अतः इस विषय में स्वतन्त्रता का स्थान नहीं है अर्थात् भरत आदि मुनियों ने देवता आदि विषयक रति को भाव और कामिनी-विषयक रति को स्थायीभाव माना है, इसलिये हम लोगों को भी वैसा ही मानना चाहिये।

उक्तं समर्थयति—

अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपि रतेः स्थायिभावत्वं कुतो न स्यात् ? न स्याद् वा कुतः शुद्धभावत्वं जुगुप्साशोकादीनाम् ? इत्यखिलदर्शनवैयाकुली स्यात्।

अन्यथा-भरतादिवचनानामेव रसादिव्यवस्थापने स्वातन्त्र्यानभ्युपगमे। पुत्रादिविषयत्वं रतेरपुष्टत्वोपलक्षकम्। शुद्धभावत्वं स्थायित्वासङ्कीर्णव्यभिचारिभावत्वम्। अखिलदर्शनस्य समस्तसाहित्यशास्त्रस्य, वैयाकुली व्याकुलत्वमव्यवस्थितत्वमिति यावत्।

कस्यापि रसादिविषये व्यवस्थापकस्यानभ्युपगमे विशृङ्खलतर्कसम्पर्कात् सकलं साहित्यशास्त्रमेवानियन्त्रितं स्यादिति भरतादिवचनानां रसादिव्यवस्थापकत्वाङ्गीकार आवश्यक इति भावः।

यदि रस-भाव आदि के विषय में किसी को प्रामाणिक व्यवस्था देने वाला नहीं माना जाय अर्थात् केवल तर्क से काम लिया जाय, तब तो सकल साहित्य-दर्शन ही उलट-पलट जायगा, क्योंकि उस स्थिति में पुत्र आदि के विषय में जो माता-पिता का प्रेम होता है, उसको भी स्थायीभाव और जुगुप्सा तथा शोक को शुद्ध (स्थायी नहीं) सञ्चारीभाव क्यों नहीं मान लिया जायगा ?

भक्तेरसत्वस्य स्वीकारे दोषं दर्शयन् प्रसङ्गमुपसंहरति—

रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः।

इतिर्हेतौ। शास्त्रं भरताद्यनुशासनमनतिक्रम्य यथाशास्त्रम्। ज्यायः श्रेष्ठम्। यदि भक्तिरसोऽपि दशमो भवेत्, तर्हि भरतमुनिना तत्त्वदृष्ट्या निर्णीयोक्तस्य रसानां नवत्वसङ्ख्यावच्छिन्नत्वस्य भङ्गः प्रसज्येत, तस्माद् रसभावादिव्यवस्था भरताद्यनुशासनानुसारिण्येव सर्वथा श्रेयसीति सारम्।

इस तरह भरत आदि मुनियों को व्यवस्थापक मान लेने पर दशम 'भक्ति-रस' का स्वीकार न करना ही उचित है, अन्यथा भरतमुनि ने बहुत सोच समझकर जो रसों की संख्या नौ बतलाई है, वह असङ्गत हो जायगी। तात्पर्य यह है कि इन सब विषयों में शास्त्रों का अनुसरण करके चलना ही श्रेयस्कर है।

अथ प्रसङ्गाद् रसानां परस्परमविरोधं विरोधं च निर्दिशति—

एतेषां परस्परं केषांचित् सहाविरोधः, केषांचित् विरोधः। तत्र—वीरशृङ्गारयोः, शृङ्गारहास्ययोः, वीराद्भुतयोः, वीररौद्रयोः, शृङ्गाराद्भुतयोश्चाविरोधः। शृङ्गार-बीभत्सयोः, शृङ्गारकरुणयोः, वीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः, शान्तशृङ्गारयोश्च विरोधः।

एतेषां रसानाम्। अविरोध उपकार्योपकारकभावो विरोधश्च बाध्यबाधकभावः। चकारेण शान्ताद्भुतयोः, वीरबीभत्सयोश्च ताटस्थ्यस्य संग्रहः। तत्र रसानां विरोधमात्रप्रदर्शनं दर्पणे यथा—

'आद्यः करुण–बीभत्स–रौद्र–वीर–भयानकैः। भयानकेन करुणे–नापि हास्यो विरोधभाक्॥
करुणो हास्यश्रृङ्गार–रसाभ्यामपि तादृशः। रौद्रस्तु हास्य–श्रृङ्गार–भयानकरसैरपि॥
भयानकेन शान्तेन, तथा वीररसः स्मृतः। श्रृङ्गार–वीर–रौद्राख्य–हास्य–शान्तैर्भयानकः॥
शान्तस्तु वीर-श्रृङ्गार-रौद्र-हास्य-भयानकैः। श्रृङ्गारेण तु बीभत्स इत्याख्याता विरोधिता॥' इति।

अब रसों का परस्पर अविरोध और विरोध का विचार करते हैं—'एतेषाम्' इत्यादि। इन रसों का आपस में किसी के साथ अविरोध है और किसी के साथ विरोध। जैसे—वीर और श्रृङ्गार में, श्रृङ्गार और हास्य में, वीर और अद्भुत में, वीर और रौद्र में एवं श्रृङ्गार और अद्भुत में परस्पर अविरोध अर्थात् विरोध नहीं है। श्रृङ्गार और बीभत्स में, श्रृङ्गार और करुण में, वीर और भयानक में, शान्त और रौद्र में तथा शान्त और श्रृङ्गार में परस्पर विरोध है।

इत्थं रसानामविरोधं च प्रदर्श्य, प्रबन्धे मिथोविरुद्धरससन्निवेशाभावमुपदिशति—

तत्र कविना प्रकृतरसं परिपोष्टुकामेन, तदभिव्यञ्जके काव्ये तद्विरुद्धरसाङ्गानां निबन्धनं न कार्यम्। तथाहि सति, तदभिव्यक्तौ विरुद्धः प्रकृतं बाधेत। सुन्दोपसुन्दन्यायेन वोभयोरुपहतिः स्यात्।

तत्र–तेषु रसेषु, प्रकृतं मूलतः प्रस्तुतं रसं, परिपोष्टुकामेन प्रबलीकर्तुमिच्छता, कविना, काव्ये विरच्यमानप्रबन्धे, तद्विरुद्धरसाङ्गानां प्रकृतरस–विरोधिरसविभावादीनां, निबन्धनं निवेशनं, न कार्यम्। हि यतः, तथा प्रकृतरसविरोधिरसाङ्गसन्निवेशे सति, तदभिव्यक्तौ विरुद्धरसस्य स्वाङ्गैः पोषितस्य प्रतीतौ, विरोधी रसः कदाचित् प्रबलः प्रकृतं रसं बाधेत। उभयोः प्रकृतरस–विरोधिरसयोः समबलत्वे वा सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्परमुपहतिरुपघातः स्यादित्यर्थः।

सोदरौ सुन्दोपसुन्दनामानौ दैत्यौ ताडकायामेकत्रैव स्त्रियामासक्त्या विरुद्धौ तुल्यबलत्वात् परस्परमभिजघ्नतुरितीह पौराणिकमितिवृत्तम्।

प्रस्तुत रस को अच्छी तरह पुष्ट करने की चाह यदि कवि को हो अर्थात् यदि उसकी इच्छा हो कि मेरे काव्य में अमुक रस का परिपाक पूर्णतया हो, तब उसको चाहिये कि उस रस को अभिव्यक्त करने वाले काव्य में उससे विरुद्ध रस के अङ्गों का वर्णन न करे क्योंकि विरुद्ध रस की अभिव्यक्ति होने पर वह प्रस्तुत रस को बाधित करेगा अथवा 'सुन्दोपसुन्द न्याय' से दोनों रस नष्ट हो जायँगे अर्थात् एक का भी परिपाक न हो सकेगा। सुन्द और उपसुन्द की कथा महाभारत में आई है, वे दोनों सोदर भाई थे, ब्रह्माजी के वरदान से दोनों ही अवध्य हो गये, केवल अपने भाइयों में से एक दूसरे को मार सकता था, जिसकी कोई सम्भावना ही नहीं थी, परन्तु भावी की गति प्रबल होती है; किसी सुन्दरी अप्सरा में दोनों आसक्त हुये, जिससे दोनों में वैर उत्पन्न हुआ और उसके लिये दोनों आपस में लड़ कर मर मिटे। इस तरह दोनों के समान बलशाली होने के कारण आपस में लड़ कर नष्ट हो जाने के ढङ्ग को 'सुन्दोपसुन्द' न्याय कहते हैं।

प्रयोजनवशाद् विरुद्धरसयोरपि क्वचन समावेशमनुशासत् तस्य प्रकारमुपदिशति—

यदि तु विरुद्धयोरपि रसयोरेकत्र समावेश इष्यते, तदा विरोधं परिहृत्य विधेयः। तथाहि—विरोधस्तावद् द्विविधः, स्थितिविरोधो ज्ञानविरोधश्च। आद्यस्तदधिकरणावृत्तितारूपः। द्वितीयः—तज्ज्ञानप्रतिबध्यज्ञानकत्वलक्षणः। तत्राधिकरणान्तरे विरोधिनः स्थापने प्रथमो निवर्तते। यथा—नायकगतत्वेन वीररसे वर्णनीये, प्रतिनायके भयानकस्य।

एकत्र प्रबन्धे। इष्यतेऽभिरुच्यते कविनेति शेषः। आद्यः स्थितिविरोधः, सर्वैकस्मिन्न-

धिकरणेऽवृत्तित्वरूपः । द्वितीयो—ज्ञानविरोधः, स च तज्ज्ञानेन विरोधिरसज्ञानेन प्रतिबध्यं बाध्यं ज्ञानं यस्य, तत्त्वरूपः । 'प्रतिबध्य' स्थाने 'प्रतिबद्ध' इति पाठे तु प्रतिबद्धं बाधितं ज्ञानं यस्य, तत्त्वरूप इत्यर्थः । 'प्रतिबद्धज्ञानजनकत्वम्' इत्यपपाठः, प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञानं प्रतिविषयस्य जनकत्वाभावात् । तत्र—तयोविरोधयोर्मध्ये प्रथमः स्थितिविरोधो विरोधिरसयोरधिकरणभेदेन स्थापने निवृत्तो भवति । यथा—नायके वीररसस्य, प्रतिनायके च भयानकरसस्य यदि वर्णनं कविना क्रियेत, तदैकस्मिन्नपि काव्यप्रबन्धे विरोधिनोरपि वीरभयानकरसयोः समावेशो विरोधनिवृत्त्या न दोषाय कल्पत इति सारम् ।

अब विरुद्ध दो या अनेक रसों का समावेश यदि एक काव्य में करना चाहें, तो कैसे वह किया जा सकता है ? इसको बतलाते हैं—'यदि तु' इत्यादि । यदि विरुद्ध रसों का एक जगह समावेश करना इष्ट हो, तो विरोध का परिहार करके करना चाहिये । विरोध-परिहार का प्रकार भी समझिये । विरोध का प्रकार दो है—एक स्थिति-विरोध और दूसरा ज्ञान-विरोध । स्थिति-विरोध का मतलब है—किसी एक अधिकरण में दोनों का न रह सकना और ज्ञान-विरोध का मतलब है—एक के ज्ञान से दूसरे के ज्ञान का रुक जाना अर्थात् एक के ज्ञान होने पर दूसरे का ज्ञान यदि हो ही न सके, तब ज्ञान-विरोध कहलाता है । उनमें प्रथम अर्थात् स्थिति-विरोध विरुद्ध रस को भिन्न अधिकरण में स्थापित करने से निवृत्त हो जाता है । जैसे—नायक में यदि वीर-रस का वर्णन करना हो, तो प्रतिनायक (उसके शत्रु) में भयानक रस का वर्णन करना चाहिये ।

ननु नायकाद्यवृत्तीनां परब्रह्मवदपरिच्छिन्नानां रसानामेकस्मिन्नधिकरणे समावेशो विरोधो वा न सम्भवतीत्यत आह—

रसपदेनात्र प्रकरणे तदुपाधिः स्थायिभावो गृह्यते, रसस्य सामाजिकवृत्तित्वेन नायकाद्यवृत्तित्वात्, अद्वितीयानन्दमयत्वेन विरोधासम्भवाच्च ।

अत्र प्रकरणे विरोध-समावेशादिप्रस्तावे तदुपाधौ रसानां स्थिरो धर्मः स्थायिभावः ।

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यानां सच्चिदानन्दलक्षणानामपरिच्छेद्यानां नायकाद्यधिकरणेऽवृत्तीनां रसानामद्वितीयतया मिथो विरोधस्य समावेशस्य चासम्भव इति तु न विभावनीयम्, यत इहत्यं रसपदं रसोपाधेः रसत्वयोग्यस्य वा स्थायिभावस्य बोधकम् । तस्य चापरिच्छिन्नत्वाभावाच्च विरोधो न वा समावेशोऽसम्भवः । तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे—'आश्रयैक्ये विरुद्धो यः, स कार्यो भिन्नसंश्रयः । रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥' इति, 'रसपदेनात्र प्रकरणे स्थायिभाव उपलक्ष्यते' इति च ।

इस प्रकरण में रस-पद से उसके उपाधिस्वरूप स्थायीभावों का ग्रहण समझना चाहिये क्योंकि रस सामाजिकों (नाटक के दर्शक तथा काव्य के श्रावक) में रहता है—नायक आदि में नहीं । दूसरी बात यह कि रस अद्वितीय आनन्द-मय है अर्थात् ब्रह्मरूप है—उसके ज्ञान होते समय अन्य किसी का ज्ञान होता ही नहीं, फिर रसों में परस्पर विरोध का होना असम्भव है ।

प्रथमविरोधपरिहारेण समावेशमुदाहरति—

उदाहरणम्—

स्थिति-विरोध कैसे दूर किया जा सकता है, इसका उदाहरण देखिये ।

कश्चन चाटुकारो राजानं स्तौति—

'कुण्डलीकृतकोदण्ड-दोर्दण्डस्य पुरस्तव ।
मृगारातेरिव मृगाः, परे नैवावतस्थिरे ॥'

हे राजन् ! समराङ्गणे, कुण्डलीकृतमत्याकर्षणेन वर्तुलीकृतं कोदण्डं धनुर्याभ्यां,

तादृशौ दोर्दण्डौ भुजपरिघौ यस्य, स तथोक्तः, तथाभूतस्य दूराकृष्टधनुषस्तव पुरोऽग्रे, मृगारातेः सिंहस्य पुरः मृगा हरिणा इव, परे शत्रवो नैव अवतस्थिरे भीत्या द्रुतं पलायाञ्चक्रिर इत्यर्थः।

इह नायके वर्णनीयनृपे वीररसस्य, प्रतिनायकेषु प्रतीपनृपेषु च भयानकरसस्य समावेशो यथा न दोषाय, तथाऽन्यत्रापि बोध्यम्। मृगशब्दस्य द्विरुपादानन्तु किञ्चिच्चमत्कृतिं विच्छिनत्ति।

कोई कवि राजा की चापलूसी करता है—हे राजन्! युद्ध में जब आपने कान तक खींच कर कुण्डल के समान गोल किये हुये धनुष को हाथ में लिया, तब आपके आगे शत्रु उसी तरह नहीं ठहर सके, जिस तरह सिंह के आगे मृग नहीं ठहरते अर्थात् धनुष लेकर युद्ध में आपके जाते ही भय के मारे शत्रु भाग खड़े हुये। यहाँ नायक में 'वीर' और प्रतिनायक में 'भयानक' का वर्णन किया गया है जो भिन्न अधिकरण स्थिति होने से दोषाधायक नहीं है।

द्वितीयविरोधनिवृत्ति[illegible] तदुदाहरणं दर्शयति—

रसान्तरेणाविरोधिना सन्धिकर्त्रेवान्तरालेऽवस्थापने द्वितीयोऽपि निवर्तते। यथा मन्निर्मितायामाख्यायिकायां काण्वाश्रमगतस्य श्वेतकेतोर्महर्षेः शान्तरसप्रधाने वर्णने प्रस्तुते—'किमिदमनाकलितपूर्वं रूपम्?, कोऽयमनिर्वाच्यो वचनरचनाया मधुरिमा?' इत्यद्भुतरसान्तरवस्थापनेन 'वरवर्णिनी' प्रत्यनुरागवर्णने।

सन्धिकर्ता विरुद्धद्वयमैत्रीकारकः। अन्तरालेर्द्वयोर्मध्ये। द्वितीयो ज्ञानविरोधः। कण्वः श्वेतकेतुश्च महर्षी। अनाकलितपूर्वमदृष्टाश्रुतपूर्वम्। वरवर्णिनी तदाख्याऽऽख्यायिकाया नायिका।

अत्र प्रथमं शान्तस्तदनु शृङ्गारो रसश्च मिथो विरुद्धौ स्थापितौ ध्रुवं दोषाय कल्पेताम्, यदि विरुद्धयोस्तयोर्मध्ये, सन्धिकृदिवोभयाविरुद्धः 'किमिदम्' इत्यादिवाक्यद्वयव्यङ्ग्योऽद्भुतरसो न सन्निवेश्येत। तथा विहिते तूभयोर्नैरन्तर्याभावाज्ज्ञानकृतो विरोधो निवृत्त इति न कोऽपि दोषः।

अब द्वितीय 'ज्ञान-विरोध' को निवृत्त करने की विधि बतलाते हैं—'रसान्तर' इत्यादि। ज्ञान-विरोध भी तब निवृत्त हो जाता है, जब उन दोनों विरोधी रसों के बीच में सन्धि (सुलह) करने वाले की तरह किसी अविरुद्ध (जो उन दोनों रसों का विरोधी न हो) रस को स्थापित कर दिया जाता है। जैसे—मेरी (पण्डितराज की) आख्यायिका में—कण्वाश्रम में स्थित महर्षि श्वेतकेतु के शान्त रस-प्रधान वर्णन के प्रस्तुत रहने पर 'यह कैसा अननुभूत रूप है, यह कैसी अवर्णनीय वचन-परिपाटी की मधुरता है,' इस तरह अद्भुत रस को मध्य में रख कर वरवर्णिनी-नामक नायिका के प्रति प्रेम का वर्णन किया गया है। यहाँ शान्त और शृङ्गार इन दो विरोधी रसों के बीच में उन दोनों का ही अविरोधी अद्भुत आ गया, जिससे उन दोनों का भी विरोध मिट गया क्योंकि लगातार रहना ही विरोध का मूल था, वह अब नहीं रहा।

द्वितीयविरोधनिवृत्तेरुदाहरणान्तरं दार्ढ्याय प्रतिपादयति—

यथा वा—

सद्यःसमरोत्सृष्टशरीर-वीरवृत्तं वर्णयति—

'सुराङ्गनाभिराश्लिष्टा-व्योम्नि वीरा विमानगाः।
विलोकन्ते निजान् देहान्, फेरुनारीभिरावृतान्॥'

सुराङ्गनाभिरमरनारीभिः (अप्सरोभिः) आश्लिष्टाः कदाचिदपि प्रागनुपलब्धत्वाद् गाढं सप्रणयमालिङ्गिताः, व्योम्नि गगने, विमानगाः (सद्यः समरे हताः स्वर्गं गन्तुं)

व्योमयानारूढाः, वीराः शूराः, फेरुनारीभिः क्रोष्ट्रीभिः, आवृतान् मांसलोभेन वेष्टितान्, (रणभुवि निष्प्राणान्) निजान् स्वीयान्, देहान्, विलोकन्ते सोत्साहं पश्यन्तीत्यर्थः ।

अथवा–कोई कवि युद्ध में मर कर स्वर्ग जाने वाले वीरों के वृत्तान्तों का वर्णन करता है–(युद्ध में मरे हुये) वीर जब देवाङ्गनाओं (अप्सराओं) से आलिङ्गित होकर, विमानों में बैठे हुये, आकाश मार्ग से (स्वर्ग जाते रहते हैं), तब वे (रणभूमि में) निष्प्राण पड़े हुये अपने देहों को मादा-सियारों से घिरे हुये देखते हैं ।

उपपादयति—

अत्र सुराङ्गना-मृतशरीरयोरालम्बनयोः शृङ्गारबीभत्सयोरन्तः स्वर्गलाभाक्षिप्तो वीररसो निवेशितः । अन्तर्निवेशश्च तदुभयचर्वणाकालान्तर्वर्तिकालगतचर्वणाकत्वम् । तच्च प्रकृतपद्ये प्रथमार्ध एव शृङ्गारचर्वणोत्तरं वीरस्य चर्वणादनन्तरं च द्वितीयार्धे बीभत्सस्येति स्फुटमेव ।

अत्रास्मिन् पद्ये । सुराङ्गना शृङ्गारस्य, मृतकशरीरञ्च बीभत्सस्यालम्बनम् । अन्तर्मध्ये । स्वर्गलाभेन पूर्वार्धप्रतिपादितेन, आक्षिप्त उत्साहस्थायिद्वारेण बोधितो वीररसः, शृङ्गारबीभत्सयोरविरोधी, निवेशितश्चर्वणागोचरतां नीतः । चरत्वयँ । तदुभयस्य विरुद्धरसद्वयस्य, यौ चर्वणायाः कालौ, तदन्तर्वर्ती मध्यगतो यः कालः, तत्र चर्वणा यस्य, तत्त्वमन्तर्निवेशः ।

इहोदाहरणे सुराङ्गनालम्बनकशृङ्गाररसचर्वणायाः पश्चात्, शवालम्बनकबीभत्सरसचर्वणायाश्च प्राक्, विरोधिनोस्तयो रसयोरविरोधसम्पादनाय मध्ये तदुभयाविरुद्धस्य विलोकनोत्साहस्थायिकवीररसस्य सन्निवेशाददोष इत्याशयः ।

इयत् पुनरत्र विभावनीयम्—'आद्यः करुण-बीभत्स-रौद्र-वीर-भयानकैः ।' इति दर्पणोक्तः शृङ्गारस्य यथा बीभत्सो विरुद्धः, तथैव वीरोऽपि, तस्माद् विरुद्धयोः शृङ्गार-बीभत्सयोरविरोधसम्पादनाय कथं वीरस्यान्तरसमावेशः सङ्गच्छते ? तारस्थ्याभावात् ।

यहाँ देवाङ्गनाओं को आलम्बन मान कर शृङ्गार-रस और वीरों के मृतक शरीरों को आलम्बन मान कर बीभत्स-रस की प्रतीति होती है और ये दोनों रस परस्पर विरुद्ध हैं, अतः इन दोनों के मध्य में तदुभयाविरोधी वीर-रस का निवेश किया गया है । यद्यपि वीर-रस-व्यञ्जक शब्द यहाँ नहीं हैं, तथापि स्वर्ग-लाभ की बात से उसका आक्षेप हो जाता है । अन्तर्निवेश—बीच में प्रवेश-का अर्थ यह है कि परस्पर विरोधी रसों के आस्वादन का जो समय है, उसके मध्य के समय में उसका आस्वादन होना । वह यहाँ स्पष्ट ही है क्योंकि उक्त पद्य के पूर्वार्ध में शृङ्गार-रस का आस्वाद होने के बाद वीर-रस का आस्वाद होता है और उसके बाद द्वितीयार्ध में बीभत्स-रस का ।

पूर्वक्रमव्यत्यासेनोदाहरणान्तरं पुनर्दर्शयति—

'भूरेणुदिग्धान्' इत्यादिकाव्यप्रकाशगतपद्यकदम्बे तु प्रथमश्रुतबीभत्ससामग्रीवशाद् बीभत्सचर्वणोत्तरं तत्सामग्र्याक्षिप्त-निश्शङ्कप्राणत्यागादिरूपसामग्रीकस्य वीररस्य चर्वणे शृङ्गारचर्वणेति विवेकः ।

> 'भूरेणुदिग्धान्' 'नवपारिजात-मालारजोवासितबाहुमध्याः ।
> गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान्, सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥
> सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः, पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
> संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः, सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥
> विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः, कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
> निर्दिश्यमानाँल्ललनाङ्गुलीभि-र्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥'

इति ध्वन्यालोक–काव्यप्रकाशोद्धृत–पद्यत्रयात्मकैव वाक्यावशेषः। प्रथमं पूर्वं श्रुताऽवगता बीभत्सरसस्य या सामग्री, तद्वशात् तस्या बलाद् बीभत्सस्य चर्वणा, तदुत्तरं, तत्सामग्र्या बीभत्सरसास्वादजनककारणकूटेन, आक्षिप्ता प्रतीतिपदवीमवतारिता निश्शङ्कप्राणत्यागादि-रूपा सामग्री वीररसप्रतीतिकारणकूटं यस्य, स तथोक्तः, तथाभूतस्य वीरस्य चर्वण आस्वादे निष्पन्ने सति, शृङ्गारस्य चर्वणा भवतीति विवेकः पूर्वस्मात् पृथग्विचार इत्यर्थः।

सुराङ्गनेत्याद्युदाहरणे पूर्वं शृङ्गारस्य, मध्ये तटस्थत्वेन वीरस्य, अन्ते विरोधिनो बी-भत्सरसस्यास्वादः। 'भूरेणुदिग्धान्' इत्याद्युदाहरणे तु पूर्वं बीभत्सस्य, मध्ये वीरस्य, अन्ते शृङ्गारस्य चास्वाद इति द्वयोरुदाहरणयोः क्रममात्रेण भेदः।

'भू–रेणु–दिग्धान्''''''''पतितानपश्यन् ॥' (संस्कृत टीका पृ. १८० देखें)

यह युद्ध–भूमि का वर्णन है। युद्ध में मारे गये वीरों को विमानों पर सजे सजाये पलँगों के ऊपर बैठा कर अप्सरायें स्वर्ग ले जा रही थीं और उन्हें उस समय वे अप्सरायें अपनी अङ्गुलियों के इसारे से युद्ध–भूमि में गिरे हुये उनके मृत शरीरों को दिखला रही थीं तथा वे वीर अपने उन शरीरों को कौतुक पूर्वक देख रहे थे। हा! उन मृतक मर्त्य शरीरों में और इन सजीव दिव्य शरीरों में कितना अन्तर था? मृत शरीर, भू-धूलियों से धूसर, शृगालियों से कस कर आलिङ्गित और मांसाहारी पक्षियों के रुधिर–क्लिन्न अत एव चमचमाते हुये पङ्खों से झले जा रहे थे और ये दिव्य देह, नवीन पारिजात–पुष्पों की मालाओं के परागों से सुगन्धित वक्ष वाले, सुराङ्गनाओं के आलिङ्गनों से भरे हुये भुज-मध्यों से युक्त चन्दन जल के सेकों से सुगन्धित एवं कल्प–वल्लियों से प्राप्त दिव्यवस्त्रों के द्वारा बने हुये, व्यजनों से झले जा रहे थे। इस काव्यप्रकाश के पद्यों में तो पहले बीभत्स-रस की सामग्री का श्रवण होने के कारण उसका आस्वाद होता है और तदनन्तर बीभत्स-रस की सामग्री से आक्षिप्त–निर्भयता पूर्वक–प्राण–त्यागादि रूप सामग्री से वीर–रस का आस्वाद होता है, उसके बाद शृङ्गार का आस्वाद होता है—यह भेद है। अर्थात् पण्डितराज के पद्य में क्रमशः शृङ्गार, वीर और बीभत्स का आस्वाद होता है और काव्य–प्रकाश के पद्यों में बीभत्स, वीर और शृङ्गार का क्रमिक आस्वाद प्राप्त होता है।

उपसंहरति—

इत्थं चोदासीनचर्वणेन प्रतिबन्धकज्ञाननिवृत्तौ, निष्प्रत्यूहः प्रतिबध्यचर्व-णोदय इति फलितोऽर्थः।

इत्थं च उक्तप्रकारेण तु, उदासीनस्य तटस्थस्यान्तरालवर्तिनो वीररसस्य, चर्वणेन प्रत्यक्षलक्षणज्ञानेन, प्रतिबन्धकं यद् विरोधिरसज्ञानं तस्य (आत्मविशेषगुणानामेवोत्तर-वर्तिविशेषगुणनाश्यत्वनियमात्) निवृत्तौ विरतौ जातायाम्, निष्प्रत्यूहः प्रतिबन्धकाभावाद्वि-रन्तरायः, प्रतिबध्यचर्वणस्य द्वितीयविरोधिरसास्वादस्य, उदय उत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः।

ज्ञानानां क्षणत्रयावस्थायित्वान्मध्यमज्ञानोत्पत्तिक्षणे प्रतिबन्धकस्य प्रथमज्ञानस्य विलये, प्रतिबध्यस्य तृतीयज्ञानस्योत्पत्तौ न किञ्चिद् बाधकमिति भावः।

इस तरह से फलित यह हुआ कि उदासीन रस के आस्वाद से प्रतिबन्धक विरोधी रस का ज्ञान जब नष्ट हो जाता है (क्योंकि आत्मा के विशेष गुण ज्ञान आदि, अग्रिम क्षण में होने वाले विशेष गुणों से नष्ट होते हैं, यह दार्शनिकों का सिद्धान्त है और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, स्वाभाविक द्रवत्व, ज्ञान, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द ये विशेष गुण कहलाते हैं यह भी समझना चाहिये), तब द्वितीय विरोधी रस का आस्वाद निर्विघ्नरूप से होता है।

विरुद्धरसद्वयस्य प्रकारान्तरेण विरोधनिवृत्तिमाचष्टे—

अङ्गाङ्गिनोः, अङ्गिन्यन्यस्मिन्नङ्गयोर्वा न विरोधः, अङ्गत्वानुपपत्तिप्रङ्गात् ।

अङ्गं चाङ्गी च-अङ्गाङ्गिनौ पोषकपोष्यौ, यौ रसौ, तयोर्यदि परस्परं विरोधः स्यात्, तदा पोषकस्य तत्र दूषकत्वादङ्गत्वमेव नोपपद्येत, तथाऽन्यस्मिन् रसेऽङ्गिनि प्रधाने, अङ्गयोः पोषकत्वं प्राप्तयोः, मिथोविरुद्धयोरपि राजनि सेवकयोरिव, रसयोर्विरोधो नोपपद्येत, परकीयाङ्गतया स्वातन्त्र्यविरहेण विरोधासम्भवादिति रसद्वयविरोधनिवृत्तेः प्रकारद्वयमित्यभिप्रायः ।

अब अन्य प्रकार से विरोध हटाने की युक्ति दिखलाते हैं—'अङ्गाङ्गिनोः' इत्यादि । यदि दो रसों में परस्पर अङ्गाङ्गीभाव अर्थात् पोष्य-पोषक भाव हो, तो विरुद्ध होने पर भी उन दोनों में विरोध नहीं होता क्योंकि यदि विरोध हो, तब अङ्ग-अङ्गीभाव ही न बने । इसी तरह जहां कोई एक रस अङ्गी-मुख्य-हो और उसके अङ्ग दो ऐसे रस हों जो परस्पर विरोधी कहे जाते हों, तो वहां भी उन अङ्गभूत रसों में विरोध उसी प्रकार नहीं होता, जिस प्रकार किसी एक राजा के परस्पर विरोधी सेवकों में वह नहीं होता अर्थात् विरोध दो स्वतन्त्रों में ही हो सकता है और जब स्वतन्त्रता नहीं—दोनों ही एक तीसरे के अङ्ग हैं, तब उनमें विरोध कैसा ?

तत्र प्रथमं विरोधनिवृत्तिप्रकारमुदाहरति—

यथा—

पुरस्तान्निपतितां गतजीवितां प्रेयसीं प्रियो ब्रवीति—

'प्रत्युद्गता सविनयं सहसा सखीभिः,
स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसावलोकैः ।
मामद्य मञ्जुरचनैर्वचनैश्च बाले !,
हा लेशतोऽपि न कथं वद सत्करोषि ॥'

अयि बाले मुग्धे ! अद्यास्मिन् दिने, सखीभिरालीभिः, सह, सहसा (मध्यागते) झटिति, सविनयं विनयपुरस्सरम्, प्रत्युद्गता सत्करणाय प्रत्युपस्थिता, स्मेरैरीषद्धासवलितैः, स्मरस्य मदनस्य, सचिवैः सूचकतया सहायैः, सरसावलोकैः सानुरागनिरीक्षणैः, मञ्जुर्मनोरमा रचना विन्यासो येषां, ते तथोक्तास्तादृशैरतिललितैः, वचनैर्भाषणैश्च (अन्यदिनवत्) हा हन्त ! लेशतोऽपीषदपि, मां, कथं केन कारणेन, सत्करोषि नैव सम्मानयसीति वद कथयेत्यर्थः ।

जैसे—हा ! बाले !! बोलो, आज, तुम, सखियों के साथ शीघ्र सामने में विनय पूर्वक उपस्थित होकर, कामभाव को जगाने वाली, विकसित तथा सरस चितवनों से और सुन्दर-रचना वाले वचनों से, मेरा कुछ भी सत्कार क्यों न नहीं कर रही हो ?

प्रसङ्गमभिदधाति—

इयं च पुरो निपतितां प्रमीतां नायिकां प्रति नायकस्योक्तिः ।

प्रमीता मृता ।

यह आगे में पड़ी हुई मृत नायिका के प्रति नायक की उक्ति है ।

उपपादयति—

इह नायिकालम्बना, अश्रुपातादिभिरनुभावै-रावेगविषादादिभिः सञ्चारिभिश्च व्यज्यमाना, नायकगता रति-स्तुल्यसामग्र्यभिव्यक्ते प्रकृतत्वात् प्रधानीभूते तद्गत एव शोके प्रकर्षकत्वादङ्गम् ।

तुल्यया सजातीयया सामग्र्या कारणकूटेनाभिव्यक्ते । प्रकृतत्वान्मरणे वृत्ते प्रस्तुतत्वात् । तद्गते नायकनिष्ठे । प्रकर्षकत्वादुपकारकत्वात् ।

अत्र नायिकाऽऽलम्बनम्, अश्रुपातप्रभृतयोऽनुभावाः, आवेगादयश्च व्यभिचारिणः, तैः सम्भूयाभिव्यज्यमाना शृङ्गाररसस्थायिरूपा नायकनिष्ठा रतिः, नायिकाया निधनात्तदालम्बनस्य, अश्रुपाताद्यनुभावितस्य, आवेगादिपोषितस्य, करुणरसस्थायिनः शोकस्य प्रकर्षकत्वादङ्गमिति परत्र विरोधिनोरपि शृङ्गारकरुणयोः प्रकृतेऽङ्गाङ्गिभावाद् विरोधनिवृत्तेरिदमुदाहरणम्। ध्वनिकारास्तु—

'अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्य-स्तथा स्यादविरोधिता॥'

इत्यङ्गरसपरिपोषाविधानादविरोधमाचक्षते।

यहां नायिकारूप आलम्बन में नायक की रति (शृङ्गार का स्थायीभाव) अश्रुपातादि अनुभाव और आवेग, विषाद आदि सञ्चारीभावों से अभिव्यक्त होते हैं और इन्हीं सामग्रियों से अर्थात् अश्रुपातादि से नायक का शोक (करुण का स्थायीभाव) भी व्यक्त होता है, परन्तु प्रधानता यहां शोक की है क्योंकि नायिका के मरण-ज्ञान से वही प्रस्तुत है, रति उसका पोषक है—अङ्ग है, कारण ? प्रेम शोक को बढ़ाता है यह अनुभव सिद्ध है।

नन्वालम्बनविच्छेदाद् रतेरत्राप्रतीतेः कथं शोकाङ्गत्वमित्याकाङ्क्षायामाह—

यदि तु नायकगता रतिर्नात्र प्रतीयते, किन्तु निरुक्तसामग्र्या शोक एव प्रकृतत्वादित्यागृह्यते, तदा नायकालम्बना प्रत्युद्गमाद्यनुभाविता हर्षादिभिः पोषिता नायिकाश्रया रतिरेव तदङ्गमस्तु, नायिकागतरतेर्नायकशोकप्रकर्षहेतुतायाः सर्वसम्मतत्वात्।

नायकरतिप्रत्ययस्यानुभविकत्वादिह तुना, आगृह्यत इत्यनेन चारुचिः सूच्यते। निरुक्तसामग्र्या रतिव्यञ्जकेन तेनैव कारणकूटेन। तदङ्गं शोकस्य प्रकर्षकम्। नायिकेत्यादिना हेतूपन्यासः। अत्र नायिकाया आलम्बनस्य विनाशाच्चिरालम्बनाया नायकनिष्ठाया रतेः प्रतीतिर्न सम्भवति, किन्तु तन्निष्ठस्य शोकस्यैव प्रतीतिरिति यद्याग्रहः (न तु वास्तविकविचारः) क्रियते, तर्हि नायकविषया या नायिकानिष्ठा प्राक्तना रतिः, तस्या एव शोकस्योपकारकत्वादङ्गत्वमास्ताम्, तावताऽपि रतेः शोकाङ्गत्वस्य सिद्धत्वात्, तादृशरतेस्तच्छोकोपकत्वस्य विप्रतिपत्तिग्रस्तत्वाभावादिति सारम्।

इदं पुनरिह विवेचनीयम्—यद्यालम्बनविनाशान्नायकनिष्ठरतेरप्रतीतिरिहाभ्युपगम्यते, तदाऽऽश्रयविनाशान्नायिकानिष्ठरतेः प्रतीतिः कथङ्कारं स्यात्, उभयोर्वैषम्ये बीजानुपलम्भात्। यदि तु वक्ष्यमाणरीत्या स्मर्यमाणाया नायिकानिष्ठाया रतेः शोकाङ्गत्वं न्याय्यम्, तदा तादृश्या नायकनिष्ठरतेरपि तत्त्वे बाधकाभावात्।

ननु रसानामपरिच्छिन्नत्वेन सच्चिदानन्दरूपतया वेद्यान्तरस्पर्शशून्यत्वेन च मिथो बाध्यबाधकभावलक्षणस्य विरोधस्योपकार्योपकारकभावलक्षणस्याङ्गाङ्गिभावस्य च कथं सम्भव इति चेत्, उच्यते—रसपदेनात्र प्रकरणे रस्यत इति व्युत्पत्त्या रसत्वयोग्यतत्तत्स्थायिभावपरत्वाभ्युपगमेन दोषाभावात्। अत एव—'मतान्तरे तु रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद् रसशब्देनोक्ताः।' इति ध्वनिकृताऽप्यभिदधते।

यदि यहां यह आग्रह किया जाय कि—नायक की रति (प्रेम) यहां प्रतीत नहीं होती, परन्तु उक्त सामग्री से उसका शोक ही यहां प्रतीयमान है, क्योंकि वही प्रस्तुत है अर्थात् मृत नायिका को आगे में पड़ी देखकर शोक का होना सम्भव तथा स्वाभाविक ही है, तब उस नायिकानिष्ठ रति को ही शोकका अङ्ग समझना चाहिये, जिसका नायक आलम्बन है,

सत्कार के लिये आगे आना अनुभाव है और हर्ष आदि सञ्चारीभाव हैं, क्योंकि यह बात सब आचार्यों को मान्य है कि नायिका का प्राक्तन प्रेमाचरण नायक के शोक को बढ़ाने वाला होता है। यहां एक बात विचारणीय यह है कि–यदि आलम्बन (नायिका) के नाश हो जाने से नायकनिष्ठ रति की प्रतीति नहीं हो सकती, ऐसा मानते हैं, तब आश्रय (नायिका) की विनाश-दशा में नायिकानिष्ठ रति की प्रतीति भी कैसे होगी? क्योंकि इन दोनों प्रकारों में विषमता–स्वीकार करने का कोई उपयुक्त कारण नहीं है। यदि ग्रन्थकार के द्वारा आगे प्रदर्शित की गई रीति के अनुसार स्मरण की गई नायिकानिष्ठ रति को शोक का अङ्ग मानते हैं, तब तो स्मरण की गई नायिकानिष्ठ रति को भी शोक का अङ्ग मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। मुझे तो ग्रन्थकार का आशय यह मालूम पड़ता है कि नायिका की मृत्यु के बाद नायक को नायिका का प्रेम ही स्मरण होता है, अपना प्रेम नहीं, यही समुचित भी है। कारण? प्राणीमात्र स्वार्थ-पाश में बद्ध है उसे हर समय में अपना ही अभाव खटकता है, फिर उक्त स्थिति में नायक अपने प्रेम के विषय में क्यों सोचे? जब कि वह अब भी अपने प्रेम का स्थान अनेक बना सकता है। हां, नायिका के प्रेम के विषय में वह अवश्य सोच कर सकता है—उसकी याद उसे जरूर आती है और सताती भी है क्योंकि वह उसे इस जीवन में ही नहीं जन्मान्तर में भी मिलने को नहीं,—उसका अभाव सदा खटकता ही रहेगा। अनुभव भी प्रायः इसी तरह का है।

ननु नायिकानिष्ठरतिरिदानीमविद्यमाना कथं शोकमुपस्कुर्यादित्यत्राह—

न च नायिकाया नाशात् तद्गताया रतेरसंनिधानात् कथमङ्गतेति वाच्यम्, सन्निधानस्याङ्गतायामतन्त्रत्वेन स्मर्यमाणायास्तस्या अङ्गत्वोपपत्तेः।

सन्निधानं सन्निकर्षः सत्त्वमिति यावत्। अतन्त्रत्वं कारणत्वेनाविवक्षितत्वम्। नायिकाया विनाशात् तन्निष्ठरतेरविद्यमानत्वेन शोकस्योपकारकत्वासम्भव इति च न वाच्यम्, नायिकानिष्ठरतेस्तत्कालमविद्यमानत्वेऽपि, स्मर्यमाणायास्तस्या नायकनिष्ठशोकोत्कर्षकत्वसम्भवादङ्गत्वस्योपपन्नत्वादित्यभिप्रायः।

यदि आप कहें कि नायिका जब नष्ट हो गई, तब उसका प्रेम भी वर्तमान नहीं है, फिर वह शोक का अङ्ग कैसे हो सकता? इसका समाधान यह है कि अङ्ग होने में विद्यमान रहना यहाँ अपेक्षित नहीं है, अतः स्मरण किया हुआ प्रेम भी शोक का अङ्ग हो सकता है। तात्पर्य यह है कि मूर्तपदार्थ का [illegible] ही हो सकता है, परन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं है अर्थात् जहां एक [illegible]। अङ्ग अन्य प्रकार की भावना को होना है, फिर भावना का विषय वर्तमान रहे या अतीत दोनों बराबर है अर्थात् भावना जैसे वर्तमान की कीजा सकती है, वैसे अतीत की भी।

अन्यस्मिन्नङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयो रसयोर्विरोधनिवृत्तिमुदाहरति—

अङ्गयोर्यथा—

तृतीय रस के अङ्गी रहने पर उसके अङ्गभूत विरुद्ध दो रसों का अविरोध, जैसे—

राजानं चाटुकारः कश्चिदभिदधाति—

'उत्क्षिप्ताः कबरीभरं, विवलिताः पार्श्वद्वयं, न्यक्कृताः,
पादाम्भोजयुगं, रुषा परिहृता दूरेण चेलाञ्चलम्।
गृह्णन्ति त्वरया भवत्प्रतिभट-क्ष्मापालवामभ्रुवां,
यान्तीनां गहनेषु कण्टकचिताः के के न भूमीरुहाः॥'

हे राजन्! गहनेषु काननेषु, भवद्भिया पलायमानानां भवतो ये प्रतिभटाः परिपन्थिनः क्ष्मापालाभूमिपाः, तेषां या वामभ्रुवोऽङ्गनाः, तासाम्, कबरीभरं केशपाशम्, ऊर्ध्वं क्षिप्ता उन्नीताः सन्तः, पार्श्वद्वयमुभे पार्श्वे, विवलिता वक्रीकृताः, पादाम्भोजयुगं चरणकमलद्वयं,

न्यक्कृता अधःकृताः, चेलाञ्चलं शाटीवसनप्रान्तं, रुषा क्रोधेन, दूरेणारारात्, परिहृता दविताः, कण्टकैस्तीक्ष्णावयवैश्चिता व्याप्ताः, के के न अपितु सर्व एव, भूमिरुहा वृक्षा गृह्णन्तीत्यर्थः।

अत्र कण्टकपदस्य वृक्षतीक्ष्णावयवे रोमाञ्चे च शक्तिः। तथा च प्रस्तुतेषु भूमीरुह-कर्तृक-रिपुराजमहिषीकवरीग्रहणप्रभृतिव्यवहारेष्वप्रस्तुतहठकामुककर्तृकयत्तद्व्यवहाराणां समा-रोपात् समासोक्तिरलङ्कारः। तत्र वाच्यप्रस्तुतभूमीरुहव्यवहारव्यङ्ग्यः करुणः, व्यङ्ग्या-प्रस्तुतहठकामुकव्यवहारव्यङ्ग्यः शृङ्गारश्च रसौ मिथो विरोधिनावपि, प्रधानीभूते वर्णनीयराज-विषयक-वक्तृनिष्ठरतिभावेऽङ्गताङ्गतावित्युभयो विरोधनिवृत्त्या समावेशः।

कोई कवि राजा की चाटुकारिता करता है कि—हे राजन्! आपके शत्रुभूत राजाओं (जो आपके भय से सपरिवार जङ्गल में भाग गये हैं) की जङ्गल में जाती हुई स्त्रियों की बड़ी दुर्दशा होती है, कौन ऐसे कँटीले वृक्ष हैं जो उनसे छेड़ छाड़ नहीं करते। सुनिये— उन स्त्रियों के द्वारा ऊँचे किये जाने पर वे वृक्ष केश-पाश को पकड़ लेते हैं, टेढ़े किये जाने पर दोनों बगलों को नोच लेते हैं, नीचे किये जाने पर दोनों चरण-कमलों को चूम लेते हैं, और दूर हटा देने पर भी झट से वस्त्रों के छोर को ही पकड़ लेते हैं।

तदाचष्टे—

अत्र समासोक्त्यवयवाभ्यां तरु-कामि-कर्तृक-रिपुकामिनीकबर्यादिग्रहण-रूपाभ्यां प्रकृताप्रकृतव्यवहाराभ्यां व्यक्तयोः करुण-शृङ्गारयो राजविषयकरति-भावाङ्गत्वम्।

व्यवहारयोः समासोक्तेरवयवत्वं निष्पादकत्वात्। व्यक्तयोर्व्यञ्जनावगतयोः। इतरत् स्पष्टम्।

इस श्लोक में समासोक्ति अलङ्कार है और उस अलङ्कार के दो अंश होते हैं—एक प्रस्तुत का व्यवहार और दूसरा अप्रस्तुत का व्यवहार, जैसे यहां वृक्षों के द्वारा स्त्रियों के केश आदि का ग्रहण प्रस्तुत का व्यवहार है और किसी कामी पुरुष के द्वारा उनका ग्रहण अप्रस्तुत का व्यवहार है। इन दोनों व्यवहारों में से प्रथम से करुण-रस की और द्वितीय से शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति होती है और वे दोनों रस यद्यपि परस्पर विरोधी हैं, तथापि यहां विरोध नहीं होता क्योंकि वे दोनों ही यहां कवि-निष्ठ-राजा-विषयक-रति-भाव के अङ्ग हैं अर्थात् प्रधान यहां उक्त भाव ही है, वे दोनों रस उसके पोषकमात्र हैं अतः उनमें विरोध नहीं होता।

पुनःप्रकारान्तरेण विरुद्धरससमावेशं प्रतिपादयति—

किञ्च प्रकृतरसपरिपुष्टिमिच्छता विरोधिनोऽपि रसस्य बाध्यत्वेन निबन्धनं कार्यमेव। तथाहि सति, वैरिविजयकृता वर्णनीयस्य काऽपि शोभा सम्पद्यते।

प्रस्तुतस्य रसस्य परिपोषमिच्छता कविना प्रस्तुतरसविरोधिनोऽपि रसस्य, अभिभव-नीयत्वेन निवेशः कर्तव्य एव, यतो बाध्यस्य विरोधिनः सत्तया प्रस्तुतस्य रसस्य पुष्टिरेव भवति, न तु बाधः, यथा विजितस्य वैरिणः सत्तया वर्णनीयस्य महीपतेरुत्कर्ष एव सम्पद्यते नत्वपकर्ष इति सारम्।

अब विरोधी रस के वर्णन की आवश्यकता बतलाते हैं—'किञ्च' इत्यादि। प्रस्तुत रस को अच्छी तरह पुष्ट करने की इच्छा रखने वाले कवियों को विरोधी रस का भी बाध्य रूप से वर्णन करना ही चाहिये क्योंकि ऐसा करने से, वर्णनीय (प्रस्तुत) रस की शोभा वैरी (विरोधी रस) का विजय कर लेने के कारण अनिर्वचनीय हो उठती है, अर्थात् बाध्य रूप से विरोधी रस का वर्णन रहने से प्रस्तुत रस की पुष्टि ही होती है, बाध नहीं। जैसे विजित शत्रु के वर्णन से वर्णनीय विजेता राजा का उत्कर्ष ही सिद्ध होता है, अपकर्ष नहीं।

रसस्य बाध्यत्वं निर्वक्ति—

बाध्यत्वं च रसस्य प्रबलैर्विरोधिनो रसस्याङ्गैर्विद्यमानेष्वपि स्वाङ्गेषु, निष्पत्तेः प्रतिबन्धः।

स्वाङ्गेषु स्वकीयव्यञ्जनोपयोगिष्वालम्बनादिषु, विद्यमानेषु प्रतीयमानेष्वपि, प्रबलैः परिपोषविशेषं प्राप्तैः, विरोधिनो रसस्य, अङ्गैरालम्बनादिभिरुपकारकैः (कर्तृभिः) निष्पत्तेः प्रस्तुतरसास्वादपरिपोषस्य, प्रतिबन्धोनिरोध एव रसस्य बाध्यत्वमित्यर्थः। परिपुष्टविरोधिरसाङ्गकर्तृकापुष्टाङ्गप्रस्तुतरसास्वादप्रतिबन्धनमेव रसस्य बाध्यत्वमित्याशयः।

रस के बाधित होने का अर्थ यह है कि विरोधी रस के अङ्गों के प्रबल होने के कारण, अपने अङ्गों के वर्तमान रहने पर भी अपनी (बाध्य रस की) अभिव्यक्ति का रुक जाना। अर्थात् किसी रसके अभिव्यक्त होने की सामग्री (आलम्बन आदि) के प्रतीयमान होने पर भी, दूसरे रस की आलम्बन आदि सामग्री के प्रबल (प्राप्त परिपोष) होने के कारण, उसके अभिव्यक्त न होने का नाम है रस का बाध्य होना।

व्यतिरेकं दर्शयन् व्यभिचारिभावस्य बाध्यत्वं निर्वक्ति—

व्यभिचारिणो बाध्यत्वं तु तदीयरसनिष्पत्तिप्रतिबन्धमात्रात्, न त्वनभिव्यक्त्या, अभिव्यक्तौ बाधकाभावात्।

तदीयस्तद्व्यभिचारिभावपोष्यो यो रसस्तस्य निष्पत्तेरास्वादस्य प्रतिबन्धादेव, न तु रसवत् स्वकीयास्वादप्रतिबन्धात्, तदास्वादे बाधकाभावादित्यर्थः।

रसस्य बाध्यत्वे तदास्वादाभावः, व्यभिचारिभावस्य बाध्यत्वे तु तत्पोष्यरसास्वादाभाव इत्युभयोर्व्यतिरेकोऽवसेयः।

व्यभिचारीभावों का बाध्य होना तो उसके द्वारा जिस रस की अभिव्यक्ति होनी चाहिये थी, उसका रुक जाना ही है, न कि व्यभिचारीभावों की ही अभिव्यक्ति का न होना, क्यों कि व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति में बाधा डालने वाला कोई नहीं है। अर्थात् रस के बाध्य होने पर उस रस का आस्वाद नहीं होता और व्यभिचारीभावों के बाध्य होने पर भी उनका आस्वाद होता ही है, परन्तु उन व्यभिचारीभावों से पोषित होने वाले रस का आस्वाद नहीं होता, यही रस और व्यभिचारीभावों की बाध्यता में भेद है।

ननु विरोधिरसाभिव्यक्त्या यथा प्रकृतरसास्वादस्य प्रतिबन्धः, तथैव व्यभिचारिभावस्यापि स्वपोष्यरसविरोधिरसाङ्गभूतव्यभिचारिभावाभिव्यक्त्याऽभिव्यक्तिप्रतिबन्धः कुतो नेत्याशङ्कामपास्यति—

न च विरोधिरसाङ्गाभिव्यक्त्या प्रतिबन्धान्नाभिव्यक्तिरिति वाच्यम्, तद्व्यञ्जकशब्दार्थज्ञानसमये विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जकशब्दार्थज्ञानस्यासन्निधानात् प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पने मानाभावात्, भावशबलताया उच्छेदापत्तेश्च।

विरोधिनो रसस्य पोषकत्वादङ्गानां व्यभिचारिणामभिव्यक्त्याऽऽस्वादेन प्रतिबन्धाद् बाधाद्, नाभिव्यक्तिर्व्यभिचारिणामिति शेषः।

तद्व्यञ्जकौ व्यभिचारिप्रत्यायकौ यौ शब्दार्थौ, तयोर्ज्ञानस्य समये स्थितिकाले असन्निधानाद् विनष्टत्वात्, उभयोः शब्दार्थज्ञानयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावस्य कल्पनायां प्रमाणाभावात्। किञ्च यदि भावज्ञानयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावस्य कल्पना स्यात्, तदा भावशबलताया उच्छेद आपद्येत, तत्रैकभावज्ञानस्यापरभावज्ञानप्रतिबन्धकत्वात् तदनुपपत्तिप्रसङ्गात्। तस्माच्च व्यभिचारिभावानां बाध्यत्वं स्वकीयास्वादप्रतिबन्धात्, अपितु स्वपोष्यरसास्वादाभावदिति सारम्।

यदि आप कहें कि जैसे विरोधी रस की अभिव्यक्ति से प्रकृत रस की अभिव्यक्ति रुक जाती है, उसी तरह विरोधी रसके अङ्गभूत व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति से प्रतिबन्ध हो जाने के कारण प्रकृत रस के व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति क्यों नहीं रुक जायगी? इसका उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अपेक्षा बुद्धि से अतिरिक्त सब ज्ञान दो ही क्षण रहते हैं, अतः जिन व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति का प्रतिबन्ध आशंकनीय हो, उनके अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थों का ज्ञान जिस क्षण में होगा, उस क्षणमें प्रतिबन्धक रूप से स्वीकरणीय व्यभिचारीभावों के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थों का ज्ञान रहेगा ही नहीं, फिर दोनों ज्ञानों में प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक की कल्पना करने में कोई प्रमाण ही नहीं है। अर्थात् एक काल में रहने वाले दो ज्ञानों में ही एक दूसरे का प्रतिबध्य (रुकने वाला) और प्रतिबन्धक (रोकने वाला) हो सकता है। यहां तो दोनों ज्ञान एक काल में रहते ही नहीं, अतः प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव नहीं होगा। यदि आप कहेंगे कि ज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी उनके संस्कार तो रहेंगे ही, अतः उन संस्कारों में ही प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव की कल्पना करेंगे, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि एक तो उद्बोधक के रहने पर संस्कार का प्रतिबन्ध अनुभव-विरुद्ध है अर्थात् वह नहीं रुकता है। दूसरी बात यह है कि सम्भव होने पर भी उस तरह के प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की कल्पना नहीं करनी चाहिये, अन्यथा 'भाव-शबलता' का उच्छेद ही हो जायगा क्योंकि एक पद्य में अनेक विरोधी भावों के जुटने का ही नाम है 'भावशबलता' और उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव के मानने पर एक से दूसरे का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण एक जगह अनेक विरोधी भाव अभिव्यक्त ही न हो सकेंगे।

नन्वेवमेव रसेऽपि निष्पत्तिप्रतिबन्धो माभूदित्याशङ्कां निराकरोति—

रसनिष्पत्तेः प्रतिबन्धस्त्वनुभवसिद्ध इति तां प्रत्येव विरोध्यङ्गानां बलवतामभिव्यक्तेः प्रतिबन्धकत्वं न्याय्यम्।

स्वविरोधिरसाङ्गाभिव्यक्त्या रसाभिव्यक्तेः प्रतिबन्धस्तु सहृदयानुभवसिद्धत्वात् प्रामाणिकः, तस्माद् बलवती विरोधिरसाङ्गाभिव्यक्तिर्विरोधिरसास्वादस्यैव प्रतिबन्धिका, न तु व्यभिचार्यास्वादस्येति भावः।

यदि कहें कि तब रसाभिव्यक्ति का भी प्रतिबन्ध क्यों मानते हैं? तो, इसका उत्तर यह है कि विरोधी रस के प्रबल अङ्गों के रहने पर रसाभिव्यक्ति का प्रतिबन्ध (रुकजाना) अनुभव से सिद्ध है अर्थात् उस स्थिति में रसकी अभिव्यक्ति नहीं होती यह बात सबको अनुभूत है। अतः रसाभिव्यक्ति के प्रति प्रबल-विरोधी रसाङ्गों की अभिव्यक्ति को प्रतिबन्धक मानते हैं और व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति के प्रति उनको प्रतिबन्धक नहीं मानते, क्योंकि उनका प्रतिबन्ध अनुभव से सिद्ध नहीं है।

पुनः प्रकारान्तरेण रसविरोधनिवृत्तिं प्रतिपादयति—

अपि च यत्र साधारणविशेषणमहिम्ना विरुद्धयोरभिव्यक्तिः, तत्रापि विरोधो निवर्तते।

मिथोविरुद्धरसद्वयव्यञ्जकार्थद्वये, तुल्यानि साधारणानि, यानि विशेषणानि, तेषां महिम्ना प्रभावेण, परस्परं विरुद्धयोरपि रसयोर्भावयोर्वा यत्राभिव्यक्तिः, तत्रापि तयोर्विरोधो निवर्तते। अन्यथा तादृशार्थसंस्पर्शैकतरप्रतीतिः सुतरामवरुद्धा स्यादित्यभिसन्धिः।

अब विरोध-निवृत्ति का एक और उपाय बतलाते हैं—'अपि च' इत्यादि। जहां समान विशेषणों के द्वारा दो विरुद्ध रस अभिव्यक्त हो जाते हैं, वहां भी उनका विरोध निवृत्त हो जाता है।

उदाहरति—

यथा—

कश्चिद् राजानं स्तौति।

'नितान्तं यौवनोन्मत्ता-गाढरक्ताः सदाहवे।
वसुन्धरां समालिङ्ग्य, शेरते वीर! तेऽरयः॥'

वीर नृपते! नितान्तमत्यन्तं, यौवनेन तारुण्येन, उन्मत्ता उद्धताः, सदा, आहवे युद्धे गाढं विक्षताङ्गतया विपुलं रक्तं रुधिरं येषां, तादृशाः, पक्षान्तरे गाढमत्यन्तं रक्ता अनुरक्ताः, वसुन्धरां समरभूमिम् मृतत्वात्, पक्षान्तरे नायिकां प्रणयात् समालिङ्ग्य सम्यगुपगूह्य, ते तव, अरयः शत्रवः, शेरते स्वपन्तीत्यर्थः।

इह 'यौवनोन्मत्ताः' 'गाढरक्ताः' इत्यादिविशेषणबलादरिमरणप्रतीतेः प्रथमं करुणरसाभिव्यक्तिः पश्चाच्च श्रृङ्गाररसाभिव्यक्तिरिति साधारणविशेषणबलेन प्रतीयमानयोर्विरुद्धयोरपि करुणश्रृङ्गाररसयोर्विरोधस्य निवृत्तिः।

जैसे—हे! वीर-राजन्!! जवानी से अत्यन्त उन्मत्त बने हुये और युद्ध में सर्वदा अङ्गों के क्षत-विक्षत हो जाने के कारण अत्यधिक रुधिर-प्रवाह से युक्त, दूसरे पक्ष में अत्यन्त अनुरक्त आपके शत्रु लोग, मर कर गिर जाने से समर-भूमिको, दूसरे पक्ष में प्रणय से नायिका को सम्यक् रूप से आलिङ्गन-बद्ध करके सो रहे हैं। यह किसी कवि से की गई राजा की स्तुति है। यहां 'यौवनोन्मत्त' 'गाढ़रक्त' इत्यादि शत्रु-मरण-प्रत्यायक विशेषणों से पहले करुण-रस की अभिव्यक्ति होती है, पश्चात् उन्हीं विशेषणों से श्रृङ्गार-रस की भी प्रतीति होती है। इस तरह अन्यत्र विरुद्ध कहे जानेवाले करुण और श्रृङ्गारमें यहां विरोध इस लिये नहीं होता कि वे दोनों ही यहां एकविध विशेषणों के द्वारा ही अभिव्यक्त हो जाते हैं।

एवं रसानामविरोधप्रकारानुक्त्वा दोषान् वक्ति—

इत्थमविरोधसम्पादनेनापि निबध्यमानो रसो रसशब्देन श्रृङ्गारादिशब्दैर्वा नाभिधातुमुचितः, अनास्वाद्यताऽऽपत्तेः। तदास्वादश्च व्यञ्जनामात्रनिष्पाद्य इत्युक्तत्वात्।

सामान्येन रसशब्देन, विशेषैः श्रृङ्गारादिशब्दैर्वा रसानामभिधया बोधनमनुचितत्वाद्दोषः, यतस्तथासति रसश्चमत्कारापकर्षादास्वादविधुरः स्यात्। केवलव्यञ्जनावृत्तिबोध्यत्व एव रसानां चमत्कारकत्वम्। यथा गुडस्य रसनेन्द्रियमात्रसन्निकर्षेण प्रत्यक्षात्मक आस्वादः, तथैव रसादेरपि व्यञ्जनयोपस्थापनेनैव। एतच्च 'कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वेनालङ्कारिकैः स्वीकारात्।' इत्यनेनात्रापि प्रागुपन्यस्तम्। 'व्यभिचारि-रस-स्थायिभावानां शब्दवाच्यता।' इत्यादिना काव्यप्रकाशे रसदोषप्रकरणेऽप्येतदेव प्रतिपादितम्।

'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपम्' इत्यादिनाऽऽदौ ग्रन्थकृता कृता स्वकीयोदाहरणदानप्रतिज्ञा प्रायो दोषभिया परित्यक्तेतीह तदुदाहरणद्वयमन्यदीयं क्रमेण दीयते—

'तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं, किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम्।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे, कोऽप्यजायत निरन्तरः॥' इति।

'तामुदीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं, श्रृङ्गारे मग्नमन्तरम्।' इति च।

* अब रस दोषों का विवेचन करते हैं—'इत्थम्' इत्यादि। इस प्रकार विरोध का परिहार कर लेने के बाद भी वर्णनीय रसों का उल्लेख 'रस' शब्द अथवा 'श्रृङ्गार आदि' शब्दों से नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभिधावृत्ति के द्वारा बोधित होने पर उन रसों में आस्वाद्यता (चमत्कार) नहीं रह जाती। अतएव यह पहले भी कहा जा चुका है कि रस तभी आस्वादन करने योग्य होता है, जब व्यञ्जनावृत्ति से उसका बोध होता है।

ननु रसानां व्यञ्जनया गम्यमानानामभिधया बोधने का क्षतिरित्याशङ्कायामाह—

यत्र विभावादिभिरभिव्यक्तस्य रसस्य स्वशब्देनाभिधानं, तत्र को दोष इति चेत्, व्यङ्ग्यस्य वाच्यीकरणे सामान्यतो वमनाख्यदोषस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

स्वशब्देन रसशब्देन शृङ्गारादिशब्देन च। सामान्यतोऽविशेषात्। भुक्तस्योद्गिरणमिव व्यञ्जनागम्यस्य पुनरभिधया बोधनमिति वमनतुल्यत्वात्तदाख्या दोषस्य। ग्रन्थोऽयमपूर्ण इत्यग्रेऽस्य दोषस्यानिरूपणम्।

व्यङ्ग्यस्य रसस्याभिधया बोधने वमनाख्यदोषापाताद् वाच्यत्वं नोचितमिति सारम्।

जहाँ वाच्य विभावादिकों से अभिव्यक्त हुये रस का पुनः रस अथवा शृङ्गार आदि पदों से उल्लेख कर दिया जाय वहाँ कौन दोष होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि व्यङ्ग को वाच्य बना देने पर 'वमन' नामक दोष होता है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा। अर्थात् व्यञ्जना-वृत्ति से ज्ञात अर्थ का पुनः अभिधावृत्ति द्वारा ज्ञान करना, खाये हुये अन्न के उगलने जैसा है। अत एव इस दोष का 'वमन' यह नाम करण हुआ। खेद है कि अपूर्ण रह जाने से ग्रन्थ में इस दोष की चर्चा आगे नहीं हो सकी। अखिल व्यङ्ग्यों में होने वाला यह दोष सामान्य है।

अत्रैव सामान्यदोषमुक्त्वा विशेषदोषं वक्ति—

आस्वाद्यताऽवच्छेदकरूपेण प्रत्ययाजनकतया, रसस्थले वाच्यवृत्तेः कापेयकल्पत्वेन विशेषदोषत्वाच्च।

रसस्य येन रूपेणास्वाद्यता भवति, तदास्वाद्यताऽवच्छेदकं रूपं वैयञ्जनिकापरोक्षज्ञानविषयत्वम्। प्रत्ययाजनकतयाऽऽस्वादजनकत्वाभावेन। वाच्यवृत्तेरभिधायाः। कापेयकल्पत्वेन वानरचेष्टिततुल्यत्वेन नैरर्थक्येन। दोषविशेषो नैरर्थक्यं, तच्च 'न कुर्यान्निष्फलं कर्म' इत्यादिनाऽन्यत्र निषिद्धम्।

अभिधया रसादीनां शाब्दप्रतीतिमात्रं न तु लोकोत्तरचमत्कारप्राण आस्वाद इत्यभिधाया आस्वाद्यताऽवच्छेदकरूपेण रसाद्यास्वादजनकत्वाभावाद् रसादीनां व्यङ्ग्यानामपि पुनरभिधया बोधनस्य चेष्टा कपिचेष्टेव निष्फलैवेति [illegible] सम्भवतीत्याकूतम्।

रस-शृङ्गारादि पदों से रसों को [illegible] नामक विशेष दोष भी होता है क्योंकि आस्वाद्यतावच्छेदक रूप से प्रतीति-जनक नहीं होने के कारण रस-स्थल में अभिधा-वृत्ति का प्रयोग बन्दरों की चेष्टा के जैसे निरर्थक है। अभिप्राय यह है कि रस आस्वाद्यतावच्छेदक रूप से प्रतीयमान हो कर ही चमत्कारी होता है और वह रूप है—व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान का विषय होना, अतः अभिधा वृत्ति से उसकी प्रतीति होने पर भी चमत्कार उत्पन्न होता ही नहीं, फिर तो उस वृत्ति के द्वारा रसों की प्रतीति कराने का प्रयास व्यर्थ होगा ही। आस्वाद्यतावच्छेदक पद का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—रस आस्वाद्य होता है अतः आस्वाद्यता उसमें रहती है और रस में रहने वाला कोई खास (असाधारण) धर्म उस आस्वाद्यता का अवच्छेदक (परिचायक) होता है, जो यहाँ वैयञ्जनिक-अपरोक्ष-ज्ञान विषयत्व अभिप्रेत है।

रसदोषेष्वेवं प्रथमं निरूप्य, द्वितीयं तृतीयं च निरूपयति—

एवं स्थायि-व्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः।

एवं रसवत्, स्थायिनां व्यभिचारिणां च भावानां, शब्दवाच्यत्वं रत्यादिशब्दैर्हर्षादिशब्दैश्चाभिधेयत्वमपि दोषो भवतीत्यर्थः। तथा चोक्तं दर्पणे—

'रसस्योक्तिः स्वशब्देन, स्थायिसञ्चारिणोरपि।' इति।

तत्र स्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं द्वितीयः, व्यभिचारिणां तु स्वशब्दवाच्यत्वं तृतीयो दोषः। इहापि पूर्ववद् व्यङ्ग्यत्व एवास्वादो न तु वाच्यत्वे। विशेषस्तु प्रदीपादवसेयः।

'सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम्।
टणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्॥' इति पूर्वस्य।

'सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे,
सत्रासा भुजगे, सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
सेर्ष्या जह्नुसुताऽवलोकनविधौ, दीना कपालोदरे,
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायास्तु वः॥'

इत्यपरस्योदाहरणम्, पूर्वत्रोत्साहस्य स्थायिनः, अपरत्र व्रीडादीनां व्यभिचारिणां च स्वशब्देनोपादानात्।

इसी तरह स्थायीभावों और व्यभिचारीभावों का भी नामोल्लेखपूर्वक वर्णन करना दोष है अर्थात् अभिधा-वृत्ति के द्वारा इन भावों का प्रतिपादन करने पर भी चमत्कार उत्पन्न नहीं होता, वरन् एक प्रकार का वैमुख्य ही श्रोता अथवा द्रष्टाओं को उत्पन्न हो जाता है अतः वैसा नहीं करना चाहिये।

चतुर्थं पञ्चमं च रसदोषं निरूपयति—

एवं विभावानुभावयोरसम्यक् प्रत्यये, विलम्बेन प्रत्यये वा, न रसास्वाद इति तयोर्दोषत्वम्।

असम्यक् प्रत्ययोऽस्फुटा प्रतीतिः। विलम्बेन प्रत्ययो वाच्यप्रतीतितृतीयक्षणादौ प्रतीतिः। तयोर्विभावानुभावविषयकास्फुटप्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययोः। तदुक्तं भट्टमम्मटेन— 'कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव-विभावयोः।' इति। तत्र विभावा सम्यक् प्रत्यय-विलम्बित-प्रत्यययोरेक एव चतुर्थः, अनुभावा सम्यक्प्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययोस्त्वपरः पञ्चमो रसदोषः।

परिहरति रतिं मतिं लुनीते, स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशाऽस्य देहं, परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः॥' इत्येकस्य,

'कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौत-दिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः।
लीलाशिरोंशुकनिवेशविशेषक्लृप्ति-व्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा॥'

इति चापरस्योदाहरणम्।

इसी प्रकार विभावों और अनुभावों का अच्छी तरह प्रतीत न होना अथवा विलम्ब से प्रतीत होना दोष है, क्यों कि ऐसा होने से रस का आस्वादन नहीं होता।

षष्ठं रसदोषं निरूपयति—

समबल-प्रबल-प्रतिकूलरसाङ्गानां निबन्धनन्तु प्रकृतरसपोषप्रातीपिकमिति दोषः।

समबलानां प्रबलानां वा प्रतिकूलस्य प्रकृतरसविरोधिनो रसस्याङ्गानां विभावादीनां निबन्धनं निवेशनम्, प्रकृतरसस्य यः पोषः पुष्टिस्तस्य सुन्दोपसुन्दन्यायेन, मत्स्यन्यायेन वा प्रातीपिकं प्रतीपः शत्रुस्तत्कार्यस्य सम्पादकमिति हेतोर्दोष इत्यर्थः।

विरोधिरसाङ्गानां दुर्बलानां बाध्यतया निबन्धनन्तु न दोषः, किन्तु गुण एव—'विनिश्रिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्। बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला॥' इति ध्वन्यालोके, 'सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणः।' इति दर्पणे च दर्शनात्। उदाहरणन्तु— 'मानं माकुरु तन्वङ्गि! ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्।' इति ज्ञेयम्।

जहां जिस रस का वर्णन करना कवि को इष्ट हो उस प्रस्तुत रस के विरोधी रसों के समबल (प्रस्तुत रस के अङ्गों की अपेक्षा समान बलवाले) अथवा प्रबल (प्रस्तुत रस के अङ्गो की अपेक्षा अधिक बल वाले) अङ्गों (विभावादिकों) का वर्णन करना दोष है, क्योंकि वे प्रस्तुत रस के परिपाक में बाधक होते हैं।

सप्तमं रसदोषं निरूपयति—

प्रबन्धे प्रकृतस्य रसस्य प्रसङ्गान्तरेण विच्छिन्नस्य पुनर्दीपने सामाजिकानां न सामग्र्येण रसास्वाद इति विच्छिन्नदीपनं दोषः।

प्रबन्धः सङ्घटितनानावाक्यसमुदायः, स च ग्रन्थरूपस्तदवान्तरप्रकरणरूपश्चेति प्रदीपप्रतिपादिते सन्दर्भविशेषे, स्वसामग्रीबलेन परिपोषं प्राप्तस्य, प्रसङ्गान्तरेणावान्तरिकान्यविषयप्रस्तावेन, विच्छिन्नस्यावरुद्धस्वादप्रवाहस्य रसस्य, पुनर्दीपने भूयोभूयःप्रसञ्जने सामाजिकानां सचेतसां, सामग्र्येण साकल्येन रसास्वादो न भवतीति हेतोर्विच्छिन्नस्य रसस्य पुनर्दीपनं दोषः। तथा हि—'परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्॥ रसस्य स्याद् विरोधाय' इति ध्वन्यालोके, 'उपभुक्तो हि पुनरुपभुज्यमान उपभुक्तकुसुमपरिमल इव सहृदयानामास्वादापकर्षकः' इति प्रदीपोद्द्योतयोश्च प्रतिपादितम्।

उदाहरणन्तु—कुमारसम्भवचतुर्थसर्गे रतिविलापप्रकरणे 'अथ मोहपरायणा सती, विवशा कामवधूर्विबोधिता।' इत्यादिसन्दर्भेणादौ दीपितस्य, 'अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधाऽऽलिङ्गनधूसरस्तनी।' इत्यादिना मध्ये दीपितस्य, वसन्तदर्शनप्रस्तावेनावान्तरे विच्छिन्नप्रवाहस्य करुणस्य करुणविप्रलम्भस्य वा रसस्य 'तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशम्' इत्यादिना पुनर्दीपनं दोषः। अङ्गसानामेव शश्वद्दीपने दोषः, अङ्गिरसस्य तु शान्तस्य महाभारतादौ, करुणस्य रामायणादौ च पुनःपुनर्दीपने नास्वादापकर्षः, प्रत्युत परिपोष एवेति प्रदीपकृत्सम्मतम्।

किसी भी प्रबन्ध (परस्पर अन्वित वाक्यसमूहात्मक ग्रन्थ अथवा उसका अवान्तर प्रकरण) में जिस रस का वर्णन चल रहा हो, उसका यदि एक बार किसी भी प्रसङ्गान्तर से (दूसरे प्रसङ्ग से) विच्छेद हो जाय, तब पुनः आगे उसका दीपन करने से-विच्छिन्न कथा को दुबारा उठाने से-'विच्छिन्न दीपन' नामक दोष होता है, क्योंकि मध्य में विच्छेद हो जाने से प्रस्तुत रसका आस्वादन सहृदयों को पूर्ण रूप से नहीं होने पाता। यहां प्रदीपकार का मत है कि अङ्गभूत रसों का ही पुनः पुनः दीपन दोष है, अङ्गी रसों का नहीं, क्यों कि अङ्गी रसों का पुनः पुनः दीपन करने पर भी आस्वाद में किसी तरह की कमी नहीं होती, वरन् परिपुष्टि ही होती है अत एव महाभारत आदि में शान्त रस का और रामायण आदि में करुण रस का पुनः पुनः दीपन किया गया है।

अष्टमं नवमं च रसदोषं निरूपयति—

तथा तत्तद्रसप्रस्तावनानर्हेऽवसरे प्रस्तावः, विच्छेदानर्हे च विच्छेदः।

'अकाण्डे प्रथनच्छेदौ' इति दर्पणोक्तेः सहृदयानुभावाच्च रसानां प्रस्तावायोग्येऽवसरे प्रस्तावोऽनुचितत्वाद्दोषः, तथा विच्छेदायोग्येऽवसरे विच्छेदश्च क्रमेणाष्टमो नवमश्च रसदोषः।

इसी तरह जहां जिस रस का प्रस्ताव नहीं करना चाहिये, वहां उस रस का प्रस्ताव करना और जहां जिस रस का विच्छेद नहीं करना चाहिये, वहां उस रस का विच्छेद कर देना दोष है।

तद्दोषद्वयं क्रमेणोदाहरति—

यथा—

सन्ध्यावन्दन-देवयजनादिधर्मवर्णने प्रसक्ते, कयाऽपि कामिन्या सह कस्यचित् कामुकस्यानुरागवर्णने।

यथा च—

समुपस्थितेषु महाहवदुर्मदेषु प्रतिभटेषु, मर्मभिन्दि वचनान्युद्गिरत्सु, नायकस्य सन्ध्यावन्दनादिवर्णने चेत्युभयमनुचितम्'

प्रसक्त औचित्यात् प्राप्ते। महाहवदुर्मदेषु विकटयुद्धोद्धतेषु। प्रतिभटेषु प्रतिकूलयोधेषु। मर्मभिन्दि मर्मस्पृक्तया हृदयविदारकाणि।

सन्ध्यावन्दनेत्यादिना प्रथमस्य, समुपस्थितेष्वित्यादिना च द्वितीयस्य दोषस्योदाहरणं दर्शितम्। पूर्वत्र शृङ्गारस्यानवसरे प्रस्तावः। उत्तरत्र तु वीरस्य रौद्रस्य वाऽनवसरे विच्छेदः।

जैसे—सन्ध्या-वन्दन, देव-पूजन आदि धर्म-वर्णन के प्रस्तुत रहने पर, किसी कामिनी के साथ किसी कामुक का प्रेम-वर्णन अनुचित होने पर भी यदि कर दिया जाय, तो वह दोष होगा। और मर्म भेदी वचनों को बोलते हुये विकट-युद्ध-मद-मत्त, शत्रु-योद्धाओं की उपस्थिति में नायक के सन्ध्या-वन्दन आदि का वर्णन भी अनुचित होने से दोष है। यहां प्रथम उदाहरण में शृङ्गार का अनवसर में प्रस्ताव हुआ है। द्वितीय में वीर अथवा रौद्र का अनवसर में विच्छेद कर दिया गया है।

दशमं रसदोषं निरूपयति—

एवमप्रधानस्य प्रतिनायकादेर्नानाविधानां चरितानामनेकविधायाश्च सम्पदो नायकसम्बन्धिभ्यस्तेभ्यो नातिशयो वर्णनीयः।

नायकस्य प्रतिकूलः प्रतिनायकः तेभ्यश्चरितादिभ्यः।

नायकचरितादि-सम्पदपेक्षया प्रतिनायकचरितादि-सम्पद्वर्णनमधिकं न विधेयम्, तेषामङ्गत्वात्तदतिविस्तृतेर्निषिद्धत्वात्। तदुक्तं भट्टमम्मटेन—'अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः।' इति।

इसी प्रकार जिसका प्रधानतया वर्णन करना अभीष्ट नहीं रहता, उस प्रति नायक आदि के नाना प्रकार के चरित्र और अनेक प्रकार की सम्पत्तियों की, नायक (प्रधान वर्णनीय) के चरित्र और सम्पत्तियों से, अधिकता का वर्णन नहीं करना चाहिये।

ननु तथा वर्णने का हानिरित्यत आह—

तथा सति वर्णयितुमिष्टो नायकस्योत्कर्षो न सिद्ध्येत्।

नायकचरिताद्यपेक्षया प्रतिनायकचरिताद्यधिकवर्णने विहिते सति, नायकस्यापकर्षः, प्रतिनायकस्य चोत्कर्षः सिद्ध्येदिति सारम्।

वैसा करने पर नायक का वह उत्कर्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा, जिसका वर्णन करना इष्ट है। अर्थात् प्रतिनायक का ही उत्कर्ष सिद्ध होगा, जो अभीष्ट नहीं है।

तावता का क्षतिरित्याशङ्कायामभिधत्ते—

तत्प्रयुक्तो रसपोषश्च न स्यात्।

तत्प्रयुक्तः प्रतिनायकोत्कर्षप्रतीतिनिमित्तकः।

प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनस्य प्रकृतरसास्वादविच्छेदकत्वाद्दोषत्वमिति तात्पर्यम्।

और प्रतिनायक-गत-उत्कर्ष की प्रतीति होने पर भी तत्प्रयुक्त रस की पुष्टि नहीं होगी।

पुनश्शङ्कते—

न च प्रतिनायकोत्कर्षस्य तदभिभावक-नायकोत्कर्षाङ्गत्वात् कथमवर्णनीयत्वमिति वाच्यम्।

तदभिभावकस्य प्रतिनायकपराभवकारकस्य।

विजेयोत्कर्षो हि वर्णितो विजेतुरुत्कर्षमेव प्रत्याययतीति प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनमपि प्रकृतेऽङ्गमेव, ततस्तस्य कथमवर्णनीयत्वमिति शङ्कापक्षाभिप्रायः।

यदि आप कहें कि प्रतिनायक के उत्कर्ष (विजेय) का वर्णन उसको परास्त करनेवाले (विजेता) नायक के उत्कर्ष का अङ्ग (पोषक) ही होता है अर्थात् विजेय के उत्कर्ष का वर्णन विजेता के उत्कर्ष की ही प्रतीति कराता है—फिर आप प्रतिनायकोत्कर्ष-वर्णन को क्यों अनुचित कहते हैं ?

उत्तरयति—

यादृशस्य प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनस्य तदभिभावकनायकोत्कर्षाङ्गतासम्पादकत्वं तादृशस्येष्टत्वात् । तद्विरोधिन एव निषेध्यत्वात् ।

प्रतिनायकोत्कर्षस्य यावद् वर्णनं विजेतृनायकोत्कर्षस्योपकारकत्वादङ्गमेव, तावन्न निषिध्यते, किन्तु हयग्रीववधे—प्रतिनायकस्य हयग्रीवस्य जलक्रीडादिवर्णनमिव यन्नायकोत्कर्षानुपकारकं, तदेव निषिध्यत इति सारम् ।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि—प्रतिनायक के उत्कर्ष का जैसा वर्णन विजेता नायक के उत्कर्ष का उपकारक अङ्ग-पोषक हो सके, वैसा वर्णन हमें इष्ट है—स्वीकृत है—निषेध तो उसी प्रतिनायकोत्कर्ष-वर्णन का किया गया है, जो नायक के उत्कर्ष का विरोधी हो ।

ननु प्रतिनायकोत्कर्षस्य सर्वमेव वर्णनं नायकोत्कर्षस्य साधकमेव, विजितोत्कर्षस्य सर्वस्य विजेतरि सङ्क्रमात् को दोष इत्याशङ्क्ते—

न च प्रतिपक्षस्य प्रकृतापेक्षया वर्ण्यमानोऽप्युत्कर्षः स्वाश्रयहन्तृतामात्रादेव प्रकृतगतमुत्कर्षमतिशाययेत्, अतो न दोषग्रह इति वाच्यम् ।

प्रतिपक्षस्य प्रतिनायकस्य । प्रकृतो वर्ण्यमानो नायकः । स्वम्, उत्कर्षः, तस्याश्रयो यः प्रतिनायकः तस्य हन्तृतामात्रात् तत्कर्मकहननकर्तृत्वादेव । मात्रशब्देन प्रस्तुतवैषम्यव्यावृत्तिः । अतिशाययेदतिशयितं कुर्याद् वर्धयेदित्यनर्थान्तरम् ।

प्रतिनायकस्य वर्ण्यमानः सर्वोऽप्युत्कर्षः केवलं तस्यायं हन्तेतिहेतोर्नायकस्यैवोत्कर्षं यतो वर्धयति, तस्मान्न तस्य दूषकतेति शङ्कितुराकूतम् ।

यदि आप कहें कि उक्त उत्तर में जो आप ने 'यादृश तादृश'—'जैसा वैसा'-निवेश किया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिनायक (विजित) का उत्कर्ष किसी भी तरह—अधिक से अधिक भी वर्णित क्यों न हो, वह (उत्कर्ष) अपने आश्रय (प्रतिनायक) को मारने वाले नायक के उत्कर्ष को ही बढ़ायेगा, अर्थात् उत्कृष्ट को मारने वाला—जीतने वाला—और अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होगा अतः वैसा समस्त वर्णन दोषाधायक नहीं होता यही कहना चाहिये ।

निराकरोति—

एवं हि सति महाराजं कमपि विषशरक्षेपमात्रेण व्यापादितवतो वराकस्य शबरस्यैव, प्रकृतस्य, नायकस्य, न कोऽप्युत्कर्षः स्यादिति ।

वराकस्य विक्रमादिगुणहीनतया दीनस्य । शबरस्य पुलिन्दजातीयस्य 'मुसहर' इति प्रसिद्धस्य वनेचरस्य । इति शब्दो हेत्वर्थकः ।

यदि हननादेव सकलो वध्योत्कर्षो घातुकमाश्रयेत्, तदा निलीय विषाक्तबाणक्षेपेण विक्रान्तं नृपं हतवतः शबरस्यापि स स्यात्, न च तथा, तस्माद् वैषम्यमस्त्येवेति तात्पर्यम् ।

उक्त शङ्का का उत्तर देते हैं—'एवं हि सति' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि उत्कृष्ट को किसी प्रकार से मार देने वाला उससे (मृत से) अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होता है, यह बात ठीक नहीं जचती क्योंकि यदि ऐसी बात हो तब तो किसी वीर महान् राजा को एक जहरीले बाण से मार देने वाला साधारण भील भी उस महाराज से उत्कृष्ट सिद्ध हो जाय, परन्तु ऐसा होता नहीं । उसी तरह यदि नायकोत्कर्ष-वर्णन की अपेक्षा प्रतिनायकोत्कर्ष वर्णन बहुत बढ़ा चढ़ा कर कर दिया जाय और अन्त में यह भी कह दिया जाय कि उस उत्कृष्ट प्रतिनायक को नायक ने मार दिया, तथापि उससे नायक का कुछ भी उत्कर्ष सिद्ध नहीं होगा ।

एकादशं रसदोषं निरूपयति—

तथा रसालम्बनाश्रययोरनुसन्धानमन्तराऽन्तरा न चेद्, दोषः।

रसस्य यदालम्बनं यश्चाश्रयः, तयो रत्युपकारकतयाऽङ्गिभूतयो-रन्तराऽन्तरा मध्ये मध्ये, अनुसन्धानमन्वेषणलक्षणं स्मारकमुपादानं, चेद् यदि, न स्यात्, तदा तद्दूषणमित्यर्थः।

तदुक्तम्—'अङ्गिनोऽननुसन्धानम्' इति।

इह पूर्ववाक्यघटको यद्यर्थकश्चेच्छब्द उत्तरवाक्ये तच्छब्दोपादानं बलवदपेक्षत इत्यनुसन्धेयम्।

अब ग्यारहवें रस दोष का उल्लेख करते हैं—'तथा' इत्यादि। इसी प्रकार रस के आलम्बन और आश्रय का यदि मध्य मध्य में अनुसन्धान न हो, तो दोष है।

अङ्ग्यननुसन्धानस्य दूषकतामुपपादयति—

तदनुसन्धानाधीना हि रसप्रतिपत्तिधारा, तदननुसन्धाने विरता स्यात्।

रसस्य प्रतिपत्तिधाराऽऽस्वादप्रवाहः, हि यतः, तदनुसन्धानाधीनाऽऽलम्बनाश्रयानुसन्धान-प्रयोज्या, अतस्तयोरनुसन्धाने विस्मरणे, विरता विच्छिन्ना, स्यात्, तस्मात् तदपि दूषणं रसस्येत्यर्थः।

उक्त दोष के होने में युक्ति बतलाते हैं—'तदनु' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि रसास्वाद की धारा आलम्बन और आश्रय के पुनः पुनः अनुसन्धान के ही अधीन है, अतः यदि उनका अनुसन्धान बीच-बीच में न होगा तो रसास्वाद-धारा विच्छिन्न हो जायगी।

द्वादशं रसदोषं निरूपयति—

एवं प्रकृतरसानुपकारकस्य वस्तुनो वर्णनमपि, प्रकृतरसविरामहेतुत्वाद् दोष एव।

प्रकृतरसविरामहेतुत्वादिति दूषकताबीजनिर्देशः। विरामो विच्छेदः।

प्रस्तुतरसस्य यदनुपकारकं तद्वर्णनेन प्रस्तुतरसास्वादधाराया विच्छेदात् तस्यापि दोषत्वमित्यर्थः। तदुक्तम्—'अनङ्गस्य च कीर्त्तनम्' इति।

अब बारहवें दोष का उल्लेख करते हैं—'एवम्' इत्यादि। इसी तरह जिस वस्तु का वर्णन प्रस्तुत रस का उपकारक न हो, उसका वर्णन भी एक रस-दोष है, क्योंकि उस तरह का वर्णन भी प्रस्तुत-रसास्वाद धारा को समाप्त कर डालता है।

त्रयोदशं रसदोषं निरूपयति—

अनौचित्यं तु रसभङ्गहेतुत्वात् परिहरणीयम्।

अनौचित्यं रसास्वादोपयोगिपदार्थसार्थनिघ्नम्। तुशब्दोऽस्य प्रकारान्तरान्तर्भावं व्यवच्छिनत्ति। रसेत्यादिना दूषकताबीजनिर्देशः। रसास्वादव्याघातकारणत्वादनौचित्यं दोष इति सारम्।

जो बातें अनुचित हैं, उनका वर्णन रसभङ्ग का कारण होता है, अतः वह सर्वथा त्याज्य है।

रसस्य मूर्त्तत्वाभावादामर्दनासम्भवाद् भङ्गपदार्थमाचष्टे—

भङ्गश्च पानकादिरसादौ सिकतादि-निपातजनितेवारुन्तुदता।

सिकता वालुका। अरुन्तुदता मर्मच्छेदिताऽप्रियतेति यावत्।

यथा पानकरसास्वादस्य वालुकापातो विघातकृत्, तथैवानौचित्यमत्रापीति रसस्यास्वादविघात एव भङ्ग इत्याशयः।

रस तो कोई मूर्त पदार्थ है नहीं, फिर उसका भङ्ग क्या? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये 'भङ्ग' पद की व्याख्या करते हैं—'भङ्गश्च' इत्यादि। जिस तरह शरबत आदि तरल

वस्तु में बालुका आदि के पड़ जाने से वह खटकने लगता है, उसी तरह रस के आस्वाद में खटकने को रस का भङ्ग कहते हैं।

अनौचित्यं विवृणोति—

तच्च जाति-देश-काल-वर्णा-श्रम-वयो-ऽवस्था-प्रकृति-व्यवहारादेः प्रपञ्च-जातस्य तस्य तस्य, यल्लोक-शास्त्रसिद्धमुचितद्रव्य-गुण-क्रियादि, तद्भेदः।

तदनौचित्यम्। वस्त्वर्थे। वयोऽवस्थयोर्भेदः प्रागेव निगदितः। व्यवहारः समुदाचारः। प्रपञ्चजातस्य सांसारिकवस्तुव्यूहस्य (जात्यादिरूपस्य)।

यस्य जाति-देश-कालादेर्यद् द्रव्य-गुण-क्रियादि लोकतः शास्त्रतश्च सिद्धत्वादुचितं, तद्भिन्नत्वमनौचित्यमित्यर्थः।

अनुचित होने का तात्पर्य यह है कि जिन जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्वभाव और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो जो लोक और शास्त्र से सिद्ध तथा उचित द्रव्य, गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना।

अनौचित्यमुपपादयति—

जात्यादेरनुचितं यथा—गवादेस्तेजोबलकार्याणि पराक्रमादीनि, सिंहादेश्च साधुभावादीनि। स्वर्गे जराव्याध्यादि, भूलोके सुधासेवनादि। शिशिरे जल-विहारादीनि, ग्रीष्मे वह्निसेवा। ब्राह्मणस्य मृगया, बाहुजस्य प्रतिग्रहः, शूद्रस्य निगमाध्ययनम्। ब्रह्मचारिणो यतेश्च ताम्बूलचर्वणम्, दारोपसंग्रहः। बालवृद्धयोः स्त्रीसेवनम्, यूनश्च विरागः। दरिद्राणामाढ्याचरणम्, आढ्यानां च दरिद्राचारः।

जात्यनुचितं गवादिरित्यादिना, देशानुचितं स्वर्ग इत्यादिना, कालानुचितं शिशिर-इत्यादिना, वर्णानुचितं ब्राह्मणेत्यादिना, आश्रमानुचितं ब्रह्मचारीत्यादिना, वयोऽनुचितं बालेत्यादिना, अवस्थानुचितं च दरिद्रेत्यादिना विवृतम्।

साधुभावो गवादिवदार्जवम्। मृगया पशुपक्षिहिंसाऽऽखेटः। बाहुजः क्षत्रियः। निगमो वेदः। यतिः सन्न्यासी। दारोपसंग्रहः पत्नीपरिग्रहः। आढ्यो धनी, तदाचरणं विपुलव्य-यादि। अत्र सर्वत्र तत्तदनौचित्यं रसभङ्गकारणतया दूषणम्।

अब जाति आदि के अनुचित बातों का कुछ उदाहरण दिखलाते हैं—'जात्यादेः' इत्यादि। जाति-विरुद्ध जैसे—बैल, गाय आदि के तेज और बल के कार्य, पराक्रम आदि एवं सिंह आदि का सीधापन आदि। देश-विरुद्ध जैसे—स्वर्ग में वृद्धत्व, रोग प्रभृति और भूतल पर अमृत-पान प्रभृति। काल-विरुद्ध जैसे—शीतकाल में जल-विहार प्रभृति और गरमी के दिनों में अग्नि-सेवन प्रभृति। वर्ण-विरुद्ध जैसे—ब्राह्मणों का शिकार खेलना, क्षत्रियों का दान लेना और शूद्रों का वेद पढ़ना। आश्रम-विरुद्ध जैसे—ब्रह्मचारी और संन्यासियों का ताम्बूल चबाना और स्त्री को स्वीकार करना। अवस्था-विरुद्ध जैसे—बच्चे तथा बूढ़ों का स्त्री-सेवन और युवकों का वैरागी होना। इसी तरह दरिद्रों का धनिकों के सा और धनिकों का दरिद्रों के सा आचरण।

प्रकृत्यनुचितं विवृण्वन् प्रकृतिभेदानाह—

प्रकृतयो दिव्याः, अदिव्याः, दिव्यादिव्याश्च धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरललित-धीरशान्ता उत्साह-क्रोध-कामिनीरति-निर्वेदप्रधाना उत्तममध्यमा-धमाश्च।

प्रकृतयो नायकप्रभृतयः—'नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः। रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा। बुद्ध्यु-त्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला-मानसमन्वितः। शूरो-दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः।' इति दशरूपकोक्तलक्षणाः, दिवि स्वर्गे भवा दिव्या-

देवैकरूपा इन्द्रादयः, अदिव्या मानवैकरूपा माधववत्सराजादयः, दिव्यादिव्या देवा अपि मानवरूपेणावतीर्णा राम-कृष्णादय इति प्रथमं त्रिविधाः। ते च—'महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः। स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः।' 'मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः। स्थेयान् निगूढमानो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः।' 'निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः।' 'सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिकोधीरशान्तः स्यात्॥' इति लक्षिता उत्साहप्रधानधीरोदात्त-क्रोधप्रधानधीरोद्धत-कामिनीरतिप्रधानधीरललित-निर्वेदप्रधानधीरशान्ता इति प्रत्येकं चतुर्धा, पुनरुत्तम-मध्यमा-धमत्वैस्त्रिविधा इति सङ्कलनया षट्त्रिंशत्प्रकृतयो बोध्याः। शृङ्गाररसेत्वनुकूल-दक्षिण-धृष्ट-शठत्वैः प्रकृतीनां चतुर्विधत्वमाकलनीयम्। नायिकाप्रकारसङ्कलना तु मदीयरसमञ्जरीसुरभेरवसेया।

अब प्रकृति (स्वभाव) विरुद्ध का उदाहरण दिखलाने के क्रम में पहले प्रकृति का विभाग करते हैं—'प्रकृतयो' इत्यादि। अलङ्कार शास्त्र के अनुसार तीन प्रकार की प्रकृतियाँ (नायक की) होती हैं—कुछ दिव्य (देवतारूप इन्द्र आदि), कुछ अदिव्य (मनुष्यरूप दुष्यन्त आदि) और कुछ दिव्यादिव्य (जो स्वर्गीय होने पर भी मनुष्यरूप में अवतीर्ण राम, कृष्ण आदि) होते हैं। इसी तरह उन प्रकृतियों के दूसरे भेद भी होते हैं, जैसे—धीरोदात्त नायक, जिनमें उत्साह की प्रधानता रहती है, धीरोद्धतनायक, जिनमें क्रोध की प्रधानता होती है, धीर ललित नायक, जिनमें स्त्रीविषयक प्रेम की प्रधानता होती है, एवं धीरशान्त नायक, जिनमें वैराग्य की मुख्यता होती है। इस प्रकार नायक के बारह भेद हुये, फिर उत्तम, मध्यम और अधम नामक तीन भेद और मान लेने से उक्त बारह भेद छत्तीस हो जाते हैं।

प्रकृत्यनौचित्ये प्रथमं रत्यनौचित्यं प्रतिपादयति—

तत्र रत्यादीनां भयातिरिक्तस्थायिभावानां सर्वत्र समत्वेऽपि, रतेः सम्भोगरूपाया मनुष्येष्विवोत्तमदेवतासु स्फुटीकृतसकलानुभावं वर्णनमनुचितम्।

तत्र तासु प्रकृतिषु, रत्यादीनां भयातिरिक्तस्थायिभावानां भयभिन्नानामष्टानां रतिप्रभृतीनां, सर्वत्र सर्वासु प्रकृतिषु समत्व एकविधत्वे साधारणतया सत्यपि, मनुष्येषु इव उत्तमदेवतासु गौरी-गिरीशप्रभृतिषु, सम्भोगरूपाया रतेः, स्फुटीकृताः स्पष्टमाख्याताः सकलानुभावाः सर्वे व्यापारा यत्र कर्मणि तद्यथा भवति, तथा वर्णनमनुचितमित्यर्थः।

पित्रोरिवोत्कृष्टदेवतयोः सम्भोगस्य स्पष्टतया वर्णनमनौचित्यादनाचरणीयमेव। उत्तमेत्युक्त्या मध्यमादिषु कामचारः। भयस्याश्रयभेदेन वैषम्याद् भयातिरिक्तानामित्युक्तम्। वस्तुतस्तु रति-क्रोधादीनामप्याश्रयभेदाद् वैषम्यमानुभविकमेवेति तदुपादानमकिञ्चित्करमिति विभावनीयम्।

इन सभी प्रकृतियों (नायकों) में भय के अतिरिक्त रति आदि स्थायीभाव यद्यपि समानरूप से होते हैं, तथापि सम्भोगरूप रति का, जिस तरह मनुष्यों में वर्णन किया जाता है, उसी तरह सब अनुभावों (आलिङ्गन-चुम्बन आदि) को स्पष्ट करके उत्तम देवताओं के विषय में वर्णन करना अनुचित है।

रत्यनौचित्यवत् क्रोधानौचित्यं प्रतिपादयति—

क्रोधस्य च लोकभस्मीकरणपटो-र्दिनरात्रिव्यत्ययाद्यनेकाश्चर्यकारिणो दिव्येष्विवादिव्येषु।

चकारेण वर्णनमनुचितत्वादनाचरणीयमित्यनुषङ्गः।

लोकानां भुवनानां जनानां वा, भस्मीकरणे, पटोः कुशलस्य तथा दिनं च रात्रिश्च दिनरात्री, तयोर्व्यत्ययो दिनस्थाने रात्रिः, रात्रिस्थाने च दिनमिति विपर्यासः, तदादीना-

मनेकाश्चर्याणां कारिणः, क्रोधस्य, दिव्येष्विव देवतावद् , अदिव्येषु मानवेषु, वर्णनमनुचित-मिति नाचरणीयमित्यर्थः ।

जगत को भस्म कर देने में निपुण तथा दिन और रात को बदल देना आदि विविध आश्चर्यजनक कार्यों को कर देने वाले क्रोध का वर्णन जिस तरह दिव्य नायकों में किया जाता है, उसी तरह अदिव्य नायकों में करना अनुचित है अर्थात् नहीं करना चाहिये ।

तत्र हेतुमभिधत्ते—

आलम्बनगताराध्यत्वस्यानुभावगत-मिथ्यात्वस्य च प्रतीत्या रसानुल्लासापत्तेः ।

यतस्तथावर्णने दिव्येष्वालम्बनेषु, तद्गतस्य तन्निष्ठस्य, आराध्यत्वस्य पूज्यत्वस्य, प्रतीत्या, अदिव्येष्वालम्बनेषु तदनुभावगतस्य पूर्वोक्तलोकभस्मीकरणादिलोकोत्तरक्रोध-व्यापारनिष्ठस्य, मिथ्यात्वस्यासम्भाव्यतयाऽसत्यत्वस्य, प्रतीत्या च रसानुल्लासस्य रौद्ररसा-स्वादानुद्गमस्य, आपत्तिः स्यात् , तस्मात्तथा वर्णनीयमित्यर्थः ।

उक्त प्रकृत्यनौचित्य का कारण यह है कि हमें जिन दिव्य आलम्बनों (उत्तम देवताओं) में पूज्यताबुद्धि है, यदि उनमें साधारण नायकों के जैसे अनुभावों को सर्वथा खोलकर रति का वर्णन करेंगे, तो उसको सुनकर सहृदयों के हृदयों में रस का विकास नहीं होगा, बरन एक प्रकार का सङ्कोच ही होगा। इसी तरह यदि साधारण (अदिव्य) नायकों में उस प्रकार के क्रोध का वर्णन किया जाय, जिस तरह का क्रोध दिव्यनायकों में वर्णित किया जाता है, तो उससे श्रोताओं को झूठेपन का ज्ञान होगा। अतः उस वर्णन से रस का विकसित होना सम्भव नहीं है ।

ननु प्राग्भट्टनायकमते भावकत्वव्यापारस्य, नव्यमते सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेष-रूपदोषस्य च महिम्ना यत् साधारणीकरणं प्रतिपादितं, तेन प्रतिबद्धमालम्बनविषयकमा-राध्यत्वप्रकारकं ज्ञानमिह नोत्पत्तुमर्हतीति न रसानुल्लासापत्तिरिति शङ्कते—

न च साधारणीकरणादाराध्यत्वज्ञानानुत्पत्तिरिति वाच्यम् ।

विशेषधर्मानवच्छिन्नप्रकारताकज्ञानस्य साधारणीकरणस्य, विशेषधर्मावच्छिन्नप्रकार-ताकज्ञानप्रतिबन्धकत्वादिति भावः ।

यदि आप कहें कि रसास्वाद से पूर्व, भट्टनायक मत के अनुसार भावकत्व व्यापार से और नव्यमत के अनुसार सहृदयता मूलक भावना-विशेष रूप दोष से विभादिकों का साधरणी करण हो जाने से दिव्यनायकों में भी पूज्यता-बुद्धि उत्पन्न ही नहीं हो सकती ?

समादधाति—

यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रमाणसिद्धः, तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात् ।

न हि सर्वत्र साधारणीकरणस्य कल्पना, किन्तु यत्र सचेतसां रसास्वादोऽनुभवसाय-सिद्धः सामग्रीविरहान्नोपपद्यते, तत्रैव तदुपपत्तयेऽनायत्या तत् कल्प्यत इति फलानुरोधात् तत्कल्पनायाः प्रकृतेऽसम्भव इत्यभिसन्धिः ।

उक्त शङ्का का समाधान यह है कि जहां सहृदयों का रसास्वाद प्रमाण से सिद्ध रहता है, वहीं साधारणीकरण की कल्पना की जाती है, सर्वत्र नहीं; तात्पर्य यह है कि उक्त स्थान में सहृदयों का रसानुभव प्रमाण-सिद्ध नहीं है, अतः वहां साधारणीकरण की कल्पना नहीं की जा सकती ।

साधारणीकरणकल्पनायाः सार्वत्रिकत्वाभ्युपगमे दोषं दर्शयति—

अन्यथा स्वमातृविषयक-स्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः ।

तत्रापि साधारणीकरणस्य कल्पनायाः सम्भवादित्याशयः ।

यदि सब जगह साधारणी करण की कल्पना की जाय, तब साधारणीकरण के बल से

अपनी माता के विषय में अपने पिता का प्रेम वर्णन करने पर भी सहृदयों को रसास्वाद होने लगेगा।

क्वाचित्कं विपरीतं दृष्टान्तमुपन्यस्य निरस्यति—

जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु सकलसहृदयसम्मतोऽयं समयो मदोन्मत्त-मतङ्गजैरिव भिन्न इति न तन्निदर्शनेनेदानीन्तनेन यथा वर्णयितुं साम्प्रतम्।

तुनाऽरुचिः सूच्यते। अयमुक्तः समयः सिद्धान्तः सङ्केतो वा। मतङ्गजैर्दन्तावलैः। मत्तहस्तिदृष्टान्तः समयभेदने निदानमुन्मादं, न तूपपत्तिविवेकं सूचयति। निदर्शनं दृष्टान्तः। इदानीन्तनेनाधुनिकेन कविना। साम्प्रतं युक्तम्।

अनुन्मत्तेन यथोन्मादिव्यवहारो नानुक्रियते, तथैवाधुनिकेन कविना केषाञ्चित् प्राचां समयोल्लङ्घनं नानुकरणीयम्, प्राचामनौचित्यस्य तन्महिमातिरेकादिभिरपि तिरोधापयितुं शक्यत्वादिति सारम्।

यद्यपि जयदेव प्रभृति कुछ कवियोंने गीतगोविंद आदि निबन्धों में उत्तम देवता विषयक सम्भोगवर्णन अनुभावों केस्पष्टी करण के साथ किया है, परन्तु उन्होने मदमत्त हाथियों की तरह, सम्पूर्ण सहृदय समाज से आदृत उक्त मर्यादा को तोड़ डाला है, अतः उनके दृष्टान्त से आधुनिक कवियों को वैसा नहीं करना चाहिये।

चरमं व्यवहारानौचित्यं प्रतिपादयति—

तथा विद्या-वयो-वर्णा-श्रम-तपोभिरुत्कृष्टैः स्वतोऽपकृष्टेषु न सबहुमानेन वचसा व्यवहर्तव्यम्।

विद्यादय उत्कर्षे हेतवः। सबहुमानेन वचसा विपुलादरसूचकेन वचनेन। वचसेति-व्यवहारान्तरस्याप्युपलक्षणम्। 'सम्बहुमानेनेति' क्वाचित्कपाठे तु सम्यग् बहुमानं यत्रेति विग्रहः।

विद्यादिभिरुत्कृष्टैः स्वापेक्षयाऽपकृष्टेषु विधीयमानो बहुमानोऽनुचितत्वाद् रसापकर्षक इति सारम्।

अब व्यवहार-विरुद्ध का उदाहरण दिखलाते हैं—'तथा' इत्यादि। इसी प्रकार जो विद्या, अवस्था, वर्ण, आश्रम और तपस्या प्रभृति के कारण उत्कृष्ट हों, उन्हें अपने से अपकृष्ट लोगों के साथ अत्यन्त सम्मान युक्त वचनों से व्यवहार नहीं करना चाहिये।

यत्र तद्व्यवहारौचित्यं, तदाह—

व्यवहर्तव्यं चापकृष्टैरुत्कृष्टेषु।

विद्यादिभिरपकृष्टैरुत्कृष्टेषु सबहुमानेन वचसा व्यवहरणीयमित्यर्थः।

अपकृष्टों को उत्कृष्टों के साथ अत्यन्त सम्मान युक्त वाणी के द्वारा व्यवहार करना चाहिये।

उत्कृष्टेष्वपि विशेषमभिदधाति—

तत्रापि 'तत्रभवन्' 'भगवन्' इत्यादिभिः सम्बोधनैर्मुनि-गुरु-देवताप्रभृतय एव, न राजादयः, जात्योत्तमैर्द्विजैरेव, नाधमैः शूद्रादिभिः, 'परमेश्वर' इत्यादि-सम्बोधनैश्चक्रवर्तिन एव, न मुनिप्रभृतयः, सम्बोध्याः।

तत्राप्युत्कृष्टेष्वपि। तत्रभवच्छब्दः पूज्यार्थकः। सम्बोधनैरभिमुखीकरणशब्दैः। देवताऽपेक्षयाऽपि गुरोरभ्यर्हितत्वाद् गुरुशब्दस्य पूर्वं निर्देशः। द्विजैर्ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यैः। चक्रवर्तिनः सम्राजः।

उत्कृष्टेष्वपि विषयभेदाद् व्यवहर्तृभेदाच्च व्यवहारस्योचितानुचितत्वे बोध्ये इत्याशयः।

उत्कृष्टों के लिये अपकृष्टों के द्वारा प्रयोग करने योग्य सम्मानसूचक सम्बोधनों का स्थानभेद से विभाग दिखलाते हैं—'तत्रापि' इत्यादि। 'तत्र भवन्' 'भगवन्' इत्यादि

सम्बोधनों से मुनि, गुरु और देवता आदि का ही सम्बोधन किया जाना चाहिये, राजा आदि का नहीं। वह भी जो जाति से उत्तम-अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य हों, वे ही ऐसे सम्बोधनों का प्रयोग करें, शूद्र आदि नहीं। इसी प्रकार 'परमेश्वर' आदि सम्बोधनों का प्रयोग चक्रवर्तियों के प्रति ही किया जाना चाहिये, मुनि आदि के प्रति नहीं।

अनौचित्यस्य रसभङ्गकारणत्वं प्रमाणयति—

तथा चाहुः—

यही सब सोच समझ कर आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्द्योत में लिखा है—

आनन्दवर्धनाचार्या ध्वन्यालोकतृतीयोद्द्योत इति शेषः।

'अनौचित्यादृते नान्यद् , रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु, रसस्योपनिषत्परा ॥' इति।

अनौचित्यादृतेऽनौचित्यं विना, रसभङ्गस्य, अन्यत् कारणं नास्तीति शेषः, यतः प्रसिद्धस्य लोकशास्त्रानुशिष्टस्य, औचित्यस्य, बन्धो योजनं, तु पुनः, रसस्य, परोत्कृष्टा, उपनिषत् प्रकाशनोपाय इत्यर्थः।

अनौचित्यमेव रसभङ्गस्य प्रधानं कारणं, तेन सहृदयवैमुख्यसम्पादनात्। औचित्यं पुनस्तथैव रसं प्रकाशयति, यथोपनिषत् परब्रह्म, तस्मादनौचित्यं सर्वथा परिहरणीयमित्यभिप्रायः।

काव्यप्रकाशे तु—'औचित्योपनिबन्धस्तु' इति पाठो दृश्यते।

अनौचित्य से अतिरिक्त रस-भङ्ग का कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का वर्णन करना ही सब से बड़ी रस की उपनिषत् अर्थात् प्रकाशनोपाय है। अभिप्राय यह है कि अनौचित्य ही रस-भङ्ग का प्रधान कारण है, क्योंकि-उसी से सर्वाधिक वैमुख्य सहृदयों में होता है, अतः उसका (अनौचित्य का) परिहार अवश्य करना चाहिये और औचित्य उसी तरह रसको प्रकाशित करता है, जिस तरह उपनिषत् परब्रह्म का, अतः उसकी रक्षा अवश्य कवियों को करनी चाहिये।

तत्र विशेषमाह—

यावता त्वनौचित्येन रसस्य पुष्टि-स्तावत् तु न बार्यते, रसप्रतिकूलस्यैव तस्य निषेध्यत्वात्।

यत्परिमाणेनानौचित्येन रसस्य परिपोष एव स्यात् (न तु बाधः), तत्परिमाणमनौचित्यं तु न निषिध्यते, यतो रसविरोधिन एवानौचित्यस्य निषेध्यत्वमित्यर्थः।

अनौचित्य-परिहार में भी यह विशेष समझना चाहिये कि जितने अनौचित्य से रस की पुष्टि होती हो, उतने अनौचित्य का परिहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि जो अनौचित्य रस के प्रति कूल हो, उसी का निषेध समुचित है।

उक्तमर्थमुदाहरणदर्शनेन द्रढयति—

अत एव—

इसी लिये—

रसानिरोध्यनौचित्यस्य मर्षणीयत्वादेव। दशाननद्वारि समुपस्थितान् ब्रह्मादीन् दौवारिको वदति—

'ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयतां,
स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते! नैषा सभा वज्रिणः॥
वीणां संहर नारद! स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो!,
सीता-रल्लकभल्ल-भिन्नहृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः॥'

हे ब्रह्मन् ! अध्ययनस्य वेदपाठस्य, एष समयोऽवसरो नास्ति, तत् तूष्णीं जोषं वहिरितो बाह्यस्थले (त्वया) स्थीयताम् । हे जडमते ! वाचालत्वादवसरानवबोधाच्च विवेकशून्यबुद्धे ! बृहस्पते ! स्वल्पमतिस्तोकं (नत्वधिकं) जल्प वद, यत एषा वज्रिण इन्द्रस्य (त्वच्छिष्यस्य) सभा नास्ति । हे नारद ! वीणां महतीं, संहर वादनाद्विरमय । हे तुम्बुरो ! देवगाथक गन्धर्व ! (तव) स्तुतिकथालापैः प्रशंसावाक्यभाषणैः, अलं न किमपि फलं स्यात्, यतः सीताया जानक्याः रक्षकं ('शिरस्सिन्दूरसरणिः स्त्रीणामारक्षकं स्मृतम्' इति हलायुधोक्तेः) सीमन्तसिन्दूरलेखैव भल्लः 'भाला' इति प्रसिद्धः कुन्तः, तेन भिन्नं विदीर्णं हृदयं मनो यस्य, स लङ्केश्वरो रावणः, स्वस्थो न, किन्तु व्याकुलोऽस्तीत्यर्थः ।

ब्रह्मन् ! वेद-पाठ का यह समय नहीं है, चुपचाप बाहर बैठो ! मूर्ख ! बृहस्ते ! यह इन्द्र की सभा नहीं है, कि जब तक मन करे, तब तक अण्टसण्ट बकते रहो, जो कुछ कहना हो, संक्षेप में कह डालो । नारद ! अपनी वीणा को बन्द करो । हे तुम्बरो ! इस समय स्तुति कथायें—चापलूसी की बातें व्यर्थ हैं, क्यों कि सीता की विरोनियों के भाले से लङ्केश्वर—महाराज रावण का हृदय घायल हो गया है, वे स्वस्थ नहीं हैं ।

उपपादयति—

इति कस्यचिन्नाटकस्य पद्ये, विप्रलम्भशृङ्गाराङ्गीभूत-वीररसाक्षेपकपरमैश्वर्य-परिपोषकतया स्थितदौवारिकवचनस्य ब्रह्माद्यधिक्षेपपरस्यानौचित्यं न दोषः ।

इत्याकारके कस्यचिन्नाटकस्य श्लोके, सीतालम्बनस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्य, अङ्गीभूतः पोषकतयाऽङ्गतां प्राप्तो यो रावणनिष्ठो वीररसः, तस्याक्षेपकं व्यञ्जकं यत् (तदीयं) परमैश्वर्यं लोकोत्तरप्रभुत्वं तस्य परिपोषकतया (हेतुभूतया) स्थितो रावणद्वारि विद्यमानो यो दौवारिको द्वारपालः, तस्य ब्रह्म-बृहस्पति-नारद-तुम्बुरुतिरस्कारसूचकं यदिदं वचनं, तस्य ब्रह्मादीनां तिरस्कारानर्हत्वाद् यदनौचित्यं, तन्न दोषः-प्रकृतरसोपस्कारकत्वादित्यर्थः ।

किसी नाटक के इस पद्य में, ब्रह्मा आदि के तिरस्कार करने के लिये बोले गये द्वारपाल के वचन का अनौचित्य दोष नहीं है, क्योंकि उस तिरस्कार वचन से रावण के परम ऐश्वर्य की पुष्टि होती है, जिससे वीर-रस का आक्षेप होता है, जो विप्रलम्भशृङ्गार (रसाभास) का अङ्ग होता है ।

उदाहरणान्तरं दर्शयति—

एवमेव—'अले ले सद्दः समुप्पाडिअ-हरिय-कुसगंथिमयाक्खमालापङ्खित्ति-विस्संभिअ-बालविहवंदः कअणा बम्हणा' इत्यादिविदूषकवचनेऽपि रेशब्दादिप्रयोगस्य तत् तथा, हास्यानुगुणत्वात् ।

एवमनौचित्यस्य रसोपस्कारकत्वादेव । 'अरे रे सद्यः समुत्पाटितकुशग्रन्थिमयाक्ष-माला-परिवृत्तिविस्रम्भितबालविधवाऽन्तःकरणा ब्राह्मणाः ?' इतिप्राकृतच्छाया । 'अरे रे' इति नीचसम्बोधनम् । तदनौचित्यम् । तथा न दोषः ।

सद्यस्तत्कालं, समुत्पाटिता उत्खाता अत एव हरिता ये कुशग्रन्थयो दर्भपर्वाणि, तन्मयी तद्रूपा अक्षमाला, तस्याः परिवृत्त्या (परिवर्तनेन) जपविडम्बनया विस्रम्भितं विश्वासितम् (वञ्चितम्) बालविधवानामन्तःकरणं यैस्तादृशा अरे रे नीचाः ब्राह्मणाः ?' इत्यादिविदूषकवाक्ये रेशब्दादीनां पूजनीयद्विजराजविषये प्रयोगस्य यदनौचित्यं, तत् प्रकृतस्य हास्यरसस्य, पतोनापकर्षकम्, प्रत्युतोत्कर्षकमेव, तस्मान्न दोष इत्यर्थः ।

इसी तरह 'अरे ओ ! तत्काल उखाड़े हुये हरित कुशों की गांठों से बनी हुई जपमालाओं के फेरने से बालविधवाओं के अन्तःकरणों को विश्वासयुक्त बनाने वाले ब्राह्मणो ।...'

इत्यादि विदूषक के वचन में भी ब्राह्मणों के प्रति रे शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं है, क्योंकि वह हास्य-रस के अनुकूल है।

उपरि परिगणिता एते त्रयोदशैव न रसदोषाः, किन्तु 'रसे दोषाः स्युरीदृशाः' इति मम्मटोक्तेः, सहृदयानुभवाच्चान्येऽपि सम्भवन्ति, तस्मादनया रीत्याऽन्येऽपीदृशा रसदोषाः स्वयं सुधीभिरिति प्रतिपादयन् दोषनिरूपणमुपसंहरति—

एषा हि दिगुपदर्शिता, अनया सुधीभिरन्यदप्यूह्यम्।

अन्यदिति सामान्ये नपुंसकम्।

इस तरह अनौचित्य ज्ञान के लिये यह दिग्दर्शन करा दिया गया है, इसी रीति से बुद्धिमानों को और-और अनौचित्यों का भी स्वयम् ऊह कर लेना चाहिये।

अथ प्रसङ्गसङ्गत्या गुणान् निरूपयति—

रसेषु चैतेषु निगदितेषु, माधुर्यौजःप्रसादाख्यां स्त्रीन् गुणानाहुः।

रसप्रतिपादनानन्तरं तदाश्रितत्वान्माधुर्यमोजःप्रसादश्चेति त्रीन् गुणान् प्रतिपादयन्ति प्राञ्च इत्यर्थः।

अब प्रसङ्ग-प्राप्त गुणों का निरूपण करते हैं—'रसेषु' इत्यादि। इन पूर्वोक्त नौ रसों में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुण रहते हैं-ऐसा प्राचीनों का कथन है।

तेषु माधुर्यं कुत्र रसे कियत् तिष्ठतीति जिज्ञासायां मतत्रयमुपन्यस्यति—

तत्र 'शृङ्गारे संयोगाख्ये यन्माधुर्यं, ततोऽतिशयितं करुणे, ताभ्यां विप्रलम्भे, तेभ्योऽपि शान्ते, उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तद्रुतेर्जननात्' इति केचित्।

'संयोगशृङ्गारात् करुण-शान्तयो-स्ताभ्यामपि विप्रलम्भे' इत्यपरे।

'संयोगशृङ्गारात् करुण-विप्रलम्भ-शान्तेष्वतिशयितमेव, न पुनस्तत्रापि तारतम्यम्' इत्यन्ये।

अतिशयितमधिकमात्रम्। ततः संयोगशृङ्गारात्। ताभ्यां संयोगशृङ्गारकरुणाभ्याम्। तेभ्यः संयोग-करुण-विप्रलम्भेभ्यः। चित्तस्य द्रुतेर्विलक्षणार्द्रीभावस्य। ताभ्यां करुण-शान्ताभ्याम्।

चित्तद्रुतेर्माधुर्यस्य च तादात्म्याच्चित्तद्रुतितारतम्यभेदानुसरति रसेषु माधुर्यस्य तारतम्यमिति सम्भोगादधिकं करुणे, सम्भोग-करुणाभ्यामप्यधिकं विप्रलम्भे, सम्भोग-करुण-विप्रलम्भेभ्योऽप्यधिकं माधुर्यं शान्ते रसे तिष्ठतीति प्रथमं मतम्। सम्भोगादधिकं (मिथस्तु तुल्यमेव) करुण-शान्तरसयोः, करुण-शान्ताभ्यामप्यधिकं माधुर्यं विप्रलम्भे तिष्ठतीति द्वितीयं मतम्। सम्भोगशृङ्गारादधिकं (मिथस्तु तुल्यमेव) करुण-विप्रलम्भ-शान्तेषु माधुर्यं तिष्ठतीति च तृतीयं मतम्।

उन गुणों के विषय में कतिपय पण्डितों का कथन है कि—सम्भोग-शृङ्गार में जितना माधुर्य होता है, उससे अधिक करुण-रस में और उन दोनों से अधिक विप्रलम्भ शृङ्गार रस में, एवम् इन सबसे अधिक शांत-रस में होता है, क्योंकि पूर्व पूर्व रस की अपेक्षा उत्तर उत्तर रस में चित्त अधिक द्रुत होता है। अन्य विद्वानों का मत है कि—सम्भोग-शृङ्गार से अधिक माधुर्य, करुण और शान्त रसों में होता है और इन दोनों से अधिक विप्रलम्भ शृङ्गार में होता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि—सम्भोग-शृङ्गार से करुण, विप्रलम्भ-शृङ्गार और शान्त इन तीनों रसों में अधिक माधुर्य होता है, फिर इन तीनों में परस्पर कुछ भी तारतम्य (कमी बेशी) नहीं होता, अर्थात् ये सब समान ही मधुर होते हैं।

मतत्रयं परीक्षते—

तत्र प्रथम-चरमयोर्मतयोः—'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्'

इति प्राचां सूत्रमनुकूलम्, तस्योत्तरसूत्रगतस्य 'क्रमेण' इति पदस्यापकर्षानपकर्षाभ्यां व्याख्याद्वयस्य सम्भवात् ।

मध्यस्थे तु मते करुण-शान्ताभ्यां विप्रलम्भस्य माधुर्यातिशये, यदि सहृदयानामनुभवोऽस्ति, तदा स प्रमाणम् ।

संयोगापेक्षया क्रमेण करुण-विप्रलम्भ-शान्तेष्वधिकं माधुर्यमिति प्रथममते, संयोगापेक्षयाऽधिकं मिथस्तु तुल्यं करुण-विप्रलम्भ-शान्तेषु माधुर्यमित्यन्तिममते च प्राचां मम्मटभट्टानां—'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्' इति सूत्रमनुकूलत्वात् प्रमाणम् । तथाहि-तस्य कारिकार्धरूपस्य सूत्रस्य, 'दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः । बीभत्स-रौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण तु ।' इत्युत्तरं यत् कारिकात्मकं सूत्रं, ततः 'क्रमेण' इति पदस्यापकर्षेण प्रथमा व्याख्या, तदनपकर्षेण चान्तिमा व्याख्या सम्भवतीति ते मते प्राचीनानुमते प्रामाणिके । संयोगापेक्षयाऽधिकं मिथस्तु समप्रमाणकं माधुर्यं करुण-शान्तयोः, ततोऽप्यधिकं विप्रलम्भे तिष्ठतीति मध्यम (द्वितीय)मते तु, यत् करुण-शान्तापेक्षयाऽधिकं विप्रलम्भे माधुर्यमुच्यते, तत्र प्रमाणान्तरानुपलम्भात्, सहृदयानामनुभवो यदि भवेत्, तदा स एवानुभवः प्रमाणम्, अन्यथा त्वप्रमाणं तन्मतमनादेयमित्यर्थः ।

पूर्वोक्त तीन मतों में से प्रथम और तृतीय मत में 'करुणे विप्रलम्भे' इत्यादि मूलोक्त मम्मट का सूत्र प्रमाण हो सकता है, क्योंकि उक्त सूत्र से अग्रिम 'दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजोवीररसस्थितिः । वीभत्स-रौद्र-रसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण तु ॥' इस सूत्र में कथित 'क्रमेण' पद का सम्बन्ध उक्त सूत्र में मान लेने पर प्रथम मतानुकूल व्याख्या और उस पद का सम्बन्ध वहां नहीं मानने पर तृतीय मतानुकूल व्याख्या हो सकती है। परन्तु मध्यम मत में उक्त सूत्र किसी भी तरह प्रमाण नहीं हो सकता, अतः यदि सहृदयों का ऐसा अनुभव हो कि करुण और शान्त रसों की अपेक्षा विप्रलम्भ-शृङ्गार में अधिक माधुर्य होता है, तब इस सहृदयानुभव को ही प्रमाण मान कर मध्यम मत भी ठीक है अन्यथा अप्रामाणिक होने के कारण वह मत अग्राह्य है ।

इत्थं शृङ्गारादिरसत्रये माधुर्यस्य स्थितिं प्रतिपाद्य, वीरादिरसत्रय ओजसः स्थितिं प्रतिपादयति—

वीर-बीभत्स-रौद्रेष्वोजसो यथोत्तरमतिशयः, उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तदीप्तेर्जननात् ।

यतो वीरापेक्षया बीभत्से, तदपेक्षयाऽपि रौद्रेऽधिका चित्तदीप्तिर्जायते, तस्माद् वीररसादधिकं बीभत्से, ततोऽप्यधिकं रौद्ररस ओजस्तिष्ठतीत्यर्थः ।

ओज गुण वीर-रस में साधारण, वीभत्स-रस में उससे अधिक और रौद्र-रस में सबसे अधिक होता है, क्योंकि ये तीनों रस क्रमशः हृदय में अधिक दीप्ति (जोश) उत्पन्न करते हैं ।

अथावशिष्टेऽद्भुतादिरसत्रये प्रसादस्य मतभेदाद् गुणान्तरेण सङ्कीर्णामसङ्कीर्णां च स्थितिं प्रतिपादयति—

अद्भुत-हास्य-भयानकानां गुणद्वययोगित्वं केचिदिच्छन्ति । अपरे तु प्रसादमात्रम् ।

अद्भुते हास्ये भयानके च रसे प्रसाद ओजश्च गुणौ तिष्ठत इत्येकं मतम् । प्रसाद एव केवलं तिष्ठतीत्यपरं मतम् ।

अद्भुत, हास्य और भयानक रसों में ओज और प्रसाद दोनों गुण रहते हैं, यह कुछ विद्वानों का मत है, इन तीनों रसों में प्रसाद गुण ही रहता है—ओज नहीं, ऐसा मत अन्य विद्वानों का है ।

गुणद्वयापेक्षया प्रसादस्य वैलक्षण्यमाचष्टे—

प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु, सर्वासु रचनासु च साधारणः ।

माधुर्यमोजश्च प्रतिनियतरसत्रयवृत्ति नियतरचनाव्यङ्ग्यं च, प्रसादस्तु नाद्भुतादिरसत्रय एव तिष्ठति, किन्तु सर्वेषु, न वा नियतरचनयैव व्यज्यते, किन्तु सकलाभिरेव रचनाभिरिति माधुर्यौजोऽपेक्षया प्रसादस्य वैलक्षण्यमस्तीत्याशयः ।

इदमिहाकलनीयम्—काठिन्यादिदोषापगमाहितः शृङ्गारादिरसत्रयचर्वणाजन्यश्चित्तस्यार्द्रीभावरूप आनन्दलक्षणो वृत्तिविशेषो द्रुतिरेव माधुर्यं गुणः, न तु द्रुतेः कारणं माधुर्यम्, द्रुतेरास्वादाभिन्नतया माधुर्यकार्यत्ववैधुर्यात् । नचैवं माधुर्यस्य रसाभेदापत्तिः, कारणभेदात्, तथाहि—रसस्य विभावादिसम्बन्धो द्रुतेस्तु शृङ्गारादिरसास्वादः कारणम् ।

तथा—प्रतिपक्षोत्कर्षदर्शनाद्याहितो वीरादिरसत्रयचर्वणाजन्यश्चित्तस्य विस्ताररूपो वृत्तिविशेषो दीप्तिरेवौजो गुणः, न तु दीप्तेः कारणम्, दीप्तिकारणताया वीरादिरसास्वादनिष्ठत्वात् ।

एवं सरलशब्दार्थज्ञानाहितोऽद्भुतादिरसचर्वणाजन्यश्चित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषः प्रसादो गुणः, न तु विकासस्य कारणम्, प्रागुक्तयुक्तेः । स हि शृङ्गारादिरसत्रये माधुर्यलेशमिश्रितः, वीरादिरसत्रय ओजोलेशमिश्रितः, अद्भुतादिरसत्रये तु निस्सपत्नस्तिष्ठतीति रसत्रये सर्वेषु रसेषु चास्य वृत्तिस्सङ्गच्छते ।

प्रसाद गुण सब रसों में तथा सब तरह की रचनाओं में रहता है । तात्पर्य यह है कि माधुर्य तथा ओज गुण उक्त तीन तीन निश्चित रसों में ही रहते हैं, एवम् उन दोनों गुणों को अभिव्यक्त करनेवाली रचना भी नियत ही है । परन्तु प्रसाद गुण के विषय में ऐसी बात नहीं है, वह सब रसों में होता है और सब प्रकार की रचनाओं से व्यक्त होता है, यही अन्य गुणों की अपेक्षा प्रसाद गुण में विशेषता है ।

द्रुत्यादिचित्तवृत्तीनां गुणवद्रसास्वादजन्यत्वाद् गुणप्रयोज्यत्वं, नतु गुणजन्यत्वमित्याह—

गुणानां चैषां द्रुति-दीप्ति-विकासाख्यास्तस्त्रश्चित्तवृत्तयः क्रमेण प्रयोज्याः, तत्तद्गुणविशिष्टरसचर्वणाजन्या इति यावत् ।

द्रुत्यादिचित्तवृत्तीनां माधुर्यादिगुणविशिष्टशृङ्गारादिरसास्वादेन साक्षाज्जन्यत्वाद् गुणप्रयोज्यत्वं, न तु साक्षाद्गुणजन्यत्वमिति सारम् ।

इन गुणों में माधुर्य द्रुति का, ओज दीप्ति का और प्रसाद विकास का प्रयोजक है—जनक नहीं । जनक तो इनके उन गुणों से युक्त रसों के आस्वाद होते हैं । अर्थात्-द्रुति, दीप्ति और विकास ये तीनों चित्तवृत्तियाँ उक्त तीनों गुणों से साक्षात् उत्पन्न नहीं होतीं, अपि तु इन गुणों से विशिष्ट रसों के आस्वादन से साक्षात् उत्पन्न होती हैं । सारांश यह है कि मधुर रसास्वाद से चित्त पिघल जाता है, ओजस्वी रसों के आस्वाद से चित्त में एक प्रकार का जोश पैदा होता है और प्रसाद गुणयुक्त रस के आस्वादन से चित्त विकसित हो जाता है ।

नन्वेवं गुणानां रसमात्रवृत्तित्वस्याभ्युपगमे गुणविशिष्टरचनाबोधकाः 'मधुरा रचना' इत्यादिव्यवहारा गुणानां रचनावृत्तित्वस्य विरहात् कथमुपपद्येरन्नित्याशङ्कां समादधत्प्राचीनमतमुपसंहरति—

एवमेतेषु गुणेषु रसमात्रधर्मेषु व्यवसितेषु, 'मधुरा रचना' 'ओजस्वी बन्धः' इत्यादयो व्यवहाराः 'आकारोऽस्य शूरः' इत्यादिव्यवहारवदौपचारिकाः' इति मम्मटभट्टादयः ।

एतेषु त्रिषु । व्यवसितेषु निर्णीतेषु । औपचारिका लाक्षणिकाः । मम्मटभट्टादय आहुरिति शेषः ।

यथा शौर्यस्यात्मवृत्तित्वेनावयवसंस्थानविशेषरूपाकारवृत्तित्वाभावेऽपि 'आकारोऽस्य शूरः' इत्यादिर्व्यवहारः स्वाश्रयाश्रयत्वसम्बन्धेन लक्षणयोपपाद्यते, तथैव गुणानां रसमात्रवृत्तित्वे निर्णीते, 'मधुरा रचना' 'ओजस्वी बन्धः' इत्यादयो व्यवहाराः स्वाश्रयव्यञ्जकत्वसम्बन्धेन लक्षणयोपपादनीयाः' इति मम्मटभट्टादीनां मतमित्यर्थः।

इस प्रकार इन गुणों के केवल रस-धर्म (उन्हीं में रहने वाले) सिद्ध होने पर, लोगों का जो-'रचना मधुर है' 'बन्ध ओजस्वी है' इत्यादि व्यवहार होता है, वह 'इसका आकार सूर है' इस व्यवहार के समान लाक्षणिक है—मुख्य नहीं। अर्थात् शौर्य आत्मा में रहनेवाला धर्म है, अवयवों के गठन-विशेष-रूप आकार में रह नहीं सकता, फिर 'इसका आकार सूर है' इस व्यवहार को उपपन्न करने के लिये जैसे लक्षणा की शरण लेनी पड़ती है, उसी प्रकार रस में रहनेवाले गुणों को रचना और बन्ध में रखने के लिये लक्षणा का आश्रयण करना चाहिये। यह मम्मटभट्ट आदि प्राचीन विद्वानों का मत है।

खण्डनाय प्राचीनमते प्रत्यक्षप्रमाणाभावं दर्शयति—

येऽमी माधुर्यौजःप्रसादा रसमात्रधर्मतयोक्ताः, तेषां रसमात्रधर्मत्वे किं मानम्? प्रत्यक्षमेवेति चेत्, न, दाहादेः कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्नतयाऽनुभवः, तथाद्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात्।

'येऽमी' इत्यारभ्य 'मादृशाः' इति यावत् सन्दर्भेण परमतखण्डनपूर्वकं स्वमतमुपक्षिप्तम्। गुणानां रसमात्रवृत्तित्वे किं प्रमाणमिति प्रश्ने सति, प्रत्यक्षं प्रमाणमस्तीति वक्तुं न शक्यम्, यतो यथाऽग्नेर्दाहादिरूपात् कार्यात् पृथगग्नेर्गुणस्योष्णस्पर्शादेः प्रत्यक्षं जायते, न तथा रसानां कार्येभ्यो द्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यः पृथग् रसगतानां रसनिष्ठानां माधुर्यादीनां गुणानां द्रुत्यादिचित्तवृत्तितादात्म्यात्प्रत्यक्षञ्जायत इत्यर्थः।

अग्नेः कार्यस्य दाहादेर्गुणस्य चोष्णस्पर्शादेर्भिन्नतया पृथगनुभवः, रसानां तु कार्यस्य द्रुत्यादेर्गुणस्य च माधुर्यादेरभिन्नतया न पृथगनुभव इति गुणानां रसवृत्तित्वे प्रत्यक्षप्रमाणाभावो बोध्य इत्यभिसन्धिः।

अब पण्डितराज गुण के विषय में उक्त प्राचीनों के मत का खण्डन करते हैं 'येऽमी' इत्यादि। उनका कथन है कि प्राचीनों ने जो गुणों को केवल रस का धर्म बतलाया है—अर्थात् उन्होंने जो यह कहा है कि गुण रस में ही रहते हैं—रचना आदि में नहीं—इसमें प्रमाण क्या है? आप यदि कहेंगे कि—प्रत्यक्ष ही प्रमाण है क्योंकि उक्तरीति से उन-उन रसों के आस्वाद से हमको उन चित्त-वृत्तियों की उत्पत्ति का अनुभव होता है, तब हम कहेंगे कि-नहीं, जैसे अग्नि का कार्य दाह (जलाना) है और उष्ण स्पर्श उसका (अग्नि का) गुण है, इन दोनों का अनुभव हमें अलग-अलग होता है अर्थात् हम जब आग से जलते नहीं, तब भी हमें उसके गुण-उष्ण स्पर्श (गरमी) का अनुभव होता है, उसी तरह रसों के कार्य जो द्रुति-आदि चित्त-वृत्तियाँ हैं, उनके अतिरिक्त रसों में रहनेवाले गुणों का हमें अनुभव नहीं होता।

तत्रानुमानं प्रमाणमनुपन्यस्य निरस्यति—

तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादि-कारणत्वात् कारणताऽवच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत्, (न) प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्।

तादृशैर्माधुर्यादिभिर्गुणैर्विशिष्टानां रसानाम्। आदिपदेन दीप्ति-विकासयोर्ग्रहणम्। 'द्रुत्यादिनिष्ठकार्यतानिरूपिता रसनिष्ठा कारणता, किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्' इत्याकार-

कानुमित्यनन्तरं परिशेषानुमितिर्गुणसाधिका। प्रकोष्ठस्थो नकारो मूलेऽदृष्टोऽपि नागेशभट्टानुमतः सन्दर्भसङ्गतये स्थापितः। प्रातिस्विकरूपेण शृङ्गारत्वादिविशेषधर्मेण। गौरवं क्लृप्तानां शृङ्गारत्वादीनामेव कारणतावच्छेदकत्वकल्पनेनैव निर्वाहेऽक्लृप्तानां गुणानां तत्त्वकल्पनाद् बोध्यम्। कल्पनमनुमानम्।

द्रुतित्वादिधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितगुणवद्रसनिष्ठकारणताऽवच्छेदकत्वेन गुणानामनुमानं प्रमाणमस्तीति न वाच्यम्, गौरवेण गुणानुमानासम्भवात्। तथाहि—द्रुतिं प्रति शृङ्गारः कारणमिति विशेषेण यद्यपि नव कार्यकारणभावाः, 'द्रुतिं प्रति माधुर्यवद्रसः कारण'मिति सामान्येन तु त्रय एव कार्यकारणभावाः स्वीकरणीया भवन्ति, किन्तु क्लृप्तानां शृङ्गारत्वादीनामवच्छेदकत्वकल्पनापेक्षयाऽक्लृप्तानां माधुर्यादीनामवच्छेदकत्वकल्पन एव गौरवं भवति। तस्माच्च सामान्येन कार्यकारणभावो न चानुमानं गुणानामित्यभिसन्धिः।

यदि आप कहें कि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता तो न सही, माधुर्य आदि गुणों से युक्त होकर ही रस, द्रुति-आदि के कारण होते हैं—अर्थात् गुणहीन रसों से द्रुति आदि चित्त-वृत्तियों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः कारणता के अवच्छेदक अर्थात् कारण में रहने-वाले एक धर्म-विशेष के रूप में उनका अनुमान हो सकता है। तात्पर्य यह है कि 'सभी कारणतायें किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न (परिचित) अवश्य होती हैं' इस तरह की व्याप्ति के निश्चय हो जाने पर द्रुति-आदि में रहने वाली कार्यता से निरूपित, रस में रहने वाली कारणता, किसी धर्म से अवच्छिन्न है, क्योंकि वह भी कारणता है, जैसे घट में रहने वाली कार्यता से निरूपित दण्ड में रहने वाली कारणता (दण्डत्व से अवच्छिन्न है), इस तरह की अनुमिति के हो जाने पर परिशेषानुमान से अर्थात् 'रस में रहने वाली कारणता के अवच्छेदक, गुण हैं, क्योंकि वे ही उसके (रसके) समनियत (न अधिक में रहने वाले, न कम में रहने वाले) धर्म हैं' इस अनुमान से गुणों की सिद्धि होगी और धर्मि-ग्राहक मान (जिस प्रमाण से गुणों की सिद्धि हुई है, उसी) से गुणों की रस-धर्मता भी सिद्ध हो जायगी। परन्तु यह कथन भी आपका ठीक नहीं, क्योंकि गुणविशिष्ट रसों से ही द्रुति-आदि होते हैं, ऐसा मान लेने पर भी द्रुति-आदि और रस में जो कार्य-कारण-भाव कल्पित होगा, उसमें गुणों को घुसेड़ने से क्या लाभ? अर्थात्—'द्रुति के प्रति शृङ्गार कारण है' इस तरह से प्रत्येक रस का नाम लेकर ही कार्यकारणभाव बनाया जायगा, फिर तो शृङ्गारत्व आदि क्लृप्त (अनिवार्य) धर्म को ही कारणतावच्छेदक मान लेने से निर्वाह हो जायगा, अक्लृप्त गुणों की कल्पना से होने वाले गौरव का स्वीकार नहीं करेंगे।

लाघवमाशङ्क्य निराकरोति—

शृङ्गार-करुण-शान्तानां माधुर्यवत्त्वेन द्रुतिकारणत्वं, प्रातिस्विकरूपेण कारणत्वकल्पनापेक्षया लघुभूतमिति तु न वाच्यम्, परेण मधुरतरादिगुणानां पृथग् द्रुततरत्वादिकार्यतारतम्यप्रयोजकतयाऽभ्युपगमेन माधुर्यवत्त्वेन कारणताया गड्डुभूतत्वात्।

परेण मम्मटभट्टादिना। गड्डुः 'घेघ' इति प्रसिद्धो गलग्रन्थिः। शृङ्गारादिरसा द्रुत्यादीनां कारणानि, माधुर्यादिगुणास्तु प्रयोजका इति प्रागावेदितम्।

ननु 'शृङ्गारो द्रुतेः कारणम्' 'करुणो द्रुतेः कारणम्' 'शान्तो द्रुतेः कारणम्' इति विशेषरूपेण कारणताऽभ्युपगमे त्रयः, दीप्तिविकासयोश्च प्रत्येकं त्रय इति सङ्कलनया नव कार्यकारणभावाः कल्पनीया भवन्ति, 'द्रुतिं प्रति शृङ्गार-करुण-शान्ता माधुर्यवत्त्वेन कारणानि' 'दीप्तिं प्रति वीर-बीभत्स-रौद्रा ओजोवत्त्वेन कारणानि' 'विकासं प्रति चाद्भुत-हास्य-भयानकाः प्रसादवत्त्वेन कारणानि' इति सामान्यरूपेण कारणताऽभ्युपगमे त्रय एव कार्य-

कारणभावाः कल्पनीया भवन्तीति सामान्येन कारणत्वाभ्युपगमे लाघवं गुणसिद्धिश्च भवतीति पूर्वपक्षाशयः ।

प्राक्प्रतिपादितमम्मटादिमतेन मधुरत्वेन सम्भोगस्य, मधुरतरत्वेन करुणस्य, (शान्तस्य च) मधुरतमत्वेन विप्रलम्भस्य च कारणस्य, द्रुतेः, अतिद्रुतेः, अतितमां द्रुतेश्च कार्यस्य त्रैविध्यात् 'द्रुतिं प्रति माधुर्यवान् सम्भोगः कारणम्' 'अतिद्रुतिं प्रति नितरां माधुर्यवान् करुणः (शान्तश्च) कारणम्, 'अतितमां द्रुतिं प्रति नितरां माधुर्यवान् विप्रलम्भः कारणम्' इति त्रयः सङ्कलनया नव कार्यकारणभावा विशेषरूपेण, त्रयश्च भवदभिमताः सामान्यरूपेणेति सङ्कलनया द्वादशानां कार्यकारणभावानां कल्पनीयत्वाद् भवतां लाघवस्थाने गौरवमेवापतेदित्युत्तरपक्षाशयः ।

यदि आप कहेंगे कि उक्त कार्यकारणभाव में गुणों का निवेश अवश्य करना पड़ेगा, क्योंकि अलग-अलग कार्यकारणभाव मानने पर 'शृङ्गार द्रुति का कारण है' 'करुण द्रुति का कारण है' 'शान्त द्रुति का कारण है' ये तीन, इसी तरह 'वीर दीप्ति का कारण है' 'बीभत्स दीप्ति का कारण है' 'रौद्र दीप्ति का कारण है' ये भी तीन, एवम् 'अद्भुत विकास का कारण है' 'हास्य विकास का कारण है' 'भयानक विकास का कारण है' ये भी तीन, फलतः नौ कार्यकारणभाव मानने पड़ेंगे और 'द्रुति के प्रति माधुर्य गुणयुक्त रस कारण है' 'दीप्ति के प्रति ओज गुण युक्त रस कारण है' विकास के प्रति प्रसाद गुण युक्त रस कारण है' इस तरह से गुणद्वारक कार्यकारणभाव मानने पर तीन ही कार्यकारणभाव होते हैं, क्योंकि प्रथम में माधुर्य गुण युक्त होने के कारण शृङ्गार, करुण और शान्त का, द्वितीय में ओज युक्त होने के कारण वीर, बीभत्स और रौद्र का, तृतीय में प्रसाद युक्त होने के कारण अद्भुत, हास्य और भयानक का संग्रह हो जाता है। इस स्थिति में लाघवात् गुणद्वारक कार्यकारणभाव ही मान्य होंगे, किन्तु यह तर्क भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि मम्मटभट्ट ने शृङ्गारादित्रिक में क्रमशः माधुर्य का वीरादित्रिक में क्रमशः ओज का और अद्भुतादित्रिक में क्रमशः प्रसाद का आधिक्य माना है और तदनुसार कार्य में भी द्रुति, अतिद्रुति, दीप्ति, अतिदीप्ति इत्यादि रूप से तारतम्य माना है। अतः अलग-अलग नौ विशेष कार्यकारणभाव मानने ही पड़ेंगे और साथ-साथ आप के कथनानुसार उक्त तीन सामान्य कार्यकारणभाव भी होंगे, जो उसी तरह व्यर्थ हैं, जिस तरह गड्डु (बेध-गलग्रन्थि)। सारांश यह हुआ कि गुणद्वारक सामान्य कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता, अतः अनुमान प्रमाण से भी गुणों की सिद्धि किंवा रस-धर्मता प्रमाणित नहीं की जा सकती है।

निगमयति—

इत्थं च प्रातिस्विकरूपेणैव कारणत्वे लाघवम् ।

सामान्यकार्यकारणभावत्रयाकल्पनादिति शेषः ।

गुणद्वारक कार्यकारणभाव वाले पक्ष में सामान्य और विशेष के योग से कार्यकारणभावों की संख्या द्वादश हो जाती है, जिसकी प्रक्रिया ऊपर बताई जा चुकी है और प्रत्येक रस का नाम लेकर (गुण को द्वार न बनाकर) कार्यकारणभाव स्वीकार करने पर उक्त रीति से उनकी संख्या नौ ही रहती है, अतः इस पक्ष में ही लाघव भी है।

ननु मम्मटादिरीत्या प्रातिस्विकरूपेण कारणतोपगमेऽपि रसधर्मत्वेन गुणाः सिध्यन्त्येवेत्याशङ्कायामाह—

किञ्चात्मनो निर्गुणतयाऽऽत्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम् ।

सच्चिदानन्दस्वरूपो निर्गुण आत्मेति वेदान्तसिद्धान्तेन काव्यात्मभूतानां रसानामपि निर्गुणत्वस्यौचित्यान्न माधुर्यादिगुणसिद्धिरित्याशयः ।

वस्तुतः उक्त दलीलों से गुणों की रसधर्मतावादी प्राचीनों का कुछ बिगड़ा नहीं, क्योंकि

प्रातिस्विकरूपेण (गुण को द्वार न बनाकर अलग-अलग) कार्यकारणभाव मानने पर भी 'गुण रस का धर्म है' यह सिद्ध होगा ही। तात्पर्य यह है कि शृङ्गार अथवा वीर किंवा हास्य रस होने के नाते द्रुति अथवा दीप्ति किंवा विकास के कारण नहीं हो सकते, कारण ? ऐसा मानने पर सभी रस द्रुत्यादि तीनों चित्त वृत्तियों के कारण हो जाँयगे, क्योंकि सभी रस ब्रह्मरूप है, एक है, अतः अगत्या यही मानना पड़ेगा कि शृङ्गार इसलिये द्रुति कारण है कि वह माधुर्य गुण शाली है, वीर इस लिये दीप्ति का कारण है कि वह ओज गुण से ओत-प्रोत है, हास्य इस लिये विकास का कारण है कि वह प्रसाद गुण से प्रसादित है और जब ऐसा मान लिया गया, तब तो उक्त प्रातिस्विक रूप वाले कार्यकारणभाव से भी कारणतावच्छेदक रूप में गुणों की रसधर्मता सिद्ध होगी ही' इसी अवतरण को हृदय में रख कर ग्रन्थकार पण्डित राज जगन्नाथ दूसरी युक्ति बतलाते हैं—'किन्' इत्यादि। गुण, रस-धर्म नहीं हो सकते, क्योंकि साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तानुसार रस आत्मरूप है और आत्मा निर्गुण है—अर्थात् आत्मा में कोई गुण नहीं रहता, ऐसा वेदान्तियों का सिद्धान्त है।

ननु माधुर्यादिगुणानां रसगुणत्वाभावेऽपि रसोपाधिस्वरूपस्थायिभावगुणत्वमेवास्तु, तावताऽपि गुणसिद्धिः स्यादेवेत्याशङ्कायामभिदधाति—

एवं तदुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानाभावात्, परीत्या गुणे गुणान्तरस्यानौचित्याच्च।

अनुपपन्नमित्यनुवर्तते।

माधुर्यादीनां यथा रसगुणत्वं युक्तिप्रमाणाभावादनुपपन्नम्, एवं तदुपाधयो रसस्थायिभावा ये रत्यादयः, तेषां गुणत्वमपि ग्राहकप्रमाणाभावात्, परीत्या मम्मटाद्युक्तरीत्या रत्यादीनां सुखरूपत्वाङ्गीकारेण गुणरूपतया, तत्र पुनर्गुणानां माधुर्यादीनां गुणे गुणाभाव इति सिद्धान्तेनासत्त्वाच्चानुपपन्नमित्यर्थः।

यदि आप कहें कि 'गुण रस के धर्म हैं' इस उक्ति का तात्पर्य है, रस के उपाधिभूत रति आदि स्थायीभावों के धर्म गुण हैं, तो यह भी सङ्गत नहीं होगा, क्योंकि प्रथम तो इसमें कुछ प्रमाण नहीं और दूसरे काव्यप्रकाशकार आदि विद्वानों के मत से रति आदि सुख रूप हैं, अतः वे स्वयं गुण हैं, फिर उनमें अन्य गुणों का होना सम्भव नहीं, कारण ? गुण में गुण नहीं रहते, यह दार्शनिकों का सिद्धान्त है।

ननु शृङ्गारादिरसेषु माधुर्यादिगुणानङ्गीकारे 'शृङ्गारो मधुरः' 'वीर ओजस्वी' इत्यादयो व्यवहाराः कथमुपपद्येरन्नित्याशङ्कायामाह—

अथ 'शृङ्गारो मधुरः' इत्यादिव्यवहारः कथमिति चेत्, एवं तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु। व्यवहारस्तु 'वाजिगन्धोष्णा' इति व्यवहारवदुपपन्नः।

द्रुत्यादीनां शृङ्गारादिवृत्तितया रत्यादिवृत्तितायाश्चानङ्गीकारे शृङ्गारे माधुर्यासम्भवात् 'शृङ्गारो मधुरः' इत्यादि व्यवहारः प्रसिद्धो नोपपद्येतेति शङ्कायाम्-द्रुत्यादिप्रयोजकत्वम्, अथवा संसर्गकुक्षिप्रविष्टपदार्थानां स्वरूपेण भानमित्यमालाषत्वात् प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव माधुर्यादिकमस्तित्यङ्गीकृत्या माधुर्यादीनां निर्वचनम्, वाजिगन्धायाः 'अश्वगन्ध' इति प्रसिद्धाया अश्वगन्धौषधेस्तत्कालमुष्णत्वस्यानुपलम्भेऽपि पारिणामिकं तदादाय, यथा 'वाजिगन्धोष्णा' इति व्यवहारो भवति तथैव शृङ्गारादिरसानां सद्यो द्रुत्याद्यभावेऽपि पारम्परिकात्स्वादकालिक-द्रुत्यादिकमादाय 'शृङ्गारो मधुरः' इत्यादिव्यवहारो भवेदिति व्यवहारोपपादनं च समाधानं बोध्यम्।

माधुर्यादीनां द्रुत्यादिप्रयोजकत्वस्य द्रुत्यादितादृप्यस्य चाङ्गीकृतौ सहृदयानुभवस्य प्रमाणस्य सत्त्वाच्च मतान्तरवदप्रमाणत्वमित्याकूतम्।

अब यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जब आप के हिसाब से गुण न रस के धर्म हो सके, और न रसोपाधिभूत रति आदि के अर्थात् गुण कोई पदार्थ ही नहीं सिद्ध हो सका, तब 'श्रृङ्गार रस मधुर होता है' इत्यादि व्यवहार कैसे बनेगा? इसका उत्तर यह है कि द्रुत्यादि-चित्तवृत्ति-प्रयोजकत्व (उन चित्तवृत्तियों का परम्परया कारण होना) ही माधुर्य आदि गुण है, अथवा प्रयोजकतासम्बन्ध से द्रुति आदि चित्तवृत्तियाँ ही गुण हैं अर्थात् उक्त चित्तवृत्तियाँ जब रस आदि के साथ उभारने का (प्रयोजकता) सम्बन्ध रखती हैं, तब उन्हें माधुर्य आदि गुण कहते हैं। इस द्वितीय कल्प में प्रयोजकता को सम्बन्ध कोटि में ले आने से यह लाघव होता है कि उसका भान स्वरूपतः हो जायगा अतः प्रयोजकता के आगे प्रयोजकतात्व आदि की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी और प्रथम कल्प में उसका भान स्वरूपतः नहीं होगा जिससे प्रयोजकतात्व आदि की कल्पना करनी होगी, अतः गौरव होगा। यदि आप कहें कि इस प्रकार से गुणों का निर्वचन भले ही कर लिया जाय, परन्तु इससे 'श्रृङ्गार मधुर है' इत्यादि व्यवहार तो उपपन्न नहीं हो सकते, क्योंकि प्रयोजकता वृत्तितानियामक सम्बन्ध नहीं है—अर्थात् उस सम्बन्ध से कोई पदार्थ कहीं रहने वाला नहीं कहला सकता, अत एव कोई दूसरा दृष्टान्तभूत ऐसा व्यवहार भी दृष्टि गोचर नहीं होता। इसका समाधान यह है कि यदि प्रयोजकता को वृत्तितानियामक सम्बन्ध नहीं मानें, तब 'असगन्ध (औषध) उष्ण (गरम) है' यह व्यवहार कैसे होता? क्योंकि असगन्ध में उष्णता नहीं है, बरन वह उष्णता का प्रयोजक है। अतः प्रयोजकता सम्बन्ध से असगन्ध को उष्णता का आश्रय मान कर 'असगन्ध उष्ण है' यह व्यवहार जैसे होता है, वैसे उक्त व्यवहार भी होंगे।

ननु द्रुत्यादिप्रयोजकत्वमेव यदि माधुर्यादि, तदाऽदृष्ट-कालेश्वरेच्छादीनां कार्यमात्र-प्रयोजकत्वात् तेष्वपि माधुर्यादिव्यवहारः प्रसज्येतेत्यत आचष्टे—

प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थ-रस-रचनागतमेव ग्राह्यम्, अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः।

चकारो हेत्वर्थकः। अदृष्टादिविलक्षणमदृष्टाद्यवृत्ति। शब्दार्थश्च रसाश्च रचनाश्चेति द्वन्द्वः। अतिप्रसक्तिरतिव्याप्तिः।

यतोऽदृष्टाद्यवृत्ति शब्द-तदर्थ-रस-रचनामात्रवृत्ति द्रुत्यादिप्रयोजकत्वमेव माधुर्यादि गृह्यते, तस्मान्नादृष्टादिषु माधुर्यादिव्यवहारातिव्याप्तिरिति सारम्।

यदि आप कहें कि इस तरह प्रयोजकता सम्बन्ध से द्रुत्यादि रूप माधुर्य आदि गुण तो अदृष्ट (धर्म अधर्म) काल आदि में भी रह सकते हैं, क्योंकि अदृष्ट, काल, ईश्वरेच्छा आदि कार्यमात्र के प्रयोजक हैं, उनकी प्रेरणा के बिना संसार के कोई भी कार्य नहीं होता—एक पत्ता भी नहीं हिलता, अतः द्रुति आदि की प्रयोजकता भी उनमें अवश्य स्वीकर्तव्य होगी, फिर तो आप के हिसाब से 'अदृष्ट मधुर है' इत्यादि व्यवहार भी होने लगेंगे। इसका उत्तर यह है कि रस में रहने वाली द्रुत्यादि प्रयोजकता असाधारण और अदृष्टादि में रहने वाली साधारण है, अतः यहाँ अदृष्ट आदि से व्यावृत्त (उनमें नहीं रहने वाली) शब्द, अर्थ और रचना इन सबों में ही रहने वाली प्रयोजकतासंबन्ध के रूप में ग्राह्य है, अतः उक्त दोष नहीं होगा।

तथाऽङ्गीकारे फलं दर्शयन् स्वमतमुपसंहरति—

तथा च—शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्यः, इति तु मादृशाः।

ईदृशस्य द्रुत्यादिप्रयोजकत्वरूपस्य। तुना मम्मटादिव्यवच्छेदः।

तथा च माधुर्यादीनां द्रुत्यादिप्रयोजकत्वरूपताऽभ्युपगमे च, ईदृशस्य द्रुत्यादिप्रयोज-

कत्वरूपस्य माधुर्यादेः शब्देऽर्थे च सत्त्वात्, 'मधुरा रचना' 'ओजस्वी बन्धः' इत्यादि-व्यवहारोपपत्तये, उपचारः 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' इत्युक्तेर्लक्षणा, मम्म-टादिमतवदस्मन्मते, न कल्प्यो भवति मुख्यार्थान्वयबाधवैधुर्यादिति फलं भवतीति मादृशा विवेचका वदन्तीति शेषः ।

इदमिहाकलनीयम्—गुणानां शब्दार्थगतत्वं, विंशतित्वं, काव्यशोभाकारित्वेन तदति-कारिभ्योऽलङ्कारेभ्यो वैलक्षण्यं च वामनेनास्थितम् । माधुर्यौजःप्रसादात्मकत्वेन त्रित्वं, क्रमेण द्रुति-दीप्ति-विकासकारणत्वं, रसमात्रवृत्तित्वेन शब्दार्थमात्रवृत्त्यलङ्कारेभ्यो वैलक्षण्यं च गुणानां मम्मटेनानुशिष्टम् । विश्वनाथेन तु माधुर्यादीनां द्रुत्यादितादात्म्यमात्रमभिनवं स्वीकृत्य मम्मटपथमेवानुसृतम् । जगन्नाथेन पुनर्द्रुत्यादीनां जनकत्वस्य रसास्वादमात्रवृत्ति-तया, गुणानां तत्प्रयोजकत्वं शब्दार्थरसरचनावृत्तित्वं चाभिहितम् । तत्र परीक्षायां विश्वनाथ-मतमेव सर्वथा निर्दूषणं प्रतिभाति । न च गुणानामानन्दविशेषात्मकद्रुत्यादिरूपत्वे रसाभेदा-पत्तिः, कारणभेदेनोभयोर्भेदस्य प्रागेव निवेदितत्वात् । अत एव रसगुणयोराधाराधेयोऽपि नानुपपन्नः । न च गुणानां रसमात्रवृत्तिताङ्गीकारे 'मधुरा रचना' इत्यादिषु लक्षणास्वीकाराद् गौरवम्, उपायान्तराभावेन गौरवस्येष्टत्वात् । इतरथा 'आकारोऽस्य शूरः' 'कलिङ्गः साह-सिकः' इत्यादिष्वपि लक्षणाभयादाकारे शौर्यस्य, देशे साहसिकत्वस्य च स्वीकारेण, रूढि-मूलकलक्षणा उच्छेद एव कृतः स्यात् ।

इस तरह माधुर्य आदि गुणों का निर्वचन करने पर एक बड़ा लाभ यह होता है कि 'यह रचना मधुर है' 'यह पदावली मधुर है' 'यह अर्थ ओजस्वी है' इत्यादि व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये लक्षण का आश्रयण नहीं करना पड़ता, क्योंकि उक्त प्रकारक माधुर्यादि गुण शब्द, अर्थ और रचना आदि में भी रह ही सकते हैं—रहते ही हैं। ये हैं हमारे (पण्डितराज) जैसे—विद्वानों के विचार।

इत्थं स्वमतेन गुणान् प्रतिपाद्य, निराचिकीर्षया वामनादिमतं प्रतिपादयति—

जरत्तरास्तु—

'श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ॥
अर्थव्यक्ति-रुदारत्व-मोजः-कान्ति-समाधयः ॥'

इति दश शब्दगुणान्, दशैव चार्थगुणानामनन्ति । नामानि पुनस्तान्येव, लक्षणं तु भिन्नम् ।

जरत्तरा अतिप्राचीना वामनादय इत्याहुरित्यर्थः ।

लक्षणमित्येकवचनं तु प्रत्येकाभिप्रायेण योजनीयम् ।

श्लेषादीनि यान्येव शब्दगुणानां नामानि, तान्येवार्थगुणानामपीति नामसाम्येऽपि तेषां स्वरूपभेदाल्लक्षणभेद इत्याशयः ।

अत्यन्त प्राचीन आचार्य वामन आदि तो:—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य सुकुमारता, अर्थ व्यक्ति, उदारता, ओज, कांति और समाधि ये दश शब्दों के गुण और दश ही अर्थों के गुण मानते हैं। नाम दोनों के वे ही हैं, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

अथ प्रथमं बुद्धिविषयत्वेन शब्दगुणान् निरूपयन्नादौ श्लेषं लक्षयति—

तथा हि—

शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिभानप्रयोजकः संहितयैकजातीयवर्ण-विन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः ।

भिन्नानां विरूपाणाम् । एकत्वेनाभेदेन प्रतिभानस्य ज्ञानस्य प्रयोजकः । संहितया

परस्सन्निकर्षेण सन्धिकार्येण एकजातीयानां सदृशानां वर्णानां विन्यासविशेषो विलक्षणरचना। गाढत्वमपरपर्यायो नामान्तरं यस्य सः।

भिन्नानामपि शब्दानां व्याकरणानुशिष्टसन्निकर्षविशेषप्रयुक्ताभिन्नत्वप्रकारकप्रतीति-प्रयोजको गाढत्वनामा श्लेषः शब्दगुण इत्यर्थः।

अब शब्द-गुण-निरूपण के क्रम में सर्वप्रथम 'श्लेष' का लक्षण दिखलाते हैं—'तथाहि' इत्यादि। भिन्न-भिन्न रूप वाले शब्दों के भी उस योजना-विशेष को 'श्लेष' कहते हैं, जो एक जातीय वर्णों से युक्त हो और अत्यन्त सन्निकर्ष (सर्वथा समीप-समीप में रहना) से एक ही तरह के शब्दों से बना हुआ सा प्रतीत हो। उस योजना-विशेष का दूसरा नाम 'गाढत्व' भी दिया जाता है।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—'श्लिष्टमस्पष्टशैथिल्यम्' इति।

श्लिष्टं श्लेष इति भावे क्तः। अस्पष्टं न स्फुटं शैथिल्यं पदानां भेदो यत्र, तत्, 'बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा श्लेषः' इत्यन्यत्र दर्शनात्।

श्लेष के उक्त लक्षण में प्राचीनों की भी सम्मति है—उन्होंने लिखा है कि-श्लेष उस रचना-विशेष को कहते हैं, जिसमें शिथिलता (पदों का भेद) स्पष्ट लक्षित नहीं हो।

श्लेषमुदाहरति—

यथा—

कश्चिच्चाटुकारो राजानं वर्णयति—

'अनवरतविद्वद्द्रुमद्रोहिदारिद्र्यमाद्यद्द्विपोद्दामदर्पौघविद्रावणप्रौढपञ्चाननः' इति।

अनवरतं सततं विद्वांस एव परार्थजीवितत्वात् फलगौरवनतत्वाद्वा द्रुमास्तेषां द्रोहि-पीडाकरत्वाद्वैरि, यद्दारिद्र्यं निर्धनत्वं, तदेवानिवारणीयत्वान्माद्यदुन्मत्तीभवन् द्विपो हस्ती, तस्य य उद्दामदर्पौघ उत्कटमदराशिः, तस्य विद्रावणे दूरीकरणे प्रौढः प्रगल्भः पञ्चाननः सिंहस्त्वमसीत्यर्थः। इहभिन्नानामपि शब्दानां सन्धिवशेनाभिन्नवत्प्रतिभानं स्पष्टम्।

जैसे—कोई कवि किसी राजा का वर्णन करता है कि-हे राजन्! तुम, विद्वत्समाजरूप वृक्षों (दूसरों के लिये जीने वाले) के सर्वदा द्रोह करने वाले दारिद्र्य रूप मद-मत्त हाथी के उत्कट गर्व-समूह (मद) को नष्ट करने में महान् सिंह हो—अर्थात् तुम्हारे दर्शन से विद्वानों की दरिद्रता उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस तरह सिंह के दर्शन से मद-मत्त गजों के दानवारि सूख जाते हैं। यहाँ सन्धि करने के कारण भिन्न-भिन्न पद भी एक पद के समान प्रतीत होते हैं, अतः यह 'श्लेष' गुण का उदाहरण है।

द्वितीयं प्रसादं लक्षयति—

गाढत्व-शैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रणं बन्धस्य प्रसादः।

भिन्नानामभिन्नतया भानं गाढत्वम्, भिन्नतया भानन्तु शैथिल्यम्, तयोः क्रमेण आदौ गाढत्वम्, अन्ते शैथिल्यमिति रीत्या, सन्निवेशस्तु वक्ष्यमाणे समाधिगुणे, अत्र तु व्युत्क्रमेण विपरीतक्रमेण-आदौ शैथिल्यमन्ते गाढत्वमिति रीत्या सन्निवेश इति समाधि-प्रसादयोर्भेदः।

अब 'प्रसाद' गुण का लक्षण देखिये—रचना में गाढता (भिन्न पदों का एक जैसा लगना) और शिथिलता (पदों का भिन्न जैसा प्रतीत होना) का विपरीत क्रम से मिश्रण अर्थात् रचना का पहले शिथिल और बाद में गाढ होना-'प्रसाद गुण' कहलाता है।

प्रसादमुदाहरति—

यथा—

राजानं चाटुकारो ब्रवीति—

> 'किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी, यस्मिन् धराखण्डल !
> क्रीडाकुण्डलितभ्रुशोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति ।
> माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूषासहस्रोत्करै-
> र्विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिताः ॥'

हे धराखण्डल धरणीन्द्र ! यस्मिंस्त्वयि, क्रीडया क्रीडायां वा कुण्डलिते वर्तुलीकृते भ्रुवौ यत्र, तद्यथा स्यात्, तथा शोणनयने रक्तनेत्रे दोर्मण्डलं बाहुवलयं पश्यति सति, विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहा विन्ध्याचलकाननकन्दरायतनसन्निकृष्टवृक्षाः, तत्कालं तस्मिन्नेव समये (भिया पलाय्य गतानां त्वद्वैरिनृपाणां) माणिक्यावलिकान्तिभिः शोणमणिश्रेणीद्युतिभिः, दन्तुरतरैरत्युन्नतैः, भूषासहस्रोत्करैः शाखावलम्बितभूषणसहस्रसमुदायैः, उल्लासिता अतितरां शोभिता भवन्ति, तस्य तव वीरतां पराक्रमम्, अमी वराकाः, वयं किं ब्रूमः किमपि वर्णयितुं न शक्नुम इत्यर्थः ।

जैसे—किसी चाटुकार (खुशामदी) कवि ने राजा का वर्णन किया है—हे पृथ्वी के इन्द्र ! जिन आप के खेल में भ्रूयुगल को गोल और नेत्रों को लाल करके भुज-मण्डल को देखने पर तत्काल ही विन्ध्य पर्वत के वनों के कन्दरा-रूप घरों में रहने वाले वृक्ष, माणिक्यावलि की कान्तियों से अत्यन्त उन्नत हजारों आभूषणों के समूहों से चमकने लग गये, उन आप की वीरता का वर्णन हम बेचारे क्या करें। श्लोक का सारांश यह है कि जिस राजा की उक्त चेष्टाओं से घबड़ा कर शत्रुभूत राजा लोग भाग कर विन्ध्य पर्वत की गुहाओं में जा छिपे, उनकी वीरता का वर्णन साधारणजन क्या कर सकते हैं।

उपपादयति—

अत्र 'यस्मिन्नि'त्यन्तं शैथिल्यम्, 'भ्रू' शब्दान्तं गाढत्वम्, पुन'र्नयने'त्यन्तं प्रथममित्यादि बोध्यम् ।

प्रथमं शैथिल्यम् । अत्र श्लोके प्रथमचरणे यस्मिन्निति यावद् बन्धस्य शैथिल्यं विभागप्रत्ययभासात्, तदनु द्वितीयचरणे भ्रुशब्दं यावद्गाढत्वम्, पुनस्तत्रैव नयने इति यावच्च शैथिल्यमिति प्रसादो गुणो ज्ञेय इत्यर्थः ।

इस श्लोक में 'यस्मिन्' पद तक शिथिलता है, फिर 'भ्रू' शब्दपर्यन्त गाढता है और पुनः 'नयने' पद पर्यन्त शिथिलता है, अतः 'प्रसाद-गुण' का उदाहरण होता है, इत्यादि समझना चाहिये।

तृतीयां समतां लक्षयति—

उपक्रमादासमाप्ते रीत्यभेदः समता ।

उपक्रमादारम्भात्, आ समाप्तेरवसानं यावत्, रीतेरुपनागरिकादिवृत्तिलक्षणाया वैदर्भ्यादेः अभेद एकरूपता समता नाम गुण इत्यर्थः ।

अब समता का लक्षण करते हैं—'उपक्रमात्' इत्यादि । आरम्भ से अन्त तक एक ही प्रकार की रीति के होने को 'समता' कहते हैं। यहाँ यह भी समझना चाहिये कि-उपनागरिका, परुषा और कोमला ये तीन रीतियाँ होती हैं। इन्हीं को वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली भी कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—वक्ष्यमाण-माधुर्योदाहरणे।

'नितरां परुषा' इत्यादौ।

जैसे कि आगे-माधुर्य के उदाहरण 'नितरां परुषा.........' इत्यादि श्लोक में है।

उपपादयति—

तत्र ह्युपनागरिकयैवोपक्रमोपसंहारौ।

तत्र 'नितरा'मित्युदाहरणे यत आदेरन्तं यावदेकैवोपनागरिका वृत्तिरतः समतेत्यर्थः।

वहाँ 'उपनागरिका' वृत्ति से ही आरम्भ और उसी से समाप्ति की गई है।

चतुर्थं माधुर्यं लक्षयति—

संयोगपरह्रस्वातिरिक्तवर्णघटितत्वे सति पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।

संयोगो हल्द्वयानन्तर्यं परो येभ्यस्तादृशा ये ह्रस्ववर्णा एकमात्रिकाक्षराणि, तेभ्योऽतिरिक्तैर्वर्णैर्घटितत्वे सति, पृथक्पदत्वमसंश्लिष्टपदत्वं माधुर्यं गुण इत्यर्थः। संयोगे परे येषां ह्रस्वाक्षराणां गुरुत्वं, तद्भिन्नत्वस्य लक्षणे निवेशः, संयोगश्चात्र परसवर्णेनानिष्पन्नैर्हल्वर्णैरघटितो गृह्यते, तेन तत्पद्ये 'पल्लवाना'मित्यत्र पकारोत्तरह्रस्वाकारस्य लकारद्वयसंयोगपरकत्वेन गुरुत्वेऽपि न क्षतिः, लकारद्वयसंयोगस्य परसवर्णानिष्पन्नत्वात्। पदानां संहितयाश्लिष्टत्वाभावः पृथक्पदत्वम्।

अब माधुर्य गुण का लक्षण देते हैं—'संयोग' इत्यादि। संयुक्त (स्वर-रहित अनेक व्यञ्जन) वर्णों के आगे में रहने से पूर्व के जिन ह्रस्व स्वरों को गुरु संज्ञा होती है, ऐसे ह्रस्व स्वरों से अतिरिक्त वर्णों की सहायता से रचित होना और पदों का अलग अलग रहना-अर्थात् सन्धि और समास से रहित होना, इन दोनों 'होने' को सम्मिलित रूप में 'माधुर्यगुण' कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—

चाटुकृद्दयितः प्रणयिनीं वदति—

'नितरां परुषा सरोजमाला, न मृणालानि विचारपेशलानि।
यदि कोमलता तवाङ्गकाना-मथ का नाम कथाऽपि पल्लवानाम्॥'

हे प्रिये! यदि तव अङ्गकानां मृदुत्वातिशयेनानुकम्पनीयावयवानां कोमलता विभाव्यते, तदा सरोजानां सरोजन्यत्वेन मृदुतमानां कमलानां, माला स्रक्, नितरामत्यन्तं, परुषा कर्कशा, प्रतिभाति। मृणालानि बिसानि च, विचारे तवाङ्गानि मृणालानि वाऽधिकं कोमलानीति विवेचनायामल्पगुणतया पेशलानि योग्यानि न प्रतिभान्ति। अथ तदुभयातुल्यत्वनिर्णये, पल्लवानां किसलयानां कथा त्वदङ्गसाम्यचर्चाऽपि का? न काऽपीत्यर्थः।

इह प्रायः पदानि पृथग्भूतानि परसवर्णनिष्पन्नसंयोगनिमित्तकगुर्वक्षराघटितानि चेति माधुर्यं गुणः। तच्च प्रागुक्तया समतया, वक्ष्यमाणयाऽर्थव्यक्त्या च सङ्कीर्णम्।

जैसे:—नायक नायिका से खुशामदभरी बातें कहता है—हे प्रिये! जब-जब मैं तुम्हारे इन कोमल अङ्गों के विषय में सोचता हूं, तब-तब मुझे कमलपुष्पों की माला अत्यन्त कठोर मालूम पड़ती है, मृणाल तो इस विचार में आने योग्य भी नहीं दीखते कि-ये तेरे अङ्गों के समान कोमल हैं—कि वा नहीं, रहे पल्लव सो जब कमल और मृणालों की वह दशा है, तब उनकी तो चर्चा भी तुम्हारे अङ्गों के सामने व्यर्थ है। यहाँ यद्यपि पल्लव पद में दो लकारों का ऐसा संयोग है जिसके परे पकारोत्तर अकार को गुरु संज्ञा होती है, तथापि

दोष इसलिये नहीं होता कि–उक्त लक्षण में जो संयोग पद आया है, उससे ऐसा ही संयोग लिया जाता है जो परसवर्ण (एक प्रकार की व्याकरणानुशिष्ट सन्धि) के द्वारा अनिष्पन्न हल्वर्णों से युक्त न हो और यहां का लकारद्वय संयोग परसवर्ण द्वारा निष्पन्न नहीं हुआ है, अतः वैसे हल्वर्णों से युक्त ही हुआ।

पञ्चमीं सुकुमारतां लक्षयति—

अपरुषवर्णघटितत्वं सुकुमारता।

केवलकोमलवर्णघटितत्वं बन्धस्य सुकुमारत्वं गुण इत्यर्थः।

अब सुकुमारता गुण का लक्षण सुनिये—कठोर वर्णों से भिन्न अर्थात् कोमल वर्णों से रचित होने का नाम 'सुकुमारता' है।

उदाहरति—

यथा—

नायको वदति परामृशति वा—

'स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालि-कपोलपालिदोलायितश्रवणकुण्डलवन्दनीया।
आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन काऽपि, रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः॥'

स्वेदाम्बुनो घर्मजलस्य, सान्द्रैर्निबिडैः, कणैर्बिन्दुभिः, शालिन्यां शोभमानायां, कपोलपाली गण्डस्थले, दोलायिताभ्यामितस्ततश्चलद्भ्यां, श्रवणस्थिताभ्यां कुण्डलाभ्यां, वन्दनीया श्लाघनीया, काऽप्यनिर्वचनीया, मदिरेक्षणायाः खञ्जनाक्ष्याः (प्रेयस्याः) रम्या मनोरमा, दशाऽवस्था, स्मरणेन (हृदि) आनन्दम्, अङ्कुरयत्युत्पादयतीत्यर्थः।

जैसे—नायक किसी से कहता है कि—पसीने के जल की सघन बिन्दुओं से शोभित कपोल- स्थल पर झूलते हुये कानों के कुण्डलों के कारण अभिनन्दनीय और अनिर्वचनीय, मदमाते नयन वाली नायिका की रमणीय अवस्था, याद आते ही, हृदय में आनंद को अंकुरित कर देती है।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे। उत्तरार्धे तु माधुर्यमपि।

अत्र श्लोके पूर्वार्धे प्रथमद्वितीयचरणयोः कोमलवर्णघटितत्वात् सुकुमारता शुद्धा। उत्तरार्धे तु पृथक्पदत्वान्माधुर्येण सङ्कीर्णा। क्षकारस्य कार्कश्येऽप्येकाकितया न गणना। श्रवणकुण्डलेत्यत्र पौनरुक्त्यम्, श्रवणस्थितत्वबोधकत्वेन परिहारस्तु 'स्थितेष्वेतत् समर्थनम्' इत्यनुशासनात् प्राचीनतमोक्तिरेवेत्र युक्तः।

उक्त पद्य के पूर्वार्ध (प्रथम-द्वितीय चरणों) में सुकुमारता है। उत्तरार्ध (तृतीय-चतुर्थ चरणों) में माधुर्य और सुकुमारता दोनों का मिश्रण है।

षष्ठीमर्थव्यक्तिं लक्षयति—

झगिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्तिः।

झगिति शीघ्रमाकाङ्क्षादिसामग्रीसमवधानात् प्रतीयमानोऽर्थानामन्वयः सम्बन्धो यत्र, तत्त्वम्, अविलम्बेन शाब्दबोधजनकत्वं पदानामर्थव्यक्तिरित्यर्थः।

अब 'अर्थव्यक्तिगुण' का लक्षण देखिये—अर्थों के अन्वय का शीघ्र ज्ञान होना अर्थात् शीघ्र शाब्द-बोध के होने को—'अर्थ-व्यक्तिगुण' कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—'नितराम्' इत्यादौ।

माधुर्योदाहरणे।

जैसे कि 'नितरां परुषा सरोजमाला इत्यादि'...पूर्वोक्त पद्य आदि में।

सप्तमीमुदारतां लक्षयति—

कठिनवर्णघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता ।

टवर्गादिकठोरवर्णघटितत्वं बन्धस्योदारता गुण इत्यर्थः ।

अब 'उदारता गुण' का लक्षण परखिये—रचना का टवर्ग आदि कठोर वर्णों से युक्त होना–जिसे विकटत्व भी कहते हैं—'उदारता गुण' कहलाता है।

उदाहरति—

यथा—

शिवस्य ताण्डवं भक्तो वर्णयति—

'प्रमोदभरतुन्दिलप्रमथदत्ततालावली-
विनोदिनि विनायके डमरुडिण्डिमध्वानिनि।
ललाटतटविस्फुटन्नवकृपीटयोनिच्छटा-
हठोद्धतजटोद्भटो गतपटो नटो नृत्यति ॥'

प्रमोदभरेण तुन्दिलैरानन्दातिशयेनोत्फुल्लैः, प्रमथैः शङ्करपारिषदैः दत्ताभिर्विहिताभिः, तालावलीभिः कालक्रियामानबोधककरध्वनिपरम्पराभिः, विनोदिनि कौतूहलभृति, विनायके गणेशे, डमरुं डिण्डिमं च वाद्यविशेषं ध्वनयति वादयतीति तच्छीले सति, ललाटतटात् कपालस्थलात्, विस्फुटन्ती प्रकटीभवन्ती कृपीटयोनेरग्नेश्छटा प्रभा यस्य तादृशः, हठेन नृत्याभिनिवेशेन, उद्धताभिरूर्ध्वं विकीर्णाभिः, जटाभिः, उद्भटो विकटः, गतपटो दिगम्बरत्वान्निर्वसनः, नटो नर्तकः शिवो नृत्यतीत्यर्थः ।

जैसे—कोई भक्त शिवजी के ताण्डव-नृत्य का वर्णन करता है—भाल-देश से फूटकर निकलती हुई अग्नि की नवीन-छटा से युक्त और हठ से (नृत्याभिनिवेश से) ऊपर उछाली हुई जटा के कारण विकट लगने वाले नंगे नटराज (शिव) नाच रहे हैं, अति आनन्द से फूले हुये प्रमथ लोगों के द्वारा दी गई तालियों से विनोद-मग्न गणेशजी डमरू और डिण्डिम (वाद्यविशेष) को बजा रहे हैं।

अत्र परोक्तिमाक्षिपति—

'पदानां नृत्यत्प्रायत्वं विकटता' इति काव्यप्रकाशटीकाकारा व्याचक्षते। उदाहरन्ति च—'स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां, झटिति रणितमासीत्' इत्यादि। तत्र तेषामेतादृशीं विकटत्वलक्षणामुदारतामोजस्यन्तर्भावयन् काव्यप्रकाशकारः कथमनुकूल इति त एव जानन्ति।

झटिति स्थानेऽनुकरणार्थको झणितीति, स्वचरणस्थाने सुचरणेति पाठश्च साधीयान्। तत्र तस्मिन् विषये। तेषां टीकाकाराणाम्।

काव्यप्रकाशव्याख्यातृभिर्यत् 'पदानां नृत्यत्प्रायत्वं विकटता' इत्युदारताया लक्षणं कृत्वा 'स्वचरणे'त्याद्युदाहरणं दर्शितम्, तन्न समीचीनम्, उदारताया ओजस्यन्तर्भावं कुर्वतः काव्यप्रकाशात्मकमूलग्रन्थकृतोऽभिमते विरुद्धत्वादित्याशयः।

यहाँ कुछ अन्य विद्वानों का असंगत मत है, जिसका अब खण्डन करते हैं—'पदानाम्' इत्यादि। काव्यप्रकाश के टीकाकार व्याख्या करते हैं कि 'पदों के नाचने से प्रतीत होने का नाम विकटता है' और उदाहरण देते हैं—'स्वचरणविनिविष्टैः……' इत्यादि। इस विषय में पण्डितराज का कथन है कि–टीकाकार के अभिमत इस तरह की विकटता से अभिन्न उदारता का ओजगुण में अन्तर्भाव करने वाले मूलकार (मम्मट) उनके अनुकूल कैसे हुये अर्थात् मूलकार और टीकाकार में एकवाक्यता कैसे हुई—इसे वे ही जानें।

तामेवानभिमतिं प्रकाशयति—

न ह्यत्रौजसो वैपुल्येन प्रतिभानमस्ति । 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त–' इत्यत्र सन्नप्योजसो लवो न चमत्कारी । नापि तत्र नृत्यत्प्रायत्वं वर्णानामनुभवन्ति सहृदयाः । अंशान्तरे तु माधुर्यमेव ।

हि यतः अत्र 'स्वचरणे'त्याद्युदाहरणे ओजसो गुणस्य, वैपुल्येन बहुलतया प्रतिभानं प्रतीतिर्नास्ति, 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त–' इत्येतावदंशे संयुक्तषकारटकाररेफघटितत्वात् सन् विद्यमानोऽपि, ओजसो लवो लेशः, वैपुल्याभावाद् वीराद्योजस्विरसाभावाच्च चमत्कारी न भवति, वर्णानां नृत्यत्प्रायत्वस्यानुभवोऽपि सहृदयानामत्र न भवति, अंशान्तरे 'स्वचरणे'त्याद्यंशे बहुत्र तु पुनर्माधुर्यमेवास्ति, तस्मान्नात्रौजो गुण इत्यर्थः ।

अत्रौजसो लेशतो माधुर्यस्य तु बाहुल्येन सद्भावात् पदनृत्यत्प्रायत्वाननुभवाच्च टीकाकर्तुरुदारताया लक्षणोदाहरणे न समीचीने इति सारम् ।

अब उक्त मूलकार और टीकाकार में होने वाले विरोध का स्वरूप तथा उसमें युक्ति बतलाते हैं—'न ह्यत्र' इत्यादि । 'स्वचरण······'इत्यादि पद्य में प्रचुर रूप से ओजोगुण भासित नहीं होता । यद्यपि 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त' इस अंश में कुछ ओज है, पर वह चमत्कारी नहीं और उस पद्य में सहृदयों को नाचते से पदों का अनुभव भी नहीं होता । अन्य अंशों में माधुर्य का ही अनुभव होता है । कहने का सारांश यह है कि—उक्त पद्य में ओज अगर है भी तो अंशतः और माधुर्य प्रचुर-मात्रा में है और नाचते हुये से पद भी नहीं है, अतः टीकाकार ने जो उदारता के लक्षण और उदाहरण दिखलाये हैं, वे ठीक नहीं और मूल ग्रन्थ से विरुद्ध भी हैं ।

अष्टममोजो लक्षयति—

संयोगपरह्रस्वप्राचुर्यरूपं गाढत्वमोजः ।

संयोगः परो येभ्यस्तादृशानां ह्रस्ववर्णानां प्राचुर्यं विपुलत्वमेव रूपं यस्य, तद्गाढत्वं वर्णादीनामोजो गुण इत्यर्थः ।

अब 'ओजोगुण' का लक्षण सुनिये—गाढता को 'ओजोगुण' कहते हैं और गाढता कहते हैं–आगे में स्थित संयुक्त अक्षरों से गुरु बने हुये ह्रस्व स्वरों की बहुलता को ।

उदाहरति—

यथा—

चाटुकृत् क्षितिपतिं स्तौति—

'साहङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दर-
क्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गुवीचिवलयश्रीगर्वसर्वङ्कषाः ।
तृष्णाताम्यदनन्ततापसकुलैः सानन्दमालोकिता
भूमीभूषण ! भूषयन्ति भुवनाभोगं भवत्कीर्तयः ॥'

हे भूमीभूषण धरालङ्कार नृप ! साहङ्काराणाः सगर्वाभिमानायाः, सुरासुरावलेर्देवदानवपङ्क्तेः, करैराकृष्टेन, अत एव भ्रमता घूर्णमानेन, मन्दरेण मन्थानदण्डीभूतपर्वतेन, क्षुभ्यतो विलोडनात् सञ्चलतः, क्षीरधेर्दुग्धसमुद्रस्य, वल्गूनां सुन्दराणां, वीचिवलयानां तरङ्गमण्डलानां, श्रियः शोभायाः, गर्वस्य श्वेतिमाभिमानस्य, सर्वङ्कषाः सर्वापहारकारिकाः, तृष्णया पिपासया प्रेम्णा वा, ताम्यद्भिर्व्यथीभवद्भिः, अनन्तैरुत्कृष्टैः, तापसकुलैरमरत्वलाभनिमित्तकृततपस्यापरायणगणैः, सानन्दं रूपसादृश्यादमृतभ्रमेण साह्लादम्, आलोकिता दृष्टाः, भवतः कीर्तयः, भुवनानाम्, आभोगं विस्तारं, भूषयन्त्यलङ्कुर्वन्तीत्यर्थः ।

अत्रोक्तसंयोगनिमित्तकगुरुत्वप्राप्तह्रस्ववर्णप्राचुर्यादोजोगुणः ।

जैसे-कोई चाटुकार राजा की स्तुति करता है-हे धरालङ्कार! अत्यधिक अभिमानशाली देवों और दानवों की पङ्क्तियों से खिंचे हुये, अत एव घूमते हुये, मन्दराचल से क्षुब्ध बने हुये क्षीर-सागर की मनोहर तरङ्गों के समूह की शोभा के गर्व को सर्वथा नष्ट कर देने वाली और प्यास से व्याकुल तपस्वियों के झुण्डों से (तृषा-शान्ति का साधन समझ कर) आनन्द पूर्वक देखी गई आपकी कीर्तियाँ सम्पूर्ण संसार को शोभित करती हैं। यहाँ अग्रिम संयोग निमित्तक गुरुता को प्राप्त करने वाले ह्रस्व स्वरों की अधिकता है, अतः 'ओजोगुण' का उक्त लक्षण संघटित हुआ।

उदाहरणान्तरमाह—

यथा वा—'अयं पततु निर्दयम्' इत्यादिप्रागुदाहृते।

प्राग्रौद्ररसनिरूपणे। 'नवोच्छलित-' इत्यादिपद्ये।

अथवा, 'रौद्र-रस' के निरूपण-प्रसङ्ग में उल्लिखित 'अयं पततुः......' इत्यादि पद्य को 'ओजोगुण' का उदाहरण समझना चाहिये।

नवमीं कान्तिं लक्षयति—

अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण प्रयुज्यमानेषु पदेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्यं कान्तिः।

यथा—'नितराम्' इत्यादिप्रागुदाहृते।

असहृदयानां वैदिकप्रभृतीनां प्रयोगोचितानि यानि पदानि, तानि विहाय, सहृदयैः कविभिः प्रयुज्यमानानि यानि पदानि, तेषु, याऽलौकिकी शोभा, सैवोज्ज्वलत्वरूपा कान्तिरिति सारम्।

अत्र विदग्धमात्रप्रयोज्यपदबाहुल्यात् कान्तिः, पूर्वोक्तमाधुर्यार्थव्यक्तिभ्यां सङ्कीर्णा।

अब 'कान्तिगुण' का लक्षण देखिये—सहृदयता-शून्य वैदिक आदि लोगों के प्रयोग करने योग्य पदों को छोड़कर, सहृदयों के प्रयोग करने योग्य पदों में जो एक अलौकिक शोभा होती है-जिसको उज्वलता भी कहते हैं-उसी (शोभा) को 'कान्ति' गुण कहते हैं। जैसे कि—'नितरां परुषा......' इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्य में। इस पद्य में सहृदयों के प्रयोग करने योग्य पदों की प्रचुरता रहने के कारण 'कान्ति' गुण है और 'माधुर्य' तथा 'अर्थव्यक्ति' गुण भी हैं, अतः तीन गुणों का संकर यहाँ माना जायगा।

दशमं शब्दगुणं समाधिं लक्षयति—

बन्धगाढत्व-शिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः।

बन्धस्य प्राग्गाढत्वं पश्चाच्छिथिलत्वमेवं क्रमेण, न तु प्रसादवद्व्युत्क्रमेण, अवस्थापनं विन्यसनं समाधिरित्यर्थः।

अब 'समाधि' गुण का लक्षण करते हैं—रचना की गाढता और शिथिलता को क्रम से रखना-अर्थात् पहले गाढ रचना का और पश्चात् शिथिल रचना का होना-'समाधि' गुण कहलाता है।

स्वोक्तिं प्राचीनसम्मत्या द्रढयति—

अनयोरेव प्राचीनैरारोहावरोहव्यपदेशः कृतः।

अनयोर्बन्धस्य गाढत्वशिथिलत्वयोरेव, प्राचीनैर्वामनादिभिः, आरोहावरोहयोः, व्यपदेशो व्यवहारः कृत इत्यर्थः।

आरोहो गाढत्वम्, अवरोहश्च शैथिल्यं बन्धस्य क्रमेण प्राचीनैः 'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्ड-गदाभिघात-सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य। स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि! भीमः।' इत्यत्रोदाजह्रे।

इन्हीं—गाढता और शिथिलता को प्राचीन वामन आदि आचार्य आरोह और अवरोह शब्द से कहते हैं।

प्रसादात् समाधेर्व्यतिरेकं दर्शयति—

क्रम एव हि तयोः, प्रसादादस्य भेदकः, तत्र हि तयोर्व्युत्क्रमेण वृत्तेः।

तयोर्गाढत्व-शैथिल्ययोः क्रमः पूर्वापरीभाव एवास्य समाधेः प्रसादाद् भेदकः, हि यतस्तत्र प्रसादे तयोर्व्युत्क्रमेण वृत्तिः, इह तु क्रमेणेत्युत्क्रममेव प्रसादरूपणे प्राक्।

प्रसाद और समाधि गुण में परस्पर भेद दिखलाते हैं—'क्रम एव' इत्यादि। गाढता और शिथिलता का भिन्न क्रम से रहना ही प्रसाद और इस समाधि गुण को परस्पर भिन्न बनाता है, क्योंकि प्रसाद गुण में ये दोनों (गाढता और शिथिलता) विपरीत क्रम से रहती हैं। तात्पर्य यह है कि प्रसाद गुण में पहले शिथिलता और पश्चाद् गाढता तथा समाधि गुण में प्रथम गाढता और पश्चात् शिथिलता रहती है।

समाधिमुदाहरति—

यथा—

कविः कश्चिद् वर्णयति—

'स्वर्गनिर्गतनिरर्गलगङ्गा-तुङ्गभङ्गुरतरङ्गसखानाम्।
केवलामृतमुचां वचनानां, यस्य लास्यगृहमास्यसरोजम्॥'

स्वर्गान्निर्गताया निष्पतितायाः, निरर्गलाया निष्प्रतिबन्धायाः, गङ्गाया मन्दाकिन्याः, तुङ्गा उच्चाः, भङ्गुराभङ्गशालिनश्च ये तरङ्गाः, तत्सखानां तत्तुल्यानां, केवलामृतमुचां पीयूषमात्रं प्रवाहयतां, वचनानां, लास्यगृहं नृत्यायतनमुल्लासास्पदं, यस्य, आस्यं मुखमेव सरोजं कमलमस्तीत्यर्थः।

समाधि का उदाहरण जैसे—

कवि किसी का वर्णन करता है—जिसका मुख-कमल, स्वर्ग से निकली हुई, अत एव निर्विघ्न होकर प्रवाहित होने वाली मन्दाकिनी की ऊँची-नीची अर्थात् लचकती हुई लहरों के मित्र (अर्थात् उनके समान) तथा केवल अमृत बरसाने वाले वचनों का नाट्य-गृह है अर्थात् जिसके मुख में सर्वदा ऐसे वचन विराजमान रहते हैं।

उपपादयति—

अत्रारोहः प्रथमेऽर्धे, तृतीयचरणे त्ववरोहः।

अत्र स्वर्गेत्यादिपद्ये, प्रथमेऽर्धे प्रथमद्वितीयचरणयोः, आरोहो गाढत्वम्, तृतीयचरणे त्ववरोहः शैथिल्यमिति समाधिः, गाढत्व-शैथिल्ययोः क्रमेण सन्निवेशात्। इह 'तृतीयचरणे' इत्यत्र बहुव्रीहिरिति केषाञ्चिद् विवरणं चिन्त्यम्, बहुव्रीहिणा तस्योत्तरार्धपरत्वाभ्युपगमे तद्घटकचतुर्थचरणे चावरोहशैथिल्याप्रतीतिलक्षणसमन्वयासम्भवात्।

उक्त श्लोक के पूर्वार्ध में आरोह (गाढता) और तृतीय चरण में अवरोह (शिथिलता) है।

अत्रैव पूर्वार्धे माधुर्यसाङ्कर्यं निराकृत्योत्तरार्धेऽभ्युपगच्छति—

गङ्गेत्यादौ माधुर्यस्य व्यञ्जकेषु वर्णेषु सत्स्वपि, दीर्घसमासान्तःपातितया न तस्य प्ररोहः। उत्तरार्धे तु सोऽपि।

उक्तोदाहरणे पूर्वार्धे गङ्गेत्यादिपदघटकवर्णानां माधुर्यव्यञ्जकानां सत्त्वेऽपि, तेषां

दीर्घसमासघटकत्वेन पृथक्पदत्वविरहाच्च माधुर्यस्य अरोहः (दाढर्यम्), उत्तरार्धे तु दीर्घसमासाभावान्माधुर्यस्य प्ररोहोऽपीति माधुर्यसङ्कीर्णः समाधिरस्तीत्यर्थः ।

यद्यपि यहाँ गङ्गा आदि पदों में माधुर्य-गुण के व्यञ्जक वर्ण हैं, तथापि वे पद लम्बे समास के मध्य में पड़ गए हैं, अतः माधुर्य गुण पुष्ट नहीं हो सकता, हाँ, उत्तरार्ध में वह (माधुर्य) भी अवश्य है, क्योंकि उधर लम्बे समास नहीं हैं। इस तरह यहाँ समाधि और माधुर्य का सङ्कर है, ऐसा समझना चाहिये ।

शब्दगुणनिरूपणमुपसंहरति—

एते दश शब्दगुणाः ।

एते श्लेषादयो दश शब्दगुणा निरूपिता इत्यर्थः ।

ये ही दश शब्द गुण हैं।

अथार्थगुणेषु प्रथमं श्लेषं निरूपयन्नॅंक्षयति—

एवं क्रियापरम्परया, विदग्धचेष्टितस्य, तदस्फुटत्वस्य, तदुपपादकयुक्तेश्च सामानाधिकरण्यरूपः संसर्गः श्लेषः ।

एवं शब्दगुणवत्, विदग्धचेष्टितस्य चतुरचेष्टायाः, तदस्फुटत्वस्य तच्चेष्टाया अव्यक्तत्वस्य, तदुपपादिकायास्तद्व्यापारसाधिकाया युक्तेरुपायस्य च यत् सामानाधिकरणम् एकस्मिन्नधिकरणे क्रियापरम्परया पूर्वापरीभूतानेकक्रियाभिः, (वर्णितत्वाद्) वृत्तित्वम्, तद्रूपो यः संसर्गः स श्लेष इत्यर्थः ।

चातुर्येण कार्यविधानस्य, तद्गोपनस्य, तत्साधकोपायस्य चार्थस्य क्रमिकानेकक्रियाभिरेकत्रैव मिथस्सम्बन्धकरणपूर्विका घटना श्लेषनामाऽर्थगुण इति सारम्।

'क्रियापरम्परायाः' इति षष्ठ्यन्तपाठे तु क्रियापरम्पराया विदग्धचेष्टितादीनां सामानाधिकरण्यं बोध्यम् ।

एतदुदाहरणन्त्वमरुककवेर्यथा—

> 'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
> देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
> ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
> मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति' ॥ इति ।

धूर्तश्चतुरो नायकः, एकासनसंस्थिते एकस्मिन्नेवास्तरण उपविष्टे, प्रियतमे ज्येष्ठाकनिष्ठे प्रेयस्यौ, दृष्ट्वा निभृतं दूरादवलोक्य, तद्दृष्टिपथं परिहरन् पश्चात् पृष्ठतः, आदरादतर्कितालिङ्गनकौतुकात्, उपेत्योपगत्य, विहितं कृतं क्रीडानुबन्धस्याक्षिनिमीलनरूपलीलानुष्ठानस्य छलम् उभयत्र तुल्यप्रेमाभावाद् व्याजं येन, तादृशः, एकस्याः कनिष्ठायाः, नयने पिधाय, कराभ्यां निमील्य, ईषद्वक्रितकन्धरो मीवाविकम्पने कदाचित् कनिष्ठा रहस्यं जानीयादिति भिया किञ्चिदिव कुञ्चितग्रीवः, सपुलकः स्वाभीष्टसिद्धिसान्निध्यसम्भूतहर्षात् सरोमाञ्चः, प्रेम्णा सापत्न्यपेक्षयाऽऽत्मनि पतिप्रणयाधिक्यावधारणादुद्भूतया प्रीत्या, उल्लसदामोदमानं मानसं यस्यास्तादृशीम्, अन्तर्हासेन रहस्यभेदभिया निगूहपाम्यकहसितेन, लसच्छोभमानं कपोलफलकं सन्निकृष्टैकगण्डतलं यस्यास्तथाभूताम्, अपरां ज्येष्ठां चुम्बतीत्यर्थः ।

अत्रैकस्या वञ्चनेनावरस्याश्चुम्बनं विदग्धचेष्टितम्, तस्यास्फुटत्वमपरयाऽज्ञातत्वात्, तदुपपादकयुक्तिश्च नयननिमीलपूर्वकं क्रीडानुष्ठानम्, तेषां पश्चादागमन-नयननिमीलनलीलाविधान-चुम्बनरूप-क्रमिकक्रियाणां च [illegible]

अब अर्थगुण-निरूपण के क्रम में सर्वप्रथम श्लेष का लक्षण करते हैं—'क्रम' इत्यादि। इसी तरह चतुरता से काम करना, उसको प्रकट न होने देना, उसको सिद्ध करने वाली युक्ति, इनका क्रियापरम्परा (एक के बाद दूसरी क्रिया) द्वारा एक ही स्थान में इस प्रकार वर्णन करना कि परस्पर का सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होने पावे श्लेष कहलाता है। जैसा कि अमरुक कवि का 'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते···' इत्यादि पद्य है, जो संस्कृतटीका में उद्धृत है। इस पद्य का अर्थ निम्नलिखित है—धूर्त नायक ने देखा कि दोनों प्रियतमायें (ज्येष्ठा और कनिष्ठा) एक ही आसन पर बैठी हुई हैं। दबे पाँव उसने, पीछे से, उनके समीप में आकर एक (नायिका) के नेत्रों को, खेल करने के छल से, बन्द कर दिया, इसके बाद रोमाञ्चयुक्त वह नायक अपनी गरदन को थोड़ी-सी टेढ़ी करके उस दूसरी नायिका को चूम रहा है, जिसका मन सपत्नी की अपेक्षा अपने में पति का अधिक अनुराग देखकर प्रेम से प्रसन्न हो रहा है और (सपत्नी न जान जाय, इस कारण) भीतर ही भीतर हँसने से जिसके कपोल शोभित हो रहे हैं। यहाँ एक नायिका को छोड़कर दूसरी नायिका को चूमना चतुरता से काम करना है, वह प्रकट भी न हो सका क्योंकि दूसरी नायिका उसको नहीं समझ सकी और उसको सिद्ध करने वाली युक्ति है आँखमिचौनी का खेल। इन सब बातों का पीछे से आना, आँख मूँदना और खेल करना आदि क्रियाओं के साथ-साथ होते रहना वर्णन किया गया है।

द्वितीयं प्रसादं लक्षयति—

यावदर्थकपदत्वरूपमर्थवैमल्यं प्रसादः ।

यावदर्थकान्यर्थान्यूनाधिकानि पदानि यत्र, तद्रूपमर्थस्य वैमल्यस्पष्टप्रतीयमानता लक्षणा स्वच्छता प्रसाद इत्यर्थः ।

यत्रैकमपि पदं निरर्थकं विलम्बेनार्थोपस्थापकं वा न, स प्रसादोऽर्थगुण इति सारम् ।

अब 'प्रसाद गुण' का लक्षण देखिये—जितने अर्थ हों उतने ही पदों का होना अर्थात् पदों का अर्थ से न्यून अथवा अधिक न होना 'प्रसाद गुण' कहलाता है, अर्थ-वैमल्य भी इसी को कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—

नायकों दूती वा वदति—

'कमलानुकारि वदनं किल तस्याः' इत्यादि ।

इह वदननिष्ठ-कमलसादृश्यदार्ढ्यबोधनात् किलेत्यस्यापि सार्थक्यात् प्रसादः ।

जैसे—नायक किसी नायिका के विषय में कहता है—उसका मुखकमल का अनुकरण निश्चित रूप से करता है। यहां शब्द और अर्थ दोनों नये तुले हैं, 'किल' पद मुख में कमल-सादृश्य को दृढ़ करता है, इसलिये वह भी सार्थक है, अतः प्रसाद गुण का उक्त लक्षण यहां समन्वित हुआ।

स्पष्टप्रतिपत्तये प्रत्युदाहरणमपि दर्शयति—

प्रत्युदाहरणन्तु यथा—'कमलकान्त्यनुकारि वक्त्रम्' इत्यादि ।

अत्र 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति सिद्धान्तेन कान्तिपदानुपादानेऽपि प्राप्तस्य दर्थाधिगमसम्भवान्नार्थवैमल्यम् ।

पाठकों को स्पष्ट ज्ञान कराने के लिये प्रत्युदाहरण का भी निर्देश करते हैं—'प्रत्युदाहरणं तु' इत्यादि। अर्थात् उक्त पद्यांश को ही यदि '(उसका) मुखकमल की कान्ति का अनुकरण करता है' इस रूप में परिवर्तित कर दिया जाय तो प्रसाद गुण का प्रत्युदाहरण हो जायगा, क्योंकि 'कान्ति' पद वक्तव्य अर्थ में अनपेक्षित होने के कारण निरर्थक है।

तृतीयां समतां लक्षयति—

प्रक्रमाऽभङ्गेनार्थघटनात्मकमवैषम्यं समता ।

प्रक्रम आरम्भक्रमस्तस्याभङ्गेनानन्यथाकरणेन, याऽर्थस्य घटना, तद्रूपम् अवैषम्यं विषमताऽभावः समतेत्यर्थः ।

आदौ येन शब्देन यस्यार्थस्योपादनं क्रियेत, तेनैव न तु तत्पर्यायेण, अन्तं यावन्निर्वाहो यत्र विधीयेत, तत्र समतेत्याशयः ।

अब 'समता गुण' का लक्षण सुनिये—विषमता के अभाव को 'समता गुण' कहते हैं और विषमता का अभाव कहते हैं—आरम्भ का क्रम जिससे भग्न न होने पावे, इस तरह की अर्थयोजना को अर्थात् आरम्भ में जिस तरह का आर्थिक क्रम रखा गया हो, अन्त तक उस क्रम का निर्वाह करना ही 'समता' है ।

उदाहरति—

यथा—

भगवद्भक्तो वक्ति—

'हरिः पिता, हरिर्माता, हरिर्भ्राता, हरिः सुहृत् ।
हरिं सर्वत्र पश्यामि, हरेरन्यन्न भाति मे ॥'

भाति रोचते, मे मह्यम् । अन्यत् स्फुटमेव ।

जैसे—कोई भक्त कहता है—(मेरे) हरि ही पिता हैं, हरि ही माता हैं, हरि ही भाई हैं और हरि ही सखा हैं । मैं सब स्थानों में हरि को ही देखता हूँ, मुझे कहीं भी हरि से भिन्न वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती ।

उपपादयति—

अत्र 'विष्णुर्भ्राता' इत्यादिनिर्माणे प्रक्रमभङ्गात्मकं वैषम्यम् ।

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥'

इत्यभियुक्तोक्तेः शब्दस्यापि शाब्दिकनये शाब्दबोधविषयत्वादिह हरिशब्दस्य विष्णुशब्देन परिवृत्तौ, प्रक्रान्तहरिपदाभावाद् वैषम्ये नानुदाहरणत्वं स्यादिति तात्पर्यम् ।

यहाँ यदि 'हरि भाई हैं' की जगह 'विष्णु भाई हैं' ऐसा कह दिया जाय तो प्रक्रम-भङ्गरूप विषमता हो जायगी, यद्यपि 'हरि' और 'विष्णु' पद के अर्थ में कोई भेद नहीं है, तथापि शब्द और अर्थ में एक ऐसा तादात्म्य है कि एक अर्थ भी दो तरह के शब्दों के द्वारा प्रतिपादित होने पर दो जैसे लगने लगता है, अतः हरि शब्द से आरम्भ करने पर उसी शब्द से समाप्ति भी करनी चाहिये, तभी समता की रक्षा होगी अन्यथा विषमता दुर्वार है।

चतुर्थं माधुर्यं लक्षयति—

एकस्या एवोक्तेर्भङ्ग्यन्तरेण पुनःकथनात्मकमुक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् ।

एकस्यैवार्थस्य, भङ्ग्यन्तरेण भिन्नेन प्रकारेण, पुनरुपादानमुक्तिवैचित्र्यं यत्, तदेव माधुर्यमित्यर्थः । इहोक्तेरर्थस्येति विवरणन्तु 'एषोऽर्थः' इत्यभिमन्तृत्तिमन्थानुरोधेन विहितम् ।

अब 'माधुर्य गुण' (अर्थगत) का लक्षण करते हैं—एक ही अर्थ को भिन्न भिन्न भङ्गी (प्रकार) से पुनः पुनः कहना यह जो उक्ति की विचित्रता है, उसे 'माधुर्य-गुण' कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—

भक्तो भागीरथीं भाषते—

'विधत्तां निश्शङ्कं निरवधिसमाधिं विधिरहो,
सुखं शेषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः ।
कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः,
सवित्री कामानां यदि जगति जागर्ति भवती ॥'

भगवति गङ्गे! कामानां स्वर्गादिविषयकसकलाभिलाषाणां, सवित्री पूरयित्री, भवती, यदि अहो! जगति भूलोके, जागर्ति सावधाना तिष्ठति, अथ तदा, विधिर्ब्रह्मा, निश्शङ्कं कर्तव्याभावान्निस्सन्देहं, निरवधि निस्सीम समाधिं विधत्ताम्, हरिर्विष्णुः सुखं सनिर्वृति शेषेऽनन्तभोगशय्यायां, शेतां स्वपितु, हरः शिवः, अविरतं सततं नृत्यतु, प्रायश्चित्तैः पापनाशकानुष्ठानविशेषैः, कृतमलम्, अन्यथैव तत्साध्यसिद्धेः, तपोदानयजनैस्तपसा दानेन यज्ञेन चालं न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः ।

जैसे—कोई भक्त भगवती भागीरथी से कहता है-ब्रह्मा (कुछ भी कर्तव्य नहीं रहने के कारण) सन्देह रहित होकर, अनन्त समय तक समाधि में बने रहें, विष्णु भगवान् शेष-शय्या पर सुखपूर्वक सोते रहें और शिवजी भी सदा ताण्डव-नृत्य में मग्न रहा करें, मुझे उन सबों से कुछ प्रयोजन नहीं। अब मेरे लिये प्रायश्चित्तों (पाप-नाशक अनुष्ठान विशेष) की भी कोई आवश्यकता नहीं और तप, दान तथा यज्ञ ये सब भी अब मेरी दृष्टि में व्यर्थ हैं, जब कि हे जगन्मातः! सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली तू संसार में (मेरे लिये) सावधान होकर खड़ी है।

उपपादयति—

अत्र विध्यादिभिर्नास्ति किमपि प्रयोजनमित्येषोऽर्थः, समाधिविधानादिप्रेरणारूपेणोक्तिवैचित्र्येणाभिहितः, अन्यथाऽनवीकृतत्वापत्तेः ।

अत्रोदाहरणे भवत्यां सत्यां विधिहरिप्रभृतीनां किंप्रयोजनमित्येतादृश एक एवार्थः समाधिविधान-सुखशयनादिप्रवर्तनास्वरूपेण नवनवेन प्रकारेणोक्त इति माधुर्यम्। अन्यथा कथनप्रकारनवनवत्वाभावे 'सदा चरति खे भानुः, सदा वहति मारुतः ।' इत्यादाविवाऽप्यनवीकृतत्वदोषस्यापातः स्यादित्यर्थः ।

यहाँ 'ब्रह्मा-आदि से कुछ भी प्रयोजन नहीं है' इसी एक अर्थ को 'समाधि में बने रहें' इत्यादि प्रेरणात्मक उक्ति-वैचित्र्य से कहा गया है, अन्यथा 'अनवीकृतता' नामक दोष आ जाता।

पञ्चमीं सुकुमारतां लक्षयति—

अकाण्डे शोकदायित्वाभावरूपमपारुष्यं सुकुमारता ।

अकाण्डेऽवसरे शोकदायित्वं शोकजनकत्वं पारुष्यं कठोरता, तदभावश्च सुकुमारतेत्यर्थः।

अब 'सुकुमारता-गुण' का लक्षण दिखलाते हैं—अपारुष्य (कठोरता के अभाव) को 'सुकुमारता' कहते हैं और कठोरता का अभाव कहते हैं—विना खास अवसर के शोक न देने को।

उदाहरति—

यथा—'त्वरया याति पान्थोऽयं प्रियाविरहकातरः ।'

प्रियाया विरहात् कातरस्त्रस्तः पान्थः पथिकोऽयं त्वरया शीघ्रं याति गृहं गच्छतीत्यर्थः।

जैसे कि—यह पथिक प्रियतमा के वियोग से डरता हुआ शीघ्रता से जा रहा है। यह एक स्त्री की किसी दूसरी स्त्री के प्रति उक्ति है।

उपपादयति—

'प्रियामरणकातरः' इत्यत्र शोकदायिनो मरणशब्दस्य सत्त्वात् पारुष्यम्। इदञ्चाश्लीलतादोषव्याप्यम्।

त्वरयेत्याद्युदाहरणे विरहशब्दस्य मरणशब्देन परिवर्तने च, विरहस्य दुःखजनकत्वेऽपि शोकजनकत्वाभावादपारुष्यम्, मरणस्य त्वालम्बननाशरूपतया शोकजनकत्वेन पारुष्यमिति क्रमेणोदाहरणप्रत्युदाहरणत्वे स्फुटे। इदं पारुष्यं च व्रीडा-जुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वेन त्रिविधस्याश्लीलतादोषस्य व्याप्यं तृतीयप्रकारतयाऽन्तर्गतमित्यर्थः॥

यहीं यदि 'प्रियतमा के मरण से डरता हुआ' ऐसा कह दिया जाय, तो शोक-सूचक 'मरण' पद के आ जाने से पद्य में कठोरता आ जायगी। यह कठोरता अमङ्गल-व्यञ्जक 'अश्लीलता'-नामक दोष के अन्तर्गत है।

षष्ठीमर्थव्यक्तिं लक्षयति—

वस्तुनो वर्णनीयस्यासाधारण-क्रियारूपयोर्वर्णनमर्थव्यक्तिः।

वर्णनीयस्य वस्तुनः पदार्थस्य तदेकजातिमात्रवृत्तितयाऽसाधारणे इतरव्यावृत्ते, ये क्रियारूपे व्यापारावयवसंस्थाने, तयोर्वर्णनमर्थव्यक्तिरित्यर्थः।

अब 'अर्थ-व्यक्ति गुण' का लक्षण कहते हैं—जिस वस्तु का वर्णन करना हो, उसके असाधारण (खास) कर्तव्य और रूप का वर्णन करना 'अर्थ-व्यक्ति' गुण कहलाता है।

उदाहरति—

यथा—

नायकः सखायं ब्रवीति—

'गुरुमध्ये कमलाक्षी, कमलाक्षेण प्रहर्तुकामं माम्।
रदयन्त्रितरसनाग्रं, तरलितनयनं निवारयाञ्चक्रे॥'

गुरूणां श्वश्रूप्रभृतीनां मध्ये स्थिता कमलाक्षी नलिननयना प्रिया, कमलाक्षेण पद्मबीजेन, प्रहर्तुकामं ताडयितुमिच्छुं, माम्, रदैर्दन्तैर्यन्त्रितं निपीडितं रसनाया जिह्वाया अग्रं यत्र, तद्यथा स्यात् तथा, तरलिते चञ्चलीकृते नयने च यत्र, तद्यथा स्यात्तथा मैवं कार्षीरिति निवारयाञ्चक्रे निवारितवतीत्यर्थः।

इह कमलवद्दीर्घनयनात्मकस्य रूपस्य, जिह्वाग्रदन्तनिपीडन-लोचनचञ्चलीकरणरूपयोरनुचिताचरणनिवारणसूचकक्रिययोश्च ललनाजनमात्रवृत्तीनां वर्णनादर्थव्यक्तिः।

जैसे—नायक अपने मित्र से कहता है—सास-ननद आदि गुरुजनों के बीच में बैठी हुई कमल से नेत्रों वाली (नायिका) ने कमल के बीजों से अपने ऊपर प्रहार करने के लिये उद्यत मुझको दाँतों से जीभ के अग्रभाग को दबा कर तथा नेत्रों को चञ्चल बना कर (नचाकर) रोक दिया—सूचित कर दिया, कि ऐसा न कीजियेगा, अन्यथा बड़ी हँसी होगी। यहाँ नायिका के कमलवत्-दीर्घ-नयनात्मकरूप और जीभ के अग्रभाग को दबाने तथा नेत्रों के चञ्चल करने-रूप कर्तव्यों का वर्णन किया गया है, अतः 'अर्थव्यक्ति गुण' का लक्षण संघटित हुआ।

अर्थव्यक्तेः स्वभावोक्त्यलङ्काररूपतामाचष्टे—

अयमेवेदानीन्तनैः स्वभावोक्त्यलङ्कार इति व्यपदिश्यते।

अयमर्थव्यक्तिगुण एव, इदानीन्तनैराधुनिकैर्विद्वद्भिः, स्वभावोक्त्यलङ्कार इति व्यपदिश्यते व्यवह्रियते 'स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रिया-रूपवर्णनम्' इत्यादिभिरित्यर्थः।

इसी को आधुनिक विद्वज्जन 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार कहते हैं।

सप्तमीमुदारतां लक्षयति—

'चुम्बनं देहि मे भार्ये ! कामचाण्डालतृप्तये' इत्यादिग्राम्यार्थ-परिहार उदारता ।

त्रिविधा हि शब्दाः—नागरिका औपनागरिका ग्राम्याश्च । तत्रोत्तमप्रकृतौ वक्तरि भार्यादितृतीयशब्दार्थस्यानौचित्येन यद्ग्राम्यत्वं दोषः, तदभाव उदारतेत्यर्थः ।

ग्राम्यभिन्नं सर्वमेवोदारताया उदाहरणं सम्भवतीति पृथङ् न प्रतिपादितम् ।

अब 'उदारता गुण' का लक्षण दिखलाते हैं—'चुम्बनं देहि मे भार्ये !' काम चाण्डाल-तृप्तये' अर्थात् 'अरी मेहरिया ! तू काम-रूप चाण्डाल को तृप्त करने के लिये मुझे अपना एक चुम्बन दे' इत्यादि ग्राम्य (गमैया) बातों का परित्याग करना ही 'उदारता' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि शब्दों की तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं, जिनमें भार्या आदि शब्द तृतीय श्रेणी के कहे जाते हैं, अतः उत्तम कोटि के वक्ताओं को उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इस गुण का उदाहरण अलग करके इसलिये नहीं दिखलाया गया कि उक्त तृतीय श्रेणी के शब्दों से अतिरिक्त सब शब्दों का प्रयोग होने पर उक्त गुण का उदाहरण सम्भव है, जिसका समझना सरल है।

अष्टममोजो लक्षयति—

एकस्य पदार्थस्य बहुभिः पदैरभिधानम्, बहूनां चैकेन, तथैकस्य वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैः, बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशेषणानां साभिप्रायत्वं चेति पञ्चविधमोजः ।

एकपद-प्रतिपाद्यस्यार्थस्यानेकैः पदैः प्रतिपादनं प्रथमः प्रकारः, अनेकपदप्रतिपाद्य-स्यार्थस्यैकेन प्रतिपादनं द्वितीयः प्रकारः, एकवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यानेकैर्वाक्यैः प्रतिपादनं तृतीयः प्रकारः, अनेकवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यैकेन वाक्येन प्रतिपादनं चतुर्थः प्रकारः, सार्थ-विशेषणकत्वं च पञ्चमः प्रकार इति प्रकारपञ्चकान्यतमत्वमोज इत्यर्थः ।

अब 'ओजगुण' (अर्थगत) का लक्षण देखिये—'ओजगुण' के पाँच भेद हैं—१. एक पद से कहने योग्य अर्थ का अनेक पदों के द्वारा कथन। २. अनेक पदों से कहने योग्य अर्थ का एक पद से कथन। ३. एक वाक्य से कहने योग्य अर्थ का अनेक वाक्यों के द्वारा प्रतिपादन। ४. अनेक वाक्यों द्वारा प्रतिपादन करने योग्य अर्थ का एक वाक्य के द्वारा प्रतिपादन। ५. विशेषणों का सप्रयोजन होना-निरर्थक नहीं होना।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'पदार्थे वाक्यरचना, वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढिर्व्यास-समासौ च, साभिप्रायत्वमस्य च ॥' इति ।

विवृणोति—

पूर्वार्धप्रतिपाद्यं द्वयम्, व्यास-समासौ चेति चतुष्प्रकारा प्रौढिः, साभिप्रायत्वं चेति पञ्चप्रकारमोज इत्यर्थः ।

पदार्थस्य वाक्येन, वाक्यार्थस्य पदेन प्रतिपादनम्, एकवाक्यार्थस्यानेकवाक्यैः प्रति-पादनं व्यासः, अनेकवाक्यार्थस्यैकवाक्येन प्रतिपादनं समासश्चेति प्रकारचतुष्टयरूपा प्रौढिः, अस्य विशेषणसाभिप्रायत्वं सार्थकत्वं चेति पञ्चप्रकारकमोज इत्यर्थः ।

इह वाक्यपदं योग्यतादिमत्तत्तद्रहितस्य च पदसमूहस्य बोधकं बोध्यम्। इतरथाऽनुपदं वक्ष्यमाणे 'सरसिजे-'त्याद्युदाहरणे प्रथमचरणस्य वाक्यत्वं न स्यात्।

ओज के उक्त पाँच भेदों के विषय में प्राचीन आचार्यों की भी सम्मति है, उन्होंने लिखा है—एक पद के अर्थ में वाक्य की रचना, वाक्य के अर्थ में एक पद का कथन तथा किसी बात का विस्तार और संक्षेप करना, यह चार प्रकार की प्रौढ़ि—अर्थात् वर्णन करने की विचित्र निपुणता और विशेषणों का सप्रयोजन होना—इस प्रकार से ओज के पाँच भेद होते हैं।

प्रौढेरतिरिक्तप्रकारत्वभ्रमनिवारणार्थमभिधत्ते—

प्रौढिः प्रतिपादनवैचित्र्यम्।

उक्तिवैचित्र्यरूपा प्रथमप्रकारचतुष्टयबोधिका प्रौढिर्न प्रकारान्तरमित्याशयः।

प्राचीनों की कारिका में 'प्रौढ़ि' से ओज का कोई खास छठा भेद विवक्षित नहीं है, किन्तु प्रतिपादन की विचित्रता मात्र विवक्षित है, ऐसा समझना चाहिये।

ओजसः प्रथमं प्रकारं पदार्थे वाक्यरचनारूपमुदाहरति—

यथा—

प्रभातं वर्णयति—

'सरसिजवनबन्धु-श्रीसमारम्भकाले,
रजनिरमणराज्ये नाशमाशु प्रयाति।
परमपुरुषवक्त्रा-दुद्गतानां नराणां,
मधुमधुरगिरां च प्रादुरासीद् विनोदः॥'

सरसिजवनबन्धोः सूर्यस्य, श्रियः कान्तेः समारम्भस्य प्रारम्भस्य, काले प्रभातसमये, रजनिरमणराज्ये चन्द्रसुषमावैभवे, आशु, नाशं लोपं प्रयाति सति, परमपुरुषस्येश्वरस्य वक्त्रान्मुखादुद्गतानामुत्पन्नानां नराणां ब्राह्मणानां, मधुमधुरगिरां विनोदः क्षौद्रमधुरसौतमन्त्रोच्चारणकौतुकं प्रादुरासीदभवदित्यर्थः।

जैसे कि—ओज के प्रथम भेद (पद के अर्थ में वाक्य-रचना) का उदाहरण—जिस समय कमल-कानन के बान्धव (अकारण हितैषी) भगवान् सूर्य की शोभा का प्रारम्भ हो रहा था—अर्थात् सूर्य उदित हो रहे थे और निशा-नाथ चन्द्र का राज्य शीघ्रता से नष्ट हो रहा था—अर्थात् चन्द्र अस्त हो रहे थे, उस समय परम पुरुष (जगदीश ब्रह्मा) के मुख से उत्पन्न हुए मनुष्यों (अर्थात् ब्राह्मणों) का और मधु के समान मधुर वचनों (अर्थात् वेदों) का विनोद प्रकट हुआ। यह प्रभात का वर्णन है, जिसका सारांश है कि प्रातःकाल में ब्राह्मणों ने वेद-पाठ करना प्रारम्भ किया।

उपपादयति—

अत्रोषसीत्येकपदार्थस्याभिधानाय प्रथमचरणः।

अत्रोदाहरणे, उषसीत्येकपदेन प्रतिपाद्यस्य प्रभातस्य बोधनाय सरसिजेत्यादिराद्यचरणः समस्तैकपदरूप उपात्त इत्यर्थः।

यहाँ 'प्रातःकाल में' इस एक पद के अर्थ में पूर्वार्ध के दो चरण (जो वाक्य रूप हैं) बनाये गये हैं।

अग्रेऽप्येवमूहितुमुपदिशति—

इत्याद्यग्रेऽपि बोध्यम्।

अग्रेऽप्येवमुपपादनमूहनीयमित्यर्थः।

और 'ब्राह्मणों' तथा 'वेदों' इन एक-एक पदों के अर्थ में आगे के डेढ़ चरण की रचना की गई है, अतः यह 'पद के अर्थ में पद की रचना' का उदाहरण हुआ।

द्वितीयं प्रकारमुदाहरति—

'खण्डितानेत्रकञ्जालि-मञ्जुरञ्जनपण्डिताः।
मण्डिताखिलदिक्प्रान्ता-श्चण्डांशोर्भान्ति भानवः॥'

खण्डिताया इतरललनालयनीतरात्रिक-प्रातरुपेतपतिप्रतिकूलाचरणावगमोदितदुःखमा-त्मिकायाः नेत्रकञ्जालेर्नयननलिनश्रेण्याः, मञ्जुनि सुन्दरे, रञ्जने शोणिमसम्पादने, पण्डिता निपुणाः, मण्डिताः प्रभया प्रकाशेन भूषिता अखिला दिक्प्रान्ता आशान्ता यैस्तादृशाः, चण्डांशोः सूर्यस्य, भानवः किरणाः, भान्ति शोभन्त इत्यर्थः।

अब 'वाक्य के अर्थ में पद की रचना का उदाहरण सुनिये—खण्डिता नायिकाओं के नेत्र-कमलों की पङ्क्तियों को सुन्दरतया रंगने में निपुण तथा दिग्भागों को भूषित करने वाली सूर्य की किरणें शोभित हो रही हैं।

उपपादयति—

अत्र 'यस्याः पराङ्गनागेहात् पतिः प्रातर्गृहेऽञ्चति' इति वाक्यार्थे खण्डिता-पदाभिधानम्।

'यस्या' इत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यैकेन खण्डितापदेन प्रतिपादनादत्रौजसो द्वितीयः प्रकार इत्यर्थः।

यहाँ 'जिसका पति दूसरी नायिका के घर से प्रातःकाल में अपने घर आवे' इस वाक्यार्थ के स्थान में केवल 'खण्डिता' पद का प्रयोग किया गया है।

तृतीयं प्रकारमुदाहरति—

'अयाचितः सुखं दत्ते, याचितश्च न यच्छति।
सर्वस्वं चापि हरते, विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम्॥'

उच्छृङ्खलः स्वातन्त्र्यादुन्मुक्तबन्धनः, नृणां विधिर्दैवम्, अयाचितोऽप्रार्थितः, सुखं, दत्ते वितरति, याचितश्च पुनः सुखं न यच्छति न ददाति, अपि तु सर्वस्वं पूर्वसञ्चितसकलधन-मपि हरते नाशयतीत्यर्थः।

अब 'एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्यों का कथन' का उदाहरण देखिये—कोई दीन व्यक्ति अपने भाग्य को कोसता है। कहता है—उच्छृङ्खल दैव (भाग्य) बिना मांगे सुख देता है और मांगने पर नहीं देता, वरन् उसका सर्वस्व भी लूट लेता है।

उपपादयति—

अत्र दैवाधीनं सर्वमित्येकस्मिन् वाक्यार्थे नानावाक्यरचनात्मको व्यासपद-वाच्यो विस्तरः।

एकवाक्यार्थस्य चतुर्भिर्वाक्यैरभिधानादिह व्यासरूप ओजसस्तृतीयः प्रकारः।

यहाँ 'सब कुछ भाग्य के अधीन है' इस एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्य का कथन हुआ है, अतः यह विस्तार है, जिसको प्राचीन आचार्य 'व्यास' कहते हैं।

चतुर्थं प्रकारमुदाहरति—

'तपस्यतो मुनेर्वक्त्राद् वेदार्थमधिगत्य सः।
वासुदेवनिविष्टात्मा, विवेश परमं पदम्॥'

तपस्यतस्तपः कुर्वतः, मुनेः, वक्त्रान्मुखात्, सः, वेदार्थम्, अधिगत्य ज्ञात्वा, वासुदेवे भगवति परब्रह्मणि निविष्टः प्रविष्ट आत्मा मनो यस्य, तादृशः परमं पदं मुक्तिपदवीं

विवेशेत्यर्थः। 'आत्मा कलेवरे, यत्ने, स्वभावे, परमात्मनि। चित्ते, धृतौ च, बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि च।' इति धरणिकोशादात्मपदमिह मनोवाचकमवसेयम्।

'अब 'अनेक वाक्यों के अर्थ में एक वाक्य की रचना' का उदाहरण देखिये—कोई किसी भक्त के विषय में कहता है कि—उसने तपस्या करते हुए मुनि के मुख से वेद के अर्थ को समझ कर वासुदेव भगवान् में मन को लगा कर मोक्ष को प्राप्त किया।

उपपादयति—

अत्र 'मुनिस्तपस्यति' 'तद्वक्त्रात् स वेदार्थमधिगतवान्' 'तदनन्तरं वासुदेवे परब्रह्मणि मनः प्रावेशयत्' 'ततश्च मुक्तोऽभूत्' इति वाक्यार्थकलापः शतृ-क्त्वा-बहुव्रीहिभिस्तिङन्तेन चानुवाद्यविधेयभावेनैकवाक्यार्थीकृतः।

वाक्यार्थकलाप उल्लिखितवाक्यचतुष्टयार्थसमूहः। तपस्यत इत्यत्र शतृप्रत्ययः। अधिगत्येत्यत्र क्त्वाप्रत्ययः। तृतीयचरणे बहुव्रीहिः। विवेशेति च तिङन्तम्। अनुवाद्यमुद्देश्यम्। वाक्यचतुष्टयप्रतिपाद्यार्थानामुद्देश्यविधेयभावेन सम्बन्धितानामेकवाक्यप्रतिपाद्यतासम्पादनात् समास ओजसश्चतुर्थः प्रकारोऽत्र बोध्यः।

यहाँ (१) मुनि तपस्या करते हैं। (२) उनके मुख से उसने वेद के अर्थ को समझा। (३) उसके बाद भगवान् में मन लगाया और (४) तदुत्तर मोक्ष को प्राप्त किया, इतने वाक्यों के अर्थों का समूह शतृ-प्रत्यय (तपस्यतः), क्त्वा-प्रत्यय (अधिगत्य) और बहुव्रीहि समास (वासुदेव निविष्टात्मा) के द्वारा अनुवाद्य रूप से और तिङन्त (क्रिया विशेष) के द्वारा विधेय रूप से लिख कर एक वाक्यार्थ के रूप में कर दिया गया है।

विशेषणस्य साभिप्रायत्वं विवृणोति—

साभिप्रायत्वं च प्रकृतार्थपोषकता।

प्रकृतस्य प्रस्तुतविशेष्यस्य पोषकत्वमुपस्कारकत्वं विशेषणस्य साभिप्रायत्वमित्यर्थः।

विशेषण की साभिप्रायता से यहाँ यह तात्पर्य है कि जो वर्णन चल रहा है, उसको पुष्ट करना अर्थात् उसमें सहायता पहुँचाना।

पञ्चमं प्रकारमुदाहरति—

यथा—

भक्तो भगवन्तं प्रार्थयते—

'गणिकाऽजामिलमुख्यानवता भवता बताहमपि।
सीदन् भवमरुगर्ते, करुणामूर्ते न सर्वथोपेक्ष्यः॥'

हे करुणामूर्ते प्रत्यक्षकारुण्यरूप भगवन्! गणिका विदेहनगरस्था पिङ्गलाभिधा वेश्या, अजामिलस्तन्नामा कान्यकुब्जदेशोद्भूतो दासीपतिर्द्विजस्तौ मुख्यौ येषां, तान् पतितान्, अवता नरकाद् रक्षता, भवता, भवः संसार एव क्लेशकरत्वान्मरुगर्तो निर्जलदेशावटस्तत्र सीदन् यातनामनुभवन्, बत हन्त! अहमपि सर्वथा नितरां न उपेक्ष्य उपेक्षणीय इत्यर्थः। पिङ्गलाऽजामिलयोः कथा श्रीमद्भागवते प्रसिद्धा।

जैसे कि—हे करुणामूर्ते! गणिका (पिङ्गला नाम की एक वेश्या) और अजामिल (एक, दासी-पति द्विज) आदि (पापिजनों में) मुख्य जनों की रक्षा करने वाले आप संसार रूप मरुस्थल (निर्जल) गड्ढे में जो मैं सीदित हो रहा हूँ उसकी उपेक्षा नहीं कीजियेगा। यह एक भक्त की भगवान् से प्रार्थना है।

उपपादयति—

अत्रोपेक्षाऽभावे करुणामूर्त्तित्वं पोषकम्। पापिष्ठत्वात् करुणाया अभावे, प्रकृतेऽस्याः सम्पादनाय गणिकेत्यादि, सीदन्निति च।

यद्यन्योऽपि कारुणिको दयनीयं न कदाचिदुपेक्षते, तदा साक्षात्करुणामूर्त्तिः कथमुपेक्षितुमर्हतीति करुणामूर्त्तित्वं भगवतो विशेषणमनुपेक्षायाः साधकम्, पापातिशयाचरणात् स्वस्मिन् करुणाया अनुत्पत्तिसम्भवे पतितेष्वपि भगवतो दयालुताया बोधकत्वाद् गणिकेत्यादिविशेषणं करुणोत्पादने साधकम्, दुःखिनोऽनुपेक्षणीयत्वात् सीदन्निति निजविशेषणं स्वानुपेक्षायाः साधकमिहास्तीति विशेषणसाभिप्रायत्वम् ।

यहां 'उपेक्षा न कीजियेगा' इस अर्थ को पुष्ट करने के लिये भगवान् में 'करुणामूर्ति' विशेषण लगाया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि जब साधारण कारुणिक भी किसी दीन की उपेक्षा नहीं करता, तब आप करुणामूर्ति होकर मेरी उपेक्षा कैसे करेंगे—नहीं कर सकते। पर यदि महान् पापी समझ कर करुणा न करें, तो यह भी आपके स्वभाव के अनुकूल नहीं है, इसी बात को प्रमाणित करने के लिये गणिका आदि का दृष्टान्त दिया गया है और अपना विशेषण 'सीदित होता हुआ' लिखा है। इस तरह यहां एक भी पद निष्प्रयोजन नहीं है, सब में कुछ न कुछ अभिप्राय है।

नवमीं कान्तिं लक्षयति—

दीप्तरसत्वं कान्तिः ।

दीप्तः स्फुटप्रतीयमानतयोज्ज्वलो रसो यत्र, तत्त्वं कान्तिरित्यर्थः ।

अब 'कान्ति गुण' का लक्षण देखिये—दीप्त-रसत्व को 'कान्ति' कहते हैं।

दीप्तरसत्वं विवृणोति—

तच्च स्फुटप्रतीयमानरसत्वम् ।

रसप्रतीतौ स्फुटताऽविलम्बितोत्पत्तिः ।

स्पष्टतया रस के प्रतीत होने को दीप्तरसत्व कहते हैं। शीघ्र उत्पन्न होना ही रस-प्रतीति की स्पष्टतया यहां विवक्षित है, यह भी समझना चाहिये।

उदाहरणादर्शनान्न्यूनतां परिहरति—

उदाहरणं च वर्णितमेव रसप्रकरणे, वर्णयिष्यते च ।

प्राग् रसनिरूपणे 'शयिता' इत्यादिना वर्णितम्, अग्रे वर्णयिष्यते चालङ्कारप्रसङ्गेन तदुदाहरणमितीह नोपन्यस्तमित्याशयः ।

इसके उदाहरण रसप्रकरण में 'शयितासविधे' इत्यादि पद्य के द्वारा दिखलाया जा चुका है और आगे भी दिखलाया जायगा, अतः यहां नहीं दिखलाया गया।

दशमं समाधिं लक्षयति—

अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः पूर्ववर्णितच्छायो वेति कवेरालोचनं समाधिः ।

अयं वर्ण्यमानोऽर्थः केनापि पूर्वं न वर्णित इत्यवर्णितपूर्वोऽयोनिरित्यन्यत्र प्रसिद्धः, अथवा पूर्वं केनापि वर्णितस्यैवार्थस्य छाया (सादृश्यं) यस्मिंस्तादृशोऽन्यच्छायोनिरितिप्रसिद्धोऽस्तीति कवेः कविकृतं यदालोचनं विभावनं, तत् समाधिः । तत्रावर्णितपूर्वत्वालोचनं प्रथमः, पूर्ववर्णितच्छायत्वालोचनन्तु द्वितीयः प्रकारः समाधेरिति सारम् ।

अब 'समाधिगुण' का लक्षण पढ़िये—कवि जब किसी वस्तु का वर्णन करने लगता है, तब वह सोचता है कि इस वस्तु का वर्णन पहले किसी ने नहीं किया है ? अथवा किसी के द्वारा पूर्व-वर्णित वस्तु का यह (मेरा वर्णनीय वस्तु) छाया मात्र है ? इस तरह की कवि की आलोचना को 'समाधि गुण' कहते हैं। तात्पर्य यह निकला कि समाधि के दो भेद हैं, एक 'यह अर्थ पूर्व वर्णित नहीं है' इस तरह का आलोचन और दूसरा 'यह पूर्व वर्णित की छाया है' इस प्रकार का आलोचन।

आलोचनस्य ज्ञानविशेषरूपतयाऽऽत्मगुणत्वेनार्थगुणत्वसम्पादनायाह—

ज्ञानस्य विषयतासम्बन्धेनार्थनिष्ठत्वादर्थगुणता।

ज्ञानं समवायेनात्मनि विषयतया तु सम्बन्धेन विषये ज्ञेयार्थे तिष्ठतीति ज्ञानविशेषरूपालोचनस्यार्थगुणत्वमुपपद्यत इत्याशयः।

अब 'आलोचन ज्ञान-विशेष-रूप है, अतः वह आत्मा में रहेगा—अर्थ में नहीं, फिर वह अर्थ-गुण कैसे होगा?' इस शङ्का का समाधान करते हैं—'ज्ञानस्य' इत्यादि। समाधान का आशय यह है कि ज्ञानात्मक आलोचन यद्यपि समवायसम्बन्ध से आत्मा में रहेगा, तथापि विषयतासम्बन्ध से ज्ञान के विषय अर्थ में भी रहता ही है, अतः उसे अर्थ गुण मानने में कोई आपत्ति नहीं आती।

तयोः प्रथमं प्रकारमुदाहरति—

आद्यो यथा—'तनयमैनाकगवेषण—' इत्यादौ।

काव्यतृतीयप्रकारनिरूपणे प्रागेव व्याख्यातमिदं गद्यम्। इह भगवत्या भागीरथ्या हिमाचलभुजायमानत्वं पूर्वं केनापि न वर्णितमिति 'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धिनारङ्गकम्' इत्यादाविव कविना केवलं प्रतिभयैव कल्पितम्।

अब समाधि गुण के प्रथम भेद का उदाहरण देते हैं—जैसे कि 'तनय मैनाक······' इत्यादि गद्य में। इस गद्य का।पूर्वरूप काव्य के तृतीय भेद के उदाहरण के रूप में पहले दिखलाया जा चुका है, इसकी व्याख्या भी वहां की जा चुकी है। इस गद्य में हिमालय की भुजा के रूप में गङ्गा की उत्प्रेक्षा की गई है, जो सर्वथा नवीन कल्पना है, पहले किसी ने इस तरह की कल्पना नहीं की, अतः यह प्रथम भेद का उदाहरण हुआ।

द्वितीयप्रकारोदाहरणस्य बाहुल्यं दर्शयन् वामनमतमुपसंहरति—

द्वितीयस्तु प्रायशः सर्वत्रैव' इत्याहुः।

प्रायशो बाहुल्येन 'कविरनुहरतिच्छायाम्' इत्युक्तेः। केवलं सर्वत्रैवेत्युक्तौ तु प्रथमप्रकारविलोपप्रसङ्गः। उदाहरणान्वेषणे तु नायिकानयननलिनयोः सादृश्यस्य कविसमयप्रसिद्धत्वे, निजनयनप्रतिबिम्बैरम्बुनि बहुशः प्रतारिता काऽपि। नीलोत्पलेऽपि विमृशति, करमर्पयितुं कुसुमलावी।' इत्येव ज्ञेयम्। आहुरित्यस्य पूर्वोक्तेन 'जरत्तरास्तु' इत्यनेनान्वयः।

द्वितीय भेद अर्थात् अन्यच्छायायोनि अर्थ का उदाहरण तो प्रायः सर्वत्र ही मिल सकता है अर्थात् अधिकतर वर्णन इसी तरह का होता है, जिससे पूर्व वर्णित की छाया रहती है। यह है अति प्राचीन आचार्य वामन आदि का सिद्धान्त।

अथ परमतमखण्डितमभ्युपगतं भवतीति प्राचीनतरमतं निराकरोति—

अपरे त्वेषु गुणेषु कतिपयान् प्रागुक्तैस्त्रिभिर्गुणैर्वक्ष्यमाणदोषाभावालङ्कारैश्च गतार्थयन्तः, कांश्चिद्वैचित्र्यमात्ररूपतया, कंचिद् दोषतया च मन्यमाना न तावतः स्वीकुर्वन्ति।

अपरे वामनादिभ्यो नवीना मम्मटादयस्तु। त्रिभिर्माधुर्यौजःप्रसादैः। वक्ष्यमाणा ये दोषाभावा अलङ्काराश्च तैः। गतार्थयन्तो निष्प्रयोजनीकुर्वन्तः। तावतो दशशब्दगुणान् दशार्थगुणांश्च न स्वीकुर्वन्ति। इतरदनुपदं स्फुटीभविष्यति।

अब गुण के विषय में वामन आदि से नवीन मम्मट आदि आचार्यों के मत का उल्लेख करते हैं—'अपरे तु' इत्यादि। मम्मट आदि विद्वान् तो २० गुण नहीं मानते हैं, क्योंकि वे इन २० गुणों में से कुछ को पूर्वोक्त स्व सम्मत माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों में गतार्थ कर देते हैं, कुछ को आगे वर्णित होने वाले दोषों के अभावरूप मान लेते हैं और कुछ को अलङ्कारस्वरूप कह कर उड़ा देते हैं। इसी तरह कुछ को विचित्रता मात्र

लेते हैं तथा कुछ को गुण की जगह दोषरूप ही कह डालते हैं। इस प्रकार वे केवल ३ गुण मानते हैं, २० नहीं।

तत्र प्रथमं 'केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः। अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश।' इति समासेन शब्दगुणानां दशत्वखण्डनमुपपादयति—

तथाहि—श्लेषोदारता-प्रसाद-समाधीनामोजोव्यञ्जकघटनायामन्तर्भावः।

वामनोक्ताः श्लेषोदारताप्रसादसमाधयो न शब्दगुणा मम्मटोक्तौजोगुणव्यञ्जकवर्णरचनारूपत्वादित्याकूतम्।

अच्छा अब २० गुण नहीं मानने की युक्तियां भी सुनिये। वे कहते हैं—पूर्वोक्त दश शब्द-गुणों में से श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि इन चार गुणों का ओजोगुण को अभिव्यक्त करने वाली रचना में अन्तर्भाव हो जाता है।

तत्राशङ्क्य समादधाति—

न च श्लेषोदारतयोः सर्वांशे गाढबन्धात्मनोरोजोव्यञ्जकघटनाऽन्तर्भावोऽस्तु, प्रसादसमाध्योस्तु गाढशिथिलात्मनोरंशेनौजोव्यञ्जकान्तर्भावेऽप्यंशान्तरेण कुत्रान्तर्भाव इति वाच्यम्, माधुर्याभिव्यञ्जके प्रसादाभिव्यञ्जके वेति सुवचत्वात्।

वामनोक्तयोः श्लेषोदारतयोः सर्वस्मिन्नंशे गाढबन्धस्वरूपत्वादोजोव्यञ्जकरचनायामन्तर्भावस्य सम्भवेऽपि, प्रसादसमाध्योः किञ्चिदंशावच्छेदेन गाढबन्धस्वरूपत्वात् किञ्चिदंशावच्छेदेन च शिथिलबन्धस्वरूपत्वाचौजोव्यञ्जकरचनायां गाढमात्रबन्धस्वरूपायामन्तर्भावस्यासम्भव इति न वाच्यम्, तयोः शिथिलबन्धांशस्य माधुर्यव्यञ्जकरचनायां प्रसादव्यञ्जकरचनायां वा तदन्तर्भावस्य वक्तुं शक्यत्वादित्याशयः।

यहां यदि आप शङ्का करें कि—श्लेष और उदारता सब अंशों में गाढ रचनारूप होते हैं, अतः उनका अन्तर्भाव ओज को अभिव्यक्त करने वाली रचना में भले ही हो जाय, परन्तु प्रसाद और समाधि तो गाढ और शिथिल दोनों प्रकार की रचनाओं के मिश्रणरूप होते हैं, अतः एक (गाढ) अंश का ओजोव्यञ्जक रचना में अन्तर्भाव होने पर भी दूसरे (शिथिल) अंश का अन्तर्भाव किसमें होगा ? तो इसके उत्तर में सुख से यह कहा जा सकता है कि माधुर्य अथवा प्रसाद की व्यञ्जक रचना में। अर्थात् शिथिल अंश भी कहीं माधुर्य गुणव्यञ्जक रचना में और कहीं प्रसाद गुणव्यञ्जक रचना में समाविष्ट हो जायगा, अतः ये चार अतिरिक्त गुण नहीं हो सकते।

माधुर्यगुणं निराकरोति—

माधुर्यं तु परेषामस्मदभ्युपगतमाधुर्यव्यञ्जकमेव।

मम्मटाद्युक्त-रसनिष्ठ-व्यङ्ग्यमाधुर्यगुणव्यञ्जकरचनैव वामनादिसम्मतं माधुर्यं गुण इति तस्यापि गुणत्वं निरस्तमिति भावः।

प्राचीनों का माधुर्य गुण तो हमारे (मम्मट के) माधुर्य को अभिव्यक्त करने वाली रचना ही है।

पर्यवसितमाह—

एवं च सर्वत्र व्यञ्जके व्यङ्ग्यशब्दप्रयोगो भाक्तः।

एवमुक्तरीत्या, सर्वत्र प्राक्प्रतिपादितवामनोक्तश्लेषादिगुणचतुष्टये, व्यञ्जके तत्तद्गुणव्यञ्जकरचनाविशेषे व्यङ्ग्यश्लेषादिगुणवाचकस्य श्लेषादिशब्दस्य प्रयोगो भाक्तो लाक्षणिको ज्ञेय इति सारम्।

इस तरह यह सिद्ध होता है कि प्राचीनों के मत में सब जगह व्यञ्जक (रचना) में व्यङ्ग्य (माधुर्य आदि) का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। अत एव ओज गुण का ओजोव्यञ्जक रचना में अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये।

समताया गुणत्वं निरस्यति—

समता तु सर्वत्रानुचितैव, प्रतिपाद्योद्धतत्वानुद्धतत्वाभ्यामेकस्मिन्नेव पद्ये मार्गभेदस्येष्टत्वात्।

सर्वत्रेति समतान्वयि। उद्धटत्वमुद्धतत्वम्।

यतः क्वचिदेकस्मिन्नेव पद्ये, यत्रांशे वाच्यमुद्धतम्, तत्रोद्धता रचनेष्टा, यत्रत्वंशे वाच्यमनुद्धतम्, तत्र कोमलैव रचनेष्टा, तस्मात् सर्वेषु पद्येषु सर्वांशे रचनाया एकविधत्वमनौचित्याद्दोष इति मार्गभेदरूपा समता न गुण इत्यभिप्रायः।

अब समता की बात सुनिये—सब जगह तो वह (समता) अनुचित ही है, क्योंकि वक्तव्य अर्थ के उद्धत होने से उद्धत और उसके अनुद्धत होने से अनुद्धत रचना का एक ही श्लोक में होना इष्ट है।

तदुदाहरणं दर्शयति—

यथा—

सुकवित्वाभिमानाध्मातहृदयः कश्चित् परं विपश्चितं ब्रूते—

> 'निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव-
> न्मृद्वीकामधुमाधुरी-मदपरीहारोद्धुराणां गिराम्।
> काव्यं तर्हि सखे! सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां,
> नो चेद् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्बहिर्मा कृथाः॥'

हे सखे! यदि त्वम् अत्यन्तपाकेनातिशयितपक्वतया, द्रवन्त्याः सरसीभवन्त्याः, मृद्वीकाया द्राक्षायाः, मधुनो मधुररसस्य, माधुर्यामिष्टतायाः, मदस्याभिमानस्य, परीहारे निराकरणे, उद्धुराणामुद्युक्तानां शक्तानां वा, गिरां काव्यवाचां, निर्माणे रचने, मार्मिको मर्मज्ञः (कुशलः) असि, तर्हि मादृशां मत्तुल्यानामत्युत्कृष्टकाव्यरचनाकुशलानां, सम्मुखे पुरः, स्वरचितं काव्यं, सुखेन, कथय, नोचेत् तदमार्मिको यदसि तदा, आत्मना कृतं दुष्कृतं पातकमिव, तत् काव्यं, स्वान्तान्मनसः, बहिर्मा कृथा नितरां गोपयेत्यर्थः।

जैसे—हे सखे! यदि तुम अत्यन्त पक जाने के कारण चूते हुये दाख के मधुर रस की मधुरता के मद को हटा देने में समर्थ वचनों की रचना में कुशल हो, तब अपने काव्य को मेरे जैसे लोगों के सामने सुखपूर्वक कहो। परन्तु यदि ऐसा (मृद्विका-मधुर-वाणी-निपुण) न होओ, तो जिस तरह अपने किये हुये पाप को किसी के सामने प्रकट नहीं किया जाता, उसी तरह उस (अपने काव्य) को अपने हृदय से बाहर न करो—मन ही मन रख लो, जबान पर मत आने दो।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे तृतीयचरणे च लोकोत्तरनिर्माणप्रतिपादके यो मार्गो न स चतुर्थचरणे कदर्यकाव्यप्रतिपादक इति वैपरीत्यमेव गुणः।

मार्गो वर्णरचनारीतिः। कदर्यं कुत्सितम्। गुणत्वमुपकारकत्वम्।

'निर्माणे' इत्यादावेकस्मिन्नेव पद्ये तृतीयचरणान्तं यावद् वाच्यस्य लोकोत्तरनिर्माणस्योद्धतत्वादुद्धता रचना, तुरीयचरणे तु वाच्यस्य कुत्सितकाव्यस्यानुद्धतत्वादनुद्धतैव रचनेति विभक्तैवोपकारकत्वाद्गुणः 'वक्तृ-वाच्य-प्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित्। रचना-वृत्ति-वर्णाना-मन्यथात्वमपीष्यते।' इत्युक्तेः—प्रत्युतसमतायामनुकृतायां दोष एव स्यादित्याशयः।

यहां अलौकिक काव्य-निर्माण का प्रतिपादन करने वाले आदि तीन चरणों में जिस मार्ग (वर्ण-रचना की रीति) का ग्रहण किया गया है, उसका कदर्प (कुत्सित-हीन) काव्य-निर्माण का प्रतिपादन करने वाले चतुर्थ चरण में ग्रहण नहीं किया गया अर्थात् प्रथम तीन चरणों का वाच्य अर्थ उद्धत था, अतः वहां तदनुकूल उद्धत वर्ण-विन्यास ही किया गया और चतुर्थ चरण का प्रतिपाद्य अर्थ अनुद्धत था, अतः वहां का वर्ण-विन्यास अनुद्धत-शिथिल-रखा गया, इस तरह यहां विषमता ही गुण (उपकारक) है और यदि समता-एक ही रीति-कर दी जाती, तो दोष ही कहलाता।

कान्तेः सुकुमारतायाश्च दोषाभावरूपत्वाद् गुणत्वं निरस्यति—

ग्राम्यत्व-कष्टत्वयोस्त्यागात् कान्ति-सौकुमार्ययोर्गतार्थता ।

ग्राम्यत्वदोषाभावरूपतया कान्तेः, श्रुतिकटुत्वलक्षणकष्टत्वदोषाभावरूपतया च सुकुमारताया गतार्थता तदभावान्तर्भावाद् गुणत्वाभाव इत्यर्थः ।

कष्टत्वमिह दुःश्रवत्वम्, न तु दुरूहत्वं तस्यार्थवृत्तित्वात् । ओजो व्यञ्जकवर्णघटितत्वरूपकष्टत्वाभावरूपता, माधुर्यव्यञ्जकवर्णघटितत्वरूपसौकुमार्यस्यासम्भवाच्चिन्तनीयेति केषांचिदाक्षेपस्तु, परैरपरुषवर्णघटितं सौकुमार्यं परुषवर्णघटितत्वं च कष्टत्वमभिदधानैरुभयोः परस्पराभावरूपतां व्यवस्थापयद्भिर्निरस्तः ।

अब रहीं कान्ति और सुकुमारता, वे भी ग्राम्यता और कष्टत्व नामक जो दोष हैं, उनके अभाव में अन्तर्भूत हैं—अर्थात् कान्ति ग्रामत्व-दोषाभाव-स्वरूप है और श्रुतिकटुत्व-रूप-कष्टत्व-दोषाभाव-स्वरूप सुकुमारता है। तात्पर्य यह है कि यहां 'कष्टत्व' का मतलब 'दुरूहता' नहीं है, क्योंकि वह अर्थ में रहने वाला दोष है और यहां शब्द-गुण को दोष में गतार्थ करने का प्रसङ्ग चल रहा है, फिर शब्द-गुण अर्थ-दोष में कैसे गतार्थ किया जा सकता था। यहां नागेश ने लिखा है कि कष्टत्व दोष का लक्षण है 'ओजोव्यञ्जकवर्णघटितत्व' और सुकुमारत्व-गुण का लक्षण है 'माधुर्यव्यञ्जकवर्णघटितत्व' अतः ये (कष्टत्व और सुकुमारत्व) एक दूसरे का अभावरूप नहीं हो सकते, फिर सुकुमारता को कष्टत्व के अभाव में गतार्थ करने की मूलोक्त बात असङ्गत है। परन्तु विचार करने पर नागेश का कथन ही असङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि मम्मट ने कष्टत्व का लक्षण 'परुषवर्णघटितत्व' किया है और प्राचीनों ने सुकुमारता का लक्षण 'अपरुषवर्णघटितत्व' कहा है, अब देखिये कि सुकुमारता, कष्टत्व के अभावरूप सिद्ध होता है या नहीं? कहना पड़ेगा कि अवश्य, फिर जो नागेश ने अपने मन से लक्षणों की कल्पना करके मूल की असङ्गति दिखलाई है, वह किसी तरह मूल ग्रन्थ का खण्डन करने का दुराग्रह मात्र है।

प्रसादेऽन्तर्भावादर्थव्यक्तिं निराकरोति—

प्रसादेन चार्थव्यक्तेरिति ।

प्रसादेन गुणेन स्पष्टप्रतीतिजनकत्वरूपाया अर्थव्यक्तेश्च गतार्थतेति शेषः । इत्थं च वामनेन—

'पदन्यासस्य गाढत्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः । श्लथत्वमोजसा मिश्रं प्रसादं च प्रचक्षते ॥
यत्रैकपदवद्भावः पदानां भूयसामपि । अनालक्षितसन्धीनां स श्लेषः परमो गुणः ॥
प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः । दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति गुणो मतः ॥
आरोहन्त्यवरोहन्ति क्रमेण यतयो हि यत् । समाधिर्नाम स गुणस्तेन पूता सरस्वती ॥
बन्धे पृथक्पदत्वं च माधुर्यं कथितं बुधैः । बन्धस्याजरठत्वं च सौकुमार्यमुदाहृतम् ॥
विकटत्वं च बन्धस्य कथयन्ति ह्युदारताम् । पश्चादलगतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुतः ॥
यत्रार्थव्यक्तिहेतुत्वात्, सोऽर्थव्यक्तिः स्मृतो गुणः । औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः ॥'

इति प्रतिपादितानां दशानामपि शब्दगुणानामन्तर्भावादिभिर्निराकरणं समाप्तमिति सूचयतीहेतिशब्दः ।

अब केवल 'अर्थ-व्यक्ति गुण' अवशिष्ट रह जाता है, परन्तु प्रसाद गुण के मान लेने पर उसकी भी आवश्यकता नहीं रह जाती अर्थात् प्रसाद गुण में ही वह भी गतार्थ हो जाता है। इस प्रकार अति प्राचीन आचार्यों का अभिमत, गुणों की विंशति संख्या असङ्गत है, यह बात सिद्ध हो गई।

अथार्थगुणानामपि दशानां निरसनमारभते—

अर्थगुणेष्वपि—श्लेषः, ओजस आद्याश्चत्वारो भेदाश्च, वैचित्र्यमात्ररूपा न गुणान्तर्भावमर्हन्ति।

वामनोक्तस्य श्लेषस्यौजस्समासान्तप्रकारचतुष्टयस्य च श्लोदिष्टचमत्कृतिजनकत्वेन द्रुत्यादिचित्तवृत्तिरूपत्वासम्भवान्न गुणत्वमिति तात्पर्यम्।

अब वामन आदि अति प्राचीन आचार्यों से स्वीकृत दश अर्थ-गुणों का खण्डन आरम्भ करते हैं—'अर्थ-गुणेष्वपि' इत्यादि। अर्थ-गुणों में भी श्लेष और ओज-गुण के पहले चार भेद तो विचित्रता मात्र हैं, अतः उन्हें गुणों के अन्तर्गत मानना समुचित नहीं है।

वैचित्र्यमात्रस्य गुणत्वाङ्गीकारे दोषमाह—

अन्यथा प्रतिश्लोकमर्थवैलक्षण्याद् गुणभेदापत्तेः।

यदीदृशार्थवैचित्र्यस्यापि गुणत्वमभ्युपगम्येत, तर्हि सर्वेषु श्लोकेषु यत्किञ्चिदर्थवैचित्र्यस्य सत्त्वात् तत्रापि गुणत्वाभ्युपगमे गुणप्रकारबाहुल्यमापद्येतेत्यभिसन्धिः।

अन्यथा (विचित्रतामात्र को गुण मान लेने पर) प्रत्येक श्लोक में कुछ न कुछ अर्थों की विचित्रता अवश्य रहती है, वे सब विलक्षणतायें गुण कहलाने लगेंगी, जिनकी गणना भी असम्भव हो जायगी।

ओजःपञ्चमप्रकारसहितं वामनोक्तार्थगुणसप्तकं दोषाभावरूपतादर्शनेन निरस्यति—

अनधिकपदत्वात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यवपुर्माधुर्यम्, अपारुष्यशरीरं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपोदारता, वैषम्याभावलक्षणा समता, साभिप्रायत्वात्मकः पञ्चम ओजसः प्रकारः, स्वभावस्फुटत्वात्मिकाऽर्थव्यक्तिः, स्फुटरसत्वरूपा कान्तिश्च, अधिकपदत्वा-नवीकृतत्वा-मङ्गलरूपाश्लील-ग्राम्य-भग्नप्रक्रमा-पुष्टार्थरूपाणां दोषाणां निराकरणेन, स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य, रसध्वनि-रसवदलङ्कारयोश्च स्वीकरणेन च गतार्थानि।

यथासङ्ख्यमन्वयः।

अधिकपदत्वरूपदोषाभावरूपत्वात् प्रसादः, अनवीकृतत्वदोषाभावरूपत्वान्माधुर्यम्, अमङ्गलरूपाश्लीलत्वदोषाभावरूपत्वात् सुकुमारता, ग्राम्यत्वदोषाभावरूपत्वादुदारता, भग्नप्रक्रमत्वदोषाभावरूपत्वात् समता, अपुष्टार्थत्वदोषाभावरूपतया साभिप्रायविशेषणत्वात्मक ओजसः पञ्चमप्रकारः, स्वभावोक्त्यलङ्काररूपतयाऽर्थव्यक्तिः, रसप्राधान्ये रसध्वनिरूपतया रसाप्राधान्ये तु रसवदलङ्काररूपतया कान्तिश्च नैव गुणत्वेन गणनामर्हतीति सारम्।

दश अर्थगुण मानने वाले वामन आदि के मत के अनुसार पद का अधिक न होना प्रसाद है, उक्ति की विचित्रता माधुर्य है, कठोरता का न होना सुकुमारता है, ग्राम्यता का न होना उदारता है और विषमता का न होना समता है, एवं पदों का साभिप्राय होना ओज-गुण का पांचवां भेद है। ये सब क्रमशः अधिक पदत्व, अनवीकृतत्व, अमङ्गल सूचक अश्लीलता, ग्राम्यता, भग्न-प्रक्रमता और अपुष्टार्थता रूप दोषों के निकाल देने से गतार्थ हो जाते हैं। अर्थात् ये दोषों के अभावमात्र हैं, गुण नहीं। इसी तरह किसी वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट वर्णन करना जो अर्थ-व्यक्ति गुण है वह स्वभावोक्ति अलङ्कार में गतार्थ

है और रस का स्पष्टतया प्रतीयमान होना जो कान्ति गुण है, वह रस की प्रधानता रहने पर रस-ध्वनि में अन्यथा रसवत् अलङ्कार में गतार्थ है।

समाधिं निराकरोति—

समाधिस्तु कविगतः काव्यस्य कारणं, न तु गुणः।

आलोचनात्मकज्ञानरूपत्वादात्मगुणो न तु रसवृत्तिः कविनिष्ठः समाधिस्तु न गुणः, किन्तु काव्यस्य कारणमित्यर्थः।

अब बचा केवल समाधिगुण, वह भी गुण नहीं, अपि तु काव्य का कारण है, क्योंकि उसका स्वरूप आलोचनात्मक माना गया है और आलोचन एक प्रकार का ज्ञान है, अतः वह कवि की आत्मा में रहेगा, रस किंवा अर्थ में नहीं, फिर उसे अर्थ गुण कैसे कहा जा सकता? यदि उसे विषयता सम्बन्ध से अर्थ में रहने के कारण अर्थ का गुण माना जाय, तब तो—

ननु काव्यकारणत्वेऽपि समाधेः कुतो न गुणत्वमित्यत आह—

प्रतिभाया अपि काव्यगुणत्वापत्तेः।

यदि हि काव्यस्य कारणमपि गुणः स्यात्, तर्हि प्रागुक्ता प्रतिभाऽपि काव्यस्य कारणत्वाद् गुणः स्यादित्यापत्तेः समाधिरपि न गुण इत्यभिसन्धिः।

प्रतिभा भी काव्य का गुण हो जाय, क्योंकि आलोचन और प्रतिभा दोनों ही एक प्रकारके ज्ञान हैं और कवि में रहते हैं तथा विषयता सम्बन्ध से अर्थ में भी रह सकते हैं, फिर यदि प्रतिभा को काव्य-कारण माना जाता है, तब आलोचन को ही गुण क्यों मानें?

निगमयति—

अतस्त्रय एव गुणा इति मम्मटभट्टादयः।

अत उक्तहेतुभिः, त्रयो माधुर्यौजःप्रसादा एव, न तु श्लेषादयोऽपि गुणाः सम्भवन्तीति मम्मटभट्टादय आहुरित्यर्थः।

अतः अन्त में यही सिद्ध हुआ कि गुण तीन ही हैं, दश या बीस नहीं। यह है—मम्मट आदि विद्वानों की विचार-पद्धति।

अथ प्राचीनोक्तगुणानां कियतां रचनास्वन्तर्भावकथनाद्रचनाज्ञानस्यापेक्षायां ताः क्रमेण निरूपयन्नादौ माधुर्यव्यञ्जकरचनां निरूपयति—

तत्र टवर्गवर्जितानां वर्गाणां प्रथम-तृतीयैः, शर्भि-रन्तस्थैश्च घटिता, नैकट्येन प्रयुक्तैरनुस्वार-परसवर्णैः शुद्धानुनासिकैश्च शोभिता, वक्ष्यमाणैः सामान्यतो विशेषतश्च निषिद्धैः संयोगाद्यैरचुम्बिता, अवृत्तिर्मृदुवृत्तिर्वा रचनाऽऽनुपूर्व्यात्मिका माधुर्यस्य व्यञ्जिका।

तत्र तासु रचनासु। नैकट्येन सामीप्येन। परसवर्णैस्तदादेशनिष्पन्नवर्णैः। शुद्धैः केवलैरनुनासिकैः। वृत्तिपदं प्रकरणात् समासमात्रपरम्। आनुपूर्वी श्रावणप्रत्यक्षविषयताऽवच्छेदकं तद्वर्णोत्तरतद्वर्णत्वम्।

आनुपूर्वीरूपा रचना यदि टवर्गातिरिक्तवर्गचतुष्टयघटकैः प्रथम-तृतीयवर्णैः, शर्भिश्शषसैः, अन्तस्थैर्यरलवैश्च घटिता, अदूरप्रयुक्तानुस्वार-परसवर्णकेवलानुनासिकयुक्ता, अनुपदनिषेत्स्यमानसंयोगादिरहिता, समासशून्याऽल्पसमासा वा स्यात्, तर्हि सा माधुर्यस्य गुणस्य व्यञ्जिका भवतीत्यर्थः।

अब तत्तद्गुण-व्यञ्जक-रचना-निरूपण के क्रम में सर्व प्रथम माधुर्य-गुण-व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं—'तत्र' इत्यादि। आनुपूर्वी (क्रम बद्ध वर्ण-विन्यास) रूपा वह

रचना माधुर्य गुण को अभिव्यक्त करती है, जो, टवर्ग से भिन्न वर्गों के प्रथम और तृतीय वर्णों अर्थात् क-ग, च-ज, त-द, प-ब, इन अक्षरों, तथा श-ष-स एवं य-र-ल-व से युक्त, समीप समीप में प्रयुक्त किये गये अनुस्वारों, परसवर्णों और केवल अनुनासिकों से शोभित, आगे वर्णित होने वाले, साधारणतया और विशेषरूपेण निषिद्ध संयोगादिकों से रहित और समास से शून्य अथवा छोटे-छोटे कतिपय समासों से युक्त हो।

तद्वर्गचतुष्टयघटक-व्यवच्छिन्न-द्वितीयचतुर्थवर्णविषये विशेषमाह—

द्वितीय-चतुर्थास्तु वर्ग्या गुणस्यास्य नानुकूलाः, नापि प्रतिकूलाः, दूरतया सन्निवेशिताश्चेत्।

वर्गे भवा वर्ग्या वर्णाः।

टवर्गातिरिक्तवर्गचतुष्टयस्यावशिष्टा द्वितीयाश्चतुर्थाश्च वर्णा अस्य माधुर्यगुणस्य, अनुकूला उपकारका न भवन्ति, यदि दूरतया विप्रकर्षेण सन्निवेशिताः, तदा प्रतिकूला विरोधिनोऽपि न भवन्ति, किन्तूदासीना एवेत्यर्थः।

टवर्ग से अतिरिक्त चार वर्गों के दूसरे और चौथे वर्ण अर्थात् ख-घ, छ-झ, थ-ध, फ-भ, यदि दूर-दूर में प्रयुक्त किये गये हों, तो वे न माधुर्य गुण के अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल, अर्थात् उदासीन रहते हैं—उनके रहने और न रहने से कुछ बनता, बिगड़ता नहीं।

तत्रापि विशेषमभिधत्ते—

नैकट्येन तु प्रतिकूला अपि भवन्ति, यदि तदायत्तोऽनुप्रासः।

यदि तदायत्तस्तदधीनोऽनुप्रासो भवति, तर्हि नैकट्येन सामीप्येन सन्निवेशितास्ते द्वितीयादिवर्णा माधुर्यस्य प्रतिकूला अपि न तूदासीना भवन्तीत्यर्थः।

यदि समीप-समीप में उनका प्रयोग हुआ हो और उनसे अनुप्रास भी बन जाते हों, तब प्रतिकूल भी हो जाते हैं।

अत्रैव परकीयं मतमाचष्टे—

अन्ये तु—वर्गस्थानां पञ्चानामप्यविशेषेण माधुर्यव्यञ्जकतामाहुः।

टवर्गातिरिक्तवर्गघटकानां पञ्चानामपि (न तु द्वितीयचतुर्थभिन्नानां) वर्णानाम् अविशेषेण तुल्यतया नैकट्यनिवेशादिविचारराहित्येन वा, माधुर्यगुणव्यञ्जकतामन्ये वदन्तीत्यर्थः।

वर्गद्वितीयचतुर्थवर्णानां नैकट्येन प्रयुक्तानामोजोगुणव्यञ्जकत्वस्यानुपदं वक्ष्यमाणत्वात्तन्न विचाररमणीयमिति बोध्यम्।

टवर्ग से भिन्न वर्गों के पांचो अक्षर समान रूप से माधुर्य को अभिव्यक्त करते हैं ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है।

माधुर्यगुणव्यञ्जकरचनामुदाहरति—

उदाहरणम्—

भगवद्भक्तः स्वान्तं बोधयति—

'तां तमालतरुकान्तिलङ्घिनीं, किङ्करीकृतनवाम्बुदत्विषम्।
स्वान्त! मे कलय शान्तये चिरं, नैचिकीनयनचुम्बितां श्रियम्॥'

हे स्वान्त मानस! तमालतरोस्तापिच्छद्रुमस्य, कान्तेः श्यामद्युतेः, लङ्घिनीमतिशायिनीं, किङ्करीकृता विजितत्वाद्दासीकृता नवाम्बुदस्य नवीनमेघस्य त्विड्छविर्यया तादृशीम्, नैचिकीनां धेनूनां नयनैश्चुम्बितां प्रेम्णा विलोकितां, श्रियं श्रीकृष्णशोभां, मे मम शान्तयेऽन्तस्सुखाय, चिरं चिन्तय भावयेत्यर्थः।

इह स्वान्तेत्यस्यामन्त्रितसञ्ज्ञोत्तरम्—'आमन्त्रितमविद्यमानवत्' इत्यनेनाविद्यमानवद्भावे पदात्परत्वाभावान्ममेत्यस्य म आदेशश्चिन्तनीयः।

अब माधुर्य व्यञ्जक रचना का उदाहरण देखिये—कोई भक्त अपने अन्तःकरण से कहता है—हे मेरे मन ! तू, शान्ति के लिये चिरकाल तक उस श्री-शोभा की भावना कर, जो तमाल तरु की कान्ति (श्यामद्युति) को लाँघ गई है—अर्थात् उससे भी अधिक श्यामलता-मनोहर है, और जिसने नवीन जलद की द्युति को दास बना लिया है—अर्थात् उसको पराजित कर दिया है-अपने सामने तुच्छ बना डाला है, एवं जो गायों के नेत्रों से चुम्बित (इकटक देखी गई) है। सारांश है कि नवाम्बुद-श्यामल भगवान् गोपाल की शोभा का स्मरण सदा करता रह।

पुनरुदाहरति—

यथा वा—

'स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-
रन्तःस्मितालसविलोकनवन्दनीया।
आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन काऽपि,
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः॥'

पद्यमिदं सप्रसङ्गनिर्देशं प्राग्विवृतमेवेतीह केवलं टवर्गपरिहाराय परिवर्तितपदभागं व्याख्यायते—अन्तःस्मितेनाभ्यन्तरस्थतयाऽव्यक्तहासेन, अलसविलोकनेन मदश्रमादिप्रयुक्तालस्ययुक्तनिरीक्षणेन, यद्वाऽन्तःस्मितं यत्र, तादृशेनालसविलोकनेन, वन्दनीयेत्यर्थः।

अथवा, जैसे—जिसका कपोल-फलक सघन घर्म-जल-बिन्दुओं से शोभित है और जो आन्तर (अप्रकट) मन्द हास एवं अलसाई हुई चितवनों से प्रशंसा करने योग्य है, उस मदमय नयन वाली नायिका की रमणीय और अनिर्वचनीय अवस्था, स्मरण करते ही मेरे मन में आनन्द को पनपा देती है।

पद्यद्वयोदाहरणतामुपपादयति—

प्रथमे पद्येऽतिशयोक्त्यलङ्कृतस्य भगवद्ध्यानौत्सुक्यस्य भगवद्विषयकरतेर्वा ध्वन्यमानायाः शान्त एव पर्यवसानात् तद्गतमाधुर्यस्याभिव्यञ्जिका रचनेयम्। द्वितीये तु स्मृत्युपष्टब्धशृङ्गाररसस्य।

प्रथमे 'ताम्' इत्यादिपद्ये गोविन्दश्रियस्तमालतरुकान्तिलङ्घन-नवाम्बुदत्विड्दासीकरणसम्बन्धकल्पनादतिशयोक्त्यलङ्कारोपस्कृतस्य भगवद्ध्यानौत्सुक्यरूपव्यभिचारिभावस्य, विनिगमनविरहाद् भगवद्विषयकरतिभावस्य वा व्यज्यमानस्य प्रधानव्यङ्ग्य-शान्तरसोपस्कारकतया शान्तरसवृत्तिमाधुर्यगुणस्य व्यञ्जिका रचनाऽस्ति। द्वितीये 'स्वेदाम्बु-' इत्यादिपद्येषु व्यज्यमानेन मदिरेक्षणादशास्मृतिरूपव्यभिचारिभावेन पोषिते शृङ्गाररसे वर्तमानस्य माधुर्यस्य व्यञ्जिका रचनाऽस्तीत्यर्थः।

इह 'रतेर्वा' इत्यत्र 'रतिभावस्य वा' इति सुपठम्।

यहां प्रथम श्लोक में गोपाल की शोभा का सम्बन्ध, तमाल-तरु कान्ति-लंघन से और नव-जलद-कान्ति-दासीकरण से दिखलाया गया है, अतः अतिशयोक्ति अलङ्कार है, जिससे वह भगवान् के ध्यान की उत्सुकता (व्यभिचारीभाव) अथवा वह भगवान् के विषय में प्रेम (स्थायीभाव) अलंकृत होता है, जो व्यङ्ग्य है, परन्तु ये दोनों भाव यहां अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते, वरन चरम व्यङ्ग्य शान्त रस के पोषक हैं, अतः यहां की रचना शान्तरस-गत माधुर्य गुण की व्यञ्जिका होती है। द्वितीय श्लोक में नायिका की दशा के स्मरण (व्यभिचारीभाव) से पुष्ट हो कर अभिव्यक्त होने वाले शृङ्गार-रस के माधुर्य को रचना ध्वनित करती है।

ओजोव्यञ्जकरचनां निरूपयति—

नैकट्येन द्वितीय-चतुर्थवर्गवर्ण-टवर्ग-जिह्वामूलीयो-पध्मानीय-विसर्ग-सकारबहुलैर्वर्णैर्घटितो झय्-रेफान्यतरघटितसंयोगपरह्रस्वैश्च नैकट्येन प्रयुक्तैरालिङ्गितो दीर्घवृत्त्यात्मा गुम्फ ओजसः।

द्वितीयैश्चतुर्थैश्च टवर्गातिरिक्तवर्गचतुष्टयवर्णैः, टवर्गेण, जिह्वामूलीयेनोपध्मानीयेन, विसर्गेण, सकारेण च बहुलैर्भूयिष्ठैः, समीप्येन प्रयुक्तैर्वर्णैः, घटितः, पञ्चमवर्णातिरिक्तवर्गपञ्चकवर्णात्मकेन झय्प्रत्याहारेण रेफेण वा घटितो यः संयोगः, स परो येभ्यस्तादृशैर्ह्रस्ववर्णैश्च नैकट्येन प्रयुक्तैर्युक्तः, दीर्घसमासरूपश्च गुम्फो रचनाविशेष ओजसो व्यञ्जक इत्यर्थः।

अब ओजो-व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं—'नैकट्येन' इत्यादि। वह गुम्फ (रचना-विशेष) ओजोगुण का व्यञ्जक होता है, जो समीप-समीप में प्रयुक्त टवर्गातिरिक्त वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ अर्थात् ख-घ आदि वर्णों टवर्ग के पांचो अक्षरों और जिनमें जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग तथा सकार ये अक्षर अधिक हों—ऐसे अक्षरों से बना हुआ, वर्गों के आदि चार-चार अक्षररूप झय प्रत्याहार अथवा रेफ के द्वारा बने हुये संयोग जिनके आगे हों ऐसे समीप-समीप में प्रयुक्त ह्रस्व स्वरों से युक्त, एवं बड़े-बड़े समास वाला होता है।

विशेषमाचष्टे—

अस्मिन् पतिताः प्रथम-तृतीयवर्ग्या गुणस्यास्य नानुकूला नापि प्रतिकूलाः संयोगाघटकाश्चेत्। तद्घटकास्त्वनुकूला एव। एवमनुस्वारपरसवर्णा अपि।

अस्मिन् गुम्फे, पतिता गुम्फघटकाः, प्रथमे काद्याः, तृतीया गाद्याश्च ये वर्ग्या वर्गचतुष्टयघटका वर्णाः, ते माधुर्यव्यञ्जकत्वादस्यौजोगुणस्य, अनुकूला न भवन्ति, यदि संयोगस्याघटकास्तदा प्रतिकूला अपि न किन्तूदासीना भवन्ति। त एव पुनस्संयोगघटका ओजसो व्यञ्जकत्वादुपकारका एव भवन्ति। इत्थमनुस्वार-परसवर्णा अपि संयोगघटका उदासीनाः संयोगघटकास्त्वनुकूला एव भवन्तीत्यर्थः।

इस ओजोगुण व्यञ्जक रचना-विशेष के मध्य में आगत वर्गों के प्रथम और तृतीय—अर्थात् क-ग आदि वर्ण यदि संयुक्त न हों, तब ओजोगुण के न अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल, और यदि संयुक्त हों, तब तो अनुकूल ही हो जाते हैं। इसी तरह अनुस्वार और परसवर्ण को भी समझना चाहिये अर्थात् वे भी ओज के अनुकूल, प्रतिकूल कुछ नहीं होते।

उदाहरति—

यथा—'अयं पततु निर्दयं दलितदप्त-' इत्यादौ प्रागुदाहृते।

न वोच्छलित-' इत्यादिनाऽऽरम्भोऽस्य पद्यस्य। गुम्फोऽयं झय्-संयोगादिघटितत्वादोजसो व्यञ्जकः, किन्तु टवर्गशून्यः।

जैसे—'अयं पततु निर्दयम्'''''' इत्यादि श्लोक में। इस पद्य का आरम्भ 'नवोच्छलित''' इत्यादि वाक्यों से है, और पहले रौद्र-रस आदि के उदाहरणों में लिखे जा चुके हैं। यद्यपि इस पद्य में टवर्ग के वर्ण नहीं आवे, तथापि झय् प्रत्याहार तथा संयोग आदि से युक्त होने के कारण यह पद्य ओजोगुण व्यञ्जक रचना का उदाहरण होता है। (हिन्दी में भूषण कवि की रचना प्रायः इसी गुण की अभिव्यञ्जिका है)

प्रसादव्यञ्जकरचनां निरूपयति—

श्रुतमात्रा वाक्यार्थं करतलबदरमिव निवेदयन्ती घटना प्रसादस्य।

या घटना वर्णविशेषनियमरहिता श्रवणेनैव सद्यः करतलस्थितं बदरमिव सर्वाशैर्वाक्यार्थं निवेदयन्ती वाक्यार्थबोधिका भवति, सा प्रसादगुणस्य व्यञ्जिकाऽस्तीत्यर्थः।

अब प्रसादगुण—व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं 'श्रुतमात्रा' इत्यादि। जिसके सुनते ही वाक्य का अर्थ हाथ के बेर की तरह दीखने लगे—उसके समझने में कुछ भी आयास नहीं करना पड़े—वही रचना प्रसादगुण—व्यञ्जिका कहलाती है।

अत्र विशेषमाह—

अयं च सर्वसाधारणो गुणः।

अयमेतद्घटनाव्यङ्ग्यो गुणः प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु सर्वासुरचनासु च साधारणः, केवलमिह वाक्यार्थस्य झटितिप्रतीतिविषयत्वमपेक्ष्यत इति भावः।

यह (प्रसाद) गुण सब रसों में सब भावों में रहता है, इस गुण की अभिव्यक्ति भी सब प्रकार की रचनाओं से हो सकती है, बशर्ते वे रचनायें झटिति अर्थबोधक हों।

उदाहरणविषये ब्रवीति—

उदाहरणान्यत्र प्रायशो मदीयानि सर्वाण्येव पद्यानि। तथापि यथा—

यद्यपि मद्रचितानि सर्वाण्येव प्रायशो बाहुल्येनात्र प्रसादव्यञ्जकरचनायामुदाहरणानि, सन्तीति विशिष्यनिर्देशस्यापेक्षा नास्ति तथापि दिग्दर्शनाय किञ्चिन्निर्दिश्यते।

प्रायः मेरे (पण्डित राज के) सभी पद्य इस गुण के उदाहरण हो सकते हैं, तथापि जैसे—

मानिनीं मुग्धां सहचरी परिबोधयति—

'चिन्तामीलितमानसो मनसिजः, सख्यो विहीनप्रभाः,
प्राणेशः प्रणयाकुलः, पुनरसावास्तां समस्ता कथा।
एतत्त्वां विनिवेदयामि मम चेदुक्तिं हितां मन्यसे,
मुग्धे ! मा कुरु मानमाननमिदं राकापतिर्जेष्यति ॥'

हे मुग्धे ! त्वदस्थानमानदुराग्रहेण मनसिजः कामः, का परिणतिरस्य स्यादिति चिन्तया मीलितं सङ्कुचितं मानसं यस्य, तादृशोऽस्ति, सख्यः सहचर्यश्च विपरीतफलशङ्कया विहीनप्रभानिस्तेजस्काः सन्ति, प्राणेशः प्रियतमश्च प्रणयेनाकुलः स्वापराधानाकलनाद्व्यग्रचित्तोऽस्ति, (एतदाकलय्य मानाद्विरम, अथवा) असौ स्वजनदौस्थ्यस्य समस्ता कथा पुनरास्तां तिष्ठतु (न कथयामि, किन्तु) चेद् यदि, मम सदा हिताचरणपरायणाया उक्तिं हितां स्वोपकारिणीं मन्यसे, तर्हि, 'अधुना पूर्णचन्द्रोदयसमये, मानं मा कुरु, अन्यथा, इदं निसर्गनिष्कलङ्कमपि रोषकलुषितमिदं तवाननं राकापतिः पूर्णचन्द्रो यातनाविधानेन सकलङ्कोऽपि सुषमाप्रकर्षेण जेष्यति' इत्येतत् त्वां विनिवेदयामि कथयामीत्यर्थः।

मुग्धा मानिनी नायिका को सखी समझा रही है कि तेरे दुराग्रह को देख कर 'इसका क्या परिणाम होगा' इस चिन्ता से कामदेव का मन सङ्कुचित हो रहा है, सखियां विपरीत फल की आशङ्का से कान्तिहीन हो गई हैं और प्राण—नाथ प्रेम के कारण अधीर हो उठे हैं—अब भी तो मान का त्याग कर, अच्छा, इन बातों को छोड़ भी दे, फिर भी यदि मेरे कथन को अच्छा मानती है—जैसाकि बराबर मानती आ रही है—तो तुझसे इतना निवेदन कर देती हूं कि मुग्धे ! तू अभी मान कर, अन्यथा इस सुन्दर मुख को पूनो का चाँद जीत लेगा—कोप से मुख के कलुषित हो जाने के कारण कलङ्की चन्द्र की भी सुषमा बढ़ जायगी। ऐसी मुग्धता किस काम की ? जिसके चलते अपना हित भी समझ में न आ सके।

उपपादयति—

अत्र सर्वावच्छेदेन प्रसादाभिव्यञ्जकत्वम्, अंशभेदेन तु माधुर्यौजोऽभिव्यञ्जकत्वमपि, मनसिजान्तस्य माकुर्वादेश्च माधुर्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्, सख्य- इत्यादेरोजोगमकत्वात्।

अत्रास्मिन् पद्ये मनसिज इत्यन्ते 'मा कुरु' इत्यादौ चांशे माधुर्यव्यञ्जकतायाः, सख्य इत्यादावंशे चौजोव्यञ्जकताया दर्शनादंशतो माधुर्यौजोव्यञ्जकत्वेऽपि, सर्वैरंशैर्झटित्यर्थसमर्पणात् सर्वांशे प्रसादाभिव्यञ्जकत्वमेवेतिसारम् ।

यह सम्पूर्ण श्लोक प्रसाद गुण को व्यक्त करता है, क्योंकि इसकी रचना ऐसी है, जिससे वाक्य के अर्थ को समझने में कोई कठिनता नहीं होती । हाँ ! इस श्लोक का कोई-कोई अंश ऐसा भी है, जो माधुर्य और ओज को भी अभिव्यक्त करता है, जैसे—'चिन्ता-मीलित-मानसो मनसिजः' और 'मा कुरु मानमाननमिदम्' ये दोनों अंश माधुर्य को अभिव्यक्त करते हैं, तथा 'सख्यो विहीनप्रभाः' इत्यादि भाग ओज को ध्वनित करता है ।

अत्रौजोव्यञ्जकरचनाया अप्रसक्तिमाशङ्क्य निरस्यति—

नन्वत्र शृङ्गाराश्रयस्य माधुर्यस्याभिव्यक्तये तदनुकूलाऽस्तु नाम रचना, ओजसस्तु कः प्रसङ्गो यदर्थं तदनुकूलवर्णविन्यास इति चेत्, नायिकामानोपशान्तये कृतानेकयत्नायास्तदीयं हितमुपदिशन्त्याः सख्याः सक्रोधत्वस्य व्यञ्जनीयतया तथाविन्यासस्य साफल्यात् ।

शृङ्गार आश्रयो यस्येति विग्रहः । तदनुकूला माधुर्यव्यञ्जिका । कः प्रसङ्गो वीरादिरसाप्रतीतेः । तथा विन्यासस्य-ओजोव्यञ्जकवर्णरचनायाः । साफल्यात् सार्थकत्वात् ।

इह वीरादिरसाव्यञ्जनादोजोव्यञ्जकरचनाया निरर्थकत्वं न शङ्कनीयम्, व्यङ्ग्यसखीक्रोधोपहितरौद्ररसप्रतीत्या तद्वृत्त्योजोरचनायाः सार्थकत्वस्य स्फुटं सत्त्वादिति सारम् ।

यदि यहां यह शङ्का की जाय कि यहां शृङ्गार-रस की प्रधानता है, अतः उस रसमें रहने वाले माधुर्य गुण को अभिव्यक्त करने के लिये तदनुकूल रचना ठीक है, परन्तु ओज का तो यहां कोई प्रसङ्ग ही नहीं है, क्योंकि वह (ओज) वीर-रस का गुण है और यहां रस है शृङ्गार, फिर ओजोगुण के अनुकूल रचना क्यों की गई ? इसका समाधान यह है कि सखियों ने नायिका के मान को शान्त करने के लिये अनेक प्रयत्न किये पर नायिका ने अपने हठ को नहीं छोड़ा, अब भी उसके हित का ही उपदेश सखियां कर रही थीं, किन्तु नायिका उसका ग्रहण नहीं कर रही थी, इस स्थिति में सखियों का क्रोधयुक्त हो उठना स्वाभाविक है, उसी क्रोधयुक्तता को अभिव्यक्त करने के लिये ओजो गुण के अनुकूल वर्ण-विन्यास भी अंश-विशेष में किया गया है और वह सफल है ।

उत्तरपक्षं समर्थयति—

किं बहुना—रसस्यौजस्विनोऽमर्षादेर्भावस्य चाविवक्षायामपि, वक्तरि क्रुद्धतया प्रसिद्धे, वाच्ये वा क्रूरतरे, आख्यायिकादौ प्रबन्धे वा परुषवर्णघटनेष्यते ।

यतो ओजोव्यञ्जकरचनाया रौद्रादिरसामर्षादिभावव्यञ्जनस्थल एव नैव नियतत्वम्, अतो यत्र रौद्रादिरसस्य, अमर्षादिभावस्य च यत्र न विवक्षा, तत्रापि क्रोधित्वेन प्रख्याते वक्तरि, अतिकर्कशे (दारुणतरे वा) वाच्ये, दीर्घसमासोचिताख्यायिकादौ प्रबन्धे च 'वक्तृ-वाच्य-प्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् । रचना-वृत्ति-वर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ।' इति मम्मटोक्तेर्वक्तृ-वाच्य-प्रबन्धानुरोधेनौजोव्यञ्जकरचना दृश्यते, तस्मादुत्तरपक्ष एव सम्यगित्याकूतम् ।

अधिक कहने सुनने की कोई आवश्यकता नहीं, जहां ओजस्वी रस (वीर आदि) और अमर्ष प्रभृति भाव (जो ओज गुण के आश्रय के रूप में प्रसिद्ध है) नहीं भी वर्णनीय हो, वहां भी यदि वक्ता क्रोधी के रूप में प्रसिद्ध हो, अथवा वर्णनीय अर्थ क्रूरतामय हो, यद्वा लेखनीय निबन्ध आख्यायिका आदि हो, तो कठोर वर्णों का विन्यास इष्ट है ।

पूर्वोदाहरणे माधुर्यसाङ्कर्यादसङ्कीर्णमुदाहरणमाह—

यथा वा—

भक्तो भगवन्तं भाषते—

'वाचा निर्मलया सुधामधुरया यां नाथ ! शिक्षा मदा-
स्तां स्वप्नेऽपि न संस्पृशाम्यहमहम्भावावृतो निस्त्रपः ॥
इत्यागश्शतशालिनं पुनरपि स्वीयेषु मां बिभ्रत-
स्त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते ! मत्तो न मत्तः परः ॥'

हे नाथ ! यदुपते ! निर्मलया स्फुटया निर्दोषया वा, सुधामधुरयाऽमृतमिष्टया, वाचा, मह्यमादौ, यां कर्तव्यशिक्षां त्वमदा व्यतार्षीः, अहम्भावोऽभिमानस्तेनावृत आच्छन्नः, निस्त्रपः कर्तव्यत्यजनोचितलज्जाशून्यः, अहं स्वप्नेऽपि का कथा जागरणस्य, तां शिक्षां, न संस्पृशामि नानुतिष्ठामि न स्मरामि वा, इत्यागश्शतशालिनमेवंरूपकापराधशतविधायिनं मां, पुनरपि तथापि, स्वीयेष्वात्मीयजनमध्ये, बिभ्रतो गणयतः पुष्णतो वा त्वत्तस्त्वत्सकाशात्, परोऽन्यो दयानिधिः कारुणिकतमो मत्तो मत्सकाशात् परो मत्तः क्षीबोऽज्ञानोपहतान्तरात्मा वा नास्तीत्यर्थः।

अच्छा, यदि माधुर्य और ओजोगुण से सङ्कीर्ण प्रसाद के उदाहरण में आपत्ति उठती है, तो, जाने दीजिये उसको अब शुद्ध प्रसाद गुण का ही उदाहरण लीजिये—हे नाथ ! आप ने अमृत तुल्य मधुर और निर्मल वाणी के द्वारा, जो शिक्षा दी, उसे अहङ्कार से आच्छन्न तथा निर्लज्ज मैं सपने में भी नहीं छूता-स्मरण करता। हे यदुपते ! इस तरह सैकड़ों अपराधों से युक्त होने पर भी मुझको आत्मीय जनों में गिनने वाले आपसे अधिक कोई दयालु नहीं है, और मुझ से अधिक कोई मत्त (पागल) नहीं है।

उपपादयति—

अत्र गुणान्तरासमानाधिकरणः प्रसादः।

अत्र माधुर्येणौजसा वा न प्रसादः सङ्कीर्णः, किन्तु स्वतन्त्र इत्यर्थः।

यहाँ अन्य गुणों से अमिश्रित अर्थात् केवल-प्रसाद गुण है।

अथोक्तरचनासु सामान्येन विशेषेण च श्रवणोद्वेजकत्वाद्वर्जनीयानां निरूपणमवतारयति—

इदानीं तत्तद्गुणव्यञ्जनक्षमाया निर्मितेः परिचयाय, सामान्यतो विशेषतश्च वर्जनीयं किञ्चिन्निरूप्यते—

वर्णानां स्थानन्तर्यं सकृदप्येकपदगतत्वे किञ्चिदश्रव्यम्।

निर्मिते रचनायाः।

किञ्चिदित्यनेन क्वचित्तस्य क्षम्यता सूच्यते।

स्वानन्तर्यं स्वाव्यवहितोत्तरत्वं, वर्णानां, किञ्चिदीषत्, अश्रव्यं श्रवणेऽप्रियत्वादनर्हं तदा भवति, यदि एक पदगतमेकस्मिन्नेव पदे तद्वर्णद्वयं तिष्ठेदित्यर्थः।

अब उक्त गुणों को अभिव्यक्त करने की शक्ति रखने वाली रचना के परिचय कराने के लिये, साधारणतया-अर्थात् जिनको सब रसों में छोड़ना चाहिये और विशेषतया—अर्थात् जिनको किसी-किसी खास रस में ही छोड़ना चाहिये, सब में नहीं, त्याज्यों का कुछ निरूपण किया जाता है। एक वार भी यदि कोई वर्ण एक ही पद में लगातार दो वार प्रयुक्त हो, तो वह सुनने में कुछ भद्दा सा लगता है, अतः ऐसा नहीं करना चाहिये।

उदाहरति—

यथा—'ककुभसुरभिः, विततगात्रः, पललमिवाभाति' इत्यादौ।

ककुभः कुटजः। पललं मांसम्। अत्र ककारद्वयस्य, तकारद्वयस्य, लकारद्वयस्य चैकपदघटकस्य सकृदप्यव्यवधानं किञ्चिदश्रव्यत्वाद् वर्जनीयमिति भावः।

जैसे—ककुभसुरभि (कुटज पुष्पके समान सुगन्धित), विततगात्र (विस्तृत अङ्ग वाला), और पललमिवाभाति (मांस सा दीखता है), इत्यादि स्थलों में। तात्पर्य यह है कि यहां क्रमशः क-क, त-त और ल-ल ये अक्षर एक ही एक ही पद में लगातार दो-दो बार प्रयुक्त होने के कारण अश्रव्य हो गये हैं।

विशेषमाचष्टे—

असकृच्चेदधिकम्।

एकपदघटकानां वर्णानामसकृदनेकवारं यदि स्वानन्तर्यं, तर्हि तदधिकं नितरामश्रव्यत्वाद्वर्जनीयमित्याशयः।

यदि एक ही पद में अनेक बार एक ही अक्षर लगातार प्रयुक्त हों, तब तो और अधिक अश्रव्यता-दोष आ जाता है।

उदाहरति—

यथा—'विततततरस्तरुरेष भाति भूमौ'।

अत्रैकपदघटकस्य तकारस्य द्विःस्वानन्तर्यमधिकमश्रव्यम्। अतो न क्षम्यमित्याशयः।

जैसे—'विततत:......' इत्यादि मूलोक्त वाक्य में। यहां एक ही पद में लगातार तीन बार तकार का प्रयोग हुआ है।

स्वानन्तर्यस्य पृथक्पदघटकत्वेऽप्यश्रव्यत्वमाह—

एवं भिन्नपदगतत्वेऽपि।

एवमेकपदवत्।

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदों में भी एक ही अक्षर के बार-बार आने से भी कुछ अश्रव्य प्रतीत होता है।

उदाहरति—

यथा—'शुक! करोषि कथं विजने रुचिम्' इत्यादौ।

अत्र पृथक्पदघटकयोः ककारयोः सकृदानन्तर्यमीषदश्रव्यमिति ज्ञेयम्।

जैसे—'शुक! करोषि......' इत्यादि मूलोक्त वाक्य में। यहां भिन्न-भिन्न पदों में ककार का एक बार प्रयोग हुआ है।

पृथक्पदघटकत्वेऽसकृत् स्वानन्तर्यस्यातिवर्ज्यत्वमभिदधाति—

असकृद्भिन्नपदगतत्वे ततोऽप्यधिकम्।

ततः पूर्वापेक्षयाऽप्यधिकमश्रव्यम्।

भिन्न पदों में भी बार-बार एक अक्षर का प्रयोग और अधिक श्रवण-पीड़ा-दायक होता है।

उदाहरति—

यथा—'पिक! ककुभो मुखरीकुरु प्रकामम्'।

ककुभोदिशः। इह भिन्नपदघटकककारासकृदानन्तर्यमधिकमश्रव्यम्।

जैसे—'पिक! ककुभो......' इत्यादि मूल के पदों में। यहां भिन्न-भिन्न पद में ककार का चार बार प्रयोग हो गया है। वाक्य का अर्थ यह है कि 'रे कोकिल! तू, दिशाओं को यथेच्छ अपनी गूँज से भर दे'।

इत्थं स्वानन्तर्यस्याश्रव्यत्वं प्रतिपाद्य, स्ववर्ग्यानन्तर्यस्य तत् प्रतिपादयति—

एवं स्ववर्ग्यानन्तर्यं सकृदेकपदगतत्वे किञ्चिदश्रव्यम्।

एवं स्वानन्तर्यवत्।

इसी प्रकार जिस वर्ग का अक्षर पूर्व में आ चुका हो, उसके साथ-साथ उसी वर्ग के भिन्न अक्षर का प्रयोग, यदि एक पद में और एक बार किया जाता है, तो वह भी कानों में कुछ खटकता है।

उदाहरति—

यथा—'वितथस्ते मनोरथः।'

वितथो निष्फलः।

अत्र तकार-थकारयोरेकवर्गघटकयोरेकपदगतयोरानन्तर्यं किञ्चिदश्रव्यम्।

जैसे—'वितथस्ते मनोरथः' (तुम्हारा मनोरथ विफल है) इस वाक्य में 'त' और 'थ' का।

विशेषमाह—

असकृच्चेदधिकम्।

असकृत् स्ववर्ग्यानन्तर्यं वर्णानां यदि स्यात्, तदा नितरां तदश्रव्यमित्यर्थः।

एक पद में एक वर्ग के भिन्न-भिन्न वर्णों की यदि बार-बार आवृत्ति हो तो और अधिक अश्रव्य होता है।

उदाहरति—

यथा—'वितथतरं वचनं तव प्रतीमः।'

प्रतीमो जानीमः।

इह तकार-थकार-तकाराणमेकपदास्थानामसकृदानन्तर्यमधिकमश्रव्यम्।

जैसे—'वितथतरम्'''' इत्यादि मूल के वाक्य में। यहाँ त-थ-त का प्रयोग। वाक्य का अर्थ यह है कि 'तेरे वचन को हम अत्यन्त मिथ्या समझते हैं'।

भिन्नपदघटकवर्णानां सकृत् स्ववर्ग्यानन्तर्यस्य किञ्चिदश्रव्यत्वमभिधत्ते—

एवं भिन्नपदगतत्वे।

एवमेकपदघटकत्ववत्।

इसी तरह भिन्न-भिन्न पदों में भी एक-वर्गीय अक्षरों की एक बार लगातार आवृत्ति भी अश्रव्य होती है।

उदाहरति—

यथा—'अथ तस्य वचः श्रुत्वा' इत्यादौ।

अत्र भिन्नपदघटकयोस्थकार-तकारयोः सकृदानन्तर्यं किञ्चिदश्रव्यमवसेयम्।

जैसे—'अथ तस्य''' इत्यादि मूलपद्यांश में। यहाँ भिन्न-भिन्न पदों में लगातार एकवर्गीय 'थ' और 'त' का प्रयोग।

भिन्नपदघटकस्ववर्ग्यासकृदानन्तर्यस्य नितरामश्रव्यत्वमाह—

असकृद् भिन्नपदगतत्वे तु ततोऽप्यधिकम्।

तत एकवारापेक्षयाऽपि।

भिन्न पदों में भी बार-बार ऐसा होने पर और अधिक अश्रव्य हो जाता है।

उदाहरति—

'अथ तथा कुरु, येन सुखं लभे'।

इह भिन्नपदघटकानां थकार-तकार-थकाराणामसकृदानन्तर्यं नितरामश्रव्यम्।

जैसे—'अथ तथा''''' इत्यादि मूल की पाँती में। यहाँ 'थ-त-थ' का प्रयोग।

विशेषमाह—

एतच्च वर्णानां प्रथमद्वितीययो-स्तृतीयचतुर्थयोरानन्तर्यम्।

वर्गाणां प्रथमद्वितीययोः, तृतीयचतुर्थयोर्वा वर्णयोर्यत् सकृदसकृद्वाऽऽनन्तर्यं, तदेव नितरामश्रव्यमित्यर्थः ।

यह एक वर्ग के वर्णों का सह-प्रयोग [प्रथम के बाद द्वितीय का और तृतीय के बाद चतुर्थ का हो, तभी अश्रव्य होता है ।

तदतिरिक्तानामीषदश्रव्यत्वमाचष्टे—

प्रथमतृतीययो-द्वितीयतृतीययोर्वाऽऽनन्तर्यं तु तथा नाश्राव्यम् , किन्त्वीषत् , निर्माणमार्मिकैकवेद्यम् ।

सकृदिति शेषः ।

तथा प्रथमद्वितीयानन्तर्यवदधिकम् । ईषत्त्वस्य विवरणं निर्माणेत्यादि ।

यथा प्रथमद्वितीययोः सकृदानन्तर्यमश्रव्यं, तथा प्रथमतृतीययोर्द्वितीयतृतीययोर्वाऽऽनन्तर्यं नाधिकमश्रव्यम् , किन्तु निर्माणे काव्यरचनायां ये मार्मिकाः (निपुणतयाः) तन्मात्रवेद्यमत्यल्पमित्यर्थः । उदाहरणन्तु 'निगदति खगः शुकोऽयम्' इत्यादि ज्ञेयम् ।

एक वर्गीय प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और तृतीय अक्षरों का सहप्रयोग तो उतना अश्रव्य नहीं होता—बहुत कम होता है, जिसको रचना-मर्मज्ञ जन ही समझ सकते हैं।

असकृत्तदानन्तर्यस्य नितरामश्रव्यत्वमाह—

एतदप्यसकृच्चेत् , ततोऽधिकत्वात् साधारणैरपि वेद्यम् ।

एतत् प्रथमतृतीययोर्द्वितीयतृतीययोरानन्तर्यमपि, यद्यसकृत् स्यात् , तर्हि तत्राश्रव्यत्वस्याधिक्यात् साधारणैर्निर्माणमार्मिकभिन्नैरपि ज्ञेयत्वं भवतीत्यर्थः ।

यह (प्रथम-तृतीय और द्वितीय-तृतीय का सहप्रयोग) भी यदि बार-बार हो, तब उसे साधारण शिक्षित भी समझ सकते हैं ।

क्रमेणोदाहरति—

यथा—'खग ! कलानिधिरेष विजृम्भते ।' 'इति वदति दिवानिशं स धन्यः ।'

इह पूर्वत्र खकार-गकार-ककाराणां वर्गद्वितीय-तृतीयप्रथमानामसकृदानन्तर्यात्, परत्र च दकार-तकार-दकाराणां वर्गतृतीय-प्रथम-तृतीयानामसकृदानन्तर्यादधिकाश्रव्यत्वम् ।

जैसे—'खग !' कला······' इत्यादि और 'इति वदति दिवा······' इत्यादि मूल लिखित वाक्यों में । यहाँ प्रथम वाक्य में ख-ग-क' रूप वर्ग के द्वितीय-तृतीय और प्रथम अक्षरों का अनेक बार सहप्रयोग है, एवं द्वितीय वाक्य में 'द-त-द' रूप वर्ग से तृतीय-प्रथम और फिर तृतीय का अनेक बार सहप्रयोग हुआ है ।

वर्गपञ्चमवर्णानन्तर्यविषये विशेषमाह—

पञ्चमानां मधुरत्वेन स्ववर्ग्यानन्तर्यं न तथा ।

वर्गपञ्चकस्य ये पञ्चमा ङकारादयो वर्णाः, तेषां स्ववर्ग्यैः सहानन्तर्यं मधुरत्वात् तथाऽश्रव्यं न भवतीत्यर्थः ।

पांचों वर्गों के पञ्चम अर्थात् 'ञमङणन' मधुर अक्षर हैं, अतः उनमें से किसी भी वर्ण का अपने-अपने वर्ग के किसी भी भिन्न अक्षर के साथ प्रयोग अश्रव्य नहीं होता ।

उदाहरति—

यथा—'तनुते तनुतां तनौ ।'

अत्र नकारस्य तकारेण सहासकृदानन्तर्यं नैवाश्रव्यं मधुरत्वात् ।

जैसे—'तनुते तनुतां तनौ' अर्थात् 'शरीर में कृशता का विस्तार करता है' इस वाक्य में नकार का तकार के साथ अनेक बार अनन्तरस्थानेन प्रयोग हुआ है, फिर भी अश्रव्यता नहीं हुई ।

विशेषमभिदधाति—

स्वानन्तर्यं त्वश्रव्यमेव ।

वर्गपञ्चमानामपि स्वानन्तर्यमश्रव्यमेव, न तु मधुरम्, स्ववर्गघटकस्वान्यानन्तर्यस्यैव मधुरत्वात् ।

'ञमङणन' इन पञ्चम वर्णों में भी किसी एक ही वर्ण का साथ ही साथ बार-बार प्रयोग तो अश्रव्य होता ही है ।

उदाहरति—

यथा—'मम महती मनसि व्यथाऽविरासीत् ।'

इह मकारस्य मकारेणैवासकृदानन्तर्यमश्रव्यम् ।

जैसे—'मम महती मनसि व्यथाऽविरासीत्' अर्थात् 'मेरे मन में बड़ी व्यथा उत्पन्न हुई' इस वाक्य में मकार का प्रयोग ।

प्रागुक्तानामपवादमाह—

एतानि चाश्रव्यत्वानि गुरुव्यवायेनापोद्यन्ते ।

गुरुव्यवायेन गुरुवर्णव्यवधानेन । अपोद्यन्ते बाध्यन्ते ।

प्राग्यावन्त्यश्रव्यत्वानि कथितानि, तत्र सर्वत्र यदि गुरुरज्वर्णो व्यवधानं भवेत्, तदाऽश्रव्यत्वदोषस्य बाधः स्यात् ।

पूर्व में जितनी अश्रव्यतायें कही गई हैं, वे सब तब दूर हो जाती हैं, जब दो अश्रव्य व्यञ्जनों के बीच में गुरु स्वर रख दिया जाता है ।

उदाहरति—

'सञ्जायतां कथङ्कारं काके केका-कलस्वनः ।'

इह गुरुभिराकारैकाराकारैर्व्यवधानात् ककारस्यासकृत् स्वानन्तर्यमपि नाश्रव्यम् । काकेति प्रथमान्तपाठे सम्बोधनम्, तवेत्यध्याहारः । यत्तु टीकायां सप्तम्यन्तपाठस्यैव युक्तत्वमभिहितम्, तच्चिन्त्यम्, प्रथमान्तपाठे काकेति वर्णसमुदायावृत्त्या यमकस्य लाभात् षष्ठीतत्पुरुषाङ्गीकारे तवेत्यध्याहारानपेक्षणात् ।

जैसे—'सञ्जायतां कथंकारं काके केकाकलस्वनः'—अर्थात् 'कौवे में मयूर-वाणी सा मधुर शब्द कैसे हो' इस वाक्य में यद्यपि ककार का लगातार अनेक बार प्रयोग हुआ है, तथापि वह अश्रव्य नहीं लगता, क्योंकि बीच-बीच में आदर आदि गुरु स्वर आ गये हैं ।

दार्ढ्याय पुनरुदाहरति—

यथा वा—

नायकः परामृशति—

'यथा यथा तामरसायतेक्षणा, मया सरागं नितरां निषेविता ।
तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो-विकृष्य मामेकरसं चकार सा ।।'

सा शतशोऽनुभूता प्रसिद्धा वा, तामरसायतेक्षणा सरोजदीर्घनयना, मया, सरागं सप्रणयं नितरामत्यन्तं, यथायथा येन येन प्रकारेण, निषेविता परिचरिता भावितोपभुक्ता वा, तथा तथा तेन तेन प्रकारेण तत्त्वकथा गुरुकृतब्राह्मणोपदेशभणितिरिव, माम्, सर्वतः सर्वेभ्यो विषयेभ्यः, विकृष्याकृष्य, एकरसं स्वमात्रसंलग्नचित्तं चकारेत्यर्थः ।

अत्र 'था-ता' 'था त' 'था त' इत्यंशेषु थकारस्य स्ववर्ग्येण तकारेणानन्तर्यं दीर्घाकारगुरुव्यवधानान्नाश्रव्यम् । एवं 'मा मे' इत्यंशे स्वानन्तर्येऽपि दीर्घव्यवायादश्रव्यत्वाभावो बोध्यः ।

अथवा जैसे—'यथा यथा…' इत्यादि पद्य में। इसका अर्थ है—नायक अपने मित्र से कहता है अथवा स्वयं सोचता है कि—मैंने उस कमलनयनी नायिका का प्रेमपूर्वक ज्यों-ज्यों पूर्णतया सेवन किया, त्यों-त्यों उसने मुझे, तत्त्व-कथा (गुरुप्रदत्त ब्रह्मोपदेश) की तरह, सब ओर से खींच कर, एक-रस कर दिया—अर्थात् जैसे ब्रह्मज्ञानी को सर्वत्र ब्रह्म ही केवल दीख पड़ता है, वैसे मुझे भी सब जगह वही नायिका दिखाई देने लगी है। यहां 'था-ता-' 'था त' 'था त' इन अंशों में थकार का स्ववर्गीय तकार के साथ अव्यवधानेन प्रयोग, दीर्घ आकार-स्वर के मध्य में रख देने से अश्रव्य नहीं हुआ।

तदाह—

इदन्तु दीर्घव्यवाये।

दीर्घत्वाद् येषां गुरुत्वं, तद्व्यवधानस्येदमुदाहरणम्।

गुरु स्वर दो प्रकार के होते हैं—दीर्घ और ह्रस्व, जिनके आगे में संयुक्त व्यञ्जन होता है। उनमें से पूर्वोक्त उदाहरणों में दीर्घ होने के नाते गुरु स्वरों के मध्य में आ जाने के कारण अश्रव्यता निवृत्त हो गई-यह दिखाया गया है।

येषां पुनर्लघूनामपि संयोगपरकत्वेनातिदेशिकं गुरुत्वं तद्व्यवधानमुदाहरति—

संयोगपरव्यवाये तु—

'सदा जयानुषङ्गाणा-मङ्गानां सङ्गरस्थलम्।
रङ्गाङ्गणमिवाभाति, तत्तत्तुरगताण्डवैः॥'

सदा सततं, जयेऽनुषङ्गः सम्बन्धो येषां, यद्वा जय एवानुषङ्ग आनुषङ्गिकफलं येषां, तथाभूतानाम्, अङ्गानां गङ्गादक्षिणतटस्थदेशविशेषाणां तद्वासिनां वा, सङ्गरस्थलं युद्धस्थानम्, तत्तत्तुरगताण्डवैस्तेषां तेषां तुरगाणामश्वानां ताण्डवैर्मुहुर्मण्डलाकारसञ्चारणरूपोद्धतनृत्यैः रङ्गाङ्गणमिव नृत्यशालाप्रस्थलमिव आभाति शोभत इत्यर्थः।

अत्र चतुर्थचरणे ह्रस्वस्य संयोगपरकत्वप्राप्तगुरुत्वस्याकारस्य व्यवाये स्वानन्तर्यं तकारस्य नाश्रव्यम्।

अब ह्रस्व होने पर भी जो स्वर आगे में संयुक्त व्यञ्जन के रहने से गुरु हो गये हैं, उनके मध्य में आ जाने से अश्रव्यता की निवृत्ति का उदाहरण देखिये—'सदा जयानु……' इत्यादि। कवि अङ्ग देश के राजाओं का वर्णन करता है कि—जय जिनका सर्वदा आनुषङ्गिक-स्वाभाविक फल रहा-अर्थात् जो सदा विजयको ही पाते रहे-कभी पराजित नहीं हुये, उन अङ्गदेश-वासियों का युद्ध-स्थल उन-उन (विलक्षण) अश्वों के नृत्यों (गति-विशेषों) से नाटक-घर के प्राङ्गण सा भासित होता है। यहां चतुर्थ चरण में तकार का बार-बार लगातार प्रयोग हुआ है, फिर भी अश्रव्यता नहीं, क्योंकि संयुक्त व्यञ्जन के आगे में रहने से गुरु बना हुआ अकार बीच में आ गया है।

उक्तापवादे विशेषमभिधत्ते—

इदन्तु बोध्यम्—गुरुर्ययोर्व्यवधायकस्तयोरेव वर्णयो-रानन्तर्यकृतमश्रव्यत्व-मपवदति, तेनात्र [थकारतकारानन्तर्यकृतदोषापवादेऽपि] तकारथकारानन्तर्य-कृतमश्रव्यत्वमनपनोदितमेव।

अपवदति बाधते। अत्र 'यथायथा' इत्यादिपद्ये। अनपनोदितमनिरस्तं विद्यमानमेवेति यावत्।

ययोर्वर्णयोर्मध्यपाती गुरुः, तयोरेव वर्णयोरानन्तर्यस्याश्रव्यत्वं व्यपोहति, नतु तदुत्तरस्यापि, तस्माद्यथेत्यादिपद्ये गुर्वाकारव्यवहितयोस्थायेति यातेति-थकारतकारयोरेवानन्तर्यस्याश्रव्यत्वं व्यपोढम्, नतु तथेति तथेति तकारथकारयोरपि, ततस्तदंशेऽश्रव्यताऽस्त्येवेत्याशयः।

यहां एक बात और समझने योग्य यह है कि—जिन दो वर्णों के बीच में गुरु स्वर

आता है, उन दोनों वर्णों के सामीप्य (एक के बाद एक की स्थिति) से उत्पन्न अश्रव्यता को ही वह गुरु दूर करता है, अतः 'यथा-यथा तामरसा……' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में 'था-त' 'था-त' इस अंश में जो थकार के अनन्तर तकार आया है, उनका दोष दूर हो जाने पर भी तकार के बाद थकार के आने से जो अश्रव्यता उत्पन्न होती है, वह बनी ही रही-उसकी निवृत्ति नहीं हुई, क्योंकि उसके मध्य में कोई गुरु स्वर नहीं, अपि तु ह्रस्व अकार है।

अश्रव्यान्तरं वदति—

एवं त्र्यादीनां संयोगोऽपि प्रायेणाश्रव्यः।

एवमुक्तस्थलवत् त्र्यादीनां त्रिप्रभृतीनां (त्रयाणां चतुर्णां वा) वर्णानां, संयोगोऽपि प्रायेण बहुधाऽश्रव्यो भवतीत्यर्थः। प्रायेणेति क्वचित् त्र्यादिसंयोगस्याप्यश्रव्यत्वं सूचयति।

इसी प्रकार तीन अथवा तीन से भी अधिक वर्णों का संयोग भी प्रायः अश्रव्य होता है। यहां प्रायः-पद इस बात को सूचित करता है कि कहीं-कहीं तीन-चार वर्णों का संयोग भी अश्रव्य नहीं होता।

उदाहरन्नुपसंहरति—

'राष्ट्रे तवोष्ट्र्यः परितश्चरन्ति' इत्येवमादयः श्रुतिकाटवभेदा अन्येऽप्यनुभवानुसारेण बोध्याः।

श्रुतिकाटवं श्रुतिकटुत्वम्।

राष्ट्र इत्यत्र षकार-टकार-रेफाणां त्रयाणाम् उष्ट्र्य इत्यत्र च यकारसहितानां तेषां चतुर्णां संयोगः। अन्येऽपि श्रुतिकटुत्वप्रकारा एवमूहनीया इति सारम्।

जैसे—'राष्ट्रे तवोष्ट्र्यः परितश्चरन्ति'-अर्थात् 'तेरे राष्ट्र में उटनियां चारो ओर चरती-फिरती हैं' इस वाक्य में एक जगह षकार-टकार-रेफों का और दूसरी जगह षकार-टकार-रेफ-यकारों का संयोग है। इसी प्रकार श्रुति-कटुता के अन्य अन्य भेदों को भी अनुभव के अनुसार समझ लेना चाहिये।

पुनरश्रव्यान्तरमाचष्टे—

अथ दीर्घानन्तर्यं संयोगस्य भिन्नपदगतस्य सकृदप्यश्रव्यम्, असकृत् तु सुतराम्।

पृथक् पदघटकस्य संयोगस्य सकृदपि दीर्घादव्यवहितोत्तरत्वमश्रव्यम्भवति, असकृत् पुनः सुतरामश्रव्यं भवतीत्यर्थः।

पूर्व पद के अन्त में दीर्घ स्वर हो और उसके आगे दूसरे पद में संयोग हो, तो उसका एक बार भी प्रयोग अश्रव्य होता है और यदि अनेक बार हो, तब तो बहुत ही अधिक अश्रव्य होता है। यहां एक बात यह समझ लेनी चाहिये कि-यह दोष संस्कृत में ही होता है, हिन्दी में नहीं, क्योंकि वहां भिन्न पद में संयोग के रहने पर भी पूर्व-पद के स्वर का गुरु जैसा उच्चारण करने की रीति प्रायः नहीं है।

उदाहरति—

'हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते।
सेवितं सर्वसम्पद्भि-रपि तद्भवनं वनम्॥'

यत्र भवने, हरिणीप्रेक्षणा मृगीविलोचना, गृहिणी, न विलोक्यते, सर्वसम्पद्भिः सेवितमपि तद्भवनं वनमित्यर्थः। अत्र हरिणीपदघटकदीर्घेकारानन्तर्यं प्रेक्षणापदावयवस्य प्रेतिसंयोगस्य सकृदित्यश्रव्यम्। समासादिहैकपदत्वेऽपि भिन्नपदत्वं प्रागुक्तयुक्त्याऽवसेयम्। ईदृशान्यश्रव्यत्वं पण्डितराजस्यापि पद्येषु—'ब्रह्मविद्या-प्रपञ्चः' 'रम्या स्फुरति बहुविधा' 'आप्रयागात्' इत्यादिषु बहुश उपलभ्यते। असकृद्दीर्घाव्यवहितोत्तरसंयोगोदाहरणं मृग्यम्।

जैसे—'हरिणीप्रेक्षणा यत्र······' इत्यादि। अर्थात्–जहां मृगी सी चपल और विशाल नयनों वाली गृहिणी (घर की मालिकिन) दृष्टि-गोचर नहीं होती, वह गृह सब सम्पत्तियों से भरा पूरा होने पर भी वन है—निर्जन वन के एकान्त वास जैसा ही वहां का वास मन- हूस होता है। यहां पूर्व-पद 'हरिणी' शब्द के आगे पकार और रेफ का संयोग है।

अभिन्नपदकत्वे दीर्घानन्तर्यं संयोगस्य नाश्रव्यमित्याह—

एकपदगतस्य तु तथा नाश्रव्यम्।

किञ्चिदश्रव्यं तु भवत्येवेति तथा शब्देन सूच्यते।

यदि दीर्घस्वर और उसके आगे का संयोग एक ही पद में हों, तब वैसी अश्रव्यता नहीं होती।

उदाहरति—

यथा—'जाग्रता विचितः पन्थाः, शात्रवाणां वृथोद्यमः।'

वृथा व्यर्थ उद्यमो यत्र, तादृशः शात्रवाणां शत्रूणां पन्थाः, मया जाग्रता विचितोऽन्विष्ट इत्यर्थः। इह जाग्रतेत्येकपदघटकत्वे दीर्घानन्तर्यं अतिसंयोगस्य तु तथा नाश्रव्यम्।

जैसे—'जाग्रता·····' इत्यादि—अर्थात्–व्यर्थ उद्योग वाले शत्रुओं के मार्ग को मैंने सावधानतापूर्वक खोज निकाला। यहां 'जाग्रता' इस एक पद में 'जा' के आगे 'ग-र' का संयोग उतना अश्रव्य नहीं होता।

संयोगान्तरे विशेषमभिधत्ते—

परसवर्णकृतस्य तु संयोगस्य सर्वथा दीर्घाद् भिन्नपदगतत्वाभावान्मधुर- त्वाच्चानन्तर्यं न मनागप्यश्रव्यम्।

परसवर्णनिष्पन्नो हि संयोगः पूर्वपदावयवत्वात् सर्वथा भिन्नपदघटक एकपदाघटको न, मधुरः सुश्रवश्च भवतीति तस्य दीर्घानन्तर्यं नेषदप्यश्रव्यं भवतीत्यर्थः।

पर-सवर्ण से बने हुए संयोग का दीर्घ स्वरके अनन्तर विद्यमान होना, नाम मात्र भी अश्रव्य नहीं होता, क्योंकि वह संयोग सर्वथा भिन्न पद-गत नहीं होता और मधुर भी होता है।

उदाहरति—

यथा—'तान्तमालतरुकान्ति-' इत्यादिपद्ये।

पूर्वमुदाहृते।

जैसे—'तान्तमाल-तरु-कान्ति लङ्घिनीम्···' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में।

इह 'तान्ते'ति 'नीङ्घि'मिति संयोगस्य दीर्घानन्तर्यं भिन्नपदगतत्वाभावान्न श्रव्यमित्याह—

अत्र 'ता'मित्यत्र 'नी'मित्यत्र च परसवर्णस्य पूर्वपदभक्ततया न संयोगो- भिन्नपदगतः।

भक्तत्वमवयवत्वम्।

उक्त श्लोक के 'तान्त और नीङ्घि' इन दोनों स्थानों में जो परसवर्ण हुआ है, वह पूर्व-पद का अङ्ग है, अतः यह संयोग भिन्न-पद में होने वाला नहीं कहा जा सकता।

ननु 'हलोऽनन्तराः संयोगः' इति सूत्रभाष्ये प्रत्येकं हल्वर्णानां संयोगसंज्ञाया अपि व्यवस्थापना–तत्पक्षे 'तान्ते'त्यादौ संयोगस्य भिन्नपदघटकत्वमस्त्येवेति चेत्, उच्यते— तथासति नकारस्य पूर्वपदावयवत्वाभावात् तेन व्यवहितस्य संयोगस्य न दीर्घाव्यवहित- परत्वमिति न दोष इत्याह—

प्रत्येकं संयोगसंज्ञेति पक्षेऽपि भिन्नपदगतः संयोगो न दीर्घाव्यवहितपरः।

यदि आप कहें कि व्याकरण-भाष्य के कर्ता पतञ्जलि ने 'प्रत्येकं संयोगसंज्ञा'-अर्थात्

'संयुक्त व्यञ्जनों में प्रत्येक व्यञ्जन को पृथक्-पृथक् संयोग कहना चाहिये' यह पक्ष भी माना है, तदनुसार तो उक्त स्थल में 'न' और 'त' आदि दोनों अलग-अलग संयोग कहे जायेंगे, फिर 'त' रूप संयोग भिन्न पदगत कहलायगा, इसका उत्तर यह है कि उक्त रीति से 'त' रूप संयोग भिन्न पदगत अवश्य हुआ, परन्तु वह दीर्घ स्वर से अव्यवहित अग्रिम वर्ण ही नहीं हुआ, क्योंकि मध्य में 'नकार' व्यवहित है। सारांश यह सिद्ध हुआ कि समुदाय को संयोगसंज्ञक मानिये, चाहे प्रत्येक को, यहां अश्रव्यता नहीं हो सकती।

नन्वेवमपि 'नव-अम्बुद-' इत्यत्र दीर्घैकादेशस्य पूर्वापरपदद्वयावयवत्वे निर्णीते, परपदगतस्य 'म्बु' इति संयोगस्य, पूर्वपदावयवदीर्घाकारादानन्तर्यं भिन्नपदघटकत्वं चास्त्येवेत्यश्रव्यत्वं दुष्परिहरमिति चेत्, न, भिन्नपदगतत्वमित्यस्यैकपदाघटकत्वपरत्वात्, प्रकृते दीर्घैकादेशस्य पूर्वपदस्याप्यवयवत्वेन संयोगघटितपरपदघटकत्वादेकपदाघटकत्वस्याभावाच्च दोष इत्याह—

'नवाम्बुदे-'त्यत्र त्वेकादेशस्य पदद्वयभक्ततया दीर्घाद्भिन्नपदगतत्वे सत्यव्यवहितोत्तरत्वं यद्यपि परसवर्णकृतसंयोगस्य भवति, तथाप्यत्र भिन्नपदगतत्वमेकपदगतभिन्नत्वं विवक्षितमित्यदोषः।

इसी श्लोक के 'नवाम्बुद' पद में 'नव' शब्द के अन्तिम स्वर 'अ' और 'अम्बुद' शब्द के आदि स्वर 'अ' के स्थान में जो 'आ' दीर्घ हुआ है, वह व्याकरण के नियमानुसार एकादेश है, अतः वह व्याकरण के 'अन्तादिवच्च' सूत्र के बल से दोनों पदों का अवयव माना जाता है, इसलिये जब वह पूर्व पद का अवयव माना जायगा, तब 'म्बु' में जो संयोग है, वह यद्यपि भिन्न-पद-गत है, दीर्घ से आगे है, तथा उसके बीच में कोई व्यवधान भी नहीं है, अत एव यहां अश्रव्यता दोष हो सकता था। तथापि यहां 'भिन्न-पद-गत' संयोग उसे ही माना गया है, जो किसी एक पद के अन्तर्गत न हो, अतः कुछ दोष नहीं होता। सारांश यह है कि 'नव' और 'अम्बुद' पद यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि समास हो जाने के कारण 'नवाम्बुद' रूप एक पद हो गया है, अतः अश्रव्यता का अवसर नहीं रहा।

इत्थं दीर्घादनन्तरस्य परसवर्णनिष्पन्नस्य भिन्नपदघटकस्य संयोगस्य सकृदपि प्रयोगेऽश्रव्यत्वं चेत्, तदा किमुतासकृत्प्रयोग इत्याख्याति—

असकृत्तु सुतराम्।

अश्रव्यत्वमिति शेषः।

पूर्वोक्त भिन्न-पद-गत संयोग यदि बार-बार आवे, तब और अधिक कर्णकटु हो जाता है।

उदाहरति—

यथा—'एषा प्रिया मे क गता त्रपाकुला'।

इह 'प्रेति' 'त्रेति' संयोगयोर्भिन्नपदगतयोर्दीर्घाकारानन्तर्यात् दोषः।

जैसे—'एषा प्रिया मे क गता भयाकुला'—अर्थात्—'यह मेरी प्रेयसी लज्जा से व्याकुल होकर कहां गई' इस वाक्य में। यहां उक्त प्रकार का संयोग बार-बार आया है—अर्थात् 'प्र' और 'त्र' इन दो स्थानों पर है।

नन्वनेनाश्रव्यत्वेन काव्यस्य का क्षतिरित्याकाङ्क्षायामभिदधाति—

इदं चाश्रव्यत्वं काव्यस्य पङ्गुत्वमिव प्रतीयते।

पङ्गुत्वं खञ्जता।

पङ्गुत्वं शरीरस्येवाश्रव्यत्वं काव्यस्यापकर्षकमित्येव क्षतिरित्याशयः।

उक्त अश्रव्यतायें काव्यकी पङ्गुता (लङ्गड़ापन) जैसी लगती है—अर्थात् इन अश्रव्य-

ताओं के कारण काव्य की सरस धारा में रुकावट पैदा हो जाती है, अतः इनका परिहार करना नितान्त आवश्यक है।

अश्रव्यान्तरमाचष्टे—

अथ स्वेच्छया सन्ध्यकरणं सकृदप्यश्रव्यम्।

स्वेच्छयेत्यनेन प्रकृतिभावव्यवच्छेदः। सन्धिः सन्धिकार्यं यणादि।

सूत्रापेक्षया सकृदपि यदि सन्धिकार्यं न क्रियेत, तदप्यश्रव्यं स्यादित्यर्थः।

अब सन्धि के नियमों के सम्बन्ध में सुनिये। अपनी इच्छा से (न कि व्याकरण के नियम से) एक बार भी सन्धि का नहीं करना अश्रव्य होता है।

उदाहरति—

यथा—'रम्याणि इन्दुमुखि! ते किलकिञ्चितानि।'

किलकिञ्चितं 'स्मितशुष्करुदित-हसित-त्रास-क्रोध-श्रमादीनाम्। साङ्कर्यं किलकिञ्चित-मभीष्टतमसङ्गमादिजाद्धर्षात्।' इत्युक्तलक्षणम्। अत्रेकारद्वयस्य सूत्रप्राप्तोऽपि सवर्णदीर्घ उपेक्षित इत्यश्रव्यता।

जैसे—'रम्याणि ...' इत्यादि-अर्थात् 'हे चन्द्रवदने! तुम्हारे ये किलकिञ्चित (अभीष्ट जन के संगम आदि हेतुओं से उत्पन्न हर्ष के कारण होने वाले ईषत्-हास्य, शुष्क-रोदन, क्रोध, भय और श्रम आदि भावों का मिश्रण) बड़े रमणीय हैं'। यहां 'रम्याणि' पद का अन्तिम और 'इन्दुमुखि' पद का आदिम इकार का ऐच्छिक सन्धि-विरह अश्रव्य है।

प्रगृह्यसंज्ञया प्रकृतिभावे सकृत् सन्धिकार्याकरणे नाश्रव्यत्वम्, असकृत्त्वश्रव्यत्वमेवेत्याह—

प्रगृह्यताप्रयुक्तं त्वसकृदेव।

सकृत् सन्ध्यकरणस्य दुष्टत्वे तु विधायकशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्येत।

प्रगृह्यसंज्ञा के कारण जो सन्धि नहीं की जाती वह बार-बार आवे, तभी अश्रव्य होती है, केवल एक बार आने से नहीं।

उदाहरति—

'अहो अमी इन्दुमुखीविलासाः'।

अत्र द्विरवादेशदीर्घरूपसन्धिकार्याकरणं प्रगृह्यसंज्ञाप्रकृतिभावप्रयुक्तमित्यश्रव्यता।

जैसे—'अहो अमी ...' इत्यादि-अर्थात् 'चन्द्रमुखी नायिका के ये विलास आश्चर्य-जनक हैं'। यहां ओ + अ और ई + इ में।

एवं 'लोपः शाकल्यस्य' इति सूत्रेण य-वयोर्लोपस्यासिद्धताप्रयुक्तमसकृद् विश्लेषरूपं सन्धिकार्याननुष्ठानमप्यश्रव्यमित्युपदिशति—

एवमेव च य-व-लोपप्रयुक्तम्।

उदाहरति—

'अपर इषव एते कामिनीनां दृगन्ताः'।

अत्रासकृद्यलोपस्यासिद्धत्वाद्गुणवृद्धिरूपसन्धिकार्याननुष्ठानादश्रव्यत्वम्। वस्तुतस्त्वत्र सन्धिविश्लेषतादोषः। 'इषव' इत्यत्र 'इव त' इति पाठान्तरम्।

इसी तरह 'य' और 'व' के लोप हो जाने के कारण जो सन्धि नहीं की जाती, वह भी यदि बार-बार आवे तो कर्णकटु प्रतीत होती है, जैसे—'अपर इषव ...' इत्यादि—अर्थात् 'कामिनियों के ये कटाक्ष दूसरे बाण हैं' यहां अ + इ और अ + ए में।

स्वकीयकाव्य एतद्दोषमाशङ्क्य परिहरति—

कथं तर्हि—

चाटुकारो नृपमाचष्टे—

'भुजगाहितप्रकृतयो गारुडमन्त्रा इवावनीरमण ! ।
तारा इव, तुरगा इव, सुखलीना मन्त्रिणो भवतः ॥'

इति भवदीयं काव्यमिति चेद् , अकृत्वैव यलोपं पाठान्न दोषः ।

हे अवनीरमण ! भूपते ! भवतो मन्त्रिणोऽमात्याः, गरुडदेवताका गारुडा मन्त्रा इव भुजगानां सर्पाणां निवारकत्वादहिता प्रकृतिः स्वभावो येषां तादृशाः, पक्षे भुजगानां विटानां निरोधकत्वादहिता प्रकृतिर्येषां, यद्वा—भुजैर्गाहिता अधिष्ठिताः प्रकृतयः प्रजाः, यैस्तादृशाः सन्ति । तथा तारा उडव इव, तुरगा अश्वा इव च, शोभने खे नभसि लीनाः, पक्षे सुष्ठु खलीनं कविका येषां तादृशाः, मन्त्रिपक्षे सुखे सौख्ये लीनानि मग्नाः सन्तीति श्लोकार्थः ।

इह दोषमिमं जानताऽपि भवता स्वकाव्ये 'मन्त्रा इव' 'तारा इव' 'तुरगा इव' इत्यत्र त्रिर्यलोपप्रयुक्तो विश्लेषः कथं कृत इति शङ्कायाः—यलोपस्य वैकल्पिकत्वेन मन्त्रा यिवेत्यादि यकारघटितपाठे विश्लेषविरहान्न दोष इति समाधानम् ।

उक्त प्रसङ्ग पर यदि कोई पूछे कि—'भुजगाहित''''''' इत्यादि काव्य, जिसका अर्थ है—हे राजन् , आपके मन्त्री गारुड मन्त्रों की तरह, 'भुजगाहित-प्रकृति' हैं—अर्थात् गारुड मन्त्रों के स्वभाव जैसे भुजगों-सर्पों के लिये अहित होते हैं, वैसे भुजगों-धूर्तों के लिये मन्त्रियों के स्वभाव अहित हैं, अथवा भुजों-बाहुओं से गाहित-अधिष्ठित प्रकृति-प्रजाजन वाले हैं और आपके मन्त्री तारे तथा घोड़ों के जैसे सुखलीन हैं—अर्थात् तारे सु-सुन्दर ख-आकाश में लीन हैं, घोड़े सु-सुन्दर खलीन-लगाम वाले हैं और मन्त्री सुख-आनन्द में लीन-मग्न हैं—कैसे बना डाला आप ने-यहां तो यलोप-प्रयुक्त सन्धिका अभाव बार-बार हुआ है ? इसका उत्तर यह है कि यकार का लोप न करके पढ़ने से दोष नहीं होगा, अर्थात्—'मन्त्रा यिवा' 'तारा यिव' 'तुरगा यिव' इसी प्रकार पढ़ना चाहिये ।

अश्रव्यान्तराणि सङ्गृह्य वक्ति—

एवं रोरुत्वस्य, हलि लोपस्य, यण्-गुणवृद्धि-सवर्णदीर्घ-पूर्वरूपादीनां नैकट्येन बाहुल्यमश्रव्यताहेतुः ।

इत्थं 'धीरो वरो नरो याति' इत्यादौ रोरुत्वस्य, 'इमा निशा गता व्यर्थम्' इत्यादौ हलि-यलोपस्य, 'तर्व्यरिप्रदमवेत्य' इत्यादौ यणः, 'रमेशोमेशलोकेशाः' इत्यादौ गुणस्य, 'प्रौढ-सूर्यौघती श्रौजाः' इत्यादौ वृद्धेः, 'अवाद्रीन्द्रविभूद्यः' इत्यादौ सवर्णदीर्घस्य, परत्र पूर्वरूप-पररूपप्रभृतीनां निकटतया प्रयोगप्राचुर्यमश्रव्यतायाः कारणमित्यर्थः । एतान्येव लुप्ताहत-विसर्गतादिदोषरूपेणान्यत्र निरूपितानि ।

इसी प्रकार 'र' के 'उ', हल्पर रहते 'य' के लोप, यण् , गुण, वृद्धि, सवर्ण-दीर्घ और पूर्वरूपादिकों का समीप-समीप में अधिक प्रयोग भी अश्रव्यता का कारण होता है ।

उपसंहृति—

एवमिमे सर्वेऽप्यश्रव्यभेदाः काव्यसामान्ये वर्जनीयाः ।

इत्थमिमे प्रागुक्ताः सर्वेऽपि वर्णस्वानन्तर्यप्रभृतयोऽश्रव्यत्वदोषप्रकाराः काव्यसामान्ये, न तु श्रुतिकटुत्वादिवत् काव्यविशेष एव, वर्जनीया नित्यदोषत्वात् परिहरणीया इत्यर्थः ।

इदमिहावगन्तव्यम्—श्रुतिकटुत्वं कठोरवर्णघटितत्वेन श्रवणोद्वेजकत्वं मधुररसप्रतिकूल-मोजस्विरसानुकूलमित्यनित्यदोषः काव्यविशेष एव परिहारमर्हति । अश्रव्यत्वं त्वनेकविधं कोमलवर्णघटितत्वेनापि, वर्णस्वानन्तर्यादिमूलकं श्रवणानर्हत्वरूपं सर्वरसप्रतिकूलतया नित्य-दोषतां बिभ्रत् काव्यसामान्ये परिहरणीयमित्युभयोर्वैजात्यम् ।

ये ऊपर कहे गये अश्रव्यों के सभी भेद सभी काव्यों में वर्जनीय हैं, चाहे किसी रस का वर्णन हो, इन अश्रव्यताओं का परिहार करना ही समुचित है। यहां यह विशेष समझना चाहिये कि 'श्रुतिकटुत्व' और यह 'अश्रव्यत्व' दो दोष हैं, एक नहीं, क्योंकि 'श्रुतिकटुत्व' का अर्थ है 'कठोर-वर्ण-युक्त रचना का कान में उद्वेग पैदा करना' जो मधुर-रसों का प्रतिकूल और ओजस्वी रसों का अनुकूल है, अतः अनित्य दोष है और काव्य-विशेष (मधुर-रस वाले काव्य) में ही त्याज्य है। परन्तु पूर्वोक्त अनेकविध अश्रव्यत्व का सामान्य अर्थ है 'उन-उन वर्णों के अनन्तर उन-उन वर्णों के आगमन आदि अनेक कारणों से रचना का सुनने योग्य न होना, चाहे वह कोमल वर्णों से ही क्यों न बनी हो' यह दोष सब रसों का प्रतिकूल ही है, अतएव नित्य है और सभी प्रकार के काव्यों में त्याज्य है।

अथ रसविशेषानुसारं काव्यविशेषे वर्जनीयान् दोषान् वक्तुमुपक्रमते—

अथ विशेषतो वर्जनीयाः। तत्र मधुररसेषु ये विशेषतो वर्जनीया अनुपदं वक्ष्यन्ते, त एवौजस्विष्वनुकूलाः, ये चानुकूलतयोक्ताः, ते प्रतिकूला इति सामान्यतो निर्णयः।

तत्र तेषां मध्ये। मधुररसेषु माधुर्यगुणाश्रयेषु शृङ्गार-करुण-शान्तरसेषु। अनुपदं 'दीर्घसमास'मित्यादिना वक्ष्यन्ते। ओजस्विष्वोजोगुणाश्रयेषु वीर-बीभत्स-रौद्ररसेषु। अनुकूला उपकारकत्वादवर्जनीयाः। अनुकूलतयोक्ता मधुररसेष्विति शेषः, टवर्गवर्जितेत्यादिना पूर्वं कथिताः। प्रतिकूला विरोधिन ओजस्विरसेष्विति शेषः।

मधुररसापकारका ओजस्विरसोपकारकाः, ओजस्विरसापकारकाश्च मधुररसोपकारका भवन्तीति साधारणतया निर्णयोऽस्तीत्यर्थः।

अब विशेषतया वर्जनीयों (अर्थात् जो रस-विशेष के अनुसार काव्य-विशेष में ही त्याज्य हैं, सब काव्यों में नहीं) का निरूपण किया जाता है। उनमें से जो दोष मधुर-रसों में विशेष रूप से निषिद्ध हैं और जिनका प्रतिपादन अभी किया जायगा, वे ओजस्वी रसों के अनुकूल होते हैं—अर्थात् वहां उनका रहना उचित ही नहीं आवश्यक भी है और जो दोष मधुर-रसों के अनुकूल कहे गये हैं, वे ओजस्वी रसों के प्रतिकूल होते हैं, अतः उन दोषों से उन रसों को बचाना चाहिये। यह एक साधारण नियम है।

मधुररसेषु प्रतिकूलतया वर्जनीयान् गणयन्नादावसकृत्प्रयोग एव दूषकान् ब्रवीति—

मधुररसेषु दीर्घसमासं झयृघटितसंयोगपरह्रस्वस्य, विसर्जनीयादेशसकार-जिह्वामूलीयो-पध्मानीयानां टवर्ग-झयां, रेफ-हकारान्यतरघटितसंयोगस्य, हलां ल-म-न-भिन्नानां स्वात्मना संयोगस्य, झयृद्वयघटितसंयोगस्य चासकृत् प्रयोगं नैकट्येन वर्जयेत्।

मधुरेषु, न त्वोजस्विषु रसेषु व्यङ्ग्येषु दीर्घसमासं झयादिशब्दप्रतिपाद्यानां नैकट्येनासकृत्प्रयोगं च वर्जयेदित्यन्वयः। पञ्चमवर्णातिरिक्ता वर्गपञ्चकघटका विंशतिर्वर्णा झयृसञ्ज्ञकाः, तद्घटितः संयोगः परो यस्मात् तादृशस्य ह्रस्वस्य, विसर्जनीयो विसर्गस्तत्स्थानिकादेशभूत-सकारस्य, अच्ऽपरस्य कखाभ्यां पूर्वस्यार्धविसर्गाकारस्यविसर्जनीयादेशस्य जिह्वामूलीयस्य, अच्ऽपरस्य पफाभ्यां पूर्वस्यार्धविसर्गाकारस्योपध्मानीयस्य च विसर्जनीयादेशस्य टवर्गस्य, झयः (असंयुक्तस्य), रेफहकारयोरन्यतरेण घटितस्य संयोगस्य, लकार-मकार-नकारातिरिक्तानां हलां व्यञ्जनवर्णानां स्वात्मना घटितस्य संयोगस्य च नैकट्येनासकृत् प्रयोगं दीर्घसमासं च वर्जयेदित्यर्थः।

अब मधुर-रसों के प्रतिकूल वस्तुओं को गिनाते हैं—'मधुर' इत्यादि। लम्बे समास, जिनके आगे झय् प्रत्याहार के वर्णों अर्थात् वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के संयोग हों—ऐसे ह्रस्वस्वर, विसर्ग, विसर्ग के स्थान में आदेश-द्वारा आये

हुये सकार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, टवर्ग के वर्ण, प्रत्येक वर्ग के आद्य चार अक्षर, रेफ अथवा हकार-द्वारा बने हुये संयोग, ल, म और न के अतिरिक्त अन्य व्यञ्जनों के उन्हीं के साथ संयोग—अर्थात् उनके द्वित्व और वर्गों के प्रथम से लेकर चतुर्थ पर्यन्त के वर्णों में से किन्हीं दो वर्णों के संयोग, इन सबों के समीप-समीप में बार-बार प्रयोगों को मधुर-रसों में छोड़ना चाहिये।

अथ सकृदसकृच्च प्रयोगो ययोर्वर्जनीयौ, तावाह—

सवर्णझयद्वयघटितसंयोगस्य, शर्भिन्नमहाप्राणघटितसंयोगस्य सकृदपीति संक्षेपः।

सवर्णं प्राप्तसवर्णसञ्ज्ञाकं यज्झय्प्रत्याहारघटकं वर्णद्वयं तेन घटितस्य संयोगस्य, तथा शर्भिन्नैः शषसातिरिक्तैः [illegible] संयोगस्य नैकट्येन, सकृदपि [illegible]

सवर्ण—अर्थात् जिनके स्थान एवं प्रयत्न एक से हों—ऐसे वर्णों के प्रथम से चतुर्थ तक के वर्णों से बने हुये संयोग और श-ष-स के अतिरिक्त किसी महाप्राण अक्षर के द्वारा बने हुये संयोग का एक बार भी प्रयोग मधुर-रसों में नहीं करना चाहिये। यह संक्षेपतः मधुर-रसों में वर्जनीयों का विवरण दिया गया है।

अथ वर्जनीयानुदाहरन्नुद्देशक्रमेण प्रथमं दीर्घसमासमुदाहरति—

दीर्घसमासो यथा—

अभिसारिकां वर्णयति—

'लोलालकावलि-वलन्नयनारविन्द-
लीलावशंवदितलोकविलोचनायाः।
सायाह्नि प्रणयिनो भवनं व्रजन्त्या-
श्चेतो न कस्य हरते गतिरङ्गनायाः॥'

लोलाया गतिवशाच्चपलाया अलकावलेश्चूर्णकुन्तलश्रेण्याः, वलतोश्शङ्कया चञ्चलीभवतो-र्नयनारविन्दयोश्च लीलया विलासेन, यद्वा लोलालकावल्या वलतोः संसृज्यमानयोर्नयनार-विन्दयोर्लीलया, वशंवदितानि स्वाधीनीकृतानि लोकानां दर्शकयुवजनानां विलोचनानि यया, तादृश्याः, प्रणयिनो वल्लभस्य भवनं सायाह्नि सायंसन्ध्यासमये व्रजन्त्याः, अङ्गनाया वरवर्णिन्याः, गतिः, कस्य चेतो न हरत इत्यर्थः।

अत्र पूर्वार्धे दीर्घसमासस्य प्रयोगः शृङ्गाररसप्रतिकूलत्वाद्वर्जनीयः।

अब इनमें से प्रत्येक के उदाहरण सुनिये। लम्बा समास जैसे—'लोलालका.......' इत्यादि। अभिसारिका का वर्णन है कि—चञ्चल केश-कपाल और चपल नेत्र-कमलों की लीला से दर्शक जन के नयनों को वशीभूत कर लेने वाली, सायं समय में अपने प्रेमी के घर जाती हुई नायिका की चाल किसका चित्त नहीं चुराती? इस श्लोक में शृङ्गार-रस के प्रतिकूल लम्बा समास पूर्व के दो चरणों में किया गया है।

द्वितीयमुदाहरति—

झयूघटितसंयोगपर-ह्रस्वानां प्राचुर्यं नैकट्येन यथा—

ललनाजनं विलोकयन् कोऽपि विमृशति—

'हार-स्फुरद्रदनशुभ्रमशोभि किञ्च
सान्द्रामृतं वदनमेणविलोचनायाः।
वेधा विधाय पुनरुक्तमिवेन्दुबिम्बं,
दूरीकरोति न कथं विदुषां वरेण्यः॥'

हीरा वज्रमणय इव शुक्लतया स्फुरन्तः शोभमाना ये रदना दन्तास्तेषां शुभ्रिम्णा स्वच्छतया, शोभि शोभनशीलम्, किञ्च सान्द्रं घनममृतं (मण्डलेऽधरे च) यत्र तादृशम्, एणविलोचनाया मृगनयनायाः, वदनं मुखं, विधाय विरच्य्य, विदुषां वरेण्यः श्रेयान्, (न त्वनभिज्ञः) वेधा ब्रह्मा, पुनरुक्तमिव पुनरुच्चारितपदमिव निष्प्रयोजनं, चन्द्रबिम्बमिन्दुमण्डलं, कथं न दूरीकरोति कुतो न दूरे निक्षिपतीति न जाने, यद्वा नञ्काका दूरीकरोत्येवेत्यर्थः।

जिनके आगे झय् प्रत्याहार के वर्णों के संयोग हों—ऐसे ह्रस्व स्वरों का समीप-समीप में अधिक प्रयोग, जैसे—'हरि-स्फुरद्रदन·····' इत्यादि। नायिका के मुख को देखता हुआ कोई अपने मन में सोचता है कि—हीरों के समान चमकते हुये दांतों की स्वच्छता से शोभित और सघन अमृत (अधर-बिम्ब-रस) से युक्त मृग-नयनी नायिका के मुख को बनाकर विद्वानों में श्रेष्ठ विधाता पुनरुक्त के समान (निरर्थक) चन्द्र-बिम्ब को क्यों नहीं हटा देता—अब भी गगन में उसे क्यों उगा रखा है ?

उपपादयति—

अत्र भ्रिशब्दपर्यन्तं शृङ्गाराननुगुणम्, शिष्टन्तु रमणीयम्। उत्तरार्धे ककारतकाररूपझयूद्वयसंयोगस्य सत्त्वेऽपि, प्राचुर्याभावान्न दोषः। यदि तु 'दन्तांशुकान्तमरविन्दरमापहारि, सान्द्रामृतम्' इत्यादि क्रियते, तदा सर्वमेव रमणीयम्।

इह क्रमेण फ-द-भरूपैकमात्रझयूघटितात् 'स्फु-द्र-भ्रि-'रूपसंयोगत्रयात् पूर्ववर्तिना मकारयोरुकारस्य च ह्रस्वानां प्राचुर्यं शृङ्गाररसस्यानुपकारकम्। शिष्टं तदतिरिक्तं तु दोषराहित्यात् सुन्दरम्। उत्तरार्धे क्तेतिककारतकारयोः संयोगः सन्नपि प्राचुर्यविरहान्न दूषकः। यदि तु प्रथमचरणे 'दन्तानामंशुभिः किरणैः कान्तं मनोहरम्, अरविन्दस्य पद्मस्य रमायाः श्रियोऽपहारि' इत्यर्थकं दन्तेत्यादिपाठान्तरं क्रियते, तर्हि तादृशसंयोगपरह्रस्वाभावात् सर्वमेव सुन्दरमित्यर्थः।

पूर्वोक्त पद्य में 'भ्रि' शब्द पर्यन्त की रचना शृङ्गार-रस के प्रतिकूल है, क्योंकि यहां क्रम से 'फ-द-भ' रूप झय् से बने हुये 'स्फु-द्र-भ्रि' रूप संयोग से पूर्व में स्थित अकारद्वय तथा एक उकार रूप स्वरों की अधिकता समीप-समीप में है। अवशिष्ट अंश इस पद्य का सुन्दर है—शृङ्गार के अनुकूल है। यद्यपि उत्तरार्ध में 'पुनरुक्त' पद में ककार और तकार का संयोग है तथापि ऐसे संयोगों की अधिकता नहीं रहने के कारण दोषरूप वह नहीं होता और यदि इसी पद्य के प्रथम चरण को 'दन्तांशुकान्त·····' इत्यादि मूलोक्त रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, तब सम्पूर्ण पद्य निर्दोष रमणीय हो जा सकता है। परिवर्तित पाठ का अर्थ यह होगा कि—'दांतों की किरणों से मनोहर और कमल की शोभा को चुराने वाला' (मुख)।

तृतीयमुदाहरति—

विसर्गप्राचुर्यं यथा—

इहोदाहरणानुरोधाद् विसर्गपदं तत्स्थानिकयोः सकारश्चुत्वनिष्पन्नशकारादेशयोर्बोधकम्।

विसर्गों—अर्थात् विसर्ग के स्थान में आदिष्ट हुये 'स' और 'श' की अधिकता जैसे—

नायकौ विभावयति—

'सानुरागास्सानुकम्पाश्चतुराश्शीलशीतलाः।
हरन्ति हृदयं हन्त ! कान्तायास्स्वान्तवृत्तयः ॥'

अनुरागेण सहिताः सानुरागाः, अनुकम्पया कृपया समेताः सानुकम्पाः, चतुराः परवशीकरणकुशलाः, शीलेन विनयार्जवादिसद्वृत्तेन शीतलाः क्रोधाद्यौष्ण्यरहिताः सन्तापहारका वा, कान्तायाः स्वान्तवृत्तयो मनोव्यापाराः, हन्त बत ! मे हृदयं हरन्ति वशीकुर्वन्तीत्यर्थः।

नायक सोचता है कि—सुन्दरियों की प्रेम से युक्त और दया से मृदुल तथा चतुर और विनय आदि अच्छे आचरणों से शीतल चित्तवृत्तियाँ, हाय ! हृदय को हरण किये लेती हैं ।

उपपादयति—

अत्र शकारद्वयसंयोगान्तं पूर्वार्धं माधुर्याननुगुणम् ।

इह विसर्गस्थानिकसकारस्य, तत्स्थानिकशकारस्य,'शकारद्वयसंयोगस्य च 'रशी'ति पर्यन्तं पूर्वार्धे प्राचुर्यमोजस्विरसानुकूलत्वान्मधुररसप्रतिकूलमिति वर्जनीयम् । कियदन्त्यांशविकले पूर्वार्धे प्रयुक्तः पूर्वार्धशब्दोऽवयवे, माधुर्यशब्दश्च तदाश्रयरसेषु लाक्षणिकः ।

पूर्व पद्य में दो शकारों के संयोग पर्यन्त पूर्वार्ध का भाग मधुर-रस के प्रतिकूल है ।

विसर्जनीयादेशजिह्वामूलीयप्राचुर्यमुदाहरति—

जिह्वामूलीयप्राचुर्यं यथा—

जिह्वामूलीय की अधिकता, जैसे:—

वियोगिनी सखीं ब्रूते—

'कलितकुलिशघाता ᳲकेऽपि खेलन्ति वाता ᳲ
कुशलमिह कथं वा जायतां जीविते मे ।
अयमपि बत ! गुञ्जन्नालि ! माकन्दमौलौ,
चुलुकयति मदीयां चेतनां चञ्चरीकः ॥'

हे आलि ! कथय, यतः कलितः कृतः कुलिशस्य वज्रस्य घात इव घातो यैस्ते सद्यᳲ-प्राणहारकाः, केऽपि विशेषेण वर्णयितुमशक्याः, वाता मलयानिलाः, खेलन्ति लताभिः क्रीडन्त इव वहन्ति । अपि च-अयं पुरःस्थः, माकन्दमौलौ रसालशिखरे, गुञ्जन् निस्वनन् , चञ्चरीको मधुकरः, मदीयां चेतनां संज्ञां बत ! चुलुकयति चुलुकस्थसलिलमिव निश्शेषी-करोति, तस्मान्मे मम जीविते जीवने, कुशलं कल्याणं कथमिह वा जायताम् , न कथमपीत्यर्थः ।

विरहिणी नायिका सखी से कहती है—वज्र के समान आघात करने वाले न जाने कौन से वायु (मलयानिल) खेल रहे हैं—लताओं के साथ खेलते से बहरहे हैं, फिर, भला ! मेरे जीवन में कल्याण कैसे उत्पन्न हो सकता और हे सखि ! सबसे बड़ी खेद की बात तो यह है कि आम के शिखरों पर गूँजता हुआ यह भ्रमर भी मेरी चेतना (ज्ञान-शक्ति) को चुल्लू किये जा रहा है—नष्ट करता जा रहा है ।

उपपादयति—

अत्र द्वितीयजिह्वामूलीयपर्यन्तमननुगुणं माधुर्यस्य । यदि च—'कथय कथ-मिवाशा जायतां जीविते मे, मलयभुजगवान्ता वान्ति वाताः कृतान्ताः ।' इति विधीयते; तदा नायं दोषः ।

इह प्रथमचरणे जिह्वामूलीयस्य द्विरुपात्तस्य प्राचुर्यं शृङ्गारस्य प्रतिकूलत्वाद्वर्जनीयम् । मलयाचलस्थसर्पमुखनिस्सृता विरहिणामन्तका वाता वान्तीत्यर्थकपाठान्तरकरणे तु जिह्वा-मूलीयाभावाद्दोषाभावः । वान्तपदस्य लाक्षणिकत्वान्न नाश्लीलता ।

उक्त श्लोक में द्वितीय जिह्वामूलीय पर्यन्त का भाग माधुर्य के अनुकूल नहीं है । यदि वहीं पर 'कथय कथमिवाशा''''' इत्यादि मूलोक्त के रूप में प्रथम और द्वितीय चरणों को परिवर्तित कर दिया जाय, तब यह दोष नहीं रहता । परिवर्तित पाठ का अर्थ (जो पूर्व पाठ में नहीं था) यह होगा कि 'मलयाचल पर रहने वाले सर्पों से वान्त (उनके मुख से निकले हुए) विरहिणियों के लिये कृतान्तरूप वायु बहते हैं' ।

निसर्गस्थानिकोपध्मानीयप्राचुर्यमुदाहरति—

उपध्मानीयप्राचुर्यं यथा—

उपध्मानीयों की अधिकता, जैसेः—

निर्विण्णः परामृशति—

'अलकाᳵफणिशावतुल्यशीला-नयनान्ताᳵपरिपुङ्खितेषु लीलाः ।
चपलोपमिता खलु स्वयं या, बत ! लोके सुखसाधनं कथं सा ॥'

यस्याः स्त्रिया अलकाश्चूर्णकुन्तलाः फणिशावतुल्यशीलाः सर्पशिशुसदृशकुटिलस्वभावाः सन्ति, तथा यस्या नयनान्ताः कटाक्षाः परिपुङ्खितेषूणामारोपितपक्ष-बाणानां लीला इव लीला येषां तादृशास्तीक्ष्णतमाः सन्ति, किञ्च या स्वयं खलु चपलया विद्युल्लतयोपमिताऽति-चञ्चलाऽस्ति, सा स्त्री, लोके कथं बत ! सुखस्य सौख्यस्य साधनं सम्पादिका स्यादित्यर्थः ।

कोई दुःखी जन अपने मन में सोचता है कि—जिसके केश सर्प के बच्चों के तुल्य स्वभाव वाले हैं, जिसके कटाक्ष पङ्ख वाले बाणों की सी लीला दिखलाने वाले हैं और जो स्वयं विद्युल्लता सरीखी है, वह (स्त्री) संसार में सुख का साधन कैसे हो सकती ?

उपपादयति—

अत्र द्वावुपध्मानीयावेव न शान्तानुगुणौ ।

अत्र श्लोकेऽन्येषां शान्तरसानुकूलत्वेऽपि, पूर्वार्धघटकं विसर्गस्थानिकोपध्मानीयद्वयं केवलं माधुर्यापकर्षकत्वाच्छान्तरसस्य प्रस्तुतस्य प्रतिकूलत्वाद् वर्जनीयमित्याशयः ।

जिह्वामूलीयोपध्मानीयोदाहरणयोः 'कुप्वोᳲकᳲपौ च' इति सूत्रस्य वैकल्पिकतदादेश-विधायकत्वेन विसर्गस्थितौ नायं दोषः सम्भवतीति विभावनीयम् ।

उक्त श्लोक में और सब शान्त रस के अनुकूल हैं, परन्तु दोनों उपध्मानीय केवल उस (शान्त रस) के अनुकूल नहीं हैं ।

टवर्गस्य झयां च प्राचुर्यमुदाहरति—

टवर्ग-झयां प्राचुर्यं यथा—

ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन टवर्गस्य पृथगुपादानम् ।

टवर्ग और झय् अर्थात् वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्णों की अधिकता जैसेः—

न्यक्कृतो नायको मानिनीमनुनयन्नभिदधाति—

'वचने तव यत्र माधुरी सा, हृदि पूर्णा करुणा च कोमलेऽभूत् ।
अधुना हरिणाक्षि ! हा कथं वा, कटुता तत्र कठोरताऽऽविरासीत् ॥'

हे हरिणाक्षि ! यत्र तव कोमले वचने साऽनुभूतपूर्वा माधुरी, कोमले हृदि पूर्णा करुणा च मानात् पूर्वमभूत् ; अधुना मानसमये, हा ! तत्र तव वचने कटुता, हृदि कठोरता च कथं वाऽऽविरासीदुद्भूदित्यर्थः ।

अत्रोत्तरार्धे टकारठकारात्मकटवर्गस्य ककारथकारादीनां झयां च नैकट्येन प्राचुर्यं मधुरतमविप्रलम्भप्रतिकूलत्वाद्वर्जनीयम् । 'कोमले' इत्यस्य सम्बोधनत्वापेक्षया वचन-हृदयविशेषणत्वमेवाधिकचमत्कारकम् ।

नायक किसी नायिका से कहता है कि—हे हरिणनेत्रे ! तेरे जिस वचन में वह अनिर्वचनीय मधुरता थी और जिस कोमल हृदय में पूरी दयालुता थी, हाय ! आज उन्हीं दोनों (वचन और हृदय) में (क्रमशः) कटु और कठोरता कैसे उत्पन्न हो गई ! यहाँ उत्तरार्ध में टकार-ठकार रूप टवर्ग और ककार थकार आदि रूप झय् की समीप-समीप में ही अधिकता है ।

अत्रैव पाठान्तरदर्शनेन दोषं परिहरति—

'अधुना सखि ! तत्र हा कथं वा, गतिरन्यैव विलोक्यते गुणानाम् ।' इति त्वनुगुणम् ।

इदानीं सख्या उक्तिरियम् । गुणानां मधुरत्वादीनां गतिरन्यैव विलोक्यते, तत्स्थाने कटुत्वादीनामुपलम्भादित्यर्थकोत्तरार्धपाठपरिवर्तने तु टवर्गाद्यभावाद्दोषाभावः ।

यही यदि सखी की उक्ति के रूप में 'अधुना सखि''''''' इत्यादि मूलोक्त रीति से उत्तरार्ध को बदल दिया जाय, तब मधुरतम विप्रलम्भ शृङ्गार के अनुकूल हो जायगा। बदले हुये पाठ के अनुसार अर्थ यह होगा कि—'हे सखि ! अब उन्हीं दोनों में गुणों की गति दूसरी ही क्यों दृष्टिगोचर होती है'।

रेफघटितसंयोगस्यप्राचुर्यमुदाहरति—

रेफघटितसंयोगस्यासकृत् प्रयोगो यथा—

रेफों के द्वारा बने हुये संयोग का बार-बार प्रयोग जैसे :—

अनुपमम्मन्यामन्याऽभिधत्ते—

'तुला मनालोक्य निजामखर्वं, गौराङ्गि ! गर्वं न कदापि कुर्याः ।
लसन्ति नानाफलभारवत्यो-लताः कियत्यो गहनान्तरेषु ॥'

हे गौराङ्गि ! प्रतिवेशियुवतीषु निजां तुलां स्वकीयोपमाम् , अनालोक्य, अखर्वं विपुलं गर्वमनुपमत्वाभिमानं, कदापि न कुर्याः, यतो गहनान्तरेषु काननप्रदेशेषु, नानाफलानां भारोऽस्त्यास्विति नानाफलभारवत्यः कियत्यो भूयस्यः, लताः (तादृश्यः) लसन्ति शोभन्त इत्यर्थः ।

अत्र रेफघटितसंयोगप्राचुर्यं शृङ्गाररसप्रतिकूलम् ।

अपने को अनुपम मानने वाली किसी नायिका से कोई दूसरी नायिका कहती है कि—हे गोरे अङ्गों वाली ! अपनी तुलना न देख कर तुझे अत्यधिक गर्व नहीं करना चाहिये। वनों के मध्य में विविध फलों के भार से झुकी हुई कितनी लतायें शोभित हो रही हैं। यहां रेफों के द्वारा बने हुये संयोगों का बार-बार प्रयोग हुआ है, अ: शृङ्गार-रस के प्रतिकूल है।

पाठपरिवर्तनेन दोषं परिहरति—

यदि तु 'तुलामनालोक्य महीतलेऽस्मिन्' इति निर्मीयते, तदा साधु ।

पाठपरिवृत्तावेकस्य रेफसंयोगस्याभावान्न दोष इत्याशयः । किन्तु तथापि रेफघटितसंयोगद्वयस्य तादवस्थ्यात् कथं न प्राचुर्यमिति विभावनीयम् । इह हकारघटितसंयोगप्राचुर्योदाहरणत्रुटिपूर्तिस्तु—'चिरमिलितावुपगुह्य प्रणयिजनौ गुह्यमक्रमं वदतः' इत्यनेन कथञ्चन विधेया ।

उक्त पद्य के प्रथम चरण की जगह में 'तुलामनालोक्य''''''' इत्यादि मूलोक्त रीतिसे पाठ-परिवर्तन कर दिया जाय, तब ठीक हो जाय। परिवर्तित अंश का अर्थ यह होगा, कि—'इस पृथवी पर समानता न देख कर'।

लकार-मकार-नकारभिन्नानां व्यञ्जनवर्णानां स्वेनैव संयोगस्य प्राचुर्यमुदाहरति—

हलां ल-म-न-भिन्नानां स्वात्मनासंयोगस्यासकृत् प्रयोगो यथा—

ल, म और न से भिन्न व्यञ्जनों का उन्हीं व्यञ्जनों के साथ संयोग का बार-बार प्रयोग, जैसे :—

खण्डिता नायकमुपालभते—

'विगणय्य मे निकाय्यं, तामनुयातोऽसि, नैव तन्न्याय्यम्।'

हे शठ ! मे मम निकाय्यं भवनं, विगणय्य विहाय, तामन्यां प्रेयसीम्, यत् त्वम् अनुयातोऽनुगतोऽसि, तन्नैव न्याय्यमुचितमस्तीत्यर्थः। अत्र यकारस्यासकृत् स्वसंयोगो विप्रलम्भप्रतिकूलत्वाद्दोषः।

खण्डिता नायिका उपपत्ति से कहती है कि—मेरे घर की अवहेलना करके (तू) उस (सपत्नी) के पीछे लगा फिरता, यह न्यायोचित नहीं है। यहां यकार का बार-बार संयोग, विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रतिकूल होने से दोष है।

नकारादिवर्णत्रयव्यवच्छेदकारणं भणति—

ल-म-नानां स्वात्मना संयोगस्तु न तथा पारुष्यमावहति।

आवहति जनयति। ल-म-नभिन्नानां हलां स्वात्मनासंयोगो यथाऽश्रव्यतां जनयति तथा ल-म-नानां नेति तद्भिन्नत्वं हलां निवेशितमिति भावः।

ल, म और न का जो अपने आप के साथ संयोग होता है, वह इतना कठोर नहीं होता।

उदाहरति—

यथा—

लक्षितां नायिकामालिः पृच्छति—

'इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा, परिफुल्लं नयनाम्बुजद्वयं ते।
जलदालिमयं जगद् वितन्वन्, कलितः क्वापि किमालि! नीलमेघः॥'

हे आलि ! इयं ते मुखस्य शोभा श्रीः, उल्लसिता नितरामुज्जृम्भिता यदस्ति, यच्च ते नयनाम्बुजद्वयं परिफुल्लं परितो विकसितमस्ति, तत्, जलदालिमयं वपुःप्रभया नीरद-श्रेणीमयं जगद्विश्वं वितन्वन् नीलमेघस्तत्त्वेनाध्यवसितः—कृष्णचन्द्रः, किं क्वापि कलितो विलोकितो मिलितो वाऽभूत्?। अन्यथेदृशोल्लासासम्भवादित्यर्थः।

अत्र लकारद्वयसंयोगस्य द्विःप्रयोगेऽपि नाश्रव्यत्वम्। एवं मकारद्वय-नकारद्वय-संयोगेऽपि ज्ञेयम्। तदुदाहरणन्तु मृग्यमेव।

जैसे—सखी लक्षितागोपी से कह रही है कि—हे सखि! तेरे मुख की यह शोभा उल्लास युक्त हो रही है, और तेरे दोनों नेत्र-कमल पूरे खिल रहे हैं, यह क्यों? क्या, कहीं, सम्पूर्ण संसार को मेघ-माला मय बनाने वाला नील मेघ (भगवान् कृष्ण) मिल गया था? यहां लकार-लकार का संयोग दो बार आया है, फिर भी अश्रव्यता प्रतीत नहीं होती।

झयृद्वयसंयोगमुदाहरति—

झयृद्वयघटितसंयोगस्य यथा—

मधुरविप्रलम्भप्रतिकूलतयाऽश्रव्यत्वमिति शेषः।

झय् प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों का बार-बार संयोग, जैसे:—

नायको मानिनीं ब्रवीति—

'आ सायं सलिलभरे, सवितारमुपास्य सादरं तपसा।
अधुनाऽब्जेन मनाक् तव, मानिनि! तुलना मुखस्याप्ता॥'

अयि मानिनि! आसायं सायंसन्ध्यापर्यन्तं सलिलभरे वारिपूरे, सवितारं सूर्यं सादर-मुपास्य, पूजयित्वा, तपसा तद्रूपतपस्यया, अब्जेन कमलेन, अधुना तद्वितीयदिने माना-वसरे तव मुखस्य तुलना समता, मनागीषत्, आप्ता लब्धेत्यर्थः।

दूती अथवा सखी किं वा नायक मानिनी नायिका से कहते हैं, कि—हे मानिनि ! सन्ध्या काल तक गहरे जलमें रहकर आदर-पूर्वक सूर्य भगवान् की उपासना करने के बाद उसी तपस्या के बल से अब कमल ने तेरे मुख की किञ्चिन्मात्र शोभा प्राप्त की है।

उपपादयति—

अत्र द्वितीयार्धमरम्यम् ।

अत्र बकारजकारयोः पकारतकारयोश्च झयोः संयोग उत्तरार्धे द्विरुपात्तो दोषावहः ।

यहां उत्तरार्ध रमणीय नहीं है, क्योंकि बकार-जकार और तकार-पकार-रूप झय् का संयोग दो बार आ गया है, जो दोष है।

तत्परिहाराय पाठं परिवर्तयति—

'सरसिजकुलेन सम्प्रति, भामिनि ! ते मुखतुलाऽधिगता ।' इति तु साधु ।

झय्द्वयसंयोगाभावादिति तु साधु सम्यक् । इह तुरीयचरणाद्यस्य भामिनीति सम्बोधन-पदस्याविद्यमानवद्भावात् तवेत्यस्य त आदेशो दुर्लभ इति तवेत्येव तत्स्थाने पठनीयम्, अन्यथाच्युतसंस्कारतास्यात् ।

यदि 'सरसिजकुलेन……' इत्यादि मूलोक्त-रूप में उत्तरार्ध को परिवर्तित कर दिया जाय, तब दोष के हट जाने से पद्य रमणीय हो जाय। परिवर्तित पाठ का यह अर्थ होगा कि—'हे मानि ! अब जाकर कमल-कुल ने तेरे मुख की तुल्यता प्राप्त की है'। यहां परिवर्तित पाठ में 'ते' का प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि उससे पूर्व 'भामिनि' यह सम्बोधन पद है, जिसको व्याकरण के अनुसार अविद्यमानवद्भाव हो जायगा, फिर पद से पर नहीं होने के कारण 'ते' आदेश होगा ही नहीं, अतः 'तव' ऐसा ही पाठ मानना चाहिये, अन्यथा च्युतसंस्कारता नामक अलङ्कार-दोष हो जायगा।

झय्द्वयसंयोगस्त्वसकृद्दुष्टः, सवर्णझय्द्वयसंयोगस्तु सकृदपि दुष्ट इत्युदाहरन्नाह—

सवर्णझय्द्वयघटितसंयोगस्य सकृत्प्रयोगो यथा—

सवर्ण झय् से बने हुये संयोग का एक बार प्रयोग जैसेः—

नायको मानिनीमनुनयन् ब्रूते—

'अयि ! मन्दस्मितमधुरं, वदनं तन्वङ्गि ! यदि मनाक्कुरुषे ।
अधुनैव कलय शमितं, राकारमणस्य हन्त ! साम्राज्यम् ॥'

अयि तन्वङ्गि कोमलावयवे ! त्वं यदि वदनं मन्दस्मितेनाव्यक्तहसितेन, मधुरं मनोहरं, मनागीषदपि कुरुषे, तर्हि अधुनैव न तु कालान्तरे, राकारमणस्य पूर्णिमाचन्द्रस्य, साम्राज्यं सुषमैकाधिपत्यं, हन्त ! (हर्षे) शमितं निवर्तितं, कलय जानीहीत्यर्थः ।

इह 'मनाक्कुरुषे' इत्यत्र सवर्णककारद्वयघटितसंयोगस्य सकृदपि सत्त्वाद्दोषः ।

नायक मानिनि नायिका से अनुनयभरी बात कहता है कि—हे कृशाङ्गि ! यदि तू अपने मुख को, थोड़ा भी मन्द-हास से मनोहर बना ले, तब हर्ष की बात होगी कि रजनीपति चन्द्रमा का साम्राज्य (शोभा के विषय में एकाधिपत्य) अभी-अभी शान्त हो जायगा, ऐसा तू निश्चित समझ। यहाँ 'मनाक्कुरुषे' इस अंश में दो सवर्ण झय् रूप ककार का संयोग एक बार भी प्रयुक्त होने से अश्रव्य हो गया है।

सवर्णझय्द्वयघटितसंयोगनिषेधस्य निषेधान्तरैर्गतार्थत्वमाशङ्क्य निरस्यति—

नन्वत्र ककारद्वयसंयोगस्य हलघटितत्वात्मसंयोगत्वेनैव निषेधात्, क-ख-संयोगस्य महाप्राणसंयोगनिषेधविषयत्वात्, तृतीयसंयोगस्य चासम्भवात्, सवर्णझय्द्वयसंयोगनिषेधो निरवकाश इति चेत्, न, सकृत्प्रयोगविषयत्वेनास्य पार्थक्यात् । अन्यथा 'मनाक्कुरुषे' इति निर्दोषं स्यात् ।

इह ककारद्वयसंयोगः, क-ख संयोगश्चेति द्वावेव सवर्णझय्घटितसंयोगः सम्भवति, न तु तृतीयः कश्चित्; तथा च-ककारद्वयसंयोगस्य हलस्वात्मसंयोगनिषेधेनैव, क-ख संयोगस्य तु महाप्राणघटितसंयोगनिषेधेनैव निषिद्धत्वात् सवर्णझय्संयोगनिषेधो यदत्र विशिष्य विधीयते, तन्निरर्थकमेवेति पूर्वपक्षे—

हलस्वात्मसंयोग-महाप्राणघटितसंयोगयोरसकृत्प्रयोग एव दुष्टतया निषेधः, सवर्णझय्संयोगस्य तु सकृत् प्रयोगेऽपि दुष्टतया निषेधः पृथगपेक्षित एव, न तु ततो गतार्थः। पृथगेतन्निषेधानुपादाने तु 'मनाक्कुरुषे' इत्यत्रासकृत् संयोगाभावाद् दोषाभावः प्रसज्येतेत्युत्तरम्। क-खसंयोगस्तु 'सम्यक् खेलसि' 'मनाक् खिद्यते' इत्यादावूहनीयः।

सवर्ण झय् का संयोग दो ही प्रकार का हो सकता है, एक ककार-ककार का, दूसरा ककार-खकार का, तृतीय प्रकार का सवर्ण झय् का संयोग सम्भव ही नहीं है, अतः यह शङ्का हो सकती है कि सवर्ण दो झयों का संयोग जो पृथक् करके निषिद्ध माना गया है, वह व्यर्थ है—उसका कहीं अवकाश ही नहीं रह जाता, क्योंकि ककारद्वय संयोग (जो उक्त पद्य में आया है) का निषेध तो—व्यञ्जनों का जो अपने आपके साथ संयोग निषिद्ध माना गया है—उसी से हो जाता है और जहाँ क ख संयोग रहेगा, वहाँ महाप्राणों के संयोग का जो निषेध किया गया है, उसी से वह गतार्थ हो जायगा। इसका उत्तर यह है कि व्यञ्जनों का अपने आपके साथ संयोग अथवा महाप्राणों का संयोग बार-बार प्रयुक्त होने पर ही दुष्ट होता है, अतः उसका निषेध भी उसी स्थिति में किया गया है और सवर्ण झय् का संयोग एक बार भी प्रयुक्त होने पर दुष्ट है, अतः उसका निषेध पूर्व निषेध से गतार्थ नहीं हो सकता—अर्थात् ये तीन दोष भिन्न-भिन्न हैं, फिर अलग-अलग उनका निषेध करना भी आवश्य ही है। यदि सवर्ण झय् का संयोग भी बार-बार आने पर ही दुष्ट माना जाय, तब 'मनाक् कुरुषे' यह निर्दोष ही हो जायगा, क्योंकि बार-बार यहाँ उक्त संयोग नहीं है।

महाप्राणप्रयत्नवद्वर्णघटितसंयोगमुदाहरति—

महाप्राणघटितसंयोगो यथा—

'अयि मृगमदबिन्दुं चेद्भाले बाले समातनुषे।' उत्तरार्धं तु प्राचीनमेव।

अत्र महाप्राणप्रयत्नवता भकारेण घटितः संयोगो दुष्टः। मात्रापूर्तावपि, चेच्छब्दस्य प्राक्सन्निवेशेन सम्भवन्ती छन्दःस्खलद्बुद्धिः प्रायो महाप्राणसंयोगदर्शनार्थमेवोपेक्षिता। अधुनैव महाप्राणसंयोगनिषेधस्यासकृत् प्रयोगविषयतां व्यवस्थाप्य, तत्सकृत्प्रयोगे पुनरेतदुदाहरणप्रदर्शनं कथं सङ्गच्छत इति चिन्त्यम्। इह पद्ये चरणद्वयमुपात्तं प्राचीनस्य 'अयि मन्दस्मितमधुर'मित्यादिपद्यस्य पूर्वार्धं विधाय श्लोकपूर्तिर्विधेया।

महाप्राण प्रयत्न वाले वर्णों से बने हुये संयोग का प्रयोग जैसे—पूर्वोक्त 'अयि मन्दस्मित......' इत्यादि श्लोक के पूर्वार्ध को 'अयि मृगमदबिन्दुम्' इस मूलोक्त के रूप में परिवर्तित कर देने पर। यहाँ महाप्राण भकार के साथ दकार का संयोग दोषयुक्त है। अर्थ इस परिवर्तित अंश का यह है कि 'हे बाले! यदि ललाट पर कस्तूरी की बिन्दी लगाओगी, तब ......'। उत्तरार्ध तो वही रहेगा, जिसका अर्थ पहले लिखा जा चुका है। यहाँ एक बात विचारने की यह है कि जब ग्रन्थकार ने पूर्व में यह सिद्धान्त कर दिया है कि महाप्राण वर्ण से बने हुये संयोग बार बार प्रयुक्त होने पर ही दुष्ट है, तब फिर महाप्राणघटित संयोग का 'अयि मृगमद......' इत्यादि उदाहरण कैसे दिखलाया, क्योंकि यहाँ महाप्राणघटित संयोग का प्रयोग एक ही बार हुआ है, बार-बार नहीं।

अथ मधुररसेषु व्यञ्जनीयेषु वर्जनीयान्तराणि प्रतिपादयति—

एवं त्वप्रत्ययं, यङन्तानि, यङ्लुगन्तान्यन्यानि च शाब्दिकप्रियाण्यपि मधुर-रसे न प्रयुञ्जीत ।

एवमुक्तसंयोगवत् कविर्भावार्थकं त्वप्रत्ययं, यङन्तयङ्लुगन्तानि, पराणि चेदृशानि कृत्तद्धितान्तानि शाब्दिकप्रियाणि न प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । अयं निषेधो विपुललक्ष्यानुरोधादसकृत्-प्रयोगविषयक एव, सकृत्प्रयोगे तेषां दुष्टत्वाभावात् । अत एव, 'अलमतिचपलत्वात् स्वप्न-मायोपमत्वात्' इत्यादेवान्यत्र दुःश्रवत्वेनोदाहृतम् । त्वादीनामसकृत्प्रयोगे कर्कशत्वं स्फुटमेव ।

जैसे उक्त अक्षरों का मधुर-रस-प्रधान काव्यों में त्याग करना आवश्यक है, उसी प्रकार—'त्व' प्रत्यय, यङन्त, यङ्लुगन्त तथा अन्य इसी प्रकार के प्रयोग (कृदन्त तद्धि-तान्त आदि) यद्यपि वैयाकरण लोगों को प्रिय लगते हैं, तथापि मधुर-रस में उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

अथ ध्वनिकारानुमतानि मधुररसेषु वर्जनीयान्याह—

एवं व्यङ्ग्यचर्वणातिरिक्तयोजनाविशेषापेक्षा-नापाततोऽधिकचमत्कारिणोऽ-नुप्रासप्रबन्धान् यमकादींश्च सम्भवतोऽपि कविर्न निबध्नीयात् ।

ये व्यङ्ग्यरसादिचर्वणाया अतिरिक्तं यत्नविशेषरूपं योजनाविशेषमपेक्षन्ते, तान्, आपा-ततस्तत्काल एव (न तु परिणामे) चमत्कारिणः परिणतिचमत्कारतुच्छान्, अनुप्रास-यमक-शब्दश्लेष-चित्रप्रभेदानतिदुर्घटान् वाचकालङ्कारान्, प्रतिभाप्रभावेण कथञ्चन सम्भ-विनोऽपि, रसाद्यास्वादस्य पृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वेन प्रतिबन्धकान्, कविर्मधुररसव्यञ्जने प्रस्तुते, न प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । अत एवोक्तं ध्वनिकृता—'रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् । अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥' इति ।

व्यङ्ग्यों के आस्वादन कराने के लिये जो यत्न करना पड़ता है, उससे पृथक् यत्न जिनके समावेश में अपेक्षित हो जाय, ऐसे, ऊपरी तौर से (न कि गहरी दृष्टि से विचार करने पर) अधिक चमत्कार-जनक भी प्रतीत होने वाले अनुप्रास के समूहों तथा यम-कादिकों का, यद्यपि वे कवि के साध्य हों, तथापि समावेश न करना चाहिये, यह कवि के लिये ध्यान देने योग्य परामर्श है ।

तेषां वर्ज्यताया निमित्तमभिधत्ते—

यतो हि ते रसचर्वणायामनन्तर्भवन्तः सहृदयहृदयं स्वाभिमुखं विदधाना रसपराङ्मुखं विदधीरन् ।

अनुप्रासादीनां प्रतीतेः स्ववैचित्र्यविशेषेण रसाद्यास्वादान्तर्भावाभावात् सदा रसास्वादै-कपरायणस्य सहृदयहृदयस्य स्वाभिमुखीकरणेन रसाद्यास्वादपराङ्मुखीकरणस्य कदाचित् सम्भवात्, ते मधुररसेषु वर्जनीया इत्यर्थः ।

रस-प्रधान काव्य में अनुप्रास आदि के निबन्ध नहीं करने का बीज यह है कि यदि वे अधिक और प्रधान हो जायगें, तो उनका समावेश रस के आस्वादन में न हो सकेगा और वे सहृदय जन के हृदय को अपनी ओर खींच लेंगे, इस कारण रस से विमुख कर देंगे—अर्थात् सहृदय जन उनके चमत्कार के चक्कर में पड़कर रसास्वाद से वञ्चित ही रह जायगे ।

'विप्रलम्भे विशेषतः' इत्युक्तं विप्रलम्भशृङ्गारध्वनौ विशेषेण तन्निषेधमाह—

विप्रलम्भे तु सुतराम् ।

ते वर्जनीया इति शेषः ।

विप्रलम्भ-श्रृङ्गार में तो खासकर अनुप्रास आदि के समावेश का प्रयास नहीं करना चाहिये।

तत्र हेतुं प्रतिपादयति—

यतो मधुरतमत्वेनास्य निर्मलसितानिर्मितपानकरसस्येव, तनीयानपि स्वातन्त्र्यमावहन् पदार्थः, सहृदयहृदयारुन्तुदतया न सर्वथैव सामानाधिकरण्यमर्हति।

सामानाधिकरण्यमेकत्र वृत्तिः।

यतोऽस्य विप्रलम्भस्य सम्भोगाद्यपेक्षयाऽधिकमधुरत्वात् तदास्वादे विलक्षणपानकरसास्वाद इव स्वतन्त्रास्वादकस्य वस्त्वन्तरस्य लेशतोऽपि सम्पर्कः सर्वथा सहृदयहृदयोद्वेजकः स्यात्, तस्मादनेन सहानुप्रासादीनां समावेशो न विधेय इत्याशयः।

विप्रलम्भ-श्रृङ्गार में अनुप्रास आदि के प्रयास नहीं करने के संबन्ध में अधिक सावधान रहने का कारण यह है कि विप्रलम्भ श्रृङ्गार सब रसों से अधिक मधुर माना गया है और इसी कारण, उसे शुद्ध चीनी के बनाये हुये शरबत की उपमा दी गई है, उसमें यदि थोड़ी मात्रा में भी कोई ऐसी चीज मिल जाय, जिसका स्वाद अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता हो, तो वह सहृदयजनों के हृदय में बड़ी मार्मिक पीडा पहुंचाती है, विप्रलम्भ श्रृङ्गार में अनुप्रास आदि ठीक वैसी ही चीजें हैं, अतः उसके साथ उनका रहना सर्वथा अनुचित है।

एतत्प्रघट्टकोक्तमर्थं प्रमाणयति—

यदाहुः—

ध्वनिकारा इति शेषः।

'ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे यमकादिनिवेशनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं, विप्रलम्भे विशेषतः॥

इह श्रृङ्गारपदं मधुररसमात्रपरम्। आदिपदेन स्वतन्त्रप्रयत्नापेक्ष्यलङ्कारान्तरपरिग्रहः। शक्तौ प्रतिभायां सत्यामपि प्रमादित्वं कवेरनवधानता दोषः। विप्रलम्भस्य मधुरतमत्वात्तत्र विशेषेण तेषां निषेधः।

जैसा कि ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है—'ध्वन्यात्मभूते······' इत्यादि—अर्थात् यदि कवि में ऐसी शक्ति हो कि ध्वनि-काव्य में अनायास यमक आदि की रचना कर सकें, तब भी जिस ध्वनि-काव्य की आत्मा श्रृङ्गार रस है, उसमें यदि कवि वैसा यमक आदि का निवेश) करे तो कहना चाहिये कि उसकी असावधानता है जो उसने उन्हें (यमकादिकों को) श्रृङ्गार प्रधानकाव्य में आ जाने दिया और यदि विप्रलम्भ श्रृङ्गार प्रधान काव्य में वे (यमक आदि) आ गये, तब तो विशेष-रूप से कवि की असावधानता समझी जायगी।

निषेधप्रतिप्रसवमाख्याति—

ये तु पुनरक्लिष्टतयाऽनुन्नतस्कन्धतया च न पृथग्भावनामपेक्षन्ते, किन्तु रसचर्वणायामेव सुसुखं गोचरीकर्तुं शक्याः, न तेषामनुप्रासादीनां त्यागो युक्तः।

अक्लिष्टताऽकठिनप्रयत्ननिष्पाद्यता। अनुन्नतस्कन्धत्वमनुत्कटत्वम्। सुसुखमतिसुखेनानायासमिति यावत्।

ये पुनरनुप्रासादयोऽप्यपृथग्यत्ननिष्पाद्या अपृथग्भावनाविषयीभावयोग्याश्च, रसप्रतिकूलत्वाभावात्तेषां नैव निषेध इति तात्पर्यम्।

जो अनुप्रास आदि क्लिष्ट और विस्तृत न होने के कारण पृथक् (रसनिवेश प्रयत्न से) यत्न की अपेक्षा नहीं रखते और न रसास्वाद से पृथक् आस्वाद की ही आवश्यकता

रखते, किन्तु रस-परिपाक के लिये जो प्रयत्न किया जाय, उसी से बन जा सकते हैं, उन अनुप्रासादिकों को छोड़ देना भी उचित नहीं।

मधुररसानुकूलमनुप्रासमुदाहरति—

यथा—

सखी नायिकां व्याहरति—

'कस्तूरिकातिलकमालि ! विधाय सायं,
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम्।
प्रौढिं भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा-
मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि ॥'

हे आलि ! सायं कस्तूरिकातिलकं भाले विधाय, स्मेराननेषद्धसितमुखी, त्वं सौधस्य सुधा(शुक्तिचूर्णलेप)धवलप्रासादस्य, मौलिं शिखरं, सपदि शीघ्रं, शीलयाध्यास्स्व, तथा च तेन कुमुदानि मुदामुदारां प्रौढिमतिशयितोल्लासं भजन्तु प्राप्नुवन्तु, हरितो दिशश्च परितो विष्वक्, मुखान्यग्रभागान् उल्लासयन्तूद्भासयन्त्वित्यर्थः।

अत्र वृत्त्यनुप्रासः शृङ्गाररसापृथग्यत्ननिष्पन्नत्वादनुकूल एवेति न निषिद्धः।

जैसे—'कस्तूरिकातिलक' ...... इत्यादि। सखी नायिका से कहती है—हे सखि ! तू सायंकाल में कस्तूरी का तिलक लगाकर शीघ्र मन्द मन्द हँसती हुई अटारी पर चढ़ जा, जिससे कुमुद अपार हर्ष को प्राप्त कर लें—अर्थात् पूर्णरूप से विकसित हो उठें और दिशायें अपने मुखों को पूर्णतया उल्लसित बना लें उनके प्रारम्भिक भाग अच्छी तरह प्रकाशमय हो जायँ। यहां अनुप्रास हैं, परन्तु कवि उनके लिये पृथक् यत्न किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता, वरन ऐसा ही प्रतीत होता है कि शृङ्गाररस के लिये जो कवि का यत्न हुआ है, उसी से अनुप्रासों की भी सृष्टि हो गई है और इन अनुप्रासों का आस्वादन भी रस के आस्वादन के साथ ही हो जाता है, अतः ऐसे अनुप्रास कोमल रसों में भी ग्राह्य हैं।

माधुर्यगुणाश्रयरसव्यञ्जकरचनादोषप्रदर्शनमुपसंहरति—

इत्येते प्रसङ्गतो मधुररसाभिव्यञ्जिकायां रचनायां सङ्क्षेपेण निरूपिता दोषाः।

इहौजस्वि-प्रसन्न-रसाभिव्यञ्जकरचनयोर्वर्जनीयानामनभिधानान्न्यूनता न शङ्कनीया, 'मधुररसेषु येऽनुकूलाः, त एवौजस्विरसेषु प्रतिकूलाः' इति प्रागेवौजस्विरसप्रतिकूलानां सामान्येनाभिधानात्, प्रसादगुणस्य सर्वरसरचनासाधारण्येन तद्व्यञ्जकरचनायां वर्जनीयत्वाभावाच्च।

इस तरह प्रसंग आ जाने के कारण मधुर-रसों को अभिव्यक्त करने वाली रचना में होने वाले इन दोषों का निरूपण संक्षेप में कर दिया गया है।

प्रसङ्गाद् वैदर्भी रीतिं निरूपयति—

'एभिर्विशेषविषयैः, सामान्यैरपि च दूषणै रहिता।
माधुर्यभारभङ्गुर-सुन्दर-पद-वर्णविन्यासा ॥
व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती, निर्मातुर्या प्रसादयुता।
तां विबुधा वैदर्भीं, वदन्ति वृत्तिं गृहीतपरिपाकाम् ॥'

एभिरुक्तैः सामान्यैर्विशेषैश्च दूषणै रहिता, माधुर्यभारेण भङ्गुराणामतिमधुराणामत एव सुन्दराणां पदानां वर्णानां च विन्यासो यत्र, सा, या निर्मातुः कवेः व्युत्पत्तिं काव्यशास्त्रादिनिपुणतां मुद्गिरन्ती सूचयन्ती, प्रसादेन गुणेन व्यञ्जकतया युता, तां गृहीतः परिपाको रसास्वादपरिनिष्ठा यस्यां, तादृशीं वैदर्भीं वृत्तिं रीतिं, विबुधाः काव्यार्थभावनाकुशला वदन्तीत्यर्थः। अस्या एवोपनागरिकावृत्तिरिति नामान्तरं बोध्यम्।

अब प्रसङ्ग-प्राप्त वैदर्भीरीति का निरूपण करते हैं—'एभिः' इत्यादि। विद्वज्जन उस रचना-विशेष को 'वैदर्भीरीति' कहते हैं, जो उक्त विशेष और साधारण-दोनों प्रकार के दोषों से रहित हो, जिसमें माधुर्य-गुण के भार से भरे हुये अतएव सुन्दर पदों और वर्णों का विन्यास हो, जिससे बनाने वाले (कवि) की व्युत्पत्ति प्रकाशित होती हो जो प्रसाद गुण से युक्त हो और जिसमें रस का पूर्ण परिपाक हुआ हो। इसी रीति को कुछ लोग उपनागरिक वृत्ति के नाम से पुकारते हैं।

अस्याः प्रसिद्धिं दर्शयति—

अस्यामुदाहृतान्येव कियन्ति पद्यानि।

अस्यां वैदर्भ्यां रीतौ, उदाहृतानि शृङ्गाररस-माधुर्यगुणोदाहरणतयोक्तानि, कियन्त्यनल्पानि पद्यान्येवोदाहरणानीति न तदपेक्षेत्याशयः।

इस रीति के उदाहरण हो सकने वाले कितने ही पद्य पूर्व में कहे जा चुके हैं।

तथापि सहृदयहृदयविनोदायोदाहरति—

यथा वा—

मानिनीमालिः प्रेयान् वा बोधयति—

'आयातैव निशा, निशापतिकरैः कीर्णं दिशामन्तरं
भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरुल्लासयन्ति श्रियम्।
वामे! मानमपाकरोषि न मनागद्यापि रोषेण ते
हा हा!! बालमृणालतोऽप्यतितमां तन्वी तनुस्ताम्यति॥'

हे वामे मानग्रहिले! निशा आयाता प्राप्तैव (न तु निशारम्भे विलम्बः) दिशामन्तरं मध्यं निशाकरस्य करैः किरणैः कीर्णं व्याप्तमुद्भासितमिति यावत्, भामिन्योऽपरा-मानवत्यश्च, विलासोचितकालमालोच्य, भवनेषु भोगावासेषु, भूषणगणैः परिहितालङ्कार-निकरैः, श्रियं शोभामुल्लासयन्ति वर्धयन्ति, त्वं पुनरद्यापीदानीमपि मानं न अपाकरोषि न त्यजसि, तेन रोषेण बालान्मृणालादपि, अतितमां नितमां तन्वी कोमला, ते तनुस्ताम्यति क्लाम्यतीत्यर्थः। अत्रोक्तलक्षणा वैदर्भी रीतिः। अतितमामित्यत्र तकारस्य स्थानान्तर्यादश्रव्यत्वं विभावनीयम्।

अथवा, जैसे:—

नायक नायिका से कह रहा है:—प्रेयसि! अब रात आधी गई, उसके आने में थोड़ा भी विलम्ब नहीं है, विश्वास न हो तो देख निशा-नाथ चन्द्र-देव की किरणों से दिशाओं के अन्तराल व्याप्त हो चुके हैं और मानिनी स्त्रियां मान छोड़कर आभूषणों से क्रीडा-मन्दिरों में शोभा को बढ़ा रही है। हे वामे! संसार भर से विपरीत ही आचरण करने वाली! तू अब भी मान को किञ्चित् भी कम नहीं कर रही है। हाय! हाय! देख तो नवीन मृणाल से भी अत्यन्त दुर्बल यह तेरा शरीर तेरे ही रोष के कारण क्लान्त हो रहा है। जाने दे, यदि मेरे ऊपर दया नहीं करती, तो मतकर, परन्तु अपने इस सुकोमल शरीर पर तो दयाकर। यहां वैदर्भीरीति के उक्त सभी लक्षण घटते हैं।

एतद्रचनायां स्खलनपरिहाराय कवेरवधानातिशयस्यापेक्षां प्रतिपादयति—

अस्याश्च रीतेर्निर्माणे कविना नितरामवहितेन भाव्यम्। अन्यथा तु परिपाकभङ्गः स्यात्।

अन्यथाऽवधानाभावे।

इस रीति के निर्माण करने में कवि को अत्यन्त सावधानी से बरतना चाहिये, अन्यथा परिपाक का भङ्ग हो जायगा—रस में जितनी माधुरी आनी चाहिये, उतनी नहीं आ सकेगी।

अमरुककवेरनवधानेनोपहितं परिपाकभङ्गमुदाहरति—

यथाऽमरुककविपद्ये—

जैसा कि अमरुक कवि के पद्य में हुआ है:—

मुग्धावृत्तं वर्णयति—

'शून्यं वासगृहं विलोक्य, शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य, जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥'

वासगृहं क्रीडागारं, शून्यं प्रियातिरिक्तलोकरहितं, विलोक्य निलीनसहचरीसद्भाव-सन्देहाद् विशेषेण दृष्ट्वा, शयनात् तल्पात्, किञ्चिदीषदेव (तावनः पार्श्वपरिवर्तनोपन्यासेनाप्यपलपितुं शक्यत्वात्) शनैर्यथाभूषणक्षणत्कारो न भवेत् तथा मन्दम्, अपर-कायेनैवोत्थाय, निद्राव्याजमनुरागजिज्ञासया कृतकनिद्राविडम्बनम्, उपागतस्य लब्धवतः, पत्युः स्वामिनो न तु परिचयप्राचुर्यविरहाद्वल्लभस्य, मुखं सुचिरं जागरणशङ्कया सुदीर्घकालं, निर्वर्ण्य निद्रानिर्णयाय निश्शेषमवेक्ष्य, विस्रब्धं सविश्वासं यथा स्यात् तथा गाढं, परिचुम्ब्य परितः कपोल-नयनादिषु चुम्बित्वा, तेन जातपुलकामुद्भिन्नरोमाञ्चां, गण्डस्थलीं कपोल-पालिम्, आलोक्य, लज्जा सापत्रपा, अत एव नम्रमुखी नतानना, बाला षोडशवार्षिकी (मुग्धा), हसता स्वाभीष्टानायासलाभहेतुकहासभृता, प्रियेण, चिरं लज्जाऽपगमपर्यन्तं, चुम्बिताऽभूदित्यर्थः ।

समानकर्तृक-प्राक्कालिकक्रियायां क्त्वो विधानात्तदर्थमिह पचाद्यजन्तलज्जापदपार्थ-क्यमवसेयम् ।

कोई मुग्धा नायिका के आचरणों का वर्णन करता है कि—बाला (मुग्धा नायिका) क्रीडागृह को जनों से शून्य देखकर-प्रियप्राणेश-मात्र को वहाँ पाकर धीरे धीरे शय्या से कुछ उठी और निद्रा का व्याज किये हुये (न कि वस्तुतः सोये हुये) पति के मुख को चिरकाल तक निहार कर (पति के निद्रा-मग्न हो जाने के विश्वास से) लगी उसके मुख को अच्छी तरह चूमने, पर चूमने के बाद जब उसने देखा कि पति के कपोल-प्रदेश रोमाञ्चयुक्त हो उठे हैं, तब लज्जा के मारे उसका मुख नीचा हो गया, पति के सामने उसकी दृष्टि टिक न सकी । फिर क्या था ? पतिमहाशय उठ बैठे और हँस हँस कर घण्टों मुग्धा पत्नी को चूमते रहे ।

उपपादयति—

अत्र 'उत्थाय किञ्चिच्छनैः' इत्यत्र सवर्णझयुद्वयसंयोगः, तत्रापि नैकट्येन सुतरामश्रव्यः । एवं झयुघटितसंयोगपरह्रस्वस्यापि । तथा 'शनैर्निद्रा' इत्यत्र 'निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्' इत्यत्र च रेफघटितसंयोगस्य, झयुघटितसंयोगपरह्रस्वस्य च प्राचुर्यम् । विश्रब्धम्' इत्यत्र महाप्राणघटितस्य, 'लज्जा' इत्यत्र स्वात्मसवर्ण-झयुद्वयघटितस्य, 'मुखी प्रियेण' इत्यत्र भिन्नपदगतदीर्घानन्तरस्य संयोगस्य, तथा क्त्वाप्रत्ययस्य पञ्चकृत्वः, लोकलेऽपि द्विः प्रयोगः कवेर्निर्माणसामर्थ्यदारिद्र्यं प्रकाशयति ।

'उत्थाय किञ्चिच्छनैः' इत्यत्र तथयोश्चछयोश्च सवर्णझयोः सामीप्येन संयोग एकः, झयुद्वयघटितसंयोगद्वयात् पूर्वयोर्ह्रस्वोकारेकारयोः सत्त्वादपरश्च दोषः, 'निद्रा' इत्यत्र 'पत्युः' इत्यत्र च क्रमेण दकार-तकाररूपझयुघटितसंयोगतः पूर्ववर्तिन इकाराकाररूपह्रस्वस्य

प्राचुर्यं, 'शनैर्निद्रा' 'निर्वर्ण्य' 'पत्युर्मुखम्' इत्यत्र रेफघटितसंयोगस्य प्राचुर्यं च दोषः, 'विस्रब्धम्' इत्यत्र धकाररूपमहाप्राणघटितसंयोगस्य प्रयोगो दोषः, 'लज्जा' इत्यत्र कयो जकारस्य स्वात्मना सवर्णकया संयोगस्य प्रयोगो दोषः, 'सुखी प्रियेण' इत्यत्र पृथक्पद-घटकस्य दीर्घेकारानन्तर-पकाररेफसंयोगस्य प्रयोगो दोषः, 'विलोक्य' 'उत्थाय' 'निर्वर्ण्य' 'परिचुम्ब्य' 'आलोक्य' इति पञ्चवारान् क्त्वाप्रत्ययस्य प्रयोगो दोषः, 'विलोक्य' 'आलोक्य' इति द्विर्लोकृधातोः प्रयोगो दोषश्च कवे रचयितुः, निर्माणसामग्रीदारिद्र्यं काव्यरचनाकारणी-भूताया व्युत्पत्त्युद्भावितप्रतिभाया राहित्यमल्पत्वं वा प्रकाशयति बोधयतीति कविभिर्वैदर्भी-रीतिनिर्माणे सावधानैर्भाव्यमिति भावः।

उक्त पद्य में 'उत्थाय' और 'किञ्चिच्छनैः' इन दो स्थानों पर दो-दो सवर्णाक्षरों (तकार-थकार और चकार-छकार) का संयोग है और वह भी समीप-समीप में, अतः अतिशय अश्रव्य है। इसी तरह इसी स्थान पर उक्त क्षरों के द्वारा बने हुये संयोग जिनके आगे हैं, उन ह्रस्वों (उकार और इकार) का भी प्रयोग हुआ है। तथा 'शनैर्निद्रा' और 'पत्युर्मुखम्' इन दो जगहों पर रेफ के द्वारा बने हुये संयोग की और क्षरों के द्वारा बने हुये संयोग जिनके आगे हैं, उन ह्रस्वों की अधिकता है। एवम् 'विश्रब्धम्' इस जगह महा प्राणों के द्वारा बना हुआ संयोग, 'लज्जा' इस जगह दो सवर्ण क्षरों का अपने ही साथ संयोग और 'सुखी प्रियेण' इस जगह भिन्न पदगामी दीर्घ के बाद का संयोग है। इसी प्रकार क्त्वा-प्रत्यय का पाँच बार (विलोक्य, उत्थाय, निर्वर्ण्य, परिचुम्ब्य और आलोक्य, इन पदों में) और 'लोकृ' धातु का दो बार (विलोक्य और आलोक्य में) प्रयोग किया गया है, जिससे कवि के पास रचना की सामग्री की कमी सूचित होती है।

'महीयसां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवती'त्यभियुक्तोक्तिं स्मरंस्ततो विरमति—

इत्यलं परकीयकाव्यविमर्शनेन।

परकीयकाव्यदोषाद्यालोचनेनालम् 'परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्' इति भगवद्बादरायणोक्तेरित्यर्थः।

पर, जाने दीजिये, दूसरों के काव्यों की आलोचना करना व्यर्थ है।

प्रक्रान्तं सविशेषरसनिरूपणमुपसंहरति—

इति सङ्क्षेपेण निरूपिता रसाः।

रसानां प्रकारानन्त्याद् विस्तरेण वर्णयितुमशक्यत्वम्।

इस प्रकार रसों का संक्षेप से निरूपण समाप्त हुआ।

रसध्वनिनिरूपणानन्तरं प्रात्यासत्तितया भावध्वनिं निरूपयितुमाचष्टे—

अथ भावध्वनिर्निरूप्यते—

अब भाव-ध्वनि का निरूपण करते हैं:—

प्रथमं भावस्य ज्ञानाय लक्षणं पृष्ट्वा परोक्तं तत् खण्डयति—

अथ किं भावत्वम्?, विभावानुभावभिन्नत्वे सति, रसव्यञ्जकत्वमिति चेत्, रसकाव्यवाक्येऽतिव्याप्त्यापत्तेः।

रसव्यञ्जके काव्यवाक्ये विभावानुभावभिन्नत्वस्य रसव्यञ्जकत्वस्य च सत्त्वाद् भावल-क्षणातिव्याप्तेरिदं लक्षणं न सम्यगित्यभिसन्धिः।

यहाँ सर्व प्रथम विचारणीय वस्तु यह है कि 'भाव' किनको कहते हैं? उनका लक्षण क्या है? यदि कोई कहे कि 'विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त जो रसों के व्यञ्जक हों-जिनसे रस व्यक्त हों, उन्हीं को 'भाव' कहते हैं, तो, यह समुचित नहीं, क्योंकि रसों के प्रतिपादक काव्य की पदावली में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है-अर्थात् रस-प्रति-

पादक काव्य के वाक्य विभावों और अनुभावों से अतिरिक्त हुई हैं और रस-व्यञ्जक भी हैं, अतः उनको भी 'भाव' कहना पड़ेगा।

ननु शब्दस्य व्यञ्जकत्वविरहात् कुतोऽतिव्याप्तिरत आह—

अर्थद्वारा शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात्।

साक्षाद्व्यञ्जकत्वेऽप्यर्थद्वारेण परम्परया शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात्। तदुक्तम्—'शब्द-बोध्यो व्यनक्त्यर्थः, शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः। एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता।' इति। इत्थं सहकारिव्यञ्जकत्वाच्छब्दस्यातिव्याप्तिस्तदवस्थैवेत्याशयः। वस्तु तस्तु गीतवा-द्यादिशब्दानां वाच्यार्थाप्रत्यायकत्वेऽपि रसव्यञ्जकत्वस्य ध्वनिकारादिभिर्निर्णीतत्वेन न शब्दस्यार्थद्वारैव व्यञ्जकत्वम्। तथा च नाग्रिमनिवेशस्यावसरः।

यदि वादी कहें कि रस के व्यञ्जक तो अर्थ होते हैं, शब्द नहीं, फिर शब्द-समूह-रूप वाक्य में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति कैसे होगी, तो इसका उत्तर यह है कि साक्षात् रस व्यञ्जक अर्थ ही भले हों पर उन अर्थों के द्वारा शब्द भी रस-व्यञ्जक माने जाते हैं, अत एव विद्वानों का कथन है कि 'शब्द-बोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः। एकस्य व्यञ्ज-कत्वे तदन्यस्य सहकारिता'—अर्थात् 'अर्थ शब्दों के द्वारा अवगत होकर व्यञ्जक होता है, और शब्द भी अर्थों का आश्रय-वाचक हो कर ही (न कि निरर्थक) व्यञ्जक होता है, अतः एक के साक्षात् व्यञ्जक होने पर दूसरा सहकारी होता है'। वस्तुतः तो ध्वनिकार आदि ने शब्दों को भी साक्षात् व्यञ्जक माना है, तदनुसार अर्थद्वारा वाक्य को व्यञ्जक मानने की आवश्यकता भी नहीं है।

शब्दस्य साक्षाद्व्यञ्जकत्वमबुद्ध्वा दोषवारणाय लक्षणे निवेशं विधाय निरस्यति—

द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन व्यञ्जकत्वे विशेषिते त्वसम्भवः प्रसज्येत, भावस्यापि भावनाद्वारैव व्यञ्जकत्वात्, भावनायामतिव्याप्त्यापत्तेश्च।

विभावादिभिन्नत्वे सति साक्षाद्रसव्यञ्जकत्वमिति लक्षणे तु दोषद्वयं स्यात्, रसस्य पुनःपुनरनुसन्धानरूपाया भावनाया एव साक्षाद्व्यञ्जकत्वं, भावस्य तु भावनाद्वारैव रसव्य-ञ्जकत्वमस्तीति साक्षाद्रसव्यञ्जकत्वस्य भावेऽप्यभावादसम्भव एकः, साक्षाद्रसव्यञ्जिकायां भावनायामतिव्याप्तिश्च द्वितीयो दोष इत्येतन्निवेशोऽसङ्गत इत्यभिप्रायः।

वादी कह सकते हैं कि इसी लक्षण में 'जो किसी को द्वार न बना कर रसों का व्यञ्जक हो' इस तरह व्यञ्जक में एक विशेषण और लगा देंगे, तब तो वाक्य में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि वह अर्थ को द्वार बना कर व्यञ्जक है, परन्तु ऐसा करने पर लक्षण में अस-म्भव दोष ही आ जायगा-अर्थात् यह भाव का लक्षण कहीं भी संघटित न हो सकेगा, क्योंकि जिनको सब लोग भाव मानते हैं, वे भी भावना (बार-बार अनुसन्धान) के द्वारा ही व्यञ्जक होते हैं। दूसरे, भावना में अतिव्याप्ति भी हो जायगी, क्योंकि विना किसी के द्वार बनाये वही रसों की व्यञ्जिका होती है। वस्तुतः तो उक्त रीति से शब्द भी विना किसी को द्वार बनाकर व्यञ्जक होता ही है, अतः वहां तथा भावना में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति ही होगी—असम्भव नहीं।

ननु काव्यवाक्येऽतिव्याप्तिं वारयितुं शब्दभिन्नत्वे सतीत्यपि लक्षणे प्रवेश्यतामित्युक्तिं निराकरोति—

अत एव च [विभावानुभावभिन्नत्वस्येव] शब्दभिन्नत्वस्यापि तद्विशेषणत्वे न निस्तारः। प्रधानध्वन्यमानभावे रसव्यञ्जकताऽभावादव्याप्त्यापत्तेश्च।

निस्तारो निर्वाहः।

अत एव-भावनायाः साक्षाद्रसव्यञ्जकत्वाच्छब्दभिन्नत्वाच्च तत्र भावलक्षणातिव्याप्तेरेव,

एवं भावध्वनौ भावस्य प्राधान्येन व्यज्यमानतया रसव्यञ्जकत्वाभावाद् भावलक्षणाव्याप्तेश्च शब्दभिन्नत्वनिवेशेनापि न निर्वाह इति सारम्।

इसी लिये व्यञ्जक में 'शब्द-भिन्नत्व' विशेषण जोड़ने पर भी उद्धार नहीं हो सकता— अर्थात् यदि 'विभावों और अनुभावों से अतिरिक्त तथा शब्द से भिन्न जो रसों का व्यञ्जक हो, वह 'भाव' है' ऐसा भी लक्षण बनावें, तब भी छुटकारा नहीं, क्योंकि भावना (जो शब्द से भिन्न है) में अतिव्याप्ति रहेगी ही। एवम् भाव-ध्वनि-स्थल में जो भाव प्रधानतया अभिव्यक्त होता है, वह रसों का व्यञ्जक नहीं होता, अतः उसमें लक्षण की अव्याप्ति भी होगी—अर्थात् उस भाव में लक्षण संघटित नहीं होगा।

भावध्वनावव्याप्तिमात्रवारणमाशङ्क्य खण्डयति—

न च तत्रापि प्रान्ते रसोऽभिव्यज्यत एवेति वाच्यम्, भावध्वनिविलोपप्रसङ्गात्।

तत्र भावध्वनावपि प्रान्ते भावध्वननानन्तरमन्ते भावेन रसस्य व्यञ्जनं भवत्येव, ततश्च भावस्यापि रसव्यञ्जकत्वान्नाव्याप्तिरिति वक्तुं नैव शक्यम्, यतो भावध्वनावपि यदि पर्यन्ते रसप्रतीतिः स्वीक्रियेत, तर्हि तत्रापि रसस्यैव प्राधान्याद् रसध्वनित्वमेव स्यान्न तु भावध्वनित्वमिति भावध्वनेर्विलोप एव भवेदतो न तत्र पार्यन्तिकी रसप्रतीतिरङ्गीकार्येति तात्पर्यम्।

यदि वादी यह तर्क उपस्थित करें कि जहां भावकी ध्वनि प्रधान होती है, वहां भी भाव-ध्वनि के बाद अन्त में रस की ध्वनि होती ही है, अतः उस तरह के भावों में रस-व्यञ्जकता है ही। इसका समाधान यह है कि यदि भाव-ध्वनि-स्थल में भी अन्त में रस की अभिव्यक्ति मान लेंगे, तब तो वहां भी रस की ही प्रधानता हो जाने से रस-ध्वनि का ही व्यवहार होने लगेगा, फलतः 'भाव-ध्वनि' का साहित्यक जगत् में उच्छेद ही हो जायगा, अतः भाव-ध्वनि-स्थल में रस की ध्वनि नहीं माननी चाहिये।

पुनरिहाशङ्क्य समादधाति—

भावचमत्कारप्रकर्षाद् भावध्वनित्वम्, रसस्तु तत्र व्यज्यमानोऽप्यचमत्कारित्वान्न ध्वनिव्यपदेशहेतुरित्यपि न शक्यं वदितुम्, चमत्काररहितरसव्यक्तौ मानाभावात्।

ननु भावध्वनिस्थले प्रथमं भावप्रतीतिः, पश्चाद्रसप्रतीतिश्च भवति, किन्तु तत्र रसप्रतीतेश्चमत्कारकत्वाभावान्न रसध्वनिव्यवहारः, अपि तु भावप्रतीतेश्चमत्कारितया भावध्वनिव्यवहार एव स्यादिति चेत्, न, 'लोकोत्तरचमत्कारप्राणः' 'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते' इत्याद्युक्तेरनुभवाच्च चमत्कृतिरहिताया रसप्रतीतेरङ्गीकृतौ मानाभावादिति भावः।

यदि इस पर भी वादी यह कहें कि 'भाव-ध्वनि' स्थल में भी भाव की अभिव्यक्ति के बाद अन्त में रस की अभिव्यक्ति यद्यपि अवश्य होती है, तथापि वहां 'रस-ध्वनि' का व्यवहार इस लिये नहीं होता कि रसाभिव्यक्ति में वहां कोई चमत्कार नहीं रहता और भाव की अभिव्यक्ति में चमत्कार रहता है अतः 'भाव-ध्वनि' का व्यवहार होता है, परन्तु यह कथन भी वादियों का ठीक नहीं, क्योंकि चमत्कार-हीन रस की अभिव्यक्ति में कोई प्रमाण नहीं—रस चमत्कार-हीन होता ही नहीं।

तदेव समर्थयति—

रसे हि धर्मिग्राहकमानेनानन्दांशाविनाभावस्य प्रागेवावेदनात्।

येन सहृदयसंवेतप्रत्यक्षरूपप्रमाणेनात्र धर्मिणो रसस्य ग्रहणं ज्ञानं साधनं वा भवति, तद्धर्मिग्राहकं मानम्, तेन यतः सच्चिदानन्दमयो ब्रह्मसनाभिरेव रसो ज्ञापितः, तस्मात् तस्य

रसस्य चमत्काराभिन्नानन्दं विनाऽभावाद् रसाभिव्यक्तिश्चमत्कारिण्येव, न तु कदापि तद्र-हिता, स्वीक्रियत इति प्राग् रसनिरूपणेऽपि प्रतिपादितमित्यर्थः।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि जिस सहृदयानुभव-रूप प्रमाण से रस पदार्थ की सिद्धि होती है, उसी प्रमाण से यह भी सिद्ध है कि रसमें आनन्द (चमत्कार) अंश का अविनाभाव (उसके विना न होना) है—अर्थात् रस चमत्कार स्वरूप ही जब है, तब चमत्कार-रहित रस की सत्ता कैसे हो सकती है।

इदानीं भावध्वनौ पार्यन्तिकीं रसाभिव्यक्तिमभ्युपगत्यापि तद्भावलक्षणं दूषयति—

अस्तु वा प्राधान्येन ध्वन्यमानस्यापि भावस्य प्रान्ते रसाभिव्यञ्जकत्वम्, तथापि देश-काल-वयोऽवस्थादिनानापदार्थघटिते पद्यवाक्यार्थे तथाप्यति-व्याप्तिः, तस्य विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वात्।

तथापि भावध्वनावव्याप्त्यापत्तिवारणेऽपि। तथापि विभावानुभावभिन्नत्वे सति, शब्द-भिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वमिति कथनेऽपि। विभावानुभावभिन्नत्वे सतीति शब्दभिन्नत्वे सतीत्यस्याप्युपलक्षणम्।

अथवा भावध्वनावपि चरमदशायां रसाभिव्यक्तिरस्तु, तथापि न तवेष्टसिद्धिः, यतो ध्वन्यमानभावस्य रसाभिव्यञ्जकत्वाङ्गीकारेण तत्रोक्तपूर्वाया भावलक्षणाव्याप्तेर्वारणेऽपि, काव्यवाक्यार्थस्य देशकालाद्यनेकपदार्थघटितस्य विभावानुभावभिन्नत्वेन शब्दभिन्नत्वेन रसाभिव्यञ्जकत्वेन च, तत्र भावलक्षणातिव्याप्तेर्जागरूकत्वादित्याशयः। इह 'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः' इत्यभियुक्तोक्तेर्भावध्वनावपि विवाहप्रवृत्तभृत्यानुगतराजवद् रसस्य प्रतीतिरल्पचमत्कारा भवन्ती, राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवद् भावस्य प्रतीतेश्चमत्कारोत्कर्ष-निबन्धनं प्राधान्यं न विलोप्तुमर्हतीत्येवाभ्युपगमपक्षस्य निदानम्।

अब यदि वादी कहें कि रस की अपेक्षा भाव के गौण होने पर भी वाच्य की अपेक्षा प्रधान होने के कारण, अथवा विवाह में दूलहे बने हुये दीवान आदि नौकर के पीछे चलते हुये राजा की तरह (क्योंकि वहां राजा की अपेक्षा दूलहा की प्रधानता रहती है) रस की अपेक्षा भाव की प्रधानता होने के कारण काव्य में 'भाव-ध्वनि' का व्यवहार हो सकता है, तो हम प्रधानतया ध्वनित होने वाले भाव को भी पर्यन्त में रस-व्यञ्जक मान लेते हैं, परन्तु तब भी भाव का उक्त लक्षण ठीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि देश-काल अवस्था और स्थिति आदि (जो विभाव-अनुभाव से भिन्न हैं) अनेक पदार्थों से बने हुये श्लोक के वाक्यार्थ में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह विभाव और अनुभाव से अतिरिक्त भी है और रस का व्यञ्जक भी है। सारांश यह है कि यह लक्षण किसी भी प्रकार से सङ्गत नहीं हो सकता।

पुनर्लक्षणान्तरमुपक्षिप्य निरस्यति—

नापि रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वं तत्त्वम्, भावादिचर्वणाया-मतिप्रसङ्गवारणाय चर्वणाविषयेति चित्तवृत्तिविशेषणमिति वाच्यम्।

'कलानिधिं करुदृशं सा, हालाहलवद् विजानती नितराम्।
अपि नीलोत्पलमालां, बाला व्यालावलिं किलामनुते॥'

इत्यत्र हालाहलसदृशत्वप्रकारज्ञानेऽतिव्याप्तेः, तस्य विप्रलम्भानुभावत्वेन रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयत्वात्, चित्तवृत्तित्वाच्च।

ननु रसाभिव्यञ्जकत्वे सति, चर्वणाविषयीभूतत्वे च सति, चित्तवृत्तित्वमेव भावस्य लक्षणमस्तु, रसाभिव्यञ्जकत्वमात्रविशेषणे भावचर्वणायामतिव्याप्तेर्वारणाय चर्वणाविषयी-

भूतत्वमपि चित्तवृत्तेर्विशेषणमुपात्तम्, तथा च भावादिचर्वणायां चर्वणाविषयत्वाभावाश्नातिव्याप्तिरिति पूर्वपक्षः।

'सा दयनीयदशापन्नत्वेन प्रसिद्धा, वाला सदसद्विवेकविधुरा मम सखी, कालागुरुद्रवं कृष्णागुरुरसमपि हालाहलवत् गरलतुल्यं, विजानती, नीलोत्पलानां कुवलयानां, मालामपि, व्यालावलिं कृष्णसर्पश्रेणीम्, आमनुते सर्वथा मन्यते, इत्यर्थके नायकं प्रति वियोगिन्याः सख्योक्ते 'काले'त्यादिपद्ये, नायिकानिष्ठस्य कालागुरुद्रवाधिष्ठानकस्य हालाहलसादृश्यप्रकारकचित्तवृत्तिविशेषरूपस्य ज्ञानस्य विप्रलम्भश्रृङ्गाररसानुभावत्वाद् रसाभिव्यञ्जकतया चर्वणागोचरतया च तत्रातिव्याप्तिः स्यादतो नेदं लक्षणं युक्तमित्युत्तरपक्षः।

नागेशभट्टास्तु—लक्षणेऽस्मिन्ननुभावभिन्नत्वमपि निवेश्यातिप्रसङ्गं वारयन्ति।

अब यदि कोई यह लक्षण बनावे कि 'उस चित्तवृत्ति को 'भाव' कहते हैं, जो रस को अभिव्यक्त करनेवाली चर्वणा (आस्वाद) का विषय हो—उस आस्वाद में आ जाती हो। यहाँ 'रसाभिव्यञ्जक चित्तवृत्ति का नाम भाव है' इतना ही लक्षण करने पर भावों की चर्वणा (आस्वाद) में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह भी रस को अभिव्यक्त करती है और चित्तवृत्ति रूप भी है, अतः 'चर्वणा-विषय' यह विशेषण चित्तवृत्ति में लगाया गया, जिससे उक्त अतिव्याप्ति का वारण हो गया, क्योंकि चर्वणा, चर्वणा का विषय नहीं होती, यह समझना चाहिये। परन्तु यह लक्षण भी ठीक नहीं, क्योंकि—'अगर-काष्ठ को जहर के समान समझने वाली वह बाला (भले बुरे के ज्ञान से शून्य मेरी सखी) नील-कमलों की माला को भी, मानो, सर्पों की पङ्क्ति मानती है' एतदर्थक, नायक के प्रति विरहिणी की सखी के द्वारा कहे गये 'कालागुरुद्रवं सा……' इत्यादि पद्य में जो 'कालागुरु (अगर) को जहर के समान समझती है' इत्याकारक नायिका के ज्ञान का वर्णन किया गया है, उस ज्ञान में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह ज्ञान विप्रलम्भ श्रृङ्गार का अनुभव है—वियोग कालिक प्रेम के चलते ही उत्पन्न हुआ है, अतः उसका आस्वाद होता है और वह आस्वाद रस का व्यञ्जक भी होता है, इस तरह वह ज्ञान रसाभिव्यञ्जक चर्वणा का विषय है और चित्तवृत्ति रूप भी, क्योंकि ज्ञान चित्तवृत्ति रूप ही माना जाता है। नागेश भट्ट उक्त लक्षण में 'अनुभावभिन्नत्व' यह एक और विशेषण जोड़ कर अतिव्याप्ति का वारण करते हैं। यहाँ हिन्दी रसगङ्गाधर के निर्माता पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदीजी लिखते हैं कि—'इस स्थान पर, सहृदयभावक को, जो जहर की बरावरी का ज्ञान हो रहा है, उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। वह ज्ञान विप्रलम्भ श्रृङ्गार का अनुभाव है—उसके द्वारा उत्पन्न हुआ है'''इत्यादि' परन्तु चतुर्वेदी जी का यह कथन सङ्गत नहीं जँचता, क्योंकि—सहृदय भावक को जहर की बरावरी का ज्ञान कैसे होगा? उस ज्ञान की उत्पत्ति तो वियोग कालिक प्रेम से होती है, और सहृदय वियुक्त प्रेमी नहीं रहता, हाँ, नायिकानिष्ठ उक्त ज्ञान का ज्ञान सहृदय को अवश्य होता है। परन्तु वह ज्ञान—ज्ञान, न अनुभाव ही है न रस-व्यञ्जक ही।

लक्षणान्तरविरहाद् भावत्वमखण्डोपाधिं मन्यमानानां मतमपाकरोति—

नाप्यखण्डम्, तत्त्वे मानाभावात्।

भावत्वमिदमखण्डमेव, तेन नास्य लक्षणनिर्देशापेक्षेत्यपि निगदितुं न शक्यम्, भावत्वस्याखण्डोपाधित्वाङ्गीकारेऽनुगतप्रतीत्यादिज्ञापकमानाभावाद्, भावत्वस्यान्यथाऽपि निर्वक्तुं शक्यत्वाच्च।

यदि वादी कहें कि भावत्व अखण्ड उपाधि है, अतः उसके लक्षण करने की कोई आवश्यकता नहीं, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि-भावत्व को अखण्ड उपाधि मानने में अनुगत प्रतीति आदि जो ज्ञापक प्रमाण हो सकता है, वह नहीं है, उसे अखण्ड उपाधि बिना माने भी निर्वाह हो सकता है, फिर वैसा मानना निरर्थक भी है।

इत्थं परकीयलक्षणानि प्रतिक्षिप्य, स्वकीयं लक्षणमुपक्षिपति—

अत्रोच्यते—

विभावादिव्यज्यमान-हर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम् ।

विभावादिभिर्व्यज्यमानत्वे सति, हर्षाद्यन्यतमत्वं भावत्वम् । हर्षादयश्चतुस्त्रिंशदनन्तरं निरूपयिष्यन्ते । विशेषणानुक्तौ वाच्यहर्षादिषु, विशेष्यानुक्तौ च रसादिष्वतिव्याप्तिः । अन्यतमत्वस्य लक्षणकुक्षिप्रवेशे गौरवं, तत्परिहरणं च मया प्रागेवोपन्यस्तमवसेयम् ।

उक्त रीति से परकीय-भाव लक्षणों का खण्डन करके अब स्व-सम्मत सिद्धान्तभूत 'भाव' का लक्षण करते हैं—'अत्रोच्यते' इत्यादि । विभाव आदि से ध्वनित किये जाने वाले हर्ष आदिकों (जिनकी गणना आगे की जायगी) में से एक एक का नाम 'भाव' है ।

स्वलक्षणं प्राचीनोक्त्या द्रढयति—

यदाहुः—

'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति ।

अञ्जितोऽभिव्यक्तिविषयीभूतो व्यभिचारी भावः स्यादिति तदर्थः । अन्यत्र तु प्राधान्येनाभिव्यक्तो व्यभिचारी, अपुष्टः स्थायी च भावः कथितः ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'व्यभिचार्य' इत्यादि । अर्थात् ध्वनित होने वाले व्यभिचारी-भाव को 'भाव' कहते हैं ।

अधुना हर्षादिभावानामभिव्यक्तिं मतत्रयभेदेन क्रमात् त्रिविधां दर्शयन् प्रथमं सिद्धान्तमतेन दर्शयति—

हर्षादीनां च सामाजिकगतानामेव स्थायिभावन्यायेनाभिव्यक्तिः ।

न्यायस्तुल्यता ।

वासनारूपेण सामाजिकानां हृदये स्थितानां काव्यनाट्योपस्थापितैरविरुद्धैर्विरुद्धैश्च भावैरनभिभूतानां स्वाभिव्यक्तिसामग्र्या यथा स्थायिभावानां स्थिराऽभिव्यक्तिः, तथैव प्राधान्यमुपलब्धवतां हर्षादीनामपि स्थिरैवाभिव्यक्तिरिति रसनिरूपणे प्रागुपन्यस्तं प्रथमं सिद्धान्तमतम् ।

भाव किस तरह ध्वनित होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने तीन तरीके बतलाये हैं, अब ग्रन्थकार उन्हीं तीनों तरीकों का क्रमशः प्रदर्शन करने के क्रम में सर्व-प्रथम सिद्धान्त-भूत तरीके का उल्लेख करते हैं—'हर्षादीनाञ्च' इत्यादि । सामाजिकों नाटकादिके देखनेवालों और काव्यके पढ़ने सुनने वालों में वासनारूप से जो हर्षादिक रहते हैं, उन्हीं की स्थायीभावों की तरह अभिव्यक्ति होती है—अर्थात् वासनारूप से सामाजिकों के रहने वाले और काव्य अथवा नाटक से उपस्थित किये गये अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी तरह के भावों से नहीं दबाने योग्य स्थायीभावों की जैसे अपनी अभिव्यक्ति सामग्री से स्थिर अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार प्रधान बने हुये हर्ष आदि भावों की भी स्थिर अभिव्यक्ति होती है ।

द्वितीयं मतमाचष्टे—

साऽपि रसन्यायेनेति केचित् ।

साऽभिव्यक्तिः ।

सामाजिकानां हृदये स्वभावतो विद्यमानोऽपि पिहितो विभावाद्यभिव्यक्तिसामग्र्या सत्त्वोद्रेकेण पिधानस्य निवर्तने स्थायिभावोपहितो भग्नावरणश्चिदानन्द एव यथा रसत्वेनाभिव्यज्यते, तथैव विभावाद्यभिव्यक्तिसामग्र्या सत्त्वोद्रेकेण भग्नावरणचिद्विशिष्टा हर्षादयो भावा अपि सामाजिकहृदयेऽभिव्यज्यन्त इति रसनिरूपणे केचिदित्यनेनोपन्यस्तं द्वितीयं मतम् ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि भावों की अभिव्यक्ति रस की तरह होती है अर्थात् जैसे, सामाजिकों में स्वभावतः रहने वाला भी आत्मानन्द अविद्या से ढका रहता है, पर काव्यगत अलौकिक व्यापार से उस अविद्यात्मक आवरण की निवृत्ति हो जाने पर वह आत्मानन्द प्रकाशित हो उठता है और उसी आवरणमुक्त स्थायीभाव से उपहित चिदानन्द को रस कहा जाता है, उसी तरह आवरणमुक्त चिद्विशिष्ट हर्ष आदि भाव भी सामाजिक के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं।

तृतीयं मतमुपादत्ते—

व्यङ्ग्यान्तरन्यायेनेत्यपरे मन्यते।

व्यङ्ग्यान्तरं रसभिन्नं वस्तुरूपमलङ्काररूपं च।

वाचकशब्दाद् वाच्योपस्थितावपि वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्ये सत्यनुरणनन्यायेन यथा वस्त्वलङ्काररूपो व्यङ्ग्योऽर्थः श्रोतॄणां हृदयेऽभिव्यज्यते, तथैव विभावादिवाचकतत्तच्छब्द-प्रत्ययानन्तरमनुरणनन्यायेन हर्षादयो भावा अपि श्रोतॄणां हृदयेऽभिव्यज्यन्त इति रस-निरूपणेऽपर इत्यनेनोपन्यस्तं तृतीयं मतम्।

अन्य विद्वानों का यह भी मत है कि अन्य व्यङ्ग्यों की तरह भावों की अभिव्यक्ति होती है—अर्थात् जैसे काव्य तथा नाटक के शब्दों से वाच्यार्थों की उपस्थिति हो जाने के बाद वक्ता एवं बोद्धव्य आदि के ज्ञान-द्वारा वस्तु अलंकाररूप संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थ सहृदयों के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं, उसी प्रकार हर्ष आदि भाव भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं।

अथैषां भावानामभिव्यक्तौ कारणं परीक्षते—

विभावानुभावौ चात्र व्यञ्जकौ, न त्वेकस्मिन् व्यभिचारिणि ध्वन्यमाने, व्यभिचार्यन्तरं व्यञ्जकतयाऽवश्यमपेक्ष्यते, तस्यैव प्राधान्यापत्तेः।

अत्र भावव्यञ्जने विभावानुभावावेव व्यञ्जकौ, न तु स्वातिरिक्तो व्यभिचारिभावो व्यञ्जकः, अन्यस्य व्यभिचारिणोऽभिव्यक्तिकुक्षिप्रवेशे कदाचित् तस्यैव प्राधान्यस्य सम्भव इति व्यभिचार्यन्तरस्य व्यञ्जकत्वमत्र नाङ्गीक्रियत इत्याकूतम्।

अब इन भावों के व्यञ्जक कौन हो सकते हैं? इस बात की परीक्षा करते हैं—'विभानुभावौ' इत्यादि। विभाव और अनुभाव ये दो ही भावों के व्यञ्जक हैं, व्यभिचारीभाव नहीं, यदि एक व्यभिचारी (जिसको प्रधान व्यङ्ग्य होने के नाते भाव कहते हैं) के ध्वनित करने में दूसरे व्यभिचारी को व्यञ्जक मानना आवश्यक समझा जायगा, तब वही (व्यञ्जक व्यभिचारीभाव ही) प्रधान हो जायगा। कारण यह है कि जैसे यह (भाव माना जाने वाला) व्यभिचारीभाव अभिव्यक्त होता है वैसे ही वह (व्यञ्जक माना जाने वाला) भी अभिव्यक्त होता है और व्यञ्जकता उसमें अधिक है। अतः भावों के दो ही (विभाव और अनुभाव) व्यञ्जक मानना उचित है।

प्रकरणादीनां तात्पर्यनियामकत्वेन व्यभिचार्यन्तरस्य व्यञ्जकतयाऽभ्युपगमेऽपि न प्राधान्यापत्तेः सम्भव इति व्यभिचार्यन्तरस्यापि व्यञ्जकत्वमभ्युपेयमेवेति सिद्धान्तपक्षमाह—

वस्तुतस्तु—प्रकरणादिवशात् प्राधान्यमनुभवति कस्मिंश्चिद्भावे, तदीयसामग्रीव्यङ्ग्यत्वेन नान्तरीयकतया तन्निमानमावहतो व्यभिचार्यन्तरस्याङ्गत्वेऽपि न क्षतिः। यथा गर्वादावमर्षस्य, अमर्षादौ वा गर्वस्य।

प्रकरणादिबलात् कस्मिंश्चिद्भावे प्रधाने सति, तद्भावस्य व्यञ्जिका या सामग्री, तयैवा-विनाभावित्वेन यतो व्यज्यमानोऽपरो भावो भवति, तस्मात् स्वरूपतया भासमानोऽपि परो-व्यभिचारिभावः प्रधानभावस्याङ्गमेव भवति, न त्वङ्गीति विभावानुभाववद् व्यभिचार्यन्तरस्य

भावव्यञ्जकताङ्गीकारे न तत्प्राधान्यापत्तिः । अत एव गर्वादौ भावेऽङ्गिनि, व्यभिचार्यन्तरस्यामर्षस्य, अमर्षादौ चाङ्गिनि गर्वस्याङ्गत्वं न विरुद्धमित्यभिप्रायः ।

वस्तुतः तो जब प्रकरण आदि के बल से कोई एक भाव प्रधान हो जायगा, तब उसको ध्वनित करने वाली सामग्री के द्वारा, अन्यभाव से रहित केवल प्रधान भाव ध्वनित ही नहीं हो सकता, इस कारण यदि कोई अन्य भाव ध्वनित हो भी जाय और वह प्रकरण प्राप्त भाव की अपेक्षा दुर्बल होने के कारण उसका अङ्ग बनकर रहे तो कोई हानि नहीं—अर्थात् प्रकरण आदि की सहायता से प्रबल बना हुआ एक भाव जब प्रधान हो जायगा, तब दूसरा भाव अन्यथासिद्ध के रूप में अभिव्यक्त होकर भी दुर्बल रहेगा, अतः प्रधान हो नहीं सकता, इसलिये यदि विभाव अनुभाव की तरह व्यभिचारीभाव को भी भावों का व्यञ्जक माना जाय तो किसी हानि की सम्भावना नहीं है । जैसे कि गर्व के प्रधानतया व्यङ्ग्य होनेपर अमर्ष अङ्ग और 'अमर्ष के प्रधान व्यङ्ग्य होने पर गर्व अङ्ग होता है ।

नन्वेकस्मिन् भावेऽङ्गिनि परस्य भावस्याङ्गत्वे, गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं, न तु भावध्वनित्वं तत्र स्यादित्याशङ्क्य समादधाति—

न चैवं सति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः, पृथग्विभावानुभावाभिव्यक्तस्यैव (भावस्य) गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपदेशहेतुत्वात् ।

यत्र प्रधानभावव्यञ्जिकाया विभावानुभावरूपसामग्र्या भिन्नया सामग्र्या भावान्तरमभिव्यज्यते, तत्रैव तस्य भावान्तरस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारकारणत्वम्, न स्वङ्गत्वेनैव । प्रकृते तूभयोरेकैव सामग्री व्यञ्जिका, तस्मात्तत्र गुणीभूतत्वं सम्भवतीति भावः ।

यदि आप कहें कि इस तरह भाव-ध्वनि-स्थल में एक भाव को अङ्गीरूप में और दूसरे भाव को अङ्ग रूप में व्यङ्ग्य मानने पर वह काव्य 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' कहलायगा 'भाव-ध्वनि' नहीं, तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रधान भाव को व्यक्त करने वाले विभाव और अनुभाव से अतिरिक्त विभाव और अनुभाव से जो गौण भाव व्यक्त होता है, अत एव प्रधान भाव के व्यङ्ग्य होने पर जिसका व्यक्त होना आवश्यक नहीं, अपि तु आकस्मिक है, वही काव्य में गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व-व्यवहार का कारण होता है, भाव-ध्वनिस्थल में तो अङ्गभूत भाव भी उन्हीं विभाव-अनुभावों से अभिव्यक्त हुआ रहता है, जिनसे अङ्गीभाव ध्वनित होता है, अतः वहां का अङ्गभूत भाव-व्यङ्ग्य, गुणीभूत-व्यङ्ग्यता का नियामक नहीं बन सकता ।

उक्तमर्थं समर्थयति—

अत एव नान्तरीयकस्य भावस्य ध्वननं भवति । अन्यथा गर्वादिध्वनेरुच्छेद एव भवेत् ।

अत एवाभिन्नसामग्रीव्यङ्ग्यत्वादेव नान्तरीयकयोर्नित्यसम्बद्धयोर्भावयोर्गुणप्रधानभावाभावः । अन्यथा—तत्रापि गुणप्रधानभावाभ्युपगमे गर्वादिभावध्वनावप्यमर्षादिभावानामभिन्नसामग्रीव्यङ्ग्यानां बलाद् गुणीभूतव्यपदेशे सर्वत्र प्राप्ते, भावध्वनिव्यपदेशस्य सर्वथा लोप एव स्यादित्यर्थः ।

जिसलिये उक्त रीति से आकस्मिक भाव ही अङ्गभूत होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्यता का कारण होता है, इसीलिये भावध्वनिस्थल में प्रधान भाव से भिन्न उसी भाव की ध्वनि होती है, जो नान्तरीयक रहता है—प्रधान भाव के ध्वनित होने पर जिसका ध्वनित होना आवश्यक होता है—अर्थात् जो प्रधान भाव-व्यञ्जक-सामग्री से ही व्यक्त हुआ रहता है । तात्पर्य यह है कि भाव-ध्वनि स्थल में प्रधान भाव से भिन्न उस भाव की ध्वनि नहीं होती, जिसका प्रधान-भाव-ध्वनि के साथ ध्वनित होना निश्चित नहीं है । अन्यथा (यदि प्रधान भाव-ध्वनि के साथ नियमतः ध्वनित होने वाले अङ्गभूत भाव भी गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व-

व्यवहार के कारण हों, तब) गर्वादिभावध्वनि का लोप ही हो जाय, कारण यह कि गर्वादि-प्रधान-भाव-ध्वनि-स्थल में अङ्गरूप से नियमतः ध्वनित होने वाले अमर्ष आदि को लेकर गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का व्यवहार ही सर्वत्र हो जायगा।

विभावस्य भावे निमित्तकारणतां वक्ति—

विभावस्त्वत्र व्यभिचारिणो निमित्तकारणसामान्यम्, न तु रसस्येव सर्वथैवालम्बनोद्दीपने अपेक्षिते।

अत्र भावध्वनौ। यथा रसे व्यञ्जनीये विभावस्यालम्बनतयोद्दीपनतया चापेक्षा भवति, तथा व्यभिचारिभावे व्यञ्जनीये न भवति, किन्तु व्यभिचारिभावं प्रति विभावस्य निमित्तकारणतैव सामान्यत इत्यर्थः।

विभावपद से यहां व्यभिचारीभाव के साधारण निमित्तकारण का ग्रहण समझना चाहिये, न कि रस की तरह उसका सर्वथा आलम्बन और उद्दीपन होना अपेक्षित है।

विशेषमाह—

यदि तु क्वचित् सम्भवः, तदा न वार्येते।

क्वचित् कस्मिंश्चिद्, भावे व्यञ्जनीये सति, आलम्बनविभाववदुद्दीपनविभावस्यापि यदि सम्भवः स्यात्, तदा ते आलम्बनोद्दीपने न वार्येते। अत एवाग्रे रसाभासोदाहरणप्रसङ्ग उद्दीपनस्याप्युपादानं नासङ्गतम्।

यदि कहीं किसी खास भाव की ध्वनि में विभाव का आलम्बन और उद्दीपन होना भी सम्भव हो, तो उसका निषेध भी नहीं करना है। अत एव आगे रसाभास के उदाहरण-प्रसङ्ग में आलंबन के जैसे उद्दीपन की भी की गई चर्चा असंगत नहीं होती है।

भावरूपतां प्राप्तान् हर्षादीन् क्रमेणोद्दिशति—

हर्षादयस्तु—

हर्ष-स्मृति-व्रीडा-मोह-धृति-शङ्का-ग्लानि-दैन्य-चिन्ता-मद-श्रम-गर्व-निद्रा-मति-व्याधि-त्रास-सुप्त-विबोधा-ऽमर्षा-ऽवहित्थोग्रतोन्माद-मरण-वितर्क-विषादौत्सुक्या-ऽऽवेग-जडता-ऽऽलस्या-ऽसूया-ऽपस्मार-चपलताः। प्रतिपक्षकृतधिक्कारादिजन्मा निर्वेदश्चेति त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः। गुरु-देव-नृप-पुत्रादिविषयारतिश्चेति चतुस्त्रिंशत्।

भावानामिहोद्देशक्रमः प्राचीनग्रन्थप्रतिकूलः।

हर्षप्रभृतयस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभावा गुर्वादिविषयकरतिश्चेति चतुस्त्रिंशद् भावाः सन्तीत्यर्थः।

इह गुर्वादिविषयकरतिरिति 'रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते।' 'रत्यादिश्चेन्निरङ्गः स्याद्देवादिविषयोऽथवा। अन्याङ्गभावभाग् वा स्यान्न तदा स्थायिशब्दभाक्।' 'रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः' 'सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः। उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।' इत्यादिदर्शनात् सामग्रीविरहेणाप्राप्तरसभावानामन्येषामपि स्थायिभावानामुपलक्षणम्।

अब भावों का परिगणन करते हैं—'हर्षादयस्तु' इत्यादि। भावों की कुल संख्या ३४ हैं। उनमें से—हर्ष, स्मृति, व्रीडा, मोह, धृति, शंका, ग्लानि, दैन्य, चिन्ता, मद, श्रम, गर्व, निद्रा, मति, व्याधि, त्रास, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, उन्माद,

मरण, वितर्क, विषाद, औत्सुक्य, आवेग, जड़ता, आलस्य, असूया, अपस्मार, चपलता और प्रति पत्नी के द्वारा किये गये तिरस्कार आदि से उत्पन्न हुआ निर्वेद ये ३३ व्यभिचारी हैं और चौतिसवाँ है गुरु, देवता, राजा और पुत्र आदि के विषय में होने वाला प्रेम।

ननु पुत्रादिविषयकरतिस्थायिकं वात्सल्यनामकं रसान्तरमेवान्यत्रोक्तमिति कुतोऽत्र तद्रतेर्भावत्वेन गणनेत्याशङ्कां निराकरोति—

एतेन वात्सल्याख्यं पुत्राद्यालम्बनं रसान्तरमिति परास्तम्, उच्छृङ्खलताया मुनिवचनपराहतत्वात्।

रससङ्ख्यास्वीकारे भरतमुनिवचनस्यैव व्यवस्थापकत्वं यतः प्राग् रसनिरूपणेऽनायत्याऽङ्गीकृतम्, अतस्तेनैव मुनिना पुत्रादिविषयकरतेर्भावत्वेन व्यवस्थापनान्न वात्सल्यरसोऽस्तीति सारम्।

अब किसी किसी विद्वान् ने जो 'वात्सल्य' को रस माना है, उसका खण्डन करते हैं— 'एतेन' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि पुत्र आदि विषयक प्रेम को उक्त भावों की श्रेणी में क्यों गिनते हैं? जब कि अन्य विद्वान् उसको 'वात्सल्य' नामक रस मानते हैं और पुत्र आदि को उस रस का आलम्बन आदि। इस शङ्का के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि 'वात्सल्य' नामक कोई रस नहीं हो सकता, क्योंकि भरत मुनि ने ऐसा नहीं माना है और उच्छृङ्खलता उनके आगे चल नहीं सकती, अतः भरत मुनि के कथनानुसार उसे भाव मानना ही उचित है।

इदानीमेकैकशो हर्षादीन् निरूपयितुमुद्यत उद्देशक्रमेणादौ हर्षं निरूपयति—

तत्र—

इष्टप्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्षः।

इष्टप्राप्त्यादिजन्यः सुखविशेषो हर्ष इति लक्षणम्। भावत्वेनास्य चित्तवृत्तिविशेषरूपता।

अब क्रमशः उक्त भावों में से एक एक का निरूपण, लक्षणोदाहरणादि-प्रदर्शन द्वारा करते हैं।

(अभिलषित वस्तु की प्राप्ति आदि से जो एक तरह का सुख उत्पन्न होता है, उसे 'हर्ष' कहते हैं।)

आदिपदग्राह्यैर्विभावैः सहास्यानुभावान् दर्शयितुमन्यदीयमपि लक्षणं वक्ति—

तदुक्तम्—

'देव-भर्तृ-गुरु-स्वामिप्रसादः प्रियसङ्गमः।
मनोरथाप्ति-रप्राप्यमनोहरधनागमः॥
तथोत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो यत्र जायते।
नेत्र-वक्त्रप्रसादश्च, प्रियोक्तिः पुलकोद्गमः॥
अश्रुस्वेदादयश्चानुभावा हर्षं तमादिशेत्॥' इति।

भर्ता पतिः स्वामी त्वधिपतिः। पुत्राद्युत्पत्तिपर्यन्तं हर्षस्य निमित्तानि विभावाः, नेत्रप्रसादादयश्च नैमित्तिकास्त्वनुभावाश्च यत्र जायन्ते, तं हर्षमादिशेदित्यन्वयः।

हर्ष का परिभाषा प्राचीनों ने भी इसी तरह की है, जैसे—'देवभर्तृ········' इत्यादि जिसका अर्थ यह है कि—देवता, पति, गुरु और स्वामी (अधिपति) की प्रसन्नता, प्रिय समागम, इच्छित वस्तु की प्राप्ति, दुर्लभ और लोभ-जनक धन का लाभ, तथा पुत्र आदि का जन्म जिसके विभाव होते हैं और नेत्र तथा मुख की प्रसन्नता प्रियवचन, रोमाञ्च, आँसू और प्रस्वेद आदि जिनके अनुभाव होते हैं, उसको हर्ष कहना चाहिये।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायकः सखायं कथयति—

'अवधौ दिवसावसानकाले, भवनद्वारि विलोचने दधाना।
अवलोक्य समागतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी बभूव ॥'

अवधौ प्रतिज्ञातागमनसमयसीमनि, दिवसस्यावसानकाले गोधूलिसमये, भवनस्य द्वारि दूरादेव मम दिदृक्षया विलोचने रणरणकातिरेकेणोभे अपि नयने, दधाना संयोजयन्ती रामा, तदा तदवसरे समागतं प्राप्तं माम्, अवलोक्य, अथ हर्षोद्भवानन्तरं, विकसन्मुखी विहसद्वदना, बभूवेत्यर्थः।

उदाहरण देखिये—'अवधौ······' इत्यादि। नायक अपने मित्र से कहता है कि—मेरे आगमन के अवधि-दिन की गोधूलि वेला थी, प्रियतमा ने घर के द्वार पर अपनी आँखें बिछा रखी थीं-मेरे दर्शन की प्रतीक्षा में उसकी आँखें एकटक द्वार की ओर लगी थीं, उसी समय उसने मुझे आया हुआ देखा, फिर क्या था, हर्ष से उसका मुख खिल उठा।

अत्र हर्षस्य विभावमनुभावं चाह—

अत्रावधिकाले प्रियागमनं विभावः, मुखविकासोऽनुभावः।

विभावानुभावज्ञानं भावज्ञानसाधनम्।

यहां प्रियका आगमन विभाव और मुख का खिल उठना अनुभाव है।

स्मृतिं निरूपयति—

संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।

अनुभवज्ञानानां क्षणत्रयमात्रावस्थायित्वे विलम्बेन स्मरणानुपपत्तेः स्मृतिं प्रति ज्ञानस्य कारणतां निरस्य चिरस्थायिनः संस्कारस्यैव कारणतां निर्णयन्ति नैयायिका इत्यनुभवजन्य-संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मरणमवसेयम्। तदुक्तम्-'स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयं ज्ञानमुच्यते।' इति।

किन्हीं वस्तुओं के दर्शनात्मक-श्रवणात्मक आदि ज्ञान से जो हृदय में संस्कार उत्पन्न होता है और उस संस्कार से जो ज्ञान होता है, उसका नाम 'स्मृति' है। दार्शनिकों के विचारानुसार सभी ज्ञान (अपेक्षा बुद्धि को छोड़कर) तीन ही क्षण रहते हैं, अतः ज्ञान को स्मरण के प्रति कारण नहीं माना जा सकता, इसलिये अनुभव-जन्य-संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मरण कहा गया है, यह विशेष यहाँ समझना चाहिये।

उदाहरति—

यथा—

नायको विमृशति—

'तन्मञ्जु मन्दहसितं श्वसितानि तानि,
सा वै कलङ्कविधुरा मधुराऽऽननश्रीः।
अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त !,
सायन्तनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ॥'

द्वितीयचरणान्ते समुच्चयार्थकश्चकार आक्षेप्यः, अथवा—'गामश्वं पुरुषं पशुम्' इत्यत्रेव तदर्थप्रतीतिर्बोध्या।

सायन्तनाम्बुजस्य निमीलन्मुखकमलस्य सहोदरसदृशं लोचनं यस्याः सा तादृशी, तस्या विलासश्रमेण वस्तुतस्त्वानन्दातिरेकेण निमीलन्नयनायाः प्रेयस्याः, तत् पूर्वानुभवैक-

गोचरीभूतं मञ्जुमुग्धं मन्दहसितं स्मितम्, तानि श्वसितानि श्रमादिजन्यश्वासाः, सा कलङ्क-विधुरा निष्कलङ्काऽत एव पूर्णेन्दुसुषमापेक्षयाऽपि मधुरा मनोहरा, आननश्रीर्वदनशोभा च (स्मर्यमाणानि) हन्त ! बत !, मे मम हृदयं मानसम्, अधुनाऽसान्निध्यकालेऽपि, उन्मद-यन्त्युन्मतीकुर्वन्तीत्यर्थः ।

जैसे:—

नायक अपने मन में सोचता है अथवा किसी मित्र से कहता है कि—सायंकालिक कमलों के समान, अर्ध-मुद्रित नयनों वाली प्रेयसी का वह सुन्दर मन्द हास, वे श्वास, वह निष्कलङ्क और मधुर मुख की शोभा, हाय ! आज भी मेरे हृदय को पागल बना रही हैं ।

विभावादि प्रतिपादयति—

चिन्ताविशेषोऽत्र विभावः, भ्रून्नति-गात्रनिश्चलत्वाद्य आक्षेपगम्या अनुभावाः

चिन्ताविशेषस्य भावनाख्यसंस्काररूपस्य स्मृतौ निमित्ततया विभावत्वम्, अनुक्त-त्वादाक्षेपबोध्यानां भ्रून्नतिप्रभृतीनां च कार्यत्वादनुभावत्वमाकलनीयम् ।

यहां एक तरह की चिन्ता विभाव है, भ्रू-लता का उन्नयन, शरीर का निश्चलीभवन-आदि जो वाच्य नहीं हैं, फिर भी आक्षेप से समझ में आ जाते हैं—अनुभाव हैं ।

इहोदाहरणे विप्रलम्भध्वनित्वमाशङ्क्य निरस्यति—

यद्यप्यत्रास्या एव स्मृतेः सञ्चारिण्याः, नायिकारूपस्य विभावस्य, हन्तपद-गम्यस्य हृदयवैकल्यरूपानुभावस्य संयोगाद् विप्रलम्भरसाभिव्यक्ते रसध्वनित्वं शक्यते वक्तुम्, तथापि स्मृतेरेवात्र पुरस्फूर्तिकत्वाच्चमत्कारित्वाच्च तद्ध्वनित्वमुक्तम् ।

विभावस्यालम्बनस्य । पुरोऽग्रे स्फूर्तिः प्रतीतिर्यस्याः सा पुरस्स्फूर्तिका, तस्या भाव-स्तत्त्वम् । तद्ध्वनित्वं स्मृतिध्वनित्वम् ।

नन्वस्मिन्नुदाहरणे नायिकारूपालम्बनविभावस्य, हन्तपदव्यङ्ग्यहृदयवैकल्यरूपानु-भावस्य, स्मृतिरूपव्यभिचारिभावस्य च नायकनिष्ठरतौ सम्बन्धाद् विप्रलम्भध्वनिरेवेति शङ्कायाः—पश्चाद्ध्वनन्त्यामल्पचमत्कारायां सत्यामपीह विप्रलम्भप्रतीतौ, पुरो भावित्वाद-धिकचमत्कारवत्त्वाच्च स्मृतिप्रतीतेः, स्मृतिभावध्वनित्वमेवात्रेति समाधानम् ।

यद्यपि यहां नायिकारूप विभाव 'हन्त' अथवा 'हाय' पद से व्यक्त होने वाला हृदय की विकलतारूप अनुभाव और स्मृतिरूप सञ्चारीभाव के संयोग से विप्रलम्भ-शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति होती है, अतः यहां रस-ध्वनि है ऐसा कहा जा सकता है, तथापि भाव-ध्वनि इसलिये कही गई कि पहले स्मृति की ही प्रतीति होती है और चमत्कारिणी भी है, हां ! पश्चात् उक्त रस भी ध्वनित हो सकता है, तो हो, पर उसमें उतना चमत्कार नहीं होगा ।

ननु तच्छब्दस्य बुद्धिविषयीभूतार्थवाचकत्वाद् बुद्धिविशेषरूपायाः स्मृतेरपि तद्वाच्यतया कथमिह स्मृतिध्वनित्वमित्याशङ्क्य मतद्वयेन समादधति—

तदादेर्बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्ने शक्तिरिति नये-बुद्धेः शक्यताऽवच्छेदकानु-गमकतया न वाच्यतासंस्पर्शः । बुद्धिस्थत्वं शक्यताऽवच्छेदकमिति नयेऽपि स्मृतित्वेन स्मृतेर्व्यक्तिवेद्यतैव ।

'तच्छब्दस्य प्रकरणवशाद् घटपटादिनानाऽर्थबोधकत्वस्य दर्शनाद्धर्यादिपदवन्नानार्थ-कत्वापत्तेर्वारणाय, बुद्धिविषयताऽवच्छेदकत्वोपलक्षित-तत्तद्धर्मावच्छिन्ने शक्तिः । न च तथापि शक्यताऽवच्छेदकभेदाच्छक्तिभेदः, शक्यताऽवच्छेदकानां नानात्वेऽपि, तेषामनु-गमकस्य बुद्धिविषयताऽवच्छेदकत्वरूपस्योपलक्षणधर्मस्यैक्याच्छक्तेरैक्यमेव, न तु नानात्वम्,

इत्यस्मिन् प्रथममते बुद्धेः शक्यताऽवच्छेदकानुगमकधर्मकुक्षिप्रवेशेऽप्युपलक्षणतया वाच्यत्वा-भावाद् ध्वन्यमानत्वमक्षतमेव। तच्छब्दस्य बुद्धिविषयत्वावच्छिन्ने शक्तिरिति मतेऽपि, बुद्धित्वेन सामान्यधर्मेण स्मृतेर्वाच्यतायामपि स्मृतित्वेनासाधारणधर्मेणावाच्यत्वाद् ध्वनित्वे न किञ्चिद्बाधकमिति द्वितीयमतेऽपि दोषभावो बोध्यः।

ननु द्वितीयमते बुद्धित्वेनाभिधया बोध्यमानाया एव स्मृतेः स्मृतित्वेन व्यङ्ग्यताङ्गीकारे 'शयिता सविधे' इत्यादौ प्रागुपात्तस्य-'व्यङ्ग्यस्य कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव चमत्कारित्वादित्यालङ्कारिकसमयः' इति स्वकीयग्रन्थस्य विरोधः स्फुट एवेति चेत्, उच्यते—वाच्यताऽवच्छेदको व्यङ्ग्यताऽवच्छेदकश्च प्रतीतिविषयो जातिरूपस्तदन्यो वा यत्रैक एव धर्मो भवति, तत्रैव तदर्थस्य न व्यङ्ग्यता चमत्कारिता वा, यत्र तु सामान्यविशेषभावा-दिनाऽपि तद्धर्मयोस्तनीयानपि भेदः, तत्र नायं नियमः, तथा च 'शयिते'त्यादौ वाच्यताऽ-वच्छेदकस्य मनोरथत्वस्य, व्यङ्ग्यताऽवच्छेदकस्येच्छात्वस्य च घटत्व-कलशत्ववदैक्यम्, इह तु बुद्धित्व-स्मृतित्वयोर्गुणत्वज्ञानत्ववत् सामान्यविशेषभावाद् भेदस्तस्मान्न दोष इति व्याख्यातारः।

यहाँ एक शङ्का यह होती है कि जब तत्पद का वाच्य 'बुद्धि-विषयीभूत अर्थ' है, तब तो बुद्धि भी उसके वाच्य की श्रेणी में आगई और स्मृति भी एक प्रकार की बुद्धि (ज्ञान) ही है, अतः स्मृति यहाँ व्यङ्ग्य कैसे होगी? क्योंकि वाच्य अर्थ को आलङ्कारिक लोग व्यङ्ग्य नहीं मानते, इसी शङ्का का उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—'तदादेः' इत्यादि। अभि-प्राय यह है कि तत्पद के घट-पट आदि अनेक अर्थ हैं, फिर हरिप्रभृति पद के जैसे वह (तत्पद) भी नानार्थक क्यों नहीं माना जाय? यह प्रश्न जब उठा, तब सभी दार्शनिकों ने एक स्वर से समाधान किया कि अर्थ के अनेक होने से कोई पद नानार्थक नहीं होता, वरन् किसी पद में अनेक अर्थ निरूपित अनेक शक्ति मानने से वह पद नानार्थक होता है, यदि किसी पद में अनेक अर्थ निरूपित होकर भी शक्ति एक ही हो, तब वह पद एका-र्थक ही कहलाता है और शक्ति के एक होने के नियम ये हैं कि यदि शक्य एक हो, तब शक्ति एक, यदि शक्य अनेक भी हों और शक्यतावच्छेदक एक हो, तब भी शक्ति एक, यदि वह भी अनेक ही हों, तब भी शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक के एक होने पर शक्ति एक ही होती है, सारांश यह कि शक्य के पीछे यदि कहीं कोई अनुगमन एक धर्म हो, तो शक्ति एक होती है। इस पर प्रश्न उठा कि तत्पद में शक्ति एक है? या अनेक? इसका उत्तर भी सबों ने समान ही दिया कि—एक। इसके बाद यह प्रश्न सामने आया कि-क्यों? अर्थात् ऊपर जो शक्ति को एक बनाने वाले अनेक नियम बतलाये गये हैं, उनमें से यहाँ कौन सा नियम लागू होता है? इसके उत्तर में दार्शनिकों के दो मत हो गये। कुछ लोगों का मत है कि बुद्धिस्थ जो प्रकार (भेदक विशेषण) तदवच्छिन्न अर्थात् तद्विशिष्ट में तत्पद की शक्ति है। जैसे—घटत्व-पटत्व आदि प्रकार (भेदक विशेषण) को बुद्धिस्थ कर लेने पर तद्विशिष्ट घट-पट आदि में तत्पद की शक्ति होती है। इस मत के अनुसार तत्पद से घट-पटादि का बोध असाधारण अर्थात् घटपटादिरूप में ही होता है। इसी बात को कुछ लोग 'बुद्धि-विषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्न में तत्पद की शक्ति है' इस रूप से भी कहते हैं, तात्पर्य एक ही है। इस तरह से शक्ति मानने पर यद्यपि तत्पद के शक्य घट-पट आदि अनेक होते हैं, शक्यतावच्छेदक (उक्त प्रकार) घटत्व-पटत्व आदि भी अनेक ही होते हैं, तथापि शक्यतावच्छेदक घटत्वादिकों का अनुगम करने वाला, शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक, बुद्धिस्थत्व अथवा बुद्धिरूप उपलक्षक धर्म एक है, अतः शक्ति एक ही होगी और तत्पद नानार्थक नहीं होगा। अन्य लोगों का मत इससे कुछ भिन्न है, उनका कथन यह है कि—तत्पद की शक्ति बुद्धिस्थत्वावच्छिन्न में है,

इस मत के अनुसार तत्पद से घट आदि का बोध असाधारण घट आदि के रूप में नहीं होता, अपि तु साधारण बुद्धिस्थ के रूप में। इसप्रकार शक्ति मानने पर तत्पद के शक्य घटादि तो अनेक हुये, पर शक्यतावच्छेदक बुद्धिस्थत्व एक ही हुआ और अनुगत भी, अतः इस मत में भी अनेक अर्थ निरूपित एक ही शक्ति तत्पद की सिद्ध हुई, इस मत में शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक पर्यन्त, अनुगम के लिये अनुधावन नहीं करना पड़ता, यह लाघव है। फलतः इस मत के अनुसार भी तत्पद नानार्थक नहीं कहा सकता। अस्तु, ये तो हुये दार्शनिकों के झगड़े। अब प्रकृत में विचार यह करना है कि उक्त दोनों मतों में से किसी भी मत के अनुसार स्मृति (जिसकी ध्वनि यहां मानते हैं) तत्पद का वाच्य होती है या नहीं? उत्तर यह है कि—नहीं, क्योंकि प्रथम मत के अनुसार तत्पद के अर्थ में बुद्धि का स्थान तीसरे दर्जे—अर्थात् शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक में है और किसी भी पद की वाच्यता शक्य और शक्यतावच्छेदक तक ही सीमित रहती है अर्थात् शक्य और शक्यतावच्छेदक ही पद के वाच्य होते हैं, उसके आगे शक्यतावच्छे-दकतावच्छेदक नहीं वाच्य होता, दूसरी बात यह कि बुद्धि यहां शक्यतावच्छेदकों का अनुगम कराने के लिये उपलक्षण मात्र है, विशेषण नहीं; फिर वह वाच्य हो भी कैसे सकता है? द्वितीय मत के अनुसार यद्यपि बुद्धि शक्यतावच्छेदक है और विशेषण भी–उपलक्षण नहीं, अतः वह तत्पद का वाच्यार्थ अवश्य हो गया और स्मृति भी बुद्धिरूप होने से वाच्य हो गई, तथापि बुद्धित्व इस सामान्यरूप से ही स्मृति वाच्य हुई, स्मृतित्व-रूप से तो स्मृति व्यङ्ग्य ही होगी और इस रूपभेद के कारण स्मृति के व्यङ्ग्य होने में कोई बाधा भी नहीं होगी। वादी यदि कहें कि—पहले आप कह आये हैं कि वही अर्थ व्यङ्ग्य हो सकता है, जिसमें किसी भी तरह वाच्य-वृत्ति (अभिधा) का स्पर्श न हो, अत एव आपने 'शयिता सविधे······' इत्यादि पद्य में मनोरथत्वरूपेण वाच्य बन चुकी चुम्बनेच्छा को व्यङ्ग्य नहीं माना है, फिर यहां आप बुद्धित्वेन रूपेण वच्य बनी हुई स्मृति को व्यङ्ग्य कैसे मानते हैं? यह तो आपकी परस्पर विरुद्ध बातें होती हैं, इसका समाधान यह है कि वाच्यतावच्छेदक और व्यङ्ग्यतावच्छेदक (चाहे वह जातिरूप हो या अन्य कोई) धर्म जहां एक ही रहता है, वहीं वह अर्थ व्यङ्ग्य नहीं होता और चमत्कारी भी नहीं, जैसे 'शयिता······' इत्यादि पद्य में मनोरथत्व और इच्छात्व जो क्रमशः वाच्यताव-च्छेदक और व्यङ्ग्यतावच्छेदक हैं—एक ही जाति है—अर्थात् जैसे घटत्व और कलशत्व में कोई भेद नहीं है, वैसे उन दोनों में भी भेद नहीं है, अतः मनोरथत्वरूप से वाच्य हो जाने पर इच्छात्वरूप से व्यङ्ग्य नहीं होता।

पर यहां ऐसी बात नहीं है—अर्थात् बुद्धित्व और स्मृतित्व एक नहीं है, इन दोनों में सामान्यविशेषभाव है, अतः गुणत्व और ज्ञानत्व के जैसे ये दोनों दो धर्म हैं, फिर बुद्धित्वेन रूपेण वाच्य होने पर भी स्मृतित्वेन व्यङ्ग्य होने में क्या आपत्ति हो सकती है? किंवा विरोध कैसे होगा? अर्थात् न कोई आपत्ति होगी, न कोई विरोध होगा।

स्मृतेरिह पदप्रकाश्यत्वं व्यवस्थापयति—

तस्याश्चात्र वाक्यव्यङ्ग्यत्वेऽपि, पदस्यैव कुर्वद्रूपत्वात् पदध्वनिविषयत्वम्। एतेन भावानां पदव्यङ्ग्यत्वे न वैचित्र्यमिति परास्तम्।

तस्याः स्मृतेः। वाक्येन तन्मञ्जिवत्यादिना। पदस्य तच्छब्दस्य। कुर्वद्रूपत्वं वैलक्षण्यमपूर्वशालित्वमिति यावत्। एतेन पदप्रकाश्यस्याङ्गस्यापि चमत्कारित्वातिशयानुभवेन।

स्मृतेर्व्यञ्जकं यद्यपि समस्तमेव वाक्यमिदम्, किन्तु तच्चमत्कारापेक्षयाऽधिकश्चमत्कारस्तत्पदव्यङ्ग्यस्मृतेरेवानुभूयत इति प्राधान्यात् पदप्रकाश्यध्वनित्वमेवात्र प्रसिद्धम्। एतावता भावानां पदप्रकाश्यत्वे नैव चमत्कारो भवतीति वदन्तः प्रत्युक्ताः, तत्रापि चमत्कृतेरनु-

भविकत्वात्, 'विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी। पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती।' इति ध्वनिकारानुमतत्वाच्च।

यद्यपि यहां सम्पूर्ण वाक्य से ही स्मृति अवगत होती है, तथापि सत्पद ही कुर्वद्रूप है—अर्थात् वह एक पद ही स्मृति को ध्वनित करने में अग्रसर है, अतः यह 'पद-ध्वनि' का ही लक्ष्य माना जाता है। इससे लोगों की जो यह धारणा है कि—भाव यदि 'पद' के द्वारा ध्वनित हों, तो उनमें कुछ विचित्रता (चमत्कार) नहीं होती, उसे नष्ट हो जाना चाहिये।

प्रसङ्गादत्र पद्ये पदान्तरव्यङ्ग्यं प्रकाशयति—

सायन्तनाम्बुजोपमानेन नयनयोरुत्तरोत्तराधिकनिमीलनोन्मुखत्वध्वननद्वारा तस्या आनन्दमग्नताप्रकाशः।

नेत्रयोः सायङ्कालिककमलोपमया प्राक् क्रमिकनिमीलनोन्मुखत्वं, पश्चान्नायिकाया आनन्दमग्नत्वं च व्यज्यत इत्याशयः।

यहां नेत्रों को जो सायंकालिक कमलों की उपमा दी गई है, उससे यह अभिव्यक्त होता है कि नेत्र उत्तरोत्तर (आगे आगे) अधिक मुद्रित होते जा रहे हैं, जिससे नायिका की आनन्द मग्नता ध्वनित होती है।

प्रत्युदाहरणमाह—

'दरानमत्कन्धरबन्धमीष-न्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम्।
अनल्पनिश्श्वासभरालसाङ्गं स्मरामि सङ्गं चिरमङ्गनायाः॥'

दरमीषदानमन् नम्रीभवन् कन्धराबन्धो ग्रीवाभागो यत्र, तम्, निमीलिते आनन्दातिरेकेण लज्जातिशयेन वा मुद्रिते, विलोचनाब्जे नयनकमले यत्र, तम्, अनल्पेन भूयसा, निश्वासभरेण विलासायासजन्यनिश्श्वसितभारेणालसानि शिथिलत्वात् क्रियानुन्मुखानि अङ्गानि यत्र, तादृशं च, अङ्गनाया ललनायाः, सङ्गं चिरं स्मरामीत्यर्थः।

अब स्मृति-भाव का प्रत्युदाहरण देखिये। नायक अपने मित्र से कहता है कि—मैं, चिरकाल तक, नायिका के उस सङ्ग का स्मरण करता रहता हूं, जिसमें गरदन कुछ झुकती रहती है, प्रीति-पगे, नयन-कमल कुछ-कुछ मुद्रित होते रहते हैं और अङ्ग अत्यधिक श्वास के कारण अलसाये होते हैं।

समीक्षते—

इत्यत्र स्मृतिर्न भावः, स्वशब्देन निवेदनादव्यङ्ग्यत्वात्। नापि स्मरणालङ्कारः, सादृश्यामूलकत्वात्, सादृश्यमूलकस्यैव स्मरणालङ्कारत्वम्, अन्यस्य तु व्यञ्जितस्य भावत्वमिति सिद्धान्तात्। किन्तु विभाव एव सुन्दरत्वात् कथञ्चिद्रसपर्यवसायी।

अत्र पद्ये स्मरामीति स्ववाचकशब्दवाच्यत्वाद् व्यङ्ग्यत्वाभावेन स्मृतिर्न भावः। न चैषा स्मृतिः स्मरणालङ्कारः, सादृश्योद्भाविताया एव स्मृतेरलङ्कारत्वस्य व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात्। असादृश्यमूलिकायास्तु व्यङ्ग्यायाः स्मृतेर्भावत्वम्, वाच्यायास्त्वर्थमात्रता। एवं स्थितामिह मनोहरस्य नायिकारूपालम्बनस्यैव माहात्म्यात् कन्धरेषन्नमन–नयनेषन्निमीलनाद्यनुभावस्य, तत्कारणतयाऽऽक्षिप्तस्य लज्जात्मकव्यभिचारिणश्च संसर्गान्नायकनिष्ठरतेः शृङ्गाररसे पर्यवसानमित्याशयः। राजानकरुय्यकस्तु–वैसादृश्यमूलिकामपि स्मृतिं स्मरणालङ्कारमङ्गीकृत्य 'शिरीषमृद्वीगिरिषु प्रपेदे, यदा यदा दुःखशतानि सीता। तदा तदाऽस्या भवनेषु सौख्य-लक्षाणि दध्यौ गलदश्रु रामः।' इत्युदाजहार।

यहां जिस स्मृति की प्रतीति होती है, उसे 'भाव' नहीं मान सकते, क्योंकि वह साक्षात् स्मृति-वाचक 'स्मरामि' पद से ज्ञात होने से वाच्य है व्यङ्ग्य नहीं, स्मरणालङ्कार यहां नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी समान वस्तु के अनुभव से उत्पन्न स्मरण को ही 'स्मरणालंकार' मानते हैं और यहां का स्मरण किसी समान वस्तु के अनुभव से उत्पन्न नहीं हुआ है। इस तरह सिद्धान्त यह स्थिर हुआ कि सादृश्यमूलक स्मरण 'स्मरणालंकार' होता है और जो सादृश्य मूलक नहीं हो, वह स्मरण यदि व्यङ्ग्य रहे, तो 'भाव' कहलाता है, अतः यहां का स्मरण सादृश्यमूलक और व्यङ्ग्य न होने के कारण 'अलंकार' अथवा 'भाव' कुछ नहीं है। अब आप पूछ सकते हैं कि यदि ऐसी बात है तो यहां चमत्कार का बीज ही क्या है, जिससे इस पद्य को काव्य कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि इस में वर्णित नायिकारूप विभाव ही रमणीय होने के कारण किसी तरह श्रृङ्गार-रस के रूप में पर्यवसित होता है और चमत्कार पैदा करता है, अत एव इस श्लोक को काव्य कहते हैं। यहां कथञ्चित्' पद से जो अस्वारस्य सूचित होता है, वह यह है कि केवल विभाव तो रसरूप में परिणत हो नहीं सकता, अतः ग्रीवा के नम्रीभाव और नेत्रों के मुद्रण को अनुभाव मानकर उसके कारणरूप में लज्जारूप सञ्चारी का आक्षेप करना पड़ेगा, जो क्लेश-प्रद है।

व्रीडां निरूपयति—

स्त्रीणां पुरुषमुखावलोकनादेः, पुंसां च प्रतिज्ञाभङ्ग-पराभवादेरुत्पन्नो वैवर्ण्याधोमुखत्वादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा।

पराभवो वैरिकृतः। वैवर्ण्यं वर्णान्यथाभावः। पुरुषमुखावलोकनादिजन्यः स्त्रीवृत्तिः, प्रतिज्ञाभङ्गादिजन्यश्च पुरुषवृत्तिर्वैवर्ण्यादिजनकश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा लज्जेत्यर्थः। तदुक्तम्—'सङ्कोचश्चेतसो व्रीडा वैवर्ण्याधोमुखत्वकृत्।' इति।

अब व्रीडा (लज्जा) का लक्षण करते हैं—'स्त्रीणाम्' इत्यादि। स्त्रियों में पुरुष-मुख-दर्शन आदि से और पुरुषों में प्रतिज्ञा-भङ्ग एवं पराजय आदि से उत्पन्न होने वाली और विवर्णता एवं नताननता आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली जो एक तरह की चित्त-वृत्ति है, उसका नाम 'व्रीडा' है।

उदाहरति—

यथा—

नायको मुग्धावृत्तं सखायं व्याहरति—

'कुचकलशयुगान्तर्मामकीनं नखाङ्कं,
सपुलकतनु मन्दं मन्दमालोकमाना।
विनिहितवदनं मां वीक्ष्य बाला गवाक्षे,
चकितनतनताङ्गी सद्म सद्यो विवेश॥'

बाला मुग्धा, कुचावेव पृथुलत्वादुन्नतत्वाच्च कलशौ तयोर्युगस्य युग्मस्यान्तर्मध्ये, मामकीनं मया कृतत्वान्मत्सम्बन्धिनं, नखाङ्कं नखचिह्नं, (रहसि) सपुलकतनु हर्षोद्भूतरोमाञ्चितशरीरं यथा स्यात् तथा, मन्दं मन्दं शनैश्शनैः, आलोकमाना पश्यन्ती, गवाक्षे तद्दर्शनार्हवातायने, विनिहितवदनं स्थापितमुखं (पश्यन्तं) मां वीक्ष्य, चकितान्याश्चर्येण, नतनतानि नम्रतमानि च लज्जयाऽङ्गानि यस्यास्तादृशी, सद्यस्तत्काले, सद्म गर्भगृहं विवेशेत्यर्थः।

जैसे—नायक अपने मित्र से कहता है कि—कलशों के समान विशाल तथा उन्नत दोनों उरोजों के मध्य में मेरे द्वारा ही किये गये नख-क्षत के चिह्न को पुलकिताङ्गी होकर धीरे-धीरे देखती हुई उस मुग्धा नायिका ने ज्यों ही झरोखे में मुख डाले हुये (अपनी ओर

देखते हुये) हमें देखा, त्यों ही वह चकित होकर अपने अङ्गों को सिकोड़ती हुई घर में भाग गई।

उपपादयति—

अत्र प्रियस्य दर्शनम्, तेन नायिकाकर्तृकतत्कुचान्तर्वर्तिप्रियनखक्षतावलोकनजन्य-हर्षावेदकतत्पुलकादेर्दर्शनं च विभावः। सद्यः सदनप्रवेशोऽनुभावः।

तेन प्रियेण।

ताभ्यां विभावानुभावाभ्यां प्राधान्येन लज्जाया व्यञ्जनाल्लज्जाध्वनेरिदमुदाहरणम्।

यहाँ नायिका को प्रियतम का दिखाई देना और उसके उरोजों में प्रिय के नख-क्षत के देखने से उत्पन्न हुये हर्ष की सूचना देने वाले रोमाञ्च आदि का प्रियतम को दीख जाना विभाव है तथा तुरत घर में भाग जाना अनुभाव है। इन दोनों विभावानुभावों से प्रधानतया लज्जा ध्वनित होती है, अतः यह पद्य 'भाव-ध्वनि' का उदाहरण हुआ।

पुनरुदाहरति—

यथा वा—

नायकः सखायमाख्याति—

'निरुद्ध्य यान्तीं तरसा कपोतीं, कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने।
मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं, सा मन्दमन्दं नमयाम्बभूव॥'

मयि, तरसा वेगेन कोपात् त्रासाद्वा यान्तीं कपोतीं पारावतवधूं, निरुद्ध्यावरुद्ध्य, कूजतो रिरंसया कलकलं कुर्वतः, कपोतस्य, पुरोऽग्रे, ददाने स्थापयति, सति, स्मितेनार्द्रं स्निग्धं वदनं, मन्दमन्दं सा प्रेयसी, नमयाम्बभूव नम्रीचकारेत्यर्थः।

अथवा जैसे—'निरुध्य यान्तीम्.........' इत्यादि पद्य में। किसी मित्र के प्रति नायक का कथन है कि जब मैं वेग से दूर भाग कर जाती हुई कबूतरी को बलजोरी रोक कर (कामातुरता के कारण) कूजता हुआ कबूतर के आगे रख रहा था, तब उस नायिका ने (मेरे आचरण को देखकर) मन्द-हास से आर्द्र, मुख-कमल को धीरे धीरे नीचा कर लिया।

उपपादयति—

पूर्वत्र त्रास इवात्रापि हर्षो लेशतया सन्नपि व्रीडाया अनुगुण एव। प्रियकर्तृकं कपोतस्याग्रे कपोत्याः समर्पणं विभावः, [illegible]।

यथा पूर्वत्र 'कुचकलशे'त्यादौ चकितत्वेन लेशतया प्रतीयमानस्त्रासो लज्जायाः पोषकत्वादनुगुण एव, न तु प्रतिकूलः, तथैवात्र 'निरुद्ध्ये'त्यादौ स्मितवदनत्वेन प्रतीयमानो हर्षोऽपि न प्रतिकूलः किन्तु व्रीडायाः पोषक एवेत्यर्थः।

जैसे 'कुच-कलश.........' इत्यादि पद्य में नायिका में 'चकित' विशेषण लगानेसे त्रास ईषत् अभिव्यक्त होकर भी लज्जा के अनुकूल (पोषक) हुआ है, उसी तरह यहाँ (निरुध्य यान्तीम्.........इत्यादि पद्य में) 'मन्दहास से आर्द्र' इस मुख-विशेषण से हर्ष किञ्चित् अभिव्यक्त होकर भी लज्जा का पोषक ही होता है, विरोधी नहीं। नायक का कबूतर के आगे कबूतरी का रखना विभाव है और नायिका का मुख नीचा करना अनुभाव है, जिससे यहाँ 'व्रीडा-भाव' अभिव्यक्त होता है।

मोहं निरूपयति—

भयवियोगादिप्रयोज्या वस्तुतत्त्वानवधारिणी चित्तवृत्तिर्मोहः।

भयवियोगप्रभृतिभिर्व्याकुलत्वं, तेन च मोहो जन्यत इति प्रयोज्यत्वं निवेशितम्। मोहे सति च कस्य वस्तुनस्तत्त्वावधारणं न भवतीति तदाख्यानम्। भयादिजन्यव्याकुलत्वजन्यो

वस्तुतत्त्वानवधारणजनकश्चित्तवृत्तिविशेषो मोह इत्यर्थः । तदुक्तम्—'मोहो विचित्तता भीति-दुःखावेगानुचिन्तनैः । घूर्णनाज्ञानपतन-भ्रमणादर्शनादिकृत् ॥' इति ।

अब मोह का निरूपण करते हैं—'भय' इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति को 'मोह' कहते हैं जिसकी उत्पत्ति भय-वियोग आदि से उत्पन्न व्याकुलता के कारण होती है और जिसके कारण किसी भी वस्तु की यथार्थता को समझने की शक्ति नष्ट हो जाती है—अर्थात् मोह के उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य का अन्तःकरण शून्य सा हो जाता है, जिससे वह किसी भी चीज को यथार्थरूप से समझने की शक्ति को खो देता है ।

नवीनमतमाह—

'अवस्थान्तरशबलिता सा तथा' इति तु नव्याः ।

सा चिन्ताख्या वक्ष्यमाणैव वस्तुतत्त्वानवधारणरूपमवस्थानन्तरं गता चित्तवृत्तिरेव तथा मोहाख्येति तु नव्याः कथयन्तीत्यर्थः ।

नवीन विद्वानों का मत है कि 'चिन्ता' नाम की जिस चित्त-वृत्ति का वर्णन आगे किया जायगा, वही जब एक खास अवस्था तक पहुंच जाती है, तब 'मोह' नाम से पुकारी जाती है—अर्थात् चिन्ता जब इस दशा को पहुंच जाती है कि सूझना-समझना सब बन्द हो जाय, तब उसे मोह कहते हैं अतः चिन्ता से पृथक् उसकी (मोह की) गणना नहीं करनी चाहिये ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

बालाया मोहावस्थाव्यापारं वर्णयति—

'विरहेण विकलहृदया, विलपन्ती दयित ! दयितेति ।
आगतमपि तं सविधे, परिचयहीनेव वीक्षते बाला ॥'

विरहेण विकलहृदया व्याकुलमनाः, अत एव दयित ! दयित ! क्वासीति विलपन्ती, सा बाला, सविधे समीपे, आगतमपि, तं दयितं, परिचयहीनाऽसञ्जातपरिचयेव, वीक्षते पश्यति, न तु किमपि कथयतीत्यर्थः ।

अब मोह का उदाहरण देखिये:—

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—'प्यारे-प्यारे' की रट लगाती हुई उस मुग्ध नायिका का हृदय विरह से इतना कातर हो गया है कि पास में आये हुये भी प्रिय को इस तरह देखती रह जाती है, जैसे उसके साथ उसका कभी का कोई परिचय ही न हो ।

अत्र विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र कान्तवियोगो विभावः, इन्द्रियवैकल्यं लज्जाद्यभावश्चानुभावः ।

इन्द्रियाणां वैकल्यं ग्राह्याग्रहणम्, तच्चात्र परिचितचरस्य पत्युश्चक्षुषा विषयीकरणेऽपि परिचयाभावात्, लज्जाऽभावश्च बालात्वेऽपि पुरस्थस्य पत्युस्तथादर्शनादवगतौ विभावानुभावौ नायिकाया मोहरूपं भावं व्यङ्क्तः ।

उक्त पद्य में प्रिय का विरह विभाव है और इन्द्रियों (चक्षु आदि) की विकलता (ज्ञान-शक्ति का लोप) तथा लज्जा आदि का अभाव अनुभाव हैं । लज्जा का अभाव यहां इस बात से प्रतीत होता है कि नायिका बाला होकर भी पति के सामने से (जब बाला की लज्जालुता प्रसिद्ध है) अपरिचित सी देखती रह जाती है । उक्त विभाव और अनुभावों से मोहभाव की ध्वनि होती है ।

पुनरुदाहरति—

'शुण्डादण्डं कुण्डलीकृत्य कूले, कल्लोलिन्याः किञ्चिदाकुञ्चिताक्षः ।
नैवाकर्षत्यम्बु, नैवाम्बुजालि, कान्तापेतः कृत्यशून्यो गजेन्द्रः ॥'

कान्तायाः प्रियहस्तिन्या अपेतो विरहितः, कल्लोलिन्याः सरितः, कूले तटे, शुण्डादण्डं शुण्डाहस्त एव दीर्घत्वाद्दण्डस्तं, कुण्डलीकृत्य लम्बमपि वर्तुलं विधाय, कृत्यशून्यः स्वविधेयज्ञानविधुरः, गजेन्द्रो हस्तिराजः, अम्बु नद्याजलं, दिनान्तरवत्, नैवाकर्षति करेण नैव पिबति, अम्बुजालिं सरसिजश्रेणीं चापि प्राग्वत्, नैवाकर्षति नैव गृह्णातीत्यर्थः ।

अत्र कान्तावियोगो विभावः, सरित्तटेऽपि सलिलाद्यनाकर्षणमनुभावश्च वस्तुतत्त्वानवधारणरूपं मोहमवगमयतः । 'कृत्यशून्यः' इति विशेषणेनाभिहितप्रायो मोह इत्यस्मात्पूर्वमेवोदाहरणं रुचिरं प्रतिभाति ।

अथवा, जैसे—'शुण्डादण्डम्.........' इत्यादि पद्य में । कोई दर्शक कहता है कि—हथिनी से वियुक्त हाथी निश्चेष्ट होकर, सूंड को वर्तुलाकार बना कर और नेत्रों को कुछ कुछ सिकोड़ कर नदी के तट पर खड़ा तो है, परन्तु न जल को खींचता है और न कमलों की पङ्क्ति को । यहाँ कान्ता का वियोग विभाव है और नदी के तट पर रह कर भी जल तथा कमलों को न खींचना अनुभाव है, जिससे मोह व्यक्त होता है ।

धृतिं निरूपयति—

लोभशोकभयादिजनितोपप्लवनिवारणकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृतिः ।

लोभ-शोक-भयादिभिर्जनितस्य, उपप्लवस्य चित्तक्षोभरूपोपद्रवस्य, निवारणे कारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृतिरित्यर्थः । तदुक्तम्—'अभीष्टार्थस्य सम्प्राप्तौ स्पृहा पर्याप्तता धृतिः । सौहित्य-वदनोल्लास-सहासवचनादिकृत् ।' इति ।

अब 'धृति' का निरूपण करते हैं—'लोभ' इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति का नाम 'धृति' है, जिसके कारण लोभ, शोक और भय आदि से उत्पन्न होने वाले उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

भीरुः परामृशति—

'सन्तापयामि हृदयं, धावं धावं धरातले किमहम् ।
अस्ति मम शिरसि सततं, नन्दकुमारः प्रभुः परमः ॥'

अहं (लोभेनाभिभूतः) सततं धरातले (इतस्ततः) धावं धावं धावित्वा धावित्वा, हृदयं मनः, किं कुतः सन्तापयामि पीडयामि । यतः परमः सर्वोत्कृष्टः, प्रभुः सर्वं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं समर्थः, नन्दकुमारः कृष्णचन्द्रः, मम शिरस्यस्त्येवेत्यर्थः ।

इह नन्दकुमारस्य शिरस्थत्वकथनेन भारभूतत्वप्रतीतेश्चारुताहानिरिति 'अस्ति ममाग्रे' इति पाठः समीचीनः प्रतिभाति ।

'धृति-भाव' का उदाहरण देखिये :—

किसी धैर्य-शाली पुरुष का मानसिक विचार है कि—मैं व्यर्थ भूतल पर इधर-उधर दौड़-दौड़ कर अपने हृदय को क्यों संतप्त कर रहा हूं । मेरे शिर पर प्रभुवर नन्दनन्दन सर्वदा विराजमान हैं—मुझे चिन्ता करने की क्या आवश्यकता ? वे स्वयं सब बातों की व्यवस्था कर ही लेंगे ।

विभावानुभावावाह—

अत्र विवेकश्रुतसम्पत्त्यादिर्विभावः, चापलाद्युपशमोऽनुभावः।

श्रुतसम्पत्तिः शास्त्रज्ञानसम्पत्। धैर्यं विवेकाद्युद्भूतं चापलमुपशमयति।

उक्त पद्य में विवेक और शास्त्र-ज्ञान-रूप-सम्पत्ति आदि विभाव है तथा चञ्चलता आदि की निवृत्ति अनुभाव है।

शङ्कते—

ननु चोत्तरार्धे चिन्ता नास्तीति वस्तुनोऽभिव्यक्तेः कथमस्य धृतिभावध्वनित्वमिति चेत्।

'का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते' इत्यादौ वाच्य इव चिन्ताऽभाव उत्तरार्धेऽस्तीत्यादौ वस्तुरूपो व्यङ्ग्य इति नायं भावध्वनिः, किन्तु वस्तुध्वनिरेवेति शङ्का।

यहाँ यह शङ्का होती है कि उक्त पद्य के उत्तरार्ध से तो 'मुझे चिन्ता नहीं है' यह वस्तु ध्वनित होती है, फिर इस पद्य को धृति-भाव-ध्वनि का उदाहरण कैसे कहते हैं?

उत्तरयति—

तस्य धृत्युपयोगितयैवाभिव्यक्तेः।

तस्य चिन्ताऽभावरूपव्यङ्ग्यस्य।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि 'मुझे चिन्ता नहीं है' इस वस्तु की ध्वनि यहाँ प्रधानरूप से नहीं होती, वरन, धृति-भाव के पोषकरूप में ही, अर्थात् चिन्ता का अभाव धैर्य में उपयोगी है, अतः उसका ध्वनित होना धृति की ध्वनि में सहायक ही होता है, बाधक नहीं।

शङ्कां निरूपयति—

किमनिष्टं मम भविष्यतीत्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः शङ्का।

[illegible]। तदुक्तम्—

[illegible]।

वैवर्ण्य-कम्प-वैस्वर्य-पार्श्वालोका-स्यशोषकृत्।' इति।

चिन्तनं सम्भावनम्। परक्रौर्यादिर्विभावो वैवर्ण्यादिश्चानुभावः शङ्कायाः।

'मेरा क्या अनिष्ट होगा' इस तरह की चित्तवृत्ति का नाम 'शङ्का' है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

दैवप्रतिबद्धा सङ्केतस्थलं गन्तुमशक्ता स्वानिष्टं शङ्कमाना नायिका सखीं भाषते—

'विधिवञ्चितया मया न यातं, सखि! सङ्केतनिकेतनं प्रियस्य।
अधुना बत! किं विधातुकामो, मयि कामो नृपतिः पुनर्न जाने॥'

हे सखि! विधिवञ्चितया दैवेन विप्रलब्धया, मया, बत! हन्त! प्रियस्य प्रणयपात्रत्वेनापरिहार्यानुरोधस्य, सङ्केतनिकेतनं सङ्केतीकृतगृहं, न यातं नैव गतम्, अधुना दैवप्रेरणया न तु स्वेच्छयाऽस्मिन्नपराधे मया कृते सति, नृपतिः प्रकृत्यैव क्रूर आज्ञाभङ्गात् क्रुद्धो युवजनानां शासकत्वाद् राजा, कामो मन्मथः, मयि कृतागसि, पुनः, किं विधातुकामः किं चिकीर्षुरस्तीति न जाने नावगच्छामीत्यर्थः।

उदाहरण लीजिये। दैववश से संकेत-स्थल पर जाने में असमर्थ बनी हुई नायिका स्व-मनोगत अनिष्ट-शङ्का का वर्णन सखी से करती है:—हे सखि! विधाता ने मुझे धोखा

दिया, जिससे मैं प्रिय के संकेत-स्थान पर न जा सकी। अब भय है कि न जाने, महाराज कामदेव मेरे विषय में क्या करना चाहते हैं।

उपपादयति—

अत्र राजापराधो विभावः, मुखवैवर्ण्यादय आक्षेप्या अनुभावाः।

मुखवैवर्ण्यादीनां साक्षाच्छब्दानुक्तत्वादाक्षेप्यत्वम्।

इस श्लोक में राजा का अपराध करना विभाव है और मुख का विवर्ण हो जाना आदि अनुभाव हैं। यद्यपि यहां ये अनुभाव कहे नहीं गये हैं, तथापि आक्षेप (ऊपर) से उनका ज्ञान कर लिया जाता है।

शङ्कां चिन्ताया व्यतिरेचयति—

इयन्तु भयाद्युत्पादनेन कम्पादिकारिणी, न तु चिन्ता।

इयं शङ्का भयमुत्पाद्य कम्पाद्यनुभावं जनयति, चिन्ता पुनर्न जयतीति कम्पादिजनकत्वमेव शङ्कायाश्चिन्तापेक्षया वैधर्म्यम्।

उक्त चित्त-वृत्ति (जिसको शङ्का कह आये हैं) चिन्ता नहीं कही जा सकती, क्योंकि शङ्का भय को उत्पन्न कर तद्द्वारा शरीर में कम्प आदि को उत्पन्न करती है और चिन्ता ऐसा नहीं करती, यह दोनों में भेद है।

ग्लानिं निरूपयति—

आधिव्याधिजन्य-बलहानिप्रभवो वैवर्ण्य-शिथिलाङ्गत्व-दृग्भ्रमणादिहेतुर्दुःखविशेषो ग्लानिः।

आधिर्मनोव्यथा। व्याधिपदं क्षुदाद्युपलक्षकम्। दुःखविशेषश्चित्तवृत्तिविशेष एवेति न अक्रमभङ्गः, नापि भावसामान्यलक्षणासमन्वयः। उक्तञ्चान्यत्र—'रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसम्भवा। ग्लानिर्निष्प्राणता कम्प-कार्यानुत्साहितादिकृत्॥' इति। आधिव्याधिजन्याया बलहानेरुत्पन्नो वैवर्ण्यादिजनकश्चित्तवृत्तिविशेषो ग्लानिरिति सारम्।

अब 'ग्लानि का निरूपण करते हैं—'आधि' इत्यादि। उस दुःख-विशेष को 'ग्लानि' कहते हैं, जो मानसिक व्यथा और शारीरिक रोग आदि के कारण उत्पन्न दुर्बलता से पैदा होती है तथा विवर्णता, अङ्गों की शिथिलता और आंखों में चौंध आना आदि अनुभावों को जन्म देती है।

उदाहरति—

यथा—

वियोगिनीदशां वर्णयति—

'शयिता शैवलशयने, सुषमाशेषा नवेन्दुलेखेव।
प्रियमागतमपि सविधे, सत्कुरुते मधुरवीक्षणैरेव॥'

नवोद्यन्ती, इन्दुलेखा चन्द्रकलेव, सुषमा परमशोभैव शेषोऽवशिष्टांशो यस्यां तादृशी, शैवलस्य शयने शय्यायां शयिता सुप्ता विरहिणी, सविधे तल्पसमीपे, आगतमपि, प्रियं दयितं, मधुरैर्मनोरमैर्वीक्षणैरालोकनैरेव, न त्वभ्युत्थानादिभिः, सत्कुरुते सम्मानयतीत्यर्थः।

जैसे—'शयिता......' इत्यादि पद्य में। एक सखी दूसरी सखी से वियोगिनी के वृत्तान्त का वर्णन करती है कि—नवीन चन्द्र-कला के समान जिसमें परम-शोभा ही शेष बच गई है, वह सेवाल की सेज पर सोई हुई सुन्दरी समीप में आये हुये भी प्रिय-पति का सत्कार केवल मधुर चितवनों से ही करती है, (अभ्युत्थान आदि से नहीं) अर्थात् विरह-वेदना से उसके अङ्ग इतने दुर्बल अत एव शिथिल हो गये हैं कि प्रियतम के आने पर भी उठ नहीं सकती, बोल नहीं सकती।

विभावादि प्रतिपादयति—

अत्र प्रियविरहो विभावः, मधुरवीक्षणैरेवेत्येवकारेण बोध्यमाना प्रत्युद्गम-चरणनिपतना-श्लेषादीनां निवृत्तिरनुभावः।

इह प्रियविरहपदं तज्जन्याधिसम्भूतवलहानिपरं सन्दर्भशुद्ध्यनुरोधात्। निवृत्तिरभावः।

उक्त पद्य में प्रियतम का विरह विभाव है और 'मधुरवीक्षणैरेव' यहां के एवकार से ज्ञात कराई गई, स्वागत के लिये सामने जाने, प्रणाम करने और आलिङ्गन करने आदि की निवृत्ति अनुभाव है।

अत्रोदाहरणे श्रमध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र श्रमः शङ्क्यः, कारणाभावात्।

इह श्रमस्य प्राधान्येन ध्वन्यत इति न शङ्कनीयम्, बहुतरशारीरव्यापारस्य तत्कारणत्वेन वक्ष्यमाणस्य प्रकृतेऽसत्त्वादित्यर्थः।

यहां श्रम-भाव ही प्रधानतया ध्वनित होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि श्रम के जो कारण अधिक शरीर-व्यापार आदि वर्णित किये जायँगे, उनका यहाँ अभाव है—अर्थात् शारीरिक श्रम का वर्णन यहां नहीं है, फिर अकारण श्रम की प्रतीति हो, तो कैसे?

ग्लानेः परकीयं लक्षणमुपन्यस्य निराकरोति—

केचित्तु—व्याध्यादिप्रभव-बलनाशं ग्लानिमाहुः, तेषां मते चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु, नाशरूपाया ग्लानेः कथं समावेश इति ध्येयम्।

व्याध्यादिजन्यबलाभाव एव ग्लानिरिति केषांचिन्मतमयुक्तम्, अभावरूपत्वाङ्गीकारे ग्लानेरचमत्कारकत्वात्, चित्तवृत्तिरूपत्वाभावेन भावत्वाभावाच्चेत्याशयः।

कुछ लोग 'रोगादि से होने वाले बल-नाश (बल का अभाव) को ही 'ग्लानि' कहते हैं। परन्तु उनके मत में यह बात विचारणीय है कि जब सभी भाव चित्त-वृत्तिरूप माने जाते हैं, तब उन भावों में इस नाश (अभाव जो चित्तवृत्तिरूप नहीं हो सकता) रूप ग्लानि का समावेश कैसे होगा? अर्थात् नहीं हो सकता, अतः उनका कथन असंगत है।

परकीयलक्षणे भरतोक्तलक्षणसंवादात् सङ्गतिमाशङ्क्य खण्डयति—

यद्यपि—'बलस्यापचयो ग्लानिराधिव्याधिसमुद्भवः।' इति लक्षणवाक्यादपचयशब्देन नाश एव प्रतीयते, तथापि प्रागुक्तानुपपत्त्या बलनाशजन्यं दुःखमेव बलापचयशब्देन विवक्षितम्।

भरतमुनिलक्षणे बलापचयस्यैव ग्लानित्वप्रतिपादनात् प्रामाणिकं ग्लानेरभावरूपत्वं यद्यप्यस्ति, किन्तु भावानां चित्तवृत्तिरूपत्वस्य प्रतिपादिकाया भरतमुनेरेव प्रागुक्तेस्तात्पर्यानुपपत्तेरत्रापचयपदस्य तज्जन्यदुःखविशेषे लक्षणया पूर्वापरसङ्गतिर्विधेयेत्यभिसन्धिः।

यद्यपि प्राचीनों के 'आधि (मनोव्यथा) और व्याधि (रोग) से उत्पन्न होने वाला बल का अपचय ग्लानि है' इस लक्षण-वाक्य में जो अपचय पद आया है, उससे बल का नाश ही प्रतीत होता है तथापि पूर्वोक्त अनुपपत्ति के कारण बल के नाश से उत्पन्न होने वाला दुःख ही यहां 'बलापचय' पद से वक्ता का विवक्षित है, ऐसी कल्पना करनी चाहिये।

दैन्यं निरूपयति—

दुःख-दारिद्र्या-पराधादिजनितः स्वापकर्षभाषणादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो दैन्यम्।

दुःखादिजन्यः स्वापकर्षभाषणादिजनकश्चित्तवृत्तिविशेषो दैन्यमित्यर्थः ।

अब 'दैन्य-भाव' का निरूपण करते हैं—'दुःख' इत्यादि। किसी प्रकार के दुःख, दरिद्रता तथा अपराध आदि कारणों से उत्पन्न होकर जो चित्तवृत्ति अपने आप के विषय में हीन शब्द-प्रयोग आदि का कारण होती है, उसी चित्तवृत्ति को 'दैन्य' कहते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वैदेहीं विवास्य रामचन्द्रोऽनुतपति—

'हतकेन मया वनान्तरे, वनजाक्षी सहसा विवासिता ।
अधुना मम कुत्र सा सती, पतितस्येव परा सरस्वती ॥'

हतकेन हतभाग्येन विनष्टौचितीविचारेण वा, मया रामेण, सहसा सपदि (अविचार्यैव) वनान्तरे काननमध्ये, विवासिता निर्वासिता, वनजाक्षी नलिननयना (कोमलाङ्गतया स्वयं प्रतिकर्तुमक्षमा) सती पतिव्रता (कथमपि पत्यन्तरानङ्गीकारिणी) सीता, अधुना सम्प्रति, पतितस्य पातित्यप्रयोजकपापाचरणाद् भ्रष्टस्य द्विजस्य, परा स्मृत्यादिसकलशास्त्रमूलत्वात् सर्वोत्कृष्टा, सरस्वती श्रुतिवाणीव, मम साऽनुभूतपूर्वा, कुत्र ? क ? मिलिष्यतीत्यर्थः ।

उदाहरण लीजिये—'हतकेन''''''' इत्यादि। हत-भाग्य होने से मैंने पहले जिस कमल-नयनी (सीता) को वन में निर्वासित कर दिया, पतित पुरुष को वेद-वाणी की तरह, वह पतिव्रता अब मुझे कहाँ मिल सकती है ?

प्रकरणादि दर्शयति—

सीतां परित्यक्तवतो भगवतः श्रीरामचन्द्रस्येयमुक्तिः । अत्र सीतापरित्याग-रूपोऽपराधस्तज्जन्यं दुःखं वा विभावः, पतितसाम्यरूप-स्वापकर्षभाषण-मनुभावः ।

तज्जन्यमपराधसमुद्भूतम् । अपराधदुःखयोर्विभावत्वे विकल्पस्य बीजं विनिगमनाविरहः ।

सीता को वन में निर्वासित कर देने के बाद भगवान रामचन्द्र की यह अनुतापोक्ति है। यहाँ सीता का परित्याग अथवा परित्याग-जन्य दुःख विभाव है और अपने विषय में 'पतित के समान' यह हीन कथन अनुभाव है, जिससे 'दैन्य' व्यक्त होता है।

प्राचीनसम्मत्या स्वोक्तिं द्रढयति—

यदाहुः—

'चिन्तौत्सुक्यान्मनस्तापाद् दौर्गत्याच्च विभावतः ।
अनुभावात्तु शिरसोऽभ्यावृत्तेर्गात्रगौरवात् ॥
देहोपस्करणत्यागाद् दैन्य भावं विभावयेत् ॥' इति ।
'दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्य मलिनतादिकृत् ॥' इति च ।

दौर्गत्यं दारिद्र्यम् । शिरसोऽभ्यावृत्तिः पुनःपुनर्घूर्णनम् । गात्राणामङ्गानां गौरवं गुरुत्वं मन्दसञ्चारत्वम् । देहस्योपस्करणं प्रसाधनम् । विभावनं ज्ञानम् । अनौजस्यमोजोहीनता । मनस्तापादिजन्यं शिरोऽभ्यावृत्त्यादिजनकं चित्तवृत्तिविशेषं दैन्यं जानीयादित्यर्थः ।

दैन्य भाव के विषय में प्राचीनों ने भी लिखा है कि 'चित्त की उत्सुकता, मानसिकताप और दरिद्रता इन विभावों से तथा शिर का बार-बार हिलाना, शारीरिक-प्रसाधनों का परित्याग और अङ्गों के भारीपन इन अनुभावों से 'दैन्य भाव' को पहचानना चाहिये। और यह भी लिखा है कि-दुर्गति आदि के कारण जो ओजस्विता नष्ट हो जाती है—उसका अभाव हो जाता है, उसी का नाम 'दैन्य' है। वह मालिन्य आदि का जनक होता है।

इहोपमालङ्कारस्य दैन्यभावोपकारकत्वं प्रतिपादयति—

अत्र हतकेन मया विवासिता, न तु विधिनेत्यस्यार्थस्य पतितोपमयैव परिपोषः, न तु शूद्राद्युपमया, यतः शूद्रस्य जात्यैव श्रुतिदौर्लभ्यं विधिना कृतम्, पतितस्य तु ब्राह्मणादेर्विधिना श्रुतिसुलभत्वे स्वभावेन कृतेऽपि, तेनैव तथाविधं पापमाचरता स्वतः श्रुतिर्दूरीकृतेति तस्य पतितेन साम्यम्, तस्याश्च श्रुत्येत्युपमालङ्कारो दैन्यमेवालङ्कुरुते।

'सर्वं वाक्यं सावधारणं भवती'ति सिद्धान्तेन मयेति कथनान्न तु विधिनेत्यस्य प्रतीतिः। शूद्रोपमया 'वृषलस्येव' इति पाठकल्पनलभ्यया। जात्यैव शूद्रत्वेनैव जन्मनैव वा 'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयीयाताम्' इत्यादिश्रवणात्। स्वभावेन निसर्गेण जात्या जन्मना वा। तेन ब्राह्मणादिना। तथाविधं पातित्यप्रयोजकम्। तस्य रामस्य। तस्याः सीतायाः। यथा पतितो द्विजो जन्मना सुलभामपि श्रुतिं पातकाचरणात् स्वयं दूरीकरोति, तथैव जात्या सुलभामपि सीतामहं स्वाविवेकाद् दूरीकृतवानितिवादिनि रामे पतितद्विजसादृश्यमेवोचितम्, न तु शूद्रसादृश्यम्, शूद्रस्य जात्या श्रुतिसुलभताया असम्भवात्। तथा च रामे पतितसादृश्यं सीतायां च श्रुतिसादृश्यमेवोपमालङ्कारोऽत्र वाच्यो व्यङ्ग्यं स्वापकर्षभाषणजनकं दैन्यमुपस्करोति न तूपमास्मृतिर्वा प्रधानीभवतीति न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वसन्देह इति सारम्।

यहाँ हतभाग्य मैं ने सीता को निकाल दिया है—'न कि विधाता ने'—इस अर्थ की पुष्टि 'पतित' की उपमा से ही होती है, शूद्रादिक की उपमा से नहीं, क्योंकि शूद्रादिक के लिये तो विधाता ने शूद्र-जाति में जन्म देकर ही श्रुति (वेद) दुर्लभ कर दी है ('न स्त्री-शूद्रौ वेदमधीयीयाताम्' अर्थात् स्त्री और शूद्र वेद न पढ़ें, यह शास्त्रीयवचन उक्त कथन का मूल है) परन्तु ब्राह्मणादिक जो पतित हो जाते हैं, उनके लिये तो विधाता ने स्वभावतः श्रुति सुलभ कर दी थी—अर्थात् ब्राह्मणादि उच्च कुल में जन्म देकर वेद पढ़ने का अधिकार दे दिया था पर उन्होंने वैसा पाप करके स्वयं श्रुति को दूर कर दिया अर्थात् वे स्वयं पतित बनकर वेद पढ़ने के अधिकार से वञ्चित हो गये। इसलिये रामचन्द्र की पतित से समानता और सीता की श्रुति से समानता, यह जो वाच्य उपमा अलङ्कार है, वह दैन्य-भाव को ही अलंकृत करता है अर्थात् उपमा अलङ्कार यह दैन्य का पोषक है—अङ्ग है। अतः यहाँ 'उपमा अलंकार ही प्रधान है' इस तरह की शङ्का का अवसर नहीं है।

दैन्योपकारकद्वयं दर्शयति—

तथा मयेति सेति चोपादानलक्षणामूलध्वनिभ्यां कृतघ्नत्वकृतघ्नत्व-निर्दयत्व-दयावतीत्वाद्यनेकधर्मप्रकाशनद्वारा तदेव परिपोष्यते, सेतिस्मृत्या च लेशतः प्रतीयमानया।

अत्र मयेत्यस्मच्छब्दस्य कृतघ्नत्व-निर्दयत्वादिधर्मविशिष्टत्वार्थे, सेतितच्छब्दस्य च कृतज्ञत्व-दयावतीत्वादिधर्मविशिष्टत्वार्थे च, तत्तदतिशयबोधनरूपप्रयोजनवत्याः स्वार्थस्याप्युपादानादुपादानलक्षणायाः सत्त्वात् प्रतीयमानोऽर्थोऽपि दैन्यमुपस्करोति, तथा पूर्वानुभूतार्थकेन सेतितच्छब्देन परिपोषकसामग्रीविरहात् सूक्ष्मतया प्रतीयमाना स्मृतिरपि दैन्यमेवोपस्करोतीति सारम्।

'हतकेन······' इत्यादि श्लोक में 'मया' और 'सा' इन दोनों पदों में प्रयोजनमूला उपादान लक्षणा है, जिससे 'मया' का 'जिसे उसने अत्यन्त कष्टावस्था में भी नहीं छोड़ा, उस मैंने' यह और 'सा' का 'वन-वास की सहचरी उसे' यह वाच्यार्थ-मिश्रित लक्ष्यार्थ

होता है, जिससे राम की कृतघ्नता तथा निर्दयता एवं सीता की कृतज्ञता तथा दयालुता आदि अनेक धर्म ध्वनित होकर दैन्य-भाव को ही पुष्ट करते हैं। इसी तरह अनुभूतार्थक 'सा' इस तत्पद से जो स्मृति की थोड़ी सी (प्रचुर सामग्री के अभाव से पुष्ट नहीं) प्रतीति होती है, उससे भी दैन्य-भाव की ही पुष्टि होती है। अतः यहां दैन्यभाव ही प्रधान व्यङ्ग्य रहा। कृतघ्नता आदि गुणीभूत रहे। इसलिये यह पद्य दैन्य-भाव-ध्वनि का उदाहरण हुआ।

चिन्तां निरूपयति—

इष्टाप्राप्त्यनिष्टप्राप्त्यादिजनितो ध्यानापरपर्यायो वैवर्ण्य-भूलेखनाधोमुखत्वादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषश्चिन्ता ।

इष्टस्याप्राप्तिरनिष्टस्य च प्राप्तिश्चिन्तायाः कारणम्। ध्यानमपरपर्यायो यस्य सः। भूलेखनमधोमुखत्वं च चिन्तयाः कार्यम्। अस्याः कम्पाद्यजनकतया शङ्कातो भेदः। चित्तवृत्तिविशेषस्य विशेष्यतया विशेषणपदानां पुंस्त्वमेवोचितमिति पाठः परिवर्तितः।

अब 'चिन्ता-भाव' का निरूपण करते हैं—'इष्टा' इत्यादि। अभिलषित वस्तु का प्राप्त न होना और अनभिलषित वस्तु का प्राप्त हो जाना आदि कारणों से उत्पन्न होने वाली तथा विवर्णता, भूमिका लिखना और मुख का नीचा हो जाना आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली एक तरह की चित्तवृत्ति को 'चिन्ता-भाव' कहते हैं। इसी चिन्तात्मक चित्तवृत्ति को 'ध्यान' भी कहते हैं।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'विभावा यत्र दारिद्र्यमैश्वर्यभ्रंशनं तथा।
इष्टार्थापहृतिः श्वासोच्छ्वासावधोमुखम् ॥
सन्तापः स्मरणं चैव कार्श्यं देहानुपस्कृतिः।
अधृतिश्चानुभावाः स्युः, सा चिन्ता परिकीर्त्तिता ॥ इति।
वितर्कोऽस्याः क्षणे पूर्वे पाश्चात्त्ये वोपजायते।' इति।
'ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः सन्तापादिकरी मता।' इति च।

दारिद्र्यैश्वर्यभ्रंशनयोः पृथगुपादानाद्दारिद्र्यं जन्मसिद्धमैश्वर्यभ्रंशनं च पश्चाद् भूतमवसेयम्। स्मरणं नष्टाद्यर्थानाम्। वितर्को भावो वक्ष्यमाणलक्षणः। अस्याश्चिन्तायाः। पूर्वे क्षणे पाश्चात्त्ये परस्मिन् क्षणे वा।

प्राचीनों ने भी 'चिन्ता' की परिभाषा इसी तरह की-की है। जैसे—'विभावा' इत्यादि—अर्थात् जिस चित्त-वृत्ति में दरिद्रता, ऐश्वर्य (राज्य आदि) से च्युत हो जाना और इष्ट वस्तु का अपहरण विभाव (उत्पादक कारण) हों, और बार-बार श्वास तथा उच्छ्वास, नीचा मुख, सन्ताप, स्मरण, कृशता देह का परिष्कृत न करना और धैर्य का अभाव ये अनुभाव (उत्पाद्य कार्य) हों, उसे 'चिन्ता' कहते हैं। इसके पहिले अथवा पिछले क्षण में वितर्क (जिसकी परिभाषा आगे की जायगी) उत्पन्न हुआ करता है। कुछ लोगों ने ऐसा भी कहा है कि—'हितवस्तु की अप्राप्ति से जो ध्यान (विचार-परम्परा) होता है, उसका नाम 'चिन्ता' है, यह सन्ताप आदि का उत्पादक होती है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायिकामवलोक्य नायकः चिन्तयति—

'अधरद्युतिरस्तपल्लवा, मुखशोभा शशिकान्तिलङ्घिनी।
अकृतप्रतिमा तनुः कृता, विधिना कस्य कृते मृगीदृशः ॥'

मृगदृशो नायिकायाः, अस्तः कान्त्या निर्जितः पल्लवः किसलयं यया तादृशी, अधरस्य द्युतिः, शशिनश्चन्द्रस्य कान्तेः सुषमाया लङ्घिनी विजयिनी मुखस्य शोभा श्रीः, अकृताऽविहिता प्रतिमा तुल्याकृतिर्यस्यास्तादृशी तनुश्च, कस्य धन्यस्य यूनः कृते प्रयोजनाय, विधिना विधात्रा कृता रचिताऽभूदित्यर्थः।

उदाहरण देखिये। किसी सुन्दरी को देख कर कोई नायक अपने मन में सोचता है कि—विधाता ने किस (धन्य युवक) के लिये इस मृगनयनी नायिका के, अधर-कान्ति को, पल्लवों को जीतनेवाली, मुख-शोभा को चन्द्र-कला को मात देने वाली और शरीर को अमृत-प्रतिम-सदृश-द्वितीय रहित-अर्थात् अनुपम, बनाया।

विभावादि प्रतिपादयति—

अत्र तदप्राप्तिर्विभावः, अनुतापादय आक्षेप्या अनुभावाः।

तस्याः पूर्ववर्णितनायिकाया अप्राप्तिश्चिन्तायाः कारणतया विभावः, अनुतापश्चाश्वासोच्छ्वासप्रभृतयश्च शब्दानुक्तत्वेऽपि कार्यतया गम्यमाना अनुभावा अत्र सन्तीत्यर्थः।

यहां नायिका की अप्राप्ति विभाव है और आक्षेप के द्वारा ज्ञात होने वाले अनुताप आदि अनुभाव हैं।

औत्सुक्यध्वनिमत्राशङ्क्य निराकरोति—

न चात्रौत्सुक्यध्वनिरिति वाच्यम्, 'कस्य कृते' इत्यनिर्धारितधर्म्यालम्बनायाश्चिन्ताया एव प्रतीयमानतया सतोऽप्यौत्सुक्यस्यैतद्वाक्येन प्राधान्येनाबोधनात्।

इह नायिकाया अप्राप्तत्वात्तत्प्राप्तिविषयकोत्कटेच्छारूपस्यैवौत्सुक्यस्य प्राधान्येन व्यञ्जनात्तद्ध्वनित्वमेवेति पूर्वपक्षस्य—'कस्य कृते' इत्यनेन 'कः खलु युवा धन्यः' इत्यादिवत्, अनिर्धारितमनिश्चितं भोक्तारं धर्मिणं विषयतयाऽऽलम्बमानायाश्चिन्ताया एवात्र प्रथमं प्राधान्येन प्रतीतेः, औत्सुक्यस्य तु पश्चाद्गौणतया च प्रतीतेर्न तद्ध्वनित्वमिति समाधानम्।

नायिका की अप्राप्ति से उसकी प्राप्ति के विषय में होने वाली उत्कट इच्छारूप 'औत्सुक्य-भाव' ही यहां प्रधानतया ध्वनित होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'कस्य कृते-अर्थात् किसके लिये' इस वाक्य-खण्ड से किसी अनिश्चित पुरुष के विषय में होने वाली चिन्ता ही ध्वनि होती है, अतः यद्यपि वक्ता में उस नायिका के लिये उत्सुकता है अवश्य, तथापि वह इस वाक्य से प्रधानतया नहीं बोधित होती। तात्पर्य यह है कि यदि उक्त पद्य में 'कस्य कृते''''''इत्यादि अंशको हटा कर उसकी जगह 'धन्यजनस्य हेतवे' इस तरह से रचना की गई होती, तब उत्सुकता ही प्रधानतया ध्वनित होती, परन्तु उस पदके रहने पर तो चिन्ता ही प्रधानरूप से व्यक्त होती है, पीछे यदि उत्सुकता भी गौणरूप से व्यक्त होगी, तो होती रहे, वह ध्वनि काव्य-व्यवहार का कारण नहीं हो सकती। फलतः यहां 'चिन्ता-भाव-ध्वनि का ही व्यवहार होना उचित है।

मदं निरूपयति—

मद्याद्युपयोगजन्मा, उल्लासाख्यः, शयनहसितादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो मदः।

उपयोगः सेवनम्। उल्लासाख्य उल्लासापरपर्यायः।

अब 'मद-भाव' का निरूपण करते हैं—'मद्या' इत्यादि। मद्य आदिके सेवन से उत्पन्न होने वाली और शयन-रोदन आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली उल्लास नामक जो एक चित्त-वृत्ति है, उसको 'मद' कहते हैं।

लक्षणे प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'सम्मोहानन्दसन्दोहो मदो मद्योपयोगजः । इति ।

व्यामोहात्मनः सम्मोहस्यानन्दस्य सन्दोहः समवायः सम्भेदो वा मदस्तत्रोभयोरनुभवात्।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'सम्मोहा······' इत्यादि, अर्थात् मद्य के सेवन से उत्पन्न होने वाले, सम्मोह और आनन्द के मिश्रण का नाम मद है।

प्रकृतिभेदेनानुभावभेदं प्रतिपादयति—

तत्रोत्तमे पुरुषे स्वापोऽनुभावः। मध्यमे हसितगाने। नीचे तु रोदनपरुषोक्त्यादि।

एतत्—'अमुना चोत्तमः शेते, मध्यो हसति गायति। अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति।' इति दर्पणानुकूलमपि, 'उत्तमसत्त्वः प्रहसति, गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृतिः। परुषवचनाभिधायी शेते रोदित्यधमसत्त्वः।' इति प्रदीपस्य तु प्रतिकूलमेवेति ज्ञेयम्।

मद के उत्पन्न होने पर उसका अनुभाव (कार्य) उत्तम पुरुष में स्वाप होता है-अर्थात् मद (नशा) से उत्तम पुरुष सो जाता है, मध्यम कोटि का पुरुष हँसता और गाता है और नीच पुरुष रोता तथा गाली गलौज बकता है। यद्यपि यह कथन 'काव्य-प्रदीप' के उत्तमसत्त्वः प्रहसति, गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृतिः। परुष-वचनाभिधायी शेते रोदित्यधमसत्त्वः॥ अर्थात् मद के कारण उत्तम-स्वभाव वाला पुरुष हँसता है, मध्यम-स्वभाव वाला पुरुष गाता है और अधम-स्वभाव वाला पुरुष गालियाँ देता है, सोता है और रोता है। इस वचन से विरुद्ध है, तथापि अनुभव 'रसगङ्गाधरकार' के ही मत में साक्षी होता है, और 'दर्पणकार' भी इन्हीं के मत में सम्मति दिये हैं, क्योंकि उन्होंने लिखा है—'अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति। अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति॥ अर्थ इसका वही है, जो रसगंगाधरकार के कथन का है।

मदं त्रिधाविभज्य तत्तत्स्वरूपं दर्शयति—

अयं च मदस्त्रिविधः—तरुणमध्यमाधमभेदात्। अव्यक्तासङ्गतवाक्यैः सुकुमारस्खलद्गत्या च योऽभिनीयते, स आद्यः। भुजाक्षेप-स्खलित-घूर्णितादिभिर्मध्यमः। गतिभङ्ग-स्मृतिनाश-हिक्का-च्छर्द्यादिभिरधमः।

अव्यक्तैरस्फुटाक्षरैरसङ्गतैरसम्बद्धार्थकैश्च वाक्यैः। सुकुमाराऽनुद्धता स्खलन्ती मध्ये-मध्ये त्रुट्यन्ती चासौ गतिः सुकुमारस्खलद्गतिः, तया। योऽभिनीयत इत्यस्याग्रिमवाक्यद्वयेऽपि सम्बन्धः। हिक्का 'हिचकी' इति भाषायां प्रसिद्धा। छर्दिर्वमनम्।

इस मद के तीन भेद हैं—तरुण, मध्यम और अधम। उनमें से जिसका अभिनय (प्रदर्शन) अस्फुट अक्षर वाले और असम्बद्ध अर्थ वाले वाक्यों, तथा अत्यन्त मृदुल एवं फिसलती हुई चाल से किया जाता है, वह तरुण-मद कहलाता है। जिसका अभिनय बाहुओं के इधर-उधर फेंकने, फिसल पड़ने और घूमने आदि से किया जाता है, वह मध्यम-मद कहलाता है। इसी तरह जिसका अभिनय गति के रुक जाने, स्मृति के नष्ट हो जाने और हिचकी तथा वमन आदि से किया जाता है, वह अधम मद होता है।

मध्यमपुरुषगतं तरुणमदमुदाहरति—

उदाहरणम्—

मत्तवृत्तं वर्णयति—

'मधुरतरं स्मयमानः, स्वस्मिन्नेवालपञ्शनैः किमपि।
कोकनदयंस्त्रिलाकी-मालम्बनशून्यमीक्षते क्षीबः॥'

क्षीवोमत्तः मधुरतरमतिसुन्दरं स्मयमान ईषद्धसन्, स्वस्मिन्नेवात्मगतमेव, किमप्यसम्बद्धम्, शनैर्मन्दमव्यक्तम्, आलपन् प्रलपन्, तथा परितो विलोकनेन मदारुणलोचनरुचा त्रिलोकीं लकत्रयं, कोकनदयन् रक्ताम्बुजवदरुणीकुर्वन्, आलम्बदशून्यं निर्लक्ष्यं यथास्यात् तथेक्षते पश्यतीत्यर्थः।

उदाहरण देखिये। किसी नशे बाज का वर्णन है कि—मदमत्त मनुष्य अत्यन्त सुन्दर तरीके से मन्द-मन्द हँसता हुआ और अपने आप से धीरे-धीरे कुछ बातें भी करता हुआ, तथा मद के कारण अरुण नयन-कान्ति से त्रिलोकी को रक्त कमल सी बनाता हुआ शून्य की ओर देख रहा है-अर्थात् उसके देखने का कोई लक्ष्य नहीं है।

विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र मादकद्रव्यसेवनं विभावः, अव्यक्तालापाद्यनुभावः।

मादकद्रव्याणां मैरेयविजयादीनां सेवनं पानम्।

यहां मादक पदार्थ का सेवन विभाव है और अस्फुट बोलना आदि अनुभाव हैं।

इह स्वभावोक्त्यलङ्कार प्राधान्यमाशङ्क्य निरस्यति—

अत्र मत्तस्वभाववर्णनस्य तन्निष्ठमदव्यञ्जनार्थत्वान्मदभाव एव प्रधानमिति न स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य प्राधान्यम्, अपि तु तद्ध्वन्युपस्कारकत्वमेव।

'स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रिया-रूपवर्णनम्' इत्युक्तलक्षणस्य स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य, क्षीवमात्रवृत्तिव्यापारवर्णनादिह प्राधान्यमिति शङ्कायाः—मत्तस्वभाववर्णनमत्र मत्तनिष्ठमदभावस्य व्यञ्जनार्थमेव कृतमिति स्वभाववर्णनस्य मदभावध्वनेरुपकारकत्वमेव, न तु प्राधान्यमित्युत्तरम् बोध्यम्।

यहां मत्त-पुरुष के स्वभाव-वर्णन होने के कारण 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार की प्रधानता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि मत्त-स्वभाव का वर्णन यहां केवल उसके मद को अभिव्यक्त करने के लिये किया गया है, अतः ध्वनित होने वाला 'मदभाव' ही प्रधान और वाच्यस्वभावोक्ति अलङ्कार उसका पोषक है।

ननु तथापि नेह मदध्वनिः सम्भवति, प्राधान्येन व्यज्यमानस्यापि मदस्य मदास्कन्दितमत्यर्थकेन क्षीवपदेनाभिधयाऽपि बोधनात्, 'कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वम्' इति प्राक् प्रतिपादनात्, अतः स्वभावोक्त्यलङ्कार एव चमत्कारितया प्रधानं, न तु मदभाव इत्यरुचेरुदाहरणान्तरं दर्शयति—

इदं वा पुनरुदाहरणम्—

मत्तः प्रियां ब्रूते—

'मधुरमान्मधुरं हि तवाधरं, तरुणि! मद्वदने विनिवेशय।
मम गृहाण करेण कराम्बुजं, पपपतामि हहा! भभभूतले॥'

हे तरुणि! यतस्तव अधरो मधुरसादपि मधुरोऽस्ति, अतस्तं मद्वदने विनिवेशय, किञ्च यतः—हहा हा! हन्त! भभभूतले भूतले, पपपतामि पतामि, अतः करेण मम कराम्बुजं गृहाण समालम्बस्वेत्यर्थः।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि यद्यपि व्यज्यमान मद स्वभावोक्ति अलङ्कार से प्रधान है, तथापि मद-ध्वनि नहीं कही जा सकती, क्योंकि 'क्षीव' शब्द का अर्थ 'मत्त' है, अतः उसमें विशेषण रूप से मद भी आ जाता है, और पहले यह सिद्धान्त सर्व-सम्मति से स्वीकृत हो चुका है कि 'किसी भी प्रकार से जिसमें वाच्य-वृत्ति का स्पर्श न हो, वही व्यङ्ग्य चमत्कारी होता है', फिर तो अगत्या वाच्य स्वभावोक्ति अलङ्कार के चमत्कार से

ही उक्त पद्य को काव्य मानना पड़ेगा, अर्थात् यह पद्य 'मद-भाव-ध्वनि' का उदाहरण नहीं होगा, इसी अभिप्राय से दूसरा उदाहरण दिखलाते हैं—'इदं वा उदाहरणम्—' अथवा, यह उदाहरण लीजिये । मत्त नायक अपनी प्रेयसी से कहता कि—हे तरुणि ! मधु के रस से भी अधिक मधुर अपने अधर को मेरे मुख में रख दे और मेरे कर-कमल को अपने हाथ से पकड़ ले, देख तो, ज-ज-जमीन पर गि-गि-गिरता जा रहा हूँ ।

उपपादयति—

अत्रापि स एव विभावः, अधिकवर्णोच्चारणादिरनुभावः । पूर्वार्धगता ग्राम्योक्तिः, उत्तरार्धे च तरुणीकरेऽम्बुजोपमेयतया निरूपणीये, स्वकरस्य तदुपमेयतया निरूपणं च, मदमेव पोषयतः ।

स एव मादकद्रव्यसेवनरूप एव । अधिकवर्णोच्चारणं चतुर्थचरणे । आदिपदेन प्रथम-तृतीयचरणरसङ्गतार्थकालापग्रहणम् । ग्राम्योक्तिर्द्वितीयचरणे—'अधरं मद्वदने विनिवेशय' इति ग्राम्यजनवदुक्तिः, तृतीयचरणे तरुणीकरस्य समुचितं कमलोपमेयत्वेन प्रतिपादनं विहाय स्वकरस्यैव तथा कथनमित्यसङ्गतिश्चोभे सम्भूय मदस्यैवोपकारिके इति मदध्वनिरिह ज्ञेयः ।

यहाँ भी वही (मादक-द्रव्य-सेवन ही) विभाव है और अधिक वर्णों का उच्चारण आदि अनुभाव हैं । पूर्वार्ध का ग्राम्य (मेरे मुख में अपने अधर को धर दे, यह) वचन और उत्तरार्ध में स्त्री के हाथों को कमल की उपमा देने की जगह अपने हाथ को उसकी उपमा देना भी 'मद-ध्वनि' को ही पुष्ट करते हैं ।

श्रमं निरूपयति—

बहुतरशारीरव्यापारजन्मा निश्श्वासाङ्गसम्मर्द-निद्रादिकारणीभूतः खेदविशेषः श्रमः ।

शारीरव्यापारो दूरगमन-बहुभारवहनादिः श्रमस्य कारणतया विभावः, निश्श्वासादयश्च कार्यतयाऽनुभावाः । खेदो दुःखाभिन्नश्चित्तवृत्तिविशेष एव ।

अब 'श्रम-भाव' का निरूपण करते हैं—'बहुतर' इत्यादि । खेद नामक उस चित्त-वृत्ति विशेष को 'श्रम' कहते हैं, जो अत्यधिक शारीरिक कार्य करने से उत्पन्न होता है और निःश्वास, अङ्गड़ाई तथा निद्रा आदि अनुभावों की उत्पत्ति में कारण होता है ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'अध्व-व्यायाम-सेवाद्यैर्विभावैरनुभावकैः ।
गात्रसंवाहनै-रास्यसङ्कोचै-रङ्गमोटनैः ।
निश्श्वासैर्जृम्भितैर्मन्दैः पादोत्क्षेपैः श्रमो मतः ।' इति ।
'श्रमः खेदोऽध्वगत्यादेर्निद्राश्वासादिकृन्मतः ।' इति च ।

अध्वा च व्यायामश्च सेवा चाद्या येषां तैर्विभावैः, गात्रसंवाहनादिभिरनुभावैश्च श्रमो ज्ञेयः । अध्वपदं तत्र गमनपरम् । संवाहनं श्रमापनयनाय पीडनमर्दनादि । अङ्गानां मोटनं तदर्थं नमनम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'अध्व-व्यायाम·····' इत्यादि-अर्थात् मार्ग-गमन, व्यायाम-करण और सेवन आदि विभावों से तथा शरीर दबवाना, मुख का सिकुड़ जाना, अँगड़ाई लेना, निश्वास खींचना, जृम्भा का आना-इन सब अनुभावों से श्रम का ज्ञान होता है । कुछ लोगों ने ऐसा भी कहा है कि—'श्रमः खेदो·····' इत्यादि-अर्थात्

मार्ग-गमन आदि से उत्पन्न होने वाले और निद्रा तथा निश्वास आदि को उत्पन्न करने वाले खेद को श्रम कहते हैं।

श्रमग्लान्योर्भेदमाचष्टे—

अयं च सत्यपि बले जायते, शारीरव्यापारादेव जायते न तु ग्लानिः, अतो ग्लानेः श्रमस्य च भेदः।

ग्लानेराधिव्याधिजन्यबलहानिजन्यत्वात्, श्रमस्य च बलसद्भावेऽपि शारीरविपुलव्यापारजन्यत्वान्मिथो वैलक्षण्यमिति सारम्।

श्रम और ग्लानि में परस्पर यह भेद है कि श्रम बल के रहने पर भी अत्यधिक शारीरिक व्यापार करने से उत्पन्न होता है और ग्लानि-आधि व्याधि आदि से बल की हानि होने पर ही उत्पन्न होती है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायको विपरीतसुरतवृत्तं सखायं कथयति—

'विधाय सा मद्वदनानुकूलं, कपोलमूलं हृदये शयाना।
चिराय चित्ते लिखितेव तन्वी, न स्पन्दितुं मन्दमपि क्षमाऽऽसीत्॥'

सा तन्वी, कपोलस्य मूलं मद्वदनानुकूलं तदीयमुखसंयोगयोग्यं विधाय, हृदये ममोरसि शयाना सती (श्रमेण) चित्रे लिखिता इव, मन्दमीषदपि स्पन्दितुं चलितुं क्षमा समर्था नासीदित्यर्थः।

अब 'श्रम-भाव' का उदाहरण देखिये :—नायक अपने मित्र को विपरीत-रति के बाद की स्थिति कह रहा है कि—वह कृशाङ्गी अपने कपोल-मूल भाग को मेरे मुख के सामने करके मेरे वक्षःस्थल पर सो गई और चित्रलिखित की तरह, बहुत देर तक, थोड़ी भी नहीं हिल सकी।

विभावादिदर्शयति—

अत्र विपरीतसुरतरूपः शारीरव्यापारो विभावः, स्पन्दराहित्य-शयनादयोऽनुभावाः।

स्फुटम्।

यहाँ विपरीत-रति-रूप शारीरिक कार्य विभाव है और हिल न सकना, तथा सो जाना आदि अनुभाव हैं।

इह निद्राध्वनित्वमाशङ्क्य निराकरोति—

न चात्र निद्राभावध्वननेन गतार्थतेति शङ्क्यम्, सुषुप्तौ हि ज्ञानराहित्येनैव यत्नराहित्यान्मन्दमपि स्पन्दितुं न क्षमाऽऽसीदित्यस्यानतिप्रयोजनकत्वापत्तेः, शीघ्राऽभिहिततया तस्या व्यङ्ग्यत्वानुपपत्तेश्च। श्रमे त्वानुगुण्यमुन्नितम्।

चित्रलिखितत्वोपमया, व्यज्यमाना निद्रैवात्र प्रधानमिति निद्राध्वनिरेवात्र न तु श्रमध्वनिरिति पूर्वपक्षः—चित्रलिखितत्वदृष्टान्तेन सुषुप्तिरूपनिद्राया एव व्यञ्जनात्, सुषुप्तेश्च ज्ञानसामान्यशून्यत्वादात्मातिरिक्तविषयकज्ञानशून्यत्वाद्वा यत्नरहितत्वे सुखमवगन्तुं योग्ये, यत्नराहित्यप्रतीत्यर्थं चतुर्थचरणोपादानस्य वैयर्थ्यं स्यात्, तस्य स्पष्टावगमार्थकत्वाङ्गीकारेऽपि, शयानेतिशीघ्रश्रुतुना निद्रायाः प्रकारतयाऽभिधावोध्यत्वेन व्यङ्ग्यत्वाभावाद् ध्वनित्वं न स्यादिति नैव निद्राध्वनिरत्रेत्युत्तरपक्षश्च बोध्यः। श्रमे प्राधान्येन व्यङ्ग्ये तु तदर्थस्य श्रमव्यञ्जनोपकारकत्वमेवेति न दोष इत्याशयः।

यदि 'श्रम-भाव' के लक्षय उक्त (विधाय...इत्यादि) श्लोक और अन्य भी इसी तरह के श्लोक ही हों, तब 'श्रम-भाव-ध्वनि' मानना व्यर्थ है, क्योंकि वह 'निद्रा भाव-ध्वनि' में हा गतार्थ हो जायगा, जैसे 'विधाय...' इत्यादि पद्य में 'चित्र-लिखित की तरह' इस उपमा से निद्रा-भाव ध्वनित होता है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यदि यहाँ निद्राभाव को प्रधान व्यङ्ग्य मानेंगे, तब, 'थोड़ी भी नहीं हिल सकी' यह कथन निष्प्रयोजन हो जायगा, कारण यह कि निद्रावस्था में ज्ञान के नियमतः न होने से यत्न का न होना निश्चित ही है। यदि आप कहें कि निद्रा की बात से विदित होने वाले यत्न-राहित्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिये यदि किसी शब्द से कह भी दिया गया, तथापि निद्रा को व्यङ्ग्य मानने में कोई बाधा थोड़े ही होती है? इस पर मैं कहता हूँ कि हाँ, भाइ! उससे बाधा नहीं होती, ठीक है, पर शिङ् धातु से जो निद्रा को वाच्य बना दिया गया, उससे तो उसके व्यङ्ग्य होने में बाधा जरूर होगी, क्योंकि वाच्य-वृत्ति से अस्पृष्ट अर्थ को ही व्यङ्ग्य माना जाता है। अतः यहाँ 'श्रम-भाव-ध्वनि' का स्वीकार ही उचित है और जब यहाँ 'श्रम-भाव' को प्रधान व्यङ्ग्य मान लेते हैं, तब उसके अनुभाव होने के नाते निद्रा आदि का वाच्य रूप में वर्णन अनुकूल ही होता है।

गर्वं निरूपयति—

रूप-धन-विद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपरावहेलनं गर्वः।

रूपादिप्रयोज्यो य आत्मन उत्कर्षस्तज्ज्ञानजन्यं यत्परेषामवहेलनं तिरस्कारात्मिकाचित्त-वृत्तिः सैव गर्वः। अवहेलनस्य भावत्वसम्पत्तये चित्तवृत्तिपर्यन्तानुधावनम्। तदुक्तम्—

'गर्वो मदः प्रभाव-श्री-विद्या-सत्कुल-जन्मभिः।

अवज्ञा-सविलासाङ्गदर्शना-विनयादिकृत्॥' इति।

अब 'गर्व-भाव' का निरूपण करते हैं—'रूपधन' इत्यादि। रूप, धन और विद्या आदि के कारण अपने उत्कर्ष का ज्ञान होने से जो दूसरों की अवहेलना (तिरस्कार) करने का मनोभाव पैदा होता है, उसी मनोभाव (अवहेलनात्मक चित्तवृत्ति) को 'गर्व' कहते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विद्यागर्वितो ब्रवीति—

'आमूलाद् रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात् पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीकामध्य-निर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां,
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥'

रत्नसानोः सुमेरोः 'सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः' इत्यभिधानाद् आमूलान्मूल-मभिव्याप्य, मलयेन चन्दनगिरिणा वलयिताद्वेष्टितात् पयोधेर्दक्षिणसमुद्रस्य, आकूलाच्च तटमभिव्याप्य च, यावन्तः काव्यस्य प्रणयने निर्माणे पटवो निपुणाः सन्ति, ते विशङ्कं निस्सन्देहं यथास्यात्तथा, मृद्वीकानां परिपक्वद्राक्षाणां मध्यात्, निर्यती निस्सरन्ती मसृणा घना च या रसस्य झरी निर्झरः (प्रवाहः) तस्या माधुरी मधुरतैव सौभाग्यं भजन्तीति तद्भाजः, तादृशीनां वाचामाचार्यतायाः पदं प्रतिष्ठाम्, अनुभवितुमधिगन्तुं मदन्यः, धन्यः पुण्यवान् कोऽस्तीति वदन्त्वित्यर्थः।

उदाहरण देखिये। पण्डितराज की ही उक्ति है कि—सुमेरु पर्वत की तरहटी से लेकर मलयाचल से घिरे हुये समुद्र के तट तक, जितने काव्य-निर्माण में निपुण जन हैं, वे

निश्शङ्क होकर कहें कि—दाखों के अन्दर से निकलती हुई चिकनी रस-धारा की मधुरता का भाग्य जिन्हें प्राप्त है—जो उसके समान मधुर हैं, उन वचनों के आचार्य-पद का अनुभव करने के लिये मुझसे भिन्न कौन पुरुष धन्य है, यह सौभाग्य और किसी को प्राप्त हो सकता है ? तात्पर्य यह कि मुझ जैसा मधुर वचन बोलने वाला, सरस कविता करने वाला मैं ही हूं, दूसरा नहीं।

विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र स्वकीयकविताया अनन्यसाधारणताज्ञानं विभावः, पराधिक्षेपपरैताहृशवाक्यप्रयोगोऽनुभावः।

अनन्यसाधारणताऽतुल्यता सर्वोत्कृष्टतेति यावत्। पराधिक्षेपपरस्यान्यतिरस्कारतात्पर्यकस्य, एतादृशस्य 'आमूला'दित्यादिरूपस्य।

यहां अपनी कविताओं में सर्वोत्कृष्टता का ज्ञान विभाव है और अन्य कवियों का तिरस्कार करने के लिये इस तरह के वाक्य का प्रयोग करना अनुभाव है।

इह प्रतीयमानासूयाया गर्वपोषकत्वमाह—

इमं चासूयाऽपि लेशतः पुष्णाति।

अत्र वक्ष्यमाणलक्षणाऽसूया पराधिक्षेपेण किञ्चित् प्रतीयमानाऽपि गर्वस्योपकारितयाऽङ्गमेवेत्यर्थः।

'आमूलात्......' इत्यादि पद्य में अभिव्यक्त होने वाले 'गर्व' को परतिरस्कार के द्वारा किञ्चित् प्रतीयमान असूया भी पुष्ट ही करती है अर्थात् असूयागर्व का अङ्ग ही हो सकती है, अङ्गी नहीं।

वीररसध्वनि-गर्वध्वन्योर्भेदं दर्शयति—

उत्साहप्रधानो गूढगर्वो हि वीररसध्वनिः, अयन्तु गर्वप्रधान इति तस्मादस्य विशेषः।

वीररसध्वनावुत्साहस्य स्थायित्वेन प्राधान्यम्, गर्वस्य तु व्यभिचारितया कादाचित्कत्वम्, गर्वध्वनौ तूत्साहस्याप्रत्ययात् प्रत्ययेवाऽङ्गत्वाद्गर्वस्यैव प्राधान्यमित्युभयोर्भेद इत्यर्थः।

वीर-रस की ध्वनि में उत्साह प्रधान रहता है, अत एव प्रकट भी, और गर्व गुप्त रहता है, अत एव अप्रधान भी, और गर्व-भाव-ध्वनि में गर्व ही प्रधान तथा प्रकट होता है, उत्साह की प्रतीति इसमें होती ही नहीं, यदि होती भी है तो गौणरूप से। यही वीर-रस-ध्वनि से गर्व-भाव-ध्वनि में विशेष भेद है।

तदेवोपपादयति—

तथाहि—

वीररसप्रसङ्गे प्रागुदाहृते 'अपि वक्ति' इत्यादिपद्ये गीष्पतिना गिरामधिदेवतयाऽपि साकमहं वदिष्यामीति वचनेनाभिव्यक्तस्योत्साहस्य परिपोषकतया स्थितः सर्वेभ्यः पण्डितेभ्योऽहमधिक इति गर्वः, न तु प्रकृतपद्य इव नास्त्येव महीतले मदन्य इति स्फुटोदितेन सोल्लुण्ठवचनेनानुभावेन प्राधान्येन प्रतीयमानः।

पूर्वपाठानुरोधात् 'यदि वक्ति' इत्यत्र 'अपि वक्ति' इति पठितम्।

'अपि वक्ति' इत्यादि प्रागुक्तपाण्डित्यवीरोदाहरणपद्ये गीष्पत्यादिनाऽपि सह कथां करिष्यामीत्युक्त्या प्राधान्येनोत्साहो व्यङ्ग्यः, ततश्च सर्वापेक्षयाऽहमुत्कृष्ट इति गर्वस्तदुपकारकत्वेनैव व्यज्यत इति वीररसध्वनिः। 'आमूलात्' इत्यादिपद्ये तु 'मदन्यः कोऽस्ति' इति सोत्प्रासोक्त्या प्राधान्येन गर्वस्यैव व्यञ्जनाद् गर्वध्वनिरेव न वीररसध्वनिरित्याशयः।

ऊपर जो वीररस और गर्वभाव की ध्वनियों में विशेष बतलाया गया है, उसी का अब उपपादन करते हैं—'तथाहि' इत्यादि से—अर्थात् वीर-रस के प्रसङ्ग में जो 'अपि वक्तिगिरां पतिःस्वयम्'······' यह उदाहरण दिया गया है, उसमें 'बृहस्पति और वाग्देवी सरस्वती के साथ भी मैं वाद करूँगा' इस कथन से जो उत्साह ध्वनित होता है, उसको 'सब पण्डितों से मैं अधिक हूँ' इस रूप में ध्वनित होने वाला गर्व पुष्ट करता है, न कि 'आमूलात्······' इत्यादि पद्य की तरह 'भूलोक में मुझ से भिन्न नहीं ही है' इस प्रकार स्पष्ट वर्णित चिढ़ाने वाले वचन रूप अनुभाव से प्रधानतया प्रतीत होता है।

निद्रां निरूपयति—

श्रमादिप्रयोज्यं चेतस्सम्मीलनं निद्रा ।

चेतस्सम्मीलनं पुरीतन्नाडीप्रवेशाद्बहिरिन्द्रियप्रदेशावस्थानम्। तदुक्तम्—

'चेतस्सम्मीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा।

जृम्भाऽक्षिमीलनोच्छ्वास-गात्रभङ्गादिकारणम्।' इति।

श्रमस्य तल्लक्षणे निद्राजनकत्वेनोपादानात् प्रयोज्यत्वमिह जन्यत्वमेवावसेयम्। अत एवानुपदं श्रमं निद्राया विभावं वक्ष्यति।

अब 'निद्रा-भाव' का निरूपण करते हैं—'श्रमादि' इत्यादि। श्रम-आदि के कारण होने वाले चित्त-सम्मीलन अर्थात् पुरीतत् नामक नाड़ी से चित्त के प्रवेश को 'निद्रा' कहते हैं।

श्रमादिविभावस्योक्तत्वादनुक्ताननुभावानेवाह—

नेत्रनिमीलन-गात्रनिष्क्रियत्वादयोऽस्या अनुभावाः।

अस्या निद्रायाः।

आँखों का मुद्रित हो जाना, अङ्गों का निश्चेष्ट हो जाना आदि इसके अनुभाव हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायको ब्रवीति—

'सा मदागमनबृंहिततोषा, जागरेण गमिताखिलदोषा।
बोधिताऽपि बुबुधे मधुपैर्न, प्रातराननजसौरभलुब्धैः॥'

मदागमनेन प्रवासान्ममागमनेन बृंहितो वर्द्धितस्तोष आह्लादो यस्यास्तादृशी, तथा जागरेण विपुलालापविलासप्रयुक्तनिद्राऽभावेन गमितं यापितमखिलं समस्तं दोषा रात्रिर्यया, तादृशी, प्रातः प्रभाते, आननजे मुखजन्ये सौरभे सुगन्धौ लुब्धैर्लोलुपैः, मधुपैर्भ्रमरैः, बोधिता जागरिताऽपि, सा, न बुबुधे नाचिचेतदित्यर्थः।

उदाहरण देखिये। नायक किसी से कहता है कि—मेरे आगमन से उसकी प्रसन्नता बहुत बढ़ गई और उसने जग कर सम्पूर्ण रात बिता दी, प्रातःकाल में (जब वह निद्रित हो गई थी) मुख के सुवास के लोभी भ्रमरों से जगाने पर भी वह नहीं जग सकी।

विभावानुभावौ ब्रूते—

रात्रिजागरणश्रमोऽत्र विभावः, मधुपैर्बोधाभावोऽनुभावः।

यहाँ रात्रि-जागरण-जन्य श्रम विभाव है और भ्रमरों के जगाने पर भी न जगना अनुभाव है।

मतिं निरूपयति—

शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्द्धारणं मतिः।

शास्त्राणां लोकवृत्तादीनां च विचारेणोत्पन्नमर्थस्य वस्तुनो निर्धारणं निर्णयरूपचित्तवृत्तिर्मतिरित्यर्थः। तदुक्तम्—

'नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः।
स्मेरताधृतिसन्तोषौ बहुमानश्च तद्भवाः॥' इति।

अब 'मति-भाव' का लक्षण करते हैं—'शास्त्रादि' इत्यादि। शास्त्र तथा लौकिक वृत्तान्तों के विचार से जो किसी वस्तु के विषय में निर्णयात्मक चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है उसे 'मति कहते हैं।

विभावस्य लक्षण एवोक्तत्वात् केवलाननुभावान् वक्ति—

अत्र निश्शङ्कतदर्थानुष्ठान-संशयोच्छेदादयोऽनुभावाः।

अत्र मतौ। तदर्थस्य निर्णीतार्थस्यानुष्ठानं विधानम्।

निश्शङ्क होकर निर्णीत काम को करना और सन्देह का विनाश आदि इसमें (मति में) अनुभाव होते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

उद्भूतमतिः कश्चिद्विभावयति—

'निखिलं जगदेव नश्वरं, पुनरस्मिन् नितरां कलेवरम्।
अथ तस्य कृते कियानयं, क्रियते हन्त! मया परिश्रमः॥'

यदा, निखिलं समस्तं, जगद् विश्वमेव नश्वरं नाशशीलमस्ति, अस्मिन् जगति, कलेवरं शरीरं पुनर्नितरां नश्वरमस्ति, अथ तदा, तस्यातिनश्वरकलेवरस्य कृते पोषणनिमित्ताय, हन्त! मया, अयं कियान् परिश्रमः क्रियत इत्यर्थः। मूढवन्मम विनश्वरतमवस्तुपोषणाय परिश्रमस्य करणमिति निर्णयान्मतिरिहावसेया।

उदाहरण देखिये। कोई विरक्त व्यक्ति कहता है कि—जब यह समस्त संसार ही नाशवान् है—अर्थात् इसमें किसी वस्तु की स्थिरता नहीं और फिर इस संसार में भी यह शरीर अत्यन्त ही नाशवान् है—'क्षणादूर्ध्वं न जानामि विधाता किं विधास्यति'—के अनुसार एक क्षण के बाद इस शरीर की क्या गति होगी, कुछ भी पता नहीं, हाय! तब भी मैं इस क्षणभङ्गुर शरीर के लिये कितना परिश्रम करता हूं।

विभावानुभावौ वक्ति—

'शरीरमेतज्जलबुद्बुदोपमम्' इत्यादिशास्त्रपर्यालोचनमत्र विभावः, हन्तपदगम्या स्वनिन्दा राजसेवादिविरतिर्वितृष्णता चानुभावः।

विरतिर्निवृत्तिः।

यहां 'शरीरमेतद् जलबुद्बुदोपमम्' (अर्थात् यह शरीर जल के बुलबुले के समान है) इत्यादि शास्त्र का पर्यालोचन विभाव (पुनः पुनः विचार) है और 'हन्त' पद से प्रतीत होने वाली अपनी निन्दा राज-सेवा आदि से निवृत्ति तथा तृष्णारहित होना आदि अनुभाव हैं।

नन्वत्र शान्तरसध्वनिरेव न कथमित्यत आह—

झगिति मतेरेव चमत्काराद् ध्वनिव्यपदेशहेतुता, न शान्तस्य, विलम्बेन प्रतीतेः।

यतोऽत्र झटिति प्रतीयमाना मतिरेव नितरां चमत्कारिणी, शान्तरसस्तु विलम्बेनास्वाद्यमानोऽल्पचमत्कारकृत्, ततो मतिध्वनिरेवात्र न शान्तरसध्वनिरित्याशयः।

जिसलिये यहां शीघ्र प्रतीयमान मति-भाव का चमत्कार अधिक है और शान्त-रस का आस्वाद विलम्ब से होता है, अत एव अपेक्षाकृत उसका चमत्कार भी न्यून है, इसलिये

मति-भाव-ध्वनि ही उक्त पद्य को काव्य-कोटि में लाती है, शान्त-रस-ध्वनि नहीं अर्थात् शान्त-रस-ध्वनि यहां नहीं होती, मति-भाव-ध्वनि ही होती है।

व्याधिं निरूपयति—

रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः।

व्याधिरोगयोरभेदेऽन्यत्र प्रसिद्धे चित्तवृत्तिरूपत्वासम्भवात् तज्जन्यमनस्तापोल्लेखः।

अब 'व्याधि-भाव' का निरूपण करते हैं—'रोग' इत्यादि। रोग और वियोग आदि से उत्पन्न होने वाले मन के ताप को 'व्याधि' कहते हैं। रोग और व्याधि अपर पर्याय हैं, यह बात प्रसिद्ध है, फिर रोग को व्याधि न कहकर रोगजन्य मानसिक ताप को व्याधि-भाव कहने का तात्पर्य यह है कि—'सभी भाव चित्त-वृत्ति-स्वरूप है, इस सिद्धान्त के अनुरोध से चित्त-वृत्त्यात्मक मनस्ताप को ही व्याधि-भाव माना जा सकता है, बाह्य रोग का नहीं, यह विशेष यहां समझना चाहिये।

लक्षण एव विभावोक्तेरनुभावान् वक्ति—

गात्रशैथिल्य-श्वासादयोऽत्रानुभावाः।

अङ्गों की शिथिलता और श्वास आदि व्याधि-भाव में अनुभाव होते हैं।

प्राचीनसम्मतिं प्रतिपादयति—

यदाहुः—

'एकैकशो द्वन्द्वशो वा त्रयाणां वा प्रकोपतः।
वातपित्तकफानां स्युर्व्याधयो ये ज्वरादयः॥
इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयते।'

लोके वात-पित्त-कफानां मध्ये प्रत्येकं द्वयोर्द्वयोस्त्रयाणां त्रयाणां वा दोषाणां प्रकोपाद् ये ज्वरादयो भवन्ति, इह साहित्ये तत्प्रभवस्तदुत्पन्नो मनस्तापश्चित्तवृत्तिविशेषो व्याधिर्भाव उच्यत इत्यर्थः।

जैसा कि प्राचीनों ने भी लिखा है कि 'एकैकशो......' इत्यादि। अर्थात् वात, पित्त और कफ नामक दोषों में से एक-एक, दो-दो अथवा तीनों के प्रकोप से जो ज्वर आदि रोग उत्पन्न होते हैं, उनसे उत्पन्न हुई चित्त-वृत्ति को साहित्य शास्त्र में 'व्याधि कहते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वियोगव्यथितां नायिकां वर्णयति—

'हृदये कृतशैवलानुषङ्गा, मुहुरङ्गानि यतस्ततः क्षिपन्ती।
तदुदन्तपरे मुखे सखीना-मतिदीनामियमादधाति दृष्टिम्॥'

इयं वियोगिनी, हृदये वक्षसि कृतः शैवलस्यानुषङ्गः सम्बन्धो यस्या यया वा, तादृशी, तथा मुहुर्वारं वारं यतस्तत इतस्ततः, अङ्गानि क्षिपन्ती, तदुदन्तपरे नायकवृत्तान्तवर्णनपरायणे सखीनां मुखे, अतिदीनां दृष्टिमादधाति निक्षिपतीत्यर्थः।

मुख इत्येकवचनेन सर्वासामेकस्यैव वृत्तस्य कथनं सूच्यते।

विरह-पीडित नायिका का वर्णन है कि—विरहिणी नायिका सेज पर पड़ी है, सखियों ने विरह-ताप को शान्त करने के उद्देश्य से उसके वक्ष पर सेवालों को रख छोड़ा है, फिर भी वह नायिका बार-बार अङ्गों को इधर उधर पटक रही है, अब बेचारी सखियां क्या करें, कुछ उपाय नहीं सूझता, आखिर सब सखियां मिल कर उसके प्रिय के सम्बन्ध की बातें करने लगी, तब नायिका ने प्रिय-कथापरायण सखियों के मुख पर कातर दृष्टि डालने लगी।

अत्र पद्ये व्याधे विभावानुभावौ दर्शयति—

विरहोऽत्र विभावः, अङ्गक्षेपादिरनुभावः।

यहां विरह विभाव है और अङ्गों का पटकना आदि अनुभाव हैं।

त्रासं निरूपयति—

भीरोर्घोरसत्त्वदर्शन-स्फूर्जथुश्रवणादिजन्मा चित्तवृत्तिविशेषस्त्रासः।

घोरसत्त्वानां भयानकप्राणिनां दर्शनात्, स्फूर्जथोर्वज्रनिर्घोषस्य श्रवणाच्च जन्मोत्पत्तिर्यस्य, तादृशो भीरोः कातरस्य चित्तवृत्तिविशेषस्त्रास इत्यर्थः।

अब 'त्रास' का निरूपण करते हैं—'भीरोः' इत्यादि। भीरु (डरपोक) व्यक्ति के हृदय में व्याघ्र आदि भयानक प्राणियों के दर्शन और बिजली की कड़क के श्रवण आदि से जो एक तरह की चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है उसका नाम 'त्रास' है।

अनुभावानाह—

अनुभावाश्चास्य रोमाञ्च-कम्प-स्तम्भ-भ्रमादयः।

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातः। विभावद्वयं तु लक्षण एवोक्तम्।

रोमाञ्च, कम्प, निश्चेष्टता और भ्रम आदि त्रास-भाव के अनुभाव होते हैं।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'औत्पातिकैर्मनःक्षेपस्त्रासः कम्पादिकारकः।'

उत्पातसूचकैरौत्पातिकैर्घोरसत्त्वदर्शनादिभिर्जन्यो मनसः क्षेपश्चपलात्मकवृत्तिविशेषः।

प्राचीनों ने भी कहा है कि—उत्पातकारक वस्तुओं से होने वाले मन के विक्षेप को 'त्रास' कहते हैं और वह कम्प आदि का जनक होता है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायकः सखायं वक्ति—

'आलीषु केलीरभसेन बाला, मुहुर्ममालापमुपालपन्ती।
आरादुपाकर्ण्य गिरं मदीयां सौदामनीयां सुषमामयासीत्॥'

आलीषु सखीनां मध्ये, केलीरभसेन क्रीडाकौतुकेन, मम सम्बन्धिनमालापं मुहुः उपालपन्ती विदधती, बाला मुग्धा, आराद् दूरे मदीयां गिरम् वाचमुपाकर्ण्य निशम्य, सौदामनीयां त्रासोदयादचिरप्रभतया चपलासम्बन्धिनीं, सुषमाम् अयासीद् विद्युदिव सद्यस्तिरोऽभूदित्यर्थः।
'आलापमुपालपन्ती' इत्यत्र 'वाचमुवाच कौत्सः' इत्यत्रेवाधिकपदत्वम्।

उदाहरण देखिये। नायक अपने मित्र से कहता है कि—मुग्धा नायिका खेल के वेग से सखियों के बीच में मेरे सम्बन्ध की बातें कह रही थी, परन्तु दूर से ज्यों ही मेरी आवाज सुनी, त्यों ही बिजली की शोभा को प्राप्त कर गई—अर्थात् देखते ही भाग गई।

विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र पत्या स्ववचनाकर्णनं विभावः, पलायनमनुभावः।

'शब्दानामनुशासनमाचार्येण' इत्यत्रेव पत्येति कर्तरि तृतीया। इह स्वशब्देन नायिकापरामर्शोऽभिप्रेतः, किन्तु 'निजस्वात्मादिशब्दानां प्रधानीभूतक्रियाकर्तृपरामर्शित्वम्' इति व्युत्पत्तिविरोधान्नोचितः।

यहां पति के द्वारा स्वकीय वचन का श्रवण करना विभाव और भाग जाना अनुभाव है।

लज्जाध्वनिमत्राशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र लज्जाया व्यङ्ग्यत्वमाशङ्कनीयम्, शैशवेनैव तस्या निरासात्।

यतो बालापदोपस्थापितेन बाल्येनैव नायिकाया लज्जाया असम्भवः, त्रासस्य च सम्भवः सूचितः, तस्मात्तिरोधानेन नात्र लज्जा व्यज्यते, अपितु त्रास एवेति भावः।

'आलीषु……' इत्यादि पद्य में 'लज्जा व्यङ्ग्य है' यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'बाला' पद से नायिका का बचपन बोधित हुआ है, जिससे लज्जा की निवृत्ति हो जाती है—अर्थात् बचपन में लज्जा नहीं होती, त्रास होता है।

ननु 'प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा। कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा॥' इत्यन्यत्र लक्षिता मुग्धैवात्र बालापदबोध्या, न तु शिशुः। तथा च लज्जायास्तस्यामाधिक्याद् व्यङ्ग्यत्वमक्षतमेवेत्यरुचेरुदाहरणान्तरमाह—

इदं वा विविक्तमुदाहरणम्—

विविक्तं लज्जाऽसङ्कीर्णत्रासव्यञ्जकम्।

यदि यह बात कही जाय कि यहां 'बाला' पद से बच्ची नहीं विवक्षित है, अपितु 'मुग्धा' जिसके लक्षण में 'समाधिक लज्जावती' अर्थात् 'अधिक लज्जावाली', कहा गया है, अतः लज्जा ही प्रधान व्यङ्ग्य होगी, तो मैं कहूंगा कि यह कथन आप का ठीक है, इसी अरुचि को हृदय में रखकर ग्रन्थकार दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—'इदं वा विविक्तमुदाहरणम्'—अर्थात् अथवा यह विशुद्ध उदाहरण त्रास का लीजिये—

विलम्ब्य गृहमागतः क्रुद्धाया मातुस्ताडनोद्यमं दृष्ट्वा त्रस्तो बालकृष्णो मातरं ब्रवीति—

'मा कुरु कशां कराब्जे, करुणावति! कम्पते मम स्वान्तम्।
खेलन् न जातु गोपैरम्ब! विलम्बं करिष्यामि॥'

हे करुणावति! अम्ब! कराब्जे निजकरकमले, कशां ताडनरज्जुं, मा कुरु मा ग्रहीः, मे मम स्वान्तं हृदयं कम्पते, पुनरतः परं जातु कदाचित्, गोपैः पशुपालबालैः सह खेलन् अहं विलम्बं न करिष्यामीत्यर्थः।

अयि! दयावति! तू अपने कर-कमल में (मुझे मारने के लिये) कोड़ा मत ले, मेरा मन काँप रहा है। मां! गोपालों के साथ खेलते हुये अब कभी विलम्ब नहीं करूंगा।

प्रसङ्गं प्रतिपादयति—

एषा [भगवतो] लीलागोपकिशोरस्योक्तिः।

लीलया लीलायै वा गोपकिशोरस्य वस्तुतः परमेश्वरस्य श्रीकृष्णस्य मातरं प्रत्युक्तिरेषा। इह त्रासस्य कशोत्तोलनं विभावः, कम्पश्चानुभावः। भावान्तरेणासङ्कीर्णस्त्रासोऽत्र ध्वन्यते।

यह लीला से गोप-किशोर बने हुये श्रीकृष्ण भगवान की उक्ति है। यहां मां का कोड़ा हाथ में लेना त्रास का विभाव और कम्प अनुभाव है।

स्वप्नरूपं सुप्तं निरूपयति—

निद्राविभावोत्थज्ञानं सुप्तम्।

निद्राया विभावेभ्यः श्रमादिभ्य उत्थमुत्पन्नं ज्ञानं विषयावभासः, स्वप्न एव सुप्तं भाव इत्यर्थः। तदाह—

स्वप्न इति यावत्।

अब 'सुप्त' का निरूपण करते हैं—'निद्रा' इत्यादि। निद्रा-रूप विभाव (कारण) से उत्पन्न हुये ज्ञान का नाम 'सुप्त' है। जिसे स्वप्न कहते हैं।

श्रमादेर्विभावस्य निद्राविभावत्वेनैवोक्तत्वादनुभावमात्रं वक्ति—

अस्यानुभावः प्रलापादिः ।

अस्य स्वप्नभावस्य। प्रलापोऽनर्थकभाषणम्। आदिना रोदनहसनादिस्वाप्नव्यापारसङ्ग्रहः।

बड़बड़ाना आदि इसके अनुभाव हैं ।

ननु श्रमादयोविभावा इव, नेत्रनिमीलनादयोऽनुभावा अपि निद्राया एवास्य कथं नोच्यन्त इत्याशङ्कां व्यपोहते—

नेत्रनिमीलनादयस्तु निद्राया [एव] अनुभावाः, न त्वस्य, अनिदञ्जन्यत्वात् ।

नेत्रनिमीलनादीनां हि निद्राजन्यत्वं, न तु स्वप्नजन्यत्वमिति नेत्रनिमीलनादयो न स्वप्नस्यानुभावाः । इत्थं स्वप्नस्य निद्रायाश्च कारणैक्येऽपि कार्यभेदाद् भेदो विभावनीयः ।

आँखों का मींचना आदि तो निद्रा के ही अनुभाव हैं, सुप्त के नहीं, क्योंकि वे स्वप्न से उत्पन्न नहीं होते ।

प्राचीनोक्तिं खण्डयति—

यत्तु प्राचीनैः—'अस्यानुभावा निभृतगात्रनेत्रनिमीलनम्' इत्याद्युक्तम्, तदन्यथा सिद्धानामपि तेषामेतद्भावव्यापकत्वादिति ध्येयम् ।

अन्यथा-सिद्धानि कारणान्तरादेवोत्पन्नानि । नेत्रनिमीलनादयो हि निद्रयैव (न तु स्वप्नेन) जनितानि स्वप्नं यावत् तिष्ठन्तीति स्वप्नसमयेऽपि तदुपलम्भाद्भ्रमेण स्वप्नजन्यत्वं तेषां प्रतिपादितमित्याकूतम् । उक्तञ्चान्यत्र—'स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः । कोपावेगभयग्लानि-सुखदुःखादिकारकः ।' इति ।

प्राचीनों ने 'सुप्त के अनुभाव अङ्गों की निश्चेष्टता और आँखों का मींचना है' ऐसा जो लिखा है, उसका आशय यह है कि यद्यपि इन अनुभावों के प्रति स्वप्न कारण नहीं है, स्वप्न के लिये ये सब अन्यथासिद्ध हैं—अर्थात् स्वप्न के अभाव में भी ये अनुभाव निद्रा से उत्पन्न होने वाले हैं, तथापि ये अनुभाव स्वप्न के व्यापक अवश्य हैं—अर्थात् स्वप्नावस्था में भी इनका रहना निश्चित है। सारांश यह हुआ कि स्वप्न की अवस्था में भी इन (नेत्र-निमीलनादि) अनुभावों को नियमतः रहते देखकर प्राचीनों को भ्रम हो गया कि ये स्वप्न के ही कार्य हैं, अतः उन्होंने वैसा लिख दिया। वस्तुतः उनका लिखना ठीक नहीं है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

स्वप्नभूतप्रियासमागमो नायको निद्रां वदति—

'अकरुण ! मृषाभाषासिन्धो ! विमुञ्च ममाञ्चलं,
तव परिचितः स्नेहः सम्यङ् मयेत्यनुभाषिणीम् ।
अविरलगलद्बाष्पां तन्वीं निरस्तविभूषणां,
क इह भवतीं भद्रे ! निद्रे ! विना विनिवेदयेत् ॥'

हे भद्रे कल्याणकारिणि ! निद्रे स्वप्नदर्शे ! भवतीं विना क इह—'हे अकरुण निर्दय ! मृषाभाषासिन्धो सर्वदा मिथ्याभाषिन् ! मम अञ्चलं वसनाग्रं मुञ्च त्यज, तव स्नेहः प्रणयः परिचितः मया तव कपटप्रेमा सुविदितः' इति वाक्यानि, अनुभाषिणीं वदन्तीम्, अविरलगलद्बाष्पां निरन्तरच्यवमानाश्रुधाराम्, निरस्तविभूषणां निष्कासितालङ्काराम्, तन्वीं प्रेयसीं, विनिवेदयेत् समर्पयेद्दर्शयेदित्यर्थः ।

निद्रे ! तवैवैतन्माहात्म्यं यदविद्यमानामपि प्रियतमां तथा दर्शयसीत्याशयः । इह शब्दचारिमच्छन्दसोऽनुरोधाद् 'भवती'मित्यस्य 'विने'त्यनेन महान् विप्रकर्षः सुषमामपकर्षति ।

अब 'सुप्त-भाव' का उदाहरण लीजिये। 'हे निर्दय ! हे मिथ्याभाषणों के समुद्र ! मेरे अञ्चल को छोड़ दे, मुझे तेरे प्रेम का अच्छा परिचय प्राप्त हो चुका।' इस तरह कहती हुई और लगातार आंसू बहाती हुई आभूषणविहीन कृशाङ्गी को, हे कल्याणकारिणि ! निद्रे !! तेरे बिना कौन लाकर उपस्थित कर सकता ? हे देवि ! इस तरह प्रिया-समागम करा देने का सौभाग्य केवल तुझे ही प्राप्त है।

प्रकरणमाह—

एषा प्रवासगतस्य स्वप्नेऽपि प्रियामेवं भाषिणीं दृष्टवतो निद्रां प्रति कस्यचिदुक्तिः।

अपिरत्राप्रयोजनः प्रतिभाति।

यह उक्त रीति से कहती हुई प्रियतमा को स्वप्न में भी देखने वाले किसी प्रवासी नायक की उक्ति है।

ननु वस्तुनो रसस्य चापि व्यङ्ग्यत्वादिह कथं भावध्वनिरेव व्यपदिश्यत इत्यत आह—

'यद्यप्येवम्भूतायाः प्रियतमावस्थाया निवेदनेन निद्रे ! मम भवत्या महानुपकारः कृतः' इति वस्तु, विप्रलम्भशृङ्गारश्चात्र प्रतीतिपथमवतरति, तथापि पुरःस्फूर्तिकतया स्वप्नध्वननमत्रोदाहृतं न प्रान्ते तयोर्ध्वननं निरोद्धुमीष्टे।

अत्रोदाहरणे निद्राकर्तृकप्रियतमानिवेदनरूपमहोपकारविधानात्मकवस्तुनः शृङ्गाररसस्य च व्यञ्जनाद् वस्तुध्वनि-रसध्वन्योरपि यद्यपि सद्भावः, किन्तु तयोः पश्चात् प्रतीतिरिति ताभ्यामङ्गभूताभ्यां सह पूर्वप्रतीतिकत्वात् प्रधानस्य स्वप्नभावध्वनेः साङ्कर्यमिति तद्ध्वनिव्यपदेश एवेति सारम्।

यद्यपि 'हे निद्रे ! तू ने प्रिया की एतादृश दशा (परुष भाषण, रोदन और आभूषण-त्याग आदि) का ज्ञान कराकर मेरा महान् उपकार किया है' इस वस्तु तथा विप्रलम्भ शृङ्गार दोनों की प्रतीति यहां होती है, तथापि पहले स्वप्न की ही स्फूर्ति (प्रतीति) होती है, अतः इस पद्य को स्वप्न-भाव-ध्वनि का ही उदाहरण कहा गया है, परन्तु अन्त में उक्त वस्तु और रस भी ध्वनित होंगे, स्वप्न-भाव-ध्वनि, उन्हें रोक नहीं सकती।

जागरणलक्षणं विबोधं निरूपयति—

निद्रानाशोत्तरं जायमानो बोधो विबोधः।

निद्रानाशस्य भावत्वाभावाद् बोध इति, बोधस्य चान्यदाऽपि सम्भवान्निद्रेत्यादि च लक्षणे निवेशितम्। तदुक्तम्—'निद्राऽपगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः। जृम्भाऽङ्गभङ्ग-नयनमीलनाङ्गावलोककृत्।' इति।

अब 'विबोध-भाव' का निरूपण करते हैं—'निद्रानाश' इत्यादि। निद्रा के नष्ट होने के बाद जो बोध होता है, उसको 'विबोध' कहते हैं।

विभावाननुभावांश्च दर्शयति—

निद्रानाशश्च तत्पूर्ति-स्वप्नान्त-बलवच्छब्दस्पर्शादिभिर्जायत इति त एवात्र विभावाः। अक्षिमर्दन-गात्रमर्दनादयोऽनुभावाः।

तत्पूर्तिः निद्रापूर्तिः। स्वप्नान्तः स्वप्नदशाऽवसानम्। स्पर्शः परकृतः। निद्रानाशस्य यानि कारणानि, तान्येव विबोधस्यापीति निद्रानाशकारणान्येवं विबोधे विभावा अक्षिमर्दनादयश्चानुभावा भवन्तीत्यर्थः।

निद्रा का नाश निद्रा के पूर्ण हो जाने से स्वप्न के अन्त हो जाने से और प्रबल शब्दों के श्रवण से तथा किसी के स्पर्श से होता है, इसलिये वे विबोध के विभाव हैं और आंखें मलना, शरीर मलना आदि अनुभाव है।

उदाहरणबाहुल्यसम्भवादाह—

तत्र सङ्क्षेपेणोदाहरणम्—

यद्यपि इस भाव के उदाहरण बहुत हो सकते हैं, तथापि संक्षेप से ही वे दिखलाये जाते हैं।

स्वप्नोपलभ्यमानप्रेयसीसान्निध्यो मेघगर्जितापगतनिद्रः खिद्यमानः कश्चित् प्रवासी सखायमाख्याति—

'नितरां हितयाऽद्य निद्रया मे, बत यामे चरमे निवेदितायाः।
सुदृशो वचनं शृणोमि यावन्मयि तावत् प्रचुकोपवारिवाहः॥'

अद्य, चरमे यामे चतुर्थे प्रहरे, मे मम, नितरां हितया परमोपकारिकया, निद्रया स्वप्नदशया, निवेदितायाः प्रापितायाः, सुदृशः प्रेयस्या आलपितुमुद्यतायाः, वचनं, यावदहं शृणोमि, तावद्बत, मयि, वारिवाहो जलधरः प्रचुकोप प्रकुपित इव जगर्जेत्यर्थः।

नायक अपने मित्र से कहता है कि—मेरा अत्यन्त हित चाहने वाली निद्रा से (स्वप्नावस्था से) रात के अन्तिम प्रहर में उपस्थित की गई सुनयना प्रेयसी का वचन जब तक सुनूं-सुनूं तभी मेरे ऊपर जलधर प्रकुप्त हो उठा—उसने अपने भीषण गर्जन से मेरे सुखद स्वप्न को भग्न कर दिया।

विभावमनुभावं चाह—

अत्र गर्जितश्रवणं विभावः, प्रियावचनश्रवणोल्लासनाशोऽनुभावस्तूह्येयः।

उह्येयः साक्षाच्छब्दानुक्तोऽपि बतशब्देनावगमनीयः।

यहां मेघ-गर्जन का श्रवण विभाव और प्रिया के वचन सुनने के लिये जो उल्लास स्वप्नावस्था में उत्पन्न हुआ था, उसका विनाश अनुभाव है, परन्तु उस अनुभाव का वर्णन स्पष्ट शब्दों में यहां नहीं किया गया, अतः 'बत' पद से उसका तर्क कर लेना चाहिये।

मतान्तरेण विबोधं निरूपयति—

केचिदविद्याध्वंसजन्यमप्यमुमामनन्ति। तेषां मते—

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा, त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः, करिष्ये वचनं तव॥'

इति गीतापद्यमुदाहार्यम्।

अविद्यायाः संसारनिदानभूताज्ञानस्य ध्वंसेन विनाशेन जन्यं ज्ञानमपि केचिद् विबोधभावं मन्यन्ते, तेषां मते—'हे अच्युत गोविन्द ! त्वत्प्रसादात् तत्त्वोपदेशनात्मकत्वदनुग्रहात्, मम मोहो देहात्मभ्रमो नष्टः, मया स्मृतिरात्मस्मरणं च लब्धा पुनरवाप्ता, साम्प्रतं गतसन्देहः कर्त्तव्याकर्त्तव्यसंशयरहितः, स्थितोऽस्मि। तेन तव वचनं करिष्ये त्वदादेशं पालयिष्यामी'—त्यर्थकं 'नष्टो मोहः' इत्यादिभगवद्गीतापद्यमत्रोदाहरणीयम्, तत्राविद्याध्वंसजन्यविबोधस्य सत्त्वादित्यर्थः।

कुछ लोग 'विबोध' को अविद्या के नाश से उत्पन्न होने वाला भी मानते हैं, उनके मत के अनुसार 'नष्टो मोहः……' इत्यादि गीता के श्लोक को 'विबोध-भाव-ध्वनि' का उदाहरण समझना चाहिये। उस गीता-श्लोक का अर्थ यह है कि—हे भगवन् ! आपकी अनुकम्पा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे स्मृति प्राप्त हो गई अर्थात् जिन सत्यों को मैं भूल रहा था, वे मुझे पुनः समझ में आ गये। अब मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूं, आपके कथन का अक्षरशः पालन करूंगा। यह महाभारत युद्ध में मोह-ग्रस्त अर्जुन का उपदेश सुन लेने के बाद भगवान् कृष्णचन्द्र के प्रति उक्ति है।

सिंहावलोकनन्यायेन पूर्वोदाहरणेऽसूयाध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

न तु वारिवाहविषयाया असूयाया एवात्र वाक्यार्थतेति शङ्क्यम्, विबोधप्रतीतौ हि सत्यां तस्मिन्ननौचित्यावगमे सत्यनुचितविबोधजनकत्वेन वारिवाहेऽसूयाया विलम्बेन प्रतीतेः; परमुखनिरीक्षकत्वात्।

वाक्यार्थता वाक्यार्थबोधप्राधान्यम्। तस्मिन् विबोधे। परमुखनिरीक्षकत्वमसूयायाः पराधीनप्रतीतिकत्वम्।

'नितरा'मित्याद्युदाहरणे परमोपकारकनिद्राभञ्जक-मेघविषयकासूयाया एव प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वादसूयाध्वनिरेवेति तु न शङ्कनीयम्, इहासूयाप्रतीतेः परसापेक्षत्वेन प्रथममुत्पत्तुमशक्तत्वात्। तथाहि—प्रथममिह विबोधस्यैव प्रतीतिर्जायते, तदनु स्वप्नस्य सुखकरत्वेन विबोधानौचित्यस्य प्रतीतिः, तदनन्तरमनुचितविबोधकारणगर्जितविधायकत्वेन मेघविषयकासूयायाः प्रतीतिरिति विलम्बेन भवन्ती परसापेक्षाऽसूया न प्राधान्यमर्हतीति सारम्।

'नितरां हितया......' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य का प्रधान वाक्यार्थ मेघ के विषय में होने वाली असूया है, यह शङ्का करना समुचित नहीं, क्योंकि जब पहले विबोध-भाव की प्रतीति हो जायगी, तब उस विबोध में अनौचित्य का—अनवसर में होने का—ज्ञान होगा और उसके बाद अनुचित विबोध को उत्पन्न करने वाले मेघ में असूया होगी। अतः वह असूया परमुखापेक्षिणी-अर्थात् स्वोपपादक विबोध का मुँह जोहने वाली है, इसीलिये उसकी प्रतीति भी विलम्ब से ही होगी, फिर वह प्रधान वाक्यार्थ कैसे हो सकती है?

उक्तार्थं समर्थयितुमसूयाया विषयं विशदीकरोति—

स्यादपि तस्या अपि प्राधान्यम्, यदि वारिवाहे निष्करुणत्वादिबोधकं किञ्चिदपि स्यात्।

तस्या-असूयायाः।

यदीह पद्येऽपि 'भ्रातः! तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः' इत्यादौ विधेः शठत्वमिव, मेघस्य निर्दयत्वादि किमप्यसूयाव्यञ्जकं विशेषणमुपात्तं स्यात्, तदैवासूयायाः प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं स्यात्, न च तथा, तस्मान्नासूयाध्वनिरिति भावः।

उक्त पद्य में असूया की भी प्रधानता हो सकती थी, यदि 'भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रा-दरिद्रीकृतः—अर्थात् हे भाई! तब तक शठ विधाता ने मेरी निद्रा को भग्न कर दिया' यहाँ जैसे विधाता को शठ कहा गया है, उसी तरह यहाँ भी मेघ के विषय में निर्दयता आदि का बोध कराने वाली कुछ बातें वर्णित रहतीं। परन्तु उस तरह की एक भी बात यहाँ वर्णित नहीं है, अतः यहाँ असूया-ध्वनि नहीं हो सकती।

स्वप्नध्वनिशङ्कामपि निराकरोति—

नापि स्वप्नध्वनिः, वारिवाहनादेन तन्नाशस्यैव प्रतिपत्तेः।

यतो मेघस्य गर्जितेन स्वप्ननाशस्यैव प्रतीतिरत्र भवति, अतः स्वप्नध्वनिरपि न सम्भवतीत्यर्थः। नष्टत्वेन प्रतीयमानस्य स्वप्नस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वासम्भवादित्याशयः।

उक्त पद्य में स्वप्न-भाव की ध्वनि है, यह बात भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि मेघ के गर्जन से उसके (स्वप्न के) नाश की ही प्रतीति होती है, फिर विनष्ट रूप से ज्ञात होने वाला वह स्वप्न प्रधान व्यङ्ग्य कैसे हो सकता?

अथ जीवनाहरणकर्तृत्वावगमकस्य वारिवाहपदस्य, कोपनप्रकृतिकत्वावगमकस्य क्रियापदस्य वा सत्त्वादसूयाध्वनिं, स्वप्नभावस्य प्रशमेन भावशान्तिध्वनिं च पर्यवेक्ष्य, ताभ्यां सहासूयाध्वनेः साङ्कर्यमभ्युपगच्छति—

अस्तु वा स्वप्नभावप्रशमेनासूयया च सहास्य सङ्करः।

साङ्कर्येऽप्यङ्गिता विबोधध्वनेरेवेत्याकूतम्।

यदि कहें कि 'नितरां हितया'...... इस पद्य में मेघ के लिये 'वारिवाह' पद का प्रयोग किया गया है और वारिवाह पद का जल ढोने वाला (पनभरा) भी एक अर्थ होता है, अतः इस प्रकार के हीन शब्द के प्रयोग से मेघ के प्रति असूया व्यक्त हो सकती है और मेघ-गर्जन से स्वप्न-नाश की बात तो आप स्वयम् ऊपर कह आए हैं, अतः स्वप्न-भाव-प्रशम की ध्वनि आप के विचार से भी होती ही है, तो इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि—ठीक है; इस तरह यहाँ इन दोनों ध्वनियों के साथ विबोध-भाव-ध्वनि का सङ्कर ही रहे। अभिप्राय यह है कि—इस तरह सङ्कर मान लेने पर भी अङ्गी विबोध-ध्वनि ही होगी और उक्त दोनों ध्वनियाँ उसके अङ्ग होकर रहेंगीं।

व्युत्पत्तिदार्ढ्याय प्रत्युदाहरति—

इदन्तु नोदाहार्यम्—

'गाढमालिङ्ग्य सकलां, यामिनीं सहतस्थुषीम्।
निद्रां विहाय स प्रात-रालिलिङ्गाथ चेतनाम्॥'

स प्रक्रान्तः पुमान्, गाढं दृढमालिङ्ग्य समाश्लिष्य सकलां सम्पूर्णां यामिनीमभिव्याप्य, सहतस्थुषीं साकं स्थितवतीं, निद्रामेकां नायिकामिव, प्रातः प्रभाते, विहाय, अथ चेतनां सञ्ज्ञामपरां नायिकामिव, आलिलिङ्गेत्यर्थः।

अब पाठकों के ज्ञान को दृढ करने के उद्देश्य से विबोध-भाव का प्रत्युदाहरण-भी दिखलाते हैं—'इदन्तु नोदाहार्यम्'—अर्थात् यह उदाहरण नहीं देना चाहिये। जो पुरुष रात भर साथ रहने वाली (एक नायिका के समान) निद्रा का प्रगाढ आलिङ्गन करके रहा, वही प्रातः काल में उस (निद्रा) को छोड़कर (दूसरी नायिका के समान) चेतना-संज्ञा-का आलिङ्गन कर लिया।

कुतो नेदमुदाहरणीयमित्याह—

विबोधस्य चेतनापदवाच्यत्वात्।

चेतना-विबोधयोरभेदादिह चेतनापदेनाभिधीयमानस्य विबोधस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि प्रागुक्तरीत्या न चमत्कारिता।

यहाँ विबोध चेतना पद से वाच्य ही हो गया है, अतः यह पद्य विबोध-भाव-ध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता।

अपि तु समासोक्त्यलङ्कार एवात्र चमत्कारक इति प्रतिपादयति—

यथा कश्चित् सत्यप्रतिज्ञो द्वाभ्यां नायिकाभ्यां द्वौ कालावुपभोगार्थं दत्त्वा, यथोचिते काल एकामुपभुज्य, कालान्तरे प्रवृत्ते तां विहायापरां भुङ्क्ते, तथैवायं रात्रौ निद्रां, प्रातश्चेतनामिति समासोक्तेरेवेह प्रकाशनात्।

इह प्रस्तुतेन विबुद्धपुरुषेणाप्रस्तुतस्य द्विपत्नीकसत्यप्रतिज्ञपुरुषस्य व्यञ्जनात्समासोक्त्यलङ्कारस्येदमुदाहरणं, न तु विबोधध्वनेरित्यभिप्रायः।

'गाढमालिङ्ग्य......' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में वर्णित, रात में निद्रा का और प्रातःकाल में चेतना का आलिङ्गन करने वाले प्रस्तुत पुरुष में उस अप्रस्तुत तथा सत्य-प्रतिज्ञ पुरुष का व्यवहार आरोपित है, जो दो नायिकाओं को उपभोग के लिये दो पृथक्-पृथक् समय देकर, यथोचित समय पर एक नायिका को भोगने के बाद, दूसरे समय में, उसे छोड़कर, दूसरी नायिका को भोगता है। अतः यहां समासोक्ति अलङ्कार प्रधान—चमत्कारी—है। भाव-ध्वनि तो यहां है ही नहीं।

अमर्षं निरूपयति—

परकृतावज्ञादि-नानापराधजन्यो मौनवाक्पारुष्यादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः।

शत्रुकृतास्तिरस्कारप्रभृतयो ये नानापराधास्तज्जन्यः, मूकीभाव-कठोरभाषणादिजनकश्चाभिनिविष्टत्वरूपश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्ष इत्यर्थः। तदुक्तम्—'निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता। नेत्रराग-शिरःकम्प-भ्रूभङ्गो-तर्जनादिकृत्।' इति।

अब 'अमर्ष-भाव' का निरूपण करते हैं—'परकृता' इत्यादि। उस चित्त-वृत्ति का नाम 'अमर्ष' है, जो दूसरे के किये हुये अपमान आदि अनेक अपराधों से उत्पन्न होती और मौन (चुप्पी) तथा कठोर-भाषण आदि को उत्पन्न करती है।

विभावानुभावांश्च दर्शयति—

प्राग्वत् कारणानां कार्याणां च क्रमेण विभावानुभावत्वम्।

अमर्षस्य परकृतावज्ञादीनि कारणानि विभावाः, मौनादीनि कार्याणि चानुभावा ज्ञेया इति सारम्।

पहले ही की तरह यहां भी कारणों (परकृत अपमान आदि अनेक अपराधों) को विभाव और कार्यों (मौन आदि) को अनुभाव समझ लेना चाहिये।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मानिनीवृत्तं वर्णयति—

'वक्षोजाग्रं पाणिनाऽऽमृश्य दूरे, यातस्य द्रागाननाब्जं प्रियस्य।
शोणाग्राभ्यां भामिनी, लोचनाभ्यां, जोषं जोषं जोषमेवावतस्थे॥'

वक्षोजाग्रं कुचतटं, सहसा, पाणिना करेण, आमृश्य संस्पृश्य, (सन्निधौ ताडनादिसम्भवात्) द्राग् झटिति, दूरे यातस्य गतस्य, प्रियस्य कृतागसो वल्लभस्य, आननाब्जं मुखकमलम्, भामिनी कोपना नायिका, शोणाग्राभ्यां रक्तकोणाभ्यां, लोचनाभ्यां, जोषं जोषं निर्निमेषं दृष्ट्वा दृष्ट्वा, जोषं तूष्णीमेव, अवतस्थेऽस्थादित्यर्थः। इहाग्रशब्दो द्विरुपात्तः।

उदाहरण देखिये। कुचों के अग्रभाग को हाथ से मलकर दूर भागे हुये प्रियतम के मुख-कमल को, क्रोध-युक्त नायिका लाल-लाल आंखों से देख-देखकर ही चुप रह गई।

विभावादि प्रकाशयति—

इह त्वाकस्मिकस्तनाग्रस्पर्शो विभावः, नयनारुण्यनिर्निमेषनिरीक्षणे अनुभावौ।

लक्षणघटकादिपदग्राह्यविभावानुभावसद्भावसूचकस्तुशब्दः। निर्निमेषनिरीक्षणमिह दर्शन-वीप्सार्थकाभ्यां जुषतिणमुलभ्यां प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां सूच्यते। निर्निमेषनिरीक्षणं मौनस्याप्युपलक्षणम्।

यहां अकस्मात् स्तनों के अग्रभागों को छूना विभाव है और नेत्रों की रक्तता तथा टकटकी लगाकर देखना अनुभाव है।

ननु क्रोधामर्षयोः स्थायिव्यभिचारिणो कार्यकारणैक्ये मिथः कथं भेद इत्यत आह—

ननु क्रोधामर्षयोः स्थायि-सञ्चारिणोर्भावयोः किं भेदकमिति चेत्, विषयतावैलक्षण्यमेवेति गृहाण।

विषयताया वस्तुनोऽनयोरवस्थाया वैलक्षण्यमेव भेदकं जानीहीत्यर्थः।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि स्थायी-भाव क्रोध और व्यभिचारी भाव अमर्ष में क्या भेद है? इसका उत्तर यह है कि वैसे भेद कुछ नहीं है, फिर भी दोनों (क्रोध और अमर्ष) की विषयता अर्थात् अवस्था में जो वैलक्षण्य-भेद है, वही क्रोध अमर्ष में परस्पर का भेदक होता है।

ननूभयोर्विषयताभेदः कथमवधार्यत इत्यतोऽभिधत्ते—

तत्र तु गमकं झटिति परविनाशादौ प्रवृत्तिर्वचनवैमुख्यादिकं चेति कार्य-वैलक्षण्यम्।

तत्र विषयतावैलक्षण्ये तु। यतस्तस्यैव भावस्योत्कटावस्थायां क्रोधरूपतया परविनाशादौ प्रवृत्तिः कार्यं भवति, अनुत्कटावस्थायान्त्वमर्षरूपतया वचनवैमुख्यादिकं कार्यं भवतीति क्रोधामर्षयोः कार्यवैलक्षण्यमेव विषयतावैलक्षण्यज्ञापकमित्यर्थः।

क्रोध और अमर्ष की अवस्था में जो वैलक्षण्य (भेद) है, उसका ज्ञान दोनों के कार्य-वैलक्षण्य अर्थात् भिन्न-भिन्न तरह के कार्यों से करना चाहिये। तात्पर्य यह कि क्रोध का कार्य शीघ्र दूसरों के विनाश में प्रवृत्ति होती है और अमर्ष का कार्य केवल चुप रह जाना आदि होता है। सारांश यह सिद्ध हुआ कि एक ही भाव जब कोमलावस्था में रहता है, तब अमर्ष कहलाता है और जब उत्कटावस्था को प्राप्त कर लेता है, तब क्रोध कहलाता है।

अवहित्थं निरूपयति—

व्रीडादिभिर्निमित्तैर्हर्षाद्यनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषोऽवहित्थम्।

हर्षाद्यनुभावानां 'हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः' इत्युक्तेरश्रुप्रभृतीनां हर्षादिकार्याणां, गोपनायापह्नवाय, व्रीडादिभिः 'व्रीडा-भय-धाष्टर्य-कौटिल्य-गौरवैः, निमित्तैर्हेतुभिः जनित उत्पादितः, भावविशेषश्चित्तवृत्तिविशेषोऽवहित्थमित्यर्थः।

अब 'अवहित्थ नामक भाव' का निरूपण करते हैं—'व्रीडा' इत्यादि। हर्ष आदि भावों के जो अश्रुपात आदि अनुभाव (कार्य) होते हैं, उनको छिपाने के लिये लज्जा आदि कारणों से उत्पन्न होने वाली चित्त-वृत्ति को 'अवहित्थ' कहते हैं।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

तदुक्तम्—

'अनुभावपिधानार्थेऽवहित्थं भाव उच्यते।
तद्विभाव्यं भय-व्रीडा-धाष्टर्य-कौटिल्य-गौरवैः॥'

पिधानं गोपनम्। विभाव्यमुत्पादनीयं तदवहित्थम्। धाष्टर्यं प्रगल्भता गौरवं महत्त्वम्।

इस बात को प्राचीनों ने भी कहा है, जैसे—'अनुभावपिधानार्थे......' इत्यादि। अर्थात् अनुभावों को छिपाने के लिये जो भाव उत्पन्न होता है, उसे 'अवहित्थ' कहते हैं। वह भय, लज्जा, धृष्टता, कुटिलता और गौरव इन सब कारणों से उत्पन्न किया जाता है।

उदाहरति—

यथा—

कुलाङ्गनावहित्थं वर्णयति—

'प्रसङ्गे गोपानां गुरुषु महिमानं यदुपते-
रुपाकर्ण्य स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः।
विषज्वालाजालं झगिति वमतः पन्नगपतेः,
फणायां साश्चर्यं कथयतितरां ताण्डवविधिम्॥'

गुरुषु गुरुजनसमीपे, गोपानां प्रसङ्गे कालियदमनादिकथाप्रस्तावे, यदुपतेः श्रीकृष्णस्य, महिमानमुत्कर्षम्, उपाकर्ण्य श्रुत्वा, स्विद्यन्तौ घर्मभाजौ पुलकितौ जातरोमाञ्चौ च कपोलौ यस्यास्तादृशी, कुलवधूः कुलीनाऽकुलटा वधूर्गोपाङ्गना, प्रणयजस्वेदरोमाञ्चापह्नवाय, विष-ज्वालानां जालं समुदायं, झगिति सत्वरं वमतो मुखशतान्निष्कासयतः, पन्नगपतेः कालिय-नागस्य, फणायां, (तस्य) ताण्डवविधिमुद्धतनृत्यविधानं, साश्चर्यमाश्चर्येण सहितं, कथय-तितरां मुहुर्वदतीत्यर्थः । इह व्रीडया प्रणयजस्वेदरोमाञ्चयोर्गोपनम् ।

जैसे—गोपजनों ने प्रसङ्ग-वश, गुरुजनों के मध्य में, कृष्ण की महत्ता का वर्णन किया जिसको निकट में रहने वाली किसी कुलाङ्गना ने भी सुन लिया, जिससे उसके कपोलों पर प्रेम के कारण सात्त्विक भाव के चिह्न पसीना और रोमाञ्च उत्पन्न हो गये। कुलवधू ने देखा कि अब तो मेरा कृष्ण के प्रति प्रेम लोगों पर प्रकट होना चाहता है, बस, उसने झट से विष-ज्वाला के समूह को लगातार उगलते हुये अहिराज कालिय के फणों पर कृष्ण के नृत्य का आश्चर्य-सहित वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया, जिससे लोग समझ लें कि यह स्वेद और रोमाञ्च कृष्ण से प्रेम के कारण नहीं, अपि तु उनके पराक्रम के वर्णन के कारण हुये हैं।

विभावानुभावावभिधत्ते—

अत्र व्रीडा विभावः, तादृशकालियकथाप्रसङ्गोऽनुभावः ।

तादृशस्य विषज्वालाजालवमनकारिणः । प्रणयजन्यौ स्वेदरोमाञ्चौ लज्जयाऽऽश्चर्य-जन्यत्वेनापह्नुतौ ।

यहाँ लज्जा विभाव है और भयङ्कर कालिय नाग के फणों पर ताण्डव करने की कथा का प्रसङ्ग अनुभाव है।

इत्थं व्रीडाप्रयोज्यमवहित्थमुदाहृत्य भयादिप्रयोज्यस्य तस्योदाहरणानामूह्यत्वमाचष्टे—

एवं भयादिप्रयोज्यमप्युदाहार्यम् ।

अवहित्थमिति शेषः ।

इसी प्रकार भय आदि के द्वारा उत्पन्न होने वाले अविहत्थ-भाव का भी उदाहरण समझ लेना चाहिये।

उग्रतां निरूपयति—

अधिक्षेपापमानादिप्रभवा किमस्य करोमीत्याद्याकारा चित्तवृत्तिरुग्रता ।

अधिक्षेपो निन्दा, अपमानस्तिरस्कारः, आदिपदेन राजापराधस्य, अविद्यमानदोषोद्घो-षस्य, चौरग्रहणस्य च परामर्शः । निन्दादिजन्यो बन्धुवधादिजनकः क्रूरतारूपश्चित्तवृत्ति-विशेष उग्रतेत्यर्थः ।

अब 'उग्रता-भाव' का निरूपण करते हैं—'अधिक्षेप' इत्यादि। निन्दा और अपमान आदि से उत्पन्न होने वाली 'इसका क्या कर डालूँ' इस तरह की चित्त-वृत्ति को 'उग्रता' कहते हैं।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—'नृपापराधोऽसद्दोषकीर्त्तनं चोरधारणम् ।
विभावाः स्यु-रथो बन्धो वधस्ताडनभर्त्सने ॥
एते यत्रानुभावास्तदौग्र्यं निर्दयतात्मकम् ।' इति ।

उग्रताया नृपापराधादयो हेतवो विभावाः, बन्धादीनि कार्याणि चानुभावाः । अस्य किं करोमीत्याकारा चित्तवृत्तिः क्रूरत्वं निर्दयत्वमित्यनर्थान्तरम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी लिखा है—'नृपापराध.........' इत्यादि। अर्थात् राजा का अपराध, झूठे दोषों का कथन और अपने चोरों को रख लेना ये जिसमें विभाव हों और बांधना, मारना, पीटना और धमकाना ये अनुभाव हों, उसे 'उग्रता' कहनी चाहिये, निर्दयता जिसका दूसरा रूप है।

उदाहरति—

यथा—

गाण्डीवनिन्दयोग्रतामापन्नोऽर्जुनो युधिष्ठिरं तर्जयति—

'अवाप्य भङ्गं खलु सङ्गराङ्गणे, नितान्तमङ्गाधिपतेरमङ्गलम्।
परप्रभावं मम गाण्डिवं धनु-र्विनिन्दतस्ते हृदयं न कम्पते॥'

हे युधिष्ठिर! सङ्गराङ्गणे युद्धस्थले, अङ्गाधिपतेरङ्गदेशस्वामिनः कर्णात्, नितान्तमत्यन्तम्, अमङ्गलं वीराणां कृतेऽशुभम्, भङ्गं (पराक्रमहीनत्वरूपस्वदोषात्) पराजयम्, अवाप्य लब्ध्वा, ममानिर्वचनीयविक्रमस्यार्जुनस्य, परप्रभावमुत्कृष्टानुभावं, गाण्डिवं तदाख्यं, धनुश्चापं विशेषेण निन्दतोऽधिक्षिपतः, ते तव, हृदयं न कम्पते? इत्यर्थः।

जैसे—समर-भूमि में अङ्गराज कर्ण से अत्यन्त अमङ्गल (वीरों के लिये अशोभन) पराजय को प्राप्त करके, आज तू मेरे परम प्रभावशाली गाण्डीव धनुष की निन्दा करता है! तेरा हृदय कम्पित नहीं होता!!

प्रकरणमाचष्टे—

एषा कर्णेन पराभूतं, गाण्डिवं निन्दन्तं, युधिष्ठिरं प्रति धनञ्जयस्योक्तिः।

विशेषणयुगं युधिष्ठिरस्य। गाण्डीवशब्दो ह्रस्वमध्योऽपि द्विरूपकोशेऽनुशिष्टः। धनञ्जयोऽर्जुनः।

यह कर्ण से पराजित और गाण्डीव की निन्दा करते हुये युधिष्ठिर के प्रति अर्जुन की उक्ति है।

विभावानुभावौ दर्शयति—

युधिष्ठिरकर्तृका गाण्डीवनिन्दाऽत्र विभावः, वधेच्छाऽनुभावः।

निर्दोषस्य गाण्डिवस्य निन्दा विभावः, युधिष्ठिरकर्मकवधेच्छा चानुभावोऽत्र बोध्यः।

यहां युधिष्ठिर के द्वारा की गई गाण्डीव की निन्दा विभाव है और मारने की इच्छा अनुभाव है।

अमर्षादुग्रताया अभेदमाशङ्क्य निरस्यति—

न चामर्षोग्रतयोर्नास्ति भेद इति वाच्यम्, प्रागुदाहृतेऽमर्षध्वनावुग्रताया अप्रतीतेः।

पूर्वोक्ते 'वक्षोजाग्रम्' इत्याद्यमर्षध्वन्युदाहरणे वधेच्छारूपानुभावप्रतीतेरभावादुग्रताया अप्रतीतिः, इह तु वधेच्छाप्रत्ययात्सत्प्रतीतिरपीति वधेच्छारूपानुभावभेद एवामर्षादुग्रताया भेदको ज्ञेय इति सारम्।

'अमर्ष और उग्रता में कुछ भेद नहीं है' ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, क्योंकि पूर्व में जो अमर्ष-ध्वनि का उदाहरण (वक्षोजाग्रम्...... इत्यादि पद्य) दिया गया है, उसमें उग्रता की प्रतीति नहीं होती और यहां होती है, इस बात का परिचय आपको दोनों उदाहरणों को मिलाकर देखने पर मिल सकता है। तात्पर्य यह कि अमर्ष निर्दयतारूप नहीं और उग्रता तद्रूप होती है।

तर्हि क्रोधोग्रतयोरैक्यमास्तामित्याशङ्कायामाह—

नाप्यसौ क्रोधः, तस्य स्थायित्वेन, अस्याः सञ्चारिणीत्वेन भेदात्।

क्रोधो हि गुरुबन्धुवधादुत्पन्न उत्कटावस्थो रौद्ररसस्य स्थायीभावः, असावुग्रता तु वाग-पराधजन्यत्वात् क्रोधापेक्षयाऽल्पमात्रव्यभिचारिभाव इत्युभयोर्विभानभेदाद् भेद इत्यभिसन्धिः।

उग्रता को क्रोधरूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि क्रोध स्थायीभाव है और उग्रता सञ्चारीभाव, अतः दोनों में भेद स्पष्ट है। स्पष्ट बात यह है कि एक ही चित्त-वृत्ति जब गुरु-बन्धु-वधादि महान् अपराधों से उत्पन्न होती है, तब क्रोध कहलाकर रौद्ररस का स्थायीभाव बनती है और जब निन्दा आदि साधारण वाचिक अपराधों से वही चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है, तब उग्रता नामक सञ्चारीभाव कहलाती है।

उन्मादं निरूपयति—

विप्रलम्भ-महापत्ति-परमानन्दादिजन्माऽन्यस्मिन्नन्यावभास उन्मादः।

विप्रलम्भात् प्रियजवियोगात्, महापत्तेर्महत्या विपत्तेः, परमानन्दादेरुत्कटाह्लादप्रभृतेश्च जन्मोत्पत्तिर्यस्य, सः, अन्यस्मिन् वस्तुनि, अन्यस्य वस्तुनोऽवभासस्तदभाववद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञानं भ्रमात्मकश्चित्तवृत्तिविशेष उन्मादो भाव इत्यर्थः।

अब 'उन्माद-भाव' का निरूपण करते हैं—'विप्रलम्भ' इत्यादि। प्रिय-वियोग गुरुतर-विपत्ति और परम आनन्द आदि कारणों से जो अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का भ्रम उत्पन्न होता है, उसी भ्रमात्मक चित्त-वृत्ति को 'उन्माद' कहते हैं।

उन्मादलक्षणस्य भ्रान्तिमात्रेऽतिव्याप्तिं वारयितुं विशेषणं जन्मान्तमुपात्तम् सर्वेषां भ्रमाणां साधारणधर्मवद्धर्मिज्ञानादिप्रतिनियतहेतुजन्यत्वेन विप्रलम्भाद्यजन्यत्वादित्याह—

शुक्तिरजतादिज्ञानव्यावृत्तये जन्मान्तम्।

विशेषणमुपात्तमिति शेषः।

शुक्तिधर्मिकरजतत्वप्रकारकभ्रमात्मकज्ञानस्य विप्रलम्भाद्यजन्यत्वेन नोन्मादत्वमित्याशयः।

सभी भ्रमों में उन्माद का लक्षण न चला जाय, इसलिये अवभास (भ्रम) में 'जन्मान्त' विशेषण लगाकर विप्रलम्भ आदि कारणों का निर्देश किया गया है, जिससे शुक्ति आदि में जो रजत आदि का भ्रम दूरत्व-चाकचिक्यादि दोषों से होता है, उसमें उन्माद लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वह भ्रम वियोग आदि कारणों से उत्पन्न नहीं होता।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विप्रयोगोन्मत्तावृत्तं दूती निवेदयति—

'अकरुणहृदय ! प्रियतम ! मुञ्चामि त्वामितः परं नाहम्।
इत्यालपति कराम्बुज-मादायालीजनस्य विकला सा ॥'

'हे अकरुणहृदय प्रियतम ! त्वामितः परं न मुञ्चामि' इति (वाक्यं) विकला विप्रलम्भेनोद्विग्नहृदया सा नायिका, आलीजनस्य सखीसमुदायस्य, कराम्बुजं हस्तकमलं प्रियतमभयाद् आदाय गृहीत्वा, आलपति व्याहरतीत्यर्थः।

उदाहरण देखिये। वह, सखी के कर-कमल को पकड़ कर 'हे दयाहीन हृदय वाले प्रियतम! मैं (जो छोड़ चुकी सो छोड़ चुकी) अब इसके बाद तुझे छोड़ती ही नहीं।' इस तरह विकल होकर बातें करती रहती है।

प्रकरण-विभावानुभावान् प्रतिपादयति—

एषा प्रवासगतं स्वनायिकावृत्तान्तं पृच्छन्तं [नायकं प्रति कस्याश्चित् सन्देशहारिण्या उक्तिः। प्रियविरहोऽत्र विभावः, असम्बद्धोक्तिरनुभावः।

सन्देशहारिण्या दूत्याः। प्रियभ्रमेण सखीं प्रत्युपादानादुक्तेरसम्बद्धता।

यह अपनी नायिका के समाचार पूछते हुये किसी प्रवासी के प्रति संदेश लेकर जाने वाली दूती की उक्ति है। प्रिय का विरह यहां विभाव और असम्बद्ध वार्तालाप अनुभाव है।

उन्मादस्य व्याध्यन्तर्भावेऽपि पृथगुपादानस्य प्रयोजनं प्रकाशयति—

उन्मादस्य व्याध्यन्तर्भावे सम्भवत्यपि, पृथगुपादानं व्याध्यन्तरापेक्षया वैचित्र्यविशेषस्फोरणाय।

स्फोरणं प्रकाशनम्।

उन्मादोऽपि व्याधिरेव, किन्त्वस्य व्याध्यन्तरापेक्षयाऽधिकं चमत्कारकत्वमिति सूचयितुं पृथक्कथनमित्याशयः।

यद्यपि व्याधि-भाव में ही उन्माद का भी अन्तर्भाव हो सकता था, तथापि अन्य व्याधियों की अपेक्षा इस उन्माद-व्याधि में कुछ विलक्षण विचित्रता है यह दिखलाने के लिये इसका पृथक् ग्रहण किया गया है।

मरणं निरूपयति—

रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम्।

आदिपदेन विप्रलम्भप्रभृतिपरामर्शः। मरणाज्जीवोद्गमनात् प्रागवस्था पूर्वकालिकस्थितिः।

तदुक्तं प्रदीपे—

'जीवस्योद्गमनारम्भो मरणं परिकीर्त्तितम्।

सम्मोहेन्द्रियसङ्ग्लानि-गात्रविक्षेपणादिकृत् ॥' इति।

इन्द्रियाणां सम्यग्ग्लानिर्विषयग्रहणाक्षमता।

अब 'मरण-भाव' का निरूपण करते हैं—'रोगादि' इत्यादि। रोग आदि से उत्पन्न होने वाली जो मरण के पहिले की मूर्च्छारूप अवस्था है, उसको मरण कहते हैं।

ननु प्राणनिष्क्रमणरूपं मरणं कुतो न गृह्यत इत्याशङ्कां निरस्यति—

न चात्र प्राणवियोगात्मकं मुख्यं मरणमुचितं ग्रहीतुम्, चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु तस्या प्रसक्तेः।

मुख्यमरणस्य शरीरप्राणसम्बन्धध्वंसरूपत्वाच्चित्तवृत्त्यनात्मकत्वाद्भावत्वाभावान्न ग्रहणम्।

'मरण-भाव' में प्राण-वियोगात्मक (प्राणों का छूट जाना रूप) मुख्य मरण का ग्रहण करना उचित नहीं, क्योंकि भावों को जब चित्तवृत्ति रूप मानते हैं, तब उन में मुख्य मरण का प्रसङ्ग नहीं आता, कारण यह है कि वह चित्त-वृत्ति रूप नहीं है।

मुख्यमरणे भावत्वाभावस्य हेतुमाह—

भावेषु च सर्वेषु कार्यसहवर्तितया शरीरप्राणसंयोगस्य हेतुत्वात्।

सर्वेषु हर्षादिभावेषु कार्यसहवर्तितया तत्तच्चित्तवृत्तिरूपव्यापारानुकूलत्वेन, यतः शरीर-प्राणसंयोगो हेतुः, अतो मुख्यं मरणं न भाव इत्यर्थः। प्राणवियोगोत्तरं चित्तवृत्त्यभावान्न तस्य तत्त्वमित्याशयः।

मुख्य मरण का भावों में ग्रहण नहीं करने का दूसरा कारण यह भी है कि हर्ष आदि सभी भावों के प्रति शरीर-प्राण-संयोग कारण है और कारण भी ऐसा नहीं कि कार्योत्पत्ति के पूर्व क्षण में ही रहे, अपितु ऐसा कि जो कार्य के साथ-साथ भी वर्तमान रहे। इस स्थिति में मुख्य मरण को भाव कैसे कहा जा सकता? क्योंकि उसके साथ शरीर-प्राण संयोग का रहना असम्भव है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मुमूर्षुनायिकावस्थां वर्णयति—

'दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती, शयने सम्प्रति या विलोकिताऽऽसीत् ।
अधुना खलु हन्त ! सा कृशाङ्गी, गिरमङ्गीकुरुते न भाषिताऽपि ॥'

या कृशाङ्गी वियोगव्यथादुर्बलावयवा सम्प्रति इतः किञ्चित्क्षणमेव पूर्वं, दयितस्य प्रियतमस्य, गुणान्, अनुस्मरन्ती ध्यायन्ती, शयने तल्पे, विलोकिता दृष्टाऽसीदभूत् । हन्त ! अधुनाऽस्मिन् क्षणे, सा, भाषिता सखीभिः किञ्चिदुक्ताऽपि, गिरं नाङ्गीकुरुते सञ्ज्ञाशून्यतया न प्रतिवक्तीत्यर्थः ।

अब 'मरण–भाव' का उदाहरण देखिये । एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—जिसको, अभी प्रियतम के गुणों का स्मरण करते हुये, शय्या पर देखा था, हाय ! वह कृशाङ्गी, इस समय, बुलाने पर भी नहीं बोलती, उसकी वाक्शक्ति नष्ट हो गई है ।

विभावानुभावावभिदधाति—

प्रियविरहोऽत्र विभावः, वचनविरामोऽनुभावः ।

वचनविरामो भाषणशक्तिनिवृत्तिः ।

प्रियतम का वियोग यहाँ विभाव और वाक्शक्ति का नष्ट हो जाना अनुभाव है ।

इह मरणध्वनेः पदप्रकाश्यतां दर्शयति—

हन्तपदस्यात्रात्यन्तमुपकारकत्वाद् वाक्यव्यङ्ग्योऽप्ययं भावः, पदव्यङ्ग्यतामावहति ।

अत्र पद्ये, यद्यपि सम्पूर्णेन वाक्येन मरणभावो व्यज्यते तथापि हन्तपदस्य दुःखातिरेकबोधकतया पदान्तरापेक्षयाऽत्यन्तं तत्रोपकारकत्वात् पदव्यङ्ग्य एवात्र स भाव उच्यते, प्राधान्येन व्यपदेशादित्यर्थः ।

इस पद्य में यद्यपि सम्पूर्ण वाक्य से मरण–भाव व्यक्त हुआ है, तथापि वह (मरण-भाव) पद–व्यङ्ग्य ही कहलाता है, क्योंकि 'हन्त' पद ही दुःखाधिक्य के बोधक होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति में अधिक उपकारक है ।

परकीयमतं निरस्यति—

एतेन भावस्य पदव्यङ्ग्यतायां नात्यन्तं वैचित्र्यमिति परास्तम् ।

एतेन पदव्यङ्ग्यस्यापि मरणभावस्यात्रातिचमत्कारकताया अनुभूयमानत्वेन ।

इससे (ऊपर के पद्य में मरण–भाव को हन्त–पद–व्यङ्ग्य सिद्ध कर देने से) 'भाव यदि पद से व्यङ्ग्य हो, तो उसमें अधिक विचित्रता नहीं रहती' यह कथन परास्त हो जाता है ।

विप्रलम्भध्वनेः करुणध्वनेर्वाऽत्र कुतो न व्यपदेश इत्याशङ्कां निवारयति—

'दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती'त्यनेन व्यज्यमान 'चरमावस्थायामपि तस्या दयितगुणविस्मरणं नाभू'दिति वस्तु, विप्रलम्भस्य शोकस्य वा चरममभिव्यक्तस्य पोषकम् ।

व्यज्यमानमिति वस्तुविशेषणम् । प्रकृते झटिति प्रत्युज्जीवनासम्भवाद् विप्रलम्भासम्भव इति करुणस्थायिशोकोपादानम् ।

इह व्यङ्ग्येन वस्तुना पोषितस्य विप्रलम्भस्य, वस्तुतः शोकस्थायिककरुणस्य पार्यन्ति-

कप्रतीतिविषयत्वेन न प्राधान्यम् , मरणभावस्य तु प्राथमिकचमत्कारिप्रतीतिविषयतया तत्त्वमिति तद्ध्वनिव्यपदेश एव, न तु रसध्वनेः, न वा वस्तुध्वनेर्व्यपदेश इत्याशयः ।

उक्त पद्य में 'दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती–अर्थात् प्रियतम के गुणों का स्मरण करती हुई' इस कथन से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि 'उस नायिका को अन्तिम अवस्था में भी प्रियतम के गुणों का विस्मरण नहीं हुआ' और इस व्यज्यमान वस्तु से उक्त पद्य के द्वारा सब से अन्त में अभिव्यक्त होने वाले विप्रलम्भ–श्रृङ्गार अथवा करुण–रस की पुष्टि होती है। तात्पर्य यह है कि वैसे तो प्रायः भाव–ध्वनि–स्थल में सर्वत्र अन्त में किसी न किसी रस की भी ध्वनि होती ही है, परन्तु खासकर मरण–भाव–ध्वनि–स्थल में विप्रलम्भ–श्रृङ्गार अथवा करुण–रस की ध्वनि अन्त में नियमतः होती है, अतः यहाँ भी अन्त में उक्त दोनों रसों में से किसी एक की अभिव्यक्ति होगी और साथ–साथ यहाँ उक्त वस्तु भी ध्वनित हुई है, फिर भी व्यवहार यहां भाव–ध्वनि का ही होगा, क्योंकि पहले उसी का चमत्कार सहृदयों को आकृष्ट करता है।

मरणभावस्य विप्रलम्भ–करुणयोरपि पोषकत्वं विषयभेदेन दर्शयति—

अयं च भावः स्वव्यञ्जकवाक्योत्तरवर्तिना वाक्यान्तरेण सन्दर्भघटकेन नायिकादेः प्रत्युज्जीवनवर्णने विप्रलम्भस्य, अन्यथा तु करुणस्य पोषक इति विवेकः ।

अयं मरणरूपो भावः । चस्त्वर्थे । स्वं मरणम् । सन्दर्भः प्रबन्धो महावाक्यमिति यावत् । प्रत्युज्जीवनं पुनर्ज्जीवनम् । अन्यथा प्रत्युज्जीवनाभावे ।

अयं मरणभाव एकस्मिन् प्रबन्धे स्वव्यञ्जकं यद्वाक्यं, तदुत्तरवर्तिना वाक्यशेषरूपेण यदि केनापि वाक्यान्तरेण नायिकाद्यालम्बनस्य पुनरुज्जीवनं प्रतिपादितं भवति, तदा रत्यविच्छेदाद् विप्रलम्भश्रृङ्गारस्य पोषको भवति, पुनरुज्जीवनस्य वर्णनाभावे तु रतिविच्छेदात् करुणस्य पोषक इति विषयभेदादस्य तदुभयपोषकत्वमिति सारम् ।

ऊपर जो यह कहा गया है कि मरण–भाव–ध्वनि–स्थल में श्रृङ्गार अथवा करुण अन्त में अवश्य ध्वनित होता है, उससे क्या यह समझा जाय कि दोनों रस ध्वनित होते हैं ? या एक ? इसका उत्तर यद्यपि यह अनायास दिया जा सकता है कि–'एक', क्योंकि दोनों का एक जगह ध्वनित होना असम्भव है, परन्तु 'एक' के निर्णय हो जाने पर भी यह सन्देह बना ही रहता कि वह एक कौन ? श्रृङ्गार अथवा करुण ? यदि परिस्थितिभेद से दोनों ही उस 'एक' में आ सकते हैं, यह ग्रन्थ का तात्पर्य समझा जाय, तब यह जिज्ञासा स्वभावतः उत्पन्न होती है कि 'वह परिस्थिति–भेद' क्या है ? अर्थात् किस परिस्थिति में विप्रलम्भ ध्वनित होगा और किस परिस्थिति में करुण ? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये यह विवेक करना चाहिये कि—मरण–भाव, सन्दर्भ में, इस वाक्य (मरण–भाव–व्यञ्जक वाक्य) के अनन्तर आने वाले दूसरे वाक्य से यदि नायिका आदि के पुनर्जीवन का वर्णन किया गया हो, तब विप्रलम्भ का अन्यथा करुण का पोषक होता है—अर्थात् मरण–भाव–व्यञ्जक वाक्य की अपेक्षा सन्दर्भगत अग्रिम वाक्य से नायिका आदि के पुनर्जीवन के वर्णन होने पर विप्रलम्भ–श्रृङ्गार अन्त में ध्वनित होता है और यदि अग्रिम वाक्य से नायिका आदि के पुनर्जीवन का वर्णन न हो, तब करुण–रस ध्वनित होता है।

मुख्यमरणानुदाहरणकारणं भणति—

कवयः पुनरमुं प्राधान्येन न वर्णयन्ति, अमङ्गलप्रायत्वात् ।

पुनरशब्दस्त्वर्थकः । न वर्णयन्ति श्रृङ्गार इति शेषः । तदुक्तम्—'रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते ।' इति । करुणे तु तद्वर्णनमपीष्टमेव, यथा–रघुवंशेऽष्टमसर्गे ।

कवि लोग इस मरण–भाव का प्रधानतया वर्णन नहीं करते, क्योंकि यह भाव एक

तरह से अमङ्गल सा है। यह निषेध श्रृङ्गार रस के विषय में ही समझना चाहिये, करुण में नहीं अत एव 'रघुवंश' के अष्टम सर्ग में कालिदास ने करुण की पुष्टि के लिये इस भाव का वर्णन किया है, श्रृङ्गार में ही यह निषेध समुचित भी जान पड़ता है, क्योंकि 'रस-विच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते—अर्थात् रस-विच्छेद का हेतु हो जाने के कारण मरण का वर्णन नहीं किया जाता है' के द्वारा जो मरण-वर्णन-निषेध का बीज (रस-विच्छेद) दिखलाया गया है, वह श्रृङ्गार में ही सङ्गटित होता है करुण में नहीं—अर्थात् मरण-वर्णन से श्रृङ्गार रस का ही विच्छेद सम्भव है, करुण का नहीं।

वितर्कं निरूपयति—

सन्देहाद्यनन्तरं जायमान ऊहो वितर्कः।

सन्देहात् संशयात्, आदिपदेन विपर्ययाच्चानन्तरं जायमान ऊहोऽध्याहारश्चित्तवृत्ति-विशेषो वितर्क इत्यर्थः। तदुक्तम्—'तर्को विचारः सन्देहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः।' इति।

अब 'वितर्कभाव' का लक्षण करते हैं—'सन्देहा' इत्यादि। सन्देह आदि के अनन्तर उत्पन्न होने वाला जो ऊह (एक प्रकार का विचार) है, उसे 'वितर्क' कहते हैं।

चिन्तादिव्यावृत्तये वदति—

स च निश्चयानुकूलः।

प्राक् सन्देहो विपर्ययो वा, मध्ये सम्भावनारूपो वितर्कः, अन्ते च निश्चय इति क्रमे वितर्कस्यैव निश्चयजनकत्वं, न तु चिन्तादेरिति स्फुटम्।

वितर्क निश्चय का जनक होता है—अर्थात् वितर्क के बाद निश्चयात्मकज्ञान उत्पन्न होता है।

उदाहरति—

'यदि सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी, नितरामेव न विद्यते भुवि।
अथ मे कथमस्ति जीवितं, न विनाऽऽलम्बनमाश्रितस्थितिः॥'

सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी जानकी, यदि नितरामेव भुवि न विद्यते सर्वथा परलोकमेवागात्, अथ तदा, मम रामस्य, जीवितं जीवनं, कथं केन प्रकारेणास्ति, यतः—आलम्बनमाधारं विना, आश्रितस्याधेयस्य, स्थितिः क्वापि न भवतीत्यर्थः।

जानकीजीवनं विना मज्जीवनासम्भवान्मज्जीवनेनैव जानकीजीवनं सम्भावनीयमिति सारम्।

अब इस 'वितर्क-भाव' का उदाहरण लीजिये। यदि जनकनन्दिनी (सीता) पृथिवी पर सर्वथा है ही नहीं—अर्थात् परलोक चली गई, तब फिर मेरा जीवन किस तरह वर्तमान है, क्योंकि आधार के बिना आधेय (आधार में रहने वाला पदार्थ) की स्थिति कहीं नहीं रहती। अभिप्राय यह कि जानकी ही मेरे जीवन का आधार है, उसके नहीं रहने पर मेरे जीवन का नहीं रहना भी निश्चित है। एतावता यह सिद्ध हो गया कि जब मेरा जीवन है, तो जानकी भी कहीं अवश्य जीवित है।

प्रसङ्ग-विभावानुभावानाह—

स्वात्मनि भगवतो रामस्यैषोक्तिः। भुवि सीताऽस्ति न वेति सन्देहोऽत्र विभावः। भ्रूक्षेप-शिरोऽङ्गुलिनर्तनमाक्षिप्तमनुभावः।

स्वात्मनि स्वगतं वितर्कणम्। शिरोनर्तनमङ्गुलिनर्तनं वितर्काज्जायते। आक्षिप्तत्वं शब्दानुक्तत्वात्।

यह भगवान् रामचन्द्र की अपने मन में उक्ति है। यहां 'सीता पृथ्वीपर है अथवा नहीं' यह सन्देह विभाव है और पद्य में वर्णित न होने पर भी आक्षेप के द्वारा ज्ञात होने वाले भ्रू-चालन और मस्तक तथा अङ्गुलियों का नर्तन अनुभाव है।

चिन्तैव कुतो न वितर्क इत्याशङ्कां निरस्यति—

न चासौ चिन्तेति शक्यं वदितुम्, चिन्ताया नियमेन निश्चयं प्रत्यप्रयोजकत्वात्।

यतश्चिन्तायां कदाचिदेव निश्चयो जायते, वितर्के तु सर्वदा नियमेन निश्चयो भवतीति चिन्ताया नियतपूर्ववर्तित्वविरहान्निश्चयाजनकत्वाद्वितर्काद् भेदो बोध्य इत्यभिप्रायः।

'उक्त पद्य में चिन्ता-भाव ही ध्वनित होता है' यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चिन्ता नियमतः निश्चय का जनक नहीं होती-अर्थात् चिन्ता से कदाचित् कहीं निश्चयात्मक ज्ञान की उत्पत्ति भले ही हो जाय, परन्तु यह नियम नहीं है कि चिन्ता से सदा सर्वत्र निश्चयात्मक ज्ञान का उदय होगा ही और वितर्क से नियमतः निश्चय की उत्पत्ति होती ही है, यही चिन्ता तथा वितर्क में भेद है, अतः प्रकृत पद्य में वितर्क ही ध्वनित होता है, इस बात को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

वितर्कलक्षणे नियमेनेत्यस्यानुल्लेखात्तदनिवेशे प्रसक्तं पुनस्तयोरैक्यं निवारयति—

'किं भविष्यति' 'कथं भविष्यति' इत्याद्याकारायाश्चिन्तायाः 'इदमित्थं भवितुमर्हति प्रायशः' इत्याकारस्य वितर्कस्य विषयवैलक्षण्याच्च।

किं भविष्यतीत्याद्याकारकध्यानरूपचिन्ताया अनिर्धारितो विषयः इदमित्थं भविष्यति प्रायश इत्याकारकस्योत्कटैककोटिकशङ्कात्मकसम्भावनारूपस्य वितर्कस्य तु किञ्चिन्निर्धारितो विषय इत्युभयोर्विषयभेदाद् भेद इत्यभिसन्धिः।

यदि आप कहें कि उक्त वितर्क-लक्षण में 'नियमतः' पद का निवेश तो नहीं किया गया, फिर जो भेद उन दोनों में ऊपर दिखलाया गया है, वह कैसे सिद्ध होगा? इसका उत्तर यह है कि जाने दीजिये, यदि उस प्रकार भेद सिद्ध नहीं हो सकता, तो न हो, उन दोनों में विषय के भेद से भेद सिद्ध है। विषय-भेद इस प्रकार है कि चिन्ता का आकार होता है 'किं भविष्यति' 'कथं भविष्यति'—अर्थात् 'क्या होगा' 'कैसे होगा' इत्यादि, अतः चिन्ता का विषय अनिर्णीत रहता है और वितर्क का आकार होता है 'इदमित्थं भवितुमर्हति प्रायशः'-अर्थात् 'प्रायः यह ऐसा हो सकता है' यह सम्भावनात्मक, अतः वितर्क का विषय कुछ निर्णीत सा रहता है।

नन्वत्र चरमचरणेऽर्थान्तरन्यासालङ्कारप्रतीतौ कथं भावध्वनित्वमित्यत आह—

'न विने'त्यादिनोक्तोऽर्थान्तरन्यासोऽप्यस्मिन्नेवानुकूलः।

सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारोऽपि प्रतीयमानोऽस्मिन् वितर्कभाव एवोपकारकत्वादनुकूलो न तु चिन्तायां, तेन नालङ्कारस्य न वा चिन्तायाः प्राधान्यं सम्भवतीत्याशयः।

उक्त पद्य में 'न विनालम्बनमाश्रित-स्थितिः'—अर्थात् 'विना आधार के आधेय की स्थिति नहीं रहती' इस कथन के द्वारा जो अर्थान्तरन्यास अलङ्कार वाच्य होता है, वह भी वितर्क में ही अनुकूल पड़ता है, चिन्ता में नहीं। तात्पर्य यह है कि सामान्य (आधार के विना आधेय की स्थिति का असम्भव-कथन) से विशेष (जानकी के जीवन के बिना राम के जीवन का असम्भव-वर्णन) का समर्थन करना ही तो यहां अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, जिससे प्रतिपाद्य वस्तुका निर्णय होता है, तो वितर्क का विषय है, चिन्ता का विषय तो अनिर्णीत ही रहता है, फिर उसके समर्थन की आवश्यता ही नहीं होती।

विषादं निरूपयति—

इष्टासिद्धि-राजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुतापो विषादः।

महता प्रयासेनाप्यभीष्टस्य सिद्धे राज्ञो गुरूणामन्येषां महीयसामपराधाच्चोत्पन्नः किमिदं कृतमिति पश्चात्तापरूपश्चित्तवृत्तिविशेषो भाव इत्यर्थः। तदुक्तम्—

'उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्त्वसङ्क्षयः ।

निश्वासोच्छ्वासहृत्ताप–सहायान्वेषणादिकृत् ॥' इति ।

अब 'विषाद–भाव' का निरूपण करते हैं—'इष्टा-सिद्धि' इत्यादि। बहुत प्रयास करने पर भी अभीष्ट अर्थ के सिद्ध न होने से तथा राजा और गुरु आदि पूज्य जनों के अपराध आदि के करने से उत्पन्न होने वाली 'यह क्या हुआ' अथवा 'मैंने यह क्या किया' इत्याकारक पश्चात्तापस्वरूप चित्त–वृत्ति को 'विषाद' कहते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

कर्णे मृते युद्धविजयान्निराशो दुर्योधनः स्वजीवितं व्याहरति—

'भास्करसूनावस्तं, याते जाते च पाण्डवोत्कर्षे ।

दुर्योधनस्य जीवित ! कथमिव नाद्यापि निर्यासि ? ॥'

हे दुर्योधनस्य कर्णैकप्राणस्य दशाधिकाक्षौहिणीपतिवन्दितस्य प्रबलप्रतापपराभूतपाण्डवस्य वा मम जीवित ! भास्करसूनौ सूर्यसुते कर्णे, अस्तं यातेऽन्तं प्राप्ते सति, पाण्डवानां युद्ध उत्कर्ष आधिक्ये च जाते सति, अद्यापीदानीमपि, कथमिव कुतो हेतोः, न निर्यासि त्वं नैव निर्गच्छसीत्यर्थः ।

इह भास्करसूनुत्वेनास्तङ्गतमनौचित्यं सूच्यते। स्वोच्चारितस्य दुर्योधनपदस्य कर्णैकप्राणत्वादिलक्ष्यतावच्छेदकविशिष्टे स्ववाच्ये लक्षणया दुःखातिशयव्यञ्जकत्वादर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिः। इवशब्दः खल्वादिवद् वाक्यालङ्कारे ज्ञेयः ।

उदाहरण देखिये। कर्ण के मर जाने के बाद विजय से निराश बने हुये दुर्योधन का अपने जीवन के प्रति यह कथन है कि—सूर्य–पुत्र कर्ण के अस्त हो जाने पर (यहां सूर्य-पुत्र पद से कर्ण का बोध कराने से उसके अस्तगमन का औचित्य सूचित होता है) और पाण्डवों के उत्कर्ष (विजय) की भी सिद्धि हो जाने पर, हे कर्ण को ही अपना प्राण समझने वाले, अथवा ग्यारह अक्षौहिणियों के नायकों से वन्दित होने वाले, किं वा अपने प्रबल–पराक्रमों से अनेक बार पाण्डवों के छक्के छुडानेवाले दुर्योधन के जीवन ! आज भी तू क्यों नहीं निकल रहा है ? क्या अब भी कोई दुःख देखना शेष है ?

विभावानुभावौ प्रतिपादयति—

अत्र स्वापकर्ष-परोत्कर्षयोर्दर्शनं विभावः, जीवितनिर्याणाशंसा, तदाक्षिप्तं वदननमनादि चानुभावः ।

आशंसा कामना । तयाऽऽक्षिप्तं सहचरत्वेनागूरितम् । आदिना निष्प्रभत्वादि ।

यहां अपने अपकर्ष और शत्रुओं के उत्कर्ष का देखना विभाव है और प्राण के निकलने की कामना करना तथा उसके द्वारा आक्षिप्त होने वाला मुख का नम्र होना आदि अनुभाव है।

विषादध्वनिं प्रकृते द्रढयितुमर्थान्तरध्वनेरङ्गत्वमाचष्टे—

अस्मिन्नेव च विषादध्वनौ दुर्योधनस्येत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिरनुग्राहकः ।

च हेतौ । अनुग्राहको दुःखातिशयावगमकत्वादुपस्कारको न तु प्रधानम् ।

इस पद्य में यद्यपि 'दुर्योधनस्य' इस लाक्षणिक पद से (लक्ष्यार्थ का स्वरूप ऊपर में श्लोकार्थ लिखते समय लिखा जा चुका है) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' नामकी दुःखातिशय–ध्वनि भी होती है, तथापि वह प्रधान नहीं है, अपि तु उक्त विषाद—ध्वनि का पोषक मात्र है।

त्रासध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र त्रासभावध्वनित्वं शङ्क्यम्, परवीरस्य दुर्योधनस्य त्रासलेशस्याप्ययोगात् ।

परवीरस्योत्कृष्टवीरस्य ।

इस पद्य में त्रास-भाव की ध्वनि है, यह शङ्का तो किसी भी तरह नहीं की जा सकती, क्योंकि उत्कृष्ट वीर नायक दुर्योधन में लेशतोऽपि त्रास का होना असम्भव है ।

चिन्ताध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

नापि चिन्ताध्वनित्वम्, युद्ध्वा मरिष्यामीति तस्य व्यवसायात् ।

युद्ध्वा न त्वन्नादि त्यक्त्वा । व्यवसायान्निर्धारणात् । चिन्तायां न निश्चयः ।

चिन्ता-भाव की ध्वनि भी यहाँ नहीं कही जा सकती, क्योंकि दुर्योधन का यह दृढ़ निश्चय है कि 'युद्ध करके ही मरूँगा, अन्न-त्याग करके नहीं ।' तात्पर्य है कि यदि यहाँ चिन्ता होती, तो उक्त निश्चय नहीं हो सकता, कारण यह कि चिन्ता से किसी प्रकार का निश्चय नहीं होता यह बात पहले भी प्रसङ्गवश लिखी जा चुकी है ।

दैन्यध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

नापि दैन्यध्वनित्वम्, सकलसैन्यक्षयेऽपि विपदस्तेनागणनात् ।

यतो दुर्योधनेन विपदो न गणितास्तस्माद्दुःखादिदैन्यविभावाभावान्न दैन्यध्वनिरपीति भावः ।

दैन्य-भाव की ध्वनि मानना भी यहाँ ठीक नहीं, क्योंकि दुर्योधन उस कोटि का मनुष्य ही नहीं था, कि कभी दैन्य का अनुभव करे, जब उसके समग्र सैनिकों का विनाश हो चुका, तब भी उसने विपत्ति को नहीं गिना ।

वीररसध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

न वा वीररसध्वनित्वम्, मरणस्य शरणीकरणे परापकर्षजीवितस्योत्साहस्याभावात् ।

परस्य परिपन्थिनोऽपकर्षो जीवितं प्रधानं यस्य, तादृशोत्साहस्य सर्वथा स्वापकर्षनिर्णये मरणमेव शरणमिदानीमिति निर्धारणदशायामसम्भवान्नात्र वीररसध्वनिरिति सारम् ।

वीर-रस की ध्वनि भी यहाँ मानने योग्य नहीं, क्योंकि वीर-रस का स्थायीभाव जो उत्साह है, उसका प्राण है, शत्रुओं का अपकर्ष—अर्थात् जब तक शत्रुओं में अपने से अपकृष्टता का ज्ञान रहता है, तभी तक उत्साह भी रहता है और यहाँ तो दुर्योधन ने मृत्यु की शरण ले ली है, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि उसने अब शत्रुओं को अपने से उत्कृष्ट समझ लिया है, फिर उसमें उत्साह का रहना असम्भव है और उत्साह (स्थायीभाव) के अभाव में वीर-रस-ध्वनि सर्वथा असम्भव है ।

दार्ढ्याय प्रत्युदाहरति—

इदं पुनरत्र नोदाहार्यम्—

त्रस्त उत्तरः सारथिमर्जुनं कथयति—

'अयि पवनरयाणां निर्दयानां हयानां,
श्लथय गतिमहं नो सङ्गरं द्रष्टुमीहे ।
श्रुतिविवरममी मे दारयन्ति प्रकुप्यद्-
भुजगनिभभुजानां बाहुजानां निनादाः ॥'

अयि सारथे ! पवनरयाणां वायुतुल्यवेगानां निर्दयानां क्रूराणां हयानामश्वानां गतिं श्लथय मन्दीकुरु, अहं सङ्गरं युद्धं द्रष्टुं नेहे नेच्छामि, यतः प्रकुप्यन्तोऽतिक्रुध्यन्तो ये

भुजगाः सर्पास्तन्निभास्तत्सदृशा भुजा बाहवो येषां तथाभूतानां बाहुजानां क्षत्रियाणाम्, अमी श्रूयमाणा निनादा वीरगर्जितशब्दाः, मे मम श्रुतिविवरं कर्णविलं दारयन्ति पाटयन्तीत्यर्थः। अत्र 'ममी मे' इति स्वासकृदावृत्तिर्न शोभते।

'अयि पवनरयाणाम्''''''' इत्यादि पद्य को विषाद-ध्वनि के उदाहरण में नहीं रखना चाहिये, जिसका अर्थ यों है—अयि सारथे! तू पवन के समान वेगवाले इन अश्वों की गति को मन्द कर दे, मैं युद्ध देखना नहीं चाहता। क्रुद्ध सर्पों के समान बाहु वाले इन क्षत्रियों के नाद मेरे कानों के छिद्रों को विदीर्ण कर रहे हैं—उन्हें सुन-सुन कर मेरे कानों के परदे फटे जा रहे हैं। यह कायर विराट-पुत्र 'उत्तर' की अपने सारथि बृहन्नला-वेषधारी अर्जुन के प्रति उक्ति है।

उपपादयति—

अत्र त्रासस्यैव प्रतीयमानत्वेन विषादस्याप्रतीतेः।

उत्तरस्य भीरुत्वप्रकाशेन त्रास एवात्र प्राधान्येन प्रतीयते, न तु विषाद इति न विषादध्वनिरियम्।

यहाँ त्रास-भाव ही प्रधानतया प्रतीत हो रहा है, अतः विषाद-भाव की प्रतीति नहीं हो सकती।

ननूत्तरीययुद्धोद्यमापराधजानुतापरूपस्य विषादस्यापि प्रतीतिरत्र दुरपलपेत्याशङ्कायामाह—

लेशतया प्रतीतौ वा त्रास एवानुगुण्यौचित्येन ध्वनिव्यपदेशायोग्यत्वात्।

सूक्ष्मतया प्रतीयमानस्याप्यत्र विषादस्य प्रधानव्यङ्ग्यत्रासोपस्कारकत्वमेव, न तु ध्वनिव्यवहारस्य योग्यता।

यदि कहें कि उत्तर ने जो युद्धोद्योगरूप अपराध किया, तज्जन्य अनुताप (विषाद) का उसमें उदय होना स्वाभाविक है, अतः विषाद की प्रतीति यहां अवश्य होती है, तो मैं कहूँगा कि—हाँ! लघुमात्रा में विषाद की प्रतीति यहाँ होती है, यह बात ठीक है, परन्तु प्रधानतया अभिव्यक्त होने वाले त्रास का पोषक होना ही उसके लिये उचित है, अतः वह (विषाद) इस योग्य नहीं है कि उसको लेकर इस पद्य में ध्वनि का व्यवहार किया जा सके।

औत्सुक्यं निरूपयति—

अधुनैवास्य लाभो ममास्त्वितीच्छा, औत्सुक्यम्।

'अधुनैव न तु विलम्बेन, अस्य वस्तुनो लाभो ममास्तु' इत्याकारिकोत्कटेच्छैव, औत्सुक्यमित्यर्थः। तदुक्तम्—

'इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता।
चित्ततापत्वरास्वेद-दीर्घनिश्वसितादिकृत्॥' इति।

अब 'औत्सुक्य-भाव' का निरूपण करते हैं—'अधुना' इत्यादि। किसी वस्तु के विषय में जो इस तरह की इच्छा होती है कि 'अमुक वस्तु मुझे अभी प्राप्त हो जाय' उस (इच्छा) को 'औत्सुक्य' कहते हैं।

विभावमनुभावांश्चाह—

इष्टविरहादिरत्र विभावः, त्वराचिन्तादयोऽनुभावाः।

अभीष्ट वस्तु का अभाव आदि यहाँ विभाव और शीघ्रता एवम् चिन्ता आदि अनुभाव होते हैं।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'सञ्जातमिष्टविरहादुद्दीप्तं प्रियसंस्मृतेः ।
निद्रया तन्द्रया गात्रगौरवेण च चिन्तया ॥
अनुभावितमाख्यातमौत्सुक्यं भावकोविदैः ।' इति ।

प्रियसंस्मरणरूपोद्दीपनविभावदर्शनमिह नवीनम् । अनुभावितमनुभावनव्यापारकर्मीकृतम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'सञ्जात' इत्यादि–अर्थात्—अभीष्ट वस्तु के अभाव से उत्पन्न, प्रिय के स्मरण से उद्दीप्त और निद्रा, तन्द्रा, अङ्गों का भारीपन, एवम् चिन्ता से अनुभावित भाव को भाव-विशेषज्ञों ने 'औत्सुक्य' कहा है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

प्रवासान्निवर्तमानो नायकः कामयते—

'निपतद्बाष्पसंरोध-मुक्तचाञ्चल्यतारकम् ।
कदा नयननीलाब्जमालोकेय मृगीदृशः ॥'

निपततो निर्गलतो बाष्पस्याश्रुणः संरोधेन संस्तम्भेन मुक्तं त्यक्तं चाञ्चल्यं याभ्यां तादृश्यौ तारके कनीनिके यस्य तथाभूतम्, मृगीदृशो नयननीलाब्जं नेत्रेन्दीवरम्, कदा कस्मिन् क्षणे, आलोकेय पश्येयमित्यर्थः ।

अत्र प्रियानयनदर्शनोत्कटेच्छारूपौत्सुक्यस्य प्राधान्येन प्रतीयमानतया ध्वनिव्यपदेश-हेतुत्वम् ।

उदाहरण देखिये। प्रवास से लौटनेवाला नायक अपने मन में कामना करता है कि—(प्रवास के लिये मेरी यात्रा के समय अपशकुन के भय से) जिसकी पुतली ने गिरते हुए आँसुओं के रोकने से चञ्चलता छोड़ दी थी—स्थिर हो रही थी, क्योंकि यदि वह थोड़ी भी हिलती तो सम्भव था कि आँसू गिर पड़ते, मृगाक्षी के उस नयनरूप नीलकमल को कब देखूँगा।

आवेगं निरूपयति—

अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य सम्भ्रमाख्या वृत्तिरावेगः ।

अतर्कितात्यनिष्टघटनात्मकेनानर्थातिशयेनोत्पादिता सम्भ्रमाख्या त्वरणरूपा चित्तवृत्ति-रुद्वेगापरपर्याय आवेग इत्यर्थः । दर्पणे तु हर्षजोऽप्यावेग उक्तस्तथाहि—'आवेगः सम्भ्रम-स्तत्र हर्षजे पिण्डिताङ्गता । उत्पातजे स्रस्तताऽङ्गे, धूमाद्याकुलताऽग्निजे । राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् । गजादेः स्तम्भकम्पादि, पांस्वाद्याकुलताऽनिलात् ॥' इति ।

अब 'आवेग' का निरूपण करते हैं—'अनर्था' इत्यादि । अत्यधिक अनर्थों के कारण उत्पन्न होने वाली चित्त की संभ्रम नामक वृत्ति को 'आवेग' कहते हैं, जिसका उद्वेग भी अपर पर्याय है। दर्पणकार ने तो आवेग को हर्ष-जन्य भी माना है, जैसे—उन्होंने कहा है—'आवेगः सम्भ्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डिताङ्गता । उत्पातजे स्रस्तताङ्गे......' इत्यादि—अर्थात् आवेग सम्भ्रम को कहते हैं, वह दो प्रकार का होता है, एक हर्षज, दूसरा उत्पातज। हर्षज आवेग में अङ्गों की सिकुड़न होती है और उत्पातज में अङ्गों की शिथिलता।'''इत्यादि।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

रामे युद्धार्थमागते रावणभार्योद्विग्ना स्वगतं वक्ति—

'लीलया विहितसिन्धुबन्धनः, सोऽयमेति रघुवंशनन्दनः।
दर्पदुर्विलसितो दशाननः, कुत्र यामि ? निकटे कुलक्षयः॥'

लीलया न त्वायासेन विहितं सिन्धोर्बन्धनं येन, तादृशः, स बालिवधादिपराक्रमप्रसिद्धः, अयं पुरो लक्ष्यमाणः, रघुवंशनन्दनः श्रीराघवः, एत्यागच्छति, न त्वागमिष्यति, दशाननो रावणो मत्पतिश्च दर्पदुर्विलसितः स्ववीर्यगर्वाचरितदुर्व्यवहार उत्कटाभिमानो वाऽस्तीति कुत्र यामि विपत्प्रतीकारार्थं क्व गच्छामि ? कुलस्य वंशस्य न त्वेकस्य क्षयो नाशो निकटे सन्निधावस्तीत्यर्थः।

उदाहरण देखिये—लीला से समुद्र में सेतु तैयार कर देने वाले वे-वालि आदि का वध करने से प्रसिद्ध—रघुकुलभूषण रामचन्द्र जी आ रहे हैं, न कि आवेंगे और रावण-मेरा पति-है, दर्पान्ध-कर्तव्याकर्तव्य का विचार नहीं करने वाला-किसी भी परिस्थिति में नम्र नहीं पड़ने वाला-अब मैं कहाँ जाऊँ, कुल का विनाश निकट आ गया-रक्षा का कोई भी उपाय दिखाई नहीं पड़ता ?

प्रकरणविभावानुभावानाह—

एषा स्वात्मनि मन्दोदर्या उक्तिः, रघुनन्दनागमनमत्र विभावः, कुत्र यामीत्ये-तद्व्यङ्ग्यः स्थैर्याभावोऽनुभावः।

स्थैर्याभावश्चाञ्चल्यम्।

यह मन्दोदरी की आत्मगत उक्ति है। रामचन्द्र का आगमन यहाँ विभाव है और 'कुत्र यामि—अर्थात् कहाँ जाऊँ' इस उक्ति से व्यक्त होने वाला स्थिरता का अभाव (चञ्चलता) अनुभाव है।

चिन्ताध्वनित्वमत्राशङ्क्य निराकरोति—

न चात्र चिन्ता प्राधान्येन व्यज्यत इति शक्यते वक्तुम्, कुत्र यामीति स्फुटं प्रतीतेन स्थैर्याभावेनोद्वेगस्यैव चिन्ताया अप्रत्यायनात्। परन्त्वावेगचर्व-णायां तत्परिपोषकतया गुणत्वेन चिन्ताऽपि विषयीभवति।

गुणत्वेनाङ्गत्वेन। विषयीभवति प्रतीतिगोचरीभवति। यतोऽत्र कुत्र यामीत्युक्त्या स्पष्टं बोध्यमानश्चाञ्चल्यरूपोऽनुभाव आवेगस्यैव न तु चिन्तायाः प्राधान्येन व्यञ्जकः, तस्माच्च चिन्ताध्वनिः, किन्तु प्रधानीभूता वेगप्रत्ययोपकारकत्वाच्चिन्ताऽपि तत्रैव भासत इति सारम्।

'लीलया'...... इत्यादि पद्य में चिन्ता ही प्रधान व्यङ्ग्य है यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'कुत्र यामि-कहाँ जाऊँ' इस कथन के द्वारा प्रतीत होने वाली चञ्चलता से जिस तरह उद्वेग झलकता है, उस तरह चिन्ता नहीं। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि 'आवेग-भाव' के आस्वाद में उसके पोषक होने के नाते गौणरूप से चिन्ता भी विषय होती है।

जडतां निरूपयति—

चिन्तो-त्कण्ठा-भय-विरहे-ष्टानिष्टदर्शनश्रवणादिजन्यावश्यकर्तव्या-र्थप्रतिसन्धान-विकला चित्तवृत्तिर्जडता।

'चिन्तोत्कर्ष-' इति पाठान्तरम्। इष्टानिष्टयोः प्रियाप्रिययोर्दर्शनं श्रवणं च। प्रति-सन्धानमनुस्मृतिर्निर्धारणं वा। चिन्तादिजन्याऽवश्यकर्तव्यार्थानुसन्धानशून्या चित्तवृत्तिर्ज-डतेत्यर्थः।

अब 'जड़ता' का निरूपण करते हैं—'चिन्ता' इत्यादि। उस चित्त-वृत्ति को 'जड़ता' कहते हैं, जिसका जन्म चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह और प्रिय-जन के अनिष्ट देखने-सुनने आदि से हुआ हो, एवम् जिस (चित्तवृत्ति) में अवश्य करने योग्य कार्यों का स्मरण अथवा निर्णय न होने पावे।

जडताया मोहात् प्राक् पश्चाच्चोत्पत्तिमाह—

इयं च मोहात् पूर्वतः परतश्च जायते।

इयं जडता मोहात् पूर्वा परा च चित्तस्य वृत्तिरित्यर्थः।

यह जड़ता मोह से पहले तथा पीछे भी हुआ करती है।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'कार्याविवेको जडता पश्यतः शृण्वतोऽपि वा।
तद्विभावाः प्रियानिष्टदर्शनश्रवणे रुजा॥
अनुभावास्त्वमी तूष्णीम्भाव-विस्मरणादयः।
सा पूर्वं परतो वा स्यान्मोहादिति विदां मतम्॥'

वाः शब्दः समुच्चयार्थकः। विदां रसास्वादकुशलानाम्।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है 'कार्याविवेको……' इत्यादि-अर्थात् देखते तथा सुनते हुये भी कर्तव्य का विवेक न होना जड़ता कहलाती है। प्रिय अथवा प्रिया के अनिष्टों का देखना-सुनना, तथा किसी प्रकार की दुस्सह पीड़ा ये उसके विभाव हैं, और चुप हो जाना भूल जाना आदि अनुभाव हैं। वह मोह से पहले पीछे भी उत्पन्न हुआ करती है। यह विज्ञों का मत है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विरहिणी सहचरीं व्याहरति—

'यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां, सहचरि! दैववशेन दूरतोऽभूत्।
तदवधि शिथिलीकृतो मदीयैः रथकरणैः प्रणयो निजक्रियासु॥'

हे सहचरि! दैववशेन भाग्यविपर्ययेण, दयितः प्रियः, विलोचनाभ्यां दूरतोऽभूत् परोक्षमगात्, तदवधि मदीयैः करणैश्श्रवणादिभिः, निजक्रियासु स्वजन्यप्रमोत्पादकव्यापारेषु, प्रणय आसक्तिः, शिथिलीकृता न्यूनीकृतेत्यर्थः। इहाथशब्दोऽनुप्रासमात्रप्रयोजनकः। 'प्रणयो निज' इत्यत्र सन्ध्यश्लीलत्वम्।

उदाहरण लीजिये। कोई विरहिणी सखी से कहती है कि—हे सदा साथ रहने वाली सखि! दुर्भाग्य-वश जब से प्रियतम आँखों से ओझल हुये, तब से मेरी इन्द्रियों ने अपने व्यापारों से प्रेम करना छोड़ दिया-अर्थात् तब से न मुझे आँखों से सूझता, न कानों से सुनाई पड़ता, न त्वचा से स्पर्श का बोध होता, न नाक से किसी चीज की गन्ध का पता चलता और न जिह्वा से किसी रस का स्वाद ही परख में आता है। तात्पर्य यह कि सभी इन्द्रियाँ बेकार हो गई हैं।

विभावानुभावौ प्रतिपादयति—

प्रियविरहोऽत्र विभावः, करणैश्चक्षुश्श्रवणादिभिः क्रियासु तत्तत्प्रमितिषु प्रणयस्य शिथिलीकरणमनुभावः।

तत्तत्प्रमितिषु चाक्षुषादि-प्रत्यक्षरूपासु।

यहाँ प्रिय का विरह विभाव है और आँख-कान आदि इन्द्रियों का अपने-अपने व्या-

पारों-अर्थात् ज्ञानों में प्रेम शिथिल कर देना—आँख आदि से रूप आदि का जैसा चाहिये वैसा ज्ञान न होना अनुभाव है।

मोहाज्जडताया वैलक्षण्यं दर्शयति—

मोहे चक्षुरादिभिश्चाक्षुषादेरजननम्, इह तु प्रकारविशेषवैशिष्ट्येन बाहुल्येनाजननमिति तस्मादस्य विशेषः।

प्रकारविशेषवैशिष्ट्येन समुचिततत्तत्प्रकारकत्वेन। बाहुल्येन भूम्ना, तेन क्वचिदुचितप्रकारकप्रतीतिजननमनुमन्यते। मोहे चक्षुरादीनां सर्वथा व्यापारविरामाच्चाक्षुषादिप्रत्यक्षाणामनुत्पत्तिरेव, जडतायां तु चक्षुरादीनां व्यापारस्य शैथिल्यान्न तु विरामात्, चाक्षुषादिप्रत्यक्षाणां समुचितैः प्रकारैरनुत्पत्तिर्न त्वनुचितैः प्रकारैरनुत्पत्तिः, क्वचित्तूचितेनापि प्रकारेणोत्पत्तिरिति मोहजडतयोः कार्यभेदाद्भेद इत्याशयः।

मोह और जड़ता में यह भेद है कि—मोह में चक्षुरादि इन्द्रियाँ सर्वथा व्यापार हीन हो जाती हैं, जिससे चाक्षुष आदि ज्ञानों की उत्पत्ति ही नहीं होती, परन्तु जड़ता में ऐसी बात नहीं होती—अर्थात् उसमें चक्षुरादि इन्द्रियों का व्यापार सर्वथा नष्ट नहीं होता, वरन शिथिल मात्र पड़ जाता है, जिससे चाक्षुषादि प्रत्यक्षों की उत्पत्ति तो होती है, किन्तु समुचित प्रकार से नहीं होती। तात्पर्य यह कि मोह में आँखों से सूझता ही नहीं और जड़ता में सूझता तो है, पर विशेषरूप से परिचय नहीं हो पाता। इसी तरह अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। यहाँ मूल में 'बाहुल्येन' पद आया है, जिसका अभिप्राय है कि जड़ता में कभी कभी इन्द्रियों से समुचित ज्ञान भी हो जाता है, पर मोह में कभी भी वैसा नहीं होता।

उक्तं समर्थयति—

अत एवोदाहरणे—'शिथिलीकृतः' इत्युक्तं, न तु 'त्यक्तः' इति।

अत एव जडतायां चक्षुरादिभिः स्वव्यापारात्यागादेव।

जिस लिये जड़ता में इन्द्रियों के व्यापार सर्वथा नष्ट नहीं होते, किन्तु शिथिल मात्र पड़ते हैं, अत एव 'यदवधि……' इत्यादि उदाहरण में 'शिथिलीकृतः' अर्थात् 'शिथिल कर दिया' ऐसा ही कहा गया है, 'त्यक्तः' अर्थात् 'छोड़ दिया' ऐसा नहीं कहा गया।

आलस्यं निरूपयति—

अतितृप्ति-गर्भ-व्याधि-श्रमादिजन्या चेतसः क्रियाऽनुन्मुखताऽऽलस्यम्।

अत्र क्रियाऽनुन्मुखता यदि व्यापारविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकत्वाभावः, तदाऽभावरूपतयाऽऽलस्यं भावो न भवेत्, तस्माज्जाड्यविशेषात्मकं क्रियामान्थर्यमेवालस्यम्। तदुक्तम्—'आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भाऽऽसितादिकृत्' इति। न चैवं जडतया सहाभेदापत्तिः, जडतया प्रकारव्यत्यासेन चाक्षुषादिज्ञानजनकत्वम्, अस्य तु समुचितेनैव प्रकारेणेति कार्यभेदेनोभयोर्भेदस्य जागरूकत्वादिति विभावनीयम्।

अब आलस्य का निरूपण करते हैं—'अतितृप्ति' इत्यादि। अत्यन्त तृप्ति, गर्भ, रोग और परिश्रम आदि के कारण चित्त का कर्तव्य-क्रियाओं के प्रति उन्मुख न होना ही 'आलस्य' है।

पुनर्जडता-ग्लानिभ्यामालस्यं व्यतिरेचयति—

अत्र च नासामर्थ्यम्, नापि कार्याकार्यविवेकशून्यत्वम्। तेन कार्याकरणरूपस्यानुभावस्य तुल्यत्वेऽपि, ग्लानेर्जडतायाश्चास्य भेदः।

ग्लानौ जडतायामालस्ये च कार्याकरणरूपोऽनुभाव एक एवेति तेषामभेदो न शङ्कनीयः,

ग्लानावसामर्थ्यं नालस्य इति ग्लानितो भेदस्य, जडतायां कार्याकार्यविवेकशून्यत्वं नालस्य इति जडतायाश्च भेदस्य स्फुटत्वादिति तात्पर्यम् ।

ग्लानि, जड़ता और आलस्य इन तीनों ही भावों में 'कार्यों का न करना' रूप अनुभाव समान है अर्थात् उक्त तीनों भावों की स्थिति में मनुष्य व्यापारहीन हो जाता है, अतः इन तीनों भावों में अभेद की-अर्थात् ये तीनों भाव एक ही हैं, भिन्न नहीं, इस तरह की शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ग्लानि में कार्य करने की शक्ति नहीं रह जाती और आलस्य में वह रहती है, अतः ग्लानि से एवं जड़ता में कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नष्ट हो जाता है और आलस्य में वह नष्ट नहीं होता, अतः जड़ता से भी 'आलस्य' भिन्न ही है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

रजनीवृत्तं मुहुः पृच्छन्तीं सखीमलसा वदति—

'निखिलां रजनीं प्रियेण दूरा-दुपयातेन विबोधिता कथाभिः ।
अधिकं न हि पारयामि वक्तुं, सखि ! मा जल्प तवायसी रसज्ञा ॥'

हे सखि ! दूराद्विप्रकृष्टदेशाद् उपयातेनोपागतेन, प्रियेण, कथाभिर्विविधवार्तालापैः, (हेतुभिः) लीलाभिर्वा, निखिलां समस्तां रजनीमभिव्याप्य, विबोधिता जागरिताऽस्मीत्यहं सम्प्रत्यधिकं बहु व क्तुं न पारयामि न शक्नोमि, त्वं मा जल्प मुहुर्मा प्राक्षीः, तव रसज्ञा जिह्वा, आयसी लौहनिर्मिताऽस्ति, यदेवं जल्पनेऽपि न श्राम्यतीत्यर्थः ।

त्वद्वन्ममापि यथायसी रसज्ञा स्यात्, तदैव सकलप्रश्नानामुत्तरं वक्तुं शक्नुयादिति भावः ।

उदाहरण लीजिये—पतिदेव दूर से आये थे, (यहां 'दूर' पद यद्यपि देशकृत दूरी का ही वाचक है, परन्तु व्यञ्जनया वह कालकृत दूरी का भी बोधक होता है—अर्थात् 'दूर से आये थे' इस कथन से यह व्यङ्ग्य होता है कि 'विलम्ब से आये थे') वे, मुझे कथाओं से-विविध वार्तालापों से-रात भर जगाये रहे । अतः मैं अधिक बोल नहीं सकती, तू बात न कर, मालुम पड़ता है तेरी रसज्ञा (रसना-जिह्वा) लोहे की बनी है, यह बात सही है कि वह रस का ज्ञान करने के लिये ही बार-बार प्रयास कर रही है, फिर भी उस निगोड़ी को बार-बार व्यापार करने में कुछ भी तो थकना चाहिये, पर वह तो थकती ही नहीं ।

प्रसङ्गं प्रतिपादयति—

एषा हि प्रियागमनद्वितीयदिवसे मुहुर्निशावृत्तान्तं पृच्छन्तीं सखीं प्रति रजनिजागरणजनितालस्यायाः कस्याश्चिदुक्तिः ।

यस्मिन् दिने प्रिय आगतस्तस्माद् द्वितीयस्मिन् दिने ।

यह, पति के आगमन के द्वितीय दिन में, पुनः पुनः रात का समाचार पूछती हुई सखी के प्रति, रात्रि-जागरण से अलसाई हुई किसी नायिका का कथन है ।

विभावानुभावौ प्रकाशयति—

अत्र रजनिजागरणं विभावः, अधिकसम्भाषणाभावोऽनुभावः ।

यहां रात्रि का जागरण विभाव और अधिक वार्तालाप का अभाव अनुभाव है ।

जडतायाः आलस्ये वैलक्षण्यान्तरं दर्शयति—

जडतायां मोहात् पूर्ववर्तित्वमुत्तरवर्तित्वं वा नियतम्, न त्वत्रेत्यपरो विशेषः ।

जडतानियमेन मोहात् पूर्वं परं वोत्पद्यते, न त्वालस्यमित्युभयोर्भेदोऽयमपि बोध्य इत्याशयः ।

'जड़ता-भाव' के विषय में यह नियम है कि वह मोह से पहले अथवा पीछे हुआ करता है पर आलस्य में ऐसा नियम नहीं है अर्थात् 'आलस्य भाव' के पूर्व अथवा पश्चात्

मोह का होना आवश्यक नहीं है' यह भी एक जड़ता से आलस्य में भेद है। इस भेद का भान पाठकों को ऊपर के उदाहरण में अवश्य होना चाहिये, अत एव उदाहरण दिखलाने के बाद इस विषय की चर्चा की गई है।

ननु सुरतलीलानामतिगोप्यत्वात् तत्रैव कथाशब्दस्य जहत्स्वार्थलक्षणायां व्यङ्ग्यः श्रमातिशय एव प्रधानमिह स्यादित्याशङ्कामंशतोऽभ्युपगमेन निरस्यति—

गोपनीयविषयत्वाद् यदि कथाभिरित्यविवक्षितवाच्यम्, तदा श्रमोऽस्तु परिपोषकः, श्रमजन्ये ह्यालस्ये श्रमस्य पोषकताया अवार्यत्वात्।

इह कथाभिरित्यत्र लक्षणामूलव्यञ्जनया श्रमस्य बोध्यत्वमभ्युपगम्यते, किन्तु श्रमस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि, जनकत्वेनालस्यपोषकतयाऽङ्गत्वमेव, न प्राधान्यमतो न श्रमध्वनिरित्यभिसन्धिः।

यहाँ एक और भी बहुत ही मार्मिक अत एव समझ लेने योग्य विचार यह है कि—क्या 'निखिलां रजनीम्'''' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में 'कथाभिः' यह पद वाच्य वार्तालापरूप अर्थ का बोध करा कर कृतार्थ हो जाता है? कभी नहीं, यद्यपि आगे की जागरणोक्ति उस अर्थ से भी उपपन्न सी लगती है तथापि जागरण की वार्तालापहेतुक उपपत्ति भावुकों के हृदय में रमती नहीं, रमना तो दूर रहे, उस उपपत्ति के मूल में तथ्य का बल है ही नहीं, अत एव वह उपपत्ति बाधित है—चिरकाल पर मिले हुये दम्पत्ति बातों में ही रात बिता देंगे, क्या यह सम्भव है? नहीं, मिथुन-विनोद के बिना उनमें प्रमोद असम्भव है। बोलने वाली नायिका का भी 'कथाभिः' पद से सुरत-सम्भोग का बोध करना ही उद्देश्य है, हाँ, वाच्य-वृत्त्या उस गोपनीय अर्थ का बोध कराकर वह निर्लज्ज नहीं बनना चाहती, अत एव 'लीलाभिः' न कह कर उसने 'कथाभिः' कहा, जिसका वाच्य (वार्तालाप) अर्थ अविवक्षित है—अर्थात् वह पद सुरतरूप अर्थ में लाक्षणिक है, इस तरह वाच्यार्थ-ज्ञान की शक्ति से कुछ अधिक शक्ति अर्जित करने वाले सहृदय भले ही उस पद के लक्ष्यार्थ (सम्भोग) को समझ लें, पर वक्त्री नायिका, सकल साधारण जनों से दी जाने वाली 'निर्लज्जा' उपाधि से तो बच ही गई। एक बात और, वह यह कि उक्त प्रकार से 'कथाभिः' पद को सम्भोगरूप अर्थ में लाक्षणिक मान लेने पर इस पद्य का इङ्गित निम्नलिखित अर्थ की ओर भी मुझे प्रतीत होता है। सरस समवयस्का सखी, चिरमिलित प्रियतम के साथ, रात बिता कर प्रातःकाल मिली हुई सखी से, रात्रिकृत-सम्भोग-सुख की बात, खोद खोद कर, पूछ रही है। परन्तु सलज्जा नायिका साफ साफ वह बात कहना नहीं चाहती और इधर उधर की बातें बता कर उस बात का आभास करा देने पर भी सखी मानती नहीं, आखिर आजिज आकर नायिका उससे कहती है कि—कह तो दिया, दूर से आये हुये प्रिय के साथ कथा करने में रात भर जगी रही, अधिक बोल बुलवा कर तङ्ग मत करो, मैं समझती तो हूँ कि—तू मुझसे साफ शब्दों में कुछ कहलाना चाहती है, पर मैं इससे अधिक कुछ न कहूँगी, कह भी नहीं सकती, बोलने में 'आलस्य' हो रहा है और साफ साफ कहने में रस भी नहीं आता, तू जो अपनी बात साफ साफ लोगों से कहती फिरती है, वह तो इसलिये कि तेरी जिह्वा नाममात्र की रसज्ञा है, वस्तुतः वह लौह निर्मित पट्टिका है, अतः संक्षिप्त कथन में रस का अनुभव नहीं कर पाती। इस तरह जीभ को लौहमय कह कर उस जीभ वाली पर भी यह आक्षेप किया गया कि तू लोहे की बनी है, तेरा हृदय लोहे का बना है, नहीं तो, इस तरह क्यों पूछती? मेरे 'कथा' पद का लक्ष्यार्थ को क्यों नहीं समझती?

यद्यपि इस तरह की व्याख्या किसी ने अभी तक कहीं लिखी नहीं, पर मेरे मन में लगा कि यह व्याख्या भी हो सकती है, बस, लेखनी ने उसको कागज पर उतार दिया, अब इसका निर्णय सदसद् विवेक पाठक ही करेंगे। अस्तु, प्रकृत में ग्रन्थकार का कथन है कि यदि उक्त रीति से 'कथाभिः' पद को अविवक्षितवाच्य (लाक्षणिक) मानना युक्ति सङ्गत है, तब तो उस लाक्षणिक पद के लक्ष्यार्थ (सम्भोग)

से 'श्रम-भाव' मजे में व्यङ्ग्य होगा, फिर भी उसी की ध्वनि यहाँ क्यों नहीं मानते? इसका उत्तर यह है कि—जब आलस्य की उत्पत्ति में श्रम को एक पृथक् कारण कहा गया है, तब तो श्रमज-आलस्य-स्थल में उसकी प्रतीति होगी ही, पर, पितृस्थानीय होने के नाते पुत्रस्थानीय आलस्य के पोषकरूप में ही। अतः श्रम से परिपोषित आलस्यभाव को प्रधानतया ध्वनित होने में कोई बाधा नहीं, क्योंकि पोषक श्रम गौण पड़ जाता है।

ननु श्रमालस्ययोः सर्वत्र सङ्कीर्णविषयत्वे विभावभेदोक्तिरफला स्यादित्याशङ्कामपनयति—

अतितृप्त्यादिजनिते त्वालस्ये श्रमाद् विविक्तविषयत्वं बोध्यम्।

आदिना गर्भादिग्रहणम्। श्रमजन्य एवालस्ये श्रमसङ्कीर्णविषयता, गर्भादिजन्ये तु विविक्तविषयताया एव सत्त्वान्न विभावभेदोक्तेर्नैष्फल्यमिति भावः।

यदि श्रमभाव से अमिश्रित आलस्यभाव का उदाहरण कहाँ होगा, यह समझना चाहें, तो—अतितृप्ति आदि कारणों से उत्पन्न 'आलस्य' में समझिये।

असूयां निरूपयति—

परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया।

असूयायाः परोत्कर्षदर्शनादयो विभावाः, परनिन्दादयश्चानुभावाः। तदुक्तम्—

'असूयाऽन्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता।
दोषोद्घोष-भ्रूविभेदावज्ञा-क्रोधेङ्गितादिकृत्॥' इति।

क्रोधेङ्गितानि निजाधरदंशनादीनि।

अब 'असूया-भाव' का निरूपण करते हैं—'परोत्कर्ष' इत्यादि। उस चित्त-वृत्ति का नाम 'असूया' है, जिसके, विभाव (कारण) दूसरे का उत्कर्ष देखना आदि हैं और अनुभाव (कार्य) दूसरे की निन्दा आदि हैं।

असूयायाः सञ्ज्ञान्तरमाह—

इमामेवासहनादिशब्दैर्व्यवहरन्ति।

इमामसूयाम्। असहनमसहिष्णुता।

इसी असूया को 'असहन' अथवा 'असहिष्णुता' आदि शब्दों से भी कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—

रामोत्कर्षमसहमाना राजानो वदन्ति—

'कुत्र शैवं धनुरिदं, क्व चायं प्राकृतः शिशुः।
भङ्गस्तु सर्वसंहर्त्रा, कालेनैव विनिर्मितः॥'

इदं शैवं शिवसम्बन्धि धनुः कुत्र ?, अयं प्राकृतो मानवः शिशुर्बालो रामश्च क्वास्ति, तदुभयोर्घटनाया असम्भवात्, धनुषो भङ्गस्तु, सर्वेषां स्थावरजङ्गमानां संहर्त्रा विनाशकेन कालेनैव ननु रामेण विनिर्मितः कृतोऽभूदित्यर्थः। विनिर्माति रचनायामेव प्रयोगः कविसम्प्रदायसिद्धोऽपीहान्यथाकृत इत्यालोचनीयम्।

जैसे—कहाँ यह शिव का धनुष और कहाँ यह साधारण मानव-बालक, इसका भङ्ग तो संसार के समस्त पदार्थों का संहार करनेवाला काल ने ही कर दिया। तात्पर्य यह है कि चिरकालतक पड़े रहने के कारण, यह धनुष अपने आप ही शीर्ण हो गया था अन्यथा इसका भङ्ग करना इस साधारण क्षत्रियकुमार-रामचन्द्र-के वश का नहीं है।

प्रकरण-विभावानुभावान् दर्शयति—

एषा भग्नहरकार्मुकस्य रामस्य पराक्रममसहमानानां तत्रत्यानां राज्ञामुक्तिः।

अत्र च श्रीमद्दाशरथिबलस्य सर्वोत्कृष्टताया दर्शनं विभावः, प्राकृतशिशुपदगम्या निन्दाऽनुभावः ।

तत्रत्यानां सीतापरिणयनार्थमुपस्थितानाम् ।

यह, शिव–धनुष को तोड़ने वाले रामचन्द्र के पराक्रम को न सहते हुए–उस सभा में उपस्थित राजाओं का कथन है । यहां श्रीमान् दशरथतनय रामचन्द्रजी के बलमें सर्वोत्कृष्टता का ज्ञान विभाव है और 'प्राकृतशिशु–साधारण बालक' इस पद से व्यक्त होने वाली राम की निन्दा अनुभाव है ।

शुद्धामसूयामुदाहृत्यामर्षसङ्कीर्णामुदाहरति—

'तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरव्रजे,
मौनं मुञ्चति किञ्च कैरवकुले कामे धनुर्धुन्वति ।
माने मानवती जनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना,
धातः ! किं नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः ॥'

उद्यन्तमेव चन्द्रमम्बुदैराच्छन्नमुदीक्ष्य सकलघटनासम्पादकं विधातारं कश्चिदाक्रोशति हेधातर्विधे ! अधुना रजनीमुखे चन्द्रोदयावसरे, तृष्णया चन्द्रिकापिपासया लोले विलोचने यस्य तादृशे, चकोरव्रजे जीवञ्जीवसमूहे, प्राचीं दिशं कलयति पश्यति सति, किञ्च कैरवकुले कुमुदसमुदये, मौनं दैनिकमुद्रणं मुञ्चति त्यजति सति, तथा कामे मन्मथे सहायसम्पत्त्या विजयाय धनुर्धुन्वति बाणमारोपयितुमधिज्यं कुर्वति कम्पयति वा सति, अपि च मानवतीजनस्य भामिनीनिकरस्य माने प्रणयकोपे, स्वावस्थानासम्भावनामालोच्य सपदि शीघ्रं, प्रस्थातुकामे प्रयियासति सति, विधौ चन्द्रे, धाराधराडम्बरो मेघाच्छादनं, किं नु त्वया विधातुमुचितो युक्तः ? कथमपि नोचित इत्यर्थः ।

अब असूयाभाव का एक ऐसा उदाहरण उपस्थित करते हैं, जिसमें अमर्षभाव का मिश्रण हुआ है—उदीयमान चन्द्र को अकस्मात् घन–घटा से आच्छन्न होते हुए देखकर कोई सहृदय पुरुष विधाता को कोसता है कि—हे विधे ! अभी–जब कि चन्द्र–ज्योत्स्ना–पान–लोलुप चकोर–चय, पूरब दिशा की ओर आशा–भरी अत एव चञ्चल नजरों से देख रहा है, कुमुद–कुल–दिवस–कृत मुद्रण को छोड़ रहा है—विकसित हो रहा है, कामदेव अपने धनुष को धुन रहा है—कपा–कपा कर टङ्कार शब्द कर रहा है, और मानिनियों का मान शीघ्र भागने ही वाला है—अकस्मात् इस तरह 'चन्द्रमा पर मेघ का आवरण डाल देना क्या तेरा समुचित है ? कभी नहीं, यह आपने बहुत बुरा काम किया ।

उपपादयति—

अत्रापि यद्यपि तदीयोच्छृङ्खलतादि[दर्शन]जन्या, अनुचितकारित्वरूपनिन्दाप्रकाशानुभाविता, कविगता, विधात्रालम्बनाऽसूया व्यज्यत इति शक्यते वक्तुम्, तथापि कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादभिव्यक्तेनामर्षेण शबलितैवासौ न विविक्ततया प्रतीयते ।

तदीया विधातृसम्बन्धिनी, उच्छृङ्खलता स्वच्छन्दाचारिता । प्रकाशः अन्वयः । विधात्रालम्बना विधातृविषयिका । कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादसूयाऽमर्षयोरनुभावविभावयोस्तुल्यकालोपस्थितत्वात् ।

'तृष्णे'त्याद्युदाहरणे यद्यप्यसूया प्रतीयते, किन्तु साऽमर्षेण सङ्कीर्णतया न शुद्धा, तस्मान्नेदं शुद्धासूयोदाहरणमिति तात्पर्यम् ।

यहां भी विधाता के विषय में कविकी असूया अभिव्यक्त होती है जिसका विभाव यहां पद्य में वर्णित विधाता की उच्छृङ्खलता है और अनुभाव है, प्रतीति–पथ में आनेवाली

अनुचितकारिताहप विधाता की निन्दा, यह बात यद्यपि कही जा सकती है, तथापि इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यहां शुद्ध असूया की पृथक् प्रतीति नहीं होती, वरन, असूया के जो अनुभाव-विभाव (कार्य कारण) हैं, उन्हीं से अभिव्यक्त होने वाले अमर्ष-भाव से मिश्रित असूया की ही प्रतीति होती है। सारांश यह हुआ कि यहां उक्त (असूया और अमर्ष) भाव-द्वय-ध्वनियों का संकर है, यही कहना समुचित है।

ननु 'कुत्र शैवम्' इत्यादावप्यमर्षेण सङ्कीर्णैवासूया प्रतीयत इत्युदाहरणद्वयस्य तुल्यतैवेत्यत आह—

नहि विधातुरपराध इव भगवतो रामस्यापराधोऽस्ति, येन कवेरिव वीराणामप्यमर्षोऽभिव्यज्येत।

यथाऽत्र विधातुरपराधात् तस्मिन् कवेरमर्षः, न तथा तत्र रामस्यापराधोऽस्ति, येन वीराणां राज्ञाममर्षः प्रतीयेत, तस्मात्तत्रामर्षाप्रतीतेः शुद्धोदाहरणमेव तदित्याशयः।

'तृष्णालोल······' इत्यादि पद्य में जैसे विधाता के अपराधी होने के कारण उनमें कवि का अमर्ष व्यक्त होता है, वैसे 'कुत्र शैवम्······' इत्यादि प्रथम असूया-भाव के उदाहरण में वीरों का राम के प्रति अमर्ष व्यक्त नहीं हो सकता, क्योंकि राम अपराधी नहीं हैं, अतः यह शङ्का की जा सकती है कि, वह उदाहरण भी अमर्ष-मिश्रित असूया का है। तात्पर्य यह कि उस उदाहरण को शुद्ध असूया-भाव का समझना चाहिये।

ननु तत्रापि रामस्य शैवधनुर्भञ्जनमेवापराध इत्यतोऽभिधत्ते—

स्वभावो हि महोन्नतक्रियानिष्पादनं वीराणाम्।

यतोऽत्युत्कृष्टकार्यकरणं वीराणां स्वभाव एव तेन शैवधनुर्भञ्जनं रामस्य स्वभाव एव नत्वपराध इत्यर्थः।

यदि कहें कि शिवजी के धनुष को तोड़ डालना क्या राम का अपराध नहीं है? तो, इसका उत्तर यह होगा कि नहीं, क्योंकि अत्यन्त उन्नत (जिसको दूसरे न कर सकें, ऐसे) कार्यों का करना वीर-पुरुषों का स्वभाव है-वे किसी को दुःखी बनाने की भावना से वैसा नहीं करते, अतः शिव-धनुर्भङ्ग करना रामचन्द्रजी के स्वभाव में आ जाता है, इसको उनके अपराधों में नहीं गिन सकते।

नन्वत्र वस्तुनो ध्वननान्नासूयाध्वनिरित्याशङ्कां समादधाति—

अत्राप्रस्तुतचन्द्रवृत्तान्तेन प्रस्तुतराजकुमारादिवृत्तान्तस्य ध्वननान्नास्त्यसूयाध्वनित्वमिति तु न वाच्यम्, एकध्वनेर्ध्वन्यन्तराविरोधित्वात्।

चन्द्रोदयातिरिक्तदिनादिकाले तादृशचन्द्रवृत्तान्तस्याप्रस्तुतत्वम्, कस्मिंश्चिद्राजकुमारेऽत्युत्कर्षमवलम्बमान एवाकस्मिकविपदापातरूपवृत्तान्तस्य न विवक्षितत्वात् प्रस्तुतत्वम्। इहाप्रस्तुताभिधानेन प्रस्तुतव्यञ्जनाद् वाच्योऽप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारस्तस्योपरि तु वस्तुध्वनिः। आस्तामिह वस्तुध्वनिरपि, न तेनासूयाध्वनेर्हानिः, यतो नैकस्य ध्वनेरपरेण ध्वनिना सह विरोधः, अपि तु मिथः सापेक्षत्वादिषु साङ्कर्यम्, नैरपेक्ष्ये तु संसृष्टिरित्याशयः।

इदन्तु चिन्तनीयम्—

अप्रस्तुतप्रशंसायां व्यज्यमानस्य वस्तुनो वाच्योपस्कारकत्वेन गुणीभावेऽपि कथं वस्तुध्वनिरिति।

यदि आप कहें कि यहां वस्तुतः चन्द्रमा का वृत्तान्त प्रसङ्गप्राप्त नहीं है, अतः यह मानना पड़ेगा कि उसके द्वारा प्रसङ्ग-प्राप्त राजकुमारादिकों का वृत्तान्त ध्वनित होता है, तात्पर्य यह है कि 'तृष्णालो······' इत्यादि श्लोक चन्द्रोदय से भिन्न काल में उस राजकुमार को लक्ष्य करके कहा गया है, जो सब तरह से उन्नति कर ही रहा था, तब तक

अकस्मात् उसके ऊपर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। इस स्थिति में उक्त राजकुमार के वृत्तान्त को ध्वनित करने के लिये ही चन्द्र-वृत्तान्त का वर्णन किया गया है, यह बात अवश्य माननी पड़ेगी और इस तरह से 'अप्रस्तुत से प्रस्तुत का ज्ञान' रूप अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार ही वाच्य होकर भी प्रधान है, अर्थात् असूया-ध्वनि यहाँ है ही नहीं। इसका उत्तर यह है कि यदि यहाँ उक्तरीति से प्रस्तुत राजकुमारादिका-वृत्तान्त ध्वनित होता है, तो, हो, उससे असूया-भाव की ध्वनि होने में बाधा नहीं होगी, क्योंकि एक ध्वनि का दूसरी ध्वनि का विरोधी होना कोई निश्चित नियम नहीं है।

विरोधाङ्गीकारे दोषं दर्शयति—

अन्यथा महावाक्यध्वनेरवान्तरवाक्यध्वनिभिः, तेषां च पदध्वनिभिः सह सामानाधिकरण्यं कुत्रापि न स्यात्।

महावाक्यध्वनिः समस्तप्रबन्धप्रधानव्यङ्ग्यः। अवान्तरध्वनयस्तदन्तर्गतवाक्यप्रधान-व्यङ्ग्याः। तेषामवान्तरवाक्यध्वनीनाम्। ध्वनिद्वयस्य विरोधाभ्युपगमे सामानाधिकरण्या-सम्भवात् सङ्करसंसृष्टिव्यवहारविलोपः प्रसज्येतेति भावः।

यदि एक ध्वनि दूसरी ध्वनि का विरोध करे—अर्थात् एक ध्वनि दूसरी ध्वनि के साथ एक स्थान पर नहीं रह सकती यह सिद्धान्त यदि माना जाय, तब, कहीं भी, महावाक्य की ध्वनियों का अवान्तर वाक्यों की ध्वनियों के साथ रहना और अवान्तर वाक्यों की ध्वनियों का पदों की ध्वनियों के साथ रहना सङ्गत ही न हो। सारांश यह कि ध्वनियों का सङ्कर आलङ्कारिकों की अभिमत वस्तु है। अतः उक्त पद्य में भी दो ध्वनियों का समावेश अनुचित नहीं है।

अपस्मारं निरूपयति—

वियोग-शोक-भय-जुगुप्सादीनामतिशयाद् ग्रहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मारः।

मनस्तापरूपाणां व्याधीनामन्तर्गतस्यापस्मारस्य चित्तवृत्तिविशेषरूपतया भावत्वम्। तदुक्तम्—'मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः। भूपात-कम्प-प्रस्वेद-फेन-लालादि-कारकः॥' इति। मनसो नाडीविशेषनिवेशेन घूर्णनं मनःक्षेपः। ग्रहाः पूतनादयः।

अब 'अपस्मार-भाव' का निरूपण करते हैं 'वियोग' इत्यादि। वियोग, शोक, भय तथा घृणा आदि की अधिकता एवं भूत-प्रेत के लग जाने आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक व्याधि-विशेष—को 'अपस्मार' कहते हैं।

व्याधिसामान्योपादानेनैव गतार्थत्वेऽपस्मारस्य पृथगुपादाने प्रयोजनं प्रतिपादयति—

व्याधित्वेनास्य कथनेऽपि, विशेषाकारेण पुनः कथनं बीभत्स-भयानकयो-रस्यैव व्याधेरङ्गत्वं, नान्यस्येति स्फोरणाय।

विशेषाकारेणापस्मारत्वेन विशेषधर्मेण। स्फोरणाय प्रकाशनाय। बीभत्सभयानकर-सयोरङ्गत्वमपस्मारस्यैव न तु व्याध्यन्तरस्येति वैलक्षण्यं बोधयितुं पृथगुपादानमित्याशयः।

यद्यपि पूर्व में जो सामान्यतः 'व्याधि-भाव' का निरूपण किया जा चुका है, उसी से इस अपस्मार नामक व्याधिका भी कथन हो जाता है, तथापि विशेष रूप से इस (अपस्मार) का कथन इस लिये हुआ है कि 'बीभत्स' और 'भयानक' रस में यही (अपस्मार) व्याधि अङ्ग हो सकती है, अन्य नहीं, यह बात स्पष्ट हो जाय।

विप्रलम्भे विशेषमाह—

विप्रलम्भे तु व्याध्यन्तरस्यापि च।

. अङ्गत्वमिति शेषः। विप्रलम्भेऽन्येषां व्याधीनामपस्मारस्य चाङ्गत्वमित्यर्थः।

विप्रलम्भ शृङ्गार रस में तो क्या अपस्मार, क्या अन्य, सभी व्याधियाँ अङ्ग हो सकती हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

श्रीकृष्णागमनश्रवणाक्षिप्तचित्तस्य कंसस्य वृत्तं वर्णयति—

'हरिमागतमाकर्ण्य, मथुरामन्तकान्तकम्।
कम्पमानः श्वसन् कंसो निपपात महीतले॥'

कंसो भोजपतिः, अन्तकस्य सर्वसंहारकस्याप्यन्तकं संहारकं, हरिं श्रीकृष्णं, मथुरां स्ववधार्थमागतम्, आकर्ण्य, भयेन, कम्पमानः श्वसंश्च महीतले निपपातेत्यर्थः।

उदाहरण देखिये। कवि, कृष्ण के आगमन को सुनकर विक्षिप्त हुये कंस के वृत्तान्त का वर्णन करता है कि—अन्तक (यमराज) का भी अन्त करने वाले भगवान् कृष्णचन्द्र को मथुरा में अपने वध के लिये आगत सुनकर, कंस काँपता हुआ तथा श्वास खींचता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा।

विभावमनुभावांश्चाह—

अत्र भयं विभावः, कम्प-श्वास-पतनादयोऽनुभावाः।

यहाँ भय विभाव है और काँपना, श्वास खींचना तथा गिरना आदि अनुभाव हैं।

चपलतां निरूपयति—

अमर्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिकारणीभूता चित्तवृत्तिश्चपलता।

अत्रामर्षादिजन्यवागित्यादि पाठस्तु विशेषणद्वयस्य 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्' इति मीमांसकसिद्धान्तेनान्वयासम्भवात् समासस्य दुर्घटतयोपेक्षितः। अमर्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिजनिका च चित्तवृत्तिश्चपलतेत्यर्थः।

अब 'चपलता' का निरूपण करते हैं—'अमर्षा' इत्यादि। अमर्ष आदि विभावों से उत्पन्न होने वाली और कटुभाषण आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली चित्त-वृत्ति 'चपलता' कहलाती है।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'अमर्ष-प्रातिकूल्येर्ष्या-राग-द्वेषाश्च मत्सरः।
इति यत्र विभावाः स्यु रनुभावस्तु भर्त्सनम्॥
वाक्पारुष्यं प्रहारश्च, ताडनं वध-बन्धने।
तच्चापलमनालोच्य कार्यकारित्वमुच्यते॥' इति।

प्रातिकूल्यं विरुद्धाचरणम्। चकारो भिन्नक्रमः। प्रहारोऽस्त्रादिभिः। ताडनं हस्तपादादिभिः। अनालोच्य युक्तायुक्तविचारमकृत्वा कार्यकारित्वम्।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है 'अमर्ष-प्रतिकूल्येष्या......' इत्यादि। अर्थात् जिस चित्त-वृत्ति में अमर्ष, प्रतिकूलता, ईर्ष्या, प्रेम, द्वेष और असहिष्णुता ये विभाव हों और धमकाना, वचन की कठोरता, चोट पहुँचाना, पीटना, वध करना और बन्धन में डाल देना ये अनुभाव हों, उस को 'चपलता' कहते हैं, जिसको आप 'बिना सोचे समझे कार्य कर बैठना' समझिये।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

हिरण्यकशिपुः प्रह्लादं वदति—

'अहितव्रत ! पापात्मन् ! मैवं मे दर्शयाननम् ।
आत्मानं हन्तुमिच्छामि, येन त्वमसि भावितः ॥'

अहितं मदपकारकं भगवद्दास्यमेव व्रतं नियतविधेयं यस्य, तत्सम्बुद्धौ हे अहितव्रत ! पित्रपकाराचरणादेव हे पापात्मन् ! प्रह्लाद ! त्वं मे मह्यम्, एवं धृष्टवत् सस्मितम्, आननं मुखं, मा दर्शय, दूरं गच्छ, येन मदीयेनात्मना शरीरेण, त्वं भावित उत्पादितोऽसि, तं दुष्टोत्पादकमात्मानं स्वं, हन्तुमिच्छामीत्यर्थः ।

उदाहरण देखिये—रे अहितव्रत ! (भगवान् की दासतारूप मेरे अनिष्टकर नियम का पालन करने वाला) पापात्मन् ! (पितृविरोध रूप पाप का आचरण करने वाला) प्रह्लाद ! तू धृष्ट के जैसे अपना हँसता चेहरा मत दिखा । तुझे तो मैं लाख उपाय करके भी न सुधार सका और न मार ही सका। अब मैं आत्म-हत्या ही करना चाहता हूं, क्योंकि तुझ को पैदा करने का अपराध तो मैंने ही किया है ।

प्रसङ्गविभावानुभावानाह—

एषा भगवदनुरक्तिविघटनोपायमपश्यतः, प्रह्लादं प्रति, हिरण्यकशिपोरुक्तिः । भगवद्द्वेषोत्थापितः पुत्रद्वेषोऽत्र विभावः, आत्मवधेच्छा परुषवचनं चानुभावः ।

पुत्रे स्वतो द्वेषासम्भवाद्द्वेषाधीनद्वेषोपादानम् ।

यह प्रह्लाद के प्रति हिरण्यकशिपु की उस समय में उक्ति है, जब उसकी भगवद्भक्ति को विघटित करने का कोई उपाय उसे नहीं सूझ रहा था । भगवान् में द्वेष रहने के कारण भगवत्पक्षपाती पुत्र में भी होने वाला द्वेष यहाँ—विभाव है और आत्म-हत्या करने की इच्छा और कठोर वचन अनुभाव हैं ।

अमर्षध्वनित्वमाशङ्क्य खण्डयति—

न चामर्ष एवात्र व्यज्यत इति वाच्यम्, सदैव भगवदनुरागिणि प्रह्लादे हिरण्यकशिपोरमर्षस्य चिरकालसम्भृतत्वेनात्मवधेच्छाया इदम्प्रथमतानुपपत्तेः, इदम्प्रथमकार्यस्य चेदम्प्रथमकारणप्रयोज्यतया प्राचीनचित्तवृत्तिविलक्षणाया एव चपलताख्यचित्तवृत्तेः सिद्धेः ।

अत्र हिरण्यकशिपुवृत्तेरमर्षस्यैव प्रधानव्यङ्ग्यत्वं न सम्भवति, यतः प्रह्लादस्य भगवदनुरागो नाद्यतन एव, किन्तु चिरकालिक इति तज्जन्योऽमर्षोऽपि चिरसञ्चित एव भवेत्, ततस्तज्जन्याया हिरण्यकशिपोरात्मवधेच्छाया इयं प्रथमा यस्यां सेदम्प्रथमा, तस्या भावस्तत्ता प्रथमोत्पत्तिरेषा न युज्यते । किञ्च यद्यात्मवधेच्छारूपस्य पूर्वतो विलक्षणस्य कार्यस्य कारणं पूर्वतो विलक्षणा चित्तवृत्तिः काचिन्मन्यते, तदा सैवापूर्वा चित्तवृत्तिश्चपलता सिद्ध्यति, तस्मान्नात्रामर्षध्वनिः, अपि तु चपलताध्वनिरेवेत्यभिप्रायः ।

यहां हिरण्यकशिपुवृत्ती अमर्ष—भाव ही प्रधान रूप से व्यक्त होता है यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सदा से ही भगवान् के साथ प्रेम करने वाले प्रह्लाद के प्रति हिरण्यकशिपु का अमर्ष भी नवीन नहीं अपि तु पुराना था, फिर यदि इस अमर्ष को ही उसकी आत्म—वधेच्छा का कारण माना जाय, तब तो इस आत्म—वधेच्छा का प्रथम—प्रथम होना नहीं सिद्ध होता कारण यह कि अमर्षरूप कारण के पहले भी रहने से उक्त वधेच्छारूप कार्य का भी पहले होना सम्भावित है, और यह आत्मवधेच्छारूप कार्य हो रहा है आज पहले पहल, अतः उसका कारण भी कोई नवीन—आज ही होने वाला अवश्य होना चाहिये। अतः उक्त वधेच्छा के कारणरूप में प्राचीन अमर्षात्मकचित्तवृत्ति से विलक्षण चपलता नामक चित्तवृत्ति की सिद्धि हो जाती है ।

पुनरपरथाऽऽशङ्क्य निराकरोति—

नचामर्षप्रकर्ष एवात्मवधेच्छादिकारणमभिव्यज्यतामिति वाच्यम्, प्रकर्षस्यापि स्वाभाविकविलक्षणलक्षणताया आवश्यकतया तस्यैव चपलतापदार्थत्वात्।

स्वाभाविकाद् विलक्षणं लक्षणं यस्याः सा स्वाभाविकविलक्षणलक्षणा, तस्या भावस्तत्ता। प्रकृष्टस्यामर्षस्यैवात्मवधेच्छारूपकार्यस्य कारणत्वेन व्यञ्जनमिहास्तामित्यपि वक्तुं न शक्यम्, यतः साधारणामर्षापेक्षया प्रकृष्टस्यामर्षस्य विलक्षणताऽवश्यं स्वीकार्या, अन्यथाऽऽत्मवधेच्छारूपविलक्षणकार्यस्यासम्भवः, तथा च स कारणनिष्ठो विलक्षणारूपः प्रकर्ष एव चपलताऽस्तीति सर्वथा चपलतायाः सिद्धिरिति भावः।

यदि आप कहें कि 'हिरण्यकशिपुके मन में आत्म-वध की इच्छा जब आज पहले पहल उत्पन्न हो रही है, तब उसका कारण भी कोई नवीन ही आज आ जुटा है, यह अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि यदि प्राचीन अमर्ष से आत्मवध की इच्छा हो सकती, तो पहले भी होती' ये सब तर्क ठीक हैं, तथापि इस नवीन आत्मवधेच्छा रूप कार्य को जन्म देने के लिये एक अभिनव चपलताख्यचित्तवृत्ति की कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि उसी पुरानी अमर्षात्मक-वृत्ति में केवल एक नवीन प्रकर्ष की कल्पना कर लेनेसे काम बन जाता है अर्थात् हम यह कहेंगे कि अमर्ष जब तक साधारण था, तब तक आत्म-वध की इच्छा नहीं हुई, पर जब वही अमर्ष चिरकालानुवृत्त होने से आज प्रकृष्ट (उत्कट) हो गया, तब उक्त इच्छा हुई। परन्तु इस जोड़ तोड़ से भी आप का मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि चपलता नहीं माननी पड़े, यही तो आप का मनोरथ है, जिसकी पूर्ति उस तरह से बात बनाने पर भी सम्भव नहीं, कारण यह कि स्वाभाविक अमर्ष से तद्गत प्रकर्ष का कुछ विलक्षण ही लक्षण करना पड़ेगा, अन्यथा फिर विलक्षण कार्य असम्भव ही रह जायगा और जब अमर्ष में विलक्षण प्रकर्ष मान लेगें तब तो चपलता सिद्ध हो ही जायगी अर्थात् हम उसी विलक्षण प्रकर्ष को चपलता मान लेगें।

निर्वेदं निरूपयति—

नीचपुरुषेष्वाक्रोशनाधिक्षेप-व्याधि-ताडन-दारिद्र्येष्टविरहपरसम्पद्दर्शनादिभिः, उत्तमेषु त्ववज्ञादिभिर्जनिता विषयविद्वेषाख्या, रोदनदीर्घश्वास-दीनमुखतादिकारिणी चित्तवृत्तिर्निर्वेदः।

आक्रोशनाधिक्षेपयोः सामान्यविशेषभावाद् ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन पृथगुपादानम्। उत्तमेषु पुरुषेष्विति शेषः।

अधमपुरुषेष्वाक्रोशनादिजन्या, उत्तमपुरुषेष्ववज्ञादिजन्या, रोदनादिजनिका च विषयद्वेषरूपा चित्तवृत्तिरेव निर्वेद इत्यर्थः। अस्य स्थायिनिर्वेदाद्भेदमनुपदं वक्ष्यति।

अब 'निर्वेद' का निरूपण करते हैं—'नीच-पुरुषेषु' इत्यादि। आलम्बन-भेद से निर्वेद दो प्रकार का होता है, एक नीच पुरुष में होने वाला और दूसरा उत्तम-पुरुष में होने वाला। जिनमें नीच पुरुष-गत-'निर्वेद' उस चित्तवृत्ति को कहते हैं, जिसकी उत्पत्ति, गाली गलौज, तिरस्कार, रोग, मार खाना, दरिद्र होना, अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति और दूसरे की सम्पत्ति का दर्शन आदि से होती है और उत्तम-पुरुष-गत-'निर्वेद' उस चित्त-वृत्ति का नाम है, जिसकी उत्पत्ति अवज्ञा आदि से होती है, अनुभाव दोनों 'निर्वेदों' के एक से—रोदन, जोर-जोर से श्वास ग्रहण, मुख पर दैन्य-ये सब होते हैं। इस निर्वेदात्मक चित्त-वृत्ति का दूसरा नाम विषयों से द्वेष भी है। स्पष्ट मतलब यह समझिये कि नीच पुरुष को गाली आदि देने से जैसे कष्ट होता है और तत्प्रयुक्त जो विकार उसमें उत्पन्न होते हैं, ठीक वैसे ही कष्ट और तज्जन्य विकार उत्तम पुरुष में साधारण अवज्ञा आदि से होते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वैदेहीविरही श्रीरामो लक्ष्मणं भणति—

'यदि लक्ष्मण ! सा मृगेक्षणा, न मदीक्षासरणिं समेष्यति ।
अमुना जडजीवितेन मे, जगता वा विफलेन किं फलम् ।।'

हे लक्ष्मण ! सा मृगेक्षणा सीता, यदि मदीक्षासरणिं मद्दृष्टिपथं, न समेष्यति नाग-मिष्यति, तदा, अमुना विफलेन विपरीतफलजनकेन, जडजीवितेन हतजीवनेन जगता विश्वेन वा, मे मम किं फलं स्यान्न किमपि फलमित्यर्थः ।

तद्दर्शन एव मे जीवनं जगच्च सफलमिति भावः । इह प्रियाविरहो विभावः, जीवन जगन्निष्फलत्वाभिधानञ्चानुभावः । 'किं फलमित्यनेन पौनरुक्त्यवारणाय विफलेनेत्यस्य विपरीतफलजनकेनेति व्याख्यानेऽपि फलपदस्य द्विरुपादानात् कथितपदत्वं दुष्परिहरमेव । उत्तरवाक्ये तच्छब्दानुपादानमविमृष्टविधेयतामावहति ।

अब उदाहरण देखिये । वैदेही-विरह-कातर रामचन्द्रजी लक्ष्मण से कह रहे हैं कि—हे लक्ष्मण ! यदि वह मृगाक्षी (सीता) मेरे नयन-पथ में न आवेगी—अर्थात् यदि मुझे उसके दर्शन नहीं होंगे तब इस जड़-अर्थात् गति-हीन-जीवन से अथवा विपरीत फलजनक जगत् से क्या फल है । मेरे लिये न यह जीवन काम का है, न यह जगत्-अर्थात् सीता के दर्शन प्राप्त होते रहने पर ही मेरा जीवन सार्थक हो सकता है और मेरे लिये यह संसार भी तभी सार्थक है। यहां प्रिया-विरह को विभाव और जीवन तथा जगत् के निष्फलत्वकथन को अनुभाव समझना चाहिये ।

निर्वेदसद्भावेन शान्तरसध्वनिरेव न कुत इत्यत आह—

नित्यानित्यवस्तुविवेकजन्यत्वाभावान्नासौ रसपदव्यपदेशहेतुः ।

यतोऽसौ निर्वेदः शान्तरसस्थायिनो निर्वेदाद्भिन्नकारणजन्यत्वाद् भिन्नः, तस्मान्नात्र शान्तरसध्वनिव्यवहारः । कारणभेदस्तु तस्य निर्वेदस्य नित्यानित्ययोर्वस्तुनोर्विवेकेन जन्य-त्वात्, अस्य चाक्रोशनादिना जन्यत्वात् स्फुट एव वेद्यः ।

'निर्वेद' शान्त-रस का स्थायिभाव है, अतः 'यदि लक्ष्मण······' इत्यादि पद्य में शान्त रस की ध्वनि है, 'निर्वेद-भाव' की नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि नित्य और अनित्य वस्तुओं के विवेक से जिसकी उत्पत्ति होती है, वही 'निर्वेद' शान्त-रस का स्थायीभाव होता है, और जो 'निर्वेद' भाव रूप होता है, उसकी उत्पत्ति तो नित्यानित्य-वस्तु-विवेक से नहीं होती, वरन आक्रोशन आदि कारणों से होती है, जो पहले कहा जा चुका है, अतः यहां का 'निर्वेद' शान्त-रस-पद से व्यवहार करने योग्य नहीं है ।

इत्थमपरानुद्देशक्रमेण भावान् निरूप्य देवादिविषयकरतिभावमुदाहरति—

देवादिविषया रतिर्यथा—

भक्तो भगवन्तं भाषते—

'भवद्द्वारि क्रुध्यज्जय-विजय-दण्डाहतिदलत् ,
किरीटास्ते कीटा इव विधिमहेन्द्रप्रभृतयः ।
वितिष्ठन्ते युष्मन्नयनपरिपातोत्कलिकया,
वराकाः के तत्र क्षपितमुर ! नाकाधिपतयः ।।'

हे क्षपितमुर । मुरारे ! यत्र भवद्द्वारि, कुध्यतोरनवसरेऽननुमतप्रवेशात् कुध्यतोः, जयविजययोस्तदाख्यद्वारपालयोः, (वारणाय मुहुर्विधीयमानाभिः) दण्डाहतिभिर्वेत्राघातैः,

दलन्ति विशीर्णीभवन्ति किरीटानि शिरोमण्डनानि येषां तादृशाः, विधिमहेन्द्रप्रभृतयो ब्रह्मेन्द्रादयः, कीटा इव निवार्यमाणा अपि निरुद्वेगाः, युष्माकं नयनयोः परिपातस्य सम्यङ्निक्षेपस्य उत्कलियोत्कण्ठया, वितिष्ठन्ते, तत्र, वराका दयनीयाः, नाकाधिपतयः स्वर्गैकदेशस्वामिनः कुबेरप्रभृतयः, के ? न केऽपीत्यर्थः।

उक्त रीति से अन्य तैंतिस भावों का निरूपण कर चुकने के बाद, अब देवादि विषयक रतिभाव का (इसका लक्षण करना यहां आवश्यक नहीं था, अतः) उदाहरण दिखलाते हैं—'देवादि विषयक रतिर्यथा' अर्थात् देवादिविषयक रतिभाव का उदाहरण, जैसे—कोई भक्त भगवान् से कहता है कि–हे मुर-रिपो ! क्रोधयुक्त जय-विजय नामधारी द्वारपालों के दण्ड-प्रहारों से जिनके किरीट टूटे जा रहे हैं, वे ब्रह्मा और महेन्द्र आदि देवता, आपके दृष्टि-पातकी-एक बार अच्छी तरह देखलेने भर की-उत्कण्ठा से आप के द्वार पर खड़े रहते हैं, फिर बेचारे स्वर्ग के स्वामी यम, कुबेर आदि वहां कौन होते हैं ! अर्थात् जहां ब्रह्मा और इन्द्र आदि की वह दशा है, वहां यम-कुबेर आदि को कौन पूछता है।

इह वस्तुध्वनिशङ्कामभ्युपेत्य भावध्वनिं स्थापयति—

अत्रापमानसहन-भगवद्द्वारनिषेवण-भगवत्कटाक्षपाताभिलाषादिभिर्ब्रह्मादिगता भगवदालम्बना रतिर्नाभिव्यज्यते, अपि तु भगवदैश्वर्यमवाङ्मनसगोचर इति चेत्, तथापि तादृशभगवदैश्वर्यवर्णनानुभाविततया कविगतभगवदालम्बनरत्या ध्वनित्वमक्षतमेव।

अत्र पद्येऽपमानसहनादिभिर्व्यञ्जकैर्ब्रह्मादिनिष्ठा भगवद्विषया रतिरभिव्यज्यत इति भावध्वनिरिति वक्तुं न शक्यते, यतो विपुलधनादिलाभाशयाऽपि तथा सम्भवः, किन्तु भगवद्द्वारि स्वयम्प्रभूणामपि ब्रह्मादीनां तथा स्थितया भगवदैश्वर्यस्यावर्णनीयत्वमचिन्त्यत्वं च वस्तुप्राधान्येन व्यज्यत इति वस्तुध्वनिरेवेति पूर्वपक्षाभिप्रायः, व्यज्यतां प्राग् वस्तु प्राधान्येन, तथापि पर्यन्ते भगवतस्तथाविधैश्वर्यस्य वर्णनेनानुभावेन कविनिष्ठाया भगवद्विषयाया रतेर्व्यञ्जने बाधाभावाद् रतिभावध्वनिरस्त्येवेत्युत्तरपक्षाभिप्रायः।

उक्त पद्य में जो ब्रह्मादिकों कि—अपमान सहना, भगवान् के द्वार का सेवन करना, और उनके कटाक्षपात की इच्छा रखना इत्यादि बातें वर्णित हुई हैं, उनसे भगवान् के विषय में उनका (ब्रह्मादिकों का) प्रेम नहीं अभिव्यक्त होता, क्योंकि प्रेम के अभाव में भी अत्यधिक धनादि लाभ की आशा से ब्रह्मादिकों का वैसा आचरण हो सकता है, अतः यह कहना चाहिये कि यहां सर्व-साधन-सम्पन्न ब्रह्मा आदि के उस तरह द्वार पर खड़े रहने से–'भगवान् का ऐश्वर्य अवर्णनीय तथा अचिन्तनीय है' यह वस्तु व्यक्त होती है इस पूर्वपक्ष के उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि–आरम्भ में उक्त वस्तु ही प्रधानतया ध्वनित होती है, तो, होवे, मुझे कोई आपत्ति नहीं, परन्तु अन्त में कवि का भगवद्विषयक प्रेम तो अवश्य ध्वनित होता है, क्योंकि उस प्रकार के भगवदैश्वर्य का वर्णन करना उक्त प्रेम का ही फल (अनुभाव) है, सारांश यह कि उक्त पद्य को देव-विषयक-रति-भाव-ध्वनि का उदाहरण मानने में किसी तरह की बाधा नहीं है।

अत्र रतिप्रतीतेः पश्चाद्भवत्वेनाप्राधान्याद्भावध्वनित्वव्यपदेशो दुर्घट इत्यरुचेरुदाहरणान्तमाचष्टे—

इदं वोदाहरणम्—

भक्तो भगवन्तं वदति—

'न धनं न च राज्यसम्पदं, नहि विद्यामिदमेकमर्थये।
मयि धेहि मनागपि प्रभो ! करुणाभङ्गितरङ्गितां दृशम् ॥'

हे प्रभो ! अहं धनं नार्थये न याचे, राज्यसम्पदं च नार्थये, विद्यामपि नार्थये, किन्तु 'करुणाभङ्गितरङ्गितां दयोद्रेकोच्छलितां, दृशं, त्वं मयि, धेहि निक्षिप' इतीदं केवलमेकमेव, अर्थये इत्यर्थः। अत्र धनाद्युपेक्ष्य भगवद्दयार्द्रदृक्पातमात्रार्थनया रतिः प्राधान्येन व्यज्यत इति रतिभावध्वनेरुदाहरणमिदमवसेयम्।

पूर्वपक्षी यदि कहे कि यहां उक्त वस्तु की प्रतीति पहले होती है और कविगत रति की पश्चात्, अतः प्रधान, वस्तु कहलायगी और रति तदपेक्षया गौण, फिर गौण रति को लेकर भाव-ध्वनि का व्यवहार करना उचित नहीं, तो छोड़िये उस पद्य को, यह दूसरा उदाहरण लीजिये। भक्त भगवान् से कहता है कि—हे प्रभो ! मैं धन नहीं चाहता, राज्य की सम्पदा नहीं चाहता और न विद्या ही चाहता हूँ। मैं तो एक ही चीज चाहता हूँ, और वह यह कि तू मेरे ऊपर करुणा की शैली से शोभित अपनी दृष्टि थोड़ी भी डाल दे।

तदाह—

अत्र धनाद्यपेक्षाशून्यस्य भगवद्दयाद्दगन्तपाताभिलाषो हि भगवत्यन्तानुरक्तिं व्यनक्ति।

अतो रतिभावध्वनिरिति शेषः।

यहां धन आदि की अपेक्षा से रहित भक्त की भगवान् के करुणामयकटाक्ष-पात की अभिलाषा उनके विषय में उसके अनुराग को व्यक्त करती है। अतः इस पद्य को रतिभावध्वनि का उदाहरण मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

उपसंहरति—

एवं सङ्क्षेपेण निरूपिता भावाः।

एवमुक्तप्रकारेण, संक्षेपेण भेदप्रभेदानिरूपणात् समासेन, भावाश्चतुस्त्रिंशत् निरूपिता इत्यर्थः।

अब संक्षेपतः भावों का निरूपण समाप्त हुआ।

ननूक्तातिरिक्तानामपि मात्सर्यादिभावानां लक्ष्येषु निरीक्षणाद् भावानां चतुस्त्रिंशत्त्वसंख्यानमसङ्गतमित्याशङ्क्य समादधाति—

अथ कथमस्य सङ्ख्यानियमः, मात्सर्योद्वेग-दम्भेर्ष्या-विवेक-निर्णय-क्लैब्य-क्षमा-कुतुकोत्कण्ठा-विनय-संशयधार्ष्ट्यादीनामपि तत्र तत्र लक्ष्येषु दर्शनादिति चेत्, न, उक्तेष्वेवैषामन्तर्भावेण सङ्ख्यान्तरानुपपत्तेः।

आद्येति सामान्याभिप्रायेणैकवचनम्।

उक्तातिरिक्तानामपि मात्सर्यादीनां लक्ष्येषूपलम्भात् सङ्ख्यानियमोऽसङ्गत इति शङ्कायाः-मात्सर्यादीनामुक्तेष्वेव भावेषु यथायथमन्तर्भावात् सङ्ख्यानियमो नासङ्गत इति समाधानम्।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भावों की संख्या ३४ ही हैं, यह नियम कैसे किया जा सकता ? जब कि काव्य आदि में अनेक स्थलों पर मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ (कपट), ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैब्य (कायरपन), क्षमा, कौतूहल, उत्कण्ठा, विनय, संशय और धृष्टता आदि भाव भी दृष्टिगोचर होते हैं। इसका उत्तर यह है कि ऊपर गिनाये गये मात्सर्य आदि भावों का भी पूर्वोक्त ३४ भावों में ही समावेश हो जाता है, अतः पृथक् उनकी गणना करना अयुक्त है।

कुत्र कस्यान्तर्भावः सम्भवतीति प्रतिपादयति—

असूयातो मात्सर्यस्य, त्रासादुद्वेगस्य, अवहित्थाख्याद्भावाद्दम्भस्य, अमर्षादीर्ष्यायाः, मतेर्विवेक-निर्णययोः, दैन्यात् क्लैब्यस्य, धृतेः क्षमायाः, औत्सुक्यात्

कुतुकोत्कण्ठयोः, लज्जाया विनयस्य, तर्कात् संशयस्य, चापलाद्धाष्टर्यस्य च वस्तुतः सूक्ष्मे भेदेऽपि, नान्तरीयकतया तदनतिरिक्तस्यैवाध्यवसायात्।

यद्यप्यसूयादितो मात्सर्यादीनामीषद्भेदोऽस्त्येव, किन्त्वसूयादीनां मात्सर्यादीनां च मिथो नियतसम्बन्धरूपाविनाभावादभेदारोपः, तथा च मात्सर्यादीनामसूयादिरूपतयाऽवधारणाच्च भावानां सङ्ख्याधिक्यस्य सम्भव इत्यभिप्रायः।

अब किसका अन्तर्भाव कहां होगा इस बात का प्रतिपादन करते हैं—'असूयातो' इत्यादि। अर्थात् मात्सर्य असूया में, उद्वेग त्रास में, दम्भ अवहित्था में, ईर्ष्या अमर्ष में, विवेक और निर्णय मति में, क्लैब्य दैन्य में, क्षमा धृति में, कौतूहल और उत्कण्ठा औत्सुक्य में, विनय लज्जा में, संशय तर्क में और धृष्टता चपलता में समाविष्ट हो जाते हैं। यद्यपि यहां जिस भाव का समावेश जिस भाव में किया गया है, दोनों में अर्थात् मात्सर्य आदि और असूया आदि में परस्पर सूक्ष्म भेद है, तथापि वे भाव एक दूसरे के बिना नहीं रहते, अतः उन्हें उनसे पृथक् नहीं माना गया। तात्पर्य यह है कि जहां असूया रहती है, वहां मात्सर्य अवश्य रहता है, फिर उन दोनों को दो भाव मानना व्यर्थ है, इसी तरह अन्य अन्तर्भूत होनेवाले और अन्तर्भूत करने वाले भावों के विषय में भी समझना चाहिये।

ननु सूक्ष्मभेदे सत्यपि कथमभेदारोप इत्याशङ्कायामाह—

मुनिवचनानुपालनस्य सम्भव उच्छृङ्खलताया अनौचित्यात्।

यदि सूक्ष्मभेदमपि भावानां गणयित्वा, सङ्ख्याधिक्यमूरीक्रियेत, तर्हि 'एकपञ्चाशद् भावाः' इति भरतमुनिकृता व्यवस्था भज्येत, तद्व्यवस्थोल्लङ्घनस्यानुचितत्वात् सूक्ष्मभेदो न गणनीय इत्याशयः।

सूक्ष्म भेद रहने पर भी उक्त भावों को एक मान लेने का कारण यह है कि उस तरह से उन-उन भावों को एक मान लेने से जब कोई क्षति नहीं होती और साथ-साथ भरत मुनि के वचन की रक्षा भी हो जाती है, तब उच्छृङ्खलता करना अनुचित है अर्थात् भरत ने भावों की संख्या ३४ ही मानी है, अतः हम को भी उनकी संख्या उतनी ही माननी चाहिये।

व्यभिचरिभावत्वेन प्रसिद्धानामप्येषां कुत्रचिद्भावान्तरे विभावता, क्वचिच्चानुभावता च भवतीत्युक्तोपपादयति—

एषु च सञ्चारिभावेषु मध्ये केचन कोषाञ्चन विभावा अनुभावाश्च भवन्ति। तथाहि—ईर्ष्याया निर्वेदम्प्रति विभावत्वम्, असूयां प्रति चानुभावत्वम्। चिन्ताया निद्रां प्रति विभावत्वम्, औत्सुक्यं प्रति चानुभावतेत्यादि स्वयमूह्यम्।

ईर्ष्याया निर्वेदजनकत्वात्तद्विभावत्वमसूयाजन्यत्वाच्च तदनुभावत्वम्, चिन्ताया निद्राजनकत्वात्तद्विभावता, औत्सुक्यजन्यत्वाच्च तदनुभावता, यथा भवति, तथैवान्यत्र विभावानुभावभावो भावानां स्वयमूहनीय इत्यर्थः।

पूर्वोक्त सञ्चारीभावों में से कुछ भाव कहीं-कहीं दूसरे भावों के विभाव और अनुभाव भी हो जाते हैं। जैसे—ईर्ष्याभाव निर्वेदभाव का विभाव और असूयाभाव का अनुभाव होता है, इसी तरह चिन्ताभाव निद्राभाव के प्रति विभाव और औत्सुक्यभाव के प्रति अनुभाव होता है। इसी प्रकार अन्यभावों के विषय में स्वयं ऊह कर लेना चाहिये। यहां चिन्ता को निद्रा का विभाव मानना अनुभव-विरुद्ध प्रतीत होता है।

अथ क्रमप्राप्तं रसाभासं निरूपयति—

अथ रसाभासः तत्र—

तत्र रसाभासे निरूपणीये लक्षणमाह—

अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्।

अनुचितं विभावमालम्बत इत्यनुचितविभावालम्बनस्तस्य भावस्तत्त्वमनुचितविभावकत्वं रसाभासत्वमित्यर्थः ।

अब 'रसाभास' का निरूपण करते हैं—'अथ रसाभासः' इति—अर्थात् अब रसाभास का निरूपण आरम्भ होता है। जहां रस का आलम्बन-विभाव अनुचित हो, वहां उसे रसाभास कहते हैं।

अनौचित्यनिर्वचन एकदेशिमतमुपन्यस्यति—

विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम्, यत्र तेषाम् 'अनुचितम्' इतिधीरिति केचित्।

यद्विभावविशेष्यकमनुचितत्वप्रकारकं ज्ञानं सभ्यानां जायेत, तद्विभावनिष्ठं सभ्यसमवेतानौचित्यप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वमेवानौचित्यमस्तीति केचिद्वदन्तीति सारम्।

आलम्बन-विभाव का अनौचित्य लौकिक-व्यवहार से समझना चाहिये—अर्थात् जिसके विषय में लोगों की 'यह अनुचित है' इस तरह की बुद्धि हो, उसी विभाव को अनुचित जानना चाहिये। यह कुछ विद्वानों का मत है।

तन्मतमपास्य मतान्तरमुपन्यस्यति—

तदपरे न क्षमन्ते, मुनिपत्न्यादिविषयकरत्यादेः संग्रहेऽपि बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसङ्ग्रहात्। तत्र विभावगतानौचित्यस्याभावात्। तस्मादनौचित्येन रत्यादिर्विशेषणीयः। इत्थं चानुचितविभावालम्बनाया बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च सङ्ग्रह इति। अनौचित्यं च प्राग्वदेव।

इतिर्मतसमाप्तिसूचकः। इदमुच्यते—

अनुचितविभावकत्वमेव यदि रसाभासस्य लक्षणं स्यात्, तर्हि मुनिगुरुपत्नीप्रभृतिविषयकरतेरनुचितविभावकत्वेन तत्राव्याप्तेर्वारणेऽपि, बहुनायकविषयाया अन्यतरमात्रनिष्ठायाश्च रतौ विभावस्य सभ्यसमवेतानौचित्यप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वाभावादनौचित्यविरहात् तत्राव्याप्तिः स्यादेव। न च तत्र तत्त्वे प्रमाणाभावः, 'उपनायकसंस्थायाम्' इत्यादिवक्ष्यमाणशब्दस्य सभ्यानुभवस्य च जागरूकत्वात्। तस्मादनुचितविभावकत्वमिवानुचितरत्यादिकत्वमपि रसाभासत्वम्। तथा च बहुनायकविषयकानुभयनिष्ठरत्योरप्यनौचित्याच्चाव्याप्तिरिति न कोऽपि दोषः। अनौचित्यं तु पूर्वमतवत् सभ्यसमवेतानौचित्यप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वमेव। रत्यादीत्यादिपदोपादानात् सर्वस्थायिसङ्ग्रहात् करुणाभासादौ न दोषः।

परन्तु रसाभास के उक्त लक्षण को दूसरे लोग नहीं मानते। वे कहते हैं—उस लक्षण से यद्यपि मुनि-पत्नी, गुरु-पत्नी आदि के विषय में होनेवाली रति का संग्रह हो जाता है, क्योंकि मुनिपत्नी आदि इतर मनुष्य की रति के लिये अनुचित (अयोग्य) हैं, यह बात लोगों की बुद्धि कबूल करती है, तथापि किसी नायिका की अनेक नायकों के विषय में जो रति होती है, और नायक-नायिका दोनों में से केवल एक में जो रति होती है, उनका संग्रह नहीं होगा, क्योंकि वहां विभाव अनुचित नहीं है अतः रसाभास के लक्षण में 'अनुचित' विशेषण विभाव में न लगा कर रति आदि स्थायिभावों में लगाना चाहिये—अर्थात् यह लक्षण बनाना चाहिये कि—'जिसके रति आदि स्थायिभाव अनुचित रूप से प्रवृत्त हुये हों, वे रसाभास कहलाते हैं'। इस तरह से लक्षण करने पर उन सब रतियों का संग्रह हो जाता है, जो मुनिपत्नी आदि के विषय में होती है, अथवा अनेक नायक के विषय में होती है, किंवा एकनिष्ठ है, क्योंकि इन तीनों लक्षणों में रति की प्रवृत्ति अनुचित रूप से होती है। अनौचित्य की परिभाषा इस मत में भी वही है—अर्थात् जिस रति को लोग अनुचित समझते हैं, वही अनुचित-प्रवृत्त रति है। इसी तरह अन्य स्थायीभावों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

रसाभासस्य रसत्वेन, भावाभासस्य च भावत्वेन विरुद्धत्वमविरुद्धत्वं च मतभेदेनाचष्टे—

तत्र 'रसाद्याभासत्वं रसत्वादिना न समानाधिकरणम्, निर्मलस्यैव रसादित्वात्, हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेन' इत्येके। 'नह्यनुचितत्वेनात्महानिः, अपि तु सदोषत्वादाभासव्यवहारः, अश्वाभासादिव्यवहारवत्' इत्यपरे।

प्रथमेनादिपदेन भावस्य, चरमेण च मनुष्याभासादीनां ग्रहणम्। निर्मलस्य दोषरहितस्य। आत्महानिः स्वरूपहानिरन्यत्वमिति यावत्। एकेऽपरे कथयन्तीति शेषः।

दुष्टो हेतुर्हेत्वाभासस्तत्त्वस्य हेतुत्वस्य च यथैकाधिकरणावृत्तित्वं विरोधस्तथैव दुष्टो रसो भावोऽपि, रसाभासो भावाभासश्च, तत्त्वस्य रसत्वस्य भावत्वस्य च नैकत्र स्थितिः, दोषरहितस्यैव रसत्वस्य भावत्वस्य स्वीकारादिति प्रथमं मतम्। यथाऽश्वस्य पङ्गुत्वादिदोषान्नाश्वत्वस्य हानिः, किन्त्वश्वाभासव्यवहारमात्रम्, तथैव रस-भावयोरपि दुष्टत्वे न रसत्व-भावत्वयोरभावः, किन्तु रसाभास-भावाभासव्यवहारमात्रमिति द्वितीयं मतम्। तत्र प्रथममते, धूमानुमितिनिरूपितहेत्वाभासत्वस्य, दाहानुमितिनिरूपितहेतुत्वस्य चैकत्रैव वह्नौ दर्शनाद्दृष्टान्तासिद्धिररुचिबीजम्।

अब रसाभास और भावाभास, रस और भाव ही हैं अथवा उनसे भिन्न इस प्रश्न का उत्तर मतभेद से देते हैं—'तत्र' इत्यादि। कुछ विद्वानों का कथन है कि रसाभासत्व और रसत्व इसी तरह भावाभासत्व और भावत्व समानाधिकरण (एक जगह रहने वाले) धर्म नहीं हैं-अर्थात् रसाभास, रस और भावाभास, भाव नहीं कहला सकते-क्योंकि रस अथवा भाव उसी को कहना चाहिये, जो निर्मल हो, जिसमें किसी तरह का अनौचित्य नहीं हो, और जब उसमें अनौचित्य आजाय, तब उसे रस या भाव नहीं कहना चाहिये, भले ही रसाभास (रस-सा भासित होने वाला) और भावाभास (भाव-सा आभासित होने वाला) कहलें। इसमें दृष्टान्त की आवश्यकता हो तो, नैयायिकों के हेत्वाभास को ले सकते हैं, अर्थात् वे हेत्वाभासत्व और हेतुत्व को समानाधिकरण नहीं मानते-हेत्वाभास को हेतु नहीं कहते। दूसरे विद्वान् कहते हैं कि-'रस में (रति में) दोष आ जाने से आत्म-हानि (स्वरूपनाश) नहीं होती अर्थात् जैसे निर्दुष्ट स्थायीभाव रस होते हैं, उसी तरह सदोष भी रस ही हैं, केवल दोष की सूचना देने के लिये उन्हें आभास कहते हैं, जैसे दोषयुक्त अश्व को लोग अश्वाभास कहते हैं, पर रहता है वह अश्व ही।'

रतेरनुचितविभावकत्वात् प्रथमः, बहुविषयकत्वाद् द्वितीयः, अनुभयनिष्ठत्वाच्च तृतीयः प्रकारो रसाभासस्य। तत्र प्रथमं प्रकारमुदाहरति—

उदाहरणम्—

राजरमणीकामुकवृत्तं वर्णयति—

शतेनोपायानां कथमपि गतः सौधशिखरं,
सुधाफेनस्वच्छे रहसि शयितां पुष्पशयने।
विबोध्य क्षामाङ्गीं चकितनयनां स्मेरवदनां,
सनिश्वासं श्लिष्यत्यहह सुकृती राजरमणीम्॥'

उपायानां शतेन बहुभिरुपायैः, कथमपि केनापि प्रकारेण, सौधशिखरं शुक्तिचूर्णधवलितप्रासादश्रृङ्गं, गतः प्राप्तः, सुधाफेनस्वच्छेऽमृतफेनश्वेते, पुष्पशयने कुसुमतल्पे, रहस्येकान्ते शयितां सुप्तां, राजरमणीं नृपवल्लभां, विबोध्य स्पर्शादिना जागरयित्वा, क्षामाङ्गीं कृशाङ्गीं, च चकितनयनां कोऽयं जागरयतीत्याशङ्कया चकिताक्षीं, स्मेरवदनामयं मे प्रिय इति

परिचये प्रमोदे न विहसन्मुखीं, (ताम्) सुकृती धन्यः, (सः) अहह आश्चर्यं निश्श्वासेन-सहितं सनिश्श्वासं यथास्यात् तथा श्लिष्यत्यालिङ्गतीत्यर्थः ।

उदाहरण लीजिये । कवि कहता है कि–वह पुण्यशाली पुरुष धन्य है, जो सैकड़ों उपायों के द्वारा, किसी प्रकार महलों की चोटी पर पहुंचकर, एकान्त में अमृत-फेन के समान धवल पुष्पशय्या पर सोई हुई कृशाङ्गी राजाङ्गना को जगाता है और जगने पर जब उसकी आँखें एक बार चमक उठती हैं, तथा मुख-कमल खिल उठता है, तब निःश्वास के साथ उसका आलिङ्गन करता है । यहाँ एक बात यह समझ लेने योग्य है कि 'रसाभास' के उक्त लक्षण से तीन भेद रसाभास के सिद्ध होते हैं–विभाव के अनौचित्य से रति में अनौचित्य आ जाने से एक, अनेक नायकों के विषय में होने के कारण रति के अनुचित हो जाने से द्वितीय और एकनिष्ठ होने के कारण रति के अनुचित हो जाने से तृतीय भेद होता है । जिनमें यह प्रथम भेद का उदाहरण है ।

विभावाद्याह—

अत्रालम्बनमनुचितप्रणया राजमणी । रहो रजन्याद्युद्दीपनम् । साहसेन राजान्तःपुरे गमनम्, प्राणेषूपेक्षा, निश्श्वासाश्लेषादयश्चानुभावाः । शङ्कादयश्च सञ्चारिणः ।

अनुचितः परपुरुषविषयकत्वादयुक्तः प्रणयो यस्याः सा ।

यहाँ जिसके साथ प्रेम करना अनुचित है, वह राजाङ्गना आलम्बन-विभाव है । एकान्त और रात्रि का समय आदि उद्दीपन-विभाव हैं । साहस करके राजा के अन्तःपुर में जाना, प्राणों की परवाह न करना, साँस का जोर-जोर से चलना और आलिङ्गन करना आदि अनुभाव हैं, तथा शङ्का आदि सञ्चारीभाव हैं ।

रसाभासत्वमुपपादयति—

निषिद्धालम्बनकत्वाच्चास्या रतेराभासत्वं रसस्य ।

अस्या अत्र प्रतीयमानाया रतेः, निषिद्धं परपुरुषत्वाद्गर्हितमालम्बनं यस्यास्तत्त्वाद् रसाभासत्वमित्यर्थः । अनुचितविभावकत्वप्रयुक्तो रसाभासस्य प्रथमः प्रकारोऽयमित्याशयः ।

यहाँ रति का आलम्बन–राजाङ्गना–लोक तथा शास्त्र से निषिद्ध है, अतः रस आभास-रूप हो गया है ।

अत्र तृतीयप्रकारोदाहरणत्वमाशङ्कते—

न चात्र 'चकितनयनाम्' इत्यनेन परपुरुषस्पर्शत्रासाभिव्यक्त्या रतेरनुभय-निष्ठतेत्याभासताहेतुर्वाच्यः ।

अत्र 'चकितनयनाम्' इति नायिकाविशेषणेन परपुरुषस्पर्शजन्यस्य तस्यास्त्रासस्यैव व्यज्यमानतया रते राजरमण्यवृत्तित्वः तीतेरनुभयनिष्ठतया रसाभासत्वं, न तु रतेरनुचित-विभावकत्वेनेति पूर्वपक्षाभिप्रायः ।

यहां राजाङ्गना का जो 'चकितनयना' विशेषण है, उससे यह प्रतीत होता है कि राजाङ्गना को पर-पुरुष-स्पर्श से त्रास हुआ है, और तब यह सिद्ध हो जाता है कि नायिका को उस नायक से प्रेम नहीं है, अतः रति के एकनिष्ठ (एकाङ्गी) होने से जो रसाभास का तृतीय भेद कहा गया है, उसका यह उदाहरण है, विभाव के अनौचित्य प्रयुक्त रति के अनुचित हो जाने से होनेवाले प्रथम भेद का नहीं, यह किसी की शङ्का है ।

उत्तरयति—

अस्याश्च चिराय तस्मिन्नासक्ताया अन्तःपुरे परपुरुषागमनस्यात्यन्तमसम्भा-वनया, क एष मां बोधयतीत्युचित एव त्रासः । अनन्तरं च परिचयाभिव्यक्त्या,

सोऽयं मत्प्रियो मदर्थं प्राणानपि तृणीकृत्यागत इति ज्ञानादुत्पन्नं हर्षमभिव्यञ्जयत् 'स्मेरवदनाम्' इति विशेषणं रतिं तदीयामपि व्यनक्ति, परन्तु प्राधान्यं नायकनिष्ठाया एव रतेः सकलवाक्यार्थत्वात् ।

तदीयां नायिकानिष्ठामपि । सकलवाक्यार्थत्वात् सम्पूर्णवाक्यव्यङ्ग्यत्वात् । आदौ परिचयाभावे नायिकायाः सहसा निद्रातो जागरणात् समुचिता चकितेत्यादिविशेषणेन त्रासप्रतीतिरेव, पश्चात् परिचये सति प्रणयमूलकतदीयसाहसानुष्ठानज्ञानजन्यहर्षव्यञ्जकेन 'स्मेरवदनाम्' इति विशेषणेन नायिकानिष्ठाऽपि रतिरभिव्यज्यत एवेति रतेर्नानुभयनिष्ठताऽऽभासत्वप्रयोजिका, किन्त्वनुचितविभावतैवेतिसारम् । यदीह नायिकायाः सर्वथा त्रास एव स्यात्, तर्हि हर्षव्यञ्जकं वदनस्मेरत्वं कथं स्यात्, अतः स्मेरत्वव्यङ्ग्यहर्षेण व्यज्यमानाया नायिकानिष्ठरतेर्न प्राधान्यम्, एकदेशव्यङ्ग्यत्वात्, अपि सकलवाक्येन व्यज्यमानाया नायकनिष्ठरतेरेव प्राधान्यमिति च विभावनीयम् ।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि नायिका चिरकाल से उस नायक में यद्यपि आसक्त थी, तथापि इस सुरक्षित अन्तःपुर में पर-पुरुष का आगमन अत्यन्त ही असम्भव है, फिर यह कौन मुझे जगा रहा है इस तरह की भावना से नायिका में त्रास का उदय हुआ है, न कि पर-पुरुष-स्पर्श के ख्याल से । अत एव, बाद में परिचय प्राप्त होने पर 'यह तो मेरा वही प्रेमी है, प्राण के मोह को भी छोड़ कर यहां तक मेरे लिये आ पहुंचा है' इस प्रकार के ज्ञान से नायिका को अत्यन्त हर्ष हुआ, इस बात को व्यक्त करने वाला 'स्मेरवदनां' यह विशेषण 'चकितनयनां' के अव्यवहित आगे नायिका में लगाया गया है, फिर तो उसी विशेषण से 'नायिका का भी प्रेम नायक में है' यह बात भी स्पष्ट व्यक्त हो जाती है, हां इतनी बात अवश्य है कि प्रधानता यहां नायकनिष्ठ रति को ही है, क्योंकि सम्पूर्ण वाक्य का तात्पर्यार्थ वही है । तात्पर्य यह कि जब इस तरह से नायिका का भी प्रेम नायक में सिद्ध हो जाता है, तब यह एकनिष्ठ रति का उदाहरण नहीं हो सकता, फलतः यह प्रथम भेद का ही उदाहरण है यह निर्विवाद-सिद्ध है ।

द्वितीयप्रकारमुदाहरति—

यथा वा—

पुंश्चली चरितं वर्णयति—

'भवनं करुणावती विशन्ती, गमनाज्ञालवलाभलालसेषु ।
तरुणेषु विलोचनाब्जमाला-मथ बाला पथि पातयाम्बभूव ॥'

कुतश्चिदागच्छन्ती बाला, पथि मार्गे, (स्वकीययौवनसौन्दर्याकृष्टहृदयैस्तरुणैरनुगम्यमाना) भवनं निजगृहं, विशन्ती प्रविशन्ती, गमनस्य प्रतिनिवर्तनस्य, आज्ञात्मकस्य देशलेशस्यापि लाभायाभिगमाय, लालसेषु लोलुपेषु, सकलेषु सर्वेष्वनुयायिषु तरुणेषु करुणावती दूरानुसरणोदितदयाविलोचनाब्जमालां कृतज्ञतासूचककोमलकटाक्षपरम्पराम्, अथ पातयाम्बभूव विनिक्षिप्तेत्यर्थः ।

इह तादृशदृष्टिनिक्षेपणव्यज्यमानाया रतेस्तरुणेष्विति बहुवचनेन बहुविषयत्वावगमाद् रसाभासद्वितीयप्रकारोदाहरणमिदम् ।

अब रसाभास के द्वितीय भेद का उदाहरण देखिये । कवि कहता है कि—गृह में प्रवेश करती हुई बाला ने जब देखा कि मुझ से जाने की किञ्चिन्मात्र-आज्ञा-प्राप्तिरूप लाभ के लोभी युवक-मण्डल रास्ते पर खड़ा है, तब करुणावती उस बाला ने उन युवकों पर एक साथ नयन-कमलों की माला गिरा दी—स्नेहभरी चितवन से उनकी ओर देखकर जाने की अनुमति दे दी ।

तदाह—

अत्र कुतश्चिदागच्छन्त्याः पथि तदीयरूपयौवनगृहीतमानसैर्युवभिरनुगम्यमानायाः कस्याश्चिद् भवनप्रवेशसमये, निजसेवासार्थक्यविज्ञानाय, गमनाज्ञापनरूपलाभलालसेषु तेषु, परमपरिश्रमस्मरणसञ्जातकरुणाया गमनाज्ञादाननिवेदकस्य विलोचनाम्बुजमालापरिक्षेपस्यानुभावस्य वर्णनादभिव्यज्यमाना रतिर्बहुवचनेन बहुविषया गम्यत इति भवत्ययमपि रसाभासः।

स्फुटम्।

कोई नवयौवना नायिका कहीं से आ रही थी, रास्ते में मनचले तरुणों का एक पूरा दल उसके पीछे हो लिया, होता भी क्यों नहीं, जब कि उस सुन्दरी ने अपने रूप और यौवन से उस (दल) का हृदय-हरण कर लिया था। पर उन युवकों को नयनसुख के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगा, एक वाणी सुनने के लिये भी वे बेचारे तरसते ही रहे, आखिर उस सुन्दरी का घर भी आ गया, वह अपने घर में घुसने लगी, अब वे युवक क्या करते, रास्ते पर खड़े हो गये, उनके मन में यह लालसा उठ रही थी कि 'यदि अब भी यह सुन्दरी और न कुछ तो न सही-कम से कम अपने श्रीमुख से जाने की आज्ञा भी दे दे, तो हम अपनी सेवा को सार्थक समझ लें'। भगवान् ने समझा, उस सुन्दरी के हृदय में उनके अथक परिश्रमों को याद कर दया उमड़ आई, अतः उसने 'मैं आप सबों को जाने की आज्ञा देती हूं' इस अर्थ के सूचक-वचन-प्रयोग तो नहीं—मधुर-दृष्टि निक्षेप उनके ऊपर जरूर किया, (फिर क्या था, वे युवक अपने को कृतार्थ समझते हुये इधर-उधर बिखर गये)। यहां दृष्टि-निक्षेपरूप अनुभाव के वर्णन से नायिका की रति अभिव्यक्त होती है और वह भी 'तरुणेषु' इस बहुवचन-प्रयोग के द्वारा अनेक नायकों में प्रतीत होती है, अतः यह पद्य भी रसाभास (अनेक नायक विषयक रतिरूप द्वितीय भेद) का उदाहरण होता है।

तृतीयप्रकारमुदाहरति—

यथा वा—

नवोढावृत्तं वर्णयति—

'भुजपञ्जरे गृहीता, नवपरिणीता वरेण वधूः।
तत्कालजालपतिता, बालकुरङ्गीव वेपते नितराम्॥'

नवपरिणीता नवोढा (अनुत्पन्नप्रणया) वधूः, वरेण परिणेत्रा (न तु प्रियेण) भुजरूपे पञ्जरे गृहीता बलाद्धृता (गाढमालिङ्गिता) तत्कालं सद्यः, जाले पतिता, बाला, कुरङ्गी हरिणीव, भुक्त्युपायानुपलम्भात्, रतेरनुद्भवेन त्रासाच्च, नितरामत्यन्तं वेपते कम्पत इत्यर्थः।

अच्छा अब तृतीय भेद का भी उदाहरण देख लीजिये। एक सखी दूसरी सखी से कहती है—नवविवाहित दुलहीन को पति ने बाहुरूप पिंजड़े में पकड़ लिया, अतः वह बेचारी तत्काल जाल में फँसी हुई बच्ची हरिणी की तरह कांप रही है।

उपपादयति—

अत्र रतेर्नववध्वा मनागप्यस्पर्शादनुभयनिष्ठत्वेनाभासत्वम्।

नायकमात्रे तिष्ठन्ती रतिरिह नायिकायामीषदपि न तिष्ठतीत्यनुभयनिष्ठा रसाभासरूपैव।

उक्त पद्य से यह प्रतीत होता है कि अभी केवल नायक में ही प्रेम का प्रादुर्भाव हुआ है, नायिका में प्रेम का स्पर्श भी नहीं हुआ है, इस स्थिति में यह प्रेम (रति) अनुभयनिष्ठ (एक तरफा) है, अतः यह पद्य रसाभास (अनुभयनिष्ठ रतिरूप तृतीय भेद) का उदाहरण होता है।

उक्तप्रकारत्रये प्रामाणिकतां दर्शयति—

तथा चोक्तम्—

'उपनायकसंस्थायां, मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।
बहुनायकविषयायां, रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ॥' इति ।

रसाभास के उक्त तीनों भेदों में प्राचीनोंने भी साक्षिता की है। उन्होंने कहा है कि यदि नायिका की रति उपनायक (जार) में हो, अथवा नायक की रति मुनि किंवा गुरु की पत्नी के विषय में हो, अथवा एक नायिका की रति अनेक नायकों के विषय में हो, अथवा नायक-नायिका में एक ही तरफ से रति हो, तब वह रति रस नहीं रसाभास कहलाती है। यहां एक बात विचारने योग्य यह प्रतीत होती है कि—इस प्राचीनोक्त कारिका में 'उपनायकनिष्ठायां' और 'मुनिगुरुपत्नीगतायां' ये दोनों ही पद क्यों कहे गये हैं ? दोनों पदों की आवश्यकता तो नहीं मालूम पड़ती, क्योंकि उपनायकनिष्ठ रति से मुनिपत्न्यादिगत रति भी संगृहीत हो जाती है, कारण यह कि मुनिपत्नी आदि में जिसकी रति होगी, वह मुनिपत्नी का उपनायक ही होगा, फिर उन दोनों की रति उपनायक निष्ठ कहलायगी, यदि कहें कि वहां मुनिपत्नी आदि की रति नायक में नहीं रहती, तब मैं कहूंगा कि अनुभयनिष्ठ रति से संग्रह हो जायगा। एक बात और वह यह कि उक्त कारिका से रसाभास के चार भेद प्रतीत होते हैं, पर ग्रन्थकार ने तो तीन ही भेद दिखलाये हैं, जो ठीक भी हैं, अतः इस प्राचीन कारिका में कुछ असंगति अवश्य है।

उक्तार्थोदाहरणसङ्ग्रहार्थमभिधत्ते—

अत्र 'मुनिगुरु' शब्दयोरुपलक्षणपरतया राजादेरपि ग्रहणम्,
आदिपदेनागम्यपत्नीकानां शिष्यादीनां परिग्रहो बोध्यः ।

उक्त प्राचीन कारिका में मुनि और गुरु पद उपलक्षण हैं, अतः उन पदों से राजा शिष्य आदि का भी ग्रहण करना चाहिये। अतः 'शतेनोपायानाम्'''' इत्यादि प्रथम उदाहरण का संग्रह हो जाता है।

रस-तदाभासयोरेकत्र संशयात् पृच्छति—

अथात्र किं व्यङ्ग्यम् ?—

'व्यानम्राश्चलिताश्चैव, स्फारिताः परमाकुलाः ।
पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चाल्याः, पतन्ति प्रथमा दृशः ॥'

पाञ्चाल्या द्रौपद्याः, प्रथमाः परिचयानन्तरमाद्याः, दृशो दृष्टयः, पाण्डोः पुत्रेषु युधिष्ठिरादिषु क्रमेण युधिष्ठिरे गौरवाद्व्यानम्रा विनताः, भीमसेने त्रासाच्चलिताश्चञ्चलाः, अर्जुने प्रभावोत्कर्षात् स्फारिता विकासिताः, नकुलसहदेवयोश्च सौन्दर्यातिशयात् परमाकुला अत्युत्सुकाश्च, पतन्तीत्यर्थः ।

अत्र पद्ये रसो रसाभासो वा व्यङ्ग्य इति प्रष्टुराकूतम् ।

अच्छा, अब यह विचार कीजिये कि 'पाण्डवों के ऊपर, द्रौपदी की प्रथम दृष्टियां अतिनम्र चञ्चल, विकसित और परम व्याकुल होती हुई गिरती हैं' एतदर्थक 'व्यानम्राः''''' इत्यादि पद्य में क्या व्यङ्ग्य है ? रस ? अथवा रसाभास ?

विशेषणव्यङ्ग्यप्रदर्शनपुरस्सरं नवीनमते रसाभासत्वं व्यवस्थापयति—

अत्र व्यानम्रतया पर्यासताप्रयोज्यं युधिष्ठिरे सभक्तित्वम्, चलिततया स्थूलाकारताप्रयोज्यं भीमसेने सत्रासत्वम्, स्फारिततयाऽलौकिकशौर्यश्रवणप्रयोज्यमर्जुने सहर्षत्वम्, परमाकुलतया परमसौन्दर्यप्रयोज्यं नकुलसहदेवयोरौत्सुक्यं

च व्यञ्जयन्तीभिर्दृग्भिः पाञ्चाल्या बहुविषयाया रतेरभिव्यञ्जनाद् रसाभास एवेति नव्याः।

अत्र द्रौपदीदृष्टिविशेषणचतुष्टयेन युधिष्ठिरादिनिष्ठ-धर्मात्मताऽऽदिप्रयोज्यानि भक्ति-त्रास-हर्षौत्सुक्यानि व्यज्यमानानि, द्रौपदीनिष्ठां युधिष्ठिराद्यनेकनायकविषयकत्वादनुचितां रतिं प्राधान्येन व्यञ्जन्तीति शृङ्गाररसाभासध्वनित्वं नवीना मन्यन्त इति सारम्।

इह शौर्यस्यादृश्यतया यथा श्रवणपदोपन्यासः, तथा धर्मात्मताया अपीति तत्रापि तदुपन्यास उचितः।

उक्त विचार के प्रसङ्ग में नवीन विद्वानों का कथन है कि यहां रसाभास ही व्यङ्ग्य है, रस नहीं, क्योंकि 'अतिनम्र' इस विशेषण से धर्मात्मा होने के कारण युधिष्ठिर के विषय में भक्ति को, 'चञ्चल' इस विशेषण से स्थूल काय होने के कारण भीमसेन के विषय में त्रास को, 'विकसित' इस विशेषण से अलौकिक शूरता की बात श्रुत होने के कारण अर्जुन के विषय में हर्ष को और 'परम व्याकुल' इस विशेषण से अति सुन्दर होने के कारण नकुल तथा सहदेव के विषय में उत्सुकता को अभिव्यक्त करनेवाली दृष्टियों के वर्णन से द्रौपदी की अनेक नायक विषयक रति ध्वनित होती है।

प्राचीनमते तत्र रसत्वमेव व्यवस्थापयति—

प्राञ्चस्त्वपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे, रतेराभासतेत्याहुः।

अपरिणेतारः परिणयकर्तृभिन्ना बहवोऽनेके नायका विषया यस्याः सैव रतीरसाभासः। प्रकृते द्रौपदीनिष्ठरतेर्बहुनायकविषयकत्वेऽपि, नायकानां परिणेतृत्वाद् विशेषणाभावप्रयोज्य-विशिष्टाभावाच्च रसाभासत्वम्, अपित्वनौचित्याप्रतीत्या रसत्वमेवेति प्राचीनानां मतम्। इह प्राचीनमतस्य गरीयस्त्वं पश्चान्निर्देशः सूचयति। यत्त्वत्र टीकायां तुना सूचितमरुचिबीजं लक्षणे परिणेतृभेदानिवेशादपरिणेतृबहुनायकविषयकत्व इवात्रापि रतेरनौचित्यस्य भान-मुक्तम्, तन्न युक्तम्, रतेरनौचित्यावभासे लोकशास्त्रगर्हितत्वस्यैव हेतुतया, महाभारतप्र-कृतप्रकरणपर्यालोचनया तदसम्भवात्, विशेषपञ्चेन्द्रोपाख्यानदर्शनेन नायकबहुत्वादिति विभावनीयम्।

प्राचीन विद्वानों के मत से उक्त श्लोक में रस ही व्यङ्ग्य है, रसाभास नहीं, क्योंकि वे विधिवत् पाणिग्रहण न करने वाले अनेक नायक के विषय में होनेवाली रति को ही रसा-भास मानते हैं, यहां तो पांचों पाण्डव द्रौपदी के विधिवत् पाणि-ग्रहण करनेवाले ही हैं, अतः उन पाँचों के विषय में होनेवाली द्रौपदी की रति रसाभास नहीं कहला सकती, वरन शुद्ध रस ही कहलायगी। यहां 'प्राञ्चस्तु' इस 'तु' शब्द से अरुचि सूचित होती है, और उसका कारण यह है कि एक नायिका का अनेक नायकों से प्रेम करना हरहालत में अनु-चित ही है, चाहे वे नायक विधिवत् पाणिग्रहण कारक हों अथवा उदासीन। और लक्षण में भी इस तरह का कोई निवेश नहीं किया गया है, जिससे पाणिग्रहण करनेवाले अनेक नायकों के विषय में होनेवाली रति रसाभास-संज्ञा से मुक्त की जा सके। यह है नागेश का अभिप्राय। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि नागेश का यह अरुचिप्रदर्शन समुचित नहीं है कारण यह कि लोक और शास्त्र से निन्दित होने से ही तो रति का अनौचित्य सिद्ध होता है, और महाभारत (जो धर्मग्रन्थ तथा अपने युग का इतिहास ग्रन्थ भी है) के पर्यालोचन से द्रोपदी का पांच पाण्डवों के साथ प्रेम करना निन्दित नहीं समझा जाता, अतः प्राचीनों का मत ठीक ही है।

रसाभासं विभजते—

तत्र शृङ्गाररस इव शृङ्गाररसाभासोऽपि द्विविधः—संयोगविप्रलम्भभेदात्।

तत्र रसाभासेषु, यथा शृङ्गाररसो द्विविधः, तथा संयोगशृङ्गाररसाभासो विप्रलम्भशृङ्गाररसाभासश्चेति तदाभासोऽपि द्विविधस्तुल्यन्यायात । एवं वीररसाभासभेदा अप्यूहनीया इत्यभिप्रायः ।

जैसे सम्भोग और विप्रलम्भ भेद से शृङ्गार रस दो प्रकार के होते हैं, उसी तरह शृङ्गार रसाभास भी दो प्रकार के होते हैं ।

तत्र विप्रलम्भाभासोदाहरणमात्रस्य वक्ष्यमाणत्वेन न्यूनतां परिहरति—

संयोगाभासस्त्वनुपदमेवोदाहृतः ।

नव्यमते—'व्यानम्राः' इत्यादिना, प्राचीनमते तु 'भुजपञ्जरे' इत्यादिना, तेन न्यूनता न शङ्कनीयेत्याशयः ।

सम्भोगशृङ्गार रसाभास का उदाहरण 'भुजपञ्जरे'...' इत्यादि अभी ही ऊपर कह आये हैं।

विप्रलम्भाभासमुदाहरति—

विप्रलम्भाभासो यथा—

वैदेहीविरहव्याकुलस्य दशाननस्य दशां वर्णयति—

'व्यत्यस्तं लपति क्षणं, क्षणमथो मौनं समालम्बते,
सर्वस्मिन् विदधाति किं च विषये दृष्टिं निरालम्बनाम् ।
श्वासं दीर्घमुरीकरोति, न मनागङ्गेषु धत्ते धृतिं,
वैदेहीकमनीयताकवलितो हा हन्त ! लङ्केश्वरः ॥'

हा हन्त ! वैदेह्या जानक्याः, कमनीयतया स्पृहणीयसौन्दर्येण, कवलितो वशीकृतचेताः, लङ्केश्वरो रावणः, क्षणं व्यत्यस्तमसङ्गतं लपति भाषते (प्रलपति) अथो क्षणं मौनं समालम्बते मूकीभवति, किञ्च सर्वस्मिन् प्रियेऽप्रिये च विषये, निरालम्बनां शून्यां, दृष्टिं विदधाति करोति, तथा दीर्घमायतं, श्वासम्, उरीकरोति वहति, एवम्, अङ्गेषु स्वावयवेषु, मनागीषदपि, धृतिं स्थिरतां न धत्ते न धारयतीत्यर्थः ।

विदधातीत्यत्र निक्षेपार्थकं विदधातीति पाठोऽधिकं शोभते ।

अब विप्रलम्भाभास का उदाहरण देखिये—सीता के सौन्दर्य से वशीकृत रावण की दशा अत्यन्त शोचनीय है । वह क्षणभर अंट-संट कुछ बकता है, तो क्षणभर चुप्पी साध लेता है । सभी वस्तुओं पर दृष्टि डालता है, पर एक भी वस्तु दिखाई नहीं पड़ती । वह जोर-जोर से सांस खींचता है और उसके अङ्गों में तनिक भी स्थिरता नहीं रहती—कभी हाथ और कभी पैर पटकता है, उससे थोड़ी देर भी शान्त नहीं रहा जाता ।

उपपादयति—

अत्र सीतालम्बनेयं लङ्केशगता विप्रलम्भरतिरनुभयनिष्ठतया जगद्गुरुपत्नीविषयकतया चाभासतां गता, व्यत्यस्तं लपतीत्यादिभिरुक्तिभिर्व्यज्यमानैरुन्माद-श्रम-मोह-चिन्ता-व्याधिभिस्तथैवाभासतां गतैः प्राधान्येन परिपोष्यमाणा ध्वनिव्यपदेशहेतुः ।

इह सीताविषयिकाया विप्रलम्भशृङ्गारस्थायिन्या रते रावणमात्रनिष्ठतया जगद्गुरुरामचन्द्रपत्नीविषयकतया च द्विविधानौचित्याद् विप्रलम्भशृङ्गाररसाभासत्वम् । सा हि—'क्षणं व्यत्यस्त'मित्यादिना व्यज्यमानेनोत्साहेन, 'क्षणमथो' इत्यादिना व्यज्यमानेन श्रमेण, 'सर्वस्मिन्' इत्यादिना व्यज्यमानेन मोहेन, 'श्वास'मित्यादिना व्यज्यमानया चिन्तया, 'न मना'गित्यादिना व्यज्यमानेन व्याधिना च भावेनानौचित्यप्रवृत्ततया भावाभासेन परिपोष्यत इति प्रधानीभूता विप्रलम्भशृङ्गाररसाभासध्वनिव्यपदेशस्य हेतुर्भवतीति सारम् ।

यहां सीता के विषय में जो रावण का विरहकालिक प्रेम है, वह अनुभयनिष्ठ है—अर्थात् रावणमात्र में है, सीता में नहीं और वह जगद्गुरु रामचन्द्र की पत्नी के विषय में है, अतः उस प्रेम में द्विविध अनौचित्य आ गया, जिससे वह 'आभास' रूप है। उस (प्रेम) को पुष्ट करनेवाले उन्माद, श्रम, मोह, चिन्ता और व्याधि ये सञ्चारीभाव भी जगद्गुरु—पत्नी विषयक होने के कारण 'आभास' रूप ही हैं, इन सञ्चारीभावों के व्यञ्जक क्रमशः अंट-संट बोलना, चुप्पी साधलेना, 'आलम्बनरहित देखना, जोर-जोर से सांस खींचना और अङ्गों में स्थिरता का न होना ये अनुभाव हैं। सारांश यह कि यहां रसाभास भी व्यङ्ग्य होता है और भावाभास भी, परन्तु भावाभास पोषक है—अङ्ग है और रसाभास पोष्य है—अङ्गी है, अतः रसाभास ही इस पद्यको ध्वनि कहे जाने का कारण है, भावाभास नहीं।

शृङ्गारवद् रसान्तराणामप्यनौचित्यप्रवृत्तत्वे रसाभासतां व्यवस्थापयति—

एवं कलहशीलकुपुत्राद्यालम्बनतया वीतरागादिनिष्ठतया च वर्ण्यमानः शोकः, ब्रह्मविद्यानधिकारिचाण्डालादिगतत्वेन च निर्वेदः, कदर्य-कातरादिगतत्वेन पित्राद्यालम्बनत्वेन वा क्रोधोत्साहौ, ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनत्वेन च विस्मयः, गुर्वाद्यालम्बनतया च हासः, महावीरगतत्वेन भयम्, यज्ञीयपशुवसाऽसृङ्मांसाद्यालम्बनतया वर्ण्यमाना जुगुप्सा च रसाभासाः।

यथा रतेर्मुन्यादिपत्नीविषयत्वेनानौचित्याच्छृङ्गाराभासता, तथैव कलहशीलो यः कुपुत्रस्तद्विषयस्य वीतरागपुरुषनिष्ठस्य च शोकस्यानौचित्यात् करुणाभासता, ब्रह्मविद्याया विज्ञानस्यानधिकारिणो ये चाण्डालादयस्तन्निष्ठत्वेन वर्ण्यमानस्य निर्वेदस्यानौचित्याच्छान्ताभासता, कदर्यो नीचः कातरो भीरुस्तन्निष्ठत्वेन वर्ण्यमानस्य क्रोधस्य रौद्राभासता, उत्साहस्य च वीराभासता, इन्द्रजालोपजीवक ऐन्द्रजालिकस्तद्विषयकत्वेन विस्मयस्याद्भुताभासता, गुरुजनादिविषयकत्वेन हासस्य हास्याभासता, महावीरनिष्ठत्वेन भयस्य भयानकाभासता, यज्ञीया वध्यतया यज्ञसम्बन्धिनो ये पशवस्तेषां यानि वसासृङ्मांसादीनि मज्जारुधिरमांसप्रभृतीनि तद्विषयत्वेन वर्ण्यमानाया जुगुप्सायाश्च बीभत्साभासता च ज्ञेयेत्याशयः।

अब शृङ्गार की तरह अन्य रस भी अनुचित रूप में प्रवृत्त होने पर रसाभास हो जाते हैं इस बात की व्यवस्था करते हैं—'एवं कलह' इत्यादि। जैसे शृङ्गार रस का स्थायीभाव (रति) उक्त रीति से अनुचित होने पर शृङ्गार रसाभास होता है, उसी तरह अन्य रसों के स्थायीभाव भी अनुचित होने पर तत्तद्रस के आभास रूप होते हैं। जैसे—करुण रस का स्थायीभाव (शोक) यदि कलहकारी कुपुत्र आदि के विषय में अथवा विरक्त पुरुष आदि आश्रय में वर्णित हो, शान्त रस का स्थायीभाव (निर्वेद) यदि ब्रह्म-विद्याध्ययन के अधिकार से वञ्चित चाण्डाल आदि आश्रय में वर्णित हो, रौद्र और वीर रस के स्थायीभाव (क्रोध और उत्साह) यदि दीन अथवा कायर आश्रय में किंवा पिता आदि के विषय में वर्णित हों, अद्भुत रस का स्थायीभाव (विस्मय) यदि ऐन्द्रजालिक आदि के विषय में वर्णित हो, हास्य रस का स्थायीभाव (हास) यदि गुरु आदि पूज्यों के विषय में वर्णित हो, भयानक रस का स्थायीभाव (भय) यदि किसी महावीर रूप आश्रय में वर्णित हो और बीभत्स रस का स्थायीभाव (जुगुप्सा) यदि यज्ञीय पशु के मज्जा, शोणित, तथा मांस आदि के विषय में वर्णित हो, तो, क्रमशः करुणरसाभास, शान्तरसाभास, रौद्ररसाभास, वीररसाभास, अद्भुतरसाभास, हास्यरसाभास, भयानकरसाभास, और बीभत्सरसाभास होते हैं।

तदुदाहरणाप्रदर्शनकारणमाह—

विस्तृतिभयान्नामी नेहोदाहृताः सुधीभिरूह्याः।

प्रत्येकमेषामुदाहरणप्रदर्शने ग्रन्थविस्तरः स्यादिति शृङ्गाराभासोदाहरणेनैव सुधीभिस्त-दूहः स्थालीपुलाकन्यायेन विधेय इत्यर्थः ।

इन सब रसाभासों के अलग-अलग उदाहरण दिखलाने में ग्रन्थ के अतिविस्तृत हो जाने का भय था, अतः वे नहीं दिखलाये गये, विद्वानों को स्वयं उनका ऊह करना चाहिये।

विशेषवक्तव्यविरहात् समासेनैव भावाभासान् निरूपयति—

एवमेवानुचितविषया भावाभासाः ।

एवमेव रसाभासवदेव, अनुचितविषया अनुचितालम्बनका अनुचिताश्रयनिष्ठा वा वर्ण्यमाना हर्षादयः पूर्वोक्ता भावा भावाभासा भवन्ति 'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः' इति प्राचीनाभिधानादित्यर्थः ।

इसी तरह हर्ष आदि पूर्वोक्त भाव भी यदि अनुचित आलम्बन के विषय में अथवा अनुचित आश्रय में वर्णित हों, तो भावाभास कहलाते हैं ।

समासेनैव भावाभासमुदाहरति—

यथा—

अनुचितरतिः प्रवासी प्रियां स्मरन् वदति—

'सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता
विद्याऽपि खेदकलिता विमुखीबभूव ।
सा केवलं हरिणशावकलोचना मे,
नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव ॥'

(सम्प्रति प्रियाविरहे) सर्वेऽपि, विषयास्तत्तदिन्द्रियैरनुभवनीयाः पदार्थाः, विस्मृति-पथं प्रयाता मुहुरनुसन्धीयमाना अपि विस्मृता एवाभूवन्, (चिरसेविता) विद्याऽपि, खेदकलिता [illegible] साम्मुख्यं विहाय दूरं जगाम. केवल [illegible] अधिदेवतेव हृदया-धिष्ठातृदेवतेव, मे मम हृदयात्, नैवापयाति नैव निस्सरतीत्यर्थः ।

जैसे—सभी विषय विस्मृति के मार्ग पर पहुँच गये-भूल से गये और विद्या भी जिसकी सेवा मैंने चिरकाल तक की थी—खिन्न होकर मुझे पराङ्गना-प्रणयी समझ कर ईर्ष्या से कलुषितहृदया होकर-विमुख हो गई, परन्तु केवल वह बाल हरिण के समान नयन वाली बाला अधिष्ठात्री देवी के समान बनी बैठी है, हृदय से कभी निकलती ही नहीं ।

प्रकरणं प्रदर्शयति—

गुरुकुले विद्याभ्याससमये तदीयकन्यालावण्यगृहीतमानसस्य, अन्यस्य वा कस्यचिद(ति)प्रतिषिद्धगमनां स्मरतो देशान्तरं गतस्येयमुक्तिः ।

गुरुकुलं गुरोर्गृहम् । 'अप्रतिषिद्धगमनाम्' इति पाठे तु निषिद्धालम्बनकत्वाभावाद्भावा-भासत्वं दुर्घटं स्यादिति प्रकोष्ठभद्रकशब्दः कल्पितः । इह गुरुकन्या तदन्या वा काचिद-गम्याऽऽलम्बनम् विषयो यस्याः सा स्मृतिरनौचित्यप्रवृत्तत्वाद् भावाभासरूपा, व्यञ्जनाभ्यां व्यतिरेकोपमालङ्काराख्यामुपस्क्रियमाणा स्मृतिभावाभासध्वनिव्यपदेशस्य बीजमवसेयम् ।

विद्याभ्यास करते समय, गुरु-पुत्री के लावण्य से मोहित मनवाले पुरुष की अथवा जिसका सम्भोग अत्यन्त ही निषिद्ध समझा जाता है, ऐसी किसी कामिनी का स्मरण करते हुए किसी अन्य की उस समय में यह उक्ति है, जब वह उससे दूर हो गया था ।

व्यङ्ग्यस्य व्यतिरेकस्य स्मृत्यङ्गत्वं प्रतिपादयति—

अत्र च स्वारमत्यागात्यागाभ्यां स्रक्चन्दनादिषु विषयेषु चिरसेवितायां

विद्यायां च कृतघ्नत्वम्, अस्यां च लोकोत्तरत्वमभिव्यज्यमानं व्यतिरेकवपुः स्मृतिमेव पुष्णातीति सैव प्रधानम्।

चिरं सेवितैरपि स्रक्चन्दनादिविषयैः, चिरं सेवितया विद्यया च सेवकस्य स्वात्मनस्त्यागः कृत इति तयोरकृतज्ञत्वम्, अस्यां नायिकायान्त्वल्पकालानुध्यातायामपि सततस्मृतिसंसक्ततया त्यागमकृतवत्यामपूर्वं कृतज्ञत्वं च व्यज्यमानं व्यतिरेकालङ्कारस्वरूपं स्मृतिभावस्यैवोपकारकमितीह भावाभासध्वनिरेव, नत्वलङ्कारध्वनिरित्याशयः।

यहां चिरसेवित स्रक्, चन्दन आदि विषय और चिर-सेवित विद्या—जो इस पद्य में उपमान रूप से आये हैं—में, अपने को छोड़ देने के कारण, कृतघ्नता तथा अल्पपरिचित उस मृगाक्षी—जो यहां उपमेय रूप से आई है—में अपने को अभी तक न छोड़ने के कारण, अलौकिक कृतज्ञता अभिव्यक्त होती है, अतः उपमान से उपमेय में आधिक्य-वर्णन रूप 'व्यतिरेक' अलङ्कार यहां व्यङ्ग्य है अवश्य, तथापि इस पद्य को अलङ्कार-ध्वनि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह व्यङ्ग्य 'व्यतिरेक' यहां उस प्रधान 'स्मृति-भाव' का ही पोषक है, जो अनुचित प्रवृत्त होने के कारण आभास रूप है। फलतः इस पद्य को 'भावाभास-ध्वनि' ही मानना चाहिये।

वस्तुव्यङ्ग्योपमाया अपि भावाभासाङ्गत्वं दर्शयति—

एवं च त्यागाभावगतं सार्वदिकत्वं व्यञ्जयन्त्यधिदेवतोपमाऽपि।

यथाऽधिष्ठात्री देवता स्वाधिष्ठानं न जातु त्यजति, तथेयमङ्गनाऽपि मम हृदयं न त्यजतीतिवाच्योपमाऽपि, परित्यागाभावस्य सार्वकालिकत्वं व्यङ्ग्यं वस्तु बोधयन्ती, चमत्कृतिमत्यपि स्मृतेरङ्गमेव, न प्रधानमिति भावः।

इसी तरह 'अधिदेवतेव' इस पद से वाच्य होनेवाली उपमा चमत्कारजनक होकर भी 'स्मृति-भाव' का अङ्ग ही है, प्रधान नहीं, क्योंकि इस उपमा से यह वस्तुध्वनित होती है कि जैसे अधिष्ठात्री देवी अपने अधिष्ठान को कभी नहीं छोड़ती, वैसे यह मृगाक्षी भी मेरे हृदय को कभी नहीं छोड़ती, अतः यह समझना चाहिए कि यह उपमा त्यागाभाव (न छोड़ने) में सार्वदिकता-चिरस्थायिता को व्यक्त करने के लिये ही केवल गढ़ी गई है।

भावाभासत्वमुपपादयति—

एषा चानुचितविषयकत्वादनुभयनिष्ठत्वाच्च भावाभासः।

एषा स्मृतिः। अनुचितविषयकत्वमालम्बनस्य निषिद्धत्वात्, अनुभयनिष्ठत्वं च नायकमात्रवृत्तित्वात्।

यह स्मृतिभाव नहीं, भावाभास है—इसलिये कि इसका विषय गुरुकन्या अथवा अन्य कोई अगम्या नायिका अनुचित है, और यह स्मृति अनुभयनिष्ठ भी है—अर्थात् नायिका तो स्मरण करती नहीं, अतः एक तरफा है।

विषयभेदादिहैव भावध्वनित्वमप्याह—

यदि पुनरियं तत्परिणेतुरेवोक्तिः, तदा भावध्वनिरेव।

नायिकायाः पत्युरेवोक्तिरेषा यदि प्रकरणे नावधार्येत, तदा निषिद्धालम्बनकत्वानुभयनिष्ठत्वयोरभावान्नस्मृतिभावाभासध्वनिः, किन्तु स्मृतिभावध्वनिरेवेति भावः।

यदि मानें कि 'सर्वेऽपि ......' इत्यादि पद्य वर्णनीय नायिका के परिणेता (पति) की ही उक्ति है, तब इस पद्य को 'भावध्वनि' का ही उदाहरण समझना चाहिये।

भावशान्तिं निरूपयति—

अथ भावशान्तिः—

निरूप्यत इति शेषः।

भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः ।

प्रागुक्तं विभावानुभावव्यज्यमान-हर्षाद्यन्यतमत्वं स्वरूपं यस्येति बहुव्रीहिः । विभावादिव्यङ्ग्यहर्षाद्यन्यतमनाश एव भावशान्तिरित्यर्थः ।

अब 'भावशान्ति' का निरूपण करते हैं। अच्छा, पहले उसका लक्षण देखिये—जिनके स्वरूप पूर्व में वर्णित हो चुके हैं, उन हर्ष आदि भावों में से किसी भाव के नाश को 'भाव-शान्ति' कहते हैं।

विशेषमाचष्टे—

सचोत्पत्त्यवच्छिन्न एव ग्राह्यः, तस्यैव सहृदयचमत्कारित्वात्।

यतः स भावनाश उत्पद्यमान एव (न तु स्थित्यवच्छिन्नः) सहृदयाह्लादकः, तस्मात् स एवात्र ग्राह्य इत्यर्थः ।

वह भाव-नाश उत्पत्त्यवच्छिन्न (उत्पत्ति-कालिक) ही लेना चाहिये—अर्थात् भाव के उत्पन्न होते ही उसके नाश का वर्णन होना चाहिये, उसके काम कर चुकने के बाद का नहीं क्योंकि उत्पत्तिकालीन भावनाश ही सहृदयों को चमत्कृत करता है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मानिन्याः सद्योऽमर्षध्वंसं वर्णयति—

> 'मुञ्चसि नाद्यापि रुषं, भामिनि ! मुदिरालिरुदियाय ।
> इति तन्व्याः पतिवचनैरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचिः ॥'

'हे भामिनि ! कोपने ! अद्यापीदानीमपि, रुषं कोपं मानं न मुञ्चसि न त्यजसि, (पश्य) मुदिरालिर्मेघमाला, उदियायोदिताऽभूत्' इति पतिवचनैः, तन्व्याः कृशाङ्ग्याः (मानिन्याः) नयनाब्जकोणयोर्लोचनकमलप्रान्तयोः, शोणरुचिर्माणोपहिता रक्तच्छविः, अपायि व्यनाशीत्यर्थः । मानिनी परुगोद्दीपनकादम्बिनीरावातश्रवणात् सद्यः प्रससादेति भावः ।

उदाहरण लीजिये—'अयि ! कोपमयि !! अब भी तू रोष का त्याग नहीं करती, देख तो, घन-घटा घिर आई' इस तरह पति के वचनों ने, कृशाङ्गी के नयन-कमल के कोने में जो रक्त छवि थी, उसे पी गया—वह उत्पन्न होने के साथ ही समाप्त हो गई।

विभावानुभावौ दर्शयति—

इह तादृशप्रियवचनश्रवणं विभावः, नयनकोणगत-शोणरुचेर्नाशः, तदभिव्यक्तः प्रसादो वाऽनुभावः ।

तादृशं मुदिरात्युदयबोधकम् । प्रियवचनश्रवणस्यामर्षभावशान्तिजनकत्वेन विभावत्वम्। नयनकोणशोणरुचिनाशस्य साक्षादमर्षनाशाजन्यत्वाद्विकल्पः ।

यहाँ प्रियतम की घन-घटा वाली बातों का सुनना विभाव है और नेत्र-कोण की रक्त-छवि का नाश अनुभाव है। यदि कहें कि नेत्र की लाली का नाश तो रोष-नाश का साक्षात् कार्य नहीं हो सकता—अर्थात् रोष-नाश से प्रसन्नता होगी और प्रसन्नता से कोपमूलक नेत्र-रक्तता का नाश होगा, तो मैं कहूंगा कि ठीक है, तब नेत्ररक्तता के विनाश के अभिव्यञ्जक प्रसन्नता को ही अनुभाव समझिये।

उपपादयति—

उत्पत्तिकालावच्छिन्नो रोषनाशो व्यङ्ग्यः ।

रोषोऽमर्षस्तेनात्रामर्षभावशान्तिर्ध्वनिरिति सारम् ।

उक्त विभाव और अनुभावों से उत्पत्ति के समय में ही रोष का नष्ट हो जाना व्यङ्ग्य है।

भावोदयं निरूपयति—

तथा—

भावोदयो भावस्योत्पत्तिः ।

पूर्वोक्तलक्षणस्य कस्यचिद्भावस्योदय उत्पत्तिरास्वादपदवीं गतो भावोदयो भवतीत्यर्थः ।

अब 'भावोदय' का निरूपण करते हैं। पहले उसका लक्षण देखिये—पूर्वोक्त हर्ष आदि में से किसी भी भाव की उत्पत्ति को 'भावोदय' कहते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

प्रियापराधबोधात् सद्यो मानिन्या वृत्तं वर्णयति—

'वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनी हारलक्ष्म दयितस्य भामिनी ।
अंसदेशवलयीकृतां क्षणादाचकर्ष निजबाहुवल्लरीम् ॥

(आलिङ्गन्तीं काचित्) दयितस्य वल्लभस्य, वक्षसि हृदये, विपक्षकामिन्याः प्रागुपभुक्त-प्रतिनायिकायाः, हारलक्ष्म गाढालिङ्गनोद्गतमुक्तामालाचिह्नं, वीक्ष्य विशेषेण दृष्ट्वा, (अप-राधनिश्चयात्) भामिनी रोषवती सती, अंसदेशयोर्दयितस्कन्धप्रान्तयोः, वलयीकृतां मण्ड-लाकारेण संयोजितां, निजबाहुवल्लरीं स्वभुजलताम्, क्षणात् सद्यः आचकर्ष-अमर्षोदयादा-कृक्षदित्यर्थः ।

उदाहरण देखिये—कोई कामिनी एकान्तस्थित प्रियतम के दोनों कन्धों पर हाथ रखकर गले मिल रही थी, तब तक अकस्मात् उसकी दृष्टि प्रियतम के वक्षःस्थल में उगे हुए सौत के हार-चिह्न पर पड़ी, फिर क्या था, तुरत वह कामिनी से भामिनी (कोपना) बन उठी और कन्धे पर से अपनी बाहु-लता को खींच लिया।

विभावमनुभावं व्यङ्ग्यं च प्रतिपादयति—

अत्रापि दयितवक्षोगत-विपक्षकामिनीहारलक्ष्मदर्शनं विभावः, प्रियासंदेश-वलयीकृतनिजबाहुलताऽऽकर्षणमनुभावः, रोषोदयो व्यङ्ग्यः ।

इहापि रोषपदममर्षबोधकम्, तेनामर्षभावोदयध्वनिर्बोध्यः ।

यहां भी प्रियतम के वक्षःस्थल पर सौत के हार का चिन्ह देखना विभाव और उसके कन्धे पर से लिपटी हुई भुजलता का खींच लेना अनुभाव है, जिनसे रोष-भाव का उदय व्यङ्ग्य होता है।

भावशान्ति-भावोदययोर्विषयैकमाशङ्क्य विषयविभागं दर्शयति—

यद्यपि भावशान्तौ भावान्तरोदयस्य, भावोदये वा पूर्वं भावशान्तेरावश्य-कत्वान्नानयोर्विविक्तो व्यवहारस्य विषयः, तथापि द्वयोरेकत्र चमत्कारविरहात्, चमत्काराधीनत्वाच्च व्यवहारस्य, अस्ति विषयविभागः ।

यत्रैकभावस्य शान्तिः, तत्रापरभावस्योदय आवश्यकः, यत्र पुनरेकभावस्योदयः, तत्र पूर्वमपरभावस्य शान्तिरवश्यमपेक्ष्यत इति भावशान्ति-भावोदययोः सर्वत्र सङ्कीर्णत्वात् स्वतन्त्रो व्यवहारस्य विषयो न सम्भवतीति शङ्कायाः—नह्येकत्रैव तत्रभावस्य शान्तेरुदयस्य च चमत्कारिता, नवा चमत्कारितां विना व्यवहारप्रवृत्तिरिति निर्णये, यत्र भावशान्तिचमत्कारः, तत्र भावशान्तिव्यवहारः, यत्र तु भावोदयचमत्कारः, तत्र भावोदयव्यवहारो भवतीति तयो-र्व्यवहारस्य विषयः परसाङ्कर्ये सत्यपि स्वतन्त्र एवेति समाधानम् ।

यद्यपि यह निश्चित है कि जहां किसी भाव की शान्ति होती है, वहां किसी दूसरे भाव का उदय भी होता ही है, इसी तरह जहां किसी भाव का उदय होता है, वहां उसके पहले

किसी अतिरिक्त भाव की शान्ति अवश्य हुई रहती है, फिर तो भावशान्ति और भावोदय के एक दूसरे से अमिश्रित लक्ष्यों का मिलना असम्भव है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों के अलग-अलग व्यवहार करने योग्य लक्ष्य नहीं हैं, क्योंकि एक जगह दोनों चमत्कारी नहीं होते अर्थात् भावशान्ति की जगह में भावान्तर का उदय निश्चित रह कर भी चमत्कारी नहीं रहता, इसी तरह भावोदय की जगह में प्राक्तनभाव की शान्ति नियमतः रहने पर भी चमत्कार जनक नहीं होती और व्यवहार चमत्कार के अधीन है—अर्थात् जिसमें चमत्कार रहता है, उसी का व्यवहार होता है, अतः इन दोनों के पृथक् पृथक् व्यवहार हो सकते हैं।

भावसन्धिं निरूपयति—

एवम्—

भावसन्धि-रन्योन्यानभिभूतयो-रन्योन्याभिभवनयोग्ययोः सामाना-धिकरण्यम्।

अन्योन्यं परस्परमनभिभूतयोरबाधितप्रतीतिचमत्कारयोः, अन्योन्याभिभवनयोग्ययो-र्मिथःप्रतीतिचमत्कारबाधनसमर्थयोः (अविरुद्धयोस्तुल्यबलयोः) द्वयोर्भावयोः, सामाना-धिकरण्यमेकदेशैककालावच्छिन्नचमत्कारिप्रतीतिविषयत्वं भावसन्धिरित्यर्थः।

सुन्दोपसुन्दन्यायेन मिथोबाधने प्रतीतिचमत्काराभावात्, ताटस्थ्ये परस्परबाधना-क्षमयोस्तु सन्धिप्रयोज्यविजातीयचमत्कारसमशिरस्कचमत्कारविरहाच्च क्रमेण विशेषणद्वय-सार्थक्यम्। तदुक्तम्—'भावयोः सन्धिरुभयसामग्रीयोगेन परस्परविमर्दः' इति। 'सन्धिरेक-कालमेव तुल्यकक्षयोरास्वादः' इति च।

अब 'भाव-सन्धि' का निरूपण करते हैं। सर्वप्रथम उसका लक्षण देखिये—एक दूसरे से दबे हुये न हों, पर एक दूसरे को दबाने की योग्यता रखते हों, ऐसे दो भावों के सामा-नाधिकरण्य (एक जगह रहने) को 'भाव-सन्धि' कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जिन दो भावों में से कोई एक दूसरे की प्रतीति और चमत्कार को बाधित करने की क्षमता रखता हो, परन्तु बाधित करे नहीं, ऐसे—अर्थात् अविरुद्ध और तुल्यबल दो भावों की सहस्थिति को भावसन्धि कहते हैं। यहां यदि लक्षण में 'एक दूसरे से दबे हुये न हों' यह पूर्व अंश नहीं कहा जाय, तब उन दो भावों की सहस्थिति में अतिव्याप्ति हो जायगी, जो, परस्पर बाधक होने के कारण अप्रतीयमान अत एव चमत्कारहीन होकर तटस्थ बने पड़े रहते हैं। इसी तरह यदि 'एक दूसरे को दबाने की योग्यता रखते हों' यह द्वितीय अंश लक्षण में न रखा जाय, तब उन [illegible] दो भावों की सह-स्थिति में अति-व्याप्ति हो जायगी, जिनकी सह-स्थिति से कोई खास चमत्कार नहीं उत्पन्न होता, अतः दोनों अंशों का निवेश सार्थक है ऐसा समझना चाहिये।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वयस्सन्धिमापन्नाया अनूढायाः सीताया रामचन्द्रे प्रथमं दर्शनं वर्णयति—

'यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः, शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः।
सङ्कुचन्ति विकसन्ति राघवे, जानकीनयननीरजश्रियः॥'

यौवनस्योद्गमेनारम्भेण नितान्तं शङ्किता गुरुदर्शने नवाङ्कुरितयौवनत्वाज्जातिस्वभावा-दुत्पन्नशङ्काः, (राघवस्य) शीलेन सद्वृत्तेन, शौर्येण विक्रमेण, बलेन शारीरिकसामर्थ्येन, कान्त्या लावण्यप्रभया च (प्रत्यक्षविषयेण) लोभिता उत्पादितलोभाश्च, जानक्याः सीतायाः नयने एव नीरजे कमले, तयोः श्रियः शोभाः, राघवे रामचन्द्रे (पतन्त्यः) सङ्कुचन्ति

लज्जया निमीलन्ति, विकसन्ति—औत्सुक्येनोन्मीलन्ति चेत्यर्थः। इह यौवनोद्गमस्योभयत्रान्वयः, उन्मीलननिमीलनयोश्च कालातिलाघवेन यौगपद्यव्यवहारः।

उदाहरण देखिये। एक सखी दूसरी सखी से कहती है—दोनों में (सीता तथा राम में) यौवन अंकुरित हो जाने के कारण अत्यन्त शङ्कायुक्त और राम की सच्चरित्रता, शूरता, शारीरिक बल और कान्ति के कारण लोभयुक्त कुमारी सीता के नेत्र-कमलों की शोभायें, रघुनन्दन रामचन्द्र के विषय में, संकुचित और विकसित हो रही हैं। भावार्थ यह है कि नवांकुरित सीताजी ने जब प्रथम प्रथम यौवनोन्मुख, सच्चरित्र, वीर, बलिष्ठ और सुन्दर रामचन्द्रजी को देखा, तब उनकी आंखें उन्हें देखने में कुछ संकुचित हो रही थीं क्योंकि उनके हृदय में उस समय एक तरह की शङ्का भी उपस्थित थी, जो किसी नव युवक को देखते समय किसी भी अंकुरयौवना के लिये स्वाभाविक है। और कुछ विकसित भी हो रही थीं, क्योंकि उस विलक्षण यौवनोन्मुख रामजी के प्रति उनके मन में लोभ भी था। इसी बात का वर्णन एक सखी दूसरी सखी से कर रही है।

विभावावाह—

अत्र भगवद्दाशरथिगतस्य लोकोत्तरयौवनोद्गमस्य, तादृशस्यैव शीलशौर्यादेश्च दर्शनं विभावः, नयनगत-सङ्कोचविकासावनुभावः, व्रीडौत्सुक्ययोः सन्धिर्व्यङ्ग्यः।

तादृशस्य लोकोत्तरस्य। नयनद्युतेः सङ्कोचेन व्रीडा, विकासेन चौत्सुक्यमिह समकक्षतयाऽऽस्वाद्येते इति भावसन्धिध्वनिः।

यहां भगवान् रामचन्द्रजी में लोकोत्तर यौवन की उत्पत्ति का तथा उसीतरह के लोकोत्तर चरित्र-वीरता आदि का दर्शन विभाव है और आंखों का संकुचित होना तथा विकसित होना अनुभाव है। जिनसे लज्जा और औत्सुक्य इन दो भावों की सन्धि व्यङ्ग्य होती है—अर्थात् नेत्र-संकोच से लज्जा और नेत्र-विकास से औत्सुक्य समानरूप से ध्वनित होते हैं, अतः यह पद्य 'भाव-सन्धि-ध्वनि' का उदाहरण होता है।

भावशबलत्वं निरूपयति—

तथा—

भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम्।

विरुद्धत्वान्मिथोबाध्यबाधकभावं प्राप्तानाम्, अथवाऽविरुद्धत्वात् तटस्थानां भावानां, व्यामिश्रणं स्वस्वव्यञ्जकपृथग्-वाक्यजप्रतीतिविषयत्वपूर्वकैकमहावाक्यजन्यचमत्कारकव्यञ्जनिक-प्रतीतिविषयत्वं शबलत्वमित्यर्थः।

जो परस्पर विरोधी होने के कारण एक दूसरे का बाधक हों, अथवा जो उदासीन—अर्थात् न परस्पर बाधक न परस्पर सहायक हों, ऐसे अनेक भावों के मिश्रण को 'भावशबलता' कहते हैं।

तथा शबलत्वं विवृणोति—

एकचमत्कृतिजनकज्ञानगोचरत्वमिति यावत्।

एकं महावाक्यजन्यं चमत्कृतिजनकं यद्व्यञ्जनिकज्ञानं, तद्विषयत्वमित्यर्थः।

मिश्रण शब्द का अर्थ यहां यह है कि यद्यपि भिन्न-भिन्न वाक्य से भिन्न-भिन्न भाव अभिव्यक्त होते हों, तथापि उन सब वाक्यों को मिलाकर जो एक सम्पूर्ण पद्यरूप महावाक्य बने, उससे जो एक व्यञ्जना वृत्ति के सहारे चमत्कारी ज्ञान हो, उसमें उन सब भावों का भासित हो जाना।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

सीतां विवास्यानुशयानः श्रीरामश्चिन्तयति—

'पापं हन्त मया हतेन विहितं, सीताऽपि यद्यापिता,
सा मामिन्दुमुखी विना बत वने किं जीवितं धास्यति ? ।
आलोकेय कथं मुखानि कृतिनां, किं ते वदिष्यन्ति मां,
राज्यं यातु रसातलं पुनरिदं, न प्राणितुं कामये ॥'

(यज्ञभूमिसमुत्पन्ना वह्निपरीक्षितशीला) सीताऽपि (क्षुद्रापवादभिया) यत्, यापिता राजधान्या निष्कास्य वनं गमिता, हन्त ! हतेन दुष्टेन दुर्दैवोपहतबुद्धिना वा मया, तत् सीतानिर्वासनं पापं कृतमविधेयं विहितम् । सा शतशः सुपरीक्षितप्रणया, इन्दुमुखी सीता, मां विना (एकाकिनी) वने, बत ! जीवितं किं धास्यति ? नैव धारयिष्यति । कृतैतादृश-पापकर्माऽहं कृतिनां प्राज्ञजनानां मुखानि, कथम्, आलोकेय लज्जया पश्येयम् ? । ते कृतिनः (पापिनं) मां, किं वदिष्यन्ति किं कथयिष्यन्ति ? । यदर्थं मयैतदनुष्ठितं तदिदं राज्यं, पुनः, रसातलं यातु विनश्यतु । अहं प्राणितुमतःपरं जीवितुं, न कामये नेच्छामि दुःख-दुर्यशो दग्धाज्जीवनान्मरणस्यैव श्रेयस्त्वादित्यर्थः ।

उदाहरण देखिये । सीता जी को वन में निर्वासित कर देने के बाद राम का कथन है कि मैं बड़ा दुर्बुद्धि हूं, तभी तो सीता को भी (जिसका शील अग्नि में परीक्षित हो चुका था) निकाल दिया, यह मुझसे बहुत बड़ा पाप किया गया, हाय ! क्या वह (जिसका मुझ में असीम प्रेम है) मेरे बिना वन में जी सकती है ? मैं भले आदमियों का मुख कैसे देखूंगा ? वे मुझे क्या कहेंगे ? यह राज्य (जिसके लिये मैंने यह पाप किया है) रसातल में चला जाय, मैं जीना नहीं चाहता ।

उपपादयति—

अत्र मत्य-सूया-विषाद-स्मृति-वितर्क-व्रीडा-शङ्का-निर्वेदानां प्रागुक्तस्वस्वविभावजन्मनां शबलता ।

इह 'पाप'मित्यादिना व्यज्यमानाया मतेः, 'हतेने'त्यादिना व्यज्यमानायाः स्वविषयकासूयायाः, 'सीताऽपी'त्यादिना व्यज्यमानस्य विषादस्य, 'से'त्यनेन व्यज्यमानायाः स्मृतेः, 'मामिन्दुमुखी'त्यादिना व्यज्यमानस्य वितर्कस्य, 'आलोकेये'त्यादिना व्यज्यमानाया व्रीडायाः, 'किं त'इत्यादिना व्यज्यमानायाः शङ्कायाः, 'राज्य'मित्यादिना व्यज्यमानस्य निर्वेदस्य च भावस्य शबलत्वमेकमहावाक्यजन्यैकशाब्दचमत्कारजनकप्रतीतिविषयत्वमस्तीत्यर्थः ।

यहां अपने अपने विभाव से अभिव्यक्त होने वाले मति, असूया, विषाद, स्मृति, वितर्क, व्रीड़ा, शङ्का और निर्वेद इन भावों का मिश्रण (शबलता) है—अर्थात् 'मैंने पाप किया' इससे मति, 'दुर्बुद्धि' इस आत्मविशेषण से स्वविषयक असूया, 'सीता को भी' इससे विषाद, 'वह चन्द्रमुखी' इससे स्मृति, 'मेरे बिना जी सकती है' इससे वितर्क, 'मैं भले आदमियों का मुख कैसे देखूँगा' इससे व्रीड़ा, 'वे मुझे क्या कहेंगे' इससे शङ्का और 'यह राज्य रसातल में चला जाय, मैं जीना नहीं चाहता' इससे निर्वेद, ये भाव व्यक्त होते हैं और इन सब भावों का समग्र श्लोकजन्यबोध में भान होता है, अतः यह 'भाव-शबलता-ध्वनि' हुई ।

काव्यप्रकाशव्याख्यातृकृतं भावशबलत्वलक्षणमुपन्यस्य निरस्यति—

यत्तु काव्यप्रकाशटीकाकारैः—'उत्तरोत्तरेण भावेन पूर्वपूर्वभावोपमर्दः शबलता' इत्यभ्यधीयत, तन्न, 'पश्येत् कश्चिच्चल चपल रे ! का त्वराऽहं कुमारी, हस्तालम्बं

वितर, हहहा ! व्युत्क्रमः क्वासि यासि ।' इत्यत्र शङ्काऽसूया-धृति-स्मृति-श्रम-दैन्य-मत्यौ-त्सुक्यानामुपमर्दलेशशून्यत्वेऽपि शबलताया राजस्तुतिगुणत्वेन पञ्चमोल्लासे मूलकृतैव निरूपणात् ।

'इत्थं पृथ्वीपरिवृढ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः, कन्या कश्चित् फलकिसलयान्यादतानाऽभिधत्ते ॥' इति काव्यप्रकाशोद्धृतपद्यस्यान्तिमं चरणद्वयम् । तत्र 'पश्येत् कश्चि'दित्यनेन शङ्कायाः, 'चल चपल रे' इत्यनेनासूयायाः, 'का त्वरा' इत्यनेन धृतेः, 'अहं कुमारी' इत्यनेन स्मृतेः, 'हस्तालम्बं वितर' इत्यनेन श्रमस्य, 'हहहा' इत्यनेन दैन्यस्य, 'व्युत्क्रमः' इत्यनेन मतेः, 'क्वासि यासि' इत्यनेनौत्सुक्यस्य च भावस्य व्यज्यमानतया व्यामिश्रणाद् भावशबलताया वर्णनीयराजविषयकरतिभावेऽङ्गतया भावशबलतालङ्कारः ।

तत्र काव्यप्रकाशव्याख्याकारेण भावशबलतां लक्षयता-'उत्तरोत्तरेण-उत्तरोत्तरमभिव्यक्तिविषयेण भावेन, पूर्वपूर्वमभिव्यक्तस्य भावस्य, उपमर्दोऽभिभवः शबलत्वम्' इति यदुक्तम्, तदसङ्गतम्, यतस्तन्मते बाध्यबाधकभावापन्नानामेव भावानामुपमर्दस्य सम्भवे शबलतायाः स्वीकारे, 'पश्येत् कश्चि'दित्यादावुदासीनानामेव शङ्कादिभावानां व्यामिश्रणाच्छबलताया वर्ण्यराजरतिभावाङ्गतया भावशबलतालङ्कारोदाहरणत्वेन काव्यप्रकाशपञ्चमोल्लासे गुणीभूतव्यङ्ग्योदाहरणप्रसङ्गे नैतत्पद्यं यदुल्लिखितं, तद्विरुद्धं स्यात्, शङ्कादिभावानां मिथो बाध्यबाधकत्वाभावात् । तटस्थानामपि भावानां व्यामिश्रणं शबलत्वमिति मन्मते तु न कोऽपि तद्विरोध इति मूलऽप्रतिकूला टीकाकृदुक्तिर्हेयैवेत्याकूतम् ।

काव्य-प्रकाश के टीकाकार ने जो यह लिखा है कि 'अग्रिम-अग्रिम भाव से पूर्व पूर्व भाव के उपमर्द (दबा दिये जाने) का नाम 'शबलता' है', वह ठीक नहीं, क्योंकि 'पश्येत्कश्चित्''''''' इत्यादि पद्य में यद्यपि 'पश्येत् कश्चित् ', 'चल चपलरे', 'का त्वरा', 'अहं कुमारी', 'हस्तालंबं वितर', 'हहहा', 'व्युत्क्रमः', और 'क्वासि यासि', इन वाक्यांशों से क्रमशः अभिव्यक्त होने वाले शङ्का, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, मति और औत्सुक्य, इन भावों के मिश्रणरूप शबलता है, तथापि वह राजविषयक स्तुति-अर्थात् कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है, प्रधान नहीं, अतः भावशबलता ध्वनि यहां नहीं कहला सकती—अर्थात् ध्वनि यहां कविनिष्ठ भाव की ही है भावशबलता तो अलङ्कार है, यह कथा मूलकार-मम्मट ने ही पञ्चम उल्लास में गुणीभूतव्यङ्ग्य निरूपण के प्रसङ्ग पर कही है । तात्पर्य यह कि यदि टीकाकारों के अनुसार उत्तरोत्तर भाव से पूर्व-पूर्व भाव के उपमर्द को शबलता मानी जाय, तब पूर्वोक्त रीति से 'भावशबलता यहां राजस्तुति का अङ्ग है' यह मूलकार का कथन असंगत हो जाय, क्योंकि उक्त भाव एक दूसरे का लेश मात्र भी उपमर्द नहीं करते, अतः उनके हिसाब से यहां शबलता हुई ही नहीं, फिर उसका अङ्ग होना कैसे संभव हो सकता ? फलतः मूलकार के कथन से ही विरुद्ध होने के कारण टीकाकार का उक्त कथन सर्वथा अमान्य है ।

नन्वात्मविशेषगुणानां स्वोत्तरविशेषगुणनाश्यत्वस्य तार्किकैरङ्गीकरणाच्चित्तवृत्तिविशेषाणां भावानामिच्छादिवदात्मविशेषगुणत्वादुत्तरोत्तरभावस्य पूर्वपूर्वभावाभिभावकत्वेन 'पश्ये'दित्यादावपि शङ्कादीनां मिथस्तादवस्थ्यस्याभावादेककालिकाभिव्यक्त्यसम्भवाच्च कथं शबलत्वं स्यादिति मूलविरोधस्तुल्य एवेति शङ्कां निराकरोति—

स्वोत्तरविशेषगुणेन जायमानस्तु नाशो न व्यङ्ग्यः, नचोपमर्दपदवाच्यः, नापि चमत्कारी ।

न तुल्यः, शङ्कादीनामात्मविशेषगुणत्वेन स्वोत्तरविशेषगुणजन्यनाशस्य व्यञ्जनात्वस्य-

बोध्यत्वात्, विलक्षणसंयोगार्थकोपमर्दपदवाच्यत्वाभावाच्चमत्कारजनकत्वविरहाच्च भावशबलत्वरूपताऽसम्भवात्, तथा च त्वन्मत एव मूलविरोध इत्याशयः ।

यदि आप कहें कि चित्त-वृत्ति रूप भावों का नैयायिकों के सिद्धान्तके अनुसार इच्छा आदि विशेष गुणों में समावेश होता है और 'आत्मवृत्ती विशेष गुणों का स्वोत्तरभाव विशेष गुणों से नाश हो जाया करता है' यह नियम है, अतः पूर्व भाव का नाश हुये बिना उत्तर भाव की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, तो मैं कहूंगा कि उक्त सिद्धान्त अपनी जगह पर ठीक है, परन्तु यहां उससे काम नहीं लिया जा सकता, क्योंकि अग्रिम विशेष गुण से होनेवाला पूर्व गुण का नाश व्यङ्ग्य नहीं हो सकता अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति से उसका बोध होना सम्भव नहीं, यदि उस नाश को व्यङ्ग्य मान भी लिया जाय, तो टीकाकार के 'उपमर्द' पद का वह वाच्य नहीं होता, क्योंकि उपमर्द पद का वाच्य विलक्षण संयोग है, यदि कथंचित् उक्त नाश को उपमर्द पद का वाच्य भी मान लें, तो उस नाश में कोई चमत्कार नहीं है, अतः वह भावशबलता रूप नहीं हो सकता ।

निर्गलितमाह—

तस्मात्—

'नारिकेलजल-क्षीर-सिता-कदलमिश्रणे ।
विलक्षणो यथाऽऽस्वादो-भावानां संहतौ तथा ॥'

नारिकेलजलस्य, क्षीरस्य दुग्धस्य, सितायाः श्वेतशर्करायाः, कदलस्य रम्भाफलस्य च मिश्रणे मिथः संयोजने, यथैकेन वस्तुना वस्त्वन्तरास्वादस्योपमर्दो न क्रियते, किन्त्वास्वादवैलक्षण्यमेव विधीयते, तथैव भावानां शबलत्वरूपसंहतावपि नोपमर्दः किन्त्वास्वादवैलक्षण्यमेवेत्यर्थः ।

अतः यह मानना चाहिये कि जैसे नारियल के जल, दूध, चीनी और केलों के मिश्रण में विलक्षण स्वाद उत्पन्न हो जाता है, उसी तरह भावों के मिश्रण में भी होता है। सारांश यह कि—पूर्वोक्त नारियल के जल, दूध आदि मिलने पर एक दूसरे का स्वाद नष्ट नहीं करता, किन्तु सब मिलकर, अपना अपना स्वाद रखते हुये, एक नया स्वाद भी उत्पन्न कर देते हैं, उसी तरह भाव भी अपना अपना आस्वादन करवाते हुये एक नया आस्वादन भी उत्पन्न कर देते हैं ।

भावशान्त्यादिध्वनिचतुष्टयस्य भावध्वनितां व्यवस्थापयति—

अत्रेदं बोध्यम्—

य एते भावशान्त्युदयसन्धिशबलताध्वनय उदाहृताः, तेऽपि भावध्वनय एव, विद्यमानतया चर्व्यमाणेष्विव, उत्पन्नत्वविच्छिन्नत्व-विनश्यदवस्थत्व-सन्धीयमानत्वपरस्परसमानाधिकरणत्वैः प्रकारैश्चर्व्यमाणेषु भावेष्वेव प्राधान्यस्यौचित्यात्, चमत्कृतेस्तत्रैव विश्रान्तेः ।

एते भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलताध्वनयो येऽत्रोदाहृताः, ते सर्वेऽपि भावध्वनय एव बोद्धव्याः, यतो विद्यमानावस्थापन्नत्वेनास्वाद्यमानेषु भावेषु यथा भावानामेव धर्मितया प्राधान्यं न तु धर्मस्य विद्यमानावस्थापन्नत्वस्य, तथैव भावोदयध्वनावुत्पत्त्यवस्थापन्नत्वेन, भावशान्तिध्वनौ विनश्यदवस्थापन्नत्वेन, भावसन्धिध्वनौ सन्धीयमानावस्थापन्नत्वेन, भावशबलताध्वनौ परस्परसमानाधिकरणावस्थापन्नत्वेन च विशेषणीभूतधर्मैः प्रकारैरास्वाद्यमानेषु भावेषु, धर्मिणां भावानामेव प्राधान्यं, नतूत्पत्त्याद्यवस्थापन्नत्वादिधर्माणाम् प्राधान्यमुचितम्, यतश्चमत्कारमूलकमेव प्राधान्यं निर्णीतमिति भावानामेव प्राधान्यमित्याशयः ।

अब भाव-शान्ति आदि ध्वनियाँ भी भाव-ध्वनियाँ ही हैं, अतिरिक्त नहीं, इस स्वकीय सिद्धान्त की व्यवस्था करते हैं-'अत्रेदं बोध्यम्' इत्यादि। ये जो ऊपर भाव-शान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शबलता की ध्वनियाँ उदाहरणों के द्वारा दिखलाई गई हैं, वे भी भाव-ध्वनियां ही हैं। कारण यह-कि जहां आप, हम-सभी भावध्वनियाँ मानते हैं अर्थात् भावों का आस्वादन करते हैं, वहां भी तो भावों की एक अवस्था-विद्यमानता रहती है, फिर भी जिस तरह वहां भावों का ही प्राधान्य माना जाता है, उस विद्यमानता अवस्था का नहीं, उसी तरह जहां आप भावशान्ति आदि की ध्वनियां मानते हैं, वहां भी यही मानना चाहिये कि विनष्ट होते हुये, उत्पन्न होते हुये, एक दूसरे से सटते हुये और एक साथ रहते हुये भावों का ही आस्वादन होता है, अतः वहां भी भावों का ही प्राधान्य है, उन विनाश, उत्पत्ति, सन्धि, शबलता (मिश्रण) रूप अवस्थाओं का नहीं, क्योंकि चमत्कार का विश्राम भाव की चर्वणा (आस्वाद) में ही जाकर होता है केवल अवस्था मात्र में नहीं, और साहित्य में प्राधान्य को चमत्कार-मूलक माना गया है।

धर्मधर्मिप्राधान्ये विनिगमनाविरहमाशङ्क्य समादधाति—

यद्यप्युत्पत्ति-विनाश-सन्धि-शबलतानां तत्सम्बन्धिनां भावानां च समानायां चर्वणाविषयतायां, न प्राधान्यं विनिगन्तुं शक्यते, तथापि स्थितौ भावेषु प्रधानतायाः क्लृप्तत्वाद् भावशान्त्यादिष्वपि तेष्वेव शान्तिप्रतियोगित्वादिभिर्व्यज्यमानेषु तस्याः कल्पयितुमौचित्यात्।

विनिगन्तुं निर्धारयितुम्। इह भावशान्त्युदयोपादानक्रमविपर्यासमूलं चिन्त्यम्। स्थितौ विद्यमानावस्थापन्नत्वविशिष्टभावध्वनौ। तेषु भावेषु। शान्तेः प्रतियोगिता सम्बन्धिता वैशिष्ट्यमिति यावत्। उत्पत्त्याद्यवस्थाविशिष्टानां भावानामेकास्वादे भावानामेव प्राधान्यं, नतूत्पत्त्याद्यवस्थानामिति निर्धारणं यद्यपि दुष्करम्, तथापि 'एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि सञ्चरति' इति रीत्या भावध्वनौ विद्यमानावस्थाया भावस्य चैकास्वादविषयत्वेऽपि चमत्कारानुभवाद्भावस्यैव प्राधान्यं यथाऽवधार्यते, तथैवोदयावस्था-प्रशाम्यदवस्था-सन्धीयमानावस्था-समानाधिकरणावस्थाभिः सहाप्येकास्वादविषयत्वे भावानामेव प्राधान्यमुचितत्वादवधारणीयमित्यभिप्रायः।

यद्यपि उत्पत्ति, विनाश, सन्धि और शबलता का तथा इन अवस्थाओं से सम्बन्ध रखनेवाले भावों का-दोनों का-आस्वादन समान रूप में होता है-अर्थात् भाव और उनकी वे अवस्थाएँ समान रूप से आस्वाद (चर्वणा) के विषय होते हैं, अतः कौन प्रधान है और कौन अप्रधान-अर्थात् भावप्रधान हैं या उनकी उक्त अवस्थायें यह निर्णय होना असम्भव है, तथापि जब स्थिति (विद्यमानता) की अवस्था में भावों की ही-न कि अवस्था की-प्रधानता स्वीकृत हो चुकी है, तब भाव-शान्ति आदि में भी शान्तिप्रतियोगित्व आदि रूप से अर्थात् शान्तिविशिष्टत्वेन, उत्पत्तिविशिष्टत्वेन, सन्धिविशिष्टत्वेन, और शबलताविशिष्टत्वेन रूपेण अभिव्यक्त होने वाले तत्तद्भावों की ही प्रधानता मानना उचित है, क्योंकि 'एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो बाधकाभावेऽपरत्रापि सञ्चरति' अर्थात् 'एक जगह निर्णय किया गया विषय, किसी खास बाधक के न रहने पर, दूसरी जगह भी माना जाता है' यह सिद्धान्त है।

अन्यथाऽनुपपत्त्यापि तत्र भावप्राधान्यं निर्धारयति—

किञ्च यदि भावशान्त्यादौ भावो न प्रधानम्, किन्तु तदुपसर्जनकशान्त्यादिरेवेत्यभ्युपेयते, तदा व्यज्यमानभावेष्वभिहिततत्प्रशमादिषु काव्येषु भावप्रशमादिध्वनित्वं न स्यात्।

स भाव उपसर्जनमप्रधानं यत्र, स तदुपसर्जनकः । यदिति भावशान्त्यादिध्वनौ शान्त्यादेरेव, नतु भावस्य प्राधान्यं स्वीक्रियते, तर्हि यत्र काव्येषु भावस्य व्यङ्ग्यता, शान्त्यादेस्तु वाच्यता, तत्र भावशान्त्यादिध्वनित्वव्यवहारो भवति भावप्राधान्यात्, सम्प्रति शान्त्यादेरेव प्राधान्याभ्युपगमे स नैव स्यात्, शान्त्यादेर्वाच्यत्वात्, तस्माद्भावप्राधान्यमेवाभ्युपेयमित्याशयः ।

यदि आप यह मानेंगे कि भावशान्ति आदि में भाव प्रधान नहीं है, अपि तु गौण हैं—अर्थात् वे शान्ति आदि अवस्थायें ही प्रधान हैं, जिनके विशेषण रूप से वहां भाव रहते हैं, तब जहां भावव्यङ्ग्य रहते हैं और उनकी शान्ति आदि अवस्थायें वाच्य रहती हैं, वहां आप के हिसाब से भावशान्ति आदि की ध्वनियां नहीं हो सकेंगीं ।

तदेवोपपादयन्नादौ तादृशं भावध्वनिमुदाहरति—

तथा हि—

खण्डितावृत्तं वर्णयति—

'उषसि प्रतिपक्षनायिका–सदनादन्तिकमञ्चति प्रिये ।
सुदृशो नयनाब्जकोणयो–रुदियाय त्वरयाऽरुणद्युतिः ॥'

उषसि प्रभाते, प्रिये वल्लभे, प्रतिपक्षनायिकासदनात् सपत्नीगृहात्, अन्तिकं समीपम्, अञ्चत्यागच्छति सति, सुदृशो नायिकायाः, नयनाब्जकोणयोर्नेत्रकमलप्रान्तभागयोः, अरुणद्युतिरमर्षजन्या रक्तकान्तिः, त्वरया झटिति, उदियायोत्पेद इत्यर्थः ।

देखिये । एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि–जब प्रियतम प्रातः काल में विरोधिनी नायिका (सपत्नी) के घर से अपने घर आये, तब सुन्दर नयनवाली नायिका के नेत्रकमल के कोनें में झट अरुणकान्ति उदित हो गई ।

अत्र काव्येऽमर्षभावस्योदयो यद्यप्युत्पूर्वकेणेण्धातुनाऽभिहितः, किन्त्वमर्षभावो व्यङ्ग्य एवेति भवत्येवामर्षभावोदयध्वनिव्यपदेशः, भवन्मते तूदयस्यैव प्रधानस्य वाच्यत्वात् स न स्यादित्याह—

अत्रोत्पूर्वकेणैतिना भावोदयस्य वाच्यतयैव प्रत्यायनात् ।

यहां 'उदियाय' इस क्रियापदघटक उत्पूर्वक इण् धातु से उदय की प्रतीति वाच्य रूप से ही कराई जा रही है, अतः आपके हिसाब से यहां भावोदय की ध्वनि नहीं हो सकती ।

अप्रधानप्रयुक्तमेव व्यवहारोपपत्तिमाशङ्क्य निराकरोति—

(ननु) उदयस्य वाच्यत्वेऽपि भावस्यावाच्यत्वाद्ध्वनित्वं सुस्थमिति चेत्, प्रधानस्य व्यपदेशानौपयिकत्वेऽप्रधानकृतव्यपदेशस्यानुपपत्तेः ।

औपयिकत्वं प्रयोजकत्वम् ।

ननूदयोऽत्र यद्यपि वाच्यः, किन्त्वमर्षो भावस्तु व्यङ्ग्य एवास्तीति तमादायैव भावध्वनिव्यवहार उपपद्येतेति शङ्कायाम्, 'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति' इति सिद्धान्तेन प्रधानस्योदयस्य वाच्यत्वेन ध्वनित्वाप्रयोजकत्वेऽप्रधानस्यामर्षभावस्य व्यङ्ग्यस्यापि प्राधान्याभावाद्ध्वनित्वप्रयोजकत्वासम्भवादिति समाधानम् ।

यदि आप कहें कि उदय के वाच्य हो जाने पर भी अमर्षभाव तो वाच्य नहीं होता, अतः यहां अमर्षभावोदय की ध्वनि मानने में कोई बाधा नहीं, तो यह भी संगत नहीं, क्योंकि आपके हिसाब से तो भावोदय आदि ध्वनिस्थल में उदय आदि ही प्रधान होते हैं, अतः जब प्रधान (उदय) ही वाच्य हो जाने के कारण ध्वनि शब्द से व्यवहृत होने योग्य नहीं रहा, तब अप्रधान (अमर्षभाव) प्रयुक्त ध्वनि का व्यवहार करना समुचित नहीं ।

स्वमतेऽनुपपत्त्यभावं दर्शयति—

अस्मन्मते तूत्पत्तेर्वाच्यत्वेऽप्युत्पत्त्यवच्छिन्नामर्षस्य प्रधानस्यावाच्यत्वाद् युक्त एव भावोदयध्वनिव्यपदेशः ।

भावस्यैव तत्र प्राधान्यमभ्युपगच्छतामस्माकं मते त्ववच्छेदकतयाऽप्रधानस्योदयस्य वाच्यत्वेऽपि, प्रधानस्य भावस्य व्यङ्ग्यत्वेन ध्वनित्वमुपपन्नमेवेत्याकूतम् ।

हाँ ! हमारे मत के अनुसार यहां अमर्ष-भाव-ध्वनि का व्यवहार अवश्य हो सकता है, क्योंकि हम भावोदय आदि में भी भाव को ही प्रधान मानते हैं, उदय आदि को नहीं, अतः अप्रधान उदय के वाच्य हो जाने पर भी प्रधान भाव (अमर्ष) के वाच्य नहीं—व्यङ्ग्य होने के कारण भावोदय-ध्वनि मानने में कोई आपत्ति नहीं होती है।

भावप्राधान्यानभ्युपगमे भावशान्तिध्वनित्वानुपपत्तिमपि दर्शयति—

एवं व्यज्यमानभावप्रतियोगिकस्य प्रशमस्य वाच्यत्वे भावशान्तिध्वनित्वं न स्यात् ।

एवं भावोदयवत् व्यज्यमानो भावः प्रतियोगी यस्य तादृशस्य प्रशमस्य भावशान्तेः ।

यत्र काव्ये भावो व्यङ्ग्यस्तच्छान्तिस्तु वाच्याऽस्ति, तत्र भावशान्तिध्वनिव्यवहारो भवति, स इदानीं न स्यात्, त्वन्मते प्रधानीभूतायाः शान्तेर्वाच्यत्वादिति सारम् ।

इसी तरह आपके मत में जहां शान्ति (नाश) का प्रतियोगी—अर्थात् जिसकी शान्ति वर्णनीय हो, वह भावव्यङ्ग्य है और शान्ति वाच्य है, वहां भावशान्ति की ध्वनि नहीं होगी।

तदुदाहरति—

यथा—

मानिन्या अमर्षभावशान्तिं वर्णयति—

'क्षमापणैकपदयोः, पदयोः पतति प्रिये ।
शेमुः सरोजनयना-नयनारुणकान्तयः ॥'

प्रिये दयिते, क्षमापणस्य स्वकृतापराधमर्षणस्य, एकपदयोरसाधारणस्थानयोः, पदयोश्चरणयोः, पतति सति, सरोजनयनायाः पद्माक्ष्याः, नयनयोरमर्षजनिताः, अरुणकान्तयो रक्तद्युतयः, शेमुर्विनेशुरित्यर्थः । अत्र नेत्रारुणकान्तिशान्त्याऽमर्षभावो व्यङ्ग्यः, तच्छान्तिस्तु वाच्येति भावशान्तिध्वनित्वं सिद्धम्, इदानीं भावप्राधान्यानभ्युपगमे शान्तेर्वाच्यत्वात् तन्न सिध्येत्, तस्माद्भावस्यैव प्राधान्यमभ्युपेयमित्याशयः । क्षमतेरादन्तत्वाभावात् पुको दौर्लभ्येन क्षमापणपदसाधनं नामधातुप्रक्रियया कथमपि विधेयम् ।

जैसे—एक सखी दूसरी सखी से कहती है, "[illegible] के एक (सर्व प्रधान) स्थान चरणों पर पति के गिरते ही सरसिज [illegible] नायिका के नयनों की अरुण कान्तियाँ शान्त हो गईं। यहां शान्ति के वाच्य होने पर भी उस शान्ति का प्रतियोगी अमर्षभाव नेत्रगत अरुणकान्ति के कारण रूप में व्यङ्ग्य है, अतः यहां भावशान्ति ध्वनि होती है, आप के हिसाब से वह नहीं होगी।

शान्त्यादिप्राधान्यवादी पुनराशङ्कते—

ननु शब्दवाच्यानां प्रशमादीनामरुणकान्त्यैवान्वयादरुणकान्तिप्रशमादेरेव वाच्यत्वं पर्यवसितम्, न तु तादृशप्रशमादिव्यञ्जकस्य रोषप्रशमादेः, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदस्यावश्यकत्वात् ।

नन्वत्र 'शेमु'-रिति पदेन वाच्याऽपि शान्तिर्यतोऽरुणकान्त्यैवान्वेति, तस्मादरुणकान्तिशान्तिरेवात्र वाच्या, नत्वरुणकान्तिशान्तिव्यङ्ग्या रोषरूपामर्षशान्तिरपि, व्यङ्ग्यस्य

व्यञ्जक (वाच्य) स्य च पृथक्ताया आवश्यकत्वाद्भावशान्तिध्वनित्वेऽत्र किमपि न बाधकमिति पूर्वपक्षाशयः ।

यदि आप कहें कि भावशान्त्यादि स्थल में शान्ति आदि की ही प्रधानता मानने पर भी 'उषसि प्रतिपक्ष······' इत्यादि तथा 'समापणैक······' इत्यादि पद्यों में भावोदयादि-ध्वनि मानी जा सकती है, क्योंकि—उक्त दोनों पद्यों में जो उदय और शान्ति वाच्य हैं, उनका अन्वय अरुणद्युति और अरुणकान्ति के साथ है, अतः अरुणद्युति का उदय तथा अरुणकान्ति की शान्ति भले ही वाच्य हो जाय, परन्तु प्रथम पद्य में अरुणद्युति के उदय से व्यक्त होने वाला अमर्षभाव का उदय तथा द्वितीय में अरुणकान्ति की शान्ति से अभिव्यक्त होने वाली अमर्षभाव की शान्ति वाच्य नहीं होते। कारण, व्यङ्ग्य और व्यञ्जक (वाच्य) पृथक्-पृथक् होते हैं—यह मानना आवश्यक है। तात्पर्य यह कि अरुणद्युति के उदय और अरुण कान्ति की शान्ति के वाच्य होने पर भी अमर्ष का उदय और रोष (अमर्ष) की शान्ति व्यङ्ग्य ही रहे, क्योंकि अरुणद्युति का उदय और अरुणकान्ति की शान्ति व्यञ्जक हैं और अमर्षोदय तथा अमर्षशान्ति हैं व्यङ्ग्य।

स्वपूर्वपक्षदार्ढ्यार्थमवान्तरशङ्कां विधाय निरस्यति—

न चारुणव्यङ्ग्यरोषस्यैव वाच्यीभूतप्रशमाद्यन्वय इति वाच्यम्, वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योरानुपूर्व्येण सिद्धतया, वाच्यान्वयबोधवेलायां वाच्यैः सह व्यङ्ग्यान्वयानुपपत्तेः ।

आनुपूर्व्यं क्रमः ।

ननु 'रोषु' रित्येतत्पदाभिहितायाः शान्तेः, वाच्यया नयनारुणकान्त्या, व्यज्यमानेन रोषेण (अमर्षेण) सहैवान्वय इति भावशान्तेर्वाच्यत्वात् पुनरपि ध्वनित्वमिह दुर्घटमेवेत्याक्षेपस्य, वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योः कार्यकारणभावात् क्रमिकत्वस्यावश्यकतया यौगपद्यासम्भवाद् व्यङ्ग्यस्य रोषस्यात्र वाच्यया शान्त्या सह वाच्यार्थबोधावसरे व्यङ्ग्यार्थानुपस्थितेरन्वयासम्भवाद् व्यङ्ग्यरोषस्य वाच्यशान्त्याऽन्वयाभावाद् भावशान्तिध्वनित्वं स्यादेवेति समाधानम् ।

यदि हम कहें कि—वाच्य नयनारुणकान्ति से व्यङ्ग्य होने वाले अमर्ष का ही वाच्य उदय तथा शान्ति के साथ अन्वय है—अर्थात् हम व्यङ्ग्य का ही वाच्य के साथ अन्वय मान लेते हैं, तात्पर्य यह कि इस तरह मान लेने पर भावोदय तथा भावशान्ति में वाच्यता हो जायगी, तो आप कहेंगे, यह अयुक्त है। क्योंकि यह मानी हुई बात है कि पहले वाच्य की प्रतीति (जो कारण है) होती है, फिर व्यङ्ग्य की (जो कार्य है), अतः यह मानना पड़ेगा कि—जिस समय वाच्यों का अन्वय होता है, उस समय व्यङ्ग्य उपस्थित ही नहीं हो सकता, फिर बताइये वाच्यों के साथ व्यङ्ग्यों का अन्वय कैसा ?

उक्तं समर्थयति—

अन्यथा 'सुदृशो नयनाब्जकोणयोः' इत्यस्यान्वयो न स्यात् ।

अन्यथा वाच्यव्यङ्ग्ययोरपि मिथोऽन्वयाङ्गीकारे, 'सुदृशः' इत्यादौ वाच्यस्य नायिकायाः सुदृक्त्वस्य नयनारुणकान्त्युदयस्य स्थाने रोषोदयेन सहान्वयो भवितव्यो न स्यात्, तस्यानुशङ्कात्वाभावप्राधान्यनिरसनशङ्का सुदृढैवेत्याशयः ।

यदि वाच्य और व्यङ्ग्य का अन्वय मान लिया जाय, तब 'उषसि······' इत्यादि प्रथम पद्य में 'सुन्दर नयनवाली नायिका के नेत्र कमलों के कोने में' यह जो अधिकरण कारक है, उसका अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि अधिकरण कारक का कर्ता अथवा कर्म के द्वारा ही क्रिया में अन्वय होता है और यहां उक्त रीति से 'उदियाय' इस क्रिया का कर्ता मान लिया गया व्यङ्ग्य अमर्ष, वाच्य अरुणद्युति नहीं, फिर कहिये, कसे उस अमर्ष रूप कर्ता में तथा उसके द्वारा उदय क्रिया में उक्त अधिकरण का अन्वय होगा—अर्थात्

अमर्ष-चित्त की वृत्ति है, नयन में वह आवेगा कहां से ? फलतः उक्त पद्य में अनन्विता- र्थक-असंगत-हो जायगा, अतः वाच्यशान्ति आदि का अरुणकान्ति आदि के साथ ही अन्वय मानना ठीक है, सारांश यह कि इन पद्यों में भावशान्ति आदि वाच्य नहीं हो सकती। और जब वह वाच्य नहीं होगी, तब भावशान्ति आदि की ध्वनियों में भावों की अप्रधानता और शान्ति आदि की ही प्रधानता मान लेने पर भी कोई दोष नहीं होगा।

उत्तरयति—

मैवम्।

एवं 'क्षमे'-त्याद्युदाहरणे वाच्यव्यङ्ग्ययोरन्वयाभावादनुपपत्तिविरहाद् भावस्य भाव- शान्त्यादावप्राधान्यं, मा भैवेत्यर्थः।

पर ऐसा नहीं कह सकते-अर्थात् भावशान्ति आदि की ध्वनियों में भावों की अप्रधानता और शान्ति आदि की प्रधानता नहीं मान सकते।

भावप्राधान्यसमर्थनायापत्तिप्रकाशकं स्थलान्तरमाचष्टे—

एवमपि—

उक्तोदाहरणयोरनुपपत्त्यभावेऽपि।

क्योंकि उक्त दोनों श्लोकों में उक्त रीति से किसी तरह की अनुपपत्ति नहीं होने पर भीः—

अननुनयेऽपि मानापगमं वर्णयति—

'निर्वासयन्तीं धृतिमङ्गनानां, शोभां हरेरेणदृशो धयन्त्याः।
चिरापराधस्मृतिमांसलोऽपि, रोषः क्षणप्राघुणिको बभूव॥'

अङ्गनानां गोपनितम्बिनीनां, धृतिं धैर्यं, निर्वासयन्तीं दूरे गमयन्तीं, हरेर्गोविन्दस्य, शोभां श्रियं, धयन्त्या नयनाभ्यां पिबन्त्याः, एणदृशो मृगाक्ष्या मानिन्याः, चिरापराधस्मृत्या दीर्घकालकृतापराधस्मरणेन, मांसलः पुष्टोऽपि रोषोऽमर्षः क्षणप्राघुणिकोऽचिरस्थाय्यतिथि- र्बभूवेत्यर्थः।

अनुनयाभावेऽपि हरिशोभेक्षणाक्षिप्तचित्ता सा सद्यः प्रससादेति सारम्।

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—स्त्रियों के धैर्य को निर्वासित करती हुई अर्थात् निकाल फेंकती हुई भगवान् कृष्णचन्द्र की शोभा को जभी मानिनी मृगाक्षी ने पिया—सादर देखा, तभी बहुत दिनों तक लगातार किये गये अपराधों के स्मरण से परिपुष्ट बना हुआ भी रोष (अमर्ष) एक क्षण भर का मेहमान हो गया—नहीं ठहर सका।

आपत्तिं प्रतिपादयति—

इत्यादावपि भावप्रशमध्वनित्वापत्तेः, भावस्य वाच्यत्वेऽपि प्रधानस्य तत्प्रश- मस्य व्यङ्ग्यत्वात्।

'निर्वासयन्ती'मित्यादिपद्येऽपि भावाप्रधान्यवादिमते भावशान्तिध्वनित्वमापद्येत, रोषभावस्याप्रधानस्य वाच्यत्वेऽपि प्रधानीभूतायास्तच्छान्तेः क्षणप्राघुणिकीभवनव्यङ्ग्यतायाः सद्भावात्। भावप्राधान्यवादिमते तु रोषस्य वाच्यत्वान्नात्र तत्त्वापत्तिरिति भावः।

उक्त श्लोक में आप के मत से भावशान्ति की ध्वनि हो जायगी, कारण यह कि आप के हिसाब से अप्रधानभाव (रोष-अमर्ष) के वाच्य होने पर भी प्रधान शान्ति वाच्य नहीं, अपितु 'क्षणप्राघुणिक'-अर्थात् 'क्षणभर के मेहमान' पद से व्यङ्ग्य ही है।

तत्रैव पुनराशङ्क्य समाधत्ते—

उभयोरप्यवाच्यत्वमपेक्षितमिति चेत्, प्रागुक्तपद्यद्वये शमत्वोदयत्वाभ्यां शमोदययोर्वाच्यत्वादनुदाहरणत्वापत्तेः।

भावस्य तच्छान्त्यादेश्च वाच्यत्वाभाव एव भावशान्त्यादिध्वनित्वमिति स्वीकारे तु 'निर्वासयन्ती'मित्यादौ भावस्य वाच्यत्वादापत्तिवारणं स्यादिति न वाच्यम्, यतस्तथा स्वीकारे 'उषसी'त्यादौ 'क्षमे'त्यादौ च क्रमेणोदयस्य शान्तेश्च वाच्यत्वाद् ध्वनित्वमिष्टमपि नोपपद्यत इति तात्पर्यम्।

यदि आप कहें कि प्रधान और अप्रधान दोनों की अवाच्यता-अर्थात् व्यङ्ग्यता अपेक्षित है, तात्पर्य यह कि जहां भाव और उसके शान्ति आदि दोनों ही व्यङ्ग्य रहे, वहीं भावशान्ति आदि की ध्वनि मानेंगे, अतः उक्त पद्य में शान्ति के व्यङ्ग्य रहने पर भी भाव (रोष) के वाच्य हो जाने से भावशान्ति-ध्वनि की आपत्ति नहीं हो सकती, तब मैं कहता हूं कि इस तरह मानने पर यहां तो आपत्ति का वारण हो जायगा, परन्तु पूर्वोक्त दोनों पद्यों (उषसि'''''इत्यादि और समापणैक'''''इत्यादि) में उदयरूप से उदय (फिर वह अमर्ष का हो चाहे अरुणद्युति का) और इसी तरह शान्तिरूप से शान्ति (फिर वह रोष की हो चाहे अरुणकान्ति की) वाच्य हो गये हैं, अतः वे पद्य उन दोनों ध्वनियों के उदाहरण नहीं हो सकेंगे।

ननु मा भूत् तदुदाहरणद्वये ध्वनित्वमित्यत आह—

इष्टापत्तिस्तु सहृदयानामनुचितैव।

साहित्ये सहृदयानुभवस्यैव प्रधानप्रामाण्याङ्गीकारात् सहृदयैः स दोषोऽनुभवविरोधात् सोढुं न शक्यत इत्यभिसन्धिः।

उक्त आपत्ति को स्वीकार कर लेना-कह देना—कि हम तो इन्हें भावोदय और भावशान्ति की ध्वनियां मानते ही नहीं, सहृदयों के लिये अनुचित है—अर्थात् साहित्य जगत् में अनुभवसिद्ध वस्तु का अपलाप कम से कम सहृदयों को नहीं करना चाहिये।

निगमयति—

तस्माद्भावप्रशमादिष्वपि प्राधान्येन भावानामेव चमत्कारित्वम्, प्रशमादेस्तूपसर्जनत्वम्, अतो न तस्य वाच्यतादोषः।

अपिशब्दो भावस्थितिसमुच्चायकः।

तस्माद् यथा भावस्थितौ भावानामेव प्राधान्यं स्थितेस्त्वप्राधान्यं, तथैव भावशान्त्यादिष्वपि भावानामेव प्राधान्यं, शान्त्यादेस्त्वप्राधान्यं स्वीकार्यम्। तथाचाप्रधानानां शान्त्यादीनां वाच्यत्वं न ध्वनित्वस्य विघटकमिति सारम्।

भावध्वनेर्भावस्थितिध्वनेश्चैकरूपतया पृथगुपादानस्याभावो बोध्यः।

अतः यह सिद्ध होता है कि भावशान्ति आदि की ध्वनियों में भी भाव ही प्रधान रहते हैं और चमत्कारी भी, शान्ति आदि तो उपसर्जन अर्थात् गौण ही रहते हैं, अत एव शान्ति आदि का वाच्य हो जाना भी कोई दोष नहीं, सारांश यह कि शान्ति आदि के वाच्य हो जाने पर भी यदि भाववाच्य नहीं होंगे—व्यङ्ग्य होते रहेंगे, तब भावशान्त्यादि की ध्वनियां मानी जा सकती हैं।

नन्वेवं वैलक्षण्याभावाख्याने भावध्वनेर्भावशान्त्यादिभ्यः पृथगुपादानस्य निष्प्रयोजनकत्वापत्तिरतो वैलक्षण्यं प्रदर्शयति—

इदं पुनर्भावध्वनिभ्यो भावशान्त्यादिध्वनीनां चमत्कारवैलक्षण्ये निदानम्—यदेकत्र चर्वणायां भावेषु स्थित्यवच्छिन्नामर्षादित्वम्, अमर्षादित्वमेव वा प्रकारः, अन्यत्र तु प्रशमावस्थात्वादिरपीति।

निदानं मूलम्। एकत्र शुद्धभावध्वनिषु। स्थित्यवच्छिन्नत्वं स्थितिविशिष्टत्वम्। अमर्षस्यैवात्र प्रकृतत्वादुल्लेखः। विशेषणस्याव्यावर्तकतया विशेष्यमात्रस्य चमत्कारकत्वाद्

'अमर्षादित्वमेव वा' इति द्वितीयकल्पोपादानम्। अन्यत्र भावशान्त्यादिध्वनिषु। इतिर्निदान-समाप्तिसूचकः।

भावध्वनिषु स्थित्यवस्थापन्नत्वविशिष्टस्यामर्षादित्वस्य, वस्तुतः केवलामर्षादित्वस्य प्रकारतयाऽमर्षादित्वप्रकारकचर्वणैव चमत्कारिणी, भावशान्त्यादिध्वनिषु तु प्रशाम्यदवस्थापन्नत्वादिविशिष्टामर्षादित्वस्य प्रकारतया प्रशाम्यदवस्थापन्नत्वादिविशिष्टामर्षादित्वप्रकारक-चर्वणायाश्चमत्कारित्वमिति चमत्कारकचर्वणायां भावध्वनिष्वमर्षत्वादिनाऽमर्षादीनामेव भानम्, भावशान्त्यादिध्वनिषु तु प्रशाम्यदवस्थापन्नत्वादिविशिष्टामर्षत्वादिनाऽमर्षादीनां भानमित्येषविशेष इत्यभिप्रायः।

अब यहां यह शङ्का उपस्थित होती है कि यदि उक्तरीति से भावध्वनि और भावशान्त्यादि ध्वनि में समानता सिद्ध कर देते हैं—अर्थात् उन दोनों में कोई वैलक्षण्य नहीं मानते, तब भावध्वनि से पृथक् भावशान्त्यादि ध्वनि का उल्लेख व्यर्थ है, इस शङ्का के उत्तर में ग्रन्थकार उक्त समानता के रहने पर भी उन दोनों में भिन्न तरह के वैलक्षण्य का प्रतिपादन करते हैं—'इदं पुनः' इत्यादि। भावध्वनियों की अपेक्षा भावशान्त्यादिध्वनियों के चमत्कार (आह्लाद) में विलक्षणता है और उस विलक्षणता का कारण यह है कि भावध्वनियों में भावों की चर्वणा (आस्वादन) स्थितिरूप एक अवस्थाविशिष्ट अमर्ष आदि के रूप में होती है और भावशान्त्यादि ध्वनियों में स्थलभेद से शान्ति, उदय आदि अनेक अवस्थाविशिष्ट अमर्ष आदि भावों की चर्वणा होती है, वस्तुतः तो भावध्वनियों में केवल अमर्ष आदि के रूप में ही भावों की चर्वणा होती है यही कहना चाहिये, क्योंकि वहां स्थितिरूप अवस्था को जोड़ना व्यर्थ है, कारण यह कि विशेषण किसी सजातीय के वारणके लिये लगाया जाता है—जैसे 'श्वेत अश्व' यहां श्वेत-विशेषण श्याम अश्व के वारण के लिये आता है—यहां तो 'स्थित्यवस्थापन्न' इस विशेषण से किसी का वारण नहीं होता, क्योंकि भावध्वनियों में सभी भाव स्थित्यवस्थापन्न रहते हैं। अभिप्राय यह हुआ कि भावध्वनियों में होने वाली चर्वणा में केवल भावों (अमर्षादिकों) का ही भान होता है, अतः तज्जन्य चमत्कार शुद्ध भावास्वादजन्य आह्लादरूप पर्यवसित हुआ, और भावशान्त्यादिध्वनियों में होनेवाली चर्वणा में शान्ति-उदय आदि अवस्था सहित अमर्षादि भावों का भान होता है, अतः तज्जन्य चमत्कार शान्ति-उदय आदि सहित भावास्वादजन्य आह्लाद रूप फलित होता है। स्पष्ट शब्द में यों कह सकते हैं कि कच्चे आम के आस्वाद से उत्पन्न होने वाले और पके आम के आस्वाद से उत्पन्न होने वाले आनन्दों में वस्तु के एक होने पर भी जैसा अन्तर है, ठीक वैसा ही अन्तर शुद्ध भावास्वादजन्य और शान्त्याद्यवस्था सहित भावास्वादजन्य चमत्कार में है।

ननु भावशान्त्यादिवद् रसशान्त्यादीनां निरूपणं कुतो न कृतमित्यत आह—

रसस्य तु स्थायिमूलकत्वात् प्रशमादेरसम्भवः, सम्भवे वा न चमत्कार इति स न विचार्यते।

रसानां स्रक्सूत्रन्यायेनाधारतया मूलभूतेषु स्थायिभावेषु प्रशाम्यदवस्थादिसम्बन्धसत्त्वे तेषां स्थायित्वस्यैव विलोपप्रसङ्गाच्च तदवस्थासम्बन्धः सम्भवति, यदित्वभिव्यक्तेरस्थिरत्वात्तन्निष्ठप्रशाम्यदाद्यवस्थामेव रसेष्वारोप्य गौणो रसशान्त्यादिव्यवहारः सम्भवतीत्युच्यते, तदा ततश्चमत्कारो न स्याद्, आरोपस्य चमत्काराजनकत्वात्, तस्माद्रसशान्त्यादयो न निरूप्यन्त इत्यर्थः।

अब भाव के जैसे रसों के भी उदय शान्ति आदि की ध्वनियां क्यों नहीं होतीं इसका विचार करते हैं—'रसस्य तु' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि रसों की उदय-शान्ति आदि अवस्थायें नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनका मूल है स्थायीभाव, और यदि उसकी भी उत्पत्ति तथा-शान्ति आदि अवस्थायें होने लगीं, तब तो उसका स्थायित्व ही नष्ट हो

भाव, आदि से अन्ततक 'स्रक्सूत्र' न्याय से उसका बना रहना ही तो उसमें स्थायित्व है, यदि वही न रहे, तब उसमें और साधारण भावों में भेद ही क्या रहेगा ? यदि कहें कि स्थायीभाव के स्थिर रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति तो स्थिर रहनेवाली चीज नहीं है, अतः उसके उत्पत्ति-विनाश तो हो सकते हैं, फिर उन्हीं उत्पत्ति-विनाशों को इसमें आरोप करके गौण रस शान्त्यादि का व्यवहार हो सकता है, तब उसका उत्तर यह है कि आरोप चमत्कारजनक नहीं होता, अचमत्कारी होने के कारण ही रसशान्ति आदि की ध्वनियां नहीं मानी जाती हैं।

अथ 'उपपादयिष्यते च स्थाय्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्' इति प्राक् प्रतिज्ञातां रसादीनां संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतामपि व्यवस्थापयति—

सोऽयं निगदितः सर्वोऽपि रसादिलक्षणो व्यङ्ग्यप्रपञ्चः स्फुटे प्रकरणे, झगिति प्रतीतेषु विभावानुभावव्यभिचारिषु, सहृदयतमेन प्रमात्रा, सूक्ष्मेणैव समयेन प्रतीयत इति हेतुहेतुमतोः पौर्वापर्यक्रमस्यालक्षणादलक्ष्यक्रमो व्यपदिश्यते। यत्र तु विचारवेद्यं प्रकरणम्, उन्नेया वा विभावादयस्तत्र सामग्रीविलम्बाधीनं चमत्कृतेर्मान्थर्यमिति संलक्ष्यक्रमोऽप्येष भवति।

हेतुहेतुमतोः कारणकार्ययोर्वाच्यविभावादि-व्यङ्ग्यरसादिप्रतीत्योः। पौर्वापर्यं पूर्वापरीभावः। अलक्षणमज्ञानम्। मान्थर्यं विलम्बः। निगदितो रसनिरूपणादेतत्पर्यन्तं निरूपितः सर्वोऽप्ययं रत्यादिलक्षणो रसादिस्वरूपो व्यङ्ग्यप्रपञ्चो व्यङ्ग्यसमुदायः, प्रकरणे प्रसङ्गे, स्फुटे स्पष्टवेद्ये सति, अत एव विभावानुभावव्यभिचारिभावेषु झगित्यविलम्बेन प्रतीतेषु ज्ञातेषु सत्सु, सहृदयतमेनातिभावकेन, प्रमात्राऽऽस्वादकपुरुषेण, सूक्ष्मेणाल्पिष्ठेनैव समयेन, प्रतीयत आस्वाद्यत इति वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीतिक्रमस्य शैघ्र्येण सम्यगलक्षणादसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति व्यवहारः। यत्र पुनः प्रकरणमस्फुटतया विचारेण वेद्यम्, क्वचित् प्रकरणस्य स्फुटत्वेऽपि विभावादय उन्नेया अनुक्तत्वादूहनीया एव सन्ति, तत्र कारणस्य प्रकरणविभावादिप्रत्ययस्य विलम्बेन, कार्यस्य रसादिप्रत्ययस्य विलम्ब औपपत्तिक एवेति क्वचित्तादृशस्थले रसादिप्रतीतेः संलक्ष्यक्रमत्वस्यापि व्यवहार इत्याशयः।

'उपपादयिष्यते च स्थाय्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्' अर्थात् 'स्थायीभाव आदि-रस भाव आदि-भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होते हैं, इस बात का उपपादन आगे करूंगा' इस तरह की प्रतिज्ञा ग्रन्थकार से पहले की जा चुकी है, तदनुसार रसादिकों की संलक्ष्यक्रमता की व्यवस्था करते हैं—'सोऽयम्' इत्यादि, यह जो पूर्वोक्त रस-भाव आदि व्यङ्ग्यों का समुदाय है, वह जहां प्रकरणस्पष्ट हो, वहां विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव की प्रतीति शीघ्र हो जाने से अतिसहृदय पुरुषों को बहुत ही थोड़े समय में प्रतीत हो जाता है, अतः अनुभवकर्ता सहृदय को कारण और कार्य की पूर्वापरता का क्रम लक्षित नहीं होता, इसलिये यह (रसभावादि) अलक्ष्यक्रम कहा जाता है। परन्तु जहां प्रकरण विचार करने के बाद समझने योग्य हो और जहां प्रकरण के स्पष्ट रहने पर भी विभाव आदि का वर्णित न होने के कारण ऊह करना पड़े, वहां सामग्रीसमवधान के विलम्ब प्रयुक्त चमत्कार में जो कुछ मन्थरता आ जाती है—अतः वैसी जगह में रसभाव आदि उक्त व्यङ्ग्यों का समूह संलक्ष्यक्रम भी होता है।

तदेव स्फुटं दर्शयति—

यथा—

'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इति प्रागुदाहृते (४८ पृष्ठे) पद्ये 'सम्प्रति' इत्येतदर्थावगतिविलम्बेन।

एतत्पद्यघटकस्य सम्प्रतीति पदस्य 'प्राङ्नवोढात्वेन तस्याः सङ्कोचोऽन्यविध आसीत्, अधुना प्रियप्रवासपूर्वरजन्यां तु सङ्कोचोऽपि सङ्कुचित इवाभू'-दित्यादेरर्थस्यावगमः पूर्वापरसन्दर्भार्थानुसन्धानादेव लभ्य इति व्यङ्ग्यस्य रतिभावस्य संलक्ष्यक्रमतैवेति भावः ।

जैसे—'तल्पगतापि च सुतनुः···' इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्य में 'सम्प्रति' पद का अर्थ विलम्ब से ज्ञात होता है—अर्थात् 'पहले नवोढ़ा होने के नाते नायिका में संकोच की मात्रा अधिक थी, परन्तु अब प्रियगमन की पूर्वरात्रि में भावी विरह के ज्ञान के कारण वह सङ्कोच कुछ शिथिल पड़ गया, इत्यादि अर्थ की प्रतीति प्रकरण के विचार कर लेने के बाद ही होती है, अतः यहां शृङ्गार रस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही है ।

ननु रसादीनामसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतायाः सार्वत्रिकी प्रसिद्धिरेतावता विरुध्यतीत्यत आह—

न खलु धर्मिग्राहकमानसिद्धं रत्यादिध्वनेरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम् ।

येन प्रमाणेन धर्मिणः सिद्धिर्भवति, तद्धर्मिग्राहकं मानमुच्यते, तच्चात्र रसादौ सहृदयहृदयानुभव एव ।

रसादिध्वनेरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यमात्रत्वस्य ज्ञापकं धर्मिग्राहकं यदि किमपि मानमुपलभ्येत, तर्हि तदवश्यमनिच्छताऽप्यभ्युपेयं स्यात्, तस्यानुपलम्भे तु संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वस्यापि स्वीकारे न किमपि बाधकमित्याशयः ।

रति आदि की ध्वनि की अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता धर्मिग्राहक मान से सिद्ध नहीं है—अर्थात् अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतारूप धर्म का धर्मी (आश्रय) जो रस आदि है, उसका ग्राहक (उसको सिद्ध करनेवाला) मान (प्रमाण) सहृदयों का अनुभव है, उससे उनकी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता सिद्ध नहीं होती, तात्पर्य यह है कि सहृदयों का अनुभव यह नहीं कहता कि रसादि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही हों, कहीं कहीं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप में भी रसादिकों का अनुभव सहृदयजन करते हैं ।

उक्तं समर्थयति—

अत एव लक्ष्यक्रमप्रसङ्गे—

अत एव रसादिध्वनेरलक्ष्यक्रममात्रत्वाभावादेव ।

विवाहवार्ताश्रवणसलज्जपार्वतीवृत्तं वर्णयति—

'एवंवादिनि देवर्षौ, पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि, गणयामास पार्वती ॥' इति ।

कुमारसम्भवषष्ठसर्गघटकं पद्यमिदम्, पार्वतीविवाहनिर्णयाय हिमवदन्तिकं शिवेन प्रहितोऽङ्गिरा हिमवन्तं यदा तद्वृत्तमशिश्रवत् तात्कालिकस्थितिवर्णनपरम् ।

देवर्षावङ्गिरसि, एवंवादिनि प्राङ्निर्दिष्टशिवसन्देशं वदति सति, पितुर्हिमाचलस्य, पार्श्वे पार्श्वसमीपे स्थिता पार्वती, अधोमुखी कुमारीजनसुलभस्वविवाहवृत्तश्रवणजलज्जया नतानना, लीलाकमलस्य स्वहस्तस्थितपद्मस्य, पत्राणि दलानि, गणयामासेत्यर्थः ।

जिसलिये रसभाव आदि की ध्वनियां भी संलक्ष्यक्रम होती हैं, अत एव लक्ष्यक्रमों के प्रसङ्ग में 'एवंवादिनि देवर्षौ···' इत्यादि पद्य को आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में उदाहरण रूप से उद्धृत किया है । यह पद्य 'कुमारसम्भव' का है । इसका पूर्व प्रसङ्ग तथा अर्थ यह है—पार्वती की कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर शिवजी ने उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करने का वचन दिया । तदन्तर लोकरीति के निर्वाहार्थ शिवजी ने अङ्गिरा ऋषि को पार्वती की मंगनी के लिये हिमालय के पास भेजा । जब देवर्षि जी हिमालय से पार्वती के विवाह सम्बन्धी बातें कर रहे थे, तब की बात कवि कह रहा है कि—देवर्षि जब इस

तरह बातें करने लगे, तब पिता के पास बैठी हुई पार्वती नीचा मुख करके खेलने के लिये रखे हुये कमलों के पत्ते को गिनने लगी।

उपपादयति—

'अत्र कुमारीस्वाभाव्यादप्यधोमुखत्वविशिष्टस्य लीलाकमलपत्त्रगणनस्योपपत्त्या मनाग्विलम्बेन नारदकृतविवाहादिप्रसङ्गविज्ञानोत्तरं व्रीडायाश्चमत्करणाल्लक्ष्यक्रमोऽयं ध्वनिः' इति प्राहुरानन्दवर्धनाचार्याः। 'रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव, न वाच्यः, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः।' इति चाभिनवगुप्तपादाचार्याः।

देवर्षिरिहाङ्गिरा न तु नारदः, 'अथाङ्गिरसमग्रण्यमुदाहरणवस्तुषु। ऋषयो नोदयामासुः, प्रत्युवाच स भूधरम्।' इत्यनेन तत्रत्येन ततः पूर्वेण पद्येन, 'देवर्षावङ्गिरसि' इति मल्लिनाथकृततद्विवरणेन च तथैवावधारणात्, विवाहवार्तायै शिवप्रहितेष्वृषिषु नारदस्यानुल्लेखाच्च। अत्र हि पार्वत्या वदननमनं लीलाकमलगणनं च कुमारीस्वभावादपि सम्भवतीति न झटित्येव तद्व्यापारद्वयं लज्जाया भावगोपनरूपावहित्थाया वा व्यञ्जने क्षमम्, किन्तु 'इदं व्यापारद्वयमस्याः स्वाभाविकम्, उत भावान्तरप्रयुक्तम्' इति जिज्ञासायां विवाहवृत्तान्तवर्णनात्मकप्रकरणपर्यालोचनया किञ्चिद्विलम्बेनेति लज्जाऽवहित्था वा व्यभिचारिभावोऽत्र संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एव, क्रमस्य स्फुटं प्रतीयमानत्वादित्यानन्दवर्धनाचार्योक्तिरपि रसादीनां क्वचित् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतायां प्रमाणम्। तथा 'रसभावादिरर्थो रसादिरूपः पदार्थः (यद्यपि) ध्वन्यमानो व्यज्यमान एवास्ति, न तु वाच्यः, तथापि (व्यज्यमानत्वेऽपि) स सर्वोऽसंलक्ष्यक्रमस्यैव न विषयः, (किन्त्वस्फुटे प्रकरणादौ) क्वचित् संलक्ष्यक्रमस्यापि विषयः' इति लोचनेऽभिनवगुप्ताचार्योक्तिरपीह प्रमाणमिति सारम्।

उक्त पद्य को उद्धृत करने के बाद आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि—यहाँ जो पार्वती की अधोमुख होकर लीला-कमल-पत्र-गिनने की बात वर्णित है, वह तो बालिकाजन-सुलभ-स्वभाव के कारण भी हो सकती है, अतः शुरू शुरू में लज्जा की प्रतीति नहीं होती, किन्तु जब 'अङ्गिराऋषि की हिमालय से पार्वती के विवाह की बात हो रही थी' इस प्रसङ्ग का ज्ञान कुछ विलम्ब से होता है, तब लज्जा झलकती है अतः लज्जारूप सञ्चारीभाव यहाँ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है। यद्यपि मूल में 'देवर्षि' पद का अर्थ नारद मान कर व्याख्या की गई है, परन्तु उक्त पद्य के पूर्व आये हुये कुमारसम्भव के पद्य और मल्लिनाथ की टीका के देखने से अङ्गिरा ही देवर्षि पद का अर्थ संगत प्रतीत होता है। अभिनवगुप्ताचार्य (ध्वन्यालोक की टीका लोचन के निर्माता) का भी यह कथन है कि 'रसभाव आदि पदार्थ व्यङ्ग्य ही होते हैं, वाच्य नहीं, तथापि सभी रस भाव आदि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के लक्ष्य नहीं होते अर्थात् वे संलक्ष्यक्रम भी होते हैं।'

रसादीनां संलक्ष्यक्रमत्वाङ्गीकारे दोषमाशङ्कते—

स्यादेतत्—

यद्ययं रसादिः संलक्ष्यक्रमस्य विषयः स्यात्,—अनुरणनभेदगणनप्रस्तावे 'अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदाः' इत्यभिनवगुप्तोक्तिः, 'तेनायं द्वादशात्मकः' इति मम्मटोक्तिश्च न सङ्गच्छेत, वस्त्वलङ्कारात्मना द्विविधेन वाच्येन स्वतस्सम्भवित्व-कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्व-कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वैस्त्रिभिरुपाधिभिस्त्रैविध्यमापन्नेन षडात्मना वस्त्वलङ्कारयोरिव रसादेरप्यभिव्यञ्जनादष्टादशत्वप्रसङ्गात्।

रसादीनां संलक्ष्यक्रमत्वं यदि स्वीक्रियते, तर्हि संलक्ष्यक्रमस्य वस्तुरूपस्यालङ्कार-रूपस्य च व्यङ्ग्यार्थस्य व्यञ्जको यो वाच्यार्थो वस्तुरूपोऽलङ्काररूपश्चेति द्विविधः, तस्य स्वतस्सम्भवित्वेन कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वेन कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वेन च प्रकारेण प्रत्येकं त्रैविध्यात् षट्प्रकारा वस्तुध्वनयः षट्प्रकाराश्चालङ्कारध्वनय इति मिलिता द्वादश-प्रकाराः संलक्ष्यक्रमा अर्थशक्त्युद्भवध्वनयो यथा भवन्ति, तथैवेदानीं रसादिध्वनयोऽपि षड्विधवाच्यव्यङ्ग्यतया षड्विधास्ततोऽधिकाः स्युः, तथाच सङ्कलनादष्टादशविधत्वे संलक्ष्यक्रमध्वनेरर्थशक्त्युद्भवस्य, अभिनवगुप्ताचार्यैर्मम्मटभट्टैश्चोक्तम् द्वादशविधत्वं प्रकारा-धिक्याद् विरुद्धं स्यात्, तस्माद्रसादीनां संलक्ष्यक्रमता नाङ्गीकरणीयेति भावः।

अब यहां एक बहुत बड़ी शङ्का यह होती है कि यदि रसभाव आदि को भी संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य मानते हैं, तो संलक्ष्यक्रमध्वनियों की गणना करते समय जो 'अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के बारह भेद हैं' यह अभिनवगुप्त की और 'इस तरह अर्थशक्त्युद्भवध्वनि बारह प्रकारके हैं' यह मम्मट की उक्ति कैसे संगत होगी, क्योंकि, व्यञ्जक अर्थ के दो भेद हैं—एक वस्तुरूप और दूसरा अलङ्काररूप और उन दोनों भेदों में से प्रत्येक के स्वतः-सम्भवी (अर्थात् संसार में मिल सकने वाला) कविप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थात् कविकल्पित कथनमात्र से सिद्ध) और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थात् कविके द्वारा वर्णित वक्ता की प्रौढोक्ति मात्रसे सिद्ध) इन तीन तीन, उपाधियों से तीन तीन भेद होते हैं, इस तरह से व्यञ्जकवाच्य अर्थ ६ प्रकार के हो जाते हैं, उनसे व्यङ्ग्य भी वस्तु अलङ्कार दोनों होते हैं, अतः पहले बारह भेद होते थे, अब तो वस्तु अलङ्कार के जैसे रस आदि भी छवो व्यञ्जकों से व्यङ्ग्य होंगे, फिर अर्थशक्तिमूलक ध्वनियों के भेद बारह की जगह अठारह हो जायगें।

समादधाति—

अत्रोच्यते—

प्रकटैर्विभावानुभावव्यभिचारिभिरलक्ष्यक्रमतयैव व्यज्यमानो रत्यादिः स्थायिभावो रसीभवति, न संलक्ष्यक्रमतया। रसीभावो हि नाम झगिति जाय-मानालौकिकचमत्कारविषयस्थायित्वम्। संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यमानस्य रत्यादेस्तु वस्तुमात्रतैव न रसादित्वमिति तेषामाशयस्य वर्णनेन न तदुक्तीनां विरोधः।

व्यवच्छेदार्थकेनैव कारेणैव न संलक्ष्यक्रमतयेति लभ्यते। रसीभवत्यरसो रसः सम्पद्यते। झगिति जायमानस्यालौकिकचमत्कारस्य विषयः कारणत्वेन गोचरः स्थायी स्थायिभावो यस्य स तादृशस्तस्य भावस्तत्त्वम्। तेषामभिनवगुप्तादीनामाशयस्य वर्णनेन व्याख्यानेन। प्रकटैः स्फुटप्रतीयमानैर्विभावादिभिः, अलक्ष्यक्रमतयैव (नतु संलक्ष्यक्रमत्वेन) व्यज्य-मानो रत्यादिः स्थायिभावो रसीभवत्यरसोऽपि लोकोत्तरचमत्कारजनकत्वेन रसः सम्पद्यते, यतो झगितिजायमानालौकिकचमत्कारविषयस्थायित्वमेव रसीभावोऽस्ति, विभावादीनाम-स्फुटत्वेन संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यमानस्तु रत्यादिर्न रसस्तादृशचमत्कारजनकत्वाभावात्, किन्तु वस्तुमात्रं केवलं व्यङ्ग्यवस्तु भवतीत्ययमेवार्थोऽभिनवगुप्तादीनां तात्पर्यविषयो वर्ण्यते चेत्, तर्हि संलक्ष्यक्रमस्य रत्यादे रसत्वाभावाद् वस्त्वन्तर्भावाच्च वस्तुध्वनिप्रकारैरेवैतत्प्रका-राणामपि गतार्थतया न प्रकाराधिक्यप्रयुक्तः पूर्वाचार्यमतविरोध इत्याशयः।

रत्यादीनां संलक्ष्यक्रमतायां रसादित्वस्यैवाभावाच्च रसादिप्रकाराधिक्यप्रयुक्तःप्राचीनोक्ति-विरोधः इति सारम्।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि 'जो रति आदि स्थायीभाव स्पष्ट प्रतीत होने वाले विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के द्वारा असंलक्ष्यक्रम के रूप में व्यक्त होता है, वही रस रूप होता है और जो रत्यादि संलक्ष्यक्रम के रूप में अभिव्यक्त होता है, वह रस-रूप नहीं होता। क्योंकि रसरूप होने का अर्थ ही यह है कि कार्यरूप से होने वाले अलौकिक चमत्कार का शीघ्र कारणरूप से स्थायीभाव विषय बन जाय-अर्थात् स्थायीभाव के अनुभव से होने वाले आह्लाद का शीघ्र होना ही स्थायीभाव का रस होना कहलाता है। इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि संलक्ष्यक्रम के रूप में ध्वनित होने वाला स्थायी-भाव (रति आदि) रस किंवा भाव नहीं होता, किन्तु वस्तुमात्र रहता है' यदि इस तरह से अभिनवगुप्त आदि के अभिप्राय का वर्णन कर दिया जाय, तब उक्त आपत्ति नहीं होती, तात्पर्य यह कि इस तरह से उनके अभिप्राय का वर्णन कर देने पर 'अर्थशक्तिमूल ध्वनियों के बारह भेद हैं' इत्यादि उक्तियों का विरोध नहीं होता, क्योंकि संलक्ष्यक्रम के रूप में ध्वनित होनेवाले रति आदि को वस्तुमात्र मान लेने पर वस्तुव्यङ्ग्य के जो ६ भेद होते हैं, उन्हीं में वे भी आजाते हैं, फिर तत्प्रयुक्त ६ संख्या और बढ़ जाने से उक्त ध्वनियों की संख्या अठारह तक पहुँच जाने की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती।

सर्वत्रासंलक्ष्यक्रमत्वेन प्रसिद्धस्य रत्यादेरिहोक्तमलक्ष्यक्रमत्वं कथमुपपद्यत इत्याशङ्कायामाह—

उपपत्तिस्त्वर्थेऽस्मिन् विचारणीया।

अत्र रत्यादीनां संलक्ष्यक्रमत्वस्य स्वीकारेऽर्थे, उपपत्तिः सङ्गतिस्तु विचारणीया सहृदयैश्चिन्तनीयेत्यर्थः।

तथाचाहुर्नागेशभट्टाः—'विभावादिप्रतीतेः रसप्रतीतेश्च सूक्ष्मकालान्तरत्वरूपस्य क्रमस्य सहृदयेनाकलनेन, तस्य विगलितवेद्यान्तरत्वानापत्त्या रसत्वभङ्गापत्तिः। विगलितवेद्यान्तरत्वं च सकलसहृदयानुभवसाक्षिकमिति तत्रापि सम्मतमिति तदुपपत्तिर्बोध्या। नव्यास्तु—वक्तृवैशिष्ट्यप्रकरणादिज्ञानसहितस्यैव व्यञ्जकत्वात् तत्सहितविभावादिज्ञानोत्तरं जायमानरस-प्रतीतेर्विभावादिज्ञानापेक्षया विद्यमानक्रमालक्षणेन चालक्ष्यक्रमत्वम्। तच्च प्रकरणादिज्ञान-विलम्बेन विभावादिज्ञानविलम्बेऽपि पूर्वोदाहरणेऽक्षतमेव, नहि विभावादिज्ञानस्य तज्जनकस्य [illegible] किमूलस्य द्वादश [illegible] लक्ष्यक्रमत्वो-क्तिर्यथाकथञ्चिन्नेया, नहि विभावादिप्रतीतिरहितयाकिञ्चिद्वाच्यार्थमात्रप्रतीतौ विगलितवेद्या-न्तरता सहृदयानुभवसाक्षिका, येन तत्क्रमग्रहणेऽपि रसत्वहानिः स्यादित्याहुः।

संलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने पर ही रत्यादि रस तथा भाव हैं, अन्यथा वस्तुमात्र इस अर्थ में युक्ति क्या हो सकती है यह विचारने की बात है। नागेशभट्ट यहां अपनी टीका में यह युक्ति बतलाते हैं कि रस आदि को (जिनको असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य माना जाता है) सभी आलंकारिक 'विगलितवेद्यान्तर'—अर्थात् 'स्व (रसादि) ज्ञान के समय किसी भी अन्य ज्ञातव्य पदार्थों का सम्पर्क न रखने वाला' मानते हैं, अतः पण्डितराज को भी वह मान्य होगा। सहृदयों का अनुभव भी उसको मानने में साक्षी है। फिर विभाव आदि की प्रतीति और रति आदि की प्रतीति में जो सूक्ष्म काल का अन्तर होता है, जिसे क्रम कहा जाता है, उसकी प्रतीति जहां सहृदयों को हो जाती है, वहां विभावादिकों के और रति आदि के पृथक् पृथक् प्रतीत होने के कारण, रति आदि की प्रतीति के समय में भी विभावादिकों की प्रतीति पृथक् बनी रहेगी और जब वह बनी रहेगी तब विगलितवेद्या-न्तरता नहीं रहेगी यह बात स्पष्ट है और साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उस हालत में वह रत्यादि रसादि रूप नहीं हो सकता, अतः संलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने पर रत्यादि वस्तुमात्र है, रसादि नहीं, यह कथन युक्तिसंगत सिद्ध हो जाता है।

ननु रत्यादीनां संलक्ष्यक्रमतायां रसत्वाभावो यद्यभिनवगुप्तादीनामभिमतः स्यात्, तर्हि तेन 'रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव' इत्यत्र संलक्ष्यक्रमरत्यादितात्पर्येण रसपदस्योपादानं न स्यादित्याशङ्कायामभिधत्ते—

'रसभावादिरर्थः' इत्यत्र रसादिशब्दो रत्यादिपरः।

अभिनवगुप्तोक्तवाक्यघटको रसादिशब्दो लक्षणया रत्यादिबोधक एव, तन्मतेऽसंलक्ष्यक्रमतायामेव रसत्वस्याङ्गीकारात्। तथाच प्रकृते न कश्चिद् विरोध इत्यभिसन्धिः।

यहाँ आप कह सकते हैं कि यदि 'अभिनवगुप्त' का यह अभिमत होता कि संलक्ष्य क्रमरूप से व्यङ्ग्य होने पर रति आदि वस्तुमात्र है, रसादि नहीं, तब यह कैसे कहते कि 'रसभाव' आदि अर्थ यद्यपि व्यङ्ग्य ही होते हैं, वाच्य नहीं, तथापि सभी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के ही विषय नहीं हैं।' अर्थात् इस कथन से तो यह सिद्ध हो जाता है कि संलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने वाले रत्यादि को भी वे रसादिरूप मानते हैं। इसका उत्तर यह है कि अभिनवगुप्त की उस उक्ति में रस और भाव पद रति और व्यभिचारी भावपरक हैं अर्थात् रस आदि पद का अर्थ वहाँ रति आदि ही समझना चाहिये। नागेश भट्ट अपनी टीका में इस प्रसङ्ग पर एक और नवीन बात कहते हैं, जो बहुत मार्मिक तथा संगत प्रतीति होती है। उनके कथन का भाव यह है कि कोई पद अथवा पदार्थ वक्ता आदि की विलक्षणता और प्रकरण आदि का साथ होने पर ही व्यञ्जक होता है, अतः यह सिद्ध होता है कि तत्सहित विभावादिकों का ज्ञान होने के अनन्तर रस आदि की प्रतीति होती है, और विभाव आदि के ज्ञान तथा रस आदि की प्रतीति के मध्य में होनेवाले क्रम (पूर्वपश्चाद्भाव) के संलक्षित न होने के कारण रसादिध्वनि को असंलक्ष्यक्रम कहा जाता है। अतः प्रकरण आदि के ज्ञान में विलम्ब होने से विभाव आदि के ज्ञान में विलम्ब हो भी जाय, तथापि, 'तल्पगताऽपि च सुतनुः······' इत्यादि उदाहरण में अलक्ष्यक्रमता में कोई बाधा नहीं होती। क्योंकि विभावादिकों के ज्ञान और उसके उत्पन्न करने वाले प्रकरणादि के ज्ञान के क्रम को लेकर अलक्ष्यक्रमता नहीं मानी जाती, अपितु विभावादिकों के ज्ञान तथा उससे उत्पन्न होने वाले रस आदि के ज्ञान के क्रम को लेकर मानी जाती है। अब इस विचार के अनुसार—'अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद होते हैं' इस मम्मटादि के कथन में कोई विरोध नहीं होता, तब रही अभिनवगुप्त की वह उक्ति, जिसमें कहा गया है कि रसभावादि में सभी अलक्ष्यक्रम के ही विषय नहीं हैं—अर्थात् कोई कोई संलक्ष्यक्रम का भी विषय होता है। उसका आशय यह समझना चाहिये कि किसी किसी—अर्थात् विभावादि से भिन्न—उदासीन—वाच्यार्थ के ज्ञान और रसादि के ज्ञान का क्रम लक्षित हो भी सकता है। यदि कहें कि किसी भी क्रम के ज्ञान का स्वीकार कर लेने पर विगलितवेद्यान्तरता का अभाव उक्त रीति से क्यों नहीं हो जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि विभावादि ज्ञान के बिना अन्य किसी वाच्यार्थ के ज्ञान होने पर भी विगलितवेद्यान्तरता होती है इस बात में सहृदयों का अनुभव गवाही नहीं देता,—अर्थात् विगलितवेद्यान्तरता का मूल तन्मयता है और वह तन्मयता रसादि के रूप में परिणत होने वाले विभावादिज्ञान से ही होती है यह बात अनुभवसिद्ध है, अतः विभावादि के ज्ञान के बिना अन्य किसी वाच्यार्थ के ज्ञान होने पर विगलित वेद्यान्तरता का न होना ही स्वाभाविक है, फिर उससे रस आदि के रसत्वादि की हानि होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यही है नागेश भट्ट की नवीन बात, इसकी मार्मिकता पाठक स्वयं समझेंगे। उक्त प्रसङ्ग ऐसा है, जिसमें भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का विचित्र तरह से संमिश्रण हो गया है, अतः मैं जिज्ञासुजनों की आकांक्षा का अनुभव करता हुआ उन मतों का संक्षेप में कुछ विश्लेषण कर रहा हूं। पण्डितराज जगन्नाथ (प्रकृत ग्रन्थ के निर्माता) असंलक्ष्यक्रम रहने पर ही रत्यादि रसादि हैं और

संलक्ष्यक्रम हो जाने पर वस्तुमात्र इस सिद्धान्त को युक्ति-विहीन मानकर रसादिध्वनियों को असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम दोनों ही मानते हैं, जिसकी पुष्टि करने के लिये, अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के उदाहरण में 'एवं वादिनि……' इत्यादि कुमारसंभव के पद्य को उद्धृत करने वाले आनन्दवर्धनाचार्य को और उसी उदाहरण पर लोचन नामक ध्वन्यालोक की टीका में 'सभी ध्वनितमात्र होने वाले रसभावादि अर्थ असंलक्ष्यक्रम ही नहीं होते, एतदर्थक वाक्य लिखने वाले अभिनवगुप्ताचार्य को भी साक्षी बनाते हैं और युक्ति यह बतलाते हैं कि प्रकरणादि ज्ञान में किसी भी कारण से विलम्ब हो जाने पर रसादि की प्रतीति में भी विलम्ब होगा, अतः वैसे स्थलों पर रस-प्रतीति का क्रम लक्षित हो जायगा। इसके बाद अपने पक्ष में-प्रमाणरूप से उक्त अभिनवगुप्त के पूर्वोल्लिखित वाक्य के अर्थ में उन्हीं की 'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद हैं' इस उक्ति से विरोध दिखला कर उसको हटाने के लिये उनके आशय का वर्णन करते हैं कि वे (अभिनवगुप्त) क्रम के लक्षित हो जाने पर रत्यादि को वस्तुमात्र मानते हैं—रस नहीं। परन्तु हम-आप अब सोचें कि यदि अभिनवगुप्त का उक्त आशय है, तब पण्डितराज के रसादि संलक्ष्यक्रम भी हैं' इस सिद्धान्त की पुष्टि उनके मत से कैसे हुई? क्योंकि वे तो संलक्ष्यक्रम स्थल में रत्यादि को रस मानते ही नहीं, रहा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन का 'एवंवादिनि……' यह उदाहरण, परन्तु विचार करने पर वह भी पण्डितराज के पक्ष में साक्षी होने योग्य नहीं जंचता, क्योंकि उनके नाम से जिन पङ्क्तियों ('कुमारीस्वाभाव्यात्……' इत्यादि) को पण्डितराज उद्धृत करते हैं, वे पङ्क्तियां ध्वन्यालोक में नहीं मिलतीं हैं, उनके अभिप्राय का वर्णन करते हैं यह भी नहीं कहा जा सकता, कारण यह कि मेरे विचार से उनका ऐसा अभिप्राय नहीं है, हो भी कैसे सकता है, जब कि 'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः'—अर्थात् 'रसभाव आदि अक्रमव्यङ्ग्य हैं' लिखकर, वे अपना अभिप्राय (जो पण्डितराजवर्णित अभिप्राय से सर्वथा विरुद्ध है) प्रकट कर चुके हैं। आप कहेंगे—संलक्ष्यक्रम-अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के प्रसङ्ग में 'एवं वादिनि……' यह उदाहरण देकर इतना तो उन्होंने अवश्य लिखा है कि 'अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति'—अर्थात् यहां लीलाकमलपत्रगणनरूप अर्थ अपने को गौण बनाकर अभिधा की सहायता के बिना ही वाच्य से भिन्न व्यभिचारीभाव (लज्जा) रूप अर्थ को प्रकाशित करता है' क्या यह भावध्वनि को संलक्ष्यक्रम मानने में और समान न्याय से अलक्ष्यक्रम ध्वनिमात्र को स्थिति विशेष में संलक्ष्यक्रम मानने में प्रमाण नहीं होता? मैं कहूंगा नहीं, क्योंकि उन्होंने यह नहीं लिखा है कि यहां भावध्वनि है। मैं तो समझता हूं कि लक्ष्यक्रम हो जाने से लज्जा को वस्तुमात्र मानकर उन्होंने भी उसकी ध्वनि कही है, जिसका समर्थन उनके आगे पीछे के ग्रन्थों से भी होता है। देखिये—जिस कारिका के बाद यह उदाहरण दिया गया है, उसमें साफ शब्दों में वे लिखते हैं कि 'यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः'—अर्थात् 'जो अर्थ तात्पर्यद्वारा शब्द की उक्ति के बिना भी स्वयं दूसरी (वाच्य से भिन्न) वस्तु—न कि रसादि-को व्यक्त करता है। अत एव अलङ्कार ध्वनि का निरूपण 'अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते' इत्यादि से आगे अलग किया गया है। यदि कहें कि 'एवं वादिनि……' इत्यादि उदाहरण देने के अव्यवहित बाद में जो 'नचायमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेः विषयः……'इत्यादि ग्रन्थ आया है, जिसका आशय यह है कि 'एवं वादिनि……'इत्यादि पद्य अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का ही लक्ष्य है यह नहीं कह सकते, क्योंकि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का लक्ष्य वहां होता है, जहां शब्द के द्वारा बोधित विभावादिकों से साक्षात् रसादि की प्रतीति होती है, इस ग्रन्थ से तो साफ झलकता है कि 'एवं वादिनि……' इत्यादि पद्य को वे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भाव की ध्वनि का उदाहरण मानते हैं, तो मैं कहूंगा कि ऐसी बात नहीं है, उस ग्रन्थ का अभिप्राय यह

है कि 'एवं वादिनि······' इस पद्य में अन्त में महादेव के प्रति पार्वती की रति भी तो प्रतीत होती है, फिर इस पद्य को रस ध्वनि का ही उदाहरण क्यों नहीं मानते इस शङ्का का उत्तर उक्त ग्रन्थ से दिया गया है, अत एव आगे आनन्दवर्धन लिखते हैं कि 'इह तु सामर्थ्याक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः' अर्थात् यहां मध्य में व्यभिचारीभाव (लज्जात्मकवस्तु) के व्यङ्ग्य हो जाने से उसके द्वारा अन्त में अभिव्यक्त होने वाले रस की प्रतीति (संलक्ष्यक्रम) है। यदि लज्जात्मक भावध्वनि के विषय में उक्त शङ्का-समाधान किये गये होते, तब यह (इह तु इत्यादि) पङ्क्ति असंगत हो जाती। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि पण्डितराज का मत यहां ठीक नहीं है। उसके ठीक न होने के और भी कारण हैं। जैसे—पण्डितराज के हिसाब से जब रसादिध्वनि संलक्ष्यक्रम तथा असंलक्ष्यक्रम दोनों हैं, तब 'अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के अठारह भेद हो जायगें, फिर बारह ही कैसे कहे' यह जो आपत्ति उन्होंने स्वयं परमत में दी है, वह अपने मत में क्यों नहीं लगेगी? वे भी तो अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के आठ ही भेद माने हैं, उनको तो अपने सिद्धान्त के अनुसार संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य-रसादि को लेकर चार भेद और मानना चाहिये, यह बात दूसरी है कि कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध नामक भेद को नहीं मानने के कारण तन्मूलक चार भेदों को वे नहीं मानते। रसादि को संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य होने में उन्हों ने जो युक्ति दी है, उसका भी सुन्दर और विद्वानों को जँचने योग्य खण्डन नागेश ने कर दिया है, जिसको मैं पूर्व में दिखला चुका हूं। अब रहे मम्मट, वे अपनी जगह पर ठीक हैं, क्योंकि वे चिर प्रसिद्धि के अनुसार रसादि ध्वनियों को असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य मात्र मानते हैं, और ऐसी बात कहीं भी उन्होंने नहीं लिखी, जिससे उस मान्यता में विरोध पड़ता हो। पण्डितराज जो अपने मत के अनुसार अभिनवगुप्त के साथ उनकी उक्ति में भी विरोध दिखला कर उनके आशय का वर्णन अपने ढङ्ग से इस प्रसङ्ग पर किये हैं, वह तो निरर्थक ही मालुम पड़ता है। नागेश भट्ट ने इस प्रसङ्ग पर जो कुछ कहा है, वह उनकी अपनी चीज है, जिससे पण्डितराज के मत का तो खण्डन हो ही जाता है साथ-साथ ध्वन्यालोककार के मत में भी यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि वे 'एवं वादिनि···' इत्यादि पद्य में लज्जात्मक व्यभिचारी को संलक्ष्यक्रम हो जाने के कारण वस्तु मात्र मानते हैं अथवा पण्डितराज के कथनानुसार लक्ष्यक्रम भाव ही मानते हैं तो कैसे? क्योंकि नागेशोक्त रीति से यहां भी संलक्ष्यक्रमता नहीं होती। अभिनवगुप्त का मत भी नागेश की रीति से असंगत ही हो जाता है। यद्यपि नागेश ने उनके मत को संगत बनाने का प्रयास किया है, परन्तु वह प्रयास अभिनवगुप्त की उक्ति के स्वाभाविक स्वारस्य के अनुकूल नहीं मालुम पड़ता। मम्मट नागेश की कसौटी पर भी खरे उतरते हैं, हो सकता है कि नागेश ने भी अपने शब्दों में मम्मट के हृदय को ही व्यक्त किया हो।

अथ रसादिध्वनेर्व्यञ्जकानुपदिशन्नादौ प्राचीनमतमुपन्यस्यति—

तदित्थं निरूपितस्यास्य रसादिध्वनिप्रपञ्चस्य पद-वर्ण-रचना-वाक्य-प्रबन्धैः पदैकदेशैरवर्णात्मकै रागादिभिश्चाभिव्यक्तिमामनन्ति।

इत्थमेवं निरूपितस्य लक्षणोदाहरणादिभिर्विवेचितस्य, अस्य, रसादिध्वनेः प्रपञ्चस्य-समूहस्य, पदैः सुप्तिङन्तैरनन्वितैकार्थबोधकप्रयोगार्हवर्णरूपैः, वर्णैरकाराद्यक्षरैः, रचनाभिर्वर्णपदगुम्फलक्षणाभिः, वाक्यैर्योग्यताऽऽकाङ्क्षाऽऽसत्तिमत्पदकदम्बैः, प्रबन्धैः महावाक्यस्वरूपैः, पदैकदेशैः प्रकृतिप्रत्ययादिरूपपदावयवैः, अवर्णात्मकैर्ध्वनिरूपैर्गीतवाद्यादिसम्बन्धिभी रागैः आदिपदग्राह्याभिश्चेष्टाभिश्च, अभिव्यक्तिं चर्वणाम्, आमनन्ति प्रतिपादयन्ति प्राञ्च इति शेषः।

अब उक्त रस आदि की ध्वनियों का व्यञ्जक क्या क्या हो सकता है, इस विचार के

प्रसङ्ग में पहले प्राचीनों का मत दिखलाते हैं—'तदित्थम्' इत्यादि। पूर्वोक्त रीति से जिस रसादि-ध्वनि-समूह का निरूपण किया गया है, उसकी अभिव्यक्ति पदों, वर्णों, रचनाओं, वाक्यों, प्रबन्धों (ग्रन्थों) और पद के अंशों एवं जो अक्षर रूप नहीं हैं, उन रागादिकों से मानते हैं—अर्थात् स्थलभेद से ये सभी रसादि ध्वनियों के व्यञ्जक होते हैं।

ननु सर्वत्र वाक्यादेव रसाद्यभिव्यक्तिदर्शनात् कथमेकस्य तद्घटकपदस्य व्यञ्जकतोच्यत इत्याशङ्कां मनसि निधायाभिदधाति—

तत्र वाक्यगतानां पदानां सर्वेषामपि स्वार्थोपस्थितिद्वारा वाक्यार्थज्ञानोपायत्वे समानेऽपि, कुर्वद्रूपतया चमत्कारायोगव्यवच्छिन्नत्वेन कस्यचिदेव ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम्।

उपायत्वं कारणत्वं प्रयोजकत्वं वा। कुर्वद्रूपता विलक्षणशक्तिमत्ता। चमत्कारायोगव्यवच्छिन्नत्वं नियतचमत्कारसाहित्यम्।

यद्यपि वाक्यार्थबोधे पदार्थोपस्थितेः कारणतया वाक्यघटकानां सर्वेषामेव पदानां स्वस्वार्थोपस्थापनेन तुल्यैव वाक्यार्थबोधोपयोगिता भवतीत्येकस्य कस्यचित् तद्घटकपदस्य रसादिव्यञ्जकत्वासम्भवः, किन्तु लक्ष्यपर्यवेक्षणात् क्वचिदेकस्यापि पदस्य विलक्षणशक्तिमत्तया नियतचमत्कारसाहित्येन रसादिव्यञ्जकताया दर्शनात् पदानामपि रसादिव्यञ्जकत्वमङ्गीक्रियत इति तात्पर्यम्।

यद्यपि वाक्य के अन्दर जितने पद रहते हैं, वे सभी अपने अपने अर्थ को उपस्थित करके, समान रूप से ही वाक्यार्थ के ज्ञान का कारण होते हैं, अतः वाक्यार्थ ज्ञानोत्तर होने वाली ध्वनियों का निमित्त (व्यञ्जक) पदसमूहात्मक वाक्य ही सिद्ध होता है, कोई एक पद नहीं, फिर 'पदध्वनि' इस व्यवहार में क्या युक्ति है? यह है यहां शङ्का, और उत्तर यह है कि शङ्का के उपपादन में कही गई बातें सही हैं, तथापि वाक्यघटक पदों में से कोई एक ही पद कुर्वद्रूप-अर्थात् काम कर जाने वाला (विलक्षण शक्तिशाली) जहां रहता है, वहां वही पद चमत्कारायोगव्यवच्छिन्न-अर्थात् नियतचमत्कारविशिष्ट होता है; तात्पर्य यह कि और पद ऐसे रहते हैं, जिनमें चमत्कार का योग नियमतः नहीं रहता, अतः वैसी जगह में वह पद ही वाक्य के ध्वनिकाव्य कहलाने का कारण होता है।

पदस्य रसव्यञ्जकतामित्थं व्यवस्थाप्योदाहरति—

यथा—

'मन्दमाक्षिपति' इत्यत्र 'मन्द'मित्यस्य।

उत्तमोत्तमकाव्यत्वेन पूर्वमुदाहृते 'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इत्यादिपद्ये सर्वेषामेव पदानां व्यञ्जकत्वे तुल्येऽपि, शनैः स्वस्थानप्रापणार्थोपस्थापनद्वारा मन्दमित्यस्य पदस्येतरवैलक्षण्येन रतिव्यञ्जकतेति सारम्।

जैसे पूर्वोदाहृत (४१ पृष्ठ में) 'तल्पगताऽपि…' इत्यादि पद्य में 'मन्द' पद अर्थात् यद्यपि उक्त पद्य के सभी पद शृङ्गार रस ध्वनि में समान रूप से सहायक हैं, तथापि 'मन्दम्' इस पद में अन्य पदों की अपेक्षा कुछ विलक्षणता है और वह यह है कि 'धीरे धीरे प्रिय कर को हटाना' इस मार्मिक अर्थ की उपस्थिति उसी से होती है, अतः वहां पद-ध्वनि का व्यवहार होता है।

रचनानां वर्णानां च स्वातन्त्र्येणार्थबोधकत्वविरहेऽपि रसादिव्यञ्जकत्वं प्राचीनमतेनाह—

रचनावर्णानां पदवाक्यान्तर्गतत्वेन व्यञ्जकताऽवच्छेदककोटिप्रविष्टत्वमेव, न तु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुवचम्, तथापि पदवाक्यविशिष्टरचनात्वेन रचना-

विशिष्टपदवाक्यत्वेन वा व्यञ्जकत्वमिति विनिगमनाविरहेण घटादौ दण्डचक्रादेः कारणत्वस्येव प्रत्येकमेव व्यञ्जकतायाः सिद्धिरिति प्राञ्चः।

अभ्यर्हितत्वाद्रचनाशब्दस्य पूर्वप्रयोगः।

रचनानां वर्णानां च स्वातन्त्र्येण व्यञ्जकत्वं नास्ति, किन्तु पदानां वाक्यानां वा घटकत्वेनैवेति पदवाक्यनिष्ठा या रसादिव्यञ्जकता, तदाश्रयघटकत्वेन विशेषणीभावात् तदवच्छेदककोटौ प्रविष्टत्वं, नतु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुखेन वक्तुं शक्यम्, तथापि यथा घटं प्रति दण्डविशिष्टचक्रादेः कारणत्वम्, आहोस्विच्चक्रादिविशिष्टदण्डस्येत्थमेकतरपक्षपातियुक्तेरभावाद् दण्डे चक्रादौ च प्रत्येकं पर्याप्त्यैव घटनिरूपितकारणता स्वीक्रियते, तथैव प्रकृते पदवाक्यविशिष्टरचनात्वेन रसव्यञ्जकता, उत रचनाविशिष्टपदवाक्यत्वेनेति संशये विनिगमनाविरहात् प्रत्येकमेव पदत्वेन वर्णत्वेन रचनात्वादिना च रसादिव्यञ्जकताऽभ्युपगम्यत इत्येवं वर्णानां रचनादीनां च रसादिव्यञ्जकत्वं सिद्धमिति प्राचीनाव दन्तीत्यर्थः।

रचना और वर्ण, पदों और वाक्यों के अन्तर्गत हो कर ही व्यञ्जक हो सकते हैं, अतः यद्यपि यह कहा जा सकता है कि रचना तथा वर्ण से युक्त पद और वाक्य ही व्यञ्जक हैं, स्वतन्त्रतया वर्ण और रचना नहीं, वे व्यञ्जकतावच्छेदक-कोटि-प्रविष्ट अर्थात् व्यञ्जक के विशेषणों की श्रेणी में रहने वाले मात्र हैं, तथापि रचना और वर्ण से युक्त पद-वाक्य व्यञ्जक हैं अथवा पद और वाक्य से युक्त रचना और वर्ण व्यञ्जक हैं इन दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष को प्रमाणित करने वाली कोई युक्ति जब नहीं है, तब रचना, वर्ण, पद और वाक्य में प्रत्येक की व्यञ्जकता सिद्ध हो जाती है। जैसे कि घट का कारण चक्रसहित दण्ड माना जाय अथवा दण्डसहित चक्र, इनमें एक पक्ष को प्रमाणित करने की जब कोई युक्ति नहीं है, तब-चक्र और दण्ड दोनों पृथक् पृथक् कारण मान लिये जाते हैं। तात्पर्य यह कि वर्ण और रचना को भी पृथक् पृथक् स्वतन्त्र व्यञ्जक मानना अनुचित नहीं है, ऐसा प्राचीन विद्वानों का मत है।

तत्र नवीनमतमभिधत्ते—

वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव, न तु रसाभिव्यञ्जकत्वम्, गौरवान्मानाभावाच्च।

वर्णविशेषा रचनाविशेषाश्च माधुर्यगुणस्यैव व्यञ्जकाः, न पुनर्माधुर्यगुणाश्रयाणां रसादीनाम्, यतः कृताधिकरसादिव्यञ्जकाङ्गीकारे व्यञ्जकसङ्ख्याऽऽधिक्यनिबन्धनं गौरवम्, वर्णरचनानां रसादिव्यञ्जकत्वे प्रमाणवैधुर्यं च, तस्माद् वर्णानां रचनानां च रसादिव्यञ्जकत्वं नास्तीत्यभिप्रायः।

नवीन विद्वानों का मत उससे भिन्न है। वे कहते हैं कि वर्णविशेष और रचनाविशेष (वैदर्भी आदि) माधुर्य आदि गुणों के ही व्यञ्जक होते हैं, उन गुणों के आश्रयीभूत रसों के नहीं, क्यों कि ऐसा मानने में एक तो व्यर्थ रसादिकों के व्यञ्जकों की संख्या बढ़ती है, दूसरे, इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है।

ननु यदि वर्णादिषु माधुर्यव्यञ्जकताऽस्ति, तर्हि तदाश्रयरसादिव्यञ्जकताऽप्यस्त्येव, यतो गुणिनो व्यञ्जकतां विना गुणानां व्यञ्जकतैव न सम्भवतीत्याशङ्कां निराकरोति—

न हि गुण्यभिव्यञ्जनं विना गुणाभिव्यञ्जकत्वं नास्तीत्यस्ति नियमः, इन्द्रियत्रये व्यभिचारात्।

गुणाभिव्यञ्जकास्तदाश्रयव्यञ्जका भवेयुरेवेति नास्ति नियमः, यतो घ्राण-रसन-श्रोत्ररूप-इन्द्रियत्रये तस्य व्यभिचारो दृश्यते, तथाहि—घ्राणेन्द्रियं गन्धस्य गुणस्य व्यञ्जकं न तु

तदाश्रयस्य पृथिव्याः, रसनेन्द्रियं रसस्य व्यञ्जकं, न तु रसवतो जलस्य, श्रोत्रेन्द्रियं च शब्दस्य व्यञ्जकं, न तु शब्दाधारस्य गगनस्य। इत्थं च माधुर्यव्यञ्जकताऽन्यथाऽनुपपत्त्या वर्णादीनां रसाभिव्यञ्जकताकल्पनं नैव सम्भवतीति विभावनीयम्।

यदि कोई कहे कि वर्ण और रचना को माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक मानने पर गुण के आश्रय रस आदि के भी व्यञ्जक मानना ही पड़ेगा, क्योंकि जो गुणी (गुण के आश्रय) का व्यञ्जक नहीं, वह गुणों का व्यञ्जक हो ही नहीं सकता-अर्थात् गुणों के आश्रयों की अभिव्यक्ति के बिना गुणों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, तो मैं कहूँगा-यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि 'गुणी की अभिव्यक्ति के बिना गुणों की अभिव्यक्ति नहीं होती' यह नियम नाक, जीभ, कान इन तीनों इन्द्रियों में व्यभिचरित होते देखा गया है—अर्थात् इन तीनों इन्द्रियों से गुणी की अभिव्यक्ति के बिना भी गुणों की अभिव्यक्ति होती है। जैसे—नाक से गन्ध (गुण) की अभिव्यक्ति होती है और उसके आश्रय पृथवी की नहीं, जीभ से रस की अभिव्यक्ति होती है और रसाश्रय जल आदि की नहीं एवम् कान से शब्द की प्रतीति होती है और शब्दाश्रय आकाश की नहीं।

गुणादिव्यक्तिव्यवस्थादर्शनेन स्वपक्षे दोषं परिहरन् नवीनमतमुपसंहरति—

इत्थं च स्वस्वव्यञ्जकोपनीतानां गुणिनां गुणानामुदासीनानां च यथा परस्परोपश्लेषेणौदासीन्येन वा तत्तत्प्रमितिगोचरता, तथा रसानां तद्गुणानां चाभिव्यक्तिविषयतेति तु नव्याः।

स्वस्वव्यञ्जकैर्वर्णादिभिः, उपनीतानां बोधितानां, गुणिनां पृथिव्यादीनां, गुणानां गन्धादीनाम्, उदासीनानां गुणगुणिभावेन मिथोऽसम्बद्धानां पदार्थानां च प्रमितिगोचरता प्रमात्मकप्रत्यक्षविषयता, कदाचित् उपश्लेषेण गुणानां गुणिनां मिथस्सम्बद्धत्वेन, कदाचित् पुनरौदासीन्येन मिथोऽसम्बद्धत्वेन च यथा भवति, तथा गुणिनां रसानां, गुणानां माधुर्यादीनां चाभिव्यक्तिविषयताऽऽस्वादगोचरता, कदाचिन्मिलितत्वेन, कदाचिच्च पार्थक्येन भवतीति व्यवस्थया, रसाव्यञ्जकत्वेऽपि माधुर्यादिव्यञ्जकता वर्णादीनां नासम्भविनीति तु नव्या वदन्तीत्यर्थः।

असंलक्ष्यक्रमध्वनेः प्रबन्ध-वाक्य-पद-तदंश-वर्ण-रचनाव्यङ्ग्यत्वेन षड्विधत्वं स्वीकुर्वद्भिः प्राचीनैर्वर्णविशिष्टानां रचनाविशिष्टानामेव च पदवाक्यादीनां रसादिव्यञ्जकतायाः सत्त्वाद्रसादिव्यञ्जकताऽवच्छेदकतया तद्व्यञ्जकत्वाभावेऽपि विशिष्टव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावकल्पने विनिगमनाविरहेण गौरवाद् दण्डादिषु घटादिकारणतेव प्रत्येकं रसादिव्यञ्जकता कल्प्यते।

नवीनैस्तु रूढिविरोधिभिः पृथगपि गुणगुणिनां प्रतीतिं मन्यमानैर्वर्णादिषु माधुर्यादिगुणमात्रव्यञ्जकताऽङ्गीक्रियते, रसादिव्यञ्जकता तु गौरव-प्रमाणाभावादिप्रदर्शनेन निराक्रियत इति सारम्।

इस तरह जैसे अपने अपने व्यञ्जकों—अर्थात् पांचों ज्ञानेन्द्रियों से उपस्थित कराये गये गुणी, गुण और तद्रिक्त तटस्थ पदार्थ कभी परस्पर संमिलित रूप से, कभी उदासीन रूप से उन उन यथार्थ ज्ञानों के विषय होते हैं, वैसे ही रस (गुणी) और गुण (माधुर्यादि) भी अभिव्यक्ति के विषय होते हैं—अर्थात् वे पृथक् पृथक व्यञ्जकों (वाक्य पद आदि और रचना आदि) से उपस्थित किये जाते हैं, और फिर कभी सम्मिलितरूप से तथा कभी उदासीन रूप से गृहीत (ज्ञात) होते हैं। तात्पर्य यह कि वर्णों और

रचनाओं को रसों का व्यञ्जक मानना समुचित नहीं, उन्हें केवल माधुर्यादि गुणों का व्यञ्जक मानना चाहिये।

रचनाया रसादिव्यञ्जकतामुदाहरति—

उदाहरणन्तु—

'तान्तमाल–' इत्यादि प्रागुक्तमेव।

अत्र भगवद्विषयकरतिभावद्वारा शान्तरसस्य तन्निष्ठमाधुर्यगुणस्य च व्यञ्जिका रचनेति–इति रचनाया गुणव्यञ्जकतानिरूपणप्रसङ्गेन प्रागुक्तमनुसन्धेयम्।

वर्णों तथा रचनाओं के द्वारा गुणों की अभिव्यक्ति का उदाहरण 'तां तमालतरुकान्तिलंघिनीम्......' इत्यादि पहले (पृ० २३४ में) कह ही चुके हैं।

वाक्यस्य रसादिव्यञ्जकतामुदाहरति—

वाक्यस्य व्यञ्जकतायामपि 'आविर्भूता यदवधि–' इत्यादि च।

प्रागुक्तेऽस्मिन् पद्ये समस्तमेव वाक्यं विप्रलम्भशृङ्गाररसस्य व्यञ्जकम्।

वाक्य जहां व्यञ्जक हुआ हो, वैसे उदाहरण भी 'आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनोः......' इत्यादि (पृ० १४१ में) कहे ही जा चुके हैं।

प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकतामुदाहरति—

प्रबन्धस्य तु 'योगवाशिष्ठ-रामायणे शान्त-करुणयोः, रत्नावल्यादीनि च शृङ्गारस्य व्यञ्जकत्वान्निदर्शनानि प्रसिद्धानि।

योगवाशिष्ठं प्रबन्धः शान्तरसस्य, रामायणं प्रबन्धः करुणरसस्य; रत्नावलीप्रभृतयश्च प्रबन्धाः शृङ्गाररसस्य व्यञ्जका इति प्रबन्धव्यञ्जकतोदाहरणानि बोध्यानि।

अब प्रबन्ध (ग्रन्थ) जहां व्यञ्जक होते हैं, वैसे उदाहरण देखिये–सम्पूर्ण योगवाशिष्ठ ग्रन्थ से शान्तरस और समस्त रामायण ग्रन्थ से करुणरस अभिव्यक्त होते हैं, इसी तरह रत्नावली आदि ग्रन्थ शृङ्गाररस के व्यञ्जक होने के नाते प्रसिद्ध ही हैं।

प्रबन्धस्य भावव्यञ्जकतामुदाहरति—

मन्निर्मिताश्च पञ्चलहर्यो भावस्य।

गङ्गालहरीप्रभृतयः पञ्च लहर्यः प्रबन्धा गङ्गादिविषयकरतिभावस्य व्यञ्जका इत्यर्थः।

पण्डितराज रचित पांचों लहरियां (करुणालहरी, गंगालहरी आदि) भाव–व्यञ्जकता के उदाहरण होती हैं।

पदावयवस्य रसव्यञ्जकतामुदाहरति

पदैकदेशस्य च 'निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि' इति कप्रत्ययतद्धितो वीररसस्य प्रागेवोदाहृतः।

चवीररसोदाहरणप्रसङ्गेन प्रागेवोदाहृतेऽत्र पद्ये 'जगदण्डक'मिति पदावयवः कप्रत्ययतद्धितप्रत्ययो ब्रह्माण्डस्य क्षोदिष्ठतां द्योतयन्नुत्साहस्थायिकस्य वीररसस्य व्यञ्जक इत्यर्थः।

'निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि' यहां कप्रत्यय तद्धित (पदैकदेश) वीररसव्यञ्जक है यह भी पहले (पृ० १६६ में) कहा जा चुका है।

अवर्णात्मकरागादीनां व्यञ्जकता सहृदयानुभवसिद्धैवेति प्रतिपादयति—

एवं रागादिभिरपि व्यङ्ग्यत्वे सहृदयहृदयमेव प्रमाणम् ।

व्यङ्ग्यत्वे रसादीनामिति शेषः । रागादिव्यञ्जकता सहृदयानुभवसाक्षिकैवेति तदुदाहरणं न प्रदर्शितमित्यर्थः ।

इसी तरह अवर्णात्मक राग आदि भी रसादि के व्यञ्जक होते हैं—इसमें सहृदयों के हृदय ही प्रमाण हैं।

उपसंहरति—

एवमेषां रसादीनां प्राधान्येन निरूपितान्युदाहरणानि ।

एवमुक्तरीत्या, एषां रसादीनां प्राधान्येन ध्वनितया प्राङ्निरूपितानामुदाहरणानि निरूपितानि ज्ञेयानीत्यर्थः ।

इस तरह से प्रधान रहने के कारण ध्वनिरूप रसादिकों के उदाहरण निरूपित हो चुके यह समझना चाहिये ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वे रसादीनामुदाहरणापेक्षायामाह—

गुणीभावे तु वक्ष्यन्ते, नामानि च।

रसादीनां गुणीभावेऽप्राधान्ये गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामुदाहरणानि रसवत्प्रेयऊर्जस्व्यादीनि नामानि चालङ्कारप्रकरणे वक्ष्यन्ते प्रतिपादयिष्यन्त इत्यर्थः ।

जब ये रस आदि गौण—अप्रधान—हो जाते हैं, तब उनके क्या क्या नाम पड़ते हैं और उनके उदाहरण क्या हो सकते हैं, ये सब बातें आगे कही जायगीं—अर्थात् रस आदि के गौण हो जाने पर 'रसवत्' प्रेय और ऊर्जस्वि इन नामों के अलंकार होते हैं, यह बात तथा उनके उदाहरण अलंकार प्रकरण (द्वितीय आनन) में कहे जायगें । (खेद है कि पण्डितराज की यह प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं हो सकी । यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध होता है और जितना भाग उपलब्ध है, उसमें यह विचार नहीं आ सका है)

तत्र विशेषमाचष्टे—

तत्र प्राधान्य एवैषां रसादित्वम्, अन्यथा तु रत्यादित्वमेव ।

एषां रसादीनां प्राधान्य एव विगलितवेद्यान्तरसच्चिदानन्दस्वरूपतासम्पत्तेः रसादित्वं भवति, अन्यथाऽप्राधान्ये तु तादृग्रूपताविरहात् स्थायिमात्रात्मकत्वाद् रत्यादित्वं केवलं भवतीत्यर्थः ।

यहां भी विद्वानों में मतभेद है । कुछ विद्वानों का कथन है कि ये रस आदि प्रधान रहने पर ही रसादि हैं और गौण हो जाने पर रत्यादिमात्र अर्थात् वस्तुमात्र होते हैं ।

ननु गुणीभावे यदि रसादित्वाभावो भवेत्, तर्हि गुणीभूतरसस्य रसवदलङ्कारेति नाम रसवदं कथमुपपन्नमित्याशङ्कायामाह—

नामानि रसवदं तु रत्यादिपरमित्येके । अस्त्येव रसादित्वं, किन्तु न ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वमित्यपरे ।

इति तैलङ्गपण्डितराजश्रीजगन्नाथविरचिते रसगङ्गाधरे प्रथममाननं सम्पूर्णम् ।
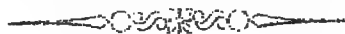
रसवदलङ्कारेति नामघटकरसपदस्य रसत्वयोग्यरत्यादिस्थायिभावेषु लक्षणेति प्रागुक्तनियमाङ्गीकर्तॄणां केषाञ्चिन्मतम्। अन्येषां तु-रसादीनामप्राधान्ये न रसादित्वस्य विलोपः, किन्तु प्राधान्यविरहाच्च ध्वनिव्यवहारस्य कारणत्वमिति मतम्। तत्र पूर्वमत एव लक्षणापेक्षा, नतूत्तरमत इति बोध्यम्।

विद्यानाभिनिकेतन-मिथिलाऽन्तर्पातिसरिसवग्रामे।
विद्यानाथसुतश्रीबदरीनाथेन निर्मिता कुतुकात् ॥ १ ॥
राधाऽच्युतपदनखविधु-समर्पिता चन्द्रिका सेयम् ।
लभतां रसगङ्गाधर-संसक्ता शाश्वतीं सुषमाम् ॥ २ ॥
आशानखमित (२०१०) विक्रम-समासहर्पूर्णिमासूर्ये।
रसगङ्गाधरविवृतिर्वाणीकृपयाऽगमत् पूर्त्तिम् ॥ ३ ॥
चिन्ताजरादिपण्डीकृतपण्डस्यापि मे नूनम् ।
साहसमेव विवरणं, पण्डितराजातिगूढभणितीनाम् ॥ ४ ॥
उपकृतिरितोऽपि तावत्, किन्तु भवेदेव केषाञ्चित् ।
मदपि न्यूनमतीनामिति प्रतीतेः समाश्वसिमि ॥ ५ ॥

इति मैथिलश्रोत्रियपण्डितश्रीबदरीनाथशर्मनिर्मितायां रसगङ्गाधर-
चन्द्रिकायां प्रथममाननं सम्पूर्णम्।

यदि कहें कि जब गौण हो जाने पर ये रसरूप नहीं होते, तब उस अवस्था के 'रसवत्' इत्यादि नामों में रस आदि पदों का प्रयोग कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि उन नामों में रसादि पद रत्यादि का ही बोधक है। यहां दूसरे विद्वानों का कथन इससे भिन्न है, वे कहते हैं कि गौण हो जाने पर भी उनमें रसत्व अथवा भावत्व रहते ही हैं, केवल गौण हो जाने के कारण वे काव्य में ध्वनि व्यवहार के हेतु नहीं होते।

इति दरभङ्गामण्डलान्तर्गत नवानी ग्रामनिवासी, मैथिलब्राह्मणवंशावतंसव्याकरण-
न्याय-साहित्याचार्य, मुजफ्फरपुरस्थ राजकीय संस्कृत महाविद्यालय प्रधान-
साहित्याध्यापक 'पं० श्री मदनमोहन झा' द्वारा निर्मित रसगङ्गाधर
(प्रथम आनन) की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।

D.

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
११

पण्डितराजश्रीजगन्नाथविरचितः

रसगङ्गाधरः

'चन्द्रिका' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

(द्वितीयाननस्योत्प्रेक्षान्तो भागः)

व्याख्याकारः—
व्याकरण-न्याय-साहित्याचार्य-
पण्डित श्री मदनमोहन झा
मुजफ्फरपुरस्थराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य साहित्यप्रधानाध्यापकः

चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी—१

संवत् २०१४] [ई० १९५७

॥ श्रीः ॥

रसगङ्गाधरः

'चन्द्रिका'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

द्वितीयमाननम्

अथ संलक्ष्यक्रमध्वनिर्निरूप्यते—

शङ्कर-मुख-सरसीरुह-नृत्यन्नयनाम्बुजद्वन्द्वा ।
गौरी गौरिव वत्से प्रणत-जने वत्सला जयति ॥
जयति जगज्जन-पालन-दक्षो, दक्षाध्वरध्वंसी ।
मन्मथ-मथन-प्रथितो गिरिजा-कामाङ्कुरः शम्भुः ॥
गुरु-करुणामृत-बिन्दुः पुण्यैः प्राप्तश्चिरं जयति ।
यः पीतो मुग्धानामुक्तिषु वैदग्ध्यमातनुते ॥
पित्रोर्जयत्यहेतुः स्नेहोत्कर्षः सदा सुलभः ।
सिक्ता सन्तति-लतिका येनोदय-शाखिनं श्रयते ॥
सहृदयजनातिहृद्या निरवद्या 'चन्द्रिका' जयतात् ।
रसगङ्गाधरसंगात्सर्वाङ्गावाप्त-लावण्या ॥

अथ प्रथमानने रसादिरूपासंलक्ष्यक्रमध्वनिनिरूपणानन्तरं द्वितीयमाननमारभमाणः प्रथमं संलक्ष्यक्रमध्वनिनिरूपणं प्रतिजानीते—अथेत्यादिना ।

अथ शब्दोऽयमानन्तर्यार्थकः । तथा चासंलक्ष्यक्रमध्वनिनिरूपणानन्तरमिति तात्पर्यार्थः । संलक्ष्यः—सम्यक् प्रतीतिपथमवतरन् क्रमः कार्यकारणयोः पौर्वापर्यम्, यत्र स ध्वनिः व्यङ्ग्यविशेषः, निरूप्यते शब्दप्रयोगात्मक-व्यापार-प्रयोज्य-ज्ञान-विषयो विधीयत इति तदर्थः । मया ग्रन्थकारेणेति शेषः ।

अचपल-चपला-सङ्ग से, अङ्ग-अङ्ग छवि धाम ।
मेरे मानस में बसें, नवल विमल घन-श्याम ॥

प्रथम आनन में रस आदि असंलक्ष्यक्रमध्वनि के निरूपण कर लेने के बाद अब द्वितीय आनन के आरम्भ में संलक्ष्यक्रमध्वनि निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—अथ इत्यादि से। अथ शब्द यहाँ आनन्तर्यार्थक है। संलक्ष्यक्रम का तात्पर्य यह है कि जिस ध्वनि में कार्य (ध्वनि) और कारण (विभाव आदि का ज्ञान) का क्रम—पौर्वापर्य अर्थात्—अग्र पश्चाद्भाव लक्षित होता हो। निरूपण शब्द का अर्थ होता है, वह शब्द प्रयोगात्मकव्यापार, जिससे जिज्ञास्यपदार्थ का ज्ञान हो सके। इस प्रकरण में ध्वनिशब्द व्यङ्ग्य अर्थ में

प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार मूल का अनुवाद यह होता है कि असंलक्ष्यक्रमध्वनि निरूपण के बाद संलक्ष्यक्रमध्वनि का निरूपण किया जाता है।

संलक्ष्यक्रमध्वनिं विभजते—

स च तावद्द्विविधः शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। तत्राद्यो द्विविधः, व्यङ्ग्यस्य वस्तुत्वालंकारत्वाभ्यां द्वैविध्यात्। द्वितीयोऽपि वस्त्वलंकारात्मना लोकसिद्धेन, तथाभूतेनैव प्रतिभा-मात्र-निर्वर्तितेन च व्यञ्जकेनार्थेन चतुर्विधेन वस्त्वलंकारात्मनो द्विविधस्य व्यङ्ग्यस्य प्रत्येकं व्यञ्जनादष्टमूर्तिः।

तावद् आदौ स्थूलतयेति तात्पर्यार्थः। स संलक्ष्यक्रमध्वनिः द्वे विधे प्रकारौ यस्यासौ द्विप्रकारक इत्यर्थः। तत्र प्रथमः, शब्दशक्तिः शब्दनिष्ठाव्यञ्जना मूलं कारणं यस्य सः। द्वितीयोऽर्थशक्तिः अर्थनिष्ठा व्यञ्जनामूलं कारणं यस्य सः। शाब्दव्यञ्जनाबोध्य आर्थव्यञ्जनाबोध्यश्चेत्यर्थः। तत्र तयोर्मध्ये, आद्यः शब्दशक्तिमूलः पुनर्द्विप्रकारकः, यतो व्यङ्ग्यं वस्तुरूपमलंकाररूपञ्चेति द्विविधं भवति। द्वितीयः अर्थशक्तिमूलः पुनरष्टविधः, यतो व्यञ्जकोऽर्थो द्विविधः–वस्तुरूपः, अलंकाररूपश्च। द्विविधोऽप्यसौ लोकसिद्धत्वेन, प्रतिभामात्रनिर्वर्तितत्वेन च रूपेण पुनर्द्विविधः। अर्थात् वस्तुत्वालंकारत्वभेदेन द्विविधोऽपि व्यञ्जकोऽर्थः क्वचित् लोके संभावना-विषयतया लोकसिद्धो भवति, क्वचिच्च केवलं कविकल्पनाप्रसूततया कल्पितो भवति। एवञ्च व्यञ्जकस्यार्थस्य चत्वारो भेदा जायन्ते। चतुर्विधैस्तैः पृथक् पृथक् वस्तुरूपोऽलंकाररूपश्चार्थो व्यज्यते इति सिद्धमस्याष्टविधत्वम्।

संलक्ष्यक्रमध्वनि के भेद दिखलाते हैं—स च इत्यादि से। संलक्ष्यक्रमध्वनि के प्रथमतः दो भेद होते हैं—पहला शब्दमूल अर्थात् जिसके मूल में शब्दनिष्ठव्यञ्जनावृत्ति काम करती रहती हो और दूसरा अर्थशक्तिमूल अर्थात् जिसके मूल में अर्थनिष्ठव्यञ्जना काम करती हो। उनमें प्रथम—शब्दशक्तिमूलध्वनि के पुनः दो भेद होते हैं। क्योंकि वस्तु और अलंकारभेद से व्यङ्ग्य दो प्रकार के होते हैं। फलतः—१–शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि और २–शब्दशक्तिमूल अलंकारध्वनि, ये दो प्रकार प्रथम भेद के सिद्ध हुए। द्वितीय—अर्थशक्तिमूलध्वनि के आठ भेद होते हैं, क्योंकि व्यञ्जक अर्थ प्रथमतः दो प्रकार के हो सकते हैं—पहला वस्तुरूप और दूसरा अलंकाररूप, फिर इन दोनों ही प्रकार के दो दो प्रकार हो सकते हैं—लोकसिद्ध (लोक में हो सकनेवाला) वस्तु और कविकल्पनामात्रप्रसूत (जो लोक में सम्भव विषय नहीं हैं, फिर भी कवियों की कल्पना से सिद्ध किए गए हैं) वस्तु। इसी तरह अलंकार भी उक्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इस तरह से व्यञ्जक अर्थ के चार भेद हो जाते हैं। इन चारों में प्रत्येक से कहीं वस्तु और कहीं अलंकार ध्वनित होते हैं। इन आठों भेदों के नाम पाठकों की सुविधा के लिए नीचे दिए जाते हैं:—१–स्वतःसंभवि-वस्तु से वस्तुध्वनि, २–स्वतःसंभवि-वस्तु से अलंकारध्वनि, ३–स्वतःसंभवि-अलंकार से वस्तुध्वनि, ४–स्वतःसंभवि-अलंकार से अलंकारध्वनि, ५–कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से वस्तुध्वनि, ६–कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से अलंकारध्वनि, ७–कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलंकार से वस्तुध्वनि, ८–कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलंकार से अलंकारध्वनि।

ननु अर्थशक्तिमूलध्वनेरष्टविधत्वोक्तिरसंगता, मम्मटादिभिः लोकसिद्धकविप्रतिभामात्रनिर्वर्तिताविव कविकल्पितवक्तृप्रतिभानिर्वर्तिताभिधानमप्येकं व्यञ्जकार्थस्य भेदमङ्गीकृत्य तस्य द्वादशविधत्वप्रतिपादनादित्यत आह—

प्रतिभानिर्वर्तितत्वाविशेषाच्च कवितदुम्भितवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नयोरर्थयोर्न पृथग्भावेन गणनोचिता, उम्भितोम्भितादेरपि भेदान्तरप्रयोजकतापत्तेः। न च

तस्यापि कव्युम्भितत्वानपायात्तत्प्रयोज्यभेदान्तर्गतत्वमेवेति वाच्यम्, प्रथमोम्भितस्यापि लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्वलक्षणकवित्वानपायात्पृथग्भेदप्रयोजकतानुपपत्तेः।

प्रतिभानिर्वर्तितेति प्रतिभासम्पादितेत्यर्थः। तदुम्भितेति तन्निबद्धेत्यर्थः। तस्यापि उम्भितोम्भितादेरपीत्यर्थः। अयंभावः—यथा स्वतःसंभविना व्यञ्जकार्थेन भिन्नः कविप्रौढोक्तिसिद्धो व्यञ्जकोऽर्थोऽङ्गीक्रियते, तथा यत्र कविः कमपि वक्तारं कल्पयित्वा तन्मुखेन किमपि वर्णयति तत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धोऽप्येको व्यञ्जकोऽर्थः स्वीकार्यः। सोऽपि वस्त्वलंकारभेदेन द्विविधो भवेत्, ताभ्यां व्यज्यमानस्यापि वस्तुत्वालंकारत्वाभ्यां द्वैविध्यमिति अर्थशक्तिमूलध्वनेश्चत्वारोऽपरेऽपि भेदा न्यायसिद्धा इति काव्यप्रकाशकारादयो व्यवस्थापयामासुः। पण्डितराजस्तु कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नेऽर्थे यथाकविप्रतिभानिर्वर्तितत्वम्, तथैव कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नेऽर्थेऽपीति अविशेषात्, पृथग्भेदत्वेन तद्गणनाया अनौचित्यमेव मनुते। अन्यथा कविनिबद्धवक्तुरिव कविनिबद्धनिबद्धवक्त्रादेरपि पृथक्भेदनियामकत्वं प्रसज्येत। नन्वेति। अयमभिप्रायः—कवि-निबद्धस्येव कविनिबद्धनिबद्धादेरुपादानमिह नोचितम्, तस्यापि कविनिबद्धत्वाविशेषेण प्रथमनिबद्धान्तर्गतत्वात्। इति शङ्का। समाधानं तु प्रतिबन्दिरूपमिदं यत्—प्रथमोऽपि कविनिबद्धो वक्ता कविरेव, लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्वरूपस्य कवित्वस्य तस्मिन् सत्वात् इति न कविप्रौढोक्तिसिद्धात् भिन्नः कश्चन कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धः। 'वृद्धोक्तिविषयाच्छिशूक्तिविषय इव कव्युक्तिविषयात् कविनिबद्धोक्तिविषये चमत्काराधिक्यस्यानुभविकत्वात् पृथगुक्तिः। ततः परं च प्रणिधानसाध्यप्रतीतिकतया चमत्कारस्वगमाच्चोम्भितोम्भितादेः पृथग्गणनेति तत्त्वम्' इति नागेशः।

मम्मट आदि प्राचीन आलंकारिकों ने अर्थशक्तिमूलध्वनि के द्वादश भेद माने हैं, उनका खण्डन करते हैं—प्रतिभा इत्यादि से। मम्मट आदि आचार्यों ने अर्थशक्तिमूलध्वनि के ऊपर कहे गए आठ भेदों से भिन्न चार भेद और माने हैं। उन लोगों के कथन का अभिप्राय यह है कि जिस तरह कवि-कल्पित अर्थ को व्यञ्जक माना जाता है, उसी तरह कवि के द्वारा काव्य में वर्णित वक्ताओं की कल्पना से सिद्ध अर्थ को भी व्यञ्जक मानना चाहिये। उस तरह के अर्थों के भी दो भेद हो सकते हैं—पहला वस्तुरूप और दूसरा अलंकाररूप। उन दोनों व्यञ्जक अर्थों से वस्तु और अलंकार दोनों अभिव्यक्त हो सकते हैं, अतः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से वस्तुध्वनि, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से अलंकारध्वनि, कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तुध्वनि और कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकारध्वनि ये चार भेद और स्वीकरणीय हैं। पर पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं कि कवि-कल्पित और कवि-वर्णित वक्ताओं से कल्पित—दोनों ही—अर्थ प्रतिभा-प्रसूत हैं, उन दोनों में परस्पर कोई विशेष अन्तर नहीं है, फिर उन दोनों को पृथक्-पृथक् व्यञ्जक अर्थों की श्रेणी में गिनना उचित नहीं और तत्प्रयुक्त अन्य पूर्वोक्त चार भेदों का मानना भी ठीक नहीं, यदि इस तरह से भेद बढ़ाये जायँ, तब कविवर्णित वक्ताओं के द्वारा वर्णित वक्ताओं से कल्पित अर्थ को व्यञ्जक मानकर तत्प्रयुक्त ध्वनि भेद भी मानने पड़ेंगे। यदि आप यह तर्क उपस्थित करें कि कविवर्णित वक्ताओं के द्वारा वर्णित वक्ता भी तो कविवर्णित वक्ता ही हुआ, अतः तन्मूलक पृथक् भेद मानना समुचित नहीं होगा, तो इसका उत्तर यह है कि कविवर्णित प्रथमवक्ता भी लोकोत्तर वर्णन करने में निपुण होने के कारण कवि ही हुआ, अतः तत्कल्पित अर्थ भी कविकल्पित व्यञ्जक अर्थों में ही अन्तर्भूत हैं, फिर जैसे आप द्वितीयवक्ता से कल्पित अर्थ को व्यञ्जक मानकर तन्मूलक भेद नहीं मानना चाहते, वैसे ही प्रथमवक्ता से कल्पित अर्थ को

व्यञ्जक मानकर तत्प्रयुक्त भेद भी नहीं मानना चाहिये। वस्तुतः कविवर्णित वक्ता कवि से भिन्न कोई रहता नहीं—उसके द्वारा कवि ही अपनी कल्पना को रूप देता है। अतः पण्डितराज का कथन उपयुक्त है। प्राचीन मत के समर्थन में आग्रह रखनेवाले नागेश महोदय ने अपनी टीका में—जैसे वृद्धों की उक्तियों से बच्चों की उक्तियों में अधिक लालित्य होता है, उसी तरह कवि की उक्ति से कविवर्णित वक्ता की उक्ति में अधिक चमत्कार अनुभूत होता है, अतः तन्मूलक पृथक् भेद समुचित ही है। उसके आगे (कविवर्णित वक्तृवर्णित वक्ता की उक्ति) की प्रतीति प्रणिधान द्वारा ही हो सकती है अन्यथा नहीं, अतः उसमें चमत्कार नहीं रह जाता, इसीलिए उन सबों की पृथक् गणना नहीं की जा सकती—इत्यादि कहकर प्राचीन मत की पुष्टि की है।

उपसंहरति—

एवं साकल्येन दशभेदोऽयम्।

पूर्वोक्तरीत्या संलक्ष्यक्रमध्वनेः दशभेदाः बोध्याः।

इस प्रकार संलक्ष्यक्रमध्वनि के कुल भेद दस होते हैं। अर्थात् शब्दशक्ति मूलध्वनि के दो और अर्थशक्तिमूलध्वनि के आठ भेद हैं।

नानार्थकशब्दस्थले संयोगादिभिरेकस्मिन्नर्थेऽभिधायां नियन्त्रितायां द्वितीयोऽर्थो व्यञ्जनया बोध्यते, स एव शब्दशक्तिमूलध्वनिलक्ष्यस्थल इति प्राचीनाभिमतं सिद्धान्तं मत-भेदेन समालोचयितुमुपक्रमते—

तत्र केचिदाहुः—नानार्थस्य शब्दस्य सर्वेष्वर्थेषु संकेतग्रहस्य तुल्यत्वाच्छ्र-वणमात्र एव तस्मिन् सकलानामर्थानामुपस्थितौ, शब्दस्यास्य कस्मिन्नर्थे तात्पर्य-मिति संदेहे च सति, प्रकरणादिकं तात्पर्यनिर्णायकं पर्यालोचयतः पुरुषस्य सति तन्निर्णये, तदात्मकपदज्ञानजाया एकार्थमात्रविषयायाः पुनः पदार्थोपस्थिते-रनन्तरमन्वयबोध इति नये द्वितीयायाः पदार्थोपस्थितेः प्राथमिक्या इव न कुतो नानार्थगोचरतेति प्रकरणादिज्ञानस्य तदधीनतात्पर्यनिर्णयस्य वा पदार्थो-पस्थितौ प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्, अन्यथा शाब्दबुद्धेरपि नानार्थविषयत्वापत्तिः।

नानार्थकशब्दस्थले केषांचिदभिमतोऽन्वयबोधप्रकारः प्रदर्श्यते-नानार्थस्येत्यादिना। अयमाशयः—नानार्थकशब्दश्रवणानन्तरं प्रथमं सर्वेषामर्थानामुपस्थितिः (स्मृतिः) जायते, तत्तत्सकलार्थनिरूपितसंकेतस्य तस्मिन् शब्दे समानरूपेण गृहीतत्वात्। ततः 'अत्र कस्मिन् अर्थे वक्तुस्तात्पर्य'मिति सन्देह उत्पद्यते श्रोतुः। अथ श्रोता सन्देहनिवृत्त्यर्थं तात्पर्यनिर्णायकं प्रकरणादिकं पर्यालोचयति। पर्यालोचनेन च तेन तात्पर्य-निर्णयो जायते। तदनन्तरं पुनरेकार्थमात्रविषयकोपस्थितिद्वारोपस्थितार्थविषयकान्वयबोधो भवतीति क्रमः। ननु हेतु-भूतस्य पदज्ञानस्य क्षणिकतया विनष्टत्वेन कथमेकार्थविषयिणी पुनः पदार्थोपस्थितिरित्यत आह—तदात्मकेति। तात्पर्यज्ञानात्मकेति तदर्थः। 'पयो रमणीयम्' इत्यादौ सन्देहनिवर्त-नाय क्रियमाणे 'अत्रत्यं पयःपदं दुग्धतात्पर्येणोच्चारितम्' इत्याकारके तात्पर्यनिर्णये पय आदिकं पदं भासते इति तत्तात्पर्यज्ञानमेव पदज्ञानात्मकं सम्पद्यते इति तात्पर्यम्।

ननु कथमियं द्वितीयोपस्थितिरेकार्थमात्रविषया? प्राथमिक्यामिव तत्रापि सर्वेऽर्थाः कुतो न भासेरन् इत्यत आह—प्रकरणादिज्ञानस्येति। इदमत्र रहस्यम्—द्वितयस्यामुप-स्थितौ प्रकरणादिनिर्णीततात्पर्यविषयीभूत एक एवार्थो भासते नान्यः, प्रकरणादिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वस्वीकारात्। ननु व्यवहिततयोपस्थितिकाले नष्टस्य तस्य प्रतिबन्धकत्वमसम्भ-

बतीत्यत आह—तदधीनेति । प्रकरणज्ञानस्य नष्टत्वेऽपि तज्जन्यतात्पर्यनिर्णयस्योपस्थितिकालीनस्य प्रतिबन्धकत्वं सम्भवतीति भावः । नानार्थकपदजन्यऽतदन्यार्थविषयकोपस्थितिं प्रति तदर्थविषयकस्तात्पर्यनिर्णयः प्रतिबन्धक इत्याकारकः प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव आस्थेय इति सरलार्थः । अन्यथेति । उक्तप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावास्वीकारे इत्यर्थः । उपस्थितेरप्रतिबन्धे उपस्थितानामर्थानां शाब्दबोधे भाननियमेन नानार्थस्थले शाब्दबोधोऽपि नानार्थविषयक आपतेत्, अनुभवसिद्धश्च तत्र तात्पर्यविषयैकार्थमात्रविषयकशाब्दबोधः, अत उक्त-प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावोऽवश्यमङ्गीकार्य इति तात्पर्यम् ।

अब शब्दशक्तिमूलध्वनि के विषय में विचार करते हैं—तत्र केचित् इत्यादि से । मम्मट आदि प्राचीन आलंकारिकों का मत है कि शब्दशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण वहाँ ही होता है, जहाँ अनेकार्थकशब्दों की अभिधाशक्ति प्रकरण आदि के द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है—अर्थात् वैसे स्थलों में अप्राकरणिक अर्थ वाच्य न होकर शब्दनिष्ठव्यञ्जनावृत्ति से व्यङ्ग्य होता है, उसी को शब्दशक्तिमूलध्वनि कहते हैं। इस मत का मूलभूत आधार क्या है? इसी का विचार इस प्रकरण में मतभेद सहित किया गया है। इस प्रसंग पर सर्वप्रथम नानार्थकशब्दों से होने वाले बोध की रीतियाँ दिखलाई गई हैं। नानार्थकशब्दों में समानरूप से सभी अर्थों की शक्ति ज्ञात रहती है—अर्थात् हम जानते रहते हैं कि हरिशब्द विष्णु, सूर्य, अश्व, सिंह आदि सभी अर्थों का वाचक है। अतः उस तरह के शब्दों के श्रवण होने पर उन सभी अर्थों का स्मरण एक साथ हो जाता है। फिर यह सन्देह उत्पन्न होता है कि वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है। अर्थात् वक्ता ने किस अर्थ का बोध कराने के लिये यहाँ इस नानार्थक शब्द का प्रयोग किया है। इस सन्देह की निवृत्ति के लिये श्रोता वक्ता के तात्पर्य को निर्णीत करनेवाले प्रकरण आदि की पर्यालोचना करता है, जिससे उक्त सन्देह की निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् यह निश्चितरूप से ज्ञात हो जाता है कि वक्ता ने यहाँ अमुक नानार्थक पद का प्रयोग अमुक अर्थ का बोध कराने के लिये ही किया है। इसके बाद उस एकमात्र अर्थ की—जो प्रकरण पर्यालोचन से वक्तृविवक्षित ज्ञात हो चुका रहता है—पुनः उपस्थिति (स्मृति) होती है। यदि आप यहाँ यह शंका करें कि किसी अर्थ की स्मृति में उस अर्थ के बोधक पद का ज्ञान कारण होने के नाते अपेक्षित होता है, और यहाँ जो पद का ज्ञान (श्रवण) हुआ था, वह मध्य में बहुत समय के व्यवधान हो जाने से नष्ट हो जायगा, क्योंकि अपेक्षा बुद्धि से अतिरिक्त सभी ज्ञान दो क्षण मात्र रहकर नष्ट हो जाते हैं, ऐसा सर्वसम्मत सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में पुनः अर्थ स्मरण की बात कैसे कहते हैं? तो इसका समाधान यह है कि मध्य में जो 'अमुक पद को अमुक अर्थ का बोधक कराने के लिये वक्ता बोला है' इत्याकारक तात्पर्य निर्णय हुआ है, उसमें वह नानार्थक पद भी भासित होता है, अतः वह निर्णय ही पदज्ञानरूप सिद्ध हो जाता है, फिर पुनः उस अर्थ के स्मरण होने में कोई बाधा नहीं होती। इस तरह से पुनः उस एकमात्र अर्थ के स्मरण होने के अनन्तर उस एक मात्र अर्थ का अन्वयबोध होता है, यह नानार्थक शब्दस्थल में शाब्दबोध की एक रीति है। यद्यपि इस रीति में यह एक शंका की जा सकती है कि जैसे नानार्थक शब्द के श्रवण के अव्यवहितोत्तरक्षण में होनेवाले प्रथम पदार्थ स्मरण में उस पद के सभी (प्राकरणिक अप्राकरणिक) अर्थ विषय होते हैं अर्थात् वह स्मरण सर्वार्थविषयक होता है, वैसे तात्पर्यनिर्णयोत्तरकालिक द्वितीय पदार्थस्मरण में भी वे सभी अर्थ विषय क्यों नहीं होते? तो इसका उत्तर यह है कि प्रकरण आदि का ज्ञान अथवा (यदि कहें कि दो क्षणमात्र रहने वाला प्रकरण आदि का ज्ञान तो नष्ट हो चुका रहेगा, तब) तत्प्रयुक्त होनेवाला तात्पर्य निर्णय—जो उस द्वितीय स्मरण की पीठ पर वर्तमान रहेगा—उन अप्राकरणिक अर्थों के स्मरण में प्रतिबन्धक हो

जायगा, अतः द्वितीय स्मरण प्राकरणिक अर्थमात्र विषयक ही होगा, अप्राकरणिकार्थ-विषयक नहीं। यदि ऐसा प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव नहीं माना जाय तो शाब्दबोध भी उन सभी (प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक) अर्थों का मानना पड़ेगा, जो सर्वथा अनुभव विरुद्ध है।

उक्तान्वयबोधक्रमानुसारेण 'संयोगो विप्रयोगश्चे' त्यादिकारिकांशं संगमयति—

अत एवोक्तम्—'अनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' इति। अनवच्छेदे तात्पर्यसंदेहे। विशेषस्मृतिरेकार्थमात्रविषया स्मृतिः।

अत एवेति। नानार्थस्थले शाब्दबोधक्रमस्योक्तरीत्योपपादनीयत्वादेवेत्यर्थः। उक्तमिति। 'संयोगो विप्रयोगश्चे'त्यादिहरिकारिकायामिति शेषः। अनवच्छेदशब्दार्थमाह—तात्पर्यसन्देह इति। विशेषस्मृतिपदार्थं स्फोटयति—एकार्थेति। अयंभावः—उक्तरीत्या नानार्थकशब्दस्थले संकेतितसकलार्थोपस्थित्यनन्तरं सति तात्पर्यसंदेहे, संयोगादयः स्वज्ञानाधीनतात्पर्यनिर्णयद्वारा तात्पर्यविषयार्थातिरिक्तसंकेतितार्थविषयकोपस्थितेः प्रतिबन्धकत्वेनैकार्थमात्रविषयकोपस्थितेः कारणानि भवन्ति।

पूर्वोक्त अन्वय बोध की रीति को प्रमाणित करने के लिये प्राचीनोक्त कारिका की तदनुसार व्याख्या करते हैं—अत एव इत्यादि से। नानार्थक पदस्थल में उक्तरीति से शाब्दबोध होने के कारण ही कहा गया है कि—वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है, इस तरह के सन्देह होने पर संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, प्रयोजन, प्रकरण आदि एक अर्थमात्र विषयक द्वितीय स्मरण के कारण होते हैं—अर्थात् नानार्थक शब्दों के श्रवण से, सभी संकेतित अर्थों की उपस्थिति होने के बाद, तात्पर्य सन्देह होने पर, संयोग आदि, ज्ञात होकर, तात्पर्य निर्णय द्वारा, अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थिति को रोक कर, एक प्राकरणिक अर्थमात्र की, पुनः उपस्थिति के कारण होते हैं।

उक्तविचारसरणेः प्रकृतोपयोगित्वं दर्शयति—

इत्थञ्च सुरभिमांसं भक्षयतीत्यादेर्वाक्याज्जायमाना द्वितीया प्रतीतिर्गवाद्युपस्थितेरभावात् कथं स्यादिति तदुपस्थित्यर्थं व्यञ्जनाव्यापारोऽभ्युपेयः।

इत्थञ्चेति। उक्तरीत्या नानार्थकशब्दस्थले तात्पर्यविषयीभूतैकार्थमात्रविषयकोपस्थितौ समर्थितायाम्। द्वितीयेति गवादिविषयिकेत्यर्थः। कथं स्यादिति। तात्पर्यज्ञानस्य प्रतिबन्धकस्य सत्त्वादिति भावः। अयमाशयः—यदा सुगन्धिमांसं भक्षयत्याद्युत्सादौ शालकादिः 'सुरभिमांसं भक्षयती'ति वाक्यं प्रयुङ्क्ते, तदा तत्र तस्य वाक्यस्य 'सौरभमयं मांसम्, सुरभेः (गोः) मांसम्' इति द्वावप्यर्थौ वक्तुरभिप्रेतौ तिष्ठतः, बोधोऽपि द्वयोरर्थयोर्जायते, अत एव विदग्धस्य श्रोतुराद्युत्तादेर्जायमाना जुगुप्सा समुपद्यते, इति वस्तुस्थितिः। परन्तु तत्राश्लीलार्थविषयकोपस्थितिः भोजनरूपप्रकरणज्ञानजन्यतात्पर्यनिर्णये न प्रतिबद्धेति तद्विषयको बोधोऽभिधया न शक्यते सम्पादयितुमिति तदर्थं व्यञ्जनाव्यापार-स्वीकार आवश्यकः। एवमादिरेव शब्दशक्तिमूलध्वनेर्लक्ष्यस्थल इति प्रोक्तप्रकरणस्य चरमं विवक्षितमवसेयम्।

उक्त विचार से निकलने वाले प्रकृतोपयोगी निष्कर्ष का निर्देश करते हैं—इत्थञ्च इत्यादि से। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जब शाले आदि ऐसे—जो गाली देने के अधिकारी रहते हैं, व्यक्ति—बहनोई आदि' ऐसे व्यक्ति; जिन्हें गाली दी जा सकती है—के प्रति 'सुरभि मांस खाता है' इत्यादि वाक्य का प्रयोग करते हैं, तब वक्ता का 'गाय का मांस खाता है' इस अर्थ का बोध कराना भी अभीष्ट रहता है। परन्तु अभिधा-वृत्ति से उस अर्थ का बोध हो नहीं सकता, क्योंकि उक्त रीति से द्वितीय उपस्थिति

सुगन्धित मांसरूप अर्थ की ही होगी, गोमांस की नहीं, और जिस अर्थ की उपस्थिति नहीं होगी, उसका अन्वयबोध हो नहीं सकता, क्योंकि अन्वयबोध के प्रति उपस्थिति को कारण माना गया है। अतः वहाँ उस स्थिति में गोमांसरूप अर्थ की उपस्थिति के लिये व्यञ्जना व्यापार मानना पड़ेगा अर्थात् वहाँ गोमांसरूप अर्थ शब्दशक्तिमूलक-ध्वनि (व्यङ्ग्य) कहलायगा।

ननु नानार्थकशब्देषु नानार्थनिरूपिता एकैव शक्तिरिति पक्षाङ्गीकारे भवदुक्तरीत्या व्यञ्जनावृत्तेरावश्यकत्वमास्ताम्, अथ यदि नानार्थनिरूपिता नानाशक्तिर्नानार्थकेषु स्वीक्रियेत, तर्हि तु सम्भवत्यभिधयैव निर्वाह इति शंकते समाधत्ते च—

अर्थैकया शक्त्या प्राकरणिकार्थोपस्थितेरनन्तरं द्वितीयया शक्त्या द्वितीयार्थोपथितिस्तथापि स्यादिति चेत्? न स्यादेव, प्रकरणादिज्ञानस्यप्रतिबन्धकस्यानुपरमात्। अन्यथा प्राकरणिकार्थोपस्थितावेवाप्राकरणिकस्याप्यर्थस्य विषयत्वं स्यात्।

तथापीति। प्रतिबन्धकसत्त्वेऽपीत्यर्थः। तस्य पूर्वशक्त्या पुनरनुपस्थितौ कृतार्थत्वादिति भावः। प्रकरणादिज्ञानस्येति तात्पर्यनिर्णयस्याप्युपलक्षणम्। **अनुपरमादिति**। अनाशादित्यर्थः। सत्वादिति यावत्। अथ नानार्थकशब्दस्थले नानाशक्तिः स्वीक्रियते, तथा च 'सुरभिमांस'मित्यादौ तात्पर्यनिर्णयेनाप्राकरणिकाश्लीलार्थविषयकोपस्थितेः प्रतिबन्धात् एकया शक्त्या प्राकरणिकसौरभमयमांसरूपार्थमात्रोपस्थितावपि द्वितीययाऽभिधाशक्त्यैवाप्राकरणिकाश्लीलार्थविषयकस्मृतिर्भवेत्, तत्र चोक्तप्रतिबन्धकज्ञानमकिञ्चित्करमेव, तस्य प्रथमप्रतिबन्धेन क्षीणसामर्थ्यात् तथा च व्यञ्जनाव्यापारो निष्फल इति शंकायां समाधानमाह—**न स्यादेवेति**। अयंभावः—प्रतिबन्धकज्ञानं यावत्तिष्ठति, तावत्प्रतिबन्धं करोत्येव, न तस्य प्रथमप्रवृत्त्या कृतार्थता, क्षीणसामर्थ्यता वा भवतीति द्वितीययाभिधाशक्त्या चिकीर्ष्यमाणामपि अप्राकरणिकाश्लीलार्थविषयकस्मृतिं प्रतिबध्नीयादेव तावत्कालपर्यन्तं वर्तमानः प्रतिबन्ध-[illegible] प्राकरणिकार्थोपस्थिति-[illegible] न विषयो भवेत्? तथात्वे च द्वितीयशक्तिस्वीकार एव किमर्थः? एवञ्च प्रतिबन्धकज्ञाने विद्यमाने प्रतिबन्धोऽभ्युपेय एवेति द्वितीयशक्त्यापि नेष्टसिद्धिसंभावना। तथा च शक्तेर्नानात्वमप्रामाणिकम्, प्रामाणिकत्वे वा तस्य, संकुचितस्थलविषयकत्वमेवेति भावः।

नानार्थक शब्दों में उन सभी अर्थों—जिनका उन शब्दों से बोध होता हो—की एकशक्ति है, इस मत के अनुसार ऊपर कही गई व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकतावाली बात ठीक हो सकती है, पर यदि उन अर्थों की पृथक्-पृथक् अनेक शक्ति नानार्थक पदों में हैं, यह मत माना जाय, तब तो अभिधावृत्ति से ही निर्वाह हो जाने से व्यञ्जना की आवश्यकता वहाँ नहीं होगी, इस तरह की शङ्का और उसका समाधान अब करते हैं—अथ इत्यादि से। तात्पर्य यह है कि नानार्थक शब्दों में अनेक अर्थनिरूपित अनेक अभिधाशक्ति को मान लेने पर 'सुरभि मांस खाता है' इत्यादि स्थल में तात्पर्य निर्णय से अप्राकरणिक गोमांसरूप अर्थ की उपस्थिति का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण, एक अभिधाशक्ति से प्राकरणिक सुगन्धित मांसरूप अर्थमात्र की उपस्थिति भले ही हो, पर उसके बाद द्वितीय अभिधाशक्ति से ही उस अप्राकरणिक गोमांसरूप अर्थ की उपस्थिति होगी, उक्त प्रतिबन्धक तो प्रथम उपस्थिति में उसे भासित होने से रोक कर कृतार्थ हो चुका अब उसमें प्रतिबन्ध का सामर्थ्य कहाँ? यह है शंका करनेवालों का अभिप्राय। उत्तर देनेवालों का आशय यह है कि—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि इस द्वितीय शक्तिजन्य

उपस्थितिकाल में भी उक्त प्रतिबन्धक जब वर्तमान है, तब वह प्रतिबन्ध अवश्य करेगा, द्वितीयशक्ति से भी अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति नहीं होने देगा। यह बात निर्मूलक है कि—एक बार प्रतिबन्ध कर लेने पर प्रतिबन्धक कृतार्थ हो जाता है अथवा उसका सामर्थ्य नष्ट हो जाता है, वस्तुतः प्रतिबन्धक जब तक रहता है, तब तक बार-बार प्रतिबन्ध करता ही रहता है। अन्यथा उक्त द्वितीय शक्ति की कल्पना की आवश्यकता ही क्या थी? प्रथम शक्ति से ही जो प्रथम प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति होती है, उसी में द्वितीय बार अप्राकरणिक अर्थ भी क्यों नहीं भासित हो जायगा? प्रतिबन्धक तो आप के हिसाब से एक बार प्रतिबन्ध कर चुकने के कारण अपना सामर्थ्य खो चुका रहेगा। अतः प्रतिबन्धक के रहने पर प्रतिबन्ध मानना ही पड़ेगा, जिससे द्वितीय शक्ति से भी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती, फिर यह द्वितीय शक्ति की कल्पना ही अप्रामाणिक है। यदि प्रामाणिक भी हो, तो यही कहना पड़ेगा कि वह कुछ विशेष स्थलों पर ही मान्य है, सर्वत्र नहीं।

ननूक्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाङ्गीकारे वैयञ्जनिकाप्राकरणिकार्थविषयकोपस्थितेरपि कुतो न प्रतिबन्ध इत्याशङ्क्य समाधत्ते—

न च प्रकरणादिज्ञानस्य तादृशपदजन्यार्थोपस्थितिसामान्य एव प्रतिबन्धकत्वाद् व्यक्त्याऽपि कथमर्थान्तरोपस्थितिरिति वाच्यम्, धर्मिग्राहकमानेनाप्राकरणिकोपस्थापकतयैव तादृशव्यक्तेरुल्लासात्तदजन्योपस्थितिं प्रत्येव प्रकरणादिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्। व्यक्तिज्ञानस्योत्तेजकत्वकल्पनाद्वा।

तादृशेति प्राकरणिकादिभिन्नेत्यर्थः। अर्थपदार्थान्वय्यर्थकं पदमेतत्। व्यक्त्येति व्यञ्जनयेत्यर्थः। अर्थान्तरेति अभिधावृत्त्यनुपस्थाप्यार्थेत्यर्थः। धर्मिग्राहकमानेनेति। धर्मी व्यञ्जना तद्ग्राहकं मानम् अनुभवसिद्धनानार्थस्थलीयाप्राकरणिकार्थविषयकोपस्थितिः, तद्रूपेण प्रमाणेनेत्यर्थः। तादृशेति अर्थान्तरोपस्थापकेत्यर्थः। तदजन्येति व्यञ्जनावृत्त्यजन्येत्यर्थः। विनिगमकाभावादाह—व्यक्तिज्ञानस्येत्यादि।

सामान्यतो नानार्थकपदजन्याप्राकरणिकार्थविषयकोपस्थितिं प्रति प्रकरणादिज्ञानस्य तज्जन्यतात्पर्यनिर्णयस्य वा प्रतिबन्धकत्वे व्यञ्जनयापि अप्राकरणिकार्थविषयकोपस्थितिर्न स्यादिति शङ्कायाः, धर्मिग्राहकमानेनोक्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावघटकप्रतिबध्यदले व्यञ्जनावृत्त्यजन्येति निवेशेन न वैयञ्जनिकोपस्थितिप्रतिबन्ध इति समाधानं बोध्यम्।

अथवा अस्तु सामान्य एव प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावः, मास्तु च व्यञ्जनावृत्त्यजन्यत्वनिवेशः, तथापीष्टसिद्धिः सम्भवतीत्याह—व्यक्तिज्ञानस्येत्यादि। अयंभावः—नानार्थकपदजन्याप्राकरणिकार्थोपस्थितिं प्रति तदर्थनिरूपितनानार्थकपदनिष्ठव्यञ्जनाज्ञानस्योत्तेजकत्वमतोऽत्र तादृशोत्तेजकाभावविशिष्टोक्तप्रकरणादिज्ञानस्योक्तोपस्थितिं प्रति प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयम् इति।

अब उक्त प्रतिबन्धक, व्यञ्जनावृत्ति से होनेवाले अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति का प्रतिबन्ध क्यों नहीं करता इस शंका का समाधान करते हैं—न च इत्यादि से। यदि आप कहें कि प्रकरण आदि का ज्ञान अथवा तज्जन्य तात्पर्यनिर्णय, नानार्थक पद के प्राकरणिक से भिन्न सभी प्रकार के अर्थों की (अभिधाजन्य अथवा व्यञ्जनाजन्य) उपस्थितियों का प्रतिबन्धक है, फिर व्यञ्जना से भी उक्त अप्राकरणिक गोमांस आदि अर्थों की उपस्थिति कैसे होगी? तो, इसका उत्तर यह है कि जब वैसे स्थलों पर अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति कराने के लिये ही व्यञ्जनावृत्ति का उत्थान माना गया है, तब भी यदि व्यञ्जना से होनेवाली उपस्थिति को उक्त प्रतिबन्धक रोक ही दे, फिर तो व्यञ्जना का उत्थान ही व्यर्थ हो जाय, अतः व्यञ्जनावृत्ति से भिन्न वृत्ति (अभिधा

आदि) के द्वारा होनेवाली अप्राकरणिकार्थविषयक उपस्थिति के प्रति ही प्रकरण आदि के ज्ञान आदि को प्रतिबन्धक मानना चाहिए। अथवा यदि आप सामान्यतः अप्राकणि-कार्थविषयक उपस्थिति मात्र के प्रति प्रकरणादिज्ञान को प्रतिबन्धक मानना चाहें, तो मानिये, पर व्यञ्जना-ज्ञान को उत्तेजक मान लीजिये अर्थात् जैसे चन्द्रकान्तमणिरूप प्रतिबन्धक के रहने पर भी सूर्यकान्तमणिरूप उत्तेजक के बल से दाहरूप कार्य नहीं रुकता, उसी तरह उक्त प्रतिबन्धक के विद्यमान रहने पर भी व्यञ्जनाज्ञानरूप उत्तेजक की महिमा से अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति हो ही जायगी, रुकेगी नहीं। स्पष्ट तात्पर्य यह हुआ कि उत्तेजकाभावविशिष्ट प्रकरणादिज्ञान को ही प्रतिबन्धक माना जायगा, जिससे व्यञ्जनाज्ञान के रहने पर उक्त अभाव घटित प्रतिबन्धक का स्वरूप ही उपलब्ध नहीं होगा, फिर उपस्थिति को रोके कौन ?

मम्मटस्योक्तविचारानुसारित्वं दर्शयति—

एतदेव सर्वमभिसन्धायोक्तम्—

'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥'

यन्त्रणमपरार्थोपस्थापनप्रतिबन्ध इति।

उक्तमिति। काव्यप्रकाशे मम्मटभट्टेनेति शेषः।

अनेकार्थकस्य शब्दस्याभिधायां संयोगाद्यैर्नियन्त्रितायामन्यत्र वाच्यस्याप्यत्रावाच्य-स्याप्राकरणिकार्थस्य धीः बोधः तत्कारकः व्यापारः अञ्जनम् व्यञ्जनेत्यर्थः। अनेकार्थकपद-निष्ठाभिधायाः संयोगादिकर्तृकनियन्त्रणञ्चात्रान्यार्थोपस्थापकत्वप्रतिबन्धरूपमवगन्तव्यम्।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने जो अभिधामूलक व्यञ्जना का लक्षण किया है उसका आधार भी उक्त विचार ही है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए उनकी कारिका को उद्धृत करते हैं—एतदेव इत्यादि से। मम्मट ने काव्यप्रकाश में अभिधामूलक व्यञ्जना का लक्षण किया है कि 'संयोग आदि से अनेकार्थशब्दों की अभिधा (वाचकता) शक्ति के नियन्त्रित हो जाने पर, अन्यत्र वाच्य होने पर भी नियन्त्रण स्थल में अवाच्य बने हुए अर्थों की प्रतीति करानेवाले शब्दव्यापार का नाम अञ्जन (व्यञ्जना) है।' नियन्त्रण का अर्थ यहाँ अप्राकरणिक अर्थों के उपस्थितीकरण का रुक जाना है। अर्थात् 'सुरभि मांस को खाता है' इत्यादि स्थल में प्रकरणज्ञान आदि प्रतिबन्धक जब गोमांसरूप अर्थ की उपस्थिति को रोक देता है, तब सुगन्धित मांसरूप अर्थ ही अभिधा से उपस्थित होकर अन्वयबोध का विषय होता है, अतः वही अर्थवाच्य कहलाता है, गोमांसरूप अर्थ तो पीछे व्यञ्जना से उपस्थित होकर बोध-विषय होता है, अतः वह शब्दशक्तिमूलक व्यङ्ग्य कहलाता है और उसको उपस्थित करनेवाली शब्दशक्ति अभिधामूलक व्यञ्जना कहलाती है। इस तरह स्पष्ट है कि मम्मट ने उक्त सभी बातों का अनुसन्धान करके ही यह लक्षण बनाया है।

नानार्थस्थलीयपदार्थोपस्थितिशाब्दबोधक्रमसंबंधिमतान्तरमाह—

अपरे त्वाहुः—नानार्थशब्दजशाब्दबुद्धौ तात्पर्यनिर्णयहेतुताया अवश्यकल्प्य-त्वात् प्रथमं नानार्थशब्दादनेकार्थोपस्थानेऽपि प्रकरणादिभिस्तात्पर्यनिर्णयहेतु-भिरुत्पादिते तस्मिन् यत्र तात्पर्यनिर्णयस्तस्यैवार्थस्यान्वयबुद्धिर्जायते, नान्यस्येति सरणावाश्रीयमाणायां नैकमात्रगोचरस्मृत्यपेक्षा, नाप्यपरार्थोपस्थानप्रतिबन्ध-कत्वकल्पनम्।

प्रथममिति। तात्पर्यनिर्णयात्प्रागित्यर्थः। तस्मिन् इति। तात्पर्यनिर्णये। अयमत्र विशदार्थः—नानार्थकशब्दजन्यबोधं प्रति तात्पर्यनिर्णयस्य हेतुत्वमवश्यं कल्पनीयम्, अन्यथा

'हरि'रित्यादौ विष्णुविषयकबोधेच्छयोच्चरितत्वाभावज्ञाने अन्य (सिंहादि) बोधेच्छयोच्चरितत्वज्ञाने वा विष्णुविषयकबोधापत्तिः। न चेष्टोऽसौ बोध इति वाच्यम्, अनुभवविरोधात्। न च तत्र तादृशबोधवारणायोक्तज्ञानयोः प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यमिति वाच्यम्, तदपेक्षया हरिपदजन्यविष्णुविषयकबोधं प्रति-'इदं हरिपदं विष्णुबोधेच्छयोच्चरितम्' इत्याकारकतात्पर्यग्रहस्य हेतुत्वकल्पने एव लाघवात्। एवं सिद्धे तात्पर्यनिर्णयस्य शाब्दबोधहेतुत्वे नानार्थकशब्दश्रवणानन्तरं संकेतज्ञस्य पुरुषस्य प्रथमं सर्वेऽर्था उपतिष्ठन्ते, ततस्तात्पर्यसंदेहो जायते ततश्च प्रकरणादिभिस्तात्पर्यनिर्णयकारणैस्तात्पर्यनिर्णयः समुत्पाद्यते, तदनन्तरं तात्पर्यविषयस्यैवार्थस्यान्वयबोधो भवति नान्यस्य, इत्थञ्च तात्पर्यविषयीभूतस्यैवार्थस्यान्वयबोधोपपत्यर्थं पूर्वकल्पे समाश्रिताया एकमात्रविषयस्मृतेर्नापेक्षा, नापि द्वितीयोपस्थितौ तात्पर्यविषयेतरार्थभानवारणाय तात्पर्यनिर्णयस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षा इति।

अब नानार्थक शब्दों से होनेवाले शाब्दबोध की रीति के सम्बन्ध में द्वितीय मत को उपस्थित करते हैं—अपरे तु इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि कम से कम नानार्थक शब्द से होनेवाले शाब्दबोध के प्रति स्वतन्त्ररूप से तात्पर्य निश्चय को कारण मानना आवश्यक है, अन्यथा जब श्रोता जानता रहता है कि वक्ता ने विष्णु का बोध कराने के लिए हरिपद का प्रयोग नहीं किया है, अथवा यही जानता रहता है कि वक्ता सिंह आदि (विष्णु से भिन्न) का बोध कराने की इच्छा से हरिपद बोला है, तब भी हरिपद श्रवण के बाद उस श्रोता को विष्णु का बोध हो जाना चाहिये, क्योंकि शक्तिज्ञान आदि सभी (शाब्दबोध के) कारण जुटे ही हुए हैं। यदि आप कहें कि कौन कहता है कि उस स्थिति में विष्णु का बोध नहीं होता ?—होता ही है, तो यह तर्क मान्य होने योग्य नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में विष्णु का बोध नहीं होता ऐसा ही लोगों का अनुभव है, विष्णुविषयक बोध के प्रति 'यह हरिपद विष्णु का बोध कराने के लिए वक्ता से बोला गया है' इत्याकारक तात्पर्यनिश्चय को कारण मानने पर तो उक्त स्थिति में विष्णुविषयक बोध का न होना ठीक बनता है, क्योंकि अन्य कारणों के रहने पर भी उक्त तात्पर्यनिर्णयरूप कारण का उपस्थिति में अभाव है। इस तरह तात्पर्यनिश्चय की शाब्दबोधहेतुता सिद्ध हो जाने पर पूर्व मत में जो प्राकरणिक अर्थमात्र की द्वितीय बार स्मृति मानी गई है, उसकी अपेक्षा नहीं रह जाती और न रहती है आवश्यकता, अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थिति में प्रकरणादिज्ञान के प्रतिबन्धकत्व कल्पना की, क्योंकि नानार्थक-शब्दश्रवण के बाद उन सभी प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक, अर्थों—जिनकी शक्ति नानार्थकशब्द में गृहीत है—की उपस्थिति (स्मृति) होगी, (यहाँ तक पूर्वमत में भी मान्य है) पर अन्वयबोध होगा उन उपस्थित अर्थों में केवल प्राकरणिक का ही, क्योंकि शाब्दबोध के कारणों में अन्यतम तात्पर्यनिर्णय उसीके अनुकूल है और यह अनुकूलता इसलिए है कि प्रकरणज्ञान ही तात्पर्य का निर्णायक होता है और प्रकरणज्ञान 'सुरभिमांस' इत्यादि स्थान पर सुगन्धित मांस के समान किसी एक ही अर्थ के विषय में रहता है यह तो स्पष्ट ही है। इस मत में पूर्वमत की अपेक्षा लाघव है क्योंकि अभिधाजन्य अप्राकरणिकार्थविषयक बोध-वारण के लिए पूर्व मत में प्रकरणज्ञान में अप्राकरणिकार्थोपस्थिति की प्रतिबन्धकता माननी पड़ती थी और प्राकरणिकार्थमात्रविषयक द्वितीय स्मृति स्वीकृत करनी पड़ती थी, इस मत में शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिश्चय को कारण मान लेने से उक्त बोध-वारण अन्यथा ही सिद्ध है, अतः उन दोनों में एक भी नहीं माननी पड़ती।

एतद्रीत्या शाब्दबोधोपपादनेऽपि व्यञ्जनावृत्तेरावश्यकत्वं दर्शयति—

एवं च प्रागुपदर्शितनानार्थस्थले प्रकरणादिज्ञानाधीनात्तात्पर्यनिर्णयात्प्राकर-

णिकार्थशाब्दबुद्धौ जातायामतात्पर्यविषयाऽपि शाब्दबुद्धिस्तस्मादेव शब्दाज्जायमाना कस्य व्यापारस्य साध्यतामवलम्बताम्, ऋते व्यञ्जनात् ।

एवंचेति । प्रागुक्तरीत्या प्रथमं नानार्थशब्दादनेकार्थोपस्थानेऽपि तात्पर्यविषयार्थस्यैव शाब्दबोधविषयतासिद्धौ चेत्यर्थः ।

प्रागुपदर्शितेत्यादि । 'सुरभिमांसं भक्षयतीत्यादावित्यर्थः । ऋते इति विनेत्यर्थः । तात्पर्यनिर्णयस्य शाब्दबोधे कारणत्वेन भोजनप्रकरणे शाल्कायुच्चरितात् 'सुरभिमांसं भक्षयती'ति वाक्यात् सौरभमयमांसभक्षणरूपस्यैवार्थस्य शक्त्यान्वयबोधः । चिकारयिषितश्च तत्र वक्तुर्गोमांसभक्षणरूपार्थविषयको बोधोऽपि । स च शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनाङ्गीकारमन्तरा न साधयितुं शक्य इति भावः ।

इस द्वितीयमत के अनुसार भी व्यञ्जना की आवश्यकता दिखलाते हैं—एवं च इत्यादि से । इस तरह शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मान लेने पर 'सुरभि मांस को खाता है' इत्यादि नानार्थक शब्दस्थल में भोजनरूप प्रकरण के ज्ञान से 'यहाँ वक्ता ने सुगन्धित मांस का बोध कराने की इच्छा से सुरभिमांस पद का प्रयोग किया है' इत्याकारक वक्तृतात्पर्य के निर्णय हो जाने के बाद उस तात्पर्यविषयीभूत अर्थ का ही शाब्दबोध अभिधावृत्ति से होता है, अप्राकरणिक गोमांस का नहीं, और अनुभव कहता है कि वहाँ उस सुरभिमांस शब्द से ही अप्राकरणिक गोमांस का भी बोध होता है, फिर उसके बोध को सिद्ध करने के लिये व्यञ्जना के अतिरिक्त उपाय ही क्या है ? अर्थात् शाब्दबोध की इस द्वितीय रीति में भी नानार्थस्थल का अप्राकरणिक अर्थ शब्दशक्तिमूल व्यङ्ग्य का उदाहरण होता है ।

'सुरभिमांस'मित्यादौ गोमांसभक्षणरूपार्थविषयकबोधस्य शक्तिसाध्यत्वमर्थान्निरस्तमपि शब्दतो निरस्यति—

न च शक्तिसाध्या सेति वाच्यम्, तदधीनबोधं प्रति तात्पर्यनिर्णयस्य हेतुत्वात् ।

सेति । नानार्थकशब्दजन्यातात्पर्यविषयार्थबुद्धिरित्यर्थः । अन्यदत्रापेक्षितं वक्तव्यं पूर्वमुक्तमेव ।

नानार्थस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधाशक्ति से नहीं हो सकता, यह बात अर्थतः पहले भी कही जा चुकी है, पर अब उसी बात को शब्दतः कहते हैं—न च इत्यादि से । नानार्थक शब्द से होनेवाला अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधावृत्ति से सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि अभिधाजन्य बोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मान लिया गया है ।

ननु व्यञ्जनयापि कथमतात्पर्यविषयार्थबोधः, वैयञ्जनिकबोधं प्रत्यपि तात्पर्यनिर्णयस्य हेतुताकल्पनादित्यत आह—

व्यक्त्यधीनबोधस्तु नावश्यं तात्पर्यज्ञानमपेक्षते ।

नावश्यमिति । नियमेन नेत्यर्थः । यत्रानेकव्यङ्ग्यसंभावना, तत्र तु वैयञ्जनिकबोधेऽपि तात्पर्यनिर्णयः कारणत्वेनापेक्षित एवेति भावः । अतात्पर्यार्थबोधसाधकतयैव धर्मिग्राहकमानसिद्धा व्यञ्जनेति तदधीनबोधसामान्ये तात्पर्यनिर्णयस्य हेतुत्वकल्पनं बाधपराहतमिति भावः । बोधविशेषे तत्सम्भवतीत्यन्यदेतत् ।

यदि आप कहें कि नानार्थक स्थल में जब अप्राकरणिक अर्थ, वक्ता के तात्पर्य का विषय नहीं रहता, तब व्यञ्जना से उसका बोध कैसे सिद्ध किया जा सकता ? इसका

उत्तर यह है कि हाँ, व्यञ्जना से उसका बोध सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि वैयञ्जनिक बोध के प्रति नियमता तात्पर्यनिर्णय कारण नहीं है। नियमतः से मेरा मतलब यह है कि जहाँ अनेक व्यङ्ग्यों की सम्भावना हो, उनके बोध में भी तात्पर्य निर्णय को कारण माना जा सकता है। आप यहाँ यह भी पूछ सकते हैं कि सभी वैयञ्जनिक बोधों के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण क्यों नहीं माना जा सकता? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि जब उक्त स्थल में अतात्पर्यविषयीभूत अप्राकरणिक अर्थ के बोध कराने के लिये ही व्यञ्जना की कल्पना की गई है, तब उस तरह के बोध में तात्पर्यनिर्णय को कारण कैसे माना जा सकता है?

अनुपदोक्तव्याख्याने 'संयोगो विप्रयोगश्चेति हरिकारिकायाः, अनेकार्थस्ये'ति मम्मटकारिकायाश्चासंगतिमापाद्य निराकरोति—

नन्वेकमात्रगोचरस्मृतेस्तच्छाब्दबुद्धावनपेक्षितत्वे 'विशेषस्मृतिहेतवः, इति प्राचां ग्रन्थः कथं संगच्छते? कथं वा प्रकरणादिज्ञानस्यापरार्थोपस्थानप्रतिबन्धकत्वविरहे संयोगाद्यैरनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकताया नियन्त्रणोक्तिश्चेति चेत्? इत्थम्—स्मृतिशब्दस्य निश्चयपरतया विशेषस्मृतिशब्देन विशेषविषयस्तात्पर्यनिर्णयो गृह्यते। संयोगाद्यैर्वाचकताया नियन्त्रणं चैकार्थमात्रविषयकतात्पर्यनिर्णयजननद्वारा शाब्दबुद्ध्यनुकूलत्वम्। अवाच्यार्थोऽतात्पर्यार्थः। एवं च न ग्रन्थासंगतिरित्यपि वदन्ति।

उक्तिश्चेत्यस्य 'कथं संगच्छते' इत्यत्रानुषङ्गः। वदन्तीति। अन्ये इति भावः। पूर्वस्मिन् कल्पे प्राकरणिकार्थमात्रविषयिणी द्वितीया स्मृतिः स्वीकृतेति तत्र 'विशेषस्मृतिहेतवः' इति हरिकारिकाग्रन्थः स्वरसतोऽनुकूलः। एवं तत्र कल्पे प्रकरणादिज्ञानस्यान्यार्थोपस्थितिप्रतिबन्धकत्वमास्थीयते इति तत्कल्पव्याख्यावसरे प्रदर्शितया रीत्या संयोगादिकर्तृकानेकार्थकशब्दनिष्ठवाचकतानियन्त्रणपरको मम्मटग्रन्थोऽपि संगतो भवति, परमस्मिन् द्वितीयकल्पे एकार्थमात्रविषयकस्मृतेरावश्यकता निरस्ता प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावोऽपि प्रत्याख्यात इति तयोर्ग्रन्थयोरेतद्रीत्या योजनं सम्भवतीति शङ्काशयः। अस्मिन् कल्पे हरिकारिकास्थस्मृतिशब्दस्य निश्चयपरत्वं व्याख्याय 'तात्पर्यसन्देहे संयोगादयः विशेषविषयकतात्पर्यनिर्णयहेतवो भवन्ति' इति। एवं 'संयोगाद्यैर्वाचकताया नियन्त्रण'मित्यस्य एकार्थमात्रविषयकतात्पर्यनिर्णयकरणेन शाब्दबोधानुकूलत्वमित्यर्थं विधाय तयोर्ग्रन्थयोर्योजनं सुखेन संभवतीति च समाधानाशयो बोध्यः।

अब उक्त द्वितीय मत में 'संयोगो विप्रयोगश्च' इत्यादि हरिकारिका तथा 'अनेकार्थस्य' इत्यादि मम्मटकारिका असंगत हो जायगी, इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं—ननु इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि 'संयोगो विप्रयोगश्च' इत्यादि हरिकारिका का वह अंश—जिसमें कहा गया है कि ये सब (संयोग आदि) स्मृति विशेष के कारण होते हैं—प्रथम मत में संगत होता है, क्योंकि उस मत में प्राकरणिकार्थमात्रविषयक द्वितीय स्मृति मानी गई है। इसी तरह 'अनेकार्थस्य शब्दस्य' इत्यादि मम्मटोक्त कारिका में वर्णित वाचकता नियन्त्रणवाली बात भी उस मत में ठीक जँचती है, क्योंकि उस मत में प्रकरणादिज्ञान को प्रतिबन्धक मानकर अप्राकरणिक अर्थ स्मरण के रुकने की पद्धति अपनाई गई है। पर इस द्वितीय मत में तो उन दोनों कारिकाओं के वे अंश असंगत ही हो जायगें, क्योंकि इस मत में न एकार्थमात्रविषयक द्वितीय स्मरण माना गया है और न उक्त प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव की ही आवश्यकता समझी गई है। इस पूर्व पक्ष के खण्डन

में यह बात कही गई है कि उक्त हरिकारिका में पठित 'स्मृति' शब्द का अर्थ है 'निश्चय', जिससे 'विशेषस्मृतिहेतवः' का अर्थ होता है—विशेषविषयक-तात्पर्यनिर्णय के कारण। अब द्वितीयमत में भी इस अंश की असंगति नहीं होती, क्योंकि संयोग आदि के द्वारा तात्पर्यनिर्णय की बात इस मत में भी मानी ही गई है। इसी तरह मम्मट की उक्त कारिका में आई हुई वाचकता नियन्त्रणवाली बात का अभिप्राय है कि संयोगादिज्ञान से केवल एक अर्थविषयक तात्पर्यनिर्णय द्वारा अनेकार्थक शब्दनिष्ठवाचकताशक्ति का एकार्थमात्रविषयक शाब्दबोध के अनुकूल हो जाना। अब इस अर्थ की भी असंगति द्वितीय मत में नहीं होती, क्योंकि अभिधाजन्य शाब्दबोध को एकार्थमात्रविषयक मानलेने से इस मत में भी उक्त अनुकूलता की रक्षा हो जाती है। द्वितीयमत के अनुसार मम्मटोक्त कारिकाघटक 'अवाच्यार्थधी' में अवाच्यार्थ का अभिप्राय अतात्पर्यार्थ है, जो सर्वथा उपयुक्त है। क्योंकि, नानार्थस्थल में व्यङ्ग्य होनेवाला अप्राकरणिक अर्थ तात्पर्यविषय रहता ही नहीं है।

ननु वैयञ्जनिकबोधेऽपि पदज्ञानस्य कारणत्वेन शक्तिसाध्यप्राकरणिकार्थबोधानन्तरं तात्पर्यज्ञानात्मकपदज्ञानस्य नष्टत्वात् कथं व्यञ्जनयापि अप्राकरणिकार्थबोध इत्याशंक्य समाधत्ते—

अथ प्राकरणिकार्थबोधानन्तरं तादृशपदज्ञानस्योपरमात् कथं व्यक्तिवादिनाव्यर्थान्तरधीः सूपपादेति चेत्? मैवम्, प्रथमार्थप्रतीतेर्व्यापारस्य सत्त्वाद्दोष इत्येके। अर्थप्रतीतौ शक्यतावच्छेदकस्येव पदस्यापि विशेषणतया भानात्प्राथमिकशक्यार्थबोधस्यैव पदज्ञानत्वादित्यपरे। आवृत्त्या पदज्ञानं सुलभमित्यपि कश्चित्।

तादृशेति। तात्पर्यज्ञानात्मकेत्यर्थः। तस्यैव सन्निहितत्वादिति भावः। शंकादलस्याशयोऽवतरण एव स्फुटीकृतः। उत्तरदलाशयस्त्वेवमवगन्तव्यः—तात्पर्यज्ञानोत्तरं प्रथमं प्राकरणिकार्थस्य शक्त्या गोचरततो व्यञ्जनयाऽप्राकरणिकार्थस्येति क्रमे यद्यपि तृतीयक्षणभाविवैयञ्जनिकबोधावसरे क्षणिकं तात्पर्यज्ञानात्मकं पदज्ञानं विनष्टमिति सत्यम्, तथापि द्वितीयक्षणभावी शक्यार्थबोधरूपस्तार्तीयो व्यापारस्तृतीयक्षणे तिष्ठतीति तद्व्यापारात्मकसंबन्धेन तस्य सत्त्वान्न दोषावकाशः। इति एके प्रथमा इत्यर्थः। अथवा 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥' इति हर्युक्तदिशा पदजन्यार्थबोधे शक्यतावच्छेदकमिव पदमपि विशेषणतया भासते। तथा च व्यङ्ग्यार्थबोधात् पूर्वक्षणे यः शक्यार्थबोधो भवेत्, तस्मिन् पदमपि भासेत इति अयत्नसिद्धं पदज्ञानमिति भावः। इति अपरे मतान्तरवादिन इत्यर्थः। कश्चित् नानार्थकं पदमावर्त्य पदज्ञानमुपपादयति। एतस्मिन् 'कश्चिदि'त्यनेनारुचिः सूचिता। तद्बीजं तु कार्यस्यान्यथाप्युपपत्तौ व्यर्थमावृत्त्यात्मकं गौरवमिति बोध्यम्।

पदज्ञान को जिस तरह अभिधाजन्य बोध के प्रति कारण माना जाता है, उसी तरह व्यञ्जनाजन्य बोध के प्रति भी, फिर इस द्वितीय मत में व्यञ्जना से अप्राकरणिक अर्थ का बोध कैसे होगा, क्योंकि पदज्ञानरूप कारण नहीं है? इसका समाधान करते हैं—अथ इत्यादि से। इस द्वितीय मत में, सर्वप्रथम पद का श्रवणात्मकज्ञान, तदनन्तर पदार्थोपस्थिति, तदुत्तर तात्पर्यनिर्णय, तदुत्तर अभिधाजन्य प्राकरणिक अर्थ का शाब्दबोध, तदनन्तर व्यञ्जनावृत्तिजन्य अप्राकरणिक अर्थ का बोध होता है यही तो क्रम है। इस क्रम में शङ्का होती है कि प्रथम पदज्ञान दो क्षण तक रह कर तृतीय तात्पर्यनिर्णयक्षण में विनष्ट हो जायगा, एवं पदज्ञानरूप मान लिया गया तात्पर्यनिर्णय भी अभिधाजन्यप्राकरणिकार्थबोधोत्तर क्षण में विरत हो जायगा, फिर वैयञ्जनिक बोधक्षण में

पदज्ञान नहीं रह सकता, अतः व्यञ्जना से भी अप्राकरणिक अर्थ का बोध कैसे होगा ? इसका प्रधानाचार्यों के मत से समाधान यह है कि तात्पर्यनिर्णय के जिस तृतीयक्षण में वैयञ्जनिक बोध होता है, उस क्षण में यद्यपि सीधे तरीके से तात्पर्यनिर्णय नहीं हो पाता, यह बात ठीक है, तथापि द्वितीय क्षण में जो अभिधा जन्यबोध होता है, वह अन्त में तात्पर्यनिर्णय का व्यापार होता है और वह व्यापार तृतीय वैयञ्जनिक बोधक्षण में भी रहता है, जिस (संबन्ध) के द्वारा उक्त तात्पर्यनिर्णय भी तृतीयक्षण में रहेगा, अतः उक्त आपत्ति नहीं दी जासकती है। अन्य विद्वानों का मत है कि शाब्दबोध में जिस तरह शक्यतावच्छेदक (अर्थगतधर्म) भासित होता है, उसी तरह शक्यांशके विशेषणरूप से पद भी भासित होते हैं, अत एव भर्तृहरि ने कहा है—'न सोऽस्ति ···' इत्यादि। (पूरी कारिका संस्कृत टीका में देखिये) अर्थात्—'ऐसा कोई अर्थबोध जगत में नहीं है, जिसके पीछे शब्द नहीं हो। प्रायः सभी अर्थबोध शब्दों से मिश्रित ही होते हैं।' अतः वैयञ्जनिक बोध से पूर्वक्षण में होनेवाला अभिधाजन्य बोध ही पदज्ञानरूप होता है। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि नानार्थक पद की आवृत्ति द्वारा पदज्ञान को सुकर बना लिया जायगा।

प्राचीनमतमुपसंहरति—

तदित्थं नानार्थस्थलेऽनुरणनीयं व्यञ्जनं शब्दशक्तिमूलम्, शब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वादिति ध्वनिकारानुयायिनो वर्णयन्ति।

तदिति। तत् तस्मात् पूर्वोक्तव्याख्यानादित्यर्थः। इत्थम् पूर्वोक्तप्रकारेण। अनुरणनीयम् संलक्ष्यक्रमम्। व्यञ्जनम् ध्वनिम्। शब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वादिति शब्दशक्तिमूलत्वे हेतुः। पर्यायान्तरेणऽबोधनादिति तदर्थः। ध्वनिकारः आनन्दवर्धनो ध्वन्यालोकप्रणेता, तदनुयायिनो मम्मटभट्टादयः। शब्दशक्तिमूलस्य संलक्ष्यक्रमभेदस्य ध्वनेर्लक्ष्यं नानार्थस्थलीयाप्राकरणिकार्थ इति सारांशः।

अब प्राचीन मत का उपसंहार करते हैं—तदित्थम् इत्यादि से। इस तरह नानार्थकशब्द स्थल में जो अप्राकरणिक अर्थ व्यङ्ग्य होता है, वह अनुरणनीय और शब्दशक्ति मूलक कहा जाता है। अनुरणनीय उसे इसलिये कहा जाता है कि जिस तरह मन्दिर आदि में एक बार किसी वाद्य के शब्द होने पर बाद में भी उस शब्द की प्रतिध्वनि होती रहती है और उस ध्वनि तथा प्रतिध्वनि के मध्य में रहनेवाला अन्तराल स्पष्ट लक्षित होता है, उसी तरह कारणरूप वाच्यार्थज्ञान के बाद जिस वस्तु एवम् अलंकाररूप व्यङ्ग्य का ज्ञान होता है, उन दोनों के बीच का व्यवधान स्पष्ट प्रतीत होता है। इस प्रकार के व्यङ्ग्य को संलक्ष्यक्रम भी कहा जाता है। शब्दशक्तिमूलक उसे इसलिए कहते हैं कि उसके मूल में काम करने वाली व्यञ्जना शब्दनिष्ठ है। यहाँ शब्दशक्ति से अभिधा का ग्रहण उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यदि यहाँ शक्ति का अर्थ अभिधा किया जाय तो 'अर्थशक्तिमूल' जहाँ कहा जाता है, वहाँ शक्ति का अर्थ क्या करेंगे? अतः मेरे विचार से इन दोनों जगहों पर शक्ति का अर्थ व्यञ्जना ही करना चाहिये। यदि आप कहें कि जहाँ शाब्दी व्यञ्जना मानी जाती है, वहाँ अर्थ भी तो रहता ही है, फिर उस व्यञ्जना को अर्थनिष्ठ ही क्यों नहीं माना जाय? इसका उत्तर यह है कि ऐसे स्थलों पर शब्द ऐसे रहते हैं, जिन्हें बदला नहीं जा सकता अर्थात् 'सुरभिमांस' इत्यादि स्थल में सुरभि आदि शब्दों के स्थान में तत्पर्याय सुगन्धि अथवा 'गो' पद नहीं रखा जा सकता, क्योंकि वे दोनों पद नानार्थक नहीं हैं, अतः मानना पड़ेगा कि शब्द की महिमा से ही वहाँ व्यङ्ग्य हुआ है। जहाँ ऐसे व्यङ्ग्य रहते हैं, जो व्यञ्जक पद के स्थान में पर्यायान्तर के प्रयोग करने पर भी हो सकें, वहाँ मानना पड़ता है कि अर्थ की महिमा व्यङ्ग्य करने में सहायक है, अतः वैसे स्थलों में व्यञ्जना को अर्थनिष्ठ मानकर अर्थशक्ति-

मूल का व्यवहार होता है। इस प्रकरण में ऊपर दिखाये गये विचार ध्वनिकार आनन्द-वर्धन के अनुयायी मम्मट आदि के हैं।

अस्मिन् प्रसङ्गे ग्रन्थकारः स्वमतमुपदर्शयितुं पूर्वोक्तं मतद्वयं खण्डयति—

अन्ये त्वत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते। यत्तावदुक्तमेकार्थमात्रविषया पदार्थोपस्थितिस्तदन्वयबोधेऽपेक्ष्यत इति तदसारम्। नानार्थादर्थद्वयोपस्थितावपि प्रकरणादिज्ञानाधीनतात्पर्यमहिम्नैव विवक्षितार्थशाब्दबोधोपपत्तेः, एकार्थमात्रोपस्थित्यपेक्षायां मानाभावात्। अपरार्थोपस्थापकसामग्र्याः पदज्ञानस्य सत्त्वेन तदुपस्थितेरप्यौचित्याच्च।

अत्रेति। अनुपदोक्तमतद्वये इत्यर्थः। प्रत्यवतिष्ठन्ते इति। विरुद्धं प्रतिपादयन्तीति तात्पर्यम्। तत्राद्यमते आह—यत्तावदिति। अयं भावः—नानार्थकपदाच्छक्त्या प्राकरणिकार्थस्यैवान्वयबोधो भवति नान्यस्येत्यनुभवसिद्धं वस्तु। तत्रान्यस्यान्वयबोधः कुतो न भवतीति जिज्ञासायां 'तत्र केचिदाहुः' इत्यादिनोक्ते प्रथममते तात्पर्यनिर्णयोत्तरमेकार्थमात्रविषयिणी द्वितीयोपस्थितिर्भवतीत्युक्तम्। तथा चान्यार्थस्यानुपस्थितत्वान्न तदन्वयबोध इति तदभिप्रायः। परमेतन्न युक्तम्, अनेकार्थोपस्थितावपि शाब्दबोधकारणीभूतेन प्रकरणादिज्ञानजन्यतात्पर्यनिर्णयेनैवाभीष्टैकार्थमात्रविषयकशाब्दबोधोपपत्तौ एकार्थमात्रविषयकद्वितीयोपस्थितेरनावश्यकत्वात् इति। ननु द्वितीयोपस्थितावेव तात्पर्यज्ञानस्योपयोग इति द्वितीयोपस्थितिः एकार्थमात्रविषयावश्यकीत्यत आह—अपरेति। तदुपस्थितेरपीति। अपरार्थोपस्थितेरपीत्यर्थः। द्वितीयोपस्थितिस्तुष्यदुर्जनन्यायेनास्थितापि संकेतितनानार्थविषयिकैव स्यात्, नैकार्थमात्रविषया सकलार्थोपस्थापकसामग्रीभूतस्य पदज्ञानस्य विद्यमानत्वादिति भावः।

अब ग्रन्थकार प्रकृतप्रसङ्ग में अपना मत बतलाने के लिये पहले पूर्वोक्त दोनों मतों का खण्डन करते हैं—अन्ये तु इत्यादि से। प्रथम मत में कहा गया है कि नानार्थस्थल में प्राकरणिक अर्थ के बोध को सिद्ध करने के लिये तदर्थमात्र की उपस्थिति अपेक्षित है, अतः प्रथम बार सकल अर्थों की उपस्थिति होने पर भी द्वितीय बार पृथक् प्राकरणिक अर्थमात्र की उपस्थिति माननी चाहिये। परन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि जिस उद्देश्य—प्राकरणिक अर्थमात्र का अन्वय बोध हो, अप्राकरणिक अर्थ का नहीं—की सिद्धि के लिये आपका यह प्रयास है, उसकी पूर्ति नानार्थकशब्दजन्य शाब्दबोध के प्रति प्रकरणादि ज्ञानाधीन तात्पर्यनिर्णय को कारण मान लेने से हो जाती है, अर्थात् प्रकरण आदि के ज्ञान से होने वाला तात्पर्यनिर्णय प्राकरणिक अर्थबोध को ही उत्पन्न करेगा, अप्राकरणिक अर्थबोध को नहीं, फिर इसके लिये एक अर्थमात्रविषयक द्वितीय उपस्थिति की अपेक्षा करने में कोई प्रमाण नहीं रह जाता। दूसरी बात यह है कि यदि आपके सन्तोष के लिये द्वितीय उपस्थिति मानली जाय, तब भी वह द्वितीय उपस्थिति एक अर्थ विषयक ही होगी सकल अर्थ विषयक नहीं, किन्तु यह असंभव है, क्योंकि सकल अर्थ की उपस्थिति करानेवाली पदज्ञान आदि सामग्री वर्तमान है। ऐसी स्थिति में द्वितीय उपस्थिति को स्वीकृत कर लेने पर भी अप्राकरणिक अर्थ का अन्वयबोध तभी रुकेगा, जब तात्पर्यनिर्णय को नानार्थक पदजन्यशाब्दबोध के प्रति कारण माना जायगा। फिर तो द्वितीय उपस्थितिवाली बात निस्सार ही सिद्ध होती है।

सामग्रीविघटनमाशंक्य समाधत्ते—

न च प्रकरणादिज्ञानं तदधीनतात्पर्यज्ञानं वा परार्थोपस्थाने प्रतिबन्धकमिति शक्यं वक्तुम्? संस्कारतदुद्बोधकयोः सत्त्वे स्मृतेः प्रतिबन्धस्य क्वाप्यदृष्टत्वात्।

पदज्ञानात्मकसामग्र्याः सत्त्वेन द्वितीयोपस्थितिरपि नानार्थविषयिकैव स्यादिति यदुक्तम्, तन्न, सामग्रीघटकप्रतिबन्धकाभावरूपसामान्यकारणविरहात्, किमत्र प्रतिबन्धकमिति चेत् ? प्रकरणादिज्ञानम्, तदधीनतात्पर्यज्ञानं वा वस्तुतस्तात्पर्यज्ञानमेवेति शंकायां समाधानमाह- संस्कारेति । अनुभवजन्यः संस्कारस्तदुद्बोधकश्चेत्येतद्द्वये विद्यमाने स्मृतिर्भवत्येव, तादृशस्थितौ तत्प्रतिबन्धः सकलतन्त्रविरुद्धः । एवञ्च प्रकृते प्राकरणिकार्थस्येवाप्राकरणिकार्थस्यापि संकेतग्रहसमयेऽनुभवो जात एव, तज्जन्यः संस्कारश्च समान एव प्राकरणिकाप्राकणिकयोरर्थयोः सुरक्षितः श्रोतुरात्मनि सम्प्रति पदज्ञानमुद्बोधकमपि तुल्यमेवेति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपस्थितिर्दुर्वारैवेति भावः ।

यदि आप कहें कि नानार्थकस्थल में अप्राकरणिक अर्थ के अन्वयबोधन होने में तात्पर्यनिर्णय का नानार्थकशब्दजन्य शाब्दबोध के प्रति कारण होना हेतु नहीं है, किन्तु एकार्थमात्रविषयक द्वितीय पदार्थस्मरण ही है, अर्थात् द्वितीय पदार्थस्मरण, प्राकरणिकार्थमात्र विषयक ही होता है, अतएव अनुपस्थित अप्राकरणिक अर्थ का अन्वयबोध नहीं होता, और द्वितीय पदार्थस्मरण में पदज्ञान आदि सामग्री के रहने पर भी अप्राकरणिक अर्थों का विषय नहीं होने का रहस्य यह है कि प्रकरण आदि का ज्ञान अथवा तदधीन तात्पर्यनिर्णय, अप्राकरणिक अर्थविषयकस्मरण में प्रतिबन्धक है । किन्तु, यह कथन भी संगत नहीं, क्योंकि अनुभवजन्य संस्कार और उस संस्कार के उद्बोधक सामग्री के रहने पर भी स्मरण रुक गया हो, ऐसी बात कहीं देखी नहीं गई। अर्थात् जब शक्तिज्ञान के अवसर पर प्राकरणिक अप्राकरणिक सभी अर्थों का अनुभव हो चुका है, तज्जन्यसंस्कार आत्मा में सुरक्षित है, तब पदज्ञानरूप उद्बोधक के जुटने पर उन सभी अर्थों का स्मरण नहीं हो, किन्तु एक ही अर्थ का स्मरण हो यह कैसे संभव है?? कहने का सारांश यह है कि अपेक्षित कारण के समवधान में स्मरण नहीं रुकता है, उक्त प्रतिबन्धक की बात भ्रामक है।

अन्यत्रादृष्टस्यापि स्मृतिप्रतिबन्धस्यात्रैवाङ्गीकारे का बाधेत्याक्षिप्य निरस्यति—

अत्रैव स्मृतावयं प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावः कल्प्यते, न स्मृत्यन्तरे इत्यप्यहृदयङ्गमम्, तादृशकल्पनाया निष्फलत्वात्, अनुभवविरुद्धत्वाच्च ।

अयंभावः—सफला चेन्नवीनापि कल्पना संभवति, परमियं स्मृत्यन्तरे अदृष्टा केवलं नानार्थकस्थलौ क्रियमाणा नूतना प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पना तु निष्फलेति न संभवत्येव सा । कुत अस्याः कल्पनाया निष्फलत्वमिति चेत् ? तत्कल्पनाद्वारा साधनीयस्य प्राकरणिकार्थमात्रविषयकबोधस्य तां विनापि शाब्दबोधतात्पर्यनिर्णययोर्नियतेन कार्यकारणभावेनैव सिद्धत्वादिति बोध्यम्। उपायस्योपायान्तरादूषकत्वात् सा कल्पनापि नानुचितेत्यत आह— अनुभवेति । इयं कल्पना अनुभवविरुद्धापीति भावः ।

यदि आप कहें कि अन्यत्र स्मरण का प्रतिबन्ध नहीं देखा गया है, तो भले ही न देखा गया हो, हम नानार्थक शब्दस्थलीय स्मरण के विषय में ही उक्त प्रतिबन्धक की कल्पना करते हैं ? परन्तु यह भी मन में प्रतीत होने योग्य बात नहीं है, क्योंकि ऐसी कल्पना करने में कोई खास फल नहीं है, अर्थात् इस कल्पना के द्वारा आप नानार्थक पद से प्राकरणिक अर्थमात्र का बोध हो, यही तो सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु वह नानार्थक पदजन्य शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय का कारण अवश्य मानना पड़ेगा, अन्यथा निर्वाह है ही नहीं यह कह कर पहले उसके बिना भी सिद्ध किया जा चुका है। दूसरा कारण यह है कि स्मृति-प्रतिबन्धवाली बात अनुभव से भी विरुद्ध है।

अनुभवविरोधं दर्शयति—

तथा हि नानार्थशक्तिविषयकदृढसंस्कारशालिनां प्रकरणज्ञानवतामपि पयो रमणीयमित्यादेर्वाक्यात्प्रथममर्थद्वयोपस्थितिरनुभवसिद्धा। अत एव पयोरमणीयमित्यादिवाक्यमकस्मादाकर्णितवद्भिः प्रकरणानभिज्ञैरप्रकरणज्ञाः पांसुरपादा वक्तुस्तात्पर्यं बोध्यन्ते, नूनमस्य दुग्धे तात्पर्यं शब्दस्य, न तु जल इति। यदि च प्रकरणादिज्ञानं नानार्थशब्दाज्जायमानामप्राकरणिकार्थोपस्थितिं प्रति बध्नीयात्तत्कथमेते तदानीमनुपस्थितजलाः प्रकरणज्ञा जलतात्पर्यं निषेधेयुरित्यहृदयङ्गम एवायमप्राकरणिकार्थोपस्थापनप्रतिबन्धकभावः प्रकरणादिज्ञानस्य।

दृढसंस्कार इति। संस्कारे दृढत्वञ्च परिपक्वानुभवजन्यत्वम्, तेनापरिपक्वानुभवजन्यादृढसंस्कारवतां पयोरमणीयमित्यादिवाक्यात्कस्यचिदेकस्यैवार्थस्योपस्थितावपि न क्षतिः। **अत एवेति**। नानार्थशब्दात्प्रकरणज्ञानमपि अर्थद्वयोपस्थितेरनुभवसिद्धत्वादेवेत्यर्थः। विपक्षे बाधकमुपदर्शयति—यदि चेति। अनुपस्थितजला इति हेतुगर्भं विशेषणम्। तदुपस्थितेरभावादिति भावः। **अहृदयंगम** इति अमनोरम इत्यर्थः, अनुचित इति भावः। अयमिह सारांशः—पय आदिनानार्थके शब्दे दुग्धजलोभयार्थनिरूपितः साधीयान् शक्तिग्रहो येषां जातः, तेषामात्मनि तच्छक्तिविषयः संस्कारोऽपि सुदृढः समुत्पन्नः, अतस्ते पयोरमणीयमिति वाक्यमाकर्ण्य नूनमेव दुग्धजलात्मकमुभयं वाच्यार्थं स्मरन्ति दुग्धप्रकरणज्ञाने विद्यमानेऽपि। अन्यथा श्रुतोक्तवाक्येन दुग्धप्रकरणज्ञानशालिना केनापि विदग्धेन कृतः, उक्तवाक्यं शृण्वतस्तत्कालागतान् अत एवाप्रकरणज्ञान् प्रति 'पयःपदस्यात्र दुग्धे तात्पर्यं न तु जले' इति वक्तृतात्पर्यबोधनावसरे, जलतात्पर्यनिषेधोऽसंगतो भवेत्, भवन्मतानुसारं दुग्धप्रकरणज्ञानेन जलोपस्थितेः प्रतिबन्धे प्रकरणज्ञस्य निषेद्धुरात्मनि जलस्यानुपस्थितत्वात्, अप्राप्तस्य च निषेधासंभवात्। मन्मते तु सर्वं समञ्जसम्, सकलार्थोपस्थितेः समर्थितत्वात्।

उक्त अनुभव विरोध का स्पष्टीकरण करते हैं—'तथा हि' इत्यादि से। जिनको नानार्थक स्थल में विविध अर्थनिरूपित शक्तिज्ञान ही कुछ ऐसा अधूरा हुआ है कि संस्कार दृढ नहीं हो सका, उनको यदि नानार्थक पद श्रवण के बाद सभी अर्थों का स्मरण नहीं होता, तो यह दूसरी बात हुई, पर जिनको नाना अर्थ (जल दूध रूप) निरूपित शक्ति का ठोस ज्ञान हुआ है, एवं उस शक्ति का संस्कार भी सुदृढ है, उनके सामने जब कोई 'पय रमणीय है' ऐसा वाक्य बोलता है, तब उन्हें प्रकरणज्ञान रहने पर भी उक्त वाक्य से दूध और जल दोनों अर्थों का स्मरण होता है, यह एक अनुभवसिद्ध विषय है। अतएव अकस्मात् उक्त वाक्य को सुननेवाले नवागत अप्रकरणज्ञ व्यक्तियों को वे प्रकरणज्ञ स्थायी श्रोता, वक्ता के तात्पर्य को समझाते हुए कहते हैं कि 'पय' पद का प्रयोग करनेवाले वक्ता का तात्पर्य दूध में है, जल में नहीं। यदि आप के कथनानुसार प्रकरणज्ञान नानार्थक शब्द से होनेवाले अप्राकरणिक कार्यविषयक स्मरण को रोक दे, तो उक्त स्थायी श्रोता को स्वयं जल का स्मरण नहीं होगा, फिर दूसरे को समझाते समय वह 'जल में वक्ता का तात्पर्य नहीं है, यह निषेध भी कैसे करेगा? अर्थात् अप्राप्त का निषेध नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में प्रकरणादिज्ञान को अप्राकरणिकार्थोपस्थिति का प्रतिबन्धक मानना उचित नहीं।

तात्पर्यनिर्णयशाब्दबोधयोः कार्यकारणभावस्य समर्थकं द्वितीयं मतमनूद्य खण्डयति—

यदप्युच्यते प्रकरणादिज्ञानात्प्राकरणिकेऽर्थे तात्पर्यविषयतया निर्णीते तदीयशाब्दबोधानन्तरमतात्पर्यविषयीभूतार्थबोधो जायमानो व्यञ्जनव्यापारसाध्य

इति। तत्र किमयं नानार्थस्थले सर्वत्रैव व्यञ्जनोल्लासः, आहोस्वित्क्वचिदेवेति सम्मतम्? नाद्यः। प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरर्थयोः शाब्दबुद्धौ सर्वत्राभ्युपगम्यमानायां तात्पर्यज्ञानकारणतायाः कल्पनस्य नैरर्थक्यापत्तेः।

तदर्थविषयकशाब्दबोधं प्रति तदर्थविषयकतात्पर्यनिर्णयस्य हेतुत्वेन 'सैन्धवमानय'-त्यादिनानार्थस्थले प्रकरणज्ञानेन सैन्धवपदस्य लवणरूपार्थे तात्पर्यनिर्णयात् तस्यैवार्थस्य शक्त्या शाब्दबोधो नाश्वस्य। एवञ्च यदि क्वचित् अश्वबोधोऽप्यभिप्रेतोऽनुभवसिद्धश्च, तदा तत्र स बोधोऽन्यथाऽनुपपन्न इति तदर्थं व्यञ्जनाव्यापारस्वीकार इति यदुक्तं प्राक्, तत्र विचार्यते—तत्र किमयमित्यादिना। अयंभावः—भवदुक्तेऽस्मिन् प्रकारे द्वौ कल्पौ संभवतः, नानार्थकस्थले सर्वत्र व्यञ्जनावृत्तिस्वीकार इत्येकः, क्वचिदेव तत्स्वीकार इति द्वितीयः, तयोर्मध्ये प्रथमो न युक्तः, सर्वत्र व्यञ्जनाङ्गीकारे प्राकरणिकस्य शक्त्या, अप्राकरणिकस्य-चार्थस्य व्यञ्जनया सर्वत्रैव बोधोऽङ्गीकृतः स्यात्, तथात्वे च शाब्दबोधे तात्पर्यनिर्णयस्य कारणताकल्पनं व्यर्थमेव भवेत्, तद्धि नानार्थकस्थलेऽप्राकारणिकार्थबोधवारणाय स्वीक्रियते, एवञ्च वैयञ्जनिकाप्राकरणिकार्थबोधस्य सार्वत्रिकत्वे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव।

अब द्वितीय मत का खण्डन करते हैं—यदप्युच्यते इत्यादि से। द्वितीय मत में जो यह कहा गया है कि प्रकरण आदि के ज्ञान से प्राकरणिक अर्थ में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय होता है, तदनन्तर तात्पर्यनिर्णयरूप कारण की सहायता से अभिधाजन्य अन्वयबोध केवल प्राकरणिक अर्थ का होता है, उसके बाद होनेवाला अप्राकरणिक अर्थ व्यञ्जना से होता है। उसमें प्रश्न यह होता है कि नानार्थकस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध कराने के लिए सर्वत्र व्यञ्जना का प्रादुर्भाव मानते हैं, या कतिपय स्थानविशेष में ही? प्रथम पक्ष संगत नहीं हो सकता, क्यों कि जब व्यञ्जना से सर्वत्र नानार्थक शब्दस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध आप मान ही लेते हैं, तब तात्पर्यनिर्णय को नानार्थक शब्दजन्य अभिधा द्वारा अन्वयबोध के प्रति कारण मानना व्यर्थ हो जाता है। अर्थात् पहले तात्पर्य निर्णय को कारण मानकर अभिधा से अप्राकरणिक अर्थ के बोध को रोक देते हैं, और पीछे फिर सर्वत्र व्यञ्जना से उसी अप्राकरणिक अर्थ का बोध मान लेते हैं, इसमें कौन सी बुद्धिमत्ता सिद्ध होती है? इससे तो कहीं अच्छा है कि तात्पर्यनिर्णय को कारण न माने. और अभिधा से ही अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध मान लें।

शाब्दबोधे तात्पर्यनिर्णयकारणतायाः सार्थक्यमाशंक्यते—

न च शक्तिजबोधे सा कल्प्यते, व्यक्तिजबोधस्तु तात्पर्यज्ञानं विनापि भवतीति तत्स्थाने शक्तिजबोधवारणाय तत्कल्पनमिति वाच्यम्;

शक्तिजबोधः अभिधाजन्यशाब्दबोधः। नानार्थस्थले इति शेषः। व्यक्तिजबोधः व्यञ्जनावृत्तिजन्यशाब्दबोधः। तत्स्थाने व्यञ्जनावृत्तिजन्यबोधस्थाने। तत्कल्पनम् तात्पर्यज्ञान-कारणताकल्पनम्। शक्तिजन्यबोधे तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्वं कल्प्यते। एवञ्च नानार्थकशब्द-स्थले शक्त्या अप्राकरणिकार्थबोधो न जायत इति सफलं तत्कल्पनम्, व्यञ्जनाजन्यबोधे तन्न कल्प्यत इति व्यञ्जनया स जायत एवेत्यन्यदेतत् इति शङ्काशयः।

शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मानने में पूर्वपक्षीय युक्ति का अनुवाद करते हैं—'नच' इत्यादि से। यदि आप कहें कि अभिधाजन्य बोध के प्रति तात्पर्य निर्णय को कारण मानते हैं, और व्यञ्जनाजन्य बोध के प्रति तो नहीं, ऐसी स्थिति में नानार्थक-शब्द से अप्राकरणिक अर्थ का अभिधा द्वारा बोध न हो, किन्तु वैयञ्जनिक तो होगा ही, इसलिए तात्पर्यनिर्णय को कारण मानना चाहिए।

समाधत्ते—

अतात्पर्यार्थबोधस्य सार्वत्रिकत्वे तस्य शक्तिजतायामपि बाधकाभावात् ।

अप्राकरणिकार्थबोधनिरोध एव तात्पर्यज्ञानकारणताकल्पनस्योद्देश्यम् । एवञ्च यदि क्वचिदपि प्राकरणिकार्थबोधो नाभविष्यत्, तदैव तत्कल्पनं सार्थकमभविष्यत्, व्यञ्जनया सर्वत्र तद्बोधाङ्गीकारे तु मुधैव तत् । अर्थात् अप्राकरणिकार्थबोधश्चेत् सर्वत्र जायत एव, तर्हि स शक्त्या जायताम्, व्यञ्जनया वा, न कोऽपि विशेष इति शक्तिजन्यतद्बोध एव सर्वत्राङ्गीक्रियताम्, तथाङ्गीकारे च तात्पर्यज्ञानकारणतायाः व्यञ्जनायाश्चानावश्यकतया तदकल्पनप्रयुक्तलाघवं करतलामलकायितमेवेति समाधानस्याभिप्रायो विज्ञेयः ।

अब उक्त युक्ति का खण्डन करते हैं—अतात्पर्य इत्यादि से । उक्त युक्ति भी आप का सङ्गत नहीं है, क्योंकि जब आप तात्पर्यार्थ से भिन्न अप्राकरणिकार्थ का भी सर्वत्र बोध मानते ही हैं, तब उसको अभिधाजन्य ही मान लेने में क्या आपत्ति है ? अर्थात् नानार्थकस्थल में जब सर्वत्र अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध आपको अभिमत ही है, तब वह अभिधा से हो अथवा व्यञ्जना से हो दोनों बराबर है ।

पुनः प्रकारान्तरेण तात्पर्यज्ञानकारणताकल्पनायाः साफल्यमाशंक्यते—

अथ नानार्थशब्दादर्थद्वयोपस्थितौ सत्यां प्रकरणादिना सत्येकस्मिन्नर्थे तात्पर्यनिर्णये तस्यैवार्थस्य प्रथमं शाब्दबुद्धिर्जायते, नापरार्थस्येति नियमरक्षणाय शक्तिजतदर्थशाब्दबुद्धौ तदर्थतात्पर्यज्ञानं हेतुरिष्यते । अन्यथा तात्पर्यविषयतयानिर्णीतस्यार्थस्येवातथाभूतस्यापरस्याप्यर्थस्य प्रथमं शाब्दधीः स्यात् । अनन्तरं तु तात्पर्यविषयार्थबोधादतात्पर्यविषयार्थविषयापि शाब्दधीरिष्यत इति तज्जन्यतावच्छेदककोटौ शक्तिजत्वं निवेश्यत इति चेत् ?

नानार्थशब्दादिति । सुरभि-सैन्धवादिपदादित्यर्थः । अर्थद्वयोपस्थितौ इति । प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरर्थयोः स्मृतौ इत्यर्थः । तस्यैवेति । प्राकरणिकस्यैवेत्यर्थः । अपरार्थस्येति । अप्राकरणिकार्थस्येति यावत् । शक्तिजतदर्थशाब्दबुद्धौ इति । अभिधावृत्तिजन्यनानार्थकपदार्थविषयकशाब्दबोधे इति भावः । अन्यथेति । कार्यकारणभावास्वीकारे इत्यर्थः । अतथाभूतस्येति । अतात्पर्यविषयस्येत्यर्थः । प्रथममिति । प्राकरणिकार्थबोधात् प्राक् इत्यर्थः । अनन्तरमित्यस्याग्रिमेण 'बोधादि'ति पञ्चम्यन्तेनान्वयः । इष्यते इत्यत्र व्यञ्जनयेति शेषो बोध्यः । तज्जन्यतेति । तात्पर्यविषयजन्यतेत्यर्थः । अत्रेदमाकूतम्—नानार्थस्थले सर्वत्रैव व्यञ्जनोल्लासे नानार्थशब्दजन्यबोधं प्रत्यास्थितस्य तात्पर्यनिश्चयहेतुत्वस्य वैयर्थ्यं यदापादितं तन्न समीचीनम्, नानार्थकपदादर्थद्वयोपस्थित्यनन्तरं प्रकरणादिना वक्तुस्तात्पर्ये निश्चिते प्राकरणिकस्यैवार्थस्य प्रथमं बोधो भवतीति अनुभवबललब्धः सकलजनाङ्गीकृतो नियमः, स चोक्तकार्यकारणभावाभावे न संगच्छेत्, अप्राकरणिकार्थस्यापि बोधप्रसंगात् एवञ्च तादृशनियमरक्षणायैव सकार्यकारणभावोऽङ्गीकार्यः । ननूक्तकार्यकारणभावे स्वीकृते पश्चादप्यप्राकरणिकार्थबोधः कथं स्यादित्यत आह—अनन्तरमित्यादि । अनुभवसिद्धपश्चात्कालभाव्यप्राकरणिकार्थबोधसिद्ध्यर्थं तात्पर्यनिर्णयकार्यतावच्छेदककुक्षौ शक्तिजत्वं निवेशनीयम्,-अर्थात् 'शक्तिजन्यतदर्थविषयकबोधं प्रति तदर्थविषयकस्तात्पर्यनिर्णयो हेतु'रित्याकारकः कार्यकारणभावोऽङ्गीक्रियते; तथा च व्यञ्जनाजन्याप्राकरणिकार्थबोधे न काऽपि बाधेतिभावः । एवञ्चोक्तनियमरक्षणमेव तादृशकार्यकारणभावाङ्गीकारफलमिति सारांशः ।

अब फिर प्रकारान्तर से अभिधाद्वारा बोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय की कारणता का समर्थन करने का प्रयास करते हैं—अर्थ इत्यादि से। यहाँ पूर्वपक्षवालों का अभिप्राय यह है कि—नानार्थक शब्द से अर्थद्वय (प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक) की उपस्थिति होने के बाद जब प्रकरण आदि के ज्ञान से एक (प्राकरणिक) अर्थ में तात्पर्य का निर्णय हो जाता है, तब उसी (प्राकरणिक) अर्थ का पहले शाब्दबोध होता है अन्य (अप्राकरणिक) का नहीं यह एक अनुभवसिद्ध नियम है, उसी की रक्षा करने के लिये नानार्थक शब्द-जन्य अभिधाद्वारा बोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मानना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा प्राकरणिक तात्पर्यार्थ के समान ही अप्राकरणिक अतात्पर्यार्थ का भी पहले ही शाब्दबोध हो जायगा। तात्पर्यार्थबोध के बाद तो अतात्पर्यार्थ का भी शाब्दबोध अनुभव सिद्ध होने के कारण इष्ट है, अतः तात्पर्यनिर्णयरूप कारण का कार्य अभिधा-जन्यबोध को ही मानते हैं। अर्थात् यदि सामान्यतः नानार्थक शब्दजन्यबोधमात्र के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मान लेंगे, तो व्यञ्जना से जो पीछे अप्राकरणिक अतात्पर्यार्थ का बोध होता है वह भी न हो सकेगा और उसका अनुभव सिद्ध होना तो निश्चित ही है, अतः अभिधाजन्यबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मानना ही उचित है। वहाँ भी उसको कारण न मानें यह तो हो नहीं सकता, क्योंकि अभिधा से अप्राकरणिक अतात्पर्यार्थ का बोध नहीं होता यह भी अनुभव सिद्ध है।

खण्डयति—

नैवम्। 'सोऽव्यादिष्टभुजङ्गहारवलयस्त्वां सर्वदोमाधवः' इत्यादौ श्लेषकाव्य इव प्रकृतेऽपि प्रकृताप्रकृतयोरर्थयोर्बोधस्य स्वीकारे बाधकाभावात्।

'नैवमि'ति। प्राक्तनमूलग्रन्थेनोत्थापितायाः शङ्कायाः खण्डनार्थकं पदद्वयम्। 'सोऽव्यादि'त्यादिपञ्चम्यन्तो ग्रन्थश्च तत्र हेतूपन्यासपरः। इष्ट = अभिमते, भुजङ्गस्य = सर्पस्य, हारश्च वलयश्च, ते = माल्यकंकणे (भूषणविशेषौ) यस्य, तादृशः सः = प्रसिद्धः उमाधवः = मृडानीपतिः शिवः त्वां सर्वदा पायादिति शिवपक्षेऽर्थः। कृष्णपक्षे तु—इष्टः भुजङ्गस्य हारः—हरणं यस्य तादृशं यद्बलम् (वबयोः श्लेषस्थले ऐक्यस्वीकारादित्थमर्थः) तेन = गरुडेनेत्यर्थः, याति = संचरतीति तादृशः सर्वदः—सकलपदार्थप्रदाता माधवः=लक्ष्मी-पतिस्त्वां पायादित्यर्थो बोध्यः। एष प्रकृतोपयोगी वक्तव्यार्थः—नानार्थस्थलेऽप्राकरणि-कार्थबोधाय व्यञ्जनोल्लासो नावश्यकः, 'सोऽव्यादि'त्यादौ श्लेषकाव्यस्थले यथा शिव-विष्णुरूपौ द्वावप्यर्थौ अभिधाशक्त्यैवावगम्येते, तथा तत्रापि द्वयोरपि प्राकरणिकाप्राक-रणिकयोरर्थयोरभिधयैव बोधस्य सम्भवात्।

अब उक्त प्रकारान्तर का भी खण्डन करते हैं—नैवम् इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि अभिधा से प्राकरणिक अर्थ का ही बोध होता है अप्राकरणिक का नहीं, इस विषय को सिद्धान्त-सा मानकर जो आपने पूर्वोक्त विविध प्रपञ्चों की रचना की है वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'सोऽव्यात्''' इत्यादि श्लेष-काव्यस्थल में जैसे दो अर्थ वाच्य (अभिधा से ज्ञात होनेवाले) होते हैं, वैसे नानार्थक शब्दस्थल में प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक दोनों अर्थों का अभिधा से ही बोध मान लेने में कोई बाधा नहीं है। सोऽव्यात्'''इत्यादि श्लेषकाव्य के दो अर्थ ये हैं—'जिनको सर्पों से बने हार और कंकण प्रिय हैं, वे उमाधव (शिव) सदा तुम्हारी रक्षा करें,' और 'जिसके बल को सर्पों का हरण (संहार) इष्ट है उस (गरुड) के द्वारा जाने आनेवाले तथा सब कुछ देनेवाले माधव (लक्ष्मीपति) तुम्हारी रक्षा करें।

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं शङ्कते—

न च दृष्टान्तेऽर्थद्वयेऽपि प्रकरणसाम्यात्तात्पर्यज्ञानमस्तीति युगपद्द्वयोर्बोध

उपपद्यते । दार्ष्टान्तिके त्वेकत्रैव प्रकरणादिवशात्तदिति न युगपदर्थद्वयबोधोपपत्तिरिति वाच्यम्,

दृष्टान्ते इति। 'सोऽव्यादि'त्यादौ श्लेषकाव्ये इत्यर्थः। युगपदिति । एकस्मिन्नेव क्षणे इत्यर्थः । तदिति । तात्पर्यज्ञानमित्यर्थः । अयं भावः—'सोऽव्यादि'त्येद्दृष्टान्तेन नानार्थकस्थले यत् प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरर्थयोर्युगपद्बोध उपपाद्यते, स न सम्भवति, यतः दृष्टान्तभूते तत्र श्लेषकाव्ये उमाधव-माधवयोः समयोरपि प्रकरणप्राप्ततया द्वयोरपि तात्पर्यज्ञानमस्ति, अतस्तयोर्युगपद्बोधः (समूहालम्बनरूपः, ज्ञानयौगपद्यस्य सिद्धान्तविरुद्धत्वात्) भवितुमर्हति, दार्ष्टान्तिके 'सुरभि मांसमित्यादौ' तु सुगन्धिरूपार्थ एव भोजनरूपप्रकरणप्राप्त इति तत्रैव तात्पर्यज्ञानम्, अतस्तेन तात्पर्यज्ञानविषयीभूतेन 'सुगन्धि'रूपार्थेन सहैकस्मिन् क्षणे अतात्पर्यविषयस्य गोरूपार्थस्य बोधः समूहालम्बनरूपोऽपि न सम्भवति ।

दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में विषमता की शंका करते हैं—न च इत्यादि से । यदि आप कहें कि—श्लेषस्थल का दृष्टान्त देकर नानार्थस्थल में प्राकरणिक, अप्राकरणिक दोनों का अभिधा से ही बोध मान लेनेवाली बात समुचित नहीं, क्योंकि दृष्टान्तभूत श्लेषस्थल में दोनों ही अर्थ प्रकरणप्राप्त रहते हैं, अतः दोनों अर्थों में समानरूप से तात्पर्यनिर्णय होता है, अतएव साथ-साथ दोनों अर्थों का अभिधाद्वारा बोध भी समुचित है, तो दार्ष्टान्तिक नानार्थकस्थल में वैसी स्थिति नहीं है अर्थात् वहाँ एक ही अर्थ प्राकरणिक रहता है और जो अर्थ प्राकरणिक रहता है उसी में तात्पर्य निर्णय होता है अतः उसी का बोध अभिधा से होना उचित है अप्राकरणिक का नहीं ।

समाधत्ते—

तात्पर्यज्ञानकारणताया एवासिद्धत्वेन युगपदर्थद्वयबोधानुपपत्तिवाचोयुक्तेररमणीयत्वात् । तादृशज्ञानहेतुतासिद्धौ तु शक्येतापीत्थं वक्तुम् ।

वाचोयुक्तेरिति । युगपदर्थद्वयबोधानुपपत्तिरूपवचनप्रयोगस्येत्यर्थः । षष्ठीसमासे कृते 'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु' इति वार्तिकेन षष्ठ्या अलुक् ।

नानार्थस्थलीयव्यञ्जनोल्लासस्य सार्वत्रिकत्वे निष्फलत्वेन तात्पर्यनिश्चयस्य शाब्दबोधहेतुता प्रागेव निरस्ता, अतस्तद्बलेन नानार्थस्थले युगपत् शक्तिजन्यार्थद्वयबोधासम्भवत्वाभिधानमसन्तोषकरमेव । यदि कश्चित् शाब्दबोधं प्रति तात्पर्यज्ञानस्य हेतुतामसाधयिष्यत् तदैव तथा वक्तुमशक्ष्यत्, न चेन् साध्यति, तर्हि तथाकथनमशोभनमेवेति समाधानाशयो विज्ञेयः।

उक्त शंका का समाधान करते हैं—तात्पर्य इत्यादि से। ऊपर जो श्लेषस्थल का दृष्टान्त दिया गया है, उससे मेरा अभिप्राय केवल यह दिखलाना है कि श्लेषस्थल में दो अर्थों का एक अभिधा से बोध होता है, ऐसा होना कोई अप्रसिद्ध बात नहीं है । तदनुसार नानार्थक स्थल में भी प्राकरणिक-अप्राकरणिक दोनों अर्थों का एक साथ अभिधा से ही बोध माना जा सकता है । तब रही बात यह कि श्लेषस्थल में दोनों अर्थ प्राकरणिक होने के कारण तात्पर्य-विषय रहते हैं और नानार्थकस्थल में प्राकरणिक एक अर्थ ही तात्पर्य-विषय रहता है, पर इससे उक्त दोनों स्थलों में अन्तर तब होता, यदि तात्पर्यनिर्णय को अभिधाजन्य बोध के प्रति कारण होना सिद्ध रहता, किन्तु वही सिद्ध नहीं है अर्थात् तात्पर्यनिर्णय को उक्त बोध के प्रति कारण मानना मैं आवश्यक नहीं समझता फिर प्राकरणिक-अप्राकरणिक होने से कुछ बनता बिगड़ता नहीं । दोनों ही एक साथ वाच्य हो सकते हैं ।

एवं सति तात्पर्यज्ञानस्यानुपयोगमाशङ्क्य निरस्यति—

तर्हि तात्पर्यज्ञानस्य कुत्रोपयोग इति चेत् ? अस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रमाणमयमर्थः प्रमाणवेद्य इत्यादिनिर्णये प्रवृत्त्याद्युपयोगिनीति गृहाण ।

ननूक्तरीत्या तात्पर्यज्ञानस्य शाब्दबोधकारणत्वे निरस्ते तस्य निरुपयोगित्वमेवापततीति शंकायामाह-अस्मिन्नित्यादि। अयमभिप्रायः—नानार्थस्थले शब्दश्रवणानन्तरं नानाविधमर्थं शाब्दयन् श्रोता कस्मिन्नर्थे वक्तुरत्र तात्पर्यमिति सन्दिहीत, सन्दिग्धश्च क्वापि कार्ये न प्रवर्तेत, प्रवृत्त्यर्थमेव च कार्यबोधकं वाक्यं प्रयुज्यते, अतस्तादृशस्थितौ श्रोता तात्पर्यज्ञानसहकारेण नानार्थकस्य पदस्यार्थविशेषे प्रमाणत्वं निर्णीयते, अर्थविशेषस्य च प्रमाणवेद्यत्वम्, तेन वक्तुरभिमते कार्ये तस्य प्रवृत्तिर्भवतीति तात्पर्यज्ञानस्योपयोगः सिद्ध्यति ।

यदि आप कहें कि उक्त रीति से जब तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण नहीं माना जायगा, तब उसका उपयोग ही क्या होगा ? इसका उत्तर यह है कि इस अर्थ में यह शब्द प्रमाणभूत है और इस शब्द का यही अर्थ प्रामाणिक है इत्यादि बातों के निर्णय—जो प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में उपयोगी होता है—में तात्पर्यज्ञान का उपयोग है। अर्थात् नानार्थक शब्दश्रवण के बाद अनेक अर्थों को समझानेवाला श्रोता यह सन्देह अवश्य करेगा कि वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है ? और उस सन्देह की दशा में उसकी प्रवृत्ति किसी कार्य में नहीं हो सकती, और कार्यबोधक वाक्य का प्रयोग किया जाता है किसी कार्यविशेष में व्यक्तिविशेष की प्रवृत्ति कराने के लिये ही। अतः वैसी स्थिति में श्रोता तात्पर्यज्ञान की सहायता से यह निर्णय करता है कि यहाँ अमुक नानार्थकशब्द अमुक अर्थ में ही प्रमाण है, अमुक अर्थ ही प्रामाणिक है। इस निर्णय से श्रोता वक्ता के अभिमत अर्थ में प्रवृत्त होता है।

नानार्थस्थले सर्वत्र व्यञ्जनोल्लासः, क्वचिदेवेति कल्पद्वये प्रथमल्पीयं वक्तव्यमुपसंहरति—

इत्थं च नानार्थस्थलेऽपि तात्पर्यधियः कारणतायां शिथिलीभवन्त्यामतात्पर्यार्थविषयशाब्दबुद्धिसम्पादनाय व्यक्तिस्वीकारोऽनुचित एव शक्त्यैव बोधद्वयोपपत्तेः ।

नानार्थस्थलेऽपीत्यत्रापि पदेनैकार्थस्थले तात्पर्यज्ञानकारणतायाः सुतरां शैथिल्यं सूचयति। इदमत्र रहस्यम्—शुकादिवाक्यात्, देवताप्रसादेन पूर्वजन्मसंस्कारेण वा मूर्खबालककृतोत्तमकाव्याच्च वक्तृतात्पर्याभावनिश्चयेऽपि बोधोदयेन तस्य शाब्दबोधे हेतुत्वं न संभवति। वक्तृतात्पर्याभावनिश्चयश्च वक्तुस्ततस्तदर्थाबोधात्। किञ्च अस्मात् पदात् अर्थद्वयविषयको बोधो जायते तात्पर्यं तु क्वेति न जानीमः, इति शकलजनानुभवविरोधात् न तस्य हेतुत्वम्। अत एव 'पय आनय' इत्युक्ते अप्रकरणज्ञस्य दुग्धं जलं वाऽऽनेयमिति प्रश्नः संगच्छते। न चैवं 'हरि' रित्यादौ विष्णुविषयकबोधेच्छयोच्चरितत्वाभावज्ञाने तदन्यसिंहादिविषयकबोधेच्छयोच्चरितत्वज्ञाने वा विष्णुविषयकबोधापत्तेः पूर्वोक्तायाः का गतिरिति वाच्यम्, बोधो भवत्येव किन्तु तयोः ज्ञानयोस्तत्र बोधेऽप्रामाण्यग्रहजनकतया प्रवृत्त्यादिर्न भवतीतिस्वीकारात्। एतेन तयोः ज्ञानयोस्तादृशबोधं प्रति प्रतिबन्धकत्वमिति परास्तम्। तात्पर्यधियः इति। तात्पर्यज्ञानस्येत्यर्थः। उक्तरीत्या तात्पर्यज्ञानस्य कारणता यदा निरस्ता, तदा नानार्थकपदात् शक्त्यैवातात्पर्यविषयस्यापि अप्राकरणिकार्थस्य बोधः स्यादेवेति तदर्थं तत्र व्यञ्जनावृत्तिस्वीकारो नावश्यक इति भावः।

अब नानार्थकस्थल में भी सर्वत्र व्यञ्जना का प्रादुर्भाव होता है, इस पक्ष के खण्डन संबन्धी वक्तव्य का उपसंहार करते हैं—इत्थञ्च इत्यादि से। एकार्थकस्थल की तो बात ही

क्या ? उक्त रीति से जब नानार्थकस्थल में भी शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय की हेतुता समाप्त कर दी गई, तब तात्पर्यार्थ से भिन्न अप्राकरणिक अर्थ के बोध के लिये व्यञ्जना का स्वीकार करना अनुचित ही है। क्योंकि अभिधा से ही प्राकरणिक और अप्रामाणिक दोनों अर्थों का बोध हो जायगा यह बात पहले भी सिद्ध की जा चुकी है। शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय क्यों नहीं कारण हो सकता इसके विषय में कुछ विशेष युक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—शुक आदि कतिपय पक्षियों के वाक्य से शाब्दबोध होता है। शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय कारण होता है। यह कह नहीं सकते क्योंकि जब पक्षियों को अर्थबोध नहीं होता है तब उसका तात्पर्य किसी अर्थ में हो यह कैसे हो सकता है ? दूसरी युक्ति यह है कि नानार्थकस्थल में सब लोगों का ऐसा अनुभव है कि 'इस पद से दो अर्थों का बोध होता है, पर वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है, यह नहीं ज्ञात होता'। यदि तात्पर्यनिर्णय के बिना शाब्दबोध ही नहीं हो, तो उक्त प्रकार का अनुभव कैसे होता है ? तीसरी युक्ति यह है कि अप्रकरणज्ञ किसी व्यक्ति के प्रति जब 'पय लाओ' ऐसा वाक्य कहा जाता है, तब वह वक्ता से पूछता है कि दूध अथवा जल लाऊँ? अब बतलाइए कि यदि तात्पर्यनिर्णय के बिना शाब्दबोध ही नहीं होता है,तो श्रोता का उक्त प्रश्न कैसे संभव हो सकता है ? एक बात आप और पूछ सकते हैं कि पहले जो यह कहा गया है कि जहाँ श्रोता को यह निश्चय रहता है कि वक्ता ने विष्णुविषयक बोध की इच्छा से हरिपद का प्रयोग नहीं किया है, अथवा यही निश्चय रहता है कि सिंह आदि (विष्णु से भिन्न) अर्थ के बोध की इच्छा से हरिपद प्रयुक्त हुआ है, वहाँ भी विष्णुविषयक बोध न हो जाय इसलिये तात्पर्यनिर्णय को नानार्थकपदजन्यबोध के प्रति कारण मानना चाहिये, उसका क्या होगा ? इसका उत्तर यह है कि मैं वहाँ भी विष्णु का बोध मानता ही हूँ, केवल उक्त दोनों विरुद्धनिश्चय से विष्णुविषयकबोध में अप्रामाण्यज्ञान हो जाता है, अतः विष्णुरूप अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है।

नानार्थस्थले क्वचिदेव व्यञ्जनोल्लास इति द्वितीयं कल्पमालोचयितुं प्रक्रमते—

नापि द्वितीयः, हेतोरभावात्। व्यङ्ग्यार्थविषयककवितात्पर्यज्ञानं तथेति चेत् ? न, व्यक्तिजबोधे तात्पर्यज्ञानकारणताया-स्त्वयानभ्युपगमात्, यत्राश्लील-दोषस्तत्राप्राकरणिकेऽर्थे सकलानुभवसिद्धे कवितात्पर्यस्य विरहात् तज्ज्ञानस्य तादृशबुद्धिहेतुताया व्यभिचारदूषितत्वाच्च।

द्वितीय इति। नानार्थस्थले क्वचिदेव व्यञ्जनोल्लास इति कल्प इत्यर्थः। हेतुमाशङ्कते—व्यङ्ग्येति। तथेति। हेतुरित्यर्थः। अयमाशयः—नानार्थस्थले क्वचिदेव व्यञ्जनोल्लास इति द्वितीये पक्षे यद्यपि प्रथमपक्षोक्तदोषस्यावकाशो नास्ति, परन्तु स पक्षः सम्भवद्युक्तिक एव न वर्तते, व्यञ्जनोल्लासस्य क्वाचित्कत्वनियामकहेतोरेवाभावात्। 'इदं पदं व्यङ्ग्यार्थबोधेच्छया कविना प्रयुक्त'मित्याकारकस्य वक्तृतात्पर्यस्य ज्ञानं तत्र हेतुरिति न शक्यं वक्तुम्, व्यञ्जनाजन्यबोधे त्वया (नानार्थस्थलेऽप्राकरणिकार्थबोधाय व्यञ्जनाऽऽवश्यकतावादिना) तात्पर्यज्ञानकारणताया अनङ्गीकारात् इति। नन्वेवमपि फलबलात् स्वीक्रियतेऽत आह-यत्रेति। व्यञ्जनाजन्यबोधे तात्पर्यज्ञानस्य कारणता न संभवत्येव व्यतिरेकव्यभिचारात्। क्व व्यभिचार इति चेत् ? यत्र प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि ते तदा' इत्यादौ काव्येऽश्लीलता दोषस्तत्रेति बोध्यम्। कथमिति चेदित्थम्—तत्राश्लीलत्वदोषनिदानभूतनायिकामरणापानपवन-निस्सरणरूपा प्राकरणिकार्थप्रतीतिर्व्यञ्जनाजन्या सर्वानुभवसिद्धा, कवितात्पर्यञ्च तत्रार्थे कथमपि स्वीकर्तुं नोचितम् इति भावः।

अब नानार्थकस्थल में कहीं-कहीं व्यञ्जना का आविर्भाव होता है सर्वत्र नहीं, इस पूर्वोक्त द्वितीयपक्ष की आलोचना करते हैं—नापि इत्यादि से। 'स्थलविशेष में ही व्यञ्जना

का प्रादुर्भाव होता है सर्वत्र नहीं, अतः 'सर्वत्र व्यञ्जना के प्रादुर्भाव मानने पर जो अभिधा से उसकी गतार्थता सिद्ध की गई है उसका अवसर नहीं आयगा' यह कथन भी आपका संगत नहीं हो सकता, क्योंकि स्थलविशेष में ही व्यञ्जना का प्रादुर्भाव होगा इसका कोई कारण नहीं है। यदि आप कहें कि 'अमुक पद व्यङ्ग्य का बोध कराने के लिये वक्ता से प्रयुक्त हुआ है' इस तरह के वक्तृतात्पर्य का ज्ञान ही व्यञ्जना की काचित्कता का कारण है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि आप व्यञ्जनाजन्यबोध के प्रति तात्पर्यज्ञान को कारण मानते ही नहीं फिर उस प्रकार कैसे कह सकते हैं ? दूसरी बात यह है कि यदि आप व्यञ्जनाजन्यबोध के प्रति तात्पर्यज्ञान को कारण मानना भी चाहें तो यह भी नहीं मान सकते, क्योंकि उस तरह का कार्यकारण-भाव व्यतिरेक-व्यभिचार से दूषित होने के कारण असंभव है। अर्थात् जिस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य नहीं रहता उसका भी व्यञ्जना से बोध होता है जैसे 'प्रसरति शनैर्वायुः विनाशे तन्वि ते तदा' (हे कृशाङ्गि ! तुम्हारे वियोगकाल में मन्द-मन्द हवा बही) इत्यादि स्थल में अप्राकरणिक अपान-पवन-निस्सरण और नायिका-मरणरूप अर्थ की प्रतीति सभी सहृदयों को व्यञ्जना से होती है, अतएव ऐसे स्थलों में अश्लीलता नामक काव्य-दोष माना गया है। क्या उस अश्लील अर्थ में कवि का तात्पर्य माना जा सकता है? कभी नहीं। कौन ऐसा कवि होगा, जो जान-बूझकर अपनी कविता को अश्लीलता दोष का लक्ष्य बनायेगा?

व्यञ्जनोल्लासस्य काचित्कत्वनियामकमपरं हेतुमाशंक्य खण्डयति—

अथ श्रोतुः शक्तिविशेषो व्यक्तेरुल्लासे हेतुः, स च फलबलाच्चमत्कारिण्येवार्थे व्यक्तिमुल्लासयति नाचमत्कारिणीति सिद्धं व्यञ्जनोल्लासस्य काचित्कत्वमिति चेत् ? न, हन्तैवं स नियन्त्रितशक्तेरेव वोल्लासकोऽस्त्विति कृतं नानार्थस्थले व्यक्तिकल्पनया।

शक्तिविशेष इति। बुद्धिशक्तिविशेष इत्यर्थः। सः शक्तिविशेषः। नियन्त्रितेत्यस्य प्रकरणादिभिरित्यादिः। अयमभिप्रायः—बुद्धिः व्यक्तिभेदेन नानाविधा भवति, कस्यचन बुद्धिः स्थूलमप्यर्थं न गृह्णाति, कस्यचित् स्थूलं गृह्णाति अपि सूक्ष्मं न गृह्णाति, कस्यचित्पुनः सूक्ष्ममपि। एवञ्च यत्र सूक्ष्मार्थग्रहणप्रवणबुद्धिविशिष्टः श्रोता, तत्र तस्य बुद्धिः नानार्थस्थले व्यञ्जनामुल्लासयति, यत्र न स तादृशस्तत्र तस्य बुद्धिर्नोल्लासयति ताम्। यत्राप्युल्लासयति तत्रापि चमत्काराधायक एवार्थे, तत्रैव तदुल्लासस्य साफल्यसंभवात्। एवञ्च तस्य काचित्कत्वेन हेतुविरह इति शंका। समाधानं तु 'तथा सति श्रोतुः सा बुद्धिशक्तिस्तत्र तत्र स्थलविशेषे नानार्थकस्य शब्दस्य संयोगादिभिर्नियन्त्रितामभिधाशक्तिमेवोल्लासयतु, तावतैवेष्टसिद्धेरिति मुधैवायं व्यञ्जनाकल्पनायास इत्याकारकं वेदितव्यम्।

व्यञ्जना की काचित्कता में एक अन्य कारण की आशंका करके खण्डन करते हैं—'अथ श्रोतुः' इत्यादि से। श्रोता का बुद्धिशक्ति-विशेष व्यञ्जना की काचित्कता का कारण है, अर्थात् बुद्धि व्यक्तिभेद से भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। किसी की बुद्धि स्थूल वस्तु को भी नहीं समझ पाती, किसी की बुद्धि स्थूल वस्तु को समझती हुई भी सूक्ष्म को नहीं समझ सकती, किसी की बुद्धि सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को भी समझ लेती है, यह एक प्राकृतिक स्थिति है। ऐसी स्थिति में जहाँ सूक्ष्मार्थग्रहण समर्थ बुद्धिवाला श्रोता रहता है, वहाँ उसकी बुद्धि नानार्थकस्थल में व्यञ्जना को उद्भूत करती है और जहाँ उस तरह का श्रोता नहीं रहता, वहाँ उसकी बुद्धि व्यञ्जना को उद्भूत नहीं कर पाती। एवं जहाँ व्यञ्जना उद्भूत होती है वहाँ भी चमत्कारी अर्थ के विषय में ही, अचमत्कारी अर्थ के विषय में नहीं, क्योंकि चमत्कारी अर्थ में ही व्यञ्जना की सफलता संभव है।

इस तरह से व्यञ्जनोद्भव की कादाचित्कता सिद्ध हो जाती है' यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि जब श्रोता का बुद्धि-विशेष ही स्थलविशेष में व्यञ्जना का उद्भावक होगा, तब उससे कहीं अच्छा हो कि हम उस विशिष्ट प्रकार के श्रोता के उस बुद्धिशक्ति-विशेष को प्रकरण आदि के द्वारा नियन्त्रित अभिधाशक्ति का ही उद्भावक मान लें—अर्थात् हम ऐसा मानें कि प्रकरण आदि का ज्ञान, नानार्थकशब्द की जिस अभिधाशक्ति को नियन्त्रित करके अप्राकरणिक अर्थ के विषय में सफल नहीं होने देता, उस व्यर्थ बनी हुई शक्ति को कहीं-कहीं विशिष्ट श्रोता की विशिष्टबुद्धि उत्तेजित कर देती है अर्थात्—सफल बना देती है, जिससे नानार्थकशब्द की अभिधाशक्ति ही स्थल-विशेष में अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध करा देती है, और जहाँ उद्भावक बुद्धिविशेष नहीं प्राप्त होता, वहाँ वह नियन्त्रित अभिधाशक्ति नियन्त्रित ही रह जाती है। अतः वैसे स्थलों पर अप्राकरणिक अर्थ का बोध नहीं होता। इसी तरह मान लेने से जब काम चल जाता है, तब नानार्थकस्थल में एक अभिनव व्यञ्जनावृत्ति की कल्पना व्यर्थ है।

अभ्युपेतेऽपि व्यञ्जनोल्लासस्य कादाचित्कत्वे नानार्थस्थलेऽप्राकरणिकार्थबोधो व्यञ्जनयेति पक्षो न युक्तोऽनिष्टापत्तेरित्याह—

किंच 'उल्लास्यकालकरवालमहाम्बुवाहम्' इत्यादिनानार्थव्यञ्जकस्थलेऽगृहीतद्वितीयार्थशक्तिकस्य गृहीतविस्मृतद्वितीयार्थशक्तिकस्य वा पुंसः सर्वथैव व्यञ्जनया द्वितीयार्थबोधानुदयात्तत्र तया तदापत्तिस्तव दुर्वारा।

उल्लास्येति। '......देवेन येन जरठोर्जितगर्जितेन निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां, धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः॥' इति नरपतिवर्णनपरोऽयं श्लोकः। अयमस्य वाच्योऽर्थः—जठरम् = कठोरम्, ऊर्जितं=बलवच्च गर्जितम्=सिंहनादो यस्य तेन येन देवेन=राज्ञा, कालः=यमराजरूपः प्राणहरत्वात् रिपूणामिति भावः, करवालः=खड्ग एव अम्बुवाहः=मेघः तम्, उल्लास्य=विस्तार्य रणे = युद्धे, धाराजलैः=खड्गधारात्मकसलिलैः, रिपूणाम् = शत्रूणाम्, सकल एव=सर्वोऽपि त्रिजगति=त्रिलोक्याम्, ज्वलितः=प्रसिद्धः, प्रतापः=प्रभावः, निर्वापितः=शमितः, विकटासिधारया यो रणेऽरीन् जघानेति भावार्थः। व्यङ्ग्योऽर्थस्तु येन देवेन=देवेन्द्रेण, जरठेन = कठोरेण, ऊर्जितेन बलवता च गर्जितेन युक्तमिति शेषः, कालकरं=श्यामलकिरणं वालं=नवीनम् अम्बुवाहम्=जलधरम्, उल्लास्य=प्रवर्ध्य, धाराजलैः=धारासारैः वर्षणैः, रिपूणाम्=ग्रीष्माणामिति भावः। त्रिजगति ज्वलितः=त्रैलोक्यप्रदीप्तः, प्रतापः=प्रकृष्टः तापः निर्वापित इति। नानार्थ इत्यादि। नानार्थकः शब्दः व्यञ्जको यत्र, तादृशे स्थले इत्यर्थः। अगृहीतेति। अगृहीता= न ज्ञाता द्वितीयार्थस्य=अप्राकरणिकार्थस्य सङ्केतितेति भावः, शक्तिः अभिधात्मिकेत्यर्थः येन तस्येत्यर्थः। विनगमकाभावादाह—गृहीतेति। पूर्वं गृहीता, पश्चाद्विस्मृता द्वितीयार्थनिरूपिता शक्तिर्येनेति भावः। सर्वथा=सर्वप्रकारेणैव। सिद्धान्ते इत्यादिः। द्वितीयेति। अप्राकरणिकेत्यर्थः। तया=व्यञ्जनया। तदापत्तिः=द्वितीयार्थबोधापत्तिः। तवेति। नानार्थस्थले व्यञ्जनयाऽप्राकरणिकार्थबोधवादिन इत्यर्थः। अयमभिप्रायः—उल्लास्येत्यादौ इन्द्रपक्षीयाप्राकरणिकार्थनिरूपिताऽभिधाशक्तिर्येन न गृहीता, गृहीताऽपि वा पश्चात् सुदृढसंस्काराभावेन विस्मृता, तस्य तदर्थबोधो न भवतीति वस्तुस्थितिः। परमिदानीं श्रोतृबुद्धिशक्त्या चमत्कारिण्यर्थे व्यञ्जनोल्लासस्वीकारे प्रकृतोऽपि इन्द्रपक्षीये चमत्कारिणि अर्थे व्यञ्जनोल्लासस्य समुचिततया तव पक्षे व्यञ्जनया तदर्थबोधो दुर्वारतामासादयेत, मम मते तु नैतद्दोषावकाशः, यतो मम नानार्थस्थले प्राकर-

णिकार्थबोधोऽपि अभिधाशक्त्यैवाभिमतः सा च शक्तिः प्रकृते यस्य अगृहीता विस्मृता वा, न तस्य तदर्थबोधप्रसंगः ।

व्यञ्जनोल्लास की कादाचित्कता को मान लेने पर भी, नानार्थकस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध व्यञ्जना से होता है, इस मत को असंगत सिद्ध करते हैं—किंच इत्यादि से। 'उल्लास्यकालकरवाल···' इत्यादि पूरा पद्य संस्कृत टीका में उद्धृत है। जिसके दो अर्थ होते हैं। एक वाच्य और दूसरा व्यङ्ग्य। वाच्य अर्थ यह है कि कठोर और बलवान् सिंहनादवाले जिस राजा ने शत्रुओं के प्राणहर होने से यमराजस्वरूप खड्ग के धाररूपी जल के फैलाव को बढ़ाकर, संग्राम में उस धाररूपी जलके द्वारा, तीनों लोक में प्रसिद्ध शत्रुओं का समग्रप्रभाव शान्त कर दिया। और व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि—जिस देव (इन्द्र) ने कठोर और सबल गर्जन से युक्त तथा काली कान्तिवाले नवीन घनघटा को प्रकट करके, धारावाहिक जलवृष्टि से शत्रुभूत अग्नियों का त्रिलोकी विख्यात ताप को सर्वथा शान्त कर दिया। उक्त श्लोक प्राचीनों के मत से अनेक अर्थों का व्यञ्जकस्थल है। पर यहाँ यह अनुभव सिद्ध वस्तु है कि व्यञ्जना से उसी को अप्राकरणिक अर्थ का बोध होता है, जिसको उक्त श्लोकवाक्य में अप्राकरणिक अर्थ की भी अभिधा ज्ञात रहती है और उस अभिधा का विस्मरण नहीं हुआ रहता है। उसको नहीं होता, जिसको अप्राकरणिक अर्थ के द्वारा शक्तिज्ञान नहीं हुआ है अथवा ज्ञान होने पर भी किसी कारण से शक्ति का विस्मरण हो गया है। परन्तु अब आपके मत से वैसे (अज्ञातशक्ति अथवा विस्मृतशक्ति) व्यक्ति को भी व्यञ्जना से इन्द्र पक्षीय अप्राकरणिक अर्थ का बोध हो जाना चाहिये, क्यों कि वह अर्थ चमत्कारी है, अतः श्रोता की बुद्धिशक्ति उस अर्थ के बोध के लिये व्यञ्जना को उत्पन्न कर देगी। मेरे मत में तो यह दोष नहीं हो सकता, क्यों कि मैं नानार्थस्थल में व्यञ्जना नहीं मानता, अभिधा से ही दोनों अर्थों का बोध हो जाता है ऐसा मानता हूँ, और अभिधा से भी वहाँ बोध नहीं मानता हूँ, जहाँ वह ज्ञात हो, अविस्मृत हो। फिर जिसको उक्त श्लोक में इन्द्रपक्षीय अर्थ की अभिधा ज्ञात ही नहीं, अथवा ज्ञान होने पर भी विस्मृत हो चुकी है, उसको उस अर्थ का बोध कैसे प्रसक्त हो सकता है ?

एतद्दोषोद्धारायाशंकते—

न च येन शब्देन योऽर्थो व्यज्यते तस्य शब्दस्य तदर्थगतशक्तिज्ञानं तदर्थव्यक्तेरुल्लासे हेतुरिति वाच्यम्, 'निःशेषच्युत-' इत्यादौ रमणव्यक्त्यनापत्तेः। न ह्यधमपदस्य कस्यचिद्रमणे शक्तिग्रहोऽस्ति। सति वा तस्मिंस्तेनैवोपपत्तौ व्यक्तिकल्पनवैयर्थ्यापत्तेश्च।

रमणेति। नायककर्तृकसंभोगेत्यर्थः। तस्मिन्निति। अधमपदे रमणार्थनिरूपितशक्तिग्रहे इत्यर्थः। तेनैवोपपत्तौ इति। शक्तिग्रहेणैव रमणरूपार्थस्य बोधोपपत्तौ इत्यर्थः। अत्र, 'येन शब्देने'त्यादिमूलोक्तकार्यकारणभावाङ्गीकारे 'उल्लास्ये'त्यादौ प्रागुक्तदोषो नापतेत्, अग्रहीतद्वितीयार्थशक्तिकस्य विस्मृतद्वितीयार्थशक्तिकस्य वा पुरुषस्य इन्द्रपक्षीयार्थनिरूपितशक्तिग्रहस्य तच्छ्लोकवाक्येऽसत्त्वेन तदर्थनिरूपितव्यञ्जनावृत्तेस्तत्रानुल्लासात् इति शंकादलस्याशयः। 'निःशेषे'त्यादौ रमणार्थनिरूपितशक्तिग्रहस्याधमपदेऽभावेन तत्पदनिष्ठतदर्थनिरूपितव्यञ्जनाया उक्तकारणाभावादनुल्लासेन सर्वानुभूतरमणरूपार्थाभिव्यक्तेरसत्त्वापत्तिः। रमणार्थनिरूपितशक्तिग्रहोऽधमपदेऽस्तीति दुराग्रहे शक्त्यैव रमणप्रतीतौ तत्र व्यञ्जनावृत्तिकल्पनस्य सर्वसम्मतस्य वैयर्थ्यापत्तिरतस्तादृशकार्यकारणभावाभ्युपगमरसम्भवमिति उत्तरदलाशयः।

पूर्वोक्त दोष के उद्धार के लिये पूर्वपक्षियों के द्वारा दी गई एक युक्ति का उल्लेख करके खण्डन करते हैं—न च येन इत्यादि से। यदि 'उल्लास्य'''' इत्यादि श्लोक में दिखलाये गए दोष के उद्धारार्थ यह कहें कि जिस शब्द से जो अर्थ अभिव्यक्त होता है, उस शब्द की उस अर्थ में शक्ति का ज्ञान ही उस अप्राकरणिक अर्थ की व्यञ्जना के आविर्भाव का कारण है—अर्थात् शक्ति ज्ञान होने पर ही व्यञ्जना का उद्भव होता है, अन्यथा नहीं। अतः 'उल्लास्य'''' इत्यादि नानार्थस्थल में जिस श्रोता को इन्द्रपक्षीय अर्थ में श्लोकवाक्य की अभिधाशक्ति गृहीत नहीं हुई है, अथवा गृहीत होकर भी विस्मृत हो गई है, उसको उस अर्थ की व्यञ्जना आविर्भूत न होगी और न उस अर्थ का बोध ही होगा। किन्तु यह कहना भी असंगत होगा, क्योंकि इस तरह मानने पर 'निःशेषच्युत'''' इत्यादि श्लोक में 'अधम' पद से होने वाली सर्वसम्मत 'रमण' अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होगी, क्योंकि 'अधम' पद की रमण अर्थ में अभिधाशक्ति का ज्ञान किसी को नहीं है—संसार में अधमपद का रमण अर्थ कोई नहीं समझता। इतने पर भी यदि आप दुराग्रह करें कि अधमपद की शक्ति का ज्ञान रमण अर्थ में है—कम से कम नायक को अवश्य है, क्योंकि उससे अधम कहते ही रमणवाली बात झलक जाती है—तब मैं कहूँगा कि ठीक है, रहे आपकी ही बात, किन्तु ऐसा होने पर उस अभिधाशक्ति से ही रमण का बोध हो ही जायगा, फिर वहाँ व्यञ्जना की कल्पना करना ही व्यर्थ है।

उक्तकार्यकारणभावस्य संकुचितविषयकत्वकल्पनेन 'निःशेष' इत्यादौ दोषनिरासमाशंक्यनिरस्यति—

न च नानार्थव्यञ्जनस्थल एवैवंजातीयकः कार्यकारणभावः कल्प्यते, तत्र च शक्तेर्नियन्त्रितत्वेन तद्ग्रहस्याप्रयोजकतया व्यक्तिकल्पनौचित्यादिति वाच्यम्, नवीनकार्यकारणभावकल्पने गौरवप्रसङ्गात्। नियन्त्रणस्य पूर्वमेव दूषितत्वेन तद्धेतोरेवेति न्यायावताराच्च।

येन शब्देन योऽर्थो व्यज्यते तस्य शब्दस्य तदर्थगतशक्तिज्ञानं तदर्थव्यक्तेरुल्लासे हेतु' रित्याकारकस्य कार्यकारणभावस्य नानार्थव्यञ्जकस्थले 'सुरभिमांसं भक्षयती'त्यादावेव कल्पनम्, न तु 'निःशेषे'त्यादावेकार्थव्यञ्जकस्थले, तेन तत्र तत्कारणमन्तरापि व्यञ्जनाया उल्लासे न क्षतिः। न च नानार्थस्थले व्यक्त्युल्लासहेतुभूतस्य शक्तिग्रहस्य स्वीकारे तेनैव द्वितीयार्थबोधोऽपि कुतो नाङ्गीक्रियते इत्यत आह—तत्र चेति। अयं भावः—तत्र शक्तिग्रहस्य जातत्वेऽपि न तस्य कार्यकारित्वम्, संयोगादिभिः शक्तेर्नियन्त्रितत्वात्, अतस्तत्र व्यञ्जनाकल्पनमौचित्यम्। एवञ्चोल्लास्येत्यादौ उक्तकार्यकारणभावस्य कार्यतावच्छेदकाक्रान्ते, तत्कारणविरहात् न व्यक्तेरुल्लास इति तत्र नोक्तदोषावकाशः। परमेतन्न युक्तम्, तादृशाभिनवकार्यकारणभावाश्रयणे गौरवात्। अन्यथानुपपत्त्या गौरवं सुसहमिति चेन्न, व्यक्त्युल्लासहेतोस्तदर्थगतशक्तिज्ञानस्यैव तदर्थबोधजनकत्वस्वीकारेण सामञ्जस्ये व्यक्त्युल्लासजनकत्वकल्पनस्य व्यर्थत्वात्। ननु शक्तिनियन्त्रणं कथं विस्मर्यते? न विस्मर्यते, किन्तु तत्पूर्वमेव दूषितम् इति स्मारयितुं एतदेवाह—तद्धेतोरिति, 'तद्धेतोरेव तदस्तु किं तेन व्यञ्जनया' इति हि न्यायस्वरूपम्। द्वितीयार्थबोधहेतुभूतव्यञ्जनोल्लासकारणेन शक्तिग्रहेणैव द्वितीयार्थबोधो भवतु, व्यक्त्युल्लासकल्पना वृथेति प्रकृते तन्न्यायसंयोजनप्रकारः।

उक्त कार्यकारणभाव में संकोच करके 'निःशेषच्युत'''' इत्यादि पद्य में दिखलाए गए दोष के निराकरणार्थ पूर्वपक्षियों की शंका का समाधान करते हैं—न च इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि शक्ति ज्ञान को व्यञ्जनोल्लास का कारण नानार्थक व्यञ्जकस्थल में ही मान्य है, एकार्थव्यञ्जकस्थल—'निःशेष'''' इत्यादि में नहीं, अतः वहाँ रमण अर्थ में अधमपद का शक्तिज्ञान नहीं रहने पर भी व्यञ्जना का प्रादुर्भाव हो

जायगा। किन्तु नानार्थस्थल में व्यञ्जना के उल्लासक अभिधाशक्ति के ज्ञान से ही अप्राकरणिक अर्थ का बोध क्यों नहीं मान लेते, व्यर्थ व्यञ्जनोल्लास की कल्पना क्यों करते हो? इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि यहां इस प्रकार की शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि नानार्थकस्थल में शक्ति का ज्ञान भले ही अप्राकरणिक अर्थ में भी रहे, पर वह उसका बोध नहीं करा सकता, क्योंकि वह शक्ति प्रकरण आदि के ज्ञान से नियन्त्रित हो चुकी है—अप्राकरणिक अर्थ के विषय में बेकार कर दी गई है, अतः व्यञ्जना की कल्पना वहाँ आवश्यक है, उसके उल्लासक के रूप में नियन्त्रित होने पर भी अप्राकरणिकार्थ निरूपित शक्ति ज्ञान कार्य करेगा यह बात दूसरी है। इस उपपादन के द्वारा पूर्व पक्षियों ने यह सिद्ध किया कि—'उल्लास्य'''' इत्यादि पद्य नानार्थक व्यञ्जक वाला स्थल है, अतः वहाँ व्यञ्जना का प्रादुर्भाव तब होता यदि अप्राकरणिक अर्थ में शक्ति का ज्ञान रहता, जब वह ज्ञान है ही नहीं तो व्यञ्जना का प्रादुर्भाव नहीं होगा। पर पूर्वपक्षियों का उक्त कथन भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि व्यञ्जनोल्लास में शक्तिज्ञान को कारण मानने पर व्यर्थ का गौरव उठाना पड़ता है। यदि आप यह कहें कि उसके विना काम ही नहीं चल सकता, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस शक्ति-ज्ञान को आप व्यञ्जना का उल्लासक मानते हैं, उसी से अप्राकरणिक अर्थ के बोध को सिद्ध किया जा चुका है। यदि आप कहें कि नियन्त्रणवाली बात को आप क्यों भूलते हैं? तो मैं कहूँगा कि मैं भूलता नहीं हूँ, किन्तु उसका खण्डन पहले ही कर दिया गया है, अतः उसको मानता नहीं हूँ। यही बात 'तद्धेतोरेव' इत्यादि न्याय के द्वारा ग्रन्थकार ने व्यक्त की है। न्याय का पूरा स्वरूप 'तद्धेतोरेव तदस्तु किं तत्कल्पनया' यह है। अर्थात् यदि कारण के कारण से ही काम चल सकता है तो बीच में एक और कारण की कल्पना व्यर्थ है। उत्तरपक्ष का सारांश यह हुआ कि ऐसी जगह व्यञ्जना की कल्पना निरर्थक है।

अथान्यथाशंकते—

अथास्त्वप्राकरणिकोऽप्यर्थः शक्तिवेद्य एवान्वयधीगोचरः परंतु यत्र न बाधितः स्यात्। यत्र तु बाधितस्तत्र 'जैमिनीयमलंधत्ते रसनायामयं द्विजः' इत्यादौ जुगुप्सितोऽर्थो वह्निना सिञ्चतीत्यादौ वह्निकरणकसेक इवाबोधोपहत एव स्यात्। बाधनिश्चयस्य तद्वत्ताज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकतायाः सर्वजनसिद्धत्वात्। व्यक्तेस्तु बाधितार्थबोधकत्वं धर्मिग्राहकमानसिद्धमिति व्यक्तिवादिनामदोष इति।

'जैमनीय'मित्यादिवाक्यस्य क्रमशः 'अयं द्विजः जिह्वायां जैमनीयम् = मीमांसा-शास्त्रम् अलम् अत्यर्थं धारयति इति' 'ब्राह्मणोऽयं जिह्वायां जैमिनि-विष्ठां धारयतीति' च वाच्यव्यङ्ग्यार्थाविवसेयौ। इदमिह वक्तव्यरहस्यम्—तद्भाववत्तानिश्चयात्मकस्य बाध-निश्चयस्य तद्वत्ताज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकत्वं सर्वानुमतम्, अत एव 'वह्निना सिञ्चती'ति वाक्यात् 'सेकः वह्निकरणकत्ववान्' इति बोधो न भवति सेको वह्निकरणकत्वाभाववान्' इत्याकारकस्य बाधनिश्चयस्य वर्तमानत्वात् अत एव चाबोधोपहतार्थकं तादृशं वाक्यमेव प्रयुज्यते, एवञ्च तादृशबाधनिश्चयाभावस्थले सुरभिमांसं भक्षयती'त्यादौ अभिधावेद्यस्या-प्राकरणिकार्थस्यान्वयबोधे सम्पन्नेऽपि 'जैमनीयमल'मित्यादौ अप्राकरणिकार्थस्य शक्त्याऽ-न्वयबोधो न सम्पत्तुमर्हति बाधनिश्चयप्रतिबद्धत्वादिति तदर्थं व्यञ्जनाऽवश्यकी। ननु बाध-निश्चयसत्त्वे व्यञ्जनयापि कथमन्वयबोध इत्यत आह—व्यक्तेस्तु इति। धर्मिग्राहकमानेन व्यञ्जनाया बाधितार्थबोधकत्वं स्वीक्रियत एवेति भावः। बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षौ वैयञ्जनिकबोधेतरबोधस्यैव निवेश इति तत्त्वम्।

अब नानार्थकस्थल में व्यञ्जना मानने वाले पूर्वपक्षी अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए कुछ नयी युक्ति देते हैं—अथास्तु इत्यादि से। पूर्वपक्षवालों का कहना है कि अच्छा

रहे आपके कथनानुसार अप्राकरणिक अर्थ भी अभिधा से बोध्य होकर ही अन्वयबोध का विषय अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ का बोध भी अभिधा से ही हो जाय, पर वहाँ ही ऐसा हो जहाँ वह (अप्राकरणिक अर्थ) बाधित नहीं हो। पर जहाँ वह बाधित है, जैसे 'जैमिनीय'''' इत्यादि में। मूलोक्त वाक्य का 'यह ब्राह्मण अपनी जिह्वा पर अत्यधिक जैमिनि-मुनि प्रतिपादित मीमांसाशास्त्र का धारण करता है' इस अर्थ के अतिरिक्त 'यह ब्राह्मण अपनी जिह्वा पर जैमिनी के मल (विष्ठा) का धारण करता है' यह घृणित अर्थ, 'अग्नि से सींचता है' इस वाक्य के सेचन की तरह बाध-पराहत है अर्थात् जैसे अग्नि से सींचा नहीं जा सकता, वैसे ही ब्राह्मण की जिह्वा पर विष्ठा धारण की बात नहीं हो सकती, अतः जिस तरह अग्निकरणक सेक का बोध अभिधा से नहीं होता, उसी तरह ब्राह्मण की जिह्वा पर विष्ठा धारण का बोध भी अभिधा से नहीं होगा, क्योंकि—सभी विद्वानों के मत से तदभाववत्ताख्पबाधनिश्चय, तद्वत्ताज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक है। व्यञ्जनावादियों के मत में तो बाधित अर्थ का भी व्यञ्जना से बोध हो सकता है, होता भी है, क्योंकि वैसे स्थलों पर व्यञ्जना की कल्पना ही उसी के लिए होगी, अतः उससे होने वाले बोध को बाधनिश्चय नहीं रोक सकता अर्थात् वैयञ्जनिक बोधातिरिक्त बोध के प्रति ही बाधनिश्चय को प्रतिबन्धक माना जायगा। सारांश यह हुआ कि सुरभि मांस खाता है' इत्यादि स्थल में अबाधित गोमांस का बोध अभिधा से हो भी जाय, पर 'जैमिनीयमलम्''' इत्यादि स्थल में जिह्वा पर विष्ठाधारणरूप बाधित अर्थ का बोध अभिधा से किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। अतः उसके बोध के लिये व्यञ्जना माननी ही पड़ेगी।

उक्तशङ्कायाः समाधानमाह—

नैवम्, 'गामवतीर्णासत्यं सरस्वतीयं पतञ्जलिव्याजात्,' 'सौधानां नगरस्यास्य मिलन्त्यर्केण मौलयः।' इत्यादौ वाच्यार्थान्वयोपपादनायानुसरणीयेन यत्नेन नानार्थस्थलेऽपि बाधितार्थबोधस्योपपत्तिः स्यात्, अन्यथा प्रायशः सर्वेष्वप्यलंकारेषु वाक्यार्थबोधोपपत्तये व्यञ्जनाङ्गीकरणीया स्यात्।

नैवमिति। पूर्वोक्तः प्रकारो न संभवतीत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—'गामवतीर्णे'त्यादिना अस्य यत इत्यादिर्बोध्यः गामिति सौधानामिति च भिन्नपद्यार्थे। तयोः प्रथमस्य 'इयं पतञ्जलिमिषेण सरस्वती पृथिव्यां समागता' इति, द्वितीयस्य च 'अस्य नगरस्य प्रासादानां शिखराणि सूर्येण सह मिलन्ती'ति वाच्यार्थौ भवतः। अत्र क्रमशः पतञ्जलेः शारदावदवदातविद्याशालित्वम्, प्रासादानामत्युन्नतत्वञ्चाभिव्यज्यते। अनयोः पद्यार्थयोः वाच्यार्थावेव बाधितौ इति तदन्वयबोधोपपादनायायं यत्नोऽनुस्रियते, यत्—अनाहार्यत्वस्येव शाब्दान्यत्वस्यापि बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ निवेशः, आहार्यबोध्यताज्ञानस्वीकारश्च। अधिकं रूपकनिरूपणे मूलकार एव स्फुटीकरिष्यति। एवञ्चानया रीत्या यथा बाधितार्थकार्थस्थलीयवाक्यस्यान्वयबोध उपपाद्यते तथा तयैव रीत्या बाधितस्य नानार्थस्थलीयाप्राकरणिकार्थस्य वाच्यत्वस्वीकारेऽपि अन्वयबोधः समुपपादयितुं शक्यः। अन्यथेति। उक्तयत्नानुसरणविरहे इत्यर्थः। गामित्यत्र कैतवापह्नुताविव सौधानामित्यत्र संबन्धातिशयोक्ताविव सकलेष्वलंकारेषु वाच्यार्थानां प्रायशो बाधिततया तदन्वयबोधाय व्यञ्जनासमाश्रयणीया भवेत्, न च समाश्रीयते केनापि।

पूर्वपक्षवालों की उक्त युक्ति का खण्डन करते हैं—नैवम् इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि नानार्थकस्थल में बाधित अप्राकरणिक अर्थ के बोध के लिए भी व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'यह, पतञ्जलि के छल से सचमुच सरस्वती पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई है' और 'इस नगर के प्रासादों के शिखर सूर्य से मिलते हैं।' एतदर्थक

मूल में उद्धृत वाक्यों के 'सरस्वती के पृथ्वी पर अवतीर्ण होना' और 'प्रासादों के शिखरों का सूर्य से मिलना' रूप अर्थ बाधित हैं, अर्थात् ऐसा हो नहीं सकता। अतः ऐसे स्थलों पर वाच्य अर्थों का अभिधा से बोध सिद्ध करने के लिए जिस उपाय का अवलम्बन करना पड़ता है, उसी से नानार्थकस्थलों में भी बाधित अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधा के द्वारा ही सिद्ध हो सकेगा। अन्यथा उस उपाय का अवलंबन नहीं करने पर—प्रायः सभी अलंकारों में वाच्य अर्थों का बोध सिद्ध करने के लिये व्यञ्जना का स्वीकार करना पड़ेगा। सारांश यह हुआ कि अलंकारप्रधान काव्यों के अधिकांश अर्थ प्रायः बाधित ही रहते हैं, पर बाधित होने पर भी उन अर्थों का बोध सब लोग अभिधा से ही मानते हैं और आप भी मानते हैं, तब फिर नानार्थकस्थल में ही बाधित अप्राकरणिक अर्थ के बोध के लिए व्यञ्जना का आश्रयण क्यों किया जाय? तब रही बात यह कि कहीं बाधित अर्थ का बोध अभिधा से कैसे होता है? बाधनिश्चय उसमें प्रतिबन्ध क्यों नहीं करता? इसका उत्तर मूलकारने रूपक पर विचार करते हुए, स्वयं लक्षणा प्रकरण में दिया है। जिसका सारांश यह है कि बाधनिश्चय को शब्दजन्यबोध से अन्य बोध के प्रति ही प्रतिबन्धक मानना चाहिये, और आहार्य योग्यताज्ञान मान लेना चाहिये। फिर बाधित अर्थ का भी अभिधा से बोध होने में कोई बाधा नहीं।

उपसंहृति—

तस्मान्नानार्थस्याप्राकरणिकेऽर्थे व्यञ्जनेति प्राचां सिद्धान्तः शिथिल एव।

'तस्मादि'ति प्रागुक्त-युक्ति-कलापोपसंग्राहकम्। 'नानार्थस्ये'त्यत्र नाना अर्थो यस्येति बहुव्रीहिणा नानार्थकं पदमुच्यते। पूर्वोक्तयुक्तिभिः नानार्थकपदस्थलेऽप्राकरणिकस्यास एव वक्तुरतात्पर्यविषयस्याप्यर्थस्य शक्त्यैवान्वयबोध उपपादिते तदर्थं तत्र व्यञ्जनावश्यकीति तादृश एवाभिधामूलव्यञ्जनोदाहरणस्थल इति प्राचीनानां मम्मटादीनां सिद्धान्तो निर्युक्तिकत्वादसंगत इति भावः।

अब प्राचीन मतों का उपसंहार करते हैं—तस्मात् इत्यादि से। उक्त विचारों से यह सिद्ध हुआ कि नानार्थकस्थल में अप्राकरणिक अर्थों का बोध व्यञ्जना से होता है—यह प्राचीनों का सिद्धान्त कमजोर ही है। अर्थात् नानार्थक शब्दस्थल का अप्राकरणिक अर्थ ही शब्द-शक्ति मूलध्वनि का लक्ष्य है—इस प्राचीनोक्ति में कोई युक्ति नहीं है, अतः वह असंगत ही है।

प्राचीनमतस्यांशिकरूपेण युक्तिसंगतत्वं कथञ्चित् स्वीकरोति—

प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरर्थयोरुपमायां तु सा कदाचित्स्यादपीत्यस्माकं प्रतिभाति।

'उपमायां तु' इत्यत्र 'तुना' अप्राकरणिकार्थे सा व्यवच्छिद्यते। सा व्यञ्जना। अयं भावः—

> 'दुर्गालंघितविग्रहो मनसिजं सम्मीलयंस्तेजसा,
> प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः।
> नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्,
> गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः॥'

इत्यादौ 'उमावल्लभ' पदस्य, उमानामिकाया राज्ञ्या वल्लभः पतिः भानुदेवनामा नृपतिः, उमायाः पार्वत्या वल्लभः शिवश्चेति द्वावर्थौ, तयोः प्रथमः प्राकरणिको द्वितीयश्चाप्राकरणिकः। एवञ्च प्राकरणिकेऽर्थे प्रकरणेन तत्पदाभिधायां नियन्त्रितायामप्राकरणिकः पार्वतीवल्लभरूपोऽर्थो न वाच्योऽपि तु व्यङ्ग्यः, तथाऽप्राकरणिकार्थबोधनप्रयोज्य-

मसंबद्धार्थाभिधायित्वं पद्यस्य मा प्रसांक्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोः नृपशिवयो-रुपमालंकारोऽपि व्यङ्ग्य इति प्राञ्च आमनन्ति। पण्डितराजस्तु उक्तरीत्याऽप्राकरणिकार्थ-स्यापि वाच्यत्वं व्यवस्थाप्योपमालंकारमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वमङ्गीकुरुते। परमत्रापि न पण्डित-राजस्य सर्वथा निर्भरः, तत्सूचनायैवात्र ग्रंथे 'कदाचिदिति' स्यादपीत्यत्रत्यापिशब्दश्च संदिग्धार्थकं प्रयुङ्क्ते। तद्बीजञ्च तादृशाप्राकरणिकार्थमादाय वाक्यस्यासंबद्धार्थकत्वं माभूदिति कल्प्यमानोपमाया अर्थापत्तिवेद्यत्वस्यापि संभव इति बोध्यम्। उक्तश्लोके विशे-षणपदानां द्वयोः पक्षयोर्जायमानाः पृथक् पृथगर्था विस्तारभयेनात्र न लिखिता इति साहित्यदर्पणतो जिज्ञासुभिस्ते विज्ञेयाः।

प्राचीन मत के कुछ अंश में युक्तिसंगत होने के नाते पण्डितराज अपनी सम्मति दिखलाते हैं—प्राकरणिका इत्यादि से। आशय यह है कि संस्कृतटीका में उद्धृत 'दुर्गालंघित'" इत्यादि श्लोक में 'उमावल्लभ' पद के दो अर्थ हैं, एक—उमा नाम की रानी का वल्लभ प्रियपति भानुदेव नाम का राजा, और दूसरा—उमा पार्वती का वल्लभ शिव। उन दोनों अर्थों में प्रथम प्राकरणिक, दूसरा अप्राकरणिक है। ऐसी स्थिति में प्रकरण से प्राकरणिक राजारूप अर्थ में उमावल्लभ पद की अभिधा नियन्त्रित हो जायगी, अतः वाच्य अर्थ वही होगा। अप्राकरणिक शिवरूप अर्थ होगा व्यङ्ग्य और अप्राकरणिक अर्थ का बोध अप्रासङ्गिक न समझा जाय, इसलिए 'उमावल्लभ-शिव—जैसा उमावल्लभ राजा,' इत्याकारक प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थ का उपमालंकार भी व्यङ्ग्य है—यह प्राचीनों का मत है। पर पण्डितराज उक्त रीति से अप्राकरणिक अर्थ को भी वाच्य ही मानते हैं, अतः उनके मत से केवल उक्त उपमा अलङ्कार ही व्यङ्ग्य है।

स्वाभिमतं शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनोदाहरणस्थलं दर्शयितुमुपक्रममातनोति—

एवमपि योगरूढिस्थले रूढिज्ञानेन योगापहरणस्य सकलतन्त्रसिद्धतया रूढ्यनधिकरणस्य योगार्थालिङ्गितस्यार्थान्तरस्य व्यक्तिं विना प्रतीति-र्दुरुपपादा।

एवमपीति। नानार्थकस्थले शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनोदाहरणासंभवेऽपीत्यर्थः। योगरू-ढिस्थल इति। योगरूढिर्नामाभिधाशक्तिविशेषः, स च शास्त्रकल्पितावयवार्थान्वितविशेष्य-भूतार्थनिरूपितसमुदायबोधकत्वरूपः, तस्याः स्थले लक्ष्ये पङ्कजपदादावित्यर्थः। अभिधाभेद-निरूपणमभिधानिरूपणप्रकरणे स्वयमेव ग्रन्थकारो विस्तरतो विभावयिष्यति। योगापहरणस्ये-त्यादौ अपहरणं बाधः। रूढ्यनधिकरणेति। निरूपकतासंबन्धावच्छिन्नरूढिशक्तिनिरूपिता-धिकरणताशून्यस्येत्यर्थः, रूढिशक्त्यनिरूपकस्येति यावत्। योगार्थेति। योगशक्त्येत्यर्थः। [illegible] 'योगार्थालिङ्गितस्य योगार्थवत' इति प्रतीतिवरांगत्वात् [illegible]। अयमभिप्रायः—योगरूढिविशिष्टात् पदात् रूढ्यर्थस्यैव वाच्य-तया बोधो भवति, न योगार्थस्य 'रूढिर्योगमपहरति' इति न्यायात्। परन्तु क्वचित् स्थल-विशेषे (यमनुपदमेवाग्रे ग्रन्थकारो दर्शयिष्यति) एकस्मादेव पदात् रूढ्यर्थप्रतीत्युत्तरं योगार्थस्यापि प्रतीतिर्जायते, सा च व्यञ्जनामन्तरेणोपपादयितुं शक्येति तादृशस्थल एव शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनाया लक्ष्यसम्भवः इति।

अब ग्रन्थकार शब्दशक्तिमूलध्वनि के सम्बन्ध में स्वकीय मत उपस्थित करते हैं—एवमपि इत्यादि से। उक्त रीति से प्राचीन मत के शिथिल हो जाने पर भी अन्यत्र शब्दशक्तिमूलकध्वनि का लक्ष्य मिल सकता है। जैसे—अभिधा का एक भेद है योगरूढि, जो शास्त्रकल्पित अवयवार्थमिश्रित समुदायार्थबोधकतारूप मानी जाती है, जिसका उदाहरण 'पङ्कज' आदि पद होता है, वहाँ रूढि-शक्तिज्ञान से योगशक्ति का बोध होता है,

यह बात सभी मतों में मान्य है। अतएव 'पङ्कज' पद से पङ्क से जन्म ग्रहण करनेवाले शैवाल आदि का बोध न होकर केवल तादृश कमलरूप रूढ्यर्थ का ही बोध होता है। परन्तु कहीं-कहीं एक ही योगरूढ़ पद से रूढ्यर्थ के बोध हो जाने के बाद योगार्थ की भी प्रतीति देखी जाती है। (वैसे स्थल तुरत मूल में ही आगे दिखलाये जायेंगे) वह प्रतीति अभिधा से तो हो नहीं सकती, क्योंकि उस प्रतीति में सहायक योगशक्ति का रूढिशक्ति से बाध हो गया रहता है। अतः अगत्या उस प्रतीति को उपपन्न करने के लिये व्यञ्जनावृत्ति का ही अवलंबन करना पड़ेगा अर्थात् वही शब्दशक्तिमूलकध्वनि का स्थान है।

उदाहरति—

यथा—

'अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम्।
तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः॥'

अत्राशक्तानां द्रव्यमपहृत्य जलवाहकैः पुरुषैः सह पुंश्चल्यो रमन्त इत्यर्थान्तरं न तावदबला-वारिवाह-चपलाशब्दैर्योगरूढ्या शक्यते बोधयितुम्, मेघत्वविद्युत्त्वाद्यघटितस्यैव तस्यार्थस्य प्रतीतेः। अन्यथा चमत्कारो न स्यात्। अतएव न योगशक्त्यापि केवलया। रूढ्यर्थासंवलितार्थबोधकत्वस्य तस्या रूढिसमानाधिकरणाया असंगतेः। पुंश्चलीत्वादेः सर्वथैव तदविषयत्वात्।

अबलेति। चपलाः = विद्युतो वारिवाहैः = मेघैः सह अबलानां = नायिकानां श्रियं= शोभां हृत्वा = अपहृत्य यत्र = यस्मिन्, काले इति यावत् अनिशम् = सततम् तिष्ठन्ति = वर्तन्ते, स कालः = वर्षासमयः, समुपस्थितः = समागतः इति वाच्योऽर्थः। अत्र 'अशक्ताना'मित्यादिमूलोक्तार्थोऽपि प्रतीयते, तस्याश्च प्रतीतेः अबला-वारिवाहचपला-पदेभ्यो योगरूढिशक्त्या न संभवः, अशक्तत्वमेघत्वविद्युत्त्वघटितस्य अशक्तमेघविद्युद्रूपस्यैवेति यावत्, अर्थस्य तत्पदनिष्ठयोगरूढिशक्तिविषयत्वात्, प्रतीयमानस्य मूलोक्तार्थस्य च अशक्तत्वमेघत्वविद्युत्त्वाद्यघटितत्वात्। अन्यथेति। मूलोक्तार्थस्याप्रतीतौ, अशक्तत्वमेघत्वविद्युत्त्वादिघटितस्यैव तस्य प्रतीतौ वेत्यर्थः। अयमाशयः—अत्र मूलोक्तार्थप्रतीतेरपलापे वाच्यार्थमात्रस्याचमत्कारित्वेन प्रकृतपद्यस्य काव्यत्वमेव न स्यात्, काव्यत्वस्य चमत्काराधीनत्वात्। तदर्थप्रतीतिस्वीकारेऽपि तत्र मेघत्वादिवाच्यधर्मभानसंभावे पुनः स एव चमत्काराभावनिबन्धनो दोष इति मूलोक्तरूपेणैव तदर्थप्रतीतिः स्वीकर्तव्या भवेदगत्या साहित्यरसिकानाम्। ननु योगरूढिशक्त्या मूलोक्तार्थप्रतीत्यसम्भवेऽपि केवलयोगशक्त्या वारिवाहादिपदनिष्ठया, तत्प्रतीतिः सम्भवतीत्यपि न युक्तमित्याह—अत एवेति। वक्ष्यमाणयुक्तेरित्यर्थः। तामेव युक्तिमाह—रूढ्यर्थासंवलितेति। रूढ्यर्थेन असंवलितः अघटितः अमिश्रित इति यावत् योऽर्थः, तद्बोधकत्वस्येति भावः। तस्याः योगशक्तेः। रूढिसमानाधिकरणाया इति, रूढ्या शक्त्येति यावत् समानम् एकम् अधिकरणम् पदरूपः स्थितिप्रदेशो यस्याः तस्याः रूढिशक्तिसंकीर्णाया इति यावत्। एतत्पदार्थस्य 'तस्याः' इति षष्ठ्यन्तार्थेऽन्वयः। असंगतेरिति पूर्वोक्त 'बोधकत्वस्ये'त्यनेनान्वितम्। अयमाशयः—योगरूढाः अबलावारिवाहचपलाप्रभृतयः शब्दा वाच्यवृत्त्या न केवलं योगार्थं बोधयितुं क्षमन्ते इति।

ननु फलबलात् तथा कल्प्यत इत्यत आह—**पुंश्चलीति**। आदिना पुरुषत्व-रतित्व-परिग्रहः। **तदविषयत्वादिति**। योगशक्त्यविषयत्वादित्यर्थः। योगरूढपदेभ्यो वारिवाहा-

दिभ्यः केवलयोगार्थबोधस्वीकारेऽपि न प्रकृते इष्टसिद्धिः, योगबलेनापि पुंश्चलीत्वादेरलम्भ दिति भावः। एवञ्चैतादृशेषु स्थलेषु शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनास्वीकार आवश्यकः, अन्यथा अनिस्तारादिति ग्रन्थकारस्य हृदयम् ।

अब ग्रन्थकार अपने मत के अनुसार शब्दशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण दिखलाते हैं—अबलानाम् इत्यादि से । इस पद्य का प्राकरणिक अर्थात् 'योगरूढि' द्वारा होने वाला-वाच्य अर्थ यह है—जिस समय में विद्युल्लतायें रमणियों की कान्ति का अपहरण करके रात दिन मेघों के साथ रहा करती हैं, वह वर्षा समय उपस्थित हो गया। परन्तु यहाँ एक अन्य अर्थ भी अवगत होता है। वह यह है कि—जिस समय में कुलटायें निर्बल पुरुषों का धन अपहरण करके जल ढोनेवाले अर्थात् नीच पुरुषों के साथ रमण किया करती हैं, वह समय (घोर कलियुग) आगया। इस द्वितीय अर्थ का बोध 'अबला', 'वारिवाह', और 'चपला' शब्दों की योगरूढिशक्ति से नहीं हो सकता, क्योंकि 'मेघत्व', और 'विद्युत्व' आदि धर्मों से युक्त अर्थ ही उक्त पदों की योगरूढिशक्ति के विषय हुए हैं और उक्त द्वितीय अर्थ उन धर्मों से कतई संबन्ध नहीं रखता। यदि कोई यह दुराग्रह करे कि उक्त द्वितीय अर्थ में भी उन धर्मों का संबन्ध है, अथवा उक्त द्वितीय अर्थ का यहाँ बोध नहीं होता, तो यह बन नहीं सकता, क्योंकि इन दोनों स्थितियों में प्रकृत पद्य में कोई चमत्कार ही नहीं रहेगा, फिर तो इस पद्य को काव्य कहना भी कठिन हो जायगा, क्योंकि काव्यत्व का व्यवहार चमत्कार के ही अधीन है। यदि आप कहें कि योगरूढिशक्ति से उक्त द्वितीय अर्थ का बोध नहीं हो सकता है तो न हो, केवल योगशक्ति से हो सकता है, किन्तु यह भी संगत नहीं होगा, क्योंकि 'अबला', 'वारिवाह' 'चपला' प्रभृति शब्द जब योगरूढ हैं, तब वे केवल योगशक्ति से किसी अर्थ का बोधक हो ही नहीं सकते। यदि आप इतने पर भी यह हठ करें कि जब यहाँ उक्त द्वितीय अर्थ की भी प्रतीति अनुभवसिद्ध है, तब हम अगत्या योगरूढ होने पर भी इन शब्दों से केवल योगार्थ का भी बोध मान लेंगे, दूसरा उपाय ही क्या है? ऐसा कहना भी न्यायसंगत नहीं होगा, क्योंकि उन पदों की योगशक्ति के अन्दर भी तो कुलटा, पुरुष और रमणरूप अर्थ नहीं आते। अतः ऐसे स्थलों में अगत्या उस द्वितीय अर्थ के बोध के लिये शाब्दी व्यञ्जनारूप अन्य उपाय का आश्रयण करना ही पड़ेगा। इस तरह से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रकृत पद्य का उक्त द्वितीय अर्थ शब्दशक्तिमूलक व्यङ्ग्य है।

योगरूढेरन्यत्राप्येकत्रैषा स्थितिरिति दर्शयति—

एवं यौगिकरूढिस्थलेऽपि बोध्यम् ।

अभिधाया यौगिकरूढिनामकोऽप्येको भेदः कैश्चिदङ्गीकृतः यच्चर्चा ग्रन्थकृताऽग्रे विधास्यते। मण्डपादिपदानि तस्य शक्तिभेदस्याश्रयीभूतानि। तत्परघटितकाव्येष्वपि वाच्यभिन्नार्थबोधाय व्यञ्जनाया अपेक्षेति सारांशः।

इसी तरह यौगिकरूढिस्थल में भी समझिए। अर्थात् अभिधा का यौगिकरूढिनामक एक भेद—जिसकी चर्चा ग्रन्थकार ने आगे की है—कुछ लोगों ने माना है, जिसके उदाहरण मण्डप आदि पद होते हैं, उन पदों से रचित काव्य में भी वाच्य से भिन्न अर्थ का बोध व्यञ्जना से ही होगा, अतः वैसा स्थल भी शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण हो सकता है।

योगरूढिस्थलीयमेवोदाहरणान्तरमाह—

यथा वा—

'चाञ्चल्ययोगिनयनं तव जलजानां श्रियं हरतु।
विपिनेऽलिचञ्चलानामपि च मृगाणां कथं हरति॥'

अत्र नैवाश्चर्यकारी चाञ्चल्यगुणरहितानां कमलानां चाञ्चल्यगुणाधिकेन तव लोचनेन शोभायास्तिरस्कारः, आश्चर्यकृत्तु हरिणानां तद्गुणयुक्तानां तस्याः स इति वाच्यार्थे पर्यवसन्नेऽपि रूढिनिर्मुक्तकेवलयोगमर्यादया मूर्खपुत्राणामतएव प्रमत्तानां नेतृभिश्चोराद्यैः, श्रियो धनस्य हरणं सुशकम्, न तु गवेषकाणामत एवाप्रमत्तानामिति जलजनयनमृगशब्देभ्यः प्रतीयमानोऽर्थः कथं नाम व्यञ्जनाव्यापारं विनोपपादयितुं शक्यते।

जलजनयनमृगेति। काव्ये डलयोरैक्यात् मूर्खरूपस्य नयतीति नयनमिति व्युत्पत्त्या नेतृत्वेन चौररूपस्य, मृगयन्तीति मृगा इति व्युत्पत्त्या गवेषकरूपस्य चार्थस्य लाभः। 'मृग-अन्वेषणे' इत्यदन्ताच्चुरादिधातोः पचाद्यच्। तथा च योगरूढिशक्त्याऽस्य पद्यस्यायमर्थः—कमलेषु चञ्चलतागुणो नास्तीति तदपेक्षया समधिकतद्गुणशालिना तव नेत्रेण तेषां कमलानां शोभायास्तिरस्कारः समुचित इति नाश्चर्यकारी। परन्तु सामान्यतश्चञ्चलं तव नेत्रं वनवासिनामतिचञ्चलानां मृगाणाम् शोभायास्तिरस्कारं यत्करोति तदाश्चर्यकारि इति।

एतद्वाच्यार्थावगत्यनन्तरमपि जलजनयनमृगानाम् पदा रूढिरहितकेवलयोगशक्त्या-योऽयमर्थः प्रतीयते—नेतृभिश्चोराद्यैर्मूर्खतनयानामतएव प्रमादकारिणां धनापहरणं भवितुमर्हति, परन्तु ये गवेषका अतएव सावधाना गुप्तस्थानवासिनश्च तेषां धनापहरणं चौरैर्न शक्यते विधातुमिति, तस्यार्थस्य प्रतीतिरियं न व्यञ्जनावृत्तिसहकारमन्तरा कर्तुं शक्या 'रूढियोगापहारिणी'तिन्यायमूलोक्तयुक्तेरिति सारांशः।

अब 'यथा वा' कहकर योगरूढि स्थल का ही एक और उदाहरण दिखलाया जाता है—चाञ्चल्य इत्यादि से। योगरूढिशक्ति से इस पद्य का अर्थ होता है कि साधारण चञ्चलतारूपगुण से युक्त तेरा नेत्र, सर्वथा उस (चञ्चलता) गुण से हीन कमलों की शोभा का तिरस्कार करे, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर अत्यधिक अर्थात् तुम्हारी आँखों से भी अधिक, चञ्चलता गुणशाली मृगों की शोभा का भी जो तेरा नेत्र तिरस्कार करता है, यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है। इस वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाने के अनन्तर रूढिरहित केवल योगशक्ति के बल से एक और अर्थ यहाँ प्रतीत होता है। वह यह है—मूर्खों के पुत्र अतएव असावधान रहनेवालों के धन का अपहरण, (चोरी) आदि कर सकते हैं, पर गवेषक अर्थात् हर बात की खोज रखनेवाले अतएव पूर्ण सावधानता बरतनेवालों के धन का नहीं। सारांश यह है कि—काव्य में 'ड' और 'ल' एक माना गया है, अतः 'जलदपद' का जड़ज–मूर्खपुत्र, 'नयति–ले जो जाय' इस व्युत्पत्ति से 'नयन' पद का नेता-चौर और 'मृगयन्ति–जो खोज करे' इस व्युत्पत्ति से 'मृग' पद का गवेषक–सदा सावधान, अर्थ भी केवल योगशक्ति की रीति से होता है, जिनके अन्वय से उक्त द्वितीय वाक्यार्थ तैयार होता है। इस द्वितीय अर्थ का बोध व्यञ्जनावृत्ति के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि योगरूढपद रूढिशक्ति से अमिश्रित केवल योगशक्ति से अर्थ के बोध कराने में सर्वथा अक्षम होते हैं। अतः यह भी शब्दशक्तिमूलध्वनि का लक्ष्य है।

योगरूढिस्थले केवलयोगशक्त्या नार्थान्तरप्रतीतिरिति स्वाभिमतं सिद्धान्तम् अन्याचार्यमतैः संवादयति—

अतएव पङ्कजादिपदेभ्यः पङ्कजनिकर्तृत्वेन कुमुदाद्युपस्थितिर्लक्षणयैवेति नैयायिका मन्यन्ते। अतएव च 'ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः' इति वेदान्तवाक्ये किमैश्वर्यविशिष्टः कश्चिज्जीवोऽत्र प्रतिपाद्यते उतेश्वर इति संशये,

जीव एवेति पूर्वपक्षे च 'शब्दादेव प्रमितः' इति सूत्रितमुत्तरमीमांसाकारैर्बादरायणचरणैः (ब्रह्मसूत्रे १।३।२४)।

अत एवेति। योगार्थमात्रस्ययोगरूढपदादलाभादेवेत्यर्थः। अयं भावः—यतः योगरूढिशक्तिविशिष्टं पङ्कजपदं पङ्कजनिकर्तृत्वविशिष्टं कमलमेव वाच्यवृत्त्या समुपस्थापयितुं क्षमते, न केवलयोगमर्यादया पङ्कजनिकर्तृकुमुदादि, अतस्तदुपस्थितिः चिकीर्षिता चेत्तत्रार्थे पङ्कजपदस्य लक्षणा समाश्रयणीयेति नैयायिकानां मन्तव्यम्। न केवलं नैयायिकैरेव समर्थितोऽयं सिद्धान्तः, अपि तु वेदान्तिभिरपीति दर्शयितुमाह—अत एव चेति। उक्त एवार्थः। ईशान इत्यस्य 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः' इत्यादिग्रन्थः। कठवल्लीस्थमिदम् (चतुर्थवल्ली। १३)। अद्य वर्तमानकाले स एव अङ्गुष्ठमात्र इत्यादिविशेषणविशिष्टः भूतभव्यस्य ईशानः अस्ति। श्वो भविष्यत्काले स एव भवितेत्यर्थः। अस्मिन् वेदान्तवाक्ये ऐश्वर्यविशिष्टस्य कस्यचन जीवस्य प्रतिपादनमुत ईश्वरस्येति संशयः। जीव एव, अङ्गुष्ठपरिमाणस्य लिङ्गस्य ब्रह्मण्यसंभवात् इति पूर्वः पक्षः। ततः सिद्धान्तार्थं भगवान् बादरायणः 'शब्दादेवे'ति सूत्रमरचयत्, तस्यायमाशयः—परमात्मैवात्र प्रतिपाद्य इति प्रमितम्, कुतः, शब्दादेव, ईशानशब्दादिति तदर्थः। ईशानशब्दः परमात्मनि योगरूढः, अतः केवलयोगमर्यादया ऐश्वर्यविशिष्टजीवस्य ततो बोधो न स्यात्, रूढेर्योगापहारित्वात्। ननु अङ्गुष्ठमात्र इति लिङ्गस्य परमात्मनि विरोध इति चेत्? सत्यम्, जीवे ईशान इति श्रुतिरेव विरुद्धा। लिङ्गश्रुत्योर्विरोधे च श्रुतेरेव प्राबल्यम्, 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादिति' जैमिनिसूत्रात्। अङ्गुष्ठमात्रत्वांशानुवादेन ब्रह्माभेदप्रतिपादनपरतया अङ्गुष्ठमात्रत्वलिङ्गस्यानुपपत्तिरपि परिहर्तुं सुशका इति।

अब ग्रन्थकार 'योगरूढपद, केवल योगशक्ति से किसी अर्थ का बोध नहीं कराता है' इस स्वसम्मत सिद्धान्त में अन्य आचार्यों की सम्मति दिखलाते हैं—अतएव इत्यादि से। योगरूढिशक्तिवाला 'पङ्कज' पद, जिस लिये पङ्क से जन्म ग्रहण करनेवाले कमल का ही अभिधा द्वारा बोधक होता है, केवल योगशक्ति द्वारा पङ्क से जन्म ग्रहण करनेवाले कुमुद आदि का नहीं, अतएव यदि कहीं पङ्कजपद से कुमुद आदि का बोध कराना अभीष्ट रहता है, तो उसके लिये पङ्कजपद में कुमुद आदि अर्थ की लक्षणा नैयायिक लोग मानते हैं। इसी तरह वेदान्ती विद्वान् भी योगरूढपद से केवल योगार्थ का बोध नहीं मानते हैं। देखिए—कठवल्ली नामक शाखा में 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोज्योतिरिवाधूमकः' अर्थात् निर्धूम अग्नि-ज्योति के समान अंगुष्ठप्रमाण एक पुरुष है' इत्यादिरूप से आरम्भ करके 'ईशानो भूतभव्यस्य ······' इत्यादि मूलोक्त वाक्य कहा गया है। जिसका अर्थ यह है कि आज—वर्तमानकाल में अङ्गुष्ठमात्र प्रमाणवाला वह पुरुष ही भूत और भावी का ईशान अर्थात् मालिक है और भविष्यत्काल में भी वही मालिक रहेगा। यहाँ यह सन्देह होता है कि यह ऐश्वर्यशाली किसी जीव का वर्णन है अथवा परब्रह्म परमेश्वर का? इसके उत्तर में पहले यह कहा गया कि जीव का, क्योंकि अङ्गुष्ठ प्रमाणरूपचिह्न परब्रह्म में नहीं हो सकता। तदनन्तर उक्त सन्देह का निराकरण करने के लिये उत्तरमीमांसा (ब्रह्मसूत्र) कार भगवान् वेदव्यास ने सिद्धान्तभूत 'शब्दादेव प्रमितः' यह सूत्र बनाया। जिसका अर्थ यह है—कि उक्त उपनिषद् वाक्य में परब्रह्म का ही वर्णन किया गया है जीव का नहीं, यह बात 'ईशान'शब्द से ही प्रमित—यथार्थरूप में निश्चित है। सूत्रकार का आशय है कि ईशानशब्द परब्रह्मरूप अर्थ में योगरूढ है, अतः केवल योगमर्यादा से ऐश्वर्यशाली जीव का बोधक वह नहीं हो सकता है। यहाँ यदि कोई यह आक्षेप करे कि भगवान् वेदव्यास का उक्त फैसला कैसे संगत हुआ, क्योंकि ईशानपद का परब्रह्म अर्थ करने पर 'अङ्गुष्ठमात्र प्रमाण' यह

लिङ्ग विरुद्ध हो जाता है ? इसका समाधान यह है कि परब्रह्म अर्थ करने पर लिङ्ग विरोध होता है, पर जीव अर्थ करने पर तो 'ईशान' यह श्रुति ही विरुद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति में श्रुति का अनुरोध करना ही उचित है लिङ्ग का नहीं, क्योंकि—सूत्रकार जैमिनि ने श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण आदि में उत्तरोत्तर को दुर्बल माना है।

उपसंहरति—

तस्मादर्थान्तरमिह न शक्तिवेद्यम् अपि तु व्यक्तिवेद्यमेव।

तस्मादिति। रूढेर्योगापहारित्वादेवेत्यर्थः। अर्थान्तरम् केवलयोगमर्यादाप्राप्तम्। इह अबलानामित्यादौ। **शक्तिवेद्यमि**ति। शक्त्या योगरूढिशक्त्या वेद्यं ज्ञेयमित्यर्थः। **व्यक्तिवेद्यमि**ति। व्यक्त्या शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनया ज्ञातव्यमिति भावः।

प्रकृत प्रसङ्ग पर स्वमत का उपसंहार करते हैं—तस्मात् **इत्यादि से। उक्त विवरणों से यह सिद्ध होता है कि 'अबलानाम्……' और 'चाञ्चल्य……' इत्यादि, योगरूढ-पदरचित पद्यों में जो दूसरे—अप्राकरणिक अर्थ प्रतीत होते हैं, वे अभिधा के द्वारा नहीं, अपि तु व्यञ्जना के द्वारा ज्ञात होते हैं।**

ननु शक्त्यवेद्यत्वेऽपि लक्षणावेद्यत्वमेवास्तु किं व्यञ्जनयेत्यत आह—

यथाश्रुतार्थस्यैवोपपत्तेर्बाधाभावेन लक्ष्यमित्यपि न शक्यं वक्तुम्। तात्पर्यार्थबोधस्तु तदर्थबोधोत्तरं बोध्यः। स एव तु कथं स्यादित्युपायोऽयं विचिन्त्यते। नह्यपहर्तृ-व्यवहारो वक्त्रा विवक्षित इति श्रोतुर्बोधे कश्चिदुपायोऽस्ति ऋते सहृदयहृदयोन्मिषितादस्माद्व्यापारात्।

यथाश्रुतार्थस्येति। श्रुतं शब्दमिति यावत् अनतिक्रम्य प्रवर्तते इति तादृशो योऽर्थः तस्येत्यर्थः। श्रुतशब्दस्वारस्यसिद्धार्थस्येति यावत्। वाच्यार्थस्येति परमार्थः। **उपपत्तेरि**ति। अन्वयबोधसिद्धेरिति भावः। **बाधाभावेने**ति। अन्वयायोग्यत्वविरहेणेत्यर्थः। अयंभावः—'अबलानां श्रियम्' इत्यादौ 'नायिकानां शोभां हृत्वा विद्युतो मेघैः सह रमन्ते' इति रीत्या तत्तत्पदार्थस्यान्वयसंभवे, मुख्यार्थबाधतद्योग-रूढिप्रयोजनान्यतररूपलक्षणाकारणघटक-मुख्यार्थबाधात्मककारणविरहेण तत्र 'अशक्तानां धनमपहृत्य वारिवाहकैः पुरुषैः सह पुंश्चल्यो रमन्ते' इति प्रतीयमानार्थादौ तद्वाक्यस्य तद्वाक्यघटकपदानां वा लक्षणा न संभवतीति।

ननु अन्वयानुपपत्तिर्न लक्षणाबीजम् 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्' इत्यादौ लक्षणानापत्तेरिति तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजमकामेनाऽप्यङ्गीकार्यम्। तथा च प्रकृतेऽपि वक्तुर्द्वितीयार्थविषयकतात्पर्यस्यानुपपत्तिरस्तीति संभवति तत्र लक्षणेत्यत आह—**तात्पर्ये**ति। द्वितीयार्थेति तदर्थः। **तदर्थे**ति। योगरूढिलभ्यार्थेत्यर्थः। **स** इति। द्वितीयार्थ-बोध इत्यर्थः। **अयमि**ति। व्यञ्जनाङ्गीकाररूप इत्यर्थः। अपहर्तृव्यवहारः 'चाञ्चल्ययोगि' इति पद्ये चौर्यव्यवहारः। **ऋते** विना। **सहृदये**ति। सहृदयानां काव्यार्थभावनापरिपक्व-बुद्धीनां सचेतसहृदयेभ्यः उन्मिषितात् उत्थितात् इत्यर्थः। सहृदयगृहीतादिति यावत्। अस्माद् व्यञ्जनारूपात्। चाञ्चल्ययोगीत्यादौ प्रथमार्थप्रतीतिवेलायां यदि 'अपहर्तृव्यवहारोऽत्र वक्त्रा विवक्षित' इति तात्पर्यं श्रोतुर्विदितमभविष्यत्, तदा तदनुपपत्तिमूलिकां लक्षणां तत्रार्थे कर्तुं श्रोताऽपारयिष्यत्, परन्तु तत्तात्पर्यज्ञानार्थमेव व्यञ्जनाव्यापारस्वीकारः इति सिद्धमिह व्यञ्जनाया आवश्यकत्वम्। अपरस्तु तद्ज्ञानसाधकः उपायो नास्त्येवेति भावः।

अब लक्षणा से भी उक्त स्थलों में अप्राकरणिक अर्थ का बोध नहीं हो सकता, यह दिखलाते हैं—यथाश्रुत **इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि नैयायिकों की तरह लक्षणा से ही**

योगरूढि स्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध मान लेने की बात भी संगत नहीं हो सकती, क्योंकि मुख्य अर्थ का बाध रहने पर ही लक्षणा होती है और यहाँ मुख्य अर्थ का बाध नहीं रहता, अर्थात् 'अवलानां श्रियम्'···' इत्यादि पूर्वोक्त पद्यों में 'नायिकाओं की शोभा का अपहरण करके बिजलियाँ मेघों के साथ रहती हैं' इत्यादि रीति से जब वाच्य अर्थ का अन्वय हो ही जाता है, तब लक्षणा का प्रसंग ही वहाँ कैसे उठ सकता है ? क्योंकि लक्षणा के कारणों में एक मुख्य अर्थ का अन्वय न हो सकना (बाध) भी है। यदि आप कहें कि 'काकों से दही की रक्षा कीजिए' इत्यादि स्थलों पर अन्वय की अनुपपत्ति न रहने पर भी लक्षणा होती है अतः तात्पर्य की अनुपपत्ति ही लक्षणा का कारण है अन्वय की अनुपपत्ति नहीं, फिर तो उक्त योगरूढिस्थलों में लक्षणा हो ही सकती है, क्योंकि 'दुर्बल पुरुषों के धन का अपहरण करके कुलटायें जल ढोनेवालों के साथ रमण करती हैं' इस अप्राकरणिक अर्थ में—जिसमें वक्ता का तात्पर्य है—अनुपपत्ति स्पष्ट है। इस प्रकार यह कथन भी आपका अज्ञानमूलक ही कहा जा सकता है, क्योंकि वक्ता का तात्पर्य उक्त अप्राकरणिक अर्थ में है, इसका ज्ञान ही श्रोता को पहले कैसे होगा ? उसी ज्ञान के लिये तो मैं व्यञ्जना मानने की सम्मति दे रहा हूँ और आप उसी व्यञ्जना का खण्डन करने के लिये लक्षणा की बात चला रहे हैं यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् 'चाञ्चल्ययोगि'···' इत्यादि स्थलों में प्रथम अर्थ की प्रतीति के समय में 'चोरवाली बात भी वक्ता का विवक्षित है' इस तरह का तात्पर्य श्रोता को यदि ज्ञात रहता, तो वह उस अर्थ की अनुपपत्ति से उस अर्थ में उक्त पद्यघटक एक वा अनेक पदों की लक्षणा कर भी सकता था, पर वह तात्पर्य ही श्रोता को प्रथमार्थ-ज्ञानकाल में ज्ञात नहीं रहता। यदि उक्त तात्पर्यज्ञान के लिये उपाय का अन्वेषण करना चाहेंगे, तो व्यञ्जना की शरण लेनी पड़ेगी दूसरा कोई उपाय मिलेगा ही नहीं। और जब व्यञ्जना मान लेंगे तब लक्षणा की आवश्यकता ही नहीं रहेगी व्यञ्जना से ही उस अर्थ का बोध सिद्ध हो जायगा।

पूर्वोक्तरीतिरेवान्यत्रापि तादृशस्थलेषु समाश्रयणीयेत्याह—

एवमन्यत्राप्यूह्यम्।

प्रागुपदर्शितां सरणिमाश्रित्य अन्यत्रापि योगरूढिस्थले काव्यघटकं स्वयमेवोहो विधेयः काव्यमर्मज्ञैरिति भावः।

इस तरह योगरूढ पदों के द्वारा रचित अन्य काव्यस्थलों में भी चाहिए।

योगरूढपदनिबद्धेषु 'अवलानाम्' इत्यादिषु द्वितीयार्थप्रतीत्यपलापं दूरीकरोति—

तादृशार्थप्रतिपत्तिरेव नास्तीति तु गाढतरशब्दार्थव्युत्पत्तिमसृणीकृतान्तःकरणैर्न शक्यते वक्तुम्।

तादृशेति। द्वितीयोऽर्थः। गाढतरेति। गाढतरया अनन्यसाधारणया तत्स्पर्शिन्येति यावत् शब्दार्थयोः व्युत्पत्त्या ज्ञानेन मसृणीकृतानि चिक्कणीकृतानि व्यङ्ग्यार्थबोधप्रसत्तामापादितानीति यावत् अन्तःकरणानि हृदयानि हृदयावच्छिन्नात्मान इति परमार्थः, येषां तैरित्यर्थः। 'अवलाना'मित्यादौ द्वितीयार्थप्रतीतिरेव नेति त एव वक्तुं प्रभवन्ति ये अल्पज्ञा वाच्यार्थमात्रबोधनिपुणाः, ये तु काव्यमर्मज्ञा बहुज्ञा व्यङ्ग्यार्थबोधकुशलास्ते न तथा स्वयेयुरिति भावः।

उक्त पद्यों से उक्त अप्राकरणिक अर्थों की प्रतीति होती ही नहीं है, ऐसा तो वे ही सज्जन कह सकते हैं जो अल्पज्ञ होंगे—वाच्यार्थमात्र को समझने की शक्ति रखते होंगे, अर्थात् जिन लोगों के हृदय शब्द और अर्थों की गाढ़ी व्युत्पत्ति से मँजे होंगे, वे कभी भी उक्त व्यङ्ग्य अर्थों का अपलाप नहीं कर सकते।

इदानीम् 'अनेकार्थस्य शब्दस्य' इत्यादिमम्मटोक्तशब्दशक्तिमूलव्यञ्जनासंग्राहककारिकास्थाने भिन्नविधैव संग्रहकारिका कर्तव्येत्याह—

तथा चेत्थं संग्रहः—

'योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते ।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा ॥'

योगरूढिशक्तिविशिष्टस्य पदस्य योगशक्तौ रूढिशक्त्या नियन्त्रितायां या वृत्तिर्योगशक्तिलभ्यस्यार्थस्य बोधं जनयति, सैव शब्दशक्तिमूला व्यञ्जनेत्यर्थः । योगशक्तेर्नियन्त्रणञ्चात्र 'रूढिर्योगापहारिणी'तिन्यायेन कार्याक्षमत्वविधानमिति बोध्यम् ।

अब स्वमतानुसार शाब्दी (अभिधामूल) व्यञ्जना का लक्षण करते हैं—तथा च इत्यादि से । योगरूढ पद की योगशक्ति जब रूढिशक्ति से 'रूढिर्योगापहारिणी' के अनुसार नियन्त्रित कर दी जाती है—कार्याक्षम बना दी जाती है, तब योगशक्ति के द्वारा लाभ करने योग्य अर्थ का बोध जिस वृत्ति से होता है, उसी का नाम है 'व्यञ्जना' अर्थात् शब्दशक्तिमूलाव्यञ्जना वही कहलाती है । अब ऐसा ही संग्रह करना चाहिए, न कि 'अनेकार्थस्य शब्दस्य...' इत्यादि मम्मटोक्त जैसा ।

मम्मटादिप्राचीनाचार्याणां हृदयं स्फोरयति—

एवं स्थिते नानार्थस्थलेऽप्युपमायाः प्राकरणिकाप्राकरणिकार्थगतायाः प्रतिपत्तयेऽवश्यं वाच्यया व्यञ्जनयैवाप्राकरणिकस्याप्यर्थस्य प्रतिपत्तावलं क्लिष्टकल्पनयेत्याशयेन प्राचीनैरुक्तं नानार्थव्यञ्जकत्वमपि न दुष्यति ।

अवश्यं वाच्ययेति । अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरत्वस्य सिद्धान्तेऽस्वीकारादिति भावः । क्लिष्टेति । नानार्थस्थलीयाप्राकरणिकार्थबोधाय प्राक् प्रतिपादितयेत्यर्थः । यद्यप्युक्तरीत्या नानार्थस्थले व्यञ्जनां विनाप्यप्राकरणिकार्थबोधनिर्वाहः सम्भवति, तथापि नानार्थस्थलेऽपि प्राकरणिकाप्राकरणिकार्थवर्तिन्या उपमाया बोधाय साऽवश्यमङ्गीकर्तव्या स्यादप्राकरणिकार्थस्य वाच्यत्वं व्यवस्थापयद्भिरपीति तयैवाप्राकरणिकार्थबोधोऽपि स्वीक्रियताम्, तदर्थं पूर्वोक्ता क्लेशबहुला कल्पना वृथैवेति प्राचामभिप्रायो वर्णनीयः ।

अब मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों के प्रकृत प्रसंग पर प्रतिपादित मतों का जो मूलभूत सत्य रहस्य है उसका विश्लेषण करते हैं—एवं स्थिते इत्यादि से । नानार्थक स्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध व्यञ्जना से होता है यह प्राचीनों का मत है । उसकी जो स्थिति विश्लेषण करने पर होती है वह पूर्व सन्दर्भों में स्पष्ट हो चुकी है । अर्थात् युक्तिरूपी कसौटी पर परीक्षित होने से वह मत उज्ज्वल नहीं सिद्ध हो सका । तथापि एक बात उसमें सर्वथा सत्य है जो सबको मान्य होने योग्य है । वह यह है कि नानार्थकस्थल में अर्थद्वय का बोध अभिधा से सिद्ध हो जाने पर भी उन दोनों (प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक) अर्थों की उपमा अभिधा से ज्ञात नहीं होती, किन्तु व्यञ्जना से ही । ऐसी स्थिति में जब कि वहाँ व्यञ्जना की कल्पना किसी न किसी तरह करनी ही पड़ी, तब उस व्यञ्जना से ही अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध हो ही जायगा इस प्रकार व्यर्थ क्लेशप्रद अनेक कल्पनायें नहीं करनी पड़तीं, यह प्राचीनों का अभिप्राय नानार्थव्यञ्जनास्थल में भी दोषावह नहीं कहा जा सकता ।

प्राचीनोक्तनानार्थशक्तिनियामकान् संयोगादीन् निरूपयितुमुपक्रमते—

तत्र नानार्थशक्तिनियमनाय तैः संयोगादयो निरूपिताः—

'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥'

तत्रेति । निरूपितायां व्यञ्जनायामित्यर्थः । तैः प्राचीनैः । भर्तृहरिनिर्मितवाक्यपदीय-ग्रन्थस्थेयं कारिका । एते संयोगादयः शब्दार्थस्यानवच्छेदे सन्देहे तदुच्छेदद्वारेण विशेष-स्मृतिहेतवो निर्णयहेतव इत्यर्थः । उपस्थितानामनेकेषामेकतरमात्रार्थतात्पर्यनिर्णयद्वारा तन्मात्रार्थविषयकान्वयबोधजनका इति भावः ।

अब ग्रन्थकार नानार्थक शब्दों की शक्तियों के नियमन करनेवाले प्राचीनाभिमत संयोग आदि के निरूपण करने का उपक्रम करते हैं—तत्र इत्यादि से । अप्राकरणिक अर्थ की अभिव्यक्ति स्थलों में अनेक अर्थों की अभिधाशक्ति को रोकने के लिये—अर्थात् अभिधाशक्ति को केवल अप्राकरणिक अर्थ का बोधक सिद्ध करने के लिये—प्राचीन आचार्यों ने जिन 'संयोग' आदि (१५ प्रतिबन्धकों) का निरूपण किया है वे इस प्रकार हैं—१. संयोग, २. वियोग, ३. साहचर्य, ४. विरोध, ५. अर्थ, ६. प्रकरण, ७. लिङ्ग, ८. अन्य शब्दसन्निधि, ९. सामर्थ्य, १०. औचित्य, ११. देश, १२. काल, १३. व्यक्ति, १४. स्वर, और १५. आदिपदग्राह्य चेष्टा । ये सब 'इस शब्द का यहाँ क्या अर्थ है' इस तरह के सन्देह होने पर निर्णय के कारण होते हैं । अर्थात् इन सबों के द्वारा श्रोता 'वक्ता का कौन सा अर्थ अभिमत है' इस बात का निर्णय करने में समर्थ होता है ।

हरिकारिकोक्तान् संयोगादीनेकैकशो व्याचिख्यासुरादौ प्रथमोक्तं संयोगं व्याचष्टे—

तत्र—

संयोगो नानार्थशब्दशक्यान्तरवृत्तितया अप्रसिद्धत्वे सति तच्छक्यवृत्तितया प्रसिद्धः संबन्धः ।

यथा—'सशङ्खचक्रो हरिः' इत्यत्र शङ्खचक्रयोः संयोगो भगवन्मात्रनिष्ठतया प्रसिद्धो भगवति हरिशब्दस्याभिधाया नियमेनावस्थापकः, न त्वायुधत्वेनायुध-सामान्यसंयोगः पाशाङ्कुशादिसंयोगो वा दलद्वयाभावात् । न चासौ लिङ्गा-न्तर्गत इति मन्तव्यम्, शक्यान्तरे नियमेनावृत्तेरेव प्रकृते लिङ्गत्वात् । शङ्खचक्र-योस्त्विन्द्रादिनापि कदाचिद्धारणसंभवात् ।

तत्र संयोगादीनां मध्ये । नानार्थस्य शब्दस्य हर्यादेः शक्यान्तरेषु विष्णुभिन्नशक्येषु इन्द्रादिषु वृत्तितया वर्तमानतया पदप्रसिद्धत्वम्, तद्विशिष्टः अथ च तस्मिन् विष्ण्वादि-रूपे शक्ये वर्तमानतया प्रसिद्धः संबन्धः संबन्धसामान्यं संयोग इति लक्षणार्थः । अविज्ञातार्थप्रतियोगिको यः कश्चित् संबन्धो नानार्थकशब्दस्यार्थविशेषनिश्चितामभिधां नियमयति तस्मिन् वर्तमानतया न लोकविख्यातो विख्यातश्चाभिधानियमनकाभिधा निरूपकार्थवृत्तितया स संबन्धोऽत्र संयोगपदवाच्य इति परमार्थः । स च स्थलभेदेन जन्यजनकभावादि-रूपः सर्वोऽपि ।

उदाहरति—यथेति । 'सशङ्खचक्रो हरि'रित्यत्र हरिशब्दो नानार्थकः, परमिह शङ्ख-चक्रयोः संयोगः हरिपदशक्येन्द्रादिनिष्ठतया अप्रसिद्धः प्रसिद्धश्च भगवन्निष्ठतयेति स तत्पदाभिधां भगवति नियन्त्रयति तेनात्र चान्यवृत्त्या हरिपदात् भगवत एव बोधो नेन्द्रादेः । लक्षणघटकविशेषणदलस्य व्यावर्त्यमाह—न त्वायुधेति । सायुधो हरिरित्यत्रायुधसंयोगेन न हरिपदाभिधाया नियमनम्, शक्यान्तरे इन्द्रादौ आयुधसंयोगस्याप्रसिद्धिर्नास्ति, तस्य तत्र वर्तमानत्वादिति विशेषणदलनिवेशेन तस्य व्यावृत्तिः । विशेष्यदलस्य व्यावर्त्यमाह—पाशाङ्कुशादीति । स पाशाङ्कुशो हरिरित्युक्तौ पाशाङ्कुशसंयोगेन न हरिपदाभिधानियन्त्रणम्

तस्य संयोगस्य भगवति प्रसिद्धत्वविरहेण विशेष्यदलेन व्यावृत्तेः। दलद्वयाभावादिति। पूर्वोक्ते स्थलद्वये पूर्वस्मिन् प्रथमदलस्य द्वितीयस्मिन् द्वितीयदलस्याभावादित्यर्थः। नन्वेवं लिङ्गरूपनियामकान्तर्भाव एवास्य संयोगस्य, नेत्याह—नचासाविति। असौ संयोगः। नियमेनावृत्तेरिति। कालत्रयावच्छिन्नवृत्तिशून्यत्वस्येत्यर्थः। प्रकृते अभिधानियामकोक्तकारिकायाम्। लिङ्गत्वादिति। तत्त्वेन ग्रहणादित्यर्थः। शक्यान्तरे यस्य स्थितिः कदापि न संभाविता तदेवात्र लिङ्गं विवक्षितम्, शङ्खचक्रसंयोगस्तु न तथा तस्य इन्द्रादावप्रसिद्धत्वेऽपि कादाचित्कसंभावनाविषयत्वात्।

अब उक्त शक्तिनियामक संयोग आदि की व्याख्या करने के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम संयोग की व्याख्या करते हैं—तत्र संयोगो इत्यादि से। संयोग उस संबन्धविशेष को कहते हैं जो नानार्थक पद के किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध हो, और उसी पद के अन्य अर्थों में अप्रसिद्ध हो। अर्थात् नानार्थक पद के जिस अर्थ के बोध को रोकना हो, उस अर्थ में जिसकी स्थिति लोकविख्यात नहीं हो और नानार्थक शब्द के जिस अर्थ के बोध को रोकना नहीं हो उस अर्थ में जिसकी स्थिति लोकप्रसिद्ध हो, ऐसे सभी (संयोग, जन्यजनकभाव आदि) संबन्धों को यहाँ संयोग कहा जाता है, केवल काणादद्दर्शन-प्रसिद्ध संयोग को ही नहीं। उदाहरण देखिए—'शङ्ख-चक्र सहित हरि' इस वाक्य में 'हरि' शब्द नानार्थक है—अर्थात् उसके विष्णु, इन्द्र, सूर्य आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं। परन्तु यहाँ हरि पद का अर्थ विष्णु ही होता है इन्द्र आदि नहीं, क्योंकि शङ्ख-चक्र का संबन्ध (संयोग)—जिसकी स्थिति केवल विष्णु में ही प्रसिद्ध है, इन्द्र आदि में नहीं—हरिपद की अभिधाशक्ति को नियमतः विष्णुरूप अर्थ में ही केन्द्रित कर देता है। 'आयुध-सहित हरि' इस वाक्य में हरिपद की अभिधा विष्णुरूप अर्थ में नियन्त्रित नहीं होगी क्योंकि, आयुध का संयोग विष्णु से भिन्न इन्द्र आदि अर्थ में भी अप्रसिद्ध नहीं है—अर्थात् इन्द्र आदि भी किसी न किसी आयुध (अस्त्र) का धारण करते ही हैं। इसी तरह 'पाश-अङ्कुश सहित हरि' इस वाक्य में भी विष्णु-अर्थ में हरि पद की अभिधा नियमित नहीं होगी, क्योंकि पाशाङ्कुश का संयोग विष्णु में प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् इन दोनों वाक्यों में हरि पद से इन्द्र आदि का भी बोध होता है। यहाँ यदि कोई यह शंका करे कि लिङ्ग नामक जो एक नियामक गिनाया गया है उसी में यह संयोग भी अन्तर्भूत हो जायगा यतः शङ्ख-चक्र भी एक तरह से भगवान् विष्णु का चिह्न ही है ? तो वह ठीक नहीं होगा, क्योंकि यहाँ लिङ्ग से ऐसा चिह्न विशेष लिया जाता है जो—जिसका चिह्न बनाया हो—उससे अन्य में कभी (कालत्रय में) संभावित नहीं हो। शङ्खचक्र-संयोग तो ऐसी चीज नहीं है, जो कभी विष्णु से भिन्न इन्द्र आदि में संभावित नहीं हो—अर्थात् शङ्ख-चक्र का संयोग इन्द्र आदि में प्रसिद्ध भले ही न हो, पर इन्द्र आदि यदि उनका धारण कर लें तो उन्हें उससे कोई रोकेगा तो नहीं, अतः उन दोनों चीजों के संयोग की संभावना तो इन्द्र आदि में की ही जा सकती है।

विप्रयोगं व्याचष्टे—

विप्रयोगो विश्लेषः।

यथा—'अशङ्खचक्रो हरिः' इत्यत्र तयोरेव विश्लेषस्तथा। अत्र हि विश्लेषनियतपूर्ववर्तिनः संश्लेषस्य प्रागुक्तदलद्वयाक्रान्तत्वमपेक्ष्यते। तेनायुधसामान्यविभागः, पाशाङ्कुशादिविभागो वा न तथा। यद्यप्यत्र गुणतया वर्तमानस्तादृशसंयोग एवाभिधानियमनायालम्, तथापि गुणप्रधानयोः संनिपाते प्रधानानुरोध एव

न्याय्य इत्याशयेन विप्रयोगस्य नियामकत्वमुक्तम्। यद्वा संयोगस्यैव केवलत्वेन विश्लेषगुणीभूतत्वेन च द्वैविध्यप्रदर्शनाय तथोक्तम्।

विश्लेष इति। विभाग इत्यर्थः। उदाहरति—यथेति। तयोरेवेति। शङ्खचक्रयोरित्यर्थः। तथेति। हरिपदाभिधानियामक इत्यर्थः। विभागस्य संयोगपूर्वकत्वात् शङ्खचक्रयोः संयोगस्य विष्णौ प्रसिद्धौ तद्विभागस्यापि तत्रैव प्रसिद्धया 'अशङ्खचक्रो हरि'रित्यत्र तयोर्विभागः भगवति विष्णौ हरिपदस्याभिधां नियमयतीति भावः।

अतिप्रसङ्गनिवृत्त्यै कथयति—अत्र हीति। विश्लेषमात्रं विप्रयोगलक्षणम्, विश्लेषश्च नियमतः संश्लेषपूर्वक एव भवति। संश्लेषश्च स प्रकृते न नैयायिकनयप्रसिद्धः संयोगः, अपि तु प्राक्परिभाषित एव विवक्षितः। तेन नानार्थेत्यादिपरिभाषितसंबन्धात्मकसंयोगनाशकस्य विभागस्य विप्रयोगलक्षणत्वं फलितम्। अत एव अनायुधो हरिः अपाशाङ्कुशो हरिरित्यादौ आयुधसामान्यविभागः, पाशाङ्कुशादिविभागो वा न हरिपदाभिधानियमनाय प्रभवति, पूर्वोक्तरीत्या तयोः संयोगयोरेव संयोगलक्षणघटकदलद्वयेन निरासे तन्नाशकविभागस्यापि विप्रयोगलक्षणानाक्रान्तत्वादिति भावः। विप्रयोगस्य पृथक् नियामकत्वाभावमाशङ्क्य निरस्यति—यद्यपीति। अत्र विप्रयोगशरीरे। गुणतया प्रकारतया। तादृश इति। दलद्वयाक्रान्तेत्यर्थः। अलं समर्थः। अयंभावः—संयोगनाशकगुणात्मकविभागपदार्थे सर्वत्र प्रकारतया संयोगो वर्ततैवेति 'अशङ्खचक्रो हरि'रित्यादौ संयोग एवाभिधां नियमयेत्, किं पृथक् विभागस्य नियामकत्वेन इति। उत्तरयति—तथापीति। अयमाशयः—विभागकुक्षौ वर्तमानोऽपि संयोगो गौणः, विभागश्च प्रधानः। इत्थञ्च गुणीभूतस्य संयोगस्य नियामकत्वस्वीकारापेक्षया प्रधानीभूतस्य विभागस्यैव तत्स्वीकारो न्यायसंगत इति। विभागस्य नियामकत्वकल्पनप्रयुक्तगौरवात् कल्पान्तरमाह—यद्वेति। अस्तु अशङ्खचक्रो हरिरित्यादावपि संयोगस्यैवाभिधानियामकत्वम्, तथापि अभिधानियामकेषु विभागस्य पृथगुपादानं नासंगतम्, क्वचित् केवलस्य संयोगस्याभिधानियामकत्वं क्वचिच्च विभागगुणीभूतत्वेनेति द्वैविध्यप्रदर्शनाय तस्य सार्थक्यादित्यभिप्रायः।

अब 'विप्रयोग' की व्याख्या करते हैं—विप इत्यादि से। विभाग अर्थात् एक से दूसरे का पृथक् को 'विप्रयोग' कहते हैं। जैसे 'शङ्ख-चक्र से रहित हरि' इस वाक्य में शङ्ख-चक्र का विभाग हरि पद की अभिधाशक्ति को विष्णु अर्थ में नियन्त्रित करता है—अर्थात् यहाँ भी हरि पद से केवल विष्णु का ही बोध होता है, इन्द्र आदि का नहीं। यहाँ एक बात समझने की यह है कि विभाग से पूर्व संयोग का रहना निश्चित है—अर्थात् जिसका जिसके साथ कभी संयोग रहता है, उसी का उसी से कभी विभाग भी हो सकता है, अतः इस 'विप्रयोग' के लक्षण में भी संयोग का समावेश हो ही जायगा और वह संयोग भी सामान्य संयोग नहीं, अपि तु वही संबन्धविशेष है जिसकी स्थिति नानार्थक शब्दों के किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध रहेगी और अन्य अर्थ में अप्रसिद्ध। इस विवरण से लाभ यह होता है कि 'आयुधरहित हरि' अथवा 'पाश-अङ्कुश से रहित हरि' इन वाक्यों में आयुध का पार्थक्य तथा पाशाङ्कुश का पार्थक्य हरिपद की अभिधा को विष्णु में नियन्त्रित नहीं कर सकता, क्योंकि जब उक्त संबन्धात्मक पारिभाषिक संयोग ही आयुध का अथवा पाशाङ्कुश का नहीं बन पाता, तब तादृश-संयोग-पूर्वक यह पारिभाषिक विभाग भी वहाँ नहीं बन सकेगा। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब इस 'विप्रयोग' के पीछे, गौणरूप से वैसा—जिसको प्रथम नियामक माना जा चुका है—संयोग लगा ही रहेगा, तब 'शङ्ख-चक्र-रहित हरि' इस वाक्य में भी उस गौण संयोग को ही अभिधानियामक माना जा सकता है, तथापि गौण और प्रधान दोनों की

उपस्थिति में प्रधान का अनुरोध करना ही न्यायतः संगत है, अतएव विभाग को पृथक् नियामक माना गया। अर्थात् विभाग पदार्थ के पेट में संयोग यद्यपि आ जाता है, तथापि प्रधान वहाँ विभाग ही रहेगा अतः विभाग को नियामक मानना ही उचित है। अथवा—मानिए 'शङ्ख-चक्र-रहित हरि' इस वाक्य में भी संयोग को ही अभिधा-नियामक, तथापि अभिधानियामकों की श्रेणी में पृथक् विभाग का ग्रहण यह दिखलाने के लिये किया गया है कि संयोग दो प्रकार से अभिधा का नियामक होता है—एक केवल संयोग के रूप में और दूसरा 'विप्रयोग' का विशेषण बनकर। वस्तुतः विप्रयोग पृथक् नियामक नहीं है।

साहचर्यं व्याकरोति—

साहचर्यमेकस्मिन् कार्ये परस्परापेक्षित्वम्।

यथा—'रामलक्ष्मणौ' इत्यत्र लक्ष्मणसाहचर्यं रामशब्दस्य।

कश्चिदेकलः कमपि कार्यविशेषं सम्पादयितुं न प्रभवति, किन्तु कमप्यपरमपेक्ष्यैवेत्या-कारिका तयोर्द्वयोः परस्परापेक्षैव साहचर्यमित्यर्थः।

उदाहरति—यथेति। रामशब्दस्येत्यस्याग्रेऽभिधानियामकमिति शेषो बोध्यः। किमपि युद्धादि कार्यं रामो लक्ष्मणो वा मिथोऽपेक्षयैव कर्तुं शक्नोतीति तयोः परस्परापेक्षा-त्मकं साहचर्यं यद्यप्युभयत्र विश्राम्यति तथापि रामशब्द एव नानार्थको न लक्ष्मणशब्द इति 'रामलक्ष्मणौ' इत्यत्र लक्ष्मणसाहचर्यं रामपदस्याभिधां दशरथापत्ये नियमयति, तेन तत्र रामपदात्त परशुरामादेर्बोध इति भावः।

अब 'साहचर्य' की व्याख्या करते हैं—साहचर्य इत्यादि से। किसी एक कार्य में दो व्यक्तियों की परस्पर अपेक्षा का नाम 'साहचर्य' है। जैसे—'राम और लक्ष्मण' इस वाक्य में 'राम' पद के—रघुनाथ, परशुराम, बलराम आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं। परन्तु लक्ष्मण का साहचर्य (साथ-साथ युद्ध आदि करना) राम पद की अभिधा को रघुनाथ (दशरथ पुत्र) रूप अर्थ में नियन्त्रित कर देता है, अतः यहाँ 'राम' पद का अर्थ रघुनाथ ही होता है, परशुराम आदि नहीं। यद्यपि साहचर्य दोनों ओर से ही होता है—अर्थात् जैसे लक्ष्मण का साहचर्य राम में है, वैसे राम का साहचर्य भी लक्ष्मण में तथापि लक्ष्मण का साहचर्य ही नियामक हुआ क्योंकि राम शब्द ही यहाँ नानार्थक है, लक्ष्मण शब्द का अर्थ निश्चित ही है।

शङ्कते—

अथ किमिदं परस्परापेक्षित्वं यत्किञ्चित्कार्ये, सर्वेषु कार्येषु वा ? नाद्यः, घटाद्यव्यावर्तनाद्घटसाहचर्यस्यापि रामपदशक्तिनियामकतापत्तेः। न द्वितीयः, लक्ष्मणसाहचर्यस्यापि निवारणापत्तेः। पक्षद्वयेऽपि रामायोध्ये रघुरामावित्यत्रा-नियमापत्तेश्च।

परस्परापेक्षित्वन्नाम द्विविधं सम्भवति, यत्किञ्चित्कार्याधिकरणकं सकलकार्याधिकरणकञ्च। तयोः कीदृशमिह तदभिप्रेतमिति अथेत्यादिग्रन्थेनाशंक्य समाधत्ते—नाद्य इति। यत्कि-ञ्चित्कार्याधिकरणकं परस्परापेक्षित्वमत्र नाभिप्रैतुं शक्यमित्यर्थः। कुत इति चेत्तत्राह—घटादीति। रामेण सह यत्किञ्चित्कार्याधिकरणकं साहचर्यं घटस्यापि संभवतीति तस्यापि 'रामघटौ' इत्यत्र रामपदाभिधानियामकत्वं सर्वजनानभिप्रेतं प्रसज्येत इत्यर्थः। सकलकार्या-धिकरणकमपि परस्परापेक्षित्वं न विवक्षितुमर्हमित्याह—न द्वितीय इति। तस्यानर्हत्वे हेतुमाह—लक्ष्मणेति। सकलकार्याधिकरणकं तल्लक्ष्मणस्यापि रामेण सह नास्ति, एकले-

नापि रामेण क्रियतां कार्याणां करणादिति लक्ष्मणसाहचर्यस्याप्यसंग्रहे रामलक्ष्मणौ इत्यत्र लक्ष्मणसाहचर्यस्यापि रामपदाभिधानियामकतानापत्तेरित्यर्थः ।

पक्षद्वयसाधारणं दोषमाह—पक्षद्वयेऽपीति । अयोध्याया निर्जीवतया रघोश्च रामजीवनकालेऽवर्तमानतया तयोः रामेण सहैककार्यरित्वगर्भपरस्परापेक्षित्वस्यासंभवेन 'रामायोध्ये' 'रघुरामौ' इत्यादौ रामपदस्याभिधाया अनियमनापत्तेरित्यर्थः ।

साहचर्य के संबन्ध में कुछ शंकायें उठाते हैं—अथ इत्यादि से। साहचर्य के स्वरूप-निर्णय में जो परस्पर अपेक्षा की बात कही गई है उसका अभिप्राय—किसी एक कार्य में दो व्यक्ति परस्पर अपेक्षा रखते हों, अथवा सभी कार्यों में दो व्यक्ति परस्पर अपेक्षा रखते हों इन दोनों में क्या है? अर्थात् जो दो व्यक्ति किसी एक कार्य को साथ-साथ करते हों, उन दोनों में साहचर्य समझा जायगा अथवा जो दो व्यक्ति सभी कार्यों को साथ ही करते हों—कभी अलग होकर किसी कार्य को नहीं करते हों, उनमें साहचर्य कहा जायगा? उत्तर—यहाँ एक भी पक्ष ठीक नहीं जँचता, क्योंकि प्रथमपक्ष मानने पर घट आदि के साहचर्य को भी रामपद की अभिधा के नियमन से रोका नहीं जा सकेगा—अर्थात् 'राम और घट' ऐसे वाक्य में भी घट का साहचर्य राम पद की अभिधा को नियन्त्रित करने लगेगा—राम पद से किसी एक ही राम का बोध होने लगेगा, क्योंकि किसी एक कार्य—जल भरने आदि—में राम और घट की भी परस्पर अपेक्षा रहती ही है। द्वितीय पक्ष को स्वीकृत करने पर लक्ष्मण का साहचर्य भी राम पद की अभिधा का नियामक नहीं हो सकेगा—अर्थात् 'राम और लक्ष्मण' इस वाक्य से जो दशरथपुत्र राम का ही बोध होता है वह नहीं बन सकेगा, क्योंकि राम और लक्ष्मण के भी सभी कार्य साथ-साथ नहीं होते, पृथक्-पृथक् भी वे दोनों कुछ कार्यों को करते ही हैं अतः उन दोनों में भी साहचर्य सिद्ध नहीं हो सकेगा और दोनों ही पक्षों में 'राम और अयोध्या' एवम् 'रघु और राम' इन वाक्यों में राम पद की अभिधा नियन्त्रित नहीं हो सकेगी अर्थात् इन वाक्यों में भी रामपद से जो दशरथतनय का ही बोध होता है वह नहीं बन सकेगा, क्योंकि अयोध्या तथा रघु का राम के साथ उक्त प्रकार का साहचर्य असंभव है, अर्थात् साहचर्य जब साथ-साथ किसी एक कार्य को अथवा सभी कार्यों को करने से माना गया है, तब निर्जीव अयोध्या और दिवंगत रघु के साथ वह राम का हो नहीं सकता है। इस तरह से सारांश यह निकला कि साहचर्य का यह लक्षण असंगत ही है।

साहचर्यस्य स्वरूपान्तरमाशंक्य निरस्यति—

न च नानार्थपदसमभिव्याहृतपदान्तरार्थस्य प्रसिद्धः संबन्धस्तत्। स चैकजन्यत्व-दांपत्य-जन्यजनकभाव-स्वामिभृत्यभाव-स्वस्वामिभावादिरनेकविधः, तेन रामलक्ष्मणौ, सीतारामौ, रामदशरथौ, रामहनूमन्तौ, रामायोध्ये, इत्यादौ साहचर्यं नियामकमिति वाच्यम्; लक्ष्मणादिसंबन्धापेक्षया चक्रादिसंबन्धस्याविशिष्टतया सशङ्खचक्र इत्यत्रापि साहचर्यस्यैव नियामकतापत्तेः।

प्रसिद्ध इति। नानार्थपदार्थे इति शेषः। तत् साहचर्यम्। नानार्थेन पदेन समभिव्याहृतम् (तस्य पूर्वं परतो वा स्थितम्) यत्पदान्तरं तदर्थस्य नानार्थपदार्थे प्रसिद्धः संबन्धः साहचर्यमित्यर्थः। स संबन्धः। एकजन्यत्वेति। सौदर्य इत्यर्थः। अन्यत् स्पष्टम्। उक्तसंबन्धानां क्रमेणोदाहरणान्याह—तेनेति। रामलक्ष्मणौ इत्यत्र एकजन्यत्वम्, सीतारामौ इत्यत्र दाम्पत्यम्, रामदशरथौ इत्यत्र जन्यजनकभावः, रामहनूमन्तौ इत्यत्र स्वामिभृत्यभावः, रामायोध्ये इत्यत्र स्वस्वामिभावः सम्बन्धो बोध्यः। ते च संबन्धाः नानार्थेन रामपदेन समभिव्याहृतानां क्रमशो लक्ष्मण-सीता-दशरथ-हनूमत्-अयोध्यारूपाणां पदान्त-

राणां तस्य तस्यार्थस्य रामे प्रसिद्धाः साहचर्यात्मकाः रामपदस्य दशरथापत्येऽभिधां नियमन्तीति भावः । उत्तरमाह—लक्ष्मणादीति । रामलक्ष्मणौ इत्यत्र रामपदसमभिव्याहृतलक्ष्मणपदार्थस्यैकजन्यत्वरूपः संबन्धो यथा रामे प्रसिद्धस्तथैव सशङ्खचक्रो हरिरित्यत्रापि नानार्थहरिपदसमभिव्याहृतशङ्खचक्रपदार्थयोः संयोगरूपः संबन्धो हरौ प्रसिद्ध इति तयोः संबन्धयोर्न किमपि वैलक्षण्यम् , एवञ्च सशङ्खचक्रो हरिरित्यत्रापि साहचर्यस्यैव नियामकत्वे संभवति पृथक् संयोगस्योपादानं व्यर्थमित्यभिप्रायः ।

अब साहचर्य का दूसरा लक्षण करके उसका भी खण्डन करते हैं—न च—इत्यादि से। यदि यह कहा जाय कि 'साहचर्य' का वह लक्षण नहीं बन पाता तो न सही, यह लक्षण हो सकेगा—नानार्थक पद के आगे या पीछे उच्चरित पद के अर्थ का नानार्थक पद के किसी एक अर्थ के साथ जो प्रसिद्ध संबन्ध वही 'साहचर्य' है। और वह सम्बन्ध—एक माता-पिता से जन्म ग्रहण करना, पति-पत्नी होना, पिता-पुत्र होना, स्वामी-सेवक होना, तथा माल-मालिक होना, प्रभृति स्थान-भेद से अनेक प्रकार का होता है। अतः राम और लक्ष्मण, सीता और राम, राम और दशरथ, राम और हनुमान्, एवम् राम और अयोध्या इत्यादि सभी स्थानों में 'साहचर्य' राम पद का अभिधा-नियामक हो सकता है (इन स्थानों में क्रमशः उक्त सम्बन्ध 'साहचर्य'-रूप होते हैं, यह समझना चाहिए)। परन्तु यह लक्षण भी संगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस तरह (नानार्थक पद और उसके निकटस्थित पद दोनों के अर्थों के प्रसिद्ध) सम्बन्ध को आप 'साहचर्य' मानते हैं, उसके अनुसार लक्ष्मण आदि का जो राम के साथ सम्बन्ध है उसकी अपेक्षा शङ्ख-चक्र का जो राम के साथ संयोग-सम्बन्ध है उसमें कोई भेद नहीं है, अतः वह संयोग-सम्बन्ध भी इसके अनुसार साहचर्य कहला सकता है फिर 'शङ्ख-चक्र-सहित राम' इत्यादि स्थल में भी साहचर्य से ही रामपद की अभिधा का नियमन हो जाने के कारण 'संयोग' को पृथक् नियामक मानने से अव्यवस्था हो जायगी।

उक्तसाहचर्यस्वरूपस्वीकारेऽपि साहचर्यसंयोगयोर्विषय-विभागः संभवतीत्याशंक्य निराकुरुते—

न च सशङ्खचक्र इत्यादौ यत्र संबन्धः संयोगरूपस्तत्राद्यस्य यत्र च संबन्धान्तरं तत्र तृतीयस्यावकाश इति वाच्यम् , संयोगस्यैव पृथक्कारे बीजाभावात्।

आद्यस्य संयोगस्य । यत्र च रामलक्ष्मणौ इत्यादौ । संबन्धान्तरमेकजन्यत्वादिकम् । तृतीयस्य साहचर्यस्य । उक्तरीत्या सर्वेषु सम्बन्धेषु साहचर्यपदार्थतया वर्णितेषु, तत्र संयोगोऽप्यन्तर्भुक्त इति यद्यपि सत्यम्, तथापि संयोगस्थले सशङ्खचक्र इत्यादौ संयोगो नियामकः, संबन्धान्तरस्थले रामलक्ष्मणौ इत्यादौ च साहचर्यं तथेत्येवं विभजने संयोगसाहचर्ययोरुभयोः कृतार्थता सम्भवतीति शंकादलस्याशयः। सर्वेषां संबन्धानां समानतया साहचर्यपदार्थान्तर्भावे प्रसक्ते किमिति संयोग एव पृथक् नियामकतया परिगण्यते ? संबन्धान्तरमेव कुतो न पृथक् क्रियते इत्यत्र कारणं नास्तीत्ययुक्तमेवं विभजनमित्युत्तरपक्षाभिप्रायो बोध्यः ।

यदि आप कहें कि जहाँ नानार्थक पद के अर्थ के समीपवर्ती पद के अर्थ के साथ संयोग सम्बन्ध रहेगा वहाँ—'शङ्खचक्रसहित राम' इत्यादि स्थल में प्रथम नियामक (संयोग) का लक्ष्य मानेंगे और जहाँ उस तरह का सम्बन्ध संयोग से भिन्न होगा वहाँ—'राम और लक्ष्मण' इत्यादि स्थल में तृतीय नियामक (साहचर्य) का उदाहरण कहेंगे, तो यह भी समुचित नहीं क्योंकि जब सभी सम्बन्ध समान हैं, तब 'संयोग' सम्बन्ध को ही पृथक् नियामक मानने में कोई हेतु नहीं दृष्टिगोचर होता अर्थात् निर्हेतुक पृथक्करण की रीति से किसी भी सम्बन्ध का पृथक्करण किया ही जा सकता है।

संयोगस्यैव पृथक्कारे बीजमुद्भाव्य खण्डयति—

नच यत्र संयोगः शब्दोपात्तस्तत्र स एव नियामकः, यत्र तु सम्बन्धिमात्रं न तु सम्बन्धस्तत्र साहचर्यम्, अत एव सशङ्खचक्र इति संयोगस्य, रामलक्ष्मणाविति च साहचर्यस्योदाहरणमिति वाच्यम्; सलक्ष्मणो रामो विलक्ष्मणो राम इत्यत्र संयोगविभागयोर्गुणयोरप्रतीत्या साहचर्योदाहरणतायां प्रसक्तायां सशङ्खचक्र इत्यादेरपि तदुदाहरणताया एवौचित्यात्।

संबन्धिमात्रमित्यस्याग्रे शब्दोपात्तमित्यनुषज्यते। मात्रपदव्यावर्त्यमाह—न त्विति। अत एवेति। तथा विभागकरणादेवेत्यर्थः। संयोगात्मकस्य संबन्धस्य शब्दोपात्तत्वे तस्य नियामकत्वम्, तस्य शब्दानुपात्तत्वे सम्बन्धिमात्रस्य तथात्वे च साहचर्यस्य नियामकत्वम्, यथा सशङ्खचक्र इत्यत्र सहार्थकेन 'स' इति पदेन संयोग उपात्तः। रामलक्ष्मणावित्यत्रैकजन्यत्वात्मकः सम्बन्धो न केनापि पदेनोपात्तः। एवञ्च शब्दोपात्तत्वं संयोगस्यैव पृथक्कारे बीजमिति भावः। उत्तरयति—सलक्ष्मण इत्यादि। अयं भावः—संयोगविभागौ न्यायनयप्रसिद्धौ गुणौ, तयोश्च सलक्ष्मणो रामो विलक्ष्मणो राम इत्यत्र न प्रतीतिः, परस्परमसंश्लिष्टयोरपि एकदेशस्थितयोः रामलक्ष्मणयोः सलक्ष्मणो राम इति प्रयोगदर्शनेन लक्ष्मणप्रतियोगिकसंयोगवान् राम इति प्रतीतेरसम्भवात्, एवं तत्र संयोगाप्रतीतौ विलक्ष्मणो राम इत्यतः लक्ष्मणावधिकविभागवान् राम इति प्रतीतेरपि तथात्वाच्च, विभागस्य संयोगपूर्वकत्वात्। साहित्यतदभावमात्रस्यैव ताभ्यां प्रयोगाभ्यां प्रतीतिरिति तत्त्वम्। एवञ्च तदुदाहरणद्वयं साहचर्यस्य न संयोगस्येति सर्वैः स्वीकरणीयमेव। तथा च सशङ्खचक्र इत्यादेरपि साहचर्योदाहरणत्वस्वीकार एव समुचितः। अत्रापि संयोगप्रतीतिर्न भवतीति सारांशः। इति। अत्र 'संयोगविभागयोर्गुणयोरप्रतीत्या' इति मूलं विवृण्वती 'सरला' पण्डितराजनागेशयोर्मूलकारटीकाकारयोः स्वारस्येन विरुद्धा न वेति सरलामालोक्य निश्चेयं विज्ञैः।

अब 'संयोग' को ही पृथक् करने में बीज का उद्भावन करके खण्डन करते हैं—न च यत्र इत्यादि से। यदि आप कहें कि जहाँ शब्द से संयोग सम्बन्ध कहा गया हो वहाँ संयोग को नियामक मानना चाहिए और जहाँ केवल संबन्धी ही शब्द से कहा गया हो वहाँ साहचर्य को नियामक समझना चाहिए। अत एव 'सशङ्खचक्रो हरिः' इस संस्कृत वाक्य में सहार्थक 'स' पद से और 'शङ्ख-चक्र सहित हरि' इस हिन्दी वाक्य में सहित पद से संयोग संबन्ध के कहे जाने का कारण 'संयोग' नियामक होगा और 'राम और लक्ष्मण' इस वाक्य में केवल संबन्धी (राम-लक्ष्मण) के शब्दतः कहे जाने के कारण—अर्थात् 'एकजन्यत्व' संबन्ध के शब्दतः नहीं कहे जाने के कारण—'साहचर्य' नियामक होगा—तो यह भी अयुक्त ही है, क्योंकि संयोग और विभाग न्यायशास्त्र-प्रसिद्ध एक प्रकार के गुण हैं[1]। जिनकी प्रतीति 'सलक्ष्मणो रामः' 'विलक्ष्मणो रामः'—अर्थात् 'लक्ष्मण-सहित राम' 'लक्ष्मण-रहित राम' इन वाक्यों में नहीं होती, क्योंकि परस्पर सटे नहीं रहने पर भी एकदेशस्थित राम-लक्ष्मण में 'लक्ष्मणसहित राम' ऐसा व्यवहार होता है और इस तरह से जब संयोग की प्रतीति यहाँ नहीं होती, यह बात सिद्ध हो गई, तब 'लक्ष्मणरहित राम' यहाँ विभाग की भी प्रतीति नहीं होती यह बात माननी पड़ेगी, क्योंकि संयोग नाशक गुण का ही नाम विभाग है। ऐसी स्थिति में इन दोनों स्थानों में साहचर्य को नियामक मानना पड़ेगा फिर 'शङ्ख-चक्र-सहित राम' यहाँ भी साहचर्य को ही नियामक मानना उचित होगा—अर्थात् ऐसे व्यवहार के लिये शङ्ख और चक्र का राम के अङ्गों से संयुक्त रहना आवश्यक नहीं है अलग रहने पर भी वैसा व्यवहार किया जा सकता

[1] देखिए—न्यायमुक्तावली का 'संयोगश्च विभागश्च'''' इत्यादि प्रकरण।

है, अतः यहाँ भी संयोगगुण की प्रतीति नहीं ही होती है यही कहना पड़ेगा, क्योंकि संयोग की प्रतीति वहीं मानी जाती है जहाँ दो चीजें परस्पर संयुक्त रहती हैं।

शङ्कापक्षमुपसंहरति—

इति चेत् ?

इतीति पूर्वोक्तसंग्राहकः। साहचर्यस्य काऽपि व्याख्या सामञ्जस्यकरी नाभूत्, अथ का गतिरित्याशयः।

इस तरह से जब साहचर्य का एक भी लक्षण ठीक नहीं हो सका, तब—

सिद्धान्तयति—

उच्यते—संयोगशब्दस्य सम्बन्धसामान्यपरतया यत्र शब्दोपात्तं प्रसिद्धं सम्बन्धसामान्यं शक्तिनियामकं तदाद्यस्य, यत्र तु द्वन्द्वादिगतः सम्बन्ध्येव केवलस्तदा तत्साहचर्यस्योदाहरणमिति प्राचामाशयात्। इत्थं च सगाण्डीवोऽर्जुनः इति संयोगस्य, गाण्डीवार्जुनाविति साहचर्यस्योदाहरणम्।

उच्यते इत्यस्य वक्ष्यमाणवाक्यार्थः कर्म। आद्यस्य संयोगस्य। द्वन्द्वादिगत इति। द्वन्द्वादिसमासघटक इत्यर्थः। केवल इति। शब्दोपात्त इति शेषः। अयमभिप्रायः—शक्तिनियामकेषु कथितः संयोगशब्दः संबन्धसामान्यपरः। एवञ्च कोऽपि सम्बन्धो यत्र शब्दतो बोधितः प्रसिद्धश्च सन् शक्तिं नियमयति तत् संयोगस्योदाहरणम्, यथा सगाण्डीवोऽर्जुन इति। अत्र गाण्डीवस्य संयोगाख्यः सम्बन्धः स शब्देन बोधितः सन् सहस्र-बाहु-श्वेतगुण-तरुविशेषयुधिष्ठिरानुजाद्यनेकार्थकस्यार्जुनशब्दस्याभिधां युधिष्ठिरभ्रातरि नियमयति। यत्र तु द्वन्द्वादिसमासघटकः प्रसिद्धः सम्बन्ध्येव शब्दोपात्तः, न सम्बन्धः तत्साहचर्यस्योदाहरणम्, यथा गाण्डीवार्जुनौ इति। अत्र द्वन्द्वघटकतया प्रसिद्धः गाण्डीवार्जुनरूपः संबन्धी एव, अतो गाण्डीवसाहचर्यम् अर्जुनपदशक्तिनियामकमिति। अत्र 'प्राचामाशय' इत्युक्त्या स्वाशयं निषेधति ग्रन्थकारः। अथैवं सलक्ष्मणो रामो विलक्ष्मणो राम इत्यादौ किं नियामकमिति चेत् ? साहचर्यमेव बोद्धव्यम्। प्रथमस्थले कस्यापि सम्बन्धस्य शब्दानुपात्तत्वेन द्वितीयस्थले च विभागस्याप्रतीत्या संयोगविप्रयोगोदाहरणताया असम्भवात्। 'रामलक्ष्मणौ इत्यत्र साहचर्येणोभयोर्युगपदेव नियमनमिति नान्योन्याश्रयः। साहचर्यसादृश्यं सदृशयोरेव सहप्रयोगनियमात्' इति वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषायां नागेशः।

अब 'साहचर्य' के विषय में सिद्धान्तभूत बातों का प्रतिपादन करते हैं—उच्यते इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि नियामकों की परिगणनवाली कारिका में संयोग का अर्थ न्यायप्रसिद्ध गुण नहीं है किन्तु सम्बन्ध-सामान्य अर्थात् सभी संबन्ध। ऐसी स्थिति में यदि आप कहें कि तब तो और विचित्र बात हो गई, क्योंकि साहचर्य का भी अर्थ आपने सम्बन्ध-सामान्य ही किया है, अब संयोग का अर्थ भी सम्बन्ध-सामान्य कर रहे हैं फिर संयोग और साहचर्य के पृथक्करण में कौन सा कारण होगा ? तो मैं कहूँगा—हाँ, है तो संयोग तथा साहचर्य दोनों का अर्थ संबन्ध-सामान्य ही, तथापि विभाग में भेद है और वह यह है कि—जहाँ कोई भी सम्बन्ध शब्द द्वारा प्रतिपादित होकर शक्ति का नियामक होता है वहाँ प्रथम अर्थात् संयोग का उदाहरण समझना चाहिए और जहाँ द्वन्द्व आदि समास के द्वारा केवल संबन्धी कहा गया रहता है वहाँ साहचर्य का उदाहरण समझना चाहिए यही प्राचीनों का आशय है। इस तरह से 'गाण्डीव-सहित अर्जुन' ऐसा कहने पर संयोग और 'गाण्डीव और अर्जुन' ऐसा कहने पर साहचर्य, अर्जुन पद की अभिधा का नियामक होगा अर्थात् इन दोनों स्थलों में क्रमशः संयोग और साहचर्य के सहयोग से अर्जुन पद का अर्थ पाण्डुपुत्र ही होगा कार्तवीर्य अर्जुन आदि नहीं।

विरोधितां निर्वक्ति—

विरोधिता प्रसिद्धं वैरम्, सहानवस्थानञ्च। तत्राद्यस्य 'रामार्जुनौ' इत्युदाहरणं प्राञ्चो वदन्ति।

विरोधिता नाम विरोध एव 'प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारीभूतो धर्मो भाव प्रत्ययार्थ' इति सिद्धान्तात्। स च प्रकृते द्विविधः—प्रसिद्धो वैरभावः, सहानवस्थानरूपश्च अप्रसिद्धस्य वैरस्य शक्तिनियामकत्वेऽतिप्रसङ्ग इत्यत उक्तं प्रसिद्धमिति। सहानवस्थानञ्च एककालावच्छेदेनैकत्र देशे वृत्त्यसम्भव इति बोध्यम्। प्राञ्चः काव्यप्रकाशकृदादयः। वस्तुतस्तु 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इत्याकारकं प्राचामुदाहरणं न तु 'रामार्जुनौ' इत्याकारकम्, उपलब्धकाव्यप्रकाशपुस्तकेषु तथैव दर्शनात्, अनुपदमग्रे ग्रन्थकृताऽपि तथैवोद्धरणाच्च। ननु न कोऽपि भेदस्तयोराकारयोर्वैलक्षण्याधायक इति चेन्न, वैलक्षण्यस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वात्।

अब 'विरोधिता' की व्याख्या करते हैं—विरोधिता इत्यादि से। 'ता' प्रत्यय जिस प्रकृति के आगे जुड़ा रहता है उस प्रकृति से होनेवाले बोध में विशेषणीभूत धर्म ही उस भावबोधक 'ता' प्रत्यय का अर्थ होता है अतः 'विरोधिता' का शब्दार्थ विरोध होता है, और विरोध यहाँ दो प्रकार के विवक्षित हैं—एक प्रसिद्ध वैरभाव, दूसरा एक साथ न रहना। उन दोनों में प्रथम अर्थात् 'प्रसिद्ध वैर' का उदाहरण 'राम और अर्जुन' यह वाक्य है ऐसा प्राचीन आचार्यगण कहते हैं। वस्तुतः प्राचीन मम्मट आदि के ग्रन्थों में 'विरोधिता' के उदाहरण का आकार 'रामार्जुनगतिस्तयोः' अर्थात् 'उन दोनों की गति (दशा) राम-अर्जुन की सी है' ऐसा ही उपलब्ध होता है। ग्रन्थकार ने भी आगे स्वयम् वैसा ही आकार उद्धृत किया है। इन दोनों आकारों में जो आर्थिक अन्तर पड़ता है उसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

अथ दीक्षितोक्तं खण्डयितुं प्रथमं तदनुवदति—

यत्त्वप्पय्यदीक्षितो वृत्तिवार्तिके प्राचामुदाहरणं निराकुर्वन्नाह—'रामार्जुनपदयोर्वध्यघातकभावविरोधाद्भार्गवकार्तवीर्ययोरभिधा नियम्यत इति तदयुक्तम्। रामपदस्याभिधानियमने सति तद्विरोधप्रतिसंधानेनार्जुनपदस्य कार्तवीर्येऽभिधानियमनम्, तस्मिंश्च सति तद्विरोधप्रतिसंधानेन रामपदस्येत्यन्योन्याश्रयापत्तेः, तस्मादन्यतरपदस्य व्यवस्थितार्थत्व एव स्मृततद्विरोधप्रतिसंधानान्नानार्थपदस्याभिधानियमनमिति रामरावणयोरित्युदाहरणं भवितुमर्हति' इति।

आहेति क्रियायाः 'भवितुमर्हति' इत्येतावत्पर्यन्तवाक्यार्थः कर्म। भावेति। भावरूपविरोधादित्यर्थः। तद्विरोधेति। परशुरामविरोधेत्यर्थः। तस्मिंश्च सतीति। कार्तवीर्येऽभिधानियमनेऽसतीत्यर्थः। रामपदस्येति। परशुरामेऽभिधानियमनमिति शेषः। तस्मादिति। अन्योन्याश्रयप्रसङ्गेन प्राचीनोक्तोदाहरणस्यासंगतत्वादित्यर्थः। अन्यतरपदस्येति। नियम्याभिधाभिधानियामकपदयोर्मध्ये एकतरस्य शब्दस्येत्यर्थः। व्यवस्थितेति निश्चितेत्यर्थः। अयं भावः—दशरथापत्यपरशुरामादियहुविधार्थाभिधायित्वेन रामपदमनेकार्थकम्, एवं कौन्तेयकार्तवीर्यादिवहुतरार्थाभिधायितयाऽर्जुनपदमपि तथाभूतमिति 'रामार्जुनगतिस्तयोरि'त्यत्र—

रामार्जुनपदे दशरथापत्यकौन्तेयतात्पर्येणोच्चरिते, उताहो परशुरामकार्तवीर्यतात्पर्येणेति सन्देहे वध्यघातकभावात्मकं प्रसिद्धं वैरं तयोः पदयोरभिधां परशुरामकार्तवीर्यरूपयोरर्थयोर्नियमयतीति मम्मटादयः प्राञ्चः। दीक्षितस्तु—'तदुदाहरणं न भवितुमर्हति, अन्योन्याश्रयापत्तेः। तथाहि—अन्योन्याश्रयो द्विविधो ज्ञानाश्रयः उत्पत्त्याश्रयश्च, प्रकृतेऽर्जुनपदा-

भिधानियमने भार्गवरूपरामपदार्थनिश्चयः समपेक्षितः, एवं रामपदाभिधानियमने कार्तवीर्यरूपार्जुनपदार्थ-निश्चय आवश्यकः, अन्यथा निरोधप्रतिसन्धानविरहात् तौ निश्चयौ च तयोः पदयोरभिधानियमाधीनाविति ज्ञानाश्रयोऽन्योन्याश्रयोऽत्र दुर्वारः, अतो यत्रैकं पदं निश्चितार्थकमपरञ्च नानार्थकतया सन्दिग्धार्थकं तत्रैव विरोधिताप्रथमप्रभेदस्योदाहरणत्वं युक्तम्, यथा 'रामरावणौ' इत्यत्र रावणपदस्यार्थो निश्चित इति स्मृततद्विरोधप्रतिसंधानेन नानार्थकस्य रामपदस्याभिधाया दशरथपुत्रे नियमनमि'त्याचष्टे ।

अब इस प्रसङ्ग पर खण्डन करने के लिये अप्पयदीक्षित के मत का अनुवाद करते हैं—यत्त इत्यादि से। दीक्षितजी अपने वृत्तिवार्तिक नामक ग्रन्थ में प्राचीनोक्त उदाहरण का खण्डन करते हुए कहते हैं कि—'राम (परशुराम) और अर्जुन (सहस्रबाहु) में वध्यघातकभाव (मारनेवाला और मरनेवाला होना) रूप विरोध है, अतः राम-अर्जुन का सहप्रयोग रहने पर एक दूसरे की अभिधा का नियामक होता है अर्थात् राम से परशुराम का ही बोध होता है दशरथपुत्र आदि का नहीं, इसी तरह अर्जुन से सहस्रबाहु का ही बोध होता है पाण्डुपुत्र आदि का नहीं यह जो प्राचीनों का कथन है वह ठीक नहीं, क्योंकि जब रामपद की अभिधा परशुराम में नियन्त्रित हो जायगी, तब उसके विरोध का अनुसन्धान होने पर अर्जुनपद की अभिधा का नियमन सहस्रबाहु में होगा, और अर्जुनपद की अभिधा का सहस्रबाहु में नियमन हो जाने पर उसके विरोध के अनुसन्धान से रामपद की अभिधा का नियमन परशुराम में हो सकेगा, इस तरह से एक पद की अभिधा के नियमन में द्वितीय पद की अभिधा के नियमन की अपेक्षा होने के कारण 'अन्योन्याश्रय' दोष का प्रसङ्ग आ जाता है, अतः विरोधिता का वह प्राचीनोक्त उदाहरण असंगत है। अतः ऐसा समझना चाहिए कि जहाँ एकपद निश्चित अर्थवाला हो अर्थात् अनेकार्थक नहीं हो और दूसरा पद अनेकार्थक होने से अनिश्चित अर्थवाला हो, वहीं निश्चितार्थक पद के अर्थज्ञान होने पर उसके विरोध में स्मरण से नानार्थक पद की अभिधा का जो नियमन होगा वही विरोधिता का उदाहरण है, जैसे—'राम और रावण'। अर्थात् यहाँ रावण पद का अर्थ निश्चित है, उसके विरोध के अनुसन्धान से राम पद की अभिधा दशरथ-पुत्ररूप अर्थ में नियन्त्रित होती है।

दीक्षितोक्तं निराचष्टे—

तत्र तावद्रामरावणयोरिति व्यवस्थितार्थान्यतरपदकमुदाहरणं विरोधितायाः नियामकत्वस्य न युक्तम्। रामलक्ष्मणयोरत्रेवात्रापि साहचर्यस्यैव नियामकत्वात्।

तत्रेति। दीक्षितोक्तावित्यर्थः। तावत् आदौ। अनुपदमग्रे दोषान्तरमपि प्रदीयत इति भावः। व्यवस्थितार्थान्यतरपदकमिति। व्यवस्थितो निश्चितः अर्थो यस्य तादृशमन्यतरत् द्वयोरेकं पदं यत्र तथाभूतमित्यर्थः। नियामकत्वस्येत्यस्योदाहरणमित्यत्रान्वयो बोध्यः, 'रामरावणौ' इति विरोधितायाः नियामकत्वस्योदाहरणमसंगतम्, 'रामलक्ष्मणा'वित्यत्र यथा साहचर्यं नियामकं तथैव प्रकृतेऽपि तदेव नियामकं संभवतीति पृथक् प्रसिद्धवैरात्मकविरोधितायाः नियामकेषु गणनायाः वैयर्थ्यात् इत्याशयः।

अब दीक्षितमत का खण्डन करते हैं—तत्र इत्यादि से। दीक्षित का उक्त मत अयुक्त है, क्योंकि पहले उन्होंने प्रसिद्ध वैररूप विरोधिता का जो 'राम और रावण' यह उदाहरण दिखलाया है वही ठीक नहीं होता क्योंकि 'राम और लक्ष्मण' यहाँ जैसे साहचर्य नियामक होता है वैसे यहाँ भी साहचर्य ही नियामक हो सकता है।

दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिकापेक्षया वैषम्यमाशंक्य निरस्यति—

न च लक्ष्मणसाहचर्यं रामस्य प्रसिद्धम्, न तु रावणसाहचर्यमिति वाच्यम्, प्रसिद्धतत्सम्बन्धकत्वस्यैव तत्साहचार्यपदार्थकत्वात्। पितृ-भ्रातृ-जायापत्य-भृत्य-नगरीणां संबन्धस्येव रिपोः संबन्धस्यापि लोकप्रसिद्धत्वात्।

रामलक्ष्मणौ सहचरत इति रामनिष्ठं लक्ष्मणसाहचर्यं प्रसिद्धम्, रामरावणौ तु न क्वापि सहचरत इति रावणसाहचर्यं रामे न तथा। तथा च कथं तद्दृष्टान्तेन प्रकृते साहचर्योदाहरणत्वस्याशंकेति शंकायामाह—प्रसिद्धेति।

प्रसिद्धः तत्संबन्धः (तेन सह संबन्धः) यस्य तत्त्वस्येत्यर्थः। अन्येन सहापरस्य प्रसिद्धः यः कश्चन संबन्ध एव प्रकृतनियामकमध्यप्रविष्टसाहचर्यपदार्थ इति प्रागुपदर्शितमेव। एवञ्च यथा जन्यजनकभावसोदरत्वदाम्पत्यस्वस्वामिभावादिः पितृभ्रातृपत्नीभृत्यादेः संबन्धः प्रसिद्ध इति साहचर्यान्तर्भूतस्तथैव वध्यघातकभावात्मकः शत्रोः संबन्धोऽपि प्रसिद्ध इति तस्यापि साहचर्यान्तर्भावः समुचित एवेति भावः।

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में विषमता की आशंका करके उसका निरास करते हैं—न च इत्यादि। यदि आप कहें कि राम और लक्ष्मण साथ-साथ चलते फिरते थे, अतः राम में लक्ष्मण का साहचर्य (साथ-साथ चलना) प्रसिद्ध है, पर राम और रावण तो कभी कहीं भी साथ-साथ विचरण किए नहीं, अतः उन दोनों का साहचर्य सर्वथा अप्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में राम-लक्ष्मण के दृष्टान्त से राम-रावण में साहचर्य को नियामक बतलाना उचित नहीं, तो मैं कहूँगा कि यहाँ साहचर्य का अर्थ सहचरण आप गलत समझ रहे हैं, क्योंकि यहाँ साहचर्य का अर्थ दो व्यक्तियों का प्रसिद्ध जिस किसी तरह का संबन्ध ही है, न कि सहचरण यह पहले बतलाया जा चुका है, तदनुसार जैसे, पिता, भ्राता, स्त्री, पुत्र, सेवक और नगर का संबन्ध प्रसिद्ध होने के कारण साहचर्य कहलाता है, उसी तरह शत्रु का भी संबन्ध (वध्यघातक भाव) प्रसिद्ध होने से, साहचर्य कहला सकता है।

साहचर्यान्तर्भावयोग्याया अपि प्रसिद्धवैरात्मकविरोधितायाः साहचर्यान्तरापेक्षया यत्किञ्चिद् वैलक्षण्यमादाय पृथग्गणने का क्षतिरित्यत आह—

एवं स्थितेऽपि विरोधितायाः पृथग्गणने मित्रत्वादेरपि तथा गणनापत्तेः।

एवं स्थितेऽपीति। साहचर्यस्य नियामकत्वसंभवेऽपीत्यर्थः। मित्रत्वादेरित्यत्र गुरुशिष्यभावादिरादिपदग्राह्यः। तथेति। पृथगित्यर्थः। साहचर्येणैव संग्रहसंभवेऽपि विरोधितायाः पृथङ्नियामकत्वाङ्गीकारे मित्रत्वादेरपि पृथगेव नियामकताऽङ्गीकरणीया स्यात्, न चाङ्गीक्रियते, इति तद्वद् विरोधिताया अपि पृथग्गणनं व्यर्थमेव भवेदस्येति भावः।

उक्त स्थिति में भी यदि प्रसिद्ध वैररूप विरोध की साहचर्य से पृथक् गणना की जाय, तब मित्रत्व आदि की भी पृथक् अभिधानियामकों में गणना करनी पड़ेगी।

उपसंहरति—

तस्मात्प्राचीनोदाहरणमिव त्वदुक्तमुदाहरणमप्यशुद्धमेव।

तस्मादिति उक्तहेतोरित्यर्थः। त्वदुक्तमपीति आधुनिकदीक्षितोक्तमित्यर्थः। 'रामार्जुनगतिस्तयो'रिति प्राचीनोक्तमुदाहरणं यथाऽसंगतम्, तथा त्वदुक्तं 'रामरावणौ' इत्युदाहरणमप्यसमीचीनमेवेत्याशयः।

अतः यही कहना पड़ता है कि जैसे प्राचीनों के द्वारा दिया गया विरोधिता का उदाहरण (राम-अर्जुन सी उन दोनों की गति है) असंगत है, वैसे आपके द्वारा दिखलाया गया विरोधिता का उदाहरण (राम और रावण) भी असंगत ही है।

दीक्षितोक्तमुदाहरणं निरस्यसम्प्रति तत्सिद्धान्तमपि खण्डयति—

'अन्यतरपदस्य व्यवस्थितार्थत्व एव' इत्याद्यप्यसंगतमेव। हरिनागस्ये-त्यादावुभयोरव्यवस्थितार्थत्वेऽप्येकवद्भावाभिव्यक्तेन विरोधेन धर्मिविशेषा-विशेषितेनापि युगपद्धर्मिविशेषद्वयेऽभिधाया नियन्तुं शक्यत्वात्।

हरीति। हरिश्च नागश्चेति समाहारद्वन्द्वे 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इत्येकवद्भावः। अत एवाह—एकवद्भावेति। धर्मिविशेषाविशेषितेनेति। धर्मिविशेषेण—(विरोधस्य) आश्रयीभूतेन केनापि प्राणिना अविशेषितेन अविशिष्टीकृतेनेत्यर्थः, अविशेषित इत्यत्र स्वार्थणिजन्तात् क्त इति भावः। अथवा धर्मिविशेषेण संजातो विशेषो यस्य तेनेत्यर्थः, तारकादित्वादितजिति भावः। उभयथाऽपि यस्य विरोधस्य धर्मी विशेषरूपेण नोक्तस्ता-दृशेन विरोधेनेति तात्पर्यम्। युगपत् एकदैव, न तु क्रमशः। अयमभिप्रायः—यत्रैकं पद मेकार्थकतया निश्चितार्थकमपरञ्च नानार्थकतया सन्दिग्धार्थकम् (यथा रामरावणौ इत्यत्र) तत्रैव विरोधिताप्रथमभेदस्योदाहणं संभवतीति यदुक्तं दीक्षितेन, तन्न विचारसहम्, हरि-नागस्य (यत्र पदद्वयमपि नानार्थकम्) इत्यत्र विरोधितया हरिनागपदयोरभिधाद्वयस्य क्रमशः सिंहगजरूपार्थयोरेकदैव नियमनदर्शनात्। नन्वेवमन्योन्याश्रयापातः कुतो नेति चेत्, तृतीयस्य विरोधव्यञ्जकस्यैकवद्भावस्य वर्तमानतया अन्योन्याश्रयविरहात्। एतदे-वाह—एकवद्भावाभिव्यक्तेत्यादिना। एकवद्भावश्च द्वयोः समानतयैव विरोधं प्रत्याययति, न तु 'अयं विरोधकर्ता अयञ्चविरोद्धव्य' इति विशेषरूपेण। तदेव सूचयति—धर्मिविशेषे-त्यादिना। इति।

दीक्षितोक्त उदाहरण का खण्डन करके अब उनके सिद्धान्त का भी खण्डन करते हैं—अन्यतर इत्यादि। दूसरे, आपने जो यह कहा है कि 'दो पदों में कोई एक पद जब निश्चित अर्थवाला अर्थात् एकार्थक रहेगा, तभी प्रसिद्ध वैररूप विरोधिता से अभिधा का नियमन होगा' यह भी अयुक्त ही है, क्योंकि 'हरिनागस्य' इत्यादि स्थल—जहाँ, दोनों पद अनिश्चितार्थक ही हैं—अर्थात् हरिपद के भी सिंह, विष्णु अश्व आदि अनेक अर्थ संभावित हैं, और नागपद के भी गज, सर्प आदि विविध अर्थ हो सकते हैं—में, प्रसिद्ध वैररूप विरोधिता से हरि और नाग पद की अभिधा क्रमशः सिंह तथा गजरूप अर्थों में एक ही बार नियन्त्रित होती है। यदि आप कहें कि अन्योन्याश्रय क्यों नहीं होता? तो इसका उत्तर यह है कि क्रमशः दोनों पदों की अभिधा का नियन्त्रण करने पर अन्योन्याश्रय का अवसर हो सकता था, पर यहाँ एक ही बार दोनों पदों की अभिधा नियन्त्रित होती है, फिर अन्योन्याश्रय का अवसर ही कहाँ है? दूसरी बात यह है कि दो के रहने पर ही अन्योन्याश्रय होता है, यहाँ तो विरोध को अभिव्यक्त करनेवाला तीसरा एक वचन ('हरिनागस्य' में षष्ठी विभक्ति का एकवचन) भी है अर्थात् 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इस पाणिनि सूत्र से उक्त प्रयोग में द्वन्द्वसमासोत्तर एकवद्भाव हुआ है, जिससे हरि और नाग पद के अर्थों में शाश्वतिक विरोध अभिव्यक्त होता है और वह विरोध भी एकवद्भाव से दोनों में समानरूप से ही व्यक्त होता है, 'यह विरोध करनेवाला है और इसका विरोध किया जाता है' इस विशेषरूप से नहीं। यही बात मूल की 'धर्मिविशेषाविशेषित' इस पङ्क्ति के द्वारा प्रतिपादित हुई है।

दीक्षितोक्तमेवांशान्तरं दूषयति—

यदपि 'रामार्जुनगतिस्तयो'रिति शब्दान्तरसन्निधेरुदाहरणम्, इति स एवाह। तदप्यसत्। त्वया निरूपिते शब्दान्तरसन्निधेरुदाहरणे 'निपुणं पश्य भूसृतम्', 'नागो दानेन राजते', इत्यत्र चाभिधाया नियतविषयतां विनान्वय-

स्यैवानुपपत्त्या प्रकृते च 'रामार्जुनगतिस्तयो'रित्यत्रार्थान्तरविषयत्वेऽप्यन्वयानुपपत्तेरभावान्महति वैलक्षण्ये शब्दान्तरसन्निध्युदाहरणत्वायोगात्।

स एवेति। अप्पय्यदीक्षित एवेत्यर्थः। असत् असमीचीनम्, असमीचीनत्वे हेतुं दर्शयति—त्वयेत्यादिना। निषधमिति। अत्र जनपदविशेषसाधारणस्य निषधपदस्याभिधा पर्वतवाचिभूभृत्पदसंनिधानात्पर्वतविशेषे नियम्यते। राजसाधारणस्य भूभृत्पदस्याभिधा च पर्वतविशेषवाचिनिषधपदसंनिधिना पर्वते। नाग इति। अत्र सर्पसाधारणस्य नागपदस्याभिधा मदवाचिदानपदसंनिधानेनदुष्टगजे नियम्यते। त्यागसाधारणस्य दानपदस्य च गजवाचकनागपदसंनिधानेन मदजले। सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्याभ्यां स्थलभेदप्रदर्शनायोदाहरणद्वयम्। अधिकं वृत्तिवार्तिके द्रष्टव्यम्। नियतविषयेति। नियमनमिति यावत्। अर्थान्तरविषयत्वेऽपीति। रामार्जुनवत्पराक्रमशालित्वमित्याद्यर्थान्तरमितिभावः।

'रामार्जुनगतिस्तयो' रिति विरोधिताया उदाहरणं प्राञ्च ऊचुः। दीक्षितस्तत्रान्योन्याश्रयदोषमापाद्यतस्य शब्दान्तरसंनिधेरुदाहरणत्वं प्रतिपादयति। तत्खण्डनप्रसङ्गे पण्डितराजो वृत्तिवार्तिकोक्तदीक्षिताभिमतशब्दान्तरसंनिध्युदाहरणापेक्षया रामार्जुनेत्युदाहरणे वैलक्षण्यं प्रदर्शयति—'निषधं', 'नागो', इत्युदाहणद्वयं वृत्तिवार्तिकोक्तं शब्दान्तरसंनिधे रुचितम्। तत्र निषध-भूभृत्-नाग-दानपदानां पर्वतविशेष-पर्वतसामान्य-गज-मदजलरूपार्थेष्वभिधानियमनात्प्राक् येषां पदानां क्रमशो देशविशेष-राज-सर्पत्यागरूपार्थेषु शक्तिसंचारेणान्वयानुपपत्तेः, तेषामर्थानां मिथोऽन्वयायोग्यत्वात्। रामार्जुनेत्युदाहरणे तु 'तयोः रामार्जुनवद् गतिः = पराक्रमशालित्वमित्यर्थान्तरकरणेऽपि नान्वयानुपपत्तिः, तथान्वयस्य संभवविषयत्वात्। एवञ्चशब्दान्तरसंनिधेस्तादृशमुदाहरणं ब्रुवतो दीक्षितस्य तदपेक्षयातिवैलक्षण्यशालिने रामार्जुनेत्यत्र शब्दान्तरसंनिध्युदाहरणत्वस्वीकारोऽयुक्त इति भावः।

दीक्षित की ही एक दूसरी उक्ति का खण्डन करते हैं—यदपि इत्यादि। अभिप्राय यह है कि प्राचीनों ने विरोधिता के प्रथम भेद-प्रसिद्ध वैर-का-उदाहरण 'राम-अर्जुन की सी उन दोनों की गति' एतदर्थक 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इस वाक्य को माना है। पर दीक्षित ने अन्योन्याश्रय दोष बतला कर उस वाक्य को विरोधिता का उदाहरण होने में आपत्ति की है, और उस वाक्य को 'शब्दान्तरसन्निधि' का उदाहरण माना है। अब पण्डितराज दीक्षित के कथन का खण्डन करते हुए कहते हैं कि—आपने (दीक्षित ने) 'निषधं पश्य भूभृतम्' अर्थात् 'निषध नामक पर्वत को देखो' इस समानाधिकरण (समान विभक्तिक) वाक्य को, एवम् 'नागो दानेन राजते' अर्थात् 'मदवारि से मतवाला हाथी शोभित होता है' इस व्यधिकरण (विभिन्न विभक्तिक) वाक्य को भी 'शब्दान्तरसन्निधि' का उदाहरण माना है अर्थात् पर्वतवाचक 'भूभृत्' पद के सन्निधान से देशविशेष तथा पर्वतविशेष इन दोनों अर्थों के वाचक 'निषध' पद की अभिधा पर्वतविशेषरूप अर्थ में और पर्वतविशेषवाचक 'निषध' पद के सन्निधान से राजा तथा पर्वतसामान्य इन दोनों अर्थों के वाचक 'भूभृत्' पद की अभिधा पर्वतसामान्यरूप अर्थ में नियन्त्रित होती है, इसी तरह मदवाचक 'दान' पद के सन्निधान से सर्प तथा गज इन दोनों अर्थों के वाचक 'नाग' पद की अभिधा, गजरूप अर्थ में और गजवाचक 'नाग' पद के सन्निधान से—त्याग तथा दानवारि इन दोनों अर्थों के वाचक 'दान' पद की अभिधा मदजलरूप अर्थ में नियन्त्रित होती है, यह बात स्वीकृत की है—जो ठीक भी है, क्योंकि उक्त नियन्त्रण के बिना उक्त वाक्यगत पदार्थों का परस्पर अन्वय ही नहीं बन सकता है अर्थात् उक्त वाक्यों में 'निषध' का राजा और 'भूभृत्' का पर्वत, अथवा 'निषध' का ही पर्वतविशेष और 'भूभृत्' का राजा, इसी तरह 'नाग' का सर्प

और दान का त्याग, अर्थ समझ लिया जाय, तब उन अर्थों की परस्पर संगति ही नहीं बैठेगी। परन्तु 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इस वाक्य का यदि 'उन दोनों वर्णनीय व्यक्तियों की राम और अर्जुन जैसी वीरता है' यह अन्य अर्थ भी कर लिया जाय, तथापि अन्वय हो ही जाता है, फिर इस वाक्य को शब्दान्तरसन्निधि का उदाहरण आपने कैसे कह दिया? अर्थात् परशुरामवाचक 'राम' पद के सन्निधान से 'अर्जुन' पद की सहस्रबाहु में और सहस्रबाहुवाचक 'अर्जुन' पद के सन्निधान से 'राम' पद की अभिधा परशुराम में नियमित होती है यह आपका तात्पर्य तब संगत होता, यदि आपके निजसम्मत शब्दान्तरसन्निधि के उक्त उदाहरणों से मिलती-जुलती स्थिति यहाँ भी होती, ऐसी स्थिति तो है नहीं, एक जगह नियन्त्रण के बिना अन्वय अनुपपन्न है, और दूसरी जगह उसके बिना भी वह उपपन्न है, इस विलक्षणता के रहते दोनों जगह समानरूप से शब्दान्तर सन्निधि को ही नियामक मानना सर्वथा अनुचित है।

अथापि प्रतीयमानां 'रामार्जुनगतिस्तयो' रितिविरोधितोदाहरणस्यासंगतिमुद्भाव्य निरस्यति—

एवमपि काव्यप्रकाशगतस्य 'रामार्जुनगतिस्तयो'रिति विरोधितोदाहरणस्यासंगतिः स्थितैवेति चेत्? न, तयोः कयोश्चित्प्रसिद्धविरोधयो रामार्जुनगती रामार्जुनसदृशी गतिराचरणमिति तदर्थवर्णने विरोधेन प्रस्तावबशात्प्रतीतेन युगपद्भार्गवकार्तवीर्ययो रामार्जुनशब्दाभिधाया नियमनस्योपपत्तेः।

एवमपीति। दीक्षितोक्तेरसंगतावपीत्यर्थः। स्थितैवेति। अन्योन्याश्रयदोषस्य दीक्षितोक्तस्यानिरासादिति भावः। तदर्थेति। उदाहरणार्थेत्यर्थः। प्रस्तावः प्रकरणम्। युगपदिति। तथा च नान्योन्याश्रय इति भावः।

'रामार्जुनगतिस्तयो' रित्यत्र दीक्षितोक्तान्योन्याश्रयदोषस्तदा संभवति, यदि विरोधोपस्थापकं किमपि तृतीयं वस्तु न भवेत्, अपि च रामपदस्यार्थे भार्गवरूपे निर्णीते स्मृतवद्विरोधप्रतिसंधानेनार्जुनपदस्य, एवम् अर्जुनपदस्य कार्तवीर्यरूपार्थे निश्चिते तद्विरोधप्रतिसंधानेन रामपदस्य अभिधायाः क्रमशो नियमनमभिप्रेतं स्यात्। इह तु तन्नास्ति, किन्तु मूलोक्तार्थानुसारेण 'तयो'रितिपदप्राप्तं प्रकरणं तृतीयमेव वस्तु विरोधमुपस्थापयति, तेन च युगपदेव भार्गवकार्तवीर्यरूपयोरर्थयो रामार्जुनपदाभिधानियमनमिति नान्योन्याश्रयापातप्रयुक्ताऽऽसंगतिरित्याशयः।

उक्त खण्डन-मण्डन के बाद भी विरोधिता के 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इस उदाहरण में असंगति रहती ही है, इस शंका का उद्भावन करके उत्तर देते हैं—एवमपीत्यादि। यदि कोई कहे कि उक्तरीति से दीक्षित के मत का खण्डन हो जाने पर भी काव्यप्रकाश में उक्त विरोधिता का 'रामार्जुनगतिस्तयोः' यह उदाहरण तो संगत नहीं होगा अर्थात् दीक्षित ने जो वहाँ अन्योन्याश्रय दोष लगाया था, वह अभी भी वर्तमान ही है? तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि यहाँ अन्योन्याश्रय दोष तब होता यदि विरोध को उपस्थित करनेवाली कोई तृतीय वस्तु नहीं होती, और राम पद का परशुरामरूप अर्थ निर्णित हो जाने पर उसके विरोध की स्मृति से अर्जुन पद की, एवम् सहस्रबाहुरूप अर्थ निर्णित हो जाने पर उसके विरोध की स्मृति से रामपद की अभिधा का क्रमशः नियन्त्रण अभिमत होता, परन्तु यहाँ ऐसी बात है नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य का अर्थ यहाँ यह है कि 'तयोः अर्थात् उन दोनों प्रसिद्ध-वैरभाव वाले व्यक्तियों का रामार्जुनगतिः अर्थात् राम-अर्जुन के समान आचरण है।' इस तरह से 'तयोः' पद से ज्ञात होनेवाला प्रकरण (तृतीय वस्तु) यहाँ विरोध को उपस्थित करता है, जिससे

एक बार ही राम तथा अर्जुन पद की अभिधा परशुराम एवम् सहस्रबाहुरूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है। अतः अन्योन्याश्रय का कोई प्रसङ्ग नहीं रह जाता।

इत्थं व्याख्याने प्रकरणरूपनियामक एवान्तर्भावसम्भवात् पुनः पृथग्विरोधिता प्रथमप्रकरणस्य परिगणनं वृथेत्याशंक्य समाधत्ते—

न च प्रकरणादविशेषः? विरोधस्य प्रक्रान्तत्वेऽपि भार्गवकार्तवीर्ययोः शक्तिनियमाधिकरणयोरप्रक्रान्तत्वात्।

प्रकरणादिति। शक्तिनियामकसंग्राहककारिकोक्तप्रकरणरूपनियामकादित्यर्थः। अविशेष इति। विशेषो भेदस्तद्भिन्न इत्यर्थः, अभेद इति यावत्। प्रसिद्धवैररूपविरोधिताया इति शेषः। रामार्जुन इत्यत्र प्रकरणस्य विरोधप्रत्यायकत्वाङ्गीकारे शक्तिनियामकत्वमपि तस्यैवाङ्गीक्रियताम्, कृतमत्र नियामकान्तरान्वेषणेनेति न शंकनीयम्। शक्तिनियामकस्य विरोधस्य प्रकरणप्राप्तत्वेऽपि शक्तिनियमाश्रययोर्भार्गवकार्तवीर्ययोः प्रकरणाप्राप्तत्वात्। एवञ्च शक्तिनियमाश्रयस्य प्रक्रान्तत्व एव प्रकरणं नियामकमिति भावः।

इदमत्र विचारणीयम्—मूले पण्डितराजेनोद्धृतं 'रामार्जुनौ' इति प्राचीनोक्तमुदाहरणं कथं सगच्छेत? तत्र विरोधप्रत्यायकस्य तृतीयस्य कस्यचिदभावेनान्योन्याश्रयस्य दुर्वारत्वात्। वस्तुतस्तु प्राचीनैस्तदुदाहरणं नैव दत्तमिति पूर्वं मयोक्तमेव। पण्डितराजस्य तथोद्धरणं चिन्त्यमेव। तत्तु पण्डितराजोक्तरीत्या साहचर्यस्यैव कथञ्चिदुदाहरणं संभवतीति मम प्रतिभाति। रामार्जुनावित्यस्य रामार्जुनगतिस्तयोरित्येतदुपलक्षणत्वस्वीकारे तु सर्वं सुस्थमेवे'त्यपि बोध्यम्।

उक्त व्याख्या के अनुसार 'प्रकरण' में ही 'विरोधिता प्रथम भेद' का अन्तर्भाव क्यों नहीं मान लिया जाय? इस शंका का अब समाधान करते हैं—नच इत्यादि। 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इस स्थल में उक्तरीति से जब प्रकरण को ही आप विरोधोपस्थापक मानते हैं, तब उस 'प्रकरण' को ही अभिधानियामक भी क्यों नहीं मान लेते? व्यर्थ नियामकान्तर (विरोधिता) के अन्वेषण से क्या लाभ? ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए—क्योंकि, इस तरह से विरोध भले ही प्रकरण प्राप्त हो जाय, परन्तु जिन दोनों अर्थों में शक्ति यहाँ नियमित होती है वे परशुराम और सहस्रबाहु प्रकरणप्राप्त नहीं हैं। तात्पर्य यह हुआ कि 'प्रकरण' वहाँ अभिधा-नियामक होता है, जहाँ नियमतः अर्थ प्राकरणिक हों, यहाँ वह नहीं है अतः 'प्रकरण' नियामक नहीं हो सकता। अन्यथा प्रसिद्धवैररूप 'विरोधिता' ही यहाँ अभिधानियामक होती है, यह बात सर्वसम्मत्या माननी ही पड़ेगी। यहाँ एक बात विचारणीय यह है कि मूलग्रन्थ में प्राचीनोक्त उदाहरण को उद्धृत करते हुए पण्डितराज ने जो 'रामार्जुनौ' यह विरोधितोदाहरण का आकार लिखा, वह कैसे संगत हो सकता है? क्योंकि उस आकार में विरोध को उपस्थित करनेवाली कोई तृतीय वस्तु जब नहीं है, तब अन्योन्याश्रय दोष दुर्वार ही होगा। वस्तुतः प्राचीनोक्त उदाहरण का आकार वैसा नहीं है यह बात पहले लिखी जा चुकी है। पण्डितराज का वैसा उदाहरण गलत ही है। पण्डितराज की रीति से यह किसी तरह से साहचर्य का ही उदाहरण हो सकता है। 'रामार्जुनौ' इस वाक्य को यदि 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इस वाक्य का उपलक्षण मान लिया जाय तो सबका सामञ्जस्य है ही।

विरोधिताया द्वितीयं प्रकारमुदाहरति—

सहानवस्थानलक्षणाविरोधिता तु छायातपावित्यादौ बोध्या।

'छायातपौ' इत्यत्र छायाशब्दस्य सूर्यपत्नी-कान्ति-प्रतिबिंबातपाभावरूपा अनेके

अर्थाः संभवन्ति । परन्तु आतपपदार्थेन सह सहानवस्थानरूपा विरोधिता आतपाभावरूप-छायापदार्थस्यैवेति तया विरोधितया छायापदस्याभिधा आतपाभावरूपेऽर्थे नियम्यते इति भावः ।

अब 'विरोधिता' के द्वितीय भेद का उदाहरण दिखलाते हैं—सहान इत्यादि 'छाया' और आतप' इस वाक्य में छाया शब्द के सूर्य-पत्नी, कान्ति, प्रतिबिंब और आतप का अभाव आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं, परन्तु 'आतप' पद का जो निश्चित अर्थ धूप है, उसके साथ 'सहानवस्थान' (साथ-साथ नहीं रह सकना) रूप विरोध, आतपाभाव-रूप छाया पदार्थ को ही है, अतः उस विरोध से 'छाया' पद की अभिधा आतपाभाव-रूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है ।

अर्थं निरूपयति—

अर्थः प्रयोजनं चतुर्थ्याद्यभिधेयम् ।

चतुर्थ्यादीति । अत्र तुमनादि आदिपदग्राह्यम् । चतुर्थ्यादिप्रतिपाद्यं प्रयोजनमर्थ-पदार्थ इत्यर्थः ।

'अर्थ' की व्याख्या करते हैं—अर्थः इत्यादि । चतुर्थी विभक्ति आदि के द्वारा अभि-हित होनेवाले 'प्रयोजन' को 'अर्थ' कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इत्यादौ भवच्छेदनादि स्थाणुपदस्य भवे ।

संसारयात्रानिवृत्त्यर्थं शिवमुपास्वेत्युदाहरणार्थः । छेदनादीत्यस्य प्रयोजनमिति शेषः । भवे । अभिधानियामकमिति शेषः ।

स्थाणुंभजेत्युदाहरणे 'भवच्छिदे' इत्यत्रत्य चतुर्थीप्रतिपाद्यं भवच्छेदनरूपं प्रयोजनं निश्शाखतरुशिवादिनानार्थकस्य स्थाणुपदस्याभिधां शिवे नियमयति, निश्शाखतरुभजनेन भवच्छेदरूपप्रयोजनासिद्धेरितिभावः ।

उदाहरण देखिए—जैसे 'स्थाणुं भज भवच्छिदे—अर्थात् संसार से छुटकारा पाने के लिए स्थाणु का भजन करो' इस वाक्य में 'स्थाणु' पद के शिव तथा शुष्क तरु दोनों अर्थ हो सकते हैं, परन्तु वक्ता का अभिलषित 'भवच्छेद'रूप प्रयोजन की सिद्धि शिव से ही संभव है शुष्कतरु से नहीं, अतः उक्त प्रयोजन से 'स्थाणु' पद की अभिधा शिव-रूप अर्थ में नियन्त्रित होती है ।

शङ्कते—

नन्वर्थस्य लिङ्गात्को भेदः ? न च लिङ्गमनन्यसाधारणस्तद्धर्मः, अर्थस्तु तद्भजनादेः कार्यम् , न तु तद्गतो धर्म इति स्फुट एव भेद इति वाच्यम् , भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वस्य काष्ठावृत्तिभवधर्मत्वादिति चेत् ?

अनन्यसाधारण इति । अन्यस्मिन् विवक्षितादेकस्मादतिरिक्ते साधारणो यो न भवति—एकमात्रवृत्तिरिति यावत् ।

'अर्थ'निरूपणप्रकरणोक्ताः सर्वेऽपि तच्छब्दाः शिवबोधकाः । कार्यमिति फलमित्यर्थः । भवच्छेदजनकेति । भवच्छेदजनिकाया भजनक्रिया, तत्कर्मत्वस्य तज्जन्यफलाश्रयत्वस्ये-त्यर्थः । काष्ठावृत्तीति । अनेनानन्यसाधारणत्वं सूचितम् ।

भवच्छेदस्य शिववृत्त्यसाधारणधर्मत्वाभावेऽपि भवच्छेदजनकभजनकर्मतायाः काष्ठावृ-त्तितया शिवासाधारणधर्मत्वेन 'अनन्यसाधारणः शिवधर्मः शिवस्य लिङ्गम्, भवच्छेदकरूप-प्रयोजनं तु शिवभजनस्य फलं न तु शिववृत्तिर्धर्म' इति प्रकृतोदाहरणे लिङ्गार्थयोर्भेद इत्यस्य वक्तुमशक्यत्वेन कोऽत्र लिङ्गार्थयोर्भेद इति शंकाशयो बोध्यः ।

शंका कहते हैं—नन्वर्थ इत्यादि। यहाँ शंका होती है कि 'लिंग' रूप नियामक से इस 'अर्थ' रूप नियामक में भेद क्या है? 'शिव से भिन्न किसी व्यक्ति में जो नहीं रहता हो, ऐसे धर्म विशेष को शिव का लिंग कह सकते हैं, और यह 'भवच्छेद' रूप अर्थ (प्रयोजन) तो शिव के भजन का कार्य (फल) है, न कि शिव में रहनेवाला धर्म' यह भेद मानने योग्य है नहीं, क्योंकि भवच्छेद भले ही शिव-भजन का फल हो, पर उस फल को उत्पन्न करनेवाली भजन क्रिया का कर्म होना—जो शुष्कतरु में नहीं रह सकता है—तो शिव का लिंग अवश्य है। अभिप्राय यह हुआ कि भवच्छेद-साधक-भजनक्रिया-कर्मत्व, जब, शिव मात्र में, रहनेवाला धर्म है, काष्ठ आदि में वह नहीं रह सकता है, तब उस धर्म को शिव का लिंग माना जा सकता है, और जब उसको लिंग मान लेंगे, तब उसी से प्रकृत वाक्य में स्थाणु पद की अभिधा नियन्त्रित हो ही जायगी, फिर 'अर्थ' को पृथक् नियामक मानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तरयति—

अत्राहुः—उक्तस्य विशिष्टधर्मस्य शाब्दबोधोत्तरभाविमानसबोधविषयत्वेन प्रकृतशाब्दबोधाविषयत्वाल्लिङ्गतो वैलक्षण्योपपत्तिरिति।

उक्तस्येति। भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वस्येत्यर्थः। प्रकृतशाब्दबोधाविषयत्वादिति भवच्छेदफलकं चैत्राद्यभिन्नकर्तृकं स्थाणुकर्मकं भजनमित्याकारकस्य प्रकृतशाब्दबोधस्य विषयत्वविरहादित्यर्थः।

अयं भावः—'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इति वाक्यात् 'भवच्छेदफलकेत्याद्यनुपदोक्त एव बोधो जायते, व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधस्यैव शाब्दिकसिद्धान्तसिद्धत्वात्। स्थाणुनिष्ठभवच्छेदजनकभजनकर्मत्वरूपो विशिष्टो धर्मस्तु पश्चात्कालभाविनि मानसबोधे भासते। तथा च प्रकृतोदाहरणे भवच्छेदरूपं प्रयोजनम् (अर्थात्मकं नियामकम्) शब्दजन्यबोधस्य विषयः, भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वरूपं लिङ्गं मानसबोधस्य विषय इति तयोर्भेद इति। अथैवं भेदे सिद्धेऽपि लिङ्गस्य वर्तमानत्वे तस्यैव नियामकता प्रकृते कुतो नेति चेन्न, प्रथमोपस्थितत्वेनान्तरङ्गस्यार्थस्य नियामकत्वसंभवे पश्चादुपस्थितत्वेन बहिरङ्गस्य लिङ्गस्य नियामकत्वा[illegible]।

अब इस शंका का उत्तर देते हैं—अत्राहुः इत्यादि। आशय यह है कि वैयाकरण शाब्दबोध में क्रिया को प्रधान मानते हैं, तदनुसार 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इस वाक्य से 'भवच्छेदरूप-फलवाली, चैत्रादिरूप-कर्तावाली, स्थाणुरूप-कर्मवाली, प्रेरणा का विषय भजन-क्रिया' यह बोध होगा। नैयायिक शाब्दबोध में प्रथमान्तपद के अर्थ को मुख्य मानते हैं, तदनुसार उक्त वाक्य से 'भवच्छेदरूप फलवाली, स्थाणुरूप कर्मवाली प्रेरणा-विषयीभूत भजन-क्रिया का कर्ता चैत्र आदि' यह बोध होगा। दोनों ही मतों में 'भवच्छेदजनक-भजन-कर्मत्व' रूप धर्म शाब्दबोध में नहीं आता, अर्थात् शब्द से वह धर्म अवगत नहीं होता। हाँ, उस बोध के बाद जो एक मानस बोध होता है, उसमें यह धर्म विषय हो सकता है, अर्थात् उक्त शाब्दिक बोध के अनन्तर मन से उस धर्म का ज्ञान किया जा सकता है। इस स्थिति में लिंग से अर्थ में विलक्षणता सिद्ध हो जाती है—अर्थात् यह प्रकरण अभिधा-नियमनवाली बात शाब्दबोध के उपायरूप में ही कही जा रही है, अतः यह नियमन शाब्दिकबोध से पूर्व ही करना चाहिये, अतः उक्त वाक्य में स्थाणुपद की अभिधा को नियमित करने के लिए शाब्दबोध से पूर्व ज्ञात होनेवाला कोई नियामक चाहिए, जो उक्त धर्मरूप 'लिंग' कथमपि नहीं हो सकता है, क्योंकि उसका ज्ञान शाब्दिकबोध के बाद में हो सकेगा अतः 'अर्थ' को पृथक् नियामक मानना आवश्यक है।

प्राचीनाभिमतं लिङ्गार्थयोर्वैलक्षण्यं प्रदर्शयति—

लिङ्गं त्वेकपदार्थः कोपादिः, अनन्वित एव यः पदार्थान्तरेण प्रकृतशक्य-धर्मतां शक्यान्तरव्यावृत्ततां च भजते, उक्तधर्मस्तु न तथेत्यपि केचित्।

एकपदार्थ इत्यस्यैव विवरणं पदार्थान्तरेणानन्वित इत्यादि। कोपादिरिति। कुपितो मकरध्वज इत्यादाविति भावः। उक्त इति। भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वरूप इत्यर्थः। न तथेति। पदार्थान्तरेणानन्वितः प्रकृतशक्यधर्मो नेत्यर्थः। नानार्थस्थले येन केनापि पदार्थान्तरेणानन्वितः सन् अभिमतशक्यवृत्तिरभिमतेतरशक्यावृत्तिश्च-अर्थात् एकस्यैव पदस्यार्थभूतः असमस्ताखण्डैकपदार्थ इति यावत् यो धर्मः स लिङ्गम्, यथा कुपितो मकरध्वज इत्यत्र कोपः। भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वरूपो धर्मस्तु असमस्ताखण्डैकपदार्थो न परस्परान्वयवशेनैव तस्य तादृशाकारसम्पत्तेरिति न तल्लिङ्गमिति तयोर्भेदं केचिदाचक्षत इति भावः। अत्र 'केचिदि'त्यनेनारुचिः सूच्यते, सा च तथाङ्गीकारे 'देवस्य त्रिपुराराते'रित्यत्र-देवपदाभिधानियमनानापत्तिप्रसङ्गरूपा बोध्या, त्रिपुरारातित्वस्याखण्डैकपदार्थत्वविरहेण लिङ्गत्वाभावात्। न च [illegible] नानार्थकत्वाभावेन [illegible] अन्यशब्दसन्निधेरिहाप्रसंगात्। न च 'नियतार्थकशब्दसामानाधिकरण्यं शब्दान्तरसन्निधिरिति प्राचीनमतानुसारेण निस्तारः, 'करेण राजते नागः' इत्यादावव्याप्त्या 'कुपितो मकरध्वज' इत्याद्यावतिव्याप्त्या च तादृशान्यशब्दसन्निधेर्निर्वक्तुमशक्यत्वात्। पण्डितराजमते तु लिङ्गोदाहरणं तद्भवतीति तल्लक्षणानुसन्धानेन विज्ञेयम्।

अब लिंग और अर्थ में प्राचीनाभिमत वैलक्षण्य का उल्लेख करते हैं—लिंगं तु इत्यादि। प्राचीन विद्वान् उक्त आशंका का समाधान इस प्रकार देते हैं—लिंग उसको कहते हैं जो एक पद का अर्थ हो,—अर्थात् जो किसी अन्य पद के अर्थ से अन्वित न होकर ही नानार्थक शब्द के अभिमत अर्थ में रहता हो और अनभिमत अर्थ में नहीं रहता हो। जैसे—'कुपितो मकरध्वजः' इत्यादि स्थल में कोप आदि, क्योंकि 'कोप' कुपितरूप एक पद का अर्थ है, और मकरध्वजपद के अभिप्रेत कामदेवरूप अर्थ में रहता है, तथा उस पद के अनभिप्रेत अर्थ मकराकारध्वजारूप अर्थ में नहीं रहता है। पूर्वोक्त भवच्छेदजनक भजन कर्मत्वरूपधर्म तो किसी एक पद का अर्थ नहीं है अपि तु अनेक पदों के अर्थों का मिलितरूप है, अतः वह लिंग नहीं कहा जा सकता।

प्रकरणं निरूपयति—

प्रकरणं वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थता।

वक्ता च श्रोता चेतिद्वन्द्वः, तयोः बुद्ध्योः तिष्ठति यत्, तद्भाव इत्यर्थः, वक्तृश्रोतृज्ञानविषयतेति यावत्। प्रकरणं प्रस्ताव इत्यनर्थान्तरम्।

अब 'प्रकरण' की व्याख्या करते हैं—प्रकरण इत्यादि। वक्ता और श्रोता दोनों की बुद्धि में किसी वस्तु का रहना प्रकरण कहलाता है। प्रकरण का दूसरा पर्यायवाची शब्द प्रस्ताव है।

उदाहरति—

यथा—राजानं संबोध्य केनचिद्भृत्येनोक्ते 'सर्वं जानाति देवः' इति वाक्ये देवपदस्य युष्मदर्थे।

युष्मदर्थे इति। संबोध्ये राजनि इत्यर्थः, संबोध्यस्यैव युष्मदर्थत्वात्। इत अग्रे अभिधानियमनमिति शेषः। प्रकरणं देवपदस्याभिधां युष्मदर्थे नियमयतीति भावः।

उदाहरण देते हैं—यथा इत्यादि। कोई सेवक जब राजा को संबोधन करके 'सर्वं जानाति देवः-अर्थात् आप सब कुछ जानते हैं' ऐसा वाक्य कहता है, तब उस वाक्य में 'देव' पद के 'देवता' और 'आप' आदि त्रिविध अर्थ होने पर भी 'आप' अर्थ में ही अभिधा का नियमन हो जाता है, क्योंकि वहाँ 'आप' का ही प्रकरण है 'देवता' का नहीं।

लिङ्गं निरूपयति—

लिङ्गं नानार्थपदशक्यान्तरावृत्तिरेकशक्यगतः साक्षाच्छब्दवेद्यो धर्मः।

नानार्थपदस्य प्रकृतशक्यादन्यस्मिन् शक्येऽवर्तमानः प्रकृतिशक्ये च वर्तमानः शब्देन साक्षात् बोध्यो न त्वर्थाक्षिप्तो धर्मविशेषो लिङ्गमित्यर्थः।

अब 'लिङ्ग' की व्याख्या करते हैं—लिङ्गम् इत्यादि। उस धर्म-विशेष को 'लिङ्ग' कहते हैं जो नानार्थक पद के अभिप्रेत अर्थ में रहता हो और अनभिप्रेत अर्थों में नहीं रहता हो। एवं जो साक्षात् शब्द से ही बोधित होता है—अर्थात् पूर्वोक्त 'भजनकर्मत्व' की तरह मन आदि से ज्ञात न होता हो।

उदाहरति—

यथा—'कुपितो मकरध्वजः' इत्यत्र कोपो मकरध्वजपदस्य।

मकरध्वजपदस्य। अभिधां नियमयतीति शेषः। अत्र कामसमुद्रद्वयार्थकस्य मकरध्वजपदस्य कामरूपात् प्रकृतशक्यादन्यस्मिन् शक्ये समुद्रेऽवर्तमानः प्रकृतशक्ये कामे वर्तमानश्च कुपितपदेन साक्षात् बोध्यः कोपः (लिङ्गम्) मकरध्वजपदस्य शक्तिं कामरूपार्थे नियमयतीति भावः।

उदाहरण दिखलाते हैं—यथा इत्यादि। यद्यपि 'मकरध्वज' पद की शक्ति कामदेव, समुद्र आदि अनेक अर्थों में है तथापि 'कुपितो मकरध्वजः—अर्थात् मकरध्वज कुपित हो गया' इस वाक्य में 'कोपरूप लिङ्ग' से मकरध्वज पद की शक्ति कामदेवरूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है, क्योंकि मकरध्वज पद के समुद्र आदि अचेतन अर्थों में नहीं रहने वाला, कामदेव में रहनेवाला और 'कुपित' इस एक पद से ज्ञात होनेवाला 'कोप' कामदेव का 'लिङ्ग' (चिह्नविशेष) हो जाता है। अतः उक्त वाक्य में मकरध्वज पद से कामदेव का ही बोध होता है, अन्य का नहीं।

अन्यशब्दसन्निधिं निर्वक्ति—

शब्दस्यान्यस्य सन्निधिर्नानार्थपदैकार्थमात्रसंसर्ग्यर्थान्तरवाचकपदसमभिव्याहारः।

नानार्थपदस्यानेकार्थानां मध्ये एकार्थमात्रप्रतियोगिकसंबन्धविशिष्टेन अर्थान्तरवाचकेन नानार्थकेनेति यावत् पदेन समभिव्याहारः पूर्वत्वपरत्वान्यतरसंबन्धेन तद्विशिष्टता नानार्थकपदगता शब्दस्यान्यस्य सन्निधिरित्यर्थः। अत्रैकार्थमात्रप्रतियोगिकसंबन्धविशिष्टत्वमर्थान्तरवाचके पदे पदद्वारकमवगन्तव्यम्।

अब 'अन्यशब्द की सन्निधि' की व्याख्या करते हैं—शब्दस्य इत्यादि। नानार्थक पद के केवल एक अर्थ से संबन्ध रखनेवाले अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के भी वाचक पद का निकट स्थित होना—अर्थात् ऐसे दो अनेकार्थक पदों का पास-पास रहना जिनका कोई एक अर्थ ही परस्पर सम्बन्ध रखता हो—'अन्यशब्द-सन्निधि' कहलाता है।

उदाहरति—

यथा—'करेण राजते नागः' इत्यत्र करपदस्य नागपदमादाय नागपदस्य च करपदमादाय शुण्डायां गजे च।

गजे चेत्यस्याग्रेऽभिधानियमनमिति शेषो बोध्यः। करपदस्य पाणिशुण्डादण्डकिरणा

अर्थौ। नागपदस्य गजसर्पौ वाच्यौ। अतस्तत्पदद्वयमपि नानार्थकम्। अत्र करपदस्य शुण्डातिरिक्ते नागपदस्य च गजातिरिक्तेऽर्थे स्वीकृते परस्परमन्वयासंभवेन वाक्यार्थासंपत्तिरिति उक्तरूपो नागपदसमभिव्याहारः करपदस्य तादृशकरपदसमभिव्याहारश्च नागपदस्य क्रमशः शुण्डादण्डे गजे चाभिधां नियमयतीति सारांशः।

उदाहरण दिखलाते हैं—यथा इत्यादि। पाणि, हाथी का सूँड़ और किरण इन तीनों अर्थों में समानरूप से 'कर' पद की अभिधा ज्ञात होती है। इसी तरह 'नाग' पद की अभिधा भी हाथी और सर्प इन दोनों ही अर्थों में एक ही तरह विदित होती है, अतः 'करेण राजते नागः अर्थात् नाग कर से शोभित होता है' इस वाक्य में 'कर' और 'नाग' दोनों ही पद अनेकार्थक हैं। अब यहाँ यदि 'कर' पद के 'सूँड़' से अन्य हाथ या किरण आदि अर्थ किये जाँय, इसी तरह 'नाग' पद का हाथी से अन्य सर्प अर्थ लिया जाय, तब उन अर्थों में परस्पर अन्वय नहीं बन सकेगा, जिससे वाक्य का कुछ अर्थ ही सम्पन्न नहीं होगा, अतः 'नाग' पद की सन्निधि से 'कर' पद की 'सूँड़' में और 'कर' पद की सन्निधि से 'नाग पद की 'हाथी' में अभिधा नियमित हो जाती है। इसी से उक्त वाक्य का यहाँ 'सूँड़ से हाथी शोभित होता है' ऐसा ही अर्थ अवगत होता है।

अत्रापाततो जायमानामन्योन्याश्रयभ्रान्तिं निराकरोति—

नचात्रैकशब्दशक्तिनियमनमपरशब्दशक्तिनियमोऽपेक्षते येनान्योन्याश्रयः स्यात्, किंतु करनागशब्दयोरर्थान्तरग्रहणेऽन्वयानुपपत्त्या युगपदेव शक्तिर्नियम्यते।

नचेति। नहीत्यर्थः। अर्थान्तरेति। हस्तसर्पेत्यर्थः। 'करेण राजते नागः' इत्यत्र 'रामार्जुना'वित्यत्रेव करशब्दशक्तिनियमो नागशब्दशक्तिनियमनं नागशब्दशक्तिनियमो वा करशब्दशक्तिनियमनं नापेक्षते अपि तु करनागशब्दयोर्हस्तसर्पादिरूपेऽर्थे गृह्यमाणे प्रसज्यमानयाऽऽन्वयानुपपत्त्या युगपदेवोभयोः पदयोः शक्तिर्नियम्यत इति नान्योन्याश्रयावसर इति भावः। वृत्तिवार्त्तिकेऽप्पयदीक्षितस्तु "न ह्यत्र समभिव्याहृतशब्देन तदर्थप्रतिपादनमभिधानियमनायापेक्ष्यते, किंतु स्वार्थेन गृहीतसंसर्गेऽर्थे व्युत्पन्नो यः शब्दः तत्समभिव्याहारमात्रम्। तथा च यथा संबन्धिदर्शनात् संबन्ध्यन्तरस्मृतिस्थले गृहीतसंबन्धस्य संबन्धिनो दर्शनमात्रं संबन्ध्यन्तरस्मरणायापेक्ष्यते, न तु तद्दर्शनान्तरं तत्संबन्धस्मरणमपीति नान्योन्याश्रयः [illegible]" [illegible]।

अब, यहाँ आपाततः प्रतीत होनेवाली [illegible] का [illegible] करते हैं—न च इत्यादि। 'अन्यशब्द-सन्निधि' का जो उदाहरण पूर्व में दिखलाया गया है, उसमें 'कर' शब्द की अभिधा के नियमन में 'नाग' शब्द की अभिधा का नियमन अपेक्षित नहीं है और न 'नाग' शब्द की अभिधा के नियमन में 'कर' शब्द की अभिधा का नियमन अपेक्षित है; क्योंकि 'कर' और 'नाग' पद के क्रमशः 'सूँड़' और 'हाथी' से अन्य अर्थ (किरण तथा सर्प आदि) ज्ञात हो जाने पर परस्पर अन्वय के ही असंभव हो जाने से एक साथ ही दोनों शब्दों की अभिधा नियमित होती है, अत एव यहाँ अन्योन्याश्रय दोष का कोई प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकता है।

प्राचीनोक्तं खण्डयति—

देवस्य पुरारातेरिति प्राचामुदाहरणे सुरत्वभूपत्वाभ्यां देवपदान्नगारित्वासुरविशेषारित्वाभ्यां पुरारातिपदाच्चोपस्थितेरुभयोरपि नानार्थत्वादर्थान्तरस्वीकारेऽप्यन्वयोपपत्तेश्च कथं शक्तेर्नियमः स्यात्?

अर्थान्तरेति। भूपत्वासुरारित्वेत्यर्थः। अयं भावः—प्राचीनाः काव्यप्रकाशकारादयः

'देवस्य पुरारातेः' रित्यन्यशब्दसन्निधेरुदाहरणमाचख्युः, तदसंगतम् विचारासहत्वात्। तथाहि—अत्र देवपदात् सुरत्वेन भूपत्वेन च रूपेण सुरस्य भूपस्य चोपस्थितिः, पुरारातिपदाच्च नगरारातित्वेन, असुरविशेषारित्वेन च रूपेण यत्किञ्चिन्नगरशत्रुभूतस्य कस्यापि राज्ञः, त्रिपुरासुरवैरिणो महादेवस्य चोपस्थितिरिति पदद्वयस्य नानार्थत्वं सिद्धयति, परन्तु तयोः पदयोः क्रमशः भूपनगरारिरूपार्थस्वीकारेऽपि अन्वयः उपपद्यत एव। तथा च नात्र शक्तिनियमनस्यापेक्षा संभवो वा इति।

अब प्राचीनोक्त उदाहरणों पर विचार करते हैं—देवस्य इत्यादि। अभिप्राय यह है कि मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों ने 'देवस्य पुरारातेः—अर्थात् पुर के शत्रुभूत देव का' यह 'अन्यशब्द-सन्निधि' का उदाहरण दिखलाया है। उनका आशय यह है कि शिव-वाचक 'पुरारातिपद' के सान्निध्य से 'देव' पद की अभिधा देवतारूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है, अतः 'देव' पद का यहाँ राजा अर्थ नहीं होता। परन्तु प्राचीनों का यह उदाहरण संगत नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य में केवल 'देव' पद ही अनेकार्थक नहीं है, अपि तु 'पुराराति' पद भी अनेकार्थक ही है, जैसे 'देव' से देवता और राजा इन दो अर्थों की उपस्थिति हो सकती है, वैसे 'पुराराति' पद से भी किसी साधारण नगर शत्रु की और त्रिपुरासुर-शत्रु-शिव की (दोनों की) उपस्थिति हो सकती है। परन्तु 'देव और पुराराति' पद से क्रमशः यदि राजा और साधारण नगरशत्रु का भी बोध हो, तथापि अन्वय बन सकता है अर्थात् किसी नगरशत्रु राजा के लिये भी उक्त वाक्य प्रयुक्त हो सकता है, फिर यहाँ अभिधानियमन की आवश्यकता ही क्या है? अथवा वक्ता के तात्पर्य के अनुरोध से आवश्यकता होने पर भी वह (अभिधानियमन) हो कैसे सकता है? क्योंकि 'अन्यशब्दसन्निधि' से अभिधा का नियमन वहीं होता है जहाँ उस (अभिधानियमन) के बिना अन्वय अनुपपन्न होता रहता है, जैसा पहले 'करेण राजते नागः' यहाँ दिखलाया जा चुका है।

तदुदाहरणसंगतिसाधकं प्राचामाशयमुपपाद्याक्षिपति—

न च पुरारातिपदं योगरूढम्, तथा च रूढेर्योगापहारितया शिवत्वेनैव तस्य बोधकत्वाद्देवपदशक्तिनियामकतेति वाच्यम्; पुरारातिपदस्य रूढौ मानाभावात्।

तस्येति। पुरारातिपदस्येत्यर्थः। पुरारातिपदं शिवे योगरूढम्, तथा च तत्पदं शिवत्वेनैव रूपेण बोधं जनयेन्न नगरारित्वेन रूपेण 'रूढिर्योगापहारिणी'ति न्यायात्। एवञ्च पुरारातिपदं न नानार्थकमिति तत्सन्निधिः देवपदस्य सुरे शक्तिं नियन्तुं शक्नोति अन्यथाऽऽन्वयानुपपत्तेरिति शंकादलस्याभिप्रायः। उत्तरदलाभिप्रायस्तु 'नैतद्युक्तम्' पुरारातिपदस्य शिवे योगरूढत्वप्रमापकस्य कोशादेरभावात् इति बोद्धव्यः।

अब उक्त उदाहरण को संगत बनानेवाले प्राचीनाशय का उपपादन करके खण्डन करते हैं—न च इत्यादि। यदि कहा जाय कि प्राचीन आचार्य, 'पुराराति' पद को शिव में योगरूढ मानते हैं अतः उस पद से केवल शिव की ही उपस्थिति होती है किसी साधारण नगर-शत्रु की नहीं, क्योंकि 'रूढिर्योगापहारिणी अर्थात् रूढिशक्ति योगशक्ति का अपहरण कर लेती है।' इस तरह से जब 'पुराराति' पद का अर्थ (शिव) निश्चित है, तब उसके सान्निध्य से 'देव' पद की अभिधा देवतारूप अर्थ में नियन्त्रित हो जायगी, अन्यथा अन्वय अनुपपन्न हो जाता है—अर्थात् राजा और शिव का परस्पर अन्वय नहीं हो सकता है। तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'पुराराति' पद को योगरूढ मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् कोश आदि में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि 'पुराराति' पद शिवरूप अर्थ में योगरूढ है।

पाठान्तरमाश्रित्योदाहरणसंगतिं कुर्वतः प्रदीपकारादेर्मतमवतार्य निरस्यति—

अथ 'देवस्य त्रिपुराराते:' इति पाठस्तथापि पदान्तरोपस्थापितस्य त्रिपुरासुरवैरित्वस्य लिङ्गतया लिङ्गोदाहरणत्वमेवास्य स्यात्, न तु शब्दान्तरसंनिध्युदाहरणत्वमिति वदन्ति।

पदान्तरेति। त्रिपुरारातेरितीत्यर्थः। अस्येति। देवस्य त्रिपुरारातेरितिवाक्यस्येत्यर्थः। वदन्तीति। वृत्तिवार्तिकादौ दीक्षितादय इति भावः। अयमाशयः—यद्यपि मूलकाव्यप्रकाशग्रन्थे 'देवस्य पुराराते'रित्येव पाठः तथापि गोविंदठक्कुरः स्वकीये प्रदीपाभिधाने काव्यप्रकाशव्याख्याने देवस्य त्रिपुरारातेरितिपाठमेव प्रतीकतया धृतवान्। तथापाठे त्रिपुरारातिपदस्य शिवे रूढेः सर्वसम्मततया कोशादिसमर्थिततया च पूर्वोल्लिखितमूलग्रन्थप्रतिपादितरीत्या तद्वाक्यस्य शब्दान्तरसंनिध्युदाहरणत्वं संभवतीति तत्तात्पर्यम्। दिक्षितादयस्तादृशपाठविशिष्टस्यापि तद्वाक्यस्य तदुदाहरणत्वं खण्डयन्तीत्यनुवदति ग्रन्थकारः तथापीत्यादिना। तच्च निगदव्याख्यातमेवेति नेह प्रतन्यते।

अब पाठान्तर मानकर उक्त उदाहरण को संगत बनानेवाले 'प्रदीपकार' आदि के मत का खण्डन करते हैं—अथ इत्यादि। आशय यह है कि यद्यपि काव्यप्रकाश के मूल में 'देवस्य पुराराते:' ऐसा ही पाठ है, परन्तु 'गोविन्द ठक्कुर' ने स्वकृत 'प्रदीप' नामक 'प्रकाश' की टीका में 'देवस्य त्रिपुराराते:' ऐसा ही पाठ माना है, तदनुसार उक्त उदाहरण हो सकता है, क्योंकि 'त्रिपुरारति' पद, सबके मत से शिवरूप अर्थ में योगरूढ है, कोश आदि से भी उस पद की योगरूढता समर्थित है अतः पूर्वोक्त रीति से उस पद का सान्निध्य 'देव' पद की अभिधा का नियमन 'देवता' में कर सकता है, यह है प्रदीपकार का तात्पर्य। परन्तु अप्पय दीक्षित आदि उसका भी खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि यदि 'त्रिपुराराते:' ऐसा पाठ मानते हैं तब तो 'त्रिपुरारति' पद से उपस्थित होने वाला त्रिपुरासुरवैरित्वरूप धर्म अनन्यसाधारण होने से शिव का लिङ्ग ही हो जाता है, अतः उक्त वाक्य 'लिङ्ग'रूपनियामक का उदाहरण होगा, 'शब्दान्तरसन्निधि' का नहीं।

पूर्वग्रन्थे वदन्तीत्यनेन सूचितामरुचिं स्फोरयति—

तत्रैकपदार्थः कोपादिः पदार्थान्तरेणानान्वित एव यः प्रकृतशक्यधर्मतां शक्यान्तरव्यावृत्ततां च भजते स लिङ्गपदेनात्रोक्त इति प्राचामाशये तु नोक्तदोषः।

तत्रेति। 'देवस्य त्रिपुराराते:' इति पाठे इत्यर्थः। कोपादिरिति दृष्टान्तोक्तिः। नोक्तदोष इति। उक्तवाक्ये लिङ्गोदाहरणत्वप्रसंगरूपो दोषो नेत्यर्थः। तथा च संभवति तस्य शब्दान्तरसंनिध्युदाहरणत्वमिति भावः। अर्थनिरूपणप्रस्तावे व्याख्यातोऽयं प्राचामाशयः। तदनुसारमिह वैरित्वं न लिङ्गं त्रिपुरासुररूपपदार्थान्तरान्वितत्वेव तस्य शक्यान्तरव्यावृत्तत्वात्। इत्थमिदानीं समर्थितमपि प्राचामुदाहरणं ग्रन्थकारानभिमतमेवेति अर्थनिरूपण एव 'केचित्तु' इत्यनेन सूचिताया अरुचेरुपपादनावसरे प्रपञ्चितम्।

अब दीक्षितद्वेषी पण्डितराज दीक्षितमत का खण्डन करने के लिये वस्तुतः अनभिमत रहने पर भी प्राचीन मत का मण्डन करते हैं—तत्रैक इत्यादि। यदि प्राचीनों का अभिप्राय इस प्रकार से वर्णित हो कि लिङ्ग उस धर्मविशेष का नाम है, जो अखण्ड एक पद का अर्थ होकर—अर्थात् अन्य पद के अर्थ से अमिश्रितरूप से ही—नानार्थक पद के अभिमेत अर्थ में रहता हो और अनभिप्रेत अर्थ में नहीं रहता हो जैसे 'कुपितः मकरध्वजः' इस वाक्य में कोप आदि, तब तो दीक्षित के द्वारा 'देवस्य त्रिपुराराते:' इस वाक्य का लिङ्गोदाहरणत्वकथन ठीक नहीं ही है, क्योंकि उक्त अभिप्रायवर्णन के अनुसार 'वैरित्व'

धर्म शिव का लिङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि, त्रिपुरासुर पदार्थ के अन्वय करने पर ही, वह, 'देव' पद के अनभिप्रेत राजारूप अर्थ से व्यावृत्त होता है अर्थात् केवल वैरित्व तो राजा में भी रह ही सकता है, त्रिपुरासुरवैरित्व राजा में नहीं रहता, पर उस धर्म का रूप अन्वय से तैयार होता है, और लिङ्ग का यहाँ अर्थ है अनन्वित धर्म, अतः प्राचीनों का 'देवस्य त्रिपुरारातेः' इस वाक्य को शब्दान्तरसन्निधि का उदाहरण मानना उचित ही है।

काव्यप्रकाशटीकाकारैर्गोविन्दठक्कुरादिभिरुक्तं शब्दान्तरसन्निधेः स्वरूपमनूद्य दूषयति—

यत्तु शब्दस्याव्यभिचरितस्य सन्निधिः सामानाधिकरणम् इति काव्यप्रकाशटीकाकारैरुक्तम् , तत्तु 'करेण राजते नागः' इत्यादावव्यापनात्तन्नियामकान्तरस्य गवेषणे गौरवात् 'कुपितो मकरध्वजः' इति तन्मूलोक्ते लिङ्गोदाहरणेऽतिव्यापनाच्चोपेक्ष्यम् ।

अव्यभिचरितस्येति। अर्थान्तरा प्रत्यायकस्येत्यर्थः। नियतार्थकस्येति यावत्। प्रदीपकारादिभिः नियतार्थकशब्दसामानाधिकरण्यं शब्दान्तरसन्निधिरित्युक्तम्। तन्न युक्तम्। 'करेण राजते नाग' इति शब्दान्तरसन्निध्युदाहरणेऽव्याप्त्यापत्तेः, तत्र करनागपदयोरेकतरस्यापि नियतार्थकत्वविरहात्। न च तत्र नियामकान्तरमन्वेष्टव्यमिति वाच्यम्, गौरवात्। कथञ्चित् गौरवाङ्गीकारेऽपि 'कुपितो मकरध्वज' इत्यत्र लिङ्गोदाहरणतया काव्यप्रकाशकारेणोक्तेऽतिव्याप्त्या तल्लक्षणस्य दूषितत्वाच्चेति भावः।

काव्यप्रकाश के टीकाकारों के द्वारा की गई 'अन्यशब्दसन्निधि' की व्याख्या का खण्डन करते हैं—यत्तु इत्यादि। 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार 'गोविन्दठक्कुर' आदि ने जो यह कहा कि निश्चितार्थक शब्द के सामानाधिकरण्य (समान विभक्तिक होने) का नाम 'अन्यशब्द सन्निधि' है, वह ठीक नहीं, क्योंकि यह लक्षण 'शब्दान्तरसन्निधि' के 'करेण राजते नागः' इस पूर्वोक्त उदाहण में संघटित नहीं हो सकेगा, क्योंकि वहाँ एक भी पद निश्चितार्थक नहीं है—अर्थात् कर और नाग दोनों ही पद नानार्थक होने से अनिश्चित अर्थवाले ही है। यदि कहें कि वहाँ दूसरे नियामक का अन्वेषण कर लिया जायगा—अर्थात् 'करेण राजते नागः' यह किसी अन्य नियामक का ही लक्ष्य माना जायगा, अन्यशब्दसन्निधि का नहीं, तो वह भी समुचित नहीं होगा, क्योंकि जब मेरी रीति से वह 'शब्दान्तरसन्निधि' का ही उदाहरण हो सकता है, तब व्यर्थ उसके लिये अन्य नियामक के अन्वेषण का गौरव क्यों उठाया जाय। दूसरी बात यह कि उक्त लक्षण अतिव्याप्तिदोषग्रस्त भी है अर्थात् 'कुपितो मकरध्वजः' इस वाक्य—जो आप के हिसाब से लिङ्ग का उदाहरण है—में भी उक्त लक्षण संघटित हो जायगा, क्योंकि यहाँ भी 'कुपित' पद निश्चितार्थक है और उसका सामानाधिकरण्य भी मकरध्वज पद के साथ है ही। अतः टीकाकारों की उक्त व्याख्या उपेक्षा के ही योग्य है।

सामर्थ्यं निरूपयति—

सामर्थ्यं कारणता।

कारणता च कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्तित्वमिति बोध्यम्।

अब 'सामर्थ्य' की व्याख्या करते हैं—सामर्थ्य इत्यादि। कारण होने का नाम 'सामर्थ्य' है। कारण उसको कहते हैं, जो कार्य के अव्यवहितपूर्वक्षण में कार्यदेश में नियमतः रहता है।

उदाहरति—

यथा—'मधुना मत्तः कोकिलः' इत्यत्र कोकिलमदजनकता मधुशब्दस्य वसन्ते।

वसन्ते इति । अभिधां नियमयतीति शेषः । अर्थान्तरेऽवर्तमाना कोकिलमदकारणता 'मधु क्षौद्रे जले क्षीरे मद्ये पुष्परसे मधुः । दैत्ये चैत्रे वसन्ते च जीवाशोके मधुद्रुमे' इति विश्वकोशादनेकार्थकस्य मधुशब्दस्य शक्तिं वसन्तरूपार्थे नियमयतीति भावः ।

उदाहरण दिखलाते हैं—यथा इत्यादि । मधुशब्द के मद्य, वसन्त आदि अनेक अर्थ होते हैं । परन्तु 'मधुना मत्तः कोकिलः अर्थात् कोयल मधु से मत्त हो रही है' इस वाक्य में 'मधु' पद की अभिधा, कोकिलमद-कारणता से वसन्तरूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है—अर्थात् कोकिलों में मदोत्पत्ति का कारण वसन्त ही हो सकता है, मद्य आदि नहीं । अतः यहाँ 'मधु' पद से वसन्त का ही बोध होता है, मद्य आदि का नहीं ।

खण्डनाय परकीयोक्तिमनुवदति—

'अत्र कोकिलमादने मधोरेव शक्तिर्न तु मधुनः । मादकत्वं मधुन्यपीति न लिङ्गम्' इति वदन्ति ।

मधोः वसन्तस्य । मधुनो मद्यस्य । मादकत्वं सामान्यतो मदकारणत्वम् । मधुन्यपीति मद्येऽपीत्यर्थः । वदन्तीत्यस्य काव्यप्रकाशव्याख्यातार इति शेषः । अनेनारुचिः सूचिता । अस्याभिप्रायं स्वयमग्रे विशदयेत् ग्रन्थकृदिति नेह व्याख्यापेक्षा ।

खण्डन करने के लिये अन्य आचार्य की उक्ति का अनुवाद करते हैं—अत्र इत्यादि । 'मधुना मत्तः कोकिलः' इसको 'लिङ्ग' का ही उदाहरण क्यों नहीं माना जाय ? इस शंका के उत्तर में कुछ लोग कहते हैं कि साधारणतया मद का कारण मद्य भी है, पर कोकिल के मद का कारण वसन्त ही है, अतः मादकत्व वसन्त का लिङ्ग नहीं हो सकता ।

पूर्वसूचितामरुचिमाह—

तत्र सामर्थ्यं लिङ्गान्तर्गतमेव कुतो न स्यात्, इति शङ्कायाः कथमेतदुत्तरं संगच्छते ?

तत्रेति । मधुनेत्युदाहरणविषयीभूतमित्यर्थः । अस्याः शङ्कायास्तदुत्तरं न भवितुमर्हतीति भावः ।

पूर्वोक्त उत्तर में 'वदन्ति' पद से सूचित अरुचि का स्पष्टीकरण करते हैं—तत्र इत्यादि । "सामर्थ्य" 'लिङ्ग' के अन्तर्गत क्यों नहीं हो जाता—इसको उससे भिन्न क्यों माना जाता है ?' इस शंका का उक्त उत्तर कैसे हो सकता है ?

पराभिमतमुत्तरसंगतिप्रकारमुपपाद्य खण्डयति—

न च मादनसामर्थ्यस्य सुरावृत्तितया नासाधारणधर्मतारूपं लिङ्गत्वमिति वाच्यम्, मादनसामर्थ्यस्य सुरावृत्तित्वेऽपि कोकिलमादनसामर्थ्यस्य वसन्तासाधारणतया लिङ्गत्वस्य दुर्वारत्वात् ।

मादनेतिकरणल्युडन्तम् । लिङ्गनामासाधारणो वस्तुधर्मः । मादनसामर्थ्यं तु सुरावसन्तयोः साधारणम्, अतो न तद्वसन्तस्य लिङ्गम् । एवञ्चोक्तशङ्कायाः तदुत्तरं संगतमेवेति शङ्काशयः । सामान्यस्य मादनसामर्थ्यस्य मद्येऽपि वर्तमानतया वसन्तासाधारणधर्मत्वासंभवेऽपि कोकिलकर्मकमादनसामर्थ्यस्य वसन्तमात्रवृत्तितया तदसाधारणधर्मत्वेन लिङ्गत्वे स्थितेन तस्योत्तरस्य संगतिरिति तु समाधानाशयो वेदितव्यः ।

उक्त उत्तर को संगत बनाने के लिये प्रतिपक्षियों के द्वारा दी गई युक्ति का उपपादन करके खण्डन करते हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहें कि 'लिङ्ग' उस वस्तु-धर्म को कहा जाता है, जो असाधरण हो—अर्थात् उसी वस्तु में रहता हो, अन्य में नहीं । मादकत्व तो मद्य और वसन्त दोनों में रहनेवाला साधारण धर्म है, अतः वह वसन्त का लिङ्ग नहीं

हो सकता, यही मेरे उत्तर का आशय है, फिर वह संगत क्यों नहीं होगा? तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि केवल मादकत्व भले ही साधारण धर्म हो, पर कोकिलमादकत्व तो साधारण नहीं है—वह केवल वसन्त में ही रहनेवाला धर्म है, अतः उसको वसन्त का 'लिङ्ग' मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, फिर उक्त उत्तर असंगत ही ठहरता है।

कथंचित् कोकिलमादनसामर्थ्यस्य साधारणत्वस्थिरीकरणेऽपि न तवोक्तेः संगतिरित्याह—

न च प्राणिमात्रमादनसामर्थ्यस्य मधुनः कोकिलमादनसामर्थ्यमप्यस्तीति वाच्यम्, एवं सति सामर्थ्यस्य वाचकता नियामकत्वमसंगतं स्यात्, न तु मधुन इति स्वोक्तिविरोधश्च भवेत्।

प्राणिमात्रमादनसामर्थ्यस्येत्यत्र प्राणिमात्रमादनस्य सामर्थ्यं यस्मिन् तस्येति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः। प्राणिमात्रमादनसमर्थस्येति तु पाठः साधीयान्, मधुनः मद्यस्य। एवं सतीति। मद्यस्यापि कोकिलमादनसामर्थ्यसमर्थने इत्यर्थः। वाचकतेति। अभिधा शक्तीत्यर्थः। असाधारणत्वाभावादिति भावः। स्वोक्तिविरोध इति। 'अत्र कोकिलमादने' इत्यादिप्रागनुदितग्रन्थघटकस्वकथनविरोध इत्यर्थः। मद्यस्य प्राणिमात्रमादनसामर्थ्यशालितया कोकिलमादनसामर्थ्यस्यापि तत्राङ्गीकारे 'मधुना मत्तः कोकिलः' इत्यत्र मधुपदस्य मद्यरूपार्थग्रहणेऽपि अन्वयोपपत्तौ शक्तिनियमनमनावश्यकमेव। तस्येष्टापत्तावपि 'कोकिलमादने मधोरेव शक्तिर्न मधुनः' इति स्वोक्तिविरोधो दुरुद्धर एवेति भावः।

यदि आप कहें कि कोकिल-मादकत्व भी वसन्त का लिंग नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी असाधारण धर्म नहीं है—अर्थात मद्य एक ऐसी वस्तु है, जिसमें प्राणिमात्र को मत्त बना देने की शक्ति है—वह (मद्य) कोकिल को भी मत्त कर दे सकता है, अतः कोकिल-मादकत्व भी मद्य और वसन्त दोनों में रहनेवाला साधारण धर्म ही है, तो यह कथन भी समुचित नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में 'सामर्थ्य' को अभिधानियामक मानना ही असंगत हो जायगा—अर्थात् जब कोकिल के मद का कारण मद्य और वसन्त दोनों हैं, तब 'मधुना मत्तः कोकिलः' इस वाक्य में मधुपद का मद्य अर्थ करने पर भी अन्वय बैठ ही जायगा, फिर अभिधानियमन की अपेक्षा ही नहीं रहेगी अतः सामर्थ्य को अभिधानियामक मानना व्यर्थ होगा। दूसरी बात यह है कि—जब आप पूर्व में 'न तु मधुनः' ऐसा लिखकर मद्य में कोकिलमादन-सामर्थ्य का निरास कर चुके हैं, तब अब उसी मद्य में कोकिलमादन-सामर्थ्य का स्वीकार कैसे करते हैं? यह तो आपकी परस्पर-विरुद्ध बात हो रही है।

अथ सामर्थ्यस्य नियामकत्वे प्रसिद्ध्यनुरोध इत्यपि न युक्तमित्याचष्टे—

प्रसिद्ध्याश्रये पुनर्लिङ्गत्वमप्रच्युतम्।

सामान्यतः कोकिलमादनसामर्थ्यमपि मद्ये तिष्ठतु, प्रसिद्धं तु तत् वसन्त एवेति प्रसिद्धसामर्थ्यस्य प्रकृतोदाहरणघटकमधुशब्दशक्तिनियामकता युक्तेति कथनेऽपि न निस्तारः प्रसिद्धकोकिलमादनसामर्थ्यस्यासाधारणत्वेन वसन्तलिङ्गत्वं प्रसक्तमेवेति 'सामर्थ्यस्य लिङ्गान्तर्भावः कृतो नेति शङ्कायास्तदवस्थत्वादित्याशयः।

प्रसिद्धि के अनुरोध करने पर भी निस्तार नहीं हो सकता, इस बात का उल्लेख करते हैं—प्रसिद्ध्या इत्यादि। यदि आप कहें कि सामान्यतः कोकिल-मादन-सामर्थ्य भी मद्य में रहता है, तो रहे, पर प्रसिद्धि तो वह वसन्त में ही है—अर्थात् लोक में

यही प्रसिद्ध है कि कोयल वसन्त से मत्त हुआ करती है, अतः प्रसिद्ध मादनसामर्थ्य को उक्त वाक्य में मधुपद की अभिधा का नियामक माना जा सकता है, तो यह भी अनुचित ही है, क्योंकि प्रसिद्ध-मादन-सामर्थ्य, वसन्त का असाधारण धर्म ही हो जाता है, फिर तो वह लिंग के अन्तर्गत ही आ जायगा।

स्वसम्मतं लिङ्गसामर्थ्ययोर्भेदमाह—

शाब्दत्वाशाब्दत्वाभ्यामेकानेकपदार्थत्वाभ्यां वा विशेषस्तु स्यात्।

विशेषो भेदः। लिङ्गं शब्दजन्यबोधस्य विषयो भवति। यथा कुपितो मकरध्वज इत्यत्र कोपाश्रयाभिन्नः काम इति बोधस्य कोपो विषयो भवति। सामर्थ्यं तु न शाब्दबोधविषयः, अपि तु शाब्दबोधानन्तरं मानसबोधस्य विषयः। यथा—'मधुना मत्तः कोकिल' इत्यत्र मधुकरणकमदाश्रयः पिक इति शब्दजन्यबोधे कोकिलमादनकारणतारूपं सामर्थ्यं न विषयः। पश्चात् मानसबोधे तद्भासते इत्यन्यदेतत्। एवञ्च सिद्धो लिङ्गसामर्थ्ययोर्भेदः। ईदृशभेदस्य पूर्वमनुक्तत्वात् कोपसाधनस्य तत्राप्युल्लेखसंभवाच्च भेदान्तरमाह—एकानेकेति। लिङ्गमेकपदार्थरूपम्। यथा-कोपः कुपितपदार्थः। कोकिलमदकारणतात्मकं सामर्थ्यं तु कोकिलमत्ततृतीयाविभक्तिरूपानेकपदार्थ इति द्वयोर्भेद इति तात्पर्यम्।

अब लिंग और सामर्थ्य में स्व-सम्मत भेद का उल्लेख करते हैं—शाब्द इत्यादि। 'लिंग' शब्दजन्य-बोध का विषय होता है। जैसे—'कुपितो मकरध्वजः' इस वाक्य से होनेवाले 'कोपाश्रय से अभिन्न काम' इस बोध में 'कोप' (लिंग) विषय होता है। 'सामर्थ्य' तो शब्द-जन्य-बोध का विषय नहीं होता है, जैसे 'मधुना मत्तः कोकिलः' इस वाक्य से होनेवाले 'मधुकरणकमद का आश्रय पिक' इस बोध में कोकिल-मद-कारणता, विषय नहीं होती। पीछे मानस-बोध का विषय वह भी होता है, यह बात दूसरी है। इस तरह से लिंग और सामर्थ्य में भेद किया जा सकता है। अथवा 'लिंग' एक पद का अर्थ रहता है, जैसे—कुपितपद का कोप और 'सामर्थ्य' अनेक पदों का मिश्रित अर्थ होता है, जैसे—कोकिल-मद-कारणता उक्त वाक्य में कोकिल, मत्त और तृतीया-विभक्ति इन सबों का सम्मिलित अर्थ है। इस तरह से भी उन दोनों नियामकों में परस्पर भेद सिद्ध किया जा सकता है।

औचितीं निर्वक्ति—

औचिती योग्यता।

योग्यता च संबन्धविशेषाश्रयत्वसंभावनेति मन्तव्यम्।

अब 'औचिती' की व्याख्या करते हैं—औचिती इत्यादि। योग्यता को 'औचिती' कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—'पातु वो दयितामुखम्' इत्यत्र दयितामुखकर्तृकरक्षणकर्मत्वाक्षिप्त-कामार्तानां संबोध्यपुरुषाणां त्राणं हि तस्याः सांमुख्येनैव भवति, न तु मुखमात्रेण, वैमुख्ये तेन त्राणायोगात्। अतस्त्राणार्हत्वं वदन-सांमुख्योभयप्रत्यायकस्य मुखशब्दस्य।

मुखशब्दस्येत्यस्याग्रे साम्मुख्ये शक्तिं नियमयतीति शेषः। पातु वो दयितेति वाक्ये दयितामुखकर्तृकरक्षणक्रियाकर्मत्वेन कामार्ताः संबोध्यपुरुषाः आक्षिप्यन्ते। एवञ्च तेषां रक्षणं दयितायाः सांमुख्येनैव संभवति तथासत्येव कामार्तिशमननिदानभूतनिधुवनविनोदादिप्रवृत्तेः, न तु मुखमात्रेण, वैमुख्ये तस्याकिञ्चित्करत्वात्। तथा च रक्षणसंबन्धाश्रयत्व-

संभावनारूपा योग्यता मुखपदाभिधां सांमुख्ये नियमयतीति सारांशः। अत्र 'कर्मत्वाक्षिप्त-कामार्तानां संबोध्यपुरुषाणामिति पाठो न समीचीनः प्रतिभाति, तथा पाठे संबोध्यपुरुषैः सहाक्षिप्तपदार्थस्यानन्वयेन विवक्षितार्थाप्रतीतेः। अतः कर्मत्वाक्षिप्तकामार्तसंबोध्य-पुरुषाणामिति सर्वत्र समस्तः, कर्मत्वाक्षिप्तानां कामार्तानां संबोध्यपुरुषाणामिति सर्वत्र व्यस्त एव वा पाठः कल्पनीयः।

उदाहरण देखिए—जैसे—"पातु वो दयिता-मुखम् अर्थात् प्रियतमा का 'मुख' आपकी रक्षा करे" इस वाक्य में रक्षण-क्रिया के कर्मरूप से 'वः' पद-बोध्य कामार्त पुरुषों का आक्षेप होता है। ऐसी स्थिति में उन कामार्त पुरुषों की रक्षा, प्रियतमा के सांमुख्य (अनुकूलता) से ही सम्भव है, क्योंकि उसकी अनुकूलता-दशा में ही कामार्ति को शान्त करनेवाले संभोग आदि की प्रवृत्ति हो सकेगी, मुखमात्र से कामार्त की रक्षा सम्भव नहीं, क्योंकि प्रतिकूल रहने पर प्रियतमा का मुख अकिञ्चित्कर ही सिद्ध होता है। अतः साम्मुख्य और मुख इन दोनों अर्थों के वाचक 'मुख' पद की अभिधा, उक्त रक्षणयोग्यतारूप 'औचिती' से साम्मुख्य अर्थ में नियन्त्रित की जाती है।

देशं निरूपयति—

देशो नगरादिः।

अत्रादिपदेन ग्राम-गृहोद्यानादिपरिग्रहः।

अब 'देश' की व्याख्या करते हैं—देश इत्यादि। नगर, ग्राम, पुष्पवाटिका आदि को 'देश' कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—'भात्यत्र परमेश्वरः' इत्यादौ परमेश्वरादिशब्दस्य राजादौ। तस्य नगरादिसंबन्धतदभावयोः सम्भवेनाभावव्यावृत्त्यर्थमधिकरणकीर्तनस्य सार्थ-क्यात्। परमात्मनस्तु सर्वगतस्य व्यावर्त्याभावात्तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः।

राजादौ अभिधानियमनमिति शेषः। तस्येति। राजादेरित्यर्थः। अधिकरणकीर्तन-स्येति। अत्रेत्यनेनेति भावः। सर्वगतस्येति। व्यापकस्येत्यर्थः। सकलदेशस्थितस्येति यावत्। व्यावर्त्याभावादिति। तदनधिकरणीभूतदेशाप्रसिद्धेरिति भावः। तदुक्तीति। अत्रेत्यधिकरणोक्तावित्यर्थः। परमेश्वरपदं यद्यपि राजपरमात्मोभयवाचकम्, तथापि 'भात्यत्र परमेश्वरः' इति वाक्ये परमेश्वरपदस्य राजादिरेवार्थो न तु परमात्मा, अत्रेत्यव्ययवाच्येन नगरादिरूपाधिकरणेन तत्पदशक्तेः राजादौ नियमनात्। ननु परमात्मपक्षेऽधिकरणकीर्तनं किं न संभवति, यत्तस्यार्थान्तरेऽभिधानियामकत्वमास्थीयते इति चेन्न, अत्र पदवाच्ये नगरादावधिकरणे राजादिः कदाचित्तिष्ठति, कदाचिन्नेति नगरादौ तदीयस्थित्यभाववारणाय राजपक्षेऽधिकरणोक्तिसार्थक्येऽपि सदा सर्वत्र तिष्ठतः परमात्मनः क्वापि स्थितिविरहो न प्राप्त इति तद्वारणायाधिकरणोक्तेरनर्थकत्वात्।

अब उदाहरण दिखलाते हैं—यथा इत्यादि। 'परमेश्वर' पद के यद्यपि राजा और परमात्मा दोनों अर्थ होते हैं, तथापि 'भात्यत्र परमेश्वरः अर्थात् परमेश्वर यहाँ सुशोभित हो रहा है' इस वाक्य में 'परमेश्वर' पद का राजा ही अर्थ होता है, परमात्मा नहीं, क्योंकि 'अत्र' पद से कहा जाता हुआ नगर आदि देश, उक्त पद की अभिधा को राजा रूप अर्थ में नियन्त्रित कर देता है। अभिप्राय यह है कि उक्त पद का राजा अर्थ करने पर ही देश-विशेष-वाचक 'अत्र' पद सार्थक होता है, क्योंकि राजा का नगर आदि देश के साथ सम्बन्ध रह भी सकता है और नहीं भी रह सकता अतः नगर आदि के साथ संभावित, राजा-संबंधाभाव के वारणार्थ-अर्थात् 'राजा, नगर आदि विवक्षित देश में है

ही' इस बात की सूचना के लिए उसकी सार्थकता होती है। परमात्मा अर्थ करने पर तो वह व्यर्थ ही हो जायगा, क्योंकि परमात्मा तो सदा सर्वत्र रहता ही है—व्यापक है, फिर उसके लिए 'यहाँ है' ऐसा कहना व्यर्थ है—अर्थात् उसका कहीं भी न रहना जब सम्भावित ही नहीं है, तब देशविशेष की चर्चा किसका वारण करेगी ?

उदाहरणान्तरं प्रदर्शयति—

एवं 'वैकुण्ठे हरिर्वसति' इत्यत्रापि बोध्यम् ।

वैकुण्ठरूपो देशो नानार्थकस्य हरिपदस्य शक्तिं विष्णौ नियमयतीति भावः ।

'देश' का एक दूसरा भी उदाहरण दिखलाया जाता है—एवम् इत्यादि । 'वैकुण्ठ में हरि वास करते हैं' इस वाक्य में 'वैकुण्ठ रूप देश' से विष्णु, अश्व, सिंह आदि अनेक अर्थों के वाचक 'हरि' पद की अभिधा, विष्णुरूप अर्थ में नियन्त्रित होती है ।

उभयोरुदाहरणयोः प्रदर्शने हेतुभूतं विशेषमाह—

एकत्रार्थान्तरोपग्रहेऽधिकरणोक्तिवैयर्थ्यम्, अपरत्र तु तदधिकरणत्वाप्रसिद्धिरिति विशेषः ।

एकत्र आद्ये । अर्थान्तरेति । परमात्मवानरादावित्यर्थः, अपरत्र अन्तिमे । भात्यत्रेति वाक्ये परमेश्वरपदस्य परमात्मरूपार्थग्रहणे अत्रेत्यधिकरणकीर्तनवैफल्यम्, वैकुण्ठे हरिरिति वाक्ये तु हरिपदस्य वानरादिरूपार्थ-बोधे तस्यार्थस्य वैकुण्ठरूपाधिकरणाप्रसिद्ध्याऽसंगतिरिति भेदप्रकटनार्थमेवोदाहरणद्वयदानमिति भावः ।

उक्त दोनों उदाहरणों में जो भेद है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं—एकत्र इत्यादि । 'यहाँ परमेश्वर सुशोभित हो रहा है' इस वाक्य में परमेश्वर पद का परमात्मा अर्थ समझ लेने पर 'यहाँ' इस अधिकरण का उल्लेख व्यर्थ हो जाता है और 'हरि वैकुण्ठ में निवास करते हैं' इस वाक्य में हरि पद का अश्व, सिंह आदि अर्थ समझ लेने पर वाक्य ही असंगत हो जायगा, क्योंकि, 'उन अर्थों (अश्व, सिंह आदि) का वैकुण्ठ में रहना अप्रसिद्ध है । यही दोनों उदाहरणों में भेद है ।

कालं निरूपयति—

कालो दिवसादिः ।

आदिपदेन रात्र्यादिपरिग्रहः । दिनरात्र्याद्यात्मकः खण्डकालः सूर्यादिक्रियारूपः, तावत्कालस्थायी वस्तुविशेषरूपो वेति सिद्धान्तिनः ।

अब 'काल' की व्याख्या करते हैं—कालो इत्यादि । दिन, रात्रि आदि को 'काल' कहा जाता है ।

उदाहरति—

'चित्रभानुर्दिने भाति' इत्यादौ चित्रभान्वादिपदानां सूर्यादिषु, एवं 'चातुर्मास्ये हरिः शेते' इत्यस्य ।

इत्यादावित्यत्रादिपदं 'चित्रभानू रात्रौ भाती'त्यादिवाक्यसंग्राहकम् । 'सूर्यादिषु' इत्यत्रत्यमादिपदं वह्न्यादिपरम् । सूर्यादिषु अभिधानियमनमिति शेषः । दिनरूपकालः चित्रभानुपदस्य सूर्येऽभिधां नियमति, दिने चित्रभानुपदार्थान्तरस्य वह्न्याद्यबाधात्, उदाहरणान्तरमाह—एवमिति । चातुर्मास्यात्मकः कालः हरिपदस्य शक्तिं विष्णौ नियमयति चातुर्मास्यव्यापकशयनस्य विष्णुकर्तृकत्वेनैव प्रसिद्धत्वादिति भावः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—चित्र इत्यादि । 'दिन में चित्रभानु शोभित होता है' इस वाक्य में 'दिनरूप काल' से, सूर्य और अग्नि दोनों अर्थों के वाचक 'चित्रभानु' पद की

अभिधा, सूर्य मात्र में नियमित होती है अर्थात् दिन में सूर्य का शोभित होना ही प्रसिद्ध है, अग्नि का नहीं। इसी तरह 'हरि चौमासे में सोते हैं' इस वाक्य में, 'चौमासे रूप काल' से नानार्थक हरि पद की अभिधा विष्णुमात्र में नियमित होती है अर्थात् लगातार चौमासे में सोते ही रहना विष्णु के विषय में ही प्रसिद्ध है, हरिपद के अन्य अर्थ के विषय में नहीं।

व्यक्तिं निरूपयति—

व्यक्तिः स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गानि।

स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गानि व्यक्तिपदार्थतया बोध्यानीति भावः।

अब 'व्यक्ति' की व्याख्या करते हैं—व्यक्ति इत्यादि। पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक-लिङ्गों का नाम 'व्यक्ति' है।

उदाहरति—

यथा—'मित्त्रो भाति'-'मित्त्रं भाति' इत्यत्र मित्त्रशब्दस्य पुंनपुंसके सुहृत्सूर्ययोः। एवं 'नभो भाति' 'नभा-भाति' इत्यत्रापि।

पुंनपुंसके इति। पुंस्त्वनपुंसकत्वे इत्यर्थः। सुहृत्सूर्ययोरिति। सूर्यसुहृदोरिति क्रमो बोध्यः। अथवा तादृश एव पाठोऽङ्गीकार्यः। शक्तिं नियमयतः इति शेषः। एवमग्रेऽपि। मित्रो भातीत्यत्र पुंस्त्वव्यक्त्या मित्रपदस्य सूर्ये, मित्रं भातीत्यत्र नपुंसकत्वव्यक्त्या नभः पदस्य वियति नभा भातीत्यत्र च पुंस्त्वव्यक्त्या श्रावणे नभःपदस्य शक्तिनियम इति स्पष्टार्थः।

उदाहरण दिखलाया जाता है—यथा इत्यादि। जैसे—'मित्रो भाति' और 'मित्रं भाति' इन दोनों स्थानों पर एक ही 'मित्र' पद की अभिधा, एक जगह पुल्लिङ्ग के कारण 'सूर्य' रूप अर्थ में और दूसरी जगह नपुंसक व्यक्ति के कारण 'सुहृत्' रूप अर्थ में नियमित हो जाती है। इसी तरह 'नभो भाति' इस वाक्य में नपुंसकलिंग के कारण, 'नभ' पद की अभिधा, आकाश-रूप अर्थ में और 'नभा भाति' इस वाक्य में पुल्लिङ्ग के कारण 'नभ' पद की अभिधा श्रवणमासरूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है।

स्वरं विवृणोति—

स्वर उदात्तादिः।

अत्रादिपदेन नानुदात्तस्वरितयोः संग्रहः। स्वरो वेद एव विशेषप्रतीतिकृन्न काव्य इत्यभियुक्ताः। ननु भरतमुनिपाठानुसारेण स स्वरोऽपि रसविशेषं प्रत्याययतीति कथं तस्य काव्ये विशेषप्रत्यायकत्वन्निरस्यत इति चेन्न, तद्रीत्या व्यङ्ग्यविशेषप्रत्याय-कत्वेऽपि प्रकान्तानेकार्थकं पदशक्तिनियमनरूपविशेषाप्रत्यायकत्वादिति साहित्यदर्पणे विश्वनाथः।

अब 'स्वर' की व्याख्या करते हैं—स्वर इत्यादि। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को 'स्वर' कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—'इन्द्रशत्रुः' इत्यत्र समासान्तोदात्तत्वमिन्द्रशत्रुशब्दस्येन्द्रस्य शत्रौ। पूर्व-पद-प्रकृति-स्वर-प्राप्तमाद्युदात्तत्वं त्विन्द्रशत्रुके।

इन्द्रस्य शत्रौ इति। अभिधानियामकमिति शेषः। एवमग्रेऽपि बोध्यम्। इन्द्रशत्रु-रित्यत्रान्तोदात्तत्वग्रहः इन्द्रस्य शत्रुरिति षष्ठीतत्पुरुषसमासं ग्राहयति तत्रैवान्तोदात्तत्व-विधानात्। एवञ्चान्तोदात्तत्वस्येन्द्रकर्मकशातनकर्तरि इन्द्रशत्रुपदशक्तिनियामकत्वम्।

आद्युदात्तत्वग्रहश्च इन्द्रःशत्रुः शातयिता यस्येति बहुव्रीहिसमासं ग्राहयति तत्रैव तदनुशासनात्। तथा चाद्युदात्तत्वमिन्द्रशत्रुपदस्य इन्द्रशत्रुके इन्द्रकर्तृकशातनकर्मणि शक्तिं नियमयतीति भावः।

उदाहरण दिखलाया जाता है—तथा इत्यादि। 'इन्द्रशत्रुः' इस वैदिक शब्द को यदि अन्तोदात्त के रूप में पढ़ा जाय, तब उस पद में षष्ठीतत्पुरुषसमास समझा जायगा, क्योंकि षष्ठीतत्पुरुष समास करने पर ही अन्तोदात्तत्व का विधान व्याकरण में किया गया है, अतः ऐसी स्थिति में उस स्वर के बल से उक्त पद का अर्थ होगा—इन्द्र को सतानेवाला। और—यदि उक्त शब्द को आदिउदात्त के रूप में पढ़ा जाय, तब वहाँ बहुव्रीहिसमास माना जायगा, क्योंकि बहुव्रीहिसमास में ही पूर्वपद में प्रकृति-स्वर-विधान के द्वारा आद्युदात्तत्व होता है, ऐसी स्थिति में उस आद्युदात्त स्वर के बल से 'इन्द्रशत्रुः' पद का अर्थ होगा—इन्द्र से सताया गया कोई राक्षस आदि।

संयोगो विप्रयोगश्चेति कारिकायां 'कालो व्यक्तिःस्वरादयः' इत्यत्रत्यादिपदसंग्राह्यं स्फोरयति—

आदिनाभिनयादिपरिग्रहः।

अभिनयादिरपि विशेषप्रतीतिकृद् भवतीति भावः।

अब 'संयोगक विप्रयोगश्च''' इत्यादि कारिका के 'स्वरादयः' इस अंश में जो आदि पद है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं—आदिना इत्यादि। अभिधानियामकों की गणना करनेवाली 'संयोगो''''' इत्यादि कारिका में जो आदि पद आया है, उससे अभिनय (चेष्टा आदि) का संग्रह किया गया है, अर्थात् अभिनय आदि से भी विशिष्ट अर्थ के शक्तिग्रह में सहायता मिलती है।

उदाहरति—

यथा—'एद्दहमेत्तत्थणिआ' इत्यादौ।

एद्देति। 'एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं। एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहिं दिअएहिं॥' इति संपूर्णा गाथा। 'एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्रैरक्षिपत्त्रैः। एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः॥' [इतिच्छाया] अत्रैतावदित्यादिपदाभिव्यक्तेन हस्तचेष्टाविशेषरूपेणाङ्गिकेनाभिनयेन स्तनादीनां कमलकोरकाद्याकारत्वप्रतीतिरिति भावः।

जैसे—'एद्दहमेत्तत्थणिआ'''''इत्यादि—जो संस्कृत टीका में उद्धृत है—अर्थात्—'इतने बड़े स्तनोंवाली इत्यादि' गाथा में 'इतने बड़े' इस शब्द के अर्थ 'सुपारी से लेकर घट तक के सब आकार हो सकते हैं'—उस पद का कोई एक अर्थ नहीं। उनमें से वक्ता के हाथ का अभिनय जैसा होगा—जैसी मुद्रा उसने दिखाई होगी—उसी के अनुसार उस शब्द की अभिधा, कमलकली आदि के आकार में नियन्त्रित हो जाती है।

प्रकरणमेतदुपसंहरन् संयोगादीनां नियामकानां परस्परभेदैः पर्यालोचयति—

इहार्थसामर्थ्यौचितीनामुदाहरणेषु चतुर्थ्याद्यैस्तृतीयाद्यैरर्थसामर्थ्येन च बोध्यमानकार्यकारणभाव एव नियामकः, न तु वस्त्वन्तरम्। बोधकवैचित्र्याच्च नियामकस्य वैचित्र्येणोक्तिः प्राचाम्। वस्तुतस्तु संयोगादीनामर्थान्तरसाधारणत्वे नानार्थशब्दस्यार्थविशेषे शक्तेः संकोच एव न संभवति, नियामकानामसंकुचितत्वात्। अथ प्रसिद्धत्यादिना तेषामसाधारणताबुद्धिर्यथाकथंचिदुपपाद्यते, तदा प्रायशो लिङ्गभेदा एवैते, न तु सर्वथैव ततः स्वतन्त्रा इति बोध्यम्।

उदाहरणेष्विति । 'स्थाणुं भज भवच्छिदे', 'मधुना मत्तः कोकिलः', 'पातु वो दयितामुखम्' इत्येतेष्वित्यर्थः । चतुर्थ्याद्यैरिति । चतुर्थ्यादिविभक्तिभिरित्यर्थः । तृतीयाद्यैरिति । तृतीयादिविभक्तिभिरित्यर्थः । अर्थसामर्थ्येनेति । अर्थयोग्यतयेत्यर्थः । बोधकवैचित्र्यादिति । कार्यकारणभावबोधकानां चतुर्थ्यादिविभक्तियोग्यत्वादीनां भेदादित्यर्थः । वैचित्र्येण भेदेन । प्राचामित्यनेनारुचिः सूच्यते । अरुचिबीजं दर्शयति—वस्तुतस्तु इत्यादिना । साधारणत्वे सतीति शेषः । स्वारसिकत्वाभावादाह—यथाकथंचिदिति । प्रागुक्तरीत्यार्थादीनामसंग्रहादाह—प्रायश इति । तेषामपि कथंचिदन्तर्भावसंभवादाह—सर्वथैवेति । ततः लिङ्गात् । अयं भावः—उक्तेषु अर्थसामर्थ्यौचितीनामुदाहरणेषु क्रमशश्चतुर्थी, तृतीया, योग्यता च कार्यकारणभावमेव बोधयन्ति, ततश्च तैः प्रतीयमानः कार्यकारणभाव एवैकस्तेषु नियामकः स्वीकर्तुमुचितः, तथापि कार्यकारणभावबोधकानां तेषां मिथो भेदेन नियामकेष्वपि मिथो भेदः सिद्ध इति पृथक् पृथक् तेषां नियामकत्वोक्तिः हरिकारिकायामिति प्राचीनाः प्रतिपादयन्ति । परमार्थतः संयोगादयो लिङ्गान्तर्गता एव तस्यैव ते प्रपञ्चाः । कथमिति चेदित्थम्—संयोगादयो ये शक्तिनियामका हरिणोक्तास्ते नानार्थपदप्रतिपाद्यसर्वार्थेषु साधारणतया वर्तमाना भवितुमर्हन्ति, तथा च तैः शक्तिसंकोच एवासंभवदुक्तिकः नियामकानामसंकुचितत्वात् (अतिव्याप्तत्वात्) । यदि संयोगादीनां सामान्यतः साधारणत्वेऽपि यत्र ते यस्य प्रसिद्धास्तत्र ते असाधारणा एव यथा शङ्खचक्रसंयोगः विष्णौ प्रसिद्धः, इति रीत्याऽसाधारणत्वं संपाद्येत, तर्हि तेषां सर्वेषामपि लिङ्गपदार्थ एवान्तर्भावो भवेत्, असाधारणधर्मस्यैव लिङ्गपदार्थत्वात् इति पण्डितराजः । नागेशस्तु लघुमञ्जूषाभिधाने शब्दशास्त्रशिरोमणिभूते स्वकीये ग्रन्थे 'अत्र सामर्थ्यमेवैकं मुख्यं नियामकं संयोगादयस्तद्व्यञ्जकप्रपञ्चः तैः सामर्थ्यस्यैवाभिव्यक्तेरिति परे' इत्यप्याहेति बोध्यम् ।

अब इस अभिधा-नियामक-परिगणन-प्रकरण के उपसंहार में उक्त नियामकों में जो परस्पर भेद हो सकता है उसकी पर्यालोचना करते हैं—इह इत्यादि । अभिप्राय यह है कि इस प्रकरण में 'अर्थ, सामर्थ्य और औचिती' के क्रमशः 'स्थाणुं भज भवच्छिदे', 'मधुना मत्तः कोकिलः', 'पातु वो दयितामुखम्' ये जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें चतुर्थी विभक्ति, तृतीया विभक्ति और योग्यता से एक प्रकार का कार्यकारणभाव ही ज्ञात कराया जाता है, अतः उन स्थलों में उन सबों के द्वारा ज्ञात होने वाले एक कार्यकारणभाव को ही अभिधानियामक मानना उचित था, पर उस कार्यकारणभाव के बोधक उन चतुर्थी विभक्ति आदि के परस्पर भिन्न होने से, नियामकों की श्रेणी में भी, पृथक्-पृथक् नियामकों के रूप में, प्राचीनों ने गणना की है । वस्तुतः तो उक्त सभी नियामक 'लिंग' के अन्तर्गत ही आ जाते हैं—अर्थात् सर्वत्र 'लिंग' ही अभिधा का नियमन करता है, क्योंकि संयोग आदि जितने नियामक, हरि-कारिका में, गिनाए गये हैं, वे सभी नानार्थक शब्द के स्थलों में सर्वत्र रहते ही हैं, अतः उन असंकुचित (सर्वसाधारण) नियामकों से शक्ति का संकोच असंभव ही है । यदि प्रसिद्धि के आधार पर उन नियामकों (संयोग आदि) को संकुचित बनाया जाय अर्थात् यह कहा जाय कि ये नियामक सामान्यतः नानार्थकस्थल में सर्वत्र भले ही रहते हों पर प्रसिद्ध कहीं कोई एक ही रहेगा, जैसे—'शंखचक्र-संयोग' की संभावना विष्णु से भिन्न—इन्द्र आदि में भी की जा सकती है, किन्तु प्रसिद्ध है वह विष्णु में ही, अतः प्रसिद्धि के आधार पर वे पृथक्-पृथक् नियामक हो सकते हैं, तो, ऐसी स्थिति में वे सब नानार्थक शब्द के अभिप्रेत अर्थों के 'लिंग' ही हो जाते हैं अर्थात् असाधारण धर्म को ही जब 'लिंग' कहा जाता है, तब प्रसिद्धि के आधार पर असाधारण बनाए गये वे संयोग आदि भी 'लिंग' ही सिद्ध हो जाते हैं, यह है पण्डितराज का मत । महावैयाकरण नागेश ने तो अपने लघुमंजूषा

मायक प्रसिद्धतम व्याकरणग्रन्थ में कहा है कि 'सामर्थ्य' अर्थात् कार्यकारणभाव ही एक मुख्य अभिधा-नियामक है, 'संयोग आदि' उसी के अभिव्यञ्जक होते हैं।

अथ संलक्ष्यक्रमध्वन्युदाहरणप्रदर्शनप्रसंगे प्रथमं शब्दशक्तिमूलालंकारध्वनिमुदाहरन्ति—

तत्र शब्दशक्तिमूलालंकारस्य ध्वनिर्यथा—

> 'करतलनिर्गलदविरलदानजलोल्लासितावनीवलयः।
> धनदाग्रमहितमूर्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम् ॥'

तत्रेति। दशविधसंलक्ष्यक्रमध्वनिमध्य इत्यर्थः। अलंकारस्येत्यस्योपमेत्यादिः प्राचां मतेन। ग्रन्थकारमते तु रूपकेत्यादिरितरस्य बोध्यः। कश्चित् कविः कमपि राजानं स्तौति-करतलेत्यादि। करतलात् पाणिपुटकात्, निर्गलता स्यन्दमानेन, अविरलं सततम्, दानस्य दीनोद्देश्यकत्यागस्य, जलेन वारिणा, उल्लासितः आनन्दितः, अवनीवलयः भूमण्डलो, येन सः, तथा धनदानां धनदानपराणाम्, अग्रे आदौ, महिता पूजिता स्तुतेति यावत्, मूर्तिः स्वरूपं यस्य सः, अयं वर्णनीयः, सार्वभौमः चक्रवर्ती राजा, जयतितराम् अतिशयेन सर्वोत्कृष्ट इति वाच्योऽर्थः। ध्वन्यर्थस्तु करतलात् शुण्डादण्डात्, निर्गलता, अविरलं, दानजलेन मदवारिणा उल्लासितः अवनीवलयो येन सः तथा धनदस्य कुबेरस्य, अग्रे पुरः, महिता प्रशंसिता, मूर्तिर्यस्य, सः अयं सार्वभौमः दिग्गजो, जयतितरामिति बोध्यः। नागेशस्तु ध्वन्यर्थमिन्द्रपरकमाह। तत्र पक्षे करतलेति विशेषणवाक्यस्य करतलनिर्गलदविरलदानजलेन ऐरावतेन, इति क्रमेणार्थः। सार्वभौमः इन्द्रः। अन्यत् सर्वं समानमेव।

अब शब्दशक्तिमूलक ध्वनियों के उदाहरण दिखलाये जाते हैं—तत्र इत्यादि। पूर्वोक्त दशविध संलक्ष्यक्रमध्वनियों में शब्दशक्तिमूलक अलंकारध्वनि जैसे—'करतल' इत्यादि। कोई कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हाथ से गिरते हुए सतत 'दान'-संकल्प-के जल से समस्त भूमण्डल को आनन्दमग्न कर देनेवाला तथा धन-दायकों में सर्वप्रथम पूजितमूर्तिवाला, यह चक्रवर्ती राजा सबसे उत्कृष्ट है, यह वाच्य अर्थ है। इसके अतिरिक्त यहाँ एक व्यङ्ग्य अर्थ भी है, जैसे—सूँड़ से निरन्तर चूते हुए मद-जल से पृथ्वीमण्डल को आनन्दित कर देनेवाला तथा धनद-कुबेर के आगे प्रशंसितस्वरूप वाला यह सार्वभौम (दिग्गज) सर्वोत्कृष्ट है। नागेश ने व्यङ्ग्यार्थ पक्ष में सार्वभौम पद का अर्थ इन्द्र किया है, तदनुसार 'करतल...' इत्यादि विशेषणवाक्य का अर्थ ऐरावत किया है, यह भी समझ लेना चाहिये।

उपपादयति—

अत्र राजप्रकरणे कर-दान-धनद-सार्वभौमशब्दानां शक्तौ संकोचितायामपि तन्मूलकेन ध्वननेन प्रतीयमानस्यार्थान्तरस्याप्रस्तुतस्याभिधानं मा भूदिति प्रकृताप्रकृतयोरुपमानोपमेयभावः प्रधानवाक्यार्थतया कल्प्यत इत्युपमालंकारध्वनिः।

अत्र उक्तपद्ये। घटकत्वं सप्तम्यर्थः। तस्य च शब्दानामिति षष्ठी प्रकृत्यर्थेऽन्वयः। राजप्रकरणे विद्यमाने इति शेषः। संकोचितायामिति। प्रकरणरूपनियामकेन हस्तवितरणदातृजलभूपत्वार्थेष्विति भावः। अर्थान्तरेति। गजवृत्तान्तेत्यर्थः। इन्द्रवृत्तान्तोऽर्थो वा। प्रकृताप्रकृतयोरिति। नृपदिग्गजयोः नृपमहेन्द्रयोर्वा इत्यर्थः। उपमानोपमेयभाव इति। अयं सार्वभौमः (चक्रवर्ती) सार्वभौमः (दिग्गजः इन्द्रो वा) इवेत्याकारक इत्यर्थः। प्रधानवाक्यार्थतयेति। वाच्यार्थापेक्षया प्राधान्येनेत्यर्थः। अयमेव ध्वनित्वव्यपदेशहेतुः। राजप्रकरणोक्तेऽस्मिन् पद्ये वर्तमानानां हृदर्थकानां करदानादिपदानां शक्तिः हस्तवितरणाद्यर्थेषु प्रकरणेन नियम्यते, तथा च गजादिवृत्तान्तरूपोऽप्रकान्तोऽर्थोऽभिधामूल-

व्यञ्जनया प्रतीयते। ननु कथमिहाप्राकान्तार्थप्रतीतिरङ्गीक्रियत इति चेन्न, द्व्यर्थकानि पदानि प्रयुञ्जानस्य कवेस्तदर्थप्रतीतेरप्यभिमतत्वात्। अथाप्रकान्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यायनमनुचितमसंबद्धार्थप्रतिपादनयोर्मत्तप्रलापतुल्यत्वादित्यपि न, प्रकान्ताप्रकान्तयोरर्थयो रुपमानोपमेयभावस्य कविविवक्षाविषयत्वेन तस्यापि सुसंबद्धत्वात्। इत्थञ्चात्र स उपमालंकार एव चमत्कारितया कवेर्विवक्षित इति तन्मूलको ध्वनिव्यवहारोऽत्र भवतीति भावः।

उक्त श्लोक में प्रकृतोपयोगी विषयों का उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य राजा के प्रकरण में कहा गया है, अतः उसमें उक्त कर, दान, धनद और सार्वभौम पदों की अभिधा, क्रमशः हाथ, वितरण, दाता और चक्रवर्ती राजारूप अर्थों में, प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित हो जाती है, जिससे राजपक्षीय अर्थ ही वाच्य होता है। परन्तु वाच्यार्थबोध के बाद शब्दशक्तिमूलक व्यञ्जना से पूर्वोक्त दिग्गज अथवा इन्द्र-पक्ष का अर्थ भी ज्ञात होता है। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अप्रासंगिक गजपक्षीय अर्थ की प्रतीति (व्यञ्जना से ही सही) क्यों मानी जाय ? इसका समाधान यह है कि 'चक्रवर्ती राजा, दिग्गज अथवा इन्द्र जैसा' इस तरह से प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थों में उपमानोपमेयभाव की प्रतीति कराने के लिए। अतएव कवि ने जानबूझकर दो-दो अर्थ वाले पदों का प्रयोग किया है। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि उक्त उपमालंकार की प्रतीति कराना ही कवि का मुख्य उद्देश्य है, अतएव चमत्कार भी उसकी प्रतीति में ही है। इन सब कारणों से यह पद्य उपमालंकारध्वनि का उदाहरण होता है।

मतान्तरमवतारयति—

अथ श्लिष्टविशेषणायां समासोक्तौ व्यङ्ग्यस्याप्रकृतव्यवहारस्य प्रकृतधर्मिण्यारोप्यमाणस्य प्रकृतोपस्कारकतया यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेवमिहाऽप्युचितम्।

श्लिष्टेति। 'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः' इत्यादौ। अप्रकृतव्यवहारस्येति। मुखचुम्बनादिरूपस्येत्यर्थः। आरोप्यमाणेति। अन्यथा असंबद्धाभिधानं स्यादिति भावः। इहापीति। करतलेत्याद्यनुपदोक्ते पद्येऽपीत्यर्थः। 'अयमैन्द्री'त्यादौ रक्तमुखादिविशेषणानि श्लिष्टानि अनुरागयुक्तरक्तकान्तिविशिष्टादिवाचकानि, तन्मूलव्यञ्जनया कामिनीमुखचुम्बनादिरूपाप्रकृतव्यवहारो व्यङ्ग्यः। स चासंबद्धो मा भूदिति प्रकृतधर्मिणि चन्द्रादौ समारोप्यते, तेन 'आरोपितनायकव्यवहारश्चन्द्र आरोपितनायिकाव्यवहारायाः ऐन्द्र्या दिशो मुखम् (प्राग्भागमाननञ्च) चुम्बति' इति वाक्यार्थः सम्पद्यते। अत इदं पद्यं 'समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैर्व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः।' इत्यादिलक्षणलक्षितायाः समासोक्तेरुदाहरणं भवति। अत्रो पुनरिदं वक्तव्यम्—यथा तत्र व्यङ्ग्योऽपि मुखचुम्बनादिव्यवहारो वाच्यार्थोपस्कारकतयाऽप्रधानभूततया च गुणीभूत इति ध्वनिकाव्यव्यवहारस्याहेतुः हेतुश्च गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यव्यवहारस्य तथैव 'करतले'त्यादिपद्येऽपि व्यङ्ग्यो दिग्गजवृत्तान्तस्तन्मूलकोपमा च वाच्यनृपवृत्तान्तशोभाजनकतया गुणीभूत एवेति तस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यव्यवहारप्रयोजकत्वमेव युक्तम्, न तु ध्वनिकाव्यव्यवहारप्रयोजकत्वमिति भावः।

अब उक्त स्थल पर ध्वनि के विषय में मतान्तर की अवतारणा करते हैं—अथ इत्यादि। 'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः—अर्थात् यह देखो—रक्त चन्द्र ऐन्द्री (पूर्व) दिशा का मुख चूम रहा है' इस काव्यांश वाक्य में रक्त, मुख और चूम रहा है, ये तीनों विशेषणवाचक पद श्लिष्ट हैं, अतः उनसे अनुरागयुक्त तथा लाल कान्तिवाला, आनन तथा अग्रभाग, एवम् चुम्बन तथा स्पर्श ये दो-दो अर्थ वाच्य होते हैं। उस श्लेष के आधार

पर ही कामिनी मुखचुम्बनरूप अप्रस्तुत व्यवहार व्यङ्ग्य होता है। वह व्यङ्ग्य अर्थ असम्बद्ध न होवे इसलिये प्रस्तुत चन्द्र और दिशा के व्यवहार में नायक तथा नायिका का व्यवहार आरोपित होता है, जिससे 'आरोपित नायक व्यवहारवाला चन्द्र आरोपित नायिका व्यवहारवाली पूर्वदिशा का मुख (पूर्वभाग तथा आनन) को चूमता है' ऐसा वाक्यार्थ सम्पन्न होता है। अतः उक्त पद्यांश, संस्कृतटीका में उद्धृत लक्षण के अनुसार समासोक्ति अलंकार का उदाहरण कहलाता है। प्रकृत में अब कहना यह है कि जैसे उक्त स्थल पर कामिनीमुखचुम्बनादि व्यवहार व्यङ्ग्य होकर भी, वाच्य अर्थ के पोषक तथा अल्प चमत्कार युक्त होने के कारण, गौण हो जाने से ध्वनिकाव्यव्यवहार का हेतु नहीं होता, अपितु गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्यव्यवहार का ही हेतु होता है, उसी तरह 'करतल······' इत्यादि प्रकृत पद्य में भी, दिग्गज-वृत्तान्त अथवा तन्मूलक उपमा अलंकार, व्यङ्ग्य होकर भी, वाच्य राजवृत्तान्त के पोषक होने के कारण गौण ही रहेगा, अतः उस व्यङ्ग्य को लेकर उक्त पद्य को ध्वनिकाव्य का उदाहरण बतलाना ठीक नहीं है, हाँ-गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का उदाहरण वह हो सकता है।

पूर्वग्रन्थप्रतिकूलमाशंक्य निरस्यति—

न चोपमा प्रकृतार्थोपस्कारिका न भवतीति शक्यं वदितुम्, 'उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहम्', 'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोः' इत्यादौ प्राचीनानां पद्ये 'करतल'—इत्यादि प्रागुदाहृतपद्ये च व्यङ्ग्योपमया प्रकृतस्य राज्ञः प्रकर्षस्य सकलानुभवसिद्धत्वात्। अनुभवापलापे तु समासोक्तावप्यप्रकृतव्यवहारस्य प्रकृतोपस्कारकत्वं नेति सुवचत्वात्।

प्रकृतार्थोपस्कारकेति। वाच्यार्थशोभासंपादिकेत्यर्थः। वाच्यार्थोपस्कार्यैव सेति भावः। उल्लास्येति। इदं पद्यं प्राक्········· टीकायामुद्धृतं व्याख्यातञ्च। भद्रात्मनोरिति। '······विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य। यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥' इत्यवशिष्टः पद्यांशः। भद्रात्मनः कल्याणमूर्तेः, दुरधिरोहतनोः दुःखेन अधिरोहः आक्रमणं यस्मिन्, तादृशी तनुः शरीरं यस्य तस्य विशाल-वंशोन्नतेः विशाला महती, वंशस्य कुलस्य, उन्नतिः समृद्धिर्यस्य तस्य, कृतशिलीमुखसंग्रहस्य कृतः शिलीमुखानां बाणानां संग्रहः सञ्चयो येन तस्य, अनुपप्लुतगतेः अबाधितबोध-प्रसरस्य, तथापरवारणस्य रिपुरोधसमर्थस्य, यस्य राज्ञः, करः पाणिः, सततं सर्वदा दानाम्बुसेकसुभगः त्यागोद्देश्यकसलिलस्यन्दसुन्दरः, अभूत् इति प्रस्तुतोऽर्थः। दुरधि-रोहतनोः कष्टारोहणीयशरीरस्य कृतशिलीमुखसंग्रहस्य कृतमदलोभिभ्रमरनिकरसञ्चयस्य, विशालवंशोन्नतेः महामेरुदण्डस्य, अनुपप्लुतगतेः मन्दगमनस्य, यस्य भद्रजातीयस्य परवारणस्य उत्कृष्टगजस्य, करः शुण्डादण्डः सततं, दानाम्बुनः मदजलस्य सेकेन सुभगः अभूत् इति चाप्रस्तुतार्थो बोध्यः। उल्लास्य, भद्रात्मनः, करतलेत्यादिपद्येषु व्यवहार-समारोपाभावान्न समासोक्तिः, अपि तु अप्रस्तुतार्थस्यासंबद्धाभिधानतावारणाय प्रस्तुता-प्रस्तुतयोरुपमा व्यङ्ग्याऽऽस्थीयते, तथाच व्यङ्ग्यभूतयोपमया प्रस्तुतस्य राज्ञः प्रकर्षः सकलानुभवसिद्धः। तथा च व्यङ्ग्यभूतोपमा प्रस्तुतवाच्यार्थोपकारिका न भवतीति तत्कथं योग्यम्, अनुभवसिद्धस्यापि व्यङ्ग्योपमानिष्ठस्य प्रकृतोपस्कारकत्वस्यापलापे वादि-सम्मतस्य समासोक्तिस्थलीयाप्रस्तुतार्थवृत्तिप्रस्तुतार्थोपस्कारकत्वस्याप्यपलापः कृतो भवेदिति भावः।

पूर्व ग्रन्थ के प्रतिकूल आशंका करके उसका समाधान करते हैं—न च इत्यादि। यदि आप कहें कि 'करतल···' इत्यादि पद्य में व्यङ्ग्य होनेवाला उपमा अलंकार वाच्यार्थ का

पोषक नहीं है—अर्थात् गौण नहीं है—प्रधान है, तो यह असंगत होगा, क्योंकि 'उल्ला-स्य''', 'भद्रात्मनो''' और 'करतल'''इत्यादि प्रकृत पद्य में व्यङ्ग्य उपमा से वाच्य राजा का प्रकर्ष सिद्ध होता है, यह बात सर्वानुभव-सिद्ध है। उक्त तीनों पद्यों में प्रथम पद्य पूर्व में उद्धृत और व्याख्यात हो चुका है। तृतीय पद्य इस प्रकरण के आरम्भ में मूलकार ने ही लिखा है, जिसकी व्याख्या भी की जा चुकी है। द्वितीय पद्य इस स्थल की संस्कृत टीका में उद्धृत है। इसका अर्थ इस प्रकार है—कष्ट से आक्रमण करने योग्य शरीरवाले, महान् कुल में उन्नति प्राप्त करनेवाले, अच्छे-अच्छे बाणों का संग्रह करनेवाले, अबाधित ज्ञानशक्तिवाले और शत्रुओं को रोकनेवाले, जिस कल्याणमूर्ति राजा का हाथ सदा दान-जल के सेक से सुन्दर रहता था। यह है प्रस्तुत अर्थ। इसके अतिरिक्त अप्रस्तुत अर्थ यह है कि—कष्ट से चढ़नेयोग्य विशाल शरीरवाले, मतवाले भ्रमरों के समूह को इकट्ठा करनेवाले, ऊँचे मेरुदण्डवाले और मन्द-मन्द चलनेवाले जिस भद्रजातीय गजराज की सूँड़ सदा मद-जल के सेक से सुभग-सुन्दर रहता था। यदि आप अनुभवसिद्ध वस्तु का भी अपलाप करेंगे—अर्थात् कहेंगे कि उक्त पद्यों में व्यङ्ग्य होनेवाली उपमाओं से वर्णनीय राजा का प्रकर्ष सिद्ध नहीं होता, तब तो समासोक्ति अलंकार के स्थान में भी व्यङ्ग्य अप्रस्तुतवृत्तान्त से प्रस्तुत वाच्य अर्थ का पोषण नहीं होता है, ऐसा भी कहा जा सकेगा।

समासोक्तावप्रकृतस्य प्रकृतोपस्कारकत्वं सम्भवति, व्यङ्ग्योपमायां तु नेति मिथो विशेषप्रदर्शनेनाशंक्य समाधत्ते—

ननु समासोक्तावत्र चास्ति विशेषः—यत्तत्र व्यवहारिणो नानार्थशब्दानुपस्थाप्यत्वम्, इह तु तदुपस्थाप्यत्वमिति चेत्? किं चातो न हि व्यवहारिणो नानार्थशब्दोपस्थाप्यतामात्रेणाप्रकृतधर्मिनिरूपिताया उपमायाः प्रकृतधर्म्युपस्कारकत्वं वार्यते, येन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं न स्यात्।

व्यवहारिण इति। प्रकृतव्यवहारनिर्वाहकस्य धर्मिण इत्यर्थः। राजादेरिति गूढोऽर्थः। समासोक्तौ-अयमैन्द्रीत्यादौ व्यवहारी चन्द्रो न नानार्थशब्दोपस्थाप्यः, अपि तु एकार्थकचन्द्रमःपदोपस्थाप्य एव। करतलेत्यादिव्यङ्ग्योपमास्थले च व्यवहारी नृपः सार्वभौमकल्पनानार्थपदोपस्थाप्य एव—अर्थात् समासोक्तिस्थले विशेष्यवाचकः शब्दो नानार्थको न भवति, इह च स तादृश एव भवतीति अनयोः स्थलयोः भेदः स्पष्टं परिलक्ष्यते, तत्कथं समानरूपेण द्वयोः स्थलयोर्विचारो विधीयत इति शंकायां समाधानमाह—किं चातः इत्यादिना। अयं भावः—समासोक्तिस्थले व्यङ्ग्यस्य गुणीभूतत्वं भवतोऽप्यभिमतमेव, व्यङ्ग्योपमास्थले पुनस्तस्य तत्त्वे भवतो विरोधः, तत्र च व्यवहारिणो नानार्थकपदोपस्थाप्यता हेतुत्वेनोपस्थाप्यते भवता, परमेतन्न समीचीनम्, गजरूपाप्रकृतधर्मिनिरूपिताया उपमायाः नृपरूपप्रकृतधर्मिपोषकत्वस्य, नृपरूपव्यवहारिणः सार्वभौमस्वरूपनानार्थकपदोपस्थाप्यतामात्रेणावारणात्, अवारिते च तस्मिन् गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वानामकमध्यमकाव्यताप्रसङ्गो दुर्वार एवेति।

समासोक्ति और व्यङ्ग्य उपमा में परस्पर वैलक्षण्य दिखलाकर, प्रतिवादी जो यह सिद्ध करना चाहते हैं कि समासोक्ति स्थल में अप्रस्तुत अर्थ प्रस्तुत का उपकारक होने से गौण हो जाता है, पर व्यङ्ग्य उपमा वाच्यार्थ की उपकारिका नहीं होती, अतः गौण भी नहीं होती, उसका खण्डन करते हैं—ननु इत्यादि। 'अयमैन्द्री''' इत्यादि समासोक्ति स्थल में व्यवहारी अर्थात् जिसमें अप्रस्तुत नायक का व्यवहार आरोपित होता है, वह—चन्द्र अनेकार्थक शब्द से उपस्थित नहीं कराया गया है; अपितु एकार्थक चन्द्रमस् शब्द से ही और 'करतल''''' इत्यादि व्यङ्ग्योपमास्थल में व्यवहारी (प्राकरणिक) राजा,

अनेकार्थक सार्वभौम पद से उपस्थित कराया गया है। तात्पर्य कहने का यह कि समासोक्तिस्थल में विशेष्य-वाचक शब्द अनेकार्थक नहीं रहता है और व्यङ्ग्योपमा-स्थल में विशेष्य-वाचक शब्द अनेकार्थक रहता है, इस तरह से दोनों स्थलों में स्पष्ट अन्तर के रहने पर भी आप एक ही प्रकार का विचार क्यों करते हैं? इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि उक्त अन्तर के रहने से विवेच्य विषय में तो कोई अन्तर होता नहीं, फिर उसके रहने या न रहने से क्या? अर्थात्—व्यङ्ग्योपमा-स्थल में व्यवहारी (प्राकरणिक राजा आदि) अनेकार्थक शब्द से बोधित हुआ रहता है, इससे अप्राकरणिक दिग्गज आदि की उपमा में जो प्राकरणिक नृप आदि अर्थ के प्रति उपकारभाव है, वह क्या रुद्ध हो जायगा? कथमपि नहीं, उसको रोकनेवाला वह कौन होता है? और जब उपमा की उपकारकता नहीं रुकेगी, तब उसकी गौणता निश्चित है, तथा तत्प्रयुक्त गुणीभूतव्यङ्ग्यता भी उस पद्य की अनिवार्य ही है।

व्यङ्ग्योपमा येन गुणीभूता न भवति, तादृशीं युक्त्यन्तरमुद्भाव्य खण्डयति—

नचात्रोपमादीनामलंकाराणां स्वभावतः सुन्दरत्वात्काव्यप्रवृत्त्युद्देश्यतया च वस्तुमात्रे गुणीभावो न संभवति, यथा वस्तुमात्रेणाभिव्यक्तानामलंकाराणाम्, तुल्यन्यायत्वात्। अप्रकृतव्यवहारस्य तु समासोक्त्यवयवस्य निरलंकारतया वस्तुन्युपस्कारकत्वं समासोक्तावविरुद्धमिति वाच्यम्, एवमपि 'बाधेऽदृष्टेऽन्यसाम्यात्किं दृष्टेऽन्यदपि बाध्यताम्' इति न्यायेनोक्तयुक्तेः शिथिलत्वात्, अपराङ्गताया दुरपह्नवत्वात्।

सुन्दरत्वादित्यस्य वस्त्वपेक्षयेत्यादिर्बोध्यः। स्वभावतः सुन्दरस्यापि शृंगारादेः क्वचिद् गौणतादर्शनादाह—काव्यप्रवृत्त्युद्देश्यतया चेति। अन्यथा नानार्थकपदकदम्बकरम्बितपद्यनिर्मितिरूपकविप्रयासवैफल्यापत्तिरिति भावः। वस्तुमात्र इति। प्रकृतार्थ इत्यर्थः। यथा वस्तुमात्रेति। 'निशितशरधियार्पयत्यनङ्गो, दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्यराले। दिशि निपतति सा च यत्र तत्र व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः॥' इत्यादाविति भावः। तुल्येति। उक्तहेतोस्तुल्यत्वादिति भावः। समासोक्त्यवयवस्येति। अवयत्वं निरलङ्कारत्वे हेतुरिति भावः। उक्तयुक्तेरिति। दृष्टान्तप्रदर्शनरूपयुक्तेरित्यर्थः। वाच्या व्यङ्ग्या वा उपमाद्यलङ्काराः स्वभावतो रमणीया अन्यथा तेषामलङ्कारत्वमेव भज्येत। अपि च करतलेत्यादिनोभयकाव्यनिर्माणकविप्रवृत्त्युद्देश्यतापि व्यङ्ग्यालङ्कारप्रत्यायनमेव, अन्यथा तादृशद्व्यर्थकपदघटितकाव्यनिर्माणवैयर्थ्यम्। एवञ्च यथा निशितशरेत्यादिप्रागुक्तपद्ये वस्तुमात्रव्यङ्ग्यविरोधालङ्कारस्य वस्त्वपेक्षया न गुणत्वम्, तथाऽत्रापि नोपमाया व्यङ्ग्याया गुणत्वम्। अत एव 'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा। ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥' इत्युक्तं ध्वनिकृता प्रकाशकृता च समुद्धृतम्। नन्वेवं समासोक्तौ कथमप्रकृतव्यवहारस्य गौणत्वमङ्गीक्रियते इति चेत्तत्राह—अप्रकृतव्यवहारस्य तु इत्यादि। तत्राप्रकृतव्यवहारः समासोक्त्यवयव इति नालङ्कारता तस्य, अलङ्कारस्यैव च स्वतःसुन्दरत्वं मयाऽऽश्रितम्। तथा च समासोक्तावप्रकृतव्यवहारस्य व्यङ्ग्यस्यापि प्रकृतोपकारकत्वं तन्मूलकं गुणत्वञ्च युक्तमिति शङ्काकर्तुराशयः। शङ्कान्तरोक्तमलंकाराणां स्वभावसुन्दरत्वादिकं सत्यम्, परं तु करतलेत्यादौ तादृशेऽन्यकाव्ये वा अप्रकृतार्थनिरूपितोपमाया व्यञ्जनाबोध्यायाः प्रकृतार्थपोषकत्वं यदनुभवसिद्धतयाऽपलपितुमशक्यम्, तर्हि तस्या व्यङ्ग्योपमाया अपराङ्गता तत्प्रयुक्तगुणता च केन वार्येत? 'यथा वस्तुमात्राभिव्यक्तेत्यादिना प्रदर्शितो दृष्टान्तस्तु अकिञ्चित्कर एव, तत्राप्युक्तयुक्त्या व्यङ्ग्यालङ्काराणां गुणत्वमेव न ध्वन्यङ्गत्वमिति मदभिप्रायात्। एतदर्थबोधक एव प्रकृते

'बाधेऽदृढे''' इति न्यायः। बाधे बाधकयुक्तौ, अदृढे अप्रबले खण्डनार्हे इति यावत्, अन्यसाम्यात् किम्? बाधनीयार्थसमर्थनाय वादिना दृष्टान्तप्रदर्शनमनुचितमेव, खण्डनार्हबाधकयुक्तेरेव खण्डयितुमुचितत्वात्। दृढे प्रबलायां खण्डनानर्हायां बाधकयुक्तौ, पुनस्तयैव दृष्टान्तप्रदर्शनमसंगतम्, दृढतरबाधकयुक्त्या दृष्टान्तभूतार्थस्यापि बाधादिति न्यायार्थः।

व्यङ्ग्य उपमा, जिससे गौण नहीं कही जाय, ऐसे युक्त्यन्तर की उद्भावना करके उसका खण्डन करते हैं—न च इत्यादि। वाच्य हो अथवा व्यङ्ग्य, अलंकार स्वभावतः सुन्दर होते हैं, अन्यथा उन्हें अलंकार कहा ही नहीं जा सकता और 'करतल''' इत्यादि काव्य में कवि का मुख्य उद्देश्य भी व्यङ्ग्य अलंकार का बोध कराना ही रहता है, अन्यथा अनेकार्थक पदों के द्वारा काव्य की रचना करना ही व्यर्थ हो जाय। ऐसी स्थिति में जैसे 'निशितशरधिया''''' इस संस्कृत टीका में उद्धृत पद्य आदि—जहाँ वस्तु से विरोधाभास आदि अलंकार व्यङ्ग्य होते हैं—में व्यङ्ग्य अलंकार, वाच्य वस्तु की अपेक्षा गौण नहीं होता—प्रधान ही रहता है, वैसे यहाँ ('करतल''' इत्यादि में) भी व्यङ्ग्य उपमा, वाच्य प्रस्तुत अर्थ की अपेक्षा गौण नहीं होगी—प्रधान ही मानी जायगी। अतएव ध्वनिकार ने भी कहा है—'वस्तुमात्र से जब अलंकार अभिव्यक्त किये जाते हैं, तब वे निश्चित रूप से ध्वनि के अङ्ग होते हैं अर्थात् ध्वनि नामक उत्तम काव्य-व्यवहार के कारण होते हैं।' (मूल पङ्क्ति संस्कृत टीका में देखिये) रही बात समासोक्ति की सो वहाँ व्यङ्ग्य अप्रस्तुत व्यवहार समासोक्ति का अङ्गभूत रहता है, अर्थात् व्यङ्ग्य अप्रस्तुत व्यवहार और वाच्य प्रस्तुत व्यवहार के मिश्रित रूप का ही नाम समासोक्ति अलंकार होता है, अतः अप्रस्तुत व्यवहार स्वतः कोई अलंकाररूप नहीं रहता और स्वभावतः सुन्दर होने की बात कही गई है अलंकार के लिये, अतः वह बात यहाँ संघटित नहीं होगी, फिर वहाँ (समासोक्ति में) उसका (अप्रस्तुत व्यवहार का) प्रस्तुत के प्रति उपकारक होना तथा तदनुरूप तदपेक्षया गौण होना समुचित ही है। परन्तु ग्रन्थकार का कथन है कि उक्त युक्ति भी आप की ठीक नहीं है, क्योंकि एक न्याय है—'बाधेऽदृढे'''''इत्यादि, अर्थात् किसी सिद्धान्त की बाधक युक्ति, यदि अदृढ हो-शिथिल हो (प्रबल नहीं हो), तब दूसरे की समानता से-केवल दृष्टान्त से-क्या हो सकता है? अभिप्राय यह कि शिथिल युक्ति का खण्डन करना ही उचित है, बाधनीय सिद्धान्त के तुल्य दृष्टान्त का प्रदर्शन नहीं और यदि बाधक युक्ति दृढ है प्रबल है, आप से खण्डन करने योग्य नहीं है, तब भी दृष्टान्त-प्रदर्शन व्यर्थ है, क्योंकि उस स्थिति में वह प्रबल बाधक युक्ति उस दृष्टान्तभूत अर्थ को भी बाधित कर देगी।' कहने का सारांश यह कि 'जिस तरह वस्तुमात्र से अभिव्यक्त होने वाले अलंकार वस्तु की अपेक्षा गौण नहीं होते, उसी तरह यहाँ भी व्यङ्ग्य उपमा अलंकार राजा के वर्णन की अपेक्षा गौण नहीं हो सकता' यह आप का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मैंने जिस बाधक युक्ति को उपस्थित किया, उसका खण्डन आपने किया नहीं—आप यह नहीं समझा सके कि उपस्कारक होने पर भी अलंकारों को उपस्कार्य की अपेक्षा गौण क्यों नहीं माना जाय? अतः यह सिद्ध होता है कि मेरी बाधक युक्ति प्रबल है। यदि ऐसा है, तब दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों उससे बाधित हो जायेंगे—अर्थात् वस्तुमात्र से व्यङ्ग्य अलंकार की प्रधानतावाला सिद्धान्त भी खण्डित हो जायगा, इस प्रकार से आप की युक्ति शिथिल है, अतः 'करतल'''''' इत्यादि पद्य में व्यङ्ग्य होने वाली उपमा अवश्य अपराङ्ग व्यङ्ग्य ही सिद्ध होगी।

करतलेत्यादौ गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वसाधिकाया युक्तेरपराङ्गताया असिद्धिमापाद्य निरस्यति—

अथोच्येत—उपमानमुपमेयं साधारणो धर्म इति ह्युपमाशरीरघटकम्, न तु ततः पृथग्भूतम्, तैर्विना तस्या अनिष्पत्तेः। इत्थं चोपमेयस्य सादृश्यांशेनोपस्कारेऽप्युपमाया नापराङ्गत्वम्, उपमेयस्यापरत्वाभावात्। यथा समासोक्ता-

ऽप्रकृतव्यवहारेण प्रकृतस्योपस्करणेऽपि न समासोक्तेरपराङ्गत्वम्, प्रकृताप्रकृत-घटितत्वात्, एवमिहापि स्यादिति। तथापि समासोक्तेरिवास्यापि प्रभेदस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तेः, अस्यैव वा समासोक्तेरपि ध्वनिव्यपदेश्यत्वापत्तेः।

उपमाशरीरघटकमिति। उपमाशरीरसम्पादकसामग्र्यन्तर्गतमित्यर्थः। ततः उपमातः। तैः उपमानोपमेयसाधारणधर्मैः। तस्या उपमायाः। इत्यश्चेति। उपमानोपमेयसाधारणधर्माणां मिलितानामेवोपमापदार्थत्वे चेत्यर्थः। उपस्कारे इति। परिष्कारे इत्यर्थः। पोषणे इति यावत्। अपरत्वाभावादिति। उपमापदार्थभिन्नपदार्थत्वविरहादित्यर्थः। गुणीभूत-व्यङ्ग्यत्वापत्तेरिति। विशिष्टस्योपमाशरीरत्वेऽपि उपमेयांशस्य राजादेर्न व्यङ्ग्यत्वम्, शक्त्यैव तल्लाभात्। एवञ्चोपमाशरीरघटकव्यङ्ग्यांशस्य दिग्गजादेरुपमानस्योपमाशरीर-घटकवाच्यांशस्योपमेयस्यापेक्षयाऽऽधिकचमत्कारित्वविरहेण गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वस्य दुर्वारत्वा-दिति भावः। अस्यैव उपमाप्रभेदस्यैव। प्रकृतं वाच्यम् अप्रकृतं व्यङ्ग्यमित्युभयविधमङ्ग-मादाय समासोक्तिः सम्पद्यते। तत्र व्यङ्ग्यमप्रकृतम् वाच्यस्य प्रकृतस्य यद्यप्युपस्कारकं नियमतस्तिष्ठति, तथापि यथा समासोक्तिरपराङ्गमिति न व्यपदिश्यते, अपरपदेन विव-क्षितस्य प्रकृतस्य समासोक्तिशरीरान्तर्गततया वस्तुतोऽपरत्वाभावात्, तथैव करतलेत्यादौ दिग्गजादिरूपं व्यङ्ग्यमुपमानम्, राजादिरूपं वाच्यमुपमेयम्, करतलेत्यादिसमानविशेषण-विशिष्टत्वरूपं साधारणधर्मं च त्रिविधमङ्गमादायोपमा सम्पद्यते। तत्र साधारणधर्मांशेन (साहश्यांशेन) वाच्यस्य राजादेरुपमेयस्योपस्कारेऽपि नोपमाया अपराङ्गत्वम् अपरत्वे-नाभिमतस्योपमेयस्योपमाशरीरघटकतया वस्तुतोऽपरत्वाभावादिति शंकादलाशयः। एव-मपराङ्गत्वासिद्धावपि समासोक्तिसाम्यनिश्चये तत्रेवात्रापि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमुचितम्, समासो-क्तिस्थलीयव्यङ्ग्यस्य वाच्यानतिशायित्ववत् प्रकृतोपमास्थलीयव्यङ्ग्यस्यापि वाच्यानतिशायि-त्वात्। भवदुक्तरीत्या प्रकृतोपमाया इव समासोक्तेरपि ध्वनिव्यवहारविषयत्वं वा समुचित-मिति च समाधानदलाशयो बोध्यः। 'अलंकाराणामुद्दीपनविधया रसाद्युपयोगित्वेनालम्बना-पेक्षयोद्दीपनेऽधिकचमत्कारित्वस्य सर्वानुभवसिद्धतया करतलेतिपदवाच्यालंबनविभावापेक्षया-तिशायित्वाद्ध्वनित्वमव्याहतमेव। रसाद्यपेक्षया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं त्विष्टमेव। समासोक्तौ तु 'आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गीम्' इति सखीशिक्षावाक्येऽप्रकृतनायकवृत्तान्ताध्यारोपं विना तदनुपपत्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं स्पष्टमेव। यत्र तु तस्यापि रसाद्युपकारकतया वाच्या-दतिशायित्वम्, प्रागुक्तरीत्या तत्रास्तु नाम ध्वनित्वं तस्याः। न चैवमप्युभयोरुत्कर्षाभावा-न्नास्तु ध्वनित्वम्, अलंकारध्वनिरिति तु कथमिति वाच्यम्, 'अलंकारकृतोत्कर्षस्याभावेऽप्यलङ्कारध्वनिरिति व्यवहारात्' इति नागेशोऽत्र रुचिरमालोचयदित्यवगन्तव्यम्।

अब 'करतल·····' इत्यादि पद को गुणीभूतव्यङ्ग्य सिद्ध करने में जो व्यंग्य उपमा की अपराङ्गतारूप युक्ति दी जाती है, उसकी असिद्धि की आशंका करके खण्डन करते हैं—अथ इत्यादि। प्रस्तुत वाच्य और अप्रस्तुत व्यंग्य इन दोनों अंगों को लेकर समासोक्ति अलंकार सम्पन्न होता है। उसमें अप्रस्तुत व्यंग्य यद्यपि नियमतः वाच्य प्रस्तुत का पोषक रहता है, तथापि समासोक्ति अपरांग नहीं मानी जाती है। क्योंकि अपराङ्ग शब्दगत अपर पद से विवक्षित प्रस्तुत, समासोक्ति-शरीर-प्रविष्ट होने के कारण वस्तुतः अपर-अन्य-नहीं होता। उसी तरह 'करतलः···' इत्यादि पद्य में दिग्गज आदि व्यंग्य उपमान, राजादिरूप वाच्य उपमेय और 'करतल' इत्यादि समानविशेषण—विशिष्टत्वरूप साधा-रण धर्म इन तीनों अंगों को लेकर उपमा अलंकार संपन्न होता है, उसमें सादृश्य (साधा-रण धर्म) अंश से वाच्य राजारूप उपमेय के पोषण होने पर भी उपमा अपराङ्ग नहीं

कहला सकती। क्योंकि अपर रूप में आपका अभिमत-उपमेय उपमाशरीरघटक होने के कारण वस्तुतः अपर नहीं होगा। ऐसा यदि आप कहें, तो वह भी आपके मनोरथ को सिद्ध करने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि इस तरह समासोक्ति की समता सिद्ध करने पर यह कहा जा सकता है कि जैसे समासोक्तिवाला स्थल गुणीभूतव्यंग्य कहलाता है, वैसे यह व्यंग्य उपमावाला (करतल'''इत्यादि) स्थल भी गुणीभूतव्यंग्य ही कहलायगा। अथवा आपके अनुसार जैसे यह व्यंग्य उपमावाला स्थल ध्वनि कहलाता है, वैसे समासोक्तिवाला स्थल भी ध्वनि ही कहलायगा—अर्थात् दोनों स्थलों की स्थिति जब एक सी है, तब एक को ध्वनि और दूसरे को गुणीभूतव्यंग्य कहना उचित नहीं प्रतीत होता है। पण्डितप्रकाण्ड नागेश का यहाँ कुछ भिन्न ही विचार है और वह बहुत ही हृदयग्राही है, अतः उसका उल्लेख किया जाता है। उनका कहना है कि अलंकार उद्दीपनरूप से रस आदि के उपकारक होते हैं और आलम्बन की अपेक्षा उद्दीपन में अधिक चमत्कार का होना सर्वानुभव-सिद्ध है। अतः 'करतल''' इत्यादि पद्य में वाच्य आलम्बन विभाव की अपेक्षा अधिक चमत्कारी, उद्दीपन, व्यंग्य उपमा अलंकार को लेकर ध्वनि का व्यवहार समुचित ही है। रस आदि की अपेक्षा गुणीभूतव्यंग्यता तो इष्ट ही है। समासोक्ति में तो अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप जब तक प्रस्तुत में नहीं किया जाता है तब तक वाक्यार्थ ही नहीं बन सकता है, अतः वहाँ व्यंग्य प्रस्तुत व्यवहार का गुणीभूत हो जाना और तत्प्रयुक्त गुणीभूत-व्यंग्य नामक मध्यम काव्य का व्यवहार होना असंगत नहीं है। यदि कहीं रसादि के उपकारक होने से समासोक्ति स्थल का व्यंग्य भी वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी रहेगा, तो वहाँ भी उसको ध्वनि माना जा सकता है। यदि आप कहें कि इस तरह से उपमाकृत उत्कर्ष को लेकर 'करतल''' इत्यादि पद को ध्वनि कहते हैं, तो कहिये, परन्तु अलंकार ध्वनि का व्यवहार वहाँ कैसे करते हैं? क्योंकि उपमा (उक्त दोनों अंगों से युक्त) व्यंग्य नहीं है—वाच्य है। तो इसका उत्तर यह है कि जहाँ अलंकार से ध्वनि में उत्कर्ष सिद्ध हुआ रहता है, वहीं अलंकार ध्वनि का व्यवहार होता है।

'उल्लास्य', भद्रात्मनो', 'करतल' इत्येतेषु उपमालङ्कारस्य व्यङ्ग्यत्वं न, अपि तु रूपकालङ्कारस्यैवेत्याह—

अन्यच्च—श्लेषे हि श्लेषभित्तिकमभेदाध्यवसानं द्वयोरर्थयोरिति सकलालंकारिकनिबद्धम्, अनुभवसिद्धञ्च। तत्र मूलान्वेषणे विधीयमाने एकपदोपात्तत्वान्न शक्यते मूलमन्यन्निर्वक्तुम्। एकपदोपात्तो ह्यनेकोऽप्यर्थोऽभिन्नतयैव भासते। इत्थञ्च—'उल्लास्य कालकरवाल'—इत्यादावप्येकपदोपात्ततया द्वयोरर्थयोरभेदाध्यवसानस्य युक्तत्वेनाभेदस्यैव व्यङ्ग्यत्वमुचितम्, नोपमायाः।

अन्यच्चेति। किं चेत्यर्थः। श्लेषभित्तिकमिति। श्लेषमूलकमित्यर्थः। विधीयमाने इति। क्रियमाणे इत्यर्थः। एकपदोपात्तत्वादिति पञ्चम्यन्तस्य अन्यदित्यत्रान्वयः। एकपदोपात्त इति। एकपदबोधित इत्यर्थः। 'हि' इति यत इति हेत्वर्थकः। उल्लास्य'''इत्यादाविति। भद्रात्मनोः करतलेत्यादिपद्यमात्रादिपदग्राह्यम्। अभेदस्यैवेति। तन्मूलकरूपकालङ्कारस्येति भावः। 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादौ श्लिष्टमानसपदादुपस्थितयोश्चित्तसरोरूपयोरर्थयोरभेदारोपः सर्वानुभवसिद्धः, सकलैरालङ्कारिकैर्निबद्धश्च। तत्र तयोरत्यन्तविसदृशयोरर्थयोरभेदारोपे किं मूलमिति जिज्ञासायां मानसेत्येकपदबोधितत्वमेव मूलं विज्ञातं भवति, नान्यत्। समुचितञ्चैतत्, यतः 'एकपदोपात्तोऽनेकोऽप्यर्थः अभिन्नतयैव भासत' इति सिद्धान्तः। एवञ्च 'उल्लास्य', 'भद्रात्मनो', करतलेत्येतेषु, एवंविधेष्वन्येषु च पद्येषु प्रकृताप्रकृतयोर्वाच्यव्यङ्ग्ययोरेकपदबोधिततया अभेदारोपो युक्तस्तथा च तन्मूलकरूपकालङ्कारस्य व्यङ्ग्यता

समर्थयितुमुचिता नोपमालंकारस्य। रूपकालङ्कार एवेदृशेषु स्थलेषु व्यङ्ग्यो नोपमालङ्कार इति भावः।

'उल्लास्य ·····', 'भद्रात्मनो ·····', और 'करतल ·····' इत्यादि पद्यों में 'रूपक' अलंकार ही व्यंग्य होता है, 'उपमा' अलंकार नहीं, इस स्व-सिद्धान्त का अब प्रतिपादन करते हैं—अन्यच्च इत्यादि। अभिप्राय यह है कि 'विद्वन्मानसहंस ···' इत्यादि श्लेष-काव्य-स्थल में श्लिष्ट मानसपद से बोधित चित्त और सरोवर रूप अर्थ-द्वय में अभेद का आरोप होता है, यह बात सबों के अनुभव से सिद्ध है, तथा सभी अलंकारिक विद्वानों को मान्य भी है। वहाँ जब यह विचार करते हैं कि अत्यन्त भिन्न प्रकार के उन दोनों अर्थों में अभेद का आरोप क्यों होता है—उसका मूल क्या है? तब मानस रूप एक पद से बोधित होने के अतिरिक्त कोई मूल नहीं मिलता है अर्थात् एक पद से उपस्थित होने के कारण ही सर्वथा भिन्न होने पर भी वे दोनों अर्थ एक जैसे (अभिन्न जैसे) प्रतीत होते हैं। यह अभिन्न जैसा प्रतीत होना अनुचित है। कारण, 'एक पद से उपस्थापित अनेक अर्थ भी एक जैसे ही भासित होते हैं' यह सर्व-मान्य सिद्धान्त है। इस स्थिति में 'उल्लास ·····', 'भद्रात्मनो ·····', और 'करतल ·····' इत्यादि पद्यों में तथा इसी तरह के अन्य पद्यों में भी जब प्रस्तुत वाच्य और अप्रस्तुत व्यंग्य अर्थों की उपस्थिति एक ही पदों से होती है, तब उन अर्थों में अभेद का आरोप अनुचित है, तथा अभेदा-रोप मूलक रूपक अलंकार का व्यंग्य होना ही मानने योग्य है। उन सब पद्यों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों में उपमानोपमेय भाव को व्यंग्य मानना असंगत है। तात्पर्य यह हुआ कि ये पद्य रूपकालंकार-ध्वनि के उदाहरण कहे जा सकते हैं, उपमा अलंकार-ध्वनि के नहीं।

'उल्लास्य ···' इत्यादिषु अभेदाध्यवसाननिरसनसमीहया श्लेषस्थलाद् वैलक्षण्यं प्राचामभिमतमुपपाद्य तस्याकिञ्चित्करतामाह—

श्लेषे द्वयोरर्थयोर्वाच्यत्वम् एककालत्वं च। इह त्वेकस्य वाच्यत्वम्, अपरस्य व्यङ्ग्यत्वं भिन्नकालत्वं चेति। एतावन्मात्रेणैवैकपदोपात्तत्वप्रयुक्तमभेदाध्यवसानं न शक्यं त्यक्तुम्, व्यङ्ग्यताया भिन्नकालत्वस्य चाभेदप्रतिपत्त्यबाधकत्वात्।

इह तु 'उल्लास्य'-इत्यादौ तु। इतिः पूर्वग्रन्थसमाप्तौ। प्रतिपत्तौ ज्ञाने। यत्र द्व्यर्थकपदघटितकाव्यस्थले प्रकरणादयोऽभिधानियामका न तिष्ठन्ति, अत एव द्वावप्यर्थौ वाच्यवृत्त्यैव प्रतीयेते, तत्रैव श्लेषः। एवञ्च श्लेषस्थले द्वयोरर्थयोर्वाच्यत्वं समकालीनज्ञानविषयत्वं च निश्चितम्। 'उल्लास्य'-इत्यादौ तु अभिधानियामकस्य प्रकरणस्य सत्त्वेन राजरूपार्थेऽभिधाया नियमनात् प्रकृतार्थस्यैव वाच्यत्वम्, अप्रकृतस्यैन्द्रादिरूपार्थस्य व्यङ्ग्यत्वमेव। अत एव तयोर्भिन्नकालज्ञानविषयत्वमपि निर्णीतम्, तथा च कथं श्लेषस्थलदृष्टान्तेनात्र प्रकृताप्रकृतयोरभेदाध्यवसानमित्याक्षेपः। प्रकृताप्रकृतयोरभेदज्ञाने एककालीनत्वं वाच्यत्वं वा न नियामकम्, न वा व्यङ्ग्यत्वं भिन्नकालत्वं वा प्रतिबन्धकम् इति श्लेषस्थलात् तादृशवैलक्षण्यं वर्तमानमपि न किञ्चित्करम्, एकपदबोधितत्वप्रयुक्तमभेदाध्यवसानमत्रापि भवत्येवेति च समाधानम्।

श्लेष-स्थल से व्यंग्योपमा-स्थल में वैलक्षण्य दिखलाकर उसकी अकिञ्चित्करता का वर्णन करते हैं—श्लेषे इत्यादि। अनेकार्थक पदों से निर्मित जिस काव्य के स्थल में अभिधा को नियन्त्रित करने वाले प्रकरणादि नहीं रहते हैं, अत एव दो अर्थ वाच्य-वृत्ति (अभिधा) से ही प्रतीत होते हैं, वहीं श्लेष होता है। इस स्थिति में यह निश्चित है

कि श्लेष-काव्य-स्थल में दोनों अर्थ वाच्य रहेंगे और एक काल में प्रतीयमान। और 'उल्लास्य……' इत्यादि स्थल—जहाँ अभिधा को नियन्त्रित करने वाला प्रकरण ज्ञान होता रहता हैं—में प्रकरण ज्ञान से अभिधा के नियमन हो जाने के कारण, राजारूप प्राकरणिक अर्थ ही वाच्य होता है, और अप्राकरणिक इन्द्रादिरूपकार्थ होता है व्यंग्य अतएव उन दोनों अर्थों का भिन्न-काल में ज्ञात होना भी निश्चित है। अब सोचिये कि श्लेषस्थल के दृष्टान्त से व्यंग्योपमा-स्थल में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों में अभेदारोप का स्वीकार करना कहाँ तक उचित है? अर्थात् नहीं उचित है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में नितान्त भिन्नता है। पर पूर्वपक्षियों का यह तर्क भी शिथिल ही है, क्योंकि दो पदार्थों को अभिन्न समझने में उन दोनों का वाच्य ही होना अथवा एककालिक होना, कोई नियामक नहीं है, और न है एक का व्यंग्य होना किंवा भिन्न-कालिक होना प्रतिबन्धक, अर्थात् एक के वाच्य और दूसरे के व्यंग्य होने पर भी तथा भिन्नकालिक होने पर भी एकशब्द-बोध्य अर्थ-द्वय में अभेदारोप हो सकता है।

काव्यप्रकाशटीकाकारोक्तं खण्डयति—

एतेन—'रूपकस्योपमाज्ञानाधीनज्ञानत्वेन प्रथमोपस्थिततया तस्या एव संबन्धत्वं कल्प्यम्' इति काव्यप्रकाशटीकाकारैरुक्तं नातीव श्रद्धेयमिति।

एतेनेति। पूर्वोक्तयुक्त्येति भावः। उल्लास्येत्यादौ प्रकृताप्रकृतयोरर्थयोः प्रतीतिर्भवतीति सर्वसम्मतम्। तत्रासंबद्धस्याप्रकृतार्थस्य ज्ञानं किमर्थमिति प्रश्ने तयोरर्थयोः संबन्धः कल्प्यः। स च अभेदाध्यवसानमूलकरूपकात्मकः सादृश्यमात्रमूलकोपमात्मको वेति सन्देहे केचन प्रकाशव्याख्यातारः 'उपमाया एव संबन्धत्वकल्पनं युक्तम्, सादृश्यमात्रमूलिकायास्तस्याः प्रथमोपस्थितत्वात्। रूपकस्य ज्ञानं तु उपमाज्ञानाधीनम्, सादृश्यप्रतीत्यनन्तरमेव तन्मूलकाभेदाध्यवसानरूपरूपकज्ञानसंभवात्' इति व्याचक्षते, तन्न युक्तम्, प्रागुपदर्शित-रीत्या एकशब्दोपात्तत्वप्रयुक्ताभेदाध्यवसानस्य सादृश्यज्ञानमन्तरापि संभवेन रूपकस्यैव प्रथमोपस्थितत्वादिति भावः।

'काव्यप्रकाश' के टीकाकारों की उक्ति का खण्डन करते हैं—एतेन इत्यादि। 'उल्लास्य……' इत्यादि पद्यों में प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक दोनों तरह के अर्थों की प्रतीति किसी न किसी तरह होती है, यह सर्व-सम्मत है। वहाँ अप्राकरणिक अत एव असंबद्ध अर्थ की प्रतीति क्यों मानी जाय? इस शंका के समाधान के लिये उन दोनों अर्थों में परस्पर किसी तरह के संबन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी। वह सम्बन्ध अभेदारोपमूलक रूपक हो अथवा सादृश्य-मात्र-मूलक उपमा हो, इस विकल्प में, काव्यप्रकाश के कुछ टीकाकारों ने कहा कि उपमा को सम्बन्ध मानना उचित होगा, क्योंकि उसकी सिद्धि में केवल सादृश्यज्ञान की अपेक्षा होती है, अतः उसकी उपस्थिति पहले होगी, रूपक का ज्ञान तो उपमा-ज्ञान के अधीन है, क्योंकि सादृश्य-प्रतीति के बाद ही तन्मूलक अभेदारोप-रूप रूपक का ज्ञान होना सम्भव है, अतः उसकी उपस्थिति पश्चात् होगी। परन्तु टीकाकारों का उक्त कथन असंगत है। क्योंकि पूर्वोक्त रीति से सादृश्य-ज्ञान के बिना भी एक शब्दोपात्तत्व-रूप युक्ति से प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थों में अभेदारोप संभव है, अतः रूपक ही पहले उपस्थित होगा। सारांश यह कि रूपक को ही सम्बन्ध रूप में मानना समुचित है।

विच्छिन्नप्रायं प्रसंगं पुनरवतारयति—

प्रकृतमनुसरामः।

ध्वन्युदाहरणप्रदर्शनात्मकं प्रकृतमनुसृत्यैवाग्रे विचारं प्रवर्तयाम इत्यर्थः।

विच्छिन्न-प्राय प्रसङ्ग की पुनः अवतारणा करते हैं—प्रकृत इत्यादि। अब पुनः प्रकृत प्रसङ्ग पर हम आते हैं।

अलङ्कारान्तरस्यापि शब्दशक्त्युद्भवसंलक्ष्यक्रमध्वनित्वं प्रतिजानीते—

एवमलंकारान्तरमपि शब्द शक्तिमूलानुरणनस्य विषयः ।

उपमायतिरिक्ता अपि अलङ्काराः संलक्ष्यक्रमनामकशब्दशक्त्युद्भवध्वनेर्लक्ष्यभावं भजन्ते इत्यर्थः ।

इसी तरह अन्य अलंकार भी शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम-ध्वनि में लक्ष्य हो सकते हैं।

विरोधाभासालङ्कारध्वनिमुदाहरति—

यथा यमुनावर्णने—'रविकुलप्रीतिमावहन्ती नरविकुलप्रीतिमावहति । अवारितप्रवाहा सुवारितप्रवाहा ।'

रवेः सूर्यस्य, कुले वंशे प्रीतिं प्रेमाणमावहन्ती भजमाना, नराणां मनुष्याणां, वीनां पक्षिणां च कुले समूहे प्रीतिं भजते । यमुनेति प्रक्रान्तं कर्तृपदं बोध्यम् । अवारितः अप्रतिबद्धः प्रवाहो यस्याः सा, शोभनं वार्जलं, तत्संजातं यस्येति सुवारितम् , तादृशः प्रवाहो यस्याः सा इति पारमार्थिको विवक्षितोऽर्थः ।

अब 'विरोधाभास'-अलंकार-ध्वनि का उदाहरण दिखलाया जाता है—यथा इत्यादि। 'रविकुल······' इत्यादि मूलोल्लिखित गद्यांश 'यमुना-वर्णन' के प्रसङ्ग में लिखा गया है, जिसका वास्तविक अर्थ यह है कि 'सूर्यनन्दिनी-यमुना' सूर्य-कुल में प्रेम रखती हुई मनुष्यों और पक्षियों के समुदाय में प्रेम रखती है, और अप्रतिरुद्ध-धारावाली तथा सुस्वादु सलील से युक्त प्रवाहवाली है।

उपपादयति—

इह नराणां वीनां च कुलस्य प्रीतिमावहतीति प्रकृतेऽर्थे सिद्धे रविकुलप्रीति नावहतीति द्वितीयोऽप्रकृतोऽर्थः विरोधश्च । एवमन्यत्रापि ।

विरोधश्चेति । अलङ्कारो ध्वन्यते इति शेषः अन्यत्रापीति । 'अवारितप्रवाहा सुवारितप्रवाहा' इत्यत्रेत्यर्थः । अभिधावृत्त्या पूर्वोल्लिखितप्रकृतार्थबोधानन्तरम् , अभिधामूलव्यञ्जनया 'न रविकुलप्रीतिमावहति', 'सुवारितप्रवाहा' इत्येताभ्यां विशेषणाभ्यां क्रमशः 'सूर्यकुलप्रीतिं नावहति', 'साधुप्रतिबद्धप्रवाहा' इति प्रथमविशेषणद्वयार्थविरुद्धोऽप्रकृतोऽर्थः प्रतीयत इति भवतीदं विरोधाभासालङ्कारध्वनेरुदाहरणमिति भावः ।

उक्त गद्यांश में प्रकृतोपयोगी वक्तव्यों का उपपादन करते हैं—इह इत्यादि। उक्त गद्यांश में अभिधावृत्ति से जब पूर्वोक्त प्रस्तुत अर्थ का बोध हो जाता है, तब शब्दशक्तिमूला व्यञ्जना से, 'न रविकुलप्रीतिमावहन्ती' और 'सुवारित-प्रवाहा' ये दोनों विशेषण, अपने पूर्वोक्त अर्थ से भिन्न और 'रविकुल-प्रतिमावहन्ती' तथा 'अवारित-प्रवाहा' इन दोनों विशेषणों के उक्त अर्थ के विरुद्ध अर्थों (सूर्यकुल में प्रेम नहीं रखती तथा सुन्दर ढङ्ग से अवरुद्ध धारावाली) को अभिव्यक्त करते हैं। उन विरुद्ध अर्थों में विरोध अलंकार भी अभिव्यक्त होता है। इस तरह यह गद्यांश, विरोधाभासालंकार-ध्वनि का उदाहरण सम्पन्न होता है।

अपिपदाभाव एव विरोधाभासस्य व्यङ्ग्यत्वम् , तत्पदसत्त्वे तु तस्य वाच्यत्वमेवेत्याह—

यदि तु रविकुलप्रीतिमावहन्त्यपि न रविकुलप्रीतिमावहति । अवारितप्रवाहापि सुवारितप्रवाहा इत्यपिरन्तर्भाव्यते तदा विरोधांशस्यापिनोक्तत्वाद्द्वितीयार्थस्य च तदाक्षिप्तत्वान्न ध्वनित्वम् ।

अपिपदं विरोधवाचकमिति नये रविकुलेत्यादियमुनावर्णनपरे गद्ये मूलोक्तरीत्याऽपि-

पदप्रक्षेपे विरोधो वाच्यः। स च विरोधः पूर्वोक्तमप्रकृतं विरुद्धार्थं विनाऽऽनुपपन्न इति तेन विरोधेन स अप्रकृतोऽर्थः आक्षिप्यते। एवञ्च विरोधो विरोधाधारभूतोऽप्रकृतोऽर्थश्च व्यङ्ग्यो न भवितुमर्हति, अनन्यलभ्यस्यैवार्थस्य व्यञ्जनाबोध्यत्वमिति सिद्धान्तात्। तथात्वे च नेदं ध्वनिविषय इति सारांशः।

उक्त वाक्य-कदम्ब के मध्य में यदि दो जगह दो 'अपि' पद रख दिये जाँय, तब यह गद्यांश ध्वनिकाव्य नहीं कहला सकता है, क्यों? इसका स्पष्टीकरण करते हैं—यदि तु इत्यादि। जैसे हर एक अर्थ का अपना अपना वाचक शब्द होता है उसी तरह 'विरोध' रूप अर्थ का वाचक है 'अपिशब्द'। और जब साक्षात् 'अपि' से विरोध उक्त होगा (अभिधावृत्ति से ज्ञात हो जायगा) तब जिन दो अर्थों का वह 'विरोध' वाच्य हुआ रहेगा, वे विरुद्ध दोनों अर्थ, 'आक्षेप' द्वारा ही समक्ष में आ जायेंगे, फिर तो व्यञ्जना से किसी अर्थ ज्ञान यहाँ हुआ ही नहीं, यह गद्यध्वनि कहलावे तो कैसे?

ननु 'निपाता द्योतका न तु वाचका' इति नये समाश्रियमाणे विरोधस्य अपिपदवाच्यताविरहेण पूर्वोक्तमसंगतम्, नेत्याह—

निपातानां द्योतकतानयेऽपि स्फुटद्योतितस्य तदाक्षिप्तस्य च वाच्यकल्पत्वान्न तथात्वम्।

तथात्वम् ध्वनित्वम्। निपाता द्योतका इति सिद्धान्ते स्वीकृतेऽपि निपातेनापिना विरोधस्तथा स्फुटं द्योत्यते, यथा सविरोधो वाच्यायमान एव संपद्यते, विरोधाक्षिप्तोऽप्रकृतार्थोऽपि वाच्यायमान एवेति न तत्प्रतीतिर्ध्वनिव्यपदेशहेतुः गूढव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वात्। अत एव 'अगूढमपरस्याङ्ग'मित्यादिना अगूढव्यङ्ग्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यनामकमध्यमकाव्यत्वप्रयोजकत्वमन्यत्रोक्तं संगच्छत इति भावः।

यदि कहें कि 'निपात' तो सभी द्योतक ही होते हैं, वाचक नहीं। 'अपि' भी एक निपात ही है, अतः उससे 'विरोध' द्योत्य हो सकता है, वाच्य नहीं, फिर तो आप की उक्त कथा असंगत है? नहीं, क्यों? इसका कारण कहते हैं—निपातना इत्यादि। द्योतकों को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ द्योतक ऐसे होते हैं, जो अपने अर्थों को नितान्त स्पष्ट रूप में द्योतित करते हैं, अतः वे अर्थ-वाच्य से हो जाते हैं। और कुछ द्योतक ऐसे होते हैं, जो अपने अर्थों को कुछ गूढ़ रूप में द्योतित करते हैं, अतः वे अर्थ वाच्य जैसे स्पष्ट नहीं होते, कुछ छिपे से रहते हैं। इस द्वितीय कोटि के गूढ़द्योत्य अर्थ व्यङ्ग कहे जा सकते हैं, पूर्वकोटि के वाच्यायमान द्योत्य नहीं। 'अपि' द्योतक होकर भी प्रथम कोटि का ही द्योतक हो सकता है, अतः उससे होनेवाला स्फुट-द्योत्य, 'विरोध' वाच्यायमान हो जाने से व्यङ्ग-पद को नहीं पा सकता फिर वह किसी काव्यको 'ध्वनि' पद देने में भी समर्थ नहीं हो सकता।

प्राचीनोदाहरणे शङ्कते—

ननु 'मृणालवलयादिदवदहनराशिः' इत्यत्र विरोधाभासस्य कथं वाच्यालंकारत्वम्, विरोधांशस्य शब्दवाच्यताविरहेण व्यङ्ग्यताया एवाभ्युपगन्तव्यत्वात्।

'अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादिदवदहनराशिः।
सुभग! कुरङ्गदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते॥'

इति सम्पूर्णं काव्यप्रकाशोक्तं पद्यं काचिद्दूती नायकं वक्ति—हे सुभग! (सुभगत्वञ्चात्र नायिकानुरागातिशयपात्रत्वमूलकं बोध्यम्) विधिवशतः दैवयोगात्, त्वद्वियोगरूपस्य, पवेर्वज्रस्य (वियोगे प्राणहरणसामर्थ्यसाम्यात् वज्राभेदारोपः), पाते सति, अस्या वर्णनीयनायिकायाः, कुरङ्गदृशः मृगनयनायाः (कृते इति शेषः) अभिनवाः नवीनाः, नलिन्याः

कमलिन्याः, किसलयाः दलानि, मृणालनिर्मितकंकणादि च दवदहनस्य वनाग्नेः, राशिः समूहः भवतीति शेषः अत्र नलिनीत्वादिजातीनां दहनत्वजात्या विरोधस्य विरहोद्दीपकतया दहनत्वोपचारेण परिहारात्तदाभासालङ्कारः। इदं पद्यं वाच्यविरोधाभासालङ्कारोदाहरणतया काव्यप्रकाशकृता लिखितम्। तत्र शंकते-ननु इत्यादि। अयं भावः—अत्रापिशब्दो विरोधो पस्थापको नास्ति, अतो विरोधाश्रयीभूतयोर्नलिनीत्वदवदहनत्वयोर्वाच्यत्वेऽपि विरोधांशस्य व्यङ्ग्यत्वमेव स्वीकर्तव्यं भवेत्, तथा च कथमिह वाच्यविरोधाभासोऽलङ्कार इति।

विरोध के प्रसङ्ग में प्राचीनों के द्वारा उद्धृत एक उदाहरण में कुछ शंका उपस्थित करते हैं—ननु इत्यादि। 'मृणालवलयादि' इत्यादि वाक्यांश, जिस पद्य का है, वह सम्पूर्ण पद्य संस्कृत टीका में उद्धृत है। नायिका के पक्ष की एक दूती, नायक से कहती है—हे सुभग! (जो कभी सुधि न ले, पर नायिका उसके विरह में मरने पर उद्यत होवे, उसको भाग्यशाली क्यों नहीं कहा जाय?) (यद्यपि जानबूझकर अपनी इच्छा से, तुम वियुक्त नहीं हुए थे, तथापि) दैव-योग से होनेवाले तेरे 'वियोग-वज्र' के आपतन के बाद से (समान रूप से प्राणहर होने के कारण वियोग को वज्र कहा गया है) इस मृगाक्षी के लिये कमलिनी के कोमल किसलय और मृणाल के बने कङ्कण, वन के वह्नि-पुञ्ज हो गए थे। यहाँ, विरहोद्दीपक होने के कारण वह्नि-भाव के आरोप से पश्चात् विरोध की शान्ति होने पर भी पहले आपाततः कमलजाति और वह्निजाति में विरोध सा प्रतीत होता है, अतः यहाँ 'विरोधाभास' नाम का अलंकार माना जाता है। इस पद्य को वाच्य अलंकार के प्रकरण में प्राचीनों ने उदाहृत किया है। अब शंका होती है कि जब यहाँ 'अपि शब्द' नहीं है, तब 'विरोध' वाच्य तो होगा नहीं, आखिर उसे व्यङ्ग्य ही मानना पड़ेगा, फिर यह पद्य वाच्य-विरोधाभास का उदाहरण होगा, तो कैसे? (एक बात यहाँ समझने की है—जिन दो अर्थों में यहाँ विरोध प्रतीत होते हैं, वे मृणालवलय और वनवह्नि यद्यपि वाच्य हैं, पर उन दोनों का विरोध वाच्य नहीं है, व्यङ्ग्य है, अतः ऐसी शंका की गई है)।

शङ्कितस्यार्थस्यापातसुभगं समाधानमुक्त्वा खण्डयति—

न च विरोधविशिष्टाभेदस्य संसर्गत्वाद्वाच्यार्थबोधविषयतया विरोधस्य वाच्यत्वमिति वाच्यम्, विरोधाभेदयोः परस्परविरुद्धत्वेनैककालावच्छेदेनैक-संसर्गत्वस्यानुपपत्तेः। नामार्थयोरभेदस्यैव संसर्गतया विरोधस्यापि संसर्गत्वे मानाभावाच्च, पर्यन्ते दवदहनराशिपदस्य सदृशलाक्षणिकतया विरोधांशस्य तिरोधानाच्च।

विरोधविशिष्टाभेदस्येति। अभेदे विरोधवैशिष्ट्यं सामानाधिकरण्यसंबन्धेनेति भावः। वाच्यार्थबोधविषयतयेति। अन्विताभिधानवादिमतेनेदम्। तन्मतेऽन्वयांशेऽपि शक्तिस्वीकारादिति भावः। यद्यप्यभिहितान्वयवादेऽपि तात्पर्यवृत्त्युपस्थापितस्यान्वयांशस्य वाच्यार्थ-बोधविषयत्वम् संभवति, तथापि तावता तस्य वाच्यत्वं न संभवति, अपितु तात्पर्यार्थत्व-मिति बोध्यम्। मृणालवलयादिपदार्थस्य दवदहनराशिपदार्थस्य च भिन्नोऽभेदसंसर्गेणा-न्वयः, निपातातिरिक्तसमानाधिकरणनामार्थयोरभेदातिरिक्तसंबन्धोऽव्युत्पन्न इति सिद्धा-न्तात्। स चाभेदः प्रकृते न केवलः संसर्गतया विवक्षितोऽपि तु विरोधविशिष्टः। तथाचोक्त-पदार्थद्वयविषयकबोधे स संबन्धोऽपि भासेत इति विरोधो वाच्यो जात इति शंका। उत्तरयति—विरोधाभेदयोरिति। विरोधोऽभेदश्चेति परस्परविरोधिपदार्थद्वयम्, अतः एकस्मिन् काले तयोर्द्वयोर्मिश्रणेनैकसंबन्धत्वं न युक्तमित्यर्थः। ननु भेदाभेदघटिततादा-त्म्यवदुपपत्तिः स्यादित्यत आह—नामार्थयोरिति। नामार्थद्वयस्य संसर्गरूपेण शुद्धोऽभेद एव

प्रसिद्ध इति विरोधविशिष्टस्य तस्य संसर्गत्वमप्रामाणिकमिति भावः। तादात्म्यस्य संसर्गत्वं तु तन्त्रान्तरे प्रसिद्धमितितात्पर्यम्। ननु प्रतीत्यन्यथानुपपत्तिरेव मानमित्यत आह—पर्यन्ते इति। पर्यवसान इत्यर्थः। काव्यत्वोपयोगिवाक्यार्थबोधानन्तरं मृणालवलयादि न दवदहनराशिरिति बन्धप्रतिसन्धाने दवदहनराशिपदस्य तत्सदृशे लक्षणाऽवश्यमेषितव्या तथा च दवदहनराशिसदृशं मृणालवलयादिति पार्ष्णिकबोधे जाते विरोधोऽत्र भासेतापि न, तथा च कथं तस्य संबन्धघटकत्वमिति भावः। इत्थञ्च मध्योक्तं समाधानमसंगतमिति नन्वित्यादिना समुत्थापिता शंका स्थिरेति बोद्धव्यम्।

पूर्व शङ्कित अर्थ का एक असिद्धान्तीय समाधान कहकर उसका खण्डन करते हैं—न च इत्यादि। 'मृणाल-वलयादिवन-दहनराशिः' यहाँ मृणाल-वलय पदार्थ का दवदहनराशि पदार्थ के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। क्योंकि निपात से अतिरिक्त दो प्राति-पादिकार्थों में अभेद से अन्य सम्बन्ध अयुक्त माना जाता है। वह यहाँ केवल अभेद के रूप में नहीं, किन्तु विरोध से युक्त होकर उक्त पदार्थ-द्वय का सम्बन्ध बनता है। और अन्विताभिधानवादियों के मतानुसार, वाक्य से होनेवाले वाच्यार्थ-बोध में, सम्बन्ध भी भासित होता है अन्यथा असंबद्ध अर्थों का अन्वय ही नहीं बन सकेगा। अतः विरोध को वाच्य माना गया है—अर्थात् वाच्य अर्थ के बोध में जो भासित होता है, उसी को तो वाच्य कहा जाता है, और यहाँ उक्त रीति से विरोध भी सम्बन्धगत होकर वाच्यार्थ-बोध में भासित हुआ है, अतः वह भी वाच्य कहा जायगा। परन्तु यह समाधान ठीक नहीं है, क्योंकि विरोध और अभेद ये दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, अतः वे दोनों एक ही काल में सम्मिलित रूप से एकसम्बन्ध रूप नहीं हो सकते—अर्थात् विरोधयुक्त अभेद को एक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। सारांश यह कि—जिन दो पदार्थों में विरोध होता है उनमें अभेद नहीं हो सकता और जिन दो पदार्थों में अभेद होता है उनमें विरोध नहीं हो सकता, अतः किसी भी हालत में साथ नहीं रह सकनेवाले विरोध और अभेद को मिलाकर एक सम्बन्ध मानना असङ्गत है। यदि आप कहें कि भेद और अभेद को मिला-कर जैसे तादात्म्य नाम का एक सम्बन्ध माना जाता है, वैसे ही विरोध और अभेद को मिलाकर एक सम्बन्ध क्यों नहीं माना जा सकता? हाँ, माना जा सकता था, यदि तादात्म्य के समान यह 'विरोधयुक्त अभेद' भी कहीं सम्बन्ध रूप से प्रसिद्ध होता, वह तो है नहीं, सर्वत्र दो प्रातिपदिकार्थों के सम्बन्धरूप में शुद्ध अभेद ही प्रसिद्ध है, अतः 'विरोधयुक्त अभेद' का सम्बन्धरूप होना अप्रामाणिक है। यदि आप कहें कि विरोध की प्रतीति होती है और वह प्रतीति तबतक नहीं बन सकती, जबतक 'विरोधयुक्त अभेद' को सम्बन्ध न माना जाय, अतः (इस अनुपपत्तिरूप प्रमाण से) वैसा माना जायगा। तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि अन्त में 'दव-दहन-राशि' पद को स्वसदृश अर्थ में लाक्षणिक ही मानना पड़ता है, अतः विरोध अंश तिरोहित हो जाता है—अर्थात् लक्षणा के बाद सादृश्य सम्बन्ध की ही प्रतीति होती है, विरोध की प्रतीति होती ही नहीं। फिर उसकी अनुप-पत्ति के बल पर 'विरोधयुक्त अभेद' को आप सम्बन्ध कैसे सिद्ध कर सकते हैं? तात्पर्य है कि यद्यपि 'मृणाल-वलय आदि' के 'दावानलसमूहरूप' होने में विरोध है, तथापि विरहिणी के लिये तापकर होने से उनको उसके समान मानने में कोई विरोध नहीं है। इस तरह से यह बीच का समाधान बन नहीं सकता, अतः यह शंका बनी रही कि 'उक्त पद्य वाच्य विरोधाभास' का उदाहरण कैसे होगा?

नन्वित्यादिना कृतामाशंकां समाधत्ते—

मैवम्।

उक्तशंका न युक्तेति भावः।

अब उक्त शंका का खण्डन करते हैं—'मैवम्' इति। अर्थात् उक्त शंका उचित नहीं।

शंकाया अयुक्तत्वे हेतुमाह—

उक्तपद्यस्य विरोधोदाहरणतामात्रे तात्पर्यात्, व्यङ्ग्यत्वेऽपि तथात्वस्यानपायात्। वाच्यविरोधोदाहरणतायां त्वपिरन्तर्भाव्यः।

उक्तपद्यस्येति। अभिनवनलिनीत्यादिपद्यस्येत्यर्थः। उदाहरणतामात्रेति। मात्रपदेन वाच्यत्वनिरासः। तथात्वस्य विरोधत्वस्य। अनपायादिति। अनाशादित्यर्थः। अभिनवनलिनीति पद्येऽपि पदाभावेन विरोधो वाच्यो न भवति चेत्, न भवतु, तावता न किञ्चिदसामञ्जस्यम्, व्यङ्ग्यविरोधमादायापि प्रकाशकारस्याभिमतसिद्धेः। तस्य विरोधोदाहरणप्रदर्शन एव तात्पर्यम्, न तु विरोधस्य वाच्यत्वे इति भावः। यदि तु वाच्यविरोधोदाहरणमेवैतत्पद्यमित्याग्रहः, तदा मृणालवलयाद्यपि दवदहनराशिरिति रीत्या अपिपदान्तर्भावो विधेय एव।

उक्त शंका क्यों उचित नहीं, इसका हेतु अब कहते हैं—'उक्त' इत्यादि। काव्यप्रकाशकार का उद्देश्य केवल विरोध का उदाहरण दिखलाना है, वह विरोध वाच्य हो अथवा व्यङ्ग्य इससे उन्हें प्रयोजन नहीं। अतः यदि उक्त पद्य में 'अपि पद' के न रहने से विरोध वाच्य न भी होता—व्यङ्ग्य ही होता है, तथापि प्रकाशकार की अभीष्ट सिद्धि हो ही जाती है। फिर वहाँ किसी तरह की असङ्गति की आशंका निर्मूल है। वाच्य-विरोधाभासालंकार का उदाहरण दिखलाना यदि अभीष्ट होगा, तब 'अपि' पद का पाठ करना ही पड़ेगा अर्थात् वैसा ही उदाहरण खोजना होगा, जहाँ अपि पद से विरोध वाच्य होता हो।

[illegible] मतान्तरमाह—

केचित्तु—'विरोधस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि विरोधिद्वयस्य वाच्यतामात्रेण विरोधाभासस्य वाच्यालङ्कारव्यपदेशोपपत्तिः। इत्थमेव चांशान्तरस्य व्यङ्ग्यत्वेऽप्येकांशमादाय समासोक्त्यादीनामपि वाच्यालङ्कारव्यपदेशः' इत्याहुः।

'मृणालवलयादिदवदहनराशिः' इति प्रकाशग्रन्थे अपिपदस्यासत्त्वेन विरोधांशस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि मृणालवलयादिदवदहनराशिरूपं विरोधिद्वयं वाच्यमेव, तावतैव 'अत्र विरोधाभासालङ्कारो वाच्यः' इति व्यवहारो भवति, यतो विरोधांशो विरोधिद्वयांशश्च मिलित्वैव विरोधाभासशरीरम्। तत्रैकस्यांशस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि अन्यस्यांशस्य वाच्यत्वेन विरोधाभासस्य वाच्यत्वं सुस्थम्। यथा समासोक्त्याद्यलंकारस्य प्रकृताप्रकृतघटितस्य, अप्रकृतांशस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि वाच्यत्वव्यवहार इति भावः। अत्र 'केचित्तु' इत्यनेनारुचिः सूच्यते। तद्बीजं च समासोक्त्यादिषु गत्यन्तराभावेन तथा स्वीकारेऽपि विरोधाभासस्थले पूर्वोक्तरीत्या वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वयोः स्फुटभेदे संभवति तादृशक्लिष्टकल्पना व्यर्थेत्यादि बोध्यम्।

उक्त 'प्रकाश-ग्रन्थ' को संगत सिद्ध करने के लिये अन्य विद्वानों के द्वारा कहे गये एक भिन्न प्रकार का उल्लेख करते हैं—'केचित्तु' इत्यादि। कुछ लोगों का कथन है कि 'मृणाल-वलयादिदव-दहन-राशिः' इत्यादि स्थल में 'अपि पद' के न रहने से 'विरोध' व्यङ्ग्य है, वाच्य नहीं, यह बात यद्यपि सत्य है, तथापि जिनका विरोध व्यङ्ग्य होता है, वे विरोधी-द्वय-अर्थात् मृणालवलय आदि और दवदहनराशि तो वाच्य हैं,—तावतैव यहाँ विरोधाभास अलंकार वाच्य कहलायगा। तात्पर्य यह कि विरोध अंश और विरोधी-द्वय अंश ये दोनों अंश मिलकर ही तो विरोधाभास अलंकार का शरीर बनते हैं, उनमें एक अंश (विरोध) के व्यङ्ग्य होने पर भी और अंश के वाच्य होने से विरोधाभास अलंकार में वाच्यत्व का व्यवहार होगा, जैसे—प्रस्तुत वाच्य और अप्रस्तुत व्यङ्ग्य इन दोनों अंशों को मिलकर बनने वाले समासोक्ति अलंकार में एक अंश के व्यङ्ग्य रहने पर भी वाच्यत्व व्यवहार होता है। यहाँ 'केचित्तु' से कुछ अरुचि सूचित होती है, जिसका बीज यह है

कि समासोक्ति आदि में निरुपाय होकर वैसा मान लेते हैं, पर यहाँ तो ऐसी बात नहीं है—अर्थात् यहाँ 'अपि' पद के रहने पर विरोधाभास वाच्य और उसके नहीं रहने पर वह व्यङ्ग, इस तरह से जब स्पष्ट भेद संभव है, तब क्यों उस तरह की कष्ट-कल्पना की जाय ?

शब्दशक्तिमूलव्यतिरेकालङ्कारध्वनिमुदाहरति—

यथा वा—

'कृष्णपक्षाधिकरुचिः सदासम्पूर्णमण्डलः ।
भूपोऽयं निष्कलङ्कात्मा मोदते वसुधातले ॥'

कृष्णस्य भगवतः, पक्षे अंशे (न तु सांसारिकविषयांशे इति भावः) अधिका रुचिः प्रीतिर्यस्य सः, सद्भिः सज्जनैः, आपूर्णं व्याप्तं, मण्डलं राष्ट्रं यस्य सः, निष्कलङ्कः पवित्रः, आत्मा यस्य सः, अयं कथन वर्णनीयः, भूपः राजा वसुधातले, मोदते, प्रसीदतीति प्रकृतोऽर्थः । कृष्णपक्षेऽसितपक्षे, अधिकरुचिः विशदकान्तिः, सदा सर्वदा, सम्पूर्णमण्डलः पूर्णबिंबः, (न तु कदापि चन्द्रवत् खण्डितबिंब इति भावः) निष्कलङ्कात्मा कलङ्कशून्य-स्वरूपः इति राजविशेषणीभूत एव चन्द्रवैधर्म्यबोधकोऽप्रकृतोऽर्थः ।

अब शब्दशक्ति-मूलक 'व्यतिरेक अलंकार' ध्वनि का उदाहरण देते हैं—यथा वा इत्यादि । जिसकी कृष्ण भगवान् के पक्ष (अंश) में (न कि सांसारिक विषय के अंश में) अधिक रुचि है, जिसका राष्ट्र मण्डल सज्जनों से परिपूर्ण है, जिसकी आत्मा निष्कलंक है, ऐसा यह राजा, भूतल पर मोद कर रहा है । यह है प्राकरणिक अर्थ, और इसके अतिरिक्त अप्राकरणिक अर्थ भी है, जिसके द्वारा राजा में चन्द्र से वैधर्म्य दिखलाकर आधिक्य सिद्ध किया जाता है, जैसे चन्द्र कृष्णपक्ष में कान्तिहीन हो जाता है, पर यह राजा कृष्णपक्ष में भी अधिक कान्तिशाली है, चन्द्रमण्डल सदा पूर्ण नहीं रहता और यह राजा सदा पूर्णमण्डल रहता है, चन्द्र कलंकी है, यह निष्कलंक है ।

उपपादयति—

अत्र भगवत्पक्षाधिकप्रीत्यादिलक्षणे प्रकृतभूपोपयोगित्वात्प्रकृतेऽर्थे शब्दस्या प्रतीतिपथमवतीर्णे द्वितीयोऽर्थोऽप्रकृतो वैधर्म्यात्मा तत्प्रयुक्तो व्यतिरेकश्च ।

भगवत्पक्षाधिकप्रीत्यादिलक्षणो योऽर्थोऽनुपदमुक्तः, स एव कुतः प्रकृत इत्यत आह—प्रकृतभूपोपयोगित्वादिति । प्रतीतिपथमवतीर्णे इति । बोधविषये जाते इत्यर्थः । द्वितीय इति । पूर्वोक्तचन्द्रवैधर्म्यबोधक इत्यर्थः । वैधर्म्यात्मा इति । वैधर्म्यस्वरूप इत्यर्थः । व्यतिरेकश्च इति । ध्वन्यत इति शेषः । भूपोऽत्र प्रकृतः, तदुपयोगित्वाद् भगवत्पक्षाधिक-रुचित्वरूपार्थोऽपि प्रकृतः इति तदितरार्थं प्रकरणेनाभिधा नियम्यते, अतः स एवार्थो वाच्यः । असितपक्षेऽधिककान्तित्वादिचन्द्रवैधर्म्यात्मा अर्थस्तु अप्राकरणिकत्वात् न वाच्यः, अपि तु व्यङ्ग्यः, तत्प्रयुक्तो व्यतिरेकालंकारोऽपि व्यङ्ग्यः । तथा च शब्दानां परिवृत्त्यसह-त्वेन भवतीदं पद्यं शब्दशक्तिमूलव्यतिरेकालङ्कारध्वनेरुदाहरणमिति भावः ।

उक्त श्लोक में प्रकृतोपयोगी विषयों का उपपादन करते हैं—'अत्र' इत्यादि । उक्त पद्य, राजा के प्रकरण में कहा गया है, अतः राजा प्राकरणिक अर्थ है, और तदुपयोगी होने से 'भगवत् पक्ष में अधिक रुचि रखने वाला' इत्यादि पूर्वोक्त अर्थ भी प्राकरणिक है, अतः प्रकरण से, उक्त प्राकरणिक अर्थों में पदवाक्य के अन्तर्गत पदों की अभिधाशक्ति नियन्त्रित हो जाती है—वे ही अर्थ वाच्य-कोटि में आते हैं और 'कृष्णपक्ष में अधिककान्तिशाली' इत्यादि चन्द्र वैधर्म्य अप्राकरणिक अर्थ तो उक्त वाच्य अर्थ की प्रतीति हो जाने के बाद व्यञ्जना से ज्ञात होते हैं—व्यङ्ग्य कोटि में आते हैं, इसी व्यङ्ग्य अर्थ के आधार पर उपमान

चन्द्र से उपमेय राजा में आधिक्य-प्रतिपादनरूप 'व्यतिरेकालंकार' भी व्यङ्ग्य होता है। यहाँ के शब्द बदले नहीं जा सकते हैं अतः यह पद्य शब्द-शक्ति मूलक व्यतिरेकालंकार-ध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है।

अत्र व्यज्यमानस्य व्यतिरेकस्य गुणीभूतत्वमाशंक्य निरस्यति—

न चात्र व्यतिरेकस्य कविगतराजविषयकरतिभावोत्कर्षकतया गुणीभूतस्य कथं ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं, प्रधानस्यैव ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वादिति वाच्यम्, उदासीने वक्तरि तत्त्वार्थकथनपरस्यास्य पद्यस्य वक्तृगतरतिव्यञ्जकत्वासंगतेः, गुणीभूतस्याप्यर्थस्य वाच्यार्थापेक्षया प्रधानतया ध्वनिव्यपदेशहेतुतायाः प्राचीनैः स्वीकाराच्च। अन्यथा—

'निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥'

इत्यत्र व्यतिरेकध्वनित्वं तैरुक्तमसंगतं स्यात्। व्यतिरेकस्य भगवद्विषयकरतिभावाङ्गताया अनुभवसिद्धत्वात्।

कविगतेति। कविगतः कविहृदयवर्ती, यो राजविषयकः वर्णनीयनृपोद्देश्यकः, इति भावः। भक्त्यपरपर्यायः प्रेमभावः, तस्य उत्कर्षकतया पोषकतयेत्यर्थः। अयञ्च व्यतिरेकस्य गुणीभूतत्वे हेतुः। उदासीन इति। रतिरोषोभयानाविष्ट इत्यर्थः। अत्र सतीति शेषः। तत्त्वार्थेति। यथास्थितार्थेत्यर्थः। वक्तुः रतिभावाविष्टत्वे पद्यस्यास्य राजस्तुतिपरकत्वेन व्यतिरेकस्य गुणीभूतत्वेऽपि ध्वनित्वं स्थापयति—गुणीभूतस्यापीत्यादिना। अन्यथेति। तथानङ्गीकार इत्यर्थः। निरुपादानेति। उपादानसंभारः सामग्रीसमूहः तूलिकादिकं तद्रहितं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम्। अभित्तावेव शून्य एव, चित्रं जगत् नानाविधं विश्वम्, तन्वते विस्तारयते, सृजते इति यावत्, तस्मै अनिर्वचनीयस्वरूपाय, कलया चन्द्रषोडशभागेन, श्लाघ्याय स्पृहणीयाय शूलिने शिवाय नमः इत्यर्थः। पक्षे चित्रमालेख्यम्। कला आलेख्यक्रियाकौशलम्। तैः प्राचीनैः। रतिभावाङ्गताया इति। रतिभावपोषकत्वेनाङ्गत्वम् इति भावः। कृष्णपक्षेतिपद्यं राज्ञः स्तुतौ केनापि कविना प्रयुक्तम्। तथा च कविनिष्ठराजविषयकरतिभाव एवात्र प्रधानव्यङ्ग्यः। व्यतिरेकस्तु व्यज्यमानोऽपि तत्पोषकतया गुणीभूतो न ध्वनिव्यवहारहेतुः प्रधानव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनित्वप्रयोजकतास्वीकारात् इति शङ्का। नेदं पद्यं राज्ञः स्तुतौ प्रयुक्तम्, वक्तुरुदासीनत्वात्। अपि तु वास्तविकार्थवर्णनपरमेव पद्यमेतत्। तथा च नास्मात्पद्यात् कविनिष्ठराजविषयकरतेरभिव्यक्तिः। तदनभिव्यक्तौ च न व्यङ्ग्यस्य व्यतिरेकस्योत्कर्षकत्वं गुणत्वं चेति चोत्तरम्। अथवा आस्तामिदं पद्यं राजस्तुतिपरमेव, भवतु च कविगतराजविषयकरतिभावपोषकतया व्यतिरेकस्य गुणीभावः, तथापि व्यतिरेकध्वनित्वमिह सुस्थमेव, पार्यन्तिकव्यङ्ग्यरतिभावापेक्षया गुणत्वेऽपि वाच्यापेक्षया व्यतिरेकस्य प्राधान्यसत्वात्, 'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः' इति ध्वनिलक्षणं कुर्वता प्राचीनेन वाच्यमात्रापेक्षया प्रधानस्यैव व्यङ्ग्यस्य ध्वनिव्यपदेशहेतुता सूचनात्। अतएव—'निरुपादानसंभार—' इति पद्ये भगवद्विषयकरतिभावपोषकतयाऽनुभवसिद्धस्यापि व्यङ्ग्यस्य व्यतिरेकालंकारस्य ध्वनित्वव्यपदेशहेतुत्वं प्राचीनैः प्रदर्शितं संगच्छत इति भावः।

उक्त पद्य में 'व्यतिरेक' व्यङ्ग्य होने पर भी गौण है, अतः वह ध्वनि-व्यवहार का हेतु नहीं हो सकता, इस तरह की आशंका और उसका खण्डन अब करते हैं—न चात्र इत्यादि।

'कृष्णपक्षाधिक रुचिः·····' इत्यादि पद्य में कविने किसी राजा की स्तुति की है, अतः इस पद्य से वर्णनीय राजा के प्रति कवि-हृदय-गत प्रेमभाव ही प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है। यद्यपि उक्त रीति से व्यतिरेक अलंकार भी यहाँ व्यङ्ग्य होता है, पर वह प्रधान-व्यङ्ग्य-कविगत-रतिभाव का पोषक होने के कारण गुणीभूत है, अतः वह ध्वनि-व्यवहार के हेतु होने योग्य नहीं है फिर कैसे इस पद्यको व्यतिरेक ध्वनि का उदाहरण मानते हैं ? इस तरह की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि एक तो यह कि उक्त पद्य का वक्ता, राजा की चापलूसी करने वाला नहीं है, वह एक उदासीन व्यक्ति है, अतः उसने इस पद्य में जो कुछ कहा है, वह वास्तविक स्थिति का वर्णन है-झूठी प्रशंसा नहीं, फिर इस पद्य से राजा के प्रति वक्ता का प्रेमभाव कैसे व्यक्त हो सकता है ? वह तो वहीं होता है, जहाँ वक्ता झूठमूठ की प्रशंसा करता हो। और जब यहाँ उक्त प्रेमभाव व्यक्त नहीं होगा, तब उक्त व्यतिरेकरूप व्यङ्ग्य की प्रधानता मानी ही जायगी। दूसरा कारण यह भी है कि—जो व्यङ्ग्य किसी दूसरे व्यङ्ग्य की अपेक्षा गौण भी हो, पर वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान हो, तो उस व्यङ्ग्य को भी ध्वनिव्यवहार का नियामक प्राचीनों ने माना है, अत एव ध्वनिकाव्य का लक्षण, 'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः' अर्थात् वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी व्यङ्ग्य अर्थ के रहने पर 'ध्वनि' नामक उत्तम काव्य कहा जाता है' ऐसा उन्होंने बताया है। यदि ऐसी बात नहीं होती, तब 'निरुपादान·····'इत्यादि अर्थात् बिना सामग्री के अभित्ति—निराधार—में ही संसार-चित्र को बनाने वाले अतएव प्रशंसनीय कला-कौशलवाले शिव जी को मेरा नमस्कार है' इस पद्य को व्यतिरेकालंकार ध्वनि का उदाहरण, प्राचीन आचार्य कैसे मानते ? तात्पर्य यह कि इस पद्य से भी सर्व-प्रधानरूप में कविगत भगवद्विषयक प्रेमभाव ही व्यक्त होता है और व्यतिरेक उस प्रेमभाव के अङ्ग (पोषक) रूप में ही व्यङ्ग्य होता है, ऐसा यद्यपि सबों का अनुभव है, तथापि जैसे भावध्वनि की अपेक्षा गौण होने पर भी वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान होने के कारण, यहाँ व्यतिरेक को ध्वनिव्यवहार का नियामक मानते हैं, उसी तरह पूर्वोक्त प्रकृत पद्य में व्यतिरेक ध्वनि का व्यवहार करने में कोई बाधा नहीं है।

शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनिमुदाहरति—

शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनिर्यथा—

'राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे महद्भयमुपस्थितम् ।
बाले ! वारय पान्थस्य वासदानविधानतः ॥'

पान्थः कामपि नवयौवनां वक्ति—

हे बाले ! त्वम्, मत्प्रतिकूलात् मद्विरुद्धव्यापारव्रणात् राज्ञः नृपात्, उपस्थितं प्राप्तं पान्थस्य पथिकस्य, मे मम, महत् प्राणोपघातकं भयं वासस्य निवासस्थानस्य दानस्य, विधानतः करणात्, वारय इत्यापाततो वाच्योऽर्थः प्रतीयते। मत्प्रतिकूलात् वियोगिनो मर्मोद्वेजकतया क्लेशप्रदात् (अन्येषां तु सुखकर एव स इति भावः) राज्ञश्चन्द्रात्, उपस्थितं, पान्थस्य वियोगिनः (एतेनोत्कण्ठातिशयं व्यज्यते) मम महत् प्राणहरम्, भयम् कामार्तिरूपम्, वासस्य निवासस्थानस्य दानस्य संभोगात्मकस्य, विधानतः वारय दूरीकुरु, अर्थात्—चिरात्कान्ता-विरहकातरतया परमोत्कण्ठितं मामयमुदीयमानश्चन्द्रो नितरामुद्वेजयति अत उपभोगं देहि इति न व्यङ्ग्योऽर्थः।

अब शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि का उदाहरण दिखलाते हैं—शब्द इत्यादि। शब्द-शक्तिमूलक वस्तुध्वनि का उदाहरण 'राज्ञो मत्प्रतिकूला·····' इत्यादि पद्य होता है। यह पद्य, पथिक के द्वारा किसी युवती के प्रति कहा गया है। इस पद्य से पहले आपा-

ततः वाच्य रूप में यह अर्थ प्रतीत होता है कि बाले—युवावस्था के प्रथम सोपान पर पग रखने वाली सुन्दरि ! राजा मुझ से सर्वथा विरुद्ध है, अतः उससे महान् (प्राण-हानि-कर) भय उपस्थित हो गया है, मैं एक पथिक हूँ, यहाँ मेरा कोई रक्षक नहीं, अतः तुम अपने यहाँ जगह देकर उस भय से मुझे बचाओ। पर, अभिधामूलाव्यञ्जना से यहाँ यह अर्थ विदित होता है कि मैं पथिक हूँ—चिरकाल से बाहर-बाहर ही घूमता रहा हूँ, अतः प्रेयसी-समागम-सुख से वञ्चित हूँ। चित्त उत्कण्ठित हो रहा है, अब तक तो किसी किसी तरह उस उत्कण्ठा का दमन करता रहा, पर अब दमन संभव नहीं। यह आकाश में चमकने वाला राजा (चन्द्र) मेरे विरुद्ध खड्गहस्त होकर खड़ा हो गया है, यह मेरे प्राण लेकर ही छोड़ेगा, अतः हे सुन्दरि ! वास और दान (स्थान और संभोग) के विधान से अर्थात् अपने पास रखकर संभोग की सुविधा से मेरे प्राणों की रक्षा कर। संक्षेप में व्यङ्ग्यार्थ का अभिप्राय यह हुआ कि यह चन्द्र; चिरविरही अत एव नितान्त उत्कण्ठित मुझको उद्विग्न कर रहा है, अतः संभोग का अवसर दो। यह व्यङ्ग्य अर्थ उक्त वाच्य अर्थ से अधिक चमत्कारी है अतः प्रधान है, अत एव इस व्यङ्ग्य के आधार पर यह पद्य 'ध्वनि' कहलाने योग्य है।

उपपादयति—

अत्रोपभोगं देहीति वस्तु राजपदशक्तिमूलानुरणनविषयः। राजपदाच्चन्द्रोपस्थितावेव चन्द्रजनितभयवारणकारणत्वेनोपभोगस्याभिव्यक्तेः।

राजपदेति। राजपदनिष्ठा या शक्तिरभिधात्मिका तन्मूलकं यदनुरणनं व्यञ्जना, तस्य तज्जन्यबोधस्य विषयः इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—राजपदाच्चेत्यादिना। चन्द्रेति। चन्द्रजनितं चन्द्रोदयप्रयोज्यमित्यर्थः यत् भयं कामपीडाधिक्यसंभावनात्मकम्, तस्य वारणं शान्तिः, तत्कारणत्वेनेत्यर्थः। अत्र पूर्वोक्तो द्वितीयोऽर्थः राजपदनिष्ठाभिधामूलव्यञ्जनयैव बोध्यते, राजपदजन्यचन्द्ररूपोद्दीपकप्रतीत्यनन्तरमेव चन्द्रजन्योद्वेगशमनहेतुतया उपभोगरूपार्थप्रतीतेः। एवञ्चाभिव्यञ्जकस्य राजपदस्य परिवृत्त्यसहतया शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनेरुदाहरणमेतत् पद्यं भवतीति भावः।

पूर्वोक्त उदाहरण में अपेक्षित विषयों का प्रतिपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। यहाँ उपभोग-प्रदान की याचनारूप वस्तु (बात), राजपद की शक्ति जिसका मूल है, उस अनुरणन (व्यञ्जना) का विषय है अर्थात् राजपदनिष्ठ अभिधामूलक व्यञ्जनावृत्ति से यह वस्तु अवगत होती है, क्योंकि राज पद से 'चन्द्ररूप' अर्थ की उपस्थिति होने पर ही चन्द्रोदय से उत्पन्न कामपीडात्मक भय की निवृत्ति के कारणरूप में, उपभोग की अभिव्यक्ति होती है—यदि 'राज' पद का अर्थ 'चन्द्र' न हो तो इस श्लोक से संभोगवाली बात निकल ही न सके। अतः इस व्यञ्जना का मूल 'राज' पद की अभिधा ही है।

अलंकारध्वनित्वमस्य पद्यस्याशंक्य निराकरोति—

न चात्र नृपचन्द्रयोरुपमानोपमेयभावः भेदापोहरूपं रूपकं वा तथास्त्विति वाच्यम्; इह नृपरूपस्यार्थस्य चन्द्ररूपार्थगोपनमात्रार्थमुपात्तत्वेन युगपदुल्लसितोपमानोपमेयकयोरुपमारूपकयोस्तात्पर्यविषयताया अयोगात्।

भेदापोहेति। अभेदेत्यर्थः। तथास्त्विति। अनुरणनविषयोऽस्त्वित्यर्थः। युगपदिति। युगपत् एककालावच्छेदेन, उल्लसिते प्रतीतिपथमवतीर्णे, उपमानोपमेये ययोस्तयोरित्यर्थः। अयोगात् अयुक्तत्वात्। करतलनिर्गलदित्यादाविव प्रकृतेऽपि वर्णनीयो नृपश्चन्द्र इवेत्युपमालंकारः नृपश्चन्द्र इति रूपकालंकारो वा प्रत्येतुं शक्यते, तथा चालंकारध्वनेरेवेदमुदाहरणं न वस्तुध्वनेरिति शङ्का। अर्थकं राजपदं प्रयुज्य चन्द्ररूपविवक्षितार्थ-

गोपनायैव वक्त्रा नृपरूपोऽर्थ इहोपात्तः। तथा चात्रोपमा रूपकं वा वक्तुस्तात्पर्यविषयो न भवितुमर्हति यतः उपमारूपकयोः स्थले एकस्मिन् क्षण एव द्वयोरुपमानोपमेययोः प्रतीतिर्जायते, इह तु गोपनकारणस्य नृपरूपार्थस्य प्रथमं प्रतीतिः, गोपनीयस्य चन्द्ररूपार्थस्य च पश्चात्। अतो नात्रालंकारध्वनिसंभावनेति च समाधानम्।

उक्त पद्य को अलंकार-ध्वनि का उदाहरण क्यों नहीं माना जाय, यह शंका तथा उसका उत्तर अब कहते हैं—न चात्र इत्यादि। 'करतल······' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में जिस तरह 'सार्वभौमः सार्वभौम इव अर्थात् राजा दिग्गज के समान' यह उपमा अलंकार व्यङ्ग्य माना जाता है, उसी तरह 'राज्ञोमत्······' इत्यादि प्रकृत पद्य में भी 'राजा (नृप) राजा (चन्द्र) के समान' यह उपमा व्यङ्ग्य मानी जा सकती है अथवा उपमान तथा उपमेय का अभेदरूप रूपक व्यङ्ग्य माना जा सकता है, अतः इस पद्य को अलंकारध्वनि का उदाहरण मानना उचित है, वस्तु-ध्वनि का नहीं, यह शंका यहाँ नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यहाँ 'राज' शब्द का 'राजा'-अर्थ केवल 'चन्द्र' रूप अर्थ का गोपन करने के लिये गृहीत हुआ है, अर्थात् कवि ने अपने अभिप्राय को गुप्त रखने के लिये ही दो अर्थ वाले पद का प्रयोग किया है—उसका अन्य कोई उद्देश्य नहीं। अतः 'चन्द्र' रूप अर्थ की प्रतीति हो जाने के बाद 'राजा' रूप अर्थ की प्रतीति रहेगी नहीं और उपमा अथवा रूपक तब होते हैं, जब उपमान और उपमेय की प्रतीति एक साथ हो अन्यथा सादृश्य अथवा अभेद होगा किन दोनों का? तात्पर्य यह है कि—जब तक 'राज' पद का 'राजा' अर्थ प्रतीत होता रहेगा, तब तक 'चन्द्र' अर्थ नहीं ज्ञात होगा और जब 'चन्द्र' अर्थ ज्ञात हो जायगा, तब 'राजा' रूप अर्थ का भूत-पूर्व ज्ञान भ्रम (झूठ) सिद्ध हो जायगा। अतः उपमा अथवा रूपक यहाँ वक्ता के तात्पर्य का विषय नहीं है—वक्ता को यह अभीष्ट नहीं है कि यहाँ अलंकार व्यङ्ग्य हो।

अथैवं वाक्यभेदापत्तिर्नेत्याह—

न चासंसृष्टार्थद्वयबोधने वाक्यभेद इति वाच्यम्, तुल्यकक्षतया द्वयोरसंसृष्टयोरर्थयोः प्रतिविपादयिषितत्व एव तस्याभ्युपगमात्। इह त्वाच्छादकप्रतीतिसमये आच्छाद्याऽप्रतीतिः, आच्छाद्यप्रतीतौ चाच्छादकस्यापभाव एवेति नास्ति तुल्यकक्षता।

असंसृष्टेति। असंबद्धेत्यर्थः। वाक्यभेद इति। वाक्यद्वयकल्पनाप्रसङ्ग इति भावः। तुल्यकक्षतयेति। समानावस्थकतयेत्यर्थः। प्रतिविपादयिषित इति। प्रतिपादयितुमिष्ट इत्यर्थे प्रत्युपसर्गकात् ण्यन्तपदधातोरिच्छार्थे सनि तदन्तात् क्तप्रत्यये प्रतिविपादयिषितेति तस्य भाव इत्यर्थः। तस्य वाक्यभेदस्य। आच्छादकेति। नृपरूपार्थस्यार्थः। आच्छाद्येति चन्द्ररूपार्थेत्यर्थः। न्यग्भावस्तिरोधानम्। राज्ञो मत्प्रतिकूलेति पद्ये प्रतीयमानयोर्नृपचन्द्ररूपयोरर्थयोर्मिथः उपमानोपमेयभावात्मकस्य अभेदात्मकस्य वा संबन्धस्यास्वीकारे तयोरर्थयोर्बोधाय वाक्यद्वयं कल्पनीयं स्यात्, सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयतीति रीत्या एकस्मात् वाक्यादर्थद्वयविषयकबोधस्य सिद्धान्तविरुद्धत्वात् इति शङ्कापक्षाभिप्रायः। यत्र शब्दश्लेषादिस्थले समकक्षौ परस्परमसंबद्धौ द्वावर्थौ वक्तुः प्रतिपादयितुमिष्टौ, तत्रैव वाक्यद्वयकल्पनावश्यकता। इह तु आच्छादकस्य (गोपनहेतोः) नृपरूपार्थस्य प्रतीतिकाले आच्छाद्यस्य (गोप्यस्य) चन्द्ररूपार्थस्य प्रतीतिरेव न, एवम् आच्छाद्यस्य चन्द्ररूपार्थस्य प्रतीतिसमये आच्छादकस्य नृपरूपार्थस्य न प्रतीतिः। अर्थात्—नृपरूपार्थस्याभिधया पूर्वम् प्रतीतिः, चन्द्ररूपार्थस्य च व्यञ्जनया पश्चात्प्रत्यय इति न तयोस्तुल्यकक्षता, अतो न वाक्यद्वयकल्पनावसरः, अन्यथा व्यङ्ग्यस्थले सर्वत्रैव तथा

कल्पना प्रसज्येतेति समाधानपक्षाभिप्रायो बोध्यः। नागेशस्तु बाले इति संबोधनेनात्र व्यङ्ग्यस्य वाच्यायमानताकरणान्न ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वमित्याचष्टे।

यदि आप कहें कि इस तरह से जब आप प्रकृत पद्य में नृप और चन्द्र इन दोनों अर्थों में सादृश्य अथवा अभेद—उपमा अथवा रूपक-संबन्ध नहीं मानते और दोनों ही अर्थों की प्रतीति मानते हैं, तब तो उन दो अर्थों के बोधार्थ दो वाक्य भी मानने पड़ेंगे, क्योंकि 'एक बार उच्चारित पद एक ही अर्थ का बोधक हो सकता है' इस नियम के अनुसार असंबद्ध दो अर्थों का बोध एक वाक्य से नहीं किया जा सकता। तो यह तर्क भी आपका संगत नहीं है, क्योंकि वाक्यभेद वहाँ होता है जहाँ शब्दश्लेष आदि के स्थल में—समान कक्षा (अवस्था) वाले दो अर्थों का प्रतिपादन करना, वक्ता का अभीष्ट रहता है। पर यहाँ तो दोनों अर्थ समकक्ष नहीं हैं। एक (नृपरूप) है, गोपन करने वाला और दूसरा (चन्द्ररूप) है, गुप्त होने वाला। अतः गोपक अर्थ की प्रतीति के समय में गोप्य अर्थ की प्रतीति नहीं रहती और गोप्य अर्थ की प्रतीति हो जाने पर गोपक अर्थ तिरोहित हो जाता है। यहाँ नागेश महोदय का कहना है कि 'बाले' इस संबोधन पद से गोपनीय (व्यङ्ग्य) अर्थ स्पष्ट झलकता है—वाच्य अर्थ के समान हो जाता है अतः उसके आधार पर इस पद्य को 'ध्वनिकाव्य' नहीं कहा जा सकता।

काव्यप्रकाशोक्तं शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनेरुदाहरणं परीक्षते—

काव्यप्रकाशे तु—'शनिरशनिश्च तमुच्चैः' इत्यादिकमुदाहृत्य 'अत्र विरुद्धौ द्वावपि त्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति ध्वन्यत' इत्युक्तम्। तच्च 'द्वौ शन्यशनी उदारानुदारौ चैकं कार्यं हननं भानं च' इति व्याख्यातृभिर्व्याख्यातम्, तत्र शन्यशन्योर्हननक्रियाकर्तृत्वान्वयेऽप्युदारानुदारयोर्भानकर्तृतत्पदार्थविशेषणयोस्तत्प्रकारविशेषणयोर्वा साक्षाद्धानकर्तृत्वान्वयाभावात् कथमेककार्यकारित्वं संगतं स्यात्।

शनिरिति। 'शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र। यस्मै त्वम्। यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च।' इति पूर्णम् पद्यम्। हे नरेन्द्र! यस्मै त्वं कुप्यसि, तम्—शनिर्ग्रहविशेषः अशनिः शनिविरोधी वस्तुतो वज्रम्, उच्चैरतिशयेन, निहन्ति। यत्र पुनः—पुनः शब्दस्त्वर्थे, शब्दार्थौ भिन्नत्वम्, तथा च यदनुग्रहविदने तु इत्यर्थः। प्रसीदसि प्रसन्नो भवसि, स पुरुषो देवदत्तादिः उदारो दाता महान् वा, अनुदारः उदारविरोधी वस्तुतोऽनुगतदारः नृपदत्तस्वर्णधनप्रकाशात्, सन् भातीत्यर्थः। हननं भानञ्चेति। कुरुतः इत्यनुषङ्गः। कर्तृत्वान्वये इति। कर्तृत्वस्य अन्वये संबन्धे इत्यर्थः। उदारानुदारयोरिति। तत्पदार्थयोरिति भावः। भानकर्त्रिति। भानक्रियायाः कर्ता यः पदार्थस्तत्पदस्य अर्थः पुरुषस्य, तस्य विशेषणयोरित्यर्थः। तत्प्रकारेति। तस्य भानकर्तृतत्पदार्थस्योद्देश्यतया विशेष्यभूतस्य, प्रकारः विशेषणीभूतो यः विधेयरूपो देवदत्तादिः, तस्य विशेषणयोरित्यर्थः। वा शब्दस्योत्तरपक्षद्योतकत्वादत्रायं पक्षो मुख्य इति बोध्यम्। कर्तृत्वान्वयाभावादिति। कर्तृत्वसंबन्धाभावादित्यर्थः। एवञ्च 'उदारानुदारयोरिति सामान्यम्, न तु षष्ठ्यन्तमिति भावः। एवं शन्यशन्योरित्यपि तथैवेति बोध्यम्। मूलोक्तं प्रकाशव्याख्यातृव्याख्यानं न युक्तम्, यतस्ततो व्याख्यानात्। 'उदारानुदारौ भानरूपमेकं कार्यं कुरुतः' इत्यस्यापि वस्तुव्यङ्ग्यरूपता सिद्ध्यति, तच्च न संभवति, विषयाभावात्। तथाहि—शनिरशनिरित्यादिपद्ये भातीति क्रियायाः कर्ता स इति उक्तः, तस्य विशेषणम् उदारोऽनुदारश्चेति, अथवा स इत्युद्देश्यस्य साक्षात् विशेषणं देवदत्तादिर्विधेयः, तस्य

विशेषणमुदारादिः, उभयथापि मानक्रियाकर्तृत्वस्य उदारानुदारपदार्थयोर्न साक्षात् संबन्धः। शन्यशन्योस्तु हननक्रियाकर्तृत्वस्य संबन्धोऽस्तीति तदंशमादाय 'विरुद्धौ द्वावपी'त्यादि प्रकाशग्रन्थस्य संगतावपि व्याख्याग्रन्थोऽसंगत एवेति भावः।

अब काव्यप्रकाशोक्त, शब्दशक्तिमूलध्वनि के उदाहरण पर विचार करते हैं—काव्य इत्यादि। काव्यप्रकाश में 'शनिरशनिश्च……' इत्यादि—जो संस्कृत टीका में उद्धृत है—पद्य शब्दशक्तिमूलक वस्तु-ध्वनि का उदाहरण कहा गया है। कवि का कथन है—हे राजन्! आप जिसके ऊपर क्रुद्ध होते हैं, उसको शनि (ग्रहविशेष) और 'अशनि' (शनि का विरोधी वस्तुतः वज्र) दोनों मारते हैं। और आप जिसके ऊपर प्रसन्न होते हैं वह उदार (दानशील) तथा अनुदार (उदार से भिन्न, वस्तुतः अनु=अनुगत दारा=पत्नी वाला) शोभित होता है अर्थात् आपके दान से धनी होकर प्रवासी नहीं होता अतः उसे वियोगजन्य कष्ट कभी नहीं सहना पड़ता। इस उदाहरण का उल्लेख करके काव्यप्रकाश में कहा गया है कि—"इस श्लोक में 'विरोधी भी दोनों तुम्हारी अनुवृत्ति के लिये एक कार्य करते हैं' यह बात व्यक्त होती है।" और व्याख्याकारों ने इसकी यह व्याख्या की है—'दोनों शनि और अशनि एवम् उदार और अनुदार। एक-कार्य=मारना और सुशोभित होना।' अब यहाँ पण्डितराज का कथन है कि उक्त व्याख्या ग्रन्थसंगत नहीं प्रतीत होती, कारण, उससे जो यह अभिप्राय निकलता है कि 'उदार तथा अनुदार शोभारूप एक कार्य को करते हैं' यह वस्तु भी यहाँ व्यङ्ग्य होती है, वह अनुचित है, क्योंकि शनि और अशनि में मारना क्रिया के कर्तृत्व का संबन्ध है, अतः उन दोनों का 'मारना' रूप एक कार्य यद्यपि हो सकता है, तथापि दूसरी क्रिया 'सुशोभित होना' का कर्ता 'वह' है, उदार और अनुदार नहीं, उदार और अनुदार तो 'वह' पद के अर्थ (बुद्धिस्थ) के, अथवा उसके अर्थ के विशेषण (देवदत्त आदि तत्पदार्थ के विशेष) के विशेषण हैं। अतः उनका 'सुशोभित होना' रूप क्रिया के साथ साक्षात् संबन्ध न हो सकने के कारण 'एक कार्य करने वाला होना' नहीं बन सकता अर्थात् 'उदार' और 'अनुदार' जब 'सुशोभित होना' क्रिया के कर्ता ही नहीं हैं, किन्तु कर्ता के विशेषण अथवा उसके विशेषण के विशेषण हैं, तब 'शोभित होना' उनका कार्य नहीं हो सकता।

प्रकाशग्रन्थस्याशयं स्पष्टीकरोति—

अतो विरुद्धौ द्वावित्यादि प्रथमार्धविषयम्। द्वितीयार्धे तु विरोधाभास एव।

अयं भावः—पूर्वार्धे 'शनिरशनिश्चेति' विरोधाभासालंकारो न संभवति, एकधर्मिगतत्वेन विरुद्धनिर्देश एव तदङ्गीकारात्। चशब्दः समुच्चयार्थक एव। एवंच पद्यपूर्वार्धभागेन 'विरुद्धौ द्वौ (शन्यशनी) त्वदनुवर्तनार्थम् हननरूपमेकं कार्यं कुरुतः' इति वस्तुव्यञ्जकत्वं संभवति। उत्तरार्धभागे तु न वस्तुध्वनिसंभावना, तत्र पूर्वोक्तरीत्यैककार्यकरणाप्रतीतेः। किं तु उदारः अनुदारश्चेत्येवं विरोधालंकारध्वनिरेव। चशब्दस्य समुच्चयार्थकत्वात्। अपरार्थकत्वे तु विरोधस्य वाच्यतैव। विरोधपरिहारस्तु अनुदारपदस्य अन्यार्थकरणेन इति।

प्रकाशग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करते हैं—अतः इत्यादि। उक्त अनुपपत्ति से यह मानना पड़ता है कि प्रकाशकार ने जो उक्त पद्य में 'विरोधी भी दो पदार्थ आपके अनुसरण के लिये एक कार्य करते हैं' इस तरह के व्यङ्ग्य की बात कही है, वह पद्य के पूर्वार्ध के विषय में ही, उत्तरार्ध के विषय में नहीं अर्थात् उक्त पद्य के 'शनिरशनि……' इत्यादि पूर्वार्ध में विरोधाभास अलंकार व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता। क्योंकि एक धर्मी में दो विरुद्ध पदार्थों के निर्देश करने पर ही वह होता है—जो यहाँ नहीं है। 'च' शब्द यहाँ समुच्चयार्थक है, विरोधार्थक नहीं। इस स्थिति में इस अंश से उक्त वस्तु

का व्यङ्ग्य होना मानने योग्य होता है। पर पद्य के उत्तरार्ध भाग में वस्तुध्वनि की संभावना ही नहीं है, क्योंकि उस अंश में 'उदार तथा अनुदार' का एककार्यकारित्व प्रतीत नहीं हो सकता, यह पहले कहा जा चुका है। अतः उत्तरार्ध में 'विरोधाभास अलंकार' ही व्यक्त होता है, ऐसा मानना चाहिए अर्थात् 'उदार अनुदार है' यह विरोध—जिसका पीछे 'अनुगतदारावाला' अर्थ से परिहार हो जाता है—पहले प्रतीत होता है, अतः विरोधाभास अलंकार की अभिव्यक्ति मानी जायगी। पर यह बात भी 'च' पद को समुच्चयार्थक मानने पर ही उचित होगी, यदि 'च' को 'अपि' के तुल्य मानकर विरोध को वाच्य बना दिया जाय, तब विरोधाभास व्यङ्ग्य नहीं, वाच्य होगा। सारांश यह हुआ कि उक्त व्याख्या-ग्रन्थ असंगत ही है।

उक्तव्याख्याग्रन्थस्यापि संगतिं कुर्वन् तैरनुक्तं तत्रत्यं विशेषं प्रदर्शयति—

कर्तर्यभेदेनान्वयमात्रेण कुरुत इत्यस्योपपत्तिश्चेत् ? अस्तु द्वितीयार्धेऽपि विरुद्धौ द्वावित्यादि वस्तु व्यङ्ग्यम्। परं त्वर्धद्वयेऽपि विरोधाभासालंकारशबलितमेव। शत्रुविरुद्धस्य शत्रुत्वासंभवादेकस्य शत्र्यशनिकर्तृकहननकर्मत्वायोगेनाद्यार्धे उदारत्वानुदारत्वयोरेकाधिकरणवृत्तित्वायोगाद्द्वितीयार्धे च विरोधस्य स्फुटत्वात्।

कर्तरीति। तत्पदार्थे इत्यर्थः। अन्वयेति। उदारानुदारपदार्थयोरिति भावः, उपपत्तिः संगतिः। अर्धद्वयेति। पूर्वार्धे उत्तरार्धे चेत्यर्थः। शबलितम् मिलितम्। उक्तवस्तुव्यङ्ग्यमित्यनुषङ्गः। शत्रुविरुद्धस्येत्यादि। शत्रुविरोधी शत्रुर्न भवति, अपितु मित्रमेवेति भावः। भानक्रियाकर्तरि तत्पदार्थेऽभेदसंबन्धेनान्वितयोरुदारानुदारपदार्थयोरपि भानक्रियायामन्वयलाभे उक्तपद्यस्योत्तरार्धेऽपि वस्तुध्वनिः संभवति। एवञ्च प्रागुक्तप्रकाशग्रन्थो न पूर्वार्धमात्रविषयकोऽपि तूत्तरार्धविषयकोऽपि। एवं तद्व्याख्याग्रन्थोऽपि पूर्वोद्धृतः संगत एवेति चेत् ? सत्यम्। परन्तु अर्धद्वयेऽपि विरोधाभासालंकारमिश्रितवस्तुध्वनिरेव न केवलवस्तुध्वनिः। एवञ्च वस्तुध्वनिमात्रमुल्लिखन् प्रकाशकारः, विरोधाभासालंकारमिश्रणमव्याचक्षाणः, पूर्वार्धे विरोधाभासालंकारसंभावनाविरहं प्रतिपादयन् वा व्याख्याता स्थूलदृष्टिरेव। अथ कथं पूर्वार्धे विरोधाभासः, अलंकारत्वमूलस्य विरुद्धस्यैकधर्मिकविरुद्धनिर्देशाभावस्योक्तत्वादिति चेन्न, शत्र्वशत्र्वोर्विरोधस्यालंकारत्वासंभवेऽपि विरोधिशब्दोपस्थापितान्तर-भिन्नत्वादेकस्य विरोधिद्वयकर्तृकहननकर्मत्वायोगेन तमिति पदवाच्ये एकस्मिन् शनिकर्तृकहनन-कर्मत्वस्य, शनिविरोध्यशनिकर्तृकहननकर्मत्वस्य च विरोधस्य तथाभूतस्याऽलंकारत्वात्। शत्र्वशत्र्वोर्विरोध एव कथं प्रतीयतेति न वाच्यम्, अशनिरित्यत्र नञो विरुद्धार्थकत्वात्। न चैवं विरोधस्य वाच्यत्वमेवेति शंक्यम्, शत्र्वशत्र्वोर्विरोधस्य वाच्यत्वेऽपि तन्मूलकहननकर्मत्वयोर्विरोधस्य व्यङ्ग्यत्वात्। व्यङ्ग्यविरोधपरिहारस्तु राज्ञः अप्रतिहताशत्रुत्वप्रयुक्त इति बोध्यम्। केचित्तु विरोधिनोरपि एकशत्रुसंभवान्न तादृशहननकर्मत्वयोर्विरोध इत्याहुः। उदारत्वानुदारत्वयोर्विरोधः तत्परिहारश्चानुपदं पूर्वप्रकरणे दर्शित एवेति तत एव ज्ञेयम्।

अब उक्त व्याख्या-ग्रन्थ को भी संगत सिद्ध करते हुए इस प्रसंग पर प्राचीनों से अकथित कुछ विशिष्ट बातों को कहते हैं—कर्तृ इत्यादि। 'शोभित होना' रूप क्रिया का कर्ता है तत्पद का अर्थ और उसमें अभेद संबन्ध से अन्वित होते हैं 'उदार तथा अनुदार' पद के अर्थ, इस तरह से 'उदार' और 'अनुदार' पद के अर्थों का भी शोभित होना रूप एक क्रिया का करना बन सकता है अतः उक्त व्याख्याग्रन्थ भी ठीक है तथा 'विरोधी भी दोनों······' इत्यादि मूलग्रन्थ भी पूर्वार्धमात्रविषयक न होकर उत्तरार्ध-

विषयक भी हो सकता है अर्थात् उत्तरार्ध में भी 'विरोधी दो पदार्थ आपके अनुवर्तनार्थ एक कार्य करते हैं' यह वस्तु व्यङ्ग्य माना जा सकता है, ऐसा यदि कहा जाय, तो ग्रन्थकार उसको स्वीकृत करते हैं। उनका कथन है कि पूर्वार्ध उत्तरार्ध दोनों भागों से उक्त वस्तु व्यङ्ग्य होती है अवश्य, परन्तु विरोधाभास अलंकार से मिश्रित वस्तु व्यङ्ग्य होती है, शुद्ध वस्तु व्यङ्ग्य नहीं। अतः केवल वस्तुध्वनि की बात लिखनेवाले प्रकाशकार तथा विरोधाभास के मिश्रण वाली बात की व्याख्या नहीं करने वाले अथवा पूर्वार्ध में विरोधाभास की संभावना नहीं है ऐसा कहनेवाले व्याख्याकार दोनों ही स्थूल दृष्टि वाले हैं। यदि कहा जाय कि पूर्वार्ध में विरोधाभास अलंकार की बात आप कैसे कहते हैं? क्योंकि एक धर्मी में दो विरुद्ध बातों का निर्देश रहने पर वह होता है यह पहले कहा जा चुका है, तो मैं कहूँगा, ठीक है, इस नियम के अनुसार शनि और अशनि का विरोध अलंकाररूप नहीं हो सकता, क्योंकि शनित्व और अशनित्व का निर्देश एक धर्मी में नहीं किया गया है। परन्तु शत्रु का विरोधी शत्रु नहीं हो सकता अर्थात् जिन दो व्यक्तियों में विरोध रहता है, उन दोनों में से किसी एक का जो तृतीय विरोधी होगा, वह अन्य का मित्र ही हो सकता है शत्रु नहीं। इस स्थिति में परस्पर विरोधी दो का एक कोई वध्य नहीं हो सकता, अतः 'तम्' पद के अर्थ में जो शनिकर्तृकहननकर्मता और शनिभिन्न (अशनि) कर्तृक-हनन-कर्मता यहाँ वर्णित है, वह विरुद्ध है, साथ साथ यह विरोध एकधर्मिक भी है अतः उस विरोध के आधार पर पूर्वार्ध में भी विरोधाभास अलंकार मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। यदि आप कहें कि यह विरोध (जिसको अलंकाररूप मानते हैं) तब सिद्ध हो सकता है, यदि पहले शनि और अशनि में विरोध सिद्ध हो जाय, पर वह प्रथम विरोध ही कैसे सिद्ध होगा? तो इसका उत्तर है कि अवश्य सिद्ध होगा, क्योंकि 'न शनिः = अशनिः' यहाँ नञ् विरोधार्थक है। यदि आप कहें कि तब तो विरोध वाच्य ही हो गया, आप उसको व्यङ्ग्य बतला रहे हैं, वह कैसे? तो मैं कहूँगा नहीं जी, उस विरोध को मैं व्यङ्ग्य नहीं बतलाता, वह तो वाच्य है ही, परन्तु तन्मूलक उक्त हनन कर्मता के विरोध को मैं व्यङ्ग्य बतला रहा हूँ, जो सर्वथा उपयुक्त है। राजा अप्रतिहत आज्ञा वाला है अतः उसके भय से दो परस्पर विरोधी व्यक्ति भी एक तृतीय का हनन कर सकते हैं, इस भाव के ज्ञान से उक्त व्यङ्ग्यविरोध का परिहार होता है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि 'दो परस्पर विरोधी का भी एक तीसरा शत्रु हो सकता है अतः उक्त हनन-कर्मता-द्वय में कोई विरोध नहीं है'। उदार और अनुदार में जो विरोध है तथा उसका जिस तरह से परिहार होता है, वे सब बातें पूर्वप्रतीक की व्याख्या में लिखी जा चुकी हैं।

अर्थशक्तिमूलध्वन्युदाहरणप्रसङ्गे प्रथमं स्वतःसंभविना वस्तुना वस्तुध्वनिमुदाहरति—

अर्थशक्तिमूलानुरणनं यथा—

> 'गुञ्जन्ति मञ्जु परितो गत्वा धावन्ति संमुखम्।
> आवर्तन्ते विवर्तन्ते सरसीषु मधुव्रताः॥'

कश्चन नायकः अभिसारिकां कथयति—मधुव्रता मधु एव व्रतयन्ति स्वभोज्यत्वेन प्रतिजानन्तीति ते भ्रमरा इत्यर्थः, एतेन भ्रमराणां वर्तमानमधुलाभजन्यवैकल्यं, भावितलाभसंभावनाजन्यहर्षातिरेकश्च ध्वन्यते। परितः चतुर्दिक्षु, अनेन मधुव्रतानां मधुगवेषणव्यग्रता व्यज्यते। मञ्जु मनोहरम्, गुञ्जन्ति, गत्वा दूरमुपेत्येति भावः, भ्रमरस्वभावोक्तिरियम्। संमुखं सरलया इति भावः, धावन्ति वेगेनापतन्तीति भावः। (एवंभूताः) सरसीषु सरोवरेषु आवर्तन्ते आगच्छन्ति, विवर्तन्ते परावर्तनं कुर्वन्ति चेत्यर्थः।

अब अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के उदाहरण-प्रदर्शन के प्रसङ्ग में पहले स्वतःसंभवी

वस्तु से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण दिखलाया जा रहा है—अर्थ इत्यादि। कोई नायक किसी नायिका से कहता है—मधुव्रत- जिन्होंने केवल मधु-पान करने का व्रत ले रक्खा है—अर्थात् भ्रमर, (यहाँ मधुव्रत पद से कवि को यह व्यक्त करना है कि—सम्प्रति मधु के लाभ नहीं होने से वे विकल हैं, और भावी मधुलाभ की आशा से प्रसन्न भी हैं) चारों तरफ (इससे मधुव्रतों की मधुगवेषणाजन्य व्यग्रता सूचित होती है) मनोहर गुञ्जन कर रहे हैं, दूर जाकर फिर उसी तरफ दौड़ रहे हैं, इस तरह बार बार सरोवरों में आते और जाते हैं।

उपपादयति—

अत्र मधुव्रतकर्तृकमञ्जुगुञ्जनाद्यैर्वस्तुभिः कविकल्पितत्वविरहेण स्वतःसंभविभिरासन्नसरसिजोत्पत्तिध्वननद्वारा शरदागमनैकरूपं वस्तु व्यज्यते।

गुञ्जन्तीति पद्ये वाच्यवृत्त्या वर्णितानि मधुव्रतकर्तृकमञ्जुगुञ्जनादीनि वस्तूनि स्वतःसंभवीनि न तु कविकल्पितानि, तैश्च प्रथमं सरसि सरोजानामुत्पत्तिरासन्नेति व्यज्यते तद्द्वारा च शरदृतोरागमो निकट इति ध्वन्यते, तथा च भवतीदं पद्यं स्वतःसंभविना वस्तुना वस्तुध्वनेरुदाहरणमिति भावः।

उक्त पद्य में प्रकृतोपयोगी विषयों का प्रतिपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में वाच्यवृत्ति (अभिधा) के द्वारा जो भ्रमरों के गुञ्जन आदि वर्णित हुए हैं, वे सबके सब स्वतःसंभवी—संसार में स्वाभाविक रूप से होने वाले—हैं अर्थात् कविकल्पित नहीं हैं। उन वस्तुओं से पहले यह व्यक्त होता है कि 'अब सरोवरों में कमलों की उत्पत्ति होने ही वाली है—निकट है, और इस व्यङ्ग्य के द्वारा बाद में यह ध्वनित होता है कि शरद् ऋतु का आगमन अब सन्निहित (नजदीक) है।

काव्यप्रकाशोक्तं स्वतःसम्भविना वस्तुना वस्तुध्वनेरुदाहरणमालोचयति—

काव्यप्रकाशे तु—'अलससिरोमणिधुत्ताणं अग्गिम—' इत्याद्युदाहृत्य 'ममैवोपभोगयोग्य इति वस्तु व्यज्यते' इत्युक्तम्। तत्र केन वस्तुनेदं वस्तु व्यज्यते ? न तावदलसशिरोमणित्यादिकान्तविशेषणैः, तेषां धात्र्यादिवृद्धस्त्रीनिरूपितत्वेन तवैवोपभोगयोग्य इत्यादिरूपेणैव व्यङ्ग्यस्य वक्तव्यतापत्तेः। विशेषणानां कामिनीनिरूपितत्वे तु ममवेत्यादिव्यङ्ग्याकारः स्यात्। नापि परिफुल्लविलोचनत्वेन, तस्य हर्षभावानुभावत्वेन हर्षव्यञ्जकताया एव वक्तव्यत्वात्। मदुपभोगयोग्यत्वं हि हर्षभावस्य विभावः। न ह्यनुभावैर्विभावो व्यज्यत इति सम्भवव्यञ्जनं शक्यं वक्तुम्। केवलस्य परिफुल्लविलोचनत्वस्य ममैवेत्यादिव्यङ्ग्यव्यञ्जने सामर्थ्याभावात्। पुत्रागमनधनप्राप्त्यादिविभावकेऽपि हर्षभावे परिफुल्लविलोचनताया अनैकान्तिकत्वादिति।

अलससिरोमणिधुत्ताणमग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ।
इअ भणिएण णअङ्गी पप्फुल्लविलोअणा जाआ॥ इति पूर्णा गाथा।
अलसशिरोमणिर्धूर्तानामग्रणीः पुत्रि धनसमृद्धिमयः।
इति भणितेन नताङ्गी परिफुल्लविलोचना जाता॥ इति तच्छाया।

अलसशिरोमणिरिति। पतिवरां प्रति धात्र्याः प्ररोचनोक्तिः पूर्वार्धम्, उत्तरार्धं तु कवेः। प्रकरणाच्चायमित्यध्याहारः। हे पुत्रि! अनेन स्वस्य तदीयहितचिन्तकत्वं ध्वन्यते। अयं वरोऽलसानां निरुद्योगानां, शिरोमणिः श्रेष्ठः, धूर्तानां शठानाम्, अग्रणीः प्रधानः, धनसमृद्धिमयः धनसमृद्धिप्रचुरः, इति भणितेन भाषणेन, नताङ्गी काचन कुमारी, परिफुल्ला हर्षविकसिते,

विशिष्टे लोचने यस्याः, तादृशी जाता अभूदित्यर्थः। अत्रालसत्वेनान्यत्र गमनाभावः, धूर्तत्वेन संभोगे गुणानादरः, अतृप्तत्वं वा, धनसमृद्धिमयत्वेन कृपणतया परस्मै अदातृत्वम्, स्वस्मै दातृत्वं वा धनोपार्जनहेतुकप्रवासाभावो वा, व्यज्यते। एतद्व्यङ्ग्यज्ञानेन नायिकाया हर्षोऽभूत्, तत्सूचनायैव परिफुल्लविलोचनेति नायिकाविशेषणम्। अत्र 'ममैवोपभोगयोग्य इति वस्तु व्यज्यते' इति यदुक्तं काव्यप्रकाशकृता तत्र विचार्यते—तत्र केनेत्यादिना। तत्पद्यप्रतिपादितेन केन वस्तुनेत्यर्थः। धात्र्यादीति। पुत्रीत्यामन्त्रणेन तेषां तन्निरूपितत्वमिति भावः। कामिनीनिरूपितत्वे इति। पुत्रिभणितेनेत्यनयोः पदयोः पद्येऽप्रवेशं तथा संभवः। तस्येति। परिफुल्लविलोचनात्वस्येत्यर्थः। हर्षभावानुभावत्वेनेति। हर्षाख्यव्यभिचारिभावकार्यत्वेनेत्यर्थः। विभावः कारणम्। तत्सत्त्व एव हर्षोदयात्। नहीत्यस्य वक्तुं शक्यमित्यत्रान्वयः। तद्विभावेति। हर्षादिभावविभावेत्यर्थः। द्विपदसूचितमशक्यत्वे हेतुमाह—केवलस्येति। विशिष्टस्य तत्त्वं तु सिद्धान्तसिद्धमिति भावः। विलोचनतााया इति। सत्त्वेन तस्या इति शेषः। अनैकान्तिकत्वाद्व्यभिचारित्वात्। यदि प्रकृतपद्ये पुत्रीत्यामन्त्रणं भणितेनेति कव्युक्तित्वसाधकञ्च पदद्वयञ्चाभविष्यत्, तदा कामिन्याः स्वगतोक्तिरेव पद्यमेतदभविष्यत्। तथात्वे चालसशिरोमणिरित्यादिकान्तविशेषणानि कामिनीनिरूपितानि स्युः। तदैव च तेभ्यो विशेषणेभ्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य ममैवेत्यादिप्रकाशोक्त आकारो भवेत्। तयोः पदयोः सत्त्वे तु [illegible] धात्रीनिरूपितानि, एवञ्च तेभ्यः ज्ञायमानस्य व्यङ्ग्यस्य तदनो [illegible] नोचित तु ममैवेति। अथ कामिनीनिष्ठेन प्रफुल्लविलोचनत्वेन व्यङ्ग्यावगतौ स्वीक्रियमाणायां व्यङ्ग्यस्य तदाकारता संभवति, तेनाह—नापीति। प्रफुल्ललोचनत्वञ्चाम हर्षस्य कार्यम्, मदुपभोगयोग्यत्वञ्च हर्षस्य कारणम्। एवञ्च प्रफुल्लविलोचनत्वेन कार्येण स्वकारणस्य हर्षस्याभिव्यक्तिसंभवेऽपि स्वकारणकारणस्य मदुपभोगयोग्यत्वस्याभिव्यक्तिर्न संभवति। कथमिति चेत्? शृणुताम्—हर्षं विनाऽनुपपद्यमाने प्रफुल्लविलोचनत्वं हर्षं व्यञ्जयितुं शक्नोति, न तु मदुपभोगयोग्यत्वं वस्तु; [illegible] हर्षस्य मदुपभोगयोग्यत्वातिरिक्तपुत्रागमनादिनापि संभवेन प्रफुल्ललोचनतायाः मदुपभोगयोग्यत्ववस्तुव्यञ्जनेऽसामर्थ्यादिति भावः।

अब 'काव्यप्रकाश' में कथित, अर्थशक्तिमूलक स्वतःसंभवि वस्तु से वस्तुध्वनि उदाहरण की पर्यालोचना करते हैं—काव्यप्रकाशे तु इत्यादि। काव्यप्रकाश में "अलस शिरोमणि······" इत्यादि पद्य—जो संस्कृत टीका में उद्धृत है—को स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण कहा गया है। यह पद्य, स्वयंवर के समय में, विवाह के इच्छुक उपस्थित युवकों का परिचय करानेवाली धाय (उपमाता) के द्वारा, वरण करनेवाली कन्या के प्रति, कहा गया है। धाय, कन्या से कहती है कि—'हे पुत्रि! (इस संबोधन से कन्या के प्रति धाय की हितेच्छुता अभिव्यक्त होती है) यह (वर) आलसियों का शिरोमणि, धूर्तों में प्रधान और धन-समृद्धि से परिपूर्ण है।' बस धाय का इतना कहना था कि उस नताङ्गी की आँखें खिल उठीं। (यह उत्तरार्ध कवि का कथन है) यहाँ 'अलसशिरोमणि' इस विशेषण से नायक का अन्यत्र गमनाभाव, 'धूर्ताग्रगण्य' से संभोग में गुणों का ध्यान न रखना अथवा संभोग से तृप्ति का अनुभव न करना, 'धन-समृद्धिमय' से कृपणता तथा तद्द्वारा दूसरे को कुछ न देना अथवा अपने को यथेच्छ चीजों का देना किंवा धन-उपार्जन के लिये विदेश-वास की आवश्यकता का न होना व्यक्त होते हैं। इन व्यङ्ग्यों का ज्ञान होने से कन्या को हर्ष हुआ, जिसकी सूचना नायिका के नयन-विकाश के वर्णन से मिलती है। इस उदाहरण पर प्रकाशकार कहते

हैं—'इस पद्य से 'यह वर' मेरा ही उपभोग्य है' यह 'वस्तु' ध्वनित होती है।' यहाँ काव्य-प्रकाशकार से यह प्रष्टव्य है कि उक्त वस्तु किस वस्तु से ध्वनित होती है? 'आलसियों के शिरोमणि' इत्यादि नायक के विशेषणों से तो यह वस्तु ध्वनित हो नहीं सकती। क्योंकि वे विशेषण धाय आदि किसी वृद्धा स्त्री के द्वारा कहे गए हैं, अतः यदि उन विशेषणों से ध्वनित होता तो व्यङ्ग्य का आकार 'तेरा ही उपभोग-योग्य है' ऐसा होता, 'मेरा इत्यादि' नहीं। यह आकार तो व्यङ्ग्य का तब होता, यदि वे विशेषण नायिका के द्वारा कहे गए होते अर्थात् इस पद्य में यदि 'पुत्रि' और 'भणितेन' ये दोनों पद न होते, तब यह पद्य नायिका की स्वगत उक्ति के रूप में समझा जाता और उस स्थिति में 'अलसशिरोमणि' इत्यादि विशेषण नायिका के द्वारा कहे गए समझे जाते। पर जब वे दोनों पद हैं, तब तो वे विशेषण नायिका से अन्य किसी के द्वारा कहे गए ही समझे जा सकते हैं। यदि आप कहें कि नायिका का जो 'परिफुल्लविलोचना' यह विशेषण दिया गया है, उससे अर्थात् नायिका के नयन-विकाश के वर्णन से अभिव्यक्ति मानने पर व्यङ्ग्य का वह आकार हो सकता है, तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि नयन-विकास, हर्ष का कार्य है अतः नयन-विकाश-रूप कार्य से हर्षरूप-कारण का ही ध्वनित होना निश्चित है, अन्य वस्तु का नहीं। यदि आप यह कहना चाहें कि नयन-विकास का कारण हर्ष है, और हर्ष का कारण 'मदुपभोगयोग्यत्व' है, फिर जिस तरह नयन-विकाश से उसके कारण हर्ष की अभिव्यक्ति मानते हैं, उसी तरह उस कारण के कारण 'मदुपभोगयोग्यत्व' की भी अभिव्यक्ति मान लेने में क्या आपत्ति है? तो मैं कहूँगा कि और कोई आपत्ति तो नहीं है, परन्तु नयन-विकास में, अपने कारण (हर्ष) के कारण (उपभोग) की अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य नहीं है, अतः वह हो नहीं सकती, यही आपत्ति है। सामर्थ्य क्यों नहीं है इस शंका का उत्तर तो स्पष्ट है कि नयन-विकास उपभोग का व्यभिचारी है अर्थात् नयन-विकास हर्ष से होता है यह निश्चित है, पर यह निश्चित नहीं है कि वह हर्ष उपभोग-योग्यता के ज्ञान से ही हुआ हो—पुत्र के आगमन, धन की प्राप्ति आदि अनेक कारण हैं, जिनसे उत्पन्न हर्ष की अवस्था में नयन-विकास हो सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि नयन-विकाश हर्ष के बिना नहीं होता, अतः उससे हर्ष की अभिव्यक्ति होती है, पर उस हर्ष के कारण—जब कि वे अनेक हो सकते हैं—की निश्चित रूप में, अभिव्यक्ति, नयन-विकास से, नहीं हो सकती है।

उक्तशंकाया युक्ततामाह—

सत्यम्।

उक्ता शंका समुचितेति भावः।

उक्त आशंका सर्वथा समुचित है।

उक्तशंकायाः समुचितत्वेऽपि प्रकाशग्रन्थस्य सुसंगतमभिप्रायं प्रकटयति—

'इअ भणिम्मि' इत्याद्यर्थवशप्रापितालसशिरोमणित्वादिविशेषणश्रवणविशिष्टप्रफुल्लविलोचनत्वेन मदुपभोगयोग्यत्वलक्षणविभावाभिव्यक्तिद्वारा हर्षभावोऽभिव्यज्यते। तत्र द्वारीभूतविभावाभिव्यक्तिमादायं काव्यप्रकाशग्रन्थसंगतिः।

इअ भणीति। इति भणितेनेत्यादिपद्योक्तप्रथमपदानां योऽर्थस्तद्वशेन तद्बलेन प्रापितं साधितं यत् अलसशिरोमणिरित्यादिकान्तविशेषणानां नताङ्गीकर्तृकं श्रवणं, तद्विशिष्टप्रफुल्लविलोचनत्वधर्मेणेति भावः। वैशिष्ट्यञ्चात्र सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन बोध्यम्। विभावेति। हर्षाख्यभावकारणेत्यर्थः। द्वारीभूत इति। मध्यगत इत्यर्थः। अयमाशयः—केवलेन प्रफुल्लविलोचनत्वेन हर्षस्यैवाभिव्यक्तिः संभवति, न तु मदुपभोगयोग्यत्वस्य, परमत्र न केवलं प्रफुल्लविलोचनत्वं व्यञ्जकम्, अपि तु अलसशिरोमणित्वादिकान्तविशेषणश्रवणसह-

कृतमेव। ननु किमिह पद्ये तादृशश्रवणसहकारप्रापकमिति चेत्, इति भणितेनेत्युक्त्या तद्विशेषणश्रवणानन्तरमेव नायिकाया विलोचने प्रफुल्ले इत्यर्थप्रतीतेः। तथा च तादृशेन विशिष्टेन धर्मेण प्रथमं हर्षस्य कारणीभूतं मदुपभोगयोग्यत्वमेव व्यज्येत, तद्व्यञ्जनद्वारा च पश्चात् हर्षभावोऽप्यभिव्यज्येत। केवलस्य प्रफुल्लविलोचनत्वस्य पुत्रागमनादिविभावके हर्षभावेऽपि सत्त्वेन मदुपभोगयोग्यत्वापेक्षया व्यभिचरितत्वेऽपि विशिष्टस्य तस्य न तदपेक्षया व्यभिचरितत्वमिति सारांशः। इत्थञ्च हर्षभावस्य चरमव्यङ्ग्यत्वेऽपि मध्यगतस्य द्वारभूतस्य मदुपभोगयोग्यत्वरूपस्य व्यङ्ग्यस्याश्रयणं विधाय प्रकाशग्रन्थसंगतिर्विधेयेति।

अब प्रकाशग्रन्थ के सुसंगत अभिप्राय का वर्णन करते हैं—इत्थ इत्यादि। अभिप्राय यह है कि केवल नयन-विकास से 'हर्ष' की ही अभिव्यक्ति हो सकती है, मदुपभोगयोग्यत्व की नहीं, यह सर्वथा सत्य है। परन्तु यहाँ केवल नयन-विकास व्यञ्जक नहीं है अपि तु 'अलसशिरोमणि' इत्यादि जो कान्त के विशेषण हैं, उनके श्रवण से सहकृत नयन-विकास व्यञ्जक है और उस श्रवण को सहकारी रूप में उपस्थित करता है, पद्य में आया हुआ 'इति भणितेन-धाय का इतना कहना था कि'—यह पद। इस तरह श्रवण से विशिष्ट नयन-विकास से पहले हर्ष का विभाव (कारण) 'मदुपभोगयोग्यत्व' (मेरा उपभोग्य है) व्यक्त होता है, तदुत्तर उस कारण की अभिव्यक्ति के द्वारा उसका अनुभाव (कार्य) 'हर्ष' अभिव्यक्त होता है। उनमें से हर्षरूप व्यभिचारी भाव की अभिव्यक्ति में द्वारभूत विभाव (हर्षभाव का कारण मदुपभोगयोग्यत्व) की अभिव्यक्ति को लेकर काव्यप्रकाशग्रन्थ संगत हो जाता है। अर्थात् काव्यप्रकाशकार का आशय है कि धाय के कहे हुए 'अलसशिरोमणि' इत्यादि नायक के विशेषणों के सुनने के साथ नेत्र के खिल उठने से प्रथमतः नायिका का यह अभिप्राय ध्वनित होता है कि 'यह मेरे ही उपभोग के योग्य है' और उसके बाद हर्षभाव। काव्यप्रकाशकार के इस आशय को समझ लेने के बाद कोई आपत्ति नहीं रह जाती अर्थात् व्यञ्जक में व्यभिचार-दोष जो दिया जाता था, वह अब नहीं हो सकता, क्योंकि शुद्ध नयन-विकास, पुत्र आदि के आगम प्रभृति कारणों से उत्पन्न हर्ष की दशा में भी होता है, अतः वह मदुपभोगयोग्यत्व का व्यभिचारी भले ही हो, पर उन नायक-विशेषणों के सुनने के साथ होने वाला नयन-विकास तो अन्य कारणजन्य हर्ष की दशा में नहीं होता—अपि तु 'यह मेरा उपभोग्य है' इस तरह के ज्ञान से उत्पन्न हर्ष की स्थिति में ही होता है, अतः वह विशिष्ट-नयन-विकास उसका व्यभिचारी नहीं—अनियत है।

पूर्वोक्तरीत्याऽभिव्यक्तयाश्रयणे संभवन्तीं भावध्वनेः संलक्ष्यक्रमत्वापत्तिमाशङ्क्य परिहरति—

न च भावध्वनेः संलक्ष्यक्रमत्वापत्तिः, द्वारस्य संलक्ष्यक्रमत्वादिति वाच्यम्; इष्टापत्तेः। न चापसिद्धान्तः, तस्य प्रागेवोद्धारात्।

भावध्वनेरिति। हर्षभावध्वनेरित्यर्थः। द्वारस्येति। हर्षकारणमदुपभोगयोग्यत्वाभिव्यक्ति-द्वारस्येत्यर्थः। अपसिद्धान्तः सिद्धान्तविरोधः। तस्येति। अपसिद्धान्तत्वस्येत्यर्थः। तथा च सिद्धान्त एवायमिति भावः। मदुपभोगयोग्यत्वलक्षणविभावाभिव्यक्तिद्वारा प्रफुल्लविलोचनत्वेन हर्षभावाभिव्यक्तौ स्वीकृतायाम् 'भावशान्त्यादिरक्रमः' इति सिद्धान्तविरोधः, क्रमस्य लक्ष्यत्वादिति यद्यपि सत्यम्, तथापि क्वचित् संलक्ष्यक्रमोऽपि रसादिर्भवतीति प्रथमाननान्तर्भागोक्तसिद्धान्तेन तस्य सिद्धान्तस्य संकुचितविषयत्वबोधनेन किञ्चिद-समञ्जसमिति भावः। एतद्विषयको विशदो विचारो मत्कृतप्रथमाननहिन्दीटीकायां द्रष्टव्यः।

उक्त रीति से अभिव्यक्ति मानने पर 'भावध्वनि' भी संलक्ष्यक्रम हो जायगी, इस आपत्ति को आपत्ति नहीं मानकर इष्ट मान लेने की बात कहते हैं—न च इत्यादि। उक्त विशिष्ट प्रकार के नयन-विकास से मदुपभोगयोग्यत्वरूप विभाव की अभिव्यक्ति के द्वारा हर्षभाव की अभिव्यक्ति मानने पर 'भाव आदि की ध्वनि अलक्ष्यक्रम ही होती है' इस प्राचीनसिद्धान्त का विरोध होता है, यह बात यद्यपि सत्य है, तथापि स्थितिविशेष—जिसका विश्लेषण प्रथम आनन के अन्त भाग में किया गया है—में रस-भाव आदि की ध्वनि भी संलक्ष्यक्रम होती है, यह जो पण्डितराज का सिद्धान्त है, उसके अनुसार कोई विरोध नहीं होता। इस प्रसंग का विशद विचार, प्रथमानन की मेरी हिन्दी टीका में देखना चाहिए।

स्वतःसंभविना वस्तुनाऽलंकारध्वनिमुदाहरति—

'मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः,
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः।
सत्यं ब्रूहि मदीयजीव ! भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः ॥'

कश्चन भक्तः स्वात्मानं पृच्छति—हे मदीयजीव आत्मन्! भूयः पुनः पुनः, भवे संसारे, भ्राम्यता भ्रमणशीलेन, (अत्र कृतेन पुण्यविशेषेण स्वर्गं प्राप्तः, पुनः क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकमुपाश्रितः, एवंरीत्या पुनः पुनः स्वर्गादागमनमत्र भूयो भवभ्रमणम्) (अत्र लोके) मृद्वीका द्राक्षा, रसिता आस्वादिता, सिता खण्डशर्करा, समशिता सम्यक्भक्षिता, स्फीतं विशुद्धं, पयः दुग्धम्, निपीतं विशेषेण पानकर्मीकृतम्, स्वर्यातेन स्वर्गं गतेन (कर्तृविशेषणमेतद्) सुधा पीयूषम्, अधायि (धेट् पाने इत्यस्य कर्मणि वाच्ये लुङि रूपम्) अपायीत्यर्थः। कतिधा कतिभिः प्रकारैः रम्भायाः तन्नामकाप्सरसः, अधरः, खण्डितः दष्टः आस्वादित इति भावः। एवञ्च नानाविधमधुरपदार्थरसास्वादोऽनुभूतस्त्वया, इदानीञ्च कृष्णनाममाधुरी अपि आस्वाद्यते, अतस्त्वामहं पृच्छामि, यत् कृष्णेति द्वयोरक्षरयोर्यादृशो मधुरिमोद्गारः माधुर्योद्रेकोऽस्ति, तादृशस्तेषु पूर्वोक्तेषु पदार्थेषु क्वचित् एकत्रापि लक्षितः अनुभूतः ? एतदुत्तरप्रसंगे सत्यमेव त्वया वक्तव्यम्, अन्यथा निर्धारणीयस्य निर्धारणं न संभवेत्, कृष्णनाममाधुर्यसदृशं माधुर्यं क्वापि नानुभूतं भवेदिति वक्तुस्तात्पर्यम्।

अब स्वतःसंभवी वस्तु से अलंकार-ध्वनि का उदाहरण देते हैं—मृद्वीका इत्यादि। कोई भक्त अपनी आत्मा से पूछता है—हे मेरे जीव ! तू ने बार-बार स्वर्ग से इहलोक तक का चक्कर लगाया है—अर्थात् इस लोक में पुण्य-विशेष का उपार्जन कर मरणोत्तर स्वर्ग गया और पुण्य के क्षीण हो जाने पर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' के अनुसार पुनः संसार में जन्म ग्रहण किया, तेरा यह गमनागमन अनेकों बार हो चुका है। इस भ्रमण के प्रसङ्ग में तू ने अनेक आस्वाद्य पदार्थों के आस्वादन किए—इस लोक में दाख को चक्खा, चीनी की चाशनी ली, दूध का यथेच्छ पान किया, और स्वर्ग जाकर पीयूष का पान भी किया एवम् अनेक प्रकार से रम्भा (एक अप्सरा) के अधरों को भी काटा। अब कृष्णनाम की माधुरी का भी तू आस्वादन कर रहा है, इसलिये मैं तुझ से पूछता हूँ, सच सच बतलाना—'कृष्ण' इन दो अक्षरों में जैसा माधुर्योद्गार है, वैसा माधुर्योद्गार कहीं अन्यत्र ज्ञात हुआ ?—मेरा विश्वास है कि यह माधुरी तुझे अन्यत्र कहीं नहीं मिली होगी।

उपपादयति—

अत्र निष्कृष्टजीवसंबोध्यक-परिदृश्यमानस्थूलदेहेन्द्रियादिचेतनाचेतनसंघातात्मकास्मत्पदबोध्यकर्तृकप्रश्नविषयेणार्थेन वस्तुना तथाभूतेन भगवन्नाम्नोऽनेकजन्मवृत्तान्ताध्यक्षीकरणकारणयोगसिद्धिविशेषतादात्म्याध्यवसायरूपातिशयोक्तिर्व्यज्यते ।

निष्कृष्टेति । निष्कृष्टः परिदृश्यमानैतच्छरीरपृथक्कृतः, जीवः आत्मा, संबोध्यो यस्मिन्, परिदृश्यमानः, स्थूलदेहेन्द्रियादिचेतनाचेतनसंघातात्मकः अस्मत्पदबोध्यः कर्ता यस्मिन्, तादृशेन, प्रश्नविषयेण ब्रूहीतिपदजिज्ञासितेन, अर्थेन मधुरिमोद्गारेत्यादिरूपेणेत्यर्थः । तथाभूतेनेति । स्वतःसंभविनेत्यर्थः । नाम्न इति षष्ठ्यन्तस्य तादात्म्याध्यवसायेत्यत्रान्वयः । अनेकेति । नानाजन्मसंबन्धिनिजसमाचारप्रत्यक्षीकरणे कारणभूतो यो योगाभ्यासजन्यसिद्धिविशेषः तस्मिन्नित्यर्थः । भगवन्नाम्नः उपमानस्य योगसिद्धिविशेषे उपमेये तादात्म्याध्यवसाय इति भावः । एतेन भगवन्नाम उपमेयतया विषयस्तेन उपमानतया विषयिणः योगसिद्धिविशेषस्य निगरणे कथमतिशयोक्तिः, विषयनिगरणे तत्प्रसंगादिति परास्तम् । अयं भावः—आत्मा द्विविधः, एकः शरीरादितः पृथग्भूतो निरवच्छिन्नः, द्वितीयश्च शरीराद्यवच्छिन्नः, अस्मच्छब्दबोध्यः । तयोः प्रथमः संबोध्यत्वेन, द्वितीयश्च, प्रश्नकर्तृत्वेनात्र वर्णितः । प्रश्नविषयीभूतश्च मधुरिमोद्गारादिरूपं स्वतःसंभविवस्तुव्यञ्जकम् । व्यङ्ग्यश्चातिशयोक्त्यलंकारः । भगवन्नामरूपेणोपमानेनानेकजन्मवृत्तान्तप्रत्यक्षीकरणकारणयोगसिद्धिविशेषस्योपमेयस्य निगीर्य कथनमत्रातिशयोक्तिस्वरूपम् । अतीतजन्मवृत्तान्तज्ञानसाधकयोगजसिद्धिलब्धसर्वज्ञत्वविहीनं प्रति अतीतजन्मवृत्तान्तज्ञानविषयकप्रश्नस्यान्यथानुपपत्तिश्च तदलंकाराभिव्यक्तौ बीजमिति ।

अब उक्त पद्य में प्रकृतोपयोगी विषयों का उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । शास्त्रों में आत्मा दो प्रकार की मानी गई है—एक शरीर आदि से पृथग्भूत-निरवच्छिन्न और दूसरी देह-इन्द्रिय आदि से मिश्रित-शरीराद्यवच्छिन्न जो 'मैं' पद से समझा जाता है। उन दोनों में प्रथम अर्थात् निरवच्छिन्न आत्मा का संबोध्य रूप में और द्वितीय अर्थात् शरीराद्यवच्छिन्न आत्मा का प्रश्नकर्ता के रूप में यहाँ वर्णन किया गया है। प्रश्न का जो विषय है—वैसी माधुरी कहीं देखी? आदि—वही यहाँ स्वतःसंभवी-सत्य-कविकल्पित नहीं व्यञ्जक अर्थ है और व्यङ्ग्य है अतिशयोक्ति अलंकार। भगवन्नामरूप उपमान के द्वारा, अनेक जन्म की बातों के प्रत्यक्षीकरण में कारणरूप योग-सिद्धि-विशेषात्मक उपमेय का निगरण करके वर्णन करना ही यहाँ अतिशयोक्ति का स्वरूप है। इस अतिशयोक्ति की अभिव्यक्ति में मूलभूत रहस्य यह है कि जो सर्वज्ञ नहीं है उससे अनेक जन्म की बातों का पूछना बनता नहीं है और सर्वज्ञता प्राप्त होती है योग-सिद्धि से, जो यहाँ साक्षात् वर्णित नहीं है, अतः यह कल्पना करनी पड़ती है कि प्रश्नकर्ता ने भगवन्नाम को योगसिद्धि से अभिन्न समझकर योगसिद्धि के स्थान में भगवन्नाम का वर्णन किया है। हिन्दी रसगंगाधरकार चतुर्वेदीजी का यहाँ एक आक्षेप यह है कि उपमान से उपमेय के निगरण होने पर अतिशयोक्ति होती है और यहाँ उपमेय से ही उपमान का निगरण हुआ है—अर्थात् भगवन्नाम उपमेय है तथा योगसिद्धि-विशेष उपमान, अतः अतिशयोक्ति की अभिव्यक्ति यहाँ नहीं होगी। परन्तु मुझे 'पण्डितराज से इस तरह की मोटी गलती होगी' यह बात संगत नहीं जँचती। अतः मैं कहता हूँ कि उपमानोपमेय भाव तो विवक्षाधीन ही होता है, फिर भगवन्नाम को ही उपमान और योगसिद्धि-विशेष को ही उपमेय क्यों नहीं मान लिया जाय? योगसिद्धिविशेष के प्रसंग पर भी ऐसा पद्य कहा जा सकता है। मेरी समझ से यही पण्डितराज का आशय है।

शंकते—

अथ प्रश्नविषयस्यात्र नानाजन्मगतवृत्तान्तरूपतया तज्ज्ञं प्रत्येव प्रष्टुमौचित्येनानभिज्ञं स्वजीवं प्रति प्रष्टुमयोग्यत्वात्प्रश्नान्यथानुपपत्त्या आक्षिप्ता, वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपा वा, प्रागुक्तातिशयोक्तिरिह कथं ध्वनिव्यपदेशहेतुः स्यात् ?

तज्ज्ञमिति। नानाजन्मवृत्तान्तज्ञमित्यर्थः। प्रश्नान्यथानुपपत्त्येति। अतिशयोक्तिकल्पनमन्तरा तादृशप्रश्नस्यासंभवदुक्तिकतयेत्यर्थः। अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरत्वविरहादाह—वाच्येति। यो यज्जानाति तं प्रत्येव तद्विषयकः प्रश्नः क्रियते इति साधारणे नियमे वर्तमाने, 'मृद्वीके'तिपद्ये अतीतानागतज्ञानसाधकयोगजसिद्धिहीनतया नानाजन्मवृत्तान्तानभिज्ञं स्वजीवं प्रति, कृतः 'मृद्वीकादिपदार्थेषु कृष्णनाम्नीव मधुरताऽनुभूता किमि'त्यादिनानाजन्मवृत्तान्तविषयकः प्रश्नोऽनुपपन्नः सन् स्वोपपादिकां कृष्णनाम-योगजसिद्धिविशेषयोस्तादात्म्याध्यवसायरूपाम् अतिशयोक्तिमवश्यमाक्षिपेत्। एवञ्चार्थापत्तिप्रमाणवेद्य एवातिशयोक्त्यलंकारोऽत्र न व्यञ्जनाबोध्यः, 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति सिद्धान्तात्। अर्थापत्तिर्न मानान्तरमपि तु व्यञ्जनाफलीभूतमेवेति स्वीकारे यद्यपि प्रकृते उक्तातिशयोक्त्यलंकारस्य व्यङ्ग्यत्वं समर्थयितुं शक्यम्, तथापि तद्व्यङ्ग्यं गुणीभूतमेव वाच्योक्तप्रश्नविषयीभूतार्थोपपादकतया वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वात्। तथा च तस्यालंकारस्य व्यङ्ग्यत्वे ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं न युक्तमिति भावः।

अब उक्त विषय के संबन्ध में एक शंका करते हैं—अथ इत्यादि। 'जो जिस विषय को जानता रहता है, उसीसे उस विषय का प्रश्न किया जाता है' यह एक साधारण नियम है। तदनुसार यहाँ योगसिद्धि से रहित अतएव अनेक जन्म की बातों को नहीं समझ सकनेवाले अपने जीव से उक्त अनेक जन्मविषयक बातों का पूछना तब तक नहीं बन सकता, जब तक कृष्ण नाम और योगसिद्धि में परस्पर अभेद (जो अतिशयोक्ति अलंकार कहा जाता है) न समझ लिया जाय। इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि प्रश्न के अन्यथा न बन सकने के कारण यहाँ अतिशयोक्ति का आक्षेप होगा और इस तरह के आक्षेप को ही अर्थापत्ति (प्रमाण) कहते हैं, अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार अर्थापत्तिप्रमाण से समझने योग्य माना जायगा, व्यञ्जना से समझने योग्य नहीं। क्योंकि 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः—अर्थात् जो अर्थ अन्य किसी प्रमाण से ज्ञात न हो सके, उसी को शब्दशक्ति से ज्ञात होने योग्य समझना चाहिए'। यदि कहा जाय कि 'अर्थापत्ति' कोई नवीन प्रमाण नहीं है; व्यञ्जना फलीभूत ही है अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार व्यङ्ग्य माना जा सकता है, तो मैं कहूँगा, ठीक है, इस दृष्टिकोण से देखने पर अतिशयोक्ति का यहाँ व्यङ्ग्य होना सिद्ध हो सकता है, परन्तु व्यङ्ग्य होकर भी वह अलंकार यहाँ गौण ही होगा; क्योंकि उक्त प्रष्टव्य विषय—जो वाच्य है—की संगति उस व्यङ्ग्य के द्वारा ही होती है, अतः वह वाच्यसिद्धि का अङ्ग है और वाच्यसिद्धि के अङ्गभूत व्यङ्ग्य, 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक मध्यम काव्य के व्यवहार का साधक होता है, 'ध्वनि'नामक उत्तम काव्य-व्यवहार का नहीं।

प्राचीनैरुक्ते स्वतःसंभविना वस्तुनाऽलंकारध्वनेरुदाहरणेऽपीयं शंका समानैवेति दर्शयति—

इत्थमेव च 'तदप्राप्तिमहादुःख'—इत्यत्राप्यतिशयोक्तेरर्थापत्तिविषयत्वं गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं वा युक्तम्। अनेकजन्मोपभोग्यदुःखसुखराशिभ्यां तदप्राप्ति-

महादुःखतच्चिन्ताविपुलाह्लादयोरनिगरणेऽशेषपापपुण्यपुञ्जनाशकताया अनुपपत्तेः । तद्दुःखसुखानां स्वस्वफलोपहितपापपुण्यनाशकताया एवान्यत्र क्लृप्तत्वात् । निगरणे तु तयोस्तन्नाशकताबुद्ध्युपपत्तिः ।

तदिति । 'तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका । तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥ चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् । निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥' इति श्लोकद्वयं विष्णुपुराणे पञ्चमांशे त्रयोदशाध्याये (२१।२२) वर्तते, उदाहृतश्च काव्यप्रकाशे चतुर्थोल्लासे । भगवतो व्रजवल्लभस्य रासलीलायां सर्वा गोपालबालिकाः सम्मिलिताः परन्तु काचनैका गोपकन्या पत्यादिभिः संरक्षकैर्निरुद्धा तत्र संगन्तुं नापारयत् । सा च भगवत्संगमालाभेन महादुःखमापत् , तेन दुःखेन तस्याः सर्वाणि पातकानि विनष्टानि, अपि च कृष्णचन्द्रचिन्तनजन्याधिकतरानन्देन तस्याः सकलपुण्यक्षयोऽपि जातः । एवं रीत्या जगदुत्पत्तिकारणं परब्रह्मस्वरूपं कृष्णं चिन्तयन्ती सा निरुच्छ्वासावस्थामाधाय मोक्षमलभत इति प्रसंगसंगतिपुरःसरस्तदर्थो बोध्यः । मुक्तिसमये निरुच्छ्वासता च 'नास्य प्राणाः समुत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते' इति श्रुतिसिद्धाऽस्ति । स्वस्वफलोपहितेति । तत्तद्दुःखसुखरूपफलजनकेत्यर्थः । अत्र कृष्णाप्राप्तिजन्यमहादुःखस्याशेषपापनाशकत्वमेवं कृष्णचिन्तनजन्यानन्दसन्दोहस्य पुण्यपुञ्जनाशकत्वं यद्वाच्यवृत्त्या वर्णितम् , तदवश्यमनेकजन्मोपभोग्यदुःखसुखसमूहाभ्याम् तदप्राप्तिमहादुःखतच्चिन्ताविपुलाह्लादयोर्निगरणे सूचयति —अर्थात् कृष्णाप्राप्तिमहादुःखेन सह नानाजन्मभोग्यदुःखस्य तथा कृष्णचिन्ताप्रयुक्तानन्देन सह नानाजन्मभोग्यसुखस्य ताद्रूप्यमाक्षिपति, अन्यथा तदप्राप्तिमहादुःखतच्चिन्ताविपुलाह्लादयोरशेषपापपुण्यनाशकत्वं वाच्यवृत्त्या वर्ण्यमानमसंगतं स्यात् , यत्पापपुण्यजन्ये ये दुःखसुखे तद्दुःखसुखयोरेव तत्पापपुण्यनाशकताया अन्यत्र निश्चितत्वेन प्रकृतकृष्णाप्राप्तिजन्यदुःखतच्चिन्तनजन्यसुखयोरनेकजन्मकृतपापपुण्यनाशकताया असम्भवात् । पूर्वोक्तताद्रूप्याक्षेपे तु तत्सम्भवति एवञ्च 'गङ्गायां घोष' इत्यादाविव 'तदप्राप्ती'त्यत्रापि कृष्णाप्राप्तिजन्यदुःखतच्चिन्ताजन्यानन्दाभ्यां सहानेकजन्मभोग्यदुःखसुखयोस्ताद्रूप्यारोपरूपातिशयोक्तिरर्थापत्तिवेद्यतया व्यङ्ग्यतामेव न भजते, अर्थान्तरेणानान्तरस्यास्वीकारे च व्यङ्ग्यतां भजमानपि वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभूता न ध्वनिव्यवहारहेतुरिति भावः ।

प्राचीनों ने स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तु-ध्वनि का जो उदाहरण दिया है, उसमें भी उक्त आशङ्का समानरूप से उपस्थित होती है यही बात अब कही जा रही है—इत्थमेव च इत्यादि। 'तदप्राप्ति……' इत्यादि दोनों पद्य–जो संस्कृत टीका में उद्धृत हैं—विष्णुपुराण (पञ्चम अंश, त्रयोदश अध्याय २१।२२) के हैं, काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में–उदाहृत हुए हैं । भगवान् व्रज-वल्लभ की रासलीला में सभी गोप-कन्यायें सम्मिलित होती थीं, परन्तु कोई एक गोप-बाला, पति आदि संरक्षकों द्वारा रोक दिये जाने के कारण उस (रासलीला में) सम्मिलित नहीं हो सकी, जिससे उसको नितान्त दुःख हुआ, पर उसी दुःख से उसके सभी पाप नष्ट हो गए (पाप के फल दुःख को भोग लेने से पाप नष्ट होते हैं) और घनश्याम के निरन्तर-चिन्तन से उसे असीम आनन्द भी हुआ, जिससे उसके सम्पूर्ण पुण्य भी क्षीण हो गए (पुण्य का फल सुख है अतः उसके भोग से पुण्य समाप्त हो जाता है)। इस तरह संसार-कारण-परब्रह्म-स्वरूप-कृष्णचन्द्र की चिन्ता करती हुई वह, निरुच्छ्वास अवस्था को पाकर मुक्त हो गई । प्रकरण के अनुसार यही उन दोनों पद्यों का अर्थ है । यहाँ 'भगवान् के न मिलने के कारण उत्पन्न महादुःख' से सकल पापों के नष्ट हो जाने की बात तथा 'भगवान् के स्मरण से उत्पन्न आनन्द' से पुण्य-समूह के नष्ट होने की बात जो वाच्यरूप में वर्णित है, वह तब तक संगत नहीं

हो सकती, जब तक उन दोनों (दुःख और आनन्द) का क्रमशः अनेक जन्मों में भोगे जानेवाले, दुःखों और सुखों के साथ तादात्म्य न समझा जाय। क्योंकि शास्त्रों में जो दुःख जिन पापों के फल हैं और जो सुख जिन पुण्यों के फल हैं उन्हें ही उन पापों और उन पुण्यों का नाशक माना जाता है और ये कृष्ण-वियोग-दुःख और कृष्ण-स्मरण-सुख तो उन लौकिक पाप-पुण्यों के फल हैं नहीं। अतः 'उन पाप-पुण्यों के फल-रूप सुख-दुःखों के साथ इन वियोग-दुःख और स्मरण-सुख का तादात्म्य'—जो अतिशयोक्तिरूप है—मानना पड़ेगा—तभी वे सुख-दुःख उन पुण्य-पापों के नाशक हो सकेंगे। इस स्थिति में यहाँ भी अतिशयोक्ति, पूर्वोक्त युक्ति से अर्थापत्ति—वेद्य होकर व्यङ्ग्य ही नहीं होगी, अथवा वाच्यसिद्धि का अंग बन कर, मध्यम-काव्य-व्यवहार के हेतु होगी—ध्वनिकाव्यता का नियामक नहीं हो सकती।

आशंक्य समाधत्ते—

न च वस्तुमात्राभिव्यक्तस्यालंकारस्य न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्—

'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यंगता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥'

इति सिद्धान्तादिति वाच्यम्, बाधे दृढे सिद्धान्तमात्रेणात्र ध्वनित्वस्य स्थापयितुमशक्यत्वादिति चेत्?

व्यज्यन्ते इति। ध्वन्यालोकस्येयं कारिका। वाच्येन वस्तुमात्रेण न तु सालंकारेणापि, अलंकृतयोऽलंकारा, यदा व्यज्यन्ते, तदा व्यङ्ग्यत्वकाले तासामलंकृतीनां ध्रुवं नियमेन, ध्वन्यङ्गता ध्वनिरूपता वाच्यवस्त्वपेक्षयाऽलङ्कारत्वेनैवातिशायितया ध्वनित्वनिर्वाहकतेति यावत्, भवतीति शेषः। कुत इति चेत्?—काव्यस्य कविव्यापारस्य वृत्तेः प्रवृत्तेः सव्यङ्ग्योऽर्थ आश्रय उद्देश्यतयाऽऽलंबनं यस्याः सा तदाश्रया तस्या भावस्तदाश्रयत्वम्, तदुद्देश्यकत्वम्, तस्मादित्यर्थः। इह तदाश्रयादिति भावप्रधानो निर्देशः। व्यज्यन्ते इति ध्वनिकारोक्तसिद्धान्तानुसारेण 'मृद्वीका' 'तदप्राप्ती'त्यादौ वस्तुना व्यज्यमानाया अतिशयोक्तेर्ध्वनिव्यवहारप्रयोजकता समुचितेति शङ्का। वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वहेतुकगौणतात्मिकायां ध्वनित्वबाधकयुक्तौ विद्यमानायां ध्वनिकृदुक्तसिद्धान्तमात्रेण ध्वनित्वस्थापनं नोचितमिति समाधानम्।

उक्त आशंका के उत्तर के रूप में एक आशंका करके उसका समाधान करते हैं—न च इत्यादि। यदि आप कहें कि अलंकार-शून्य-केवल, वस्तु से ध्वनित होने वाले अलंकार गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं हो सकते, कारण, यह सिद्धान्त है कि—'व्यज्यन्ते'...... इत्यादि अर्थात् जब केवल (अलंकार-शून्य) वस्तु से अलंकार ध्वनित होते हैं तब वे निश्चित रूप से काव्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम) बनाते हैं, क्योंकि ऐसे पद्यों में काव्य का व्यवहार उन्हीं अलंकारों के आधार पर होता है—उनमें वे अलंकार ही चमत्कार-विशेष के जनक होते हैं।' तो यह ठीक नहीं। कारण, जब एक सुदृढ बाधक युक्ति उपस्थित की जा चुकी है—अतिशयोक्ति को वाच्य-सिद्धि का अङ्ग बतलाया जा चुका है, तब केवल सिद्धान्त के बल पर—ध्वन्यालोक की कारिका के आधार पर—इन पद्यों को ध्वनि नहीं सिद्ध किया जा सकता।

अथ प्रश्नविषयस्येत्यादिना समुत्थापितामाशङ्कामुपसंहरति—

सत्यम्,

'मृद्वीका', 'तदप्राप्ती'त्यादौ व्यज्यमानाया अतिशयोक्तेर्गुणीभूततया ध्वनित्वप्रयोजकता न संभवतीति शंका युक्तेति भावः।

अब उक्त आशंका-ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं—'सत्यम्' इति । आपका कथन सत्य है—'मृद्वीका' 'तदप्राप्ति' इत्यादि पद्यों में अतिशयोक्ति जब वाच्यसिद्धि का अङ्ग हो जाती है, तब वह उन पद्यों को 'ध्वनि' नहीं बना सकती । परन्तु—

समाधत्ते—

यादृशव्यङ्ग्यप्रतिपत्तिं विना यत्र वाच्यस्य सर्वथाप्यनुपपत्तिस्तत्र तद् वाच्यसिद्ध्यङ्गम् । यत्र प्रकारान्तरेणापि तस्योपपत्तिः शक्या कर्तुम् न तत्र तथा ।

प्रतिपत्तिमिति । ज्ञानमित्यर्थः । अनुपपत्तिरिति । असंगतिरित्यर्थः । तदिति । व्यङ्ग्यमित्यर्थः । प्रकारान्तरेणेति । व्यङ्ग्यज्ञानातिरिक्तेन प्रकारेणेत्यर्थः । तथा वाच्यसिद्ध्यङ्गम् । यत्र व्यङ्ग्यमेव केवलं न तु वाच्यादिकं, वाच्यार्थं सोपपत्तिकं कर्तुं प्रभवति, तत्रैव तद्व्यङ्ग्यं वाच्यसिद्ध्यङ्गं स्वीकर्तुं योग्यम् । यथा—'अभिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् । मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्' ॥ इत्यादौ विषपदव्यङ्ग्यं हालाहलमेव केवलं जलदभुजगेति वाच्यस्य रूपकस्य सिद्धिकृत् । अन्यथा जलदस्य भुजगत्वायोगेन, भुजग इव जलद इति पूर्वपदार्थप्रधानोपमितसमासाश्रयणेनोपमालङ्कारापत्तेः । व्यङ्ग्याभिन्नत्वेनाध्यवसिते तु जले भुजगत्वोपपत्तेरुत्तरपदार्थप्रधानरूपकसिद्धिः । यत्र पुनः व्यङ्ग्यार्थेन साधयितुं योग्यस्य वाच्यस्य तदतिरिक्तम् (व्यङ्ग्यातिरिक्तम्) अपि साधकं संभवति, तत्र व्यङ्ग्यं न गुणीभूतमङ्गीक्रियत इति भावः ।

अब सिद्धान्तभूत समाधान उपस्थित करते हैं—यादृश इत्यादि । उत्तर का अभिप्राय यह है कि उक्त पद्यों में अतिशयोक्ति यदि वाच्यसिद्धि का अङ्ग हो तब न वह गुणीभूत होगी, वस्तुतः वाच्य-सिद्धि का अङ्ग वह नहीं है । कारण, वह व्यङ्ग्य वहाँ वाच्यसिद्धि का अङ्ग होता है, जिसके ज्ञान के बिना, जहाँ वाच्य की सिद्धि सर्वथा नहीं होती, अर्थात् व्यङ्ग्य-ज्ञान के अतिरिक्त कोई उपाय जहाँ वाच्यार्थ का साधक नहीं रहता वहीं व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का अंग कहलाता है और जहाँ वाच्य, किसी दूसरी तरह से भी सिद्ध किया जा सके, वहाँ व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का अङ्ग नहीं होता ।

पूर्वोक्तसिद्धान्तास्वीकारेऽनुपपत्तिं दर्शयति—

अन्यथा हि 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' इत्यत्राधमत्वासिद्ध्यङ्गत्वाद्दूतीरमणस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तेः ।

वाच्येति । वाच्यसिद्ध्यङ्गरूपं यद्गुणीभूतव्यङ्ग्यं तत्त्वापत्तेरित्यर्थः । व्यङ्ग्येन वाच्यसिद्धेः संभवमात्रेण तस्य गुणीभावाङ्गीकारे 'निःशेषे'त्यादौ दूतीसंभोगरूपस्य व्यङ्ग्यस्याधमत्वरूपवाच्यसाधकत्वसंभवेन गुणीभूतत्वम्, तत्प्रयुक्तं प्रकृतपद्यस्य मध्यमकाव्यत्वं च प्रसज्येतेति भावः । उक्तसिद्धान्तस्वीकारे तु नानुपपत्तिः, परवेदनानभिज्ञतया दुःखदातृत्वेनापि अधमत्वस्य सिद्धौ संभवन्त्यां दूतीसंभोगस्य व्यङ्ग्यस्यानन्यसाधारणवाच्यसाधकत्वविरहात् ।

पूर्वोक्त नियम को न मानने पर होने वाली अनुपपत्ति का उल्लेख करते हैं—अन्यथा इत्यादि । यदि उक्त नियम न माना जाय, तब तो प्रथमानन में उदाहृत 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्……' इत्यादि ध्वनि के उदाहरण में भी 'दूती-रमण'-रूप व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का अङ्ग हो जायगा, क्योंकि वाच्य-नायक की अधमता को वह सिद्ध करता है । उक्त नियम के मानने पर यह आपत्ति नहीं होती । कारण, वाच्य-अधमता की सिद्धि प्रकारान्तर से भी वहाँ हो जाती है अर्थात् नायिका के दुःख-दर्द को न समझ कर बराबर उसे दुःख-दान से भी नायक की अधमता सिद्ध हो जाती है ।

उक्तसिद्धान्तानुसारेण 'मृद्वीके'ति पद्ये व्यज्यमानातिशयोक्तिर्न वाच्यसिद्ध्यङ्गमित्युपपादयति—

प्रकृते च भगवन्नाम्नि योगसिद्धितादात्म्याध्यवसायरूपामतिशयोक्तिं विनापि भगवन्नामोच्चारणमाहात्म्यप्राप्तसार्वज्ञ्यबुद्ध्याऽपि प्रश्नोपपत्तेर्न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्।

प्रकृते मृद्वीकेति पद्ये। भगवन्नामेति। भगवन्नाम्नः उच्चारणस्य माहात्म्येन प्राप्तं यत् सार्वज्ञ्यम् तस्य बुद्ध्या ज्ञानेनेत्यर्थः। अयमभिप्रायः—मृद्वीकेति पद्ये वक्ता स्वकीयं जीवं भगवन्नामोच्चारणबललब्धसर्वज्ञताकं बुध्वाऽपि 'मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः' इत्यादिना नाजन्मवृत्तान्तविषयकं प्रश्नं कर्तुं शक्नोतीति तादृशप्रश्नात्मकस्य वाच्यस्य सिद्धिर्न नियमतो भगवन्नामयोगसिद्धिविषययोस्तादात्म्याध्यवसायरूपां व्यज्यमानामतिशयोक्तिमपेक्षते। एवञ्च न तदतिशयोक्तिरूपं व्यङ्ग्यं वाच्यसिद्धेरङ्गमिति। 'तदप्राप्ती'ति प्रकाशोदाहरणे सा आपत्तिरस्तीत्यन्यदेतत्।

उक्त नियम के अनुसार 'मृद्वीका......' इत्यादि पद्य में अभिव्यक्त होने वाली अतिशयोक्ति वाच्य-सिद्धि का अंग नहीं होती, इस बात का अब उपपादन करते हैं—प्रकृते इत्यादि। अभिप्राय यह है कि 'मृद्वीका......' इत्यादि पद्य में वक्ता अपनी आत्मा को भगवन्नाम की महिमा से सर्वज्ञ बनी हुई जान कर भी उससे जन्मान्तर-वृत्तान्त-विषयक प्रश्न कर सकता है अर्थात् जन्मान्तर-वृत्तान्त-विषयक प्रश्न—जो वाच्य है—उसकी सिद्धि आत्मा के विषय में भगवन्नाम-माहात्म्य-मूलक सर्वज्ञता-ज्ञान से भी हो जाती है, अतः उस प्रश्न को सिद्ध करने के लिये भगवन्नाम में योगसिद्धि के तादात्म्य का आरोप—जिसको अतिशयोक्ति के रूप में अभिव्यक्त करते हैं—अपेक्षित नहीं है। अतः यहाँ व्यङ्ग्य होनेवाली अतिशयोक्ति गुणीभूत नहीं है। तात्पर्य यह कि वह व्यङ्ग्य उस पद्य को ध्वनि-काव्य की श्रेणी में अवश्य ला सकता है।

भगवन्नामोच्चारणमाहात्म्येत्याद्युपदोक्तरीतेरनुसरणेऽपि उक्तापत्तिसजातीयामेवापत्तिमाशंक्य निरस्यति—

एतेनासंबन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिर्नामोच्चारणमाहात्म्यप्रभवसार्वज्ञ्याध्यवसायेऽपि स्थितेति स दोषस्तदवस्थ इति परास्तम्। भगवन्नामोच्चारणस्याचिन्त्यमाहात्म्यतायाः पुराणप्रसिद्धत्वात्।

एतेनेति। वक्ष्यमाणहेतुनेत्यर्थः। स्वात्मनि भगवन्नामोच्चारणमाहात्म्यप्राप्तसार्वज्ञ्यबुद्ध्या तथा प्रश्न इति कथनेऽपि असंबन्धे संबन्धरूपातिशयोक्तिर्स्थित एव, भगवन्नामोच्चारणे सर्वज्ञतासंबन्धविरहिणि तादृशसंबन्धकल्पनात्, तथा चातिशयोक्तिद्वयमपि वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभूतमेवेति कथनं न सम्यक्, वेदपुराणादौ भगवन्नामोच्चारणमाहात्म्यस्य सकलाभीष्टार्थसाधकतायाः प्रसिद्धत्वात्। तथा च वस्तुत एव भगवन्नामोच्चारणे सर्वज्ञतायाः संबन्धः न तु कल्पितः स इत्यसंबन्धे संबन्धरूपातिशयोक्तिर्नात्रेति बोध्यम्। एवञ्च मृद्वीकेति पद्यं स्वतःसंभविना वस्तुनाऽलङ्कारध्वनेरुदाहरणं संभवतीति भावः।

उक्त रीति के अनुसरण करने पर भी उसी प्रकार की आपत्ति दिखलाकर पुनः खण्डन करते हैं—एतेन इत्यादि। यदि आप कहें कि भगवन्नाम की महिमा से जीव को सर्वज्ञ समझना भी एक प्रकार की (असंबन्ध में संबन्धरूप) अतिशयोक्ति ही है अर्थात् भगवन्नामोच्चारण का सर्वज्ञता के साथ कोई संबन्ध वस्तुतः है नहीं, फिर जो संबन्ध माना जायगा वह अतिशयोक्ति का ही एक प्रकार होगा और इस स्थिति में उक्त दोष पुनः उसी तरह वर्तमान रहेगा अर्थात् दोनों ही अतिशयोक्तियाँ वाच्य-सिद्ध्यङ्ग होकर गुणीभूत हो जायँगी, तो यह तर्क आप का समुचित नहीं, कारण, भगवन्नामोच्चारण का

माहात्म्य अचिन्त्य है अर्थात् उससे सब कुछ हो सकता है, यह बात पुराणों में जब प्रसिद्ध है, तब भगवन्नामोच्चारण का सर्वज्ञता से संबन्ध सिद्ध है, अतः यहाँ असंबन्ध में संबन्धरूप अतिशयोक्ति का कोई प्रसंग ही नहीं आता।

मृद्वीकेतिपद्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमभ्युपेत्योदाहरणान्तरमवतारयति—

अथवा मास्तु प्रागुक्तमुदाहरणं वस्तुनोऽलङ्कारव्यञ्जकतायाः, इदं तु भविष्यति—

'न मनागपि राहुरोधशंका न कलङ्काधिगमो न पाण्डुभावः।
उपचीयत एव कापि शोभा परितो भामिनि ! ते मुखस्य नित्यम् ॥'

सखी नायिकां कथयति—अयि भामिनि कामिनि ! ते तव, मुखस्य आननस्य, कापि अनिर्वचनीया शोभा, परितः सर्वतोभावेन, उपचीयते वर्धते एव। (अत्र) मनागपि ईषदपि राहुरोधशङ्का राहोः रोधस्य आक्रमणस्य, शङ्का भयं, नास्ति, न वा कलङ्काधिगमः कलङ्कसंबन्धो वर्तते, पाण्डुभावः पाण्डुताऽपि नास्त्येव। राहुग्रासत्रासमुक्तस्य, निष्कलंकस्य, सुवर्णवर्णस्य तवाननस्य सुषमा सर्वतोभावेन सदा वर्धमानैव विद्यते न तु कदापि चन्द्रवत् क्षीयत इति भावः।

'मृद्वीका......' इत्यादि पद्य को गुणीभूत व्यङ्ग्य मान कर स्वतःसंभवी वस्तु से अलंकार-ध्वनि का दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हैं—अथवा इत्यादि। स्वतःसंभवी वस्तु जहाँ अलंकार की व्यञ्जिका होती है, वैसा उदाहरण यदि पूर्वोक्त पद्य (मृद्वीका... इत्यादि) नहीं हो सकता है, तो न होवे 'न मनागपि...' इत्यादि पद्य तो होगा। यह पद्य सखी के द्वारा नायिका के प्रति कहा गया है। सखी कहती है कि हे सुन्दरि ! तेरे मुख की कोई (अनिर्वचनीय) शोभा सब तरह से सदा बढ़ती ही रहती है। इस मुख में, न तो राहु के आक्रमण का थोड़ा भी भय है, न कलङ्क का संबन्ध है और न पाण्डुरता (सफेदी) है।

उपपादयति—

अत्र राहुरोधशङ्काभावादिभिर्निरपेक्षैर्वस्तुभिर्व्यतिरेकालंकारो व्यज्यते।

अत्रेति। न मनागपीत्यादिपद्य इत्यर्थः। राहुरोधेति। कलङ्काधिगमाभावपाण्डुत्वाभावादिपदप्राह्यौ। निरपेक्षैरिति। व्यङ्ग्यव्यतिरेकोदासीनैरित्यर्थः। अत्र राहुरोधशङ्काभावादीनि वस्तूनि वाच्यवृत्त्या वर्ण्यमानानि तादृशानि सन्ति, येषां साधनाय व्यङ्ग्यस्यापेक्षा नास्ति यतस्तादृशैस्तैर्वस्तुभिः स्वतःसंभविभिः उपमानादिन्दोरपेक्षया उपमेयस्य मुखस्याधिक्यरूपो व्यतिरेकालंकारो व्यज्यत इति पद्यमिदमुदाहरणं सम्पद्यत इति भावः।

प्रकृतोपयोगी विषयों का उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में 'राहु के आक्रमण का भय न होना' आदि ऐसी ऐसी उदासीन वस्तुएँ हैं जिनकी सिद्धि में व्यङ्ग्य (व्यतिरेकालङ्कार) की अपेक्षा नहीं होती, अतः उन वस्तुओं के द्वारा जो व्यतिरेकालंकार (उपमान चन्द्र से उपमेय मुख में आधिक्य) ध्वनित होता है, वह इस पद्य में ध्वनि-काव्य व्यवहार—का कारण होता है।

स्वतःसंभविनाऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिमुदाहरति—

'नदन्ति मददन्तिनः परिलसन्ति वाजिव्रजाः
पठन्ति विरुदावलीमहितमन्दिरे वन्दिनः।
इदं तदवधि प्रभो ! यदवधि प्रवृद्धा न ते,
युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणद्युतिः ॥'

कविः कमपि नृपविशेषं वक्ति—हे प्रभो सर्वसमर्थ! अहितमन्दिरे त्वदीयशत्रु-भवने, मददन्तिनः मदशालिनो गजाः, मदपदे अर्श आद्यजिति भावः। नदन्ति चीत्कुर्वन्ति, वाजिव्रजाः तुरगततयः, परिलसन्ति शोभन्ते, वन्दिनः स्तुतिपाठकाः, विरुदावलीं स्तुति-परम्परां, पठन्ति गायन्ति। परमिदं सर्वं मदमत्तदन्तिनादादिकं तदवधि तावत्कालपर्यन्तं भवतीति शेषः, यदवधि यावत्कालपर्यन्तम्, युगान्तदहनोपमा प्रलयकालिकाग्नितुल्या, ते तव, नयनकोणशोणद्युतिः नेत्रकोणारुणकान्तिः, न प्रवृद्धा समुपचितेत्यर्थः।

अब स्वतःसंभवी अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण दिखलाते हैं—नदन्तीत्यादि। कोई कवि राजा से कहता है—हे प्रभो! आपके शत्रुओं के भवन में मदमत्त गज चीत्कार करते हैं, अश्वों की श्रेणियाँ शोभित होती हैं, और बंदीजन विरुदावली (स्तुति) पढ़ते हैं। परन्तु ये सब तब तक हैं, जब तक प्रलयकालिक अग्नि-शिखा के समान, आपके नेत्र-कोण की अरुण आभा नहीं बढ़ी है।

उपपादयति—

अत्र युगान्तदहनोपमया यदैव तव कोपोदयस्तदैव रिपूणां सम्पदो भस्म-साद्भविष्यन्तीति वस्तु व्यज्यमानं राजविषयकरतिभावेऽङ्गमपि वाच्यापेक्षया सुन्दरत्वाद् ध्वनिव्यपदेशहेतुः।

नदन्तीतिपद्ये युगान्तदहन उपमानम्, नयनकान्तिरुपमेयभूता, तयोरुपमा च, वाच्यानि, तया चोपमया तव कोपोदयाव्यवहितोत्तरक्षण एव शत्रुसम्पत्तयो भस्मसात् भवि-ष्यन्तीति वस्तु व्यज्यते, तच्च व्यङ्ग्यं यद्यपि प्रधानव्यङ्ग्ये कविनिष्ठराजविषयकरतिभावे पोषकत्वादङ्गम्, तथापि वाच्यार्थापेक्षयाऽऽधिकचमत्कारशालित्वात्प्रधानमिति ध्वनिव्यवहार-निदानं संपद्यत इति भावः। 'वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्' इति प्राचीना-भिमतध्वनिलक्षणानुरोधिवचनमिदं पण्डितराजस्य। 'शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कम-प्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्' इति स्वकृतध्वनिलक्षणे तु 'गुणीभावितात्मानौ' इति विशेषणे-नापराङ्गव्यङ्ग्यस्य निरास एव। 'कृष्णपक्षाधिकरुचिः इति शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वन्युदाहर-णोपपादनावसरे स्फुटमेतत्।

उक्त पद्य में अपेक्षित विषयों का उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। इस पद्य में 'प्रलयकालिक अग्नि-शिखा के समान नेत्रकोण की अरुण आभा' यह जो वाच्य उपमा अलंकार है, उससे यह वस्तु व्यङ्ग्य होती है कि 'जभी आपके हृदय में क्रोध का उदय होगा, तभी शत्रुओं की सारी सम्पत्तियाँ भस्म हो जायँगी।' यद्यपि यह व्यङ्ग्य कविगत राज-विषयक प्रेमभाव-जो इस पद्य से प्रधान रूप में अभिव्यक्त होता है-का अङ्ग-पोषक है, अतः उसकी अपेक्षा गौण है, तथापि वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होने के कारण प्रधान है, अत एव इस पद्य में ध्वनि (उत्तमोत्तम) काव्य के व्यवहार करने का कारण होता है।

गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमस्याशंक्य निरस्यति—

न च भस्मीकरणपटुत्वरूपस्य साधारणधर्मस्योपमानिष्पादकत्वाद् व्यङ्ग्यस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वं शङ्क्यम्, उपात्तशोणत्वरूपसाधारणधर्मेणापि तन्निष्पत्तेः संभवात्। उपमेयीभूतशोणद्युतिगतस्य भस्मीकरणपटुत्वरूपसाधारणधर्मस्यो-पमानिष्पादकत्वेऽप्युपमेयव्यङ्ग्यकोपगतभस्मीकरणपटुत्वस्यातथात्वाच्च।

व्यङ्ग्यस्येति। व्यङ्ग्यशरीरघटकतया तस्य व्यङ्ग्यत्वं बोध्यम्। तन्निष्पत्तेरिति। उपमानिष्पत्तेरित्यर्थः। विनिगमनाविरहेऽप्याह—उपमेयीभूतेति। उपमेयव्यङ्ग्यकोपेति।

उपमेयेन नयनकोणद्युत्या, व्यङ्ग्यो यः कोपस्तद्गतेत्यर्थः, अतथात्वादिति । उपमाया अनिष्पादकत्वादित्यर्थः । उपमानोपमेययोः युगान्तदहननयनकोणद्युत्योः साधारणो धर्मो भस्मीकरणपटुत्वम्, तच्च न वाच्यम्, अपि तु 'रिपुसंपदो भस्मसाद्भविष्यन्तीति व्यङ्ग्यवस्तुशरीरप्रविष्टतया व्यङ्ग्यं सदेव वाच्यामुपमां निष्पादयति, तथा च वाच्यसिद्ध्यङ्गभूतं तद्व्यङ्ग्यं कथं ध्वनिव्यपदेशहेतुरितिशङ्कादलाशयः । भस्मीकरणपटुत्वमिह न तयोः साधारणो धर्मः, अपि तु वाच्यं शोणत्वमेव, यथा युगान्तदहनः शोणस्तथा नयनकोणद्युतिरित्यभिप्रायात् । तथा च तद्व्यङ्ग्यं भस्मीकरणपटुत्वं न वाच्यसिद्धिकरमिति ध्वनिव्यपदेशहेतुर्भवितुमर्हतीति च समाधानाशयः । ननु भस्मीकरणपटुत्वशोणत्वयोरुभयोः साधारणधर्मत्वसंभवे विनिगमनाविरहेण भस्मीकरणपटुत्वस्यैव साधारणधर्मता कुतो न? तथा च पुनर्गुणीभूतत्वशंका तदवस्थैवेति चेन्न । भस्मीकरणपटुत्वं यथोपमेयभूताया नयनकोणद्युतेर्धर्मस्तथैव तेनोपमेयेन व्यङ्ग्यो यः कोपस्तस्यापि स साधारणधर्मः । एवञ्च नयनकोणद्युतिनिष्ठं भस्मीकरणपटुत्वमेवोपमानिर्वर्तकम्, न तु तद्व्यङ्ग्यकोपनिष्ठम्, तस्य तस्मिन् क्षणेऽनुपस्थितेः । तथा च कोपगतभस्मीकरणपटुत्वात्मकं व्यङ्ग्यमादाय ध्वनित्वेन बाधेत्याशयादिति द्वितीयस्योत्तरस्याभिप्रायः ।

यदि आप कहें कि यहाँ प्रलयकालिक अग्निरूप उपमान और नयन-कोण की अरुण-कान्ति रूप उपमेय में साधारण धर्म (उपमालंकार का एक अंश) 'भस्म करने की क्षमता' है, जो वाच्य नहीं है, अपि तु व्यङ्ग्य है और व्यङ्ग्य होकर ही उपमा अलंकार का संपादक होता है। ऐसी स्थिति में वाच्य (उपमा) की सिद्धि में अङ्गभूत-अत एव गौण वह व्यङ्ग्यध्वनि कहे जाने का कारण कैसे होगा? तो यह उचित नहीं। कारण, 'भस्म करने की क्षमता' को यहाँ मैं साधारण मानता ही नहीं। मैं वाच्य अरुणता को ही साधारण धर्म मानता हूँ अर्थात् 'जिस तरह प्रलयकालिक अग्नि अरुण होती है, उसी तरह नयन-कोण की कान्ति अरुण है' यही कवि का अभिप्राय है। ऐसी स्थिति में 'भस्म करने की क्षमता' रूप व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का अङ्ग नहीं होता अतः ध्वनि कहे जाने का हेतु होगा। इतने पर भी यदि आप कहें कि जब दोनों (भस्म करने की क्षमता और अरुणता) धर्म साधारण हो सकते हैं, तब 'भस्म करने की क्षमता' को ही क्यों न साधारण धर्म माना जाय? तो मैं कहूँगा-मानिए उसी को साधारण धर्म, तथापि कोई क्षति नहीं। कारण, यहाँ दो तरह की 'भस्म करने की क्षमता' है—एक उपमेय नयन-कोण-कान्तिगत और दूसरी, उस उपमेय से व्यङ्ग्य कोपगत। इन दोनों में उपमेयगत उक्त धर्म भले ही उपमासंपादक होने के कारण वाच्य-सिद्धि का अङ्ग होवे पर व्यङ्ग्य-कोपगत वह धर्म किसी का अङ्ग नहीं है, क्योंकि उपमासम्पादनक्षण में उसकी उपस्थिति ही नहीं रहती, अतः उस कोपगत-'भस्मीकरणपटुत्व'रूप प्रधान व्यङ्ग्य के आधार पर इस पद्य को ध्वनिकाव्य कहने में कोई बाधा नहीं होती।

तदाहरणान्तरमाह—

'निर्भिद्य क्ष्मारुहाणामतिघनमुदरं येषु गोत्रांगतेषु
द्राघिष्ठस्वर्णदण्डभ्रमभृतमनसो हन्त धिरसन्ति पादान्।
यैः संभिन्ने दलाग्रप्रचलहिमकणे दाडिमीबीजबुद्ध्या
चञ्चूचाञ्चल्यमञ्चन्ति च शुकशिशवस्तेंऽशवः पान्तु भानोः ॥'

कविः सूर्यकिरणान् स्तौति—क्ष्मारुहाणां तरूणाम्, अतिघनम् निबिडतरम्, उदरं मध्यभागं, निर्भिद्य विदार्य, गोत्रां भूमिं, गतेषु प्राप्तेषु, येषु किरणेषु, द्राघिष्ठस्य अतिदीर्घस्य, स्वर्णदण्डस्य सुवर्णरचितदण्डस्य, भ्रमेण भ्रान्त्या भृतं पूर्णं मनोऽन्तःकरणं येषां तादृशाः

सन्तः शुकशिशवः शुकशावकाः, हन्त आश्चर्यम्, पादान् स्वचरणान् धित्सन्ति स्थापयितु-मिच्छन्ति। सघनपल्लवशालितरुविवरमार्गेण भुवमवतीर्णेषु सूर्यकिरणेषु तिर्यक् प्रसृतस्वर्ण-दण्डभ्रान्त्या तिर्यक्प्रसृतशाखासु स्थित्यभ्यासिनः शुकशिशवश्चरणान् स्थापयितुमिच्छन्तीति भावः। किञ्च (ते एव शुकशिशवः) यैः किरणैः संभिन्ने मिश्रिते (अत एवारुणवर्णे) दलानां पत्राणाम्, अग्रे पुरोभागे, यः प्रचलश्चपलो, हिमकणः तस्मिन्, दाडिमीबीजबुद्ध्या दाडिमफलबीजभ्रमेण, चञ्चूचाञ्चल्यम् चञ्चुचपलताम्, अञ्चन्ति कुर्वन्ति, ते भानोः सूर्यस्य, अंशवः किरणाः, पान्तु रक्षन्तु। अस्मान् युष्मान् वेति शेषः। नागेशस्तु द्राधिष्ठेत्यस्य जनविशेषणत्वमास्थाय 'पादान् धित्सन्ती'त्यस्य सूर्यकिरणान् ग्रहीतुमिच्छन्तीति व्याचख्यौ। अत्र वाच्यो भ्रान्तिमदलंकारः।

स्वतःसंभवी अलंकार से वस्तुध्वनि का एक दूसरा भी उदाहरण देते हैं—निर्भिद्य इत्यादि। कवि सूर्य-किरणों की स्तुति करता है—तरुओं के अति घने मध्य-भाग को भेद कर जिनके भूतल पर आ जाने के बाद, शुकों के बच्चे विशाल-सुवर्ण-दण्ड के भ्रम से परिपूर्ण मनवाले होकर-अर्थात् 'ये सुवर्ण के दण्ड हैं' इस तरह के मानसिक भ्रम के कारण-पैर रखने लगते हैं, और (वे शुक के बच्चे ही) जिनसे मिश्रित पत्तों के अग्रभाग में स्थित चञ्चल हिमबिन्दुओं पर अनार के दाने समझ कर चोंच चलाने लगते हैं वे सूर्य-किरणें (हमारी अथवा तुम्हारी) रक्षा करें।

उपपादयति—

अत्र भ्रान्तिभृतां तिरश्चामप्येवमानन्दं जनयतीति जगदानन्दहेतुर्भगवानिति व्यज्यते। एवंरूपाया भ्रान्तेर्लोकेऽपि संभवात्स्वतःसंभवित्वम्।

भ्रान्तिभृतामिति। भ्रान्तानामित्यर्थः। तिरश्चामपीति। अपिपदेन 'का कथा मनुष्या-णाम्' इत्यर्थो द्योत्यते। अत्र वाच्येन भ्रान्तिमदलङ्कारेण 'तिरश्चामपीत्यादि मूलोक्तं वस्तु व्यज्यते, एतादृशी भ्रान्तिर्लोकेऽपि संभवतीति तस्याः स्वतःसंभवित्वं विज्ञेयम्। एवञ्च स्वतःसंभाविनाऽलङ्कारेण वस्तुध्वनेरुदाहरणमेतदिति भावः।

अब उक्त पद्य में प्रकृतोपयोगी विषयों का उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। यहाँ यह व्यङ्ग्य होता है कि जब भगवान् सूर्य भ्रान्त पक्षियों को भी इतना आनन्द देते हैं, तब वे (सूर्य) अवश्य ही संसार के सुखों के निदान हैं। इस तरह का भ्रम लोक में भी सम्भावित है—अर्थात् काल्पनिक नहीं है—अतः यह वाच्य 'भ्रान्तिमत्' अलंकार स्वतः-सम्भवी है। सारांश यह कि भ्रान्तिमत् अलंकार से उक्त वस्तु की अभिव्यक्ति होने के कारण यह पद्य स्वतःसंभवी अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण होता है।

स्वतःसंभविनाऽलङ्कारेणालङ्कारध्वनिमुदाहरति—

'उदितं मण्डलमिन्दो रुदितं सद्यो वियोगिवर्गेण।
मुदितं च सकलललनाचूडामणिशासनेन मदनेन॥'

कविश्चन्द्रोदयं वर्णयति—इन्दोश्चन्द्रमसो मण्डलम् गोलकम्, उदितम्—नभसि दृष्टि-गोचरमभवत्। उदितमित्यत्र कर्तरि क्तः। वियोगिनाम् वियोगिनश्च वियोगिन्यश्चेति 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः, तेषां, वर्गेण समूहेन, सद्यः उदयसमकालमेवेति यावत्, रुदितम्, नपुंसके भावे क्तः। च पुनः सकलानां सर्वासां, ललनानां स्त्रीणाम्, चूडामणिः शिरोभागमिति यावत्, शासनं यस्य तेन, मदनेन कामदेवेन, मुदितम् मोदोऽनुभूत इत्यर्थः।

अब स्वतःसंभवी अलंकार से अलंकार-ध्वनि का उदाहरण उपस्थित करते हैं—उदितं इत्यादि। कवि चन्द्रोदय का वर्णन करता है—ज्यों ही चन्द्रमण्डल का उदय हुआ,

त्योंही विरही और विरहिणियों का दल रो उठा तथा सभी कामिनियों पर शासन करने वाला कामदेव खिल उठा—उसने प्रसन्नता का अनुभव किया।

उपपादयति—

अत्र समुच्चयेन क्रियायौगपद्यात्मना कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययात्मिकातिशयोक्तिः।

अत्र 'उदितम्' इति पद्ये। कार्यकारणेति। कार्यकारणयोर्यत्पौर्वापर्यम् पूर्वपश्चाद्भावस्तस्य विपर्ययो वैपरीत्यम् प्रकृते समकालीनत्वमिति यावत्, आत्मा स्वरूपं यस्याः सेत्यर्थः। अतिशयोक्तिरित्यस्य व्यज्यते इति शेषः। अत्र 'उदितम्', 'रुदितम्', 'मुदितम्' इति क्रियात्रयस्य वाच्यं यौगपद्यम् (समकालीनत्वम्) समुच्चयालङ्कारः, स्वतःसंभवी, तेनेन्दुमण्डलोदयस्य कारणतया पूर्वभाविनः; रोदनमोदयोश्च कार्यतया पश्चाद्भाविनोः समकालिकत्वकथनात्मकोऽतिशयोक्त्यलङ्कारो ध्वन्यत इति स्वतःसंभविनाऽलङ्कारेणालङ्कारध्वनिरत्र सम्पद्यते इति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में 'उदित होना, रोना और मुदित होना' इन तीन क्रियाओं का एक साथ होना समुच्चयालंकार कहलाता है। जो स्वतःसम्भवी वाच्य है, उससे कार्य-कारण-पौर्वापर्य-विपर्ययरूप अतिशयोक्ति अलंकार व्यङ्ग्य होता है—अर्थात् यहाँ जो पदार्थ वर्णित हैं, उनमें चन्द्रोदय कारण है और रोना आदि कार्य, अतः चन्द्रोदय की प्रथमता और रोदन आदि की पश्चाद्भाविता निश्चित है, परन्तु यहाँ उन सबों के साथ-साथ होने का वर्णन किया गया है—यह एक प्रकार की अतिशयोक्ति है।

एषु स्वतःसंभवी व्यञ्जकः।

व्यञ्जक इत्यत्र जात्यभिप्रायेणैकवचनम्। पूर्वोक्तेषूदाहरणेषु व्यञ्जका अर्था बहिरपि सम्भाव्यमानत्वात्स्वतःसंभविनः सन्तीति भावः।

पूर्वोक्त उदाहरणों में व्यञ्जक अर्थ ऐसे हैं, जो बाह्य जगत् में भी हो सकते हैं अतः वे स्वतःसम्भवी (व्यञ्जक) कहे जाते हैं।

कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुना वस्तुध्वनिमुदाहरति—

'तदवधि कुशली पुराणशास्त्रस्मृतिशतचारुविचारजो विवेकः।
यदवधि न पदं दधाति चित्ते हरिणकिशोरदृशो दृशोर्विलासः॥'

कविर्निरूपति—पुराणानां शास्त्राणां स्मृतीनाञ्च शतस्य यश्चारु रमणीयो विचारस्तज्जन्यो विवेकः संसारपरमात्मनोर्भेदज्ञानम्, तदवधि तावत्कालपर्यन्तम्, कुशली अक्षुण्णस्तिष्ठतीति यावत्। यदवधि यावत्कालपर्यन्तम्, हरिणकिशोरस्य मृगशावकस्येव, दृगिव दृक् यस्यास्तस्या मृगनयनाया इति यावत्, दृशोः नयनयोः, विलासः कटाक्षादिः, चित्ते हृदये, पदं चरणं, न दधाति स्थापयतीत्यर्थः। रमणीकटाक्षापहृतचेतसः पुंसो विवेको नश्यतीति भावः।

अब कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण दिखलाते हैं—'तदवधि' इत्यादि। कवि कहता है—सैकड़ों पुराणों, शास्त्रों तथा स्मृतियों के सुन्दर विचारों से उत्पन्न विवेक (संसार और परब्रह्म में भेद-ज्ञान) तभी तक सकुशल-अक्षुण्ण रहता है, जब तक मृग-शावक-नयना नायिका के नयनों का विलास (कटाक्ष आदि) हृदय में स्थान ग्रहण नहीं करता।

उपपादयति—

अत्र कामिनीदृग्विलासे चेतसि पदमर्पितवती विवेकस्य नास्ति कुशल-

मिति वस्तुना दृग्विलासकर्तृकपदार्पणस्य लोकसिद्धत्वाभावात्कविप्रौढोक्ति-निष्पन्नेन सुनिषण्णे तस्मिन् का कुशलचर्चा विवेकस्येति वस्तु व्यज्यते।

सुनिषण्णे सुस्थिते। अत्र कामिनीदृग्विलासो यदा हृदये पदं निधत्ते तदा विवेकस्य कुशलम् (निष्प्रत्यूहा स्थितिः) नास्तीति वस्तु वाच्यम्, तच्च कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धम्, अचेतनदृग्विलासे पदार्पणकर्तृत्वस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात्। तथा च तादृशेन तेन वस्तुना 'नायिकानयनविलासस्य हृदये पदार्पणमात्रे यदि विवेकनाशस्तर्हि सुस्थिते तस्मिन् विवेक-सत्तायाश्चर्चैव के'ति वस्तु व्यज्यमानं सत् भवत्यस्य पद्यस्य ध्वनिव्यपदेशहेतुरिति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'कामिनी का नयन-विलास जब हृदय में पैर रखता है, तब विवेक का कुशल नहीं', यह जो वस्तु यहाँ वाच्य है, वह कवि-कल्पना-मात्र-प्रसूत है वास्तविक नहीं, क्योंकि अचेतन-नयन-विलास का हृदय में पैर रखना लोकरीति से असम्भव है। इस तरह कविप्रौढोक्तिसिद्ध उस अर्थ से यह वस्तु व्यक्त होती है कि—'जब नायिका-नयन-विलास के हृदय में पदार्पणमात्र से विवेक का अकुशल होने लगता है, तब उसके वहाँ सुस्थिर हो जाने पर विवेक की कुशल-चर्चा ही क्या की जा सकती है ?'

शिष्यबुद्धिवैशद्यायोदाहरणाभासमस्य प्रदर्श्य निरस्यति—

'कस्मै हन्त फलाय सज्जन ! गुणग्रामार्जने सज्जसि,
स्वात्मोपस्करणाय चेन्मम वचः पथ्यं समाकर्णय।
ये भावा हृदयं हरन्ति नितरां शोभाभरैः सम्भृता-
स्तैरेवास्य कलेः कलेवरपुषो दैनंदिनं वर्तनम्॥'

कविः कमपि पृच्छति—हे सज्जन ! कस्मै फलाय गुणग्रामार्जने गुणसमूहोपार्जने, सज्जसि तत्परोऽसि। हन्त इति खेदसूचकम्। स्वात्मोपस्करणाय स्वात्मानं भूषयितुं, चेत् यदि, गुणग्रामार्जने सज्जसीति शेषः, तदा पथ्यं हितकरम्, मम मदीयं, वचः वचनम्, समाकर्णय शृणु। किं तत् श्रोतव्यमित्याह—ये भावा इति। शोभाभरैः सौन्दर्यसमुदयैः, संभृताः परिपूर्णाः, ये भावाः पदार्थाः, नितरामत्यन्तम्, हृदयं मनः, हरन्ति वशीकुर्वन्ति, तैरेव, गुणपदव्यपदेश्यैः पदार्थैः न तु कुरूपैरगुणैरित्यर्थः, कलेवरपुषः देहपोषकस्य, उदरंभरेरिति यावत्, अस्य वर्तमानस्य, कलेः कलियुगस्य, दैनंदिनम् प्रात्यहिकम्, वर्तनम् वृत्तिः, भवतीति शेषः। हे सज्जन ! निजात्मोत्कृष्टतासम्पादनाय गुणगणवरणे तव प्रबला प्रवृत्तिर्न केवलं विफला, अपि तु अनिष्टकरी, यतः दुष्टशिरोमणिरयं कलिः हृदयहारिणो गुणा-नेव जग्ध्वा स्वकीयं वपुः पुष्यति, अर्थात् कलियुगावताराणां दुर्जनानामाक्रमणं गुणिनामेवो-परि प्रथमं भवति अतोऽकाल एव प्रायो गुणिनां मरणं जायत इति भावः। नागेशस्त्वत्र 'सज्जनगुणग्रामार्जने' इति समस्तं पदं मत्वा सज्जनानां गुणग्रामस्य अर्जने इति व्याख्या-मकार्षीत्।

अब यहाँ एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया जाता है, जिसमें आपाततः कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि मालूम पड़ती है, पर वस्तुतः वह है नहीं—कस्मै इत्यादि। कवि किसी से पूछता है—हे सज्जन ! तू किस फल के लिये गुण-गण के उपार्जन में संलग्न हो रहा है—अर्थात् अन्य आवश्यक कार्यों से भी विमुक्त होकर रात-दिन गुण-प्राप्ति के लिये ही जो तू तत्पर रहा करता है, वह किसलिये ? क्या इसलिये कि गुणों से आत्मा शोभित होती है अर्थात् अपनी आत्मा को अलंकृत करने के लिये गुणों का उपार्जन करता है ? यदि यही बात हो तो मैं तेरे ही हित के लिये एक बात कहता हूँ,

उसे सुन। वह यह है कि जो वस्तुएँ शोभा-समूह से परिपूर्ण होने के कारण हृदय-हारिणी होती हैं—जिन वस्तुओं के दर्शन से मानव-मन मुग्ध हो जाया करता है, उन्हीं वस्तुओं से शरीर-पोषक—पेटू—इस कलियुग का दैनिक आहार सम्पन्न हुआ करता है। तात्पर्य यह हुआ कि आत्म-शोभा-वर्धक गुणों के उपार्जन में किसी की प्रवृत्ति केवल व्यर्थ ही नहीं होती, अपि तु अनिष्टकारिणी भी होती है, क्योंकि यह दुष्टराज-कलियुग मनोरम गुणों को ही खा-खाकर जीता है अर्थात् कलियुगावतार दुर्जनों का आक्रमण पहले गुणियों के ऊपर ही होता है, अतएव गुणियों का मरण प्रायः असमय में ही हुआ करता है, अतः हे सज्जन! इस गुण-ग्रहण-प्रवृत्ति को छोड़ दो। नागेश यहाँ 'सज्जन पद' को सम्बोधन नहीं मानते। वे 'सज्जन-गुण-ग्रामार्जने' इस पद को समस्त मानकर 'सज्जनों के गुण-गणों के उपार्जन में' ऐसा अर्थ करते हैं। वह अर्थ भी असंगत नहीं है।

उपपादयति—

इह यद्यपि रमणीयाः पदार्थाः कलेर्नित्यमदनीया इति वस्तुना प्रौढोक्तिसिद्धेन मर्तुं कामयसे चेद् गुणप्राप्तौ यतस्वेति वस्तु व्यज्यते, तथापि तस्य पर्यायोक्तात्मनो वाच्यापेक्षया सुन्दरताविरहाद् गुणीभूतत्वमेव। अलंकारा हि वाच्यसौन्दर्यसाराः प्रायशः स्वान्तर्गतं प्रतीयमानं पृष्ठतः कुर्वन्ति।

'कस्मै हन्त' इति पद्ये रमणीयाः पदार्थाः गुणपदव्यपदेशिनः कलेर्भोज्या इति कविप्रौढोक्तिसिद्धं वस्तु वाच्यम्, तदेव च 'मर्तुं कामयसे चेद् गुणप्राप्तौ यतस्व' इत्याकारेण भङ्ग्यन्तरेण व्यङ्ग्यम्, अतस्तद्व्यङ्ग्यं पर्यायोक्तालंकाररूपम्, 'पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः' इति तल्लक्षणात्। एवञ्च वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वोभयदशावत एकस्यैव वस्तुनः केन रूपेणाधिकचमत्कारित्वम् इति विचारे क्रियमाणे वाच्यत्वेनैवेति निर्णयोऽनुभवसाक्षिको जायते। यतो वाच्यार्थसौन्दर्यप्रधाना अलंकाराः स्वमध्यपतितं व्यङ्ग्यं चमत्कारांशे पश्चात्पदं कुर्वन्ति। तथा चात्र वर्तमानमपि व्यङ्ग्यं गुणीभूतमेवेति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेनैव व्यवहारो युक्तो न तु ध्वनित्वेनेति भावः।

उपपादन करते हैं—इह इत्यादि। उक्त पद्य में 'गुण कहे जानेवाले रम्य पदार्थ कलियुग के खाद्य हैं' यह कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु वाच्य है और वही वस्तु 'मारना चाहते हो तो गुणों की प्राप्ति के लिये यत्न करो' इस तरह की भिन्न भंगी से व्यंग्य भी है। अतः वह व्यंग्य 'पर्यायोक्त अलंकार' रूप हो जाता है, क्योंकि 'वाच्य-वाचकभाव से अन्य भंगी के द्वारा किए गए वस्तुवर्णन' को ही 'पर्यायोक्त अलंकार' कहते हैं। ऐसी स्थिति में जब एक ही अर्थ वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों रूपों में अवगत हो तब—उन दोनों में से किस रूप में वह अर्थ अधिक चमत्कारी है, यह विचार जब प्रस्तुत होगा, तब यही कहा जायगा कि वाच्यरूप में कारण, अलंकारों में वाच्यार्थकृत चमत्कार ही प्रधान रहता है, अतः वे (अलंकार) अपने मध्य में टपके हुए व्यंग्य के चमत्कार को प्रायः दबा देते हैं। सारांश यह है कि यहाँ का व्यंग्य गुणीभूत है, अतः उसके बल पर इस पद्य को गुणीभूत-व्यंग्य नामक मध्यम काव्य ही कहा जा सकता है, ध्वनि नामक उत्तम काव्य नहीं।

कविप्रौढोक्तिसिद्धेनालंकारेण वस्तुध्वनेरुदाहरणमाह—

'देवाः के पूर्वदेवाः समिति मम नरः सन्ति के वा पुरस्ता—
देवं जल्पन्ति तावत्प्रतिभटपृतनावर्तिनः क्षत्रवीराः।
यावन्नायाति राजन्नयनविषयतामन्तकत्रासिमूर्ते!
मुग्धारिप्राणदुग्धाशनमसृणरुचिस्त्वत्कृपाणो भुजङ्गः॥'

कविः कमपि राजानं स्तौति—हे अन्तकत्रासिमूर्ते! अन्तकवत् यमवत्, त्रासिनी

भयोत्पादिका मूर्तिः स्वरूपं यस्य, तादृश, अथवा अन्तकस्यापि त्रासिनी मूर्तिर्यस्येत्यर्थः। राजन्! प्रतिभटपृतनावर्तिनः भवदीयशत्रुसेनास्थायिनः, क्षत्रवीराः क्षत्रियवीराः, 'समिति युद्धे, मम, पुरस्तात् अग्रे, देवाः सुराः, के, पूर्वदेवाः असुराः के, नरः नृशब्दस्य जसन्तं रूपम्, मनुष्या इत्यर्थः, च के सन्ति, देव-दानव-मानवा ममाग्रे तुच्छा इति भावः, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, तावत् तावत्कालपर्यन्तम्, जल्पन्ति वदन्ति, यावत्, मुग्धानाम्— मोहग्रस्तानाम्, अरीणां शत्रूणां, प्राणा एव दुग्धम् सुखपेयत्वात्, तस्य अशनेन भक्षणेन, मसृणा स्निग्धा, रुचिः कान्तिः यस्य सः, त्वत्कृपाणः भवदीयखड्गः, भुजङ्गः सर्पः, व्यस्तरूपकमिदम्, नयनविषयताम् नेत्रगोचरताम्, न आयाति आप्नोति। पूर्वतो निजशौर्यकथां कुर्वन्तोऽपि शत्रुसैनिकवीरास्तवकरालकरवालमालोक्य सहसा मौनमालंबन्त इति भावः।

अब कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण कहते हैं—देवा इत्यादि। कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे यम के समान भयोत्पादक मूर्ति वाले राजन्! आपके शत्रु की सेना में रहने वाले क्षत्रिय-वीर 'युद्ध में मेरे सामने देव तथा दानव कौन होते हैं और ये मानव तो नितान्त ही तुच्छ हैं' इस तरह की बहकी हुई बातें तभी तक बनाते हैं, जब तक मोहग्रस्त शत्रु के प्राणरूप दुग्ध के पीने से चिकनी कान्तिवाला आपका खड्ग-भुजङ्ग, उनकी आँखों के समक्ष उपस्थित नहीं होता। सारांश यह कि समरभूमि में पहले से अपनी वीरता की प्रशंसा करते हुए भी शत्रुपक्षीय वीरगण आपकी तलवार को देखकर सहसा चुप्पी साध लेते हैं।

उपपादयति—

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन रूपकेण त्वय्युद्यतकरवाले सति का परेषां जीवनस्याशेति वस्तु व्यज्यते।

वाच्येन कृपाणभुजङ्गयो रूपकालंकारेण वस्तुतः कृपाणस्य भुजङ्गरूपताया असंभवात् कविकल्पितेन, 'त्वय्युद्यते'त्यादिमूलोक्तवस्तुव्यञ्जनात् कविप्रौढोक्तिसिद्धालंकारेण वस्तुध्वनेरुदाहरणमिदं पद्यं सम्पद्यत इति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में वस्तुतः कृपाण का भुजङ्गरूप नहीं हो सकने के कारण, कविकल्पित कृपाण तथा भुजङ्ग के वाच्यरूपक (अलंकार) से 'जब आप तलवार उठा लें तब शत्रुओं के जीने की क्या आशा है' यह वस्तु ध्वनित होती है।

कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नवस्तुनाऽलंकारध्वनेरुदाहरणं दर्शयति—

'साहङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दर-
क्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गुवीचिवलयश्रीगर्वसर्वंकषाः।
तृष्णाताम्यदमन्दतापसकुलैः सानन्दमालोकिता
भूमीभूषण! भूषयन्ति भुवनाभोगं भवत्कीर्तयः॥'

कविः कमपि राजानं स्तौति—हे भूमीभूषण धराशोभाकर! अहंकारेण गर्वेण, सहिता ये सुरा देवा असुरा दैत्याश्च तेषाम्, आवलेः समूहस्य, करैः पाणिभिः, आकृष्टेन, अत एव भ्रमता मन्दरेण मन्दराचलेन, क्षुभ्यतः क्षोभविशिष्टस्य, क्षीरधेः समुद्रस्य, वीचिवलयस्य तरङ्गपरम्परायाः, या श्रीः शोभा तस्याः, गर्वस्य सर्वंकषाः समूलनाशिकाः, तथा तृष्णया पिपासया, ताम्यतां व्याकुलीभवताम्, अमन्दानां बहूनाम्, तापसानां तपस्विनाम्, कुलैः समूहैः, सानन्दं तृषानिवृत्तिसाधनत्वबुद्धिजन्यानन्दसहितं यथा स्यात्तथा

क्रियाविशेषणमिदम्, आलोकिताः दृष्टाः, भवत्कीर्तयः भवदीययशांसि, भुवनाभोगं संसारपरिसरं, भूषयन्ति अलंकुर्वन्तीत्यर्थः ।

अब कवि प्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से अलंकारध्वनि का उदाहरण दिखलाते हैं—साहंकार इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे पृथिवीभूषण ! गर्वयुक्त देव-दानवों की पङ्क्ति के हाथों से खींचे हुए अतएव घूमते हुए मन्दर पर्वत से क्षुब्ध किए जा रहे दुग्ध-सागर के सुन्दर तरङ्ग-समूह की शोभा के गर्व को समूल नष्ट कर देनेवाली—अर्थात् उससे भी सुन्दर और तृष्णा से घबराए हुए अनेक तपस्वि-समूहों के द्वारा (तृष्णा-शान्ति का साधन समझकर) सहर्ष देखी गई आपकी कीर्तियाँ समस्त संसार को सुशोभित कर रही हैं ।

उपपादयति—

अत्र कीर्तेः सानन्दालोकनेन वस्तुना कविकल्पितेन दुग्धभ्रान्तिस्तापसगता व्यज्यते ।

साहंकारेति पद्ये बहिःसंभाव्यमानताविरहात् कविप्रौढोक्तिसिद्धम्, तृष्णाऽऽतुरतापससमुदायकर्तृककीर्तिकर्मकसानन्दावलोकनात्मकं वस्तु वाच्यवृत्त्या वर्णितम् । तेन तापसात्मसमवेतकीर्त्यधिकरणकदुग्धभ्रमस्य भ्रान्तिमदलंकाररूपस्य ध्वननेन कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुमूलकालंकारध्वनेरुदाहरणतां प्रतिपद्यते प्रकृतपद्यमिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में तृषातुर तपस्वियों के द्वारा कीर्ति का सहर्ष अवलोकनरूप कविकल्पितवस्तु वाच्यरूप में वर्णित हुई है, जिससे तपस्वियों के हृदय में होने वाली दुग्धभ्रान्ति ध्वनित होती है ।

शङ्कते—

न च सानन्दालोकनस्यैव चाक्षुषभ्रान्तिरूपतया व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरविवेको व्यङ्ग्यत्वानुपपत्तिश्चेति वाच्यम्,

अविवेक इति । अभेद इत्यर्थः । व्यङ्ग्यत्वमभ्युपेत्येदम्, वस्तुतस्तदेव नेत्याह—व्यङ्ग्यत्वेति । तस्य वाच्यत्वादिति भावः । प्रकृते व्यङ्ग्यत्वेनाभिमता तापसगता दुग्धभ्रान्तिः दुग्धत्वाभाववत्यां कीर्तौ दुग्धत्वप्रकारकचाक्षुषज्ञानरूपैव पर्यवस्यति, चाक्षुषज्ञानमेव च सानन्दालोकनपदार्थो व्यञ्जकत्वेनाभिमतः । तथा च चाक्षुषभ्रमस्यैव व्यङ्ग्यत्वम्, तस्यैव व्यञ्जकत्वञ्च सिद्ध्यति, तच्च न युक्तम्, व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोर्भेदस्य सकलतन्त्रसिद्धत्वात्, व्यञ्जकस्य वाच्यत्वे तदभिन्नस्य व्यङ्ग्यत्वेनाभिमतस्यापि वाच्यत्वेन व्यङ्ग्यत्वासंभवाच्चेत्याशयः ।

इस प्रसङ्ग पर एक शंका की जाती है—न च इत्यादि । उक्त पद्य में तपस्वि-हृदयगत जिस दुग्ध-भ्रान्ति को व्यङ्ग्य माना जाता है, वह वस्तुतः दुग्ध से भिन्न पदार्थ में दुग्धत्वप्रकारक चाक्षुषज्ञानरूप ही पर्यवसित होता है और चाक्षुष ज्ञानरूप सहर्ष अवलोकन पदार्थ को ही व्यंजक भी कहा जाता है । इस स्थिति में चाक्षुष भ्रम ही व्यङ्ग्य तथा व्यञ्जक दोनों सिद्ध होता है, जो समुचित नहीं है । क्योंकि सभी शास्त्रों में व्यङ्ग्य और व्यञ्जक को भिन्न—दो—वस्तु माना गया है । दूसरी बात यह कि वाच्य व्यञ्जक से अभिन्न व्यङ्ग्य भी वाच्य ही हो गया अतः वह व्यङ्ग्य हो भी नहीं सकता ।

समाधत्ते—

वस्तुन एकत्वेऽपि कीर्तिरूपविशेष्यावृत्तिदुग्धत्वप्रकारकत्वात्मकभ्रान्तित्वेन सानन्दावलोकनत्वेन च व्यङ्ग्यव्यञ्जकविवेकस्य व्यङ्ग्यतावच्छेदकरूपेण वाच्यताया अभावात् व्यङ्ग्यत्वस्य चोपपत्तेः ।

उक्तरीत्या यद्यपि व्यङ्ग्यं व्यञ्जकञ्च चाक्षुषज्ञानविशेषरूपमेकमेव वस्तु, तथापि तयोर्भेदो

विद्यते, भ्रमात्मकज्ञाने विशेष्यभूता या कीर्तिः तत्राविद्यमानं यद्दुग्धत्वम्, तत्प्रकारकज्ञानत्व-रूपभ्रमत्वेन रूपेण चाक्षुषज्ञानविशेषस्य व्यङ्ग्यत्वात्, सानन्दावलोकनत्वेन रूपेण च तस्य व्यञ्जकत्वात्। वाच्यव्यङ्ग्ययोरैक्येऽपि वाच्यतावच्छेदकव्यङ्ग्यतावच्छेदकयोर्भेदेन उक्तभ्र-मस्य व्यङ्ग्यत्वमप्युपपन्नमेव। कीर्तिरूपविशेष्यावृत्तिदुग्धत्वप्रकारकभ्रान्तित्वसानन्दावलोकन-त्वयोः क्रमशो व्यङ्ग्यतावच्छेदकवाच्यतावच्छेदकयोर्भेदः स्पष्ट एव। एकस्यापि वस्तुनो भिन्न-रूपेण वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वयोर्न विरोध इति भावः।

उक्त शंका का उत्तर दिया जाता है—वस्तुन इत्यादि। यद्यपि उक्त रीति से व्यङ्ग्य तथा व्यञ्जक दोनों ही चाक्षुषज्ञानरूप एक वस्तु सिद्ध होते हैं, तथापि उन दोनों (व्यङ्ग्य तथा व्यञ्जक) में भेद है—कीर्ति को दूध समझना ही तो भ्रम है, अतः उस भ्रम में विशेष्य है कीर्ति और प्रकार है दुग्धत्व। इस तरह से व्यङ्ग्य चाक्षुषभ्रम का आकार होता है 'कीर्ति को दूध समझना'। और व्यञ्जक चाक्षुषज्ञान का आकार होता है 'कीर्ति को सहर्ष देखना'। अब देखिए कि इन दोनों में भेद है अथवा नहीं? आपको भी कहना पड़ेगा कि 'है'। अब रही दूसरी बात, वह यह कि वाच्य, व्यङ्ग्य कैसे हो सकता है? उसका उत्तर यह है कि एक भी पदार्थ अवच्छेदक-भेद से वाच्य और व्यङ्ग्य हो सकता है अर्थात् जिस रूप में वाच्य होता हो, उससे भिन्नरूप में वही पदार्थ व्यङ्ग्य भी हो सकता है, अतः यहाँ चाक्षुषज्ञानरूप एक पदार्थ भी रूपभेद से वाच्य तथा व्यङ्ग्य होता है अर्थात् वाच्य होता है 'सहर्ष अवलोकन' के रूप में और व्यङ्ग्य होता है 'दूध समझने' के रूप में।

उक्तार्थे प्राचां सम्मतिं दर्शयति—

तथा चाहुः—'यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम्, यथा तु व्यङ्ग्यं न तथोच्यते' इति।

आहुरिति। मम्मटभट्टा इति शेषः। यदेवेति। यद्वस्तु उच्यते वाच्यवृत्त्या वर्ण्यते, तदेव वस्तु व्यङ्ग्यमपि, परन्तु यथा येन प्रकारेण, व्यञ्जनावृत्तिगम्यत्वम्, तथा तेन प्रकारेण न उच्यते अभिधावृत्तिबोध्यत्वन्नेत्यर्थः। पर्यायोक्तालंकारनिरूपणे मम्मटभट्टस्य काव्यप्रकाशग्रन्थगतेयं पंक्तिः। रूपभेदे एकस्यापि वस्तुनो वाच्यता व्यङ्ग्यता च सम्भव-तीति तदर्थः।

उक्त अर्थ में प्राचीनों की सम्मति दिखलाई जाती है—तथा चाहुः इत्यादि। मम्मट ने काव्यप्रकाश के अलंकार प्रकरण में पर्यायोक्त-अलंकार-निरूपण के प्रसङ्ग पर 'यदेवोच्यते…' इत्यादि पङ्क्ति लिखी है, जिसका अभिप्राय यह है कि—'जो कहा जाता है—जो वाच्य है—वही व्यङ्ग्य है—वस्तुतः दोनों एक हैं, तथापि जिस रूप में व्यङ्ग्य है उस रूप में वाच्य नहीं है।' तात्पर्य यह कि कहने की शैली जब बदल दी जाती है, तब एक भी वस्तु दूसरी हो जाती है, अतः रूपभेद हो जाने पर एक ही वस्तु वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों हो सकती है, इस सिद्धान्त का समर्थन मम्मट ने भी किया है।

कविप्रौढोक्तिसिद्धालंकारेणालंकारध्वनिमुदाहरति—

'दयिते रदनत्विषां मिषादयि, तेऽमी विलसन्ति केसराः।
अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः॥'

नायको नायिकां वक्ति— अयि दयिते प्रिये! ते तव, रदनत्विषां दन्तकान्तीनाम्, मिषात् व्याजात्, अमी प्रत्यक्षदृश्यमानाः, केसराः किंजल्काः, विलसन्ति विशेषेण शोभन्ते। अपि च अलकवेषधारिणः केशस्वरूपतामापन्नाः, इमे, मकरन्दस्पृहयालवः परागलोभिनः, अलयः भ्रमराः, विलसन्तीत्यर्थः। नैता रदनकान्तयः किन्तु केसराः, एवं नैते अलकाः परन्तु भ्रमरा इति भावः।

अथ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकारध्वनि का उदाहरण देते हैं—दयिते इत्यादि। नायक नायिका से कहता है—हे प्रिये ! तेरे दशन-किरण-व्याज से ये केसर शोभित हो रहे हैं और कच-कलाप का वेष धारण किए हुए ये पराग के लोभी भ्रमर हैं।

उपपादयति—

अत्र पूर्वोत्तरार्धवर्तिनीभ्यामपह्नुतिभ्यां न त्वं नारी किं तु नलिनीति तृतीयापह्नुतिर्व्यज्यते।

'दयिते' इति श्लोके ह्यपह्नुत्यलंकारौ वाच्यौ, तयोरेकः रदनत्विट्रूपमुपमेयं निषिध्य केसररूपोपमानस्थापनरूपः। द्वितीयश्चालकरूपमुपमेयं निषिध्यालिरूपोपमानस्थापनरूपः। ताभ्यां नारीरूपोपमेयनिषेधेन कमलिनीरूपोपमानस्थापनरूपायास्तृतीयापह्नुतेर्ध्वननात् अलंकारेणालंकारध्वनेरुदाहरणमिदं भवतीति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में दशन-किरणरूप उपमेय का निषेध करके केसररूप उपमान का स्थापनस्वरूप एक और कच-कलापरूप उपमेय का निषेध करके भ्रमररूप उपमान का स्थापनस्वरूप द्वितीय अपह्नुति अलंकार वाच्य है। उन दोनों अपह्नुति अलंकारों से नारीरूप उपमेय का निषेध करके कमलिनीरूप उपमान का स्थापनस्वरूप तृतीय अपह्नुति अलंकार ध्वनित होता है अर्थात् 'ये दन्तों की किरणें नहीं अपि तु केसर हैं, और ये केश नहीं अपि तु भ्रमर हैं' इन वर्णनों से यह अभिव्यक्त होता है कि यह नारी नहीं, अपि तु नलिनी है।

एषु प्रौढोक्तिनिष्पन्नो व्यञ्जकः।

पूर्वोक्तेषु उदाहरणेषु व्यञ्जकत्वेनाभिप्रेतो वाच्यार्थः बहिःसंभाव्यमानताविरहेण कविकल्पित इति भावः।

उक्त उदाहरणों में व्यञ्जक अर्थ प्रौढोक्तिसिद्ध हैं अर्थात् उक्त उदाहरण पद्यों के वाच्य अर्थ ऐसे हैं, जो बाह्यजगत् में संभावित नहीं हैं, अतः कवि-कल्पित हैं।

स्थलभेदेन ध्वनेः शब्दशक्त्यर्थशक्तिमूलकत्वव्यपदेशयोर्बीजमुपन्यस्यति—

यद्यपि शब्दशक्तिमूलकत्वमर्थशक्तिमूलकत्वं चेत्युभयमपि सकलव्यङ्ग्यसाधारणम्, शब्दार्थयोरनुसन्धानं विना व्यङ्ग्यस्यैवानुल्लासात्, तथापि परिवृत्त्यसहिष्णूनां शब्दानां प्राचुर्ये तत्प्रयुक्तात्प्राधान्यात्सत्या अप्यर्थशक्तेरप्राधान्याच्च व्यङ्ग्यस्य शब्दशक्तिमूलकत्वेनैव व्यपदेशः। परिवृत्तिसहिष्णूनां तु प्राचुर्येऽर्थशक्तेरेव प्राधान्यात्सत्या अपि शब्दशक्तेः प्रधानानुगुण्यार्थतया मल्लग्रामादिवत्प्रधानेनैव व्यपदेशः।

अनुसन्धानं ज्ञानम्। अनुल्लासादिति। अनभिव्यक्तेरित्यर्थः। सत्या इति वर्तमानाया इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। प्रधानानुगुण्यार्थतयेति। प्रधानस्य यदानुगुण्यमानुकूल्यं तदर्थतया तत्सम्पादकतयेत्यर्थः, प्रधानोपकारकतयेति यावत्। सर्वत्र ध्वनिकाव्यस्थले व्यङ्ग्यप्रतिपत्त्यर्थं शब्दस्यार्थस्य च ज्ञानमावश्यकम्, अन्यथा व्यङ्ग्यप्रतिपत्तिरेव न स्यात्, शब्दार्थयोरेकस्यापि व्यञ्जकत्वेऽपरस्य नियमतः सहायकत्वात्, अतः शब्दशक्तिमूलकत्वमर्थशक्तिमूलकत्वञ्च सर्वेषु व्यङ्ग्येषु तिष्ठत्येव, एवञ्च क्वचित् व्यङ्ग्ये शब्दशक्तिमूलकत्वव्यवहारः क्वचिच्चार्थशक्तिमूलकत्वव्यवहारः कथमिति चेदित्थं बोद्धव्यम्—व्यङ्ग्यार्थप्रधानेषु काव्येषु द्विविधाः शब्दास्तिष्ठन्ति, केचन परिवृत्त्यसहा येषां परिवर्तने व्यङ्ग्यप्रतीतिर्न भवति, केचन पुनः परिवृत्तिसहा येषां परिवर्तनेऽपि व्यङ्ग्यप्रतीतिर्भवत्येव। तयोः परिवृत्त्यसहिष्णूनां शब्दानामाधिक्यं यत्र तिष्ठति, तत्र शब्दशक्तेः प्राधान्यम् अर्थशक्तेश्च वर्तमानाया अपि सहायकत्वमात्रम्,

एवं यत्र परिवृत्तिसहिष्णूनामेव शब्दानामाधिक्यम्, तत्रार्थशक्तेरेव प्रधानता शब्दशक्तेश्च विद्यमानाया अपि प्रधानोपकारकतैव । तथा च 'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति मल्लग्रामादिवत्' इति रीत्या प्रथमस्थलीयध्वनौ शब्दशक्तिमूलकत्वव्यपदेशः, द्वितीयस्थलीयध्वनौ चार्थशक्तिमूलकत्वव्यपदेश इति भावः ।

ध्वनि कहीं शब्द-शक्तिमूलक कही जाती है और कहीं अर्थशक्तिमूलक, क्यों? इसका बीज अब दिखलाया जाता है – यद्यपि इत्यादि। ध्वनिकाव्य के स्थल में सर्वत्र व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिये पहले शब्द तथा वाच्य अर्थ का ज्ञान होना आवश्यक है, अन्यथा व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि शब्द और अर्थ इन दोनों में से एक के व्यञ्जक होने पर भी दूसरा नियमतः सहायकरूप में अपेक्षित रहता है, अतः शब्द-शक्तिमूलकता और अर्थशक्तिमूलकता ये दोनों ही सब व्यङ्ग्यों में यद्यपि साधारण रूप से रहती हैं, तथापि जहाँ ऐसे शब्दों की बहुलता हो जिनका परिवर्तन न किया जा सके अर्थात् जिन्हें बदल देने पर व्यङ्ग्य की प्रतीति न हो सके, वहाँ शब्द-शक्ति की प्रधानता समझी जाती है और अर्थशक्ति (रहने पर भी) की गौणता मानी जाती है, अतः वैसे स्थल के व्यङ्ग्यों को शब्दशक्तिमूलक ही कहा जाता है। परन्तु जहाँ ऐसे शब्दों की अधिकता हो जिनका परिवर्तन किया जा सके अर्थात् जिनके बदले में पर्यायवाची अन्य शब्दों का निवेश करने पर भी व्यङ्ग्य की प्रतीति हो सके, वहाँ अर्थशक्ति की मुख्यता मानी जाती है और शब्दशक्ति रह कर भी अर्थ-शक्ति की सहायिका ही रहती है, अतः वैसे स्थल के व्यङ्ग्यों को अर्थशक्तिमूलक ही कहा जाता है। जैसे किसी ग्राम में मल्लों (पहलवानों) की अधिकता रहने पर उस ग्राम को मल्लग्राम कहा जाता है, पर उसका यह अर्थ नहीं होता कि उस ग्राम में पहलवान के अतिरिक्त लोग रहते ही नहीं। बस वही रीति यहाँ भी समझनी चाहिए। सारांश यह निकलता है कि परिवर्तित न होने योग्य शब्दों की अधिकता में शब्दशक्तिमूलक और परिवर्तित होने योग्य शब्दों की अधिकता में अर्थशक्तिमूलक, व्यङ्ग्य का व्यवहार होता है।

ध्वनेः शब्दार्थोभयशक्तिमूलकत्वव्यवहारे कारणं प्रदर्शयति—

यत्र तु काव्ये परिवृत्तिं सहमानानामसहमानानां च शब्दानां नैकजातीयप्राचुर्यम्, अपि तु साम्यमेव, तत्र शब्दार्थोभयशक्तिमूलकस्य व्यङ्ग्यस्य स्थितिरिति द्व्युत्थो ध्वनिः।

शब्दानामिति। निर्धारणे षष्ठी। तादृशशब्दानां मध्ये इति तात्पर्यार्थः। यस्मिन् काव्ये परिवृत्त्यसहाः परिवृत्तिसहाश्च शब्दाः समसंख्या एव, नैकजातीया अधिकास्तस्मिन् काव्ये व्यङ्ग्यस्य शब्दार्थोभयशक्तिमूलकत्वेन द्व्युत्थध्वनित्वव्यवहारः प्रवर्तत इति भावः।

अब जो कहीं-कहीं शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि कही जाती है, वह क्यों? इसका कारण बतलाते हैं—यत्र तु इत्यादि। जिस काव्य में परिवर्त्तित होने योग्य और परिवर्त्तित न होने योग्य दोनों प्रकार के शब्द समान मात्रा में ही हों—किसी एक तरह के शब्दों की अधिकता न हो, तो वैसे काव्य में होने वाले व्यङ्ग्यों का मूल, शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियाँ होती हैं, अतः उन व्यङ्ग्यों को द्व्युत्थ अर्थात् शब्दार्थोभयशक्तिमूलक कहा जाता है।

द्व्युत्थध्वनेरन्यत्रगतार्थतामाशंक्य निरस्यति—

न चायं शब्दशक्तिमूलकतयैवार्थशक्तिमूलकतयैव वा व्यपदेष्टुं शक्यः, विनिगमकाभावात्। नापि शब्दशक्तिमूलकार्थशक्तिमूलकयोः संकरेण गतार्थयितुम्, व्यङ्ग्यभेद एव संकरस्येष्टेः। इह तु व्यङ्ग्यस्यैक्येन तस्यानुत्थानात्।

अयं शब्दार्थोभयशक्तिमूलकतया व्यपदिष्टो ध्वनिः शब्दशक्तिमूलकतया अर्थशक्तिमूल-

कतया वा कुतो न व्यपदिश्यते इत्युक्तिर्न सम्भवति, तयोरेकतरव्यपदेशनियामिकाया युक्तेरभावात्। ननु विनिगमकाभावे द्वयोः संकर एवाश्रीयतां किं नवीनभेदकल्पनयेत्यपि न समीचीनम्, शब्दशक्त्या एकोऽर्थशक्त्या च कश्चिदपरो व्यङ्ग्यो यत्र प्रतीयते, तत्रैव ध्वनिसंकरस्येष्टत्वात्। अत्र व्यङ्ग्यस्य शब्दार्थोभयशक्तिमूलस्यैक्येन तस्याप्रसंगादिति भावः।

एक शंका—न च इत्यादि। पूर्वोक्त प्रकार का अर्थात् उभय-शक्तिमूलक व्यङ्ग्य न केवल शब्दशक्तिमूलक कहा जा सकता है और न केवल अर्थशक्ति-मूलक, क्योंकि जहाँ दोनों (शब्द और अर्थ) की शक्ति समानरूप से काम करती हो, वहाँ किसी एक ही शक्ति को मूल मान कर तदनुकूल व्यवहार करने में युक्ति नहीं है। यह भी आप नहीं कह सकते कि ऐसे व्यङ्ग्यों को शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक व्यङ्ग्यों का संकर-स्वरूप मान लिया जाय, क्योंकि जहाँ दोनों शक्तियों से भिन्न-भिन्न व्यङ्ग्य अभिव्यक्त होते हों वहीं संकर माना जाता है। यहाँ तो दोनों शक्तियों से एक ही व्यङ्ग्य ज्ञात होता है, अतः संकर का यहाँ प्रसंग नहीं है।

उदाहरणम्—

द्व्युत्थध्वनेरिति भावः।

अब उभयशक्त्युद्भव—ध्वनि का उदाहरण देखिए।

कविः परामृशति—

'रम्यहासा रसोल्लासा रसिकालिनिषेविता
सर्वाङ्गशोभासंभारा पद्मिनी कस्य न प्रिया ॥'

रम्यः सुन्दरः, हासः हास्यं विकासो वा यस्याः सा, रसस्य श‍ृङ्गारस्य मकरन्दस्य वा उल्लासः अभिवृद्धिर्यस्यां सा, रसिकानां रसज्ञानां जनानाम्, आलिभिः समूहैः रसिकैरलिभिर्भ्रमरैर्वा निषेविता समाश्रिता, तथा सर्वेषु अङ्गेषु शोभायाः संभारो समूहो यस्याः सा पद्मिनी विशिष्टलक्षणलक्षिता नायिका कमलिनी वा, कस्य सहृदयस्य, प्रिया प्रीतिपात्रं न भवतीति शेषः। तादृशी कामिनी कमलिनी च सर्वजनप्रियेति भावः। अत्र कमलिनीकामिन्योरुपमानोपमेयभावो व्यङ्ग्यः, स च शब्दार्थोभयशक्तिमूलः, हास-रसालिपद्मिनीशब्दानां परिवृत्त्यसहत्वात्, शब्दान्तराणां तत्सहत्वाच्च।

कवि अपने मन में सोचता है—जिसका 'हास' (हँसी, अन्यत्र विकास) सुन्दर है, जिसमें 'रस' (श‍ृङ्गार, अन्यत्र पराग) भरा है, जो 'रसिकालि' (रसिक जनों की पङ्क्ति, अन्यत्र रसिक भ्रमर) से सेवित है और जिसके सब अङ्ग शोभामय हैं, वह 'पद्मिनी' (एक विशिष्ट लक्षणवाली नायिका, अन्यत्र कमलिनी) किसे प्रिय नहीं अर्थात् सर्वप्रिय होती है।

द्व्युत्थध्वनिसंबन्धिविशेषमाह—

अयं च वाक्यमात्रे। पदसमूहश्च वाक्यम्। तेनास्य नानार्थानानार्थघटितसमासविषयत्वेऽपि न विरोधः। न तु शुद्धैकपदे, तस्मिन्नानार्थानानार्थयोरसमावेशात्।

तेनेति। पदसमूहात्मकवाक्यनिष्ठत्वेनेत्यर्थः। अस्य द्व्युत्थध्वनेः। न विरोध इति। तस्याप्यवान्तरपदान्यादाय पदसमूहत्वादिति भावः। मात्रपदव्यावर्त्यमाह—न त्विति। अयं शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवो ध्वनिः वाक्य एव भवति। अनेकार्थकैकार्थकोभयविधशब्दघटितत्वस्य द्व्युत्थध्वनित्वप्रयोजकस्य तत्रैव संभवात्। नन्वेवं समस्ते पदे द्व्युत्थध्वनेः संभवो न भवेदिति चेन्न, तस्य समस्तपदस्यानेकार्थकैकार्थकपदघटितत्वे तत्र तत्संभवे विरोधाभा-

वात्। न च पदस्य वाक्यत्वं कथमिति वाच्यम्, पदसमूहस्यैव वाक्यत्वेनावान्तरपदान्यादाय समस्तपदस्य वाक्यत्वात्। एवञ्चासमस्ते एकस्मिन् पदे द्व्युत्थो ध्वनिर्न संभवतीति फलितम्, तत्रानेकार्थकैकार्थकद्विविधशब्दयोः समावेशासंभवादित्यभिप्रायः।

उभयशक्त्युद्भव-ध्वनि के संबन्ध में कुछ विशिष्ट बातें कही जा रही हैं—अयं च इत्यादि। यह शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि केवल वाक्य में होती है, क्योंकि एकार्थक और अनेकार्थक दोनों तरह के शब्दों का रहना—जो उभयशक्तिमूलक ध्वनि का हेतु है—वाक्य में ही संभव है। ऐसी स्थिति में यह ध्वनि समस्त पद में नहीं हो सकेगी यह तर्क नहीं उपस्थित किया जा सकता, क्योंकि पदसमूह का ही नाम वाक्य होता है अतः अवान्तर पदों को लेकर समस्त एक पद भी वाक्य कहा जा सकता है अर्थात् समस्त एक पद भी यदि एकार्थक और अनेकार्थक पदों से युक्त हो, तो उसमें भी यह ध्वनि हो सकती है—इससे उभयशक्तिमूलक ध्वनि को वाक्यमात्रगत मानने में कोई विरोध नहीं होता। हाँ, शुद्ध (असमस्त) एक पद में यह ध्वनि नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें एकार्थक और अनेकार्थक दोनों तरह के शब्दों का समावेश असंभव है।

द्व्युत्थध्वनिसंबन्धिमतान्तरमाह—

अन्ये तु—'अर्थशक्तिमूलकत्वव्यपदेशो नानार्थप्रकाशकशब्दशक्त्युल्लास्यत्वसामान्यशून्यत्वं तन्त्रम्, विषयप्राचुर्यात्। शब्दशक्तिमूलकत्वव्यपदेशे तु नार्थशक्त्युल्लास्यत्वसामान्यशून्यत्वं तथा, विषयदौर्लभ्यापत्तेः। न हि नानार्थशब्दमात्रघटितं पद्यं प्रचुरविषयम्, अतः शब्दशक्तिमूलकत्वेनैवायं शक्यव्यपदेशो ध्वनिः इत्यप्याहुः।

उल्लास्यत्वेति। जन्यत्वेत्यर्थः। सामान्यशून्यत्वमिति। सामान्याभाव इत्यर्थः। तन्त्रं नियामकम्, कारणमिति यावत्। अत इति। शब्दशक्तिमूलकत्वव्यपदेशेऽर्थशक्त्युल्लास्यत्वसामान्यशून्यत्वस्यातन्त्रत्वादेवेत्यर्थः। अयमिति। द्व्युत्थो ध्वनिरित्यर्थः। यत्र व्यङ्ग्यार्थोपस्थापका अनेकार्थकाः शब्दाः सर्वथा न स्युस्तत्रैवार्थशक्तिमूलकध्वनिव्यवहारस्तथा चार्थशक्तिमूलकध्वनित्वव्यवहारे नानार्थकशब्दशक्त्युल्लास्यत्वसामान्याभावो हेतुः। ईदृशानि बहूनि अर्थशक्त्युद्भवव्यङ्ग्यप्रधानानि काव्यानि मिलेयुर्यत्रैकस्यापि नानार्थकशब्दस्य प्रयोगो न भवेत्। शब्दशक्तिमूलकध्वनित्वव्यवहारे तु अर्थशक्त्युल्लास्यत्वसामान्याभावो न हेतुः। अर्थात् तत्रैव शब्दशक्तिमूलकध्वनित्वव्यपदेशो भवेत् यत्र काव्ये सर्वाणि पदानि नानार्थोपस्थापकान्येव स्युः, एकमपि पदमेकार्थकं न भवेदिति नाङ्गीकर्तुं शक्यम्—व्यङ्ग्यार्थोपस्थापककेवलानेकार्थकशब्दघटितकाव्यस्यात्यल्पमुपलब्धेः। तथा च शब्दशक्तिमूलकध्वनिकाव्ये अनेकार्थका एकार्थकाश्चोभयविधाः शब्दा भवेयुरिति सिद्धम्। एवञ्च 'रम्यहासा' इत्यादि शब्दार्थोभयशक्तिमूलकत्वेनाभिमतं काव्यं शब्दशक्तिमूलकत्वेनैव व्यवहर्तुं शक्यमिति पृथक् तस्य गणना मुधेति सारांशः। 'अन्ये तु' इत्यनेनात्रारुचिः सूचिता, तद्बीजञ्चेतत्—यत् प्राचीनोक्तरीत्या तृतीयभेदसंभवे तत्त्यागे कारणाभावः। कुत्रापि भेदे लक्ष्याल्पता तद्भेदपरित्यागाय नालम्, अपि तु लक्ष्यासंभव इति तत्त्वम्।

अब उभयशक्तिमूलकध्वनि के विषय में मतान्तर का उल्लेख करते हैं—अन्ये इत्यादि। जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ को उपस्थित करने वाले शब्दों में एक भी अनेकार्थक न हो, वहीं अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार होता है, अतः यह सिद्ध होता है कि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के व्यवहार में व्यङ्ग्य का अनेकार्थक शब्द की शक्ति से सर्वथा आविर्भूत न हुआ रहना कारण है। और इस तरह का कार्य-कारण-भाव इसलिये मान्य हो सकता है कि ऐसे बहुतेरे अर्थशक्तिमूलक ध्वनिकाव्य मिल सकते हैं, जहाँ एक भी शब्द अनेकार्थक

न हो। परन्तु शब्दशक्तिमूलकध्वनि के व्यवहार में व्यङ्ग्य का अर्थशक्ति से सर्वथा आविर्भूत न हुआ रहना नियामक नहीं माना जा सकता अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ सब पद अनेकार्थक ही हों, एक भी पद एकार्थक नहीं हो वहीं शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि ऐसा काव्य बहुत ही कम उपलब्ध होगा, जहाँ एक भी शब्द एकार्थक न हो अर्थात् केवल अनेकार्थक शब्दों के द्वारा ही बना हुआ काव्य दुर्लभ है। इस तरह से यह सिद्ध हो जाता है कि जहाँ अनेकार्थक शब्द अधिक हों और एकार्थक शब्द कम, वहीं शब्द-शक्तिमूलकध्वनि का व्यवहार किया जायगा। ऐसी स्थिति में 'रम्यहासा'''' इत्यादि पद्य में भी—जहाँ आप उभयशक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार करते हैं—शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि 'उभय-शक्तिमूलक' एक पृथक् भेद मानना व्यर्थ है। यह कुछ अन्य विद्वानों का मत है। इस मत के मानने में अरुचि यह है कि जब प्राचीन आचार्यों के कथनानुसार उक्त तृतीय भेद संभव है, तब उसका त्याग क्यों किया जाय? अल्प लक्ष्य होने से किसी भेद का त्याग करना उचित नहीं है। हाँ, यदि एक भी लक्ष्य न मिले, तब किसी भेद का त्याग किया जा सकता है, पर यहाँ ऐसी बात नहीं है। केवल अनेकार्थक शब्दों से रचा गया काव्य—अल्प मात्रा में ही सही—मिल सकता है।

प्रकृतप्रकरणमुपसंहरति—

इत्थमभिधामूलस्त्रिविधोऽपि संक्षेपेण निरूपितो ध्वनिः। निरूपयिष्यते चांशतो यथावसरम्।

पूर्वोपदर्शितरीत्या शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलः उभयशक्तिमूलश्चेति त्रिप्रकारकोऽभिधामूलध्वनिप्रभेदो निरूपितः। अग्रेऽपि अवसरमासाद्यांशिकरूपेण तस्य निरूपणं विधास्यत इति भावः।

प्रकृत प्रकरण का उपसंहार करते हैं—इत्थमित्यादि। इस प्रकार अभिधा-मूलक तीनों प्रकार की ध्वनियों (शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और उभयशक्तिमूलक) का निरूपण संक्षेप से किया जा चुका, और आगे भी यथावसर निरूपण किया जायगा।

लक्षणामूलध्वनिनिरूपणं प्रतिजानीते—

लक्षणामूलस्तु निरूप्यते—

लक्षणामूलध्वनिविषयकज्ञानानुकूलशब्दप्रयोगः क्रियत इत्यर्थः।

अब लक्षणामूलध्वनि-निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—लक्षणा इत्यादि। अब लक्षणा-मूल-ध्वनि का निरूपण किया जाता है।

पूर्वोक्तं निरूपणं प्रारभते—

तत्र वक्ष्यमाणलक्षणायां लक्षणायां प्रयोजनवत्याः षड्विधायाः सारोपसाध्यवसानाभ्यां गौणीशुद्धाभ्यां च विभक्तानां भेदानां चतुर्णामलंकारात्मना परिणतत्वाद्द्वौ भेदौ ध्वन्याश्रयतया स्थितौ, जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था चेति। तन्मूलौ च द्वौ ध्वनेः प्रभेदौ।

तत्रेति। निरूपणीये लक्षणामूलध्वनावित्यर्थः। वक्ष्यमाणेति। वक्ष्यमाणं लक्षणं यस्यास्तस्यामित्यर्थः। सत्यामिति शेषः। अलंकारात्मनेति। रूपकातिशयोक्तिरूपालंकारात्मनेत्यर्थः। जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था चेति। अनयोरेवोपादानलक्षणालक्षणलक्षणाशब्देन प्राचीनैर्व्यवहारः कृतः। यस्या लक्षणाया लक्षणमग्रे विधास्यते, तस्या द्वौ भेदौ, रूढिमूला प्रयोजनमूला च। तत्र रूढिमूलायां व्यङ्ग्यस्य सद्भाव एव नेति प्रयोजनमूलामेव वदन्ति। प्रयोजनमूला च पुनः षड्विधा, गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा सारोपा, शुद्धा

साध्यवसाना, तथा जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था च। तासु आद्याश्चत्वारो भेदाः क्रमशो रूपकातिशयोक्तिहेत्वलंकाररूपे परिणमन्ते। फलतो जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्थेति द्वावेव भेदौ ध्वन्याधारतां प्रतिपद्येते इति लक्षणामूलौ द्वौ ध्वनिकाव्यस्य प्रभेदौ सम्पद्येते इति भावः।

अब लक्षणामूलध्वनि के निरूपण का प्रारम्भ किया जाता है—तत्र इत्यादि। लक्षणा (जिसका लक्षण आगे कहा जायगा) के दो भेद होते हैं-एक रूढिमूलक और दूसरा प्रयोजनमूलक। उन दोनों में रूढिमूलक लक्षणा का व्यङ्ग्य से कोई संबन्ध ही नहीं रहता, अतः यहाँ ध्वनि के प्रसङ्ग में प्रयोजनमूलक लक्षणा की ही चर्चा की जाती है। प्रयोजनमूलक लक्षणा छः प्रकार की होती है—गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा सारोपा, शुद्धा साध्यवसाना तथा जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था। इन छहों प्रकारों में आदि के चार प्रकार रूपक, अतिशयोक्ति, हेतु आदि अलंकारों के रूप में परिणत हो जाते हैं—अर्थात् उन सब भेदों में व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं रहती है। फलतः जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था ये दोनों भेद ध्वनि के आधार होते हैं—अर्थात् इन दोनों भेदों में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता रहती है, अतः लक्षणामूलक ध्वनि-काव्य के दो भेद सम्पन्न होते हैं।

जहत्स्वार्थामूलं ध्वनिमुदाहर्तुं प्रतिजानीते—

तयोर्जहत्स्वार्थामूलो यथा—

लक्षणामूलयोर्द्वयोर्ध्वन्योर्मध्ये जहत्स्वार्थामूलध्वनेरुदाहरणं नीचैर्निर्दिष्टं बोध्यमिति भावः।

उन दोनों में जहत्स्वार्था-मूलक ध्वनि का उदाहरण नीचे दिखलाया जाता है—

'कृतं त्वयोन्नतं कृत्यमर्जितं चामलं यशः।
यावज्जीवं सखे! तुभ्यं दास्यामो विपुलाशिषः॥'

हे सखे! त्वया उन्नतं महत् प्रशंसनीयमिति यावत् कृत्यं कार्यम्, कृतं विहितम्। च पुनः अमलं निर्मलम्, यशः कीर्तिः, अर्जितं प्राप्तम्। (वयं) यावज्जीवं जीवनपर्यन्तम्, विपुलाशिषः बहून् आशीर्वादान्, तुभ्यं दास्यामः वितरिष्याम इत्यर्थः।

हे सखे! तूने बहुत प्रशंसनीय कार्य किया है और विमल यश प्राप्त किया है। हम जब तक जीते रहेंगे तब तक तुझे भूरि-भूरि आशीर्वाद देंगे।

उपपादयति—

इयं कस्यचिदपकारिणं प्रत्युक्तिः। त्वया कृतेऽप्यपकारे परमखेदहेतौ मधुरमेव यो भाषेय, न परुषं तस्मिन्नेवं जातीयके मयि पापमाचरतस्तव पापिष्ठत्वं कथं शक्यते वक्तुमिति व्यङ्ग्यम्।

प्रत्युक्तिरिति। प्रकृते लक्षणाश्रयणनिदानकथनमेतत्। व्यङ्ग्याकारमाह—त्वयेत्यादिना। कृतमित्यादिपद्यं कश्चित् कमप्यपकारकं जनं प्रति ब्रूते, अतः उन्नतादिपदानां मुख्यार्था बाधितास्तेन तेषां पदानां हीनादौ लक्षणाः। तथा च 'त्वया हीनं कृत्यं कृतम्, मलिनं दुर्यशोऽर्जितम् अतो वयं तुभ्यं यावज्जीवनं शापान् दास्याम' इति वाक्यार्थो निष्पद्यते। अस्मिन्नर्थे उन्नतादिपदवाच्यार्थानामसंबन्धात् लक्षणाया जहत्स्वार्थात्वम्। तेन वाक्यार्थेन 'त्वया कृते' इत्यादि मूलोक्ताकारं वस्तु व्यज्यते। तदेव व्यङ्ग्यं लक्षणायाः प्रयोजनमिति भावः।

उपपादन करते हैं—इयमित्यादि। उक्त पद्य, किसी अपकार करने वाले मित्र के प्रति, अपर मित्र के द्वारा कहा गया है, अतः उन्नत आदि पद के मुख्य (वाच्य) अर्थ बाधित हैं—अर्थात् अपकारक के प्रति कोई यह नहीं कहता कि 'तूने बड़ा अच्छा काम किया है'। अतः उन पदों की 'हीन' आदि अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में उक्त पद्य-वाक्य का अर्थ यह हो जाता है कि 'तूने परम हीन कर्म किया है और [illegible]

कमाया है, अतः हम यावज्जीवन तुझे शापते रहेंगे।' इस अर्थ में उन्नत आदि, पद्योक्त पदों के वाच्य अर्थों का संबन्ध बिलकुल नहीं है, अतः यह लक्षणा जहत्स्वार्था कहलाती है। इस लक्षणामूलक वाक्यार्थ से यहाँ यह ध्वनित होता है कि 'तेरे द्वारा अत्यन्त खेद-कर अपकार किए जाने पर भी जो मधुर वाणी का ही प्रयोग करता है—परुष कथा नहीं कहना चाहता, ऐसे मुझ मित्र के ऊपर पापाचरण करने वाले तेरे पापों का वर्णन कैसे किया जा सकता है? अर्थात् तेरे पाप अवर्णनीय हैं—तू संसार में सबसे नीच है।' यही व्यङ्ग्य यहाँ लक्षणा का प्रयोजन है, यह भी समझना चाहिए।

अजहत्स्वार्थामूलं ध्वनिमुदाहरति—

अपरामूलो यथा—

> 'बधान द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरम्
> किरीटे बालेन्दुं नियमय पुनः पन्नगगणैः।
> न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणधिया
> जगन्नाथस्यायं सुरधुनि समुद्धारसमयः॥'

जगन्नाथो गंगां स्तौति—अयि सुरधुनि! देवनदि! एतेन 'एतावत्कालपर्यन्तं देवैरेव सह तव संबन्ध आसीत्, न मादृशेन पापिना सह'ति व्यज्यते। जगन्नाथस्य एतन्नामकस्य मम, अयं, समुद्धारसमयः समुद्धरणकालः, अस्तीति शेषः। निषिद्धस्याप्यात्मनामोच्चारणस्य करणेन वक्तुरातुरतातिशयो व्यज्यते। ननु अस्तु तवोद्धारकालः मया किं कर्तव्यमित्या-काङ्क्षायामाह-बधानेति। त्वं द्रढिम्ना दृढत्वेन रमणीयं सुन्दरम्, दृढमत एव रमणीय-मिति यावत्। परिकरं कटिं, द्राक् शीघ्रं, बधान। ममोद्धाराय शीघ्रं कटिबन्धं कुर्विति भावः। पुनस्त्वं किरीटे मुकुटे, बालेन्दुं कलात्मकं चन्द्रं, पन्नगगणैः सर्पसमूहैः, नियमय बधान। अन्यथा संभ्रमे बालेन्दुः किरीटाच्च्यवेत। लोकेऽपि कश्चन समर्थो जनो व्याघ्रादिगृहीतं जन्तु-मुद्धर्तुं प्रवर्तमानः कटिबन्धशिरोभूषणादिकं दृढं विधत्ते। पुनस्त्वम् इतरजनसाधारणी या धीः बुद्धिस्तया, हेलाम् अवहेलनाम्, न कुर्याः मा कुरु। त्वद्भक्तिभरपूर्णहृदये मयि 'अन्यज-नतुल्योऽयम्' इति बुद्ध्या उदासीनतां न भजस्वेति भावः।

यह पद्य जगन्नाथकृत 'गंगालहरी' नामक स्तोत्र-ग्रन्थ का है। पण्डितराज गंगा की स्तुति करते हैं—हे सुरनदि! (ऐसा कह कर कवि यह अभिव्यक्त करना चाहते हैं—कि 'अब तक तुम्हारा संबन्ध पुण्यात्मा देवताओं से ही था, मुझ जैसे पापियों से नहीं'।) अन्य साधारण मनुष्यों के समान समझ कर मेरी अवहेलना न करना, यह जगन्नाथ के उद्धार का समय है, अतः दृढता के कारण सुन्दर-अर्थात् दृढतर तथा रम्य परिकर शीघ्र बाँध लो-मेरे उद्धार के लिये कमर कस लो और किरीट-स्थित बालचन्द्र को सर्पसमूहों से पुनः स्थिर कर लो, अन्यथा कदाचित् वह हड़बड़ी में किरीट से दूर न जा पड़े। लोक में भी कोई सामर्थ्य-शाली मनुष्य व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं से ग्रस्त प्राणी का उद्धार करते समय, पहले कटिबन्ध और पगड़ी आदि शिरोभूषण को दृढ कर लेता है।

उपपादयति—

अत्र जगन्नाथस्येत्यनेन शक्य एवानेकपापविशिष्टत्वेन लक्ष्यते। पापानां पदान्तरेणानिर्वाच्यत्वं व्यङ्ग्यम्।

जगन्नाथपदस्य शक्यार्थो यो व्यक्तिविशेषस्तन्मात्रज्ञापनेन न तदीयोद्धारस्यावश्य-कता काचित्सिद्ध्यति, अतस्तदर्थबाधे नानाविधपापकारिणि जगन्नाथे जगन्नाथपदस्य लक्षणा। लक्ष्यार्थे च विविधपापविशिष्टजगन्नाथात्मकव्यक्तिविशेषे मुख्यार्थस्याप्युपा-दानादजहत्स्वार्थात्वम्। लक्षणाप्रयोजनभूतम् पदान्तराप्रतिपाद्यपापकत्वम् व्यङ्ग्यम्।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'जगन्नाथ' पद का वाच्य अर्थ जो एक व्यक्ति-विशेष होता है, उसका बोध यदि केवल व्यक्तिविशेष के रूप में ही जगन्नाथ पद से हो, तो उसके उद्धार की कोई अवश्यकर्तव्यता सिद्ध नहीं हो सकती-अर्थात् यदि एक व्यक्ति-मात्र की हैसियत से किसी का उद्धार आवश्यक समझा जाय, तब जगन्नाथ का ही क्यों? किसी अन्य का भी समझा जा सकता है। अतः मानना पड़ता है कि यहाँ जगन्नाथ पद का वाच्य अर्थ शुद्ध रूप में बाधित है, जिससे विविध-पापकारी जगन्नाथात्मक व्यक्ति-विशेषरूप अर्थ में जगन्नाथ पद की लक्षणा होती है और वह लक्षणा अजहत्स्वार्था कहलाती है, क्योंकि उक्त लक्ष्य अर्थ में जगन्नाथरूप मुख्य अर्थ का त्याग नहीं हुआ है। इस तरह की लक्षणा को प्राचीन विद्वान् 'उपादानलक्षणा' कहते हैं। पापों का अन्य किसी पद से प्रतिपादन न किया जा सकना-अर्थात् जगन्नाथ के पाप ऐसे हैं जिनका प्रतिपादन शब्दान्तर से हो ही नहीं सकता, इस अर्थ का बोध करना उक्त लक्षणा का प्रयोजन है, और इस प्रयोजन का बोध होता है व्यञ्जना से, अतः यह पद्य अजहत्स्वार्था लक्षणामूलध्वनि का उदाहरण होता है।

प्राचीनोक्तमजहत्स्वार्थोदाहरणं समीक्षते—

कुन्ताः प्रविशन्तीत्यादौ तु वाच्यगततैक्ष्ण्यादि लक्ष्यम्।

कुन्ताः प्रविशन्तीति अजहत्स्वार्थलक्षणायाः प्रसिद्धमुदाहरणम्, अचेतनतया प्रवेश-क्रियान्वयासंभवेन बाधितार्थकस्य कुन्तपदस्य उपात्तमुख्यार्थे कुन्तधारिपुरुषे लक्षणाया आश्रयणीयत्वात्। कुन्तधारिषु कुन्तपदवाच्यार्थगततीक्ष्णताप्रतीतिः प्रयोजनम्। तच्च व्यञ्जनावाच्यम् 'वाच्यगततैक्ष्ण्यादि लक्ष्यम्' इति मूलपङ्क्तिलापनं त्वेवंविधयम्—तैक्ष्ण्यादि लक्ष्यम् प्रत्येयमित्यर्थः। अथवा लक्ष्यपदं लक्ष्यवृत्तितया व्यङ्ग्यमित्यर्थे लाक्षणिकम्। पूर्वोदाहरणे पापानामनिर्वाच्यत्वात्मकं व्यङ्ग्यं न वाच्यार्थवृत्ति, अत्रोदाहरणे तु तैक्ष्ण्यादि तथाभूतमिति भेदप्रदर्शनायायं ग्रन्थः।

अजहत्स्वार्था लक्षणा के प्राचीनोक्त उदाहरण की समीक्षा करते हैं—कुन्ता इत्यादि। प्राचीनों ने अजहत्स्वार्था लक्षणा का उदाहरण दिया है 'कुन्ताः प्रविशन्ति—अर्थात् भाले घुस रहे हैं'। यहाँ अचेतन भालों का स्वतःप्रवेशक्रिया में अन्वय बाधित है, अतः कुन्त पद की स्वार्थसंयुक्तपुरुष अर्थात् कुन्तधारी में लक्षणा होती है। कुन्तगततीक्ष्णता की कुन्तधारी में प्रतीति करना लक्षणा का प्रयोजन है, जिसकी सिद्धि व्यञ्जना से होती है। 'वाच्यगततैक्ष्ण्यादिलक्ष्यम्' इस मूलपङ्क्ति में 'लक्ष्यम्' का अर्थ है 'प्रत्येयम्' अर्थात् प्रतीयमान। इस ग्रन्थ के द्वारा उक्त स्वाभिमत उदाहरण से प्राचीनोक्त उदाहरण में भेद दिखलाया गया है अर्थात् उक्त उदाहरण में पापों की अनिर्वाच्यतारूप व्यङ्ग्य जगन्नाथ पद के वाच्य अर्थ में रहनेवाला धर्म नहीं है, और प्राचीनों के उदाहरण में तीक्ष्णतारूप व्यङ्ग्य कुन्त पद के वाच्य अर्थ-भालों-में रहनेवाला धर्म है—इस भेद को दिखलाना ही प्रकृत ग्रन्थ का उद्देश्य है।

पदध्वनिवाक्यध्वन्योर्विभाजकं विशेषं वर्णयति—

तदेवमेते प्रागुक्ता द्व्यत्यातिरिक्ताः सर्वेऽपि ध्वनय एकस्मिन् वाक्ये यद्येकप-दमात्रगतास्तदा पदध्वनितया व्यपदिश्यन्ते। नानापदगततायां तु वाक्यध्व-नितयेति।

एकस्मिन् वाक्ये यद्येकपदमात्रगता इति। एकपदार्थगता इति पिण्डार्थः। नानापद-गततायामिति। ध्वनीनामिति शेषः। पूर्वोक्तो द्व्युत्यो ध्वनिः वाक्य एव भवति न पदे इति प्रागप्युक्तमेव। तदितरे प्रागुक्ताः सर्वे ध्वनयः पदे वाक्ये च भवन्ति। तत्र यदा कस्य-

न्विदेकस्यैव पदस्य वाच्यात् व्यङ्ग्यम् प्रतीयते तदा तस्मिन् काव्ये पदगतध्वनिव्यवहारः। यदा तु अनेकपदानां वाच्येभ्यो व्यङ्ग्यप्रतीतिस्तदा तत्र वाक्यध्वनिव्यपदेश इति भावः।

अब पद-ध्वनि और वाक्य-ध्वनि की पहचान के लिये दोनों में रहनेवाले अन्तर का उल्लेख किया जाता है—तदेव इत्यादि। शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि केवल वाक्य में होती है, पद में नहीं और तदतिरिक्त सभी ध्वनियाँ पदगत तथा वाक्यगत दोनों तरह की होती हैं। जहाँ एक ही पद के वाच्यार्थ से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती हो, वहाँ पदगत और जहाँ अनेक पदों के वाच्यार्थों से उसकी प्रतीति हो, वहाँ वाक्यगतध्वनि का व्यवहार होता है।

अभिधानिरूपणमवतारयति—

अथ केयमभिधा नाम यन्मूलः प्रथमं निरूपितोऽयं ध्वनिप्रपञ्चः।

यन्मूलो ध्वनिप्रभेदः प्रथमं निरूपितस्तदभिधापदार्थः क इति जिज्ञासितमिति भावः।

अब अभिधा-निरूपण की अवतारणा की जाती है—अथ इत्यादि। यहाँ अब यह जिज्ञासा उठती है कि जिसको मूल मानकर, सर्वप्रथम, ध्वनि के अनेक भेदों का निरूपण किया गया है, वह 'अभिधा' क्या चीज है? अर्थात् 'अभिधामूलकध्वनि' इस संज्ञा के अन्तर्गत 'अभिधा' की क्या परिभाषा है यह यहाँ की एक स्वाभाविक जिज्ञासा है।

जिज्ञासाशान्तिं प्रतिजानीते—

उच्यते—

अभिधापदार्थः कथ्यत इति भावः।

उक्त जिज्ञासा की शान्ति के लिये प्रतिज्ञा करते हैं कि अब 'अभिधा' पदार्थ कहा जा रहा है।

अभिधां लक्षयति—

शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः, शब्दस्यार्थगतो वा संबन्धविशेषोऽभिधा।

शक्त्याख्य इति। शक्तिः आख्या पर्यायान्तरं यस्य स इत्यर्थः। विनिगमनाविरहमाह—शब्दस्येति। शब्दार्थयोः संबन्धविशेषो बोध्यबोधकभावरूपोऽभिधापदार्थः। स च संबन्धविशेषोऽर्थप्रतियोगिकः शब्दानुयोगिकः, शब्दप्रतियोगिकोऽर्थानुयोगिको वेत्यन्यतरपक्षपातियुक्तिरूपाविनिगमना नास्तीत्युभयविधोऽपि तादृशः संबन्धः अभिधापदार्थतयाऽभिमतः। तमेव संबन्धविशेषं शक्तिपदेनापि प्रतिपादयन्ति सुधिय इति भावः।

अभिधा का लक्षण करते हैं—शक्त्याख्य इत्यादि। शब्द और अर्थ के परस्पर संबन्ध को 'अभिधा' कहते हैं। उस संबन्ध को, शब्द का मानकर अर्थ में रहनेवाला और अर्थ का मानकर शब्द में रहनेवाला भी कहा जा सकता है—इन दोनों में से किसी एक पक्ष को मान लेने के लिये कोई प्रबल युक्ति नहीं है। उस संबन्ध-विशेष को विद्वज्जन 'शक्ति' नाम से भी पुकारते हैं।

अभिधादिप्रकारणि मतान्तराणि प्रदर्शयति—

सा च पदार्थान्तरमिति केचित्। 'अस्माच्छब्दादयमर्थोऽवगन्तव्य इत्याकारेश्वरेच्छैवाभिधा। तस्याश्च विषयतया सर्वत्र सत्त्वात्पटादीनामपि घटादिपदवाच्यता स्यात्। अतो व्यक्तिविशेषोपधानेन घटादिपदाभिधात्वं वाच्यम्' इत्यपरे। 'एवमपीश्वरज्ञानादिना विनिगमनाविरहः स्यात्, अतः प्रथममतमेव न्यायः' इत्यपि वदन्ति।

केचिदिति, वैयाकरणमीमांसकादयः। अपर इति, नैयायिकाः। एवमपीति। उक्तरीत्याऽतिप्रसङ्गवारणेऽपीत्यर्थः। सा नाभिधा संकेतापरपर्याया ईश्वरेच्छारूपा न, अपितु तदतिरिक्ता

एव बोध्य-बोधकभावरूपा, बोधकतारूपा, बोध्यतारूपा, (शब्दार्थयोः) तादात्म्यरूपा वेति वैयाकरणमीमांसकादय आमनन्ति । नैयायिकास्तु—'अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्यः' इत्याकारिका शब्दप्रकारिकाऽर्थविशेष्यिका, 'इदं पदममुमर्थं बोधयतु' इत्याकारिकाऽर्थप्रकारिका शब्दविशेष्यिका वा या ईश्वरेच्छा, तद्रूपः संकेत एवाभिधापदार्थः, न पदार्थान्तरमिति स्वीकुर्वन्ति । ईश्वरीयेच्छाया एकत्वान्नित्यत्वाच्च घटपदाभिधात्वेन विवक्षिता सा (ईश्वरेच्छा) घट इव पटेऽपि विषयतासंबन्धेन तिष्ठतीति पटस्यापि घटपदवाच्यताप्रसङ्गः, अतः 'घटपदजन्यबोधविषयतावान् घटो भवतु', 'पटपदजन्यबोधविषयतावान् पटो भवतु' इत्यादिरीत्या घटादिरूपं वस्तुविशेषमुपाधीकृत्येश्वरेच्छायास्तत्पदाभिधात्वं स्वीकर्तव्यम्, अर्थात् एकाऽपीश्वरेच्छा उपाधिभेदेन भिद्यत इति घटोपहिता ईश्वरेच्छा घटमात्रे पटोपहिता च पट एव विषयतया तिष्ठेत् तथा च पटादीनां घटादिपदवाच्यताप्रसंगो नेति स्वमतव्याख्याश्च कुर्वन्ति । अन्ये पुनः 'यथा ईश्वरेच्छा सर्वविषयिणी नित्या, एका च, तथैव ईश्वरज्ञानमपि सर्वविषयकं नित्यमेकञ्चेति तस्यैवाभिधात्वम् कुतो नेति विप्रतिपत्तौ जागरितायां विनिगमनाविरहादुभयोरपि (ईश्वरीयेच्छेश्वरीयज्ञानयोः) अभिधात्वमकामेनापि स्वीकरणीयं स्यात् तथा च गौरवापत्तिः, अतः 'पदार्थान्तरमेवाभिधा' इति वैयाकरणमीमांसकानां मतमेव सम्यक्' इति व्याचक्षते । 'संकेतात् शक्तिग्रहः' इति वदन्तो वैयाकरणादयोऽपि उक्तेश्वरेच्छां शक्तिग्रहप्रयोजिकां मन्यन्त इत्यन्यदेतत् ।

अब 'अभिधा' के विषय में भिन्न-भिन्न शास्त्रकारों के भिन्न-भिन्न मतों का उल्लेख करते हैं—सा च इत्यादि । उक्त 'अभिधा' संकेत अर्थात् ईश्वरीय इच्छा-रूप नहीं है, अपितु उससे भिन्न—बोध्य-बोधकभावरूप, बोधकतारूप, बोध्यतारूप अथवा (शब्दार्थ के) तादात्म्यरूप—ही है । यह है वैयाकरण, मीमांसक आदि का कथन । नैयायिकों का कथन है कि 'अभिधा' कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं, अपितु ईश्वरीय-इच्छा-स्वरूप ही है । और 'अभिधा' के रूप में स्वीकृत ईश्वरीय इच्छा के दो आकार हो सकते हैं—एक 'अमुक पद से अमुक अर्थ का बोध करना चाहिए' और दूसरा—'अमुक पद अमुक अर्थ का बोध करावे' । यद्यपि उक्त दोनों आकारों से तात्पर्य एक ही निकलता है, तथापि पण्डितगण, विशेषण-विशेष्य-भाव के भेद से उक्त दोनों आकारों में अन्तर मानते हैं अर्थात् प्रथम आकार में 'पद' होता है विशेषण और अर्थ होता है विशेष्य, अतः वह अर्थविशेष्यक इच्छा कही जाती है । और द्वितीय आकार में अर्थ ही हो जाता है विशेषण और पद हो जाता है विशेष्य, अतः वह पदविशेष्यक इच्छा कही जाती है । इस तरह की ईश्वरीय इच्छा को ही 'संकेत' भी कहते हैं । परन्तु नैयायिकों के इस मत में एक दोष उपस्थित होता है कि ईश्वरीय इच्छा एक होती है तथा नित्य होती है अतः ईश्वर की एक इच्छा भी सर्वविषयक होती है अर्थात् घट पद के लिये जो इच्छा उसकी होगी उसका विषय जैसे घड़ा होगा, वैसे कपड़ा भी । सारांश यह कि ईश्वरीय इच्छा विषयतासंबन्ध से घट और पट दोनों में रह जायगी । इस स्थिति में गड़बड़ी यह हो सकती है कि घट पद का वाच्य अर्थ पट भी कहलाने लगेगा । इस दोष के निराकरणार्थ उन्हें यह कहना पड़ेगा कि घट-पट आदि वस्तु-विशेष को उपाधि बनाकर भिन्न भिन्न पदों की भिन्न-भिन्न तरह की ही अभिधा माननी चाहिए अर्थात् ईश्वरीय इच्छा के एक होने पर भी उपाधिभेद से वह भिन्न हो जायगी—विषयतासंबन्ध से घटोपहित ईश्वरेच्छा केवल घट में और पटोपहित ईश्वरेच्छा केवल पट में रहेगी, अतः पट आदि घटादि पद के वाच्य नहीं हो सकेंगे । तात्पर्य यह कि 'घड़ा घट-पद-जन्य-बोध का विषय होवे', 'कपड़ा पट-पद-जन्य-बोध का विषय होवे' इत्यादि रीति से घट आदि वस्तु-विशेषरूप उपाधि से उपहित ईश्वरीय इच्छा को उन-उन पदों की अभिधा कहेंगे । किन्तु इतने पर भी अन्य

विद्वानों का इस मत पर यह आक्षेप होता है कि यदि ईश्वरीय इच्छा को अभिधा माना जाय, तब ईश्वरीय ज्ञान अथवा यत्न को अभिधा क्यों नहीं माना जाय ? अर्थात् ईश्वरीय इच्छा से तदीय ज्ञान अथवा यत्न में कोई अन्तर नहीं है—जैसे इच्छा एक है, नित्य है और सर्वविषयक है उसी तरह ज्ञान और यत्न भी। उनकी इच्छा का जो विषय होगा, वह उनके ज्ञान तथा यत्न का भी विषय होगा ही। फलतः किसी विशिष्ट युक्ति के अभाव में उन तीनों को ही अभिधा मानना पड़ेगा। अतः प्रथम मत अर्थात् अभिधा को भिन्न पदार्थ मानना ही उत्तम है।

दीक्षितोक्तं खण्डयति—

यत्तु वृत्तिवार्तिके 'शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा' इत्यप्पयदीक्षितैरुक्तम् तत्तुच्छम्, उपपत्तिविरोधात्। तथा हि—इह शब्दाज्जायमानायामर्थोपस्थितौ कारणीभूतं यदीयज्ञानं सा शब्दवृत्तिरभिधाख्या लक्ष्यतया प्रस्तुता। प्रतिपादकत्वस्य च प्रतिपत्तिहेतुत्वरूपस्य शब्दगतस्य न ज्ञानं प्रतिपत्तौ कारणम्। अतः कथं नाम प्रतिपादकत्वमभिधेत्युच्यते ? अथ प्रतिपादकत्वं प्रतिपत्त्यनुकूलव्यापाररूपं ज्ञानं सदेवोपयुज्यते प्रतिपत्ताविरयुच्येत, एवमपि शक्त्येत्यनेन शब्दगतार्थगता वा काचिच्छक्तिः प्रतिपत्तिहेतुतया विवक्षिता, सैवाभिधेति 'अभिधया प्रतिपादकत्वमभिधा इति लक्षणं पर्यवसन्नम्'। तथा च स्फुटैवासंगतिरात्माश्रयश्च। न चाभिधातः शक्तिरतिरिक्ता शब्दजन्यप्रतिपत्तिप्रयोजिका काचिदस्तीत्यत्र प्रमाणमस्ति।

उपपत्तिविरोधादिति। युक्तिविरोधादित्यर्थः। युक्तिविरोधमेव प्रकटयति—तथाहीति। विवक्षितेति। शक्त्येति तृतीयाश्रयणादिति भावः। स्वज्ञाने स्वज्ञानस्यापेक्षिततयाऽस्माश्रयस्य स्पष्टत्वादसंगतिमुपपादयति न चेति। न हीत्यर्थः। वृत्तिवार्तिकाख्ये स्वकीयग्रन्थेऽप्पयदीक्षितेन 'शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधे'ति लक्षणं कृतम्, परन्तु तन्न युक्तम्, यज्ज्ञानं शब्दजन्यार्थोपस्थितौ कारणम्, तस्या अभिधानामिकायाः शब्दनिष्ठाया वृत्तेर्लक्षणकरणप्रसङ्गे 'एतत्पदनिष्ठं प्रतिपादकत्वमस्ती'त्येतज्ज्ञानमात्रेणार्थज्ञानानुदयात् अर्थज्ञाननिरूपितकारणताविरहिज्ञानविषयस्य, शब्दनिष्ठस्य प्रतिपत्ति(ज्ञान)हेतुत्वरूपस्य प्रतिपादकत्वस्याभिधात्वाभ्युपगमेन तस्या लक्षणत्वात्। प्रतिपादकत्वञ्चाम प्रतिपत्त्यनुकूलो व्यापारः, स च ज्ञातः सन्नेव प्रतिपत्तावुपयुक्तो भवति, तथा च प्रतिपत्तिकारणीभूतज्ञानविषयः शब्दनिष्ठो व्यापारविशेषः अभिधेत्यर्थकमुक्तलक्षणं समीचीनमिति यदि कथ्यते, तथापि न निस्तारः यतः शक्त्येतिलक्षणघटकतृतीयान्तपदेन शब्दगताया अर्थगताया वा कस्याश्चिच्छक्तेः प्रतिपत्तिहेतुता दीक्षितस्य विवक्षितेति प्रतीयते, प्रतिपत्तिहेतुभूताशक्तिरेव चाभिधा, तथा च 'अभिधया प्रतिपादकत्वमभिधेति' पर्यवसन्नं लक्षणे आत्माश्रयापातः, अभिधाज्ञानेऽभिधाज्ञानापेक्षणात्, शब्दजन्यबोधप्रयोजिकाया अभिधातो भिन्नायाः कस्याश्चन शक्तेः प्रमाणसिद्धत्वेन असंगतिश्चेति भावः। नागेशस्तु धान्येन धनवान् इत्यत्रेव शक्त्येत्यत्राभेदार्थिकां तृतीयामास्थाय दीक्षितमतं समर्थयति कथंचिदित्यपि बोध्यम्।

अब अभिधा के संबन्ध में अप्पयदीक्षित के द्वारा स्वीकृत मत का खण्डन किया जाता है—यत्तु इत्यादि। 'वृत्तिवार्तिक' नामक अपने ग्रन्थ में 'अभिधा' का लक्षण करते हुए दीक्षितजी ने लिखा कि—'शब्द में रहनेवाली शक्तिद्वारकप्रतिपादकता का नाम 'अभिधा' है।' परन्तु युक्तिविरुद्ध होने के कारण उनका उक्त लक्षण असंगत है। युक्तिविरोध देखिए—जिसका ज्ञान, शब्द से होनेवाली अर्थोपस्थिति में कारण होता है, उस

शब्द-निष्ठ 'अभिधा' नामक वृत्ति का लक्षण यहाँ बनाना है। अब हम विचार करें कि उस 'अभिधा' का लक्षण 'दीक्षित' से बन सका ? 'प्रतिपादकता' शब्द का अर्थ होता है प्रतिपत्ति (ज्ञान) के कारण में रहनेवाला धर्म अर्थात् अर्थप्रतिपादक शब्द में रहनेवाला विशेष, परन्तु उस धर्म का ज्ञान शब्दजन्य अर्थोपस्थिति में कारण होता नहीं अर्थात् 'अमुक शब्द प्रतिपादक है' इस तरह के ज्ञान से किसी अर्थ का स्मरण नहीं होता, अतः 'प्रतिपादकत्व' को 'अभिधा' का लक्षण कैसे कहा जा सकता है ? यदि आप कहें कि 'प्रतिपादकता' का अर्थ उक्त धर्म नहीं है, अपितु ज्ञानजनक व्यापार अर्थात् शब्द में रहने वाली वह क्रिया, जिससे अर्थ का ज्ञान होता हो। अब उक्त लक्षण बन सकता है, क्योंकि उक्त क्रिया स्वयं ज्ञात होकर ही अर्थोपस्थिति का कारण होती है, अतः उक्त दीक्षित-वाक्य का सार यह होगा कि अर्थोपस्थिति का कारण जो ज्ञान उसका विषय जो शब्दगत-व्यापार (क्रिया) विशेष, वह अभिधा है। तो उस रीति से भी उक्त लक्षण संगत नहीं होता, कारण, आपने जो लक्षण में 'शक्त्या अर्थात् शक्तिद्वारक' यह विशेषण जोड़ा है उससे अर्थोपस्थिति में कारणीभूत शब्दगत अथवा अर्थगत कोई शक्ति ही आप की विवक्षित जान पड़ती है और वही शक्ति 'अभिधा' है, अतः आपके कथनानुसार उक्त लक्षण वाक्य का पर्यवसित रूप यह होता है कि 'अभिधा के द्वारा प्रतिपादन करने का नाम अभिधा है' और इस पर्यवसित रूप में दो-दोष स्पष्ट दीख पड़ते हैं, एक असंगति और दूसरा आत्माश्रय। अर्थात् शब्दजन्य अर्थ-बोध में जो कारण हो, ऐसी अभिधा से भिन्न कोई शक्ति जब प्रमाण-सिद्ध है नहीं, तब उक्त लक्षण नहीं बन सकता है और उस शक्ति को अभिधा से अभिन्न मान लेने पर अभिधा के लक्षण में अभिधा का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रय स्पष्ट ही है अर्थात् अभिधा के ज्ञान करने में अभिधा-ज्ञान का अपेक्षित हो जाना ही यहाँ 'आत्माश्रय' दोष है। नागेश यहाँ 'धान्येन धनवान्' की तरह 'शक्त्या' इस तृतीया विभक्ति का अभेद अर्थ मानकर दीक्षितमत का समर्थन करते हैं। हिन्दी रसगंगाधरकार चतुर्वेदीजी नागेशकृत समाधान को असंगत बतलाते हुए कहते हैं कि धान्य और धन में सामान्य-विशेषभाव होने से अभेदान्वय हो सकता है, पर शक्ति और अभिधा दोनों विशेष ही हैं, अतः यहाँ अभेदान्वय नहीं बन सकता। बात उनकी ठीक है। परन्तु मुझे वृत्तिवार्तिक के स्वारस्य से ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षित ने यहाँ शक्ति पद का प्रयोग वृत्ति अर्थ में ही किया है। अतः नागेश का समाधान हो सकता है।

अभिधां विभजते—

सेयमभिधा त्रिविधा—केवलसमुदायशक्तिः, केवलावयवशक्तिः, समुदायावयवशक्तिसंकरश्चेति।

अवयवार्थाप्रतिभासिका शक्तिः केवलसमुदायशक्तिः, अवयवार्थमात्रप्रतिभासिका शक्तिः केवलावयवशक्तिः, अवयवार्थप्रतिभासद्वारा समुदायार्थप्रतिभासिका शक्तिः समुदायावयवशक्तिसंकर इति भावः।

अब अभिधा का विभाग करते हैं—सेयं इत्यादि। पूर्वोक्त अभिधा तीन प्रकार की होती है—केवल समुदायशक्ति अर्थात् जो अवयवार्थ को भासित न करे, केवल अवयवशक्ति अर्थात् जो समुदायार्थको भासित न करे, और समुदाय तथा अवयवों की शक्ति का मिश्रण अर्थात् जो अवयवार्थ के भानद्वारा समुदायार्थ को भासित करे।

उपपादनपूर्वकमभिधाभेदानुदाहरति—

आद्याया डित्थादिकमुदाहरणम्, तत्रानवयवशक्तेरभावात्। द्वितीयायास्तु पाचकपाठकादिः, तत्र धातुप्रत्ययशक्तिबोध्ययोरर्थयोरन्वयेनोल्लसितात्पाककर्तृरूपादर्थादृतेऽर्थान्तरस्यानवभासेन समुदायशक्तेरभावात्। तृतीयायाः पङ्कजादिः। इह धातूपपदप्रत्ययरूपावयवशक्तिवेद्यानां पङ्कजननकर्तृणामाकाङ्क्षादिवशादन्वये

प्रकाशमानात् पङ्कजनिकर्तृरूपादर्थादतिरिक्तस्य पद्मत्वविशिष्टस्य प्रत्ययेन तदर्थं समुदायशक्तेरपि कल्पनादुभयोः संकरः।

आद्याया इति। केवल समुदायशक्तेरित्यर्थः। तत्र डित्थादिशब्दे। द्वितीयाया इति। केवलावयवशक्तेरित्यर्थः। तत्र पाचकपाठकपदादौ। ऋते विना। तृतीयाया इति, समुदायावयवमिश्रितशक्तेरित्यर्थः। उभयोः समुदायावयवशक्त्योः। डित्थादिरव्युत्पन्नप्रातिपादिकम् केवलसमुदायशक्तेरुदाहरणम्, तत्र प्रकृतिप्रत्ययादिरूपावयवस्यैवाभावेन तच्छक्तेरप्यभावात्। पाचकपाठकादिपदानि केवलावयवशक्तेरुदाहरणभूतानि, यतस्तत्र पच् आदि धातोः ण्वुल्प्रत्ययस्य चावयवभूतस्य शक्त्याऽवगम्यमानयोः पाककर्तृरूपयोरर्थयोः परस्परमन्वये सति प्रतीयमानो यः विक्लितिजनकव्यापाराश्रयरूपोऽर्थस्तदितरो न कोऽप्यर्थः प्रतिभासत इति समुदायशक्तिर्न कल्प्यते। पङ्कजादिपदम् समुदायावयवशक्तिसंकरस्योदाहरणम्, यतस्तत्र जन्धातु-पङ्करूपोपपद-डप्रत्ययात्मकावयवशक्तिलभ्यात् पङ्कावधिक-जन्मकर्तृरूपादर्थान्न निर्वाहस्तेनानभिमतस्य शैवालादेरपि क्रोडीकरणात्, अतः पद्मत्वविशिष्टरूपार्थभासिका समुदायशक्तिरपि कल्प्यत इति भावः।

अब पूर्वोक्त अभिधा-प्रकारों के उदाहरण उपपादनपूर्वक दिखलाते हैं—आद्याया इत्यादि। केवल समुदायशक्ति के उदाहरण 'डित्थ' आदि अव्युत्पन्न प्रातिपदिक होते हैं, क्योंकि उनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि अवयव रहते ही नहीं, अतः अवयवशक्ति का वहाँ प्रसङ्ग ही नहीं आता। केवल अवयवशक्ति के उदाहरण होते हैं 'पाचक', 'पाठक' आदि पद। क्योंकि उनमें धातु 'पच्' आदि और प्रत्यय-ण्वुल्=अक आदि की शक्ति से अवगत होने वाले दो अर्थों (धातु के अर्थ 'पाक' और प्रत्ययार्थ 'करनेवाला') के अन्वय से प्रकाशित होनेवाले-'पाक करने वाला'—इस अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अतः यहाँ समुदाय-शक्ति का अभाव है। समुदाय तथा अवयवों की शक्ति के मिश्रण के उदाहरण होते हैं 'पङ्कज' आदि पद। उपपद पङ्क, धातु जन्, प्रत्यय ड, इन तीन अवयवों के योग से पङ्कज पद बना है। उनमें से उपपद का अर्थ 'कीचड़' धातु का अर्थ 'उत्पन्न होना' और प्रत्यय का अर्थ 'वाला' है। परस्पर साकाङ्क्ष रहने के कारण जब उन सब अर्थों का अन्वय होता है, तब 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' यह अर्थ प्रकाशित होता है। किन्तु 'पङ्कज' पद से केवल इतना ही अर्थ प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि ऐसी स्थिति में कीचड़ से उत्पन्न होने वाले शैवाल आदि सभी पदार्थ पङ्कज कहलाने लगेंगे। अतः यह मानना पड़ता है कि उक्त अवयवों की शक्ति से भिन्न एक समुदायशक्ति भी यहाँ है, जिसके द्वारा 'कमलत्व' जाति से युक्त पदार्थ की प्रतीति होती है। वह कमलत्वजाति-युक्त पदार्थ भी पङ्क से उत्पन्न होनेवाला ही है अतः अवयव और समुदाय दोनों की शक्तियों का मिश्रण यहाँ समझा जाता है।

आमीषामभिधाप्रभेदानां प्राचीनैः प्रयुक्तानि पर्यायान्तराणि दर्शयति—

एता एव विधा रूढि-योग-योगरूढिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते।

विधाः प्रकाराः। अभिधायाः प्रागुक्तानां केवलसमुदायशक्ति-केवलावयवशक्ति-समुदायावयवशक्तिसंकरात्मक-प्रभेदानामेव क्रमशो रूढि-योग-योगरूढिशब्दैर्व्यवहारः प्राचीनैः क्रियत इति भावः।

प्राचीन आचार्यों के द्वारा उक्त अभिधा-प्रभेदों का व्यवहार भिन्न नाम से किया है, इसी बात का उल्लेख करते हैं—एता इत्यादि। प्राचीन आलङ्कारिक केवल समुदायशक्ति का रूढि शब्द से, केवल अवयवशक्ति का योग शब्द से और समुदायावयवशक्तिसंकर का योगरूढि शब्द से व्यवहार करते हैं।

दीक्षितोक्तौ पूर्वोक्तदूषणान्यतिदिशति—

यत्तु—'अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढिः। अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः। उभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढिः।' इति वृत्तिवार्तिकेऽप्पयदीक्षितैरुक्तम्, तन्न। अभिधालक्षणोक्तदूषणानामिहापि दुर्वारत्वात्।

दूषणानामिति। प्रतिपादकत्वनिष्ठतत्त्वासंभवासंगत्यात्माश्रयणामित्यर्थः। अखण्डा—अवयवविभागरहितकेवलसमुदायनिष्ठा या शक्तिः, तया या पदनिष्ठैकार्थप्रतिपादकता सा रूढिः, केवलावयवशक्तिसापेक्षा या पदनिष्ठैकार्थप्रतिपादकता सा योगः, एवम् समुदायावयवोभयशक्तिसापेक्षा या पदनिष्ठैकार्थप्रतिपादकता सा योगरूढिरित्यर्थकानि यानि मूलोक्तानि रूढि-योग-योगरूढीनां लक्षणानि वृत्तिवार्तिकाभिधाने निबन्धे दीक्षितमहाभागेन कृतानि, तानि न सम्यञ्चि, प्रतिपत्तिहेतुत्वरूपशब्दगतप्रतिपादकत्वज्ञानस्यार्थ-प्रतिपत्तिं प्रत्यहेतुत्वादसंभवः, अभिधातः शक्तेरन्यत्वाभावादसंगतिः, स्वज्ञाने स्वज्ञानापेक्षणादात्माश्रय इत्येषामभिधालक्षणोक्तदूषणानामत्रापि दुर्वारत्वादिति भावः।

अब इस प्रसङ्ग पर भी दीक्षित के मत का खण्डन करते हैं—यत्तु इत्यादि। 'अखण्ड—अर्थात् अवयव-विभाग-रहित केवल समुदायनिष्ठ-शक्ति से पद में रहनेवाली एक अर्थ की प्रतिपादकता का नाम 'रूढि' है। केवल अवयवशक्ति की अपेक्षा करनेवाली-पदनिष्ठ प्रतिपादकता का नाम 'योग' है और समुदायशक्ति तथा अवयव शक्ति दोनों की अपेक्षा करनेवाली प्रतिपादकता का नाम 'योगरूढि' है।' ये लक्षण क्रमशः रूढि, योग और योग रूढि के अप्पयदीक्षित ने अपने वृत्तिवार्तिक नामक निबन्ध में किये हैं, परन्तु वे लक्षण ठीक नहीं हैं, क्योंकि उनके अभिधा-लक्षण में जो सब दोष दिखलाये गए हैं, वे सभी दोष यहाँ भी हो सकते हैं और उन दोषों का वारण भी नहीं किया जा सकता—अर्थात् शब्दगत प्रतिपादकता का अर्थ, प्रतीति का हेतु होना ही होता है और उस प्रतिपादकता का ज्ञान अर्थ की प्रतीति में कारण नहीं होता, अतः उक्त लक्षणों में असंभव दोष हो जायगा, शक्ति से भिन्न रूढि आदि कोई वस्तु होती नहीं अतः असंगति दोष भी होगा, एवम् शक्ति के ज्ञान में शक्ति-ज्ञान की अपेक्षा हो जाने से आत्माश्रय दोष का अवसर भी आ जायगा।

अथेदानीमश्वगन्धादिकतिपयविशिष्टशब्दानां शक्तिरुक्तेषु अभिधाभेदेषु कुत्रान्तर्भवतीति विचारयितुमुपक्रमते—

अथ अश्वगन्धा-अश्वकर्ण-मण्डप-निशान्त-कुवलयादिशब्देषु का शक्तिरिति।

मूलोक्ता अश्वगन्धादयः शब्दाः सर्वे द्व्यर्थकाः, तत्रैकस्यार्थस्य समुदायशक्त्या (रूढ्या) द्वितीयस्यावयवशक्त्या (यौगेन) सर्वेभ्यः शब्देभ्यः प्रतीतिर्भवति, अतस्तेषु शब्देषु का शक्तिः? केवलसमुदायशक्तिः केवलावयवशक्तिः समुदायावयवशक्तिसंकरो वेति विचारणीयमिति भावः।

अब अश्वगन्धा आदि कतिपय शब्दों की शक्ति, उक्त अभिधा-प्रभेदों में अन्तर्भूत हो सकती है अथवा नहीं इत्यादि विचार का आरम्भ करते हैं—अथ इत्यादि। यहाँ अब विचारणीय यह है कि अश्वगन्धा, अश्वकर्ण, मण्डप, निशान्त और कुवलय आदि पदों में उक्त तीनों भेदों में से कौन-सी शक्ति है? इस तरह का विचार यहाँ इसलिये उठता है कि पूर्वोक्त सभी शब्दों के दो-दो अर्थ हैं अर्थात् अश्वगन्धा शब्द के एक प्रकार का औषध, असगन्ध और घोड़ों के गन्धवाली, अश्वकर्ण शब्द के एक औषध और घोड़े का कान, मण्डप शब्द के मँड़वा (गृह विशेष) और भात का माँड़ पीनेवाला, निशान्त

शब्द के गृह और रात्रि का अन्त (प्रभात) तथा कुवलय पद के रात्रि में विकसित होनेवाला कमल और पृथ्वीमण्डल अर्थ होते हैं। इन अर्थों में प्रथम-प्रथम अर्थसमुदाय शक्ति (रूढि) द्वारा और द्वितीय-द्वितीय अर्थ अवयवशक्ति (योग) द्वारा प्रतीत होते है। अतः यहाँ किसी एक शक्ति से कार्य नहीं बन सकता।

पूर्वजिज्ञासितां शक्तिं मतभेदेन ज्ञापयिष्यन् तावत्प्रथममतमाह—

अत्र केचित्—'अश्वगन्धारसं पिबेत्' इत्यादिषु विषयविशेषे केवलसमुदायशक्तिः। अश्वगन्धा वाजिशाला, इत्यादिषु तु केवलयोगशक्तिः। समुदायावयवशक्त्योरुभयोरेकशब्दाश्रयत्वे कथं केवलत्वविशेषितयोराद्यद्वितीयभेदयोः प्रसक्तिरिति तु न शङ्क्यम्। समुदायावयवशक्तिवेद्ययोरर्थयोरन्वयेन तादृशशक्त्योः कैवल्यस्य साम्राज्यात्। इदमेव हि केवलत्वमिह विवक्षितम्, यदन्वया योग्यार्थबोधकत्वम्। संकरस्त्वन्वययोग्यार्थबोधकयोरेवेति न तस्यात्र प्रसक्तिः' इत्याहुः।

अश्वगन्धादिशब्दे क्वचित् केवलसमुदायशक्तिः, क्वचित् केवलयोगशक्तिः, यथा—'अश्वगन्धारसं पिबेत्' इत्यादौ औषधतात्पर्येण प्रयुक्ते प्रथमा, 'अश्वगन्धा वाजिशाला' इत्यादौ अश्वस्य गन्धो यस्यामित्यर्थतात्पर्येण प्रयुक्ते द्वितीया। यद्यपीह कथं तादृशशक्तिद्वयसमावेश एकस्मिन् शब्दे, अवयवशक्तेरपि सद्भावेन केवलसमुदायशक्तेः, समुदायशक्तेरपि सत्त्वेन केवलावयवशक्तेश्चासत्त्वादिति शङ्का आपाततः समुदेति, तथापि अवयवशक्तिबोध्यार्थान्वयायोग्यार्थबोधकत्वरूपस्य केवलत्वस्य समुदायशक्तौ, समुदायशक्तिबोध्यार्थान्वययोग्यार्थबोधकत्वरूपस्य केवलत्वस्यावयवशक्तौ विवक्षणेन सामञ्जस्ये तादृशशङ्काया नोत्थानम्। योगरूढ्यपरपर्यायः संकरस्तु नैतादृशस्थले सम्भवति, परस्परान्वययोग्यार्थद्वयबोधकभेदयोरेव तत्स्वीकारात्। प्रकृते चाश्वसंबन्धिगन्धविशिष्टौषधिरूपयोरर्थयोः मिथोऽन्वययोग्यत्वविरहात् इति भावः।

अब पूर्व जिज्ञासा की शान्ति के लिये मतभेद से उत्तर करते हैं—अत्र इत्यादि। उक्त प्रश्न के उत्तर में कुछ लोगों का कथन है कि—'अश्वगन्धारसं पिबेत्—अर्थात् असगन्ध का रस पीवे' इत्यादि स्थल-विशेष—जहाँ औषधरूप अर्थ में अश्वगन्धा पद प्रयुक्त हुआ हो—में केवल समुदायशक्ति (रूढि) माननी चाहिए। और 'अश्वगन्धा वाजिशाला—अर्थात् घोड़ों के गन्ध वाली घुड़साल' इत्यादि स्थलविशेष—जहाँ वाजिशालारूप अर्थ में अश्वगन्धा पद प्रयुक्त हुआ हो—में केवल अवयवशक्ति (योग) माननी चाहिए। यद्यपि यहाँ यह शंका की जा सकती है कि जब समुदायशक्ति (रूढि) और अवयवशक्ति (योग) दोनों के लक्षणों में 'केवल' विशेषण लगाया गया है, अर्थात् जब समुदायार्थमात्र-बोधक पद में रूढिशक्ति और अवयवार्थ मात्र-बोधक पद में योगशक्ति मानी गई है, तब अश्वगन्धा इस एक पद में ही दोनों शक्तियाँ कैसे मानी जा सकती हैं अर्थात् यहाँ रूढि शक्ति मानी नहीं जा सकती, क्योंकि यह पद अवयवार्थ का भी बोधक, स्थान-विशेष में होता है, योगशक्ति भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि स्थानविशेष में यह पद समुदायार्थ का भी बोधक होता है; तथापि यह कहा जा सकता है कि 'केवल' विशेषण का अभिप्राय यहाँ अन्य अर्थ का बोधक नहीं होना नहीं है, अपितु अन्य अर्थ के साथ अन्वित न हो सकनेवाले अर्थ का बोधक होना है अर्थात् जहाँ समुदायार्थ ऐसा रहेगा, जिसका अन्वय अवयवार्थ के साथ नहीं बन सकेगा, वहाँ केवल समुदायशक्ति मानी जायगी और जहाँ अवयवार्थ ऐसा होगा, जिसका अन्वय समुदायार्थ के साथ नहीं बन सकेगा, वहाँ केवल अवयवशक्ति मानी जायगी। अब आप सोचिए कि अश्वगन्धा पद में ये दोनों केवल विशेषणविशिष्ट शक्तियाँ रह सकती हैं या नहीं? मैं कहूँगा कि अवश्य रह सकती हैं, क्योंकि अश्वगन्धा पद का औषधरूप

समुदायार्थ ऐसा है ही, जिसका वाजिशालारूप अवयवार्थ के साथ अन्वय नहीं होता, इसी तरह घोड़े के गन्धवाली घुड़सालरूप अवयवार्थ भी ऐसा ही है, जिसका उक्त समुदायार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता। आप कहेंगे—इस स्थिति में दोनों शक्तियों के मिश्रण-रूप अभिधा के तृतीय भेद (योगरूढि) से इसमें क्या अन्तर रहा ? तो इसका उत्तर यह है कि मिश्रण वहाँ माना जाता है, जहाँ ऐसे दो अर्थों का बोध होता हो, जो परस्पर अन्वित हो सकें, जैसे पङ्कज पद के स्थल में कमलरूप समुदायार्थ और कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला रूप अवयवार्थ परस्पर अन्वित होने योग्य हैं अर्थात् कमल भी कीचड़ से ही उत्पन्न होता है अतः 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला कमल' ऐसा अन्वित अर्थ ज्ञात होता है। अश्वगन्धा पद के दोनों अर्थ ऐसे नहीं हैं जो परस्पर अन्वित हो सकें, अतः यहाँ शक्ति-द्वय मिश्रण का प्रसङ्ग ही नहीं आता।

तादृशकैवल्यविवक्षायां मानाभावात् मतान्तरमाह—

अन्ये तु—'अश्वकर्णादिशब्देषु नाभिधायाः प्रथमद्वितीययोर्विधयोः प्रसक्तिः, कैवल्यविरहात्। परन्तु संकरस्य द्वौ भेदौ—योगरूढिर्यौगिकरूढिश्चेति। तत्राद्यस्योदाहरणं पङ्कजादिशब्दाः। द्वितीयस्य त्वश्वकर्णादयः' इत्याहुः।

अश्वगन्धा-अश्वकर्णादिशब्देषु कैवल्यविशेषितयोः प्रथमद्वितीयभेदयोरप्रसक्त्या तत्संग्रहाय संकरस्य यौगिकरूढिनामकोऽप्येको भेदः स्वीकार्य इति भावः।

'केवल' विशेषण का जो अर्थ पूर्व मत में किया गया है, उसमें कोई प्रमाण नहीं, अतः मतान्तर का उल्लेख करते हैं—अन्ये तु इत्यादि। अन्य विद्वानों का कथन है कि अश्वगन्धा, अश्वकर्ण आदि पदों में अभिधा के प्रथम अथवा द्वितीय अर्थात् रूढि किंवा योगभेद की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ एक ही पद में दोनों तरह की शक्तियों के रहने के कारण केवलत्व नहीं होता। अतः संकरात्मक तृतीय अभिधा-भेद के पुनः दो भेद मानने चाहिएँ, एक योगरूढि और दूसरा यौगिकरूढि। उनमें से प्रथम भेद का उदाहरण है पङ्कज आदि पद और द्वितीय भेद का अश्वगन्धा, अश्वकर्ण आदि पद।

संकरस्य योगरूढिशब्देनैव प्रसिद्धेर्मतान्तरमाह—

'चतुर्थ एवायमभिधाया भेदः' इत्यप्यन्ये।

अभिधापदसंबद्धेनैवकारेण संकरभेदनिरासः। यौगिकरूढिनामकं भेदान्तरं न संकरस्य, अपि तु अभिधाया एव। तथा चाभिधायाश्चत्वारो भेदा इति भावः।

योगरूढि से भिन्न संकर का भेद कहीं प्रसिद्ध नहीं, अतः तृतीय मत दिखलाते हैं—चतुर्थ इति। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि यह यौगिकरूढि नामक संकरात्मक तृतीय अभिधा-भेद का उपभेद नहीं है, अपितु स्वतन्त्ररूप से अभिधा का ही एक भेद है अर्थात् अभिधा के चार (रूढि, योग, योगरूढि और यौगिकरूढि) भेद हैं, तीन ही नहीं।

सिद्धान्तमाह—

'अखण्डा एव हि शब्दाः। तत्र समासेषु पदानाम् 'कृत्तद्धिततिङन्तेषु च प्रकृतिप्रत्ययानां विभागः काल्पनिक एवेति कुत्रास्ति योगशक्तिः ? विशिष्टस्य विशिष्टार्थे रूढेरेवाभ्युपगमात्' इत्यपि वदन्ति।

हीत्यर्थे। तत्रेति। अखण्डानां शब्दानां मध्ये इत्यर्थः। पदानि द्विविधानि, समस्तान्यसमस्तानि च। द्विविधान्यपि अखण्डानि-निरवयवानि। लघूपायेन शब्दज्ञानाय शाब्दिकैः स्वशास्त्रप्रक्रियानिर्वाहार्थम् समासे पदानां कृदन्ते तद्धितान्ते तिङन्ते च प्रकृतिप्रत्ययानां काल्पनिको विभागः स्वीकृतः। एषा च शाब्दिकानां सिद्धान्तभूता सरणिः। तथा च तेषामुक्तिः—'पदेन वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च। वाक्ये पदानामत्यन्तं प्रविभागो न

विद्यते ॥' इत्यादि। एवञ्च योगशक्तेरवसर एव नास्ति। विशिष्टपदवाक्यादेर्विशिष्टार्थे रूढिरेवेति भावः। अभिधाया रूढ्याख्य एक एव भेद इति तात्पर्यम्।

अब अभिधा के संबन्ध में सिद्धान्तभूत मत का उल्लेख करते हैं—अखण्डा इति। पद दो प्रकार के होते हैं, एक समास करके बनाए गए और दूसरे समासरहित। दोनों ही प्रकार के पद अखण्ड हैं—निरवयव हैं। केवल लघु उपाय से शब्द-ज्ञान कराने के लिये वैयाकरणों ने अपने शास्त्र की प्रक्रिया के निर्वाहार्थ समास में भिन्न-भिन्न पदों का और कृदन्त, तद्धितान्त तथा तिङन्त पदों में प्रकृति-प्रत्ययों का काल्पनिक विभाग मान लिया है अर्थात् वस्तुतः ये सब विभाग हैं नहीं। अत एव उन्होंने कहा है—'पदेन वर्णा विद्यन्ते' 'इत्यादि अर्थात् पदों में वर्ण नहीं, वर्णों में अवयव नहीं और वाक्यों में पदों का विभाग भी नहीं है।' इस युक्ति के अनुसार योगशक्ति का कहीं प्रसङ्ग आ ही नहीं सकता। अतः यह मानना चाहिए कि अखण्ड पद की अखण्ड पदार्थ में और अखण्ड वाक्य की अखण्ड वाक्यार्थ में केवल रूढि ही शक्ति है। तात्पर्य यह हुआ कि अभिधा का रूढि नामक एक ही भेद है, तीन अथवा चार नहीं।

शङ्कते—

अथ—

'गीष्पतिरप्याङ्गिरसो गदितुं ते गुणगणान् सगर्वो न।
इन्द्रः　सहस्रनयनोऽप्यद्भुतरूपं　परिच्छेत्तुम् ॥

इत्यादौ रूढ्यर्थमादाय पुनरुक्त्यापत्तिः।

अथेति। अभिधाया उक्तस्य भेदत्रयरूपभेदचतुष्टयस्य वा स्वीकृतेरुत्तरमित्यर्थः। गीष्पतिरिति। राजवर्णनमिदम्—हे राजन्! गीष्पतिः वाचः स्वामी अपि, आङ्गिरसः बृहस्पतिः, ते तव, गुणगणान् पराक्रमौदार्यादिगुणसमूहान्, गदितुं वक्तुम्, सगर्वः साहंकारो न भवतीति शेषः। तथा सहस्रनयनोऽपि नेत्रसहस्रसहितोऽपि, इन्द्रः, ते, अद्भुतरूपम् आश्चर्यकरं स्वरूपं, परिच्छेत्तुम् अर्थात् इयत्तया निश्चेतुम्, सगर्वो नेत्यर्थः। राजन्! त्वयि इयन्तो गुणाः सन्ति, यान् अपरिमितवाक्शक्तिर्बृहस्पतिरपि वर्णयितुं न प्रभुः, एवम् तव रूपे वर्तमानाया आश्चर्यकारिताया इयत्तां निश्चेतुं नयनसहस्रशाली इन्द्रोऽपि न समर्थः, अस्माकं स्वल्पवाक्शक्तीनां नेत्रद्वयशालिनां तु कथैव का? सर्वथा अवर्णनीया तव गुणाः, इयत्तारहितञ्च रूपमिति भावः। अत्राङ्गिरसेन्द्रशब्दौ रूढिशक्त्या बृहस्पति-देवराजौ बोधयतः। गीष्पतिसहस्रनयनशब्दौ च योगरूढिशक्त्या तावेवाभिधत्तः। एवञ्च गीष्पतिसहस्रनयनपदयोरर्थमादाय पुनरुक्तिदोषापातः स्पष्ट एवेति भावः।

इस प्रसङ्ग पर एक शंका का उल्लेख करते हैं—अथ इत्यादि। आप कहेंगे कि इतना सब होने पर भी—'गीष्पतिरपि' 'अर्थात् (हे राजन्!) 'गीष्पति'—वाणी के अधिपति भी—आङ्गिरस—बृहस्पति आपके पराक्रम, औदार्य आदि गुण-गणों का यथावत् वर्णन करने का गर्व नहीं कर सकते और सहस्र-नयन—हजार चक्षुवाले भी इन्द्र आपके आश्चर्यजनक रूप की इयत्ता को बतलाने का घमंड नहीं कर सकते।' तात्पर्य यह कि 'आप में इतने गुण हैं, जिनको वाचस्पति भी नहीं कह सकते, एवम्—आपका रूप आश्चर्यजनक है, जिसका माप कर सकना हजार नेत्रवाले इन्द्र के लिये भी संभव नहीं है, फिर हम अल्प वाक्शक्ति-वालों तथा दो नयनवालों की बात ही क्या? सारांश यह कि आपके गुण सर्वथा अवर्णनीय हैं और रूप इयत्ता-रहित है।' इत्यादि पद्य में रूढ्यर्थ को लेकर पुनरुक्ति-दोष होने लगेगा अर्थात्—'गीष्पति' और 'सहस्रनयन' पद योगरूढ हैं, अतः उन दोनों पदों से ही योग तथा रूढि दोनों शक्तियों के मिश्रण से क्रमशः 'वाणी का अधिपति आङ्गिरस'

और 'हजार नेत्रवाला इन्द्र' इन अर्थों का बोध हो ही जाता है, फिर 'आङ्गिरस' और 'इन्द्र' पदों का प्रयोग पुनरुक्तिदोष-ग्रस्त है।

उक्तापत्तेः समाधानाभासमुपपाद्य खण्डयति—

न चैवंविधपदद्वयसमभिव्याहारस्थले योगरूढपदस्यावयवार्थमात्रबोधकत्वम्, तावन्मात्रस्यैव प्रकृतोपयोग्यातिशयविशेषसमर्पकत्वात् इति वाच्यम्। एवमपि योगरूढपदस्य रूढिशक्तेरनियन्त्रणेन योगार्थमात्रप्रतिपादकताया अनुपादानादुक्तदोषस्यानुवृत्तेः। एकेनैव पदेन योगार्थरूढ्यर्थयोरुभयोरप्यावश्यकयोरर्थयोरुपस्थितिसंभवेन द्वितीयपदप्रयोगस्य नैरर्थक्यापत्तेश्च, इति चेत्।

अतिशयेति। राजनिष्ठगुणाद्यतिशयेत्यर्थः। अनियन्त्रणेन असंकोचेन। शक्तिसंकोचकानां प्रकरणादीनामभावादिति भावः। अनुपादानादिति। अग्रहणादित्यर्थः। अज्ञानादिति यावत्। शक्तिनियामकप्रकरणादिसत्त्वेऽप्याह—एकेनैवेति। आवश्यकयोरिति। पदद्वयोल्लेखबलेनोक्तातिशयव्यञ्जनार्थमिति भावः। उक्तपुनरुक्त्यापत्तिः तदैव संभवति, यदि गीष्पतिसहस्रनयनपदे योगार्थेन सह रूढ्यर्थमपि बोधयेताम् परन्तु तदेव नास्ति, ईदृशरूढयोगरूढोभयविधशब्दप्रयोगस्थले योगरूढपदस्य योगार्थमात्रबोधकत्वस्वीकारेण तयोः पदयोर्वागधिपति-नेत्रसहस्रविशिष्टमात्रबोधकत्वात्। कुत ईदृशस्थले योगरूढपदस्य योगार्थमात्रबोधकत्वमिति चेत् तावन्मात्रस्यैव राजादिगतगुणरूपयोरवर्णनीयत्वलक्षणातिशयव्यञ्जकत्वेनावश्यकत्वात्, रूढ्यर्थस्य पदान्तरेण बोधनाच्चेति समाधानमापाततः संभाव्यमानमपि न युक्तम्, शक्तिनियामकस्य प्रकरणादेरसत्त्वेन गीष्पतिसहस्रनयनरूपयोर्योगरूढपदयोः रूढिशक्तेरनियमनेन योगार्थमात्रबोधकताया अज्ञानात् रूढ्यर्थबोधे अवारिते पुनरुक्त्यापत्तेस्तादवस्थ्यात्। प्रकरणादिनियामकसत्त्वाङ्गीकारे पुनस्तथा संभवेऽपि आङ्गिरसेन्द्रादिरूपद्वितीयपदप्रयोगनैरर्थक्यापातदोषस्य दुर्वारत्वाच्च। कथं तन्नैरर्थक्यमिति चेदित्थम्—योगरूढं रूढञ्च पदं प्रयुज्य पुनरुक्तिभिया प्रकरणादिना योगरूढपदस्य रूढशक्तेर्नियमनं व्यर्थम्। यतः तथाकरणे एकेन पदेन रूढ्यर्थस्य द्वितीयेन योगार्थस्य च बोध एव तु उद्देश्यम्। तस्योद्देशस्य पूर्तिः एकेन योगरूढपदेनापि संभवति। न च प्रकरणादिना संकोचे कथं द्वयोरर्थयोर्लाभ एकस्मात् पदादिति वाच्यम्, अभिधानियामकप्रकरणोक्तस्वसिद्धान्तानुसारेण सत्यावश्यकत्वे द्वयोरर्थयोर्बोधस्योत्पत्तौ बाधकाभावादिति भावः।

उक्त शंका के आपाततः एक समाधान का उल्लेख कर उसका खण्डन करते हैं—न चैव इत्यादि। यदि कोई कहे कि इस तरह जहाँ रूढ और योगरूढ दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ हो वहाँ गीष्पति आदि योगरूढ पद केवल अवयवार्थ (योगार्थ) के बोधक होते हैं, समुदायार्थ (रूढ्यर्थ) के नहीं, क्योंकि ऐसे स्थानों में अवयवार्थ ही प्रस्तुत विषय के उपयोगी विशिष्ट प्रकार के अतिशय को उपस्थित करनेवाला रहता है अर्थात् वर्णनीय राजा के गुण-रूपों को अवर्णनीय सिद्ध करने में गीष्पति तथा सहस्रनयन पद के योगार्थ ही सहायक होते हैं रूढ्यर्थ नहीं। तात्पर्य यह कि इस तरह से योगरूढ पद को केवल योगार्थोपस्थापक मान लेने पर पुनरुक्ति नहीं होगी, परन्तु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि एक तो यह कि जब प्रकरण आदि कोई नियामक है नहीं, तब योगरूढ (गीष्पति आदि) पद की रूढिशक्ति नियन्त्रित नहीं हो सकेगी और अनियन्त्रण की स्थिति में वह पद योगार्थमात्र का प्रतिपादक है, ऐसा निश्चय ही नहीं हो सकता, अर्थात् योगरूढ पद रूढ्यर्थ का भी बोध कराएगा ही, किसी के कथन मात्र से वह रुकेगा नहीं, अतः उक्त दोष (पुनरुक्ति) बना ही रहा, हटा नहीं। दूसरा यह कि यदि किसी तरह नियामक (प्रकरणादि) को खोजकर उक्त योगरूढ पदों को

ईदृश स्थल में योगार्थमात्र के बोधक बना भी देंगे, तब भी यह आपत्ति तो बनी ही रहेगी कि जब योगरूढ (गीष्पति सहस्रनयन) पद से ही योगार्थ और रूढ्यर्थ दोनों के बोध हो सकते हैं, तब पृथक् रूढपद (आङ्गिरस और इन्द्र) के प्रयोग क्यों किये जायँ, अर्थात् वे पद व्यर्थ हो जाते हैं। सारांश यह कि प्रकरण आदि को नियामक मानकर द्वितीय-पद-प्रयोग को सार्थक बनाना समुचित नहीं। अभिधानियामक-प्रकरणोक्त स्व-सिद्धान्त के अनुसार आवश्यकता होने पर दो अर्थों का बोध एक पद से माना जा सकता है। अतः पुनरुक्ति दोषवाली शंका पूर्ववत् बनी रह जाती है।

सिद्धान्तभूतं समाधानमाह—

अत्राहुः—एकपदोपात्तत्वादन्तरङ्गाकाङ्क्षावशेन प्रथमं योगार्थरूढ्यर्थयोरन्वये सति समुल्लसितस्य विशिष्टार्थस्यैव पदान्तरार्थेनान्वयः, न तु तयोरेव विशकलितयोरिति यद्यपि न्यायसिद्धोऽर्थः तथापि शक्त्याऽर्थस्य प्रतिपादने स्यादेवम्। लक्षणायां तु योगरूढेन योगार्थमात्रप्रतिपादनेन न किञ्चिद्बाधकमस्ति। नापि द्वितीयपदप्रयोगस्य नैरर्थक्यम्। तथा सति रूढ्यर्थबोधनेन गतार्थेन योगरूढशब्देन प्रतिपाद्यमानस्य योगार्थस्य पङ्कजाक्षीत्यादाविव नान्तरीयकत्वशङ्कया कुर्वद्रूपताया अपहृतौ प्रकृतोपयोग्यातिशयविशेषव्यञ्जनस्य पाक्षिकत्वापत्तेः। द्वितीयपदयोगे तु तेनैव रूढ्यर्थप्रतिपादने सिद्धे योगरूढपदप्रतिपाद्यस्य योगार्थस्य नान्तरीयकत्वशङ्काया अयोगात्कुर्वद्रूपत्वेन व्यङ्ग्यविशेषव्यञ्जकत्वं नियमेन सिद्ध्यति।

एकपदोपात्तेति। अन्तरङ्गत्वे हेतुरयम्। समुल्लसितस्य सम्पन्नस्य। विशिष्टार्थस्येति। वाक्स्वाम्यभिन्नाङ्गिरसस्य, सहस्रनयनाभिन्नेन्द्रस्य चेत्यर्थः। पदान्तरेति। आङ्गिरसेन्द्रपदार्थाभ्यामिति भावः। तयोः योगार्थरूढ्यर्थयोः। विशकलितेति। पदान्तरार्थेनान्वय इत्यस्यानुषङ्गः। गीष्पति-सहस्रनयनपदलभ्ययोगार्थरूढ्यर्थयोः परस्परमनन्वितयोः आङ्गिरसेन्द्रपदार्थाभ्यां सहान्वयो नेति भावः। योगार्थमात्रबोधकत्वानुपादानप्रयुक्तपुनरुक्तिरूपमाद्यदोषमुद्धृत्य रूढपदप्रयोगनैरर्थक्यरूपं द्वितीयं दोषमुद्धरति—नापीति। तथा सति रूढ्यर्थमात्रबोधकद्वितीयपदानुपादाने सति। नान्तरीयकत्वेति। मुख्यतात्पर्याविषयत्वेत्यर्थः। पाक्षिकेति। नान्तरीयकत्वशङ्काया अभावे इष्टसिद्धिः संभवत्यपीत्यर्थः। अत एवाग्रे नियमेनेति वक्ष्यति। कुर्वद्रूपत्वेनेति। कार्यजननोन्मुखत्वेनेत्यर्थः। योगशक्तिरूढिशक्तिभ्यां गीष्पतिपदेनाभिहितयोः वाक्पत्याङ्गिरसत्वयोरेवं सहस्रनयनपदेनाभिहितयोर्नेत्रसहस्रवदिन्द्रत्वयोरर्थयोः प्रथममभेदान्वयः, श्रोतृणामेतत्पदद्वयविषयकान्वयजिज्ञासारूपाकांक्षाया एकपदोपात्तत्वज्ञानमूलकान्तरङ्गत्वेन प्रागुदयात्, ततस्तथाऽन्वितस्य गीष्पतिपदार्थस्याङ्गिरसपदार्थेन, एवमन्वितस्य सहस्रनयनपदार्थस्येन्द्रपदार्थेन सहाभेदान्वयः, न तु अनन्वितस्य गीष्पतिपदवाच्ययोगार्थरूढ्यर्थसमुदायस्याङ्गिरसपदार्थेन, एवं सहस्रनयनपदवाच्ययोगार्थरूढ्यर्थसमुदायस्येन्द्रपदार्थेन, तदन्वयजिज्ञासात्मिकाया आकांक्षाया भिन्नपदोपात्तत्वज्ञानमूलकबहिरङ्गत्वेन पश्चादुदयात्। तथा च 'आङ्गिरसः वाक्पत्यभिन्न आङ्गिरसः, इन्द्रः सहस्रनयनाभिन्न इन्द्रः' इत्याकारकान्वयबोधः सम्पद्यते, स च नासंगतः, 'घटो नीलघटो न वा दण्डवान् रक्तदण्डवान् वा' इत्यादिसंशयनिवर्तकस्य तत्समानाकारस्य 'घटो नीलघटः दण्डवान् रक्तदण्डवान्' इत्याकारकस्य विधेयकोटावधिकावगाहिनोऽन्वयबोधस्य नवीनैः स्वीकारात्। परमियं रीतिः गीष्पतिसहस्रनयनादिपदस्य वाचकत्वं स्वीकृत्य शक्त्याऽर्थप्रतिपादने बोध्या। तादृशस्य योगरूढपदस्य लाक्षणिकत्वमङ्गीकृत्य लक्षणया योगार्थमात्र-

प्रतिपादने गीष्पत्यादियोगरूढपदलभ्ययोगार्थस्याङ्गिरसादिरूढपदार्थेनान्वये तु काऽपि बाधा नास्तीति सुगमोऽयं पन्थाः। इत्थञ्च पूर्वोक्तः पुनरुक्तिदोषः परिहृतोऽभूत्। आङ्गिरसेन्द्रादिरूढपदाप्रयोगे गीष्पतिसहस्रनयनादियोगरूढपदं रूढ्यर्थबोधनेन गतार्थमिति तादृशपदेन प्रतिपाद्यमानोऽपि योगार्थः पङ्कजाक्षीत्यादौ पङ्कजनिकर्तृरूपार्थवत् तात्पर्याविषयः इति शङ्कया तस्य योगार्थस्य कुर्वद्रूपता (कार्यकारिता) नश्येत्, तथा चाङ्गिरसो वाक्पतित्वे वर्तमानेऽपि तव गुणान् वक्तुमसमर्थः, इन्द्रः सहस्रनयनत्वेऽपि तव रूपं परिच्छेत्तुमक्षम इत्यर्थबोधनद्वारा राजगतावर्णनीयगुणरूपशालितात्मकातिशयव्यञ्जनं न स्यात्, उक्तशंकाया अनुत्थानेऽङ्गीकृते च तदतिशयव्यञ्जनं स्यादपीति वैकल्पिकं तदतिशयव्यञ्जनं भवेत्। गीष्पतिसहस्रनयनादियोगरूढपदप्रयोगे सत्यपि आङ्गिरसेन्द्रादिरूपरूढपदस्य प्रयोगे पुनः आङ्गिरसादिपदेनैव रूढ्यर्थप्रतिपादने जाते गीष्पत्यादिपदप्रतिपाद्यस्य योगार्थस्य तात्पर्याविषयत्वशंका न भवितुमर्हति, तल्लाभार्थमेव पृथक् योगरूढपदप्रयोगात्। तथा च तस्य योगार्थस्य कुर्वद्रूपताऽक्षुण्णा तिष्ठति, तेनोक्तातिशयव्यञ्जनं नियमतो जायते, नवैकल्पिकम्। एवञ्च द्वितीयपदप्रयोगनैरर्थक्यापत्तिरपि प्रागुक्ता समाहितेति भावः।

अब उक्त शंका का सिद्धान्तभूत समाधान करते हैं—अत्राहुः इत्यादि। 'गीष्पतिः आङ्गिरसः' यहाँ योगरूढशक्ति के द्वारा 'गीष्पति' का अर्थ होता है वाणी का पति बृहस्पति और रूढशक्ति के द्वारा 'आङ्गिरस' पद का अर्थ होता है केवल बृहस्पति। इस स्थिति में इन दोनों पदों के अर्थों का अन्वय किस तरह से हो, इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जायगा कि 'गीष्पति' पद से जो दो (योगार्थ तथा रूढ्यर्थ—वाणी का पति एवं बृहस्पति) अर्थ उपस्थित हैं, उन्हीं दोनों में परस्पर अन्वय होगा, क्योंकि 'वे दोनों अर्थ एक पद से उपस्थित हुए हैं' इस ज्ञान से श्रोता की अन्वयविषयक जिज्ञासारूप आकाङ्क्षा उन्हीं दोनों अर्थों के विषय में पहले उदित होगी, अतः वही आकाङ्क्षा अन्तरङ्ग होगा। उन एकपदोपस्थापित दो अर्थों का परस्पर अन्वय जब तक नहीं हो जायगा, तब तक उन दोनों अर्थों का अन्वय आङ्गिरस पद के रूढ्यर्थ (बृहस्पति) के साथ नहीं हो सकता, क्योंकि 'दो पदों से वे अर्थ उपस्थित हुए हैं' इस ज्ञान के कारण उन दोनों अर्थों के विषय में अन्वय-जिज्ञासारूप आकाङ्क्षा पश्चात् उदित होगी, अत एव बहिरङ्ग होगी। इस निर्णय के अनुसार पहले 'वाणीपति से अभिन्न बृहस्पति' इस प्रकार से 'गीष्पति' पदोपस्थापित अर्थों का अन्वय हो चुकने के बाद उस अन्वित अर्थ का 'आङ्गिरस'पदोपस्थापित रूढ्यर्थ (बृहस्पति) के साथ 'बृहस्पति, वाणीपति से अभिन्न बृहस्पति' इस प्रकार से अन्वय होगा और इस तरह से अन्वय करने में कोई आपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि 'घट नील घट है कि नहीं, दण्डवाला रक्त दण्डवाला है कि नहीं' इस सन्देह की निवृत्ति के लिये 'घटो नीलघटः अर्थात् घट नील घट है' और 'दण्डवान् रक्तदण्डवान् अर्थात् दण्डवाला रक्त दण्डवाला है' इस तरह के विधेय अंश में अधिक (उद्देश्य अंश से कुछ अधिक) अर्थ को विषय बनानेवाले शाब्दबोध को नवीन विद्वानों ने स्वीकृत किया है। उक्त सन्देह की निवृत्ति 'नीलो घटः अर्थात् घट नील है' इस बोध (निश्चय) से नहीं हो सकता, क्योंकि समान आकारवाले निश्चय का ही समान आकारवाले सन्देह का निवर्तक माना जाता है। इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि जैसे 'घटो घटः अर्थात् घट घट है' 'दण्डवान् दण्डवान् अर्थात् दण्डवाला दण्डवाला है' इत्यादि बोध के न हो सकने पर भी 'घटो नीलघटः अर्थात् घट नीलघट है,' 'दण्डवान् रक्तदण्डवान् अर्थात् दण्डवाला रक्तदण्डवाला है' इत्यादि बोध होते हैं, उसी तरह 'बृहस्पति बृहस्पति' इस तरह के बोध के न हो सकने पर भी बृहस्पति वाणीपति से अभिन्न बृहस्पति है इस तरह का बोध हो ही सकता है। यही रीति 'इन्द्रः सहस्रनयनः' इत्यादि में भी समझ लेनी

चाहिए। अब उक्त स्थल पर पुनरुक्ति दोष की शंका वारित हो गई अर्थात् 'बृहस्पति बृहस्पति' इस तरह के बोध में ही पुनरुक्ति लगती है, 'बृहस्पति वाणीपति से अभिन्न बृहस्पति' इस तरह के बोध में नहीं। परन्तु इस तरह से पुनरुक्ति दोष का उद्धार तब किया जाना चाहिए, जब गीष्पति और आङ्गिरस दोनों पदों को वाचक ही माना जाय और दोनों पदों के शक्य अर्थ का ही अन्वय करना अभीष्ट हो। यदि गीष्पति आदि योगरूढ पद को लाक्षणिक मान लिया जाय अर्थात् उस पद से लक्षणया वाणीपतिरूप योगार्थमात्र की उपस्थिति मानी जाय, तब तो उस योगार्थ का आङ्गिरस के रूढ्यर्थ बृहस्पति के साथ अन्वय होने में कोई बाधा ही नहीं रह जाती अर्थात् गीष्पति—वाणी का पति, आङ्गिरस—बृहस्पति इस तरह का अन्वयबोध सर्वसम्मत ही है। तात्पर्य यह हुआ कि इस रीति से भी वहाँ पुनरुक्ति का उद्धार किया जा सकता है और यह रीति उक्त रीति से सरल भी पड़ती है। अब रह जाती है आपकी वह शंका, जिसमें कहा गया है कि गीष्पति आदि योगरूढ पद से ही योगार्थ (वाणीपति) और रूढ्यर्थ (बृहस्पति) दोनों अर्थों का बोध हो ही जायगा, फिर पृथक् रूढ पद (आङ्गिरस आदि) का प्रयोग व्यर्थ है। परन्तु वह शंका भी उचित नहीं, क्योंकि योगरूढ पद से पृथक् यदि रूढ पद का प्रयोग नहीं किया जायगा, तब योगरूढ (गीष्पति आदि) पद रूढ्यर्थ का बोध कराकर कृतार्थ हो जायगा, अतः उससे योगार्थ का प्रतिपादन होने पर भी, वह (योगार्थ) नान्तरीयक समझा जायगा अर्थात् यह समझा जायगा कि वक्ता का प्रतिपाद्य अर्थ है रूढ्यर्थ ही, परन्तु उसके लिये उसने प्रयोग कर दिया है योगरूढ पद का, अतः अनिवार्य होने के कारण उस पद से योगार्थ का भी बोध हो जाता है, किन्तु वह (योगार्थ) वक्ता का अभिप्रेत नहीं है। आप कहेंगे ऐसे नान्तरीयक अर्थ का बोध कहीं दिखलाया जा सकता है ? तो ग्रन्थकार कहते हैं—हाँ, देखिए—पङ्कजाक्षी पद का प्रयोग करनेवाले वक्ता का 'कमलसदृशनेत्रवाली' यही अर्थ अभिप्रेत रहता है, 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाले कमल के समान नेत्रवाली' यह अर्थ नहीं, और पङ्कजाक्षी पद के अन्तर्गत जो पङ्कज अंश है उससे उस अर्थ की भी प्रतीति तो अवश्य होती है क्योंकि वह पद योगरूढ है। अतः जैसे यहाँ प्रतीयमान होने पर भी 'कीचड़ से उत्पन्न' यह अंश नान्तरीयक समझा जाता है—वक्ता का तात्पर्य विषय नहीं समझा जाता, वैसे ही उक्त स्थल में भी समझा जायगा। आप पूछेंगे कि इससे क्या हुआ ? अर्थात् गीष्पति आदि योगरूढ पद से नान्तरीयकरूप में ही सही, योगार्थ का भी बोध होगा तो ? तब बिगड़ा क्या ? किसी रूप में उसका बोध कराना ही तो अभीष्ट है। इस पर ग्रन्थकार का कथन है कि नान्तरीयकरूप में योगार्थ का बोध यहाँ हुआ है ऐसी शंका यदि श्रोताओं को हो जायगी तब उस योगार्थ (वाणीपति आदि) में कुर्वद्रूपता नष्ट हो जायगी अर्थात् वह अर्थ कार्यकारी (कारगर) नहीं समझा जायगा और जब वह अर्थ कार्यकारी नहीं समझा जायगा, तब प्रकृतोपयोगी जो एक प्रकार का विशिष्ट अतिशय उस अर्थ के द्वारा व्यक्त होता था, वह नहीं होगा अर्थात् उस अर्थ से जो राजा की अवर्णनीय गुणशालिता आदि व्यक्त होती थी वह नहीं होगी। यदि किसी कारण से किसी को उक्त स्थिति में भी उक्त योगार्थ में नान्तरीयकत्व की शंका नहीं होगी, तब उसको उस अर्थ से उक्त अतिशय की अभिव्यक्ति यद्यपि होगी, तथापि इस तरह से वह अभिव्यक्ति पाक्षिक हो जायगी अर्थात् एक पक्ष (नान्तरीयकत्वशंका के अभाव) में होगी और एक पक्ष (नान्तरीयकत्व शंका के हो जाने पर) में नहीं होगी। और जब योगरूढ (गीष्पति आदि) से पृथक् रूढ (आङ्गिरस आदि) का भी प्रयोग किया जाता है, तब योगरूढ पद से प्रतिपादित होनेवाला योगार्थ नान्तरीयक नहीं समझा जा सकता, क्योंकि रूढ पद का पृथक् प्रयोग कर लेने के बाद भी जो वक्ता ने पृथक् योगरूढ पद का भी प्रयोग किया है, उससे उसका यही अभिप्राय समझा जायगा कि योगार्थ का बोध कराना वक्ता का परम अभिप्रेत है और जब ऐसा समझा जायगा तब उस योगार्थ में कुर्वद्रूपता (कार्यकारिता)

होगी, जिससे उक्त विशिष्ट अतिशय की अभिव्यक्ति नियमतः होगी, पूर्वोक्तरीति से वाचिक नहीं।

उपसंहरति—

एषा पदद्वयोपादानस्थले गतिरुक्ता।

यत्र रूढ-योगरूढोभयविधपदप्रयोगस्तत्र प्रागुपदर्शिता निर्वाहरीतिः कथितेति भावः।

'गीष्पतिरथाङ्गिरसः···' इत्यादि प्रकरण का उपसंहार करते हैं—एषा इत्यादि। ऊपर जो रीति दिखलाई गई है, वह वहाँ के लिये, जहाँ एक ही अर्थ के बोधक योगरूढ और रूढ दोनों प्रकार के पद प्रयुक्त हों।

नन्वेवं यत्र केवलं योगरूढं पदं प्रयुज्य रूढ्यर्थस्य योगार्थप्रतीतिद्वारकविशेषस्य च प्रत्यायनं क्रियते, तत्र कुर्वद्रूपताया अपहृतिः कुतो नेत्याह—

यत्र तु 'पुष्पधन्वा विजयते जगत्त्वत्करुणावशात्' इत्यादावेकेनैव पदेन रूढ्यर्थोपस्थितिर्योगार्थ।रा निःसारत्वाद्यवगमश्च भवति, तत्र कविकृतमन्मथ-रूढपदान्तरानुपादानपूर्वकपुष्पधन्वपदोपादानप्रतिसंधानेन तदीययोगार्थे कुर्व-द्रूपताधानं बोध्यम्।

'कामदेवः, त्वत्करुणावशात् त्वदीयदयाकारणात्, जगत् संसारम्, विजयते' इत्यर्थके मूलोक्तवाक्ये यद्यपि पुष्पधन्वेति योगरूढमेव पदं केवलम् प्रयुक्तम्, तथा च तत्र कामदेव-रूपरूढ्यर्थमात्रबोधनेन गतार्थेन तेन पदेन प्रतिपाद्यमानस्य पुष्पात्मकधनुर्धारिरूपस्य योगा-र्थस्य नान्तरीयकत्वशंकया कुर्वद्रूपताया अपहृतौ योगार्थद्वारकनिःसारत्वव्यञ्जनं कथं भवे-दिति शंका सम्भवति तथापि वर्तमानेषु कामदेवार्थकेषु बहुषु रूढपदेषु किमिति कविः पुष्प-धन्वरूपं योगरूढमेव पदं प्रायुङ्क्त, तदवश्यमत्र कवेः योगार्थप्रत्यायनद्वारा कस्यचनाति-शयस्याभिव्यक्तिरभिलषितेति प्रतिसंधानेन रूढ्यर्थबोधनगतार्थेनापि पुष्पधन्वरूपयोगरूढ-पदेन प्रतिपाद्यमाने योगार्थे नान्तरीयकत्वशंकानुत्थानपूर्वककुर्वद्रूपताज्ञानं भवतीति नोक्तश-ङ्कायाः संभव इति भावः।

जब आपने यह सिद्धान्त-सा मान लिया कि जहाँ केवल योगरूढ पद का प्रयोग रहता है, वहाँ उस पद से प्रतिपादित होनेवाला योगार्थनान्तरीयक-कुर्वद्रूपतारहित (कार्याक्षम) हो जाता है, अतः उससे किसी विशिष्ट अतिशय की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, तब जहाँ केवल योगरूढ पद का प्रयोग है और उसी से रूढ्यर्थ तथा योगार्थ की प्रतीति के द्वारा किसी अतिशय की भी प्रतीति होती है, वह कैसे? अर्थात् वहाँ कुर्वद्रूपता की हानि क्यों नहीं होती? इस शंका का समाधान अब करते हैं—यत्र तु इत्यादि। 'पुष्पधन्वा'···इत्यादि अर्थात् हे भगवन्! पुष्पधन्वा (कामदेव) तेरी दया से ही संसार का विजय करता है' इत्यादि स्थानों में जहाँ 'पुष्पधन्वा' आदि एक योगरूढ पद से ही कामदेवरूप रूढ्यर्थ और 'फूलों के धनुषवाला' इस योगार्थ के द्वारा कामदेव की निस्सारता (दुर्बलता) दोनों अर्थ ज्ञात होते हैं—वहाँ यद्यपि उक्त रीति से योगार्थ में कुर्वद्रूपता (कार्यकारिता) का विनाश हो जाना चाहिए परन्तु होता नहीं है, क्यों? इसलिये कि श्रोता जब यह सोचते हैं कि कामदेव के वाचक बहुतेरे रूढ पदों के उपस्थित रहने पर भी उन सबों को छोड़कर 'पुष्पधन्वा' इस योगरूढ पद का ही प्रयोग वक्ता (कवि) ने क्यों किया है? अवश्य कवि को योगार्थ के द्वारा किसी विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति करनी है, तब केवल 'पुष्पधन्वा' इस योगरूढ पद से भी प्रतिपादित योगार्थ में नान्तरी-यकत्व की शंका नहीं होती, अतः कुर्वद्रूपता का विनाश नहीं होता।

उपसंहरति—

तदित्थं द्वितीयपदस्योपादानेऽनुपादाने वा न क्षतिः।

पूर्वोक्तरीत्या सर्वत्र सामञ्जस्यसम्भवेन योगरूढपदप्रयोगे सति पृथक्रूढपदस्य प्रयोगेऽप्रयोगे वा न काप्यनुपपत्तिरिति भावः।

उपसंहार करते हैं—तदित्थम् इत्यादि। उक्त विवरणों से यह सिद्ध हुआ कि योगरूढ और रूढ दोनों तरह के पदों का प्रयोग किया जाय अथवा केवल योगरूढ पद का ही—दोनों स्थितियों में कोई आपत्ति नहीं, अर्थात् दोनों रीतियाँ चल सकती हैं।

स्थलान्तरेऽपि पूर्वोक्ताम् रीतिमतिदिशति—

एवं जात्यन्तरविशिष्टवाचकपदसमभिव्याहारेऽपि।

कस्यचित् प्रयुक्तस्य योगरूढस्य शब्दस्य समीपे यदि तदीयरूढ्यर्थगतजातिभिन्नजातिविशिष्टार्थवाचकं पदान्तरं प्रयुज्यते, तदा तद्योगरूढं पदं तत्र लक्षणया योगार्थमात्रप्रतिपादकं भवतीति भावः।

कतिपय भिन्न स्थानों में भी उक्त रीति का ही अनुसरण करना पड़ता है इसका उल्लेख करते हैं—एवम् इत्यादि। जहाँ किसी ऐसे योगरूढ पद का प्रयोग हो जिसके समीप ही उस योगरूढ पद के रूढ्यर्थ से भिन्न-जातीय अर्थ का वाचक दूसरा पद भी प्रयुक्त हो, वहाँ भी उक्त रीति से योगरूढ पद को लक्षणया केवल योगार्थ का बोधक मानना पड़ेगा।

तादृशं वाक्यमुदाहरति—

'दिशि दिशि जलजानि सन्ति कुमुदानि' इत्यत्रापि जलजादिपदानां लक्षणया योगार्थमात्रबोधकत्वम्, योगशक्त्युल्लासितस्य तु तादृशार्थस्य रूढ्यर्थोपश्लिष्टत्वेन स्वातन्त्र्येण कुमुदादावन्वयायोगात्।

'प्रतिदिशं जलोत्पन्नानि कुमुदानि वर्तन्ते' इत्यर्थके मूलोक्तवाक्ये जलजेति योगरूढं पदं लक्षणया जलावधिकोत्पत्तिशालिरूपयोगार्थमात्रप्रतिपादकम्, तत्पदवाच्यरूढ्यर्थकमलगतकमलत्वजातिभिन्नकुमुदत्वजातिविशिष्टार्थवाचककुमुदपदसमभिव्याहारात्। ननु किमर्थमिह लक्षणायासः, जलजपदनिष्ठयोगशक्त्यैव लक्षणालभ्यार्थस्य लाभादित्यत आह—योगशक्त्युल्लासितस्येत्यादि। अयं भावः—यद्यपि जलपदनिष्ठयोगशक्त्यापि जलावधिकोत्पत्तिशालिरूपोऽर्थो बोध्यते, परन्तु स योगार्थः तत्पदनिष्ठरूढशक्तिबोध्यकमलत्वजातिविशिष्टार्थमिलित एव प्रतीतिविषयस्तथा च भिन्नजातिविशिष्टमिलितस्य तस्य योगार्थस्य भिन्नजातिविशिष्टार्थे कुमुदपदवाच्येऽन्वयो न भवितुमर्हतीति लक्षणया योगार्थमात्रबोधकत्वं जलजादिपदानामावश्यकमिति।

उक्त प्रकार के वाक्यों का निर्देश करते हैं—दिशि दिशि इत्यादि। 'सभी दिशाओं में जल से उत्पन्न होनेवाले कुमुद हैं' एतदर्थक मूल वाक्य में 'जलज' पद यद्यपि कमलरूप अर्थ में योगरूढ है, तथापि यहाँ कमलत्व जाति से भिन्न कुमुदत्व जाति से विशिष्ट (कुमुद) अर्थ के वाचक कुमुद पद के साथ प्रयुक्त होने पर उस (जलज) पद की 'जल से उत्पन्न होनेवाला' इस योगार्थ में लक्षणा समझनी चाहिए, अन्यथा जलज पदार्थ का कुमुदपदार्थ के साथ अभेदेन अन्वय नहीं हो सकेगा। यदि कोई कहे कि 'जल से उत्पन्न होनेवाला' इस अर्थ में जलज पद की लक्षणा करने की क्या आवश्यकता है, वह अर्थ तो उस पद की योगशक्ति से अभिहित होता ही है? तो ग्रन्थकार कहते हैं—हाँ, होता तो ठीक है, पर कमलरूप रूढ्यर्थ से मिश्रितरूप में, अतः कमल से मिश्रित उस योगार्थ का कमल से भिन्नजातीय कुमुद अर्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा, अतः जलज पद को ऐसे स्थलों पर लाक्षणिक मानना ही पड़ेगा, जिससे वह पद योगार्थ का ही प्रतिपादन करे, कुमुद से विरुद्ध कमल का नहीं।

उपसंहरति—

इत्थमभिधा निरूपिता।

उक्तप्रकारकमभिधाया निरूपणमवसितमिति भावः।

उपसंहार—उक्त रीति से आरब्ध अभिधा-निरूपण अब यहाँ समाप्त हुआ।

वाचकवाच्ययोः परिचयं कारयति—

अनया यः शब्दो यमर्थं बोधयति स तस्य वाचकः। इयं च यस्य शब्दस्य यस्मिन्नर्थेऽस्ति तस्य सोऽर्थोऽभिधेयः।

पूर्वोक्तत्रिप्रकारकाभिधावृत्त्यन्यतमद्वारा यः शब्दो यस्यार्थस्य बोधकः स शब्दस्तस्यार्थस्य वाचकः कथ्यते। एवम् यस्य पदस्य अभिधा निरूपकतासंबन्धेन यस्मिन्नर्थे तिष्ठति, सोऽर्थस्तस्य पदस्य अभिधेयो वाच्यो वा व्यवह्रियत इति भावः।

अब वाचक तथा वाच्य का परिचय कराते हैं—अनया इत्यादि। पूर्व में जो अभिधा के भेद दिखलाये गये हैं, उनमें से किसी एक के द्वारा जो शब्द जिस अर्थ का बोधक होता है, वह उसका वाचक कहलाता है और जिस शब्द की यह अभिधाशक्ति जिस अर्थ में रहती है, वह अर्थ उस शब्द का अभिधेय-वाच्य समझा जाता है। शब्द की शक्ति अर्थ में 'निरूपकता' संबन्ध से रहती है यह भी समझना चाहिए।

इदानीमुपाधीनामेवाभिधेयत्वं न व्यक्तीनामित्युपपादयति—

स च जातिगुणक्रियायादृच्छिकात्मकः। तत्र जातिर्गोत्वादिः संस्थानविशेषाभिव्यङ्ग्या प्रत्यक्षसिद्धा गवादिपदानामभिधेया। अनुमानसिद्धा च घ्राणरसनत्वादिर्घ्राणरसनादिपदानाम्, आनन्त्यात्, व्यभिचाराच्च व्यक्तीनामभिधेयताया अकल्पनात्।

स इति। अभिधेय इत्यर्थः। जातिगुणेति। जातिर्गोत्वादिर्जातिवाचकशब्दानाम्, गुणः शुक्लादिर्गुणवाचकपदानाम्, क्रिया पाकादिः क्रियावाचकशब्दानाम्, तथा यादृच्छिकः यदृच्छया निष्पन्नः देवदत्तादिः संज्ञाशब्दः संज्ञाशब्दानामभिधेय इत्यर्थः। जातेर्द्विविधत्वेन विशेषतस्तां विवृणोति—तत्रेति। चतुर्विधेषु अभिधेयेषु इत्यर्थः। संस्थानविशेषेण आकृतिविशेषेण अवयवसंघटनेनेति यावत्, अभिव्यङ्ग्या, आश्रयस्य गवादेः प्रत्यक्षतया प्रत्यक्षसिद्धा गोत्वादिजातिः। घ्राणादीनामतीन्द्रियत्वेन तन्निष्ठा जातिरपि तथेति घ्राणत्वरसनत्वादिजातिरनुमानेन सिद्धा न प्रत्यक्षप्रमाणेनेति भावः। ननु व्यक्तीनामेवाभिधेयता कुतो नाङ्गीक्रियत इत्यत आह—आनन्त्यादिति। व्यक्तिषु शक्तिस्वीकारे व्यक्तीनामानन्त्येन शक्त्यानन्त्यम् तत्प्रयुक्तं गौरवम्, वस्तुतस्तु सकलव्यक्तीनां शक्तिग्रहकालेनोपस्थितिसंभवः उपस्थापकाभावात्, तथा चोपस्थितासु कियतीषु व्यक्तिष्वेव शक्तिग्रहो भवेत्, न सर्वासु व्यक्तिषु। तथात्वे च अगृहीतशक्तीनामपि व्यक्तीनां तस्मात् पदाद्बोधस्यानुभविकत्वेन व्यभिचार एवेति न व्यक्तिषु शक्तिरिति भावः। उपाधिशक्तिवादपक्षे तु न शक्त्यानन्त्यम्, गोत्वादिजातेरेकत्वात्, न वा व्यभिचारः तस्या जात्यादेरुपाधेः सकलव्यक्तिषु सत्त्वात्।

अब जाति आदि उपाधि ही शब्द का वाच्य है, व्यक्ति नहीं; इसी बात का उपपादन युक्तिपूर्वक करते हैं—स च इत्यादि। वाच्य अथवा अभिधेय अर्थ चार प्रकार के हैं—जाति, गुण, क्रिया और यादृच्छिक। उनमें गोत्व सब गौओं=गाय बैलों में रहने वाला सामान्य धर्म जिसके कारण उन्हें 'गौ' कहा जाता है—आदि धर्म जाति कहा जाता है। वह जाति अवयवों के विशिष्ट-प्रकारक-गठन से अभिव्यक्त होती है (क्योंकि गाय-बैलों के अवयव-गठन जिस तरह के होते हैं, वैसे अन्य प्राणियों के नहीं—सभी प्राणियों के अवयव-गठन [अङ्गरचना] भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं) और आश्रय (गाय-बैल)

के प्रत्यक्षसिद्ध होने से प्रत्यक्षसिद्ध है। वही जाति 'गौ' आदि शब्दों का वाच्य-अर्थ है। जो आश्रय प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं रहता, उसमें रहनेवाली जाति भी प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होती, अतः उस तरह की जाति अनुमान से सिद्ध होती है, जैसे घ्राण (नासिकेन्द्रियवाची) रसन (जिह्वेन्द्रियवाची) शब्दों का वाच्य अर्थ 'घ्राणत्व', 'रसनत्व' आदि जातियाँ। ये जातियाँ अनुमान से सिद्ध हैं, प्रत्यक्ष से नहीं क्योंकि इन जातियों के आश्रय जो घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय हैं उनका प्रत्यक्ष किसी भी इन्द्रिय से नहीं होता—ये इन्द्रिय अतीन्द्रिय हैं, अतः तद्गत जातियाँ भी अतीन्द्रिय हैं। एक बात यहाँ ध्यान में रख लेनी चाहिये कि प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाले हड्डी या चमड़े इन्द्रिय नहीं हैं, अपितु उनके भीतर काम करने वाला तत्त्व जिसका प्रत्यक्ष हमको किसी तरह नहीं होता है। यहाँ, प्रवृत्ति-निवृत्ति के योग्य होने के कारण गौ आदि व्यक्तियों को ही गो आदि शब्दों का अभिधेय अर्थ क्यों नहीं माना जाय, इस तरह की आशंका नहीं करनी चाहिये, कारण, आनन्त्य और व्यभिचार दोष के प्रसङ्ग से व्यक्तियों को पदवाच्य नहीं माना जा सकता है। अभिप्राय यह है कि गाय-बैलों की संख्या संसार में अनन्त है, अतः यदि उन व्यक्तियों में गोपद की शक्ति मानी जाय, तब वह शक्ति भी अनन्त होगी जिससे व्यर्थ का गौरव होगा। वस्तुतः तो गोपद का शक्तिग्रह जिस क्षण में किसी को होगा, उस क्षण में उसके सामने सभी गाय-बैल उपस्थित रहेंगे नहीं, अतः जो उपस्थित रहेंगे उन्हीं में गोपद की शक्ति ज्ञात होगी, फिर अनुपस्थित गाय-बैलों का भी बोध जो होता है—अनुभवसिद्ध है—वह तो शक्तिज्ञानरूप कारण के बिना ही होगा। अतः व्यभिचार दोष लगता है।

उक्तं व्यभिचारदोषं वारयितुमाशङ्कते—

न च ज्ञातगोत्वादिरूपया गोत्वादिज्ञानरूपया वा प्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षेण परिकलितासु सकलतदीयव्यक्तिष्वभिधायाः कल्पने नास्ति दोष इति वाच्यम्।

ज्ञायमानं सामान्यं प्रत्यासत्तिरिति मतेनाह—ज्ञातगोत्वादीति। सामान्यज्ञानं प्रत्यासत्तिरिति मतेनाह—गोत्वादिज्ञानेति। प्रत्यक्षेणेति। अलौकिकेनेति भावः। अयमभिप्रायः—प्रत्यक्षो द्विविधो लौकिकोऽलौकिकश्च। तत्र लौकिकप्रत्यक्षहेतुभूतो लौकिकः सन्निकर्षः षड्विधः, अलौकिकप्रत्यक्षकारणीभूतोऽलौकिकः सन्निकर्षस्त्रिविधस्तेषु सामान्यलक्षणानामक एकः, तस्य लक्षणपदस्य स्वरूपपरतया सामान्यं लक्षणं स्वरूपं यस्येति व्युत्पत्त्या सामान्यरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थः, तथा च चक्षुरादीन्द्रियसंयुक्तो गवादिस्तद्विशेष्यकं गौरिति ज्ञानं यत्र जातं, तत्र ज्ञाने गोत्वं प्रकारस्तत्र तेन गोत्वरूपेण सन्निकर्षेण गाव इति सकलगोविषयकं ज्ञानं जायते। परन्तु सामान्यपदेनात्र न गोत्वादिजातिरेव विवक्षिता अपि तु—समानानां भाव इति यौगार्थानुसारेण गवाद्यपि सामान्यम्। तेन च गोरूपेण सामान्येन सन्निकर्षेण संयोगेन क्वचिद्भूतले गवादिज्ञाने जाते सकलगोमद्भूतलविषयकं गोमन्ति भूतलानीत्याकारकं ज्ञानं जायते। एतच्च यत्र तद्गवादिनाशानन्तरं तद्गवादिमतो भूतलस्य स्मरणं जातं, तत्र गवाद्यात्मकसामान्यलक्षणया सर्वेषां तद्गवादिमतां भूतलानां ज्ञानं न स्यात्, सामान्यस्य तद्गवादेस्तत्र तदानीमभावात्, अतः सामान्यज्ञानं प्रत्यासत्तिः, लक्षणशब्दस्य च विषयोऽर्थः, तेन सामान्यं लक्षणं विषयो यस्य तादृशस्य ज्ञानस्य प्रत्यासत्तित्वमिति न्यायनयसिद्धः सिद्धान्तः। प्रकृते च पक्षद्वयानुसारेणापि सामान्यलक्षणात्मकालौकिकसन्निकर्षेण सकलगोव्यक्तीनामुपस्थितत्वात् तत्र गोपदशक्तिग्रहणस्य सुलभतया व्यक्तिशक्तिवादेऽपि व्यभिचारदोषावकाशो नास्तीति।

उक्त व्यभिचारदोष को हटाने के लिये एक आशंका करते हैं—न च इत्यादि। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष दो प्रकार के होते हैं, एक लौकिक और दूसरा अलौकिक। उनमें

लौकिक प्रत्यक्ष के कारणीभूत लौकिक सन्निकर्ष ६ प्रकार के होते हैं, अलौकिक प्रत्यक्ष के कारणीभूत अलौकिक सन्निकर्ष ३ प्रकार के होते हैं। उनमें एक है सामान्य लक्षणा। 'सामान्य (धर्मविशेष) है लक्षण (स्वरूप) जिसका' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सामान्यरूप प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष=सम्बन्ध) उसका अर्थ होता है। इस अलौकिक सन्निकर्ष के बल से अर्थात् चक्षुःसंयुक्त गोविशेष्यक 'गौः' इत्याकारक ज्ञान होने के बाद उस ज्ञान में जो प्रकार हुआ है—गोत्व, उस गोत्वरूप अलौकिक सम्बन्ध से सकल गोविषयक 'गावः' इत्याकारक ज्ञान होता है। परन्तु सामान्य पद से इस सन्निकर्ष में गोत्व आदि जाति ही विवक्षित नहीं है, अपितु 'समानानां भावः' इस योग के अनुसार गो आदि व्यक्ति भी सामान्य कहलाता है, अतः संयोग सम्बन्ध से किसी भूतल में 'गोमद् भूतलम्' इत्याकारक ज्ञान के बाद गोरूप सामान्य (सन्निकर्ष) से सकलभूतलविषयक 'गोमन्ति भूतलानि' इत्याकारक ज्ञान होता है। इस स्थिति में जहाँ चक्षुःसंयुक्त गो का नाश हो गया है, वहाँ जब उस गो से संयुक्त भूतल का 'गोमद् भूतलम्' इस तरह का स्मरण होगा, तब भी जो सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से सकल भूतलविषयक 'गोमन्ति भूतलानि' इत्याकारक स्मरण होता है, वह अब नहीं हो सकेगा, क्योंकि सामान्यरूप से ग्रहण करने योग्य चक्षुःसंयुक्त गो का विनाश हो चुका है, अतः वह सम्बन्ध नहीं बन सकता। अतः ज्ञातसामान्य को प्रत्यासत्ति न मानकर सामान्य-ज्ञान को प्रत्यासत्ति मानना चाहिये। अब उक्त स्थल में भी दोष नहीं होगा, क्योंकि सामान्य (गो) के विनिष्ट हो जाने पर भी उसका ज्ञान रहता है और वही सम्बन्धरूप होता है। इस पक्ष के अनुसार सामान्य लक्षणा शब्द में लक्षण पद का अर्थ विषय मानकर सामान्य है लक्षण=विषय जिसका, ऐसा ज्ञान प्रत्यासत्ति है यह अर्थ समझना चाहिए। (इस विषय में अधिक जिज्ञासा रखने वालों को सिद्धान्त-मुक्तावली आदि पदार्थशास्त्र-ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिये।) प्रकृत में व्यक्तिशक्तिवादी नैयायिकों का कथन है कि उक्त सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति से सभी गो व्यक्ति शक्तिग्रह काल में उपस्थित रहेंगे, अतः उन सभी व्यक्तियों में गो पद की अभिधा गृहीत होगी, फिर उक्त व्यभिचार दोष होगा ही नहीं, अतः व्यक्ति में ही शक्ति माननी चाहिये, उपाधि में नहीं।

समाधत्ते—

सामान्यप्रत्यासत्तेर्निराकरणात् ।

अयं भावः—सामान्यलक्षणास्वीकारो व्यर्थः, तदस्वीकारेऽपि एकत्र गोत्वाद्याश्रये चक्षुःसंयोगात् देशान्तरस्थगवादेरपि बोधसंभवात्, एवं व्यतीतगवादेरपि बुद्ध्या विषयीकृत्य गोत्वाद्याश्रयत्वेन ज्ञानशक्यत्वात्; व्यक्तिशक्तिवादेऽपि व्यवहारेण प्रथमतः समुपस्थितव्यक्तौ शक्तिग्रहे पश्चात् अथा गौर्द्वापन्यायेन पुरुषान्तरात् गामानयेत्येतच्छ्रवणानन्तरमेव व्यक्त्यन्तराण्यानयतो मध्यमवृद्धान् दृष्ट्वा व्यक्तिविशेषे गृहीताया अपि शक्तेस्तज्जात्याश्रयमात्रे बालैरवधारणाच्च। यत्तु पर्वतीयधूमे सामान्यलक्षणामन्तरा व्याप्तिग्रहो न स्यादिति, तन्न, धूमत्वेनैव रूपेण महानसीयधूमे व्याप्तिग्रहात्। ननु प्रसिद्धधूमे व्याप्तिरेव गृहीता अप्रसिद्धस्य चानुपस्थित्या 'धूमो वह्निव्याप्यो न वा' इति संशयो न स्यादिति चेन्न, प्रसिद्धधूमे तत्तद्धूमत्वेन व्याप्तिनिश्चयेऽपि धूमत्वेन तत्संशयसंभवात्। एवञ्च सामान्यलक्षणाया अनुपयोगः सिद्धः। किञ्च सामान्यस्य संबन्धत्वम् असंभवदुक्तिकमेव, तत्तदनुयोगिताप्रतियोगिताऽविशिष्टसंबन्धस्य कदाप्यननुभवात्, संबन्धस्य द्विष्ठत्वस्वरूपतया तत्तदनुयोगित्वादिरहितसंबन्धमानस्यायुक्तत्वात्, संबन्धस्य विशिष्टबुद्धिनियामकत्वध्रौव्येण तदनियामकस्य सामान्यस्य

संबन्धत्वासंभवाच्च । इत्थञ्च सामान्यलक्षणा नास्त्येवेति तद्बलेनोक्तव्यभिचारवारणं न संभवतीति ।

अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं—सामान्य इत्यादि। उक्त रीति से व्यभिचार-वारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के बल पर ही तो उक्त वारण किया जाता है पर सामान्यलक्षणा नामक अलौकिक सन्निकर्ष का खण्डन कर दिया गया है। अभिप्राय यह कि सामान्य लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसको न मानने पर भी गोत्व के आश्रय एक गो में चक्षुःसंयोग होने पर 'स्वसंयुक्त-समवेत समवाय'रूप लौकिक सन्निकर्ष से ही देशान्तरस्थ गायों का ज्ञान किया जा सकता है। इसी तरह अतीत अनागत गायों को भी बुद्धि-विषय बनाकर उक्त संबन्ध से प्रत्यक्ष किया जा सकता है। सामान्य लक्षणा के बिना भी महानसीय धूम में धूमत्वरूप से ही व्याप्तिनिश्चय मानकर पर्वतीय धूम में भी उसी व्याप्तिनिश्चय की विषयता मानी जा सकती है। दूसरी बात यह कि सभी संबन्ध यत्किञ्चित्प्रतियोगिक और यत्किञ्चिदनु-योगिक होते हैं और इस सामान्यरूप आपके संबन्ध में अनुयोगिता-प्रतियोगिता की प्रतीति होती नहीं, अतः वह संबन्धरूप नहीं माना जा सकता। तीसरी बात यह कि सभी संबन्ध विशिष्ट बुद्धि के नियामक होते हैं और यह सामान्य विशिष्ट बुद्धिनियामक है नहीं, अतः उसको संबन्ध कहना असंभव है।

तुष्यद्दुर्जनन्यायेन सामान्यलक्षणास्वीकारेऽप्याह—

गौरवदोषस्यानुद्धाराच्च ।

सामान्यलक्षणया सकलगोव्यक्तिषु शक्तिग्रहस्य संभवं व्याख्याय व्यभिचारवारणेऽपि व्यक्त्यानन्त्यप्रयुक्तानन्तशक्तिकल्पनजगौरवं व्यक्तिशक्तिवादे दुर्वारमेवेति भावः ।

यदि 'तुष्यद्दुर्जन' न्याय से सामान्यलक्षणा मान भी ली जाय, तथापि व्यक्तिशक्ति-वाद पक्षसंगत नहीं यही बात अब बतलाते हैं—गौरव इत्यादि। सामान्यलक्षणा के बल से सकल गो व्यक्ति में गोपद-शक्ति-ग्रह को संभव बनाने पर भी व्यक्ति की अनन्तता के कारण शक्ति की अनन्तता से होनेवाला गौरवदोष व्यक्तिशक्तिवाद पक्ष में बना ही रह जाता है।

प्रकारान्तरेणोक्तव्यभिचारवारणपरं परकीयमतं गौरवदोषानुवृत्तिप्रतिपादनेन दूषयति—

एतेन शक्तिग्रहपदार्थोपस्थितिशाब्दबोधानां समानप्रकारकतयैव हेतुहेतु-मद्भावादगृहीतसंकेतानामपि व्यक्तिविशेषाणामन्वयबोधविषयताया उपपाद-नेऽपि न निस्तारः ।

एतेनेति । गौरवदोषप्रकारेणेत्यर्थः । समानप्रकारकतयैवेत्यत्रैवकारेण समानविशेष्य-कत्वादिव्यवच्छेदः । शक्तिग्रहपदार्थोपस्थितिशाब्दबोधेषु पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति हेतुता । सा च समानप्रकारकतया न तु समानविशेष्यकतया । अर्थात् तत्प्रकारकोपस्थितिं प्रति तत्प्रकारकः शक्तिग्रहः, एवम् तत्प्रकारकशाब्दबोधं प्रति तत्प्रकारकोपस्थितिर्हेतुरिति रीत्यैव कार्यकारणभावः, न तु तत्प्रकारकतद्विशेष्यकोपस्थितिं प्रति तत्प्रकारकतद्विशेष्यक-शक्तिग्रहः, एवं तत्प्रकारकतद्विशेष्यकशाब्दबोधं प्रति तत्प्रकारकतद्विशेष्यकोपस्थितिर्हेतु-रिति रीत्या । एवञ्च गोव्यक्तिविशेषे जातस्यापि शक्तिग्रहस्य गोत्वप्रकारकतया तेन शक्ति-ग्रहेणैव गोत्वप्रकारकागृहीत व्यक्तिविशेष्यिकाप्युपस्थितिः स्यात्, एवम् गोत्वप्रकारिकया तयोपस्थित्यैव गोत्वप्रकारकागृहीतव्यक्तिविशेष्यकशाब्दबोधोऽपि भवेत् । इत्थञ्च सकल-व्यक्तिषु शक्तिग्रहाभावेऽप्युक्तव्यभिचारो न प्रसजतीति यद्यपि वक्तुं सुशकम्, तथापि व्यक्तिशक्तिवादो नाङ्गीकर्तुं योग्यः, उक्तगौरवदोषस्य तादवस्थ्यादिति भावः । वस्तुतस्तु

समानप्रकारकतयैव कार्यकारणभावः शक्तिग्रहपदार्थोपस्थितिशाब्दबोधानां न संगतः, तथा सति गोत्वप्रकारकशक्तिग्रहेणाश्वविशेष्यकोपस्थितेरेवं गोत्वप्रकारकोपस्थित्या गोत्वप्रकारकाश्वविशेष्यकशाब्दबोधस्य च प्रसंगादिति विभावनीयम् ।

अस्य ग्रन्थस्य व्याख्यायां भट्टमहोदयैरुल्लिखिता—'............अर्थात् यत्प्रकारको यद्विशेष्यकश्च शक्तिग्रहः स तत्प्रकारकतद्विशेष्यकपदार्थोपस्थितिं प्रति हेतुः, एवं यत्प्रकारिका यद्विशेष्यिका च पदार्थोपस्थितिः सा तत्प्रकारकतद्विशेष्यकशाब्दबोधं प्रति हेतुः । तथा च व्यक्तीनामनन्ततया येषु व्यक्तिविशेषेषु शक्तिग्रहो न जातस्तद्विषयकशाब्दबोधस्य प्रवोक्तरीत्या (गोत्वेन प्रकारेण) सिद्धिः स्यात् । इत्येवं समर्थनेऽपि न दोषमुक्तिः, व्यभिचारवारणेऽपि अनन्तशक्तिकल्पनगौरवस्य असमाहितत्वात्' इति सरला (टीका) समीचीना न वेति निश्चिन्वन्तु विद्वांसः ।

अब उक्त व्यभिचार दोष के वारणार्थ अन्य विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित होनेवाली एक भिन्न रीति का भी खण्डन उक्त गौरव दोष के अवारित रह जाने के कारण से ही करते हैं—एतेन इत्यादि । शक्तिग्रह, पदार्थोपस्थिति और शाब्दबोध इन तीनों में अग्रिम-अग्रिम के प्रति पूर्व-पूर्व कारण है और वह कार्यकारणभाव समानप्रकारकतया माना जाता है, समानविशेष्यकतया नहीं; अर्थात् तत्प्रकारक उपस्थिति के प्रति तत्प्रकारक शक्तिग्रह और तत्प्रकारक शाब्दबोध के प्रति तत्प्रकारक उपस्थिति को कारण कहा जाता है, न कि तत्प्रकारक-तद्विशेष्यक उपस्थिति के प्रति तत्प्रकारक तद्विशेष्यक शक्तिग्रह और तत्प्रकारक तद्विशेष्यक शाब्दबोध के प्रति तत्प्रकारक तद्विशेष्यक उपस्थिति को । इस तरह से कार्यकारणभाव मान लेने पर यदि गो आदि पदों की शक्ति सकल गो व्यक्ति में गृहीत न भी हो अर्थात् उपस्थित कतिपय व्यक्ति में ही गो पद की शक्ति ज्ञात हो, तथापि उक्त व्यभिचार दोष नहीं लग सकता, क्योंकि उपस्थित गोव्यक्ति में जो शक्तिज्ञान होगा, उसमें भी प्रकार गोत्व ही रहेगा, अतः वह शक्तिज्ञान गोत्वप्रकारक कहलायगा, और उससे गोत्वप्रकारक उपस्थिति होगी, एवम् उस उपस्थिति से उन गो व्यक्तियों का अवगाहन करनेवाला बोध भी होगा, जिन व्यक्तियों में शक्ति ज्ञात नहीं हुई थी, कारण, वे बोध भी गोत्वप्रकारक ही होंगे । तात्पर्य यह कि जब कार्यकारणभाव में विशेष्यरूप से व्यक्ति को नहीं रक्खा गया, तब विशेष्य कोई हो, उससे कोई प्रयोजन रहता नहीं, केवल गोत्वप्रकारक हो जाने से सभी व्यक्तियों का बोध हो जा सकता है । परन्तु यह रीति भी इसलिये असंगत मानी जाती है कि शक्ति की अनन्तता इस रीति के अवलम्बन करने से भी बनी रह जाती है अर्थात् शक्तिग्रहकाल में उपस्थित होनेवाली गोव्यक्तियों की भी संख्या निश्चित नहीं की जा सकती, अतः अनन्त गोव्यक्ति में शक्ति माननी ही पड़ेगी और तब आनन्त्यादोष दोष हो ही जायगा । वस्तुतः तो ऊपर लिखी गई समानप्रकारकतया कार्यकारणभाव स्वीकार करनेवाली बात बन भी नहीं सकती, कारण उस तरह से कार्यकारणभाव स्वीकृत करने पर गोत्वप्रकारक शक्तिग्रह से अश्वविशेष्यक उपस्थिति एवम् गोत्वप्रकारक उपस्थिति से अश्वविशेष्यक बोध भी होने लगेंगे ।

पूर्वोक्तरीत्या व्यक्तिशक्तिवादपक्षं निरस्य जात्याद्युपाधिशक्तिवादपक्षः स्थापितः, परमास्मिन् पक्षे व्यक्तेरवाच्यतया बोधो न स्यात्, तथात्वे च लौकिकव्यवहारो न सिद्ध्येदिति शंकां मनसि कृत्वा उपाधिशक्तिवादपक्षे व्यक्तिबोधोपायमाह—

व्यक्तीनां प्रत्ययस्त्वाक्षेपाल्लक्षणया वेत्यन्यदेतत् ।

व्यक्तिं विना जात्यादि अनुपपन्नमिति अनुपपन्नेन जात्यादिना व्यक्तेराक्षेपः । आक्षेपश्चार्थापत्तिप्रमाणमेव । न्यायनये चानुमानमेव तत् । अथवा जातेरन्वयानुपपत्त्या

जातिवाचकस्य पदस्य व्यक्तौ लक्षणा। एवञ्चोपाधिशक्तिवादपक्षेऽपि व्यक्तेर्बोधो न दुष्कर इति भावः। तदर्थविषयकशाब्दबोधं प्रति तदर्थविषयकवृत्तिज्ञानाधीनोपस्थितेर्हेतुत्वेनाक्षेपलब्धार्थस्य शाब्दबोधविषयता न स्यादिति लक्षणापक्ष एव श्रेयान् इति परे।

उक्त रीति से व्यक्तिशक्तिवाद का खण्डन करके उपाधिशक्तिवाद का स्थापन किया गया परन्तु इस वाद में भी एक नई शंका यह उपस्थित हो जाती है कि जब जाति, गुण आदि उपाधियाँ ही पद-वाच्य हुईं तब व्यक्ति का बोध पद से कैसे होगा? और यदि व्यक्ति का बोध नहीं होगा, तब सांसारिक व्यवहार कैसे चलेंगे? क्योंकि व्यवहार में व्यक्तियों का ही उपयोग हो सकता है, उपाधियों का नहीं, इसी शंका को मन में लाकर उपाधिशक्तिपक्ष में व्यक्ति के बोध का उपाय अब दिखलाते हैं—व्यक्तीनाम् इत्यादि। जाति, गुण, क्रिया आदि उपाधियाँ व्यक्ति के बिना रह नहीं सकतीं, अतः पद से अवगत होने पर भी ये उपाधियाँ तब तक अनुपपन्न ही रहेंगी, जब तक व्यक्ति का आक्षेप न होगा, अतः आक्षेप से व्यक्ति का भी बोध हो जायगा, जैसे—'पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' अर्थात् मोटा-ताजा यह देवदत्त दिन में नहीं खाता, इस वाक्य का 'रात्रि-भोजन' अर्थ शक्ति से यद्यपि ज्ञात नहीं होता, तथापि भोजन के बिना 'मोटा-ताजा रहना' असंभव है, अतः उससे रात्रिभोजन का आक्षेप हो जाता है। यह आक्षेप वेदान्तियों के मत से अर्थापत्ति और नैयायिकों के मत से अनुमान-प्रमाण के अन्तर्गत है यह भी समझ लेना चाहिए। अथवा जाति आदि उपाधियों का अन्वय वाक्यघटक अपर पदार्थ के साथ बाधित है, अतः जाति आदि उपाधिवाचक पदों की सर्वत्र व्यक्ति में लक्षणा होगी, अभिप्राय यह कि उपाधिशक्तिवादपक्ष में व्यक्ति का बोध लक्षणा से होगा। यहाँ दूसरा (लक्षणावाला) पक्ष ही ठीक है, प्रथम (आक्षेपवाला) नहीं, ऐसा अन्य विद्वानों का कथन है, क्योंकि किसी अर्थ के शाब्दबोध में जब वृत्ति-ज्ञान के द्वारा उस अर्थ की उपस्थिति को कारण माना गया है, तब आक्षेप से उपस्थित अर्थ शाब्दबोध के विषय नहीं हो सकते। कुछ लोग व्यक्ति का बोध सर्वत्र व्यञ्जना से ही मानते हैं।

जातेर्महत्त्वमुपपादयन् वक्रगत्या जातिशक्तिवादपक्षं पुष्णाति—

अयं च जातिरूपः शब्दार्थः प्राणद इत्युच्यते। प्राणं व्यवहारयोग्यतां ददाति सम्पादयतीति व्युत्पत्तेः।

अयं जातिरूपोपाधिः पदार्थस्य प्राणप्रदः। ननु किन्नाम जातेः प्राणप्रदत्वमित्याह—प्राणमित्यादि। प्राणपदार्थमेव विवृणोति—व्यवहारयोग्यतामिति। ददातीत्यर्थम् स्फोरयति—सम्पादयतीति। व्यवहारयोग्यतासम्पादकत्वमेव जातेः प्राणदत्वमिति भावः।

अब जातिरूप उपाधि का महत्त्व दिखलाते हुए उपाधिशक्तिवाद पक्ष की पुष्टि करते हैं—अयं च इत्यादि। यह जातिरूप अर्थ शब्द को प्राण देनेवाला कहा जाता है, क्योंकि शब्द में व्यवहारयोग्यता का सम्पादन यह जाति ही करती है। तात्पर्य यह कि यहाँ व्यवहारयोग्यता-सम्पादन ही प्राण-प्रदान के समान महत्त्व रखता है।

जातेः व्यवहारयोग्यतासम्पादकत्वे युक्तियुक्तामाप्तजनसम्मतिं दर्शयति—

तदुक्तम्—'गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौः, गोत्वाभिसंबन्धाद्गौः' इति।

तदुक्तमिति। प्रकाशकृतेति शेषः। वाक्यपदीयनामकस्य प्रसिद्धनिबन्धस्येदं वाक्यम्, प्रकाशकृता च तत्काव्यप्रकाशे उद्धृतम्।

जाति की प्राणप्रदता में आप्तजन की सम्मति दिखलाते हैं—तदुक्तम् इत्यादि। 'गौः स्वरूपेण न गौः···' इत्यादि पङ्क्ति वाक्यपदीय की है, जिसको मम्मटभट्ट ने अपने काव्यप्रकाश नामक निबन्ध में उद्धृत किया है।

उक्तवाक्यस्य व्याख्यां कुरुते—

अस्यार्थः—गौः सास्नादिमान् धर्मीस्वरूपेण अज्ञातगोत्वकेन धर्मिस्वरूपमात्रेण न गौः न गोव्यवहारनिर्वाहकः। नाप्यगौः नापि गोभिन्न इति व्यवहारस्य निर्वाहकः। तथा सति दूरादनभिव्यक्तसंस्थानतया गोत्वाग्रहदशायां गवि गौरिति गोभिन्न इति वा व्यवहारः स्यात्। स्वरूपस्याविशेषाद्घटे गौरिति गवि चागौरिति वा व्यवहारः स्यादिति भावः। गोत्वाभिसंबन्धाद्गोत्ववत्तया ज्ञानात् गौर्गोशब्दव्यवहार्य इति।

गौरिति मूलवाक्यस्थपदस्य व्याख्यामाह–सास्नादीति। स्वरूपेणेति मूलस्थपदव्याख्या - अज्ञातगोत्वेनेत्यादि। न गौरिति मूलवाक्यांशस्य तात्पर्यमाह–न गोव्यवहारेति। नाप्यगौरिति तदंशस्याशयमाह-गोभिन्न इतीति। तथा सतीति। धर्मिस्वरूपमात्रेण व्यवहारनिर्वाहकत्वाङ्गीकारे सतीत्यर्थः। गौरिति व्यवहारे इष्टापत्त्या आह-गोभिन्न इतीति। अविशेषादिति। व्यक्तिस्वरूपाणां स्वतोऽव्यावृत्तत्वादिति भावः। सास्नादिमद्धर्मिमात्रज्ञानेन गौः गोभिन्न इति वा व्यवहारो न भवितुमर्हति, दूरत्वदोषेण जातिव्यञ्जिकाया आकृतेरनभिव्यक्त्या गोत्वाज्ञाने सास्नादिमति धर्मिणि गौः गोभिन्न इति वा व्यवहारस्याननुभवात्। अपि च धर्मिस्वरूपज्ञानमात्रस्य व्यवहारप्रयोजकत्वे व्यक्तिस्वरूपस्य स्वतोऽव्यावृत्ततया गोभिन्ने घटादावपि गौरिति गवि चागौरिति व्यवहारः प्रवर्तेत। अतः गोत्वादिजातिमत्ताज्ञानमेव गौरित्यादिव्यवहारप्रवर्तकमिति सारांशः। ननु 'गौः स्वरूपेण न गौः' इत्येतावतैव विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानं कारणमिति सिद्धान्तानुसारम् गौरिति विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानविधया गोत्वज्ञानस्योपयोगे सिद्धे पुनः 'नाप्यगौः' इत्यंशः किमर्थ इति चेन्न, व्यवहारमात्रस्य धर्मज्ञानसाध्यतासूचनाय तदुल्लेखात्। तथा चाभावज्ञानेऽपि प्रतियोगितावच्छेदकज्ञानस्य हेतुत्वेन गोत्वज्ञानमन्तरा गोभिन्न इति ज्ञानमपि न संभवति।

अब उक्त वाक्यपदीय-वाक्य की व्याख्या करते हैं—अस्यार्थ इत्यादि। उक्त वाक्यपदीय-वाक्य का अर्थ यह है कि गाय अर्थात् सास्नादिमान्–गले में चमड़ी लटकनेवाला—प्राणी, स्वरूपतः ज्ञात होने पर भी तब तक गोनामक प्राणी के व्यवहार का निर्वाहक नहीं हो सकता, जब तक उस प्राणी में रहनेवाली 'गोत्व' जाति ज्ञात न हो जाय। इसी तरह उक्त जाति के ज्ञान होने से पूर्व क्षण तक स्वरूपतः ज्ञात होकर भी उक्त प्राणी 'यह गोभिन्न है' इस व्यवहार का भी निर्वाहक नहीं हो सकता। स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि स्वरूप किसी का स्वतः व्यावर्तक नहीं होता अर्थात् कोई न कोई स्वरूप सभी चीजों में रहता ही है, अतः एक चीज से दूसरी चीजों को पृथक् करनेवाला उनका स्वरूप नहीं, अपितु उन चीजों में रहनेवाला खास-खास धर्म (जाति आदि) होता है। ऐसी स्थिति में स्वरूपतः ज्ञात होकर भी कोई वस्तु उस व्यावर्तक-धर्म-ज्ञान से पूर्व न 'यह अमुक वस्तु है' इस व्यवहार का और न 'यह अमुक वस्तु से भिन्न है' इसी व्यवहार का निर्वाहक हो सकती है। यदि उक्त व्यावर्तक धर्म के ज्ञान से पूर्व भी कोई पदार्थ व्यवहारनिर्वाहक हो, तब तो उस अवस्था में भी गाय में 'यह गाय है' अथवा 'यह गाय से भिन्न है' ऐसा व्यवहार होने लगे, जिस अवस्था में दूर से दिखाई पड़ने पर गाय की वह आकृति जो जाति को अभिव्यक्त करती है—ज्ञात नहीं होती, केवल इतना ज्ञात होता है कि यह कोई एक चीज है। एवं जाति-ज्ञान के बिना पदार्थ को विशिष्ट-व्यवहारनिर्वाहक मानने पर गो से भिन्न पदार्थ-घट आदि में भी गाय का, और गाय में भी गोभिन्न का व्यवहार होने लगेगा, क्योंकि यह पहले भी कहा जा चुका है कि केवल स्वरूप भेदक नहीं होता। इस तरह से सिद्ध हुआ कि 'इसमें गोत्व जाति है' इस

प्रकार से जातिविशिष्टरूप में ज्ञात होने पर ही गाय, गो शब्द से व्यवहार करने योग्य होती है।

गुणक्रियादिरूपाभिधेयसंबद्धं विचारमुत्थापयति—

गुणः शुक्लादिः शुक्लादिपदानामभिधेयः। क्रिया चलनादिशब्दानाम्।

शुक्लनीलपीतादिपदानां शुक्लनीलपीतादिगुणे शक्तिरतस्ते गुणास्तेषां पदानां वाच्याः। चलनपाकादिपदानाम् उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापारादिरूपक्रियासु शक्तिरतस्तेषां शब्दानां ताः क्रिया वाच्या इत्यर्थः।

अब गुण और क्रियारूप वाच्य उपाधि के संबन्ध में विचार करते हैं—गुणः इत्यादि। शुक्ल, नील, पीत आदि पदों की शक्ति उजला, हरा, पीला आदि गुणों में है, अतः वे गुण उन पदों के वाच्यार्थ कहलाते हैं। इसी तरह चलन, पचन आदि पदों की शक्ति उत्तरदेशसंयोगानुकूल, एवम् विक्लित्यनुकूल व्यापारों में है, अतः वे व्यापार (क्रियायें) उन पदों के वाच्यार्थ होते हैं।

अत्राशंक्य समाधत्ते—

शुक्लादीनां चलनादीनां च प्रतिव्यक्तिभेददर्शनादानन्त्यव्यभिचाराभ्यां व्यक्तिशक्तिवाददोषाभ्यामिहापि कलुषीकरणमिति चेत्, तेषां लाघवात्प्रत्यभिज्ञाबलाच्चैकताया अभ्युपगमात्।

इहापीति। गुणक्रिययोरभिधेयत्वेऽपीत्यर्थः। चेदित्यस्याग्रे तत्रेति शेषो बोध्यः। बकादितिर्यग्गतपटादिगतयोश्च शुक्लगुणयोर्भेदोऽनुभूयते, एवं गुडतण्डुलगतयोः पाकक्रिययोरपि भेदो दृश्यते, तेन गुणक्रिययोरनेकत्वं सिद्ध्यति, तथा च व्यक्तिशक्तिवादे यावानन्त्यव्यभिचारदोषौ समभूताम्, तावत्रापि समापतेतामिति शंका न युक्ता, नानात्वे गौरवात्, लाघवात् गुणक्रिययोरेकताया एव स्वीकारात्। ननु लाघवं नानुभवविरुद्धमङ्गीकारयितुं प्रभवतीति चेन्न, सर्वेषु शुक्लादिगुणेषु सर्वासु चलनादिक्रियासु च 'स एवायं शुक्लो गुणः, सैवेयं चलनक्रिया' इत्याकारिकायाः प्रत्यभिज्ञायाः लाघवसहकृताया गुणक्रियाद्येकतानियामकत्वात्।

अब यहाँ एक शंका और उसका समाधान करते हैं—शुक्लादीनाम् इत्यादि। 'बक आदि पक्षियों की तथा वस्त्र आदि पदार्थों की शुक्लता में भेद का अनुभव होता है। इसी तरह गुड़ की तथा चावल की पाक-क्रियाओं में भी भेद दिखाई पड़ता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शुक्ल गुण अनेक हैं और पाक-क्रिया भी अनेक हैं। इस स्थिति में व्यक्तिशक्तिवाद पक्ष में जो आनन्त्य और व्यभिचार दोष उपस्थित होते थे, वे दोनों दोष यहाँ (उपाधिशक्तिवाद पक्ष में) भी लगेंगे' ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शुक्ल आदि गुणों तथा पाक आदि क्रियाओं को अनेक मानने में गौरव है, अतः उनको एक ही मानते हैं। यदि आप कहेंगे कि लाघव के बल पर अनुभव-विरुद्ध वस्तु नहीं मानी जा सकती तो यह ठीक नहीं, क्योंकि सभी शुक्ल गुणों में 'यह वही शुक्ल गुण है' और सभी पाक-क्रियाओं में 'यह वही पाक-क्रिया है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा लाघवमूलक होती है, वे प्रत्यभिज्ञायें ही उक्त गुणों और क्रियाओं को एक सिद्ध करती हैं।

अत्रार्थे प्राचीनोक्तिं प्रमाणयति—

तदुक्तम्—'गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामाश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते' इति।

लक्ष्यत इति। प्रकाशकता सम्पद्यत इति शेषः। यथा प्रतिबिम्बाधाराणाम् कृपाणमुकुरतैलादीनां भेदादेकमप्याननं नानारूपतया भासते, तथैव गुणक्रियादयोऽपि आश्रयभेदेनैव भिन्नतया प्रतीयन्ते, न तु वस्तुतस्तेषु भेद इति भावः।

प्राचीनों की उक्ति को उद्धृत करके उक्त बात को प्रमाणित करते हैं—तदुक्तम् इत्यादि। मूलोक्त वाक्य काव्यप्रकाशकार मम्मट का है, जिसका अभिप्राय यह है कि जैसे—प्रतिबिम्ब के आधार तलवार, दर्पण, तैल आदि के भेद से एक भी मुख अनेक प्रकार के ज्ञात होते हैं, उसी तरह एकजातीय गुण और क्रियाओं में भी आश्रय के भेद से ही भेद सा लक्षित होता है, वस्तुतः उनमें भेद रहता नहीं।

मम्मटोक्तिफलितमाह—

तथा च भेदप्रतीतिर्भ्रम एवेति भावः। इदमुपलक्षणम्। उत्पत्तिविनाश-प्रतीतिरपि तथैव, वर्णनित्यतावादे गकाराद्युत्पत्तिविनाशप्रतीतेर्भ्रमत्वस्य स्वी-कारात्।

तथा चेति। गुणानां क्रियाणाञ्च मिथो भिन्नत्वेन भानस्याश्रयभेदप्रयुक्तत्वस्वीकारेण वस्तु-तोऽभेदाङ्गीकारे चेत्यर्थः। भ्रम इति। बकशौक्ल्यात् पटशौक्ल्यं भिन्नमित्यादयः प्रतीतयः भ्रान्तिरूपा एव न प्रमारूपा इत्यर्थः। प्रकाशोक्त्या यद्यपि भेदप्रतीतेरेव भ्रमत्वं सिद्ध्यति, तथापि तस्या उपलक्षणत्वेन गुणक्रियादिषु उत्पत्तिविनाशप्रतीतीनामपि भ्रमत्वं बोध्य-मित्याह—इदमुपलक्षणमित्यादिना। एतेन गुणानां क्रियाणां च नित्यता एकता च साधिता। नन्वेतादृशभ्रमत्वस्वीकारोऽभिनव एव न प्राचीनसम्मतो नेत्याह—वर्णेति। वर्णनित्यता-वादिनो वैयाकरणा गकारादिषु वर्णेषु जायमानामुत्पत्तिविनाशप्रतीतिं भ्रमरूपां स्वीकुर्वन्ति, तद्वदिहापीति न काचन नवीनतेति भावः।

अब उक्त मम्मटोक्ति का फलितार्थ दिखलाया जाता है—तथा च इत्यादि। एकजातीय गुण और क्रियाओं में परिलक्षित होनेवाला परस्पर का भेद जब आश्रय-भेद-मूलक सिद्ध कर दिया गया, तब 'बक के उजलेपन से वस्त्र का उजलापन भिन्न है' इत्यादि तरह की भेद-प्रतीतियाँ भ्रान्तिरूप ही हैं, प्रमारूप नहीं, ऐसा समझना चाहिए। इतना ही नहीं, गुण और क्रियाओं में उत्पत्ति तथा विनाश की जो प्रतीति होती है वह भी भ्रम है। तात्पर्य यह कि एकजातीय गुण तथा एकजातीय क्रियायें एक हैं और नित्य। इस तरह की प्रतीतियों की भ्रमरूपता वैयाकरणों को भी अभिमत है, क्योंकि वे वर्ण-नित्यतावाद पक्ष में 'गकार उत्पन्न हुआ, गकार विनष्ट हुआ' इत्यादि प्रतीतियों को भ्रम-रूप मानते हैं।

यादृच्छिकात्मकमभिधेयं स्फुटयति—

यादृच्छिकस्तु वक्त्रा स्वेच्छया डित्थादिशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तत्वे संनिवे-शितो धर्मः।

डित्थादिपदानां प्रवृत्तिनिमित्तभूतः वक्त्रा स्वेच्छया कल्पितः धर्मविशेषो यादृच्छिका-त्मको वाच्य इति भावः।

अब यादृच्छिक उपाधि के विषय में स्पष्टीकरण करते हैं—यादृच्छिकस्तु इत्यादि। वक्ता के द्वारा अपने इच्छानुसार 'डित्थ' आदि पदों के प्रवृत्ति-निमित्त रूप में मान लिया गया धर्म 'यादृच्छिक' कहलाता है।

कोऽसौ धर्म इति मतभेदेनाह—

स च 'परम्परया व्यक्तिगतचरमवर्णाभिव्यङ्ग्योऽखण्डः स्फोटः' इत्येके। 'आनुपूर्व्यवच्छिन्नो वर्णसमुदायः' इत्यपरे। 'केवला व्यक्तिरेव' इतीतरे।

डित्थादिसंज्ञाशब्दानां वाच्यो यादृच्छिको धर्मः अखण्डस्फोट एव, यः पूर्व-पूर्ववर्णानु-भवजन्यसंस्कारसहकृतेन चरमवर्णेनाभिव्यज्यते। वर्णसमुदायेन तदभिव्यक्तिस्तु असम्भ-वैव, आशुविनाशिनां वर्णानां समुदायस्य सिद्धेः। ननु स स्फोटोऽर्थनिष्ठः कथमिति चेत्तत्राह—

परम्परयेति । साक्षात्सम्बन्धेन यद्यपि स स्फोटः आकाशे तिष्ठति, शब्दानामाकाशदेशत्वात्, तथापि मातृपित्रादिसंकेतसम्बन्धेन स अर्थव्यक्तौ तिष्ठेदिति केषांचिन्मतस्य भावः । अतिरिक्तस्फोटाङ्गीकारे फलाभावादाह—आनुपूर्व्येति । डकारोत्तरत्वविशिष्टेकारोत्तरत्वविशिष्टतकारोत्तरत्वविशिष्टथकारोत्तरत्वविशिष्टाकारत्वरूपानुपूर्व्या अवच्छिन्नः परिमितः वर्णसमुदाय एव स धर्म इत्यपरेषां मतम् । वर्णानां जन्यत्वेन समुदायासंभवादाह—केवलेति । तत्तन्नामकव्यक्तिरेव डित्थादिपदानामर्थ इतीतरेषां मतम् ।

वह धर्म कौन-सा है, इसका निर्णय मतभेद से करते हैं—स च इत्यादि । अखण्ड स्फोट (शब्दब्रह्म) ही डित्थ आदि संज्ञा शब्दों का वाच्य यादृच्छिक धर्म है । वह स्फोटरूप धर्म, पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार की सहायता से अन्तिम वर्ण के द्वारा अभिव्यक्त होता है । वर्णसमुदाय से उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि केवल एक क्षण रहकर विनष्ट हो जानेवाले वर्णों का समुदाय बन ही नहीं सकता । वह स्फोट यद्यपि साक्षात् (समवाय) सम्बन्ध से आकाश में ही रहता है क्योंकि शब्दों का देश आकाश ही माना जाता है, तथापि परम्परा अर्थात् माता-पिता के संकेतरूप सम्बन्ध से संज्ञी में रहता है । यह एक (प्रधान वैयाकरण) विद्वान् कहते हैं । अतिरिक्त स्फोट मानने में कोई फल नहीं, अतः ड्, इ, त्, थ्, अत्व (डित्थत्व) रूप आनुपूर्वी से अवच्छिन्न—परिमित—(नपा-तुला) वर्णसमुदाय ही यादृच्छिक धर्म है, यह अपर विद्वानों का मत है । आशुविनाशी वर्णों का समुदाय बन ही नहीं सकता, अतः संज्ञी (वह व्यक्तिविशेष जिसकी यह संज्ञा मानी गई है) ही वह धर्म है और संज्ञा शब्दों का वाच्य है, यह अन्य पण्डितों का कथन है ।

उक्तमतत्रये वैलक्षण्यं दर्शयति—

तत्राद्यमतद्वये विशेषणज्ञानाद् विशिष्टप्रत्ययः । तृतीयमते च निर्विकल्पकात्मकः प्रत्ययः ।

उक्ते मतत्रये प्रथमयोर्द्वयोर्मतयोः स्फोटः, वर्णसमुदायो वा धर्मः डित्थादिपदानामभिधेयः साधितः, एवञ्च डित्थादिपदात्प्रथमं तद्धर्मज्ञानं जायते, ततस्तदाक्षिप्तव्यक्तिज्ञानम्, ततश्च विशेषणविशेष्यभावावगाहि तद्धर्मविशिष्टव्यक्तिज्ञानं सविकल्पकात्मकं समुत्पद्यते । तृतीयमते तु व्यक्तिरेव केवला डित्थादिपदाभिधेया सिद्धेति तन्मते डित्थादिपदात् व्यक्तिमात्रस्य प्रकारताविशेष्यताशून्यं निर्विकल्पकात्मकमेव ज्ञानं जायत इति भावः ।

उक्त तीनों मतों में जो वैलक्षण्य है, उसका निर्देश करते हैं—तत्र इत्यादि । उक्त तीनों मतों में प्रथम तथा द्वितीय मत के अनुसार क्रमशः स्फोट और वर्ण-समुदायरूप यादृच्छिक धर्म डित्थ आदि संज्ञाशब्दों के वाच्य सिद्ध किए गए, अतः उन दोनों मतों में पहले डित्थ आदि पदों से उस धर्म (स्फोट अथवा वर्णसमुदाय) का ज्ञान होता है, उसके बाद उस धर्म से आक्षेप के द्वारा व्यक्ति (संज्ञी) का ज्ञान होता है, तदनन्तर विशेषण-विशेष्यभावापन्न, उस धर्म से विशिष्ट व्यक्ति का सविकल्पक ज्ञान होता है । तृतीय मत में तो केवल व्यक्तिविशेष डित्थ आदि पद का वाच्य सिद्ध हुआ, अतः उस मत में डित्थ आदि पद से व्यक्तिमात्र का प्रकारता-विशेष्यता से शून्य-निर्विकल्पात्मक—ज्ञान होता है ।

उपाधिशक्तिवादफलितार्थमाह—

तदित्थं चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति दर्शनं व्यवस्थितम् ।

उक्तोपाधिशक्तिवादप्रघट्टकेनेदं फलितम्, यत्—चतुर्विधं शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तम्, जातिरूपं, गुणरूपम्, क्रियारूपम्, यादृच्छिकरूपञ्च । अत्रार्थे व्याकरणमहाभाष्यकारस्य

भगवतः पतञ्जलेरपि सम्मतिः–'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः' इति तदुल्लेखात् । दर्शनम् मतम् ।

अब उपसंहार के रूप में उपाधिशक्तिवादपक्ष का फलितार्थ बतलाते हैं—तदित्थम् इत्यादि। उक्त उपाधिशक्तिवादपरक प्रकरण से यह फलित हुआ कि—शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त चार प्रकार के होते हैं—जाति, गुण, क्रिया और यादृच्छिक। इस पक्ष को व्याकरण महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि भी प्रमाणित करते हैं, क्योंकि 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः' ऐसा उन्होंने लिखा है।

उपाधिशक्तिवादे मतान्तरमाह—

सर्वेषां शब्दानां जातिरेवार्थः। गुणक्रियाशब्दानां गुणक्रियागतायाः, यदृच्छाशब्दानां च बालवृद्धशुकाद्युदीरिततत्तच्छब्दवृत्तेस्तत्तत्समयभिन्नार्थवृत्तेर्वा जातेरेवाभिधेयता संभवात्। इति जातिशक्तिदर्शनम्।

सर्वेषामिति। जातिगुणक्रियायदृच्छाशब्दानामित्यर्थः। शब्दनिष्ठजातेः परम्परयाऽर्थवृत्तित्वकल्पने गौरवादाह—तत्तत्समयेति। बालत्वयुवत्ववृद्धत्वरूपेत्यर्थः। उपाधिचतुष्टये शक्तिकल्पनापेक्षया जातिरूपोपाधावेव सर्वत्र शक्तिः। सर्वेषु शुक्लादिगुणेषु शुक्लः-शुक्लः इत्यभिन्नाकारानुगतप्रतीत्या गुणत्वव्याप्यशुक्लत्वादिजातेः, एवम् गुडतण्डुलादिगतासु भिन्नासु पाकादिक्रियासु यद्वशात्पाकः पाकः इत्यनुगतप्रतीतिः तस्याः क्रियात्वव्याप्यपाकत्वादिजातेः स्वीकारात्। नन्वेवं शुक्लत्वपाकत्वादिजातिसिद्धौ तत्र गुणवाचकानां क्रियावाचकानाञ्च शब्दानां शक्तिर्भवतु, यदृच्छाशब्दानां कथं जातौ शक्तिः, तेषामेकव्यक्तिवाचकत्वेन जातिवाचकत्वासंभवात् इति चेन्न, बालवृद्धशुकाद्युदीरितानां डित्थादिपदानां मिथो भिन्नतया तेषु आनुपूर्वीव्याप्याया डित्थत्वादिजातेरङ्गीकारात्, न च शब्दनिष्ठायास्तस्या जातेरर्थे परम्परासम्बन्धेनैव स्थितेः कल्पनीयतया गौरवेण नेयं रीतिरुचितेति वाच्यम्, 'बाल्ये दृष्टोऽयं देवदत्तो यौवनेऽन्यः संवृत्तः' इत्याद्यनुभवबलात् बाल्य-यौवन-वार्धक्यरूपावस्थाभेदेन डित्थादिव्यक्तेरपि भिन्नतया तासु व्यक्तिषु डित्थत्वादिजातिसिद्ध्या तत्रैव यदृच्छाशब्दानां शक्तिरित्याशयादिति भावः।

अब उपाधिशक्तिवाद के ही दूसरे मत का उल्लेख करते हैं—सर्वेषाम् इत्यादि। जाति, गुण, क्रिया और यादृच्छिक इन चार उपाधियों में शक्ति मानने की अपेक्षा केवल जातिरूप उपाधि में सर्वत्र शक्ति मानने में लाघव है, अतः ऐसा मानना ही समुचित है। तात्पर्य यह कि सभी शुक्ल आदि गुणों में 'शुक्ल-शुक्ल' इस तरह की एकाकार अनुगत प्रतीति से गुणत्व-व्याप्य अर्थात् गुणत्व से अल्पदेशवृत्ति शुक्लत्व आदि जाति मान ली जायगी, और गुड-तण्डुल आदि में रहनेवाली भिन्न-भिन्न क्रियाओं में जिसके चलते 'पाक-पाक' ऐसा एक प्रकार का ज्ञान होता है, उस क्रियात्व-व्याप्य पाकत्व आदि जाति का स्वीकार कर लिया जायगा। यदि आप कहें कि हाँ, इस तरह से गुणवाचक तथा क्रियावाचक शब्दों को जातिवाचक माना जा सकता है, परन्तु यदृच्छा शब्दों को कैसे जातिवाचक माना जा सकता है, क्योंकि उन शब्दों का वाच्य एक एक व्यक्ति होता है और एक व्यक्तिमात्र में रहने वाला धर्म जातिरूप हो नहीं सकता, तो इसका उत्तर यह है कि बाल, वृद्ध, शुक आदि से उच्चरित होकर एक भी डित्थ आदि पद अनेक हो जाते हैं, अतः उन सभी डित्थ शब्दों में रहनेवाली आनुपूर्वीव्याप्य डित्थत्व जाति मानी जा सकती है, अथवा बचपन, यौवन तथा वार्धक्यरूप अवस्थाभेद से एक भी व्यक्ति अनेक हो जाता है, अतएव 'बचपन में देखा गया देवदत्त युवावस्था में दूसरा हो गया' ऐसी प्रतीति हुआ करती है। इस स्थिति में अर्थवृत्ती डित्थत्व जाति भी

सिद्ध की जा सकती है। अतः सर्वत्र जातिरूप उपाधि में ही शक्ति की कल्पना करनी चाहिये।

लक्षणामूलध्वनिनिरूपणानन्तरं लक्षणानिरूपणे संगतिं दर्शयितुमाह—

अथ केयं लक्षणा, यन्मूलश्चरमं निरूपितो ध्वनिः।

जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्थाभेदेन द्विविधः, अभिधामूलध्वन्यपेक्षयाऽन्तिमो यन्मूलो ध्वनिः प्राङ्निरूपितः, सा लक्षणा केति जिज्ञासितमिति भावः। एतेन चरमध्वनिनिरूपणलक्षणानिरूपणयोः प्रकृतोपपादकत्वरूपोपोद्घातसंगतिर्दर्शिता।

लक्षणामूलक ध्वनियों के निरूपण के बाद लक्षणा-निरूपण करने में संगति दिखलाने के लिये कहते हैं—अथ इत्यादि। जिसको मूल मानकर आपने अन्तिम (अभिधामूलक-ध्वनियों के बादवाली) जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था-भेद से द्विविध ध्वनियों का निरूपण किया है, वह लक्षणा क्या वस्तु है? अर्थात् अब लक्षणा पदार्थ की जिज्ञासा है। इस कथन से लक्षणामूलकध्वनिनिरूपण तथा लक्षणानिरूपण में प्रकृतोपपादकत्वरूप उपोद्घात नामक सङ्गति दिखलाई गई।

उक्तजिज्ञासाशमनं प्रतिजानीते—

उच्यते—

लक्षणापदार्थ इति शेषः।

उक्त जिज्ञासा-शान्ति की प्रतिज्ञा करते हैं—उच्यते इति। अब लक्षणापदार्थ कहा जाता है।

लक्षणाया लक्षणमाह—

शक्यसम्बन्धो लक्षणा।

यत्किञ्चिच्छक्यार्थप्रतियोगिको यत्किञ्चिदर्थानुयोगिकः संबन्धविशेषो लक्षणापदार्थ इति भावः। स च संबन्धविशेषः स्थलभेदेन नानाविध इति स्वयं मूलकृतैवानुपदं स्फुटीकरिष्यते। शब्दवृत्तिरूपस्यास्य लक्षणापदार्थस्य स्वप्रतियोगिवाचकत्वसंबन्धेन पदनिष्ठत्वं बोध्यम् तार्किकमतानुसार्येतल्लक्षणालक्षणम्। मीमांसकास्तु 'शक्यादशक्योपस्थितिर्लक्षणे'त्याहुः। 'शक्यतावच्छेदकारोपो लक्षणा' इत्यपि केचित्। अन्वयाद्यनुपपत्तिज्ञानदशायां शक्यत्वेन गृहीतार्थसम्बन्धज्ञानेनोद्बुद्धशक्तिसंस्कारबोधे लक्षणेति व्यवहारः। वस्तुतो भगवदिच्छायाः शक्तित्वात्तीरादावपि गंगादिपदस्य शक्तिरस्त्येवेति तु वैयाकरणाः।

अब लक्षणा का लक्षण करते हैं—शक्य इत्यादि। जिस किसी पद के शक्यार्थ (अभिधावृत्ति द्वारा बोध्य अर्थ) का जिस किसी पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध, उसको लक्षणा कहते हैं। वह सम्बन्ध भिन्न-भिन्न स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है यह बात ग्रन्थकार स्वयं स्पष्ट रूप से मूल में ही कहेंगे। यद्यपि वह सम्बन्ध अर्थ में रहेगा, तथापि स्व-(सम्बन्ध)प्रतियोगी-(शक्य अर्थ)वाचकत्व सम्बन्ध से पद में रहने के कारण उक्त सम्बन्धरूप लक्षणा पदनिष्ठवृत्ति समझनी चाहिये। यह लक्षणा का लक्षण तार्किक मत के अनुसार किया गया है। मीमांसक लोग शक्य अर्थ से अशक्य अर्थ की उपस्थिति को लक्षणा मानते हैं। कुछ लोग शक्यतावच्छेदक धर्म (प्रवाहत्व आदि) के आरोप को लक्षणा कहते हैं। वैयाकरण लोग लक्षणा को अतिरिक्त वृत्ति मानते ही नहीं, वे शक्ति के ही दो भेद करते हैं—एक प्रधान और दूसरा गौण और उस गौणशक्ति में लक्षणा का व्यवहार होता है, ऐसा कहते हैं।

लक्षणाबीजं निर्वक्तुं रुचिरं विचारं प्रचारयति—

तत्प्राप्तार्थोपस्थापकत्वे मुख्यार्थतावच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयितावच्छे-

दकताया अभावो न तन्त्रम्। शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमाणस्य स्वीकारात्। किं तु तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो रूढिप्रयोजनयोरन्यतरच्च तन्त्रम्। मुख्यार्थान्वयानुपपत्तेः तन्त्रत्वे तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र लक्षणोत्थानं न स्यात्।

तस्या इति। लक्षणाया इत्यर्थः। अर्थोपस्थापकत्व इति। लक्ष्यार्थविषयकस्मरण-जनने इत्यर्थः। मुख्यार्थतावच्छेदक इति। शक्यतावच्छेदक इत्यर्थः। प्रवाहत्वादाविति यावत्। तात्पर्येति। तात्पर्यविषयीभूतो योऽन्वयः संबन्धः—तद्विशिष्टतावच्छेदकताया इत्यर्थः। तन्त्रमिति। कारणमित्यर्थः। शक्यतेति। प्रवाहत्वेन रूपेणेत्यर्थः। लक्ष्येति। तटादीत्यर्थः। तात्पर्यविषयान्वय इति। तात्पर्यविषयीभूते संबन्धविशेषे इत्यर्थः। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादौ तात्पर्यविषये अवध्यवधिमद्भावादौ संबन्धे दध्युपघातकत्वेन रूपेण काकादिरूपमुख्यार्थप्रतियोगिकतायाः सत्वादाह—मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेणेति। तथा चोक्त-संबन्धे काकत्वेन रूपेण काकप्रतियोगिकताया अभावोऽक्षत इति भावः। लक्षणोत्थानं न स्यादिति। 'काकावधिकदधिरक्षणम्' इत्याकारकस्यान्वयस्योपपन्नत्वेन मुख्यार्थान्वयानुपपत्ति-रूपकारणस्य विरहादिति भावः। अयमत्र निर्गलितार्थः—अन्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्ति-र्वा लक्षणाबीजमिति मतद्वैधे प्राप्ते प्रथमं मतम् न युक्तं, तथा सति 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्', 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्' इत्यादौ लक्षणानापत्तेः, 'काकावधिकदधिरक्षणम्', 'नक्षत्रदर्श-नोत्तरकालिकवाग्विसर्जनम्' इत्यादिरीत्याऽन्वयस्योपपन्नत्वात्। तात्पर्यानुपपत्तेर्लक्षणाबीजत्वे स्वीकृतेऽपि 'मुख्यार्थतावच्छेदकाधिकरणकस्तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकताया अभावः', 'तात्पर्यविषयान्वयाधिकरणको मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो वा तात्पर्यानुपपत्तिपदार्थ इति मतद्वैधे संभाविते प्रथममतमसंगतमेव, 'गंगायां घोषः' इत्यादौ प्रसिद्धे लक्षणोदाहरणे शैत्यत्वपावनत्वादिफलव्यञ्जनसौविध्याय गंगात्वेनैव रूपेण तटबोधस्यालंकारिकैः स्वीकारेण लक्षणाविरहप्रसंगात्। तत्र तात्पर्यविषयीभूतः संबन्धः तटघोषयोः आधाराधेयभावः, तन्नियामकः संयोगो वा, तद्विशिष्टता तटे। एवञ्च तटनिष्ठाया-स्तादृशान्वयिताया अवच्छेदकता मुख्यार्थतावच्छेदके गंगात्वे एवेति न तदभावः कारण-त्वेनाभिमतः स्यादिति भावः। अतो द्वितीयं मतमेव सम्यक्, तथा च तत्र गंगात्वेन रूपेण तटभानेऽपि तात्पर्यविषयीभूतस्य उक्ताधाराधेयभावात्मकस्यान्वयस्य गंगात्वेन रूपेण तटप्रतियोगिकताया तस्मिन्नन्वये गंगारूपमुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावस्य वर्तमानतया रूढिप्रयोजनयोरन्यतरस्य शैत्यत्वपावनत्वादेश्च सत्वेन लक्षणा भवतीति। इदमत्र विचारणी-यम्—शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमाणस्वीकारकथा ग्रन्थोक्ता कथं संगतेति। यतः 'कचतस्त्रस्यति वदनं, वदनात् कुचकुड्मलं बिभेति। मध्याद्बिभेति नयनं नयनादधरः समु-द्विजते'॥ अत्र क्रमशः कचपदकुचमध्यनयनाधरपदानां राहुचन्द्रकमलसिंहखञ्जनप्रवाल-रूपार्थेषु लक्षणायाम् कचत्वादिरूपशक्यतावच्छेदकरूपेण राह्वादिलक्ष्यमाणस्वीकारे बाधा-देरनुपपत्तिः। किञ्च 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र काकपदस्य दध्युपघातके लक्षणायाम् काकत्वरूपशक्यतावच्छेदकरूपेण दध्युपघातकात्मकलक्ष्यमाणाङ्गीकारे तत्र तात्पर्यविषयान्व-येऽवध्यवधिमद्भावे काकत्वरूपमुख्यार्थतावच्छेदकरूपेणैव काकात्मकमुख्यार्थप्रतियोगिक-तायाः सत्त्वेन तदभावरूपस्य ग्रन्थकृदभिमतस्य लक्षणाकारणस्यासंघटनमेवापद्येत। पर्याप्ति-निवेशेन 'मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थमात्रप्रतियोगिकताया अभावस्तन्त्रम्' इत्या-शयोपवर्णनेन यद्यपि नैष दोषः उक्तावध्यवधिमद्भावे काकत्वेन रूपेण बिडालादिसकलदध्युप-

घातकप्रतियोगिकत्वस्यैव सत्वेन काकरूपमुख्यार्थमात्रप्रतियोगिकताया अभावस्य साम्राज्यात्, तथापि प्रथमदोषो दुरुद्धर एव ।

अब लक्षणा का कारण क्या है, इस विषय में कुछ विलक्षण विचार उपस्थित किया जाता है—तस्याश्च इत्यादि। इस प्रतीक का स्पष्ट अर्थ यह है कि—लक्षणा के कारण के संबन्ध में दो मत हैं, एक मत के अनुसार अन्वय की अनुपपत्ति लक्षणा का कारण है—अर्थात् उस पद की लक्षणा किसी अर्थ में होती है, जिसके शक्य अर्थ का अन्वय, वाक्य-घटक अन्य पदार्थ के साथ नहीं हो सकता हो। परन्तु यह मत संगत नहीं है क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्', 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्' अर्थात् 'कौवों से दही की रक्षा करें', 'तारे देखकर बोलना चाहिए' इत्यादि जो लक्षणा के प्रसिद्ध उदाहरण हैं (इन दोनों वाक्यों में क्रमशः काक तथा नक्षत्र पद की दध्युपघातकमात्र और रात्रि में लक्षणा होती है, क्योंकि वक्ता का यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि कौवों से दही की रक्षा की जाय और कुत्ते आदि से नहीं, इसी तरह द्वितीय वाक्य का यह अभिप्राय नहीं हो सकता कि यदि आकाश के मेघाच्छन्न रहने से तारे नहीं दीख पड़े, तब बोला ही न जाय, अतः 'दही पर जिन-जिन प्राणियों से उपद्रव होने की संभावना हो, उन सबों से दही की रक्षा की जाय, एवम् रात में बोले, इन वक्त्रभिप्रेत अर्थों की सिद्धि के लिए उक्त लक्षणा आवश्यक होती है) वहाँ अब लक्षणा नहीं हो सकेगी, क्योंकि उक्त कारण (अन्वय की अनुपपत्ति) का वहाँ अभाव है अर्थात् 'कौवों से दही की रक्षा करें', 'जब तारे दीख पड़ें तब बोलें' इस तरह से काक और नक्षत्र पद के शक्यार्थों का भी रक्षा करने और बोलने के साथ अन्वय हो ही सकता है। द्वितीय मत के अनुसार तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का कारण कहा जाता है, जो ठीक है, क्योंकि इस मत के अनुसार उक्त उदाहरणों में तथा अन्य उदाहरणों में भी काम बन जाता है। परन्तु इस मत में भी यह विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है कि तात्पर्यानुपपत्ति का क्या आशय ? क्या मुख्यार्थतावच्छेदक—अर्थात् मुख्य अर्थ में रहनेवाले और अन्य किसी में न रहनेवाले धर्म (जैसे गंगा में गंगात्व) में तात्पर्य विषयान्वयितावच्छेदकता अर्थात्—जिस अन्वय में वक्ता का तात्पर्य हो, उस अन्वय के अन्वयी—उस अन्वय से विशिष्ट वस्तु में रहनेवाला जो धर्म उसका अभाव रहे, तब लक्षणा हो, यह आशय है ? कहने का अभिप्राय कि तात्पर्यानुपपत्ति से क्या आपका यह आशय है कि मुख्यार्थतावच्छेदक और तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदक धर्म यदि दो रहें, एक नहीं, तभी लक्षणा हो ? अथवा—क्या वक्ता के अभिमत अन्वय में मुख्यार्थतावच्छेदक (उक्त गंगात्व आदि जैसे धर्म) रूप से मुख्यार्थप्रतियोगिकता अर्थात्—मुख्यार्थीय होने का अभाव रहे, तब लक्षणा हो, यह आशय है ? सारांश यह कि तात्पर्यानुपपत्ति से क्या यह कहना है कि वक्ता का जिस अन्वय में तात्पर्य हो, वह अन्वय अपने रूप में मुख्य अर्थ का न रहे ? इन दोनों में प्रथम आशय नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस आशय के मान्य होने पर 'गंगायां घोषः अर्थात् गंगा में घोष' इस प्रसिद्ध लक्षणा के उदाहरण में लक्षणा नहीं की जा सकेगी क्योंकि यहाँ शैत्य-पावनत्व की अभिव्यक्ति के अनुरोध से आलंकारिक विद्वान् शक्यतावच्छेदक (गंगात्व) रूप से ही लक्ष्य (तट) का भान मानते हैं, अतः यहाँ गंगात्वरूप मुख्यार्थतावच्छेदक में तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकता का अभाव नहीं रहेगा अर्थात् यहाँ तात्पर्य विषयीभूत अन्वय है—तट और घोष का संयोग-मूलक आधाराधेयभाव, उस अन्वय का अन्वयी होगा तट, अन्वयिता रहेगी तट में और उस अन्वयिता का अवच्छेदक होगा वही गंगात्व, क्योंकि उसी रूप से तट का अन्वय अभीष्ट है, अन्यथा शैत्यत्व-पावनत्व व्यङ्ग्य नहीं हो सकेगा। इस तरह से मुख्यार्थतावच्छेदक गंगात्व में तात्पर्य विषयान्वयितावच्छेदकता ही रह गई फिर उसका अभाव वहाँ नहीं रहेगा। अब परिशेषात् द्वितीय आशय ठीक समझना चाहिए क्योंकि उस आशय

के अनुसार 'गंगायां घोषः' में लक्षणा हो सकती है क्योंकि गंगात्वरूपेण आखिर भान तो तट का ही होता है, अतः उक्त आधाराधेयभाव-सम्बन्ध का प्रतियोगी तट होगा नकि गंगा, इसलिये उस अन्वय (सम्बन्ध) में मुख्यार्थ-(गंगा)-प्रतियोगिकता का अभाव अक्षुण्ण है। रूढि और प्रयोजन इन दोनों में से किसी एक का रहना भी पृथक् लक्षणा का कारण है। उक्त उदाहरण में शैत्यत्वपावनत्व-प्रतीतिरूप प्रयोजन है ही।

लक्षणापदार्थतयाभिमतस्य शक्यसंबन्धस्य स्थलभेदेन भेदं दर्शयति—

'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र सामीप्यम्, 'मुखचन्द्रः' इत्यादौ सादृश्यम्, व्यतिरेकलक्षणायां विरोधः 'आयुर्घृतम्' इत्यादौ कारणत्वादयश्च संबन्धा यथायोगं, लक्षणाशरीराणि।

व्यतिरेकलक्षणेति। 'उपकृतं बहुनाम—' इत्यादौ। यथायोगम् यथासम्भवम्। लक्षणाशरीराणीति। लक्षणायाः स्वरूपाणीत्यर्थः। अत्र नागेशः—'लक्षणाज्ञानकार्यतावच्छेदकं च तादृशशक्यसंबन्धप्रकारकलक्ष्यविशेष्यकशाब्दबुद्धित्वमिति प्राचीनालंकारिकमतम्। तदनन्तरञ्च व्यञ्जनया तादृशशक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यबोध इति च।' एतेन शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमाणं मूलोक्तम् कटाक्षितम्।

अब शक्य-सम्बन्धरूप लक्षणा का स्वरूप स्थलभेद से भिन्न-भिन्न होता है इस स्पष्टीकरण के लिये तादृश स्थलों का उल्लेख करते हैं—गंगायाम् इत्यादि— 'गंगायां घोषः' में गंगा और घोष का संबन्ध-सामीप्य, 'मुखचन्द्रः' में मुख और चन्द्र का सम्बन्ध—सादृश्य, अपकारी के प्रति कथित 'आप ने बड़ा उपकार किया' इत्यादि विपरीत लक्षणा में अपकारी और अपकार्य का संबन्ध-विरोध, 'आयुर्घृतम्' में आयु और घृत का संबन्ध कार्यकारणभाव आदि यथायथ लक्षणारूप होते हैं।

लक्षणाया भेदान् दर्शयति—

इयं तावद्द्विविधा, निरूढा प्रयोजनवती च। तत्रापि द्वितीया द्विविधा, गौणी शुद्धा च। तत्राद्या सारोपा, साध्यवसाना चेति द्विविधा। अन्त्या चतुर्विधा—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा, साध्यवसाना चेति प्रयोजनवती षड्विधा सम्पद्यते।

इयमिति। लक्षणेत्यर्थः। तावत् आदौ। अन्यत् स्पष्टम्।

अब लक्षणा के भेद लिखे जाते हैं—इयमित्यादि। प्रथमतः लक्षणा के दो प्रकार होते हैं—एक निरूढा और दूसरा प्रयोजनवती। उनमें से भी द्वितीया (प्रयोजनवती) के दो प्रभेद होते हैं—गौणी और शुद्धा। इन दो प्रभेदों में से गौणी के पुनः दो उपभेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना और शुद्धा के चार उपभेद—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा तथा साध्यवसाना। इस तरह से प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद बनते हैं (दो गौणी के, चार शुद्धा के)।

निरूढलक्षणाया उदाहरणानि प्रदर्शयति—

तत्र निरूढलक्षणाया अनुकूलप्रतिकूलानुलोमप्रतिलोमलावण्यादय उदाहरणम् नीलादयश्च।

लावण्यादय इत्यत्रादिपदेनालोत्र्यनतनजादिवोधकगजादीनां संग्रहो बोध्यः। नीलादय इत्यत्रादिपदेन सर्वेऽपि गुणिपरा गुणवाचकाः कृष्णपीतादयः शब्दाः संगृह्यन्ते।

अब निरूढा लक्षणा के उदाहरण दिखलाये जाते हैं—तत्र इत्यादि। उक्त लक्षणाप्रभेदों में से निरूढ लक्षणा के उदाहरण होते हैं—अनुकूल, प्रतिकूल, अनुलोम, प्रतिलोम

और लावण्य आदि तथा नील आदि। यहाँ मूल के प्रथम आदि पद से चित्रगत गज आदि के बोधक गज प्रभृति पद संगृहीत होते हैं, एवम् द्वितीय आदि पद से सभी (नील, पीत, कृष्ण आदि) गुणवाचक वे पद लिए जाते हैं, जो गुणी के बोध कराने के उद्देश्य से बोले जाते हैं।

उपपादयति—

'धर्मस्यायमनुकूलः' इत्यादौ मुख्यार्थस्य कूलानुगतत्वादेर्बाधात् अनादि-प्रयोगप्रवाहवशादेकवस्तुप्रवणत्वात्मना कूलानुगतादिरूपशक्यस्य सादृश्येन संबन्धेनानुकूलादिशब्दैरनुगुणादयो लक्ष्यन्ते। एवं नीलादिपदानां लाघवाद्-गुणगतजातेरेव शक्यतावच्छेदकतया गुणद्रव्ययोः 'नीलो घटः' इत्यादौ सामा-नाधिकरण्येनान्वयस्यानुपपत्तेः समवायात्मना गुणरूपशक्यस्य संबन्धेन नीला-दिशब्दैर्गुणिनो लक्ष्यन्ते।

अनुकूलपदस्य 'कूलमनुगतः' इति व्युत्पत्तियोगात् कूलानुगतत्वविशिष्टो मुख्यः (वाच्यः) अर्थः। तस्य चार्थस्य 'धर्मस्यायमनुकूलः' इत्यादौ बाधः, एवञ्च तत्र एकवस्तुप्रवणत्व-(तदेकसंसक्तत्व)रूपेण कूलानुगतात्मकानुकूलपदशक्यस्य संबन्धेनानुकूलपदमनुगुणरू-पमर्थं लक्षयति, अस्याश्च लक्षणायाम् तादृशार्थे तस्य पदस्यानादिप्रयोगप्रवाहरूपा रूढिः कारणम्। एवं प्रतिकूलपदस्य 'कूलं प्रतिगतः' इति व्युत्पत्त्या कूलविरुद्धरूपोऽर्थः शक्यः, स च 'धर्मस्यायं प्रतिकूलः' इत्यादौ बाधित इति तस्य पदस्य विरुद्धत्वात्मकेन सादृश्यसंबन्धेन विमुखरूपार्थे रूढिमूला लक्षणा। अनुलोमशब्दस्य 'लोम अनुगतम्' इति व्युत्पत्त्या आनुपूर्व्येण स्थितः कचो वाच्यः। तस्य चार्थस्य 'अनुलोमजातिसंकरः' इत्यादौ बाध इति आनुपूर्व्यात्मकेन सादृश्यसंबन्धेन तादृशव्यक्तिविशेषे लक्षणा। एवं प्रतिलोम-पदस्य विरुद्धक्रमजातिविशेषवति व्यक्तिविशेषे लक्षणा बोध्या। लवणभाववाचकस्य लावण्य-पदस्य च हृदयंगमत्वरूपसादृश्यसम्बन्धेन सुषमाविशेषे लक्षणा ज्ञेया। एवं नीलादिपदा-नामिति। अयं भावः-'नीलो घटः', 'नीलं रूपम्', इत्युभयविधव्यवहारस्यानुभविकतया नीला-दिपदानां गुणे गुणिनि वा शक्तिरिति विप्रतिपत्तौ गुण एव शक्तिरङ्गीकार्या, आश्रयभेदेन भिन्नानां नीलादिगुणानां शक्यतावच्छेदकत्वस्वीकारापेक्षया गुणगतनीलत्वादिजातेः शक्य-तावच्छेदकत्वाङ्गीकारे लाघवात्। एवञ्च गुणवाचकानां नीलादिपदानां द्रव्यवाचकानां घटादिपदानाञ्च 'नीलो घटः' इत्यादौ सहप्रयोगे गुणद्रव्ययोः सामानाधिकरण्यनियामका-भेदेनान्वयस्यानुपपत्तेः समवायरूपेण गुणरूपशक्यस्य सम्बन्धेन नीलादिपदानां तद्गुणवि-शिष्टेषु रूढिमूला लक्षणा भवतीति।

उक्त उदाहरणों में प्रकृतोपयोगी बातों का उपपादन करते हैं—धर्मस्य इत्यादि। 'अनुकूल' पद का मुख्य अर्थ है 'कूल—नदी-तट का अनुगत—अनुसारी'। परन्तु 'यह धर्म का अनुकूल है' इस तरह के वाक्यों में जब हम अनुकूल पद का प्रयोग करते हैं, तब उस पद का उक्त मुख्य अर्थ बाधित प्रतीत होता है क्योंकि नदी-तट का कोई प्रसंग ही वहाँ नहीं है, अतः 'एकवस्तुप्रवणत्व—एक वस्तु की तरफ झुकना' रूप (अनुकूल पद के शक्यार्थ के) सादृश्य-संबन्ध से अनुकूल पद की अनुगुण अर्थ में लक्षणा होती है। प्रतिकूल पद का मुख्य अर्थ है कूलविरुद्ध। परन्तु 'धर्म का प्रतिकूल' इस वाक्य में वह अर्थ बाधित है, अतः विरुद्धत्वरूप सादृश्यसंबन्ध से उक्त पद की विमुख अर्थ में लक्षणा समझी जाती है। अनुलोम पद का मुख्य अर्थ है आनुपूर्व्येण (क्रम से) स्थितकेश। परन्तु 'अनुलोम जाति संकर' इत्यादि स्थल में उक्त अर्थ के बाधित होने से उक्त पद की

आनुपूर्व्यात्मक सादृश्यसंबन्धमूलक संकरजातीय व्यक्तिविशेष में लक्षणा होती है। प्रतिकूल पद की विरुद्धक्रमजातीय व्यक्ति विशेष में लक्षणा होती है। इसी तरह लवणभाव (नमकीन) अर्थ के वाचक लावण्य पद की हृदयंगमत्व सादृश्यसंबन्ध से सौन्दर्य विशेष में लक्षणा होती है। ये सभी उदाहरण सादृश्यसंबन्ध-मूलक हैं। अन्यसंबन्धमूलक लक्षणा के उदाहरण नील, पीत दिखलाये गये हैं। अभिप्राय यह है कि 'नील घड़े' और 'नील रूप' दोनों तरह के व्यवहार होते हैं। इस स्थिति में उन पदों की शक्ति गुणी (धर्मी—द्रव्य) में मानी जाय अथवा गुण (धर्म) में, यह विचार जब उठता है, तब निष्कर्ष यही निकलता है कि गुण में ही शक्ति मानी जानी चाहिए, क्योंकि गुण को शक्य मानने पर गुणगत-नीलत्व आदि अनुगत जाति को शक्यतावच्छेदक होने से लाघव होता है। गुणी में शक्ति मानने पर तो अननुगत गुणों को शक्यतावच्छेदक हो जाने से गौरव होगा। अब जहाँ—'नील घड़े' इत्यादि स्थानों पर गुणवाचक (नील आदि) तथा द्रव्यवाचक (घड़े आदि) शब्दों का साथ साथ प्रयोग पाया जाता है, वहाँ सामानाधिकरण्य नियामक अभेद संबन्ध से गुण-द्रव्यों का परस्पर अन्वय नहीं हो सकता, अतः गुणरूप शक्य के समवायात्मक संबन्ध से नील आदि पदों की उन गुणों से युक्त घट आदि द्रव्यों में लक्षणा होती है। उक्त सभी उदाहरणों में लक्षणा का कारण रूढि (अनादि परम्परा) है—अतः ये लक्षणायें रूढिमूला कहलाती हैं।

उक्तेषु निरूढलक्षणोदाहरणेषु विशेषमाह—

तत्राद्यवर्गे सादृश्यसम्बन्धेन द्वितीयवर्गे च तदितरसम्बन्धेन लक्षणायाः प्रवृत्तेर्निरूढायामपि गौणीत्वशुद्धत्वाभ्यां द्वैविध्यमामनन्ति।

आद्यवर्गे–अनुकूलप्रतिकूलादिषु। द्वितीयवर्गे इति। नीलादिष्वित्यर्थः। सादृश्यसम्बन्धमूलिका गौणी, तदितरमूलिका च शुद्धा, लक्षणेति सिद्धान्तः। तथा च अनुकूलप्रतिकूलानुलोमप्रतिलोमलावण्यादिषु पदेषु स्वीकृताया निरूढलक्षणायाः सादृश्यसम्बन्धमूलकत्वेन गौणीत्वम्, नीलपीतादिषु शब्देषु स्वीकृताया लक्षणायाः समवायसम्बन्धमूलकत्वेन शुद्धात्वञ्च प्रसक्तमिति निरूढलक्षणाया अपि गौणीत्वशुद्धात्वभेदेन भेदद्वयं भवतीति भावः। यद्यपि संयोगे सति, 'दण्डी देवदत्तः' इतिवत् सत्यपि सादृश्ये 'सिंहवान् देवदत्तः' इति विशिष्टबुद्धेरदर्शनात् सादृश्यं न सम्बन्धः, विशिष्टधीयोग्यस्यैव सम्बन्धत्वात्, तथा च गौणी न लक्षणाप्रभेद इति केचिदाक्षिपन्ति तथापि चक्षुरादेर्घटनैल्यादिषु संयुक्तसमवायादिवत् विशिष्टबुद्ध्ययोग्यस्यापि तत्सदृशनिष्ठस्य तन्निरूपितसादृश्याधिकरणत्वरूपपरम्परासम्बन्धस्य सम्बन्धत्वाङ्गीकारे बाधकाभावात्, 'उपकृतं बहु तत्रे'त्यादिव्यतिरेकलक्षणास्थले तन्निरूपितविरोधाधिकरणत्वरूपपरम्परासम्बन्धमात्रेण लक्षणाक्लृप्त्या 'साक्षात्सम्बन्धे विशिष्टबुद्धियोग्यसम्बन्धेनासत्येव लक्षणा' इति नियमाभावाच्च, नासावाक्षेपः समुचित इति बोध्यम्। इदं त्वत्रावधारणीयम्–प्राक् सामान्येन निरूढलक्षणामुक्त्वा पश्चात् 'गौणीत्वशुद्धात्वाभ्यां द्वैविध्यमामनन्ती'त्युल्लिखन् मूलकारः पण्डितराजः निरूढलक्षणाया गौणीत्वे स्वकीयामसम्मतिमिव प्रकटयति, तत्र किं बीजमिति।

रूढिमूलक लक्षणा के उक्त दो श्रेणी के उदाहरणों में विशेष दिखलाकर मतभेद का उत्थान करते हैं - तत्राद्यवर्गे इत्यादि। सादृश्यसंबन्ध-मूलक लक्षणा गौणी और सादृश्य से अन्यसंबन्ध-मूलक लक्षणा शुद्धा कही जाती है, यही जब सिद्धान्त है, तब रूढि-मूलक लक्षणा के भी दो भेद होने चाहिएँ, क्योंकि रूढि-मूलक लक्षणा के जो उदाहरण ऊपर दिखलाये गये हैं, उनमें भी दो श्रेणी के उदाहरण हैं, एक श्रेणी (अनुकूल, प्रतिकूल, अनुलोम, प्रतिलोम और लावण्य आदि) में लक्षणा का मूल सादृश्य संबन्ध है और दूसरी

श्रेणी (नील, पीत आदि) में सादृश्य से अन्य समवायसंबन्ध लक्षणा के मूल हैं। अतः रूढि-मूलक लक्षणा के भी दो भेद (गौणी और शुद्धा) कुछ विद्वान् मानते हैं। यहाँ एक विचारणीय प्रश्न यह है कि पहले सामान्य रूप से निरूढ लक्षणा का उल्लेख करके पीछे 'कुछ लोग गौणी शुद्धा भेद से निरूढ लक्षणा के भी दो प्रकार मानते हैं' इस तरह लिखते हुए मूलकार ने निरूढ लक्षणा के गौणी भेद में अपनी असम्मति सूचित की है, वह क्यों ?

सारोपसाध्यवसानपदयोरर्थं विवृणोति—

विषयविषयिणोः पृथङ्निर्दिष्टयोरभेद आरोपः। अपृथङ्निर्दिष्टे विषये विषय्यभेदोऽध्यवसानम्। तत्राद्येन सहिता सारोपा। द्वितीयेन तु साध्यवसाना।

विषयविषयिणोरिति। यत्रारोप्यते स विषयः यथा मुखादिः। यः आरोप्यते स विषयी यथा चन्द्रादिः। पृथङ्निर्दिष्टयोरिति। पृथगुच्चरितयोरित्यर्थः, अपृथङ्निर्दिष्ट इति। विषयिणा निगीर्णे इत्यर्थः। आद्येन आरोपेण। द्वितीयेन अध्यवसानेन।

प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद पूर्व में प्रतिपादित हो चुके हैं। उनमें से 'शुद्धा प्रयोजनवती' के दो भेदों—जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था—के उदाहरण तो ध्वनि प्रकरण में दिए जा चुके हैं। रहे चार भेद—गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना। इनके विषय में इतनी बात तो ऊपर के ग्रन्थ से विदित हो ही जाती है कि—लक्षणा जब सादृश्य संबन्ध के रूप में प्रवृत्त होती है, तब गौणी कहलाती है और जब अन्य किसी संबन्ध के रूप में प्रवृत्त होती है तब शुद्धा। अतः अवशिष्ट सारोपा और साध्यवसाना पदों का अर्थ अब बतलाते हैं—विषयविषयिणोः इति। विषय—जिसमें आरोप किया जाता है वह, जैसे मुख आदि—और विषयी—जिसका आरोप किया जाता है वह, जैसे चन्द्र आदि—दोनों का अलग-अलग निर्देश करके किया जानेवाला अभेद 'आरोप' कहलाता है और विषय का अलग निर्देश न करके उसके साथ न किया जाने वाला विषयी का अभेद 'अध्यवसान' कहलाता है। उन दोनों में आरोपसहित लक्षणा सारोपा और अध्यवसान से युक्त लक्षणा साध्यवसाना कही जाती है।

गौण्योः सारोपसाध्यवसानलक्षणयोरुदाहरणे दर्शयति—

उदाहरणानि च 'मुखं चन्द्रः' इत्यादीनि गौण्याः सारोपायाः। 'पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चन्द्रराजी विराजते' इत्यादीनि च तस्याः साध्यवसानायाः।

'मुखं चन्द्रः' इत्यादौ चन्द्रपदस्य स्वसदृशे लक्षणा, तत्पदशक्यार्थस्येन्दोर्मुखे न सहाभेदान्वयस्य बाधितत्वात्। सा च लक्षणा गौणी, सादृश्यसम्बन्धमूलकत्वात्, सारोपा च, विषयविषयिणोर्मुखचन्द्रयोरुभयोर्निर्देशात्। इयमेव लक्षणा रूपकालंकारस्य बीजम्। पुरेऽस्मिन्निति। अस्मिन् कस्मिंश्चित् वर्णनीये, पुरे नगरे, सौधशिखरे प्रासादोपरिभागे, चन्द्रराजिः इन्दुश्रेणी, चन्द्रराजित्वेनाध्यवसिता कमनीयकामिनीमुखपङ्क्तिरिति यावत्, विराजते विशेषेण शोभते इत्यर्थः। तस्या इति गौण्या इत्यर्थः। अत्रापि चन्द्रशब्दस्य स्वसदृशे (मुखे) लक्षणा, सौधशिखरे चन्द्रस्थितेर्बाधितत्वात्। सा च लक्षणा सादृश्यसम्बन्धमूलकतया गौणी, विषयस्य मुखस्यानिर्देशेन साध्यवसानेति भावः। इयमेव लक्षणा अतिशयोक्त्यलंकारविशेषस्य हेतुः।

अब गौणी सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण दिखलाते हैं—उदाहरणानि च इत्यादि। 'मुखचन्द्र' इत्यादि स्थल में चन्द्रपद की स्वसदृश में लक्षणा होती है, क्योंकि चन्द्रपद के मुख्य अर्थ—इन्दु—का मुख के साथ अभेदान्वय बाधित है। यह लक्षणा सादृश्यसंबन्धमूलक होने से गौणी और विषय मुख तथा विषयी चन्द्र दोनों के पृथक् निर्दिष्ट रहने से सारोपा कही जाती है। यही लक्षणा रूपक अलंकार का बीज है। 'पुरेऽस्मिन्'……इत्यादि अर्थात् इस नगर में अट्टालिकाओं के शिखरों

पर चन्द्रमा की श्रेणी वस्तुतः कामिनी की सुन्दर चमचमाती हुई मुख-पङ्क्ति शोभित होती है' यहाँ भी चन्द्र पद की मुख में सादृश्यसंबन्धरूप लक्षणा है क्योंकि कोठों पर चन्द्रपङ्क्ति की स्थिति बाधित है। परन्तु यहाँ विषय मुख का पृथक् निर्देश नहीं किया गया है—'चन्द्रराजी' पद से ही उसका भी बोध कराया गया है, अतः यह साध्यवसाना कही जाती है। यही लक्षणा अतिशयोक्ति का एक प्रकार का बीज है।

उक्तसारोपास्थलेऽन्वयप्रकारमुपदर्शयति—

अत्राद्यायां विषयिप्रतिपादकैश्चन्द्रादिशब्दैर्लक्षणयोपस्थापितानां चन्द्रादिसदृशानामभेदेन संसर्गेण मुखादिशब्दोपस्थापितैर्मुखत्वादिविशिष्टैर्मुखादिभिरन्वयः।

आद्यायामिति। 'मुखं चन्द्रः' इत्यादिस्थलीयसारोपलक्षणायामित्यर्थः। विषयिप्रतिपादकैरिति। उपमानबोधकैरित्यर्थः। 'मुखं चन्द्रः' इत्यादौ उपमानबोधकैश्चन्द्रादिपदैर्लक्षणया चन्द्रसदृशा उपस्थाप्यन्ते। उपमेयबोधकैर्मुखादिशब्दैश्चाभिधया मुखत्वादिविशिष्टा मुखादयः उपस्थाप्यन्ते। ततश्चोपमानोपमेयबोधकपदोपस्थापितलक्ष्यार्थवाच्यार्थयोरभेदान्वयः सम्पद्यते। तेन 'चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखम्' इति शाब्दबोधः फलितः।

गौणी सारोपा लक्षणा के स्थल में शाब्द-बोध—प्रकार का वर्णन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'मुखं चन्द्र' इत्यादि स्थल में विषयिप्रतिपादक—उपमान बोधक—चन्द्र आदि पदों से लक्षणा के द्वारा चन्द्र-सदृश की उपस्थिति होती है और विषय-प्रतिपादक—उपमेयबोधक—मुख आदि पदों से अभिधा के द्वारा मुख आदि की उपस्थिति होती है। उपस्थिति के बाद उन लक्ष्य और वाच्य अर्थों में परस्पर अभेद संबन्ध से अन्वय होता है, अतः 'चन्द्र सदृश से अभिन्न मुख' ऐसा बोध फलित होता है।

ननु सदृशरूपधर्मिलक्षणायां गौरवात् सादृश्यरूपधर्मलक्षणैव कुतो नाङ्गीक्रियत इत्यत आह—

सादृश्यरूपधर्मलक्षणायां तु तेन सह मुखादीनामन्वयो न स्यात्, नामार्थयोरभेदातिरिक्तसंसर्गेण विशेष्यविशेषणभावस्यानुपपत्तेः।

तेनेति। सादृश्यात्मक लक्ष्मार्थेनेत्यर्थः। अयमाशयः—'मुखंचन्द्रः' इत्यादि गौणसारोपलक्षणोदाहरणे विषयिवाचकस्य चन्द्रादिपदस्य स्वसदृशधर्म्मिणि लक्षणाश्रयणे गौरवापत्तिरिति सादृश्ये धर्म एव लक्षणाऽऽश्रयणीयेति कथनं न युक्तम्, तथासति चन्द्रपदोपस्थाप्य चन्द्रसादृश्य रूपलक्ष्यार्थस्य मुखपदोपस्थाप्यमुखत्वविशिष्टरूपवाच्यार्थेन सहान्वयाभावप्रसङ्गात्। न च स्वरूपसम्बन्धेनान्वयः सम्भवतीति वाच्यम्, 'नामार्थयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्न' इति नियमस्य जागरूकत्वात्। अभेदान्वय एव भवत्विति तु न वक्तुं शक्यम्, सादृश्यमुखयोरभेदस्य बाधितत्वात्। अतः धर्मिलक्षणैव स्वीकर्तव्येति।

सदृशरूप धर्मी में लक्षणा मानने की अपेक्षा सादृश्यरूप धर्म में लक्षणा मानने पर लाघव है अतः वही क्यों नहीं मानी जाय इस शङ्का का समाधान अब करते हैं—सादृश्य इत्यादि। 'मुखचन्द्र' इत्यादि स्थल में चन्द्र आदि पद की लक्षणा सदृश-धर्मी में न मानकर सादृश्यरूप धर्ममात्र में मान ली जाय यदि, चन्द्र पद के लक्ष्य अर्थ चन्द्र-सादृश्य का मुख पदार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा। यदि आप कहें कि स्वरूप सम्बन्ध से अन्वय हो सकता है, तो वह ठीक नहीं, कारण, दोनामार्थों (प्रातिपदिकार्थों) में परस्पर अभेद सम्बन्ध से ही अन्वय होता है अन्य सम्बन्ध से नहीं, ऐसा नियम सर्व सम्मत है। अभेदान्वय ही हो यह तो कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि सादृश्य और मुख अभिन्न हो नहीं सकता। अतः, सदृशरूप धर्मी में ही चन्द्र आदि उपमान वाचक पदों की लक्षणा माननी चाहिए।

शङ्कते—

नन्वेवं सति बोधावैलक्षण्याच्चन्द्रसदृशं मुखमित्युपमानो मुखं चन्द्र इति रूपकस्य कथं भेदः । न च सदृशविशेषणचन्द्रसंबन्धासंबन्धाभ्यामिति वाच्यम् । बोधस्य वैलक्षण्यमात्रेण पृथगलङ्कारताया असिद्धेः । अन्यथा मुखं चन्द्र इवे-त्यत्र चन्द्रसदृशमित्येतद्गतात्पृथगलङ्कारतापत्तिरिति चेत् ?

एवं सतीति । धर्मिलक्षणयाऽभेदेनान्वयाङ्गीकारे सतीत्यर्थः । धर्मलक्षणया 'नामार्थ-यो'रिति व्युत्पत्तौ लक्ष्यार्थातिरिक्तनामार्थविषयकत्वेन संकोचमङ्गीकृत्य भेदान्वये तु बोध-वैलक्षण्यं संभवतीति भावः । बोधावैलक्षण्येति । उपमायामपि अभेदेनैव बोधादिति भावः । उपमारूपकयोर्भेदसिद्ध्यर्थं बोधवैलक्षण्यं दर्शयति—न चेति । सदृशविशेषणेत्यादि । सदृशे विशेषणीभूतो यश्चन्द्रस्तत्संबन्धतदसंबन्धाभ्याम् संसर्गतया भासमानाभ्यामित्यर्थः । बोधवैलक्षण्यमिति शेषः । बोधवैलक्षण्यमात्रेणालङ्कारभेदं खण्डयति—बोधस्य वैलक्षण्य-मात्रेणेति । अन्यथेति । बोधवैलक्षण्यमात्रेणालंकारभेदाङ्गीकारे इत्यर्थः । अयं भावः—गौणसारोपलक्षणास्थले धर्मिलक्षणयाऽभेदान्वयाङ्गीकारे 'मुखं चन्द्रः' इति तादृशलक्ष-णामूलके रूपके, 'चन्द्रसदृशम् मुख'मित्युपमायाञ्च 'चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखम्' इति समानाकारकस्यैव बोधस्य जायमानतया रूपकोपमयोः को भेद इति शङ्का जागर्ति । 'भिन्नपदोपस्थाप्ययोरेवार्थयोः संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते इति नियमेन 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इत्युपमास्थले चन्द्रपदात् चन्द्ररूपार्थस्योपस्थितौ, सदृशपदाच्च लक्षणया चन्द्र-प्रतियोगिकसादृश्याश्रयरूपार्थस्योपस्थितौ तयोरभेदः संसर्गमर्यादया भासेत भिन्नपदोप-स्थाप्यत्वात्, तथा च 'चन्द्राभिन्नं यत्सदृशं तदभिन्नम् मुखम्' इति बोधः । 'मुखं चन्द्रः' इति रूपकस्थले च चन्द्रपदस्य तत्सदृशे लाक्षणिकतया तस्यैकपदार्थत्वात् संसर्गस्यापि लक्ष्यघटकतया चन्द्रसदृशयोः संबन्धस्य संसर्गविधया न भानमिति तत्र 'चन्द्रसदृशाभिन्नं मुखम्' इति बोधः । एतच्च [illegible] दिति तु न समी-चीनम्, बोधवैलक्षण्यमात्रे [illegible] मुखम्' इत्युपमा-लक्ष्यत्वेन सर्वसम्मतयोरपि [illegible]—इवेति निपा-तस्य द्योतकत्वेन 'चन्द्र इवे [illegible] संसर्गमर्यादया न भानमिति प्रागुक्तरूपकस्थलीय एव बोधाकारः । 'चन्द्रसदृशम्' इत्यत्र च पूर्वोपदर्शितो भिन्नाकारो बोध इति तयोः स्थलयोरपि बोधवैलक्षण्यसिद्धिः । 'निपाता वाचकाः' इति पक्षेऽपि इवशब्दः सादृश्यवाचकः सदृशवाचको वेति पक्षद्वयं संभवति परन्तु पक्षद्वयेऽपि 'चन्द्रसदृशम्' इत्यतो बोधवैलक्षण्यं तत्र दुष्परिहरमेव यतः इवपदस्य सादृश्यवाचकत्वपक्षे प्रतियोगित्वस्य संसर्गविधया भानेन 'चन्द्रप्रतियोगिकं सादृश्यम्....' इत्यादिर्बोधाकारः, 'चन्द्रसदृशम्....' इत्यत्र तु पूर्वोक्त एव । तस्य सदृशवाचकत्वपक्षे 'चन्द्र इव' इत्यत्र स्वप्रतियोगिकाश्रयत्वस्य संसर्गत्वेन भाने 'चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्याश्रयाभिन्नं मुखम्' इति बोधाकारः । 'चन्द्रसदृशम्' इत्यत्र पुनः स एव । इत्थञ्च बोधवैलक्षण्यमात्रेणालंकारभेदाङ्गी-करणकल्पे शिथिलीभूते पूर्वोक्तो 'रूपकोपमयोः कथं भेदः' इति पूर्वः पक्षो यथास्थित इति ।

अब एक आशंका उपस्थित की जाती है—नन्वेवम् इत्यादि । अभिप्राय यह है कि—जब आप गौण-सारोपा-लक्षणा के स्थल में चन्द्र आदि पद की धर्मी में लक्षणा मानकर मुख के साथ अभेदान्वय ही मानते हैं, तब 'मुखचन्द्र' इस रूपक तथा 'चन्द्र के समान मुख' इस उपमा—दोनों में 'चन्द्रसदृश से अभिन्न मुख' यह एक

प्रकार का ही बोध होगा, फिर इन दोनों अलंकारों में भेद क्या रहा? अर्थात् इन दोनों स्थलों पर दो भिन्न अलंकार क्यों और कैसे मानते हैं? एक ही क्यों नहीं मान लेते? यदि कोई कहे कि उक्त दोनों स्थलों के बोध में विलक्षणता हो सकती है। कारण, 'भिन्न-भिन्न पदों से उपस्थित होनेवाले दो अर्थों का संबन्ध ही संसर्ग-मर्यादा-संबन्ध-रूप से भासित होता है' इस नियम के अनुसार 'चन्द्रसदृशमुख' इस उपमा-स्थल में चन्द्र तथा सदृशरूप अर्थों की क्रमशः चन्द्र तथा सदृश पद से उपस्थिति होने से उन दोनों का अभेद, संबन्धरूप से भासित होता है—अर्थात् वहाँ 'चन्द्र से अभिन्न जो सदृश उससे अभिन्न मुख' ऐसा बोध होता है। परन्तु 'मुखचन्द्र' इस रूपकस्थल में चन्द्र पद से ही लक्षणावृत्ति के द्वारा चन्द्र तथा सदृश पदार्थ की उपस्थिति होती है, अतः उन दोनों अर्थों का संबन्ध संबन्धरूप से भासित नहीं होता अर्थात् वहाँ 'चन्द्र सदृश से अभिन्न मुख' यही बोध होता है। इस तरह बोध में वैलक्षण्य सिद्ध हो जाने पर उन अलंकारों में भी भेद सिद्ध होगा। परन्तु यह कथन संगत नहीं है क्योंकि यदि बोध में विलक्षणता होने से अलंकार में भेद सिद्ध किया जाय, तब 'चन्द्र इव मुखम्—चाँद सा मुख और चन्द्रसदृशं मुखम्—चन्द्रतुल्य मुख' इन दोनों स्थानों—जो सर्वसम्मति से उपमा के ही लक्ष्य हैं—में भी दो अलंकार मानने पड़ेंगे, क्योंकि इन दोनों स्थानों पर भी बोध में विलक्षणता हो जाती है। देखिए—'इव' यह निपात है, अतः द्योतक है, इस दृष्टिकोण से विचार करने पर उक्त रूपक स्थलीय रीति से 'चन्द्र इव मुखम्' में—चन्द्र और सदृश पदार्थ का संसर्ग भासित नहीं होगा, फिर तो वैसा ही बोध होगा, जैसा ऊपर रूपकस्थल में दिखलाया गया है और 'चन्द्रसदृशम् मुखम्' में चन्द्र तथा सदृश पदार्थ का संबन्ध (अभेद) भासित होगा, अतः वहाँ का बोध भिन्न तरह का होगा। 'निपात वाचक हैं' अतः 'इव भी वाचक है' इस दृष्टिकोण से भी विचार करने पर बोध में विलक्षणता बनी ही रहती है, जैसे—'इव' सादृश्यवाचक है अथवा सदृशवाचक, यह विकल्प उठता है परन्तु दोनों पक्षों में यहाँ कोई खास लाभदायक अन्तर नहीं होता क्योंकि इव का अर्थ सादृश्य मानने पर उसके साथ चन्द्र का संबन्ध होगा प्रतियोगित्व, जिससे 'चन्द्र इव...' में 'चन्द्रप्रतियोगिक सादृश्य...' इत्यादि रीति से बोध होगा और 'चन्द्र सदृश' इत्यादि में वही बोध रहेगा, जो पहले कहा जा चुका है। 'इव' का अर्थ सदृश करने पर 'चन्द्र इव...' में 'स्वप्रतियोगिकाश्रयत्व' का संबन्धरूप से भान होगा, जिससे बोध होगा 'चन्द्रप्रतियोगिक सादृश्याश्रय से अभिन्न मुख' और 'चन्द्रसदृश...' में तो कोई परिवर्तन होगा नहीं। इस तरह बोधवैलक्षण्य से अलंकारभेदवाला सिद्धान्त जब शिथिल है तब वह शंका बनी रही कि रूपक और उपमा में क्या भेद है?

उक्ताशङ्कायाः प्राचामभिमतं मतभेदेन समाधानत्रयं प्रतिपादयिष्यन् तावत् प्रथम-मतमाह—

अत्र केचित्—'रूपकस्योपमातः स्वरूपसंवेदनांशमादायावैलक्षण्येऽपि लक्षणाफलीभूततादूप्यसंवेदनमादाय वैलक्षण्यं निर्बाधम्। तादूप्यसंवेदनं च विषये मुखादौ विषयितावच्छेदकस्य चन्द्रत्वादेः संप्रत्ययः। ननु लक्षणाप्रयोज्यादपि तत्सदृशबोधात्कथं नाम तादूप्यप्रत्ययः स्यात्, उपायस्याभावाद्भेदज्ञानेन प्रतिबन्धाच्च। अन्यथा चन्द्रसदृशं मुखमित्यत्रापि तादूप्यप्रत्ययप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्। श्लेषस्थल इवात्राप्येकशब्दोपादानोत्थस्य व्यञ्जनस्योपायत्वाद्व्यञ्जनिकबोधस्य बाधबुद्ध्यप्रतिबध्यत्वाच्च। अथ चन्द्रतत्सदृशयोरेकपदोपात्तत्वाच्चन्द्रसदृशे चन्द्रतादूप्यस्य प्रत्ययो यथाकथञ्चिदस्तु, न तु मुखत्वविशिष्टे मुखे। अनुभवसिद्धश्च सर्वेषां 'वक्त्रे चन्द्रमसि स्थिते किमपरः शीतांशु-

मुज्जृम्भते' इत्यादौ विषये विषयिताद्रूप्यस्य प्रत्यय इति सत्यम् । स्वताद्रूप्यवद्भेदबुद्ध्या स्वताद्रूप्यस्य सुबोधतया तस्मिन्नपि तस्य सिद्धेः' इत्याहुः ।

अत्रेति । उक्ताशंकायामित्यर्थः । 'केचित्' इत्यस्य अग्रिमेण 'आहुः' इत्यनेन संबन्धः । स्वरूपसंवेदनेति । शाब्दबोधेत्यर्थः । ताद्रूप्यसंवेदनम् ताद्रूप्यप्रतीतिः । अत्र 'ताद्रूप्यमात्रसंवेदनमित्यर्थः । एतेन भेदाभेदोभयप्रधानोपमा असाधारणरूपेणोपमानोपमेययोर्भेदः, साधारणरूपेण त्वभेद इत्यलंकारसर्वस्वकृद्ग्रन्थविरोध इत्यपास्तम्' इति नागेशः। ताद्रूप्यसंवेदनघटकताद्रूप्यपदार्थं स्फोरयितुमाह—ताद्रूप्यसंवेदनं चेति । शङ्कते—नन्वित्यादि । उपायस्येति । शक्तिलक्षणान्यतररूपस्येत्यर्थः । तत्रापि लक्षणास्वीकारे का बाधेत्यत आह—भेदेति । अन्यथेति । भेदज्ञानस्याप्रतिबन्धकत्वे इत्यर्थः । इत्यत्रापीति । उपमायामपीत्यर्थः । ताद्रूप्येति । ताद्रूप्यमात्रेत्यर्थः । उपायं दर्शयति—श्लेषस्थल इवेत्यादि । प्रतिबन्धकं निरस्यति—वैयञ्जनिकेत्यादि । तत्सदृशयोरेवेति । अत्रेवपदेन मुखत्वविशिष्टमुखव्यवच्छेदः । तदेवाह—न त्विति । सदृशत्वेन रूपेण मुखोपस्थितेः सत्वादाह—मुखत्वेति । इष्टापत्तिं परिहरति—अनुभवेति । स्वताद्रूप्यवदिति । चन्द्रताद्रूप्यवान् यः सदृशस्तद्भेदबुद्ध्येत्यर्थः । तस्मिन् विषये । तस्य ताद्रूप्यप्रत्ययस्य । अयमभिसन्धिः—'मुखं चन्द्रः' इति रूपके, 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इत्युपमायाञ्च यद्यपि क्रमशो लक्षणाप्रयोज्यः, अभिधाप्रयोज्यश्चोक्ताकारकः समान एव प्राथमिको बोध इति तदंशमादाय तयोर्न किञ्चिद् वैलक्षण्यम्, तथापि रूपके लक्षणायाः प्रयोजनमूलकतया उक्तप्रथमबोधानन्तरं प्रयोजनभूतः उपमेये मुखे उपमानतावच्छेदकस्य चन्द्रत्वस्य प्रत्ययो व्यञ्जनया जायते, उपमायां तु न तथेति वैलक्षण्यं सिद्ध्यति । रूपकस्थले लक्षणया चन्द्रसदृशस्यैव बोधात् उक्तः प्रयोजनभूतः प्रत्ययो न भवितुं शक्नोति, तथा प्रत्यये कारणत्वेन संभावितयोः शक्तिलक्षणयोरेकतरस्याप्यभावात्, 'मुखं न चन्द्रः' इति बाधनिश्चयस्य मुखाधिकरणकचन्द्रत्वप्रतीतौ प्रतिबन्धकत्वाच्च । कारणविरहेऽपि प्रतिबन्धकसत्वेऽपि च यदि तत्र तथाप्रतीतिरनुमन्यते, तर्हि उक्तोपमायामपि सा स्वीकरणीया स्यात्, तुल्यत्वात्, इति तु न वक्तुं योग्यम्, श्लेषस्थले यथा एकशब्दोपादानोत्था व्यञ्जना श्लेषाधारभूतयोरर्थयोस्ताद्रूप्यबोधे हेतुः, तथा रूपकेऽपि चन्द्रतत्सदृशयोरेकेनैव चन्द्रपदेन लक्षणया उपस्थापनादुत्थिताया व्यञ्जनायाः शक्तिलक्षणयोः समकक्षाया वृत्तेः तयोरेकपदोपस्थितयोरर्थयोस्ताद्रूप्यप्रतीतौ कारणत्वात्, बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षौ वैयञ्जनिकबोधातिरिक्तत्वविशेषेण तादृशप्रतीतेरप्रतिबन्ध्यत्वाच्च । उपमायां तु उक्तापकनिरहेण व्यञ्जनाया अनुत्थानात् । ननु एकशब्दोपादान-मुक्ति-रामुखा व्यञ्जना यदर्थद्वयबोधकैकपदप्रयुक्ता तदर्थयोरेव ताद्रूप्यं गमयेत्, तथा च प्रकृते चन्द्रसदृशे एव चन्द्रताद्रूप्यस्य प्रतीतिर्व्यञ्जनया, न मुखत्वविशिष्टे मुखे । न च तावतैव तामव्रास्यतेनेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, 'मुखरूपे चन्द्रे वर्तमाने द्वितीयोऽयं चन्द्रः किमर्थमुदयते' इत्यर्थके 'वक्त्रे चन्द्रमसी'त्यादौ आरोपविषये उपमेये मुखे आरोपविषयिणः उपमानस्य चन्द्रस्य ताद्रूप्यस्य प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वादिति चेन्न, चन्द्रताद्रूप्यवान् यः सदृशस्तद्भेदस्य मुखे बोधे चन्द्रताद्रूप्यस्यापि तत्र सुबोधत्वात् तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात् इति । अत्र केचिदित्यनेनारुचिः सूचिता । तद्बीजं तु स्वरूपसंवेदनकृतवैलक्षण्यसंभवेन फलकृतवैलक्षण्यपर्यन्तानुधावनं व्यर्थमिति ।

उक्त आशङ्का के समाधान प्राचीनों ने तीन प्रकार से किये हैं। उनमें प्रथम प्रकार पहले दिखलाते हैं—अत्र केचित् इत्यादि । उक्त शङ्का के विषय में कुछ

लोगों का कथन है—यद्यपि 'मुखचन्द्र' इस रूपक से 'चन्द्रसदृश मुख' इस उपमा में स्वरूप-संवेदन–प्राथमिक बोध—भिन्न तरह का नहीं होता–अर्थात् रूपकस्थल में लक्षणा मानने पर जैसा बोध होता है, उपमास्थल में लक्षणा नहीं मानने पर भी वैसा ही बोध होता है, अतः उस (प्राथमिक शाब्दबोध) अंश को लेकर उन दोनों स्थानों (रूपक तथा उपमा) में कोई विलक्षणता नहीं होती, तथापि रूपकस्थल में लक्षणा प्रयोजनमूला ही हुई रहती है, अतः प्राथमिक बोध के बाद लक्षणा का प्रयोजन-रूप जो ताद्रूप्य-संवेदन होता है, उस अंश को लेकर होनेवाली विलक्षणता में किसी प्रकार की बाधा नहीं। और 'ताद्रूप्य-संवेदन' से यहाँ अभिप्राय है कि मुख आदि के विषय में विषयितावच्छेदक अर्थात् चन्द्रत्व आदि की सम्यक् प्रतीति। (सारांश यह कि रूपक और उपमा दोनों स्थानों पर यद्यपि पहले 'चन्द्र सदृश मुख' यह एक प्रकार का ही बोध होता है, तथापि रूपक में सादृश्य की उपस्थिति लाक्षणिक चन्द्र आदि पद के द्वारा होती है और उपमा में इव आदि वाचक पद के द्वारा। और रूपकस्थलीय लक्षणा, रूढ़ि के न रहने के कारण प्रयोजनमूलक ही सिद्ध होती है, तदनुसार रूपक में लक्षणा का प्रयोजन होता है चन्द्र तथा मुख में 'अभेद का बोध' और उपमा में लक्षणा नहीं होती, अतः वहाँ प्रयोजन का प्रसङ्ग ही नहीं आता फिर 'अभेद का बोध' भी नहीं होता। फलतः उपमा में केवल सादृश्य का ही बोध होता है और रूपक में लक्षणा के प्रयोजन (अभेद) का भी व्यञ्जना से बोध होता है। यही उक्त दोनों स्थानों में रूपक और उपमा नाम से भिन्न-भिन्न दो अलंकार मानने में युक्ति है।) रूपक-स्थल में लक्षणा के द्वारा चन्द्र आदि पद से चन्द्र सदृश आदि का बोध होता है, तो होवे, परन्तु–उस (चन्द्र सदृश बोध) से ताद्रूप्य (मुख आदि में चन्द्र आदि के अभेद) की प्रतीति कैसे होगी ? क्योंकि एक तो उक्त अभेद–बोध को सिद्ध करनेवाला कोई उपाय नहीं है अर्थात् किसी अर्थ के बोध में शक्ति अथवा लक्षणा ही तो कारण होती है, और यहाँ अभेद अंश में न किसी पद की शक्ति है न लक्षणा, अतः अभेद का बोध नहीं होगा। दूसरा यह कि 'चन्द्रसदृश मुख' यह जो ज्ञान होता है, उसके साथ ही 'मुख चन्द्र नहीं है' इस तरह के भेद का ज्ञान भी होगा ही क्योंकि भेद-ज्ञान, सादृश्यज्ञान का व्यापक है–अर्थात् सादृश्यज्ञान-स्थल में भेदज्ञान रहता ही है और जिन दो पदार्थों में भेद का ज्ञान रहता है, उनमें अभेद का ज्ञान हो नहीं सकता, क्योंकि बाधनिश्चय को सभी लोग प्रतिबन्धक मानते हैं। यदि उपाय के अभाव और प्रतिबन्धक की सत्ता में भी उस तरह का अभेद-बोध हो, तब उपमास्थल में भी 'चन्द्रसदृश मुख' इस बोध के बाद उक्त अभेदबोध का प्रसङ्ग होने लगेगा। यह आशङ्का यहाँ नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जैसे श्लेष-स्थल में अनेक अर्थों के बोध के लिये एक पद का ग्रहण रहने के कारण उठी हुई व्यञ्जना उन दो अर्थों के अभेदज्ञान का उपाय मानी जाती है, उसी तरह यहाँ भी चन्द्र तथा तत्सदृश रूप दो अर्थों के बोध के लिये एक लाक्षणिक चन्द्र पद के ग्रहण द्वारा उत्थित व्यञ्जना (जो अभिधा और लक्षणा के समान ही बोधनिर्वाहक वृत्ति है) को उन दोनों अर्थों में अभेदज्ञान का उपाय माना जा सकता है। अब बात रही बाधनिश्चय से प्रतिबन्ध होने की, सो वैयञ्जनिक बोध में बाधनिश्चय प्रतिबन्धक नहीं होता क्योंकि वैयञ्जनिक बोधातिरिक्त बोध के प्रति ही उसको प्रतिबन्धक माना जाता है। उपमा-स्थल में एक पद का ग्रहण नहीं रहता अपितु दो पदों का, अतः वहाँ व्यञ्जना का उत्थान नहीं होता, यह ध्यान रखना चाहिये। यदि आप कहें कि एकपदोपादानरूप युक्ति से उत्थित व्यञ्जना उस एक पद से अवगत होनेवाले दो अर्थों में ही अभेदबोध करा सकती है, तद्नुसार चन्द्ररूप एक पद से अवगत होनेवाले चन्द्रमा तथा तत्सदृश में व्यञ्जना के द्वारा अभेद हो, परन्तु मुखत्व से युक्त मुख में चन्द्र का अभेद कैसे प्रतीत होगा, क्योंकि मुख की उपस्थिति तो उस चन्द्र पद से नहीं होती, और अनुभव से सिद्ध है 'वक्त्रे चन्द्र-

मखि'.....'इत्यादि अर्थात् मुखरूप चन्द्र की वर्तमानता में यह दूसरा चन्द्र किसलिये उदित होता है' में विषय–उपमेय–मुख में विषयी–उपमान–चन्द्र के अभेद की प्रतीति। तात्पर्य यह कि व्यञ्जना के बल पर चन्द्र तथा चन्द्रसदृश का अभेद ज्ञात होने पर भी चन्द्र तथा मुख का अभेद ज्ञात नहीं हो सकता। तो इसका समाधान यह है कि—कहना आपका यद्यपि सच है, तथापि व्यञ्जना से जब चन्द्र-सदृश में चन्द्र का अभेद ज्ञात हो जायगा, तब जिस मुख को चन्द्रसदृश से अभिन्न समझा जा चुका है, उस मुख में भी चन्द्र का अभेद ज्ञात हो ही जायगा, क्योंकि 'जो जिसके अभिन्न से अभिन्न होता है वह उससे भी अभिन्न होता है' यह एक न्याय-सम्मत बात है। अतः रूपक-स्थल में विषयी का अभेद विषय में अवश्य प्रतीत होता है।

उक्तारुचेर्द्वितीयं मतमुपदर्शयति—

अन्ये तु—'चन्द्रादिपदेभ्यो लक्षणया चन्द्रसदृशत्वेनापि रूपेणोपस्थितानां मुखादीनां चन्द्रत्वेन रूपेणैव मुखादिपदोपस्थापितैः सहाभेदान्वयबोधो जायते। तत्तत्पदलक्षणाज्ञानस्य तत्तत्पदशक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यान्वयबोधत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुतायाः, पदार्थोपस्थितिशाब्दबोधयोः समानाकारत्वस्यानुभवसाक्षिकवैलक्षण्यकलाक्षणिकबोधातिरिक्तविषयतायाश्च कल्पनात्। अत एव गङ्गायां घोष इत्यत्र तटत्वेनाप्युपस्थितस्य तटस्य गङ्गात्वेनान्वयबोधस्तत्प्रयोज्यः शैत्यपावनत्वादिप्रत्ययश्च संगच्छते। प्रकृते तु विषयिचन्द्रादिनिष्ठासाधारणगुणवत्त्वप्रत्ययः फलम्। न हि चन्द्रत्वप्रतीतिं विना मुखे चन्द्रत्वनियतगुणवत्त्वधीः शक्योपपादयितुम्। ताद्रूप्यपदेन तदसाधारणगुणवत्त्वमेव प्राचीनैरुक्तम्। इत्थं च स्वरूपसंवित्तिकृतः फलीभूतसंवित्तिकृतश्चोपमातो रूपकस्य भेदः स्फुट एव' इति वदन्ति।

'अन्ये' इत्यस्याग्रिमेण 'वदन्ति' इत्यनेनान्वयः। चन्द्रादिपदेभ्यः इति। उपमानवाचकेभ्य इति भावः। लक्षणया इति। गौण्या सारोपया इति भावः, चन्द्रसदृशत्वेनेति। लक्ष्यतावच्छेदकेनेति भावः। चन्द्रत्वेनेति। शक्यतावच्छेदकेनेति भावः। उपस्थापितैरिति। मुखादिपदोपस्थापितैरिति शेषः। ननु प्राचीनाः शक्यसंबन्धप्रकारकलक्ष्यविशेष्यकशाब्दबुद्धिं लक्षणाज्ञानकार्यतावच्छेदकतया स्वीकुर्वन्तीति कथमित्थं बोध इत्यत आह—तत्तत्पदेति। 'तत्तत्पदानां—चन्द्रादीनाम्—या लक्षणा—चन्द्रादिपदनिष्ठा या शक्यसंबन्धरूपा लक्षणा वृत्तिरित्यर्थः, तस्याः यद् ज्ञानम् चन्द्रादिपदं तत्सदृशे लाक्षणिकमित्याकारकम्, तस्य, तत्तत्पदशक्यतावच्छेदकः—चन्द्रादिपदशक्यतावच्छेदकः चन्द्रत्वादिरित्यर्थः प्रकारो यस्मिन् तादृशो यः लक्ष्यान्वयबोधस्तावच्छिन्नः—मुखादिविशेष्यकाः सर्वे बोधाः—तम् प्रति कारणत्व' इत्याकारककार्यकारणभावस्येत्यर्थः। एतद् विवृण्वती 'सरला' न समीचीनेति ध्येयं विज्ञैः। नन्वेवमपि उपस्थितिशाब्दबोधयोः समानाकारत्वनियमो भज्येत इत्यत आह—पदार्थेति। अनुभवसाक्षिकं वैलक्षण्यं यत्र तादृशो यो लाक्षणिकबोधः तदतिरिक्तविषयतायाश्च इत्यर्थः। उक्तकल्पनाया आवश्यकतामाह—अत एवेति। शक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यबोधादेवेत्यर्थः। तटत्वेनापीत्यत्रापिना सामीप्यसमुच्चयः। ननु प्रकृते फलाभाव इत्यत आह—प्रकृते त्विति। असाधारणगुणवत्त्वेति। निरतिशयाह्लादकत्वादीत्यर्थः। चन्द्रत्वनियतेति। चन्द्रत्वसमनियतेत्यर्थः। चन्द्रत्वाधिकरणावृत्तीति यावत्। नन्वेवं प्राचीनाभिमतसिद्धान्तविरोधः, ताद्रूप्यसंवेदनस्य तैः फलत्वेनोक्तत्वादित्यत आह—ताद्रूप्यपदेनेति। इत्थं चेति। रूपकस्थले तादृशे बोधे तथाविधे फले

चाङ्गीक्रियमाणे चेत्यर्थः । उपमातो रूपकस्येति । उपमायां तथाबोधाभावात् साधारणस्यैव गुणस्य प्रतीतेश्चेति भावः। अत्रायं विशदोऽर्थः—चन्द्रादिपदनिष्ठलक्षणाज्ञानस्य चन्द्रादिपदशक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यार्थविशेष्यकबोधं प्रति कारणत्वं कल्प्यते एवम् यत्प्रकारिका यद्विशेष्यिकोपस्थितिर्यत्र तत्र तत्प्रकारकः तद्विशेष्यक एव बोध इति नियमस्य लक्षणाजन्यबोधातिरिक्तविषयकत्वञ्च स्वीक्रियते, लक्षणाजन्योपस्थिति-तज्जन्यबोधयोर्भिन्नाकारत्वस्यानुभवसिद्धत्वात् । तेन मुखचन्द्रः इति रूपकस्थले गौणसारोपलक्षणया चन्द्रपदात् चन्द्रसदृशत्वेन *रूपेण मुखस्योपस्थितावपि तस्य मुखपदोपस्थापितमुखेन सहान्वयबोधः, चन्द्राभिन्नं* मुखमित्याकारकश्चन्द्रत्वेनैव रूपेण भवति । लक्षणास्थले च तादृशः कार्यकारणभावः उपस्थितिशाब्दबोधयोर्भिन्नाकारत्वञ्चाकामेनापि स्वीकरणीयमेव, अन्यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र शैत्यपावनत्वप्रतीतिर्न स्यात् । तत्स्वीकारे तु तटत्वेनाप्युपस्थितस्य तटस्य गङ्गात्वेन रूपेणान्वयबोधे तत्प्रयुक्ता तथाविधप्रतीतिरुपपद्येत । ननु तत्र तथाविधप्रतीतिरूपफलसिद्ध्यर्थं तथाङ्गीकारस्य युक्तत्वेऽपि मुखचन्द्र इत्यादौ तत्स्वीकारे किं फलमिति चेन्न, प्राचीनैस्ताद्रूप्यपदेन विवक्षितस्य विजातीयाह्लादकत्वरूपचन्द्रनिष्ठासाधारणगुणवत्त्वस्य मुखे प्रतीतेः फलत्वात् । न च मुखे चन्द्रनिष्ठा साधारणगुणवत्त्वप्रतीतिसंपादने तत्र चन्द्राभेदप्रतीतेः कथमपेक्षेति वाच्यम्, *चन्द्रत्वसमनियतगुणवत्त्वप्रतीतेश्चन्द्रत्वप्रतीतिमन्तरोपपादयितुमशक्यत्वात्* । समनियतवस्तुद्वयमध्यगतमेकं नापरव्यतिरेकेण स्थातुं प्रभवति । एवञ्चोपमापेक्षया रूपके न केवलं फलात्मकप्रतीतिकृत एव भेदः अपि [illegible] तिकृतोऽपीति । अत्रापि मते ग्रन्थकृतोऽरुचिः प्रतीयते । तद्बीजं [illegible] कार्यकारणभावस्य उपस्थितिशाब्दबोधयोर्भिन्नाकारत्वस्य चास्वीकारेऽपि सामञ्जस्यं सम्भवतीति बोध्यम् ।

पूर्वमत में लक्षणा के फलरूप से प्रतीत होनेवाले विशेष के आधार पर उपमा से रूपक में विलक्षणता दिखलाई गई है, परन्तु शाब्दबोध में भी जब वैलक्षण्य हो सकता है, तब फलकृत वैलक्षण्यपर्यन्त अनुधावन व्यर्थ है, इस अरुचि को ध्यान में रखकर द्वितीय मत का उल्लेख करते हैं—अन्ये तु इत्यादि । अन्य विद्वान् उपमा से रूपक में भेद दिखलाने के लिये निम्नलिखित बातें कहते हैं। रूपकस्थल (मुखचन्द्र) में चन्द्र आदि पद की चन्द्रसदृशरूप अर्थ में गौणी सारोपा लक्षणा हुई रहती है, अतः चन्द्र पद से—मुख आदि की ही सही—परन्तु 'चन्द्रसदृशत्व' रूप से प्रतीति होती है अर्थात् लक्षणा के द्वारा चन्द्रसदृश का ही ज्ञान होता है, केवल चन्द्र किंवा मुख का नहीं, यह बात यद्यपि सत्य है, तथापि उक्त रूपकस्थल में मुख आदि पदों से मुखत्वविशिष्ट रूप में उपस्थित मुख आदि अर्थों के साथ चन्द्र पदार्थ का चन्द्रत्वरूप से ही अभेदान्वय होता है, चन्द्रसदृशत्वरूप से नहीं । तात्पर्य यह कि 'मुखचन्द्र' इत्यादि वाक्य से अर्थ की उपस्थिति 'चन्द्र सदृश मुख' इस रूप में होती है, परन्तु अन्वयज्ञान 'चन्द्र से अभिन्न मुख' इसी रूप में होता है अर्थात् ऐसे स्थानों पर अर्थ की उपस्थिति अन्य रूप से और अन्वयबोध अन्य रूप से होते हैं। यदि कोई कहे कि यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् मुखचन्द्र इत्यादि रूपकस्थल में उपस्थिति 'चन्द्रसदृश मुख' की और अन्वयबोध 'चन्द्राभिन्न मुख' का कैसे बन सकते हैं ? क्योंकि प्राचीन आचार्यों ने लक्षणाज्ञान को शक्यसंबन्धप्रकारक लक्ष्यविशेष्यक बोध के प्रति ही कारण माना है, तदनुसार उक्त स्थान पर 'चन्द्र सदृश से अभिन्न मुख' इस एक रूप में ही अर्थ की उपस्थिति तथा अन्वयबोध दोनों होने चाहिएँ । साथ-साथ प्राचीनों ने उपस्थिति और शाब्दबोध में समानरूपता का सिद्धान्त माना है अर्थात् किसी पद से जिस रूप में जिस अर्थ की उपस्थिति होती है, उसी रूप में उस अर्थ का

अन्वयबोध भी होता है, ऐसा सिद्धान्त स्वीकार किया है। तदनुसार भी उक्तस्थल में पदार्थोपस्थिति तथा शाब्दबोध में एकरूपता ही होनी चाहिए, आपके कथनानुसार विभिन्न-रूपता नहीं। तो इसका समाधान यह है कि हम लक्षणा-ज्ञान को लाक्षणिक पद-शक्य-तावच्छेदक अर्थात् चन्द्रत्व आदिप्रकारक और लक्ष्य अर्थात् मुख-आदिविशेष्यक बोध के प्रति कारण मानते हैं और उपस्थितिशाब्दबोध की समानरूपतावाले सिद्धान्त को लाक्षणिक पदजन्य बोध से अतिरिक्त विषय में ही स्वीकार करते हैं अर्थात् सामान्य नियम यद्यपि ऐसा है कि उपस्थिति और शाब्दबोध एकरूप हो, तथापि लक्षणा के स्थान पर उन दोनों में भिन्नरूपता भी हो सकती है, ऐसा हम मानते हैं और ऐसा इसलिये मानते हैं, कि लक्षणास्थल पर उपस्थिति तथा शाब्दबोध में भिन्नरूपता अनुभव से सिद्ध है। इस तरह की हमारी मान्यता के आधार पर ही 'गङ्गा में घोष (बथान-गाँव) इस प्रसिद्ध लक्षणा के उदाहरण में लाक्षणिक गङ्गा पद से उपस्थिति तटत्वरूप से अथवा सामीप्यरूप से तट की होती है और घोष पदार्थ के साथ अन्वयबोध गङ्गात्वरूप से होता है, जिससे शीतलता तथा पावनता की अभिव्यक्ति होती है' यह विश्लेषण संगत होता है। अन्यथा (लक्षणाज्ञान को शक्यसंबन्धप्रकारक अन्वय-बोध के प्रति कारण तथा उपस्थिति-शाब्द-बोध में एकरूपतावाले सिद्धान्त को मान लेने पर) उक्त विश्लेषण की असंगति स्पष्ट है। यदि आप कहें कि वहाँ तो शीतलता आदि की अभिव्यक्ति एक फल है, अतः वैसा माना जा सकता है, परन्तु प्रकृत में तो कुछ फल है नहीं, फिर वैसा क्यों माना जाय ? तो इसके उत्तर में प्रकृत पक्षवालों का विनम्र कथन है कि यहाँ भी विषयी अर्थात् उपमान—चन्द्र आदि में रहनेवाले असाधारण गुण (विजातीय आह्लादकत्व आदि) की मुख में प्रतीति होना फल है। यदि आप कहें कि इस फल के लिये मुख में चन्द्रत्व की प्रतीति कराने का क्या प्रयोजन है ? चन्द्रसादृश्य की प्रतीति होने पर भी उक्त फल की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? तो इसका उत्तर यह है कि जो गुण चन्द्रत्व के समनियत हैं अर्थात् चन्द्रत्व के साथ ही जो गुण रह सकते हैं, उसके बिना नहीं, उन गुणों की प्रतीति मुख में तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसमें चन्द्रत्व की प्रतीति न हो जाय। तात्पर्य यह कि मुख में चन्द्र-गत आह्लादकत्व आदि गुणों की प्रतीति सिद्ध करने के लिये पहले उसमें चन्द्रत्व की प्रतीति को सिद्ध करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। पूर्वमत में ताद्रूप्यप्रतीति को जो प्रयोजन कहा गया है, उसमें ताद्रूप्य पद से असाधारण गुण ही विवक्षित हैं। इस तरह उपमा से रूपक में स्वरूपसंवित्ति (प्राथमिक शाब्दबोध) और फलीभूत संवित्ति (लक्षणाप्रयोजन की प्रतीति) दोनों ही विलक्षण होते हैं, अतः दोनों में भेद स्पष्ट है।

उक्तसामञ्जस्यसाधकं तृतीयं मतमाह—

अपरे तु—'भेदकरम्बितं सादृश्यमुपमाजीवातुभूतम्, भेदाकरम्बितं च गौणसारोपलक्षणाया इति स्फुटे भेदे कृते फलकृतवैलक्षण्यपर्यन्तानुधावनेन। पक्षेऽस्मिन्सौन्दर्यसमसादृश्यप्रतिपत्तेस्ताद्रूप्यप्रतीतिः कथं नाम फलं भवितुमर्हति इत्यनुपपत्तिं परिहर्तुमायासोऽपि नापततीत्यपरमनुकूलम्' इत्यप्याहुः।

करम्बितं मिश्रितम्। सादृश्यस्य धर्मरूपत्वेऽतिरिक्तत्वे च भेदागर्भत्वादिति भावः, जीवा-तुर्जीवनौषधम्। उपमाप्रयोजकमिति पिण्डार्थः। स्फुटे भेदे इति। उपमायां चन्द्राभिन्नं चन्द्रसदृशमिति बोधः। रूपके तु चन्द्रसदृशाभिन्नमिति भावः। पक्षेऽस्मिन्निति। अस्य अप-रमनुकूलमित्यत्र संबन्धः। तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् सादृश्यमित्येकः पक्षः। तन्मतानुसारिणोपमायाः प्रयोजकं सादृश्यं भेदाभेदघटितमिति तत्रत्यबोधे भेदो भासते। सादृश्यं नोक्ताकारम् अपि तु धर्मान्तरमेवाखण्डमिति द्वितीयः पक्षः। तद्रीत्या रूपकस्य प्रयो-

उक्तं सादृश्यं न भेदघटितमिति तन्नत्यबोधे भेदो न भासते। एवञ्चोपमारूपकयोः स्वरूप एव भेदः सिद्ध्यतीति पश्चात्कालिकव्यैञ्जनिकबोधविषयीभूतफलवैलक्षण्यमादाय तयोः भेदसाधनायासो विफल एव। एतद्रीत्यनुसरणेऽयमपि लाभो यत् मुखचन्द्रः इत्यादिरूपके लक्षणायाः प्रयोजनमूलकतया, व्यञ्जनया मुखे चन्द्रतादात्म्यप्रतीतिरिति प्रयोजनं यदुक्तम्, तत्र विषये पूर्वमतयोः 'व्यञ्जनयाऽपि मुखे चन्द्रतादात्म्यप्रतीतिः कथं स्यात्? लक्षणया भेदघटितसादृश्यभानेन तस्या बाधितत्वात्' इति शंकायां जागरितायां तत्समाधानाय बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षौ वैयञ्जनिकबोधातिरिक्तविषयत्वनिवेशः कर्तव्यो भवति यथा, तथा नास्मिन् मते भेदाघटितस्यैव सादृश्यस्यात्र कल्पे स्वीकारेणोक्तनिवेशं विनापि तादात्म्यप्रतीतेः सम्भवात् इति भावः।

अनुपदोक्त द्वितीय मत में भी ग्रन्थकार की अरुचि-सी प्रतीत होती है जिसका कारण यह ज्ञात होता है कि अप्रसिद्ध कार्यकारणभाव तथा उपस्थिति-शाब्द-बोध की भिन्नरूपता को अस्वीकृत करने पर भी जब निर्वाह हो सकता है, तब व्यर्थ उन दोनों बातों का स्वीकार क्यों किया जाय? अत एव अब तृतीय मत का उल्लेख करते हैं-अपरे तु इत्यादि। कतिपय विद्वानों का कथन है कि जब सादृश्य पदार्थ के स्वरूप के विषय में दो मत मान्य हैं जिनमें एक के अनुसार 'उससे भिन्न होकर उसमें रहनेवाले अधिकतर धर्मों से युक्त होना' ही सादृश्य पदार्थ है और दूसरे के अनुसार सादृश्य एक अखण्ड भिन्न धर्म ही है। तब क्यों नहीं इन दोनों मतों के अनुसार उपमा और रूपक को विभक्त कर दिया जाय? अर्थात् प्रथम-मत-सिद्ध भेद तथा अभेद दोनों में सम्मिलत सादृश्य पदार्थ को उपमा का प्रयोजक मान लिया जाय और द्वितीय-मत-सिद्ध भेदांशरहित सादृश्य पदार्थ को रूपक का नियामक समझा जाय। तदनुसार 'चन्द्रसदृश मुख' इत्यादि उपमा-स्थल में 'चन्द्र से भिन्न होकर भी चन्द्रवृत्तिगुणयुक्त मुख' और 'मुखचन्द्र' इत्यादि रूपक-स्थल में केवल 'चन्द्रवृत्तिगुणयुक्त मुख' ये दो प्रकार के बोध होंगे। इस तरह से जब स्वरूप-संवेदन-प्रयुक्त भेद ही दोनों स्थलों पर स्पष्ट हो जाता है, तब फल-प्रयुक्त भेद का अनुसरण निरर्थक है। 'लक्षणा से जब भेदघटित सादृश्य की प्रतीति पहले हो जाती है, तब पीछे व्यञ्जना से भी तादात्म्य (अभेद) की प्रतीति कैसे होगी' इस आशंका के उत्तर में पूर्व के दोनों मत वालों को जो यह कहना पड़ता था कि 'वैयञ्जनिक बोध में बाध-निश्चय प्रतिबन्धक नहीं होता' वह भी इस मत में नहीं कहना पड़ता, क्योंकि इसके अनुसार भेद से अमिश्रित सादृश्य का ही बोध रूपकस्थल में लक्षणा से माना जाता है।

प्राचीनमतवर्णनसमाप्तिं सूचयन्नाह—

तदित्थं प्राचामाशयो मतभेदेन वर्णितः।

इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण। आशयः अभिप्रायः। मतभेदेनेति। 'केचित्', 'अन्ये', 'अपरे' इति त्रिभिः प्रतीकैः प्रतिपादितेन मतत्रयेणेत्यर्थः।

अब प्राचीन तीन मत की व्याख्या को समाप्त करने की सूचना देते हैं-तदित्थमित्यादि। 'केचित्', 'अन्ये' और 'अपरे' इन तीनों प्रतीकों के द्वारा प्राचीन आचार्यों के अभिप्रायों का वर्णन किया जा चुका।

खण्डयितुं नवीनमतं प्रपञ्चयति—

नव्यास्तु—'मुखं चन्द्रः', वाहीको गौः' इत्यादौ चन्द्रादीनां मुखादिभिः सह संभवति लक्षणां विनैवाभेदेन संसर्गेणान्वयबोधः। बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटावनाहार्यत्वस्येव शाब्दान्यत्वस्यापि निवेश्यत्वात्। अत एव

'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इति प्राचां प्रवादोऽपि संगच्छते। न च 'वह्निना सिञ्चति' इत्यतो वाक्यादपि शाब्दबोधापत्तिः। योग्यताज्ञानविरहात्। मुखं चन्द्रः, गौर्वाहीकः, इत्यादौ त्विष्टचमत्कारप्रयोजकताज्ञानाधीनाया इच्छायाः सत्त्वादाहार्ययोग्यताज्ञानसाम्राज्यम्। अत एव शाब्दबोधे योग्यताज्ञानस्य कारणत्वोक्तिः प्राचां संगच्छते।

नव्या इति। अप्पयदीक्षितादय इत्यर्थः। अस्य दूरस्थेन 'आहुः' इति क्रियापदेनान्वयः। ननु मुखं न चन्द्र इत्यादिबाधज्ञानसत्त्वेन कथं तथाबोध इत्यत आह—बाधेति। अनाहार्येति। बाधज्ञानसत्त्वेऽपि इच्छारूपोत्तेजकवशादाहार्यस्य जायमानत्वादिति भावः। इदमिन्द्रियसन्निकर्षाजन्यत्वदोषविशेषाजन्यत्वयोरप्युपलक्षणम्। अत एवेति। तथानिवेशादेवेत्यर्थः। अत्यन्तासत्यपीति। पदार्थे सर्वथाऽऽवर्तमानेऽपि शब्दात्तदर्थविषयको बोधो भवत्येवेति तदर्थः। अत एव 'शशशृङ्गं पश्य' इत्यादिवाक्यश्रवणोत्तरं लोकानां दर्शनोन्मुखी प्रवृत्तिः संगच्छते। प्रसिद्धे शृङ्गपदार्थे शशीयत्वभ्रमेण तादृशी प्रवृत्तिरिति केचित्। बाह्यार्थे बाधितेऽपि बौद्धार्थस्याबाधितस्य सत्त्वात्तथेत्यपि बहवः। न चेत्यस्यैवमिति शेषः। शाब्दान्यत्वनिवेशो इति तदर्थः। योग्यताज्ञानविरहादिति। योग्यता च परस्परसंबन्धे बाधाभावः। 'पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता।' इत्यन्ये। एकपदार्थेऽपरपदार्थसंबन्धो योग्यतेति तदर्थः। नन्वेवं प्रकृतेऽपि योग्यताज्ञानाभावात्कथं बोधोऽत आह—मुखमिति। इष्टेति। इष्टः अभिलषितः यः चमत्कारः लोकोत्तराह्लाद इत्यर्थः। ज्ञानेति। 'चन्द्राभिन्नं मुखमित्यादिबोधश्चमत्कारप्रयोजकः' इत्याद्याकारकेत्यर्थः। इच्छाया इति। 'चन्द्रप्रतियोगिकाभेदसंबन्धवन्मुखमिति बोधो मे जायताम्' इत्याकारिकाया इत्यर्थः। आहार्येति। बाधकालीनेच्छाजन्येत्यर्थः। योग्यताज्ञानेति। 'चन्द्रप्रतियोगिकाभेदसम्बन्धवन्मुखम्' इत्याद्याकारकेत्यर्थः। अत एवेति। बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ शाब्दान्यत्वनिवेशादेवेत्यर्थः। शाब्दबोधे शाब्दबोधत्वावच्छिन्ने। अयमभिप्रायः—'मुखं चन्द्रः' इत्यादीनि यानि गौणसारोपालक्षणोदाहरणत्वेन प्राचामभिमतानि तेषु लक्षणा नावश्यकी, ननु लक्षणां विना 'मुखं न चन्द्रः' इत्यादिबाधनिश्चये वर्तमाने चन्द्रमुखादिपदवाच्यार्थयोः कथमभेदान्वयबोधः, तद्वत्ताबुद्धिं प्रति तदभाववत्ताज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वादिति चेन्न, बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ यथा अनाहार्यत्वादिकं निवेश्यते, तथा शाब्दान्यत्वस्यापि निवेशावश्यकत्वात्—ततश्च 'लौकिकसंनिकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यानाहार्यशाब्दान्यबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति बाधनिश्चयः प्रतिबन्धकः' इत्याकारकस्यैव प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावस्य स्वीकारात्। तथा च बाधितार्थविषयकोऽपि शाब्दबोध उत्पादयितुं शक्यः। 'अत्यन्ता सत्यपि' इति प्राचीनोक्तिरपि अत एव संगता भवति। शाब्दबोधस्यापि बाधनिश्चयेन प्रतिबन्धे तदसंगतिः स्पष्टैव। न चैवं सति 'वह्निना सिञ्चति' इति वाक्यादपि 'वह्निकरणकः सेकः' इत्याकारको बाधितार्थविषयकः शाब्दबोध आपद्येत इति वाच्यम्, शाब्दबोधकारणीभूतस्य योग्यताज्ञानस्य विरहेण तथाबोधापत्तेरभावात्। 'करणत्वसंबन्धेन वह्निमान् सेकः' इत्याकारकं योग्यताज्ञानं नास्तीति तात्पर्यम्, अथ मुखं चन्द्र इत्यादावपि योग्यताज्ञानं नास्त्येवेति कथं तत्र तादृशो बोध उपपाद्यते इति तु नाशङ्क्यम्, स्वाभाविकयोग्यताज्ञानासत्त्वेऽपि आहार्ययोग्यताज्ञानस्य सत्त्वात्, वह्निना सिञ्चतीत्यत्र तु आहार्ययोग्यताज्ञानस्यापि संभवः, तज्जनकेच्छाया विरहात्, निष्प्रयोज-

नेच्छाया अदर्शनात् । मुखं चन्द्र इत्यादौ तु जायते योग्यता ज्ञानेच्छा, इष्टचमत्कारप्रयोजकज्ञानप्रयोज्यत्वेन तस्यास्तत्र सप्रयोजनत्वात् । 'शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्ने योग्यताज्ञानं कारणम्' इति कार्यकारणभावः प्राचीनाभिमतः, बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ शाब्दान्यत्वनिवेशस्वीकारादेव संगन्तुमीष्टे। अन्यथा तु तादृशकार्यकारणभावारणीयस्य शाब्दबोधस्य बाधनिश्चयरूपप्रतिबन्धकेनैव वारणे तदसंगतिरेवापतेत् इति।

अप्पयदीक्षित आदि नवीन विद्वान्, उक्त उपमा और रूपक में भेद सिद्ध करने के लिये कुछ नवीन ही युक्ति बतलाते हैं जिसका खण्डन यद्यपि आगे ग्रन्थकार को करना है तथापि खण्डन करने के लिये ही पहले उनके मत का उपपादन करते हैं—नव्यास्तु इत्यादि। नवीन विद्वानों का कथन है कि 'मुख चन्द्र है' 'वाहीक (बैल का चरवाहा) गो (बैल) है' इत्यादि जो गौण सारोपलक्षणा के प्राचीनाभिमत उदाहरण हैं, उनमें लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि आप कहें कि 'वह है' इत्यादि बोध के प्रति 'वह नहीं है' इत्यादि बाधनिश्चय प्रतिबन्धक होता है, इस नियम के अनुसार 'मुख चन्द्र नहीं है', 'वाहीक गो नहीं है' इत्यादि बाध-निश्चय-दशा में लक्षणा के बिना (लक्षणा के द्वारा चन्द्र आदि पदों का तत्सदृश अर्थ नहीं करने पर) 'मुख चन्द्र से अभिन्न है', 'वाहीक गो से अभिन्न है' इत्यादि तरह के अभेदान्वयबोध कैसे हो सकते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि बाध-निश्चय से प्रतिबद्ध होनेवाले ज्ञान के पीछे जिस तरह अनाहार्य आदि विशेषण जोड़े जाते हैं, उसी तरह शाब्दबोध से अन्य यह एक और विशेषण जोड़ना चाहिए। तात्पर्य यह है कि 'शुक्ति रजत नहीं है' इस बाधनिश्चय के रहने पर भी 'मुझे इस शुक्ति में रजत की बुद्धि होवे' इस इच्छा के बल से जो शुक्ति के विषय में 'यह रजत है' इस तरह का ज्ञान होता है, उसी को आहार्य ज्ञान कहते हैं, वह बाध-निश्चय से नहीं रुकता, अतः बाधनिश्चय-प्रतिबध्यतावच्छेदक-कोटि में अनाहार्यत्व का निवेश किया जाता है। उसी तरह जब उक्त कोटि में शाब्दान्यत्व का भी निवेश कर दिया जायगा, तब बाधितार्थविषयक भी शाब्दज्ञान होगा। अतएव प्राचीनों ने जो यह कहा है कि 'अर्थ की अत्यन्त अवर्तमानता अवस्था में भी शब्द अपना कार्य करता ही है—अपने अर्थ का ज्ञान कराता ही है'—वह भी संगत होता है। यदि बाध-निश्चय से शाब्दज्ञान भी रुकता, तब तो उक्त कथन असंगत ही होता, क्योंकि जो अर्थ (जैसे वन्ध्या का पुत्र) संसार में है ही नहीं, वह तो सर्वथा बाधित है, फिर शब्द से उसके ज्ञान की बात कैसे कही जा सकती है? यदि कहा जाय कि बाधित अर्थ का भी शाब्दबोध मानने पर 'आग से सींचता है' इस वाक्य से भी 'अग्निकरणक सेचन' यह शाब्दबोध होने लगेगा। तो इसका समाधान यह है कि शाब्द-बोध के अनेक कारणों में से एक जो बाधाभावरूप योग्यता का ज्ञान है, उसके नहीं रहने से उक्त शाब्दबोध नहीं होगा—अर्थात् सेचन किसी तरल वस्तु से ही हो सकता है, आग से नहीं इस तरह का बाध-निश्चय रहने पर बाधाभावरूप योग्यता का ज्ञान—जो शाब्दबोध के कारणों में से एक है—हो नहीं सकता, अतः उक्त बोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती। इस पर आप कह सकते हैं कि 'मुख चन्द्र है' इत्यादि स्थल में भी तो बाधनिश्चय है अतः बाधाभावरूप योग्यता का ज्ञान होगा नहीं, फिर कैसे वहाँ लक्षणा के बिना अभेदबोध की बात करते हैं? तो मैं कहूँगा कि कहना आपका सत्य है, परन्तु यहाँ आहार्य (बाधकालिक इच्छाजन्य) योग्यता-ज्ञान हो जाता है। यदि आप कहें कि यह तो आपने ऐसी बात कही, जिसके अनुसार पुनः 'आग से सींचता है' यहाँ भी बाधित अर्थ का बोध प्राप्त हो जायगा अर्थात् आहार्य योग्यता-ज्ञान वहाँ भी मान लिया जा सकता है। तो इसका उत्तर यह है कि नहीं भाई, वहाँ आहार्य योग्यता-ज्ञान भी नहीं हो सकता। कारण, बाधकालीन इच्छाजन्य ज्ञान को

ही तो आहार्य कहते हैं, और किसी वस्तु की इच्छा निष्प्रयोजन होती नहीं, अतः वहाँ जननी इच्छा का अभाव रहता है। आप कहेंगे कि–'मुख चन्द्र है' इत्यादि स्थल में कौन सा प्रयोजन है, जो बाधकालिक ज्ञान की जननी इच्छा को उत्पन्न करता है ? तो मैं कहूँगा–'हाँ, वहाँ यह ज्ञान है कि 'मुख चन्द्र से अभिन्न है' इत्याकारक ज्ञान, चमत्कार (अलौकिक आनन्द) का प्रयोजक (परम्परया कारण) है।' अतः 'चन्द्र से अभिन्न मुख' इस तरह का ज्ञान मुझे होवे यह इच्छा होती है। बाधनिश्चय से रुकनेवाले ज्ञान के पीछे शाब्दान्य विशेषण जोड़ने की बात मान लेने पर ही 'योग्यताज्ञान, शाब्दबोध में कारण है' यह प्राचीनों की उक्ति संगत होती है । अभिप्राय यह है कि बाधनिश्चय रहने पर शाब्दबोध न होवे इसलिये बाधाभाव-रूपयोग्यता–ज्ञान को शाब्द–बोध के प्रति कारण माना जाता है। अब आप सोचिये कि यदि बाध–निश्चय–प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि में शाब्दान्यत्व निवेश नहीं किया जाता अर्थात् शाब्दज्ञान भी बाधनिश्चय से रोका जाता, तब तो उसीसे वह रुक ही जाता फिर उसको रोकने के लिये योग्यताज्ञान को कारण मानना व्यर्थ हो जाता।

मुखं चन्द्र इत्यादौ लक्षणां विनैवाभेदान्वयबोधोपपादकं प्रकारान्तरमाह—

आहार्य एव वाऽभेदान्वयबोधोऽस्तु । मास्तु बाध-बुद्धि-प्रतिबध्यताव-च्छेदककोटौ शाब्दान्यत्वम् । मा चास्तु शाब्दबुद्धौ योग्यताज्ञानस्य कारणत्वम् । आहार्यं प्रात्यक्षिकमेवेति नियमश्च ।

नियमश्चेति । अस्य 'मा चास्तु' इति पूर्वतनेन क्रियापदेनान्वयः । अयं भावः—आहार्ययोग्यताज्ञानकल्पनेन मुखं चन्द्र इत्यादौ वाच्यार्थयोरभेदान्वयबोधोपपादने गौरवञ्चेदुद्भाव्यते, तर्हि तत्र वाच्यार्थयोरभेदान्वयबोध एवाहार्योऽङ्गीकार्यः । अर्थात् मुखं न चन्द्रः इति बाधनिश्चयदशायामपि 'चन्द्राभिन्नं मुखम्' इति बोधो जायताम् इतीच्छया तादृशः शाब्दबोधो भवतु । बाधनिश्चयस्तु न तं बोधं प्रतिबध्नीयात्, तदीयप्रतिबध्यता-वच्छेदककुक्षौ अनाहार्यत्वस्य निविष्टत्वात् । एवञ्च बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ शाब्दान्यत्वनिवेशोऽपि न कर्त्तव्यो भवतीति द्वितीयम् लाघवम् । अथ च अनाहार्यस्य बाधितार्थविषयकस्य शाब्दबोधस्य बाधनिश्चयेनैव प्रतिबन्धे, आहार्यस्य च तस्येष्टत्वे, योग्यताज्ञानस्य शाब्दबोधे कारणत्वमपि नाश्रयणीयं भवतीति तृतीयम् लाघवम् । ननु प्रत्यक्षजन्यमेव ज्ञानमाहार्यं भवतीति नियमव्याकोपोऽत्र बाधक इति चेन्न, तस्य नियमस्य स्वीकारात्, अतिशयोक्त्यादिषु बहुषु अलंकारेषु आहार्यशाब्दबोधस्यानुभवसिद्धत्वात् इति।

सारोपा लक्षणा के स्थल में अर्थात् 'मुखचन्द्र' इत्यादि रूपक में लक्षणा के बिना भी अभेदान्वय हो सकता है, इस बात को सिद्ध करने के लिये नवीन विद्वानों के द्वारा दी गई एक दूसरी युक्ति का उल्लेख करते हैं—आहार्य एव इत्यादि । आहार्य योग्यता–ज्ञान मान कर रूपक स्थल में लक्षणा के बिना वाच्य दो अर्थों के ही अभेदान्वय को उपपन्न करने में यदि आप गौरव की उद्भावना करें, तो छोड़िये उस बात को। वहाँ दो बाधित वाच्य अर्थों के अभेदान्वय–बोध को ही आहार्य मान लीजिये। अर्थात् 'मुख चन्द्र नहीं है' इस तरह के बाधनिश्चय की दशा में भी 'चन्द्र से अभिन्न मुख' इत्याकारक बोध मुझे होवे, इस इच्छा से वैसा शाब्दबोध हो जाय। बाधनिश्चय तो उस बोध का रोक नहीं सकता, क्योंकि बाधनिश्चय से रुकने वाले ज्ञान के पीछे 'अनाहार्य' विशेषण जुड़ा हुआ है। इस रीति को अङ्गीकृत करने पर बाध-निश्चय से रुकनेवाले ज्ञान के पीछे 'शाब्दज्ञान से अन्य' यह विशेषण भी नहीं जोड़ना पड़ता यह दूसरा लाघव है। और बाधित अर्थविषयक अनाहार्य शाब्दबोध, अब बाध-निश्चय की प्रतिबन्धकता से ही रुक जायगा, तथा बाधित अर्थविषयक भी आहार्य

शाब्दबोध इष्ट हो गया, अतः शाब्दबोध के प्रति योग्यताज्ञान को कारण मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती, यह तृतीय लाघव है। यदि कोई कहे कि 'प्रत्यक्ष-ज्ञान ही आहार्य होता है, शाब्दबोध आदि परोक्ष ज्ञान नहीं' यह जो एक नियम है शाब्द-बोध को आहार्य मानने पर उसका विरोध होगा, तो इसके उत्तर में कहना है कि उस नियम को मैं नहीं मानता अर्थात् परोक्ष ज्ञान को भी मैं आहार्य मानता हूँ, अतिशयोक्ति आदि कतिपय अलंकारों में आहार्य शाब्दबोध अनुभव-सिद्ध है।

उक्तार्थं द्रढयितुमाह—

अवश्यं मुखचन्द्र इत्यादौ पराभिमतसारोपलक्षणोदाहरणे वाच्यार्थयोरेवाभेदान्वयोऽभ्युपगन्तव्यः, न तु वाच्य-लक्ष्ययोः। अन्यथा 'राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम्' 'पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जुमञ्जीर-शिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः' इत्यादौ क्रमेणोपमारूपकयोरुपमितविशेषणसमा-साधीनयोर्लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनमञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरत्वयोरनुपपत्तिर्निर्णायिका रूपकोपमयोः प्राचीनैस्तत्र [illegible] स्यात्। [illegible]पक्षे उपमाया इव रूपकस्यापि स्वीकारे बाधकस्य तुल्यतया तन्निर्णायकताया असंगतेः। द्वितीयपक्षे रूपकस्यापि स्वीकारे बाधकाभावेन तन्निवर्तकताया अयोगात्।

पराभिमतेति। एतेन लक्षणायाः स्वाभिमतत्वं निरस्यति, वाच्यार्थयोरेवाभेदान्वयाङ्गीकारात्। अभेदान्वय इति। आहार्याभेदान्वय इति भावः। एवकारव्यवच्छेद्यमाह—न त्विति। अन्यथेति। वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोरभेदान्वयाङ्गीकारे इत्यर्थः। अस्य विरुद्धेत्यत्रान्वयः उपमितविशेषणसमासेति। क्रमशः 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे', 'मयूरव्यंसकाद-यश्चे'ति सूत्रद्वयविहितेत्यर्थः। तत्र तयोरङ्गीकारे या अनुपपत्तिः सा वैपरीत्ये निर्णायिकेत्य-खण्डार्थः। बाधकस्येति। तत्कर्तृकालिङ्गनासंभवस्येत्यर्थः। बाधकाभावेनेति। तादृशमनोहर-त्वासंभवाभावेनेत्यर्थः। 'राजनारायणम्' इत्यत्र यदि राजा नारायण इवेति विगृह्य 'उपमितं व्याघ्रादिभि'रित्यनेन समासे उपमालंकारः स्वीक्रियेत, तदा नारायणसदृशो राजेति बोधे लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनस्य पद्योक्तस्यानुपपत्तिः सत्कुलोत्पन्नाभिः साध्वीभिः रमणीभिः पतिसदृश-बुद्ध्या कस्यापि पुंसः आलिङ्गनासंभवात्, अतस्तत्र राजा चासौ नारायण इति विगृह्य मयूर-व्यंसकादयश्चेति समासे रूपकालंकारोऽङ्गीकार्यः, तथा च राजाभिन्नो नारायण इति बोधे लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनमुपपद्यते। एवम् 'पादाम्बुजम्' इति पद्ये यदि पादरूपमम्बुजमिति विगृह्य मयूरव्यंसकादित्वात्समासे रूपकालंकारः स्वीक्रियेत, तदा पादाभिन्नमम्बुजमिति बोधेऽम्बुजस्य प्राधान्येन तत्र मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरत्वस्य श्लोकप्रतिपादितस्यानु-पपत्तिः, अम्बुजे तस्यासंभवात्, अतस्तत्र पादः अम्बुजमिव इति विगृह्य 'उपमितं व्याघ्रादिभि'रिति समासे उपमालंकारोऽङ्गीकर्तव्यः, तथा च अम्बुजसदृशपाद इति बोधे प्रधानीभूते पादे उक्तमनोहरत्वमुपपद्यते। इति प्राचीनैरुक्तम्, तच्च तदैव संगतं भवेत्, यदि रूपकस्थले लक्षणामस्वीकृत्य वाच्यार्थयोरेवाहार्याभेदान्वयमनुमन्यते लक्षणां कृत्वा वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोरभेदान्वये तु राजनारायण इत्यत्र उपमारूपकयोरुभयोरपि नारायणसदृशो राजा इत्याकारके एव बोधे उपमायामिव रूपकेऽपि लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनस्यानुपपत्त्या उपमायां तदनुपपत्ते रूपकसाधकत्वं प्राचोक्तमसंगतमेव। एवम् पादाम्बुजम् इत्यत्रापि उपमारूपकयोरुभयोरपि वाच्यलक्ष्ययोर्बोधे स्वाश्रिते अम्बुजसदृशपादः इत्येव बोधे उपमायामिव रूपकेऽपि मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरत्वस्य सम्भवतया तदनुपपत्तेः। रूपक-

बाधकत्वं प्राचीनोक्तमसंगतं स्यात्। अतः मुखं चन्द्रः इत्यादौ सर्वत्र वाच्यार्थयोरेवाहार्या-भेदान्वयः स्वीकरणीय इति भावः।

उक्त नवीन मत को दृढ़ करने के लिये कहा जाता है—अवश्यम् इत्यादि। ऊपर नवीनों के मत में जो यह कहा गया है कि 'मुखचन्द्र' इत्यादि प्राचीनाभिमत सारोप लक्षणा के उदाहरणों में—अर्थात् रूपक-स्थल में—दो वाच्यार्थों (मुख और चन्द्र) का ही अभेदान्वय होता है, वाच्य (मुख) और लक्ष्य (चन्द्रसदृश) का नहीं, वह विचारदृष्टि से अवश्य मानने योग्य है। अन्यथा प्राचीनों की ही निम्नोद्धृत उक्ति असंगत हो जायगी। प्राचीनों ने कहा है कि—'राजनारायणम्'''''अर्थात् लक्ष्मी आप (राजनारायण) का दृढ़ आलिङ्गन कर रही है—वह आपका त्याग कभी नहीं करती' यहाँ यदि 'राजा नारायण इव' ऐसा विग्रहवाक्य मानकर 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस पाणिनिसूत्र से समास हुआ माना जाय और तदनुसार अलंकार उपमा स्वीकृत किया जाय, तब 'नारायणसदृश राजा' ऐसा बोध होगा, जिससे पद्य में वर्णित लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन की अनुपपत्ति हो जायगी, क्योंकि सत्कुलोत्पन्न साध्वी रमणियों के द्वारा पति के समान समझ कर किसी पुरुष का आलिङ्गन असम्भव है। अतः वहाँ 'राजा चासौ नारायणः' ऐसा विग्रहवाक्य मानकर 'मयूरव्यंसकादयश्च' इस पाणिनिसूत्र से समास हुआ है, ऐसा समझना चाहिए और तदनुसार अलंकार रूपक मानना चाहिए। ऐसा मानने पर 'राजा से अभिन्न नारायण' यह बोध होगा, जिससे लक्ष्मी का आलिङ्गन उपपन्न होता है। इसी तरह 'पादाम्बुजम्'''अर्थात् नूपुरों के सुन्दर शब्द से चित्त को चुरा लेनेवाले अम्बिका के चरण-युगल, आप लोगों के विजय के लिये हों—आप सब को विजय-प्रदान करें' इस पद्य में यदि 'पादरूपम् अम्बुजम्' ऐसा विग्रहवाक्य मानकर 'मयूरव्यंसकादयश्च' इस सूत्र से समास करके रूपकालंकार स्वीकृत हो, तब 'चरण से अभिन्न कमल' ऐसा बोध होगा, जिसमें प्रधानता रहेगी कमल की, अतः श्लोक में प्रतिपादित 'मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरत्व' अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि कमल में उसकी संभावना नहीं है, इसलिये वहाँ 'पादः अम्बुजमिव' ऐसा विग्रहवाक्य मानकर उपमित समास तथा तन्मूलक उपमा अलंकार स्वीकृत करना चाहिए। इस रीति से होनेवाले 'कमलसदृश चरण' इस बोध में प्रधानीभूत चरण में उक्त विशेषण उपपन्न होता है (यही है प्राचीनों की उक्ति)। अब सोचिए कि रूपकस्थल में यदि वाच्य और लक्ष्य का अभेदान्वय हो, तब उक्त कथन संगत होगा? नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर तो 'राजनारायणम्''' में उपमा मानें या रूपक, दोनों ही स्थितियों में बोध होगा 'नारायणसदृश राजा' एक यही, अतः उपमा के समान रूपक में भी लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन उक्त युक्ति से अनुपपन्न ही रहेगा। इसी तरह 'पादाम्बुजम्''' में भी रूपक मानें अथवा उपमा, दोनों ही अवस्थाओं में बोध होगा 'अम्बुजसदृश पाद' एक यही। अतः पाद की प्रधानता दोनों ही अलंकारों में समान रूप से बनी रहेगी, फिर रूपक में मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरत्व की अनुपपत्ति नहीं होगी। रूपकस्थल में दो वाच्यार्थों में ही अभेदान्वय मानने पर उक्त कथन संगत हो सकता है, क्योंकि उस मान्यता के अनुसार दोनों अलंकारों में बोध भिन्न तरह का हो जाता है। सारांश यह कि 'मुखचन्द्र' आदि जितने सारोप लक्षणा के उदाहरण प्राचीनों ने माने हैं, उन सभी स्थानों पर लक्षणा वस्तुतः नहीं होती, वाच्य-वाचक का ही आहार्य अभेदान्वयबोध होता है।

व्यस्तरूपकस्थले लक्षणाया निर्बाधत्वमाशङ्क्य खण्डयति—

न च मुखचन्द्रादौ समासे कांचिदस्तु नाम प्रागुक्तरीत्या लक्षणां विनापि बोधोपपत्तिः, व्यासे तु लक्षणाया नास्ति बाधकमिति वाच्यम्। 'कृपया

सुधया सिञ्च हरे मां तापमूर्च्छितम्' इत्यादौ व्यासेऽप्यनुपपत्तेः ।

प्रागुक्तरीत्येति । नवीनोक्ताहार्यशाब्दबोधोपपादनन्यायेनेत्यर्थः । अस्य प्रतीकस्य 'प्राचीनोक्तेत्यर्थः' इति नागेशटीका भ्रामिकैव । नास्ति बाधकमिति । प्राचीनोक्तानुपपत्ति-रूपं बाधकं नास्ति, तस्य राजनारायण इत्यादिसमासस्थल एव दर्शितत्वादिति भावः । कृपयेति । हे हरे भवतापेन मूर्च्छामापन्नं मां स्वकृपारूपपीयूषधारया सिञ्च येन भवतापजनिता मूर्च्छा मे निवर्तेत इत्यर्थः । अनुपपत्तेरिति । व्यस्तरूपकस्थलेऽपि वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोरभेदान्वयसमर्थने वाक्यार्थान्वयानुपपत्तेरिति भावः । इदमाकूतम्— 'रूपकस्थले लक्षणा न भवति, किन्तु वाच्ययोरेवोपमानोपमेययोः बाधितोऽपि अभे-दान्वयबोधः स्वीकार्य आहार्यरूपः' इत्यस्य सिद्धान्तस्य दृढीकरणे या प्राचीनोक्तयनु-पपत्तिर्युक्तित्वेन पुरस्कृता नवीनैः, सा राजनारायण इत्यादि समासस्थल एव, ततश्च तद्दृष्टान्तेन समासस्थले रूपके त्यज्यतां लक्षणा, स्वीक्रियताञ्च वाच्यार्थयोरेवाहार्या-भेदबोधः, व्यासस्थले लक्षणया वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोरभेदान्वयबोधाङ्गीकारे न क्षतिरिति पूर्व-पक्षे, 'कृपया सुधया' इत्यादौ उपमानवाचकस्य सुधापदस्य स्वसदृशे लक्षणायां सुधास-दृशया कृपया इति बोधे वाक्यार्थो नोपपद्येत, सुधातुल्यायां कृपायां सेचनकरणताया असंभवित्वात्, अतो व्यस्तरूपकस्थलेऽपि सुधाऽभिन्नया कृपया इत्यादि रीत्या वाच्या-र्थयोरेवाहार्याभेदान्वयबोध आस्थेयः । तथा च न वाक्यार्थानुपपत्तिः सुधया अभिन्नायां कृपायां सेकक्रियाकरणत्वस्य संभवित्वात् इति समाधानं नवीनस्येति ।

व्यस्त रूपकस्थल में लक्षणा मानी जा सकती है, इस आशङ्का का समाधान अब करते हैं—न च इत्यादि । यदि कोई कहे कि रूपकस्थल में लक्षणा नहीं होती—दो वाच्यार्थों का आहार्य अभेदान्वय-बोध होता है, इस बात को सिद्ध करने के लिये नवीनों ने जो दृष्टान्त दिया है वह समास-स्थल में ही, अतः उस (राजनारायण तथा पादाम्बुज) दृष्टान्त से समास के स्थल में कहीं लक्षणा के विना भी भले ही अभेदान्वय-बोध सिद्ध हो जाय, परन्तु व्यासस्थल में (जहाँ समास के न रहने पर भी रूपक होता है) लक्षणा मानने में कोई बाधा नहीं है। तो इसका उत्तर है कि 'कृपया सुधया'''अर्थात् हे हरे! ताप (सांसारिक पीड़ा) से मूर्च्छित मुझको कृपारूप सुधा से सींचिए।' इत्यादि व्यस्त रूपकस्थल में भी लक्षणा मानने पर वाक्यार्थ की अनुपपत्ति हो जाती है अर्थात् 'कृपया सुधया' में जो रूपक है, वहाँ यदि विषयी—उपमानवाचक (सुधा) पद की स्वसदृश में लक्षणा मानी जाय, तब 'सुधासदृश कृपा' ऐसा बोध होगा, जो अनुपपन्न है, क्योंकि कृपा से सेचन नहीं हो सकता, अतः मानना पड़ेगा कि यहाँ भी लक्षणा नहीं होती, अपि तु सुधा और कृपा पदों के वाच्य अर्थों का ही आहार्य अभेदान्वय-बोध होता है, तदनुसार सिद्ध होनेवाले 'सुधा से अभिन्न कृपा' इस बोध में कोई अनुपपत्ति नहीं होती, क्योंकि सुधा से कृपा को अभिन्न समझ लेने पर सुधागत सेचन-योग्यता, कृपा में भी प्राप्त हो जाती है।

व्यासेऽनुपपत्तिपरिहारमाशङ्क्य समाधत्ते—

न च सिक्तेरपि विषयीकरणे लक्षणया नानुपपत्तिः । उत्प्रेक्षाद्यतिरिक्तातिशयोक्त्यपह्नवादिष्वाहार्यज्ञानेनैवोपपत्तौ लक्षणायां बीजाभावादनुभवविरोधाच्च ।

सिक्तेरपीति । अत्रापिना सुधापदस्य लक्षणाविषयत्वं समुच्चीयते। अत्र 'अपिरेवार्थः' इति विवृण्वतो नागेशस्याभिप्रायो दुर्ज्ञेय एव। विषयीकरणे। लक्ष्यीकरणे। लक्षणयेति। अस्य पदस्य 'विषयीकरणे' इति पूर्वतनेन पदेन संबन्धः। नानुपपत्तिरिति। वाक्यार्थान्वयानुप-

सिर्नेत्यर्थः । उत्प्रेक्षादीति । अत्रादिपदेन भेदप्रधानानां दृष्टान्तादीनां ग्रहणं बोध्यम् । अप-ह्नवादीति । अत्रादिपदेनाभेदप्रधानानां परिणामादीनां संग्रहः । बीजाभावादिति । समर्थक-युक्तिविरहादित्यर्थः । अतिशयोक्त्यादिरीतिरेवानुसर्तव्या नोत्प्रेक्षादिरीतिरित्यत्र विनिगमका-भावादाह—अनुभवेति । अभेदप्रधानेष्वलंकारेषु वाच्ययोराहार्याभेदबोधस्यैवानुभवसिद्धत्वा-दिति भावः । इदमत्र तत्त्वम्—'कृपया सुधया' इत्यादिकाव्यवाक्ये प्रकृततया कृपोपमेयभूता सुधा चाप्रकृततयोपमानरूपा, तथा चोपमानवाचकस्य सुधापदस्य स्वसदृशे लक्षणेति प्राचीन-सिद्धान्तस्वीकारे सुधासदृशकृपाकरणकः सेकः इति बोधस्य जायमानस्यानुपपत्तिरिति सुधा-पदवाच्यार्थस्यैव कृपापदार्थेन सहाहार्याभेदान्वयबोध इति यदुपपादितं नवीनैस्तद् व्यर्थम् , सिञ्चेति क्रियापदस्यापि योजनरूपार्थे लक्षणामङ्गीकृत्य सुधासदृशकृपाकरणिकायोजनक्रि-येति वाक्यार्थ-निष्पत्तौ अनुपपत्तिविरहेण व्यस्तरूपकस्थले लक्षणायां बाधकं नास्तीति प्राचीनमतसमर्थिका शंका । उत्प्रेक्षादौ भेदप्रधानेऽलंकारे भेदबोधपुरस्सरस्यैव वैयञ्जिका-भेदबोधस्य चमत्कारित्वमिति तत्राहार्योऽप्यभेदबोधोऽचमत्कारितया काव्यमर्मज्ञैः सहृद-यैर्नाङ्गीकर्तुं योग्यः, किञ्च तत्र 'मन्ये' 'शङ्के' 'इवा'दिपदानां भेदसूचकानां सत्त्वेन अभेदबोधो विरुद्ध एव भवेत् अत एवोत्प्रेक्षायां संभावनाया अपि आहार्यत्वं स्वीक्रियते अभेदबोधस्तु दूरापास्त इति तदर्थः । एवञ्च तत्र भवतु उपमानवाचकानां पदानां स्व-सदृशे लक्षणा । किन्तु अतिशयोक्त्यादावभेदप्रधानेऽलंकारेऽभेदबोध एव चमत्कारकः भेदबोधस्तत्र भवत्येव नेति तत्र यथा वाच्यार्थयोरेवाहार्याभेदान्वयबोधः स्वीक्रियते, न तु लक्षणया लक्ष्यार्थवाच्यार्थयोस्तथैव रूपकेऽपि (समस्ते व्यस्ते च) अभेदप्रधाने वाच्य-योरेवाहार्याभेदान्वयबोधस्वीकारेण सामञ्जस्ये तस्यैवौचित्ये च लक्षणाश्रयणे युक्तिविरहः, अनुभवविरोधश्चेति समाधानमिति । अत्र 'न च सिञ्चतेरपि विषयीकरणे' इति प्रतीकमुपा-दाय 'अतिशयोक्तौ विषयिणः (उपमानस्य) एव यथा विषयीकरणम् (उपमेयतया स्थापनम्) तथाऽत्रापि 'कुरु' इत्यस्य (विषयस्य) स्थाने सिञ्चेति विषयिणः प्रयोगः । अतिशयोक्तिलक्षणे वाक्यार्थः—'तापमूर्च्छितस्य ममोपरि सुधासेचनसदृशीं कृपां कुरु' इत्यादि, 'सरला' निताम्तमसंगतैव, कृपयेतितृतीयान्त-मामितिद्वितीयान्त-पदघटितोक्त-वाक्यान्नादृशार्थप्रतिपत्तेरसम्भवात् ।

अब व्यासस्थल में पूर्वोक्त अनुपपत्ति के परिहार की आशङ्का करके समाधान करते हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहें कि 'कृपया सुधया'''' इत्यादि तरह के स्थानों में केवल उपमानवाचक सुधा पद ही लाक्षणिक नहीं है, अपि तु 'सिञ्च' यह क्रियापद भी योजन-रूप अर्थ में लाक्षणिक है, अतः यहाँ बोध होता है कि 'सुधासदृश कृपा से मुझे युक्त बनाओ।' इस बोध में कोई खास अनुपपत्ति नहीं है अतः प्राचीनों के कथनानुसार व्यासस्थल में लक्षणा मानी जा सकती है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अतिशयोक्ति, अपह्नव, परिणाम आदि अलंकारों–जो अभेद-प्रधान हैं, अतः अभेद का बोध ही चमत्कारी होता है, अर्थात् जहाँ भेद का बोध होता ही नहीं—में जैसे लक्षणा के बिना ही आहार्य अभेदान्वय बोध मानकर सब कार्य सिद्ध कर लेते हैं, वैसे ही अभेदबोध के चमत्कारी होने के कारण रूपक (चाहे वह समस्त हो अथवा व्यस्त) में भी आहार्य अभेदान्वय बोध मानकर जब सब ठीक हो जाते हैं, तब लक्षणा मानने में कोई बीज नहीं दीखता । हाँ, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि जिन अलंकारों में भेद की ही प्रधानता रहती है, अतः पीछे भी व्यञ्जना के द्वारा भेदज्ञानपूर्वक अभेदबोध ही होता है, चमत्कार भी उसी तरह के बोध में अनुभूत होता है, वहाँ आहार्य-अभेद-बोध भी सहृदय-जन-मनोविरुद्ध है, दूसरी बात यह कि उत्प्रेक्षा में 'मन्ये, शङ्के, इव' आदि पद भेदसूचक रहते हैं, अतः अभेद का बोध

विरुद्ध भी पड़ता है, इसीलिये उत्प्रेक्षा में संभावना को भी आहार्य माना गया है, अभेद-बोध तो दूर की बात ठहरी। वहाँ उपमानवाचक पदों को स्वसदृश अर्थ में लाक्षणिक मानना युक्तिसंगत हो सकता है। यदि आप कहें कि जब दोनों प्रकार के अलंकार होते हैं—अतिशयोक्ति आदि अभेदप्रधान और उत्प्रेक्षा आदि भेदप्रधान, तब रूपक को द्वितीय कोटि के अलङ्कारों की श्रेणी में ही क्यों न रक्खा जाय अर्थात् रूपक को भी भेदप्रधान मानकर लक्षणावाली बात को संगत क्यों नहीं माना जाय ? तो इसका उत्तर यह है कि आखिर अनुभव के आधार पर ही तो काव्यशास्त्र की यह विशाल भित्ति खड़ी है, अतः उस अनुभव का अपलाप किसी भी स्थिति में नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह कि रूपक में अभेदबोध का ही चमत्कार अनुभव से सिद्ध है, अतः उसको भेदप्रधान अलंकारों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

उक्तानुभवविरोधस्य विसंवादग्रस्तत्वात् रूपकस्थले वाच्यार्थयोराहार्यभेदान्वयबोधसाधकं युक्त्यन्तरमाह—

अपि चोपमानवाचकस्य चन्द्रादिपदस्य रूपके उपमानसदृशे लक्षणा इति हि प्राचां समयः। तत्र च लक्ष्यतावच्छेदकं सादृश्यम्। तच्च समानधर्मरूपम्। स च लक्ष्यांशे सुन्दरत्वादिना विशेषरूपेण प्रतीयते, उताहो सामान्यरूपेण ? नाद्यः। सुन्दरं मुखं चन्द्र इत्यादौ पौनुरुक्त्यापत्तेः। न चैवमादावुपात्तधर्मके रूपके तद्धर्मातिरिक्तो धर्म एव लक्ष्यतावच्छेदकीभूतसादृश्यरूप इति वाच्यम्। अनुभवविरोधात्।

'अङ्कितान्यक्षसंघातैः सरोगाणि सदैव हि।
शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः॥'

इत्यादौ श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसितधर्मं विना धर्मान्तरस्य सर्वथैवास्फूर्तेश्च।

समयः सिद्धान्तः। तत्र रूपकस्थले। समानधर्मरूपमिति। तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वस्यैव सादृश्यपदार्थत्वादिति भावः। स च समानधर्मश्च। सामान्यरूपेणेति। सादृश्यत्वेन रूपेणेत्यर्थः। सुन्दरत्वादिना विशेषरूपेणेति प्रथमकल्पं दूषयति—नाद्य इति। तत्र हेतुमाह—सुन्दरं मुखमित्यादि। पौनुरुक्त्यापत्तिं निराकर्तुमाशङ्कते—न चेति। एवमादौ इति। इत्यादावित्यर्थः। अत्रादिपदस्य प्रकारार्थत्वात्तत्प्रयोजकधर्ममाह—उपात्तेति। तद्धर्मेति। उपात्तधर्मान्याह्लादकत्वादिरित्यर्थः। समाधत्ते—अनुभवविरोधादिति। तादृशस्थले उपात्तस्य सुन्दरत्वादिधर्मस्यैव लक्ष्यतावच्छेदकतयाऽनुभवादिति भावः। तथानुभवे मतभेदस्यापि संभवादाह—अङ्कितानीति। अक्षाणाम् इन्द्रियाणाम्, पद्माक्षाणाञ्च, संघातैः समूहैः, अङ्कितानि व्याप्तानि, सरोगाणि रोगैः सहितानि सरोवरगतानि च, शरीरिणां प्राणिनां, शरीराणि देहाः, कमलानि कमलरूपाः सन्तीत्यत्र सन्देहो नास्तीत्यर्थः। श्लेषेति—शब्दश्लेषनिमित्तको यो विशेषणार्थयोरभेदाध्यवसायस्तद्विषयीभूतो योऽक्षसंघातव्याप्तत्वसरोगत्वरूपो धर्मस्तमित्यर्थः। धर्मान्तरस्येति। शरीरकमलोभयसाधारणस्येति भावः। अस्फूर्तेरिति। ध्यानपथानारूढत्वादित्यर्थः। रूपकस्थले उपमानवाचकपदस्य स्वसदृशे लक्षणेति प्राचां सिद्धान्ते लक्ष्यतावच्छेदकसादृश्यस्य समानधर्मरूपस्य लक्ष्यांशे = उपमेये, सुन्दरत्वादिना विशेषरूपेण प्रतीतिर्न संभवति, तथा सति 'सुन्दरं मुखं चन्द्रः' इत्यादिरूपकस्थले 'मुखं चन्द्रः' इत्येतावतो वाक्यादेव चन्द्रसदृशं सुन्दरं मुखमित्यर्थप्रतीत्या सुन्दरपदस्य पुनरुक्तत्वापातात्। तादृशोपात्तधर्मकरूपकस्थले सुन्दरत्वेतर एवाह्लादकत्वादिधर्मः सादृश्यरूपो निवक्ष्येत इति तु न शक्यं वक्तुं ...

तुम्, तत्र तस्याननुभवात्। तादृशानुभवसमर्थकदुराग्रहे च तत्र कथञ्चिन्निर्वाहेऽपि 'अङ्कितानि...' इत्यादिपद्ये पुनरुक्त्यापत्तिर्दुरुद्धरैव, तत्रोक्तात् अक्षसंघाताङ्कितत्व-सरोगत्वेत्येतद्वितयरूपात् श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसितधर्मात् अपरस्य उपमानोपमेयसाधारणस्य धर्मस्य बुद्धिपथानारोहात् तस्यैव धर्मद्वयस्य लक्ष्यतावच्छेदकतयोपमेयांशे प्रतीतिसमर्थने च पुनरुक्त्यापत्तेः स्पष्टत्वादिति भावः।

ऊपर जो अनुभवविरोध की बात कही गई है, उसमें मतभेद हो सकता है अर्थात् कुछ लोग ऐसा भी दुराग्रह दिखला सकते हैं कि रूपकस्थल में भेद का अनुभव होता है, अतः अब रूपकस्थल में वाच्यार्थद्वय के ही आहार्याभेदान्वय को सिद्ध करनेवाली दूसरी युक्ति देते हैं—अपि च इत्यादि। रूपक-स्थल में उपमानवाचक चन्द्रादि पदों की स्वसदृश अर्थ में लक्षणा होती है, यह प्राचीनों का सिद्धान्त है तदनुसार लक्ष्यतावच्छेदक (लक्ष्य-सदृश अर्थ में रहने वाला धर्म) होगा सादृश्य और सादृश्य का विश्लिष्ट रूप होता है समान धर्म। दोनों (उपमान तथा उपमेय) में रहनेवाला कोई एक धर्म, वह एक धर्म भी दो प्रकार का हो सकता है—एक विशेष और दूसरा सामान्य। अब हम और आप विचार करें कि वह समानधर्म रूपक-स्थल में लक्ष्य–उपमेय (मुख आदि)–अंश में विशेष रूप से अन्वित होता है अथवा सामान्यरूप से? यदि आप कहेंगे—विशेषरूप से, तो वह ठीक नहीं होगा, क्योंकि उस स्थिति में 'सुन्दर मुखचन्द्र' इत्यादि व्यवहार में आनेवाला रूपक नहीं बन सकेगा। कारण, जब चन्द्र का सादृश्य मुखरूप लक्ष्य अंश में सुन्दरत्वात्मक विशेषरूप से अन्वित होगा, तब तो 'मुखचन्द्र' इतने से ही 'चन्द्र के समान सुन्दर मुख' यह अर्थ हो ही जायगा, फिर 'सुन्दर' पद की योजना पुनरुक्तिदोषग्रस्त हो जायगी। यदि आप कहना चाहेंगे कि ऐसे स्थलों–जहाँ कोई एक साधारण धर्म उक्त हो—में उस उक्त धर्म से अन्य धर्म-विशेष को ही लक्ष्य में रहनेवाले धर्म-सादृश्य का रूप दिया जायगा, अर्थात् 'सुन्दर मुखचन्द्र' इत्यादि स्थानों में चन्द्रसादृश्य का अन्वय मुख में सुन्दरत्वरूप से न मान कर अन्य गौरत्व आदि रूप से ही माना जायगा, फिर तो पुनरुक्ति नहीं होगी, तो यह कथन भी आपका समुचित नहीं हो सकेगा, क्योंकि सुन्दरत्व आदि पूर्वोक्त रूप से अन्य गौरत्व आदिरूप से सादृश्य का अन्वय अनुभव में नहीं आता। यदि आप ऐसा दुराग्रह करेंगे कि वह अनुभव में आता है, तो उस दुराग्रह के बल पर कर लीजिए किसी तरह वहाँ निर्वाह। परन्तु 'अङ्कितान्यक्षसंघातैः.....' अर्थात् इस में कुछ सन्देह नहीं कि देहधारियों की देह कमल हैं, क्योंकि ये दोनों (देह और कमल) ही 'अक्षों' (देह में इन्द्रियों और कमल में कमलगट्टों) के समूह से चिह्नित हैं और दोनों ही 'सरोग' (एक जगह रोगयुक्त, दूसरी जगह सरोवर में रहनेवाले) हैं' इत्यादि श्लेषमूलक रूपक-स्थल में पुनरुक्ति हो ही जायगी, क्योंकि यहाँ देह और कमल दोनों में रहनेवाले 'अक्षसंघात' से चिह्नित होने और सरोग होने से अन्य किसी धर्म की स्फूर्ति होती नहीं अतः लक्ष्यतावच्छेदक सादृश्य का अन्वय विशेषरूप से मानने पर उन्हीं दोनों रूपों से कमल का सादृश्य देह में अन्वित होगा, फिर तो 'अङ्कितान्यक्षसंघातैः' और 'सरोगाणि' ये दोनों विशेषण पुनरुक्त हो ही जायेंगे। यद्यपि वस्तुतः कमल और देह में रहनेवाला कोई एक धर्म नहीं है क्योंकि उक्त दोनों विशेषणों के दोनों पक्षों में भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं, तथापि श्लेष के बल से उन दोनों अर्थों में अभेद का अध्यवसाय (आरोप) कर लिया जाता है, अतः 'सरोगत्व' आदि रूप से उसको एक धर्म मान लिया जाता है।

उपमानपदलक्ष्यतावच्छेदकस्य समानधर्मात्मकस्य सादृश्यस्य लक्ष्यांशे सामान्यरूपेण प्रतीतिरिति द्वितीयकल्पं दूषयितुमाह—

नान्त्यः। सादृश्यस्य शब्दोपात्तत्वेनोपमात्वापत्तेः। न च सादृश्यस्य वा-

च्यतायामेवोपमाव्यपदेशः। 'नलिनप्रतिपक्षमाननम्' इत्यादौ तदभावापत्तेः।

नान्त्य इति। सामान्यरूपेणोपमानपदलक्ष्यतावच्छेदकं लक्ष्यांशे प्रतीयते इति पक्षो न युक्त इत्यर्थः। तत्र हेतुं दर्शयति—सादृश्यस्येति। शब्दोपात्तेति। लक्षणयेति भावः। उपमात्वापत्तिपरिहारायाशंकते—न चेति। अत्र तु सादृश्यस्य लक्ष्यतेति भावः। उक्ता-माशंकां निरस्यति—नलिनेति। आननं मुखम्, नलिनप्रतिपक्षम् कमलाऽमित्रम् इत्यर्थः। तदभावेति। उपमात्वाभावेत्यर्थः। प्रतिपक्षपदस्य सादृश्ये न शक्तिरपि तु लक्षणेति तात्पर्यम्। मुखं चन्द्र इत्यादिरूपकस्थले चन्द्रपदस्य स्वसदृशे लक्षणायां लक्ष्यतावच्छेदकस्य सादृश्यस्य मुखरूपलक्ष्यांशे सादृश्यत्वात्मकसामान्यरूपेण प्रतीतौ चन्द्रसदृशं मुखमित्यत्रेव सादृश्यस्य लक्षणया शब्दोपात्ततया तत्रापि उपमालंकारप्रसक्तौ रूपकोच्छेदापत्तिः। सादृश्यस्याभिधाबोध्यत्वे एवोपमा, रूपके तु तस्य लक्षणाबोध्यत्वमिति न तत्रोपमाप्रसक्ति-रिति तु युक्तम्, नलिनप्रतिपक्षमाननमित्यादौ सादृश्यस्य प्रतिपक्षपदलक्ष्यत्वेऽपि उपमा-दर्शनात्। तथा च रूपकस्थले लक्षणेति प्राचां पक्षो नोचितः, किन्तु वाच्ययोरेव तत्रा-हार्याभेदान्वयबोध इति नवीनाभिमतकल्प एव श्रेयानिति भावः।

अब द्वितीय प्रकार—उपमानवाचक पद के लक्ष्यतावच्छेदक समानधर्मात्मक सादृश्य का सामान्य (सादृश्यत्व) रूप से लक्ष्य (उपमेय) अंश में भान पक्ष का खण्डन करते हैं—नान्त्य इत्यादि। 'मुखचन्द्र' इत्यादि रूपक स्थल में चन्द्र पद की स्वसदृशरूप अर्थ में लक्षणा है इस प्राचीनाभिमत पक्ष में यदि आप कहें कि लक्ष्यतावच्छेदक सादृश्य का मुख-रूप लक्ष्य अंश में सामान्य (सादृश्य) रूप से अन्वय होता है तो वह भी संगत नहीं। कारण, उस स्थिति में जैसे 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इस स्थल पर सादृश्य शब्द से उक्त रहता है, उसी तरह 'मुखचन्द्र' इस स्थल पर भी सादृश्य चन्द्र शब्द से लक्षणा के द्वारा उक्त हो गया, अतः प्रथम स्थल के समान द्वितीय स्थल में भी उपमा अलंकार ही होने लगेगा। सादृश्य के वाच्य होने पर ही उपमा होती है यह दुराग्रह तो आप कर नहीं सकते, क्योंकि 'नलिनप्रतिपक्षमाननम् अर्थात् मुख कमल का प्रतिद्वन्द्वी (शत्रु) है' इत्यादि स्थानों पर भी उपमा नहीं हो सकेगी। कारण, यहाँ भी 'प्रतिपक्ष' पद का सादृश्य वाच्य नहीं—अपितु लक्ष्य ही है। यदि सादृश्य के लक्ष्य होने पर भी यहाँ उपमा मान्य होती है, तब सभी रूपक-स्थलों में सादृश्य की लक्ष्यता दशा में उपमा ही हो जायगी, फिर तो रूपक का उच्छेद ही हो जायगा, अतः रूपकस्थल में लक्षणा होती ही नहीं, दो वाच्यार्थों का ही आहार्य अभेदान्वय-बोध होता है यह नवीनों की रीति ही ठीक है।

'नलिनप्रतिपक्षमाननम्' इत्यादौ उपमात्वाभावस्येष्टत्वेऽपि नवीनमतसमर्थकं युक्त्य-न्तरमुपदर्शयति—

किं च 'विद्वन्मानसहंस—' इत्यादौ श्लिष्टपरम्परितरूपके श्लेषनिष्पत्तौ श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसानेन मानसवासित्वरूपे भूपहंसयोः सादृश्ये सिद्धे सदृशलक्षणामूलस्य भूपे हंसरूपकस्य सिद्धिः। तस्यां च सत्यां सरोमनो-रूपार्थद्वयाभिधानलक्षणस्य श्लेषस्य निष्पत्तिरिति परस्पराश्रयः। न हि रूप-कास्फूर्तौ सरोरूपेऽर्थे मानसशब्दस्य तात्पर्यं वेदयितुं किंचित्प्रमाणमवतरति। स्फुरिते तु रूपके तद्घटकसादृश्यान्यथानुपपत्तिरूपेण प्रमाणेनार्थद्वयाभेदबोध-फलकस्य तदुभयप्रतिपादनात्मनः श्लेषस्य निष्पत्तिः।

विद्वदिति। विदुषां मानसं हृदयमेव मानसाख्यं सरः इति श्लिष्टरूपकम्, तत्र हंस।

जलचरपक्षिविशेषस्वरूप ! तत्र विहारकारकेति तात्पर्यम्, वैरिणाम् शत्रूणां, कमलाया लक्ष्म्याः, संकोचः विनाश एव कमलानां पद्मानाम्, असंकोचः विकाशः, तत्र दीप्तद्युते ! सूर्य ! दुर्गाणाम् युद्धकालिकसुरक्षासमर्थस्थानविशेषाणाम्, अमार्गणम् अगवेषणम् अप्रतिमपराक्रमितया सम्मुखयुद्धप्रियत्वादिति भावः, एव, दुर्गायाः पार्वत्याः, मार्गणम् गवेषणम्, तत्र नीललोहित शिवरूप ! समितः युद्धस्य, स्वीकार एव समिधां काष्ठानां स्वीकारः तत्र वैश्वानर अग्ने !, सत्ये तथ्ये, प्रीतेः प्रणयस्य, निधानमेव, सत्यां शिवप्रथमपत्न्यां, अप्रीतेः रोषस्य, विधानम्, तत्र दक्षप्रजापते !, विजयस्य शत्रुपराजयस्य, प्राग्भावः प्रथमसत्ता एव विजयस्य अर्जुनस्य, प्राग्भावः पूर्वोत्पत्तिः, तत्र भीम भीमसेनस्वरूप !, प्रभो वरवीर वीरश्रेष्ठ राजन् ! त्वम् वैरञ्चम् ब्रह्मणः संबन्धि, वत्सरशतम् शतं वर्षाणि यावत् स्वकीयं साम्राज्यम्, उच्चैः उन्नतं, क्रियाः विदध्याः इत्यर्थके 'विद्वन्मानसहंस, वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते, दुर्गामार्गणनीललोहित, समित्स्वीकारवैश्वानर । सत्यप्रीतिविधानदक्ष, विजयप्राग्भावभीम, प्रभो, साम्राज्यं वरवीर, वत्सरशतं वैरञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥' इत्यादावित्यर्थः । श्लेषेति । श्लेषमूलकम् यत् अभेदारोपणम् तेनेत्यर्थः । तस्याम् रूपकसिद्धौ । तद्घटकेति । लक्ष्यतावच्छेदकेत्यर्थः । अर्थद्वयेति । सरोमनोरूपेत्यादिः । अभेदबोधेति । अभेदबोध एव फलं यस्य तस्येत्यर्थः । उभयार्थप्रतिपादकपदस्य श्लेषस्याभेदबोध एव फलमिति भावः । अयं तात्पर्यार्थः—रूपकस्थले लक्षणाङ्गीकारे विद्वन्मानसहंसेत्यादिपद्येऽन्योन्याश्रयापत्त्या परम्परितरूपकसिद्धिर्न स्यात्, ननु कथं तत्रान्योन्याश्रय इति चेत् ? तथा हि—प्राचामनुसारेण सदृशलक्षणामूलकं रूपकं सादृश्यप्रतीतिमन्तरा न भवितुमर्हति, सादृश्यप्रतीतिश्च प्रकृते श्लेषनिष्पत्त्यनन्तरम्, यतः श्लेषनिष्पत्त्युत्तरमेव श्लेषमूलकाभेदाध्यवसानेन भूपहंसयोः मानसवासित्वरूपस्य सादृश्यस्य स्फुरणं भवति । एवञ्च रूपकस्योत्पत्तौ श्लेषस्यापेक्षा सिद्धा श्लेषस्योत्पत्तौ रूपकापेक्षाऽपि वर्तते, यतः रूपकसिद्ध्यनन्तरमेव सरोमनोरूपार्थद्वयाभिधानात्मनः श्लेषस्य स्फुरणं भवति । ननु श्लेषस्फुरणे रूपकापेक्षायां किं बीजमिति चेदित्थम्—रूपकसिद्धिदशायाम् मानसपदस्य सरोवररूपार्थे तात्पर्यावगमकं प्रमाणं नास्ति । रूपकस्फुरणोत्तरम् तु रूपकशरीरप्रविष्टसादृश्यस्य श्लेषं विना अनुपपत्तिरिति तदनुपपत्तिरूपेण प्रमाणेन श्लेषस्य स्फुरणम् जायते, येन सरोमनोरूपार्थद्वयस्याभेदबोधः फलति । इति ।

'नलिनप्रतिपक्षमाननम्' इत्यादि में उपमा है ही नहीं, ऐसा मान लेने पर भी नवीन विद्वान् अपने मत के समर्थन में अन्य युक्ति बतलाते हैं—किं च इत्यादि । 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादि सम्पूर्ण पद्य संस्कृत टीका में उद्धृत है । अर्थ है—'हे विद्वानों के हृदयरूप मानसरोवर के हंसरूप अर्थात् सर्वदा उसमें विहार करनेवाले, हे शत्रुओं की लक्ष्मी के संकोच(न्यूनता)रूप कमल-विकास के लिये सूर्यरूप, हे (युद्ध के लिये) किला न ढूँढनेरूप पार्वती के ढूँढने में शिवरूप, हे युद्धरूप समिधा (लकड़ी) के स्वीकार करने में अग्निरूप, हे सत्य-प्रेमरूप सती (महादेव की प्रथम पत्नी) की अप्रीति करने के लिये दक्षरूप, हे शत्रुओं के पराजयरूप अर्जुन से पूर्व उत्पन्न होने में भीमरूप, वीरश्रेष्ठ राजन् ! आप ब्रह्माजी के सौ वर्षों तक साम्राज्य को उन्नत करते रहें !' प्रकृत में कहना यह है कि यदि रूपकस्थल में लक्षणा मानी जाय, तब उक्त (विद्वन्मानस'' इत्यादि) पद्य में अन्योन्याश्रय दोष आने लगेगा, जिससे परम्परित रूपक की सिद्धि नहीं होगी । अन्योन्याश्रय दोष कैसे होने लगेगा इसका उत्तर सुनिये—प्राचीनों के अनुसार सारोप लक्षणामूलक रूपकालंकार सादृश्य की प्रतीति

के बिना हो नहीं सकता और प्रकृत पद्य में सादृश्य की प्रतीति श्लेष की प्रतीति के बाद में ही हो सकती है, क्योंकि मानस आदि पद में श्लेष की प्रतीति हो जाने के बाद ही श्लेषमूलक अभेदारोप से उपमान हंस और उपमेय भूप दोनों में रहनेवाले मानसवासित्वरूप साधारणधर्मात्मक सादृश्य की प्रतीति होती है । इस तरह रूपक की उत्पत्ति में श्लेष की अपेक्षा सिद्ध हो गई। इसी तरह श्लेष की उत्पत्ति में रूपक की अपेक्षा भी है, क्योंकि राजा को हंस समझनेरूप रूपक की प्रतीति हो जाने के बाद ही सरोवर और मन इन दो अर्थों के प्रतिपादनरूप श्लेष की ओर ध्यान जाता है। यदि कोई कहे कि श्लेष की प्रतीति में रूपक की अपेक्षा होने का कारण क्या है ? तो समझिए—जब तक रूपक की प्रतीति नहीं हो जाती—राजा को हंस नहीं समझ लिया जाता—तब तक मानस पद कहने से वक्ता का सरोवर में भी तात्पर्य है, इस बात का ज्ञान करानेवाला कोई प्रमाण ही नहीं है। हाँ, रूपक की प्रतीति हो जाने के अनन्तर रूपक के पेट में प्रविष्ट सादृश्य की अन्यथा अनुपपत्ति-रूप प्रमाण से श्लेष की प्रतीति होने लगती है अर्थात् जब राजा को हंस समझ लिया जाता है तब यह जिज्ञासा स्वभावतः उठती है कि राजा और हंस में कौन-सा ऐसा साधारण धर्म है—सादृश्य है, जिसके आधार पर राजा को हंस से अभिन्न समझा गया है ? तब विचार करने पर पता चलता है कि और तो कोई साधारण धर्म इन दोनों में है नहीं, अतः अवश्यमेव मानस पद में श्लेष है, अर्थात् इस एक पद से वक्ता मन और सरोवर दोनों का बोध कराना चाहता है। जब वक्ता का उक्त तात्पर्य अवगत हो जाता है, तब अनायास ही 'मानसवासित्व'रूप साधारण धर्म का ज्ञान हो जाता है और उस श्लेष (एक पद से दो अर्थों के प्रतिपादन) से उन दोनों (मन तथा सर) अर्थों में अभेद की प्रतीति फलित होती है ।

उपसंहरति—

अतो नामार्थयोरभेदान्वयसरणिरेव रूपकस्थले रमणीया।

उक्तानेकविधानुपपत्तिवारणानुरोधेन रूपकस्थले वाच्यार्थयोरेवाहार्याभेदान्वयबोधः न तु लक्ष्यवाच्ययोरिति नवीनाभिमतमार्ग एव ज्यायान् इति भावः। वाच्यार्थयोरभेदे स्वीकृते विद्वन्मानसहंस इत्यादावपि न काचिदनुपपत्तिरिति बोध्यम्।

अब नवीन-मत का उपसंहार करते हैं—अतो इत्यादि। उक्त सभी युक्तियों के आधार पर यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि रूपकस्थल में नवीनों की बात (दो वाच्य अर्थों का ही आहार्य अभेदान्वय बोध होता है) ही उत्तम है-उनका मार्ग ही सुन्दर है, प्राचीनों का नहीं अर्थात् रूपकस्थल में लक्षणा रहती है यह प्राचीनों का कथन उचित नहीं है ।

प्राचीनाभिमतमन्यदपि दूषयति—

'सदृशलक्षणायाः फलं रूपके ताद्रूप्यप्रत्यय इत्यपि न हृदयङ्गमम्। तत्स-दृश इति शब्दात्सादृश्यप्रत्यये सत्यपि ताद्रूप्यप्रत्ययापत्तेः' इत्याहुः।

रूपकस्थले उपमानवाचकपदस्य स्वसदृशे यल्लक्षणा समाश्रीयते, तस्य फलम् उपमेये उपमानताद्रूप्यप्रतीतिरिति यदुक्तं प्राचीनैस्तदपि न हृदयग्राहकम्, ययोः सादृश्यं प्रतीयते तयोस्ताद्रूप्यं पश्चात् प्रतीयते इति प्राचीनोक्तिनिष्कर्षे निर्गलिते चन्द्रसदृश इत्यादिपदात् सादृश्यप्रतीतिस्थलेऽपि चन्द्रताद्रूप्यप्रतीतिप्रसंगात्। अतो नितान्तमयुक्तः प्राचां पक्ष इति भावः।

प्राचीनों के द्वारा प्रतिपादित एक अन्य युक्ति का भी नवीन विद्वान् खण्डन करते

हैं—सदृश इत्यादि । प्राचीनों ने जो यह कहा कि रूपकस्थल में विषयिवाचक पद की स्वसदृश में लक्षणा होती है और उसका फल होता है विषय में विषयी के तादृूप्य की प्रतीति, वह भी हृदयग्राही नहीं, क्योंकि यदि ऐसा हो, तब 'तत्सदृश' (उसके सदृश) इस शब्द से सादृश्य का बोध होने पर भी तादृूप्य की प्रतीति होने लगेगी। अतः प्राचीनों का मत असंगत ही है।

नवीनमतखण्डनोपक्रमं कुरुते—

अत्रेदं विचार्यते—यत्तावदुच्यते नामार्थयोरभेदान्वयबोधेनैवोपपत्तौ रूपके नास्ति लक्षणेति, तत्र चमत्कारिसाधारणधर्मानुपस्थितिदशायामुपमालङ्कारस्येव रूपकालङ्कारस्यापि नास्ति निष्पत्तिश्चमत्कारो वेति सकलहृदयसिद्धम्। कथमन्यथा 'भारतं नाकमण्डलम्', 'नगरं विधुमण्डलम्' इत्यादिवाक्यश्रवणानन्तरमनुन्मिषन्त्या रूपकप्रतिपत्तेः सुपर्वालङ्कृत-सकलकलादिशब्दश्रवणोत्तरमेव समुन्मेषः सर्वेषाम्। इत्थमेव च मुखं चन्द्र इत्यादिप्रसिद्धोदाहरणेऽपि, इयांस्तु विशेषः—यदेकत्र साधारणो धर्मः प्रसिद्धतया नियमतः स्वबोधकश्रुतिं नापेक्षते। इतरत्र त्वप्रसिद्धतया तथा। एवं स्थिते साधारणधर्मवत्त्वरूपं सादृश्यं यदि रूपकमध्यं न प्रविशेत्तदा कथमिव धर्मविशेषानुपस्थितिदशायां रूपकं न पर्यवस्येत्। चमत्कारं वा न जनयेत्। उपमानोपमेययोराहार्याभेदबुद्धेरनन्यापेक्षपर्यवसानायाः साम्राज्यात्।

नास्ति लक्षणेति। अत्र नागेशः—'मास्तु लक्षणा। नामार्थयोरभेदान्वय एवास्तु, न च बाधज्ञानं प्रतिबन्धकम्। सादृश्यज्ञानरूपदोषस्योत्तेजकत्वात्। एतज्ज्ञानं च प्रसिद्धसादृश्यकस्थले साधारणधर्मानुपादाने एकसंबन्धिज्ञानादपरसंबन्धिस्मरणन्यायेन। साधारणधर्मस्मृतौ दोषविशेषसहकारेण शब्दादभेदप्रत्ययः। शङ्खे पीतत्वाभाव-निश्चये काचकामलादिदोषेण तत्पीतत्वप्रत्यक्षवत्। रूपके आहार्यबुद्धिरिति प्राचीनव्यवहारे बाधबुद्धिकालिकत्वमात्रे आहार्यपदं लाक्षणिकम्। इवशब्दादिसमभिव्याहारे तु तेन भेदगर्भसादृश्यस्यैवोपस्थापनान्नाभेदप्रतीतिरिति मम प्रतिभाति।' इति। शास्त्रार्थकुशलो नागेशस्तादृशीं रुचिरां शास्त्रार्थपद्धतिं प्रादुरभावयत् यत्र पण्डितराजस्य नवीनमतखण्डनयुक्तिः कवलीकृतेव प्रतिभातीत्यत्र न मनागपि सन्देहः, परन्तु तथ्यांशस्तत्राल्पीयानेव, यतः सादृश्यज्ञानस्य दोषता न क्वापि प्रसिद्धा। किञ्च अभेदबोधे सादृश्यज्ञानस्योत्तेजकत्वमपि असमञ्जसमिव प्रतीयते, भेदगर्भत्वे सादृश्यस्याभेदविरोधित्वात् तदगर्भत्वे पुनस्तेनैव कृतार्थतायामभेदबोधस्य मुधात्वापत्तेः। सदृशलक्षणाकल्पनापेक्षया सादृश्यज्ञानस्योत्तेजकत्वकल्पने लाघवमपि नास्त्येवेति मदीयो दृष्टिकोणः। नास्ति लक्षणेत्यन्तेन नवीनमतमनूद्य तत्र दोषं दर्शयन्नाह—तत्रेत्यादिना। चमत्कारी यः साधारणधर्मस्तदनुपस्थित्यर्थः। नास्ति निष्पत्तिश्चमत्कारो वेति। यतो न चमत्कारस्ततो न निष्पत्तिः, अलंकारस्य चमत्कारप्राणत्वादित्यर्थः। भारतमिति। भारतम् महाभारताभिधो ग्रन्थः, नाकमण्डलम् स्वर्गमण्डलम् इत्यर्थः। नगरमिति। नगरं वर्णनीयः कश्चन स्थानविशेषः, विधुमण्डलम् चन्द्रमण्डलम् इत्यर्थः। अनुन्मिषन्त्या रूपकप्रतिपत्तेरिति। अनुदीयमानस्य रूपकज्ञानस्येत्यर्थः। सुपर्वालंकृत इति। 'सुपर्वालंकृतं भारतं नाकमण्डलम्।' इति पूर्णवाक्यश्रवणोत्तरमिति भावः। 'स्यात् सुधर्मा देवसभा' इति कोशेन देवसभाशोभितं स्वर्गमण्डलम्, आदिपर्व-विराटपर्वेत्यादिरीत्या कृतैः भागविशेषैः शोभितम् भारतमिति च तदर्थः।

सकलकलेति 'सकलकलं नगरं विधुमण्डलम्' इति पूर्णवाक्यम्। सकला कला चन्द्रिका यस्मिन् इति विधुपक्षे, कलकलैः सहितमिति च नगरपक्षेऽर्थः। समुन्मेष इति। अस्य रूपकप्रतिपत्तेरिति प्राक्तनेन संबन्धः। सर्वेषाम् सहृदयविदुषाम्। मुखं चन्द्र इत्यादि प्रसिद्धरूपके न तथेति भ्रान्तिनिरासायाह—इत्थमेवेति। ननु कथमयमित्थंकारः प्रसिद्धोदाहरणे साधारणधर्मबोधकपदविरहेऽपि रूपकप्रतिपत्तेर्जायमानत्वादित्यत आह—इयानिति। एकत्र मुखं चन्द्र इत्यादि प्रसिद्धरूपकोदाहरणे। इतरत्र 'भारतं नाकमण्डलम्' इत्याद्यप्रसिद्धतदुदाहरणे। तथेति। स्वबोधकश्रुतिमपेक्षत इत्यर्थः। कथमिवेति। केन कारणेनेति तात्पर्यम्। कथमिवेत्यस्य कथमपीति नागेशटीका तु वाक्यार्थविरुद्धैव। अनन्यापेक्षेति। अन्यत् साधारणधर्मादिकं नापेक्षत इत्यनन्यापेक्षम्, तादृशं पर्यवसानम् चरमं स्वरूपं यस्यास्तस्या इत्यर्थः। सदृशलक्षणायास्तु साधारणधर्मापेक्षं पर्यवसानमिति भावः। अत्रापि 'रूपकस्य तु' इति नागेशविवरणमसमञ्जसमेव, आहार्याभेदबोधकल्पस्यापि रूपकपरतयैवोपस्थापिततया पूर्वसंबन्धविच्छेदकस्य 'तु'पदस्यासंगतेः। अयमत्र पिण्डार्थः—'नगरं विधुमण्डलम्', 'भारतं नाकमण्डलम्' इत्येतावदुक्तावपि आहार्याभेदबोधो नवीनमतप्रदर्शितरीत्या संभवतीति तावद् वाक्यश्रवणानन्तरम् तत्र रूपकालंकारबुद्ध्या स्फुरणीयम्, स्फूर्यते तु न, तावता सिद्ध्यति, यत्—साधारणधर्मानुपस्थितिदशायाम् उपमालंकार इव रूपकालंकारोऽपि न भवति, चमत्कारकारणस्य साधारणधर्मस्याप्रतीतेः अत एव सकलकल-सुपर्वालंकृतेति शब्दश्रवणोत्तरं पूर्वोक्तवाक्ययोः रूपकालंकारबुद्धिः स्फुरति। न चाप्रसिद्धोदाहरण एवैषा स्थितिः मुखं चन्द्र इत्यादिप्रसिद्धोदाहरणे तु साधारणधर्मानुपस्थितिदशायामपि रूपकबुद्धिः स्फुरत्येवेति भ्रमितव्यम्, तत्रापि साधारणधर्मोपस्थितिदशायामेव रूपकोन्मेषात्। तत्र साधारणधर्मस्य सुन्दरत्वादेः प्रसिद्धतया तद्बोधकशब्दश्रवणस्य नापेक्षा, अप्रसिद्धसाधारणधर्मस्थले तु तस्यापेक्षेत्यन्यदेतत्। एवञ्च रूपकस्थले साधारणधर्मात्मकस्य सादृश्यस्य गर्भीकरणायोपमानवाचकस्य स्वसदृशे लक्षणेति प्राचां पक्षः निष्प्रतिपक्ष एवेति।

अब ग्रन्थकार नवीनों के मत का खण्डन आरम्भ करते हैं-अत्रेदं विचार्यते इत्यादि। उक्त नवीन विद्वानों के मत के विषय में यह विचार किया जाता है—उन्होंने जो सर्वप्रथम यह कहा कि 'दो नामार्थों (दो पदों के वाच्यार्थों) के आहार्य अभेदान्वय बोध से ही निर्वाह हो जाता है, अतः रूपक के स्थल में लक्षणा नहीं होती' वह दार्शनिकों की दृष्टि से भले ही ठीक जँचे, पर सहृदय साहित्यिकों की दृष्टि से समुचित नहीं प्रतीत होता। कारण, अलंकारों की कल्पना चमत्कार के आधार पर की गई है। जब तक चमत्कार का अनुभव न हो तब तक कोई अलंकार नहीं माना जा सकता, अतएव 'गौरिव गवयः अर्थात् गाय के सदृश गवय' इस वाक्य में उपमा नहीं मानी जाती और 'चन्द्र इव मुखम् अर्थात् चाँद-सा मुख' इसमें वह मानी जाती है। इस स्थिति में यह बात सभी सहृदयों के हृदय में आने योग्य होगी कि जिस तरह चमत्कारजनक किसी साधारण (उपमान तथा उपमेय दोनों में रहनेवाले आह्लादकता आदि) धर्म की अनुपस्थिति अवस्था में उपमा अलंकार नहीं माना जाता, उसी तरह चमत्कारक साधारण धर्म के अभाव में रूपक अलंकार भी नहीं बन सकता, क्योंकि चमत्कार का कारण उस साधारण धर्म का ज्ञान ही होता है और जब वही नहीं रहेगा, तब चमत्कारप्राण अलंकार हो तो कैसे? यदि ऐसी बात न होती, तो जो 'भारतं नाकमण्डलम् अर्थात् भारत (महाभारत ग्रन्थ अथवा भारतवर्ष) स्वर्गप्रदेश है' और 'नगरं विधुमण्डलम् अर्थात् नगर चन्द्र-बिम्ब है' केवल इन वाक्यांशों को सुन लेने

के बाद सहृदयों के हृदय में रूपक अलंकार का अनुभव नहीं होता और उन्हीं वाक्यों के साथ क्रमशः 'सुपर्वालंकृत अर्थात् स्वर्गपक्ष में देव-सभा-सुशोभित और ग्रन्थपक्ष में सुन्दर पर्व-सभा, वन, विराट आदि से और भारतवर्षपक्ष में सुन्दर पर्वों-त्योहारों से सुशोभित' और 'सकलकल अर्थात् चन्द्रपक्ष में सब कलाओं चन्द्रिकाओं से, नगरपक्ष में कलकल शब्दों से युक्त' इन दोनों विशेषणों को सुन लेने पर सब के मन में रूपक की प्रतीति उदित हो जाती है, वह क्यों? दोनों अवस्थाओं में अन्तर तो केवल यही होता है कि पहले साधारण धर्म का ज्ञान नहीं होता और पीछे उक्त दोनों विशेषणों के सुन लेने पर वह हो जाता है। यह स्थिति रूपक के अप्रसिद्ध उदाहरणों में ही होती है, यह बात नहीं, 'मुखचन्द्र' इत्यादि प्रसिद्ध रूपकोदाहरणों में भी साधारण धर्मज्ञान होने पर ही रूपक की बुद्धि जागती है। हाँ, अप्रसिद्ध और प्रसिद्ध उदाहरणों में इतना अन्तर अवश्य है कि अप्रसिद्ध स्थल में साधारण धर्म का ज्ञान होने के लिये नियमतः साधारण धर्म-बोधक पद के श्रवण की अपेक्षा होती है और प्रसिद्ध स्थल में उसके लिये नियमतः बोधक-पद-श्रवण की अपेक्षा नहीं होती अर्थात् 'मुख और चन्द्र का साधारण धर्म आह्लादकत्व आदि इतना प्रसिद्ध है कि बोधकपद के अभाव में भी 'मुखचन्द्र' कहने पर आप से आप ज्ञात हो जाता है, परन्तु 'नगरं विधुमण्डलम्' इत्यादि अप्रसिद्ध स्थल में वह साधारण धर्म (सकलकलत्व आदि) तब तक ज्ञात नहीं होता, जब तक उसके बोधक पदों का श्रवण न हो जाय। सारांश यह कि साधारण धर्म का ज्ञान (चाहे वह प्रसिद्धि के कारण आप से आप हो अथवा बोधक पद के द्वारा हो) हो जाने पर ही रूपकालंकार का भी बोध होता है, यह निर्विवाद सत्य है। इस प्रसंग में यह भी सोचने योग्य है कि यदि रूपक के मध्य में सादृश्य (जिसका निष्कृष्ट-स्वरूप साधारण धर्म होता है) का प्रवेश नहीं हुआ रहता, तब 'भारतम्...', नगरम्...' इत्यादि उक्त स्थानों पर साधारण धर्म की अनुपस्थितिदशा में भी रूपक क्यों नहीं पर्यवसित होता? तथा चमत्कार की ही उत्पत्ति क्यों नहीं होती? नवीन मत के अनुसार तो उन दोनों बातों को होना ही चाहिए, क्योंकि उनके हिसाब से रूपक का नियामक जो आहार्य अभेद-बुद्धि है, वह उस दशा में भी हो ही सकती है। कारण, आहार्याभेद-बुद्धि के होने में सादृश्य आदि किसी अन्य बात की अपेक्षा नहीं है—वह अनन्यापेक्षपर्यवसान है।

साधारणधर्मानुपस्थितिदशायामाहार्याभेदबुद्धेरप्यभाव इत्येतदुपपादिकां युक्तिमाशंक्य निरस्यति—

न चाहार्योपदार्थद्वयाभेदबुद्धौ तच्चमत्कारे वा साधारणधर्मविशेषज्ञानं प्रयोजकमिति शक्यं वक्तुम्।

'यद्यनुष्णो भवेद्वह्निर्यद्यशीतं भवेज्जलम्।
मन्ये दृढव्रतो रामस्तदा स्यादप्यसत्यवाक्॥'

इत्यादौ साधारणधर्मस्याप्रत्ययेऽपि वह्न्यनुष्णत्वादीनामभेदप्रत्ययोपगतेः। न चोपमानोपमेयस्थल एवायं नवीनो विशेष इति वाच्यम्। ईदृशविशेषकल्पने मानाभावात्। साधारणधर्मानुपस्थितिदशायामपि 'मुखं यदि चन्द्रः स्यात् तदा भूम्यवस्थितं न स्यात्' इत्यादौ तादृशप्रतीत्युपगमाच्च।

विशेषज्ञानमिति। तथा च तदभावादभेदबुद्धिरपि न स्यादिति भावः। यद्यनुष्ण इति। वह्निर्यदि अनुष्णो भवेत्, जलम् यदि शैत्यहीनं स्यात्, तदा दृढव्रतः स्थिर-सत्यवादित्वप्रतिज्ञः, रामः, असत्यवागपि मिथ्यावक्ताऽपि स्यात्—अर्थात्—यथाऽनल-सलिलयोरनुष्णत्वाशीतलत्वे असंभविनी, तथा दृढव्रतस्य रामस्यासत्यवादित्वमप्यसंभवी-

त्यर्थः । साधारणधर्मेति । वह्नयनुष्णत्वाद्यसत्यवाक्त्वयोरित्यादि । वह्नयनुष्णेति । वह्नय-नुष्णत्वादिनामसत्यवाक्त्वेन सहाभेदप्रत्ययोपगतेरिति भावः । अत्र 'वह्नयादावनुष्णाद्य-भेदप्रतीतेरित्यर्थः' इति नागेशटीका तु 'वह्नयनुष्णत्वादीनामभेदप्रत्ययोपगतेः' इति मूला-क्षररूवारस्यप्रतिच्छलैव । नागेशानुयायिनी सरलापि तथैव । मदुक्तरीत्या ग्रन्थलापनसंभवे तादृशप्रतिकूलव्याख्याकरणस्य प्रयोजनमपि नास्त्येव । न चोपमेति । वह्नयनुष्णत्वाद्यस-त्यवाक्त्वयोस्तु नोपमानोपमेयत्वं विवक्षितम् । अत एव तत्र रूपकादिकं न । अभेदबुद्धिस्तु तत्रास्तीति भावः । नन्वन्यथानुपपत्तिरेव मानमिति चेत् तत्राह—साधारणेति । मुखं यदीति । मुखं यदि चन्द्राभिन्नं भवेत्, तदा धरास्थितं न भवेत्, चन्द्रस्य धरागत-त्वासंभवादित्यर्थः । तादृशेति । अत्र नवीनमते चन्द्रमुखयोरुपमानोपमेयभावविवक्षाधीन-रूपकसत्त्वेनाभेदप्रतीत्युपगमादित्यर्थः । प्राचीनमतेऽभेदबुद्धावपि सादृश्याप्रतीतेर्न रूपक-मिति भावः । आहार्याभेदबोधे साधारणधर्मज्ञानस्य प्रयोजकतया तदभावे तादृशाभेद-बोधस्याप्यभावेन साधारणधर्मानुपस्थितिदशायां रूपकानुन्मेषस्य रूपकस्थलीयसदृशलक्षणा-पक्षसाधकत्वं न युक्तमिति कथनं नोचितम्—यद्यनुष्ण इत्यादिपद्ये साधारणधर्मानुपस्थितावपि अभेदबुद्धेरुदयात् तत्र पद्ये उपमानोपमेयभावो नास्ति, उपमानोपमेयभावस्थले एव च साधारणधर्मस्याभेदबुद्धिप्रयोजकता कल्प्यत इत्यपि न सम्यक् 'मुखं यदि चन्द्रः स्यात्…' इत्यादावुपमानोपमेयभावस्थलेऽपि साधारणधर्मानुपस्थितौ अभेदप्रतीतेर्जायमानत्वात् । तस्मादभेदबुद्धौ साधारणधर्मज्ञानस्य प्रयोजकतायाः दुर्वचतया साधारणधर्मानुपस्थिति-दशायामप्यभेदबुद्धेर्निर्बाधतया तादृशदशायामापततो रूपकानुन्मेषस्य रूपकस्थले सदृश-लक्षणासाधकतया प्राचां पक्ष एव समीचीनो न नवीनानामिति भावः ।

साधारण धर्म की अनुपस्थिति में आहार्य अभेद बुद्धि भी नहीं होगी इस बात को सिद्ध करने के लिये शंका करके खण्डन करते हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहें कि दो पदार्थों के आहार्य अभेद ज्ञान का अथवा उसके चमत्कार का प्रयोजक है साधारण धर्म का ज्ञान, अतः साधारण धर्म का ज्ञान नहीं रहने पर वे दोनों बातें नहीं होतीं, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि—'यद्यनुष्णो……'अर्थात् यदि आग अनुष्ण हो जाय और जल अशीतल हो जाय, तब यह भी संभावना की जा सकती है कि दृढव्रत (सत्य-प्रतिज्ञ) राम मिथ्याभाषी भी हो जायँ' इत्यादि स्थानों में वह्नि की अनुष्णता आदि तथा असत्यवादिता इन दोनों पदार्थों में किसी प्रकार के साधारण धर्म का ज्ञान नहीं रहने पर भी अभेद-प्रतीति मानी गई है । यदि आप कहेंगे कि उपमानोपमेय भाव जहाँ रहता है, वहीं इस तरह के नवीन विशेष (साधारण धर्म की अनुपस्थिति में अभेद बोध भी नहीं होता) की कल्पना करेंगे अर्थात् उक्त पद्य में वह्नि की अनुष्णता आदि तथा असत्य वाक्त्व में उपमानोपमेय भाव की विवक्षा नहीं है, अतएव रूपक आदि भी यहाँ नहीं माना जाता, और साधारण धर्म की अनुपस्थिति में अभेदबोध नहीं होने की बात हम उपमानोपमेयभावस्थल में ही कहते हैं, अतः वह बात यहाँ लागू नहीं होगी—साधारण धर्म की अनुपस्थिति में भी अभेदबोध होगा ; तो यह कथन भी आपका संगत नहीं होगा क्योंकि एक तो 'उपमानोपमेयभावस्थल में ही उक्त कल्पना की स्वीकृति में कोई प्रमाण नहीं है । दूसरे मुखं यदि……'अर्थात् मुख यदि चन्द्र होता तो भूमि पर स्थित नहीं होता इत्यादि में उपमानोपमेय भाव के रहने पर भी साधारण धर्म की अनुपस्थिति में अभेदबोध माना जाता है ।

सदृशलक्षणापक्षेऽसंगतिमाशङ्क्य समाधत्ते—

ननु रूपकप्रतीतेरुपमानाभेदविषयत्वविरहे 'सिंहेन सदृशो नायं किन्तु सिंहो

नराधिपः' इत्यादौ निषेध्यविधेययोरसङ्गतिरिति चेत्, न। अनुपदमेव प्राचीन-मतद्वयेऽपि रूपके ताद्रूप्यप्रतिपत्तेः स्वीकारस्य प्रतिपादनात्।

रूपकप्रतीतेरिति। रूपकालंकारबुद्धौ उपमानस्याभेदो विषयो न भवतीति स्वीकारे इत्यर्थः। रूपकस्थले वाच्ययोराहार्यभेदबोधो न भवति किन्तु सदृशलक्षणा भवतीति प्राचीनपक्षाश्रयणे इति यावत्। सिंहेन सदृश'''इति। अयं वर्णनीयः कश्चन नराधिपः राजा, सिंहेन सदृशः सिंहतुल्यो न, अपितु सिंह एवेत्यर्थः। निषेध्येति। सिंहसदृशा-भेदेत्यर्थः। विधेयेति। सिंहाभेदेत्यर्थः। मतद्वय इति। 'अन्ये तु, अपरे तु' इति प्रती-काभ्यामुपदर्शितयोर्द्वयोर्मतयोरित्यर्थः। रूपकस्थले वाच्ययोरुपमानोपमेययोराहार्यभेदबोधो न भवति अपि तु उपमानवाचकस्य सदृशलक्षणयोपमानसदृशाभेदस्यैव बोधो भवति चेत्? तर्हि सिंहेन'''इति काव्यवाक्ये सिंहसदृशाभेदस्य निषेधः सिंहाभेदस्य विधानञ्च यत्क्रियते तन्न संगच्छेत् भवद्रीत्या 'सिंहो नराधिपः' इत्यंशेऽपि सिंहपदस्य सदृशलाक्षणि-कतया सिंहसदृशाभेदस्यैव विधेयताऽवगमात् तद्विधेयताऽवगमे च सिंहेन सदृशो न इत्यंशेन तस्यैव निषेधानुपपत्तेः इति शंका नोचिता, [illegible] रूपकस्थले उपमानोपमेययोरभेदबोधस्योपपादितत्वात्। [illegible] लक्षणया चन्द्रसदृशत्वेनापि रूपेणोपस्थितानां मुखादीनां चन्द्रत्वेनैव रूपेण मुखादिपदो-पस्थापितैः सहाभेदान्वयबोधः समर्थितः। तद्युक्तिस्तत्रैव द्रष्टव्या। अपरत्र मते भेदा-करम्बितं सादृश्यं रूपकजीवातुभूतमङ्गीकृत्य तादृशबोध उपपादितः। इति।

अब 'रूपक-स्थल में विषयिवाचक पद की स्वसदृश में लक्षणा होती है' इस प्राचीन-पक्ष में असंगति की आशंका करके खण्डन करते हैं—ननु इत्यादि। 'सिंहेन सदृश'''''' इत्यादि अर्थात् यह (कोई वर्णनीय) राजा सिंह के समान नहीं, परन्तु सिंह है' इत्यादि स्थानों पर सिंहसदृशाभेद का निषेध और सिंहाभेद का विधान किया गया है। अब सोचिये कि यदि रूपक की प्रतीति में उपमान का अभेदविषय नहीं होता रहता अर्थात् उपमेय में उपमान के अभेद-ज्ञान के बिना भी रूपक सिद्ध हो जाता, तो उक्त निषेध और विधान दोनों ही असंगत हो जाते, क्योंकि प्राचीनों के मतानुसार 'सिंहो नराधिपः' इस रूपक में भी सिंह पद सदृशलाक्षणिक ही माना जायगा और तदनुसार उसका अर्थ होगा 'सिंहसदृश से अभिन्न राजा'। इस स्थिति में सिंहसदृशाभेद की विधेयता प्रतीत होगी, और जब उत्तर अंश से उसकी विधेयता विदित होगी, तब पूर्व (सिंहेन सदृशो नायम्) अंश से उसी का निषेध बन नहीं सकता। यह है शंका। उत्तर है कि—अभी थोड़ा पहले प्राचीनों के भी अन्तिम ('अन्ये तु' 'अपरे तु' इन दो प्रतीकों के द्वारा वर्णित) दो मतों में इस बात का प्रतिपादन किया जा चुका है कि रूपक में सदृशलक्षणा के बाद भी ताद्रूप्य (अभेद) का बोध होता है (देखिये-उन दोनों मतों की व्याख्या)।

प्राचीनमते पुनरप्यसंगतिमाशङ्क्य निरस्यति—

अथ विधेयकोटौ प्राचां मते सादृश्यापि प्रविष्टतया तन्निषेधानुपपत्तिस्तथापि स्थितैवेति चेत्, भेदघटितसादृश्यरूपाया उपमाया एव निषेध्यत्वात् तिरोभूत-भेदसादृश्यलक्षणस्य रूपकस्य विधेयत्वाच्च नानुपपत्तिः।

विधेयकोटाविति। 'सिंहो नराधिपः' इत्यंश इत्यर्थः। प्रविष्टतयेति। उपमानवाचकस्य सदृशलाक्षणिकत्वादिति भावः। तथापीति। ताद्रूप्यप्रतिपत्त्यङ्गीकारेऽपीत्यर्थः। उपमाया एवेति। अत्रैवपदेन सादृश्यस्य विधिनिषेधयोर्व्यावृत्तिः। तिरोभूतभेदेति। तिरोभूतो भेदो

यस्मिन् सादृश्ये इति बहुव्रीहिः। भेदाघटितेति तदर्थः। पूर्वोक्ते प्राचीनमतद्वये उपमानोपमेययोस्तादृूप्यप्रतीतिरुपपादनेऽपि सदृशलक्षणाबललब्धस्योपमानसादृश्यस्यापि प्रतीतिरुपमेये स्यादेव तथा च 'सिंहेन सदृशो''' इत्यादौ सादृश्यनिषेधासंगतिर्भवेदेवेति शंका, नात्र सादृश्यं निषेध्यं विधेयं वा, अपि तु भेदघटितसादृश्यात्मिकोपमा निषेध्या भेदाघटितसादृश्यात्मकं रूपकञ्च विधेयम् इति तात्पर्यवर्णनम् समाधानमिति भावः।

प्राचीनों के मत में एक अन्य तरह की असंगति की आशंका करके खण्डन करते हैं—अथ इत्यादि। यदि आप कहें कि प्राचीनों के उक्त दोनों मतों में उपमान तथा उपमेय के अभेद का प्रतिपादन भले ही किया गया हो, तथापि सदृश लक्षणा के बल से उपमान के सादृश्य की भी प्रतीति उपमेय में होगी ही और जब उसकी प्रतीति होगी, तब फिर 'सिंहेन सदृशो नायम्' इस भाग के द्वारा उसी का निषेध तो अनुपपन्न होता ही रहेगा, तो यह कहना उचित नहीं, कारण, सादृश्य जब दो प्रकार के माने जाते हैं—एक भेदघटित—जो उपमा का मूल होता है और दूसरा भेदाघटित अर्थात् जिसमें भेद अंश तिरोहित—छिपा हुआ हो—जो रूपक का मूल होता है, तब सादृश्य का ही निषेध और उसी का विधान दोनों एक साथ बन सकते हैं। सारांश यह कि भेदघटित-सादृश्यमूलक उपमा का निषेध और भेदरहित-सादृश्य-मूलक रूपक का विधान ही यहाँ विवक्षित है।

प्राचीनमते दर्शितामनुपपत्तिं परिहर्तुमाह—

यदप्युक्तं रूपके लक्षणास्वीकारे 'राजनारायणम्' इत्यत्र 'पादाम्बुजम्' इत्यत्र चोपमारूपकयोर्बाधकतया रूपकोपमयोर्निर्णायकतया च लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनमञ्जुमञ्जीरशिञ्जितत्वयोरनुपपत्तिः प्राचीनैरुक्ता विरुद्धा स्यादित्यादि, तदपि न। रूपके उपमानतावच्छेदकरूपेण तत्सदृशप्रत्ययस्योपपादितत्वेन 'राजनारायणम्' इत्यादौ विशेषणसमासायत्तस्य रूपकस्य स्वीकारे प्रधानीभूतोत्तरपदार्थस्य नारायणसदृशस्यापि नारायणत्वेनैव प्रतीतेर्लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनकर्मताया अनुपपत्तेरभावात्। उपमाया उपमितिसमासायत्तायाः स्वीकारे तु प्रधानीभूतपूर्वपदार्थस्य राज्ञो राजत्वेनैव प्रत्ययात्तादृशकर्मताया अनुपपत्तेः। 'पादाम्बुजम्' इत्यादावपि रूपकस्य स्वीकारे प्रधानीभूतोत्तरपदस्यास्याम्बुजसदृशस्याम्बुजत्वेनैव प्रतीतेर्मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरताया अनुपपत्तेः। उपमितिसमासायत्तोपमायां तु प्रधानस्य पादस्य पादत्वेनैव प्रतीतस्य नास्ति तस्या अनुपपत्तिरिति न कोऽपि दोषः।

उपमारूपकयोर्बाधकतया इत्यादि। राजनारायणमित्यत्रोपमाया बाधकतया रूपकस्य निर्णायकतया च लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनस्यानुपपत्तिः, पादाम्बुजमित्यत्र रूपकस्य बाधकतया उपमाया निर्णायकतया च मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितत्वस्यानुपपत्तिरित्यर्थः। उपमानतावच्छेदकेति। चन्द्रत्वादिनेत्यर्थः। विशेषणसमासेति। मयूरव्यंसक इति समासेत्यर्थः। उपमितिसमासेति। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः—' इति समासेत्यर्थः। तादृशेति। लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनेत्यर्थः। तस्या इति। मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरताया इत्यर्थः। अन्यत् निगदव्याख्यातमिति नेह प्रतन्यते।

अब प्राचीनों के मत में जो दोष नवीनों ने लगाया था, उसका उद्धार करते हैं—यदप्युक्तम् इत्यादि। नवीनों ने सर्वप्रथम यह दोष लगाया है कि रूपक में लक्षणा मानने पर प्राचीनों का 'राजनारायणम्' में 'लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन' को उपमा का बाधक

और रूपक का निर्णायक मानना, तथा 'पादाम्बुजम्' में 'मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरत्व' को रूपक का बाधक और उपमा का साधक मानना, विरुद्ध हो जायगा। परन्तु वस्तुतः यह प्राचीनों के मत में भी विरुद्ध होता नहीं। कारण, वह विरुद्ध तब होता यदि 'राजनारायणम्' में रूपक मानने पर भी 'लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन' अनुपपन्न होता, इसी तरह 'पादाम्बुजम्' में उपमा मानने पर भी 'मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरत्व' उपपन्न नहीं हो सकता परन्तु वह होता नहीं, क्योंकि प्राचीनों के द्वितीय मत में यह कहा जा चुका है कि रूपकस्थल में चन्द्र आदि उपमानवाचक पद से लक्षणा के द्वारा तत्सदृश अर्थ की उपस्थिति होने पर भी अन्वयबोध उस उपस्थित अर्थ का उपमानतावच्छेदक-चन्द्रत्व आदि-रूप से ही होता है। अतः 'राजनारायणम्' में 'मयूरव्यंसकादयश्च' इस पाणिनि सूत्र से विशेषणसमास मान कर रूपक स्वीकार करने पर प्रधान माने जाने वाले नारायणसदृशरूप उत्तरपदार्थ की भी प्रतीति अन्वयबोध में नारायणत्व रूप से ही होगी और जब नारायण से अभिन्न राजा को समझ लिया जायगा, तब उसका लक्ष्मी के द्वारा किये जानेवाले आलिङ्गन का कर्म होना अनुपपन्न नहीं होगा—उचित ही होगा। और 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस पाणिनि सूत्र से उपमित समास मानकर उपमा मानने पर तो प्रधान माने जानेवाले राजारूप पूर्वपदार्थ का राजारूप में ही बोध होगा—नारायणसदृशरूप उत्तरपदार्थ विशेषणरूप में यथावत् पड़ा रहेगा और जब राजा राजा मात्र समझा जायगा—नारायण से अभिन्न नहीं, तब उक्त आलिङ्गन अनुपपन्न होगा। इसी तरह 'पादाम्बुजम्' में रूपक मानने पर प्रधान माने जानेवाले 'अम्बुजसदृश'रूप उत्तरपदार्थ की प्रतीति अन्वय-बोध में अम्बुजत्वरूप से ही होगी और जब अम्बुज प्रधान तथा चरण अभेदेन उसका विशेषण समझ लिया जायगा तब उक्त 'मनोहरत्व' उपपन्न—उचित नहीं होगा। उपमित समास मानकर उपमा मानने पर तो प्रधान होनेवाले 'चरण' रूप पूर्वपदार्थ की प्रतीति अन्वयबोध में चरणरूप से ही होगी—अम्बुज सदृशरूप उत्तरपदार्थ अभेदेन विशेषण बन कर गौण रूप में पड़ा रहेगा, और जब पाद की प्रधानता समझी जायगी, तब उक्त मनोहरत्व उपपन्न होगा। सारांश यह है कि प्राचीन मत के अनुसार भी उक्त स्थलों पर किसी तरह की गड़बड़ी नहीं होती, अतः उनका मत ठीक है।

'पादाम्बुजम्' इत्यत्रोपमितिसमासमाशङ्क्य समाधत्ते—

न चोपमितसमासे पूर्वपदार्थस्योपमेयस्योपमेयतावच्छेदकतयैव प्रतीतिरिति न युक्तम्। 'वक्त्रे चन्द्रमसि' इति प्रागुक्तरूपक इवोपमानताद्रूप्यवदभेदबुद्ध्यातत्ताद्रूप्यस्यात्रापि प्रतिपत्तुं शक्यत्वाल्लक्षणायास्तुल्यत्वादिति वाच्यम्। उपमितिसमासे भेदघटितसादृश्यस्य लक्ष्यकोटिप्रविष्टतया वैलक्षण्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

उपमानताद्रूप्येति। उपमानसदृशयोरेकपदोपात्तत्वेनोपमानताद्रूप्यवत्सदृशाभेदवदुपमेये उपमानताद्रूप्यस्योपमानामपि ज्ञातुं शक्यत्वादित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—लक्षणेति। रूपक इवोपमितसमासेऽपि सादृश्यवाचकेवशब्दाभावेन लक्षणायाः सत्त्वेन तस्यास्तुल्यत्वादिति भावः। वक्ष्यमाणत्वादिति अथोपमितसमासे''इत्यादिनाऽस्मिन्नेव प्रकरणे इति भावः। 'पादाम्बुजम्' इत्यत्रोपमितसमासे पूर्वपदार्थस्य पादरूपस्योपमेयस्योपमेयतावच्छेदकाकारेणैव प्रतीतिरिति यदुक्तं तन्न युक्तम् 'वक्त्रे चन्द्रमसि' इति पूर्वोक्तरूपकस्थले यथा लक्षणया चन्द्रसदृशस्य चन्द्रस्य चैकपदोपस्थाप्यत्वप्रयुक्ताभेदाध्यवसायेन ताद्रूप्ये चन्द्रताद्रूप्यवता सदृशपदार्थेनाभेदात् मुखेऽपि चन्द्रत्वं प्रतीयते, तथैव प्रकृते उपमायामपि इवशब्दाभावात् उपमानवाचकस्याम्बुजपदस्य स्वसदृशे लक्षणाया अकामेनाप्यङ्गीकर्त-

व्यतया अम्बुजताद्रूप्यवत्सदृशपदार्थाभेदात् पादेऽम्बुजत्वप्रतीतेरिति शंका, उपमितसमासे भेदघटितं सादृश्यं लक्ष्यकोटिप्रविष्टं, विशेषणसमासे तु तदघटितं सादृश्यं तथेति लक्षणाया-स्तुल्यत्वेऽपि, उपमारूपकयोर्वैलक्षण्यस्याग्रे प्रतिपादनात् उपमितसमासे पादाम्बुजमित्यत्र भेदघटितसादृश्यस्य प्रतीत्या पादेऽम्बुजताद्रूप्यप्रतीतेरभाव इति समाधानमिति भावः।

'पादाम्बुजम्' में उक्त रीति की असंभावना की शङ्का करके खण्डन करते हैं—न चेत्यादि। 'उपमित समास' में पूर्वपद के अर्थ पाद आदि उपमेय की प्रतीति उपमेयता-वच्छेदक-पादत्व-आदि के रूप में नहीं हो सकती। कारण, 'पादाम्बुजम्' में इव आदि सादृश्यवाचक पद तो है नहीं, अतः उपमित समास मानने पर भी 'अम्बुज' रूप उत्तरपद की जब सदृशअर्थ में लक्षणा ही माननी पड़ेगी, तब जैसे 'वक्त्रे चन्द्र-मसि स्थिते किमपरः शीतांशुरुज्जृम्भते' पूर्वोक्त रूपक में, 'चन्द्रसदृश' में 'चन्द्र' का ताद्रूप्य मान लेने पर, 'चन्द्रसदृश' के साथ मुख का अभेदान्वय होने के कारण, मुख में भी चन्द्र का ताद्रूप्य आप मान चुके हैं, उसी तरह यहाँ भी 'अम्बुजसदृश' में 'पाद' का अभेदान्वय होने के कारण 'पाद' में भी 'अम्बुजताद्रूप्य' की प्रतीति हो जानी चाहिए। और ऐसी स्थिति में उक्त अनुपपत्ति यहाँ बनी रहेगी। यह है यहाँ शंका। उत्तर यह है कि उपमितसमास में भेद-घटित सादृश्य, लक्ष्यमध्य में प्रविष्ट रहता है और विशेषणसमास में भेद-रहित सादृश्य लक्ष्यमध्य में प्रविष्ट रहता है, अतः दोनों स्थलों पर समान रूप से लक्षणा के रहने पर भी उपमा तथा रूपक में विलक्षण-विलक्षण बोध होता है (यह बात आगे कही जानेवाली है)। सारांश यह है कि 'पादाम्बुजम्' में उपमित समास मानने पर लक्षणा द्वारा भी भेदघटित सादृश्य की ही प्रतीति होगी, अतः 'पाद' में 'अम्बुज'–ताद्रूप्य की प्रतीति नहीं होगी।

प्राचीनमते नवीनैरारोपितमनुपपत्यन्तरमनूद्य समाधत्ते—

यदप्युक्तं सादृश्यस्य शब्देनोपादानादुपमात्वापत्तिरिति तदपि न। भेदा-करम्बितसादृश्यविशिष्टस्य रूपके लक्ष्यत्वादुपमाव्यपदेशस्याप्रसक्तेः 'सादृश्य-मुपमाभेदे' इति तत्सिद्धान्तात्।

भेदाकरम्बितेति भेदाघटितेत्यर्थः। प्राचीनमते रूपकस्थले उपमानवाचकस्य स्वसदृशे लक्षणायाम् लक्ष्यतावच्छेदकस्य सादृश्यस्य लक्ष्यांशे सादृश्यत्वात्मकसामान्यरूपेण प्रतीतौ सादृश्यस्य लाक्षणिकोपमानवाचकपदेनोपादानात् उपमात्वापत्तिरिति दोषो यदुक्तो नवीनैः, तत्प्राचीनाशयाज्ञानविलसितम्, 'भेदे सति सादृश्यम् उपमा' इत्युपमालक्षणं कुर्वतां प्राचां मते रूपके उपमात्वाप्राप्तेः, तत्र भेदाघटितस्यैव सादृश्यस्य लक्ष्यतावच्छेदकतया तैरुप-पादनात् इति भावः।

प्राचीन मत में नवीनों के द्वारा आरोपित एक दूसरी अनुपपत्ति का अनुवाद करके समाधान करते हैं—यदप्युक्तम् इत्यादि। रूपक-स्थल में उपमान-वाचक पद की स्वसदृश में लक्षणा होती है इस प्राचीन मत में, लक्ष्यतावच्छेदक-सादृश्य की लक्ष्य (उपमेय) अंश में सामान्य (सादृश्य) रूप से प्रतीति मानने पर सादृश्य का शब्द द्वारा ग्रहण होने के कारण ऐसे स्थानों में उपमा अलंकार होने लगेगा, रूपक नहीं हो सकेगा, यह जो दोष नवीनों ने दिया है, वह भी समुचित नहीं है। कारण, रूपक-स्थल में भेदरहित सादृश्य लक्ष्यमध्य में प्रविष्ट है, अतः उपमा का कोई प्रसङ्ग ही वहाँ नहीं उठ सकता, क्योंकि 'सादृश्यमुपमाभेदे—अर्थात् भेदविशिष्ट सादृश्य को उपमा कहते हैं' इस लक्षण के अनुसार उपमाव्यवहार के लिये भेद का प्रतीयमान होना आवश्यक माना गया है।

पुनरन्यथा नवीनाभिमतां शंकामुत्थाप्य खण्डयति—

ननु यत्र भेदघटितसादृश्यवति वक्त्रा लक्षणया मुखं चन्द्र इति प्रयुक्तम् तत्र तथाप्युपमालङ्कारापत्तिः स्थितैवेति चेत्, भेदघटितसादृश्यप्रतिपिपादयिषाकाले लक्षणया तद्वति शब्दप्रयोगस्य विरुद्धत्वात्। लक्षणायास्ताद्रूप्यप्रतिपिपादयिषाधीनत्वात्। न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य रूढिव्यतिरिक्तया लक्षणयाऽर्थं प्रतिपादयन्त्यार्याः। भेदताद्रूप्ययोर्विप्रतिषिद्धत्वेन युगपत्प्रतिपत्तृबुद्ध्युपारोहासंभवाच्च।

तद्वति भेदघटितसादृश्यवति मुखादावित्यर्थः। शब्दप्रयोगस्येति। लाक्षणिकचन्द्रादिपदप्रयोगस्येत्यर्थः। समासगतोपमास्थले भेदघटितं रूपकस्थले तदघटितञ्च सादृश्यं लक्षणया बोध्यत इति भवदभिमतम्, तथा च सादृश्यप्रयोगस्य वक्तुरिच्छाधीनत्वात् भेदघटितं सादृश्यं मनसि कृत्वा वक्त्रा यत्र 'मुखं चन्द्रः' इति प्रयुज्यते, तत्र भेदघटितसादृश्यस्य शब्दोपात्ततया पूर्वोक्तोपमात्वापत्तिः स्थितैवेति शङ्का, प्रयोजनमूलायाः लक्षणायास्तादृशस्थले ताद्रूप्यप्रतिपादनेच्छाधीनतया भेदघटितसादृश्यप्रतिपादनेच्छाकाले लाक्षणिकशब्दप्रयोगस्यानुचितत्वम्, भेदताद्रूप्ययोः परस्परविरुद्धतया एककालावच्छेदेन बुद्धिविषयत्वासंभवात्। रूढिमूला लक्षणा तु तत्र संभवत्येव न तादृशप्रयोगस्य परम्परागतत्वविरहादिति समाधानमिति भावः।

अब पुनः नवीनों के द्वारा प्राचीनों के मत में उठाई गई एक आशंका का समाधान करते हैं—ननु इत्यादि। नवीन विद्वान् यदि कहें कि समासगत उपमा के स्थल में भेदयुक्त और रूपक के स्थल में भेद से अयुक्त सादृश्यलक्षणा द्वारा बोधित होता है, यही तो प्राचीनों का अभिमत है अर्थात् सादृश्य के दोनों प्रकार (भेदयुक्त तथा तदयुक्त) उन्हें इष्ट हैं, फिर तो उन दोनों प्रकारों में से किसका प्रयोग कहाँ किया जाय, यह बात वक्ता के ही अधीन रही, अतः जहाँ वक्ता 'मुखचन्द्र' इस वाक्य में 'चन्द्र' शब्द का प्रयोग 'भेदयुक्त सादृश्यविशिष्ट' अर्थ में करे, वहाँ 'मुखचन्द्र' में उपमा की आपत्ति हो ही जायगी, तो इसका उत्तर यह है कि वक्ता जिस समय में भेदघटित सादृश्य के प्रतिपादन की इच्छा करेगा, उस समय में वह सदृशलाक्षणिक पद का प्रयोग कर ही नहीं सकता; क्योंकि लक्षणा ताद्रूप्य के प्रतिपादन की इच्छा के अधीन है—अर्थात् ताद्रूप्य का जब प्रतिपादन करना हो, तभी लक्षणा की जा सकती है, अन्यथा नहीं। कारण, शिष्टजन रूढिव्यतिरिक्त लक्षणा के द्वारा निष्प्रयोजन अर्थप्रतिपादन नहीं करते। अर्थात् रूढिमूलक लक्षणा से अन्य लक्षणाओं में प्रयोजन का होना आवश्यक है और यहाँ ताद्रूप्य के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन हो नहीं सकता, अतः भेदप्रतिपिपादयिषाकाल में सदृशलाक्षणिक पद का प्रयोग विरुद्ध है। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि भेद और अभेद दोनों की प्रतीति हो, क्योंकि भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, वे एक साथ ज्ञाता की बुद्धि में आरूढ़ नहीं हो सकते, अतः ऐसा कथन असंगत है।

प्राचीनमते दोषदानाय पुनरन्यथा शङ्कते—

अथोपमितसमासे पुरुषव्याघ्र इत्यादावुत्तरपदस्य स्वार्थसदृशे लक्षणैवोपगन्तव्या। अन्यथा बोधकाभावेन समासे सादृश्यप्रत्ययो न स्यात्। न च व्याघ्र इवेतीवशब्दस्तद्बोधक इति वाच्यम्, तस्य समासे संबन्धाभावात्। सति च संबन्धे तन्निवृत्तेरयोगात्, निवर्तकशास्त्रस्याभावात्। विग्रहवाक्यगतस्त्विवशब्दः स्वघटितवाक्यस्योपमाप्रतिपादकत्वं सम्पादयितुमीष्टे, न वाक्या-

न्तरस्य। तस्य विवरणत्वानुपपत्तेश्च। न हि विवरणीयवाक्यगतशब्दाप्रतिपाद्यस्यार्थस्य विवरणं युज्यते। इत्थञ्च लक्षणाया एवाभ्युपगम्यतया सत्यां च तत्प्रयोजनीभूतताद्रूप्यप्रतिपत्तौ कथमुपमा द्विलुप्ता तत्र प्राचीनैरुक्तेति चेत्।

स्वार्थसदृशे इति। व्याघ्रसदृशे इत्यर्थः। अन्यथेति। लक्षणानभ्युपगमे इत्यर्थः। बोधकसत्तामाशंकते—न चेति। तस्य इवशब्दस्य। तन्निवृत्तेरिति। इवशब्दनिवृत्तेरित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—निवर्तकेति। शास्त्रेति। सूत्रेत्यर्थः। ननु विग्रहवाक्यगत इवशब्दः समासे सादृश्यं बोधयेदिति चेत्तत्राह—विग्रहवाक्यगतस्त्विति। वाक्यान्तरस्य समासवाक्यस्य। समासे मास्तु सादृश्यप्रतीतिरित्यत आह—तस्येति। विग्रहवाक्यस्येत्यर्थः। तामेवानुपपत्तिं स्फुटीकरोति—न हीत्यादिना। इत्थञ्चेति। उक्तानुपपत्तौ चेत्यर्थः। तदिति। लक्षणेत्यर्थः। कथमुपमेति। ताद्रूप्यप्रतीत्या रूपकस्यैव प्रसङ्गादिति भावः। द्विलुप्तेति। वस्तुस्थितिकथनमेतत्, न तु तत्र शङ्काविषयता। उपमाया एव शंकाविषयत्वे तद्गतद्विलुप्तत्वादेः स्वतः शंकाविषयतेति तु अन्यत्। अत्र 'उक्तरीत्या धर्मवाचकयोः सत्त्वेन कथं धर्मवाचकलुप्तोक्तेत्यर्थः' इति नागेशव्याख्याऽशोभनैव, यतस्तद्रीत्या उपमायां न शङ्कनीयता, किन्तु तस्या द्विलुप्तत्वे इति प्रतिभाति, तच्च न, साधारणधर्मवाचकस्य 'शूरः' इत्यादेर्लोपस्य स्पष्टत्वात्, सादृश्यवाचकलोपस्योक्तशंकाक्रान्तत्वसंभवेऽपि न ग्रन्थकृदभिमतत्वम्, 'अत्रोच्यते' इत्यादिना दीयमानस्योत्तरस्य तदनुपयुक्तत्वात्। अत एव 'वाचकलोपस्तु' इत्यादिना पृथगुपपादनं संगच्छते। अतः 'उपमा कथम्' इत्येव ग्रन्थाशयः। तुष्यद्दुर्जनन्यायेनोपमाऽभ्युपगमेऽपि तस्याः साधारणधर्मलुप्तत्वमेव संभवति, न वाचकलुप्तत्वम्, एवञ्च द्विलुप्ता कथम् इति वा ग्रन्थाभिप्रायः। साधारणधर्मलोपांशे न काऽपि शंकेति सारांशः। नागेशस्तु तस्यापि शंकनीयतामभिप्रैति। स आयः ताद्रूप्यमेव साधारणधर्मम् बुध्यते, अत एवाग्रेऽपि 'नन्वेवमपि ताद्रूप्यप्रतीत्या कथं धर्मलुप्तत्वम्' इति विवृणुते। (कश्चिट्टीकाकारस्त्वत्र सर्वत्र नागेशच्छिद्रगवेषणपरोऽत्रायुक्तामपि नागेशोक्तिमनुवदन् शोच्य एव।) अन्यत् सुगमम्।

प्राचीन मत में एक नवीन दोष की आशंका करते हैं—अथोपमित इत्यादि। 'पुरुषव्याघ्र' इत्यादि उपमितसमास में व्याघ्र आदि उत्तरपद की स्वार्थसदृश (अर्थात् व्याघ्रसदृश आदि) अर्थ में लक्षणा ही माननी पड़ेगी, अन्यथा समास में सादृश्य-बोधक शब्द न रहने के कारण सादृश्य का बोध नहीं हो सकेगा। 'व्याघ्र इव पुरुषः' इस विग्रहवाक्य में आए हुए 'इव' शब्द को तो सादृश्य का बोधक कहा नहीं जा सकता, क्योंकि समास में (पुरुषव्याघ्र इस पद में) उस 'इव' शब्द का संबन्ध नहीं है। यदि समास में उसका संबन्ध रहता, तो उसकी निवृत्ति नहीं होती—अर्थात् उसका श्रवण अवश्य होता, क्योंकि उसको निवृत्त करनेवाला कोई सूत्र व्याकरण में नहीं है। समास में 'इव' शब्द का संबन्ध रहे अथवा न रहे, विग्रहवाक्य में तो अवश्य है, वही समास में भी सादृश्य का बोधक होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। कारण, जिस वाक्य में 'इव' रहेगा, उसीके अर्थबोध में वह सादृश्य का भान करा सकता है अतः वह 'इव' शब्द उसी वाक्य को उपमाप्रतिपादक बना सकता है, दूसरे वाक्य को नहीं—अर्थात् 'व्याघ्र इव पुरुषः' इस विग्रहवाक्य में आए हुए 'इव' शब्द के बल पर इसी वाक्य में उपमा मानी जा सकती है, 'पुरुषव्याघ्र' इस समस्त वाक्य में नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि समास में सादृश्य का बोध होता ही नहीं, क्योंकि यदि 'पुरुषव्याघ्र' इस समासवाक्य से सादृश्य का बोध नहीं होवे, तब 'पुरुषः व्याघ्र इव' इस वाक्य के द्वारा उस समासवाक्य का विवरण करना असंगत हो जाय। कारण,

जिस वाक्य का विवरण किया जाता है, उसमें आए हुए शब्दों से जो अर्थ प्रतिपादित नहीं होते, उन अर्थों का विवरण करना उचित नहीं अर्थात् मूल में जो अर्थ है ही नहीं वह व्याख्या में आ नहीं सकता है। अतः 'पुरुषव्याघ्र' इत्यादि स्थान में उत्तरपद की स्वार्थसदृश में लक्षणा माननी ही पड़ेगी। अब यदि कहा जाय कि जब लक्षणा मानी जायगी, तब तो उक्त युक्ति से लक्षणा का प्रयोजन ताद्रूप्य (अभेद) भी मानना ही पड़ेगा। फिर प्राचीनों ने 'पुरुषव्याघ्र' आदि में रूपक मान कर द्विलुप्ता—(धर्मवाचक लुप्ता) उपमा कैसे मान ली ?

समाधत्ते—

अत्रोच्यते—उपमितसमासस्य भेदघटितोपमानसादृश्यविशिष्टोपमेये शक्ते-स्तद्घटकीभूतोपमानशब्दस्य भेदघटितसादृश्यविशिष्टे निरूढलक्षणाया वा स्वीकाराददोषः।

शक्तेरिति। 'समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कजशब्दवत्' इति शाब्दिकाः। विशिष्ट-शक्तौ गौरवमागूरयतो नैयायिकस्य रीत्या आह—तद्घटकीभूतेति। समासगतेति तदर्थः। अयं भावः—पुरुषव्याघ्र इत्यादि समासगोपमास्थले नोपमानवाचकस्य व्याघ्रादिपदस्य स्वार्थसदृशे लक्षणा, पुरुषव्याघ्र इति समस्तसमुदायस्य भेदघटितव्याघ्रसादृश्यविशिष्ट-पुरुषरूपार्थे भिन्ना शक्तिरेव, अथवा पुरुषव्याघ्र इति समुदायघटकव्याघ्रपदस्य भेदघटित-स्वार्थसादृश्यविशिष्टे निरूढैव लक्षणा, उभयथापि ताद्रूप्याप्रतीतौ रूपकाप्रसंगेणोपमात्वं सुस्थम्। वाचकलुप्तात्वसमर्थनं परमवशिष्यते, तदग्रे विधास्यतेऽनुपदम् इति।

अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं—अत्रोच्यते इत्यादि। उक्त आशंका का उत्तर यह है कि 'पुरुषव्याघ्र' इत्यादि समासगत उपमा-स्थल में उपमानवाचक व्याघ्र आदि पदों की स्वार्थसदृश में प्रयोजनमूला लक्षणा है ही नहीं, अपि तु 'पुरुष व्याघ्र' इस समस्त समुदाय की भेदघटित व्याघ्रसादृश्यविशिष्ट पुरुषरूप अर्थ में एक भिन्न शक्ति ही है। इसी तरह की शक्ति को वैयाकरण लोग 'समासशक्ति' कहते हैं। उन्होंने कहा भी है—'समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कजशब्दवत्' अर्थात् 'पङ्कज' पद की योगशक्ति से यद्यपि कीचड़ से उत्पन्न होनेवाले शैवाल आदि अनेक वस्तुओं का बोध प्राप्त था, तथापि समुदायशक्ति से केवल कमल का ही बोध होता है, उसी तरह सभी सामासिक पदों में एक भिन्न शक्ति रहती है।' अथवा उक्त-समुदाय-घटक 'व्याघ्र' पद की भेदघटित स्वार्थ-सादृश्य विशिष्ट में निरूढ लक्षणा ही मान लेनी चाहिए। दोनों ही प्रकारों से यहाँ ताद्रूप्य की प्रतीति नहीं होगी, अतः रूपक का कोई प्रसङ्ग ही नहीं रहेगा, फिर उपमा अपनी जगह पर सुस्थिर रहेगी। यद्यपि इतना कहने पर भी यह शंका बनी ही रही कि—द्विलुप्ता उपमा कैसे हुई, क्योंकि साधारण धर्म का अभाव रहने पर भी सादृश्यवाचक का अभाव नहीं है। कारण, उक्त रीति से समासशक्ति द्वारा 'पुरुषव्याघ्र' यह समुदाय अथवा निरूढ लक्षणा द्वारा 'व्याघ्र' पद, सादृश्य का बोधक हो ही जाता है। तथापि इसका उत्तर ग्रन्थकार तुरत आगे देंगे, ऐसा समझना चाहिए।

लक्षणान्तरेऽपि उक्तरीतेः स्वीकरणीयतामतिदिशति—

इत्थमेव निपातानामिवादीनां द्योतकत्वान्मुखं चन्द्र इवेत्यादौ, वाचक-लुप्तायामुपमायां च गतिरनुसरणीया।

इत्थमेवेति। अस्य 'गति'रित्यत्रान्वयः। उपमानशब्दस्य भेदघटितसादृश्यविशिष्टे निरूढलक्षणयेति तदर्थः। निपातानामिति। एतच्चेवादीनां द्योतकत्वे युक्तिप्रदर्शनम्।

'निपाता द्योतकाः' इति कियतां शाब्दिकानां सिद्धान्तः। द्योतकतानये इति। एतेन सिद्धान्तसिद्धनिपातवाचकतानये न तादृशगत्यनुसरणस्यापेक्षेति सूच्यते। वाचकलुप्ताया-मिति। तडिद्गौरीत्यादावित्यर्थः। पुरुषव्याघ्र इत्यत्र यथा व्याघ्ररूपोपमानवाचकपदस्य भेदघटितसादृश्यविशिष्टे निरूढा लक्षणा स्वीक्रियते, तथैवेवादीनां निपातानां द्योतकत्वमिति नीतावाश्रीयमाणायां 'मुखं चन्द्र इव' इत्यादावपि चन्द्रपदस्य सादृश्यविशिष्टे लक्षणा स्वीकर्तव्या अन्यथा वाचकविरहेण द्योतकस्येवपदस्य वाचकसत्त्व एव कार्यकारित्वेन च सादृश्यप्रत्ययो न स्यात्, तदभावे उपमात्वमपि नैव भवेत्। तडिद्गौरीत्यादौ वाचकलुप्तो-पमालंकारस्थलेऽपि पुरुषव्याघ्र इत्यत्र दर्शिता रीतिरेवाश्रयणीया विशेषाभावादिति भावः।

कतिपय अन्य स्थानों में भी उक्त रीति का अनुसरण करना पड़ता है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं—इयमेव इत्यादि। 'पुरुष-व्याघ्र' में जैसे व्याघ्ररूप उत्तरपद की भेदघटित सादृश्यविशिष्ट अर्थ में निरूढ लक्षणा माननी पड़ी है, उसी तरह, जिनके मत में निपात (इव आदि) द्योतक हैं वाचक नहीं, उनके हिसाब से 'मुखं चन्द्र इव' इत्यादि स्थानों में भी 'चन्द्र' आदि पद की सादृश्य-विशिष्ट अर्थ में निरूढ लक्षणा माननी पड़ेगी। अन्यथा वाचक के अभाव में सादृश्य की प्रतीति ही नहीं होगी, अत एव उपमा भी नहीं होगी। द्योतक (इव आदि) तो रह कर भी कार्यकारी नहीं होगा, क्योंकि द्योतक वाचक की सत्ता में ही अपने अर्थ को द्योतित कर सकता है। 'तडिद्गौरी' इत्यादि वाचकलुप्तोपमा-स्थल में भी उसी रीति का आश्रयण करना चाहिए, जिस का आश्रयण 'पुरुषव्याघ्र' में किया गया है। अन्तर केवल इतना होगा कि 'तडिद्गौरी' में पूर्वपद की लक्षणा होगी, और 'पुरुषव्याघ्र' में उत्तरपद की लक्षणा होती है। 'तडिद्गौरी' में उपमेय नायिका आक्षिप्त है, साधारण धर्म गौरत्व उक्त है और 'पुरुष-व्याघ्र' में उपमेय पुरुष कहा हुआ है, तथा साधारण धर्म नहीं कहा हुआ है। वाचक का अभाव दोनों स्थानों पर समान है।

ननु 'पुरुषव्याघ्रः', 'तडिद्गौरी'त्यादौ कथं वाचकलुप्तता, उपमानवाचकपदानामेव लक्षणया सादृश्यप्रतिपादकत्वादित्यत आह—

वाचकलोपस्तूपमानाद्यकरम्बितसादृश्यतद्विशिष्टान्यतरप्रतिपादकशब्दशून्य-त्वादुपपादनीयः।

उपमानाद्यकरम्बित इति। उपमानादिवाचकपदानुपस्थाप्य इति तात्पर्यार्थः। वाक्ये इवानुपादाने वाचकलुप्तत्वायाह—सादृश्येति। समसदृशाद्यप्रयोगे तत्त्वायाह—तद्विशिष्टेति। सादृश्यविशिष्टेति तदर्थः। तडिद्गौरीत्यादौ यद्यपि सादृश्यस्य लक्ष्यं तडित्पदं विद्यते, तथापि न तावता वाचकलुप्तात्वहानिः, तदर्थम् पृथक् इव-सम-सदृशादिपदानां प्रयोगोऽपे-क्षितः। तदप्रयोगे सादृश्यलक्षकोपमानवाचकपदसत्त्वेऽपि वाचकलुप्तात्वमक्षतमेवेति भावः।

'पुरुषव्याघ्र' 'तडिद्गौरी' इत्यादि स्थानों में जब उपमानवाचक 'व्याघ्र' 'तडित्' आदि पद की स्वार्थ-सदृश में निरूढ लक्षणा मान ली गई, तब वे ही पद सादृश्य के प्रतिपादक समझे जायँगे, अतः उन स्थलों में 'वाचकलुप्ता' उपमा का व्यवहार कैसे किया जाता है, इसका उत्तर अब देते हैं—वाचकलोपस्तु इत्यादि। उक्त शंका का उत्तर यह है कि उपमान आदि से विशिष्ट सादृश्य के प्रतिपादक पदों के रहने पर भी शुद्ध सादृश्य अथवा सादृश्यविशिष्ट—अर्थात् सदृश अर्थ के प्रतिपादक पदों के नहीं रहने के कारण वाचकलोप का व्यवहार किया जा सकता है—अर्थात् पृथक् 'इव' 'सम' 'सदृश' आदि पदों के रहने पर ही वाचक की सत्ता समझी जाती है, और पृथक् उनके नहीं रहने पर उपमानवाचक पद से लक्षणा के द्वारा अथवा समासशक्ति के द्वारा सादृश्य का प्रतिपादन होने पर भी सादृश्य-वाचक का लोप ही माना जाता है।

प्राचीनमतदूषकं नव्यमतोक्तं युक्त्यन्तरं निराकर्तुमाह—

यच्च 'विद्वन्मानस' इत्यत्र दूषणमभिहितं तद्रूपकप्रकरणे परिहरिष्यते।

दूषणमिति। रूपकस्थले सदृशलक्षणापक्षे प्राचीनाभिमते विद्वन्मानस इत्यादौ परस्पराश्रयः, श्लेषरूपकयोः सिद्धयोः परस्परसिद्ध्यपेक्षत्वात्। इति परिहरिष्यते इति। तत्रायं परिहारः—परम्परितेऽन्योन्याश्रयो नाशङ्कनीयः, सकलसिद्धेः कल्पनामयत्वेन कल्पनायाश्च स्वप्रतिभाधीनत्वात्। शिल्पिभिः परस्परावष्टम्भमात्राधीनस्थितिकाभिः शिलेष्टकाभिर्गृहविशेषनिर्माणाच्च। इति।

प्राचीनों के मत को दूषित सिद्ध करने के लिये नवीनों के द्वारा प्रदर्शित एक अन्य युक्ति का निराकरण करते हैं—यच्च इत्यादि। 'विद्वन्मानस' इत्यादि में अन्योन्याश्रय दोष की बात जो कही गई है, उसका परिहार ग्रन्थकार रूपक अलंकार के प्रकरण में करेंगे। रूपकप्रकरणोक्त परिहार का स्वरूप निम्नलिखित समझना चाहिए—'परम्परित रूपक में अन्योन्याश्रय की आशंका नहीं करनी चाहिए। कारण, काव्य-जगत् की सभी बातें कल्पनामय होती हैं और कल्पना, कल्पक—कवि की प्रतिभा के अधीन की वस्तु है। कहने का अभिप्राय यह है कि अन्योन्याश्रय आदि दोष ठोस जगत् में ही बाधक हो सकते हैं, काल्पनिक जगत् में नहीं। अथवा ठोस जगत् में भी अन्योन्याश्रयग्रस्त भी कतिपय कार्य होते ही हैं। जैसे—शिल्पीजन, केवल एक दूसरे के आधार पर स्थिर रहने वाले ईंटों तथा शिलाखण्डों से विशिष्ट भवनों का निर्माण कर ही लेते हैं। वृक्ष तथा बीज के अन्योन्याश्रय का बाधक न होना प्रसिद्ध ही है।'

दूषणान्तरमपि परिहरति—

यदप्युक्तम् रूपके सदृशलक्षणायाः फलं ताद्रूप्यप्रत्ययो न युज्यते। तत्सदृश इति शब्दजबोधानन्तरमपि तथा प्रत्ययापत्तेरिति, तन्न। तत्सदृश इत्यत्र लक्षणाया अभावेन ताद्रूप्यप्रत्ययस्यापादनायोगात्। ताद्रूप्यप्रत्ययो लक्षणायाः फलमिति प्राचां समयः। महाभाष्यादिग्रन्थानामस्मिन्नेवानुकूलत्वाच्च। नव्यनये तु तेषामाकुलीभावः स्यादिति दिक्।

तथेति। ताद्रूप्येत्यर्थः। तत्सदृश इत्याकारकशब्दजन्यबोधादपि ताद्रूप्यप्रतीत्यापत्त्या रूपके सदृशलक्षणायास्ताद्रूप्यप्रतीतिफलकत्वकथनं प्राचां न युक्तमिति नव्यमतोक्त आक्षेप अकिञ्चित्कर एव, लक्षणाफलत्वेनैव ताद्रूप्यप्रतीतेः प्राचीनैः सिद्धान्तिततया तत्सदृश इत्यत्र लक्षणाविरहेण तदापत्तेरयोगात्। एवञ्च रूपके लक्षणाऽवश्यमङ्गीकरणीयेति भावः। रूपके लक्षणा भवतीत्यत्र युक्त्यन्तरमाह—महाभाष्यादीति। तथा च 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति सूत्रे भाष्यम्—'भिन्नानामभेदाभावात्, कथं पुनरतस्मिन् स इत्येतद्भवति। चतुर्भिः प्रकारैस्ताद्रूप्यमारोप्यते, न तु मुख्यम्। तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यात्, इति। तात्स्थ्याद्यथा 'मञ्चा हसन्ति'। ताद्धर्म्याद्यथा–'जटी ब्रह्मदत्तः'। तत्सामीप्याद्यथा—'गङ्गायां घोषः'। तत्साहचर्याद्यथा–'कुन्तान्प्रवेशय' इति। भाष्येणानेन गम्यते यद्रूपके सदृशलक्षणा भवतीति। नव्यमते तु वाच्ययोरेवाहार्याभेदे 'चतुर्भिः प्रकारैस्ताद्रूप्यमारोप्यते न तु मुख्यम्'। इत्यादेरसंगतिः स्पष्टैवेति सारांशः।

नवीनों के द्वारा प्राचीन मत में लगाए गए अन्य दोष का परिहार करते हैं—यदप्युक्तम् इत्यादि। नवीनों ने जो यह दोष दिया है कि—रूपकस्थल में सदृशलक्षणा का फल ताद्रूप्य-प्रतीति को मानना समुचित नहीं, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तब 'तत्सदृश' इस शब्द से उत्पन्न बोध के बाद भी ताद्रूप्य की प्रतीति होने

लगेगी। सो यह दोष अकिञ्चित्कर है। कारण, 'तत्सदृश' इस पद में लक्षणा नहीं है, अतः ताद्रूप्य-प्रतीति की आपत्ति वहाँ नहीं दी जा सकती। 'ताद्रूप्य-प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन--फल है' यह प्राचीनों का सिद्धान्त है, न कि 'सादृश्य-ज्ञान का प्रयोजन है' यह। अतः नवीनों का यह दोष देना व्यर्थ है। 'रूपकस्थल में लक्षणा होती है' इस प्राचीन सिद्धान्त का समर्थन व्याकरण के महाभाष्य आदि सर्वमान्य ग्रन्थों से भी होता है। 'पुंयोगादाख्यायाम्' इस सूत्र के भाष्य में—'दो भिन्न पदार्थों में अभेद जब नहीं हो सकता, तब फिर 'अतस्मिन् स अर्थात् जो, जो नहीं है, उसमें यह वह है' इस तरह का व्यवहार कैसे होता है, यह शंका करके उत्तर दिया गया है कि–ऐसे स्थलों पर चार तरह से भिन्न पदार्थ में भिन्न पदार्थ का ताद्रूप्य (अभेद) आरोपित होता है, मुख्य ताद्रूप्य नहीं रहता यह बात सत्य है। चार प्रकार ये गिनाये गए हैं—तात्स्थ्य से, यथा—'मञ्चा हसन्ति अर्थात् मञ्च हँसते हैं।' यहाँ मञ्चस्थ पुरुषों में मञ्च का ताद्रूप्य आरोपित है। ताद्धर्म्य से, यथा—'जटी ब्रह्मदत्तः अर्थात् जटावाला ब्रह्मदत्त।' यहाँ केश-रूप मुख्य जटी का ताद्रूप्य, केशरूप धर्मवाले ब्रह्मदत्त में आरोपित हुआ है। तत्सामीप्य से, यथा—'गंगायां घोषः अर्थात् गंगा प्रवाह में बथान (गोष्ठ)।' यहाँ प्रवाह का ताद्रूप्य तट में आरोपित होता है। तत्साहचर्य से, यथा—'कुन्तान् प्रवेशय अर्थात् कुन्तों (बरछों) को प्रविष्ट कराओ।' यहाँ कुन्तधर पुरुषों में कुन्त-ताद्रूप्य आरोपित है।' भाष्यग्रन्थ के इन प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'मुखचन्द्र' इत्यादि रूपक-स्थल में भी चन्द्रताद्रूप्य मुख में आरोपित होता है और मुख में चन्द्रताद्रूप्यारोप का प्राञ्जल प्रकार सदृशलक्षणा ही है। नवीनों के मतानुसार 'मञ्चा हसन्ति' आदि में दो वाच्यार्थों का आहार्य अभेदान्वय-बोध ही होगा, फिर तो उक्त भाष्यग्रन्थ की असंगति स्पष्ट ही है।

साध्यवसानलक्षणास्थले बोधं विचारयति—

'साध्यवसानायाञ्च 'चन्द्रराजी विराजते' इत्यादौ चन्द्रादिशब्दैर्लक्षणया मुखत्वेनोपस्थितस्यापि मुखादेः शाब्दबोधश्चन्द्रत्वादिना भवति, लक्षणाज्ञान-स्यैव माहात्म्यात्' इत्येके।

चन्द्रराजीत्यत्र विषयिणा चन्द्रराजिपदबोध्येनोपमानेन विषयस्योपमेयस्य मुखस्य निगरणात् साध्यवसानलक्षणा, तेनात्रातिशयोक्त्यलंकारः। अत्र चन्द्रपदनिष्ठलक्षणावृत्त्या मुखस्य मुखत्वेनोपस्थितिर्भवति, तथापि बोधो मुखस्य चन्द्रत्वेन जायते। ननु कथमेतत्, उपस्थितिशाब्दबोधयोः समानाकारत्वनियमादिति चेत्, तस्य नियमस्यानुभवसाक्षिकस्यैल-क्षणिकबोधान्यबोधविषयकत्वस्य उपपादितत्वात् तदेतदात् लक्षणाज्ञानस्यैवेति।

अब साध्यवसाना लक्षणा के स्थल में शाब्दबोध का विचार करते हैं—साध्यवसाना-याञ्च इत्यादि। 'पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चन्द्रराजी विराजते' अर्थात् इस नगर में प्रासादों की छत पर चन्द्रों की श्रेणी शोभित हो रही है।' यहाँ 'चन्द्रराजि' पद से अवगत होनेवाले चन्द्ररूप उपमान (विषयी) से उपमेय (विषय) मुख का निगरण हो गया है—अर्थात् 'चन्द्रराजि' पद से ही लक्षणावृत्ति के द्वारा मुख का भी बोध कर लिया गया है, अतः पृथक् मुख पद का उल्लेख नहीं किया गया। अतएव यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है। यहाँ 'चन्द्र' पद की मुख में साध्यवसाना लक्षणा है, अतः चन्द्र पद से यद्यपि मुखत्वविशिष्ट मुख की उपस्थिति लक्षणा के द्वारा होती है तथापि शाब्दबोध चन्द्रत्वेनैव रूपेण होता है अर्थात् मुख को चन्द्ररूप में ही समझा जाता है, मुखरूप में नहीं। आप कह सकते हैं कि जब उपस्थिति और शाब्द-बोध में समानरूपता का नियम है, तब ऐसा क्यों और कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि लक्षणा के ज्ञान की महिमा से ऐसी बात होगी अर्थात् साध्यवसाना लक्षणा

के स्थल में मुखस्वरूप से उपस्थिति होने पर भी चन्द्रत्वरूप से शाब्दबोध का होना अनुभवसिद्ध है, अतः उपस्थिति–शाब्दबोध में समानरूपता सिद्ध करनेवाले नियम में लाक्षणिक बोध से अन्य बोधविषयकत्व का निवेश कर दिया जायगा। यह बात प्रसङ्गवश पहले भी कही जा चुकी है। यह कुछ प्रधान विद्वानों का मत है।

उपस्थितिशाब्दबोधयोः समानाकारत्वनियमे उक्तसंकोचास्वीकर्तृमतेनाह—

'लक्षणया मुखत्वेन मुखादेः शाब्दबोधे वृत्ते व्यञ्जनयैकशब्दोपात्तत्वप्रादुर्भूतया चन्द्रत्वेन बोधः' इत्यपरे।

चन्द्रपदस्य वाच्योऽर्थश्चन्द्रः, लक्ष्योऽर्थस्तु मुखम्। तथा च चन्द्रपदनिष्ठलक्षणावृत्त्या मुखस्य मुखत्वेनैव रूपेणोपस्थितिः शाब्दबोधश्च तेनोपस्थितिशाब्दबोधयोः समानाकारत्वनियमो रक्षितः। पश्चात् चन्द्रपदनिष्ठया व्यञ्जनावृत्त्या मुखस्य चन्द्रत्वेन बोधः प्रकृतोपयोगी सम्पद्यते ननु कुतोऽत्र व्यञ्जनाप्रादुर्भाव इत्याह—एकशब्दोपात्तत्वेति। चन्द्रतुल्यमुखबोधनाय चन्द्रमुखेतिपदद्वयप्रयोगमकृत्वा केवलचन्द्रपदं यत्प्रयुक्तं, तेन सा व्यञ्जना प्रादुर्भाव्यते इति भावः।

उपस्थिति और शाब्दबोध में समानाकारत्ववाले नियम को सार्वत्रिक माननेवाले अन्य विद्वानों के मतानुसार साध्यवसाना-स्थल में बोध का विचार करते हैं—लक्षणया इत्यादि। अन्य विद्वानों का मत है कि 'चन्द्रराजी विराजते' इत्यादि स्थलों में चन्द्रपद में रहनेवाली लक्षणावृत्ति से मुख की मुखस्वरूप से उपस्थिति होती है और शाब्दबोध भी उसी रूप से होता है अर्थात् लक्षणा के ज्ञान से भी चन्द्र पद द्वारा मुखरूप में ही मुख पहले समझा जाता है। अनन्तर व्यञ्जना के द्वारा मुख का चन्द्रत्व रूप से बोध होता है, और यहाँ व्यञ्जना के उत्थान का कारण है एकशब्दोपात्तत्व अर्थात् 'चन्द्र' इस एक ही पद के द्वारा चन्द्र और मुख दोनों का बोध कराना। सारांश यह कि चन्द्रतुल्य मुख का बोध कराने के लिये वक्ता को चन्द्र और मुख इन दोनों पदों का प्रयोग करना चाहिये था, परन्तु वैसा न करके केवल चन्द्र पद का जो प्रयोग वक्ता ने किया है, उसी से यहाँ व्यञ्जना का प्रादुर्भाव होता है, जिसके बल से पहले मुखरूप समझ लिये गये पदार्थ को भी पीछे चन्द्ररूप समझ लिया जाता है।

उक्तमतद्वये शाब्दबोधे पदार्थभानरीतिं मतभेदेन दर्शयति—

मतद्वयेऽप्यस्मिन् मुखादौ चन्द्रत्वभानसामग्र्या मुखत्वादेः स्वधर्मस्य भानं न निवार्यते। इत्थं चैकस्मिन्धर्मिणि चन्द्रत्वादीनां मुखत्वादीनां च साक्षाद् भानमेव सारोपातोऽस्या विच्छेदकम्। अपरे तु 'निवार्यत एव विरुद्धभानसामग्र्या स्वधर्मस्य भानम्। रजतत्वभानसामग्र्या शुक्तित्वस्याभानात्' इति वदन्ति। मतेऽस्मिन् विषयतावच्छेदकास्फूर्तिस्तथा।

न निवार्यत इति। अनुभवसिद्धविरुद्धधर्मद्वयभानानुरोधेन विरुद्धभानसामग्र्याः प्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षौ लक्षणावृत्त्यनुपस्थाप्यत्वनिवेशादिति भावः। मुखत्वादीनां चेति। एकपदोपस्थाप्यानामिति शेषम्। साक्षादिति। सारोपायां तु चन्द्रत्वस्य चन्द्रसादृश्यभानद्वारा तत्र भानमिति परम्परया तद्भानमिति भावः। अस्या विच्छेदकमिति। साध्यवसानाया भेदकमित्यर्थः। एकधर्म्यधिकरणकोभयभानं तु समानमिति भावः। लक्षणाज्ञानमाहात्म्यात् मुखादेः प्राथमिकः शाब्दबोध एव चन्द्रत्वादिना भवतु, व्यञ्जनया वा द्वितीयस्तादृशो बोधो भवतु, उभयथापि प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावे उक्तसंकोचेन मुखादौ मुखत्वादेः स्वधर्मस्य भाने चन्द्रत्वभानसामग्री प्रतिबन्धिका न भवति। तथा च चन्द्रराजी-

त्याद्युक्तसाध्यवसानलक्षणास्थले 'चन्द्रत्ववान् मुखत्ववाँश्च मुखपदार्थः' इत्याकारो बोधो जायत इति फलितम्। एतद्रीत्यनुसरणे च साध्यवसानलक्षणायां पूर्वोक्तरीत्या मुखपदार्थे चन्द्रत्वस्य मुखत्वस्य च साक्षादेव भानम्, सारोपलक्षणायां मुखं चन्द्र इत्यादौ तु चन्द्रपदस्य स्वसदृशे लाक्षणिकतया चन्द्रत्वस्य प्रथमम् सदृशपदार्थे भानम् सदृशपदार्थस्य मुखे भानमिति परम्परया चन्द्रत्वस्य मुखे भानमित्येवोभयोर्लक्षणयोर्भेद इति भावः। साध्यवसानलक्षणास्थले विरुद्धधर्मद्वयभानं नानुभवसिद्धम्, तथा च विरुद्धभानसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वे नोक्तविधः संकोचः प्रामाणिक इति येषां मतं, तदनुसारेणाह—अपरे त्वित्यादि। स्वधर्मस्येति। मुखत्वादेरित्यर्थः। दृष्टान्तविधयाऽऽह–रजतत्वेति, दूरत्वचाकचिक्यादिदोषविशेषसहकृतचक्षुःसन्निकर्षादिसामग्र्या शुक्तौ रजतत्वभानस्थले यथा शुक्तित्वस्य भानं न भवति, विरुद्धरजतत्वभानसामग्र्या प्रतिबन्धकत्वात्, तथैव चन्द्रराजीत्याद्युक्तसाध्यवसानलक्षणास्थले मुखे चन्द्रत्वभानसामग्र्या प्रतिबन्धेन चन्द्रत्वविरुद्धमुखत्वस्य भानं नैव भवति। तथा चैतद्रीत्या तत्र चन्द्रत्ववान् मुखपदार्थ इत्येव बोधाकार इति भावः। नन्वस्मिन् मते सारोपातः साध्यवसानायाः किम् भेदकमित्यत आह—मतेऽस्मिन्निति। विषयतावच्छेदकेति। लक्ष्यतावच्छेदकेत्यर्थः। मुखत्वे यावत्। तथेति। सारोपातोऽस्या विच्छेदकमित्यर्थः। सारोपायां मुखे मुखत्वस्य भानं भवति, साध्यवसानायां तु उक्तरीत्या तस्य भानं न भवतीत्येव द्वयोर्विशेष इति भावः। सारोपायां मुखादिषु लक्ष्यतावच्छेदकस्य–आह्लादकत्वादेः साधारणधर्मस्य भानं भवति। साध्यवसानायां तु मुखे चन्द्रत्वस्यैव भानं न तु आह्लादकत्वादेरिति ग्रन्थाशयं वर्णयन् नागेशस्तदनुयायी सरलाकारश्च स्थूलदृगेव, चन्द्रत्वभाने तत्राह्लादकत्वभानस्य निश्चितत्वात्, यत्र यत्र चन्द्रत्वं तत्र तत्राह्लादकत्वमिति व्याप्तेः।

उक्त दोनों मतों के अनुसार उक्तस्थलीय शाब्दबोध में पदार्थों का भान किस तरह से होता है—इस बात का वर्णन मतभेद से यहाँ करते हैं—मतद्वये इत्यादि। सारांश यह है कि–विरुद्ध धर्म के भान के प्रति विरुद्ध धर्म के भान की सामग्री प्रतिबन्धक होती है यह यद्यपि सामान्य नियम है, तथापि अनुभव के आधार पर उस नियम में 'लक्षणा वृत्ति के द्वारा जो उपस्थित नहीं होता हो, उस विरुद्ध धर्म के भान के प्रति' ऐसा संकोच कर दिया जाता है। अतः प्रकृत में प्रथम मत के अनुसार लक्षणाज्ञान की महिमा से मुख का पहला ही शब्दजन्य बोध चन्द्रत्वरूप से होवे, अथवा द्वितीय मत के अनुसार व्यञ्जना से द्वितीय बोध उस रूप से होवे, दोनों ही मतों में चन्द्रत्वरूप विरुद्ध धर्म के भान की सामग्री से मुख में मुखत्वरूप निजी धर्म का भान रोका नहीं जाता। अर्थात्—'चन्द्रत्व और मुखत्व दोनों धर्मों से युक्त मुख पदार्थ' इस रूप में दोनों धर्मों का मुख में साक्षात् ही भान होता है और इन (चन्द्रत्व और मुखत्व) दो धर्मों का साक्षात् भान होना ही सारोपा लक्षणा से साध्यवसाना लक्षणा को भिन्न बनाता है, क्योंकि सारोपा (मुखचन्द्र) में भी यद्यपि उक्त दोनों धर्मों का मुख में भान होता है, तथापि साक्षात् नहीं, परम्परा से। अर्थात्—वहाँ चन्द्र पद की लक्षणा स्वार्थसदृश में होती है, अतः पहले चन्द्रत्व का भान सदृश अंश में होता है, पीछे जब सदृश का भान मुख में हो जाता है, तब परम्परया चन्द्रत्व का भी मुख में भान सिद्ध होता है। यह है कुछ लोगों का मत। परन्तु अन्य लोगों का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि साध्यवसाना लक्षणा के स्थल में दो विरुद्ध धर्मों का एक पदार्थ में भासित होना अनुभव से सिद्ध नहीं, अतः उक्त सामान्य नियम में उक्त प्रकार का संकोच नहीं किया जा सकता और जब उक्त संकोच नहीं किया जायगा, तब जहाँ दूरत्व, चकचकी आदि दोषों से सीपी में चाँदी का भ्रम होता है, वहाँ जैसे

सीपी को भासित करनेवाली सामग्री चाँदी के भान को रोक देती है, वैसे ही यहाँ भी मुख में चन्द्रत्व को भासित करनेवाली सामग्री (कारण) उसमें मुखत्व के भान को अवश्य रोक देगी। अर्थात् साध्यवसाना लक्षणा के स्थल में 'चन्द्रत्व से युक्त मुख पदार्थ' इस रूप से एक ही धर्म (चन्द्रत्व) भासित होगा, मुखत्व नहीं। इस मत के अनुसार केवल चन्द्रत्व का भान होना ही साध्यवसाना को सारोपा से पृथक् करता है अर्थात् साध्यवसाना स्थल में केवल चन्द्रत्व का ही मुख में भान होता है और सारोपा में चन्द्रत्व का भान तो होता ही है, साथ-साथ मुखत्व का भी भान होता है।

उक्ताशयमेव विशदयति—

वस्तुतस्तु साध्यवसानायां विषयतावच्छेदकधर्मभानं यदि सहृदय-हृदयप्रमाणकम्, तदा तद्वारणाय कारणकल्पनाऽनुचितैव। शुक्तिरजतभान-स्थले तु शुक्तित्वेन भाने पुरोवर्तिनि रजतत्वभानं सर्वथैव विरुद्धत्वाद्रजतत्व-भानसमये शुक्तित्वभाननिवारणमावश्यकम्। न चेहापि तथा, अनुभवविरुद्ध-त्वात्। यदि तु तत्र प्रामाणिकं तदा सोचितैव।

विषयतावच्छेदकधर्मेति। मुखत्वादीत्यर्थः। सहृदयेति। सहृदयानुभवसिद्धमित्यर्थः। कारणेति। विरुद्धभानं प्रति विरुद्धभानसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वरूपेत्यर्थः। अनुचितेति। अनुभवसिद्धस्यापलापे सर्वत्र तथा प्रसङ्ग इति ह्यनौचित्यमिति भावः। सर्वथैव विरुद्ध-त्वादिति। तथाननुभवादिति भावः। 'चन्द्रराजी विराजते' इत्यादि साध्यवसानलक्षणा-स्थले सहृदया यदि चन्द्रत्वमुखत्वोभयधर्मवान् मुखपदार्थ इत्याकारकमनुभवं कुर्वन्ति, तर्हि मुखे मुखत्वभाननिरासाय विरुद्धभानसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पनं व्यर्थम्। कार्या-नुरोधेन कारणस्य कल्पना, कार्यं चेदनुभवसिद्धं तदा तत्प्रतिबन्धकनिर्वचनमनुचितमेवेति तात्पर्यम्। यदि तु तादृशमनुभवं सहृदया न कुर्वन्ति, अपि तु चन्द्रत्ववान् मुखपदार्थः इत्याकारकमेवानुभवं कुर्वन्ति, तर्हि मुखे मुखत्वभाननिवारणायोक्तप्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावः कल्पनीय एव। शुक्तौ रजतभानस्थले तु रजतत्वभानदशायां शुक्तित्वभानं न भवतीति सर्वानुभवसिद्धतया निर्णीतम् अतस्तत्र रजतत्वभानसामग्र्याः शुक्तित्वभानं प्रति प्रतिबन्ध-कत्वं सर्वसम्मत्या कल्पनीयमेवेति भावः।

उक्त ग्रन्थ के आशय का ही स्पष्टीकरण करते हैं—वस्तुतस्तु इत्यादि। वास्तविक बात तो यह है कि कार्य के अनुसार कारण की कल्पना की जाती है, अतः किसी कारण की कल्पना करने से पूर्व यह देखना चाहिए कि वह कार्य अनुभवरूप प्रमाण से सिद्ध है अथवा नहीं, यदि कार्य अनुभवसिद्ध होवे, तब तदनुसार उसके कारण की कल्पना करनी चाहिए, अन्यथा नहीं। ऐसी स्थिति में 'चन्द्रराजी विराजते' इत्यादि साध्यवसाना लक्षणा के स्थल में विषयतावच्छेदक अर्थात् मुखत्व के भान का अभावरूप कार्य यदि सहृदयजनों के अनुभव से सिद्ध हो, तब तो उसके लिये चन्द्रत्व के भान की सामग्री को प्रतिबन्धक कारण के रूप में कल्पित करना ही चाहिए, जैसे उक्त भ्रमस्थल में रजतत्व-भासक सामग्री में शुक्तित्व-भान-प्रतिबन्धकता की कल्पना की जाती है। और यदि उक्त अभावरूप कार्य सहृदय-हृदय-प्रमाण से सिद्ध नहीं हो अर्थात् यदि सहृदयजन उक्त साध्यवसाना-स्थल में चन्द्रत्व तथा मुखत्व दोनों का मुख में अनुभव करते हों, तब तो उक्त प्रतिबन्धक कारण की कल्पना नहीं ही करनी चाहिए, ऐसी निराधार कल्पना की भी नहीं जा सकती है। ग्रन्थकार का स्वरस यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि वे साध्यवसाना-स्थल में चन्द्रत्व तथा मुखत्व दोनों के भान को अनुभव-सिद्ध मानते हैं, अतः वे उक्त प्रतिबन्धक की कल्पना के पक्ष में नहीं हैं। ठीक भी है।

सामूहिक रूप से एक कार्यकारणभाव अथवा प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव तो बन नहीं सकता। कारण, उस स्थिति में व्यभिचारादि अनेक दोषों के प्रसङ्ग उठ खड़े होंगे, अतः लक्ष्यभेद से भिन्न-भिन्न ही वे कल्पित होंगे। इस स्थिति में जब उक्तस्थल पर चन्द्रत्व और मुखत्व दोनों के भान का अनुमोदन सहृदय-हृदय करते हैं, तब मुखत्व के भान को रोकने के लिये प्रतिबन्धक की कल्पना होगी ही नहीं, क्योंकि प्रतिबध्य ही अप्रसिद्ध है। शुक्ति-रजत-भान-स्थल की बात भिन्न है, अर्थात् वहाँ दूर में चकचक करता हुआ सीपी का टुकड़ा पड़ा रहता है, द्रष्टा को दूरत्व तथा चाकचिक्यादि दोषों से युक्त चक्षुःसन्निकर्षरूप सामग्री से उस सीपी के टुकड़े में रजत का भ्रम हो जाता है अर्थात् द्रष्टा उस आगे में पड़े हुए टुकड़े को चाँदी समझ लेता है और जब वह उसको चाँदी समझ लेता है तब फिर उसको सीपी कैसे समझ सकता है अर्थात् उस स्थिति में वास्तविक होने पर भी शुक्तित्व का भान सर्वथा विरुद्ध पड़ता है, अतः वहाँ रजतत्वभान-सामग्री को शुक्तित्वभान के प्रति प्रतिबन्धक मानना आवश्यक हो जाता है। एक बात और रसगङ्गाधर के आधुनिक टीकाकारों ने यहाँ नागेशकृत संस्कृत टिप्पणी को आधार बनाकर कहा है कि 'आह्लादकत्व' आदि साधारण धर्म का भान मुख में साध्यवसाना के स्थल पर नहीं होता, यही 'विषयतावच्छेदकास्फूर्तिस्तथा' इस ग्रन्थ का आशय है, अग्रिम ग्रन्थ की व्याख्या भी इसी आशय के अनुसार उन्होंने की है। परन्तु लाख विचार करने पर भी मेरे मन में यह बात जँचती नहीं, क्योंकि आह्लादकत्व आदि साधारण धर्म विषयतावच्छेदक अथवा लक्ष्यतावच्छेदक नहीं हो सकता। देखिए—मुख में चन्द्रत्व का आरोप होता है, उस आरोप का विषयी होता है चन्द्र और विषय मुख, अथवा यों समझिए—चन्द्र पद की मुख में लक्षणा होती है, अतः मुख लक्ष्य होता है, और मुख में रहनेवाला धर्म होगा विषयता अथवा लक्ष्यता का अवच्छेदक, फिर वह मुखत्व न होकर आह्लादकत्व आदि साधारण धर्म कैसे हो जायगा? अवच्छेदक होता है—अन्यून और अनतिप्रसक्त धर्म, और आह्लादकत्व को आप स्वयं साधारण धर्म बतलाते हैं—मानते हैं। दूसरी बात चन्द्रत्व का भान मुख में होता है यह आपका, मेरा और सब का सिद्धान्त है और जहाँ चन्द्रत्व भासित होगा, वहाँ आह्लादकत्व अवश्य भासित होगा, क्योंकि चन्द्रत्व का व्यापक धर्म आह्लादकत्व है और व्याप्य की सत्ता में व्यापक की सत्ता निश्चित रहती है, यदि चन्द्रत्व का भान होने पर भी आह्लादकत्व का भान नहीं हो, तब चन्द्रत्व-भान का अर्थ ही क्या हुआ? अतः मेरे विचार से नागेश की टिप्पणी (यहाँ की) असंगत है।

लक्षणानिरूपणानन्तरमिदानीमलंकारनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथास्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलङ्कारा निरूप्यन्ते—

अथेति। लक्षणानिरूपणानन्तरमित्यर्थः। अभिहितलक्षणस्येति। उक्तस्वरूपस्येत्यर्थः। काव्यात्मन इति। काव्यप्राणभूतस्येत्यर्थः। काव्यजगति सर्वतो मुख्यस्येति यावत्। अत्र 'भेदे षष्ठीयम्। काव्यात्मनो यद् व्यङ्ग्यं तस्येत्यर्थः। यद्वा काव्यात्मन इत्यलङ्कारा इत्यनेनान्वेति।' इति नागेशविवरणं संगतं न वेति सुधीभिराकलनीयम्। व्यङ्ग्यस्येति। रसादेरित्यर्थः। रमणीयताप्रयोजका इति। शोभासम्पादका इत्यर्थः। अलङ्कारा निरूप्यन्त इति। अलङ्कारविषयकज्ञानानुकूलाः शब्दाः प्रयुज्यन्त इत्यर्थः।

अब अलंकारनिरूपण का उपक्रम करते हैं—अथेत्यादि। लक्षणा के निरूपण के बाद अब जिसका लक्षण पहले कहा जा चुका है, और जो काव्य की आत्मा है, उस रसादिरूप व्यङ्ग्य की शोभा के सम्पादक अलङ्कारों का निरूपण किया जाता है।

अलङ्कारेषु सर्वतः प्रथममुपमालङ्कारविचारः सयुक्तिकमवतार्यते—

तत्रापि विपुलालङ्कारान्तर्वर्तिन्युपमा तावद्विचार्यते—

तत्रापीति । तेष्वलङ्कारेष्वपीत्यर्थः । विपुलेत्यादि । बह्वलङ्कारमध्यप्रविष्टेत्यर्थः । एतच्चोपमाविचारस्य प्राथम्ये हेतूपन्यासपरं विशेषणम् । तावत् आदौ । सादृश्यमूलकेषु बहुष्वलङ्कारेषु उपमोपजीव्यभूतेति प्राक् तद्विचारः प्रस्तूयत इति भावः ।

उपमा अलङ्कार का विचार सर्वप्रथम प्रस्तुत किया जाता है—तत्रापीत्यादि। उपमा अलङ्कार बहुतेरे अलङ्कारों के अन्दर वर्तमान रहता है—अर्थात् सादृश्यमूलक जितने अलङ्कार हैं, उन सभी अलङ्कारों का उपजीव्य उपमा ही है, अतः अलङ्कारों में भी सर्वप्रथम उपमा का विचार किया जाता है ।

उपमालङ्कारस्य लक्षणं लिख्यते—

सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारमुपमालङ्कृतिः ।

वाक्यार्थोपस्कारकमिति । वाक्यार्थशोभावर्धकमित्यर्थः । यस्मिन् रमणीये सादृश्येऽभिहिते सति वाक्यार्थः स्फुटतया काममप्युज्ज्वलतामाधत्ते, तादृशं सादृश्यमेवोपमालङ्कारतया व्यपदिश्यत इति भावः ।

उपमा अलङ्कार का लक्षण करते हैं—सादृश्यमित्यादि। वाक्यार्थ को शोभित करने वाले सुन्दर सादृश्य का नाम 'उपमालङ्कार' है ।

लक्षणघटकं 'सुन्दर'पदं स्वयं व्याचष्टे—

सौन्दर्यं च चमत्कृत्याधायकत्वम् । चमत्कृतिरानन्दविशेषः सहृदयहृदयप्रमाणकः ।

चमत्कृत्येत्यादि । चमत्कृतेः आधायकत्वम्, सम्पादकत्वमित्यर्थः । चमत्कृतिपदार्थम् स्फोरयति—चमत्कृतिरित्यादि । आनन्दविशेष इति । विलक्षणानन्द इत्यर्थः । अलौकिकाह्लाद इति यावत् । सोऽपि न साधारणजनानुभवसिद्ध इत्याह—सहृदयेत्यादि । सचेतसामनुभवेन सिद्ध इति भावः । इत्थम् 'येन सादृश्येन प्रतिपादितेन सहृदयहृदयेषु कोऽप्यनिर्वचनीयः आनन्दः पदं निदध्यात्, तादृशं सादृश्यं यदि वाक्यार्थस्योज्ज्वलतासम्पादकं स्यात्, तदा तत् सादृश्यमुपमालङ्कारः कथ्यत' इति लक्षणतात्पर्यं वेदितव्यम् ।

लक्षणवाक्य में आए हुए 'सुन्दर' पद की व्याख्या करते हैं—सौन्दर्यमित्यादि। लक्षण में 'सुन्दर' पद का अर्थ है सौन्दर्यविशिष्ट और सौन्दर्य का अभिप्राय यहाँ 'चमत्कारजनक होना' है। 'चमत्कार' का अर्थ है वह विलक्षण आनन्द, जिसको सहृदयों का हृदय प्रमाणित करता है। इस तरह लक्षणवाक्य का फलित अर्थ यह होता है कि—'वाक्यार्थ को शोभित करनेवाले जिस सादृश्य से सहृदयों के हृदय में एक विलक्षण आनन्द उत्पन्न हो, उस (सादृश्य) को उपमालङ्कार कहते हैं।'

पदकृत्यं दर्शयति—

अनन्वये च 'गगनं गगनाकारम्' इत्यादौ सादृश्यस्य द्वितीयसब्रह्मचारिनिवर्तनमात्रार्थमुपात्तत्वेन स्वयमप्रतिष्ठानादचमत्कारितैव । अत एव तस्यान्वयाभावादनन्वयं तमाहुः । व्यतिरेके 'तवाननस्य तुलनां दधातु जलजं कथम्' इत्यादौ चमत्कारिणो निषेधस्य निरूपणाय प्रतियोगिनः सादृश्यस्य निरूपणमचमत्कारकमेव । एवमभेदप्रधानेष्वपि रूपकापह्नुतिपरिणामभ्रान्तिमदुल्लेखादिषु, भेदप्रधानेषु दृष्टान्तप्रतिवस्तूपमादीपकतुल्ययोगितादिषु चम-

त्कारिषु तत्तन्निष्पादकतयावस्थितस्यापि सादृश्यस्य चमत्कारित्वाविरहेण नास्त्युपमालङ्कृतित्वम् ।

सब्रह्मचारीति । सदृशेत्यर्थः । स्वयमिति स्वस्यापर्यवसानादित्यर्थः । अत एवेति । सादृश्यस्य तात्पर्यविषयताविरहादेवेत्यर्थः । तस्येति । सादृश्यस्येत्यर्थः । 'आहुः' इति क्रियापदस्याकांक्षापूरकम् 'आलङ्कारिकाः' इति कर्तृपदमध्याहार्यम् । लक्षणे 'सुन्दर'-मित्यस्य निवेशेन 'गगनम्''''''' इत्याद्यनन्वयालङ्कारोदाहरणे नातिव्याप्तिः, तत्र सादृश्यस्याचमत्कारित्वात् । ननु कथं तस्याचमत्कारित्वमिति चेत् ? इत्थम्—अनन्वयालङ्कारे वर्णनीयस्य सदृशान्तरं नास्तीति बोधनार्थमेव केवलं स्वसादृश्यमुपादीयते, अतो वर्णितमपि सादृश्यं तत्र तात्पर्यविषयतां नालंबते । अनन्वय इति नामकरणमपि तात्पर्याविषयतया तस्य सादृश्यस्यान्वयाभावादेव संगच्छते । एवञ्च तस्याचमत्कारित्वं स्पष्टमेव । स्थलान्तरेऽपि सुन्दरेति विशेषणबलेनातिव्याप्तिवारणं दर्शयति—व्यतिरेके इत्यादिना । 'तवाननस्य'''''' इत्यादिव्यतिरेकालङ्कारोदाहरणे यद्यपि सादृश्यस्य वर्णनं तिष्ठति, तथापि तच्चमत्कारकं न भवति, यतो निषेधोऽत्र प्रधानश्चमत्कारी । सादृश्यं तु तन्निषेधप्रतियोगितयोपात्तमपि अप्रधानं सदचमत्कार्येवेति भावः । अन्यत्रापि समासेन तद्विशेषणव्यावर्त्यतामुट्टंकयति—एवमभेद इत्यादिना । अभेदप्रधानेषु इति । चमत्कारितया प्रतीयमानाभेदेष्वित्यर्थः । भेदप्रधानेषु इति । भेदबोधप्रयुक्तचमत्कारशालिष्वित्यर्थः । तत्तन्निष्पादकतयेति । रूपकादीनां दृष्टान्तादीनाञ्चालङ्काराणां सम्पादकतयेति भावः । अयं भावः—उपजीव्यतया वर्तमानं सादृश्यमेव रूपकादीन् दृष्टान्तादींश्चालङ्कारान् निष्पादयति, तत्र प्रथमवर्गेऽभेदगर्भं सादृश्यं नियामकम्, द्वितीयवर्गे च भेदगर्भं तत् तथा, अतः उभयत्र वर्गे 'वाक्यार्थोपस्कारकसादृश्यात्मकं' सामान्यमुपमालक्षणं प्रसक्तम् । परन्तु सादृश्य-विशेषणतया लक्षणे प्रविष्टं चमत्कारार्थकं सौन्दर्यम् तत्प्रसक्तिं वारयति, तत्र रूपण-दृष्टान्तीकरणादीनां विभिन्नजातीयचमत्कारविधायित्वेऽपि सादृश्यस्याचमत्कारित्वात् इति ।

लक्षण में 'सुन्दर सादृश्य' इस विशेषणविशिष्ट कथन का फल दिखलाते हैं—अनन्वये च इत्यादि । 'गगनम्''''''अर्थात् आकाश आकाश ही जैसा है' इत्यादि अनन्वयालङ्कार में भी यद्यपि सादृश्य वर्णित रहता है, तथापि वह सुन्दर–चमत्कारी नहीं होता, क्योंकि उसका वर्णन 'वर्णनीय आकाश आदि का अन्य कोई पदार्थ सदृश नहीं है' इस बात को सिद्ध करने मात्र के लिये किया गया रहता है, अतः वर्णित होकर भी वह सादृश्य वक्ता का तात्पर्यविषयीभूत नहीं रहता, तात्पर्यविषय नहीं होने के कारण ही उसका वाक्यार्थ में अन्वय भी नहीं होता, इसी आधार पर 'अनन्वय' यह नामकरण भी हुआ है। तात्पर्य यह कि विवक्षित पदार्थ ही चमत्कारी होता है, और अनन्वयस्थल में सादृश्य विवक्षित नहीं रहता, अतः चमत्कारी भी नहीं होता । 'तवाननस्य''''''अर्थात् जलज–(डलयोः साम्यात् जड़जात, फलतः स्वयं भी जड़)–कमल, तुम्हारे मुख की तुलना का धारण कैसे करे ?' इत्यादि व्यतिरेकालङ्कार में सादृश्य का निषेध चमत्कारजनक होता है, अतः उस निषेध के प्रतियोगी (जिसका निषेध किया जा रहा है उस) सादृश्य का वर्णन नान्तरीयक होने से किये जाने पर भी चमत्कारशून्य ही होता है। इसी तरह अभेदप्रधान रूपक, अपह्नुति, परिणाम, भ्रान्तिमान् तथा उल्लेख आदि अलङ्कारों में और भेदप्रधान दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, दीपक एवं तुल्ययोगिता आदि चमत्कारी अलङ्कारों में यद्यपि उन अलङ्कारों को सिद्ध करने के लिये सादृश्य रहता है, तथापि वह चमत्कारी नहीं होता । अभिप्राय यह है कि रूपक आदि (दो भागों में विभक्त कर कथित) सभी अलङ्कार

सादृश्यमूलक हैं—सादृश्य के विना उन अलङ्कारों की सिद्धि नहीं हो सकती और सादृश्य भी दोनों भागों में दो प्रकार के रहते हैं। प्रथम (रूपक आदि) भाग में अभेद-घटित और द्वितीय (दृष्टान्त आदि) भाग में भेदघटित, अतएव प्रथम भाग के अलङ्कारों में प्रधानतया अभेद की प्रतीति होती है और द्वितीय भाग के अलङ्कारों में प्रधानतया भेद की प्रतीति होती है। परन्तु किसी तरह का सादृश्य वर्णित रहने पर 'वाक्यार्थोपस्कारकसादृश्य' यह सामान्य उपमालक्षण यद्यपि उन अलङ्कारों में प्रसक्त हो सकता था क्योंकि 'सादृश्यमुपमाभेदे' इस मम्मटकृत लक्षण में जिस तरह से 'भेद' का निवेश किया गया है, उस तरह से पण्डितराज के उक्तलक्षण में नहीं, तथापि पण्डितराज के अनुसार सादृश्य में 'सुन्दर' विशेषण लगाने से इन अलङ्कारों की व्यावृत्ति हो जाती है। कारण, इन अलङ्कारों में रूपण आदि ही, भिन्न-भिन्न तरह के चमत्कारों के जनक होते हैं, अतएव भिन्न-भिन्न अलङ्कार भी माने जाते हैं। सादृश्य, मूलरूप में रहकर भी इन सब जगहों पर चमत्कारशून्य ही रहता है। सारांश यह कि 'सुन्दर' इस विशेषण के निवेश से अपह्नुति, व्यतिरेक और रूपक आदि अलङ्कारों में उपमालक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

प्रतीपे उपमेयोपमायाञ्चातिव्याप्तिमाशंक्येष्टापत्त्या परिहरति—

मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपे, चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्र इत्युपमेयोपमायां च सादृश्यस्य चमत्कारित्वान्नातिप्रसङ्गः शङ्कनीयः तयोः सङ्ग्राह्यत्वात्।

तयोस्तादृशप्रतीपोपमेयोपमयोः। संग्राह्यत्वादिति। चित्रमीमांसोक्तोपमालक्षणदूषणावसरे इति भावः। अयमाशयः—प्रतीपे (मूलोक्तप्रकारके) उपमेयोपमायां च यद्यपि सादृश्यं चमत्कारकं तिष्ठति, अतस्तयोरुक्तोपमालक्षणस्यातिव्याप्तिः स्यादिति शङ्का-नोचिता, पण्डितराजमतानुसारं तयोरुपमात्वस्यैवेष्टत्वात् इति। प्रतीपेत्यादिनामकरणं प्राचीनमतानुसारेण। वस्तुतस्तु तत्रोपमैवेति सारांशः। अत्र "नव्यास्तु 'यत्र चन्द्राद्युपमानप्रतियोगिकसादृश्यानुयोगित्वबुद्धिकृतश्चमत्कारस्तत्रोपमालङ्कारत्वम्। अनन्वये तु न स्वसादृश्यबुद्धिकृतः सः, किंतु निरुपमत्वबुद्धिकृत इति नोपमात्वम्। उपमेयोपमायामपि न परस्परसादृश्यबुद्धिकृतः सः किन्त्वनयोरेव साम्यं न तृतीय एतत्सदृश इति बुद्धिकृत इति तस्यामपि न तत्त्वम्। मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपेऽपि मुखादौ सादृश्यबुद्धिकृत एव सः, तदनुयोगित्वबुद्धिकृत इति तत्रापि न तत्त्वम्। 'अहमेव गुरुः' इति प्रतीपेऽपि उपमान-तिरस्कृतत्वकृत एव सः न तु सादृश्यबुद्धिकृत इति न तत्रापि तत्त्वम्। अलङ्कारभेदे च चमत्कारनिदानभेद एव निदानम्। रूपकोत्प्रेक्षादौ तथा क्लृप्तत्वात्, सहृदयानुभवसाक्षिकत्वाच्च। एतेन सादृश्यस्याप्रतिष्ठानं यदि सादृश्याप्रतीतिस्तदनुभवविरोधः। यदि भेदगर्भे तदप्रतीतिस्तदा भेदांशानिवेशेन तद्विवरणे किं फलम्। उपमेयोपमावत्तस्याप्यस्तूपमात्व-मित्यपास्तम्' इत्याहुः" इति नागेशः।

अब प्रतीप तथा उपमेयोपमा अलङ्कार में अतिव्याप्ति की आशङ्का करके इष्टापत्ति द्वारा उसका निराकरण करते हैं—मुखमिव इत्यादि। 'मुख सा चाँद' इस प्रतीपालङ्कार में तथा 'चाँद सा मुख और मुख सा चाँद' इस उपमेयोपमा अलङ्कार में सादृश्य चमत्कारी रहता है, अतः उन दोनों में उपमा का लक्षण अतिव्याप्त होगा, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए। कारण, उन दोनों स्थलों में उपमालक्षण का प्रसङ्ग ही मुझे इष्ट है अर्थात् मैं उन दोनों को उपमा से भिन्न अलङ्कार मानता ही नहीं हूँ, अपि तु उपमा के अवान्तरभेद के रूप में ही उन दोनों को संगृहीत करना चाहता हूँ।

उक्तोपमालक्षणस्याव्याप्तिमाशंक्य निरस्यति—

ननु 'त्वयि कोपो ममाभाति सुधांशाविव पावकः' इत्यादावुपमानस्या-

त्यन्तमसम्भावितत्वात्सादृश्यमेव न तावत्प्रतिपत्तुं शक्यम्, चमत्कारस्तु पुनः केन स्यादिति चेत्, कविना हि खण्डशः पदार्थोपस्थितिमता स्वेच्छया सम्भावितत्वेनाकारेण चन्द्राधिकरणकमनलं प्रकल्प्य तेन सह साम्यस्यापि कल्पने बाधकाभावात्। कल्पितमसत्सादृश्यं कथं चमत्कारजनकमिति तु न वाच्यम्, परमसुकुमारीभवत्कनकनिर्मिताङ्ग्या मणिमयदशनकान्तिनिर्वासितध्वान्ताया: कान्ताया भावनया पुरोऽवस्थापिताया आलिङ्गनस्याह्लादजनकत्वदर्शनात्। उपमानोपमेययोः सत्यत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावान्नात्र दोषलेशोऽपि।

त्वयि कोप इति। त्वयि = वर्णनीयायां कस्यांचन सुन्दर्याम्, वर्तमानः, क्रोधः चन्द्रे विद्यमानो वह्निरिव मम प्रतिभाति = मया प्रतीयत इत्यर्थः। उपमानस्येति। चन्द्राधिकरणकवह्नेरित्यर्थः। प्रतिपत्तुम् ज्ञातुम्। उत्तरयति—कविना हीत्यादिना। खण्डश इति। प्रतिपदं पृथक् पृथक् इत्यर्थः। स्वेच्छया संभावितत्वेनेति। स्वेच्छानुसारम् 'यद्येवं स्यात्' इति सम्भावनाविषयीभूतेनेत्यर्थः। अत्र 'स्वेच्छया असम्भावितत्वेन न तु सत्येन रूपेण' इति नागेशो विवृणुते, तन्नातीवशोभनं प्रतिभाति। अयं भावः—'त्वयि कोपः' इत्यादौ उपमानतया वर्णितश्चन्द्राधिकरणकोऽनलो नितान्तमसंभवः, चन्द्रेऽनलस्य कदाप्युपलंभाभावात्। एवञ्च तत्प्रतियोगिकं सादृश्यं ज्ञातुमयोग्यम्, अप्रसिद्धपदार्थप्रतियोगिकसादृश्यस्याप्यसंभवात्। अज्ञाते च सादृश्ये चमत्कार एव न भवितुमर्हति, चमत्कारस्य सादृश्यज्ञानाधीनत्वात्। तथा च कथमत्रोपमेति शङ्कायाम् इदमुत्तरं यत्—चन्द्रः प्रसिद्धः, अनलोऽपि प्रसिद्धः, एवञ्च तयोः पृथक् पृथक् स्मरणं कवेरात्मनि भवेत्। तयोपस्थितेः परं पुनः कविः स्वेच्छानुसारं यद्येवं स्यादिति संभावनाविषयीभूतेन रूपेण चन्द्रवर्तिनो वह्नेः कल्पनां कुर्यात्, तथा कल्पनानन्तरञ्च कल्पितेन तेन चन्द्राधिकरणकेन वह्निना सह नायिकानिष्ठकोपस्य सादृश्यकल्पना संभवति बाधकाभावात् इति। अथापि शङ्कते—कल्पितमित्यादिना। यतः कल्पितमत एवासदित्यर्थः। समाधत्ते—परमेत्यादि। परमसुकुमारीभवता अतिकोमलीकृतेन, कनकेन–सुवर्णेन, निर्मितानि अङ्गानि यस्यास्तस्या इत्यर्थः। सुवर्णवर्णाया इति यावत्, मणिमयेति। मणिमयानां मणिरचितानाम् दशनानाम्, कान्तिभिः किरणैः, निर्वासितं दूरीकृतम्, ध्वान्तमन्धकारो यया तस्या इत्यर्थः। काल्पनिकतया वस्तुतोऽवर्तमानस्य सादृश्यस्य चमत्कारित्वमनुपपन्नम्? नानुपपन्नम्, दृश्यते हि कनकमयाङ्गीं विकिरन्मणिदन्तकान्तिं कामिनीं पुरो विद्यमानां भावयतो भावुकस्य तदालिङ्गनभावने आनन्दः। काल्पनिकमपि वस्तु भावुकानानन्दयतीति भावः। नन्वेवं भवतु कल्पितस्यापि सादृश्यस्य चमत्कारजनकता, तथापि लक्षणे उपमानोपमेययोर्निवेशेन तयोः सत्यत्वस्यापेक्षिततया कथमुक्तस्थले निर्वाहोऽत आह—उपमानोपमेये त। लक्षणे उपमानोपमेययोर्निवेशेऽपि तयोः सत्यत्वं न निविष्टमिति न कश्चिद्दोषः। काल्पनिकतयाऽसत्येऽपि उपमानोपमेये समादाय संभवत्युपमालङ्कार इति परमार्थः।

स्थलविशेष में उक्त उपमालक्षण की अव्याप्ति की आशङ्का करके समाधान करते हैं—ननु इत्यादि। 'त्वयि कोपो'''अर्थात् तेरे अन्दर का कोप मुझे चन्द्रवर्ती आग के समान प्रतीत होता है इत्यादि स्थल में जो उपमान है 'चन्द्रवर्ती आग' आदि, वह सर्वथा असंभव वस्तु है। ऐसी स्थिति में उस वस्तु का सादृश्य समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि जब कोई वस्तु हो, तब तो उसका सादृश्य समझ में आने—जो वस्तु है ही नहीं, उसका सादृश्य कैसा? और जब सादृश्य ही समझ में नहीं आयगा, तब चमत्कार होगा किससे? कारण, उपमा में चमत्कार, सादृश्यज्ञान के अधीन है यह

सर्वसम्मत बात है, अतः ऐसे स्थलों पर उपमा का उक्त लक्षण संघटित नहीं हो सकता' यह शङ्का नहीं करनी चाहिए। कारण, ऐसे स्थलों पर 'चन्द्र में आग' इस सम्मिलित पदार्थ की अप्रसिद्धि होने से उपस्थिति की संभावना नहीं रहने पर भी कवि को खण्डशः चन्द्र और आग की उपस्थिति हो सकती है, क्योंकि पृथक्-पृथक् वे दोनों ही पदार्थ प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार खण्डशः पदार्थों की उपस्थिति हो जाने के बाद, कवि अपनी इच्छा के अनुसार संभावित रूप से--अर्थात् 'यदि चन्द्र में आग हो' इस रूप से चन्द्र में आग की कल्पना करता है और जब कल्पना के आधार पर 'चन्द्रवर्ती आग' यह सम्मिलित पदार्थ तैयार हो चुकेगा, तब उसके सादृश्य की भी कल्पना कर लेने में कोई बाधक नहीं। यदि कोई कहे कि--कल्पित सादृश्य तो असत् (मिथ्या) हुआ फिर उससे चमत्कार की उत्पत्ति कैसे होगी--मिथ्या वर्णन के श्रवण से क्या आनन्द प्राप्त होगा? तो इसका उत्तर यह है कि आनन्द सत्य वस्तु से ही प्राप्त हो ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि जब भावुक जन भावना के द्वारा, किसी ऐसी कामिनी, जिसके अङ्ग, कोमल बने कनक से बने हों तथा जिसने मणिमय दन्तकिरणों से अन्धकार को दूर कर दिया हो--को अपने पुरोभाग में उपस्थित कर उसका आलिङ्गन करते हैं, तब उस मिथ्या आलिङ्गन से भी अमन्द आनन्द की उत्पत्ति होती हुई देखी जाती है। बात रही लक्षण की, सो उसमें उपमान-उपमेय के सत्य होने का निवेश किया नहीं गया है। अतः उपमान के कल्पित होने पर भी 'उपमा' मानने में दोष का लेश भी नहीं है।

कल्पितोपमानोपमेयभावविशिष्टं स्थलान्तरमपि दर्शयति---

अत एव

'स्तनाभोगे पतन्भाति कपोलात्कुटिलोऽलकः।
शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः॥'

इत्यादावपि नानुपपत्तिः।

अत एवेति। उपमानोपमेययोः सत्यत्वस्य लक्षणेऽनिवेशादेवेत्यर्थः। स्तनाभोगे इति। [illegible] नायिकायाः कपोलदेशात् तदीये मेरुवत्कठोरोत्त[illegible] [illegible]गः, चन्द्रबिम्बात्, मेरुशिखरे लम्बमानः कृष्णसर्प इव शोभत इत्यर्थः। नानुपपत्तिरिति। उपमालक्षणाव्याप्तिरूपा अनुपपत्तिर्नेत्यर्थः। अत्रापि यद्यपि चन्द्रबिम्बावधिकमेरुशिखराधिकरणकलम्बमानोरगरूपमुपमानं, तस्य सादृश्यञ्च स्वतोऽसंभवित्वात्काल्पनिकमेव, तथापि पूर्वप्रतिपादितदिशोपमास्वीकारे बाधकं नास्तीति भावः।

कल्पित उपमान वाला एक अन्य उदाहरण भी दिखलाया जाता है—अत एव इत्यादि। लक्षण में उपमानोपमेय की सत्यता का निवेश नहीं करने के कारण ही--'स्तनाभोगे'....अर्थात् भरे-पूरे, ऊँचे स्तनों पर कपोलतट से गिरता हुआ कुटिल केश, चन्द्रमण्डल से सुमेरु पर्वत के शिखर पर लटकते हुए काले नाग-सा प्रतीत होता है' इत्यादि में भी उपमा अलङ्कार स्वीकार करने में किसी तरह की अनुपपत्ति नहीं होती। अर्थात् यहाँ भी 'चन्द्रमण्डल से मेरु पर लटकता हुआ साँप' यह जो उपमान है वह भी स्वतः असंभव होने से कल्पित, अतएव असत्य ही होगा, अतः 'उपमा' कैसे होगी, यह शङ्का हो सकती थी, परन्तु जिन युक्तियों से 'त्वयि कोपः...' इत्यादि में 'उपमा' मान ली गई है, उन्हीं उक्तियों से यहाँ भी उपमा मानी जा सकती है।

एतादृशस्थलेऽन्यत्र वर्णितं मतान्तरमुद्भाव्य खण्डयति---

परे तु अस्याः कल्पितोपमाया उपमानान्तराभावफलकत्वेनालङ्कारान्त-

रतामाहुः । तन्न । सादृश्यस्य चमत्कारितयोपमान्तर्भावस्यैवोचितत्वात्, सन्निरूपितत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावात्। उपमानान्तराभावफलकत्वं ह्युपमाविशेषत्वे साधकम्, न तूपमाबहिर्भावे।

उपमानान्तराभावफलकत्वेनेति। उपमानान्तरम् अन्यदुपमानम्, तस्य, अभावः-अयोग्यता, फलं यस्यास्तादृशत्वेनेत्यर्थः। अलङ्कारान्तरताम् अन्यालङ्कारत्वम्। सन्निरूपितत्वेति। सता सत्येन, उपमानेन, निरूपितं सादृश्यं स्यात् इत्यस्येत्यर्थः। उपमाविशेषत्वे उपमाया विलक्षणभेदत्वे। उपमाबहिर्भावे उपमान्यालङ्कारत्वस्वीकारे। अत्र-नैतादृशं वस्त्वन्तरं संसारे समुपलभ्यते, यत् कपोलात् स्तनपरिसरे पततः कुञ्चितकचस्योपमेयस्योपमानभावं भजेतेति कवेस्तात्पर्येण उपमायां पर्यवसानाभावादलङ्कारान्तरमेवेति शंकायाः, चमत्कृतिकरस्य सादृश्यस्य स्पष्टं प्रतीतेः 'सुन्दरं (चमत्कारजनकम्) सादृश्यमुपमा' इति लक्षणानुसारम् उपमायाः स्वीकारे बाधकन्नास्ति। सत्येनोपमानेन निरूपितं सादृश्यं भवेदिति तु प्रकृतलक्षणे न निविष्टम्। उपमानान्तरं नास्तीति प्रतीतिरिह फलभूतेत्येतावताऽपि उपमात्वनिरासो न भवति, प्रत्युत विशिष्टोपमात्वमेव सिद्धयतीति च समाधानस्याशयो बोध्यः।

ईदृश स्थलों में कुछ विद्वानों के द्वारा माने गए मतान्तर का उल्लेख करके खण्डन करते हैं—परे तु इत्यादि। अन्य विद्वानों का कथन है कि—"स्तनाभोगे" इत्यादि काव्यों में कल्पित उपमा का फल है 'अन्य किसी उपमान का न होना'—अर्थात् कवि ऐसी उपमा द्वारा यह सिद्ध करना चाहता है कि संसार में ऐसी वस्तु है ही नहीं, जिसके साथ, कपोल से स्तन पर गिरते हुए केशरूप उपमेय की समानता कही जाय, अतः यहाँ 'उपमा' न मानकर कोई दूसरा ही अलङ्कार माना जाना चाहिए।" परन्तु उनका यह कथन समुचित नहीं है। कारण, ऐसे काव्यों में चमत्कारी सादृश्य की स्पष्ट प्रतीति होने के कारण इसका उपमा अलङ्कार में ही अन्तर्भाव करना उचित है, क्योंकि सादृश्य का 'सत् पदार्थ से निरूपित होना' प्रकृत उपमालक्षण में निविष्ट नहीं है—अर्थात् उपमान सत्य रहे ऐसी बात लक्षण में नहीं कही गई है। रही आपकी यह बात कि—'इस कल्पित उपमा का फल अन्य उपमान का न होना है', सो यह बात तो इसको एक विलक्षण प्रकार की उपमा सिद्ध करती है, इससे, इसका उपमा से बहिष्कार नहीं सिद्ध होता।

शङ्कते—

अथ

'विलसत्याननं तस्या नासाग्रस्थितमौक्तिकम्।
आलक्षितबुधाश्लेषं राकेन्दोरिव मण्डलम्॥'

इत्यादौ साधारणधर्मस्याभावात् कथमुपमानिष्पत्तिः? बुधमौक्तिकयोरेकैकमात्रवृत्तित्वात्।

अथेतिपदं प्रक्रान्तविषयभिन्नविषयारम्भसूचकम्। विलसतीति। नासाग्रे, स्थितं, मौक्तिकम् मुक्ताभूषणम्, यस्मिन्, तत्, तस्या वर्णनीयनायिकायाः, आननम् मुखम्, आलक्षितः दृष्टिगोचरीभूतः, बुधस्य तन्नामकस्य नक्षत्रविशेषस्य, आश्लेषः सम्बन्धः (संयोगः) यस्मिन्, तादृशम्, आश्लिष्टबुधमिति यावत्, तथा पाठस्तु साधीयान् बुधमौक्तिकयोरित्यग्रिमग्रन्थानुरोधात्, राकेन्दोः पूर्णिमाचन्द्रस्य, मण्डलम्, इव, विलसति सुशोभते इत्यर्थः। अत्र बुधः तदाश्लेषो वा राकेन्दुमण्डलमात्रवृत्तीधर्मः, आनने तद-

संभवात्। एवम् मौक्तिकम् आननमात्रवृत्तीधर्मः, चन्द्रमण्डले तस्यावर्तमानत्वात्। तथा च नैकोऽपि धर्मस्तथाविधो यः उपमानोपमेययोः चन्द्रमण्डलाननयोरुभयोः साधारणः स्यात्। साधारणधर्माभावे च कथमुपमालङ्कारत्वम् साधारणधर्मोपस्थितेरुपमाकारणत्वस्य लक्षणानिरूपणे स्थिरीकृतत्वात् इति शङ्का।

अब एक भिन्न तरह की आशङ्का करते हैं—अथ इत्यादि। 'विलसत्याननम्'' इत्यादि अर्थात् नासिका के अग्रभाग में वर्तमान है मुक्ताभूषण जिसमें, ऐसा, उस-वर्णनीय नायिका-का मुख, बुध-तारा-के संयोग से युक्त पूर्णिमा-चन्द्र के मण्डल सा सुशोभित हो रहा है।' इत्यादिक में साधारण धर्म के न होने के कारण उपमा अलङ्कार किस तरह सिद्ध हो सकता है? क्योंकि साधारण धर्म की उपस्थिति को ही उपमा का कारण माना गया है, उसके विना उपमा हो ही नहीं सकती। 'बुध'-अथवा 'मोती' तो साधारण धर्म हो नहीं सकता। कारण, वे दोनों एक-एक में ही रहनेवाले धर्म हैं—अर्थात् 'बुध' केवल उपमान (चन्द्रमण्डल) में रहनेवाला है, उपमेय (मुख) में उसकी संभावना ही नहीं। इसी तरह 'मोती' केवल उपमेय (मुख) में रहनेवाला है, उपमान (चन्द्रमण्डल) में नहीं। ऐसी स्थिति में यहाँ उपमा का न होना ही उचित होगा यह है शङ्का।

उक्ताशङ्काया असत्समाधानद्वयं तावत् प्रतिपाद्य खण्डयति—

न चात्र यदि नासाग्रस्थितमौक्तिकं तस्या आननमालक्षितबुधाश्लेषं राकेन्दोर्मण्डलमिव विलसतीति तादृशराकेन्दुमण्डलनिरूपितसादृश्यप्रयोजक-विलासाश्रयस्तादृशमाननमिति तात्पर्यम् तदा विपूर्वकलसत्यर्थशोभाविशेष एव समानो धर्मः। यदि च तादृशमिन्दुमण्डलमिव यत्तादृशमाननं तद् विलसतीति तादृशसादृश्यावच्छिन्नमाननमुद्दिश्य विलासाश्रयत्वं विधेयतया विवक्ष्यते तदा-स्या लुप्तोपमात्वात्पद्ममिव मुखमित्यादाविवाह्लादकत्वादिधर्म उन्नेय इति वाच्यम्। उपमानोपमेयशोभयोरपि वस्तुतोऽसाधारणत्वात्।

'कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः।
कषायवसनो याति कुङ्कुमालेपनो यतिः॥'

इत्यादौ धर्मान्तरस्याप्रतिभानादसुन्दरत्वाच्च कोमलातपादीनामसाधारणत्वात्क-थमुपमेति चेत्,

तादृशराकेन्दुमण्डलेति। बुधाश्लेषविशिष्टराकेन्द्वित्यर्थः। एवमग्रेऽपि। प्रथमोत्तरे दूषणमाह—उपमानोपमेयेति। द्वितीयोत्तरे लोकप्रसिद्धोदाहरणे निर्वाहेऽप्यप्रसिद्धोदा-हरणे दोषमसाधारणमाह—कोमलेति। कोमलातपत्वम् शोणाभ्रत्वं च सन्ध्याकाल-विशेषणम्, बहुव्रीहिः। अत एव कोमलातपादीनामिति वक्ष्यति। एवञ्च कोमलः चाक्षुद्-वेगकरः, आतपो यस्मिन्, तथा शोणम् रक्तवर्णम् अभ्रम् मेघो यस्मिन्, तादृशो यः सन्ध्याकालः, तस्य, सहोदरः सदृशः, कषायम् कषायद्रव्यरञ्जितम्, वसनं यस्य तादृशः तथा कुङ्कुमालेपनः कृतकुङ्कुमलेपो यतिः यातीत्यर्थः। 'विलसत्याननम्''' इत्यत्र साधारणधर्माभावात् कथमुपमेति शंकायाः 'नासामौक्तिकशोभितं तन्नायिकाननं, बुधाश्लेष-विशिष्टेन्दुमण्डलमिव विलसतीति रीत्यान्वयोपपादने बुधाश्लेषविशिष्टं यत् राकेन्दु-मण्डलम्, तन्निरूपितं यत् सादृश्यं, तत्प्रयोजको यो विलासः, तस्याश्रयो नासाग्रमौक्ति-कविशिष्टं मुखमिति कवेस्तात्पर्यावगमेन विपूर्वकलस्धात्वर्थशोभाविशेष एव साधारणधर्मः'

इत्युत्तरं न संभवति, उपमानेन्दुमण्डलगतशोभायाः, उपमेयानननिष्ठशोभायाश्च मिथो भिन्नत्वेन साधारणधर्मत्वासंभवात् । बुधाश्लेषविशिष्टचन्द्रमण्डलसदृशं यन्नासामौक्तिक-शोभितं मुखं, तत् विलसतीति रीत्यान्वयकरणेन तादृशसादृश्यानुयोग्याननमुद्दिश्य विलासाश्रयत्वं विधीयत इति कवेस्तात्पर्यवर्णने 'पद्ममिव मुखम्' इत्यादिवत् साधारण-धर्मलोपोपमैव–अर्थात् आह्लादकत्वादिरूपः साधारणधर्मः ऊहनीय इत्यपि न तस्याः शंकायाः समुचितं समाधानम्, तेन समाधानेन प्रसिद्धसाधारणधर्मके चन्द्रमुखादौ निर्वाहेऽपि 'कोमलातप''' इत्यादिलक्ष्येषु निर्वाहासंभवात् । तथाहि—अत्र कोमलातपत्वं शोणाभ्रत्वं च संध्याकालात्मकोपमानमात्रगतधर्मद्वयम् । कषायवसनत्वम् कुङ्कुमालेपनत्वं च यतिरूपोपमेयमात्रवर्तिधर्मयुगलम् । अतस्तेषु नैकोऽपि धर्म उपमानोपमेयोभयसाधारणः । यातीति क्रियायाः पूर्वरीत्या विधेयत्वेन पूर्वसिद्धत्वाभावे न साधारणधर्मता संभविनी । लुप्तोपमात्वमङ्गीकृत्य साधारणधर्मोन्नयनरीतिरपि न भवितुमर्हति पूर्वोक्तेभ्यो धर्मेभ्योऽन्यस्य कस्यचन धर्मस्य ध्यानपथानागमनात्, बलात्तदागमने कारिते तस्याचमत्कारित्वात् । एवञ्च 'विलसती'त्यादौ साधारणधर्माभावे कथमुपमेति शङ्का यथास्थितेति भावः ।

तब तक उक्त आशङ्का का एक असिद्धान्ती समाधान कहकर खण्डन करते हैं— न च इत्यादि । स्पष्ट अभिप्राय यह है कि—'विलसति''' इत्यादिक में साधारण धर्म के अभाव में उपमा कैसे होगी, इस आशङ्का के दो समाधान हो सकते हैं—(१) 'नासिका के अग्रभाग में मुक्ताभूषण धारण करनेवाला उसका मुख बुधालिङ्गित चन्द्रमण्डल समान सुशोभित हो रहा है' इसका तात्पर्य यदि यह हो कि 'पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट मुख, पूर्वोक्त विशेषणयुक्त चन्द्रमण्डल द्वारा निरूपित सादृश्य को सिद्ध करनेवाली शोभा का आश्रय है' तब तो वह शोभा विशेष ही साधारण धर्म हो जाता है । और—(२) यदि यह अभिप्राय हो कि 'उक्त विशेषणविशिष्ट, पूर्णिमाचन्द्र के सदृश उक्त विशेषण युक्त मुख, सुशोभित हो रहा है (विलास का आश्रय बन रहा है)' और इस रीति से इस श्लोक में उस तरह के चन्द्रमण्डल से निरूपित सादृश्य के अनुयोगी मुख को उद्देश्य मानकर विलासाश्रयत्व (शोभा के आश्रय होने) को विधेय बनाना इष्ट हो, तब यह लुप्तोपमा (साधारणधर्मलोपोपमा) होगी, अतः जिस तरह 'कमल-सदृश मुख' इत्यादि में 'आह्लादकत्व' आदि साधारण धर्म का ऊह कर लिया जाता है, उसी तरह किसी साधारण धर्म का ऊह कर लेना चाहिए । अतः यहाँ किसी तरह की गड़बड़ी नहीं । सारांश यह कि पूर्वोक्त श्लोक में यदि 'विलसति' इस क्रियापद के अर्थ शोभा-विशेष को सादृश्य का प्रयोजक (कारण) माना जाय तब तो वह शोभा-विशेष ही साधारणधर्मरूप हो जाता है और यदि वैसा न मानकर उस शोभा-विशेष को केवल विधेय माना जाय तब विधेय के अपूर्व (पूर्व सिद्ध नहीं) होने के कारण वह साधारण धर्म नहीं हो सकता, अतः यहाँ लुप्तोपमा हो जाने से चन्द्र और मुख के किसी अन्य साधारण धर्म (सुन्दरत्व आदि) की कल्पना कर ली जानी चाहिए । ऐसा यदि आप कहें—तो यह सङ्गत नहीं हो सकता । कारण, परमार्थतः उपमेय और उपमान की शोभा भी अपने अपने में रहनेवाली असाधारण ही होती है । अर्थात् सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर मुख की और चन्द्र की शोभा भी भिन्न-भिन्न सिद्ध होती है एक नहीं, अतः उसको साधारण धर्म ठहरानेवाला प्रथम उत्तर नहीं बनता और द्वितीय उत्तर से 'चन्द्र सा मुख' इत्यादि प्रसिद्ध उदाहरणों में काम चल जाने पर भी—'कोमलातप'''इत्यादि अर्थात् कोमल (अनुद्वेगकर) धूप और लाल लाल बादल वाले सायंकाल का सहोदर (समान), कषायवस्त्रधारी तथा केसर के लेप वाला संन्यासी जा रहा है !' इत्यादि स्थलों में काम नहीं चल सकता, क्योंकि, यहाँ लुप्तोपमा मानकर

साधारण धर्म का ऊह कर लेनेवाली युक्ति बन नहीं सकती। कारण, यहाँ कोई ऐसा धर्म ध्यान में आता ही नहीं, जो साधारण हो सके, यदि खींच-खाँचकर किसी वैसे धर्म को लाया भी जाय, तो वह असुन्दर होगा—चमत्कार (आह्लाद) से शून्य होगा। अर्थात् चन्द्र और मुख का साधारण धर्म आह्लादकत्व आदि प्रसिद्ध है, अतः वाचक पद के अभाव में भी वह ध्यान में आ जाता है, परन्तु प्रकृत में सायंकाल और यति का कोई वैसा धर्म प्रसिद्ध नहीं है, अतः विना कहे वह ध्यान में नहीं आता, बलात् किसी धर्म को ध्यान में लाने पर भी वह आनन्ददायक नहीं होता। रहे पद्य में कथित कोमलातपत्व, शोणाभ्रत्व, कषायवसनत्व और केसरलेप धर्म, सो वे साधारण नहीं असाधारण हैं अर्थात्—इन चारों में प्रथम दो केवल उपमान-सायंकाल-में रहनेवाले धर्म हैं और अग्रिम दो केवल उपमेय-संन्यासी में रहनेवाले। फलतः ऐसे स्थानों—जहाँ कोई साधारण धर्म नहीं रहता—में उपमा कैसे होती है यह आशङ्का जैसी की तैसी बनी रही।

इदानीं सिद्धान्तभूतं समाधानं लिख्यते—

अत्राहुः—उपमेयगतानामुपमानगतानां चासाधारणानामपि धर्माणां सादृश्यमूलेनाभेदाध्यवसायेन साधारणत्वकल्पनादुपमासिद्धिः।

अभेदाध्यवसायेनेति। अभेदारोपेणेति भावः। अत्र नागेशः—"न चैकधर्मवत्त्वमिवोपमानवृत्तिधर्मसदृशधर्मवत्त्वमप्युपमाप्रयोजकमस्तु किममुनाऽभेदाध्यवसायेनेति वाच्यम्। साधारणधर्मेणोपमानोपमेययोरभेदप्रतीतिकृतचमत्कारस्योपमायामिष्टस्य धर्मयोरभेदाध्यवसानं विनानुपपत्तेः। तथा चोक्तमलङ्कारसर्वस्वकृता—'भेदाभेदप्रधानोपमे'ति बोध्यम्" इत्याचष्टे। अयं भावः—उक्तोदाहरणेषु केचन उपमेयमात्रगताः केचन उपमानमात्रगता एव धर्मा बुध-मौक्तिक-कोमलातपादयः, अत एव ते न साधारणा इति यद्यपि सत्यम्, तथापि असाधारणानामपि तेषां धर्माणां मिथः सादृश्यमस्तीति नापलापार्हम्। एवञ्च तत्सादृश्यमेव मूलं भूत्वा तेषु असाधारणेष्वपि धर्मेषु अभेदम्-ऐक्यम्-आरोपयति अर्थात् तेषु धर्मेषु सादृश्यं विदन्तो जनास्तन्मूलकं तेष्वभेदमपि विदन्ति। तथा च भवन्ति ते असाधारणा अपि धर्माः साधारणाः। अत एव तेषु स्थलेषु उपमा-सिद्धौ न काचित् बाधाऽवतिष्ठत इति।

अब उक्त आशङ्का का सिद्धान्ती समाधान करते हैं—अत्राहुः इत्यादि। उक्त आशङ्का का सिद्धान्तभूत समाधान यहाँ यह कहा जाता है कि—ऐसे स्थानों पर केवल उपमान और उपमेय में रहनेवाले धर्मों के असाधारण होने पर भी, उन धर्मों में रहनेवाले परस्पर सादृश्य के कारण, उन धर्मों में अभेद का आरोप करके उनको साधारण मान लिया जाता है। अर्थात्—'बुध' तथा 'मौक्तिक' और 'कोमल धूप' तथा 'केसर के लेप' आदि के परस्पर भिन्न होने पर भी उनमें जो क्रमशः शुक्लता तथा अरुणता आदि गुणमूलक समानता है, उसके द्वारा उन्हें अभिन्न मानकर 'बुध से अभिन्न मोती' और 'कषायवस्त्र से अभिन्न केसरलेप' आदि को साधारण धर्म मान लिया जाता है। अतः उन स्थलों में असाधारण धर्म के भी साधारण हो जाने से उपमा सिद्ध हो जाती है।

पुनरुक्तस्थलेषु उपमाया असिद्धिमन्यप्रकारेणाशंक्य समाधत्ते—

न च भ्रमात्मकेनाहार्याभेदबोधेन कथं नाम कुङ्कुमालेपकोमलातपादीनां वस्तुतो भिन्नानां साधारणत्वसिद्ध्येऽत्यन्तमसन्नभेदः सेद्धुं शक्नुयात्, भ्रमेणार्थसिद्धेरभावादिति वाच्यम्। प्रागुक्तेऽपि 'त्वयि कोपो ममाभाति सुधां-

शाविव पावकः' इत्यादावुपमानोपमेययोरत्यन्तासत्त्वेऽपि कल्पनामात्रतो यथा निष्पत्तिस्तथैव प्रकृते साधारणधर्मस्यापीति व्यक्तमुपपादयिष्यामः ।

भ्रमात्मकेनाहार्यभेदबोधेनेति । आहार्यभेदबोधस्य तदभाववति तद्वत्तावगाहित्वाद् भ्रमत्वं बोध्यम् । अत्यन्तमसज्जिति । सर्वथा मिथ्याभूत इत्यर्थः । सेद्धुम् सिद्धो भवितुम् । भ्रमेणार्थसिद्धेरिति । न हि रज्जौ सर्पभ्रमेऽपि सर्पस्तत्रोपलभ्यत इति भावः । प्रागुक्त इति । यत इत्यादि । 'त्वयि'''इत्यादावुपमानोपमेययोरिति । यद्यपि चन्द्राधिकरणकानलरूपोपमानवत् नायिकाधिकरणककोपरूपोपमेयं न सर्वथा मिथ्याभूतम्, तथापि उपमानसादृश्ययोरुभयोर्मिथ्यात्वे तस्योपमेयत्वमपि मिथ्यैव, उपमानोपमेयत्वयोर्मिथः सापेक्षत्वादिति बोध्यम् । बुधमौक्तिकयोः कुङ्कुमालेपकोमलातपयोश्च वस्तुतो भेद एवानुभवसिद्धः इति तयोर्द्वयोर्द्वयोः स्वतः साधारणत्वं न भवितुं योग्यम्, अतस्तयोः साधारणत्वसिद्धये सादृश्यमूलकोऽभेद आरोप्यते । एवञ्च तत्रत्याभेदबोधस्य आहार्यत्वम् फलितम्, आहार्यञ्च ज्ञानं सर्वत्र भ्रमात्मकमेव भवति । तथा च 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधि'रिति न्यायस्यैवावतारो जातः । अर्थात् भ्रमेण भ्रमविषयीभूतोऽर्थो न सिद्ध्यति । एवञ्चाहार्यभेदज्ञानेनापि पूर्वोक्तयोर्वस्तुतो भिन्नयोर्नभेदः सिद्ध्येदित्यत्र शङ्का । 'त्वयि कोपो''''इत्यादिपूर्वोक्तस्थले उपमानोपमेये एव सर्वथाऽसती यद्यपि, तथापि यथा कल्पनामात्रतस्तत्रोपमानोपमेयभावो भवति, तथैव प्रकृते उक्तधर्मयोरसतोऽपि साधारणत्वस्य कल्पनया सत्त्वं भवेदिति च समाधानम् । एतत्समाधानगतपदार्थस्य स्पष्टमुपपादनं ग्रन्थकृता स्वयमग्रे विधास्यते ।

फिर उक्त स्थलों में अन्य युक्ति से उपमा की असिद्धि की आशङ्का करके खण्डन करते हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहेंगे कि—'यह जो आहार्य (अपनी इच्छा से कल्पित) अभेद का ज्ञान है, वह भ्रमरूप है—सर्वथा मिथ्या है, अतः उसके द्वारा 'बुधमौक्तिक' तथा 'कुङ्कुमलेप-कोमलातप' आदि वस्तुतः सर्वथा भिन्न धर्मों का, उन्हें साधारण बनाने के लिये किया जानेवाला सर्वथा अवर्तमान अभेद कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि भ्रम से किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं होती—रस्सी को भ्रम से साँप समझ लेने पर भी वह साँप नहीं हो जाता', तो इसका समाधान यह है कि 'त्वयि कोपो ममाभाति''' इत्यादि में जैसे उपमान तथा उपमेय के सर्वथा मिथ्या होने पर भी केवल कल्पना के आधार पर उपमा की सिद्धि की जाती है, वैसे ही प्रकृत उदाहरण में साधारण धर्मों की भी कल्पना से सिद्धि की जा सकती है—इस विषय का स्पष्टतया उपपादन हम आगे करेंगे । यहाँ एक बात यह समझ लेने योग्य है कि 'त्वयि कोपो''' इस पद्य में 'चन्द्र में आग' जिस तरह से अप्रसिद्ध अतएव मिथ्या है, उस तरह से यद्यपि 'नायिका में कोप' अप्रसिद्ध अतएव मिथ्या नहीं है, तथापि उपमान—चन्द्र में आग तथा उसका सादृश्य ये दोनों जब मिथ्या हैं, तब 'नायिका में कोप' इसका उपमेय होना भी मिथ्या हो ही जायगा, क्योंकि उपमान उपमेय ये परस्पर सापेक्ष पदार्थ हैं—एक के सिद्ध होने पर ही दूसरा सिद्ध हो सकता है, अतः यहाँ 'उपमानोपमेययोरत्यन्तासत्त्वेऽपि' ऐसा लिखा गया है ।

विशेषमाह—

अयमेव बिम्बप्रतिबिम्बभाव इति प्राचीनैरभिधीयते ।

अयमेवेति । सादृश्यमूलाभेदाध्यवसाय एवेत्यर्थः । वस्तुतो भिन्नयोरपि वस्तुनोर्यः सादृश्यज्ञानमूलक आहार्याभेदबोधः स एव प्राचीनैरालङ्कारिकैः 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव'पदेन प्रतिपाद्यत इति भावः ।

एक विशिष्ट बात कहते हैं—अयमेव इत्यादि। वस्तुतः भिन्न होने पर भी दो वस्तुओं में जो सादृश्यमूलक अभेदारोप होता है, उसीको प्राचीन आलङ्कारिक लोग 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' कहते हैं।

प्रागुक्तरीत्योदाहरणान्तरेऽप्युपमासिद्धिं दर्शयति—

एवम्

'भुजो भगवतो भाति चञ्चश्चाणूरचूर्णने।
जगन्मण्डलसंहारे वेगवानिव धूर्जटिः॥'

अत्र धूर्जटिभगवद्भुजयोराकारेण सादृश्याभावात्प्रकारनिर्मुक्तस्य केवलभानस्याप्रयोजकतया चाणूरचूर्णननिमित्तकचाञ्चल्यवत्त्वजगन्मण्डलसंहारनिमित्तकवेगवत्त्वयोरभेदाध्यवसानेनाभिन्नधर्मप्रकारकभानविशेष्यत्वस्य साधारणधर्मस्य सिद्धेरुपमासिद्धिः।

एवमिति। उक्तोदाहरणे उपमासिद्धिवदित्यर्थः। 'भुजो''' इत्यादि। भगवतः कृष्णस्य, चाणूरस्य तन्नामकस्य दैत्यविशेषस्य, चूर्णने दलने, चञ्चन् धातूनामनेकार्थत्वाच्चाञ्चल्ययुक्तः, भुजो बाहुः, जगन्मण्डलस्य ब्रह्माण्डस्य, संहारे विनाशने, वेगवान् रयशाली, धूर्जटिः शिवः, इव, भाति शोभते इत्यर्थः। अत्र प्रकृतपद्ये। वृत्तित्वं सप्तम्यर्थः, तस्य च दूरस्थोपमासिद्धिपदार्थैकदेशे उपमायामन्वयः।' अथवा प्रतिपाद्यत्वं तदर्थः। तथा च प्रकृतपद्यप्रतिपाद्ययोर्धूर्जटिभगवद्भुजयोरित्यर्थः। प्रकारनिर्मुक्तस्येति। निष्प्रकारकस्येत्यर्थः। निर्विषयस्येति यावत्। तदर्थस्यैव स्पष्टीकरणायाह—केवलेति। अप्रयोजकतयेति। सादृश्यानियामकतयेति भावः। चाणूरचूर्णनेत्यादि। चाणूरचूर्णनं निमित्तं यस्य, तादृशं यत् चाञ्चल्यम्, तद्वत्त्वं च, जगन्मण्डलस्य संहारो निमित्तं यस्य, तादृशो यो वेगस्तद्वत्त्वं चेद्द्वन्द्वः, तयोरित्यर्थः। अभेदाध्यवसानेनेति। आहार्याभेदज्ञानेनेत्यर्थः। अभिन्नधर्मप्रकारकेति। अभिन्नः एकः, धर्मः उक्तविशेषणविशिष्टचाञ्चल्यवत्त्ववेगवत्त्वरूपो विषयः, प्रकारो विशेषणं यस्मिन्, तादृशं यत् भानम्, तद्विशेष्यत्वस्येत्यर्थः। प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधवादिनां नैयायिकानां मतेनेदृशोक्तिः। ननु 'भुजो भगवतो भाती'ति पद्ये कथमुपमायाः सिद्धिः? तत्सिद्धौ समपेक्षितस्य साधारणधर्मप्रत्ययस्याभावात्, न च शिवकृष्णभुजयोरुपमानोपमेयतया विवक्षितयोराकार एव तथेति वाच्यम्, तयोराकारसाम्यस्य विरहात्। न च भातीति क्रियापदबोध्यं भानमेव साधारणधर्मोऽस्त्विति शंक्यम्, प्रकारतया विषयाविशेषितस्य भानमात्रस्य सादृश्याप्रयोजकतया तस्यासंभवादिति चेद्, अभिन्नधर्मप्रकारकभानविशेष्यत्वस्य साधारणधर्मत्वात्। कथमेतदिति चेत्? इत्थम्—'चाणूरचूर्णने' 'जगन्मण्डलसंहारे' इत्यनयोः सप्तम्योर्निमित्तत्वमर्थः, तस्य च चाञ्चल्यवेगवत्त्वयोरन्वयः। तथा च चाणूरचूर्णननिमित्तकचाञ्चल्यवत्त्वम्, जगन्मण्डलसंहारनिमित्तकवेगवत्त्वं चेति धर्मद्वयं फलितम्। तयोश्च सादृश्यमूलकाभेद आरोप्यते। एवमभिन्नतामापन्नं वस्तुतो भिन्नमपि तद्धर्मद्वयमेकं सम्पद्यते, तथा सम्पन्नश्च स धर्मः प्रकारतया भानेऽन्वेति, तादृशभानविशेष्यत्वं च धूर्जटिभगवद्भुजयोरुपमानोपमेययोः वर्तमानं सत् साधारणधर्मतां भजत इति भावः।

उक्त रीति से ही अन्य लक्ष्य में भी उपमा की सिद्धि दिखलाते हैं—एवम् इत्यादि। इसी तरह 'भुजो भगवतो भाति'''अर्थात् चाणूर नामक दैत्य को चूर्ण करने में चञ्चलतायुक्त भगवान्—श्रीकृष्ण—की भुजा, संसार के संहार करने में वेगयुक्त शिव जी के समान

प्रतीत होती है' इत्यादि पद्यों में भी समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि–यहाँ 'शिवजी' और 'भगवान् की भुजा' में आकार की समता है ही नहीं और केवल–अर्थात् विषय-रूप विशेषण से शून्य भान (क्रिया) सादृश्य का प्रयोजक हो नहीं सकता–अर्थात् 'प्रतीत होते हैं' केवल इतना कहने से किन्हीं दो पदार्थों में सादृश्य की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः 'चाणूर को चूर्ण करना' जिसका निमित्त है उस चाञ्चल्ययुक्ततारूप और 'संसार का संहार' जिसका निमित्त है उस 'वेगयुक्तता'रूप भानक्रिया के विशेषणों में अभेद मान लेने से यह सिद्ध हुआ कि–यहाँ उक्त अभिन्न धर्म जिसके विषयरूप से विशेषण हैं उस 'भान'क्रिया का विशेष्य होना (जो कि शिव और भुजा दोनों में रहता है) साधारण धर्म हुआ और तब उपमा की सिद्धि हुई। यहाँ एक बात यह समझ लेने योग्य है कि–शाब्दबोध में प्रथमान्त पद के अर्थ को मुख्य विशेष्य माननेवाले नैयायिकों के मतानुसार उक्त साधारण धर्म की सिद्धि होती है, वैयाकरणों के मतानुसार नहीं। कारण, उनके मत से शाब्दबोध में क्रिया, मुख्य विशेष्य होती है, अतः उनके मतानुसार 'भानक्रिया' ही मुख्य विशेष्य होगी, फिर तो 'भान-विशेष्यत्व का आश्रय शिव और भगवद्भुज' इस तरह का अन्वय ही नहीं बन सकेगा।

अत्र विशेषमाह—

तत्र चाणूरजगन्मण्डलयोर्वस्तुतो भिन्नयोर्महाकायत्वादिना सादृश्याद्बिम्बप्रतिबिम्बभावः। चूर्णनसंहारयोश्चाञ्चल्यवेगवत्त्वयोस्त्वाश्रयभेदाद्भिन्नयोरपि वस्तुत एकरूपतैवेति वस्तुप्रतिवस्तुभावः।

तत्रेति। धर्मयोर्मध्ये इत्यर्थः। तौ धर्माविव क्रमशो निर्दिशति—चाणूरेत्यादिना। अयं भावः—अत्र शब्दतः प्रतीयमानस्य धूर्जटिभगवद्भुजयोः सादृश्यस्योदरे चाणूरजगन्मण्डलयोः, चूर्णनसंहारयोः, चाञ्चल्यवेगवत्त्वयोश्च सादृश्यानि शब्दमन्तरापि प्रतीयन्त एव। तत्र चाणूरो जगन्मण्डलञ्च वस्तुतो भिन्नौ पदार्थौ, परन्तु तावुभावपि महाकायौ विशालौ अतस्तयोर्महाकायत्वादिना समानधर्मेण सादृश्यमस्तीति प्राक् परिभाषितो बिम्बप्रतिबिम्बभावस्तयोः। चूर्णनसंहारौ चाञ्चल्यवेगवत्त्वे च वस्तुतः एकौ एव पदार्थौ, भेदभानं तु तयोराश्रयभेदमूलकम् शब्दभेदमूलकञ्च, अतस्तयोर्न बिम्बप्रतिबिम्बभावः अपि तु वस्तुप्रतिवस्तुभाव इति। एवञ्च 'वस्तुतो भिन्नयोरपि ययोर्द्वयोः पदार्थयोः समानधर्मप्रयुक्तसादृश्यमूलकमभेदाध्यवसानं, तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः, एवं यौ द्वौ पदार्थौ वस्तुतो न भिन्नौ, किन्तु आश्रयभेदेन शब्दभेदेन च भिन्नाविव प्रतीयेते, तयोरभेदाध्यवसानम्, तत्र तयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभाव इति तयोर्भावयोर्भेदो बोध्यः।

अब यहाँ का विशेष बतलाया जाता है—तत्र इत्यादि। तात्पर्य यह है कि—यहाँ शिव और भगवद्भुज में साक्षात् तथा परम्परा से रहनेवाले छै धर्म हैं, चाणूर और जगन्मण्डल (जो पदार्थ, किसी भी सम्बन्ध से किसी पदार्थ में रहनेवाला होता है, उसको धर्म माना जाता है), चूर्णन और संहार एवं चाञ्चल्य और वेग। इन धर्मों में चाणूर और जगन्मण्डल, वस्तुतः भिन्न पदार्थ हैं परन्तु उन दोनों में महाकाय—विशाल होने से समानता है, अतः उन दोनों धर्मों में पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव' है और 'चूर्णन तथा संहार' एवं 'चाञ्चल्य तथा वेग' वस्तुतः भिन्न पदार्थ नहीं हैं, अपितु एक हैं, भेद तो इन सब में केवल आश्रय (आधार) के भेदप्रयुक्त भासित होते हैं, अतः इन दोनों में वस्तु-प्रतिवस्तुभाव है। सारांश यह हुआ कि–जहाँ वस्तुतः भिन्न दो पदार्थों में समानधर्मप्रयुक्त सादृश्य की प्रतीति होने के कारण अभेद माना जाय वहाँ 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' होता है और जो दो पदार्थ वस्तुतः भिन्न नहीं हों, पर भिन्न-भिन्न आश्रय में रहने के कारण तथा भिन्न-भिन्न शब्दों से प्रतिपादित

होने के कारण भिन्न से लक्षित हों, उन दो पदार्थों का जहाँ (भिन्न से प्रतीत होने के समय में भी) अभेद माना जाय, वहाँ उनका 'वस्तु-प्रतिवस्तुभाव' होता है।

लक्षणनिरूपणमुपसंहरति—

इत्येवं निरूपितमुपमालक्षणम्।

उक्तप्रकारेण क्रियमाणमुपमालङ्कारस्य निरूपणमवसितमिति भावः।

लक्षणनिरूपण का उपसंहार करते हैं—इत्येवम् इत्यादि। उक्त रीति से किया जानेवाला उपमा का निरूपण समाप्त हुआ।

उदाहरणनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथेयमुदाह्रियते—

अथेति। लक्षणनिरूपणानन्तरमित्यर्थः। इयम् उपमा। लक्षणनिरूपणात्परमिदानीमुपमाया उदाहरणं दीयत इति भावः।

उदाहरणनिरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—अथेत्यादि। लक्षणानिरूपण के बाद अब उपमा का उदाहरण दिया जाता है।

उदाहरणं प्रदर्शयति—

'गुरुजनभयमद्विलोकनान्तःसमुदयदाकुलभावमावहन्त्याः।
दलदरविन्दसुन्दरं हा हरिणदृशो नयनं न विस्मरामि॥'

नायकः स्वसखायं प्रति कथयति—'हा' इति खेदसूचकम्। वर्ण्यमानेयं स्थितिर्नितान्तं खेदावहा ममेति भावः। गुरुजनानाम् वयोवृद्धानां श्वश्र्वादीनाम् भयम् तत्समक्षे निर्लज्जताचरणप्रयुक्ता भीतिः, मद्विलोकनम् चेति द्वन्द्वः। तयोः, अन्तर्मध्ये, समुदयन्तम् प्रादुर्भवन्तम्, आकुलभावम् क्षणिकनयनविकासक्षणिकतन्मुद्रणात्मिकां व्यग्रताम्, आवहन्त्या धारयन्त्याः हरिणदृशः मृगनयनायाः दलत् विकसत्, अरविन्दम् कमलम् इव, सुन्दरं रमणीयम् नयनं नेत्रम्, एकवचनेनैकनयनकरणककटाक्षवीक्षणं व्यज्यते। न विस्मरामि पुनः पुनः स्मरामीति भावः।

अब उपमा का उदाहरण दिखलाया जाता है—गुरुजन इत्यादि। नायक अपने सखा से कहता है—आह! एक तरफ, सास आदि गुरुजनों का भय और दूसरी तरफ मेरा अवलोकन, इन दोनों के बीच उत्पन्न होनेवाली घबराहट को धारण करनेवाली मृगाक्षी की ईषत्विकसित होते कमल सी सुन्दर आँखों को मैं नहीं भूल पाता—आज भी उस आँख की याद बराबर आती ही रहती है।

उपपादयति—

अत्र दलदरविन्दशब्दस्योपमानवाचकस्य सुन्दरशब्देन सामान्यवचनेन समासे प्रतीयमानोपमा सकलवाक्यार्थस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्य स्मृत्युपस्करणद्वारोपस्कारकतयालङ्कारः।

अत्रेति। उक्तपद्ये इत्यर्थः। घटकत्वं सप्तम्यर्थः, तस्य च शब्दस्येति षष्ठ्यन्तार्थेन सहान्वयः। तथा च एतत्पद्यघटकदलदरविन्दशब्दस्येत्यर्थः फलितः। सामान्यवचनेनेति। साधारणधर्मवाचकेनेत्यर्थः। समासे इति। 'उपमानानि' इत्यादि सूत्रेणेति भावः। अत एव न श्रौतीत्याह प्रतीयमानेति। आर्थीति भावः। सकलवाक्यार्थस्येति। सकलवाक्यतात्पर्यविषयीभूतस्येत्यर्थः। सम्पूर्णपद्यव्यङ्ग्यस्येति यावत्। शृङ्गारस्येत्यस्योपस्कार-

कतयेत्यत्रान्वयः । उपस्कारकतया शोभाधायकतया । एतच्च 'अलंक्रियते मुख्यवाक्यार्थो रसादिरनेने'ति व्युत्पत्तिलब्धस्यालङ्कारत्वयोग्यत्वस्य सम्पत्तेः सूचकम् । अयं भावः—अत्र पद्ये 'दलदरविन्द'पदबोध्यमुपमानम्, 'सुन्दर'पदबोध्यः साधारणधर्मः, 'नयन'-पदबोध्यमुपमेयं समासशक्त्या उपमानवाचकस्य लक्षणया वा बोध्यम् सादृश्यम् च मिलित्वा उपमाऽलङ्कारः सम्पद्यते, वाच्यस्य स्मरणस्य शोभाजननद्वारा व्यङ्ग्यस्य मुख्यवाक्यार्थस्य विप्रलम्भशृङ्गाररसस्य शोभाकरणात् । सा चोपमा न श्रौती, इवादेरभावात्, अपि तु समासगता आर्थी इति ।

प्रकृतोपयोगी बातों का उपपादन करते हैं—अत्रेत्यादि । यहाँ उपमानवाचक 'दलदरविन्द' पद का साधारणधर्मवाचक सुन्दर पद के साथ 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इस पाणिनिसूत्र से समास होने पर जिस उपमा (सादृश्य) की प्रतीति होती है, वह इसलिये उपमाअलङ्काररूप होती है कि उससे वाच्य स्मृति के शोभासम्पादन द्वारा सम्पूर्ण पद्य से मुख्यतया अभिव्यक्त होनेवाले विप्रलम्भशृङ्गार का शोभासम्पादन होता है ।

आशंक्य समाधत्ते—

न चात्र स्मृतिः प्रधानतया ध्वन्यत इति वक्तुं शक्यम्, न विस्मरामीति स्मृत्यभावनिषेधमुखेन स्फुटमावेदनात् । नापि पूर्वार्धगतत्रासौत्सुक्ययोः परस्पराभिभवकामयोः संधिः प्रधानम्, तस्य नायिकागतत्वेनानुवाद्यत्वात्, उत्तरार्धगतस्मृत्यङ्गत्वाच्च ।

स्मृतिः स्मृतिभावः, तथा च भावध्वनेरिदमुदाहरणं न रसध्वनेरिति भावः । पुनरन्यदाशंक्यते—नापीति । त्रासेति । गुरुजनभयमद्विलोकनपदबोध्ययोर्गुरुजनभयमद्विलोकनयोर्मध्ये व्याकुलत्वोदयेन द्वयोरपि तुल्यकक्षत्वम्, अत आह—परस्परेति । परस्परम् अन्योन्यम्, अभिभवे दलने, कामः इच्छा ययोस्तयोरित्यर्थः । तस्य संधेः । स्मृत्यङ्गत्वादिति । परम्परया भयत्राससंधेरपि स्मृतिविषयत्वादिति भावः । इदमाकूतम्-'गुरुजने'तिपद्ये 'न विस्मरामी'त्यनेन विस्मरणस्य–स्मृत्यभावस्य निषेधोऽभिधीयते, तेन च स्मृतिरभिव्यज्यते इति स्मृतिभावध्वनिरेवात्र कुतो नाङ्गीक्रियत इति शङ्काया इदमुत्तरं यत्, सत्यमत्र स्मृतिरभिव्यज्यते, परन्तु सा अभिव्यक्तिरतिस्फुटेति वाच्यायमाना स्मृतिर्ध्वनिकाव्यताप्रयोजिका न भवितुमर्हतीति । एवम् पूर्वार्धगताभ्याम् भयविलोकनाभ्यामभिव्यज्यमानाऽपि त्रासौत्सुक्ययोर्भावयोः संधिः प्रकृतपद्यस्य भावसंधिध्वनिलक्ष्यतां संपादयितुं न क्षमते, तस्य नायिकागततयाऽनुवाद्यत्वेन उत्तरार्धगतस्मृत्यङ्गत्वेन चाप्राधान्यात् अप्रधानानुसारिकाव्यत्वव्यवहारस्यानुचितत्वात् । इति ।

आशङ्का करके समाधान करते हैं—न चेत्यादि । आप कहेंगे कि—'स्मृतिभाव' ही यहाँ प्रधान व्यङ्ग्य क्यों नहीं माना जाय अर्थात् जब यहाँ विप्रलम्भशृङ्गार भी अभिव्यक्त होता है और स्मृतिभाव भी, तब जो विप्रलम्भध्वनि ही यहाँ मानते हैं, स्मृतिभावध्वनि नहीं, ऐसा क्यों ? इसका समाधान यह है कि स्मृति यहाँ 'न विस्मरामि (मुझे विस्मृत नहीं होता) इस पद से स्मृति के अभाव के निषेधरूप में स्पष्ट ही सूचित कर दी गई है—वाच्य जैसी बना दी गई है, अतः उसके बल पर इस पद्य को ध्वनि नहीं कहा जा सकता । इसी तरह पूर्वार्ध के 'भय और विलोकन' से अभिव्यक्त होनेवाले समकक्ष अतएव एक दूसरे को दबाने की कामना करनेवाले त्रास और औत्सुक्य-भावों की संधि, प्रधान व्यङ्ग्य नहीं हो सकती क्योंकि यह भाव संधिवाक्यार्थ

में उद्देश्यभूत नायिका के विशेषणों से अभिव्यक्त होती है, अतः वह भी अनुवाद्य ही होगी और उत्तरार्ध में वर्णित स्मरण का अङ्ग भी है, इन दोनों ही कारणों से भावसंधि प्रधान नहीं हो सकती।

निष्कृष्टार्थमाह—

तस्माद् भावसन्ध्युपमालङ्काराभ्यामुपस्कृता स्मृतिर्हापदगम्यः सन्तापोऽनुभावश्च विप्रलम्भमेवोपस्कुरुत इति तस्यैवात्र प्राधान्यम्।

तस्मादिति। स्मृति-त्रासौत्सुक्यसन्ध्योः प्रधानव्यङ्ग्यत्वविरहादित्यर्थः। विप्रलम्भशृङ्गारोऽत्र प्रधानव्यङ्ग्यः, स्मृतिभावः हापदद्योत्यः संतापरूपोऽनुभावश्च तस्य पोषकौ। स्मृतिभावस्य च त्रासौत्सुक्ययोः संधिः उपमालङ्कारश्च पोषकौ इति भावः।

उक्त शङ्कासमाधान के बाद निकलने वाले सारांश का अब निर्देश करते हैं—तस्मात् इत्यादि। तस्मात् यह सिद्ध हुआ कि इस पद्य में विप्रलम्भशृङ्गार ही प्रधान व्यङ्ग्य है और स्मृतिभाव तथा 'हा' पद से अवगत होने वाला संतापरूप अनुभाव, उस (विप्रलम्भशृङ्गार) के पोषक हैं। एवं 'त्रास तथा उत्सुकता' इन दोनों भावों की संधि और 'उपमा' 'स्मृतिभाव' को पुष्ट करते हैं।

प्राचीनालङ्कारिकोक्तोपमालक्षणान्यालोचयितुमुपक्रममाणस्तावद्दीक्षितकृतलक्षणमालोचयति—

अप्पयदीक्षिताः पुनश्चित्रमीमांसायाम्—'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमदुष्टमव्यङ्ग्यमुपमालङ्कारः। स्वनिषेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनं वा तथाभूतम् तथा' इति लक्षणद्वयमाहुः। तच्चिन्त्यम्। वर्णनस्य विलक्षणशब्दात्मकस्य विलक्षणज्ञानात्मकस्य वा शब्दवाच्यताविरहेणार्थालङ्कारताया बाधात्। तस्य सर्वथैवाव्यङ्ग्यत्वादव्यङ्ग्यत्वविशेषणवैयर्थ्याच्च।

'दीक्षिता' इत्यस्य, 'आहुः' इत्यत्र सम्बन्धः। 'चित्रमीमांसा' तत्कृतालङ्कारनिरूपणपरो ग्रन्थः। खण्डयति—तच्चिन्त्यमिति। चिन्त्यत्वे हेतुमाह—वर्णनस्येत्यादिना, शब्दोऽपि शब्दवाच्य इति मते नायं दोषोऽत आह—विलक्षणज्ञानेति। अव्यङ्ग्यत्वाद् व्यङ्ग्यत्वाभावात्। 'येन सादृश्येन उपमितिक्रियायाः—तुलनायाः सिद्धिर्भवेत्, तादृशं, दोषरहितं, व्यङ्ग्यताविहीनञ्च, सादृश्यमुपमा' इति दीक्षितकृतप्रथमलक्षणस्य स्वस्य (उपमायाः) निषेधे यस्य पर्यवसानं न भवेत्, तादृशमदोषत्वाव्यङ्ग्यत्वविशेषणविशिष्टं सादृश्यस्य वर्णनम् उपमेति च द्वितीयलक्षणस्य—स्वरूपं पर्यवस्यति। परन्तु तन्न युक्तम्, विचारासहत्वात्। तथाहि—वर्णनन्नाम विलक्षणः शब्दराशिः विलक्षणः ज्ञानसन्दोहो वा, उभयथापि न तस्य शब्दवाच्यता सम्भवति, तत्र शब्दशक्तेरभिधाया अग्रहणात्। एवं स्थितौ, तस्य (वर्णनस्य) अर्थालङ्कारिता बाधितैव। शब्दोऽपि शब्दानां शक्य इति मते वर्णनस्य शब्दात्मकत्वकल्पे कथंचिद्दोषेऽपि ज्ञानात्मकत्वं तस्यैव दोषो दुर्वार एव। किञ्च तादृशं वर्णनं न कदापि व्यङ्ग्यं स्यादिति लक्षणेऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणस्य व्यावर्त्याभावाद् वैयर्थ्यम् स्पष्टम् इति भावः।

प्राचीन आचार्यों के द्वारा किए गये लक्षणों की आलोचना के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम अप्पयदीक्षितकृत लक्षण की आलोचना करते हैं—अप्पयदीक्षिता इत्यादि। अप्पयदीक्षित ने 'चित्रमीमांसा' नामक अपने अलङ्कारशास्त्रीय निबन्ध में दो प्रकार के उपमा-लक्षण बनाए हैं। जिनमें एक का अभिप्राय है कि—'उस सादृश्यवर्णन को

उपमा अलङ्कार कहते हैं, जिसमें कोई दोष न हो, जो व्यङ्ग्य न हो अर्थात् वाच्य हो, और जिससे उपमिति क्रिया–तुलना–की सिद्धि होती हो।' तथा द्वितीय का आशय यह है कि 'उपमा के निषेध में जिसका पर्यवसान न होता हो—अर्थात् जिससे अन्ततोगत्वा उपमा का निषेध सिद्ध न होता हो—ऐसे दोषहीन अथवा अव्यङ्ग्य सादृश्य–वर्णन को उपमा कहते हैं।' परन्तु ये दोनों ही लक्षण असङ्गत हैं। कारण, इन दोनों लक्षणों में 'सादृश्यवर्णन' को उपमालङ्कार माना गया है, और वर्णन होता है शब्दात्मक अथवा ज्ञानात्मक–अर्थात् वर्णन की ये दो रीतियाँ हो सकती हैं, एक बाह्य और दूसरी मानस, उन दोनों में बाह्यवर्णन शब्द के रूप में होता है और मानस-वर्णन ज्ञान के रूप में। ऐसी स्थिति में शब्दों के शब्दवाच्य न होने के कारण, और यदि किसी तरह शब्दों को शब्द-वाच्य मान भी लिया जाय, तथापि ज्ञान के तो सर्वथा शब्दवाच्य न होने के कारण, वर्णन का अर्थालङ्कार होना बाधित हो जाता है। सारांश यह कि जिस वस्तु में शब्द की अभिधाशक्ति रहती है, वह वस्तु वाच्य होती है, उसे ही अर्थ कहा जाता है, और वही वाच्य वस्तु जब साक्षात् अथवा परम्परा से रस आदि को सुशोभित करती है, तब वह अर्थालङ्कार कहलाती है। ऐसी परिस्थिति में जिसमें शब्द की अभिधा नहीं–जो शब्दवाच्य नहीं–उसे (अर्थात् वर्णन को) अर्थालङ्कार मानना नितान्त अनुचित है। दूसरे, शब्दात्मक अथवा ज्ञानात्मक वर्णन, किसी भी दशा में व्यङ्ग्य हो ही नहीं सकता, अतः 'सादृश्यवर्णन' में 'अव्यङ्ग्य' विशेषण भी व्यर्थ है।

दीक्षितलक्षणस्य सङ्गतिमाशंक्य निराचष्टे—

अथ यदि वर्णनविषयीभूतं तादृशसादृश्यमुपमेत्युच्यते, तदा यथा गौस्तथा गवय इत्यत्रोपमालङ्कारापत्तेः। एवं 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इत्यादावपि। अशिष्यत्वादिना प्रधानप्रत्ययार्थवचनसादृश्यस्यात्रापि प्रतिपादनात्।

तादृशमिति। अदुष्टाव्यङ्ग्येत्यादिविशेषणविशिष्टमित्यर्थः। कालोप सर्जन इति। पाणिनेः सिद्धान्तकौमुदीस्थम् सूत्रमेतत्। इत्यादावपीति। उपमालङ्कारापत्तिरित्यस्यानुषङ्गः। अत्रादिपदग्राह्यं किमिति चिन्तनीयम्। अत्रापीति। कालोपसर्जनयोरपीत्यर्थः। अयं भावः—सादृश्यवर्णनस्योपमालङ्कारत्वे यौ दोषौ उक्तौ, तौ, यद्यपि 'वर्णनविषयीभूतस्य तादृशसादृश्यस्य तत्त्वे तात्पर्यविषयतया विवक्षिते न प्रसजतः, तथापि दोषान्तरापातो दुर्वार एव। तथाहि—'यथा गौस्तथा गवयः' इत्यस्मिन् वाक्येऽपि गो-गवययोः तुलनासाधकं दोषहीनं वाच्यं सादृश्यमस्तीति उपमालङ्कारः प्रसजेत्। एवम् 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इति पाणिनीयसूत्रवाक्येऽपि तदापत्तिरापतेत्। कथमिति चेदित्थम्–'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' इति सूत्रम्, 'प्रत्ययार्थः प्रधानं भवती'त्येवं रूपं वचनमशिष्यम् (शास्त्रद्वारा नानुशासनीयम्)। अस्यार्थस्य अन्यप्रमाणत्वात्—'प्रत्ययार्थप्राधान्यस्य लोकसिद्धत्वात्–'इत्यर्थकम् उक्त्वा 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इति सूत्रमुक्तम्। तस्यायमाशयः–'अतीताया रात्रेः पश्चार्धेन आगामिन्याः पूर्वार्धेन च सहितः कालः (दिवसः) अद्यतनः। 'विशेषणमुपसर्जनम्' इत्यादि यत् प्राक्तनैराचार्यैरनुविहितम्, तत्रापि अशिष्यत्वम् तुल्यम्, लोकत एव सिद्धेः। अर्थात् प्रत्ययार्थः प्रधानम् इत्यादि वचनम् यथा अशिष्यम्, तथा अद्यतनोऽयं कालः, विशेषणं हि उपसर्जनं भवतीत्यादिकमपि अशिष्यम्। अत्र प्रधानप्रत्ययार्थवचनस्य कालोपसर्जनयोश्च अशिष्यत्वरूपसामान्यधर्मेण सादृश्यं प्रतिपाद्यते, ततश्चात्रापि उपमा स्यात् इति।

दीक्षितकृत लक्षण को सङ्गत सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष करके खण्डन करते हैं—

अथ इत्यादि। यदि आप कहें कि–वर्णन के विषय–अर्थात् वर्णन में आनेवाले उक्त विशेषणों से युक्त सादृश्य उपमा है (यही दीक्षित का तात्पर्य है) अतः उक्त दोष नहीं हो सकते, तब मैं कहूँगा कि–ठीक है, वे दोष नहीं हो सकते, परन्तु दूसरे दोष तब भी होंगे। जैसे–उक्त लक्षण के अनुसार 'जैसा बैल होता है वैसा ही गवय (नील गाय) होता है' इस वाक्य में उपमालङ्कार हो जायगा, क्योंकि दोषरहित वाच्यसादृश्य यहाँ है। इसी तरह 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' (पाणिनिसूत्र १।२।५७) इत्यादि में भी उपमालङ्कार की आपत्ति हो जायगी। कारण, यहाँ भी 'अशिष्यत्व–अनुशासन न करने योग्य होने–' रूप सामान्य धर्म से काल और उपसर्जन का 'प्रधान प्रत्ययार्थवचन'रूप उपमान के साथ सादृश्य का प्रतिपादन है। इस द्वितीय दोष का स्पष्ट विवरण इस प्रकार है—'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' यह है प्रथम सूत्र, जिसका आशय है कि 'प्रत्यय का अर्थ प्रधान हो', इस तरह का वचन बनाना व्यर्थ है–नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि यह बात लोक से ही सिद्ध है। इसके बाद में—'कालोपसर्जने च तुल्यम्' यह सूत्र है, जिसका अभिप्राय है कि जैसे प्रत्ययार्थ की प्रधानता का नियामक वचन, लोकसिद्ध होने के कारण, नहीं बनाना चाहिए, वैसे ही 'विगत रात्रि के उत्तरार्ध से लेकर आगामिनी रात्रि के पूर्वार्ध तक का काल अद्यतन है' इस तरह का कालविधायक वचन तथा 'विशेषण उपसर्जन है' इस प्रकार का उपसर्जनत्वनियामक वचन भी नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि ये सब बातें भी लोक से ही सिद्ध हैं। अब आप प्रधानप्रत्ययार्थ वचन का सादृश्य काल तथा उपसर्जन में देख सकते हैं।

द्वितीयदोषवारणमाशंक्य निराकरोति—

न चात्र वचनभेदस्य दोषस्य सत्त्वाददुष्टत्वविशेषणेन वारणं भविष्यतीति वाच्यम्। एतद्वाक्योपप्लुतवाक्यान्तरप्रतिपादितैकोपमेयके सादृश्ये तथाप्यति-प्रसङ्गात्।

अत्रेति। 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इत्यत्रेत्यर्थः। उपप्लुतेति। कल्पितेत्यर्थः। वाक्यान्तरेति। 'कालः प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यः', 'उपसर्जनम् प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यम्' इत्याकारकेत्यर्थः। 'कालोपसर्जने' इत्यस्य द्विवचनान्ततया 'तुल्यम्' इत्यस्यैक-वचनान्ततया वचनभेदरूपदोषस्य विद्यमानत्वेन नात्रोपमालङ्कारापत्तिः, लक्षणेऽदुष्टत्ववि-शेषणस्य तद्वारकस्य प्रवेशादिति शङ्का, संग्राहकमेतदेकं वाक्यं भङ्क्त्वाकल्पितयोरेकोपमेय-घटितयोः पूर्वोक्तयोर्वाक्ययोः प्रत्येकस्मिन् तदापत्तिस्तथापि, तद्दोषस्याभावादिति न समा-धानं बोध्यम्।

द्वितीय दोष नहीं हो सकता इस तरह की आशङ्का करके पुनः उस दोष को स्थिर करते हैं—न चात्र इत्यादि। यदि कोई कहे कि लक्षण में 'अदुष्टत्व' विशेषण जुड़ा हुआ है और यहाँ 'कालोपसर्जने' इस उद्देश्य अंश के द्विवचनान्त तथा 'तुल्यम्' इस विधेय अंश के एकवचनान्त होने से 'वचनभेद'रूप दोष वर्तमान है, अतः यहाँ उपमा की आपत्ति नहीं हो सकती, तो यह कथन आपका सत्य है, परन्तु 'कालोपसर्जने…' यह एक संग्राहक वाक्य है, अतः जब इस वाक्य को तोड़कर 'कालः प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यः', 'उपसर्जनं प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यम्' इस तरह के दो वाक्यों की कल्पना कर ली जायगी, जिसमें क्रमशः 'काल' और 'उपसर्जन'रूप एक-एक उपमेय रहेगा, तब उन दोनों वाक्यों से प्रतिपादित होनेवाले 'सादृश्य' में उक्त दोष तथापि लग ही जायगा, क्योंकि उस तरह के वाक्यों में 'वचन-भेद'रूप दोष नहीं रह जाता।

दीक्षितोक्तलक्षणसङ्गतिसम्पादनाय, प्रोक्तसकलदोषनिरासमुपपाद्य पुनरन्यदोषं दृढीकरोति—

न चात्रोपमितिक्रियाया निष्पत्तावपि न सादृश्यवर्णनम्, विषयस्याचमत्कारित्वात्, चमत्कारविषयककविव्यापारस्यैव वर्णनपदार्थत्वादिति वाच्यम्। एवं हि चमत्कारित्वस्य लक्षणेऽवश्यं निवेश्यत्वेनोपमितिक्रियानिष्पत्तिविशेषणस्य वैयर्थ्यात्। न ह्यनिष्पन्नमापाततः प्रतीयमानं सादृश्यं चमत्कृतिमाधत्ते। एवं द्वितीयलक्षणेऽपि निषेधापर्यवसायित्वं निरर्थकम्। व्यतिरेके कमलादिसादृश्यनिषेधस्यानन्वये च सर्वथा सादृश्यनिषेधस्य चमत्कारितया तदर्थं सादृश्यस्य निरूपणमिति प्रागेवाभिधानात्।

अत्रेति। यथा गौरित्यादिपूर्वोक्तनिखिलदोषस्थलेष्वित्यर्थः। व्यतिरेके इति। 'तवाननस्य तुलनाम्''' इत्यादावित्यर्थः। कमलादिसादृश्येति। कमलादिनिष्ठसादृश्येत्यर्थः। चमत्कारो यथा भवेत्तादृशं कविकर्मैव वर्णनपदार्थः, एवञ्च 'यथा गौस्तथा गवयः', 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इत्यादौ व्यवहारमात्रोपयोगिवक्तृव्यापारसिद्धे सादृश्ये चमत्कारो न भवतीति यदनुभवसिद्धं तर्हि तत्र केवलतुलनासिद्धावपि सादृश्यवर्णनं नास्तीति मन्तव्यमेव, तथा च न तेषु स्थलेषु उपमाप्रसङ्गः, सादृश्यवर्णनस्योपमालक्षणत्वोक्तेरिति चेत्? सत्यम्, परन्तु, तथा सति वर्णनपदार्थघटकतया चमत्कारित्वस्य लक्षणकुक्षिप्रविष्टताया-मभिमतायां तावतैव सामञ्जस्येन प्रथमलक्षणे उपमितिक्रियानिष्पत्तिविशेषणवैयर्थ्यापातः, अनिष्पन्नस्य आपाततः प्रतीयमानस्य सादृश्यस्य चमत्कृतिजनकताविगमात्। एवमेव द्वितीयलक्षणे निषेधापर्यवसायित्वविशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गः, तद्व्यावर्त्यतयाभिमतयोः व्यतिरेकानन्वयस्थलीयसादृश्ययोश्चमत्कारित्वनिवेशेनैव व्यावर्तनात्, तयोः स्थलयोः ('तवाननस्य तुलनां दधातु जलजं कथम्', 'मुखं मुखमिवाभाति' इत्यादिकयोः) क्रमशः 'तव मुखस्य सादृश्यं कमले नास्ति' इत्याकारकस्य कमलादिनिष्ठसादृश्याभावस्य 'मुखसदृशं किमपि वस्तु जगति नास्ति' इत्याकारकस्य निरवच्छिन्नानुयोगिताकसादृश्याभावस्य चमत्कृतिजनकता, न प्रतियोगिविधया निरूप्यमाणस्यापि सादृश्यस्येति पूर्वमुपपादितत्वादिति भावः।

दीक्षितकृत लक्षण को सङ्गत सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त सभी दोषों के निरास की आशङ्का करके पुनः अन्य दोष दिखलाकर उनके लक्षण में असङ्गति दिखलाते हैं—न चात्रेत्यादि। 'जिससे चमत्कार उत्पन्न हो—जो सहृदयों के हृदय में आनन्द पैदा कर सके—ऐसी कविक्रिया को 'वर्णन' कहा जाता है। ऐसी स्थिति में मानना पड़ेगा कि उक्त-दोष-स्थलों ('यथा गौस्तथा गवयः' 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इत्यादि) में केवल लौकिक व्यवहार को सिद्ध करने के लिये वक्ता के द्वारा कथित सादृश्य से उपमिति क्रिया की निष्पत्ति (तुलनामात्र की सिद्धि) भले ही हो जाय, पर उस सादृश्य-कथन को 'सादृश्य-वर्णन' नहीं कहा जा सकता क्योंकि उससे चमत्कार की सृष्टि नहीं होती, और जब उन स्थलों में 'सादृश्य-वर्णन' है ही नहीं, तब उपमा की आपत्ति उन स्थलों पर नहीं दी जा सकती' ऐसा यदि आप कहें, तो मैं कहूँगा कि—यह युक्ति आप की सर्वथा ठीक है, परन्तु इस युक्ति का अवलम्बन करने पर लक्षण में चमत्कारित्व (चमत्कारी सादृश्य) का प्रवेश 'वर्णन' पदार्थ के रूप में जब मानना पड़ा, तब प्रथम लक्षण में 'उपमितिक्रियानिष्पत्ति'-विशेषण का लगाना व्यर्थ हो जाता है। कारण, अनिष्पन्न—ऊपर ही ऊपर प्रतीत होनेवाला—सादृश्य चमत्कारजनक हो ही नहीं सकता, फिर तो अनिष्पन्न सादृश्य को उपमा की श्रेणी से बाहर कर देने के लिये 'सादृश्य' में 'चमत्कारी' विशेषण ही पूर्ण समर्थ है। इसी तरह अब द्वितीय लक्षण में 'निषेधा-

पर्यवसायित्व अर्थात् जो सादृश्य आखिर में अपने निषेध के रूप में परिणत नहीं होता हो' यह विशेषण भी जोड़ना निरर्थक हो जाता है, क्योंकि 'तवाननस्य तुलनां दधातु जलजं कथम् अर्थात् कमल तेरे मुख की तुलना कैसे प्राप्त करे' इत्यादि व्यतिरेक में, तथा 'मुखं मुखमिवाभाति अर्थात् मुख, मुख जैसा ही शोभित होता है' इत्यादि अनन्वय में, अन्ततः अपने निषेध के रूप में पर्यवसित हो जाने वाले सादृश्य में उपमात्व का निराकरण करना जो उस विशेषण का फल था, वह 'चमत्कारी सादृश्य' कह देने से ही सिद्ध हो जाता है। कारण, उन दोनों अलङ्कारों में क्रमशः 'कमल में मुख का सादृश्य नहीं है' इस तरह का कमलनिष्ठ सादृश्य का अभाव और 'मुख का सादृश्य कहीं नहीं है' इस तरह का सर्वथा सादृश्य का अभाव ही चमत्कार-जनक होता है, अभाव के प्रतियोगीरूप में नान्तरीयक होने के कारण कथित सादृश्य नहीं यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

ननु 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्' 'स्वनिषेधापर्यवसायी'ति विशेषणद्वयं न लक्षणशरीरघटकम्, अपि तु 'अत्रत्यवर्णनपदस्य 'चमत्कारजनकज्ञानविषयीभूतानुयोगिकं सादृश्यं लक्षणप्रविष्ट'मित्यर्थे' तात्पर्यग्राहकम्, तथा च न तद्वैयर्थ्यमापादयितामर्हतीत्यतो दोषान्तरमाह—

किञ्च

'स्तनाभोगे पतन्भाति कपोलात् कुटिलोऽलकः।
शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः॥'

इत्यादौ मुख्यवाक्यार्थत्वेनानलङ्कारभूतायामुपमायामतिव्याप्तिः। उपमितिक्रियानिष्पत्ति[illegible] चात्रापि सत्त्वात्। न चेयमप्युपमा लक्ष्येति वाच्यम्। ध्वन्यमानोपमानिवारणप्रयासस्य वैयर्थ्यापत्तेः। न ह्यत्राभेदप्रधानोत्प्रेक्षा शक्या वक्तुम्। कल्पितोपमाया निर्विषयत्वप्रसङ्गात्।

'व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः।
क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालङ्कृतिस्तु सा॥'

इति स्वकृतसूत्रेऽलङ्कारभूतोपमाया एव लक्ष्यत्वेनाभिधानात्। अलङ्कारभूतोपमालक्षणत्वे तदेवादुष्टाव्यङ्ग्यत्वविशेषितमिति तत्रैव पुनरभिधानाच्च। न ह्यत्रोपमानोपमेयसादृश्यादुपमास्वरूपादस्ति कश्चिदतिरिक्तो वाक्यार्थः, येनोपमा तमलङ्कुर्यात्।

स्तनाभोगे इति। व्याख्यातमिदं पुरस्तात्। मुख्यवाक्यार्थत्वेनेति। तथा च न वाक्यार्थोपस्कारकत्वमिति भावः। एतच्च 'अलङ्करोती'ति योगलभ्यम्। तत्फलितमाह—अलङ्कारेति। अतिव्याप्तौ हेतूपन्यासमुखेन लक्षणार्थं संघटयति—उपमितिक्रियेति। सङ्ग्राह्यत्वमाशङ्कयते—न चेति। प्रतिबन्द्या तदुत्तरमाह—ध्वन्यमानेति। अलङ्कारान्तरमुद्भाव्य सादृश्याप्रतीतियुक्तिकं लक्षणाप्रसङ्गमाशङ्कते—न ह्यत्रेति। समाधानमाह—कल्पितेति। अनलङ्कारभूतोपमाया अपि लक्षणमिदमिति मनसि कृत्वा तद्विरुद्धं दीक्षितवचनमुद्धरति—व्यापार इति। उपमानाख्यः तुलनात्मकः, व्यापारः क्रिया, उपमितिक्रियानिष्पत्तिपर्यन्तम् तुलनासिद्धिं यावत्, यदि, विवक्षितः वक्तुरभिप्रेतः, तर्हि, सा, उपमालङ्कृतिरिति तदर्थः। वक्तव्यम् स्फुटीकर्तुम् दीक्षितोक्तमन्यदप्युद्धरति—अलङ्कारभूतोपमालक्षणत्वे इति। अत्रत्योपमाया अनलङ्कारत्वं स्फुटयितुमाह—न ह्यत्रोपमेति। अयं भावः—उपमितिक्रियानिष्पत्त्यादिविशेषणस्योक्तार्थे तात्पर्यग्राहकत्वस्वीकारे यद्यपि

प्रागभिहितो विशेषणवैयर्थ्यरूपो दोषो नापतेत् , तथापि 'स्तनाभोगे''' इत्यादौ अतिव्याप्तिरूपो लक्षणस्य दोष आपतेदेव, उपमितिक्रियानिष्पत्तीत्यादिविशेषणविशिष्टप्रकृतलक्षणार्थस्यात्रापि सङ्घटयमानत्वात् । ननु नेयमतिव्याप्तिः, अलक्ष्ये लक्षणगमनस्य तत्त्वेनाङ्गीकारात् , प्रकृते च सादृश्यरूपोपमायाः प्रतीत्या लक्ष्यत्वस्यैव निर्णयात् इति चेत् ? सत्यम् , परन्तु अलङ्करोतीति योगार्थस्वारस्यानुसारं मुख्यवाक्यार्थोपस्कारकः स्वयंगुणीभूतो वाच्यार्थ एव वस्तुतो निखिलालङ्कारलक्षणलक्ष्यभूतः, इह च वाच्यतामवगाहमानाप्युपमा मुख्यार्थरूपैव, उपमानोपमेयसादृश्यात्मकत्वात् तत्स्वरूपादन्यस्य कस्यचन वाक्यार्थस्य विरहात् । एवञ्चेयमुपमा अनलङ्कारभूता न लक्ष्यतामालम्बते । लक्षणे वाक्यार्थोपस्कारकत्वस्याप्रवेशादत्र तत्प्रसक्तिरतिव्याप्तिरेवेति ग्रन्थस्याशयः । अनलङ्कारभूताऽप्युपमा प्रकृतलक्षणस्य लक्ष्यत्वेनाभिमतेति तु न वक्तुं योग्यम् , लक्षणे 'अव्यङ्ग्यम्' इति विशेषणनिवेशेन ध्वन्यमानोपमानिराकरणप्रयासो व्यर्थ इति प्रतिवन्द्या आपतनात् । अनलङ्कारत्वस्य तुल्यत्वे तस्या अपि संग्राह्यतैव तथात्वे समुचितेति सारांशः । उरगालकयोः सादृश्यं नात्र प्राधान्येन विवक्षितम् , अभेद एव तयोरत्र तथात्वेनाभिमतः, अतोऽत्रोत्प्रेक्षैवालङ्कारः । एवञ्च प्रकृतलक्षणस्य सादृश्यघटितस्य प्रसङ्गो नास्त्येवेत्यपि न वक्तुं शक्यम् , एवं सति कल्पितोपमायाश्चित्रमीमांसादौ स्वनिबन्धे दीक्षितेनापि स्वीकृताया विषयविलोपापातात् । अलङ्कारभूतोपमैव दीक्षितस्य लक्ष्यत्वेनाभिमतेति कुतोऽवगम्यत इति चेत् ? 'व्यापार उपमानाख्यो''' इत्यादि तदीयसूत्रस्य 'अलङ्कारभूतोपमालक्षणत्वे''' इत्यादि तदुक्तेश्च स्वरसादिति मन्तव्यम् इति ।

'उपमितिक्रियानिष्पत्ति' इत्यादि जिन विशेषणों का वैयर्थ्यापातदोष आपने पूर्व में दिखलाया है, उनको 'वर्णनपदसादृश्य में चमत्कारित्वविशेषण का बोधक है' इस अर्थ में तात्पर्यग्राहक मान लेने पर उक्त वैयर्थ्य दोष नहीं होगा, क्योंकि अब वे विशेषण, लक्षण में एक तरह से रहे ही नहीं, अतः अन्य दोष दिखलाते हैं—किञ्च इत्यादि। उक्त दोष के न होने पर भी 'स्तनाभोगे''' इत्यादि पद्य—जिसका अर्थ पहले लिखा जा चुका है—में दीक्षितकृत उपमालक्षण की अतिव्याप्ति (दोष) हो ही जायगी। अभिप्राय है कि इस पद्य में उपमा (सादृश्य) यद्यपि है, तथापि वह वस्तुतः अलङ्काररूप नहीं हो सकती। कारण, वह स्वयं मुख्य वाक्यार्थ है, और 'अलङ्करोति' अर्थात् 'किसी को सुशोभित जो करे' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अलङ्कारसामान्य (सभी अलङ्कारों) का लक्ष्य वही हो सकता है, जो स्वयं गौण होकर किसी दूसरे मुख्य अर्थ को सुशोभित करे। परन्तु यहाँ उपमान, उपमेय और सादृश्य इन तीनों का मिश्रणरूप उपमा से भिन्न कोई अर्थ है ही नहीं फिर यह उपमा शोभित करे तो किसको ? इस तरह से यह सिद्ध है कि यह उपमा अलङ्कार का लक्ष्य नहीं है, अतः इसका वारण करने के लिये लक्षण में 'वाक्यार्थोपस्कारक' आदि कोई विशेषण अवश्य जोड़ना चाहिये था, किन्तु दीक्षितजी ने वैसा कोई विशेषण जोड़ा नहीं और 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्, अदुष्ट तथा अव्यङ्ग्यसादृश्य का वर्णन' इत्यादि जो कुछ उन्होंने लक्षण में कहा, वे सभी बातें यहाँ भी वर्तमान हैं, अतः यह लक्षण इस अलक्ष्य में घट जाने से अतिव्याप्तिदोषग्रस्त है। यह तो आप कह नहीं सकते कि मुझे अनलङ्कारभूत (जो अलङ्काररूप नहीं होती उस) उपमा का भी इस लक्षण से संग्रह करना इष्ट है–अर्थात् यह उपमा भी इस लक्षण का लक्ष्य ही है, क्योंकि वैसा कहने पर व्यङ्ग्य उपमा के निराकरण करने के लिये जो 'अव्यङ्ग्य' विशेषण लक्षण में जोड़ा गया है, वह व्यर्थ हो जायगा–अर्थात् व्यङ्ग्य उपमा भी तो उपमा है ही, विलक्षणता जो उसमें केवल इतनी रहती है कि वह आप के मत से अलङ्काररूप नहीं है, ऐसी स्थिति

में जब आप को अनलङ्काररूप किसी उपमा का संग्रह करना अभीष्ट हो गया, तब व्यङ्ग्य अतएव अलङ्काररूप न होनेवाली उपमा का भी संग्रह करना ही उचित था, फिर व्यर्थ उसके वारण का प्रयास क्यों? आप कहेंगे—यहाँ किसी तरह की उपमा है ही कहाँ? क्योंकि उपमा में सादृश्य की प्रधानता होती है और यहाँ प्रधानता है साँप तथा केशों के अभेद की, अतः यहाँ उत्प्रेक्षा है, फिर उक्त आपत्ति कैसे आपने दे डाली? किन्तु यह कथन आपका सङ्गत नहीं, ऐसा मानने से कल्पितोपमा, निर्विषय हो जायगी—उसका कहीं लक्ष्य ही नहीं रह जायगा। यह तो आप कह नहीं सकते कि मैं 'कल्पितोपमा' नहीं मानता, कारण, 'चित्रमीमांसा'नामक निबन्ध में आपने इसे स्वीकृत किया है। अलङ्काररूप होनेवाली—अर्थात् किसी अपने से भिन्न मुख्य अर्थ को सुशोभित करने वाली उपमा का ही आपने यह लक्षण बनाया है अनलङ्कार रूप उपमा का नहीं, यह बात आपकी अन्य उक्तियों से भी सिद्ध होती है, क्योंकि आपने, 'व्यापार उपमानाख्यो''अर्थात् जब उपमान नामक क्रिया (तुलना) का क्रिया की सिद्धि पर्यन्त कहना अभीष्ट हो, तब उपमा अलङ्कार होता है' इस सूत्र में अलङ्काररूप उपमा को ही लक्ष्य कहा है। इतना ही नहीं, वहीं पर आपने पुनः कहा है कि 'अलङ्काररूप उपमा के लक्षण में 'अदुष्ट और अव्यङ्ग्य' ये दो विशेषण और जोड़ देने चाहिएँ।' एक बात पर ध्यान दीजिये—'स्तनाभोगे' इस पद्य के विषय में जो पण्डितराज ने यह कहा है कि यहाँ उपमा के स्वरूप (उपमान, उपमेय और सादृश्य) से भिन्न कोई वाक्यार्थ है ही नहीं, फिर यहाँ की उपमा अलङ्कृत करे तो किसको? अतः यह उपमा अलङ्काररूप नहीं होती, वह कैसे सङ्गत होगा, क्योंकि वस्तुतः यदि बात है अर्थात् उपमास्वरूप से अन्य वाक्यार्थ नहीं है, तब पण्डितराज ने स्वयं जो इस पद्य में उपमालङ्कार माना है, वह कैसे? कारण, उनके लक्षण में साफ-साफ सादृश्य का वाक्यार्थोपस्कारक होना अपेक्षित माना गया है, अतः उनके लक्षण के अनुसार यहाँ उपमालङ्कार नहीं होना चाहिए। यदि उक्त श्लोकवाक्य से शृङ्गार को अभिव्यक्त मान कर उसको मुख्य वाक्यार्थ माना जाय, और उसको उपस्कृत करने के कारण यहाँ की उपमा को अर्थालङ्कार कहा जाय, तब दीक्षित के मत में भी मेरे विचार से कोई दोष नहीं होता।

ननु अलङ्करोतीति योगार्थोपस्कारकत्वस्यालङ्कारसामान्यस्वरूपत्वेन विशेषलक्षणेषु तदनिवेशेऽपि क्षत्यभावः—अर्थात् अलङ्कारपदयोगार्थशून्ये लक्ष्ये पूर्वोक्तातिव्याप्तिर्न संभवदुक्तिकेत्यत आह—

अपि च लक्षणे सादृश्यविशेषणं निरर्थकम्। 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमद्वर्णनमुपमा' इत्येतावतैव स्वाभीष्टार्थलाभात्।

सादृश्यस्यैव वर्णनम्, उपमितिक्रियानिष्पत्तिकरम्—अर्थात् सादृश्यादन्यस्य कस्यचिद्वर्णने तुलनायाः सिद्धिर्नैव भवितुमर्हति, तथा च 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिवर्णनमुपमा' इत्येतावत एव लक्षणत्वे दीक्षिताभिप्रेतप्राप्तौ 'सादृश्योक्तिः' लक्षणे निरर्थकैव। एवञ्च दीक्षितकृतमुपमालक्षणं न समीचीनमिति भावः।

अलङ्कार पद का योगार्थ ही दूसरे को सुशोभित करनेवाला होता है—शोभाजनक हुए बिना कोई पदार्थ, अलङ्कार, हो ही नहीं सकता, फिर यदि अलङ्कारों के विशेष लक्षण में उस तरह का वाक्यार्थोपस्कार आदि विशेषण नहीं भी जोड़ा जाय, तथापि हानि नहीं हो सकती अर्थात् पूर्व में जो आपने लक्षण की अतिव्याप्ति दिखलाई है, वह वस्तुतः होती नहीं, क्योंकि अलङ्कार इस नामपद से ही उसका वारण, हो जायगा, अतः अन्य दोष दिखलाया जाता है—अपि च इत्यादि। उक्त दोनों लक्षणों में वर्णन के साथ जो 'सादृश्य का' यह विशेषण जोड़ा गया है, वह निरर्थक है, क्योंकि 'उपमिति

क्रिया (तुलना) को सिद्ध करनेवाला वर्णन उपमा अलङ्कार कहलाता है' इतना कहने से ही आपकी इष्ट-सिद्धि हो जाती है। कारण, सादृश्य से भिन्न किसी अर्थ के वर्णन से 'उपमिति क्रिया की सिद्धि' हो ही नहीं सकती, अतः 'सादृश्य' पद के न रहने पर भी 'वर्णन' से 'सादृश्य का ही वर्णन' लिया जायगा। सारांश यह कि दीक्षितजी का उपमालक्षण ठीक नहीं है।

विद्यानाथोक्तमुपमालक्षणमालोचयति—

एवम्—

'स्वतःसिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा॥'

इति विद्यानाथोक्तं लक्षणमपास्तम्। व्यतिरेके निषेधप्रतियोगिनि सादृश्येऽतिव्याप्तेः।

एवमिति। दीक्षितोक्तलक्षणवदित्यर्थः। अस्य च 'अपास्तम्' इति दूरस्थेनान्वयः। स्वतःसिद्धेनेति। स्वतःसिद्धेन अकल्पितेनेति भावः, भिन्नेन उपमेयादतिरिक्तेन, च पुनः सम्मतेन कविसमयप्रसिद्धेन, लिङ्गभेदादिदोषरहितेनेति यावत्, अन्येन अप्रस्तुतेन, वस्तुना, वर्ण्यस्य वर्णनीयस्य प्रस्तुतस्य वस्तुनः, धर्मतः समानधर्मप्रयुक्तमिति भावः, एकदा वारमेकं, साम्यं सादृश्यं, चेद् वाच्यम् अभिधाव्यापारबोध्यम्, अव्यङ्ग्यमिति यावत् तदा तदुपमालङ्कार इत्यर्थः अपास्तम् खण्डितम्। तत्र हेतुमाह–व्यतिरेकेति। 'तवाननस्य'''इत्यादावित्यर्थः। निषेधप्रतियोगिनीति। यस्य निषेधः फलति तस्मिन्नित्यर्थः। 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्''' इत्यादिदीक्षितोक्तं लक्षणं यथा न सङ्गतम्, तथैव 'स्वतःसिद्धेन''' इत्यादि, विद्यानाथाभिधेन केनचिदालङ्कारिकेण 'प्रतापरुद्रीये' निबन्धे कथितं लक्षणमपि असङ्गतमेव, 'तवाननस्य तुलनां दधातु जलजं कथम्' इत्यादौ व्यतिरेकालङ्कारोदाहरणेऽतिव्याप्तत्वात्, निषेधप्रतियोगितया तत्रापि सादृश्यस्य प्रतीयमानत्वात्। पण्डितराजकृतं लक्षणं तु चमत्कारहीनतया तस्मिन् सादृश्ये न प्रसजतीति भावः।

अब 'विद्यानाथ' नामक प्राचीन आलङ्कारिक के द्वारा 'प्रतापरुद्रीय' नामक निबन्ध में कहे गये उपमालक्षण का खण्डन करते हैं—एवम् स्वतःसिद्धेन इत्यादि। 'स्वतःसिद्धेन'''अर्थात् स्वतःसिद्ध–कवि के द्वारा कल्पित नहीं–तथा उपमेय से भिन्न और सम्मत–कविसमयप्रसिद्ध–अर्थात् लिङ्गभेद, वचनभेद आदि दोषों से मुक्त, अन्य–अप्रस्तुत वस्तु से, वर्णनीय–प्रस्तुत वस्तु का समान धर्म के कारण एक बार, सादृश्य, यदि वाच्य हो, तो वह उपमालङ्कार कहलाता है।' यह लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'कमल तेरे मुख की तुलना का धारण कैसे करे' इत्यादि व्यतिरेकालङ्कार में अन्ततः होने वाले निषेध के प्रतियोगीरूप से प्रतीत होनेवाले सादृश्य में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है।

अन्यदपि प्राचीनोक्तं लक्षणं पर्यालोचयति—

एवम्—

'उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः।
हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिः॥'

इति प्राचामपि लक्षणं प्रत्युक्तम्। हृद्यतामात्रेण निर्वाहे विशेषणान्तरवैयर्थ्यात्।

उपमानोपमेयत्वेति। उपमानोपमेयभावयोग्ययोर्द्वयोः पदार्थयोः वर्ण्यमानं सुन्दरं चमत्कृतिकरमिति यावत्, साधर्म्यम् सादृश्यम्, काव्यज्ञैरुपमा इति कथ्यते इत्यर्थः।

इदमपि लक्षणं न सम्यक्, 'हृद्यं साधर्म्यम्' इत्येतावत एव लक्षणत्वे संभवति अन्य-विशेषणानां लक्षणोक्तानां निरर्थकत्वादिति भावः।

प्राचीनों के एक अन्य लक्षण की भी आलोचना करते हैं—एवम् उपमानोपमेय इत्यादि। जिस तरह पूर्वोक्त लक्षण सब असङ्गत सिद्ध हुए हैं, उसी तरह प्राचीनों का 'उपमानोपमेयत्व''इत्यादि अर्थात् उपमानोपमेयभाव के योग्य दो वस्तुओं के सुन्दर सादृश्य को काव्यज्ञ जन उपमा कहते हैं' लक्षण भी असङ्गत ही है, क्योंकि यह लक्षण व्यर्थ विशेषणों से युक्त अर्थात्–साधर्म्य के साथ केवल हृद्य–सुन्दर–विशेषण का जोड़ना ही उपमालक्षण में काफी है, फिर जो इस लक्षण में अन्य विशेषण जोड़े गये हैं, वे सब के सब व्यर्थ ही हैं।

मम्मटोक्तं लक्षणं परीक्षते—

एवं काव्यप्रकाशोक्तमपि 'साधर्म्यमुपमाभेदे' इति लक्षणं नातीव रमणीयम्। व्यतिरेके निषेधप्रतियोगिनि सादृश्येऽतिव्यापनात्। न च पर्यवसितत्वेन साधर्म्यं विशेषणीयमिति वाच्यम्। अनन्वयस्थसादृश्यस्यापर्यवसायित्वेनैव वारणे भेदविशेषणवैयर्थ्यापत्तेः। काव्यालङ्कारप्रस्तावे लौकिकालौकिकप्रधान-वाच्यव्यङ्ग्योपमासामान्यलक्षणकरणानौचित्याच्च।

अरमणीयत्वे हेतुमाह—व्यतिरेक इति। घटकत्वं सप्तम्यर्थः। तथा च व्यतिरेक-घटकसादृश्ये इति तात्पर्यार्थः। अतिव्याप्तिनिरासाय शंकते—न चेति। उत्तरयति–अन-न्वयेति। भेदपदस्य पर्यवसितत्वार्थे तात्पर्यग्राहकत्वाङ्गीकारे तद्दोषाभावाद्दोषान्तरमाह—काव्यालङ्कारेति। काव्यप्रकाशाभिधाने परमप्रसिद्धे निबन्धे मम्मटेन 'सादृश्यमुपमाभेदे' इति उपमाया लक्षणं कृतम्। उपमानोपमेययोः भेदे सति, भिन्नपदार्थयोः उपमानोपमे-यभावे सतीति यावत् सादृश्यमुपमेति तदर्थः। परमिदमपि लक्षणं न समीचीनम्, पूर्वोक्ते निषेधप्रतियोगिनि व्यतिरेकालङ्कारघटके सादृश्ये तस्याप्यतिव्याप्तेः। पर्यवसितत्वेन साधर्म्ये विशेषिते–अर्थात् यस्य निषेधे पर्यवसानं न भवेत् तादृशे–स्वरूपेऽवतिष्ठमाने इति यावत्–सादृश्ये लक्षणघटकतया विवक्षितेऽपि न निस्तारः, तथा सति तेनैव विशेषणेन निषेध-पर्यवसायिनोऽनन्वयालङ्कारस्थस्यापि सादृश्यस्य वारणे सिद्धे तद्वारकस्य 'भेदे' इति विशेषणस्य वैयर्थ्यापत्तेः। न च भेदपदस्य तादृशार्थ एव तात्पर्यग्राहकतया लक्षणं निर्दुष्ट-मिति वाच्यम्, काव्यशास्त्रप्रसिद्धालङ्कारलक्षणनिर्माणप्रकरणे लौकिकीमलौकिकीं प्रधानाम्, वाच्याम् व्यङ्ग्यां च—सर्वविधामिति यावत्–उपमां संगृह्णतः लक्षणस्य निर्मातुमनौचित्यात् इति भावः।

अब मम्मट भट्ट के लक्षण की पर्यालोचना करते हैं–एवं काव्य इत्यादि। अन्य लक्षणों के समान ही 'काव्यप्रकाश' में मम्मट के द्वारा लिखा गया 'साधर्म्यमुपमाभेदे अर्थात् भेद रहने पर अर्थात् उपमान उपमेय के दो रहने पर सादृश्य का नाम उपमा है।' यह लक्षण भी अधिक सुन्दर नहीं है। कारण, इसकी भी पूर्वोक्त, व्यतिरेकालङ्कारस्थ निषेधप्रतियोगी सादृश्य में अतिव्याप्ति हो जाती है। 'साधर्म्य' में पर्यवसित–अर्थात् जो सादृश्य अपने रूप में ही पर्यवसित होता हो–अन्त तक अपने रूप में रहे, तात्पर्य यह कि निषेधरूप में जो परिणत न होता हो ऐसा, यह विशेषण लगाने से भी लक्षण को निर्दुष्ट नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि उस विशेषण के लगाने पर जिस तरह व्यति-रेकस्थलीय निषेध में पर्यवसित होनेवाले सादृश्य का वारण होगा, उसी तरह उसी विशेषण से अनन्वयस्थलीय निषेधरूप में परिणत होनेवाले सादृश्य का भी वारण हो ही जायगा, फिर 'भेदे अर्थात् भेद रहने पर' यह विशेषण निरर्थक हो जायगा–अर्थात्

अनन्वय में एक ही वस्तु उपमान तथा उपमेय दोनों रहती है, अतः उपमान-उपमेय दो रहें एतदर्थक 'भेदे' विशेषण उपमा-लक्षण में लगाते थे, जिससे अनन्वय में उसकी प्राप्ति न हो, परन्तु अब–जब कि आप सादृश्य में पर्यवसित विशेषण लगा देते हैं—वह विशेषण व्यर्थ हो जाता है, कारण, व्यतिरेक की तरह अनन्वय में भी उसी विशेषण से काम चलनेवाला है। यदि आप कहें कि–'भेदे' विशेषण की व्यर्थता नहीं हो सकती, मैं लक्षणा आदि के द्वारा उसी का अर्थ 'पर्यवसित' मान लूँगा। पर इतने पर भी निस्तार नहीं। कारण, इस तरह विशेषणवैयर्थ्यदोष से मुक्ति मिल जाने पर भी लक्षण में दूसरा दोष आ ही जाता है और वह, यह कि काव्योपयोगी अलङ्कारों के लक्षण बनाते समय लौकिक, अलौकिक, प्रधान, वाच्य और व्यङ्ग्य सभी तरह की उपमाओं को संगृहीत कर लेनेवाले साधारण उपमा-लक्षण का बनाना अनुचित है। तात्पर्य यह कि 'चमत्कारित्व' विशेषण जब सादृश्य में नहीं लगाया जाता, तब यह (साधर्म्यमुपमाभेदे) ऐसा सामान्य लक्षण हो जाता है, जिससे 'जैसी गाय, वैसा गवय' इत्यादि सभी तरह की उपमायें पकड़ी जा सकती हैं परन्तु यह बात उचित नहीं होती, क्योंकि काव्यालङ्कार का लक्षण निर्माण करने चले हैं, अतः उचित होता कि उसी तरह का लक्षण बनाते, जिससे केवल काव्य में उपयुक्त होनेवाली चमत्कारिणी उपमाओं का संग्रह होता, गोगवय आदि की अचमत्कारिणी उपमाओं का नहीं।

उक्तयुक्त्यैवालङ्कारसर्वस्वोक्तं लक्षणं खण्डयति—

अत एव 'भेदाभेदतुल्यत्वे साधर्म्यमुपमा' इत्यलङ्कारसर्वस्वोक्तमपि लक्षणं तथैव।

अत एवेति। प्रकाशलक्षणोक्तदोषसमूहादेवेत्यर्थः। तथैवेति नातीव रमणीयमित्यर्थः। भेदस्य अभेदस्य च समानरूपेण भासमानत्वे सति सादृश्यम् उपमा इत्यर्थकं 'भेदाभेदतुल्यत्वे साधर्म्यमुपमे'ति अलङ्कारसर्वस्वग्रन्थोक्तं लक्षणमपि न भव्यम्, काव्यप्रकाशलक्षणोक्तदूषणानामत्रापि वर्तमानत्वादिति भावः।

अलङ्कारसर्वस्वकारकृत लक्षण की पर्यालोचना करते हैं—अतएव इत्यादि। 'भेद तथा अभेद दोनों के समानरूप से भासित होते रहने पर जो सादृश्य हो, उसे उपमा कहते हैं' यह अलङ्कारसर्वस्व में लिखित लक्षण भी वैसा ही है—अर्थात् काव्यप्रकाश-लक्षण के समान अधिक सुन्दर नहीं है, क्योंकि उनके लक्षणों में जो दोष दिये गये हैं, वे इस लक्षण में भी हो जाते हैं।

अपरमपि लक्षणं पर्यालोचयति—

एवं 'प्रसिद्धगुणेनोपमानेनाप्रसिद्धगुणस्योपमेयस्य सादृश्यमुपमा' इत्यलङ्काररत्नाकरोक्तमपि न भव्यम्। श्लेषमूलकोपमायां तादृशशब्दात्मकस्य धर्मस्य कविनैव कल्पनात् तेन रूपेणोपमानस्याप्रसिद्धेश्च।

एवमिति। व्यतिरेकेऽतिव्यापनादित्यर्थः। प्रसिद्धगुणेनेति। प्रसिद्धाः ख्याताः–कल्पिता नेति यावत्–गुणाः गुणक्रियारूपधर्माः, यस्य तादृशेन, उपमानेन, सह, अप्रसिद्धगुणस्य तादृशधर्मवत्तया न प्रसिद्धस्य, उपमेयस्य, सादृश्यमुपमा कथ्यते इत्यर्थः। ननु पर्यवसितत्वेन विशेषणान्न दोष इत्यत आह—श्लेषमूलकेति। दोषान्तरमाह—तेन रूपेणेति। अलङ्काररत्नाकरोल्लिखितमिदं लक्षणमपि न युक्तम्, व्यतिरेकस्थलीयसादृश्ये पर्यवसाने निषेधरूपेण परिणंस्यमानेऽतिव्याप्तेः। न च पर्यवसितेतिविशेषणदानेन तद्दोषनिरासे लक्षणं सम्यगिति वाच्यम्, श्लेषमूलकोपमास्थले श्लिष्टशब्दस्य साधारणधर्मतया

विवक्षितस्य कविकल्पिततया उपमानगुणत्वेनाप्रसिद्धेस्तत्राव्याप्तेः, प्रसिद्धगुणत्वेन रूपेणोपमानस्य क्वापि प्रसिद्धिविरहेण लक्षणेऽप्रसिद्धदोषावताराच्चेति भावः।

एक दूसरे लक्षण का भी खण्डन करते हैं—एवम् इत्यादि। 'प्रसिद्धगुणेन'''अर्थात् गुण-धर्म (गुण क्रिया आदि) जिनके प्रसिद्ध हों अर्थात् कविकल्पित न हों, ऐसे उपमान के साथ, जिनके धर्म प्रसिद्ध न हो, ऐसे उपमेय का जो सादृश्य उसको उपमा कहते हैं' यह अलङ्काररत्नाकर का लक्षण भी ठीक नहीं है। कारण, अन्ततः निषेधरूप में परिणत हो जानेवाले व्यतिरेकस्थलीय सादृश्य में इसकी भी अतिव्याप्ति हो जाती है। यदि आप 'अपने रूप में पर्यवसित होनेवाले' ऐसा विशेषण सादृश्य में लगाकर लक्षण को ठीक बनाना चाहेंगे, तो भी वह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उस स्थिति में श्लेषमूलक उपमा के स्थल में लक्षण की अव्याप्ति ही हो जायगी अर्थात् श्लिष्ट शब्द जो उपमान का धर्म माना जाता है, प्रसिद्ध नहीं होता अतः वहाँ यह लक्षण सङ्घटित नहीं हो सकेगा। इतना ही नहीं, वस्तुतः यह लक्षण अप्रसिद्ध ही है अर्थात् कहीं भी सङ्घटित नहीं हो सकता कारण, ऐसा उपमान कहीं मिल ही नहीं सकता, जो प्रसिद्ध गुण वाले के रूप में प्रसिद्ध हो। सारांश यह कि चन्द्र आदि उपमान भी चन्द्ररूप में ही प्रसिद्ध रहता है, 'आह्लादकत्व वाला चन्द्र' इस रूप में नहीं।

परकीयलक्षणपर्यालोचनसमाप्तिं सूचयति—

इत्यलं परकीयदूषणगवेषणया।

परेषां दूषणान्वेषणं व्यर्थमिति तत्परिहीयत इति भावः।

अब परकीयलक्षणसमाप्ति की सूचना देते हैं—इत्यलम् इत्यादि। दूसरों का दोषान्वेषण करना निरर्थक है, अतः अब उसको समाप्त करते हैं।

पुनः प्रकृतानुसरणं सूचयति—

प्रकृतमनुसरामः।

पुनः प्रक्रान्तमुपमाविचारं प्रवर्तयाम इति भावः।

अब पुनः प्रस्तुत विषय पर आने की सूचना देते हैं—प्रकृतेत्यादि। अब अन्य बातों को छोड़कर पुनः प्रसङ्गप्राप्त उपमा के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

प्राचीनाभिमतोपमाभेदानामुदाहरणप्रदर्शनं प्रतिजानीते—

अस्याश्चोपमायाः प्राचामनुसारेण केचिद् भेदा उदाह्रियन्ते।

प्राचां प्रकाशकारादीनाम्। अन्यत् स्पष्टम्।

इस उपमा के प्राचीनमतसिद्ध कुछ भेदों के उदाहरण दिखलाए जाते हैं।

उपमाभेदान् प्राचीनाभिमतान् प्रदर्शयति—

तथा हि—उपमा द्विविधा, पूर्णा लुप्ता च। पूर्णा तत्र—श्रौती आर्थी चेति द्विधा भवन्ती वाक्य-समास-तद्धितगामितया षोढा। लुप्ता च—उपमानलुप्ता, धर्मलुप्ता, वाचकलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकधर्मलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता, धर्मोपमानवाचकलुप्तेति तावत्सप्तविधा, तत्रोपमानलुप्ता—वाक्यगा समासगा चेति द्विविधा। धर्मलुप्ता—समासगता-श्रौती, आर्थी। वाक्यगता-श्रौती, आर्थी। तद्धितगता च-आर्थ्येव, न श्रौती। इति पञ्चविधा। वाचकलुप्ता—समासगता, कर्मक्यङ्गता, आधारक्यङ्गता, क्यङ्गता, कर्मणमुलगता, कर्तृणमुलगता चेति षड्विधा। धर्मोपमानलुप्ता—वाक्यगता, समासगता चेति

द्विविधा। वाचकधर्मलुप्ता क्विब्गता समासगता चेति द्विविधैव। वाचकोपमेयलुप्ता त्वेकविधा। धर्मोपमानवाचकलुप्ता तु समासगतैकविधा। इति।

तत्र पूर्णलुप्तयोर्मध्ये। तत्र तासां सप्तानां मध्ये। इतरच्चिगदव्याख्यातमिति नेह प्रतन्यते।

उपमाभेदों का निर्देश करते हैं—तथा हि इत्यादि। उपमा दो प्रकार की है—पूर्णा तथा लुप्ता। उनमें से पूर्णा उपमा श्रौती एवं आर्थीभेद से दो तरह की होती है, और उन दोनों भेदों में से प्रत्येक भेद वाक्यगामी, समासगामी और तद्धितगामी–इस तरह तीन प्रकार के होते हैं, अतः पूर्णोपमा छः प्रकार की होती है। सारांश यह कि पूर्णोपमा छः प्रकार की है—श्रौती वाक्यगता, आर्थी वाक्यगता, श्रौती समासगता, आर्थी समासगता, श्रौती तद्धितगता और आर्थी तद्धितगता। रही अब लुप्ता। उसके पहले सात भेद होते हैं–उपमानलुप्ता, धर्मलुप्ता, वाचकलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकधर्मलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता और धर्मोपमानवाचकलुप्ता। उन सातों भेदों में से पुनः, उपमानलुप्ता के दो भेद–वाक्यगत और समासगत। धर्मलुप्ता के पाँच भेद–श्रौत समासगत, आर्थ समासगत, श्रौत वाक्यगत, आर्थ वाक्यगत और तद्धितगत केवल आर्थ। तद्धितगत का श्रौतभेद नहीं होता। वाचकलुप्ता के छः भेद—समासगत, कर्मार्थकक्यङ्गत, आधारार्थकक्यङ्गत, क्यङ्गत, कर्मार्थकणमुल्गत और कार्यर्थकणमुल्गत। धर्मोपमानलुप्ता के दो भेद–वाक्यगत और समासगत। वाचकधर्मलुप्ता के भी दो भेद–क्विप्प्रत्ययगत और समासगत। वाचकोपमेयलुप्ता का एक भेद–क्यच्प्रत्ययगत। धर्मोपमानवाचकलुप्ता का भी एक भेद–समासगत। उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और सादृश्यवाचक ये चार उपमा के अङ्ग हैं। ये चारों अङ्ग जहाँ शब्दद्वारा स्पष्ट कथित रहते हैं, वहाँ पूर्णोपमा और इन अङ्गों में से कहीं एक का, कहीं दो का और कहीं तीन का अभाव जहाँ रहता है, वहाँ लुप्तोपमा होती है। श्रौती तथा आर्थी भेद का रहस्य यह है कि–शब्दशक्तिस्वभाववैचित्र्य के कारण जहाँ 'यथा', 'इव' इवार्थक 'वा' तथा इवार्थक 'वति प्रत्यय' सादृश्य के वाचक रहते हैं, वहाँ शब्दश्रवणानन्तर तुरत उपमानोपमेय का परस्पर सादृश्य ज्ञात हो जाता है, अतः वहाँ श्रौती, उपमा कहलाती है और 'तुल्य', 'सदृश', 'सम' और 'तुल्यार्थक वतिप्रत्यय' आदि जहाँ सादृश्य के वाचक रहते हैं, वहाँ शब्दश्रवणोत्तर उपमानोपमेय में से किसी एक का ही दूसरे में सादृश्य ज्ञात होता है, पश्चात् अर्थतः परस्पर सादृश्य की प्रतीति होती है, अतः वहाँ आर्थी उपमा कही जाती है।

प्राचीनाभिमतभेदसंख्यासङ्कलनं कुरुते—

एवं साकल्येनैकोनविंशतिर्लुप्ताभेदाः पूर्णाभेदैः सह पञ्चविंशतिः क्रमेणोदाह्रियन्ते।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण। स्फुटमन्यत्।

पूर्वोक्त प्रकार से सब मिलाकर लुप्ता के उन्नीस भेद होते हैं। पूर्णा के छः भेदों को इनमें जोड़ देने से सब पचीस भेद सिद्ध हुए। अब क्रमशः इन भेदों के उदाहरण दिखाए जाते हैं।

वाक्यगतां श्रौतीं पूर्णोपमामुदाहरति—

तत्र पूर्णा श्रौती वाक्यगता यथा—

'ग्रीष्मचण्डकरमण्डलभीष्मज्वालसंसरणतापितमूर्तेः।
प्रावृषेण्य इव वारिधरो मे वेदनां हरतु

तत्रेति। पञ्चविंशतेर्मध्ये इत्यर्थः। अत्र 'पञ्चविंशतीनां मध्ये' इति व्याचक्षाणो वैयाकरणशिरोमणिर्नागेशः 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे' इति नियमं कुतो नास्मरदिति न विभावयन्नपि निर्णेतुं शक्नोमि। ग्रीष्मेति। भक्तः प्रार्थयते—प्रावृषेण्यः वर्षर्तुसमुद्भवः, वारिधरः जलधरः, यथा, ग्रीष्मस्य निदाघस्य चण्डकरमण्डलस्य सूर्यमण्डलस्य, भीष्मा भयङ्करी, ज्वाला तापो, यत्र, तादृशे देशे संसरणेन गमनेन, तापिता, मूर्तिः शरीरं, यस्य, तादृशस्य मनुष्यस्य, वेदनां संतापपीडां, हरति, तथा वृष्णिवरेण्यः नवनीरदाभो मुरारिः ग्रीष्मचण्डकरमण्डलवत् निदाघकालीनसूर्यमण्डलवत्, भीष्मा ज्वाला यस्य, तादृशेन, संसरणेन संसारेण, जन्ममरणाभ्यामिति यावत् तापिता मूर्तिर्यस्य तादृशस्य, मे मम, वेदनां भवतापपीडां, हरतु दूरीकरोत्वित्यर्थः।

उदाहरण दिखलाने का उपक्रम करते हैं—तत्र इत्यादि। पूर्वोक्त पच्चीस उपमाप्रभेदों में से पूर्णा श्रौती वाक्यगता जैसे-'ग्रीष्म च···।' भक्त भगवान् से याचना करता है—वर्षा-ऋतु का जलधर (मेघ), जिसतरह, ग्रीष्म-ऋतु के सूर्यमण्डल की भयङ्कर ज्वालावाले प्रदेश में सञ्चरण करने से संतप्त-शरीरवाले मनुष्य की वेदना को दूर कर देता है, उसी तरह यादवश्रेष्ठ-घनश्याम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र-ग्रीष्मकालीन सूर्यमण्डल की भयङ्कर ज्वाला के समान ज्वाला वाले संसार (जन्म-मरण) से संतप्त शरीरवाले मेरी वेदना का हरण करें।

उपपादयति—

अत्र प्रावृषेण्य इत्यनेन वारिधरविशेषणेन नैराकाङ्क्ष्यात्, इवेन समास इत्येव पाठान्नित्यत्वाभावाद् वारिधरेणापि नेवस्य समासः। एषा चोपमानोपमेययोर्वारिधरभगवतोर्वेदनाहरणकर्तृत्वस्य साधारणधर्मस्य सादृश्यबोधकस्येवशब्दस्य चाभिधानात्पूर्णा सादृश्यस्य श्रुत्या बोधनाच्छ्रौती।

वाक्यगतत्वं स्फुटयति—अत्रेति। उक्तपद्ये प्रावृषेण्य इति वारिधरस्य विशेषणम् इति तस्मिन्नेव साकाङ्क्षम्, न इवार्थे, अतः प्रावृषेण्यशब्दस्य इवशब्देन सह समासो न प्राप्तः। वारिधरस्य विशेष्यस्य इवार्थे साकाङ्क्षत्वेऽपि 'सुप्सुपे'त्यनित्यशास्त्रप्रपञ्चभूतस्य 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इत्यस्याप्यनित्यत्वेन वैवक्षिकः स न भवतीति वाक्यगतत्वमस्या उपमाया बोध्यम्। पूर्णात्वं विविनक्ति—एषा चेति। उपमानोपमेयसाधारणधर्मसादृश्यानामुपमाङ्गानां चतुर्णां शब्दैरुपादानात् पूर्णात्वमुपमाया इति भावः। श्रौतीत्वमाह—सादृश्यस्येति। परस्परनिरूपितस्येति शेषः। श्रुत्या श्रवणोत्तरमेवेत्यर्थः। इवशब्दशक्तिस्वाभाव्यात् स्वश्रवणानन्तरमविलम्बेनैवोपमानोपमेययोः परस्परं सादृश्यं प्रतीयते, न तत्र वाक्यार्थज्ञानापेक्षा भवतीति श्रौतीयं भवति, इति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। यहाँ 'प्रावृषेण्य' पद के साथ 'इव' शब्द का समास प्राप्त ही नहीं है, क्योंकि प्रावृषेण्य पदार्थ, वारिधर पदार्थ का विशेषण है, अतः वह उसी अंश में साकांक्ष है इवार्थअंश में नहीं और समास होता है परस्परसाकांक्षार्थवाचक पदों में। वारिधर यह विशेष्यभूत पदार्थ यद्यपि इवार्थ में साकांक्ष है, अतः वारिधर पद के साथ इव पद का समास प्राप्त है, तथापि वह नहीं किया जायगा। कारण,-'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' यह समासविधायक वचन, 'सुप्सुपा' इस वैकल्पिकशास्त्र के प्रपञ्चभूत होने से वैकल्पिक है और वैकल्पिकशास्त्रों की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन हुआ करती है। अतः यह उपमा वाक्यगत कहलाती है। पूर्णोपमा यह इस लिये कहलाती है कि उपमा के चारों अङ्ग (उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और सादृश्य) यहाँ शब्दतः उक्त हैं-अर्थात् मेघरूप उपमान, कृष्णरूप उपमेय, वेदना का

हरण करना रूप साधारण धर्म तथा इवार्थ-सादृश्य-इन चारों उपमाङ्गों के शब्दतः उक्त रहने के कारण यह उपमा पूर्णा कहलाती है। इसी तरह पूर्वोक्त विचार के अनुसार 'इव' पद से सादृश्य के बोध होने के कारण यह उपमा श्रौती समझी जाती है।

वाक्यगतामार्थी पूर्णोपमामुदाहर्तुमाह—

पूर्णा आर्थी वाक्यगता यथा—

यत्प्रकारिकोपमा वाक्यगता आर्थी पूर्णा च भवति, स प्रकारो निम्ननिर्दिष्टो द्रष्टव्य इति भावः।

वाक्यगत आर्थी पूर्णोपमा जैसे—

उदाहरति—

'प्राणापहरणेनासि तुल्यो हालाहलेन मे।
शशाङ्क केन मुग्धेन सुधांशुरिति भाषितः॥'

काचन विरहिणी चन्द्रं प्रति वक्ति—अयि शशाङ्क! मृगाङ्क! कलङ्किन्! चन्द्र इति यावत्, त्वं, प्राणस्य, अपहरणेन, हेतुना, मे मत्कृते, हालाहलेन उग्रेण विषेण, तुल्यः सदृशः, असि भवसि। केन अज्ञातनामगोत्रेण, मुग्धेन मोहाच्छन्नेन जडेनेति यावत्, सुधांशुः पीयूषकिरणः, इति पदेनेति शेषः, भाषितः त्वं कथितः इत्यर्थः। प्राणहरणकारित्वेन विषकल्पस्य तव सुधांशुपदेन व्यवहारो मोहग्रस्तस्यैव कार्यम् न विवेकिन इति भावः। अत्र हालाहलस्योपमानस्य, शशाङ्कस्योपमेयस्य, प्राणहरणकारित्वस्य साधारणधर्मस्य सादृश्यस्य च शब्दतः उपादानात् पूर्णात्वम्, तुल्यपदेन सादृश्यस्य प्रतिपादनादार्थीत्वम् 'हालाहलेन तुल्य' इति व्यस्तप्रयोगात् वाक्यगतत्वम् च बोध्यम्।

उदाहरण दिखलाया जाता है—प्राणापहरणेन इत्यादि। चन्द्रमा के प्रति किसी विरहिणी नायिका की उक्ति है—हे शशाङ्क-कलङ्कमय चन्द्र प्राणापहारी होने के कारण, तुम, मेरे लिये, गरल के समान हो। न जाने, किस मूढ़ ने तुम्हें 'सुधांशु' कह दिया। सारांश यह कि जो प्राणहरण करनेवाला है, उसे, विष नहीं, तो विषतुल्य, अवश्य कहना चाहिए, सो न कहकर उसे अमृतकिरण कह देना मुग्धता के अतिरिक्त क्या हो सकता है? यहाँ हालाहलरूप उपमान, शशाङ्करूप उपमेय, प्राणहरणरूप साधारण धर्म और सादृश्य—इन चारों अङ्गों का शब्द द्वारा प्रतिपादन होने के कारण उपमा पूर्णा कहलाती है। 'तुल्य' पद से सादृश्य का बोध होने के कारण वह आर्थी कही जाती है। 'हालाहलेन तुल्यः' यहाँ समास न करने के कारण वाक्यगत उपमा समझनी चाहिए।

समासगतां श्रौतीं पूर्णोपमामुदाहर्तुमाह—

पूर्णा श्रौती समासगा यथा—

यत्प्रकारिकोपमा समासगता पूर्णा श्रौती व्यपदिश्यते, स प्रकारोऽधो निर्दिश्यते इति भावः।

समागत श्रौती पूर्णोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

'हरिचरणकमलनखगणकिरणश्रेणीव निर्मला नितराम्।
शिशिरयतु लोचनं मे देवव्रतपुत्रिणी देवी॥'

भक्तः गङ्गां प्रार्थयते—हरेः विष्णोः, चरणौ कमलौ इवेत्युपमितसमासः, न तु रूपक-

समासः; तत्र 'नखगण'प्रतिपादनस्योपमायाः साधकत्वात् रूपकस्य बाधकत्वाच्च, तेन कमलतुल्यौ चरणाविति पर्यवसितार्थः, तत्र यो नखगणः नखसमूहः, तस्य किरणश्रेणी प्रभापुञ्जमिव, नितरामत्यन्तं, निर्मला स्वच्छा, देवव्रतेन भीष्मेण, पुत्रिणी पुत्रवती भीष्मजननीति यावत्, देवी ऐश्वर्यमयी, गङ्गा, मे मम, लोचनं नयनं, शिशिरयतु शीतलयतु इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—हरिचरण इत्यादि। भक्त कामना करता है—भगवान् विष्णु के चरणकमलों के नखसमूह की किरणों की पङ्क्ति के समान अत्यन्त निर्मल, भीष्म की माता, गङ्गादेवी मेरे नयनों को शीतल करें—गङ्गाजी के दर्शन से मेरी आँखें आनन्द प्राप्त करें।

उपपादयति—

अत्रैवेन समासः।

'किरणश्रेणीव' इत्यत्र किरणश्रेणीशब्दस्य इवशब्देन सह समास आश्रीयते, तेनोपमायाः समासगतत्वम्, हरिपादनखप्रभारूपस्योपमानस्य, गङ्गारूपस्योपमेयस्य, निर्मलत्वरूपस्य साधारणधर्मस्य सादृश्यस्य चोपादानात्पूर्णत्वम्, 'इव'पदेन सादृश्यप्रतिपादनात् श्रौतीत्वञ्चावगन्तव्यम्।

उपपादन देखिए—अत्रेत्यादि। 'हरिचरण' ''' इस पद्य में 'इव' शब्द के साथ 'किरणश्रेणी' शब्द का समास हुआ है, अतः यह उपमा समासगत होती है। पूर्णा और श्रौती होने की युक्ति पूर्ववत् समझनी चाहिए।

समासगामार्थीं पूर्णोपमामुदाहर्तुमाह—

पूर्णा आर्थी समासगा यथा—

व्याख्या पूर्ववत्।

समासगत आर्थी पूर्णोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'आनन्दनेन लोकानामातापहरणेन च।
कलाधरतया चापि राजन्निन्दूपमो भवान्॥'

कविः राजानं स्तौति—राजन्! भवान्, लोकानां जनानाम्, आनन्दनेन सुखविशेषविधायित्वेन, आतापस्य सन्तापस्य, अपहरणेन दूरीकरणेन, कलाधरतया कलानां चतुःषष्टिकलानाम्, ज्योत्स्नायाश्च धारकत्वेन च हेतुना इन्दूपमः चन्द्रतुल्यः वर्तत इत्यर्थः। उक्तानां चतुर्णामङ्गानां शब्दतः प्रतिपादनात्पूर्णत्वम्, 'इन्दूपम' इति समस्तप्रयोगात् समासगतत्वम्, तुल्यार्थकेनोपमापदेन सादृश्याख्यानात् आर्थीत्वञ्चात्रोपमाया वेदितव्यम्।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—आनन्दनेन इत्यादि। कवि राजा की स्तुति करता है—हे राजन्! आप मनुष्यों को आनन्दित करने से तथा उनका सन्ताप हरण करने से और कलाओं के धारण करने से चन्द्र के समान हैं। यहाँ की उपमा, उक्त चारों अङ्गों के शब्दतः उपात्त रहने से पूर्णा, सादृश्यवाचक तुल्यार्थक उपमा शब्द के रहने से आर्थी और 'इन्दूपम' पद में समास होने से समासगत होती है।

श्रौतीमार्थीञ्च तद्धितगतां पूर्णोपमामुदाहर्तुमाह—

पूर्णा श्रौती आर्थी च तद्धितगा यथा—

व्याख्यापि प्राग्वदवगन्तव्या।

श्रौती तथा आर्थी—दोनों प्रकार की तद्धितगता पूर्णोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'निखिलजगन्महनीया यस्याभा नवपयोधरवत् ।
अम्बुजवद्विपुलतरे नयने तद्ब्रह्म संश्रये सगुणम् ॥'

भक्तो वक्ति—निखिलेन समग्रेण, जगता संसारेण, महनीया पूज्या, यस्य सगुणस्य ब्रह्मणः, आभा कान्तिः नवपयोधरवत् नूतनजलधरस्येव, विद्यत इति शेषः । एवम् यस्य ब्रह्मणो, नयने नेत्रे, अम्बुजवत् कमलतुल्ये, विपुलतरे सुविशाले, वर्तेते इति शेषः, तत् सगुणं सस्वरूपम् मायाविग्रहधारीति यावत्, ब्रह्म भगवन्तं कृष्णम्, संश्रये आश्रये तस्य शरणगतो भवामीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—निखिलेति । किसी भक्त का कथन है—जिसकी प्रभा, नूतन-घनघटा के समान सम्पूर्ण संसार से पूज्य है तथा जिसके नेत्र, वारिज की तरह बहुत बड़े-बड़े हैं, उस सगुण—अपनी माया से शरीर धारण करने वाले—ब्रह्म—भगवान् कृष्ण—का आश्रयण करता हूँ, उसके शरणागत होता हूँ ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे वतेः 'तत्र तस्येव' इति सादृश्ये विधानाच्छ्रौती उत्तरार्धे 'तेन तुल्यम्' इति विधानात्सादृश्यवदर्थकतया आर्थी ।

'निखिल···' इति पद्ये 'नवपयोधरवत्' इत्यत्र 'तत्र तस्येव' इति पाणिनिसूत्रेण इवार्थे सादृश्ये वतिप्रत्ययो विहित इति तदंशे श्रौत्युपमा । 'अम्बुजवत्' इत्यत्र 'तेन तुल्यं क्रिया चेत् वतिः' इति पाणिनिसूत्रेण तुल्यार्थे सादृश्यविशिष्टार्थे सप्रत्ययः कृत इति तदंशे आर्थी सेति भावः । पूर्णात्वं पूर्ववत् स्वयमनुसन्धेयम् । तद्धितगामित्वं तु स्पष्टमेव ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'नवपयोधरवत्' इस पद में 'वतिप्रत्यय' का विधान, 'तत्र तस्येव' इस पाणिनीसूत्र से 'इव' के अर्थ (सादृश्य) में हुआ है, अतः उस अंश में श्रौती और 'अम्बुजवत्' इस पद में उसका विधान 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस पाणिनिसूत्र से 'तुल्य' के अर्थ—'सादृश्ययुक्त' में हुआ है, अतः उस अंश में आर्थी उपमा मानी जाती है । पूर्णात्व का अनुसन्धान पूर्वोक्त रीति से स्वयं कर लेना चाहिए ।

पूर्णोपमोदाहरणप्रदर्शनानन्तरमिदानीं लुप्तोपमोदाहरणप्रदर्शनप्रसङ्गे प्रथमं वाक्यगतामुपमानलुप्तोपमामुदाहर्तुमाह—

उपमानलुप्ता वाक्यगा यथा—

यत्प्रकारिकोपमा उपमानलुप्ता भवति, स प्रकारो निर्दिश्यत इति भावः ।

वाक्यगत उपमानलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'यस्य तुलामधिरोहसि लोकोत्तरवर्णपरिमलोद्गारैः ।
कुसुमकुलतिलक चम्पक न वयं तं जातु जानीमः ॥'

कविः कथयति—अयि, कुसुमकुलतिलक पुष्पमण्डलश्रेष्ठ, चम्पक लोकोत्तरस्य अलौकिकस्य, वर्णस्य रूपस्य, तादृशस्य परिमलस्य गन्धस्य, च उद्गारैः उद्गिरणैः प्रकाशनैरिति यावत्, यस्य पदार्थस्य, तुलाम् समताम्, अधिरोहसि प्राप्नोसि, त्वमिति कर्तृपदमध्याहार्यम् । तं त्वच्छिष्टतुलाप्रतियोगिभूतं पदार्थम्, वयं, जातु कदाचिदपि, न जानीमः नानुसन्दध्म इत्यर्थः । चम्पकस्योपमेयस्योपमानमिह न प्रतिपादितमिति लुप्तोपमानत्वम्, 'यस्य तुला' इत्यत्र समासाभावाद् वाक्यगतत्वञ्चात्र बोध्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—यस्य तुला इत्यादि। कवि का कथन है—हे पुष्पों के सिरताज चम्पक! अलौकिक रूप और सुगन्ध के प्रकाशन से तुम, जिस चीज की समता को पाते हो, उसको हम कभी नहीं जान पाते। सारांश यह कि तुम्हारा सादृश्य किसी पुष्प में नहीं है—पुष्पों में तुम बेजोड़ हो। चम्पक का उपमान, यहाँ लुप्त है—नहीं प्रतिपादित है, अतः यह उपमानलुप्ता हुई। 'यस्य तुला' यहाँ पर समास नहीं किया गया है, अतः वाक्यगत उपमा होती है।

अल्पव्यत्यासेन इदमेव पद्यं समासगताया अपि तस्या उदाहरणं सम्भवतीति प्रतिपादयति—

यत्तुलनामधिरोहसीत्याद्यचरणनिर्माणे इयमेव समासगा।

'यस्य तुलामधिरोहसि' इति प्रथमचरणस्थाने 'यत्तुलनामधिरोहसि' इति समासघटितपाठकल्पने इदमेव पद्यं समासगाया उपमानलुप्ताया उदाहरणं भवेदिति भावः।

इसी श्लोक के प्रथम चरण को यदि 'यत्तुलनामधिरोहसि' के रूप में बदल दिया जाय, अर्थात् 'यस्य' को पृथक् न रखकर उसका 'तुलना' शब्द के साथ समास कर दिया जाय, तब यही श्लोक समासगत उपमानलुप्तोपमा का उदाहरण होगा।

अत्रालङ्कारान्तरत्वमाशंक्य निरस्यति—

उपमानाभावेन सादृश्याभावस्य पर्यवसानात्सादृश्यपर्यवसानस्य चोपमाजीवितत्वादलङ्कारान्तरमेवात्र नोपमानलुप्तेति न शङ्कनीयम्। यस्य तुलामारोहसि न तं वयं जानीम इत्युक्त्या अस्माकमसर्वज्ञत्वादस्मदगोचरः कोऽपि तवोपमानं भविष्यतीति सादृश्यपर्यवसानमस्तीत्युपमानलुप्तैवेयमुपमा नालङ्कारान्तरम्।

उपमानाभावेनेति सादृश्याभावपर्यवसाने हेतूक्तिः। उपमानस्य सादृश्यनिरूपकतया, निरूपकाभावे निरूप्यस्याभावः पर्यवस्यतीति भावः। यस्येति। यत इत्यादिः। इत्युक्त्येति। अन्यथा स नास्तीत्युक्तिः स्यादिति भावः। 'यस्य तुला...' इत्यत्रोपमानं नास्तीति तन्निरूपितं सादृश्यमपि नास्तीति पर्यवसाने नात्रोपमा संभवति, तस्याः सादृश्यपर्यवसानप्राणत्वादिति शङ्का नोचिता। यतः 'यत्सदृशस्त्वमसि, तं न जानीमः' इति कथनेन 'तवोपमानभूतः कश्चन पदार्थो विद्यतेऽवश्यम्, परन्तु सर्वज्ञताविरहादस्माकमसौ न प्रत्यक्षः' इति प्रतीयते। एवञ्च सादृश्यपर्यवसानं नास्तीति वक्तुं न शक्यम्, अतः उपमानलुप्तोपमाऽत्र निराबाधेति भावः।

'यस्य तुला...' इस पद्य में उपमा नहीं हो सकती, कोई दूसरा ही अलङ्कार मानना पड़ेगा, इस तरह की आशङ्का करके उसका खण्डन करते हैं—उपमानाभावेन इत्यादि। 'यस्य तुला...' इस पद्य में उपमान का अभाव है—उपमेयभूत चम्पक के उपमान का निषेध किया गया है। ऐसा करने से अन्ततः सादृश्य का भी अभाव सिद्ध हो जाता है। अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि चम्पक का किसी पदार्थ के साथ सादृश्य नहीं है और ऐसी स्थिति में यहाँ उपमानलुप्तोपमालङ्कार नहीं हो सकता। कारण, उपमा का जीवन है अन्त तक सादृश्य का प्रतीत होते रहना, जो यहाँ नहीं है अर्थात् यहाँ वाक्यार्थ की समाप्ति सादृश्य के निषेध में होती है सादृश्य में नहीं, अतः यहाँ कोई दूसरा ही अलङ्कार है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए। कारण, यहाँ जो यह कहा गया है कि—'तुम जिसकी समता को पाते हो, उसको हम नहीं जानते', उससे चम्पक का कहीं सादृश्य नहीं—यह सिद्ध नहीं होता, अपितु यह सिद्ध होता है कि 'सर्वज्ञ नहीं होने के कारण हम जिस पदार्थ को नहीं जान पाते, ऐसा कोई पदार्थ चम्पक का उपमान

है' इस तरह सादृश्य में हीं पर्यवसान होता है। अतः यहाँ अलङ्कारान्तर नहीं, उपमान-लुप्ता उपमा ही है।

प्राचीनोक्तिं खण्डयति—

एतेन

'ढुंढुंणंतो हि मरीहसि कंटककलिआइं केअइवणाइं।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमंतो न पाविहिसि ॥'

इत्यत्रासमालङ्कारोऽयमुपमातिरिक्त इति वदन्तोऽलङ्काररत्नाकरादयः परास्ताः।

एतेनेति। उक्तरीत्या सादृश्यपर्यवसानेनेत्यर्थः। अत्रापि तत्प्राप्तिरेव दुर्लभेत्युक्तं न तु नास्तीति भावः। ढुंढुंणंतो इति। 'ढुं ढुं कृत्वा हि मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकीवनानि। मालतीकुसुमसदृक्षं भ्रमर भ्रमन्न प्राप्स्यसि' इति छाया। हे भ्रमर! केतकीवनानि, कण्टककलितानि कण्टकमयानि, अतस्तत्र, त्वं, ढुं ढुं कृत्वा एतच्च वैकल्यकालिकभ्रमररवानुकरणम्, मरिष्यसि मरणमेव लप्स्यसे नानन्दम्। सत्यं जानीहि, भ्रमन्नपि रसमयं परिमलप्रचुरं पुष्पान्तरं गवेषयितुमितस्ततः सर्वत्र सञ्चरन्नपि, मालतीकुसुमसदृक्षं मालतीपुष्पसमानं पुष्पान्तरं, न प्राप्यसि नासादयिष्यसीति तदर्थः। एषा च स्वसौभाग्यं सूचयन्त्याः कस्याश्चन नायिकायाः स्वप्रियतमसमीपे भ्रमरं प्रत्युक्तिः। तेन—मुधैव त्वं नायिकान्तरमन्विष्यन् कष्टमनुभवसि, मादृशी नापरा प्राप्तुं शक्येति प्रियतमं प्रति नायिकया व्यज्यते। अत्रापि 'मालतीकुसुमसदृक्षं न प्राप्स्यसी'त्युक्त्या न मालतीकुसुमस्योपमानाभावः पर्यवस्यति, अपि तु अस्मदगोचरः कश्चन पदार्थस्तस्योपमानभूत इत्येव। तथा च पर्यवसितसादृश्यमुपमाजीवातुभूतमस्तीति उपमास्वीकारेऽत्र न काचिद् बाधा। एवञ्चात्रासमनामकमुपमातिरिक्तमलङ्कारं समर्थयन्तोऽलङ्काररत्नाकरादयो न युक्ताभिधायिन इति भावः।

प्राचीनोक्ति का खण्डन करते हैं—एतेन इत्यादि। 'ढुंढुंणंतो···' अर्थात् हे भ्रमर! तुम, काँटों से भरे हुए केतकी (केवड़ा) के वनों में ढूँ ढूँ करते हुए मरोगे, पर फिरते-फिरते भी मालती के फूल के समान दूसरे फूल को नहीं पा सकोगे। यह अपने सौभाग्यातिशय की सूचना देती हुई किसी नायिका की प्रियतम के समीप भ्रमर के प्रति उक्ति है। अतः प्रियतम के प्रति नायिका का यह अभिप्राय इस पद्य से व्यक्त होता है कि हे मेरे लालची प्रियतम! व्यर्थ, तुम, विलक्षण सुन्दरी की खोज में इधर-उधर क्या भटक रहे हो—कष्ट उठा रहे हो, विश्वास रक्खो, लाख घूमने पर भी मुझ जैसी सुन्दरी रमणी तुम्हें नहीं मिल सकेगी। इस पद्य में 'असम' नाम का एक दूसरा ही अलङ्कार है, उपमा नहीं ऐसा 'अलङ्काररत्नाकर' आदि का कथन है। परन्तु पूर्वोक्त विचार के अनुसार उनका यह कथन खण्डित हो जाता है—अर्थात् 'यस्य तुला···' इस पद्य के समान यहाँ भी यह कहा गया है कि 'मालतीफूल के तुल्य दूसरे फूल का मिलना कठिन है' न कि 'मालती फूल के समान कोई नहीं है' यह, अतः इस उक्ति से उपमान का निषेध पर्यवसित नहीं होता, अपितु हम लोगों से अज्ञात कोई तेरा उपमान होगा यही फलित होता है। इस स्थिति में पर्यवसान में सादृश्य के वर्तमान रहने के कारण यहाँ उपमा निर्बाध रूप से मानी जा सकती है, फिर 'असम' नामक अलङ्कारान्तर की कल्पना व्यर्थ एवं निराधार है।

श्रौतीं वाक्यगतां धर्मलुप्तोपमामुदाहर्तुमाह—

धर्मलुप्ता श्रौती वाक्यगता यथा—

वाक्यगतायाः श्रौत्या धर्मलुप्तोपमाया यः प्रकारः स प्रदर्श्यत इति भावः।

वाक्यगत श्रौती धर्मलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'कलाधरस्येव कलावशिष्टा विलूनमूला लवलीलतेव।
अशोकमूलं परिपूर्णशोका सा रामयोषा चिरमध्युवास॥'

लवलीलता 'हरफारेवडी' इति भाषया प्रसिद्धा। अशोकमूलमिति। 'उपान्व-' इति सूत्रेणाधारस्य कर्मसंज्ञा। कविः रावणापहृतां लङ्कागतां सीतां वर्णयति—कलाधरस्य चन्द्रमसः, अवशिष्टा क्षयानन्तरमपि शेषभूता, कला ज्योत्स्ना, इव, विलूनं छिन्नं, मूलं यस्यास्तादृशी, लवलीलता लताविशेषः, इव, परिपूर्णः यथावधिविवृद्धः, शोको यस्याः तादृशी, सा धैर्यपातिव्रत्यादिगुणवत्तया प्रसिद्धा, रामस्य, योषा पत्नी, सीता, चिरं चिरकालपर्यन्तम्, अशोकमूलम् अशोकतरोर्मूले, अध्युवास निवासं चक्रे इत्यर्थः। अत्राशोकमूले निवसन्ती परिपूर्णशोकेति विरोधो व्यज्यते। एवम् सीतेत्यनुक्त्वा 'रामयोषे'तिकथनेन 'निग्रहानुग्रहसमर्थस्य भगवतो रामचन्द्रस्यापि प्रियतमा चेदीदृशीं विपत्तिमापत्, तर्हि बलवद्दुर्विधेर्विलसितम्' इत्याद्यर्थोऽभिव्यज्यते। उपमाद्वयेन सीतायाः क्षीणता पाण्डुता तथापि कान्तिमत्ता च प्रतीयन्ते। अत्र सीतानिष्ठस्य कलाधरकलालवलीलतयोः सादृश्यस्य नियामकः साधारणधर्मः क्षीणत्वपाण्डुरत्वादिर्नोक्त इति धर्मलुप्तता बोध्या।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कलाधर इत्यादि। कवि का कथन है कि—क्षीण होने पर भी बची हुई चन्द्र की कला-सी और जड़ कटी हुई हरफारेवड़ी-सी, शोक से भरी हुई, वह रामचन्द्र की धर्मपत्नी-भगवती सीता, चिरकाल तक, अशोकतरु की जड़ में निवास करती रही। यहाँ 'अशोकमूल में बसती हुई शोक से भरी' इस उक्ति से विरोधाभास अलङ्कार व्यक्त होता है। सीता न कहकर 'रामयोषा' कहने से यह अभिव्यक्त होता है कि 'जब सब कुछ कर सकने में समर्थ भगवान् रामचन्द्र की प्रेयसी भी इस तरह की विपत्ति में आ फँसी, तब दुर्दैव का दुर्विलास ही बलवान् है।' जिस धर्म के कारण सीता में कलाधरकला और लवलीलता का सादृश्य कहा गया है, वह साधारण धर्म यहाँ उक्त नहीं है, अतः धर्मलुप्ता होती है।

धर्मलुप्तामधिकृत्य विचारमेकं प्रस्तौति—

'ग्रीष्मचण्डकरमण्डल' इति प्रागुदाहृते पूर्णाया उदाहरणे प्रावृषेण्यो वारिधर इव यो वृष्णिवरेण्यः स मे वेदनां हरत्विति वृष्णिवरेण्यमात्रगतत्वेन वेदनाहरणकर्तृत्वं विवक्षितम्, वारिधरसादृश्यं च श्यामत्वादिना यदि, तदा तत्राप्येषा बोध्या।

श्यामत्वादिनेति। विवक्षितमित्यनुषङ्गः। तत्रापि 'ग्रीष्मचण्ड-' इति पद्येऽपि। एषा धर्मलुप्तोपमा। ग्रीष्मचण्डेति पद्ये 'मेघो यथा सन्तप्तस्य वेदनां हरति, तथा यादवश्रेष्ठो हरिः मे वेदनां हरतु' इति वक्तृतात्पर्यविषयत्वेन वेदनाहरणकर्तृत्वात्मकस्योक्तं साधारणधर्मत्वात्र प्राक् पूर्णोपमेत्युक्तम्, इदानीं च 'मेघ इव यो हरिः स मे वेदनां हरतु' इति तात्पर्यविषयत्वे वेदनाहरणकर्तृत्वं हरिमात्रान्वयि न साधारणधर्मः, एवञ्च मेघहर्योः सादृश्यं श्यामत्वादिनाऽनुक्तेनैव धर्मेण वक्तव्यं स्यात्, अतस्तथात्वे तत्रापि धर्मलुप्तोपमैव न पूर्णोपमेत्युच्यते इति भावः।

धर्मलुप्ता के आधार पर एक विचार किया जाता है—ग्रीष्म इत्यादि। 'ग्रीष्मचण्ड—' यह पद्य पहले पूर्णोपमा के उदाहरणरूप में लिखा जा चुका है अर्थात् 'जैसे वर्षाकालिक मेघ संतप्त जन की वेदना का हरण करता है, वैसे [यादवों में श्रेष्ठ-हरि, मेरी वेदना का

हरण करें' ऐसा अभिप्राय वक्ता का माना गया है। तदनुसार, वेदनाहरणकर्तृत्वरूप साधारण (मेघ और हरि दोनों में रहने वाले) धर्म के उक्त रहने से पूर्णोपमा ठीक थी। परन्तु 'मेघ के समान जो हरि, वह, मुझ सन्तप्त की वेदना का हरण करें' ऐसा अभिप्राय यदि वक्ता का माना जाय, तब तो 'वेदनाहरणकर्तृत्व' साधारण धर्म हो नहीं सकता, क्योंकि इस अभिप्राय के अनुसार, वह केवल हरि में अन्वित होता है-मेघ में उसका सम्बन्ध रह नहीं जाता, अतः अगत्या मेघ और हरि का सादृश्य 'श्यामत्व आदि' धर्म-जो उक्त नहीं है-से ही कहना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में वह पद्य भी धर्मलुप्तोपमा का ही उदाहरण होगा, पूर्णोपमा का नहीं।

तत्र पूर्णोपमास्वीकारे लुप्तोपमास्वीकारे च यो विशेषस्तं दर्शयति—

इयांस्तु विशेषः—यत्पूर्णायां वृष्णिवरेण्यमात्रमुद्दिश्य प्रावृषेण्यवारिधरसादृश्यप्रयोजकं तादृशवारिधरसादृश्याभिन्नं वा वेदनाहरणकर्तृत्वं विधेयमित्युपमाविधेयिका धीः। धर्मलुप्तायां तु वारिधरसादृश्यावच्छिन्नवृष्णिवरेण्यमुद्दिश्य वेदनाहरणकर्तृत्वमात्रं विधेयमित्युपमोद्देश्यतावच्छेदिका।

सादृश्यमतिरिक्तः पदार्थ इति मतमनुसृत्याह—प्रावृषेण्य इति। सादृश्यं धर्मरूपमेव नातिरिक्तः पदार्थ इति मतमनुसृत्याह—तादृशेति। प्रावृषेण्येत्यर्थः। अवच्छेदिकेत्यस्येतीति शेषो बोध्यः। अयं भावः—'ग्रीष्मचण्ड-' इति पद्ये पूर्णोपमायामङ्गीक्रियमाणायां 'मेघसादृश्यप्रयोजकं मेघसादृश्याभिन्नं वा यत् वेदनाहरणकर्तृत्वम्, तद्वान्, हरिः इति नैयायिकरीत्या, प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यको बोधो भवति। तत्र च बोधे केवलो न तु विशेषणविशिष्टः हरिरुद्देश्यतया, भासते, 'सादृश्यमतिरिक्तः पदार्थ' इति मते मेघसादृश्यप्रयोजकम्, 'सदृशस्य भावः सादृश्यं धर्मरूपम् नातिरिक्तः पदार्थ' इति मते च मेघसादृश्याभिन्नं वेदनाहरणकर्तृत्वम् (वेदनाहरणम्) च लोडर्थविधेयतया भासते। सादृश्यमेव चोपमा अत एव उपमा विधेया यस्मिन् तादृशः स शाब्दबोधो व्यपदिश्यते। तत्र पुनः लुप्तोपमायां स्वीक्रियमाणायां 'मेघसदृशो हरिः, वेदनाहरणकर्तृतावान्' इति नैयायिकाभिमतो बोधः। तत्र च बोधे हरिरुद्देश्यभूतः इति तद्विशेषणीभूतम् उपमापर्यवसायि सादृश्यमुद्देश्यतावच्छेदकतया भासते, अतः उपमा उद्देश्यतावच्छेदिका कथ्यते इति।

उक्त पद्य में पूर्णोपमा मानने पर तथा लुप्तोपमा मानने पर जो अन्तर होता है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं—इयांस्तु विशेष इत्यादि। उक्त रीति से उक्त पद्य में पूर्णोपमा मानने पर, पद्यवाक्य से 'हरि, मेघ के समान वेदनाहरणकर्ता होवे' ऐसा बोध होता है। इस बोध में केवल निर्विशेषण हरि होता है उद्देश्य और वेदनाहरणकर्तृत्व (वेदना हरण) विधेय। यह विधेयभूत वेदनाहरणकर्तृत्व, एक (सादृश्य एक अतिरिक्त पदार्थ है, इस) मत के अनुसार मेघ के सादृश्य का प्रयोजक-सम्पादक-है, और दूसरे (सदृश का भाव-धर्म-है सादृश्य, अतिरिक्त पदार्थ नहीं, इस) मत के अनुसार सादृश्यरूप ही है। उभयथा-उक्त बोध में सादृश्य, विधेय होता है। और सादृश्य ही उपमा है। अतः यह बोध उपमाविधेयक कहा जायगा। लुप्तोपमा मानने पर तो उक्त श्लोकवाक्य से होनेवाला बोध उपमाविधेयक नहीं कहा जा सकेगा। कारण, उस दशा में जो 'मेघसदृश हरि, मेरी वेदना का हरणकर्ता होवे' यह बोध होगा, उसमें मेघ के सादृश्य से विशिष्ट हरि होगा उद्देश्य और केवल वेदनाहरणकर्तृत्व विधेय, अतः सादृश्य-अर्थात् उपमा, उद्देश्यता का अवच्छेदक होगी विधेय नहीं। तात्पर्य यह कि लुप्तोपमा की रीति से होनेवाले वाक्यार्थबोध में उपमा उद्देश्यभाग में आ जायगी, विधेयभाग में नहीं।

वाक्यगतामार्थीं धर्मलुप्तोपमामुदाहर्तुमाह—

धर्मलुप्ता आर्थी वाक्यगता यथा—

व्याख्या प्रागवत्।

वाक्यगत आर्थी धर्मलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'कोपेऽपि वदनं तन्वि तुल्यं कोकनदेन ते।
उत्तमानां विकारेऽपि नापैति रमणीयता॥'

नायको मानिनीं ब्रूते—तन्वि! दुर्बलाङ्गि! ते तव, वदनं मुखम्, कोपेऽपि क्रोधावस्थायामपि, स्वस्थावस्थायां तु वक्तव्यमेव किमिति भावः, कोकनदेन रक्तकमलेन, तुल्यम् समानं, वर्तत इति शेषः। सामान्येनोक्तमर्थविशेषं समर्थयति—उत्तमानाम् इति। विकारेऽपि कुतश्चन कारणात् विकृतिप्राप्तावपि, उत्तमानां स्वभावतः सुन्दराणां पदार्थानां, रमणीयता सौन्दर्यं, नापैति न दूरं गच्छतीत्यर्थः। अत्र वदनकोकनदयोः सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मस्यानुक्तत्वाद्धर्मलुप्तत्वम्, तुल्यपदेन सादृश्याभिधानादार्थीत्वम्, समासाभावाद् वाक्यगतत्वञ्चोपमाया बोद्धव्यम्।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कोपेऽपि इत्यादि। नायक, मानिनी नायिका से कहता है—हे दुर्बल अङ्गोंवाली! तेरा मुख क्रोधावस्था में भी रक्तकमल के समान है। ऐसा होना समुचित भी है। कारण, विकृत होने पर भी उत्तम पदार्थों का सहज सौन्दर्य नष्ट नहीं होता। यहाँ उपमा तथा अर्थान्तरन्यास इन दोनों अलङ्कारों की संसृष्टि है। रक्त-कमल तथा मुख को तुल्य सिद्ध करनेवाले रक्तता-कोमलता आदि धर्म उक्त नहीं हैं, अतः यहाँ की उपमा धर्मलुप्ता कही जाती है। इसी तरह 'तुल्य' पद से सादृश्य का प्रतिपादन होने से यह आर्थी तथा असमस्त वाक्य में रहने से वाक्यगत भी मानी जाती है।

एकस्मिन्नेव पद्ये समासगतां श्रौतीम् आर्थीम्, तद्धितगतामार्थीञ्च धर्मलुप्तोपमामुदाहर्तुमाह—

धर्मलुप्ता समासगा श्रौत्यार्थी तद्धितगार्थी च यथा—

श्रौत्या आर्थ्याः समासगताया आर्थ्यास्तद्धितगतायाश्च धर्मलुप्तोपमायाः प्रकारोऽभिधीयत इति भावः।

समासगत श्रौती-आर्थी और तद्धितगत आर्थी धर्मलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'सुधेव वाणी वसुधेव मूर्तिः सुधाकरश्रीसदृशी च कीर्तिः।
पयोधिकल्पा मतिरासफेन्दोर्महीतलेऽन्यस्य नहीति मन्ये॥'

कविः कथयति—सुधा अमृतम्, इव, वाणी वाक्, वसुधा पृथ्वी, इव, मूर्तिः स्वरूपम्, सुधाकरस्य चन्द्रस्य, श्रिया कान्त्या, सदृशी समाना, कीर्तिः यशः, पयोधिकल्पा समुद्रतुल्या, मतिः बुद्धिश्च महीतले यदि कस्यचिदस्ति तर्हि, आसफेन्दोः आसफखाननाम्ना प्रसिद्धस्य नवाबस्यैव, अन्यस्य, न, इति मन्ये सम्भावयामीत्यर्थः। अस्मिन् पद्ये सुधेव वसुधेवेत्युभयत्र समासगता श्रौती धर्मलुप्तोपमा, 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इति समासाश्रयणात्, 'इव'पदेन सादृश्याभिधानात्, माधुर्यगाम्भीर्यादेः साधारणधर्मस्यानुक्तत्वाच्च। 'सुधाकरश्रीसदृशी'त्यत्र च समासगता आर्थी धर्मलुप्तोपमा, श्रिया सदृशीति

तृतीयासमासात्, सदृशपदेन सादृश्यप्रतिपादनात्, निर्मलत्वादेः समानधर्मस्यानभिधानाच्च। 'पयोधिकल्पे'त्यत्र तद्धितगता आर्थी धर्मलुप्तोपमा, तुल्यार्थककल्परूपतद्धितप्रत्ययेन सादृश्यस्य बोधात् धीरत्वादेः समानधर्मस्याकथनाच्चेति भावः।

उदाहरणका निर्देश करते हैं—सुधेव इत्यादि। कवि का कथन है कि इस धरातल पर, अमृत-सी वाणी, पृथिवी-सी मूर्ति, चन्द्रकान्ति-सी कीर्ति और समुद्र-सी बुद्धि यदि किसी की है, तो नवाब आसफखान की ही, दूसरे की नहीं, ऐसा मैं मानता हूँ। इस पद्य में 'सुधा इव तथा वसुधा इव' इन दोनों अंशों में 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्तिक से समास होने के कारण, समासगत, 'इव' पद से सादृश्य का प्रतिपादन रहने से श्रौती और माधुर्य, गाम्भीर्य आदि साधारण धर्म की उक्ति न रहने से धर्मलुप्ता उपमा होती है। 'सुधाकरश्रीसदृशी' इस अंश में 'श्री' पद का 'सदृशी' पद के साथ तृतीयासमास होने से समासगत, 'सदृश' पद से सादृश्य-कथन के कारण आर्थी और निर्मलत्व आदि धर्म के अकथन से धर्मलुप्ता उपमा मानी जाती है। 'पयोधिकल्पा' इस अंश में कल्पप्रूप तद्धितप्रत्यय से सादृश्य के बोध होने से तद्धितगत तथा आर्थी और धैर्य आदि धर्म की अनुक्ति से धर्मलुप्ता उपमा कही जाती है।

ननु कल्पप्प्रत्ययस्येषदसमाप्त्यर्थे विधानात् कथं 'पयोधिकल्पे'त्यंशे उपमा, सादृश्यस्य तत्त्वरूपत्वादित्यत आह—

ईषदसमाप्तिरपि भङ्ग्यन्तरेण सादृश्यमेव।

भङ्ग्यन्तरेणेति। शैलीभेदेनेत्यर्थः। पयोधिकल्पेत्यत्र कल्पप्प्रत्ययः ईषदसमाप्त्यर्थे विहितस्तथा च 'मतिः पयोधेरीषन्न्यूने'ति शब्दार्थो बुध्यत इति यद्यपि सत्यम्, तथापि ईषन्न्यूनत्वं सादृश्य एव पर्यवस्यतीति भावः।

कल्पप्प्रत्यय का विधान, 'ईषत् असमाप्ति अर्थात् थोड़ा कम होना' अर्थ में होता है, अतः उससे सादृश्य का बोध होगा नहीं फिर 'पयोधिकल्पा' इस अंश में उपमा कैसे मानी जा सकती है? इस शङ्का का उत्तर देते हैं—ईषदसमाप्ति इत्यादि। उक्त शङ्का आपकी ठीक नहीं है। कारण, 'थोड़ा कम होना' भी दूसरे ढङ्ग से सादृश्य ही है। तात्पर्य यह कि जहाँ लोग 'कमल के समान मुख' ऐसा बोलते हैं, वहाँ ऐसा भी कहा जा सकता है कि 'मुख, कमल से थोड़ा ही कम है।' अर्थात् दोनों वाक्यों से समानता का ही बोध होता है, केवल कहने की शैली भिन्न है।

समासगतां वाचकलुप्तोपमां दर्शयति—

वाचकलुप्ता समासगा—'दलदरविन्दसुन्दरम्' इति प्रागुदाहृते पद्ये।

सामान्यत उपमालङ्कारोदाहरणप्रदर्शनावसरे 'गुरुजनभय''' इति पद्यमुल्लिखितम्, तस्य भेदविशेषविचारे समासगतवाचकलुप्तोपमाया एवोदाहरणं भवितुमर्हति, 'दलदरविन्दसुन्दर'मित्यत्र सादृश्यप्रतीतावपि तद्वाचकविरहात्।

समासगत वाचकलुप्तोपमा का उदाहरण है पूर्व में उल्लिखित 'गुरुजनभय''' इत्यादि पद्य का 'दलदरविन्दसुन्दरम् अर्थात् कुछ विकसित होनेवाले कमल के समान सुन्दर' यह अंश। तात्पर्य यह कि यहाँ वाचक–'इव-तुल्य' आदि के विना ही समास की महिमा से सादृश्य की प्रतीति होती है, अतः यहाँ की उपमा वाचकलुप्ता मानी जायगी।

वाचकलुप्ताया भेदान्तराण्युदाहर्तुमाह—

कर्माधारक्यज्गता क्यङ्गता च यथा—

कर्मार्थकक्यज्गतायाः आधारार्थकक्यज्गतायाः क्यङ्गतायाश्च वाचकलुप्तोपमायाः प्रकारः प्रदर्श्यत इति भावः।

कर्मार्थक तथा आधारार्थक क्यच्प्रत्यय और क्यङ्प्रत्यय के द्वारा सम्पन्न होनेवाली वाचकलुप्तोपमा का प्रकार दिखलाया जाता है—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'मलयानिलमनलीयति मणिभवने काननीयति क्षणतः ।
विरहेण विकलहृदया निर्जलमीनायते महिला ।।'

दूती नायकनिकटे विरहिण्या दशां वर्णयति—(सा) महिला नायिका, मलयानिलम् मलयाचलपवनम् दक्षिणानिलमिति यावत्, अनलीयति अनलम् = अग्निम् इव आचरति, अग्निसदृशं तस्मिन् चेष्टते इति भावः, मणिभवने मणिमयप्रासादे, काननीयति कानने = वने इव आचरति, वनमध्यगतेव तत्र व्यवहरतीति भावः (फलतः) क्षणतः विरहेण क्षणिकप्रियवियोगेन, विकलहृदया = व्याकुलचित्ता, सा, निर्जलमीनायते निर्जले = जलशून्यप्रदेशे स्थितो यः मीनः = मत्स्यः स इवाचरतीत्यर्थः । अथवा कविकृतं सामान्य-विरहिणीवर्णनमिदम् । अत्र कल्पे 'सा' इति नाध्याहार्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—मलयानिल इत्यादि । दूती, नायक से, विरहिणी नायिका की दशा का वर्णन करती है—क्षणिक प्रियविरह से व्याकुलहृदयवाली (वह) नायिका, मलयपवन के साथ अग्नि का सा आचरण करती है—दक्षिण दिशा से आने वाली हवा को अग्नितुल्य समझती है और मणिनिर्मित प्रासाद में वैसा ही आचरण करती है जैसा वन में किया जाता है—मणिभवन में रहना वन में रहने के समान उसे प्रतीत होता है । फलतः यही कहना पड़ता है कि वह जलरहित स्थान में पड़ी हुई मछली के समान, सभी आचरण करती है—बेतरह छटपटा रही है । अथवा सामान्य विरहिणी के विरहदशावर्णन-प्रसङ्ग में कवि की यह उक्ति है । इस पद्य में 'वह' इस, किसी खास नायिका के बोधक पद का अध्याहार नहीं करना पड़ेगा । पद्य का स्वारस्य ऐसा ही प्रतीत होता है, अतएव कवि ने पद्य में कहीं 'सा' नहीं कहा है ।

उपपादयति—

अत्रानलमिवाचरतीत्यर्थेऽनलशब्दात् 'उपमानादाचारे' इति सूत्रेण, कानन इवाचरतीत्यर्थे काननशब्दाच्च तत्सूत्रस्थेन 'अधिकरणाच्च' इति वार्तिकेन क्यच् । निर्जलमीनशब्दाच्च 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति क्यङ् ।

अत्रेति । 'मलयानिल ...' इत्यादिपद्ये इत्यर्थः । अन्यत् निगदव्याख्यातमेव । एवञ्च 'अनलीयती'ति कर्मक्यज्गतायाः, 'काननीयती'त्याधारक्यज्गतायाः 'निर्जलमीनायते' इति च क्यङ्गताया वाचकलुप्तोपमाया उदाहरणानि भवन्तीति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्रानल इत्यादि । यहाँ 'अग्नि के समान आचरण करती है' इस अर्थ में अनल शब्द से और 'वन में जैसा आचरण किया जाता है वैसा व्यवहार करती है' इस अर्थ में, सप्तम्यन्त होने के कारण अधिकरणार्थक कानन शब्द से 'क्यच्' प्रत्यय होता है । दोनों जगहों पर क्यच्प्रत्ययविधायक क्रमशः 'उपमानादाचारे' यह सूत्र और उसी सूत्र का 'अधिकरणाच्च' यह वार्तिक हैं । निर्जलमीन शब्द से 'निर्जल स्थान में रहनेवाले मत्स्य का सा आचरण करती है' इस अर्थ में 'क्यङ्'प्रत्यय होता है । प्रत्ययविधायक सूत्र है 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' । सारांश यह कि 'अनलीयति' यह कर्मक्यज्गत, 'काननीयति' यह आधारक्यज्गत और 'निर्जलमीनायते' यह क्यङ्गत, वाचक-लुप्तोपमा के उदाहरण होते हैं ।

ननु कथमिह वाचकलुप्तात्वम् , क्यच्क्यङ्प्रत्यययोर्वाचकयोर्वर्तमानत्वादित्यत आह—

आचारमात्रार्थकतया क्यच्क्यङोः प्रकृत्यैव लक्षणया स्वस्वार्थसादृश्य-

प्रतिपत्तिरिति नये सादृश्यवाचकाभावाद् वाचकलुप्ता । अनलीयतीत्यादिसमुदायस्यैवानलादिसादृश्यप्रयोजकाचरणकर्तृशक्तत्वमिति नयेऽपि सादृश्यसादृश्यविशिष्टमात्रवाचकाभावाद्वाचकलुप्ता ।

क्यच्क्यङ्प्रत्ययावाचारमात्रस्य वाचकौ न सादृश्यस्य । न चैवं कथं तत्प्रत्ययस्थले सदृशाचारप्रतीतिरिति वाच्यम्, तत्प्रत्ययप्रकृतीनां स्वार्थसदृशे लाक्षणिकत्वात् । अर्थात् 'अनलीयती'त्यादौ प्रत्ययभागतः केवलाचारस्यैव बोधः, प्रकृतिभागतश्च अनलसदृशादेरर्थस्य । तथा चात्र सादृश्यलक्षकस्य स्थितावपि सादृश्यवाचकस्य स्थितिर्नास्त्येवेति वाचकलुप्तता सुस्थेति भावः । ननु नेदं युक्तम्, अत्र मते इवादीनां द्योतकतानये सर्वत्रैव वाचकाभावाद्वाचकलुप्तात्वापत्तेः, 'चन्द्रप्रतिपक्षमाननम्' इत्यत्रापि तदापत्तेश्च, प्रतिपक्षपदेन सादृश्यस्य लक्ष्यत्वादित्यतः समाधानान्तरमाह—अनलीयतीत्यादीति । अयं भावः उपमाङ्गभूत'वाचक'पदेन यथाकथंचित् सादृश्यप्रतिपादका एव गृह्यन्ते, अत एव द्योतकानामिवादीनां लक्षकानां प्रतिपक्षादिपदानां च सत्त्वेन वाचकलोपव्यवहारः तथा च प्रकृते क्यच्क्यङ्प्रकृतिभ्यां लक्षणयाऽपि सादृश्यप्रतिपत्तौ वाचकलोपव्यवहारः कथमिति शङ्का यद्यपि युक्ता, तथापि 'वाचक' इति शब्देन सादृश्य-सादृश्यविशिष्टान्यतरमात्रबोधका एव विवक्षिताः । क्यच्क्यङ्प्रकृतयस्तु स्वार्थसादृश्यविशिष्टलक्षका इति न तावन्मात्रबोधकाः, अतस्तत्सत्त्वेऽपि वाचकलोपव्यवहारः । एवञ्च उक्तान्यतरमात्रबोधकाभाव एव वाचकलोप इति तत्त्वम्, अत एव च 'अनलीयति' इत्यादौ न प्रकृतिप्रत्यययोः पृथक् पृथक् अर्थे शक्तिर्लक्षणा वा, अपि तु प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यैव अनलादिसदृशाचरणकर्तृरूपार्थे शक्तिरिति मतेऽपि न दोषः, आचारादिरूपाधिकस्याप्यर्थस्य बोधकतया उक्तान्यतरमात्रबोधकाभावरूपवाचकलोपस्य साम्राज्यात् इति ।

वाचकलुप्ता यहाँ कैसे हुई इस आशङ्का का समाधान करते हैं—आचार इत्यादि । तात्पर्य यह है कि 'अनलीयति' इत्यादिकों में जब 'अनल के समान आचरण करनेवाला' इस अर्थ में क्यच्प्रत्यय होता है, तब तो सादृश्य का वाचक वह क्यच्प्रत्यय ही हो गया फिर वहाँ 'वाचकलुप्ता' कैसे इस आशङ्का के दो उत्तर हो सकते हैं । एक यह कि 'क्यच् अथवा क्यङ् प्रत्यय, केवल आचार अर्थ के वाचक हैं, सादृश्य की प्रतीति, उन प्रत्ययों के प्रकृतियों (अनल आदि शब्दों) की स्वार्थ-(अनल आदि)-सदृश अर्थ में लक्षणा होने के कारण होती है' इस नैयायिकों के मत में सादृश्य का वाचक कोई नहीं हुआ अर्थात् प्रकृतिभाग भी सादृश्य का लक्षक ही हुआ, वाचक (अभिधावृत्ति के द्वारा बोधक) नहीं, अतः इन प्रत्ययों के रहने पर वाचकलुप्तता का व्यवहार समुचित ही है । दूसरा यह कि केवल सादृश्य अथवा केवल सादृश्यविशिष्ट अर्थ के बोधक पद का न रहना ही यहाँ 'वाचकलोप' कहा जाता है अर्थात् सादृश्य अथवा सादृश्यविशिष्ट (सदृश) का बोधक पद यदि साथ-साथ किसी अन्य अर्थ का भी बोधक हो, तब उसके रहने पर भी सादृश्यवाचक का अभाव ही समझा जायगा, तदनुसार उक्त मत में प्रकृतिभाग के लक्षणा द्वारा सादृश्यबोधक होने पर भी उसके साथ साथ अनल आदि स्वार्थ का भी बोधक हो जाने से वाचकलुप्तता हो जाती है । वस्तुतः यही उत्तर ठीक है,—पहला नहीं, क्योंकि यदि वाचक का अर्थ अभिधाशक्ति द्वारा सादृश्यप्रतिपादक किया जाय, और तदनुसार सादृश्यलक्षक पद के रहने पर वाचकलोप माना जाय, तब तो 'नलिनप्रतिपक्षमाननम् अर्थात् कमल के प्रतिद्वन्द्वी मुख' इत्यादि में भी वाचकलुप्ता उपमा माननी चाहिये, क्योंकि 'प्रतिपक्ष पद सादृश्य का वाचक नहीं लक्षक है और निपात द्योतक है' इस मत में इव आदि के रहने पर भी वाचकलुप्ता का व्यवहार होने लगेगा । अतः 'वाचक' का अर्थ किसी भी तरह सादृश्य का प्रतिपादक होता है,

केवल अभिधा द्वारा प्रतिपादक नहीं, अतः उक्त स्थानों में वाचकलुप्ता नहीं हो सकती। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि तभी कोई पद सादृश्य का वाचक माना जायगा, जब वह केवल सादृश्य अथवा सदृश का बोधक रहेगा। अत एव 'अनलीयति' इत्यादि प्रयोगों में 'प्रकृति-प्रत्ययसमुदाय की ही 'अनल आदि के सदृश आचरण कर्ता'रूप अर्थ में अभिधाशक्ति है, प्रकृतिप्रत्यय, पृथक् पृथक् अर्थ के वाचक अथवा लक्षक नहीं हैं' इस वैयाकरणाभिमत पक्ष में भी आपत्ति नहीं होती अर्थात् इस मत के अनुसार भी यहाँ वाचकलुप्तता ठीक हो जाती है। कारण, इस मत के अनुसार उक्त प्रकृतिप्रत्यय-समुदाय, केवल सादृश्य किंवा सदृश का बोधक नहीं होता, अपितु उससे अधिक आचार आदि का भी बोधक होता है।

वाचकलुप्तोपमाया एव भेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

कर्तृकर्मणमुल्गता यथा—

कर्त्र्यर्थकणमुल्प्रत्ययप्रतिपाद्यायाः कर्मार्थकणमुल्प्रत्ययप्रतिपाद्यायाश्च वाचकलुप्तोपमायाः प्रकारः प्रदर्श्यत इति भावः।

कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य णमुल्प्रत्ययों के द्वारा सिद्ध होनेवाली वाचकलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'निरपायं सुधापायं पयस्तव पिबन्ति ये।
जह्नुजे निर्जरावासं वसन्ति भुवि ते नराः॥'

जह्नुजे! गङ्गे! ये नराः, निरपायं निष्प्रत्यूहं निरन्तरमिति यावत्, क्रियाविशेषणमेतत्, तव गङ्गायाः, पयः जलम्, सुधापायम् सुधामिव, पिबन्ति, ते, नराः, भुवि भूलोक एव, निर्जरावासम् निर्जरा देवास्ते इव, वसन्ति सुखेन निवासं कुर्वन्तीत्यर्थः।

किसी भक्त की उक्ति है—हे गङ्गे! जो मनुष्य अमृत के समान तेरे जल का निर्विघ्न पान करते हैं, वे धरातल पर, देवताओं की तरह, वास करते हैं।

उपपादयति—

अत्र सुधापायमिति सुधामिव, निर्जरावासमिति निर्जरा इवेति 'उपमानात् कर्मणि च' इति कर्मणि चकारात्कर्तर्युपमाने उपपदे णमुल्।

अत्र 'निरपायम्…' इति पद्ये। सुधापायमितीति। इत्यत्रेत्यर्थः। सुधामिवेति अस्य 'कर्मणि उपपदे' इत्यत्रान्वयः। अग्रेऽप्येवमेव। सुधामिवेति कर्मणि उपमाने उपपदे सुधापायमित्यत्र, निर्जरा इवेति कर्तरि उपमाने उपपदे निर्जरावासमित्यत्र च क्रमशः पाधातोः वस्धातोश्च 'उपमानात् कर्मणि च' इति पाणिनिसूत्रेण णमुल्प्रत्ययो भवति। तथा च एतेन णमुलः सादृश्यतद्विशिष्टान्यतरवाचकत्वविरहात् वाचकलुप्तेति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। यहाँ 'सुधापायम्' में सुधारूप कर्म उपमान के उपपद (समीपवर्ती पद) रहते और 'निर्जरावासम्' में निर्जररूप कर्ता उपमान के उपपद रहते 'उपमानात् कर्मणि च' इस पाणिनिसूत्र से णमुल् प्रत्यय हुआ है। यद्यपि उक्त सूत्र में 'कर्ता' का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि 'च' से उसका संग्रह होता है। अतः 'सुधापायम्' का सुधा की तरह और 'निर्जरावासम्' का निर्जर–देवता की तरह अर्थ होता है। इस तरह सादृश्य अथवा सदृश मात्र का वाचक णमुल् हुआ नहीं, अतः इस उपमा को वाचकलुप्ता कहते हैं।

एवमेकलुप्तामुदाहृत्य 'द्विलुप्तामुदाहर्तुमाह—

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगा समासगा च यथा—

धर्मः उपमानञ्च यत्र लुप्ते तिष्ठतः, तादृश्या वाक्यगतायाः समासगतायाश्चोपमायाः प्रकारः प्रदर्श्यत इति भावः।

धर्मोपमानलुप्ता—अर्थात् जिसमें साधारण धर्म तथा उपमान दोनों लुप्त रहते हैं ऐसी—वाक्यगत और समासगत उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'गाहितमखिलं विपिनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
सहकार न प्रपेदे मधुपेन तथापि ते समं जगति॥'

कविराचष्टे—हे सहकार सुगन्धिरसाल! मधुपेन भ्रमरेण, यद्यपीत्यध्याहारलब्धम्, अखिलम् सम्पूर्णम्, विपिनम् वनम्, गाहितमालोडितम्, परितः चतुर्दिक्षु, सर्वे विटपिनस्तरवः, दृष्टा अवलोकिताश्च, तथापि, जगति संसारे, ते तव, समं समानं वस्तु, न प्रपेदे नोपलब्धम् इत्यर्थः। अप्रस्तुतप्रशंसेयम्, अप्रस्तुतात् भ्रमराम्रवृत्तान्तात् प्रस्तुतस्य गुणितद्गवेषकयोः वृत्तान्तस्य प्रतीतेः। अत्र 'ते समं न प्रपेदे' इत्युक्त्या 'तव सदृशः कश्चित्पदार्थो भ्रमरागोचरे स्थलेऽस्त्यवश्यम्' इत्यर्थप्रतीत्या उपमा, सा च धर्मलुप्ता, अगोचरोपमानप्रतियोगिकोपमेयसहकारानुयोगिकसादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मस्यानुपादानात् उपमानलुप्ता च, उपमानस्य स्पष्टमनुल्लेखात्। तथा चाप्रस्तुतप्रशंसोपमयोः सङ्कर इति भावः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—गाहित इत्यादि। कवि का कथन है—हे सहकार-सुगन्धित आम! भ्रमरों ने सम्पूर्ण कानन छान डाला और चारों तरफ सभी तरु देख डाले, तथापि, संसार में, तेरे जैसा एक पदार्थ भी नहीं पाया। यह है 'अप्रस्तुत प्रशंसा' क्योंकि अप्रस्तुत भ्रमर तथा आम के वृत्तान्त से, प्रस्तुत गुणी तथा उसके अन्वेषक का वृत्तान्त ज्ञात होता है। और उस अप्रस्तुतप्रशंसा का पोषक है 'समम्' पद से वाच्य उपमा, जिसमें उपमान और उसका वह धर्म—जो उपमेय-आम-में भी रहनेवाला हो—लुप्त हैं, अतः यह धर्मोपमानलुप्ता हुई।

उक्ताकारके 'गाहितम्''' इत्यादिपद्ये उपमाया वाक्यगतत्वमेव। तथा च अवतरणे 'समासगा चे'ति कथनं विरुद्धम्, अतः पाठान्तरेण समासगतत्वमुपपादयति—

'तथापि ते समम्' इति हित्वा 'भवत्समम्' इति यद्यार्या शुद्धैव विधीयते तदेदमेवोदाहरणं समासगायाः।

शुद्धैवेति। प्रथमपाठे गीतिः, आर्याविकृतिरूपा परिवर्तितपाठे च शुद्धा आर्या इति भावः। 'तथापि ते समम्' इत्यस्य स्थाने 'भवत्समम्' इति पाठाश्रयणे समासगतधर्मोपमानलुप्तोपमाया उदाहरणं बोध्यमिति भावः।

'गाहित' इत्यादि पद्य को ही पाठभेद के द्वारा समासगत धर्मोपमानलुप्तोपमा का उदाहरण बनाते हैं—तथापि इत्यादि। उक्त पद्य में 'तथापि ते समम्' की जगह पर यदि 'भवत्समम्' पाठ कर दिया जाय, तब यह पद्य ही समासगत धर्मोपमानलुप्तोपमा का उदाहरण हो जायगा। छन्दःशास्त्र की दृष्टि से दोनों पाठ ठीक होंगे, क्योंकि प्रथम पाठ के अनुसार 'गीति' छन्द होता है जो आर्या का विकृतरूप है और द्वितीय पाठ के अनुसार शुद्ध 'आर्या छन्द' हो जाता है।

वाचकधर्मलुप्तोपमामुदाहर्तुमाह—

वाचकधर्मलुप्ता क्विब्गता यथा—

वाचकः—सादृश्यप्रतिपादकः इवादिः, साधारणधर्मश्च लुप्तौ यत्र, तादृशोपमायाः क्विब्गतायाः प्रकार उच्यते इति भावः।

क्विप्प्रत्ययगत वाचकधर्मलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> 'कुचकलशेष्वबलानामलकायामथ पयोनिधेः पुलिने।
> क्षितिपाल कीर्तयस्ते हारन्ति हरन्ति हीरन्ति॥'

कविः राजानं स्तौति—हे क्षितिपाल राजन्! ते तव, कीर्तयः यशांसि, अबलानां कामिनीनां, कुचकलशेषु कलशाकारेषु कुचेषु, हारन्ति हारवदाचरन्ति, अलकायाम् अलकानगर्याम्, हरन्ति हरवदाचरन्ति, एवम्, पयोनिधेः समुद्रस्य, पुलिने तटे, हीरन्ति हीरकवदाचरन्तीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कुच इत्यादि। कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे धराधीश! आप की कीर्तियाँ कामिनियों के कलशाकार कुचों पर हार (मोती की माला) के समान आचरण करती हैं, अलकापुरी में शिवजी के सदृश आचरण करती हैं और समुद्र के तट पर हीरों के तुल्य आचरण करती हैं।

उपपादयति—

अत्र हारहरहीरशब्दा आचारार्थके क्विपि लुप्ते धातवः। तत्र हारादिशब्दा लक्षणया हारादिसादृश्यं बोधयन्ति। लुप्तोऽपि स्मृतः क्विबाचारमिति पक्षे वाचकधर्मलोपः स्पष्ट एव। हारादिशब्दा एव लक्षणया तादृशसादृश्याभिन्नमाचारमिति पक्षे सादृश्यस्येव धर्मस्यापि तन्मात्रबोधकाभावाल्लोप एव।

अत्र 'कुच....' इत्यादि पद्ये। क्विपीति। 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वा वक्तव्यः' इति नामधातुस्थवार्तिकविहिते इत्यादिः। धातव इति। तथा च हारन्तीत्यादिप्रयोगसिद्धिरिति भावः। तत्र उक्तप्रयोगेषु। आचारमिति। बोधयतीति शेषः। तादृशेति। हारादीत्यर्थः। तदित्युचितम्। अभिन्नमिति। सादृश्यस्य धर्मरूपत्वादिति भावः। हारहरहीरशब्देभ्यः आचारार्थकेषु क्विप्प्रत्ययेषु विहितेषु तेषां सर्वापहारलोपे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे हारहरहीरधातुभ्यः लडादौ हारन्ति, हरन्ति, हीरन्तीति च प्रयोगाः सिद्ध्यन्ति। तेषु प्रयोगेषु क्विप्प्रत्ययप्रकृतिभूता हारादिशब्दाः स्वार्थसादृश्ये लाक्षणिकाः, अतः हारादिसदृशमाचरणं कुर्वन्तीति तेषामर्थो भवन्ति। एवमत्र सादृश्यप्रतिपादकानां हारादिशब्दानां स्वार्थरूपसादृश्येतरार्थवाचकत्वेन केवलसादृश्यप्रतिपादकत्वाभावात् वाचकलोपः, आचाररूपसाधारणधर्मवाचकक्विब्लोपस्तु स्पष्ट एवेति उपमायाः वाचकधर्मोभयलुप्तता सिद्धा। ननु लुप्तोऽपि पुनः स्मृतः क्विप्प्रत्यय एव आचाररूपमर्थं बोधयतीति पक्षे तथा वक्तुं शक्यत्वेऽपि 'यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी'ति रीत्या हारादिपदान्येव लक्षणया स्वार्थसादृश्यस्य प्रयोजकम् अभिन्नं वा आचारमपि बोधयन्तीति पक्षे न तथा वक्तुं शक्यम्, एतत्पक्षानुसारं साधारणधर्मरूपाचारबोधकानां हारादिपदानां वर्तमानतया धर्मलोपाभावादिति चेन्न, सादृश्यमात्रबोधका एव यथा प्रकृतशास्त्रे 'वाचकाः' कथ्यन्ते, तथैव धर्ममात्रबोधका एव धर्मवाचका विवक्षितास्तथा च हारादिशब्दा 'अधिकस्यापि

प्रतिपादकतया न सादृश्यवाचका न वा धर्मवाचकाः अतो धर्मवाचकयोर्लोप इति विवक्षणीयत्वादिति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। यहाँ हार, हर और हीर शब्द से पहले आचार अर्थ में 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' इस वार्तिक से क्विप् प्रत्यय होता है, जिसका पीछे लोप हो जाता है। इस तरह से वे शब्द 'सनाद्यन्ता धातवः' इस पाणिनि-सूत्र से धातु संज्ञा हो जाने के कारण धातु बन जाते हैं। उन्हीं धातुओं से लट्-तिप् या तिङ्प्रक्रिया करके 'हारन्ति' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। अब यहाँ दो पक्ष हो सकते हैं जिनमें एक के अनुसार हार आदि शब्द लक्षणा के द्वारा हार आदि के सादृश्य के केवल बोधक होते हैं अर्थात् हार आदि शब्द से हारादिसादृश्य का बोध होता है, और 'आचार' का बोध लुप्त क्विप्प्रत्यय से ही स्मरण द्वारा होता है—अर्थात् लोप हो जाने के बाद भी स्मृत होकर क्विप्प्रत्यय ही 'आचार' का बोधक होता है। इस पक्ष में धर्म (आचार) का लोप स्पष्ट ही है—अर्थात् आचार का बोधक क्विप् का लोप हो चुका है। रहा वाचक—सादृश्यप्रतिपादक—का लोप, सो वह भी है ही क्योंकि केवल उसी (सादृश्य) का बोधक पद कोई नहीं है अर्थात् हार आदि शब्द लक्षणा के द्वारा केवल सादृश्य का बोध नहीं कराते अपितु हार आदि का भी। दूसरे पक्ष के अनुसार 'क्विप्' जब चला गया, तब उससे किसी अर्थ का बोध कैसा? फलतः हार आदि शब्द ही लक्षणा के बल से सादृश्य और आचार दोनों के अर्थात् हार आदि के सादृश्य से अभिन्न आचार के बोधक होते हैं। इस पक्ष में यद्यपि सामान्यतः आचार के बोधक हार आदि शब्द वर्तमान हैं, तथापि उनका लोप ही समझा जाता है। इस पक्ष में हम यह कहेंगे कि जिस तरह अन्य किसी अर्थ के साथ-साथ सादृश्य का भी बोधक पद के रहने पर भी केवल सादृश्य-बोधक पद के नहीं रहने से 'सादृश्य' का लोप समझा जाता है, उसी तरह अन्य अर्थ के साथ साधारण धर्म के बोधक पद के रहने पर भी केवल साधारणधर्मबोधक पद के नहीं रहने पर साधारण धर्म का लोप ही समझना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृत में हार आदि शब्द केवल आचार के बोधक नहीं हैं, अतः उनका लोप समझा जा सकता है।

वाचकधर्मलुप्तोपमाया भेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

वाचकधर्मलुप्ता समासगा यथा—

समासगताया वाचकधर्मलुप्तोपमायाः प्रकारः प्रदर्श्यत इति भावः।

समासगत वाचकधर्म(उभय)लुप्ता यथा—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'शोणाधरांशुसंभिन्नास्तन्वि ते वदनाम्बुजे।
केसरा इव काशन्ते कान्तदन्तालिकान्तयः॥'

नायिकां प्रति नायकस्योक्तिः—हे तन्वि! ते, वदनाम्बुजे कमलतुल्ये मुखे शोणस्य रक्तवर्णस्य, अधरस्य निम्नरदनच्छदस्य, अंशुभिः किरणैः, सम्भिन्ना मिश्राः, कान्तानाम् कमनीयानां, दन्तानां दशनानाम्, आलेः पङ्क्तेः, कान्तयः प्रभाः, केसराः, इव काशन्ते।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शोणा इत्यादि। नायक का कथन है—हे तन्वि! कमलसदृश तेरे मुख में अरुणवर्ण अधर (निम्नोष्ठ) की कान्ति से मिश्रित कमनीय दन्तपङ्क्ति की कान्तियाँ केसरों की तरह प्रकाशित हो रही हैं।

उपपादयति—

अत्र वदनाम्बुजयोरभेदविवक्षया विशेषणसमासे दन्तालिकान्तीनां केसरसादृश्योक्तिरसङ्गता स्यात्। यतो ह्यम्बुजतादात्म्यसाधकं दन्तालिकान्तीनां

केसरतादात्म्यं न तु केसरसादृश्यम्। उपमितसमासे तु वदनाम्बुजयोर्धर्मिणोरौपम्ये केसरदन्तालिकान्तीनामपि तद्धर्माणामौपम्योक्तिरुचितैव। अतोऽधिकरणतावच्छेदकोपमामादाय वाचकधर्मलुप्तोदाहृता। विधेयतावच्छेदिका तु पूर्णैव।

विशेषणसमास इति। मयूरव्यंसकेत्यादिसूत्रेणेति भावः। अधिकरणेति। वदनाम्बुजेत्यत्रत्यामित्यर्थः। अवच्छेदिका त्विति। उपमेति शेषः, कान्तयः केसरा इव काशन्ते इत्यत्रत्येति भावः। अयं भावः—'वदनाम्बुजे' रूपकमुपमा चेत्यलङ्कारद्वयं संभवति, वदनाम्बुजयोरभेदप्रतिपादनेच्छायां 'मयूरव्यंसकादयश्चे'ति विशेषणसमासकरणेन रूपकस्य, तयोः सादृश्यप्रतिपादनेच्छाया'मुपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इत्युपमितसमासविधानेन उपमायाश्च प्राप्तत्वात्। परन्तु उपमितसमासेनोपमैव स्वीकर्तुमुचिता, दन्तकान्तिकेसरयोरुपमायाः पद्योत्तरार्धोक्तायाः तत्रैव सङ्गतेः, रूपकाश्रयणे तु सा असङ्गतैव भवेत्। यतः रूपके मुखकमलयोस्तादात्म्यं प्रतीयेत, तथा चाग्रेऽपि दन्तकान्तिकेसरयोस्तादात्म्यरूपस्य मुखकमलतादात्म्यसाधकस्य रूपकस्यैवोक्तिरुचिता न चेत्तत्र रूपकमुक्तं कविना, तर्हि तत्रापि रूपकं नाश्रयणीयम्। फलतः वदनाम्बुजयोर्धर्मिणोरुपमितसमासाधीनोपमैव स्वीकरणीया, तथात्वे च तद्धर्माणां केसरदन्तालिकान्तीनाम् उपमानिबन्धः समुचित एव। एवञ्चात्रोपमाद्वयं सम्पद्यते, तत्र दन्तकान्त्यादेरधिकरणत्वेन उक्ते वदनाम्बुजपदार्थे विशेषणतया भासमाना (अधिकरणतावच्छेदिका) या उपमा, तामादाय पद्यमिदं वाचकधर्मलुप्तोपमाया उदाहरणम्, तत्र वाचकस्य इवादेः धर्मस्य सुन्दरत्वादेश्चानुपादानात्। विधेयकोटौ भासमाना दन्तकान्तिकेसरयोरुपमा तु पूर्णैव, उपमानभूतस्य केसरपदार्थस्य उपमेयभूतस्य दन्तकान्तिपदार्थस्य, सादृश्यस्य काशनरूपसाधारणधर्मस्य चोक्तेः। इति।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। स्पष्ट अभिप्राय यह है कि—इस पद्य में दो उपमायें हैं, एक वदनाम्बुज पद में, जो अधिकरणतावच्छेदक होती है, क्योंकि दन्तकान्ति और केसररूप धर्मों का आधार है वदन और अम्बुजरूप धर्मी, और उन धर्मियों की विशेषणकोटि में ही पड़ जाती है वह सादृश्यरूपा उपमा। दूसरी उपमा है 'दन्तकान्तियाँ केसर के समान प्रकाशित होती हैं' इस अंश में, जो विधेयतावच्छेदक होती है। कारण, उक्त धर्मीरूप उद्देश्य में विहित होनेवाले (विधीयमान) उक्त धर्म के विशेषणभाग में इस उपमा की स्थिति है। इन दोनों उपमाओं में द्वितीय तो पूर्णा ही है अर्थात्—उपमान केसर, उपमेय दन्तावलीकान्ति, इवार्थ सादृश्य और प्रकाशित होना रूप साधारण धर्म इन चारों अङ्गों की उक्ति इस उपमा में है। फलतः यह उपमा, प्रकृत में (लुप्तोपमा का) उदाहरण नहीं हो सकती। अतः प्रथम-अधिकरणतावच्छेदकीभूत उपमा को लेकर यहाँ वाचकधर्मलुप्ता का उदाहरण दिया गया है ऐसा समझना चाहिए। यदि आप कहें कि वदनाम्बुज में निश्चितरूप से उपमा मानी ही कैसे जा सकती है? कारण, वहाँ यदि मुख और कमल का तादात्म्य (अभेद) वक्ता का विवक्षित माना जाय, तब तो विशेषण अर्थात् 'मयूरव्यंसकादयश्च' से समास मान कर मुखरूप कमल ऐसा रूपक भी माना जा सकता है, तो इसका समाधान है कि—नहीं, रूपक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तब दन्तकान्तियों में जो केसरसादृश्य का कथन है अर्थात् पद्य के उत्तरार्ध द्वारा जो केसर और दन्तकान्ति का सादृश्यमूलक उपमानोपमेयभाव वर्णित हुआ है, वह असङ्गत हो जायगा, क्योंकि मुख में अम्बुजतादात्म्य को अर्थात् तन्मूलक रूपक अलङ्कार को सिद्ध करनेवाला हो

सकता है, दन्तकान्तियों में केसर का तादात्म्य अर्थात् तादात्म्यमूलक केसरदन्तकान्ति का रूपकात्मक वर्णन, न कि दन्तकान्ति में केसर का सादृश्य अर्थात् सादृश्यमूलक उन दोनों की उपमा, और है यहाँ उन दोनों की उपमा ही 'केसरा इव कान्तयः काशन्ते' इन शब्दों में वर्णित। अतः यह सिद्ध होता है कि वदनाम्बुज में भी 'अम्बुज सा मुख' इस विग्रह में उपमित समास (उपमितं व्याघ्रादिभिः···सूत्र से समास) मानकर उपमा ही माननी चाहिये अर्थात् वदन में अम्बुज का सादृश्य ही कविविवक्षित वस्तु स्वीकृत होनी चाहिए, अम्बुजतादात्म्य नहीं और इस मान्यता के अनुसार कोई असङ्गति भी नहीं होती, क्योंकि वदनाम्बुजरूप धर्मी अंश में जब उपमा मान लेते हैं, तब उनके धर्म केसर तथा दन्तकान्ति में भी उपमा का वर्णन समुचित ही है। सारांश यह कि जब तक धर्म में तादात्म्य ज्ञात नहीं होता, तब तक धर्मी में वह ज्ञात नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में धर्मरूप केसर और दन्तकान्ति में जब स्पष्ट कथित रहने के कारण सादृश्य ही ज्ञात होता है तादात्म्य नहीं, तब उन धर्मों के धर्मी वदन और अम्बुज में भी सादृश्य ही समझना पड़ेगा, तादात्म्य नहीं।

भेदान्तराण्युदाहर्तुमाह—

वाचकोपमेयलुप्ता क्यङ्गता धर्मोपमानवाचकलुप्ता समासगा च यथा—

वाचकमुपमेयञ्च यत्र लुप्ते तिष्ठतः तादृश्याः क्यच्प्रत्ययगतायाः एवं धर्मः उपमानम् वाचकश्च यत्र लुप्तास्तिष्ठन्ति, तादृश्याः समासगतायाश्चोपमायाः प्रकारः प्रदर्श्यते इति भावः।

वाचक तथा उपमेय इन दो के लोपवाली क्यङ्गत उपमा का और धर्म, उपमान एवं वाचक इन तीनों के लोपवाली समासगत उपमा का प्रकार दिखलाया जाता है।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'तया तिलोत्तमीयन्त्या मृगशावकचक्षुषा।
ममायं मानुषो लोको नाकलोक इवाभवत्॥'

नायकः स्वसखायं प्रति वक्ति—तिलोत्तमीयन्त्या तिलोत्तमाभिधाना काचित्स्वर्गीया रमणी तयेवाचरन्त्या, मृगशावकस्य हरिणशिशोः चक्षुषी इव चक्षुषी यस्यास्तया, चक्षुर्भोगतया कयाचन कामिन्या, हेतुना (हेतावत्र तृतीयेति भावः) अयं, मम, मानुषो, लोकः, नाकलोकः स्वर्गलोक, इव, अभवत्-मनुष्यलोक एव मया स्वर्भोगभाग्यमुपलब्धमित्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—तया इत्यादि। नायक अपने सखा से कहता है—तिलोत्तमा (स्वर्गीय अप्सरा) के समान आचरण करती हुई इस मृगाक्षी के कारण मेरा यह मनुष्यलोक स्वर्गलोक-सा हो गया—इस लोक में ही स्वर्गीय सुख भोगने का सौभाग्य मुझे मिल गया।

उपपादयति—

तिलोत्तमीयन्त्येति तिलोत्तमामिवात्मानमाचरन्त्येत्याचारार्थके क्यचि तिलोत्तमापदस्य तिलोत्तमासादृश्ये लाक्षणिकतया वाचकस्य, स्फुटत्वेन प्रतीयमानतया आत्मन उपमेयस्य चानुपादानाल्लोपः। स्वयं तु सा नोपमेया। आचारकर्मण उपमानस्य तिलोत्तमारूपस्य तत्कर्त्र्यामुपमेयायामुपमानत्वासङ्गतेः। अत आत्मैवात्रोपमेयतयोन्नेयः। मृगशावकचक्षुषेति मृगशावकस्य चक्षुषी इव चक्षुषी अस्या इति 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य' इति समासोत्तरपदलोपौ।

मृगशावकपदस्य मृगशावकचक्षुःसदृशलाक्षणिकत्वपक्षे वृत्तेर्विशिष्टार्थवाचकता-पक्षेऽपि स्वस्वमात्रबोधकपदाभावात्त्रयाणां लोपः।

वाचकस्येति। इवशब्दस्येत्यर्थः। उपमेयानुपादाने हेतुमाह स्फुटत्वेनेति। स्वयं त्विति, तिलोत्तमीयन्तीति पदबोध्यनायिकेत्यर्थः। तत्कर्त्रीमिति। आचारकर्त्रीमित्यर्थः। उप-मानत्वासंगतेरिति। उपमानोपमेययोः समानरूपत्वस्योपमायां नियामकत्वादिति भावः। तिलोत्तमामिवात्मानमाचरतीति विग्रहे तिलोत्तमाशब्दात् 'उपमानादाचारे' इति सूत्रेणा-चारार्थकक्यच्प्रत्यये आकारस्येत्वे दीर्घे धातुत्वे तिलोत्तमीयधातोः शतृप्रत्यये तत्प्रयुक्त-कार्येषु च कृतेषु 'तिलोत्तमीयन्ती'ति सिद्ध्यति, तस्य तृतीयान्तं रूपमत्र निर्दिष्टम्। अत्र चारुसादृश्यप्रतीतेरुपमा, सा च वाचकोपमेयलुप्ता, उपमानोपमेयसादृश्यसाधारणधर्माणां चतुर्णामुपमाङ्गानां मध्ये तिलोत्तमारूपोपमानाचाररूपसाधारणधर्मयोः तिलोत्तमापदक्यच्प्रत्य-याभ्यामुल्लेखेऽपि सादृश्यवर्णनीयनायिकात्मरूपोपमेययोरनुल्लेखात्। नन्वेवं सादृश्योपमे-ययोः प्रतीतिरेवात्र कथम्? तदप्रतीतौ च कथमत्रोपमा इति न वाच्यम् तिलोत्तमापदस्य स्वसदृशे लाक्षणिकतया सादृश्यस्य, स्फुटतया आक्षेपेणात्मरूपोपमेयस्य च प्रतीतेः। न चैवम् तिलोत्तमापदस्यैव सादृश्यवाचकत्वेन वाचकलोपो मास्त्विति शङ्क्यम्, तिलोत्तमाप-दस्य सादृश्यमात्रवाचकत्वाभावेन पूर्वोक्तदिशा वाचकलोपव्यवहारस्याक्षतत्वात्, न च कथ-मत्र वर्णनीयनायिकाया—आत्मा उपमेयतया स्वीक्रियते नायिकाया एवोपमेयत्वं कुतो न? स्वीकृते च तथात्वे कथमुपमेयलोपः तद्वाचकस्य 'तया' इत्यस्य सत्त्वादिति वक्तव्यम्, उपमानोपमेययोः समानरूपताया उपमायां तन्त्रतया नायिकाया उपमेयत्वासंभवात्, उपमा-नतयाऽभिमतायास्तिलोत्तमाया आचारकर्मत्वेन उपमेयतया शङ्क्यमानाया नायिकाया आ-चारकर्तृत्वेन समानरूपताया विरहात्। आचारकर्तृत्वशालिन्यां वर्णनीयनायिकायामुपमेयतया स्वीकृतायाम् आचारकर्मभूतायास्तिलोत्तमाया उपमानता असङ्गता स्यात्, उपमानता च तस्याः न त्यक्तुं शक्या उपमानान्तराप्रतीतेरेव तदुपमानतानुरोधेन तत्समानरूपस्य आचारकर्मणो वर्णनीयनायिकाया आत्मन एवोपमेयतोन्नेयेति भावः। मृगशावकच-क्षुषेत्यत्र मृगशावकस्य चक्षुषी इव चक्षुषी यस्याः इति विग्रहे समासोत्तरपदलोपयोः कृतयोः मृगशावकचक्षुरिति प्रयोगो निष्पद्यते, तस्य तृतीयान्तं रूपमत्रोल्लिखितम् मृग-शावकचक्षुषेति। अत्रापि रमणीयसादृश्यप्रतीत्या समासगोपमालङ्कारः, स च धर्मोपमान-वाचकलुप्तः, उक्तानां चतुर्णामुपमाङ्गानां मध्ये वर्णनीयनायिकाचक्षूरूपोपमेयस्य चक्षुः-पदेनोपादानेऽपि मृगशावकचक्षूरूपस्योपमानस्य, विशालत्वादेः साधारणधर्मस्य साद-श्यस्य च प्रतिपादकशब्दस्याऽनुपादानात्। न च प्रतिपादकाभावे तेषां लुप्तत्वेनाभिमंस्य-मानानां त्रयाणामङ्गानां प्रतीतिरेव न स्यात्, तदप्रतीतौ चोपमालङ्कारो न भवेदिति सर्वं विवक्षितं व्याकुलं स्यादिति वाच्यम्, वैयाकरणरीत्या मृगशावकपदस्य मृगशावक-चक्षुःसदृशे लाक्षणिकतया उपमानसादृश्ययोराक्षेपेण विशालत्वादेः साधारणधर्मस्य च प्रतीतेः। अतिरिक्तसमासशक्तिमङ्गीकुर्वतां शाब्दिकानां रीत्या मृगशावकचक्षुरिति समुदाय-स्यैव मृगशावकचक्षुःसदृशचक्षुर्विशिष्टरूपार्थे शक्तत्वेन उपमानसादृश्ययोः प्रतीतिः। अथा-नयोर्लोप एव कथमित्थं स्थितौ व्यवहर्तुं योग्य इति नापादयितुं शक्यम्, तन्मात्रवाचक-त्वविरहेण तथा संभव इति पूर्वमुक्तत्वादिति भावः।

उपपादन करते हैं—तिलोत्तम इत्यादि। यहाँ 'तिलोत्तमामिवात्मानमाचरति अर्थात् अपने में तिलोत्तमा (एक स्वर्गीय अप्सरा) के समान आचरण करती है' इस

अर्थ में तिलोत्तमा पद से 'आचारार्थक क्यच् प्रत्यय' करने से 'तिलोत्तमीय' धातु बन जाती है, उससे 'शतृ' प्रत्यय करने से 'तिलोत्तमीयन्ती' यह रूप स्त्रीलिङ्ग में तैयार होता है, उसीका तृतीयान्त रूप तिलोत्तमीयन्त्या यहाँ प्रयुक्त हुआ है। इस पद में उपमालङ्कार है, क्योंकि तिलोत्तमारूप उपमान का सुन्दर सादृश्य आत्मरूप उपमेय में प्रतीत होता है। साधारण धर्म है आचार। आप कहेंगे-'तिलोत्तमीयन्त्या' में न 'इव' आदि है, न 'आत्म' शब्द है फिर 'सादृश्य' और उपमेय (आत्मा) की प्रतीति कैसे होगी और जब इन दोनों उपमाङ्गों की प्रतीति नहीं होगी, तब उपमा होगी कैसे? इसका उत्तर यह है कि 'तिलोत्तमा पद' स्वार्थसदृश में लाक्षणिक है अतः सादृश्य की प्रतीति तो अवश्य होगी, परन्तु वह (सादृश्य) लुप्त समझा जायगा, क्योंकि उसका बोधक तिलोत्तमा पद केवल उसीका बोधक नहीं है। आत्मारूप उपमेय अत्यन्त स्पष्ट है, अतः वाचक पद के अभाव में भी आक्षेप से उसका बोध हो जायगा। इस तरह से अब यह समझने में कठिनता नहीं होनी चाहिए कि यहाँ उपमाङ्गों में से तिलोत्तमा पद से एक स्वर्गीय नायिकारूप उपमान और क्यच् प्रत्यय से आचरण-रूप धर्म उक्त हैं, और सादृश्य तथा उपमेय (वर्णनीय नायिका की आत्मा) लुप्त हैं, अतः यह उपमा वाचकोपमेयलुप्ता का उदाहरण होती है। यदि आप कहें कि-वर्णनीय नायिका की आत्मा यहाँ उपमेय है यह बात जँचती नहीं, क्योंकि तिलोत्तमारूप उपमान का उसके समान आचरण करनेवाली वर्णनीय नायिका ही उपमेय मालूम पड़ती है और उसको उपमेय मान लेने पर उपमेय का लोप यहाँ नहीं कहा जा सकता। कारण, उस नायिकारूप उपमेय का बोधक पद इस पद्य में वर्तमान है 'तया', तो इसके समाधान में मेरा कथन है कि-हाँ जी, ऊपर-ऊपर से देखने पर वर्णनीय नायिका उपमेय प्रतीत होती है, परन्तु वह उपमेय हो नहीं सकती, क्योंकि उसको उपमेय मान लेने पर तिलोत्तमा का उपमान होना ही असङ्गत हो जायगा और उसका उपमान होना तो यहाँ इतना प्रकट सत्य है कि उसका परित्याग किया ही नहीं जा सकता। तात्पर्य यह कि तिलोत्तमा से अतिरिक्त उपमान होने योग्य कोई पदार्थ यहाँ है ही नहीं, यहाँ विच्छित्ति के लिये कवि का प्रमुख प्रयास, तिलोत्तमा को उपमानरूप में चुनना ही है। आप घबड़ाते होंगे कि यह कौन सी पहेली बतलाई जा रही है—वर्णनीय नायिका के उपमेय होने पर तिलोत्तमा उपमान नहीं हो सकती और उसीकी आत्मा को उपमेय मानने पर तिलोत्तमा का उपमान होना बन जाता है? समझिए-ऐसा क्यों होता है, किन्हीं दो पदार्थों का उपमानोपमेय होना उन दोनों के अधिक से अधिक समानरूप होने पर निर्भर है-किसी तरह की विरूपता रहने पर उपमानोपमेय-भाव बनता ही नहीं, ऐसी स्थिति में वर्णनीय नायिका-जो 'आचरण क्रिया' की कर्त्री है—यदि, उपमेय हो जाती है, तब तिलोत्तमा जो आचरणक्रिया का कर्म है—उपमान कैसे हो सकेगी? एक कर्ता और दूसरा कर्म इन दोनों में समानरूपता कैसी? अतः 'तिलोत्तमीयन्त्या' इस सिद्ध रूप में वाचक पद के न रहने पर भी उपमेयरूप में वर्णनीय नायिका की 'आत्मा' का तर्क आवश्यक है क्योंकि वह (आत्मा) भी आचरण क्रिया का कर्म है। इस बात को स्पष्ट समझने के लिए उस पद के विग्रहवाक्य पर ध्यान दीजिए—'तिलोत्तमामिव आत्मानम् आचरन्त्या' इसमें 'आत्मानं' कर्म है न? और 'तिलोत्तमाम्' भी? अतः वह आत्मा ही उपमेय है, पर उसका बोधक पद, पद्य में है नहीं, अतः उपमेय का लोपपक्ष नितान्त अनवद्य है—हृद्य है। इसी पद्य का 'मृगशावकचक्षुषा' यह अंश धर्मोपमानवाचकलुप्ता का उदाहरण होता है। कारण, इस पद का अर्थ है—मृगछौने की आँखों के समान आँखें हों जिसकी ऐसी नायिका। यहाँ उक्त अर्थ वाले 'मृगशावकस्य चक्षुषी इव चक्षुषी यस्याः' इस विग्रह में 'सप्तम्युप-मानपूर्वस्य' इस 'अनेकमन्यपदार्थे' सूत्र के भाष्यवार्तिक से समास हुआ है और उत्तर पद (उपमानवाचक चक्षुष् पद) का लोप हुआ है। इस समस्त पद से उक्त अर्थ

निकालने के दो तरीके हो सकते हैं। एक नैयायिकों का यह तरीका है कि 'मृगशावक-चक्षुषा' पद के 'मृगशावक' पद की 'मृगशिशु के नेत्रों के सदृश' इतने अर्थ में लक्षणा मान ली जाय और तदुत्तर उपमेयवाचक चक्षुष् पद जो श्रूयमाण है, के साथ समास किया जाय। दूसरा तरीका वैयाकरणों का यह है कि पदों की शक्ति से भिन्न एक समासशक्ति माननी चाहिए अर्थात् जिन पदों की शक्ति से जो अर्थ निकलता है, उन्हीं पदों में समास कर देने के बाद समासशक्ति के द्वारा, उससे कुछ अधिक अर्थ निकाल लेना चाहिए। लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं। इस रीति के अनुसार 'मृगशावक-चक्षुषा' इस समस्त पदसमुदाय का ही उक्त अर्थ हो जाता है, दोनों ही पक्षों में यहाँ धर्म, उपमान और वाचक ये तीनों उपमाङ्ग लुप्त समझे जाते हैं क्योंकि यहाँ जो उपमान—मृगशावकचक्षु, धर्म—विशालता, चपलता आदि तथा वाचक—सादृश्यबोधक इव आदि होते हैं, उनमें से केवल एक-एक का बोधक पद यहाँ नहीं है अर्थात् सम्मिलित रूप से इन अर्थों के साथ अन्य अर्थों का भी बोधक समस्त पद अथवा लक्षणा द्वारा पूर्वपद अवश्य होता है परन्तु एक-एक अर्थ का बोधक एक-एक पद नहीं है। ध्यान रहे कि उपमा के अङ्ग तभी उक्त अर्थात् अलुप्त समझे जाते हैं, जब पृथक् पृथक् उनके वाचक पद हों, अन्य अर्थ के वाचक पदों से किसी तरह इन अर्थों के बोध होने पर भी वे लुप्त ही समझे जाते हैं।

प्राचीनाभिमतोपमाभेदानां सङ्कलनं कुरुते—

इति पञ्चविंशतिरुपमाभेदाः।

इति इत्थम् पूर्वोक्तप्रकारेण उपमायाः पञ्चविंशतिर्भेदाः प्राचीनैरुक्ता इति भावः।

इस तरह उपमा के पचीस भेद प्राचीनों के द्वारा कहे गए, समाप्त हुए।

उक्तपञ्चविंशतिभेदेभ्योऽन्यानपि भेदान् अन्यैरुक्तान् प्रदर्शयति—

इहान्यानपि भेदानन्ये निगदन्ति—वाचकलुप्ता षड्विधोपवर्णिता। 'कर्त्र्युपमाने' इति णिनौ सप्तम्यपि दृश्यते। कोकिल इवालपति कोकिलालापिनीति। तथाष्टम्यपि—'इवे प्रतिकृतौ' इति कनि 'लुम्मनुष्ये' इति लुपि चञ्चेवेत्यर्थे 'चञ्चा पुरुषः सोऽयं यः स्वहितं नैव जानीते' इत्यत्र। नवम्यपि—आचारक्विपि पदान्तरेण प्रतिपादिते समाने धर्मे दृश्यते। 'आह्लादि वदनं तस्याः शरद्राकामृगाङ्कति' इत्यादौ।

अन्यैरालङ्कारिकैरन्येऽपि उपमाया भेदाः कथ्यन्ते, तेषु तावत् वाचकलुप्ताया भेदान्तरमभिधातुं वक्ति वाचकेत्यादि। समासकर्मक्यच्-आधारक्यच्-क्यङ्-कर्मणमुल्-कर्तृणमुल्गताः वाचकलुप्तोपमायाः षड्भेदाः प्राक् प्रतिपादिताः, परन्तु तस्याः सप्तमोऽष्टमो नवमश्च भेदा अपि सम्भवन्ति। कोकिल इवालपतीत्यर्थे 'कर्त्र्युपमाने (३।२।७९)' इति पाणिनिसूत्रेण 'णिनिप्रत्यये' कृते निष्पद्यमाने 'कोकिलालापिनी'त्यत्र सप्तमो भेदः। अत्रोपमा वर्तते, परन्तु वाचकः 'इवादि'र्लुप्त इति भावः। 'चञ्चा पुरुषः'''अर्थात् यः पुरुषः स्वकीयं हितं कल्याणं न वेत्ति, स चञ्चा तृणनिर्मितपुरुषप्रतिकृतिरिव' इत्यत्राष्टमो भेदः। 'इवे प्रतिकृतौ (५।३।९६)' इति सूत्रेण तृणार्थकात् चञ्चाशब्दात् इवार्थयुक्ते प्रतिकृत्यर्थे कन्प्रत्यये 'लुम्मनुष्ये (५।३।९८)' इति सूत्रेण कनो लोपे चञ्चा इति रूपं निष्पद्यते। चञ्चा तृणनिर्मितप्रतिकृतिरिवेति तस्यार्थः। एवं चात्राप्युपमालङ्कारो भवति। किन्तु इवादिर्वाचको लुप्त इति भावः। एवम् 'आह्लादि'''इत्यादि अर्थात् आह्लादि आनन्ददायकम्, तस्या नायिकाविशेषस्य, वदनम् मुखम्, शरदः शरत्कालीना, या राका

पूर्णिमा, तस्याः, मृगाङ्कः चन्द्रः, इव, आचरति' इत्यत्र नवमो भेदः । शरद्राकामृगाङ्क-शब्दात् आचारार्थे क्विप्प्रत्यये तस्य लोपे, धातुत्वे तत्प्रयुक्ततिबादिकार्येषु सत्सु 'शरद्राकामृगाङ्कती'ति प्रयोगः सिद्ध्यति । शरद्राकामृगाङ्क इवाचरतीति तदर्थः, अतोऽत्रोपमा स्पष्टा, परन्तु वाचको लुप्त एव । नन्वयं भेदः धर्मवाचकोभयलोपे उक्त इति चेन्न, यत्र धर्मो नोक्तस्तत्र तद्भेदप्रसङ्गः, इह तु 'आह्लादि' इति भिन्नविशेषणद्वारा स उक्त एवेति तस्य भेदस्याप्रसङ्गादिति भावः ।

प्राचीनों ने जो पचीस भेद कहे हैं, उनसे अन्य भी कुछ उपमा के भेद अन्य लोग कहते हैं। उन्हीं भेदों का विवरण किया जाता है—इहान्यानपि इत्यादि। समासगत, कर्मक्यच्गत, आधारक्यच्गत, क्यङ्गत, कर्मणमुल्गत और कर्तृणमुल्गत ये छः भेद वाचकलुप्तोपमा के प्राचीनों के द्वारा कहे गए हैं, परन्तु 'कोकिल इवालपति अर्थात् कोयल के समान आलाप करती है' इस अर्थ में 'कर्तर्युपमाने (३।२।७९)' इस पाणिनिसूत्र से 'णिनि प्रत्यय' करके बनाए जाने वाले 'कोकिलालापिनी' इस पद में उसका सातवाँ भेद भी देखा जाता है—अर्थात् यहाँ भी सुन्दर सादृश्यरूप उपमा है और इवादि के न रहने के कारण वह वाचकलुप्ता है। 'इवे प्रतिकृतौ (५।३।९६)' इस सूत्र से 'कन्' प्रत्यय करके 'लुम्मनुष्ये (५।३।९८)' इस सूत्र से उसका लुप् (लोप) कर देने पर चञ्चा शब्द बनता है, उसका अर्थ होता है तृण (घास) से बनी हुई प्रतिकृति के समान, क्योंकि शुद्ध चञ्चा शब्द का अर्थ है 'घास' और तद्धितप्रत्यय (लुप्त कन्) का अर्थ है 'बनी हुई प्रतिकृति के समान'। अब, इस तरह से बने हुए इस 'चञ्चा' शब्द का प्रयोग जब 'चञ्चापुरुषः' 'अर्थात् वह पुरुष घास से बनी प्रतिकृति के समान है जो अपने हित को नहीं समझता' इत्यादि काव्य में किया जाता है, तब वहाँ उपमा होती है और वह भी वाचकलुप्ता। कारण, वाचक इवादि का यहाँ लोप है, अतः यह वाचकलुप्तोपमा का आठवाँ भेद भी देखा जाता है। इसी तरह वाचकलुप्ता का नवाँ भेद भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे—'आह्लादि' अर्थात् उस (नायिकाविशेष) का आनन्ददायक मुख शरत्पूर्णिमा के चन्द्र के तुल्य आचरण करता है' इत्यादि वाक्य में, क्योंकि 'शरत्पूर्णिमा चन्द्र के समान आचरण करता है' इस अर्थ में 'शरद्राकामृगाङ्क' पद से आचारार्थक क्विप्प्रत्यय करने पर 'शरद्राकामृगाङ्कति' प्रयोग बनता है, जिसमें उपमा स्पष्ट है और सादृश्यवाचक 'इव' आदि नहीं है। आचारार्थक क्विप्गत धर्मवाचकलुप्ता नामक जो एक भेद माना गया है उसमें तो यह आ नहीं सकता। कारण, यहाँ दूसरे पद (आह्लादि अथवा आनन्ददायक) से धर्म उक्त है।

उपमानलुप्तोपमाया भेदान्तरं दर्शयति—

उपमानलुप्ता वाक्यसमासयोर्द्विविधोपवर्णिता, तृतीयापि दृश्यते—

> 'यच्चोराणामस्य च समागमो यच्च तैर्वधोऽस्य कृतः ।
> उपनतमेतदकस्मादासीत्तत्काकतालीयम् ॥'

इत्यत्र काकतालशब्दयोर्लक्षणया काकागमनतालपतनबोधकयोरिवार्थे 'समासाच्च तद्विषयात्' इति ज्ञापकात्समासे काक इव ताल इव काकतालमिति काकताल-समागमसदृशश्चोराणामस्य च समागम इत्यर्थः । ततः काकतालमिवेति द्वितीय इवार्थे पूर्वोक्तेनैव सूत्रेण छप्रत्यये तालपतनजन्यकाकवधसदृशश्चोर-कर्तृको देवदत्तवध इत्येवं स्थिते प्रत्ययार्थोपमायामुपमानस्य तालपतनजन्य-काकवधस्यानुपादानादुपमानलुप्ता ।

वाक्य-समासगतत्वेन उपमानलुप्तोपमाया द्वावेव भेदौ प्रागुपपादितौ, परन्तु 'चोरा-

णाम् लुण्ठकानाम्, अस्य देवदत्तादिव्यक्तिविशेषस्य, च, समागमः सम्मिलनम् यत्, अभूत्, तैः चोरैः, अस्य पूर्वोक्तव्यक्तिविशेषस्य, वधश्च, यत्, कृतः, एतत्, अकस्मात् उपनतम्—इयं दुर्घटना आकस्मिकी सम्पन्ना, अतः, तत् तस्या घटनाया आकस्मिकाभिगमनम्, काकतालीयम्, आसीत् अभूत्' इत्यर्थके पथिकजनदुर्दशावर्णनपरे 'यच्चोराणाम्...' इत्यादिपद्ये तृतीयोऽपि तस्या भेदो दृश्यते। अस्य पद्यस्य कस्मिन्नंशे उपमेति चेत्? काकतालीयम् इत्यंशे सा बोध्या। कथमिति चेत्? इत्थम्—काकतालशब्दावत्र लक्षणया काकागमनतालपतनयोर्बोधकौ। तयोश्च 'काक इव ताल इव' इत्यर्थे 'समासाच्च तद्विषयात्' इति ज्ञापकेन समासे कृते 'काकतालम्' इति रूपं सम्पद्यते। 'काकागमनतालपतनयोः सदृशम्' इति तस्य सार्वत्रिकोऽर्थः। प्राकरणिकश्च 'काकतालसमागमसदृशश्चोराणामस्य देवदत्तादेर्व्यक्तिविशेषस्य च समागमः' इत्यर्थः। तदनन्तरम् 'काकतालमिव' इति विग्रहे द्वितीय इवार्थे तेनैव सूत्रेण छप्रत्यये तस्येयादेशे 'काकतालीयम्' इति प्रयोगः सिद्ध्यति, ततश्च 'तालपतनजन्यो यादृशः काकस्य वधस्तादृश एव चोरैः कृतो देवदत्तादेर्व्यक्तिविशेषस्य वधः' इत्यर्थः प्रकरणसहकारेण बुध्यते। अतोऽत्र द्वे उपमे भवतः। एका समासार्थरूपा, द्वितीया च प्रत्ययार्थरूपा। तत्र द्वितीया प्रत्ययार्थरूपा उपमा प्रकृते उदाहरणभूता। यतस्तस्यामुपमायां तालपतनजन्यकाकवधरूपं यदुपमानम् तस्य 'काकतालीय'मित्यत्र लोपोऽस्ति तदर्थबोधकं पदं तत्र नास्तीति भावः।

उपमान लुप्तोपमा के अन्य भेद दिखलाये जाते हैं—उपमान इत्यादि। उपमानलुप्तोपमा के दो भेद—वाक्यगत और समासगत—पहले वर्णित हो चुके हैं, परन्तु उसका तीसरा भेद भी देखा जाता है। जैसे—'यच्चोराणाम्'...'अर्थात् चोरों का और इस (देवदत्त आदि व्यक्तिविशेष) का जो समागम हुआ और उन चोरों ने इसका वध जो किया—यह दुर्घटना अचानक हो गई, अतः वह 'काकतालीय' हुई।' यह किसी पथिक की दुर्दशा का वर्णन है। यहाँ 'काकतालीय' पद के 'काक' और 'ताल' शब्द से, लक्षणाद्वारा, काक (कौए) के आगमन और ताल (ताड़) के पतन का बोध होता है। इन दोनों लाक्षणिक पदों का 'इव (= सा)' के अर्थ में 'समासाच्च तद्विषयात् (५।३।१०६)' इस ज्ञापक से समास हो जाता है, जिससे 'काकतालम्' रूप बनता है। इस समस्त शब्द का अर्थ होता है 'कौए के आने के समान और ताड़ के गिरने के समान।' 'काक इव ताल इव काकतालम्' इस विग्रहवाक्य के अनुसार ऐसा ही अर्थ उचित भी है। परन्तु प्रकृत में पद्य के अन्य पदों के सहयोग से 'काकतालम्' का अर्थ किया जाता है—'कौए और ताड़ के समागम (एक के आगमन के साथ दूसरे का पतन) के समान चोरों का और इस (व्यक्तिविशेष) का समागम। इस काकताल शब्द से दूसरे इव के अर्थ में—अर्थात् 'काकतालमिव' इस अर्थ में—उसी (समासाच्च तद्विषयात्) सूत्र से 'छ = ईय' प्रत्यय करने से 'काकतालीय' पद सिद्ध होता है। उक्त प्रक्रिया के अनुसार 'काकतालीय' पद का अर्थ हुआ—चोरों के द्वारा किया गया उस (देवदत्त आदि व्यक्तिविशेष) का वध, तालपतन से होने वाले काकवध के समान है। अत्र यहाँ दो उपमायें होती हैं। एक समासार्थरूप—अर्थात्—काकतालशब्दगत और दूसरी प्रत्ययार्थरूप—अर्थात्—काकतालीय पद के प्रत्यय (ईय) अंशगत। इन दोनों उपमाओं में से द्वितीय अर्थात् प्रत्ययार्थरूप उपमा 'उपमानलुप्ता' का उदाहरण होती है, क्योंकि इस उपमा में तालपतन से होने वाला काकवधरूप उपमान लुप्त है—अर्थात्—'काकतालीय' पद में उसका बोधक अंश नहीं है। वाचकलुप्ता इसको नहीं कह सकते हैं। कारण, 'ईय' प्रत्यय ही यहाँ सादृश्य का वाचक है। यह भेद तद्धितगत हुआ, अतः पूर्वोक्त वाक्यगत और समासगत भेदों से भिन्न हुआ।

प्राचीनैरनुक्तमेकं भेदं प्रदर्शयति—

वाचकोपमानलुप्ता तु नाम्नैव न निर्दिष्टा। साप्यत्र प्रकृत्यर्थे दृश्यते—

वाचकोपमानलुप्तात्मको भेदः प्राचीनैर्नामतोऽपि नोक्तः, उदाहरणास्फुरणमेव तत्र प्रायो हेतुः। परन्तु 'काकतालीयम्' इत्यत्रैव छप्रत्ययप्रकृतिभागस्य 'काकतालम्' इति समासस्यार्थभूतोपमा, तद्भेदोदाहरणतया पुरः स्थापयितुं शक्या, 'काकतालसमागमसमानश्चोराणामस्य च समागमः' इति तत्रत्योपमाशरीरघटककाकतालसमागमरूपोपमानसादृश्ययोः 'काकतालम्' इत्यत्र लुप्तत्वात्, तन्मात्रवाचकविरहादिति भावः।

प्राचीनों से अनुक्त एक नवीन उपमाभेद की चर्चा करते हैं—वाचक इत्यादि। वाचकोपमानलुप्ता नामक भेद का तो प्राचीनों ने नाम भी नहीं लिया। क्यों नहीं लिया इसका कारण प्रायः उन लोगों के सामने उदाहरण की अनुपलब्धि ही रही होगी, परन्तु 'काकतालीयम्' में जो छ प्रत्यय हुआ है उसकी प्रकृति अर्थात् 'काकतालम्' के अर्थ में उसका उदाहरण मिल सकता है। क्योंकि यहाँ जो 'समासार्थउपमा' शब्द से उपमा दिखलाई गई है, उसमें उपमान है 'काकतालसमागम' जिसका वाचक यहाँ कोई शब्द नहीं और न सादृश्य का ही प्रतिपादक कोई शब्द है।

भेदान्तरं प्रकटयति—

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यसमासयोर्द्विविधैवोक्ता। सा चात्रापि तृतीयचरणोक्तधर्मनिरासे प्रत्ययार्थे दृष्टा।

तृतीयचरणोक्तेति। 'उपनतमेतदकस्मात्' इत्यस्य स्थाने चरणान्तरनिर्माण इत्यर्थः। वाक्यसमासगामितया द्वौ भेदौ धर्मोपमानलुप्तोपमायाः प्रागुक्तौ। किन्तु तद्धितगामितया तृतीयोऽपि तस्या भेदः संभवति। स यथा—'यच्चोराणाम्...' इत्यस्मिन्नेव पद्ये तृतीयचरणं प्रकारान्तरेण परिवर्त्य विरच्येत, तदा काकतालीयशब्दघटकप्रत्ययार्थोपमायाम्। तत्रोपमानलोपः प्रागुपपादित एव। धर्मलोपश्च धर्मबोधकतृतीयचरणपरिवर्तनवार्तायां स्पष्टीकृतः।

धर्मोपमानलुप्तोपमा के दो भेद—वाक्यगत तथा समासगत—पहले कहे जा चुके हैं, पर उसका 'तद्धितगत' एक तीसरा भेद भी हो सकता है। जैसे—यदि 'यच्चोराणाम्...' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य के तृतीय चरण (उपनतमेतदकस्मात्) जो धर्मबोधक है—को हिन्दी अनुवादकार चतुर्वेदीजी के शब्दों में यों बदल दिया जाय कि—'किमिति भ्रमो वयमिवमासीद्वत काकतालीयम्' तब प्रत्ययार्थ (छ=ईय से बोध्य) उपमा धर्मोपमानलुप्ता हो जाती है।

भेदान्तरं प्रतिपादयति—

वाचकधर्मलुप्ता क्विप्समासयोर्द्वयोरेव कथिता। सापि 'चञ्चा पुरुष सोऽयं योऽत्यन्तं विषयवासनाधीनः' इत्यत्र स्वहिताकरणरूपस्य धर्मस्यानुपादाने कनो लोपे विलोक्यते।

क्विप्समासगतत्वेन द्वौ भेदौ वाचकधर्मलुप्ताया उपमायाः पूर्वं प्रतिपादितौ। परन्तु 'यो निरतं संसारजालकवलीकृतस्वान्तः परलोकनिमित्तं न चेष्टते, स, पुरुषः, चञ्चा तृणरचितप्रतिकृतिसमानः' इत्यर्थक ? 'चञ्चापुरुषः सोऽयम्...' इति मूलोक्तवाक्यघटकचञ्चाशब्दार्थे तद्धितगाम्यपि तृतीयो भेदो भवितुं शक्नोति। 'चञ्चा'शब्दे यथोपमा भवति, तथा प्राक् प्रतिपादितमेव। किन्तु तत्र 'स्वहितं नैव जानीते' इत्यंशेन स्वहितज्ञानाकरणरूपधर्म आसीत्। इदानीं तदंशपरिवर्तने धर्मलुप्ताऽपि तत्र सञ्जायत इति भावः।

क्विप् और समास में होनेवाले दो भेद वाचकधर्मलुप्तोपमा के प्राचीनों ने कहे हैं, परन्तु तद्धित में भी एक तृतीय भेद उसका देखा जाता है। जैसे पूर्वोक्त पद्य के 'वञ्चापुरुषः सोऽयम्' इस अंश के आगे, 'अपना हित नहीं करना' रूप बोधकधर्म 'यः स्वहितं नैव जानीते' इस भाग को 'योऽत्यन्तं विषयवासनाधीनः अर्थात् जो अत्यन्त ही सांसारिक धनपुत्रादिविषयविषयक संस्कार का वशीभूत है' इस रूप में बदल देने पर 'कन्' प्रत्यय के लोप की जगह में।

उपसंहरति—

एवं च द्वात्रिंशद् भेदाः।

निगदव्याख्यातमिदम्।

इस तरह से अब उपमा के बत्तीस भेद हो गये अर्थात् प्राचीनों ने पहले पचीस भेद कहे और पीछे अन्य विद्वानों के मतानुसार सात भेद और अधिक अभी बतलाये गये, दोनों का योग बत्तीस हुआ।

प्राचीनोक्तभेदानालोचयति—

अत्रेदमवधेयम्—कर्माधारक्यचि क्यङि च वाचकलुप्तोदाहरणं प्राचामसङ्गतमिव प्रतीयते धर्मलोपस्यापि तत्र संभवात्। न च क्यजाद्यर्थ आचार एव साधारणधर्मोऽस्तीति वक्तव्यम्। धर्ममात्ररूपस्याचारस्योपमाप्रयोजकत्वाभावात्। 'नारीयते सपत्नसेना' इत्यादौ वृत्त्यन्तरनिवेदितैः कातरत्वादिभिरभिन्नतयाध्यवसितस्याचारस्योपमानिष्पादकत्वात्। यदि च क्यङर्थ आचारमात्रमुपमानिष्पादकं स्यात्तदा 'त्रिविष्टपं तत्खलु भारतायते' इत्यादौ सुप्रसिद्धत्वादिरूपाचारोपस्थितावप्युपमालङ्कृतेरनिष्पत्तेः, तस्यैव च 'सुपर्वभिः शोभितमन्तराश्रितैः' इति चरणान्तरनिर्माणे तस्या निष्पत्तेः क्यजाद्यर्थः साधारणोऽपि नोपमां प्रयोजयति। उपमाप्रयोजकतावच्छेदकरूपेण साधारणधर्मवाचकशून्यत्वस्यैव धर्मलोपशब्देनाभिधानात्। अन्यथा 'मुखरूपमिदं वस्तु प्रफुल्लमिव पङ्कजम्' इत्यादौ पूर्णोपमापत्तेरिति दिक्।

धर्मलोपस्यापीति। अत्र नागेशः—'उपमानादाचारे' इत्यत्रोपमानमाचारनिरूपितमेव गृह्यते। उदाहरणे च पुत्रपदस्य पुत्रकर्मकाचारसदृशे लक्षणेति वैयाकरणमते च सुतरां धर्मलोपः। न चैतन्मते 'त्रिविष्टपं तत्खलु भारतायते' इत्यत्र क्यचोऽनुपपत्तिः। भारताचारसदृशाचारस्य त्रिविष्टपवृत्तेरप्रसिद्धेः। 'सुपर्वभिः शोभितम्' इत्यस्य श्लेषेणाभेदाध्यवसाय एव, न सादृश्याध्यवसाय इति वाच्यम्। एकशब्दोपात्तत्वेनाभेदबुद्धेरिव शब्दरूपसाधर्म्येण सादृश्यबुद्धेरप्युपपत्तेः इत्याहुरिति। ननु नारीयते इत्यादौ आचारस्य साधारणधर्मत्वमस्त्येवेत आह—नारीति। वृत्त्यन्तरेति। क्यजन्तेत्यर्थः। आचारमात्रमिति। मात्रपदेन किञ्चिदभिन्नतयाध्यवसितत्वव्यवच्छेदः। तस्यैव पद्यस्य। तस्याः उपमालङ्कृतेः। साधारणोऽपि। उभयनिष्ठोऽपि। ननु क्यजाद्यर्थाचारमात्रस्योपमाप्रयोजकत्वाभावेऽपि साधारणत्वेनोभयधर्मत्वात्तत्सत्त्वाच्च कथं तल्लोपमत्रोक्त आह—उपमेति। 'अनलीयति, काननीयति, निर्जलनीनायते' इत्यादौ क्रमशः कर्मार्थकक्यजाधारार्थकक्यच्कर्त्रर्थकक्यङ्प्रत्ययान्ते प्रयोगे यथा सादृश्यस्य वाचकं पदं नास्ति, तथा साधारणधर्मस्यापि वाचकं पदं नास्त्येवेति तत्प्रयोगघटितम् 'मलयानिलमनलीयति…' इत्यादि प्रागुक्तपद्यम् वाचकधर्मलुप्तोपमाया एवोदाहरणं भवितुमर्हति, न केवलवाचकलुप्तोपमायाः।

तथा च कर्माधारक्यच्क्यङन्तत्वेन वाचकलुप्ताया भेदत्रयं प्राचीनैरङ्गीकृतमसङ्गतमेव। उपमानोपमेयोभयवृत्तितयाऽऽचार एव साधारणो धर्मस्तद्वाचकश्च क्यच्क्यङादिरत्रास्तीति तु न वक्तुं योग्यम्, अन्यसाधारणपदार्थाभेदाध्यवसायरहितस्याचारस्योपमाप्रयोजकत्वविरहात्। अत एव 'सुप्रसिद्धः स्वर्गो महाभारतग्रन्थ इवाचरती'त्यर्थके 'त्रिविष्टपं तत्खलु भारतायते' इत्यादौ सुप्रसिद्धत्वरूपाचारप्रतीतावपि तावदुपमालङ्कारो न निष्पद्यते, यावत् 'मध्यभागस्थितैः देवैः पक्षे तथाविधैः आदिसभाप्रभृतिग्रन्थाध्यायैः शोभितम्' इत्यर्थकं 'सुपर्वभिः शोभितमन्तराश्रितैः' इति श्लिष्टं चरणान्तरं तत्र न योज्यते। ननु 'नारीयते सपत्नसेना' इत्यादौ शत्रुसेना नारीवाचरतीत्यर्थके वाक्ये केवलाचारमेव साधारणधर्ममाश्रित्योपमानिष्पत्तिः कथं भवतीति चेन्न, व्यञ्जनावृत्तिबोध्यकातरत्वादिपदार्थाभिन्नतयाऽध्यवसितमाचारं साधारणधर्मतया विदित्वैव तत्रोपमानिष्पत्तेः। केवलाचारमादाय तत्रापि नोपमानिष्पत्तिरिति सारांशः। एवञ्चोभयनिष्ठोऽपि क्यच्क्यङर्थे आचार उपमाप्रयोजको नेति समुदितार्थः। अथ मास्ताम् केवलस्याचारस्योपमाप्रयोजकत्वम्, किन्तु तावता तस्योभयनिष्ठत्वेन प्राप्ता साधारणधर्मपदव्यवहार्यता तु न निवारिता स्यात्। अनिवारितायां च तस्याम्, कथमिह धर्मलोपव्यवहारस्तद्वाचकस्य क्यजादेः सत्त्वादित्यपि न मनोरमम्, यादृशो धर्म उपमां प्रयोजयति तादृशधर्मवाचकपदशून्यतायामेव धर्मलोपव्यपदेशात्। अत एव 'मुखरूपमिदं वस्तु प्रफुल्लमिव पङ्कजम्' इत्यादौ [illegible] सत्त्वेऽपि धर्मलुप्तोपमैव व्यवह्रियते न पूर्णोपमा। इत्थं च प्रकृते उपमाप्रयोजकरूपरहितस्य केवलाचारस्य क्यजादिवाच्यत्वेऽपि धर्मलोपव्यवहार एव न्याय्य इति भावः।

प्राचीनोक्त भेदों की आलोचना करते हैं—अत्रेदमवधेयम् इत्यादि। प्राचीनों ने जो उपमा के पचीस भेद दिखलाये हैं, उनमें एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि—'मलयानिलमनलीयति···' इस पूर्वोक्त पद्य में 'अनलीयति, काननीयति और निर्जलमीनायते' इन अंशों को क्रमशः कर्मार्थक क्यच्, आधारार्थक क्यच् तथा क्यङन्त वाचकलुप्ता का उदाहरण बतलाना उनका सङ्गत-सा नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ धर्मलोपव्यवहार भी सम्भावित है। सारांश यह कि वे भेद, वाचक और धर्म दोनों के लोप में आ सकते हैं, केवल वाचक के लोप में नहीं। यदि आप कहना चाहें कि उपमान और उपमेय दोनों में रहनेवाला 'आचार' ही साधारण धर्म है और उसका वाचक क्यच् आदि यहाँ वर्तमान ही है फिर धर्मलोप की सम्भावना कैसे की जा सकती है, तो यह भी ठीक नहीं। कारण, केवल आचार अर्थात् जिसका कोई निश्चित रूप नहीं है, वह उभयनिष्ठ होकर भी उपमा का प्रयोजक नहीं होता अर्थात् वैसे आचार को साधारण धर्म मानकर उपमा अलङ्कार नहीं बन पाता। अतएव 'त्रिविष्टपं तत्खलु भारतायते—अर्थात् सुप्रसिद्ध स्वर्ग, भारत (महाभारत) सा आचरण करता है' इत्यादि स्थानों में सुप्रसिद्धत्वरूप उभय(स्वर्ग और महाभारत ग्रन्थ)निष्ठ आचार की उपस्थिति रहने पर भी तब तक उपमालङ्कार नहीं निष्पन्न होता, जब तक 'सुपर्वभिः शोभितमन्तराश्रितैः अर्थात् मध्य में रहनेवाले सुपर्वों (एकत्र देवताओं, अन्यत्र आदि, सभा प्रभृति पर्वों) से शोभित' यह श्लिष्ट विशेषण, उसमें नहीं जोड़ा जाता है। तात्पर्य यह है कि 'एक विशेषण से युक्त होना' यह शब्दात्मक साधारण धर्म की प्रतीति होने पर ही उपमा बन पाती है, उससे पहले आचार की प्रतीति होने पर भी नहीं, इससे सिद्ध होता है कि केवल आचार उपमाप्रयोजक नहीं होता। आप कहेंगे—यदि ऐसी बात होती, तब 'नारीयते सपत्नसेना अर्थात् शत्रुओं की सेना नारी–स्त्री सा आचरण करती है' इत्यादि स्थानों में उपमा कैसे होती है ? अर्थात् यहाँ 'आचार' से भिन्न

कोई साधारण धर्म है नहीं, फिर उपमा कैसे मानी जाती है? तो, इसका उत्तर है कि केवल 'आचार' को साधारण धर्म मानकर यहाँ उपमा नहीं मानी जाती, अपितु व्यञ्जना से जब कातरता आदि की प्रतीति होती है और उस कातरता आदि के साथ क्यङ्प्रत्यय के अर्थ आचार का अभेद समझ लिया जाता है, तब उपमा बन पाती है अर्थात्-जब यह समझ में आता है कि जैसे नारियाँ कातर होती हैं वैसे शत्रुओं की सेना कातर है, तब उपमा का बोध होता है। सारांश यह कि इस दृष्टान्त से भी आप केवल आचार को उपमाप्रयोजक नहीं सिद्ध कर सकते। यदि आप कहें कि अच्छा, आप ही की बात रहे-केवल 'आचार' उपमा का साधक नहीं होवे, पर उपमान तथा उपमेय दोनों में रहने के कारण वह साधारण धर्म तो जरूर है, फिर उसके वाचक क्यच् आदि के रहने पर धर्मलोप का व्यवहार कैसे किया जा सकता है? तो, मैं कहूँगा—अवश्य किया जा सकता है, क्योंकि किसी तरह के साधारण धर्म के रहने पर साधारण धर्म की सत्ता नहीं समझी जाती, अपितु जो धर्म, उपमाप्रयोजकतावच्छेदकरूप से युक्त हो अर्थात् जिस तरह के धर्म के रहने पर उपमा की सिद्धि हो, उस तरह के धर्म की उपस्थिति कराने वाले पद की सत्ता में ही साधारण धर्म की सत्ता समझी जाती है। अतएव 'मुखरूपमिदम् वस्तु'' इत्यादि अर्थात् मुखरूप यह वस्तु विकसित कमल सी है' इत्यादि स्थानों में पूर्णोपमा नहीं होती, आप के हिसाब से तो पूर्णोपमा ही यहाँ होनी चाहिए, क्योंकि वस्तुत्व—जो मुख और कमल दोनों में रहता है—रूप धर्म यहाँ उक्त ही है। मेरे हिसाब से यह भी धर्मलुप्तोपमा होगी। कारण, वस्तुत्व एक ऐसा सामान्य धर्म है जो सभी चीजों में रहता ही है, अतः वह उपमाप्रयोजक हो ही नहीं सकता और दूसरा कोई साधारण धर्म उक्त नहीं है। अन्ततः यह सिद्ध हुआ कि उपमाप्रयोजक साधारण धर्म के न रहने पर धर्मलोप का ही व्यवहार होना समुचित है, चाहे उपमा का अप्रयोजक कोई उभयनिष्ठ धर्म उक्त ही क्यों न हो। इस स्थिति में उक्त स्थल पर केवल आचार अर्थात्-उपमा के अप्रयोजक आचार-के क्यजादि के द्वारा उक्त होने पर भी 'धर्मलोप' का व्यवहार होगा।

दीक्षितोक्तं खण्डयति—

यच्चाप्पयदीक्षितैरस्मिन्नेव प्रस्तावे 'धर्मलुप्ता वाक्यसमासतद्धितेषु दर्शिता द्विर्भावेऽपि दृश्यते। 'पटुपटुर्देवदत्तः' इत्यत्र 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सादृश्ये द्विर्भावविधानात्' इति निगदितं तत्तुच्छम्। अत्र च वाचकस्याप्यनुदानाद्वाचकधर्मलुप्तायामेतदाधिक्यमुद्भावयितुमुचितम्, न धर्मलुप्तायाम्। धर्ममात्रलुप्ताया एव धर्मलुप्ताशब्देन तैर्विवक्षणात्। अन्यथा एकलुप्तास्वेव द्विलुप्तानां त्रिलुप्तायाश्च ग्रहणात्पृथगुपादानमसम्बद्धमेव स्यात्। न चात्र वाचकस्य द्विर्भावस्यैव सत्त्वान्नास्ति लोपः, अपि तु धर्ममात्रस्येति वक्तुं शक्यम्। द्विर्भावस्य सादृश्यवाचकत्वोक्तेर्भाष्यकैयटादिविरुद्धत्वात्। तदुक्तं कैयटेन 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सूत्रे सिद्धं त्विति प्रतीकमुपादाय—'द्विर्वचनस्य प्रकृतिः स्थानी इति सदृशो विशेष्यते न तु प्रकारः। तत्र सर्वस्य गुणवचनत्वाद् व्यभिचाराभावात्। तद्ग्रहणाद्गुणवचनो यः शब्दो निर्ज्ञातस्तस्य सादृश्ये द्योत्ये द्वे भवत इति सूत्रार्थः' इति।

'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सूत्रेण सादृश्यार्थे द्वित्वस्य विधीयमानतया 'पटुसदृशो देवदत्तः' इत्यर्थके 'पटुपटुर्देवदत्त' इत्यत्रापि वाक्यसमासतद्धितगामितया प्राचीनैरुपदर्शिताया धर्मलुप्तोपमाया एकः प्रकारो दृष्टिगोचरीभवतीति यदुक्तं दीक्षितैस्तन्न समीचीनम्, सादृश्यवाचकस्याप्यत्रानुक्ततया, वाचकधर्मोभयलुप्तोपमाप्रभेदेषु प्रकारस्यास्य

गणयितुमौचित्यात्। ननु उभयलुप्तात्वेऽपि धर्मलुप्तात्वस्यानपायाद्दीक्षितोक्तिर्नासमीचीनेति चेन्न, धर्ममात्रलुप्ताया एव धर्मलुप्तापदेन दीक्षितैर्विवक्षितत्वात्। यदि द्विलुप्तादावपि एकलुप्तापदप्रयोगोऽभिमतोऽभविष्यत्, तर्हि एकलुप्ताप्रभेदेष्वेव द्विलुप्तत्रिलुप्तादीनामपि ग्रहणे पृथक् तेषां भेदानां ग्रहणमसम्बद्धमेवाभविष्यत्। द्विर्भावोऽत्र सादृश्यवाचको वर्तत एवेति न तल्लोप इति तु न वक्तुमर्हम्, द्विर्भावस्य सादृश्यवाचकताया भाष्यकैयटादितोऽसिद्धत्वात्। मूलोद्धृतायाः कैयटोक्तेरयं सारः—'प्रकारे गुणवचनस्ये'ति सूत्रे गुणवचनत्वं प्रकारस्य विशेषणं द्विर्भावस्थानिनः पटुशब्दादेर्वेति विकल्पे, प्रकारस्य सादृश्यस्य सर्वत्र गुणवाचित्वनियमात् व्यभिचारवारकस्य तद्विशेषणस्य वैयर्थ्यापत्त्या तद् विशेषणबलात् 'गुणवाचकात् शब्दात् सादृश्ये द्योत्ये द्वित्वं भवती'ति सूत्रस्यार्थः सम्पद्यते इति। अस्मिन् कैयटग्रन्थे द्विर्भावस्य सादृश्यद्योतकत्वमेव कण्ठरवेणोक्तम् न तद्वाचकत्वम्। एवञ्च सादृश्यवाचकविरहात् धर्मवाचकलुप्तोदाहरणमेवेदं द्वित्वम् न धर्ममात्रलुप्ताया इति भावः। अत्र—'द्विर्भावस्य सादृश्यद्योतकत्वेऽपि शक्तत्वरूपवाचकत्वाभावाद् वाचकलोप इति तव ('पण्डितराजस्य) हृदयम्। तत्तु इवादेर्द्योतकतानये चन्द्र इव मुखमित्यत्र, चन्द्रमुख-मुखमित्यत्र च वाचकलुप्ताव्यवहाराभावाय सादृश्यतद्विशिष्टान्यतरबोधकाभावस्यैव वाचकलुप्ताव्यवहारप्रयोजकत्वस्य वाच्यत्वेन द्योतकस्यापि बोधकत्वानपायेन नास्ति वाचकलोप इति तदाशयात् अबोधमूलकमिति चिन्त्यमिदम्।' इति नागेशो रुचिरमाख्यत्।

दीक्षितोक्ति का खण्डन करते हैं—यच्च इत्यादि। 'धर्मलुप्तोपमा के वाक्यगत, समासगत और तद्धितगत ये तीन प्रकार, प्राचीनों के द्वारा दिखलाये गये हैं, परन्तु उसका चौथा प्रकार भी 'पटुपटुर्देवदत्तः' इत्यादि द्विर्भावस्थल में दीख पड़ता है, क्योंकि यहाँ 'प्रकारे गुणवचनस्य (८।१।१२)' इस सूत्र से सादृश्य अर्थ में पटुशब्द को द्वित्व हुआ है, जिसके अनुसार उसका अर्थ होता है-'पटु(चतुर)सदृश देवदत्त' अर्थात् यहाँ सादृश्य की प्रतीति, 'पटुपटुः' इस द्विर्भाव से, होती है, अतः यहाँ उपमा है इसमें किसी को आपत्ति नहीं, साथ साथ सादृश्यनियामक धर्म के ग्रहण न होने से इस उपमा के धर्मलुप्ता होने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए, अतः धर्मलुप्ता का यह चौथा प्रकार भी होता है' यह कथा, इसी प्रसङ्ग पर अप्पय दीक्षित ने कही है जो समुचित नहीं, कारण यहाँ जैसे धर्मवाचक पद का उपादान नहीं है, उसी तरह सादृश्यवाचक पद का भी उपादान नहीं है, ऐसी स्थिति में धर्म और वाचक दोनों के लोप वाले भेद अर्थात् धर्मवाचकलुप्तोपमा के भेद में इस उपमा का उल्लेख करना उचित था, न कि केवल धर्मलुप्ता के प्रभेद में। धर्मवाचकोभयलुप्ता होने पर भी धर्मलुप्ता तो यह उपमा हुई ही, अतः उन्होंने ऐसा कहा, यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि धर्मलुप्ता शब्द से केवल धर्मलुप्ता का ही ग्रहण करना उनका अभीष्ट मालूम पड़ता है। यदि ऐसा न होता-अर्थात् धर्मलुप्ता शब्द से धर्मवाचकोभयलुप्ता का भी ग्रहण करना उनका अभिमत होता, तब तो एकलुप्ता के प्रभेदों में ही द्विलुप्ता और त्रिलुप्ता के भेद भी संगृहीत हो ही जाते, फिर पृथक् द्विलुप्ता और त्रिलुप्ता के भेदों को गिनाना व्यर्थ ही होता। द्विर्भाव ही यहाँ सादृश्य का वाचक है, अतः वाचकलोप का व्यवहार यहाँ नहीं किया जा सकता, यह कहना भी सङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि द्विर्भाव, सादृश्य का वाचक है, यह कथा भाष्य और कैयट आदि ग्रंथों से विरुद्ध पड़ती है। अर्थात् भाष्यकैयटादि ग्रन्थों से द्विर्भाव का सादृश्यद्योतक होना ही सिद्ध होता है सादृश्यवाचक होना नहीं। देखिए, 'प्रकारे गुणवचनस्य' इस सूत्र में 'सिद्धं तु' इस प्रतीक को लेकर कैयटकार क्या कहते हैं। उनके कथन का भाव है कि 'प्रकार' अर्थात् सादृश्य, सदा सर्वत्र गुणवाचक ही होता है, जाति अथवा क्रिया

का वाचक नहीं, ऐसी स्थिति में 'गुणवचन' यह विशेषण, 'प्रकार' में लगाया नहीं जा सकता अर्थात् 'गुणवाची सादृश्य में' ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत् अर्थात् कोई विशेषण किसी भी विशेष्य में तभी सार्थक होता है, जब उस विशेषण के अर्थ की, उस विशेष्य में कहीं सम्भावना हो और कहीं उस विशेषणार्थ का व्यभिचार भी हो' ऐसा सिद्धान्त है। तात्पर्य यह कि गुणवाचकत्व का कहीं भी व्यभिचार (अभाव) न रहने के कारण 'प्रकार' में 'गुण-वचन विशेषण' नहीं जोड़ा जा सकता। परिशेषात् वह स्थानी (जिसको द्वित्व करना अभीष्ट हो उस पटु आदि शब्द) का विशेषण होता है। अतः तदनुसार उक्त सूत्र का यह अर्थ होता है कि 'सादृश्य द्योतित करना हो, तो उस शब्द को द्वित्व कर देना चाहिए, जो निश्चितरूप से गुणवाची ज्ञात हो।' इससे सारांश यह सिद्ध हुआ कि द्विर्भाव सादृश्य का द्योतक है वाचक नहीं, अतः 'पटुपटुर्देवदत्तः' यह वाचकधर्मलुप्ता का उदाहरण है केवल धर्मलुप्ता का नहीं। नागेश यहाँ दीक्षितमत के समर्थन में कहते हैं कि 'इस प्रकरण में 'वाचक' शब्द का अर्थ 'अभिधावृत्ति के द्वारा सादृश्य का बोधक' नहीं है, अपितु 'किसी भी युक्ति से सादृश्य अथवा सादृश्ययुक्त अर्थ का बोधक है, और ऐसे किसी शब्द के न होने पर वाचक का लोप माना जाता है। अन्यथा 'इव' आदि को द्योतक मानने वालों के मत में 'चन्द्र इव मुखम्' इस स्थल पर और उसको वाचक माननेवालों के मत में भी 'चन्द्रसुहृन्मुखम्' इस स्थल पर वाचकलुप्ताका व्यवहार होने लगेगा जो होता नहीं, अतः द्योतक द्विर्भाव को भी सादृश्यबोधक होने से वाचक कहलाने में बाधा नहीं रहने के कारण दीक्षित ने यहाँ धर्मलुप्ता मानी है। नागेश की यह मीमांसा सुन्दर है-युक्तियुक्त है, अतः दीक्षित-मत के खण्डन में ग्रन्थकार का यहाँ दुराग्रह ही झलकता है।

दीक्षितोक्तमन्यदपि निरस्यति—

इदं चान्यत्तस्मिन्नेव प्रस्तावे चित्रमीमांसाकृद्भिरभ्यधीयत—

'नृणां यं सेवमानानां संसारोऽप्यपवर्गति।
तं जगत्यभजन्मर्त्यश्चन्द्रा चन्द्रकलाधरम्॥'

अत्र क्विप्कनोर्लोपे प्रत्येकं वाचकधर्मलोप उभयत्रापि तदरमणीयमेव। कनो वाचकस्य लोपेऽपि तं चन्द्रकलाधरमभजन्निति चन्द्रकलाधरभजनराहित्य-रूपस्य धर्मस्य चञ्चामर्त्यसाधारणस्योक्तत्वात्कथं तावद्धर्मस्य लोपः।

इदं चान्यदिति। वक्ष्यमाणमन्यच्चेत्यर्थः। क्विब्लोपे तथोक्तयुक्तत्वेऽपि कन्लोपे न युक्तत्वमित्याह—कन इति। 'यं शिवं, सेवमानानाम् भजताम्, नृणाम् मनुष्याणाम्, संसारोऽपि जगदपि, अपवर्गति अपवर्गो मोक्षः स इवाचरति-मोक्षतुल्यो भवति, तं, चन्द्रकलाधरम् शिवम्, अभजन् असेवमानो, मर्त्यः संसारी पुरुषः, जगति, चञ्चा तृणर-चितपुरुषाकृतिरेव' इत्यर्थके 'नृणाम्''' इत्यादि मूलोक्तपद्ये क्विप्गताम् कन्गताञ्च वाचकधर्म-लुप्तोपमां यदुदाजहार चित्रमीमांसाकारो दीक्षितः, तन्न मनोरमम्, 'अपवर्गति' इत्यत्र वाचकस्य क्विपः साधारणधर्मस्य मुलमत्वादेर्थ वस्तुतो लुप्ततया क्विबंशे तदुक्तेर्युक्तत्वेऽपि 'चञ्चा' इत्यत्र वाचकस्य कनो लुप्तत्वेऽपि शिवभजनराहित्यात्मकस्य चञ्चामर्त्यसाधारण-साधारणधर्मस्य 'तं चन्द्रकलाधरमभजन्' इत्यनेनोक्ततया धर्मलोपाभावे कनंशे तदुक्ते-रयुक्तत्वात्। कनंशे केवलवाचकलुप्तैव न धर्मलुप्तेति भावः।

दीक्षित की दूसरी उक्ति का भी खण्डन करते हैं—इदं चान्य इत्यादि। इसी प्रसङ्ग पर चित्रमीमांसाकार अप्पयदीक्षित ने एक दूसरी बात भी कही है और वह यह कि 'नृणाम्''' अर्थात् जिसे सेवते हुए मनुष्यों का संसार भी मोक्ष सा आचरण करने

लगता है—मोक्षतुल्य हो जाता है, उस चन्द्रकलाधर (शिव) को न भजने वाला संसारी पुरुष, संसार में चञ्चा है—तृणनिर्मित पुतले के समान है' इस श्लोक में 'अपवर्गति' पद में 'क्विप्' प्रत्यय का और 'चञ्चा' पद में 'कन्' प्रत्यय का लोप है, अतः इन दोनों पदों में प्रत्येक से वाच्य होने वाली उपमा वाचकलुप्ता तो हुई है, क्योंकि सादृश्य-वाचक क्विप् और कन् प्रत्यय लुप्त हैं, साथ-साथ धर्मलुप्ता भी है परन्तु सर्वांश में उनका यह कथन ठीक नहीं है। कारण, क्विप्भाग में संसार तथा मोक्ष दोनों को समान बनाने वाले 'सुखमयत्व' आदि साधारणधर्म के लोप की बात सत्य होने पर भी कन् भाग में तृणरचित पुतले तथा मनुष्यों को तुल्य सिद्ध करने वाला 'शिव के भजन से रहित होना' रूप साधारण धर्म, 'तं चन्द्रकलाधरमभजन्' पद से उक्त ही है, अतः उसके लोप की बात असत्य हो जाती है।

दीक्षितमतसमर्थकमवान्तरपूर्वपक्षं कृत्वा खण्डयति—

न चोपमेयमर्त्यविशेषणतयोपात्तस्य चन्द्रकलाधरभजनराहित्यस्य सादृश्योपसर्जने चञ्चायामनन्वयान्न साधारण्यमिति वाच्यम्।

'यद्भक्तानां सुखमयः संसारोऽप्यपवर्गति।
तं शम्भुमभजन् मर्त्यश्चञ्चैवात्महिताकृतेः॥

इति पाठे धर्मश्रवणमप्युभयत्रापि संभवति' इति स्वोक्तेरसङ्गतत्वापत्तेः। इहाप्युपमेयसंसारविशेषणतयोपात्तस्य सुखमयत्वस्य सादृश्योपसर्जनेऽपवर्गेऽन्वयाभावात्कथङ्कारं धर्मस्य साधारण्यम्।

यद्भक्तानामिति। यस्य शम्भोः, भक्तानाम् सेवकानाम्, संसारोऽपि जगदपि सुखमयः सन्, अपवर्गति मोक्षतुल्यो भवति, तं शम्भुम्, अभजन्, मर्त्यः संसारी, आत्मनः स्वस्य, हितस्य कल्याणस्य, अकृतेः अकरणाद्धेतोः चञ्चैव तृणरचितपुत्तलिकातुल्य एवेत्यर्थः। असंगतिमुपपादयति इहापीति। कथंकारमिति, कथं कृत्वेत्यर्थः 'नृणाम्...' इत्यादि प्रागुक्तपद्ये 'अभजन्' इति उपमेयभूतस्य मर्त्यस्य विशेषणरूपेण कथितम् अतस्तदर्थस्य मर्त्यपदार्थ एवान्वयो भवेत्, नोपमानभूतचञ्चापदार्थे, तस्य स्वार्थसादृश्यविशेषणतया पदार्थैकदेशत्वात्। तथा च शिवभजनराहित्यं न साधारणो धर्मः, यश्च साधारणो धर्मः स्वहिताकरणादिः न अनुक्त एवेति तत्र धर्मवाचकोभयलुप्तत्वकथनं दीक्षितस्य सम्यगेवेति शंकायाः तत्र तथाङ्गीकारे 'यद्भक्तानाम्...' इत्यत्रापि उपमेयभूतस्य संसारस्य विशेषणरूपेण कथितस्य सुखमयत्वधर्मस्य, अपवर्गपदलक्ष्यार्थसादृश्यविशेषणत्वेन गुणीभूते पदार्थैकदेशे च अपवर्गपदार्थेऽन्वयासंभवेन साधारणत्वाभाव एव प्रसक्ते 'यद्भक्तानाम्...' इत्यत्र तदेव सुखमयत्वमादाय उभयत्रापि (क्विप्कन्भागयोः) साधारणधर्मश्रवणकथनं तदीयमेव विरुध्येत इति च समाधानस्याभिप्रायो बोध्यः।

दीक्षितमत को सङ्गत सिद्ध करने के लिये मध्य में एक पूर्वपक्ष करके उसका खण्डन करते हैं—न च इत्यादि। अभिप्राय है कि—"आप-जो 'शिवजी के भजन से रहित होने' को साधारण धर्म बतलाकर दीक्षितोक्ति का खण्डन करते हैं, वह तो ठीक नहीं है, क्योंकि 'शिवजी के भजन से रहित होना' साधारण (उपमान तथा उपमेय दोनों में रहने वाला) धर्म हो ही नहीं सकता, हो भी कैसे, जब कि 'अभजन्' यह विशेषण, उपमेय-संसारी पुरुष के लिये पद्य में आया है अर्थात्-उस अभजन् पदार्थ-भजनराहित्य-का अन्वय उपमेय-मर्त्य-में ही हो सकता है, उपमान चञ्चा-तृणरचित पुतला-का नहीं, क्योंकि चञ्चा पदार्थ स्वयं सादृश्य का विशेषण है-गौण है-पदार्थ का एक देश है, पदार्थ नहीं" यह एक पूर्वपक्ष मात्र है, सिद्धान्त नहीं, क्योंकि इसका समाधान यों दिया जा सकता है कि—यदि इस तरह से 'शिवभजनराहित्य' को आप साधारण

धर्म नहीं बनने देते हैं, तब 'पूर्वोक्त 'नृणाम्' इत्यादि पद्य को ही कुछ काट-छाँट कर 'यद्भक्तानाम्'''अर्थात् जिसके भक्तों का संसार भी सुखमय होकर मोक्षतुल्य हो जाता है, उस शम्भु का भजन नहीं करनेवाला मनुष्य, अपना हित न करने के कारण तृणरचित पुतले के समान ही है।' ऐसे पाठ में दोनों तरफ (अपवर्गति और चञ्चा) साधारण धर्म के श्रवण की भी संभावना हो सकती है अर्थात् इस परिवर्तित पद्य में दोनों स्थल पर केवल वाचकलुप्ता ही होगी धर्मलुप्ता नहीं, क्योंकि धर्म श्रुत ही है लुप्त नहीं' इन शब्दों में जो दीक्षितजी ने स्वयं 'सुखमयत्व' को साधारण धर्म सिद्ध करने की चेष्टा की है, वह असङ्गत हो जायगी क्योंकि 'सुखमयत्व भी, सुखमयः संसारः' रूप में उपमेय-संसार-का विशेषण है उपमान--अपवर्ग--का नहीं। कारण अपवर्ग स्वयम् सादृश्य का विशेषण है--गौण है--पदार्थ का एक देश है, उसी तरह जिस तरह उक्त 'शिव-भजनराहित्य' है।

पुनः दीक्षितमतसमर्थकं पूर्वपक्षमुल्लिख्य निराकरोति—

उपमेयगतत्वेनोपमानगतत्वेन वोपात्तस्य धर्मस्य शाब्द उभयान्वयेऽसत्यपि वस्तुत उभयवृत्तित्वज्ञानमेव साधारणताया नियामकमिति चेत्, चन्द्रकलाधर भजनराहित्येऽपि दीयतामेवमेव दृष्टिः।

यदन्वयितया यः पदार्थ उच्यते, तस्य तत्रैव शाब्द अन्वयो भवतीति सिद्धान्तः। तथा चोपमेयान्वयितयोक्तस्य धर्मस्योपमेय एव, उपमानान्वयितयोक्तस्य च धर्मस्योपमान एव शाब्द अन्वयो भवेत् नोभयत्रेत्यपि सत्यम्, तथापि यस्मिन् धर्मे वस्तुगत्योपमेयोप-मानोभयवृत्तित्वज्ञानं भवति, स धर्मः साधारण इति चेत् 'यद्भक्तानामित्यादिपद्ये' शाब्द-सरण्योपमेये संसारमात्रेऽन्वीयमानस्यापि वस्तुगत्यापि संसारमोक्षोभयवृत्तित्वेन ज्ञायमानस्य सुखमयत्वस्य साधारणत्वसम्पत्तये निरुच्येत, तदा 'नृणाम्' इत्यादि पूर्वोक्तपद्ये चन्द्रकला-धरभजनराहित्यस्यापि साधारणत्वं स्वीकरणीयमेव तुल्यन्यायात्; यथा सुखमयत्वम् उप-मेयान्वयितयोक्तमपि वस्तुगत्योपमेयोपमानोभयवृत्ति, तथा चन्द्रकलाधरभजनराहित्यमपि उपमेयमात्रान्वयितया कथितमपि वस्तुगत्योपमेयोपमानोभयवृत्तीति भावः।

पुनः प्रकारान्तर से दीक्षितमतसमर्थनप्रयास का निराकरण करते हैं—उपमेय इत्यादि। यदि आप कहें कि केवल उपमेय के विशेषणरूप में अथवा केवल उपमान के विशेषणरूप में कहे गये धर्मों का अन्वय शाब्दबोध में उसी पदार्थ के साथ होगा, जिसके विशेषणरूप में वह कहा गया रहेगा यह बात सत्य है, तथापि यद्भक्तानाम्''' इस पद्य में 'सुखमयत्व' साधारण धर्म माना जा सकता है, क्योंकि किसी धर्म को साधारण बनने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसका शाब्द अन्वय दोनों (उपमेय तथा उपमान) के साथ होता हो, अपितु यह आवश्यक है कि वस्तुतः वह धर्म दोनों में रहता हो-रहनेवाला समझा जाता हो, सुखमयत्व ऐसा है अर्थात् उपमेय संसार तथा उपमान अपवर्ग दोनों में वस्तुतः रहता है, तो मैं कहूँगा कि आपका कथन सर्वथा सत्य है, परन्तु इसी दृष्टिकोण से 'नृणाम्''' इत्यादि पद्य के चन्द्रकलाधरभजन-राहित्य को भी क्यों नहीं देखते? अर्थात् इस दृष्टि से विचार करने पर वह भी साधारण धर्म माना जा सकता है, क्योंकि सुखमयत्व के समान वह भी वस्तुगत्या उपमेय मर्त्य पुरुष और उपमान चञ्चा दोनों में रहता ही है। तात्पर्य यह कि इस तरह की समान स्थिति में एक को साधारण धर्म आप मानियेगा और दूसरे को नहीं, यह हो नहीं सकता, फलतः दोनों को साधारण धर्म मानना पड़ेगा।

दीक्षितमतसमर्थिकां युक्तिमेकां कथंचिदङ्गीकुरुते—

यदि चोपमेयतावच्छेदकतयैव चन्द्रकलाधरभजनराहित्यं मम विवक्षितम्,

साधारणधर्मश्च स्वात्महिताकरणरूपः स चात्र लुप्त एवेति शपथेन स्वाभिप्रायः प्रकाश्यते तदा निवारितोऽयं दोषः। तुष्यतु भवान्।

उपमेयतावच्छेदकतयेति। उपमेयान्वयिविशेषणतयेति भावः। शपथेनेत्यादि। मौखिकशपथेन हृदयनिहितसत्यस्यापलापोऽयम्, तावता भवत एव तुष्टिर्न मम तथापि शपथमर्यादारक्षणाय प्रसङ्गेऽस्मिन् मौनमेवावलम्बेऽहमिति भावः। यदि भवान् शपथपूर्वकमिदं वक्तुं पारयेयत् 'नृणाम्' इति प्रथमपद्ये चन्द्रकलाधरभजनराहित्यं मर्त्यजनरूपोपमेयगामितयैव वक्तुरभिप्रेतम्, अतः स साधारणधर्मो न भवितुमर्हति, यश्च स्वहिताकरणरूपो धर्मः साधारणतया वक्तुरभिमतः स लुप्त एवेति तत्र वाचकधर्मलुप्तात्वकथनं सुसङ्गतमेव। 'यद्भक्तानाम्' इति द्वितीयपद्ये च सुखमयत्वं साधारणतया विवक्षितं वक्तुरतस्तत्र तस्योपादाने न धर्मलुप्तात्वमिति, तदा न कश्चिदत्र दोष इति सारांशः।

दीक्षितमत के समर्थन में दी गई एक दूसरी युक्ति को (अनिच्छा से ही सही परन्तु) स्वीकार करते हैं—यदि इत्यादि। यदि आप शपथ खाकर अपना अभिप्राय इस रूप में प्रकट करें कि—'नृणाम्…' इत्यादि पद्य में जो धर्म-महादेवभजनराहित्य उक्त है, वह उपमेय संसारी जीव के विशेषणरूप में ही वक्ता का विवक्षित है, अतः साधारण नहीं कहा जा सकता और आत्महिताकरण (अपना हित न करना) जो वक्ता का साधारण धर्म के रूप में अभिप्रेत है, वह लुप्त है ही, इसलिए 'वहाँ वाचकधर्मलुप्ता है' इस तरह का दीक्षितजी का कथन सङ्गत है, और 'यद्भक्तानाम्…' इत्यादि द्वितीय पद्य में 'सुखमयत्व' उक्त है, उसकी विवक्षा वक्ता ने साधारण धर्म के रूप में ही की है, अतः 'वहाँ साधारण धर्म का श्रवण है' यह कथन भी दीक्षितजी का अनुचित नहीं। तो मैं भी आपकी शपथ-मर्यादा की रक्षा की भावना से इस स्थल को निर्दोष मान लेता हूँ। परन्तु है यह मौखिक शपथ के द्वारा हृदयस्थित सत्य का अपलाप ही। इससे मादृश जन की मनस्तुष्टि नहीं हो सकती, आप भले ही सन्तोष का अनुभव कर लें।

अन्यदपि दीक्षितोक्तमालोचयन् तत्र व्याकरणाशुद्धिं प्रकाशयति—

इदमप्यन्यस्तैरेव वाचकोपमेयलुप्तायामुदाहरणं निरमीयत—

'रूपयौवनलावण्यस्पृहणीयतराकृतिः।
पुरतो हरिणाक्षीणामेष पुष्पायुधीयति॥'

इदं च पद्यमपशब्ददुष्टमवैयाकरणतां कर्तुः प्रकाशयति। तथाहि पुरत इति नगरवाचिनः पुरशब्दात्तसिलि हरिणाक्षीणां नगरादित्यर्थस्यासङ्गतेः। नहि पूर्ववाचकः पुरशब्दः क्वापि श्रूयते। पूर्वशब्दात्तु 'पूर्वाधरावराणामसिपुरधवश्चैषाम्' इत्यसौ पुरादेशो च पुर इति भाव्यम्, न तु पुरत इति। अत एव 'अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्' इति प्रायुङ्क्त महाकविः। एवमेव 'मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः—इत्यप्रस्तुतप्रशंसा' इति द्वितीयप्रकरणारम्भेऽप्यपशब्दितं तैः। तथा चाहुर्वैयाकरणाः—"पत्या पुरतः परतः', 'आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि', 'पुरतः सुदती समागतं माम्' इत्यादयः सर्वेऽपि व्याकरणाज्ञानमूला अपशब्दाः" इति।

रूपयौवनेति। रूपेण गौरत्वादिना, यौवनेन युवावस्थया, लावण्येन 'मुक्ताफलेषुच्छायायाः…' इत्यादिपरिभाषिताभ्यन्तरधर्मविशेषेण, च, स्पृहणीयतरा अतिशयेन कामनाविषयीभूता, आकृतिः आकारो यस्य तादृशः एषः वर्णनीयः पुरुषविशेषः, हरिणाक्षीणाम्

मृगनयनानाम्, पुरतः अग्रे, पुष्पायुधीयति पुष्पायुधः कामः स इवाचरतीत्यर्थः। कर्तुः दीक्षितस्य। तसिलीति। अत्र 'इदं चिन्त्यम्। तदप्राप्तेः। आद्यादित्वात्तसावित्युचितम्।' इति नागेशः। महाकविः कालिदासः। तैः अप्पयदीक्षितैः। पुनरत्र नागेशः—"इदं चिन्त्यम्। 'पुरत इति निपाताङ्गीकारात्। अत एव 'इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना' इति कालिदासः, 'पश्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चात्' इति भवभूतिश्च सङ्गच्छते' इति केचित्। अन्ये तु 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' इत्यत्रातसुचैव पुंवद्भावेन सिद्धेऽतसुज्विधानमन्यस्मादपीति ज्ञापनाय। तेन पचाद्यजन्तात्पुरशब्दात्तस्मिन्निष्टसिद्धिः। इत्याहुः। वस्तुतस्तु—'पुर अग्रगमने' इति चौरादिकाण्णिजभावे इगुपधलक्षणे के 'सार्वविभक्तिकस्तसिः' इति बोध्यम्" इति समुचितं दीक्षितमतेन सह कविसम्प्रदायमपि समर्थितवान्। वैयाकरणा इति। प्राच्य इत्यादिः। रूपयौवनेति पद्ये 'पुरतः' इति प्रयोगो व्याकरणदिशाऽशुद्धः, कविविवक्षितार्थे 'पुरः' इति प्रयोगस्यैव शब्दानुशासनसिद्धत्वादिति सारांशः। अन्यत् सुगमम्।

दीक्षितजी की एक अन्य उक्ति में आलोचना द्वारा व्याकरणाशुद्धि दिखलाते हैं—इदमप्य इत्यादि। दीक्षितजी ने ही वाचकोपमेयलुप्तोपमा के उदाहरण में यह दूसरा पद्य भी बनाया है—'रूपयौवन इत्यादि अर्थात् जिसका आकार रूप (वर्ण), युवावस्था और लावण्य से स्पृहणीय है, ऐसा यह नायक, मृगाक्षियों के आगे कामदेव का सा आचरण करता है।' यह पद्य अपशब्द(अशुद्ध शब्द)रूप दोष से दुष्ट है, अतः रचयिता का वैयाकरण न होना इससे सूचित होता है। देखिए—'पुरतः' शब्द की सिद्धि, यदि नगरवाची पुर शब्द से, तसिल् (वस्तुतः 'तसि' कहना चाहिए, क्योंकि 'तसिल्' की प्राप्ति यहाँ नहीं होती) प्रत्यय करके, की जायगी, तब उसका अर्थ यहाँ होगा 'मृगाक्षी के नगर से' जो प्रकृत में सङ्गत नहीं होगा। पूर्व (आगे) अर्थ का वाचक 'पुर' शब्द कहीं (कोश आदि में) सुना नहीं जाता–देखा नहीं जाता, अतः पूर्ववाची पुर शब्द से 'तसि' प्रत्यय करके उक्त प्रयोग को सिद्ध करने की बात चलायी ही नहीं जा सकती। रहा पूर्व शब्द, सो उससे 'पूर्वाधरा…' इत्यादि मूलोक्त सूत्र से 'असि' प्रत्यय करने पर 'पुर' आदेश द्वारा 'पुरः' प्रयोग बनता है, 'पुरतः' नहीं। अत एव महाकवि कालिदास ने 'अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्' यह प्रयोग किया है। एक जगह की बात नहीं, इसी तरह दूसरी जगह—चित्रमीमांसा के द्वितीय प्रकरण के आरम्भ में भी दीक्षितजी ने 'मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः' इत्यादि लिखकर वही गलती की है। 'पुरतः' शब्द के अशुद्ध होने के कारण ही तो वैयाकरण लोग कहते हैं—'परया पुरतः परतः', 'आर्त्यार्थं चरणं ददाति पुरतः', 'पुरतः सुरतौ समागतम्' इत्यादि सभी शब्द अशुद्ध हैं और इन अशुद्धियों के होने में मूल है निर्माताओं का व्याकरणविषयक अज्ञान। नागेश का यहाँ कथन है कि 'पुरतः' शब्द अशुद्ध नहीं है, तीन तरह से उस पद की सिद्धि की जा सकती है। एक निपात मानकर, दूसरा पचादित्वात् अच्प्रत्ययान्त पुर शब्द से ज्ञापक द्वारा 'अतसुच्' प्रत्यय करके और तीसरा 'पुर अग्रगमने' धातु से चौरादिक णिच् नहीं करने पर 'इगुपधज्ञा प्रीकिरः कः' इस सूत्र से 'क' प्रत्यय करके बनाए गए 'पुर' शब्द से सार्वविभक्तिक 'तसि' प्रत्यय करके। इन तीनों प्रकारों में तृतीय प्रकार सर्वोत्तम है। इस तरह से यह प्रयोग केवल शुद्ध है इतना ही नहीं, महाकवि लोगों ने इसका प्रयोग भी बहुत जगह किया है। जैसे कुमारसम्भव में कालिदास ने 'इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना' कहा है। भवभूति ने उत्तररामचरित में 'पश्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चात्' लिखा है। इस तरह के महाकविप्रयुक्त पदों को लेकर जो पण्डितराज, दीक्षितजी पर कटाक्ष करते हैं, उससे दीक्षितजी के प्रति पण्डितराज का हार्दिक विद्वेष ही अधिक व्यक्त होता है।

पूर्वोक्तभेदाया उपमायाः पुनः प्रकारान्तरेण भेदान् वक्ति—

इयं चैवं भेदोपमा वस्त्वलङ्काररसरूपाणां प्रधानव्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कारयोर्वाच्ययोश्चोपस्कारकतया पञ्चधा।

पूर्वोक्तभेदाया उपमाया अलङ्कार्यभेदेन पुनः पञ्च प्रकारा भवन्ति, वस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिविधानां प्रधानव्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कारभेदेन द्विविधयोर्वाच्ययोश्च स्थलभेदेनालङ्कार्यत्वात्। एवञ्च प्राधान्येन व्यङ्ग्यभूतवस्तूपकारिका एका, प्राधान्येन व्यङ्ग्यभूतालङ्कारोपकारिका द्वितीया, प्रधान्येन व्यङ्ग्यभूतरसाद्यलक्ष्यक्रमोपकारिका तृतीया, प्राधान्येन वाच्यवस्तूपकारिका चतुर्थी, प्रधान्येन वाच्यालङ्कारोपकारिका च पञ्चमी उपमा भवतीति भावः।

अब पुनः प्रकारान्तर से उपमा के भेद करते हैं—इयं चैव इत्यादि। अभी-अभी जो उपमा के भेद दिखलाये जा चुके हैं, उन सभी भेदों के पुनः पाँच-पाँच भेद होते हैं, क्योंकि किसी दूसरे अर्थ को अलंकृत करने के कारण ही तो उपमा अलङ्काररूप होती है और अलंकृत होने वाले अर्थ पाँच प्रकार के होते हैं। जैसे—१-वस्तुरूप प्रधान व्यङ्ग्य, २-अलङ्काररूप प्रधान व्यङ्ग्य, ३-रसादिरूप प्रधान व्यङ्ग्य, ४-वस्तुरूप प्रधान वाच्य, और ५-अलङ्काररूप प्रधान वाच्य। उपमा, स्थलभेद से इन पाँचों अर्थों की उपस्कारिका-उपकारिका अर्थात्-शोभिका होती है।

एषु पञ्चसु प्रकारेषु प्रथमं प्रकारमुदाहर्तुमाह—

तत्र व्यङ्ग्यवस्तूपस्कारिका यथा—

तत्रेति। उक्तपञ्चभेदमध्य इत्यर्थः। उपमाया येन प्रकारेण व्यङ्ग्यवस्तूपस्करणं भवति, स प्रकारो निर्दिश्यत इति भावः।

उक्त पाँच भेदों में से व्यङ्ग्य वस्तु को शोभित करने वाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अविरतपरोपकरणव्यग्रीभवदमलचेतसां महताम्।
आपातकाटवानि स्फुरन्ति वचनानि भेषजानीव॥'

अविरतम् निर्विरामम् सततमिति यावत्, परोपकरणेषु परकीयोपकारसम्पादनेषु, व्यग्रीभवन्ति अव्यग्राणि व्यग्राणि भवन्तीत्यभूततद्भावे च्विः विषयान्तरे कदापि व्यग्रतां नानुभवन्त्यपि परोपकारविषये व्यग्रतामनुभवन्तीति भावः, अमलानि विशुद्धानि रागद्वेषादिशून्यानीति यावत्, चेतांसि हृदयानि, येषां, तेषाम्, महताम् महापुरुषाणाम् आपातकाटवानि प्रागनुभूयमानकटुत्वकानि, वचनानि, भेषजानि औषधानीव, स्फुरन्ति प्रकटीभवन्तीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अविरत इत्यादि। कवि का कथन है—जिनके विशुद्ध-रागद्वेषादिशून्य-हृदय, सतत परोपकार में व्यग्र रहते हैं अर्थात् जिनके मन में अन्य प्रकार की व्यग्रता न रहने पर भी परोपकार करने की व्यग्रता सदा बनी रहती है, उन महापुरुषों के, पहले कटु प्रतीत होनेवाले वचन औषधों के समान स्फुरित—प्रकट—होते हैं।

उपपादयति—

अत्र तादृशि वचनान्यर्थद्वारा सेवमानस्य मनागप्यक्षुभ्यतः परिणामे परमं सुखं भवतीति प्राधान्येन व्यङ्ग्यस्य वस्तुन उपस्कारिका भेषजोपमा।

तादृशीति। आपातकाटवानीत्यर्थः। अर्थद्वारा सेवमानस्येति। अर्थज्ञानपुरस्सरं तथा चरत इत्यर्थः। मनागपि ईषदपि। अक्षुभ्यत इति। प्रारम्भिककटुत्वभयेन संभाव्यमानं

वैमुख्यं नासादयत इत्यर्थः। अत्र 'तादृशि····' इत्यादिमूलोक्तं वस्तु 'आपातकाटवानि' इति पदेन, प्रधानतया व्यज्यते। इदमेव वस्तुव्यङ्ग्यमत्र काव्यजीवातुभूतम्, न रसादिरिति तात्पर्यम्। व्यङ्ग्यमेनमर्थम् भेषजानीवेति पूर्णा भेषजोपमा, भूषयति-प्रतिपाद्यमानेन प्रारम्भकटोरपि परिणामसुखदस्य भेषजस्य सादृश्येन परिपुष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थः चमत्कृतिमधिकां जनयतीति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। यहाँ 'जो मानव ऐसे वचनों का सेवन अर्थतः करता है अर्थात् अर्थ समझकर इन वचनों के अनुसार व्यवहार करता है और कटुता के भय से जरा भी विक्षुब्ध नहीं होता—वचनसेवन से पराङ्मुख नहीं होता, उसे परिणाम में परम सुख प्राप्त होता है' यह अर्थ, 'आपातकाटवानि' पद से व्यङ्ग्य होता है। यही व्यङ्ग्य, इस पद्य में, प्रधान है—काव्यव्यवहार का कारण है और इस व्यङ्ग्य को शोभित करती है 'भेषजानीव' पद से वाच्य होने वाली औषध की पूर्णोपमा। सारांश यह कि औषध-सादृश्य से परिपुष्ट होकर वह अर्थ और अधिक चमत्कार को उत्पन्न करता है।

द्वितीयं प्रकारमुदाहर्तुमाह—

व्यङ्ग्यालङ्कारोपस्कारिका यथा—

प्राग्वत् व्याख्या।

व्यङ्ग्य अलङ्कार को शोभित करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> 'अङ्कायमानमलिके मृगनाभिपङ्कम्,
> पङ्केरुहाक्षि वदनं तव वीक्ष्य बिभ्रत्।
> उल्लासपल्लवितकोमलपक्ष्ममूला-
> श्चञ्चूपुटं चपलयन्ति चकोरपोताः॥'

नायको नायिकानिकटे चाटुकारितां कुरुते—हे पङ्केरुहाक्षि कमललोचने! अलिके भालदेशे, अङ्कायमानम् चिह्नायमानम् चन्द्रगतस्य [illegible] सदृशमिति यावत्, मृगनाभिपङ्कम् कस्तूरिकाद्रवम्, बिभ्रत् दधानम्, तव, वदनं मुखम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, उल्लासेन [illegible] कोमलानि [illegible], मूलानि आरम्भभागा येषां [illegible] चपलयन्ति चञ्चलं कुर्वन्तीत्यर्थः। [illegible] भ्रमेण चकोरकिशोरकाः, आनन्देन [illegible] चञ्चुपुटं चपलं विदधतीति तद्भावः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अङ्कायमान इत्यादि। नायिका के प्रति नायक की चाटूक्ति है—हे कमललोचने! भालदेश में कलङ्क (चन्द्रगत चिह्नविशेष) के समान कस्तूरीद्रव को धारण करते हुए तुम्हारे मुख को देखकर, आनन्दातिरेक से जिनकी आँखों की जड़ें विकसित हो गई हैं ऐसे चकोरों के बच्चे, अपने चोंच को चपल बना रहे हैं—अर्थात् चन्द्रभ्रम से तेरे मुख की चाँदनी को चखने के लिये आतुर हो रहे हैं।

उपपादयति—

अत्र प्राधान्येन व्यङ्ग्ये आरोप्यमाणचन्द्रके भ्रान्तिमत्यलङ्कारे उपपादकस्य भालस्थमृगमदपङ्कविषयकस्याङ्काभेदारोपस्याङ्कसादृश्यरूपदोषमूलकत्वादुपमात्रालङ्कारः।

नन्वत्रोपमालङ्कारो नैषात आह—अत्र प्राधान्येनेत्यादि। व्यङ्ग्ये इति वाच्यव्यङ्ग्ये

इत्यर्थः। अलङ्कारे इति। सतीति शेषः। उपपादकस्येत्यस्य तस्येत्यादिः। अत्रालङ्कार इति। तथा च तदुपस्कारकत्वमस्याः स्पष्टमिति भावः। अङ्कायमानमिति पद्ये समग्रवाक्यतः स भ्रान्तिमानलङ्कारो व्यज्यते, यत्र चकोरकिशोरकर्तृकचञ्चूपुटचपलनान्यथानुपपत्त्या मुखे चन्द्राभेदारोपो भवति। स चारोपो न तावत् सेद्धुं शक्नोति, यावत् ललाटदेशस्थकस्तूरीद्रवे, कलङ्काभेदारोपो न भवेत्, अतः सोऽप्यारोपो विधीयते। नन्वेवमङ्कायमानमित्यनेनाङ्काभेद एव बोध्येत, तथा चात्रोपमाया अवसर एव नास्तीति चेन्न, अङ्काभेदारोपस्याङ्कसादृश्यरूपदोषाऽमूलकतयाऽऽवश्यकस्य तत्सादृश्यस्यैवाङ्कायमान इत्यनेन बोधनात् सादृश्यस्यैव चोपमात्वात्। कस्तूरीद्रवेऽङ्कसादृश्यबोधः शाब्दः, तस्मिन् तदभेदबोधस्तु आर्थ इति रहस्यम्। एवञ्च व्यङ्ग्यभ्रान्तिमदलङ्कारोपस्कारकत्वमुपमायाः स्पष्टमिति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र प्राधान्येन इत्यादि। 'अङ्कायमान–' इत्यादि पद्य में सम्पूर्ण वाक्य प्रधानरूप में 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार अभिव्यक्त होता है अर्थात् नायिका के मुख को चकोर के बच्चे चन्द्र समझते हैं, अत एव चन्द्रिकापान की कामना से वे बार-बार अपने चोंचों को चञ्चल करते हैं, फलतः यह सिद्ध हुआ कि यहाँ 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार में चन्द्र का आरोप मुख में किया जाता है और इस आरोप का साधक है ललाटदेश में लगे कस्तूरीद्रव में कलङ्क के अभेद का आरोप और इस द्वितीय आरोप का मूल है कस्तूरीद्रव में रहने वाले अङ्क (कलङ्क) के सादृश्यरूप दोष का ज्ञान। सादृश्य ही उपमा है, जो यहाँ 'अङ्कायमान' पद में 'क्यङ्' प्रत्यय का वाच्य अर्थ है। तात्पर्य यह कि 'अङ्कायमान' पद से अङ्क का अभेद बोधित नहीं होता, अपितु अङ्क का सादृश्य ही, पीछे इस सादृश्य के ज्ञान से कस्तूरीद्रव में अङ्क का अभेद अर्थतः विदित होता है। यहाँ उपमा (सादृश्य), व्यङ्ग्य भ्रान्तिमान् अलङ्कार का उपस्कारक है—पोषक है, क्योंकि उस सादृश्य के ज्ञान से कस्तूरीद्रव में अङ्काभेद का ज्ञान और इस अभेदज्ञान से मुख में चन्द्राभेदरूप भ्रान्तिमान् का ज्ञान होता है।

तृतीयप्रकारोदाहरणं पूर्वोल्लिखितं स्मारयति—

रसोपस्कारिका तु 'दलदरविन्द—' इत्यत्र प्रागेवोदाहृता।

उपमासामान्योदाहरणत्वेन प्रागुल्लिखितस्य 'गुरुजन…'इत्यादिपद्यस्य 'दलदरविन्दसुन्दरम्' इत्यंशे वर्तमाना समासगतोपमा सकलवाक्यार्थभूतस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्य शोभिकेति भावः।

तृतीय प्रकार के उदाहरण का—जो पहले ही लिखा जा चुका है—स्मरण कराते हैं—रसोपस्कारिका इत्यादि। 'गुरुजन…' इत्यादि पद्य, पहले (सामान्य उपमा का उदाहरण दिखलाने के समय में) लिखा जा चुका है। उस पद्य के 'दलदरविन्दसुन्दरम्' अंश में जो उपमा है, वह रसोपस्कारिका कही जा सकती है, क्योंकि उस उपमा से इस पद्य का प्रधान व्यङ्ग्य विप्रलम्भशृङ्गार (रस) शोभित होता है।

भेदपरिगणने न्यूनताभ्रमं निराकुरुते—

रसपदेनासंलक्ष्यक्रमस्योपलक्षणाद्भावाद्युपस्कारिकाप्यत्रैवान्तर्भाव्या।

रस्यते = आस्वाद्यते इति व्युत्पत्तियोगादत्र शास्त्रे प्रायोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यमात्रे रसपदप्रयोगः क्रियते, अत एव 'वाक्यं रसात्मकं काव्यमिति' विश्वनाथः, एवञ्च प्रकृते 'सालङ्काररसरूपाणाम्' इति परिगणनपरे वाक्यांशे रसपदेन भावादीनां संग्रहोऽभीष्टः। तेन भावाद्युपस्कारिका अपि उपमाः संगृहीता एवेति न कापि न्यूनतेति भावः।

यहाँ अलङ्कार्यभेद से जो उपमा के भेद किये गये हैं, उनमें रस की चर्चा है, पर भाव आदि की नहीं, अतः जो न्यूनता का भ्रम उत्पन्न हो सकता था, उसकी निवृत्ति के लिये लिखते हैं—रसपदेन इत्यादि। इस साहित्यशास्त्र में प्रायः सभी अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यों के लिये 'रस' पद प्रयुक्त होता है, क्योंकि 'रस्यते = आस्वाद्यते इति रसः अर्थात् जो आस्वादित हो उसे रस कहा जाता है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भाव आदि सभी अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रस पद के अर्थ हो सकते हैं। इस स्थिति में यहाँ कोई न्यूनता नहीं दीख पड़ती अर्थात् भाव आदि को उपस्कृत करनेवाली उपमाओं का भी समावेश रसोपस्कारिकाओं में ही हो जाता है।

'भावाद्युपस्कारिका' इत्यत्रादिपदग्राह्ययोः रसाभासभावाभासयोरुपस्कारिकाया उपमाया उदाहरणभूतं पूर्वोक्तपद्यद्वयं स्मारयति—

यथा—'नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव', 'वन्यकुरङ्गीव वेपते नितराम्' इत्यादिषु प्रागुदाहृतेषु।

'नैवापयाति''' इति प्रथम् भावाभासोदाहरणप्रदर्शनावसरे, 'वन्यकुरङ्गीव''' इति च रसाभासोदाहरणप्रदर्शनकाले प्रथमानने समुल्लिखितम् तत्रैव द्रष्टव्यम्। तत्र प्रथमपद्यस्याधिदेवतोपमाऽनुचिततया भावाभासरूपां गुरुकन्याविषयिणीं स्मृतिमुपस्करोति, एवं द्वितीयपद्यस्य बालकुरङ्ग्युपमा, रतेर्नववध्वा मनागप्यस्पर्शादनुभयनिष्ठत्वेनाभासरूपं शृङ्गाररसमुपस्करोतीति भावः।

'भावाद्युपस्कारिका' इस मूलोक्त पङ्क्ति के आदि पद से संग्रहीत होनेवाले रसाभास तथा भावाभास को शोभित करनेवाली उपमाओं के उदाहरणभूत पूर्वोल्लिखित दो पद्यखण्डों का स्मरण दिलाते हैं—यथा इत्यादि। 'नैवापयाति''' इत्यादि पद्य भावाभास के उदाहरण लिखते समय और 'वन्यकुरङ्गीव''' इत्यादि पद्य रसाभास के उदाहरण लिखते समय प्रथम आनन में दिखलाये गये हैं, अतः सम्पूर्ण पद्य वहीं देखे जा सकते हैं। उन दोनों में से प्रथम पद्य की 'अधिदेवतेव' यह उपमा, अनुचित होने के कारण भावाभासरूप गुरुकन्याविषयक प्रधान स्मृतिभाव को सुशोभित करती है। इसी तरह द्वितीय पद्य की 'बालकुरङ्गीव' यह उपमा, नववधू में रति की सर्वथा अवर्तमानता से अनुभयनिष्ठ (केवल नायकनिष्ठ) होने के कारण आभासरूप शृङ्गाररस को सुशोभित करती है।

चतुर्थं प्रकारमुदाहर्तुमाह—

वाच्यवस्तूपस्कारिका यथा—

व्याख्या तु प्राग्वत्।

वाच्य वस्तु को सुशोभित करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अमृतद्रवमाधुरीभृतः सुखयन्ति श्रवसी सखे गिरः।
नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुखं तव॥'

कश्चन स्वसखायं ब्रूते—हे सखे मित्र !, अमृतद्रवस्य पीयूषरसस्य, या माधुरी मधुरता, तत्समाना या माधुरी, तां, बिभ्रति धारयन्तीति तादृशाः, तव, गिरः वचनानि, मे, श्रवसी श्रोत्रे, सुखयन्ति आनन्दयन्ति। सम्प्रति, शरदिन्दुप्रतिमं शरच्चन्द्रतुल्यं, तव, मुखम्, मे, नयने नेत्रे, अपि, शिशिरीकरोतु शीतलयतु। सुधोपमत्वदीयवचनश्रवणेन कर्णौ मम तृप्तौ, परन्तु शरच्चन्द्रनिभम् तवाननं न पश्यदत एवातृप्तं मम नेत्रद्वयं त्वन्मुखविलोकनेन तृप्तिमभिलष्यतीति तदपि त्वया पूरणीयमित्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अमृतद्रव इत्यादि। एक मित्र दूसरे मित्र से कहता है—हे सखे ! अमृतरस की मधुरता के समान मधुरता को धारण करनेवाले तेरे वचन मेरे कानों को सुखी कर रहे हैं, पर तेरे मुखदर्शन की प्यासी मेरी आँखें तरस ही रही हैं, अतः मैं चाहता हूँ कि शरच्चन्द्र के तुल्य तेरा मुख मेरी आँखों को शीतल करे।

उपपादयति—

अत्र नयनशिशिरीकरणरूपे वस्तुनि वाच्ये मुखस्य शरदिन्दूपमोपस्कारिका।

अमृतद्रवेति पद्ये यद्यपि रसादिर्व्यङ्ग्यो नास्ति, तथापि वाच्यार्थस्य चमत्कारित्वेन पण्डितराजकृतलक्षणानुसारेण काव्यत्वम्। तत्र चमत्कारजनकं नयनशिशिरीकरणरूपं वाच्यं वस्तु मुखोपमेयिका शरच्चन्द्रोपमानिकोपमा शोभयतीति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में 'आँखों को शीतल करना' जो वाच्य वस्तु है, उसको मुख में दी गई शरच्चन्द्र की उपमा शोभित करती है-पुष्ट करती है।

पञ्चमं भेदमुदाहर्तुमाह—

वाच्यालङ्कारोपस्कारिका यथा—

प्राग्वत् व्याख्येयम्।

वाच्य अलङ्कार को शोभित करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'शिशिरेण यथा सरोरुहं दिवसेनामृतरश्मिमण्डलम्।
न मनागपि तन्वि शोभते तव रोषेण तथेदमाननम्॥'

नायकस्य नायकदूत्या वा नायिकां प्रत्युक्तिः—सरोरुहं कमलम्, यथा, शिशिरेण शिशिरर्तुना तदागमेनेति लक्ष्यार्थः, शैत्येन वा, 'हेतौ तृतीया तथाग्रेऽपि' अमृतरश्मिमण्डलम् चन्द्रमण्डलम्, यथा, दिवसेन दिनेन, मनागपि ईषदपि न, शोभते, तथा, हे तन्वि! इदम्, तव, आननम् मुखम् (अपि) रोषेण क्रोधेन, ईषदपि न शोभते। रोषाकुलं तव मुखम्, शैत्यगलितम् कमलमिव, दिवसम्लानम् चन्द्रमण्डलमिव च, शोभाविहीनं भवतीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शिशिरेण इत्यादि। नायक की अथवा उसकी दूती की नायिका के प्रति उक्ति है कि—जैसे शिशिर ऋतु के आगमन से कमल और दिन से चन्द्रमण्डल थोड़ा भी शोभित नहीं हो पाता, उसी प्रकार, तेरा यह मुख, रोष से थोड़ा भी शोभित नहीं होता—ऐसा सुन्दर मुख क्रोध के कारण फीका-फीका सा दृष्टिगोचर होता है।

उपपादयति—

अत्र वाच्यस्य दीपकस्योपमोपस्कारिका।

'शिशिरेण...' इति पद्येऽप्रस्तुतयोः कमलचन्द्रमण्डलयोः प्रस्तुतस्य मुखस्य च शोभाभावरूपे एकस्मिन् धर्मेऽभिसम्बन्धाद्दीपकालङ्कारो वाच्यः। स एव च प्रधानः प्रकृतपद्यस्य काव्यत्वनियामकः। यथातथापदबोध्यः उपमालङ्कारश्च वाच्योऽपि तस्य दीपकस्य पोषक एवेति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'शिशिरेण...' इत्यादि पद्य में अप्राकरणिक कमल तथा चन्द्रमण्डल का और प्राकरणिक नायिकामुख का शोभित न होने रूप एक धर्म के साथ सम्बन्ध वर्णित होने के कारण दीपकालङ्कार वाच्य है, अधिक चमत्कारी

होने के कारण वही प्रधान है-प्रकृत पद्य को काव्य सिद्ध करनेवाला है और 'यथा-तथा' पद से अवगत होनेवाला उपमालङ्कार वाच्य होकर भी न्यून चमत्कारी होने के कारण गौण है—उस दीपक का ही शोभाधायक है-पोषक है।

ननु वस्त्वलङ्कारयोरिव रसस्यापि वाच्यत्वेन षोढा वक्तुमुचितेयमत आह—

रसादिस्तु न वाच्य इति प्रागेवाभिहितम् ।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेनाभिमता रसरसाभासभावभावाभासादयो व्यङ्ग्या एव भवन्ति न वाच्या इति पूर्वमुक्तम्, अतः पञ्चधैव न षोढा इति भावः ।

रस आदि जो अलक्ष्यक्रम कहे जाते हैं—व्यङ्ग्य ही होते हैं, वाच्य नहीं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है, अतः अलङ्कार्यभेद से उपमा के पाँच ही भेद कहे गये, 'वाच्यरसोपस्कारिका' नामक छठा भेद नहीं।

आशङ्क्य समाधत्ते—

अथ कथमलङ्कारस्यालङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वमुच्यते । प्रधानस्यैवालङ्कार्यत्वादिति चेत् मैवम्, अलङ्कारस्योपमादेर्ध्वन्यमानतायां प्राधान्याद्रसादिवदलङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वे न कोऽपि तावदस्ति विरोधः । एवमेव मुख्यतया वाच्यतायामपि । यथा ह्यापणादौ विक्रीयमाणतायां कनकताटङ्कस्य रत्नाद्यलङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वे तस्यैव च कामिनीकर्णालङ्कारतायां पुनः प्रधानान्तरसांनिध्यात्ताटङ्कस्य तद्गतरत्नानां च साक्षात्परम्परया च कर्णादिशोभोपस्कारकतया यथा तदलङ्कारत्वम्, एवमेव रसादिसांनिध्ये रूपकादेस्तदुपस्कारकस्यालङ्कारान्तरस्य च रसाद्यलङ्कारतेति ।

प्रधानस्यैवेति । अलङ्कारस्त्वप्रधानमेवेति भावः । वाच्यतायामपीत्यत्र न विरोध इत्यनुषङ्गः । दृष्टान्तविधयाऽऽह—यथा इत्यादि। प्रधानान्तरेति। प्रथमप्रधानताटङ्कापेक्षयाऽन्यस्य कामिनीकर्णरूपप्रधानस्येत्यर्थः । तदलङ्कारत्वम् कर्णालङ्कारत्वम् । रसाद्यलङ्कारतेति । रसादिरूपालङ्कार्यनिरूपितालङ्कारतेत्यर्थः । यः प्रधानः स अलङ्कार्यो भवति, यश्च गौणः स अलङ्कार इति वस्तुस्थितिः । तथा चोपमाया वाच्यालङ्कारोपस्कारकत्वमूलको भेदो न सम्भवति, उक्तयुक्त्या वाच्यालङ्कारस्योपस्कार्यत्वासम्भवादिति शङ्का, यत्रोपमादिरलङ्कारो व्यङ्ग्यः, अत एव प्रधानस्तत्र सोऽपि रसादिवत् अन्येनालङ्कारेणोपस्क्रियत इत्यत्र न कस्यापि विमतिः । एवञ्च यत्र वाच्योऽपि कश्चिदलङ्कारः रसादिराहित्येन स्वयं काव्यजीवातुभूतो मुख्यो भवेत् (यथा 'शिशिरेण…' इत्यादिपद्ये दीपकालङ्कारः) तत्र, तस्य, भिन्नेन तदपेक्षयाऽल्पचमत्कारित्वाद् गुणीभूतेनालङ्कारेण, उपस्करणं सम्भवत्येव, विरोधाभावात् । रसध्वनिकाव्ये तु साक्षात् रसोपस्कारकाः ये अलङ्कारा ये वा रसोपस्कारकालङ्कारोपस्कारका अलङ्काराः ते सर्वेऽपि साक्षात्परम्परया वा रसोपस्कारका एव व्यवह्रियेरन् । रीतिरियं लौकिकालङ्कारदृष्टान्तसिद्धैव, विपणिगतकनकनिर्मितताटङ्कालङ्कारे कर्णाद्यसन्निधानेन स्वयं प्रधानीभूते रत्नाद्यलङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वव्यवहारस्य, कर्णगते पुनस्तस्मिन् सर्वप्रधानस्य कर्णस्यैवोपस्कार्यत्वेन तयोर्द्वयोरप्यलङ्कारयोरुपस्कारकत्वमात्रव्यवहारस्य च दर्शनादिति भावः ।

क्या अलङ्कार भी अलङ्कार को शोभित करता है ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—अथ इत्यादि। यदि कोई कहे कि यह पाँचवा भेद तो ठीक नहीं हुआ अर्थात् एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार से उपस्कृत-शोभित-नहीं हो सकता, क्योंकि उपस्कार्य-अलङ्कार्य-कोई प्रधान होता है और अलङ्कार तो स्वयं गौण होता है अतएव अलङ्कार कहलाता

है-दूसरे को शोभित करने वाला समझा जाता है, फिर वह अलङ्कार्य कैसे होगा? तो इसका समाधान यह है कि जहाँ अलङ्कार-उपमा आदि-प्रधानरूप में ध्वनित होता रहता है, वहाँ वह उसी तरह दूसरे वाच्य अलङ्कारों से शोभित होने वाला माना जाता है, जिस तरह कोई रस आदि, यह सिद्धान्त सर्वमतसिद्ध है। फिर जहाँ-'शिशिरेण...' इत्यादि तरह के काव्यों में—अलङ्कार वाच्य होकर भी रस आदि प्रधानान्तर के न रहने के कारण स्वयं प्रधान है—चमत्कारी है अतएव काव्य का प्राणभूत है, वहाँ वह भी रस आदि के समान अथवा ध्वनिभूत अलङ्कार के समान, अन्य अल्पचमत्कारी अतएव गौण अलङ्कार से शोभित होने का सौभाग्य क्यों नहीं प्राप्त कर सकता? अवश्य कर सकता है। तात्पर्य यह कि प्रधानता ही तो अलङ्कार्यता का मूल है, फिर जहाँ रस आदि न हों और कोई वाच्य अलङ्कार ही अपने उज्ज्वल चमत्कार से पदावली को काव्य कहलाने का सौभाग्य प्रदान करे, वहाँ तो उस अलङ्कार को ही मुख्यता की पगड़ी मिलेगी, अतः वैसी स्थिति में पोषकरूप में वर्णित यदि कोई दूसरा अलङ्कार रहेगा, तब उससे वह (प्रधान अलङ्कार) अलंकृत हो सकता है। हाँ, जहाँ रस आदि सर्वप्रधान की सत्ता रहेगी, वहाँ सभी अलङ्कार उसी को अलंकृत करेंगे—आपस में उन अलङ्कारों का अलङ्कार्यालङ्कारकभाव नहीं होगा। यह रीति लौकिक अलङ्कारों में भी देखी जाती है—जब सोने का बना ताटङ्क (कर्णाभरण) दूकान में बिकता रहता है, तब वही प्रधान रहता है, अतः उस काल में रत्न आदि दूसरे अलङ्कारों से वह शोभित होता है अर्थात् ताटङ्क अलङ्कार्य और रत्न आदि अलंकृत करने वाला समझा जाता है; पर जब वही ताटङ्क कामिनी के कानों में झूलता हुआ रहता है, तब वह प्रधान नहीं रह जाता—उस स्थिति में कामिनी के कान ही प्रधान हो जाते हैं, अतः ताटङ्क अलङ्कार्य नहीं कहलाता, ताटङ्क तथा रत्न आदि सभी कान के अलङ्कार कहे जाते हैं।

भेदाः सङ्कल्यन्ते—

एवं च प्राचां मते पञ्चविंशतिभेदायाः पुनः पञ्चविधतायां सपादशतं भेदाः। द्वात्रिंशद्भेदवादिनां तु षष्ट्युत्तरं शतम्।

एवं चेति। अलङ्कार्यभेदेनालङ्कारभेदस्वीकारे चेत्यर्थः। पूर्णायाः षट् लुप्तायाश्चैकोनविंशतिरिति ये पञ्चविंशतिर्भेदा उपमायाः प्राचीनतमैरुक्तास्तेषां प्रत्येकस्य पुनरलङ्कार्यभेदेनानुपदं पञ्चविधत्वप्रतिपादने जाते साकल्येन पञ्चविंशत्यधिकशतं भेदा उपमाया निष्पद्यन्ते। मध्यकालिकैश्च कैश्चिदाचार्यैर्लुप्ताया एकोनविंशत्याधिकाः सप्त अन्येऽपि भेदाः कथिताः। तन्मतानुसारं द्वात्रिंशद्भेदानां पुनः पञ्चविधत्वे षष्ट्याधिकशतभेदा उपमाया जायन्त इति भावः।

भेदों का सङ्कलन किया जाता है—एवं च इत्यादि। इस प्रकार से जिन प्राचीनों के मत में पहले उपमा के पचीस भेद हुए थे, उनके मत में अब एक सौ पचीस भेद हो गये, क्योंकि पूर्वोक्त पचीस भेदों में से प्रत्येक के और पाँच-पाँच भेद अब दिखाये गये हैं और जिन प्राचीनों के मत में पहले बत्तीस भेद हुए थे, उनके मत में अब प्रत्येक के पाँच-पाँच हो जाने के कारण एक सौ साठ भेद हुए।

उपमाभेदान्तराणामपि संभावनां सूचयति—

इतश्चान्येऽपि प्रभेदाः कुशाग्रीयधिषणैः स्वयमुद्भावनीयाः।

इतः इति। उक्तेभ्यो भेदेभ्य इत्यर्थः। प्रभेदा इति। उपमाया इति भावः। कुशाग्रीयधिषणैरिति। कुशाग्रीया कुशाग्रसंबन्धिनी कुशाग्रतुल्येति यावत् धिषणा बुद्धिर्येषां तैः तीक्ष्णबुद्धिभिरिति भावः। स्वयमिति। प्राचीनोक्तिसाहाय्यविरहेऽपि इति तात्पर्यम्, उद्भावनीया ऊह्याः।

उपमा के जितने प्रभेद ऊपर दिखलाये जा चुके हैं, उन सबों से भिन्न और-और भेद भी हो सकते हैं, जिनका ऊह तीक्ष्णबुद्धियों को स्वयं कर लेना चाहिए।

स्वयमुद्भावनीयत्वेनोक्तान् उपमायाः प्रभेदान् निर्दिदिक्षुः प्रथमम् समानधर्मवैलक्षण्यमूलान् तान् निर्दिशति—

तत्र क्वचिदनुगाम्येव धर्मः। क्वचिच्च केवलं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावमापन्नः। क्वचिदुभयम्। क्वचिद्वस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बितं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावम्। क्वचिदसन्नप्युपचरितः। क्वचिच्च केवलशब्दात्मकः।

तत्रेति। उद्भावनीयेषु भेदेष्वित्यर्थः। क्वचिदिति। कस्यांचनोपमायामित्यर्थः। एकमत्रेऽपि। अनुगामीति। सकृन्निर्दिष्टोऽपि एकेन रूपेणोपमानोपमेययोरुभयोरनुगमनकर्ता इत्यर्थः। अत्रैवकारेण धर्मस्य बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नत्वं व्यवच्छिद्यते। धर्मः उपमानोपमेयोभयसाधारणो गुणक्रियादिः। केवलमिति। अनुगामित्वरहितमित्यर्थः। बिम्बप्रतिबिम्बभावमिति। पृथग्निर्दिष्टत्वे सति वस्तुतो भिन्नत्वे च सति सादृश्यमूलकमभेदमित्यर्थः। आपन्न इति। प्राप्त इत्यर्थः। अत्र 'धर्मः' इत्यनुषज्यते। उभयमिति अनुगामित्वं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावं चेत्यर्थः। अत्र 'आपन्नः धर्मः' इत्यस्यानुषङ्गो बोध्यः। अयं च नातिरिक्तो भेदः, अत एवाग्रिमा 'तृतीयोऽपि त्रिविधः' इति 'षष्ठो धर्मः' इति चोक्तिः सङ्गच्छते। तस्यातिरिक्तभेदत्वे तु 'चतुर्थः' 'सप्तमः' इति चोक्तिः स्यात्। वस्तुप्रतिवस्तुभावेनेति। एकत्वेऽपि आश्रयभेदप्रयुक्तभेदेनेत्यर्थः। करम्बितम् मिश्रितम्। बिम्बप्रतिबिम्बभावमित्यस्याग्रे 'आपन्नो धर्म' इति पूर्वोक्तस्यानुषङ्गो वेद्यः। असन्नपीति। मिथ्याभूतोऽपीत्यर्थः उपचरितः आरोपितः। अत्रापि 'धर्मः' इत्यस्यानुषङ्गः। केवलशब्दात्मक इति। गुणक्रियादिरूपो न किन्तु समानशब्दरूपः धर्म इत्यर्थः। एतेन पुनः षड्धोपमा विभक्तेति बोद्धव्यम्।

उद्भावनीय भेदों में से तब तक समानधर्म की विलक्षणता से होनेवाले भेदों का उल्लेख स्वयं ग्रन्थकार करते हैं—तत्र इत्यादि। १—किसी किसी उपमा में समानधर्म केवल अनुगामी अर्थात् एक बार निर्दिष्ट होकर एक ही रूप से उपमान तथा उपमेय दोनों में सङ्गदित होनेवाला रहता है। २—किसी किसी उपमा में समान धर्म केवल बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होता है अर्थात् उपमान तथा उपमेय के धर्म वस्तुतः दो रहते हैं, अतः पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट भी रहते हैं, पर सादृश्यमूलक, उन दोनों धर्मों में अभेद माना गया रहता है अथवा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न और अनुगामी दोनों एक साथ होते हैं। ३—किसी किसी उपमा में बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित रहता है अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म के विशेषणरूप में एक ऐसा धर्म कहा रहता है जो वस्तुतः एक ही होता है पर उसका निर्देश भिन्न शब्दों के द्वारा दो आश्रय में दो बार किया गया होता है। ४—किसी उपमा में समानधर्म मिथ्या होकर भी आरोपित रहता है। ५—और किसी उपमा में समानधर्म केवल शब्दरूप होता है गुणक्रियादिरूप नहीं।

तत्रानुगामिधर्मयुक्तामुपमामुदाहर्तुमाह—

तत्राद्या यथा—

स्पष्टम्।

उपमा के उन धर्ममूलक भेदों में पहला—अर्थात् अनुगामि धर्मवाला भेद जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'शरदिन्दुरिवाह्लादजनको रघुनन्दनः।
वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचाप इवाम्बुदः॥'

शरदिन्दुः शरत्कालीनश्चन्द्रः (अत्र शरद्विशेषणेन धूलिधूसरतादिदोषमुक्ताकाश-सूचनद्वारा चन्द्रमसश्चन्द्रिकातिशयशालित्वमावेद्यते तेन चाह्लादजननेऽप्याधिक्यं प्रतीयते, तदुपमानत्ववर्णनेनोपमेये रघुनन्दनेऽपि तत्सूच्यते) इव, आह्लादस्य आनन्दविशेषस्य, जनकः सम्पादकः, रघुनन्दनः राघवो रामः, वनस्रजा वनमालया आपादतललम्बिमालयेति यावत्। इन्द्रचापेन विद्युता, सहितः, अम्बुदो मेघ इव, विभाति स्म विशेषेणाशोभत इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शरदिन्दु इत्यादि। कवि का कथन है कि-शरत्काल के चन्द्रमा के समान आनन्ददायक भगवान् रामचन्द्र वनमाला से इन्द्रधनुष (विद्युत) से युक्त मेघ के समान शोभित हो रहे थे।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे सकृन्निर्देशाद्धर्मोऽनुगामी।

'शरदिन्दुः''''' इति पद्यस्य पूर्वार्धभागे आह्लादजनकत्वरूपो धर्मः 'आह्लादजनक' इति पदेनैकवारमेव निर्दिष्टः एकेनैव रूपेण उपमानोपमेययोश्चन्द्ररामचन्द्रयोरन्वेतीति तस्या-नुगामित्वम् बोध्यम्।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'शरदिन्दु''' इत्यादि श्लोक के पूर्वार्ध भाग में 'आनन्दजनकः' इस शब्द के द्वारा 'आनन्ददायकता' धर्म एक ही बार उक्त होकर एक रूप से ही उपमान और उपमेय-चन्द्र तथा रामचन्द्र-दोनों में अन्वित हो जाता है, अतः यह धर्म अनुगामी कहा जाता है।

द्वितीयभेदस्योदाहरणभूतं पूर्वोक्तपद्यं स्मारयति—

केवलबिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नः 'कोमलातपशोणाभ्र-' इत्यत्र बोध्यः।

'कोमलातप-' इत्यादि पद्यं पूर्वमुपमाप्रकरणप्रारम्भे समुल्लिखितम्। तत्र कोमला-तपकुङ्कुमालेपनयोः क्रमशः सन्ध्याकालरूपोपमानयतिरूपोपमेयमात्रनिष्ठयोः सादृश्यमूल-काभेदाध्यवसाय इति तस्य धर्मस्य बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नत्वम् इति भावः। अधिकं तत्रैव विवेचितं जिज्ञासुभिरवलोकनीयम्।

केवल बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्म वाली उपमा का उदाहरण होता है 'कोमलातप-' इत्यादि पूर्वोल्लिखित पद्य। यहाँ 'कोमलातपत्व' केवल उपमान सन्ध्याकाल में रहने वाला है और 'कुङ्कुमालेपन' केवल उपमेय यति में रहने वाला, अतः उन दोनों में से एक भी उपमानोपमेय का साधारण धर्म होने योग्य यद्यपि नहीं है, तथापि समान होने के कारण उन दोनों धर्मों में अभेद का आरोप कर लिया जाता है, जिससे उन दोनों धर्मों को एक समझ कर उपमा की सिद्धि होती है। यह भिन्न धर्मों का आरोपित अभेद ही बिम्बप्रतिबिम्बभाव है, यह बात पहले लिखी जा चुकी है।

उभयविधधर्मयुक्तामुपमां प्रकटयति—

द्वितीयार्धे तूभयम्।

'शरदिन्दु—' इति पद्यस्योत्तरार्धभागेऽम्बुदोपमानिका रघुनन्दनोपमेयिका या उपमा वर्तते, तत्र द्वौ धर्मौ साधारणौ-एकः 'विभाति स्म' इति पदबोध्यो भानक्रियारूपः, स चानुगामी, सकृन्निर्दिष्टत्वात् एकरूपेणोपमानोपमेययोरन्वितत्वाच्च, द्वितीयः वनस्रगिन्द्रचाप-रूपः, स च बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नः, वस्तुतो भिन्नत्वात् सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसाया-च्चेति भावः। अत्र 'द्वितीयार्धे' इत्यस्य 'कथान्तरतो भाति इत्यादौ' इति टीकां कुर्वाणो नागेशो नोचितभाषी, तत्र द्वितीयोपमाया एवाभावात्। या नैकोपमा तत्रास्ति, तस्यां

धर्मस्य केवलबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नत्वस्य व्यवस्थापनात् अनुगामिधर्मस्य विरहात् इत्याकलनीयम् ।

जिस उपमा में साधारण धर्म अनुगामी तथा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न दोनों तरह के होते हैं, उसका उदाहरण 'शरदिन्दु–' इत्यादि पद्य का ही उत्तरार्ध–'वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचाप इवाम्बुदः' होता है, क्योंकि यहाँ 'विभाति स्म' पदबोध्य शोभनक्रियारूप धर्म उक्त युक्ति से अनुगामी है और वनमाला तथा इन्द्रचापरूप धर्म उक्त रीति से है बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न ।

तृतीयो भेदः पुनस्त्रिधा विभज्यते—

तृतीयोऽपि त्रिविधः–विशेषणमात्रयोर्विशेष्यमात्रयोस्तद्युगलयोर्वा वस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बितः ।

वस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बितबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्ममूलको यो भेद उक्तस्तस्य पुनस्त्रयो भेदाः सम्भवन्ति वस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बणस्य त्रिधा सम्भवात् । तथाहि–विशेषणमात्रगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणम् , विशेष्यमात्रगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणम् , विशेषणविशेष्योभयगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणञ्च । वस्तुप्रतिवस्तुभावपरिचयः प्रागेव दत्तः, अग्रेऽप्युदाहरणेषु दीप्स्यतेति भावः ।

तृतीय भेद के पुनः तीन अवान्तर भेद करते हैं—तृतीयोऽपि इत्यादि । वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न समान धर्म के भी तीन प्रकार हो सकते हैं—एक केवल विशेषणों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित, द्वितीय केवल विशेष्यों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित और तृतीय विशेषण-विशेष्य दोनों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित ।

तेषु विशेषणमात्रगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणमुदाहर्तुमाह—

तत्राद्यो यथा—

स्पष्टम् ।

केवल विशेषणों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'चलद्भृङ्गमिवाम्भोजमधीरनयनं मुखम् ।
तदीयं यदि दृश्येत कामः क्रुद्धोऽस्तु किं ततः ॥'

चलन्तः सञ्चरन्तो भृङ्गा भ्रमरा, यत्र, तादृशम् , अम्भोजम् कमलम् , इव, अधीरे चपले, नयने नेत्रे, यस्मिन् , तादृशं, तदीयं वर्णनीयनायिकासम्बन्धि, मुखम् , यदि, दृश्येत अवलोक्येत, (सम्भावनेयम्), तदा, कामः कामदेवः, क्रुद्धः कुपितः, अस्तु भवतु, ततः तस्मात्कोपात् , किम् ? न किमपीति यावत् । भ्रमद्भ्रमराम्भोजतुल्यचञ्चलाक्षीमुखविलोकनोपायें वर्तमाने कामकोपरोगो न दुस्साध्य इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—चलद्भृङ्ग इत्यादि । जिसके मध्यभाग में भ्रमर सञ्चरण कर रहे हों, उस कमल के तुल्य चपल नेत्रों वाला उसका मुख यदि दृष्टिगोचर होवे, तब कामदेव, क्रुद्ध होता रहे, उससे क्या ?

उपपादयति—

अत्र चलत्वाधीरत्वयोर्विशेषणयोर्वस्तुत एकरूपयोरपि शब्दद्वयेनोपादानाद्वस्तुप्रतिवस्तुभावः । तद्विशेषणकयोश्च भृङ्गनयनयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः । इति तत्करम्बितोऽयमुक्त्यते ।

'चलद्भृङ्ग-' इति पद्येऽम्भोजमुपमानम् मुखञ्चोपमेयम् , तयोः साधारणधर्मः पूर्वोक्तदिशा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नः चलद्भृङ्गाधीरनयनत्वरूपः, तत्र विशेषणीभूतयोश्चलनाधीरत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावः, वस्तुत एकरूपत्वेऽपि शब्दद्वयेनोल्लेखादिति विशेषणमात्रगतवस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बितबिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नधर्ममूलकत्वमस्या उपमाया उपपद्यत इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। यहाँ 'चलन' और 'अधीरत्व' ये दोनों विशेषण वस्तुतः एकरूप हैं-अर्थात् इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है, तथापि उस एक ही अर्थ का प्रतिपादन दो भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा किया गया है, अतः उनका वस्तुप्रतिवस्तुभाव है और वे जिनके विशेषण हैं उन विशेष्यों 'भ्रमर' तथा 'नेत्र' का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है, क्योंकि वस्तुतः भिन्न होने पर भी समान होने के कारण उन्हें अभिन्न माना गया है, अतः यह बिम्बप्रतिबिम्बभाव वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित कहलाता है।

केवलविशेष्यगतवस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बणमुदाहर्तुमाह—

तत्र द्वितीयो यथा—

स्पष्टम् ।

केवल विशेष्यों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'आलिङ्गितो जलधिकन्यकया सलीलं,
लग्नः प्रियङ्गुलतयेव तरुस्तमालः ।
देहावसानसमये हृदये मदीये,
देवश्चकास्तु भगवानरविन्दनाभः ॥'

भक्तः कामयते–प्रियङ्गुलतया तन्नामकसुवर्णवर्णलताविशेषेण लग्नः संसक्तः तमालस्तरुः तमालाभिधश्यामच्छविविटपिविशेषः, इव, जलधिकन्यकया लक्ष्म्या, सलीलम् सविलासम् , आलिङ्गितः आश्लिष्टः, भगवान् अणिमाद्यैश्वर्यशाली, अरविन्दनाभो देवः विष्णुदेवः, देहावसानसमये मृत्युकाले, मदीये हृदये चकास्तु भासतामित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—आलिङ्गित इति। किसी भक्त की अभिलाषा है—प्रियङ्गुलता से सटे हुए तमालवृक्ष के समान, लक्ष्मी से लीलापूर्वक आलिङ्गित भगवान् पद्मनाभ देव (विष्णु) मरणसमय में मेरे हृदय में भासित होवें।

उपपादयति—

अत्रालिङ्गितत्वलग्नत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावः। तद्विशेष्यकयोश्च जलधिकन्याप्रियङ्गुलतयोर्बिम्ब-प्रतिबिम्बभावः। इत्ययमपि तत्करम्बित एव।

'आलिङ्गित—' इति श्लोके प्रियङ्गुलतालग्नतमालतरुः जलधिकन्यालिङ्गितविष्णुरूपयोरुपमेययोर्मानम् , तत्रालिङ्गितलग्नपदार्थयोर्विशेषणविधया वर्णितौ जलधिकन्याप्रियङ्गुलतापदार्थौ सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसायशालितया बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नौ साधारणधर्मतया व्यवस्थितौ विशेष्यभूतालिङ्गितत्वलग्नत्वे च वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ने एकस्यैव वस्तुनः शब्दभेदेनाभेदेन च प्रतिपादनादिति सिद्धं बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य वस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणम् इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्रालिङ्गितत्व इत्यादि। 'आलिङ्गितः—' इस पद्य में 'आलिङ्गित होना' और 'सटना' ये जो विशेष्यभूत पदार्थ हैं, वे वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न हैं, क्योंकि वास्तविकरूप में वे दोनों एक ही चीज हैं, केवल भिन्न-भिन्न आश्रय में रहने के कारण

मृगनयनानाम्, पुरतः अग्रे, पुष्पायुधीयति पुष्पायुधः कामः स इवाचरतीत्यर्थः। कर्तुः दीक्षितस्य। तसिलीति। अत्र 'इदं चिन्त्यम्। तदप्राप्तेः। आद्यादित्वात्तसावित्युचितम्।' इति नागेशः। महाकविः कालिदासः। तैः अप्पयदीक्षितैः। पुनरत्र नागेशः-"इदं चिन्त्यम्। 'पुरत इति निपाताङ्गीकारात्। अत एव 'इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना' इति कालिदासः, 'पश्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चात्' इति भवभूतिश्च सङ्गच्छते' इति केचित्। अन्ये तु 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' इत्यत्रातसुचैव पुंवद्भावेन सिद्धेऽतसुज्विधानमन्यस्मादपीति ज्ञापनाय। तेन पचाद्यजन्तात्पुरशब्दात्तस्मिन्निष्टसिद्धिः। इत्याहुः। वस्तुतस्तु—'पुर अग्रगमने' इति चौरादिकाण्णिजभावे इगुपधलक्षणे के 'सार्वविभक्तिकस्तसिः' इति बोध्यम्" इति समुचितं दीक्षितमतेन सह कविसम्प्रदायमपि समर्थितवान्। वैयाकरणा इति। आश्च इत्यादिः। रूपयौवनेति पद्ये 'पुरतः' इति प्रयोगो व्याकरणदिशाऽशुद्धः, कविविवक्षितार्थे 'पुरः' इति प्रयोगस्यैव शब्दानुशासनसिद्धत्वादिति सारांशः। अन्यत् सुगमम्।

दीक्षितजी की एक अन्य उक्ति में आलोचना द्वारा व्याकरणाशुद्धि दिखलाते हैं—इदमप्य इत्यादि। दीक्षितजी ने ही वाचकोपमेयलुप्तोपमा के उदाहरण में यह दूसरा पद्य भी बनाया है-'रूपयौवन इत्यादि अर्थात् जिसका आकार रूप (वर्ण), युवावस्था और लावण्य से स्पृहणीय है, ऐसा यह नायक, मृगाक्षियों के आगे कामदेव का सा आचरण करता है।' यह पद्य अपशब्द(अशुद्ध शब्द)रूप दोष से दुष्ट है, अतः रचयिता का वैयाकरण न होना इससे सूचित होता है। देखिए—'पुरतः' शब्द की सिद्धि, यदि नगरवाची पुर शब्द से, तसिल् (वस्तुतः 'तसि' कहना चाहिए, क्योंकि 'तसिल्' की प्राप्ति यहाँ नहीं होती) प्रत्यय करके, की जायगी, तब उसका अर्थ यहाँ होगा 'मृगाक्षी के नगर से' जो प्रकृत में सङ्गत नहीं होगा। पूर्व (आगे) अर्थ का वाचक 'पुर' शब्द कहीं (कोश आदि में) सुना नहीं जाता-देखा नहीं जाता, अतः पूर्ववाची पुर शब्द से 'तसि' प्रत्यय करके उक्त प्रयोग को सिद्ध करने की बात चलायी ही नहीं जा सकती। रहा पूर्व शब्द, सो उससे 'पूर्वाधरा....' इत्यादि मूलोक्त सूत्र से 'असि' प्रत्यय करने पर 'पुर' आदेश द्वारा 'पुरः' प्रयोग बनता है, 'पुरतः' नहीं। अत एव महाकवि कालिदास ने 'अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्' यह प्रयोग किया है। एक जगह की बात नहीं, इसी तरह दूसरी जगह—चित्रमीमांसा के द्वितीय प्रकरण के आरम्भ में भी दीक्षितजी ने 'मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः' इत्यादि लिखकर वही गलती की है। 'पुरतः' शब्द के अशुद्ध होने के कारण ही तो वैयाकरण लोग कहते हैं—'पश्या पुरतः परतः', 'आत्मीयं चरणं दधाति पुरतः', 'पुरतः सुवती समागतम्' इत्यादि सभी शब्द अशुद्ध हैं और इन अशुद्धियों के होने में मूल है निर्माताओं का व्याकरणविषयक अज्ञान। नागेश का यहाँ कथन है कि 'पुरतः' शब्द अशुद्ध नहीं है, तीन तरह से उस पद की सिद्धि की जा सकती है। एक निपात मानकर, दूसरा पचादित्वात् अच्प्रत्ययान्त पुर शब्द से ज्ञापक द्वारा 'अतसुच्' प्रत्यय करके और तीसरा 'पुर अग्रगमने' धातु से चौरादिक णिच् नहीं करने पर 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इस सूत्र से 'क' प्रत्यय करके बनाए गए 'पुर' शब्द से सार्वविभक्तिक 'तसि' प्रत्यय करके। इन तीनों प्रकारों में तृतीय प्रकार सर्वोत्तम है। इस तरह से यह प्रयोग केवल शुद्ध है इतना ही नहीं, महाकवि लोगों ने इसका प्रयोग भी बहुत जगह किया है। जैसे कुमारसम्भव में कालिदास ने 'इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना' कहा है। भवभूति ने उत्तररामचरित में 'पश्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चात्' लिखा है। इस तरह के महाकविप्रयुक्त पदों को लेकर जो पण्डितराज, दीक्षितजी पर कटाक्ष करते हैं, उससे दीक्षितजी के प्रति पण्डितराज का हार्दिक विद्वेष ही अधिक व्यक्त होता है।

पूर्वोक्तभेदाया उपमायाः पुनः प्रकारान्तरेण भेदान् वक्ति—

इयं चैवं भेदोपमा वस्त्वलङ्काररसरूपाणां प्रधानव्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कारयोर्वाच्ययोश्चोपस्कारकतया पञ्चधा।

पूर्वोक्तभेदाया उपमाया अलङ्कार्यभेदेन पुनः पञ्च प्रकारा भवन्ति, वस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिविधानां प्रधानव्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कारभेदेन द्विविधयोर्वाच्ययोश्च स्थलभेदेनालङ्कार्यत्वात्। एवञ्च प्राधान्येन व्यङ्ग्यभूतवस्तूपकारिका एका, प्राधान्येन व्यङ्ग्यभूतालङ्कारोपकारिका द्वितीया, प्रधान्येन व्यङ्ग्यभूतरसाद्यलक्ष्यक्रमोपकारिका तृतीया, प्राधान्येन वाच्यवस्तूपकारिका चतुर्थी, प्रधान्येन वाच्यालङ्कारोपकारिका च पञ्चमी उपमा भवतीति भावः।

अब पुनः प्रकारान्तर से उपमा के भेद करते हैं—इयं चैव इत्यादि। अभी-अभी जो उपमा के भेद दिखलाये जा चुके हैं, उन सभी भेदों के पुनः पाँच-पाँच भेद होते हैं, क्योंकि किसी दूसरे अर्थ को अलंकृत करने के कारण ही तो उपमा अलङ्काररूप होती है और अलंकृत होने वाले अर्थ पाँच प्रकार के होते हैं। जैसे—१-वस्तुरूप प्रधान व्यङ्ग्य, २-अलङ्काररूप प्रधान व्यङ्ग्य, ३-रसादिरूप प्रधान व्यङ्ग्य, ४-वस्तुरूप प्रधान वाच्य, और ५-अलङ्काररूप प्रधान वाच्य। उपमा, स्थलभेद से इन पाँचों अर्थों की उपस्कारिका-उपकारिका अर्थात्-शोभिका होती है।

एषु पञ्चसु प्रकारेषु प्रथमं प्रकारमुदाहर्तुमाह—

तत्र व्यङ्ग्यवस्तूपस्कारिका यथा—

तत्रेति। उक्तपञ्चभेदमध्य इत्यर्थः। उपमाया येन प्रकारेण व्यङ्ग्यवस्तूपस्करणं भवति, स प्रकारो निर्दिश्यत इति भावः।

उक्त पाँच भेदों में से व्यङ्ग्य वस्तु को शोभित करने वाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अविरतपरोपकरणव्यग्रीभवदमलचेतसां महताम्।
आपातकाटवानि स्फुरन्ति वचनानि भेषजानीव॥'

अविरतम् निर्विरामम् सततमिति यावत्, परोपकरणेषु परकीयोपकारसम्पादनेषु, व्यग्रीभवन्ति अव्यग्राणि व्यग्राणि भवन्तीत्यभूततद्भावे च्विः विषयान्तरे कदापि व्यग्रतां नानुभवन्त्यपि परोपकारविषये व्यग्रतामनुभवन्तीति भावः, अमलानि विशुद्धानि रागद्वेषादिशून्यानीति यावत्, चेतांसि हृदयानि, येषां, तेषाम्, महताम् महापुरुषाणाम् आपातकाटवानि प्रागनुभूयमानकटुत्वकानि, वचनानि, भेषजानि औषधानीव, स्फुरन्ति प्रकटीभवन्तीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अविरत इत्यादि। कवि का कथन है—जिनके विशुद्ध-रागद्वेषादिशून्य-हृदय, सतत परोपकार में व्यग्र रहते हैं अर्थात् जिनके मन में अन्य प्रकार की व्यग्रता न रहने पर भी परोपकार करने की व्यग्रता सदा बनी रहती है, उन महापुरुषों के, पहले कटु प्रतीत होनेवाले वचन औषधों के समान स्फुरित-प्रकट-होते हैं।

उपपादयति—

अत्र तादृशि वचनान्यर्थद्वारा सेवमानस्य मनागप्यक्षुभ्यतः परिणामे परमं सुखं भवतीति प्राधान्येन व्यङ्ग्यस्य वस्तुन उपस्कारिका भेषजोपमा।

तादृशीति। आपातकाटवानीत्यर्थः। अर्थद्वारा सेवमानस्येति। अर्थज्ञानपुरस्सरं तथा चरत इत्यर्थः। मनागपि ईषदपि। अक्षुभ्यत इति। प्रारम्भिककटुत्वभयेन संभाव्यमानं

वैमुख्यं नासादयत इत्यर्थः। अत्र 'तादृशि....' इत्यादिमूलोक्तं वस्तु 'आपातकाटवानि' इति पदेन, प्रधानतया व्यज्यते। इदमेव वस्तुव्यङ्ग्यमत्र काव्यजीवातुभूतम्, न रसादिरिति तात्पर्य्यम्। व्यङ्ग्यमेनमर्थम् भेषजानीवेति पूर्णा भेषजोपमा, भूषयति–प्रतिपाद्यमानेन प्रारम्भकटोरपि परिणामसुखदस्य भेषजस्य सादृश्येन परिपुष्टोऽसौ व्यङ्ग्योऽर्थः चमत्कृतिमधिकां जनयतीति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। यहाँ 'जो मानव ऐसे वचनों का सेवन अर्थतः करता है अर्थात् अर्थ समझकर इन वचनों के अनुसार व्यवहार करता है और कटुता के भय से जरा भी विक्षुब्ध नहीं होता–वचनसेवन से पराङ्मुख नहीं होता, उसे परिणाम में परम सुख प्राप्त होता है' यह अर्थ, 'आपातकाटवानि' पद से व्यङ्ग्य होता है। यही व्यङ्ग्य, इस पद्य में, प्रधान है–काव्यव्यवहार का कारण है और इस व्यङ्ग्य को शोभित करती है 'भेषजानीव' पद से वाच्य होने वाली औषध की पूर्णोपमा। सारांश यह कि औषध-सादृश्य से परिपुष्ट होकर वह अर्थ और अधिक चमत्कार को उत्पन्न करता है।

द्वितीयं प्रकारमुदाहर्तुमाह—

व्यङ्ग्यालङ्कारोपस्कारिका यथा—

प्राग्वत् व्याख्या।

व्यङ्ग्य अलङ्कार को शोभित करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अङ्कायमानमलिके मृगनाभिपङ्कम्,
पङ्केरुहाक्षि वदनं तव वीक्ष्य बिभ्रत्।
उल्लासपल्लवितकोमलपक्ष्ममूला-
श्चञ्चूपुटं चपलयन्ति चकोरपोताः॥'

नायको नायिकानिकटे चाटुकारितां कुरुते—हे पङ्केरुहाक्षि कमललोचने! अलिके भालदेशे, अङ्कायमानम् चिह्नायमानम् चन्द्रगतश्यामचिह्नसदृशमिति यावत्, मृगनाभिपङ्कम् कस्तूरिकाद्रवम्, बिभ्रत् दधानम्, तव, वदनं मुखम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, उल्लासेन आह्लादेन, पल्लवितानि विकसितानि, कोमलानि, पक्ष्माणां, मूलानि आरम्भभागा येषां तादृशाः, चकोरपोताः चकोराणां शिशवः चञ्चूपुटम्, चपलयन्ति चञ्चलं कुर्वन्तीत्यर्थः। कलङ्कतुल्यकस्तूरीद्रवबिन्दुलाञ्छितललाटतटे त्वदानने चन्द्रभ्रमेण चकोरकिशोरकाः, आनन्देन कोमलानि पक्ष्ममूलानि पल्लवयन्तश्चन्द्रिकापानकामनया चञ्चुपुटं चपलं विदधतीति तद्भावः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अङ्कायमान इत्यादि। नायिका के प्रति नायक की चाटूक्ति है—हे कमललोचने! भालदेश में कलङ्क (चन्द्रगत चिह्नविशेष) के समान कस्तूरीद्रव को धारण करते हुए तुम्हारे मुख को देखकर, आनन्दातिरेक से जिनकी आँखों की अड़ें विकसित हो गई हैं ऐसे चकोरों के बच्चे, अपने चोंच को चपल बना रहे हैं–अर्थात् चन्द्रभ्रम से तेरे मुख की चाँदनी को चखने के लिये आतुर हो रहे हैं।

उपपादयति—

अत्र प्राधान्येन व्यङ्ग्ये आरोप्यमाणचन्द्रके भ्रान्तिमत्यलङ्कारे उपपादकस्य भालस्थमृगमदपङ्कविषयकस्याङ्काभेदारोपस्याङ्कसादृश्यरूपदोषमूलकत्वादुपमात्रालङ्कारः।

नन्वत्रोपमालङ्कारो नैवात आह—अत्र प्राधान्येनेत्यादि। व्यङ्ग्ये इति वाक्यव्यङ्ग्ये

इत्यर्थः । अलङ्कारे इति । सतीति शेषः । उपपादकस्येत्यस्य तस्येत्यादिः । अत्रालङ्कार इति । तथा च तदुपस्कारकत्वमस्याः स्पष्टमिति भावः । अङ्कायमानमिति पद्ये समग्रवाक्यतः स भ्रान्तिमानलङ्कारो व्यज्यते, यत्र चकोरकिशोरकर्तृकचञ्चूपुटचपलनान्यथानुपपत्त्या मुखे चन्द्राभेदारोपो भवति । स चारोपो न तावत् सेद्धुं शक्नोति, यावत् ललाटदेशस्थकस्तूरीद्रवे, कलङ्काभेदारोपो न भवेत्, अतः सोऽप्यारोपो विधीयते । नन्वेवमङ्कायमानमित्यनेनाङ्काभेद एव बोध्येत, तथा चात्रोपमाया अवसर एव नास्तीति चेन्न, अङ्काभेदारोपस्याङ्कसादृश्यरूपदोषाऽमूलकतयाऽऽवश्यकस्य तत्सादृश्यस्यैवाङ्कायमान इत्यनेन बोधनात् सादृश्यस्यैव चोपमात्वात् । कस्तूरीद्रवेऽङ्कसादृश्यबोधः शाब्दः, तस्मिन् तदभेदबोधस्तु आर्थ इति रहस्यम् । एवञ्च व्यङ्ग्यभ्रान्तिमदलङ्कारोपस्कारकत्वमुपमायाः स्पष्टमिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र प्राधान्येन इत्यादि । 'अङ्कायमान—' इत्यादि पद्य में सम्पूर्ण वाक्य प्रधानरूप में 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार अभिव्यक्त होता है अर्थात् नायिका के मुख को चकोर के बच्चे चन्द्र समझते हैं, अत एव चन्द्रिकापान की कामना से वे बार-बार अपने चोंचों को चञ्चल करते हैं, फलतः यह सिद्ध हुआ कि यहाँ 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार में चन्द्र का आरोप मुख में किया जाता है और इस आरोप का साधक है ललाटदेश में लगे कस्तूरीद्रव में कलङ्क के अभेद का आरोप और इस द्वितीय आरोप का मूल है कस्तूरीद्रव में रहने वाले अङ्क (कलङ्क) के सादृश्यरूप दोष का ज्ञान । सादृश्य ही उपमा है, जो यहाँ 'अङ्कायमान' पद में 'क्यङ्' प्रत्यय का वाच्य अर्थ है । तात्पर्य यह कि 'अङ्कायमान' पद से अङ्क का अभेद बोधित नहीं होता, अपितु अङ्क का सादृश्य ही, पीछे इस सादृश्य के ज्ञान से कस्तूरीद्रव में अङ्क का अभेद अर्थतः विदित होता है । यहाँ उपमा (सादृश्य), व्यङ्ग्य भ्रान्तिमान् अलङ्कार का उपस्कारक है—पोषक है, क्योंकि उस सादृश्य के ज्ञान से कस्तूरीद्रव में अङ्काभेद का ज्ञान और इस अभेदज्ञान से मुख में चन्द्राभेदरूप भ्रान्तिमान् का ज्ञान होता है ।

तृतीयप्रकारोदाहरणं पूर्वोल्लिखितं स्मारयति—

रसोपस्कारिका तु 'दलदरविन्द—' इत्यत्र प्रागेवोदाहृता ।

उपमासामान्योदाहरणत्वेन प्रागुल्लिखितस्य 'गुरुजन''''इत्यादिपद्यस्य 'दलदरविन्दसुन्दरम्' इत्यंशे वर्तमाना समासगतोपमा सकलवाक्यार्थभूतस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्य शोभिकेति भावः ।

तृतीय प्रकार के उदाहरण का—जो पहले ही लिखा जा चुका है—स्मरण कराते हैं—रसोपस्कारिका इत्यादि । 'गुरुजन'''' इत्यादि पद्य, पहले (सामान्य उपमा का उदाहरण दिखलाने के समय में) लिखा जा चुका है । उस पद्य के 'दलदरविन्दसुन्दरम्' अंश में जो उपमा है, वह रसोपस्कारिका कही जा सकती है, क्योंकि उस उपमा से उस पद्य का प्रधान व्यङ्ग्य विप्रलम्भशृङ्गार (रस) शोभित होता है ।

भेदपरिगणने न्यूनताभ्रमं निराकुरुते—

रसपदेनासंलक्ष्यक्रमस्योपलक्षणाद्भावाद्युपस्कारिकाप्यत्रैवान्तर्भाव्या ।

रस्यते = आस्वाद्यते इति व्युत्पत्तियोगादत्र शास्त्रे प्रायोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यमात्रे रसपदप्रयोगः क्रियते, अत एव 'वाक्यं रसात्मकं काव्यमिति' विश्वनाथः, एवञ्च प्रकृते 'वस्त्वलङ्काररसरूपाणाम्' इति परिगणनपरे वाक्यांशे रसपदेन भावादीनां संग्रहोऽभीष्टः । तेन भावाद्युपस्कारिका अपि उपमाः संगृहीता एवेति न कापि न्यूनतेति भावः ।

यहाँ अलङ्कार्यभेद से जो उपमा के भेद किये गये हैं, उनमें रस की चर्चा है, पर भाव आदि की नहीं, अतः जो न्यूनता का भ्रम उत्पन्न हो सकता था, उसकी निवृत्ति के लिये लिखते हैं—रसपदेन इत्यादि। इस साहित्यशास्त्र में प्रायः सभी अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यों के लिये 'रस' पद प्रयुक्त होता है, क्योंकि 'रस्यते=आस्वाद्यते इति रसः अर्थात् जो आस्वादित हो उसे रस कहा जाता है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भाव आदि सभी अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रस पद के अर्थ हो सकते हैं। इस स्थिति में यहाँ कोई न्यूनता नहीं दीख पड़ती अर्थात् भाव आदि को उपस्कृत करनेवाली उपमाओं का भी समावेश रसोपस्कारिकाओं में ही हो जाता है।

'भावाद्युपस्कारिका' इत्यत्रादिपदग्राह्ययोः रसाभासभावाभासयोरुपस्कारिकाया उपमाया उदाहरणभूतं पूर्वोक्तपद्यद्वयं स्मारयति—

यथा—'नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव', 'वन्यकुरङ्गीव वेपते नितराम्' इत्यादिषु प्रागुदाहृतेषु।

'नैवापयाति···' इति पद्यम् भावाभासोदाहरणप्रदर्शनावसरे, 'वन्यकुरङ्गीव···' इति च रसाभासोदाहरणप्रदर्शनकाले प्रथमानने समुल्लिखितम् तत्रैव द्रष्टव्यम्। तत्र प्रथमपद्यस्याधिदेवतोपमाऽनुचिततया भावाभासरूपां गुरुकन्याविषयिणीं स्मृतिमुपस्करोति, एवं द्वितीयपद्यस्य बालकुरङ्ग्युपमा, रतेर्नवबध्वा मनागप्यस्पर्शादनुभयनिष्ठत्वेनाभासरूपं शृङ्गाररसमुपस्करोतीति भावः।

'भावाद्युपस्कारिका' इस मूलोक्त पङ्क्ति के आदि पद से संग्रहीत होनेवाले रसाभास तथा भावाभास को शोभित करनेवाली उपमाओं के उदाहरणभूत पूर्वोल्लिखित दो पद्यखण्डों का स्मरण दिलाते हैं—यथा इत्यादि। 'नैवापयाति···' इत्यादि पद्य भावाभास के उदाहरण लिखते समय और 'वन्यकुरङ्गीव···' इत्यादि पद्य रसाभास के उदाहरण लिखते समय प्रथम आनन में दिखलाये गये हैं, अतः सम्पूर्ण पद्य वहीं देखे जा सकते हैं। उन दोनों में से प्रथम पद्य की 'अधिदेवतेव' यह उपमा, अनुचित होने के कारण भावाभासरूप गुरुकन्याविषयक प्रधान स्मृतिभाव को सुशोभित करती है। इसी तरह द्वितीय पद्य की 'बालकुरङ्गीव' यह उपमा, नववधू में रति की सर्वथा अवर्तमानता से अनुभयनिष्ठ (केवल नायकनिष्ठ) होने के कारण आभासरूप शृङ्गाररस को सुशोभित करती है।

चतुर्थं प्रकारमुदाहर्तुमाह—

वाच्यवस्तूपस्कारिका यथा—

व्याख्या तु प्राग्वत्।

वाच्य वस्तु को सुशोभित करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

'अमृतद्रवमाधुरीभृतः सुखयन्ति श्रवसी सखे गिरः।
नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुखं तव॥'

कश्चन स्वसखायं ब्रूते—हे सखे मित्र!, अमृतद्रवस्य पीयूषरसस्य, या माधुरी मधुरता, तत्समाना या माधुरी, तां, बिभ्रति धारयन्तीति तादृशाः, तव, गिरः वचनानि, मे, श्रवसी श्रोत्रे, सुखयन्ति आनन्दयन्ति। सम्प्रति, शरदिन्दुप्रतिमं शरच्चन्द्रतुल्यं, तव, मुखम्, मे, नयने नेत्रे, अपि, शिशिरीकरोतु शीतलयतु। सुधोपमत्वदीयवचनश्रवणेन कर्णौ मम तृप्तौ, परन्तु शरच्चन्द्रनिभम् तवाननं न पश्यदत एवातृप्तं मम नेत्रद्वयं त्वन्मुखविलोकनेन तृप्तिमभिलष्यतीति तदपि त्वया पूरणीयमित्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अमृतद्रव इत्यादि। एक मित्र दूसरे मित्र से कहता है—हे सखे! अमृतरस की मधुरता के समान मधुरता को धारण करनेवाले तेरे वचन मेरे कानों को सुखी कर रहे हैं, पर तेरे मुखदर्शन की प्यासी मेरी आँखें तरस ही रही हैं, अतः मैं चाहता हूँ कि शरचन्द्र के तुल्य तेरा मुख मेरी आँखों को शीतल करे।

उपपादयति—

अत्र नयनशिशिरीकरणरूपे वस्तुनि वाच्ये मुखस्य शरदिन्दूपमोपस्कारिका।

अमृतद्रवेति पद्ये यद्यपि रसादिर्व्यङ्ग्यो नास्ति, तथापि वाच्यार्थस्य चमत्कारित्वेन पण्डितराजकृतलक्षणानुसारेण काव्यत्वम्। तत्र चमत्कारजनकं नयनशिशिरीकरणरूपं वाच्यं वस्तु मुखोपमेयिका शरच्चन्द्रोपमानिकोपमा शोभयतीति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में 'आँखों को शीतल करना' जो वाच्य वस्तु है, उसको मुख में दी गई शरच्चन्द्र की उपमा शोभित करती है-पुष्ट करती है।

पञ्चमं भेदमुदाहर्तुमाह—

वाच्यालङ्कारोपस्कारिका यथा—

प्राग्वत् व्याख्येयम्।

वाच्य अलङ्कार को शोभित करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'शिशिरेण यथा सरोरुहं दिवसेनामृतरश्मिमण्डलम्।
न मनागपि तन्वि शोभते तव रोषेण तथेदमाननम्॥'

नायकस्य नायकदूत्या वा नायिकां प्रत्युक्तिः—सरोरुहं कमलम्, यथा, शिशिरेण शिशिरर्तुना तदागमेनेति लक्ष्यार्थः, शैत्येन वा, 'हेतौ तृतीया तथामेऽपि' अमृतरश्मिमण्डलम् चन्द्रमण्डलम्, यथा, दिवसेन दिनेन, मनागपि ईषदपि न, शोभते, तथा, हे तन्वि! इदम्, तव, आननम् मुखम् (अपि) रोषेण क्रोधेन, ईषदपि न शोभते। रोषाकुलं तव मुखम्, शैत्यगलितम् कमलमिव, दिवसम्लानम् चन्द्रमण्डलमिव च, शोभाविहीनं भवतीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शिशिरेण इत्यादि। नायक की अथवा उसकी दूती की नायिका के प्रति उक्ति है कि—जैसे शिशिर ऋतु के आगमन से कमल और दिन से चन्द्रमण्डल थोड़ा भी शोभित नहीं हो पाता, इसी प्रकार, तेरा यह मुख, रोष से थोड़ा भी शोभित नहीं होता—ऐसा सुन्दर मुख क्रोध के कारण फीका-फीका सा दृष्टिगोचर होता है।

उपपादयति—

अत्र वाच्यस्य दीपकस्योपमोपस्कारिका।

'शिशिरेण...' इति पद्येऽप्रस्तुतयोः कमलचन्द्रमण्डलयोः प्रस्तुतस्य मुखस्य च शोभाभावरूपे एकस्मिन् धर्मेऽभिसम्बन्धाद्दीपकालङ्कारो वाच्यः। स एव च प्रधानः प्रकृतपद्यस्य काव्यत्वनियामकः। यथातथापद्योध्यः उपमालङ्कारश्च वाच्योऽपि तस्य दीपकस्य पोषक एवेति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'शिशिरेण...' इत्यादि पद्य में अप्राकरणिक कमल तथा चन्द्रमण्डल का और प्राकरणिक नायिकामुख का शोभित न होने रूप एक धर्म के साथ सम्बन्ध वर्णित होने के कारण दीपकालङ्कार वाच्य है, अधिक चमत्कारी

होने के कारण वही प्रधान है-प्रकृत पद्य को काव्य सिद्ध करनेवाला है और 'यथा-तथा' पद से अवगत होनेवाला उपमालङ्कार वाच्य होकर भी न्यून चमत्कारी होने के कारण गौण है—उस दीपक का ही शोभाधायक है-पोषक है।

ननु वस्त्वलङ्कारयोरिव रसस्यापि वाच्यत्वेन षोढा वक्तुमुचितेयमत आह—

रसादिस्तु न वाच्य इति प्रागेवाभिहितम् ।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेनाभिमता रसरसाभासभावभावाभासादयो व्यङ्ग्या एव भवन्ति न वाच्या इति पूर्वमुक्तम्, अतः पञ्चधैव न षोढा इति भावः ।

रस आदि जो अलक्ष्यक्रम कहे जाते हैं—व्यङ्ग्य ही होते हैं, वाच्य नहीं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है, अतः अलङ्कार्यभेद से उपमा के पाँच ही भेद कहे गये, 'वाच्यरसोपस्कारिका' नामक छठा भेद नहीं।

आशङ्क्य समाधत्ते—

अथ कथमलङ्कारस्यालङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वमुच्यते । प्रधानस्यैवालङ्कार्यत्वादिति चेत् मैवम्, अलङ्कारस्योपमादेर्ध्वन्यमानतायां प्राधान्याद्रसादिवदलङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वे न कोऽपि तावदस्ति विरोधः । एवमेव मुख्यतया वाच्यतायामपि । यथा ह्यापणादौ विक्रीयमाणतायां कनकताटङ्कस्य रत्नाद्यलङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वे तस्यैव च कामिनीकर्णालङ्कारतायां पुनः प्रधानान्तरसांनिध्यात्ताटङ्कस्य तद्गतरत्नानां च साक्षात्परम्परया च कर्णादिशोभोपस्कारकतया यथा तदलङ्कारत्वम्, एवमेव रसादिसांनिध्ये रूपकादेस्तदुपस्कारकस्यालङ्कारान्तरस्य च रसाद्यलङ्कारतेति ।

प्रधानस्यैवेति । अलङ्कारस्त्वप्रधानमेवेति भावः । वाच्यतायामपीत्यत्र न विरोध इत्यनुषङ्गः । दृष्टान्तविधयाऽऽह—यथा इत्यादि । प्रधानान्तरेति । प्रथमप्रधानताटङ्कापेक्षयाऽन्यस्य कामिनीकर्णरूपप्रधानस्येत्यर्थः । तदलङ्कारत्वम् कर्णालङ्कारत्वम् । रसाद्यलङ्कारतेति । रसादिरूपालङ्कार्यनिरूपितालङ्कारतेत्यर्थः । यः प्रधानः स अलङ्कार्यो भवति, यश्च गौणः स अलङ्कार इति वस्तुस्थितिः । तथा चोपमाया वाच्यालङ्कारोपस्कारकत्वमूलको भेदो न सम्भवति, उक्तयुक्तया वाच्यालङ्कारस्योपस्कार्यत्वासम्भवादिति शङ्का, यत्रोपमादिरलङ्कारो व्यङ्ग्यः, अत एव प्रधानस्तत्र सोऽपि रसादिवत् अन्येनालङ्कारेणोपस्क्रियत इत्यत्र न कस्यापि विमतिः । एवञ्च यत्र वाच्योऽपि कश्चिदलङ्कारः रसादिराहित्येन स्वयं काव्यशोभानुगुणो मुख्यो भवेत् (यथा 'शिशिरेण···' इत्यादिपद्ये दीपकालङ्कारः) तत्र, तस्य, भिन्नेन तदपेक्षयाऽल्पचमत्कारित्वात् गुणीभूतेनालङ्कारेण, उपस्करणं सम्भवत्येव, विरोधाभावात् । रसालङ्कारास्तु साक्षात् रसोपस्कारकाः ये अलङ्कारा ये वा रसोपस्कारकालङ्कारोपस्कारका अलङ्काराः ते सर्वेऽपि साक्षात्परम्परया वा रसोपस्कारका एव भवन्तीत्यलम् । रीतिरियं लौकिकालङ्कारदृष्टान्तसिद्धैव, विपणिगतकनकनिर्मितताटङ्काद्यलङ्कारे कर्णाद्यसंनिधानेन स्वयं प्रधानभूते रत्नाद्यलङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वव्यवहारस्य, कर्णगते पुनस्तस्मिन् परप्रधानस्य कर्णस्यैवोपस्कार्यत्वेन तयोर्द्वयोरप्यलङ्कारयोरुपस्कारकत्वमात्रव्यवहारस्य च दर्शनादिति भावः ।

क्या अलङ्कार भी अलङ्कार को शोभित करता है ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—अथ इत्यादि । यदि कोई कहे कि यह पाँचवा भेद तो ठीक नहीं हुआ अर्थात् एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार से उपस्कृत-शोभित-नहीं हो सकता, क्योंकि उपस्कार्य-अलङ्कार्य-कोई प्रधान होता है और अलङ्कार तो स्वयं गौण होता है अतएव अलङ्कार कहलाता

है-दूसरे को शोभित करने वाला समझा जाता है, फिर वह अलङ्कार्य कैसे होगा ? तो इसका समाधान यह है कि जहाँ अलङ्कार-उपमा आदि-प्रधानरूप में ध्वनित होता रहता है, वहाँ वह उसी तरह दूसरे वाच्य अलङ्कारों से शोभित होने वाला माना जाता है, जिस तरह कोई रस आदि, यह सिद्धान्त सर्वमतसिद्ध है। फिर जहाँ-'शिशिरेण···' इत्यादि तरह के काव्यों में—अलङ्कार वाच्य होकर भी रस आदि प्रधानान्तर के न रहने के कारण स्वयं प्रधान है—चमत्कारी है अतएव काव्य का प्राणभूत है, वहाँ वह भी रस आदि के समान अथवा ध्वनिभूत अलङ्कार के समान, अन्य अल्पचमत्कारी अतएव गौण अलङ्कार से शोभित होने का सौभाग्य क्यों नहीं प्राप्त कर सकता ? अवश्य कर सकता है। तात्पर्य यह कि प्रधानता ही तो अलङ्कार्यता का मूल है, फिर जहाँ रस आदि न हों और कोई वाच्य अलङ्कार ही अपने उज्ज्वल चमत्कार से पदावली को काव्य कहलाने का सौभाग्य प्रदान करे, वहाँ तो उस अलङ्कार को ही मुख्यता की पगड़ी मिलेगी, अतः वैसी स्थिति में पोषकरूप में वर्णित यदि कोई दूसरा अलङ्कार रहेगा, तब उससे वह (प्रधान अलङ्कार) अलंकृत हो सकता है। हाँ, जहाँ रस आदि सर्वप्रधान की सत्ता रहेगी, वहाँ सभी अलङ्कार उसी को अलंकृत करेंगे—आपस में उन अलङ्कारों का अलङ्कार्यालङ्कारकभाव नहीं होगा। यह रीति लौकिक अलङ्कारों में भी देखी जाती है—जब सोने का बना ताटङ्क (कर्णाभरण) दूकान में बिकता रहता है, तब वही प्रधान रहता है, अतः उस काल में रत्न आदि दूसरे अलङ्कारों से वह शोभित होता है अर्थात् ताटङ्क अलङ्कार्य और रत्न आदि अलंकृत करने वाला समझा जाता है, पर जब वही ताटङ्क कामिनी के कानों में झूलता हुआ रहता है, तब वह प्रधान नहीं रह जाता-उस स्थिति में कामिनी के कान ही प्रधान हो जाते हैं, अतः ताटङ्क अलङ्कार्य नहीं कहलाता, ताटङ्क तथा रत्न आदि सभी कान के अलङ्कार कहे जाते हैं।

भेदाः सङ्कल्यन्ते—

एवं च प्राचां मते पञ्चविंशतिभेदायाः पुनः पञ्चविधतायां सपादशतं भेदाः। द्वात्रिंशद्भेदवादिनां तु षष्ट्युत्तरं शतम्।

एवं चेति। अलङ्कार्यभेदेनालङ्कारभेदस्वीकारे चेत्यर्थः। पूर्णायाः षड् लुप्तायाश्चैकोनविंशतिरिति ये पञ्चविंशतिर्भेदा उपमायाः प्राचीनतमैरुक्तास्तेषां प्रत्येकस्य पुनरलङ्कार्यभेदेनानुपदं पञ्चविधत्वप्रतिपादने जाते साकल्येन पञ्चविंशत्यधिकशतं भेदा उपमाया निष्पद्यन्ते। मध्यकालिकैश्च कैश्चिदाचार्यैर्लुप्ताया एकोनविंशत्यधिकाः सप्त अन्येऽपि भेदाः कथिताः। तन्मतानुसारं द्वात्रिंशद्भेदानां पुनः पञ्चविधत्वे षष्ट्यधिकशतभेदा उपमाया जायन्त इति भावः।

भेदों का सङ्कलन किया जाता है—एवं च इत्यादि। इस प्रकार से जिन प्राचीनों के मत में पहले उपमा के पचीस भेद हुए थे, उनके मत में अब एक सौ पचीस भेद हो गये, क्योंकि पूर्वोक्त पचीस भेदों में से प्रत्येक के और पाँच-पाँच भेद अब दिखाये गये हैं और जिन प्राचीनों के मत में पहले बत्तीस भेद हुए थे, उनके मत में अब प्रत्येक के पाँच-पाँच हो जाने के कारण एक सौ साठ भेद हुए।

उपमाभेदान्तराणामपि संभावनां सूचयति—

इतश्चान्येऽपि प्रभेदाः कुशाग्रीयधिषणैः स्वयमुद्भावनीयाः।

इतः इति। उक्तेभ्यो भेदेभ्य इत्यर्थः। प्रभेदा इति। उपमाया इति भावः। कुशाग्रीयधिषणैरिति। कुशाग्रीया कुशाग्रसंबन्धिनी कुशाग्रतुल्येति यावत् धिषणा बुद्धिर्येषां तैः तीक्ष्णबुद्धिभिरिति भावः। स्वयमिति। प्राचीनोक्तिसाहाय्यविरहेऽपि इति तात्पर्यम्, उद्भावनीया ऊह्याः।

उपमा के जितने प्रभेद ऊपर दिखलाये जा चुके हैं, उन सबों से भिन्न और-और भेद भी हो सकते हैं, जिनका ऊह तीक्ष्णबुद्धियों को स्वयं कर लेना चाहिए।

स्वयमुद्भावनीयत्वेनोक्तान् उपमायाः प्रभेदान् निर्दिदिक्षुः प्रथमम् समानधर्मवैलक्षण्य-मूलान् तान् निर्दिशति—

तत्र क्वचिदनुगाम्येव धर्मः। क्वचिच्च केवलं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावमापन्नः। क्वचिदुभयम्। क्वचिद्वस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बितं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावम्। क्वचिदसन्नप्युपचरितः। क्वचिच्च केवलशब्दात्मकः।

तत्रेति। उद्भावनीयेषु भेदेष्वित्यर्थः। क्वचिदिति। कस्यांचनोपमायामित्यर्थः। एव-मग्रेऽपि। अनुगामीति। सकृन्निर्दिष्टोऽपि एकेन रूपेणोपमानोपमेययोरुभयोरनुगमनकर्ता इत्यर्थः। अत्रैवकारेण धर्मस्य बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नत्वं व्यवच्छिद्यते। धर्मः उपमानो-पमेयोभयसाधारणो गुणक्रियादिः। केवलमिति। अनुगामित्वरहितमित्यर्थः। बिम्बप्रति-बिम्बभावमिति। पृथग्निर्दिष्टत्वे सति वस्तुतो भिन्नत्वे च सति सादृश्यमूलकमभेद-मित्यर्थः। आपन्न इति। प्राप्त इत्यर्थः। अत्र 'धर्मः' इत्यनुषज्यते। उभयमिति अनुगा-मित्वं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावं चेत्यर्थः। अत्र 'आपन्नः धर्मः' इत्यस्यानुषङ्गो बोध्यः। अयं च नातिरिक्तो भेदः, अत एवाग्रिमा 'तृतीयोऽपि त्रिविधः' इति 'षष्ठो धर्मः' इति चोक्तिः सङ्गच्छते। तस्यातिरिक्तभेदत्वे तु 'चतुर्थः' 'सप्तमः' इति चोक्तिः स्यात्। वस्तुप्रतिवस्तु-भावेनेति। एकत्वेऽपि आश्रयभेदप्रयुक्तभेदेनेत्यर्थः। करम्बितम् मिश्रितम्। बिम्बप्रति-बिम्बभावमित्यस्याग्रे 'आपन्नो धर्म' इति पूर्वोक्तस्यानुषङ्गो वेद्यः। असन्नपीति। मिथ्या-भूतोऽपीत्यर्थः उपचरितः आरोपितः। अत्रापि 'धर्मः' इत्यस्यानुषङ्गः। केवलशब्दात्मक इति। गुणक्रियादिरूपो न किन्तु समानशब्दरूपः धर्म इत्यर्थः। एतेन पुनः पञ्चधोपमा [illegible]

उद्भावनीय भेदों में से तब तक समानधर्म की विलक्षणता से होनेवाले भेदों का उल्लेख स्वयं ग्रन्थकार करते हैं—तत्र इत्यादि। १—किसी किसी उपमा में समानधर्म केवल अनुगामी अर्थात् एक बार निर्दिष्ट होकर एक ही रूप से उपमान तथा उपमेय दोनों में सङ्घटित होनेवाला रहता है। २—किसी-किसी उपमा में समान धर्म केवल बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होता है अर्थात् उपमान तथा उपमेय के धर्म वस्तुतः दो रहते हैं, अतः पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट भी रहते हैं, पर सादृश्यमूलक, उन दोनों धर्मों में अभेद माना गया रहता है अथवा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न और अनुगामी दोनों एक साथ होते हैं। ३—किसी-किसी उपमा में बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म वस्तुप्रतिवस्तु-भाव से मिश्रित रहता है अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म के विशेषणरूप में एक ऐसा धर्म कहा रहता है जो वस्तुतः एक ही होता है पर उसका निर्देश भिन्न शब्दों के द्वारा दो आश्रय में दो बार किया गया होता है। ४—किसी उपमा में समानधर्म मिथ्या होकर भी आरोपित रहता है। ५—और किसी उपमा में समानधर्म केवल शब्दरूप होता है गुणक्रियादिरूप नहीं।

तत्रानुगामिधर्मयुक्तामुपमामुदाहर्तुमाह—

तत्राद्या यथा—

स्पष्टम्।

उपमा के उन धर्ममूलक भेदों में पहला—अर्थात् अनुगामि धर्मवाला भेद जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'शरदिन्दुरिवाह्लादजनको रघुनन्दनः।
वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचाप इवाम्बुदः॥'

शरदिन्दुः शरत्कालीनश्चन्द्रः (अत्र शरद्विशेषणेन धूलिधूसरतादिदोषमुक्ताकाश-सूचनद्वारा चन्द्रमसश्चन्द्रिकातिशयशालित्वमावेद्यते तेन चाह्लादजननेऽप्याधिक्यं प्रतीयते, तदुपमानत्ववर्णनेनोपमेये रघुनन्दनेऽपि तत्सूच्यते) इव, आह्लादस्य आनन्दविशेषस्य, जनकः सम्पादकः, रघुनन्दनः राघवो रामः, वनस्रजा वनमालया आपादतलम्बिमालयेति यावत्। इन्द्रचापेन विद्युता, सहितः, अम्बुदो मेघ इव, विभाति स्म विशेषेणाशोभत इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शरदिन्दु इत्यादि। कवि का कथन है कि–शरत्काल के चन्द्रमा के समान आनन्ददायक भगवान् रामचन्द्र वनमाला से इन्द्रधनुष (विद्युत) से युक्त मेघ के समान शोभित हो रहे थे।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे सकृन्निर्देशाद्धर्मोऽनुगामी।

'शरदिन्दुः····' इति पद्यस्य पूर्वार्धभागे आह्लादजनकत्वरूपो धर्मः 'आह्लादजनक' इति पदेनैकवारमेव निर्दिष्टः एकेनैव रूपेण उपमानोपमेययोश्चन्द्ररामचन्द्रयोरन्वेतीति तस्यानुगामित्वम् बोध्यम्।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'शरदिन्दु····' इत्यादि श्लोक के पूर्वार्ध भाग में 'आनन्दजनकः' इस शब्द के द्वारा 'आनन्ददायकता' धर्म एक ही बार उक्त होकर एक रूप से ही उपमान और उपमेय–चन्द्र तथा रामचन्द्र–दोनों में अन्वित हो जाता है, अतः यह धर्म अनुगामी कहा जाता है।

द्वितीयभेदस्योदाहरणभूतं पूर्वोक्तपद्यं स्मारयति—

केवलबिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नः 'कोमलातपशोणाभ्र–' इत्यत्र बोध्यः।

'कोमलातप–' इत्यादि पद्यं पूर्वमुपमाप्रकरणप्रारम्भे समुल्लिखितम्। तत्र कोमलातपकुङ्कुमालेपनयोः क्रमशः सन्ध्याकालरूपोपमानयतिरूपोपमेयमात्रनिष्ठयोः सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसाय इति तस्य धर्मस्य बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नत्वम् इति भावः। अधिकं तत्रैव विवेचितं जिज्ञासुभिरवलोकनीयम्।

केवल बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्म वाली उपमा का उदाहरण होता है 'कोमलातप–' इत्यादि पूर्वोल्लिखित पद्य। यहाँ 'कोमलातपत्व' केवल उपमान सन्ध्याकाल में रहने वाला है और 'कुङ्कुमालेपन' केवल उपमेय यति में रहने वाला, अतः उन दोनों में से एक भी उपमानोपमेय का साधारण धर्म होने योग्य यद्यपि नहीं है, तथापि समान होने के कारण उन दोनों धर्मों में अभेद का आरोप कर लिया जाता है, जिससे उन दोनों धर्मों को एक समझ कर उपमा की सिद्धि होती है। यह भिन्न धर्मों का आरोपित अभेद ही बिम्बप्रतिबिम्बभाव है, यह बात पहले लिखी जा चुकी है।

उभयविधधर्मयुक्तामुपमां प्रकटयति—

द्वितीयार्धे तूभयम्।

'शरदिन्दु—' इति पद्यस्योत्तरार्धभागेऽम्बुदोपमानिका रघुनन्दनोपमेयिका या उपमा वर्तते, तत्र द्वौ धर्मौ साधारणौ–एकः 'विभाति स्म' इति पदबोध्यो भानक्रियारूपः, स चानुगामी, सकृन्निर्दिष्टत्वात् एकरूपेणोपमानोपमेययोरन्वितत्वाच्च, द्वितीयः वनस्रगिन्द्रचापरूपः, स च बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नः, वस्तुतो भिन्नत्वात् सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसायाच्चेति भावः। अत्र 'द्वितीयार्धे' इत्यस्य 'कषायवसनो याति इत्यादौ' इति टीकां कुर्वाणो नागेशो नोचितभाषी, तत्र द्वितीयोपमाया एवाभावात्। या चैकोपमा तत्रास्ति, तस्यां

धर्मस्य केवलबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नत्वस्य व्यवस्थापनात् अनुगामिधर्मस्य विरहात् इत्याकलनीयम् ।

जिस उपमा में साधारण धर्म अनुगामी तथा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न दोनों तरह के होते हैं, उसका उदाहरण 'शरदिन्दु–' इत्यादि पद्य का ही उत्तरार्ध–'वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचाप इवाम्बुदः' होता है, क्योंकि यहाँ 'विभाति स्म' पदबोध्य शोभनक्रियारूप धर्म उक्त युक्ति से अनुगामी है और वनमाला तथा इन्द्रचापरूप धर्म उक्त रीति से है बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न ।

तृतीयो भेदः पुनस्त्रिधा विभज्यते—

तृतीयोऽपि त्रिविधः–विशेषणमात्रयोर्विशेष्यमात्रयोस्तद्युगलयोर्वा वस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बितः ।

वस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बितबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्ममूलको यो भेद उक्तस्तस्य पुनस्त्रयो भेदाः सम्भवन्ति वस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बणस्य त्रिधा सम्भवात् । तथाहि–विशेषणमात्रगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणम् , विशेष्यमात्रगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणम् , विशेषणविशेष्योभयगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणञ्च । वस्तुप्रतिवस्तुभावपरिचयः प्रागेव दत्त, अग्रेऽप्युदाहरणेषु दर्शयितेति भावः ।

तृतीय भेद के पुनः तीन अवान्तर भेद करते हैं—तृतीयोऽपि इत्यादि । वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न समान धर्म के भी तीन प्रकार हो सकते हैं—एक केवल विशेषणों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित, द्वितीय केवल विशेष्यों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित और तृतीय विशेषण-विशेष्य दोनों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित ।

तेषु विशेषणमात्रगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणमुदाहर्तुमाह—

तत्राद्यो यथा—

स्पष्टम् ।

केवल विशेषणों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'चलद्भृङ्गमिवाम्भोजमधीरनयनं मुखम् ।
तदीयं यदि दृश्येत कामः क्रुद्धोऽस्तु किं ततः ॥'

चलन्तः सञ्चरन्तो, भृङ्गा भ्रमरा, यत्र, तादृशम् , अम्भोजम् कमलम् , इव, अधीरे चपले, नयने नेत्रे, यस्मिन् , तादृशं, तदीयं वर्णनीयनायिकासम्बन्धि, मुखम् , यदि, दृश्येत अवलोक्येत, (सम्भावनेयम्), तदा, कामः कामदेवः, क्रुद्धः कुपितः, अस्तु भवतु, ततः तस्मात्तत्कोपात् , किम् ? न किमपीति यावत् । भ्रमद्भ्रमराम्भोजतुल्यप्रेयसीमुखविलोकनौपधे वर्तमाने कामकोपरोगो न दुस्साध्य इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—चलद्भृङ्ग इत्यादि । जिसके मध्यभाग में भ्रमर सञ्चरण कर रहे हों, उस कमल के तुल्य चपल नेत्रों वाला उसका मुख यदि दृष्टिगोचर होवे, तब कामदेव, क्रुद्ध होता रहे, उससे क्या ?

उपपादयति—

अत्र चलनाधीरत्वयोर्विशेषणयोर्वस्तुत एकरूपयोरपि शब्दद्वयेनोपादानाद्वस्तुप्रतिवस्तुभावः । तद्विशेषणकयोश्च भृङ्गनयनयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः । इति तत्करम्बितोऽयमुच्यते ।

'चलद्भृङ्ग–' इति पद्येऽम्भोजमुपमानम् मुखञ्चोपमेयम्, तयोः साधारणधर्मः पूर्वोक्त-दिशा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नः चलद्भृङ्गाधीरनयनत्वरूपः, तत्र विशेषणीभूतयोश्चलना-धीरत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावः, वस्तुत एकरूपत्वेऽपि शब्दद्वयेनोल्लेखादिति विशेषणमात्र-गतवस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बितबिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नधर्ममूलकत्वमस्या उपमाया उपपद्यत इति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। यहाँ 'चलन' और 'अधीरत्व' ये दोनों विशेषण वस्तुतः एकरूप हैं–अर्थात् इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है, तथापि उस एक ही अर्थ का प्रतिपादन दो भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा किया गया है, अतः उनका वस्तुप्रति-वस्तुभाव है और वे जिनके विशेषण हैं उन विशेष्यों 'भ्रमर' तथा 'नेत्र' का बिम्बप्रति-बिम्बभाव है, क्योंकि वस्तुतः भिन्न होने पर भी समान होने के कारण उन्हें अभिन्न माना गया है, अतः यह बिम्बप्रतिबिम्बभाव वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित कहलाता है।

केवलविशेष्यगतवस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बणमुदाहर्तुमाह—

तत्र द्वितीयो यथा—

स्पष्टम्।

केवल विशेष्यों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> **'आलिङ्गितो जलधिकन्यकया सलीलं,**
> **लग्नः प्रियङ्गुलतयेव तरुस्तमालः।**
> **देहावसानसमये हृदये मदीये,**
> **देवश्चकास्तु भगवानरविन्दनाभः॥'**

भक्तः कामयते–प्रियङ्गुलतया तन्नामकसुवर्णवर्णलताविशेषेण लग्नः संसक्तः तमालस्तरुः तमालाभिधश्यामच्छविविटपिविशेषः, इव, जलधिकन्यकया लक्ष्म्या, सलीलम् सविलासम्, आलिङ्गितः आश्लिष्टः, भगवान् अणिमाद्यैश्वर्यशाली, अरविन्दनाभो देवः विष्णुदेवः, देहा-वसानसमये मृत्युकाले, मदीये हृदये चकास्तु भासतामित्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—आलिङ्गित इति। किसी भक्त की अभिलाषा है—प्रियङ्गुलता से सटे हुए तमालवृक्ष के समान, लक्ष्मी से लीलापूर्वक आलिङ्गित भगवान् पद्मनाभ देव (विष्णु) मरणसमय में मेरे हृदय में भासित होवें।

उपपादयति—

अत्रालिङ्गितत्वलग्नत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावः। तद्विशेष्यकयोश्च जलधिकन्या-प्रियङ्गुलतयोर्बिम्ब-प्रतिबिम्बभावः। इत्ययमपि तत्करम्बित एव।

'आलिङ्गित—' इति श्लोके प्रियङ्गुलतालग्नतमालतरुः जलधिकन्यालिङ्गितविष्णुरूप-स्योपमेयस्योपमानम्, तत्रालिङ्गितलग्नपदार्थयोर्विशेषणविधया वर्णितौ जलधिकन्याप्रियङ्गुल-तापदार्थौ सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसायशालितया बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नौ साधारणधर्मतया व्यवस्थितौ विशेष्यभूतालिङ्गितत्वलग्नत्वे च वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ने एकस्यैव वस्तुनः शब्द-भेदेनाश्रयभेदेन च प्रतिपादनादिति सिद्धं बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य वस्तुप्रतिवस्तुभावेन करम्बणम् इति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्रालिङ्गितत्व इत्यादि। 'आलिङ्गितः—' इस पद्य में 'आलिङ्गित होना' और 'सटना' ये जो विशेष्यभूत पदार्थ हैं, वे वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न हैं, क्योंकि वास्तविकरूप में वे दोनों एक ही चीज हैं, केवल भिन्न-भिन्न आश्रय में रहने के कारण

और भिन्न-भिन्न शब्दों से उक्त होने के कारण भिन्न से प्रतीत होते हैं। और उन विशेष्यों के विशेषणरूप में वर्णित जलधिकन्या (लक्ष्मी) तथा प्रियङ्गुलता में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है, क्योंकि ये दो वस्तुतः दो हैं किन्तु समानता के कारण आरोपित अभेद को लेकर एक समझे जाते हैं। अतः यहाँ का बिम्बप्रतिबिम्बभाव भी वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित है।

तृतीयभेदस्य तृतीयमुपभेदमुदाहर्तुमाह—

तत्र तृतीयो यथा—

स्पष्टम्।

विशेषण-विशेष्य दोनों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'दशाननेन दृप्तेन नीयमाना बभौ सती।
द्विरदेन मदान्धेन कृष्यमाणेव पद्मिनी॥'

कविर्वक्ति—दृप्तेन गर्विणा, दशाननेन रावणेन, नीयमाना अपह्रियमाणा, सती पतिव्रता सीता, मदान्धेन मदमत्तेन, द्विरदेन गजेन, कृष्यमाणा नीयमाना, पद्मिनी कमलिनी इव बभौ शुशुभे इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—दशाननेन इत्यादि। कवि की उक्ति है—दृप्त—गर्वीले दशानन—रावण से अपहृत की जाती हुई सती सीता, मदमत्त हाथी से खींची जाती हुई कमलिनी सी, शोभित हुई।

उपपादयति—

अत्र विशेषणयोर्दृप्तत्वमदान्धत्वयोर्विशेष्ययोश्च नीयमानत्वकृष्यमाणत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावेनोभयतः सम्पुटितो दशाननद्विरदयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः। [illegible]।

'दशाननेने'ति पद्ये मदान्धद्विरदकर्तृककर्षणकर्मभूता कमलिनी उपमानम्, दृप्तदशाननकर्तृकनयनकर्मभूता सीता चोपमेया। तत्र सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसायविशिष्टौ द्विरददशाननौ बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नौ साधारणधर्मतां गाहतः, तयोर्विशेषणभूते दृप्तत्वमदान्धत्वे, विशेष्यभूते नीयमानत्वकृष्यमाणत्वे च वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नानि, एकान्येऽपि पृथङ्निर्दिष्टत्वादिति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'दशाननेन—' इस पद्य में 'दृप्तता' और 'मदमत्तता' ये दोनों विशेषण, वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न हैं, क्योंकि ये दोनों पदार्थ वस्तुतः दो नहीं हैं एक हैं, पर भिन्न-भिन्न आश्रय में रहने के कारण और भिन्न-भिन्न शब्दों से अभिहित होने के कारण भिन्न जैसे प्रतीत होते हैं। इसी तरह 'नीयमाना अर्थात् अपहृत की जाती हुई' और 'कृष्यमाणा अर्थात् खींची जाती हुई' ये दोनों विशेष्य भी वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न हैं, क्योंकि ये दोनों भी आश्रय तथा शब्दभेद के कारण ही भिन्न हैं अन्यथा एक ही हैं! और इन दोनों वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न पदार्थ के मध्य में हैं बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न 'दशानन तथा द्विरद'। ये बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न इसलिए हैं कि वस्तुतः दो पदार्थ हैं, पर सादृश्यमूलक अभेद का आरोप हो जाने से एक समझे जाते हैं, अतः यह बिम्बप्रतिबिम्बभाव, दोनों तरफ से वस्तुप्रतिवस्तुभाव द्वारा सम्पुटित कहा जाता है।

साधारणधर्मवैचित्र्यमूलका उपमायाः पञ्च भेदाः परिगणिताः, इदानीं तस्यास्तन्मूलक एवारुचिग्रस्तः षष्ठो भेद उच्यते—

'विमलं वदनं तस्या निष्कलङ्कमृगाङ्कति' इत्यत्र वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयोर्वस्तुप्र

एकरूपयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावनिर्मुक्तं वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नयोरुपमानिष्पादकत्वं यद्यस्ति तदा शुद्धं वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नोऽप्येष षष्ठो धर्मः ।

निर्मलं तन्नायिकाननम् निर्मलचन्द्रवदाचरतीत्यर्थके 'विमलम्—' इत्यादिमूलोक्तकाव्यवाक्ये उपमालङ्कारोऽस्ति, तत्र च वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयोः साधारणधर्मता स्वीकार्या, तयोश्च धर्मयोर्न बिम्बप्रतिबिम्बभावः, वस्तुतो भिन्नत्वाभावात्, अपि तु वस्तुप्रतिवस्तुभाव एव, वस्तुत एकत्वेऽपि शब्दाश्रययोर्भेदेन भेदात् पुनः सादृश्यमूलकाभेदाच्च । तथा च बिम्बप्रतिबिम्बभावशून्यशुद्धवस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नोऽपि साधारणधर्मो भवतीति सिद्धम् । तादृशश्च धर्म उक्तपञ्चविधभेदेभ्यो भिन्न इति षष्ठो भेदस्तन्मूलकश्चोपमाया अप्येकोऽधिको भेदो भवेदिति भावः । परमीदृशधर्मस्योपमाप्रयोजकत्वं युक्तं न वेति मतभेदस्ततो मूले 'यद्यस्ति' इति यदिपदं प्रयुक्तं ग्रन्थकृता तेनेदृशधर्मस्योपमाप्रयोजकत्वेऽरुचिः सूच्यते, तद्बीजञ्चाह नागेशः स्वटीकायाम्— "एकोऽप्यर्थो भिन्नशब्देनोपात्तो भिन्न इव प्रतीयते । अत एव 'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च' इत्यादौ 'रक्त एवास्तमेति च' इति पाठे दुष्टतेति प्राञ्चः । प्रकृते संबन्धिभेदादपि भेदप्रत्ययस्तयोः । भिन्नरूपेण प्रतीयमानस्य च न साधारणता । साधरणीकरणस्य च न कश्चिदुपायः विना बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नैकधर्मसम्बन्धित्वम् । तथा च शब्दाद्भेदेन प्रत्यये, सम्बन्धिभेदाच्च भेदप्रत्यये, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नैकधर्मसम्बन्धित्वेन तयोरभेदाध्यवसाये साधारणत्वमस्येति कथं शुद्धस्योपमानिष्पादकत्वम् । अत एव प्राञ्चः बिम्बप्रतिबिम्बभावकरम्बित एवायमित्याहुरिति" इति ।

साधारण धर्म की विविधरूपता के कारण अभी-अभी उपमा के पाँच भेद गिनाये गए हैं, अब पुनः साधारण धर्म की ही एक खास विलक्षणता के कारण छठा भेद भी उपमा का दिखलाते हैं—विमलम् इत्यादि । 'विमलम्—इत्यादि अर्थात् उस नायिका का निर्मल मुख कलङ्करहित चन्द्रमा के समान आचरण करता है ।' यहाँ 'निर्मलता और निष्कलङ्कता' में वस्तुतः कोई भेद नहीं है-एक हैं, पर शब्दभेद तथा आश्रयभेद के कारण भिन्न सा मानकर पीछे उन दोनों में सादृश्यमूलक अभेद मानते हैं, अतः यह वस्तुप्रतिवस्तुभाव हुआ, बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं, क्योंकि वह वस्तुतः भिन्न पदार्थों में सादृश्यमूलक अभेद मानने पर होता है । ऐसी स्थिति में यदि इस तरह के बिम्बप्रतिबिम्बभाव से रहित शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्म को भी उपमा का साधक माना जाय, तब यह साधारण धर्म का छठा प्रकार होगा । परन्तु यहाँ 'यदि माना जाय' ऐसा कहकर ग्रन्थकार इस तरह के धर्म को उपमासाधक मानने में अपनी अरुचि सूचित करते हैं । उसका कारण, नागेशभट्ट ने अपनी टीका में स्पष्ट किया है, जिसका आशय यह है कि—भिन्न-भिन्न शब्दों से कहा गया एक अर्थ भी भिन्न सा प्रतीत होता है । अतएव 'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च—अर्थात् सूर्य ताम्रवर्ण (लाल) उदित होता है और ताम्रवर्ण ही अस्त होता है' यहाँ द्वितीय वाक्य यदि 'रक्त एवास्तमेति च' ऐसा कर दिया जाय, तब दोष हो जाने की बात प्राचीनों ने लिखी है । और प्रस्तुत स्थल में तो निर्मलत्व तथा निष्कलङ्कत्व धर्म के सम्बन्धी मुख तथा चन्द्र भी भिन्न हैं, इस कारण भी उन दोनों में भेद माना जाना चाहिये । अतः इस तरह से भिन्न रूप में प्रतीत होने वाले धर्म को तब तक साधारण नहीं माना जा सकता, जब तक किसी बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न एक धर्म से उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जायगा । अतः यह सिद्ध हुआ कि—वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्म, शब्दभेद और सम्बन्धी—आश्रय—भेद के कारण भिन्न ही प्रतीत होते हैं । ऐसी दशा में केवल वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्म को उपमा का साधक कैसे माना जा सकता है ? अतएव प्राचीनों का कथन है कि वस्तुप्रतिवस्तुभाव, बिम्बप्रतिबिम्बभाव से मिश्रित ही रहता है ।

'विमलं वदनम्—' इत्यादौ वस्तुप्रतिवस्तुभावाङ्गीकारस्यावश्यकतैव नास्तीत्याशङ्क्य समाधत्ते—

न च 'कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः' इत्यादौ यतिसन्ध्याकालयोरुपमायां धर्मान्तरस्यानवगमात् कुङ्कुमालेपकषायवसनयोः कोमलातपशोणाभ्रयोश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावो यथावश्यमभ्युपेयः, प्रकृते तु न तथा वस्तुप्रतिवस्तुभावः। वदनमृगाङ्कयोः सौन्दर्यरूपसाधारणधर्मस्य प्रतीयमानत्वेन धर्मान्तरानपेक्षणादिति वाच्यम्। एवं तर्हि 'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या' इति भवभूतिपद्येऽपि प्रतीयमानेन सौन्दर्येणैव सामान्येन निर्वाहे कन्धरावृन्तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य वलितत्वावृत्तत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावस्य च सकलैरालङ्कारिकैः स्वीकारो विरुद्धः स्यात्। अतो यथास्थितमेव साधु।

उपमासिद्धौ समपेक्षितस्यान्यथाऽसम्पद्यमानस्य साधारणधर्मस्य सिद्ध्यर्थम् द्वयोर्धर्मयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावो वस्तुप्रतिवस्तुभावो वा कल्प्यत इति वस्तुस्थितिः। एवञ्च 'कोमलातप''''' इत्यादि प्रागुदाहृते पद्ये निबध्यमानायां यत्युपमेयिकायां सन्ध्याकालोपमानिकायामुपमायाम् कोऽप्यपरः साधारणधर्मो न स्फुरतीत्यगत्योपमेयवृत्तिकुङ्कुमालेपादेरुपमानवृत्तिकोमलातपादेश्च बिम्ब-प्रतिबिम्बभावमाश्रित्य साधारणत्वं कल्प्यते। 'विमलं वदनम्—' इत्यादि प्रकृतकाव्ये तु वदनचन्द्रयोरुपमायाः साधकः सौन्दर्यरूपः साधारणधर्मः अनुक्तोऽपि प्रसिद्धतया प्रतीतिपथमवतरतीति धर्मान्तरस्यापेक्षैव नास्ति। सौन्दर्यस्य साधारणधर्मत्वेनाङ्गीकारे लुप्तोपमात्वं स्यात् परन्तु तावता काऽपि हानिर्नास्तीति वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावकल्पना नावश्यकी, तथा च तन्मूलको भेदोऽसङ्गत इति शंकाया इदं समाधानं यत् 'भुग्नवृन्तविशिष्टशतदलकमलतुल्यं वारं वारं भुग्नशिरोग्रीवं मुखं धारयन्त्या वारं वारं परावृत्य पश्यन्त्येति यावत्, गच्छन्त्या पद्मलनयनया मालत्या, मम हृदये, पीयूषगरलाभ्यां व्याप्तः कटाक्षः गाढं निखात इव' इत्यर्थके मालतीप्रथमदर्शनानन्तरं माधवेन स्वसुहृदं मकरन्दं प्रति कथिते 'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या। दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या, गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः' इति भवभूतिपद्ये स्वतः प्रतीतिपथमुपेयुषा सौन्दर्यरूपसाधारणधर्मेणोपमायाः सिद्धिसम्भवेऽपि कन्धरावृन्तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः वलितत्वावृत्तत्वयोः वस्तुप्रतिवस्तुभावश्च कल्प्यते, तथा प्रकृतेऽपि सौन्दर्यस्य साधारणधर्मतासम्भवेऽपि वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावः कल्पनीय एव। इदमत्र रहस्यम्—यदि सौन्दर्यादेः साधारणत्वं कविविवक्षितमभविष्यत्, तदा वैमल्यादेरुपादानं निष्प्रयोजनमापत्स्यत, अतो वस्तुप्रतिवस्तुभावो बिम्बप्रतिबिम्बभावो वा यथासम्भवमेतादृशस्थले कवेरभिमतो बुध्यते, अत एव चमत्कारोऽप्यतिशयितो भवति, अन्यथा तु स मन्थर एव स्यादिति भावः।

'विमलम्—' इत्यादि पद्य में वस्तुप्रतिवस्तुभाव की आवश्यकता ही नहीं है इस आशंका का उपपादन तथा समाधान करते हैं—न च इत्यादि। आप कहेंगे—उपमा की सिद्धि के लिये किसी साधारण धर्म का प्रतीयमान होना आवश्यक है, अतः जहाँ किसी साधारण धर्म की स्वभावतः प्रतीति नहीं होती, वहाँ उपमान और उपमेय में रहने वाले भिन्न-भिन्न धर्मों का बिम्बप्रतिबिम्बभाव अथवा वस्तुप्रतिवस्तुभाव कल्पित होता है, जिससे वह साधारण बन जाता है यही तो वस्तुस्थिति है, अतः 'कोमलातप—' इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्य में यति और संध्याकाल की उपमा को सिद्ध करने के लिये

कुङ्कुमलेप आदि और कोमल आतप आदि के बिम्बप्रतिबिम्बभाव की कल्पना भले ही आवश्यक समझी जाय, क्योंकि वहाँ किसी साधारण धर्म की स्वभावतः प्रतीति नहीं होती, परन्तु 'विमलं वदनम्—' इत्यादि स्थल में विमलता तथा निष्कलङ्कता के वस्तुप्रतिवस्तुभाव की कल्पना आवश्यक नहीं समझी जानी चाहिए, क्योंकि यहाँ उपमान चन्द्र और उपमेय मुख दोनों में रहने वाले परमप्रसिद्ध सौन्दर्यरूप स्वाभाविक साधारण धर्म की प्रतीति कहे बिना भी हो रही है, उसीको लेकर उपमा सिद्ध हो जायगी। किन्तु यह कथन आपका समुचित नहीं, कारण, यदि ऐसी बात हो, तब 'यान्त्या मुहुः—इत्यादि (सम्पूर्ण पद्य संस्कृत टीका में देखना चाहिए)—अर्थात् झुके डंठल वाले कमल के तुल्य बार-बार तिरछी गरदन वाले मुख को धारण करती हुई—बार बार लौटकर देखती हुई—उस सघन पक्ष्मवाले नयनों से युक्त नायिका (मालती) ने, जाते हुए, अमृत और विष दोनों से सना हुआ एक कटाक्ष, कसकर, मेरे हृदय में मार-सा दिया' इस, मालती के प्रथम दर्शन के बाद माधव के द्वारा अपने मित्र मकरन्द के प्रति कहे गए भवभूतिरचित पद्य में कमलमुख के साधारण सौन्दर्य से ही उपमा की सिद्धि हो सकती थी, फिर जो सभी आलंकारिकों ने वहाँ 'गरदन' और 'वृन्त' में बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा 'झुकने' और 'तिरछे होने' में वस्तुप्रतिवस्तुभाव माना है—वह विरुद्ध हो जायगा, क्योंकि आपके हिसाब से वहाँ भी ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं थी। अतः जैसा मैंने माना है, वही ठीक है—अर्थात् 'विमलं वदनम्—' में विमलता और निष्कलङ्कता के शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभाव अथवा बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से मिश्रित वस्तु-प्रतिवस्तुभाव की कल्पना करनी ही चाहिए। तात्पर्य यह कि—ऐसे स्थलों में सौन्दर्य आदि प्रसिद्ध धर्म को साधारण मानकर उपमा बाँधने पर कोई खास चमत्कार नहीं हो सकता—पुरानी कल्पना को दुहराने में कोई आनन्द नहीं आता, इसलिये तो कवि ने विमल और निष्कलङ्क तथा तिरछी गरदन और टेढ़े डंठल का पद्य में वर्णन किया है, अन्यथा उसकी आवश्यकता ही क्या थी ?

चतुर्थं भेदमुदाहर्तुमाह—

उपचरितो यथा—

यस्यामुपमायां साधारणधर्मः उपचरितः (आरोपितः) भवति, सोपमा प्रदर्श्यत इति भावः।

उपचरित–अर्थात्–आरोपित समान धर्म वाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'शतकोटिकठिनचित्तः सोऽहं तस्याः सुधैकमयमूर्तेः।
येनाकारिषि मित्रं स विकलहृदयो विधिर्वाच्यः॥'

येन विधात्रा, शतकोटिवत् वज्रवत्, कठिनं कठोरं, चित्तं मनः, यस्य तादृशः सः सीतानिर्वासनादिविविधानर्थकारी, अहं रामचन्द्रः, सुधैकमयमूर्तेः केवलामृतनिर्मिताङ्गयाः, तस्याः सीतायाः, मित्रं पतिरिति यावत्, अकारिषि (कृधातोः कर्मणि लुङि उत्तम पुरुषैकवचने रूपम्) कृत इति तदर्थः, स, विकलहृदयः, हृदयहीनः, सति हृदये नैतादृशं कुर्यादिति भावः, विधिः विधाता, वाच्यः निन्दनीयः। सीतानिर्वासनकर्मणा मम निन्दा नोचिता, अपि तु सर्वज्ञतामासन्नतोऽपि मादृशेन कठोरचेतसा सह तां योजयते। विधेरेव सा योग्येत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शतकोटि इत्यादि। जिस विधाता ने, वज्र के समान कठोर चित्तवाले उस मुझको केवल अमृत से बनी हुई मूर्ति वाली उस (सीता) का मित्र (पति) बना दिया, उस हृदयहीन विधाता की निन्दा होनी चाहिए। अर्थात्

सीतापरित्याग से लोग जो मुझे कलङ्कित करते हैं, वह उचित नहीं, निन्दा तो होनी चाहिए उस विधाता की, जिसने जान-बूझकर इस तरह का अनमेल सम्बन्ध कराया।

प्रकरणं बोध्यते—

एषा सीतां विवासितवतः स्वात्मगता रामस्योक्तिः।

शतकोटीति गाथार्थः जनापवादभयेन प्राणेभ्योऽपि प्रियां सीतां निर्वासितवतो रामचन्द्रस्य मनोभावरूप इति भावः।

प्रसङ्ग बतलाया जाता है—एषा इत्यादि। 'शतकोटि-' यह पद्य उन रामचन्द्र की स्वगत उक्ति है, जो सीता को वन में निकाल चुके थे।

उपपादयति—

अत्र काठिन्यं पार्थिवो धर्मश्चित्ते उपचरितः।

शतकोटीति श्लोके शतकोटिचित्तयोरुपमायां साधारणधर्मतया निविष्टं काठिन्यम् वस्तुतो न साधारणम्, पृथिवीवर्तिनस्तस्य धर्मस्य पृथिवीविकारभूते शतकोटौ सत्त्वसम्भवेऽपि अमूर्ते चित्ते सत्वासम्भवात्, तथापि आरोपेण तस्य चित्तवृत्तिता स्वीक्रियत इति सधर्म उपचरित उच्यते।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'शतकोटि-' इस पद्य में वज्र और चित्त की जो उपमा है, उसमें साधारण धर्म होता है 'कठिनता', पर वह वस्तुतः चित्त में है नहीं, क्योंकि 'कठिनता' एक प्रकार का पृथिवीधर्म है, अतः पृथिवी के विकारभूत वज्र में रह सकता है, अमूर्त चित्त में नहीं, अतएव चित्त में वह आरोपित होकर ही रहेगा।

पञ्चमं प्रभेदमुदाहर्तुमाह—

केवलशब्दात्मको यथा—

उपमाया यस्मिन् प्रकारे साधारणधर्मः केवलशब्दात्मको भवति, स प्रकारः प्रकाश्यत इति भावः।

केवल शब्दरूप समान धर्म को लेकर होनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'यत्र वसन्ति सुमनसि मनुजपशौ च शीलवन्तः सर्वत्र समाना मन्त्रिणो मुनय इव।'

यत्र राज्ये, शीलवन्तः सदाचारिणो, मन्त्रिणः सचिवाः, सुमनसि पण्डिते, मनुजपशौ महामूर्खे, च सर्वत्र, समानाः एकत्र समानादरकारिणः, अपरत्र समदृश्यः अत एव मुनय, इव, वसन्तीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—यत्र इत्यादि। किसी राज्य का वर्णन है कि—जहाँ सदाचारी सचिव लोग मुनियों के समान रहते हैं क्योंकि वे विद्वान् और महामूर्खों में समान हैं अर्थात् मुनि सब में समदृष्टि हैं और मन्त्री सब में समान आदर करने वाले हैं।

उपपादयति—

अत्रोपमानोपमेयगतस्यार्थस्यैकस्याभावाच्छब्द एव धर्मः।

'यत्र वसन्ति-' इत्यादि काव्ये मुनिमन्त्रिणोरुपमायां न कश्चिदार्थिकः साधारणधर्मः, एकवाचकतयोपात्तस्य 'समान'पदस्य उपमानोपमेययोर्भिन्नार्थत्वात्, तथा च स शब्द उभयत्र स्वनिष्ठवाचकतानिरूपितवाच्यतासम्बन्धेन विशेषणीभवन् समानधर्मरूपतां प्रतिपद्यत इति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्रोपमानोप इत्यादि। 'यत्र वसन्ति—' इस काव्य में मुनि और मन्त्री की जो उपमा है, उसमें कोई ऐसा अर्थरूप साधारण धर्म नहीं, जो उपमान तथा उपमेय दोनों में रहनेवाला हो। तात्पर्य यह कि साधारणधर्म का बोधक पद है यहाँ 'समानाः', पर इस पद का मुनि और मन्त्री पक्ष में एक अर्थ नहीं होता, अतः यह मानना चाहिए कि-वह शब्द ही यहाँ साधारणधर्मरूप है। इसी उपमा को अन्यत्र शाब्दी उपमा कहा गया है।

धर्मवैचित्र्यमूलकभेदान्तराणामपि सम्भावनां प्रकटयति—

एवमेतेषां धर्माणां व्यामिश्रणं च सम्भवति।

पूर्वोक्तानां पञ्चविधानां साधारणधर्माणां परस्परसङ्करोऽपि भवितुमर्हति। तथा च तत्प्रयुक्तोपमाप्रभेदसंख्याऽपि भूयो वर्धेतेति भावः।

धर्म की विविधरूपता के कारण होनेवाले उपमाप्रभेदों में और अधिक भेदों की संभावना करते हैं—एवमेतेषामित्यादि। जिस तरह शुद्धरूप से साधारण धर्म के पाँच भेद किए गये हैं, उसी तरह परस्पर मिश्रण से उनके और अधिक भेद किए जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि उक्त पञ्चविध धर्मों के मिश्रण से उपमा के धर्ममूलक भेद और अधिक बढ़ सकते हैं।

धर्ममिश्रणप्रयुक्तसम्भावितोपमाप्रभेदोदाहरणं प्रतिज्ञापुरस्सरं निर्दिश्यते—

यथा—

'श्यामलेनाङ्कितं भाले बाले केनापि लक्ष्मणा।
मुखं तवान्तरा सुप्तभृङ्गफुल्लाम्बुजायते॥'

नायकः कथयति—अयि बाले! केनापि, श्यामलेन श्यामवर्णेन, लक्ष्मणा चिह्नेन कस्तूरीतिलकादिनेति यावत्, भाले ललाटे अङ्कितं चिह्नितं, तव, मुखम्, अन्तरा मध्ये, सुप्ताः निश्चलतया स्थिताः, भृङ्गा भ्रमराः, यत्र, तादृशं, यत्, फुल्लं विकसितम्, अम्बुजं कमलं, तदिव, आचरतीत्यर्थः।

धर्ममिश्रण का उदाहरण दिखलाते हैं—यथा इत्यादि। जैसे—श्यामलेन इत्यादि अर्थात्—हे बालिके! किसी काले चिह्न (कस्तूरी-तिलक आदि) से कपाल पर चिह्नित तेरा मुख, जिसके मध्य में भ्रमर सोए हुए हों ऐसे विकसित कमल के समान आचरण करता है।

उपपादयति—

अत्र भालगताङ्कप्रसुप्तभृङ्गौ बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नौ क्यङर्थे आचारेऽनुगामिन्यभेदमापद्य स्थितौ।

'श्यामलेन—' इति पद्येऽम्बुजमुखयोरुपमोपनिबद्धा, तत्र 'अम्बुजायते' इति प्रयोगघटकक्यङ्प्रत्ययार्थ आचार उपमाने अम्बुजे उपमेये मुखे चैकरूपेणान्वीयमानोऽनुगामी साधारणधर्मः। मुखस्याम्बुजवदाचरणं च बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नयोः—सादृश्यबलारोपिताभेदयोः—भालगताङ्कान्तरासुप्तभृङ्गयोः सम्बन्धित्वासादनमेव। एवञ्चात्र बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नस्यानुगामिनश्च धर्मस्य मिश्रणं जातमिति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'श्यामलेन—' इस पद्य में कमल तथा मुख की उपमा वर्णित हुई है, उसमें 'ललाटतट का काला चिह्न' और 'मध्य में सोए हुए भ्रमर' ये दोनों बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न हैं, और वे 'अम्बुजायते' पद में जो 'क्यङ्' प्रत्यय है उसके अर्थ आचाररूप अनुगामी धर्म से अभिन्न होकर स्थित हैं। अभिप्राय यह कि कमल और मुख की उपमा में आचरण एकरूप से उपमानोपमेय में अन्वित होने के

कारण अनुगामी धर्म है और मुख का कमल के समान आचरण, यहाँ, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न (सादृश्यमूलक अभेद से युक्त) ललाटगत चिह्न और मध्यसुप्त भृङ्ग से सम्बन्ध रखना ही है अतः यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न तथा अनुगामी धर्मों का मिश्रण है।

तथाविधमुदाहरणान्तरमपि दर्शयति—

यथा वा—

> 'सिन्दूरारुणवपुषो देवस्य रदाङ्कुरो गणाधिपतेः।
> सन्ध्याशोणाम्बरगतनवेन्दुलेखायितः पातु ॥'

सिन्दूरेण रञ्जकद्रव्यविशेषेण, अरुणं रक्तं, वपुः शरीरं, यस्य, तस्य, गणाधिपतेः गणेशस्य, देवस्य, सन्ध्यायाः सायङ्कालस्य, शोणे रक्ते, अम्बरे आकाशे, गता स्थिता, या, नवस्य नूतनस्य, इन्दोः चन्द्रस्य, लेखा कला, सा इव आचरितः, रदाङ्कुरः दन्ताङ्कुरः, पातु रक्षतु, युष्मान् अस्मान् वेति शेषः इत्यर्थः।

अथवा जैसे—सिन्दूर से अर्थात् सिन्दूर के लेप से अरुण वर्ण शरीर वाले गणेश देव का, सायंकाल के लाल आकाश में स्थित चन्द्रकला के समान आचरण करनेवाला, दन्ताङ्कुर, आपकी अथवा मेरी रक्षा करे।

उपपादयति—

अत्र सिन्दूरसन्ध्याभ्यां गणाधिपगगनाभ्यां च बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नाभ्यां [धर्माभ्यां] सम्पादिताभेदेन विशिष्टधर्मेणाभेदेनावस्थितः क्यङर्थोऽनुगामी।

अयमाशयः—'सिन्दूरारुण—' इति पद्येऽरुणत्वशोणत्वे शब्दाश्रययोर्भेदेन भिन्ने अपि परमार्थत एकरूप इति वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ने तदन्विते सिन्दूरसन्ध्ये वस्तुतो भिन्ने अपि [illegible] बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्ने तदन्विते गणपतिगगने अपि पुनः तथाविधतया बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्ने एव। एवञ्च वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नारुणत्वशोणत्वविशिष्टबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नसिन्दूरसन्ध्याऽभेदबुद्धिविषयीकृतगणपतिगगनरूपः। बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो विशिष्ट एको धर्मः सम्पद्यते, तदभिन्नश्च लेखायितपदगतक्यङ्प्रत्ययार्थरूप आचारोऽनुगामी धर्मः यद्बलात् दन्ताङ्कुरचन्द्रलेखयोरुपमा सिध्यति। यद्यपि प्रसिद्धौ अल्पशोभाविशेषरूपतामाश्रित्यापि आचारस्यानुगामित्वं सम्भवति, तथापि तादृशगणपतिगगनरूपतामादायैवाचारस्यानुगामित्वम् कवितात्पर्यविषयीभूतम्, अन्यथा तदुल्लेख एव निष्फलः स्यादिति।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'सिन्दूरारुण—' इस पद्य में 'सायङ्काल के लाल आकाश की चन्द्रकला' के साथ 'सिन्दूर से अरुण वर्ण शरीर वाले गणेशजी के दन्ताङ्कुर' की तुलना की गई है—इन दोनों पदार्थों की उपमा बाँधी गयी है, और इस उपमा का साधक है 'लेखायित' पद में आए हुए क्यङ् प्रत्यय का अर्थ 'आचार'रूप समान धर्म, जो अनुगामी है, परन्तु केवल विषयोल्लेखरहित आचार उपमा का प्रयोजक होता नहीं, अतः 'गणपति तथा आकाश' के साथ उस आचार का अभेद कल्पित होता है—अर्थात् 'दन्ताङ्कुर' और 'चन्द्रकला' का समान आचार यही माना जाता है कि एक गणेश का है और दूसरा आकाश का। आपके मन में शङ्का होगी कि जब गणेश और आकाश ही एक वस्तु नहीं, तब उन दोनों का सम्बन्धी आचार कैसे एक होगा ? शङ्का ठीक है, पर आप को समझना चाहिये कि कल्पना के द्वारा गणेशजी और आकाश को भी एक कर लिया जाता है अर्थात् इन दोनों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव भिन्न होने पर भी सादृश्यमूलक अभेद—माना जाता है। आप पुनः शङ्का करेंगे कि—इन दोनों में सादृश्य ही कौन सा

है, यन्मूलक अभेद माना जायगा ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि एक (गणेशजी) सिन्दूर से अरुणवर्ण शरीर वाले हैं और दूसरा (गगन) सन्ध्या से लाल है यही सादृश्य है। यदि इस पर भी आप पूछेंगे कि यह कौन सादृश्य हुआ ? एक का सम्बन्ध सिन्दूर से है और दूसरे का सन्ध्या से, फिर सादृश्य कैसा ? यह प्रश्न भी आपका असङ्गत नहीं, परन्तु उत्तर भी बहुत उपयुक्त है कि इन दोनों में भी-अर्थात् सिन्दूर और सन्ध्या में भी-बिम्बप्रतिबिम्बभाव माना जाता है-भिन्न होने पर भी सादृश्यमूलक अभेद स्वीकृत होता है। और इन दोनों के सादृश्य का मूल है अरुणत्व और शोणत्व। आप कहेंगे कि ये दोनों भी तो एक जैसे नहीं ज्ञात होते, तो मैं कहूँगा कि-हैं तो ये दोनों एक ही वस्तु, परन्तु शब्द तथा आश्रय (जिनमें ये रहते हैं उन पदार्थ) के भेद से भिन्न जैसे भासित होते हैं। आप कहेंगे कि-हुआ न-किसी तरह जब भेद भासित हो गया, तब अभेद कैसे भासित होगा ? उत्तर है कि-भेद भासित होने के बाद पुनः अभेद की कल्पना की जाती है। वस्तुतः अभिन्न में किसी कारण से भेद भासित होने के बाद जो अभेद कल्पित होता है उसीको तो 'वस्तुप्रतिवस्तुभाव' कहते हैं। फलतः यहाँ 'अरुणत्व और शोणत्व' वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न हैं, 'सिन्दूर-सन्ध्या' और 'गणेश-आकाश' बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न हैं और 'आचार' अनुगामी है। अतः यहाँ धर्मों का मिश्रण समझा जाता है।

धर्ममिश्रणस्य प्रकारान्तरं दर्शयति—

क्वचिद्धेतुहेतुमद्भावेन।

हेतुहेतुमद्भावेनेत्यस्याग्रे धर्मस्य व्यामिश्रणमिति शेषो बोध्यः। 'श्यामलेन—' 'सिन्दूरारुण—' इत्यनयोर्यथा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्माणाम् अभेदेनानुगामिन्याचारे व्यामिश्रणम्, तथा क्वचित् हेतुहेतुमद्भावेन तथाविधधर्मस्यानुगामिनि व्यामिश्रणमिति भावः।

धर्ममिश्रण का दूसरा प्रकार दिखलाया जाता है—क्वचित् इत्यादि। अर्थात्-जैसे उक्त उदाहरणों में अभेद सम्बन्ध से बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्मों का अनुगामी धर्मों में मिश्रण हुआ है, उसी तरह कहीं हेतुहेतुमद्भावसम्बन्ध से भी उक्त धर्मों का मिश्रण हो सकता है।

उदाहरणं निर्देष्टुमाह—

यथा—

स्पष्टम्।

जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'खलः कापट्यदोषेण दूरेणैव विसृज्यते।
अपायशङ्किभिर्लोकैर्विषेणाशीविषो यथा॥'

कविः कथयति—अपायं विनाशं, शङ्कन्ते, ये, तथाविधैः निजविनाशशङ्काकुलैरिति यावत्, लोकैः, विषेण विषरूपदोषेण, आशीविषः सर्पः, यथा, दूरेण दूरतः, एव, विसृज्यते त्यज्यते, तथैव, खलः नीचाशयो जनः, कापट्यदोषेण कपटतारूपदूषणेन, दूरतः परिह्रियत इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—खलः इत्यादि। कवि का कथन है—जिस तरह, विषरूप दोष के कारण, सर्प, दूरतः परिहृत होता है-लोग उसके पास फटकते तक नहीं, उसी तरह, कपटरूप दोष के कारण अपने विनाश की आशङ्का करनेवाले लोगों से खल-नीचाशय मनुष्य-दूर ही छोड़ दिया जाता है।

उपपादयति—

अत्र कापट्यं विषं च बिम्बप्रतिबिम्बतां गतं दूरतो विसर्जनेऽनुगामिनि हेतुः।

'खलः कापट्य—' इति पद्ये सर्पखलयोरुपमायां 'दूरतो विसर्जनम्' अनुगामी—एकरूपेण द्वयोरन्वयी—साधारणो धर्मः, तत्र च 'विषकपटता'रूपो बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नः—भेदेऽपि सादृश्यमूलकाभेदविशिष्टः—धर्मो हेतुरिति—अनुगामिबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नयोर्धर्मयोः कार्यकारणभावेन मिश्रणं जातम्। तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावं विना भिन्नप्रकरणत्वेन दूरविसर्जने भेदप्रतीत्याऽनुगामित्वमेव न स्यादिति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'खलः—' इस श्लोक में 'खल' की उपमा 'सर्प' के साथ दी गई है, जिसमें 'दूर से छोड़ देना' अनुगामी साधारण धर्म है और उसके कारण हैं 'विष' और 'कपट'रूप बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म। अर्थात् जब तक विष और कपट में बिम्बप्रतिबिम्बभाव—सादृश्यमूलक अभेद—नहीं मान लिया जायगा, तब तक भिन्न प्रकरण के होने से 'दूर से छोड़ देने' में भी भेद प्रतीत होता रहेगा, फिर वह अनुगामी—एकरूपेण अन्वित होने वाला—धर्म हो ही नहीं सकता। अतः यहाँ अनुगामी और बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्मों का मिश्रण कार्य-कारणरूप होने से हुआ है।

हेतुहेतुमद्भावेन धर्मयोर्मिश्रणस्योदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

स्पष्टम्।

अथवा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'रूपवत्यपि च क्रूरा कामिनी दुःखदायिनी।
अन्तःकाटवसम्पूर्णा सुपक्वेवेन्द्रवारुणी॥'

रूपवती बाह्यसौन्दर्यशालिनी, अपि, अन्तःकाटवेन अन्तर्गतकटुत्वेन, सम्पूर्णा सर्वतोभावेन युक्ता, सुपक्वा अतिपरिपाकावस्थां गता (एतच्च बाह्यसौन्दर्यसम्पत्तिसूचनाय) इन्द्रवारुणी फलविशेषः (नारुन इति भाषायां प्रसिद्धः) इव, रूपवत्यपि, क्रूरा कठोरहृदया, कामिनी नायिका, दुःखदायिनी क्लेशप्रदा, भवतीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—रूपवत्यपि इत्यादि। रूपवती (बाह्य सौन्दर्य से युक्त) होकर भी क्रूरहृदय वाली नायिका, अन्दर कडुएपन से भरी हुई परिपक्व इन्द्रवारुणी (नारुन) की तरह, दुःख देने वाली होती है।

उपपादयति—

अत्र रूपवत्त्वदुःखदायित्वयोर्द्वयोरनुगामिनोर्मध्ये क्रौर्यकाटवे बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्ने दुःखदायित्वेन सह हेतुहेतुमद्भावेन मिश्रिते, अपरेण तु शुद्धसामानाधिकरण्येन।

अपरेण रूपवत्त्वेन शुद्धसामानाधिकरण्येनेति। एतेन दुःखदायित्वेनापि क्रौर्यकाटवयोः सामानाधिकरण्यमस्त्येव, परन्तु न शुद्धम्, अपि तु हेतुहेतुमद्भावविशिष्टमित्यर्थः फलितः। अयं भावः—इन्द्रवारुणीकामिन्योरुपमायां 'रूपवत्यपि—' इति पद्योपनिबद्धायाम्, रूपवत्त्वदुःखदायित्वरूपौ द्वावनुगामिसाधारणधर्मौ क्रौर्यकटुत्वात्मकौ च द्वौ बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नौ तथाविधौ धर्मौ तत्र दुःखदायित्वम्प्रति क्रौर्यकाटवे कारणे—अर्थात् नायिकानिष्ठदुःखदायित्वं प्रति क्रौर्यं कारणम् तथा इन्द्रवारुणीनिष्ठदुःखदायित्वं प्रति काटवं कारणम्। एवञ्च बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नयोः क्रौर्यकाटवयोः दुःखदायित्वस्य चानुगामिनः

हेतुहेतुमद्भावविशिष्टसामानाधिकरण्येन मिश्रणम्, तथाविधयोस्तयोरनुगामिनो रूपवत्त्वस्य च शुद्धसामानाधिकरण्येन मिश्रणमिति ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'रूपवत्यपि—' इस उदाहरण में इन्द्रवारुणी और कामिनी की उपमा के साधक, दो—'रूपवती होना' और 'दुःख देने वाली होना'—अनुगामी साधारण धर्म हैं। उन दोनों धर्मों में से एक—'दुःखदायित्व'रूप अनुगामी धर्म के साथ 'क्रूरता' और 'कटुता'रूप बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म कार्यकारणभावविशिष्ट सामानाधिकरण्यसंबन्ध से मिश्रित है, क्योंकि कामिनी में 'क्रूरता' दुःख देने का कारण है और इन्द्रवारुणी में 'कटुता', इसी तरह दुःखदायित्व और 'क्रूरता—कटुता' एक आधार (कामिनी—इन्द्रवारुणी) में रहते भी हैं। 'रूपवत्त्व' के साथ 'क्रूरता' और 'कटुता' का मिश्रण शुद्ध हेतुहेतुमद्भावरहित सामानाधिकरण्यसंबन्ध से होता है।

उपसंहरति—

एवमन्यैरपि व्यामिश्रणं बोध्यम् ।

एवम् उक्तरीत्या । अन्यैः = अनुगामिधर्मातिरिक्तैः, पूर्वोक्तपञ्चविधसाधारणधर्मान्तर्गतैर्धर्मैः ।

उपसंहार करते हैं—एवम् इत्यादि । इसी तरह (पूर्वोक्त रीति से ही) अन्य धर्मों से भी मिश्रण समझ लेना चाहिए।

उपमाया उक्तेभ्यो भेदेभ्योऽन्येऽपि भेदाः संभवन्तीति सूचयितुमाह—

प्रकारान्तरं च लक्ष्यानुसारेण सुधीभिः स्वयमुन्नेतुं शक्यम् ।

लक्ष्यदर्शनेन सुधियः उपमायाः प्रकारान्तराणि स्वयमूहितुं पारयन्तीति भावः ।

विद्वज्जन, उदाहरणों के आधार पर, उपमा के अन्य भेदों का भी ऊह, स्वयं कर के सकते हैं।

स्वयमुन्नेयत्वेनोक्तं प्रकारान्तरमुपमाया दर्शयितुमाह—

यथा—

स्पष्टम् ।

जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'यथा लतायाः स्तबकानतायाः स्तनावनम्रे नितरां समाऽसि ।
तथा लता पल्लविनी सगर्वे शोणाधरायाः सदृशी तवापि ॥'

नायको नायिकां कथयति—स्तनावनम्रे कुचभारविनते । (एतच्च स्तबकानतलतासाम्यसिद्ध्यर्थम्) त्वम्, स्तबकैः पुष्पगुच्छैः, आनताया नम्रीभूतायाः, लताया वल्लर्याः, यथा येन प्रकारेण, नितराम् अत्यन्तम्, समा सदृशी, असि वर्तसे, तथैव हे सगर्वे लतोपमानत्वलाभजन्यगौरवयुक्ते ! पल्लविनी रक्तवर्णनवकिसलयवती (एतच्च शोणाधरनायिकासादृश्यसिद्धिकरम्), लता, अपि, शोणाधरायाः अरुणरदनच्छदायाः, तव सदृशी तुल्या वर्तते इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—यथा लतायाः इत्यादि । नायक की नायिका के प्रति उक्ति है—हे स्तनों से झुकी हुई ! जिस तरह तू फूलों के गुच्छों से नमी हुई लता के अत्यन्त समान है, उसी तरह, हे सगर्वे-अपने को लता का उपमान समझकर गर्व करने वाली !—पल्लवों से युक्त लता भी लाल अधर वाली तेरे समान है।

उपपादयति—

अत्र स्तनावनम्राहं स्तबकानताया लताया उपमानमस्मीति गर्वं मा विदध्याः ।

यतः शोणाधराया उपमेयायास्तवापि पल्लविनी लतोपमानं भवतीति वाक्यार्थं यथातथापदप्रतिपाद्या कान्तोपमानिका लतोपमेयिकोपमा निष्पादिका। अस्यां चोपमायां निरूपकतासम्बन्धेनोपमानोपमेयगते द्वे उपमे समसदृशशब्दाभ्यां प्रतिपादिते बिम्ब-प्रतिबिम्बभावमापन्ने साधारणधर्मतया स्थिते। तत्र निरूपकतासम्बन्धेन प्रधानीभूतोपमोपमानकान्तागतायामुपमायां प्रतिबिम्बभूतायां गुच्छस्तनयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ननमननम्रीभवनविशेषणयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नयोः साधारणधर्मत्वम्। एवं तेनैव सम्बन्धेन लतारूपोपमेयगतायां बिम्बभूतायामुपमायामधरपल्लवयोः।

उपमानिष्पादिकेति। एवं च वाक्यार्थोपस्कारिकेयमुपमेति भावः। बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्ने इति। अत्र 'यद्यपि समसदृशशब्दाभ्यां प्रतिपादितोपमयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभाव एव, तथापि तद्विशेषणयोः शोणाधरनायिकास्तबकावनम्रलतयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभाव आवश्यक इति भावः' इति नागेशः। उपमानोपमेयसाधारणधर्मसादृश्यानि समष्टिरूपेणैवोपमा, न सादृश्यमात्रमिति उपमाया बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नत्वोक्तिरुचितैवेति तु मम प्रतिभाति। तत्रेति। तयोरुपमयोर्मध्य इत्यर्थः। निरूपकतेति। प्रतियोगितेत्यर्थ इति नागेशः। प्रधानीभूतोपमेति। यथातथापदप्रतिपाद्येत्यर्थः। उपमानेति। कान्तेत्यर्थः। उपमायां प्रतिबिम्बभूतायामिति। समशब्दप्रतिपाद्यायामित्यर्थः। तेनैव सम्बन्धेनेति। निरूपकतासम्बन्धेनेत्यर्थः। बिम्बभूतायामुपमायामिति। सदृशशब्दप्रतिपाद्यायामित्यर्थः। अधरपल्लवयोरिति। कान्तालताविशेषणयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नयोः साधारणधर्मत्वमिति शेषः। अयं भावः—'यथा लताया—' इति पद्ये तिस्र उपमाः सन्ति तासु 'यथा त्वं लतासदृशी, तथा, लता तव सदृशी' इत्याकारिका यथा-तथापदप्रतिपाद्या उपमा प्रधानम्, "स्तनभारावनताऽहं पुष्पगुच्छभारावनम्राया लताया उपमानभूतास्मि—तथाविधां वल्लरीमवलोकयद्भिः सहृदयैः 'स्तनभारभङ्गुरा कामिनी वेयं वल्लरी'त्येवं रूपेण तस्यास्तुलना मया सह विधीयते—इति गर्वो न करणीयः। अरुणाधरशालिन्या उपमेयभूतायास्तवापि नवकिसलयकोमलाया लताया उपमानत्वात्—रक्तरदनच्छदां त्वामनुपश्यद्भिः सचेतोभिः 'नूतनारुणदलकोमलवल्लरीवेयं ललना इत्येवंरीत्या लतया सहापि तव तुलनात्" इति व्यङ्ग्यभूतप्रधानवाक्यार्थस्य निष्पादकत्वात् अलङ्करणाच्च। अस्यां प्रधानभूतायामुपमायां कान्ता उपमानभूता लता उपमेयभूता यथा-तथापदप्रतिपाद्यं सादृश्यं चेति त्रीण्यङ्गानि स्पष्टानि। साधारणधर्मांश विचारणीयः। विचारे च। 'स्तनाभनम्रा त्वं, स्तबकानतलतायाः समा, पल्लविनी लता, शोणाधरायास्तव सदृशी' इति द्वे उपमे एव साधारणधर्मत्वेऽवगम्येते। ननु उपमानोपमेयवृत्तित्वे एव कस्यापि पदार्थस्य साधारणधर्मता भवति, उभे उपमे तु नोक्तोपमानोपमेयवर्तिनी वृत्तितानियामकसम्बन्धस्यास्फुरणादिति चेन्न, निरूपकतायाः तन्नियामकप्रतियोगितायाः वा संबन्धरूपायाः स्फुरणात्। उक्तधर्मरूपोपमाद्वयमध्ये प्रथमा समशब्दप्रतिपाद्या उपमा, निरूपकतासम्बन्धेन स्वोपमाने प्रधानीभूतोपमोपमाने च कान्तायाम्, द्वितीया—सदृशपदप्रतिपाद्या—उपमा च, तेनैव सम्बन्धेन स्वोपमाने प्रधानीभूतोपमोपमेये च लतायां वर्तते इति सारांशः। न चैवमपि तयोरुपमयोरेकैकमात्रवृत्तित्वेन साधारणत्वं कथमिति वाच्यम्, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नत्वेनैक्यात्। तत्र, प्रथमोपमा, अचिरस्थायिसौन्दर्यशालिपुष्पगुच्छस्तनात्मकसाधारणधर्ममूलकत्वात् प्रतिबिम्बरूपा, द्वितीयोपमा च तदपेक्षया चिरस्थायिशोभाधाराधरपल्लवात्मक-

साधारणधर्ममूलकत्वाद्बिम्बरूपेति विवेकः। अथानयोः प्रधानोपमायां साधारणधर्मरूपयोरुपमयोः कः कीदृशश्च साधारणधर्म इति चेत् ? प्रधानाया उपमायारुपमानभूतायां कान्तायां निरूपकतासम्बन्धेन वर्तमाना या 'सम'-शब्दप्रतिपाद्योपमा प्रतिबिम्बभूता तत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नतयैकीभूतौ गुच्छस्तनौ साधारणो धर्मः। तौ च गुच्छस्तनौ, 'स्तबकानतायाः', 'स्तनावनम्रे' इति पदद्वयबोध्ययोर्नमननम्रीभवनयोः वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नयोर्विशेषणीभूताविति वस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बितबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नोऽत्र साधारणधर्मः। प्रधानाया उपमाया उपमेयभूतायां लतायां निरूपकतासम्बन्धेन तिष्ठन्ती या 'सदृश'पदप्रतिपाद्या बिम्बभूता द्वितीयोपमा, तत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नतयैकीभूतावधरपल्लवौ तथा। वस्तुप्रतिवस्तुभावशून्यतया शुद्धबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न इह सधर्म इति बोध्यम्। पूर्वमुदाहृतासूपमासु अन्यविधाः साधारणधर्मा उक्ताः, अत्र तु उपमाद्वयमेवोपमायाः साधारणो धर्म इति वैचित्र्यमिति।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'यथा लतायाः—' इत्यादि पद्य से तात्पर्यार्थ निकलता है कि—"हे सुन्दरि! 'स्तन-भार से झुकी हुई मैं, पुष्प के गुच्छों से लदी हुई अतएव नमी हुई लता, का उपमान हूँ—किसी पुष्पगुच्छावनत लता को देखकर कविगण, 'यह लता, स्तनभार से झुकी हुई कामिनी के समान है' इस रूप में मुझसे लता की तुलना करते हैं, मेरी तुलना लता से नहीं' यह अभिमान न करो, क्योंकि जब लाल अधर वाली तू उपमेय होती है-अर्थात् लाल अधर को लेकर तेरी तुलना करनी होती है, तब पल्लवयुक्त लता तेरा उपमान होती है-अर्थात् लाल अधरवाली तुझ सन्वी को देख कर कवि लोगों के द्वारा 'यह कामिनी पल्लवशोभित लता के समान है' इस रूप में, तेरी भी तुलना लता से की जाती है।" इस तात्पर्यार्थ (वाक्यार्थ) को सिद्ध करती है 'यथा और तथा' पदों से प्रतिपादित होनेवाली वह उपमा, जिसमें सुन्दरी नायिका (तू) उपमान है और लता उपमेय। अतः यह (यथा-तथा-पद-प्रतिपाद्य) उपमा प्रधान है। इस प्रधान उपमा के तीन आवश्यक अङ्ग—उपमान सुन्दरी (तू), उपमेय लता और यथा-तथा पदों से अवगत होनेवाला सादृश्य—स्पष्ट हैं, पर चौथा अङ्ग—साधारण धर्म—उतना स्पष्ट नहीं है, वह गम्भीर विचार से विदित होता है और विदित यह होता है कि—इस प्रधान उपमा का साधारण धर्म भी दो उपमायें ही हैं—एक 'तू लता के समान है' यह पूर्वार्धगत 'सम' शब्द के द्वारा प्रतिपादित होने वाली और दूसरी 'लता तेरे सदृश है' यह उत्तरार्धगत 'सदृश' शब्द के द्वारा प्रतिपादित होने वाली। आप शंका कर सकते हैं कि-उपमायें कैसे उपमा के साधारण धर्म होंगी, क्योंकि साधारण धर्म वह पदार्थ होता है जो उपमान और उपमेय में रहे और ये उपमायें तो उस (प्रधान) उपमा के उपमान अथवा उपमेय में रहने वाले पदार्थ हैं नहीं, तो, इसका समाधान यह है कि—'निरूपकता' संबन्ध से ये दोनों उपमायें क्रमशः प्रधान उपमा के उपमान और उपमेय में रहने वाले धर्म होते हैं-अर्थात् उपमा का निरूपक होता है उपमान और आश्रय उपमेय, अतः पूर्वार्धगत, समशब्दप्रतिपाद्य (तू लता के समान है यह) उपमा अपने उपमान 'तू' में निरूपकता संबन्ध से रहती है और वही 'तू' प्रधान (यथातथापदबोध्य) उपमा में भी उपमान है, फलतः यह उपमा, प्रधान उपमा के उपमान में रहने वाली वस्तु सिद्ध हुई, इसी तरह, उत्तरार्धगत, 'सदृश'पदप्रतिपाद्य (लता तेरे समान है, यह) उपमा अपने उपमान लता में उक्त सम्बन्ध से रहती है और वही लता प्रधान उपमा में उपमेय है, फलतः यह उपमा प्रधान उपमा के उपमेय में रहने वाली वस्तु सिद्ध हो गई। आप कहेंगे-इस विवरण के बाद भी यह समझ में नहीं आता कि-ये उपमायें साधारण कैसे होंगी, क्योंकि ये दोनों उपमायें दोनों (उपमान तथा उपमेय) में रहने वाली नहीं हैं-एक केवल उपमान में और दूसरी केवल उपमेय

में रहती है, तो इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि—इन दोनों उपमाओं को बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होने के कारण एक मानकर दोनों में रहनेवाली समझ लिया जाता है। तात्पर्य यह कि बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होकर ये दोनों उपमायें प्रधान उपमा में साधारणरूप होती हैं। धर्मरूप इन दोनों उपमाओं में से प्रधान उपमा के उपमान 'कान्ता' में निरूपकता-सम्बन्ध से रहनेवाली—अर्थात् 'तू लता के समान है'—यह उपमा प्रतिबिम्बरूप है। कारण, इस उपमा को सिद्ध करनेवाला साधारण धर्म—'स्तन और गुच्छ'—अपेक्षाकृत अचिरस्थायी है अतः यह उपमा भी अचिरस्थायिनी होगी। और प्रधान उपमा के उपमेय 'लता' में उक्त सम्बन्ध से रहनेवाली—अर्थात् 'लता तेरे सदृश है' यह—उपमा है बिम्बरूप। कारण, इस उपमा को सिद्ध करनेवाला साधारण धर्म—'लाल अधर और लाल पल्लव' अपेक्षाकृत चिरस्थायी है, अतः यह उपमा भी चिरस्थायिनी मानी जायगी। स्पष्ट तात्पर्य यह कि बिम्ब चिरस्थायी होता है जैसे—मुख और प्रतिबिम्ब अचिरस्थायी जैसे दर्पण में पड़ी मुख की छाया। इनमें से प्रतिबिम्बरूप उपमा में, वे 'स्तन' और 'फूलों के गुच्छे' बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होकर साधारणधर्मरूप हैं, जो वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न 'नमन' और 'नम्रीभवन' (झुकना और नमना) के विशेषणरूप में स्थित हैं और इसी तरह बिम्बरूप उपमा में 'अधर' और 'पल्लव' बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होकर साधारणधर्मरूप हैं। तात्पर्य यह हुआ कि प्रतिबिम्बरूप उपमा में साधारण धर्म, वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नरूप है, और बिम्बरूप उपमा में केवल बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नरूप—यहाँ वस्तुप्रतिवस्तुभाव का मिश्रण नहीं है। इन सबका सारांश यह हुआ कि प्रकृत पद्य में तीन उपमायें हैं जिनमें एक प्रधान है और दो बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होकर उस प्रधान उपमा को सिद्ध करनेवाली साधारणधर्मरूप। और साधारणधर्मरूप होनेवाली दो उपमाओं में से प्रथम उपमा का साधारणधर्म है वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न तथा द्वितीय उपमा का है केवल बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न। दो उपमाओं का ही तृतीय उपमा में समानधर्म होना इस उदाहरण की विचित्रता है, अतएव इस तरह की उपमा को एक नवीन उपमाप्रभेद के रूप में गिना जाना समुचित ही है।

आशङ्क्य समाधत्ते—

न च तेन सदृश इत्यादौ तन्निरूपितसादृश्याश्रयस्योपमेयस्य, तस्य सदृश इत्यादौ च तत्सम्बन्धिसादृश्याश्रयस्योपमानस्य प्रतीतेः सिद्धत्वात्प्रकृते च सदृशीतिशब्दान्निवेद्यमानेऽप्युपमानभावे कथं नाम लताया उपमेयतेति वाच्यम्। सदृशशब्दप्रतिपाद्यधर्मभूतोपमायामुपमानत्वेऽपि यथातथाशब्दवेद्योपमायां लताया उपमेयभावे बाधकाभावात्।

तन्निरूपितेति। तत्प्रतियोगिकेत्यर्थः। सादृश्याश्रयस्येति। सादृश्यानुयोगिन इत्यर्थः। तत्सम्बन्धिसादृश्याश्रयस्येति। तदनुयोगिकसादृश्यप्रतियोगिन इत्यर्थः। 'चन्द्रेण सदृशम्' इत्युक्तौ चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्यानुयोगिनो मुखादेरुपमेयस्य प्रतीतिः, 'मुखस्य सदृशः' इत्युक्तौ पुनः मुखानुयोगिकसादृश्यप्रतियोगिनश्चन्द्रादेरुपमानस्य प्रतीतिर्भवतीति सिद्धं वस्तु। एवञ्च प्रकृते 'लता तव सदृशी' इत्युत्तरार्धगतोक्त्या त्वदनुयोगिकसादृश्यप्रतियोगिलतायामुपमानत्वस्य प्रतीतौ तस्याः (लतायाः) उपमेयत्वं मूलोक्तमसङ्गतमिति शङ्कायाः समाधानं यत्—तदुक्त्या लतायामुपमानता प्रतीयत इति नासत्या कथा, परन्तु सा उपमानता सदृशपदप्रतिपाद्यधर्मभूतोपमाकृता। मूलोक्तं लताया उपमेयत्वं पुनर्यथातथापदप्रतिपाद्यप्रधानोपमाकृतमिति न कोऽपि विरोध इति। एकस्मिन् पद्ये सतीष्वनेकासूपमासु एक एव पदार्थः कस्याञ्चनोपमायामुपमानरूपः कस्याञ्चित् पुनरुपमेयरूपो भवितुमर्हति विरोधाभा-

वादिति भावः। अत्र 'चन्द्रस्य सदृशम्' अर्थात् चन्द्रस्य सादृश्यं वहति इत्युक्तौ सादृश्यं चन्द्रस्य सम्बन्धि भवति तदाधारश्चोपमानं भवति [चन्द्रसम्बन्धि सादृश्यं गृह्यते तस्याधारः चन्द्र एव स्यात्] सादृश्यस्य (उपमायाः) निरूपकं च उपमेयं भवति' इति सरलाकारकृतं विवरणं युक्तमयुक्तं वेति साहित्यमर्मज्ञैरेव निश्चेयम्।

एक शङ्का और उसका समाधान लिखते हैं—न च इत्यादि। 'उससे सदृश है' ऐसा कहने पर 'उससे' का अर्थ चन्द्र आदि का उपमान होना और 'सदृश'पद का अर्थ मुख आदि का उपमेय होना प्रतीत होता है, क्योंकि 'उससे' इस तृतीयान्त से उपमा के निरूपक का बोध होता है और उपमा का निरूपक होता है उपमान। इसी तरह 'उसका सदृश' ऐसा कहने पर 'उसका' का अर्थ सादृश्य का सम्बन्धी—आश्रय—मुख आदि का उपमेय होना और 'सदृश' पद का अर्थ—उपमानिरूपक—चन्द्र आदि का उपमान होना विदित होता है। इस स्थिति में 'लता तव सदृशी, अर्थात् लता तेरे सदृश है' इस शब्द से साफ 'तेरे' का अर्थ नायिका का उपमेय होना और लता का उपमान होना ज्ञात होगा फिर मूल में लता को उपमेय बतलाना असङ्गत है इस शङ्का का उत्तर यह है कि—हाँ, उक्त धर्मभूत उपमा में लता की उपमानता जो प्रतीत होती है वह सर्वथा ठीक है, किन्तु साथ ही 'यथा-तथा' पद से प्रतिपादित होने वाली प्रधान उपमा में उसकी (लता की) उपमेयता भी ठीक ही है। सारांश यह कि मूल में प्रधान उपमा के हिसाब से लता को उपमेय कहा गया है, अतः वह ठीक है और आपने जो लता के उपमेय होने की बात कही है, वह धर्मभूत गौण उपमा के हिसाब से, अतः वह भी ठीक ही है। तात्पर्य यह कि एक भी वस्तु, एक ही जगह अनेक उपमाओं के रहने पर किसी उपमा का उपमान और किसी उपमा का उपमेय हो सकती है, इसमें कोई विरोध नहीं होता।

पुनः प्रकारान्तरं सूचयति—

एवमन्येऽपि प्रकाराः।

पूर्वोक्तप्रकारवत् प्रकारान्तरमपि सम्भवतीति भावः।

जिस तरह पूर्व के अभिनव प्रकार सब उपमा के हुए हैं, उसी तरह और भी नवीन प्रकार उसके हो सकते हैं।

तत्प्रकारान्तरमेवोदाहरणप्रदर्शनेन स्पष्टयति—

'यथा तवाननं चन्द्रस्तथा हासोऽपि चन्द्रिका।
यथा चन्द्रमसश्चन्द्रस्तथा त्वं सदृशी तव॥'

यथा तव मुखं चन्द्राभिन्नम्, तथा तव हासोऽपि ज्योत्स्नाऽभिन्न एव। अपि च यथा चन्द्रतुल्यश्चन्द्र एव नापरस्तथा त्वत्सदृशी त्वमेव नान्येत्यर्थः। अत्र पूर्वार्धे द्वयोरूपकयोरुत्तरार्धे च द्वयोरनन्वययोरुपमा। एवञ्च विलक्षण एवायमलङ्कारेणालङ्कारस्योपमायाः प्रभेद इति भावः।

पूर्वसंभावित उपमा के प्रकारान्तर को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—यथा इत्यादि। कोई नायक नायिका से कहता है—(हे प्रिये) जैसे तेरा मुख चन्द्रमा है वैसे तेरी हँसी भी चाँदनी है, और जैसे चन्द्रमा चन्द्रमा के समान है-अर्थात् उसका कोई दूसरा उपमान नहीं है, वैसे तू तेरे सदृश है—अपने जैसी आप ही है—अर्थात् तेरी भी तुलना किसी अन्य वस्तु से नहीं हो सकती। यहाँ पूर्वार्ध में दो रूपकों की उपमा है और उत्तरार्ध में दो अनन्वयों की। अतः अलङ्कारों में परस्पर उपमानोपमेय भाव वाला यह एक विलक्षण ही उपमा का प्रभेद सिद्ध होता है।

उपसंहरति—

एभिर्भेदैः प्रागुक्तानां सधर्माणां भेदानां यथासम्भवं गुणने बहुतरा भेदा भवन्ति।

अनुपदं ये भेदा उक्ता ये च धर्मवैलक्षण्यमूलाः प्रागुक्ताः ये च प्राचीनाभिमता पूर्णा-लुप्तादयः प्रभेदा दर्शितास्तेषां सर्वेषां परस्परं गुणनेऽतिप्रभूता उपमाभेदा जायन्त इति भावः।

अभी जो कुछ भेद दिखलाये गये हैं, तथा धर्मवैलक्षण्यमूलक कुछ भेद पहले जो कहे गए हैं और पूर्णा-लुप्ताभेद से प्राचीनों के अभिमत जितने भेद गिनाए गये हैं, उन सबों को गुणित करने पर उपमा के बहुतेरे भेद हो जाते हैं।

पुनः प्रकारान्तरेण उपमाया भेदं कुरुते—

तथा धर्माणां वाच्यतायां वाच्यधर्मा बहुधोक्ता। व्यङ्ग्यत्वे व्यङ्ग्यधर्मा धर्मलोपे गदितैव। लक्ष्यतायां यथा—

अयं भावः—उपमायामपेक्षिताः साधारणधर्माः क्वचिद् वाच्याः, कुत्रचित् लक्ष्याः, कुत्रचिच्च व्यङ्ग्या भवितुमर्हन्ति, तदनुसारमुपमा वाच्यधर्मा, लक्ष्यधर्मा, व्यङ्ग्यधर्मा चेति त्रिविधा भवति, तत्र वाच्यधर्माया उपमाया अनेकान्युदाहरणानि प्रागुल्लिखितानि, व्यङ्ग्य-धर्माया अपि धर्मलोपोदाहरणप्रदर्शनावसरे कथितान्येवोदाहरणानि, लक्ष्यधर्माया उदा-हरणदानं परमवशिष्यते, अतस्तदुपक्रममारचयतीति।

पुनः प्रकारान्तर से उपमा के भेद दिखलाने के लिये लिखते हैं—तथा इत्यादि। उपमा का एक आवश्यक अङ्ग साधारणधर्म तीन प्रकार का हो सकता है-एक वाच्य, दूसरा लक्ष्य और तीसरा व्यङ्ग्य। तदनुसार उपमा भी तीन प्रकार की कही जा सकती है-एक वाच्यधर्मा-जहाँ धर्म वाच्य अर्थात् अभिधावृत्तिबोध्य हो, दूसरी लक्ष्यधर्मा-जहाँ धर्म लक्षणा से विदित होता हो और तीसरी व्यङ्ग्यधर्मा-जहाँ धर्म की प्रतीति व्यञ्जना से होती हो। उनमें प्रथम (वाच्यधर्मा) के बहुतेरे उदाहरण पहले ही दिए जा चुके हैं और तृतीय (व्यङ्ग्यधर्मा) के उदाहरण भी धर्मलुप्तोपमा के प्रकरण में कह दिये गये हैं, अतः द्वितीय (लक्ष्यधर्मा) का उदाहरण दिखलाना अवशिष्ट है, वह जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'सर्प इव शान्तमूर्तिः श्वेवायं मानपरिपूर्णः।
क्षीब इव सावधानो मर्कट इव निष्क्रियो नितराम्॥'

कश्चिदाक्षिपन् वक्ति—अयम् आक्षेप्तव्यः कश्चित् पुरुषविशेषः, सर्प इव शान्तमूर्तिः शान्तिमयकायः, श्वा कुक्कुरः, इव, मानेन संमानेन, परिपूर्णः सर्वतोभावेन संयुक्तः, क्षीबः उन्मत्तः, इव, सावधानः सतर्कः, मर्कटः वानरः, इव, नितराम् सर्वथा, निष्क्रियः निश्चेष्टः वर्तत इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—सर्प इत्यादि। कोई किसी पर आक्षेप करता हुआ कहता है—यह साँप की तरह शान्तमूर्ति है, कुत्ते की तरह सम्मानपूर्ण है, पागल की तरह सावधान है, और बन्दर की तरह अत्यन्त निश्चेष्ट है—चुपचाप बैठा रहता है।

उपपादयति—

इत्यत्रोपमानमहिम्ना शान्तमूर्त्यादिशब्दैर्विरुद्धा धर्मा लक्ष्यन्ते।

उपमानमहिम्नेति। उपमानेषु सर्पादिषु शान्तमूर्तित्वादेरभावादिति भावः। धर्मा लक्ष्यन्ते इति। लक्ष्यतावच्छेदकेऽपि लक्षणेति मतेनेदम्। सर्पादयोऽत्रोपमानभूताः

पदार्थास्तादृशाः सन्ति, यत्र शान्तमूर्तित्वादिकं नास्ति, प्रत्युत तद्विरुद्धमशान्तमूर्तित्वादिकमेवास्ति, अतस्तादृशोपमानप्रभावेण उपमेयेऽपि इदंपदार्थे लक्षणया शान्तमूर्तित्वादिविरुद्धा एव धर्माः प्रतीयन्ते, तथा च अशान्तमूर्तित्व-तिरस्कारपात्रत्व-प्रमत्तत्व-चपलत्वानि, क्रमशः शान्तमूर्तिमानपरिपूर्णसावधाननिष्क्रियपदानां लक्ष्यार्थभूतानि, अत्र सर्पादैरिदं पदार्थस्य चोपमायां साधारणधर्मभूतानीति भावः ।

उपपादन करते हैं—इत्यत्र इत्यादि। 'सर्प इव—' इस पद्य में सर्प आदि ऐसे उपमान कहे गये हैं, जिनमें शान्तमूर्तित्व आदि वर्णित धर्म तो नहीं ही रहते, प्रत्युत उसके विरुद्ध अशान्तमूर्तित्व आदि ही रहते हैं, अतः ऐसे उपमानों के बल से शान्तमूर्ति, मानपरिपूर्ण, सावधान और निष्क्रिय पदों की क्रमशः अपने विरुद्ध धर्म-अशान्तमूर्तित्व, तिरस्कृतत्व, असावधानत्व और चञ्चलत्व में लक्षणा करनी पड़ती है, जिससे यह अर्थ सिद्ध होता है कि यह सर्प के समान अशान्त, कुत्ते के समान तिरस्कृत, पागल के समान असावधान और बन्दर के समान चपल है। इस तरह यहाँ सर्प आदि के साथ एक पुरुषविशेष की जो उपमा दी गई है उसमें अशान्तमूर्तित्व आदि लक्ष्य धर्म साधारण होते हैं।

उपमाया उपस्कारकत्वं पर्यालोचयितुमाह—

इयं चोपमा मुख्यार्थस्य क्वचित्साक्षादुपस्कारिणी क्वचिच्चोपस्कारकान्तरोपस्करणद्वारा। तत्र साक्षादुपस्कारिणी प्राग् बहुधोदीरिता।

'सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकं सादृश्यमुपमा' इति प्रकृतोपमालक्षणम्। तथा चोपमाया उपस्कारकत्वं नियतम्। तच्चोपस्कारकत्वं द्विधा सम्भवति साक्षात् परम्परया च। तत्र साक्षादुपस्कारकत्वं प्रागुदाहृतेषु पद्येषु विदितपूर्वमेवेति न पुनरिह तदुदाहरणप्रदर्शनमपेक्षितमिति भावः।

उपमा की उपस्कारकता की पर्यालोचना करने के लिये कहते हैं—इयं च इत्यादि। प्रकृत उपमालक्षण में खास कर उपमा का उपस्कारक होना बतलाया गया है—अर्थात् उपमा मुख्य अर्थ को उपस्कृत (शोभित) करती है यह बात निश्चित है, अतः इसके विषय में यह एक समझ लेने की बात है कि उपमा कहीं साक्षात् मुख्य अर्थ को उपस्कृत करती है और कहीं परम्परा से अर्थात् मुख्य अर्थ को उपस्कृत करनेवाले किन्हीं दूसरे पदार्थ (वस्तु अथवा अलङ्कार) को उपस्कृत करने के द्वारा। उनमें साक्षात् उपस्कारक उपमा के अनेक उदाहरण पहले दिखलाये जा चुके हैं।

परम्परयोपस्कारिकामुपमामुदाहर्तुमाह—

परम्परया यथा—

मुख्यार्थोपस्कारकान्यपदार्थोपस्करणद्वारा मुख्यार्थोपस्कारकोपमायाः प्रकारोऽभिधीयत इति भावः।

परम्परया मुख्य अर्थ को उपस्कृत करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> **'नदन्ति मददन्तिनः परिलसन्ति वाजिव्रजाः**
> **पठन्ति विरुदावलीमहितमन्दिरे बन्दिनः।**
> **इदं तदवधि प्रभो यदवधि प्रवृद्धा न ते**
> **युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणद्युतिः॥'**

कविर्नरपतिं स्तौति—हे प्रभो! अहितानां तव शत्रूणां, मन्दिरे भवने, मददन्तिनः मदमत्ता गजाः नदन्ति चीत्कारं कुर्वन्ति, वाजिव्रजाः अश्वगणाः, परिलसन्ति शोभन्ते,

एवम् , वन्दिनः स्तुतिपाठकाः पुरुषाः, विरुदावलीम् कीर्तिगाथाम् , पठन्ति उच्चारयन्ति । परमिदं सर्वम् , तदवधि तावत्कालपर्यन्तम् , यदवधि यावत्कालपर्यन्तम् , युगान्तदहनोपमा प्रलयकालिकानलतुल्या, ते तव, नयनयोः नेत्रयोः, कोणयोः कोणभागयोः, शोणा अरुणा, द्युतिः कान्तिः, न, प्रवृद्धा अधिका, अभूत् इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—नदन्ति इत्यादि । किसी राजा की स्तुति कवि करता है—हे प्रभो ! आपके मन्दिर (घर) मदमत्त हाथी तुमुल नाद करते हैं, अश्वों के समूह शोभित होते हैं और बन्दीजन विरुदावली (यशोगाथा) पढ़ते हैं। परन्तु ये सब तब तक हैं, जब तक कि प्रलयकालिक अग्नि के समान आपके नेत्रकोण की अरुण आभा बढ़ी नहीं है ।

उपपादयति—

अत्र मुख्यार्थस्य राजविषयायाः कविरतेरुपस्कारकस्य यदैव तव कोपोदयस्तदैव रिपूणां सम्पदो भस्मसाद् भविष्यन्तीति वस्तुन उपस्कारिका नयनकोणशोणद्युतेर्युगान्तदहनोपमा ।

नदन्तीति पद्ये कविनिष्ठा राजविषयिणी रतिः (भावः) प्रधानतयाऽभिव्यज्यते इति स एव मुख्यार्थः, तस्य च 'शत्रुसम्पदो नयनकोणशोणद्युतिप्रवृद्ध्यवधिकत्वकथनेन' व्यज्यमानम् 'तव कोपोदये क्षणेनैव शत्रूणां सम्पत्तयो भस्मीभूता भवेयुः' इति वस्तूपस्कारकम्, तस्य चोपस्कारिका नयनकोणशोणद्युत्युपमेयिका प्रलयकालिकाग्न्युपमानिकोपमा एवञ्चोपमाया अस्याः परम्परया मुख्यार्थीभूतभावोपस्कारकत्वं सिद्धमिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'नदन्ति—' इस पद्य से प्रधानतया भाव (कवि का राजा के विषय में प्रेम) अभिव्यक्त होता है, अतः वही (भाव ही) यहाँ मुख्य वाक्यार्थ समझा जायगा । इस मुख्य वाक्यार्थ को शोभित करता है 'जभी तेरा क्रोध उदित होगा, तभी शत्रुओं की सभी सम्पत्तियाँ भस्मीभूत हो जायँगी' यह वस्तुव्यङ्ग्य, जो 'हाथी आदि शत्रुसमृद्धि तब तक है जब तक आपकी आँखों की लाल कान्ति नहीं बढ़ी' इस वर्णन से विदित होता है और इस वस्तुव्यङ्ग्य को शोभित करनेवाली है नयनकान्ति में दी गई प्रलयकालिक अग्नि की उपमा । अन्ततः इस उपमा का परम्परया मुख्य अर्थ (उक्तभाव) का उपस्कारक होना सिद्ध हो गया ।

भेदान्तरप्रतिपादनाय स्पष्टीकुरुते—

इयं चेवयथावादिशब्दैर्वाचकैः प्रतिपादिता वाच्यालङ्कारः । लक्ष्यापि चालङ्कुर्वाणा दृश्यते ।

इयमुपमा यदा सादृश्यवाचकैः इव-यथा-वाप्रभृतिभिः शब्दैः प्रतिपाद्यते, तदा वाच्यालङ्कारः कथ्यते । यदा पुनः लक्षणया प्रतिपाद्यते—लाक्षणिकशब्दैर्यदा सादृश्यप्रतीतिर्भवति, तदापि अलङ्काररूपा स्वीक्रियत इति भावः ।

भेदान्तर सिद्ध करने के लिये एक स्पष्टीकरण करते हैं—इयं चेव इत्यादि । यह उपमा, जब सादृश्यवाचक शब्द इव, यथा, वा आदि के द्वारा वर्णित होती है, तब वाच्य अलङ्कार कहलाती है । परन्तु यह उपमा लक्ष्य होकर भी अलङ्काररूप होती हुई दीख पड़ती है-अर्थात् लाक्षणिक शब्दों के द्वारा सादृश्य की लक्ष्यरूप में उपस्थिति होने पर भी उपमा, अलङ्कार होती है ।

वाच्योपमायां उदाहरणानि पूर्वोदाहृतानि सर्वाणि पद्यानि । लक्ष्योपमाया उदाहरणप्रदर्शनायाह—

यथा—

लक्ष्योपमा-प्रकारोऽभिधीयत इति भावः ।

वाच्य उपमा के उदाहरण वे सभी पद्य होते हैं, जो पहले उदाहृत हो चुके हैं, लक्ष्य उपमा का उदाहरण जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'नीवीं नियम्य शिथिलामुषसि प्रकाश-
मालोक्य वारिजदृशः शयनं जिहासोः।
नैवावरोहति कदापि च मानसान्मे
नाभेर्निभा सरसिजोदरसोदरायाः॥'

नायको निजसुहृदं प्रति प्रतिपादयति—उषसि प्रभातसमये, प्रकाशम् सूर्यागमसूचिकामुज्ज्वलताम्, आलोक्य दृष्ट्वा, रात्रिसमाप्तिसूचकप्रकाशदर्शनानन्तरमिति यावत्, नीवीम् कटिप्रदेशस्थिताधोवस्त्रग्रन्थिम्, नियम्य बध्वा, शयनं शय्यां, जिहासोः हातुमिच्छोः वारिजदृशः कमलनयनायाः, नायिकायाः, सरसिजोदरसोदरायाः कमलगर्भसमानायाः, नाभेः उदरगतगर्तविशेषस्य, निभा शोभा, कदापि कस्मिंश्चिदपि क्षणे, मे मम, मानसात् हृदयात्, नैव, अवरोहति अपयाति इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—नीवीम् इत्यादि। नायक अपने मित्र से कहता है—रात बीत चुकी थी। प्रभातकालिक प्रकाश फैलता आ रहा था। कमलतुल्य लोचन वाली वह कामिनी, रात के रतिसम्मर्द से, शिथिलित नीवी (वस्त्रग्रन्थि) को नियमित (बाँध) कर शय्या छोड़ना चाहती थी। उस काल में, कमलगर्भ की सगी बहन, उस की नाभि की जो शोभा दीख पड़ी, वह मेरे हृदय से, कभी उतरती ही नहीं।

उपपादयति—

अत्रैकोदरप्रभवत्वरूपस्य मुख्यार्थस्य बाधात्तदीयशोभालक्षणसमानांशहरत्वस्य प्रयोजनस्य सत्त्वात्सोदरपदेन सदृशो लक्ष्यते। आर्थी च तत्रोपमा प्रतीयमाना। अवरोहतिलक्ष्यस्य विषयतया स्मृतिशून्यीभवनस्य निषेधेन प्रतीयमानायाः स्मृतेरुपस्कारिका।

अत्रेति। 'नीवीम्–' इति पद्य इत्यर्थः। मुख्यार्थस्येति। सोदरपदेत्यादिः। शोभालक्षणेति। शोभारूपो यः समानः अंशः = भागः तद्धरत्वस्येत्यर्थः। तत्र नाभौ। प्रतीयमानेति। अस्तीति शेषः। अवरोहतिलक्ष्यस्येति। तत्पदलक्ष्यार्थस्येत्यर्थः। विषयतया स्मृतिशून्यीभवनस्येति। विषयतासंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्मृत्यभावस्येत्यर्थः। 'नीवीं नियम्य–' इति पद्ये सोदरपदस्यैकोदरजन्यत्वं वाच्योऽर्थः, स च प्रकृते बाधितः, नाभौ तस्यासंभवात्, अतस्तत्(सोदर)पदं सदृशरूपार्थे लाक्षणिकमङ्गीक्रियते। लक्षणा चेयं प्रयोजनमूला। प्रयोजनञ्च सरसिजोदरशोभात्मकसमानभागहारित्वम्। यथा सोदरः पितुः समीपात् अपरस्य सोदरस्य समानभागहारी भूत्वा समागच्छति, तथैवेयं वर्णितनायिकानाभिः कमलोदरशोभासमानभाग् भूत्वा समागतेति लक्षणायाः प्रयोजनरूपेण प्रतीयत इति तात्पर्यम्। एवञ्च लक्षणया सोदरपदात्सादृश्योपस्थितौ कमलोदरनाभ्योरुपमाऽवगता भवति। तत्र समानशोभाशालित्वमर्थभूतं साधारणो धर्मः, अत एवेयमुपमा आर्थी। उपस्कारिका च सा पद्यप्रधानव्यङ्ग्यस्य स्मृतिमात्रस्य। ननु स्मृतिरत्र कथं प्रतीयेतेति चेन्न, बाधितावतरणात्मकमुख्यार्थस्य 'अवरोहति' इति क्रियापदस्य विषयतया स्मृतिशून्यीभवनरूपार्थे लक्षणाऽङ्गीकारेणाप्यङ्गीकरणीयैव। तथा च तत्पदबोध्यस्य स्मृतिविषयत्वाभावरूपतात्पर्यार्थस्य 'न' इति निषेधेन स्मृतेः सुप्रतीयमानत्वादिति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'नीवीं नियम्य—' इस पद्य में नाभि का विशेषण दिया गया है—सरसिजोदरसोदर—कमलगर्भ की सगी बहन, जिसका मुख्य (अभिधावृत्ति-बोध्य—वाच्य) अर्थ होता है—'एक पेट से उत्पन्न होनेवाली।' परन्तु यह मुख्य अर्थ यहाँ बाधित—अनन्वित—है, अतः इस पद की 'समान' अर्थ में प्रयोजनमूला लक्षणा करनी पड़ेगी और प्रयोजन है—शोभा में समान भाग ग्रहण करना—अर्थात् विधाता के यहाँ से शोभा के वितरणकाल में दोनों को उसका बराबर हिस्सा मिलना। इस तरह जब सोदर पद की लक्षणा से 'सादृश्य' की उपस्थिति होती है, तब यहाँ आर्थी—अर्थमूलक उपमा की सिद्धि होती है। यह लक्ष्य उपमा सम्पूर्ण पद्य से प्रधानतया अभिव्यक्त होने वाले स्मृति-भाव की उपस्कारिका—पोषिका—है। स्मृति यहाँ कैसे अवगत होगी? यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि 'उतरना'रूप मुख्य अर्थ बाधित होने के कारण 'अवरोहति' पद की लक्षणा करनी पड़ती है 'विषयतया स्मृतिशून्यीभवन—नाभिकान्ति के विषय में विस्मरण होने—में, और उसके साथ 'न' के योग से अर्थात् 'विस्मृत होने' के निषेध से स्मृति अभिव्यक्त होती है।

लक्ष्योपमाबोधकशब्दान्तराणि निर्दिश्यन्ते—

एवं प्रतिभटप्रतिमल्लादिशब्दानां तदीयन्यग्भवनतदीयशोभारूपसर्वस्वापहरणादेः प्रयोजनस्य सत्त्वात्सादृश्यवति लक्षणैव, न व्यञ्जना। मुख्यार्थस्य बाधात्। प्रयोजने पुनर्व्यञ्जनैवेति।

यथोक्तस्थले सोदरपदस्य सदृशे लक्षणा, तथैव 'चन्द्रप्रतिभटं मुखम्', 'चन्द्रप्रतिमल्लं मुखम्' इत्यादौ प्रतिभटप्रतिमल्लादिपदानामपि सादृश्यविशिष्टे लक्षणा प्रथमस्थले चन्द्राधःकरणप्रतीतेः द्वितीयस्थले चन्द्रशोभासर्वस्वापहरणप्रतीतेः प्रयोजनत्वात्, केचित् एतादृशस्थले प्रतिभटप्रतिमल्लादिपदेभ्यो व्यञ्जनया सादृश्यविशिष्टार्थप्रतीतिं प्रतिपादयन्ति, तन्न युक्तम्, तेषां शब्दानां मुख्यार्थेषु बाधितेषु समुल्लसति सादृश्यविशिष्टार्थे लक्षणायाः प्रसङ्गेन व्यञ्जनाया अयोगात्। प्रयोजने व्यञ्जनाऽस्तीत्यत्र न केषामपि विमतिः। तथा चैतादृशपदघटितकाव्येष्वपि लक्ष्यभूतोपमा भवतीति भावः।

सोदर पद की तरह अन्य उपमालक्षक शब्दों का निर्देश करते हैं—एवम् इत्यादि। सोदर पद की तरह 'प्रतिभट' 'प्रतिमल्ल' आदि पदों की भी स्थलविशेष में 'उसे नीचा कर देना' 'उसकी शोभारूप सम्पत्ति का हरण कर लेना' आदि प्रयोजन की प्रतीति के लिए 'सदृश' अर्थ में लक्षणा की जाती है। तात्पर्य यह कि—'चन्द्र का प्रतिभट मुख', 'चन्द्र का प्रतिमल्ल मुख' इत्यादि स्थान में भी लक्षणा के द्वारा ही प्रतिभट, प्रतिमल्ल आदि पदों से (चन्द्र) सदृश का बोध होता है। अतः किसी का यह कथन कि ऐसे स्थलों में उक्त पदों से व्यञ्जना के द्वारा सदृश का बोध होता है सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि ऐसे स्थल पर उक्त पदों का मुख्य अर्थ बाधित रहता है और बाधित अर्थ में पद की लक्षणा ही होती है व्यञ्जना नहीं, व्यञ्जना तो अन्य सभी वृत्तियों से अवगत नहीं हो सकने वाले अर्थ में ही मानी जाती है। हाँ, उक्त प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना से ही होती है इसमें किसी का भी मतभेद नहीं हो सकता। सारांश यह हुआ कि उक्त (चन्द्रप्रतिभट मुख आदि) स्थल में भी लक्ष्य उपमा होती है।

व्यङ्ग्यत्वेऽप्युपमाया अलङ्कारत्वं समर्थयति—

क्वचिद् व्यङ्ग्यापि चेयमुपमालङ्कारः।

स्थलविशेषे व्यञ्जनावृत्तिबोध्याऽपि इयमुपमा मुख्यार्थोपस्कारकत्वादलङ्काररूपा भवतीति भावः।

व्यङ्ग्य होने पर भी उपमा अलङ्काररूप होती है, इस बात का समर्थन करते हैं— क्वचित् इत्यादि। कहीं स्थलविशेष में (जहाँ मुख्य अर्थ कोई दूसरा रहता है वहाँ) व्यङ्ग्य होकर भी उपमा, दूसरे को अलंकृत करने के कारण, अलङ्काररूप होती है।

उदाहरणं निर्देष्टुमाह—

यथा—

स्पष्टम्।

जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अद्वितीयं रुचात्मानं मत्वा किं चन्द्र हृष्यसि।
भूमण्डलमिदं मूढ केन वा विनिभालितम्॥'

अयि चन्द्र! त्वं, रुचा कान्त्या, आत्मानम् स्वम्, अद्वितीयम् अनुपमम्, मत्वा स्वीकृत्य, किं, हृष्यसि हर्षमनुभवसि? अनुचितोऽयं तव हर्षानुभव इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—मूढ वस्तुतत्त्वानभिज्ञ! केन जनेन, इदं निखिलं, भूमण्डलम् जगत्, विनिभालितम् विशेषेण दृष्टम्? न केनापीति भावः। अज्ञातेऽत्र भूमण्डलस्य क्वापि प्रदेशे तवोपमानभूतः पदार्थः सम्भवतीति तदर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अद्वितीयमिति। हे चन्द्र! तू अपने को कान्ति से अद्वितीय समझ कर क्या हृष्ट हो रहा है—क्यों इतना इतरा रहा है? अरे मूर्ख! इस विस्तृत जगत् को किसने खोज देखा है—न जाने कहाँ क्या मिल जाय!

प्रसङ्गमवगमयति—

कस्यचिद्विदेशस्थितस्य किरणैरात्मानं सन्तापयन्तं चन्द्रं प्रत्येषोक्तिः।

विदेशस्थितो (विरही) नायकः सन्तापकत्वेनानुभूयमानं चन्द्रमुद्दिश्य 'अद्वितीयम्-' इति पद्यं वक्तीति भावः।

प्रसङ्ग का ज्ञान कराते हैं—कस्यचित् इत्यादि। 'अद्वितीयम्-' यह पद्य, किसी विदेशवासी—अर्थात् विरही नायक का, किरणों से अपने को संतप्त करते हुए चन्द्रमा के प्रति कथन है।

उपपादयति—

अत्र च अस्ति मम प्रियायाः कदापि बहिरनिर्गतायाः, अत एव त्वयाप्यदृष्टाया आननं त्वत्सदृशमिति प्रतीयमाना उपमा मूढपदेन ध्वन्यमानायां चन्द्रविषयायां वक्तृगतायामसूयायामलङ्कारः।

अत्र चेति। प्रतीयमानेत्यत्रास्यान्वयः। प्रतीयमाना उपमेति। अत्र 'अत्रोपमानस्योपमेयत्वकल्पनात्मकप्रतीपस्यैव व्यङ्ग्यत्वम् मूढपदस्वारस्यात्, चमत्कारातिशयाच्च, 'किं हृष्यसि' इत्येतत्स्वारस्याच्चेति केचित्' इति नागेशः। 'अद्वितीयम्—' इति पद्ये उत्तरार्धेनोपमा व्यज्यते। या मम प्रेयसी दूरस्थिता कदापि भवनाद् बहिः पदं न दधाना त्वया न दृष्टा, तस्या मुखं तव समानमिति तस्या उपमाया आकारः। एवं रीत्या व्यङ्ग्यापीयमुपमा अलङ्काररूपा, मूढपदाभिव्यज्यमानचन्द्रविषयकवक्तृपुरुषनिष्ठासूयाभावस्य मुख्यवाक्यार्थस्योपस्करणादिति।

उपपादन करते हैं—अत्र च इत्यादि। 'अद्वितीयम्—' इस पद्य में उत्तरार्ध से उपमा अभिव्यक्त होती है—अर्थात् यह अभिव्यक्त होता है कि मेरी प्रियतमा, जो कभी घर से बाहर नहीं निकली अतएव जिसे तू भी देख नहीं पाया, उसका मुख तेरे समान है।

इस तरह व्यङ्ग्य होकर भी यह उपमा इसलिये अलङ्काररूप होती है कि-वह, मूढ पद से ध्वनित होने वाली चन्द्रमा के विषय में वक्ता की 'असूया' (भाव)—जो इस पद्य का मुख्य वाक्यार्थ है—को उपस्कृत-अलंकृत-करती है।

दीक्षितमतं समीक्षते—

एतेनाप्पयदीक्षितैरुपमालक्षणे दत्तमव्यङ्ग्यत्वविशेषणमयुक्तमेव। नहि व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोरस्ति कश्चिद्विरोधः। प्राधान्येन व्यङ्ग्यतायां तु प्रधानत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधादलङ्कारलक्षणं तत्र मातिप्रसाङ्क्षीदित्युपस्कारकत्वेन पुनर्विशेषणीयम्, न त्वव्यङ्ग्यत्वेन, प्रागुक्तायामसूयालङ्कारोपमायामव्याप्त्यापत्तेः। विशिष्टोपमादिस्थले विशेषणाद्युपमानां वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्, सिद्धार्थस्योपस्करणाभावात्तु नालङ्कारत्वमिति न काप्यसङ्गतिः।

एतेनेति। एतेनापीत्यर्थः। अपिना प्रागुक्तदूषणसमुच्चयः। प्राधान्येन व्यङ्ग्यतायामिति। अलङ्कारस्यैव प्राधान्येन व्यङ्ग्यतायामित्यर्थः। मातिप्रसाङ्क्षीदिति। नातिप्रसक्तं स्यादित्यर्थः। यद्यव्यङ्ग्यस्यैव सादृश्यस्योपमात्वं स्वीकृतं स्यात्तदा 'अद्वितीयम्—' इति पद्यस्थितासूयापोषिकाया व्यङ्ग्योपमायाः संग्रहो न स्यात्, अतः उपमालक्षणघटकसादृश्यविशेषणतया दीक्षितैः कृतोऽव्यङ्ग्यत्वनिवेशोऽनुचितः। युक्तं चैतत्, यतो व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधो नास्ति, तयोर्विरोधे वाच्यत्वालङ्कारत्वयोरपि विरोधः कुतो न भवेत् विशेषाभावात्? सत्यं त्वेतत्, यत् प्रधानत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधोऽस्ति, प्रधानस्यालङ्कार्यत्वेनालङ्कारत्वासम्भवात्, अतो यत्र प्रधानतयाऽलङ्कार एवाभिव्यज्यते, तत्र तादृशोपमादावलङ्कारलक्षणप्रसक्तिनिरासाय सर्वेष्वलङ्कारलक्षणेषु वाक्यार्थोपस्कारकत्वं निवेशनीयम्। ननु बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नसाधारणधर्मादिमूलिका या उपमाः प्रागुक्तास्तत्र बिम्बप्रतिबिम्बभूतयोर्विशेषणयोरपि उपमा भवत्येव, परन्तु सा व्यङ्ग्या, एवञ्च तद्वारणाय लक्षणेऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणं दीक्षितोक्तं युक्तमिति चेन्न, एवंविधोपमायाः वाच्यप्रधानीभूतोपमा[illegible]तया वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति पूर्वसिद्धार्थशोभाधायकत्वविरहेण तत्रालङ्कारत्वस्यैवासत्त्वान् [illegible] भवति, सादृश्यवान्तरोपमा तु साध्यमानप्रधानोपमा[illegible]।

अप्पयदीक्षित के मत की समीक्षा करते हैं—एतेन इत्यादि। 'अद्वितीयम्–' इत्यादि, व्यङ्ग्य उपमा के लक्ष्य प्राप्त होने से यह सिद्ध होता है कि-अप्पयदीक्षित ने अलङ्काररूप उपमा के लक्षण में 'अव्यङ्ग्यत्व' विशेषण जो लगाया है अर्थात् उन्होंने जो यह सिद्ध किया है कि व्यङ्ग्य न होने पर ही 'सादृश्य' 'उपमा' है, वह सर्वथा अनुचित है क्योंकि व्यङ्ग्यता अलङ्कारता में कोई विरोध नहीं है। विरोध यदि है तो प्रधानता और अलङ्कारता में-अर्थात् प्रधान अर्थ अलङ्कार नहीं हो सकता। फलतः प्रधान व्यङ्ग्य अलङ्कार नहीं हो सकता। यही वास्तविक बात हुई, अतः प्रधान व्यङ्ग्य में अलङ्कार का लक्षण सङ्घटित नहीं हो इसके लिए उपाय करना आवश्यक है, सो, उसके लिए क्या उपमा क्या अन्य अलङ्कार सभी अलङ्कारों के लक्षणों में 'वाक्यार्थोपस्कारक'-अर्थात् 'मुख्य वाक्यार्थ को शोभित करने वाला-विशेषण जोड़ना चाहिए, 'अव्यङ्ग्य' 'व्यङ्ग्य न रहना' यह विशेषण नहीं, क्योंकि यदि 'वाक्यार्थोपस्कारक' की जगह 'अव्यङ्ग्य' यह विशेषण जोड़ा जायगा, तब उक्त 'असूया' को अलंकृत करने वाली व्यङ्ग्य उपमा में उपमालक्षण की अव्याप्ति हो जायगी-अर्थात् 'अद्वितीयम्' इस पद्य में जो व्यङ्ग्य होकर भी प्रधान नहीं है और प्रधान 'असूया' को अलंकृत भी करती है, उस उपमा का अलङ्काररूप में संग्रह नहीं हो सकेगा। 'वाक्यार्थोपस्कारक' विशेषण से तो दोनों

चालें बन जाती हैं—अर्थात् जो उपमा प्रधान रूप में अभिव्यक्त होगी, उसका निराकरण भी होगा क्योंकि उस तरह की उपमा वाक्यार्थोपस्कारक नहीं होगी-स्वयं वाक्यार्थ-रूप रहेगी, और उक्त असूयोपस्कारक उपमा का संग्रह भी होगा, क्योंकि यहाँ 'असूया' प्रधान वाक्यार्थ है और उसको अलंकृत करने वाली उपमा व्यङ्ग्य होकर भी अप्रधान ही है। आप कहेंगे-यदि 'अव्यङ्ग्य' के बदले 'वाक्यार्थोपस्कारक' विशेषण उपमालक्षण में जोड़ा जायगा, तब विशिष्टोपमा-अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारण धर्म से बनने वाली उपमा आदि अलङ्कारों के स्थल पर बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न विशेषणों की परस्पर होने वाली व्यङ्ग्य उपमा के वारण के लिये 'अव्यङ्ग्य' विशेषण लगाना ही उचित है, क्योंकि प्रधान उपमा के उपस्कारक होने के कारण 'वाक्यार्थोपस्कारक' विशेषण से उसका वारण नहीं हो सकता, तो यह कथन अकिञ्चित्कर है, क्योंकि वैसे स्थलों पर यह विशेषणों की उपमा, वाच्य प्रधान उपमा के साधक होने से वाच्यसिद्धि का अङ्ग होती है, अतएव उसको गुणीभूत व्यङ्ग्य मानना पड़ेगा और इस स्थिति में वह अलङ्कारूप हो ही नहीं सकती, क्योंकि किसी पूर्वसिद्ध अर्थ को अलंकृत करने के कारण ही कोई अर्थ अलङ्काररूप होता है और यह विशेषणों की उपमा (सादृश्य) किसी पूर्वसिद्ध अर्थ को अलंकृत करती नहीं, अर्थात् यह जिस प्रधान उपमा को अलंकृत करती है, वह पूर्व सिद्ध अर्थ नहीं है, अपितु स्वयं साध्यरूप है। फलतः 'अलङ्कार' इस नामकरण से ही उस उपमा का वारण हो ही जायगा, उसके लिये 'अव्यङ्ग्य' विशेषण की लक्षण में आवश्यकता नहीं है।

पुनरन्यामप्पयदीक्षितोक्तिं समीक्षते—

यच्चापि "सेयमुपमा संक्षेपतस्त्रिविधा—क्वचित्स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता। यथा 'सच्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुः' इत्यादौ। क्वचिदुक्तार्थोपपादनपरा। यथा 'अनन्तरत्नप्रभवस्य' इत्यादौ। क्वचिद् व्यङ्ग्यप्रधाना सा" इति तैरेव द्रविड-शिरोमणिभिरभ्यधीयत। तदप्यहृद्यमेव। 'नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दु-प्रतिमं मुखं तव' इति वाच्यवस्तूपस्कारिकायाः शरदिन्दूपमाया अक्रोडीकरणात्। अलङ्कारभूतोपमासु स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ताया उपमायाः सङ्ग्रहे को नाम ध्वन्य-मानायास्तस्या निरासायाव्यङ्ग्यत्वविशेषणदानदुराग्रहः? अहो महदेवेदमन्या-य्यम्—यदलक्षणीयायाः सङ्ग्रहः, लक्षणीयायाश्चासङ्ग्रह इति। प्राचीनानां तूपमा-सामान्यं लक्षयतां ध्वन्यमानाया इवास्या अपि सङ्ग्रहो नानुचितः। न तु स्वस्य यत्नेन ध्वन्यमानोपमां निरस्य कण्ठरवेणालङ्कारभूतोपमालक्षकस्य। यदि च प्रबन्धव्यङ्ग्योपस्कारकत्वेनेयं सङ्गृह्यत इत्युच्यते, तदा 'स्ववैचित्र्यमात्रविश्रा-न्ता' इति स्वोक्तिर्विरुद्धा स्यात्। 'अनन्तरत्नप्रभवस्य' इत्यत्र गुणसमूहसमा-नाधिकरण एको दोषो दोषत्वेन न स्फुरतीत्यस्यार्थस्य पूर्वार्धप्रतिपादितार्थ-समर्थनात्मकस्य सामान्यरूपस्य विशेषरूपोदाहरणप्रदर्शनमन्तरेण सम्यगना-कलनादिन्दुकिरणसमानाधिकरणोऽङ्क उदाहृतः, न तूपमानतया निर्दिष्टः, सा-मान्याद्विशेषस्य भेदाभावेनोपमितिक्रियाया अनिष्पत्त्या उपमालङ्कृतेरत्रानवता-रादुदाहरणालङ्कारोऽयमतिरिक्तः। यथा 'इको यणचि' इति वाक्यार्थस्य सामा-न्यस्य विज्ञानायोदकोकारे दधीकारस्य य इति वाक्यान्तरेण तद्विशेष उदाह्रियते तद्वदत्रापीति तत्प्रसङ्गे विवेचयिष्यामः।

सच्छिन्नमूल इति। 'सच्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः। अङ्गारशे-षस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाऽवभासे' । इति सम्पूर्णम् पद्यम्। (रघुवंशे सप्तम-

सर्गे) अजस्य रणवर्णनमिदं कविः कथयति—क्षतजेन रुधिरेण, छिन्नमूलः कृतमूलदेशविच्छेदः, तस्य रुधिरस्य, उपरिष्टात् उपरिभागे, पवनावधूतः, वायुप्रेरितः स अश्वखुरपुटोत्थितः, रेणुः धूलिः, अङ्गारशेषस्य अङ्गारमात्रावस्थया स्थितस्य, हुताशनस्य अग्नेः, पूर्वोत्थितः अङ्गारावस्थातः प्राक् धूमावस्थायां प्रसृतः, धूमः, इव, अवभासे शुशुभे। इति तदर्थः। अनन्तरत्नेति। 'अनन्तरत्नप्रभवस्य तस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्। एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥' इति सम्पूर्णः श्लोकः। (कुमारसंभवे हिमालयवर्णनमिदम्—हिमं प्रालेयम्, अनन्तरत्नप्रभवस्य अगणनीयरत्नोत्पत्तिस्थानभूतस्य, यस्य हिमालयस्य, सौभाग्यविलोपि सौन्दर्यनाशकं, न, जातम् अभूत्, हि यतः, गुणसन्निपाते गुणसमूहे, एको, दोषः, इन्दोः चन्द्रमसः, किरणेषु ज्योत्स्नासु, अङ्कः कलङ्कः, इव, निमज्जति विलीयत इति तदर्थः)। तैरेवेति। अप्पयदीक्षितैरेवेत्यर्थः। द्रविडशिरोमणिभिरिति। द्रविडदेशीयजनमुख्यैरित्यर्थः। एतेन तस्य तद्देशीयत्वं प्रतीयते। स्वस्येति। तवेत्यर्थः। नानुचित इत्यस्यानुषङ्गः। तथा च नानुचितो न—अनुचित एवेति भावः। इयमिति। स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्तेत्यर्थः। विरुद्धा स्यादिति। अत्र "वस्तुतस्तु उपमासामान्यलक्षणस्यापि प्रकृतत्वेनोपमासामान्यस्यैवायं विभागः। उपमानोपमेयतावच्छेदकयोर्भेदाच्चास्त्येवोपमितिनिष्पत्तिः। अत एव सैवमुपमेत्येवोक्तम्, न अलङ्कार इति। 'नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुखं तव' इत्यत्र तु उक्तार्थोपपादनपरैव मुखकर्तृकनयनकर्मकशिशिरीकरणस्य कव्युक्तस्येन्दूपमयैवोपपत्तेः। उक्तार्थोपपादनेत्यस्य चोक्तार्थस्योपपादनमुक्तार्थे चोपपादनमित्यर्थद्वयम् विनिगमनाविरहात् इति न दोष इति चिन्त्यमिदमिति बोध्यम्।" इति नागेशः। उक्तार्थोपपादनपरोपमायास्तदुक्तमुदाहरणं दूषयति—अनन्तेति। स्फुरतीत्यस्यार्थस्येति। तृतीयचरणप्रतिपाद्यस्येत्यर्थः। उपमानत्वेनानिर्दिष्टत्वे हेतुमाह—सामान्येति। अनवतारादिति। अस्याग्रे तथा चेति शेषः। अलङ्कारोऽयमतिरिक्त इति। अत्र 'अदत्त्वा मादृशो माभूर्दत्त्वा त्वं त्वादृशो भव' इत्यभिन्नधर्मिकोपमायामुपमानतावच्छेदकोपमेयतावच्छेदकभेदेनोपमितिक्रियानिष्पत्त्युपमालङ्कारव्यवहारस्य च सर्वसम्मतत्वेन तद्वदिहापि सामान्यधर्मविशेषधर्मयोस्तयोर्भेदेन तन्निष्पत्तेः संभवादुदाहरणालङ्कारो मास्त्वतिरिक्त इति तदाशयाच्चिन्त्यमेतत्। इति नागेशः। उदकोकारे दधीकारस्य य इति। अत्र यद्यपि मूले 'उकारे दध्युदकेकारस्येवे'ति पाठो दृश्यते, तथापि सुसंगततया नागेशाभिमत एव पाठो मया मूले समावेशितः। तत्प्रसङ्ग इति। उदाहरणालङ्कारप्रसंग इत्यर्थः। स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्तत्वेन, उक्तार्थोपपादनपरत्वेन, व्यङ्ग्यप्रधानत्वेन चोपाधिना यदुपमायाः संक्षेपतस्त्रैविध्यमुक्तं दीक्षितेन, तन्न युक्तम्, 'नयने शिशिरीकरोतु—' इति प्रागुक्तवाच्यवस्तूपस्कारकशरच्चन्द्रोपमाया असंभवात्। सोपमा न स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता, वाच्यवस्तूपस्करणात्, नोक्तार्थोपपादनपरा, उक्तार्थस्यान्यथाऽप्युपपत्तेः, न वा व्यङ्ग्यप्रधाना चमत्कारिणो व्यङ्ग्यार्थस्य तत्राभावादिति तात्पर्यम्। अपरश्चैतदयुक्तत्वे तदुक्तौ यत् अन्यशोभासम्पादकत्वविरहेणानलङ्कारभूता या स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता 'सच्छिन्नमूलः—' इत्यादिस्थलीया उपमा (सादृश्यमात्रम् न तु अलङ्कारः) तस्या अलङ्कारभूतोपमाभेदकथनावसरे संग्रहः क्रियते, या तु अन्यशोभाकरत्वेनालङ्कारभूता अत एव लक्षयितुं योग्या व्यङ्ग्यभूतोपमा, तस्याः, लक्षणेऽव्याप्त्यत्वनिवेशेन निराकरणं विधीयते इति। ननु प्राचीनैरपि स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्तोपमायाः संग्रहो विहित इति नैतन्ममापि दोषायेति चेन्न, उपमासामान्यलक्षणं कुर्वताम् प्राचां

तत्सङ्ग्रहस्य दोषानाधायकत्वेऽपि अलङ्कारभूतोपमालक्षणं रचयतस्तव कृते तत्सङ्ग्रहस्य दोषाधायकत्वध्रौव्यात् । न च प्रबन्धव्यङ्ग्यस्य रसादेरुपस्कारकतया 'सच्छिन्नमूलः—' इत्यत्रत्यायाः तथाविधाया अन्यस्या अपि उपमायाः संग्रह उचित एवेति वाच्यम्, तथा सति तथाविधोपमायाः स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्तत्वकथनस्य विरुद्धत्वापत्तेः । अन्यार्थोपस्कारिकोपमा स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता न भवितुमर्हतीति तत्त्वम् । मयापि सामान्योपमाया एव लक्षणं कृतं नालङ्कारभूतोपमाया इति तु भवता वक्तुमयोग्यम्, तथा सति व्यङ्ग्योपमानिरसनायासस्य वैयर्थ्यापातात् । 'अनन्तरत्न—' इति पद्ये उक्तार्थोपपादनपरोपमा इति यदुक्तं तेनैव, तदपि नोचितम्, तत्रोपमाया एवासत्त्वात् । तथा हि—'विविधरत्नोत्पादकस्य हिमालयस्य सौन्दर्यं दूरीकर्तुं प्रालेयं न प्रभवतीति तत्पद्यपूर्वार्धार्थस्य' समर्थनाय, 'गुणसमूहसमानाधिकरणः (गुणगणयुक्ते वस्तुनि विद्यमानः) एको दोषः लोकदृष्टौ दोषरूपेण न प्रतिभासते' इत्यर्थो वर्णितः कविना, स च तावत् स्पष्टो न भवति, यावत् तादृशमुदाहरणं दृष्टिपथं नावतरति, अतस्तादृशोदाहरणप्रदर्शनाय कविना गुणगणगरिष्ठेन्दुकिरणगतः अङ्कः उपन्यस्तः, नतु उपमानभावेन । ननूपमानभावेनैव तन्निर्देशस्वीकारे का क्षतिः ? क्षतिस्तु कापि न, परन्तु तत्र तस्योपमानत्वं सम्भवत्येव नेत्यसमञ्जसम् । कुतो न तत्र तस्योपमानत्वं सम्भवतीति चेत् ? जातन्तु—भिन्नयोरेव पदार्थयोरुपमानोपमेयभावो भवतीति सर्वसम्मता प्रसिद्धिः, इह तु गुणसमूहगतैकदोषस्य चन्द्रकिरणगतकलङ्कस्य च सामान्यविशेषभावमापन्नस्य 'नहि निर्विशेषं सामान्यं भवति' इति सिद्धान्तेन मिथोभेदाभावात् उपमानोपमेयभावो न भवितुमर्हति । एवञ्चात्रोपमालङ्कारो नास्ति, अपि तु उदाहरणालङ्कार एवोपमातो भिन्नः । स चालङ्कारस्तत्र भवति, यत्र सामान्यरूपं किञ्चिदुक्त्वा तद्विशेषः वाक्यान्तरद्वारा प्रतिपाद्यते, यथा 'इको यणचि' (इकः स्थाने यण् स्यादचि) इति सामान्यकथनानन्तरं स्फुटं तत्प्रतिपत्तये (दध्युदकम् इत्यत्र) 'उकारे परे दधिशब्दघटकेकारस्य यः' इति विशेषः प्रतिपाद्यते स च विशेषः उदाहरणशब्देन शाब्दिकैर्व्यवह्रियते । अस्यालङ्कारस्य विषये विशदमग्रे ग्रन्थकृता विवेचनं विधीयेत, अतोऽत्र नाधिकं तद्विषये कथ्यते इति भावः ।

पुनः अप्पयदीक्षित की ही एक अन्य उक्ति की समीक्षा करते हैं—यद्यपि इत्यादि । अप्पयदीक्षित ने ही जो यह कहा कि—संक्षेप में यह उपमा तीन प्रकार की है—१-कहीं अपनी विचित्रता में ही पूर्ण हो जानेवाली अर्थात् दूसरे किसी को अलङ्कृत नहीं करने वाली, जैसे—'सच्छिन्नमूलः—(सम्पूर्ण पद्य संस्कृतटीका में देखिये ।) (रघुवंश ७ सर्ग) (अज का युद्धवर्णन है । कवि की उक्ति है—घोड़े-हाथी आदि के पैरों से उठी हुई जिस धूलि की जड़ रुधिर ने काट दी अर्थात् रुधिर से आर्द्र हो जाने के कारण जिस धूलि का संबन्ध धरातल से विच्छिन्न हो गया, वायु के द्वारा रुधिर से ऊपर उड़ा दी गई वह धूलि, अङ्गारे-मात्र–बची हुई आग के पहले से ऊपर उठे, धूएँ के समान शोभित हो रही थी ।)' इत्यादि में । (यहाँ सम्पूर्ण पद्य का अर्थ उपमारूप है, उससे अन्य अर्थ की पुष्टि नहीं होती, अतः यह उपमा अपने आप में पूर्ण है ।) २—कहीं उक्त अर्थ को सिद्ध करने वाली, जैसे—'अनन्तरत्नप्रभवस्य— (सम्पूर्ण श्लोक संस्कृतटीका में देखिये) (कुमारसम्भव में हिमालय का वर्णन है—अगणित रत्नों के उत्पत्ति-स्थान हिमालय के सौभाग्य को, हिम (पाला) नष्ट नहीं कर पाया—हिम के कारण हिमालय की सुन्दरता में कोई अन्तर नहीं हुआ । कारण, एक दोष, गुणों के समूह में विलीन हो जाता है—उसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता, जैसे चन्द्रमा की किरणों में कलङ्क ।)' इत्यादि में । (यहाँ कलङ्क की उपमा, हिम से हिमालय के सौभाग्य नष्ट न हो सकनेरूप

उक्त अर्थ को सिद्ध करती है।) और ३—कहीं ऐसी उपमा होती है, जिससे व्यङ्ग्य (रस आदि) प्रधान अर्थ उपस्कृत होता रहता है। वह भी सुन्दर नहीं, क्योंकि 'नयने शिशिरीकरोतु—अर्थात् शारत्कालिक चन्द्र के तुल्य तेरा मुख, मेरी आँखों को शीतल करे' यहाँ जो वाच्य अर्थ को सुशोभित करनेवाली शारच्चन्द्र की उपमा है, उसका उक्त तीनों प्रकारों में से किसी में भी समावेश नहीं हो सका। इस वर्गीकरण को देखकर पुनः उपमा के लक्षण में आप के द्वारा निवेशित 'अव्यङ्ग्यत्व' विशेषण, स्मृतिपथ में, आ जाता है। अर्थात्—जब आपने अलङ्कारभूत उपमा का वर्गीकरण करते समय, 'अपनी ही विचित्रता में पूर्ण हो जाने वाली उपमा' का भी संग्रह किया है,—तब व्यङ्ग्य उपमा को उपमा की श्रेणी से हटाने के लिये लक्षण में 'व्यङ्ग्य न हो' यह विशेषण देने का दुराग्रह आपको क्यों है यह समझ में नहीं आता। ओह ! यह बड़े अन्याय की बात है कि—जिसका लक्षण नहीं बनाना है (जो अलङ्काररूप है ही नहीं) उसका संग्रह किया गया है और जिसका लक्षण बनाना उचित है (जो अलङ्काररूप है) उसका संग्रह नहीं किया है—उसको छोड़ दिया गया है। तात्पर्य यह कि स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्त उपमा—जो वस्तुतः उपमा नहीं है—को आपने उपमा की श्रेणी में गिना है और व्यङ्ग्य उपमा—जो वस्तुतः उपमा है—को उपमा की श्रेणी से निकाल बाहर किया है, यह बात सर्वथा न्याय-विरुद्ध है। प्राचीनों ने भी, 'अपनी विचित्रता में ही पूर्ण हो जाने वाली उपमा' को उपमा की श्रेणी से बहिष्कृत करने का कोई प्रयास नहीं किया है—अर्थात् उन्होंने भी उपमा का ऐसा ही लक्षण बनाया है, जिससे उक्तविध उपमा का भी संग्रह होता है, अतः यह अनौचित्य—यदि वस्तुतः अनौचित्य है—तो उनमें भी है, यह आप नहीं कह सकते, क्योंकि प्राचीनों ने व्यङ्ग्य उपमा के वारण के लिये भी कोई यत्न नहीं किया है, अतः यह सिद्ध है कि उन्होंने सामान्यतः उपमा-पदार्थ का लक्षण बनाया है—अलङ्कारभूत उपमा का नहीं। ऐसी स्थिति में उनके लिये 'स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्त उपमा' का भी संग्रह करना अनुचित नहीं कहा जा सकता, पर आपने तो उपमालक्षण में 'अव्यङ्ग्य'-विशेषण के द्वारा व्यङ्ग्य उपमा—जो आपके हिसाब से अलङ्कारभूत नहीं होती—को बहिष्कृत करके स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध कर दिया है कि मैंने (आपने) अलङ्कारभूत उपमा का ही लक्षण किया है, ऐसी स्थिति में आपको 'अपने आप में परिपूर्ण होने वाली' वस्तुतः अनलङ्कार-भूत उपमा की गणना उपमा की श्रेणी में नहीं करनी चाहिए थी, किन्तु आपने गणना की है, अतः आप अपने को 'अनुचितकारिता'दोष से मुक्त नहीं कर सकते। यह भी आप नहीं कह सकते हैं कि 'प्रच्छिन्नमूलः—' आदि पद्यों में जिस तरह की उपमा है उसका संग्रह इसलिए किया गया है कि वह समग्र ग्रन्थ से अभिव्यक्त होने वाले वीर रस आदि की उपस्कारिका रहती है', क्योंकि यदि वह उपमा किसी व्यङ्ग्य को उपस्कृत करती है, तब वह 'स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्त' नहीं कही जा सकती और आपने उसको वैसा ही कहा है अतः आपकी उक्ति अपनी ही उक्ति से विरुद्ध हो जायगी। इसी तरह आपने जो 'अनन्तरत्नप्रभवस्य—' इस पद्य की चर्चा उक्तार्थोपपादक उपमा के उदाहरणरूप में की है, वह भी गलत है। कारण, वस्तुतः उस पद्य में उपमा अलङ्कार है ही नहीं, क्योंकि 'कलङ्क' का निर्देश वहाँ उपमान के रूप में नहीं हुआ है, हो भी कैसे, जब कि वह (चन्द्रकिरण का कलङ्क) एक विशेषरूप है और 'गुणसमूहगत एक दोष' उसीका सामान्यरूप, जिनमें कोई भेद नहीं होता और उपमा दी जाती है किसी भिन्न पदार्थ से ही। तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य-विशेषभाव वाले दो पदार्थों में वस्तुतः भेद नहीं होता, अतएव 'न हि निर्विशेषं सामान्यं भवति—अर्थात् विशेष से भिन्न सामान्य कोई चीज नहीं होती' ऐसा सिद्धान्त माना गया है, ऐसी स्थिति में विशेषरूप चन्द्रकिरणगत कलङ्क के साथ सामान्यरूप गुणसमूहगत एक दोष की तुलना नहीं की जा सकती है। अतः ऐसा मानना चाहिए कि उक्त पद्य के पूर्वार्ध में कथित बात

के समर्थन में उत्तरार्ध के द्वारा यह एक सामान्य बात कही गई है कि—'गुणसमूह के साथ रहने वाला एक दोष दोषरूप से ध्यान में नहीं आता।' यह सामान्य बात, जब तक कोई विशेष उदाहरण नहीं दिया जाय, तब तक अच्छी तरह समझ में नहीं आती, इसलिए, 'चन्द्रमा की किरणों के साथ रहने वाले कलङ्क' का उदाहरण दिया गया है, अतएव यह 'उदाहरण' नाम का उपमा से एक अन्य ही अलङ्कार है। वह (उदाहरणालङ्कार) वहाँ होता है, जहाँ एक वाक्य के द्वारा किसी सामान्य बात के कथन के बाद, दूसरे वाक्य द्वारा विशेष बात कहकर उक्त सामान्य बात का स्पष्ट ज्ञान कराया जाय। जैसे 'इको यणचि (अर्थात् किसी स्वर के आगे रहने पर पीछे रहने वाले इ, उ, ऋ, लृ इन वर्णों के स्थान में क्रमशः य, व, र, ल ये चार वर्ण हो जाते हैं)' इस सामान्य बात को समझाने के लिए यह कहा जाता है कि "जैसे—'दध्युदकम्' इस प्रयोग में उदक पद के उकार के परे दधि पद के इकार को यकार हो गया।" व्याकरणशास्त्र में यह उदाहरण नाम से प्रसिद्ध भी है, उसी तरह काव्य में चमत्कारजनक ऐसी स्थिति में उदाहरणालङ्कार होता है, जैसे 'अनन्तरत्न—' इस पद्य में हुआ है। आगे जब उदाहरणालङ्कार का प्रकरण आवेगा, तब और अधिक इसके विषय में विचार किया जायगा।

पुनः दीक्षितोक्तिमेवालोचयति—

यच्चाप्पयदीक्षितैः 'लुप्तायां तु नैवं भेदाः। तस्यां साधारणधर्मस्यानुगामिता-नियमात्' इत्युक्तम्, तन्न। 'मलय इव जगति पाण्डुर्वल्मीक इवाधिधरणि धृतराष्ट्रः' इत्यत्रानुगामिधर्मस्याप्रत्ययाच्चन्दनानां पाण्डवानाम्, सर्पाणां दुर्योधनादीनां च बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यैव प्रतिपत्तेः।

मलय इवेति। जगति संसारे, पाण्डुः तन्नामको महाभारतख्यातो राजा, पाण्डवानां जनक इति यावत्, मलयः मलयाचलः, इव, (येन चन्दनकल्पाः सुखदायकाः पाण्डवा जनिताः) धृतराष्ट्रः तन्नामप्रसिद्धो नृपः, कौरवाणां पितेति यावत्, च अधिधरणि (अधीत्यव्ययेन धरणिशब्दस्याव्ययीभावसमासः) तेन धरण्यामित्यर्थः, वल्मीकः वामलूरविवरम्, इव, (येन सर्पवद्दुःखदायकाः कौरवा उत्पादिताः) इत्यर्थः। लुप्तोपमायां साधारणधर्मो नियमतोऽनुगाम्येव भवतीति तत्र धर्मवैचित्र्यमूलाः प्रागुक्ताः प्रभेदा न जायन्त इति यत्कथितं दीक्षितमहाभागेन, तदपि न समीचीनम्, 'मलय इव' इति काव्ये मलयपाण्ड्वोः वल्मीक-धृतराष्ट्रयोश्चोपमाद्वये लुप्तसाधारणधर्मे, अनुगामिसाधारणधर्मस्याप्रतीत्या प्रथमोपमायां बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नयोश्चन्दनपाण्डवयोः, द्वितीयोपमायां तथाविधयोः सर्पकौरवयोश्च साधारणधर्मतया स्वीकरणीयत्वात्। तथा च लुप्तोपमायामपि यथासम्भवं धर्मवैचित्र्यप्रयुक्ताः भेदा भवन्त्येवेति भावः।

पुनः दीक्षित के कथन की आलोचना करते हैं—यच्च इत्यादि। अप्पयदीक्षित ने जो यह कहा है कि—'लुप्तोपमा में तो इस तरह के (साधारणधर्म की विचित्रता के कारण होने वाले) भेद नहीं होते, क्योंकि उसमें साधारणधर्म का अनुगामी होना निश्चित है अर्थात् लुप्तोपमा में साधारणधर्म अनुगामी ही होता है, अन्य किसी प्रकार का नहीं' वह भी सङ्गत नहीं। कारण, 'मलय इव—अर्थात् जगत् में पाण्डु—पाण्डवों का पिता, मलयाचल के तुल्य है (जिसने चन्दन के समान सुखदायक पाण्डवों को उत्पन्न किया) और धृतराष्ट्र—कौरवों का पिता, इस पृथ्वी पर, वल्मीक (दीवके का भिण्डा) के समान है (जिसने साँपों के समान दुखदायी कौरवों को उत्पन्न किया)।' इस धर्मलुप्ता में कोई अनुगामी समान धर्म विदित नहीं होता, अतः समान धर्म की पूर्ति के लिये चन्दनों और पाण्डवों का तथा सर्पों और दुर्योधन आदि कौरवों का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव ही मानना पड़ेगा।

अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यासम्भवमाशंक्य समाधत्ते—

न च शब्देनोपात्तत्वं बिम्बप्रतिबिम्बभावे तन्त्रमित्याग्रहो विदुषामुचितः। श्रौतत्वार्थत्वाभ्यां बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य द्वैविध्यौचित्यात्। अत एवाप्रस्तुतप्रशंसादौ प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोरौपम्यमवयव-बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलं सङ्गच्छते।

शब्देनोपात्तत्वमिति। बिम्बप्रतिबिम्बभावाधारतया विवक्षितयोः पदार्थयोरिति भावः। तन्त्रम् नियामकम्। बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य द्वैविध्ये प्रमाणमुपन्यस्यति—अत एवेति। तस्य द्वैविध्यादेवेति तदर्थः। तयोरेव पदार्थयोः बिम्बप्रतिबिम्बभावो भवति यौ शब्देनोपात्तौ तिष्ठतः। एवञ्च पूर्वोक्तस्थले चन्दनपाण्डवानाम्, सर्पदुर्योधनादीनाञ्च बिम्बप्रतिबिम्बभावो न भवेत्, तेषां शब्देनात्रानुपादानादिति शङ्काशयः। तादृशनियमे मानाभावः, अतः शब्देनोपादानस्थले श्रौतः तेनानुपादानस्थलेऽपि अर्थतः प्रतीतौ पुनः आर्थ इति द्विविधो बिम्बप्रतिबिम्बभावः। आर्थस्यापि तस्याङ्गीकारादेवाप्रस्तुतप्रशंसाद्यलङ्कारे प्रस्तुतवाक्यार्थबोधकपदविरहेऽपि बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नावान्तरार्थद्वयरूपसाधारणधर्मबलेन प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोरुपमाप्रतीयमाना सङ्गतिमासादयति अतो 'मलय—'इति पद्ये उपमासिद्ध्यर्थं शब्देनानुपात्तानामपि चन्दनादीनां बिम्बप्रतिबिम्बभावो भवितुमर्हतीति च समाधानाशयः।

एक शंका और उसका समाधान करते हैं—न च इत्यादि। 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव के लिये उन पदार्थों का—जिनका बिम्बप्रतिबिम्बभाव अभीष्ट हो—शब्द के द्वारा उपात्त होना अपेक्षित है' यह आग्रह कम से कम विद्वानों के लिये उचित नहीं, कारण, औचित्य इसीमें है कि शब्द से उपादानस्थल में श्रौत और शब्दतः उपादान नहीं रहने पर भी अर्थतः प्रतीत होने पर आर्थ—इस तरह से दो प्रकार का बिम्बप्रतिबिम्बभाव माना जाय अत एव तो अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलङ्कारों में अप्रस्तुत और प्रस्तुत वाक्यार्थों में सादृश्य सङ्गत होता है, जिसका मूल रहता है उन वाक्यार्थों के अवयवों का बिम्बप्रतिबिम्बभाव। यदि आर्थ बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं माना जाय, तब प्रस्तुत वाक्यार्थ के साथ अप्रस्तुत वाक्यार्थ का सादृश्य कैसे बन सकता है? क्योंकि वहाँ प्रस्तुत वाक्यार्थ का प्रतिपादक एक भी शब्द उल्लिखित नहीं रहता। यहाँ चतुर्वेदीजी कृत हिन्दी अनुवाद में लिखा गया है कि—'वहाँ (अप्रस्तुतप्रशंसा में) अप्रस्तुत वाक्यार्थ का प्रतिपादन करने के लिये कोई शब्द नहीं होता।' पर यहाँ मुझे अनुवादक का प्रमाद प्रतीत होता है, क्योंकि अप्रस्तुत अर्थ ही शब्दतः कहा गया रहता है, जिससे प्रस्तुत अर्थ गम्यमान होता रहता है।

पुनः प्रकारान्तरेणोपमाया अष्टौ भेदान् प्रदर्शयति—

इयमपि रूपकवत्केवलनिरवयवा, मालारूपनिरवयवा, समस्तवस्तुविषयसावयवा, एकदेशविवर्तिसावयवा, केवलश्लिष्टपरम्परिता, मालारूपश्लिष्टपरम्परिता, केवलशुद्धपरम्परिता, मालारूपशुद्धपरम्परिता चेत्यष्टधा।

इयमपि उपमापि। यथा रूपके केवलनिरवयवाद्योऽष्टौ भेदा भवन्ति, तथोपमायामपि ते भेदाः सम्भवन्तीति भावः। अन्यत् सुगमम्।

उपमा के अन्य आठ भेद दिखलाते हैं—इयमपि इत्यादि। यह उपमा भी रूपक की तरह केवल निरवयवा, मालारूप निरवयवा, समस्तवस्तुविषया सावयवा, एकदेशविवर्ति सावयवा, केवल श्लिष्टपरम्परिता, मालारूप श्लिष्टपरम्परिता, केवल शुद्धपरम्परिता और मालारूप शुद्धपरम्परिता—इस तरह आठ प्रकार की होती है।

एतद्भेदाष्टकगतं केवलत्वं निरवयवत्वञ्च विवृणुते—

तत्रोपमायां केवलत्वं मालानन्तर्गतत्वं निरवयवत्वं चोपमान्तरनिरपेक्षत्वम्।

तत्रेति तासां मध्य इत्यर्थः। एकस्योपमेयस्य यत्रानेकान्युपमानानि निर्दिष्टानि भवन्ति, तत्रोपमाया मालरूपत्वम्, तादृशमालारूपता यत्र न भवति, तत्र तस्याः केवलत्वम्, एवम् यत्र कस्याश्चिदुपमाया अन्योपमानैरपेक्ष्येण सम्पत्तिस्तत्र तथाविधायास्तस्या उपमाया निरवयवत्वं भवतीति भावः।

इन भेदों में प्रयुक्त 'केवल' तथा 'निरवयव' पदों का अर्थ करते हैं—तत्र इत्यादि। जहाँ एक ही उपमेय के अनेक उपमान कहे जाते हैं, वहाँ उपमा मालारूप मानी जाती है और जहाँ एक उपमा दूसरी उपमा की अपेक्षा करती हो वहाँ उपमा सावयवा कही जाती है, अतः केवल निरवयवा में 'केवल होने' का अर्थ है—किसी मालारूपा उपमा के अन्तर्गत न होना और 'निरवयव होने' का अर्थ है—किसी अन्य उपमा की अपेक्षा न करना।

अन्यभेदोदाहरणप्रदर्शनायास्य भेदस्योदाहृतत्वं प्रकटयति—

इयं च शतशः प्रागेवोदाहृता।

इयं च केवलनिरवयवा च। केवलनिरवयवाया उपमाया उदाहरणानि प्राग् बहुशः प्रदर्शितानीति न पुनस्तदुदाहरणप्रदर्शनमावश्यकमिति भावः।

इस-केवल निरवयवा-के सैकड़ों उदाहरण पहले दिखाये जा चुके हैं, अतः पुनः इस भेद का उदाहरण दिखलाना आवश्यक नहीं है।

द्वितीयभेदमुदाहर्तुमाह—

मालारूपनिरवयवा यथा—

स्पष्टम्।

मालारूप निरवयवा उपमा, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> **'आह्लादिनी नयनयो रुचिरैन्दवीव**
> **कण्ठे कृतातिशिशिराम्बुजमालिकेव।**
> **आनन्दिनी हृदि गता रसभावनेव**
> **सा नैव विस्मृतिपथं मम जातु याति॥'**

नायकस्य सुहृदं प्रत्युक्तिः—नयनयोः नेत्रयुगलानन्दोदेन, आह्लादिनी सुखविशेषविधायिनी, ऐन्दवी चान्द्री, रुचिः कान्तिः, इव, कण्ठे ग्रीवायां, कृता धृता अतिशिशिरा अत्यधिकशीतला, अम्बुजमालिका कमलस्रक्, इव, हृदि हृदये, गता प्रादुर्भूता, आनन्दिनी, आनन्ददायिका, रसभावना रसास्वादः, इव, सा तव पूर्वपरिचिता, प्रेयसी, जातु कदाचिदपि, मम, विस्मृतिपथम् विस्मरणमार्गम्, नैव याति गच्छति। सदैव सा मम स्मृतिविषय एव तिष्ठतीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—आह्लादिनी इत्यादि। प्रेमी नायक अपने मित्र से कहता है—नेत्रों में आह्लाद भरने वाली चन्द्रकला की तरह, कण्ठ में पहनी गई अतिशीतल कमल माला की तरह और हृदयस्थ आनन्ददायक रसास्वाद की तरह, वह प्रेयसी कभी भी मेरे विस्मृति के मार्ग में नहीं जाती—उसको मैं कभी भूल नहीं पाता।

द्वितीयभेदस्यैवोदाहरणान्तरं निर्देष्टुमाह—

यथा वा—

स्पष्टम् ।

अथवा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'कलेव सूर्यादमला नवेन्दोः कृशानुपुञ्जात्प्रतिमेव हैमी ।
विनिर्गता यातुनिवासमध्यादध्याबभौ राघवधर्मपत्नी ॥'

कवेरुक्तिः—(अमाया अनन्तरम्) सूर्यात् रविबिम्बात् विनिर्गता बहिरागता (अमायां सूर्यबिम्बे चन्द्रमसस्तिरोधानादेवमुक्तिः) इन्दोः चन्द्रस्य, नवा नूतना, अमला निर्मला, कला ज्योत्स्ना, इव, कृशानुपुञ्जात् अग्निसमूहात्, विनिर्गता, हैमी सुवर्णमयी, प्रतिमा प्रतिकृतिः, इव च, यातुनिवासमध्यात् राक्षसावासगर्भात्, विनिर्गता, राघवस्य रामचन्द्रस्य, धर्मपत्नी सीता, अध्याबभौ अधिकं शुशुभे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कलेव इत्यादि । कवि का कथन है—(अमावास्या तिथि के बाद) सूर्य से निकली हुई (अमावास्यातिथि में चन्द्रमा सूर्यबिम्ब में समा जाता है—इस शास्त्रीय प्रसिद्धि के अनुसार ऐसा कथन है) निर्मल नवीन कला की तरह और अग्निसमूह से निकली हुई सोने की प्रतिमा की तरह, राक्षसों के आवास (लङ्का) के मध्य से निकली हुई रामचन्द्र की धर्मपत्नी—भगवती सीता—अधिक सुशोभित होने लगीं ।

उभयोः पद्ययोर्वैलक्षण्यमुपपादयति—

पूर्वमनुगामिना धर्मेण भिन्नदेशकालावच्छेदेन, अत्र तु बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नेनैकदेशकालावच्छेदेनेति विशेषः । अत्राधिकदीप्तिरूपे वाक्यार्थे उपमे उपस्कारिके । आत्यन्तिकविनाशहेतुत्वेन देदीप्यमानत्वेन च साधारण्येन सूर्यमण्डलस्य, निष्कलङ्कताभिव्यञ्जकत्वेन भस्मीभवनहेतुत्वेन कृशानुपुञ्जस्य च लङ्काप्रतिबिम्बता । मालारूपत्वं चात्रैकोपमेयकानेकोपमासामानाधिकरण्यात् ।

पूर्वमिति । 'आह्लादिनी—' इति पद्ये इत्यर्थः । धर्मेणेति । आह्लादित्वादिनेत्यर्थः । हेतौ तृतीया । अवच्छेदेनेति । वर्तमानेनेति शेषः, तस्य च 'धर्मेण' इत्यत्रान्वयः, भिन्नदेशकालावच्छिन्नेन अनुगामिना धर्मेणेति तात्पर्यम् । उपमेति शेषः । तथा च पूर्वत्र पद्ये तादृशार्थहेतुकोपमेति पर्यवसितार्थः । एवमग्रेऽपि । अत्रेति । 'कलेव—' इति द्वितीयपद्ये इत्यर्थः । विशेषो भेदः । सूर्यमण्डलस्येति । अस्य लङ्काप्रतिबिम्बतेत्यत्रान्वयः । सामानाधिकरण्यादिति । उपमान्तरनिरपेक्षत्वान्निरवयवत्वमित्यपि बोध्यम् । अयं भावः—'आह्लादिनी—' 'कलेव—' इति पद्यद्वयमपि मालारूपनिरवयवोपमोदाहरणम्, उभयत्रोपमेयस्यैकत्वेनोपमानानाञ्च बहुत्वेन मालात्वात् उपमान्तरापेक्षाराहित्येन निरवयवत्वाच्च । परन्तु प्रथमपद्ये उपमासम्पादकः साधारणो धर्मः आह्लादकत्वादिः अनुगामी, एकरूपेणोपमानोपमेययोरन्वितत्वात्, भिन्नदेशकालावच्छिन्नश्च, उपमानोपमेययोः—चन्द्रकलादिनायिकयोर्भिन्नदेशकालस्थायित्वेन तद्धर्माणामपि तत्त्वात् । द्वितीयपद्ये चोपमासाधकः साधारणो धर्मः सूर्ययातुधानावासमध्येत्युभयावधिकविनिर्गतत्वम् एवम् अग्निपुञ्जयातुधानावासेत्युभयावधिकविनिर्गतत्वञ्च बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नः, सूर्यावधिकविनिर्गतत्व-यातुनिवासावधिकविनिर्गतत्वयोरेवं वह्निपुञ्जावधिकविनिर्गतत्वयातुधानावासावधिकविनिर्गतत्वयोर्हेतुतो भिन्नत्वेऽपि आत्यन्तिकविनाशहेतुत्वदेदीप्यमानत्वाभ्याम् सूर्य-लङ्कारूपयातुनिवासयोः सादृश्येनाभेदारोपात् एवम् निष्कलङ्कताभिव्यञ्जकत्वभस्मीभवनहेतुत्वाभ्याम् अग्निपुञ्जलङ्कात्मकयातुनिवासयोश्च सादृश्येन तत्त्वा-

रोपात्, यथा चन्द्रकलाविनाशहेतुर्देदीप्यमानश्च सूर्यः तथा लङ्कारूपयातुनिवासोऽपि सीता-सम्भावितविनाशहेतुः सुवर्णमयतया देदीप्यमानश्च, एवम् यथा अग्निपुञ्जम् सुवर्णप्रतिमाया निष्कलङ्कताभिव्यञ्जकम् भस्मीभावकारणञ्च, तथैव लङ्काऽवासोऽपि सीताया निष्कलङ्कता-भिव्यञ्जकः सम्भावितभस्मीभावहेतुश्चेति तात्पर्यम्, अभिन्नदेशकालावच्छिन्नश्च स धर्मः, प्रतिपदि सूर्याच्चन्द्रस्य, अमायां रावणवधे प्रतिपद्येव लङ्कातः सीतायाश्च विनिर्गमेण कालैक्यात्, देशैक्यं तु आकाशरूपव्यापकदेशमादाय, नान्या गतिः, अग्निपुञ्जावधिकसुवर्ण-प्रतिमाविनिर्गम-लङ्कावधिकसीताविनिर्गमयोर्देशकालैक्यं तु अग्निपुञ्जलङ्कयोर्बिम्बप्रतिबिम्ब-भावे तत्सम्बन्धिसकलपदार्थानाम् एकत्वेन भानाद् बोध्यम्, एवञ्च धर्मवैलक्षण्यकृत एव द्वयोरुदाहरणयोर्विशेषः। प्रथमपद्यगताः तिस्रः उपमाः व्यङ्ग्यस्मृतिभावोपस्करणादलङ्कार-रूपाः, द्वितीयपद्ये द्वे उपमे वाच्याधिकशोभारूपमुख्यार्थोपस्करणात्तथाभूते, इति।

उक्त दोनों पद्यों में प्रासङ्गिक वक्तव्य का उपपादन करते हैं—पूर्वम् इत्यादि। 'आह्लादिनी—' और 'कलेव—' ये दोनों ही श्लोक, मालारूप निरवयवोपमा के उदाहरण होते हैं, क्योंकि इन दोनों श्लोकों में एक-एक उपमेय की तुलना अनेक अनेक उपमानों से कर के उपमा की माला (समूह) तैयार कर दी गई है, और दोनों पद्यों की उपमायें ऐसी हैं जो अपने अवयवभूत किसी पदार्थ की उपमा की अपेक्षा नहीं करती हैं। फिर भी दोनों पद्यों की उपमाओं में पूर्ण अन्तर है और वह अन्तर यह है कि प्रथम पद्य की उपमा को सम्पन्न करने वाला साधारण धर्म 'आह्लादकत्व आदि' अनुगामी है—अर्थात् एकरूप से उपमान तथा उपमेय दोनों में अन्वित हो जाने वाला है और है भिन्न-देशकालावच्छिन्न—अर्थात् उपमान चन्द्रमरीचि आदि और उपमेय नायिका के देश और काल भिन्न हैं—एक आकाश की चीज और दूसरी धरा की वस्तु, इसी तरह एक सदा की चीज एवं दूसरी वर्तमानमात्र की वस्तु, ऐसी स्थिति में उन भिन्नकालिक-भिन्नदैशिक पदार्थों के धर्म भी भिन्नकालिक और भिन्नदैशिक ही हो सकते हैं। द्वितीय पद्य की उपमा का साधक साधारणधर्म 'सूर्य से और राक्षसों के आवास—लङ्का—से निकला हुआ होना' एवम् 'अग्निपुञ्ज से और लङ्का से निकला हुआ होना'रूप बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्न—अर्थात् सूर्य और राक्षसनिवास—लङ्का एवम् अग्निपुञ्ज और लङ्का यद्यपि वस्तुतः दो पदार्थ हैं तथापि सादृश्यमूलक इन दोनों में अभेद का आरोप कर लिया जाता है जिससे ये दोनों पदार्थ एक से होकर साधारण धर्म बन जाते हैं, इन दोनों में से सूर्य और लङ्का में सादृश्य यह है कि एक चन्द्रकला के विनाश का कारण है और दीप्तिशाली, और दूसरा भी सीता के विनाश का कारण है (क्योंकि यदि सीता और कुछ दिनों तक लङ्का में रहती, तो, उसका विनाश अवश्य हो जाता) और सुवर्ण-मय होने से दीप्तिशाली है, इसी तरह अग्निपुञ्ज और लङ्का में यह सादृश्य है कि एक सुवर्णप्रतिमा की विशुद्धता का हेतु है और दूसरा सीता की विशुद्धता का कारण (क्योंकि सीता कैसी विशुद्धचरिता है इसका परिचय संसार को उसके लङ्कानिवास से ही प्राप्त हुआ) और दोनों-दोनों के भस्म हो जाने के निमित्त भी हैं (तात्पर्य यह कि आग सुवर्ण को जलाती है और लङ्का सीता को जला सकती थी) इस तरह से बिम्बप्रतिबिम्ब-भावापन्न होने के कारण ही यह धर्म एकदेशकालावच्छिन्न भी है—अर्थात् उक्त धर्मों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव—सादृश्यमूलक अभेद—जब मान लिया गया, तब इसके सम्बन्धी सभी पदार्थ—देश-काल आदि—एक ही माने जायेंगे, चन्द्रकला और सीता का सामान धर्म तो इसलिये भी एक देश और एक काल का समझा जा सकता है कि चन्द्रकला अमावस के बाद प्रतिपत् तिथि को सूर्य से निकलती है और सीता भी अमावस में रावण-वध के बाद शुक्लप्रतिपत् में लङ्का से निकली थी, देश दोनों का व्यापक आकाश माना जा सकता है। उक्त दोनों श्लोकों में प्रथम श्लोक की तीन उपमायें स्मृतिभाव

को अलंकृत करने के कारण और द्वितीय श्लोक की दो उपमायें वाच्य अधिक शोभा को अलंकृत करने के कारण अलङ्काररूप होती हैं।

तृतीयभेदमुदाहर्तुमाह—

समस्तवस्तुविषया सावयवा यथा—

स्पष्टम्।

समस्तवस्तुविषया सावयवा उपमा जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'कमलति वदनं यस्यामलयन्त्यलका मृणालतो बाहू।
शैवालति रोमावलिरद्भुतसरसीव सा बाला॥'

कवेरुक्तिः—यस्याम् बालायाम्, वदनं मुखम्, कमलति कमलमिवाचरति, अलकाः केशाः, अलयन्ति अलयः-भ्रमराः-इवाचरन्ति, बाहू भुजौ, मृणालतः मृणाले इवाचरतः, रोमावलिः रोमराजिः, शैवालति शैवाल इवाचरति, सा बाला, अद्भुतसरसी कौतुकावहसरोवरम्, इव, प्रतीयत इति शेषः। अत्र चतुर्षु उपमानादाचारेऽर्थे 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' इति क्विप्।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कमलति इत्यादि। कवि का कथन है—जिसमें मुख कमल के तुल्य, अलक भ्रमरों के तुल्य, भुजाएँ मृणालों के तुल्य और रोमावली सेवाल के तुल्य आचरण करती है, वह बाला एक अद्भुत सरसी सी प्रतीत होती है। यहाँ किसी किसी ने 'यस्याम् अलयन्ति' ऐसा विभाग न मानकर 'यस्याः मलयन्ति' ऐसा विभाग माना है और तदनुसार 'केश मल—सर्प—के समान आचरण करते हैं' ऐसा अर्थ किया है, परन्तु 'मल' पद का 'सर्प' अर्थ यदि कोश में किया भी गया हो तो प्रसिद्ध नहीं है। दूसरी बात यह कि जब इस क्लिष्टकल्पना के बिना भी संगत अर्थ जो मैंने लिखा है—किया जा सकता है, तब यह विडम्बना व्यर्थ ही है।

तस्यैव प्रभेदस्योदाहरणान्तरं दातुमाह—

यथा वा—

स्पष्टम्।

अथवा जैसे।

उदाहरणान्तरं निर्दिश्यते—

'ज्योत्स्नाभमञ्जुहसिता सकलकलाकान्तकान्तवदनश्रीः।
राकेव रम्यरूपा राघवरमणी विराजते नितराम्॥'

कविः कथयति—ज्योत्स्नाभम् चन्द्रिकासदृशम्, मञ्जु मनोहरं, हसितम् हासो, यस्याः, सा, तथा, सकलः पूर्णकलः, कलाकान्तः चन्द्रः, इव, कान्ता कमनीया, वदनश्रीः मुखच्छविर्यस्याः सा, राघवस्य रामस्य, रमणी सीता, रम्यं रूपं यस्यास्तादृशी, राका पूर्णिमा, इव, नितराम् अत्यन्तम्, राजते शोभते इत्यर्थः।

उदाहरण (द्वितीय) का निर्देश करते हैं—ज्योत्स्ना इत्यादि। कवि कहता है—जिसका हास चाँदनी के समान सुन्दर है, जिसकी मुखकान्ति पूर्णचन्द्र के समान कमनीय है, वह राघव (रामचन्द्र) की रमणी—सीता—रमणीयरूपवाली राका—पूर्णिमा के समान, अत्यन्त शोभित हो रही है।

पद्यद्वयेऽपि समासेन वक्तव्यं विवृणोति—

अत्र सर्वेषामुपमानानां शब्दैरेवाभिधानात् समस्तवस्तुविषया, अङ्गोपमाभिनिष्पाद्यमानत्वाच्च साङ्गा भवति।

उक्तोदाहरणद्वये सर्वेषामवयवरूपाणाम् अवयविरूपाणाञ्च उपमानानाम् (प्रथमपद्ये कमलभ्रमरमृणालशैवालसरसीनाम् , द्वितीयपद्ये ज्योत्स्नाचन्द्रराकानाम् इति यावत्) (अत्र सरसीराके अवयविरूपे उपमाने अन्यान्यवयवरूपाण्युपमानानीति विवेकः) शब्दतः प्रतिपादनात् उपमायाः समस्तवस्तुविषयत्वं बोध्यम् । तथा च सकलोपमानानां शब्दाभिधेयत्वमेव समस्तवस्तुविषयत्वमिति भावः । अङ्गभूताभिः–कमलवदनयोः, अल्यलकयोः, मृणालबाह्वोः, शैवालरोमावल्योश्च प्रथमपद्ये ज्योत्स्नाहासयोः, चन्द्रवदनश्रियोश्च द्वितीयपद्ये उपमाभिः प्रधानयोः—सरसीबालयोः राकाराघवरमण्योश्चोपमयोः सम्पाद्यमानतया उपमाया अत्र सावयवत्वमवगन्तव्यमिति भावः ।

उक्त दोनों उदाहरणों में प्रकृतोपयोगी बातों का विश्लेषण करते हैं–अत्र इत्यादि । उक्त दोनों पद्यों में से प्रथम में चार उपमायें—मुख की कमल के साथ, अलकों की भ्रमरों के साथ, भुजाओं की मृणालों के साथ और रोमावली की सेवाल के साथ–अङ्गभूत हैं, ये अङ्गभूत उपमायें, प्रधान–अङ्गीभूत–उपमा–बाला की सरसी के साथ–को सम्पन्न करती हैं– अर्थात् उन अङ्गभूत उपमाओं के विना यह पाँचवी उपमा हो ही नहीं सकती थी, अतः यह मुख्य उपमा 'सावयवा' कही जाती है, इसी तरह द्वितीय पद्य में दो उपमायें–एक हास की ज्योत्स्ना के साथ और दूसरी वदनश्री की पूर्णचन्द्र के साथ वाली–अङ्गभूत हैं और तीसरी राघवरमणी की राका के साथ वाली उपमा अङ्गीभूत है और यहाँ भी अङ्गभूत उपमायें अङ्गीभूत उपमा की साधिकायें हैं, अतः यहाँ की भी मुख्य उपमा सावयवा है । दोनों ही श्लोकों में जितनी उपमाएँ हैं, उन सभी के उपमान शब्दतः कथित हैं, उनमें एक भी उपमान ऐसा नहीं है जिसका अर्थतः आक्षेप करना पड़ता हो अतः इन दोनों पद्यों की उपमायें 'समस्तवस्तुविषया' कही जाती हैं । फलतः सिद्ध हुआ कि सभी उपमानों का शाब्द वर्णन ही 'समस्तवस्तुविषय' पद का अर्थ है ।

चतुर्थं भेदमुदाहर्तुमाह—

एकदेशविवर्तिनी सावयवा यथा—

स्पष्टम् ।

एकदेशविवर्तिनी सावयवा उपमा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'मकरप्रतिमैर्महाभटैः कविभी रत्नसमैः समन्वितः ।
कविताऽमृतकीर्तिचन्द्रयोस्त्वमिहोर्वीरमणासि कारणम् ॥'

कविः कमपि नृपं स्तौति—हे उर्वीरमण राजन् !, मकरप्रतिमैः ग्राहतुल्यैः, महाभटैः रणशूरैः सैनिकैः, रत्नसमैः रत्नतुल्यैः, कविभिः कवित्वकलासमन्वितैर्विद्वद्भिः, समन्वितः युक्तः, त्वम् , इह संसारे, कविताऽमृतकीर्तिचन्द्रयोः अमृतकल्पकवितायाः चन्द्रसदृशकीर्तेश्च, कारणम् हेतुः उत्पादक इति यावत् , असि वर्तसे इत्यर्थः ।

तदाहरण का निर्देश करते हैं—मकर इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन् ! मकरों–ग्राहों–के समान बड़े-बड़े योद्धाओं से तथा रत्नों के तुल्य कवियों से युक्त तू, इस संसार में, अमृततुल्य कविता और चन्द्रतुल्य कीर्ति के कारण हो–अर्थात् अमृत जैसी कविता और चन्द्रमा के समान यश को उत्पन्न करते हो ।

उपपादयति—

अत्रोत्तरार्धे उपमितसमास एव, विशेषणसमासवेद्यस्य तादात्म्यस्य प्रकृतेऽनुपयोगात् । राज्ञो जलधेरुपमाशब्देनानभिहिताऽप्यङ्गोपमाभिराक्षिप्ता प्रतीयते, इत्येकदेशविवर्तनादेकदेशविवर्तिनी ।

उपमितसमास इति । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति सूत्रकृत समास इत्यर्थः । विशेषणसमास इति । 'मयूरव्यंसकादयश्च' इति सूत्रविहित समास इत्यर्थः । एकदेशविवर्तनादिति । एकदेशे (अवयवे) विवर्तनात्-स्वरूपगोपनेन अन्यथात्वेन वर्तनात्, अथवा एकदेशे विशेषेण-स्फुटतया वर्तनादित्यर्थः । अधिकं रूपके स्फुटीभविष्यति । 'मकर—' इति पद्योत्तरार्धघटकयोः 'कवितामृत-कीर्तिचन्द्रपदयोः' 'कविता एव अमृतं', 'कीर्तिरेव चन्द्रः' इति विगृह्य विशेषणसमासोऽपि सम्भवति, परन्तु तथासमासे कवितामृतयोः कीर्तिचन्द्रयोश्च यत्तादात्म्यम् (अभेदः) प्रतीयेत, तस्य प्रकृते उपयोगो नास्ति, राजनि समुद्रतादात्म्यस्याविवक्षितत्वात्, अतः 'कविता अमृतमिव', 'कीर्तिः चन्द्र इव' इत्येवं विगृह्योपमितसमास एव तत्राश्रयणीयः । तथा च तयोस्तयोः पदार्थयोरुपमायां प्रतीतायां प्रथमार्धे स्पष्टयोश्च द्वयोरुपमयोः, तद्बलात् राजसमुद्रयोरशाब्दोऽप्युपमालङ्कारः आक्षिप्तः सन् अवगम्यत इत्युपयोगसिद्धिः । अत एव—अंशविशेषे शब्दतः कथितत्वात् अंशविशेषे च अर्थतः प्रतीयमानत्वादेकदेशविवर्तिनीयमुपमा, अङ्गाङ्गिनोरुभयोरुपमाविधानात् सावयवा चेति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्रोत्तरार्धे इत्यादि । 'मकर—' इस पद्य के उत्तरार्धगत 'कवितामृत' और 'कीर्तिचन्द्र' पदों में विशेषणसमास ('मयूरव्यंसकादयश्च' इस पाणिनिसूत्रकृत समास को विशेषणसमास कहते हैं) भी हो सकता था, तदनुसार कविता और अमृत में तथा कीर्ति और चन्द्र में तादात्म्य (अभेद)—अर्थात् रूपकालङ्कार-प्रतीत होता, परन्तु उन पदार्थों के तादात्म्य का प्रस्तुत प्रसङ्ग में—अर्थात् कवि विवक्षित राजसमुद्रोपमासिद्धि में—कोई उपयोग नहीं, प्रत्युत बाधकत्व ही सम्भव है, अतः उपमितसमास ('उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस पाणिनिसूत्र से होने वाले समास को उपमितसमास कहते हैं) ही मानना चाहिए-जिसका उक्त कविउद्देश्य की सिद्धि में उपयोग है । यहाँ राजा और समुद्र की उपमा, यद्यपि शब्दतः उक्त नहीं है, तथापि महाभटों की मकरों के साथ, कवियों की रत्नों के साथ, कविता की सुधा के साथ और कीर्ति की चन्द्र के साथ दी गई अङ्गभूत उपमाओं से आक्षिप्त होकर वह प्रतीत होती है, अतः एक देश (एक भाग) में अन्यथारूप से—अर्थात् गुप्तरूप से—प्रतीत होने के कारण यह एकदेशविवर्तिनी उपमा कही जाती है । साथ-साथ सावयवा भी यह उपमा कही जाती है, क्योंकि अवयव और अवयवी अर्थात्-अङ्ग और अङ्गी-दोनों की उपमा यहाँ की गई है ।

पञ्चमं भेदमुदाहर्तुमाह—

केवलश्लिष्टपरम्परिता यथा—

स्पष्टम् ।

केवल श्लिष्टपरम्परित उपमा, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'नगरान्तर्महीन्द्रस्य महेन्द्रमहितश्रियः ।
सुरालये खलु क्षीबा देवा इव विरेजिरे ॥'

कविः कथयति—महेन्द्रवत् इन्द्रवत्, महिता पूजिता, श्रीः सम्पत्तिर्यस्य, तस्य, महीन्द्रस्य राज्ञः, नगरान्तः नगरमध्ये, सुरालये सुरायाः मद्यस्य, आलये गृहे, सुराणाम् देवानाम्, आलये सुमेरौ च, क्षीबाः मत्ताः, देवाः, इव, खलु निश्चयेन, विरेजिरे शुशुभिरे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—नगरा इत्यादि। कवि का कथन है—जिसकी सम्पत्ति इन्द्रसम्पत्ति की तरह सुपूजित है, उस महीपति के नगर के अन्तर्गत, 'सुरालय' (मदिरालय तथा देवों के आलय–सुमेरु) में, नशेबाज लोग, देवताओं की तरह शोभित होते थे।

उपपादयति—

अत्र श्लेषोपस्थापितेन सुमेरुणा मदिरागारस्योपमा क्षीबानां देवोपमाया उपाय इति श्लिष्टपरम्परिता, अन्योन्योपायतारूपस्यैव परम्परितत्वस्येह परिभाषणात्। मालारूपताविरहाच्च केवला।

मदिरागारस्योपमेति। सुरालये इति भावः। नन्वेवं श्लिष्टत्वेऽपि कथं परम्परितत्वमत आह–अन्योन्योपायतारूपस्यैवेति। परस्परोपायभावस्येति तदर्थः। अत्र 'सावयवानां परस्परसमर्थकत्वेऽपि नोपायता। ज्योत्स्नायां हसितत्वारोपं विनापि औज्ज्वल्यादिना सीतायां राकासाम्यसिद्धेः। इह तु मदिरागारेषु सुमेरूपमां विना क्षीबेषु देवोपमायां न किञ्चित्साधर्म्यम्। तस्मिंश्च तादृशसादृश्यप्रतीतिमूलाभेदमापन्नं सुरालयवृत्तित्वमेव। तथा मदिरागारेषु सुमेरूपमायां च क्षीबेषु देवोपमां विना न साधारणधर्म इत्यन्योन्योपायता। अन्योन्याश्रयपरिहारस्तु रूपकप्रकरणे वक्ष्यते' इति नागेशः। 'सकलसिद्धेः कल्पनामयत्वेन, कल्पनायाश्च स्वप्रतिभाधीनत्वात् शिल्पिभिः परस्परावष्टम्भमात्रस्थितिकाभिः शिलेष्टकाभिर्गृहविशेषनिर्माणाच्च नान्योन्याश्रयदोष' इति रूपकप्रकरणोक्तं समाधानं बोध्यम्। 'नगरान्तर्मही—' इति श्लोके निबद्धाया उपमायाः श्लिष्टपरम्परितत्वं नागेशविवरणेनैव स्पष्टम्, केवलत्वञ्च एकस्योपमेयस्यानेकोपमाननिर्देशात्मकमालारूपत्वाभावात् अवगन्तव्यम्।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'नगरान्त—' इस पद्य में आये हुए 'सुरालय' पद का प्रासङ्गिक अर्थ है 'मद्यगृह'। परन्तु श्लेष के द्वारा उसी पद से 'सुरों का आलय–सुमेरु' अर्थ की भी उपस्थिति हो जाती है, अतः 'सुमेरु के समान मद्यगृह' इस तरह की श्लेषमूलक उपमा यहाँ भी सिद्ध होती है और यह उपमा ही प्रधान–नशेबाजों में देवताओं की उपमा का उपाय है—अर्थात् विना उस उपमा के नशेबाजों के साथ देवताओं की उपमा बन ही नहीं सकती। अतः इस उपमा को श्लिष्टपरम्परिता कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि–जहाँ श्लिष्टशब्दप्रतिपाद्य अर्थों की उपमा मुख्य उपमा की साधिका हो, वहाँ 'श्लिष्टपरम्परिता उपमा' होती है। यहाँ 'परम्परित' शब्द का परिभाषित अर्थ है 'एक दूसरे की उपमा का उपाय होना'—एक उपमा के विना दूसरी उपमा का न बन सकना। यहाँ नागेशजी ने अपनी ओर से कुछ सुन्दर विचार किया है, जिसका सारांश यह है—"यद्यपि 'सावयवा' उपमा में भी समर्थ्य-समर्थकभाव रहता है—अर्थात् अङ्गभूत उपमायें मुख्य उपमा की और मुख्य उपमा अङ्गभूत उपमाओं की समर्थिका होती हैं, पर वहाँ उपायोपेयभाव नहीं होता–अर्थात् एक के विना भी दूसरी उपमा हो सकती है। जैसे—पूर्वोक्त 'ज्योत्स्नाभमञ्जुहसिता—' पद्य में हास की तुलना चन्द्रिका से न करने पर भी 'उज्ज्वलता' आदि प्रसिद्ध समान धर्म को लेकर सीता में पूर्णिमा की उपमा सिद्ध हो सकती है। परन्तु परम्परित उपमा में ऐसा नहीं हो सकता—वहाँ एक उपमा के विना दूसरी उपमा नहीं बन सकती। जैसे प्रकृत पद्य–'नगरान्तर्मही—' में मद्यगृह की तुलना सुमेरु से न करने पर नशेबाजों में देवताओं की उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि नशेबाजों और देवताओं में कोई समान धर्म दृष्टिपथ में नहीं आता; और जब श्लेष के बल से मद्यगृह तथा सुमेरु में उपमा मान ली जाती है, तब उस एक में रहना ही देवताओं और

नशेबाजों का समानधर्म हो जाता है, इसी तरह मद्यगृह और सुमेरु का साधारण धर्म होता है देवताओं और नशेबाजों की उपमा। इस तरह से ये दोनों उपमायें परस्परापेक्ष हैं। यद्यपि इस स्थिति में अन्योन्याश्रय दोष की शङ्का हो जाती है, पर उसका परिहार रूपकालङ्कार के प्रकरण में स्वयं ग्रन्थकार करेंगे।" रूपकप्रकरण में अन्योन्याश्रयपरिहार के लिये कहा गया है कि–काव्यजगत् की सभी बातें काल्पनिक हुआ करती हैं और कल्पना कवि के अधीन है। तात्पर्य यह कि ठोस जगत् में भी अन्योन्याश्रय दोष है काल्पनिक जगत् में नहीं। दूसरी बात यह कि–ठोस जगत् में भी कहीं-कहीं अन्योन्याश्रय कुछ बिगाड़ नहीं पाता—जैसे अन्योन्याश्रित—केवल एक दूसरे पर अवलम्बित—होकर भी ईंटे और पत्थर के टुकड़े बड़े-बड़े भवन तैयार कर देते हैं।

षष्ठं भेदमुदाहर्तुमाह—

मालारूपश्लिष्टपरम्परिता यथा—

स्पष्टम्।

मालारूप श्लिष्टपरम्परित उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'महीभृतां खलु गणे रत्नसानुरिव स्थितः।
त्वं काव्ये वसुधाधीश वृषपर्वेव राजसे॥'

कविः कथयति—हे वसुधाधीश राजन्! महीभृतां पर्वततुल्यानां राज्ञां, गणे समूहे, खलु निश्चयेन, रत्नसानुः सुमेरुः, इव, स्थितः वर्तमानः, त्वं, काव्ये शुक्राचार्यकल्पकवित्वविषये, वृषपर्वा दैत्यराजः, इव, राजसे शोभसे इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—महीभृताम् इत्यादि। कवि की उक्ति है—हे राजन्! 'महीभृतां'—पर्वत के तुल्य राजाओं के समुदाय में सुमेरु की तरह स्थित आप, 'काव्य'—शुक्राचार्य के तुल्य कवित्व—के विषय में वृषपर्वा—दानवों का एक प्रसिद्ध राजा—के समान शोभित होते हैं।

उपपादयति—

अत्र श्लेषोपस्थिताभ्यां पर्वतशुक्राभ्यां राजकाव्ययोरुपमे मेरुवृषपर्वभ्यां राज्ञ उपमयोरुपायः।

महीभृताम्—इति पद्ये 'राजानः पर्वता इव', 'त्वं सुमेरुरिव', 'कवित्वं शुक्राचार्य इव' पुनः 'त्वं दैत्यराज इव' इति चतसृणामुपमानां माला, तत्र नृपकवित्ववाचकमहीभृत्-काव्यपदगतामङ्गशब्दश्लेषोपस्थापितपर्वतशुक्ररूपार्थाभ्यां सह राजकवित्वयोः ये द्वे उपमे प्रतीयेते, ते सुमेरुदैत्यराजाभ्यां सह वर्णनीयस्य राज्ञः उपमयोः स्पष्टमुपवर्णितयोरुपायभूते, श्लेषमूलकोपमाभ्यां विना साधारणधर्मास्फुरणेन सुमेरुदैत्यराजोपमयोरात्मलाभासम्भवात्। एवञ्चात्रत्योपमाया मालारूपश्लिष्टपरम्परितत्वं स्पष्टमिति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'महीभृताम्—' इस पद्य में 'महीभृत्' और 'काव्य' पद श्लिष्ट हैं, श्लेष के द्वारा अप्रकान्त पर्वत और शुक्राचार्य की उपस्थिति होती है, ऐसी स्थिति में श्लेषोपस्थापित वे अप्रकान्त अर्थ असम्बद्ध न हो जायँ, इसलिये 'राजा पर्वत के समान' और 'कवित्व शुक्राचार्य के समान' इस तरह की दो उपमायें मानी जाती हैं, ये दोनों उपमायें, सुमेरु और दैत्यराज के साथ दी गई राजा की दो उपमाओं को सिद्ध करने वाला उपाय है, क्योंकि उन दोनों उपमाओं के बिना साधारण धर्म की अनुपस्थिति में ये दोनों उपमायें बन नहीं सकतीं। अतः यह उपमा 'श्लिष्टपरम्परिता' कही जाती है, और एक से अधिक (दो) होने से 'मालारूप'।

आशङ्क्य समाधत्ते—

नन्वत्र पर्वतानामिव राज्ञां शुक्र इव कवित्वे इत्येवंरूपा उपमा कथं प्रत्येतुं शक्या। उपमानोपमेयशब्दयोः पार्थक्याभावादिति चेत्, श्लेषे ह्येकशब्दोपात्तत्वेन रूपेणाभेदाध्यवसानस्येव तेनैव साधर्म्येण सादृश्याध्यवसानस्यापि सुवचत्वात्, तस्यैव च प्रकृते प्रयोज्योपमानुकूलत्वात्।

अप्रत्यये हेतुमाह—उपमानोपमेयशब्दयोरिति। उत्तरयति—श्लेषे इति। तेनैवेति। एकशब्दोपात्तत्वेनेत्यर्थः। अभेदाध्यवसानमेव कुतो नाङ्गीक्रियत इत्यत आह—तस्यैव च इति उपमानोपमेययोः पृथक्पृथक्शब्दाभ्यामुपस्थितावेवोपमा प्रतीयते। 'महीभृताम्—' इत्यत्र तु 'महीभृताम्' 'काव्ये' इति च श्लिष्टः एक एक एव शब्दः श्रूयते, तथा च पर्वतराज्ञोः शुक्रकवित्वयोश्चोपमा प्रत्येतुमशक्या, रूपकञ्च प्रत्येतुं शक्यम्, इति शङ्कादलस्याशयः। श्लेषस्थले एकशब्दोपात्तत्वयुक्त्या यथा श्लिष्टयोरर्थयोरभेदोऽध्यवसीयते, तथैव एकशब्दोपात्तत्वेनैव साधर्म्येण श्लेषविषयीभूतयोरर्थयोः सादृश्यमपि अध्यवसितुं योग्यम्। ततश्चैकशब्दोपात्तत्वात्मकसमानधर्मेण महीभृताम् (पर्वतानां राज्ञां च) काव्यस्य (शुक्रस्य कवितायाश्च) परस्परमुपमा प्रत्येतुं शक्या। प्रसिद्ध्यनुरोधेन श्लिष्टयोरर्थयोरभेदमध्यवसायरूपकमेव कुतो नाङ्गीक्रियत इति तु न शक्यं वक्तुम्, रूपकस्य 'रत्नसानुरिव' 'वृषपर्वेव' इति प्रधानोपमाप्रतिकूलत्वात्, उपमायाश्च तदनुकूलत्वात्। इत्थञ्च यत्र रूपकमङ्गिभूतम् तत्राङ्गभूतेषु श्लिष्टार्थेषु अभेदाध्यवसायः, यत्र पुनरुपमाऽङ्गिभूता तत्राङ्गभूतेषु श्लिष्टार्थेषु सादृश्याध्यवसाय एवेति च समाधानाशयः।

एक शङ्का और उसका समाधान करते हैं—नन्वत्र इत्यादि। आप कहेंगे कि—'महीभृताम्—' इस पद्य में 'पर्वतों के समान राजे' और 'शुक्र के समान कवित्व' ये दोनों उपमायें नहीं बन सकतीं, क्योंकि वहीं उपमा बनती है, जहाँ उपमान और उपमेय के बोधक पद पृथक्-पृथक् उपात्त हों, यहाँ तो 'महीभृत्' और 'काव्य' ये एक-एक शब्द ही क्रमशः पर्वत और राजा तथा शुक्र और कवित्व के बोधक हैं, अतः यहाँ इन श्लिष्ट अर्थों में परस्पर अभेद ही समझा जायगा और तदनुसार अलङ्कार बनेगा रूपक, न कि उपमा। तो इस आशङ्का का समाधान यह है कि जैसे एकशब्दोपात्तत्व(एक शब्द से ज्ञात होने)रूप युक्ति से श्लिष्ट अर्थों में अभेद आरोपित होता है, वैसे ही एकशब्दोपात्तत्वरूप समान धर्म के बल से उन (श्लिष्ट) अर्थों में परस्पर सादृश्य भी समझा जा सकता है, अतः 'महीभृत्' इस एक पद से उपात्त पर्वत और राजा में तथा 'काव्य' इस एक पद से अवगत शुक्र और कवित्व में सादृश्य (उपमा) मानने में कोई आपत्ति नहीं है, उन अर्थों में अभेद भी जब समझा जा सकता है, तब वही क्यों नहीं समझा जाय—अर्थात् रूपक ही क्यों नहीं माना जाय यह तर्क तो उपस्थित किया नहीं जा सकता, क्योंकि आगे जो 'राजा (वर्णनीय नृपति), सुमेरु और वृषपर्वा (दैत्यराज) के समान' ये दो मुख्य उपमायें स्पष्ट शब्दों में वर्णित हैं, उनके अनुकूल 'राजे पर्वतों के समान और कवित्व शुक्र के समान' ये उपमायें ही होती हैं 'राजारूप पर्वत और कवित्वरूप शुक्र' ये रूपक नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ अङ्गी (प्रधान) अलङ्कार भी रूपक ही हो, वहीं, अङ्गभूत श्लिष्ट अर्थों में भी अभेदारोप करके रूपक माना जाना चाहिये और जहाँ अङ्गी अलङ्कार उपमा हो, वहाँ अङ्गभूत श्लिष्ट अर्थों में एकशब्दोपात्तत्वरूप साधारण धर्म के कारण उपमा ही मानी जाय यही उचित है।

सधर्म भेदमुदाहर्तुमाह—

केवलशुद्धपरम्परिता यथा—

केवला न तु मालारूपा, शुद्धा न तु श्लिष्टा, परम्परिता—उपायोपेयभावयुक्ता उपमा यथेति भावः।

केवलशुद्धपरम्परित उपमा जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'राजा युधिष्ठिरो नाम्ना सर्वधर्मसमाश्रयः।
द्रुमाणामिव लोकानां मधुमास इवाभवत् ॥'

कविः कथयति—सर्वेषाम्, धर्माणाम्, समाश्रयः रक्षक इति यावत्, नाम्ना युधिष्ठिरः युधिष्ठिरनामक इति भावः, राजा प्रजारञ्जको महाभारतप्रसिद्धो भूपतिः, द्रुमाणाम् तरूणाम्, इव, तरुसदृशानामिति यावत्, लोकानाम् जनानाम्, कृते इति शेषः, मधुमासः चैत्रमासः, इव, अभवत्। यथा चैत्रे तरवः पुष्पिताः फलिताश्च भवन्ति, तथा तद्राज्ये जनता सदा समृद्धिमयी अतिष्ठदित्यर्थः। अत्र मालारूपताविरहात् केवलत्वम्, श्लेषाभावाच्छुद्धत्वम्, अन्योन्योपायतारूपत्वात्परम्परितत्वमिति बोध्यम्।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—राजा इत्यादि। कवि का कथन है—सब धर्मों का आश्रय (रक्षक) युधिष्ठिर-नामधारी राजा, लोगों के लिये ऐसा था, जैसा तरुओं के लिये चैत्रमास—अर्थात् चैत्रमास के वृक्षों के समान उसके राज्य में सब लोग खूब फूलते-फलते (सुखसमृद्धिमय) थे। यहाँ 'चैत्रमास' और 'युधिष्ठिर' की उपमा के बिना 'तरुओं' और 'लोगों' की उपमा सिद्ध नहीं हो सकती, और न 'तरुओं और लोगों' की उपमा के बिना 'चैत्र' और 'युधिष्ठिर' की उपमा सिद्ध हो सकती है, अतः यह उपमा परम्परिता है, श्लेषरहित है, अतः शुद्धा है और उपमानों की माला नहीं है—एक ही उपमान है, अतः केवल है।

अष्टमं भेदमुदाहर्तुमाह—

मालारूपशुद्धपरम्परिता यथा—

स्पष्टम्।

मालारूप शुद्धपरम्परित उपमा जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'मृगतां हरयन्मध्ये वृक्षतां च पटीरयन्।
ऋक्षतां सर्वभूपानां त्वमिन्दवसि भूतले ॥'

कविः कथयति—हे राजन्! मृगतां मृगवदाचरतां, सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां, मध्ये, हरयन् हरिः सिंहः तद्वदाचरन्, वृक्षतां वृक्षवदाचरतां, सर्वभूतानां, मध्ये, पटीरयन् पटीरं चन्दनं तद्वदाचरन्, त्वम्, ऋक्षताम् ऋक्षाणि ताराः तद्वदाचरतां, सर्वभूतानां, मध्ये, भूतले इन्दवसि इन्दुरिवाचरसि इत्यर्थः। सर्वत्राचारे क्विप्। अत्रैकस्य राजरूपस्योपमेयस्य कृते बहूपमाननिर्देशान्मालात्वम्, श्लेषाभावाच्छुद्धत्वम्, परस्परोपायोपेयभावाच्च परम्परितत्वमित्यवगन्तव्यम्।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—मृगताम् इत्यादि। कवि कहता है—हे राजन्! इस संसार में यदि सब प्राणी मृगसदृश आचरण करते हैं तो आप उनमें सिंह के समान आचरण करते हैं, यदि वे वृक्ष के तुल्य आचरण करते हैं तो आप उनमें चन्दन के समान आचरण करते हैं, और यदि वे तारों के समान आचरण करते हैं तो आप उनमें चन्द्र के समान आचरण करते हैं। यहाँ राजारूप उपमेय के लिये अनेक उपमानों का निर्देश किया गया है, अतः यह उपमा मालारूपा है, श्लेष न रहने के कारण शुद्धा है और परस्पर एक दूसरे की उपायभूत होने के कारण परम्परिता है।

विशेषमाह—

उपमानयोः परस्परमुपमेययोश्चानुकूल्ये उपमयोरेषोपायता निरूपिता ।

पूर्वोक्तासु यासु परम्परितोपमासु परस्परोपायता प्रदर्शिता, तत्रोपमाद्वयाङ्गभूतमुपमानद्वयमुपमेयद्वयञ्चाविरोधि, परन्तु तयोर्विरुद्धत्वेऽपि उपमाद्वयस्योपायता मिथः संभवतीति भावः ।

एक विशेष की चर्चा करते हैं—उपमानयोः इत्यादि । पूर्वोक्त जिन परम्परित उपमाओं में दो उपमाओं के परस्पर उपायभूत होने की बात कही गई है उनमें दोनों उपमाओं के उपमान-उपमेय अनुकूल थे—अविरोधी थे, पर उनके परस्परविरोधी रहने पर भी उपमाओं में एक दूसरे का उपाय होना बन सकता है, अतः वैसी स्थिति में भी परम्परित उपमा हो सकती है ।

तथाविधमुदाहरणं प्रदर्शयितुमाह—

प्रातिकूल्ये उपायता यथा—

उपमानोपमेययोः परस्परं विरुद्धत्वेऽपि उपमाद्वयस्य मिथः उपायता यत्र भवति तादृशमुदाहरणं प्रदर्श्यत इति भावः ।

उपमान और उपमेय में परस्पर विरोध होने पर दो उपमाओं में जहाँ उपायोपेयभाव होता है, वैसा उदाहरण दिखलाया जाता है ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> 'राजा दुर्योधनो नाम्ना सर्वसत्त्वभयङ्करः ।
> दीपानामिव साधूनां झञ्झावात इवाभवत् ॥'

नाम्ना दुर्योधनः दुर्योधननामा, सर्वसत्त्वभयङ्करः सकलप्राणिभयजनकः राजा, साधूनाम् सज्जनानां, कृते तथा अभवत्, यथा दीपानां, कृते, झञ्झावातः वृष्टिविकटो महावायुः, भवतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—राजा इत्यादि । कवि कहता है—सब प्राणियों के लिये भयङ्कर दुर्योधन नामक राजा, सज्जनों के लिये वैसा ही था, जैसा प्रदीपों के लिये वृष्टि-मिश्रित विशकल वायु ।

उपपादयति—

अत्रोपमानयोर्दीपझञ्झावातयोरन्योन्यमुपमेययोश्च साधुदुर्योधनयोः प्रातिकूल्येऽप्युपमयोः परस्परमानुकूल्यादुपायत्वेन ।

'राजा दुर्योधनो—' इत्यस्मिन् पद्ये द्वे उपमे—दीपसाध्वोरेका, झञ्झावातदुर्योधनयोश्च द्वितीया, तत्र द्वितीया मुख्या, प्रथमाऽङ्गभूता यद्यपि अनयोरुपमयोरुपमानभूतौ, दीपझञ्झावातौ एवम् उपमेयभूतौ साधुदुर्योधनौ परस्परं विरुद्धौ, तथापि तत्तदुपमानोपमेयकोपमाद्वयस्य परस्परमुपायता भवति, विरोधिद्वय-वर्गद्वयस्य सादृश्ययोः विरोधाभावादिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्रोपमान इत्यादि । 'राजा दुर्योधनो—' इस पद्य में दो उपमाएँ हैं—एक साधुओं की दीपों के साथ और दूसरी दुर्योधन की झञ्झावात के साथ । इन दोनों उपमाओं के उपमान—दीप और झञ्झावात, एवम् उपमेय—साधु और दुर्योधन यद्यपि परस्पर प्रतिकूल हैं—विरोधी हैं, तथापि इन विरोधी तत्त्वों को लेकर बनाई गई उक्त दोनों उपमाओं में अङ्गाङ्गिभाव और उपायोपेयभाव-अर्थात् एक दूसरे का उपाय होना-हो सकता है-होता भी है, क्योंकि उपमाओं में परस्पर विरोध नहीं है, प्रत्युत

अनुकूलता ही है। तात्पर्य यह कि 'जैसे मोहन, सोहन का विरोधी है, वैसे राघव, माधव का विरोधी है' ऐसा कहने पर उन सादृश्य वाले पदार्थों में भले ही विरोध प्रतीत हो, पर उन दोनों सादृश्यों में तो कोई विरोध दीख पड़ता नहीं, प्रत्युत आधार की समानता के कारण अनुकूलता ही झलकती है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए।

प्रागुदाहृता प्रातिकूल्ये केवलपरम्परितोपमा इदानीं मालारूपा सा प्रातिकूल्ये उदाह्रियते—

एवम्—

'सरोजतामथ सतां शिशिरर्तुवताधुना।
दर्भतां सर्वधर्माणां राज्ञानेन विदर्भितम् ॥'

इत्यादौ मालारूपतायामपि।

एवमिति। पूर्वोक्तरीत्यैवेत्यर्थः। अस्य च 'मालारूपतायामपि' इत्यस्याग्रे शेषभूते 'प्रातिकूल्ये उपायता' इत्यत्रान्वयः। सरोजतामिति। कमलवदाचरतां सतां मध्ये शिशिरर्तुवदाचरतानेन राज्ञा दर्भवदाचरतां सर्वधर्माणां मध्ये विदर्भदेशवदाचरितमित्यर्थः। विदर्भे यथा दर्भा न प्ररोहन्ति तथास्मिन् राज्ञि धर्मा न प्ररोहन्तीति भावः। अत्रैकस्य राज्ञः उपमेयस्य स्वभावस्पष्टीकरणायोपमानद्वयनिर्देशात् मालारूपत्वमुपमायाः, सरोजशिशिरयोः सज्जननृपयोश्च प्रातिकूल्येऽपि उपायतासत्त्वात् परम्परितत्वम्, श्लेषाभावात् शुद्धत्वञ्चेति बोध्यम्।

प्रातिकूल्य में भी परस्पर उपायोपेयभाव वाली मालारूप शुद्धपरम्परितोपमा का उदाहरण दिखला रहे हैं—एवम् इति। 'राजा दुर्योधने—' इस पद्य में जैसे उपमान से उपमान की और उपमेय से उपमेय की प्रतिकूलता रहने पर भी परम्परित उपमा मानी गई है, उसी तरह 'सरोजताम्—' अर्थात् कमलों के समान आचरण करनेवाले सज्जनों के मध्य में शिशिरऋतु के तुल्य आचरण करनेवाले इस राजा ने, इस समय, दर्भ (कुश) के समान आचरण करने वाले सब धर्मों के मध्य में, विदर्भ देश (जहाँ दर्भ नहीं अङ्कुरित होते) के समान आचरण किया है। इत्यादिक मालारूप उपमाओं में भी वही बात—उपमान से उपमान की और उपमेय से उपमेय की प्रतिकूलता है। तात्पर्य यह कि प्रतिकूलता में पहला उदाहरण शुद्ध केवल परम्परिता का है और दूसरा मालारूप शुद्धपरम्परिता का।

उपमाया भेदान्तरं विवृणोति—

उपमेयानां स्वस्वोपमानादुपमानानामुपमानतायां रशनोपमा।

स्वस्वोपमानादुपमानानामिति। एतच्चोपमेयोपमायामतिव्याप्तिनिरासाय। तत्रोपमेयं स्वोपमानस्यैवोपमानं भवतीति स्वोपमानादुपमानत्वघटितस्यास्य लक्षणस्य नातिव्याप्तिः। यत्र किञ्चिदुपमेयं स्वोपमानभिन्नस्य कस्यचित् पदार्थस्योपमानं भवति, तत्र रशनोपमा। नायं भिन्नोऽलङ्कारः, सामान्यलक्षणाक्रान्तत्वादुपमाया एव प्रभेद इति भावः।

उपमा का ही एक अभिनव प्रभेद दिखलाने के लिये पहले उस प्रभेद के योग्य स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं—उपमेयानाम् इत्यादि। जब कोई उपमेय अपने उपमान से भिन्न किसी पदार्थ का उपमान बन जाय, तब उस उपमा को 'रशनोपमा' कहते हैं। यहाँ 'अपने उपमान से भिन्न किसी पदार्थ का' ऐसा कथन 'उपमेयोपमा' में अतिव्याप्ति दोष के निराकरणार्थ है, क्योंकि उपमेयोपमा में भी उपमेय, उपमान बनता है, पर अपने उपमान का ही, यह समझना चाहिए।

रशनोपमामुदाहर्तुमाह—

यथा—

स्पष्टम् ।

रशनोपमा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'वागिव मधुरा मूर्तिर्मूर्तिरिवात्यन्तनिर्मला कीर्तिः ।
कीर्तिरिव जगति सर्वस्तवनीया मतिरमुष्य विभोः ॥'

कविः कमपि राजानं स्तौति—अमुष्य अस्य, विभोः राज्ञः, मूर्तिः शरीरं, वागिव वाणीवत्, मधुरा, वाचि माधुर्यं सरसत्वम्, मूर्तौ च तत् सौन्दर्यमिति विवेकः, कीर्तिः यशः, मूर्तिरिव, अत्यन्तनिर्मला नितान्तविमला, जगति संसारे, सर्वैः स्तवनीया स्तुत्या प्रशंसनीयेति यावत्, मतिः बुद्धिः, कीर्तिरिव, वर्तत इति शेषः । अस्य राज्ञो वाङ्मूर्ति-कीर्तिमतिषु उत्तरमुत्तरं प्रति पूर्वं पूर्वमुपमानभूतमिति भावः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—वागिव इत्यादि । किसी राजा की प्रशंसा में कवि का कथन है—इस राजा की जैसी मधुर वाणी है वैसी ही मधुर मूर्ति (शरीर), और जैसी निर्मल मूर्ति है वैसी ही निर्मल कीर्ति, एवं जैसी संसार में सर्वस्तुत्य इसकी कीर्ति है वैसी ही इसकी बुद्धि भी सर्वस्तुत्य है ।

पूर्वोदाहरणगतं विशेषमाह—

इयं धर्मभेदे ।

उक्तरशनोपमोदाहरणे माधुर्यनिर्मलत्वादयः साधारणधर्मा मिथो भिन्नाः इति भावः ।

भिन्न-भिन्न साधारण धर्म के रहने पर उक्त उदाहरण में रशनोपमा हुई है ।

धर्मैक्ये रशनोपमामुदाहर्तुमाह—

धर्मैक्ये तु—

सप्तम्यर्थस्याग्रिमपद्येन सम्बन्धः । तुना पूर्वव्यवच्छेदः ।

साधारण धर्म के एक रहने पर तो ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'भूधरा इव मत्तेभा मत्तेभा इव सूनवः ।
सुता इव भटास्तस्य परमोन्नतविग्रहाः ॥'

कविः स्वाभिमतं कमपि नरपतिं स्तौति—तस्य राज्ञः, भूधराः पर्वता इव, मत्तेभाः मदमत्ता गजाः, मत्तेभाः, इव, सूनवः पुत्राः, सुताः पुत्राः, इव, भटाः योद्धारः, परमोन्नत-विग्रहाः अतिविशालदेहाः सन्तीत्यर्थः । अत्र परमोन्नतविग्रहत्वमेक एव तिसृषु उपमासु साधारणो धर्मः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—भूधरा इव इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—उस राजा के पर्वतों के समान मदमत्त हाथी, मदमत्त हाथियों के समान पुत्र और पुत्रों के समान योद्धागण, अति विशाल काय वाले हैं । यहाँ एक 'विशाल काय होना' ही तीनों उपमाओं में साधारण धर्म है ।

रशनोपमां धर्मलुप्तामुदाहर्तुमाह—

धर्मलोपे तु तस्येत्यस्यानन्तरम् 'भटा इव युधि प्रजाः' इति बोध्यम् ।

'भूधरा इव—' इति पद्ये 'तस्य' इत्यस्याग्रे 'योद्धार इव युद्धे प्रजाः—जनताः—सन्ति'-

त्यर्थके 'भटा इव युधि प्रजाः' इति पाठे समाश्रिते तदेव पद्यं धर्मलुप्ताया रशनोपमाया उदाहरणं सम्पद्यत इति भावः ।

धर्मलुप्ता रशनोपमा के उदाहरण दिखलाने के लिये कहते हैं—धर्मलोपे इत्यादि । 'भूधरा इव—' इसी पद्य में 'तस्य' के आगे यदि 'भटा इव युधि प्रजाः—अर्थात् योद्धाओं के ही समान युद्ध में प्रजाएँ हैं' ऐसा पाठ कर दिया जाय तो वही पद्य धर्मलुप्ता रशनोपमा का उदाहरण समझा जायगा ।

उपसंहरति—

इयमेवंभेदा प्राचीनैर्भेदैर्गुणने वागगोचरं भूमानं भजमाना नेयत्तामर्हतीति दिक् ।

इयमिति । उपमेत्यर्थः । वागगोचरं वाचा प्रतिपादयितुमनर्हम् । भूमानम् अतिशयम् भजमाना आसादयन्ती । मदुक्तानामभिनवानां भेदानां प्राचीनोक्तैर्भेदैः सह गुणने उपमाया इयन्तो भेदा भवेयुर्येषामियत्तया परिच्छेदः कर्तुमशक्य इति भावः ।

उपसंहार करते हैं—इयम् इत्यादि । इस तरह इन अभिनव भेदों का प्राचीन भेदों के साथ गुणा करने पर उपमा के इतने अधिक भेद हो जाते हैं कि—उनको कहा नहीं जा सकता, अत एव उनकी इयत्ता—निश्चितसंख्या—असंभव है ।

उपमाया ध्वनित्वमाह—

एषैव च यदा सकलेन वाक्येन प्राधान्येन ध्वन्यते तदा परिहृतालङ्कारभावा ध्वनिव्यपदेशहेतुः ।

एषैव उपमैव । प्राधान्येनेति । एतेन गौणतया ध्वनने न ध्वनिव्यपदेशहेतुरपि तु व्यङ्ग्यालङ्कार एवेति सूचितम् । यदेयमुपमा सम्पूर्णवाक्यस्य प्रधानभूतो व्यङ्ग्यार्थो भवति, तदाऽलङ्कारत्वं तत्र न तिष्ठति, प्रधानत्वेन तस्य स्वयमलङ्कार्यत्वात् । अपि च प्रधानतया यस्मिन् काव्ये ध्वन्यते सा, तत्काव्यं तामेव ध्वन्यमानामुपमामादाय ध्वनिनामकोत्तमोत्तमकाव्यत्वेन व्यपदिश्यत इति भावः ।

अब उपमा-ध्वनि का विचार करते हैं—एषैव च इत्यादि । यही उपमा जब सम्पूर्ण वाक्य से प्रधानरूप में ध्वनित होती है तब उसकी अलङ्कारता नष्ट हो जाती है—अर्थात् वह अलङ्कार नहीं रह जाता है और काव्य के 'ध्वनि' (उत्तमोत्तम) कहे जाने का कारण हो जाती है । तात्पर्य यह हुआ कि उपमा जब वाच्य रहती है तब वह वाच्यालङ्कार कहलाती है और जब उपमा गौणरूप में व्यङ्ग्य होती है तब व्यङ्ग्य अलङ्कार कहलाती है, साथ-साथ वह काव्य—जिसमें इन दोनों प्रकारों में से किसी एक प्रकार की उपमा रहती है—'चित्र-काव्य' कहलाता है । परन्तु जब प्रधानरूप में सम्पूर्ण वाक्य से उपमा ध्वनित होती है, तब उसको अलङ्कार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अलङ्कार का मतलब होता है दूसरे (प्रधान) को अलंकृत करने वाला स्वयं गौण, और इस तरह की उपमा से युक्त काव्य 'चित्र' न कहलाकर 'ध्वनि' कहलाता है, उसी उपमा के बल पर, चाहे अन्य कोई वस्तु या रस आदि न भी ध्वनित होता हो ।

ननु ध्वन्यमानतायामपि उपमायाम् 'अलङ्कारध्वनिः' इति रीत्याऽलङ्कारव्यवहारो भवति सोऽधुना कथं सङ्गच्छतामित्यत आह—

अस्यां चालङ्कारव्यपदेशः कदाप्यलङ्कारभावमप्राप्तेषु मञ्जूषानिगतेषु कटकादिष्विवालङ्कुर्वाणगतधर्ममात्रसंस्पर्शनिबन्धनः ।

धर्ममात्रेति । उपमात्वेत्यर्थः । मात्रपदेनालङ्कारत्वव्यवच्छेदः । यानि कटकादीनि कदापि कामिनीकायश्लेपसौभाग्यं नापुः—विक्रेयतया वणिङ्मञ्जूषायामेव सुरक्षितानि,

तेऽप्यलङ्करणक्रियाशून्येऽपि कटकादिषु यथा कामिनीकायगतालङ्करणक्रियाविशिष्टकटकादिवर्तिकटकत्वधर्मस्य सत्त्वेनालङ्कारव्यवहारस्तथैव या उपमा प्राधान्येन ध्वन्यमानैव, अत एवालङ्कृतिकरणताशून्या, तस्यामपि, अलङ्कृतिकरणताविशिष्टवाच्योपमागतोपमात्वधर्मविशिष्टत्वेन स्वरूपयोग्यतया कथंचिदलङ्कारव्यवहार इति भावः। प्राचीनास्त्वत्र 'ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कारव्यपदेशं' साधयामासुः परन्तु तदुचितं न प्रतिभाति, स्थलभेदेनोपमादेर्भिन्नतया प्राधान्येन ध्वन्यमानस्योपमादेः प्रागप्यलङ्कारत्वाभावात् तन्न्यायस्याप्रसक्तेः।

प्रधानरूप में ध्वनित होनेवाले उपमा आदि में 'अलङ्कार' शब्द से व्यवहार होने का कारण बतलाते हैं—अस्यां च इत्यादि। प्रधानरूप में ध्वनित होनेवाले उपमादिक, किसी को अलंकृत नहीं करते, अतः वैसे उपमादिकों को अलङ्कार कहना—'अलङ्कारध्वनि' शब्द से उनका व्यवहार करना—यद्यपि उचित नहीं है, तथापि जैसे कभी आभूषण के काम में नहीं लाये गये—केवल सम्पत्ति के रूप में अथवा बेचने के लिये तिजोरी में बन्द करके रक्खे गये 'कड़े' आदि में—वस्तुतः आभूषण के रूप में धारण किये गये 'कड़े' आदि के धर्म (कड़ा का आकार-प्रकार) से युक्त होने के कारण—'कड़ा' का व्यवहार होता है, उसी तरह कभी किसी को अलंकृत नहीं करने वाले उपमादिकों में भी, वस्तुतः अलंकृत करनेवाले उपमादिकों के धर्म (उपमात्व) से युक्त होने के कारण अलङ्कार का व्यवहार होता है। प्राचीनों ने तो ऐसी स्थिति में 'ब्राह्मणश्रमणन्याय' से अलङ्कारव्यवहार को सिद्ध किया है जिसका अभिप्राय यह है कि-जैसे श्रमण (संन्यासी) की कोई जाति नहीं होती, फिर भी ब्राह्मणकुल से संन्यास ग्रहण करने के कारण, पूर्वकालिक ब्राह्मणत्व को लेकर उसको 'ब्राह्मणश्रमण' कहा जाता है, इसी तरह प्राधान्येन ध्वन्यमानतादशा में अलङ्कार न होने पर भी पूर्वकालिक अलङ्कारभाव को लेकर उस दशा में भी उपमा आदि को अलङ्कार कहा जाता है, परन्तु यह बात सङ्गत नहीं प्रतीति होती, क्योंकि कभी (पूर्व में) ब्राह्मण रहने पर ही संन्यासावस्था में भी उसको ब्राह्मण कहा जाता है, यहाँ तो वैसी बात नहीं है—अर्थात् जब स्थल के भेद से उपमा (सादृश्य) आदि भिन्न-भिन्न माना जाता है—तब जो उपमा आदि प्रधानरूप में ध्वनित होता है, वह कभी अलङ्कार नहीं रहा—पहले भी किसी को अलंकृत नहीं किया—फिर यहाँ 'ब्राह्मणश्रमण' वाला न्याय प्राप्त ही कहाँ होता है ?

उपमाध्वनिं विभजते—

क्वचिदसौ शब्दशक्तिमूलानुध्वननविषयः। क्वचिदर्थशक्तिमूलानुध्वननविषयः।

उपमाध्वनिर्द्विविधः—शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप एकः, अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपश्च द्वितीयः। अनुरणनरूपत्वकथनेनास्य ध्वनेः संलक्ष्यक्रमता प्रतिपाद्यते। शब्दशक्तिमूलत्वञ्च शब्दानां परिवृत्त्यसहत्वात्, अर्थशक्तिमूलत्वञ्च तेषां तत्सहत्वादिति भावः।

उपमाध्वनि का विभाग करते हैं—क्वचित् इत्यादि। उपमा की ध्वनि दो प्रकार की होती है—एक शब्दशक्तिमूलक और दूसरी अर्थशक्तिमूलक—अर्थात् जहाँ शब्द ऐसे हों, जिनके स्थान पर पर्यायवाची दूसरे शब्दों का निवेश कर देने पर उपमा की ध्वनि न हो सके, वहाँ शब्दशक्तिमूलक और जहाँ शब्दों को पर्यायवाची अन्य शब्दों से परिवर्तित कर देने पर भी उपमा ध्वनित हो सके वहाँ अर्थशक्तिमूलक उपमाध्वनि होती है। ये दोनों ही ध्वनियाँ अनुध्वनन-अनुरणनरूप कही जाती हैं, क्योंकि इन ध्वनियों में व्यङ्ग्यव्यञ्जक का क्रम उसी तरह लक्षित होता रहता है जिस तरह ध्वनि प्रतिध्वनि का अतएव इस तरह की ध्वनियों को संलक्ष्यक्रम भी कहते हैं।

प्रथमं प्रकारमुदाहर्तुमाह—

आद्यो यथा—

शब्दशक्तिमूलकोपमाध्वनिर्यथेति भावः।

पहली—शब्दशक्तिमूलक—उपमा-ध्वनि, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अविरलविगलद्दानोदकधारासारसिक्तधरणितलः।
धनदाग्रमहितमूर्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम्॥'

कविः कमपि राजानं स्तौति—अविरलं सततम्, विगलता पतता, दानोदकस्य दानोद्देश्यकसङ्कल्पजलस्य, धारायाः, आसारेण वर्षणेन, ('धारासम्पात आसारः' इति कोशानुसारमासारपदेनैव गतार्थतया 'धारा'पदमनर्थकमिति केचित्, 'सति विशेषणवाचकपदसमवधाने विशिष्टवाचकपदानां विशेष्यमात्रपरत्वम्' इति न्यायेन 'सकीचकैः—' इति कालिदासप्रयोगवत् धारापदं सार्थकमित्यन्ये) सिक्तमार्द्रीकृतं, धरणितलम् धरातलं, येन तादृशः, तथा धनदानां धनदायकानां धनिकजनानाम्, अग्रे, महिता पूजिता—सर्वाधिकदातृत्वेन प्रशंसिता—मूर्तिः स्वरूपं यस्य, तथाविधश्च, अयं कविमनोगतः, सार्वभौमः सर्वभूमीश्वरः चक्रवर्तीति यावत्, जयतितराम् नितान्तं सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति प्राकरणिकोऽर्थः। अविरलं गलता, दानोदकधारासारेण मदजलवृष्ट्या, सिक्तं धरणितलं येन, तादृशः तथा धनदस्य कुबेरस्य, अग्रे महिता मूर्तिर्यस्य, तादृशश्च, अयं सार्वभौमः उदग्दिग्गजः, जयतितराम्, इति चाप्राकरणिकोऽर्थः। अत्रानेकार्थकानां दान-धनद-सार्वभौमादिपदानामभिधा यद्यपि प्रकरणेन राजपक्षीयार्थेषु नियन्त्रिता, अतो दिग्गजपक्षीयोऽर्थो न वाच्यः, तथापि व्यञ्जनया सोऽर्थो भवत्येवावगतः। [illegible] मा भूदिति राजदिग्गजयोरुपमा कल्प्यत इति शब्दशक्तिमूलं [illegible] भावः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अविरल इत्यादि। कवि का कथन है—जिसने निरन्तर गिरते हुए दानजल (सङ्कल्प के जल) की धारावाहिक वृष्टि से धरातल को सिक्त कर दिया है और जिसका स्वरूप धनदायकों के आगे पूजित है—प्रशस्त है—ऐसा यह सार्वभौम (समग्र पृथ्वी का अधिपति) सर्वोत्कृष्ट है और—जिसने सतत गिरते हुए मद-जल (दानवारि) की धारावाहिक वृष्टि से पृथ्वीतल को आर्द्र कर दिया है तथा जिसकी मूर्ति (स्वरूप) कुबेर के आगे पूजा—प्रशंसा—पाती है, ऐसा यह सार्वभौम (उत्तर दिशा का दिग्गज) सब से परमोत्कृष्ट है। यहाँ 'प्रकरण' (एक अभिधानियामक) से 'दान-धनद-सार्वभौम'—आदि पदों की शक्ति राजपक्षीय अर्थों में नियन्त्रित हो गई है, अतः प्रथम (राजपक्षीय) अर्थ ही वाच्य होता है परन्तु दूसरा (दिग्गजपक्षीय) अर्थ भी शाब्दी व्यञ्जना से ज्ञात होता है। इस स्थिति में द्वितीय असंबद्ध अर्थ का बोधक पद्य नहीं समझा जाय, इसलिये 'दिग्गज के समान राजा' यह उपमा अलङ्कार भी व्यञ्जना से अवगत होने वाला माना जाता है। इस तरह से शब्दशक्तिमूलक उपमाध्वनि का यह पद्य उदाहरण होता है।

उपमाध्वनेरुदाहरणान्तरं निर्देष्टुमाह—

यथा वा—

उपमाध्वनेरुदाहरणान्तरं यथेत्यर्थः।

अथवा जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'विमलतरमतिगभीरं सुपवित्रं सतत्त्ववत्सुरसम् ।
हंसावासस्थानं मानसमिह शोभते नितराम् ॥'

कविः कथयति—विमलतरम् कामक्रोधादिराहित्येनातिस्वच्छम्, अतिगभीरम् प्रबल-धैर्यसंयुक्तम्, सुपवित्रम् कुवासनाहीनम्, सतत्त्ववत् बलवत्, सुरसम् शृङ्गारादिनवविध-रसपेशलम्, हंसावासस्थानम् परमात्मस्थितिस्थानम्, मानसम् मनः, इह जगति, नितरां सर्वथा, शोभते शोभामधिगच्छतीति प्राकरणिकोऽर्थः। विमलतरम् पङ्कादिरहितम्, अतिगभीरम् पातालतलचुम्बि, सुपवित्रम् बाह्यविकारहीनम्, सतत्त्ववत् जलजन्तुभिः सहितम्, सुरसम् शोभनसलिलम्, हंसावासस्थानम् नानाविधराजहंसाश्रयीभूतम्, मानसम् तन्नामकं सरः, इह जगति, नितरामत्यन्तम्, शोभत इति चाप्राकरणिकोऽर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—विमल इत्यादि। कवि का कथन है—अत्यन्त निर्मल (क्रोध आदि से शून्य), अत्यन्त गंभीर (धैर्ययुक्त) अतिपवित्र, बलशाली, रसिक और परमात्मा का निवासस्थान मन, इस संसार में अत्यन्त शोभित होता है—यह प्राकरणिक अर्थ और—अत्यन्त निर्मल (पङ्क आदि से रहित) अत्यन्त गहरे, अत्यन्त पवित्र, प्राणियों (जलजन्तुओं) से युक्त, सुन्दर जल वाले और राजहंसों का निवासस्थान मानससरोवर इस संसार में अत्यन्त शोभित होता है—यह है अप्राकरणिक अर्थ।

उपपादयति—

अत्रानेकार्थानामपि शब्दानां प्रकरणेन कृतेऽपि शक्तिसङ्कोचे तन्मूलकेन ध्वननेन प्रतीयमानस्य, सरोवररूपस्यार्थान्तरस्याप्रस्तुतस्याभिधानं मा भूदिति प्रकृताप्रकृतयोरुपमानोपमेयभावः प्रधानवाक्यार्थतया कल्प्यते।

अत्रेति। विमलतरमित्यादिपद्ये इत्यर्थः। अत्र 'उदाहरणद्वये' इति नागेशटीका न सङ्गता, अग्रे 'सरोवररूपस्यार्थान्तरस्य' इति स्पष्टमभिधानात्। 'विमलतरम्—' इति पद्ये क्रियापदमपहाय सर्वे शब्दा द्व्यर्थकाः। परन्तु मनोवर्णनप्रकरणे पद्यमिदमुक्तम्, अतस्त-दनुकूलेष्वर्थेषु तेषां शब्दानां वाचकताशक्तिः प्रकरणबलान्नियम्येत। तथा च तत्पक्षीय एवार्थो वाच्यः सरोवरपक्षीयश्चार्थः शब्दशक्तिमूलकव्यञ्जनया बोध्यः। असम्बद्धतया तद्बोधोऽसङ्गतो न भवतु इति सरोवरमनसोरुपमा व्यज्यत इति शब्दशक्तिमूलकोपमाध्वनि-रत्रेति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'विमलतरम्—' इस पद्य के सभी पद प्रायः अनेकार्थक हैं, पर प्रकरण है यहाँ मन का, अतः मनःपक्षीय अर्थ में, उन पदों की शक्ति, प्रकरण के द्वारा, नियन्त्रित हो जाती है, जिससे वाच्यवृत्ति के द्वारा मनःपक्षीय अर्थ ही अवगत होता है, किन्तु शाब्दी व्यञ्जना से सरोवरपक्षीय अर्थ का ज्ञान भी होता है—वह भी रोका नहीं जा सकता। इस स्थिति में सरोवरपक्षीय अर्थ के बोधक होने के कारण यह पद्य असम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादक नहीं समझा जाय इस भय से उन दोनों (सरोवर और मन) अर्थों में उपमान-उपमेय-भाव की कल्पना की जाती है, अतः यह भी पद्य शब्दशक्तिमूलक उपमा-ध्वनि का उदाहरण होता है।

द्वितीयं प्रकारमुदाहर्तुमाह—

द्वितीयो यथा—

अर्थशक्तिमूलकोपमाध्वनिर्यथेत्यर्थः।

अर्थशक्तिमूलक उपमाध्वनि, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अद्वितीयं रुचात्मानं दृष्ट्वा किं चन्द्र दृप्यसि।
भूमण्डलमिदं सर्वं केन वा परिशोधितम् ॥'

अन्तःपुरमात्रसञ्चारिण्याः सुषमाशालिन्या निजप्रेयस्या मुखमालोक्य बहिरागतस्य कस्यचित् पुंसः चन्द्रमसं प्रत्युक्तिः—चन्द्र ! रुचा कान्त्या, अद्वितीयं निरुपमम्, आत्मानं, दृष्ट्वा ज्ञात्वा (ज्ञानसामान्यार्थकोऽत्र दृशिः), किं, दृप्यसि गर्वमनुभवसि ? नायं तव गर्वानुभवः समुचित इति भावः। तत्र हेतुमाह—भूमण्डलमित्यादिना। केन जनेन, (वाशब्दो हेतुपरः) इदं, सर्वम्, भूमण्डलम्, परिशोधितम् गवेषितम् ? न केनापीति भावः। तथा च सकलप्राण्यपरिशोधितेऽत्र संसारे तथाविधमपि वस्तु लब्धुं शक्यम्, यत्तवोपमानतां भजेतेति भावः। अत्रैवान्तःपुरे वर्तमानायाः मम प्रियतमाया आननं तव तुलां बिभर्तीति तात्पर्यम्।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अद्वितीयम् इत्यादि। सदा अन्तःपुर में ही रहने वाली अपनी परमसुन्दरी प्रेयसी के मुख को देखकर बाहर निकले हुए किसी पुरुष की चन्द्रमा के प्रति उक्ति है कि—हे चन्द्र ! तुम कान्ति के कारण अपने को अद्वितीय समझ कर क्या गर्व कर रहे हो ? किसने इस समग्र पृथ्वीमण्डल को ढूँढ़ा है ?—इस अनन्त पृथ्वी-मण्डल में एक से एक सुन्दर वस्तु है, कहीं तुम से सुन्दर वस्तु मिल सकती है। तात्पर्य यह कि यहीं अन्तःपुर में रहने वाली मेरी प्रियतमा का मुख तुम से कहीं बढ़कर सुन्दर है।

उपपादयति—

अत्र मूढादिपदाप्रयोगादसूयादेरप्रत्ययान्मुख्यतयोपमैव व्यङ्ग्या।

अत्रेति। 'अद्वितीयम्–' इति मूढादिपदाघटिते पद्ये इत्यर्थः। असूयादेरप्रत्ययादिति। असूयादिभावानभिव्यक्तेरित्यर्थः। अत्र 'अत्र मूढादिपदाप्रयोगेऽपि किं चन्द्र दृप्यसीत्याक्षेपेणासूया व्यङ्ग्या न वेति सहृदयैर्विभाव्यम्' इति नागेशः। विरहिण उक्तौ मूढादिपदाप्रयोगेऽपि असूयाऽभिव्यङ्क्तुम् शक्या, उद्दीपकं चन्द्रं प्रति विरहिणोऽसूयासम्भवात्। परमिदं पद्यं न विरहिण उक्तिरपि तु कान्तासङ्गतस्येति कथमिहासूयाभिव्यक्तिसम्भावना ? तस्मात् नायिकानने चन्द्रोपमानभाव एवात्र वक्तुरभिप्रेतः तथा चोपमैवात्र प्रधानव्यङ्ग्येति युक्तमुत्पश्यामि। प्रागपि पद्यमिदमस्मिन्नेव प्रकरणे उदाहृतम्, परन्तु तत्र मूढपदं प्रयुक्तम्। विरहिणश्चोक्तिरुपपादिता; अतस्तत्रासूया प्रधानव्यङ्ग्या, उपमा चाभिव्यज्यमानापि असूयोपस्कारिका अलङ्काररूपा। अत्र तु मूढपदं न प्रयुक्तम् संयोगिनश्चोक्तिः स्वीकृता, अतो नात्रासूयाऽभिव्यक्तिः, किन्तु उपमैव प्रधानव्यङ्ग्या। तेन पद्यमिदमर्थशक्तिमूलकोपमाध्वनेरुदाहरणं सम्पद्यत इति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। इसी प्रकरण में यह पद्य पहले भी उदाहृत हो चुका है, पर वहाँ 'मूढ' पद का प्रयोग हुआ है और विरही की उक्ति मानी गई है, अतः वहाँ 'असूया' मुख्य व्यङ्ग्य होती है जिसको व्यङ्ग्य उपमा अलंकृत करती है, अतएव वह पद्य व्यङ्ग्य उपमा अलंकार का उदाहरण कहा गया है। किन्तु यहाँ इस पद्य में 'मूढ' पद का प्रयोग नहीं किया गया है, जिससे यह विरही की उक्ति नहीं कही जा सकती, प्रत्युत संयोगी की उक्ति है, अतः असूया यहाँ अभिव्यक्त नहीं होती अपितु मुख्य रूप में उपमा ही अभिव्यक्त होती है, अतएव यह पद्य अर्थशक्तिमूलक उपमाध्वनि का उदाहरण होता है। यहाँ नागेश का कथन है कि "इस पद्य में 'मूढ' पद का प्रयोग न होने पर भी 'हे चन्द्र ! तू गर्व क्यों करता है' इस उक्ति से आक्षेप के द्वारा

'असूया' अभिव्यक्त होती है अथवा नहीं, इसका विचार सहृदयों को करना चाहिए।" इस कथन से, 'नागेश यहाँ भी असूया की अभिव्यक्ति मानते हैं' ऐसा भासित होता है, पर मुझे नागेश का दृष्टिकोण उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उद्दीपक चन्द्र के प्रति विरही के हृदय में असूया होती है, अतः पूर्व पद्य-जो विरही की उक्ति है—में असूया की अभिव्यक्ति ठीक है, पर यहाँ तो यह पद्य विरही की उक्ति है नहीं-एक पत्नी के साथ रहनेवाले की उक्ति है, फिर उसके लिये चन्द्रमा सुखद ही है कष्टदायक नहीं, ऐसी स्थिति में यहाँ भी असूया की अभिव्यक्ति मानना कहाँ तक सङ्गत है इस बात का भी विचार सहृदय जन ही करेंगे।

इदानीमुपमास्थलीयशाब्दबोधविचारमारभते—

अथात्र सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वे बोधो विचार्यते—अरविन्दसुन्दरमित्यत्रारविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकं लक्ष्यते। तच्च सुन्दरपदार्थैकदेशेन सौन्दर्येणाभेदसंसर्गेणान्वेति। तेनारविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकाभिन्नसौन्दर्यवदभिन्नमिति धीः। निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदान्वयस्याव्युत्पन्नत्वादभेदानुसरणम्। एकदेशान्वयस्तु देवदत्तस्य नप्तेत्यादाविवात्राप्यभ्युपेयः। 'समासस्यैव विशिष्टार्थे शक्तिः' इत्येके। 'अरविन्दपदमेव लक्षणया सर्वार्थबोधकं सुन्दरपदं तु तात्पर्यग्राहकम्' इत्यपरे।

अत्रेति। उपमाप्रकरणे इत्यर्थः। सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वे इति। 'चन्द्र इव सुन्दरं मुखम्' इत्यादौ चन्द्रमुखोभयवृत्तिसौन्दर्यात्मकसमानधर्म एव सादृश्यम् नातिरिक्तमिति नैयायिकाः, मीमांसकास्तु स धर्मः सादृश्यस्य साधकः सादृश्यं तु पदार्थान्तरमेवेति मन्यन्ते तयोरन्तिमे पक्षे इति भावः। लक्ष्यत इति। अरविन्दपदेनेति शेषः। अभेदानुसरणमिति। प्रयोजकसौन्दर्ययोरिति भावः। 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न पदार्थैकदेशेन' इति न्यायविरोधे प्राप्ते आह—एकदेशान्वयस्तु इति। ननु नित्यसाकाङ्क्षस्थले तथाङ्गीकारेऽपि अत्र न तथेति चेदत एव मतान्तरमाह—समासेति। अत्र मते गौरवान्मतान्तरमाह—अरविन्दपदमेवेति। सादृश्यमतिरिक्तः पदार्थः न समानधर्मरूप इति मीमांसकाभिमते पक्षे तत्तदुपमाप्रतिपादकवाक्येभ्यः कीदृशः कीदृशो बोधो जायते? कथं च तादृशो बोधो जायते इति विचारः सम्प्रति प्रक्रान्तस्तत्र प्रथम'मरविन्दसुन्दरम्' इति समासगतोपमाप्रतिपादकवाक्याज्जायमानस्य बोधस्य विषये विचारः क्रियते, तत्रापि पूर्वम् पदार्थनिरूपणमपेक्षितम्, पदार्थज्ञानमन्तरा वाक्यार्थज्ञानासम्पत्तेरिति पदार्थो निरूप्यते—निपातातिरिक्तनामार्थयोरभेदान्वय एवेति अरविन्दपदार्थसुन्दरपदार्थयोरभेदान्वयः करणीयः, स चारविन्दपदवाच्यार्थपुरस्कारे न संभवति, तादृशवाक्यस्थले अरविन्दाभिन्नं सुन्दरमिति बोधस्य तादृशबोधेच्छाकालिकसुन्दरपदार्थप्रयोगनियमज्ञानाधीनबाधग्रहत्वव्याप्त्, अतोऽरविन्दपदस्य स्वनिरूपितसादृश्यप्रयोजके लक्षणा, तथा चारविन्दपदस्यारविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजनं लक्ष्योऽर्थः। सुन्दरपदस्य च सौन्दर्यवदित्यर्थः। एवमारविन्दपदलक्ष्यार्थस्याभेदसंसर्गेण सुन्दरपदार्थैकदेशे सौन्दर्येऽन्वयः। ननु कथं प्रयोजकपर्यन्तमरविन्दपदस्य लक्षणा क्रियते? स्वनिरूपितसादृश्ये एव क्रियतां लक्षणा, तस्य च लक्ष्यार्थस्य प्रयोजकतासंबन्धेन सौन्दर्येऽन्वयो विधीयताम् इति चेन्न तथा सति पुनः नामार्थयोरभेदातिरिक्तः संबन्धोऽव्युत्पन्न इति नियमव्याकोपप्रसङ्गात्। प्रयोजकान्ते तादृशेऽर्थे लक्षणायां तु लक्ष्यार्थस्य प्रयोजकान्तस्याभेदेनैवान्वय इति न तद्व्याकोपः। न चैवं तन्नियमरक्षणेऽपि 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न पदार्थैकदेशेन' इति नियमव्याकोपः

प्रसक्त एव । सुन्दरपदार्थैकदेशे सौन्दर्येऽन्वयकरणादिति वाच्यम्, 'देवदत्तस्य नप्ता' इत्यत्र देवदत्तपदार्थस्य पुत्रपुत्रकन्यापुत्रान्यतरात्मकनप्तृपदार्थैकदेशीभूतप्रथमपुत्रकन्यान्यतरयोर्यथाऽन्वयः क्रियमाणः सह्यो भवति, तथाऽत्रापि स सह्य इत्याशयात् । इत्थञ्चारविन्दसुन्दरमिति वाक्यात् अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकाभिन्नं यत् सौन्दर्यम्, तद्वदभिन्नम् (मुखादि) इति बोधः सम्पद्यते । वैयाकरणास्तु 'समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कजशब्दवत्' इत्युक्त्या समासे शक्तिविशेषं स्वीकुर्वन्ति, तथा च तन्मतानुसारं न 'अरविन्दसुन्दरम्' इति पदात् खण्डशः पदार्थोपस्थितिः, अपि तु समस्तात् तस्मात् सम्पूर्णात् पदात् पूर्वोक्तपर्यवसितबोधविषयत्वेनोक्तो विशिष्ट एवार्थ उपस्थितो भवति शाब्दबोधविषयश्च भवति । अस्मिन् मते न लक्षणा, न वा कस्यापि नियमस्य व्याकोपः, तल्लक्षणायासो वा एकदेशान्वयप्रसङ्गो वा भवतीति सुगमोऽयं पन्थाः । केचित्तु अरविन्दपदस्यैव स्वनिरूपितसादृश्यप्रयोजकाभिन्नसौन्दर्यवदभिन्नमित्येतावदर्थे लक्षणा, सुन्दरपदं पुनः 'अरविन्दपदमत्र एतादृशे (उक्ताकारे) अर्थे लाक्षणिकम्' इत्यर्थे तात्पर्यग्राहकम्, यथा 'गभीरायां नद्यां घोषः' इत्यादौ तीरपदस्य गभीरनदीतटलक्षकत्वे गभीरपदं तात्पर्यग्राहकमङ्गीक्रियते । तात्पर्यग्राहकत्वञ्चाम स्वसमभिव्याहृतपदशक्तिबोधकत्वम् । अस्मिन्नपि पक्षे अन्वयादिक्लेशो नास्ति इति भावः ।

अब उपमाप्रतिपादक वाक्यों से होने वाले शाब्दबोध के विषय में विचार करते हैं—अथात्र इत्यादि । इस प्रकरण को समझने के लिये आवश्यक है कि पहले 'शाब्दबोध' क्या वस्तु है यह समझ लिया जाय अतः संक्षेप में शाब्दबोधपदार्थ का विश्लेषण कर दिया जाता है । [शाब्दबोध पद का सीधा सा अर्थ होता है शब्द से होनेवाला (अर्थ का) ज्ञान । इसके दो विभाग किये जा सकते हैं, एक-किसी एक शब्द से होने वाला (अर्थ-) ज्ञान और दूसरा अनेक शब्दों के समूह (वाक्य) से होने वाला (अर्थ-) ज्ञान । इन दोनों में प्रथम-अर्थात् एकशब्द-जन्य-अर्थ-ज्ञान सरल है, उसमें अधिक बखेड़ा नहीं होता । मान लीजिए कि-आपने किसी के मुख से 'चन्द्रः' ऐसा शब्द सुना, सुन लेने के बाद—यदि आपको चन्द्र पद की शक्ति ज्ञात है तो आपको उस पद से चन्द्रत्व धर्म से युक्त चन्द्रमा का ज्ञान होगा, आपका वह (चन्द्रत्वविशिष्ट चन्द्र इस तरह का) ज्ञान ही चन्द्र पद से होने वाला शाब्दबोध कहलायगा । पर द्वितीय अर्थात् पदसमूहात्मक वाक्य से होने वाला ज्ञान अपेक्षया उससे कुछ कठिन है-उसमें बहुतेरे बखेड़े खड़े होते हैं । कारण, एक वाक्य में अनेक पद होते हैं और जिस वाक्य में जितने पद होते हैं, उनमें से प्रत्येक पद के पृथक्-पृथक् अर्थ ज्ञात हो जाने के बाद उन अर्थों के अन्वयों-पारस्परिक सम्बन्धों—का ज्ञान करना पड़ता है, सम्बन्धज्ञान हो जाने पर परस्परसम्बद्धरूप में उन पदों का सामूहिक अर्थ—वाक्यार्थविषयक—ज्ञान जो होता है उसी को द्वितीय विभागीय शाब्दबोध कहा जाता है, इस प्रकार के शाब्दबोध को 'वाक्यार्थज्ञान', 'अन्वयबोध' आदि नामों से भी विद्वान अभिहित करते हैं । कल्पना कीजिए कि-आपने 'रामो ग्रामं गच्छति' ऐसा वाक्य किसी से सुना, सुन लेने के बाद यदि आप, उक्त वाक्य के अन्तर्गत 'रामः', 'ग्रामम्' और 'गच्छति' इन तीनों पदों के अर्थ जानते रहेंगे, और साथ साथ उन अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध से भी परिचित रहेंगे, तो उस वाक्य से 'रामाभिन्नाश्रयवृत्ती, ग्रामरूपोत्तरदेशनिष्ठसंयोगानुकूलः, वर्तमानकालिकः व्यापारः अर्थात्-राम से अभिन्न-रामरूप-आश्रय में रहने वाला, ग्रामरूप अग्रिम प्रदेश के साथ होने वाले संयोग का उत्पादक और वर्तमान काल में होने वाला व्यापार (क्रिया-चरणसंचालन)' ऐसा वाक्यार्थबोध आप को होगा । क्योंकि—उक्त वाक्य में 'रामः' और 'ग्रामम्' इन संज्ञावाचक पदों का अर्थ व्यक्तिविशेष और स्थान-

विशेष समझ लेना कठिन नहीं, रहा 'गच्छति' यह क्रिया-पद, उसमें दो अंश हैं एक-'गम्' (जिसको गच्छ् आदेश-विकार-हो जाता है) धातुरूप प्रकृति और दूसरा-'ति' प्रत्यय, उनमें प्रकृति-धातु-का अर्थ है (उत्तरदेश-)संयोगानुकूलव्यापार-अर्थात् आगे के प्रदेश से संयुक्त करा देने वाली कर्ता की क्रिया जो पादविक्षेप(पैर का उठाना बैठाना)रूप है और ति प्रत्यय के अर्थ होते हैं आश्रय, वर्तमान काल, एवम् एकत्व संख्या। अब इन अर्थों के अन्वयसम्बन्ध को समझिये-राम का प्रत्ययार्थ आश्रय के साथ अभेदसम्बन्ध है, एवम् उस आश्रय का और काल का क्रिया के साथ वृत्तित्व-सम्बन्ध है और संख्या का तिङर्थ आश्रय (कर्ता) के साथ समवायसम्बन्ध है। इसी तरह ग्राम का उक्त धात्वर्थ के एक अंश-संयोग-के साथ निष्ठत्वसम्बन्ध है। स्पष्ट अभिप्राय हुआ कि-धात्वर्थ में दो अंश रहते हैं, एक फलअंश और दूसरा क्रियाअंश, उन दोनों में से प्रथम अंश में कर्म का अन्वय होता है और द्वितीय अंश में तिङर्थ का। एवम् कर्म से अन्वित प्रथम धात्वर्थांश का भी अन्त में द्वितीय धात्वर्थांश में ही अन्वय हो जाता है, फलतः धात्वर्थ-क्रिया, शाब्दबोध में मुख्य विशेष्य होती है। (ऊपर लिखे गये वाक्यार्थबोध में इन सब बातों को मिलाकर देखिये।) शाब्दबोध की यह शैली (जिसके हिसाब से क्रिया मुख्य विशेष्य होती है) वैयाकरणों की है। नैयायिकों की शाब्दबोधशैली इससे भिन्न है। वे प्रथमान्त पद के अर्थ को ही शाब्दबोध में मुख्य विशेष्य बनाते हैं। विस्तार के भय से उस शैली की विशद चर्चा यहाँ नहीं की जाती है। जिज्ञासुओं को इसके लिये मुक्तावली के शब्दखण्ड आदि देखने चाहिए। वाक्य के अर्थ को स्पष्टरूप में समझने और समझाने के लिये शाब्दबोध की उक्त शैली से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है, अतः इस प्रकरण में यह समझाया गया है कि-उपमा, कितने प्रकार के वाक्यों से वर्णित हो सकती है और उन वाक्यों से कैसा-कैसा शाब्दबोध होता है।] उपमावाक्यों के शाब्दबोध समझने से पूर्व एक बात और समझ लेने योग्य है। उपमा के लक्षण से यह बात विदित हो चुकी है कि-'सादृश्य' का ही नाम उपमा है। परन्तु वह सादृश्य क्या वस्तु है इस विषय में दो मत हैं। मीमांसक आदि का मत है कि-'सादृश्य' एक अतिरिक्त पदार्थ है-उसे किसी अन्य पदार्थ के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता परन्तु नैयायिकों का मत इससे भिन्न है। वे कहते हैं कि-सादृश्य कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, दो वस्तुओं में परस्पर जो एक से धर्म रहते हैं उन्हें ही सादृश्य कहा जाता है। उदाहरण के द्वारा इस मतभेद को स्पष्ट समझ लीजिए-किसी ने कहा-'उसका मुख चन्द्र-सदृश है, क्योंकि वे दोनों सुन्दर हैं' यहाँ मीमांसकों के मतानुसार 'सुन्दरता' और 'सादृश्य' भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, सुन्दरता सादृश्य को सिद्ध करने वाली है, किन्तु स्वयं सादृश्यरूप नहीं है। नैयायिकों के मतानुसार तो सुन्दरता ही सादृश्य है, उससे भिन्न सादृश्य कोई वस्तु नहीं। तात्पर्य यह निकला कि मीमांसक आदि के कथनानुसार सादृश्य एक स्वतन्त्र पदार्थ है और नैयायिकों के कथनानुसार समानधर्मरूप। अब यहाँ पहले सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ मानकर शाब्दबोध का विचार किया जा रहा है-पहले 'अरविन्दसुन्दरम्-अर्थात् कमल-सुन्दर' इस समासगत उपमाप्रतिपादक समस्त वाक्य को लीजिए। इस वाक्य में दो पद हैं-एक अरविन्द, दूसरा सुन्दर। इन दोनों पदों में से 'अरविन्द' पद का वाच्य अर्थ यद्यपि कमल है, तथापि वह अर्थ यहाँ बाधित है-अर्थात् सुन्दर पदार्थ के साथ शुद्ध कमलरूप वाच्य अर्थ का अन्वय नहीं हो सकता, अतः लक्षणा के द्वारा, उस (अरविन्द) पद का अर्थ यहाँ 'अरविन्दनिरूपित सादृश्यप्रयोजक' इतना बड़ा करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि 'सादृश्य' ही मध्य में आकर अरविन्द पदार्थ और सुन्दर पदार्थ को जोड़ता है, उसके बिना वे दोनों पदार्थ जुट ही नहीं सकते-अन्वित नहीं हो सकते। फलतः अब 'अरविन्द-सुन्दरम्' का अर्थ हो जाता है 'अरविन्दमिव सुन्दरम्'-अर्थात् कमल-सा सुन्दर। 'इव (सा)' का अर्थ सादृश्य है, और उस सादृश्य का निरूपक होता है उपमान-

अरविन्द, अतः 'सादृश्य' 'अरविन्द' से निरूपित कहलाता है। अभिप्राय यह कि-अरविन्द और सादृश्य के सम्बन्धरूप से मध्य में 'निरूपित' शब्द जोड़ना पड़ता है। अब इस 'अरविन्दनिरूपित सादृश्य' का अन्वय 'सुन्दर' पद के अर्थ-'सौन्दर्ययुक्त' के साथ करना है। 'सुन्दर' पद के इस समग्र अर्थ के साथ उक्त सादृश्य का कोई सम्बन्ध बन नहीं पाता, अतः उसके एक देश-एक भाग-सौन्दर्य के साथ 'सादृश्य' का अन्वय करना पड़ता है। सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ मानने वालों के हिसाब से 'सौन्दर्य' सादृश्य का प्रयोजक-साधक-होता है, अतः अरविन्द पद के लक्ष्य अर्थ में 'प्रयोजक' को भी समेट लेना पड़ता है। इस तरह से 'अरविन्दनिरूपित सादृश्यप्रयोजक' इस अरविन्द पद के लक्ष्य अर्थ का 'सुन्दर' पद के अर्थ-'सौन्दर्ययुक्त'-के एक भाग 'सौन्दर्य' के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है अतः इन दोनों अर्थों के मध्य में 'अभिन्न' शब्द जोड़ना पड़ता है। इस प्रकार से अब 'अरविन्दसुन्दर' का अर्थ होता है 'अरविन्द से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक से अभिन्न सौन्दर्य से युक्त'। इस अर्थ का भी मुख आदि विशेष्य के साथ अभेदसम्बन्ध से अन्वय होता है, अतः 'अरविन्दसुन्दर' पद का शाब्दबोध होता है 'अरविन्द से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक से अभिन्न सौन्दर्य से युक्त से अभिन्न।' आप कह सकते हैं कि-अरविन्द पद की लक्षणा, 'प्रयोजक'पर्यन्त में करना व्यर्थ है, सादृश्यपर्यन्त में ही लक्षणा करनी चाहिये-अर्थात् 'अरविन्दनिरूपित सादृश्य' इतना ही अरविन्द पद का लक्ष्य अर्थ मानना चाहिए और उसका अन्वय, 'सौन्दर्य' के साथ 'प्रयोजकता' सम्बन्ध से कर लेना चाहिए। इस तरह करने पर शाब्दबोध में 'प्रयोजक' के आगे जो 'अभिन्न' शब्द (सम्बन्धसूचक) जोड़ना पड़ता था वह नहीं जोड़ना पड़ेगा, क्योंकि अब 'प्रयोजक' यह शब्द ही सम्बन्धबोधक के रूप में जोड़ा गया है। इसका उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि 'निपातों (च, वै, तु, हि आदि) से अन्य दो प्रातिपदिकों के अर्थों का भेद से-अर्थात् अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से परस्पर अन्वय उस स्थिति में नहीं होता, यदि वे दोनों प्रातिपदिक समान विभक्ति वाले हों' ऐसा नियम है। इस नियम के अनुसार 'सादृश्य' का 'सौन्दर्य' के साथ 'प्रयोजकता'सम्बन्ध से अन्वय नहीं हो सकता। कारण, 'सादृश्य और सौन्दर्य' दोनों ही, क्रमशः 'अरविन्द और सुन्दर' इन दो प्रातिपदिकों के ही अर्थ हैं। अतः लक्षणा के द्वारा अरविन्द पद का प्रयोजकपर्यन्त अर्थ मानकर उसका सौन्दर्य के साथ अभेदसम्बन्ध से अन्वय करना पड़ता है। अब रही आशङ्का एक यह कि अरविन्द पद के लक्ष्य अर्थ-प्रयोजकपर्यन्त का अन्वय जो आपने सुन्दर पदार्थ के एकदेश सौन्दर्य के साथ किया है, वह कैसे? क्योंकि 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन—अर्थात् पदार्थ दूसरे किसी पूरे पदार्थ के साथ ही अन्वित होता है, पदार्थ के एक भाग के साथ नहीं' ऐसा नियम है, इस नियम के अनुसार अरविन्दपदार्थ (प्रयोजकान्त) का अन्वय पूरे सुन्दर पदार्थ (सौन्दर्ययुक्त) के साथ होना चाहिए, पदार्थ के एक भाग (सौन्दर्य) के साथ नहीं। इसके समाधान में यह कहा जाता है कि-बात आपने सर्वथा ठीक कही है, पर कहीं-कहीं, अगत्या एक देश (एक भाग) के साथ भी अन्वय करना पड़ता है। जैसे—'देवदत्तस्य नप्ता अर्थात् देवदत्त का नाती' यहाँ पर 'देवदत्त पदार्थ' का अन्वय, 'नाती पदार्थ' के एक हिस्से के साथ किया जाता है। तात्पर्य यह है कि—'नप्ता-नाती' पद का अर्थ होता है 'पुत्र का पुत्र' अथवा 'कन्या का पुत्र'। दोनों ही अर्थों में देवदत्त का सम्बन्ध, प्रथम पुत्र अथवा कन्या के साथ हो सकता है, पुत्र-पुत्र अथवा कन्या-पुत्र के साथ नहीं। उसी तरह यहाँ भी अरविन्द पद के लक्ष्यार्थ का अन्वय, सुन्दर पदार्थ के एक हिस्से-सौन्दर्य के साथ कर लिया जाता है। कुछ लोग (वैयाकरण), 'अरविन्दसुन्दर' इस समस्त पद में पद-शक्ति के अतिरिक्त एक समास-शक्ति मानते हैं, अतः वे उस समास-शक्ति के द्वारा ही 'अरविन्दसुन्दर'

पद का 'अरविन्दनिरूपित सादृश्यप्रयोजक सौन्दर्ययुक्त' इतना बड़ा अखण्ड अर्थ कर लेते हैं। इस मत में 'अरविन्द और सुन्दर' इन दो पदों का खण्ड-खण्ड अर्थ कुछ होता ही नहीं है, फिर अन्वय आदि का झमेला उठे तो कैसे? और जब अन्वय का झमेला ही समाप्त, तब एकदेशान्वय का कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता। अन्य लोग (नैयायिक-मतानुयायी) अतिरिक्त समास-शक्ति मानने में गौरवदोष बतलाकर लक्षणापक्ष को ही ठीक मानते हैं, पर अरविन्द पद की लक्षणा मानते हैं 'अरविन्दनिरूपित सादृश्य-प्रयोजक सौन्दर्ययुक्त' इतने अर्थ में। अब बात रही यह कि—यदि 'अरविन्द' पद की लक्षणा ही उतने अर्थों में मान ली जाती है, तब 'सुन्दर' पद किस रोग की औषध है? अर्थात् उक्त वाक्य में उसका प्रयोग व्यर्थ हो जाता है, तो इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि—'सुन्दर' पद तात्पर्यग्राहक है—अर्थात् उतने अर्थों के बोध कराने के लिये वक्ता ने यहाँ 'अरविन्द' पद का प्रयोग किया है, इस बात का ज्ञान श्रोताओं को कराने के लिये 'सुन्दर' पद का प्रयोग किया गया है। ऐसी लक्षणा कहीं-कहीं अनिवार्यतः करनी पड़ती है। जैसे-'गभीरायां नद्यां घोषः अर्थात् गहिरी नदी के तट में बथान' यहाँ पर नदी पद की लक्षणा 'गभीरनदी-तट' में की जाती है और 'गभीर' पद को तात्पर्यग्राहक माना जाता है, अन्यथा (अर्थात् यदि नदी पद की लक्षणा केवल नदीतट में की जाय-गभीर नदीतट में नहीं, तब) गभीर पदार्थ का अन्वय, नदी पदार्थ के साथ न बन सके, क्योंकि नदी पद का लक्षणया जो नदीतट अर्थ हुआ है उसमें गभीरता संभव नहीं है। इस पक्ष में भी एक पद का ही उतना बड़ा अर्थ हो जाने के कारण न अन्वय करने का झमेला उठता है, न एकदेश के साथ अन्वय-करणरूप दोष का प्रसंग ही आता है।

शाब्दबोधप्रदर्शनपुरस्सरं द्वितीयमुपमाप्रतिपादकं वाक्यमुल्लिखति—

तथा अरविन्दमिव सुन्दरमित्यत्रेवार्थे सादृश्येऽरविन्दस्य निरूपितत्व-संसर्गेणान्वयः। तस्य च प्रयोजकतासंसर्गेण सौन्दर्ये। एवं चारविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकसौन्दर्यवदभिन्नमिति।

वदभिन्नमितीति। बोध इति शेषः। एवमग्रेऽपि। 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' इति व्यस्तं वाक्यम्, तेनात्र वाक्यगतोपमा। सादृश्यमत्रेवपदेन वाच्यम्, तत्रोपमानभूतस्यारविन्द-पदार्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयो भवति। सादृश्यस्य च सुन्दरपदार्थैकदेशे सौन्दर्ये प्रयोजकतासम्बन्धेनान्वयो जायते। सुन्दरपदार्थस्य सौन्दर्यवतो मुखादावभेदसम्बन्धेन सः। तथा च अरविन्दनिरूपितं यत्सादृश्यं, तत्प्रयोजकं यत्सौन्दर्यं, तद्वता अभिन्नं मुखादीति वाक्यार्थबोधः सम्पद्यत इति भावः।

शाब्दबोध का विचार करने के लिये अब उपमा-प्रतिपादक द्वितीय वाक्य का उल्लेख करते हैं—तथा इत्यादि। 'अरविन्दमिव सुन्दरम् (कमल सा सुन्दर)' यह समासरहित उपमाप्रतिपादक वाक्य है, यहाँ 'इव' शब्द उक्त हुआ है, अतः इस वाक्य से अवगत होनेवाली उपमा वाक्यगता कहलायगी। 'इव' का वाच्य अर्थ है 'सादृश्य' उसमें अरविन्द—कमल—इस उपमान का अन्वय 'निरूपितत्व'सम्बन्ध से होता है और सादृश्य का अन्वय सुन्दर पदार्थ—सौन्दर्ययुक्त—के एकदेश—सौन्दर्य के साथ 'प्रयोजकता'-संबन्ध से किया जाता है। सुन्दर पद के अर्थ का मुख आदि अनुक्त विशेष्य के साथ अभेदसंबन्ध से अन्वय होता है यह निश्चित ही है, अतः शाब्दबोध में 'अरविन्द' और 'सादृश्य' शब्द के बीच 'निरूपित' शब्द 'सादृश्य' और 'सौन्दर्य' के बीच 'प्रयोजक'-शब्द एवम् 'सौन्दर्ययुक्त' के आगे 'अभिन्न'पद जोड़ दिये जाते हैं जिससे उक्त वाक्य का शाब्दबोध होता है 'कमल से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक सौन्दर्य से युक्त अभिन्न (मुख आदि)।

तदर्थं तथाविधं तृतीयं वाक्यमुल्लिखति—

अरविन्दमिवेत्यत्र त्वरविन्दनिरूपितसादृश्यवदिति ।

'अरविन्दमिव' इति तृतीये उपमाप्रतिपादकवाक्ये साधारणधर्मबोधकं सुन्दरादिपदं नोक्तम्, अतोऽत्र वाक्यगता धर्मलुप्तोपमा । अत्रोपमानस्यारविन्दपदार्थस्य 'निरूपितत्व'-सम्बन्धेन इवार्थे सादृश्येऽन्वयः, सादृश्यस्य च स्वरूपसम्बन्धेनोपमेये मुखादौ तथा चारविन्दनिरूपितं यत्सादृश्यं, तद्वन्मुखादीति बोधो भवतीति भावः ।

अब उपमा-प्रतिपादक तृतीय वाक्य का उल्लेख शाब्दबोध दिखलाने के लिये करते हैं—अरविन्दमिव इत्यादि । 'अरविन्दमिव (कमल सा)' इस तृतीय वाक्य में समान धर्मबोधक 'सुन्दर' आदि पद उक्त नहीं हैं, अतः यहाँ वाक्यगत धर्मलुप्तोपमा कही जाती है । यहाँ भी अरविन्द (उपमान), 'इव' पद के अर्थ-सादृश्य-में 'निरूपितत्व'-संबन्ध से अन्वित होता है और 'सादृश्य' मुख आदि अनुक्त उपमेय में 'स्वरूप'-संबन्ध से, अतएव इस वाक्य से 'अरविन्द' से निरूपित सादृश्यवाला (मुख) इस तरह का शाब्दबोध होता है ।

आशंकामेकां मनसि कृत्य समाधत्ते—

निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यप्रकारतानिरूपितविशेष्यता [निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यविशेष्यतान्यतरभिन्नविशेष्यतासंसर्गेण नामार्थप्रकारकबोध एव विशेष्यतया विभक्तिजन्योपस्थितेर्हेतुत्वादिवार्थस्य नञर्थस्येव भेदसंसर्गेण नामार्थविशेष्यत्वे विशेषणत्वे च न दोषः ।

निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यप्रकारतेति । निपातार्थनिष्ठप्रकारतेति भावः । निरूपितविशेष्यतेति । निपातार्थातिरिक्तनिष्ठविशेष्यतेति भावः । निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यविशेष्यतेति । निपातार्थनिष्ठविशेष्यतेति भावः । इवार्थस्येति । सादृश्यस्येत्यर्थः । नञर्थस्येति । भेदादेरित्यर्थः । भेदसंसर्गेणेति । भेदसंसर्गशब्दः अभेदेतरसम्बन्धेषु परिभाषितः, तथा [illegible] इति । नामार्थनिरूपितविशेष्यत्वे [illegible] यावत् । 'इवार्थस्य' इति प्राक्तनेनास्य सम्बन्धः । विशेषणत्व इति । नामार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतायामित्यर्थः । न दोष इति । कार्यकारणभावविरोधरूपो दोषो नेत्यर्थः । अयमत्र विशदोऽर्थः—शाब्दबोधस्य विषये द्वे मते प्रतिष्ठिते । आत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या बोध इत्येकं मतम्, विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या बोध इति च द्वितीयम् । तत्र द्वितीयमते आकाङ्क्षायोग्यताज्ञानादिरूपेतरसामग्रीसमवधानेऽपि 'राजा पुरुषः' इत्यादौ स्वत्वादिसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन राजादिप्रकारकपुरुषबोधस्यानुभवनिषिद्धस्य वारणाय भेदसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन नामार्थप्रकारकबोधे विशेष्यतया विभक्तिजन्योपस्थितेर्हेतुत्वम् वाच्यम् । तथा च पूर्वोक्तयोः स्थलयोः प्रथमस्थलेऽरविन्दस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनेवार्थे सादृश्ये, सादृश्यस्य च प्रयोजकत्वसम्बन्धेन सुन्दरपदार्थैकदेशे सौन्दर्ये एवम् द्वितीयस्थलेऽरविन्दस्य तेनैव सम्बन्धेन तत्रैव सादृश्ये सादृश्यस्य च स्वरूपसम्बन्धेन मुखादौ कृताः अन्वयाः कथमुपपद्यन्ताम्, तेषामन्वयबोधानां निरूपितत्व-प्रयोजकत्व-स्वरूपात्मकभेदसंसर्गावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन अरविन्देन रूपनामार्थप्रकारकतया उक्तकार्यकारणभावघटककार्यतावच्छेदकदलाक्रान्तत्वेऽपि सादृश्य-सौन्दर्य-मुखपदार्थानाम् विशेष्यतयोपस्थितेः क्रमशः इव-सुन्दर-मुखरूपनामजन्यतया कारणतावच्छेदकदलानाक्रान्तत्वादिति चेदत्राहुः—पूर्वोक्तकार्यकारणभावशरीरे

कार्यतावच्छेदकसम्बन्धविधया न भेदसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासामान्यं निवेश्यते, अपि तु निपातार्थनिष्ठोपस्थितीयप्रकारतानिरूपितयत्किञ्चिदर्थनिष्ठविशेष्यता—निपातार्थनिष्ठोपस्थितीयविशेष्यतान्यतरभिन्नत्वेन सङ्कुचितैव विशेष्यता तथात्वेन प्रवेश्यते। एवञ्च प्रकृते निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेनारविन्दप्रकारकसादृश्यबोधः, प्रयोजकत्वसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन तादृशसादृश्यप्रकारकसौन्दर्यबोधः, एवं स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन सादृश्यप्रकारकमुखादिबोधश्च नोक्तकार्यकारणभावघटककार्यतावच्छेदककुक्षिपतिता भवन्ति, एषु त्रिषु बोधेषु प्रविष्टायाः प्रथमविशेष्यतायाः इवरूपनिपातार्थनिष्ठतया द्वितीय-तृतीययोश्च विशेष्यतयोः इवरूपनिपातार्थनिष्ठोपस्थितीयप्रकारतानिरूपिततया कार्यतावच्छेदककोटिप्रविष्टविशेष्यतान्यतरभिन्नत्वाभावात्। अत एव 'घटो न पटः' इत्यादौ पटस्य प्रतियोगितासम्बन्धेन नञर्थे भेदे भेदस्य च स्वरूपसम्बन्धेन घटेऽन्वयेन 'पटप्रतियोगिकभेदवान् घटः' इत्याकारको बोधः सर्वसम्मतः समुपपद्यते। कार्यकारणभावस्य सङ्कुचितविषयतया नञर्थो यथा प्रातिपदिकार्थं प्रति विशेष्यो विशेषणञ्च भवति तथा इवार्थोऽपीति सारांश इति।

अब हृदयस्थित एक शङ्का का समाधान करते हैं—निपात इत्यादि। अभिप्राय यह है कि शाब्दबोध के दो तरीके हैं, एक के अनुसार कार्य(बोध) और कारण (पदार्थोपस्थिति आदि) को श्रोता की आत्मा में इकट्ठा किया जाता है। इस तरीके को शास्त्रीय भाषा में 'आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से बोध' कहा जाता है। दूसरे तरीके के अनुसार कार्य-कारण को विषय (प्रकार, विशेष्य आदि) पर जुटाया जाता है, शास्त्रीय भाषा में इसको 'विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या बोध' कहते हैं। सारांश यह कि–बोध आदि सम्बन्धविशेष के द्वारा आत्मा में लाया जा सकता है और सम्बन्धविशेष के द्वारा विषय में भी लाया जा सकता है। ये सम्बन्धविशेष क्रमशः समवाय और विशेष्यता आदि होते हैं। विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या बोध-पक्ष में यह नियम माना जाता है कि 'भेदसम्बन्धावच्छिन्न-विशेष्यता(अभेद से अन्यसम्बन्धमूलक विशेष्यभाव)सम्बन्ध से शाब्दबोध (किसी प्रातिपदिक के अर्थ का अन्वयबोध) उसी विशेष्य पर होगा जिस (विशेष्यभूत अर्थ) की उपस्थिति, विभक्ति (सु-औ-जस् आदि) के द्वारा हुई होगी—अर्थात् भेदेन किसी प्रतिपादिकार्थ का अन्वय विभक्त्यर्थ में ही होगा प्रातिपदिकार्थ में नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि प्रातिपादिकार्थ में जब अन्वय होगा तब अभेदसम्बन्ध से ही। ऐसा नियम इसलिये माना जाता है कि 'राजा पुरुषः' इत्यादि वाक्यों से स्वस्वामिभावसंसर्गावच्छिन्न-विशेष्यतासम्बन्ध से राजप्रकारक पुरुषबोध–अर्थात् 'राजा का पुरुष' ऐसा बोध—अनुभवविरुद्ध है। तात्पर्य यह कि यदि वैसा नियम न माना जाय, तब यहाँ ऐसा बोध भी होने लगेगा। अब आइये प्रकृत में—उपर्युक्त दो वाक्यों से जो आपने क्रमशः 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकसौन्दर्ययुक्त से अभिन्न मुख' और 'अरविन्दनिरूपित सादृश्यवाला मुख' ये दो शाब्दबोध किये हैं, वे कैसे? क्योंकि उक्त नियम के अनुसार ये शाब्दबोध नहीं हो सकते हैं। कारण प्रथम वाक्य में अरविन्द, इव और सुन्दर तथा द्वितीय वाक्य में अरविन्द, इव और मुख आदि सभी प्रातिपदिक हैं, अतः इन सबों के अर्थों का परस्परअन्वय अभेदसम्बन्ध से ही होना चाहिए, फिर जो 'निरूपितत्व'सम्बन्ध से 'अरविन्द' का इवार्थ-सादृश्य में, 'प्रयोजकत्व'सम्बन्ध से 'सादृश्य' का 'सौन्दर्य' में एवम् द्वितीय वाक्य में 'सादृश्य' का 'स्वरूप'(वाला)सम्बन्ध से मुख आदि में अन्वय किया गया है, वह अनुचित है। यह है हृदयस्थित शङ्का। इसके समाधान में ग्रन्थकार कहते हैं कि–उक्त नियम में 'भेदसम्बन्धावच्छिन्न विशेष्यता-सम्बन्ध से' यहाँ जो विशेष्यता प्रविष्ट की जाती है वह सामान्यतः–सब विशेष्यतायें–नहीं, अपितु निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यप्रकारतानिरूपितविशेष्यता—अर्थात् निपात

(इव, नञ् आदि) के अर्थों को प्रकार (विशेषण) बनाकर विशेष्यीभूत किसी अन्य (प्रातिपदिकार्थ, धात्वर्थ आदि) में रहनेवाली विशेष्यता और निपातजन्योपस्थिति-प्रयोज्य विशेष्यता—अर्थात् किसी अन्य अर्थ को प्रकार बनाकर निपातार्थ में रहनेवाली विशेष्यता—इन दोनों में से किसी एक विशेष्यता से भिन्न विशेष्यता ही। तात्पर्य यह कि 'भेदेन किसी प्रातिपदिकार्थ का अन्वय, विभक्त्यर्थ में ही होगा, प्रातिपदिकार्थ में नहीं' यह नियम निपात से भिन्न प्रातिपदिक के अर्थ में ही लागू होता है—अर्थात् निपात-रूप प्रातिपदिक का अर्थ, प्रातिपदिक के अर्थों के साथ और किसी भी प्रातिपदिक का अर्थ, निपातरूपप्रातिपदिकार्थ के साथ भेदसम्बन्ध से भी अन्वित हो सकता है। सारांश यह निकला कि निपातार्थ, अभेदातिरिक्तसम्बन्ध से भी प्रातिपदिकार्थ में और अन्यप्रातिपदिकार्थ भी, अभेदातिरिक्तसम्बन्ध से निपातार्थ में विशेषण हो सकते हैं। अब इस सङ्कुचित कार्यकारण-भाव के अनुसार प्रकृत में कोई अनौचित्य नहीं रहा, क्योंकि इव' निपात है, अतः इसके अर्थ-सादृश्य में अरविन्दपदार्थ का निरूपितत्व सम्बन्ध से विशेषण होना और उसी निपातार्थ का 'प्रयोजकत्व'सम्बन्ध से सौन्दर्य में विशेषण होना बन सकता है। इसी तरह द्वितीय वाक्य में भी समझना चाहिये। नञ्-निपात के स्थल में भी यही बात होती है—अर्थात् 'घटो न पटः (घड़ा कपड़ा नहीं है)' यहाँ उक्त सामान्य नियम के अनुसार पट का भेदसम्बन्ध (प्रतियोगिता) से नञर्थ में और नञर्थ (भेद) का स्वरूपसम्बन्ध से घट में अन्वय नहीं होना चाहिये था, परन्तु सङ्कुचित नियम के अनुसार वैसा होता है, अतः इस वाक्य से 'पटप्रतियोगिक-भेदवान् घटः अर्थात् पट के भेद से युक्त घट' ऐसा शाब्दबोध बनता है। नञ्निपात का स्थल शाब्दबोध के विचार में प्रसिद्ध है, अतः प्रकृत में दृष्टान्तरूप से 'नञर्थस्येव' ऐसा मूल में कहा गया है।

तथाविधं चतुर्थं वाक्यं समुल्लिखति—

अरविन्दमिव भातीत्यत्रारविन्दनिरूपितसादृश्यस्य प्रकारतासम्बन्धेन धात्वर्थेऽन्वयादरविन्दसादृश्यप्रकारकधीविशेष्य इति।

इतीति बोध इति शेषः। तात्पर्यमाह—धीति। 'अरविन्दमिव भाति' इति वाक्ये भातीति क्रियापदादतिरिक्तोंऽशः प्राग्वदेव, अतस्तावतोंऽशस्य 'अरविन्दनिरूपितं सादृश्यम्' इति बोधोऽपि पूर्ववदेव। अवशिष्टं भातीति क्रियापदम्। तत्र भाधातोः ज्ञानमर्थः, तत्रैतार्थस्य सादृश्यस्य 'प्रकारता'सम्बन्धेनान्वयः, तस्य (ज्ञानस्य) च विशेष्यतासम्बन्धेन कर्तरि मुखादावन्वयः। तिङर्थोऽविवक्षितः। अथवा कृतिवाचकस्य तस्य विशेष्ये लक्षणा, अस्मिन् कल्पे न विशेष्यतासम्बन्धः। तथा च अरविन्दनिरूपितं सादृश्यं प्रकारो यस्याः, तादृशी या धीः (ज्ञानम्) तद्विशेष्यभूतम् मुखादीति बोधः पर्यवस्यति। इयं नैयायिकानां शैली, वैयाकरणशैलीसमाश्रयणे तु 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रकारकं मुखादिविशेष्यकं ज्ञानमि'ति बोधो भवेदिति भावः।

उपमा-प्रतिपादक चतुर्थ वाक्य का उल्लेख करते हैं—अरविन्द इत्यादि। 'अरविन्द-मिव भाति (कमल सा ज्ञान होता है)' इस वाक्य में 'अरविन्दमिव' इतना अंश तो पहले जैसा ही है, अतः उससे होनेवाला बोध—'अरविन्द से निरूपित सादृश्य'—भी परिचित ही है। रहा 'भाति' यह क्रियापद, उसमें प्रकृतिभाग-भाधातु-का अर्थ 'ज्ञान' है, उस (ज्ञान) के साथ उक्त सादृश्य का 'प्रकारता' सम्बन्ध से अन्वय होता है और ज्ञान का मुख आदि के साथ 'विशेष्यतासम्बन्ध से, अतः इस वाक्य का शाब्द-बोध—'अरविन्दनिरूपित सादृश्य जिसका प्रकार है ऐसे ज्ञान का विशेष्य (मुख आदि)' ऐसा होता है। इस शाब्दबोध में धात्वर्थज्ञान के आगे जो 'विशेष्य' जोड़ा गया है,

वह नैयायिकों की शाब्दबोधशैली के अनुसार, क्योंकि वे शाब्दबोध में प्रथमान्तपद के अर्थ को मुख्य (विशेष्य) बनाते हैं। पर वैयाकरण वैसा नहीं करते, वे धातु के अर्थ को ही शाब्दबोध में सब से मुख्य बनाते हैं। उनके अनुसार यहाँ 'अरविन्द से निरूपित सादृश्य जिसमें प्रकार है तथा मुख जिसमें विशेष्य है ऐसा ज्ञान' यह बोध होगा।

पञ्चमं तथाविधं वाक्यमुपदर्शयति—

तत्रैव सौन्दर्येणेति धर्मोपादाने तृतीयार्थः प्रयोज्यत्वं धात्वर्थे भाने इवार्थे सादृश्ये वान्वेति । तेन सौन्दर्यप्रयोज्यारविन्दनिरूपितसादृश्यप्रकारकधीविशेष्य इति ।

तत्रैवेति । अरविन्दमिव भातीति वाक्य एवेत्यर्थः । तृतीयार्थाभिन्नं प्रयोज्यत्वम् अन्वये कर्तृ । भानस्य सौन्दर्यप्रयोज्यत्वे विसंवादादाह—इवार्थ इति । इतीति बोध इति शेषः । 'सौन्दर्येणारविन्दमिव भाति' इति वाक्ये साधारणधर्मवाचकसौन्दर्यपदोत्तरतृतीयाविभक्तेः प्रयोज्यत्वम् वाच्यम्, तस्य भाधात्वर्थज्ञाने इवार्थसादृश्ये वाऽभेदेनान्वयः । वाशब्दस्योत्तरपक्षदार्ढ्यसूचकतया सादृश्य एवान्वयो ग्रन्थकाराभिमत इति बोध्यम् । तथा च तस्माद् वाक्यात् 'सौन्दर्यप्रयोज्यं यदरविन्दनिरूपितसादृश्यं, तत्प्रकारिका या धीः तद्विशेष्यभूतं मुखादी'ति बोधो निष्पद्यत इति भावः ।

उपमा-प्रतिपादक पञ्चम वाक्य का उल्लेख करते हैं—तत्रैव इत्यादि । यदि पूर्वोक्त वाक्य (अरविन्दमिव भाति) में ही 'सौन्दर्येण' यह साधारणधर्मबोधक अंश भी जोड़ दिया जाय, तब उपमा-प्रतिपादक पाँचवाँ वाक्य होगा 'सौन्दर्येणारविन्दमिव भाति (सुन्दरता के कारण कमल-सा ज्ञात होता है)' यह । यहाँ 'सौन्दर्येण' पद में जो तृतीया विभक्ति है उसका अर्थ है 'प्रयोज्यत्व (साध्यता)' और उसका अन्वय होता है 'भा' धातु के अर्थज्ञान में अथवा इव के अर्थसादृश्य में वस्तुतः सादृश्य में ही समझना चाहिये । अन्य अंशों के अन्वय कहाँ तथा कैसे होते हैं यह पूर्ववाक्य के विवरण में बतलाया जा चुका है, अतः तदनुसार अब इस वाक्य का शाब्दबोध होता है कि—'सौन्दर्य-प्रयोज्य—अर्थात् सौन्दर्य से सिद्ध करने योग्य—जो अरविन्दनिरूपित सादृश्य, वह जिसमें प्रकार है ऐसे ज्ञान का विशेष्य मुख आदि' ।

तथाविधं षष्ठं वाक्यमुपदर्शयति—

तथा गज इव गच्छति, पिक इव रौतीत्यादावुपमानपदानां तत्कर्तृकक्रियायां लक्षणया गजादिगमनादिसदृशगमनाद्यनुकूलकृतिमानिति ।

'गज इव गच्छति' इति वाक्ये गजपदस्य स्वकर्तृकक्रियायां लक्षणा, तेन गजपदस्य गजगमनं लक्ष्योऽर्थः, इवार्थः सादृश्यम्, गम्धात्वर्थो गमनम् (संयोगानुकूलो व्यापारः) तङर्थो नैयायिकरीत्या कृतिः (यत्नः), एवम् 'पिक इव रौति' इति वाक्ये पिकपदस्योपमानबोधकस्य स्वकर्तृक[illegible] लक्षणा तेन, तस्य पदस्य 'पिकरवणमर्थः', इवार्थः सादृश्यम्, रुधात्वर्थो [illegible] एषामर्थानां परस्परमन्वये कृतेश्च प्रथमान्तपदार्थेऽनुक्ते देवदत्तादौ स्वरूपेणान्वये [illegible] 'गजगमनसदृशगमनानुकूलकृतिमान्, एवम् पिकरवणसदृशरवणानुकूलकृतिमान् देवदत्तादिः' इति बोधौ पर्यवस्यत इति भावः ।

उपमाप्रतिपादक छठे वाक्य का उल्लेख करते हैं—तथा इत्यादि । 'गज इव गच्छति (हाथी सा चलता है)' और 'पिक इव रौति (कोयल सा बोलता है)' इत्यादि वाक्यों में 'गज-पिक' आदि उपमानबोधक पदों की स्वस्वकर्तृक क्रिया में लक्षणा होती है-अर्थात् ऐसे स्थलों में गज तथा पिक पद का अर्थ लक्षणा के द्वारा क्रमशः

गज का गमन और पिक का रवण (बोलना) होता है, 'इव' का अर्थ सादृश्य है यह अनेक बार कहा जा चुका है, 'गम् (गच्छ्)' और 'रु' धातु के अर्थ हैं–क्रमशः गमन (आगे के देश से संयुक्त करा देने वाला क्रियाविशेष) और रवण (बोलना), 'ति'–प्रत्यय का अर्थ होता है नैयायिकों के हिसाब से 'कृति' (यत्न), इसका अन्वय प्रथमान्त पद के अर्थ–देवदत्त आदि के साथ होता है। इस तरह के इन अर्थों का परस्पर अन्वय करने पर वाक्यार्थ बोध होता है–'हाथी के गमन के समान गमन के अनुकूल यत्न करने वाला' और 'कोयल की बोली के समान बोली के अनुकूल यत्न करने वाला'।

आशङ्कते—

ननु घटो न पश्यतीत्यत्र घटान्विताभावस्य दर्शने कर्मतासंसर्गेणान्वयवारणाय धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेण शाब्दबोधं प्रति विशेष्यतया विभक्त्यर्थोपस्थितेर्हेतुत्वम्। एवं च गज इव गच्छति, पिक इव रौतीत्यादौ नेवाद्यर्थस्य सादृश्यस्य धात्वर्थेऽन्वयः सम्भवति। तस्माद्गजादिसादृश्यस्य गमनादिकर्तर्येवान्वयः स्वगमनादिसदृशगमनादिकर्तृत्वेन समानधर्मेण। इत्थमेव चाख्यातवादशिरोमणिव्याख्यातृभिरपि सिद्धान्तितमिति चेत्।

कर्तर्येवेति। एतेन लक्षणादिव्यवच्छेदः। समानधर्मेणेति। अस्य पूर्वत्रान्वयः। आख्यातवादशिरोमणीति। आख्यातवादनामको न्यायग्रन्थः, तस्य व्याख्यानभूतो मूलप्रायः शिरोमणिग्रन्थः, तस्य व्याख्यातृभिरित्यर्थः। 'घटो न पश्यति' इति वाक्यात् 'घटप्रतियोगिकाभावकर्मकदर्शनानुकूलकृतिमान्' इत्याकारकाऽन्वयबोधोऽनुभवविरुद्धोऽपि प्रसक्त इति तद्वारणार्थम् [illegible] सम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विशेष्यतासम्ब [illegible] इत्याकारककार्यकारणभावोऽवश्यमास्थेयः। [illegible] तादृशान्वयबोधप्रसक्तिर्न भवति, अभावस्य विशेष्यतया अनुपस्थाप्यत्वेन दर्शनानिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेणाभावबोधं प्रति का [illegible]। एवञ्च गज इव गच्छतीत्यादौ इवा [illegible] वत् अत्रापि सादृश्यस्य विशेष्यतया [illegible] निरूपितप्रकारतासंसर्गेण सादृश्यबोधं प्रति समपेक्षिताया विभक्त्यर्थोपस्थितेरभावात्। अतो गज इव गच्छतीत्यादिवाक्यात् गमनकर्ता देवदत्तादिः गजसदृशः (गजकर्तृकगमनसदृशगमनकर्ता) इत्याकारक एव बोधः समुचितः।

एक आशङ्का की जाती है—ननु इत्यादि। 'घटो न पश्यति (घट नहीं देखता)' इस वाक्य में 'न' का अर्थ अभाव है, उसमें घट का प्रतियोगितासम्बन्ध से अन्वय करने पर अर्थ होता है घटप्रतियोगिक (घट का) अभाव। अब उस अभाव का कर्मतासम्बन्ध से 'पश्य' धातु के अर्थ–दर्शन में अन्वय नहीं होता–अर्थात् उक्त वाक्य का 'घटाभावं पश्यति (घटाभाव को देखता है' ऐसा अर्थ नहीं निकलता, क्योंकि धातु के अर्थ को विशेष्य बनाकर विशेषणतासम्बन्ध से होने वाले शाब्दबोध के प्रति, विशेष्यरूप से, विभक्ति के अर्थ का स्मरण, कारण माना जाता है, तात्पर्य यह कि धात्वर्थ का विशेषण, किसी विभक्ति का ही अर्थ हो सकता है प्रातिपदिक का अर्थ नहीं। इस कार्यकारणभाव के अनुसार उक्त वाक्य में, घटाभाव का दर्शन में 'कर्मता' सम्बन्ध से, अन्वय, वारित हो जाता है। कारण, अभाव का स्मरण (उपस्थिति), 'न' इस निपात से होता है, किसी विभक्ति से नहीं। अब प्रकृत में आशङ्का उपस्थित हो जाती है कि उक्त नियम (कार्यकारणभाव) के अनुसार 'गज इव गच्छति' इत्यादि पूर्वोक्त स्थल में भी 'इव'

के अर्थ—'सादृश्य' का अन्वय जो धात्वर्थ-गमन—के साथ किया गया है वह नहीं बन सकता, क्योंकि सादृश्य की भी उपस्थिति विभक्ति से नहीं अपितु 'इव-निपात' से हुई है। अतः गज आदि के सादृश्य का अन्वय, गमन आदि क्रियाओं के कर्ता के साथ होना चाहिए, क्रिया के साथ नहीं और सादृश्य को सिद्ध करने वाला समानधर्म मानना चाहिए 'गज आदि के गमन के समान गमन आदि का कर्ता होने' को। अभिप्राय यह कि—'गज इव गच्छति' और 'पिक इव रौति' इन वाक्यों से क्रमशः 'गमनकर्ता (देवदत्त आदि) हाथी के समान है' और 'बोलने वाला कोयल के समान है' ऐसे ही शाब्दबोध होने चाहिएँ, न कि पूर्वोक्त आकार के। 'आख्यातवाद' की 'शिरोमणि' के व्याख्याकारों ने भी ऐसा ही सिद्धान्त किया है।

समाधत्ते—

नैवम्, गज इव गच्छतीत्यत्र सादृश्यस्य विधेयतया प्रतीतेरपलापापत्तेः। गज इव यः पुरुषः स गच्छति, पुरुषो यः स गज इव गच्छतीति वाक्याभ्यां भिन्नप्रतीत्योरानुभविकत्वात्। एवं वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छतीत्यादौ वनादेः सर्वथैवानन्वयापत्तेश्च। एवं बिम्बप्रतिबिम्बभूतस्य कारकमात्रस्यानन्वयो बोध्यः। तस्माद्गजनिरूपितसादृश्यप्रयोजकगमनाश्रय इत्येव गज इव गच्छतीत्यत्र धीः। कारकोपादाने तूपमानपदानां तत्कर्तृकक्रियायां लक्षणेत्येव साधु।

पूर्वोक्तशङ्काग्रन्थाशयं निषेधति—नैवम् इति। एवम्—पूर्वोक्तोऽर्थः न युक्त इति भावः। तत्र हेतुमाह—गज इव गच्छतीत्यत्रेत्यादिना। अनन्वयो बोध्य इति। अत्र नागेशः—'वस्तुतस्तु वनं गज इव रणभूमिं शूरो गच्छतीत्यादौ वनकर्मकगमनानुकूलकृतिमद्गजसदृशः समरभूमिकर्मकगमनानुकूलकृतिमाञ्शूर इत्यादि बोधः। इवशब्देन च बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नवनसमरभूमिविशेषणकगमनमेव धर्मत्वेन बोध्यते। इवादयश्च धर्मवत्त्वेनैव बोधका इति सर्वसम्मतम्। गज इव यः पुरुषः स गच्छतीत्यत्र चेवेन गमनान्वित एव शूरत्वादिधर्मत्वेन बोध्यते। पुरुषो यः स गच्छतीत्यत्र तु गमनमेव तथेति तयोर्विशेषोऽप्युपपद्यत एव। उपमाया विधेयत्वं चैतदेव यद्विधेयस्यैव धर्मत्वेनोपमाबोधकबोध्यत्वम् इति चिन्त्यमिदम्। वैयाकरणनये तु क्रिययोरेवोपमानोपमेयभावः। गच्छतीत्यस्य चावृत्त्योभयत्रान्वयः। गजादिपदानां स्वकर्तृकक्रियायां लक्षणा वेति दिक्' इति। कारकोपादाने इति। बिम्बप्रतिबिम्बभावेन कर्मादिकारकग्रहणे इत्यर्थः। अयं भावः—'गज इव गच्छति' इत्यादिवाक्यस्य शिरोमणिव्याख्यातृसिद्धान्तितो बोधो नोचितः, विचारासहत्वात्। तथाहि—तादृशवाक्यात् सादृश्यस्य विधेयगमनविशेषणरूपेण प्रतीतिर्भवतीत्यनुभवसिद्धम्, शिरोमणिव्याख्यातसिद्धान्तितबोधे तु तस्योद्देश्यगमनकर्तृदेवदत्तादिविशेषणरूपेण भानं भवतीति अनुभवापलापप्रसङ्गः। ननु कथं सादृश्यस्य विधेयतया प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वम् इति चेन्न, गज इव यः पुरुषः स गच्छति, पुरुषो यः स गज इव गच्छतीति वाक्यद्वयात् भिन्नविधप्रतीत्योरनुभवस्य मूलान्वेषणे सादृश्यस्याविधेयत्व-विधेयत्वयोरन्यस्यानुपलम्भात्। किञ्च शिरोमणिव्याख्यातृसिद्धान्तितबोधाङ्गीकारे 'वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति' इति बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नवन-गृहरूपकर्मबोधकपदघटितवाक्यस्थले वनादिरूपस्य कर्मणः सर्वथाऽनन्वयापातः, तद्रीत्याऽत्रापि 'गमनकर्ता देवदत्तो गजसदृशः' इत्येव बोधात्। तद्रीत्यनुसरणेन कर्मकारकस्यैवैषा स्थितिः, अपि तु बिम्बप्रतिबिम्बभूतस्य कारकमात्रस्य वृक्षात् कपिरिव प्रासादान्मनुष्योऽवतरतीत्यादौ वृक्षप्रासादादेरप्यनन्वयापत्तिरिति तात्पर्यम्। अतो गज इव गच्छतीत्यादौ गजनिरूपितं यत्सादृश्यम् तत्प्रयोजकं यद् गमनम्,

तदाश्रयः तदनुकूलकृतिमान् इत्याकारक एव बोधोऽङ्गीकार्यः। यद्यप्ययं बोधः प्रागुक्त-लक्षणामूलकत्वाभिमतबोधाद् भिन्नाकार एव, तथापि सादृश्यस्य विधेयतेति स्वाभिमत-मत्रापि रक्षितम्, लक्षणा च गौरवावहा नाश्रितेति ग्रन्थकर्तुरभिप्रायः। परमार्थतस्तु लक्षणाप्याश्रयणीयैव स्यात्, तत्र तथा निर्वाहेऽपि कारकोपादानस्थले (वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छतीत्यादौ) लक्षणां विना निर्वाहाभावात्। 'वनं गज इव''''' इत्यादौ गजपदस्य स्वकर्तृकगमने लक्षणां कृत्वा 'वनकर्मकगजकर्तृकगमनसदृशगृहकर्मकगमनानु-कूलकृतिमान् देवदत्तः' इत्याकारक एव बोधोऽभ्युपेयः, अन्यथा सादृश्यस्य विधेयतया प्रतीतिर्न स्यात् कर्मणोऽनन्वयश्च प्रसज्येत इति।

उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं—नैवम् इत्यादि। 'गज इव गच्छति' इत्यादि स्थल में आख्यातवाद-शिरोमणि के व्याख्याकारों ने जो बोध दिखलाया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य से सादृश्य की प्रतीति, विधेय (विधेय-गमन के विशेषण) के रूप में होती है-अर्थात् उस वाक्य के सुनने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि-वक्ता, हाथी और किसी व्यक्तिविशेष की गति में समानता बतलाना चाहता है। पर आपके शाब्द-बोध में इस अनुभव का अपलाप हो जाता है-अर्थात् उस बोध में सादृश्य विधेय कोटि में नहीं आकर उद्देश्य कोटि में आ जाता है। आप पूछेंगे कि-उक्त वाक्य से सादृश्य की प्रतीति विधेयरूप में होती है इसमें क्या प्रमाण? तो इसका उत्तर यह है कि-'हाथी के समान जो पुरुष है वह जा रहा है' और 'जो पुरुष है वह हाथी के समान जा रहा है' इन दोनों वाक्यों से दो तरह की प्रतीति होती है इस बात को प्रायः सभी स्वीकार करेंगे-आप भी स्वीकार करेंगे, अब आप बतलाइये कि-इन दोनों वाक्यों से दो तरह की प्रतीति क्यों होती है? इन प्रतीतियों को दो तरह की मानने में क्या मूल है? अगत्या आपको कहना पड़ेगा कि प्रथम वाक्य के बोध में सादृश्य उद्देश्यरूप में भासित होता है और द्वितीय वाक्य के बोध में वह विधेयरूप में ज्ञात होता है यही अन्तर है ऐसी स्थिति में यहाँ ('गज इव गच्छति' में) उक्त द्वितीय वाक्य के समान बोध होना चाहिए परन्तु आपके हिसाब से प्रथम वाक्य का सा बोध हो जाता है। अतः प्रकृत में मेरे कथनानुसार ही बोध उचित है, आपके कथनानुसार नहीं। दूसरी बात यह है कि आपके कथनानुसार बोध मानने पर 'वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति-अर्थात् जैसे हाथी वन को जाता है वैसे देवदत्त घर को जाता है' इत्यादि वाक्यों में 'वन' और 'गृह' इन कर्मकारकों का सर्वथा अन्वय नहीं हो सकेगा। तात्पर्य यह कि आपके कथनानुसार यहाँ भी हाथी और देवदत्त का ही सादृश्य समझा जायगा और उसको समझने में वन अथवा गृह का कोई उपयोग है नहीं, अतः वे अलग पड़े रह जायँगे-वाक्यार्थबोध में नहीं आ सकेंगे। कर्मकारक की ही ऐसी स्थिति होगी, सो नहीं, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न सभी कारकों की यही दशा होगी-अर्थात् 'वृक्षात् कपिरिव प्रासादान्मनुष्योऽवतरति-अर्थात् जैसे बन्दर वृक्ष से उतरता है वैसे मनुष्य कोठे से उतरता है' इत्यादि वाक्यों में वृक्ष और प्रासाद इन अपादानकारकों के भी वाक्यार्थ में अन्वय नहीं हो सकेगा। इसलिये ऐसा मानना चाहिए कि-जहाँ केवल 'गज इव गच्छति' और 'पिक इव रौति' ऐसे वाक्य हों, वहाँ क्रमशः 'गज से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक (साधक) जो गमन उसका आश्रय' और 'पिक से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक जो रवण (बोली) उसका आश्रय' ऐसे शाब्दबोध होते हैं। (यद्यपि पहले ग्रन्थ-कार ने इन वाक्यों के भी बोध, लक्षणा के द्वारा, भिन्न तरह के दिखलाये हैं, अतः ग्रन्थकार के अपने मत में भी विरोध सा दीख पड़ता है, तथापि लक्षणा न मानकर भी यहाँ सादृश्य की विधेयता की रक्षा की जा सकती है और अन्य कारकों का ग्रहण नहीं रहने से अनन्वय का प्रश्न भी यहाँ नहीं उठता, ऐसा ग्रन्थकार का अभिप्राय समझना

चाहिए।) जहाँ इन वाक्यों में बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न अन्य कारक भी जुड़े हों, वहाँ उपमानवाचक गज आदि पदों की स्वकर्तृक क्रिया में लक्षणा करनी ही पड़ेगी-अर्थात् 'वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति' इत्यादि वाक्यों में लक्षणा के बिना गुजारा नहीं है। यहाँ नागेश का कुछ अपना विचार है जो बहुत ही सुन्दर-युक्तिपूर्ण है अतः विज्ञ पाठकों के मनोविनोदार्थ उस विचार का सार यहाँ उद्धृत किया जाता है। नागेश कहते हैं कि आख्यातवाद-शिरोमणि व्याख्याकार का कथन अनुचित नहीं है। कारण, 'वनं गज इव रणभूमिं शूरो गच्छति' इत्यादि बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न समानधर्म वाले वाक्यों से 'वन जिसका कर्म है उस गमनक्रिया के अनुकूल यत्न से युक्त हाथी के सदृश है वह वीर जो, रणभूमि जिसका कर्म है उस गमनक्रिया के अनुकूल यत्न से युक्त है' ऐसा ही बोध होता है। तात्पर्य यह कि ऐसे वाक्यों में वर्तमान 'इव शब्द' बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न वन और रणभूमिरूप विशेषणों से युक्त गमनक्रिया को ही समानधर्मरूप बतलाता है। 'इव' आदि शब्द, धर्म के रूप में किसी वस्तु का बोध कराने के लिये ही लाये जाते हैं यह बात सर्वसम्मत है। इस तरह से अन्वय करने पर कारकों का अनन्वय वाला दोष नहीं आता, बात रही 'गज इव यः पुरुषः स 'गच्छति' और 'यः पुरुषः स गज इव गच्छति' इन वाक्यों से भिन्न तरह की प्रतीतियों के होने की, सो वह भी ठीक बन जाती है, क्योंकि इन दोनों वाक्यों में से प्रथम में, 'इव' शब्द, 'शूरता आदि' का समानधर्म होना बतलाता है और द्वितीय में 'गमन' का ही समानधर्म होना। तात्पर्य यह कि समानधर्म के भिन्न-भिन्न होने के कारण ही इन दोनों वाक्यों की प्रतीतियों में अन्तर होता है, सादृश्य के अविधेय और विधेय होने के कारण नहीं। रही सादृश्य के विधेय होने की बात, सो उसका अभिप्राय यही है कि-जहाँ 'इव' आदि उपमाबोधक पदों के द्वारा वाक्य का 'विधेय' अंश समानधर्म के रूप में बताया जाय वहाँ उपमा (सादृश्य) विधेय होती है, इस अभिप्राय के अनुसार शिरोमणि-व्याख्याता के मत में 'गज इव गच्छति' 'पिक इव रौति' और 'वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति' इन सभी वाक्यों से यदि गज आदि और देवदत्त आदि के सादृश्य का भी बोध माना जाय, तथापि 'सादृश्य' विधेय है ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि इन वाक्यों के इव शब्दों से समानधर्म के रूप में विधेय (गमन-रवण) का ही बोध होता है। सारांश यह हुआ कि नैयायिक लोग, क्रियाओं की तुलना, उक्त वाक्यों में नहीं मानते, पण्डितराज, निरर्थक, उनके मतानुसार होने वाले शाब्दबोधों में क्रिया की तुलना वाली बात कहते हैं। हाँ, वैयाकरणों के मतानुसार अवश्य ही ऐसे वाक्यों में क्रियाओं की तुलना होती है-अर्थात् क्रियायें ही उपमान और उपमेय होती हैं। तात्पर्य यह कि-'वनं गज इव रणभूमिं शूरो गच्छति' इस वाक्य से वैयाकरणों के मतानुसार 'जिसका हाथी कर्ता और वन कर्म है उस गमनक्रिया के तुल्य वह गमन-क्रिया है जिसका शूर कर्ता और रणभूमि कर्म है' ऐसा शाब्दबोध होगा। इस बोध में दो गमन-क्रियाओं का उपमानोपमेयभाव स्पष्ट है। यदि कोई इस मत में यह शङ्का उठावे कि 'गच्छति' पद जब एक ही है तब उस (गमनक्रिया) के साथ उपमान—गज और उपमेय—शूर दोनों का अन्वय कैसे होगा, क्योंकि 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति-अर्थात् एक बार उक्त पद एक ही बार अर्थबोध कराता है' ऐसा सिद्धान्त है, सो इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि-'गच्छति' पद की आवृत्ति मान ली जायगी-अर्थात् दो 'गच्छति' पद मान लिये जायँगे, अथवा पण्डितराज के कथनानुसार ऐसे वाक्यों में उपमानबोधक (गज आदि) पदों की स्वकर्तृक गमन-क्रिया में लक्षणा मान ली जायगी। सारभाग यह हुआ कि पण्डितराज का मत, वैयाकरणों के हिसाब से ठीक हो सकता है, पर उन्होंने नैयायिकों का मत मानकर जो वैसी बात लिखी है, वह ठीक नहीं है। यदि पण्डितराज को उक्त वाक्यों में क्रिया के साथ क्रिया की तुलना ही

अभीष्ट थी, तो उन्हें उसके लिये वैयाकरणों के मत का अनुसरण करना चाहिये था—अर्थात् वैयाकरणों के मत के अनुसार ही शाब्दबोध लिखना उचित था।

पुनः पूर्वोक्तशङ्कासमाधानावान्तरशङ्कासमाधाने आह—

न च प्रागुक्तकार्यकारणभावस्य धात्वर्थनिष्ठेत्यादिर्व्यभिचारः, तस्यानङ्गीकारात्। अङ्गीकारे च तूष्णीमारात्पृथगित्याद्यर्थानां धात्वर्थान्वयोऽनुभवसिद्धोऽपलपनीयः स्यात्।

तस्य कार्यकारणभावस्य। अङ्गीकारे इति। तस्य कार्यकारणभावस्य स्वीकारे इत्यर्थः। इत्याद्यर्थानामिति। एषां पदानां येऽर्थास्तेषामित्यर्थः। धात्वर्थान्वय इति। धात्वर्थे अन्वय इत्यर्थः। अपलपनीयः स्यादिति। तथान्वयो न भवतीति वक्तव्यं स्यादित्यर्थः। यदि 'गज इव गच्छति' इत्यादौ इवार्थस्य सादृश्यस्य धात्वर्थे गमनादावन्वयो ग्रन्थकाराभिमतः स्वीक्रियते, तदा 'धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेण शाब्दबोधं प्रति विशेष्यतया विभक्त्यर्थोपस्थितिर्हेतुः' इति पूर्वोक्तस्य कार्यकारणभावस्य का गतिरिति चेन्न, तस्य कार्यकारणभावस्यास्वीकारात्, अत एव 'तूष्णीं भुङ्क्ते', 'आरादुपविशति', 'पृथक् शेते' इत्यादौ [illegible] धात्वर्थेऽन्वयो नैव भव[illegible] च वस्तुतोऽपलापानर्हत्वादिति भावः।

उक्त शङ्का और समाधान के अन्तर्गत एक दूसरा शङ्का-समाधान करते हैं—न च इत्यादि। यदि आप कहें कि—ग्रन्थकार की रीति से 'गज इव गच्छति' इत्यादि वाक्यों में 'इव' के अर्थ—सादृश्य—का अन्वय धात्वर्थ के साथ मानने पर, पूर्वोक्त 'धातु के अर्थ को विशेष्य बनाकर प्रकारतासंबन्ध से होनेवाले शाब्दबोध के प्रति विशेष्यरूप में विभक्ति के अर्थ की उपस्थिति कारण है' यह कार्यकारणभाव व्यभिचरित हो जायगा—अर्थात् 'धात्वर्थ में विभक्ति का अर्थ ही विशेषण हो सकता है अन्य नहीं' यह नियम टूट जायगा, क्योंकि यहाँ विभक्ति से भिन्न—इव-प्रातिपदिक—का अर्थ, धात्वर्थ का विशेषण बनाया गया है। तो इसका समाधान यह है कि—हम उस कार्यकारणभाव को—उस नियम को—नहीं मानते। कारण, यदि उसको मान लें तब 'तूष्णीम् (चुप)' 'आरात् (दूर अथवा समीप)' और 'पृथक्' इत्यादि निपातों के अर्थों का अन्वय धातु के अर्थ में अनुभवसिद्ध है, उसका अपलाप करना पड़ेगा—अर्थात् अनुभव करते रहने पर भी बलात् उस अन्वय के विषय में नकारात्मक उत्तर देना पड़ेगा। अभिप्राय यह कि—'चुपचाप खाता है', 'नजदीक अथवा दूर बैठता है' और 'अलग सोता है' इत्यादि स्थानों में क्रमशः उक्त निपातों के अर्थों के अन्वय साक्षात् धातु के अर्थों के साथ अनुभूत होते हैं, अतः उक्त नियम को न मानना ही अच्छा है।

पुनरन्यान्तरसमाधानमेव तन्वते—

एवं सति घटो न पश्यतीत्यादौ घटाभावं पश्यतीति नान्वयबोधः। धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेणान्वयबोधं प्रति नञ्जन्योपस्थितिमात्रस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्। धात्वर्थस्य नामार्थाभिन्नत्वेन विशेषणं तु द्वयोस्तुल्यम्। तेन पाको न याग इत्यादौ न व्यभिचारः। इत्यलमप्रसक्तविचारेण।

ननु नञ्जन्योपस्थितेरन्वयबोधं प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पने 'पाको न यागः' इत्यादौ यागप्रतियोगिकभेदवान् पाकः (यागभिन्नः पाकः) इति बोधो न स्यादित्यत आह—धात्वर्थस्येति। इति उक्तरूपेण। अप्रसक्तविचारेणेत्यत्रान्वयः। अप्रसक्त इति अप्रासङ्गिकेत्यर्थः। धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेणान्वयबोधे विभक्तिजन्योपस्थितेः कार-

णत्वानङ्गीकारे 'घटो न पश्यति' इत्यादौ प्रतियोगितासम्बन्धेन घटान्वितस्य नञर्थस्याभावस्य कर्मतासंसर्गेण दर्शनेऽन्वयं विधाय 'घटप्रतियोगिकाभावकर्मकदर्शनानुकूलकृतिमान्' इत्याकारकोऽन्वयबोधः कथं वारितः स्यदिति चेन्न, नञ्पदजन्योपस्थितेः तादृशान्वयबोधं प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पनेन तद्वारणात्। तादृशकार्यकारणभावमस्वीकृत्यैतादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनस्य, नञर्थातिरिक्तनिपातार्थस्य धात्वर्थे प्रकारतासिद्धिः फलमित्यवगन्तव्यम्। न चैवंविधप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाङ्गीकारे 'पाको न यागः' इत्यादावपि नञर्थ-भेद-प्रकारकपाकबोधो न स्यादिति शङ्क्यम्, उक्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावघटकधात्वर्थे नामार्थभिन्नत्वेन सङ्कोचात्। तथा च प्रकृते पाकादेः, पाकादिरूपनामार्थतया न प्रतिबन्धः। न चायं नामार्थभिन्नत्वनिवेशः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पेऽधिक इति वाच्यम्, कार्यकारणभावकल्पेऽपि तन्निवेशस्यावश्यं कर्तव्यत्वात्, अन्यथा तत्कल्पेऽपि 'पाको न यागः' इत्यादौ व्यभिचारः प्रसज्येतैवेति भावः।

पुनः एक अवान्तर शंका-समाधान करते हैं—कथम् इत्यादि। उक्त प्रसंग में अब केवल एक शंका यह रह जाती है कि-यदि धात्वर्थ को विशेष्य बनाकर प्रकारतासंबन्ध से होने वाले शाब्दबोधों में विशेष्यरूप से विभक्ति के अर्थ की उपस्थिति को कारण नहीं मानते, तब फिर 'घटो न पश्यति' इत्यादि वाक्यों से 'घटाभाव को देखता है' ऐसा बोध क्यों नहीं होता? अर्थात् कर्मतासंबन्ध से 'नञ्' के अर्थ-उस अभाव-जिसमें प्रतियोगिता संबन्ध से घट अन्वित हो चुका है—का धात्वर्थ-दर्शन में अन्वय हो जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि—इस तरह के अन्वय-बोध को रोकने के लिये केवल नञ् के अर्थ के स्मरण को धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपित-प्रकारतासंबन्ध से होने वाले शाब्दबोध के प्रति प्रतिबन्धक मान लीजिए। तात्पर्य यह कि इस तरह की गड़बड़ी केवल 'नञ्' का प्रयोग होने पर ही उपस्थित होती है, अतः उक्त प्रतिबन्धक मान लेने से ही निर्वाह जब हो जाता है तब सब निपातों को समेट कर पूर्वोक्त कार्य-कारणभाव मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती और उलटे उस तरह का कार्य-कारणभाव मानने पर दोष भी हो जाते हैं जो पूर्व में दिखलाये जा चुके हैं। नञर्थ भी उस धात्वर्थ में प्रकार होता ही है जो नाम (प्रातिपदिक) के अर्थरूप में उपस्थित होता है, अतः आपको उक्त कार्य-कारणभाव में और मुझको उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव में 'धात्वर्थ' के विशेषणरूप से नामार्थ से भिन्न इतना और जोड़ना पड़ेगा, जिससे 'पाको न यागः—अर्थात् पकाना यज्ञ नहीं है' इत्यादि स्थानों में दोष नहीं होगा। अभिप्राय यह कि—यहाँ 'यागप्रतियोगिकभेदवान् पाकः' इस अन्वयबोध में याग नञर्थ भेद का और भेद पाक का विशेषण होता है, क्योंकि पाकक्रिया (जो अन्यत्र धातु का अर्थ होता है) यहाँ पाक प्रातिपदिक के अर्थ के रूप में उपस्थित हुआ है। फलतः इस अंश में हम और आप दोनों बराबर हैं—किसी के मत में दूसरे मत की अपेक्षा गौरव नहीं है। इस तरह अप्रासंगिक विचार अब यहाँ समाप्त किया जाता है।

तथाविधं सप्तमं वाक्यं निर्दिशति—

अथारविन्दतुल्यो भातीत्यत्र कथं धीः। तुल्यपदार्थस्य निपातभिन्ननामार्थत्वेन धात्वर्थे भेदेनान्वयायोगात्। तादृशतुल्यत्वादेर्भानोद्देश्यतावच्छेदकत्वे भानमात्रविधेयतायां विवक्षितार्थाप्रतीतिः। न च तुल्यपदेन तुल्यत्वप्रकारको लक्षणयोपस्थापितो ह्यभेदेन धात्वर्थेऽन्वेष्यतीति वाच्यम्। क्रियाविशेषणत्वेनारविन्दतुल्यशब्दस्य नपुंसकत्वापत्तेरिति चेत्, व्याकरणस्य सिद्धानुवादकत्वेन स्तोकं पचतीत्यादिमात्रविषयत्वेन क्रियाव्ययविशेषणानां क्लीबतेष्यते इत्यस्यो-

पपत्तेः । धातोरेव लक्षणया सकलार्थबोधकत्वमितरस्य तात्पर्यग्राहकतेत्यपि केचित् ।

कथमिति । अभेदेन भेदेन वेत्यर्थः । तत्र नाद्य इत्याह—तुल्येति । एतेन 'धात्वर्थ-निष्ठविशेष्यतानिरूपित-निपातार्थातिरिक्तवृत्ति-भेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतासंसर्गेणान्वयबोधं प्रति विशेष्यतया विभक्त्यर्थोपस्थितिर्हेतुः' इत्याकारकः कार्यकारणभावः सूचितः । अत्र 'उक्तव्युत्पत्तेः' इति नागेशकृतविवरणं तु नोपयुक्तं, मदुक्ताकारकव्युत्पत्तेः पूर्वमनुक्तत्वात् । या व्युत्पत्तिः प्रागुक्ता सा न प्रकृतोक्त्यनुकूला तत्र प्रकारतावच्छेदकसम्बन्धविषया भेदा-भेदयोरनिवेशात्, निपातार्थातिरिक्तवृत्तित्वेन प्रकारतायामसङ्कोचात्, नञन्योपस्थिति-मात्रस्य प्रतिबन्धकत्वमङ्गीकृत्य तस्या व्युत्पत्तेरङ्गीकरणोक्तेश्च, मदुक्ताकाराया व्युत्पत्तेरा-वश्यकता ग्रन्थकृता कथमनुभूतेति तु अन्यत् विबुधैर्विचारणीयम् । नाप्यभेदेनेत्याह—न चेति । धात्वर्थे भानरूपे । उपपत्तेरिति । तथा चाभेदेनैव पूर्वोक्तरीत्याऽन्वय इति भावः । मतान्तरमाह—धातोरेवेति । इत्यपि केचिदिति । अत्र नागेशः 'वस्तुतस्तु उपमाविधे-यकबोधे तात्पर्ये अरविन्दतुल्यमित्येव साधु, न तुल्य इति । यदि तु विधेयस्य धर्मत्वेनोप-माबोधकबोध्यत्वमेव विधेयत्वमुपमायाः इति विभाव्यते तर्हि अरविन्दतुल्यविषयकं भानम्, भानविषयोऽरविन्दतुल्य इति वा बोधेऽपि भानस्य धर्मत्वेन भानादुपमाया अविधेयत्वमेव । धर्मान्तरस्य तथा भाने तु अरविन्दतुल्य इत्येव प्रयोगः सर्वसम्मतः । उपमाया उद्देश्य-तावच्छेदकत्वं चेति ध्येयम् ।' इति । अयं भावः—'अरविन्दतुल्यो भाति' इत्यत्रारविन्द-पदार्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेन तुल्यपदार्थे सादृश्ये तस्य च प्रकारतासम्बन्धेन धात्वर्थे ज्ञानेऽन्वयं विधाय 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रकारकज्ञानविशेष्यः' इत्याकारको बोधो न भवितुमर्हति, निपातार्थस्य भेदेन धात्वर्थेऽन्वयेऽपि तदतिरिक्तस्य नामार्थस्य भेदेन समानाधिकरणोपस्थितिजन्योक्तकार्यकारणभावविरुद्धत्वेन तुल्यपदार्थस्य सादृश्यस्य प्रकारतासम्बन्धेन धात्वर्थज्ञानेऽन्वयस्यासम्भवात् । तुल्यपदोत्तरप्रथमाविभक्तिजन्योपस्थितेः सत्त्वान्नोक्तकार्य-कारणभावविरोध इति तु न वक्तुं शक्यम्, प्रथमाविभक्तेः प्रातिपदिकार्थेऽनुशिष्टत्वेनानुवाद-कतया ततः पृथगर्थोपस्थितेरभावात् । न च मास्तु तुल्यपदार्थस्य सादृश्यस्य धात्वर्थे ज्ञानेऽन्वयः, तस्यावश्यकताऽपि नास्ति, 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यविशिष्टं विशेष्यतासम्बन्धेन ज्ञानवत्' इति बोधमास्थाय सादृश्यस्य उद्देश्यतावच्छेदकत्वं ज्ञानमात्रस्य च विधेयत्वं स्वीक्रियताम्, इति वक्तव्यम् तथाबोधस्य विवक्षितार्थाविषयकत्वात् । सादृश्यस्य विधेय-धर्मतया भानमिह वक्तुरभिप्रेतम्, न च तथाविधे बोधे सिद्ध्यतीति तात्पर्यम् । एवं स्थितेऽपि सिद्धान्तः—तुल्यपदस्य तुल्यत्वप्रकारके लक्षणा लक्ष्यार्थस्य च तुल्यत्वप्रकार-कस्य धात्वर्थे ज्ञानेऽभेदेनैवान्वयः, तथा च 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रकारकाभिन्नज्ञान-विशेष्यः' इति बोधे न कश्चिद्दोषः । न चैवं सति 'क्रियाऽव्ययविशेषणानां क्लीबत्वं स्यात्' इति नियमविरोधो दोषः, नियमानुरोधे च क्रियाविशेषणत्वेनारविन्दतुल्यपदस्य नपुंसकत्वापत्ति-रिति वाच्यम्, लिङ्गानुशासनस्य 'क्रियाऽव्ययविशेषणानां क्लीबत्वं स्यात्' इति व्याकरणा-नुशासनस्य 'स्तोकं पचति' इत्यादिमात्रविषयकत्वकल्पनेन सामञ्जस्यात् । धातोरेव लक्ष-णया 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रकारकज्ञानविशेष्यः' इति सम्पूर्णोऽर्थः, 'अरविन्दतुल्यः' इत्यंशस्तात्पर्यग्राहकः इति पक्षान्तरमपि कियन्तोऽङ्गीकुर्वन्ति । यस्मिन् पक्षे एकपदार्थ-तयाऽन्वयापेक्षैव नास्तीति न व्युत्पत्तिविरोधादेः प्रसङ्ग इति ।

अब उपमाप्रतिपादक सप्तम वाक्य का उल्लेख करते हैं—अथारविन्द इत्यादि ।

अब 'अरविन्दतुल्यो भाति (अरविन्द के समान प्रतीत होता है)' इस वाक्य में यह विचार करना है कि—यहाँ तुल्यपद के अर्थ–सादृश्य–का धात्वर्थ—ज्ञान—में भेदसम्बन्ध से अन्वय होगा अथवा अभेदसम्बन्ध से ? भेदसम्बन्ध से अन्वय नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'निपात से अन्य प्रातिपदिक के अर्थ का भेदसंबन्ध से धात्वर्थ में अन्वय नहीं होता' ऐसा नियम है। तात्पर्य यह कि अरविन्द पदार्थ का तुल्यपदार्थ–सादृश्य—के साथ निरूपितत्वसंबन्ध से और उस सादृश्य का प्रकारतासंबन्ध से धात्वर्थ–ज्ञान–के साथ अन्वय मानकर 'अरविन्द-निरूपित-सादृश्य-प्रकारकज्ञान विशेष्य' ऐसा शाब्दबोध नहीं किया जा सकता। कारण, 'तुल्य' यह निपात से अन्य प्रातिपदिक है, अतः उसके अर्थ का प्रकारतारूप भेदसंबन्ध से धात्वर्थ–ज्ञान–में अन्वय हो ही नहीं सकता। आप कहेंगे कि—यहाँ तुल्य पदार्थ का धात्वर्थ के साथ अन्वय किया ही क्यों जाय ? उसकी कोई खास आवश्यकता तो है नहीं। रहा शाब्दबोध, सो वह तो तुल्य पदार्थ—सादृश्य—को उद्देश्य का विशेषण और शुद्ध धात्वर्थ—ज्ञान—को विधेय मान कर भी किया जा सकता है—अर्थात् उक्त वाक्य से 'अरविन्दसदृश–वस्तु (मुख आदि), विशेष्यतासंबन्ध से ज्ञानवाला है—ज्ञान में वह विशेष्य होता है' इसी तरह का शाब्दबोध होगा। (इस बोध में अरविन्दसदृश वस्तु उद्देश्य है और सादृश्य उद्देश्यता का अवच्छेदक अर्थात् विशेषण)। परन्तु यह कथन आपका संगत नहीं हो सकता, क्योंकि इस रीति से और सब बातें तो ठीक हो जाती हैं, लेकिन वक्ता को उक्त वाक्य-द्वारा जिस अर्थ का बोध कराना अभीष्ट है उस अर्थ का बोध ही नहीं हो पाता—अर्थात् सादृश्य का बोध, वक्ता विधेय (विधेय-विशेषण) के रूप में कराना चाहता है और उक्त बोध में वह हो जाता है उद्देश्य (उद्देश्य-विशेषण) यही गड़बड़ी हो जाती है। अब रही अभेदसंबन्ध से तुल्यपदार्थ-सादृश्य का धात्वर्थ के साथ अन्वय होने की बात, सो वह वैसे बन नहीं सकती, अतः 'तुल्य' पद की 'तुल्यत्वप्रकारक' इतने अर्थ में लक्षणा माननी चाहिए और तब उस लक्ष्य अर्थ का 'भा' धातु के अर्थ–ज्ञान–के साथ अभेदसंबन्ध से अन्वय करके 'अरविन्द से निरूपित जो तुल्यत्व (सादृश्य) तत्प्रकारक से अभिन्न–ज्ञान का विशेष्य' इस तरह का शाब्दबोध स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि इस लक्षणावाली रीति में भी यह आशंका होती है कि इस तरह से 'अरविन्दतुल्य' पद का अर्थ, क्रिया का विशेषण हो जाता है, अतः 'क्रियाव्ययविशेषणानां क्लीबतेष्यते—अर्थात् क्रिया और अव्यय के विशेषणरूप में आये हुए शब्दों का नपुंसकलिङ्ग होना इष्ट है' इस नियम के अनुसार उस पद से नपुंसकलिङ्ग आना चाहिए, पुंलिङ्ग नहीं—अर्थात् 'अरविन्दतुल्यं भाति' ऐसा वाक्य होना उचित है न कि 'अरविन्दतुल्यो भाति' ऐसा। परन्तु यह आशंका कुछ है नहीं। कारण, उक्त नियम व्याकरणशास्त्र का है और व्याकरण, केवल सिद्ध प्रयोगों का अनुवादक है विधायक नहीं—अर्थात् परम्परा से लोग जिस तरह के प्रयोग करते आते हैं उनको सिद्ध करने की प्रक्रिया केवल व्याकरण में बतला दी गई है, लोकप्रयोग के विरुद्ध किसी प्रकार का नियम बनाने का स्वतन्त्र अधिकार उसे नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्त नियम 'स्तोकं पचति (थोड़ा पकाता है)' इत्यादि स्थलों पर ही लागू होगा, क्योंकि परम्परा से ऐसा प्रयोग होता आ रहा है, न कि 'अरविन्दतुल्यो भाति' इत्यादि स्थलों पर, क्योंकि परम्परा से ऐसी जगहों पर पुंलिङ्ग का ही प्रयोग होता आया है। कुछ लोगों का कथन है कि पूर्वोक्त समग्र अर्थ, लक्षणा द्वारा, धातु (भा) से ही उपस्थित हो जाता है 'अरविन्दतुल्यः' यह अंश, तो वक्ता के उक्तलक्षणावाले तात्पर्य का बोधकमात्र है, उसका अपना कुछ खास अर्थ नहीं है। इस मत के हिसाब से उक्त पूरा अर्थ जब एकही पद का हो गया, तब अन्वय और उसके साथ उठने वाले व्युत्पत्तिविरोध आदि के बखेड़े नहीं होते। यहाँ प्रथम पक्ष के संबन्ध में नागेश का कथन है कि यदि शाब्दबोध में उपमा को विधेय

बनाना अभिष्ट हो, तब 'अरविन्दतुल्यं भाति' ऐसा ही वाक्य शुद्ध है 'अरविन्दतुल्यः' यह नहीं। कारण, क्रियाविशेषणों का नपुंसकलिङ्ग होना आपके उक्त दलीलों से रुक नहीं सकता। यदि 'विधेय का उपमाबोधक (इव आदि) के द्वारा समान धर्म के रूप में उपस्थित किया जाना ही उपमा का विधेय होना है' यह मेरी युक्ति अपनाई जाय, तब भी मूलकार की अभीष्टसिद्धि होती नहीं दीख पड़ती, क्योंकि 'अरविन्दतुल्यो भाति' इस वाक्य का शाब्दबोध, वैयाकरणों के हिसाब से 'अरविन्दसदृश (मुख, कर, चरण आदि) जिसका विषय है वह ज्ञान' और नयायिकों के हिसाब से 'ज्ञान का विषय अरविन्दसदृश' इन्हीं दो प्रकारों से हो सकता है, पर इन दोनों ही प्रकारों में 'ज्ञान' ही समानधर्म के रूप में उपस्थित होता है और वह उपमाबोधक-तुल्य-पद से बोधित होता नहीं, क्योंकि 'तुल्य' पद उक्त शाब्दबोध के अनुसार 'ज्ञान के विषय' का बोधक होता है, 'ज्ञान' का नहीं। अतः उपमा को विधेय बनाने की इच्छा करने पर 'अरविन्दतुल्यं भाति' ऐसा ही वाक्य बोलना पड़ेगा, दूसरा उपाय नहीं। हाँ यदि ज्ञान को साधारण धर्म न मानकर 'सौन्दर्य आदि' अनुक्त वस्तु को मान लिया जाय, तब 'अरविन्दतुल्यः' ऐसा वाक्य हो सकता है, किन्तु उस हालत में भी उपमा उद्देश्यतावच्छेदक (उद्देश्यविशेषण) ही रहेगी, विधेय नहीं। इसी बात को सर्वसम्मत समझना चाहिए। यहाँ चतुर्वेदीजीकृत हिन्दी रसगंगाधर की टिप्पणी पर टिप्पणी करते हुए सम्पादक लिखते हैं कि—"'निर्मितिमादधती' इस काव्यप्रकाशके पद्य में 'निर्मिति' पद क्रियाविशेषण होने पर भी स्त्रीलिङ्ग है। अतः 'क्रियाविशेषण नपुंसकलिङ्ग ही होता है' यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। इत्यादि।" पर यह टिप्पणी उनकी असङ्गत सी-प्रतीत होती है। कारण, उक्त काव्यप्रकाश के पद्य में 'निर्मिति' पद क्रियाविशेषण है ही नहीं, उस पद को क्रियाविशेषण मानने की आवश्यकता भी नहीं है। वह तो शुद्ध कर्मपद है, उसका 'निर्मीयते' इस कर्मव्युत्पत्ति से 'जगत्' अर्थ है और 'आदधती' का अर्थ 'प्रकाशयन्ती'। यही बात काव्यप्रकाश के सभी मान्य व्याख्याकारों ने लिखी है। यदि किसी टीका में 'निर्मिति' को क्रियाविशेषण मान कर व्याख्या लिखी भी गई हो, तो वह स्वतन्त्र विचार रखनेवाले विद्वज्जनों से आदृत नहीं हो सकती।

तथाविधमद्धर्मं वाक्यं निर्दिशति—

अरविन्दवत्सुन्दरमित्यत्र वतेः 'तेन तुल्यम्—' इति विहितस्य सादृश्यवदर्थकस्य सादृश्ये लक्षणा। तस्य च सुन्दरपदार्थैकदेशेन सुन्दरत्वेनान्वयादरविन्दमिव सुन्दरमित्यत्रेव बोधः। एकत्र शक्त्याऽपरत्र लक्षणया च सादृश्यप्रतिपादनात्तुल्यार्थौ च।

अरविन्दमिव सुन्दरमित्यत्रेवेति। अत्र "वस्तुतस्तु क्रियायास्तुल्यत्वे एव 'तेन तुल्यम्—' इति वतिविधानादरविन्दमिव सुन्दरमित्यादिवत्क्वचिद् बोध इति चिन्त्यमिदम्। अत एव ब्राह्मणवदधीते इत्यत्र ब्राह्मणकर्तृकाध्ययनं ब्राह्मणपदेन लक्ष्यत इति महाभाष्यकाराद्यः। 'अरविन्दवत्सुन्दरम् मुखम्' इत्यत्र च भवतिक्रियाध्याहार्या। अरविन्दपदेन च सुन्दरारविन्दभवनं लक्ष्यते। तथा च सुन्दरारविन्दभवनसदृशं सुन्दरमुखभवनमिति शाब्दे बोधे कृते अरविन्दमुखयोः सौन्दर्यधर्मकृतसादृश्यं व्यञ्जनया बुध्यते। एवमरविन्दवन्मुखमित्यत्रापि अरविन्दभवनसदृशं मुखभवनमित्येव बोधो मुख्य इति बोध्यम्।" इति नागेशः। एकत्र अरविन्दमिवेत्यत्र। अपरत्र अरविन्दवदित्यत्र। अरविन्दवत्सुन्दरमित्यत्र 'तत्र तस्येव' इति सूत्रेण वतिप्रत्ययो न प्राप्तः, तस्य षष्ठ्यर्थे विधानात्, षष्ठ्यर्थस्य च (अरविन्दस्येव) सुन्दरमित्यत्रान्वयासम्भवात्, अतः 'तेन तुल्यम्—' इति सूत्रेण वतिप्रत्ययो विधेयः। स च सादृश्यवदर्थकः। सादृश्यवद्रूपस्य च मुख्यार्थस्य प्रकृते बाधः,

अतस्तस्य–वतेः–प्रकृते सादृश्यमात्रे लक्षणा। लक्ष्यार्थस्य च सादृश्यस्य सुन्दरपदार्थैकदेशेन सुन्दरत्वेन सह प्रयोजकत्वसम्बन्धेनान्वयः। तेन अरविन्दमिव सुन्दरमित्यत्रेव 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकसौन्दर्यवदभिन्नम्' इति शाब्दबोधो भवति। नन्वेवं कस्तयोर्वाक्ययोर्भेद इति चेन्न, अरविन्दमिवेत्यत्र इवशब्दनिष्ठयाऽभिधया सादृश्योपस्थितौ परस्परसादृश्यात्मिकाया उपमायाः शब्दश्रवणमात्रादवगमेन तस्य वाक्यस्य शाब्दोपमाबोधकत्वम्, अरविन्दवदित्यत्र च वत्प्रत्ययनिष्ठया लक्षणया सादृश्योपस्थितौ परस्परसादृश्यात्मिकाया उपमाया आर्थसमाजग्रस्तत्वात् पश्चादवगमेन तस्य वाक्यस्यार्थोपमाबोधकत्वमिति भेदादिति भावः।

उपमाप्रतिपादक अष्टम वाक्य का उल्लेख करते हैं–अरविन्दवत् इत्यादि। 'अरविन्दवत्सुन्दरम् (अरविन्द के समान सुन्दर)' इस वाक्य में 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से वति प्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि वह षष्ठ्यर्थ में होता है और यहाँ 'अरविन्द का सुन्दर' यह षष्ठ्यर्थ वाला अन्वय बैठता नहीं, वह तब बैठता यदि 'सौन्दर्यम्' यह धर्मप्रधान शब्द कहा रहता, अतः उक्त वाक्य में वति प्रत्यय का विधान 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (५।१।११५)' इस पाणिनिसूत्र से मानना पड़ता है। और उस 'वति' प्रत्यय का वाच्य अर्थ होता है 'सादृश्यवान्–अर्थात् सादृश्य से युक्त', जो यहाँ बाधित है–अर्थात् 'सादृश्ययुक्त' अर्थ का अन्वय 'सुन्दर पदार्थ' के साथ बनता नहीं, अतः उसकी (वत् प्रत्यय की) केवल सादृश्य में यहाँ लक्षणा की जाती है और उस (लक्ष्यार्थ) सादृश्य का 'प्रयोजकता' सम्बन्ध से सुन्दर पदार्थ के एक भाग–सौन्दर्य—के साथ अन्वय होता है, अतः इस वाक्य का शाब्दबोध उसी तरह का होता है, जिस तरह का 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' इसका होता है–अर्थात् यहाँ भी 'अरविन्द से निरूपित जो सादृश्य उसका प्रयोजक (साधक) जो सौन्दर्य, उससे युक्त से अभिन्न मुख आदि' ऐसा ही बोध होता है। इस तरह शाब्दबोध समान होने पर भी दोनों वाक्यों में अन्तर यह है कि एक जगह (अरविन्दमिव, यहाँ) सादृश्य की उपस्थिति 'इव' पद की शक्ति (अभिधा) से होती है, अतः शब्द या शक्ति के स्वभाव से वहाँ परस्पर सादृश्यरूप उपमा की प्रतीति शब्दश्रवण के बाद तुरत हो जाती है, अत एव यहाँ की उपमा श्रौती कहलाती है और दूसरी जगह (अरविन्दवत्, यहाँ) सादृश्य की उपस्थिति 'वत्' की लक्षणा से होती है, अतः शब्दस्वभाव से उपमा की प्रतीति अर्थज्ञानोत्तर होने के कारण यहाँ की उपमा आर्थी समझी जाती है। नागेश का कथन इस प्रसङ्ग पर भी कुछ विलक्षण तथा तथ्य-सा है जिसका सारांश यह कि–"–'तेन तुल्यम्–' इस सूत्र से वत् प्रत्यय वहीं होता है जहाँ क्रिया की समानता बतलानी रहती है, अतः 'अरविन्दवत्सुन्दरम्' और 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' इन दोनों वाक्यों का शाब्दबोध समान कैसे हो सकता है ?—अर्थात् 'वत्' वाले वाक्य से क्रियाओं की तुल्यता प्रतीत होती है और 'इव' वाले वाक्य से वस्तुओं की। अतः पण्डितराज का कथन विचारणीय है। अतएव तो 'महाभाष्यकार' आदि ने 'ब्राह्मणवदधीते' इत्यादि में ब्राह्मण पद की उसके द्वारा की जाने वाली अध्ययन क्रिया में लक्षणा मानी है। अतः 'अरविन्दवत्सुन्दरम्' इस वाक्य में 'भवति (होता है)' इस क्रिया का अध्याहार करना चाहिए और 'अरविन्द' पद का अर्थ, लक्षणा द्वारा, 'सुन्दर अरविन्दका होना' इतना करना चाहिए। तब उक्त वाक्य से 'सुन्दर अरविन्द के होने के समान सुन्दर मुख आदि का होना' ऐसा शाब्दबोध होगा। इस तरह से बोध हो जाने के बाद व्यञ्जना के द्वारा, सौन्दर्यरूप धर्ममूलक, अरविन्द और मुख में सादृश्य की प्रतीति होगी। इसी तरह 'अरविन्दवन्मुखम्' इस वाक्य का भी 'अरविन्द के होने के समान मुख का होना' यही शाब्दबोध उचित है।" यहाँ हिन्दी रसगङ्गाधर में टिप्पणी करते हुए सम्पादक कहते हैं कि–"–'अरविन्दवत् सुन्दरम्' में जो मूलकार ने आर्थी उपमा कही है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि आर्थी उपमा वहाँ

होती है, जहाँ सादृश्य-विशिष्ट अर्थ हो, अर्थात् सादृश्य की प्रतीति विशेषणरूप से होती हो। यहाँ तो वति प्रत्यय की सादृश्य में लक्षणा होने से वह विशेष्यरूप से प्रतीत हो रहा है। यह बात 'निखिलजगन्महनीया' इस उदाहरण में स्पष्ट है।" यहाँ मेरा कथन यह है कि–जिन्होंने 'निखिलजगन्महनीया' इस उदाहरण में 'वति' का सादृश्ययुक्त अर्थ होने के कारण उपमा को आर्थी कहा है, वे ही पण्डितराज, यहाँ 'वति' का सादृश्य-मात्र अर्थ होने पर भी उपमा को आर्थी कह रहे हैं। ऐसी स्थिति में इन परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होनेवाले लेखों का रहस्य क्या है? मैं इसका रहस्य यह समझता हूँ कि–इव, यथा आदि पदों का कुछ ऐसा स्वभाव है, जिससे उनके रहने पर षष्ठीविभक्ति के समान शब्दश्रवणमात्र से परस्पर का सम्बन्ध (सादृश्य) ज्ञात होता है, अतः उन शब्दों के रहने पर तथा इवार्थक वति प्रत्यय के रहने पर श्रौती उपमा होती है और तुल्य आदि पदों का स्वभाव ऐसा है, जिससे उनके रहने पर एक तरफा सम्बन्ध का बोध होता है, जैसे 'उसके तुल्य' ऐसा कहने पर उपमेय में ही तुल्यता की प्रतीति होती है उपमेय की तुल्यता उपमान में नहीं, अतः अर्थज्ञानोत्तर विचार करने पर परस्पर सादृश्य का बोध होता है और परस्पर का सादृश्य ही तो उपमा है एक तरफा सादृश्य नहीं, अतः इन शब्दों के तथा तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय के रहने पर आर्थी उपमा होती है। इस विवेचन के अनुसार 'अरविन्दवत्सुन्दरम्' में तुल्यार्थक वति प्रत्यय के रहने के कारण उपमा का आर्थी होना समुचित ही है। लक्षणा से यहाँ 'तुल्य' नहीं 'तुल्यत्व' उसका अर्थ हो गया है, पर उससे क्या? शब्दस्वभाव को कौन रोक सकता है? पण्डितराज के कथन का भी कुछ ऐसा ही अभिप्राय हो सकता है।

तथाविधं नवमं वाक्यं निर्दिशति—

अरविन्दवन्मुखमित्यत्र त्वरविन्दनिरूपितसादृश्यवदभिन्नमिति।

सादृश्यवदभिन्नमिति। बोध इत्यस्यानुषङ्गः। लक्षणा नेति भावः। अत एव तुः प्रयुक्तः। अरविन्दवन्मुखमित्यत्र वतिप्रत्ययस्तुल्यार्थे, तदेकदेशे तुल्यत्वे (सादृश्ये) अरविन्दपदार्थस्य निरूपितत्वेनान्वयः, वतिप्रत्ययार्थस्य तुल्यस्य (सादृश्यवतः) अभेदेन मुखेऽन्वयः। तथा च अरविन्दनिरूपितं यत्सादृश्यं, तद्वदभिन्नं मुखमिति शाब्दबोध इति भावः।

उपमाप्रतिपादक नवम वाक्य का उल्लेख करते हैं—अरविन्द इत्यादि। 'अरविन्द-वन्मुखम् (अरविन्द के समान मुख)' इस वाक्य में पूर्ववत् 'वति' प्रत्यय की सादृश्य में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं होती। उसका वाच्य अर्थ सादृश्यवान् (सादृश्य से युक्त) ही ठीक रह जाता है। तात्पर्य यह कि–अरविन्द पदार्थ का निरूपितत्वसम्बन्ध से 'वति' प्रत्ययार्थ के एक भाग सादृश्य के साथ और सम्पूर्ण 'वति'प्रत्ययार्थ सादृश्य-युक्त का मुख के साथ अभेदसम्बन्ध से अन्वय करके, उक्त वाक्य का 'अरविन्द से निरूपित सादृश्य से युक्त से अभिन्न मुख' ऐसा शाब्दबोध होता है।

तथाविधं दशमं वाक्यं समुल्लिखति—

अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्येत्यत्रारविन्दशब्दस्यारविन्दसौन्दर्यलाक्षणिकतयाऽर-विन्दसौन्दर्यनिरूपितसादृश्याधिकरणमेतत्सम्बन्धि सौन्दर्यमिति मुखारविन्द-सौन्दर्ययोः सादृश्यबोधे शाब्दे, तयोरभेदाध्यवसायादभिन्नधर्ममूला पश्चान्मुखा-रविन्दयोरपि सादृश्यधीः।

सौन्दर्यलाक्षणिकतयेति। अत्र 'तत्र तस्येवेति वतेरिवार्थे विहितत्वेन सादृश्यार्थकस्य प्रयोजके लक्षणयाऽरविन्दसादृश्यप्रयोजकमेतत्सम्बन्धि सौन्दर्यमिति बोधे उपपन्ने अरविन्द-

पदस्यारविन्दसौन्दर्यलक्षणा किंफला किंप्रमाणा चेति चिन्त्यमिदम्' इति नागेशः। भट्ट-महोदयस्तु नागेशोक्तिं कटाक्षयन् "अस्मिन् (मूलोक्ते) शाब्दबोधे सौन्दर्यरूपसाधारण-धर्मस्य अस्य इत्युपमेये अरविन्दे इत्युपमाने च सम्बन्धः सुस्पष्टं प्रतीयते। अरविन्द-सादृश्यप्रयोजकम् एतत्सम्बन्धि सौन्दर्यमिति नागेशोपपादिते शाब्दबोधे तु उपमेयमात्रे सौन्दर्यस्यान्वयः प्रतीयते। अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्येत्युक्तौ स्वारसिकश्च सौन्दर्यस्योभयत्रा-न्वयः। एवं सत्यपि 'अरविन्दसौन्दर्यलक्षणा किंफला' इत्यादिना मुधैव खण्डयन् नागेश-महोदयस्तु स्थूलदृश्वैव" इत्याह। परमयं कटाक्षो न समीचीनः, नागेशोपपादितेऽपि बोधे सौन्दर्यस्योभयत्र प्रतीयमानत्वात्, अन्यथा तस्य साधारणधर्मतैव न स्यात्। एता-दृशबोधे सौन्दर्यस्योभयत्राप्रतीतौ स्वीक्रियमाणायां 'अरविन्दसुन्दरम्' इत्यादौ 'अरविन्द-निरूपितसादृश्यप्रयोजकाभिन्नसौन्दर्यवदभिन्नम्' इत्यादयो बोधाः मूलकृता प्रागुक्ताः सर्व एवासमञ्जसाः स्युः। वस्तुतस्तु–उभाभ्यां (मूलकारनागेशाभ्याम्) लक्षणा स्वीक्रियत एव किन्तु मूलकारः अरविन्दमुखादिगतयोः सौन्दर्ययोः सादृश्यं शब्दतः प्राक् प्रतिपाद्य पश्चात् व्यञ्जनया अरविन्दमुखादिकयोः सादृश्यं प्रतिपादयति, नागेशस्तु प्रथममेवारविन्द-मुखादिकयोरेव तदुपपादयति इत्येव तयोर्विशेषः। तत्र मूलकाराश्रिता सरणिरेव श्रेष्ठा, परमार्थतः अरविन्दमुखादिगतयोः सौन्दर्ययोरपि भिन्नतया तयोः सादृश्यसिद्धिं विना तदाधारयोः सादृश्यस्यासिद्धेः। किञ्च 'अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य' इत्युक्तौ उपमानोपमेय-गतसौन्दर्ययोरेव सादृश्यं स्वरतः प्रतीयते। अरविन्दमुखादिकयोरुपमा व्यङ्ग्या न वाच्ये-त्येतावता क्षतिर्नास्तीति दिक्। शाब्दे इति। जाते इति शेषः। तयोरिति। मुखारविन्द-सौन्दर्ययोरित्यर्थः। अभेदेत्यस्य सादृश्यमूलेत्यादिः। अभिन्नधर्मेति। सौन्दर्यरूपेत्यर्थः। 'अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य' इति वाक्ये 'तत्र तस्येव' इति विहितस्य वतेः सादृश्यमर्थः, अरविन्दपदस्य च लक्षणया अरविन्दसमवेतसौन्दर्यम्, अस्येत्यस्य मुखादिरुपमेयभूतो वाच्यः। तथा च 'अरविन्दसमवेतं यत् सौन्दर्यम्, तन्निरूपितं यत् सादृश्यम्, तदधि-करणम् (तदाश्रयः) एतत्सम्बन्धि सौन्दर्यम्' इत्यन्वयबोधः। अरविन्दपदलक्ष्यार्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेन वतिप्रत्ययार्थे, तस्य च इदं पदार्थोपमेयसम्बद्धसौन्दर्येऽधिकरणता-सम्बन्धेनान्वय इति तात्पर्यम्। नन्वेवं बोधे सत्यपि उपमानोपमेययोः अरविन्दमुखादि-कयोः सादृश्यात्मिका विवक्षितोपमा न सिद्धेति चेन्नैवम्, तत्र बोधे सौन्दर्ययोः सादृश्ये प्रतीते तयोः सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसायेन पश्चात् अरविन्दमुखादिकयोः अभिन्नधर्ममूल-कस्य सादृश्यस्य विवक्षितोपमारूपस्य व्यञ्जनया प्रतीतिरिति भावः।

उपमाप्रतिपादक दशम वाक्य का निर्देश करते हैं—अरविन्द इत्यादि। 'अरविन्दवत् सौन्दर्यमस्य (इसकी सुन्दरता अरविन्द की सुन्दरता के समान है)' इस वाक्य में 'अरविन्द' पद की 'अरविन्द की सुन्दरता' में लक्षणा है, अतः उस पद का लक्ष्य अर्थ होता है 'अरविन्दसमवेत सौन्दर्य' और 'वति' का अर्थ यहाँ सादृश्य है, क्योंकि 'इव' के अर्थ में यह 'वति' प्रत्यय 'तत्र तस्येव' इस पाणिनिसूत्र से हुआ है। इन दोनों अर्थों में 'निरूप्य-निरूपकभाव'संबन्ध है—अर्थात् अरविन्द पद के उक्त लक्ष्य अर्थ का उक्त 'वति'प्रत्ययार्थ के साथ 'निरूपितत्व'संबंध से अन्वय किया जाता है। इसी तरह अरविन्द पदार्थ से अन्वित वतिप्रत्ययार्थ का उस सौन्दर्य के साथ 'अधिकरणता—आश्रयता—' संबन्ध से अन्वय किया जाता है, जिसमें 'अस्य' पद का अर्थ अन्वित होता है। इस तरह से उक्त वाक्य का शाब्दबोध—'अरविन्द की सुन्दरता से निरूपित सादृश्य का अधिकरण (आश्रय) है इस (मुख आदि) की सुन्दरता' ऐसा होता है।

आप कहेंगे—इस प्रकार से तो सौन्दर्य-सौन्दर्य में सादृश्य सिद्ध हुआ, अरविन्द और मुख आदि में नहीं, फिर इन दोनों की उपमा (जो कवि की विवक्षित है) कैसे सिद्ध हुई? तो इसका उत्तर यह है कि—उक्त प्रकार से जब दोनों सौन्दर्यों में सादृश्य सिद्ध हो जायगा, तब सादृश्यमूलक अभेद का आरोप होगा उन दोनों सौन्दर्यों में। इस तरह से जब ये दोनों सौन्दर्य एक—अभिन्न—समझ लिये जायेंगे, तब उस एक धर्म को निमित्त मानकर अरविन्द और मुख आदि में भी सादृश्य, व्यञ्जना से, समझ में आ जायगा। यहाँ नागेश कहते हैं कि—"'अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य' इस वाक्य में 'इव' के अर्थ में 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से किये गये 'वति' प्रत्यय का अर्थ 'सादृश्य' है—तुल्यार्थक 'वति' के समान 'सादृश्यवत्' नहीं, अतः उस सादृश्यार्थक 'वति' प्रत्यय की 'सादृश्य-प्रयोजक' में लक्षणा करके 'अरविन्द से निरूपित जो सादृश्य उसका प्रयोजक, इसका (मुख आदि का) सौन्दर्य' यह शाब्दबोध जब हो सकता है, तब 'अरविन्द' पद की 'अरविन्द की सुन्दरता' में जो मूलकार ने लक्षणा मानी है, उसका क्या फल उन्होंने देखा तथा इस तरह की लक्षणा करने में प्रमाण ही कौन-सा उनको प्राप्त हुआ यह विचारणीय प्रश्न है।" नागेश का अभिप्राय यह हुआ कि शब्दतः पहले सौन्दर्य-सौन्दर्य में सादृश्य समझकर पीछे व्यञ्जना से अरविन्द और मुख आदि में सादृश्य को समझना व्यर्थ है, सीधे अरविन्द और मुख आदि में ही, मेरी रीति से, सौन्दर्यरूप साधारणधर्ममूलक सादृश्य समझ लेना चाहिये। मेरी समझ से मूलकार की रीति ही अच्छी है, क्योंकि लक्षणा तो दोनों (मूलकार और नागेश) को माननी ही पड़ती है, तब यदि मूलकार (पण्डितराज जगन्नाथ) अरविन्द और मुख आदि की सुन्दरता की समानता समझ कर तद्द्वारा उनमें (अरविन्द और मुख आदि में) समानता समझते हैं तो कोई क्षति नहीं, प्रत्युत सीधे अरविन्द और मुख आदि में समानता समझ लेने की अपेक्षा उचित है। कारण, वस्तुतः उन दोनों के सौन्दर्य भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं, अतः उन दोनों में सादृश्य और तन्मूलक अभिन्नता समझे बिना वह साधारण धर्म हो भी नहीं सकता। और 'अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य' इस वाक्य से स्वाभाविकरूप में सौन्दर्य-सौन्दर्य की ही समानता प्रतीत भी होती है।

तथाविधमेकादशवाक्यं विवेचयति—

अरविन्देन तुल्यमित्यत्र तृतीयार्थो निरूपितत्वम्। तस्य च सादृश्येऽन्वयादरविन्दनिरूपितसादृश्याश्रयाभिन्नमिति।

सादृश्ये इति। तुल्यपदार्थैकदेशे इत्यर्थः। अभिन्नमितीत्यस्य बोध इति शेषः। 'अरविन्देन तुल्यम्' इति वाक्ये अरविन्दपदोत्तरतृतीयाविभक्तेर्निरूपितत्वमर्थः। तुल्यपदस्य च सादृश्यवानर्थः। तत्र विभक्त्यर्थस्य निरूपितत्वस्य तुल्यपदार्थैकदेशे सादृश्येऽन्वयः। तथा च 'अरविन्दनिरूपितं यत् सादृश्यम् तदाश्रयाभिन्नम् मुखादिक'मिति बोध इति भावः।

उपमाप्रतिपादक ग्यारहवें वाक्य का विवेचन करते हैं—अरविन्देन इत्यादि। 'अरविन्देन तुल्यम् (अरविन्द के समान)' इस वाक्य में 'अरविन्द' पद के आगे आई हुई तृतीया विभक्ति का अर्थ है 'निरूपितत्व', उसका अन्वय, तुल्यपदार्थ—सादृश्य-युक्त के एक भाग 'सादृश्य' में किया जाता है और तुल्यपदार्थ का 'अभेद'सम्बन्ध से मुख आदि में, अतः इस वाक्य का शाब्दबोध 'अरविन्द से निरूपित सादृश्य के आश्रय (सादृश्ययुक्त) से अभिन्न मुख आदि' यह होता है।

तादृशं द्वादशवाक्यं विवेचयितुमवतारयति—

तत्रैव सौन्दर्यमस्तीति धर्मनिर्देशे तृतीयार्थः प्रयोज्यत्वम्। तेनारविन्दनिरूपित-सौन्दर्यप्रयोज्यसादृश्यवदभिन्नमिति।

तत्रैवेति । 'अरविन्देन तुल्यम्' इति वाक्य एवेत्यर्थः । धर्मनिर्देशे इति । 'सौन्दर्येणारविन्देन तुल्यम्' इति वाक्ये इति यावत् । अरविन्दनिरूपितेत्यादि । अरविन्दनिरूपितं सौन्दर्यप्रयोज्यञ्च यत् सादृश्यं तद्वदभिन्नमित्यर्थः । अन्यत् सुगमम् ।

उपमाप्रतिपादक बारहवें वाक्य का विवेचन करते हैं—तत्रैव इत्यादि । उक्त वाक्य में यदि 'सौन्दर्येण' इस धर्मबोधक पद का भी निर्देश कर दिया जाय–अर्थात् 'सौन्दर्येणारविन्देन तुल्यम् (सुन्दरता से कमल के समान)' ऐसा वाक्य माना जाय, तब इस वाक्य में सौन्दर्य पद के आगेवाली तृतीया विभक्ति का अर्थ 'प्रयोज्यता'–अर्थात् 'साध्यता' होता है । अरविन्द पद के आगेवाली तृतीया का अर्थ 'निरूपितत्व' पहले ही कहा जा चुका है । अतः इस वाक्य का शाब्दबोध–'अरविन्द से निरूपित तथा सौन्दर्य से सिद्ध होने योग्य सादृश्य से युक्त से अभिन्न' यह होता है ।

तथाविधं त्रयोदशवाक्यं विवेचयति—

अरविन्दमाननं च सममित्यत्र प्रथमं शब्दात्सादृश्यवदभिन्नमिति बोधे पश्चान्मानसी वैयञ्जनिकी वा परस्परनिरूपितसादृश्यस्य प्रतीतिः प्रसिद्धनिरूपितसादृश्यस्य वा ।

अभिन्नमिति । अरविन्दमाननञ्चेति शेषः । परस्परेति । मुखसादृश्यस्य कमले, कमलसादृश्यस्य मुखे इत्यर्थः । विनिगमनाभावादिति भावः । प्रसिद्धेर्विनिगमकत्वादाह—प्रसिद्धेति । अरविन्देत्यर्थः । सादृश्यस्य वेति । प्रतीतिरित्यस्यानुषङ्गः । 'अरविन्दमाननं च समम्' इति वाक्ये 'सम'शब्दार्थस्य अरविन्दपदार्थेन आननपदार्थेन च सहाभेदान्वयः, 'निपातातिरिक्तनामार्थयोरभेदातिरिक्तसम्बन्धोऽव्युत्पन्नः' इति पूर्वमेवोक्तत्वात् । अतोऽस्माद् वाक्यात् प्रथमम् 'सादृश्यवदभिन्नमरविन्दमाननञ्च' इति शाब्दबोधो जायते । पश्चात् व्यञ्जनयाऽरविन्दनिरूपितसादृश्यस्य मुखे, मुखनिरूपितसादृश्यस्यारविन्दे च प्रतीतिर्भवति । व्यञ्जनामनङ्गीकुर्वाणा नैयायिकादयस्तु मानसमेव परस्परनिरूपितसादृश्यबोधे पश्चान्मन्यन्ते । एकतरनिरूपितसादृश्यबोधस्तु न सम्भवति, विनिगमकाभावात् । तथा चैवंविधवाक्यस्थले क्रमशो द्वयोरुपमानतोपमेयता चेति तात्पर्यम् । प्रसिद्धेर्विनिगमकत्वाङ्गीकारे पुनः अरविन्दनिरूपितसादृश्यस्यैव मुखे पश्चाद् वैयञ्जनिकी मानसी वा प्रतीतिः । तथा चारविन्दमुपमानमाननञ्चोपमेयमिति भावः ।

अब उपमाप्रतिपादक तेरहवें वाक्य का विवेचन करते हैं—अरविन्दमाननञ्च इत्यादि । 'अरविन्दमाननञ्च समम् (कमल और मुख समान है)' इस वाक्य में 'सम' शब्द के अर्थ का 'अरविन्द' और 'आनन' दोनों पदों के अर्थों के साथ 'अभेद'संबन्ध से अन्वय होता है, क्योंकि 'दो प्रातिपदिकों—यदि निपात से अन्य हों—के अर्थों में परस्पर 'अभेद के अतिरिक्त कोई संबन्ध नहीं होता' यह नियम पहले लिखा जा चुका है । अतः प्रथमतः इस वाक्य का शाब्दबोध 'सादृश्य-युक्त से अभिन्न मुख और कमल' ऐसा होता है । और तदनन्तर, साहित्यिकों के हिसाब से व्यञ्जना द्वारा, तथा नैयायिकों के हिसाब से मन द्वारा, परस्परनिरूपित सादृश्य—अर्थात् अरविन्दनिरूपित सादृश्य की मुख में और मुखनिरूपित सादृश्य की अरविन्द में—प्रतीति होती है । तात्पर्य यह कि ऐसे स्थलों पर पर्यायक्रम से दोनों को उपमान और दोनों को उपमेय माना जा सकता है, क्योंकि निश्चितरूप में किसी एक से निरूपित सादृश्य दूसरे में मानने का कोई प्रमाण नहीं है । परन्तु यदि प्रसिद्धि को प्रमाण माना जाय—अर्थात् यह कहा जाय कि सादृश्य का प्रसिद्ध पदार्थ के द्वारा निरूपित होना अनुभवसिद्ध है, तब उक्त वाक्य में सुन्दरता आदि धर्म के लिये जो प्रसिद्ध हो, उससे निरूपित सादृश्य दूसरे में

समझना चाहिए—अर्थात् पीछे होनेवाले वैयञ्जनिक अथवा मानसबोध में, सुन्दरता आदि के लिये चिरप्रसिद्ध अरविन्द से निरूपित सादृश्य का भान मुख में होगा ऐसा मानना चाहिए। इस स्थिति में निश्चितरूप से अरविन्द उपमान और मुख उपमेय समझा जायगा।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मकं चतुर्दशवाक्यं विवेचयितुमाह—

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्ने तु—

पन्नेत्विति तदापन्नधर्मकेत्वित्यर्थः। बिम्बप्रतिबिम्बभावपदार्थः प्रागुक्तः।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्मवाले वाक्य में तो—

तादृशं वाक्यं निर्दिश्य विवेचयति—

'कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः।
कुङ्कुमालेपनो याति काषायवसनो यतिः॥'

इत्यादौ कुङ्कुमालेपनादिविशिष्टो यतिः कोमलातपादिविशिष्टसन्ध्याकालसदृशाभिन्न इति शक्त्या बोधे पश्चात्सादृश्यप्रयोजकधर्माकाङ्क्षायां श्रुतानां कोमलातपादीनामुपमानोपमेयविशेषणानां सादृश्यमूले तादात्म्याध्यवसाने साधारणत्वनिष्पत्तिः।

सहोदरशब्दार्थमाह—सदृशेति। तादात्म्येति। अभेदेत्यर्थः। अयं भावः—'कोमलेन आतपेन रक्तवर्णेन मेघेन च विशिष्टस्य सायंसमयस्य सहोदरः (लक्षणया तत्सदृश इत्यर्थः) [illegible] युक्तः संन्यासी गच्छती'त्यर्थके 'कोमलातप...' [illegible] क्षणिकम्। तथा च प्रथमम् 'कुङ्कुमालेप-काषायवसनविशिष्टो यतिः, कोमलातपशोणाभ्रविशिष्टसन्ध्याकालसदृशाभिन्नः' इत्यभिधाजन्यो बोधः सम्पद्यते। ततः सन्ध्याकालसंन्यासिनोः कथं सादृश्यं?—कः सादृश्यप्रयोजको धर्मः?—इति जिज्ञासायां समुत्थितायां कोमलातपशोणाभ्रपदार्थौ उपमानविशेषणतयोक्तौ, कुङ्कुमालेपकाषायवसने चोपमेयविशेषणतयोक्ते, भिन्ना अपि सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसायात् बिम्बप्रतिबिम्बभावविशिष्टाः सन्तः सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मतां भजन्ते इति ज्ञानं जायत इति।

तादृश वाक्य का निर्देश करके अपेक्षित विवेचन करते हैं—कोमलातप इत्यादि। 'मृदु धूप और लाल मेघ वाले संध्यासमय का सगा भाई, केसर के लेप और कषाय वर्ण के वस्त्र से युक्त संन्यासी जा रहा है' इत्यादि अर्थ वाले 'कोमलातप...' इत्यादि वाक्यों के स्थल में, अभिधा के द्वारा यह शाब्दबोध होता है कि—'केसर के लेप आदि विशेषणों से युक्त संन्यासी, कोमल धूप आदि विशेषणों से युक्त संध्यासमय के सदृश से अभिन्न है (अर्थात् सदृश है)।' उक्त शाब्दबोध के हो जाने पर श्रोताओं के हृदयों में यह आकांक्षा उठती है कि इस—संध्याकाल और संन्यासी की—उपमा में सादृश्य को सिद्ध करने वाला समान धर्म क्या है? और उस धर्म के अभिन्न होने के लिये उक्त वाक्य में सुने गए 'कोमल आतप' और 'कुङ्कुमलेप' आदि उपमान तथा उपमेय के विशेषणों का, परस्पर सादृश्य के कारण, तादात्म्य (अभेद) मान लिया जाता है, और इस प्रकार से एकरूप माने हुए वे विशेषण समानधर्मरूप बन जाते हैं। अभिप्राय यह कि—जहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्ममूलक उपमा होती है, वहाँ शाब्दबोध तो उक्त रीति से हो जाता है—अर्थात् 'इव' आदि शब्दों के रहने पर उनके अर्थ 'सादृश्य' का 'आश्रयता' संबन्ध से और 'सहोदर' आदि लक्षणा से 'सदृश' अर्थ वाले पदों के रहने पर उनके अर्थों का 'अभेद' संबन्ध से उपमेय में अन्वय हो जाता है। पर समान धर्म का

ज्ञान बाद में होता है, जो उपमान और उपमेय के विशेषणरूप में यद्यपि कहा रहता है, तथापि साधारणधर्मरूप वह तब तक नहीं हो पाता, जब तक सादृश्यमूलक अभेद का आरोप उनमें नहीं किया जाता।

पाठभेदेन बोधवैचित्र्यं दर्शयितुमाह—

कुङ्कुमालेपकाषायवसनाभ्यामयं यतिरित्यत्र कुङ्कुमालेपवसनयोरसाधारणयोरपि साधारणत्वज्ञानजननद्वारा कल्पनीयसादृश्यनिष्पत्तिप्रयोजकत्वात्प्रयोज्यत्वेन सादृश्येऽन्वयः। एकदेशान्वयः पुनरेषु पद्येष्वगतिकतयाश्रीयत इत्युक्तमेव।

'कुङ्कुमालेप'''यतिः' इति पूर्वोक्तपद्योत्तरार्धस्थाने परिवर्तितः पाठः। साधारणत्वेति। सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसानेनेत्यादिः। अयं भावः—यदि मूलोक्तपद्योत्तरार्धस्थाने 'कुङ्कुमालेपकाषायवसनाभ्यामयं यतिः' इति पाठो भवेत्, तदा 'प्रयोज्यत्वं' तृतीयाविभक्त्यर्थं स्वीकृत्य 'कुङ्कुमालेपकाषायवसनप्रयोज्यम् यत् कोमलातपशोणाभ्रसंध्याकालप्रतियोगिकं सादृश्यम् तद्वदभिन्नो यतिः' इत्याकारकः शाब्दबोधः करणीयः। ननु असाधारणे कुङ्कुमालेपवसने कथं सादृश्यस्य प्रयोजके भवेतामिति चेन्न, कोमलातपशोणाभ्राभ्याम् सह सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसाने साधारणत्वेन ज्ञायमानयोस्तयोः सादृश्यप्रयोजकतायां विवादाभावात्। यद्यपीत्थंबोधे सहोदरपदलक्ष्यार्थैकदेशे सादृश्ये तृतीयार्थान्वयेन 'एकदेशान्वयदोषो जातस्तथापि स दोषः सह्य एवे'ति प्रागुक्तम्। इति।

'कोमलातप—' इस पद्य में ही पाठभेद कर देने पर बोध में कुछ विचित्रता हो जाती है, इस बात को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं—कुङ्कुमा इत्यादि। 'कोमलातप—' इस पद्य के उत्तरार्ध को बदल कर यदि 'कुङ्कुमालेपकाषायवसनाभ्यामयं यतिः अर्थात्—यह संन्यासी, केसर के लेप और गेरुआ वस्त्र के कारण''' ऐसा कर दें, तब 'कुङ्कुमालेपकाषायवसन' पद के आगे जो तृतीया का द्विवचन-(भ्याम्) विभक्ति है, उसका अर्थ 'प्रयोज्यता' होगा उसका अन्वय 'सहोदर' पद के लक्ष्य अर्थ 'सदृश' के एकदेश-'सादृश्य' के साथ किया जायगा। तदनुसार उक्त परिवर्तित पाठ वाले वाक्य का शाब्दबोध होगा 'केसर और गेरुआ वस्त्र से प्रयोज्य-अर्थात् सिद्ध किया जाता हुआ—जो कोमल आतप तथा लाल मेघ से युक्त संध्या-समय का सादृश्य, उससे युक्त से अभिन्न यह संन्यासी है।' आप कहेंगे—केसर और गैरिक वस्त्र तो असाधारण पदार्थ हैं—अर्थात् केवल संन्यासी में रहने वाले धर्म हैं, फिर उनसे प्रयोज्य (साध्य) संध्या का सादृश्य कैसे होगा? ऐसा तो तब होता यदि वे धर्म साधारण होते—अर्थात् संन्यासी और संध्यासमय दोनों में रहने वाले होते, पर ऐसा नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि—जब समान होने के कारण कोमल आतप और लाल मेघ का अभेद, केसरलेप तथा गैरिक वस्त्र में आरोपित हो जाता है, तब तो केसरलेप तथा गैरिक वस्त्र साधारण समझे जाते हैं, अतः उस हालत में उनसे उक्त सादृश्य का प्रयोज्य होना भी अयुक्त नहीं समझा जा सकता। अब बात रही एक यह कि उक्त तृतीयाविभक्त्यर्थ का अन्वय सहोदर पद के लक्ष्यार्थ-सदृश-के एकदेश-सादृश्य-के साथ करना पड़ता है, सो यह एकदेशान्वय दोष तो इन पद्यों में अगत्या सहना पड़ता है यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

सादृश्यस्यातिरिक्तत्वे दिग्दर्शनविधया चतुर्दशोपमाप्रतिपादकवाक्यानां बोधा आलोचिताः, सम्प्रति तस्य समानधर्मरूपत्वे कियतां वाक्यानां बोधानालोचयितुमुपक्रमते—

सादृश्यस्य समानधर्मरूपत्वे तु अरविन्दसुन्दरं वदनमित्यत्र लक्षणयाऽरविन्दवृत्तिसमानधर्मः प्रतीयते। तस्य चाभेदेन सुन्दरपदार्थैकदेशेन सुन्दरत्वेनान्वयः।

लक्षणयेति । अस्यारविन्दपदस्येत्यादिः । अन्वय इति । तथा च 'अरविन्दवृत्तिसमानधर्माभिन्नसौन्दर्यवदभिन्नं वदनमि'ति बोध इति भावः ।

पहले सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ मानने वालों के हिसाब से दिग्दर्शन कराने के लिये भिन्न तरह के चौदह उपमाबोधक वाक्यों के शाब्दबोध बतलाये गये हैं, अब, सादृश्य को समानधर्मरूप मानने वालों के हिसाब से कुछ वाक्यों के अन्वयबोध बतलाये जाते हैं—सादृश्यस्य इत्यादि। सादृश्य को जब समानधर्मरूप माना जाता है, तब, 'अरविन्दसुन्दरं वदनम् (कमलसुन्दर मुख)' इस वाक्य में 'अरविन्द' पद का लक्षणा द्वारा, 'अरविन्द में रहनेवाला समान धर्म' अर्थ होता है और उस लक्ष्य अर्थ का अन्वय 'अभेद'सम्बन्ध से सुन्दर पद के अर्थ सौन्दर्यविशिष्ट के एक भाग-सौन्दर्य के साथ होता है। सुन्दर पदार्थ का मुख आदि के साथ अभेदान्वय होना प्रसिद्ध ही है, अतः उक्त वाक्य का शाब्दबोध-'अरविन्द में रहनेवाले समान धर्म से अभिन्न सौन्दर्य से युक्त से अभिन्न मुख' ऐसा होगा।

तथाविधं द्वितीयवाक्यं प्रदर्शयति—

अरविन्दमिव सुन्दरमित्यत्रारविन्दपदार्थ आधेयतया संसर्गेण इवपदार्थेन समानधर्मेणान्वेति । शेषं प्राग्वत् ।

आधेयतयेति । निष्ठत्वेनेत्यर्थः । शेषमिति । तस्य चाभेदेनेत्यादीत्यर्थः । तथा च 'अरविन्दनिष्ठसमानधर्माभिन्नसौन्दर्यवदभिन्नमि'ति बोध इति भावः ।

द्वितीय वाक्य दिखलाते हैं—अरविन्द इत्यादि। 'अरविन्दमिव सुन्दरम् (अरविन्द सा सुन्दर)' इस वाक्य में 'अरविन्द' पद के अर्थ का अन्वय, 'इव' पद के अर्थ-समान धर्म—के साथ, आधेयता-निष्ठत्व-अर्थात् 'रहने रूप'सम्बन्ध से होता है और अवशिष्ट बातें पहले की तरह-अर्थात् 'इव' के अर्थ समान धर्म का अन्वय, सुन्दर पदार्थ के एकदेश-सुन्दरत्व—के साथ, 'अभेद'सम्बन्ध से होता है इत्यादि। इस तरह से उक्त वाक्य का शाब्दबोध-'अरविन्द में रहनेवाला जो समान धर्म, उससे अभिन्न जो सुन्दरता, तद्युक्त से अभिन्न मुख आदि' यह होता है।

तृतीयं तादृशं वाक्यं समुल्लिखति—

सौन्दर्येणारविन्देन सममित्यत्र सौन्दर्योत्तरतृतीयया धान्येन धनीत्यत्रेव अभेदार्थिकया अन्यया च निरूपितत्वार्थिकया सौन्दर्याभिन्नमरविन्दनिरूपितं यत्सादृश्यं तद्वदभिन्नमिति धीः ।

'सौन्दर्येणारविन्देन समम्' इति वाक्ये सौन्दर्यपदोत्तरवर्तिनी तृतीयाविभक्तिरभेदार्थिका 'धान्येन धनी' इतिवत् । अरविन्दपदोत्तरतृतीयाविभक्तिश्च निरूपितत्वार्थिका । तयोश्च तृतीयार्थयोः समपदार्थैकदेशे सादृश्येऽन्वयः । तथा च मूलोक्ताकारः शाब्दबोधस्तस्मात् वाक्याद् भवतीति भावः ।

तृतीय वाक्य का उल्लेख करते हैं—सौन्दर्येण इत्यादि। 'सौन्दर्येणारविन्देन समम् (सौन्दर्य के कारण अरविन्द के समान)' इस वाक्य में-'सौन्दर्य' पद के आगेवाली तृतीया विभक्ति का अर्थ 'अभेद' उसी तरह से होता है जैसे 'धान्येन धनी' इस वाक्य में 'धान्य' पद के आगेवाली तृतीया का। तात्पर्य यह कि 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से जहाँ तृतीया विभक्ति होती है, वहाँ उसका अर्थ अभेद होता है, अतएव 'धान्येन धनी' का अर्थ 'धान्य से अभिन्न धनवाला' होता है, उसी तरह यहाँ भी हुआ है। 'अरविन्द' पद के आगेवाली तृतीया का अर्थ 'निरूपितत्व' है, और इन दोनों तृतीयाओं का अन्वय 'अभेद'संबन्ध से 'सम' शब्द के अर्थ-सदृश-के एकदेश—सादृश्य—के

साथ होता है। इस तरह से उक्त वाक्य का शाब्दबोध—'सौन्दर्य से अभिन्न—अर्थात् सौन्दर्यरूप, और अरविन्द से निरूपित जो सादृश्य, तदाश्रय से अभिन्न मुख आदि' यह होता है।

लुप्तोपमास्थले बोधं विचारयति—

क्यङर्थाचारो धर्ममात्रम्। तस्य चोपमानपदेन लक्षणयोपस्थितं तन्निरूपितसादृश्यं प्रयोजकतासंसर्गेणाभेदेन वा विशेषणम्। विशेष्यं चाश्रयतयोपमेयम्।

धर्ममात्रमिति। समानधर्मरूप एव क्यङर्थाचारो न तु क्रियादिरूप इति भावः। सादृश्यस्यातिरिक्तत्वे आह—प्रयोजकतेति। धर्मरूपत्वे आह—अभेदेति। विशेष्यमिति अस्य चेत्यादिः। अयं भावः—लुप्तोपमाः समासगता, तद्धितगता, नामधातुगता, कृदन्तगता च भवन्ति, तत्र समासगतलुप्तोपमाप्रतिपादकस्य 'अरविन्दसुन्दरमि'त्यस्य बोधः प्रागुक्तः। तद्धितकृदन्तगतलुप्तोपमाप्रतिपादकवाक्यजबोधे न किञ्चिद् वैचित्र्यमिति नामधातुगतलुप्तोपमाप्रतिपादकवाक्यस्थले बोधोऽधुना विचारणीयः तत्रापि क्यङ्प्रत्ययस्थले प्रथममत्राह। 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति सूत्रानुशिष्टस्य क्यङ्प्रत्ययस्याचारो वाच्यः स च समानधर्मरूपः, तत्र च उपमानपदलक्ष्यार्थस्य स्वनिरूपितसादृश्यस्यान्वयो भवति, अन्वयश्च सः सादृश्यस्यातिरिक्तपदार्थत्वे 'प्रयोजकता'सम्बन्धेन तस्य समानधर्मरूपत्वे पुनः 'अभेद'स[illegible]। [illegible] तथा च 'निर्जलमीनायते [illegible] नायिका' इति बोधः सादृश्यस्यातिरिक्तत्वे भवति, तस्य समानधर्मरूपत्वे पुनः 'निर्जलमीननिरूपितसादृश्याभिन्नसमानधर्माश्रयीभूता कामिनी' इति। अनयोर्बोधयोः प्रत्ययार्थो विशेषणम् उपमेयपदार्थश्च विशेष्य इति।

लुप्तोपमास्थल में बोध का विचार करते हैं—क्यङर्था इत्यादि। समास, तद्धित, नामधातु और कृदन्त इन चार स्थलों में लुप्तोपमा का अवसर आता है। उनमें से समासस्थलीय लुप्तोपमा का शाब्दबोध 'अरविन्दसुन्दरम्' में दिखलाया जा चुका है। तद्धित और कृदन्तगत लुप्तोपमा के बोधों में कोई खास विचित्रता नहीं होती, अतः नामधातुगत लुप्तोपमा के बोध का ही विचार किया जाता है। नामधातु में भी उपमाबोधक दो प्रत्यय होते हैं एक 'क्यङ्' और दूसरा 'क्यच्', उनमें से पहले 'क्यङ्' को लीजिए—'क्यङ्' प्रत्यय का अर्थ होता है 'आचार' जो समानधर्मरूप माना जाता है, क्यजर्थ—आचार—के समान अनुरूप क्रिया आदि रूप नहीं। उसका विशेषण होता है उसके प्रकृतिभूत उपमानबोधक पद से, लक्षणाद्वारा, उपस्थित उपमाननिरूपित सादृश्य-अर्थात् 'क्यङ् प्रत्यय' जिससे होता है, वह उपमानबोधक शब्द रहता है, क्योंकि 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इस पाणिनिसूत्र से उपमानबोधक शब्द के आगे ही 'क्यङ्' प्रत्यय आता है और वह उपमानबोधक पद वहाँ नियमतः 'स्वनिरूपित सादृश्य' रूप अर्थ में लाक्षणिक रहता है। इस प्रकृत्यर्थ का उक्त प्रत्ययार्थ में अन्वय होता है। यह अन्वय, अतिरिक्तसादृश्यपदार्थवादी के मत में 'प्रयोजकता'सम्बन्ध से और समानधर्मरूपसादृश्यपदार्थवादी के मत में 'अभेद'सम्बन्ध से होता है। प्रत्ययार्थ—समानधर्म-उपमेय का विशेषण होता है अर्थात् 'क्यङ्' प्रत्यय वाले वाक्य के बोध में उपमेय सबसे विशेष्य होता है। तात्पर्य यह कि प्रत्ययार्थ का 'आश्रयता'सम्बन्ध से उपमेय में अन्वय किया जाता है। इस तरह से 'निर्जलमीनायते महिला (नायिका जलरहित प्रदेश की मछली के समान आचरण करती है।)' इत्यादि 'क्यङ्' प्रत्यय वाले वाक्य से शाब्दबोध होता है कि-'जलशून्य देश की मछली से निरूपित सादृश्य के

प्रयोजक (अतिरिक्त सादृश्यमत में) अथवा उक्त सादृश्य से अभिन्न (समानधर्म-रूप सादृश्यमत में) समानधर्म का आश्रय नायिका।

क्यच्प्रत्ययविषये विचारयति—

क्यजर्थाचारश्चानुरूपक्रियादिः।

अनुरूपक्रियादिरिति। अत्रानुरूपत्वं सदृशत्वं तच्चोपलक्षणम्, न तु वाच्यकुक्षिप्रविष्टम्। क्यजर्थाचारस्य क्रियात्वेन विशेषरूपेण भानमिति भावः। अन्यत् पूर्ववत्। तथा च 'मलयानिलमनलीयति महिला' इत्यादिवाक्येभ्यः 'अनलनिरूपितसादृश्यप्रयोजिका तादृशसादृश्याभिन्ना वा या मलयानिलकर्मिका क्रिया तदनुकूलकृतिमती नायिका' इत्यादिरीत्या बोधो भवति। 'तिलोत्तमीयन्ती' इत्यादितस्तु 'तिलोत्तमानिरूपितसादृश्यप्रयोजिका तादृशसादृश्याभिन्ना वा या आत्मकर्मिका क्रिया तदनुकूलकृतिमती' इत्यादिरीत्या बोधः। शब्दशक्तिप्रकाशिकाकारो जगदीशस्तु "आचारसदृश आचारः क्यजर्थः तद्विशेषणीभूते आचारे प्रकृत्यर्थस्य विशेष्यीभूते च माणवकादेः कर्मत्वेनान्वयस्तथा च 'पुत्रीयति माणवकं देवदत्तः' इत्यादौ 'पुत्रकर्मकाचरणसदृशं यन्माणवककर्मकाचरणं तदनुकूलकृतिमान् देवदत्तः' इत्यादिबोधः" इत्याचष्टे।

'क्यच्' प्रत्यय के विषय में विचार करते हैं—क्यजर्था इत्यादि। 'क्यच्' प्रत्यय का भी अर्थ 'आचार' है, पर यहाँ यह आचार 'क्रिया' के रूप में भासित होता है, उस क्रिया के उपमेय का क्रिया के समान होना आवश्यक है। अतः—'महिलामलयानिलमनलीयति (विरहिणी नायिका मलयपवन में अग्नि के तुल्य आचरण करती है)' इत्यादि वाक्य का शाब्दबोध, उक्त रीति से यह होता है कि 'अग्नि से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक अथवा अग्निनिरूपितसादृश्य से अभिन्न जो मलयपवनकर्मक क्रिया, तदनुकूल कृति (यत्न) वाली नायिका।' 'तिलोत्तमीयन्ती—तिलोत्तमामिव आत्मानम् आचरन्ती—अर्थात् अपने में तिलोत्तमा सा आचरण करती हुई' इस वाक्य में भी वही 'क्यच्' प्रत्यय होता है पर यहाँ कर्म है 'आत्मा', अतः इस वाक्य का बोध 'तिलोत्तमा से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक अथवा उससे निरूपित सादृश्य से अभिन्न जो आत्मकर्मक क्रिया, तदनुकूल कृतिवाली कोई नायिका' यह होता है। शब्दशक्तिप्रकाशिकाकार जगदीश भट्टाचार्य ने तो 'क्यच्' प्रत्यय का अर्थ 'आचारसदृश आचार' माना है और उन दोनों में से प्रथम 'आचार' में क्यच् प्रत्यय की प्रकृति के अर्थ का तथा दूसरे 'आचार' में वाक्योक्त कर्मपदार्थ का अन्वय स्वीकार किया है। तदनुसार 'मलयानिलमनलीयति' का शाब्दबोध—'अग्निकर्मक आचारसदृश जो मलयपवनकर्मक आचार तदनुकूल यत्न वाला' ऐसा होगा यह भी समझ लेना चाहिए।

उपसंहरति—

इति दिक्।

पूर्वोक्तविचारो दिग्दर्शनम्, अनयैव दिशाऽन्यत्राप्यवगन्तव्यमिति भावः।

उपसंहार करते हैं—इति इत्यादि। इति—अर्थात् पूर्वोक्त विचारसमूह, दिक्—अर्थात् दिशाप्रदर्शनमात्र है। तात्पर्य यह कि-पूर्वोक्त से अन्य उपमाप्रतिपादक वाक्यों के शाब्दबोध भी इसी रीति से समझ लेने चाहिएँ।

इवादिरव्ययः सादृश्यस्य द्योतको वाचको चेति विमृशति—

तत्रेवादीनां द्योतकत्वमेव न वाचकत्वम्, निपातत्वादुपसर्गवत्। द्योतकत्वं च स्वसमभिव्याहृतपदान्तरेण शक्त्या लक्षणया वा तादृशार्थबोधने तात्पर्यग्राहकत्वेनोपयोगित्वमिति वैयाकरणाः। उपसर्गाणां द्योतकत्वमावश्यकम्।

अन्यथा उपास्यते गुरुः, अनुभूयते सुखम्, गुर्वादेर्लेनाभिधानं न स्यात्। धात्वर्थकर्मताविरहात्। इवादीनां तु वाचकत्वम्, बाधकाभावात्। प्रागुक्तहेतुस्त्वप्रयोजकत्वान्न साधकः। अन्यथा अव्ययत्वादिति हेतुना अव्ययमात्रस्यैव द्योतकतापत्तिरिति नैयायिकाः।

तत्रेति। सादृश्ये इत्यर्थः। निरूपितत्वं सप्तम्यर्थः, तस्य द्योतकत्वे वाचकत्वे वाऽन्वयः, तथा च सादृश्यरूपार्थनिरूपितद्योतकत्वमेवेवादीनां न वाचकत्वमिति भावः। तत्र हेतुमाह—निपात इति। दृष्टान्तमाह—उपसर्ग इति। अत्र द्योतकत्वं न साध्यम् निपातत्ववत्सु अनर्थकनिपातेषु द्योतकत्वाभावेन व्यभिचारात्, किन्तु वाचकत्वाभाव एव साध्यः, अत एव 'न वाचकत्वम्' इत्यंशोक्तिः सङ्गच्छते। तथा च 'इवादयो वाचकत्वाभाववन्तः निपातत्वात्, उपसर्गवत्' इत्यनुमितेराकारः सिद्ध्यतीति बोध्यम्। नानार्थभिन्नस्थले शक्त्या बोधने तात्पर्यग्राहकानपेक्षणादाह—लक्षणयेति। लेनेति। लकारेणेत्यर्थः। अप्रयोजकत्वादिति। अत्र "—'साक्षात्क्रियते दयिता' इत्यादौ लेन दयितादेरभिधानसिद्धये निपातत्वे द्योतकतावच्छेदकता कल्प्यते इति चिन्त्यमेतत्।" इति नागेशः। द्योतकतापत्तिरिति। न चेष्टापत्तिः, स्वरादीनां स्वातन्त्र्येण प्रयोगानापत्तेरिति भावः। उपसर्गाणां द्योतकत्वं सर्वैरास्थीयते, तद्दृष्टान्तेन वैयाकरणा निपातानाम् इवादीनामपि द्योतकत्वमेव स्वीकुर्वन्ति, स्व(द्योतक)समभिव्याहृतेन (पूर्वं पश्चाद् वा स्थितेन) अन्येन पदेन शक्तिप्रयोज्ये लक्षणाप्रयोज्ये वा विलक्षणे बोधे जनयितव्ये तात्पर्यग्राहकतयोपयोगित्वञ्च द्योतकत्वमभिवाञ्छन्ति। तथा च पूर्वोक्तेषु सर्वेषु निपातघटितेषु उपमालङ्कारोदाहरणेषु उपमानबोधकाः शब्दा एव सादृश्यस्यापि वाचकाः। इवादयस्तु तैः शब्दैः सादृश्यबोधने तात्पर्यग्राहकतया समुपयुज्यन्ते। नैयायिकास्तु 'उपास्यते गुरुः, अनुभूयते सुखम्' इत्यादौ उपात्तरूपाणामुपसर्गाणामुपासनानुभवनाद्यर्थवाचकत्वे तेषामर्थानां धातुवाच्यताविरहेण गुरुसुखयोर्धात्वर्थव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वरूपकर्मत्वाभावे कर्मवाचकेन लकारेण तयोरनुक्ततया प्रथमाद्यनापत्तिरिति तत्र धातूनामेवोपासनाद्यर्थवाचकत्वमङ्गीकार्यम्, तथा चोपसर्गाणामगत्या द्योतकत्वेऽङ्गीकृतेऽपि निपातानामिवादीनां वाचकत्वमेव स्वीकार्यम्, तावतापि निपातघटितप्रयोगस्थले तादृशानुपपत्तेरप्रसङ्गात्। न च निपातत्वरूपेण हेतुना इवादीनां द्योतकत्वमनुमितं भवतीति वाच्यम्, तस्य हेतोरप्रयोजकतयोक्तानुमितेरेवासिद्धेः। अन्यथा अव्ययत्वेन हेतुना सर्वेषामेवाव्ययानां द्योतकत्वं किमिति नानुमीयेत इति कथयन्ति। तथा च नैयायिकरीत्या पूर्वोक्तेषूदाहरणेषु उपमानबोधकानि पदानि केवलमुपमानवाचकान्येव, सादृश्यवाचकास्तु इवादयो निपाता एवेति भावः।

'इव' आदि अव्यय, सादृश्य के द्योतक हैं अथवा वाचक इस बात का विचार अब करते हैं—तत्र इत्यादि। उपसर्ग—प्र, परा, अनु, अव आदि—अर्थविशेष के द्योतक होते हैं वाचक नहीं, यह बात सभी (वैयाकरण तथा नैयायिक आदि) को मान्य है, पर निपात—इव, यथा आदि—के विषय में मतभेद है। वैयाकरणों का कथन है कि—निपात भी उपसर्गों के समान अर्थविशेष के द्योतक ही हैं वाचक नहीं, और द्योतक उसको कहा जाता है जो अपने अगल-बगल के अन्य पदों से शक्ति द्वारा अथवा लक्षणा द्वारा होने वाले अर्थ-विशेष के बोध में तात्पर्यग्राहकरूप से उपयोगी होते हों। वैयाकरणों के इस सिद्धान्त के अनुसार 'इव' आदि निपात सादृश्य के द्योतकमात्र हैं, वाचक तो उसके भी उपमानबोधक पद ही होते हैं। नैयायिकों का कथन इससे भिन्न है। वे कहते हैं कि—'उपास्यते गुरुः (गुरु सेवित होते हैं)' और 'अनुभूयते सुखम् (सुख अनुभूत होता

है)' इत्यादि वाक्यों में यदि 'सेवन' और 'अनुभव' क्रमशः 'उप' और 'अनु'रूप उपसर्गों के अर्थ माने जायँ–अर्थात् उन अर्थों का वाचक इन उपसर्गों को कहा जाय, तब 'गुरु' और 'सुख' आदि कर्म नहीं होंगे, क्योंकि कर्म वे ही कहलाते हैं जो धातु के अर्थ—व्यापार से होनेवाले फल के आश्रय हों और अब उक्त रीति से 'सेवन' तथा 'अनुभव' धातु के अर्थ हुए नहीं, इस तरह जब वे कर्म नहीं हो सकेंगे, तब लकार–अर्थात् कर्मवाच्य–'ते' प्रत्यय से वे उक्त भी नहीं होंगे और उस हालत में उन (गुरु तथा सुख पद) से प्रथमाविभक्ति नहीं हो सकेगी, अतः अगत्या उपसर्गों को भले ही द्योतक माना जाय, (उपसर्ग के द्योतक होने पर 'आस्' और 'भू' धातु ही, 'सेवन' एवं 'अनुभव' के वाचक होते हैं और तब उक्त सभी आपत्तियाँ दूर हो जाती हैं)। पर निपात—इव आदि—को वाचक मानना ही समुचित है, क्योंकि उन्हें वाचक मानने पर भी कोई उस तरह की आपत्ति नहीं होती। तब रही बात उनके निपात होने की, सो वह कुछ नहीं–अर्थात् निपात होनारूप हेतु उनको द्योतक सिद्ध करने में अप्रयोजक—असमर्थ—है। यदि ऐसा हेतु लिया जाय, तब 'अव्ययत्व'रूप हेतु से–अर्थात् अव्यय होने के कारण सभी अव्ययों को द्योतक क्यों नहीं मान लिया जाय ? यह तो आप कह नहीं सकते कि–हम सभी अव्ययों को द्योतक मानते हैं, क्योंकि यदि सभी अव्यय अपने-अपने अर्थ के केवल द्योतक ही हों, वाचक नहीं, तब स्वर्ग के अर्थ में जो केवल 'स्वः' इस अव्यय का स्वतन्त्ररूप से प्रयोग किया जाता है, वह नहीं हो सकेगा। फलतः नैयायिक लोग निपात को वाचक ही मानते हैं। तदनुसार 'इव' आदि निपात, सादृश्यरूप अर्थ के स्वतन्त्र वाचक हैं, उपमानवाचक पद केवल उपमान के बोधक होते हैं। वैयाकरणशिरोमणि नागेश, यहाँ वैयाकरणों के मत के समर्थन में लिखते हैं कि–जिस तरह 'उपास्यते गुरुः', 'अनुभूयते सुखम्' इत्यादि प्रयोगों के अनुरोध से उपसर्गों को द्योतक माना जाता है उसी तरह 'साक्षात्क्रियते दयिता' इत्यादि प्रयोगों के अनुरोध से निपातों को भी द्योतक मानना ही चाहिए। तात्पर्य यह कि–यदि निपात को द्योतक न मानकर वाचक माना जायगा, तब उक्त प्रयोग में 'साक्षात्कार' अर्थ 'साक्षात्' इस निपात का ही किया जायगा, 'कृ' धातु का नहीं, फिर तो वे सब आपत्तियाँ यहाँ भी टपक पड़ेंगी, जो उपसर्गों को द्योतक न मानने पर 'उपास्यते गुरुः' इत्यादिक में हुई थीं। अतः उपसर्ग तथा निपात द्योतक हैं और इन दोनों से अन्य अव्ययवाचक हैं ऐसा ही मानना उचित है।

उपमादोषानाख्यातुं प्रक्रमते—

अथास्याश्चमत्कारस्यापकर्षकं यावत्तत्सर्वमपि दोषः। कविसमयप्रसिद्धिराहित्यम्, उपमानोपमेययोर्जात्या प्रमाणेन लिङ्गसंख्याभ्यां चानानुरूप्यम्, बिम्बप्रतिबिम्बभावे धर्माणामुपमानोपमेयगतानां न्यूनाधिकत्वम्, अनुगामितायामनुपपद्यमानकालपुरुषविध्याद्यर्थकत्वम्, एवमादि।

अथेति अनन्तरमित्यर्थः। सामान्यत आह—अस्याश्चमत्कारस्येति। एतेन 'उपमाचमत्कारापकर्षकत्वम्' इति उपमादोषसामान्यलक्षणं फलितम्। विशेषत आह—कविसमये-त्यादिना। समयः सङ्केतः। आनानुरूप्यमिति। नञ्समासोत्तरं भावप्रत्ययः। कालो भूतादिः। पुरुषः प्रथमादिः। चमत्कारापकर्षकत्वं दोषसामान्यलक्षणम्। एवञ्चोपमाचमत्कारापकर्षकाणि यावन्ति वस्तूनि तानि सर्वाण्युपमादोषत्वेनाभिमतानि। तादृशानि च वस्तून्यनेकानि सम्भवन्ति, यथा कविसङ्केतविरुद्धत्वं प्रथमं तादृशं वस्तु, उपमानस्योपमेयस्य च मिथोऽननुरूपता द्वितीयं तथाविधं वस्तु, अननुरूपता चेयं पुनरनेकधा सम्भवति, क्वचित्तयोर्जातिभेदेन, क्वचित् प्रमाणभेदेन, क्वचित् लिङ्गभेदेन, क्वचित् संख्याभेदेन च, बिम्बप्रतिबि-

म्बभावापन्नधर्मकोपमास्थले उपमानगततादृशधर्मापेक्षया उपमेयगततादृशधर्माणां न्यून-ताऽधिकता च तथाविधे वस्तुनी, अनुगामिधर्मकोपमास्थलेऽनुगामिधर्म(क्रिया)गताः काल-पुरुषविधयस्तादृशाः समपेक्षिता येषामुपमानोपमेयोभयांशे उपपत्तिर्भवेत्, तद्विरुद्धत्वं तेषां पुनस्तथाविधम् (चमत्कारापकर्षकम्) एव वस्त्विति भावः ।

अब उपमादोष का निरूपण किया जाता है—अथ इत्यादि । चमत्कार (आनन्द-जनकता) का अपकर्षक (घटानेवाला) होना सामान्यतः दोष माना जाता है, अतः जितनी वस्तुएँ उपमा के चमत्कार को अपकृष्ट करनेवाली होंगी, वे सभी उपमा के दोष हैं । उस तरह की अनेक वस्तुएँ हो सकती हैं, जैसे—सर्वप्रथम-कवियों के सिद्धान्तों में जो वस्तु जिस रूप में प्रसिद्ध नहीं है उसका उस रूप में उल्लेख, दूसरी--उपमान तथा उपमेय का जाति, प्रमाण, लिङ्ग और संख्या (वचन) द्वारा परस्पर अनुरूप न होना, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्मों में उपमान तथा उपमेय के धर्मों का न्यूनाधिक होना, और साधारण धर्म के अनुगामी होने पर काल, पुरुष और विधि आदि अर्थों का उपपन्न न होना—अर्थात् ऐसी क्रिया का अनुगामी धर्म होना, जिसके काल-पुरुष आदि उपमान अथवा उपमेय अंश में सङ्गत न हो सकें । ये सभी चमत्कारापकर्षक होने से उपमा के दोष हैं ।

उपमादोषानुदाहर्तुमाह—

क्रमेण यथा—

स्पष्टम् ।

क्रमशः जैसे ।

कविसमयप्रसिद्धिराहित्यस्योदाहरणं निर्दिश्यते—

'प्रफुल्लकह्लारनिभा मुखश्री रदच्छदः कुङ्कुमरम्यरागः ।
नितान्तशुद्धा तव तन्वि वाणी विभाति कर्पूरपरम्परेव ॥'

नायकस्य नायिकां प्रत्युक्तिः—हे तन्वि कृशाङ्गि ! तव, मुखश्रीः मुखकान्तिः, प्रफुल्ल-कह्लारनिभा विकसितरक्तकमलतुल्या, रदच्छदः अधरोष्ठयुगलम्, कुङ्कुमरागरम्यः केसरवत् रागेण रक्तिम्ना रमणीयः, नितान्तशुद्धा परमपवित्रा, वाणी वाक् च कर्पूरस्य घनसारस्य परम्परा समूह, इव, विभाति भासत इत्यर्थः । अत्र कह्लारमुखयोः कुङ्कुमाधरयोः, कर्पूरवा-ण्योश्चोपमानोपमेयभावः कविसमयाप्रसिद्ध इति भावः ।

कविसमयप्रसिद्धिराहित्यदोष का उदाहरण दिखलाया जाता है—प्रफुल्ल इत्यादि । किसी नायिका के प्रति किसी नायक की उक्ति है—हे कृशाङ्गि ! तेरे मुख की कान्ति विकसित कह्लारपुष्प (रक्तकमल) के समान, तेरे अधरोष्ठ केसर की सी लाली से रमणीय और तेरी अतिपवित्र वाणी कपूर की श्रेणी के तुल्य भासित होती है । यहाँ मुख और कह्लार, केसर और अधरोष्ठ एवं कपूर और वाणी के उपमानोपमेयभाव, कवियों के व्यवहार में प्रसिद्ध नहीं हैं ।

उपमानोपमेययोर्जात्याऽननुरूपत्वस्योदाहरणं निर्दिश्यते—

'मुनिः श्ववदयं भाति सततं पर्यटन् महीम् ।
विनिवृत्तक्रियाजातः श्वापि लोके शुकायते ॥'

कविः कथयति—सततं निरन्तरम्, महीम् पृथ्वीम्, पर्यटन् भ्रमन्, अयं कवि-हृदयस्थः, मुनिः, श्ववत् कुक्कुरवत्, भाति भासते । विशेषेण निवृत्तं दूरीभूतम्, क्रिया-जातम् व्यापारसमूहो यस्य तादृशः, श्वा कुक्कुरः, अपि, लोके संसारे, शुकायते शुकदेव-मुनिवदाचरतीत्यर्थः । अत्र श्वमुन्योः शुकदेवश्वनोश्च जात्याननुरूपत्वम् इति भावः ।

उपमान और उपमेय में जाति द्वारा अननुरूपता का उदाहरण दिखलाया जाता है—मुनिः इत्यादि। कवि का कथन है—निरन्तर पृथ्वी में चक्कर लगाने वाला यह मुनि कुत्ते के समान प्रतीत होता है। सभी कामों से मुख मोड़ लेने वाला कुत्ता भी शुकदेव मुनि के समान भासित होता है। यहाँ पूर्वार्ध में कुत्ते के साथ मुनि की और उत्तरार्ध में शुकदेव के साथ कुत्ते की जो उपमा दी गई है, वह जात्या अनुरूप नहीं है अर्थात् कुत्ते की जाति, सहस्र उपाय से भी मुनि के सदृश नहीं हो सकती।

उपमानोपमेययोः प्रमाणेनाननुरूपत्वस्योदाहरणं निर्दिश्यते—

'सरसि प्लवदाभाति जम्बीरं सुपचेलिमम्।
आदिकारणतोयौघ इव ब्रह्माण्डमण्डलम्॥'

कवेरुक्तिः—सरसि सरोवरे प्लवत् तरत्, सुपचेलिमम् सुपक्वम् एतच्च प्लवनयोग्यतासम्पादनार्थम्, आमफलस्य तदयोगात् जम्बीरम्, आदिकारणस्य 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्' इति श्रुतेः सृष्टिप्रथमकारणस्य तोयस्य जलतत्त्वस्य, ओघे समूहे, प्लवत्, ब्रह्माण्डस्य संसारस्य, मण्डलम् चक्रम्, इव, आभाति भासत इत्यर्थः। अत्र सरोवरादिकारणीभूतजलसमूहयोः तथा जम्बीरब्रह्माण्डमण्डलयोश्च प्रमाणेनाननुरूप्यम्, प्रथमयोर्न्यूनपरिमाणत्वात् द्वितीययोश्च महापरिमाणत्वात् इति भावः।

उपमान तथा उपमेय में प्रमाण (परिमाण) के द्वारा रहनेवाली अननुरूपता का उदाहरण दिखलाया जाता है—सरसि इत्यादि। कवि का कथन है—सरोवर में तैरता हुआ अत्यन्त पका नीबू, 'अप एव ससर्जादौ ...' इत्यादि श्रुति के अनुसार आदिकारणरूप जलसमूह में तैरता हुआ ब्रह्माण्डमण्डल-सा प्रतीत होता है। यहाँ उपमान और उपमेय का प्रमाण (लम्बाई चौड़ाई आदि) अनुरूप नहीं है। कहाँ छोटा-सा नीबू और कहाँ महाविशाल ब्रह्माण्डमण्डल! एवम् कहाँ थोड़ी दूरी में फैला सरोवर और कहाँ समग्र भुवन को आत्मसात् कर लेनेवाला वह जलसमूह।

उक्तपद्ये ब्रह्माण्डमण्डलमुपमानं जम्बीरमुपमेयम्, किन्तु तयोः परिवर्तनेऽपि स दोषस्तदवस्थ एवेति प्रतिपादयति—

एतस्यैव किञ्चित्पदव्यत्यासे ब्रह्माण्डस्योपमेयतायां चायमेव दोषः।

'सरसीव समाभाति जम्बीरं सुपचेलिमम्। आदिकारणतोयौघे प्लवद् ब्रह्माण्डमण्डलम्' इतीत्थं परिवर्त्य यदि पूर्वपद्यं पठ्यते, तदा ब्रह्माण्डमुपमेयं जायते। परन्तु प्रमाणतोऽननुरूपताख्यो दोषस्तदवस्थ एव तथापीति सुबोधमेव।

उक्त पद्य में कुछ पदों को इधर से उधर करके यदि ब्रह्माण्डमण्डल को उपमेय बना दिया जाय—अर्थात् पद्य का आकार 'सरसीव समाभाति जम्बीरं सुपचेलिमम्। आदिकारणतोयौघे प्लवद्ब्रह्माण्डमण्डलम्।' ऐसा कर दिया जाय, तब भी यही (प्रमाणतः अननुरूपता) दोष होगा।

उपमानोपमेययोः लिङ्गसामान्यमननुरूपताया उदाहरणं निर्दिश्यते—

'द्राक्षेव मधुरं वाक्यं चरितं कौमुदी यथा।
सदैवार्द्राणि चेतांसि सुधेव सुमहात्मनाम्॥'

कवेरुक्तिः—सुमहात्मनाम् महामाहात्म्यशालिनाम्, वाक्यं, द्राक्षा, इव, मधुरम्, चरितम् चरित्रम्, कौमुदी चन्द्रिका, यथा इव, चेतांसि हृदयानि, सुधा पीयूषम्, इव आर्द्राणि भवन्तीत्यर्थः। अत्र द्राक्षावाक्ययोः तथा कौमुदीचरितयोः पूर्वार्धोक्तयोः लिङ्गतोऽननुरूपता, उपमानयोः स्त्रीलिङ्गत्वात् उपमेययोश्च नपुंसकत्वात्। उत्तरार्धोक्तयोः सुधा-

चेतसोः लिङ्गसङ्ख्योभयतोऽननुरूपता, उपमानस्य स्त्रीलिङ्गत्वादेकत्वसंख्याविशिष्टत्वाच्च उपमेयस्य नपुंसकत्वात् बहुत्वसङ्ख्याविशिष्टत्वाच्चेति भावः ।

उपमान तथा उपमेय में लिङ्ग एवं संख्या के भेद से होनेवाली अननुरूपता का उदाहरण दिखलाया जाता है—द्राक्षेव इत्यादि । कवि का कथन है—अच्छे महात्माओं का वाक्य दाख-सा मीठा, चरित्र चाँदनी-सा (निर्मल) और चित्त सुधा की तरह सर्वदा आर्द्र (पिघला) रहता है । यहाँ उपमान—दाख, चाँदनी और सुधा—स्त्रीलिङ्ग हैं और उपमेय-वाक्य, चरित और चित्त-नपुंसकलिंग, अतः लिङ्ग के द्वारा, और—'चेतांसि (चित्त)' बहुवचन है और 'सुधा' एकवचन, अतः संख्या के द्वारा इस उपमा में अननुरूपता दोष होता है ।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मस्य न्यूनताया उदाहरणं निर्दिश्यते—

'वामाकल्पितवामाङ्गो भासते भाललोचनः ।
शम्पया सम्परिष्वक्तो जीमूत इव शारदः ॥'

कविः शिवं वर्णयति—वामया पत्न्या-पार्वत्या कल्पितं रचितं, वामं दक्षिणेतरम्, अङ्गं येन, तादृशः (अर्धनारीश्वर इति यावत्) भाललोचनः त्रिनेत्रः शिवः, शम्पया विद्युल्लतया, सम्परिष्वक्तः संश्लिष्टः, शारदः शरत्कालीनः (एतद् विशेषणं गौरवर्णशिवसादृश्यसिद्ध्यर्थमिति बोध्यम्) जीमूतो मेघः, इव, भासते प्रतीयत इत्यर्थः ।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म की न्यूनता का उदाहरण दिखलाया जाता है—वामा इत्यादि । कवि शिवजी का वर्णन करता है—वामा-नारी (पार्वती) से वाम अङ्ग बनाए हुए (अर्थात् अर्धनारीश्वर) ललाट पर लोचन वाले भगवान् शिव, बिजली से आलिङ्गित शरद् ऋतु के मेघ के समान प्रतीत होते हैं ।

उपपादयति—

अत्र जीमूतगतो भालस्थलोचनप्रतिबिम्बो नोपात्त इति न्यूनत्वम् ।

उक्तपद्ये उपमेयशिवगतवामाकल्पितवामाङ्गत्वप्रतिबिम्बभूतमुपमाने मेघे शम्पासम्परिष्वक्तत्वं यथोपात्तम्, तथोपमानशिवगतभालवर्तिलोचनप्रतिबिम्बभूतं किमपि वस्तु उपमाने मेघे नोपात्तम् इति उपमाने धर्मस्य न्यूनतेति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में जिस तरह उपमेय-शिव-में कहे गए पार्वतीसंश्लेष के प्रतिबिम्बभूत वस्तु—बिजली का संश्लेष, उपमान-मेघ-में कहा गया है, उस तरह, उपमेय-शिव-में कहे गए भालस्थित नेत्र का प्रतिबिम्बभूत कोई पदार्थ उपमान-मेघ-में नहीं कहा गया है, अतः यहाँ उपमान में धर्म की न्यूनता हो जाती है ।

दोषपरिहारोपायमाह—

'भगवान् भवः' इति कृते तु बिम्बस्यैवाभावान्न प्रतिबिम्बापेक्षेति साधु ।

उक्तपद्यस्थस्य 'भाललोचनः' इत्यस्य स्थाने 'भगवान्भवः' इति पाठो यदि क्रियते तदोपमेये शिवे बिम्बभूतं भाललोचनत्वमेव न तिष्ठतीति उपमाने मेघे तत्प्रतिबिम्बापेक्षा न जागर्तीति तादृशे पाठे निर्दोषोपमा स्यादिति भावः ।

दोषपरिहार का उपाय बतलाया जाता है—भगवान् इत्यादि । उक्त पद्य में जो 'भाललोचनः' पद है, उसके स्थान में यदि 'भगवान् भवः' ऐसा पाठ मान लिया जाय, तब उक्त दोष दूर हो जाता है, क्योंकि इस पाठ के अनुसार उपमेय-शिव-में ही बिम्बभूत पदार्थ (भाललोचनत्व) नहीं रहता, अतः उपमान-मेघ-में उसके प्रतिबिम्ब की अपेक्षा ही नहीं होती । तात्पर्य यह कि इस परिवर्तित पाठ में मेघ और शिव की उपमा निर्दोष होती है ।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नत्वयोग्यस्य धर्मस्याधिकताया उदाहरणं निर्दिश्यते—

'विष्णुवक्षःस्थितो भाति नितरां कौस्तुभो मणिः ।
अङ्गारक इवानेकतारके गगनाङ्गणे ॥'

कविः हरिहृदयस्थलस्थितं कौस्तुभमणिं वर्णयति—विष्णोः हरेः, वक्षसि उरःप्रदेशे, स्थितो वर्तमानः, कौस्तुभाख्यो, मणिः, अनेकतारके नानाविधनक्षत्रभूषिते, गगनाङ्गणे नभोरूपे प्राङ्गणे, वर्तमान इति शेषः, अङ्गारकः मङ्गलाख्यनक्षत्रविशेषः, इव, नितरामत्यन्तम्, भाति भासत इत्यर्थः ।

बिम्बप्रतिबिम्बभावयोग्य धर्म की अधिकता का उदाहरण दिखलाया जाता है—विष्णु इत्यादि। कवि भगवान् के वक्ष पर झूलते हुए कौस्तुभमणि का वर्णन करता है—विष्णु भगवान् के उरःस्थल पर वर्तमान कौस्तुभमणि, अनेक तारों से युक्त आकाशमण्डल में स्थित मङ्गल नामक तारे की तरह अत्यन्त शोभित होता है।

उपपादयति—

अत्र तारकाणां बिम्बाभावादाधिक्यम् ।

उक्तपद्ये उपमेयवाक्यार्थे तादृशं किमपि वस्तु नोपात्तम् [illegible]रकबिम्बभावं भजेत, अतः उपमानवाक्यार्थेऽनेकतारकरूपस्य [illegible] इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'विष्णुवक्षः—' इस पद्य में उपमेय-कौस्तुभ-मणि के विशेषणरूप से कोई ऐसी चीज नहीं कही गई है जो उपमान—मङ्गल के विशेषणरूप से कहे गये तारों का बिम्बभूत हो, अतः उपमान अंश में 'अनेकतारक' यह धर्म अधिक है।

दोषोद्धारप्रकारमाह—

'विष्णोर्वक्षसि मुक्तालिभासुरे भाति कौस्तुभः' इत्यर्थे तु न दोषः ।

उपमेयवाक्यार्थे 'मौक्तिकपङ्क्तिसमुज्ज्वले' इत्यर्थकस्य 'मुक्तालिभासुरे' इति विशेषणस्योपादाने उपमानवाक्यार्थगतानेकतारकबिम्बलाभान्नाधिक्यमिति न दोष इति भावः ।

दोषोद्धार का प्रकार दिखलाया जाता है—विष्णो इत्यादि। 'मोतियों की पङ्क्ति से चमकते हुए विष्णु के वक्षःस्थल में कौस्तुभमणि शोभित हो रहा है' इस अर्थ का बोधक मूलोक्त पाठ मानने पर उपमानवाक्यगत 'अनेक तारों से युक्त' इस प्रतिबिम्बभूत धर्म का बिम्बभूत धर्म 'मोतियों की पङ्क्ति से चमकते हुए' यह उपमेयवाक्य में आ जाता है, अतः उपमान-अंश में धर्म की अधिकतारूप दोष नहीं होता।

परिवर्तितपाठे उपमासिद्धिरीतिं प्रदर्शयति—

अत्र विशेषणविशेषणयोर्मुक्तालितारकागणयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावेन वक्षोगगनाङ्गणयोर्विशेषणयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः, तन्मूला चोपमा ।

परिवर्तितपाठविशिष्टोक्तपद्ये प्रधानविशेष्यकौस्तुभाङ्गारकविशेषणीभूतवक्षोगगनाङ्गणविशेषणयोर्मुक्तालितारकागणयोः प्रथमं बिम्बप्रतिबिम्बभावः, ततस्तन्मात्रसादृश्येन मुख्यविशेष्यसाक्षाद्विशेषणयोर्वक्षोगगनाङ्गणयोः सः ततस्तदात्मकसादृश्यमूला अङ्गारककौस्तुभयोरुपमा सिद्ध्यतीति भावः ।

उक्त परिवर्तित पाठ में उपमासिद्धि की रीति बतलायी जाती है—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में जब मूलोक्त रीति से पाठ बदल दिया जाता है तब पहले मुख्य विशेष्य (कौस्तुभ और मङ्गल) के विशेषण (वक्ष तथा आकाश) के विशेषण-मोतियों की

पङ्क्ति और तारकागण में चमचमीरूप सादृश्यमूलक बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है और पीछे उक्त बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न समानधर्म के बल से उक्त मुख्य विशेष्य के साक्षात् विशेषण—वक्षःस्थल और आकाश—में बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है, तदनन्तर तदात्मक सादृश्यमूलक मङ्गल और कौस्तुभ की उपमा सिद्ध होती है।

अनुगामिधर्मस्थले कालानुपपत्तेरुदाहरणं प्रदर्शयति—

'रराज राजराजस्य राजहंसः करस्थितः।
हस्तनक्षत्रसंसक्त इव पूर्णो निशाकरः ॥'

कवेरियमुक्तिः—राजराजस्य कस्यचिद् वर्णनीयस्य महाराजस्य कुबेरस्य वा करे हस्ते, स्थितो वर्तमानः राजहंसः पक्षिविशेषः, हस्ताख्येन नक्षत्रेण, संसक्तः सम्मिश्रितः, पूर्णः पूर्णिमातिथिगतः, निशाकरः चन्द्रः, इव, रराज शुशुभे इत्यर्थः।

अनुगामिधर्मस्थल में काल की अनुपपत्ति का उदाहरण दिखलाते हैं—रराज इत्यादि। कवि का कथन है—राजाधिराज (कुबेर अथवा किसी विशिष्ट राजा) के हाथ पर बैठा हुआ राजहंस, हस्तनक्षत्र से मिलित पूर्णचन्द्र के समान शोभित हुआ।

उपपादयति—

अत्र [illegible] राजहंसस्यान्वय इव न [illegible]।

'रराज—' इति पद्ये 'रराज' इति पदं भूतकालेन अवच्छिन्नं विशिष्टं भूतकालिक- [illegible] बोधयति, तद्बोध्ये च तादृशे तस्मिन् क्रियाविशेषे [illegible], चन्द्रस्य तु न, तस्याकल्पस्थायित्वेन तदीयक्रियाविशेषस्य वर्तमानकालावच्छिन्नतया भूतकालानवच्छिन्नत्वात् एवञ्चानुगामिसाधारणधर्मतयोपात्तः शोभनात्मकः क्रियाविशेषोऽनुपपद्यमानकालविशिष्टतया दोषावह इति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में 'रराज' इस पद से भूतकालिक क्रिया कही जाती है, अतः उसके साथ जिस तरह उपमेय 'राजहंस' का अन्वय सङ्गठित होता है, उस तरह उपमान—चन्द्र का नहीं, क्योंकि चन्द्र, कल्पान्तपर्यन्त स्थायी पदार्थ है, अतः उसकी क्रिया वर्तमानकालिक होगी भूतकालिक नहीं। तात्पर्य यह कि राजहंस के विषय में 'शोभित होता था' ऐसा कहना ठीक हो सकता है, पर चन्द्र के विषय में नहीं, उसके विषय में तो यह कहना ठीक हो सकता है कि 'शोभित होता है'। ऐसी स्थिति में यहाँ का 'रराजपद'बोध्य क्रियाविशेषरूप अनुगामी साधारणधर्म भूतकालरूप उपपन्न न हो सकनेवाली वस्तु से युक्त है।

अनुगामिनः क्रियारूपस्य साधारणधर्मस्यानुपपद्यमानकालघटितत्वेन पुनरुदाहरति—

'रणाङ्गणे रावणवैरिणो विभोः शराः समन्ताद् चलिता विरेजिरे।
निदाघमध्यं दिनवर्तिनोऽम्बरे सहस्रभानोः प्रखराः करा इव ॥'

कविः कथयति—रावणवैरिणो रावणशत्रोः, विभोः व्यापकस्य रामचन्द्रस्य, रणाङ्गणे युद्धभूमिरूपे आङ्गणे, (अनेन रूपकेण प्रभोः समरभूमौ निर्भयभ्रमणमावेद्यते) समन्तात् चतुर्दिक्षु, चलिताः प्रसृताः, शराः बाणाः, अम्बरे आकाशे, प्रसृताः, निदाघमध्यंदिनवर्तिनः ग्रीष्मर्तुमध्याह्नकालिकस्य, सहस्रभानोः सहस्रकिरणस्य सूर्यस्य, प्रखराः सुतीक्ष्णाः, कराः किरणाः, इव, विरेजिरे शुशुभिरे इत्यर्थः। अत्रापि पूर्ववत् भूतकालावच्छिन्नस्य विराजनक्रियारूपसाधारणधर्मस्य उपमेयान्वितत्वमिव नोपमानान्वितत्वम्, तदीयविराजनस्य वर्तमानत्वादिति भावः।

पुनः अनुगामी धर्म में काल की अनुपपत्ति का ही दूसरा उदाहरण दिया जाता है—रणाङ्गणे इत्यादि। कवि का कथन है—रावण के वैरी विभु-व्यापक-रामचन्द्रजी के, रणभूमि में चारों तरफ फैले हुए, बाण, आकाश में फैले हुए ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न-कालिक सूर्य की तीक्ष्ण किरणों के समान, सुशोभित हुए। यहाँ भी 'विरेजिरे' यह भूतकालिक क्रियारूप समानधर्म, उपमेय-बाण-अंश में सङ्गटित होने पर भी, उपमान—सूर्यकिरण—अंश में सङ्गटित नहीं हो सकता क्योंकि सूर्यकिरणों की क्रिया (शोभित होना) वर्तमानकालिक है।

पुनस्तदेवोदाहर्तुमाह—

यथा वा—

स्पष्टम्।

अथवा जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'आगतः पतिरितीरितं जनैः शृण्वती चकितमेत्य देहलीम्।
कौमुदीव शिशिरीकरिष्यते लोचने मम कदा मृगेक्षणा ॥'

प्रवासगतो नायकश्चिन्तयति—'(तव) पतिः रक्षकः प्रियः, आगतः समायातः' इति जनैः स्वजनैः, ईरितम् कथितं, वचः इति शेषः शृण्वती आकर्णयन्ती, चकितम् चकितेक्षणं यथा स्यात्तथा (चकितमित्यस्य चकितेक्षणमित्यर्थकरणमग्रिमग्रन्थस्वारस्यात् समुचितत्वाच्चेति बोध्यम्) देहलीम् गृहद्वारम्, एत्य आगत्य, (सा) मृगेक्षणा हरिणलोचना, कौमुदी चान्द्रमसी ज्योत्स्ना, इव, मम, लोचने नयने, कदा कस्मिन् क्षणे, शिशिरीकरिष्यते शीतलयिष्यति इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—आगतः इत्यादि। प्रवासी नायक अपने मन में सोचता है—'(तेरे) पति आ गए' इस सखीजनोक्त वचन को सुनती हुई, चकित-विलोकन-पूर्वक देहली पर आकर (वह) मृगनयना प्रेयसी, मेरी आँखों को, चन्द्र-ज्योत्स्ना की तरह कब शीतल करेगी।

उपपादयति—

अत्र शृण्वतीति शत्रा प्रत्यायितेन श्रवणसमकालमेव प्रियाया देहल्यागमनमित्यर्थेनातिशयोक्त्यात्मना गमितस्त्वरातिशयस्तद्गतमौत्सुक्यातिशयं पुष्णाति। कौमुद्युपमा तु तत्परिपोषितं प्रधानीभूतं प्रियगतमौत्सुक्यम्। चकितमित्यागमनविशेषणमपि वस्तुतो निरीक्षणविशेषणीभवत्तस्यैवानुकूलम्। इति स्थिते भविष्यत्कालावच्छिन्नशिशिरीकरणस्य साधारणधर्मस्योपमेयान्वितत्वमिव नोपमानान्वितत्वम्।

अत्र इत्यादि। शत्रेति। 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' इति वर्तमानकालविहितेनेति भावः। प्रत्यायितेन अभिव्यञ्जितेन। इत्यर्थेनेति। अन्यथा 'श्रुत्वा' इत्युक्तिर्भवेदिति भावः। अतिशयोक्तीति। श्रवणस्यागमनकारणतया पूर्वकालिकत्वप्राप्त्येऽपि समकालीनत्वप्रतीत्या 'कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्तिः' इति भावः। गमितः व्यञ्जितः। तद्गतम् नायिकागतम्। कौमुद्युपमा तु इति। तुना पूर्वव्यवच्छेदः। उपमेयं नायिकागतमौत्सुक्यं न पुष्णातीति तात्पर्यम्। तत्परिपोषितमिति। नायिकागतौत्सुक्यातिशयपोषितमित्यर्थः। औत्सुक्यमिति। पुष्णातीत्यस्यानुषङ्गः। तथा च प्रियगतौत्सुक्यस्य नायिकागतौत्सुक्यातिशयः कौमुद्युपमा चेति द्वयं पोषकमिति भावः। ननु कथं कौमुद्युप-

माया नायकगतौत्सुक्यमात्रपोषकत्वम् ? 'कौमुदीव चकितमेत्य' इत्यन्वये तस्या नायिकागतौत्सुक्यपोषकत्वस्यापि सम्भवात् , तथात्वे च भविष्यत्कालिक्या एव कौमुद्या उपमानत्वप्रतीत्या वक्ष्यमाणदोषानवकाश इत्यत आह—चकितमित्यागमनेति । आगमनविशेषणमपीति । श्रुत्याऽऽपाततः तद्विशेषणत्वेन ज्ञायमानमिति भावः । वस्तुतो विचार्यमाणमिति । इतस्ततो विक्षेपरूपो नेत्रधर्मश्चकितत्वम् , किञ्च प्रियतमागमनश्रवणकालिकनायिकाकर्तृकदेहल्यागमने चकितनयनपूर्वकत्वविशेषणमेव सहृदयहृदयसंवादि, इत्यादयोऽत्र वस्तुतो विचारा विज्ञेयाः । ईक्षणविशेषणीभवदिति । ईक्षणं नयनं तस्य विशेषणभावं भजमानमित्यर्थः। चकितमित्यस्य लक्षणया चकितेक्षणमित्यर्थः करणीय इति भावः । नयनधर्मस्य चकितत्वस्यागमने बाधितत्वाल्लक्षणाऽत्र नाहेतुकीत्यपि बोध्यम् । अत्र 'मृगेक्षणाघटितस्येक्षणस्य विशेषणम् , अर्थात् मृगवत् चकितमीक्षणं यस्या इत्यर्थः' इति सरलाकारो टिप्पणीमकरोत् । तत्र 'मृगेक्षणाघटकस्येक्षणस्य' इति वक्तव्ये 'घटित'पदं तैरुक्तम् । किञ्च मृगेक्षणाघटकेक्षणे चकितत्वस्यान्वयो न कथमपि सम्भवतीति पण्डितराजीयाभिप्रायविषयत्वं तस्योपवर्णयन् स शोच्य एव । तस्यैवेति । 'कौमुद्युपमा प्रियगतमेवौत्सुक्यं पुष्णाति न प्रेयसीगतम्' इत्यर्थस्यैवेत्यर्थः । उक्तरीत्या चकितमित्यस्य चकितेक्षणमित्यर्थे निश्चिते नयनविहीनायाः कौमुद्या आगमनान्वयासंभवेन न तदुपमायाः प्रियागतौत्सुक्य-पोषकता-सम्भवो न वा भविष्यत्कालिक्याः कौमुद्या उपमानत्वप्रतीतिरिति भावः । इति स्थिते इति । अस्यां स्थितौ 'भविष्यत्कालिक्यैव कौमुदी उपमानमत्र' इत्यर्थस्य वक्तुमशक्यतया वक्ष्यमाणदोषावकाशसूचनाय स्थितिवर्णनमिदमिति भावः । तस्यैवेत्यस्य 'ईक्षणस्यैव' इति व्याख्या नागेशकृता तु नैव शोभना, तथात्वे तदुक्तेरकिञ्चित्करतापत्तेः, न च पण्डितराजमुखादकिञ्चित्करोक्तिः कथमपि सम्भवतीति मे मतिः । उपमेयान्वितत्वमिव नोपमानान्वितत्वमिति । उपमेया नायिका, भविष्यत्काले एव लोचने शिशिरीकरिष्यतीति भविष्यत्कालावच्छिन्नशिशिरीकरणक्रियारूपस्य समानधर्मस्य तत्रान्वय उपपद्यते, उपमानभूता कौमुदी तु सर्वदैव शिशिरीकरोति नयने न तु भविष्यत्काल एव तथा करिष्यतीति न तत्र तादृशस्य तस्य धर्मस्यान्वय उपपद्यते इत्यर्थः । शरच्चन्द्रमरीचिमये निशीथसमये प्रवासी समाशंसते यथाऽधुनेयं चन्द्रिका नयने मे शीतलयति तथा प्राणवल्लभा मम लोचने कदा शीतलीकरिष्यतीति वस्तुस्थितौ न भविष्यत्कालवर्तिन्याः कौमुद्या उपमानत्वमपि तु वर्तमानकालवर्तिन्या एवेति परमार्थः । अत्र "एषु सर्वेषु भूतभविष्यत्तत्पदार्थानामेवोपमानीकरणेनान्वयस्य सम्भवोऽस्त्येवेति चिन्त्यान्येतान्युदाहरणानि । 'त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात् समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव' इत्यादि तूदाहर्तुमुचितम्" इति नागेशः । निशाकर-सूर्यकरकौमुद्यादयः सर्वकालस्थायिनः तथा च यथायथं भूतभविष्यत्कालिकानां तेषामुपमानत्वेन विवक्षणे उक्तदोषाः न सम्भवन्ति तेषु पद्येषु त्यक्ष्यामीति पद्ये तु पृथिव्याः पूर्णं त्यक्तत्वात् भविष्यत्कालान्वयो दुर्घटस्तत्र इति तदेव पद्यमनुपपद्यमानकालघटितसाधारणधर्मस्योदाहरणं भवितुमर्हतीति तदाशयः । वस्तुतस्तु अन्यत्र तथा सम्भवेऽपि 'आगतः—' इति श्लोके तथा न सम्भवतीति आशुपागेव । तथा च तस्य श्लोकस्य प्रकृतदोषोदाहरणता समञ्जसैवेति दिक् ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'आगतः—' इस पद्य में 'शृण्वती (सुनती हुई)' इस पद के 'शतृप्रत्यय (ती हुई इस अंश)' से (क्योंकि इस प्रत्यय से वर्तमानकालिक असमाप्त क्रिया का बोध होता है) श्रवणकाल में ही प्रिया का देहली पर आना यह अर्थ अभिव्यक्त होता है जो अतिशयोक्ति अलङ्काररूप सिद्ध होता है—अर्थात् श्रवण

कारण है और देहली पर आना उसका कार्य, अतः इन दोनों का पूर्वपश्चाद्भाव अवश्य-म्भावी है, पर उक्त रीति से उन दोनों का एक काल में होना जो प्रतीत होता है–वह 'कारणकार्य का पौर्वापर्यविपर्ययरूप अतिशयोक्ति' है, इस अतिशयोक्तिरूप अर्थ से नायिका का त्वरातिशय (अत्यन्त जल्दबाजी) व्यक्त होता है और यह त्वरातिशय, नायिका की उत्कट उत्सुकता को पुष्ट करता है। कौमुदी की उपमा तो नायिका की उत्कट उत्सुकता से पोषित नायक की उत्सुकता को पुष्ट करती है। तात्पर्य यह कि नायक की उत्सुकता के पोषक यहाँ दो पदार्थ होते हैं–एक नायिका की उत्कट उत्सुकता और दूसरी कौमुदी की उपमा। सारांश यह कि कौमुदी की उपमा नायिका की उत्सु-कता का पोषण नहीं करती। आप पूछेंगे कि–ऐसा क्यों? क्योंकि यदि 'कौमुदी इव चकितमेत्य (कौमुदी के समान चकित आकर)' इस तरह अन्वय किया जाय, तब कौमुदी की उपमा से नायिकागत औत्सुक्य का भी पोषण हो सकता है और इस रीति का आश्रय करने पर भी भविष्यकालिक कौमुदी (चन्द्रज्योत्स्ना) का ही उपमान होना सिद्ध होगा, फिर तो आगे जो भविष्यत्काल की अनुपपत्तिरूप दोष दिखलाना है उसका अवसर ही नहीं रहेगा, तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि प्रकृत पद्य में शब्दतः 'चकित' यह, आगमनक्रिया का विशेषण ज्ञात होता है, तथापि वास्तविक विचार करने पर वह (चकित) ईक्षण (नेत्र) का ही विशेषण हो जाता है, तात्पर्य यह कि–चकितत्व वस्तुतः इधर-उधर सञ्चालनरूप नेत्र का ही धर्म है–'चकितमेत्य (चकित आकर)' इसका भी मतलब यही होता है कि 'इधर-उधर ताकती हुई आकर' ऐसी स्थिति में 'चकित' पद का अर्थ लक्षणा द्वारा 'चकितेक्षण (चकित हैं आँखें जिस क्रिया में)' ही करना पड़ेगा और जब ऐसा अर्थ, उक्त पद का, करना पड़ेगा, तब आपने जो 'कौमुदी इव चकितमेत्य' ऐसा अन्वय किया है, वह नहीं बन सकता, क्योंकि कौमुदी को आँखें नहीं होतीं, अतः नेत्रघटित अर्थ वाले चकित पद के साथ उसकी सङ्गति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि उक्त रीति से चकित पदार्थ के नेत्र विशेषण हो जाने पर 'चकित' यह उक्ति भी, कौमुदी की उपमा का नायकगत-औत्सुक्य-पोषक होनेवाली बात के ही अनुकूल होती है। इस स्थिति में अर्थात् 'भविष्यत्कालिक कौमुदी उपमान नहीं है' इसका निश्चय हो जाने पर, भविष्यत्कालिक शिशिरीकरणक्रियारूप साधारणधर्म का अन्वय, जिस तरह, उपमेय नायिका के साथ सुसङ्गत होता है उस तरह उपमान–कौमुदी के साथ नहीं। अभिप्राय यह कि–कौमुदी तो नयन को शीतल कर रही है न कि करेगी अतः भविष्यत्कालिक क्रिया का अन्वय कौमुदी के साथ नहीं हो सकता यह उपमा का दोष यहाँ है। नागेश का यहाँ कथन है कि–"कालानुपपत्तिरूप उपमा-दोष के जो 'दराज—' 'रणाङ्गणे—' और 'आगतः—' ये तीन उदाहरण दिये गये हैं वे ठीक नहीं हैं, क्योंकि चन्द्र, सूर्यकिरण और चन्द्रज्योत्स्ना ये ऐसे पदार्थ हैं जो सदा रहते हैं, ऐसी दशा में उपमेयान्वित अनुगामी धर्मों में जहाँ जो काल सङ्गत होगा उस काल से युक्त तत्क्रिया को ही उपमानान्वयी धर्म माना जायगा अर्थात् 'दराज—' में भूतकालिक निशाकर, 'रणाङ्गणे—' में भूतकालिक सूर्यकिरण और 'आगतः—' में भवि-ष्यत्कालिक कौमुदी को ही उपमान स्वीकार कर लिया जायगा, अतः इन उदाहरणों में उक्त दोष नहीं हो सकते। अतएव कालानुपपत्ति का उदाहरण 'त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव अर्थात् पिता की आज्ञा से पृथ्वी की तरह जनकसुता–सीता का परित्याग करूँगा' इस रामचन्द्रोक्त पद्य को मानना चाहिए।" इसमें सन्देह नहीं कि नागेशोक्त उदाहरण सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि रामचन्द्र पृथ्वी का त्याग बहुत पहले कर चुके हैं और सीता का त्याग भविष्य में करेंगे, ऐसी स्थिति में 'त्यक्ष्यामि' पद से अवगत होनेवाली भविष्यत्कालिक त्यागक्रिया का अन्वय उपमान पृथ्वी के साथ नहीं बैठता। साथ ही यह भी निस्सन्देह बात है कि–उक्त उदाहरणों में दोषोद्धार की

बात जो उन्होंने कही है वह आदि के दो उदाहरणों के लिये ठीक है—वहाँ भूतकालिक चन्द्र और सूर्यकिरणों को उपमान माना जा सकता है, पर तृतीय उदाहरण—'आगतः—' के लिये वह उत्तर समीचीन नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ भविष्यत्कालिक कौमुदी को उपमान नहीं माना जा सकता यह बात मैं पहले युक्तिपूर्वक कह चुका हूँ।

अनुपपद्यमानपुरुषार्थकत्वमुदाहरति—

'एतावति महीपालमण्डलेऽवनिमण्डन।
तारकापरिषन्मध्ये राजन्राजेव राजसे॥'

कविः कमपि राजानं स्तौति—हे अवनिमण्डन धरालङ्कार! राजन्, एतावति हस्तनिर्देशोऽयम्, महति इत्यर्थः, महीपालमण्डले नृपसमूहे, तारकापरिषन्मध्ये नक्षत्र-सभायाम्, राजा चन्द्रः, इव, राजसे शोभसे, त्वमिति शेषः।

पुरुष की अनुपपत्ति का उदाहरण दिखलाते हैं—एतावति इत्यादि। कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे पृथ्वीभूषण राजन्! तुम इतने बड़े राजाओं के समूह में उसी तरह शोभित होते हो जिस तरह तारों की सभा में चन्द्र शोभित होता है।

उपपादयति—

अत्र क्रियायां सम्बोध्योपमेयान्वय इव नोपमानान्वयः।

'एतावति—' इति पद्योक्तमध्यमपुरुषविशिष्टराजनक्रियायां, सम्बोध्यस्य युष्मदर्थभूतस्योपमेयस्यान्वये सिद्ध्यत्यपि उपमानस्य चन्द्रस्य युष्मदर्थरूपत्वविरहात् न तत्रान्वयः सिद्ध्यतीति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'एतावति—' इस पद्य में जो 'राजसे' यह क्रिया-पद है उसके अर्थ में संबोधित किए जाने वाले उपमेय-राजा-का अन्वय हो सकता है, क्योंकि संबोधन के बाद 'त्वम् (तू)'-कर्ता का ही आक्षेप होता है, अतः उसके लिये मध्यमपुरुष की उक्त क्रिया उपयुक्त है, पर उपमान चन्द्र का अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि उसके लिये अन्यपुरुष की क्रिया (राजते) ही उपयुक्त हो सकती थी, अतः यहाँ पुरुषानुपपत्तिरूप उपमा का दोष लग जाता है।

विध्यादीत्यादिपदग्राह्यप्रार्थनानुपपत्तिमुदाहरति—

'राजेव सम्भृतं कोषं केदारमिव कर्षकः।
भवन्तं त्रायतां नित्यं भयेभ्यो भगवान् भवः॥'

कविराशीर्वचनमाह—राजा नृपतिः, सम्भृतम् परिपूर्णम्, कोषमाकरम्, इव, कर्षकः कृषिकारः, केदारम् क्षेत्रम्, इव, भगवान् अणिमाद्यैश्वर्यशाली, भवः शिवः, भवन्तम्, भयेभ्यो, नित्यम् सदा, त्रायताम् रक्षत्वित्यर्थः।

'विध्यादि' इस पद के 'आदि' पद से संग्रहणीय प्रार्थना की अनुपपत्ति का उदाहरण दिखलाते हैं—राजेव इत्यादि। कवि आशीर्वाद दे रहा है—राजा जिस तरह खजाने की और किसान जिस तरह खेत की रक्षा करता है, उस तरह भगवान् शिव, भयों से सदा तेरी रक्षा करें।

उपपादयति—

अत्र प्रार्थ्यमानत्राणकर्तृत्वमुपमेये भव इवोपमानयो राजकर्षकयोर्नास्ति, तयोस्त्राणकर्तृत्वस्य सिद्धत्वात्।

नास्तीति। प्रार्थ्यमानत्वरूपविशेषणाभावप्रयुक्तः विशिष्टस्य-प्रार्थ्यमानत्राणकर्तृत्वस्याभावो बोध्यः। तदेव स्फुटयति—तयोरिति। अयं भावः—'त्रायताम्' इत्यत्र लोडर्थः

प्रार्थना तथा च प्रार्थ्यमानत्राणकर्तृत्वम् तस्य तिङन्तपदस्यार्थः, स एवात्रोपमानयो राजकर्षकयोरुपमेयस्य भवस्य च साधारणधर्मतया विवक्षितः। परन्तु स साधारणो भवितुं नार्हति, प्रकृते भववृत्तित्राणकर्तृत्वस्यासिद्धतया प्रार्थ्यमानत्वसम्भवेऽपि राजकर्षकवृत्तित्राणकर्तृत्वयोः पूर्वसिद्धतया प्रार्थ्यमानत्वायोगात्, असिद्धस्यैव वस्तुतः प्रार्थनीयत्वात्। अतः एतादृशप्रार्थनाघटितक्रियारूपसाधारणधर्मकत्वमुपमाया दोष इति।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। अभिप्राय यह है कि—'लोट्' लकार का अर्थ प्रार्थना है, अतः 'राजेव—' इस पद्य के 'त्रायताम्' पद का अर्थ होता है 'प्रार्थनीय रक्षणक्रिया का कर्ता होना।' यही यहाँ साधारणधर्मरूप में विवक्षित है। परन्तु वह यहाँ साधारणधर्म हो नहीं सकता। कारण, प्रार्थना उस वस्तु की की जाती है जो असिद्ध—पहले से प्राप्त नहीं—हो, ऐसी स्थिति में उपमेय शिव में 'प्रार्थ्यमानत्राणकर्तृत्व' रह सकता है अर्थात् पहले से अप्राप्त 'आपके' त्राण की प्रार्थना 'शिव' से की जा सकती है, न कि उपमान—राजा और किसान—से अर्थात् 'खजाना और खेत' के त्राण की प्रार्थना 'राजा और किसान' से नहीं की जा सकती। कारण, उन दोनों के द्वारा उन दोनों वस्तुओं का त्राण करना पहले से ही सिद्ध है। तात्पर्य यह हुआ कि राजा अपने खजाने की और किसान—अपने खेत की रक्षा करते ही हैं—ये प्रार्थनीय वस्तुएँ नहीं हैं, अतः इस तरह के साधारणधर्मों का ग्रहण उपमा का दोष है।

दोषोद्धारप्रकारमुपदर्शयति—

यदि तु त्रायते इति प्रार्थनानिर्मुक्तं त्राणकर्तृत्वमुच्यते तदा धर्मस्य साधारणत्वान्न दोषः।

त्रायते इतीति। लडन्तमिति भावः। उक्तपद्ये 'त्रायताम्' इत्यस्य स्थाने 'त्रायते' इति पाठे कृते लोटोऽभावात् प्रार्थना नोपतिष्ठते, तथा च 'त्राणकर्तृत्वम्' तदर्थः, स चोक्तोपमानोपमेयोभयवृत्तित्वात्साधारणो धर्मो भवतीति दोषानवकाश इति भावः।

दोषोद्धार की रीति दिखलाते हैं—यदि तु इत्यादि। उक्त पद्य में 'त्रायतां (रक्षा करें)' के स्थान पर यदि 'त्रायते (रक्षा करते हैं)' ऐसा पाठ माना जाय, तब 'लोट् लकार' के स्थान पर 'लट् लकार' के आ जाने से प्रार्थनारहित 'त्राणकर्तृत्व (शुद्ध रक्षणक्रिया का कर्ता होना)' ही धर्मरूप में उक्त होगा जो उपमान और उपमेय दोनों में रहने के कारण साधारण है, अतः उस पाठ में कोई दोष नहीं।

लडन्तपाठेऽपि धर्मस्य साधारण्यहानिमाशङ्क्य समाधत्ते—

अथ त्रायत इति प्रार्थ्यमानतानिर्मुक्तेऽपि त्राणकर्तृत्वेन साधारणत्वम्। प्रार्थ्यमानताया इव विधेयतानुवाद्यत्वयोर्भेदकत्वादिति चेत्। सत्यम्। इह हि धर्मलोपरहितायामुपमायां धर्मवाचकशब्दप्रतिपाद्यैः प्रार्थनाभूतभविष्यद्वर्तमानत्वादिभिर्विशेषणैर्विशिष्टधर्मस्योपमानोपमेयसाधारण्याभावे प्रयोजकाभावादोपमानिष्पत्तिरिति निर्विवादम्। तत्र विधेयत्वानुवाद्यत्वाभ्यां शब्देनानिवेदिताभ्याम् विषयताभ्यां विशिष्टस्य धर्मस्य यदि नास्ति साधारण्यम् मास्तु नाम। न ह्युदासीनैर्विशेषणैर्विशिष्टस्य धर्मस्य साधारण्यमपेक्षितम्। अपि तु धर्मवाचकशब्दनिवेदितैः। एवं चन्द्रवत्सुन्दरं मुखमित्यत्रापि सुन्दरत्वस्योपमानेऽनुवाद्यत्वे उपमेये च विधेयत्वेऽपि न साधारण्यहानिः।

प्रार्थ्यमानताया इवेति। प्रार्थ्यमानतातदभावयोरिवेति भावः। विधेयतानुवाद्यत्वयोरिति। उपमाननिष्ठे त्राणकर्तृत्वेऽनुवाद्यत्वमुपमेयनिष्ठे तत्र विधेयत्वमिति भावः। तथा-

थति—इह हि इति । साधारण्याभावे इति । सतीति शेषः । प्रयोजकेति । सादृश्यप्रयोजक-साधारणधर्माभावादित्यर्थः । तत्रेति । प्रकृतोपमायामित्यर्थः । उदासीनैः शब्दाप्रतिपाद्यैः । प्रसिद्धोदाहरणेऽप्येवमेवेत्याह—एवमिति । भेदसाधकं यद्यद्वस्तु, तत्तद्धर्मस्य साधारण्य-विघटकम् , तथा च त्रायतामिति लोडन्तपाठपक्षे यथा प्रार्थ्यमानत्वतदभावौ, उपमेयोप-माननिष्ठयोस्त्राणकर्तृत्वयोर्भेदकौ भूत्वा, साधारण्यविघटकौ समभूताम् तथा लडन्तपाठ-पक्षेऽपि विधेयत्वानुवाद्यत्वे तयोर्भेदके सति साधारण्यं विघटयेताम् अर्थात् उपमेयशिवनिष्ठं त्राणकर्तृत्वं विधेयम् उपमानराजकर्षकगतं च तदनुवाद्यम् इति कथम् त्राणकर्तृत्वस्य साधारणधर्मतेति शङ्का, धर्मलुप्तातिरिक्तोपमास्थले धर्मवाचकशब्दप्रतिपाद्यविशेषणविशिष्ट-धर्मस्य साधारण्यविरहे नोपमा, उपमात्वेन परिणंस्यमानस्य सादृश्यस्य प्रयोजकानुपलब्धे-रिति सर्ववादिसिद्धान्तः, तथा च यत्र धर्मवाचकैः शब्दैः प्रार्थ्यमानत्वभूतत्वभविष्यत्त्व-वर्तमानत्वादिविशिष्टाः क्रियारूपा धर्मा बोध्यन्ते, तत्र यदि विशिष्टास्ते धर्मा उपमानो-पमेयसाधारणा न भवन्ति, तर्हि तत्र ते उपमाया अनिष्पादका अत एव दोषभूताः । यथा प्रकृतोदाहरणे लोडन्तपाठपक्षे 'त्रायताम्' इति धर्मवाचकेन शब्देन प्रार्थ्यमानत्व-विशिष्टं त्राणकर्तृत्वं बोध्यते, तच्च पूर्वोक्तरीत्या न साधारणमिति दोषावहम् । लडन्तपाठ-पक्षे तु त्राणकर्तृत्वमेव केवलम् 'त्रायते' इति धर्मवाचकेन पदेन बोध्यते न तु विधेयत्वेन अनुवाद्यत्वेन वा विशिष्टं तत् , अतः विधेयत्वानुवाद्यत्वाभ्यां विशिष्टयोः त्राणकर्तृत्वयो-रसाधारण्येऽपि न क्षतिः, शब्दानुपस्थाप्यविशेषणविशिष्टधर्मगतसाधारण्यस्यानपेक्षितत्वात् । अतः शुद्धं शब्दबोध्यं त्राणकर्तृत्वरूपं साधारणधर्ममादाय तत्र पाठे सिध्यत्येवोपमा । विधेयत्वानुवाद्यत्वे न साधारण्यविघटके धर्मवाचकपदानुपस्थाप्यत्वादिति सारांशः, अत एव चन्द्रवत्सुन्दरं मुखमित्यादिप्रसिद्धोपमोदाहरणेषु सुन्दरत्वस्य उपमानांशेऽनुवाद्यत्वे विधेयांशे विधेयत्वे च न साधारण्यहानिरिति च समाधानमिति भावः ।

त्रायते इस परिवर्तित पाठपक्ष में एक शङ्का और उसका समाधान करते हैं—अथ इत्यादि । आप कहेंगे—त्रायते इस पाठ के द्वारा जिस प्रार्थ्यमानतारहित—शुद्ध—त्राण-कर्तृत्व को आप साधारणधर्म बनाना चाहते हैं, वह भी साधारण नहीं हो सकता, क्योंकि जिस तरह 'त्रायताम्' इस पाठपक्ष में प्रार्थना और उसका अभाव, उपमेय तथा उपमानवृत्ति 'त्राणकर्तृत्व' को भिन्न बनाकर साधारण नहीं होने देते उसी तरह 'विधेयता' और 'अनुवाद्यता' परिवर्तित पाठपक्ष में भी उसको भिन्न बनाकर साधारण नहीं होने देगी अर्थात् जिस तरह प्रथम पाठ में उपमेय—भगवत्त्राणकर्तृत्व, प्रार्थनीय है और उपमान—राजा तथा कर्षकगत त्राणकर्तृत्व सिद्ध है प्रार्थनीय नहीं अतः वे दोनों कर्तृत्व एक नहीं होने पाते उसी तरह द्वितीय पाठ में उपमेय-गत उक्तधर्म असिद्ध होने के कारण विधेय है और उपमानगत उक्तधर्म सिद्ध होने के कारण अनुवाद्य है अतः वे दोनों एक (साधारण) नहीं हो सकेंगे, फलतः पाठपरिवर्तन करने पर भी दोष ज्यों का त्यों बना ही रहा । हम कहते हैं—यह बात आप की सत्य है । परन्तु समझने योग्य बात यह है कि—जिस उपमा में समानधर्म लुप्त नहीं रहता—अर्थात् धर्मवाचक शब्द उपस्थित रहता है—वहाँ धात्वर्थ, जिस तरह, उस धर्मवाचक पद से प्रतिपादित होता है उसी तरह धात्वर्थ के विशेषण—प्रार्थना, भूतकालिकत्व, भविष्यत्कालीनता और वर्तमान-कालवृत्तित्व आदि भी उस पद से प्रतिपादित होते हैं । ऐसी स्थिति में यदि उन विशेषणों से युक्त उक्त धात्वर्थ—क्रिया—रूप धर्म की उपमान तथा उपमेय में साधारणता नहीं होगी—अर्थात् उन विशेषणों से विशिष्ट होकर यदि वह धर्म उपमान और उपमेय दोनों में नहीं रहेगा—तब वह धर्म उपमा का साधक नहीं हो सकेगा क्योंकि धर्मवाचक शब्द

का समग्र प्रतिपाद्य अर्थ ही साधारण होकर उपमा का साधक होता है, उसका एक अंश नहीं, यह एक निर्विवाद बात है। अतः 'त्रायताम्' पाठ रखने पर लकारार्थप्रार्थना-विशिष्ट त्राणकर्तृत्व ही यदि उपमानोपमेय दोनों में रहता तो साधारण होता, पर वैसा है नहीं—अर्थात् एक अंश में प्रार्थना की कमी उसको साधारण नहीं होने देती—अतः उस पाठ में दोष होता है। पर 'त्रायते' पाठ कर देने पर ऐसी स्थिति नहीं होती, क्योंकि 'विधेयता' और 'अनुवाद्यता' केवल विषयतारूप हैं, उनका धर्मवाचक शब्द से प्रतिपादन नहीं होता, वे शब्दार्थ न होकर भी ऊपर से समझे जाते हैं। अतः यदि उन विषयताओं से सहित धर्म की साधारणता नहीं होती तो न होवे। उपमा की सिद्धि के लिये शब्द द्वारा प्रतिपादित नहीं होनेवाले विशेषणों से युक्त धर्म की साधारणता अपेक्षित भी नहीं है। अपेक्षित है धर्मवाचक पद के द्वारा प्रतिपादित होनेवाले विशेषणों से युक्त धर्म की साधारणता, वह यहाँ है ही—अर्थात् 'त्रायते' पद से प्रतिपादित होनेवाला वर्तमानकालिक त्राणकर्तृत्व साधारण है ही अतः इस पक्ष में कोई दोष नहीं। सारांश यह हुआ कि जो वस्तु साधारणधर्मवाचक पद से बोधित होती है, उसी की कमी वैसे ही उस धर्म को साधारण होने से रोक सकती है, जैसे प्रार्थना 'त्रायतां' पद से बोधित होती है, अतः उपमान अंश में उसकी कमी त्राणकर्तृत्व को साधारण नहीं बनने देती। अनुवाद्यता, विधेयता आदि तो साधारणधर्मवाचक पद से अवगत होनेवाली वस्तु नहीं हैं, अतः उसकी कमी वैसे 'त्राणकर्तृत्व' को साधारण होने से नहीं रोक सकेगी। अतएव 'चन्द्र के समान सुन्दर मुख' इत्यादि प्रसिद्ध उदाहरणों में 'सुन्दरता' के उपमान अंश में अनुवाद्य और उपमेय अंश में विधेय होने पर भी साधारण होने में कोई बाधा नहीं होती।

आशङ्क्य समाधत्ते—

ननु—

'नीलाञ्चलेन संवृतमाननमाभाति हरिणनयनायाः ।
प्रतिबिम्बित इव यमुनागभीरनीरान्तरेणाङ्कः ॥'

इत्यत्रोपमाने चन्द्रे योगमर्यादया भासमान एणरूपोऽङ्क आननरूपोपमेय-विशेषणस्य बिम्बाभावात्कस्य प्रतिबिम्बः स्यात्। अत आधिक्यापादकतया दोषः। न च हरिणनयनसदृशस्य नयनस्योपादानात्तस्यैव बिम्बस्य प्रतिबिम्बः स्यादिति वाच्यम्। तादृशनयनस्य बहुव्रीह्यर्थकान्ताविशेषणतया आननाविशेषणत्वेन बिम्बत्वाभावादिति चेत्, नैवम्। शब्देनाननविशेषणत्वेन तादृशनयनस्याप्रति-पादनेऽपि कान्ताविशेषणत्वेनैवाननवृत्तित्वस्यापि प्रतिपत्तेः। न ह्याननमविषयी-कृत्य कान्तां विशेष्टुमीष्टे नयनम्, अनुभवविरोधात्।

नीलाञ्चलेनेति। नीलाञ्चलेन नीलशाटीप्रान्तभागेन, संवृतम् आच्छादितम्, हरिण-नयनायाः हरिणस्य नयने इव नयने यस्यास्तस्या मृगाक्ष्या इति यावत्, आननम् मुखम् यमुनायाः कालिन्द्याः गभीरस्य गम्भीरस्य पातालतलचुम्बिन इति यावत् नीरस्य जलस्य अन्तः अन्तःप्रदेशे, प्रतिबिम्बितः प्रतिच्छायीभूतः, एणाङ्कः चन्द्रः, इव, आभाति प्रतीयत इत्यर्थः। योगेति। बहुव्रीहीत्यर्थः। स्येति अङ्कस्येत्यर्थः। तस्यैव बिम्बस्येति। तदा-त्मकस्य बिम्बस्येत्यर्थः। तादृशेति। हरिणनयनसदृशेत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। अविषयी-कृत्येति। प्रकारतासंसर्गतान्यतरयेत्यर्थः। ईष्टे इति। नयनस्याननमात्रसम्बन्धित्वा-दिति भावः। तदाह—अनुभवविरोधादिति। आननद्वारैव नयनं कान्ताविशेषणं भवती-त्यनुभवसिद्धमिति भावः। अत्र 'विषयतासम्बन्धेन आनने वर्तमानमेव नयनम्...' इति 'सरला' वक्रीकरोति निजवक्त्रम्। 'नीलाञ्चलेन—' इति पद्ये चन्द्र उपमानम्, तस्य

च निर्देश 'एणाङ्क'-पदेन, तच्च पदम्। एणस्य हरिणस्य, अङ्कः चिह्नम् यस्मिन्निति बहुव्रीहिसमाससामर्थ्येन चन्द्रं बोधयत् तद्गतमङ्कमपि बोधयति। एवञ्च तच्चिह्नविशिष्टश्चन्द्र उपमानरूपः पर्यवस्यति, अतो मुखरूपोपमेयांशेऽपि तत्समकक्षं किमपि बिम्बभूतं वस्तु समपेक्षितम्, अन्यथा साहश्यस्य पूर्णता न प्रतीयेत। परन्तु तादृशं किमपि वस्तु मुखरूपोपमेयविशेषणतयोपात्तं नास्तीति उपमानांशगतोऽङ्क अधिकतया दोषरूपतामासादयति। उपमेयवाक्यार्थघटकतया 'हरिणनयना' पदेनोपात्तम् हरिणनयनसमानं नयनमेव बिम्बभूतम् तत्प्रतिबिम्बभूतश्चोपमानगतोऽङ्क इति तु न वक्तुं योग्यम्। उपमेयमुखविशेषणीभूतस्यैव पदार्थस्योपमानचन्द्रविशेषणभावापन्नाङ्करूपप्रतिबिम्बबिम्बत्वं युक्तम्, हरिणनयनसमानं नयनं तु हरिणनयनापदबोध्यं, तत्पदीयबहुव्रीहिसमासार्थनायिकाविशेषणम्, अतो न तस्य बिम्बत्वमिति विचारासहत्वादित्याशङ्कायाः, तादृशो नयने यद्यपि शब्दतो न मुखविशेषणमपि तु नायिकाविशेषणमेव, तथापि नायिकाविशेषणस्य नयनस्य मुखवृत्तित्वेन ज्ञानमवश्यं भवति, मुखवर्तिनो नयनस्य मुखमद्वारीकृत्य नायिकाविशेषणत्वासम्भवात्, अनुभवोऽपि तथैव। तथा च मुखगतत्वेन ज्ञातं नयनं बिम्बं भवितुमर्हत्येव, अतो मुखविशेषणतया यथा कथञ्चिद् ज्ञानमेव तस्य बिम्बभावायालम् न तु शब्दतस्तद्विशेषणतयोपादनमित्युत्तरमिति भावः।

एक शङ्का और उसका समाधान किया जाता है—ननु इत्यादि। आप कहेंगे—'नीलाञ्चलेन—अर्थात् नीलवर्ण-साड़ी के अञ्चल से आच्छादित मृगाक्षी का मुख, यमुना के गम्भीर जल में प्रतिबिम्बित मृगाङ्क (चन्द्र) सा प्रतीत होता है' इस पद्य में उपमान चन्द्र का बोध जिस एणाङ्क पद से होता है उसी पद से योगशक्ति द्वारा उपमानभूत चन्द्र में एण—मृग-रूप चिह्न का भी बोध होता है, अतः उस चिह्न से युक्त चन्द्र ही उपमान सिद्ध होगा, परन्तु उपमेय—मुख—के विशेषणरूप में कोई ऐसी बिम्बभूत वस्तु नहीं कही गई है जिसका प्रतिबिम्ब उक्त मृगरूप चिह्न को माना जाय। ऐसी दशा में उपमान-अंश में वह चिह्नरूप विशेषण अधिक है यही कहा जायगा, अतः यह उपमा दुष्ट है। यदि इसका समाधान यह दिया जाय कि—उपमेय वाक्य में जो 'हरिणनयना' पद आया है उसका अर्थ होता है—'हरिण के नयन के समान नयनवाली' अतः यह कहा जा सकता है कि—उपमेय अंश में वह हरिण के नयन के समान नयन ही बिम्बरूप है जिसका प्रतिबिम्ब है उपमान-अंश में मृग-चिह्न, तो यह ठीक नहीं। कारण, वह हरिणनयनसमाननयन, बहुव्रीहि समास के वाच्य नायिका का विशेषण है, उपमेय-मुख का नहीं, अतः वह (नयन) उपमेयविशेषण नहीं होने के कारण बिम्बभूत नहीं माना जा सकता। इस तरह से उक्त आशङ्का पुनः स्थिर रह गयी, अतः उसका सिद्धान्तभूत समाधान यह है कि—यद्यपि उक्त नयन शब्दतः मुख के विशेषणरूप में प्रतिपादित नहीं होता तथापि वह (नयन) नायिका का विशेषण होने के कारण ही मुख में रहनेवाला समझा जा सकता है, क्योंकि नयन वस्तुतः मुख में ही रहने वाला पदार्थ है, अतः उसका मुख-विशेषण होना ही न्याय-प्राप्त था, पर यहाँ उसको शब्दतः नायिका का विशेषण बनाया गया है तो वह तभी ठीक हो सकता है, जब बीच में मुख को द्वार बनाया जाय अर्थात् नयन, मुख के द्वारा ही नायिका का विशेषण हो सकता है, अनुभव सिद्ध भी यही है। तात्पर्य यह हुआ कि—नयन, मुख—विशेषण के रूप में उक्त नहीं होने पर भी, मुखवृत्तित्वेन ज्ञात होकर मृगाङ्क का बिम्ब माना जा सकता है।

पुनरन्यथा शङ्कते—

तथापि समभिव्याहारविशेषमापन्नेन शब्देनाप्रतिपादनाच्छाब्दे बोधे नाननस्य नयनविशिष्टत्वेन विषयत्वमिति चेत्।

ननु नोक्तं समाधानं सङ्गतम्, उपायाभावेन नयनपदार्थे मुखवृत्तित्वज्ञानासम्भवात्, न च मुखवृत्तित्वज्ञानं विना तस्य कान्ताविशेषणत्वानुपपत्तिप्रतिसन्धानं तदुपायतया प्रोक्तमेवेति वाच्यम्, शब्दप्रमाणवेद्यस्यैव बिम्बत्वादिकं समुचितमिति तेनोपायेन मुखवृत्तितया ज्ञातस्यापि नयनस्य बिम्बत्वायोगात्, न च कुतो न नयनस्य मुखवृत्तित्वेन शब्दवेद्यतेति शंक्यम्, समभिव्याहारस्यापि अन्वयबुद्धिप्रयोजकत्वेनात्र पद्ये नयनाननपदयोः समभिव्याहारविरहे नयनविशिष्टत्वेनाननस्य शाब्दबोधविषयत्वासम्भवात्, हरिणनयनापदघटकं नयनपदं तु नाननसमभिव्याहृतमिति तदाशय इति चेन्मैवम्।

फिर दूसरे ढङ्ग से उक्त शङ्का को उज्जीवित करते हैं—तथापि इत्यादि। आप कहेंगे—यह सब होते हुए भी, उक्त पद्य में नयन तथा आनन पद समभिव्याहृत नहीं हैं—पास-पास उच्चरित नहीं हैं और अन्वयबोध में पदों का समभिव्याहार भी प्रयोजक है, अतः शाब्दबोध में वह (नयन) मुख का विशेषण नहीं हो सकता—अर्थात् यहाँ 'नयन वाला मुख' ऐसा शाब्दबोध नहीं बन सकता। 'हरिणनयना' में जो नयन पद है वह तो कान्ता-समभिव्याहृत है, अतः उससे शाब्दबोध में वह कान्ता का विशेषण होगा मुख का नहीं।

समाधत्ते—

संसर्गत्वे बाधकाभावात् स्वविशिष्टाननसंसर्गेण तादृशनयनस्य कान्ताविशेषणत्वात्। यथाकथञ्चिदुपमेयवृत्तिताज्ञानस्य बिम्बताप्रयोजकत्वात्।

उक्तरीत्या यद्यपि नयनपदार्थे मुखनिष्ठविशेष्यतानिरूपिता प्रकारताख्या, मुखनिष्ठप्रकारतानिरूपिता विशेष्यताख्या वा विषयताशाब्दबोधीया न भासेतेति सत्यम्, तथापि स्व-(नयन)-विशिष्टमुखवत्त्वमेव नयनपदार्थस्य नायिकाविशेषणीभावे सम्बन्ध इति शाब्दबोधीया संसर्गताख्या विषयता नयनविशिष्टे मुखे भासेतैव—अर्थात् प्रकारतया विशेष्यतया भाने शब्दजन्यपदार्थोपस्थितेरपेक्षणेऽपि संसर्गतया भाने न तदपेक्षा। तथा च सम्बन्धघटकतया नयनवैशिष्ट्यं मुखे शाब्दबोधविषयो जात इति नयनस्य मुखरूपोपमेयांशे बिम्बत्वं भवितुमर्हति, यथाकथञ्चिदुपमेयवृत्तित्वज्ञानस्य बिम्बताप्रयोजकत्वादित्याशयादिति भावः।

समाधान करते हैं—संसर्गत्वे इत्यादि। आपका उक्त कथन सङ्गत नहीं है, क्योंकि यह बात यद्यपि सत्य है कि यहाँ शाब्दबोध में मुख को विशेष्य बनाकर प्रकारतया नयन का भान नहीं होगा, कारण, मुखसमभिव्याहृत नयनपद से नयन की उपस्थिति नहीं हुई है, तथापि कान्तासमभिव्याहृत नयनपद से नयन की उपस्थिति तो हुई है अतः कान्ता को विशेष्य बनाकर नयन का प्रकारतया भान शाब्दबोध में होगा और कान्ता के प्रकाररूप से मुख के भासित होने में 'नयनविशिष्टमुख' ही सम्बन्ध होगा, इस तरह से 'नयनविशिष्टमुख' में शाब्दबोध की संसर्गतानामक विषयता अवश्य रहेगी, दूसरी कोई बाधा नहीं है—अर्थात् प्रकार अथवा विशेष्य होने के लिये ही शब्दजन्य उपस्थिति अपेक्षित होती है, सम्बन्ध होने के लिये नहीं। फलतः संसर्ग के रूप से 'नयनविशिष्टमुख' शाब्दबोध में आ गया, बस, इतने से ही काम बन जायगा—अर्थात् उपमेय मुख के विशेषणरूप में जब किसी तरह, नयन, शब्दतः ज्ञात हुआ तब वह (नयन) बिम्ब हो सकेगा, क्योंकि किसी तरह 'उपमेय में रहनेवाला यह है' इतना ज्ञान शब्दतः हो जाना ही बिम्ब होने के लिये पर्याप्त है।

बिम्बत्वसाधकस्य मुखवृत्तितया नयनविषयकशब्दप्रयोज्यज्ञानस्य प्रकारान्तरमाह—

यद्वा कान्ताविशेषणतया तादृशनयनयोः शाब्दे बोधे वृत्ते पश्चादाननस्य

तद्विशेष्यतया वैयञ्जनिके मानसे वा बोधे बाधकाभावात्। एवं च तादृशवाक्यप्रयोज्ये ज्ञाने उपमेयविशेषणतया भानस्य तादृशनयनस्य बिम्बस्य सत्त्वात्तदर्थं च चन्द्रगतस्यैणरूपस्याङ्कस्य प्रतिबिम्बतयोपादानमावश्यकमेवेति नाधिक्यं दोषः।

यद्वेति। अतिप्रसङ्गापत्त्या संसर्गतया भासमानस्य पदार्थस्य न शाब्दत्वमितीह पक्षान्तरोद्भावनबीजमवसेयम्। तादृशनयनयोरिति। हरणीयत्वनायकीयत्वविशिष्टनयनयोरित्यर्थः। तद्विशेष्येति। नयनविशेष्येत्यर्थः। तादृशवाक्येति। कान्ताविशेषणतया नयनबोधकवाक्येत्यर्थः। मानसबोधपक्षे तज्जन्यत्वाभावात् वैयञ्जनिकबोधपक्षेऽपि साक्षात्तज्जन्यत्वाभावादाह—प्रयोज्येति। ज्ञाने इति। वैयञ्जनिके मानसे वा इत्यर्थः। तदर्थम् तत्प्रतिबिम्बाकाङ्क्षाशान्त्यर्थम्। अयं भावः—यदि उक्तरीत्या नयननिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावतो मुखस्य संसर्गविधया भानेऽपि न शाब्दबोधविषयत्वम्, शब्दजन्योपस्थितिविषयस्यैव शाब्दबोधविषयत्वस्वीकारादिति विभाव्यते, तदा रीतिरियमास्थेया—'हरिणनेत्रसमाननेत्रवती कान्ता' इत्याकारकः कान्ताविशेषणतापन्ननयनविषयकः शाब्दः (आभिधिक इति यावत्) बोधः प्रथमं 'हरिणनयना' पदाज्जायते, ततः मुखविशेषणत्वानापन्ननयननिष्ठकान्ताविशेषणत्वानुपपत्तिप्रतिसन्धानोत्थितया व्यञ्जनया मनसा वा तत्सहकृतेन नयनप्रकारकमुखविशेष्यको बोधो बाधकविरहादुत्पद्यते। तथा च कान्ताविशेषणत्वेन मृगनयनसदृशनयनबोधकवाक्यप्रयोज्ये उक्ताकारके वैयञ्जनिके मानसे वा बोधे मुखरूपोपमेयविशेषणतया हरिणनयनसमानस्य नयनस्य भानं जातम् इति तन्नयनं बिम्बरूपं सम्पद्यते, अतः तत्प्रतिबिम्बाकाङ्क्षानिवृत्तये उपमानचन्द्रांशे मृगरूपस्य चिह्नस्य प्रतिबिम्बरूपेण ग्रहणमावश्यकमेवेति न प्रागुक्तः प्रतिबिम्बाधिक्यदोषः प्रकृतेऽवतरितुमीष्टे इति भावः।

यदि कहा जाय कि—उक्त उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि सम्बन्ध के अन्तर्गत विशेषणरूप से हरिण के नेत्र से सदृश नेत्र का और विशेष्यरूप से मुख का शाब्दबोध में भान होने पर भी वह शाब्दबोध का विषय नहीं माना जा सकता, कारण, वही पदार्थ शाब्दबोध का विषय माना जाता है जिसकी उपस्थिति शब्द से हुई रहती है, अतः दूसरा उत्तर करते हैं—यद्वा इत्यादि। अभिप्राय यह है कि—हरिणनयना शब्द की अभिधाशक्ति से पहले कान्ता के विशेषणरूप में हरिण की आँखों के समान आँखों का बोध होगा, उसके बाद, व्यञ्जनावृत्ति से अथवा मन से मुखरूप विशेष्य के विशेषणरूप में भी उक्त आँखों का बोध होगा, क्योंकि इस तरह के बोध में कोई बाधक नहीं है। और अब ऐसा बोध—जिसका साक्षात् नहीं तो कम से कम परम्परया अवश्य, 'हरिणनयना' पदयुक्त वाक्य ही कारण है, अतः जो एक तरह से शाब्द ही कहा जायगा—हो जुकेगा, तब वस्तुतः उपमेय—मुख के विशेषणरूप में ज्ञात होनेवाला हरिणनयनसदृश नयन बिम्ब कहलायगा और जब वह बिम्ब कहलायगा, तब उस बिम्ब की आकांक्षा के शान्त्यर्थ उपमान चन्द्र अंश में मृग—मृग—रूप अङ्क चिह्न का प्रतिबिम्बरूप में ग्रहण करना आवश्यक ही था, अतः उक्त प्रतिबिम्ब की अधिकतारूप दोष का कोई प्रसङ्ग नहीं रह जाता।

उक्तार्थे सम्भावितापरदोषाभावं समुपपादयति—

कविसमयसिद्धतया चमत्कारापकर्षकत्वाभावेन लिङ्गभेदोऽपि नात्र दोषः।

यद्यपि सामान्यतो लिङ्गभेदोऽप्युपमादोष इत्युक्तम्, तथापि यत्र यत्र लिङ्गभेदः कविसिद्धान्तप्रसिद्धस्तत्र तत्र स न दोषायेति 'नीलाचलेन—' इति प्रकृतपद्ये उपमानस्य

एणाङ्कस्य पुंलिङ्गत्वम्, उपमेयस्य आननस्य च नपुंसकलिङ्गत्वमिति लिङ्गभेदे सत्यपि दोषो न भवति, कविसमयसिद्धस्यैतादृशस्य लिङ्गभेदस्य चमत्कारापकर्षकत्वविरहादिति भावः।

प्रकृत पद्य में सम्भावित एक अन्य दोष का वस्तुतः अभाव बतलाते हैं—कवि इत्यादि। 'नीलाञ्चलेन—' इस श्लोक में उपमेयबोधक 'आनन' पद के नपुंसकलिङ्ग और उपमानबोधक 'एणाङ्क' पद के पुंल्लिङ्ग होने से 'लिङ्गभेद' दोष यद्यपि आपाततः प्रतीत होता है, पर वस्तुतः यह (लिङ्गभेद) यहाँ दोषरूप नहीं है, क्योंकि ऐसा लिङ्गभेद, कवि-सम्प्रदाय-सिद्ध होने के कारण, चमत्कार को न्यून नहीं करता।

एवमन्यत्राप्यपवादमाह—

एवं च कविसमयसिद्धतया प्रकारान्तरेण वा प्रागुक्तानां दोषाणां चमत्कारानपकर्षकत्वे नास्त्येव दोषत्वम्।

पूर्वत्र लिङ्गभेदस्य कविसमयसिद्धतया दोषाभावत्वकथनेनैतत् सिद्धं यत् ये उपमादोषाः प्रागुक्तास्ते सर्वेऽपि तदैव दोषा यदा चमत्कारापकर्षकाः स्युः कविसङ्केतसिद्धत्वेन अन्येन वा केनचित् कारणेन यदा ते चमत्कारापकर्षका न भवेयुस्तदा दोषा अपि नैव स्युरिति भावः।

दोष भी स्थितिविशेष में दोष नहीं होते इसी बात का अब उपपादन करते हैं—एवं च इत्यादि। जब उक्त पद्य में कविसमय प्रसिद्ध होने के कारण लिङ्गभेद को दोष नहीं माना गया, तब उस रीति से उक्त सभी उपमादोषों के विषय में यह सारांश समझ लेना चाहिए कि कविख्याति अथवा इसी तरह के अन्य कारणों से चमत्कारापकर्षक नहीं होने पर कोई दोष नहीं होता।

कविसमयसिद्धत्वप्रयुक्तदोषाभावत्वस्य लक्ष्यं दर्शयति—

यथा—

'नवाङ्गनेवाङ्गणेऽपि गन्तुमेष प्रकम्पते।
इयं सौराष्ट्रजा नारी महाभट इवोद्भटा॥'

कवेरुक्तिः—एषः कश्चन वर्णनीयो मानवः, नवाङ्गना नवपरिणीता वधूः इव, अङ्गणे प्राङ्गणे, गन्तुम्, अपि प्रकम्पते वेपथुयुक्तो भवति। तथा इयं काचिद् वर्णनीया, सौराष्ट्रजा सौराष्ट्रदेशोद्भवा, नारी स्त्री, महाभटः महान् योद्धा, इव, उद्भटा उद्दण्डा, अस्ति, न कुतोपि बिभेतीत्यर्थः। अत्र पुरुषस्य नायिकया, नायिकायाश्च पुरुषेण, सहोपमानोपमेयभावे वर्णितेऽपि न श्रोतुर्वैमुख्यं चमत्काराहानेरिति न दोषः।

दोष भी जहाँ दोष नहीं होते, वैसा उदाहरण दिखलाया जाता है यथा इत्यादि। कवि कहता है—यह मनुष्य, नववधू के समान, आँगन में पैर रखते काँपता है और यह काठियावाड़ी स्त्री बड़े योद्धा की तरह उद्भट है—किसी से डरती ही नहीं। यहाँ पुरुष की स्त्री से और स्त्री की पुरुष से दी गई उपमा उद्वेजक नहीं होने के कारण दोषावह नहीं है।

एवंरीत्या सर्वत्र दोषाभावः समर्थनीय इत्याह—

एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्।

स्पष्टम्।

उक्तरीति से अन्य स्थानों में भी दोष का अभाव होता है ऐसा समझना चाहिए।

पूर्वोक्तं दोषत्वदूरीकरणनिपुणं प्रकारान्तरं यदुक्तं तत्किमिति जिज्ञासाप्रशमनायाह—

शेषं स्मरणालङ्कारप्रकरणे विकल्पप्रकरणे च वक्ष्यामः।

एतत्स्पष्टीकरणं तत्रैव करिष्यते ।

अवशिष्ट बातें 'स्मरणालङ्कार' और 'विकल्पालङ्कार' के प्रकरण में कहेंगे ।

परमं प्रकृतमुपसंहरति—

इत्युपमानिरूपणसंक्षेपः ।

अहो ! धन्योऽसौ पण्डितराजः यः एतावद्विशदनिरूपणं विधायापि संक्षेपमेव मनुते । न जाने पण्डितराजाभिमते विशदनिरूपणे कस्को विचारो विदुषां नयनगोचरः स्यात् । चन्द्रालोके—'अनेकस्यार्थयुग्मस्य सादृश्ये स्तबकोपमा । श्रितोऽस्मि चरणौ विष्णोर्भृङ्गस्तामरसं यथा ॥ स्यात्सम्पूर्णोपमा यत्र द्वयोरपि विधेयता । पद्मानीव विनिद्राणि नेत्राण्यासञ्जहर्मुखे ॥' इति भेदद्वयमधिकमुक्तमिति नागेशः ।

उपसंहार करते हैं इत्युपमा इत्यादि । यह है उपमानिरूपण का संक्षेप । धन्य है पण्डितराज की अनन्त प्रतिभा, जिसके बल पर आप इस तरह का विशद उपमानिरूपण कर लेने के बाद भी उसको संक्षेप समझते हैं ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामुपमाप्रकरणम् ॥

उपमेयोपमानिरूपणं प्रतिजानीते—

अथास्या एव भेद उपमेयोपमा निरूप्यते—

अथेत्ययमानन्तर्ये । उपमानिरूपणानन्तरमिति तद्भावः । अस्या उपमायाः । निपूर्वकरूपधात्वर्थः प्रागुक्तः । उपमालङ्कारनिरूपणानन्तरमिदानीमुपमालङ्कारभेदभूतोपमेयोपमालङ्कारविषयकज्ञानानुकूलशब्दप्रयोगो विधीयत इति भावः ।

उपमेयोपमालङ्कार का निरूपण करने की प्रतिज्ञा करते हैं—अथ इत्यादि । उपमा अलङ्कार के निरूपण के बाद अब उपमालङ्कार के ही एक भेद 'उपमेयोपमा अलङ्कार' का निरूपण किया जाता है ।

उपमेयोपमायाः लक्षणं लिख्यते—

तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूतं परस्परमुपमानोपमेयभावमापन्नयोरर्थयोः सादृश्यं सुन्दरमुपमेयोपमा ।

तृतीयस्य उपमानोपमेयतया विवक्षितात् पदार्थयुगलादन्यस्य, सदृशस्य सादृश्यविशिष्टपदार्थस्य, व्यवच्छेदो निवृत्तिः, तस्य, बुद्धिः ज्ञानम्, फलं परिणामो, यस्य तादृशं यद् वर्णनम्, तद्विषयीभूतं तत्रागतमिति यावत्, परस्परं मिथः, उपमानोपमेयभावम्, आपन्नयोः प्राप्तयोः, पदार्थयोः सुन्दरं सादृश्यं 'उपमेयोपमा' इत्यर्थः । द्वयोः पदार्थयोः यस्य सुन्दरस्य पारस्परिकसादृश्यस्य वर्णनेन 'अनयोः पदार्थयोरिमावेव समानौ न कश्चित् तृतीयोऽनयोः समानः' इति ज्ञानं जायते, तत् सादृश्यम् 'उपमेयोपमालङ्कार'-नाम्ना व्यपदिश्यत इति भावः ।

उपमेयोपमालङ्कार का लक्षण लिखा जाता है—तृतीय इत्यादि । तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति का ज्ञान—अर्थात् इन दोनों पदार्थों की समता इन्हीं दोनों पदार्थों में है, अन्य किसी में नहीं, यह बोध—जिसका फल है उस वर्णन में आने वाला, परस्पर उपमान-उपमेय बने पदार्थों का, सुन्दर सादृश्य 'उपमेयोपमा' अलङ्कार कहलाता है ।

पदकृत्यप्रदर्शनप्रसङ्गे प्रथमं 'भूतान्तस्य' उपमानोपमेयभावविशेषणस्य कृत्यं प्रदर्श्यते—

'तडिदिव तन्वी भवती भवतीवेयं तडिल्लता गौरी' इत्यत्र परस्परोपमाया अतिव्याप्तिवारणाय भूतान्तम् ।

नायकेन नायिकां प्रत्युक्ते 'भवती त्वम्, यथा, तडित्, विद्युल्लता, इव, तन्वी कृशाङ्गी, तथा, इयं तडिल्लता, अपि, भवती त्वम्, इव गौरी गौरवर्णा', इत्यर्थके 'तडिदिवे'त्यादिमूलोक्तवाक्ये परस्परोपमालङ्कारः सिद्धान्तसिद्धः, तत्र प्रकृतोपमेयोपमालक्षणं मा प्रसाङ्क्षीदिति 'भूतान्तम्' उपमानोपमेयभावविशेषणत्वेन लक्षणे निवेशितमिति भावः ।

लक्षण में जो अनेक विशेषण जोड़े गये हैं उनका क्या फल है इस बात का विचार करने के प्रसङ्ग में, सर्वप्रथम, "'''वर्णन में आने वाला' यहाँ तक के अर्थों का बोधक जो एक विशेषण है उसका फल, दिखलाया जाता है—तडिदिव इत्यादि। 'तडिदिव—अर्थात् हे प्रिये ! तू बिजली की तरह दुबली-पतली है और यह बिजली (उसकी रेखा) तेरे समान गोरी है।' इस वाक्य में परस्पर की उपमा है 'उपमेयोपमा' नहीं । परन्तु प्रकृत उपमेयोपमालक्षण में यदि 'तीसरे–सदृश पदार्थ की निवृत्ति का ज्ञान जिसका फल है उस वर्णन में आनेवाला' इतना अंश नहीं कहा जाता, तब उक्त वाक्य में भी वह लक्षण प्राप्त हो जाता, सो नहीं हो इसलिये उतना अंश लक्षण में जोड़ा गया है।

उक्तवाक्येऽतिव्याप्तिमुपपादयितुमाह—

अत्र तानवगौरिमभ्यामनुगामिधर्माभ्याम् प्रयोजितमुपमाद्वयं न तृतीयं सदृशं व्यवच्छिनत्ति । एकेन धर्मेणैकप्रतियोगिके परानुयोगिके सादृश्ये निरूपितेऽपरप्रतियोगिकस्यैकानुयोगिकस्यापि तेन धर्मेण सादृश्यस्यार्थतः सिद्धतया शब्देन पुनस्तदुक्तिः स्ववैयर्थ्यपरिहाराय तृतीयसदृशव्यवच्छेदमाक्षिपति । प्रकृते चैकेन तानवरूपेण धर्मेण तडित्प्रतियोगिके कामिन्यनुयोगिके सादृश्ये निरूपिते तेनैव धर्मेण कामिनीप्रतियोगिकस्य तडिदनुयोगिकस्य सादृश्यस्यार्थतः सिद्धावपि न गौरत्वेन धर्मेण सिद्धिरिति तदर्थमुपात्तस्य द्वितीयसादृश्यवचनस्य न तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकत्वम् ।

उपमाद्वयमिति । यतोऽतः पुनर्वर्ण्यमानमिति शेषः । तृतीयसदृशव्यवच्छेदे हेतुमुपन्यस्यति—एकेनेत्यादिना । अत्र यत इत्यादिर्बोध्यः । तदर्थम् तेन धर्मेण सादृश्यसिद्ध्यर्थम् । 'तडिदिव तन्वी—' इति पद्ये 'तन्वी'–पद–बोध्यस्तनुत्वरूपो धर्मस्तडिदुपमानिकां नायिकोपमेयिकामुपमां प्रयोजयति, एवं 'गौरी–'पद–बोध्यो गौरत्वरूपो धर्मो नायिकोपमानिकां तडिदुपमेयिकामुपमां प्रयोजयति । धर्मौ च तावनुगामिनौ, एकरूपेणोपमानोपमेययोर्धर्मयोरन्वितत्वात् । एवम् भिन्नधर्मप्रयोज्यमिदमुपमाद्वयं तृतीयं समानं वस्तु व्यवच्छेत्तुं न प्रभवति । कुत इति चेदित्थम्—यदैकधर्मप्रयुक्तमेव परस्परप्रतियोगिकं परस्परानुयोगिकं च सादृश्यद्वयं शब्दतः प्रतिपादितं तिष्ठति तदैकप्रतियोगिकापरानुयोगिकसादृश्यनिरूपणेनैव एकानुयोगिकापरप्रतियोगिकमपि सादृश्यमर्थतः सिद्ध्यति, सादृश्यस्य परस्परनिरूपितत्वात् । तथा च शब्दतः प्रतिपादितं तादृशं परस्परसादृश्यद्वयं स्ववैयर्थ्यनिरासाय तृतीयं सदृशं व्यवच्छिनत्ति, प्रकृतपद्ये तु धर्मद्वयं सादृश्यद्वयप्रयोजकम् । तथा चैकधर्मप्रयुक्तैकप्रतियोगिकापरानुयोगिकसादृश्यनिरूपणेन तद्धर्मप्रयोज्यस्यैकानुयोगिकापरप्रतियोगिकसादृश्यस्यैवार्थतः सिद्धिः स्यात्, अतो भिन्नधर्मप्रयुक्तैकानुयोगिकापरप्रतियोगिकस्य सादृश्यस्य निरूपणं स्वतः सार्थकम् इति न तत् सदृशान्तरव्यवच्छेदरूपं फलं जनयतीति परमार्थतो नेदं पद्यमुपमेयोपमाया लक्ष्यम् । उक्तविशेषणानिवेशे तु प्रकृतमुपमेयोपमालक्षणमत्रापि प्रसज्येतेति अतिव्याप्तिरिति भावः ।

अतिव्याप्ति दोष का उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'तडिदिव तन्वी—'

इस पद्यखण्ड में दो समानधर्म हैं—एक 'तन्वी' पद से अवगत होनेवाला 'तनुत्व (दुबली पतली होना)' और दूसरा 'गोरी' पद से ज्ञात होनेवाला 'गौरत्व (गोरी होना)'। इन दो साधारणधर्मों से यहाँ पृथक्-पृथक् दो उपमायें सिद्ध होती हैं। ऐसी भिन्न-भिन्न साधारणधर्मों से सिद्ध होनेवाली-उपमायें तीसरे समान पदार्थ की निवृत्ति नहीं कर सकतीं। कारण यह है कि-एकधर्ममूलक एक पदार्थ के साथ दूसरे पदार्थ का सादृश्य सिद्ध हो जाने पर तद्धर्ममूलक उस पदार्थ का भी दूसरे पदार्थ के साथ सादृश्य अर्थतः सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में पुनः दूसरे पदार्थ के साथ उसके सादृश्य का शब्दतः कथन, अपने वैयर्थ्य को मिटाने के लिये, उन दोनों के तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति का आक्षेप कर देता है। तात्पर्य यह हुआ कि उपमान का यद्धर्ममूलक सादृश्य उपमेय में एक बार कह दिया जाता है, तद्धर्ममूलक सादृश्य ही यदि पुनः उपमेय का उपमान में शब्दतः कहा जाता है, तब उसका अभिप्राय यह निकल जाता है कि 'इन दोनों के समान तीसरा कोई नहीं है,' क्योंकि अकारण, विज्ञजन अर्थतः सिद्ध बात को शब्दतः नहीं दुहराते। इस तरह एक धर्मवाली परस्पर उपमा में तृतीय सदृश की निवृत्ति फलित होती है। परन्तु प्रकृत पद्य-खण्ड में यह बात नहीं हो सकती। कारण, 'तनुत्व (दुबली पतली होने)' रूप साधारणधर्ममूलक बिजली के साथ कामिनी का सादृश्य वर्णित हो जाने पर यद्यपि तद्धर्ममूलक (तनुत्वधर्मद्वारक) कामिनी के साथ बिजली का सादृश्य अर्थतः सिद्ध हो जाता है, तथापि 'गौरत्व-(गोरी होने) रूप साधारणधर्ममूलक कामिनी के साथ बिजली का सादृश्य सिद्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रकृत पद्य के दोहरे सादृश्यकथन का फल उन्हीं उपमान-उपमेयों (कामिनी और बिजली) के भिन्न-भिन्न समानधर्ममूलक सादृश्यों का ज्ञान होता है, न कि तृतीय समानवस्तु का व्यवच्छेदज्ञान। अतः यदि लक्षण में उक्त भाग का निवेश नहीं किया जाता, तब इस पद्य भाग-जो उक्त विचार के अनुसार वस्तुतः उपमेयोपमा का लक्ष्य नहीं है-में भी उपमेयोपमा का लक्षण चला जाता-अतिव्याप्ति दोष लग जाता।

परस्परपदकृत्यमाह—

'सदृशी तव तन्वि निर्मिता विधिना नेति समस्तसम्मतम्।
अथ चेन्निपुणं विभाव्यते मतिमारोहति कौमुदी मनाक्॥'

इति तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषये सादृश्येऽतिव्याप्तिवारणाय परस्परमिति।

'हे तन्वि कृशाङ्गि! विधिना ब्रह्मणा, तव, सदृशी समाना, व्यक्तिरिति यावत्, न, निर्मिता रचिता, इति, समस्तसम्मतं सर्वजनस्वीकृतम् वस्तु। अथ अनन्तरम्, निपुणं सूक्ष्मम्, विभाव्यते विचार्यते, चेत्, तदा, कौमुदी चन्द्रज्योत्स्ना, मनाक् ईषत्, मतिम् बुद्धिम्, आरोहति' इत्यर्थके 'सदृशी—' इति पद्ये कौमुदीभिन्ने कान्तासादृश्यनिषेधस्य शब्दतः कथनात् ईषत्सादृश्यस्य चन्द्रिकायां कथनात्तृतीयसदृशव्यवच्छेदः फलित एति तादृशवर्णनविषयीभूते सादृश्येऽतिव्याप्तिर्मा भूदतः परस्परमिति उपमानोपमेयभावविशेषणं लक्षणे निवेशितम्। निवेशिते च तस्मिन् नातिव्याप्तिः, कौमुदीसादृश्योक्तेरभावेन परस्परोपमानोपमेयभावस्याभावादिति भावः।

'परस्पर पद' का फल दिखलाया जाता है—सदृशी इत्यादि। लक्षण में 'परस्पर उपमान-उपमेय बने पदार्थों का' यह अंश निम्नलिखित अर्थवाले काव्यवाक्य में अतिव्याप्ति न होने के लिये कहा गया है—'हे तन्वि! विधाता ने तेरे समान कोई दूसरी नायिका व्यक्ति नहीं बनाई, यह सर्वसम्मत बात है। परन्तु यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाय, तब चन्द्रज्योत्स्ना कुछ-कुछ बुद्धि में आरूढ होती है-अर्थात् इतना ज्ञात

होता है कि चन्द्रज्योत्स्ना कुछ तेरी समता रखती है।' इस श्लोक में जो चन्द्रज्योत्स्ना के कुछ-कुछ नायिका के समान होने की बात कही गई है उससे 'इन दोनों के समान तीसरा कोई नहीं है' यह बात सिद्ध होती है। फलतः इस सादृश्य-वर्णन का फल तीसरे सदृश की निवृत्ति है ऐसा कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि उपर्युक्त अंश लक्षण में नहीं कहा जाता तब यह पद्य भी उपमेयोपमा का उदाहरण हो जाता।

सुन्दरपदनिवेशफलमाह—

लिङ्गवचनभेदादिदुष्टसादृश्यवारणाय सुन्दरमिति—

लिङ्गभेदवचनभेदप्रभृतिभिर्दोषैः दुष्टे वर्णनविषयीभूते सादृश्येऽतिव्याप्तिनिरासाय लक्षणे 'सुन्दरम्' इति सादृश्य-विशेषणमुपात्तम्। उपात्ते च तस्मिन् विशेषणे न तत्र दोषः, तादृशदोषग्रस्तस्य सादृश्यस्यासुन्दरत्वात् इति भावः।

सुन्दर पद का फल कहा जाता है—लिङ्ग इत्यादि। लिङ्गभेद, वचन-भेद आदि दोषों से युक्त सादृश्य में अतिव्याप्ति न हो—इसलिये लक्षण में सादृश्य का विशेषण 'सुन्दर' कहा गया है। दुष्टसादृश्य सुन्दर नहीं माना जाता, अतः 'सुन्दर' विशेषण कह देने पर अतिव्याप्ति नहीं होती।

उदाहरणप्रदर्शनं प्रतिजानीते—

अथेदमुदाह्रियते—

अथ अर्थात् पदकृत्यप्रदर्शनान्तरं इयम् उपमेयोपमा, उदाह्रियते लक्ष्यगततया प्रदर्श्यत इति भावः।

पदकृत्य दिखलाने के बाद अब उपमेयोपमा का उदाहरण दिखलाया जाता है।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'कौमुदीव भवती विभाति मे कातराक्षि भवतीव कौमुदी।
अम्बुजेन तुलितं विलोचनं लोचनेन च तवाम्बुजं समम्॥'

नायकस्य नायिकां प्रत्युक्तिः—अयि कातराक्षि भयचकितलोचने! भवती, मे कौमुदी चन्द्रकला, इव, विभाति, कौमुदी च भवतीव विभाति। तव, विलोचनं नयनं जातिविवक्षयैकवचनमिति बोध्यम्। अम्बुजेन कमलेन, तुलितं सदृशम्, अम्बुजं च तव लोचनेन समं इत्यर्थः। अत्र कौमुदीनायिकयोः नयनाम्बुजयोश्च परस्परं सादृश्यवर्णनेन तृतीयसदृशव्यवच्छेदादुपमेयोपमा इति भावः। अत्र 'अत्र तुलितं सममित्युपमावाचकवैलक्षण्यं वक्ष्यमाणक्विप्क्यङादिवैलक्षण्यमिव दुष्टमिति चिन्त्यमिदम्' इति नागेशः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कौमुदीव इत्यादि। नायक का कथन है—हे कातराक्षि! तू मुझे चन्द्रकला सी प्रतीत होती है, और चन्द्रकला तुझ जैसी। तेरे नयन कमल के तुल्य हैं और कमल तेरे नेत्र के समान हैं। यहाँ कौमुदी और नायिका एवं कमल और नेत्र की परस्पर उपमा से तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति ज्ञात होती है, अतः यहाँ उपमेयोपमालङ्कार होता है। यहाँ नागेश का कथन है कि—'तुलितम्' और 'समम्' इन उपमावाचकों की विलक्षणता, आगे स्वयं ग्रन्थकार के द्वारा कही जानेवाली 'क्विप्' 'क्यङ्' आदि की विलक्षणता के समान, दुष्ट है, अतः यह उदाहरण चिन्तनीय है।' बात ठीक है 'सुन्दर' विशेषण से इस तरह के दुष्ट सादृश्य का निराकरण पण्डितराज को अभिमत है। अतः 'अम्बुजेन खलु लोचनं समं लोचनेन च तवाम्बुजं समम्' अथवा 'अम्बुजेन तुलितं विलोचनं लोचनेन तुलितं च तेऽम्बुजम्' ऐसा पाठ मानना उचित है।

उपमेयोपमाया भेदो विधीयते—

इयं च तावद्द्विविधा–उक्तधर्मा व्यक्तधर्मा च। उक्तधर्मा तावदनुगाम्यादिभिः प्रागुक्तैर्धर्मैरनेकधा।

उपमेयोपमायाः प्रथमं द्वौ भेदौ—एकः स यत्र साधारणो धर्मः स्पष्टतया शब्दैरुक्तस्तिष्ठति, अपरश्च स यत्र स धर्मो व्यञ्जनावृत्त्या विज्ञातो भवति शब्दैरुक्तो न भवति। प्रथमभेदस्य पुनर्बहवो भेदा भवन्ति, अनुगामित्वबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नत्वोपचरितत्वादिभिरुपाधिभिः साधारणधर्मस्यानेकविधत्वादिति भावः।

उपमेयोपमा का भेद किया जाता है—इयम् इत्यादि। यह उपमेयोपमा प्रथमतः दो प्रकार की होती है—एक उक्तधर्मा–अर्थात् जिसमें साधारणधर्म स्पष्ट शब्दों में कथित रहता है और दूसरी व्यक्तधर्मा–अर्थात् जिसमें साधारणधर्म शब्दतः उक्त नहीं रहता, पर व्यञ्जना से ज्ञात होता है। उन दोनों प्रकारों में से प्रथम प्रकार–अर्थात् उक्तधर्मा–के पुनः अनेक प्रकार होते हैं, क्योंकि अनुगामी आदि भेदों से धर्म के अनेक रूप होते हैं।

उक्तधर्मायाः प्रथमं प्रकारं निर्देष्टुमाह—

अनुगामी धर्मो यथा—

स्पष्टम्।

अनुगामी धर्मवाली उपमेयोपमा जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> 'निखिले निगमकदम्बे लोकेष्वप्येष निर्विवादोऽर्थः।
> शिव इव गुरुर्गरीयान् गुरुरिव सोऽयं सदाशिवोऽपि तथा॥'

निखिले सम्पूर्णे, निगमकदम्बे वेदसमूहे, अपि च, लोकेषु, एषः, अर्थः (इयं वार्ता) निर्विवादः ऐकमत्येन सिद्धः, यत्, गुरुः, शिव, इव, गरीयान् अतिश्रेष्ठः, एवम्, सोऽयम् (प्रत्यभिज्ञेयम्) सदाशिवोऽपि, गुरुः, इव, तथा गरीयानित्यर्थः। अत्र गरीयस्त्वमुपमानोपमेययोरेकरूपेणान्वययोग्यत्वादनुगामी साधारणो धर्म इति भावः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—निखिले इत्यादि। सभी वेदों में तथा लोक में भी यह बात निर्विवादरूप से सिद्ध है कि—गुरु शिव के समान अतिश्रेष्ठ हैं और ये परमप्रसिद्ध सदाशिव भी गुरु के तुल्य महत्तम हैं। यहाँ 'अतिश्रेष्ठ होना'रूप साधारणधर्म, एकरूप से उपमान–उपमेय दोनों में अन्वययोग्य होने के कारण, अनुगामी है।

उक्तधर्माया द्वितीयं प्रकारं निर्देष्टुमाह—

बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नो यथा—

स्पष्टम्।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारणधर्मवाली उपमेयोपमा जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> 'रमणीयस्तबकयुता विलसितवक्षोजयुगलशालिन्यः।
> लतिका इव ता वनिता वनिता इव रेजिरे लतिकाः॥'

कविः वाटिकायां विहरन्तीः कामिनीर्वर्णयति—ताः, वनिताः कामिन्यः, रमणीयैः सुन्दरैः, स्तबकैः पुष्पगुच्छैः, युताः युक्ताः, लतिकाः लताः, इव, एवं लतिकाः, विलसितैः शोभितैः, वक्षोजयुगलैः स्तनद्वयैः, शालन्ते = शोभन्ते यास्तादृश्यः, वनिताः कामिन्यः, इव, रेजिरे शुशुभिरे इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—रमणीय इत्यादि। वाटिका में विहार करती हुई नायिकाओं का वर्णन कवि करता है—वे वनितायें-नायिकायें, सुन्दर पुष्प-गुच्छों से युक्त लताओं की तरह, और लताएँ, सुन्दर स्तनयुगलों से शोभित नायिकाओं की तरह, शोभित हुईं।

उपपादयति—

अत्र रमणीयत्वविलसितत्वाभ्यां विशेषणाभ्यां युतत्वशालित्वाभ्यां च विशेष्याभ्यां परस्परं वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नाभ्यां पुटितः स्तबकस्तनरूपः परस्परं बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो धर्मः।

विशेषणाभ्यामिति। स्तबकवक्षोजयुगलपदार्थयोरिति भावः। विशेष्याभ्यामिति। स्तबकवक्षोजयुगलपदार्थनिष्ठविशेषणतानिरूपितविशेष्यताविशिष्टाभ्यामित्यर्थः। वस्त्विति। वस्तुतस्तयोरेकत्वादिति भावः। पुटितः सम्पुटितः। अयं भावः—'रमणीयस्तबकयुता—' इति पद्ये विशेषणतयोक्ते रमणीयत्वविलसितत्वे, एवम् विशेष्यतया कथिते युतत्वशालित्वे वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ने, शब्दाश्रयभेदेन भिन्नत्वेऽपि परमार्थत एकपदार्थत्वात्। तयोर्मध्यगतश्च स्तबकस्तनरूपो धर्मः सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसानेन बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नः सन् साधारणत्वमासाद्योपमागर्भामुपमेयोपमां प्रयोजयतीति।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में विशेषणरूप में वर्णित 'रमणीयता' और 'विलसितता' (सुन्दरता) एवं विशेष्यरूप में वर्णित 'युक्तता' और 'शालिता' (शोभितता) परस्पर वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न हैं, क्योंकि वस्तुतः ये (दो दो) एक ही पदार्थ हैं, केवल शब्द और आश्रय के भेद से भिन्न-से दीखते हैं। इन दोनों (विशेषण और विशेष्यों) के मध्य में कथित 'पुष्पगुच्छ तथा स्तन' सादृश्यमूलक अभेदारोप के कारण, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होकर साधारणधर्मरूप हो जाते हैं।

तृतीयं प्रकारमुदाहर्तुमाह—

उपचरितो यथा—

आरोपितो धर्मो यथेत्यर्थः।

उपचरित (आरोपित) धर्मवाली उपमेयोपमा, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> 'कुलिशमिव कठिनमसतां हृदयं जानीहि हृदयमिव कुलिशम्।
> प्रकृतिः सतां सुमधुरा सुधेव हि प्रकृतिरिव च सुधा॥'

त्वम्, असताम् असज्जनानां दुर्जनानामिति यावत् हृदयम् मनः, कुलिशं वज्रम्, इव, एवम् कुलिशम्, असतां, हृदयमिव, कठिनं जानीहि विद्धि। सतां सज्जनानाम्, प्रकृतिः स्वभावः, सुधा अमृतम्, इव, सुमधुरा अतिमाधुर्यशालिनी, एवम् सुधा, सतां, प्रकृतिः, इव, सुमधुरा भवतीत्यर्थः। अत्र पृथिवीनिष्ठकठिनत्वस्य मनसि, सुधानिष्ठमाधुर्यस्य च प्रकृतावुपचारः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कुलिशमिव इत्यादि। तुम दुर्जनों के हृदय को वज्र की तरह और वज्र को दुर्जनों के हृदय की तरह कठोर समझो। सज्जनों का स्वभाव, अमृत के समान, और अमृत, सज्जनों के स्वभाव के समान, अत्यन्त मधुर होता है। यहाँ पृथ्वीरूप वज्र का धर्म—'कठिनता' हृदय में और अमृत का धर्म 'अत्यन्त मधुरता' स्वभाव में उपचरित (आरोपित) है।

चतुर्थं प्रकारमुदाहर्तुमाह—

केवलशब्दात्मको यथा—

श्लिष्टशब्दरूपधर्मो यथेत्यर्थः।

केवल शब्द(श्लिष्ट पद)रूप धर्मवाली उपमेयोपमा, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अविरतचिन्तो लोके वृक इव पिशुनोऽत्र पिशुन इव च वृकः।
भारतमिव सच्चित्तं सच्चित्तमिवाथ भारतं सकृपम् ॥'

अत्र, लोके संसारे, पिशुनः द्विजिह्वः, वृकः हिंसको जन्तुविशेषः (भेडिया इति प्रसिद्धः) इव, अविरतचिन्तः (पिशुनपक्षे-परापकारविषयकसार्वदिकचिन्ताशीलः, वृकपक्षे-अविषु मेषेषु रता संलग्ना चिन्ता यस्य तादृशः) वृकश्च, पिशुनः, इव, अविरतचिन्तः तिष्ठतीति शेषः। सच्चित्तं सतां चेतः, भारतं महाभारताख्यग्रन्थविशेषः, इव, सकृपं (सच्चित्तपक्षे—सदयम्, ग्रन्थपक्षे—कृपेण कृपाचार्येण, सहितम्, प्रतिपादकतासंसर्गेण कृपाचार्यसाहित्यं ग्रन्थे बोध्यम्), भारतम्, च, सच्चित्तम्, इव, सकृपं, भवतीत्यर्थः। अत्र निरन्तरचिन्तत्वस्य पिशुनवृत्तित्वेऽपि वृकावृत्तित्वात्सकृपत्वस्य सज्जनचित्तवृत्तित्वेऽपि भारतग्रन्थावृत्तित्वात् 'अविरतचित्त-सकृप'-रूपौ श्लिष्टशब्दावेव साधारणधर्माविति भावः।

उदाहरण दिखलाया जाता है—अविरत इत्यादि। इस संसार में पिशुन-(चुगलखोर) वृक (भेड़िया) की तरह 'अविरतचिन्त' (निरन्तर चिन्तावाला—दूसरे की बुराई सोचनेवाला) होता है और पिशुन की तरह भेड़िया 'अविरतचिन्त' (अवि = भेड़ों में, रत = संलग्न, चिन्तावाला—भेड़ों पर ताक लगाए हुए) रहता है। एवं सज्जनों का चित्त, भारत-महाभारत की तरह, 'सकृप' (कृपायुक्त) होता है और सज्जनों के चित्त की तरह, भारत-महाभारतग्रन्थ 'सकृप' (कृपनामधारी आचार्य से युक्त) है। यहाँ 'निरन्तर चिन्तायुक्त होना' धर्म, 'वृक' में नहीं सङ्गत होता और 'भेड़ों पर ताक लगाये रहना' धर्म, 'पिशुन' में नहीं बन पाता। इसी तरह 'कृपायुक्त होना' धर्म, महाभारत ग्रन्थ में नहीं रहता और 'कृपाचार्य से युक्त होना' धर्म, सज्जनों के चित्त में नहीं ठीक बैठता, अतः यहाँ 'अविरतचिन्त' और 'सकृप' ये दोनों श्लिष्ट शब्द ही दोनों (पिशुन और वृक तथा सज्जन-चित्त और महाभारत) के विशेषण होने के कारण साधारण-धर्मरूप माने जाते हैं। यहाँ उक्तधर्मा उपमेयोपमा के उदाहरण समाप्त हुए।

द्विविधयोरुपमेयोपमयोरुक्तधर्माख्यस्य प्रथमभेदस्यावान्तरभेदानां चतुर्णामुदाहरणानि प्रदर्श्य, सम्प्रति द्वितीयभेदस्य [illegible]—

व्यक्तधर्मो यथा—

व्यञ्जनावृत्तिबोध्यसाधारणधर्मयुक्तोपमेयोपमा यथेत्यर्थः।

व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अवगत होनेवाली साधारणधर्म से युक्त उपमेयोपमा, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'वारिधिराकाशसमो वारिधिसदृशस्तथाऽकाशः।
सेतुरिव स्वर्गङ्गा स्वर्गङ्गेवान्तरा सेतुः ॥'

वारिधिः समुद्रः, आकाशसमः, वियत्तुल्यः, तथा, आकाशः वियत्, वारिधिसदृशः समुद्रतुल्यः, अस्तीति शेषः, कुत इति चेत्? यतः अन्तरा आकाशमध्ये, सेतुः शिलाशकलसङ्कलितो मार्गविशेषः, इव, स्वर्गङ्गा छायापथः, चकास्ति, तथा अन्तरा समुद्रमध्ये, स्वर्गङ्गा, इव, सेतुर्विद्योतते इत्यर्थः।

उदाहरण का प्रदर्शन किया जाता है—वारिधर इत्यादि। एक वर्णन है कि—समुद्र आकाश के समान है और आकाश समुद्र के समान, क्योंकि आकाश में सेतु की तरह स्वर्गङ्गा (छायापथ) है और समुद्र में स्वर्गङ्गा की तरह, सेतु (बाँध) है।

उपपादयति—

अत्रापारत्वादिर्व्यज्यमानो धर्मः।

दुर्घटत्वमादिपदग्राह्यम्। व्यक्तपदार्थं सूचयितुमाह—व्यज्यमानेति 'वारिधि—' इति श्लोके समुद्राकाशयोः अपारत्वं (निस्सीमत्वं) साधारणो धर्मः सेतुस्वर्गङ्गयोश्च दुर्घटत्वम्। तौ च धर्मौ नात्र वाच्यौ, वाचकविरहात्, अपि तु व्यङ्ग्यौ, अतः व्यक्तधर्मेयमुपमेयोपमेति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में वर्णित आकाश और समुद्र में 'अपारता' समान धर्म है एवं सेतु और स्वर्गङ्गा में 'दुर्घटता' समानधर्म है, परन्तु इन धर्मों के प्रतिपादक पद पद्यवाक्य में हैं नहीं, अतः ये धर्मवाच्य नहीं, व्यङ्ग्य माने जाते हैं।

विशेषमाह—

एषा सर्वाऽपि स्फुटे वाक्यभेदे प्रपञ्चिता।

यत्र वाक्यभेदः स्फुटः अर्थात्—द्वयोर्वाक्ययोः सादृश्यद्वयं स्पष्टं निर्दिष्टम्—तादृशस्थलीयः पूर्वोक्तोपमेयोपमाप्रपञ्चो बोध्यः। एतेनास्फुटवाक्यभेदस्थलेऽपि उपमेयोपमासम्भवः सूच्यते।

अनुपदोक्त उपमेयोपमा का विस्तार उन स्थलों पर किया गया है जहाँ वाक्यभेद स्पष्ट है—अर्थात् शब्दतः दो वाक्यों में दो सादृश्य पृथक्-पृथक् वर्णित रहे हैं। एतावता यह सूचित हुआ कि अस्फुट—अर्थात् अर्थतः बोध्य वाक्यभेद के स्थल में भी यह अलङ्कार हो सकता है।

पूर्वस्मान्नागिलामुपमेयोपमाप्रकारमुदाहर्तुमाह—

आर्थे तु वाक्यभेदे—

वाक्यभेदे इति। उदाह्रियत इति शेषः।

अर्थतः अवगत होने वाले वाक्यभेद के स्थल में तो अब उदाहरण दिया जाता है।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अभिरामतासदनमम्बुजानने नयनद्वयं जनमनोहरं तव।
इयति प्रपञ्चविषयेऽपि वैधसे तुलनामुदञ्चति परस्परात्मना॥'

कविः कस्याश्चित्कामिन्याः कमनीयं नयनद्वयं नायकमुखेन वर्णयति—अयि अम्बुजानने कमलमुखि! अभिरामतायाः परितो रमणीयतायाः, सदनं मन्दिरम् आवासस्थानमिति यावत्, तथा जनमनोहरं दर्शकलोकहृदयाकर्षकम्, च, तव, नयनद्वयं लोचनयुगलम्, इयति निश्चितपरिमाणतयाऽज्ञायमाने, वैधसे वैरञ्चे, प्रपञ्चविषये संसारे, परस्परात्मना अन्योन्यरूपेण, तुलनां समताम्, उदञ्चति प्रकाशयतीत्यर्थः।

नायक, नायिका से कहता है—हे कमलमुखि! सौन्दर्य का मन्दिर और दर्शकजनों के मन हरने वाला तेरा नेत्रयुगल, इतनी बड़ी विधि-सृष्टि में, केवल परस्पर रूप से ही समता प्रकाशित करता है—अर्थात इन दोनों (आँखों) की समता इन्हीं दोनों में है, तीसरे किसी पदार्थ में नहीं।

उपपादयति—

अत्र परस्परात्मना तुलनामुदञ्चतीति संक्षिप्ताद्वाक्यादिदमेतेनैतच्चानेन तुलनामुदञ्चतीति वाक्यद्वयं विचारकमुल्लसति।

इदं नयनं। एतेन नयनेन। एवमग्रेऽपि। विचारकमिति। विवरणरूपमित्यर्थः। 'अभिरामता—' इति श्लोके 'परस्परात्मना तुलनामुदञ्चति' संक्षिप्तमेकं वाक्यम्, तस्माद् वाक्यात् विवरणात्मकं 'दक्षिणं नयनं वामेन नयनेन तुलनामुदञ्चति' 'वामं नयनं दक्षिणेन नयनेन तुलनामुदञ्चति' इति वाक्यद्वयनिस्सरति, अतोऽत्र वाक्यभेद आर्थः न तु स्फुट इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'अभिरामतासदनम्—' इस पद्य में 'परस्पररूप से समता प्रकाशित करता है' यह एक संक्षिप्त वाक्य है, उससे अर्थतः 'दाहिनी आँख, बाईं आँख की समता प्रकाशित करती है और बाईं आँख, दाहिनी आँख की समता प्रकाशित करती है' ये दो वाक्य निकलते हैं, अतः यहाँ वाक्यभेद है तो अवश्य, पर स्फुट नहीं, ऐसा कहा जाता है।

अस्या उपमेयोपमाया अपरेऽपि प्रभेदाः सम्भवन्तीति सूचयितुमाह—

एवं पूर्णालुप्तादयोऽप्यस्या उपमाया इव प्रायशः सर्वेऽपि भेदाः सम्भवन्ति।

एवमिति, अनुगाम्यादिधर्मभेदवदित्यर्थः। अस्या उपमेयोपमायाः। असम्भावितभेदवारणाय प्रायश इति। उपमाया यथा पूर्णालुप्तादयो भेदा भवन्ति, तथोपमेयोपमाया अपि प्रायस्ते भेदा भवितुमर्हन्तीति भावः।

उपमेयोपमा के अन्य भेदों की सूचना दी जाती है—एवम् इत्यादि। जिस तरह अनुगामी आदि धर्मों के भेद से उपमेयोपमा के अनेक भेद हुए हैं उसी तरह पूर्णा लुप्ता आदि वे सभी भेद प्रायः उपमेयोपमा के भी हो सकते हैं जो उपमा के होते हैं।

ननु सम्भवन्तस्ते भेदाः कुतो नोदाह्रियन्ते इत्यत आह—

ते चामुयैव दिशा सुबुद्धिभिरुन्नेतुं शक्या इति नेह निरूप्यन्ते।

अमुयैव दिशेति। तयैव (उपमाप्रकरणोक्तया) रीत्या इत्यर्थः। उन्नेतुम् ऊहितुम्। अन्यत् सुगमम्।

उन संभावित प्रभेदों का निरूपण क्यों नहीं करते इसका उत्तर दिया जाता है—ते च इत्यादि। सुन्दर बुद्धि रखने वाले पुरुष, उपमाप्रकरणोक्त रीति से उन प्रभेदों का ऊह स्वयं कर सकते हैं, अतः उनका निरूपण यहाँ नहीं किया जाता है।

खण्डयितुमप्पयदीक्षितमतमुत्थापयति—

चित्रमीमांसाकृतस्तु प्राचीनं लक्षणमव्याप्त्यतिव्याप्त्यादिभिर्दूषयित्वा—

'अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण वा।
एकधर्माश्रया या स्यात्सोपमेयोपमा मता॥'

इति स्वयं लक्षणमाहुः। अस्यार्थः संक्षेपेण सपदकृत्यस्तदुक्तरीत्या सहृदयानां सौकर्यायोच्यते—अन्योन्येनेति। अन्योन्यप्रतियोगित्वविशिष्टा व्यक्त्या व्यञ्जनाव्यापारेण वृत्त्यन्तरेण शक्त्या वा बोध्या वेद्या एकधर्माश्रया एकधर्मप्रयोज्या या उपमा सा उपमेयोपमा मतेत्यन्वयः। अन्योन्येनेति विशेषणादिदं तच्च सममित्युभयविश्रान्तोपमाया निरासः। अत्रान्योन्यप्रतियोगिकत्वस्य व्यञ्जनव्यापारमात्रगम्यत्वेनोपमायाश्च शक्तिवेद्यतया परस्परनिरपेक्षेणैकेन व्यापारेणान्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टायास्तस्या अबोधनात्, परस्परनैरपेक्ष्यस्यात्र वाका-

रेणाभिधानात्। एकधर्माश्रयेति विशेषणात् 'रजोभिर्भूरिव द्यौर्घनसन्निभैर्गजैश्च द्यौरिव भूः' इति कस्यचित्पद्यस्यार्थे परस्परोपमायां नातिव्याप्तिः, तत्रोपमाप्रयोजकधर्मैक्याभावात्। भूतलोपमानिकायां प्रयोजकस्य रजसामनुगामिधर्मस्य, नभस्तलोपमानिकायां प्रयोजकस्य घनसदृशगजानां बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मस्य च भेदात्। व्यक्त्येति च विशेषणं व्यङ्ग्योपमेयोपमासङ्ग्रहार्थमितीदमुपमेयोपमात्वप्रयोजकं लक्षणमिति।

प्राचीनं लक्षणमिति। 'उपमानोपमेयत्वं द्वयोः पर्यायतो यदि। उपमेयोपमा सा स्याद् द्विविधैषा प्रकीर्तिता।' इतीत्यर्थः। अव्याप्तीति। 'तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्' इत्यत्राव्याप्तिः। 'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः' इत्यत्रातिव्याप्तिरिति भावः। (अनयोः पद्ययोः सम्पूर्णं स्वरूपं स्वयं मूलकृतैवानुपदं वक्ष्यते।) अन्योन्येनेत्यत्र तृतीयायाः प्रतियोगित्वार्थकतया तदर्थमाह—अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टेति। व्यक्त्या इत्यस्यार्थमाह—व्यञ्जनाव्यापारेणेति। लक्षणाया असम्भवात् वृत्यन्तरेणेत्यस्य व्याख्यां करोति—शक्त्या इति। इवादिसत्त्वे इति भावः। बोध्या इत्यस्य व्याख्या—वेद्या इति। एकधर्माश्रया इत्यस्य टीका—एकधर्मप्रयोज्या इति। एक साधारणधर्ममूलिकेति तदर्थः। अन्वयमुक्त्वा पदकृत्यमाह—अन्योन्येति विशेषणादित्यादिना। उभयविश्रान्तेति। उभयत्र पर्यवसिता न श्रौतीत्यर्थः। तस्या निरासे हेतुमाह—अत्रेत्यादिना। शक्तीति। समपदेत्यादिः। ननु वृत्तिविषये परस्परनिरपेक्षत्वनिवेशो लक्षणे कुतोऽवगम्यते इति चेत्तत्राह—परस्परनैरपेक्ष्यस्येति। 'व्यक्त्या वृत्यन्तरेण वा' इत्यत्र 'वा'पदं प्रयुञ्जानैर्दीक्षितैर्वृत्त्योः परस्परनिरपेक्षत्वं सूचितम्, अन्यथा पक्षान्तरकथनासङ्गतेरिति भावः। अर्थ इति। अर्थरूपायामित्यर्थः। रजसामिति। प्रयोजकीभूतरजोऽभिन्नानुगामिधर्मस्येत्यर्थः। समानविभक्तिकत्वस्येव समानवचनत्वस्याभेदान्वये न [illegible] [illegible]। [illegible]। घनगजयोर्भेदेन कथं साधारणत्वमत आह—बिम्बेति। अयं भावः—अप्पयदीक्षितैः चित्रमीमांसाख्ये स्वनिबन्धे प्राचीनकृतं लक्षणं निरस्य 'अन्योन्येने'ति उपमेयोपमाया लक्षणं कृतं। तत्रा'न्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टा या उपमा' इत्यर्थकस्य 'अन्योन्येन या उपमा' इत्यस्य निवेशेन 'इदं तच्च समम्' इत्युभयपर्यवसितोपमाया व्यावृत्तिः कृता, यतस्तत्रोपमा समशब्दशक्तिगम्या, 'इदं तेन समम्, तच्चानेन समम्' इत्याकारकपरस्परोपमानभावात्मकं परस्परप्रतियोगिकत्वं पुनर्व्यञ्जनागम्यम्। तथा चास्यामुपमायां शक्तिव्यञ्जनयोरुभयोरोगितणेन एकप्रतीतिबोध्यत्वमासीत्। एकधर्मप्रयोज्येत्यर्थकैकधर्माश्रया इति कथनेन 'रजोभिः—' इति मूलोक्तपरस्परोपमानिरासो विहितः, यतस्तत्र भूतलोपमानकनभस्तलोपमेयकोपमाप्रयोजकः साधारणधर्मोऽनुगामी रजोरूपः तथा नभस्तलोपमानकभूतलोपमेयकोपमाप्रयोजकश्च साधारणधर्मो बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो घनसदृशगज इति तत्रोपमयोरेकधर्मप्रयोज्यत्वाभाव इति।

खण्डन करने के लिये अप्पयदीक्षित के मत का उपपादन किया जाता है—चित्र इत्यादि। अप्पयदीक्षितजी ने अपनी चित्रमीमांसा नामक पुस्तक में 'तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्' इस पद्य में अव्याप्ति और 'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः' इस पद्य में अतिव्याप्ति दोष दिखलाकर पहले 'उपमानोपमेयत्वं द्वयोः पर्यायतो यदि। उपमेयोपमा सा स्याद्द्विविधैषा प्रकीर्तिता। अर्थात् यदि दोनों पदार्थ क्रमशः उपमान तथा उपमेय हों, तब वह उपमेयोपमा होती है। इसके दो भेद हैं।' इस प्राचीनोक्त लक्षण का खण्डन किया और तदुत्तर स्वयं 'अन्योन्येनोपमा—' यह मूलोक्त लक्षण किया है। सहृदयों

की सुगमता के ध्यान से उक्त लक्षण का अर्थ पदकृत्यसहित संक्षेप में ग्रन्थकार, चित्रमीमांसाकार की रीति से बतलाते हैं—अन्योन्येन = परस्पर दोनों पदार्थ जिसके प्रतियोगी होते हों ऐसी, तथा एकधर्माश्रया = एक ही साधारण धर्म से सिद्ध होनेवाली, जो उपमा (सादृश्य) व्यक्त्या = व्यञ्जनावृत्तिद्वारा, अथवा, वृत्त्यन्तरेण = अभिधावृत्तिद्वारा बोध्या = ज्ञात होती हो, उसको उपमेयोपमा माना जाता है—यह तो हुआ इस लक्षण वाक्य का अन्वयानुसारी अर्थ। अब पदकृत्य देखिये—इस लक्षण में उक्त अर्थवाला 'अन्योन्येन' विशेषण इसलिये जोड़ा गया है कि-'इदं तच्च समम्-अर्थात् यह और वह समान है' इस उभयनिष्ठ उपमा में अतिव्याप्ति न हो। इस उपमा में यद्यपि अन्योन्यप्रतियोगिकत्व है-अर्थात् इस वाक्य से 'इसका सादृश्य उसमें' और 'उसका सादृश्य इसमें' इस तरह दोनों का सादृश्य दोनों में सिद्ध होता है, तथापि यह अन्योन्यप्रतियोगिकत्व-दोनों का सादृश्यप्रतियोगी होना-व्यञ्जनावृत्ति द्वारा ज्ञात होता है-अर्थात् 'इसका सादृश्य उसमें और उसका सादृश्य इसमें' ऐसा ज्ञान शब्दतः नहीं होता और उपमा ज्ञात होती है 'सम' शब्द की अभिधावृत्ति से, अतः अन्य वृत्ति की अपेक्षा किये बिना किसी एक वृत्ति से 'अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्ट उपमा' यहाँ ज्ञात नहीं होती। तात्पर्य यह कि-उक्त विशिष्ट उपमा का बोध कराने के लिये अभिधा को व्यञ्जनावृत्ति की अपेक्षा करनी पड़ती है। और लक्षण के अनुसार होना चाहिए 'अन्य वृत्ति की अपेक्षारहित एक वृत्ति द्वारा अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्ट उपमा का बोध।' आप पूछ सकते हैं कि-लक्षण में तो 'अन्य वृत्ति की अपेक्षा से रहित' यह बात लिखी हुई है नहीं, फिर आप यह बात कहाँ से ले आए, तो इसका उत्तर यह है कि-लक्षण में जो 'वा (अथवा)' पद है-उसका अर्थ यही होता है-अर्थात् 'वा' पद पक्षान्तर का बोधक है, अतः यह सिद्ध होता है कि-व्यञ्जना अथवा अभिधा-इन दोनों में से किसी एक के द्वारा उक्त विशिष्ट उपमा का बोध होता हो। 'एकधर्माश्रया-एकधर्ममूलक (उपमा) इस अंश का फल यह है कि 'रज (धूलि) से आकाश पृथ्वी के समान और मेघों के सदृश गजों से पृथ्वी आकाश के समान' इस किसी पद्य के अर्थ रूप में आई हुई परस्परोपमा में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। कारण, यहाँ दोनों उपमाओं को सिद्ध करनेवाला धर्म एक नहीं है, 'भूतल' को उपमान मानकर बाँधी गई उपमा का साधक साधारण धर्म 'रज' यह अनुगामी पदार्थ है और 'आकाशतल' को उपमान मानकर बाँधी गई उपमा का साधक है बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न मेघसदृशगजपदार्थरूप धर्म। 'व्यक्त्या (व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा)' यह निवेश लक्षण में इसलिये किया गया है कि-इस लक्षण से व्यङ्ग्य उपमेयोपमा का भी संग्रह हो सके। यह लक्षण उपमेयोपमात्व का प्रयोजक-साधक है अर्थात् यह लक्षण जहाँ संघटित होगा, वह उपमा उपमेयोपमा समझी जायगी।

खण्डयति—

तन्न।

'अहं लतायाः सदृशीत्यखर्वं गौराङ्गि गर्वं न कदापि यायाः।
गवेषणेनालमिहापरेषामेषापि तुल्या तव तावदस्ति ॥'

अत्रान्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टाया उपमायास्तुल्यादिपदैकधर्माश्रयाया वृत्त्यन्तरेण शक्त्या बोधनादुपमेयोपमात्वापत्तेः।

तत् पूर्वोक्तदीक्षितकथनम्। न युक्तमिति शेषः। अयुक्तत्वे हेतुमाह—'अहं—' इत्यादिना। हे गौराङ्गि ! लतायाः सदृशी लतानुयोगिकसादृश्याश्रया, अहम्, इति, अखर्वं महान्तम्, गर्वं, कदापि न यायाः प्राप्नुहि, यतः, इह त्वत्तुल्यान्वेषणे, अपरेषां अन्येषां सम्प्रति नयनगोचराणां पदार्थानाम्, गवेषणेन अन्वेषणेन, अलं व्यर्थम्, तावत् प्रथमम्, एषाऽपि नयनगोचरीभूता लताऽपि, तव तुल्या त्वदनुयोगिकसादृश्याश्रया अस्ति इत्यर्थः।

अन्वेषणे कृतेऽन्येऽपि तव तुल्याः पदार्थाः लब्धुं शक्या इति भावः। अत्रेति। अस्य 'इति' इत्यादिः। तनुत्वेति। अस्य 'अनुपात्त' इत्यादिः। शक्त्येति। वृत्यन्तरेणेत्यस्य व्याख्येयम्। अयमाशयः—दीक्षितोक्तलक्षणानुसारं 'अहं लतायाः—' इति पद्येऽपि उपमेयोपमालंकारत्वप्रसक्तिः, अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टायाः परस्परोपमानोपमेयभावयुक्ताया इति यावत् लतानायिकयोरुपमायाः अनुक्ततनुत्वादिरूपैकधर्मप्रयोज्यायाः, शक्त्या ज्ञायमानत्वात् तथा चातिव्याप्तिदोषग्रस्तमिदं लक्षणमिति।

खण्डन किया जाता है— तत्र इत्यादि। सब कुछ होने पर भी दीक्षितजी का उपमेयोपमालक्षण ठीक नहीं है। कारण, तदनुसार, "अहं लतायाः—अर्थात् हे गौराङ्गि! 'मैं लता के सदृश हूँ (हम दोनों की तुलना में मैं ही उपमान होती हूँ, मेरे उपमान होने योग्य वह क्या? कोई नहीं है)' इस तरह का महागर्व तू कभी मत करना। इस विषय में दूसरों को ढूँढने की आवश्यकता नहीं, प्रथमतः यह लता भी तो तेरे सदृश है अर्थात् तुलना में तेरा उपमान बनती है। अभिप्राय है कि—यह (लता) तो बिना ढूँढे तेरे समान मिल गई, ढूँढने पर तो न जाने कितनी चीजें ऐसी मिल जाँय।" इस पद्य में भी उपमेयोपमा हो जायगी, क्योंकि यहाँ भी दोनों क्रम-क्रम से जिसके प्रतियोगी होते हैं, ऐसी और तनुत्व (दुर्बलता) आदि अनुक्त एक धर्म से सिद्ध होने वाली उपमा का वृत्यन्तर (अभिधा) से बोध होता है। सारांश यह हुआ कि दीक्षितजी का लक्षण यहाँ अतिव्याप्त हो जाता है।

आशंक्य समाधत्ते—

न चात्रान्योन्यप्रतियोगिकत्वमुपमायां न प्रतीयते, लतादिसम्बन्धिसादृश्याश्रयत्वस्यैवास्मत्पदार्थेऽन्वयादिति वाच्यम्। 'मुखस्य सदृशश्चन्द्रश्चन्द्रस्य सदृशं मुखम्' इत्युपमेयोपमायामव्याप्तेः।

सदृशतुल्यादिपदानां धर्मिवाचकतया 'अहं लतायाः—' इति पद्ये 'लतायाः सदृशी' 'तव तुल्या' इत्यंशाभ्यां लतासम्बन्धिसादृश्याश्रयत्वस्यास्मत्पदार्थे त्वत्सम्बन्धिसादृश्याश्रयत्वस्यैतत्पदार्थे चान्वयावगमेन अन्योन्यप्रतियोगिकत्वस्य प्रतीतिरुपमायां न भवतीति कथमतिव्याप्तिरिति शङ्का नोचिता, यतस्तथाङ्गीकारे 'मुखस्य सदृशः—' इति मूलोक्तपद्यखण्डे उपमेयोपमोदाहरणतया सर्वसम्मते तल्लक्षणस्याव्याप्त्यापत्तिः, अत्रापि धर्मिवाचकसदृशपदस्यैव तत्तुल्ययोगित्वेन गत्यात्। यथा 'अहं लतायाः—' इत्यत्र सदृशतुल्यादिपदात् सादृश्याश्रयत्वस्यैव प्रतीतिः न सादृश्यप्रतियोगित्वस्य, तथा 'मुखस्य सदृशः—' इत्यत्रापीति उपमेयोपमात्वानापत्तिः, अतः सदृशादिपदसत्त्वे शब्दतः प्रतियोगिताया अप्रतीतावपि अर्थतः प्रतीतिर्भवतीति स्वीकार्यमेव तथा चालक्ष्ये 'अहं लतायाः—' इति पद्ये लक्षणप्रसङ्गादतिव्याप्तिः ग्रन्थकारोक्ता समुचितैवेति भावः।

एक आशंका और उसका समाधान अब किया जाता है—न च इत्यादि। सदृश, तुल्य आदि पदों से सादृश्यका आश्रय होना विदित होता है सादृश्य का प्रतियोगी होना नहीं। ऐसी दशा में 'अहं लतायाः—' इस पद्य की उपमा में परस्परप्रतियोगिकत्व की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि पद्य के 'लतायाः सदृशी (लता के सदृश)' और 'तव तुल्या (तेरे तुल्य)' इन अंशों से गौराङ्गी आदि में लता आदि से सम्बन्ध रखनेवाले सादृश्य का आश्रय होना ही ज्ञात होगा, फिर आपके द्वारा प्रतिपादित अतिव्याप्ति नहीं होगी ऐसी आशङ्का यदि आप करें तो इसका उत्तर यह है कि—ऐसे स्थलों पर (सदृश आदि पदों के रहने पर) यदि प्रतियोगि-अनुयोगिभाव का भान नहीं माना जाय तब 'मुख के सदृश चन्द्र है और चन्द्र के सदृश मुख है' इस सर्वसम्मत उपमेयोपमा में अव्याप्ति

हो जायगी—यहाँ उपमेयोपमा नहीं हो सकेगी, क्योंकि यहाँ भी वही बात है—अर्थात् आपके हिसाब से सदृश पद के रहने पर 'अन्योन्यप्रतियोगिकत्व' की प्रतीति उपमा में नहीं होगी। अतः अगत्या मानना पड़ेगा कि—सदृश आदि धर्मिवाचक पदों के रहने पर शब्दतः प्रतियोग्यनुयोगिभाव की प्रतीति भले ही न हो, पर अर्थतः उसकी प्रतीति अवश्य होती है। ऐसा मानने पर ही 'मुख के सदृश चन्द्र—' इस पूर्वोक्त वाक्य में उपमेयोपमा हो सकेगी और जब ऐसा मान लिया जायगा तब 'अहं लतायाः—' इस पद्य में जो अतिव्याप्ति की बात कही गई है वह उचित ही सिद्ध होगी।

ननु 'मुखस्य सदृशः—' इतिवत् 'अहं लतायाः—' इति पद्यमपि लक्ष्यमेवोपमेयोपमायास्तथा च नातिव्याप्तिः, अलक्ष्ये लक्षणगमनस्यातिव्याप्तिपदार्थत्वादित्यत्राह—

न ह्यहं लताया इत्यत्रोपमेयोपमा भवितुमर्हति। गर्वमात्रनिरासपरत्वेनोत्तरार्धोपमायास्तृतीयसदृशव्यवच्छेदाप्रतिपत्तेः। अत एव अन्यान्यपि तव सदृशानि सन्त्येव तेषां गवेषणेन किं फलमित्येतदर्थकं गवेषणेनेत्युत्तरार्धं सङ्गच्छते। तृतीयसब्रह्मचारिव्यवच्छेदो ह्युपमेयोपमाजीवितमित्यालङ्कारिकसिद्धान्तः। अन्यथा 'भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम्' इत्यत्राप्युपमेयोपमात्वनिवारणप्रयासवैयर्थ्यापत्तेः।

उपमेयोपमाभवनानर्हत्वे हेतुमाह—गर्वेति। ननु तन्मात्रपरत्व एव किं बीजमत आह—अत एवेति। तत्परत्वेन तस्याः साफल्यादेवेत्यर्थः। उत्तरार्धं सदेकदेशः। नन्वेवमपि तृतीयसदृशव्यवच्छेदप्रतीतावेवोपमेयोपमा इत्यत्र किं विनिगमकमत आह—तृतीयेति। सब्रह्मचारीति सदृशेत्यर्थः। नन्वन्येषां तथा सिद्धान्तेऽपि न मम सिद्धान्तस्तथेत्युक्तेरवसरं निवारयति—अन्यथेति। तस्य तज्जीवितत्वानङ्गीकारे इति तदर्थः। भुवस्तलमिवेति। रघुवंशाख्यमहाकाव्यघटकपद्यांशोऽयम्। अर्थस्तु स्पष्ट एव। यदि तृतीयसदृशनिवृत्तिप्रतीतिशून्येऽपि स्थले उपमेयोपमा दीक्षितस्याभिमताऽभविष्यत्तदा 'भुवस्तलमिव—' इत्यत्रान्यसाधनसंयुक्तेऽपि तृतीयसदृशव्यवच्छेदमात्ररहिते पद्ये तद्वारणायासं नासावकरिष्यत्, अकरोच्चेत्तृतीयसदृशव्यवच्छेदस्योपमेयोपमाजीवितत्वं अन्यालङ्कारिकाङ्गीकृतं स्वीकर्तव्यमेव तेनापि। तथा च 'अहं लतायाः—' इति पद्यं नोपमेयोपमाया लक्ष्यं भवितुं शक्नोति, तृतीयसदृशव्यवच्छेदस्यात्राप्रतीतेः। न चोत्तरार्धोक्ताया उपमायास्तृतीयसदृशव्यवच्छेदकत्वमिति वाच्यम्, [illegible] न चास्तु तस्या गर्वनिरासपरत्वं, परन्तु तेन सह [illegible] निरासमात्रपरत्वं कुतोऽवगम्यते इति वाच्यम्, 'गवेष[illegible]' 'अन्यानि तव सदृशानि सन्ति' इत्यर्थस्य स्फुटं प्रतिपत्तौ तृतीयसदृशव्यवच्छेदप्रतीतेरङ्गीकर्तुमयोग्यतया गर्वमात्रनिरासपरत्वस्यावगमादिति भावः।

यदि आप कहें कि—"'अहं लतायाः—' इस पद्य को भी मैं उपमेयोपमा का लक्ष्य ही मानता हूँ, तब तो अतिव्याप्ति की बात नहीं उठेगी, क्योंकि अलक्ष्य में लक्षण का संघटित होना अतिव्याप्ति कहलाता है।" इसके उत्तर में कहते हैं—न हि इत्यादि। अभिप्राय यह है कि—'अहं लतायाः—' इस पद्य को उपमेयोपमा का लक्ष्य नहीं माना जा सकता। कारण, यहाँ तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति प्रतीत नहीं होती। आप कहेंगे—यदि तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति प्रतीत नहीं होती तब पद्य के उत्तरार्ध भाग में जो दूसरी उपमा वर्णित हुई है उसका क्या फल है? तो मैं कहूँगा कि—उसका फल केवल पूर्वार्ध में वर्णित गर्व का निरास करना है। बात भी यही ठीक है, अन्यथा उत्तरार्ध का 'गवेषणेनालमिहापरेषाम्' यह अंश असङ्गत हो जायगा, क्योंकि 'तेरे सदृश बहुतेरे

पदार्थ संसार में खोज करने पर मिल सकते हैं' यही उस अंश का अर्थ होता है। तात्पर्य यह कि–उक्त अंश से जब तेरे समान अनेक पदार्थों की सम्भावना व्यक्त की गई है तब तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति कथमपि यहाँ विदित नहीं हो सकती है। आप कहेंगे–तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति अभिव्यक्त होने पर ही उपमेयोपमा मानी जाय इसमें क्या प्रमाण है, तो इसके समाधान में मेरा कथन यह है कि–तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति ही उपमेयोपमा का जीवन है ऐसा सभी आलङ्कारिकों का सिद्धान्त है। आप इस सिद्धान्त को स्वीकार न करें ऐसी बात तो हो नहीं सकती। कारण, आपने केवल तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति की प्रतीति न होने के कारण, 'भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्–अर्थात् पृथ्वी को आकाश के समान और आकाश को पृथ्वी के समान करते हुए' इस रघुवंश के पद्यांश में उपमेयोपमा के वारण करने का प्रयास किया है। यदि आप उक्त सिद्धान्त को न स्वीकार करते होते, तब यहाँ उपमेयोपमा के वारण का प्रयास नहीं करते।

दीक्षितमतसमर्थिकां युक्तिमाशङ्क्य समाधत्ते—

न च तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकत्वमुपमाविशेषणं वाच्यम्, विशेषणान्तरवैयर्थ्यापत्तेः। विशेषणव्यावर्त्यानामाधुनिकविशेषणेनैव वारणात्।

वाच्यमिति। 'अहं लतायाः—' इत्यत्रातिव्याप्तिवारणायेदानीं वक्तव्यमित्यर्थः। विशेषणान्तरेति। अन्योन्येनेत्यादीत्यर्थः। नन्वेवं कथमुक्तदोषव्यावृत्तिरत आह—विशेषणेति। विशेषणान्तरेत्यर्थः। 'अहं लतायाः—' इत्यत्र दोषनिरासाय लक्षणे तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकत्वमुपमाविशेषणं योज्येत चेत्, तर्हि तेन विशेषणेनैव 'इदं तच्च समम्', 'रजोभिर्भूरिव द्यौर्घनसन्निभैर्गजैश्च द्यौरिव भूः' इत्यादावतिव्याप्तौ वारितायां तद्वारकविशेषणान्तराणां योजनं निरर्थकं स्यादिति भावः।

दीक्षितमत के समर्थन में एक युक्ति दिखलाकर उसका खण्डन करते हैं—न च इत्यादि। अब यदि आप कहें कि—'अहं लतायाः—' इस पद्य में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति जिससे फलित हो ऐसी उपमा' यह विशेषण भी लक्षण में जोड़ देंगे, तो यह भी समुचित नहीं। कारण, ऐसा करने पर आपके द्वारा लक्षण में लगाये गए अन्य सभी विशेषण (अन्योन्येन इत्यादि) व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि उन विशेषणों के द्वारा 'इदं तच्च समम्', 'रजोभिर्भूरिव द्यौर्घनसंनिभैर्गजैश्च द्यौरिव भूः' इत्यादि स्थानों में जिस अतिव्याप्तिदोष का वारण आपको करना था, उसका वारण अब इसी नवीन विशेषण से हो जायगा।

दीक्षितोक्तमन्यदपि दूषयितुमाह—

अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टा उपमा एकवृत्तिमात्रवेद्येत्यप्ययुक्तमेव। 'खमिव जलं जलमिव खम्' इत्यादौ खजलयोः सादृश्यान्वये प्रतियोगित्वस्य संसर्गत्वेन वृत्त्यविषयत्वात्। वृत्तिवेद्यानां पदार्थानां संसर्गो वृत्त्यवेद्य इत्यभ्युपगमात्। अन्यथा प्रकारतापत्तेः।

प्रतियोगित्वस्येति। अनुयोगित्वविशिष्टेत्यादिः। ननु कुतो न तस्य वृत्तिविषयत्वमित्याह—वृत्तीति। अत्र "उक्तग्रन्थस्यैकवृत्तिमात्रवेद्यत्वे न तात्पर्यं किं तु वृत्तिद्वयवेद्यत्वाभावे। तथा तज्जन्यप्रतीतौ यथाकथंचिद्विषयसमानत्वमेव तन्मात्रवेद्यत्वम्। अस्ति च 'खमिव जलम्' इत्यादौ। नास्ति च तत्रेति तन्निरास इत्याशयेनादोषाच्चिन्त्यमिदम्" इति स्वचिरमाह नागेशः। तत्तत्पदार्थमात्रे पदानां वृत्तिः, वृत्युपस्थापितानामर्थानां पारस्परिकाः सम्बन्धाः आकांक्षाभास्याः, न तेषु पदानां वृत्तिः 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति

न्यायात्, अत एव सम्बन्धानां प्रकारतया शाब्दबोधे भानं न भवति, अन्यथा तदपरिहार्यं स्यादिति सिद्धान्तः। तथा च 'खमिव जलम्—' इत्यादौ खजलपदनिष्ठाभिधावृत्तिवेद्ययोः आकाशजलपदार्थयोः इवपदनिष्ठतद्वृत्तिवेद्येन सादृश्यपदार्थेन सह जायमानेऽन्वयबोधे प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोः संसर्गविधयैव भानम् न तु तत्र कस्यापि पदस्य काऽपि (शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना वा) वृत्तिः। एवञ्च प्रागुक्तदीक्षितकृतोपमेयोपमालक्षणे 'अन्योन्यप्रतियोगित्वविशिष्टा उपमा एकवृत्तिवेद्या यदि भवेत्, तदा सोपमेयोपमा' इति कथनमसङ्गतमेव, प्रतियोगित्वस्य वृत्त्यवेद्यत्वे तद्घटितविशिष्टोपमायामपि 'विशेषणाभावे विशिष्टाभावः' इति रीत्या वृत्तिवेद्यत्वाभावेन प्रागुक्तलक्ष्ये उपमेयोपमात्वानापत्तेरिति भावः।

दीक्षितकृत उक्त लक्षण के एक अन्य अंश का भी खण्डन करते हैं—अन्योन्य इत्यादि। अन्य किसी तरीके से जो अर्थ ज्ञात न हो सके उसी को शब्द का अर्थ मानना चाहिए अर्थात् शब्दों की वृत्ति (शक्ति लक्षणा आदि) उसी अर्थ में मानी जाती है जो वृत्ति के माने बिना ज्ञात न हो सके। तदनुसार पदार्थों के सम्बन्धों (प्रतियोगित्व अनुयोगित्व आदि) में पदों की वृत्ति नहीं मानी जाती, क्योंकि उसके बिना भी आकांक्षा के द्वारा उनका भान शाब्दबोध में हो जाता है, अतएव शाब्दबोध में सम्बन्धों का विशेषणरूप से भान नहीं होता है, यदि वे (सम्बन्ध) भी पदनिष्ठवृत्ति से उपस्थित होते रहते, तब अन्यवृत्तिवेद्य पदार्थों के समान विशेषण ही होते। ऐसी स्थिति में दीक्षितजी ने जो उक्त लक्षण में यह कहा है कि—'परस्परप्रतियोगिकत्वविशिष्ट उपमा यदि एक वृत्ति से ज्ञात हो तब वह उपमेयोपमा है' वह सर्वथा असङ्गत है क्योंकि इस कथन के हिसाब से 'खमिव जलम् जलमिव खम्—अर्थात् जल आकाश के समान और आकाश जल के समान' इस वाक्य में उपमेयोपमा नहीं हो सकेगी। कारण, यहाँ आकाश और जल के सादृश्य के साथ होनेवाले अन्वय-बोध में जो प्रतियोगिता-अनुयोगिता भासित होती है, वह संबन्धरूप है, अतः उक्त सिद्धान्त के अनुसार उसमें किसी पद की वृत्ति नहीं है—अर्थात् वह आकांक्षा भास्य है और 'प्रतियोगित्व' जब वृत्तिवेद्य नहीं हुआ, तब तद्युक्त होकर उपमा भी वृत्तिवेद्य नहीं कही जायगी। तात्पर्य यह कि यद्यपि शुद्ध उपमा सादृश्य इव पद की वृत्ति से वेद्य है पर अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्ट उपमा तो वृत्तिवेद्य नहीं है, अतः यहाँ उक्त लक्षण का संघटन नहीं हो सकेगा। यहाँ नागेश का कथन है कि 'अन्योन्यप्रतियोगित्वविशिष्ट उपमा एकवृत्तिवेद्य हो' इस उक्ति का अभिप्राय एकवृत्ति से प्रतियोगिता और उपमा दोनों का अवगत होना नहीं है, अपितु यह है कि—इस विशिष्ट में के दोनों अंश यदि वृत्तिवेद्य हों तो उन्हें एकवृत्तिवेद्य होना चाहिए और यदि इन दोनों में से कोई अंश बिना वृत्ति के ही अवगत होता हो तो ऐसा हो सकता है—इससे कोई हानि नहीं। अथवा एकवृत्तिजन्य बोध में भासित होना ही यहाँ एकमात्रवृत्ति से वेद्य होना विवक्षित है, अतः यहाँ जो दीक्षित का खण्डन किया गया है वह ठीक नहीं है।

अलङ्कारसर्वस्वकारमतमालोचयितुमुपक्रमते—

यदप्यलङ्कारसर्वस्वकृतोक्तम् 'द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा। तच्छब्देनोपमानोपमेयत्वप्रत्यवमर्शः। पर्यायो यौगपद्याभावः। अत एवात्र वाक्यभेदः' इति तन्न। अत्र द्वयोरिति व्यर्थम्। एकस्योपमानोपमेयात्मकत्वे 'गगनं गगनाकारम्' इत्यादौ वाक्यभेदाभावेन पर्यायाभावादेवाप्रसक्तेः।

'द्वयोः पर्यायेण—' इति लक्षणम्। लक्षणघटकतच्छब्दबोध्यं स्फोरयति—तच्छब्देनेति। पर्यायपदार्थमाह—पर्यायो यौग इति। फलितमाह—अत एवेति। खण्डने हेतुमाह—अत्र इत्यादिना। अलङ्कारसर्वस्वकारकृतम् 'द्वयोः—' इत्युपमेयोपमालक्षणं न सम्यक्

वाक्यभेदरूपपर्यवसितार्थके पर्यायपदे लक्षणप्रविशिते तद्बलादेव यत्र, एक एव पदार्थः उपमानभूत उपमेयभूतश्च भवति तादृशे 'गगनं गगनाकारम्' इत्याद्यनन्वयस्थले लक्षणातिव्याप्तिर्न भवितुमर्हति, वाक्यभेदराहित्येन पर्यायाभावात्, तथा च 'द्वयोः' इति विशेषणं व्यर्थम्, व्यावर्त्याभावात् व्यावर्त्यत्वेनाभिमतस्य विशेषणान्तरेणैव वारणादिति भावः।

अब 'अलङ्कारसर्वस्वकार' के मत की आलोचना की जाती है—यदपि इत्यादि। अलङ्कारसर्वस्वकार ने "—'द्वयोः—इत्यादि अर्थात् दोनों में पर्यायेण यदि वह बात हो, तब उपमेयोपमा होती है' यह उपमेयोपमा का लक्षण बनाकर स्वयं उसकी व्याख्या में लिखा है कि—इस लक्षण में 'तस्मिन्' का अर्थ है 'उपमानता और उपमेयता होने पर' और 'पर्याय' शब्द का अर्थ है 'एक साथ न होना—अर्थात् भिन्न-भिन्न वाक्य से उपमानता और उपमेयता का वर्णित होना', अतएव उपमेयोपमा में वाक्यभेद हुआ करता है।" सारांश यह कि—अलङ्कारसर्वस्वकार के हिसाब से 'यदि प्रथम वाक्य का उपमान दूसरे वाक्य में उपमेय और प्रथम वाक्य का उपमेय द्वितीय वाक्य में उपमान हो तब उपमेयोपमा होती है'। परन्तु यह लक्षण भी ठीक नहीं। कारण, इस लक्षण में 'द्वयोः' पद व्यर्थ है। आप कहेंगे—व्यर्थ नहीं है—'गगनं गगनाकारम् अर्थात् आकाश आकाश के से आकारवाला है' इत्यादि अनन्वयालङ्कार—जहाँ एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय दोनों होता है—में अतिव्याप्तिवारण के लिये उसकी ('द्वयोः' पद की) सार्थकता है, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि इसका वारण तो 'पर्याय' पद से ही हो जाता है। तात्पर्य यह कि अनन्वयस्थल में वाक्यभेद नहीं रहता है, अतः वहाँ नियमतः 'पर्याय' पदार्थ का अभाव रहेगा ही, ऐसी स्थिति में जिस दोष को 'द्वयोः' कहकर आप हटाना चाहते हैं, वह 'पर्यायेण' पद से ही हट जाता है, फिर 'द्वयोः' की आवश्यकता नहीं रह जाती।

आशयविशेषवर्णनेन 'द्वयोः' इत्यस्य सार्थक्ये साधितेऽपि दोषान्तरेण दुष्टमेवैतल्लक्षणमित्याख्यातुं प्रवर्तते—

यदि च स्फुटत्वार्थमुपमानोपमेयत्वयोरयत्नासम्पादकलिङ्गवचनभेदराहित्यप्रतिपत्त्यर्थं कविसमयसिद्धिस्फोरणार्थं वा द्वयोरिति ग्रहणं स्यात्, अथापि प्रागुदीरिते 'अहं लतायाः सदृशीत्यखर्वम्' इति पद्ये प्रतिपाद्यायामुपमायामतिव्याप्तेः।

'तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम्॥'

इति कालिदासपद्ये प्रतिपाद्यायामुपमानोपमेययोर्युगपदुपमेयोपमानभावायामुपमेयोपमायां वाक्यभेदाभावादव्याप्तेश्च।

स्फुटत्वार्थमिति। एतेन वर्णनीयाशयविशेषस्यापि लाभस्तद्वित्रैव सम्भवति, परन्तु तथालब्धोऽप्यसौ न स्फुट इति ध्वनितम्। तद्भेदेऽपि तयोस्सत्ताया: सत्त्वादाह—कवीति। इष्टापत्त्या नातिव्याप्तिरत आह—तद्वल्गुनेति। प्रकरणसापेक्षोऽयं श्लोकः। अवसितायामपि निशायां निशाशय्यामत्यजन्तं रघोस्तनयमजं स्वयंवरनात्रामुहूर्तानुरोधेन जागरयतां बन्दिजनबालकानां समवयस्कानाम्, तम्प्रति प्रभातवेलावर्णनपरेयमुक्तिः—तत् तस्मात् सम्प्रत्येव इन्दुमत्या आत्मानं वरयितुं त्वया स्वयम्वरसभायां गन्तव्यमस्ति। सूर्यः रसातलादुदयाचलप्रान्तम्, अस्मात् कारणादित्यर्थः। (इदानीम्) युगपद् एकक्षणावच्छेदेन, वल्गुना रमणीयेन, उन्मिषितेन प्रकाशेन, अन्तः अभ्यन्तरे इत्यर्थः, प्रस्पन्दमाना स्थानान्तरस्पर्शरहिताऽपि क्रियाशीला चपला इति स्थूलार्थः, परुषेतरा कोमला,

तारा कनीनिका यस्य, तादृशम्, तव राजकुमारस्य अजस्येत्यर्थः, चक्षुर्नयनम्, एकवचनं जातिविवक्षयेति बोध्यम्, प्रचलिताः सस्पन्दा इत्यर्थः, भ्रमरा यस्मिन्, तादृशम्, पद्मम् कमलम्, च, इति द्वे, तावत् प्रथमं एतेनाग्रेऽन्येषां तवाङ्गानामस्यापि (चक्षुषः) वा अङ्गस्य वस्त्वन्तरेणापि परस्परतुलाप्रसङ्गः समागन्तेति ध्वन्यते। सद्यः तत्कालमिति यावत्, परस्परतुलाम् अन्योन्यसाम्यम्, अधिरोहताम् प्राप्नुतामिति (स्वयं वाञ्छामः)। कालिदासपद्ये इति कालिदासरचितरघुवंशाख्यमहाकाव्यघटकपद्ये इत्यर्थः। भावायामिति। उपमेयोपमानात्मिकायामित्यर्थः। ननु पर्यायपदनिवेशचारितव्यावर्त्यस्यापि द्वयोरित्यस्य न वैयर्थ्यम्, यद्विनोपमानोपमेययोग्यता न भवति तादृशस्य लिङ्गवचनभेदराहित्यस्य ज्ञानार्थम् तस्य सार्थकत्वात्, न च लिङ्गवचनभेदराहित्यं नोपमानोपमेयभावयोग्यतासम्पादकम् तद्विनाऽपि कविप्रसिद्ध्यनुरोधेन स्थलविशेषे उपमानोपमेयभावस्वीकारादिति वाच्यम्, सत्येवं कविप्रसिद्धिस्फोरणार्थमेव तत्सार्थक्यसम्पत्तेः, न च कविप्रसिद्धिविरुद्धमुपमानोपमेयत्वं चेन्न भवति, तर्हि 'तस्मिन्' इत्यनेन बोधितादुपमानोपमेयभावादेव कविप्रसिद्धेरपि लाभः सिद्ध एवेति न तत्स्फोरणार्थं तत्सार्थक्यमिति शङ्क्यम्, तथा लब्धस्यापि कविप्रसिद्धिरूपस्य वस्तुनः स्फुटज्ञानार्थं तत्सार्थक्यसम्भवात्, तथा चालङ्कारसर्वस्वकारकृतं प्रागुक्तमुपमेयोपमालक्षणं न दुष्टमिति चेन्न, [illegible] दोषस्य सत्त्वात्, तत्रापि [illegible] प्रसक्तेः। न च तत्र लक्षणप्रवृत्तिरिष्टैवेति नातिव्याप्तिरनतिव्याप्तत्वे न पुनः सम्यगेव तल्लक्षणमिति वक्तव्यम्, 'तद्वल्गुना—' इति कालिदासपद्ये वर्णितायाम् एककालावच्छेदेनैव उपमानोपमेययोरुपमेयोपमालक्षणायामपि तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकतया वस्तुत उपमेयोपमायां वाक्यभेदाभावादव्याप्तेरुद्धारात् इति भावः।

किसी तरह 'द्वयोः' पद की सार्थकता सिद्ध कर देने पर भी 'सर्वस्वकार' का उक्त लक्षण ठीक नहीं माना जा सकता, इस तथ्य का उल्लेख अब किया जाता है—यदि च इत्यादि। यदि आप कहें कि 'द्वयोः' पद व्यर्थ नहीं है, क्योंकि उस पद के द्वारा वारणीय अतिव्याप्त्यादि दोषों का वारण 'पर्याय' पद से हो जाने पर भी 'लिङ्गभेद वचनभेद आदि के न रहने पर ही किसी पदार्थ में उपमानोपमेयभाव की योग्यता आती है' इस बात के ज्ञान के लिये उस पद की सार्थकता है। इस पर यदि ग्रन्थकार की ओर से यह कहा जाय कि—लिङ्गभेदाभाव आदि उपमानोपमेयभाव की योग्यता का संपादक हो नहीं सकते, क्योंकि उनके न रहने पर भी कविप्रसिद्धि के अनुरोध से 'नयाङ्गैरङ्गैरपि गन्तुमेव प्रकम्पते'—इत्यादि स्थलों में उपमानोपमेयभाव माना गया है तो सर्वस्वकार की ओर से यह कहा जा सकता है कि—तब कविसमयप्रसिद्धि की स्फूर्ति के लिये ही 'द्वयोः' पद का सार्थक्य माना जा सकता है। इतने पर भी यदि ग्रन्थकार की ओर से यह तर्क उपस्थित किया जाय कि कविसम्प्रदायप्रसिद्धि की स्फूर्ति के लिये किसी अन्य पद की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसके बिना जब उपमानोपमेयभाव कहीं हो ही नहीं सकता, तब 'उपमानोपमेयभाव होने पर' इस अर्थ के बोधक 'तस्मिन्' पद से ही उसकी भी स्फूर्ति हो जायगी, तो इसके उत्तर में सर्वस्वकार के समर्थक यह कहेंगे—कि—हाँ, स्फूर्ति तो उसकी उससे हो जायगी, पर स्पष्ट नहीं—धूमिलरूप में, अतः स्पष्टतया उसकी स्फूर्ति के लिये 'द्वयोः' पद की सार्थकता सिद्ध की जा सकती है। तात्पर्य यह हुआ कि जब किसी तरह 'द्वयोः' पद सार्थक हो गया और अन्य कोई दोष आपने अभी तक दिखलाया नहीं तब सर्वस्वकार का उक्त लक्षण समुचित क्यों नहीं माना जाय, तो इस पर ग्रन्थकार का कथन है कि—नहीं, उस लक्षण को समुचित नहीं माना जा सकता। कारण, पहला तो यह कि उक्त लक्षण की, पूर्वोक्त 'अहं लतायाः—

पद्य से प्रतिपादित होनेवाली उपमा में अतिव्याप्ति होगी, और दूसरा यह कि—'तद्वल्गुना—' इस रघुवंश में कालिदास द्वारा रचित-पद्य में प्रतिपादित उपमेयोपमा में, जिसमें एक साथ उपमान की उपमेयता और उपमेय की उपमानता अवगत होती है, अव्याप्ति होगी, क्योंकि इस उपमेयोपमा में वाक्य-भेद नहीं है—अर्थात् उपमान की उपमेयता और उपमेय की उपमानता भिन्न-भिन्न दो वाक्यों से वर्णित नहीं हुई है। और आपके लक्षण के अनुसार वैसा अवश्य होना चाहिए। 'तद्वल्गुना—' इस पद्य का अर्थ यों है—महाराज रघु के राजकुमार अज की इन्दुमती-स्वयंवर यात्रा का प्रसङ्ग है। राजकुमार रात में सुकोमल शय्या पर सोये हुए हैं। उनको जगाने के लिये बन्दीजनों के बालक (जो उनके समवयस्क हैं) प्रभात-वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—हे राजकुमार! सूर्य अब उदयाचल के शिखर को चूम रहा है, अतः हम चाहते हैं कि इस समय साथ ही साथ सुन्दरतम विकाश के कारण ये दोनों पदार्थ परस्पर की तुलना को प्राप्त करें—एक दूसरे के सदृश बनें। कौन? एक तो वह आपका नेत्र जिसके अन्दर कोमल पुतली चपल हो उठी है और दूसरा वह कमल जिसके भीतर भ्रमर विचलित हो उठा है—बाहर निकलने के लिए सचेष्ट हो रहा है।

पुरोदीरिताव्याप्तौ कथञ्चित्समाहितायामपि दोषान्तरं सम्भवतीत्याह—

न चात्रापाततः शब्दैक्येऽपि पर्यवसितो वाक्यभेदोऽस्तीति वाच्यम्। तथापि—

'सविता विधवति विधुरपि सवितरति दिनन्ति यामिन्यः।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥'

इति कस्यचित्कवेः पद्ये परस्परोपमायामतिव्याप्तेः। न चेयमुपमेयोपमेति शक्यते वक्तुम्, सुखसमये दुःखदोऽपि सुखयति दुःखसमये च सुखदोऽपि दुःखयति इत्येतावन्मात्रस्यार्थस्य विवक्षितत्वात्तृतीयसदृशव्यवच्छेदाप्रतिपत्तेः।

आपाततः संक्षेपत इति यावत्। पर्यवसितः आर्थ इति यावत्। तथापीति तथात्वेन तत्र दोषाभावेऽपीत्यर्थः। सवितेति। सुखदुःखाभ्यां, वशीकृते कवलीकृते, सुखदुःखावस्थयोः वर्तमाने इति यावत्, मनसि हृदये, सतीति भावः, सविता सूर्यः, विधवति विधुश्चन्द्र इवाचरतीति भावः, विधुः, अपि, सवितरति सूर्य इवाचरति, यामिन्यः रजन्यः, दिनन्ति दिनानीवाचरन्ति, दिनानि च, यामिनयन्ति यामिन्य इवाचरन्ति। सुखमये मनसि खरकरनिकरतापकोऽपि सूर्यश्चन्द्र इव शीतलः प्रतीयते, तमोमय्यः कामिन्दरानासक्तप्राणिप्रचुराखिलक्लेशविवर्धिका अपि यामिन्यः दिवसा इव प्रकाशमया उत्साहवर्धका अनुभूयन्ते, दुःखमये च मानसे शीतलतमकिरणोऽपि चन्द्रः सूर्य इव तापकः प्रतीयते, प्रकाशमया अपि दिवसाः रजन्य इव तमोमया अनुभूयन्ते इति भावः। न चेति। न हीत्यर्थः। तथात्वकथनावश्यके हेतुमाह—सुखसमये इति। मात्रपदव्यवच्छेद्यं स्फुटयन्नाह—तृतीयेति। 'अभिरम्यतासदन—' इत्यत्र शब्दतः वाक्यैक्येऽपि अर्थतो जायमानं वाक्यभेदमादायोपमेयोपमायाः भेदान्तरं साधितं ग्रन्थकृता, तथा च 'तद्वल्गुना—' इति कालिदासपद्येऽपि आर्थो वाक्यभेदः अर्थात् 'द्वे परस्परतुलामधिरोहताम्' इत्युक्त्या 'चक्षुः पद्मस्य तुलामधिरोहतु', 'पद्मं च चक्षुषो तुलामधिरोहतु' इत्याकारकं वाक्यद्वयम्—अकामेनाप्यङ्गीकर्तव्यमेव तेन, एवञ्चाव्याप्त्यभावे लक्षणं निर्दुष्टमिति चेन्नैतम्, 'सविता विधवति—' इत्यज्ञातनामककविरचितपद्यवर्णितपरस्परोपमायामतिव्याप्तिप्रसङ्गस्यानुवृत्तेः। नात्र परस्परोपमा, किंतु उपमेयोपमैवेतीष्टापत्तिस्तु न शक्या कर्तुम्, सुखावस्थायां दुःखदायकान्यपि वस्तूनि सुखाकुर्वन्ति

दुःखावस्थायां च सुखकराण्यपि वस्तूनि दुःखमुत्पादयन्तीत्येतावतोऽर्थस्य कविविवक्षाविषय-तया उपमेयोपमाजीवातुभूतस्य तृतीयसदृशव्यवच्छेदस्याप्रतीतेरिति भावः ।

किसी तरह उक्त अव्याप्ति का समाधान यदि कर दिया जाय, तथापि दूसरे दोष बने ही रहेंगे इस बात का उल्लेख अब किया जाता है—न चापाततः इत्यादि। 'अभि-रामतासदन—' इस श्लोक में जैसे आर्थ वाक्यभेद मानकर उपमेयोपमा सिद्ध की गई है उसी तरह उक्त कालिदासीय पद्य में भी आर्थ वाक्यभेद मानकर वह सिद्ध की जा सकती है—अर्थात् यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि—'परस्परतुलामधिरोहतां द्वे' इस आपाततः एक प्रतीत होनेवाले वाक्य से 'चक्षु पद्म की तुला को प्राप्त करे' और 'पद्म चक्षु की तुला को प्राप्त करे' ये दो वाक्य पर्यवसित होते हैं—अतः अव्याप्ति नहीं होगी ऐसा कहकर उक्त अव्याप्तिदोष का समाधान यदि कर भी दिया जाय, तथापि 'सविता विधवति—अर्थात् जब मन सुख की अवस्था में रहता है, तब सूर्य चन्द्र की तरह शीतल हो जाता है और रातें भी दिन की तरह प्रकाशमय प्रतीत होने लगती हैं, और जब मन दुःख की अवस्था में रहता है, तब चन्द्र भी सूर्य की तरह प्रचण्ड तापक प्रतीत होता है और दिन भी रात की तरह अन्धकारमय ज्ञात होते हैं।' इस किसी कवि के पद्य में जो परस्पर की—सूर्य आदि की चन्द्र आदि के साथ और चन्द्र आदि की सूर्य आदि के साथ—उपमा वर्णित हुई है, उसमें अतिव्याप्ति हो ही जायगी। और आप यह तो कह नहीं सकते कि यहाँ परस्परोपमा नहीं उपमेयो-पमा ही है, क्योंकि यहाँ 'सुख के समय दुखदायी भी सुखदायी और दुःख के समय सुखदायी भी दुखदायी प्रतीत होते हैं' केवल इतना सा अर्थ कहना वक्ता का अभीष्ट है अतः इस कथन से तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति, जो उपमेयोपमा का प्राण है—प्रतीत नहीं होती। यहाँ एक बात पर पाठकों का ध्यान मैं दिलाना चाहता हूँ—हिन्दीरसगङ्गाधरकार पं० श्री चतुर्वेदीजी ने 'सविता विधवति—' पद्य के अर्थ में लिखा है कि—'जब मन सुख के वश में होता है तब दिन रात्रि की तरह शान्तिप्रद हो जाते हैं और जब मन दुःख के वश में रहता है तब रात्रियाँ दिन की तरह अशान्त और व्यग्रतामय हो जाती हैं।' परन्तु मुझे यह व्याख्या समुचित नहीं प्रतीत होती, क्योंकि एक तो इस तरह की व्याख्या करने पर क्रमभङ्ग होता है अर्थात् 'सुखदुःखवशीकृते मनसि' यहाँ जो पहले सुख और पीछे दुःख की चर्चारूप क्रम है, तदनुसार सुखवशीकृत मन के लिये पहले 'सविता विधवति' फिर दुःखवशीकृत मन के लिये 'विधुरपि सवि-तरति' ये दोनों उपमायें कहकर पुनः उसी तरह सुखवशीकृत मन के लिये 'दिनन्ति यामिन्यः' और दुःखवशीकृत मन के लिये 'यामिनयन्ति दिनानि च' ये दोनों उपमायें दी गई हैं—इस तरह उक्तक्रम की रक्षा होती है, पर चतुर्वेदीजी की व्याख्या में यह क्रम नष्ट हो जाता है। दूसरे, दिन में मन चन्द्र कार्यों की ओर लगा रहता है, अतएव दुःख का उतना अनुभव नहीं होता, पर रात में मन सर्वथा एकाग्र होता है, अतः दुःख का अनुभव अधिक होता है, इसीलिये तो दुखियों की यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'दिन तो किसी तरह कट जाते पर रातें काटने पर भी नहीं कटतीं।' कहने का तात्पर्य यह कि रातें दुःखवृद्धि के लिये प्रसिद्ध हैं, अतः दुखी के लिए 'दिन भी रात्रि के समान दुस्सह हो जाते हैं' यह कथन ही उपयुक्त होगा। इसी तरह सुखी के लिये यह कथन समुचित होगा कि 'रात्रियाँ भी दिन की तरह उल्लासमय हो जाती हैं।' कविसम्प्रदाय भी कुछ इसी तरह का है, क्योंकि 'दिनं त्वयि मे सम्प्राप्ते ध्वान्तच्छन्नापि यामिनी' ऐसी उक्ति काव्यजगत् में उपलब्ध होती है।

सर्वस्वकारकृतलक्षणस्यापरत्रापि अतिव्याप्तिमुद्भावयति—

एवम्—

'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः ।

भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ॥'

इत्यत्र परस्परोपमायामतिव्याप्तिः ।

रजोभिरिति । रघुदिग्विजययात्राप्रसङ्गे रघुवंशस्य पद्यमिदम्—स्यन्दनेन रथेन, उद्धूतैः ऊर्ध्वं नीतैः, रजोभिः धूलिभिः, व्योम आकाशम्, भुवस्तलं धरातलम्, इव, तथा घनसन्निभैः मेघसदृशैः, गजैः हस्तिभिः, च, भूतलम्, व्योम इव, कुर्वन्, रघुः दिग्विजयायागच्छत् इत्यर्थः । अत्र विभिन्नधर्मिका परस्परोपमा । 'द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा' इति सर्वस्वकारलक्षणमत्रातिव्याप्तमिति भावः ।

सर्वस्वकारकृत उपमेयोपमालक्षण की अन्यत्र भी अतिव्याप्ति दिखलाई जाती है—एवम् इत्यादि। सर्वस्वकारकृत उपमेयोपमा का लक्षण जिस तरह 'सविता विधवति—' में अतिव्याप्त होता है, उसी तरह 'रजोभिः—अर्थात् रथ से उड़ी हुई धूलि से आकाश को भूतल के समान और मेघतुल्य हाथियों से भूतल को आकाश के समान बनाते हुये (राजा रघु दिग्विजय के लिये गये)' इस परस्परोपमा में भी अतिव्याप्त है।

विशेषमाह—

सदृशान्तरव्यवच्छेदफलकत्वेन विशिष्यमाणे तु तस्मिन्नस्मदुक्त एव पर्यवसानम् ।

'तस्मिन्' इति तत्पदप्रत्यवमृश्यमाने उपमानोपमेयत्वे तृतीयसदृशनिवृत्तिफलकत्वमपि विशेषणं यदि दीयेत तदा सर्वेषां प्रागुक्तानां दोषाणां परिहारो यद्यपि भवेत्, किंतु तदा मदुक्तलक्षणमेव पर्यवसितं इति फलतस्तल्लक्षणमसमीचीनमेवेति भावः ।

यदि लक्षण में 'तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति जिससे फलित हो' ऐसे उपमानोपमेयभाव का निवेश करें, तब बात वही आ गई जो हमने कही है। अतः आप का (सर्वस्वकार का) लक्षण अपूर्ण ही है।

मूलालङ्कारसर्वस्वस्य खण्डनं विधाय सम्प्रति तद्विवरणरूपाया विमर्शिन्या अपि खण्डनं विधातुमाह—

यच्च विमर्शिनीकारेणोक्तम् "स च वाक्यभेदः शाब्द आर्थश्च । तत्र शाब्दो यथा—'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः' इत्यादिः । अस्याश्चोपमानान्तरतिरस्कार एव फलम् । अत एवोपमेयेनोपमेत्यन्वर्थाभिधत्वम्" इति, तत्तुच्छम् । न हि 'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः' इत्यत्रोपमानान्तरतिरस्कारः प्रतीयते । द्वयोरुपमयोरेकधर्मकत्वाभावात्, आद्याया उपमाया अनुगामिधर्मप्रयोज्यत्वात्, द्वितीयायाश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मप्रयोज्यत्वात् ।

विमर्शिनीकारेणेति । अलङ्कारसर्वस्वव्याख्याकारेणेत्यर्थः । स चेति । मूलीयत्वेन प्रागुक्त इत्यर्थः । अस्या इति । उपमेयोपमाया इत्यर्थः । उपमानान्तरतिरस्कार इति । तृतीयसदृशनिवृत्तिरित्यर्थः । खण्डयति—तत्तुच्छम् इति । तत्र हेतुमाह—नेति । हि यतः । अनुगामीति । रजोरूपेत्यर्थः । बिम्बेति । घनगजेत्यर्थः । विमर्शिनीकृता मूलोक्तस्य वाक्यभेदस्य शाब्दत्वार्थत्वाभ्यां द्वैविध्यमुक्त्वा 'रजोभिः—' इति पद्यस्य प्रथमभेदोदाहरणत्वमुक्तम्, तदुपपादने च तदुदाहरणघटकोपमेयोपमायाम्तृतीयसदृशनिवृत्तिफलकत्वमुपवर्ण्य 'उपमेयेन उपमा—उपमेयोपमा' इत्यन्वर्थसंज्ञा साधिता, तदखिलं कलुषितमेव, 'रजोभिः—' इत्यत्र वर्णितयोरुपमयोः प्रथमस्या अनुगामिधर्ममूलकतया

द्वितीयस्याश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्ममूलकतया तृतीयसदृशनिवृत्तेरप्रतिपत्तेः, समानधर्ममूलकोपमाद्वयवर्णनस्थल एव तत्प्रतिपत्तेः पूर्वं सयुक्तिकमुपपादितत्वादिति भावः ।

मूल 'अलङ्कारसर्वस्व' का खण्डन करके अब उसकी व्याख्या-'विमर्शिनी'-का भी खण्डन करते हैं—यच्च इत्यादि । अलङ्कारसर्वस्व पर विमर्शिनी नामक व्याख्या लिखने वाले ने अपनी व्याख्या में लिखा है कि-"वह वाक्यभेद दो प्रकार का होता है-एक शाब्द और दूसरा आर्थ । उनमें से शाब्द वाक्यभेद का उदाहरण 'रजोभिः—'इत्यादि पद्य है । यहाँ की उपमेयोपमा का फल होता है तृतीय सदृश का तिरस्कार (निवृत्ति) । अतएव उपमेयेनोपमा (उपमेय के साथ—अर्थात् उपमेय को उपमान मानकर जो उपमा हो उसे उपमेयेनोपमा कहा जाता है । इस तरह) इस नाम की सार्थकता होती है ।" पर यह व्याख्या भी असङ्गत ही है । क्योंकि—उनके दिए उदाहरण—'रजोभिः—' इस पद्य में अन्य उपमान की निवृत्ति फलित नहीं होती । कारण, यहाँ दोनों उपमाओं में एक धर्म नहीं है, प्रथम उपमा का साधक है धूलिरूप अनुगामी धर्म और द्वितीय उपमा का साधक है मेघ तथा गजरूप बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म । और तृतीय उपमान की निवृत्ति तब प्रतीत होती है, जब दोनों उपमाओं को सिद्ध करने वाला साधारणधर्म एक हो, यह बात पहले युक्तिपूर्वक सिद्ध की जा चुकी है । अतः विमर्शिनीकार का कथन अपने उदाहरण में ही सङ्घटित नहीं होता ।

रत्नाकरोक्तं निरसितुमाह—

यदपि 'परस्परमुपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमा' इति लक्षणं विधाय 'सविता विधवति—' इत्यादि प्रागुक्तपद्यं रत्नाकरेणोदाहारि, तच्च तदीयेनैव 'स चोपमानान्तरनिषेधार्थः' इति ग्रन्थेन विरुद्धम् । न ह्यस्मिन्पद्ये उपमानान्तरनिषेधः प्रतीयत इति प्रागेवावेदनात् । प्रतीयत एवेति चेत्, पुनरपि पृच्छ हृदयमेव स्वकीयम् ।

स चेति । मिथ उपमानोपमेयभावश्चेत्यर्थः । हिः पूर्वहेतुपरामर्शकः । प्रतीयत एवेति । उपमानान्तरनिषेधरूपं कर्मपदमत्राध्याहार्यम् । हृदयमेव स्वकीयमिति पुनः पृष्टं निजहृदयमेव परमार्थं सूचयिष्यतीति भावः । अन्यत् सुगमम् ।

अब अलङ्काररत्नाकर का खण्डन करते हैं—यदपि इत्यादि । 'अलङ्काररत्नाकर' के निर्माता ने 'परस्पर उपमान-उपमेय होने को उपमेयोपमा कहते हैं' यह लक्षण बनाकर 'सविता विधवति—' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य उदाहरणरूप में उपस्थित किया है । किन्तु यह उदाहरण 'वह (अर्थात् परस्पर उपमान-उपमेय होना) अन्य उपमान के निषेध के लिये है' इस अपने ही कथन के विरुद्ध है । कारण, इस पद्य में अन्य उपमान के निषेध की प्रतीति नहीं होती-यह बात पहले ही समझाई जा चुकी है । इतने पर भी यदि दुराग्रह दिखलाते हुए आप कहें कि—उपमानान्तर का निषेध वहाँ प्रतीत होता ही है, तो मैं आप से और कुछ नहीं कहकर केवल इतना ही कहूँगा कि—आप अपने ही हृदय से पुनः पूछिये । वही (आपका अपना हृदय ही) सही-सही उत्तर दे देगा । तात्पर्य यह कि पुनः तटस्थभाव से विचार करने पर आपका भी हृदय इस बात को स्वीकार करेगा कि 'सविता विधवति—' में वस्तुतः अन्य उपमान का निषेध प्रतीत नहीं होता ।

परमतखण्डनप्रसङ्गमुपसंहर्तुमाह—

इत्यलं विवादेन ।

पूर्वोक्तः शास्त्रार्थो व्यर्थः वस्तुतत्त्वस्य विज्ञैः स्वयमाकलनात् इति भावः ।

अच्छा तो छोड़िये इस विवाद को ।

'उपमेयोपमा' अलङ्कारपदवाच्या कदा भवतीति स्पष्टयति—

इयं चोपमेयोपमा यदि कस्याप्यर्थस्योत्कर्षाधायिका तदालङ्कारः। अन्यथा तु स्ववैचित्र्यमात्रपर्यवसितेति।

इतीति। अस्य बोध्यमिति शेषः। कस्यापि-वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य वा अर्थस्य उपस्कारिका चेदियमुपमेयोपमा, तदा अलङ्कारभावं भजते। अन्यार्थोपस्करणशून्या तु उपमेयोपमासंज्ञां भजमानाऽपि अलङ्कारभावं न भजत इति भावः।

'उपमेयोपमा' अलङ्कार कब कहलाती है इस बात का स्पष्टीकरण अब किया जाता है—इयं च इत्यादि। यह उपमेयोपमा जब किसी—वाच्य अथवा व्यङ्ग्य—अर्थ को उत्कृष्ट बनाती है—उसे उपस्कृत करती है—अर्थात् शोभासम्पन्न बनाती है तब अलङ्कार कहलाती है, अन्यथा इसकी समाप्ति अपनी विचित्रता में ही हो जाती है। तात्पर्य यह कि ऐसी दशा में वह केवल उपमेयोपमा कही जा सकती है, उपमेयोपमा अलङ्कार नहीं।

अलङ्कारान्तरेष्वपि युक्तेरस्यास्तुल्यत्वमाह—

एवमलङ्कारान्तरेऽपि ज्ञेयम्।

अन्यार्थोपस्करणदशायामेवान्यान्यपि रूपकादीनि अलङ्कारपदवाच्यानि अन्यथा स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्तान्येवेति भावः।

यही बात अन्य अलङ्कारों में भी समझी जा सकती है—अर्थात् वे भी जब किसी अन्य अर्थ को उपस्कृत करें तभी उन्हें अलङ्कार कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

व्यङ्ग्योपमेयोपमामुदाहर्तुमाह—

अथ ध्वन्यमानेयमुदाह्रियते—

अथ अनन्तरम्। ध्वन्यमाना व्यङ्ग्येति भावः। इयं उपमेयोपमा।

अब व्यङ्ग्य उपमेयोपमा का उदाहरण दिया जाता है।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'गाम्भीर्येणातिमात्रेण महिम्ना परमेण च।
राघवस्य द्वितीयोऽब्धिरम्बुधेश्चापि राघवः॥'

कविः कथयति—अतिमात्रेण अतिशयितेन, गाम्भीर्येण गम्भीरत्वेन, परमेण उत्कृष्टेन, महिम्ना महत्त्वेन, च, राघवस्य रामचन्द्रस्य, अब्धिः समुद्रो, द्वितीयः अम्बुधेः समुद्रस्य, च, राघवो द्वितीयः अनयोस्तृतीयस्तुल्यो नास्तीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—गाम्भीर्येण इत्यादि। कवि का कथन है कि—अत्यधिक गम्भीरता और परम महत्त्व इन दोनों के कारण, रामचन्द्र के लिये समुद्र और समुद्र के लिये रामचन्द्र दूसरा है।

उपपादयति—

द्वितीयशब्दस्य सादृश्यविशिष्टे शक्त्यभावाद् व्यक्तिरेव।

'गाम्भीर्येण—' इति पद्ये द्वितीयपदं सादृश्यविशिष्टं बोधयति, परं तु न शक्त्या, तदर्थनिरूपितशक्तेस्तत्राभावात्, अपि तु व्यञ्जनया, अतो व्यङ्ग्योपमेयोपमोदाहरणं पद्यमिदं भवतीति भावः।

उपपादन करते हैं—द्वितीय इत्यादि। 'गाम्भीर्येण—' इस पद्य में द्वितीय पद सादृश्यविशिष्ट अर्थ का बोधक होता है इसमें कोई सन्देह नहीं, पर सादृश्यविशिष्ट अर्थ की वाचकता (अभिधा) शक्ति द्वितीय पद में है नहीं अतः व्यञ्जना माननी पड़ती है। अतः यह पद्य व्यङ्ग्य उपमेयोपमा का उदाहरण होता है।

उक्तोदाहरणेऽरुचिमुद्भाव्योदाहरणान्तरं प्रदर्शयितुमाह—

यदि तु लक्षणा तदेदमुदाहरणम्।

'गाम्भीर्येण—' इति पद्ये द्वितीयपदस्य बाधितमुख्यार्थकस्य, सादृश्ये लक्षणायां लक्ष्यैवोपमेयोपमा न व्यङ्ग्या इति चेत्, तदा निम्नलिखितमुदाहरणं बोध्यमिति भावः।

उक्त पद्य में द्वितीय पद का मुख्य (अपने से अन्य) अर्थ बाधित है, अतः उसकी सदृश अर्थ में लक्षणा होगी, फिर तो यहाँ की उपमेयोपमा लक्ष्य कही जायगी व्यङ्ग्य नहीं, यदि ऐसी बात आप कहें, तब निम्नलिखित उदाहरण व्यङ्ग्य उपमेयोपमा का समझना चाहिए।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'सुधासमुद्रं तव रम्यवाणी वाचं क्षमाचन्द्र सुधासमुद्रः।
माधुर्यमध्यापयितुं दधाते खर्वेतरामान्तरगर्वमुद्राम्॥'

कविः कमपि नृपं स्तौति—हे क्षमाचन्द्र धरासुधाकर! तव भवतः, रम्यवाणी रमणीया वाक्, सुधासमुद्रम् पीयूषसमुद्रम्, तथा सुधासमुद्रः, तव, वाचम्, माधुर्यं माधुरीम्, अध्यापयितुं पाठयितुम्, खर्वेतराम् अखर्वाम् महतीमिति यावत्, आन्तरगर्वमुद्राम् मानसिकगर्वसूचकाकारव्यक्तिम्, दधाते धत्तः इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सुधा इत्यादि। कवि किसी राजा से कहता है—हे पृथ्वी के चन्द्र! तेरी रमणीय वाणी अमृतसमुद्र को और अमृत का समुद्र तेरी वाणी को, माधुर्य का पाठ पढ़ाने के लिये, आन्तरिक गर्व को प्रकट करनेवाली बहुत बड़ी बाह्य मुद्रा को धारण करते हैं।

उपपादयति—

अत्र वागादिकर्तृकस्य परस्पराध्यापनस्य बाधान्माधुर्यसंक्रान्तिविशेषस्य लक्षणया बुध्यमानस्य प्रयोजनं स्वप्रयोज्यान्योन्योपमानोपमेयभावः।

बाधादिति। अचेतने वागादौ स्वातन्त्र्यघटितकर्तृत्वस्यासम्भवादित्यर्थः। लक्षणयेति। 'अध्यापयितुम्' इत्येतत्पदनिष्ठयेति भावः। एवं मुख्यार्थबाधतद्योगरूपं कारणद्वयमुक्त्वा तृतीयं कारणं प्रयोजनमाह—प्रयोजनमिति। स्वमिति। लक्षणेत्यर्थः। अयं भावः—'सुधासमुद्रं—' इति पद्ये 'अध्यापयितुम्' इति पदस्य मुख्योऽर्थः अध्यापनक्रियाकर्तृत्वरूपः, अचेतने वागादौ बाधितः, अतस्तस्य पदस्य सङ्क्रमणरूपार्थे लक्षणा, सा च लक्षणा प्रयोजनमूला, रूढेरभावात्, प्रयोजनञ्च [illegible] उपमानोपमेयभावावगमः, स च व्यञ्जनयेति सिद्धमुपमेयोपमाया व्यङ्ग्यत्वमिहेति।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'सुधासमुद्रम्—' इस पद्य में वाणी आदि के द्वारा जो एक दूसरे को पाठ पढ़ानेवाली बात वर्णित हुई है, वह बाधित है, अतः लक्षणा द्वारा उसका अर्थ यहाँ यह किया जायगा कि—वे एक दूसरे में अपनी मधुरता पहुँचाते हैं। इस लक्षणा का प्रयोजन होगा उस लक्षणा से ही सिद्ध होनेवाला 'परस्पर का उपमान-उपमेय होना'। उसी का नाम 'उपमेयोपमा' है, अतः यहाँ वह व्यङ्ग्य है।

दोषनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथ दोषाः—

दोषा इति। अस्या इत्यादिः। उच्यन्ते इति शेषः। तथा चोपमेयोपमायाः स्वरूपोदाहरणादिनिरूपणानन्तरमिदानीं दोषाः कथ्यन्त इति भावः।

अब उपमेयोपमा के दोष कहे जाते हैं।

दोषानाह—

तत्र तावत्प्रागुक्ता यावन्त उपमाया दोषाः अनुक्ताश्च विस्तृतिभयात्, ते सर्वेऽप्युपमात्वाक्रान्तत्वादस्यामपि बोध्याः। अयं पुनरन्योऽपि दोषः—यदेकोपमावैलक्षण्यमपरस्यामुपमायाम्। यथा—'कमलमिव वदनमस्या वदनेन समं तथा कमलम्' अत्र श्रौत्यार्थीकृतं वैलक्षण्यम्। 'कमलति वदनं तस्याः कमलं वदनायते जगति' क्विप्क्यङ्कृतमत्र वैलक्षण्यम्। एवमत्रैव 'पद्मं वदनायते' इति निर्माणे 'वक्त्रायते' इति वा उपमानोपमेयवाचकवैलक्षण्यम्। एवंप्रकारैरनेकैर्वैलक्षण्यं यदि सहृदयोद्वेजकं तदा दोषः।

तत्रेति। वक्तव्यानां तेषां मध्य इत्यर्थः। न तत्परिगणनमित्याह—अनुक्ताश्चेति। ननूपमादोषा अत्र कथमत आह—उपमात्वेति। अत एवास्या एव भेद इति प्रतिज्ञावाक्ये उक्तम्। तद्वृत्त्यन्यदोषमाह—अयं पुनरिति। इति वेति। कमलमित्यादिः। निर्माणे इत्यस्यानुषङ्गः। उपसंहरति—एवमिति। यदीत्यनेन तदभावेऽदुष्टत्वमेवेति सूचितम्। अयमुपमेयोपमालङ्कार उपमात्वाक्रान्तः, अतः उपमाया ये दोषा उक्ता अनुक्ता अपि ये सम्भविनः तेऽखिला उपमेयोपमाया अपि दोषा अवगन्तव्याः। अत्रोपमेयोपमायां द्वयोरुपमयोः स्थितिः निश्चिता, ते च द्वे उपमे तुला धृत इव यदा सर्वथाऽविलक्षणे तिष्ठतस्तदैव चमत्कारो भिन्नालङ्कारव्यपदेशयोग्यता चेति स्थितौ एकोपमातः अपरोपमायां वैलक्षण्यं पुनः स्वतन्त्र उपमेयोपमादोषः। तच्च वैलक्षण्यं विविधैः कारणैः सम्भवति, तत्र कतिपयकारणसम्भूतं वैलक्षण्यमुदाहरणप्रदर्शनद्वारा स्फोरयति यथेत्यादिना। 'कमलम् इव—' इति प्रथमोदाहरणे इवपदघटिता एकोपमा श्रौती, समपदघटिताऽपरोपमा पुनरार्थी। 'कमलति—' इति द्वितीयोदाहरणे प्रथमोपमा क्विप्प्रत्ययगता, द्वितीया पुनः क्यङ्प्रत्ययगता। अस्मिन् द्वितीयोदाहरण एव 'कमलम्' इत्यस्य स्थाने 'पद्मम्' इति 'वदनायते' इत्यस्य स्थाने 'वक्त्रायते' इति वा पाठे उपमानोपमेयवाचकभेद इति सर्वत्र वैलक्षण्यं दोषरूपं सम्पद्यते। अन्यकारणमूलकमपि वैलक्षण्यं सम्भवति, तच्च स्वयमूहनीयं सहैवैतच्च विस्मरणीयं यत् सहृदयजनोद्वेगकरत्व एवैते दोषा अन्यथा नेति भावः।

दोषस्वरूप का परिचय कराया जाता है—तत्र इत्यादि। यह उपमेयोपमा अलङ्कार उपमा अलङ्कार से मिश्रित ही हुआ करता है, अतएव इसको उपमा का ही प्रभेद ग्रन्थकार ने माना है। ऐसी स्थिति में वे सभी दोष इसके भी दोष कहे जायेंगे जो उपमा के दोष कहे गए हैं तथा विस्तार के भय से न कहे जाने पर भी हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त उपमेयोपमा का एक स्वतन्त्र दोष भी होता है, वह यह कि एक उपमा से दूसरी उपमा में किसी तरह की विलक्षणता का होना, तात्पर्य यह कि—उपमेयोपमा में दो उपमायें रहती हैं उन दोनों में विलक्षणता नहीं रहनी चाहिए अर्थात् उन दोनों उपमाओं को एक ही तरह की होनी चाहिए, तभी चमत्कार आता है-पृथक् अलङ्कार माना जा सकता है, अतः यदि उन दोनों उपमाओं में किसी तरह की विलक्षणता आ जायगी, तब वह दोष समझा जायगा, जैसे—'कमलमिव—अर्थात् इस स्त्री का मुख कमल-सा है और कमल इसके मुख के तुल्य है।' यहाँ 'इव (सा)' शब्द से बोधित होने के कारण प्रथम उपमा श्रौती है और 'सम (तुल्य)' शब्द से बोधित होने के कारण द्वितीय है आर्थी। यह इन दोनों उपमाओं में विलक्षणता है। 'कमलति—अर्थात् उस नायिका का वदन कमल-सा आचरण करता है और कमल मुख-सा।' यहाँ एक उपमा 'क्विप्' प्रत्यय के द्वारा अवगत होती है और दूसरी 'क्यङ्' प्रत्यय के द्वारा। यह विलक्षणता है। इसी तरह यदि इस पद्य में एक तरफ 'पद्मं वदनायते' अथवा 'कमलं वक्त्रायते' बना दिया

जाय, तब उपमान-वाचक और उपमेय-वाचक शब्दों की विलक्षणता हो जायगी। इस तरह अनेक तरह से होनेवाली विलक्षणता, यदि सहृदयहृदयों में उद्वेग-एक प्रकार का वैमुख्य-को उत्पन्न करनेवाली हो, तब उसे दोष समझना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि सहृदयजनोद्वेजक न होने पर कोई दोष नहीं होता।

प्रकरणसमाप्तिं सूचयति—

इति रसगङ्गाधरे उपमेयोपमाप्रकरणम्।

रसगङ्गाधरग्रन्थघटकोपमेयोपमाप्रकरणं समाप्तमिति भावः।

रसगङ्गाधर में उपमेयोपमा का प्रकरण यहाँ समाप्त हुआ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामुपमेयोपमाप्रकरणम्॥

अनन्वयालङ्कारनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथानन्वयः—

अनन्वय इति। अनन्वयालङ्कारनिरूपणमित्यर्थः। अथेत्यस्यारभ्यते इत्यर्थः।

अब अनन्वयालङ्कार का निरूपण आरब्ध होता है।

लक्षणं लिख्यते—

द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूतं यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वयः।

विशिष्टं सादृश्यम् अनन्वयः, वैशिष्ट्यं च द्विधा, तत्रैकं समानपदार्थप्रतियोग्यनुयोगिकत्वरूपम्, द्वितीयञ्च यस्य वर्णनेन द्वितीयसदृशपदार्थनिवृत्तिः फलिता भवति, तादृशत्वमिति भावः।

लक्षण दिखलाया जाता है—द्वितीय इत्यादि। उस सादृश्य का नाम 'अनन्वय' है जिसके वर्णन से दूसरे सदृश का निवारण फलित होता है और जिसका उपमान तथा उपमेय एक ही पदार्थ होता है।

लक्षणेऽनुक्तमपि अलङ्कारेतिसंज्ञासामर्थ्यावगम्यमानं अर्थं स्फुटत्वायाह—

स च कस्याप्युपस्कारकत्वेऽलङ्कारः। अन्यथा तु शुद्धः।

शुद्ध इति। स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्त इत्यर्थः। उक्तलक्षणलक्षितोऽनन्वयस्तदैव अलङ्कारपदव्यपदेश्यो भवेत्, यदा वाच्यव्यङ्ग्यान्यतरस्यार्थस्य शोभां जनयेत्। यत्र ताञ्च जनयेत् तत्र पुनः केवलोऽनन्वय एव सः, नालङ्कार इति भावः।

वह अनन्वय (जिसका लक्षण ऊपर लिखा गया है) तभी अलङ्कार कहलाता है—जब उसके द्वारा किसी अन्य (वाच्य अथवा व्यङ्ग्य) अर्थ की शोभा बढ़ती हो अन्यथा वह शुद्ध अनन्वय कहलायगा, अलङ्कार नहीं।

पदकृत्यं प्रदर्शयितुं प्रत्युदाहरणं निर्दिश्यते—

'लोहितपीतैः कुसुमैरावृतमाभाति भूभृतः शिखरम्।
दावज्वलनज्वालैः कदाचिदाकीर्णमिव समये॥'

गिरिशिखरवर्णनम्—लोहितपीतैः अरुणपीतवर्णविशिष्टैः, कुसुमैः पुष्पैः, आवृतम् आच्छादितम्, भूभृतः पर्वतविशेषस्य, शिखरं सानुः, कदाचित् कस्मिंश्चित्, समये काले, दावस्य वनीवस्य, ज्वलनस्य वह्नेः, ज्वालैः ज्वालाभिः, वनाग्नितापैरिति यावत्, आकीर्णम् व्याप्तम्, (स्वम्) इव, आभाति प्रतीयत इत्यर्थः।

लक्षण में जोड़े गए विशेषणों के फल दिखलाने के लिये प्रत्युदाहरण का निर्देश किया जाता है—लोहित इत्यादि। लाल-पीले फूलों से आच्छादित पर्वत का शिखर, किसी समय वनाग्नि की ज्वालाओं से व्याप्त-सा प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि किसी समय वनवह्नि के ताप से व्याप्त रहने पर पर्वत-शिखर जैसा दीखता रहा होगा, आज वैसा ही लाल-पीले फूलों से आच्छादित रहने पर दिखाई पड़ता है।

उपपादयति—

अत्र लोहितपीतकुसुमावृतं भूभृतः शिखरं स्वेनैव कस्मिंश्चित् समये दावज्वालाकीर्णेनोपमीयते, इति तत्सादृश्यवारणाय भूतान्तम्।

'लोहितपीतैः—' इति पद्ये पर्वतशिखररूपैकपदार्थोपमानोपमेयकं सादृश्यं यद्यपि प्रतीयते, तथापि नायमनन्वयः, तस्य सादृश्यस्य द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूतत्वाभावात्। तथा चैतादृशसादृश्येऽनन्वयत्वापत्तिपरिहाराय लक्षणे भूतान्तविशेषणप्रवेश इति भावः।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। 'लोहितपीतैः—' इस पद्य में 'लाल-पीले फूलों से आच्छादित पर्वतशिखर' की तुलना 'किसी समय वनाग्नि की ज्वालाओं से व्याप्त' अपने आपके साथ की गई है। ऐसा सादृश्य भी अनन्वय न कहलावे इसलिये लक्षण में 'द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूत' यह सादृश्य का विशेषण जोड़ा गया है।

स्फुटत्वाय प्रत्युदाहरणान्तरमाह—

इदं वा प्रत्युदाहरणम्—

'नखकिरणपरम्पराभिरामं किमपि पदाम्बुरुहद्वयं मुरारेः।
अभिनवसुरदीर्घिकाप्रवाहप्रकरपरीतमिव स्फुटं चकासे॥'

कविः हरिचरणद्वयं वर्णयति—नखकिरणानां नखकान्तीनाम्, परम्परया श्रेण्या, अभिरामं मनोहरम्, किमपि अनिर्वचनीयम्, मुरारेः हरेः, पदाम्बुरुहद्वयं चरणकमलयुगलम्, अभिनवस्य [illegible]च्छिन्नस्य, सुरदीर्घिकायाः गङ्गायाः, प्रवाहस्य, प्रकारेण समूहेन, [illegible] ([illegible]) इव, स्फुटं स्पष्टम्, चकासे शुशुभे इत्यर्थः।

स्पष्ट बोध के लिये दूसरे प्रत्युदाहरण का निर्देश किया जाता है—इदं वा इत्यादि। अथवा उक्त भूतान्त विशेषण का फल इस पद्य में समझना चाहिये—'भगवान् का अनिर्वचनीय चरणकमलयुगल, नखकिरणों की श्रेणी से मनोहर होकर उसी प्रकार शोभित हुआ, जैसे (जब गङ्गा उन चरणों से निकल रही थीं उस समय में) नवीन गङ्गाप्रवाहसमूह से व्याप्त होकर वह शोभित होता था।'

उपपादयति—

अत्रापि नखकिरणपरम्पराभिरामं हरेः पदाम्बुजं स्वात्मनैव सुरदीर्घिकाप्रवाहप्रकरपरीतेनोपमीयते।

'नखकिरण—' इति श्लोकेऽपि हरिपदाम्बुजयुगलमेव नखकान्तिपङ्क्तिमनोहरताविशिष्टत्वेनोपमेयम्, गङ्गाप्रवाहसमूहव्याप्तत्वेनोपमानञ्चास्ति तथा चैकोपमानोपमेयकसादृश्यस्य स्थितिरत्र स्फुटा। परन्तु पूर्वोक्तभूतान्तविशेषणार्थयोगाभावान्नानन्वयालङ्कारत्वमिति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्रापि इत्यादि। 'नखकिरण—' इस पद्य में भी 'नखकान्तियों की पंक्ति से मनोहर हरिचरणकमलों' की तुलना 'गङ्गा के नवीन प्रवाहसमूह से व्याप्त' अपने आपके साथ की गई है, अतः एक उपमान-उपमेय वाला सादृश्य यद्यपि यहाँ है, तथापि यह अनन्वय नहीं कहला सकता, क्योंकि उक्त 'भूतान्त' विशेषण का अर्थ यहाँ नहीं घटता।

नन्दु वर्णनकाले भगवच्चरणयोर्गङ्गाप्रवाहपरीतत्वाभावे तद्विशिष्टत्वेनासत एव तस्योपमानत्वकल्पने सदुपमानं नास्तीति द्वितीयसदृशव्यवच्छेदः प्रतीयत एवेत्यत आह—

सम्प्रति सुरदीर्घिकाप्रवाहेण भगवत्पादाम्बुरुहस्य सम्बन्धाभावात्सुरनिम्नगोत्पत्तिकालावच्छिन्नस्य तस्योपमानतावगमायाभिनवेति प्रवाहविशेषणम् ।

वर्णनसमये भगवच्चरणयोर्गङ्गाप्रवाहसम्बन्धो नास्तीति यद्यपि सत्यम् तथापि यस्मिन् काले भगवच्चरणाभ्यां गङ्गा निस्सृता, तस्मिन् काले तत्र तत्सम्बन्ध आसीत्, एवञ्च गङ्गानिस्सरणकालीनभगवच्चरणयुगलस्यैवोपमानता विवक्षिता, अत एव प्रवाहेऽभिनवेति विशेषणं योजितम् । तथा च नासत उपमानता न वा द्वितीयसदृशव्यवच्छेद इति भावः ।

वर्णन के समय में हरिचरणों में वस्तुतः गङ्गाप्रवाह का सम्बन्ध है नहीं, ऐसी स्थिति में उसके सम्बन्ध से युक्त हरिचरण असत् अतएव कल्पित उपमान होगा, फिर तो यहाँ 'सत् उपमान नहीं है' इस रूप में द्वितीय सदृश का निवारण ज्ञात होगा ही, इस शङ्का का समाधान किया जाता है—सम्प्रति इत्यादि । अभिप्राय है कि—वर्णनकाल में भले ही हरिचरणों में गङ्गाप्रवाह का सम्बन्ध न हो पर जब उन चरणों से गङ्गा उत्पन्न हुई थी, तब तो वह था, ऐसी स्थिति में गङ्गोत्पत्तिकालिक हरिचरण को ही यहाँ उपमान कहा गया है यह समझना चाहिए, अतएव गङ्गाप्रवाह में 'अभिनव' विशेषण दिया गया है । इस उत्तर से उक्त शङ्का समाप्त हो जाती है क्योंकि अब असत् उपमानवाली बात नहीं रही ।

नन्दु पूर्वोक्तपद्ययुगलेऽनन्वयालङ्कारः कुतो नाङ्गीक्रियते इत्यत आह—

न ह्यत्र सादृश्यवर्णनस्य फलं द्वितीयसब्रह्मचारिव्यवच्छेदः तस्याप्रतिपत्तेः ।

सब्रह्मचारीति । सदृशेत्यर्थः । अत्र 'अनन्वयगर्भितान्वयवशाद् द्वितीयसदृशव्यवच्छेदः फलति । न हि धर्मान्तरावच्छिन्नस्य धर्मान्तरावच्छिन्नेन साधर्म्यमनन्वयि । अत एवोपमेयतावच्छेदकोपमानतावच्छेदकयोर्भेद एव साधर्म्यघटको न तु धर्मिणोः इत्युक्तं प्राक् । एवं [illegible] फलकसादृश्यवर्णनमनन्वयः । एकोपमानोपमे[illegible] । [illegible] यथा धर्मिभेदादेव तत्र चारशीन तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति भावः ।' इति नागेशः । 'लोहितपीतैः—' 'नखकिरण—' इति च पद्यद्वये उपमानोपमेयभूतयोर्धर्मिणोरेकत्वेऽपि उपमेयतावच्छेदकोपमानतावच्छेदकयोर्भेदेन परस्परसादृश्यस्यान्वयो नासङ्गतः, तथा च न द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकसादृश्यवर्णनाङ्गभूतः प्रत्येतुं योग्य इति भावः ।

प्रत्युदाहरणरूप में ऊपर कहे गए दोनों पद्यों में अनन्वय माना ही क्यों न जाय इसका उत्तर अब स्पष्ट रूप में कहा जाता है—न ह्यत्र इत्यादि । तात्पर्य यह है कि-ऊपर के दोनों श्लोकों में से किसी में भी अनन्वय नहीं माना जा सकता क्योंकि यहाँ द्वितीय सदृश की निवृत्ति फलित नहीं होती और अनन्वय वहीं माना जाता है जहाँ सादृश्य-वर्णन से द्वितीय सदृश की निवृत्ति फलित होती है । आप कहेंगे-कहीं द्वितीयसदृश-निवृत्ति की प्रतीति फलरूप में क्यों होती है और यहाँ क्यों नहीं होती ? द्वितीयसदृश-निवृत्ति की इस प्रतीति में क्या रहस्य है ? तो मैं कहूँगा कि-जहाँ दो पदार्थों का सादृश्य वर्णित होता है वहीं उस सादृश्य का वस्तुतः अन्वय होता है और जहाँ एक ही पदार्थ का सादृश्य—अर्थात् अपना सादृश्य अपने में ही वर्णित होता है वहाँ उस सादृश्य का अन्वय वस्तुतः नहीं होता—हो भी नहीं सकता, क्योंकि सादृश्य-पदार्थ भेद-घटित है । हाँ, अपना सादृश्य भी अपने में अन्वित हो सकता है-होता भी है, यदि उस अपने आप का वर्णन दो रूपों से किया गया हो—अर्थात् उपमान और उपमेय के एक रहने पर भी यदि उपमानतावच्छेदक तथा उपमेयतावच्छेदक (वही रूप) दो हों

तो सादृश्य का अन्वय होता है, उपमान-उपमेय भी यदि दो रहें तब तो और अच्छा। इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि जहाँ उपमान-उपमेय अथवा उपमानतावच्छेदक उपमेयतावच्छेदक भिन्न-भिन्न रहेंगे, वहाँ सादृश्य का अन्वय होने में किसी तरह की बाधा नहीं होगी, अतएव वैसे स्थलों में द्वितीय सदृश की निवृत्ति अवगत नहीं होगी, पर जहाँ उन दोनों में से एक भी भिन्न-भिन्न नहीं होंगे, वहाँ का (अपने में अपना ही) सादृश्य अन्वित नहीं हो सकता, फिर भी जो उस तरह का सादृश्य वर्णित होता है, उसका फल यह ज्ञात हो जाता है कि इसका सादृश्य किसी दूसरे पदार्थ में नहीं है। यह तो हुआ वस्तुस्थिति का विश्लेषण। अब आप इस विश्लेषण के आधार पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि ऊपर के दोनों पद्यों ('लोहितपीतैः—' और 'नखकिरण—') में द्वितीय सदृश की निवृत्ति क्यों नहीं ज्ञात होती और कहीं क्यों वह ज्ञात होती है—अर्थात् उन दोनों पद्यों में क्रमशः पर्वतशिखर और हरिचरण ये एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय दोनों हैं अवश्य, पर उपमानतावच्छेदक और उपमेयतावच्छेदक एक नहीं भिन्न हैं, तात्पर्य यह है कि—प्रथम पद्य में पर्वतशिखर, पुष्पाच्छादितरूप में उपमेय है, और वनाग्निव्याप्तरूप में उपमान, इसी तरह द्वितीय पद्य में हरिचरण, नखकान्ति मनोहररूप में उपमेय है और गङ्गाप्रवाह व्याप्तरूप में उपमान अतः इन दोनों स्थलों में अपने आप का भी अपने आप में सादृश्य अनन्वयी नहीं होगा, ऐसी दशा में द्वितीय सदृश की निवृत्ति ज्ञात नहीं होगी।

एकोपमानोपमेयकेति विशेषणव्यावर्त्यमाह—

'स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात्कुटिलोऽलकः।
सुधांशुबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः॥'

अस्यार्थः प्रागुल्लिखितः।

'एक उपमान उपमेयवाला' इस विशेषण का फल दिखलाया जाता है—स्तनाभोग इत्यादि। इस पद्य की व्याख्या पहले की जा चुकी है।

उपपादयति—

इति कल्पितोपमानिकायामुपमायामतिप्रसङ्गवारणायैकोपमानोपमेयकमिति। अत्रासत उपमानस्य कल्पनया सदुपमानं नास्तीति द्वितीयसदृशव्यवच्छेदस्यास्ति प्रतीतिः।

इतिः पूर्वपद्यपरामर्शकः। असत इति। तथा च धर्मिभेदोऽत्र स्पष्टः। नास्तीति। अन्यथा तत्पर्यन्तानुधावनं व्यर्थं स्यादिति भावः। 'स्तनाभोगे—' इति पद्ये उपमानतया वर्णितः सुधांशुबिम्बावधिकमेरुपर्वताधिकरणकलम्बनकर्तृत्वविशिष्ट उरगो न सन् अप्रसिद्धत्वात्। तथा चासत एव तादृशस्य तस्योपमानता कल्प्या। एवं चोपमेयतयात्र वर्णितस्य कपोलावधिकस्तनाभोगाधिकरणकपतनकर्तृत्वविशिष्टस्य सतोऽलकरूपस्योपमेयस्य सदुपमानं नास्तीति प्रतीतिर्दुरपह्नवा, अन्यथा सदुपमानं परिहायासदुपमानस्य कल्पना प्रसरमेव न लभेत। तथा च द्वितीयसदृशव्यवच्छेदः प्रतीयमानः लक्षणघटकान्वयं चुम्बत्येव, परन्तु एकोपमानोपमेयकेति सादृश्यविशेषणेनास्य व्यावृत्तिः उरगालकयोरुपमानोपमेययोर्भिन्नत्वादिति भावः।

उपपादन किया जाता है—इति इत्यादि। 'स्तनाभोगे—' इस पद्य की कल्पित उपमानवाली उपमा में अतिव्याप्तिवारण करने के लिये लक्षण में 'एक उपमान उपमेय वाला' यह सादृश्य का विशेषण दिया गया है। तात्पर्य यह कि—इस पद्य में असत् (अवास्तविक) उपमान की कल्पना की गई है—अर्थात् चन्द्रमण्डल से मेरुपर्वत पर लटकता हुआ साँप वस्तुतः संसार में प्रसिद्ध नहीं है, फिर जो उसका उपमानरूप में

वर्णन किया गया है वह केवल कल्पना के आधार पर, अतः इस तरह के उपमान की कल्पना से यह बात सिद्ध हो जाती है कि—कपोलतट से स्तनतट पर लटकते हुए कुटिल-केशरूप उपमेय का वास्तविक उपमान संसार में नहीं है, और जब यह बात सिद्ध हो जायगी, तब यह समझने में कोई बाधा नहीं रहेगी कि इस सादृश्य-वर्णन से द्वितीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति फलित होती है। इस तरह से यद्यपि लक्षण का अन्य भाग यहाँ सङ्गत होता था पर सादृश्य के विशेषणरूप में जो लक्षण का 'एक उपमान उपमेयवाला' यह भाग है उससे इसका वारण हो जाता है, कारण, यहाँ उपमान-उपमेय एक नहीं अपितु दो हैं-अर्थात् उपमान है साँप और उपमेय अलक।

उदाहरणं दर्शयितुमाह—

उदाहरणममृत(पीयूष)लहर्याख्ये मदीये गङ्गास्तवे—

गङ्गास्तुतिमये पण्डितराजरचिते अमृतलहरीनामके निबन्धेऽनन्वयालङ्कारोदाहरणभूतं पद्यमिदमिति भावः।

उदाहरण दिखलाने के लिये कहा जाता है—उदाहरण इत्यादि। पण्डितराजरचित अमृतलहरी नामक गङ्गास्तोत्र का निम्नलिखित पद्य 'अनन्वय' अलङ्कार का उदाहरण है।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'कृतक्षुद्राघौघानथ सपदि सन्तप्तमनसः,
समुद्धर्तुं सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिवहाः।
अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान्,
नरानूरीकर्तुं त्वमिव जननि त्वं विजयसे॥'

हे जननि मातर्गङ्गे! कृतः क्षुद्राणां लघूनाम्, अघानां पापानाम्, ओघः समूहो यैस्तान्, अथ अल्पपापकरणानन्तरम्, सपदि तत्कालमेव, न तु कालान्तरे, प्राक्तन-पुण्योदयादिति भावः, संतप्तमनसः पापतापाकुलचेतसः, नरान्, समुद्धर्तुम् पापेभ्यो मोचयितुम्, त्रिभुवनतले त्रिलोक्यां, तीर्थनिवहाः तीर्थस्थानानि काशीप्रयागादीनि, सन्ति। किन्तु प्रायश्चित्तानां पापनाशकानुष्ठानानाम्, प्रसरणानि प्रसङ्गाः, यत्र तादृशा ये पन्थानः मार्गाः, ततः अतीतानि दूरङ्गतानि, चरितानि चरित्राणि, येषाम् तान् प्रायश्चित्त-प्राप्तिविषयत्वाक्रान्ताचरणकान् इति यावत्, अपि, नरान् मनुष्यान्, ऊरीकर्तुं निष्पापत्वेन स्वीकर्तुम्, त्वम् इव त्वं, विजयसे सर्वोत्कृष्टासि इत्यर्थः। नराणां स्वल्पानि पापानि तीर्थान्तरसेवनेनापि शाम्यन्ति किन्तु महापापानि तु तव (गङ्गायाः) सेवनेनैव नश्यन्तीति भावः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कृत इत्यादि। हे मातः गङ्गे! छोटे-छोटे पाप-समूह को कर लेने के बाद तुरत मन में एक प्रकार के ताप का अनुभव करने वाले मनुष्यों का उद्धार करने के लिये त्रिभुवन में तीर्थों का एक विशाल समुदाय तैयार है। पर प्रायश्चित्तों की पहुँच से बाहर—अर्थात् जिनके प्रायश्चित्त हो ही नहीं सकते ऐसे—चरित्रवालों को भी—महापापियों को भी—निष्पाप बनाकर अपनाने वाली तेरी जैसी तू ही है। तात्पर्य यह कि महापापियों को भी अपनाने के विषय में तेरी तुलना दूसरों से हो नहीं सकती—इस विषय में तू ही सर्वोत्कृष्ट है।

उदाहरणान्तरं दातुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'इयति प्रपञ्चविषये तीर्थानि कियन्ति सन्ति पुण्यानि ।
परमार्थतो विचारे देवी गङ्गा तु गङ्गेव ॥'

इयति एतावति, निरवधाविति भावः, प्रपञ्चविषये विषयरूपे संसारे, पुन्यानि पवित्राणि, कियन्ति अगणितानीति यावत्, तीर्थानि, सन्ति, तेषां पवित्रतायां काऽपि विप्रतिपत्तिर्नास्ति, किन्तु परमार्थतः वस्तुतः, विचारे विवेके, क्रियमाणे इति शेषः, गङ्गा देवी इव दिव्या सुरनिम्नगा, इव, तु पुनः, गङ्गा एवेत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—इयति इत्यादि । इतने बड़े संसार में पवित्र तीर्थ कितने हैं—उनकी इयत्ता नहीं, उनकी पवित्रता में किसी तरह का सन्देह नहीं । पर वास्तविक विचार करने पर गङ्गा देवी जैसी तो गङ्गा देवी ही हैं—उनकी तुलना दूसरे से नहीं ।

उदाहरणान्तरदाने बीजमाह—

पूर्वपद्ये वाच्योऽनुगामी धर्मः । इह तु व्यङ्ग्य इति विशेषः ।

'कृतक्षुद्रा—' इति प्रथमोदाहरणे 'इयति—' इति द्वितीयोदाहरणे च सर्वोत्कर्षरूप एव अनुगामी साधारणधर्मः परन्तु प्रथमस्थले स 'विजयसे' इति तिङन्तपदवाच्यः, द्वितीयस्थले पुनः वाचकविरहाद् व्यङ्ग्य इति भावः । एतद्वैलक्षण्यस्फोरणायैवोदाहरणान्तरदानमिति सारांशः ।

द्वितीय उदाहरण दिखलाने में बीजभूत विलक्षणता का स्पष्टीकरण करते हैं—पूर्व इत्यादि । उक्त दोनों उदाहरणों में यद्यपि साधारणधर्म एक ही है अनुगामी 'सर्वोत्कर्ष', परन्तु प्रथम में वह धर्म 'विजयसे' पद से वाच्यरूप में उपस्थित हुआ है और द्वितीय में वाचक का अभाव होने से वह व्यङ्ग्यरूप में ज्ञात होता है । इसी विलक्षणता को दिखलाने के लिये द्वितीय उदाहरण दिया गया है ।

द्वितीयोदाहरणघटक'तु'पदप्रतीयमानं विशेषं स्फुटीकर्तुमाह—

तुशब्दोऽयं तीर्थान्तरेभ्यो वैलक्षण्यं प्रतिपादयंस्तत्प्रयोजकं भगवद्वासुदेवात्मकत्वं धर्मं श्रीगङ्गायां व्यनक्ति ।

'त्वन्ताथादि न पूर्वभाक् ।' इति कोशानुशासनानुसारं 'तु'शब्दो वाच्यवृत्त्याऽन्येभ्यस्तीर्थेभ्यो गङ्गायां भेदं बोधयति । तद्भेदनिदानभूतं विष्णुरूपत्वं पुनस्तत्र व्यङ्ग्यवृत्त्याऽवगमयतीति भावः ।

द्वितीय उदाहरण में पठित 'तु' शब्द से अभिव्यक्त होनेवाले विशेष का उल्लेख किया जाता है—तुशब्दोऽयम् इत्यादि । 'त्वन्ताथादि न पूर्वभाक्—अर्थात् 'तु' 'अन्त' और 'अथ' पद पूर्व का भजन नहीं करते-पूर्व से भेद बतलाते हैं' इस कोश के अनुसार द्वितीय पद्य में पठित 'तु' शब्द अन्य तीर्थों की अपेक्षा गङ्गा में विलक्षणता (भेद) का बोध अभिधावृत्ति के द्वारा कराता है पर साथ ही उस भेद को सिद्ध करनेवाला विष्णुरूपत्वरूप धर्म का बोध भी उसमें व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा विदित कराता है ।

उपरितनयोरुदाहरणयोर्वर्णितस्यानन्वयस्यालङ्कारत्वं निगमयति—

उभयत्रापि श्रीगङ्गाविषयकरत्युपस्कारकत्वादलङ्कारोऽयम् ।

रतीति । कविनिष्ठेत्यादिः । उपस्कारकत्वात् पोषकत्वात् । अयं अनन्वयः उपरितने द्वे अपि पद्ये कविना गङ्गास्तुतौ प्रयुक्ते, अत उभयत्र गङ्गाविषयिणी कविरतिः प्रधानतया व्यङ्ग्या । वाच्योऽनन्वयः तां रतिं पुष्णन्नलङ्कारभावं भजत इति भावः । एतेन 'वाक्यार्थोपस्कारकत्वम्' अलङ्कारसामान्यलक्षणं सङ्गमितम् ।

ऊपर के दोनों उदाहरणों में वर्णित 'अनन्वय' अलङ्काररूप कैसे होता है इसका स्पष्टीकरण किया जाता है—उभयत्रापि इत्यादि। ऊपर के दोनों ही पद्य गङ्गा की स्तुति में रचे गये हैं, अतः उन दोनों पद्यों से गङ्गा के विषय में कवि का प्रेम (भाव) प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है, वही यहाँ काव्यजीवातुभूत अर्थ है और उस अर्थ को (कविनिष्ठगङ्गाविषयक रति को) पुष्ट करनेवाले के रूप में वाच्य होने के कारण 'अनन्वय' होता है अलङ्काररूप, क्योंकि 'अलङ्करोति इति अलङ्कारः' दूसरे को अलंकृत करता है इसलिये 'अलङ्कार' कहा जाता है।

अनन्वये बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नसाधारणधर्मस्यासम्भावनां सूचयति—

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो धर्मस्त्वत्र नास्ति। तस्मिंश्च सति किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नेन स्वेन सादृश्यस्य धर्मान्तरावच्छिन्ने स्वस्मिन्नन्वये बाधकाभावात्सदृशान्तरव्यवच्छेदाप्रतिपत्तेश्चानन्वय एव न स्यात्।

अत्रेति। अनन्वयालङ्कार इत्यर्थः। बाधकाभावादिति। अवच्छेदकभेद एव सादृश्यशरीरप्रविष्टो न तु धर्मिभेद इति भावः। चो वाक्यालङ्कारे हेतौ वा। अन्वये बाधकाभावो हि सदृशान्तरव्यवच्छेदाप्रतिपत्तौ हेतुः। अयं भावः—उपमानोपमेयघटिततथानन्वयेऽपि साधारणधर्मस्तिष्ठति परन्तु सोऽत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो न भवितुमर्हति, यतः उपमानविशेषणीभूत उपमेयविशेषणीभूतश्च पृथक् पृथक् धर्म एव तु मिलित्वा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो भवति, एवञ्च भिन्नधर्मावच्छिन्नस्वात्मकोपमाननिरूपितसादृश्यस्य भिन्नधर्मावच्छिन्नस्वात्मकोपमेयेऽन्वयोऽबाधितः, 'स्वस्य स्वस्मिन् सादृश्यम् न भवति' इत्यस्य स्वावच्छेदकयोरैक्ये तत्र भवतीत्यर्थस्य प्रागुपपादितत्वात्। अबाधिते च तथान्वयेन सदृशान्तरव्यावृत्तिः फलेत्, अफलितायां च तस्यां नानन्वयः प्रतीतिपथमवतरेत् इति बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मस्थलेऽनन्वयो न भवतीति सिद्धम्, तथा चानन्वयालङ्कारे साधारणधर्मो बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो न भवतीति।

'अनन्वय' में साधारणधर्म बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नरूप नहीं हो सकता इस बात का उपपादन अब करते हैं—बिम्ब इत्यादि। उपमानोपमेयभाव से युक्त होने के कारण अनन्वयालङ्कार में भी साधारणधर्म रहता अवश्य है, पर वह अनुगामी, आरोपित आदि प्रकार का ही हो सकता है बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न नहीं। कारण, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्मवाले स्थलों में अनन्वय ही नहीं हो सकेगा। अभिप्राय यह है कि—जहाँ उपमान और उपमेय एक ही पदार्थ हो और उपमानताकाल में तथा उपमेयता-काल में उस एक पदार्थ का ही विशेषण भिन्न-भिन्न, पर समानधर्म हो, वहीं तो बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्मवाले अनन्वय की सम्भावना हो सकती थी, पर वैसे स्थलों में अपना सादृश्य भी अपने में अन्वित होता ही है, क्योंकि वैसे अन्वय में बाधा तो यही उपस्थित की जाती है कि 'सादृश्य' भेदघटित पदार्थ है फिर अपने में अपने सादृश्य का अन्वय कैसे होगा? पर यह बात कुछ है नहीं, क्योंकि सादृश्य में वस्तु का नहीं अपितु वस्तु के विशेषणीभूत धर्म का भेद रहना चाहिए यह पहले कहा जुका है, और विशेषणीभूत धर्म का भेद वैसे स्थलों में नियमतः रहेगा ही। ऐसी स्थिति में—जब कि अपना सादृश्य भी अपने में अन्वित हो जायगा तब—द्वितीय सदृश की निवृत्ति उस सादृश्यवर्णन से फलित होगी नहीं, क्योंकि वह सादृश्य के अन्वय न हो सकने के कारण ही फलित होती है और जब वह फलित नहीं होगी तब 'अनन्वय' माना नहीं जा सकेगा। कारण, वही उसका जीवन है। फलतः यह सिद्ध हुआ कि अनन्वयस्थल में साधारण धर्मबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न नहीं हो सकता।

अनन्वयभेदानाह—

स च पूर्णो लुप्तश्चेति तावद्द्विविधः। पूर्णस्तूपमावत् षड्विधोऽपि सम्भवति।

स च अनन्वयश्च। तावत् आदौ। षड्विधोऽपीति। श्रौतार्थयोस्तयोः प्रत्येकं वाक्यसमासतद्धितगामित्वेनेति भावः।

अब 'अनन्वय' के भेद कहे जाते हैं—स च इत्यादि। अनन्वय प्रथमतः दो प्रकार का होता है—एक 'पूर्ण' और दूसरा 'लुप्त।' पूर्ण अनन्वय उपमा की तरह छहों प्रकार का हो सकता है।

पूर्णानन्वयस्य भेदानुदाहर्तुमाह—

यथा—

पूर्णानन्वयस्य भेदाः प्रदर्श्यन्त इति भावः।

पूर्ण अनन्वय के भेद। जैसे—

उदाहरणानि सार्धपद्येन निर्दिश्यन्ते—

'गङ्गा हृद्या यथा गङ्गा, गङ्गा गङ्गेव पावनी।
हरिणा सदृशो बन्धुर्हरितुल्यः परो हरिः॥
गुरुवद् गुरुराराध्यो गुरुवद् गौरवं गुरोः।'

निगदव्याख्यातम्। अत्राद्यचरणे श्रौतो वाक्यगः पूर्णः। द्वितीयचरणे समासगः श्रौतः पूर्णः। तृतीयचरणे आर्थो वाक्यगः पूर्णः। तुर्यचरणे समासग आर्थः पूर्णः। पञ्चमचरणे 'तेन तुल्यम्—' इति वतेः सत्त्वादार्थः स तद्धितगः पूर्णः। षष्ठपादे 'तत्र तस्येव' इति वतेः सत्त्वाच्छ्रौतस्तद्धितगः पूर्ण इति बोध्यम्।

उदाहरणों का निर्देश किया जाता है—गङ्गा इत्यादि। गङ्गा गङ्गा-सी सुन्दर है। गङ्गा गङ्गा-सी पवित्र है। हरि के समान बन्धु हरि है। हरि के समान उत्कृष्ट हरि है। गुरु गुरु की तरह सेव्य है। गुरु का गौरव गुरु का-सा है। यहाँ प्रथम चरण में श्रौत वाक्यगत, द्वितीय चरण में श्रौत समासगत, तृतीय चरण में आर्थ वाक्यगत, चतुर्थ चरण में आर्थ समासगत, पञ्चम चरण में 'तेन तुल्यम्…' सूत्र से 'वति' प्रत्यय होने के कारण आर्थ तद्धितगत और षष्ठ चरण में 'तत्र तस्येव' सूत्र से 'वति' प्रत्यय होने के कारण श्रौत तद्धितगत पूर्ण अनन्वयालङ्कार है।

लुप्तानन्वयभेदानाह—

लुप्तेष्वपि धर्मलुप्तः पञ्चविधोऽपि सम्भवति, प्रागुक्ते सार्धपद्ये धर्मवाचकपदस्थलेषु पदान्तरदाने।

धर्मलुप्तानन्वयस्य पूर्ववत् पञ्च प्रकाराः भवितुमर्हन्ति। तेषामुदाहरणानि च पूर्वोक्तसार्धपद्ये क्रमशो धर्मवाचकानां हृद्य-पावन-बन्धु-पर-आराध्य-गौरवपदानां स्थानेषु अन्येषां पदानां निवेशे स्वयमूहनीयानीति भावः।

अब लुप्त अनन्वय के भेद दिखलाये जाते हैं—लुप्तेष्वपि इत्यादि। लुप्तभेदों में भी धर्मलुप्त अनन्वय पाँचों प्रकार का—अर्थात् श्रौत वाक्यगत, आर्थ वाक्यगत, श्रौत समासगत, आर्थ समासगत, और आर्थ तद्धितगत—हो सकता है। इन भेदों के उदाहरण ऊपर लिखे गए डेढ़ पद्य में ही धर्मवाचक—हृद्य, बन्धु, पर, आराध्य और गौरव—पदों के स्थान में अन्य पदों का समावेश कर देने पर समझे जा सकते हैं।

वाचकलुप्तमनन्वयमुदाहरति—

वाचकलुप्तः—

'रामायमाणः श्रीरामः सीता सीतामनोहरा।

ममान्तःकरणे नित्यं विहरेतां जगद्गुरू ॥'

इत्यत्र क्यङ्समासयोः ।

'रामसदृशाचरणकर्ता श्रीरामचन्द्रः तथा सीतासमा सुन्दरी सीता इतीमौ द्वावपि जगतो गुरू (मातापितरौ) सदा मम हृदये विहारं कुरुताम्' इत्यर्थकस्य 'रामायमाणः—' इति पद्यस्य रामांशे क्यङ्प्रत्ययगतस्य सीतांशे च समासगतस्य अनन्वयालङ्कारस्योदाहरणे द्रष्टव्ये इति भावः ।

वाचकलुप्त अनन्वय का उदाहरण दिखलाया जाता है—वाचकलुप्त इत्यादि । 'रामायमाणः—अर्थात् राम के सदृश आचरण करने वाले श्रीरामचन्द्र जी और सीता के समान सुन्दरी श्रीसीताजी—दोनों जगत् के गुरु (माता-पिता), मेरे अन्तःकरण में, सदा, विहार करते रहें ।' इस पद्य के राम अंश में 'क्यङ्'प्रत्ययगत और सीता अंश में 'समास—' गत वाचकलुप्त अनन्वयालङ्कार के उदाहरण मिलते हैं। तात्पर्य यह कि—सादृश्यवाचक 'क्यङ्' प्रत्यय का तथा इवादि का क्रमशः यहाँ लोप (अदर्शन) हुआ है।

वाचकलुप्तमेव पुनरन्यथोदाहरति—

'लङ्कापुरादतितरां कुपितः फणीव
निर्गत्य जातु पृतनापतिभिः परीतः ।
क्रुद्धं रणे सपदि दाशरथिं दशास्यः
संरब्धदाशरथिदर्शमहो ददर्श ॥'

कविरलङ्कारणं वर्णयति—जातु कदाचित्, पृतनापतिभिः सैनापतिभिः, परीतो व्याप्तः, दशास्यो रावणः, अतितराम् अत्यन्तम्, कुपितः क्रुद्धः, फणी सर्पः, इव, लङ्कापुरात् लङ्काभिधानगरात्, निर्गत्य निस्सृत्य, सपदि तत्कालमेव, रणे युद्धे, दाशरथिं रामचन्द्रम्, संरब्धदाशरथिदर्शम् क्रुद्धरामचन्द्रमिव, ददर्श दृष्टवान् इत्यर्थः । अत्र 'संरब्धदाशरथिदर्शम्' इत्यत्र संरब्धदाशरथिरिव दृश्यते इत्यर्थे कर्मणि णमुल्प्रत्ययो भवति, अतः कर्मार्थकणमुल्प्रत्ययगतवाचकलुप्तानन्वयोदाहरणं पद्यमिदं सम्पद्यत इति भावः ।

कर्मार्थक-णमुल्प्रत्ययगत वाचकलुप्त अनन्वय का उदाहरण दिखलाते हैं—लङ्कापुरात्—इत्यादि । कवि लङ्का में होनेवाले युद्ध का वर्णन करता है—किसी समय, सेनापतियों से परिवेष्टित रावण ने, अत्यन्त कुपित सर्प की तरह, लङ्कापुरी से निकल कर, तत्काल, क्रुद्ध रामचन्द्र के समान क्रुद्ध रामचन्द्र को रण में, आश्चर्य से देखा ।—यहाँ 'संरब्धदाशरथिदर्शम्' में कर्म अर्थ में णमुल्प्रत्यय हुआ है, अतः णमुल्गत वाचकलुप्त अनन्वय का यह पद्य उदाहरण होता है ।

अन्यत्रापि वाचकलुप्तानन्वयलक्ष्यसम्भावनामाह—

एवं कर्तृणमुलादावप्यूह्यम् ।

पूर्वोक्तकर्मार्थकणमुल्प्रत्यय इव कर्त्रर्थकणमुल्प्रत्यये ततोऽन्यत्र च वाचकलुप्तानन्वयालङ्कारः सम्भवतीति भावः ।

इसी तरह 'कर्तृ-णमुल्' आदि में भी वाचकलुप्त अनन्वयालङ्कार का ऊह कर लेना चाहिए ।

एकलुप्तमुदाहृत्य सम्प्रत्यनेकलुप्तानन्वयोदाहरणप्रसंगे प्रथमं धर्मवाचकोभयलुप्तमुदाहरति—

'अम्बरत्यम्बरं यद्वत्समुद्रोऽपि समुद्रति ।
विक्रमार्कमहीपाल तथा त्वं विक्रमार्कसि ॥'

यद्वत् यथा, अम्बरं आकाशः, अम्बरति आकाशति, समुद्रोऽपि वारिधिरपि, समुद्रति वारिधिरिवाचरति, तथैव, हे विक्रमार्कमहीपाल विक्रमार्कनाम राजन्! त्वम्, विक्रमार्कसि विक्रमार्क इव आचरसि। आकाशसमुद्रसदृशौ यथा तावेव तथा त्वत्सदृशस्त्वमेवेत्यर्थः।

धर्मवाचक लुप्त अनन्वय जैसे—अम्बर इत्यादि। जैसे आकाश आकाशका-सा आचरण करता है और समुद्र समुद्रका-सा (क्योंकि उनके समान दूसरे नहीं हैं), वसे ही हे विक्रमार्क राजन्! तू भी विक्रमार्क के समान ही आचरण करता है (तेरी तुलना करने वाला भी कोई नहीं है)।

उपपादयति—

अत्र वाक्यार्थावयवेष्वनन्वयेषु धर्मवाचकयोर्लोपः। मुख्यवाक्यार्थस्त्वनन्वयफलेन निरुपमत्वेन समानधर्मेण प्रयोजितो मालोपमैव। एषा च ज्ञानसौकर्यायात्रैव निरूपिता।

ननु कोऽसौ वाक्यार्थो यदवयवास्त्रयोऽनन्वया अत आह—मुख इति। मुख्य इत्यर्थः। ननु मालोपमाया ईदृशो भेदो नैवारित पूर्वमनुक्तत्वादत आह—एषा चेति। मालोपमा चेत्यर्थः। अत्रैवेति। अनन्वयप्रकरण एवेत्यर्थः। 'अम्बरत्यम्बरम्—' इति श्लोके 'अम्बरम् अम्बरति', 'समुद्रः समुद्रति' तथा 'विक्रमार्कः विक्रमार्कति' इति मुख्यवाक्यार्थावयवभूतास्त्रयोऽनन्वयाः। तेषु सर्वेषु सादृश्यवाचकस्य क्विप्प्रत्ययस्य साधारणधर्मस्य च लोपः। एतदनन्वयत्रयफलितनिरुपमत्वरूपसमानधर्मप्रयोजितः 'यद्वत्-तथा'पदबोध्यार्थघटितः प्रधानवाक्यार्थस्तु मालोपमारूप एव। यद्यपि अनन्वयफलीभूतानुपमत्वरूपसमानधर्मप्रयोज्यमालोपमायाश्चर्चा उपमाप्रकरण एव कर्तुमुचिता, तथापि अनन्वयज्ञानमन्तरा तद्ज्ञानासम्भवेन तच्चर्चात्र कृतेति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। यहाँ मुख्य वाक्यार्थ के अङ्गरूप में तीन अनन्वय अलङ्कार हैं—पहला 'आकाश आकाश के समान' दूसरा 'समुद्र समुद्र के समान' और तीसरा 'विक्रमार्क राजा विक्रमार्क राजा के समान'। इन तीनों अनन्वयों में विशालता आदि समानधर्म और सादृश्यवाचक 'क्विप् प्रत्यय' का लोप है। मुख्य वाक्यार्थ तो मालोपमारूप है जिसका प्रयोजक होता है उक्त तीनों अनन्वयों से फलित होनेवाला निरुपमत्वरूप समानधर्म। यह मालोपमा 'यद्वत्' और 'तथा' पद से अवगत होती है। आप कहेंगे—आपने उपमा के प्रकरण में, जिसमें अनन्वयफलित अनुपमता समानधर्मरूप हो ऐसी मालोपमा की चर्चा क्यों नहीं की? हम कहते हैं—यह प्रश्न आपका ठीक है पर विना अनन्वय के समझे ऐसी मालोपमा का समझना कठिन पड़ता और अब सहज में ही समझी जा सकती है, अतः इस मालोपमा का निरूपण यहीं किया गया है। अब आप मालोपमा के प्रभेदों में यह एक भेद और समझ लीजिए।

त्रिलुप्तमनन्वयमुदाहरति—

'एतावति प्रपञ्चेऽस्मिन् सदेवासुरमानुषे।
केनोपमीयतां तज्ज्ञै रामो रामपराक्रमः॥'

देवाश्च असुराश्च मानुषाश्चेति द्वन्द्वः, तैः सहिते, एतावति इयद्विशाले, अस्मिन्, प्रपञ्चे संसारे तज्ज्ञैः रामस्वरूपज्ञैर्जनैः, रामपराक्रमः रामवत् पराक्रमो यस्येति बहुव्रीहिः, स तथाविधो रामः, केन उपमानेनेत्यर्थः, उपमीयताम् सोपमानो विधीयताम्? न तादृशपराक्रमशाली कश्चिदपरो येन तस्य तुलना दीयेतेत्यर्थः।

धर्मोपमान-वाचकलुप्त अनन्वय जैसे—एतावति इत्यादि। देवता, असुर और मनुष्यों से सहित इस इतने बड़े संसार में राम के स्वरूप को समझनेवाले लोग, राम के पराक्रम के समान पराक्रमवाले राम की, उपमा किससे दें? जब उनके समान पराक्रमशाली कोई है ही नहीं तब फिर उनकी उपमा किसी से बने कैसे?

उपपादयति—

अत्र वाचकधर्मोपमानानां लोपः।

'एतावति—' इति श्लोके सादृश्यवाचकस्य इवादेः साधारणधर्मस्य उभयनिष्ठतया प्रतीयमानस्य पराक्रमादेः उपमानवाचकस्य कस्यचित् व्यक्तिविशेषस्य च लोपः। ननु 'रामपराक्रम'पदमेवोपमानवाचकमिति चेन्न, तस्य उपमेयविशेषणतयोपमानबोधकत्वविरहात् इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'एतावति—' इस पद्य में सादृश्यवाचक इव आदि पराक्रमरूप समानधर्म तथा राम के समान पराक्रमशाली कोई पुरुषविशेष इन तीनों का लोप है। 'रामपराक्रमः' यह पद तो उपमानबोधक हो नहीं सकता, क्योंकि वह पद उपमेय-राम-के विशेषणरूप में प्रयुक्त है और जब उपमान का ही पता नहीं तब उभयनिष्ठ होने के कारण साधारण कहलानेवाला धर्म आये तो कैसे?

न्यूनतां निराचष्टे—

अत्र चोपमानलुप्तादयोऽन्ये भेदा असम्भवादहृद्यत्वाच्च नोदाहृताः।

अस्मिन् अनन्वयालङ्कारे शुद्ध उपमानलुप्त एवमन्येऽपि उपमोक्ता लुप्तभेदा न सम्भवन्ति सम्भवन्तोऽपि वा चमत्कारहीना अतस्तेषां भेदानामुदाहरणानि न लिखितानीति भावः।

न्यूनता का निराकरण किया जाता है—अत्र इत्यादि। लुप्त भेद के जितने उपभेद उपमा में उदाहृत हुए हैं उन सभी उपभेदों के उदाहरण अनन्वय में भी दिखाए जाने चाहिएँ, पर दिखाये गए नहीं, अतः यहाँ यह न्यूनता आ जाती है, ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती क्योंकि लुप्तभेद के जिन उपभेदों के उदाहरण अनन्वय में दिखला दिये गए हैं उनसे अधिक उपभेद-शुद्ध उपमानलुप्त आदि-अनन्वय में हो ही नहीं सकते, खोज-खाज कर यदि उन भेदों के उदाहरण उपस्थित भी किये जाँय, तो वे वस्तुतः उदाहरण-कोटि में ग्राह्य नहीं हो सकते, कारण, उस तरह के उदाहरणों में चमत्कार का अभाव ही रहेगा और जब चमत्कार ही नहीं तब उनको अलङ्कार माना ही कैसे जायगा?

खण्डनाय रत्नाकरमतमुत्थापयति—

यत्तु—"तेन तदेकदेशेनावसितभेदेन वोपमानतया कल्पितेन सादृश्यमनन्वयः। उपमेयेनैवोपमानतया कल्पितेनोपमेयस्यामुखावभाससमानसाधर्म्योपादनमेकोऽनन्वयः। उपमेयैकदेशस्य तथैवोपमानताकल्पनमपरः। उपमेयस्यैव प्रतिबिम्बत्वादिना भेदेनावसितस्य तत्त्वकल्पनं तृतीयः।

आद्यो यथा—

'युद्धेऽर्जुनोऽर्जुन इव प्रथितप्रतापः' इत्यादि।

द्वितीयो यथा—

'एतावति प्रपञ्चे सुन्दरमहिलासहस्रभरितेऽपि।
अनुहरति सुभग तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य॥'

तृतीयो यथा—

'गन्धेन सिन्धुरधुरन्धरवक्त्रमैत्री-
मैरावणप्रभृतयोऽपि न शिक्षितास्ते ।
तत्त्वं कथं त्रिनयनाचलरत्नभित्ति-
स्वीयप्रतिच्छविषु यूथपतित्वमेषि ॥'

एषूपमानान्तरविरहस्त्रिष्वपि भेदेषु गम्यते । इत्यनन्वयस्त्रिविधः ।" इति रत्नाकरेणोक्तम् ।

त्रिविधानन्वयसंग्राहकमेकं लक्षणं प्रथमत आह—तेनेत्यादि । अवसितभेदेनेति । निश्चितभेदेनेत्यर्थः । अस्मात् लक्षणात् 'उपमानतया कल्पितेन तेन सादृश्यमनन्वयः' 'उपमानतया कल्पितेन तदेकदेशेन सादृश्यमनन्वयः' एवम् 'अवसितभेदेन तेन उपमानतया कल्पितेन सादृश्यमनन्वयः' इति त्रिविधं लक्षणं फलतीति स्फोरयितुम् प्रथमलक्षणव्याख्यारूपं त्रिविधं लक्षणं क्रमश आह—उपमेयेनैवेत्यादिना । प्रथमलक्षणघटकस्य 'तेन' इत्यस्य विवरणम्–उपमेयेनैवेति । अमुखेति । अमुख्येत्यर्थः । तथा च 'अमुख्यावभासमानसाधर्म्यापादनम्' इत्यस्य 'अमुख्यरूपेण अवभासमानम् = प्रतीयमानं यत् साधर्म्यम् = सादृश्यम् तस्य आपादनम्—ग्रहणम्' इत्यर्थः । 'तदेकदेशेन' इत्यस्य प्रथमलक्षणघटकस्य विवरणम्–उपमेयैकदेशस्येति । तथैव उपमेयवत् । प्रथमलक्षणघटकस्य 'अवसितभेदेन' इत्यस्य विवरणम्—उपमेयस्यैव प्रतिबिम्ब इति । प्रतिबिम्बोऽत्र लौकिकः । अवसितस्य निश्चितस्य । तत्त्वेति । उपमानत्वेत्यर्थः । प्रथमभेदस्योदाहरणं निर्देष्टुमाह—आद्यो यथेति । उदाहरणमाह—युद्धे इति । युद्धे रणे, अर्जुनः महाभारतनायकः पाण्डुपुत्रः, इव, प्रथितप्रभावः विख्यातमाहात्म्यः, अर्जुन एवेत्यर्थः । द्वितीयभेदस्योदाहरणं निर्देष्टुमाह—द्वितीयो यथेति । उदाहरणं निर्दिश्यते–एतावति इति । हे सुभग सुन्दर! सुन्दरेण मनोहरेण, महिलासहस्रेण स्त्रीसहस्रेण, भरिते परिपूर्णे, अपि, एतावति निरवधौ, प्रपञ्चे संसारे, तस्याः कस्याश्चिद् वर्णनीयनायिकायाः, वामार्धम् वामार्धभागः, दक्षिणार्धस्य दक्षिणार्धभागस्य (कर्मणः शेषत्वविवक्षया षष्ठी), अनुहरति अनुकरोतीत्यर्थः । तन्नायिकावामार्धस्य समता यदि कस्यचिदस्ति तर्हि तन्नायिकादक्षिणार्धस्यैव, नान्यनायिकास्विति भावः । अत्र समुदिता नायिका उपमेयभूता । तृतीयभेदमुदाहर्तुमाह—तृतीयो यथेति । उदाहरणं निर्दिश्यते–गन्धेन—इति । हे सिन्धुरधुरन्धरवक्त्र गजश्रेष्ठमुख गणपते! ते प्रसिद्धाः, ऐरावणप्रभृतयः ऐरावतादयः, गन्धेनापि लेशतोऽपि, मैत्रीम् त्वत्सादृश्यमिति लक्ष्योऽर्थः, न, शिक्षिताः अध्यापिताः प्रापिता इति यावत्, त्वयेति शेषः, तत् तस्मात् कारणात्, त्वम्, त्रिनयनाचलस्य शिवशिखरिणः कैलासपर्वतस्येति यावत्, रत्नभित्तिषु रत्नखचितभित्त्याधारेषु, याः स्वीयप्रतिच्छवयः स्वप्रतिबिम्बाः, तेषु यूथपतित्वं मुख्याधिपत्यम्, कथं केन प्रकारेण, एषि प्राप्नोषि—प्रसिद्धा ऐरावतादयोऽपि यदि तव सदृशा न भवन्ति तर्हि निष्प्राणाः प्रतिकृतयः कथं तव सदृशा भवेयुः, न चेत् प्रतिकृतयः सदृशाः तर्हि न ता आदाय यूथत्वसम्पत्तिः, यूथत्वाभावे च कथं यूथपतित्वमित्यर्थः । उपमानान्तरविरह इति । तत्राद्ये स्फुट एव सः । द्वितीये तदवयवस्य तदवयवान्तरोपमया तस्यां निरुपमत्वं सिद्ध्यति । अन्यथा तत्सदृशपदार्थान्वयेनैव तदवयवस्योपमां दद्यात् । तृतीयेऽपि प्रतिबिम्बस्योपमानत्वकल्पनयाऽन्यस्योपमानस्याभावो गम्यते ।

खण्डन करने के लिये पहले 'रत्नाकर' के मत का उपपादन किया जाता है—यत्तु

इत्यादि। 'अलङ्काररत्नाकर' में कहा गया है कि—उस (उपमेय), उसके एकदेश (हिस्से) अथवा किसी तरह निश्चित रूप से भिन्न समझे गए उसी (उपमेय) को जब उपमानरूप में कल्पित करके उसका सादृश्य उसी में वर्णित हो तब उस सादृश्य को अनन्वय कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि—अनन्वय तीन प्रकार का होता है—१—उपमानरूप में कल्पित उपमेय के साथ उसी उपमेय का अवास्तविक–सादृश्य-ग्रहण। २—उसी तरह उपमेय के एकदेश को उपमानरूप में कल्पित कर लेना, और ३—उपमेय को ही प्रतिबिम्ब के रूप में भिन्न मानकर उपमानरूप में कल्पित कर लेना। इनमें से प्रथम, जैसे—'युद्धे···' इत्यादि अर्थात् युद्ध में अर्जुन सा प्रसिद्ध पराक्रमशाली अर्जुन ही है, कोई दूसरा नहीं। द्वितीय, जैसे—'एतावति···' इत्यादि अर्थात् हे सुन्दर! यह इयत्ता-रहित संसार यद्यपि हजारों सुन्दरियों से भरा पड़ा है, तथापि उस नायिका का वामार्ध (अङ्गों का बायाँ हिस्सा) दक्षिणार्ध (अङ्गों के दाहिने हिस्से) का ही अनुकरण करता है—उसके बायें अङ्गों की तुलना उसके दाहिने अङ्गों से ही की जा सकती है, अन्य नायिका के अङ्गों से नहीं, क्योंकि उसके समान सुघड़ अङ्गों वाली कोई दूसरी नायिका दुनिया में है ही नहीं। यह नायक का मित्र के प्रति कथन है। तृतीय जैसे—'गन्धेन···' इत्यादि अर्थात् हे गजेन्द्रवदन (गणेश)! ये परम प्रसिद्ध ऐरावत आदि हाथी आपकी मित्रता (समानता) को लेश मात्र भी नहीं सीख पाए—आपने अपनी समानता उन्हें दी ही नहीं—वे आपकी तुलना कर नहीं सकते। अतः मैं आपसे पूछता हूँ कि—आप, कैलास पर्वत की रत्नमय भित्तियों में पड़नेवाले अपने प्रतिबिम्बों के यूथपति कैसे बन जाते हैं? जब सप्राण, चिरविख्यात, ऐरावत आदि दिग्गजों में आपकी समता नहीं, तब ये निष्प्राण प्रतिबिम्ब आपके यूथ में कैसे आ सकते हैं? कदापि नहीं आ सकते, और जब उनको लेकर आपका यूथ नहीं बन सकता, तब आप यूथपति बन कैसे सकते हैं? इसका रहस्य कुछ समझ में आता नहीं। इन तीनों भेदों में अन्य उपमान का अभाव प्रतीत होता है—अर्थात् प्रथम में 'अर्जुन जैसा अर्जुन ही है' इस कथन से अन्य उपमान का अभाव स्पष्ट ही है। द्वितीय में जो वर्णनीय नायिका के अङ्गों की तुलना उसी के अङ्गों से की गई है उससे उस नायिका की निरुपमता सिद्ध होती है, यदि उसके जोड़ की कोई अन्य नायिका उपलब्ध होती, तो उसी के अङ्गों से वर्णनीय नायिका के अङ्गों की तुलना की जाती, अपने अङ्गों से नहीं। तृतीय में—गणेश जी के प्रतिबिम्बों को गणेश जी का उपमान माना गया है जिससे अन्य उपमान का अभाव स्पष्ट व्यक्त होता है। अतः अनन्वय तीन प्रकार का है।"

रत्नव्याख्या—

तन्न। उपमानान्तरविरहप्रतीतिमात्रादेवानन्वयत्वे 'स्तनाभोगे पतन्भाति' इत्यत्रोपदर्शितायाः कल्पितोपमाया अपि तथात्वापत्तेः। यथार्थातिशयोक्तावति-प्रसक्तेश्च। तादृशप्रतीतिफलकैकोपमानोपमेयकसादृश्यस्य तत्त्वे पुनः कथं नाम वामार्धदक्षिणार्धयोर्भिन्नयोः सादृश्ये तद्भेदत्वोपन्यासः। न च स तदेक-देशस्तत्प्रतिबिम्बश्चेत्येतदन्यतमप्रतियोगिकसादृश्यमनन्वय' इति काव्यादिरति-व्याप्तिर्वेति वाच्यम्। नास्त्यन्वयोऽस्येति योगार्थविरहेण तदेकदेशसादृश्यस्या-नन्वयपदार्थत्वासम्भवात्। अपि चानन्वये 'गगनं गगनाकारम्' इत्यादावुप-मेयस्यैवोपमानत्वेनोपन्यासादुपमेयातिरिक्तोपमानविरहप्रतीतिद्वारा निरुपम-त्वमुपमेयगतं सिद्ध्यति। अत्र च वामार्धस्योपमेयस्य दक्षिणार्धरूपोपमानकथ-नेन निरुपमत्वं विरुद्धमेव। कान्तागतनिरुपमत्वप्रत्ययस्तु नानन्वयस्य फलं भवितुमर्हति, तस्या अनुपमेयत्वात्।

तत् पूर्वोक्तरत्नाकरमतम्। न युक्तं नेत्यर्थः। अयुक्तत्वे हेतुमाह—उपमानान्तरे

त्यादिना । तथात्वेति । अनन्वयत्वेत्यर्थः । इष्टापत्तावाह—यद्यर्थेति । 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' इति काव्यप्रकाशोक्ततृतीयातिशयोक्त्युदाहरणे 'राकायामकलंकं चेदमृतांशोर्भवेद् वपुः । तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥' इत्यादाविति तदर्थः । आशयविशेषवर्णनेऽपि न निर्दुष्टत्वमित्याह—तादृशेति । उपमानान्तरविरहेति तदर्थः । तत्त्वे अनन्वयत्वे । पुनःशब्दस्त्वर्थे । भिन्नयोरिति । तथा च द्वितीयविशेषणाभाव इति भावः । तद्भेदत्वेति । अनन्वयविशेषत्वेत्यर्थः । रत्नाकारमतस्य निर्दुष्टत्वमाशङ्कते—न चेत्यादिना । स इति । उपमेय इत्यर्थः । इदानीमाद्यविशेषणं न देयम् । तद्विरहस्य नान्तरीयकत्वादिति भावः । समाधत्ते—नास्त्यन्वय इत्यादिना । विरहेणेति । अबाधितत्वादिति भावः । ननु रूढमेवानन्वयपदमत आह—अपि चेति । अत्र चेति । द्वितीयभेदे चेत्यर्थः । निरुपमत्वमिति । एगूपमानान्तरेत्यादिना प्रतिपादितमित्यर्थः । ननु तेन ग्रन्थेन कान्तायां निरुपमत्वं प्रतिपादितं न तत्रेत्यत आह—कान्तेति । प्रागुक्तं रत्नाकरमतं न समीचीनम्, 'स्तनाभोगे—' इति पूर्वोक्तकल्पितोपमोदाहरणेऽतिव्याप्तेः, उपमानान्तरराहित्यस्य तत्रापि प्रतीतेः । न चेष्टापत्त्यादोष इति वाच्यम्, तत्र दोषाभावेऽपि अनुपदं टीकोद्धृतेऽतिशयोक्त्युदाहरणेऽतिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् । उपमान्तरविरहप्रतीतिफलकम् एकोपमानोपमेयकं यत्सादृश्यं तदनन्वय इति विवक्षणेऽपि न निस्तारः तदनुसारं द्वितीयभेदकथनस्यासङ्गतेः, तत्र [illegible] एकोप[illegible]मेयकसादृश्यस्याभावात् । न च [illegible], अपितु उपमेय-तदेकदेश-तत्प्रतिबिम्बान्यतमप्रतियोगिकसादृश्यस्यानन्वयत्व एवोक्तग्रन्थस्य तात्पर्यम्, तथा च पूर्वोक्तदोषाणामनवसर इति वाच्यम्, 'वामार्धं दक्षिणार्धस्य' इत्यत्र भिन्नपदार्थयोः सादृश्यस्यान्वये बाधकाभावात् अनन्वयपदयोगार्थासङ्गमात् । अनन्वयपदं न यौगिकमपितु रूढम् तथा च न तदर्थासङ्गमप्रसङ्ग इति चेदस्तु तथा, तथापि निरुपमत्वकथनं विरुद्धं प्रसज्येत, [illegible] इति स्वयमुक्तत्वात् । 'गगनं गगनाकारम्' इत्यादौ तु भवत्यनुपमत्वप्रतीतिः, अपमेयस्यैवोपमानत्वकल्पने अन्यदुपमानं नास्तीत्यस्य फलितत्वात् । कान्ताया निरुपमत्वप्रतीतिरत्रापि भवत्येवेति चेत् ? सत्यम् भवति, परं तु न सा प्रतीतिरनन्वयस्य फलम्, उपमेयस्यानुपमेयत्वप्रतीतिरनन्वयफलम् । न चात्र नायिका उपमेया, वामार्धदक्षिणार्धयोरेवोपमानोपमेयभावस्य विवक्षणादिति भावः ।

[illegible] किया जाता है—तत्र इत्यादि । ऊपर जिसका विस्तारपूर्वक उपपादन किया गया है वह रत्नाकरमत वस्तुतः ठीक नहीं है । कारण, यदि केवल अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति होने से अनन्वय माना जाय तब 'स्तनाभोगे…' यह कल्पितोपमा का उदाहरण जो पहले दिखलाया गया है उसको भी अनन्वय का उदाहरण मानना पड़ेगा, क्योंकि वहाँ भी अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति होती है । यदि इष्टापत्ति के द्वारा आप इस दोष से बचना चाहेंगे तो बच सकते हैं, पर 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' इस लक्षण के अनुसार मम्मट आदि आलङ्कारिकों के द्वारा स्वीकृत अतिशयोक्ति के तृतीय भेद के उदाहरण—'राकायामकलङ्कं चेद्…' (सम्पूर्ण पद्य संस्कृतटीका में देखिये)-अर्थात् 'पूर्नो की रात में यदि निष्कलङ्क चन्द्र उपलब्ध हो तब उसका (वर्णनीय नायिका का) मुख 'इसकी भी किसी से समता हो सकती है' इस पराभव को प्राप्त करेगा ।' में होनेवाली अतिव्याप्ति (दोष) से नहीं बच सकते, क्योंकि सर्वसम्मत इस अतिशयोक्ति में इष्टापत्ति की सुविधा सम्भव नहीं है । यदि आप उक्त

लक्षण का यह अभिप्राय प्रकाशित करें कि–'अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति जिसका फल हो और जिसका उपमान तथा उपमेय एक ही पदार्थ हो ऐसे सादृश्य को अनन्वय कहा जाता है' तब उक्त अतिशयोक्तिस्थलीय दोष से भी मुक्ति मिल सकती है, क्योंकि वहाँ सम्भावना-रूप में ही सही, पर दो पदार्थ उपमान-उपमेयरूप से विवक्षित हैं, एक नहीं। पर तब नायिका के बायें अङ्ग और दाहिने अङ्ग इन वस्तुतः दो पदार्थों के सादृश्य को जो आपने अनन्वय का द्वितीय भेद माना है वही अव्यक्त हो जायगा, क्योंकि वहाँ भी सादृश्य के उपमान और उपमेय दो पदार्थ–दाहिने अङ्ग तथा बायें अङ्ग—स्पष्ट हैं। यदि आप कहें कि–'यह सब कुछ नहीं। उपमेय, उसका एक हिस्सा तथा उसका प्रतिबिम्ब इन तीनों में से किसी एक का सादृश्य यदि वर्णित हो, तब उस सादृश्य को अनन्वय माना जाय' बस, केवल इतना मैं कहता हूँ, फिर आप बतलाइये कहाँ अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति होगी? अर्थात् नहीं होगी, क्योंकि, द्वितीय भेद में उपमेय नायिका के एकदेश का सादृश्य वर्णित है ही अतः वहाँ अव्याप्ति नहीं होगी और उक्त कल्पितोपमा तथा अतिशयोक्ति में भी इन तीनों में से किसी एक का सादृश्य वर्णित है नहीं, अतः अतिव्याप्ति भी नहीं होगी।' तब मैं कहूँगा कि–आपका यह कथन ठीक है–अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति नहीं होगी, पर उपमेय के एक हिस्से के सादृश्य को जो आपने अनन्वय माना है, उसमें वस्तुतः अनन्वय पद का अर्थ घटता नहीं क्योंकि 'अनन्वय' पद का अर्थ होता है 'जिसका अन्वय न हो सके वह सादृश्य' और 'वामार्धं दक्षिणार्धस्य अनुहरति' में जो सादृश्य प्रतीत होता है उसके अन्वित होने में किसी तरह की बाधा है नहीं–अर्थात् अपने में अपना सादृश्य बाधित होता है, यहाँ तो दाहिने का सादृश्य बायें में कहा गया है, फिर उसमें बाधा कैसी? यदि आप कहें कि अनन्वय पद में योगार्थ विवक्षित नहीं, वह केवल एक रूढ संज्ञावाचक शब्द है, तो मैं कहूँगा—रहे कुछ काल के लिये आपकी यह अयुक्त युक्ति भी मान्य, पर इतने पर भी तो निस्तार नहीं आपका होता, क्योंकि 'एषु उपमानान्तरविरहस्त्रिष्वपि भेदेषु गम्यते' इस ग्रन्थ के द्वारा जो आपने उपमेय में निरुपमता की प्रतीति को अनन्वय का फल कहा है वह विरुद्ध है–अर्थात् 'गगन गगन-सा है' इत्यादि स्थलों में उपमेय का ही उपमान-रूप में वर्णन किया गया रहता है, अतः उससे पहले अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति होती है और बाद में तद्द्वारा उपमेय की निरुपमता फलित होती है, पर आपके 'बायें अङ्ग दाहिने अङ्गों की समता करते हैं' इस द्वितीय भेदोदाहरण में तो उपमेय का उपमानरूप से वर्णन हुआ नहीं है—उपमेय—बायें अङ्गों—से भिन्न—दाहिने—अङ्गों को उपमान माना गया है, अतः यहाँ न अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति होगी और न उपमेय की निरुपमता की। संक्षेप में तात्पर्य यह निकलता है कि–उपमान के पहले निरुपमता की बात करना सर्वथा विरुद्ध है। आप कहेंगे–नायिका की निरुपमता तो उससे अवश्य प्रतीत होती है, तो मैं भी उसका स्वीकार करूँगा, पर नायिका में जो निरुपमता की प्रतीति होती है वह अनन्वय का फल नहीं है, क्योंकि नायिका यहाँ उपमेय ही नहीं है—उपमेय है उसका वामार्ध जिसकी निरुपमता सिद्ध नहीं होती और उपमेय की निरुपमता ही अनन्वय का फल कहलाती है।

अलङ्कारसर्वस्वकारोक्तमुपपाद्य निरस्यति—

यदपि चालङ्कारसर्वस्वकृता 'अनन्वयध्वनिस्त्वत्र भविष्यति। अन्यथाऽलङ्कारध्वनेर्विषयापहारः स्यात्' इत्युक्तम्, तदपि तुच्छम्। अस्य ह्युपमाननिषेधफलकमभिन्नोपमानोपमेयकं सादृश्यं स्वरूपमित्युक्तम्। प्रकृते च वामार्धदक्षिणार्धयोस्तद्बाधितमित्युक्तमेव। कान्तायाः पुनरुपमाननिषेधस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि अभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्यस्य स्वरूपस्याप्रत्ययात्। नहि निरुपमात्व-

प्रतीतिषु सर्वास्वभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्यप्रतीतिपूर्वकत्वमिति नियमोऽस्ति। कल्पितोपमातिशयोक्त्योरसमालङ्कारध्वनौ च व्यभिचारात्। तस्मान्नास्त्येवा- त्रानन्वयगन्धोऽपि।

अनन्वयध्वनित्वमिति। अत्र 'तद्वामार्धं दक्षिणार्धमनुहरतीत्युच्यताम् सोऽनुहरतीति व्यङ्ग्यमिति भावः। एवं चास्य हीत्यादिना किमुच्यते तद्विचार्यं सहृदयैः। ईदृशव्यङ्ग्यव्य- ञ्जने उपायाभाव इत्यपि कश्चित्' इति नागेश आह। अत्र द्वितीयलक्ष्ये। हि यतः। अस्या- नन्वयस्येदं स्वरूपमित्युक्तमतस्तत्तुच्छमित्यर्थः। तदुपपादयति—प्रकृते चेति। तदिति। अभिन्नोपमानोपमेयकं सादृश्यमित्यर्थः। तयोर्भेदादिति भावः। उपसंहरति—तस्मादिति। रत्नाकरोक्ते 'अनुहरति सुभग तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य' इति अनन्वयद्वितीयभेदोदाहरणे वाच्यानन्वयालङ्कारत्वस्यासम्भवेऽपि अनन्वयध्वनित्वम् स्वीकरणीयमेव, ईदृशस्थले तस्या- नङ्गीकारे अलङ्कारध्वनेर्लक्ष्यमेवापहृतं भवेदित्यलङ्कारसर्वस्वकार आख्यत्, परमिदमप्य- शोभनमेव, पूर्वोक्तस्य उपमाननिषेधफलकाभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्यात्मकस्य अनन्वय- स्वरूपस्य प्रकृते वामार्धदक्षिणार्धयोरुपमेयोपमानयोर्भिन्नयोः पदार्थयोर्बाधितत्वात्। ननु कान्तागतनिरुपमत्वस्य व्यङ्ग्यत्वेन तस्या एवोपमेयाया उपमानत्वकल्पनेन तादृशसादृश्य- प्रतीतिर्वामार्धदक्षिणार्धयोस्तस्य बाधितत्वेऽपि अस्त्येवेति चेन्न, तस्याखिलत्वेऽपि उक्तस्यानन्व- यस्वरूपस्याप्रतीतेः। यदि अभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्यप्रतीतिपूर्विका एव सर्वा अनुपमत्व- प्रतीतयो भवन्तीति नियमोऽभविष्यत्तदा कान्तागतनिरुपमत्वप्रतीतिपूर्वक्षणेऽपि तादृशसादृश्- [illegible], परं तु 'स्तनाभोगे…' इति कल्पितोपमायाम्, 'राकायामक- लङ्कं चेत्…' इति [illegible] 'मयि त्वदुपमाविधौ…' इति असमालङ्कार- ध्वनौ च निरुपमत्वा[illegible] तादृशसादृश्यप्रतीतेरभावेन व्यभिचारात् स नियमो नाङ्गीकर्तुं योग्यः। अतः 'वामार्धम् दक्षिणार्धस्य' इत्यत्रानन्वयालङ्कारो नास्त्ये- वेति भावः।

अलङ्कारसर्वस्वकार की उक्ति का उपपादन करके खण्डन करते हैं—यदपि इत्यादि। 'वामार्धं दक्षिणार्धस्य' इस स्थल के सम्बन्ध में अलङ्कारसर्वस्वकार ने जो यह कहा कि— 'यहाँ वाच्य अनन्वय भले ही न हो पर अनन्वयध्वनि यहाँ अवश्य कही जायगी— अर्थात् यहाँ अनन्वय अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है ऐसा मानना उचित है, यदि यहाँ अनन्वयध्वनि नहीं मानी जाय तब काव्यजगत् से अलङ्कारध्वनि का लक्ष्य ही उठ जायगा।' पर उनका भी कथन निस्सार ही है। कारण, यह कहा जा चुका है कि— उपमान का निषेध जिसका फल हो और जिसके उपमान-उपमेय अभिन्न हों—एक ही पदार्थ हों—वह सादृश्य अनन्वय का स्वरूप है। और वैसा सादृश्य 'एतावति प्रपञ्चे'…' इस पद्य में वर्णित 'वामार्ध' तथा 'दक्षिणार्ध' में तो रह पाता नहीं—यह बात पहले सिद्ध की जा चुकी है। अब बात रही नायिका के उपमान के निषेध (निरुपमत्व) की, सो उसकी प्रतीति यहाँ अवश्य होती है—इसमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता, किन्तु वहाँ भी अनन्वय का स्वरूप-'अभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्य'-प्रतीत नहीं होता और उस स्वरूप की प्रतीति के बिना इस व्यङ्ग्य को अनन्वयरूप माना कैसे जा सकता है? यह तो कोई नियम है नहीं कि—सभी अनुपमत्व-प्रतीति के पूर्वक्षण में 'अभिन्नोपमानो- पमेयकसादृश्य' की प्रतीति हो ही, क्योंकि—'स्तनाभोगे—' इस कल्पितोपमा, 'राका- यामकलङ्कं चेत्…' इस अतिशयोक्ति और 'मयि त्वदुपमाविधौ…' इस वक्ष्यमाण असमा- लङ्कारध्वनि में अनुपमता की प्रतीति होती है, पर वहाँ वैसे सादृश्य की प्रतीति नहीं होती। फलतः व्यभिचरित हो जाने के कारण वह नियम नहीं माना जा सकता। अतः 'एतावति…' इस पद्य में अनन्वयालङ्कार का लेश भी नहीं है।

अप्पयदीक्षितमतमुपपाद्य निरस्यति—

यच्च 'अयमनन्वयो व्यङ्ग्योऽप्यस्ति ।

यथा—

'अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः ॥'

अत्र गृहागतं श्रीकृष्णं प्रति विदुरवाक्ये इयं त्वदागमनप्रभवप्रीतिर्बहुकाल-व्यवहितेन पुनरपि त्वदागमनेनैव भवेत् नान्येन, इत्युक्तिभङ्ग्या त्वदागमन-प्रभवप्रीतेः सैव सदृशी न त्वितरप्रभवा इति व्यज्यते' इत्यप्पयदीक्षितैरभिहितम् तदपि न । अमुष्यास्त्वदागमनप्रभवायाः प्रीतेर्वारान्तरत्वदागमनप्रभवा प्रीतिः सदृशीति प्रत्ययस्य सर्वजनसिद्धतया श्रीकृष्णागमनजन्यप्रीतिसामान्यावयव-योर्द्वयोः प्रीतिव्यक्त्योः सादृश्यस्याबाधितत्वाद्योगार्थाभावेनानन्वय एव नायं भवितुमर्हति । 'स्वस्मिन् सादृश्यस्यान्वयाभावादनन्वयः' इत्युपमाप्रकरणे स्वय-मेवाभिधानात् । उपमेयस्य प्रीतिव्यक्तिविशेषस्य सदृशान्तरव्यवच्छेदे बाधात्, तादृशप्रीतिसामान्यस्य चावयविनो निरुपमतया प्रतीयमानस्यानुपमेयत्वात् पूर्वोदाहरणतुल्यमेवैतत् । क्वचिदवयवयोरुपमाप्यवयविगतनिरुपमत्वव्यञ्जिकेति स्थिते सामान्यस्य श्रीकृष्णागमनजन्यप्रीतेः सैव सदृशीति मध्ये स्वसादृश्य-प्रत्ययकल्पनं पुनर्न सहृदयहृदयमारोढुमीष्टे । रत्नाकरोक्तस्यैवानन्वयप्रकारस्यात्र व्यङ्ग्यतेत्यपि न युक्तम्, तस्य प्रागेव दूषितत्वात् प्रकृतेऽवाच्यत्वात्, स्वयम-नन्वयप्रकरणे तस्य प्रतिपादनविरहाच्च ।

यच्चेति । अस्य दूरस्थेन 'अभिहितम्' इति क्रियापदेन सम्बन्धः । 'अद्य या मम—' इति । हे गोविन्द श्रीकृष्ण ! अद्य अस्मिन्नहनि, त्वयि भवति, गृहागते भवनमुपेते सती-त्यर्थः, मम मत्सम्बन्धिनी, मम हृदये इति भावः, या प्रीतिः प्रसन्नता, जाता उत्पन्ना, एषा एतादृशीति यावत्, प्रीतिः, पुनः, कालेन चिरकालानन्तरम्, तवैव न तु अन्यस्य कस्यचित्, आगमनात्, भवेत् नान्यथेत्यर्थः । सैवेति । त्वदागमनप्रभवप्रीतिरेवेत्यर्थः । निरस्यति—तदपि नेति । तत्र हेतुमाह—अमुष्या इति । यत इत्यादिः । योगार्थेति । अनन्वयपदयोगार्थेत्यर्थः । ननु [illegible] आह—स्वस्मिन्निति । व्यवच्छेदे बाधादिति । [illegible] । तादृशस्य प्रीतिव्यक्तिविशेषस्य सादृश्यस्य सत्त्वादिति भावः । [illegible] । पूर्वोदाहरणेति । 'मधु-हरतीत्युदाहरणेत्यर्थः । अवयविनो निरुपमत्वप्रतीतिमध्ये सादृश्यप्रतीतिरपि [illegible] अत आह—क्वचिदिति । स्थलविशेषे इत्यर्थः । सैव श्रीकृष्णागमनजन्यप्रीतिरेव । मध्ये इति । वाच्यव्यङ्ग्यार्थयोर्मध्ये इत्यर्थः । रत्नाकरोक्तस्येति । अनन्वयद्वितीयभेदतया रत्नाकरेण कथितस्येत्यर्थः । अनन्वयप्रकारस्य 'तदेकदेशेन' इत्यादेः । अयुक्तत्वे हेतुः प्रागेव दूषित-त्वादिति । ननु त्वया दूषितोऽपि न मया दूषितस्तत्राह—स्वयमिति । कालानवच्छिन्नं कृष्णागमनजन्यप्रीतिसामान्यम् अवयविभूतम्, इदानीन्तनकालावच्छिन्नं भविष्यत्काला-वच्छिन्नं च कृष्णागमनजन्यप्रीतिद्वयं तदवयवभूतम्, तत्रावयवभूतयोः प्रीत्योः सादृश्यम् 'अद्य या मम—' इति पद्येऽवाच्यमपि दीक्षितप्रदर्शितोक्तिभङ्गीविशेषवशात् प्रतीयत इति सत्यम्, परन्तु तत्सादृश्यमनन्वयरूपं न भवितुमर्हति, भिन्नकालावच्छिन्नप्रीत्योरपि भिन्न-तया तयोः सादृश्यस्यान्वये बाधकाभावात्, बाधितान्वयकसादृश्यस्यैवानन्वयपदार्थत्व-

स्वीकारात्, बाधितान्वयकं चाभिन्नपदार्थप्रतियोगिकानुयोगिकसादृश्यमेव भवतीति सिद्धान्तात्' । कालानवच्छिन्नस्यावयविभूतस्य कृष्णागमनजन्यप्रीतिसामान्यस्योपमेयत्वं 'यदि विवक्षितमस्थास्यत्, तदा तत्सादृश्यं वर्ण्यमानत्वविरहेऽपि व्यञ्जनया प्रतीयमानं स तदनन्वयरूपमभविष्यत्, परन्तु तस्योपमेयत्वं विवक्षितमेव नास्ति, विवक्षितमस्ति कालविशेषावच्छिन्नस्य कृष्णागमनजन्यप्रीतिविशेषस्यावयवभूतस्य तत्, तस्य चान्यसदृशनिषेधे सामर्थ्यमेव नेति पूर्वोक्ते 'वामार्धं दक्षिणार्धस्य' इत्यत्रेव नात्राप्यनन्वयः । वाच्यवृत्त्यालिङ्गिताभ्यामवयवभूताभ्यां कालावच्छिन्नतादृशप्रीतिविशेषाभ्यां सामान्यरूपाया अवयविन्यास्तादृशप्रीतेरनुपमत्वं व्यज्यत इत्यत्र तु न कस्यापि विमतिः, तथा च तयोर्वाच्यव्यङ्ग्ययोर्मध्ये 'सामान्यकृष्णागमनजन्यप्रीतेः सैव सदृशी' इत्याकारकः सादृश्यबोधः कल्पनीय एव, एवञ्च तद्बोधविषयीभूतं सादृश्यं यथोक्तानन्वयरूपमिति दीक्षिताशये न काप्यनुपपत्तिरिति चेन्न, विचारासहत्वात् । तथाहि मध्ये यत्सामान्यप्रीत्योः सादृश्यं कल्प्यते तत्किमर्थम् ? सामान्यप्रीतिगतनिरुपमत्वव्यक्तिसिद्ध्यर्थम् इति चेत्तुच्छम्, स्थलविशेषे अवयवयोः सादृश्यमपि अवयविगतनिरुपमत्वव्यञ्जकं भवति, तथा च अवयवभूतकृष्णागमनप्रभवप्रीत्योः सादृश्येनापि अवयविभूतसामान्यकृष्णागमनजन्यप्रीतिगतनिरुपमत्वव्यञ्जने सिद्धे तदर्थम् उक्ताकारकसादृश्यान्तरकल्पनकथायाः सहृदयजनानुभवविरुद्धत्वात् । 'उपमेयैकदेशेन उपमानतया कल्पितेन सादृश्यमनन्वयः' इति रत्नाकरकथितानन्वयस्यात्र व्यङ्ग्यता इति तु नोक्तिसम्भवः, तादृशोक्तेः प्रागेव युक्तिभिर्निराकृतत्वात्, तादृशानन्वयप्रकारस्य दीक्षितैः स्वग्रन्थेऽप्रतिपादनाच्चेति भावः ।

अप्पयदीक्षित के मत का उपपादन करके निराकरण किया जाता है—यच्च इत्यादि । "यह अनन्वयालङ्कार व्यङ्ग्य भी होता है। जैसे—'अद्य या मम'" अर्थात् 'हे गोविन्द ! आज आपके मेरे घर में पदार्पण करने से मुझे जो प्रसन्नता हुई है, वह प्रसन्नता कालान्तर में पुनः आपके पदार्पण से ही हो सकती है।' घर पर आए हुए श्रीकृष्ण के प्रति, विदुर के इस वाक्य में 'यह आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता, बहुत काल के बाद, फिर भी आपके आगमन से ही हो सकेगी अन्य किसी कारण से नहीं' इस कहने की विलक्षण शैली से यह व्यक्त होता है कि—'आपके आगमन से होनेवाली प्रसन्नता के समान वही प्रसन्नता है, अन्य किसी पदार्थ से उत्पन्न प्रसन्नता वैसी नहीं हो सकती।" यह जो अप्पयदीक्षित ने कहा है, वह भी ठीक नहीं है। कारण यह कि—'आपके आगमन से उत्पन्न इस प्रसन्नता के समान ही दूसरी बार आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता है' यह प्रतीति सकलजनसिद्ध है—इसमें किसी को किसी तरह की बाधा प्रतीत नहीं होती। अभिप्राय है कि—कालविशेष से अनवच्छिन्न—अविशेषित—श्रीकृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता एक सामान्य अङ्गीभूत वस्तु है और कालविशेष से अवच्छिन्न अर्थात् समय-समय पर हुए श्रीकृष्ण के आगमन से उत्पन्न होनेवाली दो प्रसन्नतायें उसके अङ्ग हैं। इन दो प्रसन्नताओं को भिन्न-भिन्न काल में उत्पन्न होने के कारण भिन्न-भिन्न मानने में कोई बाधा नहीं, ऐसी स्थिति में इन अङ्गभूत प्रसन्नताओं का सादृश्य बाधित नहीं कहा जा सकता, और सादृश्य के बाधित हुए बिना 'अनन्वय' पद का योगार्थ यहाँ नहीं घटित होगा, फिर यहाँ अनन्वय कैसे हो सकता है ? आपने स्वयं ही उपमा-प्रकरण में कहा है कि—'अपने सादृश्य का अन्वय अपने आप में नहीं हो सकने के कारण, यह अनन्वय कहलाता है।' अब आप ही कहियें कि—जब प्रकृत पद्य में उक्त रीति से सादृश्य अन्वित हो गया तब यहाँ अनन्वय कैसे हुआ ? यहाँ वर्तमानकालिक अङ्गभूत कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता उपमेय है, उसकी तुलना जब दूसरी अर्थात्—भविष्यत्कालिक कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता से की जा रही है, तब अन्य सदृश की

निवृत्ति तो बाधित हो ही गई, अर्थात् इस प्रसन्नता के समान अन्य प्रसन्नता नहीं है ऐसी बात नहीं रही, अतः यहाँ इस तरह से तो अनन्वय का लेश भी नहीं आता। अब यदि अङ्गिभूत सामान्य-कालविशेष से अनवच्छिन्न कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता की अनुपमता को लेकर यहाँ अनन्वय की अभिव्यक्ति मानी जाय तो यह भी सङ्गत नहीं, क्योंकि उस तरह की सामान्य प्रसन्नता यहाँ उपमेय नहीं है और उपमेय की अनुपमता ही प्रतीत होकर अनन्वय का मूल बनती है। जो अङ्गभूत प्रसन्नता यहाँ उपमेय है उसकी अनुपमता सिद्ध ही नहीं होती, यह बात ऊपर के विचार से स्पष्ट है। अन्ततः यह सिद्ध हो गया कि यह उदाहरण भी पूर्वोक्त 'अनुहरति सुभग तस्याः'' इस उदाहरण के समान ही है—जैसे वहाँ अनन्वय, विचार करने पर सिद्ध नहीं होता, वैसे यहाँ भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि आप कहें कि–इन अङ्गभूत प्रसन्नताओं के प्रतीत होनेवाले सादृश्य से अङ्गिभूत सामान्य कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता की अनुपमता तो अवश्य अभिव्यक्त होती है—उसके होने में किसी का वैमत्य हो नहीं सकता, फिर इन दोनों व्यङ्ग्य-व्यञ्जकों के मध्य में 'सामान्य-कालानवच्छिन्न कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता के समान वही प्रसन्नता है दूसरी नहीं' इस तरह के सादृश्य की कल्पना अवश्य ही करनी पड़ेगी और जब इस तरह का सादृश्य कल्पित होगा तब फिर उस सादृश्य को अनन्वयरूप मानने में आपको भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उसमें अनन्वय पद का योगार्थ सङ्घटित होता है। तो मैं कहूँगा कि नहीं—यह रीति भी मानने योग्य नहीं है। कारण, आपने जो मध्य में सामान्य प्रसन्नता के सादृश्य की कल्पना की है वह किसलिये? क्या सामान्य प्रसन्नता की सर्वसम्मत अभिव्यक्ति को सिद्ध करने के लिये? तो मैं कहूँगा कि उसके लिए आपका यह प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि स्थलविशेष में अङ्गों के सादृश्य से भी अङ्गी की अनुपमता सिद्ध होती है, ऐसी दशा में 'आज की कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता, कालान्तर में होनेवाले उनके आगमन से उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता के समान है' इस अङ्गभूत प्रसन्नता के सादृश्य से भी सामान्य कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता की अनुपमता सिद्ध हो ही जायगी, फिर मध्य में एक अन्य सादृश्य की कल्पनावाली बात सहृदयों के हृदयों में ठीक-ठीक बैठती नहीं है। अब यदि आप कहें कि—रत्नाकर ने जो 'उपमानरूप में कल्पित उपमेय के एकदेश का सादृश्य अनन्वय है' यह अनन्वय का भेद बताया है उसी को हम व्यङ्ग्य बता रहे हैं तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि एक तो उस भेद की निस्सारता पहले सिद्ध की जा चुकी है, दूसरे उस तरह के भेद की चर्चा आपने अपने ग्रन्थों में की भी नहीं है। यदि आपको उस तरह का भेद अनन्वय में मान्य होता तो आप उसका उल्लेख अपने अनन्वयप्रकरण में अवश्य करते।

'अन्यथालङ्कारध्वनेर्विषयापहारः स्यात्' इति सर्वस्वकारोक्तिं मनसि निधाय तन्मुखमुद्रणाय स्वाभिमतमनन्वयध्वनिमुदाहर्तुमाह—

इदं पुनरनन्वयध्वनेरुदाहरणम्—

अनन्वयालङ्कारध्वनेर्निम्ननिर्दिष्टमुदाहरणं वेदितव्यमिति भावः।

अनन्वयध्वनि का उदाहरण दिखलाने के लिये कहते हैं—इदम् इत्यादि। अनन्वयालङ्कारध्वनि का यह (निम्नलिखित) उदाहरण समझना चाहिए।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'पृष्टाः खलु परपुष्टाः परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
भेदेन भुवि न पेदे साधर्म्यं ते रसाल मधुपेन॥'

हे रसाल आम्रवृक्ष! मधुपेन भ्रमरेण, खलु निश्चयेन परपुष्टाः कोकिलाः, पृष्टाः त्वत्-सदृक्षान्तरं जिज्ञासिताः, अत्र रसज्ञानां कोकिलानामन्तिके रसायतरजिज्ञासाया औचि-

त्यमिति बोध्यम् । परकीयोक्तिषु प्रामाण्यस्य सन्दिग्धत्वादाह—सर्वे न तु कतिपये, (एतेन तत्त्वजिज्ञासाया बलवत्तरत्वमावेद्यते) विटपिनः तरवः, दृष्टाश्च स्वयमवलोकिताश्च, तथापि, भेदेन त्वद्भिन्ने इति यावत्, भुवि समस्ते जगति, तव त्वदीयम्, साधर्म्यम् सादृश्यम्, न, पेदे प्राप्तमित्यर्थः । अप्रस्तुतप्रशंसेयम् अप्रस्तुताद् भ्रमररसालवृत्तान्तात् प्रस्तुतयोः कयोश्चित् तत्त्वगवेषकानुपमनरपुंगवयोर्वृत्तान्तस्य प्रतीतेः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—पृष्टाः इत्यादि । हे आम्रतरु ! भ्रमरों ने रसज्ञ होने के नाते कोकिलों से पूछा और दूसरों के कथन से सन्तुष्ट न होकर खुद भी एक एक कर सभी वृक्षों को देख डाला, पर संसार भर में तेरी समता को उन्होंने भेद-सम्बन्ध से—अर्थात् तुम से अन्य में नहीं पाया ।

उपपादयति—

अत्र भेदेनेत्युक्त्याऽभेदे सादृश्यमनन्वयात्मकं तु पेदे इति ध्वन्यते ।

'पृष्टाः…' इति श्लोके 'त्वद्भिन्ने तव समता न पेदे' इत्यर्थकेन 'भेदेन तव साधर्म्यं न पेदे' इति कथनेन 'त्वयि तु तव सादृश्यं पेदे' इति व्यज्यते, तच्च व्यङ्ग्यं सादृश्यमनन्वयरूपमिति सिद्धमस्य श्लोकस्यानन्वयध्वन्युदाहरणत्वमिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'पृष्टाः…' इस पद्य में जो 'भेद से नहीं पाया' यह कहा गया है, उससे यह ध्वनित होता है कि–अभेद सम्बन्ध से तुम्हारे सादृश्य को उन्होंने पाया—अर्थात् तुमसे अन्य में तुम्हारी समता उन्होंने नहीं पाई । इस कथन से यह स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि तुममें ही तुम्हारी समता प्राप्त की । ध्वनित होने वाला यह सादृश्य अनन्वयरूप है, अतः यह पद्य अनन्वयालङ्कारध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है ।

उदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवाऽनन्वयालङ्कारध्वनेरिदमुदाहरणं बोध्यम् ।

अथवा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'नगेभ्यो यान्तीनां कथय तटिनीनां कतमया
पुराणां संहर्तुः सुरधुनि कपर्दोऽधिरुरुहे ।
कया वा श्रीभर्तुः पदकमलमक्षालि सलिलै-
स्तुलालेशो यस्यां तव जननि दीयेत कविभिः ॥'

पण्डितराजरचितगङ्गालहरीगतं पद्यमेतत्—हे सुरधुनि अमरनदि ! जननि मातः ! मातृवत्सन्ततिकल्याणकारिणीति यावत्, कविभिः वर्णननिपुणैः पण्डितैः, तव, तुलालेशः उपमालवः, यस्यां, दीयेत, तादृशी का वर्तते अपि तु न कापीत्यर्थः । ननु बहुशो विख्याता नद्यः सन्तीति चेत्तत्राह–नगेभ्यः इति । नगेभ्यः पर्वतेभ्यः, 'नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम्' इति पाक्षिकत्वाज्जो नकारस्य लोपाभावः । यान्तीनाम् निस्सरन्तीनाम्, मध्ये, 'यतश्च निर्धारणम्' इति षष्ठी । कतमया तटिन्या, पुराणां नगराणाम्, संहर्तुर्दाहकस्य शिवस्य, कपर्दः जटाजूटः, अधिरुरुहे अध्यारूढः । नगेभ्यो यान्तीनां तटिनीनां मध्ये, कया वा तटिन्या, श्रीभर्तुः विष्णोः, पदकमलम् चरणपङ्कजं, सलिलैः जलैः, अक्षालि धौतम्, इति त्वं, कथय अस्मान् प्रति वद एवञ्च तत्कार्यकारित्वविरहात् काऽपि तवोपमेया नास्ति त्वमतुलोपमानमिति भावः । अक्षालीत्यत्र 'चिण् भावकर्मणोः' इति कर्मणि च्लेश्चिणादेशः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—नगेभ्य इति। हे मातर्गङ्गे! कविगण जिसमें लेशतोऽपि तुम्हारी तुलना दे सकें ऐसी नदी कौन-सी है? कोई नहीं। कहेंगे—है क्यों नहीं—बहुत सी प्रसिद्ध नदियाँ हैं, तो इसका उत्तर कवि के शब्दों में सुनिए—पर्वतों से निकलने वाली नदियों में कौन सी नदी ऐसी है जिसने त्रिपुरदाहक शिवजी के जटाजूट पर आरोहण किया हो और कौन सी ऐसी है जिसने भगवान् श्रीपति के चरणकमलों को अपने जल से धोया हो, हे गङ्गे! यह तुम ही कहो। तात्पर्य यह कि—इन दोनों कामों को करनेवाली दूसरी कोई नदी नहीं है, अतः हे गङ्गे! तुम्हारी तुलना किसी नदी से नहीं की जा सकती है।

उपपादयति—

अत्र कया वा त्वदितरया श्रीभर्तुः पदं सलिलैरक्षालि यस्यामितरस्यां कविभिस्तव तुलालेशोऽपि दीयेतेत्यर्थेन त्वयि पुनः सलिलक्षालितश्रीरमणचरणायां तव तुला दीयेतैवेत्यर्थोऽनन्वयात्मा श्रीगङ्गागतनिरुपमत्वपर्यवसायी इतरपदमहिम्ना व्यज्यते।

अत्र पूर्वार्धे तादृशव्यञ्जकाभावादाह—कया वेति। पूर्वोदाहरणे भेदेनेत्युक्त्या तादृशव्यङ्ग्यस्य स्फुटं प्रतीतिः। अत्र त्वस्फुटा। अत एवोदाहरणान्तरदानमिति ध्वनयन्नाह—इतरपदमहिम्नेति। 'नगेभ्यो यान्तीनाम्...' इति पद्यस्योत्तरार्धेन 'कया वा...इत्यादि' मूलोक्तार्थं उच्यते, तेन चार्थेन मूलोक्ताकारोऽनन्वयस्वरूपोऽर्थो ध्वन्यते, ध्वन्यमानश्चार्थो गङ्गागतनिरुपमत्वे पर्यवस्यतीति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'नगेभ्यः—' इस पद्य के उत्तरार्ध भाग का जो 'तुमसे अन्य किस नदी ने अपने जल से श्रीपति के चरण-कमलों को धोया है? जिसमें कविगण तुम्हारा तुलालेश भी दे सकें' यह अर्थ वाच्य है, उससे 'तुमने तो अपने जल से श्रीरमण के चरणकमलों को धोया ही है, अतः तुम्हारे साथ तुम्हारी तुलना की जा सकती है'—यह अर्थ ध्वनित होता है, जो कि अनन्वयरूप है और जिसका पर्यवसान गङ्गा की निरुपमता में होता है। यहाँ यह अर्थ 'यस्याम्' पद के अर्थरूप 'इतर (अन्य)' पद के प्रभाव से ध्वनित होता है।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामनन्वयप्रकरणम्।

अनन्वयालङ्कारं निरूप्य सम्प्रति [illegible]

सर्वथैवोपमानिषेधोऽसमाख्योऽलङ्कारः।

उपमानिषेध इति। साक्षात्परम्परया वेत्यादिः। तथा च साक्षात्परम्परया वा उपमाया आत्यन्तिकाभावो वर्णनविषयीभूतोऽसमनामकालङ्कारलक्षणमिति भावः।

अनन्वयालङ्कार का निरूपण कर लेने के बाद अब 'असम' अलङ्कार के निरूपण का आरम्भ करते हुए पहले उसका लक्षण करते हैं—सर्वथैव इत्यादि। साक्षात् अथवा परम्परया उपमा के आत्यन्तिक निषेध को 'असम' अलङ्कार कहते हैं।

विवेचयति—

अयं चानन्वये व्यङ्ग्योऽपि तच्चमत्कारानुगुणतया रूपकदीपकादावुपमेव न पृथगलङ्कारव्यपदेशं भजते। वाच्यतायां तु स्वातन्त्र्येण चमत्कारितया पृथक् व्यपदेशभाक्।

तच्चमत्कारानुगुणतयेति। अनन्वयकृतचमत्कारपरिपोषकतयेत्यर्थः। पृथगिति, पृथगलङ्कारेत्यर्थः। यद्यप्ययमसमपदार्थः अनन्वयस्थले नियमतो व्यङ्ग्यो भवत्येव, तथापि यथा

रूपकदीपकाद्यलङ्कारेषु नियमतो व्यज्यमानाऽप्युपमा रूपणदीपनादिकृतविलक्षणचमत्कारपोषकतया गुणीभूता पृथक् अलङ्कारव्यवहारविषयतां नावगाहते, तथैव तत्र व्यज्यमानोऽप्यसमः अनन्वयकृतचमत्कारविशेषपोषक इति गुणीभूतः पृथक् अलङ्कारव्यवहारविषयो न भवति। यत्र पुनर्वाच्योऽयमसमस्तत्र स्वतन्त्रं चमत्कारं जनयन् भवत्येव पृथगलङ्कारव्यवहारविषय इति भावः।

लक्षण का विवेचन किया जाता है—अयं च इत्यादि। यद्यपि यह 'असमपदार्थ' 'अनन्वय' में नियमतः व्यङ्ग्य होता ही है, तथापि वहाँ अनन्वयप्रयुक्त विलक्षण चमत्कार का पोषक होकर रहता है, स्वतन्त्र नहीं, अतः, जिस तरह रूपक, दीपक आदि में नियमतः व्यङ्ग्य होने पर भी उपमा को पृथक् अलङ्कार नहीं कहा जाता उसी तरह, इसको भी वहाँ पृथक् अलङ्कार नहीं कहा जा सकता। पर जहाँ यह असम (सादृश्य का निषेध) वाच्य रहता है वहाँ स्वतन्त्र चमत्कार को उत्पन्न करता है, अतः वहाँ, पृथक् अलङ्कार का व्यवहार उसमें किया जाता है।

उदाहरणं निर्देष्टुमाह—

यथा—

असमालङ्कारत्वप्रयोजको यः प्रकारः स निर्दिश्यत इति भावः।

जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> 'भूमीनाथ शहाबदीन भवतस्तुल्यो गुणानां गणै-
> रेतद्भूतभवप्रपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रूमहे।
> धाता नूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नवां भावये-
> न्न स्यादेव तथापि तावकतुलालेशं दधानो नरः॥'

कविः शहाबुद्दीननामानमितिहासप्रसिद्धं यवनजातीयं नृपं स्तौति—हे शहाबुद्दीननामक भूमीनाथ राजन्! एतेभ्यो भूतेभ्यः वर्तमानेभ्यः पञ्चमहाभूतेभ्यः क्षित्यादिभ्यः, भवः उत्पत्तिर्यस्य तादृशे प्रपञ्चविषये संसारे, गुणानां गणैः शौर्यौदार्यादिसमुदयैः, भवतस्तव, तुल्यः समानो, नास्ति, इति, किं ब्रूमहे कथयामः, अकथनेऽपि सर्वैरेतद् ज्ञायत एवेति भावः। धाता ब्रह्मा, यदि, नूतनकारणैः प्रसिद्धपञ्चभूतातिरिक्तस्वनिर्मितकारणैरित्यर्थः, पुनः, नवां नूतनाम्, सृष्टिं संसारम्, भावयेत् रचयेत्, तथापि नूतनसंसारनिर्माणेऽपि तावकतुलालेशं त्वदीयसमतालवं, दधानः दधत्, नरो मनुष्यः, नैव, स्यात् भवेत् इत्यर्थः।

उदाहरण देखिये—कवि यवनराजा शहाबुद्दीन की स्तुति करता है कि—हे शहाबुद्दीन नृपते! गुणसमूह के कारण, तेरे समान इन वर्तमान पञ्चमहाभूतों (पृथ्वी आदि उपादानकारणों) से बने संसार में (कोई) नहीं है, यह क्या कहें, क्योंकि बिना कहे भी यह सर्वविदित है। कहना तो यह है कि ब्रह्मा यदि नवीन (इन पञ्चमहाभूतों से भिन्न) कारणों से नवीन संसार को उत्पन्न करें, तब भी तेरी समग्र तुला की तो बात ही क्या? तेरी तुलना के कण को भी धारण करनेवाला मनुष्य नहीं ही हो सकेगा।

उदाहरणान्तरं निर्देष्टुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> 'भुवनत्रितयेऽपि मानवैः परिपूर्णे विबुधैश्च दानवैः।
> न भविष्यति नास्ति नाभवन्नृप यस्ते भजते तुलापदम्॥'

कविः कमपि नृपं स्तौति—हे नृप राजन्! मानवैः मनुष्यैः, विबुधैः देवैः, दानवैः राक्षसैश्च, परिपूर्णे सर्वतोभावेन व्याप्तेऽपि, भुवनत्रितये त्रिलोक्याम्, यः पुरुषविशेषः, ते तव, तुलापदम् तुलनास्थानं, भजते प्राप्नोति, तादृशः कश्चिदपि, न अभवत्, न वा अस्ति, न वा भविष्यति कालत्रयेऽपि तव तुल्यो नेत्यर्थः। कालत्रयासत्त्वमेवोक्तोदाहरणाद् विशेषः। उदाहरणद्वयेऽपि सर्वथोपमानिषेधावगतेरसमालङ्कारः स्पष्टः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भुवन इत्यादि। कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन्! देव, मानव और दानवों से व्याप्त इस त्रिलोकी में वह जो तेरी समानता का स्थान प्राप्त कर सके, न था, न है और न होगा। इन दोनों उदाहरणों में सर्वथा उपमा का निषेध वर्णित है, अतः असमालङ्कार स्पष्ट है। द्वितीय उदाहरण में कालत्रय की उपमा का निषेध है, यही पूर्व उदाहरण से विलक्षणता है।

ननूदाहरणद्वयेऽपि निषेधस्य प्राधान्यात्कथमलङ्कारत्वम्, परपोषकत्वेनाप्रधानस्यैव तत्त्वादित्यत आह—

राजस्तुत्युत्कर्षकत्वादत्रासमालङ्कारः।

अत्र उदाहरणद्वये। 'भूमीनाथ—' 'भुवन—' इति पद्यद्वयम् राजस्तुतौ प्रयुक्तम्, अतः कविनिष्ठराजविषयकरतिभावोऽत्र प्रधानव्यङ्ग्यः, वाच्यश्च 'असमः' तत्पोषकत्वाद्-लङ्काररूपः। असमो नात्र प्रधानमिति भावः।

यदि कोई कहे कि उक्त दोनों उदाहरणों में असम (उपमा का निषेध) ही प्रधान है—उसी का वर्णन प्रधान रूप में किया गया है, फिर वह अलङ्काररूप कैसे हो सकता है, क्योंकि अलङ्कार तो वह होता है जो स्वयम् अप्रधान होकर किसी प्रधान को उपस्कृत करे, तो इसका उत्तर दिया जाता है कि–हाँ, अप्रधान ही अलङ्कार होता है, यहाँ भी असम अप्रधान ही है क्योंकि प्रधान तो राजा की स्तुति है। तात्पर्य यह कि ऊपर के दोनों ही पद्य राजा की स्तुति में रचे गए हैं अतः इन दोनों से प्रधान रूप में कविगत राजविषयक रतिभाव अभिव्यक्त होता है और उसका पोषक होने के कारण असम (वाच्य उपमानिषेध) अलङ्काररूप बनता है।

ननूपमानलुप्तोपमयैव गतार्थोऽयमसम इत्याशङ्कां मनसि निधायाह—

आत्यन्तिकः क्वाचित्कश्च सदृशनिषेधोऽसमोपमानलुप्तयोर्विषयः। सर्वथैवोपमाननिषेधेन सादृश्यस्याप्रतिष्ठानान्नोपमागन्धोऽपि।

आत्यन्तिक इति। [illegible]

रस्य विषयः क्वाचित्कः [illegible]

न्तिकसदृशनिषेधेऽपि कु [illegible]

हरणेषु, उपमानस्य सर्वथ [illegible]

ष्ठातुमेव न पारयति, अत [illegible]

गतार्थयितुं शक्य इति भावः।

'असम' और 'उपमानलुप्ता उपमा' में भेद दिखलाने के लिये कहा जाता है—आत्यन्तिक इत्यादि। सदृश पदार्थ का जहाँ आत्यन्तिक अभाव वर्णित होता है वह है 'असम' का लक्ष्य और जहाँ किसी स्थानविशेष में अथवा किसी कालविशेष में सदृश पदार्थ का निषेध (अभाव) वर्णित रहता है वह है उपमानलुप्तोपमा का लक्ष्य, इसलिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि—यह 'असम' अलङ्कार उपमानलुप्ता उपमा में ही गतार्थ है। आप कहेंगे—यह भेद तो आपने अपने मन से कर लिया है। आत्यन्तिक सदृशनिषेध-स्थल में भी उपमानलुप्तोपमा ही क्यों नहीं मान ली जाय? तो इसका उत्तर यह है

कि—जहाँ (असम के उदाहरण में) उपमान का सर्वथा निषेध वर्णित रहेगा—अर्थात् यह वर्णित रहेगा कि 'अमुक पदार्थ का उपमान कहीं कोई है ही नहीं' वहाँ सादृश्य खड़ा ही कैसे हो सकता है ? अर्थात् विना उपमान के किसका सादृश्य कहा जायगा ? और जब सादृश्य ही प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा तब वहाँ उपमा की गन्ध भी कैसे आवेगी ? क्योंकि सादृश्य का ही नाम उपमा है।

रत्नाकरमतमुपपाद्य निरस्यति—

यत्तु—

'ढुण्ढुलन्तो मरीहसि कण्टक कलिआइं केअइवणाइं।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमंतो न पावहिसि॥' इति।

नेयमुपमानलुप्तोपमा, तस्याः सम्भवदुपमानानुपादानविषयत्वात्। अपि त्वसमालङ्कारः' इति रत्नाकरेणोक्तम्, तदसत्। मालतीकुसुमसदृशं भ्रमर भ्रमन्नपि न प्राप्स्यसीत्युक्त्या वर्ततां नाम तत्सदृशं क्वापि, त्वया तु दुष्प्रापमेवेति प्रत्ययादात्यन्तिकोपमाननिषेधाभावादुपमानलुप्तोपमैवेयं भवितुमर्हति, नासमालङ्कारः। अन्यथा मालतीकुसुमसदृशं नास्तीत्येव ब्रूयात्, न तु प्राप्स्यसीति।

ढुण्ढुलन्तो इति। व्याख्यातेयं गाथोपमाप्रकरणे। खण्डयति—तदसत् इति। तस्यास्त्वे हेतुमुपन्यस्यति—मालतीत्यादिना। निषेधाभावादिति। सम्भवदुपमानत्वाच्चेत्यपि बोध्यम्। अन्यथेति। असमस्येष्टत्वे इत्यर्थः। यत्र सम्भवतोऽप्युपमानस्योपादानं न क्रियते तत्रोपमानलुप्तोपमा भवति 'ढुण्ढुलन्तो—' इति गाथायां तु उपमानसम्भावनैव निरासितेति नात्र सा किन्तु असमालङ्कार इति रत्नाकरस्याभिप्रायः। परमसौ न सङ्गतः 'मालतीकुसुमसदृशं न प्राप्स्यसि' इति कथनेन 'तत्सदृशं वस्तु विद्यते जगत्यवश्यम् परन्तु त्वया तल्लब्धुं न शक्यम्' इत्यर्थस्यैव प्रतीतिः, तथा च नात्रात्यन्तिकोपमाननिषेध इति असमलक्षणाप्राप्तिः, अपि च सम्भवतोऽप्युपमानस्यानुपादानेनोपमानलुप्तोपमायाः प्राप्तिरिति विचारासहत्वात्। असमालङ्कारनिबन्धनं कवेर्यदि अभिप्रेतं स्यात्, तर्हि 'मालतीकुसुमसदृशं नास्ती'त्येव कथयेत्। 'न प्राप्स्यसि' इति कथयतः कवेः उपमानलुप्तोपमानिबन्धने एव स्वारस्यं प्रतीयत इति भावः।

रत्नाकर के मत का उपपादन करके खण्डन किया जाता है—यत्तु इत्यादि। 'ढुण्ढुलन्तो—' इस पद्य—जिसकी व्याख्या उपमाप्रकरण में की जा चुकी है—में उपमानलुप्तोपमा अलङ्कार नहीं है, क्योंकि वह वहाँ होती है, जहाँ सम्भावित उपमान का उल्लेख नहीं किया गया रहता। यहाँ तो ऐसी बात नहीं है—अर्थात् यहाँ उपमान की सम्भावना का ही खण्डन किया गया है, अतः यहाँ असमालङ्कार है। ऐसा जो रत्नाकर ने कहा, वह भी असत् है—असङ्गत है। कारण, यहाँ जो यह वर्णित है कि—'हे भ्रमर ! तू संसारभर में घूमता हुआ भी मालतीफूल के समान दूसरे को नहीं पा सकेगा।' इससे यह अर्थ प्रतीत होता है कि—'उसके समान दूसरा भी कोई फूल दुनिया में कहीं हो भले ही पर तू उसको नहीं पा सकता।' अब आप बतलाइये कि—यहाँ उपमान का आत्यन्तिक निषेध हुआ ? उत्तर देना पड़ेगा 'नहीं'। फिर असम यहाँ कैसे ? उपमानलुप्तोपमा तो हो ही सकती है, क्योंकि सम्भावित उपमान का अनुल्लेख है। यहाँ यदि कवि को असमालङ्कार का निबन्धन करना अभीष्ट होता तो 'मालतीकुसुम सा दूसरा कोई कुसुम नहीं है' यही कहता, नकि 'मालतीकुसुम-सदृश दूसरे को नहीं पावेगा' यह। ऐसा कहने का कारण स्पष्ट है कि कवि को उपमानलुप्तोपमालङ्कार का निबन्धन अभीष्ट है।

आशंक्य समाधत्ते—

अथासमालङ्कारध्वननेनैव चमत्कारोपपत्तेरनन्वयस्य पृथगलङ्कारता कथमिति चेत्, सत्यम्। दीपकादेरप्युपमाभिव्यक्त्यैव चमत्कारोपपत्तौ कथं नाम पृथगलङ्कारत्वमिति तुल्यम्। न च दीपकादावुपमाया व्यङ्ग्यत्वेऽपि गुणीभावात्प्रकृते तु स्वसादृश्यस्य स्वस्मिन्नतितमां तिरस्कारेणासमालङ्कारस्यैव मुख्यतया ध्वननाद्वैषम्यमिति वाच्यम्। यथाहि दीपकसमासोक्त्यादौ गुणीभूतव्यङ्ग्यसत्त्वेऽप्यलङ्कारत्वं न हीयते एवमनन्वये प्रधानव्यङ्ग्यसत्त्वेऽपीति न किञ्चिद्विरुद्धम्। अनन्वयशरीरस्य स्वसादृश्यमात्रस्य वाच्यत्वेन वाच्यालङ्कारव्यपदेशोऽपि सुस्थ एव। दीपकाद्यलङ्कारकाव्ये गुणीभूतस्य व्यङ्ग्यस्य सत्त्वादस्तु नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्। ध्वनित्वं पुनर्न काप्यलङ्कृतिकाव्ये दृष्टमिति चेत्, पर्यायोक्तसादृश्यमूलाप्रस्तुतप्रशंसादिकाव्ये ध्वनित्वस्य स्फुटत्वात्।

आशङ्कते–अथेति। प्रतिबन्द्या समाधत्ते—सत्यमिति। अत एवारम्भे 'रूपकदीपकादावुपमैव' इति दृष्टान्तोक्तिः। दीपकादेरित्यस्य पृथगलङ्कारत्वमित्यत्रान्वयः। पुनरवान्तरशङ्कामाह—न चेति। अवान्तरशङ्कायाः समाधानमाह यथा हि इति। हि यतः प्रधानव्यङ्ग्यसत्त्वेऽपीति। अलङ्कारत्वं न हीयते इत्यस्यानुषङ्गः। एवमलङ्कारव्यवहारे साधिते वाच्यालङ्कारव्यवहारं तस्य साधयति—अनन्वयेति। शङ्कते–दीपकाद्यलङ्कारेति। बहुव्रीहिरत्र बोध्यः। अलङ्कृतिकाव्ये इति तदुक्तकाव्ये इत्यर्थः। तथा चैवमित्याद्युक्तिरयुक्तेति भावः। समाधत्ते–पर्यायोक्तेति। अप्रस्तुतप्रशंसाया अनेकविधत्वादाह–सादृश्येति। अनन्वये स्वसादृश्यस्य स्वस्मिन् वाच्यत्वरूपे चमत्कारो नियतव्यङ्ग्यसादृश्यनिषेधकृत एवेति सर्वसम्मतम्, सादृश्यनिषेध एव च वाच्योऽसमाख्योऽलङ्कारः, तथा चैतत्सिद्ध्यति यत् अनन्वयेऽसमालङ्कारस्य नियमतो व्यङ्ग्यत्वम्। अथ क्वचिद् वाच्यासमालङ्कारकृतः क्वचिच्च व्यङ्ग्यतदलङ्कारकृतश्चमत्कार इत्यङ्गीकारेणैव सामञ्जस्ये पृथगलङ्कारश्रेण्यां कथमनन्वयस्य गणनेति शङ्कायां दीपकादावपि नियमतो व्यज्यमानोपमाकृत एव चमत्कारस्तथा च तेनैव निर्वाहे दीपकादेरपि किमर्थम् पृथगलङ्कारत्वमिति शङ्कायास्तुल्यत्वमिति प्रतिबन्द्यात्मकं समाधानम्। यथा तत्त्वेऽपि दीपकादेः पृथगलङ्कारत्वम् तथा अनन्वयस्यापीति भावः। दीपकादौ व्यज्यमानाऽप्युपमा वाच्यार्थस्य (दीपकत्वादिनाऽभिमतस्य) अपेक्षया गुणीभूता इति प्रधानवाच्यार्थमूलकदीपकादिव्यवहारो युक्तः, अनन्वये तु वाच्यं स्वस्मिन् स्वसादृश्यम् बाधितत्वेन नितान्ततिरस्कारपात्रमेवेति किं तस्य प्राधान्यम्? फलतः व्यज्यमानस्य सादृश्यनिषेधात्मकासमालङ्कारस्यैव प्राधान्यम् इति नात्राप्रधानवाच्यार्थमूलकानन्वयव्यवहारो युक्त इति तु नोचितं वैषम्योपदर्शनम्, अस्य वैषम्यस्याकिञ्चित्करत्वात्। तथाहि—यद्युपमात्मकगुणीभूतव्यङ्ग्यसद्भावेऽपि दीपकादेरलङ्कारत्वं न नश्यति तर्हि असमात्मकप्रधानव्यङ्ग्यसद्भावेऽनन्वयस्यालङ्कारत्वं कथं नश्येत्? न नश्येदेव। न च न नश्यतु तस्यापि तत्, किंतु यत्र कोऽप्यर्थः प्रधानतयाऽभिव्यज्यते, तत्कृत एव च चमत्कारोऽनुभूयते तत्र ध्वनिकाव्यव्यवहार एव भवति नालङ्कारकाव्यव्यवहार इति भवतोऽपि आर्योऽभिमतमेव तथा च प्रधानतोऽभिव्यज्यमानचमत्कारैककारणासमालङ्कारके काव्येऽनन्वयकाव्यव्यवहारः कथं स्यात्? न च गुणीभूतव्यङ्ग्यसद्भावे दीपकादिव्यवहारवत् सोऽपि व्यवहारः स्यादिति शंक्यम्, अलङ्कृतिप्रधानकाव्येऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यव्यवहारस्यालङ्कारिकैरङ्गीकृततया तत्र तथा व्यवहारस्य सम्भवेऽपि तद्दृष्टान्तेन प्रकृते तथाव्यवहारस्यासम्भवादिति

वक्तव्यम्, पर्यायोक्तसादृश्यमूलकाप्रस्तुतप्रशंसादिकाव्ये ध्वनित्वस्यालङ्कारकाव्यत्वस्य च स्फुटतया ध्वनित्वालङ्कारयोः सामानाधिकरण्येऽविरोधात्। अथास्त्वेतत्सर्वम्, परन्तु चमत्कारांशस्य व्यङ्ग्यत्वेन कमंशमादाय अनन्वये वाच्यालङ्कारत्वव्यपदेश इति चेत्? स्वस्मिन् स्वसादृश्यरूपमनन्वयशरीरमादायेति भावः।

खण्डन-मण्डनपूर्वक 'अनन्वय' को पृथक् अलङ्कार मानने में युक्ति दिखलाई जाती है—अथ इत्यादि। अब यहाँ शङ्का यह उपस्थित होती है कि–'अनन्वय' में वाच्य अंश—अपने में अपना सादृश्य—तो बाधित ही रहता है, अतः उससे कोई चमत्कार नहीं उत्पन्न होता, फलतः यही मानना पड़ता है कि व्यञ्जना के द्वारा प्रतीत होनेवाले 'उपमाननिषेध (अनुपमता)' अंश से ही यहाँ चमत्कार उत्पन्न होता है, और उपमान के निषेध द्वारा सादृश्य (उपमा) का निषेध अथवा सादृश्य के निषेध द्वारा उपमान का निषेध ही असमालङ्कार का स्वरूप है। अतः यह कहना अत्यन्त ही सङ्गत है कि 'असमालङ्कार' को ध्वनित करने से ही 'अनन्वय' में चमत्कार आता है। ऐसी दशा में अनन्वयात्मक वर्णन को 'असमालङ्कार' व्यञ्जकमात्र मान लेने से निर्वाह हो जाता है, फिर पृथक् 'अनन्वय' को अलङ्कार क्यों माना जाय? उत्तर में कहा जाता है कि दीपक आदि अलङ्कारों में भी उपमा की अभिव्यक्ति से ही चमत्कार बन पाता है–यदि सादृश्य की व्यञ्जनया प्रतीति न हो तो दीपक आदि में और चमत्कार ही क्या रह जाता है? फिर उनको (दीपक आदि को) क्यों पृथक् अलङ्कार माना जाता है? बात दोनों ही स्थलों पर एक सी है। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे प्रतीयमान उपमांश को लेकर ही चमत्कारी होनेवाले दीपकादि को पृथक् अलङ्कार माना जाता है, वैसे ही व्यज्यमान उपमाननिषेध (असम) अंश को लेकर ही चमत्कार उत्पन्न करनेवाले अनन्वय को भी पृथक् अलङ्कार माना जायगा। यदि आप कहें कि–दीपक आदि का दृष्टान्त देकर जो अनन्वय को पृथक् अलङ्कार सिद्ध करने का प्रयास आपने किया है वह नहीं सफल हो सकता, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में बड़ी विषमता है और वह विषमता यह है कि दीपक आदि में व्यङ्ग्य होकर भी उपमा गौण ही रहती है, प्रधान रहता है दीपकात्मक वाच्यार्थ ही, अतः प्रधान के अनुसार पृथक् अलङ्कार का व्यवहार सङ्गत हो जाता है, पर प्रकृत में तो अपने में अपना सादृश्य ही वाच्य रहता है जो अत्यन्त ही बाधित अतएव तिरस्कृत होने योग्य है, अतः असमालङ्कार ही ध्वनित होकर मुख्य हो जाता है, ऐसी स्थिति में यहाँ मुख्य असमध्वनिकाव्य का ही व्यवहार होना उचित प्राप्त है न कि अमुख्य अनन्वयालङ्कार काव्य का, तो इसका उत्तर यह है कि–जैसे 'दीपक' 'समासोक्ति' आदि अलङ्कारों में गुणीभूत (अप्रधान) व्यङ्ग्य के रहने पर भी उनकी अलङ्कारता नहीं नष्ट होती–अर्थात् वे अलङ्कार कहलाते ही हैं, उसी तरह 'अनन्वय' में प्रधान व्यङ्ग्य के रहने पर भी उसकी (अनन्वय की) अलङ्कारता नष्ट नहीं होगी, वह भी अलङ्कार कहलायगा। तात्पर्य यह कि–जब अप्रधान व्यङ्ग्य के रहने से किसी पदार्थ का अलङ्कार होना नहीं रुकता तब प्रधान व्यङ्ग्य के रहने से वह रुक जाय यह न्यायसङ्गत नहीं है। और 'अपने में अपना सादृश्य' यह जो 'अनन्वय' का शरीरस्वरूप है वह तो वाच्य ही है, व्यङ्ग्य नहीं, अतः अनन्वय को वाच्य अलङ्कार कहना भी उचित ही है। यदि आप कहें कि दीपक आदि अलङ्कारों से युक्त काव्यों में सादृश्यरूप व्यङ्ग्य के गुणीभूत (अप्रधान) होने से उन्हें 'गुणीभूत व्यङ्ग्य (उत्तम काव्य)' कहा जाता है तो यह ठीक है, पर किसी अलङ्कार-प्रधानकाव्य का ध्वनि(उत्तमोत्तम)काव्य होना कहीं नहीं देखा गया। अभिप्राय यह है कि–बहुतेरे अलङ्कारों में कुछ व्यङ्ग्य गुणीभूत होकर रहते हैं और उन व्यङ्ग्यों में चमत्कार भी रहता है, अतः उन्हें चित्रकाव्य (मध्यम) न कहकर गुणीभूतव्यङ्ग्य (उत्तम) कहा जा सकता है, पर अलङ्कारप्रधान ऐसा कोई काव्य नहीं जो अलङ्कारप्रधान होकर भी ध्वनि (उत्तमोत्तम)

कहला सके। किन्तु अनन्वयालङ्कार में असमालङ्कार प्रधानतया ध्वनित अतएव वाच्यापेक्षया अधिक चमत्कारी भी होता है। ऐसी स्थिति में अब अनन्वयालङ्कारयुक्त काव्य को 'ध्वनि (उत्तमोत्तम)' काव्य कहना पड़ेगा, जो एक अदृष्टपूर्व बात है। इसका समाधान यह है कि—जिस बात को आप अदृष्टपूर्व समझ रहे हैं, वह वस्तुतः अदृष्टपूर्व है नहीं, जरा सी तिरछी नजर करके देखने पर वह बात 'पर्यायोक्त' और सादृश्यमूलक 'अप्रस्तुतप्रशंसा' आदि अलङ्कारप्रधान काव्यों में स्पष्ट देखी जा सकती है—अर्थात् उन अलङ्कारों से युक्त काव्य अलङ्कारप्रधान ही कहलाते हैं और साथ-साथ वहाँ प्रधानतया ध्वनित होनेवाले अर्थ भी रहते हैं।

मतान्तरमाह—

प्राञ्चस्तु नेदमलङ्कारान्तरमित्यप्याहुः।

'असमो' नालङ्कारः कश्चित्, तदुदाहरणतयाऽभिमतेषु काव्येषु उपमालङ्कारदूरीकरणमात्रस्यैव रसाद्यनुगुणतया रमणीयत्वात् इति प्राञ्चो मन्यन्ते। रत्याद्यनुकूलतया कुतश्चिदङ्गाद्भूषणापसारणं यथा शोभाविशेषाय भवति, तथा स्थलविशेषेऽलङ्कारविशेषस्य दूरीकरणमात्रमपि रसाद्यनुगुणतया रमणीयं भवतीति न तत्रालङ्कारान्तरकल्पनावश्यकतेति तदाशयः। एतच्च व्यतिरेकालङ्कारप्रकरणे ग्रन्थकृतैवोक्तम्।

प्राचीनों का मत दिखलाया जाता है—प्राञ्चस्तु इत्यादि। प्राचीन आचार्य 'असम' नामक अलङ्कार नहीं मानते। नहीं मानने में उनकी युक्ति यह है कि—जैसे सम्भोग आदि में अनुकूल होने के कारण नायिका के किसी-किसी अङ्ग से भूषण का हटा देना ही शोभाविशेष के लिए होता है उसी तरह कहीं-कहीं अलङ्कार को दूर कर देना ही रस आदि के लिये उपकारक हो जाता है, अतः जिन काव्यों में 'असम' अलङ्कार माना जाता है, उनमें उपमा अलङ्कार का निरास कर देने मात्र से चमत्कार पैदा होता है, किसी खास अलङ्कार के होने से नहीं, यही मानना चाहिये। 'प्राचीन नहीं मानते' इस कथन से नवीन (जिनमें ग्रन्थकार भी प्रायः सम्मिलित हैं) 'असमालङ्कार' मानते हैं, ऐसा प्रतीत होता है, उसमें तर्क यह है कि नये-नये चमत्कारों की उपलब्धि ही तो नवीन-नवीन अलङ्कारों को स्वीकार करने में युक्ति है, फिर जैसे सादृश्य वर्णित रहने पर एक तरह का चमत्कार उपलब्ध होने से 'उपमा' नाम का अलङ्कार माना जाता है वैसे ही सादृश्यनिषेध वर्णित रहने पर भिन्न तरह का चमत्कार उपलब्ध होने से एक भिन्न अलङ्कार क्यों नहीं माना जाय?

व्यङ्ग्यमसमालङ्कारं दर्शयितुमाह—

अयं चासमालङ्कारो व्यज्यमानो यथा—

व्यञ्जनावृत्तिबोध्य यह असमालङ्कार, जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> 'मयि त्वदुपमाविधौ वसुमतीश वाचंयमे
> न वर्णयति मामयं कविरिति क्रुधं मा कृथाः।
> चराचरमिदं जगज्जनयता विधेर्भूतले
> पदं नहि दधेतरां तव खलु द्वितीयो नरः॥'

कविः कमपि राजानं स्तौति—हे वसुमतीश राजन्! त्वदुपमाविधौ अर्थात् इन्द्रादिनोपमानेन सह तव तुलनाकरणे (विषयसप्तमीयम्), मयि, वाचंयमे मौनावलम्बिनि, सति, अयं कविः, मां, न वर्णयति, इति हेतोः, क्रुधं कोपम्, मा कृथाः न कुरु, त्वमिति शेषः। 'मा कृथाः' इत्यत्र 'माङि लुङ्' इति सूत्रेण सर्वलकारापवादभूतो लुङ्। माङ्योगादडागमाभावः। अवर्णनहेतुकक्रोधाकरणे कारणमाह—चराचरमिति। हि यतः, चराचरम्

स्थावरजङ्गमात्मकम्, इदं परिदृश्यमानं, जगत् संसारम्, जनयतः उत्पादयतः, विधेः ब्रह्मणः, मानसे चेतसि, तव द्वितीयः त्वादृशोऽपरः, नरः मनुष्यः, खलु निश्चयेन, पदं स्थानम्, न दधेतराम् प्रापेत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—मयि इत्यादि। कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन्! मैं आपकी किसी के साथ तुलना करने के विषय में चुप हूँ, इसलिये आप यह समझकर कि 'यह कवि मेरा वर्णन नहीं करता' क्रोध न कीजिएगा। असली बात यह है कि—इस स्थावर-जङ्गमात्मक संसार को रचनेवाले विधाता के मन में आपके जैसा कोई दूसरा मनुष्य स्थान ही न प्राप्त कर सका। आप जैसे दूसरे मनुष्य की रचना करना तो दूर रहे, विधाता यह सोच भी नहीं सके कि आप जैसा कोई दूसरा हो सकता है।

उपपादयति—

अत्र य एतावन्तं समयं विधातुर्मानसं नाधिरूढः सोऽग्रेऽपि मानाभावान्नाधिरोहेत्, अतः सर्वथैव नास्तीति गम्यते।

ननु निषेधस्य वाच्यत्वेन कथमसमस्यात्र व्यङ्ग्यत्वम्, किंच 'दधे' इति भूतकालिकक्रियापदेन भूतनिषेधप्रतिपादनेनात्यन्तिकनिषेधाप्रतीत्या कथमसम इत्यत आह—अत्रेति। अस्मिन् पद्ये इत्यर्थः। [illegible] गम्यत इति। गम्यश्चायमर्थः 'असमालङ्कार'रूपः। एवञ्च [illegible] भूतकालिकत्वेऽपि च उपमाननिषेधस्य व्यङ्ग्यत्वमात्यन्तिकत्वञ्चाक्षुण्णमेवेति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'मयि त्वदुपमाविधौ—' इस पद्य में 'आपके समान कोई दूसरा मनुष्य विधाता के मन में नहीं आया' इतना तो साफ वर्णित है और इसीसे यह भी अनायास ज्ञात हो जाता है कि—आगे भी आप जैसा कोई उनके मन में नहीं आयगा, क्योंकि आगे उनके मन में आप जैसा कोई आ ही जायगा इसका कोई प्रमाण नहीं है। फलतः इस पद्य से यही अभिव्यक्त होता है कि-आप जैसा कोई सर्वथा ही नहीं है और यह प्रतीयमान अर्थ 'असम' रूप है, अतः इस पद्य को व्यङ्ग्य असमालङ्कार का उदाहरण समझा जाता है।

व्यङ्ग्यत्वेऽपि कथमत्रासमस्यालङ्काररूपतेत्याह—

एवं च व्यज्यमानोऽप्यसमोऽत्र प्रधानीभूतराजस्तुत्युत्कर्षकतयालङ्कार एव।

'मयि—' इति श्लोके राजस्तुतिः सर्वतः प्रधाना (कविनिष्ठराजविषयकरतिभावः सर्वतः प्रधान इति भावः) अतः व्यङ्ग्योऽप्यसमः अप्रधानः सन् प्रधानप्रकर्षकारणतया अलङ्काररूप एव तिष्ठति नालङ्कार्यतया इति सारांशः।

व्यङ्ग्य होने पर भी यह असम अलङ्काररूप कैसे होता है इसकी उपपत्ति सुनिये—एवं च इत्यादि। 'मयि—' इस पद्य के द्वारा राजा की स्तुति की गई है, अतः इस पद्य से राजा के विषय में कवि का प्रेम (भाव) सर्वतः प्रधानरूप से अभिव्यक्त होता है, अतः व्यङ्ग्य होकर भी 'असम' उसकी अपेक्षा अप्रधान ही रहता है और अप्रधान प्रधान का पोषक होता ही है। इसीलिये व्यङ्ग्य होने पर भी यहाँ का 'असम' अलङ्काररूप ही है, अलङ्कार्यरूप नहीं।

यत्रासम एव मुख्यतयाऽभिव्यज्यते न रसादिस्तादृशमुदाहरणं दर्शयितुमाह—

मुख्यतया ध्वन्यमानोऽयं यथा—

अयम् असमः। अन्यत् स्पष्टम्।

जहाँ 'असम' ही प्रधान रूप से ध्वनित होता है, वैसा उदाहरण, जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'सदसद्विवेकरसिकैरालोक्य समस्तलोकमथ कविभिः ।
गणिता गगनलतादेर्गणनायां तन्वि ! तव सदृशी ॥'

हे तन्वि कृशाङ्गि ! सताम् सत्यभूतानाम्, असताम् असत्यभूतानाञ्च, पदार्थानाम्, विवेके विवेचने, रसिकैः स्नेहवद्भिः कविभिः, समस्तलोकम् समग्रं जगत्, आलोक्य निभाल्य, अथ अनन्तरम् तव सदृशी त्वत्तुल्या, गगनलतादेः आकाशलताद्यसम्भवद्वस्तुनः गणनायाम् कोटौ, गणिता संख्याता इत्यर्थः । अत्र 'असत्पदार्थगणनायां तव तुल्या गणिता इत्युक्त्या त्वत्तुल्या जगति नास्तीति प्राधान्येन व्यज्यते, अतः अलङ्कारध्वनिरिति भावः । नालङ्कार इति तदाशयः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सदसद् इत्यादि । हे कृशाङ्गि ! सत्य और मिथ्या पदार्थों का विवेक करने में रस लेने वाले कवियों ने समस्त संसार की देख-भाल कर चुकने के बाद तेरी जैसी को 'आकाशलता' आदि की गणना में गिना है—अर्थात् 'आकाशलता' जैसे संसार में नहीं है वैसे ही तेरे समान भी कोई नहीं हो सकती । यहाँ 'तेरी बराबरी की कोई दूसरी नायिका नहीं है' यह असम पदार्थ प्रधान रूप से ही अभिव्यक्त होता है-अर्थात् यहाँ कोई दूसरा प्रधान अर्थ है ही नहीं जिसका पोषण यह असमपदार्थ करे, अतः अलङ्कार (अलङ्कार कहलाने योग्य पदार्थ) की ध्वनि यहाँ मानी जायगी, व्यङ्ग्य अलङ्कार नहीं ।

असमालङ्कारस्य भेदावुपपादयति—

अयं कचिदुपमानस्य निषेधात्कचिच्च साक्षादुपमाया एव । आद्यस्तूपदर्शितः ।

उपमानिषेध एव यद्यप्यसमालङ्कारलक्षणे प्रविष्टः, तथापि उपमाननिषेधेऽपि निरूपकाभावादुपमानिषेधः पर्यवस्यतीति उपमाननिषेधमूलकम् साक्षादुपमानिषेधमूलकञ्च भेदद्वयमसमस्य तावद्बोध्यम् । तत्रोपमाननिषेधमूलकः प्रथमो भेदः प्रागुदाहृत इति भावः ।

असमालङ्कार के भेद किये जाते हैं—अयम् इत्यादि । यह 'असमालङ्कार' कहीं उपमान के निषेध से होता है और कहीं साक्षात् उपमा के ही निषेध से । तात्पर्य यह है कि-यद्यपि लक्षण में उपमा के निषेध को ही 'असम' कहा गया है, तथापि उपमाननिषेधमूलक भी एक भेद इसका होता है, क्योंकि उपमान के निषेध से उपमा का निषेध ही फलतः सिद्ध होता है । कारण, उपमान ही उपमा (सादृश्य) का निरूपक होता है, फिर निरूपक के अभाव में उपमा कैसे हो सकती है ? इस तरह उपमाननिषेधमूलक और साक्षात् उपमानिषेधमूलक दो भेद असम के सिद्ध हुए । उनमें प्रथम अर्थात् उपमाननिषेधमूलक भेद का उदाहरण पहले दिखलाया जा चुका है ।

द्वितीयभेदमुदाहर्तुमाह—

द्वितीयो यथा—

द्वितीय अर्थात् साक्षात् उपमानिषेधमूलक असमालङ्कार, जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'पूर्णमसुरै रसातलममरैः स्वर्गो वसुन्धरा च नरैः ।
रघुवंशवीरतुलना तथापि खलु जगति निरवकाशैव ॥'

यद्यपि असुरैः रसातलम् पातालम्, पूर्णम्, अमरैः देवैः स्वर्गः, पूर्णः, नरैः मनुष्यैः, वसुन्धरा पृथ्वी, च, पूर्णा अस्तीति योगः । अत्र 'पूर्णम्' इत्यस्य लिङ्गवचनव्यत्यासेनान्वयः । तथापि रसातलस्वर्गवसुन्धराणाम् असुरामरनरपरिपूर्णत्वेऽपि, जगति संसारे,

खलु निश्चयेन, रघुवंशवीरस्य रामचन्द्रस्य, तुलना उपमा, निरवकाशा निष्प्रसरा निराधारेति यावत्, एवेत्यर्थः। अत्र साक्षादुपमानिषेधादसमः सम्पद्यते इति भावः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—पूर्णम् इत्यादि। पाताल असुरों से, स्वर्ग देवताओं से और पृथ्वी मनुष्यों से यद्यपि पूर्ण हैं—इन सभी जातियों में एक से एक वीर वर्तमान हैं, तथापि रघुवंशवीर–रामचन्द्रजी की तुलना–उपमा–निरवकाश ही रह जाती है–अर्थात् उसकी उपमा किसी से नहीं दी जा सकती, वह अनुपम है। यहाँ 'तुलना निरवकाशैव' इस उक्ति के द्वारा साक्षात् उपमा का निषेध किया गया है अतः यह पद्य असमालङ्कार के द्वितीय भेद का उदाहरण होता है।

अन्यभेदानां स्वयमूहनीयतामाह—

एवं पूर्णतया लुप्ततया चास्यापि यथासम्भवं भेदा उन्नेयाः।

यथोपमायां पूर्णालुप्तादयो भेदा भवन्ति तथाऽसमेऽपि कियन्तो भेदा भवितुमर्हन्ति, तेषामूहः स्वयं सुधीभिर्विधातव्य इति भावः।

जैसे 'उपमा' के पूर्णा-लुप्ता आदि भेद होते हैं, वैसे 'असम' के भी उनमें से कितने ही भेद हो सकते हैं, जिनका वर्णन विस्तार के भय से छोड़ दिया गया है। पर विद्वानों को स्वयं उनका ऊह कर लेना चाहिये।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामसमालङ्कारप्रकरणम्।

अथोदाहरणालङ्कारनिरूपणमारभमाणस्तल्लक्षणमाह—

सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम्।

सुखप्रतिपत्तये इति। द्रुततरं बुद्ध्यारूढत्वायेत्यर्थः। तयोरिति। सामान्यैकदेशयोरित्यर्थः। सामान्यरूपं कमपि पदार्थं प्रागुपवर्ण्य पश्चात् तस्योपवर्णितस्य सामान्यरूपस्य पदार्थस्य स्पष्टज्ञानाय तद्विशेष उपवर्ण्यते, तयोश्च सामान्यविशेषभूतयोः पदार्थयोः स्वाभाविकोऽवयवावयविभावो यत्र शब्देनाभिधीयते, तत्र तादृशः स अवयवावयविभाव एवोदाहरणालङ्कार इति भावः।

असमालङ्कारनिरूपणोत्तर अब उदाहरणालङ्कार-निरूपण-प्रसङ्ग में सर्वप्रथम उसका (उदाहरणालङ्कार का) लक्षण किया जाता है—सामान्येन इत्यादि। सामान्यरूप से वर्णित अर्थ के शीघ्र बोध के लिये, उसके एकदेश का वर्णन करके, सामान्य-पदार्थ और उसके एकदेश का, शब्द से उक्त अङ्गाङ्गिभाव 'उदाहरण' कहलाता है।

लक्षणं विवेचयितुमाह—

अर्थान्तरन्यासवारणायोच्यमान इति। वचनं च इव-यथा-निदर्शन-दृष्टान्तादिशब्दैः काव्येषु स्फुटम्। न च इवयथाशब्दयोः सादृश्यवचनयोरवयवावयविभावे विशेषसामान्यात्मके नास्ति वृत्तिरिति वाच्यम्। लक्षणायाः साम्राज्यात्। अन्यथा लुप्तेवार्थबोधकतापि दुर्घटा स्यात्।

लक्षणघटकोच्यमानपदकृत्यं दर्शयितुमाह—अर्थान्तरेति। ननु केन केन शब्देनावयवावयविभाव उच्यतेति जिज्ञासायामाह—वचनं चेति। शङ्कते—न चेति। समाधत्ते–लक्षणेति। लक्षणाया अवश्यस्वीकरणीयतामाह—अन्यथेति। लक्षणानङ्गीकारे इति तदर्थः।

अर्थान्तरन्यासेऽपि यद्यप्यवयवावयविभावः प्रतीयते, तथापि तत्र स शब्देनोच्यमानो न तिष्ठति । एवञ्चार्थान्तरन्यासे उदाहरणालङ्कारलक्षणं न प्रसज्जत्विति 'उच्यमान'पदं लक्षणे प्रवेशितम् । तथा च यत्र सामान्यविशेषयोरवयवावयविभावस्य बोधकः शब्द उपात्तस्तत्रोदाहरणम् । यत्र च तादृशः शब्दो नोपात्तस्तत्रार्थान्तरन्यास इति विवेकः । तयोरवयवावयविभावस्य बोधकाश्च शब्दा इव-यथा-निदर्शन-दृष्टान्तादयो भवन्तीति काव्यावलोकनेन स्फुटमवगम्यते । विशेषसामान्यभावात्मकेऽवयवावयविभावे इव-यथापदयोरभिधा नास्ति, तयोरभिधायाः सादृश्यरूपार्थ एव कोशादिभिर्बोधितत्वादिति चेत् ? सत्यम्, तयोः पदयोस्तत्रार्थे लक्षणाङ्गीकरणीयेति लक्षणकारस्याभिप्रायः । तथा च 'उच्यमान' इत्यस्य नाभिधाबोध्यमान इत्यर्थः, अपितु शब्देन बोध्यमान इत्येव । तच्च लक्षणायामपि न विरुद्धम् इति सारांशः । अत एव इव-यथापदयोरुत्प्रेक्षाबोधकता सकलालङ्कारिकाभिमता सङ्गच्छते । सादृश्यवाचकौ तौ शब्दौ सम्भावनात्मिकामुत्प्रेक्षामपि लक्षणयैव बोधयितुं प्रभवत इति भावः ।

लक्षण का विवेचन किया जाता है—अर्थान्तर इत्यादि । अर्थान्तरन्यास के उदाहरणों में अतिप्रसङ्ग न हो इसलिये 'उदाहरण' के लक्षण में 'शब्द से उक्त' यह अवयवावयविभाव का विशेषण दिया गया है । तात्पर्य यह कि—अर्थान्तरन्यास के उदाहरणों में भी सामान्य-विशेषभाव प्रतीत अवश्य होता है, पर उस भाव का बोधक कोई पद वहाँ नहीं रहता, अतः उससे पृथक् करने के लिये 'उदाहरणालङ्कार में उक्त भाव का शब्द द्वारा अवगत होना आवश्यक माना जाता है । काव्यों में उक्त अवयवावयविभाव के बोधक 'इव, यथा, निदर्शन और दृष्टान्त' पद स्पष्ट उपलब्ध होते हैं । 'इव' और 'यथा' पद 'सादृश्य' के वाचक हैं, अतः वे दोनों पद सामान्य-विशेषरूप अवयवि-अवयवभाव के बोधक किस वृत्ति के बल पर हो सकते हैं ? अर्थात् अभिधावृत्ति के बल पर नहीं हो सकते, तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हाँ, अभिधा के बल पर नहीं हो सकते यह बात सत्य है, पर लक्षणा के बल पर तो हो ही सकते हैं—अर्थात् जहाँ जिस पद की अभिधा बाधित रहती है वहाँ भी उस पद की लक्षणा का साम्राज्य रहता है ऐसी स्थिति में इव यथा आदि पदों की अभिधा भले ही 'अवयवावयविभाव'रूप अर्थ में न हो पर लक्षणा हो सकती है । इसीलिये तो वे पद सम्भावनारूप उत्प्रेक्षा के भी बोधक होते हैं, यदि अभिधा के बल पर ही उन पदों का बोधक होना निश्चित रहता, तब तो सादृश्य के अतिरिक्त किसी भी अर्थ के बोधक नहीं हो पाते और उनको उत्प्रेक्षा-बोधक सभी आलङ्कारिक मानते हैं । ऐसी दशा में लक्षणा द्वारा इव यथा आदि पद उत्प्रेक्षा की तरह अवयवावयविभाव के भी बोधक हैं यह मानने में किसी को किसी तरह की आपत्ति नहीं होनी चाहिये ।

लक्ष्यं दर्शयितुं कथयति—

उदाहरणम्—

अधोनिर्दिष्टं बोध्यमिति भावः ।

उदाहरण देखिए ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति ।
निखिलरसायनराजो गन्धेनोग्रेण लशुन इव ॥'

अमितगुणः अपरिमितगुणशाली, अपि, पदार्थः वस्तु, एकेन, दोषेण, निन्दितः निन्दाविषयः, भवति जायते । यथा निखिलरसायनराजः सकलेषु रसायनेषु श्रेष्ठः, लशुनः स्व-

नामख्यातः मूलविशेषः, उग्रेण उत्कटेन, गन्धेन निन्दितो भवतीत्यर्थः। अत्रामितगुणपदार्थसामान्यं प्रागुपवर्णितम्, ततस्तदेकदेशो विशेषभूतो लशुनो निरूपितस्तयोश्चावयव्यवयवभावः 'इव'शब्देन बोधित इत्युदाहरणालङ्कारोदाहरणं पद्यमेतत्सम्पद्यत इति भावः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अमित इत्यादि। अमित–अगणित–गुणों से युक्त भी पदार्थ एक दोष के कारण निन्दित हो जाता है जैसे सकल रसायनों (आयु आदि को बढ़ाने वाले औषधों) में श्रेष्ठ लहसुन उग्र गन्ध के कारण निन्दित हो गया है। यहाँ पहले अगणितगुणगणशाली पदार्थ-सामान्य का वर्णन किया गया है, तदुत्तर उसके एक देश–विशेषभूत पदार्थ–लहसुन का। और इन दोनों सामान्य–विशेषभूत पदार्थों में अवयवी-अवयवभाव है—अर्थात् सामान्य अगणितगुणयुक्त पदार्थ अवयवी–अङ्गी है और विशेषभूत तादृश लहसुन है अवयव–अङ्ग। यह अङ्गयङ्गभाव यहाँ इव शब्द से साफ कह दिया गया है, अतः यह पद्य उदाहरणालङ्कार का उदाहरण माना जाता है।

आशङ्क्य समाधत्ते—

न चात्र पदार्थलशुनयोरुपमा शक्या वक्तुम्। तयोः सामान्यविशेषभावेन सादृश्यस्यानुल्लासात्। तथात्वे तु इवशब्दादीनामिव सदृशादिशब्दानामप्यलङ्कारेऽस्मिन् प्रयोगः स्यात्।

अनुल्लासादिति। मिथो भेदाभावेन स्फुटमप्रतीतेरित्यर्थः। तथात्वे त्विति। सादृश्यस्योल्लासे त्वित्यर्थः। अस्योपपत्तिरत्रैवाग्रे स्फुटीभविष्यति। 'अमितगुण—' इति श्लोके पूर्वार्धवर्णितस्य पदार्थसामान्यस्योत्तरार्धवर्णितस्य लशुनस्य चोपमैव कविना निबद्धा तथा चात्रोपमालङ्कार एवेति नातिरिक्तोदाहरणालङ्कारकल्पनावश्यकतेति वक्तुं न शक्यम्, सामान्यविशेषभावापन्नयोस्तयोः 'विशेष[illegible]' इति सिद्धान्तरीत्या परस्परं भेदविरहेण भेदघटितस्य सादृश्यपदार्थस्य प्रत्येतुमशक्यतयोपमाया अप्रसक्तेः। यद्येवंविधे स्थले सादृश्यं प्रतीतं भवेत्, तर्हि तत्र इव–यथापद–प्रयोगवत् सदृशतुल्यादिपदप्रयोगोऽपि भवेत्, न च भवति अनन्वयात्, तथा चैवंविधस्थले सादृश्यस्याप्रतीतिरकामेनापि स्वीकरणीयैवेति भावः।

एक आशङ्का करके उसका समाधान किया जाता है—न चात्र इत्यादि। 'अमितगुणोऽपि—' इस पद्य में 'पदार्थ' और 'लहसुन' की उपमा नहीं कही जा सकती, क्योंकि उपमा सादृश्य का नाम है और सादृश्य की प्रतीति यहाँ हो नहीं सकती। कारण, सादृश्य भेदघटित पदार्थ है, अतः दो भिन्न वस्तुओं में ही वह हो सकता है और सामान्य 'पदार्थ' तथा विशेष 'लहसुन' में भेद है नहीं अर्थात् 'लहसुन' भी 'पदार्थ' के अन्तर्गत ही है उससे भिन्न नहीं। यदि इस तरह के सामान्यविशेष भाववाले स्थल—जो उदाहरणालङ्कार का लक्ष्य है-में सादृश्य की स्पष्ट प्रतीति होती, तो जिस तरह 'इव' 'यथा' आदि शब्दों का प्रयोग होता है, उस तरह सदृश, तुल्य आदि पदों का भी प्रयोग हो सकता। पर ऐसा होता नहीं। प्रकृत उदाहरण में ही देखिए-'जैसे लहसुन' इस वाक्य के स्थान पर 'लहसुन के सदृश' नहीं कहा जा सकता।

इवपदघटितमुदाहरणमुक्त्वा यथापदघटितं तद्दर्शयितुमाह—

यथा वा—

'इव'पदयुक्त उदाहरण तो दिखलाया जा चुका। अब 'यथा'पदयुक्त उदाहरण देखिए।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अतिमात्रबलेषु चापलं विदधानः कुमतिर्विनश्यति।
त्रिपुरद्विषि वीरतां वहन्नवलिप्तः कुसुमायुधो यथा॥'

अतिमात्रबलेषु स्वापेक्षयाऽत्यधिकबलशालिषु चापलं चञ्चलताम् द्वेषभावमिति यावत्, विदधानः कुर्वाणः, कुमतिः दुर्बुद्धिः जन इति शेषः, विनश्यति विशेषेण नाशमुपलभते, यथा त्रिपुरद्विषि त्रिपुरासुरद्वेषिणि शिवे वीरताम् शौर्यम्, वहन् दधानः, अवलिप्तः गर्वी, कुसुमायुधः प्रसूनशरः काम इति यावत्, विनष्ट इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अतिमात्र इत्यादि। अत्यधिक बलवालों के विषय में—अर्थात् उनके साथ—चञ्चलता करनेवाला दुर्बुद्धि मनुष्य नष्ट हो जाता है, जैसे त्रिपुरारि (शिव) के विषय में वीरता रखनेवाला—उनके साथ वीरता दिखलाने वाला—घमंडी कुसुमायुध (कामदेव) नष्ट हो गया।

उपपादयति—

अत्र त्रिपुरद्विड्वीरते अतिमात्रबलचापलयोर्विशेषौ। अवलेपकुसुमायुधौ च कुमतिरित्यत्र गुणप्रधानयोः।

गुणप्रधानयोरिति। कुत्सितमतितद्विशेष्ययोरित्यर्थः। विशेषावित्यस्यानुषङ्गः। 'अतिमात्र—' इति श्लोकेऽतिमात्रबलचापलपदार्थौ सामान्यभूतावत एवावयविनौ त्रिपुरद्वेषिवीरतापदार्थौ च तद्विशेषभूतावत एव तौ तदवयवौ। एवम् कुमतिपदार्थौ कुत्सितमतितद्विशिष्टौ सामान्यभूतावयविनौ अवलेपकुसुमायुधपदार्थौ च तद्विशेषभूतावत एवावयवौ। एतस्यावयवावयविद्वयस्य संबन्धः (अवयवावयविभावः) यथापदेनोक्त इति इदमपि उदाहरणालङ्कारोदाहरणम् भवतीति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'अतिमात्र'—इस पद्य में 'अत्यधिक बलवाले' और 'चञ्चलता' ये दोनों पदार्थ सामान्यरूप अतएव अङ्गी हैं और 'शिव' तथा 'वीरता' ये दोनों पदार्थ हैं उन दोनों के विशेषरूप अतएव उनके अङ्ग, इसी तरह 'दुर्बुद्धि' पद के अर्थ में गौणरूप से आई हुई 'बुरी बुद्धि' और प्रधान रूप से आया हुआ 'बुरी बुद्धिवाला' ये दोनों पदार्थ सामान्यरूप अतएव अङ्गी हैं और इन दोनों के विशेष अतएव अङ्गरूप हैं 'घमंड' तथा 'कामदेव'। तात्पर्य यह कि उक्त पदार्थों का अङ्गाङ्गिभाव यहाँ 'यथा' पद से उक्त है, अतः यह पद्य 'उदाहरण' का उदाहरण होता है।

निदर्शनपदघटितमुदाहरणं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

निदर्शनपदयुक्त उदाहरण अब देखिए।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'उपकारमेव कुरुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम्।
मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः॥'

विपद्गतोऽपि विपत्तिग्रस्तोऽपि सद्गुणः समीचीनगुणयुक्तः, पदार्थः, नितराम्, अत्यन्तम्, उपकारम्, एव, कुरुते। अत्र विपद्गतस्यापि सद्गुणपदार्थस्योपकारित्वे, मूर्च्छाम् संस्कारविशेषम् मोहञ्च, गतः प्राप्तः, वा अथवा, मृतः संस्कारविशेषापन्नः निष्प्राणश्च, पारदः रसविशेषः, निदर्शनम् दृष्टान्त इत्यर्थः। अत्र विपद्गतसद्गुणात्मकसामान्यस्य मूर्च्छितपारदात्मकविशेषस्य चावयवावयविभावो निदर्शनपदेनोक्त इत्युदाहरणोदाहरणतां प्रतिपद्यते पद्यमेतदिति भावः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—उपकार इत्यादि। विपत्तिग्रस्त होकर भी अच्छे गुणों से युक्त पदार्थ अत्यन्त उपकार ही करता है। इस बात का दृष्टान्त है मूर्च्छित अथवा मृत पारा। मूर्च्छित, मृत, बुभुक्षित आदि अवस्था तब पारे की मानी जाती है जब रासायनिक प्रक्रिया से उसका संस्कार किया जाता है। यह पद्य भी उदाहरणा-

लंकार का उदाहरण होता है, क्योंकि यहाँ भी विपत्तिग्रस्त अच्छे गुणों से युक्त पदार्थ—जो एक सामान्यरूप है और मूर्च्छित अथवा मृत परन्तु उपकारक पारा—जो उसी का एक विशेष रूप है इन दोनों का अङ्गाङ्गिभाव 'निदर्शन' पद से उक्त है।

दृष्टान्तपदघटितस्याप्युदाहरणालंकारस्योदाहरणमिदमेव पद्यं भवितुमर्हतीति बोधयितुम् पाठान्तरमाह—

दृष्टान्तो वा—

उक्तपद्यघटकस्य 'निदर्शनम्' इत्यस्य स्थाने 'दृष्टान्तः' इति वा पाठो बोध्यः। तथात्वे च दृष्टान्तपदघटितमिदमुदाहरणं सम्पद्येतेति भावः।

'दृष्टान्त'पद वाला उदाहरण भी उक्त पद्य ही हो सकता है यह समझने के लिये पाठान्तर दिखलाया जाता है—दृष्टान्तो वा इति। अर्थात् उक्त पद्य के 'निदर्शनम्' के स्थान में 'दृष्टान्तः' ऐसा पाठ मानने पर यही पद्य 'दृष्टान्त'शब्दघटित उदाहरणालंकार का उदाहरण होता है।

विशेषमाह—

इवादिशब्दप्रयोगे सामान्यार्थप्राधान्यं वाक्यैक्यम्, निदर्शनादिशब्दप्रयोगे तु विशेषप्राधान्यं वाक्यभेदश्चेति विशेषः।

इवशब्देत्यस्य तत्रेत्यादिर्बोध्या। वाक्यैक्यमिति। पदैकवाक्यतापन्नत्वमित्यर्थः, वाक्यभेद इति। पदैकवाक्यत्वं नेत्यर्थः। वाक्यैकवाक्यत्वं तु भवत्येव। इव-यथा-निदर्शन-दृष्टान्तेति चतुर्णामपि शब्दानां सत्त्वे भवत्युदाहरणालंकारः, परंतु इवयथेतिपदद्वयान्यतरघटितोदाहरणे सामान्यार्थः प्रधानो विशेष्यः, विशेषार्थश्च गौणः—विशेषणं भवति। एवम् तत्र सामान्यविशेषयोरर्थयोः प्रतिपादकम् वाक्यम् एकम् भवति। निदर्शन-दृष्टान्तेति पदद्वयान्यतरघटितोदाहरणे पुनः विशेषभूत एवार्थः प्रधानम् सामान्यार्थश्च गौणः तत्प्रतिपादकञ्च वाक्यद्वयम् इति विशेषो बोध्यः।

एक विशेष समझाया जाता है—इवादि इत्यादि। इव, यथा, निदर्शन और दृष्टान्त इन चारों शब्दों के रहने पर यद्यपि समानरूप से 'उदाहरणालंकार' होता है, तथापि इव और यथा पदों के रहने पर 'सामान्यपदार्थ' प्रधान होता है और 'विशेषपदार्थ' गौण, एवम् इन दोनों शब्दों के रहने पर एक वाक्य होता है और निदर्शन तथा दृष्टान्त शब्द के रहने पर 'विशेषपदार्थ' ही प्रधान होता है तथा 'सामान्यपदार्थ' गौण, एवम् इन दोनों पदों के रहने पर दो वाक्य होते हैं, यह विलक्षणता होती है, ऐसा समझना चाहिए।

तमेव विशेषं शाब्दबोधप्रदर्शनेन स्फुटीकरोति—

तत्र तावत् 'अमितगुणः—' इति पद्ये क्रियाप्रधानमाख्यातमिति नयेऽमितगुणपदार्थकर्तृकमेकदोषहेतुकं निन्दाविषयीभवनं निखिलरसायनराजलशुनकर्तृकोग्रगन्धहेतुकनिन्दाविषयीभवनावयवकमिति धीः। प्रथमान्तविशेष्यकबोधवादिनां तूग्रगन्धहेतुकनिन्दाविषयीभवनाश्रयतादृशलशुनावयवकस्तादृशपदार्थ एकदोषहेतुकनिन्दाविषयीभवनाश्रय इति। तत्रापि विशेषवाक्यार्थे क्रियान्वयो भूयतो हेत्वन्तरान्वयार्थम्। अन्यथा तादृशलशुनावयवके तादृशपदार्थ एव क्रियान्वयेनोपपत्तिः स्यात्। एवं यथाशब्दस्थलेऽपि। उपकारमेवेत्यत्र तु विपद्गताभिज्ञः सद्गुण उपकारानुकूलकृतिमानिति पूर्ववाक्यार्थः, अत्रास्मिन्नर्थे मूर्च्छाङ्गतो मृतो वा पारदो निदर्शनमेकदेश इत्युत्तरवाक्यार्थे गुण इति केषाञ्चित्। इतरेषां तु तादृशकर्तृका तादृशक्रियेति पूर्ववाक्यार्थे तादृशः पारद एकदेश

इति । प्रधानावयवस्येव गुणावयवस्यापि विशिष्टार्थावयवत्वात्, घटमानयेत्यत्र नीलघटवत् ।

तत्रेति । तेषां मध्य इत्यर्थः । बोधवादिनामिति । नैयायिकानामित्यर्थः—तादृशेति । निखिलरसायनराजेत्यर्थः । तादृशेति । अमितगुणेत्यर्थः । इतीति । धीरित्यस्यानुषङ्गः । ननु निन्दितो भवतीत्यादेरेकत्रैवोपादानात्कथमुभयत्र बोध इत्यत आह—तत्रापीति । हेत्वन्तरान्वयेति । उग्रगन्धादिरूपहेत्वन्तरेत्यर्थः । अन्यथेति । तदनन्वये इत्यर्थः । नोपपत्तिरिति । उपपत्तिर्न स्यादित्यर्थः । पद्यस्थात्रेत्यस्यार्थमाह—अस्मिन्निति । गुण इति । गुणीभूत इत्यर्थः । केषांचित् नैयायिकानाम् । इतरेषाम् वैयाकरणानाम् । तादृश-कर्तृका इति । विपद्गताभिन्नसद्गुणकर्तृकोपकारक्रियेत्यर्थः । पद्यस्थात्रेत्यस्यार्थमाह—पूर्ववाक्यार्थे इति । तादृश इति । मूर्च्छां गतादिरूप इत्यर्थः । ननु क्रियारूपस्य पूर्ववाक्यार्थस्य कथं द्रव्यरूपः पारदोऽवयव इत्यत आह—प्रधानेति । 'क्रिया प्रधानमाख्यातम्' इति सिद्धान्तं स्वीकुर्वाणाः शाब्दिकाः क्रियामुख्यविशेष्यकं शाब्दबोधं मन्यन्ते । तदनुसारम् । 'अमितगुणः—' इत्यादौ यथापदघटितोदाहरणालंकारकाव्यवाक्यात् । 'निखिलरसायन-राजो लशुनः कर्ता यस्य तादृशं तथा उग्रो गन्धो हेतुर्यस्य तादृशं च यत् निन्दाविषयी-भवनम् तत् अवयवभूतं यस्य तादृशं तत् निन्दाविषयीभवनम् यस्य अमितगुणपदार्थः कर्ता एको दोषश्च हेतुः' इत्यर्थको मूलोक्ताकारो बोधो भवति । आख्यातं नाम तिङ् न तिङन्तम्, तथा च 'क्रियाप्रधानम्—' इति वचनेन तिङर्थेषु क्रियायाः प्राधान्यं बोध्यते न तिङन्तवाक्यस्यार्थे, अतो वाक्यार्थबोधे प्रथमान्तपदार्थ एव मुख्यो विशेष्य इति नैयायिकाः तदनुसारं पुनः उक्तवाक्यात् 'उग्रगन्धहेतुकनिन्दाविषयीभवनाश्रयः सकलरसायनराजो लशुनोऽवयवो यस्य तादृशो योऽमितगुणपदार्थः स एकदोषहेतुकनिन्दाविषयीभवनाश्रयः' इत्यर्थको मूलोक्ताकारो बोधो जायते । उभयत्र बोधे सामान्यार्थप्राधान्यं पद्यैकवाक्यत्वम् च स्पष्टम् । ननु एकत्रैव पद्ये 'भवति'क्रियाया उपादानमस्ति बोधे चोभयत्र तदुपादानं प्रदर्श्यते कथमेतदिति चेन्न, विशेषवाक्योक्तोग्रगन्धरूपहेतोरन्वयसिध्यर्थं तदा वृत्तेः स्वी-करणीयत्वात् तदस्वीकारे 'सकलरसायनराजलशुनावयवकोऽमितगुणपदार्थ एकदोषहेतुक-निन्दाविषयीभवनाश्रयः' इत्याकारक एव बोधो भवेत्, तथा च विशेषवाक्योक्तोग्रगन्धरूप-हेतोरनन्वय एव प्रसज्येत । एकस्यामेव क्रियायां हेतुद्वयान्वयस्तु बाधित एवेति तात्प-र्यम् । 'उपकारमेव—' इत्यादि । निदर्शनाक्षिप्तघटितोदाहरणालंकारकाव्यवाक्यात्तु नैया-यिकमते 'अभेदसंबन्धेन विपद्गतपदार्थविशेषणकः सद्गुणपदार्थः उपकारानुकूलकृतिमान् इत्याकारकः पूर्ववाक्यार्थः अस्मिन्नर्थे (पूर्ववाक्यार्थे) मूर्च्छां गतो मृतो वा पारदः एकदेश इत्युत्तरवाक्यार्थे विशेषणीभूतः (गुणीभूतः)' इत्यर्थको मूलोक्ताकारको बोधः अस्मिन् बोधे विशेषप्राधान्यं वाक्यभेदश्च स्पष्टः । वैयाकरणमते पुनरस्मात् वाक्यात् 'विपद्गताभिन्नसद्-गुणकर्तृकोपकारक्रिया इति पूर्ववाक्यार्थे मूर्च्छां गतादिरूपः पारदोऽवयवः' इति बोधः । अत्रान्तिमबोधे सर्वतः प्रधानभूतोपकारक्रिया, तदन्वयः (तद्विशेषणीभूतः) च सद्गुण-पदार्थः तदन्वयश्च तादृशः पारद इति स्थितौ सद्गुणकर्तृकोपकारक्रियारूपस्य विशिष्टार्थस्य तादृशपारदोऽवयवो भवतीति कथ्यते । एवमेव 'घटमानय' इति वाक्यार्थजन्ये बोधे प्रधानीभूताया आनयनक्रियाया विशेषणीभूते घटांशे विशेषणीभूतं नीलादिरूपम् आनयन-क्रियाया घटविशिष्टाया विशेषणं स्वीक्रियते, अत एव नीलघटादेरेवानयनं भवति । अत्र 'नीलघटवत्' इति पाठापेक्षया 'नीलरूपवत्' इति पाठः समीचीनः प्रतिभाति । एतेन क्रिया-

रूपस्य पूर्ववाक्यार्थस्य कथं द्रव्यरूपः पारदोऽवयव इति शंका निरस्ता। इत्थञ्चेवादिघटित-वाक्यस्थले सामान्यविशेषवाक्ययोः पदैकवाक्यता भवतीत्येव वाक्यैक्यम्। निदर्शनादि-पदघटितस्थले तु सामान्यविशेषवाक्ययोर्वाक्यैकवाक्यता भवतीत्येव वाक्यभेद इति भावः।

उक्त विशेष का स्पष्टीकरण शाब्दबोध दिखला कर किया जाता है—तत्र इत्यादि। 'क्रियाप्रधानमाख्यातम्—अर्थात् आख्याततिङन्त (तिङन्तपदघटितवाक्य) के बोध में क्रिया की प्रधानता होती है।' इस वचन की इस व्याख्या को मानने वाले वैया-करणों के मत में सभी वाक्यों के बोधों में क्रिया ही मुख्य विशेष्य होती है, अतः उनके हिसाब से 'अमितगुणः—' इत्यादि उदाहरणालंकारयुक्त काव्यवाक्यों—जिनमें 'इव' अथवा 'यथा' पद का प्रयोग किया गया हो—से "अमित गुण वाला पदार्थ जिसका कर्त्ता है और एक दोष जिसका कारण है वह निन्दित होना ऐसा सामान्य पदार्थ है, जिसका 'सकल रसायनों में श्रेष्ठ लहसुन जिसका कर्त्ता है और उग्र गन्ध जिसका कारण है वह निन्दित होना' अङ्ग एक विशेष पदार्थ—है।" ऐसा शाब्दबोध होता है। नैयायिक लोग 'क्रियाप्रधानम्—' इस वचन की कुछ भिन्न व्याख्या करते हैं—वे कहते हैं कि—'आख्यात' शब्द का अर्थ तिङन्त नहीं, तिङ् प्रत्यय होता है, अतः तिङ् प्रत्यय के अर्थों में क्रिया की प्रधानता उक्त वचन से बोधित होती है (याद रहे कि वे क्रिया को भी तिङ्प्रत्यय का ही अर्थ मानते हैं) इस व्याख्या के अनुसार तिङन्तपदघटित वाक्य के अर्थबोध में क्रिया की प्रधानता सिद्ध हुई नहीं, फलतः वे सभी वाक्यों के अर्थबोधों में प्रथमान्तपद के अर्थ को ही मुख्य विशेष्य मानते हैं। तदनुसार, उक्तवाक्य से—'उग्र गन्ध जिसका कारण है ऐसे निन्दित होने (क्रिया) का आश्रय (आधार) सकल रसायनों में श्रेष्ठ लहसुन जिसका अवयव (अङ्ग) है वह अमितगुणवाला पदार्थ, उस निन्दित होने (क्रिया) का आश्रय है जिसका कारण एक दोष है।' इस तरह का शाब्द-बोध होता है। उक्त पद्य में 'निन्दितो भवति—निन्दित होना रूप क्रिया' केवल एक बार—(सामान्यपदार्थ के साथ) प्रयुक्त हुई है और शाब्दबोध में उस क्रिया का भान दो बार (सामान्यपदार्थ के साथ और विशेषपदार्थ के साथ) दिखलाया गया है, यह क्यों? ऐसी आशंका नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसे स्थलों पर सामान्यपदार्थ-अंश में जो हेतु रहता है उससे भिन्न हेतु विशेषपदार्थ-अंश में रहता है, जैसे उक्त स्थल पर सामान्यपदार्थांश में हेतु है 'एक दोष' और विशेषपदार्थांश में हेतु है 'उग्र गन्ध'। इन दोनों भिन्न-भिन्न हेतुओं का किसी भी एक क्रिया में अन्वय असंभव है और यदि केवल विशेषपदार्थ का सामान्यपदार्थ के साथ अन्वय करके उस सामान्यपदार्थ का ही क्रिया के साथ अन्वय किया जाय तो बात बनती नहीं—अर्थात् विशेषपदार्थ-अंश में कथित हेतु अनन्वित ही रह जायगा। ऐसी दशा में यद्यपि एक ही 'निन्दित होनेरूप क्रिया' की आवृत्ति कर ली जाती है, अतः दो बार उसका शाब्दबोध में भान होता है। अब रही 'निदर्शन' 'दृष्टान्त' आदि पदोंवाले वाक्यों के शाब्दबोध की बात। उसको भी समझिए। 'अपकारमेव—' इस निदर्शन अथवा दृष्टान्तपद-घटित वाक्य से नैयायिकों के अनुसार 'आपत्ति में पड़े हुए से अभिन्न अच्छे गुणवाला पदार्थ उपकार के अनुकूल क्रिया (यत्न) से युक्त होता है, इस सामान्य अर्थ का मूर्छित अथवा मृत पारा अङ्ग-रूप—एक उदाहरण है' ऐसा शाब्दबोध होता है। वैयाकरणों के अनुसार तो उक्त वाक्य से 'आपत्ति में पड़े हुए से अभिन्न अच्छे गुणों वाला पदार्थ जिसका कर्त्ता है उस उपकारक्रियारूप सामान्य अर्थ का मूर्छित अथवा मृत पारा अङ्ग रूप है।' ऐसा शाब्दबोध होता है। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि—वैयाकरणानुसारी इस पिछले शाब्दबोध में जो क्रियारूप पूर्व वाक्यार्थ का अङ्ग द्रव्य(पारा)रूप उत्तर वाक्यार्थ को माना गया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि क्रिया का अङ्ग द्रव्य नहीं हो सकता तो इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि 'पारा' 'अच्छे गुणोंवाले पदार्थ' का अङ्ग है क्रिया का नहीं,

तथापि 'पारा' जिसका अङ्ग है वह 'अच्छे गुणोंवाला पदार्थ' यहाँ 'उपकार'क्रिया का विशेषण होकर भासित हुआ है, अतः क्रिया के विशेषण का अवयव होने के कारण 'पारा' को भी क्रिया का अवयव कहा जा सकता है। कारण, जैसे प्रधान (विशेष्य) का अवयव विशिष्ट (विशेषणों के सहित पूरे वाक्यार्थ) का अवयव होता है, वैसे ही विशेषणों का अवयव भी विशिष्ट का अवयव हो सकता है—अर्थात् यद्यपि यहाँ 'पारा'रूप विशेष पदार्थ 'क्रिया'रूप विशेष्य का अङ्ग नहीं हो सकता, तथापि विपद्गत सद्गुणपदार्थरूप विशेषण से सहित विशेष्य क्रिया (विशिष्ट) का अङ्ग होने में तो किसी तरह की बाधा है नहीं। जैसे कि 'घड़ा लाओ' इस वाक्य से होनेवाले बोध में आनयनक्रियारूप विशेष्य के अङ्ग घड़े का विशेषण नील आदि रूप उक्त क्रिया का भी विशेषण (अङ्ग) समझा जाता है, अन्यथा 'घड़ा लाओ' इस वाक्य से श्रोता 'नीले घड़े' के साथ 'लाना' क्रिया का सम्बन्ध न समझ पायँगे और उस स्थिति में वैसे घड़े को लाना भी नहीं। तात्पर्य यह कि आप बलविशेष्य का अङ्ग समझ कर दोष दे रहे हैं, पर हम 'पारा' को विशेष्य का अङ्ग नहीं, अपितु विशिष्ट का अङ्ग बना रहे हैं, और वैसा हो सकता है। अतः कोई दोष नहीं। सारांश यह हुआ कि— 'इव' 'यथा' आदि पदों वाले वाक्यों में सामान्य अर्थ की प्रधानता और 'निदर्शन' ,'दृष्टान्त' आदि पदोंवाले वाक्यों में विशेष अर्थ की प्रधानता रहती है, यह बात जो पहले ग्रन्थकार ने कही है, वह नैयायिकानुसारी शाब्दबोध के अनुरोध से, क्योंकि सबसे अन्तिम वैयाकरणानुसारी शाब्दबोध में उस बात की रक्षा नहीं होती। इसी तरह—"इव, यथा आदि पदों के प्रयोग रहने पर एकवाक्यता होती है और 'निदर्शन' 'दृष्टान्त' आदि पदों के प्रयोग रहने पर दो वाक्य होते हैं।" यह बात जो पहले ग्रन्थकार ने कही है, उसका अभिप्राय केवल इतना है कि—प्रथम स्थल में पदैकवाक्यता होती है—अर्थात् पद्य के सभी पद मिलकर एक वाक्य की सृष्टि करते हैं और द्वितीय स्थल में वाक्यैकवाक्यता होती है—अर्थात् एक-एक गिरोह के पद मिलकर पहले अलग-अलग दो वाक्यों की सृष्टि करते हैं, पर पीछे वे दोनों वाक्य मिलकर एक वाक्य हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि एकवाक्यता दोनों स्थलों पर होती ही है।

चन्द्रालोकोक्तं 'विकस्वरालंकारं' गतार्थयितुमाह—

'अर्थिभिश्छिद्यमानोऽपि स मुनिर्न व्यकम्पत।
विनाशेऽप्युन्नतः स्थैर्यं न जहाति द्रुमो यथा॥'

कविर्दधीचेर्दानवीरतां वर्णयति—अर्थिभिः याचकैर्देवैरिति यावत्, छिद्यमानः भिद्यमानः अपि, स दधीचिः मुनिः, न, व्यकम्पत कम्पं नापत्। युक्तं च तत्, उन्नतः महामनाः, विनाशेऽपि जायमाने इति भावः, स्थैर्यम् स्थिरताम्, न जहाति त्यजति, यथा द्रुमः तरुः छिद्यमानोऽपि अविचल एव तिष्ठतीत्यर्थः।

'चन्द्रालोक' तथा उसकी टीका 'कुवलयानन्द' में माने गए 'विकस्वरालंकार' के खण्डन के लिये नवीन उदाहरण उपस्थित किया जाता है—अर्थिभिः इत्यादि। कवि दधीचि मुनि की दान-वीरता का वर्णन करता है—याचकों (याचकरूप में उपस्थित देवताओं) द्वारा काटा जाता हुआ भी वह मुनि (दधीचि) कम्पित नहीं हुआ। उचित ही है, उन्नत (महामना) जन विनाश होते रहने पर भी स्थिरता को नहीं त्यागते, जैसे वृक्ष, उसे काटते जाइये पर निषेध में एक शब्द नहीं बोलेगा।

उपपादयति—

अत्र दधीच्यालम्बनायां तदीयलोकोत्तरचरितस्मरणोद्दीपितायामेतत्पद्यप्रयोगानुभावितायामेतत्पद्यनिर्मातृगतायां रतौ प्रधानीभूतायामर्थ्यालम्बनस्तत्कृतयाच्ञाश्रवणोद्दीपितो गात्रच्छेदाभ्यनुज्ञानानुभावितो धृत्या सञ्चारिभावेन

पोषितो मुनिगत उत्साहो गुणः। तत्र चाध्यर्धतृतीयचरणगतस्यार्थान्तरन्यास-स्योत्कर्षकतया स्थितस्य विवेचनद्वारालङ्करणं चतुर्थचरणशकलगतमुदाहरणम्।

'अर्थिभिः—' इति श्लोके कविगता दधीचिविषयिणी सा रतिः (भावः) प्रधान-तयाऽभिव्यज्यते, यस्या आलम्बनविभावो दधीचिः, उद्दीपनविभावो दधीचिसंबन्धिलोकोत्तरचरित्राकर्णनम्, अनुभावश्च प्रकृतपद्यप्रयोगः। यद्यपि अत्र मुनिगतः स उत्साहोऽपि प्रतीयते यस्य याचका आलम्बनविभावाः, तत्कृतयाचनावचनश्रवणमुद्दीपनविभावः, अङ्गच्छेदनानुमतिदानमनुभावः, धैर्यं संचारिभावः, तथापि सः (उत्साहः) प्रधानीभूतरतिभाव-पोषकतया गौण इति न वीररसरूपः। तस्योत्साहस्योत्कर्षकतया 'विनाशेऽप्युन्नतः स्थैर्यं न जहाति' इत्यध्यर्धतृतीयचरणगतः सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः, तस्यार्थान्तरन्यासस्योत्कर्षकरणात् 'द्रुमो यथा' इति चतुर्थचरणखण्डगतसामान्यविशेषयो-रवयवावयविभावरूपः उदाहरणालंकार एवेति न विकस्वराख्यः कश्चिदपरालंकार इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'अर्थिभिः—' इस पद्य से कविनिष्ठ मुनि-विषयक वह रति (भाव) प्रधानरूप में अभिव्यक्त होती है, जिसके आलम्बनविभाव—मुनि दधीचि, उद्दीपनविभाव-दधीचिसंबन्धी लोकोत्तरचरित्रों का श्रवण, और अनुभाव-प्रकृत पद्य की रचना है। यद्यपि इस पद्य से मुनि(दधीचि)निष्ठ वह उत्साह भी अभिव्यक्त होता है जिसके आलम्बनविभाव—याचक-देवगण, उद्दीपनविभाव-याचक-जनोक्त याचनावचनों का श्रवण, अनुभाव-अङ्गच्छेदन के लिये अनुमतिदान और धैर्य संचारिभाव हैं, तथापि वह (उत्साह) प्रधानरूप में अभिव्यक्त होनेवाले रतिभाव का पोषक-गौण ही है, अतएव वह दान वीररसरूप नहीं हो सकता। इस उत्साह को उत्कृष्ट बनाने के कारण इस पद्य के तृतीय तथा आधे चतुर्थ (३॥) चरण ('विनाशेऽप्युन्नतः स्थैर्यं न जहाति) द्वारा प्रतिपादित सामान्य से विशेष का समर्थनरूप अर्थान्तर-न्यास, वाच्य अलंकार है और इस अर्थान्तरन्यास का विवेचक होने के नाते उत्कर्षक, चतुर्थ चरण के एक भाग में आया हुआ (द्रुमो यथा) यह सामान्य और विशेष का अवयवावयविभावरूप 'उदाहरणालंकार' होता है। तात्पर्य यह कि उक्त रीति से इस पद्य में भी जब उदाहरणालंकार माना जा सकता है तब एक पृथक् 'विकस्वरालंकार' मानने की आवश्यकता नहीं है।

अलंकारदृष्ट्या पूर्वोक्तपद्यतुल्यं प्राचीनं पद्यान्तरमुद्धरति—

एवमेव—

'अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणराशिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥'

इति कालिदासपद्येऽपि बोध्यम्।

कविकुलगुरुः कालिदासः कुमारसंभवाख्ये स्वनिबन्धे हिमालयं वर्णयन्नाह—अनन्तेति। हिमं प्रालेयम्, अनन्तरत्नप्रभवस्य अगणितरत्नोत्पत्तिस्थानस्य यस्य हिमालयस्य, सौभाग्य-विलोपि सौन्दर्यस्य अंशतोऽपि नाशकम्, न जातम् नाभूत्। कुत इति चेत् ? यतः एको, दोषः, गुणराशिपाते गुणसमूहे, इन्दोः चन्द्रमसः, किरणेषु ज्योत्स्नासु, अङ्कः कलङ्कः, इव निमज्जति विलीनो भवतीत्यर्थः। अत्रापि पूर्वार्धोपवर्णितस्य विशेषपदार्थस्य 'एको दोषो गुणराशिपाते निमज्जति' इत्यंशेन सामान्यपदार्थवर्णनरूपेण समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽ-लंकारः, तदुत्कर्षकतया च—'इन्दोः किरणेषु अङ्क इव' इत्यंशे उदाहरणालंकारः। इदं पद्यं कुवलयानन्दे 'विकस्वरालंकारोदाहरणतया प्रदर्शितम्' तदेदानीं पूर्वपद्यसाम्यकथनेन निराकृतं पण्डितराजेन वेदितव्यमिति भावः।

अलंकार की दृष्टि से पूर्वोदाहृत पद्य के समान एक प्राचीन पद्य उद्धृत किया जाता है—एवमेव इत्यादि। 'अर्थिभिः—' इस पद्य में जो बात कही गई है वही बात 'अनन्त रत्न— अर्थात् अनन्त रत्नों को उत्पन्न करनेवाले हिमालय के सौभाग्य (सौन्दर्य अथवा श्रेष्ठता) को हिम (बरफ) नष्ट नहीं कर सका। कारण एक दोष गुणों के समूह में डूब जाता है—छिप जाता है, जैसे चन्द्र की किरणों में कलङ्क।' इस हिमालयवर्णनपरक कुमारसंभवस्थ कालिदास के पद्य में भी समझनी चाहिए। तात्पर्य यह कि—इस पद्य को कुवलयानन्दकार ने जो 'विकस्वरालंकार' का उदाहरण माना है वह ठीक नहीं, क्योंकि जिस तरह पूर्वपद्य में उदाहरणालंकार होता है, उस तरह यहाँ भी पूर्वार्ध के द्वारा वर्णित विशेष अर्थ का समर्थन करने के कारण 'एक दोष गुणों के समूह में डूब जाता है' यह सामान्य अर्थ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' रूप है और इस अर्थान्तरन्यासभूत पदार्थ को पुष्ट करने के कारण 'जैसे चन्द्र की किरणों में कलङ्क' यह अंश 'उदाहरणालंकार' का ही विषय है, फिर व्यर्थ एक नवीन अलंकार की कल्पना करना उचित नहीं।

नन्वेवं साङ्कर्येऽर्थान्तरन्यासविशेषत्वमेवास्तु उदाहरणत्वेनाभिमतस्थलविशेषस्येत्याशङ्कायामाह—

अस्मिंश्चालङ्कारेऽवयवावयविभावबोधकस्येवशब्दादेः प्रयोगः, सामान्यविशेषयोरेकरूपविधेयान्वयश्चार्थान्तरन्यासभेदाद् वैलक्षण्याधायक इति तत्प्रकरणे निपुणतरमुपपादयिष्यामः।

भेदादिति। विशेषादित्यर्थः। अर्थान्तरन्यासविशेषापेक्षया वैलक्षण्याधायक इति समुदितार्थः। अयं भावः—प्रक्रान्ते उदाहरणालङ्कारे सामान्यविशेषयोरर्थयोरवयवावयविभावबोधकः इवशब्दादिः प्रयुक्तस्तिष्ठति, सामान्यविशेषात्मकयोर्द्वयोरपि पदार्थयोर्विधेयभूतायामेकस्यामेव क्रियायाम् अन्वयश्च भवति, एतद्वैविध्यद्वयविपरीतमर्थान्तरन्याससामान्येऽवयवावयविभावबोधकः कोऽपि शब्दः प्रयुक्तो न तिष्ठति, तथा विधेयभूतविभिन्नक्रिययोः सामान्यविशेषयोरन्वयो भवतीत्येवंविधे वैलक्षण्ये विद्यमाने नोदाहरणालङ्कारस्यार्थान्तरन्यासविशेषरूपत्वशंकाप्रसर इति। एष प्रसङ्गोऽर्थान्तरन्यासनिरूपणप्रकरणे निपुणतरमुपपादनीय इत्यत्र ग्रन्थकृता सूच्यते। पाठकजनसौविध्याय तत्रत्यो ग्रन्थांशोऽविकलमत्रतादुल्लिख्यते—"न चैवमपि विशेषस्य सामान्यसमर्थनं नार्थान्तरन्यासभेदो भवितुमीष्टे, प्रागुक्तोदाहरणालङ्कारेणैव गतार्थत्वादिति वाच्यम्। [illegible] ततो वैलक्षण्यात्। एवमपि वाचकाभावादार्थोऽयमुदाहरणालङ्कारोऽस्तु, नार्थान्तरन्यासभेद इति चेत्, इदमस्ति वैलक्षण्यम्—सामान्यार्थसमर्थकस्य विशेषवाक्यार्थस्य द्वयी गतिः। अनुवाद्यांशमात्रे विशेषत्वम्, विधेयांशस्तु सामान्यगत एवेत्येका। अनुवाद्यविधेयोभयांशेऽपि विशेषत्वमित्यपरा। तत्राद्या उदाहरणालंकारस्य विषयः, द्वितीया त्वर्थान्तरन्यासभेदस्य। एवं च 'मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः' इत्युदाहरणालंकारगते विशेषे उपकारमेव कुरुत इति [illegible] यथोक्तरूपेण क्रिया विधेया। 'रोगानपहरति पारदः सकलान्' इत्यर्थान्तरन्यासगते तु पृथगुपात्त विशेषरूपेयमिति।"

यह 'उदाहरणालंकार' जब 'अर्थान्तरन्यास' से मिश्रित ही पाया जाता है, तब क्यों न इसे 'अर्थान्तरन्यास' का ही एक भेद मान लिया जाय? अतिरिक्त अलंकार मानने की आवश्यकता क्या है? इस आशंका का समाधान करने के लिये दोनों में रहनेवाले वैलक्षण्य का उल्लेख किया जाता है—अस्मिंश्च इत्यादि। अभिप्राय यह है कि—इस उदाहरणालंकार में सामान्य-विषयभूत पदार्थों के अवयवावयविभाव के बोधक 'इव' आदि शब्द प्रयुक्त रहते हैं—और सामान्य (जैसे 'गुणसमूह में एक दोष') और विशेष

(जैसे 'चन्द्र की किरणों में कलङ्क') दोनों पदार्थों का एक ही विधेय (जैसे 'डूबना' क्रिया) में अन्वय होता है पर अर्थान्तरन्यास में ऐसा नहीं होता—अर्थात् वहाँ अवयवावयविभावबोधक इव आदि शब्द प्रयुक्त नहीं होते और सामान्यविशेषभूत दो अर्थों का अन्वय भिन्न-भिन्न विधेय (क्रिया) में होता है। इन्हीं वैलक्षण्यों के वर्तमान रहने के कारण 'उदाहरणालंकार' को 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' का भेद नहीं माना जा सकता। फलतः 'उदाहरण' को एक पृथक् ही अलंकार मानना आवश्यक है। इस प्रसंग का विशद उपपादन ग्रन्थकार अर्थान्तरन्यास के प्रकरण में करेंगे।

प्राचीनमतमाह—

प्राञ्चस्तु "नायमलङ्कारोऽतिरिक्तः। उपमयैव गतार्थत्वात्। न च सामान्यविशेषयोः सादृश्यानुल्लासात्कथमुपमेति वाच्यम्। 'निर्विशेषं न सामान्यम्—' इति सामान्यस्य यत्किञ्चिद्विशेषं विना प्रकृतत्वायोगात्तादृशविशेषमादाय विशेषान्तरस्य सादृश्योल्लासे बाधकाभावादिवादिभिरामुखे प्रतीयमानस्यापि सामान्यविशेषभावस्य परिणामे सादृश्य एव विश्रान्तेः॥" इत्यप्याहुः॥

अयमिति। उदाहरणाख्य इत्यर्थः। प्रकृतत्वायोगादिति। प्रस्तुतत्वासंभवादित्यर्थः। आमुखे आदौ। उपमालंकार एवान्तर्भूतत्वादुदाहरणाख्यः कश्चिदपरोऽलंकारो नास्ति। अभेदेन मिथोऽन्वीयमानयोः सामान्यविशेषपदार्थयोर्भेदविरहात् भेदगर्भस्य सादृश्यस्यास्फुरणेन नोपमा भवितुमर्हतीति तु न वक्तुं योग्यम्, 'न निर्विशेषं सामान्यं भवति' इति सिद्धान्तेन 'अमितगुणोऽपि पदार्थः—' इत्यादौ अमितगुणपदार्थतया दोषपदार्थतया च यावत्कावपि विशेषौ (विमलविद्याकामुकत्वादिकौ) न गृह्येताम्, तावत् तयोः प्रस्तुतत्वं न संभवेत्, तयोः प्रस्तुतत्वानवगमे च तत्समर्थकतया लशुनादिरूपविशेषोपन्यासो न संगच्छेत, अतः सामान्यस्यापि प्रकरणप्राप्तविशेषरूपता स्वीकर्तव्यैव, तथात्वे च तमेव विशेषमादायोक्तस्यापरस्य विशेषस्य सादृश्यस्फुरणे बाधकविरहेणोपमायाः साम्राज्यमित्याशयात्। नन्वेवमपि उदाहरणाख्येऽलंकारे इवादीनां सामान्यविशेषभावात्मकावयवावयविभावबोधकत्वेन कथं सादृश्योल्लास इति चेत्, आदौ इवादिशब्दैः प्रतीयमानस्यापि सामान्यविशेषभावस्य पर्यवसाने [illegible] भावः।

प्राचीनों का मत दिखलाया जाता है—प्राञ्चस्तु इत्यादि। प्राचीन आलंकारिक लोग तो यह भी कहते हैं कि—'यह उदाहरणनामक अलंकार अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि यह उपमा से ही गतार्थ हो जाता है—अर्थात् जहाँ आप उदाहरणनामक अलंकार मानते हैं वहाँ उपमा अलंकार ही माना जा सकता है। यदि आप कहें कि—सामान्यविशेषभावस्थल में ही तो उदाहरणालंकार माना जाता है और सामान्य-विशेष में अभेद माना जाता है फिर भेदविशिष्ट सादृश्य की प्रतीति हो नहीं सकती और जब सादृश्य की प्रतीति ही नहीं होगी तब उपमा कैसे हो सकती है? तो इसका समाधान यह है कि—'सामान्य विशेषरहित नहीं होता' इस सिद्धान्त के अनुसार 'अमितगुणोऽपि पदार्थः—' इत्यादि उदाहरणालंकार के लक्ष्यों में 'अमित गुण' और 'दोष' इन दोनों सामान्य पदार्थों को भी किसी न किसी विशेष (जैसे विमल विद्या तथा कामुकता आदि) के रूप में ही समझना पड़ेगा, अन्यथा वे सामान्य प्रस्तुत वस्तु समझे नहीं जा सकेंगे और जब वे प्रस्तुत नहीं समझे जायेंगे तब उनके समर्थन में जो आगे लहसुन-उग्रगन्ध आदि विशेषों का विशेषरूप में उल्लेख किया गया रहता है वही असङ्गत हो जायगा और इस युक्ति से जब सामान्य को भी किसी प्रकरणप्राप्त विशेष के रूप में समझ लिया जायगा, तब उन्हीं विशेषों को लेकर उक्त अन्य विशेष के साथ सादृश्य उल्लसित होगा—इसमें किसी तरह की बाधा नहीं और सादृश्य के उल्लसित हो जाने पर सुखेन उपमा

मानी जा सकेगी। यदि इतने पर भी आप कहेंगे कि–यहाँ तो सामान्यविशेषात्मक अवयवावयविभाव के बोधक 'इव' आदि शब्द प्रयुक्त रहते हैं, अतः अवयवावयविभाव का ही बोध होगा सादृश्य का नहीं, तो इसके उत्तर में मेरा कथन है कि—हाँ, आरम्भ में 'इव' आदि शब्दों से सामान्य-विशेषभाव का बोध अवश्य होगा पर अन्त में उस सामान्य-विशेषभाव का उक्त रीति से सादृश्य में ही विश्राम मानना पड़ेगा अन्यथा गुजारा नहीं।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामुदाहरणप्रकरणं समाप्तम्।

अथ स्मरणालंकारनिरूपणमारभमाणस्तावत्तल्लक्षणमाह—

सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः।

'इदमेतस्य सदृशम्' इत्याकारकेण सादृश्यज्ञानेन उद्बुद्धः जागरितः, यः, संस्कारः वासना, तत्प्रयोज्यं तन्मूलकम् यत् स्मरणम् (वस्तुविशेषस्य) तत् सहृदयहृदयाह्लाद-जनकं चेत् तदा स्मरणाख्योऽलंकारः कथ्यत इत्यर्थः। किमपि वस्तु दृष्ट्वा यत्तत्सदृशं वस्त्व-न्तरं स्मर्यते तत् स्मरणालंकारपदेन व्यवह्रियत इति भावः।

अब स्मरणालंकारनिरूपण-प्रसङ्ग में सर्वप्रथम स्मरणालंकार का लक्षण किया जाता है—सादृश्य इत्यादि। सादृश्य के ज्ञान से उद्बुद्ध (जगा हुआ) जो संस्कार उससे साक्षात् अथवा परम्परया होनेवाला जो स्मरण उसको 'स्मरणालंकार' कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि–किसी वस्तु को देखने अथवा सुनने से जो तत्सदृश अन्य वस्तु की स्मृति हो जाती है वह जब काव्य में चमत्कारीरूप से वर्णित होती है तब उसे स्मरणालंकार कहते हैं।

उदाहरणं निर्देष्टुमाह—

यथा—

स्मरणालंकारप्रयोजकः प्रकारः प्रदर्श्यत इति भावः।

जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डध्वनि-
ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलमथ त्वां वीक्ष्य मध्येरणम्।
वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डव-
भ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवमहो को न क्षितीश स्मरेत् ॥'

कविः कमपि राजानं स्तौति—हे क्षितीश राजन् मध्येरणम् रणस्य = युद्धस्य मध्ये ('पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इति–अव्ययीभावसमासः) दोषौ = बाहू दण्डौ इव इति दोर्दण्डौ (उपमितसमासः) तयोर्द्वयेन बाहुयुगलेनेति यावत् कुण्डलीकृतम् (अकुण्डलं कुण्डलं कृतमित्यभूततद्भावे च्विः) कुण्डलाकारतया परिणमितम् इति यावत्, अत एव, लसत् शोभमानं यत् कोदण्डं धनुः, तस्य, ये चण्डाः भयंकराः, ध्वनयः शब्दविशेषाः, तैः, ध्वस्तं नाशितम्, उद्दण्डानाम् उद्धतानाम्, विपक्षाणाम् शत्रूणाम् मण्डलं समूहो येन तादृशं, त्वाम् वर्णनीयं नृपतिविशेषम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, कः जनः, वल्गतः चलतः, गाण्डि-वात् तथाभूतस्य धनुषः, (गाण्डिवशब्दो ह्रस्वेकारविशिष्टो दीर्घेकारविशिष्टश्चास्ति। यथा महाभारते–'धनुर्धरेश्चार्जुनः सव्यसाची धनुश्च तद्गाण्डिवं भीमवेगम्'। इति। तथा— 'यस्मां पूर्वनिहाप्रकृष्टः शत्रुसेनानिबर्हणम्। गाण्डीवमेतत्पार्थस्य लोकेषु विदितं धनुः ॥'

इति । व्युत्पत्तिश्च-गाण्डिर्ग्रन्थिरस्यास्तीति विग्रहे । 'गाण्डयजगात् संज्ञायाम्' इति वप्रत्ययः । अथवा ग्रन्थिवाचकात् गाण्डिशब्दात् 'कृदिकारान्तात्' इति ङीषि 'गाण्डी'ति ततो वः ।) मुक्तं प्रक्षिप्तम् , यत् काण्डवलयं बाणसमूहः, तस्य या ज्वालावली तापपुञ्जम् , तस्याः, ताण्डवेन उद्धतनृत्येन, भ्रश्यत् नश्यत् यत् खाण्डवं वनविशेषः, तत्र स्थितम् , रुष्टं क्रुद्धम् , पाण्डवम् अर्जुनम् , न स्मरेत् न ध्यायेत् , सर्वेऽपि स्मरेयुरित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—दोर्दण्ड इत्यादि । कवि किसी राजा का वर्णन करता है—हे राजन् ! दोनों बाहुदण्डों से कुण्डल के समान गोल किये सुन्दर धनुष की प्रचण्ड ध्वनि से उद्दण्ड शत्रुसमूह को नष्ट कर देनेवाले तुम्हें युद्ध के मध्य में देखकर, कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो, वाचाल गाण्डीव धनुष से निकले बाण-समूह की ज्वालावली के ताण्डव-नृत्य से भ्रष्ट होते हुए खाण्डव (एक वनविशेष) में स्थित क्रुद्ध पाण्डव (अर्जुन) का स्मरण न करे । रणभूमि में आपको देखकर दर्शकों को वैसे अर्जुन की स्मृति हो ही आती है ।

उदाहरणान्तरं दातुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> 'भुजभ्रमितपट्टिशोद्दलितदृप्तदन्तावलं
> भवन्तमरिमण्डलक्रथन पश्यतः सङ्गरे ।
> अमन्दकुलिशाहतिस्फुटविभिन्नविन्ध्याचलो
> न कस्य हृदयं झगित्यधिरुरोह देवेश्वरः ॥'

कविः कमपि नृपं वर्णयति—हे अरिमण्डलक्रथन शत्रुसमूहनाशक ! भुजाभ्याम् बाहुभ्याम्, भ्रमितेन घूर्णितेन, पट्टिशेन अस्त्रविशेषेण, उद्दलिताः नाशिताः, दृप्ताः मदमत्ताः, दन्तावला गजा येन तम् भवन्तम् प्रकृतं कमपि राजानम् , संगरे युद्धे, पश्यतः अवलोकयतः, कस्य पुरुषस्य, हृदयम् चेतसीति यावत्, अमन्दाभिः प्रबलाभिः, कुलिशस्य वज्रस्य आहतिभिः प्रहारैः, स्फुटं स्पष्टम्, विभिन्नः छिन्नः, विन्ध्याचलः विन्ध्यनामकपर्वतो येन तादृशः, देवेश्वरः इन्द्रः, झगिति शीघ्रम् , न, अधिरुरोह आरूढवान् , अपि तु सर्वेषामेव दृप्तदन्तावलदलनकारिणं भवन्तमनुपश्यतां मानसे प्रबलवज्रप्रहारच्छिन्नविन्ध्यो देवराजः पदं निदधे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भुजभ्रमित इत्यादि । कवि किसी राजा का वर्णन करता है—हे शत्रुसमूहविध्वंसक ! भुजाओं से घुमाए गये पट्टिश (एक अस्त्र) के द्वारा मदमत्त हाथियों का दलन कर चुकनेवाले आपको, युद्ध में देखते हुए किसके हृदय में, वज्र के प्रबल प्रहारों से स्पष्टरूप में विन्ध्याचल को तोड़नेवाला देवराज इन्द्र तत्काल आरूढ़ नहीं हुआ ।

उपपादयति—

अनयोः पद्ययोः प्रधानीभूताया राजविषयककविनिष्ठरतेरुत्कर्षकतया स्मरणमलङ्कारः ।

पूर्वोक्तावुभावपि श्लोकौ राजस्तुतिपरावतस्तयोः कविगतो राजविषयकः रतिभावः प्रधानतयाऽभिव्यज्यते, अभिव्यज्यमानं च तं प्रधानभावमुपस्कुर्वत् वाच्यं रूढं च स्मरणम् अलंकाररूपतां प्रतिपद्यत इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अनयोः इत्यादि। ऊपर के दोनों ही पद्य राजवर्णन में प्रयुक्त हुए हैं, अतः उन दोनों ही पद्यों से प्रधानतया कविहृदयगत राजा का प्रेम (भाव) अभिव्यक्त होता है और उस प्रेमभाव को उत्कृष्ट बनाता है प्रकृत स्मरण, अतः यह स्मरण अलंकाररूप है।

उदाहरणद्वयप्रदर्शननिदानभूतमुभयोरुदाहरणयोर्वैलक्षण्यं दर्शयति—

आद्ये वाच्यम्, द्वितीये तु लक्ष्यमिति विशेषः।

आद्ये इति। स्मरणमित्यस्यानुषङ्गः। लक्ष्यमिति। अधिरोहतेर्लक्ष्यमित्यर्थः। 'दोर्दण्ड' इत्यत्र 'स्मरेत्' इति क्रियापदस्य स्मरणरूपोऽर्थो वाच्यः, 'भुजभ्रमित' इत्यत्र तु सोऽर्थो न वाच्योऽपि तु 'अधिरुरोह' इत्यस्य बाधितमुख्यार्थकस्य लक्ष्य इत्येवोभयोर्लक्ष्ययोर्वैलक्षण्यमिति भावः।

दो उदाहरण दिखलाने का रहस्य (दोनों में वैलक्षण्य) दिखलाया जाता है—आद्ये इत्यादि। प्रथम उदाहरण (दोर्दण्ड—) में 'स्मरेत्' पद से स्मरण वाच्यरूप में अवगत होता है और द्वितीय उदाहरण (भुजभ्रमित—) में वह 'हृदयमधिरुरोह' पद से लक्ष्यरूप में ज्ञात होता है। इसी वैलक्षण्य को ध्यान में रखकर दो उदाहरणों का उल्लेख ग्रन्थकार ने किया है।

ननु वीररसोऽप्यत्र प्रधानतया व्यज्यत इति तद्ध्वनित्वमुक्तपद्ययोः कुतो नाङ्गीक्रियत इत्याशंकायामाह—

वीररसोऽपि चात्र प्रधानोत्कर्षकतयालङ्कार एव।

वीररस इति। तत्स्थायीभाव उत्साह इत्यर्थः। चरमविश्रान्तिधामत्वविरहेण रसत्वेऽपरिणमनात्। प्रधानोत्कर्षकतयेति। कविनिष्ठरतिभावोपस्कारकतयेत्यर्थः। यद्यपि पूर्वोक्तयोर्द्वयोरपि पद्ययोः राजनिष्ठ उत्साहः प्रतीयते, तथापि नासौ प्रधानः, अपि तु प्रधानतया प्रतीयमानस्य कविगतस्य रतिभावस्य पोषकतया गौण एव, अतः स उत्साहात्मकः स्थायीभावो रसरूपे न परिणमति—रसपदव्यवहारयोग्यो न भवतीति तस्य रसवदलङ्कारत्वमेव स्वीकरणीयमिति भावः।

उक्त दोनों पद्यों में वीररस (वर्णनीय राजगत उत्साह) भी ध्वनित होता है फिर वीररसध्वनि क्यों नहीं यहाँ मानी जाय? इस शंका का समाधान किया जाता है—वीररसोऽपि इत्यादि। अभिप्राय है कि—उक्त दोनों पद्यों में 'उत्साह' (वीर रस का स्थायीभाव) यद्यपि ध्वनित होता है पर वह प्रधान नहीं है क्योंकि—सर्वप्रधान कविगत रतिभाव का वह पोषण करता है, अतएव तदपेक्षया गौण है और गौण स्थायीभाव रसरूप में परिणत होता ही नहीं, फलतः वह 'उत्साह' भी प्रधान का उपस्कारक होने के कारण 'रसवत्' अलंकार ही माना जायगा, अतएव इन पद्यों में 'वीररसध्वनि' का व्यवहार नहीं हो सकता।

लक्षणे प्रयोज्यत्वनिवेशस्य फलमाह—

'एकीभवत्प्रलयकालपयोधिकल्प-
मालोक्य सङ्गरगतं कुरुवीरसैन्यम्।
सस्मार तल्पमहिपुङ्गवकायकान्तं
निद्रां च योगकलितां भगवान् मुकुन्दः॥'

अत्र तल्पनिद्रयोः स्मरणं यद्यपि न तल्पनिद्रासादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यम्, तथापि सैन्यगतपयोधिसादृश्यदर्शनोद्बुद्धपयोधिविषयकसंस्कारजन्यपयोधिस्मरणाधीनत्वाद्भवत्येव यत्किञ्चित्सादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यम्।

न हि सादृश्ये स्मर्यमाणसम्बन्धित्वं विवक्षितम्। एवं वाच्ययोस्तल्पनिद्रास्मरणयोः एतत्कारणतया आक्षिप्तस्य पयोधिस्मरणस्य चाविशेषेण सङ्ग्रहाय लक्षणे जन्यत्वमपहाय प्रयोज्यत्वमुपात्तम्।

कविर्महाभारतयुद्धं वर्णयति—एकीभवदिति। भगवान् मुकुन्दः श्रीकृष्णः, एकीभवन्तो मिथो मिलन्तो, ये, प्रलयकालस्य पयोधयः समुद्राः, तत्कल्पम् तत ईषदूनम् तत्सदृशमिति यावत् ('ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इति कल्पप्प्रत्ययः), संगरगतं युद्धमध्यस्थितम्, कुरुवीरसैन्यम् दुर्योधनपक्षीयसैनिकम्, आलोक्य दृष्ट्वा, अहिपुंगवस्य सर्पराजस्य शेषस्येति यावत्, कायेन शरीरेण, कान्तं रमणीयम्, तल्पं शय्याम्, योगकलितां समाधिमयीमिति भावः, निद्रां स्वापम्, च, सस्मार स्मृतवानित्यर्थः। उपपादयति—अत्रेति एकीभवदिति पद्य इत्यर्थः। तल्पनिद्रेति। तल्पनिद्रयोः सादृश्यस्य दर्शनेन तल्पनिद्रातुल्यवस्त्वन्तरदर्शनेन, उद्बुद्धो जागरितो यः संस्कारः, तत्प्रयोज्यं तन्मूलकमित्यर्थः। सैन्यगतेति। सैन्यगतं यत् पयोधिसादृश्यं तस्य दर्शनेन उद्बुद्धो यः पयोधिविषयकः संस्कारस्तज्जन्यं साक्षात्तन्मूलकम् तदुत्पाद्यमिति यावत्, यत् पयोधेः स्मरणं तदधीनत्वादित्यर्थः। यत्किञ्चित्सादृश्येति सैन्यगतपयोधिसादृश्येत्यर्थः। प्रयोज्यमिति। परम्परया तत्फलीभूतमित्यर्थः। एतच्च पूर्वोक्तस्य तल्पनिद्रयोः 'स्मरणम्' इत्यस्य विशेषणम्। स्मर्यमाणसम्बन्धित्वमिति। स्मर्यमाणपदार्थप्रतियोगिकत्वमित्यर्थः। विवक्षितमिति। लक्षणे इति शेषः। एवमिति। वैधर्म्ये दृष्टान्तः। एतदिति। तल्पनिद्रास्मरणकारणतयेत्यर्थः। संग्रहायेति स्मरणालंकारलक्षणलक्ष्यत्वायेत्यर्थः। अयं भावः—'एकीभवत्'''' इति श्लोके मुकुन्दकर्तृकं तल्पनिद्राविषयकं स्मरणं यद्वाच्यवृत्त्या वर्णितमस्ति तत्तल्पनिद्रासादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं नास्ति, भगवता तल्पनिद्रासदृशपदार्थस्यादर्शनात् इति यद्यपि सत्यम्, तथापि कुरुवीरसैन्ये भगवता यत्पयोधिसादृश्यं दृष्टम् तेन पयोधिविषयकः संस्कारो भगवदात्मन्युद्बुद्धस्तेन भगवति पयोधिस्मरणं जातम्, तत्स्मरणवशादेव च भगवति तल्पनिद्रास्मरणमपि जातमित्यपि सत्यमेव। तथा च सैन्यगतपयोधिसादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारजन्यत्वं पयोधिस्मरणस्यास्तु किन्तु तादृशसंस्कारप्रयोज्यत्वं तु तल्पनिद्रास्मरणयोरप्यक्षतमेव, तज्जन्यजन्यस्य तत्प्रयोज्यत्वनियमात्। ननु अलंकारत्वेनाभिमतस्य स्मरणस्य प्रयोजको यः संस्कारस्तदुद्बोधको योऽनुभवस्तद्विषयीभूते सादृश्ये स्मर्यमाणपदार्थसंबन्धित्वमपेक्षितम्, न च तदिहास्ति, स्मर्यमाणतल्पनिद्रासंबन्धित्वस्य तल्पनिद्रास्मरणप्रयोजकसंस्कारोद्बोधकानुभवविषयसैन्यगतपयोधिसादृश्येऽसंभवात्, पयोधिसंबन्धित्वस्यैव तत्र संभवादिति चेन्न, लक्षणघटकसादृश्ये स्मर्यमाणसंबन्धित्वस्याविवक्षितत्वात्। एवञ्च प्रकृतपद्ये स्मरणालंकारद्वयं स्पष्टम्। तत्रैकः स्मरणालंकारो व्यङ्ग्यः (प्रतीयमानपयोधिविषयकस्मरणात्मकोऽलंकारो व्यङ्ग्यः)। अपरश्च वाच्यः (तल्पनिद्राविषयकस्मरणरूपोऽलंकारो वाच्यः)। अत एव लक्षणे जन्यत्वं विहाय प्रयोज्यत्वं निवेशितम्, निवेशिते च तस्मिन् प्रकृते वाच्ययोस्तल्पनिद्रास्मरणयोस्तत्कारणत्वेन प्रतीयमानस्य पयोधिस्मरणस्य च संग्रहः समुचित एवेति।

लक्षण में 'सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कार से साक्षात् होने वाला' इतना ही न कह कर 'साक्षात् अथवा परम्परया होनेवाला' ऐसा जो कहा गया है उसका फल दिखलाया जाता है—'एकीभवत्''''' इत्यादि। कवि महाभारतयुद्ध का वर्णन करता है—एक होते हुए प्रलयकालिक समुद्र के समान, युद्ध में डटी हुई कुरुवीर—दुर्योधन—की सेना को देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने सर्पराज—शेष—के शरीर से बनी सुन्दर शय्या तथा योगनिद्रा

का स्मरण किया। यहाँ 'शय्या' और 'निद्रा' का स्मरण जो वाच्यरूप में वर्णित है वह 'शय्या' और 'निद्रा' का सादृश्य देखने से उद्बुद्ध संस्कार का प्रयोज्य (उससे साक्षात् अथवा परम्परया होने वाला फल) यद्यपि नहीं है क्योंकि भगवान् ने यहाँ किसी ऐसे पदार्थ को नहीं देखा जो शय्या अथवा निद्रा के सदृश हो। तथापि यह सत्य है कि भगवान् ने सैनिकों में समुद्र का सादृश्य देखा, उससे भगवान् की आत्मा में समुद्र का संस्कार जगा, जिससे समुद्र का स्मरण हुआ और उस स्मरण से ही शय्या और निद्रा का स्मरण भी हुआ। इस स्थिति में शय्या और निद्रा का स्मरण समुद्र का सादृश्य देखने से उद्बुद्ध संस्कारजन्य (साक्षात् फल) भले ही न कहलावे, पर प्रयोज्य (परम्परित फल) तो अवश्य कहलायगा। आप कहेंगे—उक्त बात ठीक है, पर यह शय्या और निद्रा का स्मरण स्मर्यमाण (जिसका स्मरण होता है उस शय्या और निद्रा) के सादृश्यदर्शन से उद्बुद्ध संस्कार का प्रयोज्य तो हुआ नहीं फिर वह अलंकाररूप कैसे होगा? तो, इसका उत्तर यह है कि—लक्षण में यह तो कहा हुआ है नहीं कि सादृश्य स्मर्यमाण पदार्थ का ही लिया जाय, फलतः किसी भिन्न पदार्थ के सादृश्यदर्शन से उद्बुद्ध संस्कार का साक्षात् परम्परया या फलीभूत किसी भिन्न पदार्थ का स्मरण भी लक्षण से संगृहीत होता ही है। प्रकृत श्लोक के वाच्य शय्या और निद्रा का स्मरण और उसके कारणरूप में प्रतीत होने वाला समुद्र का स्मरण दोनों का एक तरह से संग्रह करने के लिये ही लक्षण में 'साक्षात्परम्परासाधारणप्रयोज्यत्व' का निवेश किया गया है। सारांश यह हुआ कि प्रकृत पद्य में दो स्मरणालंकार हैं जिनमें एक (समुद्रस्मरण) व्यंग्य और दूसरा (शय्या और निद्रा का स्मरण) वाच्य है।

मतान्तरमाह—

केचित्तु सदृशज्ञानोद्बुद्धसंस्कारजन्यं सदृशविषयकमेव स्मरणमलङ्कारः। भुजगेन्द्रनिद्रास्मृतिस्तु नालङ्कार इत्याहुः।

केचित्तु इति। अत्र मते जन्यत्वनिवेशः सादृश्यस्मर्यमाणसंबन्धित्वनिवेशश्चेति पूर्वतो भेदः भुजगेन्द्रेति। 'एकसंबन्धिज्ञानमपरसंबन्धिनं स्मारयति' इति न्यायेन तल्पादिस्मरणस्य पयोधिस्मरणजन्यत्वेऽपि तादृशसंस्काराजन्यत्वादसदृशविषयकत्वाच्चेति भावः। पयोधिस्मरणं तु तादृशसंस्कारजन्यं सदृशविषयकञ्चेति भवत्यलङ्काररूपमिति सारांशः। अत्र 'केचित्तु' इत्युक्त्याऽरुचिर्ध्वन्यते तद्बीजमाह नागेशः—'सादृश्ये स्मर्यमाणसंबन्धित्वनिवेशस्यैवं सति फलाभावः। न हि तादृशसंस्कारजन्यं स्मरणं विसदृशविषयकं संभवति। किञ्च पयोधिस्मरणस्यापि सदृशज्ञानात्मकतया तेन तल्पादिस्मरणानुकूलसंस्कारस्योद्बोधनसंभवेन तज्जन्यत्वसत्त्वादलङ्कारत्वमेव तस्ये'ति।

अन्य मत का उल्लेख किया जाता है—केचित्तु इत्यादि। कुछ विद्वानों का कथन है कि—"सदृश पदार्थ के ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार द्वारा उत्पन्न (उस संस्कार का साक्षात्फल) और सदृश के विषय में होनेवाला ही स्मरण अलंकाररूप होता है। अतः 'एकीभवत्—' इस पद्य में शेषनाग से बनी शय्या और योगनिद्रा का स्मरण अलंकाररूप नहीं है, क्योंकि वह स्मरण पयोनिधिस्मरण से उत्पन्न हुआ है उक्त संस्कार द्वारा नहीं और स्मारक का सदृश पदार्थ उसका विषय भी नहीं है। यहाँ नागेश कहते हैं कि—पूर्वमत से इस मत में दो विलक्षणतायें हैं—एक तो 'साक्षात्परम्परासाधारणफल' के स्थान पर 'साक्षात्फलबोधकजन्यत्व' का निवेश, दूसरे 'सदृश के विषय में होने' का निवेश, जिससे शय्या और निद्रा के स्मरण का अलंकाररूप नहीं होना सिद्ध होता है। पर यह मत अरुचिग्रस्त है और अरुचि का हेतु यह है कि—एक तो ऐसी स्थिति में इस लक्षण में 'सदृश के विषय में होने वाला' यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि 'सदृश के ज्ञान

से उद्बुद्ध संस्कार द्वारा उत्पन्न (उसका साक्षात्फलीभूत) स्मरण' असदृश के विषय में होता नहीं और दूसरे, 'समुद्र का स्मरण' सदृश ज्ञानरूप हुआ ही, क्योंकि स्मरण भी ज्ञानरूप है और समुद्र सेना के सदृश है। और जब 'समुद्रस्मरण' भी सदृशज्ञानरूप हो गया तब उससे 'शेषशय्या तथा योगनिद्रा' के स्मरण को उत्पन्न करने वाले संस्कार का उद्बोधन हो ही सकता है, फलतः उन दोनों का स्मरण भी 'सदृशज्ञानोद्बुद्धसंस्कार-जन्य' हो ही गया, अतः इस नवीन लक्षण के अनुसार भी उस स्मरण को अलंकाररूप होने से रोका नहीं जा सकता, फिर ये सब प्रयास किसलिये ?''

सादृश्यज्ञाननिवेशफलमाह—

'इत एव निजालयं गताया वनिताया गुरुभिः समावृतायाः।
परिवर्तितकन्धरं नतभ्रु स्मयमानं वदनाम्बुजं स्मरामि ॥'

नायकः कथयति—इत एव मत्सकाशादेव, निजालयं निजभवनं, गतायाः प्रयातायाः, तथा प्रयाणकाले गुरुभिः श्वश्र्वादिवृद्धस्त्रीभिः, समावृतायाः परिवेष्टितायाः, वनिताया नायिकायाः, परिवर्तितकंधरम् परिवर्तिता कन्धरा=ग्रीवा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा, एवम् नतभ्रु नतौ = नम्रौ भ्रुवौ यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा, स्मयमानं ईषद्धास्ययुक्तम्, वदनाम्बुजं मुखकमलम्, स्मरामि, अहमिति शेषः।

लक्षण में जो 'सादृश्यज्ञानप्रयुक्त' यह विशेषण 'स्मरण' का लगाया है, उसका फल दिखलाया जाता है—इत एव इत्यादि। नायक की उक्ति है—यहीं से (मेरे ही निकट से) अपने घर गई और जाने के समय सास आदि वृद्ध स्त्रियों से परिवेष्टित नायिका के, गरदन को घुमाकर और भौंहों को नीचे कर मुसकराते मुख-कमल का स्मरण कर रहा हूँ।

उपपादयति—

अत्र स्मरणं चिन्तोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यत्वान्नालङ्कारः व्यङ्ग्यत्वविरहाच्च न भावः।

'इत एव—' इति श्लोके यत्स्मरणं वर्णितम् तच्चिन्तया ध्यानेन उद्बुद्धस्य संस्कारस्य फलम् न तु सदृशपदार्थदर्शनोद्बुद्धसंस्कारस्य, अतो नेदं स्मरणं अलंकाररूपम् भवति सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यस्मरणस्यैव लक्षणाक्रान्तत्वात्। भावरूपमपि नैतत्स्मरणं भवति व्यङ्ग्यस्यैव स्मृत्यादेर्भावत्वस्वीकारादिति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'इत एव—' इस पद्य में वर्णित स्मरण अलंकाररूप नहीं होता क्योंकि यह स्मरण चिन्ता (ध्यान) से उद्बुद्ध संस्कार का फल है, सदृश-ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार का नहीं और लक्षण में 'सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कार-फलीभूतस्मरण' को ही अलंकार कहा गया है। और यह स्मरण भावरूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यङ्ग्य स्मरण आदि को ही 'भाव' कहा गया है और यह स्मरण व्यङ्ग्य नहीं वाच्य है।

उक्तस्थलसमानं स्थलान्तरमपि दर्शयति—

एवम्—

'दरानमत्कन्धरबन्धमीषन्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम्।
अनल्पनिःश्वासभरालसाङ्ग्याः स्मरामि सङ्गं चिरमङ्गनायाः ॥'

इहापि स्मृतिर्न भावो नाप्यलङ्कारः। व्यङ्ग्यस्यैव व्यभिचारिणो भावत्वात्। यथा—'सा वै कलङ्कविधुरा मधुराननश्रीः।' अयं चालङ्कारिकाणां सम्प्रदायो यत्सादृश्यमूलकत्वे स्मरणं निदर्शनादिवदलङ्कारः। तस्याभावे व्यङ्ग्यतायां भावः। तयोरभावे तु वस्तुमात्रम्।

एवमिति । 'एकीभवत्—' इति पद्य इवेत्यर्थः । नायकः स्वमित्रं प्रत्याह—दरानमदिति । अनल्पानां प्रभूतानाम्, निःश्वासानां भरेण समूहेन, अलसानि आलस्ययुक्तानि, अङ्गानि यस्यास्तस्याः, अङ्गनाया नायिकायाः, दरं अल्पम्, आनमन् नम्रीभवन्, कन्धरबन्धः ग्रीवासन्धिस्थलविशेषः, यस्मिन् तादृशम्, तथा ईषत् निमीलिते मुद्रिते, स्निग्धे स्नेहपूर्णे, विलोचनाब्जे कमलतुल्यनयने यस्मिन् तथाविधम् च सङ्गं सम्भोगम्, चिरं बहूनि दिनानि यावत्, स्मरामि अहमिति शेषः । इहापि दरानमदिति श्लोकेऽपि । सा वै इति । एतत्पद्यं प्रथमानने लिखितं व्याख्यातञ्च । सम्प्रदाय इति । परम्परेत्यर्थः । तस्येति सादृश्यमूलकत्वस्येत्यर्थः । व्यङ्ग्यतायामिति । सत्यामिति शेषः । तयोरिति व्यङ्ग्यत्वसादृश्यमूलकत्वयोरित्यर्थः । अयं भावः—यथा 'एकीभवत्—' इत्यत्र वर्णितं स्मरणं नालङ्कारो न वा भावस्तथैव 'दरानमत्—' इति श्लोके वर्णितं स्मरणमपि नालंकारः चिन्तामूलकतया सादृश्यमूलकत्वाभावात्, नापि भावः, 'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति लक्षणानुसारं व्यङ्ग्यस्यैव । व्यभिचारिणः स्मृत्यादेर्भावत्वोपगमात् । आलङ्कारिकाणां विदुषामयं सम्प्रदायोऽस्ति यत् यत्र स्मरणं सादृश्यमूलकं तत्रालङ्कारः । यथा 'दोर्दण्ड—' इत्यादौ । यत्र च न सादृश्यमूलकम्, किञ्च व्यङ्ग्यम् तत् तत्र भावः । यथा 'सा वै कलङ्क—' इत्यादौ । यत्र तु न सादृश्यमूलकं न वा व्यङ्ग्यं अपि तु चिन्तादिमूलकं वाच्यं तत् तत्र वस्तुमात्रम् । यथा 'इत एव—' 'दरानमत्—' इत्यादौ इति ।

स्पष्टज्ञानार्थं पूर्वोक्त स्थल के समान ही दूसरा भी स्थल दिखलाया जाता है—एवं इत्यादि । इसी तरह—'दरानमत्—अर्थात् अत्यन्त श्वाससमूह से आलस्ययुक्त अङ्गोंवाली अङ्गना के उस संग (संभोग) का स्मरण करता हूँ जिसमें गरदन का सन्धि-स्थल किंचित् झुका हुआ और स्नेहभरे नयन-कमल थोड़े से मुँदे हुए थे ।' इस मित्र के प्रति नायकोक्त पद्य में जो स्मरण वर्णित है वह भी अलंकाररूप नहीं है, क्योंकि उसके मूल में सादृश्य का ज्ञान नहीं है, वरन् चिन्ता है और भाव भी वह नहीं है क्योंकि—'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' के अनुसार व्यङ्ग्य स्मृत्यादि व्यभिचारिभाव ही भावरूप माने गए हैं । आलङ्कारिक विद्वानों की यह एक परम्परागत मान्यता है कि—सादृश्यमूलक स्मरण 'अलङ्काररूप' होता है, जैसे—'दोर्दण्ड—' इत्यादि पूर्वोक्त पद्यों में; सादृश्यमूलक न होकर व्यङ्ग्य होने पर 'भावरूप' होता है, जैसे—'सा वै कलङ्क—' इत्यादि प्रथमानन में उद्धृत पद्य में; और इन दोनों से भिन्न—अर्थात् चिन्तादिमूलक और वाच्य रहने पर स्मरण वस्तुमात्र कहलाता है, जैसे—'इत एव—' 'दरानमत्—' इत्यादि पद्यों में ।

आलोचयितुमप्पयदीक्षितमतमुत्थापयति—

अप्पयदीक्षितास्तु—

"स्मृतिः सादृश्यमूला या वस्त्वन्तरसमाश्रया ।
स्मरणालङ्कृतिः सा स्याद्व्यङ्ग्यत्वविशेषिता ॥'

यथा—

'अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥'

यथा वा—

'दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्तादम्भस्तः स्फुरदरविन्दचारुहस्ताम् ।
उद्वीक्ष्य श्रियमिव काञ्चिदुत्तरन्तीमस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः ॥'

एकत्र सदृशदर्शनात्तत्सदृशकर्मिका स्मृतिः । इतरत्र सदृशदर्शनात्तत्सदृशलक्ष्मीसम्बन्धिनो जलनिधिमन्थनस्य स्मृतिः । उभयत्रापि सादृश्यमूलकवस्त्वन्तरस्मृतित्वमविशिष्टम् । अत एव सदृशासदृशसाधारण्यार्थतया लक्षणे वस्त्वन्तरग्रहणमर्थवत् ।

'सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति ।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरङ्गं यतः
क्वासि प्रेयसि हा कुरङ्गनयने चन्द्रानने जानकि ॥'

अत्र श्रुतकुरङ्गसम्बन्धिनस्तन्नयनस्य स्मरणात्तत्सदृशसीतानयनस्मृतिस्तत्सम्बन्धिसीतास्मृतिश्चेति । किं त्वेषा व्यङ्ग्या अलङ्कार्यभूता च । तद्व्यावृत्त्यर्थमव्यङ्ग्यत्वविशेषणम् ।

'अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाऽम्भोधय-
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न श्रान्तासि तुभ्यं नमः ।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव-
स्तावद् बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥'

अत्र स्तूयमानभूसम्बन्धिनो भूभृतः स्मृतिर्न सादृश्यमूलेति नात्र स्मरणालङ्कारः । किं तु स्मृतेः सञ्चारिभावस्य भूभृद्विषयकरतिभावाङ्गत्वात्प्रेयोऽलङ्कारः । एतद्व्यावृत्तये सादृश्यमूलेति विशेषणम् ।' इत्याहुः ।”

अप्पयदीक्षितास्तु इति अस्य 'आहुः' इति दूरस्थेन क्रियापदेनान्वयः । लक्षणमाह—स्मृतिरिति तत्तत्सदृशाद्या अन्यवस्तुविषयिणी अव्यङ्ग्यत्वविशेषिता अव्यङ्ग्या वाच्येति यावत्, या, सादृश्यमूला सदृशपदार्थानुभवप्रयोज्या स्मृतिः, सा स्मरणालङ्कार इत्यर्थः ।

उदाहरणं दर्शयति—अपि तुरगेति । रघुवंशे दशरथमृगयावर्णनम् । कविः कथयति—चित्रमाल्यानुकीर्णे विविधवर्णकुसुमदामव्याप्ते, रतिविगलितबन्धे सम्भोगकालिकसंघर्षवशोन्मुक्तबन्धने (अनेन विशेषणद्वयेन केशपाशे मयूरसाम्यमाभूरितम्) प्रियायाः प्रेयस्याः, केशपाशे कचनिचये, सपदि शीघ्रम्, गतमनस्कः संलग्नचेताः स्मृततादृशप्रियाकेशकलाप इति यावत्, स दशरथः तुरगसमीपात् अपि अश्वनिकटादपि (एतेन लक्ष्ये सौकर्यं ध्वनितम्) उत्पतन्तम् उड्डीयमानम्, रुचिरकलापं रमणीयबर्हम् मयूरम्, न बाणलक्ष्यीचकार तस्मिन् बाणक्षेपं नाकरोदित्यर्थः ।

उदाहरणान्तरं दर्शयति—दिव्यानामिति । माघकाव्ये जलकेलिवर्णनम् । कविरुक्तिः—शौरिः भगवान् श्रीकृष्णः, दिव्यानामपि स्वर्गीयानामपि, कृतविस्मयाम् उत्पादिताश्चर्यभावाम् (एतेन सौन्दर्यातिशयो बोध्यते) स्फुरदरविन्दचारुहस्ताम् स्फुरता विकसता, अरविन्देन कमलेन, चारू सुन्दरौ, हस्तौ करौ, यस्यास्ताम्, अत एव, श्रियं लक्ष्मीम्, इव, अम्भसः जलतः, उत्तरन्तीं निस्सरन्तीम्, काञ्चित् नायिकाम्, पुरस्तात् अग्रे, एव, उद्वीक्ष्य दृष्ट्वा, जलनिधिमन्थनस्य समुद्रमन्थनस्य अस्मार्षीत् स्मृतवानित्यर्थः ।

उपपादयति—एकत्रेति । प्रथमोदाहरण इत्यर्थः । सदृशदर्शनादिति । रुचिरकलाप-

मयूरदर्शनादित्यर्थः। सदृशकर्मिकेति । मयूरकलापसदृशप्रियाकेशपाशविषयिणीति भावः। इतरत्रेति । द्वितीयोदाहरण इत्यर्थः । सदृशदर्शनादिति । वारिजभूषितकरचारिनिस्सरद्दिव्य-नारीदर्शनादित्यर्थः । तत्सदृशेति । तन्नारीसदृशेत्यर्थः । उभयत्र द्वयोरुदाहरणयोः । अविशिष्टमिति । समानमित्यर्थः । अत एवेति उभयविधस्मरणस्यालंकारत्वेनेष्टत्वादेवेत्यर्थः । 'अपि तुरग—' इत्यत्र रमणीयबर्हमयूरदर्शनेन पुष्पपुञ्जभूषितोन्मुक्तप्रियाकेशविषयकः संस्कारः उद्बुद्धः, तेन तादृशकेशविषयकं स्मरणं जातमिति सादृश्यानुयोगिप्रतियोगिनावेव स्मृतिकारणस्मृतिविषयरूपौ अत इयं स्मृतिः सादृश्यमूला सदृशविषया च । 'दिव्यानामपि' इत्यत्र तु श्रीसदृशजलनिस्सरद्दिव्यरूपनारीदर्शनेन समुद्रमन्थनस्मरणं वर्णितम् , अतोऽत्र स्मरणकारणस्मरणविषयौ न सादृश्यानुयोगिप्रतियोगिनौ, फलतः इयं स्मृतिः सादृश्यमूलापि सदृशविषया नास्ति। परन्तु उभयपद्यगतमुभयविधं स्मरणम् अलङ्काररूपम्, लक्षणाक्रान्तत्वात् । लक्षणे हि सादृश्यमूलकविसदृशसदृशान्यतरविषयकस्मरणसंग्रहाय 'वस्त्वन्तरसमाश्रया' इत्यस्य स्थाने, 'तुल्यान्तरसमाश्रया' इति न कृतम् । तथात्वे हि सादृश्यमूलकसदृशविषयकस्मृतेरेव प्रथमस्थलगताकारायाः संग्रहः स्यात् , प्रकृतपाठे तु सदृशासदृशवस्त्वन्तरमात्रविषयिकायाः द्वितीयस्थलगताकाराया अपि संग्रहो भवतीति भावः ।

लक्षणघटकाव्यङ्ग्यत्वविशेषणव्यावर्त्यमाह—सौमित्रे इति । हनुमन्नाटकगतं सीतावियोगकालिकरामलक्ष्मणोक्तिप्रत्युक्तिमयं पद्यमेतत्, रामः कथयति—सौमित्रे लक्ष्मण ! ननु निश्चयेन, तरुतलं वृक्षमूलदेशः, सेव्यताम् आश्रीयताम्, कुतः ? यतः चण्डांशुः प्रखरकरः सूर्यः, उज्जृम्भते वर्धते । लक्ष्मणः कथयति—हे रघुपते रामचन्द्र ! चण्डांशोः सूर्यस्य, निशि रात्रौ, का कथा ? दिवाकरस्य निशास्थितिचर्चाऽपि नोचिता । तथा च सूर्योज्जृम्भणविषयकं भवतो ज्ञानं भ्रम एवेति भावः । अथ न चेदसौ सूर्यः तर्हि कोऽयं व्योम्नि प्रकाशते ? इति चेत् तत्राह लक्ष्मणः—अयं प्रत्यक्षदृश्यमानः चन्द्रः उन्मीलति उदयते । राम आह—वत्स लक्ष्मण ! भवता, एतत् नायं सूर्योऽपि तु चन्द्र इत्याकारकं वस्तु, कथं केन प्रमाणेन विदितम् ज्ञातम् ? लक्ष्मण आह—यतः यस्मात् कुरङ्गं हरिणं कुत्सितं रङ्गम् = कालिमानं वा धत्ते अयं प्रकाशाधारभूतो वस्तुविशेष इति शेषः । मृगाङ्कोऽयं चन्द्र एवं न सूर्य इति भावः । कुरङ्गपदश्रवणस्मृतसीतालनयनश्च रामो विह्वल इवोन्मत्त इव च भूत्वा प्राह—हे कुरङ्गनयने हरिणनेत्रे ! चन्द्राननेे ! प्रेयसि अतिप्रिये, जानकि सीते, क्व कुत्र, असि वर्तसे ? 'हा' इति खेदसूचकमव्ययम् ।

उपपादयति—अत्रेति। 'सौमित्रे' इति पद्य इत्यर्थः। श्रुतकुरङ्गेति। श्रुतः कुरङ्गरूपः शब्दो यस्य तस्येत्यर्थः, तन्नयनस्येति । कुरङ्गनयनस्येत्यर्थः । तत्सदृशेति । कुरङ्गनयनसदृशेत्यर्थः । तत्संबन्धीति, सीतानयनसंबन्धीत्यर्थः । एषा स्मृतिः अलंकार्यभूतेति । प्रधानेत्यर्थः । तथा च नालङ्कारत्वमस्याः स्मृतेरुचितमिति भावः, तद्व्यावृत्त्यर्थमिति । व्यङ्ग्यस्मृतिव्यावृत्त्यर्थमित्यर्थः, विशेषणमिति । 'अव्यङ्ग्यत्वविशेषिता' इति रूपेण लक्षणे इति भावः । 'सौमित्रे ननु' इत्यत्र रामस्य कुरङ्गपदश्रवणेन मृगज्ञाने जाते 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिनं स्मारयति' इति न्यायेन तस्य मृगनयनस्य स्मरणं भवति । तत् सीतानयनस्य सदृशम् अतः सीतानयनसदृशमृगनयनस्मरणेन सीतानयनस्मरणम्, ततश्च तदात्मकैकसंबन्धिज्ञानेन सीतास्मरणम् इति यद्यपि प्रतीयते, तथापि प्रतीयमानस्य सादृश्यमूलकस्यापि च सीतानयनस्मरणस्यालंकाररूपत्वं न लक्षणघटकाव्यङ्ग्यत्वविशेषणेन वारणात् । किञ्च सा स्मृतिः प्राधान्यादलंकार्यभूता कथमलंकारत्वमुपगच्छत्वित्यपि बोध्यम् ।

अन्यत्स्मृतिद्वयं तु—अव्यङ्ग्यत्वविशेषणेन सादृश्यमूलकत्वविशेषणेन च व्यावृत्तम् इति भावः।

सादृश्यमूलकत्वात्मकस्मृतिविशेषणासाधारणफलमाह—अत्युच्चा इति। कविकृतराजविशेषस्तुतिरियम्। कविः राजानं प्रति कथयति—अत्युच्चाः परमोन्नताः, गिरयः पर्वताः, परितः चतुर्दिक्षु, स्फुरन्ति दृश्यमाना भवन्ति, तथा, स्फाराः विशालाः, अम्भोधयः समुद्राः, अपि, परितः स्फुरन्ति, परमेतान् सर्वानपि बिभ्रती त्वं पृथिवी न श्रान्ता श्लथा खिन्नेति यावत्, असि वर्तसे, अतः, तुभ्यम् भगवत्यै वसुन्धरायै नमः, इति इत्थं प्रकारेण आश्चर्येण आश्चर्ययुक्तः राजेति भावः, मुहुर्मुहुः वारम्वारम् यावत्, भुवः पृथिव्याः, स्तुतिं, प्रस्तौमि प्रारभे, तावत्, इमां पृथिवीं, बिभ्रत् धारयन्, तव भवतो, भुजो बाहुः, स्मृतः, ततो वाचः पृथिवीस्तुतिप्रवृत्ता इति भावः, मुद्रिताः रुद्धा इति भावः। हे राजन्! धराधारकभवद्भुजस्मरणे सति पर्वतसमुद्रधारणज्ञानसंजातं पृथिव्यामुत्कर्षज्ञानं ध्वस्तमिति तदीयस्तुतिप्रवृत्तवाङ्मुद्रणमेव शरणमकलयमित्यर्थः।

उपपादयति—अत्रेति। 'अत्युच्चाः' इति पद्ये इत्यर्थः। वर्ण्यमाने इति शेषः, स्मृतिरित्यत्र च तदन्वयः। स्तूयमानेति। स्तूयमाना या भूः तस्याः संबन्धिनः भूभृतः राज्ञः। सादृश्यमूलेति। अपि तु 'एकसंबन्धिज्ञानम्—' इति न्यायमूलेति भावः। इतीति। अत इत्यर्थः। अत्र प्रकृतपद्ये। न स्मरणालङ्कार इत्यन्वयः, सादृश्यमूलेति लक्षणघटकस्मृतिविशेषणेन व्यावर्तनादिति भावः। अथ किं कोऽप्यलङ्कारोऽत्र नास्तीति चेत्तत्राह—किंत्विति। स्मृतेरिति। 'स्मृतः' इति पद्यघटकपदबोधिताया इति भावः। संचारीति। वस्तुतः अस्याः स्मृतेः सञ्चारिभावत्वं न संभवति वाच्यत्वात्, व्यङ्ग्यत्व एव स्मृत्यादेस्तथात्वादिति बोध्यम्। एतदनुपदमेव खण्डनग्रन्थे स्फुटीभविष्यति भूभृद्विषयेति। राजस्तुतिपरे प्रकृतपद्ये कविगतो राजविषयकरतिभाव एव प्रधानव्यङ्ग्यः काव्यत्वप्रयोजकः, स्मृतिश्च तदङ्गभूतेति भावः। प्रेयोऽलङ्कार इति 'गुणीभूतो भावः प्रेयो नामाऽलङ्कारः' इति तत्तल्लक्षणार्णवटीकाकारादिति तात्पर्यम्। आहुरिति। अस्य क्रियापदस्य प्राक्तन 'दीक्षिताः' इति कर्त्रंशेन सम्बन्धः।

खण्डन करने के लिये मतान्तर का प्रतिपादन किया जाता है—अप्पयदीक्षितास्तु इत्यादि। अप्पयदीक्षित कहते हैं कि—"किसी (समान अथवा असमान) वस्तु के विषय में होने वाली उस स्मृति को स्मरणालंकार कहते हैं जो व्यङ्ग्य न हो—अर्थात् वाच्य अथवा लक्ष्य हो और जिसका मूल सादृश्य हो। जैसे—

'अपि तुरगसमीपात् अर्थात् अश्व के समीपदेश से भी उड़ते हुए सुन्दर पूँछ वाले मयूर को दशरथ ने अपने बाण का लक्ष्य नहीं बनाया क्योंकि विचित्र चमकीली पूँछ वाले मयूर को देखते ही उसका मन, संभोग-संमर्द के कारण उन्मुक्त-बन्धन और विविध वर्ण के पुष्पों से बनी मालाओं से व्याप्त, प्रिया के केश-पाश में चला गया—मन ही जब पाश में आबद्ध हो गया तब हाथ बाण चलावे तो कैसे? आखिर मन ही तो बाह्येन्द्रियों का संचालक है। तात्पर्य यह कि उस तरह के प्रियाकेशों का स्मारक मयूर-पुच्छ भी उसे प्रीतिस्थान प्रतीत हुआ, अतः बाण चला कर उसे वह बरबाद नहीं कर सका।' कविवर कालिदास ने रघुवंश में दशरथमृगया-वर्णन के प्रसंग पर इस पद्य की रचना की है। अथवा जैसे—

'दिव्यानामपि—अर्थात् स्वर्गीय जनों को भी विस्मित कर देनेवाली किसी नायिका को, सुन्दर कर में अर्धविकसित कमल लिए, लक्ष्मी की तरह अपने सामने, जल से निकलते देखकर, भगवान् कृष्णचन्द्र ने समुद्रमन्थन का स्मरण किया—लक्ष्मी-प्रादुर्भाव

का समय उनके ध्यानपथ में आ गया ।' जलकेलिवर्णन-प्रसङ्ग पर माघकाव्य में कवि की यह उक्ति है ।

इन दोनों उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण (अपि तुरग—) में सदृश वस्तु (मयूर-पुच्छ) के दर्शन से उसके सदृश (प्रिया के केश-पाश) का स्मरण हुआ है और द्वितीय उदाहरण में सदृश वस्तु (हाथ में कमल लिये जल से निकलती परमरमणीय रमणी) के दर्शन से उसके (रमणी के) सदृश लक्ष्मी से संबन्ध रखने वाले समुद्र-मन्थन का स्मरण हुआ है । दोनों ही उदाहरणों में सादृश्यमूलक और अन्य वस्तु के विषय में होनेवाली स्मृति की सत्ता समान है । तात्पर्य यह कि—जिस तरह प्रथम उदाहरण में सदृश-मयूरपुच्छ के देखने से तत्सदृश-प्रियाकेशपाश का स्मरण वर्णित है उस तरह यद्यपि द्वितीय उदाहरण में नहीं है—अर्थात् वहाँ सदृश (जल से निकलती नायिका) के देखने से तत्सदृश लक्ष्मी का स्मरण वर्णित नहीं हुआ है अपितु लक्ष्मी से सम्बन्ध रखने वाले समुद्र-मन्थन—जो जल से निकलती नायिका के सदृश नहीं है—का स्मरण वर्णित है, तथापि दोनों स्थानों में वर्णित स्मरणों के मूल में सादृश्य समानरूप से है । बस, इतने से ही दोनों स्मरण समानरूप से अलंकाररूप हैं । अभिप्राय यह हुआ कि—लक्षण में यह नहीं कहा गया है कि—सदृश वस्तु के देखने से होनेवाला तत्सदृशवस्तुविषयक स्मरण ही अलंकार हो । यदि ऐसा कहना लक्षणकार का अभीष्ट होता, तो, 'वस्त्वन्तर-समाश्रया (अन्य वस्तु के विषय में होने वाली)' यह विशेषण इस रूप में नहीं कहा जाता अपितु 'तुल्यान्तरसमाश्रया—अर्थात् सदृश अन्य वस्तु के विषय में होने वाली' इस रूप में कहा जाता । फलतः स्मरण सदृश का हो अथवा विसदृश का, पर उसका मूल यदि सादृश्य हो तो वह अलंकाररूप अवश्य होगा ।

'हे लक्ष्मण ! प्रचण्ड किरणों वाला सूर्य उदित है, अतः तरु-तल की सेवा करो—वृक्ष के नीचे चलो । रघुपते ! रात के समय सूर्य की क्या बात, यह तो चन्द्र उदित हो रहा है । वत्स ! तुमने कैसे जाना कि यह चन्द्र है ? क्यों न जानूँगा, यह मृग का धारण जो कर रहा है । (इतनी उक्ति-प्रत्युक्ति राम और लक्ष्मण में हुई कि राम कराह उठे–) हाय ! मृगनयने ! चन्द्रमुखी ! प्रियतमे ! जानकी ! तुम कहाँ हो ?' (हनुमन्नाटक)

यहाँ भी यद्यपि लक्ष्मण के मुख से सुने 'मृग' पद से मृग के बोध द्वारा 'एक-सम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिनं स्मारयति' के अनुसार उसके (मृग के) नेत्रों का स्मरण हुआ और उस स्मरण के कारण उन नेत्रों (मृगनेत्रों) के सदृश सीता के नेत्रों का तथा उन नेत्रों (सीता-नेत्रों) से सम्बन्ध रखने वाली सीता का स्मरण हुआ है, तथापि यह स्मरण व्यङ्ग्य है और अलंकार्य है । ऐसे स्मरण में उक्त स्मरणालंकार का लक्षण अति-व्याप्त न हो इसलिये 'अव्यङ्ग्य' यह स्मृति का विशेषण लक्षण में दिया गया है ।

'अत्युच्चाः—अर्थात् 'चारों तरफ ऊँचे-ऊँचे पर्वत और समुद्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं, हे वसुन्धरे ! इन सब को धारण करती हुई भी तू कुछ भी श्रान्त नहीं हुई, तुझे प्रणाम है'—इस तरह, आश्चर्यपूर्वक, जब तक पृथिवी की बार-बार स्तुति का प्रस्ताव करता हूँ, तब तक उस पृथिवी को भी धारण करने वाले आपके बाहु का स्मरण हो आया, फिर क्या था ! वाणी रुक गई—पर्वत-समुद्र आदि से युक्त समग्र पृथिवी के धारण करने के कारण सर्वश्रेष्ठ आपके बाहु का स्मरण होते ही पृथिवी के प्रति बनी मेरी श्रेष्ठत्व की धारणा समाप्त हो गयी, फिर उसकी स्तुति करते नहीं बनी ।' यह पद्य कवि के द्वारा किसी राजा की स्तुति में प्रयुक्त हुआ है ।

यहाँ जिसकी स्तुति की जा रही है उस पृथ्वी के सम्बन्धी (उसके स्वामी) राजा का स्मरण यद्यपि वाच्यवृत्त्या वर्णित हुआ है, पर उस (स्मरण) के मूल में सादृश्य नहीं है—अर्थात् सदृशवस्तुदर्शन से यह स्मरण नहीं हुआ है, अपितु 'एकसम्बन्धिज्ञानम्—' इस न्याय के अनुसार पृथ्वी का ज्ञान होने से तत्संबन्धी

राजा का स्मरण हुआ है, अतः यहाँ स्मरणालंकार नहीं है, किन्तु सञ्चारिभाव-रूप यह स्मरण कविगत राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है अतः 'प्रेयान्' अलंकार है। इसी तरह के (सादृश्य जिनके मूल में न हों उन) स्मरणों का वारण करने के लिये लक्षण में 'सादृश्यमूला' यह विशेषण लगाया गया है।"

उक्तदीक्षितमतस्य खण्डनात्मिकामालोचनां विधत्ते—

तदेतत् सर्वमरमणीयम्। यत्तावदुच्यते सदृशासदृशयोः केशपाशजलनिधिमन्थनयोः सङ्ग्रहाय लक्षणे वस्त्वन्तरग्रहणमर्थवदिति। तत्र सादृश्यमूला स्मृतिः स्मरणालङ्कार इत्येतावतैव केशपाशस्मरणस्येव जलनिधिमन्थनस्मरणस्यापि सङ्ग्रहाद्वस्त्वन्तरसमाश्रयत्वविशेषणमनर्थकम्। एकत्र सादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारजन्यत्वेन, अपरत्र च सादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारजलदमीस्मरणोद्बुद्धसंस्कारजन्यत्वेन च सादृश्यमूलत्वाविशेषात्। नहि सादृश्यमूलेत्युक्ते सदृशविषयेति लभ्यते, येन जलनिधिमन्थनस्मृतेरसङ्ग्रहः स्यात्। यदपि 'सौमित्रे ननु सेव्यताम्—' इत्यत्र स्मृतिर्व्यङ्ग्या अलङ्कार्यभूता च तद्व्यावृत्तयेऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणमित्युक्तम्। तत्र नेयं स्मृतिरलङ्कार्यभूता, किन्तु जानक्यालम्बनो निशासमयोद्दीपितः सन्तापादिनानुभावित उन्मादेन सञ्चारिणा परिपोषितो विप्रलम्भः प्रधानत्वेनालङ्कार्यः। तस्य च—स्मृतिरुत्कर्षहेतुत्वादलङ्कार एव। अतो नितरां तद्व्यावृत्त्यर्थमव्यङ्ग्यत्वविशेषणदानमनुचितम्। नहि व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोर्विरोध इति वक्तुं शक्यम्। नित्यव्यङ्ग्यानां रसभावादीनामपि पराङ्गतायामलङ्कारत्वाभ्युपगमात्। प्रधानव्यङ्ग्यव्यावृत्त्यर्थं पुनरुपस्कारकत्वं सर्वेष्वलङ्कारलक्षणेषु देयमिति प्रागेवावेदितम्। यदप्युक्तम् 'अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः—' इत्यत्र स्मृतेः सञ्चारिभावस्य भूभृद्विषयरतिभावाङ्गत्वात्प्रेयोऽलङ्कार इति, तन्न। भावस्य हि भावाद्यङ्गतायां प्रेयोऽलङ्कारत्वम्। न ह्यत्र स्मृतिर्भावः। तस्याः स्मरतिना वाचकेनाभिधानात्। नहि वाच्यस्य व्यभिचारिणो भावत्वं वक्तुं युक्तम्। 'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति सिद्धान्तविरोधात्। तथा चोक्तं सर्वस्वकृता—"प्रेयोऽलङ्कारस्य तु सादृश्यव्यतिरिक्तनिमित्तोत्थापिता स्मृतिर्विषयः। तत्रापि विभावाद्यागूरितत्वे, यथा 'अहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्' इति। न तु स्वशब्दनिवेदितत्वे।

यथा—

> 'अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।
> रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तम्॥'

इत्यादाविति।" ननु भावाद्यङ्गीभूतभावत्वं न प्रेयोऽलङ्कारलक्षणम्। अपि तु भावाद्यङ्गीभूतसञ्चारित्वमात्रम्। तथा च प्रकृते स्मरणस्य स्वशब्दनिवेद्यत्वेन भावत्वविरहेऽपि सञ्चारित्वानपायात्प्रेयोऽलङ्कारत्वमविरुद्धमेवेति चेत्, एवं तर्हीतराङ्गीभूतस्थायित्वमात्रं रसालङ्कारत्वम्, न तु व्यज्यमानत्वविशिष्टम्, इत्यस्यापि सुवचत्वात्।

एवं च—

> 'चराचरोभयाकारजगत्कारणविग्रहम्।
> कल्पान्तकालसङ्क्रुद्धं हरं सर्वहरं नुमः॥'

इत्यत्र क्रोधस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेऽपि देवताविषयकरतिभावाङ्गीभूतस्था-यित्वानपायाद्रसालङ्कारता स्यात्। न चेष्टापत्तिः, अपसिद्धान्तात्। तस्माद् व्यज्यमानस्यैव स्थायिनः पराङ्गत्वे यथा रसालङ्कारत्वमेवं व्यज्यमानस्यैव सञ्चारिणो भावाद्यङ्गतायां प्रेयोऽलङ्कारत्वमिति नात्र स्मृतिमादाय प्रेयोऽलङ्कारता वाच्या, किं तु भूविषयकरतेः पूर्वार्धव्यङ्ग्याया उत्तरार्धव्यङ्ग्यभूभृद्विषयरतिभावाङ्गत्वाद्युक्ता प्रेयोऽलङ्कारता वक्तुम्। उक्तं च मम्मटभट्टैः—'अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयरतिभावस्य' इति। अपि च महदिदमाश्चर्यं यत् स्वेनैव निर्मितः कुवलयानन्दाख्यः सन्दर्भो विस्मृतः। उक्तं च तत्र—'विभावानुभावाभ्यामभिव्यञ्जितो निर्वेदादिर्भावः, स यत्रापरस्याङ्गं स प्रेयोऽलङ्कारः' इति।

एतत्सर्वमिति। दीक्षितोक्तमखिलमित्यर्थः। अरमणीयमिति। असुन्दरमित्यर्थः। अयुक्तमिति यावत्। वक्ष्यमाणदोषादिति भावः। तमेव दार्ढ्यायानुवाह—यत्तावदिति। तत्रेति। उच्यमाने तस्मिन्नित्यर्थः। ब्रूम इति शेषः। तदाह—सादृश्येति। एवमग्रेऽपि। केशपाशस्मरणस्यैवेति। तस्य सदृशविषयकत्वेन दृष्टान्तत्वमिति भावः। एकत्रेति। प्रथमोदाहरणवर्णितस्मरण इत्यर्थः। अपरत्रेति। द्वितीयोदाहरणवर्णितस्मरण इत्यर्थः। सादृश्येति। सादृश्यस्य दर्शनेन = ज्ञानेन, उद्बुद्धो यः संस्कारः (जलनिधिमन्थनविषयकः) तज्जम् = तज्जन्यम्, यत् लक्ष्म्याः स्मरणम्, तेन उद्बुद्धो यः संस्कारस्तज्जन्यत्वेनेत्यर्थः। स्यादिति। इतीति शेषः। अत्र 'सादृश्यपदस्य नियतसम्बन्धिकतया सम्बन्ध्याकांक्षायामुपस्थितस्मर्यमाणस्यैवान्वयापत्तिः। नहि जनकत्वमूला पूज्यते इत्युक्ते पुत्रजनकत्वेन भार्या पूज्यते। अतो वस्त्वन्तरसमाश्रयेत्यावश्यकमिति चिन्त्यमिदम्' इति नागेशः। 'सादृश्यमूला' इति कथनेन साक्षात्परम्परया वा सादृश्यज्ञानेनोत्थापिता सर्वाऽपि (सदृशविषया विसदृशविषया च) स्मृतिः संगृह्यते न तु सदृशविषयैव स्मृतिः। तथा च 'अपि तुरग' इत्यत्र चित्रमयूरपिच्छरूपसदृशपदार्थज्ञानोद्बुद्धसंस्कारजन्यकेशपाशस्मृतिः (सादृश्यज्ञानेन साक्षादुत्थापिता सदृशविषया स्मृतिः) यथा स्मरणालंकारकोटौ संगृहीता भवति तथा 'दिव्यानामपि—' इत्यत्र जलनिधिसरत्सुन्दरीरूपसदृशवस्तुज्ञानोद्बुद्धसंस्कारजन्यलक्ष्मीस्मरणोद्बुद्धसंस्कारजन्यसमुद्रमथनस्मरणमपि (सादृश्यज्ञानेन परम्परयोत्थापितं विसदृशविषयकं स्मरणम्) संगृहीतं स्यादेव स्मरणालङ्कारश्रेण्यामिति तदर्थं दीक्षितेन उक्तम् 'वस्त्वन्तरसमाश्रयत्वविशेषणं लक्षणे व्यर्थमेवेति भावः'। अव्यङ्ग्यत्वविशेषणसार्थक्यप्रदर्शनाय दीक्षितेनोक्तं प्रत्युदाहरणं निरस्यति—यदपि इत्यादि। अस्य 'अयुक्तम्' इत्यनेनान्वयः। नेयं स्मृतिरलंकार्यभूता इति। अत्र "अत्र स्मृतेः क्व यासि इत्यादिपदगम्यत्वेन विषद्दनप्रवृत्तराजानुगम्यमानभृत्यवत्, 'शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः' इत्यादौ शठादिपदगम्यासूयावद्वा तस्या एव प्राधान्यादलङ्कार्यत्वम्। अनुपस्कार्यत्वाच्च विप्रलम्भस्यैव तत्त्वाच्चेति चिन्त्यम्" इति नागेशः। यस्मिन् प्रकरणे पद्यमिदमुक्तं कविना तेन प्रकरणेन विप्रलम्भो व्यज्यते, अतः प्रकृतपद्यव्यङ्ग्या स्मृतिः प्रकरणव्यङ्ग्यविप्रलम्भरसपोषिका भवेदित्येव समुचितम्। प्रकरणव्यङ्ग्यविप्रलम्भश्रृङ्गाररसपुष्ट्यर्थमेव कविना प्रकृतपद्यस्य रचना च कृतेति गुणीभूतव्यङ्ग्याया अस्याः स्मृतेः प्रधानरसोपस्कारकत्वादलङ्कारत्वं युक्तमेवेत्यपि केचित्। विप्रलम्भ इति। रामनिष्ठ इति भावः। नितरामित्यस्याग्रेतनेनान्वयः। तदाशयं खण्डयति—नहीति। नित्यैति। सर्वदेत्यर्थः। कदाप्यवाच्यालङ्कारेति यावत्। ननूक्ते प्राधान्येऽप्यलङ्कारत्वापत्तिरत आह—प्रधानेति। सर्वेषु न त्वत्रैव। तथा चालङ्कारसामान्य-

लक्षणप्राप्तत्वात्तस्य नातिप्रसंग इति भावः। 'सौमित्रे ननु सेव्यताम्—' इत्यत्र स विप्रलम्भशृङ्गाररस एव प्रधानव्यङ्ग्यः यस्य सीताऽऽलम्बनविभावः, निशासमयः उद्दीपनविभावः, सन्तापादिरनुभावः, उन्मादश्च सञ्चारिभावः। एवञ्च प्रधानः स रसोऽलङ्कार्य एवेत्यत्र प्रायो न कस्यापि विप्रतिपत्तिः। सीताविषयिणी स्मृतिश्च व्यङ्ग्यापि गुणीभूता प्रधानरसोपस्कारिणी चालङ्काररूपैव। तथा च तद्वारणाय लक्षणेऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणनिवेशो दीक्षितकृतोऽयुक्त एव। व्यङ्ग्या स्मृतिः कथमलङ्काररूपा भवेत्, व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधादिति तु नोद्भावनयोग्यम्, व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधानङ्गीकारात्, तथात्वे स्वीकृते पराङ्गतादशापन्नानां रसभावादीनामलङ्काररूपत्वं सकलालङ्कारिकाङ्गीकृतं भज्येत। नन्वेवं प्रधानव्यङ्ग्यस्यापि अलङ्कारत्वमापद्येतेति चेन्न, तद्वारणायालङ्कारसामान्यलक्षणे उपस्कारकत्वं देयमित्यस्य प्रागुक्तत्वात् इति सारांशः। लक्षणघटकसादृश्यमूलेति विशेषणव्यावर्त्यप्रदर्शनप्रसंगे 'अत्युच्चाः' इति पद्यमुल्लिख्य तत्र दीक्षितोक्तं विशेषं खण्डयितुमाह—यदप्युक्तमिति। सिद्धान्तेति। मम्मटभट्टादीनामिति शेषः। तद्ग्रन्थमाह—प्रेयोलङ्कारस्येत्यादि। इतीत्यन्तेन। तत्रापीति। तदुत्थापितस्मृतिष्वपीति भावः। आगूरितत्वे इति। आविष्कृतत्वे इत्यर्थः।

अत्रानुगोदमिति। पुष्पकेण लङ्कातोऽयोध्यां गच्छतः श्रीरामस्य सीतां प्रत्युक्तिरियं रघुवंशे। अत्र पञ्चवट्याम्, अनुगोदम् गोदावरीनदीसमीपे, मृगयानिवृत्तः आखेटं कृत्वा परावृत्तः, तरङ्गवातेन तरङ्गस्पृष्टवायुना (एतेन वायोः शैत्यातिशयो व्यज्यते) विनीतखेदः अपगतक्लमः, तथा, रहः एकान्ते, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा त्वदीयक्रोडविन्यस्तमस्तकः सन्, अहम्, वानीरगृहेषु वेतसलतामण्डपेषु, यत् सुप्तं स्वापम्, अकार्षम् तत् स्मरामि इत्यर्थः। सुप्त इति मल्लिनाथसम्मतः प्रथमान्तपाठः सुन्दरः। तस्मिन् पाठे अहं सुप्त इति स्मरामि इत्यर्थः, सुप्त इत्येतावत्पर्यन्तः वाक्यार्थः कर्म। स्थानमिदमालोकयतो मम मानसे बलादिव तादृशशयनस्मृतिर्जागर्तीति भावः।

शङ्कते—नन्विति। प्रतिबन्द्या समाधत्ते—एवं तर्हीति। इष्टापत्तिं परिहरति—एवं चेति।

चराचरोभयाकारेति। चराः जंगमाः, अचराः स्थावराः, उभये द्विविधाः, आकाराः स्वरूपाणि, यस्य, तादृशं यज्जगत् संसारः, तस्य, कारणं निदानभूतो, विग्रहः शरीरं यस्य तम्, कल्पान्तकाले प्रलयकाले, संक्रुद्धम् अतिक्रुद्धम्, अत एव, सर्वहरम् सकलचराचरसंहारकारकम्, हरं महाकालम्, शुभः नमस्कुर्मः, वयमित्यर्थः।

स्वशक्त्येति। क्रुद्धमितीत्यर्थः। रतिभावेति। कविनिष्ठेत्यादिः। अपसिद्धान्तात् इति। सिद्धान्तविरुद्धत्वादिति भावः। स्मृतिमात्रगेत्युक्तिफलमाह—किं त्विति। एवं च प्रेयोऽलङ्कारस्थलेऽपि स्वकृतम् तदुपपादनं निरवकाशमस्थानस्थमुक्तमिति भावः। स्वोक्तौ मम्मटोक्तिप्रामाण्यमावेदयति—उक्तं चेत्यादिना। भावस्येति। अङ्गमिति शेषः। स्वेनेवेति। अप्पयदीक्षितेनैवेत्यर्थः। तत्र कुवलयानन्दे। निर्वेदादिस्त्रयस्त्रिंशत्। अपरस्य भावादेः। 'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति सिद्धान्तानुसारेण व्यङ्ग्यस्यैव व्यभिचारिणो भावत्वम्। भावस्य च भावाद्यङ्गतायां प्रेयोऽलङ्कारत्वम्। तथा च 'अत्युच्चाः—' इति पद्ये स्मृतपदवाच्यं स्मरणम् न भावः, भावत्वमप्राप्तस्य च स्मरणस्य कविनिष्ठराजविषयकरतिभावाङ्गत्वेऽपि न प्रेयोऽलङ्कारत्वसम्भवः। अत एव "सादृश्येतरमूलिका वान्यविभावादिव्यङ्ग्या स्मृतिः प्रेयोऽलङ्कारलक्ष्यभूता यथा 'कोपेऽपि कान्तं मुखम्' इत्यादौ। वाच्या स्मृतिस्तु न तल्लक्ष्यभूता यथा 'अत्रानुगोदम्'—इत्यादौ" इति सर्वस्वकारोक्तिः संगच्छते। संचारी यदि भावाद्यङ्गभूतस्तदा स प्रेयोऽलङ्कारः, तस्य संचारिणः भावरूपत्वम् (व्यङ्ग्यत्वम्) प्रेयोऽलङ्कारलक्ष्य-

त्वाय नापेक्षितम्, तथा च प्रकृते स्मृतेर्वाच्यत्वेन भावरूपत्वाभावेऽपि संचारित्वसत्त्वेन प्रेयोऽलङ्कारत्वं स्यादिति तु न वक्तुं शक्यम्, तथा सति अव्यङ्ग्योऽपि (वाच्योऽपीति यावत्) स्थायी यदि इतराङ्गीभावमापन्नो भवेत्, तदा स रसाऽलङ्कार इत्यस्यापि सुवचतया 'चराचर—' इति श्लोके वाच्यस्यापि क्रोधस्य कविगतदेवताविषयकरतिभावाङ्गीभूतस्थायित्वसत्त्वेन रसालङ्कारतापत्तेः। सिद्धान्तविरोधपरिहारानुरोधेनेष्टापत्तिरपि कर्तुमशक्यैव। फलतो व्यङ्ग्यस्थायिभाव एव यथा पराङ्गतादशायां रसालङ्कारो भवति तथैव व्यङ्ग्य एव सञ्चारिभावाद्यङ्गतावस्थायां प्रेयोऽलंकार इत्यकामेनापि स्वीकार्यमेव। इत्थं च 'अत्युच्चाः—' इति पद्ये स्मृतिमादाय प्रेयोऽलङ्कारप्रतिपादनं दीक्षितकृतमयुक्तम्। पूर्वार्धव्यङ्ग्यकविगतपृथ्वीविषयकरतिभावस्य उत्तरार्धव्यङ्ग्यकविगतराजविषयकरतिभावाङ्गतया प्रेयोऽलङ्कारता सम्भवतीति तु अन्यत्। मम्मटभट्टा अपि रतिभावमादायैवात्र प्रेयोऽलङ्कारतां साधयामास। कुवलयानन्दे 'वाच्यविभावादिव्यङ्ग्यसञ्चारिणां भावत्वम् तस्य च भावस्यापराङ्गतायां प्रेयोऽलङ्कारत्वम्' इति स्फुटं ब्रुवाणो दीक्षितमहोदयः कथं तद्विरुद्धमिहाहस्मेति परमाश्चर्यविषय इति भावः।

उक्त दीक्षितोक्ति का खण्डन किया जाता है—तदेतत्सर्वमरमणीयम् इत्यादि। अप्पयदीक्षित की उक्त सभी बातें असुन्दर हैं—असंगत हैं। देखिए, सर्वप्रथम उन्होंने जो यह कहा है कि—"सदृश अर्थात् स्मरण में मूलभूत मयूरपुच्छ के समान केशपाश और असदृश—अर्थात् स्मृतिमूलभूतपदार्थ जल से निकलती नायिका की समानता नहीं रखने वाला समुद्रमंथन दोनों का संग्रह करने के लिये लक्षण में 'अन्य वस्तु के विषय में होनेवाली' इस अंश का ग्रहण सार्थक है।" वह ठीक नहीं। कारण, 'सादृश्यमूलक स्मरण को स्मरणालंकार कहते हैं' इतने कथन से ही केशपाश के स्मरण की तरह समुद्रमन्थन-स्मरण भी संगृहीत हो ही जाता, फिर उसके संग्रह के लिये जो 'अन्य वस्तु के विषय में होनेवाली' यह अंश कहा गया है वह निरर्थक है। एक जगह (प्रथम पद्य में) स्मरण, सादृश्य-दर्शन द्वारा उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न होता है और दूसरी जगह (द्वितीय पद्य में) सादृश्यदर्शन द्वारा उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न लक्ष्मी के स्मरण से उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न हुआ है, फलतः दोनों जगहों पर स्मरण का मूल सादृश्य है ही। अर्थात् एक जगह सादृश्य स्मरण का साक्षात् मूल है, दूसरी जगह परम्परया, पर दोनों ही स्मरण सादृश्यमूलक कहे जा सकते हैं, क्योंकि 'सादृश्यमूलक' इस कथन से 'सदृशपदार्थ के विषय में होनेवाली' यह अर्थ तो निकलता नहीं कि जिससे 'समुद्रमन्थन के स्मरण' का संग्रह नहीं होगा। यहाँ नागेश दीक्षितोक्ति का समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि—"सादृश्य एक ऐसा पदार्थ है जिसका सम्बन्धी नियत-निश्चित-होता है, अतः प्रकृत में सम्बन्धी की आकांक्षा होने पर नियमतः उपस्थित स्मर्यमाण (स्मरण किये जाने वाले सदृशपदार्थों) का ही अन्वय होगा, न कि असदृशपदार्थों का। अर्थात् 'सादृश्यमूलक स्मरण' ऐसा कहने पर स्मारक और स्मर्यमाण पदार्थों का सादृश्य ही अवगत होता है। ठीक भी है 'जनकत्वमूला पूजित होती है' ऐसा कहने पर कहने वाले की जननी की ही पूजा समझी जाती है, पुत्र-जनक होने के कारण पत्नी की पूजा नहीं। ऐसी स्थिति में 'सादृश्यमूलक स्मृति' इस कथन से सदृश के स्मरण का ही संग्रह होगा, सदृश के सम्बन्धी के स्मरण का नहीं, अतः 'अन्य वस्तु के विषय में होने वाली' यह अंश सार्थक ही है, क्योंकि इस अंश से यह स्पष्ट हो जाता है कि सदृश तथा असदृश दोनों के स्मरण यहाँ संग्रहणीय हैं, अन्यथा 'सदृश के विषय में होने वाली' ऐसा ही विशेषण जोड़ा जाता।" अब उनकी दूसरी बात को लीजिए। उन्होंने कहा है कि—"'सौमित्रे ननु सेव्यताम् तरुतलम्—' इस पद्य में स्मरण व्यङ्ग्य है और अलङ्कार्य है—अर्थात् प्रधान है, अतः उस स्मरण में स्मरणालङ्कार

का लक्षण अतिव्याप्त न हो इसलिये लक्षण में 'अव्यङ्ग्य' यह विशेषण जोड़ा गया है।" पर यह कथन भी उनका उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ 'स्मृति' व्यङ्ग्य होने पर भी अलङ्कार्य—प्रधान—नहीं है, अपितु रामचन्द्रगत वह विप्रलम्भशृङ्गार प्रधान होने के कारण अलङ्कार्य है जिसका आलम्बन विभाव है जानकी, उद्दीपन विभाव है निशासमय, अनुभाव है सन्ताप आदि और संचारीभाव है उन्माद। तात्पर्य यह हुआ कि उक्त पद्य से स्मृति और विप्रलम्भशृङ्गाररस दोनों ही व्यङ्ग्य होते हैं, पर उन दोनों में प्रधानता विप्रलम्भ की ही रहती है अतः उसी को अलङ्कार्य मानना युक्तिसंगत है। स्मरण तो व्यङ्ग्य होकर भी गौण है और प्रधान रस को उत्कृष्ट बनाने वाला है, अतः उसको अलङ्काररूप मानना ही समुचित है। फिर इस स्मृति को अलङ्कारश्रेणी से निष्कासित करने के लिये लक्षण में 'अव्यङ्ग्य' विशेषण जोड़ना नितान्त अनुचित है। और आप यह तो कह नहीं सकते कि—'व्यङ्ग्यता' और 'अलङ्कारता' में परस्पर विरोध है—अर्थात् जो वस्तु व्यङ्ग्य हो वह उस अवस्था में अलङ्कार हो ही न सके, क्योंकि नित्य-व्यङ्ग्य—अर्थात् जो कभी वाच्य अथवा लक्ष्य होते ही नहीं उन—रस, भाव आदि को भी दूसरे के अङ्ग हो जाने पर अलङ्कार माना जाता है। बात रही प्रधान व्यङ्ग्य के अलङ्कार न होने की, सो वह ठीक ही है और उसके (प्रधान व्यङ्ग्य के) वारण करने के लिये सभी अलङ्कारों के लक्षणों में 'उपस्कारक' विशेषण लगाना चाहिए यह बात पहले ही कही जा चुकी है। अभिप्राय यह कि यह सामान्य नियन्त्रण सभी अलंकारों के विषय में लागू किया जाना चाहिए कि—कोई भी अलंकार तभी अलंकार हो सकता है जब वह किसी अपने से भिन्न प्रधान काव्यार्थ को उपस्कृत—अलंकृत—करता हो। इस नियन्त्रण से प्रधान काव्यव्यङ्ग्य अर्थ कभी भी अलंकार नहीं हो सकता और जो व्यङ्ग्य प्रधान नहीं और अन्य प्रधान को उपस्कृत भी करता हो उसको तो अलंकारकोटि में गिना ही जाना चाहिए। यहाँ भी नागेश मूलकार का खण्डन और दीक्षित का समर्थन करते हैं। उनके कथन का अभिप्राय है कि "—'सौमित्रे ! ननु—' इस पद्य में 'हाय ! कहाँ है' इन पदों से अभिव्यक्त होने वाली स्मृति ही प्रधान है और वह उसी तरह प्रधान है जिस तरह बराती के रूप में चलनेवाले राजा के आगे-आगे विवाह के लिये जाता हुआ नौकर अथवा जिस तरह 'शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृताः' इत्यादिक में 'शठ' आदि पदों से ध्वनित होनेवाली 'असूया'। और जब स्मृति की प्रधानता सिद्ध है तब उसका अलंकार्य होना भी निश्चित रूप से मान्य होना ही चाहिए—अर्थात् वह (स्मरण) किसी का उपस्कारक नहीं है स्वयम् उपस्कार्य है, विप्रलम्भशृङ्गाररस ही उसका उपस्कारक होने से अलंकाररूप है। फलतः दीक्षित का कथन ठीक ही है।" कुछ लोग यहाँ यह भी कहते हैं कि—'उक्त पद्य जिस प्रकरण का है उस समूचे प्रकरण से विप्रलम्भशृङ्गाररस ही प्रधानरूप में ध्वनित होता है, इस पद्य की रचना भी कवि ने प्रकरणव्यङ्ग्य विप्रलम्भ की परिपुष्टि के लिये ही की है, अतः इस पद्य का भी प्रधान व्यङ्ग्य विप्रलम्भ को ही मानना चाहिये, स्मरण व्यङ्ग्य होकर भी उसका पोषक ही है, अतः वह अलंकाररूप ही माना जा सकता है।' तीसरी बात दीक्षितजी ने यह कही कि "—'अत्युच्चाः—' इस पद्य में स्मृतिरूप सञ्चारीभाव कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव का अङ्ग होने के कारण 'प्रेयान्' अलंकार है।" पर यह बात भी उनकी ठीक नहीं। कारण, भाव जब भाव आदि का अङ्ग होता है तब वह 'प्रेयान्' अलंकार कहलाता है। पर प्रकृत पद्य में 'स्मरण' भावरूप है ही नहीं, क्योंकि यहाँ वह 'स्मृतः' पद का वाच्यार्थ है और वाच्य सञ्चारीभावरूप कहा नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा कहने पर भी 'व्यभिचार्यञ्जितो भावः—अर्थात् व्यङ्ग्य व्यभिचारीभाव कहलाता है' इस (काव्यप्रकाश के) सिद्धान्त का विरोध होता है। काव्यप्रकाश का ही नहीं, अपितु 'अलंकारसर्वस्वकार' का भी ऐसा ही सिद्धान्त है। वे कहते हैं कि "—'प्रेयान्' अलंकार का लक्ष्य तो वह स्मरण होता है

जो सादृश्य से अन्य किसी निमित्त से उद्बोधित हुआ करता है और वह भी वाच्य-विभावादिक से अभिव्यक्त होने पर, जैसे 'अहो ! कोपेऽपि कान्तं मुखम्—अर्थात् आश्चर्य है कि उसका मुख क्रोधावस्था में भी कमनीय था' इत्यादिक में। वाच्य होने पर 'स्मरण' भावरूप नहीं होता अतएव 'प्रेयान्' अलंकाररूप भी नहीं होता, जैसे-'अत्रानुगोदम्—अर्थात् यहाँ, गोदावरी नदी के तट पर शिकार खेलकर लौटा हुआ और जलतरंगों की शीतल हवा से श्रमरहित किया गया मैं, जो, एकान्त में तेरी गोदी में सिर रखकर बेतस के मण्डपों में शयन करता था उस शयन का स्मरण कर रहा हूँ—इस स्थल को देखते ही उस शयन का स्मरण हो आया।' इस—विमान द्वारा लंका से लौटते समय पञ्चवटी के किसी स्थल को दिखाते हुए रामचन्द्र की सीता के प्रति उक्ति—में। यदि आप कहें कि—मेरे विचार से 'भाव आदि के अङ्ग बने हुए भाव ही 'प्रेयान्' अलंकार नहीं होते, अपितु भाव आदि के अङ्ग बने हुए सञ्चारीमात्र—अर्थात् उन संचारियों का भावरूप होना आवश्यक नहीं, अतएव प्रकृत में स्मरण यदि वाच्य होने के कारण भावरूप नहीं होता, तो न हो, सञ्चारी तो है ही, बस, इतने से ही पराङ्गतादशा में उसकी प्रेयोऽलंकारता सिद्ध हो जाती है—किसी तरह का विरोध नहीं होता, तो यह भी उचित नहीं क्योंकि आपके कथनानुसार यदि प्रेयोऽलंकार कहलाने के लिये सञ्चारियों का भावरूप (व्यङ्ग्य) होना आवश्यक न माना जाय, तब 'रसवत्' अलंकार कहलाने के लिये स्थायीभावों का व्यङ्ग्य होना भी आवश्यक न मानिये—अर्थात् जिस तरह आप वाच्य सञ्चारी को भी भाव आदि के अंग होने पर प्रेयान् मान लेने के लिये उद्यत हैं उसी तरह वाच्य स्थायी को भी अपरांगतावस्था में आप रसवत् मानेंगे, और यदि ऐसा मानेंगे, तब 'चराचरोभया—अर्थात् हम, स्थावर-जंगम दोनों रूप वाले संसार के कारणस्वरूप और प्रलय-काल में कुपित अतएव सबके संहार करने वाले शिव को प्रणाम करते हैं।' इस पद्य में वाच्यरूप से वर्णित क्रोध (रौद्ररस का स्थायी) भी रसवत् अलंकार हो जायगा, क्योंकि वाच्य हो जाने से भावरूप वह (क्रोध) भले ही न हो पर स्थायी-मात्र तो है ही और देवताविषयक कविगत रतिभाव का अंग भी है। इष्टापत्ति तो की नहीं जा सकती, क्योंकि यह बात वस्तुतः सिद्धान्तविरुद्ध है। अन्ततः इन सब आपत्तियों से बचने के लिये यह मानना ही पड़ेगा कि—जैसे व्यङ्ग्य स्थायी ही अन्य प्रधान वाक्यार्थ का अंग होकर रसवत् अलंकार होता है उसी तरह व्यङ्ग्य सञ्चारी ही भाव आदि का अंग होकर प्रेयान् अलंकार कहलाता है। अतः 'अत्युच्चाः—' इस पद्य में स्मरण को लेकर प्रेयोऽलङ्कार नहीं कहा जा सकता, किन्तु पद्य के प्रथमार्ध भाग से अभिव्यक्त होनेवाले कविगत पृथ्वीविषयक रतिभाव-जो पद्य के अन्तिम आधे भाग से अभिव्यक्त होनेवाले कविगत राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है—को लेकर ही कहा जा सकता है। मम्मटभट्ट ने भी इस पद्य में प्रेयोऽलंकार सिद्ध करते समय कहा है कि—'यहाँ पृथ्वी के विषय में होने वाला रतिरूप भाव राजा के विषय में होने वाले रति-भाव का अङ्ग है।' मम्मटभट्ट को भी छोड़िये। स्वयं दीक्षितजी ने भी कुवलयानन्द नामक स्वरचित निबन्ध में कहा है कि—"निर्वेद आदि संचारी जब विभाव और अनुभाव से ध्वनित होते हैं तब वे 'भाव' कहलाते हैं और वे भाव जब दूसरों के अङ्ग हो जाते हैं तब प्रेयान् अलंकार माने जाते हैं।" अब आप हम सोच सकते हैं कि—यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है, दीक्षितजी अपने निबन्ध को भी भूल गए—एक निबन्ध में जैसी बात लिखते हैं दूसरे निबन्ध में ठीक उसकी उलटी बात। इस तरह यह सत्य प्रकट है कि दीक्षितजी की बातें यहाँ सुन्दर नहीं हैं—विद्वानों को सन्तुष्ट करने में सर्वथा असमर्थ हैं।

अलंकारसर्वस्वरत्नाकरयोर्मतमनूद्यावद्यति—

यदपि 'सदृशानुभवाद्वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्' इत्यलङ्कारसर्वस्व-रत्नाकरयोः

स्मरणालङ्कारलक्षणमुक्तम्, तदपि न। सदृशस्मरणादुद्बुद्धेन संस्कारेण जनिते स्मरणेऽव्याप्तेः।

यथा—

> 'सन्त्येवास्मिञ्जगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपा-
> स्तेषां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु।
> यैरध्यक्षैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिः
> स्मृत्यारूढं भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम्॥'

अत्र च चातकदर्शनादेकसम्बन्धिज्ञानादुत्पन्नेनापरसम्बन्धिनो जलधरस्य भगवत्सदृशस्य स्मरणेन जनितं भगवतः स्मरणं भगवद्विषयरतिभावाङ्गम्। यदि च 'सदृशानुभवात्' इत्यपहाय 'सदृशज्ञानात्' इति लक्षणे निवेश्यते तदा भवत्यस्यापि सङ्ग्रह इति दिक्।

अलङ्कारसर्वस्वकारयोर्ग्रन्थयोः। सदृशेति। स्मर्यमाणसदृशेत्यर्थः। सन्त्येवेति। अस्मिन् परिदृश्यमाने, जगति संसारे, रम्यरूपाः सुन्दराकाराः, बहवः, पक्षिणः, (यद्यपि) सन्ति, (तथापि) तेषां पक्षिणाम्, मध्ये, चातकेषु स्वनामप्रख्यातपक्षिविशेषेषु, मम, वासना संस्कारः, धारणेति यावत्, महती गुरुतरा, विद्यते, इति शेषः। निजसखम् स्वमित्रम्, नीरदं मेघम्, स्मारयद्भिः, यैः चातकैः, अध्यक्षैः प्रत्यक्षभूतैः, सद्भिः हेतुभिः, किमपि साधारणबुद्ध्याऽज्ञायमानम्, कृष्णाभिधानं कृष्णनामख्यातम्, ब्रह्म परमात्मा, स्मृत्यारूढं स्मरणगोचरं, भवति जायत इत्यर्थः। उपपादयति—अत्रेति। दर्शनादिति। अस्य 'ज्ञानात्' इत्यत्राभेदेनान्वयः। चातकदर्शनात्मकैकसम्बन्धिज्ञानादिति यावत्। उत्पन्नेनेति। अस्य 'स्मरणेन' इत्यत्रान्वयः। 'सदृशपदार्थानुभवोद्बुद्धसंस्कारजन्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः' इत्यर्थकम् सर्वस्वकाररत्नाकरोक्तं मूलोद्धृतं लक्षणम् न सम्यक्, तस्य 'सन्त्येवास्मिन्'—इति लक्ष्येऽव्याप्तत्वात्। अयं भावः 'सन्त्येव' इत्यत्र प्रथमं चातकानुभवः, ततः 'एक-सम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिनं स्मारयति' इति न्यायेन मेघस्मरणम्, तेन स्मरणेन मेघसदृश-कृष्णविषयकसंस्कारोद्बोधः, उद्बुद्धेन तेन संस्कारेण कृष्णस्मरणम्, तच्च स्मरणं कवि-गतस्य पद्यप्रधानव्यङ्ग्यस्य भगवद्विषयकरतिभावस्योपस्कारकत्वादङ्गभूतमिति समुचितं तस्यालङ्काररूपत्वम्। किन्तु पूर्वोक्तलक्षणेन नास्य संग्रहः सम्भवति, अस्य स्मरणस्य मेघरूप-सदृशस्मरणप्रयोज्यत्वेन सदृशानुभवप्रयोज्यत्वविरहात्। अतः लक्षणघटकस्य 'सदृशानु-भवात्' इत्यस्य स्थाने 'सदृशज्ञानात्' इति कथनं युक्तम्, यतः सदृशज्ञानपदेन सदृशस्मरण-स्यापि बोधे तस्य लक्ष्यस्य संग्रहः सम्भवेदिति सारांशः।

अब 'अलंकारसर्वस्व' और 'अलंकाररत्नाकर' के लक्षण का अनुवाद करके खण्डन किया जाता है—तदपि इत्यादि। 'सदृशपदार्थ के अनुभव—प्रत्यक्ष ज्ञान—से होनेवाले अन्य वस्तु के स्मरण का नाम स्मरणालङ्कार है।' यह जो 'अलंकारसर्वस्व' तथा 'रत्नाकर' नामक निबन्ध में लिखा गया है, वह भी ठीक नहीं है। कारण, यह लक्षण उस स्मरण में अव्याप्त है—अर्थात् इस लक्षण से उस स्मरण का संग्रह नहीं होता, जो सदृश पदार्थ के अनुभव से नहीं अपितु सदृश पदार्थ के स्मरण से संस्कारोद्बोध द्वारा उत्पन्न होता है; जैसे—'सन्त्येवास्मिन्—अर्थात् इस संसार में यद्यपि बहुतेरे पक्षी रमणीय रूप वाले हैं, पर मेरी वासना-धारणा-सबसे अधिक उन चातकपक्षियों के विषय में ही रहती है अपने मित्र-संबन्धी-मेघ का स्मरण करानेवाले जिन चातकों के नयनगोचर होने से

कृष्णात्मक अगोचर ब्रह्म स्मृति-पथ में आरूढ हो जाता है।' यहाँ चातकरूप एक संबन्धी के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से 'एक संबन्धी का ज्ञान अपर संबन्धी का स्मरण कराता है' इस न्याय के अनुसार उस मेघ का स्मरण होता है जो कृष्ण भगवान् के सदृश है और उस मेघस्मरण से तत्सदृश भगवान् कृष्ण का वह स्मरण होता है, जो पद्य के प्रधान व्यङ्ग्य कविगत भगवद्विषयक रतिभाव का अङ्ग है—पोषक है। तात्पर्य यह कि यहाँ कृष्णस्मरण सर्वसम्मति से स्मरणालंकार होने योग्य है, किन्तु उक्त लक्षण के अनुसार इसका संग्रह नहीं हो पाता, क्योंकि यह स्मरण सदृश पदार्थ—मेघ—के अनुभव (प्रत्यक्ष) से उत्पन्न नहीं हुआ है अपितु उसके स्मरण से उत्पन्न हुआ है। यदि लक्षण में 'सदृशानुभवात्—सदृश पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान से' इसके स्थान पर 'सदृशज्ञानात्—सदृशपदार्थ के किसी तरह के (प्रत्यक्षात्मक अथवा स्मरणात्मक) ज्ञान से' ऐसा निवेश किया जाय, तब उक्त भगवत्स्मरण का भी संग्रह हो सकता है।

स्मरणालङ्कारध्वनिं निरूपयितुमाह—

अथास्य ध्वनिः।

अथेति। परमतनिरसनानन्तरमित्यर्थः। अस्य स्मरणालङ्कारस्य। ध्वनिरिति। उत्तमोत्तमकाव्यताप्रयोजको वैयञ्जनिकबोध इति भावः।

स्मरणालंकारध्वनि का निरूपण करने की बात कही जाती है—अथ इत्यादि। अब यहाँ स्मरणालंकारध्वनि का आरम्भ समझना चाहिए।

स्मरणालङ्कारध्वनिमुदाहर्तुमाह—

यथा—

जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'इदं लताभिः स्तबकानताभिर्मनोहरं हन्त वनान्तरालम्।
सदैव सेव्यं स्तनभारवत्यो न चेद्युवत्यो हृदयं हरेयुः॥'

कमनीयकाननमध्यगतः कश्चित् परामृशति—हन्त अहो! स्तबकानताभिः पुष्पगुच्छावनम्राभिः, लताभिः वल्लरीभिः, मनोहरम् रमणीयम्, इदं प्रत्यक्षदृश्यमानम्, वनान्तरालम् वनमध्यभागः, सदैव नैरन्तर्येण, सेव्यम् आश्रयणीयम्, कदा? यदि स्तनभारवत्यः कुचभारयुताः (एतेन नम्रीभाव आवेद्यते), युवत्यः तरुण्यः, हृदयं मनः, न, हरेयुः वशीकुर्युरित्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—इदम् इत्यादि। सुन्दरतम कानन के मध्य में अवस्थित कोई पुरुष अपने मन में सोच रहा है—आह! पुष्प-गुच्छों से नमी हुई लताओं से ललित यह वन-मध्य सदा ही सेवन करने योग्य है, यदि स्तन-भार से युक्त (अवनत) युवतियाँ हृदय हरण न कर लें।

उपपादयति—

अत्र स्तबकानताभिर्लताभिः स्तनभारवतीनां युवतीनां स्मरणमलङ्कारस्यान्यस्याभावादनुपसर्जनम्, स्तनस्तबकरूपस्य बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नस्य साधारणधर्मस्य वाच्यत्वेऽपि तत्प्रयोजितसादृश्यमूलकस्य स्वस्य शब्दवाच्यत्वविरहाद् व्यङ्ग्यं च।

अत्रेति। 'इदं लताभिः—' इति पद्य इत्यर्थः। लताभिरिति। प्रयोज्यत्वं तृतीयार्थः। तस्य च स्मरणमित्यत्रान्वयः। अनुपसर्जनमिति। अगौणमित्यर्थः। प्रधानमिति यावत्।

एवमलङ्कारत्वं निरस्य ध्वनित्वमुपपादयितुमाह—स्तनेति । तदिति । साधारणधर्मेत्यर्थः । स्वस्य स्मरणस्य । व्यङ्ग्यं च स्मरणमिति पूर्वत्रान्वयः । 'इदं लताभिः—' इति पद्यप्रवक्तुः कविकल्पितस्य पुरुषस्य स्तबकानतलताज्ञानात् संस्कारोद्बोधक्रमेण स्तनभारयुतयुवतीजन-स्मरणं जातमिति विप्रतिपत्तिहीनं वचः, तच्च स्मरणं सादृश्यमूलम्, सादृश्यं च बिम्बप्रति-बिम्बभावापन्नस्तनस्तबकरूपसाधारणधर्मप्रयोज्यम् अतः सर्वथा स्मरणालङ्कारसम्पत्ति-योग्यमिदं स्मरणम्, परन्तु पद्यस्यास्य काव्यतायाः प्रयोजकः चमत्कारवत्तया प्रधानोऽर्थः । स्मरणमेवैतत्, एवञ्च 'उपस्कारकत्व'रूपसकलालङ्कारलक्षणप्रविष्टविशेषणेन व्यावर्त्यतेऽ-स्यालङ्कारत्वम्, अतोऽत्र व्यङ्ग्यालङ्कारव्यवहारो न, अलङ्कारत्वमाप्तस्यैव पदार्थस्य व्यङ्ग्यत्वे तथा व्यवहारप्रवृत्तेरिष्टत्वात्, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नस्तनस्तबकात्मकवाच्यसाधारणधर्म-प्रयोज्यसादृश्यमूलकोऽयं स्मरणपदार्थो न वाच्यो व्यङ्ग्य एवेत्यत्र यद्यपि न कश्चित् सन्देहः, तथापि नालङ्कारत्वमाप्त इति पूर्वमुक्तम् । एवञ्च स्मरणालङ्कारध्वनिरयमिति फलितम् । अलङ्कारभावानापन्नपदार्थध्वननेऽलङ्कारध्वनिव्यवहार एव कथमिति तु न संशेतव्यम्, अलङ्कार-त्वयोग्यपदार्थध्वनन एवालङ्कारध्वनिव्यवहारस्य प्रागुपपादितत्वात्, अलंकारत्वमप्राप्तेऽप्यत्र स्मरणे तद्योग्यत्वं विद्यत एवेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'इदं लताभिः—' इस पद्य में पुष्प-गुच्छों से नमी हुई लताओं द्वारा स्तन-भार से युक्त युवतियों का स्मरण हुआ है और वह स्मरण ही इस वाक्य का प्रधान अर्थ है—इस वाक्य को काव्य-कोटि में लाने वाला चमत्कारी अर्थ है, इस वाक्य का प्रतिपाद्य कोई ऐसा दूसरा अर्थ नहीं है जो सर्वाधिक चमत्कारी होने के कारण प्रधान हो, फलतः वह स्मरण किसी दूसरे का उपस्कारक नहीं है, साथ-साथ वह स्मरण व्यङ्ग्य भी है, क्योंकि 'स्तनों' और 'पुष्प-गुच्छों'रूप बिम्बप्रति-बिम्बभावापन्न साधारणधर्म के वाच्य होने पर भी उसके द्वारा सिद्ध सादृश्य-मूलक स्मरण किसी शब्द से वाच्य नहीं है । अतः इस पद्य को स्मरणालङ्कार-ध्वनि का उदाहरण माना जाता है । स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि—यद्यपि पण्डितराज व्यङ्ग्य अलंकार भी मानते हैं तथापि यहाँ व्यङ्ग्य स्मरणालङ्कार नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ किसी अन्य अलङ्कार्य—प्रधान—अर्थ के न रहने से यह स्मरण उपस्कारक नहीं है और व्यङ्ग्य अलङ्कार का व्यवहार वहीं होता है जहाँ कोई परोपस्कारक पदार्थ व्यङ्ग्य होता है । आप पूछ सकते हैं कि—जब ऐसी स्थिति है तब स्मरणालङ्कारध्वनि का ही व्यवहार यहाँ कैसे होगा ? तो इसका उत्तर यह होगा कि—अलंकाररूप नहीं अपितु अलंकार होने योग्य पदार्थ के ध्वनित होने पर ही अलंकारध्वनि का व्यवहार होता है यह बात पहले युक्ति-पूर्वक प्रतिपादित हो चुकी है और यहाँ का स्मरण उपस्कारक न होने के कारण अलङ्काररूप भले ही न हो, पर सादृश्यमूलक होने से अलंकार होने की सामान्य योग्यता तो रखता ही है ।

पद्यघटकस्य 'युवत्यः' इति पदस्यासाधुतां मनसि कृत्वा समाधत्ते—

युवत्य इति च 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थात्' इति ङीषि साधुः ।

यद्यपि ह्रस्वेकारान्तयुवतिपदमेव प्रचुरप्रयोगतया प्रसिद्धं तस्य च प्रथमाबहुवचने 'युवतयः' इति रूपमेव समुचितम्, तथापि 'सर्वतो—' इत्यनेन ङीषि दीर्घेकार-विशिष्टस्य 'युवती'पदस्य प्रथमाबहुवचने 'युवत्यः' इत्यपि साध्वेवेति भावः । अत्र "यौतेः शत्रन्तात् ङीप्यपि साधुत्वं भवति । 'सर्वतः—' इत्येतत्पर्यन्तानुधावनं व्यर्थम् दुष्टं चेति" नागेशः ।

'युवत्यः' इस पद की साधुता दिखलाई जाती है—युवत्य इत्यादि। ह्रस्व इकारान्त 'युवति' शब्द—जो अधिक प्रसिद्ध है—का रूप प्रथमाबहुवचन में यद्यपि—'युवतयः' ही होता है, तथापि 'सर्वतः—' इस वार्तिक से ङीष् प्रत्यय कर देने पर वह दीर्घ ईकारान्त 'युवती' शब्द भी निष्पन्न होता है, जिसका 'युवत्यः' ऐसा रूप हो सकता है। शतृप्रत्ययान्त यु धातु से ङीप् प्रत्यय करके भी दीर्घ ईकारान्त युवती शब्द बन सकता है यह भी समझना चाहिए।

उदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'इदमप्रतिमं पश्य सरः सरसिजैर्वृतम्।
सखे मा जल्प नारीणां नयनानि दहन्ति माम्॥'

द्वयोर्मित्रयोरुक्तिप्रत्युक्ती। एकः कथयति—सरसिजैः कमलैः, वृतं परिपूर्णम्, अत एव अप्रतिमं अनुपमम्, इदं प्रत्यक्षभूतम्, सरः सरोवरम्, पश्य अवलोकय। अपर आह—सखे मित्र! मा जल्प ईदृशीं वार्ता न कथय, कुतः? यतः नारीणां कामिनीनाम्, नयनानि नेत्राणि, मां दहन्ति दग्धं कुर्वन्ति इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—इदमित्यादि। यह दो मित्रों की उक्ति-प्रत्युक्ति है। एक मित्र कहता है—कमलों से परिपूर्ण इस अनुपम सरोवर को देखो। दूसरा मित्र उत्तर देता है—मित्र! ऐसी बात न करो, मुझे नायिकाओं के नेत्र दग्ध किए डालते हैं।

उपपादयति—

अत्रापि सरसिजज्ञानाधीनतत्सदृशस्मृतिः प्राधान्येन ध्वन्यते।

'इदमप्रतिमम्—' इत्यत्र कमलानां शाब्दबोधात्मकेन ज्ञानेन संस्कारोद्बोधद्वारा जन्यमानं कमलसदृशनारीनयनस्मरणं प्रधानतयाऽभिव्यज्यत इति स्मरणालङ्कारध्वनेरुदाहरणमेतदपि पद्यं सम्पद्यत इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्रापि इत्यादि। 'इदम्—' इस पद्य में भी कमलों के ज्ञान (शाब्दबोधात्मक) से होने वाला कमल-सदृश नारी-नयनों का स्मरण प्रधानरूप से ध्वनित होता है, अतः यह पद्य भी स्मरणालंकारध्वनि का उदाहरण समझा जा सकता है।

अथास्यालङ्कारस्य दोषान् निरूपयति—

अथास्मिन् स्मरणालङ्कारे उपमादोषाः प्रायशः सर्व एव दोषाः। विशेषतश्च नियमेनास्मिन् व्यज्यमानसादृश्यके सादृश्यस्य शब्दवाच्यतायां दोषः।

यथा—

'उपकारमस्य माधोर्नैवाहं विस्मरामि जलदस्य।
दृष्टेन येन सहसा निवेद्यते नवघनश्यामः॥'

अत्र स्मृत्यैव घनसादृश्यं भगवतः प्रतीयमानं वाच्यवृत्त्या कदर्थितं निवेद्यते। देवकीतनय इति तु साधु।

ये उपमादोषाः प्रागुपपादिताः ते सर्वे प्रायः स्मरणालंकारस्यापि चमत्कारापकर्षकतया दोषाः। तदतिरिक्तश्च सादृश्यस्य शब्दवाच्यत्वमस्य विशिष्टो दोषः। अथ कथमस्य दोषत्व-

मिति चेत्, अत्रालंकारे सादृश्यस्य व्यञ्जनया प्रतीयमानत्वनियमेनानावश्यकस्य शब्दद्वारा तदभिधानस्य पुनरुक्तिरूपत्वेन श्रोतुर्वैमुख्याधायकत्वादिति बोध्यम्। तादृशदोषोदाहरणं दर्शयति—उपकार इति। अस्य प्रत्यक्षभूतस्य, साधोः परोपकारपरस्य, जलदस्य वारिदस्य, उपकारम्, अहं, नैव, विस्मरामि, येन जलदेन दृष्टेन प्रत्यक्षीभूतेन सता, सहसा हठात्, नवघनश्यामः श्रीकृष्णः, निवेद्यते स्मार्यते इत्यर्थः। उपपादयति—अत्रेति। अयं भावः—'उपकारमस्य' इत्यत्र 'निवेद्यते'पदबोध्येन स्मरणेनैव श्रीकृष्णस्य मेघसादृश्यं प्रतीयत इति पुनः नवघन इव श्यामः इत्येवं विग्रहणीयेन 'नवघनश्यामः' इति समस्तपदेन तदभिधानं दोष इति। दोषपरिहारप्रकारमाह—देवकी इति। 'नवघनश्यामः' इत्यस्य स्थाने 'देवकीतनयः' इति पाठे कृते निर्दुष्टमिदं पद्यं स्यादित्यर्थः।

अब स्मरणालंकार में होनेवाले दोषों का निरूपण किया जाता है—अथ इत्यादि। इस स्मरणालंकार में प्रायः वे सभी दोष होते हैं जो उपमा के दोष माने गए हैं, तदतिरिक्त इस अलंकार का खास दोष यह है कि—सादृश्य का शब्दवाच्य बना देना और सादृश्य की शब्द-वाच्यता इसलिए यहाँ दोषरूप हो जाती हैं कि जब इस अलंकार में सादृश्य की प्रतीति नियमतः व्यञ्जना द्वारा होती ही रहती है तब वह एक तरह से पुनरुक्तिरूप हो जाती है। जैसे—'उपकारमस्य'.......अर्थात् मैं इस परोपकारी जलद का उपकार भूलता ही नहीं, जो दृष्टिगोचर होते ही नवघनश्याम (नवीन मेघ के समान श्यामवर्ण श्रीकृष्ण) का स्मरण करा देता है।' यहाँ 'निवेद्यते' पद से अवगत होनेवाले स्मरण से ही भगवान् श्रीकृष्ण का मेघ के साथ सादृश्य प्रतीत होता है फिर जो 'घनश्याम' पद—जिसका अर्थ समासमर्यादा से घन के समान श्याम होता है—से उस सादृश्य को वाच्य बनाया गया है यह कदर्थना है—दोष है। हाँ, यदि 'नवघनश्यामः' शब्द के स्थान पर 'देवकीतनयः' शब्द रक्खा जाय, तब पद्य निर्दोष हो सकता है।

साधारणधर्ममूलकं विशेषं निरूपयितुमुपक्रमते—

अत्र सादृश्यप्रयोजकस्य साधारणधर्मस्य साक्षादुपादानानुपादानयोरुपमायामिवात्रापि व्यवस्था। तथा हि उपमायां तावत्कश्चिद्धर्मो नियमेन प्रतीयमानः साक्षान्नोपादेय एव। यथा 'शङ्खवत्पाण्डुरच्छविः' इत्यत्र पाण्डुरत्वम्। 'शङ्खवत्पाण्डुरोऽयम्' इत्यादौ तु नानाविधेषु धर्मेष्वनेनैव धर्मेण सादृश्यमित्यस्य दुरवगमत्वात्, सर्वेषामुपमानोपमेयसाधारणस्य श्लिष्टशब्दात्मकस्यान्यस्य वा स्वाभिप्रेतस्य साधारणधर्मस्योपमाप्रयोजकत्वसम्भवात्तद्वारणाय पाण्डुरत्वादिधर्मो वाच्यतां नीयते। यथा वा 'अरविन्दमिव सुन्दरं मुखम्' इत्यादौ सुन्दरत्वादिः। न नीयते न कश्चित्, वक्तुरन्यस्यानुपस्थानात्प्रसिद्धेः प्राबल्यात्। यथा 'अरविन्दमिव मुखम्' इत्यादौ स एव। अप्रसिद्धश्च धर्मोऽवश्यं साक्षादुपादेयः। अन्यथा तस्याप्रतिपत्तौ कवेस्तदुपमानिर्माणप्रयासवैयर्थ्यापत्तेः। यथा 'नीरदा इव ते भान्ति बलाकाराजिता भटाः' इत्यादौ श्लिष्टशब्दात्मकः। इत्थं च कश्चित्साधारणो धर्मः साक्षादनुपादेय एव। कश्चिदुपादेयानुपादेयश्च। कश्चिदुपादेय एवेति सहृदयसम्मतः समयः। एवमेवोपमाजीवातुकेऽस्मिन् स्मरणालङ्कारेऽपि बोध्यम्।

अत्रेति। स्मरणालङ्कारे इत्यर्थः। अस्योपादानादावेवान्वयः। दानयोरिति। सतोरिति शेषः। अत्रापीति। स्मरणालङ्कारेऽपीत्यर्थः। स्फुटत्वाय पुनरुक्तिः। प्रतीयमान इति।

शब्दाभावेऽपि गम्यमान इत्यर्थः। साक्षादिति। उपमानोपमेयविशेषणत्वेनेत्यर्थः। यथेति। उपमेयविशेषणच्छविविशेषणतयोपस्थितपाण्डुरत्वस्यैव प्रत्यासत्त्या तत्र गम्यमानत्वादिति भावः। ननु धर्मान्तरस्योपमाप्रयोजकत्वाभावादेव नैव सादृश्यं दुरवगममत आह—सर्वत्रेति। स्वानभिप्रेतस्य साधारणधर्मस्येति। अत्र साधारणपदमधिकं प्रतिभाति, 'उपमानोपमेयसाधारणस्य' इति प्रागुक्तविशेषणघटकसाधारणपदेनैव तदर्थलाभात्। वाच्यतां नीयत इति। वाच्यो विधीयत इति भावः। विशेषं वक्तुमस्य द्वितीयमुदाहरणमाह—यथा चेति। न नीयते चेति। वाच्यतामित्यस्यानुषङ्गः। अनुपस्थितौ हेतुमाह—अप्रसिद्धेरिति। स एवेति। सुन्दरत्वादिरित्यर्थः। अन्यथा साक्षादनुपादाने। तस्य साधारणधर्मस्य। अप्रतिपत्तौ अप्रतीतौ। 'नीरदा इव······'इति। बलाकाराजिताः बलाकाराभ्याम् अजिताः, ते भटाः योद्धारः, बलाकाभिः बकपङ्क्तिभिः, राजिताः शोभिताः, नीरदाः मेघाः, इव, भान्ति अतीयन्त इत्यर्थः। उपसंहरति—इत्थं चेति। यथोपमायामिति शेषः। समगः सिद्धान्तः। एवम् उपमावत्। जीवातुर्जीवनौषधम्। सादृश्यप्रयोजकस्य साधारणधर्मस्य साक्षादुपादानेऽनुपादाने वा सति यथोपमायां व्यवस्था भवति, तथैवात्र स्मरणालङ्कारेऽपि सा भवति। कीदृशी व्यवस्थोपमाग्रामिति चेदित्थम्—यत्र यो धर्मो नियमेन वाचकमन्तरापि प्रतीयमानः तत्र स धर्मः साक्षान्नोपादेयः। यथा—'शङ्खवत्पाण्डुरच्छविः' इत्यत्र पाण्डुरत्वरूपो धर्मो नोपादेयः, 'शङ्खवच्छविः' इत्येतावदुक्तावपि पाण्डुरत्वस्योक्तरीत्या प्रतीतेः। यत्र च यो धर्मो न वाचकमन्तरेण नियमतः प्रतीयमानस्तत्र पुनः स धर्मः साक्षादुपादेय एव। यथा—'शङ्खवत्पाण्डुरोऽयम्' इत्यत्र पाण्डुरत्वरूपो धर्म उपादेय एव, उपादानं विना तस्य प्रतीतेरनियमात्, वक्तुरनभिप्रेतस्यापि श्लिष्टशब्दात्मकस्यान्यस्य वोपमाप्रयोजकस्य धर्मस्य सम्भाव्यमानत्वात्। यत्र च यो धर्मः प्रसिद्धेरनुरोधे नियमतः प्रतीयमानः प्रसिद्धेरननुरोधे पुनर्न नियमतः प्रतीयमानस्तत्र स धर्मः साक्षादुपादेयोऽपि नापि चोपादेयः। यथा—'अरविन्दमिव सुन्दरं मुखम्' 'अरविन्दवन्मुखम्' इत्यनयोः स्थलयोः क्रमशः सुन्दरत्वोपादानं तदभावश्च। अप्रसिद्धो धर्मः साक्षादुपादेय एव। यथा—'नीरदा इव······'इत्यादौ 'बलाकाराजित्वादिः, अन्यथा तदप्रतीतौ उपमैव न सम्पद्येत, कथंचित् तत्सम्पत्तौ वा कविविवक्षितार्थाप्रतीतिरेवेति भावः। अन्यत् सुगमम्।

साधारणधर्ममूलक कुछ विशिष्ट बातों का विचार किया जाता है—अत्र इत्यादि। इस स्मरणालंकार में भी सादृश्य-साधक-साधारणधर्म के साक्षात् ग्रहण करने और न करने की व्यवस्था उपमालंकार की ही तरह होती है। अभिप्राय यह कि जिस तरह, उपमा में, कहीं, नियमतः—वाचक के बिना भी—प्रतीत होनेवाले धर्म का साक्षात् ग्रहण करना उचित नहीं होता, जैसे—'शंख की तरह श्वेत कान्ति वाला', यहाँ श्वेतत्वरूप धर्म का उपादान उचित नहीं। कारण, साक्षात् ग्रहण न करने पर भी उसकी प्रतीति हो ही जाती है, क्योंकि कान्ति में शंख के समान श्वेतत्व धर्म की ही सम्भावना है, अन्य की नहीं। 'शंख के समान श्वेत यह' इत्यादिक में तो श्वेतत्व धर्म का साक्षात् ग्रहण करना उचित ही है, क्योंकि यदि 'शंख के समान यह' इतना ही कहा जाय, तब ऐसे अनेक धर्मों की संभावना की जा सकती है तन्मूलक शंख की समता 'यह' पदार्थ में दी जा सके, जैसे वर्तुलत्व आदि, यह बात दूसरी है कि वे धर्म वक्ता के अभिमत हों अथवा नहीं, ऐसी स्थिति में पाण्डुरत्व धर्ममूलक ही शंख की समता—जो वक्ता का अभिमत है—नहीं समझी जा सकती। स्पष्ट अभिप्राय है कि—सब जगह उपमान तथा उपमेय दोनों में रहने वाला 'श्लिष्टशब्दरूप' अथवा अन्य कोई कवि का अनभिमत धर्म

भी उपमा का प्रयोजक हो सकता है, अतः अनभिमत धर्म को प्रकृत उपमा का प्रयोजक न समझ लिया जाय इसलिये कवि के अभिमत धर्म का ग्रहण ऐसे स्थलों पर आवश्यक हो जाता है। अथवा जैसे—'कमल-सा सुन्दर मुख' इत्यादि में सुन्दरता आदि धर्म का ग्रहण केवल इसलिये किया जाता है कि इससे भिन्न किसी धर्म को उपमा का प्रयोजक न मान लिया जाय। कहीं ऐसे प्रसिद्ध धर्मों का साक्षात् ग्रहण नहीं भी किया जाता, जैसे—'कमल-सा मुख' इत्यादि में 'सुन्दरता' आदि का ग्रहण नहीं किया जाता, क्योंकि प्रसिद्धि की प्रबलता से अन्य धर्म की उपस्थिति वक्ता अथवा श्रोता किसी को होती ही नहीं। हाँ, अप्रसिद्ध धर्म का साक्षात् ग्रहण करना अत्यावश्यक होता है, अन्यथा श्रोताओं को उस धर्म का ज्ञान नहीं होने से कवि का उपमासृष्टिप्रयास ही व्यर्थ हो जायगा। जैसे—'नीरदा इव—अर्थात् वे योद्धा मेघों के समान प्रतीत होते हैं, क्योंकि जैसे मेघ 'बलाकाराजित (बगुलों की पङ्क्ति से शोभित) हैं वैसे ही वे भी 'बलाकाराजित' (बल और आकार के कारण अजित—किसी से न जीते गए) हैं।' इत्यादि में 'बलाकाराजित' आदि श्लिष्ट शब्दरूप धर्म। तात्पर्य यह हुआ कि यदि ऐसे धर्मों को स्पष्ट शब्दों में न लिखा जाय तब श्रोतागण समझ ही नहीं पायेंगे कि मेघों और योद्धाओं में क्या समान धर्म है। अतः ऐसे अप्रसिद्ध धर्मों का साक्षात् ग्रहण अत्यावश्यक है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—उपमा में कुछ साधारणधर्म ऐसे होते हैं जिनका साक्षात् ग्रहण नहीं होना चाहिए, कुछ ऐसे होते हैं जिनका साक्षात् ग्रहण हो भी सकता है और नहीं भी, और कुछ ऐसे होते हैं जिनका ग्रहण करना ही चाहिए, यह है सहृदयों का सम्मत सिद्धान्त। यही व्यवस्था स्मरणालङ्कार के विषय में भी समझनी चाहिए। कारण, इस स्मरणालंकार में प्राण डालने वाली उपमा ही है, सारांश यह कि स्मरणालंकार में भी साधारणधर्म उक्त तीनों प्रकार का हो सकता है।

उक्तत्रिविधधर्ममूलकस्मरणालङ्कारोदाहरणप्रदर्शनायाह—

तत्रानुगामिनि धर्मे 'स्मृत्यारूढं भवति किमपि' इत्यादौ पद्ये निवेदितमेव स्मरणम्। बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नेऽपि धर्मे 'भुजभ्रमितपट्टिश—' इत्यादि पद्ये निरूपितम्। कुलिशपट्टिशयोर्भूधरदन्तावलयोश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावात्।

तत्रेति। अनुगाम्यादिधर्माणां मध्ये इत्यर्थः। स्मृत्यारूढमिति। एतच्चान्तिम-चरणकं सम्पूर्णं पद्यमस्मिन्नेव प्रकरणे प्रागुक्तम्। अत्र श्यामत्वरूपोऽनुगामी धर्मोऽनुपात्तः। निवेदितं कथितम्। स्मरणमिति। स्मरणालङ्कार इति भावः। भुजभ्रमित इति। इदमपि पद्यं प्रकरणस्यास्य प्रारम्भे उदाहृतं द्रष्टव्यम्। निरूपितं स्मरणमित्यस्यानुषङ्गः। उपपादयति— कुलिशेत्यादिना। बिम्बप्रतिबिम्बभावादिति। पट्टिशदन्तावलयो-र्बिम्बत्वं कुलिशभूधरयोश्च प्रतिबिम्बत्वमिति बोध्यम्। एवञ्चात्रावश्यकतया साधारणधर्म उक्त इति भावः।

उक्त तीनों प्रकार के साधारणधर्म उपमा की तरह स्मरणालङ्कार में भी अनुगामी आदि रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं यह दिखलाने के लिये तादृश उदाहरण दिये जाते हैं—तत्र इत्यादि। उन धर्मों में से अनुगामी साधारणधर्म जहाँ लुप्त है ऐसे स्मरणालंकार का उदाहरण 'स्मृत्यारूढं—' इस पद्य के रूप में पहले दिखलाया जा चुका है। यह पद्य सर्वस्वकार आदि के मत का खण्डन करते समय इसी प्रकरण में लिखा गया है। यहाँ श्यामत्वरूप अनुगामी साधारणधर्म का अग्रहण है। उक्त विचार के अनुसार आवश्यक होने के कारण बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारणधर्म जहाँ उक्त है ऐसा स्मरणालंकारोदाहरण भी 'भुज—' इस पद्य के रूप में कहा जा चुका है। यह

यथा इसी प्रकरण के आदि में ग्रन्थकार ने स्वसम्मत उदाहरण देते समय लिखा है। यहाँ 'वज्र' और 'पट्टिश' एवं पर्वत और गज में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। अर्थात् पट्टिश और गज बिम्ब हैं तथा वज्र और पर्वत प्रतिबिम्ब। और ऐसा यह साधारणधर्म यहाँ लगाया है।

एवं अनुगामिबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नेति द्विविधधर्ममूलकस्मरणालङ्कारोदाहरणभूतपद्य-युगलं स्मारयित्वोपचरितधर्ममूलकतदुदाहरणं दर्शयितुमाह—

उपचरिते यथा—

उपचरिते धर्मे स्मरणं यथेत्यनुषङ्गः।

उक्त द्विविधधर्ममूलक स्मरणालंकार के उदाहरणभूत पूर्वोक्त दो पद्यों का स्मरण कराकर अन्यविधधर्ममूलक स्मरण का उदाहरण दिखलाने के लिये कहा जाता है—उप इत्यादि। जहाँ साधारणधर्म उपचरित (आरोपित) रहता है वैसा उदाहरण, जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'क्वचिदपि कार्ये मृदुलं क्वापि च कठिनं विलोक्य हृदयं ते।
को न स्मरति नराधिप नवनीतं किं च शतकोटिम्॥'

कविः राजानं स्तौति—हे नराधिप राजन्! क्वचिदपि कस्मिंश्चिदपि कार्ये कर्तव्ये विषये, मृदुलं कोमलम्, क्वापि च कुत्रचिच्च कार्ये, कठिनं कठोरम्, ते तव, हृदयं मनः, विलोक्य ज्ञात्वा, औचित्यात् ज्ञानविशेषार्थकस्यापि लोकयतेरत्र ज्ञानसामान्यार्थकत्वात्, कः मनुष्यः, नवनीतम्, किं च तथा शतकोटिं वज्रम् न स्मरति? सर्वोऽपि स्मरतीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—क्वचिदपि इत्यादि। कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन्! किसी कार्य में कोमल और किसी कार्य में कठोर तेरे हृदय को समझ कर कौन मनुष्य मक्खन तथा वज्र का स्मरण नहीं करता? अर्थात् सभी करते हैं।

उदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अगाधं परितः पूर्णमालोक्य स महार्णवम्।
हृदयं रामभद्रस्य सस्मार पवनात्मजः॥'

स प्रसिद्धः, पवनात्मजः हनूमान्, अगाधं अतिगम्भीरम्, परितः सर्वतः, पूर्णम् अरिक्तम्, महार्णवं समुद्रम्, आलोक्य दृष्ट्वा, रामभद्रस्य रामचन्द्रस्य, हृदयं चेतः, सस्मार स्मृतवानित्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अगाधम् इत्यादि। उस सुप्रसिद्ध हनूमान् ने अतलस्पर्शी तथा चारों तरफ से भरे-हुए समुद्र को देखकर भगवान् रामचन्द्र के हृदय का स्मरण किया।

उपपादयति—

अत्र मृदुलत्वाद्यो धर्मा ह्युपचरिताः।

प्रथमे पद्ये मूर्तधर्मयोर्मृदुलत्वकठोरत्वयोः अमूर्ते हृदये समारोपः, एवं द्वितीयपद्ये समुद्रधर्मस्यागाधत्वस्य हृदये सः इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। प्रथम उदाहरण में कोमलता तथा कठोरता—जो मूर्त (दृष्टिगोचर होने योग्य) पदार्थों के धर्म हैं—का अमूर्त हृदय में आरोप हुआ है। इसी तरह द्वितीय उदाहरण में अगाधता—जो समुद्र का धर्म है—का हृदय में आरोप हुआ है।

उदाहरणद्वयदाननिदानभूतं विशेषमाह—

इयांस्तु विशेषः—यदेकत्रानुभूयमाने हृदये स्मर्यमाणनवनीतादेः सादृश्यस्य सिद्धिः, अपरत्र तु स्मर्यमाणे हृदयेऽनुभूयमानसमुद्रस्येति, सादृश्यस्योभयाश्रयत्वात् ।

एकत्र प्रथमपद्ये। अपरत्र द्वितीयपद्ये। समुद्रस्येति। सादृश्यस्य। सिद्धिरित्यस्यानुषङ्गः, उभयाश्रयत्वादिति। उभयनिरूप्यत्वादिति भावः। 'क्वचिदपि—' इत्यत्र राज्ञो हृदयमनुभूयमानं वस्तु तत्र स्मर्यमाणस्य नवनीतशतकोटियुगलस्य सादृश्यं सिद्ध्यति। 'अगाधम्—' इत्यत्र तु अनुभूयमानस्य, समुद्रात्मकस्य वस्तुनः सादृश्यं स्मर्यमाणे हृदये सिद्ध्यतीति द्वयोरुदाहरणयोर्विशेषः। एतद्विशेषप्रदर्शनायैवोदाहरणद्वयदानम्। असङ्गतोऽयं विशेष इति चेन्न, उभयत्रोपमानोपमेययोः सादृश्यं विवक्षितम्। तच्चोभयथापि वर्णयितुं शक्यम्, उपमानप्रतियोगिकोपमेयानुयोगिकतया उपमेयप्रतियोगिकोपमानानुयोगिकतया वा सादृश्यस्योभयनिरूप्यत्वात्, एवञ्च प्रथमपद्ये स्मर्यमाणोपमानप्रतियोगिकानु[illegible] द्वितीयपद्ये चानुभूयमानोपमानप्रतियोगिकस्मर्यमाणोपमेयानुयोगिकस्य सादृश्यस्य सिद्धौ बाधकविरहादिति भावः।

दोनों उदाहरणों में परस्पर वैलक्षण्य दिखलाया जाता है—इयांस्तु इत्यादि। प्रथम पद्य में अनुभव किये जाते हृदय में स्मरण किये जाते 'मक्खन' आदि के सादृश्य की सिद्धि हुई है और द्वितीय पद्य में स्मरण किये जाने वाले हृदय में अनुभव किये जाने वाले समुद्र के सादृश्य की, क्योंकि सादृश्य अनुभूत होने वाले और स्मृत होने वाले दोनों प्रकार के पदार्थों से सम्बन्ध रखता है। स्पष्ट तात्पर्य यह कि एक जगह उपमेय के अनुभव से उपमान का और दूसरी जगह उपमान के अनुभव से उपमेय का स्मरण हुआ है।

धर्मान्तरमूलकमुदाहरणं दर्शयितुमाह—

केवलशब्दात्मके यथा—

श्लिष्टशब्दमात्रात्मके धर्मे स्मरणं यथेत्यनुषङ्गः।

जहाँ केवल श्लिष्टशब्दरूप साधारणधर्ममूलक सादृश्य की प्रतीति होती है ऐसे स्मरणालंकार का उदाहरण। जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'ऋतुराजं भ्रमरहितं यदाहमाकर्णयामि नियमेन।
आरोहति स्मृतिपथं तदैव भगवान् मुनिर्व्यासः॥'

कवेरुक्तिः—अहम्, यदा यस्मिन् क्षणे, भ्रमरहितं नानाविधपुष्पविकासद्वारा मधुपानत्वात् भ्रमराणां हितम्, ऋतुराजं वसन्तम्, आकर्णयामि शृणोमि, तदैव तस्मिन्नेव क्षणे, भगवान् व्यासो मुनिः स्मृतिपथम् आरोहति स्मृतिविषयो भवति, यतः सोऽपि भ्रमरहितः भ्रमेण हीनः—प्रमाता इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—ऋतुराजम् इत्यादि । कवि का कथन है—मैं जब 'भ्रमर-हित'-भ्रमरों के हितकारी—ऋतुराज-वसन्त—को सुनता हूँ, तभी भगवान् व्यास मुनि मेरे स्मृति-पथ में नियमतः आरूढ हो जाते हैं, क्योंकि वे भी भ्रम-रहित—भ्रमहीन-(यथार्थज्ञानकर्ता) हैं ।

उपपादयति—

अत्र भ्रमरहितशब्दो व्यासवसन्तयोः साधारणः ।

'ऋतुराजम्—' इति पद्ये वर्ण्यमानयोर्व्यासवसन्तयोः सादृश्यस्य साधको न कश्चित् अर्थात्मकः साधारणो धर्मः, अपि तु 'भ्रमरहित' शब्द एव केवलोऽर्थभेदेनोभयत्र विशेषणीभवन् साधारणधर्मतां प्रतिपद्यत इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'ऋतुराजम्—' इस पद्य में वर्णनीय व्यास और वसन्त के सादृश्य को सिद्ध करने वाला कोई अर्थात्मक साधारणधर्म नहीं है, अपितु 'भ्रमरहित' शब्द ही अर्थभेद से दोनों (व्यास और वसन्त) का विशेषण होने से साधारणधर्मरूप होता है ।

उपसंहरन्नाह—

एवमन्येऽपि प्रभेदाः सुधीभिरुन्नेयाः । इह पुनर्दिङ्मात्रमुपदर्शितम् ।

उपमावत् स्मरणालङ्कारस्यापि निरूपितेतराः कियन्तो भेदाः संभवन्ति, ते विज्ञैः स्वयमनुसन्धेयाः । स्वयमनुसन्धाने सहायकतया केवलं दिग्दर्शनमत्र कारितं ग्रन्थकृतेति भावः ।

उपसंहार किया जाता है—एवमिति । उपमा की तरह स्मरणालंकार के भी साधारणधर्मवैचित्र्यमूलक और अनेक भेद हो सकते हैं जिनका ऊह स्वयं सुधी जनों को कर लेना चाहिए । ग्रन्थकार ने तो यहाँ केवल दिग्दर्शन कराया है ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायां स्मरणालङ्कारनिरूपणं समाप्तम् ।

स्मरणालङ्कारनिरूपणानन्तरमिदानीं रूपकालङ्कारनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथाभेदप्रधानेषु रूपकं तावन्निरूप्यते ।

अथेति । स्मरणालङ्कारनिरूपणानन्तरमित्यर्थः । अभेदप्रधानेष्विति । अलंकारेष्विति शेषः । तावत् आदौ । एवं च पूर्वं भेदाभेदोभयप्रधाना अलङ्कारा निरूपिताः, सम्प्रति बहलङ्कारव्यापित्वेन प्रसिद्धतया प्राधान्येन च रूपकनिरूपणमिति भावः ।

स्मरणालंकारनिरूपण के बाद अब रूपकालंकार का निरूपण करने की प्रतिज्ञा करते हैं—अथेत्यादि । जिनमें भेद तथा अभेद दोनों की प्रधानता समानरूप से रहती है उन अलंकारों का निरूपण पहले किया जा चुका है, अब, जिनमें अभेद की ही प्रधानता होती है उन अलंकारों में भी सर्वप्रधान तथा बहुतेरे अभेद-प्रधान अलंकारों के मूलभूत रूपकालंकार का निरूपण सबसे पहले किया जाता है ।

लक्षणं तावल्लिख्यते—

उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमानतादात्म्यं रूपकम् । तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलङ्कारः ।

उपमेयतावच्छेदकेति । उपमेयतावच्छेदकं मुखत्वादिकं पुरस्कृत्य न तु तत्तिरोधायेत्यर्थः । उपमेयतावच्छेदकप्रकारकबोधविशेष्ये उपमेये इति यावत् । अत्र 'उपमेयतावच्छे-

दकमात्रप्रकारकप्रतीतिजनकशब्दबोध्ये विषये इत्यर्थः। तेनातिशयोक्तौ चन्द्रादिपदान्मुखत्वादिना मुखोपस्थितिरिति मतेऽपि नातिव्याप्तिरिति बोध्यमिति' नागेशः। शब्दान्निश्चीयमानमिति। शब्दात्मकप्रमाणजन्यनिश्चयगोचरम्, न तु प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरजन्यनिश्चयविषयीभूतमित्यर्थः। उपमानतादात्म्यमिति। उपमानाभेद इत्यर्थः। रूपकम् रूपकपदार्थः। तदेव रूपकपदार्थ एव। उपस्कारकत्वेति। प्रधानोत्कर्षकत्वेति भावः। विशिष्टेति। युक्तेत्यर्थः।

सर्वप्रथम लक्षण किया जाता है—उपमेयता इत्यादि। उपमेयतावच्छेदक (उपमेय में रहने वाले असाधारण धर्म-मुखत्व आदि) को आगे रखकर-अर्थात् उस धर्म के साथ समझे जाते हुए, उपमेय (मुख आदि) में शब्द-प्रमाण (न कि प्रत्यक्ष-चक्षु आदि-प्रमाण) के द्वारा निश्चित की जाने वाली उपमान (चन्द्र आदि) की एकरूपता (अभेद) को 'रूपक' कहते हैं। यह तो हुआ लोकप्रसिद्ध रूपक पदार्थ का लक्षण, इसीमें यदि 'उपस्कारक अर्थात् प्रधानवाक्यार्थोत्कर्षक' यह विशेषण भी जोड़ दिया जाय, तब यह साहित्यशास्त्रप्रसिद्ध रूपकालंकार का लक्षण समझा जायगा।

पदकृत्यं दर्शयति—

उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणेति विशेषणादपह्नुतिभ्रान्तिमदतिशयोक्तिनिदर्शनानां निरासः। [illegible] भ्रान्तिमति च तज्जनकदोषेणैव [illegible] साध्यवसानलक्षणामूलकत्वादुपमेयतावच्छेदकस्य नास्ति पुरस्कारः। शब्दादिति विशेषणात् 'मुखमिदं चन्द्रः' इति प्रात्यक्षिकाहार्यनिश्चयगोचरचन्द्रतादात्म्यव्यवच्छेदः। निश्चीयमानमिति विशेषणात्सम्भावनात्मनो 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्याद्युत्प्रेक्षाया व्यावृत्तिः। उपमानोपमेयविशेषणाभ्यां सादृश्यलाभात् 'मुखं मनोरमा रामा' इत्यादिशुद्धारोपविषयतादात्म्यनिरासः। सादृश्यमूलकमेव च तादात्म्यं रूपकमामनन्ति।

उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणेति प्रथमविशेषणकृत्यमाह—उपमेयतेति। निरासे हेतुमाह—अपह्नुतावित्यादिना। तज्जनकेति। भ्रान्तिजनकेत्यर्थः। उपमेयतावच्छेदकस्येति। अस्य [illegible]न्यायेनोभयत्रान्वयः। शब्दादिति द्वितीयविशेषणकृत्यमाह—शब्दादिति। प्रात्यक्षिकेति। प्रात्यक्षिकः चक्षुरादिजन्यः, यः आहार्यः बाधकालीनेच्छाजन्यः, निश्चयः निश्चयात्मकं ज्ञानम्, तद्[illegible] चन्द्रतादात्म्यम् चन्द्राभेदः तस्य व्यवच्छेदो व्यावृत्तिरित्यर्थः। तृतीयविशेषणकृत्यमाह—निश्चीयमानम् इति। उपमानोपमेयेति। एतद्रूपविशेषणाभ्यामित्यर्थः। उपमानत्वोपमेयत्वयोः सादृश्यनियतत्वादिति भावः। अपह्नुतौ—'नेदं मुखम् अपि तु चन्द्रः' इत्यादौ उपमेयतावच्छेदकस्य मुखत्वस्य निषेध एव, भ्रान्तिमति—'पद्ममिति भ्रमराः मुखमभिधावन्ति' इत्यादौ भ्रमजनकेन दोषेण तस्य प्रतिबन्ध एव अतिशयोक्तौ निदर्शनायाञ्च क्रमशः 'चन्द्रोऽयम्' 'अमायां तन्मुखं पश्य चन्द्रदर्शनकौतुकी' इत्यादौ साध्यवसानलक्षणायाः साम्राज्येन तस्याप्रतीतिरेवेति उपमेयतावच्छेदकस्यापुरस्कारेण चतुर्णामेषामलङ्काराणाम् 'उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेण' इति विशेषणाद् व्यावृत्तिः। 'मुखमिदं न चन्द्रः' इति बाधज्ञाने जाग्रति 'मुखेऽस्मिन् चन्द्रत्वप्रकारकं चाक्षुषं ज्ञानं मे जायताम्' इतीच्छाजन्यम् यद् 'मुखमिदं चन्द्रः' इत्याकारकं निश्चयात्मकं चाक्षुषम् ज्ञानम् तदाहार्यम्, एतदाहार्यनिश्चयविषयीभूतयोश्च मुखचन्द्रयोरपि यद्यपि तादात्म्यम् प्रतीयते, तथापि नास्य रूपकत्वम्, तस्याहार्यनिश्चयस्य चाक्षुषत्वेन शाब्दत्वाभावात्

लक्षणे 'शब्दादिति' निवेशात् । 'नूनं मुखं चन्द्रः' इति वस्तूत्प्रेक्षायाः सम्भावनारूपाया लक्षणघटकनिश्चीयमानविशेषणाद्वारणम् । 'यत्रयत्रोपमानोपमेयत्वं तत्र तत्र सादृश्यम्' इति व्याप्त्या लक्षणे उपमानोपमेयनिवेशात् सादृश्यं लभ्यते, लब्धेन च तेन सादृश्येन 'मुखं मनोरमा रामा' इत्यत्रत्यम् शुद्धारोपविषयीभूतम् (सादृश्यामूलकत्वेन गौणारोपविषयीभूतं नेति यावत्) रामामुखयोस्तादात्म्यं निरस्यते । ननु कथं शुद्धारोपविषयतादात्म्यं निरस्यते । स्वीक्रियतां तस्यापि रूपकत्वम् इति चेत्, सादृश्यमूलकतादात्म्यस्यैव रूपकत्वेनाङ्गीकारात् इति भावः ।

लक्षणघटक विशेषणों के फल दिखलाये जाते हैं—उपमेयता इत्यादि । अपह्नुति, भ्रान्तिमत, अतिशयोक्ति और निदर्शना इन चारों अलंकारों में भी यद्यपि उपमान तथा उपमेय का तादात्म्य रहता है, पर उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर उस तादात्म्य का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि अपह्नुति—'मुख नहीं, चन्द्र है'—में अपनी इच्छा से वक्ता उपमेय (मुख) के साथ-साथ [illegible] का निषेध ही कर देता है, भ्रान्तिमत्—'कमल समझकर भौंरे [illegible]' जिस दोष के कारण भ्रमरों को मुख में कमलकी भ्रान्ति होती है उस दोषसे ही उपमेयतावच्छेदक–मुखत्व–प्रतिबद्ध हो जाता है अर्थात् जब मुख को मुख समझा ही नहीं गया तब मुखत्व भासित हो ही नहीं सकता, अतिशयोक्ति—(मुख को देखकर) 'यह चन्द्र है'—में और निदर्शना—'यदि तू अमावस की रात में चन्द्र-दर्शनार्थ उत्सुक हो तो उसके मुख को देखो' में—साध्यवसाना लक्षणा हुई रहती है, फलतः उपमेय-मुख का भी बोध चन्द्रस्वरूप से ही होता है अतः उपमेयतावच्छेदक–मुखत्व–की प्रतीति असंभव ही है, इन्हीं चारों अलंकारों में रूपकालंकार के लक्षण की अतिप्रसक्ति को रोकने के लिए लक्षण में 'उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर' यह विशेषण जोड़ा गया है । 'मुख चन्द्र नहीं है' इस तरह के बाध का ज्ञान रहने पर भी 'मुझे मुख में चन्द्र का ज्ञान हो' इस तरह की इच्छा से जो 'यह मुखचन्द्र है' इस तरह का चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष निश्चय होता है वह आहार्य कहलाता है, इसी आहार्य-निश्चय के विषयीभूत मुखचन्द्र के तादात्म्य (एकरूपता) को रूपकालंकार की श्रेणी से बहिष्कृत करने के लिये लक्षण में 'शब्दात्' यह निश्चय का विशेषण लगाया गया है, इस विशेषण के द्वारा उक्त आहार्य निश्चय का वारण हो जाता है, क्योंकि वह निश्चय शब्द से नहीं अपितु चक्षु से हुआ है । 'मुख मानो चन्द्र है' यह वस्तूत्प्रेक्षा संभावनारूप है निश्चयरूप नहीं, इसी का वारण करने के लिये लक्षण में 'निश्चीयमान–निश्चित की जाने वाली' यह विशेषण कहा गया है । उपमानोपमेयभाव सादृश्यव्याप्य पदार्थ है—अर्थात् जहाँ उपमानोपमेयभाव रहता है वहाँ सादृश्य अवश्य रहता है—ऐसी दशा में 'उपमान' और 'उपमेय' ये दोनों पद जो लक्षण में आए हैं उनसे सादृश्य का लाभ होता है अर्थात् सादृश्यमूलक 'एकरूपता'—'तादात्म्य'—को ही रूपक समझा जाता है,—अतः इस विशेषण से 'मनोरम रमणी मुख है' इस निश्चय में आने वाले रमणी और मुख के तादात्म्य का वारण होता है—यह तादात्म्य रूपक नहीं कहलाता, क्योंकि यह तादात्म्य सादृश्यमूलक नहीं है अपितु शुद्ध आरोपमूलक है । यदि कोई कहे कि शुद्ध आरोपमूलक तादात्म्य का वारण क्यों किया जाता है ? उसको भी रूपक क्यों नहीं मान लिया जाता ? तो इसका समाधान यह है कि सादृश्यमूलक एकरूपता (तादात्म्य) को ही सब लोग रूपक मानते हैं अन्यमूलक एकरूपता को नहीं ।

सादृश्यमूलकतादात्म्यस्यैव रूपकत्वे प्रमाणं दर्शयितुं प्राचीनोक्तिमुद्धरति—

तथा चाहुः—

'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।'

'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ।' इति ।

आहुरिति। मम्मटभट्टादय इत्यर्थः। अत्रार्धं मम्मटीयम्। अर्धं च दण्डिनः। तथा च भिन्नं लक्षणद्वयमिदम्। उपमानोपमेययोर्योऽभेदः (भेदाघटितोऽभेदस्तादात्म्यमिति यावत्) तत् (उद्देश्यविधेययोरैक्यमापादयत्सर्वनामपर्यायेणान्यतरलिङ्गभाग् भवतीति नियमेन विधेयरूपकगतनपुंसकलिङ्गनिर्देशः) रूपकम् इति मम्मटीयलक्षणार्थः। तिरोभूतः अविवक्षितः इति यावत्, भेदो भेदांशः, यस्यास्तादृशी उपमैव रूपकं कथ्यत इति दण्डिकृतलक्षणार्थः। उपमायां भेदाभेदघटितं सादृश्यं भासते, रूपके तु शुद्धाभेदघटितमेव सादृश्यं भासत इति परमार्थः। आभ्यां लक्षणाभ्यां सादृश्यमूलकस्यैव तादात्म्यस्य रूपकत्वं प्रमाणितं भवतीति भावः।

सादृश्यमूलक एकरूपता ही रूपक कहलाता है इस बात को प्रमाणित करने के लिये प्राचीनोक्तियों का उद्धरण देते हैं—तथा च इत्यादि। 'उपमान तथा उपमेय का जो अभेद (तादात्म्य-एकरूपता) वही रूपक है।' यह रूपक का लक्षण मम्मटभट्ट ने किया है। और 'भेद अंश को तिरोहित कर देने पर—छिपा देने पर—उपमा ही रूपक कहलाता है।' यह रूपक का लक्षण दण्डी ने किया है जिसका अभिप्राय यह है कि उपमा में भेद तथा अभेद दोनों से मिश्रित सादृश्य भासित होता है और उनमें से यदि भेद अंश को तिरोहित कर दिया जाय—अर्थात् केवल शुद्ध तादात्म्य को ही भासित किया जाय तब वही रूपक हो जाता है। इन दोनों ही लक्षणों से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि सादृश्यमूलक तादात्म्य को ही रूपक मानने की परम्परा आलङ्कारिकों में बहुत पुरानी है।

रूपके तादात्म्यस्य भानं केन रूपेण भवतीति विवेचयितुमाह—

तच्च यत्र विषयविषयिणोरेकविभक्त्यन्तत्वेन निर्देशस्तत्र संसर्गः, अन्यत्र तु शाब्दार्थतया क्वचिद् विशेषणं विशेष्यं चेति विवेचयिष्यते।

तच्चेति। उक्तरूपतादात्म्यं चेत्यर्थः। संसर्ग इति। अपदार्थत्वादिति भावः। अन्यत्रेति। भिन्नविभक्त्यन्तत्वेन विषयविषयिणोर्निर्देशस्थल इत्यर्थः। विनिगमकाभावादाह—क्वचिदिति। विवेचयिष्यत इति। उदाहरणनिरूपणप्रसङ्ग इति भावः। यत्रारोपः स—उपमेय इति यावत्—विषयः, यस्यारोपः स—उपमानपदार्थ इति यावत्—विषयी। एवञ्चोपमेयोपमानयोर्यत्र समानविभक्त्यन्तत्वेन निर्देशस्तत्र ('मुखं चन्द्रः' इत्यादौ) तादात्म्यं न तस्यापि पदार्थ इति संसर्गतया भासते, विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा पदार्थस्यैव भानं भवतीति नियमात्। यत्र पुनस्तयोर्भिन्नविभक्त्यन्तत्वेन निर्देशस्तत्र कुत्रचित् ('मुखं चन्द्रत्वं प्राप्नोति' इत्यादौ) लक्षणया चन्द्रत्वपदस्यैवार्थस्तादात्म्यम् इति तत् द्वितीयार्थे कर्मणि विशेषणतया भासते, कुत्रचिच्च ('मुखे चन्द्रत्वम्' इत्यादौ) चन्द्रत्वपदस्य लक्षणोऽर्थश्चन्द्रतादात्म्यं विशेष्यतया भासत इति भावः।

उक्त 'रूपक-तादात्म्य' का भान किस रूप से होता है इस बात का विवेचन करने के लिये कहा जाता है—तच्च इत्यादि। अभिप्राय है कि—काव्यों में रूपक (अभेद अथवा तादात्म्य) का भान तीन प्रकार से होता है—कहीं सम्बन्धरूपसे, कहीं विशेषणरूप से और कहीं विशेष्यरूप से। जहाँ विषय और विषयी (जिसमें आरोप किया जाता है वह उपमेय-मुखादि विषय कहलाता है और जिसका आरोप किया जाता है वह उपमान-चन्द्र आदि विषयी कहलाता है, अतः विषय-विषयी का अर्थ उपमेय-उपमान समझना चाहिये) का निर्देश एक विभक्ति के साथ किया गया हो, वहाँ तादात्म्य का भान सम्बन्धरूप से होता है, क्योंकि वैसे स्थलों पर वह तादात्म्य

किसी पद का अर्थ नहीं होता और विशेषण अथवा विशेष्यरूप से उसी का भान होता है जो किसी पद का अर्थ होता है ऐसा नियम है। फलतः यह सिद्ध हुआ कि 'मुख चन्द्र है' इत्यादि स्थलों पर मुख-चन्द्र का तादात्म्य-रूपक-सम्बन्धरूप से भासित होता है, और जहाँ उपमेय-उपमान का निर्देश भिन्न-भिन्न विभक्ति के साथ किया गया हो वहाँ उसके पदार्थरूप हो जाने से दो बातें होती हैं—अर्थात् वैसी स्थिति में कहीं तो तादात्म्य विशेषणरूप से भासित होता है और कहीं विशेष्यरूप से। फलतः 'मुख चन्द्रभाव को प्राप्त करता है' यहाँ लक्षणा के कारण चन्द्रशब्द पद का अर्थ बना हुआ 'तादात्म्य' विशेषण होता है और 'मुख में चन्द्रता है' यहाँ 'चन्द्रता' पद का लक्ष्यार्थ चन्द्रतादात्म्य विशेष्यरूप से भासित होता है। इस बात का विशद विवेचन ग्रन्थकार इसी प्रकरण में आगे करेंगे।

रत्नाकरमतमनूद्य निरस्यति—

यत्तु 'सादृश्यप्रयुक्तः सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावान्भिन्नयोः सामानाधिकरण्यनिर्देशः स सर्वोऽपि रूपकम्। सारोपलक्षणामूलकत्वस्य तुल्यत्वेन सादृश्यप्रयुक्तस्य तादात्म्यस्येव सम्बन्धान्तरप्रयुक्तस्यापि तादात्म्यस्य संग्रहीतुमौचित्यात्, तस्मात् दुराग्रह एवायं प्राचाम्—उपमानोपमेययोरभेदो रूपकम्, न तु कार्यकारणयोः' इति रत्नाकरेणोक्तम्, तन्न। अपह्नुत्यादौ भिन्नयोः सामानाधिकरण्यस्य सत्त्वात्तत्रातिव्याप्तेः। किञ्च 'सादृश्यमूलकं स्मरणं स्मरणालङ्कारः, न तु चिन्तादिमूलम्' इति भवतैव पूर्वमुदितम्। तत्र यदि सादृश्यामूलकस्यापि कार्यकारणादिकयोः कल्पितस्य ताद्रूप्यस्य रूपकत्वमभ्युपेयते तदा सादृश्यामूलकस्य चिन्तादिमूलस्य स्मरणस्याप्यलङ्कारत्वमभ्युपेयताम्। न च स्मरणस्य भावत्वमुच्यमानं निर्विषयं स्यादिति वाच्यम्, तस्य व्यज्यमानविषयत्वेनोपपत्तेः।

भिन्नयोरिति। नतूपमानोपमेययोरित्यर्थः। रत्नाकरमतमेतत् रूपके उपमानोपमेययोरप्रवेशेऽपह्नुतौ सुतरां तदप्रवेशस्येष्टत्वात्। स्वमते तु तत्रापि तत्प्रवेश एवेत्यन्यदेतत्, निर्विषयमिति सर्वस्यैवालङ्कारत्वेन तदन्यत्वाभावादिति भावः। व्यज्यमानेति। व्यज्यमानस्मरणविषयत्वेनेत्यर्थः। 'सारोपलक्षणास्थले रूपकं भवतीति वस्तुस्थितिः। तथा च सारोपलक्षणा गौणी भवतु शुद्धा वा सर्वत्राविशेषेण रूपकमेषितव्यम्, अतः भिन्नयोः (सदृशयोः कार्यकारणयोर्वा) पदार्थयोः सादृश्यमूलकः सम्बन्धान्तरमूलको वा सर्वोऽपि—सामानाधिकरण्यनिर्देशः रूपकालंकारः, उपमानोपमेययोरेव स तथेति प्राचां दुराग्रहमात्रम्' इति रत्नाकरमतम् न युक्तम्, तन्मतेऽपह्नुत्यादावपि उपमानोपमेययोरप्रवेशस्यौचित्येन। 'न पद्मेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणां यतः। चन्दनं चन्द्रिका मन्दो गन्धवाहश्च दक्षिणः।' इत्यादौ तन्मतसिद्धापह्नुतौ अतिव्याप्तेः, भिन्नयोः सामानाधिकरण्यस्यात्र सत्त्वात्। अपि च सादृश्यामूलकस्यापि कार्यकारणयोस्तादात्म्यस्य रूपकत्वेऽङ्गीकृते 'सादृश्यमूलं स्मरणं स्मरणालङ्कारः' इति स्वोक्तिविरुद्धा स्यात्, रूपकस्येव स्मरणस्यापि सादृश्यामूलकस्य स्मरणालङ्कारत्वेन स्वीकर्तुमौचित्यात्। स्मरणस्य भावत्वं स्वीक्रियमाणं निर्लक्ष्यं भवेत्, मम तु मते न निर्लक्ष्यं भवति सादृश्यमूलकस्य स्मरणस्यालंकारत्वेऽपि चिन्तादिमूलकस्य तस्य भावत्वादिति तु न वक्तुं शक्यम्, वाच्यस्य सर्वस्यापि (सादृश्यमूलकस्य चिन्तादिमूलकस्य वा) स्मरणस्यालङ्कारत्वेऽपि व्यङ्ग्यस्मरणस्य भावलक्ष्यतासम्भवादिति भावः।

'रत्नाकर' के मत का अनुवाद करके खण्डन किया जाता है—यत्तु इत्यादि। 'रत्नाकर' ने कहा है कि—'सादृश्य के कारण अथवा अन्य किसी सम्बन्ध के कारण अर्थात् सभी

तरह के भिन्न-भिन्न दो पदार्थों के सामानाधिकरण्यनिर्देश (एकविभक्तियुक्तरूप में कथन) को रूपक कहना चाहिए। कारण, सारोपा लक्षणा जब दोनों (सादृश्यमूलक सामानाधिकरण्यनिर्देश अथवा अन्यसम्बन्धमूलक सामानाधिकरण्यनिर्देश) स्थानों पर समानरूप से रहती है, तब सादृश्यमूलक एकरूपता के समान अन्य (कार्यकारणभाव आदि) सम्बन्धमूलक एकरूपता का भी रूपककोटि में संग्रह करना उचित है। अतः प्राचीनों का यह कथन दुराग्रहमात्र है कि उपमान उपमेय का अभेद (एकरूपता) रूपक है, कार्यकारण का अभेद नहीं।' परन्तु 'रत्नाकर' का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि एक तो आप के हिसाब से जब रूपक में उपमानोपमेय का निवेश नहीं किया जाना चाहिए तब अपह्नुति आदि में भी उसका निवेश न करना ही उचित होगा, अतः वहाँ (अपह्नुति आदि में) इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण यह कि दो भिन्न पदार्थों का सामानाधिकरण्य वहाँ भी रहेगा। दूसरे, आपने ही पहले कहा है कि—'सादृश्यमूलक स्मरण स्मरणालंकार कहलाता है, चिन्तादिमूलक नहीं।' अब सोचने की बात यह है कि—जब आप सादृश्य से भिन्न कार्यकारण आदि सम्बन्धमूलक तादात्म्य को भी रूपक मानते हैं, तब चिन्तादिमूलक स्मरण की भी स्मरणालंकारता आप को मान्य होनी चाहिए, अर्थात् जब सादृश्यामूलक तादात्म्य को आप रूपक मान ही लेते हैं, तब सादृश्यमूलक स्मरण को ही स्मरणालंकार मानने का आग्रह क्यों? फलतः आप की उक्ति परस्पर विरुद्ध हो जाती है। आप कहेंगे—सादृश्यमूलक स्मरण को ही स्मरणालंकार हम इसलिये मानते हैं—कि चिन्तादिमूलक स्मरण भाव कहलावे, यदि सभी (सादृश्यमूलक तथा चिन्तादिमूलक दोनों प्रकार के) स्मरणों को अलंकार ही मान लेंगे तब जो सभी आलंकारिक स्मरण को भाव भी मानते हैं वह असंगत हो जायगा, किन्तु यह युक्ति भी आप की समीचीन नहीं, क्योंकि सभी (सादृश्यमूलक तथा चिन्तादिमूलक दोनों तरह के) स्मरणों को वाच्यतादशा में अलंकार मान लेने पर भी व्यङ्ग्यतादशा में स्मरण का भाव कहलाना चरितार्थ है।

खण्डनार्थं दीक्षितमतमनुवदति—

अप्पयदीक्षितास्तु—

"—'बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा॥'

अत्र बिम्बाविशिष्ट इति विषयविशेषणात्।

'त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः॥'

इति निदर्शनाया निरासः। तत्र विषयस्य मार्जनस्यालक्तकादिरूपबिम्बविशिष्टत्वात्। निर्दिष्ट इति विशेषणान्निगीर्णविषयायाम् 'कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्' इत्याद्यतिशयोक्तौ नातिव्याप्तिः। अनिह्नुते निषेधास्पृष्ट इति विशेषणादपह्नुतौ नातिव्याप्तिः। उपरञ्जकतामाहार्यताद्रूप्यनिश्चयगोचरतामेतीत्यनेन सन्देहोत्प्रेक्षासमासोक्तिपरिणामभ्रान्तिमत्स्वतिव्याप्तिनिरासः। ससन्देहोत्प्रेक्षयोर्निश्चयस्यैवाभावात्। समासोक्तिपरिणामयोर्विषयिताद्रूप्यस्यागोचरत्वात्, समासोक्तौ व्यवहारमात्रसमारोपात्। परिणामे चारोप्यमाणस्यैव विषयताद्रूप्यगोचरत्वात्। भ्रान्तिमति च सतः कल्पितस्य वा प्रवृत्त्यादिपर्यन्तिकस्यारसिकभ्रमस्यैव निबन्धनेन तस्यानाहार्यत्वात्।"

इत्याहुः।

दीक्षितास्तु इति । अस्य दूरस्थेन 'आहुः' इत्यनेनान्वयः । बिम्बाविशिष्टे इति । चित्रमीमांसास्थम् । अप्पयदीक्षितकृतम् रूपकलक्षणमिदम् । बिम्बाविशिष्टे बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नविशेषणरहिते, अनिह्नुते अतिरोहिते, निषेधास्पृष्टे इति यावत्, निर्दिष्टे शब्दिते शब्देनाभिहिते इति यावत्, विषये उपमेये, विषयी उपमानम्, यदि, उपरञ्जकताम् आहार्यताद्रूप्यनिश्चयगोचरताम्, एति प्राप्नोति, तदा रूपकम् इत्यर्थः । प्रथमविशेषणफलमाह—अत्रेति त्वत्पादेति । त्वत्पादनखरत्नानाम् त्वच्चरणगतनखरूपाणां रत्नानाम् (अत्र रूपकालङ्कारः) यत् अलक्तकमार्जनम् अलक्तककरणकरञ्जनम्, इदम् उक्ताकारं मार्जनम्, श्रीखण्डलेपेन मलयजरससंपर्केण, विधोः चन्द्रमसः, पाण्डुरीकरणम् धावल्यप्रापणम् इत्यर्थः । अत्र 'त्वत्पादनखानामलक्तकमार्जनम् श्रीखण्डलेपेन विधोः पाण्डुरीकरणवत्' इति वाक्यार्थप्रतीतेर्वाक्यार्थनिदर्शनेति भावः । उपपादयति—तत्रेति । इदमत्र विशदीकरणम्—यथा चन्द्रः स्वतः शुभ्रत्वादनासञ्जनीयधावल्यस्तथा नखाः स्वतोऽरुणत्वादनासञ्जनीयारुण्या इति सादृश्येन नखानां चन्द्रस्य च बिम्बप्रतिबिम्बभावः अलक्तकचन्दनयोरन्यत्र स्ववर्णासञ्जकत्वेन बिम्बप्रतिबिम्बभावः । तथा च बिम्बभावापन्ननखालक्तकविशिष्ट एव मार्जनरूप उपमेये तत्प्रतिबिम्बभूतचन्द्रचन्दनविशिष्टं पाण्डुरीकरणरूपमुपमानमुपरञ्जकमिति भवत्यस्या निदर्शनाया बिम्बाविशिष्ट इति विषयविशेषणान्निरासः । द्वितीयविशेषणफलमाह—निर्दिष्ट इति । कमलामिति । अनम्भसि जलभिन्नप्रदेशे नायिकायामिति भावः, कमलम् कमलत्वेनाध्यवसितम् मुखम् च पुनः, कमले मुखे इति परमार्थः, कुवलये नीलकमलयुगलम्, नयनद्वयीति सारांशः, तानि कमलकुवलयानि, कनकलतिकायाम् कनकलतात्वेनाध्यवसितायां गौरवर्णतनुकायनायिकायामित्यर्थः । सर्वत्र यथायोग्यं क्रियापदमस्त्यादिकमध्याहार्यम् । अत्र विषयिभिः उपमानैः (कमलकुवलयकनकलतारूपैः) विषयाणाम् उपमेयानाम् (मुखनयननायिकाकाययष्टीनाम्) निगरणात् अतिशयोक्तिः, तस्याश्च प्रकृतलक्षणघटकेन 'निर्दिष्टे' इति विषयविशेषणेन व्यावृत्तिः, विषयस्यानिर्दिष्टत्वादिति भावः । [illegible] । निषेधास्पृष्ट इति तदृशाख्या 'नेदं मुखं चन्द्रः' [illegible] तन्निरासस्तद्विशेषणादिति भावः । उपरञ्जकतामित्यस्य व्याख्यापुरस्सरं फलमाह—उपरञ्जकेति । उपमेये उपमानतादात्म्यं यद्याहार्यनिश्चयविषयीभूतं स्यादिति समुदितार्थः । निरासे हेतुमाह—ससन्देह इत्यादिना । अगोचरत्वे क्रमेण हेतू आह—समारोपादित्यादिना । तस्य तादात्म्यनिश्चयस्य । अयमाशयः—ससन्देहे सन्देहस्यैव उत्प्रेक्षायां सम्भावनाया एव च प्रतीतेर्निश्चयो नास्त्येव प्रतीतिगोचरः । समासोक्तौ व्यवहारमात्रारोपेण ताद्रूप्यस्याप्रतीतिरेव । परिणामे उपमेयताद्रूप्यमेवोपमाने प्रतीयते नोपमानताद्रूप्यमुपमेये । भ्रान्तिमति च आदितोऽन्तपर्यन्तम् भ्रमात्मकनिश्चयोऽबाधित एव तिष्ठति अत एव भ्रमत्वादिरुपपद्यते, एवञ्च स निश्चयोऽनाहार्य एवाबाधितत्वात् । तथा चैषु सर्वेष्वलङ्कारेषु आहार्यनिश्चयगोचरमुपमेये उपमानतादात्म्यं नास्तीति तदर्थकेन 'उपरञ्जकतामेति' इति विशेषणेन तेषामलङ्काराणां निरासः कृतो भवतीति ।

खण्डन करने के लिये पहले अप्पय दीक्षित के मत का अनुवाद किया जाता है—अप्पयदीक्षितास्तु इत्यादि । अप्पय दीक्षित कहते हैं कि—"—'बिम्ब अर्थात् ऐसे विशेषण जिनके प्रतिबिम्बरूप विशेषण आगे कहे गये हों—से रहित, अनपह्नुत अर्थात् न छिपाए गए—अनिषिद्ध, और निर्दिष्ट (अर्थात् विषयिबोधक पद से भिन्न पद द्वारा बोधित)

विषय (उपमेय) में विषयी (उपमान) यदि उपरञ्जकता को प्राप्त करे अर्थात् अपना आहार्य (ताद्रूप्य) निश्चय करावे, तब उस आहार्य को 'रूपक' कहते हैं।' यहाँ बिम्ब से रहित यह जो उपमेय का विशेषण दिया गया है उससे 'त्वत्पाद—अर्थात् रक्तरूप आपके चरणनखों का जो महावर से साफ करना (रँगना) है यह चन्दन के लेप से चन्द्र का स्वच्छ बनाना है।' इस निदर्शना में रूपक-लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण होता है क्योंकि यहाँ 'साफ करना' रूप उपमेय 'महावर' आदि बिम्ब से युक्त है। स्पष्ट अभिप्राय यह है कि—'जैसे चन्द्र स्वतः धवल होने के कारण किसी अन्य वस्तु से धवल बनाने योग्य नहीं होता वैसे आपके चरणनख भी स्वतः अरुण होने के कारण किसी दूसरे से अरुण बनाने योग्य नहीं हैं' इस तरह के सादृश्य के कारण नख और चन्द्र में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है—अर्थात् नख बिम्बरूप हैं और चन्द्र प्रतिबिम्बरूप। इसी तरह 'जैसे महावर दूसरे में अपने वर्ण (लाली) को पहुँचाने वाला है वैसे चन्दन भी दूसरे में अपने वर्ण (उजलापन) को पहुँचाने वाला है' इस तरह के सादृश्य के कारण महावर और चन्दन में भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव है—अर्थात् महावर बिम्ब और चन्दन प्रतिबिम्बरूप है। अतः यहाँ का उपमेय (साफ करना) नख तथा महावररूप बिम्बभूत विशेषणों से युक्त है अतएव इसका 'बिम्बरहित' विशेषण से वारण हो जाता है। 'भिन्न शब्द के द्वारा बोधित' विशेषण से जिसमें उपमान के द्वारा ही उपमेय का ग्रहण होता है, पृथक् नहीं, उस 'कमलमनम्भसि'.....अर्थात् जलभिन्न देश में कमल (वस्तुतः मुख) है, कमल में दो नीलकमल (वस्तुतः दो नयन) हैं और वे सब (एक कमल और दो नीलकमल) एक सुवर्णलता (वस्तुतः गौरवर्णा पतली छरहरी सुन्दरी) में हैं।' इत्यादि अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति नहीं होती। तात्पर्य यह कि इस अतिशयोक्ति में कमल, नीलकमल और सुवर्ण-लतारूप उपमानों से क्रमशः मुख, नयनयुगल और सुन्दरीरूप उपमेयों का निगरण हो गया है—उनसे पृथक् इनका निर्देश नहीं है अतः उक्त विशेषण से इसकी व्यावृत्ति सिद्ध होती है। 'नहीं छिपाए गये' का अर्थ है जिसमें निषेध का स्पर्श नहीं हो, इस विशेषण से 'अपह्नुति' में अतिव्याप्ति नहीं होती—अर्थात् अपह्नुति में 'यह मुख नहीं चन्द्र है' इस प्रकार से उपमेय का निषेध किया गया रहता है, अतः इसका वारण उक्त विशेषण से हो जाता है। 'उपरञ्जकता को प्राप्त करे' इसका अभिप्राय है आहार्य (बाधकालिक इच्छाजन्य) स्वकीय ताद्रूप्य निश्चय का विषय होना। इस विशेषण से ससन्देह, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, परिणाम और भ्रान्तिमान् इन अलंकारों में रूपकलक्षण की अतिव्याप्ति वारित होती है। कारण, ससन्देह संशयरूप होता है और उत्प्रेक्षा संभावनारूप होती है, अतः इन दोनों में किसी तरह का निश्चय होता ही नहीं, समासोक्ति में केवल उपमान के व्यवहार का आरोप होता है उपमान का नहीं, परिणाम में आरोप्य के ताद्रूप्य का ही निश्चय उपमान में होता है, उपमान के ताद्रूप्य का निश्चय उपमेय में नहीं, और भ्रान्तिमान् में आदि से अन्त तक भ्रमात्मक, पर अनाहार्य—अबाधित—ही निश्चय रहता है, अतएव प्रवृत्ति आदि बन पड़ते हैं, फलतः इन सभी अलंकारों में उपमान के ताद्रूप्य का उपमेय में आहार्य निश्चय नहीं ही रहा, अतः उक्त विशेषण से इनकी निवृत्ति होती है। फलतः यह लक्षण सर्वथा निर्दुष्ट है।"

अधुना दीक्षितमतखण्डनप्रसङ्गे तावत् प्रथमविशेषणव्यावर्त्यं खण्डयति—

तत्र। 'त्वत्पादनखरत्नानाम्' इत्यादि निदर्शनाव्यावृत्त्यर्थं बिम्बाविशिष्टत्वं विषयविशेषणं तावदयुक्तमेव। यद्यत्र 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि रूपकान्तर इव सत्यपि श्रौतारोपे नेदं रूपकम्, अपि तु निदर्शनेत्युच्यते, तदा 'मुखं चन्द्रः' इत्यपि निदर्शनेत्युच्यताम्। निरस्यतां च रूपकदाक्षिण्यकौपीनम्। किं च 'त्वत्पाद'–इत्यत्र किं पदार्थनिदर्शना, आहोस्विद्वाक्यार्थनिदर्शना? नाद्यः।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नपदार्थघटितविशिष्टार्थयोरेवात्राभेदप्रतीतेः। कुवलयानन्दगतनिदर्शनाप्रकरणे त्वयोक्तमार्गेण धर्म्यन्तरे पदार्थे तद्वृत्तिधर्मस्य पदार्थस्य भेदेनारोपस्याभावाच्च। न द्वितीयः। वाक्यार्थरूपकोच्छित्त्यापत्तेः। इष्टापत्तौ वैपरीत्यस्य सुवचत्वाच्च। अस्माभिर्निदर्शनाप्रकरणे वक्ष्यमाणया सरण्या अभेदस्य श्रौतत्वार्थत्वाभ्यामुद्देश्यविधेयभावालिङ्गनानालिङ्गनाभ्यां च रूपकनिदर्शनयोर्वैलक्षण्येन सकलव्यवस्थोपपत्तेः। तस्मादत्र वाक्यार्थरूपकमेव, न वाक्यार्थनिदर्शना। तस्याश्चैवमुदाहरणं निर्मातव्यम्—

'त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति यावकैः।
इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि सः॥'

अत्र कर्त्रोरभेदस्य शाब्दत्वेऽपि क्रिययोरभेदस्याशाब्दत्वात्तस्यैव च समग्रभरसहिष्णुत्वान्निदर्शनैव। ननु यदीदमुदाहरणं निदर्शनायां न स्यात्तदा कथमलङ्कारसर्वस्वकृता तत्प्रकरण उदाहृतमिति चेत्, भ्रान्तेनैव प्रतारितोऽसि। नहि प्रामाणिकेन भवता कदापि परेणानुक्तं किञ्चिदुच्यते। यदपि रूपके बिम्बप्रतिबिम्बभावो नास्तीत्युक्तं तदपि भ्रान्त्यैव। तथा च सर्वस्वटीकायां विमर्शिन्यामुदाहृतं बिम्बप्रतिबिम्बभावेन रूपकम्—

'कन्दर्पद्विपकर्णकम्बुमलिनैर्दानाम्बुभिर्लाञ्छितं
संलग्नाञ्जनपुञ्जकालिमकलं गण्डोपधानं रतेः।
व्योमानोकहपुष्पगुच्छमलिभिः सञ्छाद्यमानोदरं
पश्यैतच्छशिनः सुधासहचरं बिम्बं कलङ्काङ्कितम्॥'

अत्र कलङ्कस्य दानाम्ब्वादिभिः प्रतिबिम्बनम्, लाञ्छितत्वाङ्कितत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वमित्युक्तं चेदास्तां तावत्।

दर्शितेति। आयुक्तं दीक्षितमतं युक्तं नेत्यर्थः। अयुक्तत्वहेतुगर्भम् तन्मतानुवादपूर्वकं स्वाभिप्रायं प्रकटयति—त्वत्पाद इत्यादिना। रूपकान्तरे अन्यस्मिन् रूपके। रूपकमध्ये इति भट्टमहोदयकृता टिप्पणिस्तु शोच्यैव। रूपकदाक्षिण्यकौपीनमिति। एतच्च 'रूपकमुखसंकोचरूपकौपीनम् इत्यर्थः। निर्लज्जत्वादिति भावः।' इत्येवं व्याचष्टे नागेशः। 'रूपकमुखसङ्कोचेत्यादि नागेशाक्षरस्वारस्यं तु नागेश एव विजानीयात्' इतीत्थं नागेशव्याख्यां निराचक्षाणो भट्टमहोदयः 'रूपकालङ्कारेऽपि परिज्ञानदाक्षिण्यमस्ति इति विवृत्य रूपक निर्लज्जतानिवारकमवगुण्ठनं सम्प्रति निरस्यताम्, एवंविधस्थले रूपकमनङ्गीकृत्य प्रसह्य निर्लज्जताप्रकटनादित्याशयः' इत्येवं विवृणोति। 'रूपकमर्यादारक्षणार्थं धृतं कौपीनं [illegible] (लंगोटीति प्रसिद्धम्) त्यज्यताम्' इति हिन्दीरसगङ्गाधरकारश्चतुर्वेदमहोदयोऽनुवदति। गुह्यं पुरुषलिङ्गं, कौपीनम्. तदावरकत्वाद्वस्त्रखण्डमपि कौपीनम्। तथा च रूपके यद्दाक्षिण्यम् = रूपकालङ्कारविषयकनैपुण्यं तदात्मकं यत् कौपीनम् = रूपकविषयकाज्ञानावरकम् तत् निरस्यताम् त्यज्यताम्, 'त्वत्पाद—' इत्यत्र रूपकानुक्तत्वस्य रूपकविषयकाज्ञानप्रकटने जाते तदावरकधारणस्य वृथात्वादित्याशय इति त्वहं मन्ये। उपमेये शाब्दोपमानताद्रूप्यारोपे रूपकम् इति वस्तुस्थितिः। तथा च 'त्वत्पाद—' इत्यत्र मार्जनके उपमेये पाण्डुरीकरणरूपोपमानताद्रूप्यस्य शब्दत आरोप्यमाणतया रूपकत्वमेवोचितं न निदर्शनेति भावः। पुनरन्यथा तत्र निदर्शनात्वं खण्डयति—क्रिययोरिति। बिम्बप्रतिबिम्बेति। बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्ना ये पदार्थाः नखालक्तकचन्द्रचन्दनरूपाः, तद्घटितयोः = तद्द्वारा निर्मितयोः

विशिष्टार्थयोः = नखकर्मकालक्तककरणकमार्जन-श्रीखण्डलेपकरणकविधुकर्मकपाण्डुरीकरणयो-रित्यर्थः । अभेदप्रतीतेरिति । तथा च 'विशिष्टयोः (बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नविशेषण-विशिष्टयोः) धर्मयोरैक्यारोपो वाक्यार्थनिदर्शना' इति त्वदुक्तलक्षणसङ्गत्या वाक्यार्थ-निदर्शनात्वमुचितमिति भावः । त्वदुक्तपदार्थनिदर्शनालक्षणमपि नात्र सङ्गच्छत इत्याह कुवलयेति । धर्म्यन्तरे इति । पदस्य न तु वाक्यस्य अर्थभूते अन्यस्मिन् धर्मिणि = उप-माने उपमेये वा पदार्थभूतस्य तदवर्तिनो धर्मस्य = उपमानगतस्य उपमेयगतस्य वा इत्यर्थः । भेदेनेति । भिन्नवाक्यगतत्वेनेत्यर्थः । अभावाच्चेति । 'उपमानोपमेययोरन्यतर-स्मिन् अन्यधर्मारोपः पदार्थनिदर्शना' इति त्वदुक्तलक्षणार्थस्य विरहादिति भावः । वाक्यार्थनिदर्शनात्वमेव तर्हि अस्तु, नेत्याह—न द्वितीय इति । तत्र हेतुमाह—वाक्यार्थ-रूपेति । वाक्यार्थरूपकं तर्हि उच्छिन्नं स्यादिति भावः । इष्टापत्तिरपि न शक्या कर्तु-मित्याह—इष्टापत्ताविति । वैपरीत्यस्येति । वाक्यार्थनिदर्शनोच्छित्तेरित्यर्थः । सुवच-त्वादिति । वाक्यार्थनिदर्शनैवोच्छिन्ना भवत्वित्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वादिति भावः । स्वमते तु न कस्याप्युच्छेद इत्याह—अस्माभिरिति । व्यवस्थोपपत्तेरिति । "श्रौतः—शाब्दः, अभेदः, उद्देश्यविधेयभावालिङ्गनं च यत्र भवेत् तत्र रूपकम् । यथा-'मुखं चन्द्रः' इत्यादौ मुखचन्द्रयोः शाब्दोऽभेद उद्देश्यविधेयभावश्च स्फुटः । यत्र पुनरार्थः—अर्थबलगम्यः—अभेदः, उद्देश्यविधेयभावानालिङ्गनं च तत्र निदर्शना । यथा-'यो यावकैर्नखान् रञ्ज-यति स चन्दनेनेन्दुं पाण्डुरीकुरुते' इत्यादौ रञ्जनपाण्डुरीकरणयोरार्थोऽभेदः शब्दस्य भिन्नत्वात्, उद्देश्यविधेयभावाभावश्च ।" इति व्यवस्थासम्पत्तेरिति भावः । पर्यव-सितमाह—तस्मादिति । अत्रेति । 'त्वत्पाद—' इति त्वदुक्ते प्रत्युदाहरण इत्यर्थः । ननु तर्हि निदर्शनायाः किमुदाहरणमत आह-तस्या इति । वाक्यार्थनिदर्शनाया इति तदर्थः । यावकैः अलक्तकरसैः । अर्थस्तु अभेदश्च, केवलं तात्पर्ये भेदः, स चोपपादने स्फुट एव । उपपादयति—अत्रेति । कर्त्रोरिति । 'यः' 'सः' इति निर्दिष्टयोरित्यर्थः । क्रिययो-रिति रञ्जनपाण्डुरीकरणयोरित्यर्थः । ननु कर्त्रोरभेदमादाय वाक्यार्थरूपकमेवास्त्वित्यत आह—तस्यैव नेति । क्रिययोरभेदस्यैव चेत्यर्थः । समर्थेति । मुख्यचमत्काराधायकत्वादिति भावः । दीक्षितमतमुपवर्ण्यमाशङ्कते—नन्विति । इदं दीक्षितोक्तम् । भ्रान्तेनैवेति । अशङ्कता सर्वालङ्कारोऽपि भवानिव भ्रान्त एवेति भावः । अत्र 'भ्रान्त्यैवेति मुख्यपाठः' इति नागेशः । 'भ्रान्तेनैव' इति काशीमुद्रितपुस्तकपाठः । किञ्चिदुच्यते इति । तथा च परकीयकथानुवादको भवान् स्वयमज्ञ एवेति कष्टतरोऽसत्यश्च दीक्षिते पण्डितराजस्याक्षेपोऽयमिति भावः । 'बिम्बाविशिष्टे' इति विशेषणफलितम् रूपके बिम्बप्रतिबिम्बभावास्वीकारं दीक्षितकृतं खण्ड-यितुमाह—यदपीति । कन्दर्पेति । चन्द्रोदयवर्णनमिदम् । नायको नायिकां प्रत्याचष्टे—मलिनैः, धाराम्बुभिः मदजलैः, लाञ्छितं चिह्नितम्, कन्दर्पद्विपकर्णकम्बुकामदेववाहनाभूत-गजश्रवणाभरणात्मकशङ्खरूपम्, संलग्नस्य संसक्तस्य, अञ्जनपुञ्जस्य, कालिम्ना श्यामलत्वेन, कलं रमणीयम् नयनगताञ्जनमलिनमिति यावत्, रतेः कामपत्न्याः, गण्डोपधानं कपोल-तल्पविन्यसनीयलघूपबर्हः (गल्तकिया इति प्रसिद्धः) तद्रूपम्, तथा, अलिभिः भ्रमरैः, संच्छाद्यमानं आव्रियमाणम्, उदरम् मध्यभागो यस्य तत्, भ्रमराच्छन्नमध्यमिति यावत्, व्योम्नः आकाशस्य, ये अनोकहाः वृक्षाः, तेषां पुष्पाणाम्, गुच्छं स्तबकम्, भ्रमरभर-मलिनमध्याविततरुकुसुमस्तबकस्वरूपमिति यावत्, सुधासहचरं सुधासदृशम् धवलतममिति यावत्, पुनः, कलङ्काङ्कितं मध्यभागस्थितकालिमेति यावत्, एतत् प्रत्यक्षभूतम्, शशिनः

चन्द्रस्य, बिम्बं मण्डलम् , पश्य अवलोकय इत्यर्थः । बिम्बप्रतिबिम्बभावविशिष्टरूपकत्वमुपपादयति—अत्रेति । कन्दर्पेति पद्ये शशिबिम्बरूपोपमेये क्रमशः कम्बुगण्डोपधानपुष्पगुच्छरूपोपमानानां ताद्रूप्यस्य शब्दत आरोपाद्रूपकम्, तच्च बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नविशेषणविशिष्टोपमानोपमेयनिरूपितम् , उपमेयधर्मकलङ्कस्योपमानधर्मैः दानाम्बुकज्जलभ्रमरैः सह बिम्बप्रतिबिम्बभावात् । तथा च 'रूपके बिम्बप्रतिबिम्बभावो न भवति' इति दीक्षिताशयो निरस्त इति भावः । शुद्धसामान्येति । लाञ्छितत्वाङ्कितत्वयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावो नास्तीति भावः । अत्र 'अनयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नत्वादिदं चिन्त्यम् ।' इति नागेशः । वस्तुतस्तु नात्र किमपि चिन्ताबीजम्, भवत्वत्र वस्तुप्रतिवस्तुभावः, बिम्बप्रतिबिम्बभावो नास्तीत्येतावन्मात्रे ग्रन्थकर्तुस्तात्पर्यात् । केचित्तु 'शुद्धसामान्यरूपत्वम्' इत्यस्यैव शुद्धवस्तुप्रतिवस्तुभावोऽर्थ इत्याहुः ।

उक्त दीक्षित मत का खण्डन करने के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम तदभिमत प्रथम विशेषणफल का खण्डन करते हैं—तन्न इत्यादि । पूर्वप्रतिपादित दीक्षित का मत ठीक नहीं है । कारण, सर्वप्रथम उन्होंने 'स्वत्पाद—' इत्यादि निदर्शना के वारणार्थ उपमेय में 'बिम्बरहित' विशेषण जोड़ने की जो बात कही है वह अयुक्त है, क्योंकि जैसे 'मुख चन्द्र है' इत्यादि अन्य रूपकों में शब्दतः अभेदारोप (उपमान उपमेय का आरोपित ताद्रूप्य) रहता है वैसे यहाँ ('स्वत्पाद—' इस पद्य में) भी है—अर्थात् यहाँ भी 'साफ करना'रूप उपमेय और 'पाण्डुरीकरण'रूप उपमान का ताद्रूप्य शब्दतः प्रतीत होता है, अतः यहाँ रूपक ही है निदर्शना नहीं । यदि ऐसी स्थिति में भी यहाँ रूपक न मानकर निदर्शना मानी जाय तब 'मुख चन्द्र है' यहाँ भी निदर्शना ही मान लीजिए, रूपकाभिज्ञता का आवरण जो ओढ़े हुए हैं उसको हटा दीजिए । तात्पर्य यह कि 'स्वत्पाद—' इस पद्य में 'रूपक' न कहकर 'निदर्शना' कह देने के कारण जब आपका रूपकविषयक अज्ञान लोगों के समक्ष प्रकट हो ही गया तब व्यर्थ रूपकज्ञता की चादर ओढ़े रहने से क्या लाभ ? यदि आपके कथनानुसार 'स्वत्पाद—' इस पद्य में निदर्शना ही है, तो कौन-सी निदर्शना है—पदार्थनिदर्शना अथवा वाक्यार्थनिदर्शना ? यदि आप पदार्थनिदर्शना कहें तो यह सम्भव नहीं, क्योंकि यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न पदार्थों से बने दो पूरे वाक्यार्थों का ही परस्पर अभेद प्रतीत होता है, अतः 'विशिष्टयोर्धर्मयोरैक्यारोपो वाक्यार्थनिदर्शना अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न विशेषणों से युक्त दो धर्मों में जो एकरूपता का आरोप किया जाता है वह वाक्यार्थनिदर्शना है' इस कुवलयानन्दोक्त आपके लक्षण के अनुसार वाक्यार्थनिदर्शना होनी चाहिए, 'उपमान का धर्म उपमेय में अथवा उपमेय का धर्म उपमान में यदि आरोपित हो तब उसे पदार्थनिदर्शना कहते हैं' (उपमानोपमेययोरन्यतरस्मिन् अन्यतरधर्मारोपः पदार्थनिदर्शना) यह कुवलयानन्दोक्त आपका पदार्थनिदर्शनालक्षण यहाँ सङ्गत भी नहीं होता, क्योंकि यहाँ एक का धर्म दूसरे में आरोपित नहीं है अपितु दो धर्मियों का ही अभेद आरोपित है और वे धर्मी भी पदार्थरूप नहीं हैं अपितु वाक्यार्थरूप हैं ! यदि आप कहें कि पदार्थनिदर्शना न सही, वाक्यार्थनिदर्शना तो हो सकती है—उसका लक्षण तो सङ्गत होता है, बस, यही मेरा भी अभिप्राय है अर्थात् मैं यहाँ वाक्यार्थनिदर्शना ही मानता हूँ, तो यह भी मानने योग्य बात नहीं, क्योंकि यदि यहाँ वाक्यार्थनिदर्शना मान ली जायगी तब वाक्यार्थरूपक का उच्छेद हो जायगा—उसका लक्ष्य कहीं मिलेगा ही नहीं । अभिप्राय यह कि ऐसे ही स्थलों पर वाक्यार्थरूपक होता है और आप यहाँ वाक्यार्थनिदर्शना मानते हैं फिर उसका लक्ष्य मिलना असम्भव ही हो जायगा । इष्टापत्ति तो की नहीं जा सकती—अर्थात् आप यह कह नहीं सकते कि वाक्यार्थरूपक का उच्छेद होता है तो हो जाने दीजिए, क्योंकि इसके बदले में हम भी ऐसा कह सकते हैं कि—वाक्यार्थरूपक ही मानिए और वाक्यार्थ-

निदर्शना का ही उच्छेद हो जाने दीजिए। इस पर आप पूछ सकते हैं कि–मेरे मत में तो आप एक (वाक्यार्थरूपक अथवा वाक्यार्थनिदर्शना) का उच्छेद हो जाने का दोष बतलाते हैं पर आप स्वयं कैसे इन दोनों को पृथक् करने की व्यवस्था बनाते हैं, तो इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि–देखिए मेरा निदर्शना-प्रकरण–अर्थात् जहाँ शब्दतः अभेद की प्रतीति होती हो और उद्देश्य-विधेयभाव हो वहाँ रूपक तथा जहाँ अर्थतः अभेद की प्रतीति होती हो और उद्देश्य-विधेयभाव नहीं हो वहाँ निदर्शना इस तरह से वहाँ मैंने दोनों के पृथग्भाव की व्यवस्था की है। इन सब युक्तियों के कारण उपसंहार में मेरा कथन है कि–'त्वत्पाद–' इस पद्य में (इस पद्य का जैसा स्वरूप आपने लिखा है उस स्वरूप में) वाक्यार्थरूपक ही है, वाक्यार्थनिदर्शना नहीं। यदि आपको वाक्यार्थनिदर्शना का उदाहरण देखना हो तो उक्त पद्य का पाठ यों मानिये—'त्वत्पादनखरत्नानि अर्थात् जो आपके चरण-नख-रत्नों को महावर से रँगता है वह चन्दनलेप से चन्द्रमा को धवल बनाता है।' यहाँ यद्यपि 'जो' और 'वह' पदों से निर्दिष्ट कर्ताओं का अभेद शब्दतः प्रतीत होता है तथापि 'रँगता है' और 'धवल बनाता है' इन क्रियाओं का अभेद शब्दतः प्रतीत नहीं होता–अर्थात् अर्थतः प्रतीत होता है और चमत्कार का सारा दायित्व क्रियाओं के उस आर्थ अभेद पर ही है–वाक्यार्थ का पर्यवसान वहीं जाकर होता है, अतः यहाँ निदर्शना ही है। तात्पर्य यह कि–कर्ताओं के शाब्द अभेद को लेकर यहाँ वाक्यार्थरूपक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह गौण है, मुख्य क्रियाओं का अभेद तो आर्थ ही है, अतः निदर्शना ही यहाँ मानी जायगी। अब कदाचित् आप कहें कि–यदि 'त्वत्पादनखरत्नानाम्–' यह पद्य निदर्शना का उदाहरण होने योग्य न होता, तो अलङ्कारसर्वस्वकार इस पद्य को निदर्शनोदाहरण-प्रकरण में क्यों लिखते? तो मैं कहूँगा कि–बहुत ठीक, उन्होंने ही आपको धोखा दिया है, वे स्वयं तो भ्रम में थे ही, आपको भी भ्रम में डाल दिया। आप तो प्रामाणिक व्यक्ति हैं, अतः आप दूसरों से कही हुई बात को ही दुहराते हैं। (इस कथन का अभिप्राय यह है कि–आप स्वयं कुछ सोचते-विचारते नहीं दूसरों की लिखी हुई बात को अपनी पुस्तकों में दुहरा डालते हैं, फलतः आप 'अर्थम्बोकः' के अनुसार चोर लेखक हैं।) (पर यह आक्षेप बहुत कुछ असत्य है, कटुतर तो है ही, वस्तुतः दीक्षितजी का पाण्डित्य ईदृश आक्षेपयोग्य है नहीं।) इसके अतिरिक्त दीक्षितजी ने जो 'बिम्बाविशिष्टे' इस विशेषण द्वारा तथा अन्यत्र कहे शब्दों से भी यह कहा है कि–रूपक में बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं होता है वह भी भ्रममूलक ही है, क्योंकि अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शिनी नामक टीका में बिम्बप्रतिबिम्बभावस्थल में भी रूपक दिखलाया गया है। सुनिये—'कन्दर्प–' यह चन्द्रोदय का वर्णन है। नायिका से नायक कहता है—मलिन मद-जल से चिह्नित कामदेव के हाथी का कर्णाभरणीभूत शङ्खरूप, संलग्न-कज्जलपुञ्ज की कालिमा से सुन्दर रति (काम-पत्नी) के गण्डोपधान(गल्लतकिया) रूप और भ्रमरों से आच्छादित मध्यभागवाले आकाशरूप के उजले पुष्पस्तबकरूप सुधासदृश (उजले) कलङ्कयुक्त इस चन्द्रबिम्ब को देखो। यहाँ मदजल, कज्जलपुञ्ज और भ्रमर से कलङ्क का प्रतिबिम्बन हुआ है और चिह्नित होना तथा (कलङ्क से) अङ्कित होना शुद्ध सामान्यरूप है–अर्थात् इस अंश में बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं है, वस्तुप्रतिवस्तुभाव है यह बात दूसरी है। अभिप्राय यह है कि–'कन्दर्प–' इस पद्य में उपमेय चन्द्रमण्डल और उपमानों—शङ्ख, गल्लतकिया तथा पुष्पस्तबक—में परस्पर ताद्रूप्य शब्दतः प्रतीत होता है, अतः यहाँ रूपक है और बिम्बप्रतिबिम्बभाव भी है, क्योंकि कलङ्क बिम्बरूप है और मदजल, कज्जल तथा भ्रमर प्रतिबिम्बरूप हैं—ये बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म ही यहाँ के उपमानोपमेय में सादृश्य को सिद्ध करते हैं और इस सादृश्य के कारण ही उपमान-उपमेय में ताद्रूप्य का आरोप होता है—रूपक बन जाता है। फलतः दीक्षितजी का 'रूपक में बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं होता' यह कथन भ्रममूलक ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

द्वितीयविशेषणभेन निरस्यति—

तथा निर्दिष्टे शब्देनाभिहिते इत्यस्य येन केनचिद्रूपेण शब्देनाभिहित इत्यर्थः, उताहो उपमेयतावच्छेदकरूपेण शब्देनाभिहिते ? आद्ये 'सुन्दरं कमलं भाति लतायामिदमद्भुतम्' इत्यत्रातिप्रसङ्गः। सुन्दरपदेन सुन्दरत्वेन रूपेण इदंपदेन च विषयस्याननस्य प्रतिपादनात्। न चात्र सुन्दरपदार्थस्यारोप्यमाणकमलान्वय एव, न तु वदनरूपविषयान्वय इति वाच्यम्। कमलपदेन कमलताद्रूप्येणाननस्यैव लक्षणयोपस्थानात्तत्रैव सुन्दरादिपदार्थोन्वयो युक्तः, न तु विशेषणीभूते कमले। अथ तादृशं विषयमुद्दिश्य विषयिताद्रूप्यं यत्र विधीयते इत्यपि लक्षणवाक्यार्थः। प्रकृते च सुन्दरत्वावच्छिन्नमुद्दिश्य कमलताद्रूप्यस्याविधानान्नातिप्रसङ्ग इति चेत्। न। 'मुखचन्द्रस्तु सुन्दरः' इत्यादिरूपके [illegible] पृथग्विभक्तिमन्तरेणोद्देश्यविधेयभावाभावादव्या[illegible] इति विशेषणवैयर्थ्यम्। अपह्नुतावुपमेयतावच्छेदकस्य निषिध्यमानतया तेन रूपेण विषयस्यानिर्दिष्टत्वादेव लक्षणस्याप्रसक्तेः। निश्चयगताहार्यत्वविशेषणवैयर्थ्यं च। भ्रान्तिमति दोषविशेषेण प्रतिबध्यमानतया नास्त्युपमेयतावच्छेदकसंस्पर्श इति तावतैव वारणात्। अपि च 'नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' इति कुवलयानन्दे स्वयोक्तायामपह्नुतावतिप्रसङ्गः। अत्र सुधांशौ सुधांशुत्वनिह्नवेऽप्यारोपविषयस्यानिह्नवात्। न चेदं रूपकमेवेति वाच्यम्। त्वदुक्तिविरोधापत्तेः।

येन केनचिद्रूपेणेति। उपमेयतावच्छेदकभिन्नरूपेणेत्यर्थः। उताहो अथवा। 'सुन्दरं कमलम्—' इति। लतायां लतात्वेनाध्यवसितायां नायिकायाम्, अद्भुतं आश्चर्यकरम्, सुन्दरं मनोरमम्, इदं मुखम्, कमलम्, भाति शोभत इत्यर्थः। इत्यत्रेति। रूपकातिशयोक्तिलक्षण इत्यर्थः। अतिप्रसङ्गे हेतुमाह—सुन्दरपदेनेति। 'निर्दिष्टे' इत्यस्य 'येन केनचिद्रूपेण शब्दप्रतिपादिते' इत्यर्थस्वीकारे 'सुन्दरं कमलम्—' इति रूपकातिशयोक्तौ इदंपदबोध्यस्योपमेयस्य मुखस्य सुन्दरत्वरूपेण सुन्दरपदप्रतिपाद्यत्वादतिव्याप्तिरिति भावः। अतिव्याप्तिनिरासाय शङ्कते—न चात्रेति। कमलान्वय एवेति। तत एव चमत्कारात्सान्निध्याच्चेति भावः। समाधत्ते—कमलपदेनेति। एतेन रूपकातिशयोक्तिरत्रेति ध्वनितम्। तत्रैवेति। मुख एवेत्यर्थः। न त्विति। 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति—' इति न्यायादिति भावः। आरोप्यमाणे—[illegible] कमलपदार्थ एव सुन्दरपदार्थस्यान्वयः सान्निध्यात्, न तु विषये उपमेये मुखे तथा न केनापि रूपेणोपमेयस्य मुखस्यानिर्देशान्नातिप्रसङ्ग इति न वक्तुं शक्यम्, मुखे आरोप्यमाण[illegible] कमलपदेन कमलताद्रूप्येण मुखस्यैवोपस्थितिर्विशेष्यतया कमलस्योपस्थितिर्विशेषणतयेति स्थितौ पदार्थः पदार्थेनेति न्यायानुरोधेन सुन्दरपदार्थस्येदं पदबोध्ये उपमेये मुखे एवान्वयस्य युक्ततयाऽतिप्रसङ्गस्य दुरुद्धरत्वादिति भावः। अतिप्रसङ्गाभावाय पुनरन्यथा शङ्कते—अथेति। तादृशमिति। येन केनचिद्रूपेण शब्देनाभिहितमित्यर्थः। विषयीति [illegible]विधेयभावघटितोऽपीत्यर्थः। तथा वाक्यार्थे दोषाभावमुपपादयति—प्रकृते चेति। 'सुन्दरं कमलम्—' इत्यत्र चेति तदर्थः। अविधानादिति। तादृशमाननमुद्दिश्य भानक्रियाया एव विधेयत्वादिति भावः। (अत्र 'यद्वा सुन्दरत्वादेः कमलत्वादिविशिष्टे विशेषणत्वमतोऽनुद्देश्यतावच्छेदकत्वम्। इयांस्तु विशेषः—अतिशयोक्तावुद्देश्यतावच्छेदकत्वाभाव एव रूपके त्वनियम इत्यादि भावः।' इति विशेषमाह नागेशः।)

पद्येत, कुवलयानन्दाख्ये निजनिबन्धेऽपह्नुतित्वस्य स्पष्टशब्दैस्त्वया स्वीकृतत्वात्। नागेशस्तु अत्रापि 'इदमपि चिन्त्यम्। उपमेयोपमादीनां वैचित्र्यविशेषेणालङ्कारान्तरत्ववदिहाप्युपपत्तेः। मतान्तरेऽप्यभेदादिकृतेन चमत्कारे रूपकम्, निह्नवादिकृते तस्मिंस्तु सेति विषयविभागसम्भवात्। चमत्कारित्वस्यालङ्कारसामान्यलक्षणप्राप्तत्वात्समुदितस्यालङ्कारत्वेनांशो रूपकत्वे इष्टापत्तेश्च' इत्येभिरक्षरैर्दीक्षितोक्तिं समर्थयन् दृश्यते।

द्वितीय विशेषण को दूषित किया जाता है—तथा इत्यादि। प्रथम विशेषण की दशा तो आपने देख ली। अब आप द्वितीय विशेषण की दशा को देखें—दीक्षितजी ने अपने रूपकलक्षण में 'निर्दिष्ट' यह दूसरा विशेषण जोड़ा है और उसका अर्थ किया है शब्द से प्रतिपादित। अब इसमें प्रष्टव्य यह है कि—'शब्द से प्रतिपादित' इसका क्या अर्थ? जिस किसी रूप से शब्द द्वारा कथित यह, अथवा उपमेयतावच्छेदक—मुखत्व आदि रूप से शब्द द्वारा कथित यह? इन दोनों में यदि प्रथम अर्थ दीक्षितजी को स्वीकृत हो, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि तब 'सुन्दरं कमलम्—अर्थात् लता में (लतात्वेन अध्यवसित नायिकाकायवृष्टि में) अङ्कुत और सुन्दर यह कमल (कमलत्वेन अध्यवसित मुख) सुशोभित हो रहा है।' इस रूपकातिशयोक्ति के लक्ष्य में उक्तार्थक उक्त विशेषणयुक्त रूपकलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण यह कि—यहाँ भी 'सुन्दर यह' इन शब्दों के द्वारा सुन्दरस्वरूप से उपमेय—मुख—का प्रतिपादन है। यदि आप कहें कि यहाँ सुन्दर पद के अर्थ का अन्वय आरोपित होनेवाले अर्थात् विषयी (उपमान) कमल में ही है, जिसमें आरोपित होता है उस विषय (उपमेय मुख) में नहीं (अतः सुन्दरस्वरूप से उपमेय—मुख—का प्रतिपादन नहीं हुआ, अतिव्याप्ति नहीं होगी), तो यह भी सङ्गत नहीं, क्योंकि यहाँ लक्षणा द्वारा, 'कमल' पद से, कमल के रूप में प्रधानरूप से मुख की ही उपस्थिति होती है—अर्थात् यहाँ 'कमल' पद का अर्थ केवल कमल नहीं अपितु कमलरूप मुख है, अतः 'सुन्दर' आदि पदार्थों का अन्वय मुख में ही होना उचित है, विशेषणरूप बने हुए कमल में नहीं अर्थात् अन्वय के विषय में 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न पदार्थैकदेशेन—किसी पद का अर्थ किसी पद के प्रधान अर्थ के साथ ही अन्वित होता है, पदार्थ के एकभाग विशेषणीभूत पदार्थ के साथ नहीं।' इस सर्वसम्मत नियम की रक्षा सभी को करनी है। अब यदि आप कहें कि—'जिस किसी रूप से शब्द द्वारा अभिहित उपमेय को उद्देश्य बनाकर जहाँ उपमान का ताद्रूप्य (एकरूपता) विहित होता हो' यह भी लक्षणवाक्य का अर्थ है—अर्थात् उपमेय का उद्देश्य होना और उपमान का विधेय होना भी इस रूपकलक्षण का तात्पर्यार्थ है और प्रकृत उदाहरण में 'सुन्दरता' से अवच्छिन्न (युक्त) मुख को उद्देश्य बनाकर कमल के ताद्रूप्य का विधान नहीं होता—अर्थात् यहाँ मुख और कमल का उद्देश्य-विधेयभाव है ही नहीं, यदि उद्देश्य-विधेयभाव है तो मुख और शोभित होना—क्रिया में, अतः अतिव्याप्ति-दोष नहीं होगा, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर 'मुखकमलं सुन्दर है' इत्यादि रूपक में लक्षण की अव्याप्ति ही हो जायगी—यह रूपक कहला ही नहीं सकेगा। कारण, यहाँ उपमान तथा उपमेय के लिये पृथक्-पृथक् विभक्ति नहीं आई है और उद्देश्य-विधेयभाव के लिये पृथक्-पृथक् विभक्ति का आना आवश्यक है, अतः असमस्त वाक्य-स्थल में ही उद्देश्य-विधेयभाव होता है, यहाँ समस्त पदस्थल में वह नहीं हो सकता। अब यदि द्वितीय कल्प को दीक्षितजी का अभिमत मानें—अर्थात् 'निर्दिष्ट' पद का अर्थ 'उपमेयतावच्छेदकरूप से शब्द द्वारा उक्त' करें तो वह भी असङ्गत ही होगा, क्योंकि यद्यपि इस कल्प में पूर्वकल्पीय दोष नहीं होगा, तथापि—दूसरा दोष हो ही जायगा—अर्थात् इस कल्प (पक्ष) में 'अनिह्नुते' यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि उस विशेषण का फल जो 'अपह्नुति' का वारण माना जाता था, वह अब इस 'निर्दिष्ट' विशेषण से ही सिद्ध हो जायगा। कारण, 'यह मुख नहीं, चन्द्र है'

इत्यादि अपह्नुतियों में 'उपमेयतावच्छेद'—अर्थात् उपमेय-मुख आदि–का निषेध किया गया रहता है, अतः उपमेयतावच्छेदकरूप से उपमेय का प्रतिपादन न होने से ही लक्षण की अप्राप्ति हो जायगी। इतना ही नहीं, इस द्वितीय पक्ष में 'उपरञ्जकता' की व्याख्या में दीक्षितजी के द्वारा कहा गया 'आहार्य' यह निश्चय-विशेषण भी व्यर्थ हो जायगा। यह विशेषण 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार में अतिव्याप्ति-वारण के लिये लगाया गया है, पर वहाँ भ्रमजनक दोष से उपमेयतावच्छेदक की प्रतीति रोक दी जाती है, अतः वहाँ उपमेयतावच्छेदक का स्पर्श भी नहीं रहता, इस स्थिति में उसका भी वारण 'निर्दिष्ट' विशेषण से ही हो जा सकता है। और इन विशेषणों का निवेश कर देने पर भी 'नायं सुधांशुः–अर्थात् यह (प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाला चन्द्रमा) चन्द्रमा नहीं है। तो चन्द्रमा क्या है? प्रियतमा का मुख।' इस दीक्षिताभिमतकुवलयानन्दगत पर्यस्तापह्नुति में अतिव्याप्ति हो ही जायगी, क्योंकि यहाँ उपमेयतावच्छेदक–मुखत्वरूप से प्रतिपादित उपमेय–मुख में उपमान-चन्द्र-का तादूप्य आरोपित होकर निश्चित होता है। आप कदाचित् कहें कि–'अनिह्नुते' विशेषण से इसका वारण होगा, तो यह कथन बन नहीं सकता, क्योंकि यहाँ चन्द्र में चन्द्रत्व का निषेध रहने पर भी उपमेय–मुख–सर्वथा निषेध से अछूता ही है। फलतः 'अनिह्नुते' विशेषण व्यर्थ ही सा हो जाता है—जिस फल की सिद्धि के लिये जो विशेषण जोड़ा जाता है, वह फल यदि उससे सिद्ध नहीं होता—तब उसकी सार्थकता ही क्या? दीक्षितजी इसको ('नायं सुधांशुः—' को) रूपक तो मान नहीं सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर उन्होंने कुवलयानन्द में स्वयं जो उसको पर्यस्तापह्नुति माना है—उससे विरोध पड़ जायगा।

चित्रमीमांसायामप्पयदीक्षितैरुक्तमन्यदपि खण्डयति—

यच्चाव्यङ्ग्यत्वविशेषणादेवालङ्कारभूतस्य रूपकस्य लक्षणमिति, तदपि न। नहि व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधोऽस्ति। प्रधानव्यङ्ग्यरूपकवारणाय तूपस्कारकत्वं विशेषणमुचितमित्यसकृदावेदनात्। अनलङ्कारत्वस्य तुल्यतया प्रधानव्यङ्ग्यरूपकस्येव प्रधानवाच्यरूपकस्यापि वारणीयत्वेन तद्वारकविशेषणाभावेन तत्रातिप्रसङ्गाच्च।

अव्यङ्ग्येति। प्राकृतं रूपकलक्षणमेवेत्यर्थः। नन्वेवं कथमतिप्रसङ्गनिरासोऽत आह—प्रधानेति। नन्वेवमपि विनिगमनाविरहात्तयोरित्यत आह—अनलङ्कारेति। भवन्ति तु तेनैवोभयोर्वारणमिति भावः। अलङ्कारभूतरूपकलक्षणेऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणप्रक्षेपो दीक्षितस्य नोचितः, ध्वनिगामिनोऽपि रसादेरपि स्थितिविशेषेऽलङ्कारान्तरस्य स्वीकृततया व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोरविरोधसिद्धौ संग्रहणीयस्य व्यङ्ग्यरूपकालङ्कारस्यासंग्रहप्रसङ्गात्। ननु अप्राधान्येन व्यज्यमानस्य रूपकस्य संग्रहणीयत्वेऽपि असंग्रहणीयस्य प्राधान्येन व्यज्यमानस्य रूपकस्य व्यावृत्त्यर्थं लक्षणेऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणयोजनं युक्तमिति चेत्, तदर्थं 'उपस्कारकत्व'-विशेषणस्य योजने-नौचित्यात्। न चोभाभ्याम् (अव्यङ्ग्यत्वोपस्कारकत्वाभ्याम्) विशेषणाभ्यां समानतया प्रधानव्यङ्ग्यवारणसम्भवे 'उपस्कारकत्व'विशेषणस्यैव योजने किमौचित्यमिति वाच्यम्, यथा प्रधानतया व्यज्यमानं रूपकं नालङ्कारः अपि तु अलङ्कार्यम् इति तद्वारणप्रयास आवश्यकः, तथैव प्राधान्येन वाच्यमपि रूपकमलङ्कार्यमेव नालङ्कार इति तद्वारणप्रयासोऽप्यावश्यक एव, एवञ्च यदि केनाप्येकेन विशेषणेन तयोरुभयोर्वारणं भवेत्, तर्हि तद्विशेषणयोजने औचित्यं निर्विवादम्, अतः उभयोर्वारकस्य उपस्कारकत्वविशेषणस्य योजने औचित्यमस्ति, प्रधानव्यङ्ग्यरूपकमात्रवारकस्य 'अव्यङ्ग्य'-विशेषणस्य योजने च तन्नास्तीत्याशयात्, इति भावः।

अप्पयदीक्षित द्वारा चित्रमीमांसा में कही गई एक अन्य बात का भी खण्डन किया जाता है—यच्चापि इत्यादि। और जो दीक्षितजी ने यह कहा है कि—"इसी (पूर्वोक्त सामान्य रूपकलक्षण) में यदि 'अव्यङ्ग्य' यह एक और विशेषण जोड़ दिया जाय, तब यही लक्षण अलङ्कारभूत रूपक का हो जायगा," वह भी समुचित नहीं, क्योंकि व्यङ्ग्यता तथा अलङ्कारता में कोई विरोध नहीं है, नित्यव्यङ्ग्य रस आदि भी स्थितिविशेष में अलङ्काररूप होते ही हैं, फिर व्यङ्ग्यरूपकालङ्कार भी मानना ही पड़ेगा और इस विशेषण से उसका वारण ही हो जायगा—अर्थात् इस विशेषण के कारण लक्षण की व्यङ्ग्यरूपकालङ्कारस्थल में अव्याप्ति ही हो जायगी। यदि आप कहें कि—अप्रधानीभूत अन्य वाक्यार्थ के पोषक व्यङ्ग्य रूपक भले ही अलङ्कारश्रेणी में संग्रहणीय हों, पर प्रधानतया अभिव्यक्त होने वाला रूपक तो आपके मत से भी अलङ्कारश्रेणी में संग्रहणीय नहीं होगा—उसको तो आप भी अलङ्कार्य ही मानियेगा अलङ्कार नहीं, फिर उस प्रधान व्यङ्ग्यरूपक का वारण करने के लिये 'अव्यङ्ग्य' विशेषण क्यों नहीं समुचित समझा जायगा, तो यह भी मानने योग्य आपका तर्क नहीं, क्योंकि प्रधान व्यङ्ग्यों का वारण करने के लिये सभी अलङ्कारों के लक्षण में 'उपस्कारक-' विशेषण जोड़ने की बात बार-बार कही जा चुकी है। यदि आप कहें कि—प्रधान व्यङ्ग्य के वारणार्थ 'उपस्कारक-' विशेषण ही जोड़ा जाय 'अव्यङ्ग्य-' विशेषण नहीं, यह कौन-सी बात है? तो मैं कहूँगा कि—हाँ, है ऐसी कुछ बात जिसके अनुरोध से 'उपस्कारक-' विशेषण का जोड़ना ही उचित है और वह बात यह है कि—जिस तरह प्रधानरूप में अभिव्यक्त होने वाला रूपक अलङ्कार नहीं अलङ्कार्य होता है, अतः उसका अलङ्कारश्रेणी से निष्कासन आवश्यक है, उसी तरह प्रधानरूप में वाच्य होने वाला रूपक भी अलङ्कार नहीं, अलङ्कार्य ही होता है, अतः उसका भी अलङ्कारश्रेणी से बहिर्भाव आवश्यक है। अब आप स्वयं सोच सकते हैं कि—'उपस्कारक' और 'अव्यङ्ग्य' इन दोनों में से कौन-सा विशेषण उचित है? 'उपस्कारक'-विशेषण से प्रधान व्यङ्ग्य तथा प्रधान वाच्य दोनों का ही वारण होता है और 'अव्यङ्ग्य'-विशेषण से केवल प्रधान व्यङ्ग्य का, फलतः इस विशेषण को जोड़ देने के बाद भी प्रधानवाच्यरूपकस्थल में लक्षण की अतिव्याप्ति हो ही जायगी। अतः दीक्षितजी का लक्षण गड़बड़ ही है।

मम्मटभट्टकृतकाव्यप्रकाशोक्तं लक्षणं निरस्यति—

यच्च 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' इत्यादि प्राचीनैरुक्तम्, तच्चिन्त्यम्, अपह्नुत्यादावुपमानोपमेययोरभेदस्य प्रतीतिसिद्धतया तत्रातिप्रसङ्गात्। अथोपमानोपमेययोरित्युक्त्या उपमेयतावच्छेदकं पुरस्कृत्योपमानतावच्छेदकावच्छिन्नाभेद इत्यर्थलाभादपह्नुतौ चोपमेयतावच्छेदकस्य पुरस्काराभावान्नातिप्रसङ्ग इति चेत्। न। 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्याद्युत्प्रेक्षायां तथाप्यतिप्रसक्तेः।

प्राचीनैः मम्मटभट्टादिभिः। अपह्नुत्यादाविति। भ्रान्तिमदतिशयोक्त्यादय आदिपदग्राह्याः। उपमेयतावच्छेदकं पुरस्कृत्येति। मुखत्वाद्युपमेयतावच्छेदके उपमेये इति भावः। उपमानतावच्छेदकेति। चन्द्रत्वाद्युपमानतावच्छेदकस्योपमानस्याभेद इत्यर्थः। पुरस्काराभावादिति। उपमेयस्य निषिध्यमानत्वादिति भावः। 'उपमानोपमेययोरभेदस्तद्रूपकम्' इत्यर्थकं मम्मटभट्टकृतं रूपकलक्षणं न सम्यक्, अपह्नुत्यादावतिव्याप्तेः, तत्राप्युपमानोपमेययोरभेदस्य प्रतीयमानत्वात्। 'उपमानोपमेययोः' इति कथनेन 'मुखत्वाद्युपमेयतावच्छेदकविशिष्टे मुखादावुपमेये चन्द्रत्वाद्युपमानतावच्छेदकविशिष्टचन्द्राद्युपमानाभेदो रूपकम्' इत्यर्थलाभेऽपह्नुत्यादौ नातिव्याप्तिः, तत्र निषेधादिनोपमेयतावच्छेदकवैशिष्ट्यस्य विरहात् इति यद्यपि सत्यम्, तथापि निस्तारो नास्ति, 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्युत्प्रेक्षायामति-

व्याप्तेः सत्त्वात्, अत्र मुखत्वविशिष्टमुखानुयोगिकचन्द्रत्वविशिष्टचन्द्रप्रतियोगिकाभेदस्य प्रतीतेरिति भावः।

मम्मटभट्टकृत काव्यप्रकाशग्रन्थ में उक्त रूपकलक्षण का खण्डन किया जाता है—यच्च इत्यादि। 'उपमान और उपमेय का जो अभेद उसको रूपक कहते हैं' यह जो रूपकलक्षणकरणप्रसङ्ग में मम्मटभट्ट ने कहा है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपमान तथा उपमेय के अभेद की स्पष्ट प्रतीति होने के कारण अपह्नुति आदि में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है अर्थात् इस लक्षण के अनुसार 'यह मुख नहीं चन्द्र है' इत्यादि तरह के अपह्नुति आदि अलङ्कार के उदाहरण भी रूपकश्रेणी में संगृहीत होने लगेंगे। यदि आप कहेंगे—लक्षण में 'उपमान और उपमेय का' इस तरह के कथन से यह लब्ध होता है कि—'उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर—अर्थात् उपमेय—भाव का परिचायक—मुखत्व आदि से युक्त मुख आदि में–उपमानतावच्छेदकावच्छिन्न का—अर्थात चन्द्रत्व आदि से परिचित चन्द्र (एक वस्तुविशेष) का अभेद रूपक है' और इस अर्थ के अनुसार अपह्नुति में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि यहाँ, 'मुख नहीं है' इत्यादि प्रकार से उपमेय का निषेध किया गया रहता है, अतः उपमेयतावच्छेदक-मुखत्व आदि—का आगे रहना संभव नहीं, तो मैं कहूँगा कि–हाँ, यह तर्क सत्य है, अब अपह्नुति आदि में अतिप्रसङ्ग नहीं रहा, पर इससे क्या लक्षण निर्दुष्ट सिद्ध हो गया? कथमपि नहीं, क्योंकि–अपह्नुति आदि में न सही, उत्प्रेक्षा में तो अब भी अतिव्याप्ति बनी है—'मानो मुख चन्द्र है' यही तो उत्प्रेक्षा का उदाहरण है, यहाँ मुखत्व–उपमेयतावच्छेदक—को आगे रखकर मुख में चन्द्रत्वविशिष्ट चन्द्र का अभेद साफ झलकता है, फिर उक्त लक्षण की यहाँ प्राप्ति हो जाने में बाधा क्या? कुछ नहीं, वह हो ही जायगी।

पूर्वापादितायां उत्प्रेक्षायां मम्मटलक्षणीयातिव्याप्तेरभावमाशङ्क्य पुनस्तां द्रढयति—

न च—

'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः।'
'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्॥'

इत्यपह्नुत्युत्प्रेक्षादीनां बाधकत्वात्तत्परिगृहीतविषयातिरिक्तो रूपकस्य 'मुखं चन्द्रः' इत्यादिर्विषयः स्यात्। यथा 'शरमयं बर्हिः' इत्येतद्विषयातिरिक्तः 'कुशमयं बर्हिः' इत्यस्य। यथा वा तक्रादेशविषयातिरिक्तो विषयः सिद्धः। लोकेऽपि यथा 'ब्राह्मणेभ्यो दधि देयम्', 'तक्रं कौण्डिन्याय' इत्यत्र तक्रसम्प्रदानातिरिक्तं दध्नः सम्प्रदानमिति वाच्यम्। वैषम्यात्। विशेषशास्त्रं हि स्वविषयातिरिक्तं विषयं ग्राहयत्सामान्यशास्त्रस्य बाधकमित्युच्यते। प्रकृते च रूपकस्य लक्षणं धर्मः। स यद्युत्प्रेक्षादिवृत्तिः स्यात् कस्तस्माद्विषयान्तरस्य विषयान्तरं ग्राहयेत्। नहि घटत्वं स्वाधिकरणात् पृथिवीत्वं द्रव्यत्वं वा निरस्य विषयान्तरं ग्राहयितुमीष्टे। तस्मादतिप्रसक्तिलक्षणोऽस्मिन्दोषः। ननु सम्भावनात्मिकोत्प्रेक्षा, कथं तस्यामभेदत्वात्मकरूपकलक्षणातिप्रसक्तिरिति चेत्। न। विनिगमकाभावेन सम्भाव्यमानाभेदस्याप्युत्प्रेक्षास्वरूपत्वात्। विषयसम्भावनाऽभेदाभ्यामुत्प्रेक्षायामलङ्कारद्वयव्यवहारापत्तेश्च। निश्चीयमानत्वेनाभेदो विशेषणीय इति चेदस्मदुक्त एव तर्हि पर्यवसतिरिति दिक्।

प्रकृतमिति। मम्मटकृतमपह्नुतिलक्षणमिदम्। प्रकृतं उपमेयं, निषिध्य तिरोधाय, अन्यत् उपमानम्, यत् साध्यते स्थाप्यते, सा अपह्नुतिः अलङ्कार इत्यर्थः। सम्भावनमिति।

तत्कृतमेवोत्प्रेक्षालक्षणमेतत् । प्रकृतस्य उपमेयस्य, समेन सदृशेन उपमानेनेति यावत्, यत्, सम्भावनम्, सा उत्प्रेक्षा इति तदर्थः । बाधकत्वादिति । विशेषविहितत्वेनापवादत्वादिति भावः । तत्परिगृहीत इति । ताभ्यामपह्नुत्युत्प्रेक्षाभ्याम्, परिगृहीताः आक्रान्ताः, ये, विषयाः लक्ष्याणि, तद्भिन्न इत्यर्थः । मुखं चन्द्र इति । अत्र गमकाभावात्तदुभयं न । तत्र जैमिनीयं दृष्टान्तमाह—यथा शरेति । आभिचारिके कर्मणि विशेषविहितमिदम्, यज्ञसामान्ये विहितस्य 'कुशमयं बर्हिः' इत्यस्य बाधकमित्यर्थः । व्याकरणीयं तमाह—यथा वा क्सेति । 'शल इगु—' इति विहितेत्यादिः । सिच इति । 'च्लेः सिच्' इति विहितस्येति भावः । लौकिकं तमाह—लोकेऽपीति । कौण्डिन्यायेति । ब्राह्मणविशेषस्य संज्ञेयम् । लौकिकन्यायोऽयं 'तक्रकौण्डिन्यन्याय'शब्देन व्याकरणे प्रसिद्धः । विशेषविहितेन तक्रदानेन सामान्यविहितस्य दधिदानस्य बाध इति भावः । सम्प्रदानेति । दानपात्रेत्यर्थः । सामान्यशास्त्रे विशेषशास्त्रेण स्वसार्थक्याय स्वप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन सङ्कोचो विधीयते । यथा 'शरमयं बर्हिः' इति विशेषशास्त्रेण 'कुशमयं बर्हिः' इति सामान्यशास्त्रे स्वप्रवृत्तियोग्याभिचारिकमातिरिक्तत्वेन, यथा वा 'शल इगु—' इति विशेषशास्त्रेण 'च्लेः सिच्' इति सामान्यशास्त्रे स्वप्रवृत्तियोग्येगुपधशलन्तधात्वव्यवहितोत्तरक्लिभिन्नत्वेन, यथा वा 'तक्रं कौण्डिन्याय' इति विशेषविधानेन 'ब्राह्मणेभ्यो दधि देयम्' इति सामान्यविधाने स्वप्रवृत्तियोग्यकौण्डिन्यान्यत्वेन सङ्कोचो विधीयते, तथैव विशेषविहिताभ्याम् 'प्रकृतम्—' 'सम्भावनम्—' इत्येताभ्यां सामान्यविहिते 'तद्रूपकम्—' इत्यस्मिन् प्रकृतनिषेधोत्तरकालिकान्यसाधनान्यत्वेन, प्रकृतविषयकसदृशाकरणकसम्भावनान्यत्वेन च सङ्कोचो विधीयेत, तथा चापह्नुत्युत्प्रेक्षालक्ष्यातिरिक्ते 'मुखं चन्द्रः' इत्यादावेव रूपकलक्षणस्य प्रवृत्तिरिति नातिव्याप्तिरिति शङ्काग्रन्थस्याभिप्रायः । समाधत्ते—वैषम्येति । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैलक्षण्यादिति भावः । तदेव वैलक्षण्यं स्फोरयति—विशेषशास्त्रम् इति । आहृयत इति । न त्वभाहृयदिति भावः । तस्यैव तद्बीजत्वात् । धर्म इति । अभेदस्वरूप इत्यर्थः । अयं भावः—दृष्टान्तभूतानि वस्तूनि, शास्त्ररूपाणि वचनानि, न धर्मरूपाणि, अतस्तत्रैतत्सम्भवति यदेकं शास्त्रमपरस्य शास्त्रस्य विषयं स्वविषयातिरिक्तत्वेन सङ्कुचितं कुर्यादिति, प्रकृते तु तत्तदलङ्कारस्य धर्मरूपं तत्तल्लक्षणम् इति नैतत्सम्भवति यत्प्रसज्यमानं तद्धर्मात्मकं लक्षणं स्थानविशेषाधिरस्य स्थानविशेष एव केन्द्रितं कृतं स्यादिति, यथा घटत्वं पृथिवीत्वव्याप्यत्वादिना [illegible]ऽभिकरणे स्थापयितुं न शक्यम् इति । उपसंहरति—तस्मादिति । बाधासम्भवादिति तदर्थः । अस्मिन् लक्षणे इति । मम्मटकृतरूपकलक्षणे इत्यर्थः । तथा च दुष्टमेव मम्मटीयमेतद्रूपकलक्षणमिति भावः । पुनर्मम्मटलक्षणसमर्थनाय [illegible]दाशंक्य समाधत्ते—न चेति । अयमत्र निर्गलितार्थः—उक्तलक्षणानुसारम् उत्प्रेक्षायाः सम्भावनं स्वरूपम्, रूपकस्य चाभेदः, तथा च तयोः साङ्कर्यप्रसङ्गः कथमपि सम्भवति, सर्वथा विभिन्नविषयकत्वात्तयोरित्यपि न साम्प्रदायिकम्, [illegible] विषयसम्भावनवत् सम्भाव्यमानविषयाभेदस्यापि उत्प्रेक्षास्वरूपत्वेनाङ्गीकरणीयत्वात्, तथा च साङ्कर्यप्रसङ्गः इत्याशयात् । 'अभेदो रूपकम्' इत्युक्तौ सम्भाव्यमानोऽप्यभेदो ग्रहीतुं शक्यतेति परमार्थः । ननु मतद्वये सम्भाव्यमानोऽभेद उत्प्रेक्षा । ये तु विषयसम्भावनामेवोत्प्रेक्षां मन्यन्ते, तन्मते न रूपकलक्षणस्योत्प्रेक्षायामतिप्रसङ्ग इति चेत् ? सत्यम्, परन्तु तथा सति लक्षणनिर्णये मतभेदात् उत्प्रेक्षायामेव । उत्प्रेक्षा-रूपकमित्यलङ्कारद्वयव्यवहार आपतेत् । उत्प्रेक्षायां विषयाभेदस्य सम्भाव्यमानतया न निश्चय इति अतिव्याप्तिनिरासाय रूपकलक्षणे निश्चयगोचरत्वेनाभेदो विशेष्यः

णीय इति, चेत् ? समागतो मदीयः पन्थाः । कथंचिद्रूपकलक्षणे निश्चयः प्रवेष्टव्योऽन्यथाऽनुपलं लक्षणं न स्यादित्येव ममाभिप्राय इति ।

पूर्वोक्त अतिव्याप्तिवारक कुछ युक्तियाँ बतलाकर पुनः उनके खण्डन किये जाते हैं—न च इत्यादि । 'प्रकृतं यत्—अर्थात् उपमेय का निषेध करके उसे उपमान सिद्ध करना अपह्नुति कहलाता है ।' और 'सम्भावनम्—अर्थात् उपमेय की उपमान के रूप में सम्भावना उत्प्रेक्षा कहलाती है ।' तात्पर्य यह है कि–अभेद के रहने पर भी जहाँ निषेध हो वहाँ अपह्नुति होती है और जहाँ सम्भावना हो वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। ये दोनों क्रमशः मम्मटकृत अपह्नुति और उत्प्रेक्षा के लक्षण हैं, जो विशेषरूप हैं और उक्त रूपक-लक्षण है सामान्यरूप, अतः इन विशेष लक्षणों से उस सामान्य लक्षण का बाध होगा–अर्थात् ये दोनों विशेष लक्षण, 'मेरी प्रवृत्ति होने योग्य निषेध तथा सम्भावना स्थिति से भिन्न शुद्ध अभेद में ही तुम प्रवृत्त होवो' इस प्रकार से उक्त सामान्य रूपकलक्षण में सङ्कोच कर देंगे, फलतः 'यह मुख नहीं, चन्द्र है' इत्यादि अपह्नुति और 'मानो मुख चन्द्र है' इत्यादि उत्प्रेक्षा के लक्ष्यों से भिन्न 'मुख चन्द्र है' इत्यादि ही रूपक के लक्ष्य होंगे । इस तरह का बाध्य-बाधकभाव भिन्न-भिन्न शास्त्रों तथा लोक में भी देखा जाता है । जैसे—सामान्य यज्ञ के प्रकरण में 'कुशों का बर्हि होना चाहिये' ऐसा विधान किया गया है और आभिचारिक (मारणात्मक) यज्ञप्रकरण में 'सरकण्डे का बर्हि होना चाहिये' ऐसा विधान किया गया है । अब ये दोनों ही विधान कैसे सार्थक हों, इसलिये इन दोनों विधानों में बाध्य-बाधकभाव माना जाता है अर्थात् विशेषविहित द्वितीय वाक्य होता है बाधक और सामान्यविहित प्रथम वचन होता है बाध्य, फलतः उक्त-विध सङ्कोचप्रक्रिया के द्वारा बाधक वचन के विषयों—आभिचारिक यज्ञों—से अन्य स्वर्गादिप्रापक यज्ञ ही बाध्यवचन के विषय होते हैं । यह तो हुआ मीमांसाशास्त्र का दृष्टान्त । अब व्याकरणशास्त्र का दृष्टान्त देखिये—व्याकरणशास्त्र में सामान्यतः 'च्लेः सिच्' इस सूत्र से 'च्लि प्रत्यय' के स्थान में 'सिच्' आदेश विहित है और उसी 'च्लि प्रत्यय' के स्थान में 'शल इगु—' इस सूत्र से 'क्स' आदेश भी विशेषतः विहित है । अब यहाँ भी दोनों सूत्रों की सार्थकता के लिये बाध्य-बाधकभाव मानना पड़ता है–अर्थात् विशेषविहित 'क्स' से सामान्यविहित 'सिच्' का बाध होता है, फलतः उक्त सङ्कोचात्मक प्रक्रिया के अनुसार 'क्स' के लक्ष्य से भिन्न ही 'सिच्' का लक्ष्य होता है । लोक में भी इस तरह के दृष्टान्त का अभाव नहीं है । देखिये—जब किसी के द्वारा ऐसा कहा जाता है कि–'सभी ब्राह्मणों को दही दिया जाय' और 'कौण्डिन्य को तक्र' तब ब्राह्मण होने के नाते यद्यपि 'कौण्डिन्य' को भी दधिदान प्राप्त है, तथापि विशेष-विहित तक्रदानवचन से सामान्यविहित दधिदानवचन का बाध हो जाने से उस (कौण्डिन्य) को तक्र ही दिया जाता है दधि नहीं, फलतः तक्रदान का जो सम्प्रदान—दानपात्र–होता है, उससे भिन्न ही दधिदान का सम्प्रदान–दानपात्र–होता है । ठीक यही बात प्रकृत में भी है अर्थात् जहाँ निषेध तथा सम्भावना वाला अभेद हो वहाँ क्रमशः अपह्नुति और उत्प्रेक्षा होंगी और जहाँ केवल अभेद होगा वहाँ रूपक । अतः रूपक-लक्षण की अतिव्याप्ति उत्प्रेक्षा में हो जायगी ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती, यह यदि मम्मटभट्ट अथवा उनके समर्थक जन कहें, तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि आपने जो-जो दृष्टान्त उपस्थित किये हैं वे विषम हैं–प्रकृत में ठीक-ठीक बैठते नहीं । अभि-प्राय यह कि ये सब (दृष्टान्त में आये हुये) शास्त्रीय किंवा लौकिक विधायक वचन हैं, उनमें ऐसी बात हो सकती है कि–जो वचन 'अपने लक्ष्यों से भिन्न लक्ष्यों में ही तुम लगो' इस तरह का बोध करावे, वह बाधक कहलावे और जिस वचन के विषय में उक्त प्रकार का बोध कराया जाय वह कहलावे बाध्य, पर यहाँ तो ऐसी बात संभव नहीं, क्योंकि रूपक का लक्षण क्या है ? रूपक में रहनेवाला असाधारण धर्म (सभी

लक्षण लक्षणीय के असाधारण धर्म ही होते हैं)। यह धर्म यदि उत्प्रेक्षा में भी पाया जाय, तब कौन उसको वहाँ से हटाकर अन्यत्र केन्द्रित कर सकेगा। अर्थात् रूपक का असाधारण धर्म जब उत्प्रेक्षा में रहेगा, तब 'यह उत्प्रेक्षा है, रूपक नहीं' यह बात कोई कैसे समझा सकेगा। रूपक का लक्षण हुआ सामान्य धर्म और उत्प्रेक्षा का लक्षण हुआ विशेष धर्म यही न, पर इससे क्या ? विशेष धर्म सामान्य धर्म को हटाकर रहे ऐसी बात तो है नहीं, घड़ों में 'घटत्व'रूप विशेष धर्म के साथ-साथ पृथ्वीत्व द्रव्यत्व आदि सामान्य धर्म भी रहते हैं, अब यदि कोई पृथ्वीत्व तथा द्रव्यत्व को हटाकर केवल घटत्व को किसी अधिकरण में रखना चाहे तो क्या रख सकता है ? कभी नहीं। उसी तरह अपह्नुति और उत्प्रेक्षा में निषेध और संभावनारूप विशेषधर्मों के साथ रहनेवाले अभेद-रूप सामान्य धर्म को कोई हटा नहीं सकता। और अभेद जब है, तब रूपक भी वहाँ आपको मानना ही पड़ेगा, क्योंकि आपके लक्षणानुसार उपमान-उपमेय का अभेद रहने पर रूपक होगा ही। अतः इस मम्मटकृत रूपकलक्षण में अतिव्याप्ति दोष है, आप कहेंगे—उत्प्रेक्षा का स्वरूप है सम्भावना और रूपक का अभेद, फिर 'अभेद होना' जो रूपक का लक्षण है उसकी उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति कैसे होगी ? दोनों दो वस्तुएँ हैं। इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि-जब उत्प्रेक्षा में संभावना तथा अभेद दोनों की उपलब्धि होती है, तब अभेद से युक्त सम्भावना के समान संभावना से युक्त अभेद को भी उत्प्रेक्षा कहा जा सकता है-अर्थात् सम्भावना को ही प्रधान और अभेद को गौण मानने में कोई खास प्रमाण नहीं है। और जब अभेद की प्रधानता मान ली जायगी, तब उसको रूपक न मानने में आपका कोई भी तर्क सफल नहीं हो सकता। दूसरे, रूपक का ऐसा लक्षण करने पर उत्प्रेक्षा में उपमेय के अभेद के हिसाब से रूपक का और सम्भावना के हिसाब से उत्प्रेक्षा का इस तरह दो अलङ्कारों का व्यवहार होने लगेगा। कारण, आप किसी भी व्यवहार को हटा नहीं सकते। अब यदि आप कहें कि-रूपकलक्षण में अभेद के साथ 'निश्चीयमान—अर्थात् निश्चित किया जानेवाला' यह एक विशेषण और लगा देंगे, अतः उत्प्रेक्षास्थलीय सम्भाव्यमान अभेद रूपक नहीं कहला सकेगा, तो मैं भी इसका स्वागत करूँगा—स्वागत न कैसे करूँ, क्योंकि यह तो मेरा ही बताया रास्ता है-अर्थात् जिस तरह मैंने रूपकलक्षण में 'निश्चय' का प्रवेश कराया है उस तरह यदि आप भी उसका प्रवेश अपने लक्षण में करा दें तब तो कोई विवाद ही हम और आप में नहीं रहा।

सम्प्रति प्राचीनाभिमतान् रूपकभेदानाह—

तदिदं रूपकं सावयवं निरवयवं परम्परितं चेति तावत्त्रिविधम्। तत्राद्यं समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति द्विविधम्। द्वितीयमपि केवलं माला-रूपकं चेति द्विविधम्। तृतीयं च श्लिष्टपरम्परितं शुद्धपरम्परितं चेति द्विविधं सत्प्रत्येकं केवलमालारूपत्वाभ्यां चतुर्विधमित्यष्टविधमाहुः।

इदं पूर्वोक्तम्। तावत् आदौ। आहुरिति। प्रकाशकारादय इति भावः। एतत्सूचिता-रुचिस्त्वग्रे स्फुटीभविष्यति। अन्यत् सुगमम्।

अब रूपक के प्राचीनाभिमत भेद किये जाते हैं—तदिदमित्यादि। पूर्वोक्त रूपक के प्रथमतः तीन भेद हैं—सावयव, निरवयव और परम्परित। उनमें से सावयव रूपक के दो प्रकार होते हैं-एक समस्तवस्तुविषय और दूसरा एकदेशविवर्ती। निरवयव रूपक के भी दो उपभेद होते हैं-एक केवलरूपक तथा दूसरा मालारूपक। परम्परित रूपक के चार उपभेद होते हैं—श्लिष्टपरम्परित केवलरूप और मालारूप, इसी तरह शुद्धपरम्परित केवलरूप और मालारूप। इस प्रकार से रूपक के कुल आठ भेद होते हैं—ऐसा मम्मटभट्ट आदि कहते हैं। 'मम्मटभट्ट आदि कहते हैं' इस कथन के कुछ अरुचि सूचित होती है, इस अरुचि का बीज आगे स्पष्ट किया जायगा।

उक्तेषु प्रधानभेदेषु लिलक्षयिषितेषु तावत्प्रथमभेदं लक्षयति—

तत्र—

परस्परसापेक्षनिष्पत्तिकानां रूपकाणां संघातः सावयवम् ।

तत्रेति । उक्तभेदानां मध्ये इत्यर्थः । परस्परेति । परस्परं मिथः, सापेक्षा आश्रिता, निष्पत्तिः सिद्धिर्येषां तेषामित्यर्थः । संघातः समूहः । अन्योन्यापेक्षया सिद्ध्यतां रूपकाणां समूहः सावयवरूपकं कथ्यत इति भावः ।

रूपक के पूर्वोक्त भेदों के लक्षणकरणप्रसङ्ग में सर्वप्रथम प्रथम भेद का लक्षण किया जाता है—तत्र इत्यादि । उक्त भेदों के मध्य में—एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होने वाले रूपकों के समूह को सावयव रूपक कहते हैं ।

सावयवरूपकोपभेदौ लिलक्षयिषुस्तावत् प्रथमोपभेदं लक्षयति—

तत्रापि—

समस्तानि वस्तून्यारोप्यमाणानि शब्दोपात्तानि यत्र तत्समस्तवस्तुविषयम् ।

तत्रापीति । सावयवरूपकेऽपीत्यर्थः । आरोप्यमाणानीति । आरोपस्य विषयिण इत्यर्थः । उपमानानीति यावत् । यत्र सावयवे रूपके सर्वाण्युपमानानि शब्दतः प्रतिपादितानि तिष्ठन्ति तत्समस्तवस्तुविषयनामकं रूपकं कथ्यत इति भावः ।

सावयव रूपक के प्रथम उपभेद का लक्षण किया जाता है—तत्रापि इत्यादि । सावयव रूपक में भी, उसको 'समस्तवस्तुविषय' नामक रूपक कहा जाता है, जिसमें सभी आरोपणीय-उपमानभूत-पदार्थों का ग्रहण शब्दतः किया गया रहता है ।

द्वितीयसावयवरूपकोपभेदं लक्षयति—

यत्र च कश्चिदवयवे शब्दोपात्तमारोप्यमाणं कश्चिच्चार्थसामर्थ्याक्षिप्तं तदेकदेशे शब्दानुपात्तविषयिके अवयवरूपके विवर्तनात्स्वरूपगोपनेनान्यथात्वेन वर्तनादेकदेशविवर्ति ।

यत्र चेति । यत्र तु संघातात्मकसावयवरूपके इत्यर्थः । अत्र सामर्थ्याक्षिप्तं तत् एकदेशविवर्ति इत्यंशो लक्षणम्, अपरांशस्तु नामकरणव्याख्येति विवेकः । अवयवरूपके इति । उपमानभूतस्यावयविनोऽवयवे कस्मिंश्चिद्रूपके इत्यर्थः । विवर्तनादिति । विवृततया वर्तनादित्यर्थः । विवर्तनमेवाह— स्वेति । यत्रेमत्, रूपकसंघातात्मकतयाऽवयविभूते सावयवरूपके एकावयवभूतरूपकघटकउपमानं शब्दतो गृहीतं तथा अपरावयवभूतरूपकघटकउपमानं न शब्दतो गृहीतमपि तु अर्थबललभ्यं भवति तत् एकदेशविवर्तिरूपकं कथ्यत इति लक्षणार्थः । ननु कथमेतन्नामकरणम् इति चेत् ? एकदेशे—उपमानवाचकपदशून्ये अवयवभूते रूपके—विवर्तनात्—विवृततया वर्तनात्—शब्दोपात्तोपमानकावयवरूपकापेक्षयाभिन्नतया, स्वरूपगोपनपूर्वकमित्यर्थः, स्थितेरिति बोध्यम् ।

सावयव रूपक के द्वितीय उपभेद का लक्षण किया जाता है—यत्र च इत्यादि । जिस सावयव रूपक में, किसी अवयव में उपमान शब्दतः कथित हो और किसी अवयव में वह (उपमान) अर्थतः आक्षिप्त होता हो, वह 'एकदेशविवर्ति रूपक' कहलाता है । यह रूपक, एकदेश—अर्थात् जहाँ उपमान का ग्रहण शब्दतः नहीं किया हो उस अवयवभूत रूपक—में अपने स्वरूप को छिपाए रहता है, अतः उसकी स्थिति अन्यथा—अर्थात् जिसमें उपमान का शब्दतः ग्रहण किया गया हो उससे भिन्न—होती है, अतः इसे 'एकदेशविवर्ति' कहा जाता है ।

नामकरणबीजविषयकमतभेदमाह—

यद्वा—

एकदेशे उपात्तविषयिके अवयवे विशेषेण स्फुटतया वर्तनादेकदेशविवर्ति ॥

विनिगमनाभावादाह यद्वेति । अथवेति तदर्थः । अवयव इति अवयवरूपक इत्यर्थः । एतच्च 'एकदेशे' इत्यस्य व्याख्या । विवर्तनपदघटकव्युपसर्गस्यार्थमाह—विशेषेणेति । तद्व्याख्यामाह—स्फुटतयेति । अन्यत् स्फुटम् ।

'एकदेशविवर्ति' इस नामकरण में मतभेद से दूसरी युक्ति दिखलाई जाती है—यद्वेत्यादि । अथवा, यह रूपक एकदेश में—अर्थात् जहाँ शब्दतः उपमान गृहीत हो वहाँ—विशेषरूप से–अर्थात् स्पष्टतया–वर्तमान रहता है। तात्पर्य यह कि अन्य अंश में स्पष्टतया वर्तमान नहीं रहता है अतः इसे 'एकदेशविवर्ति' कहा जाता है ।

उदाहरणं निर्देष्टुमाह—

समस्तवस्तुविषयं सावयवं यथा—

समस्तवस्तुविषयाख्यसावयवरूपकोदाहरणं निम्ननिर्दिष्टमवगन्तव्यमिति भावः ।

समस्तवस्तुविषय नामक सावयव रूपक, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'सुविमलमौक्तिकतारे धवलांशुकचन्द्रिकाचमत्कारे ।
वदनपरिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः ॥'

नायको नायिकामाह—सुविमलानि अतिस्वच्छानि, मौक्तिकानि मुक्ताभरणानि, तारा नक्षत्राणि यत्र तत्संबुद्धौ रूपम्, धवलं शुभ्रम्, अंशुकं वसनम्, चन्द्रिकाया चन्द्रज्योत्स्नायाः चमत्कारो विलासो यत्र तादृशी, वदनं मुखम्, परिपूर्णः सम्पूर्णमण्डलः, चन्द्रो यत्र तादृशी, हे सुन्दरी ! त्वम्, राका पूर्णिमा, असि वर्तसे, अत्र विषये, संदेहः संशयो नास्तीत्यर्थः । अत्र पद्ये चत्वारि रूपकाणि—मुक्तानक्षत्रयोरेकम्, वसनज्योत्स्नयोर्द्वितीयम्, मुखचन्द्रयोस्तृतीयम्, नायिकापूर्णिमयोश्च चतुर्थम् । एषां च रूपकाणां सिद्धिः परस्परसापेक्षा एकं रूपणं विनाऽपरस्य रूपणस्यायुक्तत्वेनानुत्थानात्, अतः सावयवरूपकोदाहरणत्वमत्र सुस्थम् ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सुविमल इत्यादि । हे सुन्दरी ! तू पूनो की रजनी हो–इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि–तुम में, तेरे आभूषण में पिरोये मोती के दाने विमलतर तारे हैं, तेरा धवल वसन चाँदनी की चमचमाहट है, तेरा मुख पूरा चाँद है–इन सभी अङ्गों के जुटे रहनेपर भला तेरे पूर्णिमा होने में कोई सन्देह कर सकता है ? यहाँ, मोती के दाने और तारों में, वसन और चाँदनी की चमचमाहट में, मुख और चन्द्र में तथा सुन्दरी और पूनों की रजनी में रूपक हुए हैं, ये सभी रूपक परस्पर सापेक्ष हैं–एक के बिना दूसरे की सिद्धि हो ही नहीं सकती, अतः 'सावयव रूपक' का उदाहरण यह पद्य कहा जा सकता है ।

एतदुदाहरणगतं विशेषमाह—

अत्र समुदायात्मकस्य सावयवरूपकस्यावयवानां सर्वेषामपि वस्तुतः सामर्थ्यसमर्थकभावस्य परस्परं तुल्यत्वेऽपि कवे राकारूपस्यैव सर्वांशेनाभिमतत्वात्समर्थकतयोपादानमितरेषामिति गम्यते । एवं स्थिते समस्तरूपकाणां विषयविषयिणोः पृथग्विभक्तेरश्रवणादनुवाद्यत्वेऽपि समर्थ्यरूपकस्य तयोः पृथग्विभक्तिश्रवणाद्विधेयतया तदादाय सङ्घातात्मकस्य सावयवरूपकस्यापि विधे-

यत्वमत्र व्यपदिश्यते। यथा भटसङ्घातान्तर्गतस्य मुख्यस्य कस्यापि भटस्य जय-पराजयाभ्यां भटसङ्घातो जितः पराजितश्चेत्युच्यते।

अवयवानामिति । मुक्तानक्षत्र-वसनज्योत्स्ना-मुखचन्द्र-नायिकापूर्णिमारूपाणामवयवरूपकाणामित्यर्थः। अभिप्रेतत्वादिति। विधेयतया वर्णनीयत्वादिति भावः। तयोर्विषय-विषयिणोः। तदादावेति। तदीयविधेयत्वमादायेत्यर्थः। अत्रेति। प्रकृतपद्य इत्यर्थः। अन्यधर्मेणान्यत्र व्यवहारे दृष्टान्तमाह—यथेति। अयं भावः—'सुविमल—' इति पद्यगतं समस्तवस्तुविषयसावयवरूपकं विधेयमिति आलङ्कारिकसम्मतो व्यवहारः। ननु मुक्तानक्षत्रयोः, वसनज्योत्स्नयोः मुखचन्द्रयोश्च रूपकाणां समस्तपदगतानां न विधेयत्वव्यवहारयोग्यत्वम्, तेषु उपमेयोपमानयोः पृथग्विभक्त्यन्तपदानुपस्थाप्यत्वात्, उद्देश्य-विधेयभावबोधे न पृथग्विभक्त्यन्तपदजन्योपस्थितेस्तन्त्रत्वात्, एवमविधेयानि तानि रूपकाणि चरमं राकारूपकं न समादाय समुदायात्मके सावयवरूपके कथं विधेयत्वव्यवहारः सङ्गच्छेदिति चेत्? सैनिकसमूहगतप्रधानसैनिकस्य जये पराजये वा यथा सैनिकसमूहस्य जयः पराजयश्च व्यवह्रियते, तथैव पृथग्विभक्त्यन्तपदोपस्थाप्यतया विधेयीभूतस्य प्रधानस्य नायिकाराकारूपकस्य समुदायात्मकसावयवरूपकघटकस्य विधेयत्वमादाय समुदायात्मकसावयवरूपकेऽपि विधेयत्वव्यवहारः सङ्गत इत्याशयात्। न च किमत्र राकारूपके प्राधान्यम् इति वाच्यम्, समर्थ्यत्वस्यैव तत्र तत्त्वात्। न च कुतस्तस्यैव समर्थ्यत्वम्, समूहात्मकसावयवरूपकघटकसकलरूपकाणां समर्थ्य-समर्थकभावस्य वस्तुतस्तुल्यत्वादिति वक्तव्यम्, तुल्येऽपि सर्वेषां वस्तुतः समर्थ्य-समर्थकभावे चरमस्य राकारूपकस्यैव समर्थ्यत्वेन कविविवक्षाविषयत्वात्। तथा च तदन्यानि रूपकाणि समर्थकान्यनुवाद्यानि चेति।

'सुविमल-' इस उदाहरण में माने जाने वाले सावयव रूपक की विधेयता सिद्ध करने की युक्ति दिखलाई जाती है—अत्र इत्यादि। यह सावयव रूपक अनेक रूपकों का समूहरूप होता है यह बात लक्षण से ही स्पष्ट है। इस समूह के अन्तर्गत जितने अवयवभूत रूपक होते हैं उन सबों में समानरूप से समर्थ्य-समर्थकभाव होता है—अर्थात् सबों को समर्थ्य और समर्थक दोनों कह सकते हैं, क्योंकि सबको सब की अपेक्षा बराबर है, फिर भी यहाँ नायिका और पूर्णिमा का जो रूपक है उसी को समर्थ्य माना जायगा और सबको समर्थक, क्योंकि कवि ने नायिका-पूर्णिमा-रूपक का समर्थन करने के लिये ही अन्य रूपकों का सर्जन किया है। फलतः यहाँ समर्थ्य होने के कारण नायिका-पूर्णिमा-रूपक प्रधान है और अन्य रूपक-अर्थात् मुक्तानक्षत्ररूपक, वसनज्योत्स्नारूपक तथा मुख-चन्द्ररूपक, समर्थक होने के कारण, अङ्गभूत हैं। ऐसी स्थिति में समर्थक सभी रूपक अर्थात् अनुवाद्य कहे जायेंगे, क्योंकि उन रूपकों में आए हुए उपमान-उपमेयों की उपस्थिति पृथक्-पृथक् विभक्ति वाले पदों से नहीं हुई है—अर्थात् वे रूपक समस्त पदों के अन्दर हैं, अतः समुदाय—समस्त पदसमूह-से एक ही विभक्ति आई है और उद्देश्य-विधेयभाव के बोध में पृथक् विभक्ति वाले पदों से अर्थ का उपस्थित होना कारण माना जाता है, तथापि समर्थ्य (प्रधान)रूपक विधेय कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें आए हुए उपमान-उपमेय की उपस्थिति पृथक् पृथक् विभक्ति वाले पदों से हुई है—अर्थात् वहाँ समास नहीं किया गया है और उस एक अंश की विधेयता को लेकर ही समूहात्मक सावयव रूपक में विधेय होने का व्यवहार किया जाता है। जैसे—योद्धाओं के समूह के अन्तर्गत किसी मुख्य योद्धा के जय अथवा पराजय से योद्धाओं के समूह का जय अथवा पराजय व्यवहृत होता है। सारांश यह हुआ कि—यदि समर्थ्यरूपक विधेय हो तो समग्र सावयवरूपक विधेय माना जाता है, और उसके अङ्गरूप समर्थकरूपकों के अनुवाद्य होने का अनुरोध नहीं किया जाता।

उदाहरणान्तरमाह—

'व्योमाङ्गणे सरसि नीलिमदिव्यतोये
तारावलीमुकुलमण्डलमण्डितेऽस्मिन् ।
आभाति षोडशकलादलमङ्कभृङ्गं
सूराभिमुख्यविकचं शशिपुण्डरीकम् ॥'

कविः पूर्णेन्दुं वर्णयति—नीलिमा नैल्यम् , दिव्यं प्रशस्ततमम् , तोयं जलम् , यस्मिन् , तस्मिन् , तथा, तारावली नक्षत्रपङ्क्तिः, मुकुलमण्डलं कमलकलिकासमुदायः (कर्मधारयः), तेन, मण्डितेऽलंकृते, अस्मिन् प्रत्यक्षे, व्योमाङ्गणे सरसि गगनसरोवरे, षोडश-कलाः ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धाश्चन्द्राङ्गभूता ज्योत्स्नाः, दलानि पत्राणि यस्मिन् तत् , अङ्कः कलङ्कः, भृङ्गः भ्रमरः, यस्मिन् तत् , तथा, सूरस्य सूर्यस्य, आभिमुख्येन सम्मुखागमनेन, विकचं विकसितम् , शशिपुण्डरीकं चन्द्ररूपं कमलम् , आभाति शोभत इत्यर्थः । परस्परसापेक्ष निष्पत्तिरूपकसमूहात्मकत्वात्तत्र सत्त्वादिदमपि पद्यं समस्तवस्तुविषयसावयवरूपकस्योदाहरण-मिति भावः ।

दूसरा उदाहरण दिखलाया जाता है—व्योम इत्यादि । कवि पूर्णचन्द्र का वर्णन करता है—आकाश एक सरोवर है । नीलिमा उसका दिव्य (प्रसन्न) जल । यह सरोवर नक्षत्रराशिरूप कमलकोरकों से विभूषित है । इस सरोवर में कलङ्क-रूप-भ्रमर से युक्त षोडशकलारूप षोडश पत्तों वाला यह विकसित-चन्द्र-रूप कमल, शोभित हो रहा है, यह कमल विकसित क्यों नहीं होता ? सूर्य के सामने जो है—सूर्य के सामने पड़े और कमल खिले नहीं यह असम्भव है । यहाँ भी परस्पर-सापेक्ष अनेक रूपकों का समूह वर्णित है, अतः यह पद्य भी 'समस्तवस्तुविषयक सावयवरूपक' का उदाहरण समझा जाता है ।

उदाहरणान्तर-दान-निदानभूतं विशेषमाह—

अस्य तु सावयवरूपकस्यानुवाद्यत्वमेव ।

पूर्वोदाहरणगतं सावयवरूपकं विधेयमासीत्, 'व्योमेति-' पद्यगतं तत्तु न विधेयम् , अपि तु अनुवाद्यमेव, कतिपयसमर्थकरूपकैः सह समर्थ्यस्य [illegible] पृथग्-विभक्तिकपदजन्योपस्थितोपमानोपमेयकताविरहेणोद्देश्यविधेयभावानवगाहित्वात्, सर्वमु-द्दिश्य भानक्रियाया एव विधानाच्चेति भावः ।

द्वितीय उदाहरण दिखलाने का बीज बतलाया जाता है—अत्र तु इत्यादि । 'सुवि-मल—' इस प्रथम उदाहरण में सावयवरूपक विधेय था, पर 'व्योम—' इस द्वितीय उदाहरण में वह विधेय नहीं है, अपि तु अनुवाद्य है, क्योंकि-समर्थक रूपकों के साथ समर्थ्य अतएव प्रधानरूपक (चन्द्र-कमल) अंश में भी पृथक् विभक्तियाँ नहीं हैं, अतः उद्देश्य-विधेयभाव नहीं हो सकता, फलतः यहाँ सभी रूपकाक्रान्त पदार्थों को उद्देश्य बनाकर भान क्रिया का ही विधान किया गया है ।

ननु सर्वमिदं [illegible] , परन्तु द्वितीयोदाहरणे सूर्याभिमुख्यविकचत्वं चन्द्रमसि वर्णितं कथं सङ्गतम् , सूर्याभिमुख्यकाले दिवसे चन्द्रविकासस्यासिद्धत्वादित्यत आह—

अत्र वर्ण्यस्य पूर्णचन्द्रस्य सूर्याभिमुख्यं ज्योतिःशास्त्रसिद्धम् । तेन सूर्याभि-मुख्ये चन्द्रस्य कथं विकास इति न शङ्कनीयम् ।

'व्योमाङ्गणे—' द्वितीयोदाहरणे पूर्णचन्द्रो वर्णनीयः, स च पूर्णिमायामेव सम्भव-तीति निर्विवादम्, पूर्णिमाचन्द्रश्च सूर्याभिमुखो भवतीति ज्योतिःसिद्धान्तसिद्धं वस्तु । अयं

भावः–सूर्यतेजसैव चन्द्रस्तेजस्वी भवतीति नाविदितं शास्त्रज्ञानाम्, एवञ्च पूर्णिमायां पूर्णं सूर्यतेजश्चन्द्रे प्रतिफलति, अत एव तस्यां तिथौ चन्द्रमसः पूर्णत्वम्—अर्थात् तस्यां तिथौ षड्राश्यन्तरितौ सूर्याचन्द्रमसौ समानान्तरतया मिथोऽभिमुखौ तिष्ठत इति।

द्वितीय उदाहरण में चन्द्रमा का सूर्याभिमुख होने के कारण विकसित होने की बात कैसे सङ्गत होगी ? क्योंकि 'दिनमें–सूर्य की आभिमुख्यावस्था में–चन्द्र का तिरोहित होना ही देखा जाता है' इस आशङ्का का उत्तर दिया जाता है—अत्र इत्यादि। 'व्योमाङ्गणे—' इस द्वितीय उदाहरण में जिस पूर्णचन्द्र का वर्णन करना कवि को अभीष्ट है, वह पूर्ण चन्द्र पूर्णिमा-तिथि में ही होता है और उस तिथि में चन्द्र, सूर्य के आमने-सामने रहता है, यह बात ज्योतिःशास्त्र के सिद्धान्त भाग में प्रसिद्ध है—अर्थात् सूर्य के तेज से ही चन्द्र में तेज आता है और जिस समय सूर्य के सामने चन्द्र पड़ता है उस समय चन्द्र का पूर्ण प्रकाश दिखाई पड़ता है और वह समय है पूर्णिमा, क्योंकि उस तिथि में सूर्य तथा चन्द्र में छ राशियों का अन्तर पड़ता है, अतः समानान्तर रेखा पर स्थित सूर्य-चन्द्र परस्पर अभिमुख रहते हैं, अतएव सूर्य की अभिमुखता में चन्द्र का विकास कैसे होगा यह शङ्का नहीं करनी चाहिए।

सावयवरूपकस्य द्वितीयं भेदमुदाहर्तुमाह—

एकदेशविवर्ति सावयवं यथा—

सावयवरूपकस्यैकदेशविवर्तिनामको द्वितीयो भेदो येन प्रकारेण सम्पद्यते स प्रकारो लक्ष्यगततया प्रदर्श्यत इति भावः।

सावयव रूपक के द्वितीय भेद का उदाहरण दिखलाने के लिये कहा जाता है—एक इत्यादि। एकदेशविवर्ति सावयव रूपक जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'भव-ग्रीष्म-प्रौढातप-निवह-सन्तप्त-वपुषो
बलादुन्मूल्य द्राङ्निगडमविवेक-व्यतिकरम्।
विशुद्धेऽस्मिन्नात्मामृतसरसि नैराश्य-शिशिरे
विगाहन्ते दूरीकृतकलुषजालाः सुकृतिनः॥'

भवरूपः संसारात्मको, यः, ग्रीष्मः तापमयः समय-विशेषः, तस्य, प्रौढेन बलवत्तरेण, आतप-निवहेन आतपरूपस्य ताप-विशेषस्य समूहेन, सन्तप्तानि व्याकुलीकृतानीति यावत्, वपूंषि शरीराणि येषां तादृशाः, सुकृतिनः पुण्यवन्तो जनाः, अविवेकः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्भेदज्ञानराहित्यम्, तस्य व्यतिकरम् सम्बन्धम्, निगडं पाशम्, अज्ञानाश्रयत्वलक्षणबन्धन-साधनमिति समुदितार्थः, द्राक् शीघ्रम्, बलात् बलात्कारेण, उन्मूल्य मूलतो निरस्य, दूरीकृतं नाशितम्, कलुषजालं पापपुञ्जम्, यैस्तादृशाः सन्तः, नैराश्येन सांसारिकविषयवैमुख्येन, शिशिरे शीतले, अथ च विशुद्धे निर्मले, अस्मिन् अतिनिकटस्थे आत्मामृत-सरसि आत्मरूपे पीयूषसरोवरे, विगाहन्ते निमज्जन्ति-मज्जनपूर्वकं स्नान्तीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भव इत्यादि। संसार वह ग्रीष्म ऋतु है जिसके प्रबल धूप-समूह (क्लेश विशेष) से मनुष्यों के शरीर झुलसते रहते हैं, पर जब कोई सद्गुरु मिल जाता है, तब उनके सदुपदेशों से धर्माचरण में प्रवृत्ति बन जाती है तभी उनके पाप-जाल दूर चले जाते हैं और जब मनुष्य निष्पाप हो जाते हैं, तब वे अतिशीघ्र जोर जबर्दस्ती, अपने में वर्तमान अज्ञान-सम्बन्धरूप पाशको जड़मूल से तोड़कर विशुद्ध तथा विषयवैमुख्य के कारण शीतल इस आत्मरूप अमृत-सरोवर में अवगाहन करने लगते हैं—डुबकियाँ लगाने लगते हैं।

उपपादयति—

अत्र सहचरैर्निगडादिरूपकैः सुकृतिषु गजरूपकमाक्षिप्यते ।

सहचरैरिति । सहवर्णितैरित्यर्थः । अनेनाक्षेपकत्वयोग्यता, गजरूपकस्य प्राधान्यं च सूचितम् । निगडादीति । आदिपदेन ग्रीष्मसरोवरादिरूपकाणां संग्रहो बोध्यः । अयं भावः— 'भवग्रीष्म—' इति श्लोके मिथःसापेक्षरीतिकानि बहूनि रूपकाणि सन्तीति तत्समुदायस्य सावयवरूपकत्वम् तत्रापि समर्थकरूपकाणाम् उपमानानि शब्दोपात्तानि, समर्थ्यरूपकोपमानस्य न शब्दोपात्तम् अपि त्वार्थमिति एकदेशविवर्तित्वमपि सिद्ध्यतीति ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'भवग्रीष्म—' इस पद्य में संसार ग्रीष्म का, अज्ञान संबन्ध-पाश का, आत्मा सरोवर का और गज पुण्यवानों का रूपक वर्णित है जो परस्पर सापेक्ष हैं, अतः इन रूपकों का समूह सावयव रूपक कहलाता है और वह सावयव रूपक भी इसलिये एकदेशविवर्ति कहलाता है कि—समर्थकरूपक शब्दतः कथित है और उन सहचारी समर्थकरूपकों से खासकर पाशरूपक से समर्थ्य-प्रधान 'गज-पुण्यवानों' का रूपक शब्दतः उक्त नहीं रहनेपर भी आक्षिप्त हो जाता है । स्पष्ट अभिप्राय यह कि—जब शरीरताप के कारण बेड़ी-तोड़कर सरोवर में मज्जन करने की बात मनुष्य में वर्णित हुई है, तब उस वर्णन से मज्जन करनेवाले मानवों की गजरूपता स्वयं विदित हो ही जाती है ।

उदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'रूपजला चलनयना नाभ्यावर्ता कचावलीभुजगा ।
मज्जन्ति यत्र सन्तः सेयं तरुणीतरङ्गिणी विषमा ॥'

कविः कथयति—रूपं सौन्दर्यं, जलं यस्यां सा, चले चपले, नयने यस्यां सा, अत्र नयनयोर्मीनरूपताऽक्षिप्यते, नाभिः आवर्तो यस्यां सा, तथा कचावली केशसमूहः भुजगः सर्पो यस्यां सा इयं प्रत्यक्षभूता, सा तादृशी, विषमा भयङ्करी, तरुणीतरङ्गिणी युवतीरूपा नदी, यत्र यस्यां नद्यां, सन्तः सज्जनाः, मज्जन्ति अवगाहन्ते ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—रूपजला इत्यादि । यह युवती वह भयङ्कर नदी है, जिस में सज्जन डूब जाते हैं । युवती नदी कैसे है ? क्यों नहीं है, जब कि एक नदी में रहने वाली सभी चीजें उस में भी वर्तमान हैं—इस में रूप ही जल है, चञ्चल नेत्र मछलियाँ हैं, नाभि आवर्त है और केशों की पङ्क्ति सर्प है ।

उदाहरणान्तरदाने बीजमुद्भावयति—

पूर्वं तु कवेः समर्थ्यत्वेनाभिमतस्य रूपकस्याक्षेपः, इह तु समर्थकत्वेनाभिमतस्य नयनयोर्मीनरूपकस्येति विशेषः ।

'भवग्रीष्म—' इति प्रथमोदाहरणे समर्थ्यत्वेन कविविवक्षाविषयस्य शब्दतोऽनुक्तस्य 'गजकृतिरूपकस्य' अर्थादाक्षेपो भवति, 'रूपजला—' इति द्वितीयोदाहरणे पुनः समर्थकत्वेन कविविवक्षाविषयस्य शब्दतोऽनुपात्तस्य नयनमीनरूपकस्यार्थादाक्षेप इति द्वयोरुदाहरणयोर्विशेषः । एतद्विशेषप्रदर्शनार्थमेवोदाहरणद्वयदानमिति भावः ।

द्वितीय उदाहरण दिखलाने में बीज कहा जाता है—पूर्वं तु इत्यादि । प्रथम उदाहरण-'भवग्रीष्म—'-में उस गज-रूपक का अर्थतः आक्षेप होता है, जिसे कवि समर्थ्य

रूप में उपस्थित करना चाहता है, और द्वितीय उदाहरण—'रूपजला—'—में उस मीन रूपक का अर्थतः आक्षेप होता है, जिसे कवि समर्थक रूप में वर्णित करना चाहता है। सारांश यह कि समर्थ्य अथवा समर्थक दोनों रूपकों में से किसी भी प्रकार के रूपक का अर्थतः आक्षेप होने पर एकदेशविवर्ति रूपक होता है—उन में से समर्थ्य के आक्षेप वाले रूपक का उदाहरण है प्रथम पद्य और समर्थक के आक्षेप का उदाहरण है दूसरा पद्य।

ननु रूपकसंघातात्मकस्यास्य सावयवरूपकस्य कथं रूपकभेदेषु पृथग्गणनेति शङ्कां समाधातुमाह—

अत्र च चमत्कारविशेषजनकतया रूपकसंघातात्मकमपि सावयवरूपकं रूपकालंकृतिभेदगणनायां गण्यते। यथा मौक्तिकालंकृतिभेदगणनायामेकं नासामौक्तिकमिव सङ्घातात्मकमौक्तिकमञ्जर्यादयोऽपि गण्यन्ते। अन्यथा मालारूपस्योपमादेस्तद्भेदगणनेऽगणनप्रसङ्गात्। एतेन 'गवां सङ्घातो गोभेदानां कपिलादीनां गणनायां यथा न गण्यते तथा रूपकभेदगणनाप्रस्तुतौ न तत्सङ्घातात्मकं सावयवं गणनीयम्' इति परास्तम्।

जनकतयेति। गणनायां हेतुरयम्। गण्यत इति। पृथगिति शेषः। लोकदृष्टान्तेन सिद्धमर्थं प्रतिपाद्य व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—अन्यथेति। सङ्घातस्य [illegible] पृथग्गणने इति तदर्थः। तद्भेदेति। उपमालङ्कारभेदेत्यर्थः। साहित्यशास्त्रे चमत्कारवैलक्षण्यमेव भेदवैलक्षण्ये निदानम्। तथा च यथा मुक्तालङ्कारभेदगणनप्रसङ्गे एकं नासाभरणभूतमौक्तिकमिव भिन्नविधशोभासम्पादकतया मुक्तासमूहात्मका मुक्तामञ्जर्यादयोऽपि पृथग् गण्यन्ते, तथैव एकस्य रूपकस्यापेक्षया चमत्कारविशेषोत्पादकतया रूपकसमूहात्मकं सावयवरूपकमपि रूपकालङ्कारभेदगणनप्रसङ्गे पृथक् परिगण्यते। यदि रूपकसङ्घातात्मकस्य सावयवरूपकस्य रूपकालङ्कारभेदेषु पृथग् गणनं न क्रियेत, तर्हि उपमासमूहात्मकस्य [illegible] न करणीयं स्यात्, क्रियते तद्गणनं सर्वैरित्यत[illegible]पि पृथग्गणनं कर्तव्यमेव। अन्यदृष्टान्तेन सावयवरूपकस्य पृथग्रूपकभेदगणनेऽगणनं [illegible] निरसितुमाह—एतेनेति। [illegible]त्यर्थः। अस्य 'परास्तम्' इत्यत्रान्वयः। प्रस्तुतौ प्रस्तावे। गोविशेष-कपिलादि-गणनावसरे गोसमूहो यथा पृथग् गोभेदत्वेन न परिगण्यते, तथैव रूपकभेदगणनावसरे रूपकसमूहात्मकस्य सावयवरूपकस्यापि पृथक् परिगणनं नोचितमिति केचिदाचक्षते, किन्तु तन्न युक्तम्, प्रति-गोव्यक्तिवत् गोसमूहो नापरं किञ्चित् कार्यं करोतीति तस्य गोभेदगणनेऽगणनेऽपि एकनासामौक्तिकापेक्षया भिन्नविधकार्यकारित्वेन मौक्तिकसमूहात्मकमुक्तामञ्जर्यादिवत् भिन्नविधचमत्कारकारित्वेन रूपकसंघातात्मकस्य सावयवरूपकस्य पृथग्गणने बाधकाभावादिति भावः।

सावयव रूपक जब रूपकों का समूह ही होता है तब उसकी गणना रूपकालङ्कार के पृथक् भेदों में क्यों की जाती है इस आशङ्का का समाधान करने के लिए कहा जाता है—अत्र च इत्यादि। साहित्य-शास्त्र में भिन्न-भिन्न प्रकार के चमत्कारों को उत्पन्न करने के कारण ही भिन्न-भिन्न भेद माने जाते हैं, ऐसी स्थिति में रूपकों का समूहरूप होने पर भी 'सावयव रूपक' की गणना रूपकालङ्कार के भिन्न भेद में होती है—अर्थात् 'सावयवरूपक' रूपकालङ्कार का एक पृथक् प्रकार माना जाता है, क्योंकि किसी एक रूपक में जैसा चमत्कार उत्पन्न होता है उससे सर्वथा भिन्न तरह का चमत्कार रूपकसमूहात्मक 'सावयवरूपक' में होता है। इस बात की पुष्टि लौकिक दृष्टान्त से भी होती है। देखिए—मुक्ताभरणों की गणना करते समय जैसे एक मोतीवाला नासामौक्तिक

(नकवेसर) एक पृथक् मुक्ताभरण के रूप में गिना जाता है वैसे ही अनेक दानोंवाली (मुक्तासमूह रूप) मोती की माला भी एक पृथक् मुक्ताभरण के रूप में गिनी जाती है। ठीक भी है, एक मोती से बने आभूषण की अपेक्षा अनेक मोतियों से बने आभूषण में कुछ भिन्न ही शोभा होती है। इसी प्रकार 'सावयवरूपक' के विषय में भी समझना चाहिए। यदि रूपकसमूहात्मक 'सावयवरूपक' की गणना एक स्वतन्त्र रूपकप्रभेद के रूप में नहीं की जाय, तब जो सभी आलङ्कारिक लोग मालोपमा आदि को उपमा आदि के स्वतन्त्र प्रभेद के रूप में गिनते हैं, वह भी न बने, क्योंकि मालोपमा भी अनेक उपमाओं का समूह ही होता है। यद्यपि कुछ लोग कहते हैं कि—जैसे गायों का वर्गीकरण करते समय कपिला आदि की तरह गायों को झुण्ड एक पृथक् वर्ग नहीं माना जाता, वैसे ही रूपकालङ्कार का वर्गीकरण करते समय रूपक समूहात्मक 'सावयवरूपक' को भी पृथक् वर्ग में नहीं गिनना चाहिये, परन्तु ऐसा कहनेवाले उक्त मुक्ताभरण वाले दृष्टान्त से परास्त हो जाते हैं—तात्पर्य यह कि गायों का वर्गीकरण उसके वर्ण को आधार बनाकर किया जाता है, अतः भिन्न-भिन्न वर्णवाली गायों को भिन्न-भिन्न वर्ग में गिनते हैं और नाना तरह के वर्णों वाले उसके झुण्ड को किसी खास वर्ग में नहीं गिनते, पर यहाँ तो ऐसी बात नहीं है, अर्थात् अलङ्कारों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न तरह की शोभा को उत्पन्न करने के कारण किया जाता है—वर्गीकरण का आधार कार्य होता है, ऐसी स्थिति में भिन्न तरह के चमत्कार को उत्पन्न करने वाले समूह को भी प्रत्येक से भिन्न अलङ्कार के रूप में गिना जाता है।

[illegible] तद्धारकं तयोर्वैलक्षण्यमाह—

[illegible] सङ्घातात्मकत्वेनाविशेषेऽनेकविषयत्व-परस्परनिरपेक्षत्वाभ्यामस्ति महान् विशेषः।

एवमिति। [illegible] पृथग्गणनमपीत्यर्थः। अविशेषेऽपीति। अभेदेऽपीत्यर्थः। एकविषयकत्वेति। मालारूपकनिष्ठावेतौ धर्मौ। सावयवं चानेकविषयकं परस्परसापेक्षञ्चेति बोध्यम्। 'सावयवं' 'माला' चेति द्वावपि रूपकभेदौ रूपकसमूहात्मकौ, तथा च समूहात्मकत्वरूपेण द्वावप्यभिन्नौ, यद्यपि, तथापि सावयवेऽनेके विषयाः (उपमेयीभूतपदार्थाः), मालायाञ्च एक एव विषयः। एवम् सावयवावयवभूतानि रूपकाणि परस्परसापेक्षाणि, मालावयवभूतानि च तानि मिथो निरपेक्षाणि, [illegible]।

'सावयवरूपक' और 'मालारूपक' में भेद बताया जाता है—एवम् इत्यादि। ये दोनों अलङ्कार (सावयवरूपक तथा मालारूपक) अनेक रूपकों के समूह रूप हैं अतः यद्यपि दो पृथक् अलङ्कार कहे जाने योग्य नहीं दिखाई पड़ते, तथापि 'रूपक' के दो भिन्नविध प्रभेद के रूप में ये दो अलङ्कार माने जाते हैं और बहुत ठीक माने जाते हैं, क्योंकि समूहात्मक होने से दोनों की एकता सिद्ध नहीं हो जाती—एक (सावयव) में उपमेय अनेक रहते हैं और 'समूह' की एक-एक इकाई (अवयवभूत एक-एक रूप में) परस्पर सापेक्ष रहती है, इसके विपरीत, दूसरे (माला) में उपमेय एक रहता है और 'समूह' की एक-एक इकाई परस्पर निरपेक्ष रहती है। सारांश यह कि—किसी एक अंश में समानता रहने पर भी 'सावयवरूपक' तथा 'मालारूपक', अनेक अंशों में भिन्नता रखने के कारण, दो भिन्न भेद रूपक के होते हैं।

त्रिधा विभक्तेषु रूपकेषु प्रथमः सावयवात्मको भेदः सोपभेदो निरूपितः, इदानीं द्वितीयं निरवयवात्मकं भेदं निरूपयितुमाह—

निरवयवं केवलं यथा—

निरवयवस्य यद्यपि लक्षणं न कृतम्, तथापि सावयव-भिन्नरूपकत्वम् निरवयवरूपक-

त्वम्' इति नामाक्षरस्वारस्यसिद्धं लक्षणं स्फुटमेवावगम्यते, तस्य च तल्लक्षणसिद्धस्य भेद-स्य केवलमालारूपौ द्वावुपभेदौ, तयोः प्रथमोपभेदस्य प्रकारो निर्दिश्यत इति भावः ।

सावयव, निरवयव तथा परम्परित ये तीन प्रधान भेद जो पहले रूपक के किए गए थे, उनमें प्रथम भेद (उपभेद-सहित) का निरूपण किया जा चुका, अब द्वितीय भेद का निरूपण किया जाता है—निरवयवम् इत्यादि। 'निरवयव' रूपक का लक्षण यद्यपि पहले करना चाहिये था, पर ऐसा इसलिये नहीं किया गया कि—'निरवयव' इस नाम से ही "सावयव से भिन्न जो रूपक वह 'निरवयव' कहलाता है-अर्थात् परस्पर अपेक्षा न रखनेवाले रूपकों का समूह 'निरवयवरूपक' है" यह लक्षण ज्ञात हो जाता है, इसके भी दो उपभेद होते हैं—एक केवल और दूसरा माला, उनमें से प्रथम जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते —

'बुद्धिर्दीपकला लोके यया सर्वं प्रकाशते ।
अबुद्धिस्तामसी रात्रिर्यया किञ्चिन्न भासते ॥'

बुद्धिर्ज्ञानम्, दीपकला प्रदीपज्वाला, अस्तीति शेषः, यया दीपकलया, लोके संसारे, सर्वम् वस्तुजातम्, प्रकाशते ज्ञातं भवति । अपि च, अबुद्धिरज्ञानम्, तामसी अन्धकार-मयी, रात्रिः रजनिरूपा, विद्यते इति शेषः, यया तमोमयरात्रिरूपयाऽबुद्ध्या, किञ्चित् वस्तु, न भासते अज्ञातं तिष्ठतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—बुद्धिः इत्यादि । ज्ञान दीपक की ज्वाला है, जिससे संसार में सभी चीजें प्रकाशित होती हैं—ज्ञात होती हैं और अज्ञान अन्धकारमय रात्रि रूप है, जिससे कुछ नहीं भासित होता—सभी चीजें अज्ञात रह जाती हैं।

उपपादयति—

अत्र रूपकद्वयमपि सापेक्षरूपकसङ्घातात्मकत्वविरहान्निरवयवम् । मालात्मकत्वविरहाच्च केवलम् ।

'बुद्धिर्दीपकला—' इति श्लोके बुद्धि-दीपकलयोरेकमबुद्धि-तामसरात्र्योश्च द्वितीयं रूपकं वर्णितम्, एवञ्च रूपक-सङ्घातोऽप्यस्ति, परन्तु तत्र सङ्घातघटकयोर्द्वयो रूपकयोः परस्पर-सापेक्षता नास्तीति सापेक्षरूपकसङ्घातात्मकत्वस्य विरहात् सावयवरूपकत्वस्याभावात् निरवयव-रूपकत्वं सिद्ध्यति । एकस्मिन्नुपमेयेऽनेकोपमानतादात्म्यत्वम् । मालारूपकात्मकत्वम्, तदभावाच्च केवलरूपत्वमस्य रूपकस्य सिद्ध्यति । बुद्ध्यबुद्ध्योर्द्वयोरुपमेययोर्दीपकला-तामस-रात्र्योरुपमानद्वयतादात्म्यमेवात्र सम्पादितं कविनेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'बुद्धिर्दीपकला—' इस पद्य में दो रूपक वर्णित हैं—एक 'बुद्धि-दीपकला' का और दूसरा 'अबुद्धि-अन्धकारमयरात्रि' का । इस तरह यहाँ भी यद्यपि रूपकों का समूह है, पर उस समूह के अन्तर्गत दोनों रूपक परस्पर सापेक्ष नहीं हैं, फलतः परस्पर सापेक्ष रूपकों का समूह यहाँ तैयार नहीं होता, अतः यह 'निरवयव' रूपक का उदाहरण सिद्ध होता है । और वह 'निरवयवरूपक' भी 'केवल' है, क्योंकि यहाँ 'माला' रूपता का अभाव है-अर्थात् यहाँ एक उपमेय में अनेक उपमानों का तादात्म्य नहीं दिखलाया गया है—बुद्धिरूप उपमेय में दीपकलारूप उपमान का और अबुद्धिरूप उपमेय में अन्धकारमयरात्रिरूप उपमान का तादात्म्य दिखलाया गया है ।

निरवयवरूपकस्य द्वितीयमुपभेदमुदाहर्तुमाह—

निरवयवं मालारूपकं यथा—

निरवयवरूपकोपभेदभूतमालारूपकस्य प्रकारो निर्दिश्यत इति भावः ।

निरवयव रूपक का द्वितीय उपभेद मालारूपक, जैसे—

उदाहरणं निदिश्यते—

> 'धर्मस्यात्मा भागधेयं क्षमायाः सारः सृष्टेर्जीवितं शारदायाः ।
> आज्ञा साक्षाद् ब्रह्मणो वेदमूर्त्तेराकल्पान्तं राजतामेष राजा ॥'

कविः कस्यापि राज्ञश्चिरजीवनमाशंसते—धर्मस्य पुण्यस्य, आत्मा अनन्योपाराकत्वेन आत्मरूपः, क्षमायाः पृथिव्याः तितिक्षाया वा, भागधेयम् सर्वोत्कृष्ट-संरक्षकतया सौभाग्यरूपः, सृष्टेः संसारस्य, सारः सर्वोत्कृष्टपदार्थरूपः, शारदायाः सरस्वत्याः, जीवितम् प्रियतरतया प्राणरूपः, तथा, वेदमूर्तेः वेदात्मकस्य, साक्षाद् ब्रह्मणः अप्रतिहतशक्तिकत्वाद् वस्तुतो ब्रह्मणः, आज्ञा अपरिहरणीयवचनतयाऽऽदेशरूपः, एषः वर्णनीयः कश्चित्, राजा नृपः, आकल्पान्तम् कल्पान्तकालपर्यन्तम्, राजताम् विद्योततामित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—धर्मस्य इत्यादि । धर्म के लिये आत्मस्वरूप, क्षमा (पृथ्वी अथवा सहनशीलता) के लिये भाग्यस्वरूप, सृष्टि के लिये साररूप, सरस्वती के लिये जीवनस्वरूप और वेदरूप साक्षात् ब्रह्म (अर्थात् सर्वनियन्ता) का आदेश स्वरूप यह राजा कल्पान्त काल तक विराजमान रहे ।

उपपादयति—

एकविषयकनानापदार्थारोपरूपत्वान्मालारूपमिदम् । परस्परसापेक्षत्वविरहाच्च निरवयवम् ।

एकेति । राजेत्यर्थः । विषयेति । उपमेयेत्यर्थः । नानापदार्थेति । धर्मात्म-क्षमाभाग्य-सृष्टिसार-शारदाजीवन-वेदाज्ञेत्यर्थः । आरोपेति । तादात्म्यारोपेत्यर्थः । सापेक्षत्वविरहादिति । एकोपमेयकानेकोपमानतादात्म्यारोपाणाम् मिथो निरपेक्षत्वादिति भावः । 'धर्मस्यात्मा—' इति श्लोके राजरूपे एकस्मिन्नुपमेये धर्मात्मादीनामनेकेषामुपमानानां तादात्म्यमारोपितमिति मालारूपमिदं रूपकं सम्पद्यते । तच्च रूपकं निरवयवम्, आरोप्यमाणानां तादात्म्यानां मिथोऽनपेक्षत्वादिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—एक इत्यादि । 'धर्मस्यात्मा—' इस पद्य में जो रूपक वर्णित हुआ है उसमें उपमेय एक है और उपमान अनेक—अर्थात् एक राजा में ही धर्म की आत्मा आदि अनेक पदार्थों का तादात्म्य आरोपित हुआ है, अतः यह मालारूपक है और वे रूपक एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते—अर्थात् धर्मात्मा आदि पदार्थों में से किसी एक का भी तादात्म्य स्वतन्त्ररूप से (दूसरे के तादात्म्य की अपेक्षा किए बिना) राजा में आरोपित हो सकता है, अतः निरवयव है ।

अथेदानीं निरूपणीयस्य रूपकतृतीयभेदस्य तावल्लक्षणमाह—

यत्र चारोप एवारोपान्तरस्य निमित्तं तत्परम्परितम् ।

कश्चिन्निर्दिष्टे उपमेये तदुपमानतादात्म्यस्य य आरोपस्तद्धेतुको यः अपरस्मिन् उपमेये तदुपमानतादात्म्यारोपस्तत् परम्परितरूपकमिति भावः ।

अत्र रूपक-तृतीय भेद-निरूपण प्रसङ्ग में सर्वप्रथम उसी भेद का लक्षण किया जाता है—यत्र च इत्यादि । जहाँ एक आरोप ही दूसरे आरोप का कारण हो वहाँ वह परम्परित रूपक कहा जाता है । तात्पर्य यह कि—किसी एक उपमेय में उसके उपमान का तादात्म्यारोप करने के कारण जो दूसरे उपमेय में उसके उपमान का तादात्म्यारोप हो वह परम्परित रूपक होता है ।

प्राग्लक्षितस्य परम्परितस्य द्वौ भेदौ श्लिष्टपरम्परितम्, शुद्धपरम्परितञ्च, तत्राद्यस्य लक्षणमाह—

तत्रापि समर्थकत्वेन विवक्षितस्यारोपस्य श्लेषमूलकत्वे श्लिष्टपरम्परितम् ।

तत्रापीति । पूर्वलक्षिते परम्परितेऽपीत्यर्थः । विवक्षितस्येति । कविनेति भावः । परम्परितशरीरप्रविष्टयोर्द्वयोरारोपयोर्मध्ये हेतुभूत आरोपः समर्थकतया, कार्यभूतश्चारोपः समर्थ्यतया, कविविवक्षाविषयो भवति, तत्र समर्थकारोपो यदा श्लेषमूलकः (श्लिष्टपदोपस्थापितोपमानकः) यदा समर्थ्य-समर्थकभावापन्नः स रूपकसमूहः श्लिष्टपरम्परितमिति भावः ।

जिसका लक्षण पहले किया गया है, उस परम्परित रूपक के भी दो उपभेद होते हैं—एक श्लिष्ट परम्परित और दूसरा शुद्ध परम्परित (इन दोनों उपभेदों के भी पुनः केवल' और 'माला' रूप से दो-दो प्रभेद हो जाते हैं, यह ध्यान रखना चाहिए।) उनमें से प्रथम का परिचय कराया जाता है—तत्रापि इत्यादि। अभिप्राय यह है कि—"परम्परित रूपक में दो रूपक रहते हैं—अर्थात् दो उपमेयों में अपने-अपने दो उपमानों का तादात्म्य-(अभेद-एकरूपता)-आरोप हुआ रहता है, उनमें से एकरूपक दूसरे रूपक का समर्थक रहता है—एक का दूसरा कारण रहता है—एक के बिना दूसरा हो ही नहीं सकता" यह बात परम्परित के लक्षण से विदित हो चुकी है। अब यह भी विदित होना चाहिए कि-उक्त दोनों रूपकों में से कौन समर्थक हो और कौन समर्थ्य इसका निर्णय वक्ता (कवि) की इच्छा पर निर्भर करता है—अर्थात् वक्ता जिस (रूपक) को समर्थक और जिसको समर्थ्य बनाना चाहे-बना सकता है और जिसको समर्थक बनाया गया रहेगा वह यदि श्लेषमूलक हो—अर्थात् समर्थक रूपक की उपस्थिति यदि श्लिष्ट-पदों द्वारा हुई हो, तब वह श्लिष्ट-परम्परित रूपक कहलाता है। (इस परिचय से ही यह भी ज्ञात हो जाना चाहिए कि समर्थक रूपक की उपस्थिति श्लिष्ट-पदों द्वारा न होकर यदि पृथक्-पृथक् दो पदों (अश्लिष्ट-पदों) द्वारा हुई हो तब वह शुद्ध परम्परित समझा जायगा।)

श्लिष्टपरम्परितरूपकमुदाहरति—

यथा—

जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> 'अहितापकरणभेषज नरनाथ भवान् करस्थितो यस्य ।
> तस्य कुतो हि भयं स्यादखिलामपि मेदिनीं चरतः ॥'

अहितानाम् शत्रूणाम्, अपकरणम् अपकारः एव, अहीनां सर्पाणाम्, तापकरणम् सन्तापादनम्, तत्र, भेषज ! औषधस्वरूप ! हे नरनाथ राजन् ! भवान्, यस्य जनस्य, करस्थितः लक्षणया सापक्षः, विजत इति शेषः, अखिलां समग्राम्, मेदिनीं पृथिवीम्, चरतः भ्रमतः, तस्य, अहिभयरूपम् हि भयं निश्चितभयम्, कुतः कस्माद्धेतोः, स्याद् भवेत् ? न भवेदिति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अहिताप इत्यादि। हे नरनाथ ! आप 'अहितापकरणभेषज' (शत्रुओं का अपकार करना ही सर्पों को ताप पैदा करना है उसके औषध) हैं। आप जिसके हाथ में स्थित हैं—पक्ष में हैं, उसे सम्पूर्ण धरातल पर घूमते हुए भी '(अ) हि-भयम्' (सर्पभयरूप निश्चितभय) कैसे हो सकता है ?

उपपादयति—

अत्र द्वयोरप्यारोपयोः समर्थ्यसमर्थकभावस्य वस्तुतस्तुल्यत्वेऽप्यहितानामपकरणमेवाहीनां तापकरणमिति श्लेषमूलकेनारोपेण राजनि भेषजतादात्म्यारोपस्य समर्थनीयतया कवेरभिप्रायः। अत एव भङ्गश्लेषनिवेदितोऽहिभयाभावोऽपि सङ्गच्छते।

द्वयोरिति। अहिसम्बन्धितापकरणभेषजारोपयोरित्यर्थः। कवेरिति। प्राधान्यादिति भावः। अत एवेति। भेषजतादात्म्यारोपस्य समर्थनीयतया कवितात्पर्यविषयत्वादेवेत्यर्थः। भङ्गेति। पदभङ्गेनेत्यर्थः। ('कुतो हि भयम्' इत्यत्र 'कुतः अहिभयम्—हि = निश्चितम्, भयम्' इत्याकारकेति यावत्) 'अहिताप—' इत्यत्र 'शत्र्वपकरणे सर्पतापकरणस्य' 'राज्ञि औषधस्य' इति द्वावारोपौ (द्वे रूपके) तयोः समर्थ्यसमर्थकभावस्तुल्यः—अर्थात् शत्र्वपकरणे सर्पतापकरणस्यारोपे आकृते यथा राज्ञि भेषजस्यारोपः सोपपत्तिको भवति, तथैव राज्ञि भेषजारोपे एव आकृते शत्र्वपकरणे सर्पतापकरणस्यारोपः सोपपत्तिको जायते इति यद्यपि सत्यम्, तथापि राज्ञि भेषजारोप एव श्लेषमूलकेन शत्र्वपकरणे सर्पतापकरणारोपेण समर्थयितुं कवेरभिमतः, अत एव 'कुतो हि भयं स्यात्' इत्यंशे 'अहिभयं कुतः स्यात्' इत्याकारकेण सभङ्गश्लेषेण बोधितः सर्पभयविरहः सङ्गतो भवति। यदि राज्ञि कृतेन भेषजारोपेण शत्र्वपकरणे क्रियमाणस्य सर्पतापकरणारोपस्य समर्थनं कवेरभिमतमभविष्यत्, तदा प्रोक्तसभङ्गश्लेषबोधितः सर्पभयाभावो निरवकाश एव प्रासज्जिष्यत्। एवञ्च श्लिष्टपरम्परितत्वं मालारूपताविरहात् केवलत्वञ्चात्र सिद्धमिति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'अहिताप—' इस पद्य में जो आरोप हुए हैं—एक "'शत्रुओं के अपकार' में 'सर्पों के ताप उत्पन्न करने का' और दूसरा 'राजा' में 'औषध' का"। यद्यपि इन दोनों आरोपों में सामर्थ्य–समर्थकभाव समान है—अर्थात् दोनों ही दोनों के समर्थक और दोनों ही दोनों से समर्थित माने जा सकते हैं, तात्पर्य यह कि जिस तरह 'शत्रुओं के अपकार में सर्पतापकरण' के आरोप करने से 'राजा में औषध का आरोप' करते बन पड़ता है उसी तरह 'राजा में औषध के आरोप करने से शत्रुओं के अपकार में सर्पतापकरण' का आरोप सयुक्तिक होता है, अतः इन दोनों आरोपों में से किसी एक को समर्थ्य अथवा समर्थक नहीं कह सकते, तथापि 'शत्रुओं के अपकार करने' में 'सर्पों को ताप उत्पन्न करने' के श्लेषमूलक आरोपद्वारा 'राजा में औषध' का आरोप कवि को अभिमत है, न कि राजा में औषध के आरोपद्वारा पूर्वोक्त श्लेष-मूलक आरोप का समर्थन। अतएव सभङ्गश्लेष (कुतः अहिभयम्, हि = निश्चितं कुतः भयम्) द्वारा बोधित सर्प-भय का अभाव सङ्गत होता है। अन्यथा—यदि पूर्वोक्त श्लेषमूलक आरोप (शत्रु अपकरण में सर्पतापकरणारोप) का समर्थन करना ही कवि को अभिमत होता तो–आगे सभङ्गश्लेषद्वारा बोधित सर्पभय का अभाव अप्रासङ्गिक हो जाता। इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि–यहाँ एक आरोप ही दूसरे आरोप का कारण है, अतः परम्परित और उन दोनों आरोपों में भी समर्थक आरोप का श्लेषमूलक होने से श्लिष्ट परम्परित रूपक का यह उदाहरण अवश्य है। साथ ही मालारूपता के अभाव रहने के कारण यह श्लिष्ट केवल परम्परित रूपक कहा जाता है।

श्लिष्टपरम्परितं मालारूपमुदाहर्तुमाह—

इदमेव मालारूपं यथा—

इदमेवेति। श्लिष्टपरम्परितमेवेत्यर्थः।

श्लिष्ट परम्परित मालारूप, जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

'कमलावासकासारः क्षमाधृतिफणीश्वरः ।
अयं कुवलयस्येन्दुरानन्दयति मानवान् ॥'

कविः कमपि राजानं स्तौति—कमलायाः लक्ष्म्याः, वास एव कमलानाम् वारिजानाम्, आवासः, तत्र विषये, कासारः सरोवररूपः, क्षमायाश्तितिक्षायाः, धृतिः धारणमेव, क्षमायाः पृथिव्याः धृतिः, तत्र विषये, फणीश्वरः शेषनागरूपः, तथा कोः पृथिव्याः, वलयम् मण्डलमेव, कुवलयम् रात्रिविकासिकमलविशेषः, तस्य, इन्दुश्चन्द्रः, अयं वर्णनीयो राजा, मानवान् लोकान् आनन्दयति सुखयतीत्यर्थः । अत्र समर्थककमलावासाद्यारोपस्य श्लेषमूलकस्य चन्द्रारोपे निमित्तत्वाद्राज्ञि कासाराद्यनेकपदार्थारोपरूपत्वाच्च मालाश्लिष्टपरम्परितरूपकतेति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कमला इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—यह (वर्णनीय कोई राजा) 'कमलावास' (कमला=लक्ष्मी के वास रूप कमलों के आवास) के विषय में कासार-सरोवर है, 'क्षमा' (सहनशीलता रूप पृथिवी) के धारण करने के विषय में फणीश्वर-शेषनाग है और 'कुवलय' (भूमण्डलरूप रात्रि विकासी कमलों) का चन्द्रमा है, अतः मनुष्यों को आनन्दित कर रहा है । यहाँ समर्थक कमलावासादि का आरोप चन्द्र के आरोप में निमित्त होता है तथा एक राजारूप उपमेय में कासार आदि अनेक पदार्थों का आरोप हुआ है अतः यह श्लिष्ट परम्परित माला रूपक का उदाहरण होता है ।

परम्परितद्वितीयभेदस्य प्रथममुपभेदमुदाहर्तुमाह—

शुद्धपरम्परितं केवलं यथा—

केवलस्य शुद्धपरम्परितरूपकस्य सम्पत्तेः प्रकार उदाहरणमुखेन प्रदर्श्यत इति भावः ।

शुद्ध परम्परित केवल रूपक, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'देवाः के पूर्वदेवाः समिति मम नरः सन्ति के वा पुरस्ता-
देवं जल्पन्ति यावत्प्रतिभट-पृतना-वर्तिनः क्षत्र-वीराः ।
तावत्प्रायाति राजन्नयमविषयताभ्रान्तकत्रासिमूर्ते
शुम्भारिप्राणदुग्धाशनपरहणकश्चिस्त्वत्कृपाणो भुजङ्गः ॥'

अर्थशक्तिमूलध्वन्युदाहरणप्रकरणे (१११ पृष्ठे) व्याख्यातोऽयं श्लोकः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—देवाः इत्यादि । इस पद्य की व्याख्या पहले (अर्थशक्तिमूलकध्वनियों के उदाहरण देते समय, पृ० ११२ में) की जा चुकी है ।

उपपादयति—

अत्रापि भुजङ्गारोपो दुग्धारोपसमर्थ्यत्वेनाभिमतः ।

'देवाः के—' इति श्लोके द्वे रूपके वर्णिते, तत्रैकस्मिन् रूपकेऽरिप्राणे दुग्धारोपः, द्वितीये च कृपाणे भुजङ्गारोपः । अनयोश्च प्रथम आरोपः समर्थकत्वेन द्वितीयश्च समर्थ्यत्वेन कवेरभिप्रेतः । एवञ्च परम्परितत्वमस्य सिद्ध्यति । श्लेषाभावात् शुद्धत्वं मालात्मकताविरहाच्च केवलत्वमित्यपि बोध्यम् ।

उपपादन किया जाता है—अत्रापि इत्यादि । 'देवाः के—' इस पद्य में भी, खड्ग में सर्प के आरोप का, प्राणों में दुग्ध के आरोप द्वारा समर्थन करना कवि को अभीष्ट है । अभिप्राय यह कि—उक्त पद्य में दो रूपक वर्णित हुए हैं—एक 'प्राण-दुग्ध' का और

दूसरा 'खड्ग-सर्प' का। इन दोनों रूपकों में से, प्रथम में दुग्ध का आरोप प्राण में किया गया है और द्वितीय में सर्प का खड्ग में। इन दोनों आरोपों में प्रथम को समर्थक और द्वितीय को समर्थ्यरूप से कवि ने उपस्थित किया है अतः यह परम्परित, और श्लेष के नहीं रहने से शुद्ध, तथा मालारूप न होने से केवल रूपक कहा जाता है।

परम्परितद्वितीयभेदस्य द्वितीयमुपभेदमुदाहर्तुमाह---

तदेव मालारूपं यथा—

तदेवेति। शुद्धपरम्परितमेवेत्यर्थः।

शुद्ध परम्परित मालारूपक, जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

'प्राचीसन्ध्या समुद्यन्महिमदिनमणेर्मानमाणिक्यकान्ति-
ज्वालामाला कराला कवलितजगतः क्रोधकालानलस्य।
आज्ञा-कान्ता-पदाम्भोरुहतलविगलन्मञ्जुलाक्षारसाभा
क्षोणीन्द्रो सङ्गरे ते लसति नयनयोरुद्धटा शोणिमश्रीः॥'

हे क्षोणीन्द्रो धराचन्द्र! समुद्यतः उदयं गच्छतः, महिमरूपस्य प्रतापरूपस्येति यावत्, दिनमणेः सूर्यस्य, प्राचीसन्ध्या प्रभातवेला, मानरूपस्य आत्माभिमानात्मकस्य माणिक्यस्य मुक्ताविशेषस्य, कान्तिः, प्रभा, कवलितं भक्षितं दग्धमिति यावत्, जगत्, येन तस्य क्रोधरूपस्य, कालानलस्य प्रलयाग्नेः, कराला भयङ्करी, ज्वालामाला ज्वालापङ्क्तिः, तथा आज्ञारूपिण्याः, कान्तायाः, पदाम्भोरुहतलात् चरणकमलतलात्, विगलतः पततः मञ्जोः रमणीयस्य, लाक्षारसस्य यावकद्रवस्य, आभा कान्तिः, इव कान्तिर्यस्यास्तादृशी, उद्भटा उत्कटा, शोणिमश्रीः आरुण्यशोभा, सङ्गरे युद्धे, ते तव, नयनयोश्चक्षुषोः, लसति चकास्तीत्यर्थः। अत्र, तृतीयं चरणं निर्णयसागरमुद्रितप्राचीनसंस्करणगतपाठानुसारि अयमेव पाठः हिन्दीरसगङ्गाधरकारेणापि स्वीकृतो मयाऽनुमोदितः। काशीमुद्रितपुस्तके तु 'आज्ञा, कान्तापदाम्भोरुहतलविगलन्मञ्जुलाक्षारसानाम्' इति पाठो दृश्यते। भट्टमथुरानाथोऽपि स्वसम्पादितेऽधुना प्रचुरप्रचारे संस्करणे काशीमुद्रितपुस्तकपाठमेव समावेशयत्, 'कान्ता-पादलाक्षारसानाम् आज्ञा, तव नयनयोः शोणता लाक्षारसानामाज्ञेव शोणतासम्पादयित्री' इति च तदाशयमाख्यत्। अत्र समर्थकानां दिनमण्याद्यारोपाणां श्लेषामूलकानां सन्ध्याद्यारोपेषु निमित्तत्वात् शोणिमश्रियां सन्ध्याद्यनेकपदार्थारोपाच्च शुद्धपरम्परितमालारूपक-मिदमिति भावः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—प्राची इत्यादि। हे धराचन्द्र! जो उदीयमान भवदीय-प्रताप-सूर्य की पूर्व सन्ध्या (उषःकाल) है, जो आत्माभिमानरूप मोती की कान्ति है, जो संसार को कवलित (दग्ध) करनेवाले क्रोधरूप प्रलयाग्नि की भयङ्कर ज्वालापरम्परा है और जिसकी आभा आज्ञारूप कामिनी के चरणकमलतल से गिरते लाक्षा-रस की आभा के तुल्य है, वह अरुणता की उत्कट शोभा, युद्ध में आपकी आँखों में शोभित होती है। इस पद्य के तृतीय चरण में जैसा पाठ मैंने रखा है वह निर्णय सागर से मुद्रित एवं प्राचीन संस्करण का है। हिन्दी रसगङ्गाधरकार ने भी अपनी पुस्तक में इसी पाठ को स्वीकृत किया है। काशीमुद्रित संस्करण तथा भट्ट मथुरानाथ जी सम्पादित संस्करण में तो 'आज्ञा कान्तापदाम्भोरुहतलविगलन्मञ्जुलाक्षारसानाम्' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है। पर उस पाठ के अनुसार अर्थ ठीक-ठीक बैठता नहीं, यह समझ लेना चाहिए। यहाँ प्रताप आदि में सूर्य आदि के आरोप करने के कारण अरुणता की

शोभा में सन्ध्या आदि अनेक पदार्थों का आरोप हुआ है और श्लेष कहीं नहीं है, अतः शुद्ध परम्परित माला रूपक का उदाहरण यह पद्य होता है।

अथेदानीं सावयवरूपकपरम्परितरूपकयोर्भेदं दर्शयितुमाह—

यद्यपि सावयवेऽप्यारोप आरोपान्तरस्योपायस्तथापि तत्रारोपातिरिक्तेन कवि-समय-सिद्ध-सादृश्येनाप्यारोपान्तरसिद्धिः सम्भवति। यथा प्रागुक्ते 'सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः' इत्यत्र मौक्तिकादीनां तारात्वाद्यारोपं विनाप्यौज्ज्वल्यमात्रेणापि सुन्दर्यां राकारोपसिद्धेः, इह तु नयनशोणिम्नि ज्वालाद्यारोपोऽनलसमारोपं नियमेनापेक्षते। एवं 'कारुण्यकुसुमाकाशः खलः' इत्यत्राकाशखलयोः सादृश्यस्याप्रसिद्धतयाऽऽरोपसिद्ध्यर्थमारोप एवोपाय इति वैलक्षण्यम्। कश्चित्तु बह्वारोपात्मकात् सावयवादारोपद्वयात्मकमेवास्य वैलक्षण्ये बीजमित्याह।

आरोप इति। अत्र आरोपे इति सप्तम्यन्तपाठमङ्गीकृत्य क्लिष्टा व्याख्या सरलाकारस्योचिता न प्रतिभाति, प्रथमान्तपाठमङ्गीकृत्य सरलव्याख्यायाः सम्भवात्। अनलसमारोपमिति। अत्र 'राज्ञीति शेषः' इति नागेश आह तद् भ्रममूलकमेव। 'क्रोधे इति शेषः' इति कथनं साधीयः, मतान्तरमाह—कश्चित्त्विति। अत्रारुचिबीजं प्रागुक्तरीत्या निर्वाह इति। ननु सावयवे रूपके आरोपाणाम् परस्परं समर्थ्यसमर्थकभावात्मकः कार्यकारणभावस्तिष्ठति, अस्मिन् परम्परितेऽपि न, तथा च कोऽनयोर्भेद इति चेन्न, 'सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः' इत्यादौ सावयवे मौक्तिकादिषु तारात्वाद्यारोपमन्तरापि औज्ज्वल्यात्मकेन सादृश्येन सुन्दर्यां राकारोपस्य सिद्धिः, 'प्राचीसन्ध्या—' इत्यादौ परम्परिते तु क्रोधादावनलाद्यारोपं विना नेत्रशोणतादौ ज्वालाद्यारोपो न सम्भवतीत्येको भेदः, एवम् 'कारुण्यकुसुमाकाशः खलः—अर्थात् कारुण्यरूपस्य पुष्पस्य कृते खलु आकाशरूपः—आकाशे यथा पुष्पमसम्भवम् तथा खले कारुण्यम् इति यावत्' इत्यादौ परम्परिते कारुण्ये कुसुमारोपं विना खले आकाशारोपः सम्भवत्येव न, आकाशखलयोः सादृश्यस्याप्रसिद्धत्वात्, सावयवे तु नाप्रसिद्धसादृश्यकपदार्थयोः रूपणमिति द्वितीयोऽपि भेद इत्याशयात्। सावयवे बहव आरोपाः परम्परिते तु द्वावेवारोपौ इत्येव तयोर्भेद इत्यपि कश्चिदिति भावः।

अब सावयव रूपक तथा परम्परित रूपक में भेद दिखलाया जाता है—यद्यपि इत्यादि। सावयव रूपक में एक आरोप अन्य आरोप का उपायभूत (समर्थक) होता है और इस परम्परित रूपक में भी, अतः इन दोनों में क्या भेद है यह आशङ्का यद्यपि उठती है, पर यह कुछ है नहीं, क्योंकि दोनों में उक्त एक प्रकार की समता रहने पर भी बहुत बड़ा अन्तर है और वह अन्तर यह है कि—सावयव रूपक में आरोप के बिना (केवल) कवि-समय-सिद्ध सादृश्य द्वारा भी अन्य आरोप की सिद्धि हो सकती है—अर्थात् यदि एक आरोप का उपायभूत दूसरा आरोप रहे तब भी ठीक और न रहे तब भी काम चल सकता है। जैसे पूर्वोक्त 'सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः' यहाँ मोती आदि में नक्षत्र-तारा आदि का आरोप न किया जाय तथापि उज्ज्वलता-मात्र के कारण सुन्दरी में पूर्णिमा का आरोप सिद्ध हो सकता है। किन्तु 'प्राची—' इत्यादि परम्परित रूपक में ऐसी बात नहीं है, यहाँ तो नेत्रों की अरुणता में ज्वाला आदि का आरोप क्रोध आदि में अग्नि आदि के आरोप की अपेक्षा नियमतः रखता है—अर्थात् अग्नि के आरोप के बिना ज्वाला का आरोप हो ही नहीं सकता। इसी तरह 'कारुण्यकुसुमाकाशः खलः—अर्थात् दुष्ट जन दयारूप पुष्प का आकाश है, जैसे आकाश में पुष्प असम्भव है वैसे दुष्टजन में दया असम्भव है।' इस परम्परित में एक आरोप ही दूसरे आरोप का उपाय है—अर्थात् दुष्ट जन में आकाशारोप करने के लिये दया में पुष्प का आरोप करना ही पड़ेगा,

अन्यथा यह रूपक बन ही नहीं सकता, क्योंकि आकाश और दुष्टजन में सादृश्य अप्रसिद्ध है—कोई नहीं जानता कि उनमें क्या समता है। बस, इतने से सावयवरूपक तथा परम्परित रूपक में भेद सिद्ध हो गया—दोनों की विलक्षणता ज्ञात हो गई। कुछ लोग कहते हैं कि—'सावयव रूपक में अनेक आरोप रहते हैं—अर्थात् एक समर्थ्य के अनेक समर्थक होते हैं, पर परम्परित में दो ही आरोप होते हैं—अर्थात् एक समर्थ्य का एक ही समर्थक होता है' यही दोनों में विलक्षणता है। पर यह मत उतना मनोऽनुकूल नहीं है। कारण, उक्त रीति से जब दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है तब एक और अनेक आरोप की कल्पना व्यर्थ है।

रूपकप्रभेदगणने न्यूनत्वं परिहरति—

'काव्यं सुधा रसज्ञानां कामिनां कामिनी सुधा।
धनं सुधा सलोभानां शान्तिः संन्यासिनां सुधा॥'

अत्र विषयमालाकृतो न कश्चिच्चमत्कारविशेष इति न पृथग्भेदगणनायां गण्यते। आरोप्यमाणमाला तु चमत्कारविशेषशालित्वाद्गण्यत एव।

काव्यमिति। रसज्ञानाम् काव्य-रस-रहस्य-मर्मज्ञानाम्, काव्यम् कविकृति-विशेषः, सुधा अमृतरूपम्, कामिनाम् कामज्वालामालाकुलचेतसां जनानां, कामिनी कामभाववती रमणी, सुधा अमृतरूपा, सलोभानाम् धनलोलुपानां जनानां, धनं वित्तं, सुधा अमृत-रूपम्, तथा, संन्यासिनाम् विषयविमुखानाम् जनानाम्, शान्तिः शमः, सुधा अमृतरूपे-त्यर्थः। यस्य यद् वस्तु प्रियं भवति तस्य कृते तदेव वस्तु सुधारूपं जायत इति भावः। अत्रेति। 'काव्यं सुधा—' इति श्लोके इत्यर्थः। विषयमालाकृत इति। सत्येकस्मिन् उपमाने उपमेयसमूहकृत इत्यर्थः। 'एकस्योपमेयस्य नानोपमानकृतः' इति मर्मप्रकाशस्तु भ्रममूलक एव। स च भ्रमो नागेशस्य प्रकाशकस्य अन्यस्य वेति तु अन्यत्। न चमत्कार-विशेष इति। अत्र सचेतसामनुभव एव प्रमाणम् बोध्यम्। आरोप्यमाणमालेति। एकस्मिन्नुप-मेयेऽनेकोपमानारोपसमूह इत्यर्थः। चमत्कारविशेष इति। अत्रापि प्रमाणं सहृदयानुभव-रूपमेवावगन्तव्यम्। अयं भावः—'काव्यं सुधा—' इत्यादौ यत्रोपमानं सुधादिरूपमेकम्, उपमेयानि च काव्यादीन्यनेकानि, तत्र—तथा रूपकस्य कोऽपि भेदः कुतो नाङ्गीक्रियते यथा 'धर्मस्यात्मा—' इत्यादौ प्रागुक्ते चात्र उपमेयं गङ्गादिरूपमेकम्, उपमानानि च धर्मात्मादीनि अनेकानि तत्र' इति शङ्का न कार्या, अलङ्कारप्रभेदत्वाङ्गीकारस्य चमत्कार-विशेष-प्रतीतिमूलकतया चमत्कारविशेष-शाल्यारोप्यमाणमालास्थले 'धर्मस्यात्मा—' इत्यादौ रूपकप्रभेदत्वाङ्गीकारेऽपि चमत्कार-विशेषशून्यविषयमालास्थले—'काव्यं सुधा—' इत्यादौ तदङ्गीकारे युक्तिविरहादिति।

उपमान एक हो और उपमेय अनेक तो मालारूपक क्यों नहीं माना जाता, इसका उत्तर दिया जाता है—काव्यम् इत्यादि। (रसज्ञ जनों के लिये काव्य अमृत है, कामियों के लिये कामिनी अमृत है, लोभियों के लिये धन अमृत है और संन्यासियों के लिये शान्ति अमृत है।) यहाँ उपमान—अमृत—एक है और उपमेयों (काव्य आदि) की माला है, किन्तु इस माला के कारण कोई खास तरह का चमत्कार उत्पन्न नहीं होता, अतः ऐसी माला, रूपक के भेदों की गणना में पृथक् नहीं गिनी जाती। उपमानों की माला—'धर्मस्यात्मा—' इत्यादि पूर्वोक्त स्थल—में तो एक खास तरह का चमत्कार उत्पन्न होता है, अतः उसकी गणना पृथक् रूपक-प्रभेद के रूप में करनी ही पड़ती है।

सम्प्रति शिष्य-बुद्धि-वैशद्यार्थम् परम्परितरूपकसम्बन्धिविशेषे विचारणीये प्रथमं श्लिष्टपरम्परितसम्बन्धिविशेषं विचारयति—

अथ कथं नाम श्लिष्टपरम्परिते 'कमलावासकासारः' इत्यादावेकस्यारोप-

रूप्यारोपान्तरोपायत्वम् । यतः श्लेषेण कमलानामावासस्य कमलाया वासस्य चाभेदमात्रमत्र प्रतीयते, नैकत्रान्यारोपः । तस्य स्वतन्त्रविषयनिर्देशापेक्षत्वात् । न च शुद्धाभेदप्रत्यय एवारोपः । विषयनिगरणात्मिकायामतिशयोक्तावपि तत्प्रसङ्गात् । न च शुद्धाभेदप्रत्ययेनात्रार्थः यत्सम्बन्धिनि यत्सम्बन्ध्यभेदस्तस्मिंस्तदभेद इति 'कमलावासकासारः' इत्यादौ राजनि कासारारोपो राजसम्बन्धिनि लक्ष्म्याश्रयत्वे कासारसम्बन्धिसरोजाश्रयत्वाभेदारोपेण समर्थयितुं शक्यः श्लेषेण तु पुनर्लक्ष्म्याश्रयत्वसरोजाश्रयत्वयोरभिन्नत्वेन प्रत्ययादभिन्नधर्मनिबन्धनो राजकासारयोरप्यभेदप्रत्ययः स्यात्, न तु राजनि विषये कासारविषयिकस्यारोपस्य प्रकृतस्य सिद्धिः । इमावभिन्नावित्याद्याकारस्य शुद्धाभेदप्रत्ययस्याप्रकृतत्वात्प्रागुक्त आरोपो मृग्यः । स च न श्लेषसाध्य इति । सत्यम् । श्लेषेण शुद्धाभेदप्रतीतौ सत्यां प्रकृतारोपसमर्थनायान्तरा मानसस्य राजसम्बन्धिनि कासारसम्बन्ध्यभेदारोपस्य कल्पनाशानुपपत्तिः ।

तस्येति । एकत्रान्यारोपस्येत्यर्थः । मृग्य इति । अन्वेषणीयः इत्यर्थः । साधनीय एव नाधुनापि सिद्ध इति तद्भावः । शङ्काया युक्तत्वमङ्गीक्रियते—सत्यमिति । समाधत्ते—श्लेषेणेत्यादिना । नानुपपत्तिरिति । अत्र 'अत्रेदं चिन्त्यम्—कमलावासेनायं राजा कासार इत्यादौ यथा श्लेषमूलकाभेदाध्यवसानेनैनं साधारणधर्ममादाय राजकासारयो रूपकस्य गाम्भीर्येण समुद्रोऽयमित्यादाविव, सम्भवस्तद्वत्कमलावासकासार इत्यादावपि सम्भवात् किमर्थोऽयं क्लेशः । साधारणधर्मज्ञानस्य चाभेदारोपप्रयोजकत्वात् । इदमेव चास्योपायत्वमारोपे एतन्मूलीभूतसाधारणधर्मसम्पत्तिः । साधारणधर्मसम्पत्तिः आरोपेणैवेत्यत्र न किञ्चिन्मानम् । सामर्थ्ये [illegible] । तदापि श्लिष्टेषु सादृश्यमूलकत्वाभावादावश्यकः । एवञ्च '[illegible]' इत्यादौ वक्ष्यमाणान्योन्याश्रयोऽपि न । खलाकाशरूपकोपयुक्तकारुण्यकुसुमयोरभेदस्येच्छाधीनाहार्यस्य सम्भवेन तावतैवोपपत्तेः । न तु समर्थकारोपे सादृश्यमूल[illegible]मित्याद्यागमेनैकम् । एतेन [illegible]दित्यादिना [illegible] इत्यत्रत्य पूर्वपक्षसमाधाने परास्ते । अस्मदुक्तरीत्या पूर्वपक्षस्यैवाभावादिति ।' इति [illegible] । अयं भावः—'कमलावासकासारः' इत्यादौ श्लिष्टपरम्परितोदाहरणतयाऽभिमते स्थले 'कमलावास' इति अमर्शांशे स्वतन्त्रतया विषयस्य (उपमेयस्य) लक्ष्मीवासात्मकस्य निर्देशाभावे स्वतन्त्रविषयनिर्देशसापेक्षस्य एकत्र (उपमेये = लक्ष्मीवासे) अन्या-(उपमान-सरोजावासा) रोपस्य न प्रतीतिः, श्लेषस्तु उपमानोपमेययोः (कमलानामावासस्य कमलाया वासस्य च) अभेदमात्रं प्रत्याययति, तथा च श्लिष्टपरम्परिते एक आरोप आरोपान्तरस्योपायो भवतीति कथा कथं सङ्गता ? शुद्धाभेदप्रतीतेरेवारोपपदार्थत्वं तु स्वीकर्तुमशक्यमेव, उपमेयनिगरणरूपायामतिशयोक्तावपि शुद्धाभेदप्रतीत्या रूपकनियतस्यारोपस्य प्रसक्त्यापत्तेः । किञ्चात्र शुद्धाभेदप्रतीत्या सिसाधयिषितं प्रयोजनं सेद्धुमपि नार्हति, यतः 'यत्सम्बन्धिनि यत्सम्बन्ध्यभेदस्तस्मिंस्तदभेदः' इतिन्यायानुसारेण प्रकृते प्रथमतत्पदग्राह्यराजसम्बन्धिनि कमलाया वासत्वे (लक्ष्म्याश्रयत्वे) द्वितीयतत्पदग्राह्यकासारसम्बन्धिनः कमलानामावासत्वस्य (सरोजाश्रयत्वस्य) श्लेषमूलकेऽभेदे प्रतीते तद्बलेन प्रथमतत्पदग्राह्ये राज्ञि द्वितीयतत्पदग्राह्यस्य कासारस्याभेदः प्रतीयेत, न तु राजरूपे उपमेये कासाररूपस्योपमानस्य रूपकालङ्कारतानियामकः आरोपः 'इमौ अभिन्नौ' इत्याकारकेण शुद्धाभेदप्रत्ययेनारोपस्याविषयीकरणात् । परम्परितरूपका-

लङ्कारतानियामको राज्ञि कासारारोपः राजसम्बन्धिलक्ष्म्याश्रयत्वे (कमलाया वासत्वे) कासारसम्बन्धिसरोजाश्रयत्वा(कमलपुष्पाधारत्वा)भेदारोपेण समर्थयितुं शक्यः, स च न श्लेषसाध्य इति शङ्कायां समाधानमिदं यत् श्लेषेण लक्ष्मीवास-कमलपुष्पाधारयोः शुद्धाभेदप्रतीतौ जातायां परम्परितरूपकालङ्कारतानियामकस्य राज्ञि कासारारोपस्य समर्थनाय मध्ये राजसम्बन्धिनि लक्ष्म्याश्रयत्वे कासारसम्बन्धिसरोजाश्रयत्वाभेदारोपो मानसः कल्प्यत इति न किंचिदसमञ्जसमिति ।

परम्परित रूपक-सम्बन्धि कुछ विशिष्ट बातों पर विचार करने के प्रसङ्ग में पहले श्लिष्ट परम्परित रूपक सम्बन्धि विशेषों का विचार किया जाता है—अथ इत्यादि। विचार यहाँ यह करना है कि—'कमलावासकासारः' इत्यादि श्लिष्ट परम्परित रूपक में एक अर्थात् कमला (लक्ष्मी) के निवास में कमलों के निवास का—आरोप, अन्य अर्थात् राजा में सरोवर के—आरोप का उपाय (समर्थक) कहा जाता है, वह कैसे सङ्गत होता है ? कारण, यहाँ श्लेष से 'कमला के वास' और 'कमलों के आवास' का केवल अभेद ही ज्ञात होता है, एक का दूसरे में आरोप नहीं। क्योंकि आरोप के लिये उपमेय का स्वतन्त्र रूप से निर्देश अपेक्षित है—अर्थात् जहाँ उपमेय तथा उपमान के बोधक दो पृथक् पृथक् पद उच्चरित रहते हैं वहीं उपमेय में उपमान का आरोप अवगत होता है, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह कि—'कमलावासकासारः' आदि में एक पद से श्लेष द्वारा दो अर्थों का एक साथ ज्ञान होने से उन दोनों अर्थों का अभेद ज्ञात होने पर भी उनमें से एक अर्थ का दूसरे अर्थ पर आरोप विदित नहीं होता। यदि कोई शुद्ध-अभेद-प्रतीति को ही आरोप कहना चाहे, तो वह बन नहीं सकता, क्योंकि इस कथन के अनुसार अतिशयोक्ति में भी जहाँ उपमेय निगीर्ण रहता है (उपमेय का भी बोध उपमानवाचक पद से ही होता है)—उस आरोप का व्यवहार होने लगेगा, जिसका व्यवहार रूपक में ही आलङ्कारिक लोग करते आए हैं। दूसरे, शुद्ध-अभेद प्रतीति से यहाँ का अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध भी नहीं हो सकता। कारण, 'जिसके सम्बन्धी में जिसके सम्बन्धी का अभेद हो उसमें उसका अभेद होता है' इस न्याय के अनुसार कमला-वास और कमल-निवास के अभेद से तदात्मक साधारणधर्ममूलक अभेद ही राजा और सरोवर का सिद्ध हो सकेगा, न कि राजारूप उपमेय में सरोवररूप उपमान का वह आरोप जो यहाँ प्रस्तुत है—रूपक की सिद्धि में जिसकी अपेक्षा है, उस आरोप का समर्थन तो तब हो सकता था यदि राजा से सम्बन्ध रखनेवाले कमला-वासत्व (लक्ष्म्याश्रयत्व) में सरोवर से सम्बन्ध रखनेवाले कमल-निवासत्व (सरोजाश्रयत्व) का अभेदारोप सिद्ध होता, पर श्लेष से वह (अभेद का आरोप) सिद्ध होता नहीं, उससे तो केवल अभेद की ही सिद्धि होती है और जहाँ शुद्ध अभेद ही प्रतीत होता है वहाँ आरोप की बात ही असङ्गत है, जैसे—'ये दोनों अभिन्न हैं' इस कथन से दोनों में अभेद की प्रतीति होने पर भी आरोप की प्रतीति नहीं होती, अतः 'कमलावासकासारः' में परम्परित रूपक को सिद्ध करनेवाला 'यह एतद्रूप है' इस व्यवहार का नियामक आरोप अन्वेषणीय ही है। यह हुआ एक प्रश्न, और इसका उत्तर यह है कि आपका कथन सत्य है, पर शब्द से श्लेष द्वारा जब लक्ष्मीवासत्व और सरोजावासत्व का अभेद सिद्ध हो जायगा, तब बीच में मनद्वारा उन दोनों में से प्रथम का दूसरे में आरोप हो जाने की कल्पना कर ली जायगी और ऐसी कल्पना इसलिये कर ली जायगी कि राजा में सरोवर का आरोप जो शब्दतः सिद्ध है उसका समर्थन हो सके। और उसका समर्थन आरोप से ही हो सकता है केवल अभेद से नहीं, यह बात पहले लिखी जा चुकी है। तात्पर्य यह कि—कवि ने यहाँ राजा में सरोवर के शब्दतः कथित आरोप का समर्थन करने के लिये ही 'कमलावास' पद में श्लेष किया है और उस श्लेष से आरोप की

प्रतीति न होने के कारण अभीष्ट समर्थन हो नहीं पाता, अतः अगत्या शब्दतः केवल अभेद की प्रतीति होने पर भी समर्थक भाग में मानस आरोप की कल्पना करनी पड़ती है। ऐसी कल्पना करने पर सब बातें बन भी जाती हैं। नागेश का कथन यहाँ यह है कि–'यद्यपि समुद्र की गम्भीरता और किसी मानव की गम्भीरता दो वस्तु है, तथापि एक शब्दोपात्त होने के कारण उन दोनों गम्भीरताओं को एक मानकर 'गम्भीरता से यह मनुष्य समुद्र है' इत्यादि स्थल में श्लिष्ट गम्भीरतात्मक साधारणधर्ममूलक समुद्ररूपक जैसे सिद्ध होता है वैसे ही 'कमलावास के कारण यह राजा सरोवर है' इत्यादि स्थलों पर भी श्लिष्ट एक शब्दोपात्त कमला-लक्ष्मी के वास और कमलों के आवास को एक धर्म मानकर सरोवररूपक सिद्ध होता है, फिर इसी तरह 'कमलावासकासारः' इस प्रकृत परम्परित रूपकस्थल में भी कार्य चल ही सकता है, अतः पण्डितराज की मानस आरोप वाली कल्पना व्यर्थ है। साधारणधर्म ज्ञान को अभेदारोप का साधक सभी मानते ही हैं। श्लिष्ट परम्परितरूपक में 'एक आरोप दूसरे आरोप का उपायभूत रहता है' इस कथन का भी अभिप्राय यही है कि द्वितीय आरोप के मूलभूत साधारण धर्म की सिद्धि श्लेष से हो जाती है। साधारणधर्म की सिद्धि आरोप करने पर ही हो इसमें कोई प्रमाण नहीं है। सब रही बात यह कि श्लिष्ट परम्परितस्थल पर समर्थकांश में रूपक का व्यवहार कैसे बनेगा? क्योंकि वहाँ आरोप आप नहीं मानते और रूपक आरोप के बिना होता नहीं। बात यह सत्य है। पर उत्तर भी इसका यह सत्य ही है कि–समर्थकांश में जो वहाँ रूपक व्यवहार होता है वह गौण है, वास्तविक नहीं और यह बात आपको मानस आरोप की कल्पना करने पर भी माननी ही पड़ेगी, क्योंकि उस तरह से आरोप के सिद्ध हो जाने पर भी वह आरोप सादृश्यमूलक नहीं ही होगा और सादृश्यमूलक आरोप को ही आप हम सभी रूपक मानते हैं। इस मेरी रीति के अनुसरण करने पर 'कारुण्यकुसुमाकाशः खलः' इत्यादि स्थलों पर जो आपने आदि अन्योन्याश्रय दिखलाया है उसका भी अवसर नहीं आता। कारण, खल में आकाश-रूपक की सिद्धि के लिये अपेक्षित साधारणधर्म का ज्ञान कारुण्य और कुसुम में इच्छाधीन आहार्य अभेद मान लेने पर हो ही जाता है। समर्थक अंश में सादृश्यमूलकता आवश्यक नहीं है यह बात तुरत कही जा चुकी है। इस रीति के अनुसार वे शङ्कासमाधान भी समाप्त हो जाते हैं जिनका उत्थान पण्डितराज ने 'स्यादेतत्' से आरम्भ कर 'सौजन्य-चन्द्रिकाचन्द्रः' में किया है। कारण इस रीति के अनुसार वहाँ पूर्वपक्ष ही–जो दिखलाया गया है—नहीं उठता।'

शुद्धपरम्परिते विशेषं विचारयति—

कथं तर्हि परम्परितरूपकं 'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रो राजा' इत्यादौ रूपकं स्यात्, अभेदारोपस्य सत्त्वेऽपि तस्य सादृश्यमूलकत्वाभावादिति चेत्, न। समर्थकारोपेण धर्मैक्यसम्पादने सादृश्यस्य निष्प्रत्यूहत्वात्।

तर्हि तदा। समर्थ्यारोपस्य समर्थकारोपहेतुकत्वाङ्गीकारे इति भावः। सौजन्येति। सौजन्यम् सुजनता, तद्रूपा या चन्द्रिका चन्द्रज्योत्स्ना, तस्याः कृते, चन्द्रः चन्द्ररूपो राजा नृप इत्यर्थः। तस्येति। अभेदारोपस्येत्यर्थः। भावादिति। समर्थकारोपमूलकत्वादिति भावः। खण्डयति—नेति। तत्र हेतुमाह—समर्थकारोपेणेति। चन्द्रिकायां सौजन्याभेदारोपेणेति तदर्थः। 'सौजन्य—' इत्यत्र राज्ञि चन्द्राभेदारोप इति सत्यम्, किन्तु तस्यारोपस्य मूलम् न सादृश्यम्, अपि तु चन्द्रिकायां सौजन्याभेदारोपः, तथा च कथमिदम् रूपकम्? सादृश्यमूलकारोपस्यैव रूपकत्वस्वीकारात् इति शङ्कितुराशयः, चन्द्रिकायां सौजन्यस्याभेदे समारोपिते चन्द्रिकासौजन्ययोरैक्यं सिद्ध्यति, तथा चैकता-

पश्चात्सौजन्य-चन्द्रिकात्मकसाधारणधर्मप्रयोज्यसादृश्यं चन्द्रराज्ञोर्निष्प्रत्यूहमिति सिद्धं तयोरभेदारोपस्य सादृश्यमूलकत्वमिति समाधानदलाशय इति भावः।

शुद्ध परम्परित रूपक सम्बन्धी विशिष्ट विचार किया जाता है—कथमित्यादि। आप कहेंगे—जब आप परम्परितस्थल में समर्थ्य आरोप का मूल समर्थक आरोप को मानते हैं तब 'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रः—अर्थात् राजा सुजनतारूप चाँदनी के लिये चन्द्रमा है' इत्यादि शुद्ध परम्परित रूपक में सामान्य रूपक का लक्षण ही कैसे सङ्गत होगा, क्योंकि आप के हिसाब से, राजा में जो चन्द्र का अभेद आरोपित हुआ है उसका मूल सादृश्य न हो कर चाँदनी में सुजनता का अभेदारोप है और रूपक के सामान्य लक्षण में सादृश्यमूलक आरोप का ही रूपक होना कहा गया है। पर यह कथन कुछ महत्व नहीं रखता। कारण, समर्थक आरोप—अर्थात् चाँदनी में सुजनता का अभेदारोप—जब कर दिया जायगा तब चाँदनी और सुजनता एक धर्म रूप हो जायगें और इसतरह एक बने इस साधारण धर्म के कारण राजा और चन्द्र में सादृश्य निर्विघ्नरूप से सिद्ध हो जायगा, फलतः इस स्थिति में राजा में चन्द्राभेदारोप का मूल सादृश्य को मानने में कोई बाधा नहीं रह जाती है।

पुनरपरविधं रूपकसम्बन्धि-विचार-विशेषं विधातुं शङ्कते—

स्यादेतत्। सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्र इत्यत्र तत्पुरुषावयवे समानाधिकरणतत्पुरुषे चन्द्रिकायामभेदसंसर्गेण सौजन्यस्य विशेषणत्वात्प्रतीयमानश्चन्द्रिकागतः सौजन्याभेदो न राजनि चन्द्राभेदात्मकं रूपकं समर्थयितुं प्रभवति, पदार्थः पदार्थेनान्वेति—इत्यादिव्युत्पत्त्या। अपि तु सौजन्ये विषये चन्द्रिकाभेदः। यथा—'सौजन्यं ते धराधीश! चन्द्रिका त्वं सुधानिधिः।' स च दुरुपपाद एव। न चानयोः समानवित्तिवेद्यत्वादानुपूर्व्या नास्तीति शक्यं वक्तुम्, प्रात्यक्षिके हि साक्षात्कारे तुल्यत्वात्। न तु शाब्दबोधे व्युत्पत्तिवैचित्र्य-नियन्त्रिते। एवमन्यत्रापि कथं समासगत-शुद्ध-परम्परिते द्वयोरारोपयोर्निर्वाह्य-निर्वाहकभावः? कथं च शशिपुण्डरीकमित्यादौ पुण्डरीकरूपकमुच्यते? पुण्डरीकाभेदात्मकस्य पुण्डरीकतादात्म्यस्याभावात्। शश्यभेदप्रत्ययाच्च पुण्डरीकं शशीत्यत्रेव शशिरूपकमुच्यताम्। एवं नीलिमदिव्यतोये तारावलीबुद्बुदमण्डलमण्डिते षोडशकलादलमङ्कभृङ्गमित्यत्राप्युत्तरपदार्थे पूर्वपदार्थाभेदस्यैव भानात्पूर्वपदार्थरूपकापत्तिः।

तथा—

'सुविमलमौक्तिकतारे धवलांशुकचन्द्रिकाचमत्कारे।
वदन-परिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि! राकासि नात्र सन्देहः॥'

इत्यत्र सुन्दर्यां विषयभूतायां राकातादात्म्यावगमात्स्फुटमेव तावद्राकारूपकम्। तत्र चरणत्रयगतानि रूपकाणि राकारूपकानुगुणतयोपात्तान्यपि प्रातिकूल्यमाचरन्ति। ताराचन्द्रिका-पूर्णचन्द्राणां मौक्तिक-धवलांशुक-वदनाभिन्नत्वे सिद्धेऽपि न सुन्दर्यां राकातादात्म्यं सेद्धुमीष्टे प्रत्युत विपरीतं राकायां सुन्दरीतादात्म्यं, तेषां राकासम्बन्धित्वात् सर्वमेव व्याकुलमिति।

तत्पुरुषावयवे इति। तत्पुरुषसंज्ञके इति यावत्। समानाधिकरणतत्पुरुषे इति। कर्मधारये इति भावः। सौजन्यचन्द्रिकापदयोरिति शेषः। चन्द्रिकाऽभेद इति। चन्द्राभेदात्मकं रूपकं समर्थयितुं प्रभवतीत्यस्यानुषङ्गः। 'सौजन्यं ते—' इति। हे धराधीश

पृथिवीपते ! ते तव, सौजन्यम्, चन्द्रिकाज्योत्स्नारूपम्, अतः, त्वम्, सुधानिधिः चन्द्ररूप इत्यर्थः । स चेति । स तु इत्यर्थः । दुरुपपाद इति । सौजन्यचन्द्रिकेत्यत्रेति भावः । अनयोरिति । अभेदयोरित्यर्थः । चन्द्रिकागतसौजन्याभेद-सौजन्यगतचन्द्रिकाभेदयोरिति स्पष्टार्थः । समानवित्तीति । समाना तुल्या एकेति यावत्, या वित्तिः ज्ञानसाधनभूता सामग्री, तद्वत्त्वादिति भावः । प्रात्यक्षिके इति । चक्षुरादिजन्यज्ञाने इत्यर्थः । तदिति । तुल्यवित्तिवेद्यत्वमित्यर्थः । व्युत्पत्ति इति । कार्यकारणभावेत्यर्थः । नियन्त्रित इति । नियमित इत्यर्थः । अन्यत्रापीति । उदाहृतातिरिक्तस्थलेऽपीत्यर्थः । उदाहृतस्थल एव शङ्कते—कथं चेति । चस्त्वर्थे । 'शुचिमल—' इति । व्याख्यातमिदं प्रागेव । चरणद्वयगतामीति । श्लोकेऽस्मिन् यद्यपि 'राकारूपकाण्यनुगुणतया' इत्येव पाठः प्राप्तसंस्करणेषूपलभ्यते, तथापि नासौ पाठः सङ्गतो मम प्रतिभात इति मूलोक्तः पाठः कल्पित इति बोध्यम् । सेवुमीष्टे इति । समर्थं प्रभवतीत्यर्थः । सुन्दरीतारुण्यमिति । सेवुमीष्टे इत्यस्यानुषङ्गः । तत्र हेतुमाह—तेषामिति । सर्वमेवेति । रूपकप्रकरणोक्तमिति भावः । इतः प्राक् 'इति' पदमध्याहार्यम् । इतिः पूर्वपक्षसमाप्तिसूचकः । अयं भावः—'सौजन्य-चन्द्रिकाचन्द्रो राजा' इत्यत्र राजरूपोपमेये चन्द्ररूपोपमानाभेदात्मकस्य रूपकस्य सौजन्यरूपोपमेयगतेन चन्द्रिकारूपोपमानाभेदेन समर्थनात् परम्परितरूपकं समर्थनीयम्, तच्च तदैव सम्भवति यदि 'सौजन्यं ते धराधीश चन्द्रिका—' इत्यादिव्यस्तस्थल इव सौजन्ये चन्द्रिकाभेदः प्रतीयेत । परन्तु प्रागुक्ते समस्तस्थले तस्मिन् तदभेदः । प्रत्येतुमशक्यः, यतः तत्र 'सौजन्यं चन्द्रिका' इति विग्रहे जायमाने कर्मधारयसमासे चन्द्रिकायामभेदेन सम्बन्धेन सौजन्यस्य विशेषणत्वात् चन्द्रिकागतः सौजन्याभेद एव प्रतीयते, न तु सौजन्यगतश्चन्द्रिकाभेदः । चन्द्रिकागतसौजन्याभेदेन च प्रतीयमानेन चन्द्रे राजाभेदस्य समर्थनं स्यात् न तु राज्ञि चन्द्राभेदस्य, 'यत्सम्बन्धिनि यत्सम्बन्ध्यभेदः—' इति प्रागुक्तन्यायात् अर्थात् चन्द्रसम्बन्धिचन्द्रिकायां प्रतीयमानः राजसम्बन्धिसौजन्याभेदः चन्द्रे राजाभेदस्य सिद्धिं करोतु । एवं च कथमिदं परम्परितरूपकम् ? ननु चन्द्रिकायां सौजन्याभेदः सौजन्ये चन्द्रिकाभेदश्च तुल्यवित्तिवेद्यौ—अर्थात् ययोरेकतरस्मिन्नभेदे ज्ञातेऽपरोऽप्यभेदो विज्ञात एव, यथा—'रक्तो घटः' इत्यत्र घटे दृष्टे तदीयं रूपमपि दृष्टं भवत्येव, अतो न किञ्चिदसमञ्जसमिति चेन्न, प्रात्यक्षिके ज्ञाने तथा सम्भवेऽपि शाब्दबोधे तदसम्भवात् । रक्तो घट इत्यादिप्रत्यक्षस्थले रूपघटयोः प्रत्यक्षस्य कारणीभूता सामग्री चक्षुरादिरूपा एकैवेति तत्र सम्भवति घटतद्रूपयोस्तुल्यवित्तिवेद्यत्वम्, 'सौजन्याभिन्ना चन्द्रिका' 'चन्द्रिकाभिन्नं सौजन्यम्' इत्याकारकयोः शाब्दबोधयोस्तु सम्पादिका सामग्री नैका, सामग्रीभेदकयोः । 'सौजन्यपदोत्तरचन्द्रिकापदत्व'–'चन्द्रिकापदोत्तरसौजन्यपदत्व'रूपयोराकाङ्क्षयोर्भिन्नत्वादिति तत्र तुल्यवित्तिवेद्यत्वं न सम्भवतीति तात्पर्यम् । फलतो न केवलं 'सौजन्य-चन्द्रिका-चन्द्रो राजा' इत्यत्रैव, अपि तु सर्वेषु समासगतशुद्धपरम्परितरूपकलक्ष्येषु समपेक्षितौ द्वयोरारोपयोर्निर्वाह्य-निर्वाहकभावो दुरुपपादः । एवम्, 'शशिपुण्डरीकम्' 'नीलिमदिव्यतोयं' 'तारावलीमुक्तामण्डलमण्डिते' 'षोडशकलादलम्' 'अङ्कभृङ्गम्' इत्यादिषु रूपकलक्ष्येषु पुण्डरीक-दिव्यतोय-मुक्तामण्डल-दल-भृङ्गात्मकोत्तरपदार्थरूपकव्यवहारासङ्गतिः, शशि–नीलिमा–तारावली–षोडशकलाऽङ्करूपपूर्वपदार्थरूपकव्यवहारापत्तिश्च, पूर्वोक्तरीत्या सर्वत्र पूर्वपदार्थेषु शश्यादिषु उत्तरपदार्थानाम् पुण्डरीकादीनामभेदस्याप्रतीतत्वात्, उत्तरपदार्थेषु पुण्डरीकादिषु पूर्वपदार्थानाम् शश्यादीनामभेदस्य प्रत्ययाच्च ।

इत्थमेव सुविमल—' इत्यत्रापि प्रागुपायुक्त्यैव तारा (चन्द्रिका) पूर्णानन्दात्मकेषूत्तरपदार्थेषु मौक्तिक (धवलांशुक) वदनरूपपूर्वपदार्थाभेद एव प्रतीयेत, तथा च तानि पूर्वपदार्थरूपकाणि स्युः, तादृशानि च तानि रूपकाणि नरमं सुन्दर्यां राकारूपत्वं न समर्थयितुं समर्थानि, अपि तु राकायां सुन्दरीरूपकमेव समर्थयितुं समर्थानि, प्रागुक्तन्यायात्। न चास्तु तथैव, का हानिस्तावतेति वाच्यम्, 'सुन्दरि राकासि' इत्युक्त्योपमेयायां सुन्दर्यां राकातादात्म्यावगमे राकारूपकस्यैव कविविवक्षितत्वावगमात्, तदनुगुणतयोक्तत्वाद् अन्यांशेष्वपि उत्तरपदार्थरूपकाणामेवेष्टत्वात्। इत्थं च रूपकप्रकरणोक्तः सकलोऽपि सिद्धान्तः कलुषित इति।

रूपक के संबन्ध में कुछ विशिष्ट सिद्धान्त स्थिर करने के लिये शंका की जाती है—स्यादेतत् इत्यादि। इतने पर भी यह शंका की जा सकती है कि—पूर्वोक्त 'सौजन्य-चन्द्रिकाचन्द्रो राजा' इस शुद्ध परम्परितरूपक के उदाहरण में दो समास हैं—एक 'सौजन्य-चन्द्रिका' शब्द में और दूसरा इस शब्द को 'चन्द्र' शब्द के साथ जोड़ने में। ये दोनों ही समास यद्यपि तत्पुरुषसंज्ञक हैं, पर प्रथम समास तत्पुरुष का अवयव होने पर भी समानाधिकरण–समानविभक्तिकपद-युक्त होने के कारण एक भिन्न संज्ञा (कर्मधारय) का भाजन हो जाता है और दूसरा तत्पुरुष (षष्ठीतत्पुरुष) ही कहा जाता है। इस कर्मधारय में अर्थात् 'सौजन्य-चन्द्रिका'पदार्थ में 'सौजन्य'पदार्थ अभेदसंबन्ध से 'चन्द्रिका'पदार्थ का विशेषण होता है। तात्पर्य यह कि–'सौजन्य' विशेषण है और 'चन्द्रिका' विशेष्य। अतः 'सौजन्य-चन्द्रिका' पद के द्वारा 'चन्द्रिका' में 'सौजन्य' का अभेद प्रतीत होता है, न कि 'सौजन्य' में 'चन्द्रिका' का। यह अभेद (चन्द्रिका में सौजन्य का अभेद) 'राजा' में 'चन्द्र' के अभेदरूप रूपक का समर्थन नहीं कर सकता, अपि तु 'चन्द्र' में 'राजा' के अभेद का समर्थन कर सकता है। अभिप्राय यह कि—जब समर्थकरूपकभाग में उपमेय (सौजन्य) का उपमान (चन्द्रिका) में अभेद ही समासमर्यादा से अवगत होता है, तब समर्थ्य रूपक(राजा और चन्द्र)भाग में भी वैसा ही होना उचित है—अर्थात् समर्थकरूपक अपने से विपरीत रूपक का समर्थन नहीं करेगा। और 'जिसके सम्बन्धी में जिसके सम्बन्धी का अभेद हो, उसमें उसका अभेद होता है' इस पूर्वोक्त न्याय के अनुसार भी उक्त रीति की ही पुष्टि होती है—अर्थात् 'सौजन्य' राजा का सम्बन्धी है और 'चन्द्रिका' चन्द्र की सम्बन्धिनी, उन दोनों में जिसका जिसमें आरोप (अभेद) प्रतीत होगा, उसके सम्बन्धियों में वह आरोप उसी क्रम से प्रतीत होगा। यहाँ कर्मधारय समास के अनुसार सौजन्य के विशेषण और चन्द्रिका के विशेष्य होने के कारण, सौजन्य का चन्द्रिका में अभेद प्रतीत होता है—सौजन्य का उपमान होना और चन्द्रिका का उपमेय होना विदित होता है। इस हिसाब से समर्थ्य भाग में भी राजा का अभेद चन्द्र में प्रतीत होगा—राजा का उपमान होना और चन्द्र का उपमेय होना समर्थित होने लगेगा, जो कविसिद्धान्तपरम्परा से सर्वथा विपरीत है। यह अनुकूल तब ही सकता है, जब कि चन्द्रिका का सौजन्य में अभेद प्रतीत हो, जैसे कि—'सौजन्यं ते' अर्थात् हे राजन्! आप का 'सौजन्य चन्द्रिका है और आप चन्द्रमा हैं।' इस असमस्त वाक्य में प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि जिस तरह असमासस्थल में चन्द्रिका का विधेय (विशेषण) होना और सौजन्य का विशेष्य होना स्पष्ट ज्ञात होता है, उस तरह यदि समासस्थल में भी होता तो वक्ता का अभीष्ट सिद्ध हो सकता पर समासस्थल में ऐसा होता नहीं, क्योंकि वहाँ पूर्व पदार्थ का विशेषण होना और उत्तर पदार्थ का विशेष्य होना ही विदित होता है। यदि कहा जाय कि—सौजन्य का चन्द्रिका में अथवा चन्द्रिका का सौजन्य में अभेद–दोनों ही अभेद—एक ही उपाय से समझे जा सकते हैं—ये दोनों तुल्य-वित्ति-वेद्य हैं (एक उपाय से समझी जानेवाले दो पदार्थ हैं),

अतः कोई अनुपपत्ति नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि—यह बात प्रात्यक्षिक (प्रत्यक्ष-जन्य) ज्ञान के विषय में कही जा सकती है, क्योंकि वहाँ दोनों तरह के बोधों की सामग्री एक रहती है। परन्तु शाब्दबोध में ऐसा नहीं होता—वह तो व्युत्पत्ति की विचित्रता से जकड़ा हुआ है। सारांश यह कि—'तुल्य-वित्ति-वेद्यत्व' एक न्याय है जिसका अभिप्राय यह है कि एक साधन से दो तरह की बातें समझ ली जा सकती हैं। पर इस न्याय का उपयोग चक्षुरादि इन्द्रियों से होनेवाले ज्ञान में ही किया जा सकता है, क्योंकि वहाँ साधन एक रहता है, जैसे, कल्पना कीजिए कि—किसी एक जगह पर घड़ा और कपड़ा दोनों ही चीजें रखी हैं, वहाँ यदि हम दृष्टिपात करें तो यह नहीं हो सकता कि घड़े का दर्शन (ज्ञान) हो और कपड़े का नहीं, क्योंकि जिस साधन (आँखों) का संयोग होने से हम घड़े को जान सके हैं उस साधन (आँखों) का संयोग इसी तरह कपड़े के साथ भी होगा जिस तरह घड़े के साथ हुआ है। शब्द से होनेवाले ज्ञान में तो इस न्याय का उपयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँ ज्ञान के भेद से साधन (कारण) भी भिन्न हो जाता है, जैसे—समासस्थल में सौजन्य का अभेद चन्द्रिका में समझने का एक कारण सौजन्यपदोत्तर चन्द्रिकापद ('सौजन्यचन्द्रिका' इस तरह के पद) का ज्ञान है और चन्द्रिका का अभेदसौजन्य में समझने का कारण चन्द्रिकापदोत्तर-सौजन्यपद ('चन्द्रिकासौजन्य' इस तरह के पद) का ज्ञान हो जाता है। फलतः शाब्दबोध में शब्द के आकार-प्रकार बदल जाने पर बोध का आकार-प्रकार भी बदल जाता है, अतः उक्त न्याय आप के पक्ष में काम नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में 'सौजन्य-चन्द्रिका-चन्द्रो राजा' यहीं नहीं अपितु सभी समासगत-शुद्ध परम्परित-रूपक-स्थलों पर यह शंका समान रूप से उपस्थित है कि दो आरोपों (रूपकों) का परस्पर निर्वाह्य-निर्वाहकभाव (समर्थ्य-समर्थक होना) कैसे बन सकता है? परम्परित रूपक स्थल में ही नहीं, अपितु अन्य समासगत रूपकों में भी उक्त अभेद-प्रतीतिविषयक गड़बड़ी के कारण शंका उपस्थित हो जाती है। जैसे—'शशिपुण्डरीक' इत्यादि में कमल का रूपक (ताद्रूप्य) कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि कमल के ताद्रूप्य का अर्थ है कमल का शशि (चन्द्र) में अभेद, पर वह 'शशिपुण्डरीक' इस कर्मधारयसमास में प्रतीत होता नहीं, प्रतीत होता है कमल में शशि का अभेद। अतः जैसे 'कमल चन्द्र है' इस स्थान में चन्द्र का रूपक कहा जाता है वैसे ही 'शशिपुण्डरीक' में भी चन्द्र का रूपक कहना उचित है, कमल का नहीं। इसी तरह 'नीलिमदिव्यलोम', 'ताराधलीमुकुल', 'षोडश-कला-दल', 'अब्जभृङ्ग' इन सभी स्थलों में पूर्व पदार्थ (नीलिमा, तारावली, षोडश कलाएँ और अब्ज) के रूपक जो इष्ट नहीं हैं वे ही कहे जा सकेंगे, किन्तु उत्तर पदार्थ (दिव्य लोम, मुकुल, दल और भृङ्ग) के रूपक जो अभिष्ट हैं वे नहीं कहे जा सकेंगे, क्योंकि उक्त युक्ति से इन सभी जगहों में उत्तर पदार्थ (दिव्यलोम आदि) में पूर्वपदार्थ (नीलिमा आदि) का ही अभेद प्रतीत होगा, पूर्व पदार्थ में उत्तर पदार्थ का अभेद नहीं। एवम्—'तुहिनमौक्तिक—' इस पूर्वोक्त पद्य में उपमेयरूप 'सुन्दरी' में उपमानरूप 'पूर्णिमा' का अभेद प्रतीत होता है, अतः पूर्णिमा का रूपक यद्यपि स्पष्ट है, तथापि पद्य के प्रथम तीन चरणों के रूपक, पूर्णिमारूपक की अनुकूलता के लिये निर्मित होने पर भी, उसकी अनुकूलता नहीं करते। कारण, 'तारा', 'चाँदनी' और 'पूर्णचन्द्र' का क्रमशः मोती, धवल वसन और मुख के साथ अभेद सिद्ध होने पर भी सुन्दरी में पूर्णिमा का ताद्रूप्य (अभेदारोप) सिद्ध नहीं हो सकता, प्रत्युत उसके विपरीत पूर्णिमा में सुन्दरी का ताद्रूप्य सिद्ध हो सकता है, क्योंकि वे—अभेद के आश्रयरूप में प्रतीत होने वाले 'तारा' आदि—पूर्णिमा के सम्बन्धी हैं, सुन्दरी के नहीं। अतः सब गड़बड़ है।

समाधान—

अत्र वदन्ति—अभेदस्तावद्विशेषणस्य संसर्गो भवति। स च यथा मुखं चन्द्र

इत्यादौ वाक्यगते रूपके स्वप्रतियोगिनश्चन्द्रस्य स्वानुयोगिनि मुखे विशेषणताया निर्वाहकस्तथैव समासगते मुखचन्द्र इत्यादौ रूपके स्वानुयोगिनो मुखस्य प्रतियोगिनि चन्द्रे विशेषणतायाः। एवं चोभयत्रापि वस्तुतश्चन्द्राभेद एव संसर्गः। क्वचिदनुयोगित्वमुखः, क्वचिच्च प्रतियोगित्वमुखः, विशेषण-विशेष्यभाववैचित्र्यात्। न तु मुखचन्द्र इत्यत्र मुखाभेदः संसर्गः। तथा सति चन्द्ररूपकतापत्तेः, मुखरूपकापत्तेश्च। स्वप्रतियोगिकाभेद एव विशेषणसंसर्गो न तु स्वानुयोगिकाभेद इति तु दुराग्रहः। एवं च सौजन्यचन्द्रिकेत्यादौ वस्तुतः सौजन्याभेदो न सौजन्यस्य चन्द्रिकाविशेषणस्य संसर्गः, अपि तु चन्द्रिकाभेद एव। तथा च सौजन्यनिष्ठाभेदप्रतियोगिनी चन्द्रिकेति पर्यवसितेऽर्थे, भङ्ग्यन्तरेण सौजन्ये चन्द्रिकाऽभेदसिद्धौ जातायां राजनि चन्द्राभेदोऽपि निष्पद्यते इति परम्परिते नानुपपत्तिः। शशिपुण्डरीकमित्यादावपि शशिनिष्ठाभेदप्रतियोगिपुण्डरीकमिति पर्यवसितेऽर्थे पुण्डरीकाभेदस्य मानात्पुण्डरीकरूपकत्वाव्याहतम्। एवमन्येष्ववयवावयवरूपकेषु बोध्यम्, एवं सुस्मितमौक्तिकहारे इत्यादावपि ताराद्यभेदा एव मौक्तिकादिगतो मौक्तिकादीनां तारादिविशेषणानां संसर्गीभवन् राकारूपकस्य समर्थको भवतीति सर्वं सुस्थम्। सोऽयमभेदो यत्रानुयोगित्वमुखस्तत्र रूपकस्य विधेयता। यत्र च प्रतियोगित्वमुखस्तत्रानुवाद्यतेति दिक्।

चन्द्रे विशेषणताया इति। निर्वाहक इत्यस्यानुषङ्गः। क्वचिदिति। वाक्यगते इत्यर्थः। क्वचिच्चेति, समासगते इत्यर्थः। एवकारव्यावर्त्यमाह—न त्विति। इत्यत्र समासगते। मुखाभेद इति। मुखप्रतियोगिकाभेद इत्यर्थः। नानुपपत्तिरिति। अत्र 'रूपकत्वस्येत्यादिः' इति नागेशः। परन्तु तन्न युक्तं प्रतिभाति, मुखरूपकत्वस्य तथाप्यक्षतेः। मुखरूपकं तत्रेष्टं नास्तीति तत्त्वम्। अतः चन्द्ररूपकत्वस्येति विवरणमुचितम्। अन्येष्ववयवावयव-रूपकेष्विति। 'नीलिमदिव्यतोये' इत्यादावित्यर्थः। सर्वं सुस्थमिति। अत्र "अन्ये तु 'मुख्य-विशि-धेयतया चन्द्राभेदस्यापि मुखे प्रतीतेरार्थं चन्द्ररूपकम्। शाब्दं त्वसते। एवं मुखाभेदस्य समासशास्त्रप्रवृत्त्युपयोगितयाङ्गीकारेऽप्यतात्पर्यविषयत्वाच्च तमादाय मुखरूपक-व्यवहारः। किं चात्र पूर्वपदार्थप्रधानमयूरव्यंसकादिसमासेन। चन्द्रपुण्डरीकाद्यभेदस्यैव मुखशशधरादौ भानान्न दोषः। अत एव विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थमिदम्' इति भाष्यकृतः। एवं च वाच्यतापि चन्द्ररूपकस्य" इत्याहुः। अपरे तु "चन्द्रनिष्ठाभेदचन्द्रप्रतियोगिकाभेदस्य रूपकम्। अत एव 'तद्रूपकमभेदोपमानोपमेययोः' इत्युक्तं ग्रन्थे। अत विषयनिष्ठाभेद-प्रतियोगितया यत्र विषयस्य रञ्जनमित्येव लक्षणार्थः। एवं च मुखप्रतियोगिकाभेदवांश्चन्द्र इत्येवं बोधेऽपि न क्षतिः' इत्याहुः" इति नागेशः। एवं रूपकत्वसाम्येऽपि समासगत-वाक्यगतरूपकयोर्योभेदस्तमाह—सोऽयमित्यादिना। अयंभावः—स्व(विशेषण)प्रतियोगिका-भेद एव विशेषणस्य सम्बन्धस्तथा च मुखचन्द्र इत्यादिसमासगतरूपकस्थले मुखप्रति-योगिकाभेद एव चन्द्रे भासेत, यत्र चाभेदो भासते तदेवोपमेयम्, यस्य चाभेद-स्तदुपमानम् इति मुखरूपकापत्तिरिति नागेशाशयेन प्राक् सर्वा अनुपपत्तयो दर्शिताः, परं तु तद् भ्रान्तिमूलकम्, यतः स्वप्रतियोगिकाभेदो यथा विशेषणस्य सम्बन्धस्तथा स्वानुयोगिकाभेदोऽपि। एतच्च मुखं चन्द्रः इत्यादि वाक्यगतरूपकस्थले चन्द्रप्रतियोगिकाभेदव-न्मुखम् इति जायमाने बोधे चन्द्रो विशेषणं मुखञ्च विशेष्यं भवति। मुखचन्द्र इत्यादि समासगतरूपकस्थले तु मुखानुयोगिकाभेदप्रतियोगी चन्द्र इति बोधे मुखमेव विशेषणम्

चन्द्रश्च विशेष्यो भवति । उभयत्रापि चन्द्रस्यैवाभेदप्रतियोगितया प्रत्ययेनोपमानत्वं सुस्थम्, अतोऽखिलाः पूर्वोक्ता अनुपपत्तयो वारिताः, सौजन्यचन्द्रिका इत्यत्र चन्द्रिकाप्रतियोगि-काभेदस्यैव सौजन्यात्मकविशेषणसम्बन्धत्वेन सौजन्यानुयोगिकाभेदप्रतियोगिनीचन्द्रिकेति बोधे प्रकारान्तरेण सौजन्ये चन्द्रिकाभेदसिद्धौ राज्ञि चन्द्राभेदस्य समर्थनसम्भवात्, शशिपुण्डरीकम् इत्यत्र शश्यनुयोगिकाभेदप्रतियोगिपुण्डरीकम् इति बोधे शशिनि पुण्डरीकाभेदस्य भानेन पुण्डरीकरूपकत्वस्याव्याहतत्वात्, नीलिमदिव्यतोये, तारावली-मुकुलमण्डलमण्डिते, षोडशकलादलम्, अङ्कभृङ्गम् इत्येतेष्वपि उक्तरीत्या उत्तर-पदार्थप्रतियोगिकाभेदस्य पूर्वपदार्थे भानेनोत्तरपदार्थरूपकत्वस्याक्षतत्वात् 'सुविम-लमौक्तिकतारे—' इत्यत्रापि तारादिप्रतियोगिकाभेदस्यैव मौक्तिकाद्यात्मकविशेषण-सम्बन्धतया तत्र-समर्थकांशे-ताराद्युत्तरपदार्थरूपकत्वसिद्धौ तैः रूपकैः राकारूपकस्य समर्थतासम्भवाच्च । अभेदो विशेषणस्य सम्बन्ध इति सत्यम्, परन्तु विशेषण-विशेष्यभावैनियमेण व्यासस्थले तस्य (अभेदस्य) मुखे (अग्रभागे) अनुयोगित्वं, तिष्ठति 'मुखं चन्द्रः' इत्यादितः चन्द्रप्रतियोगिकाभेदानुयोगि मुखम् इत्यादिबोधात्, समासस्थले च तस्य मुखे प्रतियोगित्वं तिष्ठति, 'मुखचन्द्रः' इत्यादितः 'मुखानुयोगिकाभेदप्रतियोगी चन्द्रः' इत्यादिबोधात् इति तात्पर्यम् । यद्यपि गुरुमर्मप्रकाशकारस्तदनुसारी सरलाकारश्च 'अनुयोगित्वमुख-प्रतियोगित्वमुख'शब्दयोः 'अनुयोगित्वं मुखे = आदौ यस्य' इत्यादि विवरणं विधाय समासस्थलेऽनुयोगित्वमुखत्वं व्यासस्थले च प्रतियोगित्वमुखत्वं निर्णीत-वन्तौ, तथाप्यदम् 'सोऽयमभेदो यत्रानुयोगित्वमुखस्तत्र रूपकस्य विधेयता' इत्याद्यग्रिम-ग्रन्थस्वारस्यानुरोधेन 'अनुयोगित्वं मुखे = अग्रभागे यस्य, इत्यादि विवृत्य तद्विपरीतम् तिरस्कृतम् । यदि समासेऽनुयोगिमुखत्वमभेदस्याभिमतमभविष्यत्तदाऽनुयोगिमुखाभेद-वत्त्वं रूपकस्य विधेयत्वनियामकमभविष्यत्, समासे-मुखचन्द्रः इत्यादौ रूपकस्य विधेयतायाः [illegible] ध्यानीयं विद्वद्भिः । एतावता मुख्यवक्तव्यम् यत्राभेदोऽनुयोगिमुखस्तत्र रूपकं विधेयं भवति—अर्थात् व्यासस्थले 'मुखं चन्द्रः' इत्यादौ अभेद अनुयोगित्वमुखस्तिष्ठति तत्र चोपमानोपमेययोः पृथक्-पृथक् विभक्तिश्रवणादुद्देश्यविधेयभावसम्भवेन रूपकस्य विधेयत्वेन व्यवहारो भवति । यत्र चाभेदः प्रतियोगित्वमुखस्तत्र रूपकमनुवाद्यं भवति—अर्थात् समासस्थले-'मुखचन्द्रः' इत्यादौ— अभेद उपमानप्रतियोगित्वमुखस्तिष्ठति, तत्र चोपमानोपमेययोः पृथग्विभक्तेरश्रवणा-दुद्देश्यविधेयभावासम्भवेन रूपकस्यानुवाद्यत्वेनैव व्यपदेशो भवत इति ।

उक्त आशंका का उत्तर दिया जाता है—अत्र वदन्ति इत्यादि । उक्त आशंका के उत्तर में कहते हैं कि—अभेद विशेषण का संबन्ध होता है विशेष्यका नहीं, यह सर्व-सम्मत बात है—अर्थात् अभेदसंबन्ध से विशेषण ही विशेष्य में रहनेवाला समझा जाता है, विशेष्य विशेषण में रहनेवाला नहीं । यह सत्य है पर वह अभेद जैसे 'मुख चन्द्रमा है' इत्यादि वाक्यगत रूपक में अपने प्रतियोगी चन्द्र का अपने अनुयोगी मुख में, विशेषण होना निभा देता है वैसे ही 'मुखचन्द्र' आदि समासगत रूपक में अपने अनुयोगी मुख का, अपने प्रतियोगी चन्द्र में, विशेषण होना निभा देता है । तात्पर्य यह कि वाक्य तथा समास में विशेषण-विशेष्य होना बदलता है, अनुयोगी-प्रतियोगी होना नहीं, अतः वाक्य तथा समास दोनों ही जगहों पर वस्तुतः 'चन्द्र का अभेद' अर्थात् 'चन्द्रप्रतियोगिक अभेद' ही संबन्धरूप होता है, 'मुख का-मुखप्रतियोगिक-अभेद' नहीं । यह बात दूसरी है कि कहीं (व्यासस्थल में) अभेद के आगे अनुयोगित्व आता है

और कहीं (समासस्थल में) प्रतियोगित्व उसके आगे आता है। इस तरह के अप्रागमन का कारण है विशेषण-विशेष्य होने की विचित्रता—अर्थात् यह निश्चित नहीं कि अनुयोगी ही विशेषण हो अथवा प्रतियोगी ही; दोनों में से कोई भी विशेषण अथवा विशेष्य हो सकता है। इस विचित्रता के कारण कभी (समास कर देने पर) अनुयोगी-मुख आदि विशेषण हो जाता है और कभी (समास न करने पर) प्रतियोगी चन्द्र आदि। और जब अनुयोगी विशेषण होता है तब प्रतियोगित्व अभेद के आगे आ जाता है—अर्थात् 'मुखचन्द्र' इस समस्त पद से 'मुख जिसका अनुयोगी है उस अभेद का प्रतियोगी चन्द्र' ऐसा बोध होता है और जब प्रतियोगी विशेषण होता है तब अनुयोगित्व अभेद के आगे आ जाता है—अर्थात् 'मुख चन्द्र है' इस वाक्य—जिसमें अभेद का प्रतियोगी चन्द्र विधेय होने के कारण विशेषण और उसका अनुयोगी मुख उद्देश्य होने के कारण विशेष्य हुआ है—से 'चन्द्र जिसका प्रतियोगी है उस अभेद का अनुयोगी-आश्रय-मुख' ऐसा बोध होता है। अतः यह नहीं समझना चाहिए कि—'मुखचन्द्र' इत्यादि समासगत-रूपकस्थल में मुख का (मुख-प्रतियोगिक-अभेद संबन्धरूप से आया है, चन्द्र का नहीं। कारण, यदि—ऐसा हो अर्थात् 'मुखचन्द्र' आदि में मुख के अभेद को संबन्ध रूप से आया हुआ माने—तो ऐसी जगह चन्द्र-रूपक न कहला कर मुख-रूपक कहलाने लगेगा—अर्थात् मुख में चन्द्र का आरोप न मानकर चन्द्र में मुख का आरोप मान्य होने लगेगा। स्वप्रतियोगिक अभेद ही—अर्थात् जिसका विशेषण प्रतियोगी हो वही अभेद संबन्धरूप में आ सकता है, न कि स्वानुयोगिक अभेद—अर्थात् जिसका विशेषण अनुयोगी हो वह अभेद संबन्धरूप में नहीं आ सकता—तात्पर्य यह कि विशेषण सर्वदा अभेद का प्रतियोगी ही हो सकता है, अनुयोगी नहीं, यह किसी का कथन तो केवल दुराग्रह है, क्योंकि इस तरह के कथन में कोई प्रमाण नहीं। इस स्थिति में 'सौजन्य-चन्द्रिका' आदि रूपक में 'चन्द्रिका के विशेषणरूप सौजन्य' का संबन्ध 'सौजन्य का अभेद' नहीं, अपितु 'चन्द्रिका का अभेद' है—अर्थात् उस अभेद का प्रतियोगी सौजन्य नहीं, चन्द्रिका है। अतः उक्त सामासिक पद से पर्यवसित होने वाले 'चन्द्रिका सौजन्य में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी है' इस अर्थ में विग्रह के ढङ्ग से न सही, किन्तु दूसरे ढङ्ग से सौजन्य में चन्द्रिका का अभेद सिद्ध हो जाता है और उसके सिद्ध हो जाने पर चन्द्र का अभेद राजा में भी सिद्ध हो जाता है। अतः परम्परित रूपक में कोई गड़बड़ी नहीं। 'शशिपुण्डरीक' आदि में भी 'चन्द्र में रहने वाले अभेद का प्रतियोगी कमल' यह अर्थ सिद्ध हो जाने पर कमल का अभेद ही चन्द्र में प्रतीत होता है, अतः कमल का रूपक मानने में कोई बाधा नहीं। इसी तरह अन्य असमस्त-रूपकों में भी समझना चाहिए—अर्थात् 'नीलिमनीथ, तारावलीमुकुल, षोडश कलान्दल, तथा अङ्कभृङ्ग' इन सब जगहों में भी उक्त रीति से अन्त में उत्तरपदार्थ नीथ आदि का अभेद ही पूर्वपदार्थ नीलिमा आदि में समझा जायगा, अतः—यहाँ भी उत्तरपदार्थरूपक मानने में कोई अड़चन नहीं रह जाती। इसी तरह 'गुणिमणिमौक्तिकतारे' इत्यादि में भी मोती आदि में रहनेवाला तारा आदि का अभेद ही तारा आदि के विशेषणीभूत मोती आदि का संबन्ध होकर राका-रूपक का समर्थक होता है। अतः सब ठीक है। हाँ, इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि—यह अभेद जहाँ अनुयोगित्व युक्त हो—अर्थात् जहाँ शाब्दबोध में अभेद के आगे अनुयोगित्व शब्द जोड़ा जाता हो वहाँ फलतः व्यास-स्थल में रूपक विधेय कहलाता है, क्योंकि वहाँ 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि रीति से उपमान-उपमेय में अलग-अलग विभक्ति के श्रवण होने से उद्देश्य-विधेयभाव हो सकता है और यह अभेद जहाँ प्रतियोगित्वयुक्त हो अर्थात् जहाँ शाब्दबोध में अभेद के आगे प्रतियोगित्व शब्द जोड़ा जाता हो वहाँ फलतः समासस्थल में रूपक अनुवाद्य कहलाता है, क्योंकि वहाँ 'मुख-चन्द्रः' इत्यादि रीति से उपमान-उपमेय में पृथक् विभक्ति के श्रवण न होने से उद्देश्य-विधेयभाव नहीं हो सकता है।

यहाँ 'सर्वं सुस्थम्' इस प्रतीक पर नागेश कतिपय भिन्न मतों का उल्लेख करते हैं, जो निम्नलिखित हैं—"'मुखचन्द्र' इत्यादि समासगत रूपकस्थल में यद्यपि शब्दतः मुख का अभेद ही चन्द्र में भासित होता है, तथापि तुल्य-वित्ति-वेद्य होने के कारण, अर्थतः चन्द्र का अभेद मुख में भी गृहीत हो ही जाता है, अतः ऐसे–समास–स्थलों में आर्थ चन्द्र-रूपक होता है। शाब्द चन्द्र–रूपक तो 'मुखचन्द्र है' इत्यादि व्यास–वाक्य–स्थल में होता है। यदि कोई कहे कि मुख का अभेद जब शब्दतः चन्द्र में गृहीत हुआ तब मुख-रूपक-व्यवहार ही वहाँ क्यों नहीं होता, तो इसका उत्तर यह होगा कि समासशास्त्र की प्रवृत्ति में उपयोगी होने के कारण मुख का अभेद चन्द्र में भले ही माना जाय पर वह वक्ता के तात्पर्य का विषय नहीं है—वक्ता के तात्पर्य का विषय तो मुख में चन्द्र का अभेद ही है, अतः मुख-रूपक व्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती। अथवा 'मुखचन्द्र' इत्यादि पदों में 'मयूरव्यंसकादयश्च' इस पाणिनिसूत्र से ही समास किया जायगा जिस समास में पूर्व पदार्थ की ही प्रधानता रहती है, अतः 'मुखचन्द्रः', 'शशिपुण्डरीकम्' इत्यादि में चन्द्र-पुण्डरीक आदि का ही अभेद मुख-शशि आदि में भासित होगा, अतः कोई दोष नहीं। अतएव भाष्यकार ने भी कहा है कि 'मयूर–इत्यादि सूत्र विशेष्य के पूर्व प्रयोगार्थ है।' इस रीति को मानने पर उक्त स्थल में चन्द्र-रूपक वाच्य भी कहलाता है, अन्यथा वैसा नहीं कहला सकता।" यह अन्य लोगों का मत है। कुछ लोगों का यह भी मत है कि—"चन्द्र का अभेद और चन्द्र में रहने वाला अभेद—दोनों ही अभेद-रूपक कहलाते हैं। अतएव काव्यप्रकाश में 'उपमान-उपमेय का अभेद रूपक है' ऐसा ही लक्षण किया गया, 'उपमान का उपमेय में अभेद रूपक है' ऐसा नहीं। अथवा 'विषयी उपमान में रहने वाला जो अभेद उसकी प्रतियोगिता से जहाँ विषय-उपमेय का रञ्जन हुआ हो वहाँ रूपक होता है' यही लक्षणवाक्य का अर्थ है। अतः 'मुख-चन्द्र' इत्यादि से 'मुखप्रतियोगिकमुख का अभेद वाला चन्द्र' इस तरह का बोध होने पर भी कोई क्षति नहीं।"

परम्परितरूपकस्य प्रभेदान्तरमवतारयति—

तत्र 'प्राची सन्ध्या समुद्यन्महिमदिनमणेः' इत्यत्रारोप्यमाणयोः परस्परमारोपविषययोश्चानुकूल्ये रूपकयोरनुग्राह्यानुग्राहकभावो दर्शितः।

तत्रेति। परम्परितरूपकाणां मध्ये इत्यर्थः। आरोप्यमाणयोः उपमानयोः। परस्परमित्यस्य मध्यमणिन्यायेनोभयत्रान्वयः। आरोपविषययोः उपमेययोः। आनुकूल्ये अविरुद्धत्वे। अनुग्राह्यानुग्राहकभावः समर्थ्यसमर्थकभावः। 'प्राचीसन्ध्या—' इत्यत्रारोप्यमाणौ पूर्वसन्ध्यासूर्यौ आरोपविषयौ महिमनयनगतशोणिमश्रियौ च मिथोऽनुकूलौ, पूर्वसन्ध्यायां सूर्यस्य महिम्नि नयनगतशोणिमशोभायाश्च सम्भाव्यमानत्वादिति भावः।

परम्परितरूपक के अन्य भेदों की अवतारणा की जाती है—तत्र इत्यादि। परम्परितरूपक के प्रभेदों में समर्थ्यरूपक और समर्थकरूपक के उपमानों तथा उपमेयों के परस्पर अनुकूल होने पर समर्थ्य-समर्थक होना 'प्राचीसंध्या—' इस पद्य में दिखाया जा चुका है अर्थात् उक्त पद्य में, उपमान–पूर्वसंध्या—और सूर्य आदि परस्पर अनुकूल हैं—पूर्वसंध्या (प्रभात) में सूर्य रहता ही है, इसी तरह उपमेय–प्रताप और नयन–शोणता आदि भी परस्पर अनुकूल हैं—प्रतापीजन की आँखें लाल हुआ ही करती हैं।

पूर्वविवरणसूचितभेदान्तरं दर्शयितुमाह—

प्रातिकूल्ये यथा—

आरोप्यमाणयोः परस्परमारोपविषययोश्च विरुद्धत्वे रूपकयोरनुग्राह्यानुग्राहकभावो यथेति भावः।

समर्थ्यरूपक और समर्थकरूपक के उपमानों और उपमेयों के परस्पर प्रतिकूल होने पर भी समर्थ्यसमर्थक होने का उदाहरण जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'आनन्दमृगदावाग्निः शीलशाखिमदद्विपः ।
ज्ञानदीपमहावायुरयं खलसमागमः ॥'

अयम् प्रत्यक्षदृश्यमानः, खलसमागमः नीचाशयजनसम्मेलनम्, आनन्दरूपस्य मृगस्य कृते दावाग्निः वनवह्निरूपोऽस्ति, शीलम् सदाचारः, तद्रूपो यः शाखी तरुः, तस्य कृते मदद्विपः मत्तगजरूपोऽस्ति, तथा ज्ञानरूपो यो दीपः तस्य कृते महावायुः झंझावात-रूपोऽस्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—आनन्द इत्यादि । यह खलों—नीच धारणावाले जनों—का समागम आनन्दरूप हरिण के लिये वनवह्नि है, सदाचाररूप वृक्ष के लिये मद-मत्त हाथी है और ज्ञानरूप दीपक के लिये महावायु है ।

उदाहरणान्तरं निर्देष्टुं कथयति—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'कारुण्यकुसुमाकाशः शान्तिशैत्यहुताशनः ।
यशःसौरभ्यलशुनः पिशुनः केन वर्ण्यते ॥'

कारुण्यकुसुमस्य दयारूपपुष्पस्य, कृते आकाशः वियद्रूपः, शान्तिशैत्यस्य शान्तिरूप-शीतलत्वस्य कृते हुताशनः अग्निरूपः, तथा यशःसौरभ्यस्य यशोरूपस्य सुगन्धस्य कृते लशुनः लशुनरूपः, पिशुनः कर्णेजपः, केन जनेन, वर्ण्यते न केनापीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कारुण्य इत्यादि । उस चुगलखोर का वर्णन किससे सम्भव है जो दयारूप पुष्प के लिये आकाशरूप, शान्तिरूप शीतलता के लिये अनलरूप और यशोरूप सुगन्ध के लिये लहसुनरूप है ।

उपपादयति—

एकत्र नाश्यनाशकभावरूपमपरत्र [illegible] प्रातिकूल्य-मुपमानयोस्तथैवोपमेययोश्च । अनुग्राह्यानुग्राहकभावः पुनरारोपयोरविशिष्ट एव ।

लक्ष्यान्तरदाने बीजमाह—एकत्रेति । आद्ये इत्यर्थः । अपरत्रेति । द्वितीये इत्यर्थः । दावाग्निना यथा मृगस्तथा खलसमागमेन आनन्दो नाश्यते, एवं च दावाग्निर्यथा मृगार्थम् प्रतिकूलस्तथा आनन्दस्य कृते खलसमागम इत्यादिरूपे प्रातिकूल्ये 'आनन्दमृग—' इति [illegible] । [illegible]—आकाशे यथा कुसुमस्य तथा खले कारुण्यस्य संसर्गो नेत्यादिरूपे प्रातिकूल्ये 'कारुण्य—' इति '[illegible]'मिति भावः । एवं प्राति-कूल्यमुपपाद्य तस्मिन्नपि समर्थ्यसमर्थकभावोऽस्त्येवेत्युपपादयति—अनुग्राह्य इत्यादि । आनन्दे मृगारोपेण शीले शाख्यारोपेण ज्ञाने दीपारोपेण च खलसमागमे दावाग्निमदद्विप-महावायूनामारोपः समर्थ्यते प्रथमश्लोके, एवं कारुण्ये कुसुमारोपेण, शान्तौ शैत्यारोपेण, यशसि सौरभ्यारोपेण च पिशुने आकाशहुताशनलशुनानामारोपः समर्थ्यते द्वितीयश्लोक इति सारांशः ।

उपपादन किया जाता है—एकत्र इत्यादि । उक्त दोनों उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में नाश्यनाशकभावरूप और द्वितीय उदाहरण में सर्वथा सम्बन्धराहित्यरूप प्रतिकूलता

उपमानों तथा उपमेयों में है। तात्पर्य यह कि प्रथम पद्य में, समर्थकरूपकगत—मृग, वृक्ष और दीप—एवं समर्थ्यरूपकगत—दावानल, मत्तगज और महावायु—जो उपमान हैं वे परस्पर प्रतिकूल हैं। प्रतिकूलता इनमें यह है कि क्रमशः प्रथमवर्ग के पदार्थों के नाशक हैं क्रमशः द्वितीय वर्ग के पदार्थ, इसी तरह समर्थकरूपकगत आनन्द, शील और ज्ञान—एवं समर्थ्यरूपकगत—खलसमागम—जो उपमेय हैं उनमें भी परस्पर प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता भी वही है—अर्थात् खल-समागम प्रथम वर्ग में गिनाए गये पदार्थों का नाशक है। द्वितीय पद्य में, जो समर्थक-रूपकगत—कुसुम, शैत्य और सुगन्ध—एवम् समर्थ्यरूपकगत—आकाश, अग्नि और लहसुन—जो उपमान हैं उनमें भी परस्पर प्रतिकूलता है—और प्रतिकूलता यह है कि—क्रमशः प्रथम वर्ग के पदार्थों के साथ क्रमशः द्वितीय वर्ग के पदार्थों का कभी किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रहता, इसी तरह समर्थकरूपकगत उपमेयों—दया, शान्ति तथा यश—के साथ समर्थ्यरूपकगत उपमेय—चुगलखोर—का किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो सकनारूप प्रतिकूलता है। पर उक्त प्रतिकूलताओं के रहने पर भी दोनों ही स्थलों में समर्थ्य-समर्थकभाव उसी तरह होता है जिस तरह अनुकूलता वाले उदाहरणों में।

परम्परितरूपकस्य भिन्नविधं वैचित्र्यं चित्रयितुमुदाहरणान्तरमाह—

तथा—

'अयं सज्जनकार्पासरक्षणैकहुताशनः।
परदुःखाग्निशमनमारुतः केन वर्ण्यते ॥'

दुर्जनं स्वभावतः परापकारनिरतं कमप्युद्दिश्य कविराह—सज्जनरूपस्य, कार्पासस्य तूलविशेषस्य, रक्षणे लक्षणया नाशने, एकः अद्वितीयः, हुताशनः अग्निरूपः, तथा पर-दुःखरूपस्य, अग्नेः, शमने लक्षणया वर्धने, मारुतः वायुरूपः, अयं दुर्जनः, केन व्यक्ति-विशेषेण वर्ण्यते ? वर्णयितुं शक्यते ? न केनापीत्यर्थः।

भिन्न तरह की विचित्रता का चित्रण करने के लिये परम्परित का एक और उदाहरण उपस्थित किया जाता है—अयम् इत्यादि। किसी दुर्जन को उद्देश्य कर कवि ने कहा है—यह सज्जनरूप कपास की रक्षा करने में (लक्षणा द्वारा नाश करने में) एक अद्वितीय अग्नि है और दूसरों के दुःखरूप अग्नि का शमन (लक्षणया वर्धन) करने में वायुरूप है। इसका वर्णन कौन कर सकता है ? कोई नहीं।

लक्षणाध्वनि-

अत्र रक्षणशमनपदे विरोधिलक्षणया विपरीतार्थबोधके।

'अयम्' इति श्लोके हुताशनकर्तृकं कार्पासकर्मकं रक्षणं यथा बाधितम् तथा दुर्जन-कर्तृकं सज्जनकर्मकं रक्षणं बाधितमिति रक्षणपदस्य वैपरीत्यसंबन्धमूलिका नाशनेऽर्थे लक्षणा। एवं मारुतकर्तृकं वह्निकर्मकं शमनं यथा बाधितं तथा दुर्जनकर्तृकं परकीयदुःखकर्मकं शमन-मपि बाधितमिति शमनपदस्य वैपरीत्यसंसर्गमूलिका वर्धनेऽर्थे लक्षणा। तथा च समर्थ्य-समर्थकभावापन्नरूपकद्वयसमूहात्मकेऽत्र परम्परिते लक्षणाप्रवेश एवं वैचित्र्यमिति भावः। इदमपरं वैचित्र्यमिह विभावनीयम्—पूर्वार्धगतयोः समर्थ्यसमर्थकरूपकयोः। उपमानोपमेये मिथः प्रतिकूले कार्पास-हुताशनयोः सज्जनदुर्जनयोश्च नाश्य-नाशकभावापन्नपदार्थत्वात्। उत्तरार्धगतयोः समर्थ्यसमर्थकरूपकयोरुपमानोपमेये तु न मिथः प्रतिकूले, अग्नि-मारु-तयोः परदुःखदुर्जनयोश्च परस्परसंवर्ध्यसंवर्धकभावापन्नत्वेनानुकूलत्वात्।

व्याख्या द्वारा सूचित की गई लक्षणा का उपपादन किया जाता है—अत्रेति । 'अयम्' इस पद्य में 'रक्षण' तथा 'शमन' पद विपरीत लक्षणा द्वारा वाच्य से विरुद्ध अर्थ—नाशन और वर्धन के बोधक हैं । अभिप्राय यह कि—जिस तरह आग से कपास की रक्षा बाधित है एवं वायु से आग का प्रशमन बाधित है उसी तरह दुर्जन से सज्जन की रक्षा एवं दुर्जन से परकीय दुःख का प्रशमन भी बाधित है, अतः रक्षण तथा शमन पद की लक्षणा क्रमशः नाशन तथा वर्धन अर्थ में करनी पड़ेगी और 'लक्षणा शक्यसंबन्धः' का रक्षक संबन्ध यहाँ होगा 'विरोध'वैपरीत्य । इस तरह से परस्पर समर्थ्यसमर्थकभावापन्न अनेक रूपकों के समूहरूप इस परम्परित रूपक में लक्षणा का प्रवेश कराना एक प्रकार की विचित्रता दिखलाई गई । यहाँ दूसरी विचित्रता भी यह है कि—पूर्वार्ध में, समर्थक रूपक का उपमान-कपास और समर्थ्य रूपक का उपमान-अग्नि परस्पर प्रतिकूल हैं—एक का दूसरा नाशक है, इसी तरह उक्त दोनों रूपकों के उपमेय सज्जन और दुर्जन भी परस्पर प्रतिकूल हैं—एक का दूसरा नाशक ही है । ठीक इसके विपरीत, उत्तरार्ध में समर्थक रूपक का उपमान—अग्नि और समर्थ्य रूपक का उपमान—वायु प्रतिकूल नहीं हैं, अपितु अनुकूल ही हैं—एक का दूसरा सहायक ही है । इसी तरह इन दोनों रूपकों के उपमेय क्रमशः परकीय दुःख और दुर्जन भी प्रतिकूल नहीं, अनुकूल हैं—एक का दूसरा वर्धक है । इस तरह यहाँ प्रातिकूल्य तथा आनुकूल्य का विचित्र मिश्रण है ।

अवान्तरप्रकरणसमाप्तिं सूचयति—

एवं पदार्थरूपकं लेशतो निरूपितमेव ।

एवं प्रागुक्तरीत्या । पदार्थरूपकमिति । यत्रैकस्मिन् उपमेयभूते पदार्थेऽपरस्य पदार्थभूतस्योपमानस्यारोपस्तादृशं रूपकमित्यर्थः । लेशतः अंशतः ।

अवान्तर प्रकरण की समाप्ति सूचित की जाती है—एवं इत्यादि । इस तरह (पूर्वोक्त रीति से) पदार्थ रूपक (उस रूपक, जिसमें एक पदके अर्थ का आरोप दूसरे पद के अर्थ में होता है) का अंशतः निरूपण किया जा चुका ।

वाक्यार्थरूपकं निरूपयिष्यन् तावत्तल्लक्षणमाह—

वाक्यार्थे विषये वाक्यार्थान्तरस्यारोपे वाक्यार्थरूपकम् ।

उपमेयभूते एकस्मिन् वाक्यार्थे (न तु पदार्थे) उपमानभूतस्यान्यवाक्यार्थस्य (न तु पदार्थस्य) आरोपे-ताद्रूप्ये-वाक्यार्थरूपकं भवतीति भावः ।

वाक्यार्थरूपक का निरूपण करने के प्रसङ्ग में पहले उसका लक्षण किया जाता है—वाक्यार्थे इत्यादि । जब किसी एक पद का अर्थ नहीं, अपितु किसी पूरे वाक्य का अर्थ उपमेय हो और उसमें उपमानभूत पूरे वाक्य के अर्थ का आरोप हो, तब वह आरोप वाक्यार्थरूपक कहलाता है ।

दृष्टान्तद्वारा वाक्यार्थरूपकगतं विशेषं स्फोरयितुमाह—

यथा हि विशिष्टोपमायां विशेषणानामुपमानोपमेयभाव आर्थस्तथात्रापि वाक्यार्थघटकानां पदार्थानां रूपकमर्थावसेयम् ।

विशिष्टोपमायामिति । 'आत्मनोऽस्य तपोदानैर्निर्मलीकरणं यशः । आत्मनो भास्करस्येव भास्वरैः सलिलोत्करैः ।' इत्यादिप्रकारिकायामित्यर्थः । विशेषणानामिति । आत्मभास्करयोः तपोदानसलिलोत्करयोश्चोपमेयोपमानविशेषणयोरित्यर्थः । आर्थ इति तद्वदि इवाद्यप्रयोगादिति भावः । अत्रापि वाक्यार्थरूपके । वाक्यार्थघटकानामिति । वाक्यार्थान्तर्गतानामित्यर्थः । अर्थावसेयमिति । आर्थमित्यर्थः । न शाब्दमिति तदाशयः ।

दृष्टान्त द्वारा वाक्यार्थरूपक में होनेवाले विशेष का स्पष्टीकरण किया जाता है—

यथा हि इत्यादि । जैसे विशिष्ट-विशेषणयुक्त—उपमा में विशेषणों का उपमानोपमेयभाव अर्थतः अवगत होता है शब्दतः नहीं, क्योंकि वहाँ उपमा-सादृश्य का बोधक पद 'इव' आदि नहीं रहता, वैसे ही वाक्यार्थ-रूपक में भी वाक्यार्थ-घटक—अर्थात् जिनके समूह से वाक्यार्थ बनता है उन पदार्थों का रूपक अर्थतः समझने योग्य होता है, शब्दतः नहीं । अभिप्राय यह कि—यदि 'तप-दान आदि के द्वारा आत्मा को निर्मल करना वैसा ही है जैसा सरोवर के जल से सूर्य का प्रक्षालन करना' ऐसा कहा जाय तब सभी आचार्य इसको विशिष्ट—अर्थात् वाक्यार्थ की—उपमा मानेंगे और इस उपमा में आत्मा की सूर्य के साथ और तप-दान की जल के साथ होने वाली उपमा अर्थतः ज्ञात होने वाली मानी जायगी, उसी तरह वक्ष्यमाण वाक्यार्थ-रूपक के उदाहरण में भी विशेष्यांश का ताद्रूप्य तो शब्दतः ज्ञात होगा पर विशेषणांश का ताद्रूप्य शब्दतः नहीं, अर्थतः ज्ञात होगा ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'आत्मनोऽस्य तपोदानैर्निर्मलीकरणं हि यत् ।
क्षालनं भास्करस्येदं सारसैः सलिलोत्करैः ॥'

अस्य स्वतो निर्मलस्य, आत्मनो जीवाख्यस्य ब्रह्मणः, तपोदानैः तपस्याभिः परोद्दे-श्येनार्थत्यागैश्च, यत् निर्मलीकरणं निर्मलतासम्पादनम्, इदं तत्, सारसैः सरोवरीयैः, सलिलोत्करैः जलपुञ्जैः, भास्करस्य सूर्यस्य, क्षालनं निर्मलीकरणमित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—आत्म इत्यादि । स्वतःनिर्मल इस आत्मा को तप और दानों से निर्मल करना सरोवर के जल-समूह से सूर्य को धोना है ।

उपपादयति—

अत्रात्मनि तपोदानेषु चारोपविषयविशेषणतया बिम्बभूतेषु, भास्करस्य सलिलोत्करादीनां च विषयि-विशेषणत्वेन प्रतिबिम्बानां रूपकं गम्यमानं प्रधानीभूतविशिष्टरूपकाङ्गम् ।

सलिलोत्करादीनामिति । यद्यप्यत्रोपलब्धपुस्तके 'सलिलक्षालनादीनाम्' इत्येव पाठः, परन्तु स न संगत इति नागेशेन स्वटीकायामुद्धृतो मूलोक्त पाठ एव समादृतः । 'आत्मनोऽस्य—' इति श्लोके तपोदानकरणकात्मकर्मकनिर्मलीकरणात्मके उपमेयभूते वाक्यार्थे सरःसलिलसमूहकरणकभास्करकर्मकक्षालनात्मकस्योपमानभूतस्य वाक्यार्थस्याभेदारोपरूपं वाक्यार्थरूपकं प्रधानं शाब्दञ्च । उपमेयविशेषणतया बिम्बभूते आत्मनि तपआदौ चोपमानविशेषणतया प्रतिबिम्बभूतस्य भास्करस्य सलिलोत्करस्य चाभेदारोपरूपं रूपकद्वयमप्रधानभूतमपि अर्थतः प्रतीयमानमङ्गमिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'आत्मनोऽस्य—' इस पद्य में 'तप-दानों से आत्मा का निर्मल करना' यह वाक्यार्थ उपमेय है, जिसमें 'सरोवर के जल से सूर्य का धोना' इस उपमानभूत वाक्यार्थ का शब्दतः आरोप होता है, अतः यह आरोप शाब्दवाक्यार्थरूपक कहलाता है और यह वाक्यार्थरूपक ही यहाँ प्रधान है । यद्यपि यहाँ, उपमेय के विशेषण होने से बिम्बरूप आत्मा में उपमान-विशेषण होने से प्रतिबिम्बरूप सूर्य का तथा इसी तरह, बिम्बरूप तप-दानों में प्रतिबिम्बरूप जल का आरोप भी अर्थतः प्रतीत होता है, अतः ये दो आर्थपदार्थरूपक भी हैं, पर ये दोनों उक्त प्रधान रूपक के अङ्ग-भूत हैं ऐसा समझना चाहिए ।

संक्षिप्तमतमुत्थाप्य निरस्यति—

'नेदं रूपकम् । रूपके बिम्ब-प्रतिबिम्बभावो नास्ति' इति केनाप्यालङ्कारिकम्मन्येन प्रतारितस्य दीर्घश्रवसो द्रविडस्योक्तिरश्रद्धेयैव । यथोरिवादिशब्दप्रयोगे

उपमा तयोरेकत्रान्यारोपे रूपकमिति नियमात्। अत्र यदि रूपकं नाङ्गीकुरुषे नैवाङ्गीकुरु, तर्हि तत्रैव यथादिशब्दप्रयोगे उपमामपि। एवं 'त्वयि कोपो महीपाल सुधांशाविव पावकः' इत्यादौ स्वकल्पितेन विशिष्टेन धर्मिणा सादृश्यस्य प्रत्यया-दुपमां ब्रूषे, ब्रूहि तर्हि तत्रैवेवस्य निरासे 'त्वयि कोपो महीपाल सुधांशौ हव्यवाहनः' इत्यादौ रूपकमपि।

दीर्घश्रवस इति। यशस्विनः, लम्बकर्णस्येति चार्थः। खरस्येति व्यङ्ग्योऽर्थः। अस्याग्रे 'द्रविडस्य' इति पाठो यद्यपि मूले नोपलभ्यते, तथापि नागेशविवरणानुसारं समुचितः स पाठः कल्पित इति बोध्यम्। त्वयि कोप इति। हे महीपाल राजन्! त्वयि कोपः त्वद्गतः कोपः, सुधांशौ पावकः चन्द्रगताग्निः इव, प्रतीयत इत्यर्थः। स्वकल्पितेन कविकल्पितेन। विशिष्टेन धर्मिणेति। आधेयतासम्बन्धेन सुधांशुरूपविशेषणविशिष्टपावकेनेत्यर्थः। सादृश्यस्येति। राजगतकोपानुयोगिकसादृश्यस्येति भावः। 'त्वयि''''''हव्यवाहन' इति। हे महीपाल! त्वद्गतः कोपः सुधांशुगतपावकरूप इत्यर्थः। रूपके बिम्ब-प्रतिबिम्बभावो न भवति, अतः 'आत्मनोऽस्य—' इति प्रागुक्तः श्लोको रूपकोदाहरणं नास्ति—फलतो वाक्यगतं रूपकं न भवतीति दीक्षितेनोक्तं न युक्तम्, ययोरुपमानोपमेयभावापन्नपदार्थयो-रिवादिप्रयोगदशायामुपमा भवति सादृश्यस्य वाच्यत्वात्, तयोरिवाद्यप्रयोगदशायाम् समानविभक्तिकतया एकत्र—उपमेये अन्यस्य—उपमानस्य आरोपे प्रतीयमाने रूपकं भवतीति नियमे सर्वसम्मते वर्तमाने 'आत्मनोऽस्य—' इत्यत्रेवाद्यप्रयोगे रूपकमनङ्गीकुर्वता दीक्षितेन तत्रैवेवादिप्रयोगे कृते उपमाया अपि अनङ्गीकरणीयत्वात्। ननु उपमामपि नैवा-ङ्गीकरोम्यहं तत्रेति यदि दीक्षितः कथयेत्, तर्हि किमुत्तरं भवतः इति चेत्? इदमुत्तरं बोध्यम्—'त्वयि कोपो—' इत्यत्र 'इव पावकः' इति पाठविशिष्टे वाक्ये भवता कण्ठरवेणो-पमा स्वीकृता, अतः तत्रैव 'सुधांशौ हव्यवाहनः' इति पाठविशिष्टे वाक्येऽकामेनापि रूपकमपि स्वीकर्तव्यमेव भवता। एवञ्च 'आत्मनोऽस्य—' इत्यत्रेवादिप्रयोगे तदप्रयोगे च क्रमशः उपमारूपके स्वीकरणीये एव भवेतां भवता, तुल्यन्यायादिति। तथा च रूपकेऽपि बिम्ब-प्रतिबिम्बभावसिद्धौ वाक्यार्थरूपकं प्रागुक्तपद्यस्य तदुदाहरणत्वञ्च युक्तमेवेति भावः।

अप्पयदीक्षित के मत का खण्डन किया जाता है—नैदम् इत्यादि। किसी आलङ्का-रिकंमन्य (अपने को अलङ्कारशास्त्र का वेत्ता समझने वाले) के धोखे में आये हुए दीर्घश्रवा (यशस्वी, अथच लम्बकर्ण—गदहा) द्रविड (अप्पयदीक्षित) का यह कथन कि—'यह ('आत्मनोऽस्य—' यह पद्य) रूपक (रूपक का उदाहरण) नहीं है, क्योंकि रूपक में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव नहीं होता और यहाँ आत्मा तथा सूर्य आदि में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है' श्रद्धा करने योग्य नहीं है। कारण उपमानोपमेयभावापन्न जिन दो पदार्थों में 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर उपमा होती है, उनमें 'इव' आदि का प्रयोग न करने पर और साथ-साथ एक (उपमान) के दूसरे (उपमेय) में आरोप की प्रतीति होने पर रूपक होता है—यह नियम है। अतः यदि आप उक्त पद्य में रूपक नहीं मानते तो फिर इसी पद्य में 'इव' अथवा 'यथा' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर उपमा भी आप को नहीं माननी चाहिये। यदि आप कहें कि—मैं यहाँ 'इव' आदि का प्रयोग करने पर उपमा भी नहीं मानूँगा, तो छोड़िये इस पद्य को, 'त्वयि कोपो—अर्थात् हे राजन्! आप में कोप चन्द्र में आग की तरह है।' इस पद्य-वाक्य में कवि-कल्पित विशिष्ट—अर्थात् चन्द्र-रूप विशेषण से युक्त धर्मी—अर्थात् अग्नि के साथ राजगत कोप का सादृश्य प्रतीयमान होने के कारण आपने कण्ठरव से उपमा मानी है, अब आप कहिये कि यदि इसी पद्य के

'इव पावकः' की जगह 'हव्यवाहनः' ऐसा पाठ कर दिया जाय-अर्थात् 'हे राजन्! आप में कोप चन्द्र में आगरूप है।' ऐसा अर्थ कर दिया जाय-तब आप उसमें रूपक मानियेगा या नहीं? अगत्या आपको 'हाँ' कहना ही पड़ेगा। बस, मेरा अभीष्ट सिद्ध हो गया-अर्थात् इस स्थिति में जब आप यहाँ रूपक मान लेते हैं, तब 'आत्मनः—' इस पद्य में रूपक क्यों नहीं मानियेगा? युक्ति तो दोनों ही जगहों में समान है। तात्पर्य यह कि रूपक में भी बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होता है, अतः पदार्थरूपक से भिन्न वाक्यार्थरूपक अवश्य मान्य होना चाहिये और उसका उदाहरण भी 'आत्मनः-' यह पद्य माना जाना चाहिये।

वाक्यार्थरूपकस्योदाहरणान्तरमाह—

तथा—

'कुङ्कुमद्रवलिप्ताङ्गः काषायवसनो यतिः।
कोमलातपबालाभ्रः सन्ध्याकालो न संशयः॥'

इत्यादावपि विशिष्टरूपकं बोध्यम्।

कुङ्कमेति। कुङ्कुमस्य केशरस्य, द्रवेण रसेण, लिप्तानि, अङ्गानि, यस्य सः, तथा—काषायं कषायरञ्जितम्, गैरिकवर्णमिति यावत्, वसनं वस्त्रं यस्य तादृशश्च, यतिः संन्यासी, कोमलः अतीनः, आतपः, यत्र सः, एवं बालं अनिबिडमित्यर्थः, अभ्रं मेघो यत्र सः, अनयोर्विशेषणयोरपि [illegible] कथंचित् कर्मधारयः, अथवा कोमलातपमिति अभ्रविशेषणम् [illegible] बहुव्रीहिः कोमलेनातपेन युक्तमिति यावत् बालमभ्रं यत्रेति विग्रहो बोध्यः। तादृशः, सन्ध्याकालस्तद्रूप इति यावत् अस्ति, अत्र विषये संशयः न भवितुमर्हतीत्यर्थः। विशिष्टरूपकम् इति। बिम्ब-प्रतिबिम्बभावयुक्तरूपकमित्यर्थः। वाक्यार्थरूपकमिति भावः। यतिरूप उपमेये सन्ध्याकालरूपस्योपमानस्य शाब्दोऽभेदारोप इति तदङ्गिरूपकम्, तस्य च उपमेयविशेषणतया बिम्बभूते कुङ्कुम-द्रव-लेपे उपमानविशेषणतया प्रतिबिम्बभूतस्य कोमलातपस्यार्थ आरोप इति तत् तथा तथैव युक्त्या बिम्बभूते काषायवसने तथैव युक्त्या प्रतिबिम्बभूतस्य बालाभ्रस्यार्थ आरोप इति तत्—रूपकद्वयम्—अङ्गभूतम्। एतदङ्गभूतरूपकविशिष्टत्वाद्[illegible] वाक्यार्थरूपकम्- विशिष्टरूपकमिति भावः।

वाक्यार्थरूपक का ही दूसरा उदाहरण दिखलाया जाता है—तथा इत्यादि। उसी तरह, 'कुङ्कुमद्रव—अर्थात् केशर-रस से अनुलिप्त अङ्गोंवाला तथा काषाय-वस्त्रधारी संन्यासी, हलकी धूप और छोटे-छोटे लाल-सफेद मेघोंवाला सायंकाल है इसमें कोई सन्देह नहीं' इत्यादि में भी विशिष्टरूपक समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि—यहाँ यतिरूप उपमेय में सायंकालरूप उपमान का शब्दतः आरोप प्रधान रूपक है और उपमेय—विशेषण—होने के कारण बिम्बभूत केसर-रस-लेप तथा गेरुये वस्त्र में उपमान—विशेषण—होने के कारण प्रतिबिम्बभूत हलकी धूप तथा छोटे-छोटे लाल-सफेद मेघों का क्रमशः अर्थतः आरोप अङ्गरूपक है अर्थात् अङ्गिभूत शब्द एक रूपक के आर्थ दो रूपक अङ्ग हैं, अतः यह पद्य विशिष्ट-रूपक (वाक्यार्थ-रूपक) का उदाहरण होता है।

'त्वयि कोप' इत्यतः 'कुङ्कुम' इत्यत्र यो भेदस्तमाह—

त्वयि कोप इत्यत्र विषयिणः स्वबुद्धिकल्पितत्वात्कल्पितं विशिष्टरूपकम्। इह तु न तथेति विशेषः।

विषयिणः उपमानस्य, चन्द्राग्न्येकरणस्येति यावत्। स्वबुद्धिकल्पितत्वादिति। वास्तविके जगति तदसंभवेन कविकल्पितत्वादिति भावः। इह त्विति। 'कुङ्कुमद्रव—' इत्यत्र

त्वित्यर्थः । न तथेति । विषयी न स्वबुद्धिकल्पितः अपि तु स्वतःसंभवी, अतो न कल्पितं विशिष्टरूपकमिति भावः ।

'त्वयि कोप' और 'कुङ्कुम' इन दोनों उदाहरणों में परस्पर भेद दिखलाया जाता है—त्वयि इत्यादि। 'त्वयि कोप–' इस उदाहरण में उपमान (चन्द्र में अग्नि) कविकल्पित है, अतः वहाँ का विशिष्टरूपक भी कल्पित कहा जायगा और 'कुङ्कुम–' इस उदाहरण में उपमान (सन्ध्याकाल) कविकल्पित नहीं, अपितु स्वतःसम्भवी है, अतः वहाँ का रूपक कल्पित नहीं कहा जायगा यही दोनों उदाहरणों में भेद है।

आशङ्क्य समाधत्ते—

न चैवमादौ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा वक्तुं शक्या, अभेदस्य निश्चीयमानत्वात्। उत्प्रेक्षायां च सत्यां सम्भाव्यमानता स्यात्। अन्यथा मुखं चन्द्र इत्यादावपि प्रतीयमानोत्प्रेक्षापत्त्या रूपकविलोपापत्तेः।

एवमादाविति। आत्मनोऽस्येत्यादावित्यर्थः। इवाद्यप्रयोगात् आह—प्रतीति। अन्यथेति। तस्य सम्भाव्यमानत्वे इष्टापत्तौ इत्यर्थः। 'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा' इति लक्षणानुसारमुत्प्रेक्षास्थलेऽभेदः सम्भाव्यमानस्तिप्रतीति निश्चितम्, एवञ्चात्मनोऽस्येत्यादौ व्यङ्ग्योत्प्रेक्षेति कथनं नोचितम्, तत्राभेदस्य निश्चीयमानत्वात्। न च सम्भाव्यमान एवाभेदस्तत्रेति दुराग्रहः, तथा सति 'मुखं चन्द्रः' इत्यादिषु सर्वेषु रूपकोदाहरणेषु तादृशदुराग्रहसम्भवेन प्रतीयमानोत्प्रेक्षापत्तौ [illegible] भावः।

एक शंका और [illegible] हैं—न चैवम् इत्यादि। 'आत्मनोऽस्य—' इत्यादि पद्यों में व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा ही मान ली जाय, रूपक नहीं, ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि यहाँ अभेद का निश्चय है, उत्प्रेक्षा यदि होती तो अभेद का निश्चय नहीं, संभावना रहती है। यहाँ भी अभेद की संभावना ही है ऐसा दुराग्रह तो किया नहीं जा सकता, क्योंकि इस तरह 'मुख चन्द्र है' इत्यादि सभी रूपकोदाहरणों में 'अभेद-संभावना' का दुराग्रह किया जा सकता है जिससे सर्वत्र प्रतीयमान उत्प्रेक्षा ही हो जायगी, फिर रूपक का तो कविजगत् से उच्छेद ही हो जायगा।

अथ रूपकालङ्कारविशिष्टात् [illegible] वाक्याद्वा जायमानं बोधं विचारयितुं प्रतिजानीते—

अथ बोधो विचार्यते—

रूपकालङ्कारलक्षणोदाहरणादीनां निरूपणानन्तरं रूपकविशिष्ट[illegible] विचार आरभ्यत इति भावः।

अब रूपकस्थलीय शाब्दबोध का विचार किया जाता है।

तत्र प्राचीनमतमाह—

तत्र प्राञ्चः—"विषयिवाचकपदेन विषयिवृत्तिगुणवतो लक्षणया सारोपयोपस्थितौ, विषये तस्याऽभेदेन संसर्गेण विशेषणतयाऽन्वयः। एवं च मुखं चन्द्र इत्यत्र चन्द्रवृत्तिगुणवदभिन्नं मुखमिति धीः। अत एवालङ्कारभाष्यकारः 'लक्षणापरनामधेया गौणी वृत्तिः रूपकम्' इत्याह। न च चन्द्रसदृशं मुखमित्युपमातोऽस्य को भेदः। बोधवैलक्षण्याभावेन विच्छित्तिवैलक्षण्याभावात्। वृत्तिमात्रवैलक्षण्यस्याप्रयोजकत्वादिति वाच्यम्। लाक्षणिकबोधोत्तरं जायमानेन प्रयोजनीभूतेनाभेदबोधेनैव वैलक्षण्यात्। निरूढलक्षणातिरिक्तायाः लक्षणायाः प्रयोजनवत्तानियमात्। अभेदबुद्धेश्च वृत्त्यन्तरवित्तिभाव्यत्वेन न बाधबुद्धिप्रतिबध्यत्वम्" इत्याहुः।

तत्रेति । बोधविषय इत्यर्थः । विषयीति । उपमानेत्यर्थः । आरोपस्य विषयि-विषययोर्द्वयोरुपादानादाह—सारोपेति । उपस्थितौ सत्यामिति शेषः । विषय इति । उपमेय इत्यर्थः । उपमेयतावच्छेदकविशिष्टे उपमेये इति स्पष्टार्थः । तस्येति । पूर्वोपस्थितस्योपमानवृत्तिगुणवत इत्यर्थः । 'लक्षणापरमार्थम्-' इति । यावता कारणेन लक्षणा एव परमः= सारांशभूतः अर्थो यत्र तादृशं तद् वस्तु तावता=तेन कारणेन, रूपकम् = रूपकपदेन तस्य वस्तुनो व्यवहार इत्यर्थः । रूप्यते = आरोप्यते इति व्युत्पत्तियोगादिति भावः । वृत्तीति । शक्तिलक्षणान्यतरेत्यर्थः । वृत्त्यन्तरवित्तीति । व्यञ्जनाज्ञानेत्यर्थः । आहुरिति । अत्र नागेशः— 'एतन्मते एवं रूपकलक्षणम्—अनिह्नुतविषयकं पुरस्कृतविषयतावच्छेदकं वा आहार्याभेदप्रतीतिफलकोपमानबोधकपदजन्यप्रतीतिविषयीभूतम् साधर्म्यमिति' इत्याचष्टे । रूपकस्थले सर्वत्रोपमानवाचकस्य पदस्य स्ववृत्तिगुणवति सारोपा लक्षणा भवत्येव, अभेदेन वाच्यार्थान्वयस्य बाधितत्वात् । तथा चोपमानबोधकपदादुपस्थितस्य स्ववृत्तिगुणवद्रूपस्यार्थस्याभेदसम्बन्धेनोपमेये विशेषणविधयाऽन्वयो भवति । तेन 'मुखं चन्द्र' इत्यत्र चन्द्रवृत्तिगुणाः आह्लादकत्वादयस्तद्वदभिन्नं मुखमिति बोधः फलितः । 'लक्षणापरमार्थम्—' इति वदताऽलङ्कारभाष्यकृतापि रूपके लक्षणास्थितिः समर्थिता भवति नन्वेवं 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इत्युपमापेक्षया रूपकेऽस्मिन् को भेदः ? सादृश्यस्यापि तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वरूपतयोपमास्थलेऽपि रूपकस्थलसमानाकारकबोधस्यैव जायमानत्वेनोभयोः स्थलयोर्बोधवैलक्षण्यविरहेण चमत्कारवैलक्षण्यविरहे एकत्वस्यैव पर्यवसानात्, न च वृत्तिवैलक्षण्यकृतमुपमारूपकयोर्वैलक्षण्यम्—अर्थात् उपमास्थले चन्द्रवृत्तिगुणवतोऽभिधयोपस्थितिः रूपके तु तस्योपस्थितिर्लक्षणयेति वाच्यम्, चमत्कारे भेदाभावेन तस्य वैलक्षण्यस्याकिञ्चित्करत्वात् इति चेन्नैवम्, अभिधालक्षणान्यतरजन्यप्राथमिकबोधेऽविलक्षणेऽपि रूपकस्थले निरूढत्वस्यासम्भवेन प्रयोजनमूलाया एव लक्षणाया अङ्गीकर्तव्यतया उक्तप्राथमिकबोधानन्तरं नियमतो जायमानेन प्रयोजनात्मकेनोपमानोपमेययोरभेदस्य प्रत्ययेन उपमापेक्षयाधिकचमत्कारकरेण वैलक्षण्यस्य सिद्धेः । उपमास्थले उपमानोपमेययोः समानगुणवत्त्वस्यैव प्रतीतिः, रूपकस्थले तु तयोरभेदस्यापि प्रतीतिरिति सर्वोऽपि भेद इति सारांशः । न च 'मुखं न चन्द्रः' इति बाधबुद्धौ विद्यमानायां कथं तयोरभेदः प्रत्येतुं शक्यः तदभेदबुद्धिं प्रति तदभेदविषयकबाधबुद्धेः प्रतिबन्धकत्वादिति वाच्यम्, बाधबुद्धिप्रतिबध्यतावच्छेदकदले व्यञ्जनाज्ञानाजन्यत्वस्य निवेशेन व्यञ्जनाजन्यस्य तयोरभेदप्रत्ययस्य सुशकत्वादिति प्राचामालङ्कारिकाणामभिप्रायः ।

रूपकस्थलीय शाब्दबोध के विषय में प्राचीनों का मत दिखलाया जाता है—तत्र प्राञ्चः इत्यादि । सभी रूपकों में उपमानवाचक पद की 'स्ववृत्तिगुणवत्' (अपने में रहने वाले गुणों से युक्त) अर्थ में सारोपा लक्षणा हुई ही रहती है, अतः सर्वत्र उपमानवाचक पद से लक्षणा द्वारा 'स्ववृत्तिगुणवत्' अर्थ की उपस्थिति होती है और उस उपस्थित अर्थ का उपमेय में अभेदसम्बन्ध द्वारा विशेषण रूप से अन्वय होता है । इस तरह से 'मुख चन्द्र है' इस रूपकस्थल में लक्षणा द्वारा चन्द्ररूप उपमानवाचक पद से उपस्थित हुए 'चन्द्रवृत्तिगुणवत्'—(चन्द्र में रहने वाले आह्लादकता आदि गुणों से युक्त) रूप अर्थ का अभेदसम्बन्ध द्वारा मुख-रूप उपमेय में विशेषणरूप से अन्वय होगा, अतः उक्त रूपक-वाक्य का शाब्दबोध—'चन्द्र में रहने वाले गुणों से युक्त से अभिन्न मुख' यह होता है । अतएव अलंकारभाष्यकार ने कहा है कि—'जिस लिये लक्षणा ही परम अर्थ—सारभूत तत्त्व—रहता है, इसीलिये रूपक कहलाता है ।' तात्पर्य यह कि—'रूप्यते=

आरोप्यते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'रूपक' पद का भी अर्थ 'आरोप-लक्षणा' ही होता है। यदि कोई कहे कि—इस तरह का बोध मानने पर 'चन्द्रसदृश मुख' इस उपमा से उक्त रूप का क्या भेद हुआ? क्योंकि बोध में विलक्षणता न होने से चमत्कार में विलक्षणता न होगी, अभिप्राय यह कि—सादृश्य का अर्थ भी 'उससे भिन्नता रखते हुए उसमें रहने वाले गुणों से युक्त होना ही होता है' इस स्थिति में उक्त रीति से रूपकस्थल में जैसा बोध होता है वैसा ही उपमास्थल में भी होगा और जब बोध एक तरह का होगा तब चमत्कार भी दोनों जगहों पर एक ही तरह का मानना पड़ेगा। और जब तक चमत्कार में विलक्षणता न हो तब तक भिन्न अलंकार माना नहीं जा सकता। यदि कहा जाय कि बोध के एक होने पर भी, उपमा में वह बोध अभिधा द्वारा सिद्ध होता है और रूपक में लक्षणा द्वारा, अतः वृत्ति के भेद के कारण उपमा तथा रूपक में भेद हो जायगा। सो यह कथन कुछ मूल्य नहीं रखता। कारण, केवल वृत्ति के भेद से अलंकार का भेद सिद्ध नहीं होता। सारांश यह कि चमत्कार के भेद से अलंकार का भेद सिद्ध होता है और वृत्ति-भेद होने पर भी चमत्कार में कोई अन्तर पड़ता नहीं। उक्त 'उपमा और रूपक में क्या भेद हुआ?' इस आशंका का उत्तर यह है—लक्षणा द्वारा बोध हो जाने के बाद रूपकस्थल में लक्षणा के फल—अभेद (उपमान का उपमेय में अभेद) का भी व्यञ्जना से बोध होता है, और उपमास्थल में यह वैयञ्जनिक अभेद-बोध नहीं होता, बस, इसी वैयञ्जनिक बोध के होने तथा न होने से चमत्कार में अन्तर पड़ जाता है और यही अन्तर उपमा तथा रूपक को भिन्न-भिन्न अलंकार सिद्ध कर देता है। आप कहेंगे—रूपक-स्थल में लक्षणा होने से फलीभूत अभेद की प्रतीति क्यों मानी जाय? तो इसका समाधान यह है कि—रूढिमूला से अतिरिक्त सभी लक्षणाओं में प्रयोजन—फल—होना ही चाहिए ऐसा नियम है और रूपक में रूढिमूला नहीं, अपितु उससे अन्य (सारोपा) लक्षणा ही होती है, अतः फलीभूत अभेद-बोध अवश्य मानना पड़ेगा। अब शंका रह जाती है एक यह कि जब 'मुख चन्द्र नहीं है' ऐसा बाधनिश्चय (मुख में चन्द्र से भिन्नता का निश्चय) है, तब अभेदबोध होगा कैसे—चन्द्र से अभिन्न मुख को समझ कैसे सकेंगे? इसका उत्तर यह है कि रूपकस्थल में अभेद का बोध व्यञ्जना के ज्ञान से होता है और वैयञ्जनिक बोध में बाध का अभाव अपेक्षित नहीं होता अर्थात् बाध रहने पर भी वैयञ्जनिक बोध होता ही है। स्पष्टार्थ यह है कि—बाधनिश्चय की प्रतिबध्यता के अवच्छेदक भाग में वैयञ्जनिक बोधभिन्नत्व का निवेश किया जाता है अर्थात् वैयञ्जनिक बोध से भिन्न बोध के प्रति ही बाधनिश्चय को प्रतिबन्धक माना जाता है, अतः बाध-निश्चय के रहने पर भी वैयञ्जनिक बोध होता है। यह है प्राचीन आलंकारिकों का मत।

तत्रैव नवीनमतमाह—

नव्यास्तु—"नामार्थयोरभेदसंसर्गेणान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वाच्चन्द्राभिन्नं मुखमिति लक्षणां विनैव बोधः। फलस्यान्यथैवोपपत्तेर्लक्षणाकल्पनस्यान्याय्यत्वात्। किञ्च यदि च रूपके लक्षणा स्यान्मुखचन्द्र इत्यत्रोपमितविशेषणसमासयोरुत्तरपदस्य लाक्षणिकत्वाविशेषादेकस्योपमात्वमन्यस्य रूपकत्वमिति व्याहतं स्यात्। अपि च मुखं न चन्द्रसदृशमपि तु चन्द्र इत्यादौ सादृश्यव्यतिरेकविशिष्टे सादृश्यबुद्धेरयोगात्। एवं देवदत्तमुखं चन्द्र एव यज्ञदत्तमुखं तु न तथा, अपि तु चन्द्रसदृशमित्यादौ तदर्थस्य लक्ष्यमाणचन्द्रसदृशान्वयित्वात् 'न चन्द्रसदृशश्चन्द्रसदृशम्' इति बोधकदर्थनापत्तेश्च। नहि तत्र फलीभूतज्ञानविषयेणाभेदेनान्वयो युक्तः, एतदन्वयवेलायां तस्यानुपस्थितेः। तादृशाभेदबोधस्य चाहार्यत्वान्न बाधबुद्धिप्रतिबध्यत्वम्। यद्वा आहार्यान्यत्वस्येव शाब्दान्यत्वस्यापि

बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ निवेशः। सति च बाधनिश्चये तद्वत्ताशाब्द-बुद्धेरनुत्पादः, योग्यताज्ञानविरहात्। सति च कचिदाहार्ये योग्यताज्ञाने तद्बुद्धेरिष्टत्वात्। अत एव योग्यताज्ञानस्य बाधनिश्चयपराहतस्यापि शाब्दधीहेतुत्वम्। तस्मादन्यतरप्रकारेण काव्ये सर्वत्र बोधोपपत्तिः। अपि च तद्गतधर्मवत्त्वबुद्धेः कथं तदभेदबुद्धिः फलं स्यात्। नहि साधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञानस्य तत्तदसाधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञाने हेतुत्वं क्वाप्यवगतम्। घटपटयोर्द्रव्यत्वेनाभेदग्रहेऽपि घटत्वादिना भेदग्रहात्। तदभिन्नत्वेन ज्ञानस्य पुनस्तद्धर्मप्रतिपत्तिः फलं स्यात्। प्रवाहाभिन्नज्ञानस्येव शैत्यपावनत्वादिप्रतिपत्तिः।

अत एव—

> 'कृपया सुधया सिञ्च हरे मां तापमूर्च्छितम्।
> जगज्जीवन तेनाहं जीविष्यामि न संशयः॥'

इत्यादावमृताभिन्नत्वबोधे सत्येव कृपायाः सेके कारणत्वेनान्वयः। तादृशसेकस्य जीवने हेतुत्वेन इति दिक्।

फलस्येति। अभेदबुद्धेरित्यर्थः। अन्यथैवेति। उक्तप्रकारेणेत्यर्थः। उपमितविशेषण-समासयोरिति। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इत्याभ्यां पाणिनिसूत्राभ्यां कृतयोः समासयोरित्यर्थः। लाक्षणिकत्वाविशेषादिति। समास-शास्त्राणां लक्षणाग्राहकत्वम् इति वदतां नैयायिकानां मतमनुसृत्येदम्। अतिरिक्तसमास-शक्तिमङ्गीकुर्वतां वैयाकरणानां मते तु रूपकत्वनियामकविशेषणसमासे लक्षणासत्त्वेऽपि उप-मितसमासे समासशक्त्यैव तादृशार्थबोधे लक्षणा नेति बोध्यम्। एकस्योपमितसमासस्य। अन्यस्य विशेषणसमासस्य। सादृश्यव्यतिरेकेति। सादृश्यभेदेत्यर्थः। न तथेति। न चन्द्र इत्यर्थः। सदृश इति। मुखपदार्थ इति शेषः। बोधकत्वेनेति। बोधोपहास इति भावः। नञः नकारेण। फलीभूताज्ञानविषयेणेति। [illegible]इत्यर्थः। एतदिति। तदर्थेत्यर्थः। तत्र अभेदस्य। ननु बाधसत्त्वेन कथमभिन्नशाब्दबोध इत्यत आह—तादृशेति। इदं च शाब्दबोधे बाधज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वमङ्गीकृत्य। वस्तुतस्तदेव नेत्याह—यद्वेति। ननु एवं बाधनिश्चयदशायां शाब्दबोधविरहोऽनुभवविरोधी नोपपद्येत इत्यत आह—सति चेति। बुद्धेरनुत्पाद इति। अत्र नागेशः—'इदं तु चिन्त्यम्। शाब्दबोधो हि भवत्येव। अत एव वह्निना सिञ्चतीति वाक्यप्रयोक्तुरनेन वह्निना कथं सेकं प्रबोधीत्युपहासः संग-च्छते। अबोधे हि एतदर्थज्ञानविरहाभाववणोत्तरं पाश्चात्येन मूकतैव स्यात्। ननु पदार्थस्मरणमेव न शाब्दबोध इति चेत्, किमनेन अज्ञानाडम्बरेण। बाधज्ञानादीनां च तद्वि-शेषाभावप्रज्ञानजनकद्वारा प्रतिबन्धकत्वम्, योग्यताज्ञानादीनां च तज्जनकत्वमेव नेति रमणीयः पन्थाः।' इति [illegible]। अत एवेति। बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छे-दककोटौ शाब्दान्यत्वनिवेशादेवेत्यर्थः। एतदन्यतरप्रकारेणेति। शाब्दबोध एवाहार्येण, अथवा बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ शाब्दान्यत्वं निवेश्य योग्यताज्ञानसाहार्येण इत्य-नयोरेकतरेण प्रकारेणेत्यर्थः। अभेदबुद्धेरपीति। अत्र नागेशः—'अन्ये तु चमत्कारिसाधा-रणधर्मवत्तावगाहकज्ञान एव फलत्वात्तथा शक्तिकल्पने नाभेदबोध इत्याहुः।' इति कथंचित् प्राचीनमतं समर्थयन् दृश्यते। प्रतिपत्तिरिति। फलमित्यस्यानुषङ्गः। अत एवेति। रूपक-स्थले [illegible]देवेत्यर्थः। 'कृपया—' इति। हे जगज्जीवन संसारप्राणप्रद, हरे विष्णो।

तापमूर्च्छाक्लेशपीडितम्, माम्, कृपया सुधया दयारूपपीयूषेण, सिञ्च आर्द्रीकुरु। तेन कृपासुधाकरणकेन सेकेन, अहम्, जीविष्यामि क्लेशरहितो भविष्यामि, अत्र, संशयो नास्तीत्यर्थः। रूपकस्थले—'मुखं चन्द्रः' इत्यादौ—उपमानोपमेययोः—चन्द्रमुखादिकयोरभेदो बुबोधयिषितः, स च प्रथमं लक्षणया 'चन्द्रसदृशाभिन्नं मुख'मिति बोधेऽपि पश्चात् व्यञ्जनया बोध्यते—इति प्राचीना मन्यन्ते। नवीनास्तु 'नामार्थयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्न' इति सिद्धान्ते आश्रिते 'चन्द्राभिन्नं मुखम्' इति प्रथममेवाभिधयैव च बोधे सम्भवति लक्षणाश्रयणं व्यर्थं मन्यन्ते। ननु 'मुखं न चन्द्रः' इति बाधनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वात् कथं तादृशाभेदबोध इति चेन्न, तादृशाभेदबोधस्याहार्यत्वस्वीकारेण बाधनिश्चयाप्रतिबध्यत्वात्, बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ अनाहार्यत्वस्य निवेशात्। न चाहार्यं प्रात्यक्षिकमेवेति नियमः, तस्यास्वीकारात्। अथवाऽस्तु स नियमः। बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदकदलेऽनाहार्यत्वस्येव शाब्दान्यत्वस्यापि निवेशः, तेनैवोक्ताकारको बाधसहितोऽपि शाब्दाभेदबोधो जायेत। न चैवं सति बाधनिश्चयदशायां शाब्दबोधस्यापि अनुत्पत्तिरिति यदनुभवसिद्धं तद् विरुद्धयेतेति वाच्यम्, बाधनिश्चयदशायां न सर्वविधशाब्दबोधानुत्पत्तिः, अपि तु सत्ताशाब्दबोधमात्रानुत्पत्तिः, सापि न बाधनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वेन, अपि तु—'पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता' इति लक्षणलक्षितायां योग्यतायाः ज्ञानस्य सत्ताशाब्दबुद्धौ कारणत्वे तद्विरहेणेत्याशयात्। अत एव योग्यताज्ञानस्य शाब्दबोधे कारणत्वोक्तिः संगच्छते। बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदकदले शाब्दान्यत्वानिवेशे तु तत्प्रतिबन्धकत्वेनैव बाधनिश्चयदशायां शाब्दबोधे वारिते तदुक्तिरसंगतैव स्यात्। न चैवमपि नोक्तस्थले शाब्दाभेदबोधः सम्भवति योग्यताज्ञानविरहादिति शंक्यम्, आहार्ययोग्यताज्ञानसाम्राज्यात्। एवञ्च शाब्दबोधस्यैवाहार्यत्वस्वीकारेण, तदस्वीकारे वा बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ शाब्दान्यत्वं निवेश्याहार्ययोग्यताज्ञानस्वीकारेण काव्ये सर्वत्र बाधितार्थविषयकोऽपि शाब्दबोधः उपपद्यत एव। इत्थञ्च नवीनमतमेव सम्यक् न प्राचीनमतम्, तन्मते मुखचन्द्र इत्यत्रोपमितविशेषणसमासयोरुत्तरपदस्य स्वरादशे लाक्षणिकत्वाविशेषेण प्रथमस्योपमात्वं द्वितीयस्य च रूपकत्वमिति प्रवादस्य व्याहतत्वात्, 'मुखं न चन्द्रसदृशम् अपि तु चन्द्रः' इति सादृश्यभेदविशिष्टे रूपके प्राचीनैः चिकीर्षितस्य चन्द्रपदजन्यतत्सादृश्यबोधस्यायुक्तत्वात् तत्सादृश्यस्य प्रथममेव शब्दतो निषेधात्, 'देवदत्तमुखं चन्द्र एव यज्ञदत्तमुखं तु न तथा अपि तु चन्द्रसदृशम्' इत्यादौ नञर्थस्य चन्द्रपदलक्ष्यचन्द्रसदृशरूपार्थे एवान्वये 'न चन्द्रसदृशं चन्द्रसदृशम्' इत्युपहासास्पदबोधप्रसङ्गाच्च। किञ्च 'मुखं चन्द्रः' इत्यादौ लक्षणया प्रथमं चन्द्रगतसाधारणधर्मवत्त्वं मुखे प्रतीयते पश्चाच्च लक्षणाफलीभूतश्चन्द्राभेदो मुखे व्यञ्जनया प्रतीयते इत्यभिप्रायोऽपि प्राचाम् न सैद्धुमर्हति। व्याप्यसत्तायां नियमानायां व्यापकसत्ता नियमतस्तिष्ठति, न तु व्यापकसत्तायां सत्यामपि व्याप्यसत्ता तथा। तथा च कथं चन्द्रगतधर्मवत्त्वबुद्धेर्मुखविशेष्यिकायाः फलम् मुखविशेष्यिका चन्द्राभेदबुद्धिः स्यात्? साधारणधर्मावच्छिन्नचन्द्राभेदज्ञानस्य व्यापकत्वेन असाधारणधर्मावच्छिन्नचन्द्राभेदज्ञानस्य च व्याप्यत्वेन प्रथमज्ञानसत्त्वेऽपि द्वितीयज्ञानसत्ताया अनियमात्। अत एव घटपटयोः साधारणात्मना द्रव्यत्वेनाभेदज्ञानेऽपि असाधारणात्मकेन घटत्वादिना जायमानो भेदग्रहः संगतो भवति। अत एवमास्थेयं यत्, प्रागुक्तनवीनमतानुसारेण प्रथमं चन्द्राभेदज्ञानं मुखे भवति तस्य च फलरूपेण पश्चात् व्यञ्जनया चन्द्रगतसाधारणधर्मवत्त्वज्ञानं मुखे जायते इति।

एतच्च संभवत्यपि व्याप्ये चन्द्राभेदज्ञाने जाते व्यापकस्य चन्द्रगतसाधारणधर्मवत्वज्ञानस्य नियतत्वात् । नवीनमतस्वीकारादेव च 'कृपया सुधया—' इत्यत्र कृपासुधयोरभेदे बाच्य-वृत्त्यैवावगते कृपायाः सेके करणत्वेन कृपाकरणकसेकस्य च जीवने हेतुत्वेनान्वय उपपद्यते । प्राचीनमताङ्गीकारे तु सुधासदृशी कृपेति बोधे कृपायाः करणत्वेन सेके तादृशसेकस्य च हेतुत्वेन जीवनेऽन्वयो नैवोपपद्येत तत्सदृशज्ञानात् तत्कार्योत्पत्तेरनुभवविरुद्धत्वादिति भावः ।

अब रूपकस्थलीय शाब्दबोध के विषय में नवीनों का मत दिखलाया जाता है—नव्यास्तु इत्यादि । दो प्रातिपदिकों के अर्थों का अभेद-सम्बन्ध से अन्वय व्युत्पत्तिसिद्ध है—उसको सिद्ध करने के लिये किसी अन्य युक्ति की आवश्यकता नहीं । अतः 'मुख चन्द्र है' इस वाक्य का शाब्दबोध—'चन्द्र से अभिन्न मुख' यह होता है । यहाँ लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि जिस अभेद को आप लक्षणा का प्रयोजन मानते हैं वह जब अप्रकार—अकांक्षा आदि—से स्वतःसिद्ध हो जाता है तब उसके लिये लक्षणा की कल्पना करना न्यायानुकूल नहीं माना जा सकता । दूसरे, लक्षणा मानने में कई एक दोष भी हैं । यदि रूपकस्थल में लक्षणा हो तो १—'मुखचन्द्र' इस स्थल में 'उपमित-समास' करने पर अथवा 'विशेषण-समास' करने पर आपके हिसाब से उत्तरपद लाक्षणिक ही रहेगा फिर जो एक (उपमित-समास) को उपमा और दूसरे (विशेषण-समास) को रूपक माना जाता है वह व्याहत—असंगत—हो जायगा । अभिप्राय यह है कि—'मुखं चन्द्र इव' इस विग्रह में जब 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस पाणिनि-सूत्र से समास करके 'मुख-चन्द्र' पद को सिद्ध करते हैं तब उपमा अलंकार यहाँ माना जाता है और 'मुखं चन्द्रः' इस विग्रह में जब 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इस पाणिनि-सूत्र से समास करके उक्त पद को बनाते हैं तब यहाँ रूपकालंकार माना जाता है । यह है वस्तुस्थिति । अब यदि प्राचीनों के कथनानुसार रूपकस्थल में लक्षणा मानी जाय तब तो उक्त उपमित-समास तथा विशेषण-समास में कोई अन्तर नहीं रह जायगा, क्योंकि उपमित-समास में जिस तरह उत्तर—चन्द्र—पद की स्वसदृश में लक्षणा होने के कारण 'चन्द्र-सदृश मुख' यह अर्थ होता है उसी तरह आपके हिसाब से विशेषण-समास में भी उक्त पद की उक्त अर्थ में लक्षणा होने के कारण वैसा ही अर्थ होगा फिर प्रथम को उपमा और द्वितीय को रूपक कहने में कोई युक्ति नहीं रह जायगी । और २—'मुख चन्द्र-सदृश नहीं है, किंतु चन्द्र है' इत्यादि—जहाँ सादृश्य का निषेध भी विधिस्त रहता है—रूपकों में लक्षणा वाली प्राचीनों की बात बन नहीं सकती, क्योंकि 'किन्तु चन्द्र है' इस अंश में 'चन्द्र' पद की चन्द्रसदृश में ही लक्षणा मानेंगे पर वह ठीक होगी नहीं । कारण जिस मुख में शब्दतः पहले चन्द्रसादृश्य का निषेध किया गया हो उसी मुख में लक्षणा द्वारा चन्द्रसादृश्य की बुद्धि हो नहीं सकती । इसी तरह, ३—'देवदत्त का मुख चन्द्र ही है, यज्ञदत्त का मुख तो वैसा नहीं है, किंतु चन्द्र के सदृश है' इत्यादि स्थलों में आपके हिसाब से प्रथमवाक्यांशगत चन्द्रपद का अर्थ लक्षणा द्वारा चन्द्रसदृश होगा, अतः द्वितीय-वाक्यांश-गत 'वैसा नहीं है' का अर्थ होगा 'चन्द्रसदृश नहीं है'—अर्थात् नञर्थ का अन्वय चन्द्र पद के लक्ष्यार्थ—चन्द्रसदृश—के साथ ही होगा, अब यदि तृतीय वाक्यांश के साथ मिलाकर अर्थ करें तो 'जो चन्द्रसदृश नहीं वह चन्द्रसदृश' ऐसा ही अर्थबोध होगा, पर यह तो कोई बोध हुआ नहीं, अपितु बोध का केवल उपहास हुआ । यदि आप कहें कि—नञर्थ का अन्वय चन्द्रसदृशरूप लक्ष्य अर्थ के साथ न करके लक्षणा के प्रयोजनीभूत ज्ञान में विषय होने वाले 'अभेद' के साथ करेंगे—अर्थात् नञर्थ का अन्वय व्यङ्ग्य 'अभेद' के साथ करके 'वैसा नहीं है' का अर्थ हम यह करेंगे कि 'चन्द्रा-भिन्न नहीं है', अतः कोई गड़बड़ी नहीं होगी, तो यह युक्ति भी आपकी कार्यकर नहीं हो सकती, क्योंकि इस वाच्य नञर्थ का अन्वय करते समय उस व्यङ्ग्य 'अभेद' की उप-स्थिति ही नहीं हुई रहेगी, फिर उसके साथ इसका अन्वय हो नहीं सकेगा । तात्पर्य

यह हुआ कि—पूर्वकालोपस्थित बाध्य अर्थ का अन्वय पीछे उपस्थित होने वाले व्यङ्ग्य अर्थ के साथ किया ही नहीं जा सकता। आप कहेंगे—'मुख चन्द्र है' इस जगह जो नवीन विद्वान् सीधे अभेदसम्बन्ध से अन्वय करके 'चन्द्र से अभिन्न मुख' ऐसा अर्थ कर लेते हैं वह होगा कैसे? क्योंकि 'मुख चन्द्र से भिन्न है' इस प्रकार का बाध-ज्ञान पहले से दृढ़रूप में बना रहता है और बाधित अर्थ का बोध होता नहीं। कारण, उस तरह के अर्थ-बोध के प्रति बाधज्ञान को प्रतिबन्धक माना गया है तो इसका उत्तर यह है कि—यहाँ का 'चन्द्राभिन्न मुख' यह बोध आहार्य (बाधकालिकइच्छा-जन्य) है और आहार्य-बोध बाधज्ञान से रुकता नहीं, क्योंकि आहार्य से भिन्न बोध के प्रति ही बाध-ज्ञान को प्रतिबन्धक माना जाता है। इस पर यदि आप कहें कि—प्रात्यक्षिक ज्ञान ही आहार्य होता है, शाब्द ज्ञान नहीं, फिर उक्त बोध को आहार्य कैसे माना जा सकता है? क्योंकि उक्त बोध प्रात्यक्षिक नहीं, शाब्द है, तो मैं कहूँगा कि—रहे आपकी ही बात—उक्त बोध को आहार्य मत मानिए, तथापि उक्त बोध बाध-ज्ञान से प्रतिबद्ध नहीं होगा—क्योंकि जिस तरह बाध-ज्ञानीय-प्रतिबध्यतावच्छेदककोटि में अनाहार्यत्व का निवेश है उसी तरह शाब्दान्यत्व का भी निवेश कर दिया जायगा—अर्थात् शाब्दबोधातिरिक्त बोध के प्रति ही बाध-ज्ञान को प्रतिबन्धक माना जायगा, अतः बाधित अर्थ का भी शाब्दबोध होने में कोई रुकावट पैदा नहीं हो सकेगी। इस पर यदि आप कहें कि बाध-ज्ञानीय-प्रतिबध्यतावच्छेदककोटि में अगर शाब्दान्यत्व का निवेश कर दिया जायगा तब बाधनिश्चय के रहने पर शाब्दबोध का न होना जो अनुभव-सिद्ध है उसका क्या होगा? तो इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि बाध-निश्चय के रहने पर सभी तरह के शाब्दबोधों का न होना अनुभव-सिद्ध नहीं है, अपितु तद्वत्ता-शाब्दबोध—अर्थात् 'घर में घट नहीं है' इस प्रकार का बाध रहने पर 'घट वाला घर' ऐसे शाब्दबोध का न होना ही केवल अनुभव-सिद्ध है और वह भी बाध-ज्ञान के प्रतिबन्धक होने के कारण नहीं, अपितु 'पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता' इस योग्यता के ज्ञान का अभाव रहने के कारण। इस स्थिति में यदि कहीं आहार्ययोग्यता-ज्ञान हो जाता है तब वहाँ तद्वत्ता-शाब्दबोध भी होता ही है—यही इष्ट है। अतएव (बाधनिश्चय-प्रतिबध्यतावच्छेदककोटि में शाब्दान्यत्वनिवेश करने से ही) शाब्दबोध के प्रति योग्यता-ज्ञान को कारण मानना भी शाब्दिकों का संगत होता है। अभिप्राय यह कि यदि बाधनिश्चय-प्रतिबध्यतावच्छेदककोटि में शाब्दान्यत्व का निवेश नहीं किया जाय तब तो बाधनिश्चय से ही वह शाब्दबोध—जिसको योग्यताज्ञान की कारणता से रोकना चाहेंगे—रुक जायगा, फिर योग्यताज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण मानना असंगत ही होगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि शाब्द अभेदबोध को आहार्य मान कर अथवा योग्यताज्ञान को आहार्य मान कर—दोनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार से, काव्य में, सर्वत्रबाधित अर्थ का भी बोध बन सकता है। यहाँ नागेशभट्ट ने एक भिन्न ही सिद्धान्त स्थिर किया है और वह सिद्धान्त तर्कसंगत भी प्रतीत होता है। उनका कथन है कि—"बाधित अर्थ का भी शाब्दबोध होता ही है। अतएव तो 'आग से सींचता है' इस उक्ति को सुन कर श्रोता के द्वारा वक्ता का उपहास—'ओ महाशयजी! आग क्या कोई तरल पदार्थ है जो आप उससे सींचने की बात करते हैं'—संगत होता है। यदि उक्त वाक्य से बोध ही न होता तब तो जैसे इसी अर्थ वाला द्रविड भाषा का वाक्य सुनकर कोई भी पश्चिमभारतीय चुप हो जाता है वैसे श्रोता चुप हो जाता—उक्त उपहास नहीं करता। 'उक्त वाक्य के श्रवण से उन पदार्थों का केवल स्मरण होता है, अतएव उक्त उपहास संगत ही है—अर्थात् उस तरह के वाक्यों के श्रवण से वाक्यार्थबोध नहीं ही होता' यह कथन तो केवल प्राचीनों के प्रति अन्धश्रद्धा है—असार है। तात्पर्य यह कि पदार्थ-स्मरण होता है पर वाक्यार्थ-बोध नहीं होता यह अयुक्तिक सिद्धान्त है। अतः यह मानना चाहिए कि—बाधित अर्थ का भी शाब्दबोध होता ही है। बाध-निश्चय

उस बोध में अप्रामाण्य-ज्ञान करा कर बाधित अर्थ वाले वाक्य से ज्ञात अर्थ में प्रवृत्ति को रोकते हैं, अर्थात् बाधनिश्चय प्रवृत्ति-प्रतिबन्धक होते हैं, शाब्दबोध-प्रतिबन्धक नहीं, और योग्यताज्ञान शाब्दबोध के प्रति कारण ही नहीं है। यही मार्ग सुन्दर है।"

४—लक्षणा मानने में एक यह भी दोष है कि—तत्सादृश्य का अर्थ है 'उस वस्तु में रहने वाले धर्म से युक्त होना' इस बोध का फल 'उसके अभेद का बोध' कैसे हो सकता है? कहीं भी ऐसा नहीं देखा जाता कि—साधारणधर्मों से युक्त पदार्थों के अभेद का ज्ञान उन-उन वस्तुओं के असाधारणधर्म से युक्त पदार्थ के अभेद-ज्ञान का कारण होता हो। देखा तो यही जाता है कि—घड़े और कपड़े में द्रव्यत्वरूप साधारणधर्ममूलक अभेद-ज्ञान होने पर भी 'घटत्व' और 'पटत्व'रूप असाधारणधर्म-मूलक भेदज्ञान होता ही है। हाँ, उलटा यह हो सकता है कि—उससे अभिन्न समझने का फल उसके धर्मों का वहाँ रहना समझा जाय, जैसे 'गंगायां घोषः—अर्थात् गंगा पर ग्राम है' इस वाक्य से लक्षणा द्वारा जब प्रवाह और तट को अभिन्न समझ लिया जाता है तब प्रवाह के धर्म-शीतलता तथा पवित्रता आदि—का ग्राम में भी ज्ञान होता है। सारांश यह है कि—किसी व्याप्यधर्म से युक्त होने का ज्ञान जहाँ होता है वहाँ उस व्याप्यधर्मापेक्षया व्यापक-धर्मों से युक्त होने का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि व्याप्य की सत्ता में व्यापक की सत्ता निश्चित है, जैसे प्रवाहाभेदज्ञान है व्याप्य, और शीतलता आदि का ज्ञान है व्यापक, अतः जब तट में प्रवाहाभेदज्ञान हो जाता है तब शीतलता आदि का ज्ञान भी वहाँ होता है। इस युक्ति से मुख में व्याप्य (चन्द्राभेद) ज्ञान होने पर व्यापक (चन्द्रगत आह्लादकता आदि) का ज्ञान हो सकता है, पर व्यापक (आह्लादकता) आदि का ज्ञान होने पर भी व्याप्य (चन्द्राभेद) का ज्ञान नहीं हो सकता। तात्पर्य यह निकलता है कि—अभेद-ज्ञान का फल सादृश्य-ज्ञान हो सकता है, सादृश्य-ज्ञान का फल अभेद-ज्ञान नहीं हो सकता। रूपक में अभेदज्ञान ही होता है, सादृश्य ज्ञान नहीं, अतएव—'कृपया सुधया—अर्थात् हे हरि! मैं ताप से मूर्च्छित हूँ। मुझे कृपारूप सुधा से सींचो। हे जगत् के जीवन! उससे मैं जी उठूँगा—इसमें सन्देह नहीं।' इत्यादि में, कृपा और अमृत में अभिन्नता का बोध होने पर ही उसका कारणरूप से 'सींचने' में अन्वय होता है—अर्थात् कृपा को अमृत से अभिन्न न मानकर अमृत-सदृश मानने पर वह सींचने का कारण कैसे हो सकती है? और अभिन्न मानने पर ही वैसा 'सींचना' जीवन का हेतु हो सकता है—अर्थात् कृपा जब तक अमृतरूप न हो तब तक उसका 'सींचना' जीवन का हेतु नहीं हो सकता। यह नवीन आलंकारिकों के मत का दिग्दर्शन-मात्र है।

तृतीयान्तपदबोध्यसाधारणधर्मकरूपकस्थले बोधं विचारयति—

अथ कथं 'गाम्भीर्येण समुद्रोऽयं सौन्दर्येण च मन्मथः' इत्यत्र बोधः। शृणु—अत्र तावल्लक्ष्यमाणैकदेशे सादृश्ये प्रयोज्यतया अभेदस्य वा तृतीयार्थस्यान्वयाद्गाम्भीर्यप्रयोज्यसमुद्रसादृश्यवदभिन्नोऽयम्, गाम्भीर्याभिन्नसमुद्रप्रतियोगिकसादृश्यवदभिन्नोऽयमिति वा धीः। लक्षणां विनैव अभेदसंसर्गेणान्वयवादिनां पुनरित्थम्—कविना स्वेच्छामात्रादुपकल्पिता असन्तोऽप्यन्तःकरणपरिणामात्मका अर्था उपनिबध्यन्ते मुखचन्द्रादयः। तेषु च साधारणधर्माणामस्त्येव प्रयोजकत्वम्, तद्दर्शनाधीनत्वात्तन्निर्मितेः। एवं च गाम्भीर्यप्रयोज्यसमुद्राद्यभिन्न इति बुद्धिरप्रत्यूहेति। यद्वा ज्ञानजन्यज्ञानप्रकारत्वं तृतीयार्थः, वह्निमान् धूमादित्यादौ पञ्चम्यर्थतया तस्य कल्पनात्। एवं च गाम्भीर्यज्ञानजन्यज्ञानप्रकारसमुद्राभिन्न इत्यादिर्बोधः।

प्रयोज्यताया अभेदस्य वेति। मतभेदाल्लक्षणाद्विकल्पोभयोरन्यतरस्य तृतीया-

र्थत्वमिति भावः, 'प्रकृत्यादिगणाज्जाता तृतीया तु तदात्मताम् । अवच्छेदकतांबुद्धि प्रकारत्वादि शंसति' इति प्राचीनोक्तिः, 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति वार्तिकविहिततृतीयाया नानार्थकत्वं सूचयतीति स्पष्टार्थः । अन्तःकरणपरिणामात्मका इति । अन्तःकरणवृत्तिरूपा इत्यर्थः । मुखचन्द्रादय इति । चन्द्राभिन्नमुखादिरूपा अर्था इति भावः । तेषु । चन्द्राभिन्नमुखादिरूपेष्वर्थेष्विति भावः । तद्दर्शनेति । चन्द्राभिन्नमुखादिरूपार्थचाक्षुषेति, चन्द्राभिन्नमुखादिरूपार्थज्ञानेति वा अर्थः, दृशेश्चाक्षुषार्थकत्वात् ज्ञानसामान्यार्थकत्वाच्चेति भावः । तन्निर्मितेरिति । चन्द्राभिन्नमुखादिरूपसृष्टेरित्यर्थः । नन्वेवमन्यकर्तृकत्वाभिमितिर्न स्यादत आह—यद्वेति । अथवा । साधारणधर्मज्ञानस्य तन्निर्मितिप्रयोजकत्वेऽपि साधारणधर्माणां न तत्प्रयोजकत्वमित्यत आह—यद्वेति । तत्त्वेति । ज्ञानजन्यज्ञानप्रकारत्वरूपेणेत्यर्थः । 'यादृशं गाम्भीर्यं समुद्रे तादृशं त्वयि, अतस्त्वम् समुद्ररूपः, एवं यादृशं सौन्दर्यं मन्मथे (कामदेवे) तादृशं त्वयि, अतस्त्वम् मन्मथरूपः' इत्यर्थकात् 'गाम्भीर्येण—' इति वाक्यात् प्राचीनमते 'गाम्भीर्यप्रयोज्यं यत् समुद्रसादृश्यं तद्वता अभिन्नोऽयम्' इति, एवम्—'सौन्दर्यप्रयोज्यं यन्मन्मथसादृश्यं तद्वता अभिन्नोऽयम्' इति बोधः, समुद्र-मन्मथ-पद-लक्ष्यतत्सदृशरूपार्थैकदेशसादृश्यान्वयिप्रयोज्यतार्थकत्वात् गाम्भीर्यसौन्दर्य-पदोत्तरतृतीयाविभक्त्योः । अथवा तद्वाक्यात् तन्मते 'गाम्भीर्याभिन्नो यः समुद्रवृत्ति-धर्मः एवं सौन्दर्याभिन्नो यो मन्मथवृत्तिधर्मस्तद्वता अभिन्नोऽयम्' इति बोधः, गाम्भीर्य-सौन्दर्य-पदोत्तर-तृतीयाविभक्त्योः लक्ष्यमाणैकदेश-सादृश्यान्वय्यभेदार्थकत्वात् । रूपके न लक्षणा, अपि तु अभेदेनोपमानोपमेययोर्वाच्यार्थयोरेवान्वय इति वदतां नवीनानां मते तु 'गाम्भीर्य-प्रयोज्य-समुद्राभिन्नः, एवं सौन्दर्यप्रयोज्य-मन्मथाभिन्नोऽयम्' इति बोधः, तृतीयाविभक्त्योः क्रमशः समुद्र-मन्मथपदार्थान्वयिप्रयोज्यतार्थकत्वात् । ननु कथं समुद्रमन्मथादयः पदार्था गाम्भीर्यादिप्रयोज्या इति चेत् ? इत्थम्—उपमेयराजादिनिष्ठाभेदप्रतियोगिनः समुद्रादयः पदार्था न वास्तविका अपि तु अन्तःकरणवृत्तिरूपाः कविकल्पिताः, तादृशकल्पनायां चोपमेये उपमानवृत्तिधर्मदर्शनमेव मूलम्, तथा च भवन्त्येव ते पदार्थाः साधारणधर्मप्रयोज्याः । अथवा ज्ञानजन्यज्ञानप्रकारत्वमीदृशतृतीयाविभक्तेरर्थः । ननु नेदृशविभक्त्यर्थः क्वचिद् दृष्ट इति चेन्न, 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादौ पञ्चमी-विभक्तेस्तादृशार्थकत्वस्य परैः स्वीकृतत्वात्, अत एव 'धूमज्ञानजन्यज्ञानप्रकारीभूतवह्नि-विशिष्टः पर्वतादिरि'ति बोधस्तन्मते समुपपद्यते । तथा च प्रकृते 'गाम्भीर्यज्ञानजन्यं यत् ज्ञानं 'अयं समुद्रः' इत्याकारकं तत्र प्रकारीभूतो यः समुद्रस्तदभिन्नोऽयम्' इति एवं 'सौन्दर्यज्ञानजन्यं यत् ज्ञानं 'अयं मन्मथः' इत्याकारकं तत्र प्रकारीभूतो यो मन्मथस्तदभिन्नोऽयम्' इति बोध इति भावः ।

अब उस रूपकस्थल का बोध दिखलाया जाता है जहाँ तृतीयाविभक्त्यन्त पद के द्वारा साधारणधर्म की उपस्थिति होती है—अथ इत्यादि । अब 'गाम्भीर्येण—अर्थात् यह राजा गम्भीरता से समुद्र और सुन्दरता से कामदेव है ।' इस वाक्य से कैसा शाब्द-बोध होगा इस प्रश्न का उत्तर सुनिए । १—प्राचीनों के मतानुसार ऐसे स्थलों पर साधा-रणधर्म-बोधक पद—गाम्भीर्य-सौन्दर्य आदि—के आगे जुड़ी हुई तृतीया विभक्ति का अर्थ 'प्रयोज्यता' अथवा 'अभेद' होता है, क्योंकि ऐसे स्थानों में 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से तृतीया विभक्ति होती है और उस तृतीया के 'प्रयोज्यता', 'अभेद' आदि अनेक अर्थ होते हैं । उस तृतीयाविभक्त्यर्थ का यहाँ समुद्र और मन्मथ पद से लक्षणा द्वारा बोधित सदृश (सादृश्ययुक्त) के एकदेश (सादृश्य) में अन्वय होगा, अतः उक्त

वाक्य का शाब्दबोध—'गम्भीरता द्वारा सिद्ध किए जाने वाले समुद्र के सादृश्य से युक्त से अभिन्न, एवं सुन्दरता द्वारा सिद्ध किए जाने वाले कामदेव के सादृश्य से युक्त से अभिन्न यह राजा' ऐसा अथवा 'गम्भीरता से अभिन्न समुद्र के धर्म (सादृश्य) से युक्त से अभिन्न, एवं सुन्दरता से अभिन्न कामदेव के धर्म (सादृश्य) से युक्त से अभिन्न यह राजा' ऐसा होगा। और जो लोग विना लक्षणा के ही अभेदसम्बन्ध द्वारा अन्वय मानते हैं उन नवीनों के मतानुसार यह बात है कि जो 'मुखचन्द्र' (चन्द्राभिन्न मुख) आदि पदार्थ वास्तविक नहीं होते, केवल अन्तःकरण के परिणामरूप (चित्तवृत्तिविशेष-रूप—मानस) होते हैं उनकी सृष्टि कवि कल्पना द्वारा करता है और इस तरह की काल्पनिक सृष्टि में साधारणधर्म ही प्रयोजक (मूल) होते हैं—अर्थात् चन्द्रगत आह्लादकता आदि धर्मों को मुख आदि में देखकर अथवा समझ कर ही ऐसी कल्पना की जाती है। अतः—उक्त वाक्य का बोध—'गम्भीरता आदि के द्वारा सिद्ध किए जाने वाले (प्रयोज्य) समुद्र आदि से अभिन्न यह राजा' ऐसा होता है। सारांश यह हुआ कि ये उपमेय राजारूप काल्पनिक समुद्र आदि गम्भीरता आदि के प्रयुक्त ही समुद्र आदि होते हैं, अतः उक्त बोध मानने में किसी तरह की विघ्न-बाधा नहीं हो सकती। यदि आप कहें कि ऐसी स्थिति में वह अन्ध कवि—जो न चन्द्र को कभी देख सका है न मुख को ही—कैसे इस तरह की कल्पना करेगा? अथवा आपकी युक्ति के अनुसार भी साधारण-धर्मों का ज्ञान ही उक्तविध कल्पना का प्रयोजक ठहरता है, साधारणधर्म नहीं, फिर उक्त बोध—जिसमें समुद्र आदि को साधारणधर्म-प्रयोज्य बताया गया है—कैसे होगा? तो इसके उत्तर में मेरा कथन है कि छोड़िए उस बोध को। 'ज्ञान-जन्य-ज्ञान-प्रकारत्व'—ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान का प्रकार होना—को तृतीया विभक्ति का अर्थ मान लीजिये। विभक्त्यर्थ के रूप में इसको नई मान्यता नहीं देनी पड़ेगी, 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों पर पञ्चमी विभक्ति के अर्थरूप में इसे नैयायिक लोग मान्यता प्रदान कर चुके हैं। तात्पर्य यह कि 'वह्निमान् धूमात्' का शाब्दबोध नैयायिक लोग 'धूम-ज्ञान-जन्य ज्ञान में प्रकारीभूत वह्नि वाला पर्वत' करते हैं जिससे सिद्ध होता है कि—वे 'ज्ञान-जन्य ज्ञानप्रकारत्व' को 'धूमात्' इस पञ्चमी विभक्ति का अर्थ मानते हैं, फिर हम उसी वस्तु को यहाँ तृतीया विभक्ति का अर्थ क्यों नहीं मान सकते? अवश्य मान सकते हैं। तदनुसार, उक्त वाक्य का शाब्दबोध होगा—'गम्भीरता के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान में विशेषणीभूत समुद्र से अभिन्न' एवं 'सुन्दरता के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान में विशेषणीभूत कामदेव से अभिन्न यह' ऐसा। स्पष्ट अर्थ यह कि वर्णनीय राजा-रूप उपमेय में रहने वाली गम्भीरता का ज्ञान पहले होता है उस गम्भीरता-ज्ञान से उसी राजा में 'यह समुद्र है' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है, इस द्वितीय ज्ञान में विधेयभूत समुद्र विशेषण और यह (राजा) विशेष्य है, बस, इन्हीं बातों को जोड़ कर उक्त शाब्दबोध सम्पन्न हो जाता है।

अभेदात्मकत्वेनास्य रूपकस्य वाक्यार्थे भिन्नं भानं भवतीति लक्ष्यप्रदर्शनमुखेन स्फोरयितुमाह—

तदिदं रूपकं विषयविषयिणोः सामानाधिकरण्ये अपदार्थतया संसर्गः। यथा 'बुद्धिर्दीपकला—' इत्यादौ।

रूपकमिति। उपमानोपमेययोरभेद इति यावत्। विषयविषयिणोरिति। यत्राभेदारोपः स विषयः, उपमेय इति यावत्, यस्याभेदस्यारोपः स विषयी, उपमानमिति यावत् इति बोध्यम्। सामानाधिकरण्य इति। समानविभक्तिकत्वेऽपीत्यर्थः। अपदार्थतयेति। पदविषयत्वानवच्छिन्नतयेत्यर्थः। लक्ष्य-प्रदर्शनायाह—यथेति। 'बुद्धि—' इति। पद्यमिदमस्मिन्नेव प्रकरणे प्रागुक्तं व्याख्यातञ्च। विशेषणविधया विशेष्यविधया वा भानं तस्यैवार्थस्य भवति

गस्योपस्थितिर्वृत्तिज्ञानाधीना, यस्य तु अर्थस्योपस्थितिर्न वृत्तिज्ञानाधीना, अपि तु आकांक्षादिवशात्, तस्य भानं संसर्गविधया भवतीति वस्तुस्थितिः। तथा च 'मुखं चन्द्रः' इत्यादाविव 'बुद्धिर्दीपकला---' इत्यत्र विषयविषयिणोर्बुद्धि-दीपकलयोः सामानाधिकरण्यमिति तत्र तयोरभेदः संबन्धविधया भासेत, आकांक्षादिवशात्तस्योपस्थितेः। इत्थञ्च 'मुखं चन्द्रः' इत्यादौ चन्द्रप्रतियोगिकाभेदवन्मुखमित्यादिर्न बोधः, अपि तु अभेदसंबन्धेन चन्द्रवन्मुखमित्यादिरेवेति भावः।

यह रूपक (उपमान उपमेय का अभेद) वाक्यार्थ में तीन तरह से भिन्न-भिन्न स्थल में भासित होता है, इसी वैचित्र्य को चित्रित करने के लिये कहा जाता है---तदिदमित्यादि। जहाँ विषय (उपमेय) और विषयी (उपमान) समानाधिकरण रहते हैं---दोनों के बोधक-पदों से एक ही तरह की विभक्ति आई रहती है, वहाँ उसका (अभेद का) भान संबन्धरूप में होता है, विशेषण अथवा विशेष्यरूप में नहीं, क्योंकि विशेषण अथवा विशेष्यरूप में उसी अर्थ का भान होता है जो किसी पद का वाच्य अथवा लक्ष्य हो, आकांक्षा आदि के द्वारा जिस अर्थ की उपस्थिति होती है---उसका भान सम्बन्धरूप में ही होता है। सामानाधिकरण्यस्थल में अभेद (रूपक) किसी भी पद का वाच्य किंवा लक्ष्य नहीं रहता, अतः उसका भान संसर्गरूप में ही होता है। जैसे---'बुद्धिर्दीप' इस पूर्वोक्त पद्य में बुद्धि-रूप विषय और दीपकलारूप विषयी समानाधिकरण हैं, फलतः इन दोनों का अभेद किसी पद का अर्थ नहीं होने के कारण संबन्धरूप में भासित होता है। अभिप्राय यह कि---'बुद्धिर्दीपकला' इसका शाब्दबोध, 'दीपकला के अभेद से युक्त बुद्धि' इस तरह नहीं, अपि तु 'अभेद सम्बन्ध से दीपकला वाली बुद्धि' इस तरह से किया जा सकता है। यह हुआ रूपक के भान का प्रथम 'प्रकार'।

वाक्यार्थेऽभेदात्मकरूपकभानस्य प्रथमां विधां स्फोरयित्वा सम्प्रति द्वितीयां विधां स्फोरयितुमाह---

वैयधिकरण्ये च शब्दार्थतया क्वचिद् विशेष्यम्।

यथा---

'कैशोरे वयसि क्रमेण तनुतामायाति तन्व्यास्तना-
वागामिन्यखिलेश्वरे रतिपतौ तत्कालमस्याज्ञया।
आस्ये पूर्णशशाङ्कता नयनयोस्तादात्म्यमम्भोरुहां
किं चासीदमृतस्य भेदविगमः साचिस्मिते तात्त्विकः॥'

अत्र शशाङ्कता-तादात्म्य-भेदविगमशब्दैरभिधीयमानं रूपकं प्रथमान्त-विशेष्यता-वादिनां मते विशेष्यम्। क्रियाविशेष्यतावादिनां तु तत्रैव किञ्चिद् व्यत्यासेन निष्क्रान्तक्रियादाने।

वैयधिकरण्य इति। भिन्नविभक्तिकपदबोध्यत्व इत्यर्थः। अस्यादौ 'विषयविषयिणोः' इत्यस्यानुषङ्गो बोध्यः। शब्दार्थतयेति। शब्दनिष्ठवृत्तिबोध्यतयेत्यर्थः। क्वचित् अथोनिर्दिष्ट-लक्ष्ये तादृशेऽन्यस्मिन् लक्ष्ये च। विशेष्यमिति। वाक्यार्थमुख्यविशेष्यमित्यर्थः। लक्ष्य-प्रदर्शनायाह---यथेति। उदाहरति---'कैशोरे---' इति। कविः नवयौवनवत्याः कामिन्याः सौन्दर्यं वर्णयति। अत्र 'तन्व्यास्तनौ' इति [illegible]। तथा च---तन्व्याः कृशाङ्ग्याः, तनौ शरीरे, क्रमेण क्रमशः, कैशोरे वयसि किशोरावस्थायाम्, तनुतां क्षीणताम् आयाति आगच्छति सति, तथा तत्रैव तनौ, रतिपतौ कामदेवे, अखिलेश्वरे सर्वेश्वरे---शक्ते, आगामिनि आगन्तुकामे सति, तत्काले तस्मिन्नेव क्षणे, अस्य कामदेवस्य, आज्ञया आदेशेन, तस्याः, आस्ये मुखे, पूर्णशशाङ्कता पूर्णचन्द्रत्वम्, आसीत्

अभूत्, नयनयोश्चक्षुषोः अम्भोरुहां वारिजानाम्, तादात्म्यम् अभेदः, आसीत् किञ्च साचिस्मिते वक्रमन्दहास्ये, अमृतस्य पीयूषस्य, तात्त्विकः वास्तविकः, भेदविगमः अभेदः, आसीत् इत्यर्थः, वयःसन्धिकाले कामदेवनिर्देशेनेव कामिन्या अङ्गेषु सौन्दर्यं स्वयमेव प्रादुरासीदिति भावः। उपपादयति—अत्रेत्यादिना। अभिधीयमानमिति। बोध्यमानमित्यर्थः। शक्त्या लक्षणया वेति भावः। प्रथमान्तविशेष्यतावादिनामिति। नैयायिकानामित्यर्थः। क्रियाविशेष्यतावादिनामिति। शाब्दिकानामित्यर्थः। तत्रैव उक्तपद्य एव। किञ्चिद्व्यत्यासेनेति। 'किञ्चासीत्' इत्यस्य स्थाने इति भावः। निष्ठान्तेति। 'सम्पन्नो हि' इति पाठे इत्यर्थः। विषयविषयिणोर्वैयधिकरण्यस्थलेऽभेदः पदनिष्ठवृत्तिबोध्यो भवति, अतस्तत्र द्वयी गतिः क्वचित्तस्य विशेष्यविधया भानं क्वचिच्च विशेषणविधया। तत्र 'कैशोरे—' इति पद्यं विशेष्यविधया तद्भानस्थानम्, यतः तत्र शशाङ्कतादिप्रथमान्तपदबोध्योऽसावभेद इति 'आस्याधिकरणकभूतकालिकसत्तावती पूर्णशशाङ्कता' इत्यादिरीत्या जायमाने बोधेऽभेदात्मकस्य रूपकस्य विशेष्यत्वं सिद्ध्यति। ननु प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधवादिनां नैयायिकानामेव मते एतत् सिद्ध्यति, न क्रियामुख्यविशेष्यकबोधवादिनां वैयाकरणानां मते, तथा च नायं विशेष्यविधया रूपकभान [illegible] त्? सत्यम्, न तिङन्तक्रियापदविशिष्टपाठे वैयाकरणाः [illegible] बोधं कुर्युः, किन्तु कृदन्तक्रियापदविशिष्टपाठे अर्थात्—'सम्पन्नो हि' इति निष्ठासंज्ञकक्तप्रत्ययान्तक्रियापददाने तेऽपि प्रथमान्तार्थविशेष्यकमेव बोधं स्वीकुर्युः, तथैव तैः सिद्धान्तितत्वादिति भावः।

अब वाक्यार्थ में रूपक (अभेद) के भासित होने का दूसरा प्रकार दिखलाया जाता है—वैयधिकरण्ये इत्यादि। जहाँ विषय-विषयी भिन्न-भिन्न विभक्तिवाले पदों से निर्दिष्ट होते हैं वहाँ कहीं रूपक विशेष्यरूप में भासित होता है। जैसे—'कैशोरे—अर्थात् कृशाङ्गी कामिनी के शरीर में किशोरावस्था के चिह्न क्रमशः क्षीण होते जा रहे थे—वह कामिनी यौवन की देहली पर पदार्पण कर चुकी थी। अखिलेश्वर (सार्वभौम) कामदेव का आगमन होनेवाला था। अतः उस आगामी राजा की आज्ञा से, तत्काल कृशाङ्गी के मुख में पूर्णचन्द्र का भाव, नयनों में कमलों का तादूप्य और वक्र ईषद् हास्य में अमृत का वास्तविक अभेद हो गया।' जहाँ 'चन्द्र का भाव' 'तादूप्य' और 'अभेद' इन प्रथमान्त पदों से रूपक—अभेद—का वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह कि यहाँ उपमेय—मुख, नयन और ईषद्धास्य—का 'आस्ये', 'नयनयोः' तथा 'साचिस्मिते' इन सप्तम्यन्त पदों से पृथक् उपमान—चन्द्र, कमल तथा अमृत—का उक्त भाववाचक संज्ञाओं से बोध कराया गया है, जिससे यह वैचित्र्य यहाँ उत्पन्न हो गया है कि रूपक शब्दबोध्य हो गए हैं। अतः जो लोग शाब्दबोध में प्रथमान्तपद के अर्थ को मुख्य विशेष्य बनाते हैं उन नैयायिकों के मतानुसार, यहाँ—'मुख में रहनेवाली भूतकालिक सत्ता (आसीत् पदवाच्य क्रिया) से युक्त पूर्णचन्द्र का भाव' इत्यादि रीति से शाब्दबोध होता है। इस बोध में रूपक (पूर्णचन्द्र का भाव—अभेद) विशेष्यरूप में भासित हुआ है। यद्यपि जो लोग शाब्दबोध में क्रिया को मुख्य विशेष्य बनाते हैं उन वैयाकरणों के मतानुसार उक्त रीति से बोध नहीं होगा, फलतः रूपक की विशेष्यता भी सिद्ध नहीं होगी, तथापि उसी पद्य में जब 'किं चासीत्' के स्थान में 'सम्पन्नो हि' यह निष्ठान्तक्तप्रत्ययान्त—कृदन्त—क्रियापद रख दिया जायगा तब उनके मतानुसार भी प्रथमान्त पद का अर्थ ही शाब्दबोध में विशेष्य होगा, क्योंकि कृदन्त (तिङन्त से भिन्न) क्रिया पदवाले स्थलों में उनको भी क्रिया का विशेषण होना ही अभीष्ट है, फलतः वैसी स्थिति में उनके मत से भी रूपक का विशेष्य होना सिद्ध होता है। यह अभेदात्मक रूपकभान का दूसरा प्रकार हुआ।

वाक्यार्थेऽभेदात्मकरूपकभानस्य तृतीयां विधां स्फोरयितुमाह—

क्वचिच्च विशेषणम् ।

यथा—

'अविचिन्त्यशक्तिविभवेन सुन्दरि प्रथितस्य शम्बररिपोः प्रभावतः ।
विधुभावमञ्चतितमां तवाननं नयनं सरोजदलनिर्विशेषताम् ॥'

इह द्वितीयार्थे विशेषणीभूतं विधुत्वादि विध्यभेदात्मकतया रूपकम् ।

'अविचिन्त्य—' इति । अविचिन्त्याः अचिन्तनीयाः, याः शक्तयः सामर्थ्यविशेषाः, तद्रूपेण विभवेन सम्पत्त्या, प्रथितस्य प्रख्यातस्य, शम्बररिपोः कामदेवस्य, प्रभावतः प्रभावात्, हे सुन्दरि, तव, आननं मुखम्, विधुभावं चन्द्रत्वम्, अञ्चतितमां नितरां प्राप्नोति, तथा, तव, नयनं जातावेकवचनम्, नेत्रयुगलमिति यावत्, सरोजदलनिर्विशेषतां कमलपत्रसादृश्यम्, अञ्चतितमामित्यर्थः । उपपादयति—इहेत्यादिना । द्वितीयार्थ इति । विधुभावपदोत्तरद्वितीयाविभक्त्यर्थ इत्यर्थः । विधुत्वादिति । आदिपदेन सरोजदलसादृश्यं संगृह्यते । विध्वभेदेति । लक्षणयेति भावः । विषयविषयिणोर्वैयधिकरण्ये रूपकं क्वचित् विशेषणतया भासते । यथा—'अविचिन्त्य—' इति पद्ये । अत्र विधुभाव-सरोजदलनिर्विशेषतापदाभ्यां रूपके बोध्येते, ते च रूपके विशेषणीभूते, 'विधुभावनिष्ठा एवं सरोजदलनिर्विशेषतानिष्ठा या कर्मता तन्निरूपकं यदञ्चनं तदनुकूलकृतिमत् आननं नयनञ्च' इति बोधात् । ननु कथमिह रूपकम्, अभेदात्मकस्य तस्यात्राप्रत्ययादिति चेन्न, लक्षणया [illegible] भावः । इत्थमाभेदात्मकमिदं रूपकं क्व[illegible] । विशेषणविधया वाक्यार्थे भासत इति परमार्थः ।

अब अभेदात्मक रूपक के भान का तीसरा प्रकार दिखलाया जाता है—क्वचिच्च इत्यादि । उपमान उपमेय के अभेदरूप रूपक का बोध भिन्नविभक्तिक पदों द्वारा होने पर कहीं वह अभेदात्मक रूपक विशेषणरूप में भासित होता है । जैसे—'अविचिन्त्य—अर्थात् अचिन्तनीय शक्तियों के कारण विख्यात कामदेव के प्रभाव से हे सुन्दरि ! तेरा मुख चन्द्रता को और नेत्र कमलपत्र की एकरूपता को प्राप्त कर रहे हैं ।' यहाँ मूलपद्यगत 'विधुभाव' पद और 'सरोजदलनिर्विशेषता' पद लक्षणा-द्वारा विध्वभेद (चन्द्राभेद) और सरोजदलाभेद (कमलपत्राभेद) के बोधक हैं, अतः यहाँ दो रूपक होते हैं और वे दोनों ही रूपक (अभेद) द्वितीया विभक्ति के अर्थ—कर्मता—में 'निरूप्य' संबन्ध से विशेषण हो जाते हैं । तात्पर्य यह कि इस वाक्य से होने वाले 'विधुभावनिष्ठ कर्मता की निरूपक अञ्चन-प्राप्ति-क्रिया के अनुकूल यत्न वाला मुख' इत्यादि शाब्दबोधों में विधुभाव (चन्द्राभेद) द्वितीया के अर्थ (कर्मता) के विशेषणरूप से भासित होता है । फलतः पर्यवसित अर्थ इस प्रकरण का यह हुआ कि अभेदात्मक रूपक का भान तीन प्रकारों से होता है—कहीं संबन्धरूप से, कहीं विशेष्यरूप से और कहीं विशेषणरूप से ।

समासगतरूपकस्थले बोधप्रकारं सूचयितुमाह—

एवं मुखचन्द्र इत्यादावुपमितसमासे तावदुपमैव । विशेषणसमासे तु रूपकम् । बोधश्च शशिपुण्डरीकमित्यादाविव प्राक्प्रतिपादितदिशा बोध्यः ।

उपमितसमासे 'उपमितं व्याघ्रादिभिः—' इति सूत्रविहितसमासे । विशेषणसमास इति । 'विशेषणं विशेष्येण—' इति सूत्रविहितसमास इत्यर्थः । अत्र 'चिन्त्यमिदम्' । चन्द्रमुखमित्यस्यापत्तेः । परिणामालङ्कारोदाहरणे तु विशेषणसमास उचितः । अत्र तु

मयूरव्यंसकेति समासे त्वितुचितम् ।' इति युक्तमाह नागेशः । शशिपुण्डरीकमिति । 'शशिनिष्ठाभेदप्रतियोगि पुण्डरीकम्' इति बोधवदित्यर्थः । बोध्य इति । तथा च मुखनिष्ठाभेदप्रतियोगि मुखमिति बोध इति भावः ।

समासगत रूपकस्थल में शाब्दबोध का प्रकार बतलाने के लिये कहा जाता है—एवं इत्यादि । 'मुख-चन्द्र' इत्यादि समस्त पदों में उपमितसमास—अर्थात् 'उपमितं व्याघ्रादिभिः—' इस पाणिनिसूत्र से समास होने पर उपमा ही होती है अतः उसका यहाँ प्रसङ्ग नहीं । हाँ, विशेषणसमास—अर्थात् 'विशेषणं विशेष्येण—' इस पाणिनिसूत्र से समास—होने पर रूपक हो सकता है और तब बोध भी पूर्वोक्त 'शशि-पुण्डरीक' पद के प्रसंग पर कथित रीति से हो जायगा । तात्पर्य यह कि—जिस तरह 'शशिपुण्डरीक' पद का बोध 'शशि में रहने वाले अभेद का प्रतियोगी पुण्डरीक' इत्याकारक पहले किया गया है उसी तरह 'मुख-चन्द्र' पद का बोध भी 'मुख में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी चन्द्र' यह होगा । यहाँ विशेषणसमास वाली मूलोक्त बात पर नागेश लिखते हैं कि "यह गलत है क्योंकि विशेषणसमास करने पर 'मुखचन्द्र' ऐसा नहीं अपितु 'चन्द्रमुख' ऐसा प्रयोग हो जायगा, अतः 'मयूरव्यंसकादयश्च इस सूत्र से समास होने पर' ऐसा यहाँ लिखना चाहिए । विशेषणसमास तो परिणामालंकार के उदाहरणों—'मुख-चन्द्र से अन्धकार दूर हुआ' इत्यादिकों—में होना उचित है ।"

व्यधिकरणरूपकविशेषस्थले शाब्दबोधं दर्शयितुमाह—

> 'मीनवती नयनाभ्यां करचरणाभ्यां प्रफुल्लकमलवती ।
> शैवालिनी च केशैः सुरसेयं सुन्दरी सरसी ॥'

इत्यादौ तृतीयाया अभेदार्थकत्वात्तस्य च प्रागुक्तदिशा प्रतियोगित्वमुखस्यार्थवशादन्वये, नयननिष्ठाभेदप्रतियोगिमीनवतीति बोधः । मीनवत्त्वं च स्वाभिन्नद्वारकम् । एतत्स्फोरणायैव नयनाभ्यामित्युक्तम् । मीनाभिन्ननयनवतीति तु पर्यवसितम् । नयनाभेदे तु मीनेषु गृह्यमाणे सरसीरूपकापोषणादित्युक्तमेव ।

मीनवतीति । सुरसा सुन्दरः रसः प्रेमा जलञ्च यस्यां सा, इयं सुन्दरी, नयनाभ्याम् मीनवती मीनरूपनयनयुक्ता, करचरणाभ्यां प्रफुल्लकमलवती विकसितकमलरूपकरचरणयुक्ता, तथा केशैः शैवालिनी शैवालरूपकेशयुक्ता सती, सरसी तडागरूपा सम्पद्यत इत्यर्थः । तृतीयाया इति । 'प्रकृत्यादिभ्यः—' इति विहिताया इत्यर्थः । तस्येति । तृतीयार्थस्याभेदस्येत्यर्थः । प्रागुक्तदिशेति । 'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रः' इत्यत्रोक्तरीत्येत्यर्थः । प्रतियोगित्वमुखस्येति । स्वनिष्ठाभेदप्रतियोगित्वस्येति समुदितार्थ इति भावः । अर्थवशादिति । सरसीरूपकानुरोधेनेति भावः । स्वाभिन्नेति । मीनाभिन्ननयनेत्यर्थः । नयनाभेदे इति । नयनप्रतियोगिकाभेदे इत्यर्थः । उक्तमेवेति 'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रः' इत्येतद्विचारप्रसङ्गे इति भावः । प्रकृत्यादित्वाज्जाताया नयनादिपदोत्तरतृतीयायाः स्वीक्रियमाणस्याभेदरूपार्थस्य प्रतियोगित्वं यद्यपि स्वप्रकृत्यर्थे नयनादावेव साधारणतया प्राप्तम्, तथापि पूर्वोक्तरीत्या मीनादौ तत् स्वीक्रियते । तथा च 'नयनादिनिष्ठः तदनुयोगिक इति यावत् योऽभेदः तस्य प्रतियोगी यो मीनादिस्तद्युक्ता' इति बोधो भवति । ननु मीनादियुक्तत्वम् सुन्दर्यां न सम्भवतीति चेत् ? सत्यम्, मीनाद्यभिन्ननयनादियुक्तत्वेन मीनादियुक्तत्वे तात्पर्यात् । अत एव 'नयनाभ्याम्' इत्यादि तृतीयान्तपदप्रयोगः । मीनाद्यभिन्ननयनादियुक्तेति पर्यवसितार्थः । न च कुतोऽयं द्रविडप्राणायामः ? मीनादिषु नयनादिप्रतियोगिकाभेद एव गृह्यताम् इति वाच्यम्, तथा सति 'सुन्दरी सरसी' इत्यंशे निर्विवादस्य सरसीरूपकस्य समर्थनं न स्यात्, तत्समर्थन-

मेव च वक्तुरभिप्रेतमित्याशयात्। मीनवतीति पद्ये परम्परितं रूपकं कवेर्विवक्षणीयम्, तत्रोपमानभूतायाः सरस्याः उपमेयभूतायाः सुन्दर्याश्च तादात्म्यात्मकं रूपकं प्रधानं समर्थ्यम्, उपमानभूतानां मीनकमलशैवालानाम् उपमेयभूतानां नयन-करचरण-केशानाम् तादात्म्यात्मकानि च रूपकाणि समर्थकानि, इति स्थितौ समर्थकांशे मीनाद्युपमानाभेदो नयनाद्युपमेये साधयितुमुचितः, तदैव तानि मीनादिरूपकाणि कथ्येरन्, मीनादिरूपकैरेव च सरसीरूपकस्य समर्थनं स्यात्। तदंशे न सरसी रूपकम् अपि तु सुन्दरीरूपकमेवेति तु न शक्यं वक्तुम्, सुन्दर्या एव प्रकृतत्वेनोपमेयत्वादिति स्पष्टार्थः।

एक खास व्यधिकरणरूपकस्थल का शाब्दबोधप्रकार दिखलाया जाता है—मीनवती इत्यादि। 'मीनवती—अर्थात् यह सुन्दरी अच्छे रस (प्रेम तथा जल) वाली सरसी है जो नेत्रों के कारण मछलीवाली, हाथ-पैरों के कारण कमलवाली तथा केशों के कारण सेवारवाली है।' इत्यादिक में नयन आदि पदों से 'प्रकृत्यादिभ्यः' तृतीया विभक्ति हुई है जिसका अर्थ 'अभेद' है, उसका प्रतियोगी यद्यपि नयन आदि को ही होना चाहिए; पर 'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रः' इस वाक्य के विषय में विचार करते समय कही गई रीति से मीन आदि को ही अभेद का प्रतियोगी माना जाता है और ऐसा इसलिए माना जाता है कि समग्र वाक्य का अर्थ—अर्थात् अग्रिम सरसी-रूपक—तभी संगत होता है, अतः उक्त श्लोकवाक्य से 'नेत्र में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी जो मीन उससे युक्त' इत्यादि बोध होता है। और सुन्दरी का 'मछलीवाली होना' है मछलियों से अभिन्न नेत्रों द्वारा—अर्थात् नेत्रों को मछलियों से अभिन्न समझ लेने पर ही सुन्दरी मछलीवाली समझी जा सकती है। इस 'द्वारा' को स्पष्ट करने के लिये ही 'नयनाभ्याम्' इत्यादि तृतीयान्त पदों का प्रयोग किया गया है। अतः अन्ततः 'नेत्रों के कारण मछलीवाली' का अर्थ होता है 'मछलियों से अभिन्न अर्थात् मछलीरूप-नेत्रोंवाली।' यह उलटफेर इसलिये करना पड़ता है कि—यदि नेत्रों का अभेद मछलियों में समझा जाय तो सुन्दरी में सरसी का रूपक समर्थित नहीं होता, प्रत्युत सरसी में सुन्दरी का रूपक समर्थित होने लगता जो कवि का अभीष्ट नहीं है, यह बात पहले भी कही जा चुकी है। सारांश यह हुआ कि यहाँ प्रस्तुत होने के कारण उपमेयरूप सुन्दरी में सरसीरूप उपमान का तादात्म्य जो वर्णित है वह सरसीरूपक ही कहलायगा सुन्दरीरूपक नहीं, यह निर्विवाद सत्य है, अब इस प्रधान-रूपक के समर्थन में अन्य जो रूपक वर्णित हुए हैं उनमें इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि—उपमेय सुन्दरी—से संबन्ध रखने वाले पदार्थों को उपमेय और उपमान—सरसी—से संबन्ध रखनेवाले पदार्थों को उपमान माना जाय, इस हिसाब से नयन आदि को उपमेय और मीन आदि को उपमान माना जाता है और इस मान्यता के अनुसार उक्त तृतीयार्थ-अभेद का प्रतियोगी मीन आदि को मानना जरूरी है, क्योंकि उपमान ही प्रतियोगी हो, ऐसा सिद्धान्त है।

रूपके साधारणधर्मस्थितिं विचारयति—

साधारणधर्मश्चात्राप्युपमायामिव क्वचिदनुगामी क्वचिद्बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नः क्वचिदुपचरितः क्वचिच्च केवलशब्दात्मा। सोऽपि क्वचिच्छब्दोपात्तः, क्वचित्प्रतीयमानतया नोपात्तः।

अनुगामी, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नः, उपचरितः (आरोपितः) केवलशब्दात्मेति चतुर्विधाः साधारणधर्मा यथोपमायां भवन्ति तथा रूपकेऽपि ते भवन्ति। अथ च तथाविधास्ते चत्वारः साधारणधर्माः क्वचित् अप्रसिद्धत्वात् शब्दतः कथिता भवन्ति, क्वचिच्च प्रसिद्धतया शब्दमन्तरापि प्रतीतिपथमवतरन्तः शब्देन उपात्ता न भवन्तीति भावः। केवलशब्दरूपस्तूपात्त एव भवतीत्यपि बोध्यम्।

रूपक में साधारणधर्म किस-किस तरह का हो सकता है इसका विचार अब किया जाता है—साधारण इत्यादि। रूपक में भी साधारणधर्म, उपमा की तरह, कहीं अनुगामी, कहीं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्न, कहीं उपचरित (आरोपित) और कहीं केवल शब्दरूप होता है। और ये सभी धर्म भी कहीं शब्द द्वारा उक्त होते हैं और कहीं अर्थात् प्रतीत होने के कारण, शब्द द्वारा उक्त नहीं होते। अभिप्राय यह कि—इन चारों तरह के धर्मों में से कोई एक तरह का धर्म एक जगह रहेगा और वह भी यदि प्रचुर प्रसिद्ध रहेगा तब उसके बोधक पद की अपेक्षा नहीं होगी—अर्थात् बोधक पद के बिना भी प्रतीत हो जायगा और यदि वह अप्रसिद्ध रहेगा तब उसके बोधक पद की अपेक्षा होगी—अर्थात् बोधक पद के अभाव में उसकी प्रतीति नहीं होगी। यह ध्यान रहे कि इनमें से कोई-कोई धर्म नियमतः बोधक की अपेक्षा रखता है। जैसे—केवल शब्दरूपधर्म, वह बोधक के अभाव में प्रतीति-पथ में आ ही नहीं सकता है।

उपात्तमनुगामिनं धर्ममुदाहर्तुमाह—

उपात्तोऽनुगामी यथा—

शब्दतः उक्त अनुगामी धर्म वाला रूपक जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'जडानन्धान्पङ्गून्प्रकृतिबधिरानुक्तिविकलान्
ग्रहग्रस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीन्।
निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तर्निपततो
नरानम्ब त्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि॥'

कविर्गङ्गां स्तौति—हे अम्ब मातः! जडान् कर्तव्यविमुखान्, अन्धान् नष्टनेत्रप्रकाशान्, पङ्गून् गमनशक्तिविहीनान् प्रकृतिबधिरान् प्रकृत्या स्वभावेन, जन्मत इति यावत्, श्रवणशक्तिरहितान्, उक्तिविकलान् वचनशक्तिहीनान्, फलतः, ग्रहग्रस्तान् 'ग्रहैः ग्रस्ता इमे' इत्येवं व्यवह्रियमाणान्, अत एव, अस्ताः दूरीभूताः अखिलाः सर्वेऽपि दुरित-निस्तारस्य पापोद्धारस्य सरणयः मार्गा येषां तथाविधान्, अत एव च, निलिम्पैः देवैरपि किमुत मनुष्यैः, निर्मुक्तान् त्यक्तान्, अन्ततः, निरयस्य नरकस्य, अन्तर्मध्ये, निपततः पतनोन्मुखान्, नरान् मनुष्यान् त्रातुं रक्षितुम् इह संसारे, त्वं, परमम् उत्कृष्टं भेषजम् औषधम्, असि विद्यसे इत्यर्थः। त्वत्कृपाया अभावे येषां नरकगमनं निश्चितं तथाविधा अपि अखिलाः पापिनः त्वदीयजल-स्पर्शेन स्वर्गं व्रजन्तीति भावः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—जडा इत्यादि। कवि गङ्गा की स्तुति करता है—हे मातः गङ्गे! जो जड़, अन्धे, लूले, जन्म से बहरे, गूँगे और ग्रहों से जकड़े हैं, जिनके लिये पापों से उद्धार पाने के सभी रास्ते समाप्त हैं, जिन्हें देवगण भी त्याग चुके हैं, अतएव जो नरक के अन्दर गिरने ही वाले हैं उन निरस्त भाजन रोगियों की रक्षा करने के लिये तू इस संसार में महान् औषध है।

उपपादयति—

अत्र त्रातुमिति तुमुन्नन्तेन शब्देनोपात्तम् जडान्धादित्राणं भेषजभागीरथ्योः।

भेषज-भागीरथ्योरिति। अनुगामी धर्म इति शेषः। 'जडानन्धान्' इति श्लोके गङ्गोपमेयभूता, औषधमुपमानभूतम्, तयोः साधारणधर्मश्च जडान्धादित्राणकर्तृत्वम् तच्चैकरूपे-

णोपमानोपमेयोभयान्वयित्वादनुगामि 'त्रातुम्' इति तुमुन्प्रत्ययान्तेन शब्देन वर्णितम्। एवञ्चैतत्साधारणधर्ममूलकाभेदारोपात्तयो रूपकम् सम्पद्यत इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्रेत्यादि। 'जडान्' इस पद्य में 'त्रातुम्' इस 'तुमुन्' प्रत्ययान्त पद द्वारा उक्त 'जड-अन्ध आदि लोगों की रक्षा' औषध तथा गङ्गा का साधारण धर्म है। अभिप्राय यह कि—उक्त पद्य में औषधरूप उपमान का गङ्गारूप उपमेय में तादात्म्य, रूपक है और इस तादात्म्य का मूल है उन दोनों में रहने वाला 'जडान्धादि-त्राण'रूप समानधर्म जो यहाँ शब्दतः उक्त है तथा एक रूप से दोनों में अन्वित होने के कारण अनुगामी है।

अनुपात्तमनुगामिनं धर्ममुदाहर्तुमाह—

अयमेवानुक्तो यथा—

अयमेवेति। अनुगामी साधारणधर्म एवेत्यर्थः। अन्यत् स्पष्टम्।

अनुपात्त अनुगामी साधारणधर्म, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

> 'समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि त-
> न्महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः।
> श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्तं सुमनसां
> सुधासाम्राज्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु॥'

इयमपि गङ्गास्तुतिरेव। भक्तः कथयति—हे गङ्गे! सकलवसुधायाः सम्पूर्णपृथिव्याः किमपि अनिर्वचनीयम्, अथ च समृद्धम् अभ्युन्नतम्, सौन्दर्यम् सुन्दरभाग्यवत्त्वं वा तद्रूपमिति यावत् एवम्, लीलया अनायासेन जनितानि उत्पादितानि जगन्ति येन तस्य, खण्डपरशोः शिवस्य, महैश्वर्यम् महाविभूतिरूपम्, इत्थमेव, श्रुतीनां वेदानां, सर्वस्वम् सारभूतं प्रतिपाद्यम्, अथ च, सुमनसाम्, देवानाम् मूर्तम् रूपवत्, प्रत्यक्षयोग्यमिति यावत्, सुकृतम् पुण्यरूपम्, एवम्, सुधाया अमृतस्य, साम्राज्यम् विस्तृताधिकारूपम्, तत् परमप्रसिद्धम्, ते तव, सलिलम् जलम्, नः अस्माकम्, अशिवम् अकल्याणम्, शमयतु शान्तं करोत्वित्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—समृद्धम् इत्यादि। भक्त गंगा से प्रार्थना करता है—हे गङ्गे! वह तेरा जल हमारे अकल्याण को शान्त करे, जो समग्र पृथ्वी का परमोन्नत और अनिर्वचनीय सौभाग्य-सौन्दर्य अथवा भाग्यशालित्व है, जो अनायास संसार की सृष्टि करने वाले शिवजी की महती विभूति है और जो वेदों का सर्वस्व, देवताओं का मूर्तिमान पुण्य एवम् अमृत का साम्राज्य है।

उपपादयति—

अत्र सौभाग्यभागीरथ्योः स्वाभावव्यापकदौर्भाग्यत्व-परमोत्कर्षाधायकत्वादिरनुपात्तः—प्रतीयमानो धर्मः। एवमीश्वरासाधारणधर्मत्व-परमगोप्यत्व-निरतिशयसुखजनकत्वान्यापामरसकलजनजरामृत्युहरणक्षमत्वं चोत्तरोत्तरांशेष्वनुगामीति।

सौभाग्यभागीरथ्योरिति। सौभाग्यभागीरथीजलयोरिति भावः। स्वाभावव्यापकदौर्भाग्यत्वेति। स्वाभावस्य सौभाग्याभावस्य भागीरथीजलाभावस्य वा व्यापकम् समानाधिकरणम्, दौर्भाग्यम् यस्य तद्भावेत्यर्थः। यत्र यत्र सौभाग्यस्याभावस्तत्र तत्र यथा दौर्भाग्यं

तिष्ठति तथैव यत्र-यत्र भागीरथीजलस्याभावस्तत्र तत्रापि दौर्भाग्यम् तिष्ठतीति स्वाभावव्यापकदौर्भाग्यत्वं सौभाग्यभागीरथीजलयोः समानो धर्म इति परमार्थः। एवञ्च समृद्धमिति पद्ये सौभाग्यगङ्गाजलयोः 'स्वाभावव्यापकदौर्भाग्यत्वपरमोत्कर्षकारित्वरूपौ' द्वावनुगामिनौ साधारणधर्मौ बोधकमन्तरापि प्रतीयेते। एवम् ऐश्वर्यगङ्गाजलयोः 'ईश्वरमात्रवृत्तित्वं' साधारणधर्मः अनुक्तोऽपि अनुगामितया प्रतीयते। इत्थमेव श्रुतिसर्वस्वगङ्गाजलयोः 'अतिगोपनीयत्वम्' अनुगामी साधारणो धर्मः उक्तिं विनापि गम्यते। एवम् सुकृतगङ्गाजलयोः 'सर्वाधिकसुखजनकत्वम्' अनुगामी साधारणो धर्मः शब्दतः अनुक्तोऽपि ज्ञायते। एवम् अमृत-साम्राज्य-गङ्गाजलयोः सकलप्राणिजरामरणहरणसमर्थत्वम् अनुगामी धर्मः अनुपात्तोऽपि प्रतीयत इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'समृद्धम्—' इस पद्य में गङ्गाजल ही एक उपमेय है और उपमान—वसुधा सौभाग्य, शिवैश्वर्य, वेद-सर्वस्व, देव-सुकृत और अमृत-साम्राज्य ये—अनेक हैं। अब यह समझिए कि इस एक उपमेय और उन भिन्न-भिन्न उपमानों में समानधर्म क्या है? सौभाग्य और गङ्गाजल के दो समानधर्म हैं—एक 'स्वाभाव-व्यापक दौर्भाग्यत्व'—अर्थात् जैसे जहाँ-जहाँ सौभाग्य नहीं रहता वहाँ वहाँ दौर्भाग्य (भाग्यहीनता) रहता है वैसे ही जहाँ-जहाँ गङ्गाजल नहीं रहता वहाँ-वहाँ भी दौर्भाग्य रहता है और दूसरा 'परम उत्कर्ष उत्पन्न करना', इसी तरह ऐश्वर्य और गङ्गाजल का समानधर्म है 'ईश्वर का असाधारणधर्म होना', वेद-सर्वस्व और गङ्गाजल का समान धर्म है 'परमगोपनीय होना', सुकृत और गङ्गाजल का समानधर्म है 'सर्वाधिक सुख उत्पन्न करना' और अमृत तथा गङ्गाजल का समानधर्म है 'नीच से लेकर उत्कृष्ट प्राणी तक के जरा-मृत्यु का हरण कर सकना'। ये सभी समानधर्म अनुगामी हैं और शब्दतः अनुक्त होने पर भी प्रतीयमान हैं।

बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नं साधारणधर्मम् पूर्वमुदाजहारेति स्मारयति—

बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नो विशिष्टरूपकप्रसङ्गे निरूपितः।

आपन्न इति। साधारणधर्म इति शेषः। निरूपित इति। 'कुङ्कुमद्रवलिप्ताङ्गः काषायवसनो यतिः। कोमलातपशोणाभ्रः सन्ध्याकालो न गंगागः।' इत्यादाविति भावः।

पूर्वोदाहृत बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्न साधारणधर्म का स्मरण दिलाया जाता है—बिम्ब इत्यादि। बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारणधर्म का निरूपण पहले—विशिष्ट रूपक के प्रसङ्ग में—किया जा चुका है। अभिप्राय यह कि—'कुङ्कुमद्रव—' इस संस्कृत टीका में उद्धृत श्लोक में साधारणधर्म बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्न है।

उपचरितं साधारणधर्ममुदाहर्तुमाह—

उपचरितो यथा—

आरोपितः साधारणधर्मो यत्रेति भावः।

उपचरित आरोपित साधारणधर्म, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अविरतं पर-कार्यकृतां सतां मधुरिमातिशयेन वचोऽमृतम्।
अपि च मानसमम्बुनिधिर्यशो विमलशारदचन्द्रिचन्द्रिका॥'

अविरतं सततम्, परकार्यकृताम् परोपकारिणाम्, सताम्, सज्जनानाम्, वचः वचनम्, मधुरिमातिशयेन माधुर्यातिरेकेण, अमृतम् पीयूषरूपम्, अपि च, मानसम् मनः, अम्बुनिधिः समुद्ररूपम्, यशः कीर्तिः, विमला स्वच्छा या शारदस्य शरत्कालीनस्य, चन्द्रिरस्य चन्द्रमसः, चन्द्रिका ज्योत्स्ना तद्रूपमित्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अविरतम् इत्यादि। जो निरन्तर परोपकार करने वाले होते हैं उन सज्जनों का वचन माधुर्य की अधिकता के कारण अमृत, मन समुद्र और यश शरद् के चन्द्रमा की निर्मल ज्योत्स्ना सा होता है।

उपपादयति—

अत्रामृतरूपके विषये वचस्युपचरितो मधुरिमातिशयः शब्देनोपात्तः। अम्बुनिध्यादिरूपके च गाम्भीर्यमनुपात्तम्।

'अविरतम्—' इति श्लोके त्रीणि रूपकाणि सन्ति वचसि अमृततादात्म्यरूपमेकम्, मानसेऽम्बुधितादात्म्यरूपम् द्वितीयम्, यशसि चन्द्रचन्द्रिकातादात्म्यरूपं च तृतीयम्, तत्र प्रथमरूपके मधुरिमातिशयः साधारणो धर्मः स च विषयिणि अमृते स्वाभाविको विषये वचसि चारोपितो, मधुरिमातिशयस्य वस्तुतस्तत्रासत्त्वात्, द्वितीये रूपके गाम्भीर्यम् साधारणो धर्मः स च विषयिणि अम्बुनिधौ स्वाभाविको विषये मानसे चारोपितस्तत्र तस्य वस्तुतोऽसत्त्वात्, एवम् तृतीये रूपके निर्मलत्वम् साधारणो धर्मः स च विषयिणि चन्द्रे वास्तविको विषये यशसि चारोपितोऽमूर्तत्वेन वस्तुतस्तत्र तस्यासत्त्वात्। एवमत्र त्रिष्वपि रूपकेषु साधारणो धर्म उपचरित इति सिद्धम्। परन्तु तत्र प्रथमरूपकगत आरोपितोऽपि मधुरिमातिशयरूपः साधारणधर्मः शब्दोपात्तः, अन्यरूपकगतौ च पूर्वोक्तावारोपितौ धर्मौ न शब्दोपात्ताविति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'अविरतम्—' इस पद्य में अमृत रूपक के विषय (उपमेय) वचन में मधुरिमातिशयरूप आरोपित साधारणधर्म शब्दतः उक्त है और समुद्र आदि के रूपकों में गम्भीरता आदि आरोपित धर्म शब्दतः उक्त नहीं हैं। अभिप्राय यह कि उक्त पद्य में तीन रूपक हैं—वचन में अमृत का तादात्म्य एक, मन में समुद्र का तादात्म्य दूसरा और यश में चन्द्र-ज्योत्स्ना का तादात्म्य तीसरा। इन तीनों में से प्रथम में साधारणधर्म माधुर्य की अधिकता है जो उपमान (अमृत) में वास्तविक है और उपमेय (वचन) में आरोपित, द्वितीय में साधारणधर्म गम्भीरता है जो उपमान (समुद्र) में वास्तविक और उपमेय (मन) में आरोपित है। इसी तरह तृतीय में साधारणधर्म निर्मलता है जो उपमान (चन्द्र) में वास्तविक और उपमेय (यश) में आरोपित है। उपमेय में वे धर्म आरोपित इसलिये कहे जाते हैं कि उनमें वे धर्म वस्तुतः रहते नहीं। इस तरह यह सिद्ध है कि यहाँ के तीनों ही रूपकों में साधारणधर्म उपचरित हैं, पर उनमें भी विलक्षणता यह है कि प्रथम रूपक में आरोपित साधारणधर्म (माधुर्य की अधिकता) शब्दतः उपात्त है और अन्य दो रूपकों के साधारणधर्म (गम्भीरता और निर्मलता) शब्दतः उपात्त नहीं हैं। फलतः यह पद्य उपात्त उपचरित धर्म और अनुपात्त उपचरित धर्म दोनों का उदाहरण होता है।

केवलशब्दात्मकं साधारणधर्ममुदाहर्तुमाह—

केवलशब्दात्मको यथा—

क्वचित्-क्वचित् केवलः शब्दः साधारणधर्मरूपस्तिष्ठति नार्थस्तदुदाहरणं यथेति भावः।

केवल शब्दात्मक साधारणधर्म, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अङ्कितान्यक्षसङ्घातैः सरोजाणि सदैव हि।
शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः॥'

व्याख्यातोऽयं श्लोको लक्षणनिरूपणे इति नेह पुनर्व्याख्यायते।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अङ्कितानि इत्यादि। इस पद्य की व्याख्या पहले लक्षणानिरूपण में की जा चुकी है, अतः पुनरावृत्ति उसकी यहाँ नहीं की जाती।

उपपादयति—

अत्र सरोगशब्दादिरुपात्त एव प्रतीयते न लुप्तः। आद्यो ह्यभङ्गो द्वितीयस्तु भग्नः।

'अङ्कितानि—' इत्यत्र शरीररूपोपमेये कमलरूपोपमानतादात्म्यम् रूपकम्, तत्र च न कश्चित् आर्थः साधारणधर्मः, अपि तु अक्षसंघातकरणकाङ्कनरूपः, सरोगत्वरूपश्च श्लिष्टः शब्द एव तथा श्लेषश्च प्रथमः (अक्षपदगतः) अभङ्गः, द्वितीयः (सरोगपदगतः) तु सभङ्गः। एष च धर्म उपात्त एव भवति नानुपात्तस्तथा चात्रैक एव भेद इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'अङ्कितानि—' इस पद्य में शरीररूप उपमेय में कमलरूप उपमान का तादात्म्यरूपक है जिसमें साधारणधर्म 'अक्षसंघात से अङ्कित' और 'सरोग' ये शब्द ही होते हैं। तात्पर्य यह कि ऐसा कोई धर्म उपलब्ध नहीं होता जो शरीर और कमल दोनों में रहता हो, पर उक्त दोनों श्लिष्ट विशेषण ऐसे हैं जिनका भिन्न-भिन्न अर्थ शरीर तथा कमल दोनों में संघटित होता है, अतः ये शब्द ही यहाँ उपमान-उपमेय दोनों में रहने वाले समानधर्म माने जाते हैं। श्लेष भी यहाँ दो तरह का है—प्रथम अर्थात् 'अक्ष' शब्द में अभङ्ग और द्वितीय—अर्थात् 'सरोग' शब्द में सभङ्ग। अभङ्ग का अर्थ है बिना टुकड़ा किये दोनों अर्थों का निकल जाना और सभङ्ग का अर्थ है टुकड़ा करने पर दो अर्थों का निकलना। यह शब्दरूप साधारणधर्म बोधक पद के बिना प्रतीत नहीं होता, अतः इसका एक (ही) भेद (उपात्त) हो सकता है, दूसरा भेद (अनुपात्त-लुप्त) नहीं।

अस्य भेदान्तरमाह—

अयमेव साधारणो यत्र युक्तिरूपेणोपन्यस्यते तद्धेतुरूपकम्।

अयमेवेति। केवलशब्दात्मक इत्यर्थः। साधारण इति। धर्म इति शेषः। युक्तिरूपेणेति। आरोपोपपादकतयेत्यर्थः। अन्यत् सुगमम्।

रूपक का एक भिन्न भेद दिखलाया जाता है—अयमेव इत्यादि। यही—केवल शब्दात्मक—साधारणधर्म जहाँ युक्ति-रूप से (आरोप के उपपादकरूप से) उपन्यस्त (वर्णित) रहता है वहाँ 'हेतुरूपक' होता है।

उदाहरणं निर्देष्टुमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'पञ्चशाखः प्रभो यस्ते शाखा सुरतरोरसौ।
अन्यथाऽनेन पूर्यन्ते कथं सर्वमनोरथाः॥'

कविः कमपि राजानं स्तौति—हे प्रभो राजन्! ते तव, यः, पञ्चशाखः पञ्चाङ्गुलिः करः, असौ पञ्चाङ्गुलिः करः, सुरतरोः कल्पवृक्षस्य, शाखा तद्रूपः, अस्तीति शेषः। अन्यथा—तव करस्य सुरतरुशाखात्वविरहे, अनेन तव पञ्चशाखेन, सर्वमनोरथाः सकलजनाभिलाषाः, कथं केन प्रकारेण, पूर्यन्ते सफलाः क्रियन्ते? इत्यर्थः। अत्रोत्तरार्धगतशब्दरूपः समानो धर्मः करे सुरतरुशाखातादात्म्यारोपस्योपपादक इति हेतुरूपकमिदमिति भावः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—पञ्च इत्यादि। कवि किसी राजा की स्तुति

करता है—हे प्रभो ! आपका जो पञ्चशाख—अर्थात् पाँच अङ्गुलियों वाला हाथ है वह कल्प-वृक्ष की शाखा है । अन्यथा इसके द्वारा सबके मनोरथ कैसे पूर्ण किए जाते हैं ? यहाँ उत्तरार्धगत (अन्यथा......इत्यादि) शब्दरूप साधारणधर्म हाथरूप उपमेय में कल्प-वृक्षशाखारूप उपमान के आरोप को उपपन्न करता है, अतः यह 'हेतुरूपक' है ।

हेतुरूपकस्योदाहरणान्तरं निर्देष्टुमाह—

एवम्—

इसी तरह—

उदाहरणमाह—

'प्राणेशविरहक्रान्तः कपोलस्तव सुन्दरि ।
मनोभवव्याधिमत्त्वान्मृगाङ्कः खलु निर्मलः ॥'

हे सुन्दरि ! प्राणेशस्य पत्युः, विरहेण वियोगेन, क्रान्तः म्लानः, तव, कपोलः, मनोभवव्याधिमत्त्वात् कपोलपक्षे कामजन्यविशिष्टमनोव्यथायुक्तत्वात्, मृगाङ्करसपक्षे मनसि समुत्पन्नस्य क्षयरोगस्य मन्थनकारित्वात्, चन्द्रपक्षे कामभावनाधिक्यप्रयुक्तराजयक्ष्माख्य-रोगवत्त्वाच्च, खलु निश्चयेन, निर्मलः विमलः, मृगाङ्कः चन्द्रः मृगाङ्करसश्च तद्रूप इत्यर्थः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—प्राणेश इत्यादि । हे सुन्दरि ! प्राणनाथ के विरह से म्लान तेरा कपोल [illegible] ([illegible] के पक्ष में कामजन्यविशिष्ट आधि—मनोव्यथा—से युक्त होने, मृगाङ्करस के पक्ष में—मन में उत्पन्न होनेवाले रोग—क्षय—का मथन करने, और चन्द्र के पक्ष में कामदेव के रोग—राजयक्ष्मा—से युक्त होने) के कारण निर्मल 'मृगाङ्क' (एक तरह का औषध और चन्द्रमा) है ।

उपपादयति—

इह श्लेषेण रसचन्द्रयोः कपोले ताद्रूप्यप्रत्ययाद्द्विरूपकं निरवयवम् । हेतुस्तु त्रिषु श्लिष्ट एव ।

निरवयवमिति । परस्परमवयवावयविभावाभावादिति भावः । हेतुरिति । मनोभवेत्यादिः शब्द इत्यर्थः । त्रिष्विति । उपमानद्वये उपमेये चेत्यर्थः । श्लिष्ट इति । श्लेषप्रयुक्तास्त्रयोऽर्थाः पद्यव्याख्यायामुक्तास्तत एवावगन्तव्याः । 'प्राणेश—' इत्यत्र मृगाङ्कपदस्य श्लिष्टतया मृगाङ्कनामा रसविशेषश्चन्द्रश्चार्थः । तथा च रसो:—रसविशेषचन्द्रयोः—[illegible] कपोलरूपे एकस्मिन्नुपमेये तादात्म्यं प्रतीयते, अतो निरवयवं द्विरूपकमेतत् । एतदीयोदाहर-णान्तरदाननिदानभूतं पूर्वोदाहरणतो वैलक्षण्यम् इति बोध्यम् । अस्मिन् द्विरूपके साधारणो धर्मः 'मनोभवव्याधिमत्त्वात्' इति केवलशब्दात्मकः, स चारोपोपपादकतयाऽत्र वर्णित इति हेतुरूपकत्वमस्य द्विरूपकस्य निष्पद्यत इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—इह इत्यादि । 'प्राणेश—' इस पद्य में श्लेष द्वारा मृगाङ्क-रस और चन्द्र दोनों का तादात्म्य कपोल में प्रतीत होता है, अतः निरवयव (परस्पर अङ्गाङ्गिभावरहित) 'द्विरूपक' है । अर्थात्—सुन्दरी के कपोल में साथ ही साथ दो रूपक—दो वस्तुओं के अभेद—उत्पन्न [illegible] हैं । 'मनोभवव्याधिमत्त्व' रूप केवल शब्दात्मक साधारणधर्म (जिसका वर्णन यहाँ आरोप के हेतुरूप में हुआ है और जिसके कारण यह हेतुरूपक कहलाता है) तो तीनों (कपोल, मृगाङ्करस और चन्द्रमा) में श्लिष्ट है—उसके तीन अर्थ तीनों पक्षों में लग जाते हैं । फलतः पहला पद्य एकहेतुरूपक का उदाहरण था और यह पद्य हेतु-द्विरूपक का उदाहरण है ।

भेदप्रदर्शनसमाप्तिं सूचयन्नाह—

एवमन्येऽपि प्रकारा ज्ञेयाः ।

पूर्वोक्तप्रकारवत् अनुक्ता अपि रूपकप्रकाराः स्वयमूहनीया इति भावः ।

पहले कहे गए प्रकारों के समान रूपक के अन्य (अनुक्त) प्रकार भी स्वयं समझ लेने चाहियें ।

विशेषमाह—

'उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पंधयानां
निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम् ।
उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः
संघातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत् ॥'

अत्रोपमेय उपमानस्य नारोपः, अपि तु कारणे कार्यस्येति रूपकं न भवतीति प्राञ्चः । एतन्मतानुसारेणैवास्माभिरपि लक्षितम् । उच्छृङ्खलाः पुनरारोपमात्रं रूपकं वदन्त इहापि रूपकमेवाचक्षत इति प्रागेव निरूपितम् ।

उल्लास इति । सूर्योदयवर्णनमिदम् । फुल्लानां विकसितानां, पङ्केरुहाणां कमलानाम् पटले समूहे, पततां पातुकानाम् मत्तानां पीतकुसुममधुमदयुक्तानाम्, पुष्पंधयानाम् भ्रमराणाम्, उल्लासः हर्षः तद्धेतुरिति यावत्, शोकरूपेण दावानलेन वनवह्निना विकलानि हृदयानि यासां तासाम्, कोकसीमन्तिनीनां चक्रवाकीनाम्, निस्तारः दुःखोद्धारस्तद्धेतुरिति यावत्, उपहतं नाशितं महस्तेजो यैस्तेषाम्, तामसानां तमःपुञ्जानाम्, उत्पातः विनाशः तद्धेतुरिति यावत्, चक्षुषां नेत्राणाम्, पक्षपातः पक्षपातहेतुः सहायक इति यावत्, कोऽपि विलक्षणः, अयं दृश्यमानः धाम्नां तेजसाम् संघातः समूहः, उदयगिरिप्रान्ततः उदयाचल-शिखरात्, प्रादुरासीत् प्रादुर्बभूवेत्यर्थः । अत्रत्यं वक्तव्यम् आह—अत्रेत्यादिना । अयं भावः—उपमेये उपमानारोप एव रूपकम्, अत्र तु उल्लासादिधामसंघातपदार्थयोरुपमानो-पमेयभावो नास्ति, अपि तु कार्यकारणभावः—अतः कारणे कार्यस्यात्राभेदारोप इति नेदम् रूपकम्, किन्तु हेत्वलङ्कारोऽयमतिरिक्त इति प्राञ्चः । रसगङ्गाधरकारो भट्ट-जगन्नाथोऽपि अस्मिन्नंशे प्राचीनमतमेव स्वीकुरुते, अत एव 'उपमेये निषेधमानलुप्तमान-तादात्म्यम्' इति उपमानोपमेयघटितं रूपकलक्षणं निर्मिमीते । उद्धतस्वभावाः केचनाधुनिकाः आरोपमात्रं रूपकं स्वीकुर्वन्तः अकृते कारणे कार्यारोपमपि रूपकं मन्यन्ते । एष विचारः प्रागपि कृतो ग्रन्थकृता इति ।

एक विचारविशेष देखिये—उल्लासः इत्यादि । सूर्योदय का वर्णन है—'विकसित कमलों के समूह पर गिरते हुये मधुपान से मत बने भ्रमरों का उल्लास (हर्ष) अर्थात् हर्षकारक, शोकरूप दावानल से विकल हृदयवाली चकवाकियों का निस्तार (दुःखोद्धार) अर्थात् दुःखोद्धारक, प्रकाश को नष्ट कर चुके अन्धकारों के समूह का उत्पात (विनाश) अर्थात् विनाश करने वाला, और नेत्रों का पक्षपात अर्थात् पक्षपात करने वाला कोई तेजःपुञ्ज उदयाचल के प्रान्त से प्रकट हुआ है ।' यहाँ उपमेय में उपमान का आरोप नहीं है, किन्तु कारण में कार्य का आरोप है, अतः यह रूपक नहीं होता—अर्थात् 'हेतु' नामक एक दूसरा ही अलङ्कार होता है यह प्राचीनों का मत है । पण्डितराज ने भी प्रकृत ग्रन्थ में उक्त प्राचीन मत के अनुसार ही लक्षण किया है—अर्थात् इन्होंने भी रूपक में उपमानोपमेयभाव का रहना आवश्यक माना है अतः उनके मत से भी यहाँ रूपक नहीं हो सकता । पर उद्धतस्वभाववाले कुछ नवीन विद्वान् सभी

आरोपों को—फिर वह उपमेय में उपमान का हो, कारण में कार्य का हो अथवा अन्य कोई—रूपक कहते हैं, अतः उनके मत से उक्त पद्य में भी रूपक ही अलंकार है यह बात पहले भी कही जा चुकी है।

स्थलविशेषे साधारणधर्मस्वरूपं स्फोरयितुं शङ्कासमाधाने विधत्ते—

ननु—

> 'यशःसौरभ्यलशुनः शान्तिशैत्यहुताशनः ।
> कारुण्यकुसुमाकाशः पिशुनः केन वर्ण्यते ॥'

इत्यत्र लशुनहुताशनाकाशैः पिशुनस्य किं साधर्म्यम्, येन तेषामस्मिन् रूपकमुच्यत इति चेत्, यशःसौरभ्ययोः शान्तिशैत्ययोः कारुण्यकुसुमयोश्च ताद्रूप्ये शब्दादुपस्थापितेऽनन्तरमुपस्थितं यशोरूपसौरभ्याद्यभाववत्त्वमेतत् ।

'यशःसौरभ्य—' इति । पद्यमेतत् प्रागस्मिन्नेव प्रकरणे व्याख्यातम् । तेषाम् लशुनादीनाम् । अस्मिन् पिशुने अभावेति । अत्र यथायथं समवायादिरभावीयप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धो विज्ञेयः । एतदिति । एतत् यशोरूपसौरभ्याद्यभाववत्त्वम् साधारणधर्म इति भावः । अयमत्र विशदोऽर्थः—'यशःसौरभ्य—' इत्यत्र पिशुनरूपे उपमेये लशुनहुताशनाकाशानामुपमानानां ताद्रूप्यं प्रधानरूपकम्, तच्च साधारणधर्मोपस्थितिमन्तरा न सेद्धुं शक्नोति, रूपकेऽपि साधारणधर्मप्रयोज्यत्वस्य प्रागुपपादितत्वात्, एवञ्च लशुनपिशुनयोः हुताशनपिशुनयोराकाशपिशुनयोश्च कः समानो धर्म इति समुत्थितायां जिज्ञासायाम् एतद् बोध्यम् यत् नात्र पूर्वोक्तं प्रधानत्वेन विवक्षितम् एकमेव रूपकम्, अपि तु तत्समर्थकानि अपराण्यपि त्रीणि रूपकाणि सन्ति तत्र यशस्युपमेये सौरभ्यरूपोपमानस्य ताद्रूप्यम् एकम्, शान्तिरूपोपमेये शैत्यरूपोपमानस्य ताद्रूप्यम् द्वितीयम्, कारुण्यरूपोपमेये कुसुमरूपोपमानस्य ताद्रूप्यम् तृतीयम्, एवमेतानि रूपकाणि प्राक् शब्दतः उपतिष्ठन्, येन तयोस्तयोः पदार्थयोरैक्यं विज्ञातमिति पर्यवसितम्, तथा पर्यवसानानन्तरञ्च यशोरूपसौरभ्याभाववत्त्वं लशुनेन, शान्तिरूपशैत्याभाववत्त्वं हुताशनेन, कारुण्यरूपकुसुमाभाववत्त्वं च आकाशेन पिशुनस्य साधर्म्यमिति । अर्थात् लशुनो यथा सौरभ्याभाववान् तथा पिशुनः यशोऽभाववान्, इत्थमैकत्वेन विज्ञातयोर्यशःसौरभ्ययोरभावो लशुनपिशुनयोरक्षतः । एवमन्यांशेऽपीति ।

स्थल-विशेष में साधारणधर्म क्या है इस बात का स्पष्टीकरण शंका-समाधान द्वारा किया जाता है—ननु इत्यादि । 'यशःसौरभ्य—' इस पद्य—जिसकी व्याख्या इसी प्रकरण में पहले की जा चुकी है—में लहसुन, अग्नि और आकाश के साथ चुगलखोर का क्या समानधर्म है जिसे लेकर यहाँ रूपक कहा जाता है? तो इसका समाधान यह है कि यश और सुगन्ध, शान्ति और शीतलता तथा दया और पुष्प का ताद्रूप्य (अभेद) शब्द द्वारा उपस्थित कर दिये जाने पर बाद में, 'यशरूप सुगन्ध के अभाव से युक्त होना' (अर्थात् जैसे लशुन सुगन्ध के अभाव वाला होता है—अपने में तो सुगन्ध होता ही नहीं दूसरे का सुगन्ध भी उसके पास नहीं आ सकता—वैसे ही चुगलखोर यश के अभाव वाला है—किसी यशस्कर कार्य को स्वयं तो करता नहीं, दूसरों का भी यश उस तक नहीं पहुँच पाता, निन्दा ही पहुँच पाती है) यही समानधर्म है। इसी तरह अन्य—अग्नि आदि—के साथ भी समझना चाहिए।

एवं स्थितौ अन्योन्याश्रयमाशंक्य समाधत्ते—

एवमपि लशुनखलयोस्ताद्रूप्यसिद्धौ सत्यां लशुनरूपखलाद्भिन्नत्वेन यशःसौरभ्ययोस्ताद्रूप्यं सिद्ध्येत्, यशःसौरभ्ययोस्ताद्रूप्यसिद्धौ च यशोरूपसौरभ्य-

शून्यत्वेन लशुनखलयोस्ताद्रूप्यम्, इत्यन्योन्याश्रयो नाशङ्कनीयः। सकलसिद्धेः कल्पनामयत्वेन, कल्पनायाश्च स्वप्रतिभाधीनत्वात्। शिल्पिभिः परस्परावष्टम्भमात्राधीनस्थितिकाभिः शिलेष्टकाभिर्गृहविशेषनिर्माणाच्च।

ननु यथा प्रधानरूपकघटकोपमानोपमेययोर्लशुनादिपिशुनयोः साधारणधर्मः यशोरूपसौरभ्याद्यभाववत्त्वम्, तथा समर्थकरूपकघटकयोरुपमानोपमेययोः यशःसौरभ्ययोः शान्तिशैत्ययोः कारुण्यकुसुमगोश्च साधारणधर्मः लशुनादिरूपखला(पिशुना)वृत्तित्वम् एषितव्यः, एवञ्चान्योन्याश्रयापातः, लशुनादिरूपखलावृत्तित्वमूलकस्य यशःसौरभ्यादीनां ताद्रूप्यस्य सिद्धौ यशोरूपसौरभ्याद्यभाववत्त्वमूलकस्य लशुनादिखलयोस्ताद्रूप्यस्य तथा तद्धर्ममूलकस्य-लशुनादिखलयोस्ताद्रूप्यस्य सिद्धौ तद्धर्ममूलकस्य यशःसौरभ्यादीनां ताद्रूप्यस्य समपेक्षितत्वात्, अन्योन्याश्रितानि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते, यथा नौर्नावि बद्धा नेतरत्राणाय भवति द्वयेकमपि रूपकं न सिद्ध्येदिति चेन्नैवम्, कविसृष्टौ सकलपदार्थसिद्धेः कल्पनामयतया कल्पनायाश्च कविप्रतिभाधीनत्वेन तत्रान्योन्याश्रयस्यादूषकत्वात् (लौकिकघटनास्वेवान्योन्याश्रयः प्रतिबन्धकः, कविप्रतिभोत्थितकल्पनासु नेत्याशयात्) न चोत्पत्ताविव ज्ञानेऽपि अन्योन्याश्रयस्य प्रतिबन्धकतया कथं तथा कविप्रतिभेति वाच्यम्, स्थापत्यकलाकोवि- [illegible] दिद्वारा गृहविशेषनिर्माणदर्शनेनोत्पत्तावपि नान्यो- [illegible] किमुत ज्ञाने इत्यभिप्रायात्।

पूर्वोक्त 'यशोरूप सौरभ्याद्यभाववत्त्व' पदार्थ को साधारणधर्म मानने पर अन्योन्याश्रयदोष की आशङ्का करके उसका समाधान किया जाता है—एवमपि इत्यादि। ऐसा मानने पर भी यदि आप यह शंका करें कि—जब लहसुन और चुगलखोर का ताद्रूप्य सिद्ध होगा तब 'लहसुनरूप चुगलखोर' में न रहने के कारण यश और सुगन्ध का ताद्रूप्य सिद्ध होगा और जब यश और सुगन्ध का ताद्रूप्य सिद्ध होगा तब यशरूप सुगन्ध से शून्य होने के कारण लहसुन और चुगलखोर का ताद्रूप्य सिद्ध होगा, इस तरह अन्योन्याश्रय होगा—अर्थात् एक ताद्रूप्य की सिद्धि के बिना दूसरा ताद्रूप्य सिद्ध नहीं होगा—फलतः एक भी ताद्रूप्य सिद्ध नहीं हो सकेगा, तो इसका उत्तर यह है कि काव्य में सब बातों की सिद्धि कल्पनामय है और कल्पना है कवि की प्रतिभा के अधीन। अतः प्रतिभा द्वारा दोनों में से किसी भी ताद्रूप्य का पहले निर्माण किया जा सकता है, और जब इस तरह एक ताद्रूप्य बन गया तब अन्य ताद्रूप्य बनने में तो कोई बाधा है नहीं। ऐसी स्थिति में यहाँ अन्योन्याश्रय की बात नहीं चल सकती। न केवल कल्पना में ही किन्तु लोक में भी—कारीगर लोग केवल एक दूसरे के सहारे खड़े रहने वाले ईंट-पत्थरों से विशेष प्रकार के घर बनाते पाए जाते हैं। यदि अन्योन्याश्रय नवीन प्रकार के निर्माण में बाधक हो तब उनका कारोबार ही बन्द हो जाय। अतः यह समझना चाहिए कि अन्योन्याश्रय दोष वहीं होता है, जहाँ उसके कारण, कार्य का रुकना अनुभवसिद्ध हो, अन्यथा नहीं।

रूपकध्वनिमुदाहर्तुमाह—

अथास्य ध्वनिः—

अतः परं रूपकालङ्कारध्वनिर्निरूप्यत इति भावः।

अब रूपकध्वनि का निरूपण किया जाता है—

रूपकध्वनेः प्रथमभेदमुदाहर्तुमाह—

तत्र शब्दशक्तिमूलो यथा—

तत्रेति। रूपकध्वनिमध्य इत्यर्थः। शब्दशक्तिः शब्दनिष्ठा व्यञ्जना तन्मूलको रूपकध्वनिर्यथेति भावः।

रूपकध्वनि दो प्रकार की होती है—एक शब्दशक्ति(शाब्दी व्यञ्जना)मूलक और दूसरी अर्थ शक्ति(आर्थी व्यञ्जना)मूलक। इन दोनों से प्रथम, जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

'विज्ञत्वं विदुषां गणे सुकवितां सामाजिकानां कुले
माङ्गल्यं स्वजनेषु गौरवमथो लोकेषु सर्वेष्वपि।
दुर्वृत्ते शनितां नृलोकवलये राजत्वमव्याहतं
मित्रत्वं च वहन्नकिञ्चनजने देव त्वमेको भुवि॥'

कश्चित् राजानं कमपि स्तौति—हे देव राजन्! विदुषां पण्डितानां, गणे समूहे, विज्ञत्वं पाण्डित्यं बुधत्वञ्च, सामाजिकानां सभ्यानां साहित्यिकानामिति यावत्, कुले समूहे, सुकवितां सुन्दरकाव्यकर्तृत्वं शुक्रत्वञ्च, स्वजनेषु निजाश्रितलोकेषु, माङ्गल्यं कल्याणरूपत्वम् अङ्गारकत्वञ्च, अथो अनन्तरम्, सर्वेष्वपि लोकेषु सकलजनेषु, गौरवं श्रेष्ठत्वम् बृहस्पतित्वञ्च, दुर्वृत्ते दुराचारिणि जने, अशनितां वज्रत्वम् शनितां च, नृलोकवलये मानवलोकमण्डले, अव्याहतं अप्रतिहताज्ञम् राजत्वं नृपत्वं चन्द्रत्वञ्च, तथा अकिञ्चनजने दरिद्रलोके, मित्रत्वं सुहृत्त्वम् सूर्यत्वञ्च, वहन् दधानः त्वम्, भुवि संसारे एकः अद्वितीयः, असीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—विज्ञत्वम् इत्यादि। कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन्! विद्वानों के समुदाय में विज्ञता (व्यङ्ग्य अर्थ बुधत्व) को, सभ्य-समूह (साहित्यिकों) में सुन्दर कवित्व (व्यङ्ग्य अर्थ शुक्रत्व) को, आत्मीय जनों में कल्याणरूपता (व्यङ्ग्य अर्थ मंगलग्रहत्व) को, सब लोगों में गौरव—श्रेष्ठता (व्यङ्ग्य अर्थ बृहस्पतित्व) को, दुराचारियों में अशनिता—वज्रत्व (व्यङ्ग्य अर्थ शनिग्रहत्व) को भूमण्डल में अव्याहतराजत्व (व्यङ्ग्य अर्थ चन्द्रत्व) को और दरिद्रजनों में मित्रता (व्यङ्ग्य अर्थ सूर्यत्व) को धारण करनेवाले आप पृथिवी पर एक हैं—अद्वितीय हैं (आपके जोड़ का दूसरा कोई नहीं)।

उपपादयति—

अत्र शक्तिनियन्त्रणेऽपि बुधत्व-शुक्रत्वादीनि बुधाद्यभेदरूपाणि राजनि व्यज्यन्ते।

'विज्ञत्वम्—' इत्यत्र राजप्रकरणगते पद्ये विज्ञत्व-सुकवितादीनां पदानां शक्तिः (अभिधा) प्रकरणेन पाण्डित्यसुन्दरकाव्यकर्तृत्वादावर्थे नियम्यते, अतो बुधत्व-शुक्रत्वाद्योऽर्था न तेषां पदानां वाच्याः किन्तु अनेकार्थकपदप्रयोगरूपयुक्तिसमुत्थितया शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनया बुधत्वादयोऽर्था बोध्यन्ते, बुधत्वादयश्च बुधाद्यभेदरूपाः पदार्थाः, अभेद एव च रूपकम् इति राजन्युपमेये बुधाद्युपमानाभेदरूपकम्—व्यज्यते, अतः शब्दशक्तिमूलरूपकध्वनेरुदाहरणमिदं पद्यं भवतीति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'विज्ञत्वम्—' यह पद्य राजा के प्रकरण में कहा गया है, अतः 'विज्ञत्व-सुकविता' आदि अनेकार्थक पदों की शक्ति (अभिधा) प्रकरण द्वारा 'पाण्डित्य—सुन्दरकाव्यनिर्मातृत्व' आदि अर्थ में नियन्त्रित हो जायगी—फलतः 'बुधत्व-शुक्रत्व' आदि अर्थ वाच्य नहीं हो सकेगा, परन्तु अनेकार्थक पद-प्रयोग करने के कारण उठी हुई शाब्दी व्यञ्जना से बुधत्व आदि अप्राकरणिक अर्थ का ज्ञान होगा और बुधत्व आदि का अर्थ बुध आदि ग्रहों का अभेद ही पर्यवसित होता है अतः यहाँ रूपक ध्वनित होता है क्योंकि अभेद को ही रूपक कहा जाता है। तात्पर्य यह

कि—राजारूप उपमेय में बुध आदि ग्रहों (उपमानों) का अभेद जो यहाँ ध्वनित होता है वह व्यङ्ग्यरूपक कहलायगा, अतः यह पद्य रूपकध्वनि का उदाहरण है।

उदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे—

उदाहरणं प्रदर्शयति—

'अविरलविगलद्दानोदकधाराऽऽसारसिक्तधरणितलः।
धनदाग्रमहितमूर्त्तिर्देव ! त्वं सार्वभौमोऽसि ॥'

राजवर्णनमिदम्। हे देव राजन् ! अविरलम्, सततम्, विगलतः स्रवतः दानोदकस्य उत्सर्गजलस्य मदसलिलस्य च, धारासारेण धारावाहिकसम्पातेन, सिक्तमार्द्रीकृतम्, धरणितलं येन तादृशः तथा धनदानाम् धनदायकानाम् धनदस्य कुबेरस्य च, अग्रे, महिता प्रशस्ता, मूर्त्तिः स्वरूपं यस्य तादृशश्च त्वम् सार्वभौमः सर्वभूमिपतिः (चक्रवर्ती) दिग्गजश्च, असि भवसि इत्यर्थः। अत्र प्रथमकानाम् दान-धनद-सार्वभौम-शब्दानामभिधाः प्रकरणेन राजपक्षीयार्थेषु नियन्त्रिताः, अतो दिग्गजपक्षीया अर्था न वाच्या अपि तु शब्दशक्ति-मूलया व्यञ्जनया बोध्याः—व्यङ्ग्या इति राजरूपोपमेयगतदिग्गजरूपोपमानताद्रूप्यात्मकं रूपकं ध्वन्यते, अत इदमपि पद्यम् [illegible]। द्वयोस्तु विशेषो यत् प्रथमोदाहरणे विशेषणान्येव व्य[illegible]।

उदाहरण दिखलाया जाता है—अविरल इत्यादि। राजा का वर्णन है—हे देव ! आप सार्वभौम (चक्रवर्ती राजा अथवा दिग्गज) हैं। आपने निरन्तर गिरते दान-जल (दिग्गजपक्ष में मद-जल) की धारावाहिक वृष्टि से पृथिवीतल को सींच दिया है और आप 'धनदाग्रमहितमूर्त्ति' (राजा के पक्ष में धनदायकों के आगे प्रशस्त स्वरूपवाले, दिग्गज के पक्ष में—कुबेर के आगे प्रशस्त स्वरूपवाले) हैं। यहाँ प्रकरण से दान, धनद और सार्वभौम शब्द की अभिधा शक्ति राजपक्षीय अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है, अतः दिग्गजपक्षीय अर्थ शब्दशक्तिमूलक व्यञ्जना द्वारा ध्वनित होता है जिससे अन्त में राजारूप उपमेय में दिग्गजरूप उपमान का ताद्रूप्य अभिव्यक्त होता है, अतः यह पद्य भी शब्दशक्ति-मूलक रूपकध्वनि का उदाहरण होता है। पर, प्रथम उदाहरण में केवल विशेषणांश में ही ध्वनि हुई है और इस द्वितीय उदाहरण में विशेषण तथा विशेष्य दोनों अंशों में वह होती है यह दोनों उदाहरणों में अन्तर समझना चाहिये।

आर्थशक्तिमूलकं रूपकध्वनिमुदाहर्तुमाह—

अर्थशक्तिमूलो यथा—

अर्थशक्तिः = अर्थनिष्ठा व्यञ्जना तन्मूलकरूपकध्वनिरित्यर्थः।

अर्थनिष्ठव्यञ्जनामूलक रूपकध्वनि, जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

'कस्तूरिकातिलकमालि विधाय सायं
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम्।
प्रौढिं भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा-
मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि ॥'

सखी नायिकामाह—हे आलि सखि ! सायम् सन्ध्यासमये, कस्तूरिकाया मृगमदस्य, तिलकम् ललाटिकां, विधाय कृत्वा, स्मेरानना प्रसन्नमुखी सती, सपदि शीघ्रम्, सौधमौलिम् गृहशिखरम्, शीलय आश्रय। एवंकृते सति किं स्यात्तदाह—प्रौढिम् इति। कुमुदानि रात्रि-

विकाशीनि पुष्पाणि, मुदां विकासानाम्, उदाराम् अतिशयितताम्, प्रौढिं पूर्णताम्, भजन्तु प्राप्नुवन्तु, अपि च हरितः दिशाः, परितः सर्वतोभावेन, मुखानि आरम्भिकभागान्, उल्लासयन्तु प्रकाशयन्तु इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कस्तूरिका इत्यादि । सखी नायिका से कहती है—हे सखी ! तू सन्ध्या समय कस्तूरी का तिलक लगाकर, तत्काल, प्रासाद-शिखर का परिशीलन कर, जिससे कुमुद हर्ष की अत्यन्त अधिकता को प्राप्त करें—अर्थात् पूर्णतया विकसित हो उठें और दिशाएँ अपने मुखों को पूर्णतया उल्लासयुक्त बना लें—अर्थात् उनके आरम्भिक भाग अच्छी तरह प्रकाशित हो जायँ ।

उपपादयति—

अत्र त्वदीयमाननं कलङ्क-चन्द्रिका-विशिष्टचन्द्राभिन्नमिति रूपकम् कुमुदविकासादिना ध्वन्यते न तु भ्रान्तिमान् । कुमुदानां हरितां चाऽचेतनत्वात् । न चाऽचेतनेषु मुदामसम्भवादवश्यं कुमुदादिषु चेतनत्वारोपेण भाव्यम्, तेन च भ्रान्तिसिद्धिरिति वाच्यम् । मुत्पदस्य विकासे लाक्षणिकत्वात् ।

अत्र प्रकृतपद्ये । कलङ्केति । कलङ्कश्च चन्द्रिका चेति द्वन्द्वः, ताभ्यां विशिष्टो यश्चन्द्रस्तदभिन्नमिति भावः । विकासादिनेति । आदिपदेन हरिन्मुखोल्लासः परामृश्यते । भ्रान्तिमान् भ्रान्तिमदलङ्कारः । तस्याध्वनने हेतुमाह—कुमुदानामिति । भ्रान्तिस्थापनायाशंक्यते न चेति । समाधीयते—मुत्पदस्येति । 'कस्तूरिका—' इति श्लोके स्मेराननायाः कस्तूरीतिलकालंकृतायाः नायिकायाः सायं सौधशिखरारोहणं निमित्तीकृत्य कुमुदविकासः दिशामुखोल्लासश्च वर्णितः, स च नायिकाननस्य चन्द्राभिन्नत्वमन्तरा न सम्भवति, तस्य चन्द्रायत्तत्वात् अतः तद्वर्णनेन 'नायिकाननम् सकलङ्कः सचन्द्रिकश्च चन्द्रः' इति रूपकम् ध्वन्यते । कुमुदानाम् हरिताम् च नायिकानने चन्द्रभ्रम इति भ्रान्तिमदलङ्कारध्वनिरेवात्र न रूपकध्वनिरिति तु शक्यम्, वक्तुम् अचेतनेषु कुमुदहरित्सु भ्रान्तेरसम्भवात् । अचेतनेष्वपि तेषु चेतनत्वारोपः, [illegible] वक्तुं योग्यम्, मुत्पदस्य विकासे लाक्षणिकत्व [illegible] सम्भवेन चेतनत्वारोपस्यानावश्यकत्वात्, एवञ्चार्थशक्तिमूलकरूपकध्वनेरुदाहरणमिदं पद्यं सम्भवति इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'कस्तूरिका—' इस पद्य में कस्तूरी का तिलक लगाकर प्रसन्नमुखी नायिका के प्रासाद-शिखरारोहण से कुमुदों का विकास और दिशाओं का प्रकाश वर्णित हुआ है, यह वर्णन तब तक संगत नहीं हो सकता जब तक नायिका के मुख को चन्द्र नहीं मान लिया जाय, क्योंकि कुमुदों का विकास और दिशाओं का प्रकाश चन्द्र के ही अधीन है, अतः यहाँ इस वर्णन से 'नायिका का मुख कलङ्क और चाँदनी दोनों से युक्त चन्द्र से अभिन्न है' यह रूपकालङ्कार ध्वनित होता है । कुमुदों और दिशाओं को नायिका के मुख में उस तरह के चन्द्र का भ्रम हुआ, अतः वे विकसित तथा प्रकाशित हो उठे इस अभिप्राय के अनुसार यहाँ 'भ्रान्तिमान्' अलंकार ही ध्वनित होता है, 'रूपकालङ्कार' नहीं—ऐसी बात तो कही नहीं जा सकती, क्योंकि कुमुद आदि अचेतन पदार्थ हैं और अचेतनों में भ्रम (किसी वस्तु का भ्रान्त ज्ञान) हो ही नहीं सकता। आप कहेंगे—अचेतनों में मुद् (हर्ष) भी तो नहीं हो सकता और यहाँ कुमुदों में हर्ष का वर्णन किया गया है, अतः अवश्य ही इन अचेतन पदार्थों में चेतना का आरोप करना पड़ेगा और जब चेतनता का आरोप हो जायगा तब हर्ष के समान भ्रम भी उनमें हो ही सकता है सो यह कहना भी उचित नहीं । कारण, 'मुद्' पद यहाँ 'विकास' अर्थ में लाक्षणिक है, अतः चैतन्य का आरोप आवश्यक नहीं है । फलतः यह पद्य 'अर्थशक्तिमूलक रूपकध्वनि' का उदाहरण होता है ।

उदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

इदं वा विविक्तमुदाहरणम्—

विविक्तमिति। भ्रान्तिमदमिश्रितमित्यर्थः। यत्र भ्रान्तिमदलङ्कारस्य सन्देहोऽपि न भवेत्तादृशं रूपकध्वनेरुदाहरणं निम्ननिर्दिष्टं बोध्यमिति भावः।

उदाहरणान्तर दिखलाने के लिये कहा जाता है—इदं वा इत्यादि। अर्थशक्तिमूलक रूपकध्वनि का विविक्त—अर्थात् जिसमें भ्रान्तिमत्-अलङ्कार-ध्वनि का सन्देह भी नहीं किया जा सकता—उदाहरण इसको—निम्नलिखित पद्य को—समझना चाहिए।

उदाहरणं दर्शयति—

'तिमिरं हरन्ति हरितां पुरः स्थितं तिरयन्ति तापमथ तापशालिनाम्।
वदनत्विषस्तव चकोरलोचने! परिमुद्रयन्ति सरसीरुहश्रियः॥'

हे चकोरलोचने चकोरसमनयने! तव वदनत्विषः मुखकान्तयः, हरितां दिशां, पुरः अग्रे, स्थितम् अवस्थितम्, तिमिरम् अन्धकारम्, हरन्ति नाशयन्ति, अथ अनन्तरम्, तापशालिनाम् तापवताम्, तापं दाहम्, तिरयन्ति दूरीकुर्वन्ति, तथा, सरसीरुहश्रियः कमलशोभाः, परिमुद्रयन्ति मुद्रिताः तिरोहिताः कुर्वन्ति इत्यर्थः।

उदाहरण दिखलाया जाता है—वदन इत्यादि। कवि किसी सुन्दरी की मुखकान्ति का वर्णन करता है—हे चकोरलोचने! तेरे मुख की कान्तियाँ दिशाओं के आगे उपस्थित अन्धकार का हरण करती हैं, संतप्तों के ताप को दूर करती हैं और कमलों की शोभाओं को मुद्रित करती हैं।

उपपादयति—

इहापि वदनं चन्द्र इति गम्यते।

'तिमिरम्—' इति श्लोकेऽपि 'मुखं चन्द्रः' इत्याकारकं रूपकं ध्वन्यते। न चात्र भ्रान्तिमदादेः संशयलेशोऽपि, अत इदं पद्यं सर्वसम्मत्या रूपकध्वनेरुदाहरणतां प्रतिपद्यत इति भावः।

उपपादन किया जाता है—इहापि इत्यादि। 'तिमिरम्—' इस पद्य में भी 'मुख चन्द्र है' इस तरह का रूपक ध्वनित होता है। यहाँ अन्य किसी अलंकार के ध्वनित होने की संभावना ही नहीं है, अतः यह पद्य सर्व-सम्मति से रूपकालंकार-ध्वनि का उदाहरण होता है।

ध्वनिकारोक्तं रूपकध्वनिं निरस्यति—

आनन्दवर्धनाचार्यास्तु—

'प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते विकल्पानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥

अत्र रूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थापनाद्रूपकध्वनिः' इत्याहुः। तच्चिन्त्यम्। अत्र च जलधिकम्पहेतुत्वेन विकल्पत्रयं कल्प्यते। तच्च प्रकृते राजविशेष्यिकां जलधिनिष्ठतामनाहार्यविष्णुतादात्म्यज्ञानरूपां भ्रान्तिमेवाक्षिपति, न रूपकम्। तत्रैवाहार्यविष्णुतादात्म्यनिश्चयस्य कम्पाजनकत्वात्। कल्पितत्वेनाभिमतत्वेन चेर्ष्यादिकरणस्य। अज्ञातस्यैव केवलं विष्णुतादात्म्यं जलधेः कम्पेऽनुपयुक्तमेव। चमत्कारिण्यपि चात्र भ्रान्तिरेवेति ध्वनिरपि तस्या एव युक्तः।

हैं—आनन्द इत्यादि। आनन्दवर्धनाचार्य ने तो अपने ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ में 'प्राप्तश्रीरेष—अर्थात् हे राजन्! आपके समुद्रतट पर आने पर मानो इन विकल्पों को धारण करनेवाले समुद्र का कम्प प्रतीत होता है। वह (समुद्र) सोचता है—इन्हें (विष्णु को) लक्ष्मी मिल चुकी है, फिर ये उस मन्थन—जिसका कटु अनुभव पहले मुझे हो चुका है—का खेद मुझमें क्यों करेंगे? पहले वाली (प्रलयकाल की) इनकी (विष्णु की) निद्रा की भी संभावना नहीं करता, क्योंकि इस समय (पालन के अवसर में) इनके मन में आलस्य नहीं है। पुनः बाँध बाँधने की तैयारी कर रहे हों, पर यह भी क्यों? इस समय तो सब द्वीपों के अधिपति इनके अनुयायी हैं (रावण की तरह द्वीपान्तरवर्ती कोई राजा प्रतिद्वन्द्वी आज नहीं है)। इस पद्य में, रूपक द्वारा ही काव्य की सुन्दरता व्यवस्थित है, अतः रूपक-ध्वनि है' ऐसा कहा है, परन्तु उनका यह कथन विचारणीय है। कारण, इस पद्य में समुद्र के कंप के हेतुरूप में तीन विकल्पों—'मन्थन करने के लिये विष्णु आए हैं' एक, 'सोने के लिये विष्णु आए हैं' दो और 'बाँध बाँधने के लिये रामरूप में अवतीर्ण विष्णु आए हैं' तीन—की कल्पना की जाती है। और वे तीनों विकल्प प्रस्तुत पद्य में, राजा जिसमें विशेष्य है ऐसी—अर्थात् राजा के विषय में होने वाली—और समुद्र में उत्पन्न, आहार्य नहीं, अपि तु सत्य विष्णु-तादात्म्य-(अभेद-) ज्ञानरूप, भ्रान्ति का ही आक्षेप करते हैं, न कि रूपक का, क्योंकि रूपक का जीवनदाता जो विष्णु का आहार्य (बाधित होने पर भी इच्छा से कल्पित) तादात्म्य-(अभेद) निश्चय है वह कंप को उत्पन्न नहीं कर सकता। तात्पर्य यह कि समुद्र को भ्रम हो तभी वह कंपित हो सकता है, अपने आप झूठी कल्पना करके नहीं। आप कहेंगे—'कृपया सुधया सिञ्च—' इस स्थल पर जैसे कृपा में सुधा के आहार्य (अभेद) निश्चय से सेचन कहा गया है उसी तरह यहाँ भी राजा में आहार्य (अभेद) निश्चय से कंप की बात कही जा सकती है तो इसका उत्तर यह है कि—हाँ, उक्त आहार्यनिश्चय और कंप यदि एक ही व्यक्ति में होते तब वैसी बात कही जा सकती थी, पर यहाँ वे दोनों एक में हैं नहीं—अर्थात् उक्त आहार्यनिश्चय हुआ है कवि को और कंप होता है समुद्र में, अतः इस व्यधिकरण (अन्य में रहनेवाले) ज्ञान से अन्य में कंप नहीं हो सकता। आप कहेंगे—समुद्र को राजा में विष्णु-तादात्म्य-ज्ञान भले ही नहीं हो, पर वस्तुतः राजा में वह तादात्म्य अब है तब उससे समुद्र कंपित क्यों नहीं होगा? तो मैं कहूँगा कि महाशय जी! रज्जु में सर्प का तादात्म्य यदि रहे भी तो क्या वह अज्ञातावस्था में भय का कारण होता है? आप भी कहेंगे—नहीं, बस, यही बात यहाँ भी समझिए अर्थात् अज्ञात विष्णु-तादात्म्य समुद्र में कंप उत्पन्न नहीं कर सकता। आप कहेंगे—उक्त आहार्यनिश्चय कवि को है, समुद्र को नहीं, ऐसा आप कैसे कह सकते हैं—जब कि आप विष्णु-तादात्म्य का भ्रम समुद्र में ही मानते हैं, भ्रम भी समुद्र में नहीं मानते, यह तो आप कह नहीं सकते, क्योंकि तब आहार्यनिश्चय वाली आपत्ति इस पद में भी आ जायगी अर्थात् अन्यगत भ्रम से अन्य में कंप नहीं हो सकेगा, अतः भ्रम तो आप को समुद्र में ही मानना है, फिर उक्त आहार्यनिश्चय भी समुद्र में ही क्यों नहीं माना जाय? अन्यथा आहार्यनिश्चय भी समुद्र में ही आप को मानना पड़ेगा और तब उससे कंप की बात भी बन जायगी तथा रूपकध्वनि-कथन भी आनन्दवर्धन का ठीक हो जायगा, तो इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि हाँ, आपके कथनानुसार राजविषयक आहार्य-विष्णु-तादात्म्यनिश्चय भी समुद्र में माना जा सकता है और मेरे कथनानुसार राजविषयक अनाहार्य (विष्णु-तादात्म्य) भ्रम भी समुद्र में माना जा सकता है पर मान्य होना चाहिए उक्त भ्रम ही—क्योंकि उसी में चमत्कार है, उक्त निश्चय में नहीं, और जब चमत्कार भ्रम में ही है तब ध्वनि भी उसी की मान्य होनी चाहिए। वास्तविक बात यह है कि कवि समुद्रगत ज्ञान का ऊह करता है। अब यदि वह समुद्रगत ज्ञान आहार्यनिश्चयरूप

माना जाय तब 'रूपक' ध्वनित होगा और यदि वह ज्ञान अनाहार्य भ्रमरूप माना जाय तब 'भ्रान्तिमान्' ध्वनित होगा। इस स्थिति में ग्रन्थकार का आशय यह है कि वह ज्ञान आहार्यनिश्चयरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि भगवान के आहार्यनिश्चय से समुद्र में कंप नहीं हो सकता—'यह सर्प नहीं है' इस प्रकार का निश्चय रहने पर अपनी इच्छा से रज्जु में सर्प का ज्ञान कर लेने पर भी भय होते नहीं देखा जाता, यदि दुराग्रहवश—आहार्यनिश्चय से समुद्र में कंप का होना मान भी लिया जाय तो वह कंप एक अभिनयमात्र होगा, वास्तविक नहीं, और इस अवस्था में यह कंप की बात सहृदय-हृदयों में चमत्कार नहीं उत्पन्न कर सकती। कारण, इस तरह के आभिनयिक कंप से वर्णनीय राजा का वह उत्कर्ष सिद्ध नहीं होता जो कवि का मुख्य लक्ष्य है, अतः समुद्रगत वह ज्ञान अनाहार्य भ्रमरूप ही माना जायगा, क्योंकि उससे समुद्र में कंप उत्पन्न हो सकता है—रज्जु में सर्प के अनाहार्य भ्रम से भय होते देखा जाता है और इस दशा में समुद्र का वह कंप वास्तविक होगा, अभिनयमात्र नहीं, अतः इस कंप की बात से सहृदय-हृदयों में चमत्कार भी उत्पन्न होगा। कारण, इस तरह के सत्य कंप से वर्णनीय राजा का उत्कर्ष जो कवि का मुख्य उद्देश्य है—सिद्ध होता है। फलतः चमत्कार-प्रयोजक भ्रम ही है, आहार्य-निश्चय नहीं, अतः भ्रान्ति (भ्रान्तिमत्-अलंकार) की ध्वनि ही यहाँ मानी जायगी, रूपक की ध्वनि नहीं।

अथास्य दोषं निरूपयति—

अथास्यापि कविसमयविरुद्धतया चमत्कारापकर्षका लिङ्गभेदादयो दोषाः सम्भवन्ति।

अथेति। रूपकविषयकान्यविचारानन्तरमित्यर्थः। अस्य रूपकस्य। 'दोषाः' इत्यत्रान्वयः। विरुद्धतयेति। चमत्कारापकर्षे हेतुरयम्। भेदादय इति। वचनभेदादय आदिपदग्राह्याः। कविपरम्पराप्राप्तसिद्धान्तविरुद्धा ये लिङ्गभेदादयस्ते रूपकगतं चमत्कारमपकर्षयन्तो रूपकस्य दोषा भवितुमर्हन्तीति भावः।

अब रूपकगत दोष का निरूपण किया जाता है—अथ इत्यादि। कवि-सिद्धान्त से विरुद्ध होने के कारण चमत्कार को न्यून बनाने वाले 'लिङ्गभेद' (उपमान-उपमेय का भिन्न-भिन्न विभक्तिवाले पदों से बोधित होना) आदि दोष रूपक में भी हो सकते हैं।

दोषोदाहरणं दर्शयितुमाह—

यथा—

जैसे।

उदाहरणं दर्शयति—

'बुद्धिरब्धिर्महीपाल ! यशस्ते सुरनिम्नगा।
कृतयस्तु शरत्कालचारुचन्द्रिरचन्द्रिका॥'

हे महीपाल राजन् ! ते, बुद्धिः, अब्धिः समुद्रः, यशः, सुरनिम्नगा गङ्गा, तु पुनः, कृतयः व्यापाराः, शरत्कालस्य, चारोः [illegible] चन्द्रिका ज्योत्स्नेत्यर्थः। अत्रोपमेयभूता बुद्धिः [illegible] समुद्रश्च पुंलिङ्गपदबोध्यः, एवम् उपमेयभूतं यशो नपुंसकलिङ्गशब्दबोध्यम्, उपमानभूता गङ्गा च स्त्रीलिङ्गपदबोध्येति लिङ्गभेदस्योदाहरणद्वयमिदम्। उपमेयभूतास्तावत् बहुवचनान्तपदबोध्या उपमानभूतचन्द्रिका चैकवचनान्तपदबोध्येति वचनभेदस्योदाहरणमिति भावः।

उदाहरण दिखलाया जाता है—बुद्धि इत्यादि। हे राजन् ! आपकी बुद्धि समुद्र है। आपका यश गङ्गा है और कृतियाँ शरद् ऋतु के सुन्दर चन्द्र की चाँदनी हैं। यहाँ प्रथम दो रूपकों में उपमेय क्रमशः बुद्धि तथा यश स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिंग है—और उपमान

क्रमशः समुद्र तथा गंगा पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग है, अतः ये दोनों 'लिङ्गभेद' के उदाहरण हैं। इसी तरह अन्तिम रूपक में उपमेय (कृतियाँ) बहुवचनान्त है और उपमान (चन्द्रिका) है एकवचनान्त, अतः यह 'वचनभेद' का उदाहरण है।

दूषकताबीजमाह—

अत्र विषयविषयिणोर्लिङ्गादिकृतं वैलक्षण्यं तयोस्तादूप्यबुद्धौ प्रतिकूलम्।

उपमानोपमेययोः साम्यमेव तयोस्तादात्म्यज्ञाने कारणं भवति। एवं स्थितौ यत्रोपमानोपमेययोर्लिङ्गादिप्रयुक्तं वैलक्षण्यं (भेदः) भवति तत्र तयोस्तादात्म्यज्ञानं न भवितुं शक्नोतीति दोषत्वम् लिङ्गादिकृतवैलक्षण्यस्येति भावः।

'लिङ्ग-भेद' आदि क्यों दोष है इसमें बीज दिखलाया जाता है—अत्र इत्यादि। यहाँ उपमेय-उपमान में लिङ्गादिक द्वारा की गई विलक्षणता उनके तादूप्य-ज्ञान के प्रतिकूल होती है—उसके कारण तादूप्य समझना बाधित हो जाता है, अतः वह (लिङ्ग आदि-कृत विलक्षणता) रूपक का दोष कहलाता है।

दोषत्वेनाभिमतानामपि लिङ्गभेदादीनां क्वचिददोषतामाह—

क्वचित्कविसमयसिद्धतया चमत्कारहानिराहित्ये तु नामी दोषाः।

अमी लिङ्गभेदादयः। ये लिङ्गभेदादयः कविसिद्धान्तसंगृहीतास्ते चमत्कारहानिं न विदधतीति तादृशा लिङ्गभेदादयोऽदोषा एवेति भावः।

जो लिङ्गभेद आदि दोष माने गए हैं वे भी कहीं-कहीं अदोष हो जाते हैं यही बात अब कही जाती है—क्वचित् इत्यादि। जहाँ कहीं कवि-सिद्धान्त-सिद्ध होने के कारण चमत्कार की हानि नहीं होती हो वहाँ ये (लिङ्गभेद आदि) दोषरूप नहीं होते।

लिङ्गभेदादेरदोषत्वमुदाहर्तुमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

'सन्ताप-शान्तिकारित्वाद्वदनं तव चन्द्रमाः' इत्यादौ हेतुरूपके।

सन्ताप-शान्तिकारित्वात् सन्तापनाशकत्वात् हेतोः, तव, वदनं मुखं, चन्द्रमा इत्यर्थः। इदम् हेतु-रूपकम्, साधारणधर्मस्यारोपहेतुतयोपन्यासात्। अत्र वदनचन्द्रमसोरुपमेयोपमानयोर्भिन्नलिङ्गकत्वोपपत्तावपि न लिङ्गभेदाख्यो दोषः, ईदृशलिङ्गभेदस्य कवि-सिद्धान्त-सिद्धत्वेन चमत्कारानपकर्षकत्वादिति भावः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सन्ताप इत्यादि। 'सन्तापशान्तिकारित्वात्—अर्थात् सन्ताप शामक होने के कारण तेरा मुख चन्द्रमा है।' इत्यादि हेतु-रूपक में यद्यपि उपमेय (मुख) नपुंसकलिङ्ग और उपमान (चन्द्रमा) पुल्लिङ्ग हैं तथापि दोष नहीं, क्योंकि इस तरह का लिङ्गभेद कविसम्प्रदाय-सिद्ध होने के कारण चमत्कार का अपकर्षक नहीं होता।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायां रूपकालङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

रूपकनिरूपणानन्तरं सम्प्रति 'परिणाम'निरूपणं प्रतिजानीते—

अथ परिणामः—

अथेत्ययं शब्दोऽनन्तरत्वे। तथा च रूपकनिरूपणानन्तरमिति तदर्थः। परिणामः तदाख्योऽलङ्कारः। निरूप्यत इति शेषः।

रूपकालङ्कार-निरूपण के बाद अब परिणामालङ्कार-निरूपण की प्रतिज्ञा की जाती है—अथ इत्यादि।

तत्र तावल्लक्षणमाह—

विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण, स परिणामः ।

विषयी उपमानम् । विषयेति । उपमेयेत्यर्थः । एवकारव्यावर्त्यमाह—न स्वातन्त्र्येणेति । स्वस्वरूपेणेत्यर्थः । तत्रेति शेषः । स विषयाभेदः । उपमेयरूपेणोपयुज्यमानमुपमानं परिणामालङ्कार इति भावः ।

परिणाम-निरूपण-प्रसङ्ग में पहले उसका लक्षण किया जाता है—विषयी इत्यादि । जहाँ उपमान उपमेयरूप से ही प्रसङ्गोपयोगी हो, वहाँ वह (उपमान में उपमेय का अभेद) 'परिणाम' होता है ।

रूपक-परिणामयोर्भेदज्ञापनायाह—

अत्र च विषयाभेदो विषयिण्युपयुज्यते । रूपके तु नैवमिति रूपकादस्य भेदः ।

अत्र चेति । परिणामे चेति भावः । नैवमिति । किंतु विपरीतमिति भावः । रूपकादस्य भेद इति । अत्र "वयं तु ब्रूमः—उपमानप्रतियोगिकाभेदो रूपकम् । उपमेयप्रतियोगिकाभेदः परिणामः प्रतीपवत् । तत्राभेदे उपमेयप्रतियोगिकत्वतात्पर्यग्राहकं प्रकृतकार्योपयोगः न तु तच्छरीरेऽस्य प्रवेशः । एवं च यत्रोपमानस्य स्वात्मनैव प्रकृतकार्योपयोगो यत्र चोदासीनता तत्र रूपकमेव । एवं च परिणामो विशेषणसमासायत्तः रूपकं मयूरव्यंसकादिसमासायत्तम् । मुखचन्द्र इत्यादौ यदि तु चन्द्रमुखमिति प्रयुज्यते तदा विशेषणसमासायत्तमपि रूपकमिति । परे तु 'उपमानोपमेयपदानामुपमानप्रतियोगिकाभेदसंसर्गेण बोधकानां 'मयूरव्यंसकादयश्च' इति समासेन विशेषणसमासबाधाच्चन्द्रमुखमिति प्रयोग एव न इत्याहुः ।" इति नागेशः । रूपकपरिणामयोरुभयोरपि उपमानोपमेययोरभेदो यद्यपि समानः, तथापि परिणामे उपमेयप्रतियोगिकाभेद उपमाने प्रतीयमानः प्रकृतकार्ये उपयोगं भजति, रूपके तु उपमानप्रतियोगिकाभेदः उपमेये प्रतीयमानः प्रकृतकार्ये उपयोगं भजतीति तयोर्भेद इति भावः ।

रूपक और परिणाम में जो परस्पर भेद है उसका ज्ञान कराने के लिये कहा जाता है—अत्र इत्यादि । परिणाम में उपमेय का अभेद उपमान में प्रतीत होकर प्रकृतोपयोगी होता है—अर्थात् उपमान को उपमेय से अभिन्न समझ लेने पर ही प्रस्तुत वाक्यार्थ संगत होता है । पर रूपक में ऐसा नहीं होता, किन्तु उपमान का अभेद उपमेय में प्रतीत होकर प्रकृतोपयोगी होता है—अर्थात् उपमेय को उपमान से अभिन्न समझने पर प्रस्तुत वाक्यार्थ संगत होता है । यही इन दोनों में परस्पर भेद है । 'रूपकादस्य भेदः' इस मूल-प्रतीक पर नागेश कहते हैं कि—"उपमान जिसका प्रतियोगी हो ऐसा अभेद—अर्थात् उपमान का अभेद—रूपक है और उपमेय जिसका प्रतियोगी हो ऐसा अभेद—अर्थात् उपमेय का अभेद—परिणाम है, जैसे—प्रतीप । 'इस अभेद का प्रतियोगी उपमेय है' इस वक्तृ-तात्पर्य का ज्ञापक होता है उसी तरह के अभेद का प्रकृत-कार्योपयुक्त होना । अतः परिणाम के लक्षण में प्रकृतोपयोगवाली बात का निवेश अनावश्यक है । इस तरह से जहाँ उपमान अपने रूप में ही प्रकृत कार्य में उपयुक्त होता हो अथवा उदासीन हो—अर्थात् प्रकृत कार्य में उसका (उपमान का) उपयोग होता ही नहीं हो वहाँ रूपक ही होगा । फलतः 'परिणाम' विशेषणसमास ('विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' से समास) के अधीन है और रूपक मयूरव्यंसकादिसमास ('मयूरव्यंसकादयश्च' से समास) के अधीन है । 'मुख-चन्द्र' की जगह पर यदि 'चन्द्र मुख' का

प्रयोग किया जाय तब विशेषण समासाधीन भी रूपक ही होगा, कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि उपमान जिसका प्रतियोगी हो वैसे अभेदसम्बन्ध से विशेषण-विशेष्यभाव का बोधक उपमानोपमेयवाचक पदों में मयूरव्यंसकादिसमास विशेषणसमास का बाधक हो जायगा, अतः चन्द्र-मुख ऐसा प्रयोग ही नहीं हो सकता।"

उदाहरणं प्रदर्शयितुमाह—

अयमुदाह्रियते—

अयम् परिणामालङ्कारः।

परिणामालङ्कार का उदाहरण दिया जाता है।

उदाहरणं निर्दिशति—

'अपारे संसारे विषमविषयारण्यसरणौ
मम भ्रामं भ्रामं विगलितविरामं जडमतेः।
परिश्रान्तस्यायं तरणितनयातीरनिलयः
समन्तात् सन्तापं हरिनवतमालस्तिरयतु ॥'

भक्तः प्रार्थयते—तरणितनयायाः यमुनायाः, तीरे तटे, निलय आवासो यस्यासौ, अयम् प्रत्यक्षवत् प्रतीयमानः, हरिनवतमालः हरिरूपो नवीनस्तमालतरुः, अपारे असीम्नि, संसारे जगति, विषमाः दुःखकरा इति यावत्, ये विषयाः भोग्यवस्तूनि स्रक्चन्दनवनितादीनि, तद्रूपे अरण्यसरणौ वनमार्गे, विगलितः निरस्तः, विरामः विश्रमः यस्मिन्कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा, भ्रामं-भ्रामं भ्रान्त्वा-भ्रान्त्वा, परिश्रान्तस्य क्लान्तस्य, जडमतेः शिथिलबुद्धेः, मम, सन्तापम् क्लेशविशेषम्, समन्तात् सर्वतोभावेन, तिरयतु निवर्तयत्वित्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अपारे इत्यादि। भक्त प्रार्थना करता है—अपार संसार में, विषम विषयरूप जङ्गली रास्ते पर अविरामगति से घूम-घूमकर श्रान्त बने मुझ जडबुद्धि के सन्ताप को यमुना-तटवासी हरिरूप तमाल-तरु सब तरह से शान्त करें।

उपपादयति—

अत्र भगवदात्मतयैव तमालस्य संसारतापनिवर्तनक्षमत्वम्। मार्गश्रान्तजनसन्तापहारकत्वाद्रमणीकशोभाधारत्वाच्च तमालो विषयितयोपात्तः। अयं समानाधिकरणो वाक्यगः।

'अपारे—' इति पद्ये हरिरुपमेयभूतः तमालश्चोपमानभूतः, तत्रोपमानाभेद उपमेये कविविवक्षितः प्रतीयते, भगवदभिन्नतयैव तमालस्य पथोपक्लेशसंसारतापशमनसमर्थत्वात्, तथा च प्राक्लक्षणलक्षितः परिणामालङ्कारोऽत्र स्पष्टः। ननु हरेरेवोपमानत्वेन रूपकमेवास्त्विति चेन्न, मार्गश्रमशान्तजनसन्तापापहारकत्वस्य शोभाविशेषशालित्वस्य च तमाल एव सत्त्वेन तस्यैवोपमानतयोपादानात्। अयं च परिणामः समानाधिकरणः, उपमेयोपमानयोर्हरितमालयोः समानविभक्तिकपदजन्योपस्थितिमत्त्वात् (अत्र यद्यपि हरिनवतमालः इति समस्तं पदम्, अतो उपमेयोपमानयोः पृथग् विभक्तिश्रवणम्, तथापि लुप्तविभक्त्यनुसंधानेन समानविभक्तिकत्वं बोध्यम्)। वाक्यगश्चायं परिणामः, प्रकृतकार्योपयोगित्वपर्यन्तस्य परिणामशरीरत्वेन कार्यबोधक'तिरयतु'पदस्य समासाघटकत्वात्। क्वचित्तु 'हरिरिह तमालः' इति पाठः। तथापाठे प्रकृतकार्योपयोगित्वस्य परिणामशरीरेऽप्रवेशेऽपि वाक्यगत्वं स्पष्टमेवेति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'अपारे—' इस पद्य में हरि (भगवान्) उपमेय हैं और तमाल है उपमान, जिन दोनों में परस्पर अभेदारोप किया गया है, पर

उस अभेद का प्रतियोगी उपमेय (हरि) को ही माना जायगा अर्थात् 'हरि का अभेद तमाल में है' ऐसा ही समझा जायगा, क्योंकि तमाल, संसारताप को, भगवद्रूप होने पर ही निवृत्त कर सकता है। तात्पर्य यह कि भगवान् को तमालरूप समझने पर संसार-ताप-निवर्तकता उसमें सिद्ध नहीं हो सकती। हरि को ही उपमान मानकर 'रूपक' ही यहाँ क्यों नहीं माना जाय? ऐसी बात तो कही नहीं जा सकती क्योंकि मार्ग से थके मनुष्यों के सन्ताप को निवृत्त करने की शक्ति तमाल में ही है और रमणीय शोभा का आधार भी वही (तमाल) है, अतः उपमानरूप से उसी का उपादान किया जाना उचित है। यह परिणाम समानाधिकरण कहलाता है क्योंकि यहाँ के उपमेय तथा उपमान एकविभक्ति वाले हैं (यद्यपि 'हरिनवतमाल' समस्त पद है, तथापि 'हरिः तमालः' इस विग्रहावस्था की विभक्तियों को लेकर उन दोनों को एकविभक्ति वाला समझा जाता है)। साथ-साथ यह परिणाम वाक्यगत कहलाता है, क्योंकि रसगङ्गाधरकार के हिसाब से 'प्रकृतकार्य में उपयुक्त होना' भी परिणामालङ्कार के शरीर-लक्षण में प्रविष्ट है और कार्य है यहाँ 'निवृत्त करना' जिसका बोधक 'तिरयतु' पद समास के अन्तर्गत नहीं है। कोई-कोई यहाँ 'हरिनवतमालः' की जगह पर 'हरिरिह तमालः' पाठ मानते हैं—तदनुसार 'प्रकृतकार्योपयोग' को लक्षणघटक नहीं मानने पर भी इस परिणाम का वाक्यगतत्व स्पष्ट है।

समासगतं समानाधिकरणं परिणाममुदाहर्तुमाह—

समासगो यथा—

समासगतः समानाधिकरणः परिणामालङ्कारो यथेति भावः।

समासगत समानाधिकरण परिणामालङ्कार जैसे—

उदाहरणं दर्शयति—

'महर्षेर्व्यासपुत्रस्य श्रावं श्रावं वचःसुधाम्।
उप(अभि)मन्युसुतो राजा परां मुदमवाप्तवान्॥'

उपमन्योः अभिमन्योर्वा सुतः पुत्रः (कश्चिदज्ञातनामा परीक्षितो वा), व्यासपुत्रस्य, महर्षेः शुकदेवस्य, वचःसुधाम् वचनामृतम्, श्रावं श्रावम् श्रुत्वा-श्रुत्वा पराम् अतिशयिताम्, मुदम् हर्षम्, अवाप्तवान् लब्धवानित्यर्थः। अत्रापि सुधायाः उपमाने वचनस्योपमेयस्याभेदारोपः श्रवणरूपे प्रकृतकार्ये उपयोगित्वात्परिणामः। वचनस्योपमाने सुधायामभेदारोपे तु वचनस्यापि सुधात्वात् श्रवणं न सम्भवति, अपि तु पानमेव स्यात्। स चायं परिणामः पूर्वोदाहरणोक्तवत् समानाधिकरणः समासगतश्च 'श्राव्यं श्रावं' इति व्यस्तम्, मयूरव्यंसकादित्वात् समासेन 'श्रावं श्रावं वचःसुधाम्' इत्यस्य समस्तैकपदत्वात्। इदं तु बोध्यम्—यदुक्तः समासगतत्वसाधनप्रकारः प्रकृतकार्योपयोगित्वपर्यन्तस्य परिणामशरीरत्वमिति ग्रन्थकृदभिमतं पक्षमादाय; तावत्पर्यन्तस्य परिणामशरीरत्वानङ्गीकारे तु 'वचःसुधाम्' इत्येतावत्समस्तपदमादायापि परिणामस्य समासगतत्वे सिद्धे 'श्रावं श्रावम्' इति पृथगसमस्तमेवास्तु तावतापि न क्षतिरिति।

उदाहरण दिखलाया जाता है—महर्षेः इत्यादि। उपमन्यु के पुत्र किसी राजा ने अथवा अभिमन्यु के पुत्र-राजा परीक्षित ने व्यास जी के पुत्र महर्षि शुकदेव जी के वचनामृत सुन-सुनकर परम आनन्द प्राप्त किया। यहाँ भी उपमानरूप अमृत में आरोपित उपमेयरूप वचन का श्रवणरूप प्रकृत कार्य में उपयोग हो रहा है—अर्थात् अमृत भी वचनरूप बनकर ही 'श्रवण' का कर्म हो सकता है, अन्यथा (अमृत अपने रूप में) 'श्रवण' का नहीं, 'पान' का कर्म हो सकता है—अतः यह भी परिणाम है और पूर्वोक्त

उदाहरण की व्याख्या में प्रतिपादित युक्ति से समानाधिकरण कहलाने योग्य यह परिणाम समासगत कहलाता है, क्योंकि 'श्रावं-श्रावं वचःसुधाम्' यह एक समस्त पद है। समास यहाँ 'मयूरव्यंसकादित्वात्' 'स्नात्वा कालकः' की तरह हुआ है। यहाँ के परिणामालंकार को समासगत बनाने की यह प्रणाली इसलिये अपनाई जाती है कि—'प्रकृत कार्य में उपयुक्त होना' भी 'परिणाम' के लक्षण में प्रविष्ट है और तदनुसार 'श्रावं श्रावम्' इस कार्यबोधक पद को भी समास के भीतर ले आने पर ही समासगत 'परिणाम' कहा जा सकता है। यदि 'प्रकृतकार्योपयोग' को परिणाम (शरीर) प्रविष्ट नहीं मानें तब तो 'वचःसुधाम्' इतने भर के समस्त होने से ही यह 'समासगत परिणाम' माना जा सकता है, अतः 'श्रावं श्रावम्' को पृथक् असमस्त पद मानने पर भी कोई क्षति नहीं।

व्यधिकरणं परिणाममुदाहर्तुमाह—

व्यधिकरणो यथा—

व्यधिकरण इति। भिन्नविभक्तिकपदबोध्योपमानोपमेयक इति भावः।

व्यधिकरण (भिन्न विभक्ति वाला) परिणाम जैसे—

उदाहरणं समुपस्थापयति—

> 'अहीनचन्द्रा लसताऽऽननेन ज्योत्स्नावती चापि शुचिस्मितेन।
> एषा हि योषा सितपक्षदोषा तोषाय केषां न महीतले स्यात् ॥'

लसता शोभमानेन, आननेन मुखेन, अहीनचन्द्रा पूर्णचन्द्रा (मुखरूपपूर्णेन्दुयुक्तेति यावत्) अपि पुनः, शुचिस्मितेन शुद्धेषद्धासेन, ज्योत्स्नावती प्रकाशवती (शुचिस्मितरूपज्योत्स्नायुक्ता) च, अतः सितपक्षदोषा शुक्लपक्षयामिनी (तद्रूपेति यावत्) एषा वर्णनीया, योषा रमणी, महीतले पृथिव्याम्, केषां, तोषाय तृप्तये, न स्यात्? अपि तु सर्वेषां तोषाय स्यादित्यर्थः।

उदाहरण दिखलाया जाता है—अहीन इत्यादि। शोभित होनेवाले मुख के द्वारा पूर्ण चन्द्र वाली और शुद्ध ईषद्धास-द्वारा चाँदनी वाली यह शुक्लपक्ष की रात्रिरूपा रमणी पृथिवीतल पर किसके संतोष (तृप्ति) के लिये नहीं होगी? अर्थात् सभी इससे सन्तुष्ट होंगे।

उपपादयति—

अत्र सर्वेषामेव तोषाय स्यादित्यनेन विरहिजनतोषजनकत्वमपि लभ्यते। तच्चारोप्यमाणशुक्लपक्षरजन्याः स्वात्मना बाधितम्, योषारूपेण तु सङ्गच्छत इति भवति परिणामः। स च परस्परसापेक्षावयवसङ्घातात्मकतया सावयवः। तत्राद्यार्धगतौ अवयवौ व्यधिकरणौ द्वितीयार्धगतश्चैकः समानाधिकरणः।

अत्र सर्वेषामिति। कालकृतभेदः। एवम् प्रकृतपद्यपदकी नत् कालामिति सिद्धम्। आरोप्यमाणेति। उपमानेत्यर्थः। अत्र 'योषायाम्' इत्यादिर्बोध्यः। स्वात्मनेति। रजनीरूपेणेत्यर्थः। बाधितमिति। तस्या उद्दीपकत्वेन विरहिजनतापजनकत्वादिति भावः। ननु समानाधिकरण एवायमिति कुतः विपरीतप्रतिज्ञा अत आह—स चेति। प्रकृतपद्यगतः परिणामश्चेति तदर्थः। सावयव इति। साङ्ग इत्यर्थः। तत्र सावयवे परिणामे। 'अहीनचन्द्रा—' इत्यत्र 'तत्तद्विशेषणविशिष्टा एषा योषा केषां तोषाय न स्यात्' इति काकुवाक्यतो लब्धेन 'सर्वेषामेव तोषाय एषा स्यात्' इत्यर्थेन सर्वपदार्थान्तर्गतविरहिजनतोषायापि स्यात् इत्यवगम्यते। परन्तु तत् विरहिजनतोषकत्वम् उपमेयभूतायाम् योषायाम् उपमानभूतायाः शुक्लपक्षरात्रेरारोपे न संगतम्, आरोप्यमाणपदार्थस्यैव प्राधान्ये योषाया अपि रात्रिरूपत्वात्तस्या विरहोद्दीपकत्वेनासंतोषस्यैव सम्पत्तेः, अत उपमानभूतायां रात्रौ उपमेयभूताया योषाया आरोपोऽत्र स्वीकार्यः, तथा च रात्रेरपि योषारूपत्वे सिद्धे विरहि-

णामपि संतोषकत्वं संगतं भवति, स्त्रीसान्निध्यस्य विरहविनाशकत्वात् । एवञ्च विषयात्मतया विषयिणः प्रकृतोपयोगेनात्र परिणामः सिद्धयति । अयं च परिणामः साङ्गः । परस्परसापेक्षानेकपरिणामसमूहात्मकत्वात् । तत्र प्रथमार्धगतौ 'मुखेन पूर्णचन्द्रा' 'स्मितेन ज्योत्स्नावती' इत्याकारकौ ह्यवयभूतौ परिणामौ व्यधिकरणौ, उपमेयोपमानयोः भिन्नविभक्तिकपदजन्योपस्थितिकत्वात् । उत्तरार्धगतश्च 'सितपक्षदोषा योषा' इत्याकारकोऽङ्गभूतः परिणामः समानाधिकरणः उक्तयुक्तेरिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'अहीनचन्द्रा—' इस पद्य में 'केषां तोषाय न स्यात् ?' इस काकु से यह विदित होता है कि—सबों के संतोष के लिये होगी और इस 'सबों' के अन्दर विरहीजन भी आ जाते हैं, अतः यह सिद्ध हुआ कि—शुक्लपक्ष की रात्रिरूपा यह रमणी विरहियों के लिये भी संतोषजनक है । अब हम सोचें कि आरोपित होने वाली—अर्थात् उपमानरूप यह शुक्लपक्ष की रात्रि क्या अपने रूप में विरहियों के लिये संतोष-जनक हो सकती है ? कभी नहीं, क्योंकि चाँदनी रात विरहियों के उत्ताप को ही बढ़ाती है, अतः यह मानना पड़ेगा कि रमणीरूप में ही यहाँ उक्त रात्रि को सकलजन-सन्तोषकर कहा गया है, ठीक भी है, नायिका का सान्निध्य विरहियों के लिये भी सन्तोष-कर होता है । फलतः विदित है कि यहाँ उपमान उपमेय के रूप में प्रकृतकार्योपयोगी हो रहा है, अतः यह भी परिणामालंकार का उदाहरण है । परन्तु यह भी समझना चाहिए कि यहाँ एक नहीं अनेक परिणाम हैं । जैसे 'मुख द्वारा चन्द्रवाली' यह एक, 'ईषद् हास द्वारा चाँदनी वाली' यह दूसरा और—'शुक्ल पक्ष की रात रमणी' यह तीसरा । इन तीनों में प्रथम दो परिणाम व्यधिकरण हैं, क्योंकि उपमेय (मुख तथा स्मित) की उपस्थिति तृतीयान्त पदों के द्वारा और उपमान (चन्द्र तथा ज्योत्स्ना) की उपस्थिति प्रथमान्त पदों के द्वारा हुई है । इन्हीं दोनों परिणामों को लेकर यह पद्य व्यधिकरण परिणाम के उदाहरणरूप में उपस्थित किया गया है । अन्तिम परिणाम तो समानाधिकरण ही है, क्योंकि उस अंश में उपमेय (नायिका) और उपमान (शुक्लपक्ष की रात्रि) दोनों की उपस्थिति प्रथमान्त पदों से ही हुई है । इस तरह यहाँ परस्परसापेक्ष इन परिणामों का समूह सावयव (साङ्ग) परिणाम कहा जायगा ।

निरसनीयमप्पयदीक्षितमतमुत्थापयति—

यच्चाप्पयदीक्षितैर्वैयधिकरण्येन परिणामे उदाहृतम्—

'तारानायकशेखराय जगदाधाराय धाराधर-
च्छायाधारककन्धराय गिरिजासङ्गैकशृङ्गारिणे ।
नद्या शेखरिणे दृशा तिलकिने नारायणेनास्त्रिणे
नागैः कङ्कणिने नगेन गृहिणे नाथाय सेयं नतिः ॥'

यथा वा—

'द्विर्भावः पुष्पकेतोर्विबुधविटपिनां पौनरुक्त्यं विकल्प-
श्चिन्तारत्नस्य वीप्सा तपनतनुभुवो वासवस्य द्विरुक्तिः ।
द्वैतं पैत्रस्य दैत्याधिपमथनकलाकौशिकारस्य कुर्व-
न्नानन्दं कोविदानां जगति विजयते श्रीनृसिंहक्षितीन्द्रः ॥' इति ।

भक्तो भगवन्तं भूतनाथं नौति—तारानायकेति । तारानायकः चन्द्रः शेखरः शिरोभूषणं यस्य तस्मै, जगतः संसारस्य, आधाराय अधिष्ठानाय, धाराधरस्य मेघस्य, छायायाः कान्तेः, धारिका धारयित्री, कन्धरा ग्रीवा यस्य तस्मै, नीलकण्ठायेति यावत्, गिरिजायाः पार्वत्याः, सङ्गः सहवासः, एव एकः शृङ्गारः तद्वते गिरिजासङ्गैकशृङ्गारवते इति यावत्,

नद्या गङ्गया, शेखरिणे शिरोभूषणवते गङ्गात्मकशिरोभूषाविशिष्टायेति यावत्, दृशा तृतीयनयनेन, तिलकिने तिलकयुक्ताय तृतीयनेत्रमेव तिलककार्यं यत्र कुरुते तादृशायेति यावत्, नारायणेन विष्णुना, अस्त्रिणे अस्त्रवते नारायणात्मकास्त्रयुक्तायेति यावत्, नागैः सर्पैः, कङ्कणिने वलयवते नागरूपकङ्कणविशिष्टायेति यावत्, नगेन पर्वतेन कैलासेनेति यावत्, गृहिणे गृहवते, पर्वतात्मकगृहवासिने इति यावत्, नाथाय अस्माकं स्वामिने, सा सकलमनोरथपूरकतया प्रसिद्धा, इयम् इदानीं मया विधीयमाना, नतिः नमस्कारः, अस्त्वित्यर्थः। कविः राजानं स्तौति—द्विर्भाव इति। पुष्पकेतोः कामदेवस्य, द्विर्भावः द्विरावृत्तिः (द्वितीयः कामदेव इति सरलार्थः), विबुधविटपिनाम् देवतरूणाम् मन्दारादीनामिति यावत्, पौनरुक्त्यम् पुनरुक्तिः (द्वितीयो देवतरुरिति सरलार्थः), चिन्तारत्नस्य चिन्तामणेः, विकल्पः अपरपक्षः (द्वितीयश्चिन्तामणिरिति सरलार्थः), तपनतनुभुवः सूर्यतनूजस्य कर्णस्येति यावत्, वीप्सा द्विर्भावः (द्वितीयः कर्ण इति सरलार्थः), वासवस्य इन्द्रस्य, द्विरुक्तिः पुनरुक्तिः (द्वितीय इन्द्र इति सरलार्थः), दैत्याधिपानाम् दैत्यराजानां हिरण्यकशिप्वादीनाम् शामनकला दलनलीला तत्र केलिकारस्य क्रीडाकरस्य—दैत्यगणनाशकस्येति यावत्, देवस्य विष्णोः, द्वैतम् द्वितीयता (द्वितीयो विष्णुरिति सरलार्थः), श्रीनृसिंहक्षितीन्द्रः श्रीनृसिंहनामा नरेशः, कोविदानाम् विदुषाम्, आनन्दम् हर्षविशेषम्, कुर्वन् जनयन् सन्, जगति संसारे, विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यर्थः। इदं पद्ययुगलं व्यधिकरणपरिणामालङ्कारो[illegible] चित्रमीमांसायामप्पयदीक्षितेनोल्लिखितम्।

अब अप्पयदीक्षित का खण्डनीय मत उपस्थित किया जाता है—यद्यपि। अप्पयदीक्षित ने व्यधिकरण परिणामालंकार के उदाहरणरूप से, अपनी चित्रमीमांसा में 'तारानायकशेखराय—' और 'द्विर्भावः पुष्पकेतोः—' ये दोनों पद्य उपस्थित किये हैं। इन दोनों पद्यों के अर्थ क्रमशः निम्नलिखितरूप से होते हैं—'चन्द्र जिनका शिरोभूषण है, जो जगत् के आधार हैं, जिनका कण्ठ मेघ की कान्ति को धारण करता है, और पार्वती के साथ ही जिनका एक शृङ्गार है ऐसे नदी (गङ्गा) द्वारा शिरोभूषावाले, ललाटचक्षु द्वारा तिलक वाले, नारायण द्वारा अस्त्र वाले, सर्पों द्वारा कङ्कण वाले और पर्वत (कैलास) द्वारा घर वाले (हमारे) स्वामी (शिव) के लिये सकलमनोरथपूरकरूप में प्रसिद्ध यह नमस्कार है।' (यह प्रथम पद्य भक्त की उक्ति है।) 'जो, कामदेव का दुहराना है—अर्थात् दूसरा कामदेव है, कल्पवृक्षों की पुनरुक्ति है—अर्थात् दूसरा कल्पवृक्ष है, चिन्तामणि का विकल्प है—अर्थात् दूसरा चिन्तामणि है, राजा कर्ण का बार बार कथन है—अर्थात् दूसरा कर्ण है, इन्द्र की दुबारा उक्ति है—अर्थात् दूसरा इन्द्र है और दैत्याधिपों के विनाश की लीला करने वाले देव विष्णु का द्वैत है अर्थात् दूसरा रूप है वह श्री नृसिंहनामा नरेश, विद्वानों के आनन्द को उत्पन्न करता हुआ, संसार में सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त कर रहा है।' (यह दूसरा पद्य राजस्तुति में कवि के द्वारा कहा गया है।)

प्रागुक्तं दीक्षितमतं निरस्यति—

अत्र चिन्त्यते—तारानायकशेखरायेति पद्ये गिरिजासङ्गैकशृङ्गारिणे भवे कविकर्तृका नतिः प्रक्रान्ता। शृङ्गारिता च शेखरादीनि भूषणान्यपेक्ष्य इति नद्या आरोप्यमाणशेखररूपतयैवोपयोगः न स्वरूपेण। एवं दृशोऽपि तिलकरूपतयेति रूपकमेव शुद्धं भवितुमर्हति। ननु परिणामे विषयाभिन्नतया विषयव्यवस्थितत्वमित्युक्तम्, प्रकृते च विषयवाचकेभ्यो नद्यादिशब्देभ्यः परस्यास्तृतीयाया अभेदार्थकत्वाच्छेखरादेश्च तदन्वयित्वात्कथं नात्र परिणाम इति चेत्, न।

राज्ञः कोविदानन्दजनकत्वजगदुत्कर्षयोर्मध्ये कोविदानन्दजनकत्वांशे प्रकृतपद्योपमानभूतानां कामदेव-कल्पतरु-चिन्तामणि-कर्णेन्द्र-विष्णूनाम् स्वरूपेणैवोपयोगः न तु राजात्मकोपमेयरूपेण, यतः 'कामदेवोऽस्मामिर्दृष्टः' 'धरातलावतीर्णः कल्पतरुः, कर्णः, इन्द्रो वाऽयमस्माकं दारिद्र्यं दूरीकरिष्यति' 'विष्णुरयं नः संसारयात्रां समापयिष्यति' इत्याकारकाणां ज्ञानानामेवानन्दहेतुत्वम्। तथा चोपमेयरूपेणोपमानोपयोगाभावादत्र न परिणामप्रसङ्गः, अपि तु स्वस्वरूपेणोपमानोपयोगसत्त्वाद्रूपकप्रसक्तिरेव। इत्थं च दीक्षितमतं न युक्तमिति भावः। अत्र "उक्तप्रधानपरिणामप्रकरणे 'इदं वैयधिकरण्यं रूपकेऽपि दृश्यते' इत्युक्त्वा तारानायकशेखरायेत्याद्युदाहृतम् तत्र को दोषः ?। किं च नद्या शेखरिणे इत्यंशे विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगाभावात्परिणामाभावेऽपि वाच्यमार्थं वा रूपकमपि न वाच्यम्। उपमानप्रतियोगिकाभेदस्योपयोगेऽभानात्। किं च शृङ्गारितोपपादकं शेखरादीत्यप्ययुक्तमेव। नारायणेनाशिरो इत्यस्य तदुपपादकत्वाभावात्। किं तु नमस्यतासम्पादकशिवनिष्ठोत्कर्षबोधकानीमानि विशेषणानि। तदुपपादकता च शेखरस्य नदीतादात्म्यापत्त्येति परिणाम एवायम्, शेखरस्य नीचजनसाधारणत्वात्। इत एवास्वरसात् द्विर्भावः पुष्पकेतोरिति पद्यान्तरमुदाहृतं तैः। तस्मात् 'यच्च' इत्यादि 'कुत्रास्ति परिणामः' इत्यन्तं चिन्त्यमिति बोध्यम्।" इति नागेशः।

उक्त दीक्षितमत का खण्डन किया जाता है—अत्र चिन्त्यते इत्यादि। 'तारानायकशेखराय—' इस पद्य में पार्वतीसङ्ग के कारण शृङ्गारी शिव के प्रति कवि द्वारा किया जानेवाला नमस्कार प्रस्तुत अर्थ है। और शृङ्गारी होने के लिये शिरोभूषण आदि आभरणों की अपेक्षा है, क्योंकि उनके बिना शृङ्गारी होना सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में यहाँ आरोपित किए जानेवाले—अर्थात् उपमानभूत पदार्थ—शिरोभूषण, तिलक आदि के रूप में ही नदी, नेत्र आदि उपमेयों का उपयोग सिद्ध होता है; अतः यहाँ शुद्ध रूपक ही होना चाहिए, परिणाम नहीं। 'परिणाम में उपमान उपमेय से अभिन्न होकर रहता है' यह कहा जा चुका है। और प्रस्तुत पद्य में उपमेयवाचक नदी आदि शब्दों के आगे की तृतीया विभक्ति का अर्थ अभेद है और उस अभेद के साथ 'शिरोभूषण' आदि का अन्वय होता है। अतः 'नदीद्वारा शिरोभूषणवाले' का अर्थ होगा 'नदी से अभिन्न शिरोभूषणवाले—अर्थात् नदीरूप शिरोभूषणवाले'। ऐसी अवस्था में नदी का अभेद शिरोभूषण में होता है, न कि शिरोभूषण का अभेद नदी में। फिर यहाँ परिणाम कैसे नहीं ?' यह शङ्का तो की नहीं जा सकती, क्योंकि उक्त रीति से प्रकृत पद्य में उपमेय से अभिन्न उपमान (नदीरूप शिरोभूषण) की प्रतीति अवश्य होती है—इसमें किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं, पर प्रकृतकार्य—शृङ्गार—में उसका (शिरोभूषणरूप उपमान का) उपयोग उस रूप में (उपमेय नदीरूप में) नहीं होता, अपितु अपने आपके रूप में ही। तात्पर्य यह कि—परिणाम-लक्षण में दो बातें कही गई हैं—एक उपमेय से अभिन्नरूप में उपमान का प्रतीत होना और दूसरी उपमेय रूप में ही उपमान का प्रकृत-कार्योपयोगी होना, इन दोनों बातों में से प्रथम बात यहाँ अवश्य सङ्घटित होती है, पर दूसरी बात नहीं, अतः परिणाम का यह लक्ष्य नहीं हो सकता। आप कहेंगे—जब आप भी यहाँ उपमेय का ही अभेद उपमान में मानते हैं, तब रूपक भी कैसे होगा ? क्योंकि रूपक में उपमान का अभेद उपमेय में भासित होता है, तो इसका उत्तर रूपकप्रकरण की बात का स्मरण करके समझ लीजिये—अर्थात् ऐसी जगहों पर भी अभेद का प्रतियोगी उपमान को ही माना जाता है, अतः रूपक होने में कोई बाधा नहीं। 'द्विर्भावः पुष्पकेतोः—' इस पद्य में भी राजा नृसिंह के विषय में 'विद्वानों के आनन्द को उत्पन्न करना' और 'जगत् में उत्कृष्ट होना' ये दो बातें कही जा रही हैं। उनमें से राजा का 'विद्वानों के लिये

आनन्दजनक होगा' भी जिस तरह आरोपित किए जानेवाले दूसरे कामदेव आदि के रूप में बन सकता है उस तरह केवल अपने रूप में नहीं। समझिए—'ओह! हमारे नेत्रों की सफलता, कि—इस दूसरे कामदेव को हम देख रहे हैं' ऐसा माननेवाले विद्वानों के नेत्रों के लिये आनन्द 'कामदेव' द्वारा ही सिद्ध किया जा रहा है, न कि राजा द्वारा। इसी तरह यह दूसरा कल्पवृक्ष और चिन्तामणि है, दूसरा कर्ण है और पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ है—यह हमारी दरिद्रता का हरण करेगा। यह विष्णु भगवान् है, अतः हमारी संसारबाधा को निवृत्त कर देगा—इस अभिमान से उत्पन्न होनेवाला आनन्द भी 'कल्पवृक्ष' आदि के द्वारा ही बन सकता है, राजाद्वारा नहीं। अतः यहाँ उपमान का उपयोग उपमेयरूप में नहीं है, किन्तु उपमानरूप में ही है। फिर यहाँ परिणाम कहाँ है? अर्थात् रूपक ही है। सारांश यह हुआ कि दीक्षित जी ने जो उक्त दोनों पद्यों को व्यधिकरण परिणाम के उदाहरण बतलाया, वह असङ्गत ही है। वस्तुतः ऐसी बात है नहीं—अर्थात् दीक्षित जी ने परिणाम के उदाहरणरूप में इन पद्यों को उपस्थित नहीं किया है, किन्तु यह कहा है कि—"इस तरह का वैयधिकरण्य जैसा परिणाम में होता है—रूपक में भी हो सकता है। जैसे—'तारानायक—' और 'द्विभवि:—' इन दोनों पद्यों में।" देखिए—उनकी चित्रमीमांसा के परिणामप्रकरण को। नागेश भी अपनी टीका में यहीं लिखते हैं कि—"परिणामप्रकरण में 'यह वैयधिकरण्य रूपक में भी दीख पड़ता है' ऐसा कहकर दीक्षित जी ने 'तारानायकशेखराय—' इत्यादि उदाहरण दिए हैं। उसमें क्या दोष हुआ? और 'नदी द्वारा शिरोभूषणवाले' इस अंश में उपमेयरूप से उपमान का प्रकृतकार्य में उपयोग नहीं होता, अतः परिणाम भले ही न हो, पर वाच्य अथवा आर्थ रूपक भी तो नहीं हो सकता, क्योंकि उपमान प्रतियोगिक—अर्थात् उपमान का अभेद उपमेय में यहाँ प्रतीत नहीं होता। और 'शृङ्गार के उपपादक शिरोभूषण आदि हैं' यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि 'नारायण द्वारा अस्त्रवाले' यह अंश शृङ्गार का उपपादक हो नहीं सकता। अतः यह समझना चाहिये कि—ये सब विशेषण यहाँ शिव की प्रणम्यता सिद्ध करने के लिये उनके उत्कर्ष के बोधक हैं। और शिव की प्रणम्यता की सिद्धि शुद्ध शिरोभूषण मात्र से होती नहीं, वरन् शिरोभूषण की नदीरूपता से होती है, क्योंकि शुद्ध—अर्थात् किसी तरह का शिरोभूषण किसी नीच जन में भी हो सकता है, फिर उससे किसी का उत्कर्ष कैसा? और प्रणम्यता कैसी? हाँ, नदी को शिरोभूषण बना लेना अवश्य ही उत्कर्ष तथा प्रणम्यता का कारण हो सकता है। अतः यह पद्य परिणाम का ही उदाहरण है। इसी अभ्रम के कारण 'द्विभवि:—' यह दूसरा पद्य—जहाँ परिणाम का कोई गुंजाइश नहीं—उदाहरण के रूप में उन्होंने रक्खा। अतः 'यत्तु' से लेकर 'कुत्रास्ति परिणामः' तक का मूलग्रन्थ चिन्तनीय है ऐसा समझना चाहिए।"

खण्डयितुं सर्वस्वकारमतमुपन्यस्यति—

अलङ्कारसर्वस्वकारस्तु—'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति सूत्रयित्वा 'आरोप्यमाणं रूपके प्रकृतोपयोगित्वाभावात्प्रकृतोपरञ्जकत्वेनैव केवलेनान्वयं भजते। परिणामे तु प्रकृतात्मतयारोप्यमाणस्योपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाणतया परिणमति' इति व्याख्यातवान्।

आरोप्यमाणेति। उपमानेत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। प्रकृतोपयोगित्वे इति। प्रस्तुतकार्योपयोगित्वे इत्यर्थः। प्रकरणेति। प्रकृतकार्येत्यर्थः। प्रकृतोपरञ्जकत्वेनेति। प्रकृतस्य-उपमेयस्य-स्वोपरक्तबुद्धिविषयीकरणेनेत्यर्थः। प्रकृतात्मतयेति। अभेदेनेत्यर्थः। प्रकृतम् उपमेयम्। आरोप्यमाणतया उपमानरूपतया। 'आरोप्यमाणम्—उपमानं यत्र प्रस्तुतकार्योपयोगि भवति तत्र परिणामालङ्कारः' इति सूत्रं निर्माय रुय्यकालङ्कारसर्वस्वकारः तस्य सूत्रस्य व्याख्यामकरोत् यत्—रूपके उपमानं प्रस्तुतकार्योपयोगि न भवतीति तस्य प्रस्तुत-

कार्येऽन्वयः उपमेयोपरञ्जकत्वमात्रेण भवति—अर्थात् उपमेयनिष्ठाहार्यभेदनिश्चयगोचरतया भवति। परिणामे पुनः उपमेयरूपेणोपमानस्योपयोगो भवतीति उपमेयमुपमानरूपतया परिणमति, अतः परिणाम इति संज्ञाकरणम् इति भावः।

अब खण्डनीय सर्वस्वकार का मत उद्धृत किया जाता है—अलङ्कारसर्वस्वकारस्तु इत्यादि। अलङ्कारसर्वस्वकार ने तो 'आरोपित किया जानेवाला—अर्थात् उपमान यदि प्रस्तुतकार्योपयोगी हो तब 'परिणाम' होता है।' यह सूत्र बनाकर उसकी व्याख्या में लिखा कि—रूपक में आरोपित किया जानेवाला-उपमान-प्रस्तुतकार्य में उपयोगी नहीं होता अतः उसका कार्य के साथ सम्बन्ध केवल इतना भर होता है कि वह उपमेय का उपरञ्जक हो गया रहता है। तात्पर्य यह कि—कार्य में अन्वय उपमेय का ही होता है पर उसमें उपमान का झूठा तादात्म्य गृहीत हुआ रहता है जिससे उपमान भी कार्यान्वित सा ज्ञात होता है। परन्तु परिणाम में तो उपमान उपमेयरूप में प्रस्तुतकार्योपयोगी होता है, अतः उपमेय उपमानरूप में परिणत हो जाता है, फलतः वहाँ उपमान का कार्य के साथ वास्तविक सम्बन्ध होता है।'

प्रागुक्तसर्वस्वकारोक्तं खण्डयति—

अत्रापि चिन्त्यते—आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोग इत्यस्य प्रकृतकार्ये उपयोग—आहोस्वित् प्रकृतविषयात्मतया उपयोगोऽर्थः? न तावदाद्यः।

'दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि! नास्मि दूये।
उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-
र्यत्खिद्यते तव पदं ननु सा व्यथा मे॥'

इति त्वदुदाहृतरूपकोदाहरणे आरोप्यमाणानां कण्टकानां प्रकृतखेदव्यथारूपकार्ये उपयोगेनातिप्रसङ्गात् न द्वितीयः।

'अत्र पथिकप्रमदाभुजैर्निबद्धैः सरसैर्वक्त्रपथाश्रितैर्वचोभिः।
क्षितिभर्तुरुपायनं चकार प्रथमं तत्पुरवासिनां समाजः॥'

इत्यत्र त्वदीयव्यधिकरणपरिणामोदाहरणासङ्गत्यापत्तेः। अत्र राजदर्शने उपायनस्यारोप्यमाणस्य स्वात्मनैवोपयोगः, न तु विषयवचोरूपतया। वचसां तु विषयाणामारोप्यमाणोपायनरूपत्वेन परमुपयोग इति प्रत्युत विपरीतम्। तस्मादस्मदुक्तमेव व्यधिकरणपरिणामस्योदाहरणं साधु। इदं तु पुनर्व्यधिकरणरूपकं भवितुमर्हति। तृतीयार्थभेदोऽपि नीलवतीनयनाम्भामत्रैव प्रकृतयोपयोगिको बोध्यः।

अत्रेति। सर्वस्वकारोक्तिविषये इत्यर्थः। चिन्त्यते इति। विचारः क्रियते इति भावः। विचारस्वरूपमाह—आरोप्यमाणस्येत्यादिना। उपयोग इति। वक्ष्यमाणार्थस्याप्राप्य-पक्षार्थः। दासे इति। कृतागसि कृतापराधे, दासे सेवके, प्रभूणाम् स्वामिनां, पादप्रहारः चरणाघातः, उचितो युक्त, एव, भवति, अतः हे सुन्दरि! अस्मि अहम् (अस्मदर्थक-मव्ययमेतत्, क्वचित्तु 'अस्मि' इत्यस्य स्थाने 'अत्र' इति पाठो दृश्यते, तथा च अत्र पादप्रहारविषये न दूये इत्यर्थः) न, दूये दुःखीभवामि। किन्तु उद्यन्ति त्वदीयचरण-स्पर्शेनोत्पद्यमानानि यानि कठोराणि पुलकानि रोमाणि तेषाम् अङ्कुरा एव कण्टकाग्राणि तैः, तव, पदं यत् खिद्यते क्लेशं प्राप्नोति, ननु निश्चयेन, सा मे, व्यथा वेदना इत्यर्थः।

भामिनीं प्रति सापराधस्यानुभूतपादप्रहारस्य नायकस्योक्तिरियम् । तदुदाहरतीति । सर्वस्वकारोदाहृतमित्यर्थः । आरोप्यमाणानामिति । पुलकैरित्यादिः । प्रकृतेति । प्रकृतो यः खेदजननरूपव्यापारस्तद्योगिनी वा इत्यर्थः । अथ पथिश्रमतामिति । पूर्वसाकांक्षम् प्रकरणविशेष-पठितपद्यमिदम् । अथ अनन्तरम्, कश्चित् पूर्वप्रक्रान्तो जनः, मुखमार्गपथिकैः सुखनि-स्सृतैः, परिश्रमताम् परिपक्वताम्, उपेयिवद्भिः प्राप्तवद्भिः, अत एव, सरसैः, वचोभिः वचनैः, प्रथमम् प्राक्, तदनन्तरं तत्पश्चात्, तुरङ्गमाद्यैः अश्वाद्यैः, क्षितिभर्तुः राज्ञः, उपाय-नम् उपहारं व्यधायीत्यर्थः । आरोप्यमाणं तदुपयोगमुपपादयति—यतो इत्यादिना । राजसङ्गमे राज-मेलने । उपायनस्य उपहारस्य । आरोप्यमाणस्येति । वचसामित्यादिः । प्रत्युत विपरीत-मिति । अत्र 'अत्रेदं चिन्त्यम् पथिकोक्तिसूक्तीनामपि राजसङ्गमानुपायत्वात्, विलक्षण-वचनानुकूलमाधिकरणस्यैव च तदुपायत्वात्, एवं च राजसङ्गमोपयोगित्वं तुरङ्गमादिरूपोपे-योपायनस्यैवानुकूल्येन विपरीतेति । अधिगमव्यापारणमिदं चिन्त्यपूर्वं च चिन्त्यमिति बोध्यम् ।' इति भावः । पर्यवसितार्थमाह—तस्मादिति । अत्रकृत्यमिति । 'अहीन-चन्द्रा—' इति पद्यमित्यर्थः । इदं तु इति । 'अथ पथिश्रम—' इति पद्यमित्यर्थः । 'आरोप्य-माणस्य प्रकृतोपयोगित्वे' इति ग्रन्थांशस्य द्वावर्थौ सम्भवतः, प्रकृतकार्ये उपयोग इत्येकः, प्रकृतोपमेयरूपेणोपयोग इति च द्वितीयः, तत्र प्रथमो न युक्तः, 'दासे कृतागसि' इति [illegible] कण्टकानां स्वजन्यनायिकागतखेदसंभाव-[illegible] । द्वितीयोऽपि नोचितः, 'अथ पथिश्र-मता—' इत्यत्र त्वदुक्तव्यधिकरणपरिणामोदाहरणत्वस्यासङ्गतेः, उपायनरूपस्योपमानस्यो-पमेयरूपतया राजमेलनात्मके प्रकृतकार्ये उपयोगाभावात्, उपमेयभूतवचनानामेवोपमा-नात्मनोपयोगेन वैपरीत्याच्च । अतो नेदं व्यधिकरणपरिणामोदाहरणम् सम्भवति, व्यधि-करणरूपकस्यैव प्रसक्तेः । ननु उपमेयवाचकवचःपदोत्तरतृतीयाविभक्त्यर्थाभेदस्य प्रकृत्यर्थ-प्रतियोगिकतया उपमानप्रतियोगिकाभेदभानाभावात् कथं रूपकमिति चेत्, 'मीनवती नय-नाभ्याम्—' इति प्रागुक्तपद्य इवात्रापि प्रकृत्यर्थानुयोगिकाभेदस्यैव तृतीयार्थताङ्गीकारात् । व्यधिकरणपरिणामोदाहरणं पुनरनुक्तमेवावगन्तव्यमिति भावः ।

उक्त सर्वस्वकारमत का खण्डन किया जाता है—अत्रापि चिन्त्यते इत्यादि । उक्त सर्वस्वकार के मत के विषय में यह विचार किया जाता है कि 'आरोपित किये जानेवाले का प्रकृत में उपयोग' इस सूत्रांश का क्या अर्थ ? प्रकृत कार्य में उपयोग अथवा प्रकृत उपमेय के रूप में उपयोग ? दोनों में से एक भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम अर्थ मानने पर 'दासे कृतागसि—अर्थात् हे सुन्दरि ! दास यदि अपराधी हो तो उस पर स्वामियों का पाद-प्रहार उचित ही है, अतः मुझ अपराधी पर जो तुमने पाद-प्रहार किया उससे मैं दुःखी नहीं हूँ । पर तुम्हारा चरण, उठते हुए कठोर रोमाञ्चों के अङ्कुररूप काँटों की नोकों से, खिन्न हो रहा है, बस यही मुझे व्यथा है ।' इस नायक द्वारा मानिनी नायिका के प्रति कहे गए पद्य—जिसको आपने रूपक का उदाहरण माना है—में अति-व्याप्ति हो जायगी । कारण, यहाँ आरोपित किए जानेवाले-उपमान (काँटे) का प्रकृत खेदरूप कार्य में उपयोग होता है । द्वितीय अर्थ मानने पर 'अथ पथिश्रमताम्—अर्थात् उसने पहले मुखरूप पथ के पथिक-मुख द्वारा उच्चरित-और परिपक्व, अतएव सरस, वचनों द्वारा राजा की 'नजर' (भेंट) की, बाद में घोड़ा आदि द्वारा ।' इस पद्य में आपका कहा हुआ 'व्यधिकरणपरिणाम' का उदाहरण असङ्गत हो जायगा । कारण, राजा से मिलने में आरोपित किए जानेवाले 'नजर' रूप उपमान का उपयोग अपने रूप में ही होता है, उपमेय वचनरूप में नहीं, प्रत्युत उपमेयरूप वचनों का उपयोग उपमान-

रूप 'नजरी' के रूप में होता है जो आपके कथन से सर्वथा विपरीत है। अतः आपके लक्षण-उदाहरण सभी गड़बड़ हैं। फलतः मदुक्त लक्षण तथा व्यधिकरणपरिणाम का उदाहरण ही ठीक है। आपका यह उदाहरण तो व्यधिकरण रूपक का हो सकता है। आप कहेंगे—रूपक का यह उदाहरण कैसे हो सकता है? क्योंकि यहाँ वचः पद के आगे की तृतीया विभक्ति के अर्थ—अभेद—का प्रतियोगी प्रकृत्यर्थ—वचन—होगा, अतः उपमेय—वचन—का अभेद प्रतीत होगा, उपमान—'नजर'—का अभेद नहीं और रूपक की सिद्धि में उपमान के अभेद की प्रतीति आवश्यक है, तो इसका समाधान यह है कि जैसे 'मीनवती नयनाभ्याम्—' में प्रकृत्यर्थानुयोगिक अभेद ही तृतीयार्थ माना जाता है वैसे यहाँ भी प्रकृत्यर्थानुयोगिक अभेद को ही तृतीया विभक्ति का अर्थ माना जायगा। तात्पर्य यह कि ऐसी जगहों पर अभेद का प्रतियोगी उपमान ही होता है? उपमेय नहीं, अतः रूपक की सिद्धि होने में कोई बाधा नहीं। यहाँ भी नागेश अपनी टीका में सर्वस्वकार का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं—'राजा से मिलने में जिस किसी तरह के उपायन (नजर) का उपयोग नहीं किया जाता, अपितु विलक्षण उपायन का ही उपयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ उपायन का उपयोग अपने आपके रूप में नहीं, किन्तु विलक्षण वचन अश्व आदि के रूप में ही होगा, फिर यहाँ परिणाम अवश्य माना जा सकता है, अतः ग्रन्थकार का यह खण्डन उचित नहीं है।'

मतान्तरमाह—

केचित्तु "क्वचित्केवलो विषयः स्वात्मना न प्रकृतोपयोगीत्ययमारोप्यमाणाभिन्नतयाऽवतिष्ठते, तत्रारोप्यमाणपरिणामः। यथा—'वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ'। अत्र वदनमिन्द्वभिन्नतयाऽवतिष्ठते, केवलस्य वदनस्य दृक्शिशिरीकारकत्वायोगात्। क्वचिच्चारोप्यमाणः स्वात्मना न प्रकृतकार्योपयोगीत्ययं विषयाभिन्नतयाऽवतिष्ठते, तत्र विषयपरिणामः। यथा—'वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरतापं विलुम्पति'। अत्रेन्दुर्वदनाभिन्नतयाऽवतिष्ठते, केवलस्येन्दोः स्मरतापविलोपकत्वायोगात्। एवं च परिणामद्वयात्मकमिदं रूपकमेव भवितुमर्हति। विषयतावच्छेदक-विषयितावच्छेदकान्यतरपुरस्कारेण निश्चीयमानविषयिविषयाभेदस्य तल्लक्षणत्वात्। अत एवोक्तम्—'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' इति। तस्मान्न रूपकात्परिणामोऽतिरिच्यते" इति वदन्ति।

केचित्त्विति। उपमानाभिन्नत्वेनाप्रतीयमान इति भावः। विषयः उपमेयः। आरोप्यमाणेति। उपमानेत्यर्थः। आरोप्यमाणपरिणाम इति। आरोप्यमाणे परिणामः परिणतिः तद्रूपतयाऽवस्थानमिति यावत्। विषयस्येति भावः। आरोप्यमाणपरिणाममुदाहरति—यथेति। तन्वी कृशाङ्गी नायिका, वदनरूपेण इन्दुना, दृशौ नयने, शिशिरीकुरुते शीतलयतीत्यर्थः। वदनस्येति। तस्य जडभिन्नत्वादिति भावः। विषयपरिणाम इति। विषये—उपमेये—परिणामः विषयिण इति यावत्। उपमेयरूपेणोपमानावस्थितिर्विषयपरिणाम इति तात्पर्यम्। विषयपरिणाममुदाहरति—यथेति। कृशाङ्गी चन्द्ररूपेण मुखेन कामतापमपनुदतीत्यर्थः। इन्दोरिति। तस्योद्दीपकत्वेन तज्जनकत्वादिति भावः। ननु कथमयं द्विविधः परिणामः रूपकेण स्वीकरणीयः, लक्षणाक्रान्तत्वात्, इत्यतोऽभिनवं रूपकलक्षणमाह—विषयतावच्छेदकेत्यादिना। तल्लक्षणेति। रूपकलक्षणेत्यर्थः। अभिनवमिदं लक्षणं प्राचीनलक्षणेन संवादयति—अत एवेति। उक्तमिति मम्मटभट्टेनेति भावः। 'उपमेयतावच्छेदकम् (उपमेयवृत्त्यसाधारणधर्मम्) पुरस्कृत्य निर्धार्यमाणमुपमेयतादात्म्यम्, उपमानतावच्छेदकं (उपमानगतासाधारणधर्मम्)' पुरस्कृत्य निर्धार्यमाणमुपमेयतादात्म्यम्' इत्युभयविधं रूपकलक्षणम्। तेन

यत्रोपमेयमुपमानरूपेण परिणमति—अर्थात् उपमेयमुपमानात्मना कार्योपयोगि भवति, यत्र चोपमानमुपमेयरूपेण परिणमति—अर्थात् उपमानमुपमेयात्मना कार्योपयोगि भवति, तत्रोभयत्र रूपकमेव। फलतः परिणामनामकः कश्चिद्रूपकातिरिक्तोऽलङ्कारो नास्तीति केषांचिदभिप्रायः। अत्र 'केचित्तु' 'वदन्ति' इति पदद्वयेनारुचिः सूच्यते, तद्बीजमाह नागेशः 'चमत्कृतिभिन्नतयैवालङ्कारभेद इति सिद्धान्तितत्वादन्येषामपि भेद एवोचितः' इति।

अन्य मत का उल्लेख किया जाता है—केचित्तु इत्यादि। कुछ विद्वानों का कथन है कि—"दो तरह से परिणाम होता है। कहीं केवल उपमेय अपने रूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोगी नहीं होता, अतः उसे (उपमेय को) आरोपित किए जानेवाले (उपमान) से अभिन्न होकर रहना पड़ता है। ऐसी जगह प्रस्तुत का आरोपित किए जानेवाले के रूप में—अर्थात् उपमेय का उपमान के रूप में—परिणाम होता है। जैसे—'वदनेन्दुना—अर्थात् कृशाङ्गी नायिका चन्द्ररूप मुख से नयनों को शीतल करती है।' यहाँ मुख को चन्द्र से अभिन्न होकर रहना पड़ता है, क्योंकि केवल मुख नयन को शीतल नहीं कर सकता। और कहीं आरोपित किया जानेवाला (उपमान) अपने रूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोगी नहीं होता, अतः उसे उपमेय से अभिन्न होकर रहना पड़ता है। ऐसे स्थलों पर उपमान का उपमेय के रूप में परिणाम होता है। जैसे—'वदनेन्दुना—अर्थात् कृशाङ्गी नायिका मुखरूप चन्द्र से कामताप को शान्त करती है।' यहाँ चन्द्र को मुख से अभिन्न होकर रहना पड़ता है, क्योंकि केवल चन्द्र कामताप को शान्त नहीं कर सकता। इस तरह इन दोनों परिणामों के रूप में रूपक का होना ही उचित है, क्योंकि मेरे हिसाब से रूपक का लक्षण यह होना चाहिए कि—उपमेयतावच्छेदक ('मुखत्व' आदि) अथवा उपमानतावच्छेदक ('चन्द्रत्व' आदि) दोनों में से किसी एक को आगे रखकर निश्चित की जाने वाली उपमानरूपता अथवा उपमेयरूपता दोनों में से किसी को भी रूपक कहा जा सकता है। अतएव तो मम्मटभट्ट ने कहा है कि—'तद्रूपक—अर्थात् उपमान-उपमेय का जो अभेद होता है (उन दोनों में से चाहे कोई किसी रूप में परिणत हो) वह रूपक कहलाता है।' अतः 'परिणाम' 'रूपक' से कोई अतिरिक्त अलङ्कार नहीं है।" 'केचित्तु' तथा 'वदन्ति' इन दोनों ही पदों से इस मत में ग्रन्थकार अपनी अरुचि सूचित करते हैं, जिसका बीज नागेश अपनी टीका में यह बतलाते हैं कि 'अलङ्कार के भेद में चमत्कार का भेद ही मूल कारण माना जाता है। ऐसी दशा में जैसे अन्य अनेक भिन्न-भिन्न अलङ्कार माने जाते हैं, वैसे इन दोनों (रूपक और परिणाम) को भी भिन्न-भिन्न अलङ्कार मानना ही उचित है।' इसका अभिप्राय यह हुआ कि—रूपक—जहाँ उपमान प्रधान रहता है और उपमेय गौण—में उपमानकृत चमत्कार होता है और परिणाम—जहाँ उपमेय प्रधान रहता है और उपमान गौण—में उपमेयकृत चमत्कार होता है, अतः ये दोनों चमत्कार दो तरह के होते हैं और चमत्कार जब दो तरह के होते हैं तब अलङ्कार भी दो मानने ही पड़ेंगे।

अथ परिणामालङ्कारविशिष्टवाक्यजबोधं विचारयितुं प्रक्रमते—

अथ बोधः—

परिणामसम्बद्धविचारान्तरकरणानन्तरं सम्प्रति परिणामवाक्यजबोधो विचार्यते इति भावः।

परिणाम के विषय में अन्य विचार कर लेने के बाद अब परिणामवाले वाक्यों से होनेवाले शाब्दबोध का विचार किया जाता है।

कतिपयेषु स्थलविशेषेषु बोधं विचारयति—

हरिनवतमाल इत्यत्र भगवदभिन्नतमाल इति निर्विवादैव धीः। तथा आर्द्रे

श्राव्यं वचःसुधामित्यत्र विशेषणसमासगतपरिणामे वचनाभिन्नां सुधामिति, पाय्यं पाय्यं वचःसुधामितिरूपके तु वचोनिष्ठाभेदप्रतियोगिनीं सुधामिति बुद्धिः। एवं च 'वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरतापं विलुम्पति' इति व्यस्तपरिणामे 'वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ' इति व्यस्तरूपके च बोधवैलक्षण्यम्।

तथा—

'शान्तिमिच्छसि चेदाशु सतां वागमृतं शृणु।
हृदये धारणादस्य न पुनः खेदसम्भवः॥'

इति परिणामे, शृण्विति विहाय पिबेति कृते तत्रैव रूपके,

'विद्धा मर्मणि वाग्बाणैर्घूर्णन्ते साधवः खलैः।
सद्भिर्वचोऽमृतैः सिक्ताः पुनः स्वस्था भवन्ति ते॥'

इति रूपके च बोधव्यवस्थितिः। तथा 'अहीनचन्द्रा लसताऽऽननेन ज्योत्स्नावती चापि शुचिस्मितेन' इति व्यधिकरणपरिणामेऽभेदस्य तृतीयार्थत्वाल्लसदाननाभिन्नाहीनेतरचन्द्रयुक्तेति धीः। मीनवती नयनाभ्यामित्यत्र तु सरसीतादात्म्यारोपो बाधकाभावात्तावत्सिद्धः। तस्य च मीननिष्ठनयनाभेदारोपेणासमर्थनान्नयनयोर्मीनाभेदारोपो मृग्यः। स च तृतीयायाः प्रकृत्यर्थाभेदार्थकतायां न सम्भवतीति यथाकथञ्चित्तस्याः प्रकृत्यर्थनिष्ठाभेदप्रतियोगित्वार्थकत्वं वाच्यम्। तेन नयननिष्ठाभेदप्रतियोगिमीनयुक्तेति धीः। एवं चारोप्यमाणे विषयप्रतियोगिकाभेदस्याभानान्न परिणामः, अपि तु रूपकमेव। इयमेव सरणिः 'नव्या शेखरिणो दृशा तिलकिने—' इति प्रागुक्ताप्पयदीक्षितदत्तोदाहरणे, 'वचोभिरुपायनं चकार—' इत्यलङ्कारसर्वस्वोदाहरणे च बोध्या। यदि पुनरारोप्यमाणे यथाकथञ्चिद्विषयाभेदप्रत्ययमात्रात्परिणामतोच्यते, नाद्रियते च प्रकृतोपयोगस्तदा 'प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम्' इति तदुदाहृतरूपकस्य परिणामतापत्तिः, प्रेमलतिकामिति समासे प्रेम्णो विषयस्य लतिकायाः आरोप्यमाणायामभेदेन विशेषणत्वादिति दिक्।

इतिमतेति। ग्रन्थकृता दत्ते परिणामप्रथमोदाहरणे इत्यर्थः। भगवदभिन्नेति। तमालनिष्ठाभेदप्रतियोगी भगवानिति भावः। निर्निदानेनेति। परिणामस्य निर्निदानत्वेऽन्यस्या असम्भवादिति भावः। धीः बोधः। ग्रन्थकृदुक्तपरिणामद्वितीयोदाहरणे आह—तथेति। विशेषणसमासेति। 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इति सूत्रविहितसमासेत्यर्थः। गत इति। आधीनेत्यर्थः, वचनाभिन्नामिति। सुधानिष्ठाभेदप्रतियोगिवचनानीति भावः। रूपके त्विति। 'श्राव्यं श्राव्यम्' इत्यस्य स्थाने स्वीकृतस्य 'पाय्यं पाय्यम्' इति पाठस्य सुधात्वोपमानधर्मस्यमूलकरूपकगमकत्वादिति भावः। एवञ्चेति। समस्तयोः परिणामरूपकयोर्बोधवैलक्षण्यसिद्धौ चेत्यर्थः। बोधवैलक्षण्यमिति। प्रतियोगित्वमुख्यत्वानुयोगित्वमुख्यत्वकृतमिति भावः। तथा च 'इन्दुनिष्ठाभेदप्रतियोगिना वदनेने'ति परिणामे, 'वदननिष्ठाभेदप्रतियोगिना इन्दुना' इति च रूपके बोध इति सारांशः। एवमभेदेऽपीत्याह—तथेति। शान्तीति। त्वम्, शान्तिम् इच्छसि चेत्? तदा, आशु शीघ्रम्, सतां सज्जनानां, वागमृतं वचनपीयूषम्, शृणु, अस्य वचनपीयूषस्य, धारणात्, श्रवणात् पुनः, हृदये, खेदस्य, सम्भवो न भवतीत्यर्थः। परिणाम इति। आरोप्यमाणस्यामृतस्य विषयीभूतवचोरूपतयैव श्रवणात्मके प्रस्तुतकार्ये उपयोगादिति भावः। शृण्वितीति। 'शृणु' इत्यस्य स्थाने 'पिब' इति पाठे

परम्परिते च समर्थ्यसमर्थकभावो नियमतस्तिष्ठति । रूपकस्य समर्थनम् च रूपकेणैव सम्भवति, न परिणामेनेति 'मीनवती नयनाभ्याम्' इत्यंशेऽपि ग्रन्थकारोक्तदिशा रूपकमेव न्याय्यम्, न नागेशोक्तरीत्या परिणाम इति तु मम प्रतिभाति । उपसंहारे पुनर्दीक्षिता-शयनिरासमुखेन परिणामे कार्योपयोगं समर्थयति—यदीति । 'प्रवृत्तोऽस्याः—' इति । रूपकोदाहरणतया पद्यमेतद्दीक्षितेनोद्धृतम् । 'कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्, सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत् । अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो ! वेद्म्यभिनवाम्....' इति चरणत्रयशेषो बोध्यः । कुरङ्गी हरिणी, इव, गीतध्वनिषु, अङ्गानि, यत्, स्तिमितयति निश्चलीकरोति, श्रुतमपि, कान्तोदन्तम् प्रियतमसमाचारम्, पुनः वारंवारम्, सखीम्, यत्, प्रश्नयति प्रश्नं करोति, अन्तः अनिद्रम् आभ्यन्तरनिद्रां विनैव, निद्रा-च्छद्मनेति यावत्, यत् स्वपिति स्वापमुद्रां धत्ते, तेनाहं वेद्मि जानामि, किं जानामि ? मनसिजः कामः, अस्याः, हृदि, अभिनवाम् नूतनाम्, प्रेमलतिकाम् प्रीतिवल्लरीं, सेक्तुम् आर्द्रीकर्तुम्, प्रवृत्तः उद्यत इत्यर्थः । सख्याः सखीं प्रति नायिकावृत्तान्तसूचनायोक्तिरियम् । अस्मिन् श्लोके प्रेम्णि उपमेये लतिकाया उपमानभूतायास्तादात्म्यस्यारोपेण रूपकम्, न तु परिणामः उपमानभूताया लतिकाया उपमेय(प्रेम)रूपेण सेकात्मके कार्ये उपयोगा-भावात् । यदि परिणामे कार्योपयोगांशो न निविश्येत, तदाऽत्रापि परिणाम आपतेत्, लतिकारूपे उपमाने प्रेमरूपोपमेयाभेदस्य प्रतीतेरिति भावः ।

परिणामालङ्कार वाले कतिपय वाक्यों में शाब्दबोध दिखलाये जाते हैं—हरिनव—इत्यादि । 'हरिनवतमालः' इस ग्रन्थोक्त प्रथम परिणामोदाहरण-वाक्य का शाब्दबोध 'हरि से अभिन्न नवीन तमाल—अर्थात् तमाल में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी हरि' यह होता है । इस विषय में किसी को कोई आपत्ति है ही नहीं । 'श्रावं श्रावं वचः-सुधाम्—वचनामृत सुन सुनकर' इस ग्रन्थोक्त द्वितीय परिणामोदाहरण वाक्य का शाब्दबोध—'वचन से अभिन्न अमृत—अर्थात् अमृत में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी वचन' यह होता है । इसी वाक्य में 'श्रावं श्रावम्' की जगह पर यदि 'पायं-पायम्' ऐसा पाठ कर दिया जाय, तब वहाँ परिणाम न होकर रूपक अलङ्कार हो जाता है और तब उस रूपक वाक्य का शाब्दबोध—'वचन में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी अमृत अर्थात् अमृत से अभिन्न वचन' यह होता है । और अब जब कि समस्त परिणाम तथा समस्त रूपक में शाब्दबोध की भिन्नता दिखला दी गई, तब—'वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरतापं विलुम्पति' इस व्यस्त(वाक्यगत)परिणाम में तथा 'वदनेनेन्दुना तन्वी शिशि-रीकुरुते दृशौ' इस व्यस्तरूपक में भी शाब्दबोधों की विलक्षणता सिद्ध हो जाती है । तात्पर्य यह कि पूर्वोक्तरीति से परिणाम में 'चन्द्र में रहने वाले अभेद का प्रतियोगी मुख—अर्थात् मुख से अभिन्न चन्द्र' ऐसा बोध होता है और रूपक में 'मुख में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी चन्द्र—अर्थात् चन्द्र से अभिन्न मुख' ऐसा बोध होता है । वैसे ही—'शान्तिमिच्छसि—अर्थात् यदि तू शान्ति चाहता है तो शीघ्र सज्जनों का वचनामृत सुन, जिसके धारण करने से फिर हृदय में खेद की उत्पत्ति नहीं होती ।' इस परिणाम में, और इसी पद्य में 'शृणु' की जगह पर 'पिब' पाठ कर देने से रूपक बन जाने पर, एवं 'छिन्ना मर्मणि—अर्थात् दुर्जनों द्वारा वचन-बाणों से मर्मस्थल में घायल किए गये सज्जन पुरुष चक्कर खाने लगते हैं और वे ही सज्जनों द्वारा वचनामृत से सींचे गये पुनः स्वस्थ हो जाते हैं ।' इस रूपक में भी शाब्दबोध की व्यवस्था हो जाती है । अभि-प्राय यह है कि—परिणाम में पूर्वरीति से 'अमृत में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी वचन-अर्थात् वचन से अभिन्न अमृत' यह और रूपक में 'वचन में रहनेवाले अभेद का प्रति-योगी अमृत—अर्थात् अमृत से अभिन्न वचन' यह बोध होता है । इसी तरह 'वचन-

धान' का भी बोध समझ लेना चाहिए। तथा—'अह्नीनचन्द्रा—अर्थात् सुन्दर मुख द्वारा पूर्ण चन्द्र वाली और शुद्ध मन्द हास द्वारा चाँदनी वाली' इस 'व्यधिकरण परिणाम' में तृतीया का (तद्द्वारा) अर्थ अभेद होता है, अतः 'सुन्दरमुख द्वारा पूर्ण चन्द्रवाली' इस वाक्य का शाब्दबोध—सुन्दर मुख से अभिन्न पूर्ण चन्द्रवाली–अर्थात् चन्द्र में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी जो मुख उससे युक्त' और 'शुद्ध मन्द हास द्वारा चाँदनीवाली' इस वाक्य का शाब्दबोध—'शुद्ध मन्दहास से अभिन्न चाँदनीवाली–अर्थात् चाँदनी में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी जो चाँदनी उससे युक्त' ये होते हैं। 'मीनवती नयनाभ्याम्—' इत्यादि पूर्वोक्त रूपकोदाहरण में तो, प्रथमतः सरसीरूपक अर्थात् सुन्दरी में सरसी का तादात्म्यारोप–सिद्ध होता है—उसकी सिद्धि में किसी तरह की बाधा नहीं होती। पर उस प्रधानरूपक का समर्थन 'मछलियों में नेत्रों के अभेदारोप से नहीं हो सकता, अतः 'नेत्रों में मछलियों का अभेदारोप' ढूँढने योग्य हो जाता है। और यह 'नेत्रों में मछलियों का अभेदारोप' तब बन नहीं सकता यदि 'नयनाभ्याम्' इत्यादि तृतीया विभक्ति का अर्थ प्रकृत्यर्थाभेद—अर्थात् तृतीया विभक्ति की प्रकृति–नयन आदि शब्द–का अर्थ जिसका प्रतियोगी हो उस अभेद–को माना जाय, इसलिये जिस किसी तरह तृतीया विभक्ति का अर्थ उस अभेद को मानना पड़ेगा जो अपनी प्रकृति के अर्थ-नयन आदि–में रहनेवाला हो और जिसका प्रतियोगी मीन आदि हों। और जब ऐसे अभेद का तृतीया विभक्ति का अर्थ मान लिया जायगा तब उक्त सरसीरूपक का उससे समर्थन भी हो सकेगा। इस तरह से अब 'मीनवती नयनाभ्याम्' का शाब्दबोध—'नेत्रों में रहनेवाले अभेद के प्रतियोगी जो मीन (मछलियाँ) उनसे युक्त' यह होगा। फलतः यहाँ परिणाम अलङ्कार नहीं होता, क्योंकि आरोप्यमाण–अर्थात् उपमानभूत मछलियों–में विषय प्रतियोगिक अभेद–अर्थात् उपमेय(नेत्रों)का अभेद प्रतीत नहीं होता। हाँ, रूपक अलङ्कार यहाँ अवश्य होता है, क्योंकि आरोप्यमाण उपमानभूत पदार्थ-मछलियों का अभेद उपमेयभूत पदार्थ (नेत्रों) में प्रतीत होता है। यही पद्धति 'गङ्गा शेखरिणे इरा तिलकिने' इत्यादि अप्पयदीक्षित के उदाहरण में और 'वचोभिरुपायनं चकार' इस अलङ्कारसर्वस्वकार के उदाहरण में समझनी चाहिये। अभिप्राय यह कि–इन पद्यों में परिणामालङ्कार नहीं, अपितु रूपकालङ्कार है, अतः उन वाक्यों का शाब्दबोध रूपक का-सा होना चाहिये। फलतः 'नदी में रहनेवाले अभेद के प्रतियोगी शेखर से युक्त' इस तरह का शाब्दबोध होना चाहिये, न कि 'शेखर में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी नदी से युक्त' इस तरह का। यदि आप इस तरह का दुराग्रह करें कि–किसी भी प्रकार से उपमान में उपमेय के अभेद की प्रतीति का नाम परिणाम है, उस का प्रकृत कार्य में उपयोग हो अथवा नहीं। तब तो 'प्रवृत्तोऽस्याः—' जिसका एक चरण मूल में उद्धृत है और अवशिष्ट तीन चरण संस्कृत टीका में उद्धृत हैं तथा जिसका अर्थ यों है—(सखी सखी से नायिका के विषय में कह रही है–) मैं समझती हूँ कि–कामदेव इसके हृदय में नूतन प्रेमलता को सींचने में प्रवृत्त हो चुका है क्योंकि यह सङ्गीत(ध्वनि)समय में आँखों को हरिणी की तरह निश्चल कर देती है, प्रियतम से सुने हुए समाचार को भी सखी से पुनः पूछती है और भीतर से निद्रा के बिना ही सोती है–जागती हुई भी सोई हुई की सी मुद्रा बनाती है।' इस पद्य में जिसको दीक्षित जी ने रूपक का उदाहरण माना है वह परिणामालङ्कार होने लगेगा, क्योंकि 'प्रेमलतिकाम्' इस समस्त पद के अर्थ में उपमेय प्रेम, अभेदसम्बन्ध द्वारा, आरोपित की जानेवाली (उपमान) 'लतिका' का विशेषण बन रहा है–उपमेयप्रतियोगिक–अभेद उपमान में भासित हो रहा है। परिणाम लक्षण में 'कार्योपयोग' का निवेश करने पर तो यहाँ परिणाम का कोई प्रसङ्ग ही नहीं रह जाता, क्योंकि उपमान-लता का उपयोग सेचन में उपमेय-प्रेमरूप से नहीं, अपितु अपने रूप से ही होता है। सारांश यह हुआ कि परिणाम

लक्षण में 'कार्योपयोग' का निवेश करना ही चाहिये और उस हालत में 'वद्या शेखरिणे...' इत्यादि पद्यों में रूपक ही माना जा सकता है, परिणाम नहीं। नागेश यहाँ भी 'अन्य का मत' ऐसा कहकर कुछ भिन्न मत उपस्थित करते हैं। उनके कथन का सारांश यह है कि—"'वचःसुधाम्' में 'मयूरव्यंसकादयश्च' से समास होता है और इस समास में पूर्वपदार्थ की प्रधानता होती है, अतः उक्त वाक्य का बोध—'सुधा जिस की प्रतियोगिनी हो ऐसे अभेद से युक्त वचन—अर्थात् सुधा के अभेद से युक्त वचन' ऐसा ही समझना चाहिये। 'मीनवती नयनाभ्याम्' इस वाक्य का 'सुन्दरी में सरसी-तादात्म्यात्मक रूपक' प्रधान अर्थ है और इस रूपक में उपमान-उपमेय का साधारण धर्म है मछलीवाला होना (मीनवत्त्व)। पर सुन्दरी में इस धर्म का अभाव है—अर्थात् सुन्दरी में मछलियाँ नहीं हैं, अतः जो बाध-बुद्धि (सुन्दरी न मीनवती) प्राप्त है उसी को स्थगित करने के लिये केवल 'मीनवती' न कहकर 'नयनाभ्यां मीनवती' ऐसा सुन्दरी का विशेषण कहा गया है। सरसी में तो मीनवत्ता (मछलियों का रहना) प्रसिद्ध ही है। इस स्थिति में सुन्दरी को मीनयुक्त बनानारूप प्रस्तुत कार्य में मीनों का उपयोग नयनरूप होने पर ही होता है, अतः उस अंश में परिणामालङ्कार ही है, अतएव उस अंश का बोध भी 'नयन जिसके प्रतियोगी हैं इस तरह के अभेद वाली मछलियों से युक्त सुन्दरी' ऐसा ही होगा।"

परिणामालङ्कारध्वनिनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथ परिणामध्वनिर्विचार्यते—

शाब्दबोधनिरूपणानन्तरं परिणामध्वनिविषयको विचारः प्रस्तूयत इति भावः।

परिणामालङ्कारध्वनिनिरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—अथ इत्यादि। शाब्दबोध विचार के बाद अब परिणामालङ्कारध्वनि के विषय में विचार किया जाता है।

अप्पयदीक्षितमतमनूद्य खण्डयति—

तत्र यत्तावदप्पयदीक्षितैर्विद्याधरोक्तं ध्वन्युदाहरणमनूद्य दूषितम्—

"तथाहि—

'नरसिंह धरानाथ! के वयं तव वर्णने।
अपि राजानमाक्रम्य यशो यस्य विजृम्भते॥'

अत्र राजपदेन चन्द्रे विषये निर्दिष्टे तत्रारोप्यमाणस्य नृपस्याक्रमणरूप-कार्योपयोगिनः प्रतीतेः परिणामो व्यज्यत इति, तदयुक्तम्। तत्र ह्यारोप्यमाणस्य नृपस्य नृपात्मनैवाक्रमणोपयोगः, न चन्द्रात्मना" इति। तदसत्। अत्र विजृम्भणं नाम न केवलं प्रागल्भ्यमात्रं कवेरभिप्रेतम्, येन यशःकर्तृकाक्रमणे नृपस्य नृपात्मनैव कर्मतारूप उपयोगः स्यात्। अपि तु निरतिशयनैर्मल्यगुण-कक्षायां स्वसमानजातीयद्वितीयराहित्यप्रयुक्तः प्रौढिविशेषः। आक्रमणं तु न्यग्-भाव एव। एवं चैवंविधविजृम्भणे चन्द्रकर्मकमेवाक्रमणमुपयुज्यते, न तु नृप-कर्मकमिति विषयितया व्यज्यमानस्यापि नृपस्य चन्द्रात्मनैवाक्रमणोपयोग इति रमणीयमेव विद्याधरेणोक्तं परिणामव्यङ्ग्यतायामुदाहरणम्।

यदिति। 'नरसिंह—' इति पद्य इत्यर्थः। व्यज्यत इतीति। विद्याधरेणेति भावः। विद्याधरोक्तं खण्डयति—तदयुक्तमिति। अयुक्तत्वे हेतुमाह—तत्र ह्यारोप्येत्यादिना। न चन्द्रा-त्मना इतीति। अस्य प्रागुक्तेन 'दूषितम्' इत्यनेनान्वयः। तद्दूषणं निरस्यति—तदसत् इति। तत्र हेतुमाह—अत्रेत्यादिना। प्रागल्भ्येति। आक्रमणसाफल्याभिमानेति भावः।

दीक्षितोक्ति का खण्डन किया जाता है—तत्र यत्तावत् इत्यादि। 'नरसिंह—' अर्थात् हे धराधिप नरसिंह! जिसका यश राजा (चन्द्र तथा नृप) का भी आक्रमण करके विजृम्भित हो रहा है उस आपका वर्णन करने में हम कौन होते हैं?' इस पद्य में 'राजा' पद से 'चन्द्र' रूप उपमेय की उपस्थिति होती है जिसमें उसी पद से अभिव्यक्त होने वाले नृपरूप उपमान का आरोप है और उस आरोप्यमाण (नृप) का आक्रमण-रूप प्रस्तुत कार्य में उपयोग भी हो रहा है—अर्थात् आक्रमण का कर्म, चन्द्र नहीं, नृप ही हो सकता है अतः यहाँ परिणामालङ्कार ध्वनित होता है (उपमेय के वाच्य होने पर भी प्रकृतोपयोगी उपमान की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा होने के कारण परिणाम, वाच्य नहीं, व्यङ्ग्य माना जाता है) यह कथा विद्याधर ने अपने ग्रन्थ में कही जिसका खण्डन अप्पय दीक्षित ने अपने ग्रन्थ में किया। खण्डन करने में उनकी युक्ति यह है कि—आरोप्यमाण-नृप का उपयोग आक्रमणरूप कार्य में अवश्य होता है पर अपने रूप में ही–नृपरूप में ही, उपमेय(चन्द्र)रूप में नहीं, अतः यहाँ परिणाम अलङ्कार नहीं हो सकता, क्योंकि वह वहाँ होता है जहाँ उपमान उपमेय रूप से प्रकृतकार्य में उपयोगी होता हो। इस पर ग्रन्थकार (पण्डितराज) का कथन है कि–दीक्षितजी के द्वारा किया गया उक्त खण्डन उचित नहीं है। कारण, 'विजृम्भण' का अर्थ यहाँ केवल प्रागल्भ्य (शत्रु पर सफल आक्रमण करने से होनेवाला एक प्रकार का हृदय-विकास) कवि का अभिमत नहीं है। यदि वैसा रहता तब यह कहा जा सकता था कि–यशःकर्तृक (यश द्वारा किये जानेवाले) आक्रमण में नृप नृपरूप से ही उपयोगी (उस आक्रमण का कर्म) होगा। अपि तु यहाँ विजृम्भण का कवि-विवक्षित अर्थ है–सर्वाधिक निर्मलतारूप गुण में अद्वितीय होने के कारण होनेवाला उत्कर्षविशेष। और आक्रमण का अर्थ तो न्यग्भाव (नीचा दिखाना) ही है। ऐसी स्थिति में इस तरह के विजृम्भण का उपयोगी चन्द्र-कर्मक (चन्द्र के ऊपर किया गया) आक्रमण ही हो सकता है, नृपकर्मक (नृप के ऊपर किया गया) आक्रमण नहीं। अभिप्राय यह हुआ कि–यहाँ चन्द्ररूप नृप को निर्मलता के विषय में नीचा दिखाकर यश का उत्कर्ष (अद्वितीय निर्मल होना) ही कवि का प्रतिपाद्य है। अतः यह सिद्ध हुआ कि उपमानरूप से अभिव्यक्त होने पर भी नृप का आक्रमण में उपयोग चन्द्ररूप से ही होता है इसलिये विद्याधर ने जो इस पद्य को परिणामालङ्कारध्वनि का उदाहरण कहा वह सुन्दर–उचित ही है। यहाँ नागेश कहते हैं कि–"विद्याधर की उक्ति को सुन्दर बतलाना चिन्तनीय है, क्योंकि यहाँ 'राजा' शब्द अनेकार्थक (चन्द्र और नृप दो अर्थवाला) है, 'विजृम्भते' यह क्रियापद भी द्व्यर्थक (प्रागल्भ्य और निर्मलता के विषय में अद्वितीय होने के कारण होनेवाला उत्कर्षविशेष इन दो अर्थों वाला) है, और शक्ति को सङ्कुचित करनेवाला प्रकरण आदि कुछ है नहीं। ऐसी दशा में 'सर्वदो माधवः' की तरह यहाँ भी दोनों अर्थ (चन्द्र तथा नृप) अभिधाशक्ति से ही बोधित होंगे, अतः श्लेष का ही उदाहरण है, फिर परिणाम कहाँ? और नृप की व्यञ्जना कहाँ? अर्थात् इन दोनों में से एक भी बात(यहाँ) नहीं है। रहा प्रस्तुत नरसिंह राजा का उत्कर्ष सिद्ध करना, सो वह तो त्वदीय यशोद्वारा चन्द्र को आक्रान्त करने से जिस तरह सिद्ध होता है उसी तरह अपने द्वारा अन्य नृपों को आक्रान्त करने से भी सिद्ध हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में राजपद के दो (चन्द्र और नृप) अर्थों के दो प्रकार की विजृम्भण क्रिया में अन्वय होने से 'राजानौ' यह द्विवचनान्त प्रयोग होना चाहिए इस आपत्ति का उठाना भी कुछ महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि 'न ब्राह्मणं हन्यात्' की तरह एकवचन भी हो सकता है और समाहार द्वन्द्व के विषय में भी कुछ वैयाकरणों ने एकशेष माना है तदनुसार एकशेष करके भी एकवचन को शुद्ध सिद्ध किया जा सकता है।" इस नागेशोक्ति का खण्डन आंशिक रूप से भट्ट मथुरानाथ जी ने अपनी टिप्पणी में यों किया है—"'राजा को आक्रान्त

कर जिस (नृप) का यश विजृम्भित होता है' इस उक्ति में कवि ने श्लिष्ट प्रयोग (राजा) करने का जो प्रयास किया है उससे यह प्राकरणिक अर्थ पर्यवसित होता है कि-'प्रतिस्पर्धी नृप को आक्रान्त कर जिस तरह यह नृप विजृम्भित होता है उसी तरह अन्य नृपों के उपमानभूत यश को आक्रान्त कर इस नृप का यश विजृम्भित होता है।' इस तरह चन्द्र का प्रकरण साफ ज्ञात होता है, अतः उस प्रकरण से 'राजा पद' की शक्ति चन्द्र में अवश्य नियन्त्रित होगी और उसके नियन्त्रित हो जाने पर 'नृप' रूप अर्थ व्यङ्ग्य ही होगा, फिर जो नागेश जी ने 'शक्ति नियन्त्रित नहीं होती, दोनों अर्थ वाच्य ही हैं' इत्यादि बातें कही हैं वे ठीक नहीं।" (मुझे तो भट्ट जी की व्याख्या के अनुसार भी दोनों ही अर्थ प्राकरणिक प्रतीत होते हैं) उक्त भट्ट जी द्वारा वर्णित आशय को हृदय में रखकर अथवा हिन्दी रसगङ्गाधरकार द्वारा कथित 'उक्त द्विवचनापत्ति तथा उसके समाधान की क्लिष्टकल्पना' को हृदय में रखकर आगे नागेश ने कहा है कि-"अथवा रहे आरोप-अर्थात् चन्द्र और नृप में से एक उपमेय तथा दूसरा आरोपित समझा जाय-तथापि नृप ही आरोप्यमाण (उपमान) और चन्द्र ही उपमेय हो इसमें क्या नियामक हो सकता है ? अर्थात् आप जो चन्द्र को उपमेय और नृप को आरोप्यमाण मान कर परिणाम की बात करते हैं, सो यह भी तो माना जा सकता है कि नृप ही उपमेय और चन्द्र ही उपमान हो तब आपका 'परिणाम' कैसे होगा ? अप्पय दीक्षित का भी तात्पर्य इसी युक्ति में है-अर्थात् उन्होंने जो विद्याधर का खण्डन किया है उसका रहस्य भी यही है कि-नृप नहीं, चन्द्र ही यहाँ उपमान है और उसका उपयोग भी आपके हिसाब से अपने रूप में ही होता है, अतः यहाँ परिणाम नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि प्रागल्भ्य भी तो विजृम्भण का अर्थ है अतः नृपरूप से भी नृप आक्रमण में उपयोगी हो ही सकता है, फिर नृप को उपमान मानकर भी परिणाम नहीं सिद्ध किया जा सकता। आप कहेंगे विजृम्भण का जो अर्थ पण्डितराज ने लिखा है वही कवि का भी तात्पर्य विषय है और तदनुसार तो नृप अपने रूप से आक्रमण में उपयोगी होता नहीं, तो इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि पण्डितराजोक्त विजृम्भण पदार्थ में ही कवि का तात्पर्य है इसमें प्रमाण नहीं।" हिन्दी रसगङ्गाधरकार चतुर्वेदी जी यहाँ कहते हैं कि-'प्रमाण रहे अथवा नहीं, पर विद्याधर का तात्पर्य उसी अर्थ में है जो पण्डितराज ने लिखा है, अन्यथा परिणाम-ध्वनि की बात यहाँ वे नहीं लिखते।'

दीक्षितोक्तमप्यग्रे खण्डयति—

यदपि तैरेव परोक्तिं दूषयित्वा स्वयं परिणामस्य व्यङ्ग्यतायामुक्तम्—

"-'चिराद् विषहसे तापं चित्त ! चिन्तां परित्यज।
नन्वस्ति शीतलः शौरेः पादाब्जनखचन्द्रमाः॥'

अत्र चिरतापार्तं प्रति हरिपादनखचन्द्रसद्भावप्रदर्शनेन तमेव निषेवस्व तन्निषेवणादयं तव तापः शान्तिमेष्यतीति परिणामो व्यज्यते" इति, तदयुक्तम्। 'आरोप्यमाणस्य विषयात्मकतया प्रकृतकार्योपयोगे परिणामः' इति स्वयमेवोक्तम्। तत्र प्रकृतकार्योपयोगमात्रं न परिणामशरीरम्। अपि तु विषयिगतायाः प्रकृतकार्योपयोगितायाः अवच्छेदकीभूतं विषयतादात्म्यम्। एवं चात्र नखचन्द्रसद्भावप्रदर्शनेन तन्निषेवणादयं तव तापः शान्तिमेष्यतीति प्रकृतोपयोगिताया व्यङ्ग्यत्वेऽपि तदवच्छेदकीभूतस्य विषयिणि विषयतादात्म्यरूपस्य परिणामस्य वाच्यवाच्यत्वात् शक्यसंसर्गत्वाद्वा सर्वथैव न व्यङ्ग्यत्वं वक्तुमुचितम्।

तैरेवेति। अप्पयदीक्षितैरेवेत्यर्थः। परोक्तिं विद्याधरोक्तिम्। व्यङ्ग्यतायामिति। उदा-

हरणमिति शेषः । तदुक्तमुदाहरणमनुवदति—चिरादिति । हे चित्त !, त्वम्, चिरात् बहोः कालात्, तापम् भवानलज्वालाम्, विषहसे अनुभवसि, (अतश्चिन्तितस्तिष्ठसि) परन्तु तां चिन्तां, परित्यज मुञ्च । शौरेः श्रीकृष्णस्य, यत् पादाब्जम् चरणकमलम्, कमलसदृशचरणाविति यावत्, तस्य ये नखाः तद्रूपश्चन्द्रमाः, (शौरेः पादाब्जेत्यत्र 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इतिवत् समासः) ननु निश्चयेन अस्तीति तदर्थः । संसारतापाकुलस्य पुंसः स्वमानसं प्रत्युक्तिरियम् । दीक्षितोक्तपरिणामध्वनिप्रतिपादनप्रकारमनुवदति—अत्रेति । दीक्षितोक्तं निरस्यति—तत्तुच्छमिति । तुच्छत्वे हेतुमाह—आरोप्यमाणस्येत्यादिना । विषयिगताया इति । उपमाननिष्ठाया इत्यर्थः । विषयतादूप्यमिति । उपमेयतादूप्यम् इत्यर्थः । परिणामशरीरमित्यस्यानुषङ्गः । फलितमाह एवं चेति । उक्तस्य परिणामशरीरत्वे चेत्यर्थः । वैयाकरणमतेनाह—वाक्येति । नैयायिकमतेनाह—शक्येति । 'चिराद् विषहसे—'इति श्लोके चिरतापार्तं चित्तं प्रति हरिपादनखचन्द्रसद्भाव उक्तः । तेन 'तमेव सेवस्व, तत्सेवनादेव ते तापः शान्तो भविष्यति इत्यर्थो व्यज्यते । एष चार्थः परिणामालङ्काररूपः, उपमानस्य चन्द्रस्य नखरूपोपमेयात्मकतया तापशान्तिरूपप्रस्तुतकार्ये उपयोगात् । तथा च परिणामालङ्कारध्वनेरुदाहरणं पद्यमिदं भवतीति दीक्षितेनोक्तम् न युक्तम्, विचारासहत्वात् । तथाहि—'उपमानं यत्रोपमेयरूपेण प्रकृतकार्योपयोगि तत्र परिणामः' इति स्वयं दीक्षितेनापि कथितम् । तेन केवलस्य प्रकृतकार्योपयोगस्य परिणामस्वरूपत्वं न सिद्धयति, अपि तु उपमानगतप्रकृतकार्योपयोगितावच्छेदकोपमेयतादूप्यस्य तत्स्वरूपत्वं सिद्धयति—अर्थात् प्रकृतकार्योपयोगः उपमाने उपमेयतादूप्यम् चेत्युभयांशस्य परिणामरूपता सिद्धयति । एवं स्थिते परिणामस्य व्यङ्ग्यताऽत्र न सम्भवति, उभयोरंशयोः परिणामघटकप्रकृतोपयोगांशस्य 'नखचन्द्रसेवनादेव तव तापः शान्तो भविष्यति' इत्याकारस्य, नखचन्द्रसद्भाववर्णनेन व्यङ्ग्यत्वेऽपि 'उपमाने उपमेयतादूप्यम्' इत्यंशान्तरस्य परिणामशरीरघटकस्याव्यङ्ग्यत्वात् । कथं तर्हि अव्यङ्ग्यत्वम् इति चेत् ? वैयाकरणमते पृथक् समासशक्तेः स्वीकारेण 'पादाब्जनखचन्द्रमाः' इति समस्तवाक्यस्य नखचन्द्रमसोरिव तदीयतादूप्येऽपि शक्तेः सत्त्वेन तस्य वाच्यत्वात्, नैयायिकमते पुनः पृथक्शक्तेरस्वीकारेण तस्य वाच्यत्वविरहेऽपि संसर्गमर्यादया भानात् इति भावः ।

दीक्षित द्वारा कथित परिणाम-ध्वनि के उदाहरण का अनुवाद कर खण्डन किया जाता है—यदपि इत्यादि । अप्पयदीक्षित ने विद्याधर की उक्ति को दूषित कर 'चिराद्-विषहसे—अर्थात् हे चित्त ! तू बहुत समय से सन्ताप सह रहा है और चिन्ता कर रहा है, पर मेरा कहना है कि तू चिन्ता करना छोड़ दे । श्रीकृष्ण के चरण-कमल का नख-रूप शीतल चन्द्रमा निश्चय ही वर्तमान है ।' इस पद्य को परिणाम-ध्वनि का उदाहरण कहा है और उसके उपपादन में लिखा है कि—यहाँ चिरकाल से सन्ताप-पीड़ित चित्त के प्रति 'श्रीकृष्ण के चरणकमल का नखरूप चन्द्र की सत्ता' दिखाने से जो 'उसी का सेवन करो, उसके सेवन से तेरा यह ताप शान्त होगा' यह अर्थ ध्वनित होता है वह परिणामालङ्काररूप है, क्योंकि इस अर्थ में उपमान(चन्द्र)का उपयोग उपमेय(नख) रूप से तापशान्तिरूप-प्रस्तुत कार्य में स्पष्ट है । पर उनका यह कथन ठीक नहीं है । कारण, विचार करने पर यहाँ परिणाम का व्यङ्ग्य होना सिद्ध नहीं होता । देखिए—उन्होंने स्वयं कहा है कि—'उपमान का उपमेयरूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोग होने पर परिणाम होता है ।' इस कथन से केवल प्रस्तुत कार्य में उपयोग परिणाम का स्वरूप सिद्ध नहीं होता, किन्तु उपमान में रहनेवाली कार्योपयोगिता का अवच्छेदक-अर्थात् उपयोगिता का विलक्षण परिचायक-उपमेय का तादूप्य ही परिणाम का स्वरूप (लक्षण)

सिद्ध होता है तात्पर्य यह कि–उपयोगिता का नाम परिणाम नहीं, अपि तु उपयोगिता के अवच्छेदक ताद्रूप्य का नाम है। सारांश यह निकला कि–कार्योपयोग तथा–उपमान में उपमेय का ताद्रूप्य इन दोनों अंशों का सम्मिलित नाम परिणाम है। ऐसी स्थिति में यहाँ नख-चन्द्र की सत्ता के वर्णन से 'उसके सेवन से तेरा यह ताप शान्त होगा' इस प्रकृत-कार्योपयोगांश–अर्थात् उपमान की उपमेयरूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोगिता–की व्यङ्ग्यता सिद्ध होने पर भी, उस उपयोगिता के अवच्छेदक–उपमान में उपमेय के ताद्रूप्य—(जो परिणाम का स्वरूप है) की व्यङ्ग्यता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि वह अंश अतिरिक्तसमासशक्तिवादी वैयाकरणों के मत से 'पादाब्जनखचन्द्रमाः' इस वाक्य का वाच्य ही होता है, समास-शक्ति नहीं मानने वाले नैयायिकों के मत से भी वह अंश (ताद्रूप्य) शब्दार्थ के सम्बन्धरूप से भासित होता है। सारांश यह कि–जिन दो अंशों को मिलाकर परिणाम का स्वरूप तैयार होता है उन दोनों अंशों में से एक अंश यहाँ अवश्य ही व्यङ्ग्य है, पर दूसरा अंश व्यङ्ग्य नहीं है—वह वाच्य अथवा सम्बन्ध रूप है, अतः 'परिणाम (उक्त दो अंशों का मिश्रित स्वरूप) यहाँ व्यङ्ग्य हुआ है' ऐसा नहीं कहा जा सकता। फलतः यह पद्य परिणाम-ध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता।

स्वसम्मतं परिणामध्वन्युदाहरणं दर्शयितुमाह—

इदं तूदाहरणं युक्तम्—

तु पुनः, इदं निम्ननिर्दिष्टम्, उदाहरणं परिणामध्वनेरिति यावत्, युक्तम् उचितमित्यर्थः।

परिणामध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित पद्य हो सकता है—

उदाहरणं निर्दिशति—

'इन्दुना परसौन्दर्यसिन्धुना बन्धुना विना।
ममायं विषमस्तापः केन वा शमयिष्यते॥'

परस्य उत्कृष्टस्य, सौन्दर्यस्य रमणीयतायाः सिन्धुना सागरेण, (एतेन सौन्दर्यस्यामृतरूपता ध्वन्यते) अतिसुन्दरेणेति यावत्, बन्धुना बन्धुवद्धितसाधकेनेति यावत्, इन्दुना चन्द्रेण (रमणीमुखेनेति व्यङ्ग्योऽर्थः) विना, विषमः भयङ्करः, मम अयम्, तापः विरहताप इति भावः, केन, शमयिष्यते शान्तो विधास्यते, काका न केनापीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—इन्दुना इत्यादि। परम सौन्दर्य के समुद्र मेरे बन्धु चन्द्रमा के विना (व्यञ्जनया सुन्दर रमणीमुख के विना) मेरा यह विषम ताप (विरहताप) अन्य किस से दूर किया जा सकता है?

उपपादयति—

अत्र वक्तुर्विरहितया व्यज्यमानरमणीवदनाभिन्नत्वेनेन्दुरभिप्रेतः। तेन रूपेणैव तस्य प्रकृतविरहसन्तापशमनहेतुत्वात्।

'इन्दुना—' इति पद्यस्य विरही प्रकरणप्राप्तो वक्ता। विरहिणो विरहजन्यतापस्य शमकः चन्द्रः चन्द्रत्वेन रूपेण न सम्भवति, तस्योद्दीपकत्वेन स्वरूपतो विरहतापवर्धकत्वात्। अतोऽत्र प्रेयसीमुखाभिन्नः (तद्रूपः) चन्द्रो वक्तुरभिप्रेतः। प्रेयसीमुखस्य नात्र वाच्यम्, अपि तु वक्तुर्विरहिणा प्रकरणप्राप्तेन व्यञ्जनम्। [illegible] व्यङ्ग्यरमणीमुखस्योपभोगात्मकत्वेन तापशान्त्युपयुज्यमानत्वात्परिणामध्वनिरिति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'इन्दुना—' इस पद्य का वक्ता प्रकरणप्राप्त विरही है। अतः ध्वनित होनेवाले सुन्दरी-मुख से अभिन्न रूपमें चन्द्र अभिमत है। तात्पर्य यह कि–विरही वक्ता को सुन्दरी-मुखचन्द्र चाहिए, वह प्रसिद्ध चन्द्र नहीं।

कारण, विरहताप को चन्द्र रमणीमुखरूप से ही शान्त कर सकता है, अपने रूप से (चन्द्ररूप से) नहीं। अभिप्राय यह कि-यहाँ व्यङ्ग्य(उपमेय)रमणीमुखरूप से, वाच्य उपमान(चन्द्र), तापशान्तिरूप-प्रस्तुत कार्य में उपयोगी होता है, अतः यह पद्य परिणाम-ध्वनि का उदाहरण है।

अथातिशयोक्तिमाशङ्क्य निराकुरुते—

न चात्र विषयनिगरणात्मिकातिशयोक्तिर्वक्तुं शक्या, तस्यां ह्यारोप्यमाणाभिन्नत्वेन विषयस्य प्रत्ययात्। यथा 'कमलं कनकलतायाम्' इत्यादौ कनकलताऽभिन्नायां वनितायां कमलाभिन्नं मुखमिति।

अतिशयोक्तेर्यो भेदस्तादृशः सर्वसम्मतो यत्र विषयः (उपमेयभूतः पदार्थः) निगीर्णो भवति-अर्थात् उपमेयबोधविषयोपमानवाचकपदमेवोपात्तं भवति, उपमेयवाचकं पदं न। सोऽतिशयोक्तेर्भेद एव 'इन्दुना—' इत्यत्र कुतो नाङ्गीक्रियते? अत्रापि उपमेयतात्पर्येणोपमानमात्रोपादानादिति शङ्काकर्तुराशयः। अतिशयोक्तौ उपमानाभिन्नत्वेनोपमेयस्य प्रतीतिर्भवति-अर्थात् उपमानप्रतियोगिकाभेद उपमेये गृह्यते, यथा 'कनकलतायां कमलम्' इत्यत्र सुवर्णलताभिन्नायां कामिन्यां कमलाभिन्नं मुखमिति प्रतीयते-अर्थात् 'कनक—' इत्यत्र कनकलताकमलयोरुपमानभूतपदार्थयोः अभेदः कामिनीतन्मुखयोरुपमेयभूतयोः पदार्थयोर्विज्ञायते। अतः तत्रातिशयोक्तेरुक्तो भेदः सम्भवति, प्रकृते तु नेति च समाधानाशयः।

यहाँ अतिशयोक्ति की आशङ्का करके उसका समाधान किया जाता है-न च इत्यादि। 'इन्दुना—' इस पद्य में परिणाम व्यङ्ग्य नहीं है, किन्तु वाच्य अतिशयोक्ति है, क्योंकि यहाँ उपमान-चन्द्र-के द्वारा उपमेय-मुख-का निगरण है, मुख का बोध कराने के लिये ही चन्द्र पद प्रयुक्त हुआ है ऐसी आशङ्का भी उचित नहीं। कारण, अतिशयोक्ति में उपमेय की प्रतीति उपमान से अभिन्नरूप में होती है। जैसे—'कनकलता में कमल' यहाँ 'कनकलता से अभिन्न कामिनी में कमल से अभिन्न मुख' यह प्रतीति होती है।

ननु प्रकृते ईदृशी प्रतीतिरप्यतिशयोक्तेः प्रतिकूला परिणामस्य चानुकूलेति चेत्? तादृशीम् प्रतीतिमुपपादयति—

इह तु मुखस्य चन्द्राभिन्नत्वेन प्रत्यये न पुनर्विरहतापशमनरूपप्रकृतकार्यसिद्धिरिति चन्द्रस्यारोप्यमाणस्य मुखरूपविषयाभिन्नत्वं मृग्यम्। तच्च व्यङ्ग्यतायामेव भवतीति परिणामध्वनिरेवायम्, नातिशयोक्तिः।

सुगमेयं पङ्क्तिः। तच्च तदभिन्नत्वम्। व्यङ्ग्यतायामिति। परिणामस्य व्यङ्ग्यतायामिति भावः। उपमेयस्य व्यङ्ग्यता परिणामोत्थापकतायामिति बोध्यम्। 'इन्दुना—' इति पद्ये उपमानस्य चन्द्रस्योपमेयभूतमुखाभिन्नत्वं गृह्यते, अर्थात् मुखप्रतियोगिकाभेदाश्रयश्चन्द्र इत्येवानितरान्यप्रतीतिः, न तु मुखस्योपमेयस्य चन्द्ररूपोपमानाभिन्नत्वं गृह्यते—अर्थात् चन्द्रप्रतियोगिकाभेदाश्रयीभूतं मुखम् इति प्रतीतिर्न भवति, यतः तादृशप्रतीतौ मुखस्यापि चन्द्ररूपतापत्तौ प्रस्तुतस्य विरहतापशान्तिरूपस्य कार्यस्य पूर्तिर्न भवितुमर्हेत्, चन्द्रकर्तृकोऽयम् इति बुद्धेरपि चन्द्रोऽयम् इति बुद्धिवत् विरहतापकारकत्वस्यैवानुभवसिद्धत्वात्। एवञ्चोपमानप्रतियोगिकाभेदाश्रयोपमेयप्रतीतिमूलकः अतिशयोक्तिभेदः सम्भवन्नुक्तः। परिणामस्तु प्रकृतकार्योपयोग्युपमेयप्रतियोगिकोपमानाश्रयकाभेदप्रतीतिमूलकः सम्भवन्नुक्तिक एव। स च परिणामोऽत्र न वाच्यः, उपमेयस्यावाच्यत्वात् अपि तु व्यङ्ग्यः, उपमानविष्ठ

तादात्म्यप्रतियोग्युपमेयस्य व्यङ्ग्यत्व एव 'परिणामो व्यङ्ग्यः' इति व्यवहारात् । तथा च परिणामध्वनिरत्र ग्राह्य इति भावः ।

प्रकृत पद्य से कैसे प्रतीति होती है जो अतिशयोक्ति के प्रतिकूल पड़ती है और परिणाम के अनुकूल ? तथा वैसी ही प्रतीति क्यों होती है ? इन जिज्ञासाओं की शान्ति के लिये कहा जाता है—इह तु इत्यादि । 'इन्दुना—' इस पद्य से चन्द्ररूप उपमान में मुखरूप उपमेय का अभेद प्रतीत होता है, क्योंकि वही समुचित है और औचित्य यह है कि—उस प्रतीति से चन्द्र को मुखरूप समझना फलित होता है जिससे विरह-तापशान्तिरूप प्रस्तुत कार्य की सिद्धि होती है । प्रेयसीमुखदर्शन से विरहशान्ति अनुभव-सिद्ध है । मुखरूप उपमेय में चन्द्ररूप उपमान का अभेद तो यहाँ प्रतीयमान माना नहीं जा सकता, क्योंकि उस तरह की प्रतीति से मुख को भी चन्द्ररूप समझना फलित होगा और 'चन्द्ररूप यह है' इस तरह की प्रतीति होने पर उक्त प्रस्तुत कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती—अर्थात् किसी को चन्द्ररूप समझ लेने पर विरहियों की ताप-वृद्धि ही अनुभवसिद्ध है । ऐसी स्थिति में यहाँ वह अतिशयोक्ति हो नहीं सकती जिसके लिये उपमेय में उपमारूपता की प्रतीति नियमतः अपेक्षित है । हाँ, वह परिणाम अवश्य हो सकता है जिसके लिये उपमान में उपमेयरूपता की प्रतीति अपेक्षित रहती है और उपमेयरूप में ही उपमान का प्रस्तुत कार्योपयोगी होना अपेक्षित ही रहता है । पर यहाँ का यह परिणाम वाच्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस पर चमत्कार निर्भर है वह उपमेय यहाँ वाच्य नहीं है, व्यङ्ग्य वह यहाँ कहा जा सकता है, क्योंकि जिसका तादात्म्य गृहीत होने से चमत्कार उत्पन्न होता है उस उपमेय के व्यङ्ग्य होने पर ही व्यङ्ग्य परिणाम का व्यवहार होता है । अतः यहाँ परिणाम ध्वनि है अतिशयोक्ति नहीं, यह सारांश समझना चाहिए ।

ध्वनि-विशेषत्वं प्रकृतध्वनेः स्फोरयति—

अयं त्वर्थशक्तिमूलः ।

'इन्दुना—' इति श्लोकगतः परिणामध्वनिः अर्थशक्तिमूलः, पदानां परिवृत्तिसहत्वा-दिति भावः ।

'इन्दुना—' इस पद्य में होनेवाली परिणामध्वनि अर्थशक्तिमूलक है, क्योंकि यहाँ के पद परिवृत्तिसह हैं—बदले जा सकते हैं । सारांश यह कि जहाँ शब्द बदलने योग्य रहते हैं—अर्थात् जहाँ जिन शब्दों के स्थान पर तत्पर्याय दूसरे शब्दों को रखने पर भी ध्वनि होती ही रहे—वहाँ वे शब्द ध्वनिसाधक होते नहीं, अपितु वह अर्थ ध्वनिसाधक सिद्ध होता है, अतः वहाँ की ध्वनि अर्थशक्तिमूलक कहलाती है ।

भेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

शब्दशक्तिमूलपरिणामध्वनिर्यथा—

शब्दशक्तिमूलक परिणामध्वनि का उदाहरण जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

'पान्थ मन्दमते किं वा सन्तापमनुविन्दसि ।
पयोधरं समाश्रयस्व येन शान्तिमवाप्नुयाः ॥'

हे मन्दमते मन्दबुद्धे, पान्थ पथिक ! विरहिन् ! वा अथवा [illegible], किं निमित्तम्, सन्तापं प्रबलं दाहम्, अनुविन्दसि प्राप्नोषि ? पयोधरं मेघं (वस्तुतः स्तनम्), समाश्रयस्व, (तस्याशां कुरु इति सदुद्देशार्थः), येन आश्रयविशेषेण, शान्तिम्, अवाप्नुयाः लभेथाः इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—पान्थ इत्यादि। हे *मन्दबुद्धिवाले पथिक!* तू क्यों सन्ताप पा रहा है? शीघ्र पयोधर (मेघ वस्तुतः स्तन) की आशा कर, जिससे कि शान्तिलाभ हो।

उपपादयति—

अत्र झगिति तापशमहेतुत्वेनोपस्थिते पश्चान्मन्द-(मति-पद)-बोधनीयविशेष्यकस्मरतापवत्ताविषयिण्यबुद्धौ सत्यां सहृदयस्य तादृशतापशामकरमणीस्तनरूपविषयतादात्म्यबुद्धिर्भवति।

झगिति शीघ्रम्। उपस्थिते इति। मेघे इति भावः। अयं भावः—'पान्थ—'इत्यत्र पयोधरपदात् प्रथमं तापशान्तिकारणत्वेन प्रसिद्धो मेघरूपार्थ उपस्थितो भवति, ततः 'मन्दमते' इति सम्बोधनस्य 'विरहतापशान्त्युपायानवधारणेन तव बुद्धौ मन्दता' इत्यर्थानुसन्धानेन 'विरही स्मरतापवत्ताविशिष्टः' इत्याकारके मन्दमतिपदबोध्यविरहिविशेष्यकस्मरतापवत्ताविशिष्ट्यज्ञाने सति सहृदयः प्रागभिधयोपस्थिते पयोधरपदार्थरूपे उपमाने स्मरतापशमनकारणकामिनीस्तनरूपोपमेयतादात्म्यं बुध्यते इति। प्रागभिधयोपस्थितः पयोधरपदार्थो मेघोऽत्रोपमानम्, [illegible] पयोधरपदार्थ एव रमणीस्तन उपमेयः, अनयोश्च तादात्म्यमत्र [illegible] प्रतियोगी, तत्प्रतियोगिकतादात्म्य [illegible] तादात्म्यस्याश्रयः। तथा च [illegible] प्रतीत्या परिणामः स्पष्टः, स चोपमेयस्य व्यङ्ग्यत्वेन व्यङ्ग्य इति परिणामध्वनिः पयोधरपदस्य परिवृत्त्यसहतया शब्दशक्तिमूल इति स्पष्टार्थः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'पान्थ मन्दमते—' इस पद्य में तापशान्ति के कारणरूप में प्रसिद्ध होने के कारण, प्रथमतः 'पयोधर' पद से मेघरूप अर्थ अभिधावृत्ति द्वारा उपस्थित होता है। परन्तु बाद में जब 'मन्दमति' इस सम्बोधन की ओर ध्यान जाता है और तापशान्ति का उपाय न सोच सकने के कारण विरही मन्दबुद्धि है यह विदित हो जाता है तब अनायास ही मन्दमति पद से अवगत होनेवाला—विरही—जिसमें विशेष्य होता है और कामताप जिसमें विशेषण होता है ऐसा—अर्थात् 'विरही कामतापवाला है' इस तरह का बोध हो जाता है, और इस बोध के हो जानेपर व्यञ्जना द्वारा कामतापशामकरूप में पयोधर पद से ही उपस्थित होनेवाले कामिनीस्तनरूप उपमेय का तादात्म्य उसी पद से अभिधाद्वारा पहले उपस्थित मेघरूप उपमान में सहृदय को ज्ञात होता है। कहने का सारांश यह कि—अभिधाद्वारा उपस्थित मेघरूप पयोधर पदार्थ उपमान है और व्यञ्जना द्वारा उपस्थित पयोधर पद का ही अर्थ—कामिनीस्तन उपमेय है। इन दोनों में से उपमेय का ही तादात्म्य उपमान में यहाँ प्रतीत होता है, उपमान का तादात्म्य उपमेय में नहीं, क्योंकि उपमेय(स्तन)से अभिन्न उपमान(मेघ) को समझने से ही कामतापशान्तिरूप कार्य की सिद्धि हो सकती है, मेघरूप उपमान से अभिन्न स्तनरूप उपमेय को समझने से नहीं। ऐसी स्थिति में परिणाम यहाँ स्पष्ट है और वह व्यङ्ग्य इसलिये माना जाता है कि—उपमेय व्यङ्ग्य है। फलतः परिणामध्वनि का उदाहरण यह पद्य ठीक है। यह ध्वनि शब्दशक्तिमूलक इसलिये मानी जाती है कि—'पयोधर' पद यहाँ परिवर्तित होने योग्य नहीं है।

परिणामगतदोषपरिचायनायाह—

दोषाश्चात्रापि पूर्ववदुन्नेयाः।

रूपके यथा ये लिङ्गभेदादयो दोषा उक्तास्ते तथैवात्रापि बोध्या इति भावः।

रूपक में जो लिङ्गभेद आदि दोष बतलाए गए हैं वे ही सब दोष परिणाम में भी हो सकते हैं यह समझ लेना चाहिए।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायां परिणामालङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

परिणामालङ्कारनिरूपणानन्तरमिदानीं ससन्देहालङ्कारनिरूपणं कर्तव्यत्वेन प्रतिजानीते—

अथ ससन्देहः—

अथेति। परिणामालङ्कारनिरूपणानन्तरमित्यर्थः। ससन्देहः। तदाख्योऽलङ्कारः। निरूप्यते इति शेषः।

'परिणाम' का निरूपण कर लेने के बाद अब 'ससन्देह' का निरूपण किया जाता है—

तत्र सामान्यलक्षणमाह—

सादृश्यमूला भासमानविरोधका समबला नानाकोट्यवगाहिनी धीः रमणीया ससन्देहालङ्कृतिः।

सादृश्यमूलेति। सादृश्यज्ञानरूपदोषजन्येत्यर्थः। भासमानेति। भासमानः = विषयी-भवन् विरोधो यस्याम् सा भासमानविरोधा, ततः समासान्ते कप्रत्यये, पूर्वाकारस्य ह्रस्वत्वे, टापि यथोक्तं रूपं सिद्ध्यति। धकारोत्तराकारस्येत्त्वं तु वैकल्पिकत्वान्नेति भावः। समबलेति। समानकोटिद्वयभासकसामग्रीजन्येत्यर्थः। नानेति। स्फुटत्वार्थमिदम्। कोट्य-वगाहिनीति। विरुद्धानेकधर्मविषयिणीति समुदितार्थः। धीः। बुद्धिरित्यर्थः। रमणी-येति। चमत्कारकरीत्यर्थः। ससन्देहालङ्कृतिरिति। तादृशधीवृत्तिसन्देहत्वप्रकारक-ज्ञान-विषया बुद्धिः ससन्देहालङ्कृतिरिति विवक्षितोऽर्थः। ईदृशविवक्षाफलं प्रथमोदाहरणव्याख्यायां स्फुटीभविष्यति।

सर्वप्रथम ससन्देह का लक्षण किया जाता है—सादृश्यमूलेत्यादि। सादृश्य-ज्ञान-रूप दोष से होनेवाला एवं जिसमें विरोध भासित होता हो और जिसमें अनेक कोटियों को भासित करनेवाली सामग्री (कारणसमूह) समानबलशालिनी हो ऐसा अनेक कोटियों (धर्मविशेषों) का अवगाहन करनेवाला ज्ञान, सुन्दर होने पर, 'ससन्देह' अलङ्कार कहलाता है। तात्पर्य यह कि उक्त तरह के सन्देह पदार्थ का ज्ञान 'ससन्देह' अलङ्कार होता है। इस तरह के तात्पर्य-वर्णन का फल उदाहरण की व्याख्या में स्पष्ट किया जायगा।

पदकृत्यान्याह—

'अधिरोप्य हरस्य हन्त चापं परितापं प्रशमय्य बान्धवानाम्।
परिणेष्यति वा न वा युवाऽयं निरपायं मिथिलाधिनाथपुत्रीम्॥'

अत्र मिथिलास्थजनोक्तौ चिन्ताभिव्यञ्जके संशयमात्रेऽतिव्याप्तिवारणाय सा-दृश्यमूलेति। सादृश्यज्ञानरूपदोषजन्येत्यर्थः। तेन 'सिंहवत् प्रान्तरं गच्छ गृहं सेवस्व वा श्ववत्' इत्युपमानविकल्पे वाक्यप्रतीतविरोधकप्रान्तरगमन-गृहसेवन-रूपनानाधर्मावगाहिनि सादृश्यविषयकेऽपि नातिप्रसङ्गः। तस्य सादृ-श्यज्ञानरूपत्वात्। मालारूपकातिप्रसङ्गवारणाय भासमानविरोधकेति। उत्प्रे-क्षाव्याप्तये समबलेति समानभासकसामग्रीकार्थकम्। एतद्विशेषणद्वयप्राप्तद्वै-धानेकत्वस्य स्फुटत्वार्थं नानेति। स्थाणुर्वा पुरुषो वेति लौकिकसंशयनिवृत्तये रमणीयेति, चमत्कारिणीत्यर्थः। एतच्च विशेषणं सामान्यालङ्कारलक्षणप्राप्तमेव।

एवमुपस्कारकत्वमपि बोध्यम्। एतद्विशेषणद्वयस्य सादृश्यमूलत्वस्य चाभावे संशयमात्रमेव।

सादृश्यमूलेतिविशेषणफलमभिधातुं पद्यमुपन्यस्यति—अधिरोप्य इति। अयं दृग्गोचरीभूतः, युवा युवकः रामचन्द्र इति यावत्, हरस्य शम्भोः, चापं धनुः, अधिरोप्य आकृष्य, बान्धवानां विश्वामित्रादीनाम्, परितापं चिन्ताविशेषम्, प्रशमय्य शमयित्वा, च, मिथिलाधिनाथस्य जनकस्य, पुत्रीं तनयाम् सीतामिति यावत्, निरपायं निर्विघ्नम् यथा स्यात्तथा, परिणेष्यति विवाहयिष्यति, न वा अथवा न विवाहयिष्यति इति तदर्थः। हन्त इति खेदे। खेदश्चाभिमतसीतारामपरिणयसंशयजन्य इति बोध्यम्। पद्यफलमुपपादयति—अत्रेत्यादिना। तच्चिन्तेति। मिथिलास्थजनचिन्तेत्यर्थः। संशयमात्रे इति। अलङ्कारत्वरहिते संशये इत्यर्थः। 'अधिरोप्य—' इत्यत्र रामकर्तृकसीताकर्मकपरिणयतदभावरूपविरुद्धकोटिज्ञानरूपः सन्देहो यद्यपि वर्णितस्तथापि नासावलङ्कारः तस्य चिन्तामूलकत्वेन सादृश्यमूलकत्वाभावात्। ईदृशसन्देहवारणायैव लक्षणे सादृश्यमूलत्वोक्तिरिति भावः। यद्यपि प्रकृतपद्ये संशयस्य न सादृश्यमूलत्वमिति यथाश्रुतेनैव वारणं सम्भवति, तथाप्यन्यत्राप्यदोषाय सादृश्यमूलेति विशेषणस्यार्थविशेषमाह—सादृश्यज्ञानेति। 'इदमस्य सदृशम्' इत्याकारकं यत् सादृश्यज्ञानम् तद्रूपो यो दोषः तज्जन्यः ज्ञानविशेष इति तदर्थः। [illegible]माह—तेनेति। तथार्थविवरणेनेत्यर्थः। 'सिंहवत्—' इति। 'सिंहो यथाऽरण्यं गच्छति तथा त्वमरण्यं गच्छ, अथवा श्वा कुक्कुरः, यथा गृहे शेते तथा त्वमपि गृहे शेष्व' इत्यर्थः। उपमाविकल्पोऽयम्। अत्र 'वा' पदेन विरोधः, [illegible]कोटिद्वयं सादृश्यं च विषयतया भासन्ते इति यथाश्रुतसन्देहलक्षणमत्रापि प्रसज्येत अतः 'सादृश्यमूला' इत्यस्यार्थविशेषकरणमावश्यकं जातम्, सादृश्यार्थकत्वे न [illegible] लक्षणातिप्रसक्तिः, तस्योपमाविकल्पस्य सादृश्यज्ञानरूपत्वेन सादृश्यज्ञानरूपदोषजन्यत्वविरहात् इति भावः। भासमानेतिविशेषणव्यावर्त्यं दर्शयितुं पद्यमवतारयति—मल्लकल्पेति। '[illegible]' इत्यादावित्यर्थः। सादृश्यज्ञानरूपदोषजन्यं [illegible] धर्मित्व-[illegible]-स्थिति-[illegible] ज्ञानं यद्यपि अत्र वर्णितम् तथापि न तत्र संशयत्वं प्रोषिताख्यानां [illegible] विरोधाभावेन 'भासमानविरोधका' इति विशेषणेन वारणात् इति भावः। समबलेतिविशेषणफलं दर्शयितुं पद्यमवतारयति—उत्प्रेक्षेति। 'धूमस्तोमं तमः शङ्के' इत्यादावित्यर्थः। ननु भासमानविरोधकत्वेऽपि समबलत्वं वस्तुतः कोट्योरेव पर्यवसीयते तथा च कथं तेन विशेषणेनोत्प्रेक्षाव्यावृत्तिः, तत्रापि तयोस्तुल्यबलत्वस्य सत्त्वादत आह—समानेति। समाना = समानविषयिका, भासिका = कोटिद्वयभानजनिका सामग्री यस्या विमर्शस्य सेत्यर्थः। तथा च कोटिद्वयभासकसामग्र्याः समबलत्वं विवक्षितम्, न तु कोट्योरिति भावः। एवञ्च वस्तुतो धीविशेषणमेव समबलेति सारांशः। अयमभिप्रायः—आहार्यसम्भावनात्मिकायां 'धूमस्तोमं तमः शङ्के' इत्याद्युत्प्रेक्षायां तमआदिविषयककोटिभासिका सामग्री उत्कटा, विषयांशे धूमादिपदार्थकोटिभासकहेतोरनुत्कटत्वात्, तथा च तस्यां धीर्न कोटिद्वयभासकसमबलसामग्रीजन्येति तद्वारणाय तदर्थकं 'समबला' इति विशेषणमिति। 'समाने भासते तादृशी भासनविषयकसामग्री समाना यस्याः [illegible]' इति सरलाकारस्य भट्टमहोदयस्य विवरणं वस्तुतत्त्वं कियत् स्पृशतीति दार्शनिकैः साहित्यिकैश्चावधारणीयम्। नन्वेवं नानेति व्यर्थमत आह—एतद्विशेषणद्वयेति।

'भासमानविरोधका' 'समबला' इति विशेषणद्वयेनार्थः। अनेकत्वयेति। अनेकधर्मकस्य संशयत्वेनार्थः। रमणीयमिति विशेषणफलं प्रदर्शयितुमाह- स्थाणुरिति। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति ज्ञानं यद्यपि संशयलक्षणाक्रान्तम्, तथापि नालङ्काररूपम्, तस्य लौकिकत्वेन (कविप्रतिभाऽनुत्थापितत्वेन) अचमत्कारित्वात्। एतद्वारणार्थमेव लक्षणे 'रमणीया' इति विशेषणप्रवेश इति भावः। नेदं विशेषणमत्र विशेषतो निवेशनीयम्, उपस्कारकत्वस्य रमणीयत्वस्य वा सकलालङ्कारलक्षणेषु सामान्यतो निवेशस्य आवश्यकत्वादित्याह—एतच्चेति। पर्यवसितमाह—एवमिति। रमणीयत्वोपस्कारकत्वद्वयेनार्थः। यः संशयो रमणीयः, उपस्कारकः, सादृश्यमूलो वा न भवेत्, स केवलः संशयः, नालङ्कार इति भावः।

उक्त ससन्देहालङ्कार के लक्षण में दिए गए विशेषणों के फल दिखलाये जाते हैं—अधिरोप्य इत्यादि। 'अधिरोप्य—अर्थात् हाय! शिवजी के धनुष को चढ़ाकर और विश्वामित्र आदि बान्धवों का सन्ताप शान्त कर यह युवक (रामचन्द्र) जनकतनया सीता को निर्विघ्न ब्याहेगा अथवा नहीं?' मिथिलापुरी के निवासियों की इस उक्ति में, उनकी (मिथिलावासियों की) चिन्ता को अभिव्यक्त करनेवाले शुद्ध (अलङ्कारत्व-शून्य) सन्देह में प्राप्त अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये लक्षण में 'सादृश्यमूला' यह विशेषण दिया गया है, जिसका अर्थ है 'सादृश्यज्ञानरूपदोष से उत्पन्न होनेवाली'। ऐसा अर्थ करने का फल यह है कि 'सिंहवत्—अर्थात् सिंह की तरह निर्जन वन में चला जा अथवा कुत्ते की तरह घर की सेवा करता रह।' इस उपमा-विकल्प (दो तरह के सादृश्यों का पाक्षिक ज्ञान) में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि यह विकल्प सादृश्यज्ञानरूप ही है, सादृश्य-ज्ञान-रूप-दोष से उत्पन्न होनेवाला नहीं। यदि ऐसा अर्थ नहीं किया जाता तब तो उक्त उपमा-विकल्प में अतिप्रसङ्ग हो ही जाता, क्योंकि वह भी—'वा' (अथवा) शब्द से जिनमें विरोध की प्रतीति होती है ऐसे वनगमन तथा गृहसेवन रूप अनेक धर्मों (कोटियों) का अवगाहन करनेवाला—और सादृश्य के विषय में होनेवाला ज्ञानरूप है। सारांश यह कि—'सादृश्यमूला' इस विशेषण का 'सादृश्य जिसके मूल में हो ऐसी' यह जो अर्थ आपाततः ज्ञात होता है उससे भी 'अधिरोप्य—' इस पद्य में अतिव्याप्ति का वारण हो जा सकता है, क्योंकि वहाँ के सन्देह के मूल में सादृश्य नहीं अपितु चिन्ता है, तथापि 'सिंहवत्—' इत्यादि स्थलों पर अतिप्रसङ्गवारणार्थ उसका पूर्वोक्त अर्थ करना पड़ता है, क्योंकि आपाततः ज्ञात होनेवाले अर्थ से यहाँ काम नहीं चल सकता था। कारण, इस उपमा-विकल्प के मूल में सादृश्य है ही। फलतः उक्त दोनों ही स्थलों में अतिप्रसङ्ग का वारण उक्तार्थक उक्त विशेषण का फल होता है 'यह राजा धर्म की आत्मा, क्षमा का भाग्य और सृष्टि का सार है' इत्यादि 'मालारूपक' में भी समानबल, सादृश्यमूलक, अनेककोटयवगाही ज्ञान होता है। उसमें प्राप्त अतिप्रसङ्ग का वारण करने के लिये लक्षण में 'भासमान-विरोधका' यह विशेषण जोड़ा गया है। 'मालारूपक' में भासित होनेवाले अनेक धर्म परस्पर विरुद्ध नहीं रहते, अतः उक्त विशेषण से उसका वारण हो जाता है। 'धूम-स्तोमं तमः शङ्के—अर्थात् मैं तम में धूमसमूह की शङ्का करता हूँ' इत्यादि उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये लक्षण में 'समबला' यह विशेषण दिया गया है। आप कहेंगे—उक्त विशेषण शब्दतः यद्यपि 'धीः' में दिया गया है, तथापि अर्थतः वह 'कोटिद्वय' का ही विशेषण होगा—अर्थात् उक्त विशेषण का फलितार्थ यही होगा कि 'जिस ज्ञान में समानबलवाली दो कोटियाँ भासित हों।' ऐसी स्थिति में उस विशेषण से उक्त उत्प्रेक्षा का वारण कैसे होगा? क्योंकि वहाँ भी दोनों (तम तथा धूम) कोटियाँ समानबलशालिनी हैं, तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि 'समबल' यह ज्ञान का ही विशेषण है, कोटिद्वय का नहीं और उसका अर्थ है 'जिस ज्ञान में

दोनों कोटियों को भासित करनेवाली सामग्री (कारण-समूह) समान—तुल्यबल—हो। अब आप देखें कि उक्त उत्प्रेक्षा का वारण उससे होता है कि नहीं। अवश्य होता है, क्योंकि उत्प्रेक्षा आहार्य (बाधित होकर भी इच्छाजन्य) सम्भावनारूप होती है, अतः वहाँ दो कोटियों को भासित करने वाली सामग्री के अन्तर्गत उत्प्रेक्षा करनेवाले की इच्छा भी एक है और वह इच्छा विधेयकोटि में उत्कट है—अर्थात् उत्प्रेक्षक में धूम-समूह के भान की जैसी उत्कट इच्छा है वैसी तम के भान की नहीं—अतएव तो वह वस्तुतः तम की धूमत्वेन सम्भावना करता है। इस तरह यद्यपि 'भासमानविरोधका' तथा 'समबला' इन दोनों विशेषणों से ही ज्ञात हो जाता है कि—'जिस ज्ञान में अनेक कोटि हों', तथापि उक्त दोनों विशेषणों से प्राप्त हुई कोटियों की अनेकता को स्पष्ट करने के लिये 'कोटि' में 'नाना' (अनेक) विशेषण कहा गया है। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा—अर्थात् ठूँठ है अथवा मनुष्य है' इस लौकिक सन्देह की निवृत्ति के लिये लक्षण में 'रमणीया' यह कहा गया है, जिसका अर्थ है 'चमत्कार-युक्त'। उक्त लौकिक सन्देह चमत्कार-युक्त नहीं, अतः उसका उक्त विशेषण से वारण हो जाता है। यह (रमणीय) विशेषण अलङ्कार-सामान्य के लक्षण से प्राप्त है—अर्थात् चमत्कार-युक्त पदार्थ ही अलङ्कार कहलाता है यह बात सभी अलङ्कारों के लिये समझनी चाहिये, उसी बात की याद दिलाने के लिये यहाँ 'रमणीया' कह दिया गया है। फलतः यह लक्षण का कोई खास अंश नहीं है। इसी तरह 'उपस्कारकत्व' भी सभी अलङ्कारों के लिये सामान्य विशेषण समझना चाहिए—अर्थात् जो पदार्थ स्वयं गौण रहकर किसी प्रधान अर्थ को शोभित करनेवाला होता है वही अलङ्कार कहलाता है यह बात समानरूप से सभी अलङ्कारों में समझ लेनी चाहिए। इन दोनों विशेषणों में से एक भी यदि सङ्घटित नहीं होता हो और इन दोनों के सङ्घटित होते रहने पर भी यदि सादृश्य-ज्ञान-रूपदोष से उत्पन्न न हुआ हो तो अपेक्षित अन्य बातों के रहने पर वह ज्ञान-विशेष संशय कहा जा सकता है, ससन्देहालङ्कार नहीं।

ननु संशये विरोधो न भासते मानाभावात्। किन्त्वविरोधित्वज्ञानाभावविशिष्टनाना-कोटिकज्ञानमेव संशय इति कुत उक्तलक्षणमित्यतो लक्षणान्तरमाह—

यद्वा 'सादृश्यहेतुका निश्चयसम्भावनान्यतरभिन्ना धी रमणीया संशया-लङ्कृतिः'।

निश्चयसम्भावनोभयभेदस्यैकस्मिन् निश्चये सम्भावने च सत्त्वात्तथोक्तौ तत्रातिप्रसङ्गा-पत्तेराह—अन्यतरेति। तथा च सम्भावनाभिन्नत्वे सति निश्चयभिन्नत्वमित्यर्थलाभाच्च उत्प्रेक्षादावतिप्रसङ्गस्तत्र निश्चयसम्भावनान्यतरत्वस्यैव सत्त्वादिति भावः। तत्रालिनेत्रे नेति वाक्यादिरोधाभावादितरेऽलित्वाभावविशिष्टनेत्रत्ववानिति विशिष्टवैशिष्ट्यन्या-येन, एकत्र द्वयमिति न्यायेन वा बोधः। अलिशब्दस्य च वाशब्दस्याभिव्याहारे उभयत्रा-न्वयः। तुल्यविशेषणत्वात्। केचित्तु वाशब्दसमभिव्याहारादलित्वविरुद्धनेत्रत्ववानयं नेत्रत्वविरुद्धा-लित्ववानिति बोधमाहुः। तदभाववादे तु अलित्ववानयं नेत्रत्ववानिति बोधः। समुच्चये त्वेतयोरविरोधज्ञानमप्यधिकमिति दिक्।

यदि कहा जाय कि—सन्देह में विरोध नहीं भासित होता। कारण, वहाँ उसके भासित होने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः सन्देह उस ज्ञान को कहना चाहिए जिसमें ऐसे दो धर्म—जिनके विषय में अविरोध का ज्ञान नहीं हो—विशेषणरूप से भासित हों। ऐसी स्थिति में सन्देह का उक्त लक्षण ठीक नहीं, अतः दूसरा लक्षण किया जाता है—यद्वा इत्यादि। निश्चयात्मक ज्ञान से अन्य तथा संभावनात्मक ज्ञान से भी अन्य जो सादृश्य-ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला चमत्कारजनक ज्ञान वह 'सन्देहालङ्कार' कहा जाता है। यहाँ मूल में 'निश्चयसम्भावनान्यतरभिन्ना'—अर्थात् इन दोनों में से प्रत्येक

से भिन्न' ऐसा कहा गया है। क्यों? उसकी जगह 'निश्चयसम्भावनोभयभिन्ना—अर्थात् इन दोनों से भिन्न' ऐसा क्यों नहीं कहा गया? तो इसका रहस्य समझना चाहिए कि यदि वैसा कहा जाता तब वह कथन व्यर्थ ही न होता, अपितु आपत्ति-जनक भी हो जाता, क्योंकि उभय भेद प्रत्येक में रह जाता—अर्थात् निश्चय तथा सम्भावना इन दोनों से भिन्न निश्चय भी कहला जाता और सम्भावना भी और ऐसी स्थिति में निश्चयात्मक रूपक तथा सम्भावनात्मक उत्प्रेक्षा में इस लक्षण का अतिप्रसङ्ग हो ही जाता, अतः अन्यतर-भेद का निवेश किया गया है जिसका स्पष्टीकरण हो चुका है व्याख्या में और तदनुसार उक्त दोनों स्थलों में अतिप्रसङ्ग का वारण—जो उस निवेश का प्रयोजन है—सिद्ध हो जाता है। एक बात और—उक्त दोनों लक्षणों से निष्कर्ष यह निकलता है कि—संशय के विषय में दो पक्ष हैं—एक यह कि उसमें विरोध का भान होता है और दूसरा यह कि वह नहीं होता है। तदनुसार 'यह भ्रमर है अथवा नेत्र' इस वाक्य से विरोधभानवादियों के मत में 'भ्रमरत्वधर्मवाला या भ्रमरत्व-विरुद्ध नेत्रत्वधर्मवाला है' ऐसा शाब्दबोध होगा। इस बोध को 'विशिष्टवैशिष्ट्य'न्यायानुसारी अथवा 'एकत्र द्वयम्'न्यायानुसारी कह सकते हैं। अभिप्राय यह है कि इस बोध में भ्रमरत्वविशिष्ट इदं पद (यह) के अर्थ को उद्देश्य बनाकर नेत्रत्ववैशिष्ट्य का विधेयरूप में भान माना जाय अथवा इदं पदार्थ को उद्देश्य बनाकर भ्रमरत्व तथा नेत्रत्व दोनों का विधेयरूप में भान माना जाय—दोनों प्रकार हो सकते हैं। इस पक्ष में व्युत्पत्ति की विचित्रता से वाक्य में एक बार उक्त होने पर भी भ्रमर पदार्थ का दो जगहों पर अन्वय करना पड़ता है और ऐसा करने में प्रेरक है वाक्य का 'वा' पद। जो लोग विरोध का भान संशय में नहीं मानते उनके मत में उक्त वाक्य से 'भ्रमरत्वधर्मवाला यह नेत्रत्वधर्मवाला है' ऐसा बोध होगा। आप कहेंगे—इस द्वितीय मत के अनुसार 'समुच्चय' और 'संशय' में क्या अन्तर रहा? तो इसका उत्तर यह है कि इस मत के अनुसार 'समुच्चय' में अविरोध अंश का भी भान मान लेना चाहिए—अर्थात् 'देवदत्त ब्राह्मण है और पण्डित भी' इत्यादि समुच्चयात्मक वाक्यों से 'देवदत्त ब्राह्मणत्व वाला तथा ब्राह्मणत्व से अविरुद्ध पाण्डित्य वाला है' इत्यादि रीति से बोध होगा।

संशयालङ्कृतिं विभजति—

सा च शुद्धा निश्चयगर्भा निश्चयान्ता चेति त्रिविधा।

सा संशयालङ्कृतिः। शुद्धेति। निश्चयामिश्रितेत्यर्थः। निश्चयगर्भेति। यस्य गर्भे = मध्ये, निश्चयोऽपि जायते तादृशो यः संशयस्तद्रूपेत्यर्थः। निश्चयान्तेति। यस्यान्त एव निश्चयो जायते तादृशो यः संशयस्तद्रूपेत्यर्थः।

संदेहालङ्कार का विभाग किया जाता है—सा च इत्यादि। उक्त 'ससंदेहालङ्कार' तीन प्रकार का होता है—एक शुद्ध, अर्थात् जिसमें आदि से अन्त तक संदेह ही बना रहता है। दूसरा निश्चयगर्भ, अर्थात् जिसके बीच-बीच में निश्चय भी होता रहता है, और तीसरा निश्चयान्त, अर्थात् जिसमें आदि से लगातार संदेह बना रहता है, पर अन्त में निश्चय हो जाता है।

तत्र प्रथमभेदमुदाहरति—

आद्यो यथा—

शुद्धसन्देहालङ्कृतिर्यथेत्यर्थः।

प्रथम—अर्थात् शुद्ध ससन्देहालङ्कार, जैसे—

उदाहरणं प्रदर्शयति—

'मरकतमणिमेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमालः।
रघुपतिमवलोक्य तत्र दूरादृषिनिकरैरिति संशयः प्रपेदे॥'

वनं गच्छतो रघुपतेर्वर्णनमिदम्। ऋषिनिकरैः मुनिवृन्दैः, तत्र वनमार्गे, दूरात्, रघुपतिं रामभद्रम्, आलोक्य दृष्ट्वा, एषः दृश्यमानः, मरकतमणेः श्यामवर्णमणिविशेषस्य, मेदिनीध्रः पर्वतः, वा अथवा, तरुणतरः सर्वथा समृद्धः, तमालतरुः तमालवृक्षः, इति संशयः, अपेदे प्राप्त इत्यर्थः। अत्र यद्यपि शाब्दो बोधो न संशयात्मकः, शाब्द एव न बोधः संशयात्मकः प्रकृतेऽलङ्कारत्वेनाभिमत इति कथमिहालङ्कार इति चेत्? सत्यम्, तथापि ऋषिनिष्ठज्ञानवृत्तिसंशयत्वप्रकारकशाब्दज्ञानविषयसंशयस्य सत्त्वादलङ्कारत्वमिति भावः। एतच्च लक्षणवाक्यव्याख्यायामपि सूचितं प्राक्।

उदाहरण दिखलाया जाता है—मरकत इत्यादि। वन जाते राम का वर्णन है—उस वनपथ पर पग बढ़ाते रामभद्र को दूर से देखकर मुनिवृन्दों को यह सन्देह हुआ कि यह मरकतमणि का पर्वत है अथवा पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हुआ तमाल का वृक्ष है। यहाँ शाब्दबोध सन्देहरूप नहीं है अर्थात् शाब्दबोध में दो धर्म भासित नहीं होते, अपितु सन्देहयुक्त मुनिवृन्दरूप एक ही धर्म, अतः यहाँ ससन्देहालङ्कार कैसे होगा? क्योंकि शाब्दबोधात्मक सन्देह को ही अलङ्कार मानना आलङ्कारिकों का अभिमत है यह शङ्का यद्यपि हो सकती है, तथापि मुनिवृत्ती ज्ञान में 'सन्देहत्वप्रकार सन्देहविशेष्यक' शाब्दबोध तो यहाँ होगा, बस, इसी से 'ससन्देहालङ्कार' यहाँ बन जायगा, क्योंकि लक्षणवाक्य का तात्पर्य यही है यह बात पहले भी सूचित की जा चुकी है।

द्वितीयं भेदमुदाहर्तुमाह—

द्वितीया यथा—

निश्चयगर्भससन्देहालङ्कृतिर्यथेत्यर्थः।

निश्चयगर्भ ससन्देहालङ्कार, जैसे—

उदाहरणमाह—

'तरणितनया किं स्यादेषा न तोयमयी हि सा
मरकतमणिज्योत्स्ना वा स्यान्न सा मधुरा कुतः।
इति रघुपतेः कायच्छायाविलोकनकौतुकै-
र्वनवसतिभिः कैः कैरादौ न सन्दिदिहे जनैः॥'

रघुपते रामभद्रस्य, कायच्छायायाः देहकान्तेः, विलोकने दर्शने, कौतुकं कुतूहलं येषां तैः, कैः कैः वनवसतिभिः वनवासिभिः जनैः, आदौ प्रथमम्, 'एषा, तरणितनया कालिन्दी, स्यात् भवेत्, किम्? न, कुतः? हि यतः, सा, तोयमयी जलमयी, इयं तु न तथेति भावः, वा अथवा, मरकतमणेः ज्योत्स्नाप्रभा, स्यात्, किम्? न, सा, कुतो मधुरा रुचिकरी? इत्यर्थः, इयं तु मधुरेति भावः' इति, न, सन्दिदिहे सन्देहः कृतः, सर्वैस्तथा सन्देहः कृत इत्यर्थः। अत्रापि प्राग्वदलङ्कारत्वमुपपाद्यम्। निश्चयस्य मध्ये प्रतिपादनादत्र निश्चयगर्भत्वं बोध्यम्। स्पष्टमन्यत्।

उदाहरण दिखलाया जाता है—तरणितनया इत्यादि। यह भी वनवासी राम का ही वर्णन है—रामभद्र की देहकान्ति के दर्शन में उत्कण्ठावाले किन-किन वनवासी जनों को, पहले, यह सन्देह नहीं हुआ कि—क्या यह यमुना होगी? नहीं वह तो जलमयी है। तो क्या मरकतमणि की प्रभा होगी? नहीं, वह मधुर कैसे हो सकती है—उसमें ऐसी रुचिरता कहाँ से आवेगी? यहाँ भी अलङ्कारता का उपपादन पूर्ववत् करना चाहिए। यहाँ 'यमुना नहीं हो सकती' इत्यादि रूप से बीच-बीच में निश्चय भी हुआ है, अतः यह निश्चय-गर्भ सन्देह कहलाता है।

तृतीयं भेदमुदाहर्तुमाह—

तृतीया यथा—

निश्चयान्तससन्देहालङ्कृतिर्यथेत्यर्थः ।

निश्चयान्त ससन्देहालङ्कार जैसे—

उदाहरणमाह—

'चपला जलदाच्च्युता लता वा तरुमुख्यादिति संशये निमग्नः ।

गुरुनिःश्वसितैः कपिर्मनीषी निरणैषीदथ तां वियोगिनीति ॥'

अशोकवाटिकायां विरहदुर्बलं जीवनं यापयन्त्याः सीतायाः वर्णनमिदम्—जलदात् मेघात्, च्युता पतिता, चपला विद्युल्लता, इयम्, अथवा, तरुमुख्यात् प्रधानात् वृक्षात्, च्युता, लता वल्लरी, इति, संशये सन्देहे, निमग्नः लीनः, मनीषी बुद्धिमान्, कपिः हनुमान्, अथ अनन्तरम्, गुरुभिः दीर्घैः, निःश्वसितैः श्वासवायुभिर्हेतुभिः, तां सीताम्, वियोगिनी विरहिणी, इति, निरणैषीत् निरचिनोत् इत्यर्थः । इहापि प्राग्वदेवालङ्कारत्वं निगमनीयम् । अन्ते निश्चयस्योक्तेर्निश्चयान्तोऽयं सन्देहः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—चपला इत्यादि । हनूमान् जी ने जब अशोकवाटिका में सीता को देखा तब वे पहले इस सन्देह में डूब गए कि—यह या तो मेघ से गिरी हुई विद्युत् है या किसी प्रधान वृक्ष से गिरी हुई लता है । तदनन्तर बुद्धिमान् हनूमान् ने दीर्घ निःश्वासों द्वारा निर्णय किया कि यह वियोगिनी है—रामविरहकातरा जानकी है, विद्युत् अथवा लता नहीं । यहाँ भी सन्देह को अलङ्कारकोटि में लाने के लिये पूर्वोक्त युक्ति का अनुसरण करना चाहिए । यहाँ आदि से सन्देह के रहने पर भी अन्त में निश्चय हुआ है, अतः इसे निश्चयान्त सन्देह कहा जाता है ।

ननूदाहृतेषु संशयानां प्राधान्येनान्योपस्कारकत्वविरहात्कथमलङ्कारत्वमत आह—

एषु संशयेषु मञ्जूषादिगतकटकादिष्विवालङ्कारव्यपदेशः ।

पूर्वोक्तेषु पद्येषु वर्णिताः सन्देहाः स्वयं प्रधानवाक्यार्थाः, तथा चान्योपस्कारकत्वाभावात् कथमलङ्कारभावं ते भजेरन् इति शङ्कायां इदं समाधानं यत् यथा मञ्जूषादिगताः कटकादयस्तत्कालेऽलङ्कृतिक्रियाशून्या अपि अलङ्कृतियोग्यत्वादलङ्काराः कथ्यन्ते तथैवालङ्करणयोग्यतामादायैतेष्वपि सन्देहेष्वलङ्कारव्यपदेश इति ।

यदि कोई कहे कि—उक्त उदाहरणों में जो सन्देह वर्णित हुए हैं वे तो स्वयं प्रधान वाक्यार्थ हैं, किसी दूसरे को शोभित करते नहीं, फिर ये अलङ्कारकोटि में कैसे आ सकते हैं, तो इसका समाधान यह है कि—हाँ भाई! ये सन्देह किसी अन्य को शोभित नहीं करते, पर शोभित करने की योग्यता तो रखते ही हैं, बस, इतने से ही ये सन्देह अलङ्कारकोटि में आ जाते हैं । लोकरीति भी तो ऐसी ही है । देखिए—जो कटक-कुण्डलादि पेटी में ही धरे रहते हैं—तत्काल किसी की देह की शोभा नहीं बढ़ाते उन्हें भी तो अलङ्कार कहा ही जाता है । क्यों? केवल शोभावर्धन की योग्यता रखने के कारण ही तो । बस, यही रीति यहाँ भी समझ लेनी चाहिए ।

अन्यदुदाहरणं दर्शयति—

एवं च—

'तं दृष्टवान् प्रथममद्भुतधैर्यवीर्य-

गाम्भीर्यमक्षणविमुक्तसमीपजानिम् ।

वीक्ष्याथ दीनमबलाविरहव्यथार्तं

रामो न वाऽयमिति संशयमाप लोकः ॥'

इत्यत्र सत्यपि चमत्कारे सादृश्यमूलत्वाभावान्न संशयस्यालङ्कारत्वम् ।

एवं चेति । उक्तरीत्या संशयालङ्कारलक्षणस्य सादृश्यमूलत्वघटितत्वे चेत्यर्थः । तं दृष्टवानिति । प्रथमं संयोगदशायाम्, अद्भुतानि आश्चर्यकराणि, धैर्यम्, वीर्यम्, गाम्भीर्यञ्च तानि यस्य तादृशम्, तथा न क्षणं विमुक्ता समीपदेशाज्जाया (सीता) येन तम्, (जानिरित्यत्र 'जायाया निङ्' इति सूत्रं स्मरणीयम्) तं रामचन्द्रम्, दृष्टवान्, लोकः, अथ रावणकृतसीतापहारोत्तरम्, दीनं धैर्यादिहीनम्, तथा अबलायाः सीतायाः, विरहात्, या व्यथा पीडा, तया, आर्तं पीडितम्, तम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, 'अयं रामः न वा' इति संशयम्, आप प्राप्तवान् इत्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति । अयं भावः—यद्यप्यत्र विप्रलम्भपोषकतया चमत्कारी सन्देहो वर्णितस्तथापि नासावलङ्कारः, तस्य सादृश्यमूलकत्वाभावात् इति ।

प्रत्युदाहरण दिखलाया जाता है—एवं च इत्यादि । सादृश्यमूलक सन्देह ही अलङ्कार होता है यह निर्णय जब लक्षण द्वारा हो गया तब 'तं दृष्टवान्—अर्थात् संयोगावस्था में आश्चर्यजनक धीरता, वीरता और गम्भीरता से युक्त तथा क्षण भर के लिये भी अपने समीप से सीता को अलग नहीं करने वाले राम को देख चुके लोगों ने रावण द्वारा सीताहरण के बाद, उनको दीन तथा सीताविरहजन्य व्यथा से पीड़ित देखकर, यह सन्देह किया कि—'यह राम है अथवा नहीं'। इस सीताविरहकातर रामवर्णनपरक पद्य में प्रतिपादित संशय विप्रलम्भशृङ्गार का पोषक होने के कारण चमत्कारजनक होकर भी अलङ्काररूप नहीं होता, क्योंकि उसके मूल में सादृश्य नहीं है ।

विशेषं सूचयति—

एवमारोपमूलोऽयं सन्देहालङ्कारः ।

अयं = पूर्वोक्तोदाहरणेषु प्रदर्शितः, सन्देहालङ्कारः उपमानोपमेययोर्द्वयोरुपादानात् आरोपमूलः कथ्यते । एवञ्चैवंविधसन्देहालङ्कारे रूपकमुपजीव्यमिति भावः ।

विशेष की सूचना दी जाती है—एवमिति । पूर्वोक्त उदाहरणों में दिखलाये गए ससन्देहालङ्कार आरोपमूलक हैं, क्योंकि यहाँ उपमान-उपमेय दोनों का ग्रहण किया गया है । फलतः इस तरह से ससन्देहालङ्कार में रूपकालङ्कार ही सूक्ष्मरूप से कार्य करता रहता है । सन्देहकृत विलक्षण चमत्कार के कारण भिन्न अलङ्कार की संज्ञा इसे दी जाती है ।

आरोपस्य त्रिविधत्वेऽपि ससन्देहालङ्कारस्यानुगतमिदं त्रैविध्यमाशंक्य निरस्यति—

अध्यवसानमूलोऽपि दृश्यते ।

यथा—

'सिन्दूरैः परिपूरितं किमथवा लाक्षारसैः क्षालितं
लिप्तं वा किमु कुङ्कुमद्रवभरैरेतन्महीमण्डलम् ।
सन्देहं जनयन्नृणामिति परित्रातत्रिलोकस्त्विषां
प्रातः प्रातरुपास्तनोतु भवतां भव्यानि भासां निधिः ॥'

अत्र च संशयः सवितृविषयककविरतिपरिपोषकतया कामिनीकरगतकङ्कणादिरिव गुणत्वेनाऽलङ्कारव्यपदेश्यः । अत्र च विवक्षितविवेचने क्रियमाणे किरणजाते सिन्दूरत्वादिकोटिकः संशयः पर्यवस्यति । स च न सारोपः । विषयविषयिणोस्तद्रूपतया विभक्तेरभावात् । अतः सिन्दूरत्वादिना संशयधर्मी किरणव्रातोऽध्यवसीयत इति अत्र विचार्यते—सिन्दूरैः परिपूरितं किमथवेति पद्ये

तावत्सिन्दूरादिकरणकपरिपूरितत्वादिकोटिको जगन्मण्डलधर्मिकः संशयः शब्दात्प्रतीयते । तस्मिंश्च संशये किमिदं सिन्दूररजो वा स्यात्, आहोस्विल्लाक्षारसः, उताहो कुङ्कुमद्रव इति सूर्यकिरणधर्मिकं संशयान्तरमानुगुण्यमाधत्ते । यथा पुरोवर्तिनि तुरगे स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयो मूलमिदं स्थाणुमत्पुरुषवद्वेति संशये । एवञ्च सूर्यकिरणधर्मिकः संशयो गुणीभूतो व्यञ्जनागम्यत्वाद्विषयविषयिणोरारोपानुकूलविभक्तिकत्वं नापेक्षते । अपेक्षते च साक्षाच्छब्दवेद्यतायामिति कुत्राध्यवसानमूलता संशयस्य ? एतेनाध्यवसानमूलतां संशयस्य निरूपयतो विमर्शिनीकारस्योक्तिरपास्ता ।

अध्यवसानमूल इति । उपमानेनोपमेयस्य निगरणादिति भावः । तादृशमुदाहरणं दर्शयति—सिन्दूरैरिति । कविराशीर्मुखेन भास्करभासः स्तौति—एतत्, महीमण्डलम्, सिन्दूरैः, परिपूरितम्, अथवा, लाक्षारसैः यावकद्रवैः, क्षालितं धौतम्, वा, कुङ्कुमद्रवभरैः केसररससमूहैः, लिप्तम् किमु, इति, नृणां मानवानाम्, सन्देहम्, जनयन् उत्पादयन्, तथा, परित्राताः रक्षिताः त्रयो लोका येन तादृशः, भासां निधेः, सूर्यस्य, त्विषां तेजसाम्, व्रातः समूहः, प्रातः उषःकाले, भवताम्, भव्यानि श्रेयांसि, उपातनोतु विस्तारयत्विति तदर्थः । पूर्वतो भेदान्तरमाह—अयं चेति । 'सिन्दूरैः—' इति पद्ये कविनिष्ठः सूर्यविषयको रत्याख्यो भावः प्रधानतयाऽभिव्यज्यते, तं च भावं वाच्यः सन्देहः पुष्णाति । तथा च गुणीभूतोऽयं सन्देहोऽलङ्कृतिक्रियाविशिष्टतया कामिन्याः करावलङ्कुर्वन् कङ्कणादिरिव मुख्याम् अलङ्कारपदव्यवहार्यतां धत्ते इत्यर्थः । एवञ्च पूर्वोदाहरणेभ्योऽस्मिन्नुदाहरणे द्वौ भेदौ भवतः । एको मुख्यालङ्कारव्यवहाररूपः, अपरश्च साध्यवसानत्वरूप इति भावः । ननु अत्रापि महीमण्डलस्य विषयतयोपादानात्सारोपत्वमेव, न साध्यवसानत्वमित्यत आह—अत्र चेति । विवक्षितेति । तात्पर्यार्थेत्यर्थः । किरणव्राते सिन्दूरत्वादिकोटिक इति । 'किरणव्रातः सिन्दूरत्ववान्, लाक्षारसत्ववान्, कुङ्कुमद्रवभरत्ववान्वा इत्याकार' इत्यर्थः । 'किरणव्रातो वा सिन्दूरलाक्षादिकं वेत्याकारकः' इति 'सरला'विवरणं तु शोच्यमेव । स चेति । उक्ताकारकसंशयश्चेत्यर्थः । तस्याः सारोपत्वे हेतुमाह—विषयेति । उपमेयोपमानयोरित्यर्थः । किरणव्रातसिन्दूरादिकयोरिति यावत् । तदिति । आरोपेत्यर्थः । तथा च तदंशानुपादानमिति भावः । एतेन 'एवमपि निगरणतदंशोपादानात्सारोपत्वमेव' इति निरस्तम् । पर्यवसितार्थमाह—अत इति । अयं भावः—'सिन्दूरैः—' इत्यत्र किरणव्रातधर्मिकः सिन्दूरत्वादिनानाधर्मावगाही सन्देह एव वक्तृतात्पर्यविषयः । स च नारोपमूलो वक्तुं योग्यः, 'सिन्दूरैः' इत्यादेस्तृतीयान्ततया 'त्विषां व्रातः' इत्यस्य च प्रथमान्ततया विभक्तिभेदात्, आरोप्यमाणारोपविषययोः समानविभक्तिकपदबोध्यत्व एवारोप इति नियमात् । अतोऽगत्या निगीर्णैः सिन्दूरादिपदैः सादृश्याख्यसम्बन्धेन विषयभूतः संशयधर्मी च किरणव्रातो लक्ष्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम् । एवञ्च सिद्धमस्य संशयस्याध्यवसानमूलकत्वम्, विषयिणा स्वकेन रूपेण लक्षणया विषयोपस्थापनस्यैवाध्यवसानपदार्थत्वात् । न च समर्पितनीत्या एव संशयालङ्कारोऽपि नु भवितव्योऽस्त्वधुनाऽस्मिन्नपीति । आग्रहवादिनं संशयाध्यवसायाध्यवसानमूलकत्वं निरस्यन्नाह—अत्र विचार्यते इत्यादि । तावत् आदौ । एव किरणव्रातम् । आनुगुण्यम् अनुकूलताम् । आधत्ते सम्पादयतीति यावत् । संशये संशयान्तरस्यानुगुण्याधायकत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । एवं चेति । उक्तायां स्थिताविंत्यर्थः । गुणीभूत इति । उपपादकत्वादिति भावः । उपपाद्यं हि प्रधानं भवति । अनपेक्षायां हेतुमाह—व्यञ्जनेति ।

तर्हि कुत्र तदपेक्षा तत्राह—अपेक्षते चेति। एवञ्चारोपमूलक एवायमपि सन्देह इति भावः। अध्यवसानमूलकस्तु सन्देह आकाशकुसुमतुल्य एव। तदाह—कुत्रेति। एतेनेति। उक्तव्याख्यानेनेत्यर्थः। अपितिरिति। एवञ्चात्रत्यः पूर्वपक्षः विमर्शिनीकारस्यैवेति स्पष्टम्। आयमत्र निर्गलितोऽर्थः—'सिन्दूरैः—' इति पद्ये द्वौ संशयौ वर्णितौ स्तः। तत्रैकः 'महीमण्डलं सिन्दूरकरणकपरिपूरितत्ववत्, लाक्षारसकरणकक्षालितत्ववत्, कुङ्कुमद्रवकरणकलितत्ववद्वा' इत्याकारकः साक्षाच्छब्दवाच्यः प्रथमप्रतीतिविषयः, अपरश्च सूर्यकिरणसमूहविशेष्यकः 'अयं सिन्दूरपरागः, लाक्षारसः कुङ्कुमद्रवो वा' इत्याकारकः साक्षाच्छब्दावेद्यतया व्यङ्ग्यः पश्चात्प्रतीतिगोचरः। अनयोः प्रथमः प्रधानः, उपपाद्यत्वात्, द्वितीयस्तूपपादकतया गुणीभूतः। तत्र प्रधानीभूतस्य संशयस्य सारोपत्वं विप्रतिपत्तिहीनमेव, विषयविषयिणोरुभयोरुपादानात्। गुणीभूतसंशयस्यापि सारोपत्वस्वीकारे न बाधा काचित्, व्यञ्जकतयोपस्थितस्य विषयविषयिणोः समानविभक्तिकपदाबोध्यत्वस्य प्रकृतेऽप्रसरात्, शब्दवेद्यसंशय एव तयोः समानविभक्तिकपदबोध्यत्वस्यारोपनियामकत्वात्। एवमारोपमूलसन्देहालङ्कारोदाहरणमेवैतत्पद्यं भवति। अतः अध्यवसानमूलकसन्देहालङ्कारस्वीकारो विमर्शिनीकारस्यासङ्गत एव। [illegible] वस्तुपर्यालोचकः। तथा च अयं एव भेदो [illegible]।

सन्देहालङ्कार के विषय में एक विशिष्ट विचार किया जाता है—अध्यवसान इत्यादि। यह सन्देहालङ्कार अध्यवसानमूलक भी देखा जाता है। अभिप्राय यह कि जिस तरह पूर्वोक्त उदाहरणों में आरोप्यमाण तथा आरोपविषय दोनों उक्त हैं, अतः वहाँ के सन्देहालङ्कार आरोपमूलक—अर्थात् रूपकमूलक कहे जाते हैं उसी तरह कहीं-कहीं केवल आरोप्यमाण ही उक्त रहता है और आरोपविषय उससे निगीर्ण रहता है, अतः वैसी जगह का सन्देहालङ्कार अध्यवसानमूलक—अर्थात् अतिशयोक्तिमूलक कहा जायगा। जैसे—"सिन्दूरैः—अर्थात् 'यह धरामण्डल क्या सिन्दूर से परिपूर्ण है, अथवा आलते (लाक्षा) के पानी से धोया हुआ है, किंवा केसर के रससमूह से पुता हुआ है' इस प्रकार के सन्देह को मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न करता हुआ त्रिलोकी-त्राता सूर्य का प्रातःकालीन कान्ति-समूह आपका कल्याण करे।" यहाँ का सन्देह सूर्य के विषय में भक्ति के अंग को पुष्ट करता है, अतः कामिनी के हाथ में पहने कङ्कण आदि की तरह गौणतया अलङ्कार कहने योग्य है। तात्पर्य यह कि—पूर्वोक्त उदाहरणों में वर्णित सन्देह देही में पड़े भूषण की तरह अलंकृत करने की योग्यता रखने के कारण गौणतया अलङ्कार कहे गये हैं, पर यहाँ का सन्देह अलंकृत करने की योग्यता रखने के कारण ही नहीं, अपितु अलंकृत करने के कारण अलङ्कार कहा जायगा। यह भी उक्त उदाहरणों से इस उदाहरण में एक विलक्षणता है। 'सिन्दूरैः—' इस पद्य में, वक्ता के अभिमत अर्थ का विवेचन करने पर, अन्ततः किरण-समूह में 'सिन्दूरत्व' आदि कोटियोंवाला सन्देह सिद्ध होता है। अर्थात् ऊपर से देखने पर यद्यपि धरामण्डलरूप धर्मी (आधार) में सिन्दूरपरिपूरितत्व आदि अनेक धर्मों का सन्देह दिखाई पड़ता है, पर वास्तविक विचार करने पर जिस सूर्यकिरण के धरा पर फैले रहने के कारण उक्त सन्देह दिखाई पड़ा है उस किरणरूप धर्मी में सिन्दूरत्व आदि अनेक धर्मों का सन्देह ही समझा जायगा। और यह (किरणधर्मिक) सन्देह सारोप—आरोपमूलक—है नहीं, क्योंकि एक का दूसरे में आरोप करने के लिये उन दोनों की एकजातीय विभक्तिवाले पदों से उपस्थिति अपेक्षित रहती है और यहाँ ऐसी बात नहीं है—अर्थात् यहाँ सिन्दूरत्व आदि आरोप्यमाण की उपस्थिति 'सिन्दूरैः' आदि तृतीया विभक्तिवाले पदों द्वारा होती है तथा किरणरूप आरोपविषय की उपस्थिति 'त्विषां व्रातः' इस प्रथमान्त पद द्वारा होती है। फलतः

यहाँ रूपकवाली स्थिति नहीं है। अतः मानना पड़ता है कि—यहाँ 'सिन्दूरैः' आदि पदों द्वारा 'सिन्दूरत्व आदि' रूप से संशय का धर्मी किरणसमूह अध्यवसित हुआ है—अर्थात् सादृश्यमूलक लक्षणा द्वारा सिन्दूर आदि पद ही किरण का भी बोधक है। फलतः यहाँ अतिशयोक्ति वाली स्थिति है। यह हुआ एक पक्ष। अब दूसरा पक्ष सुनिये—विचार करने से विदित होता है कि—'सिन्दूरैः परिपूरितम्—' इस पद्य में, प्रथमतः, पृथ्वीमण्डल-रूप धर्मी (आधार) में 'सिन्दूर आदि द्वारा परिपूर्ण किया गया' कोटियों (धर्मों) वाला—अर्थात् 'पृथ्वीमण्डल सिन्दूर से परिपूर्ण किया गया है, अथवा लाक्षारस से धोया गया है, किंवा केसररससमूह से पोत दिया गया है' इस तरह का सन्देह, शब्द द्वारा प्रतीत होता है। उस सन्देह में सूर्यकिरणरूप धर्मी में होनेवाला 'क्या यह सिन्दूररज है अथवा आलते का पानी है किंवा केसर का रस' यह दूसरा सन्देह अनुकूलता उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह कि एक दूसरे सन्देह में पहला सन्देह सिद्ध किया जाता है। जैसे कि सामने खड़े घोड़े के विषय में (घोड़े का जरा भी ज्ञान न होकर) 'यह खम्भा है अथवा पुरुष' यह सन्देह 'यह पृथ्वीतल खम्भे से युक्त है अथवा पुरुष से' इस दूसरे संदेह में उपयोगी होता है, क्योंकि बिना प्रथम सन्देह के द्वितीय सन्देह बन ही नहीं सकता, वही बात यहाँ भी है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि सूर्य-किरणरूप धर्मी में होनेवाला (दूसरा) सन्देह व्यञ्जनावृत्ति से प्रतीत होने के कारण उपमान-उपमेय में आरोप के अनुकूल समान विभक्ति की अपेक्षा नहीं रखता, पर यदि वही साक्षात् शब्दों द्वारा प्रतीत होता (जैसा कि पहला संदेह है) तो समान विभक्ति की अपेक्षा रखता। अतः यहाँ सन्देह की अध्यवसानमूलकता कहाँ है? अभिप्राय यह कि वाच्य आरोप में उपमान उपमेय एक विभक्तिवाले हैं, व्यङ्ग्य आरोप में नहीं, ऐसी दशा में ऐसे सन्देहों को अध्यवसानमूलक मानना उचित नहीं। सारांश यह कि 'सिन्दूरैः—' इस पद्य का पहला (वाच्य आरोपवाला) सन्देह सादृश्यमूलक न होने के कारण अलङ्कारश्रेणी में आता ही नहीं, रहा दूसरा (व्यङ्ग्य आरोपवाला) सन्देह, सो उसमें उपमान-उपमेय की, समानविभक्तिक न होने पर भी, उक्त रीति से आरोपमूलकता मानी ही जा सकती है, अतः अध्यवसानमूलक (अतिशयोक्तिवाला) सन्देह होता ही नहीं। अतः सन्देहालङ्कार को अध्यवसानमूलक भी [illegible] बतानेवाले विमर्शिनी (अलङ्कारसर्वस्व की टीका) कार परास्त हो गये।

अप्पयदीक्षितोक्तमनूद्य निरस्यति—

अप्पयदीक्षितास्तु—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥'

इत्यत्र चन्द्रादीनां सन्देहधर्मिणामेवानेकत्वम्। प्रकारस्तु वर्णनीयवनितास्रष्टृत्वमेकमेवेत्यनेककोटिकत्वाभावाद्विरोधेन परस्परप्रतिक्षेपकतया भिन्नानेककोट्यवगाहित्वरूपस्य संशयलक्षणस्याव्याप्तिमाहुः। तन्न। अत्र हि अस्याः सर्गविधौ यः प्रजापतिरभूत्स किं चन्द्रः, किं नु मदनः, किं वा मधुमास इति संशयः प्रजापतिधर्मिकश्चन्द्रत्वादिनानाकोटिक एवेति कुशाग्रधियः। न चात्र चन्द्रादिधर्मिकः संशयो युक्तो वक्तुम्। एवं च प्रजापतेः प्रथमोद्देशो न स्यात्।

'अस्याः सर्गविधा'विति। कालिदासकृते विक्रमोर्वशीनाटके उर्वश्या वर्णनमिदम्। 'मालतीमाधवे मालतीवर्णनमिदम्' इति नागेशव्याख्या तु भ्रान्तिमूलैव। एतस्या

उर्वशीमवलोक्य कथयति—अस्याः उर्वश्याः, सर्गविधौ सृष्टिकरणे, कः, प्रजापतिः स्रष्टा, अभूत् ? कान्तिप्रदः कान्तिदायकः, चन्द्रः, नु, शृङ्गारैकरसः शृङ्गाररसस्याद्वितीयः आश्रयः, स्वयं, मदनः कामदेवः, नु, पुष्पाकरः कुसुमाकरः मासः चैत्रः, वसन्त इति यावत्, नु । ननु अस्याः स्रष्टौ कथमभिनवप्रजापतिगवेषणम् ? चिरप्रसिद्धश्चराचरनिर्माता विधाता एतेषामपि स्रष्टा, नेत्याह—वेदाभ्यास इति । वेदानाम्, अभ्यासेन = पुनःपुनरध्ययनेन, जडः शिथिलः (उपहासोक्तिरियम्), अत एव विषयेभ्यः सांसारिकवस्तुभ्यः, व्यावृत्तं निरस्तम्, कौतूहलं उत्कण्ठा यस्य तादृशः, स प्रसिद्धः, पुराणो वृद्धः, मुनिः ब्रह्मा, मनोहरं दर्शकजनचित्ताकर्षकं रमणीयमिति यावत्, इदं पूर्वोक्तवनितागतम्, रूपम्, निर्मातुं रच-यितुं, कथम्, प्रभवेत् समर्थः स्यात्, न स्यादित्यर्थः । अत्र यदुक्तं दीक्षितेन तदनुवदति–इत्य-प्पेति । अभावादित्यव्याप्तौ हेतुः । संशयलक्षणमाह–विरोधेनेति । परस्परप्रतिक्षेपकतयेति । मिथोऽवमर्दकतयेत्यर्थः । 'भासमानविरोधकः समबलः नानाकोट्यवगाही ज्ञानविशेषः संशयः' इति संशयसामान्यलक्षणमेवात्र न सङ्गच्छते, 'चन्द्रः, कामः, वसन्तो वा प्रजापतिः' इति ज्ञाने विशेष्यस्य चन्द्रादेरनेकत्वेऽपि विशेषणस्य प्रजापतित्वस्य (वर्णनीयनायिकासृष्टिकर्तृत्वस्य) एकत्वात्, एवम् संशयालङ्कारलक्षणसङ्घटनं तु दूरापास्तम् इति दीक्षिताकूतमिति भावः । निरस्यति—तन्नेति । निरासे [illegible] । हि यतः । अस्याः उर्वश्याः । 'मालत्याः' इति नागेशव्याख्या [illegible] कैव । कुत्राव्याप्तिरिति । नाव्याप्ति-रिति भावः । 'उर्वश्याः स्रष्टा यो विधाता स चन्द्रः, कामो, वसन्तो वा' इति ज्ञानाकारोऽ-त्राभिप्रेतः । तत्र प्रजापतिरेव विशेष्यभूतः एकः, विशेषणभूतं चन्द्रत्वादिकं पुनरनेकमेवेति प्रोक्तसंशयलक्षणमत्र सङ्गतं एवेति दीक्षितस्याव्याप्तिकथनं न युक्तमिति भावः । तदुपपा-दनं समर्थयति—न चेति । एवं चेति । चो यथे । यत एवं सतीत्यर्थः । प्रथमोद्देश इति । आद्युच्चारणमित्यर्थः । 'अस्याः सर्गविधौ—' इत्यत्र प्रजापतित्वप्रकारकः चन्द्रादिविशेष्यकः बोधोऽभिमत इति न वक्तुं शोभनम्, तथा सति प्रजापतित्वस्य विधेयत्वेन तद्बोधकपदस्य पश्चान्निर्देशौचित्यात् 'उद्देश्यमनुक्त्वा न विधेयमुदीरयेत्' इति नियमादिति भावः । प्रजा-पतेः प्राङ्निर्देशोद्देश्यत्वम्, चन्द्रत्वादेश्च पश्चान्निर्देशात् विधेयत्वम्, तथा च ग्रन्थकारा-भिमतः समुपदर्शितो बोधाकार एवेष्ट इति सारांशः ।

अब अप्पयदीक्षित के मत का अनुवाद करके खण्डन किया जाता है—अप्पयदीक्षिता इत्यादि, 'अस्याः सर्गविधौ—अर्थात् इस सुन्दरी की सृष्टि करने में कौन प्रजापति (सृष्टि-कर्ता) हुआ होगा ? कान्तिदायक चन्द्रमा, अथवा शृङ्गाररस का एक (अद्वितीय) आश्रय स्वयं कामदेव, किंवा कुसुमाकर मास (चैत्र = वसन्त) ? कारण, वेद का सदा अभ्यास करते रहने के कारण जड़ बना हुआ, अतएव सांसारिक विषयों से मुख मोड़ चुका वह पुराना मुनि (ब्रह्मा) भला इस मनोहर रूप को कैसे बना सकता है ?' (यह 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में पुरूरवा द्वारा किया गया उर्वशी का वर्णन है । 'मालती-माधव में यह मालती का वर्णन है' यह नागेशकृत 'मर्मप्रकाश' का विवरण भ्रममूलक है ।) यहाँ सन्देह के धर्मी अर्थात् ज्ञान में विशेष्यरूप से भासित होने वाले पदार्थ चन्द्र आदि ही अनेक हैं, प्रकार—विशेषण तो वर्णनीय नायिका का उत्पन्न करना (प्रजापतित्व) एक ही है, अतः यह ज्ञान अनेक कोटियों (एक विशेष्य में अनेक विशे-षणों) वाला हुआ नहीं—अर्थात् यह ज्ञान अनेक विशेष्यों में एकविशेषणवाला हुआ । ऐसी स्थिति में 'विरुद्ध होने के कारण परस्पर–एक दूसरे को–दबानेवाली अनेक कोटियों–विशेषणों–का अवगाहन करनेवाला ज्ञान संशय है' इस लक्षण की उक्त ज्ञान में अव्याप्ति

होती है—अर्थात् यह संशयलक्षण यहाँ सङ्घटित नहीं होता, यह अप्पयदीक्षित का कथन है, जो सर्वथा असङ्गत है। कारण, यहाँ, 'इस सुन्दरी की सृष्टि में जो प्रजापति हुआ है वह क्या चन्द्र है, अथवा कामदेव है, किंवा वसन्त है' इस तरह का ज्ञान अभीष्ट है जिसमें संशय का उक्त लक्षण सङ्घटित होता ही है, क्योंकि इस ज्ञान में प्रजापतिरूप एक विशेष्य के विशेषणरूप से चन्द्रत्व, कामदेवत्व तथा वसन्तत्वरूप परस्परविरोधी पदार्थ भासित होते ही हैं। फिर यहाँ संशयलक्षण की अव्याप्ति कहाँ होती है? यदि कोई कहे कि—पण्डितराज ने जैसा बतलाया है वैसा ही ज्ञान यहाँ होगा, दीक्षित जी ने जैसा बतलाया है वैसा नहीं, इसमें प्रमाण क्या? तो लीजिए प्रमाण—ज्ञान में जो विशेष्य होता है वह रहता है उद्देश्य और जो विशेषण होता है वह रहता है विधेय, यह नियम है, और साथ ही उद्देश्य-बोधक पद का विधेयबोधक पद से पहले प्रयुक्त होना भी निश्चित है। ऐसी स्थिति में दीक्षिताभिमत ज्ञान—जिसमें प्रजापतित्व ही विशेषण और चन्द्र आदि ही विशेष्य माने जाते हैं—के अनुसार 'प्रजापतिः' का पहले प्रयोग नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनके हिसाब से वह विधेय-बोधक है। फलतः 'प्रजापति' पद के पूर्वप्रयोगरूप प्रमाण से पण्डितराजोक्त ज्ञान ही सिद्ध होता है, क्योंकि तदनुसार प्रजापति विशेष्य—अतएव उद्देश्य हो जाता है।

दीक्षिताभिमतमन्यदपि निराचष्टे—

यदपि, 'साम्यादप्रकृतार्थस्य या धीरनवधारणा' इति प्राचां लक्षणं महता प्रबन्धेन त एव दूषितवन्तः, तदपि न। साम्यनिमित्ता निश्चयसम्भावनान्यतर-भिन्ना या धीरिति तदर्थकरणे दोषाभावात्। निश्चयत्वं तु संशयाघटितमेव निर्व-चनीयम्।

'साम्यात्—' इति। 'प्रकृतार्थश्रिया तज्ज्ञैः ससन्देहः स उच्यते' इति तदुत्तरार्धभागः। अवधारणभिन्ना प्रस्तुतार्थविशेष्यिका अप्रस्तुतार्थप्रकारिका या सादृश्यप्रयुक्ता धीः स सन्देहालङ्कार इत्यर्थः। त एवेति। अप्पयदीक्षिता एवेत्यर्थः। दूषितवन्त इति। चित्र-मीमांसायामित्यर्थः। तत्र "साम्यादिति किमप्रकृतोल्लेखप्रतीतिजनकत्वेन हेतुत्वविवक्षया पञ्चमी, उत स्वतो हेतुत्वविवक्षया, आद्येऽप्रकृतसाम्याभिव्यक्तिफलकत्वमर्थः स्यात्। तथा सति 'आनीय द्विषताम्—' इत्युदाहरणेऽव्याप्तिः। द्वितीये साम्यादित्यनेन किमेकमेवा-प्रकृतसाम्यं विवक्षितम्, उतैकमनेकं वेत्यनियमः। आद्ये 'अयं मार्तण्डः किम्—' इत्यु-दाहरणेऽव्याप्तिः, [illegible] नैकं साम्यं हेतुः। किंतु प्रतापेन दुर्निरीक्ष्यत्व-साम्यं मार्तण्डत्वविकल्पे, दुराधर्षत्वसाम्यं कृशानुत्वविकल्पे, क्रोधेन सकलसंहर्तृत्वसाम्यं कृतान्तविकल्पे च हेतुः। द्वितीये 'इह नमय शिरः कलिङ्गवक्त्रा समरभुवि [illegible]' इति विकल्पालङ्कारेऽतिव्याप्तिः। अपि चानवधारणेति किमुच्यते। अनिश्चयात्मकत्वमिति चेत्। तथा सति [illegible] इत्यादावुदाहरिष्यमाणायामप्रकृतसाम्य-[illegible] इत्याशयकं दूषणमभिहितम्। तन्निरस्यति—यदपि नेति। [illegible]। साम्यादित्यस्यार्थोऽयम्। [illegible]। [illegible] दीक्षितो-क्तदोषा निरस्ता भवन्ति। ननु [illegible] संशयलक्षणं [illegible] लक्षणे च संशय[illegible] इत्याशङ्कय [illegible]-मुपदर्शयति—निश्चयत्वं त्विति। निश्चयलक्षणे न संशयप्रवेशः, [illegible] ज्ञानविशेषस्य तल्लक्षणत्वात्। तथा च [illegible] 'साम्यादिति' [illegible]।

दीक्षित के ही एक दूसरे अभिप्राय का खण्डन किया जाता है—यदपि इत्यादि।

'साम्यात्—अर्थात् सादृश्य के कारण प्रस्तुत अर्थ में जो अप्रस्तुत अर्थ का अवधारणा-रहित ज्ञान होता है उसको सन्देह कहते हैं।' इस प्राचीनों के लक्षण को जो दीक्षित ने बड़े आडम्बर के साथ दूषित किया है—अर्थात् उन्होंने "—'साम्यात्' का क्या अर्थ? यदि 'प्रासादेभ्यो प्रेक्षते' की तरह फल को हेतु मानकर की गई पञ्चमी विभक्ति के अनुसार 'जिस ज्ञान का फल अप्रस्तुत अर्थ की समता का ध्वनित होना हो' यह किया जाय तब उन्हीं के द्वारा दिखलाये गये 'आनीय द्विषताम्—' इस उदाहरण में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वहाँ अप्रस्तुत की समता को अभिव्यक्त करना कवि का अभीष्ट नहीं है। यदि 'साम्य' को स्वतःज्ञान का हेतु मानकर पञ्चमी करें और तदनुसार 'साम्य-हेतुक ज्ञान' ऐसा अर्थ किया जाय तब यह प्रश्न उठेगा कि हेतुभूत समता एक तरह की हो यह आपका अभिप्राय है, अथवा एक अनेक सब तरह की समता यह अभिप्राय है? एक भी सङ्गत नहीं, क्योंकि प्रथम अभिप्राय में 'अयं मार्तण्डः किम्—' यह उदाहरण आपका संगृहीत नहीं हो सकेगा, क्योंकि वहां भिन्न-भिन्न विकल्प में भिन्न-भिन्न तरह की समता हेतु है, द्वितीय अभिप्राय में 'इह नमय शिरः कलिङ्गवद्वा समरमुखे कराष्ट्रवद्धनुर्वा—अर्थात् इस युद्ध में कलिङ्गवासियों की तरह मस्तक नवाओ अथवा कराष्ट्रदेशवासियों की तरह धनुष नवाओ' यह विकल्पालङ्कार का उदाहरण संगृहीत होने लगेगा। इसी तरह 'अनवधारणा' का क्या अर्थ? यदि 'निश्चय से भिन्न' यह अर्थ अभीष्ट हो तब 'बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावात्—' इस सम्भावनात्मक उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति हो जायगी।" इत्यादि बातें कहीं हैं। वह भी ठीक नहीं। कारण, यदि उक्त प्राचीनों की कारिका का 'सादृश्यनिमित्तक और निश्चय तथा सम्भावना इन दोनों में से प्रत्येक से भिन्न जो ज्ञान' ऐसा अर्थ कर लिया जाय—अर्थात् 'साम्यात्' के 'यत्किञ्चित् सादृश्य-ज्ञान से उत्पन्न होने वाला' और 'अनवधारणा'घटक 'अवधारणा' का निश्चय-सम्भावना दोनों ही अर्थ मान लिये जाएँ तब उक्त सभी दोषों के वारित हो जाने से प्राचीनों का लक्षण निर्दुष्ट हो जाता है। रही बात यह कि—सन्देह का ऐसा लक्षण बनाने से 'निश्चय से भिन्न सन्देह' और 'सन्देह-भिन्न निश्चय' इस तरह एक लक्षण में दूसरे लक्षण की अपेक्षा हो जाने से अन्योन्याश्रय दोष होगा। पर यह दोष भी नहीं होगा, क्योंकि आपको एक का लक्षण तो ऐसा बनाना ही होगा कि जिसके अन्दर दूसरे का प्रवेश न हो, अतः निश्चय का लक्षण ऐसा बनाइए कि जिसके अन्दर सन्देह का प्रवेश न हो—अर्थात् 'कोटिता' नाम की जो एक विषयता मानी जाती है उसका अवगाहन जो न करे उस ज्ञान को निश्चय कहिए। बस, सभी बखेड़े समाप्त।

विशेषमाह—

उक्तेषूदाहरणेषु योऽयं संशयालङ्कारः स्वशब्दवेद्यत्वाद्वाच्यः।

'मरकतमणि—' इत्यादीनि यानि ससन्देहालङ्कारस्योदाहरणानि प्रागुक्तानि तेषु ससन्देहालङ्कारोऽयं क्रमशः 'संशयः' 'सन्दिदिहे' 'संशये' इत्येभिः सन्देहवाचकैः पदैः बोधित इत्यतस्तत्रायमलङ्कारो वाच्यत्वेन व्यवहर्तुं योग्य इति भावः।

विशेष बातों का स्पष्टीकरण किया जाता है—उक्तेषु इत्यादि। उक्त ('मरकत-मणि—' इत्यादि) उदाहरणों में यह ससन्देहालङ्कार अपने वाचक शब्दों—'संशयः' आदि—से अवगत होता है, अतः वाच्य है।

व्यङ्ग्यं ससन्देहालङ्कारमुदाहर्तुमाह

व्यङ्ग्यो यथा—

व्यङ्ग्य ससन्देहालङ्कार, जैसे—

उदाहरणमुपदर्शयति—

'साम्राज्यलक्ष्मीरियमृष्यकेतोः सौन्दर्यसृष्टेरधिदेवता वा।
रामस्य रामामवलोक्य लोकैरिति स्म दोला रुरुहे तदानीम्॥'

लोकैः जनैः, तदानीं विवाहानन्तरम्, रामस्य रामां कान्ताम्, सीतामिति यावत्, अवलोक्य, ऋष्यकेतोः कामदेवस्य, साम्राज्यलक्ष्मीः साम्राज्यसम्पत्तिः, सौन्दर्यसृष्टेः रमणीयतानिर्माणस्य, अधिदेवता अधिष्ठात्री देवी, वा, इयम्, इति दोला (झूला इति भाषा) रुरुहे स्म आरूढा इत्यर्थः।

उदाहरण दिखलाया जाता है—साम्राज्य इति। उस समय (विवाह के अनन्तर) रामचन्द्र की रमणी (सीता) को देखकर लोग 'यह काम की साम्राज्यलक्ष्मी है अथवा सौन्दर्यसृष्टि की अधिदेवता है' इस झूले पर आरूढ हुए—इस तरह के सन्देह से युक्त हुए।

उपपादयति—

अत्र पर्यायेणोभयकोट्यालम्बनतया दोलासादृश्यात् संशयोऽत्र दोलाशब्देन लक्ष्यते।

दोला यथाऽऽरोहकैरान्दोल्यमाना पर्यायक्रमेण कोटिद्वयम् (पर्यन्तभागद्वयम्) आलम्बते, तथा संशयात्मकं ज्ञानमपि पर्यायक्रमेण कोटिद्वयम् (विरुद्धधर्मद्वयम्) अवलम्बते (विषयीकुरुते), अतः 'साम्राज्य—' इति पद्ये दोलाशब्दस्य संशये सादृश्य-सम्बन्धमूलिका-गौणी-लक्षणा भवति। तथा चात्रतः ससन्देहालङ्कारः लक्ष्य इति व्यपदिश्यते इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। जिस तरह झूला आन्दोलित होने पर दोनों कोटियों (छोरों) का अवलम्बन करता है, उस तरह संशयात्मक ज्ञान भी दोनों कोटियों (विरुद्ध दो धर्मों) का आलम्बन करता है—विषय बनाता है। इस तरह झूले का सादृश्य संशय में सिद्ध है। अतः 'साम्राज्य—' इस पद्य में 'दोला' शब्द की संशय-रूप अर्थ में सादृश्यसम्बन्धमूलक-अर्थात् गौणी लक्षणा होती है। फलतः इस पद्य को लक्ष्य ससन्देहालङ्कार का उदाहरण कहा जाता है।

व्यङ्ग्यं ससन्देहालङ्कारमुदाहर्तुमाह—

व्यङ्ग्योऽयं यथा—

अयं ससन्देहालङ्कारो व्यञ्जनया प्रतीयमानो यथेत्यर्थः।

व्यङ्ग्य ससन्देहालङ्कार, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला॥'

मुग्धा अज्ञा, मरन्दे पराग [illegible] किशोराणां भ्रमर-शिशूनां, माला पङ्क्तिः, तीरे तटे, सहासं हासयुक्तम्, तरुण्याः युवत्याः, वदनं मुखम्, नीरे जले, च, मिलद्विकासं सविकासम्, सरोजं कमलम्, आलोक्य दृष्ट्वा, उभयत्र मुखसमीपे कमलसमीपे च, धावति इति सन्दर्भार्थः।

उदाहरण दिखलाया जाता है—तीरे इत्यादि। तटपर हास-युक्त युवती के मुख को और जल में विकसित कमल को देखकर मुग्ध तथा मकरन्द-लोभी छोटे-छोटे भ्रमरों की पङ्क्ति दोनों तरफ दौड़ रही है।

उपपादयति—

अत्र कमलधर्मिकोऽभेदेन संसर्गेण पुरोवर्तिव्यक्तिद्वयप्रकारकः कमलमिदमिदं वेति भ्रमरगतः संशयो व्यङ्ग्यः। न च कमलाभेदबुद्धेर्भ्रमरप्रवृत्त्युपाययाऽपेक्षणादिदं पदार्थाभेदबुद्धिर्निरर्थिकेति वाच्यम्। एकपदार्थधर्मिकापरपदार्थाभेदबुद्धेरपरपदार्थधर्मिकैकपदार्थाभेदबोधप्रयोजकत्वेन कमलाभेदबोधसाम्राज्यात्। कमलत्वमेतद्वृत्ति तद्वृत्ति वेति संशयाकारः। सोऽयं संशयध्वनिः।

अत्रेति। 'तीरे तरुण्या—' इति श्लोके इत्यर्थः। कमलधर्मिक इति। कमलविशेष्यक इत्यर्थः। पुरोवर्तिव्यक्तिद्वयेति। तरुणीमुखकमलेतिवस्तुद्वयेत्यर्थः। व्यङ्ग्य इति। वाचकशब्दाभावादिति भावः। 'तीरे—' इति पद्ये वाच्येनोभयत्र भ्रमरकर्तृकधावनेन 'कमलं इदं इदं वा' इत्याकारकः अभेदसम्बन्धावच्छिन्नपुरोवर्तिव्यक्तिद्वयनिष्ठप्रकारतानिरूपितकमलनिष्ठविशेष्यताकः भ्रमरनिष्ठः सन्देहः (अलङ्कारः) व्यज्यते इति भावः। अत्राशङ्कते—न चेति। कमलाभेदबुद्धेरिति। 'इदं कमलम्' इत्याकारकज्ञानस्येत्यर्थः। इदं पदार्थेति। इदं शब्देनेदम्पदार्थेत्यर्थः। अभेदबुद्धिरिति। 'कमलं इदम्' इत्याकारिका बुद्धिरित्यर्थः। एकपदार्थधर्मिकेति। 'इदं कमलम्' इत्याकारिकायाः इदंपदार्थधर्मिककमलाभेदबुद्धेरिति प्रकृतोऽर्थः। अपरपदार्थधर्मिकेति। 'कमलं इदम्' इत्याकारक-कमलधर्मिकेदंपदार्थाभेदज्ञानेति प्रकृतोऽर्थः। कमलाभेदबोधेति। 'इदं कमलम्' इत्याकारकबोधेत्यर्थः। कमले इदंपदार्थाभेदो निरर्थकः उभयत्र धावनकर्मणि भ्रमरप्रवृत्तेरिदं पदार्थधर्मिककमलाभेदज्ञानाधीनत्वात् कमलधर्मिकेदं पदार्थाभेदज्ञानस्य तत्राप्रयोजकत्वात्। तथा च 'इदमिदं वा कमलम्' इत्याकारकस्यानेकधर्मिकैकप्रकारकज्ञानस्यैवात्रौचित्येनानेककोटिकत्वाभावान्नायं संशय इति शङ्कादलाशयः, सम्बन्धरूपत्वादभेदो द्विष्ठः पदार्थः, तथा चैकस्य पदार्थस्यापरत्राभेदे गृहीतेऽपरस्य पदार्थस्याभेद एकस्मिन् गृहीतो भवत्येवेति इदंपदार्थे कमलाभेदे ज्ञायमाने कमले इदंपदार्थाभेदस्य ज्ञानं निष्प्रयोजनमपि स्यादेवेति च समाधानदलाशयोऽयम्। पर्यवसितमाह—कमलत्वमिति। 'कमलं इदमिदं वा' इत्याकारके कमलविशेष्यकेऽभेदसम्बन्धावच्छिन्नपुरोवर्तिव्यक्तिद्वयनिष्ठप्रकारताके संशये जायमाने 'कमलत्वं एतद्वृत्ति तद्वृत्ति वा' इत्याकारकः कमलत्वविशेष्यकः स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नैतद्वृत्तित्वतद्वृत्तित्वोभयनिष्ठप्रकारताकः एव संशयः पर्यवस्यतीति भावः। उपसंहरति—सोऽयमिति। इत्थंरीत्या प्रकृतपद्ये सन्देहालङ्कारध्वनित्वं सुस्थमिति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'तीरे—' इस पद्य में 'तटपर तरुणी-मुख और जल में कमल को देख लेने के बाद भ्रमरों का दोनों तरफ दौड़ना'रूप वाच्यार्थ से कमलरूप आधार में, अभेद सम्बन्ध द्वारा, आगे स्थित दो व्यक्ति (एक तरुणी का मुख, दूसरा कमलपुष्प) जिसकी कोटियाँ हैं ऐसा 'कमल यह है अथवा यह' इस आकार वाला भ्रमरनिष्ठ सन्देह (अलङ्कार) अभिव्यक्त होता है। आप कहेंगे—कमलरूप आधार में 'यह' का अभेद निरर्थक है। कारण, भ्रमर जो दोनों वस्तुओं की तरफ दौड़ रहे हैं सो 'कमल में यह' के ज्ञान से नहीं, किंतु 'यह' में कमल' के ज्ञान से दौड़ रहे हैं। अतः भ्रमरगत ज्ञान का आकार वस्तुतः यह सिद्ध होता है कि—'यह अथवा यह कमल है'। इस ज्ञान में धर्मी ही अनेक हैं कोटि तो 'कमल' एक ही है, फिर यह ज्ञान संशय हुआ ही नहीं। पर यह आपका कथन उचित नहीं। कारण, एक पदार्थ में अन्य पदार्थ का अभेदज्ञान अन्य पदार्थ में एक पदार्थ के अभेद-ज्ञान का निमित्त हुआ करता है। सारांश यह कि 'अभेद' परस्पर का सम्बन्ध है, अतः 'यह में कमल का अभेद'

भी गया है। फलतः 'आज्ञा—' यह पद्य मध्यम काव्य का उदाहरण है, ध्वनि-काव्य का नहीं। इस पद्य में सीता प्रस्तुत होने के कारण उपमेयभूत है और आज्ञा, चापयष्टि, वनदेवता तथा शकुन्तला हैं अप्रस्तुत होने के कारण उपमानभूत। इनमें से प्रत्येक उपमान–जो संदेह में प्रकारतया (विशेषणरूप से) भासित हुए हैं–के साथ उपमेय–सीता–का साधारणधर्म जो अनुगामी (एक ही बार उच्चरित होकर दोनों तरफ अन्वित हो सकनेवाला) है पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट हुआ है। जैसे–आज्ञा के साथ 'अनुल्लङ्घनीयता', चापयष्टि के साथ 'नवीनता' वनदेवता के साथ 'वनवासित्व' और शकुन्तला के साथ 'मुनिकन्यात्व' सीता के अनुगामी साधारणधर्म हैं। यह ध्यान रहे कि–राजा जनक राजा होकर भी मुनि थे, अतः सीता भी मुनिकन्या कही जा सकती है।

निरसितुम् अप्पयदीक्षितोक्तं सन्देहध्वन्युदाहरणं तद्विवरणञ्चोद्धरति—

यत्तु चित्रमीमांसायां संशयध्वन्युदाहरणप्रसङ्गे अप्पयदीक्षिताः—

"'काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गीं वीक्ष्य साक्षादिव श्रियम्।
वरदः संशयापन्नो वक्षःस्थलमवैक्षत ॥'

अत्र संशयस्य शब्दोपात्तत्वेऽपि तावन्मात्रस्यानलङ्कारत्वात्तदलङ्कारताप्रयोजकस्य वक्षःस्थले स्थितैव लक्ष्मीस्ततोऽवतीर्य पुरस्तिष्ठतीत्येवं संशयाकारस्य वक्षःस्थलमवैक्षतेत्यनेन व्यङ्ग्यत्वात् सन्देहालङ्कारध्वनिरत्रेति।

यथा—

'दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
वीक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मनः कानि कान्यपि चकार लज्जया ॥'

इत्यत्र कानि कान्यपीति सामान्यतो निर्दिष्टानुभावविशेषप्रतीत्यर्थं लज्जाशब्दप्रयोगेऽपि तस्याः स्वविभावानुभावाभ्यां रसानुगुणाभिव्यक्तिरूपो ध्वनिः" इत्याहुः।

काञ्चिदिति। साक्षात् पुरः समुपस्थिताम्, श्रियं लक्ष्मीम्, इव, काञ्चनवत् सुवर्णवत्, गौराणि गौरवर्णयुक्तानि, अङ्गानि अवयवा यस्यास्तादृशीम्, काञ्चित् सुन्दरीम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, संशयापन्नः सन्देहग्रस्तः, वरदः 'काञ्चीवरम् (मद्रास)' नगरे वरदराजनाम्ना ख्यातो विष्णोर्मूर्तिविशेषः, वक्षःस्थलम् स्वकीयमुरोदेशम्, अवैक्षत दृष्टवानित्यर्थः। अप्पयदीक्षितकृतवरदराजस्तवान्तर्गतमिदं पद्यम्। उपपादयति दीक्षितः—अत्रेति। तावदिति। संशयस्येत्यर्थः। अयमत्र तदाशयः—'काञ्चित्—' इत्यत्र 'संशयापन्नः' इति समस्तपदघटक-'संशय-'पदेन यद्यपि वाच्यरूपस्यैव सन्देहो बोध्यते, तथापि तदुल्लिखितकोटिद्वयाभावात् तस्य नालङ्कारत्वम्, अतः 'वक्षःस्थले स्थिता लक्ष्मीस्ततोऽवतीर्य पुरः तिष्ठति अथवा काचिदन्या कनकगौरी रमणी' इत्येवं स्फुटाकारस्यैव तस्यालङ्कारत्वं निर्वचनीयम्, स चाकारस्तदाकारविशिष्टसंशयश्च न वाच्यः, अपि तु 'वक्षःस्थलमवैक्षत' इत्यनेन व्यङ्ग्य एवेत्यत्र सन्देहालङ्कारध्वनिरिति। एवंरीत्या ध्वनिरूपव्यवहारे दृष्टान्तविधया नयान्तरमुपन्यस्यति दीक्षितः यथा—'दर्पणे—' इति। दर्पणे आदर्शे, परिभोगदर्शिनी सम्भोगचिह्नदर्शिका पार्वती, आत्मनः स्वस्याः, बिम्बमनु प्रतिकृतेः पश्चाद्भागे, पृष्ठतः पृष्ठदेशे, निषेदुषः उपविष्टस्य, प्रणयिनः प्रियतमस्य शिवस्य, बिम्बं प्रतिकृतिम्, वीक्ष्य, लज्जया, कानि कानि नानाविधानि चेष्टितानीति यावत्, चकारेत्यर्थः। दीक्षितग्रन्थे तदुद्धरणात्मके रसगङ्गाधरे च 'कानि कान्यपि' इति पाठः समुपलभ्यते, तदनुसारिणीयं व्याख्या कुमारसम्भवे तु 'कानि कानि न' इति पाठो दृश्यते, तदनुसारिणी व्याख्या

स्तनमुकुलिं शय्या । कुमारसम्भवे पार्वतीसम्भोगवर्णनमिदम् । उपपादयति स एव— अत्रेति । निर्दिष्टेति । निर्दिष्टाः उपवर्णिता ये अनुभावाः मुखनम्रीभावादयः, विशेषरूपेण तत्प्रतीत्यर्थमित्यर्थः । तस्याः लज्जायाः । स्वविभावानुभावाभ्यामिति । प्रियतमेन नायिकाकृतसम्भोगचिह्नदर्शनप्रकारकस्य ज्ञानं विभावः, मुखनम्रीभावादिरनुभावः ताभ्यामित्यर्थः । अन्यत्वं तृतीयार्थः । तस्य नाभिव्यक्तिपदार्थेऽन्वयः । रसानुगुणेति । शृङ्गाररसपोषिका या अभिव्यक्तिः तद्रूप इत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम् 'दर्पणे ' इति पद्ये 'कानि कानि' इत्यनेन अनुभावा निर्दिष्टाः परन्तु 'के ते अनुभावाः, कस्य वा अनुभावाः' इत्यादि न तावता विशेषतः प्रतीयते इति तत्प्रतीत्यर्थम् 'लज्जया' इति कविना प्रयुक्तम् । येन अनुभावा मुखनम्रीभावादयः प्रतीयन्ते । एवञ्च लज्जाया वाच्यत्वाद्यद्यपि न व्यङ्ग्यत्वम्, तथापि वाच्यायास्तस्या न प्रकृतशृङ्गाररसपोषकत्वम्, तत्पोषकत्वञ्च स्वकीयविभावानुभावद्वाराऽभिव्यज्यमानायास्तस्या इति लज्जाध्वनिरयं व्यवह्रियते यथा, तथा तत्रापि सन्देहध्वनिरिति ।

स्पष्ट करने के लिये सन्देह ध्वनि का दीक्षितोक्त उदाहरण तथा तदुक्त उसका उपपादन अब यहाँ उद्धृत किया जाता है—'यस्तु' इत्यादि । अप्पय दीक्षित ने अपनी 'चित्रमीमांसा' में 'सन्देहध्वनि' के उदाहरण के प्रसङ्ग पर लिखा है—"काञ्चित्—अर्थात् वरदराज ('काञ्चीवरम्-मद्रास'-में भगवान् विष्णु की 'वरदराज' नाम से प्रसिद्ध एक मूर्ति) मानो साक्षात् लक्ष्मी हो ऐसी, सुवर्ण सदृश गौर अङ्गों वाली किसी कामिनी को देखकर सन्देह-युक्त हुए और वक्षःस्थल देखने लगे ।" (यह पद्य अप्पयदीक्षित के मूल पुरुष 'वक्षःस्थलाचार्य' द्वारा रचित 'वरदराज-वसन्तोत्सव' का है ।) इस पद्य में यद्यपि सन्देहात्मक ज्ञान साक्षात् शब्द द्वारा वर्णित है—अर्थात् 'संशयापन्नः' में संशय शब्द आया है, तथापि केवल उतना भाग-अर्थात् स्पष्ट आकाररहित सन्देह-अलङ्कार-रूप नहीं होता, और 'वक्षःस्थल में रहने वाली लक्ष्मी ही वहाँ से उतरकर आयी खड़ी है' इस तरह के आकार वाला जो यहाँ सन्देह अलङ्काररूप है वह उस रूप में शब्दोपात्त है नहीं, अपि तु 'वक्षःस्थल को देखने लगे' इस उक्ति से व्यङ्ग्य होता है । तात्पर्य यह कि-'संशय' पद से निराकार सन्देह के वाच्य होने पर भी साकार सन्देह वाच्य नहीं, व्यङ्ग्य है, और साकार सन्देह ही अलङ्काररूप माना जाता है । अतः यह पद्य सन्देहालङ्कारध्वनि का उदाहरण है । जैसे कि—'दर्पणे च—अर्थात् दर्पण में सम्भोग के चिह्न—नखक्षत आदि—को देख रही पार्वती ने अपने पीछे बैठे प्रियतम—शिव—के प्रतिबिम्ब को अपने प्रतिबिम्ब के पीछे की तरफ देखकर लज्जा से क्या क्या न किया ।' (यह अर्थ कुमारसम्भव में उपलब्ध 'कानि कानि न चकार—' इस पाठ के अनुसार किया गया है । दीक्षित की चित्रमीमांसा में तथा तदुद्धरणात्मक रसगङ्गाधर में 'कानि कान्यपि नाकार' यह पाठ—जो मूल में लिखा गया है—प्राप्त होता है तदनुसार किसी तरह 'नाना प्रकार की चेष्टाएँ कीं' यह अर्थ किया जा सकता है, पर पाठ अच्छा वही है जो कुमारसंभव में प्राप्त होता है । यह पद्य पार्वती-सुरत-वर्णन-प्रसङ्ग पर कुमारसम्भव-अष्टम सर्ग में आया है ।) यहाँ 'क्या-क्या' इस तरह सामान्यरूप में वर्णित अनुभावों की विशेषरूप से प्रतीति के लिये 'लज्जा' शब्द का प्रयोग करने पर भी, अपने विभावों और अनुभावों द्वारा, लज्जा की रस के अनुकूल अभिव्यक्तिरूप ध्वनि है—अर्थात् यहाँ अनुभावों को विशेष रूप में प्रतीत कराने के लिये 'लज्जा' शब्द के आने पर भी रस का पोषण करने में पटु लज्जारूप चित्तवृत्ति व्यङ्ग्य ही है । प्रकृत में कहने का तात्पर्य यह है कि-जिस तरह 'दर्पणे च—' इस पद्य में लज्जाशब्द का ग्रहण रहने पर भी, जिस रूप में वह रस का पोषण कर सकती है उस—विभावानुभाव द्वारा प्रतीयमानत्व—रूप में व्यङ्ग्य ही मानी जाती है और तदनुसार

'लज्जा-ध्वनि' कही जाती है, उसी तरह 'काञ्चित्—' इस पद्य में भी सन्देह को अलङ्कारतावच्छेदकरूप में व्यङ्ग्य माना जा सकता है और तदनुसार उस पद्य को 'सन्देहालङ्कारध्वनि' का उदाहरण भी कहा जा सकता है।

निरस्यति—

तदेतद् ध्वनिमर्मज्ञैरुपहसनीयमेव ।

प्रागुक्तं दीक्षितोक्तं सर्वमनुचितमेवेति भावः ।

दीक्षित द्वारा कही गई उक्त बातों का अब खण्डन किया जाता है—तदेतत् इत्यादि। पूर्वोक्त सभी बातें ऐसी ही हैं जिनका ध्वनिमर्मज्ञ जन उपहास ही कर सकते हैं—आदर नहीं।

उपहसनीयत्वे हेतुमाह—

तथाहि संशयाविष्ट इत्यत्र संशयपदेनैकस्मिन् पदार्थे विरुद्धनानापदार्थ-सम्बन्धावगाहिज्ञानं साक्षादेव निवेद्यते । तत्र कोऽसौ विरुद्धो नानार्थ इति विशेषाकाङ्क्षायां वक्षःस्थलावेक्षणेन वक्षःस्थलस्थैव लक्ष्मीस्ततोऽवतीर्य किं पुरःस्थितेत्यादिरर्थो व्यञ्जनाव्यापारेण बोध्यमानः शक्त्या संशयशब्दनिवेदितज्ञानविशेषणीभूतेन सामान्यार्थेन साकमभेदेन पर्यवस्यति । एवं च संशयमात्रस्य शक्त्या बोधनाद्वक्षःस्थलस्थितैवेत्यादिविषयभागस्यापि विरुद्धनानार्थत्वेन सामान्याकारेणावलीढतया तथैव कवलीकरणाद्वाच्यार्थसंशयपर्यवसायकत्वाच्च न कस्यापि ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं युक्तम् । सर्वथा वाच्यवृत्त्यचुम्बितस्यैव तथात्वमिति ध्वनिमार्गप्रवर्तकैः सिद्धान्तितत्वात् ।

तथा च द्वितीयोद्द्योते—

"'शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः ।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या साऽन्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः ॥'

इति सूत्रयित्वा ।

'सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥'

अत्र सङ्केतकालमनसं ज्ञात्वा लीलापद्मं निमीलितमिति वदता कविना लीलापद्मनिमीलनस्य प्रदोषाभिव्यञ्जकत्वं स्वोक्त्यैव निवेदितमिति ध्वनिमार्गाद्यमपर एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः ।

यथा वा—

'अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो
निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथाऽत्र ।
अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम् ॥'

अत्र निःशङ्कं रन्तुमायाहीत्यर्थस्मरणस्य व्यङ्ग्योऽप्यवसरव्याहृतिव्याजत्वं ब्रुवता कविना स्फुटं स्वोक्त्या निवेदित इत्ययमपि न ध्वनेर्मार्गः" इत्याहुरानन्दवर्धनाचार्याः ।

तृतीयोद्द्योते च गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरूपणे 'व्यङ्ग्यस्यार्थस्य यदि मनागप्युपस्या प्रकाशनं तदा गुणीभाव एव शोभते । तस्माद्यत्रोक्तिं विना व्यङ्ग्योऽर्थ-

अतस्तं व्यङ्ग्यमादाय ध्वनिकाव्यव्यवहारो न भवति, अपि तु अलङ्कारप्रधानगुणीभूतव्यङ्ग्य-नामकमध्यमकाव्यव्यवहार एवेति । तादृशमुदाहरणान्तरं तदुक्तमुद्धरति—अम्बेति । अत्र गृहप्रदेशविशेषे (एवमग्रेऽपि), वृद्धा (एतेन तस्याः चक्षुरादीन्द्रियशक्तिवैकल्यम्, तेन च जागरितायामपि तस्यां ज्ञानविशेषाभाव आवेद्यते) अम्बा माता, शेते (वाक्यान्तरेऽपि क्रियापदस्यास्यान्वयो बोध्यः), अत्र, परिणतवयसाम् वृद्धानाम्, अग्रणीः प्रधानः, अतिवृद्ध इति यावत्, तातः पिता (अत्रापि पूर्ववद् व्यङ्ग्यं बोध्यम्) तथा, अत्र, निःशेषेण सकलेन, आगारकर्मणा गृहकार्येण तत्करणेनेति यावत्, जनितः यः श्रमः, तेन, शिथिला आलस्यमयी, तनुः शरीरं यस्याः तादृशी (एतेन तज्जागरणसम्भावनानिरासः सूच्यते), कुम्भदासी कुम्भेति पान्थसम्बोधनमिति कश्चित्, तन्नामिका दासीत्यन्यः, जलाद्याहरणार्थं दासी, न क्रीडादासीति तु तत्त्वम्, कतिपयेभ्यो दिवसेभ्यः, प्रोषितः विदेशस्थः, प्राणनाथः स्वामी यस्यास्तादृशी (अत्र कतिपयेत्यनेन शीघ्रं तदागमनाभावो व्यज्यते, प्राणनाथेत्यनेन च तस्मिन् स्वकीयप्रेमाभावः), पापा पापिनी (सकलदुःखानां पापमूलत्वेन वियोगदुःखस्यापि पापमूलत्वात् पापात्वम्), एका एकाकिनी (एतेन रतसौविध्यम् व्यज्यते), अस्मिन् स्थानविशेषे, शये इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः, इत्थम् पूर्वोक्तप्रकारेण, तरुण्या नवयौवनशालिन्या (एतेन कामभावोत्कटता व्यज्यते), पान्थाय पथिकाय (एतेन तस्यापि चिरवियोगित्वेनोत्कण्ठातिशयः सूच्यते), अवसरव्याहृतिः आशंसिकी उक्तिस्तद्रूपो यो व्याजः कपटम्, स पूर्वः पुरस्सरो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा, कथितम् इत्यर्थः । अत्रत्यं तदुपपादनमुद्धरति—अत्रेत्यादिना । अयं भावः—'अम्बा—' इति पद्ये आद्येन चरणत्रयेण 'शङ्कामपहाय त्वं सम्भोगं विधातुमागच्छ' इत्यर्थोऽशेषतया व्यज्यते, परमसौ व्यङ्ग्योऽर्थश्चतुर्थचरणगतेन अवसरव्याहृतिव्याजेन वाच्यीकृत इति नैवं व्यङ्ग्यार्थमादायात्र ध्वनिव्यपदेशः, अपि तु अपह्नुत्यलङ्कारप्रधानगुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्यव्यपदेश एवेति । न केवलम् ध्वनिकृतैव एवं सिद्धान्तितम्, अपि तु ध्वन्यालोकस्य लोचनाभिधां टीकां कुर्वता अभिनवगुप्ताचार्येणापि तथैव सिद्धान्तितमित्याह—तृतीयोद्द्योते चेति । गुणीभाव इति । स्वनाम्नैवोक्त्या प्रकाशितस्य व्यङ्ग्यार्थस्येति भावः । तथा च तादृशस्थले गुणीभूतव्यङ्ग्यनामकमध्यमकाव्यत्वमिति तात्पर्यम् । परिशीलनक्षमार्थं स्फोर-अति—तस्मादिति । तत्र सामान्यस्याप्युक्त्यात्मसिद्धेःऽर्थत्वमेव ध्वनिनामकोत्तमकाव्यत्वमित्याशयः । ग्रन्थकारः प्रकृतमुपसंहरन्नाह—एवं चैवंविधेष्विति । विषयेषु लक्ष्येषु । पूर्वोदाहरणाशयेनाह—व्यञ्जकत्वस्येति । द्वितीयोदाहरणाशयेनाह—व्यङ्ग्यस्येति । निरा-पुणाः स्वकल्पनातः । स्वाभिमतपुष्ट्यर्थम् दृष्टान्तविधया दीक्षितोत्थापितः प्रश्नोऽपि उपहासास्पदमेवेत्याह—एतेनेति । आयमभिसन्धिः—ध्वनिकार आनन्दवर्धनः लोचन-कारोऽभिनवगुप्तश्च सर्वेऽप्यन्यालङ्कारिकाः उक्तानामुक्तिस्पृष्टस्यापि व्यङ्ग्यार्थस्य ध्वनिव्य-पदेशहेतुताम् निराकुर्वताम्, अतः 'दर्पणे च परिभोगदर्शिनी—' इत्यत्र लज्जापदेनाभि-हितस्य प्रकारान्तरेण व्यङ्ग्यस्यापि भावस्य न ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम् । इत्थञ्च तदृष्टान्तेन 'कथित—' इत्यत्र शब्दाभिहितस्य ससन्देहालङ्कारस्य प्रकारान्तरेण व्यङ्ग्य-त्वमुपपाद्य ध्वनिव्यवहारहेतुतां ब्रुवाणो दीक्षितो ध्वनिमर्यादानभिज्ञ एवेति ।

दीक्षित की बातों के उपहासयोग्य होने में हेतु दिखलाया जाता है—यथाहि इत्यादि ('संशयापन्नः' इस मूलोक्त वाक्य के 'संशय' पद से 'एक पदार्थ में, परस्पर-विरोधी अनेक पदार्थों के सम्बन्धों का अवगाहन करनेवाला ज्ञान' (जिसे सन्देह कहा

जाता है) साक्षात् ही बोधित होता है अर्थात् संशय-पद-घटित 'वरदः संशयापन्नः' इस वाक्य का वाच्य अर्थ ही यह है कि वरदराज को कोई ऐसा ज्ञान हुआ है जो एक पदार्थ में परस्परविरुद्ध अनेक कोटियों का ग्रहण कर रहा है। इसके बाद जब 'वह परस्पर-विरोधी पदार्थ (जो कोटिरूप हैं) कौन है' इस विशेष की जिज्ञासा होती है तब वरदराज के वक्षःस्थल-दर्शन-रूप अर्थ से अभिव्यक्त होनेवाले 'वक्षःस्थल में रहनेवाली लक्ष्मी ही वहाँ से उतर कर आगे खड़ी है क्या ?' यह (कोटिभूत) अर्थ अवगत होता है। इस तरह विशेषरूप में व्यञ्जना द्वारा ज्ञात होनेवाला यह कोटिभूत अर्थ, अभिधा द्वारा, संशय शब्द से बोधित उक्त ज्ञान में विशेषण बने सामान्य अर्थ (अनेक पदार्थ) के साथ अभिन्नता को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह कि जिस अंश को लेकर आप उक्त पद्य में सन्देह को व्यङ्ग्य मान रहे हैं वह अंश अन्ततः वाच्य सन्देह का विवरण मात्र ठहरता है, स्वतन्त्र व्यङ्ग्य अर्थ नहीं। इस तरह सारांश यह सिद्ध हुआ कि 'काञ्चित्—' इस पद्य में केवल (विषयांशरहित) सन्देह तो अभिधा द्वारा ज्ञात होने के कारण वाच्य है ही, साथ ही उसके एक अंश का विवरणरूप 'वक्षःस्थल में स्थित ही लक्ष्मी वहाँ से उतर कर सामने खड़ी है' यह विषयभाग भी 'विरोधी अनेक पदार्थ' रूप होने के कारण विशेषरूप से व्यङ्ग्य होकर भी सामान्यरूप से अभिधा द्वारा आक्रान्त है। ऐसी स्थिति में अभिधावृत्ति का प्राप्त बन जाने से इस अर्थ को स्वतन्त्र-तया व्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता इस और व्यङ्ग्य अर्थ की समाप्ति भी वाच्यार्थ-विषयक सन्देह में ही होती है। अतः यहाँ एक भी ऐसा अर्थ नहीं जो इस काव्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम) बना सके। कारण, ध्वनिमार्ग-प्रवर्तकों का सिद्धान्त है कि जिसमें अभि-धावृत्ति का स्पर्श सर्वथा नहीं हो वही व्यङ्ग्य काव्य में 'ध्वनि'व्यवहार करा सकता है। देखिए—'ध्वन्यालोक' के द्वितीय 'उद्योत' में 'आनन्दवर्धनाचार्य' ने—'शब्दार्थ-शक्त्या—अर्थात् शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति किंवा उभयशक्ति (शब्दनिष्ठ व्यञ्जना अथवा अर्थनिष्ठ व्यञ्जना किंवा उभयनिष्ठ व्यञ्जना) द्वारा आक्षिप्त (बोधित) भी व्यङ्ग्य अर्थ, जहाँ कवि द्वारा अपनी उक्ति से पुनः प्रकट कर दिया जाता है, वह 'ध्वनि' से भिन्न ही अलङ्कार है—ऐसी जगह 'ध्वनि' नहीं, किन्तु अलङ्कार माना जाना चाहिये।' यह सूत्र बनाकर कहा है कि "'संकेत—अर्थात् चतुर नायिका ने जार को संकेत-काल-ज्ञान के लिये उत्सुक मन वाला जानकर, हँसती आँखों से अपने अभिप्राय को प्रकट करने के साथ, लीलाकमल को मूँद दिया।' यहाँ 'जार को संकेत-काल-ज्ञान के लिये उत्सुक मन वाला जानकर' इस अंश से युक्त 'लीलाकमल को मूँद दिया' इस वाक्यांश को कहते हुए कवि ने 'लीलाकमलमुद्रण' में वर्तमान 'प्रदोषकालव्यञ्जकता' को अपनी उक्ति द्वारा ही प्रकट कर दिया, अतः ध्वनिपद्धति से भिन्न यह गुणीभूत व्यङ्ग्य की पद्धति है। अभिप्राय यह कि यदि 'जार को संकेत-काल-ज्ञान के लिये उत्सुक मनवाला जानकर' इस वाक्यांश का उच्चारण कवि नहीं करता तब 'लीलाकमल-मुद्रण' की 'प्रदोषव्यञ्जकता' प्रकट नहीं होती—छिपी रहती, अतः उस स्थिति में यह पद्य ध्वनि-काव्य कहलाता, पर ऐसा हुआ नहीं, अतः यह मध्यमकाव्य ही कहलाता है। अथवा जैसे—'अत्रा शेते—अर्थात् यहाँ बूढ़ी माता सोती है, यहाँ बूढ़ों के अगुआ अति-वृद्ध पिता सोते हैं तथा यहाँ सारे घर के कामों को करने से श्रान्त अतएव शिथिल शरीरवाली 'कुम्भदासी' (कुम्भ नामकी दासी अथवा जल लाने के लिये घड़ा उठाने वाली दासी, क्रीड़ा-दासी नहीं) सोती है, और इस जगह, कुछ दिनों से दूरस्थ पति से वियुक्त अतएव पापिनी मैं अकेली सोती हूँ, इस तरह युवती ने प्रासङ्गिक उक्ति के छल से, पथिक को कहा।' (यहाँ 'माता को वृद्ध और पिता को वृद्धों का अगुआ' कहने से उनके जगने का कोई भय नहीं, जग जाने पर भी दृष्टिशक्ति-श्रवणशक्ति आदि से हीन होने के कारण, उन पर हमारे आचरणों के प्रकट होने का भय नहीं, इत्यादि अर्थ व्यक्त

होते हैं, इसी तरह 'कृशवासी' को श्रान्त तथा शिथिल शरीरवाली कहने से उसके जगने का भी भय नहीं, यह अर्थ ध्वनित होता है, एवं अपने को पतिवियुक्ता तथा अकेली सोनेवाली कहने से नायिका की उत्कट सम्भोगेच्छा प्रतीत होती है, पति को 'प्राणनाथ' कहने से 'हृदयनाथत्व' का वारण झलकता है, 'पथिक को' इस कथन से उसका भी सम्भोगोत्सुक होना सिद्ध होता है। यहाँ 'निःशङ्क होकर रमण करने आओ' यह अर्थ पद्य के प्रथम तीन चरणों से यद्यपि व्यङ्ग्य होता है, तथापि कवि ने 'प्रासङ्गिक उक्ति' को छलरूप कहते हुए उस व्यङ्ग्य अर्थ को अपनी उक्ति से स्पष्ट अवगत होने योग्य बना दिया। अतः यह भी 'ध्वनि' का मार्ग नहीं है।" यह तो हुई आनन्दवर्धनाचार्य की बात। इसके अतिरिक्त 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नामक व्याख्या लिखनेवाले अभिनवगुप्ताचार्य ने भी 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्द्योत में आनन्दवर्धन की युक्तियों का विवेचन करते हुए [illegible] में लिखा है—'व्यङ्ग्य अर्थ यदि उक्ति द्वारा प्रकाशित [illegible] होना ही शोभित होता है। तात्पर्य यह कि उस स्थिति में व्यङ्ग्य को प्रधान कहना उचित नहीं। अतः जहाँ उक्ति के बिना ही व्यङ्ग्य अर्थ तात्पर्यतः प्रकाशित होता है वहाँ उसकी प्रधानता होने के कारण काव्य को 'ध्वनि' माना जाता है, अन्यत्र नहीं।' इन उद्धरणों से यह सिद्ध हुआ कि जो ध्वनिमार्गप्रवर्तक आचार्य 'संकेतकाल—' इत्यादि लक्ष्यों में व्यञ्जना अथवा व्यङ्ग्य का उक्ति (अभिधा) के साथ किञ्चित् भी स्पर्श हो जाने पर 'ध्वनिकाव्यता' का निराकरण करते हैं वे 'काञ्चिकाञ्चनगौराङ्गीम्—' इस पूर्वोक्त उदाहरण में—जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ प्रकारान्तर से स्पष्टतया अभिधावृत्ति-बोध्य हो गया है—'ध्वनिकाव्यता' कैसे स्वीकार करेंगे? इसी से 'दर्पणे च परिभोगदर्शिनी—' इस पूर्वोक्त 'कुमारसम्भव' के पद्य में जो दीक्षित जी ने 'ध्वनिकाव्यता' का दृष्टान्तरूप में उल्लेख किया है, वह भी समाप्त हो गया। तात्पर्य यह कि न 'कुमारसम्भव' का पद्य ही 'ध्वनिकाव्य' (उत्तमोत्तम) है, न दीक्षित जी का उदाहरण ही।

ससन्देहालङ्कारे साधारणधर्मस्थितिं विचारयति—

अस्मिंश्च संशये नानाकोटिषु क्वचिदेक एव समानो धर्मः। क्वचित् पृथक्। सोऽपि क्वचिदनुगामी, क्वचिद् बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नः, क्वचिन्निर्दिष्टः, क्वचिन्निर्दिष्टः।

अयं ससन्देहालङ्कारोऽपि सादृश्यमूलकः, अतोऽत्रापि सादृश्यनियामकः समानो धर्मः तिष्ठति। स च समानो धर्मः कुत्रचित् सन्देहे विशेषणीभूतानामुपमानभावापन्नानाम् अनेकपदार्थानाम् सादृश्यस्य विशेष्यीभूते उपमेयभावापन्ने पदार्थे नियामक एक एव भवति, क्वचिच्च भिन्नो भवति। अनयोर्द्विविधयोः समानधर्मयोः प्रत्येको धर्मः पुनश्चतुर्विधो भवति, अनुगामि-बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नानिर्दिष्टनिर्दिष्टरूपत्वात् इति भावः।

ससन्देहालङ्कार में साधारणधर्म की क्या स्थिति होती है इसका विचार अब किया जाता है—अस्मिंश्च इत्यादि। यह ससन्देह भी सादृश्यमूलक अलङ्कार है, अतः इसमें भी सादृश्य को सिद्ध करनेवाला साधारणधर्म होता है—अर्थात् सन्देह में जो विशेष्यभूत पदार्थ रहता है वह उपमेय तथा सन्देह में जो कोटिभूत (विशेषण) पदार्थ रहते हैं वे उपमान कहे जा सकते हैं। अब उस एक उपमेय में उन अनेक उपमानों का सादृश्य जिसके कारण सिद्ध होता है वह समानधर्म अनेक प्रकार का हो सकता है जैसे—कहीं वह एक रहता है। तात्पर्य यह कि एक उपमान के साथ उपमेय का जो साधारणधर्म होता वही दूसरे उपमान के साथ भी। और कहीं वह भिन्न-भिन्न रहता है। अभिप्राय यह कि एक उपमान के साथ जो उपमेय का साधारणधर्म रहेगा, उससे भिन्न दूसरे उपमान के साथ। इन दोनों प्रकार के साधारणधर्मों में से प्रत्येक पुनः चार-

चार प्रकार का होता है, जैसे—कहीं अनुगामी, कहीं बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न, कहीं अनुक्त और कहीं उक्त।

क्रमेण तत्तद्धर्मोदाहरणप्रदर्शनप्रसङ्गे प्रथममनुगामिनोऽनिर्दिष्टस्यैकस्य तस्योदाहरणमाह—

तत्र 'मरकतमणिमेदिनीधरो वा' इति प्रागुदाहृतपद्ये श्यामाभिरामत्वं धर्मिणो रामस्य कोट्योश्च तमाल-मरकत-भूधरयोरेक एवानुगामी धर्मः प्रतीयमानत्वादनिर्दिष्टः।

तत्रेति। तेषां धर्माणां मध्य इत्यर्थः। श्यामेति। श्यामत्वविशिष्टाभिरामत्वमित्यर्थः। धर्मिण इति। संशयीयविशेष्यताश्रयस्येत्यर्थः। उपमेयस्येति यावत्। कोट्योरिति। संशयीयप्रकारताश्रययोरित्यर्थः। उपमानयोरिति यावत्। 'मरकतमणि—' इति पद्ये रामतमालयोः मरकतपर्वतरामयोश्चैक एव साधारणो धर्मः श्यामत्वसमानाधिकरणाभिरामत्वरूपः। स चात्रानिर्दिष्टः अनिर्देशेऽपि प्रसिद्धिवशात्प्रतीतेः।

अब क्रमशः उन धर्मों के उदाहरण दिखलाने के क्रम में पहले अनुक्त एक अनुगामी धर्म का उदाहरण दिखलाया जाता है—तत्र इत्यादि। उक्त धर्मों में से अनुगामी एक अनुक्त समानधर्म का उदाहरण 'मरकतमणि—' यह पूर्वोक्त पद्य होता है, क्योंकि यहाँ धर्मी (सन्देह में विशेष्यरूप से भासित होनेवाला पदार्थ) राम तथा तमाल और मरकतपर्वत इन दोनों कोटियों में 'श्यामसुन्दरता'रूप एक ही धर्म है जो अनुगामी है तथा प्रसिद्धिवश से प्रतीत हो जाने के कारण अनुक्त है।

निर्दिष्टमेकमनुगामिनं धर्ममुदाहर्तुमाह—

स एव निर्दिष्टो यथा—

स एवेति। अनुगामी एक एवेत्यर्थः।

उक्त अनुगामी एक समानधर्म, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'नेत्राभिरामं रामाया वदनं वीक्ष्य तत्क्षणम्।
सरोजं चन्द्रबिम्बं वेत्यखिलाः समशेरत॥'

अखिलाः सर्वे जनाः, रामायाः सुन्दर्याः, नेत्राभिरामम् नयनरमणीयम्, वदनं मुखम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, तत्क्षणम् तस्मिन्नेव समये, इदम्, सरोजं कमलम्, चन्द्रबिम्बं चन्द्रमण्डलम्, वा, इति, समशेरत संशयं कृतवन्त इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—नेत्राभिरामम् इत्यादि। सुन्दरी के नयन-मनोहर मुख को देखकर सब लोग तत्काल 'कमल है अथवा चन्द्र-मण्डल' इस तरह सन्देह करने लगे।

उपपादयति—

अत्र नेत्राभिरामत्वरूपस्त्वेक एवानुगामी धर्मो निर्दिष्टः।

'नेत्राभिरामम्—' इत्यत्रोपमेयस्थानीये संशयविषये रामावदने यथा नेत्राभिरामत्वम् (नेत्रयोः = नेत्रदेशावच्छेदेन नेत्राभ्यां वा अभिरामत्वम्) तथोपमानस्थानीययोः सरोजचन्द्रबिम्बयोरपि नेत्राभिरामत्वम् (नेत्रवदभिरामत्वम्) इति त्रिष्वप्येतेष्वनुगामी साधारणधर्मः। स चात्रोक्त इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'नेत्राभिरामम्—' इस पद्य में सुन्दरी-मुख, कमल और चन्द्रबिम्ब तीनों में एक ही अनुगामी समानधर्म 'नयन-मनोहरता' शब्द द्वारा प्रतिपादित है। अभिप्राय यह है कि उक्त पद्य में संशय में विशेष्यभूत

पदार्थ (उपमेय-सुन्दरीमुख) जिस तरह नयन-मनोहर (नयन-देश में मनोहर अथवा नयनों से मनोहर) है उसी तरह संशय में कोटिभूत पदार्थ (उपमान-कमल तथा चन्द्र-बिम्ब) भी नयन-मनोहर (नयन के समान मनोहर) हैं, अतः श्लेषद्वारा एक 'नयन-मनोहरता' ही तीनों में रहनेवाला धर्म होता है जो शब्दद्वारा यहाँ कथित है।

उक्तभिन्नानुगामिधर्मोदाहरणं स्मारयति—

पृथगनुगामी निर्दिष्टो यथा प्रागुदाहृते 'आज्ञा सुमेषोः' इत्यादौ।

उपपादितमिदं प्राक्।

शब्दद्वारा उक्त भिन्न-भिन्न तरह के अनुगामी समानधर्म—जो पहले उदाहृत हो चुके हैं—का स्मरण कराया जाता है—पृथग् इत्यादि। 'आज्ञा सुमेषोः—' इस पद्य में उस तरह का धर्म है जिसका उपपादन पहले ही किया जा चुका है।

सादृश्यधर्मस्योदाहरणान्तरं दातुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'सम्पश्यतां तामतिमात्रतन्वीं शोभाभिराभासितसर्वलोकाम्।
सौदामिनी वा सितयामिनी वेत्येवं जनानां हृदि संशयोऽभूत्॥'

अतिमात्रतन्वीम् नितान्ततुर्बलाङ्गीम्, तथा, शोभाभिः आभासिताः प्रकाशिताः, सर्वे लोकाः यया ताम् ('सम्बन्धिशब्दः साकांक्षो नित्यं सर्वः समस्यते' इति नियमेन 'शोभाभिः' इत्यस्य पृथङ्निर्देशेऽपि 'आभासितसर्वलोकाम्' इत्यत्र समासो बोध्यः), ताम् वर्णनीयां नायिकाम्, सम्पश्यताम् समवलोकयताम्, जनानाम्, हृदि हृदये, 'इयं सौदामिनी विद्युल्लता, अथवा सितयामिनी शुक्लपक्षीयरात्रिः' इति संशयः, अभूदित्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सम्पश्यताम् इत्यादि। अत्यधिक दुर्बल अङ्गों वाली तथा शोभाओं से सब भुवनों को प्रकाशित करने वाली उस सुन्दरी के दर्शकों को 'विद्युल्लता है अथवा शुक्लपक्ष की रात्रि है' यह सन्देह हुआ।

उपपादयति—

अत्रातिमात्रतनुत्वं सौदामिन्या, शोभाभिराभासितसर्वलोकात्वं च सितयामिन्या सह कान्तायाः पृथगनुगामी समानो धर्मः।

सौदामिन्येति। सह कान्तेत्यत्रान्वेति। 'सम्पश्यताम्—' इत्यत्र सौदामिनी-कान्तयोरतिमात्रदुर्बलत्वम्, सितयामिनी-कान्तयोश्च शोभाभासितसर्वलोकत्वम् अनुगामी साधारणो धर्मः पृथक् पृथक् उक्त इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'सम्पश्यताम्—' इस पद्य में 'अत्यधिक दुबली होना' विद्युल्लता के साथ और 'शोभाओं से सब भुवनों को प्रकाशित करना' शुक्लपक्षीय रात्रि के साथ—इस तरह एक ही कामिनीरूप उपमेय के अनुगामी समान-धर्म पृथक्-पृथक् उक्त हुये हैं।

अनुक्तभिन्नानुगामिसाधारणधर्मोदाहरणप्रदर्शनायाह—

अत्रैव पूर्वार्धगतविशेषणद्वयत्यागे स एवानिर्दिष्टः।

'सम्पश्यताम्—' इत्यस्मिन्पद्य एव यदि धर्मबोधके पूर्वार्धगते 'अतिमात्रतन्वीम्' 'शोभाभिराभासितसर्वलोकाम्' इति विशेषणे अनिर्दिश्येयाताम्, तदा तदेव पद्यमनुक्त-पृथगनुगामिसाधारणधर्मोदाहरणतां प्रतिपद्येतेति भावः।

'समपश्यताम्—' इस पद्य में ही यदि पूर्वार्ध के दोनों ('अत्यधिक कुबड़ी होना' तथा 'शोभाओं से सब भुवनों को प्रकाशित करना') धर्मबोधक विशेषणों को छोड़ दिया जाय–अर्थात् उन दोनों विशेषणों का समावेश न करके ही पद्य-रचना की जाय–तब यह पद्य अनुक्त पृथक् अनुगामी समानधर्म का उदाहरण हो जायगा।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नपृथङ्निर्दिष्टसाधारणधर्मोदाहरणं स्मारयति—

बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नो यथा 'तीरे तरुण्या वदनं सहासम्' इत्यादौ प्रागुक्ते।

'तीरे तरुण्याः—' इति श्लोके 'सहासत्वम्' 'विकसितकाशत्वम्' चेति द्वौ साधारणधर्मौ शब्दतः कथितौ तौ च बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नाविति भावः।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारणधर्म, जैसे—'तीरे तरुण्याः—' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में। अभिप्राय है कि 'तीरे तरुण्याः—' इस पद्य में 'हासयुक्त होना' और 'विकाशयुक्त होना' ये दो समानधर्म पृथक् पृथक् शब्दतः उक्त हैं और ये दोनों धर्म साधारण इसलिये होते हैं कि बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न हैं।

तादृशधर्मोदाहरणान्तरं निर्दिशति—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'सपल्लवा किं नु विभाति वल्लरी सफुल्लपद्मा किमियं नु पद्मिनी।
समुल्लसत्पाणिपदां स्मितानना[मि]तीक्षमाणैः समलम्भि संशयः॥'

[illegible], तथा, स्मिताननां शोभायुक्ताम्, कामिनीम्, ईक्षमाणैः [illegible], 'सपल्लवा किसलयवती, वल्लरी लता, विभाति शोभते, किं नु अथवा, सफुल्लपद्मा विकसितकमलकोशयुक्ता, पद्मिनी नलिनी, विभाति, किं नु' इति इत्याकारकः, संशयः, समलम्भि लब्ध इत्यर्थः (अत्र 'नु'शब्दो वितर्के)। अत्र 'पाणिपदां स्मिते'ति प्रतीकमुपादायाह नागेशः–'पादप्रतिबिम्बानिर्देशान्न्यूनताऽत्र। अत एव पाण्याननयोरित्यभिमोक्तिः सङ्गच्छते। वस्तुतस्तु फुल्लपद्मं पाणिवत् पादयोरपि प्रतिबिम्ब इति न दोषः। व्याख्याने तूपलक्षणत्वेन योज्यम्।' इति।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सपल्लवा इत्यादि। शोभायुक्त कर-चरणोंवाली तथा मन्दहासयुक्त मुखवाली उस कामिनी को देखने वालों को यह सन्देह हुआ कि 'यह क्या पल्लवोंसहित लता शोभित हो रही है अथवा विकसित कमलयुक्त पद्मिनी?'

उपपादयति—

अत्र पल्लवफुल्लपद्मे पाण्याननयोः प्रतिबिम्बकोटिस्थे पृथङ् निर्दिष्टे।

'सपल्लवा—' इति पद्ये [illegible] वल्लरी-पद्मिनी[illegible] [illegible], सन्देहकाले साधारणधर्म[illegible], साधारणधर्म[illegible] पल्लव पाणि[illegible], पद्मिनी-कामिन्योश्च फुल्ल[illegible]। [illegible] एवम्, फुल्लत्वं [illegible], [illegible] कथं तयोः भिन्नयोः (पल्लवपाण्योः फुल्लपद्माननयोश्च) [illegible], बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नत्वेन तयोरेकत्वाध्यवसायात्। पाणिरूपस्य बिम्बस्य पल्लवः प्रतिबिम्बः, आननरूपस्य च बिम्बस्य फुल्लपद्मं प्रतिबिम्बभूतम्। प्रतिबिम्बभूतौ च द्वौ पदार्थौ पृथक् पृथङ् निर्दिष्टाविति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'सपल्लवा—' इस पद्य में हाथ पैर के प्रतिबिम्ब 'पल्लव' और मुख का प्रतिबिम्ब 'विकसित कमल' लता और पद्मिनीरूप दोनों कोटियों में पृथक्-पृथक् शब्दतः उक्त हुए हैं। यद्यपि मूल में 'पाण्याननयोः' ऐसा कह कर हाथ मात्र का प्रतिबिम्ब 'पल्लव' को कहा गया है; पर उस कथन में 'पाणि' को 'पद' का भी उपलक्षण समझना चाहिए, अन्यथा 'न्यूनता' हो जायगी।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नस्य निर्दिष्टस्योदाहरणं दत्त्वाऽनिर्दिष्टस्य तदाह—

'इदमुदधेरुदरं वा नयनं वाऽत्रेरुतेश्वरस्य मनः।
दशरथगृहे तदानीमेवं संशेरते स्म कवयोऽपि॥'

कवयोऽपि वस्तुतत्त्वगवेषका अपि, किमुत अन्ये, तदानीं रामोत्पत्तिसमये, 'इदम्, उदधेः समुद्रस्य, उदरं मध्यभागः, अथवा, अत्रेस्तन्नाम्नो मुनेः, नयनम्, उत, ईश्वरस्य, मनः' इत्येवम्, दशरथगृहे तद्विषये, संशेरते स्म सन्देहं कृतवन्त इत्यर्थः। पुराणे चन्द्रस्य त्रिधोत्पत्तिः वर्णिता समुद्रादत्रिनेत्रात्परमेश्वरमनसश्चेति भावः।

उक्त बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म का उदाहरण देकर अब अनुक्त तादृश धर्म का उदाहरण दिया जाता है—इदमित्यादि। राम-जन्म के समय, दशरथ के घर के विषय में कवि भी इस तरह सन्देह करते थे कि-'यह समुद्र का मध्य-भाग है अथवा अत्रिमुनि का नेत्र है कि वा परमेश्वर का मन है?' (इस सन्देह के मूल में पुराणों की यह उक्ति काम कर रही है जिसमें तीन प्रकार से चन्द्रमा की उत्पत्ति वर्णित है-समुद्र के मध्य से, अत्रि के नेत्र से और परमेश्वर के मन से)।

उपपादयति—

अत्र तदानीमिति प्रकरणमाहात्म्यसहाद्दशरथगृहेण धर्मिणाऽऽक्षिप्तस्य तत्कालजातस्य भगवतो रामस्य जलधिमुदरादिसंशयकोटित्रयाक्षिप्तः साधारणश्चन्द्रः प्रतिबिम्बः। इमौ च बिम्बप्रतिबिम्बावनिर्दिष्टावपि प्रतीयमानौ सादृश्यं प्रयोजयतः। एतेन 'अनुगाम्येव धर्मो लुप्तः सम्भवति, न तु बिम्बितः' इति वदन्तः परास्ताः। इति दिक्।

धर्मिणेति। संशयविषयीभूतेनेत्यर्थः। रामस्येति। बिम्बरूपस्येति भावः। साधारण इति। अनुगामिकोटित्रये वर्तमान इत्यर्थः। इमाविति। रामचन्द्रावित्यर्थः। एतेनेति। ईदृशोदाहरणोपलम्भेनेत्यर्थः। अयं भावः—'इदमुदधेः—' इति श्लोके दशरथगृहधर्मिकः समुद्रोदराऽत्रिनेत्रपरमेश्वरमनोरूपत्रिविधकोटिकः संशयो वर्णितः। तत्र 'तदानीम्' इति पदघटितप्रकरणबलेन संशयधर्मिणा दशरथगृहेण तत्कालोत्पन्नो राम आक्षिप्यते, तं विना तत्कोटिकसंशयस्यानुदयात्, एवं संशयकोटिभूतैः समुद्रोदरादिभिस्त्रिभिः त्रिषु साधारणश्चन्द्र आक्षिप्यते, तं विना तेषां संशये कोटित्वासम्भवात्। आक्षिप्तयोरनयोः रामो बिम्बः, चन्द्रश्च प्रतिबिम्बः। एवं बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नसाधर्म्यमापन्नौ 'रामचन्द्र'पदार्थौ समुद्रोदरादेरुपमानभूतस्य, दशरथगृहस्य चोपमेयभूतस्य साधारणधर्मः सम्पद्यते। अनुक्तावपि तौ बिम्बप्रतिबिम्बौ प्रतीयेते सादृश्यं च प्रयोजयत इति नैमित्तं बोध्यम्। 'अनुगामी धर्म एवानुक्तः प्रतीयते, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नस्तु न' इति ये कथयन्ति ते अनेनानुक्तप्रतीयमानबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मेणोदाहरणेन परास्ता इति।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'इदमुदधेः—' इस पद्य में रामजन्मसमयरूप प्रकरण की सहायता से संशयधर्मी (जिसके विषय में त्रिविधकोटिक सन्देह

होता है उस) दशरथगृहरूप अर्थ से तत्कालोत्पन्न राम का आक्षेप होता है, इसी तरह संशय में कोटिभूत पदार्थ समुद्र के मध्यभाग, अत्रि-नेत्र और परमेश्वर-मन इन तीनों से, तीनों में रहनेवाले (तीनों से उत्पन्न होनेवाले) चन्द्र का आक्षेप होता है। ये आक्षिप्त पदार्थ (राम और चन्द्र) बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न हैं—अर्थात् राम बिम्ब और चन्द्र प्रतिबिम्ब है। यद्यपि ये दोनों बिम्ब और प्रतिबिम्ब (राम तथा चन्द्र) पद्य में उक्त नहीं हैं, तथापि इन दोनों की प्रतीति यहाँ अवश्य होती है, क्योंकि जब तक इनकी प्रतीति नहीं होती तब तक उक्त सन्देह बन ही नहीं सकता। और जब ये दोनों पदार्थ बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होकर प्रतीत हो जाते हैं तब ये ही साधारणधर्मरूप होकर दशरथगृह का समुद्रमध्यभाग आदि उक्त तीनों पदार्थों के साथ सादृश्य सिद्ध कर देते हैं और सादृश्य सिद्ध हो जाने पर तन्मूलक उक्त सन्देह (दशरथगृह के विषय में समुद्र-मध्यभाग आदि का सन्देह) भी बन जाता है। इस उदाहरण से वे सब परास्त हो जाते हैं जो 'अनुगामी धर्म ही अनुक्त हो सकता है, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म नहीं' ऐसा कहते हैं।

विशेषमाह—

अयं च क्वचिदनाहार्यः, क्वचिदाहार्यः। यत्र हि कविना परनिष्ठः संशयो निबध्यते प्रायशस्तत्रानाहार्यः। यथा 'तीरे तरुण्याः' 'मरकतमणिमेदिनीधरो वा' इत्यादिषु प्रागुदाहृतेषु पद्येषु। तत्र भ्रमरादीनां संशयानानां ग्राह्यनिश्चयाभावात्। यत्र च स्वगत एव तत्राऽऽहार्यः।

यथा—

'अलिर्मृगो वा नेत्रं वा यत्र किञ्चिद् विभासते।
अरविन्दं मृगाङ्को वा मुखं वेदं मृगीदृशः॥'

अत्र वक्तुः कवेस्तत्त्वज्ञतया संशयावाहार्यावेव।

अयं चेति। संशयश्चेत्यर्थः। अनाहार्य इति। बाधकालीनेच्छाजन्यो नेत्यर्थः। अनाहार्यसंशयस्थलं परिभाषते—यत्र कविनेति। परनिष्ठ इति। स्वभिन्ननिष्ठ इत्यर्थः। क्वचिद् व्यभिचारादाह प्रायश इति। अनाहार्यसंशयोदाहरणमुपदर्शयति—यथा 'तीरे' इत्यादि। अनाहार्यत्वमुपपादयति—तत्रेति। संशयानानामिति। भ्रमरादिनिष्ठसंशयानाम्। ग्राह्यनिश्चयेति। ज्ञातव्यवस्तुनिश्चयेत्यर्थः। आहार्यसंशयं परिभाषते—यत्र चेति। स्वगत एवेति। एवेन परनिष्ठत्वव्यवच्छेदः। आहार्यसंशयं उदाहरति—यथा 'अलिः—' इति, यत्र मुखरूपे वस्तुनि, अलिः भ्रमरः, मृगः हरिणः, अथवा नेत्रम्, किञ्चित् एषु एकतयाऽनिश्चितमेकम्, विभासते शोभते, इदम् मुखरूपं वस्तु, अरविन्दं कमलम्, वा, मृगाङ्कश्चन्द्रो वा, मृगीदृशः मृगनयनाया नायिकाया मुखं वा अस्तीत्यर्थः। उपपादयति—अत्र वक्तुरिति। तत्त्वज्ञतयेति। वास्तविकवस्तुनिर्णयविशिष्टतयेत्यर्थः। संशयाविति। नेत्रधर्मिकः भ्रमरहरिणोभयकोटिक एकः संशयः, मुखधर्मिकः कमलचन्द्रोभयकोटिकश्च द्वितीय इति भावः। मुखे कमलसंशये नेत्रे भ्रमरसंशयः, मुखे चन्द्रसंशये च नेत्रे चन्द्रसम्बन्धिहरिणसंशय इति सारांशः। अलङ्कारभूतोऽपि सन्देहो द्विविधः सम्भवति आहार्योऽनाहार्यश्च। यत्र कविः परगतं सन्देहं वर्णयति तत्र—'तीरे तरुण्याः' 'मरकतमणिमेदिनीधरो वा' इत्यादौ—अनाहार्यः, संशयकर्तृणाम् भ्रमरादीनाम् संशयविषयीभूतविषयनिश्चितार्थनिश्चयाभावात्। यत्र तु कविः स्वयं संदेग्धि तत्र—'अलिर्मृगो वा—' इत्यादौ आहार्यः, कवेर्वास्तविकनिश्चयवत्त्वेऽपि इच्छया संशयोत्पादनादिति भावः।

एक अन्य रीति से ससन्देहालङ्कार का विभाग किया जाता है—अयं च इत्यादि। यह ससन्देहालङ्कार दो प्रकार का होता है, क्योंकि अनाहार्य और आहार्यभेद से सन्देह दो प्रकार के हो सकते हैं (आहार्य सन्देह का अर्थ है वास्तविक वस्तु को जानते रहने पर भी इच्छाजन्य सन्देह और अनाहार्य सन्देह का अर्थ है वास्तविक सन्देह-अर्थात् वास्तविक वस्तु को न जानने के कारण होनेवाला सन्देह)। जहाँ कवि दूसरे किसी को होनेवाले सन्देह का वर्णन करता है वहाँ प्रायः (प्रायः इसलिये कि कहीं इसके विपरीत बात भी हो जा सकती है) अनाहार्य सन्देह होता है। जैसे—'तीरे तरुण्याः-' 'मरकत-मणि-' इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्यों में। ऐसे स्थलों के सन्देहों को अनाहार्य मानने में खास कारण यह है कि यहाँ जिन (भ्रमर, ऋषिवृन्द आदि) के सन्देहों का वर्णन कवि द्वारा किया गया है उन्हें ज्ञातव्य वस्तु का निश्चय नहीं है-वे वास्तविक वस्तु क्या है यह निश्चयपूर्वक नहीं जानते रहते हैं। जहाँ कवि स्वयं सन्देह करता है—किसी दूसरे के सन्देह का वर्णन नहीं करता—वहाँ सन्देह आहार्य होता है, क्योंकि वैसे स्थल में कवि वास्तविक वस्तु को जानकर भी केवल अपनी इच्छा से सन्देह का उत्थान करता है, जैसे 'अलिर्मृगो वा-अर्थात् जिसमें भ्रमर, हरिण अथवा नेत्र कुछ भासित हो रहा है यह कमल है, चन्द्रमा है अथवा मृगाक्षी नायिका का मुख है ?' यहाँ का सन्देह आहार्य है, क्योंकि यहाँ कवि तटस्थ है अर्थात् वह 'मृगाक्षी की आँख है यह, और उस आँख से शोभित यह उसका मुख है' इस वास्तविक तथ्य को जानता है, फिर जो उसने नेत्र में भ्रमर और हरिण का एवं मुख में कमल और चन्द्र का सन्देह किया है वह उस (कवि) की इच्छा का विलास है।

अपरं विशेषमाह—

परम्परितोऽपि चायं सम्भवति—

'विद्वद्दैन्यतमस्तमिस्रमूर्तिरथवा वैरीन्द्रवंशाटवी-
दावाग्निः किमहो महोज्ज्वलयशःशीतांशुदुग्धाम्बुधिः।
किंवाऽनङ्गभुजङ्गदष्टवनिताजीवातुरेवं नृणां
केषामेष नराधिपो न जनयत्यल्पेतराः कल्पनाः॥'

अत्राप्याहार्यः।

परम्परितोऽपीति। अत्रारोपस्यारोपमात्रोपायत्वेन परम्परितत्वम्, न तु संशयोपायत्वेन। दैन्यादीनां तमस्त्वादिसन्देहाविषयत्वादिति बोध्यमिति भावः। विद्वद्दैन्येति। अत्र सूर्यादिरूपः-एष वर्णनीयः नराधिपः राजा, विदुषां पण्डितानाम्, दैन्यम् दारिद्र्यमेव, तमः अन्धकारः (ध्वान्तम्, एकमेवऽपि) तस्य कृते, त्रिमूर्तिः सूर्यः अयं किम्? अथवा, वैरीन्द्राः विरोधिश्रेष्ठा राजानः, एव, वंशाटवी वंशारण्यम्, तस्य, कृते, दावाग्निः वनवह्निः, किम्? अथवा, महोज्ज्वलं परमस्वच्छम्, यशः कीर्तिरेव शीतांशुश्चन्द्रः, तस्य कृते, दुग्धाम्बुधिः पयःपारावारः, किम्, अथवा, अनङ्गेन कामदेवेन तद्रूपेणेति यावत्, भुजङ्गेन सर्पेण, दष्टाः कृतदंशाः अतिकामाकुला इति यावत्, याः, वनिताः कामिन्यः, तासां कृते, जीवातुः जीवनौषधम्, किम्? इत्यनंप्रकारिकाः, अल्पेतराः अनल्पाः, कल्पनाः संशयान्, केषां नृणां मनुष्याणाम्, न, जनयति उत्पादयति? सर्वेषां तथा कल्पना जनयतीत्यर्थः। अत्र दारिद्र्यादिषु तमस्त्वादेरारोपो राजनि सूर्यत्वाद्यारोपस्य कारणमत एव परम्परितत्वम्। संशयस्यापि स्वगतत्वयाऽऽहार्य इति भावः।

एक विशेष इस अलङ्कार के सम्बन्ध में बतलाया जाता है—परम्परितोऽपि इत्यादि।

यह ससन्देहालङ्कार रूपक की तरह परम्परित भी हो सकता है, जैसे—'विद्वद्दैन्य-' अर्थात् यह राजा विद्वानों के दारिद्र्यरूप अन्धकार के लिये त्रिमूर्ति (सूर्य) है, अथवा शत्रुओं में श्रेष्ठ राजाओं-रूप बाँस के वन के लिये वनवह्नि है, किंवा अतिनिर्मल यश-रूप चन्द्र के लिये क्षीरसागर है, आहोस्वित् काम-रूप सर्प से डँसी हुई कामिनियों के लिये जीवनौषध है, इस तरह यह राजा किन्हीं अनेक कल्पनाएँ (संशय) उत्पन्न नहीं करता अर्थात् सभी के हृदय में इसे देखकर ऐसी कल्पनाएँ उत्पन्न होती ही हैं।' यहाँ दारिद्र्य आदि में अन्धकार आदि का आरोप जिस लिये किया जाता है इसलिये ही राजा में सूर्य आदि का आरोप किया जाता है। फलतः एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, अतएव यहाँ का सन्देहालङ्कार परम्परित कहलाता है, न कि एक सन्देह का दूसरे सन्देह के प्रति कारण होने से, क्योंकि वैसी स्थिति यहाँ नहीं है— अर्थात् दारिद्र्य में अन्धकार सन्देह नहीं, अपि तु आहार्यनिश्चय ही है। सन्देह यहाँ का भी आहार्य ही है। कारण, कवि स्वयं सन्देह करता है—वस्तुस्थिति को निश्चितरूप से जान कर भी।

'अत्र स्वगत एव संशयश्चमत्कारी' इति यदुक्तं प्राक् तदेवकारेण ज्ञातमवधारणमयुक्त-मिति सापवादमाह—

कचित् परनिष्ठोऽपि कविना निबध्यमान आहार्यो भवति।

न केवलम् स्वगत एव, अपि तु परगतोऽपि कविवर्णितः सन्देहः क्वचिदाहार्यो भवतीति भावः।

'स्वगत सन्देह ही आहार्य होता है' यह जो पहले सामान्यतः कहा गया है, अब उस-का अपवाद कहा जाता है—कचित् इत्यादि। कहीं-कहीं कविद्वारा वर्णित परकीय सन्देह भी आहार्य होता है।

तादृशमुदाहरणं दर्शयितुमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'गगनाद् गलितो गभस्तिमानुत वाऽयं शिशिरो विभावसुः।
मुनिरेवमरुन्धतीपतिः सकलज्ञः समशेत राघवे॥'

सकलज्ञः सर्वज्ञः, अरुन्धतीपतिः मुनिः वशिष्ठः, (जातकर्मसमये) राघवे रामचन्द्रे धर्मिणि, अयम्, गगनात्, गलितः पतितः, गभस्तिमान् सूर्यः, उत, शिशिरः शीतलः, विभावसुः अग्निः, एवम्, समशेत संशयं कृतवानित्यर्थः। (यद्यपि विद्वद्दैन्येत्युदाहृतोऽपि संशयः परनिष्ठो भवति, तथापि केषामिति सामान्येन निर्देशात् स्वनिष्ठोऽपि भवतीति द्वितीयमिदमुदाहरणमुक्तमिति बोध्यम्)।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—गगनाद् इत्यादि। अरुन्धती के स्वामी सर्वज्ञ वशिष्ठमुनि (जातकर्म के समय), रामचन्द्र के विषय में, 'यह आकाश से गिरा हुआ सूर्य है अथवा शीतल अनल है' इस तरह सन्देह करने लगे। (यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए। वह यह कि यद्यपि 'विद्वद्दैन्य—' यह पहला पद्य भी परगत सन्देह का उदाहरण हो सकता है पर वहाँ 'केषाम्—किन्हें' इस सामान्य कथन के कारण वह स्वगत सन्देह का भी उदाहरण हो जा सकता है, अतएव शुद्ध परगत किन्तु आहार्य सन्देह का यह दूसरा उदाहरण दिया गया है)।

उपपादयति—

अत्र मुनेर्वशिष्ठस्य सर्वज्ञत्वेनोपात्तस्य संशय आहार्य एव।

'गगनाद्—' इति पद्ये वशिष्ठो मुनिः सर्वज्ञतयोपवर्णितः। तथा च तस्य वस्तुतत्त्वानभिज्ञत्वमसम्भवम्। एवं स्थितौ प्राप्तनिश्चयवतो मुनेः सन्देह इच्छाजन्यत्वादाहार्य एव भवितुमर्हति। इत्थञ्च सिद्धम् परगतस्यापि सन्देहस्याहार्यत्वमिति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'गगनाद्—' इस पद्य में वशिष्ठ मुनि को सर्वज्ञ कहा गया है, अतः उनको वास्तविक सन्देह नहीं हो सकता यह सिद्ध है। ऐसी स्थिति में जो उनके सन्देह का वर्णन किया गया है वह आहार्य ही हो सकता है अर्थात् यही यहाँ उचित समझा जा सकता है कि मुनि सब कुछ जान कर भी अपनी इच्छा से सन्देह कर रहे हैं।

'गगनाद्—' इति पद्यवर्णितस्य सन्देहस्यानाहार्यतामाशंक्य समाधत्ते—

यद्यप्यत्र 'मुनीनां च मतिभ्रमः' इत्युक्त्या तस्यानाहार्य एव संशयो वक्तुं शक्यः, तथापि कोटितावच्छेदकयोः शिशिरत्वगगनगलितत्वयोरग्निसूर्यरूपकोटिद्वये आहार्यबोधस्यैवावश्यवाच्यतया पुरोवर्तिनि कोटिद्वयाभेदांशेऽपि तस्यैव न्याय्यत्वात्। इह च कोट्योर्धर्मिसादृश्यदार्ढ्यायोष्णत्वगगनगतत्वरूपवैधर्म्यनिरासकमविद्यमानमपि गगनगलितत्वं शिशिरत्वं चारोप्यते वक्त्रा।

अत्र 'गगनाद्—' इति पद्ये। मुनीनां चेति। चकारोऽन्यसमुच्चायकः। तस्य वशिष्ठस्य। कोटितावच्छेदकयोः विशेषणतावच्छेदकयोः। विशेषणनिष्ठधर्मयोरिति यावत्। पुरोवर्तिनि श्रीरामे। इतोऽग्रे यद्यपि 'अभेदेन कोटि—' इत्यादिश एव पाठो मूले लिखितो विलोकितः, तथापि असङ्गततया 'अभेदेन' इत्यंशो मया त्यक्तः। नागेशोऽपि स्वगुरुमर्मप्रकाशे 'धर्मिण्यभेदेनेति चिन्त्यम्' इति आकाशयत्। तस्यैव आहार्यबोधस्यैव। ननु तयोः कोटितावच्छेदकयोर्निवेश एव किमर्थः इत्यत आह—इह चेति। 'मुनीनां च मतिभ्रमः' इत्याप्तजनोक्तिः सर्वज्ञस्यापि मुनेः प्राकृतजनवत् व्यवहारदशायां भ्रमसंशयादिकं सूचयति। तथा च सर्वज्ञस्यापि वशिष्ठस्य वास्तविकः संशयो भवितुमर्हति, अतः 'गगनाद्—' इति पद्ये वर्णितः संशयः अनाहार्य एव स्वीकर्तुमुचितः, नाहार्य इति शङ्काग्रन्थस्याशयः, संशये यो विशेष्यो भवति ये च विशेषणे भवतः, तयोरुपमेयोपमानभाव एव भवति—अर्थात् विशेष्यमुपमेयं भवति विशेषणयोश्च प्रत्येकं पृथक् पृथक् उपमानं भवति। यदि च तयोः सादृश्यं संशयस्य सादृश्यं च सति वैधर्म्ये न सम्भवति, अतः प्रकृते कोट्योः सादृश्यबोधे बाधकयोर्वर्तमानयोरपि वैधर्म्यबोधकयोर्धर्मयोः गगनगतत्वोष्णत्वयोर्निराकरणार्थं वस्तुतोऽवर्तमाने अपि गगनगलितत्वशिशिरत्वे बलात्समारोप्य वर्णिते कविना। एवं चारोपितकोटिबोधो मुनेरपि आहार्य एव सम्भवति अनिश्चितोभयकोटिद्वयात्मको विशेषे। तत्र च तदवच्छिन्नप्रकारताक अभेदसम्बन्धावच्छिन्नपुरोवर्तिरामनिष्ठविशेष्यताकः मुनिनिष्ठः संशयोऽपि आहार्य एव स्वीकर्तुमुचित इति च समाधानग्रन्थस्याशयो बोध्यः।

एक शङ्का और उसका समाधान किया जाता है—यद्यप्यत्र इत्यादि। 'मुनियों को भी मति-भ्रम होता है' इस उक्ति के अनुसार सर्वज्ञ वशिष्ठ को भी व्यवहार-दशा में सन्देह हो सकता है, अतः 'गगनाद्गलितः—' इस पद्य में वर्णित वशिष्ठ जी का सन्देह अनाहार्य ही कहा जा सकता है अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि वशिष्ठ जी सब कुछ जानते हुए भी स्वेच्छया सन्देह कर रहे हैं, अपितु यही कहा जा सकता है कि वस्तुतः वशिष्ठ जी को वैसा सन्देह हुआ है। इस शङ्का का उत्तर यह है कि वस्तुतः संशय का आधार उपमेय और संशय के विषय भिन्न भिन्न उपमान ही रहते हैं, अतः उन दोनों में परस्पर सादृश्य का बोध होना उपमा की तरह संशयालङ्कार के लिये भी अपेक्षित है और यदि उन दोनों में से किसी एक में भी वैधर्म्य (सादृश्यविरोधी धर्म)

ज्ञात होगा तब सादृश्य बन नहीं सकता। ऐसी स्थिति में यहाँ संशय विषयीभूत सूर्य और अग्नि में ज्ञात होनेवाले विरोधी धर्म—गगनवासित्व और उष्णत्व—को दूर करने के लिये वक्ता अपनी इच्छा से उन दोनों में क्रमशः 'गगन से गिरा हुआ होना' और 'शीतलता' का आरोप करता है, अन्यथा उन दोनों (सूर्य-अग्नि) में संशयाधार राम का सादृश्य ही सिद्ध नहीं होगा और सादृश्य की सिद्धि के बिना सन्देह सिद्ध हो नहीं सकता। इस तरह आवश्यक समझकर आरोपित 'गगन-गलितत्व' और 'शीतलत्व' जो यहाँ कोटितावच्छेदक—अर्थात् कोटिभूत सूर्य अग्नि के विशेषण हैं—का बोध वसिष्ठ जी को भी आहार्य ही होगा—ऐसा मानना ही पड़ेगा, दूसरा उपाय नहीं, फिर आगे स्थित राम में उन आरोपित विशेषणों से विशिष्ट सूर्य अग्नि के अभेद का ज्ञान (संशय) भी आहार्य ही माना जाय यही उचित है।

उपसंहरति—

एवमादयोऽन्येऽपि प्रकाराः सुधीभिः स्वयमुन्नेयाः।

यादृशा यादृशाः संशयालङ्कारस्य भेदा प्रागुक्तास्तादृशा अन्येऽपि भेदा अस्य सम्भवन्ति, ते च विद्वद्भिः स्वयमूहनीया इति भावः।

उपसंहार किया जाता है—एवमादय इत्यादि। जिस तरह के भेद सन्देहालङ्कार के पहले दिखलाए गये हैं वैसे भेद और भी हो सकते हैं, पर उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया, सुधीजन स्वयं उन भेदों का ऊह कर लें।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायां ससन्देहालङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

ससन्देहालङ्कारनिरूपणानन्तरमिदानीं भ्रान्तिमदलङ्कारनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथ भ्रान्तिमान्—

अथेति। आनन्तर्यं इत्यर्थः। ससन्देहालङ्कारनिरूपणानन्तरमिति भावः। भ्रान्तिमानिति। निरूप्यत इति शेषः। अथवा—अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः। भ्रान्तिमदलङ्कारो निरूप्यत्वेनाधिकृतो वेदितव्य इति भावः।

ससन्देहालङ्कार—निरूपण कर लेने के बाद अब ग्रन्थकार 'भ्रान्तिमत्' अलङ्कार-निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—अथ इत्यादि। अब 'भ्रान्तिमत्' अलङ्कार का निरूपण आरम्भ समझना चाहिए।

आदौ भ्रान्तिमदलङ्कारस्य लक्षणमाह—

सदृशे धर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तरप्रकारकोऽनाहार्यो निश्चयः सादृश्यप्रयोज्यश्चमत्कारी प्रकृते भ्रान्तिः। सा च पशुपक्ष्यादिगता यस्मिन् वाक्यसन्दर्भेऽनूद्यते स भ्रान्तिमान्।

भ्रान्तिमतो लक्षणमाह— सदृश इति। पश्वादीति। आदिना मनुष्यग्रहणम्। तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नधर्म्यन्तरनिष्ठप्रकारतानिरूपितसदृशधर्मिनिष्ठविशेष्यताशाली सादृश्यज्ञानाधीनः, अनाहार्यः, चमत्कृतिकारी निश्चयः अलङ्कारशास्त्रसम्मतभ्रान्तिपदार्थः। पश्वादिमनुष्यनिष्ठतादृशभ्रान्तिवर्णनपरो वाक्यसमूहो भ्रान्तिमदलङ्कार इति भावः।

सर्वप्रथम 'भ्रान्तिमत्' अलङ्कार का लक्षण किया जाता है—सदृशे इत्यादि। सादृश्ययुक्त धर्मी (आधार) में, अभेदसम्बन्ध से, अन्य किसी धर्मी का, अनाहार्य (वास्तविक) और सादृश्यज्ञान का कारण होनेवाला निश्चयात्मक ज्ञान, चमत्कारयुक्त होने पर अलङ्कारशास्त्र में, 'भ्रान्ति' कहा जाता है और पशु, पक्षी, अथवा मनुष्य में रहनेवाली

उस 'भ्रान्ति' का वर्णन जिस वचनसमूह में किया जाता है वह वचनसमूह 'भ्रान्तिमान्' कहलाता है। इस लक्षण में 'अलङ्कार शास्त्र में' ऐसा जो कहा गया है उसका तात्पर्य यह कि अन्य (न्यायादि) शास्त्रों में 'भ्रान्ति' का लक्षण ऐसा नहीं, अपि तु भिन्न तरह का किया गया है।

प्रतिज्ञाविरोधाभावायाह—

अत्र च भ्रान्तिमात्रमलङ्कारः। भ्रान्तिमानलङ्कार इति व्यवहारस्त्वौपचारिकः। तथा चाहुः—

'प्रमात्रन्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्ननूद्यते।
स भ्रान्तिमानिति ख्यातोऽलङ्कारे त्वौपचारिकः॥' इति।

औपचारिक इति। भ्रान्तिनिष्ठालङ्कारत्वस्य तद्वत्यारोपात्। भ्रान्तितद्वतोरभेदारोपादिति भावः। ससन्देह इति व्यवहारोऽप्येवमेवेति प्रागुक्तम्। अस्मिन्नर्थेऽन्यसम्मतिं दर्शयति—तथा चाहुरिति। प्रमात्रन्तरेति। भ्रान्तिरूपा, प्रमात्रन्तरस्य कविभिन्नस्य ज्ञातुः, धीर्बुद्धिः, यस्मिन् वाक्सन्दर्भे, अनूद्यते वर्ण्यते, स वाक्सन्दर्भः, 'भ्रान्तिमान्' इति ख्यातः भ्रान्तिमच्छब्देनोच्यते स्म, अलङ्कारे तु, स शब्दः, औपचारिक इत्यर्थः।

ग्रन्थकार ने अलङ्कारनिरूपण की प्रतिज्ञा की है और 'भ्रान्तिमान्' शब्द से अलङ्कार का बोध होता नहीं, अतः जो विरोध आपाततः दिखाई पड़ता है उसे दूर करने के लिये कहा जाता है—अत्र च इत्यादि। 'भ्रान्तिमान्' शब्द में 'भ्रान्ति' मात्र अलङ्कार की संज्ञा है। 'भ्रान्तिमान् अलङ्कार' इस तरह का व्यवहार तो औपचारिक (आरोपमूलक) है। अभिप्राय यह कि भ्रान्तिमात्र में रहनेवाली अलङ्कारता का भ्रान्ति अलङ्कार से युक्त वाक्य में आरोप कर देने से वैसा व्यवहार होता है अथवा भ्रान्ति अलङ्कार तथा उस अलङ्कार से युक्त वाक्य इन दोनों में अभेद का आरोप होने से उक्त व्यवहार किया जाता है। इस प्रसङ्ग पर दूसरे आचार्य भी यही बात कहते हैं—"प्रमात्रन्तर—अर्थात् जिस वचन-सन्दर्भ में जानकार से अन्य—अर्थात् कवि से भिन्न—के भ्रमात्मक बोध का अनुवाद किया जाता है, वह वचन-सन्दर्भ 'भ्रान्तिमान्' कहलाता है। अलङ्कार में इस शब्द का प्रयोग आरोपमूलक है।" ('ससन्देह' शब्द का अलङ्कार अर्थ में प्रयोग भी इसी तरह आरोपमूलक है यह बात पहले कही जा चुकी है)।

लक्षणे विशेषणानां निवेशनस्य फलमुपदर्शयति—

लक्षणे मीलित-सामान्य-तद्गुण-वारणाय धर्मिग्रहणद्वयम्। रूपकविति—वारणायानाहार्य इति कविभिन्नगत इति वा। संशयवारणाय निश्चय इति। इदं रजतमिति रङ्गविशेष्यकबोधवारणाय चमत्कारीति। कविप्रतिभानिर्वर्तित इत्यर्थः। रङ्गे रजतमिति बुद्धेर्लौकिकत्वया न कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वम्।

'अकरुणहृदय प्रियतम मुञ्चामि त्वामितः परं नाहम्।
इत्यालपति कराम्बुजमादायालीजनस्य विकला सा॥'

इत्यत्र नायिकासन्देशहरस्योक्तौ व्यज्यमानस्योन्मादस्य वारणाय सादृश्यप्रयोज्य इति। न चात्रोन्मादस्य प्राधान्यात् सकलालङ्कारसाधारण्येनोपस्कारकत्वविशेषणेनैव वारणमिति वाच्यम्। तस्यापि पार्यन्तिकविप्रलम्भोपस्कारकत्वात्। यदा सन्देशहरात् सन्देशं श्रुतवतो नायकस्य स्वमित्रं प्रति यदेदं वाक्यं 'अकरुणहृदय—' इत्यादि तदास्मिन्नेव पद्ये सेतिपदव्यङ्ग्यायाः स्मृतेरुपस्कारके उन्मादे तथाप्यतिप्रसङ्गापत्तेः सादृश्यप्रयोज्यत्वमावश्यकम्। लक्षणे चात्रैकत्वं

विवक्षितम् । अन्यथा वक्ष्यमाणानेकग्रहीतृकानेकप्रकारकैकविशेष्यकभ्रान्तिसमुदायात्मन्युल्लेखेऽतिप्रसङ्गापत्तेः । अत एवैकवचनमपि सार्थकम् ।

'लक्षणे' इत्यस्य सर्वत्रान्वयो बोध्यः । धर्मिद्वयनिवेशफलमाह—मीलित इति । यदि लक्षणे धर्मिद्वयग्रहणं न स्यात् 'अन्यस्मिन् अन्यप्रकारकनिश्चयः' इत्येवमुक्तिः भवेत्, तदा मीलित-सामान्य-तद्गुणालङ्कारोदाहरणेषु प्रकृतलक्षणमतिप्रसज्येत, तत्रापि धर्मान्तरे धर्मान्तरस्यानाहार्यनिश्चयस्य वर्णितत्वात् । धर्मिग्रहणे कृते तु नैष दोषः, धर्मिणि धर्म्यन्तरनिश्चयाभावादिति भावः । अनाहार्यनिवेशफलमाह—रूपकेति । विलिङ्गनिम् । 'प्रमाणान्तरधीः—' इति परकीयलक्षणानुसारमाह—अनिश्चियत इति चेति । रूपके उपमानतादात्म्यरूपस्य रूपकस्य ज्ञानमपि भ्रम एव, सोऽपि सादृश्यमूलः चमत्कारी चेति तत्र प्रकृतलक्षणातिप्रसङ्गवारणाय 'अनाहार्य'त्व निवेशः । तन्निवेशे तु न तत्रातिप्रसङ्गः, तद्ज्ञानस्याहार्यत्वस्य सर्वसम्मतत्वात् इति भावः । संशयालङ्कारे भ्रान्तिलक्षणातिप्रसक्तिनिरासाय निश्चयनिवेशः । चमत्कारित्वस्य कविप्रतिभोत्थित इत्यर्थः । अभेदेन एकप्रकारकविशेष्यकलौकिकभ्रमवारणाय तन्निवेशः । सादृश्यप्रयोज्यत्वनिवेशफलमाख्यातुमाह—अकरुण इति । नायिकादूती नायकं प्रत्याह—हे अकरुणहृदय निर्दयचित्त, प्रियतम । अहम्, इतः परम् अद्यारभ्य, त्वां, न, मुञ्चामि त्यजामि' इति आलीजनस्य सखीजनस्य, कराम्बुजम् हस्तकमलम्, आदाय गृहीत्वा, विकला वियोगवैकल्यमनुभवन्ती, सा तव प्रेयसी, आलपति वदतीत्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति । उन्मादस्येति । 'विप्रलम्भमहापदादिजन्मा अन्यस्मिन्नन्यावभास उन्मादः' इति मतेनेदम् । 'अकरुण—' इति पद्यात्मिकया नायकं प्रति नायिकासन्देशहरस्योक्त्या नायिकाया उन्मादो व्यज्यते । स चोन्मादोऽन्यस्मिन्नन्यावभास एव । तथा च भ्रमरूप एवासौ सम्पद्यते । तस्मिन् प्रकृतभ्रान्तिमल्लक्षणं मा प्रसाङ्क्षीत् इति भ्रमात्मकनिश्चये सादृश्यप्रयोज्यत्वं निवेश्यते । निवेशिते च तस्मिन् न तत्रातिप्रसङ्गसम्भावना, तस्य (उन्मादस्य) वियोगजन्यतया सादृश्यप्रयोज्यत्वाभावात् इति भावः । आशङ्क्य समाधत्ते—न चेत्यादिना । 'अकरुण—' इत्यत्र प्रतीयमान उन्माद एव प्रधानवाक्यार्थः काव्यत्वप्रयोजकः । तथा च तत्र नालङ्कारत्वं सम्भवति, अनुपस्कारकत्वात्, अलङ्कारसामान्यलक्षणे उपस्कारकत्वस्य निविष्टत्वात् । [illegible] चारुत्वे सिद्धे विशेषलक्षणे तद्वारकविशेषणं व्यर्थमेवेति शङ्काद्लस्य, नोन्मादोऽत्र प्रधानो वाक्यार्थः, अपि तु विप्रलम्भः, तदुपस्कारक एव चोन्माद इति न सामान्यलक्षणाक्रान्तत्वं तस्य, अतो विशेषलक्षणे तद्वारकविशेषणदानम् आवश्यकमेवेति न समाधानलक्षणाक्रान्तो दोषः । ननु विप्रलम्भजन्यतोन्मादस्य तदुपस्कारकत्वम् [illegible] । 'अकरुण—' इति न नायकं प्रति नायिकासन्देशहरस्योक्तिः, अपि तु श्रुतनायिकासन्देशस्य नायकस्य स्वमित्रं प्रत्युक्तिः, अस्मिन्मते पद्यघटकेन 'सा' इत्यनेन पदेन 'मरणम्' सर्वप्रधानतयाऽभिव्यक्तं स्यात्, उन्मादस्य तदङ्गतया प्रतीतो भवेत् । तथा च तादृशे उन्मादे भ्रान्तिलक्षणातिप्रसक्तिवारणाय सादृश्यप्रयोज्यत्वनिवेश आवश्यक इति भावः । ननु एवमपि उल्लेखालङ्कारे प्रकृतलक्षणातिप्रसक्तिर्दुर्वारैव, उक्तलक्षणानेकग्रहीतृकानेकप्रकारकैकविशेष्यकभ्रान्तिसमुदायस्य तथा प्रकृतलक्षणघटकनिश्चयपदार्थत्वादिति चेत् । प्रकृतलक्षणे 'निश्चयः' इत्येकवचनस्य विवक्षितत्वेन निश्चयसमुदायात्मके उल्लेखे तस्याप्रसक्तेः । तदेकवचनस्य विवक्षितत्वादेव तत्रत्यैकवचनस्य सार्थक्यमपि भवति । अन्यथा विशिष्यैकवचनोक्तेर्वैयर्थ्यमेवेति भावः ।

लक्षण में जोड़े गए भिन्न-भिन्न विशेषणों के फल दिखलाए जाते हैं—लक्षणे इत्यादि। लक्षण में दो बार 'धर्मी' पद के ग्रहण करने का फल यह होता है कि मीलित, सामान्य और तद्गुण अलङ्कारों में 'भ्रान्ति' अलङ्कार का लक्षण अतिप्रसक्त नहीं होता, क्योंकि उन अलङ्कारों में एक धर्मी में अन्य धर्मी का भ्रमात्मक निश्चय नहीं होता, अपितु एक धर्म में दूसरे धर्म का। यदि 'भ्रान्ति-लक्षण' में दो बार धर्मी का ग्रहण नहीं होता तब 'अन्य में अन्य का निश्चय' यही फलित होता और उस स्थिति में उन अलङ्कारों का भी संग्रह होने लगता। रूपक-ज्ञान में प्रकृत लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो, इसलिये यहाँ 'अनाहार्य (वास्तविक)' अथवा 'कवि से भिन्न में रहने वाला' यह 'निश्चय' का विशेषण दिया गया है। तात्पर्य यह कि उपमेय में उपमान का भ्रमात्मक निश्चय रूपक में भी रहता है पर वह निश्चय वास्तविक नहीं, कृत्रिम (इच्छाजन्य) रहता है। सन्देह में अतिप्रसङ्गवारणार्थ 'निश्चय' कहा गया है, ज्ञान-सामान्य नहीं। 'यह चाँदी है' इस जगह जो राँगे में चाँदी का ज्ञान होता है—इस भ्रम में अतिव्याप्ति-निराकरणार्थ प्रकृतलक्षण में 'चमत्कारी' पद दिया गया है—जिसका अर्थ है 'कवि की प्रतिभा से सम्पन्न किया हुआ'। राँगे में जो चाँदी का ज्ञान होता है वह लौकिक है, कविप्रतिभा से सम्पन्न नहीं हुआ है, अतः यहाँ अतिव्याप्ति नहीं होती। "अकरुणहृदय—अर्थात् वह सखी का करकमल पकड़ कर 'हे निर्दय हृदय वाले प्रियतम! मैं (जो छोड़ चुकी सो छोड़ चुकी) अब इसके बाद तुम्हें नहीं छोड़ती—छोड़ ही नहीं सकती।' इस तरह विकल होकर बातें करती रहती है।" नायक के प्रति इस नायिका का सन्देश लाने वाले की उक्ति में जो उन्माद अभिव्यक्त होता है उसमें अतिव्याप्ति न हो इसलिये प्रकृत लक्षण में निश्चय का विशेषण 'सादृश्यप्रयोज्य—सादृश्यज्ञान से सिद्ध होने वाला' कहा गया है। अभिप्राय यह है कि—'वियोग और इसी तरह की अन्य महा विपत्तियों के कारण जो अन्यवस्तु में अन्यवस्तु का ज्ञान होने लगता है' उसीको उन्माद कहा जाता है। ऐसी स्थिति में उक्त पद्य में जो उन्माद अभिव्यक्त होता है वह भी भ्रमात्मक निश्चय ही है, अतः 'सादृश्य-प्रयोज्य' इस विशेषण के अभाव में प्रकृत लक्षण की उस उन्माद में अतिव्याप्ति हो जाती। उस विशेषण के रहने पर तो यह आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह उन्मादात्मक भ्रम सादृश्यज्ञान के कारण नहीं हुआ रहता, अपितु वियोग से हुआ रहता है। आप कहेंगे—उस उन्माद का वारण करने के लिये इस विशेष लक्षण में किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह 'उन्माद' यहाँ प्रधान व्यङ्ग्य के रूप में आया है, अतः वह स्वयम् उपस्कार्य है, किसी दूसरे का उपस्कारक नहीं, ऐसी स्थिति में उसका वारण अलङ्कार-सामान्य-लक्षण में जोड़े गए 'उपस्कारकत्व' विशेषण से ही हो जायगा। पर यह कथन ठीक नहीं। कारण, यह उन्माद भी अन्ततः अभिव्यक्त होनेवाले 'विप्रलम्भ शृङ्गार' का उपस्कारक है, अतः सामान्य-लक्षण-गत 'उपस्कारकत्व' विशेषण से उसका वारण नहीं हो सकता, फलतः विशेष लक्षण में उसके वारण के लिये विशेषण का जोड़ा जाना आवश्यक ही है। इस पर यदि आप कहें कि—'उन्माद' तो 'विप्रलम्भशृङ्गार' का ही फल है, फिर वह 'उन्माद' अपने जनक (विप्रलम्भशृङ्गार) का उपस्कारक कैसे हो सकता है? तो मैं भी इस युक्ति को मान लेता हूँ, पर इसका अर्थ यह नहीं कि विशेष लक्षण में 'सादृश्यप्रयोज्यत्व' के निवेश की आवश्यकता नहीं रही—उसकी आवश्यकता तब भी है ही। कारण, 'अकरुण—' इस पद्य को यदि सन्देश-वाहक द्वारा नायिका के सन्देश को सुन चुके नायक की अपने मित्र के प्रति उक्ति मानी जाय तब उस पद्य के 'हा' पद से 'मरण' अभिव्यक्त होगा और उस मरण का उपस्कारक होगा प्रथम अभिव्यक्त 'उन्माद', जिसमें आपको भी आपत्ति नहीं होगी। अब आप सोचें कि उस स्थिति में उस 'उन्माद' का वारण साधारण विशेषण (उपस्कारकत्व) से होगा? आप भी कहेंगे—नहीं, फिर उसके वारण के

लिये विशेष्य लक्षण में उक्त विशेषण की आवश्यकता है अथवा नहीं यह आप स्वयं समझ सकते हैं । लक्षण में 'निश्चय' का एक होना अभीष्ट है—अर्थात् एक ही लक्षणोक्त-विशेषण-विशिष्ट निश्चय को 'भ्रान्ति' अलङ्कार कहते हैं, भिन्न-भिन्न अनेक तादृश निश्चयों को नहीं । अन्यथा जिन भ्रान्तियों में अनेक ज्ञाता तथा अनेक विशेषण हों और विशेष्य एक हो ऐसी भ्रान्तियों के समूहरूप आगे कहे जाने वाले 'उल्लेखालङ्कार' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । अतएव 'निश्चय' पद में एकवचन लिखना सार्थक है ।

भ्रान्त्यलङ्कारोदाहरणं निर्दिशति—

उदाहरणम्—

निम्ननिर्दिष्टं बोध्यमिति शेषः ।

'भ्रान्ति' अलङ्कार का उदाहरण निम्नलिखित पद्य को समझना चाहिए—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'कनकद्रवकान्तिकान्तया मिलितं राममुदीक्ष्य कान्तया ।
चपलायुतवारिदभ्रमान्ननृते चातकपोतकैर्वने ॥'

चातकपोतकैः चातकाख्यपक्षिशिशुभिः, कनकद्रवस्य सुवर्णरसस्य, कान्तिरिव या कान्तिः, तया, कान्तया रमणीयया, कान्तया रमण्या, सीतयेति यावत्, मिलितं संगतम्, रामम्, उदीक्ष्य दृष्ट्वा, चपलया विद्युता, युतस्य मिलितस्य, वारिदस्य मेघस्य, भ्रमात्, वने, ननृते नृत्यं चक्रे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कनक इत्यादि । सुवर्ण के रस की-सी कान्ति से रमणीय रमणी (सीता) से युक्त राम को देखकर, वन में, चातकों के बच्चे, विद्युत से युक्त मेघ के भ्रम से नाचने लगे ।

उपपादयति—

अत्र चातकगतहर्षोपस्कारकतया तद्गता भ्रान्तिरलङ्कारः ।

'कनकद्रव—' इति पद्ये 'ननृते'पदेन चातकगतो 'हर्षभावः' व्यज्यते, तं च वाच्या चातकनिष्ठा भ्रान्तिरुपस्करोतीति सा 'भ्रान्ति'र्नामालङ्कार इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'कनकद्रव—' इस पद्य में 'नाचने लगे' इस उक्ति से चातकगत 'हर्षभाव' व्यक्त होता है और उस 'हर्षभाव' को पुष्ट करता है चातकनिष्ठ भ्रम (सीतायुक्त राम में विद्युद्युक्त मेघ का भ्रम), अतः यह 'भ्रम'अलङ्कार है ।

किञ्चिद्व्यत्यासेन श्लोकस्यास्यैव भ्रान्तिध्वनेरुदाहरणत्वं दर्शयति—

यदि 'परिफुल्लपतत्रपक्ष्मकैर्मुमुदे चातकपोतकैर्वने' इत्युत्तरार्धं निर्मीयते तदा-यमेव भ्रान्तिध्वनिः ।

परिफुल्लेति । पतत्राणि पक्षाणि, पक्ष्माणि इव इति पतत्रपक्ष्माणि, ते परिफुल्लाः विकसिता येषां तादृशैः चातकपोतकैरित्यर्थः । अत्र पाठे भ्रमो न वाच्यः, [illegible], अपि तु प्रधानतयाऽभिव्यज्यमानस्य हर्षभावस्य कारणतया गम्यमानो भ्रमोऽपि व्यङ्ग्य एवेति । तादृशपाठविशिष्टमिदं पद्यं भ्रान्त्यलङ्कारध्वनेरुदाहरणमिति भावः ।

'भ्रान्तिअलङ्कार-ध्वनि' का उदाहरण दिखलाने के लिये उक्त पद्य में कुछ अंश का परिवर्तन करने की बात कही जाती है—यदि इत्यादि । 'कनकद्रव—' इस पद्य का ही उत्तरार्ध भाग यदि 'परिफुल्ल—अर्थात् पक्ष्मों के समान विकसित पंखोंवाले चातकों के बच्चे, वन में, नाचने लगे ।' इस रूप में परिवर्तित कर दिया जाय तब यही पद्य 'भ्रान्ति-ध्वनि' का उदाहरण हो सकता है । अभिप्राय यह है कि उक्त परिवर्तित पाठ में

भ्रान्ति-वाचक कोई शब्द नहीं रह जाता, अतः 'भ्रान्ति' वाच्य नहीं होती, पर प्रधानतया अभिव्यक्त होने वाले 'हर्ष' के कारणरूप में 'भ्रान्ति' व्यङ्ग्य होती है और वह 'भ्रान्ति' हर्ष को उपस्कृत तो करती ही है। फलतः उस परिवर्तित पाठ के अनुसार उक्त पद्य 'भ्रान्ति-अलंकार-ध्वनि' का उदाहरण हो जाता है।

दीक्षितोक्तं लक्षणमनूद्यावयति—

यच्चाप्पयदीक्षितैर्लक्षणमुक्तम्—

'कविसम्मतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान् मतः॥' इति।

'तत्र कविसम्मतसादृश्यप्रयोज्ये विषये आरोप्यमाणानुभवो यत्र वाक्यसन्दर्भे स भ्रान्तिमान्' इति भ्रान्तिमतो लक्षणं विधाय रूपकव्यावृत्त्यर्थं पिहितात्मनीत्युच्यते। न चैतद्युक्तम्। नहि रूपकवाक्ये आरोप्यमाणस्यानुभवो वर्ण्यते, किं तु तस्माज्जायते। न चात्रानुभवान्तं भ्रान्तेर्लक्षणमग्रिमं च भ्रान्तिमतः। तत्र भ्रान्तिलक्षणे रूपकेऽतिव्याप्तेर्वारणाय विषये पिहितात्मनीति विशेषणमिति वाच्यम्। अनुभवत्वघटितस्य भ्रान्तिलक्षणस्यानुभूयमानाभेदात्मके रूपके कथमप्यप्रवृत्तेः। यदि च रूपकपदं रूपकबुद्धिपरमिति ग्रन्थसामञ्जस्यं विधीयते तदापि विषयतावच्छेदकानवगाहिनि 'मरकतमणिमेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमालः' इति संशयेतिप्रसङ्गात्, 'कमलमिति चञ्चरीकाश्चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुखमनुधावन्ति' इति भ्रान्तिसमुदायात्मन्युल्लेखेऽतिव्याप्तेश्च। अत्र भ्रान्त्या सङ्कीर्ण उल्लेख इति चेत्, तर्हि तावतोल्लेखांशातिव्याप्तिर्न दोषः। नहि दुग्धजलमग्नानां व्याप्तिरस्तीति दुग्धलक्षणं जलांशातिव्याप्तिदुष्टं कर्तुं युक्तम्।

कविसम्मतेति। अस्यार्थोऽनुपदं 'तत्र-'इत्यादिना ग्रन्थकृतैव करिष्यते। सादृश्यप्रयोज्ये विषये इति। सादृश्यमूलकारोपगम्यतावापन्ने इत्यर्थः। पिहितात्मनीति। निगूढस्वरूपे इत्यर्थः। तत्त्वेनागृहीते इति यावत्। उच्यते इति। अत्र 'अयं भावः—तद्विशेषणेनारोप्यमाणानुभवस्य स्वारसिकस्य कविप्रतिभया कल्पनं विवक्षितम्। तस्यैव विषयविधानसामर्थ्यादिति।' इति नागेशः। खण्डयति—नैतत् इति। तत्र हेतुमाह—नहीति। अयमाशयः—'कविसमयसिद्धसादृश्याद्वारोपमेयत्वमात्रे वस्तुनि उपमानस्य निश्चयो यस्मिन् वाक्ये वर्णितो भवति तद् वाक्यं भ्रान्तिमत्' इति भ्रान्तिमतो लक्षणं क्रियते दीक्षितेन। एवं तस्मिन्लक्षणे रूपकवारणार्थं 'पिहितात्मनि' इति विशेषणं नोचितम्, रूपकालङ्कारविशिष्टे वाक्ये उपमाननिश्चयस्यावर्णनेन तत्र तद्विशेषणमन्तरेणापि लक्षणस्याप्रसक्तेः। रूपकवाक्यादुपमानस्य निश्चयो भवतीति तु अन्यत्। नहि उपमानानुभवस्य समुत्पत्तिमात्रेण वर्णनमिति व्यपदिश्यते इति। आशयान्तरमुपवर्ण्य तद्विशेषणसार्थक्यं शङ्कते—न चेति। भवतु नाम भ्रान्तिमतो लक्षणे तस्य विशेषणस्य वैयर्थ्यम्, भ्रान्तिलक्षणे रूपकवारणं तत्सार्थक्यमिति शङ्कितुरभिप्रायः। तथापि तद्वैयर्थ्यमेवेति समाधत्ते—अनुभवेति। निश्चीयमानस्योपमानस्य तादात्म्यं रूपकम्, तत्र निश्चयात्मिकाया भ्रान्तेः प्रसक्तिर्नास्त्येवेति समाधानग्रन्थो अर्थं एवेति समाधानदलाभिप्रायः। पुनर्ग्रन्थान्तरकरणेन तद्विशेषणसार्थक्यं कुरुते—यदि चेति। 'रूपकव्यावृत्त्यर्थम्' इति दीक्षितग्रन्थगतरूपकपदस्य रूपकज्ञानपरत्वे स्वीकृते रूपकज्ञानेऽतिप्रसजतो भ्रान्तिलक्षणांशस्य प्रवारणाय 'पिहितात्मनि' इत्यस्य सार्थक्यं भवतीति भावः। तस्य विशेषणस्य सार्थक्येऽपि लक्षणं

रूप वाला नहीं रहता, अपितु प्रकट रूपवाला ही रहता है) तो बना लें उस ग्रन्थ को सङ्गत, पर इतने पर भी उक्त लक्षण निर्दुष्ट नहीं होगा, क्योंकि यदि उस लक्षण में अनुभव का अर्थ ज्ञानसामान्य किया जाय तब 'मरकतमणि—' इस पूर्वोक्त सन्देह—जहाँ उपमेयतावच्छेदक अर्थात् रामत्व का अवगाहन नहीं हुआ है, तात्पर्य यह कि जहाँ रामरूप उपमेय छिपा ही हुआ है—में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो ही जायगी, यदि अनुभव का अर्थ निश्चय किया जाय तब भी 'कमलमिति चञ्चरीकाः—अर्थात् तेरे मुख को भ्रमर कमल और चकोर चन्द्रमा समझकर पीछे-पीछे दौड़ते हैं' इस भ्रान्तियों के समूहरूप उल्लेखालङ्कार में उक्त भ्रान्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति रहेगी ही। यदि आप कहें कि यह उल्लेख है ही भ्रान्ति से मिश्रित, अतः उसमें यदि भ्रान्ति का लक्षण सङ्घटित हो जाता है तो वह होना ही चाहिये यह कोई दोष (अतिव्याप्ति) नहीं, तो यह भी समुचित नहीं हो सकता। कारण, दूध जलभाग से नियमतः मिश्रित रहता है, अतः दूध का लक्षण ऐसा नहीं बनाया जाता जिसकी जलभाग में अतिव्याप्ति हो जाय। फलतः दीक्षितजी के लक्षण को असङ्गत ही कहा जायगा।

दीक्षितोद्धृतं भ्रान्तिविशेषोदाहरणमनूद्यालोचयति—

यच्चापि मिश्रकोदाहरणतयोदाहृतम्—

'शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुगं चुम्बितं चञ्चरीकै-
स्तत्रासोल्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदष्टाः।
तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिताः काकलोकै-
रित्थं चोलेन्द्रसिंह त्वदरिमृगदृशां नाप्यरण्यं शरण्यम्॥' इति।

तत्र विचार्यते—स्तनकलशयुगे हि न तावन्मञ्जरीसादृश्यं कविसमयसिद्धम्, येन तन्मूला मञ्जरीकाणां भ्रान्तिरुपनिबध्येत। दोषान्तरमूला तु सा नालङ्कार इत्यनुपदमेव निरूपितम्। अपि च धर्मिणि कलशरूपकमनुवादेन मञ्जरीभ्रान्तिरूपमलङ्कारान्तरमुपनिबध्नन्ननुद्वेजकमेव सहृदयानाम्। नहि सादृश्यमूलैकालङ्कारान्तरच्छन्नो सादृश्यमूलालङ्कारान्तरं शोभते। यथा 'मुखकमलं तव चन्द्रवत् प्रमोदः' इति भाषैव निवेदनात्। प्रत्युत कलशरूपकेण मञ्जरीसादृश्यतिरस्काराच्च। 'त्रासोल्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदष्टाः' इत्यत्र विधेयाविमर्शोऽन्तरमाकाङ्क्षितम्। कीरैर्दष्टा इति तु भाव्यम्। जाता इत्यध्याहारेऽपि विवक्षितस्याविधेयत्वमविवक्षितस्य च विधेयत्वं प्रसज्येत। एवं 'तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिताः काकलोकैः' इत्यत्र न तावत्पिकनिनदास्ताडनयोग्याः काकानाम्, येन तद्धिया आलपन्त्यस्तैस्ताड्येरन्। सापि पिकनिनदभ्रान्तिरालपन्तीषु सम्भवति। सम्भवन्त्यपि न सादृश्यमूला। पिकनिकरधियेति तु भाव्यम्। अथ तदालापेषु पिकनिनदबुद्धेरपि तासु पिकबुद्ध्युत्पादनद्वारा सम्भवत्येव ताडनोपयोग इति प्रयोजकत्वार्थतृतीयया पिकनिनदभ्रमप्रयोज्यकाकाधिकरणकत्वमालपन्तीनां सुप्रतिपादमेवेति चेत्, नैवम्। तथा सतीते-रसिद्धेः। 'चौरबुद्ध्या हतः साधुः' इत्यादौ चौरबुद्धिहननयोः सामानाधिकरण्येन हेतुहेतुमद्भावभानस्यानुपपत्तेः। एवं 'दन्तिबुद्ध्या हतः शूरैर्वराहो वनगोचरः' इत्यत्रापि विशेष्यतया वराहवृत्तेर्दन्तिबुद्धेर्वराहवृत्तिहेतुभावावगमः। तद्रीत्या दन्तिबुद्ध्येति कृते बोधकदर्थनैव। किं च पिकानां हि कूजितादिशब्दैरेव शब्दो वर्ण्यते, न तु निनदादिशब्दैः सिंहदुन्दुभ्यादिशब्दप्रयोगयोग्यैः।

वपि वक्तुरभिप्रेतस्यासिद्धिरेव, यतो दष्टत्वस्य विधेयत्वमभिप्रेतं वक्तुः। तथाकरणे तु न तस्य विधेयत्वमपि तु जातत्वस्येति दुष्टमेवास्य पद्यस्य द्वितीयं चरणमिति भावः। तृतीये तमाह—एवमिति। तावत् आदौ। दोषमूलः सम्भवतीत्याह—सम्भवन्वेति। अदोषप्रकारमाह—पिकनिकरेति। तृतीयचरणे पिकनिनदधीहेतुककाककर्तृकताडनकर्मत्वमालपन्तीनामुपवर्णितम्, तच्च न युक्तम्, पिकनिनदस्यैव काककर्तृकताडनायोग्यतया तद्धीहेतुकान्यताडनस्य काककर्तृकस्य सुतरामयोग्यत्वेनासम्भवात्। किञ्च तृतीयचरणगतपदस्वारस्येन आलपन्तीषु काकानां पिकनिनदभ्रमो यत् प्रतीयते तदपि न सङ्गतम्, द्रव्यात्मकव्यक्तौ गुणात्मकनिनदभ्रमस्य सादृश्यमूलकस्यासम्भवात्, द्रव्यगुणयोः कविसंमतसादृश्यविरहात्, दोषान्तरमूलकस्य तादृशभ्रमस्य सम्भवेऽपि अलङ्कारत्वायोगात्। 'पिकनिकरधिया' इति पाठश्चेदभविष्यत्, तदा निर्दोषताऽसेत्स्यत्, यतस्तुल्यमाधुर्ययुक्तशब्दवत्त्वात्मकसादृश्यमूलकः आलपन्तीषु पिकनिकरभ्रमः सम्भवति, तथा काकताडनयोग्यपिकनिकरधीहेतुककाककर्तृकताडनकर्मत्वमपि तासु सुसङ्गतमिति भावः। यथास्थितपाठेऽपि दोषराहित्यमाशङ्क्य समाधत्ते—अथेत्यादिना। तदालापेषु इति। आलपन्तीनां मृगदृशामालापेष्वित्यर्थः। तृतीययेति। पिकनिनदधीपदोत्तरयेत्यर्थः। तथाप्रतीतेरिति। 'पिकनिनदधीप्रयोज्यकाककर्तृकताडनकर्मीभूता आलपन्त्यः' इति प्रतीतेरित्यर्थः। तथाप्रतीतेरसिद्धौ [illegible] सामानाधिकरण्येनेति। विशेष्यतासम्बन्धेन यत्र (साध्वी) चौरबुद्धिः तत्र कर्मतासम्बन्धेन हननं [illegible]त्यर्थः। तादृशं स्थलान्तरमाह—एवं 'दन्तिबुद्ध्ये'ति। चौरैः नभे दन्तिपथ[illegible] [illegible] गजभ्रमेण हत इति तदर्थः। [illegible] इति। अत्र यद्यपि मूले। '[illegible]' इत्येव पाठः प्राप्तपुस्तके दृष्टः, तथापि [illegible] इति मूलोक्तः पाठान्तरः कल्पितः। नायिकालापेषु सादृश्यमूलकः पिकनिनदभ्रमः सम्भवति, स च भ्रमो नायिकासु सादृश्यमूलकं पिकभ्रममुत्पादयितुं क्षमते। तथा च [illegible]पिकनिनदभ्रमोऽपि परम्परया काककर्तृकताडनकर्मत्वे [illegible] एवेति 'पिकनिनदधिया' इत्यत्र तृतीयाविभक्तेः प्रयोज्यत्वमर्थमास्थाय 'पिकनिनद[illegible]' इति [illegible] क्रियमाणे [illegible] — इति शङ्कावतामभिप्रायः, '[illegible]' इत्यत्र 'दन्तिबुद्ध्या' इत्यत्र च सामानाधिकरण्येन चौरभ्रमहननयोः दन्ति-भ्रम[illegible]योश्च [illegible]तथा 'पिकनिनदधिया' इत्यत्रतु तृतीयायाः प्रयो-[illegible] [illegible]। दोषान्तरमपि दर्शयति—[illegible] कविसमयानुसारे पिकानां शब्दः कूजितादिशब्दैरेव वर्णयितुमुचितः, न तु निनदादिशब्दैः, निनदादिशब्दानां सिंहदुन्दुभ्यादीनां शब्देष्वेव प्रयोगस्य कविसमयसिद्धत्वादिति भावः। अपरामप्यनुपपत्तिमुद्भावयति—तथेति। स्वारसिकयोरासत्त्याकाङ्क्षयोरभावादाह—यथाकथञ्चिदिति। जातान्वयेति। नाध्वरम्यं शरण्यमेति संनिहितेनेति भावः। न विनेति। विभिन्नविभक्तिकत्वात्तयोरिस्मन् स्वभेदाभावाच्चेति भावः। ननु विभक्तिविपरिणामेनाभेदान्वयः सुलभोऽत आह—विभज्येति। नन्वेवं दीक्षितैः कथमुदाहरणत्वेनोद्धृतं पद्यमेतदित्यत आह—दीक्षितैरिति। अन्वयबोधं प्रति आसत्त्याकाङ्क्षयोः कारणत्वं सर्वथासिद्धम्, तथा च प्रकृतपद्यचतुर्थचरणगतस्य 'मृगदृशाम्' इति षष्ठ्यन्तपदस्यार्थः आसन्नेन साकाङ्क्षेण च 'नाध्वरम्यं शरण्यम्' इत्यस्यार्थेन सहैवान्वेतुं यद्यपि योग्यः, तथापि तृतीयचरणस्थेन अस्वारसिक्यावपि आसत्त्याकाङ्क्षे कल्पयित्वा उक्तषष्ठ्यन्ता-

शेषेण प्रथमद्वितीयचरणगतकलशपाणिपदार्थाभ्यां यद्यन्वयः कथंचिदुपपादयितुं शक्यः । किन्तु तृतीयचरणस्थभिन्नविभक्तिकपदद्वयाभ्यामन्वयाभिप्रायके विशेषणे विशेष्यतयोक्तपद्यगतपदार्थान्वयः कथमपि नोपपादयितुं शक्यः । अभिमतस्तु तदन्वयोऽपि वक्तुरिति 'अभवन्मतयोगः' अपि महादोषोऽस्मिन् पद्ये । विभक्तिविपरिणामेनान्वयमुपपाद्य तद्दोषनिरासेऽपि अप्रकृतताऽसंपृक्तताभ्यां दोषाभ्यामाक्रान्ततमेन पद्येनेति भावः । इत्थमव्युत्पन्ननिरसितमिदं पद्यं दीक्षितेन परमव्युत्पन्नेन स्वग्रन्थे नोदाहर्तुमुचितम् इति सारांशः ।

भ्रान्ति-विशेष के उदाहरण देने के क्रम में दीक्षित द्वारा उद्धृत एक पद्य की आलोचना की जाती है—यद्यपि इत्यादि । और जो दीक्षितजी ने भिन्न-भिन्न व्यक्ति को एक के बाद दूसरा इस क्रम से होनेवाले भिन्न-भिन्न तरह के उदाहरण में 'शिञ्जानैः— अर्थात् गूँजते हुए भ्रमरों ने मञ्जरी समझकर कलशरूप स्तनयुगल को चूम लिया। भ्रमरों के भय से नाना तरह की चेष्टाओं को करनेवाले हाथों को शुकों ने पल्लव समझकर काट खाया। शुकों को हटाने के लिये बोलती हुई रमणियों को कोयलों के शब्द समझकर कौओं ने ताड़न करना शुरू किया। हे चोलनरेशों में सिंह ! तेरे शत्रुओं की मृगाक्षी नायिकाओं को वन में भी शरण नहीं मिल सकी।' यह पद्य उद्धृत किया है उस पर विचार किया जाता है। प्रथम तो कलशरूप स्तनयुगल में मञ्जरी का सादृश्य [कवि-सम्प्रदाय-सिद्ध नहीं है कि उसको मूल बनाकर भ्रमरों के भ्रम का वर्णन किया जाय। और यदि किसी अन्य (सादृश्य से भिन्न) दोष के कारण भ्रमरों को कलशरूप स्तनयुगल में मञ्जरी का भ्रम हुआ हो तो वैसा भ्रम अलङ्काररूप नहीं होता—यह बात अभी थोड़े ही पहले निरूपित हो चुकी है। यदि आप कहें कि स्तनयुगल में मञ्जरी का कुछ न कुछ सादृश्य हो ही सकता है, रही बात उसके कविसम्प्रदायसिद्ध न होने की, सो यह कुछ नहीं, तो मैं भी आपकी बात मान लेता हूँ, पर तब भी कलशरूप स्तनयुगल में मञ्जरी-भ्रम की उक्ति उचित नहीं, क्योंकि स्तनरूप धर्मी में कलश के रूपक का अनुवाद करके मञ्जरीभ्रमरूप अन्य अलङ्कार की कल्पना सहृदयों को उद्विग्न ही बनाती है। उद्विग्न बनावे भी क्यों नहीं, कारण, सादृश्यमूलक एक अलङ्कारवाले पदार्थ में सादृश्यमूलक ही दूसरा अलङ्कार शोभित नहीं होता, जैसे कि 'तेरे मुख-कमल को हम चन्द्र-सा समझते हैं' इत्यादि में। तात्पर्य यह कि जैसे मुख में कमलरूपक हो जाने के बाद उसी में चन्द्रोपमा नहीं सुन्दर प्रतीत होती, उसी तरह प्रकृत में स्तन में कलशरूपक हो जाने के बाद उसी में मञ्जरीभ्रम नहीं अच्छा लगता है। प्रत्युत कलशरूपक द्वारा मञ्जरीसादृश्य का तिरस्कार हो जाता है अर्थात् स्तन को कलश के समान मान लेने पर मञ्जरी के समान मानना बनता नहीं है। यह तो हुई प्रथम चरण की बात। अब द्वितीय चरण को लीजिए। द्वितीय चरण के 'कीरदष्टाः' पद में 'विधेयाविमर्श' दोष है—अर्थात् हाथों को उद्देश्य बनाकर 'दष्टता' का विधान करना कवि को अभीष्ट है, पर 'दष्टता' बोधक 'दष्टाः' पद 'कीर' पद के साथ समस्त कर दिया गया है जिससे 'दष्टता' का विधेय होना अवगत नहीं हो पाता क्योंकि समस्त पदार्थ का ही विशेषण अवगत होता है यह एक स्वाभाविक नियम है, अतः यहाँ किसी दूसरे विधेय की आकांक्षा बनी ही रहती है। वस्तुतः यहाँ 'कीरैर्दष्टाः' ऐसा असमस्त ही होना चाहिए था। यदि 'कीरदष्टाः' के साथ 'जाताः' पद का अध्याहार करके विधेयपूर्ति की चेष्टा की जाय तब 'विवक्षितं प्रकृतमेव स्वरूपमात्र वाक्यम्' हो जायगा—अर्थात् जिस 'दष्टता' का विधान करना चाहते थे वह विधेय नहीं होगा और जिसका विधान नहीं करना चाहते थे वह 'जाताः' पद का अर्थ विधेय हो जायगा। इसी प्रकार तृतीय चरण में—रमणियाँ तो कोकिलों के सदृश ही कौओं के ताड़न करने योग्य नहीं—क्या कोई शब्दों को ताड़ना कर सकता है ? नहीं, फिर उसके भ्रम से दूसरों का (बोलनेवालियों का) ताड़ना कैसे की जा सकती है ? और बोलनेवालियों

में कोकिलों के शब्दों का भ्रम हो भी नहीं सकता। अभिप्राय यह कि द्रव्य (बोलने-वाली नायिकाओं) में गुण (शब्दों) का भ्रम सादृश्यमूलक नहीं सम्भव है और अन्यदोषमूलक भ्रम सम्भव होकर भी अलङ्काररूप ही नहीं माना जाता है। वस्तुतः यहाँ 'पिकनिकरधिया (कोकिलों का समूह समझकर)' पाठ होना चाहिए। इस पाठ में सब बातें ठीक हो जाती हैं अर्थात् बोलनेवालियों में समानशब्द माधुर्यरूप सादृश्य-मूलक कोकिलसमूह का भ्रम भी हो सकता है और कोकिलसमूह के कौओं द्वारा ताड़न योग्य होने से कोकिलसमूहभ्रम के कारण बोलनेवालियों का कौओं द्वारा ताड़न भी हो सकता है। आप कहेंगे—नायिकाओं की वाणियों में कोकिलों के शब्दों का भ्रम सादृश्यमूलक होगा और वह भ्रम नायिकाओं में कोकिलों के भ्रम को उत्पन्न करेगा, इस तरह से नायिकाओं की वाणियों में होनेवाले कोकिलाशब्दभ्रम का भी परम्परया उपयोग काक द्वारा नायिकाओं के ताड़न में हो सकता है, अतः 'पिकनिनद-धिया' पद में आई हुई तृतीया विभक्ति का 'प्रयोज्यता (सिद्ध होने योग्य होना)' अर्थ मानकर उस वाक्य का 'कोकिलों के शब्दों का भ्रम जिसका परम्परया साधक है ऐसी कौओं द्वारा की जानेवाली ताड़ना का कर्म बोलने वाली' यह अर्थ सहज में ही प्रतिपादित हो सकता है, अतः कोई गड़बड़ी इस चरण में नहीं है। पर ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसी प्रतीति सिद्ध नहीं हो सकती अर्थात् उक्त प्रकार से उस वाक्य का अर्थ नहीं किया जा सकता। कारण, 'चोर के भ्रम से साधु मार डाला गया' इत्यादि स्थलों में चौरभ्रम तथा हनन में सामानाधिकरण्येन अर्थात् साक्षात् ही कारण-कार्यभाव का अवगत होना नियमसिद्ध है। इसी तरह 'वीरों ने सूकर को हाथी के भ्रम से वन में मार डाला' इस वाक्य में भी विशेष्यतासम्बन्ध से सूकर में रहनेवाले हाथीभ्रम का सूकर में कर्मतासम्बन्ध से रहनेवाले हनन के प्रति हेतु होना अवगत होता है। आपके हिसाब से यदि 'हाथी के भ्रम से' की जगह 'हाथीदाँत के भ्रम से' कह दिया जाय तब तो बेचारे बोध की मिट्टी पलीद होगी—अर्थात् 'हाथीदाँत के भ्रम से वीरों ने सूकर को मारा' ऐसा ही वाक्य रक्खा जाय और उसकी व्याख्या यों की जाय कि सूकर के दाँत में हाथीदाँत का भ्रम सूकर में हाथी के भ्रम को उत्पन्न करेगा, अतः सूकर के दाँत में हाथीदाँत का भ्रम भी सूकर के हनन में परम्परया उपयोगी होता ही है, फिर 'प्रयोज्यत्व' 'दन्तबुद्ध्या' पदगत तृतीया का अर्थ मानकर उक्त रीति से अर्थबोध किया जाय तो वह अर्थबोध क्या होगा? अर्थबोध का उपहासमात्र होगा। सारांश यह कि जब 'चौरबुद्ध्या' 'दन्तिबुद्ध्या' इत्यादि स्थलों में चौरबुद्धि (चौरभ्रम) और हनन में एवं दन्ति-बुद्धि और हनन में साक्षात् ही कारण-कार्यभाव अनुभवसिद्ध है अर्थात् हननरूप कार्य के प्रति चौरभ्रम तथा दन्ति-भ्रम का साक्षात् कारण होना ही विदित होता है तब 'पिकनिनदधिया' में भी ताड़न के प्रति पिकनिनदभ्रम का साक्षात् कारण होना ही समझा जायगा और जब साक्षात् कार्यकारणभाव ही इन सब जगहों में होगा तब 'प्रयोज्यत्व' तृतीया का अर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह परम्परया साधक होनेवाली स्थिति में माना जाता है। फलतः ऐसी जगहों में 'हेतुता' ही तृतीया का अर्थ माना जायगा और उस अर्थ के अनुसार प्रकृत में वाक्यार्थ बैठ नहीं सकता, क्योंकि पिकनिनदबुद्धि काक द्वारा नायिकाताड़नरूप कार्य के प्रति हेतु (साक्षात् कारण) होती नहीं, आप शङ्का करेंगे—उन्हीं दो पदार्थों में कार्य-कारणभाव होता है जो किसी एक अधिकरण में रहते हों, जैसे घट के प्रति दण्ड इसलिये कारण होता है कि वे दोनों ही कपाल (घड़े के दो टुकड़ों) में रहते हैं अर्थात् घट समवायसंबन्ध से और दण्ड संयोगसंबन्ध से कपालरूप एक अधिकरण में रहते हैं, फिर यहाँ जो चौरभ्रम को कारण और हनन को कार्य बतलाते हैं वह कैसे? क्योंकि भ्रम समवायसंबन्ध से आत्मा में और हनन (क्रिया) कर्मतासंबन्ध से साधु आदि में रहनेवाले हैं, तो इसका समाधान

आपको यह समझना चाहिए कि जिस साधु आदि में 'कर्मता'संबन्ध से हनन रहता है उन साधु आदि में ही 'विशेष्यता'संबन्ध से उक्त भ्रम भी रहता है अतः उक्त कार्य-कारणभाव के होने में किसी तरह की बाधा नहीं। इसके अतिरिक्त इस पद्य में और भी दोष हैं, जैसे—कोकिल आदि पक्षिजातीय प्राणियों के शब्द 'कूजित' आदि शब्दों से ही वर्णित होते हैं, न कि 'निनद' आदि शब्दों से, क्योंकि वे शब्द सिंह, नगाड़े आदि के शब्दों में ही प्रयुक्त होने योग्य हैं। अतः 'पिकनिनद' में 'ख्यातिविरुद्धता' दोष है। इसी तरह प्रथम तथा द्वितीय चरण में आये 'स्तनों' और 'हाथों' के साथ किसी तरह, दूर होने पर भी तथा दूसरे शब्द (शरण्यम्) के अर्थ के साथ अन्वित हो चुकने पर भी चतुर्थ चरण के 'मृगदृशाम्' इस षष्ठ्यन्त पद का अर्थ अन्वित हो सकता है, ['किसी तरह' कहने का अभिप्राय यह है कि वस्तुतः ऐसा भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि अन्वयबोध के प्रति आसत्ति (सान्निध्य) और आकांक्षा का ज्ञान कारण होता है और यहाँ 'मृगदृशाम्' के अर्थ की आसत्ति और आकांक्षा 'शरण्यम्' पदार्थ के साथ ही है, तथापि अन्वय द्वारा स्तनों और हाथों के साथ भी उन दोनों के ज्ञानरूप कारण की कल्पना कर ली जा सकती है] पर तृतीय चरण में आये 'आकम्पन्त्यः' इस प्रथमान्त विशेषणपदार्थ के साथ विशेष्यरूप से उस षष्ठ्यन्त पद के अर्थ का अन्वय किसी तरह नहीं हो सकता। अतः इस विशेषण के साथ 'मृगाक्षियों' की तटस्थता ही हो जाती है—वह उनके साथ किसी तरह नहीं जुड़ सकता। और उसके साथ भी उसका जुड़ना कवि को इष्ट था। फलतः यहाँ 'अभवन्मतसम्बन्ध' दोष है। इतने पर भी यदि आप विभक्ति बदलकर अन्वय कर भी दें, तथापि 'भग्नप्रक्रमता' (दो चरणों में 'मृगदृशाम्' षष्ठ्यन्त होना और एक में प्रथमान्त होना) एवं 'असंपुटता' (ऊबड़खाबड़पन) ये दोष रह ही जाते हैं। अतः यह पद्य किसी अव्युत्पन्न जन का ही बनाया हुआ है। दीक्षितजी ने 'भ्रान्तिअलङ्कारांश' मात्र को लेकर इस पद्य को उदाहरणरूप से अपने ग्रन्थ में उद्धृत कर दिया है।

[illegible] लक्षणं परीक्षते—

यत्त्वलङ्कारसर्वस्वकृता लक्षितम्, 'सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान्' इति तन्न। प्रागुक्ते संशयालङ्कारे [illegible] [illegible]। प्रतीतिपदस्य निश्चयपरत्वे रूपकविशेषेऽतिप्रसङ्गात्। विषयतावच्छेदकावच्छिन्न-त्वेन निश्चयो विशेषणीय इति चेत्, विशेषणतावत्। तथाप्यतिशयोक्तिविशेषेऽति-प्रसक्तिरवारितैव। अनाहार्यत्वेन निश्चयविशेषणत्वे पुनरस्मदुक्त एव पर्यवसितः, [illegible]।

'सादृश्यमूलिकोल्लिखन्तरे वस्त्वन्तरस्य प्रतीतिर्भ्रान्तिमान्' इत्यर्थकं मूलोक्तं सर्वस्व-[illegible] लक्षणं न सम्यक्, [illegible] संशयालङ्कारे उत्प्रेक्षा-[illegible] [illegible] वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरस्य प्रतीतेः [illegible], [illegible] [illegible] (ज्ञानं) [illegible]। [illegible] इति तात्पर्यं [illegible] चारिता भवति, तथापि अतिशयोक्तिविशे-[illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] यद्यपि सोऽपि दोषो निरस्तो भवति, तथापि तदा न [illegible] [illegible]ऽपि तु भवेत्, अस्मदुक्तलक्षण एव तदुक्तेः पर्यवसानात्। किंच 'भ्रान्तिमान्' इत्यत्रत्यमतुबर्थस्यासङ्गतिस्तथापि, भ्रान्तिमात्रस्यैव [illegible]विषयत्वादिति भावः। [illegible]

'अनाहार्यत्वेन' इति प्रतीकमुपादाय 'नन्वेवमपि कथमतिशयोक्तावतिव्याप्तिवारणम्। तस्यामनाहार्याभेदज्ञानस्यैव सर्वसंमतत्वात् प्रागुक्तत्वाच्चेति चेत्, चिन्त्यमेतत्।' इत्याचष्टे।

सर्वस्वकारकृत लक्षण की आलोचना की जाती है—यत्तु इत्यादि। 'अलङ्कारसर्वस्वकार' ने जो 'भ्रान्तिमान्' का 'सादृश्यात्—अर्थात् सादृश्य के कारण अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की प्रतीति को 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार कहते हैं' यह लक्षण किया वह ठीक नहीं है। कारण, इस लक्षण की पूर्वोक्त 'सन्देहालङ्कार' और आगे कहे जानेवाले 'उत्प्रेक्षालङ्कार' में अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि सन्देह तथा सम्भावना भी प्रतीतिरूप है। यदि आप कहें कि—'प्रतीति' शब्द का अर्थ यहाँ 'निश्चय' है—केवल ज्ञान नहीं, अतः यह दोष नहीं हो सकता, तो तथापि रूपक के ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी। आप कहेंगे—इस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'निश्चय' में विषयतावच्छेदकानवगाही—अर्थात् उपमेयतावच्छेदक (मुखत्व आदि) को जो विषय नहीं बनाता हो—यह विशेषण जोड़ देंगे, तो जोड़िए, पर तब भी अतिशयोक्तिज्ञान में होनेवाली अतिव्याप्ति का वारण नहीं ही हो सकेगा, क्योंकि वहाँ उपमेयतावच्छेदक का अवगाहन नहीं किया गया रहता है। अब यदि आप 'निश्चय' में 'अनाहार्य' विशेषण लगाना चाहें, तब दोष का वारण तो होगा, पर आपके लक्षण की समाप्ति भी तब मेरे लक्षण में ही हुई। फलतः सर्वस्वकार के लक्षण में इतनी न्यूनता है ही। और इतना सब करने पर भी यह लक्षण 'भ्रान्तिमान्' का नहीं, अपितु 'भ्रान्ति' का हुआ, अतः 'मतुप् (मान्)' का अर्थ तब भी असङ्गत ही रहा।

भ्रान्त्यलङ्कारे साधारणधर्मस्थितिं विचारयति—

तत्र 'कनकद्रवकान्तिकान्तया' इत्यत्र सीतातडितोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः। द्युतत्वमिलितत्वयोश्च शुद्धसामान्यरूपता।

'रामं स्निग्धतरश्यामं विलोक्य वनमण्डले।
धाराधरधिया धीरं नृत्यन्ति स्म शिखावलाः॥'

अत्र स्निग्धत्वश्यामत्वयोरनुगामित्वम्।

तत्रेति। उक्तोदाहरणानां मध्ये इत्यर्थः। भ्रान्त्यलङ्कारेऽपि साधारणधर्माः प्राग्वदनेकविधा भवन्ति। तत्र 'कनकद्रवे'ति पद्ये सीतातडितौ बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्ने सती साधारणधर्मौ प्रतिपद्येते। द्युतत्वमिलितत्वे च शुद्धसामान्यरूपे वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ने इति भावः। अनुगामिधर्मोदाहरणमाह—रामामिति। शिखावलाः मयूराः, वनमण्डले, स्निग्धतरश्यामं स्निग्धमथ च श्यामलम्, रामम्, विलोक्य, धाराधरधिया मेघभ्रमेण, धीरं यथा स्यात्तथा नृत्यन्ति स्म ननृतिरे इत्यर्थः। उपपादयति—अत्रेति। स्निग्धत्वं श्यामत्वञ्च रामधाराधरयोरनुगामिनौ साधारणधर्माविति भावः।

'भ्रान्ति' अलङ्कार में साधारणधर्म की स्थिति क्या है इसका विचार अब किया जाता है—तत्र इत्यादि। 'भ्रान्ति' अलङ्कार में भी साधारणधर्म पूर्ववत् अनेक प्रकार के रहते हैं। जैसे कि 'कनकद्रव—' इस पूर्वोक्त उदाहरण में 'सीता' और 'विद्युत्' में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है और 'द्युतत्व' तथा 'मिलितत्व' में शुद्ध सामान्यरूपता—अर्थात् वस्तुप्रतिवस्तुभाव है। 'रामं स्निग्धतरश्यामम्—अर्थात् मयूर, वन में, अतिस्निग्ध श्यामवर्णवाले रामचन्द्र को देखकर, मेघ के भ्रम से, मन्द-मन्द नाचने लगे।' इस पद्य में 'स्निग्धता' और 'श्यामता' ये दो धर्म अनुगामी हैं—अर्थात् ये दोनों धर्म एकरूप से राम तथा मेघ में अन्वित होनेवाले हैं।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायां भ्रान्तिमदलङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

तृभिः' इति ज्ञान-विशेषणं योजितम्। तथा च न तत्रातिव्याप्त्यवकाशः, तत्रत्यज्ञानस्यैक-कर्तृकत्वात्। नन्वेवं बहुवचनात् त्र्यादिकर्तृकज्ञान एव लक्षणसंगतिः, न द्विकर्तृकज्ञाने इति चेन्न, बहुवचनस्याविवक्षितत्वात्, प्रकृत्यंशतश्चैकाधिककर्तृत्वलाभादिति भावः। अनेक-प्रकारकत्वस्य ग्रहणविशेषणस्य निवेशे फलमुपदर्शयति—नृत्यदिति। हे राजन्! नृत्यताम् मण्डलाकारेण भ्रमताम् त्वद्वाजिनाम् त्वदीयाश्वानाम्, राजेः समूहस्य, प्रखरैस्तीक्ष्णैः खुरपुटैः खुराग्रभागैः, प्रोद्धतैरुत्पाट्योच्छालितैः, धूलिजालैः रजःपुञ्जैः, आलोकालोकभूमी-धरम् लोकालोकनामकपर्वतपर्यन्तम्, भूतले, अतुलनिरालोकभावम् अत्यन्तनिष्प्रकाशभावं, प्रयाते गते सति, रजनिः रात्रिः, समागता, इति धिया, सर्वे लोकाः मनुष्याः, विश्रान्तिम् विश्रमम्, कामयन्ते इच्छन्ति, कोकाः चक्रवाकाः, शोकानलेन विकलतया, क्रन्दन्ति, किं च, उलूकाः, नन्दन्ति प्रसीदन्तीत्यर्थः। उपपादयति—अत्रेति। नृत्यदितिपद्यवर्णिते लोक-काकोलूकरूपानेकव्यक्तिकर्तृके धूलिजालरूपैकविशेष्यके रजनीत्वरूपैकप्रकारके ज्ञानेऽति-प्रसक्तिनिरासायानेकप्रकारकमिति ग्रहणविशेषणमिति भावः। लक्षणघटकग्रहणपदं व्याचष्टे—ग्रहणमिति। ग्रहणपदस्य ज्ञानसमूहोऽर्थो बोध्यः। नन्वेवं ग्रहणानीति बहुवचनान्तं पदं प्रयोक्तुमुचितमित्यत आह—एकत्वमिति। ज्ञानत्वजात्यवच्छिन्नबोधनायैकवचनान्तोऽपि प्रयोगो न दोषावह इति भावः, एकवचनान्तस्य ग्रहणपदस्य ग्रहणसमूहरूपोऽर्थो नोपस्थित्याद् व्याख्येयोऽपि तु प्रकृते स एवोचित इत्याह—अनेक इति। एकवस्तुविशेष्यकस्यानेकप्रका-रकत्वेत्यादिः। ज्ञातृभेदेन ज्ञानभेदस्य नित्यसिद्धतया अनेकज्ञातृकैकज्ञानस्याप्रसिद्धत्वाद् ग्रहणपदस्य प्रकृते ज्ञानसमूह औचित्यबललब्ध एवार्थ इति भावः। फलितमाह—तेनेति। अनेकग्रहीतृकैकग्रहणस्याप्रसिद्धत्वेन हेतुनेति तदर्थः। 'ग्रहीतृभिः' इत्यत्र बहुवचनस्याविव-क्षितत्वस्योक्तत्वया। [illegible]। ज्ञानयोरिति भावः। द्वयधिक-ग्रहीतृकस्थलानुरोधेनाह—बहूनामिति। ज्ञानानामिति भावः। ग्रहणमिति। बोध इत्यर्थः। एकवचनान्तादपि ग्रहणपदादिति भावः। भवतीति शेषः। ननु 'निमित्तवशात्' इति विशेषणं लक्षणेऽव्याप्त्यतिव्याप्तिनिरासाय अन्यथा वा? आद्ये कुतो न तत्फलोपन्यासः? द्वितीये [illegible]विशेषणघटितत्वं लक्षणस्येत्यत आह—निमित्तेति। अव्याप्त्यतिव्याप्तिनिरास-कत्वाभावेऽपि न निर्निमित्तं ज्ञानं भवतीति वस्तुस्थितिस्फोरणाय सार्थकतया न व्यर्थ-विशेषणघटितत्वं लक्षणस्येति भावः। अत्र "न च 'कीर्तौ विस्फूर्तिमत्यां ते मृणालक्षीर-शाङ्किनः। हंसेऽपि नागास्तन्वन्ति जिह्वान्दोलोल्लनं मुहुः॥' इति भ्रान्तिमदुदाहरणे एकस्या एव कीर्तेरनेकेन कुञ्जरग्रहीतृगणेन ग्रहीता मृणालक्षीररूपत्वानेकप्रकारेणोल्लेखनमस्तीति, तन्निरासायातिव्याप्तिनिरासाय निमित्तभेदादित्यर्थकं निमित्तवशादित्यावश्यकम्। तत्र कीर्तिगतं धावल्यमेकमेवोभयत्र हेतुः, एकस्मिन्नपि निमित्तमिति वाच्यम्। स्वस्वप्रियाहारलिप्सारूपनिमित्तभेदस्यापि तत्र सत्त्वेन शंकाऽयुक्तत्वादिति भावः।" इति नागेशः।

लक्षण में अथवा यह भिन्न-भिन्न विशेषणों के फल दिखलाने के लिये कहा जाता है—अधरम् इत्यादि। 'अधरम्—अर्थात् हे कृशाङ्गि! तेरे अधर को बिम्बफल और मुख को कमल समझकर सुग्गे तथा भौंरे परम हर्ष को प्राप्त करते हैं।' इस पद्य में दो ज्ञानों का वर्णन है। एक वह जिसमें सुग्गों द्वारा अधर को बिम्बफल समझा गया है और दूसरा वह जिसमें भौंरों द्वारा मुख को कमल समझा गया है। ये दोनों ही ज्ञान भ्रमा-त्मक होने के कारण 'भ्रान्तिमान्' अलंकार के विषय हैं। इन ज्ञानों के समूह में प्रस्तुत 'उल्लेख-लक्षण' की अतिव्याप्ति न हो इसलिये लक्षण में 'एक वस्तु का—अर्थात्—एक-विशेष्यक' यह विशेषणभाग जोड़ा गया है। उस विशेषण के जोड़ने पर अतिव्याप्ति

इसलिये नहीं होती कि यहाँ एक वस्तु का नहीं, अपितु अधर तथा मुख इन दो वस्तुओं का ज्ञान वर्णित है। 'धर्मस्यात्मा—अर्थात् यह राजा धर्म की आत्मा है, क्षमा का भाग्य है' इत्यादि पूर्वोक्त मालारूपक में अतिव्याप्ति-वारण के लिये लक्षण में 'अनेक ज्ञाताओं द्वारा (अनेककर्तृक) यह ज्ञान का विशेषण लगाया गया है। उक्त मालारूपक में ज्ञाता एक है, अनेक नहीं, अतः अतिव्याप्ति नहीं होती। यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए कि—'अनेकैर्ग्रहीतृभिः' इस मूल पद में बहुवचन वक्ता (लक्षणकार) का अभीष्ट नहीं है, अतः एक से अधिक ज्ञाता का होना ही अपेक्षित है और एक से अधिक ज्ञाता दो ज्ञाताओंवाले स्थल में एवम् बहुत ज्ञाताओंवाले स्थल में समानरूप से हो सकता है। फलतः दोनों ही स्थलों पर उल्लेखालंकार होगा। 'त्वद्वाजि—अर्थात् हे राजन्! आपके अश्वों के समूह के तीक्ष्ण खुराग्रभागों से उड़ते धूलि-समूहों द्वारा, 'लोकालोक' पर्वत पर्यन्त—अर्थात् समस्त संसार में—ऐसा प्रकाश का अभाव हो गया कि जिसकी तुलना नहीं हो सकती। अतः 'रात्रि हो गई' यह समझकर पृथिवीतल पर सब लोग विश्राम चाह रहे हैं, शोकाग्नि से विकल होने के कारण चकवे रो रहे हैं और उल्लू आनन्द मना रहे हैं।' यहाँ धूलि-समूहरूप एक वस्तु में लोक, चक्रवाक और उल्लू इन अनेक ज्ञाताओं द्वारा किए जाने वाले रात्रिरूप एक-विषयक-ज्ञान में अतिव्याप्ति वारणार्थ लक्षण में 'अनेकप्रकारक' यह ज्ञान का विशेषण लगाया गया है। इस विशेषण के लगाने पर अतिव्याप्ति इसलिये नहीं होती कि यहाँ प्रकार (विशेषण) एक ही (रात्रित्व) है, अनेक नहीं। 'ज्ञान' शब्द से लक्षण में 'ज्ञान का समूह' कहना अभीष्ट है। कारण, अनेक ज्ञाताओं द्वारा किया जानेवाला ज्ञान एक हो ही नहीं सकता—अर्थात् ज्ञाता के भेद से ज्ञान भी भिन्न हो ही जाता है। आप कहेंगे—तब 'ज्ञान' शब्द में एकवचन क्यों लिखा गया? तो इसका उत्तर यह है कि एक जाति की अनेक वस्तुओं के लिये एकवचन का विधान शब्दशास्त्र में किया गया है, वही एकवचन यहाँ है। अतः इस एकवचनान्त 'ज्ञान' पद से दो अथवा दो से अधिक ज्ञानों का ग्रहण समझना चाहिए। 'अचारुत्व' यह लक्षण का भाग तो केवल वस्तुस्थिति-कथन है—अर्थात् यह विशेषण अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये नहीं, किन्तु ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये है।

उदाहरणं प्रस्तौति—

उदाहरणम्—

प्रस्तूयत इति भावः।

उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है।

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'नरैर्गतिप्रदेत्ययं सुरैः स्वकीयापगे-
त्युदारतरसिद्धिदेत्यखिलसिद्धसङ्घैरपि ।
हरेस्तनुरिति श्रिता मुनिभिरस्तसङ्गैरियं
तनोतु मम शं तनोः सपदि शन्तनोरङ्गना ॥'

नरैः मनुष्यैः गतिप्रदा, इयम्, इति बुद्ध्या, सुरैः, स्वकीया आपगा मन्दाकिनी इति धिया, सुरैः देवैः, उदारतरसिद्धिदा अत्युत्कृष्टसिद्धिप्रदायिनी, इति धिया, अखिलैः सर्वैः सिद्धसङ्घैः, हरेस्तनुः विष्णुस्वरूपा, इति धिया, अस्तसङ्गैः निरस्तासक्तिभिः, मुनिभिः, श्रिता सेविता, इयम् मानवोपरिभूता, शन्तनोः तन्नामकस्य राजर्षेः, अङ्गना पत्नी, गङ्गेति यावत्, मम, तनोः शरीरस्य, शं कल्याणं, तनोतु विस्तारयतु इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—नरैः इत्यादि। कवि गङ्गा की स्तुति करता है—

श्रेष्ठ गति (मुक्ति) देने वाली है इस धारणा से मानवों द्वारा, अपनी नदी है इस धारणा से देवताओं द्वारा, बहुत बड़ी सिद्धि देने वाली है इस धारणा से सभी सिद्ध-समूहों द्वारा, भगवान् विष्णु की शरीररूपा है इस धारणा से आसक्ति-रहित मुनियों द्वारा, सेवित यह शन्तनु की पत्नी (श्री गङ्गा) मेरे शरीर का कल्याण करे।

उपपादयति—

अत्र च लिप्सारुचिभ्यां निमित्ताभ्यामस्त्यनेकग्रहीतृकवरगतिप्रदात्वाद्यनेकप्रकारकग्रहणसमुदायो गङ्गाविषयकरतिभावोपस्कारकः।

लिप्सेति। लाभेच्छेत्यर्थः। तादृशग्रहणसमुदायस्यालङ्कारत्वायाह—गङ्गेति। कविनिष्ठेत्यादिः। 'नरैर्वरगतिप्रदा-' इति पद्ये 'नर-सुर-सिद्ध-मुनि-रूपा अनेके ज्ञातारः गङ्गारूपमेकं वस्तु वरगतिप्रदात्वस्वकीयापगात्वोदारतरसिद्धिदात्वहरितनुत्वात्मकैरनेकैः प्रकारैः लिप्सारुचिरूपाभ्यां कारणाभ्याम् जानन्ती'ति वर्णितम्। तेषां तानि ज्ञानानि (तादृशज्ञानसमुदायः) कविनिष्ठं गङ्गाविषयकं रतिभावं पद्यप्रधानव्यङ्ग्यम् पुष्णन्ति, अतः स ज्ञानसमुदाय उल्लेखालङ्काररूपः सम्पद्यत इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र च इत्यादि। 'नरैर्वर-' इस पद्य में ऐसा ज्ञान-समूह वर्णित है जिसका कारण अपनी-अपनी लिप्सा (लाभ की इच्छा) तथा अपनी-अपनी रुचि है, और जिसके कर्ता (ज्ञाता) नर, सुर, सिद्ध तथा मुनि-रूप अनेक व्यक्ति हैं, एवम् जिसमें उत्कृष्ट गति देनेवाली होना आदि अनेक प्रकार (विशेषण) हैं, इसी तरह जो गङ्गारूप एक वस्तु के विषय में हुआ है—अर्थात् जिसमें विशेष्य एक गङ्गा ही है। यह ज्ञान-समूह यहाँ 'उल्लेखालंकार'-रूप होता है, क्योंकि वह (ज्ञान-समूह) पद्य से प्रधानतया अभिव्यक्त होने वाले कविगत गङ्गाविषयक रतिभाव का उपस्कारक (पोषक) है।

विशेषमाह—

शुद्ध एवात्रायमुल्लेखालङ्कारः, रूपकाद्यमिश्रणात्।

उल्लेखालङ्कारो द्विविधः शुद्धः सङ्कीर्णश्च, तत्रालङ्कारान्तराभिश्रणे शुद्धः। यथा 'नरैर्वरगति-' इति श्लोके। अत्र रूपकाद्यलङ्कारान्तरविविक्तोल्लेख इति भावः।

तदाहत उल्लेख की विलक्षणता सूचित की जाती है—शुद्ध इत्यादि। उल्लेखालंकार दो प्रकार का होता है—एक शुद्ध और दूसरा संकीर्ण। उनमें शुद्ध उसको कहा जाता है जिसमें किसी अन्य अलंकार का मिश्रण न हो। जैसे—'नरैर्वर-' इस पद्य में जो उल्लेख है वह शुद्ध है, क्योंकि यहाँ रूपक आदि अन्य अलंकारों का मिश्रण नहीं है।

यत्रोल्लेखालङ्कारेऽलङ्कारान्तरयोगो भवति, स सङ्कीर्णः कथ्यते। तादृशमपि दृश्यं सम्भवमित्याह—

सङ्कीर्णोऽपि दृश्यते।

उल्लेख इति भावः।

जिसमें अन्य किसी अलंकार का मिश्रण पाया जाता हो उसको 'संकीर्ण' उल्लेख कहते हैं। वैसा उल्लेख भी दिखाई पड़ता है।

तादृशमुदाहरणं निर्देष्टुमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

'आलोक्य सुन्दरि! मुखं तव मन्दहासं
नन्दन्त्यमन्दमरविन्दधिया मिलिन्दाः।

उपपादयति—

अत्र विषयतावच्छेदकस्य परसम्मतत्वेन निषेध्यतयोपन्यासादपह्नुत्या सङ्कीर्णः।

अवच्छेदकस्येति। वनितात्वस्येत्यर्थः। निषेध्येति। आर्थिकेत्यादिः। 'वनिता–' इति पद्ये एतदर्थविशेष्यकः वनितात्व-तपस्यात्वप्रकारकः तत्पदार्थमत्पदार्थग्रहीतृकः ज्ञानसमूहो वर्णित इति स 'उल्लेखः', तस्मिंश्च उपमेयतावच्छेदकस्य मुखत्वस्य परसम्मततया वर्णनान्निषेधस्यार्थतः फलितत्वेन सम्पद्यमानस्य अपह्नुत्यलङ्कारस्य मिश्रणमिति भवतीदं पद्यमपह्नुतिसंकीर्णोल्लेखोदाहरणमिति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'वनिता–' इस पद्य में 'एताम्' पदार्थ को लोग वनिता समझते हैं और मैं तपस्या समझता हूँ, ऐसा वर्णन है जिससे एक वस्तु का भिन्न-भिन्न व्यक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न-प्रकारक ज्ञान फलित होता है, अतः यह 'उल्लेखालंकार' होता है जिसमें उपमेयतावच्छेदक-वनितात्व-को दूसरों का माना हुआ बताने के कारण उसका अर्थतः निषेध फलित हो जाने से सिद्ध होने वाले अपह्नुति अलंकार का मिश्रण है।

दीक्षितोक्तमनूद्य निरस्यति—

अप्पयदीक्षितास्तु—"एवमपि यदि—

'कान्त्या चन्द्रं विदुः केचित्सौरभेणाम्बुजं परे।
वक्त्रं तव वयं ब्रूमस्तपसैक्यं गतं द्वयम्॥'

इत्यपह्नवोदाहरणविशेषेऽतिव्याप्तिः शङ्क्या, तदानीमनेकधोल्लेखनं निषेधास्पृष्टत्वेन विशेषणीयम्। तत्राद्योल्लेखनद्वयं परमतत्वोपन्याससामर्थ्याद्गम्यमाननिषेधमिति नातिव्याप्तिः" इत्याहुः। तन्न। 'द्विविधश्चायमुल्लेखः शुद्धोऽलङ्कारान्तरसङ्कीर्णश्च' इत्युक्त्वा "श्रीकण्ठजनपदवर्णने—'यस्तपोवनमिति मुनिभिर्गृह्यत' इत्यादौ शुद्धः, 'यमनगरमिति शत्रुभिः, वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः' इत्यादौ भ्रान्तिरूपकादिसङ्कीर्णः" इति स्वयमेवोक्तत्वात्। इहाप्यपह्नुत्या सङ्कीर्ण उल्लेख इत्यस्य युक्तत्वात्। यदि चैवंविधापह्नुतिवारणाय निषेधास्पृष्टत्वं विशेषणमुच्यते तदा—

'कपाले मार्जारः पय इति कराँल्लेढि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी सङ्कलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति॥'

इति त्वदुदाहृतभ्रान्तावतिप्रसङ्गः कथं नाम वार्येत। मार्जाराद्यनेकग्रहीतृकानेकधोल्लेखनस्य तत्रापि सत्त्वात्। स्वस्वाभिमताहारलिप्सारूपनिमित्तभेदाच्च। तस्मात् सङ्कीर्णनिवारणाय यत्नोऽनर्थक एव।

एवमपीति। उक्तविशेषणदानेऽपीत्यर्थः। कान्त्येति। नायिकां प्रति नायकस्योक्तिः— केचित् जनाः, तव, वक्त्रम् मुखम्, कान्त्या अभिरामतया कारणेन, चन्द्रं, विदुः जानन्ति, परे अन्ये जनाः, तव, वक्त्रं, सौरभेण सुगन्धेन हेतुना, अम्बुजं कमलम्, विदुः। वयं तु, तपसा तपस्याफलेन, ऐक्यं मिश्रणम्, गतम्, द्वयम् चन्द्रकमलात्मकं युगलम्, तव, वदनम्, ब्रूमः कथयामः, इत्यर्थः। अतिव्याप्तिरिति। उल्लेखलक्षणस्येति भावः। तत्रेति। 'कान्त्या—' इति पद्ये इत्यर्थः। उल्लेखनद्वयमिति। प्रकारद्वयमित्यर्थः। चन्द्रत्वज्ञानं कमलत्व-

'उल्लेख' के लक्षण में 'अनेक प्रकार के उल्लेखन (ज्ञान)' का 'निषेध से स्पृष्ट जो न हो' यह एक विशेषण और लगा देना चाहिए। ऐसा कर देने पर उक्त (कान्त्या इत्यादि) पद्य में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ जो 'मुख चन्द्र है, मुख कमल है, मुख दोनों का मिश्रण है' ये तीन ज्ञान वर्णित हुए हैं उनमें से प्रथम दो ज्ञान निषेध से स्पृष्ट हैं। कारण, उन दोनों का वर्णन 'अन्य-मत' के रूप में हुआ है जिससे उन दोनों ज्ञानों का निषेध ध्वनित होता है।" पर यह कथन दीक्षितजी का ठीक नहीं है। कारण, आपने स्वयम् ही 'यह उल्लेख दो प्रकार का होता है—शुद्ध और अन्य अलंकार से मिश्रित' यह कहकर आगे कहा है कि—"श्रीकण्ठ देश के वर्णन में 'जिसे मुनि लोग तपोवन समझते थे' इत्यादि में शुद्ध उल्लेख है और 'शत्रुगण यमराज का नगर समझते थे, शरणागतजन वज्र का पिंजरा समझते थे' इत्यादि में भ्रान्ति अथवा रूपक से मिश्रित है।" ऐसी स्थिति में उपरिलिखित पद्य को भी अपह्नुति से मिश्रित उल्लेख का उदाहरण माना जा सकता है—अर्थात् यह उचित नहीं कि अन्य अलंकार से मिश्रित उल्लेख माना जाय और अपह्नुति से मिश्रित उल्लेख नहीं माना जाय। दूसरी बात यह कि यदि ऐसी अपह्नुति के वारणार्थ 'निषेध से स्पृष्ट नहीं हो' यह विशेषण लगाया जाता है तब—'कपाले मार्जारः—अर्थात् कपाल (खप्पर) में स्थित चन्द्र-किरणों को दूध समझकर बिलाव चाट रहा है, वृक्ष के विवरों में व्याप्त उन चन्द्र-किरणों को मृणाल समझकर हाथी समेट रहा है और शय्या पर फैली हुई उन किरणों को साड़ी समझकर सुरत के अन्त में, कामिनी भी उठा रही है। ओह! प्रभा से मत्त बना यह चन्द्र इस संसार को भ्रान्त बना रहा है।' इस आपकी उदाहृत भ्रान्ति में उल्लेख की अतिव्याप्ति कैसे वारित होगी? क्योंकि इसके वारण के लिये तो आपने उल्लेख-लक्षण में कोई विशेषण जोड़ा नहीं है। और जब आप उक्त अपह्नुति का वारण करने के लिये विशेषण जोड़ते हैं तब आपके लिये इस भ्रान्ति के वारणार्थ भी विशेषण जोड़ना उचित था। यहाँ ('कपाले मार्जारः—' में) उल्लेख है ही नहीं यह तो आप कह नहीं सकते, क्योंकि मार्जार आदि अनेक व्यक्तियों द्वारा चन्द्र-किरणरूप एक वस्तु का दूध आदि अनेक प्रकारक ज्ञान यहाँ भी किया गया है—ऐसे ज्ञानों का किया जाना वर्णित है—और उन भिन्न-भिन्न ज्ञानों का भिन्न-भिन्न कारण भी है—अपने अपने प्रिय भोजन की प्राप्ति की इच्छा। अतः यहाँ भी भ्रान्ति-मिश्रित उल्लेख अवश्य है। ऐसी दशा में यदि आप इसके वारणार्थ कोई प्रयास नहीं करते हैं, तब उक्त अपह्नुति के वारणार्थ भी प्रयास मत कीजिए। फलतः मिश्रित उल्लेख के निवारण का प्रयास व्यर्थ ही है—जब मिश्रित उल्लेख होता ही है तब फिर उसे हटाने की क्या आवश्यकता है?

संशयसङ्कीर्णमुल्लेखमुदाहर्तुमाह—

संशयसङ्कीर्णो यथा—

सन्देहालङ्कारमिश्रितोल्लेखालङ्कारो यथेति भावः।

ससंदेह अलंकार से मिश्रित उल्लेखालंकार जैसे—

उदाहरणं समुपन्यस्यति—

'भानुरग्निर्यमो वाऽयं बलिः कर्णोऽथवा शिबिः।
प्रत्यर्थिनश्चार्थिनश्च विकल्पन्त इति त्वयि॥'

कविः कमपि नृपं प्रति वक्ति—हे राजन्! प्रत्यर्थिनः शत्रवः, त्वयि भवति, 'भानुः सूर्यः, अग्निः, यमो, वा, अयम्' इति विकल्पन्ते संशेरते तथा अर्थिनो याचकाः, त्वयि, 'बलिः, कर्णः, अथवा शिबिः, अयम्' इति विकल्पन्ते इत्यर्थः। बलिकर्णशिबिनामानः परमदानिनो राजानः प्रसिद्धाः पुराणादौ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भानुरित्यादि। कवि किसी राजा को कह रहा है—हे राजन्! शत्रुजन आपमें सूर्य, अग्नि और यमराज का संदेह करते हैं तथा याचकजन आप में बलि, कर्ण और शिबि का संदेह करते हैं। बलि, कर्ण और शिबि इतिहास-प्रसिद्ध दानी राजा हो चुके हैं।

उपपादयति—

अत्र द्वयोर्ग्रहणयोः प्रत्येकं संशयत्वम् समुदायस्य तूल्लेखता।

ग्रहणेति। ज्ञानेत्यर्थः। समुदायस्य ग्रहणसमुदायस्य। 'भानुः—' इति पद्ये त्वदर्थराजविशेष्यकम् प्रत्यर्थिकर्तृकम्, भान्वाग्नियमत्वप्रकारकम्, भयजनकत्वहेतुकम् एकं ज्ञानम्, राजविशेष्यकं याचककर्तृकम् बलित्व-कर्णत्व-शिबित्वप्रकारकम्, दातृत्वहेतुकम् अपरं ज्ञानं वर्णितम् तयोः प्रत्येकं संशयरूपम्, एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहित्वात्। तयोः ज्ञानयोः समूहस्तु उल्लेखालङ्काररूपः, उभयाकारत्वात्। एवञ्च ससन्देहालङ्कार-सङ्कीर्णोल्लेखालङ्कारोदाहरणत्वमस्य पद्यस्य सिद्ध्यतीति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'भानुः—' इस पद्य में दो ज्ञान वर्णित हुए हैं, दोनों ही पृथक् पृथक् संशयरूप हैं, क्योंकि एक में राजा को शत्रुओं द्वारा सूर्य, अग्नि तथा यम इन तीनों में से एक अनिश्चितरूप में समझा गया है और दूसरे में राजा को याचकों द्वारा बलि, कर्ण तथा शिबि इन तीनों में से एक अनिश्चित रूप में समझा गया है। तात्पर्य यह कि ये दोनों ही ज्ञान एक धर्मी में विरुद्ध अनेक कोटियों का अवगाहन करने के कारण संदेहात्मक हैं। फलतः ये दो ससंदेहालंकार होते हैं। पर इन दोनों संदेहात्मक ज्ञानों का समूह उल्लेखालंकाररूप हो जाता है, क्योंकि शत्रु तथा याचकरूप अनेक व्यक्तियों द्वारा राजारूप एकवस्तु का अग्नित्व आदि तथा बलित्व आदि अनेक-प्रकारक जो ज्ञान तद्रूप ही पर्यवसन्न होता है। अतः यह पद्य ससंदेहालंकार से मिश्रित उल्लेखालंकार का उदाहरण होता है।

भेदान्तरमाख्यातुं पूर्वोदाहृतेषु पद्येषु भेदस्वरूपं निरूणोति—

अयं च स्वरूपमात्रोल्लेखे स्वरूपोल्लेखः प्रागेव निरूपितः।

अयं चेति। उल्लेखश्चेत्यर्थः। उल्लेखे इति। सतीति शेषः। एवमग्रेऽपि। वस्तुस्वरूपमात्रज्ञाने वर्णिते स्वरूपोल्लेखः स्वीक्रियते, तस्य निरूपणं प्राक् कृतम् इति भावः।

उल्लेख के अन्य भेद दिखलाने के लिये पूर्वोदाहृत पद्यों में भेद का विवरण करते हैं—अयं च इत्यादि। जब किसी वस्तु के केवल स्वरूप का उल्लेख हो—ज्ञान वर्णित हो—तब स्वरूपोल्लेख होता है, जिसका निरूपण पहले किया जा चुका है—पूर्वोदाहृत पद्यों में स्वरूपोल्लेख ही है।

भेदान्तरस्य स्वरूपं निरूपयन् तदुदाहरणं निर्दिशति—

फलानामुल्लेखे फलोल्लेखः यथा—

फलानाम् (प्रयोजनानाम्) उल्लेखे (पूर्वोक्ताकारे ज्ञाने) सति फलोल्लेखो भवति। स यथेति भावः।

जब फलों (प्रयोजनों) का उल्लेख हो तब फलोल्लेख होता है, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'अर्थिनो दातुमेवेति त्रातुमेवेति कातराः।
जातोऽयं हन्तुमेवेति वीरास्त्वां देव! जानते॥'

कविर्नृपं प्रति कथयति—हे देव! 'दातुम् दानं कर्तुम्, एव, अयं, जातः उत्पन्नः' इति इत्थं रूपेण, अर्थिनो याचकाः, 'त्रातुम् रक्षितुम्, एव, अयं जातः' इति, कातराः

भीताः, तथा, 'हन्तुम्, एव, अयं जातः' इति, वीराः, त्वां, जानते विदन्तीत्यर्थः। त्वद्विशेष्यकाणि विभिन्नहेतुकानि नानाविधानि ज्ञानानि तेषां जायन्ते इति भावः। अत्रैकस्य राजरूपस्य वस्तुनोऽर्थि-कातर-वीरात्मकानेकजनकर्तृकाणि दातृत्व-त्रातृत्व-हन्तृत्वप्रकारकाणि ज्ञानानि वर्णितानीत्युल्लेखत्वं स्पष्टम्। तत्र प्रकाराणां दातृत्वादीनां फलरूपतया फलोल्लेखत्वव्यवहार इति सारांशः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अर्थिनो दातुमित्यादि। हे देव ! याचक लोग आपको देने के लिये, कायर लोग रक्षा करने के लिये और वीर लोग आपको मारने के लिये ही उत्पन्न हुआ समझते हैं। यहाँ राजारूप एक वस्तु का याचक आदि अनेक व्यक्तियों द्वारा दातृत्व आदि अनेक-प्रकारक ज्ञान किया गया है, अतः 'उल्लेख अलंकार' होता है और इस उल्लेख में प्रकारीभूत पदार्थ—दातृत्व आदि—प्रयोजन (फल) रूप है, इसलिये इसे फलोल्लेख कहा जाता है।

पूर्ववत् पुनरपरस्य भेदस्य स्वरूपं प्रकटयन् तदुदाहरणनिर्देशं प्रतिजानीते—

हेतूनामुल्लेखे हेतूल्लेखो यथा—

कारणानां तथाविधे ज्ञाने वर्णिते हेतूल्लेखो भवति, स यथेति भावः।

हेतुओं का उल्लेख होने पर हेतूल्लेख होता है, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'हरिचरण-नखर-सङ्गादेके हरमूर्धस्थितेरन्ये।
त्वां प्राहुः पुण्यतमामपरे सुरतटिनि ! वस्तुमाहात्म्यात् ॥'

हे सुरतटिनि गङ्गे ! एके कतिपये, हरिचरणयोः, नखराणाम् नखानाम्, सङ्गात् संसर्गात्, अन्ये, हरस्य शिवस्य, मूर्ध्नि मस्तके, स्थितेः वासात्, अपरे, पुनः, वस्तुमाहात्म्यात् त्वदीयस्वरूपस्यैव महत्त्वात्, त्वां भवतीम्, पुण्यतमाम् पवित्रतमाम्, प्राहुः कथयन्तीत्यर्थः। अत्र पुण्यतमात्वरूपैकविशेष्यकस्य विभिन्नजनकर्तृकस्य हरिचरणनखसङ्गादिविविधप्रकारकस्य ज्ञानसमुदायस्य वर्णनादुल्लेखः। तत्र प्रकारीभूतस्य पदार्थस्य [illegible] हेतूल्लेखत्वव्यपदेशः। अथवा गङ्गापदार्थरूपैकविशेष्यकस्य विभिन्नजनकर्तृकस्य हरिचरणनखसङ्गादिहेतुकपुण्यतमात्वप्रकारकस्य ज्ञानसमूहस्य वर्णनादुल्लेखः। अत्र यतो प्रकारस्यापि पुण्यतमात्वस्य हरिचरणनखसङ्गादिहेतुभेदेन भेदादनेकप्रकारकत्वं ज्ञानस्य बोध्यम्। प्रकारस्य हेतुगर्भत्वाच्च हेतूल्लेखत्वव्यपदेश इति भावः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—हरिचरण इत्यादि। हे गङ्गे ! आपको कुछ लोग भगवान् के चरण-नख के सङ्ग के कारण, दूसरे लोग शिवजी के सिर पर रहने के कारण और अन्य लोग वस्तु के माहात्म्य से—अर्थात् आप हैं ही ऐसी वस्तु, इस—कारण अत्यन्त पवित्र कहते हैं। यहाँ अत्यन्त पवित्रतारूप एक वस्तु का भिन्न-भिन्न व्यक्ति द्वारा भगवान् के चरण-नख-सङ्ग आदि अनेक-प्रकारक ज्ञान किया गया है, अतः उल्लेख अलंकार होता है और इस उल्लेख में प्रकारीभूतपदार्थ (भगवच्चरण-नख-सङ्ग आदि) के हेतुरूप होने से यह 'हेतूल्लेख' कहलाता है। अथवा गङ्गा-रूप एक वस्तु का भिन्न-भिन्न व्यक्ति द्वारा भगवच्चरणनख-सङ्ग-आदि-हेतुक अत्यन्त-पवित्रता-प्रकारक ज्ञान किया गया है, अतः 'उल्लेख' होता है और इस उल्लेख में प्रकारीभूत पदार्थ—अत्यन्तपवित्रता—के पीछे उपाधिरूप से हेतुभूतपदार्थ जुड़े हैं, इसलिये यह 'हेतूल्लेख' कहलाता है। इस पक्ष में अत्यन्त पवित्रतारूप प्रकार यद्यपि एक ही है, तथापि हरिचरणनखसङ्ग आदि हेतु के भेद से एक भी पवित्रता अनेक हो जाती है, अतः प्रकार की अनेकता समझी जाती है।

प्रथममुल्लेखं निरूप्य द्वितीयमुल्लेखं निरूपयितुमिच्छन् तल्लक्षणं सावतरणमाह—

अत्र प्रकारान्तरेणाप्युल्लेखो दृश्यते—यत्रासत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रयसमानाधिकरणादीनां सम्बन्धिनामन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम् ।

समानाधिकरणेति । समानम् अधिकरणं शरणस्थानं येषां तानीत्यर्थः । तथा च विषयाश्रयसहचरादिरूपा ये सम्बन्धिनस्तेषामिति तात्पर्यम् इति भावः । यथा प्रथमे ग्रहीतृनानात्वेन वस्तुनोऽनेकधा ग्रहणं भवति तथा यदि नापि भवेत्—अर्थात् ज्ञाता नैकोऽपि भवेत्, तथापि यदि विषयस्य, आश्रयस्य, सहचरादेश्च अनेकत्वेन वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वं स्यात्, तदा सोऽप्युल्लेख इति तात्पर्यम् ।

प्रथम उल्लेख का निरूपण किया जा चुका । अब द्वितीय उल्लेख का निरूपण करना है, अतः सर्वप्रथम अवतरणपूर्वक द्वितीय उल्लेख का लक्षण किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'उल्लेख' एक अन्य प्रकार से भी देखा जाता है । यह वहाँ होता है जहाँ ज्ञाताओं के अनेक न होने पर भी विषय, आश्रय अथवा समानाधिकरण-सहचर (साथ रहने वाले) आदि सम्बन्धियों में से किसी की भी अनेकता के कारण एक वस्तु अनेक तरह की हो जाय ।

द्वितीयस्याप्युल्लेखस्य पूर्ववद् भेदमाह—

अयमपि द्विविधः, शुद्धोऽलङ्कारान्तरसङ्कीर्णश्च ।

अयमपीति । द्वितीय उल्लेखोऽपीत्यर्थः ।

यह उल्लेख भी दो प्रकार का है—शुद्ध और अन्य अलंकार से मिश्रित ।

तत्र प्रथममुदाहरति—

शुद्धो यथा—

द्वितीय उल्लेखः शुद्धो यथेत्यर्थः ।

शुद्ध द्वितीय उल्लेख, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'दीनव्राते दयार्द्रा निखिलरिपुकुले निर्दया किं च मृद्वी
काव्यालापेषु, तर्कप्रतिवचनविधौ कर्कशत्वं दधाना ।
लुब्धा धर्मेष्वलुब्धा वसुनि परवधूदर्शने कान्दिशीका
राजन्नाजन्मरम्या स्फुरति बहुविधा तावकी चित्तवृत्तिः ॥'

हे राजन् ! दीनव्राते दीनप्राणिसमूहे, दयार्द्रा करुणाक्लिन्ना, निखिलानां सर्वेषां रिपूणां कुले समूहे, निर्दया दयारहिता, काव्यालापेषु काव्यकथासु, मृद्वी कोमला (केचित्तु आलापेषु लपितासु... इति व्याचक्षते), तर्कस्य प्रतिवचनविधौ उत्तरदाने, कर्कशत्वं कठोरताम्, दधाना धारयन्ती, धर्मेषु धर्मविषये, लुब्धा लोभवती, वसुनि धनविषये, अलुब्धा लोभरहिता, किं च, परेषाम् अन्येषाम्, वधूनां स्त्रीणां वा (...) दर्शने विलोकने, ... कान्दिशीका कस्यां दिशि गच्छेयम् इति भीतिविशिष्टा ('कदाद्...' इति वार्तिकेन ..., पृषोदरादित्वात् साधुः, 'कान्दिशीको भयद्रुतः' इति कोशः), अत एव बहुविधा अनेकप्रकारिका, तावकी त्वदीया, आजन्मरम्या आजन्मनः रमणीया, चित्तवृत्तिः, स्फुरति प्रकटीभवतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—दीनव्राते इत्यादि। हे राजन्! दीनों के समूह पर दया से आर्द्र, समस्त शत्रु-समुदाय पर निर्दय, काव्यों की कथा करने में कोमल, तर्कों के उत्तर देने में कठोरता को धारण करनेवाली, धर्म में लोभयुक्त, धन में लोभ-रहित, और अन्य की विपत्ति का दर्शन होने पर अतिभीरु, अतएव अनेक प्रकार की सहज सुन्दर आपकी चित्तवृत्ति स्फुरित हो रही है—चमक रही है।

उपपादयति—

अत्र दीनव्रातादीनां विषयाणामनेकत्वाच्चित्तवृत्तेरनेकविधत्वम्। राजविषयक-रतिभावोपस्कारकोऽयमुल्लेखः। यद्यपि चित्तवृत्तिव्यक्तीनामत्रैक्यं नास्ति, तदी-यचित्तवृत्तित्वेन सामान्येन तासामेकत्वं विवक्षितम्।

अस्यालङ्कारत्वायाह—राजेति। कविनिष्ठेत्यादिः। नास्तीति। तथा चैकस्य वस्तुन इत्यंशाभावान्नेदं लक्ष्यमिति भावः। समाधत्ते—तथापीति। 'दीनव्राते—' इति पद्ये ज्ञातु-रेकत्वेऽपि विषयतया चित्तवृत्तिसम्बन्धिनां दीनसमूहादीनाम् भेदात् चित्तवृत्तिरूपस्यै-कस्य वस्तुनः दयार्द्रत्वादिविविधप्रकारत्वं वर्णितम्, तच्च कविगतराजविषयकरतिभावस्य प्राधान्यव्यङ्ग्यस्य पोषकमिति द्वितीयोल्लेखरूपतामासादयति, ननु चित्तवृत्तिव्यक्तयः स्वतो भिन्ना इति तासामेकत्वाभावेन कथ'मेकस्य वस्तुनः' इत्यंशसङ्गतिरिति चेत्? सत्यम्, राजकीयचित्तवृत्तित्वात्मकसामान्यरूपेण तासामेकत्वमिह वक्तुरभिप्रेतमिति सारांशः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'दीनव्राते—' इस पद्य में राजा की एक चित्तवृत्ति को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझने वाला ज्ञाता यद्यपि एक ही व्यक्ति है, तथापि चित्तवृत्ति के विषय 'दीनों का समूह' आदि अनेक हैं, अतः एक भी व्यक्ति एक ही चित्तवृत्ति को दया से आर्द्र, निर्दय आदि अनेक प्रकार से समझता है और चित्तवृत्ति का दयार्द्र आदि अनेक-प्रकारक होना, पद्य से प्रधानतया ध्वनित होने वाले राजा के विषय में कवि के प्रेमभाव को पुष्ट करता है, अतः वह चित्तवृत्ति का अनेक प्रकार का होना द्वितीय उल्लेखालंकाररूप होता है। यह उल्लेखालंकार शुद्ध है, क्योंकि इसमें किसी अन्य अलंकार का मिश्रण नहीं है। आप कहेंगे—चित्तवृत्तियाँ तो सभी व्यक्तिगतरूप से विभिन्न होती हैं फिर यहाँ राजा की चित्तवृत्तियों को एक कैसे मान सकते हैं? और जब चित्तवृत्ति की एकता सिद्ध होती नहीं तब उल्लेख का लक्षण घटेगा कैसे? क्योंकि लक्षण में 'एक वस्तु यदि अनेक रूप हो' ऐसा कहा गया है तो इसका उत्तर यह है कि चित्त-वृत्तित्वेन रूपेण उन्हें एक कहना यहाँ अभीष्ट है।

तथा लक्षणे विवक्षाया अभावादुदाहरणान्तरं प्रदर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'कातराः परदुःखेषु निजदुःखेष्वकातराः।
अर्थेष्वलोभा यशसि सलोभाः सन्ति साधवः॥'

परदुःखेषु अन्यदुःखविषये, कातरा भीताः, निजदुःखेषु स्वदुःखविषये, अकातरा अभीताः, अर्थेषु धनविषये, अलोभा लोभरहिताः, यशसि यशोविषये, सलोभा लोभवन्तः, साधवः सत्पुरुषाः, सन्ति अद्यापि जगति तिष्ठन्त इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कातरा इत्यादि। दूसरों के दुःखों में कायर और अपने दुःखों में निर्भय, धन में लोभरहित और यश में लोभयुक्त सत्पुरुष आज भी संसार में हैं।

उपपादयति —

अत्रापि साधवः सन्तीत्यनेन मृता अपि न मृतास्ते, इतरे पुनरमृता अपि मृता एवेत्यर्थाभिव्यक्तिद्वारा व्यज्यमाने साधूत्कर्षविशेषे उपस्कारकोऽयम् ।

अत्र परशुरामादीनां विषयाणामनेकत्वात्साधूनामनेकविधत्वम् , तदमुष्योल्लेखालंकारत्वमुपपादयति—अत्रापीति । 'कातराः—' इति पद्ये एकस्य साधुरूपस्य वस्तुनः एकेनैव ग्रहीत्रा परशुरामादिविषयभेदप्रयुक्तमनेकप्रकारकम् (कातरत्वादिप्रकारकम्) ज्ञानं कृतमिति द्वितीय उल्लेखः । ननु कथमस्योल्लेखालंकारत्वम् इति चेत् , 'साधवः सन्ति' इत्येतद्वाक्यार्थेन 'मृता अपि तादृशाः साधवः न मृताः—जीविता एव , अन्यादृशा जनाः पुनः जीविता अपि मृता एव' इत्यर्थोऽभिव्यज्यते, तेन चाभिव्यक्तेनार्थेन साधूत्कर्षविशेषो व्यज्यते, तस्य च साधूत्कर्षस्य प्रधानव्यङ्ग्यस्य पोषकत्वादुल्लेखस्यात्रालंकारत्वमित्याशयादिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्रापि इत्यादि । अभिप्राय है कि—'कातराः—' इस पद्य में 'साधुरूप' एक वस्तु का परशुरामादिरूप विषयभेद के कारण एक ही व्यक्ति द्वारा कायर आदि अनेक-प्रकारक ज्ञान किया गया है और यह एक वस्तु का अनेक-प्रकारक होना साधु के उस उत्कर्ष-विशेष का उपस्कारक है जो 'सत्पुरुष हैं' इस उक्ति से होने वाली 'मर कर भी ऐसे सत्पुरुष जीवित ही हैं और अन्य साधारण जन जीकर भी मरे हैं' इस अर्थ की अभिव्यक्ति से अभिव्यक्त होता है, अतः यह द्वितीय उल्लेख (शुद्ध) का उदाहरण होता है ।

पूर्वं विषयानेकत्वप्रयुक्तमुदाहृत्याश्रयानेकत्वप्रयुक्तमुदाहर्तुमाह—

यथा वा—

आश्रयानेकत्वप्रयुक्त उल्लेखो यथेति भावः ।

विषय की अनेकता से होने वाले द्वितीय शुद्ध उल्लेख का उदाहरण दिखलाकर अब आश्रय की अनेकता से होने वाले द्वितीय उल्लेख के शुद्ध भेद का उदाहरण दिखलाने के लिये कहा जाता है—यथा वा इति । अथवा जैसे—

उदाहरणं समुपन्यस्यति—

'तुषारास्तापसव्राते तामसेषु च तापिनः ।
दृगन्तास्ताडकाशत्रोर्भूयासुर्मम भूतये ॥'

तापसव्राते तापससमूहोपरि, तुषाराः शीतलाः, तथा तामसेषु तमोगुणप्रधानेषु राक्षसादिषु तदुपरीति यावत् , तापिनः तापकाः, ताडकाशत्रोः ताडकाहन्तुः श्रीरामस्य, दृगन्ताः कटाक्षाः, मम, भूतये ऐश्वर्याय, भूयासुः भवन्त्वित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—तुषारा इत्यादि । तपस्वियों के ऊपर शीतल, और तामसों (तमोगुण-प्रधान राक्षस आदिकों) के ऊपर तापदायक श्री रामचन्द्र के कटाक्ष मेरे ऐश्वर्य के लिये हों ।

पूर्वोदाहरणद्वयाद् वैलक्षण्यं तृतीयोदाहरणे दर्शयति—

पूर्वपद्ययोर्विषयानेकत्वप्रयुक्तम् , इह त्वाश्रयानेकत्वप्रयुक्तमनेकविधत्वं दृगन्तानाम् ।

'दीनव्राते—' 'कातराः' इत्यनयोः प्रागुक्तयोः श्लोकयोः विषयभेदप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनो भिन्नप्रकारत्वं वर्णितम् । 'तुषाराः—' इति तृतीये पद्ये तु दृगन्तानामाश्रयीभूताः तापसाः तामसाश्च भिन्ना इत्याश्रयभेदप्रयुक्तम् एकस्य दृगन्तरूपस्य वस्तुनः तुषारत्व-तापित्व-रूपानेकप्रकारत्वं वर्णितमित्यत्रापि शुद्धो द्वितीय उल्लेख इति भावः ।

पूर्व उदाहरणों से तृतीय उदाहरण में विलक्षणता दिखलाई जाती है—पूर्वं इत्यादि। 'दीनव्राते—' तथा 'कातराः—' इन दोनों पद्यों में विषयों की अनेकता से एक वस्तु का भिन्न-भिन्न-प्रकारक होना वर्णित हुआ है, पर 'तुषाराः—' इस तृतीय पद्य में कटाक्ष के आश्रय (तापस और तामस) भिन्न हैं, अतः कटाक्षरूप एक वस्तु के शीतलता और तापकतारूप अनेक प्रकार वर्णित हैं। तात्पर्य यह कि यह तीसरा पद्य भी शुद्ध द्वितीय उल्लेख का उदाहरण होता है।

समानाधिकरणानेकत्वप्रयुक्तमुदाहरति—

'विद्वत्सु विमलज्ञाना विरक्ता यतिषु स्थिताः।
स्वीयेषु तु गरोद्गारा नानाकाराः क्षितौ खलाः॥'

विद्वत्सु विद्वज्जनसंनिधे, विमलज्ञानाः निर्मलबोधत्वेनात्मानं ख्यापयन्तः, यतिषु संन्यासिजनसंनिधौ, विरक्ता विरक्तवदाचरन्तः, तु पुनः, स्वीयेषु स्वजनसमीपे, गरोद्गारा विषवमनकारिणः, अत एव, नानाकारा विविधरूपाः, खलाः दुर्जनाः, क्षितौ पृथिवीतले, सन्तीत्यर्थः।

समानाधिकरणों (सहचरों) की अनेकता से होने वाले शुद्ध द्वितीय उल्लेख का उदाहरण दिखलाया जाता है—विद्वत्सु इत्यादि। विद्वज्जनों के समीप निर्मल ज्ञान वाले, संन्यासियों के निकट विरक्त, और स्वजनों पर विष-वमन करने वाले, इस तरह पृथिवी पर, दुर्जन लोग अनेक आकार धारण किए हुए हैं।

उपपादयति—

अत्र विद्वदादिसहचरभेदप्रयुक्तं खलानामनेकविधत्वम्।

'विद्वत्सु—' इति पद्ये खलरूपस्यैकस्य वस्तुनः विद्वदादिसहचरभेदाद्विमलज्ञानत्वाद्यनेकप्रकारत्वं वर्णितमितीदमपि पद्यं शुद्धद्वितीयोल्लेखोदाहरणत्वमेतीति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'विद्वत्सु—' इस पद्य में विद्वान् आदि सहचरों के भेद के कारण खल अनेक प्रकार के बताए गए हैं—अर्थात् यहाँ विद्वान् आदि सहचरों की भिन्नता से खलरूप एक वस्तु के विमलज्ञानत्व आदि अनेक प्रकार हो गए हैं, अतः यह भी शुद्ध द्वितीय उल्लेख का एक प्रभेद है।

उल्लेखलक्षणे 'समानाधिकरणादीनाम्' इत्यत्र वर्तमानेन 'आदि'-पदेन संगृह्यमाणं स्फोरयति—

एवमन्येषां सम्बन्धिनां भेदेऽप्यूह्यम्।

विषयाश्रयसमानाधिकरणानामेकत्वविभेदप्रयुक्तं यथैकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वं तत्र यथा द्वितीय उल्लेखो भवति, तथैव अन्यसम्बन्धिभेदप्रयुक्तमपि यत्रैकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वं स्यात्तत्रापि स भवेदिति भावः।

लक्षण में आये हुए 'आदि' पद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये कहा जाता है—एवम् इत्यादि। जिस तरह विषय, आश्रय और सहचर के भेद से एक वस्तु के अनेक प्रकार होने पर द्वितीय उल्लेख होता है उसी तरह जहाँ इन तीनों (विषय आदि) से अन्य संबन्धी के भेद से एक वस्तु के अनेक प्रकार होंगे वहाँ भी यह उल्लेख हो सकता है इस बात को ऊह स्वयम् कर सकते हैं।

अलङ्कारान्तरसंकीर्णं द्वितीयमुल्लेखमुदाहरति—

सङ्कीर्णो यथा—

अलङ्कारान्तरमिश्रितो द्वितीय उल्लेखो यथेति भावः।

मिश्रित द्वितीय उल्लेख, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'गगने चन्द्रिकायन्ते हिमायन्ते हिमाचले ।
पृथिव्यां सागरायन्ते भूपाल ! तव कीर्तयः ॥'

हे भूपाल राजन् ! तव, कीर्तयः, गगने चन्द्रिकायन्ते चन्द्रिका इवाचरन्ति, हिमाचले हिमपर्वते, हिमायन्ते हिमवदाचरन्ति, तथा, पृथिव्यां सागरायन्ते समुद्रवदाचरन्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—गगने इत्यादि । हे राजन् ! आपकी कीर्तियाँ आकाश में चन्द्रिका-सा, हिमालय में हिम (बरफ)-सा और पृथिवी पर समुद्र-सा आचरण करती हैं ।

उपपादयति—

अत्रोपमया आपाततः प्रतीयमानया, पर्यवसितया चोत्प्रेक्षया ।

उपमानात्क्यङो विधानादाह—उपमयेति । तत्र तात्पर्याभावादाह—पर्यवसितयेति । उत्प्रेक्षयेति । संकीर्ण इति शेषः । 'गगने—' इति श्लोके कीर्तिरूपैकवस्तुनः गगनाद्याश्रयभेदप्रयुक्तम् चन्द्रिकात्वादिविविधप्रकारत्वम् वर्णितमस्तीति द्वितीय उल्लेखः सिद्धः । स च न शुद्धः । क्यङ्प्रत्ययस्य सर्वत्रोपमानबोधकप्रकृतिविहितत्वेनापाततः प्रतीयमानेनोपमालङ्कारेण, वस्तुतस्तु उपमानोपमेयभावस्यात्र कविविवक्षाविषयत्वविरहेण सम्भावनाया एव प्रतीत्या उत्प्रेक्षालङ्कारेण तस्य संकीर्णत्वादिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'गगने—' इस पद्य में एक व्यक्ति द्वारा कीर्तिरूप एक वस्तु के गगन आदि आश्रय (भेद) प्रयुक्त चन्द्रिकात्व आदि अनेक प्रकार वर्णित हैं, अतः यहाँ द्वितीय उल्लेख होता है और वह उल्लेख यहाँ ऊपर से प्रतीत होनेवाली उपमा, पर अन्ततः सिद्ध होनेवाली उत्प्रेक्षा से मिश्रित है । तात्पर्य यह कि 'चन्द्रिकायन्ते' आदि पदों में उपमानबोधक प्रकृति से आचारार्थक 'क्यङ्' प्रत्यय हुए हैं, अतः आपाततः पहले उपमा की प्रतीति हो जाती है, पर जब वक्ता के अभिप्राय का अनुसन्धान किया जाता है तब ज्ञात होता है कि उपमानोपमेयभाव यहाँ उसका अभिप्रेत नहीं है, अतः वक्ता का अभिप्रेत संभावना सिद्ध होता है, इसलिये अन्त में उत्प्रेक्षा की ही प्रतीति होती है ।

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णस्य द्वितीयोल्लेखस्योदाहरणान्तरं दर्शयति—

'उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजङ्गमपुङ्गवात् ।
अन्तः साक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि जनाः ॥'

उपरि बहिः, करवालस्य असेः, धारायाः, आकार इव आकारो येषां तादृशाः, तथा भुजङ्गमपुंगवात् सर्पश्रेष्ठात्, क्रूराः कठोराः, परन्तु, अन्तः हृदये, साक्षात्, द्राक्षाणाम् मृद्वीकानां, दीक्षायां गुरवः उपदेष्टारः, अतिमधुराः कोमलाश्चेति यावत्, केऽपि कतिपये, जनाः, जयन्ति सर्वोत्कृष्टतया वर्तन्ते इत्यर्थः । अत्र "आर्यापूर्वार्धे षष्ठ भवति विषमे जः" इति नियमादत्र न विषमो [illegible] इत्थम् ।" [illegible] । [illegible], [illegible] 'अस्याः [illegible] द्वितीये [illegible] ॥' इत्युक्तम् । [illegible] न नियमो न [illegible] । किन्तु [illegible] । अतः 'आर्यापूर्वार्धे [illegible] हंसगते ! [illegible] ॥' [illegible] बन्धेऽस्मिन्पद्ये न छन्दोभङ्गदोषः इति ।

अलंकारान्तर से मिश्रित द्वितीय उल्लेख का दूसरा उदाहरण दिखलाया जाता है—उपरि इत्यादि। ऊपर से तलवार की धार के समान आकार वाले तथा सर्पराज से भी क्रूर, पर अन्तःकरण में साक्षात् ब्राह्मणों को भी दीक्षा देने वाले गुरु (अति मधुर और कोमल) कतिपय पुरुष सर्वोत्कृष्ट हैं। यहाँ 'आर्या छन्द के विषम-स्थानों में जगण नहीं होता, पर यहाँ सप्तम स्थान में जगण है, अतः यह आर्या का पूर्वार्ध छन्दो-भङ्ग-दूषित है।' यह काव्य-माला-सम्पादक ने पहले लिखा और उसका अनुवाद पीछे हिन्दी रस-गङ्गाधरकार आदि ने भी अपनी टिप्पणी में किया है। पर मैं समझता हूँ कि वस्तुतः यहाँ छन्दोभङ्ग है नहीं, क्योंकि एक तो जिह्वा यहाँ छन्दो-भङ्ग की सूचना नहीं देती, दूसरे जिस नियम के अनुसार यहाँ छन्दोभङ्ग कहा गया है वह सर्व-सम्मत है भी नहीं। देखिए—श्रुतबोधकार ने 'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रा—' इत्यादि संस्कृत टीका में उद्धृत किए गए आर्या-लक्षण में उस नियम की चर्चा नहीं की है। ततः 'आर्यापूर्वार्धं—' इत्यादि संस्कृतटीकोद्धृत लक्षण के अनुसार 'गीति-' छन्द में निबद्ध इस पद्य में कोई दोष नहीं आता।

उपपादयति—

अत्रोपमाव्यतिरेकाभ्यां तयोः समुच्चयेनोत्प्रेक्षया च सङ्कीर्णः।

उपमेति। 'करवालधाराकाराः' इत्यंश इति भावः। व्यतिरेकेति 'क्रूराः' इत्यंश इति भावः। तयोरुपमाव्यतिरेकयोः। उत्प्रेक्षयेति। 'गुरवः' इत्यंशे प्रतीयमानयेति भावः। 'उपरि—' इति पद्ये जनरूपस्यैकस्य वस्तुनः बहिरन्तर्देशरूपाश्रय-भेद-प्रयुक्तम् करवाल-धाराकारत्वाद्यनेकप्रकारत्वं वर्णितमिति द्वितीय उल्लेखः सिद्ध्यति। स च उपमाव्यतिरेकाभ्याम्, तयोः समुच्चयेन, गम्योत्प्रेक्षया च सङ्कीर्ण इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'उपरि—' इस पद्य में जनरूप एक वस्तु के 'ऊपर और अन्दर' रूप आश्रय-भेद-प्रयुक्त करवालधाराकारत्व आदि अनेक प्रकार वर्णित हैं, अतः द्वितीय उल्लेख यहाँ होता है, वह उल्लेख शुद्ध नहीं है, अपि तु—'धार के समान आकारवाले' इस अंश में उपमा से, 'सर्पराज से भी क्रूर' इस अंश में व्यतिरेक से, इन दोनों के समुच्चय से और 'ब्राह्मणों को दीक्षा देनेवाले गुरु' इस अंश में गम्य उत्प्रेक्षा से मिश्रित है।

द्वयोरुल्लेखयोः सङ्करमादिपदग्राह्यसम्बन्धिभेदप्रयुक्तत्वं च दर्शयितुमाह—

'यमः प्रतिमहीभृतां हुतवहोऽसि तन्त्रीभृतां
सतां खलु युधिष्ठिरो धनपतिर्धनाकाङ्क्षिणाम्।
गृहं शरणमिच्छतां कुलिशकोटिनिर्मितं
महीतल इह भूपते बहुविधो विधात्रा कृतः॥'

हे राजन्! प्रतिमहीभृतां शत्रूणां कृते, यमः अन्तकरूपः, तन्त्रीभृतां [illegible] कृते, हुतवहः अग्निः, सतां सज्जनानाम्, कृते, खलु निश्चयेन, युधिष्ठिरः, धनाकाङ्क्षिणां धनार्थिनाम्, कृते, धनपतिः कुबेरः, शरणम्, रक्षणम्, इच्छताम्, कृते, कुलिशकोटिभिः [illegible], निर्मितं, गृहं [illegible], त्वम्, असि, अतः [illegible], भूपते, इह, महीतले, विधात्रा ब्रह्मणा, बहुविधः अनेकप्रकारः, कृतः इत्यर्थः।

अब दो उल्लेखों के सङ्कर (मिश्रण) तथा 'आदि' पद से ग्रहण किये गये संबन्धि-भेद-प्रयुक्तता को दिखलाने के लिये कहा जाता है—यमः इत्यादि। हे राजन्! शत्रु-राजाओं के लिये यम, उद्दंड द्वेषी के लिये अग्नि, सज्जनों के लिये युधिष्ठिर, धन चाहने वालों के लिये कुबेर और शरण चाहने वालों के लिये वज्र की नोकों से बनाया हुआ घर इस तरह एक ही तुझे विधाता ने पृथिवीतल पर अनेक प्रकार का बनाया है।

कज्ञानसमुदायस्य चमत्कारजनकताया अनुभवसिद्धत्वेनालङ्कारत्वम्। द्वितीये तु प्रकारे 'यः शिष्टेषु सदयः दुष्टेषु करालः' इत्यादौ तत्तद्विषयभेदभिन्नस्य प्रकारसमुदायमात्रस्य तथात्वम्। न तु विद्यमानस्यापि ज्ञानांशस्य, चमत्कारित्वेनाननुभवात्। चमत्कारनिबन्धनो ह्यलङ्कारभाव उपमादीनाम्। अत एवास्माभिः 'विषयाद्यन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम्' इति द्वितीय उल्लेखो लक्षितः।

यमिति। वर्णनीयः कश्चन राजा यत्पदार्थः। लौकायतिकाः चार्वाकाः। जनकताया इति। इदं ज्ञानं चमत्कारीत्यनुभवाकारः। य इति। अत्रापि वर्णनीयः कश्चिन्नृप एव यत्पदार्थः। तथात्वम् चमत्कारित्वेनानुभवसिद्धत्वम्। प्रकारविशेषणमात्रव्यवच्छेद्यमाह—न त्विति। विद्यमानस्यापि ज्ञानांशस्येति। एकस्य वस्तुनः भिन्नरूपात्मकता ज्ञाननिबन्धनैव सम्भवतीत्यतो ज्ञानांशस्य विद्यमानता बोध्या। अत एवेति। विद्यमानस्यापि ज्ञानांशस्याचमत्कारित्वात्, उपमादीनामलङ्कारत्वस्य चमत्कारनिबन्धनत्वाच्चेत्यर्थः। 'यं महाविष्णुरिति वैष्णवाः—' इत्यादौ प्रथमोल्लेखोदाहरणे वैष्णवाद्यनेकज्ञातृक-महाविष्णुत्वाद्यनेकप्रकारकवर्णनीयराजधर्मिकज्ञानसमुदाय एव चमत्कारित्वेनानुभवसिद्ध इति तस्यैवालङ्कारत्वम्, तावत्पर्यन्तस्य प्रथमोल्लेखलक्षणे प्रवेशश्च। 'यः शिष्टेषु सदयः—' इत्यादौ द्वितीयोल्लेखोदाहरणे पुनः शिष्टादिविषयभेदप्रयुक्तभेदविशिष्टस्य सदयत्वादिप्रकारसमुदायस्यैव चमत्कारित्वेनानुभवसिद्धत्वेनेति तस्यैवालङ्कारत्वम्, तावत्पर्यन्तस्यैव च द्वितीयोल्लेखलक्षणे प्रवेशः। ननु यथा प्रथमे तथा द्वितीयोल्लेखोदाहरणेऽपि एकज्ञातृकवर्णनीयधर्मिकविषयादिभेदहेतुकनानाप्रकारकज्ञानसमूहस्य स्थितिरवश्यमेषितव्या, एकवस्तुगतानेकप्रकारत्वस्य ज्ञाननिबन्धनत्वात्, तथा च तत्रापि तस्यैव (ज्ञानसमूहस्यैव) अलङ्कारत्वं किमिति नाङ्गीक्रियते इति चेन्न, सतोऽपि ज्ञानांशस्याचमत्कारित्वेनालङ्कारत्वायोगात्, उपमादेरलङ्कारत्वस्य चमत्कारमूलकतायाः सर्वसम्मतत्वात् एवञ्च द्वितीयोल्लेखलक्षणं स्पष्टमिति भावः।

दोनों उल्लेखों के पृथक्करण में युक्ति दिखलाई जाती है—अत्रेदम् इत्यादि। 'जिसे वैष्णव महाविष्णु कहते हैं, याज्ञिक यज्ञपुरुष कहते हैं, चार्वाक स्वभाव कहते हैं, वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं वह आदिपुरुष हरि यह (वर्णनीय राजा) है।' इत्यादि प्रथम उल्लेख के उदाहरणों में भिन्न-भिन्न ज्ञाताओं द्वारा किए गये भिन्न-भिन्न प्रकारों (विशेषणों) वाले ज्ञानों—जैसे प्रकृत में वैष्णव आदि ज्ञाताओं द्वारा किए गये महाविष्णुत्व आदि भिन्न-भिन्न प्रकारों वाले ज्ञानों के समूह में ही चमत्कारोत्पादकता अनुभवसिद्ध है—अर्थात् उन ज्ञानों के द्वारा ही सहृदयों के हृदयों में आनन्द उत्पन्न किया जाता है, अतः उन्हें (ज्ञानों को) ही अलंकार माना जाता है। 'जो (वर्णनीय राजा) शिष्टों के विषय में दयायुक्त है, दुष्टों के विषय में भयंकर है।' इत्यादिक द्वितीय उल्लेख के उदाहरणों में तो उन-उन विषयों के भेद के कारण होने वाले एक व्यक्ति के भिन्न-भिन्न प्रकार—अनेक रूप होना—(जैसे प्रकृत में शिष्ट आदि विषयों के भेद के कारण वर्णनीय राजा का दयायुक्त आदि अनेकरूप होना) ही चमत्कारी अनुभूत होता है, अतः उन (प्रकारों) को ही अलंकार माना जाता है। यद्यपि द्वितीय उल्लेख के उदाहरणों में भी ज्ञान अंश रहता अवश्य है, क्योंकि ज्ञान के भेद (समझ की भिन्नता) से ही एक वस्तु की अनेकप्रकारता हो सकती है, अन्यथा नहीं, तथापि ऐसे स्थलों में रह कर भी ज्ञान अंश चमत्कारी (आनन्दोत्पादक) नहीं अनुभूत होता, अतः उस अंश को अलंकार नहीं माना जाता। कारण, चमत्कारोत्पादक होने के कारण ही उपमा आदि को भी अलंकार माना जाता है। अतएव दूसरे उल्लेख का लक्षण 'विषय आदि में से किसी एक की अनेकता के कारण एक

वस्तु के अनेक प्रकार होना' यों बताया गया है। सारांश यह कि प्रथम उल्लेख में ज्ञान-समूह को और द्वितीय उल्लेख में प्रकार-समूह को अलंकार माना गया है।

एकरूपेण द्वयोरुल्लेखयोरनुगमं दर्शयति—

एवं च 'लक्षणद्वयान्यतरत्वमुल्लेखसामान्यलक्षणतावच्छेदकम्' इत्याहुः। परे तु 'प्रकारद्वयेऽपि वर्ण्यवृत्तित्वेन भासमानप्रकारसमुदाय एवोल्लेखः' इत्यपि वदन्ति।

उक्तरीत्या द्वयोरुल्लेखयोः पृथग्लक्षणकरणेऽपि लक्षणान्यतरत्वेन रूपेणानुगमः सम्भवति। यदि तु अन्यतरत्वस्य गुरुत्वम् दुर्ज्ञेयत्वं च विभाव्यते तदा 'अनेकैर्ग्रहीतृभिः' 'अन्यथापि ग्रहीत्रनैक्ये' इत्यंशद्वयं लक्षणघटकं निरस्य वर्ण्यनिष्ठैकवस्तुगतप्रकारसमुदायस्य ग्रहीतृ-विषयाश्रयाद्यनेकत्वप्रयुक्तस्योल्लेखत्वमसाधारणलक्षणत्वमङ्गीकार्यम्। स्वीकार्यं च सर्वत्र प्रकारसमुदायस्यैव चमत्कारित्वमिति भावः। तथा चैकविध एवोल्लेख इति सारांशः।

दोनों उल्लेखों का एक रूप से अनुगम करने की रीति दिखलाई जाती है—एवं च इत्यादि। ऐसी स्थिति—जब कि एक जगह ज्ञानों और दूसरी जगह प्रकारों में चमत्कार अनुभूत होने के कारण दो तरह के उल्लेख माने गए—दो तरह के लक्षण किए गए—में 'इन दोनों लक्षणों में से किसी एक का होना' यदि उल्लेख-सामान्य लक्षण का अवच्छेदक (परिचायक) धर्म मान लिया जाय तब अनुगम हो सकता है यह कुछ लोग कहते हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि—एक तो 'अन्यतरत्व (दो में से एक का होना)' परिष्कार-पद्धति के अनुसार गौरवग्रस्त वस्तु है दूसरे 'अन्यतरत्व' के स्वरूप का ज्ञान होना भी कठिन है, अतः दो लक्षण करके उसको एकरूप से कहने का प्रयास असंगत है, अपि तु दोनों उल्लेखों के भेद को मिटा कर एक लक्षण कर लेना—एक प्रकार का उल्लेख मान लेना—ही समुचित है, अर्थात् 'ज्ञाताओं, विषयों, आश्रयों आदि की अनेकता के कारण होने वाले एक वस्तु के अनेक प्रकार उल्लेख हैं' एक यही लक्षण—फलतः एक ही उल्लेख—मानना चाहिए और सर्वत्र प्रकारांश में ही चमत्कार मान लेना चाहिए—पहले जो प्रथम उल्लेख में ज्ञान को और द्वितीय उल्लेख में प्रकार को चमत्कारोत्पादक मानते थे उस मान्यता को छोड़ देना चाहिए।

व्यङ्ग्यमुल्लेखं निरूपयितुमाह—

अथोल्लेखस्य ध्वनिः—

उल्लेखालंकारध्वनिर्निरूप्यतेऽत्रारभ्यत इति भावः।

व्यङ्ग्य उल्लेख का निरूपण करने के लिये कहा जाता है—अथ इत्यादि। अब उल्लेखालंकार की ध्वनि का निरूपण आरब्ध समझिए।

व्यङ्ग्यमुल्लेखमुदाहर्तुमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'अनल्पतापाः कृतकोटिपापा गदैकशीर्णा भवदुःखजीर्णाः।
विलोक्य गङ्गां विचलत्तरङ्गाममी समस्ताः सुखिनो भवन्ति॥'

कविर्गङ्गां वर्णयति—अनल्पः आधिकः तापो येषाम् ते, बहुतापा इति यावत्, कृतानि कोटिसंख्यकानि पापानि यैस्ते, गदैः प्रधानरोगैः शीर्णाः खिन्नाः तथा, भवस्य संसारस्य, दुःखैः क्रोधादिभिः, जीर्णाः जर्जरमनसः इति, अमी, समस्ताः सर्वेऽपि अमी लोकाः, विचलन्तः चञ्चलीभवन्तः, तरङ्गा यस्याम् तादृशीम्, गङ्गाम्, विलोक्य, सुखिनः, भवन्तीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अनल्प इत्यादि। गङ्गा का वर्णन है—अत्यधिक ताप वाले, करोड़ों पाप करने वाले, प्रधान रोगों से गलिताङ्ग और संसार के दुःखों (कामक्रोध आदि) से जर्जरित, ये सब के सब—लहराती हुई गङ्गा को देखकर सुखी होते हैं।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धोदीरितानां चतुर्णां विलोकनकर्तॄणाम्। सुखित्वोक्त्या क्रमेण ताप-पाप-रोग-भव-नाशकत्वप्रकारकाणि ग्रहणान्याक्षिप्यन्ते।

'अनल्प—' इतिश्लोके पूर्वार्धवर्णितचतुर्विधगङ्गादर्शकजनसमवेतसुखवर्णनेन क्रमशः ताप-पाप-रोग-भव-नाशकत्वप्रकारकज्ञानसमूहः (अर्थात् अनल्पतापजनकर्तृकं तापनाशकत्वप्रकारम्, कृतकोटिपापजनकर्तृकं रोगनाशकत्वप्रकारकम्, गदशीर्णजनकर्तृकम् रोगनाशकत्वप्रकारकम्, तथा भवदुःखजीर्णजनकर्तृकम् भवनाशकत्वप्रकारकम् गङ्गाविशेष्यकं ज्ञानम्) उल्लेखालङ्कारत्वपर्यवसायी व्यज्यते इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'अनल्पतापाः—' इस पद्य में पूर्वार्धवर्णित 'चारों प्रकार के दर्शकों के सुखी होने की बात' से चारों ज्ञाताओं द्वारा किए गए 'गङ्गा ताप-नाशिनी है, गङ्गा पापनाशिनी है, गङ्गा रोगनाशिनी है तथा गङ्गा संसारनाशिनी है—' ये चार प्रकार के ज्ञान ध्वनित होते हैं और ऐसे ज्ञानों का समूह ही 'उल्लेख' है, अतः यह पद्य उल्लेख-ध्वनि का उदाहरण होता है।

विशेषमाह—

अयं च शुद्धस्योल्लेखस्य ध्वनिः।

'अनल्पतापाः—' इत्यत्र ध्वन्यमानः उल्लेखः शुद्धः अलङ्कारान्तरामिश्रितत्वादिति भावः।

शुद्ध (अन्य अलंकार से अमिश्रित) उल्लेखालंकार की यह ('अनल्प—' इस पद्य में दिखाई गई) ध्वनि है।

सङ्कीर्णोल्लेखध्वनिमुदाहर्तुमाह—

सङ्कीर्णस्य यथा—

अलङ्कारान्तरमिश्रितस्योल्लेखालङ्कारस्य ध्वनिर्यथेति भावः।

अन्य अलङ्कार से मिश्रित उल्लेख अलङ्कार की ध्वनि, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'स्मयमानाननां तत्र तां विलोक्य विलासिनीम्।
चकोराश्चञ्चरीकाश्च मुदं परतरां ययुः॥'

[illegible]—चकोराः स्वनामख्याताः पक्षिविशेषाः, चञ्चरीकाः भ्रमराः, ते, तत्र क्वचित् स्थानविशेषे, स्मयमानम् सस्मितम्, आननम् मुखं, यस्यास्ताम्, ताम् अनुभूतां प्रसिद्धां वा, विलासिनीम् कामिनीम्, विलोक्य, परतराम् अत्युत्तमाम्, मुदम् हर्षम्, ययुः प्राप्तवन्त इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—स्मयमान इत्यादि। वहाँ (किसी स्थानविशेष में) मन्दहासयुक्त मुखवाली उस विलासिनी को देखकर चकोर तथा भ्रमरों ने परम हर्ष प्राप्त किया।

उपपादयति—

अत्र ध्वन्यमानया एकैकग्रहणरूपया भ्रान्त्या तदुभयसमुदायात्मा उल्लेखः सङ्कीर्णः।

एकैकेति । चन्द्रत्वेन कमलत्वेन च ग्रहणेत्यर्थः । तदुभयेति । भ्रमद्वयेत्यर्थः । 'स्मयमानाननाम्—' इति श्लोके चकोराणाम् मधुकरीकाणाञ्च सस्मितमुख-कामिनी-विलोकन-जन्य-मुदाभिवर्णनेन सस्मिते कामिनीमुखे चकोराणां चन्द्रत्वभ्रमः, मधुकरीकाणाञ्च कमलत्व-भ्रमो व्यज्यते । तौ च भ्रमौ भ्रान्तिमदलङ्काररूपौ, तयोरुभयोः समूहश्च नानाकर्तृकैकविशेष्यकानेकप्रकारकज्ञानसमुदायरूपतया उल्लेखालङ्काररूपः । एवञ्च भ्रान्तिमद-लङ्कारसङ्कीर्णोल्लेखालङ्कारध्वनेरुदाहरणमिदं पद्यं सम्पन्नम् इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । अभिप्राय यह है कि—'स्मयमानाननाम्—' इस पद्य में जो सस्मित मुखवाली कामिनी के अवलोकन में चकोरों तथा भ्रमरों के हर्ष की प्राप्ति वर्णित है उससे नायिका-मुख में चकोरों का चन्द्र-भ्रम तथा भ्रमरों का कमल-भ्रम—ये दोनों भ्रम—अभिव्यक्त होते हैं । ये दोनों ही भ्रम पृथक् पृथक् रूप में तो 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार हैं और इन दोनों भ्रमों का समूह अभिव्यक्त होकर 'उल्लेख' अलङ्काररूप होता है, क्योंकि भ्रमों का यह समूह अनेक व्यक्ति द्वारा किया गया एक वस्तु के विषय में अनेक-प्रकारक ज्ञानरूप है ही । अतः यह पद्य 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार से मिश्रित 'उल्लेख' अलङ्कार की ध्वनि का उदाहरण होता है ।

आशङ्क्य समाधत्ते—

न चात्र भ्रान्तेरेव चमत्कार इति शक्यापह्नव उल्लेखः । अनेककर्तृकाने-कधाग्रहणस्यालङ्कारान्तरविविक्तविषयस्य चमत्कृतेरिहापि सत्त्वात् ।

शक्यापह्नव इति । नैवात्रोल्लेखोऽस्तीत्यर्थः । समाधत्ते—अनेकेति । विविक्तविषय-स्येति । अनेकधाग्रहणस्य विशेषणमेतत् । अलङ्कारान्तरेभ्यो विविक्तः पृथग्भूतो विषयो यस्य तस्य तादृशस्येत्यर्थः । अन्यत्वं ग्रहणपदोत्तरषष्ठ्या अर्थतोऽवगन्तव्यमिति भावः । 'स्मयमानाननाम्—' इत्यत्रैकैकग्रहणरूपाया भ्रान्तेर्यथा चमत्कारोऽनुभवविषय-स्तथाऽनेककर्तृकैकविशेष्यकनानाप्रकारकज्ञानसमुदायात्मकस्य स्वतन्त्रस्योल्लेखालङ्कारस्य चमत्कारोऽपि अनुभवविषय इति "नात्रोल्लेखः, 'भ्रान्तिमान्' एव केवलः" इति न शङ्कु-शक्यमिति सारांशः ।

एक शङ्का और उसका समाधान किया जाता है—न चात्र इत्यादि । 'स्मयमाना-ननाम्—' इस पद्य में भ्रान्ति का ही चमत्कार है, अतः उल्लेख छिपाया जा सकता है—अर्थात् उल्लेख यहाँ है ही नहीं ऐसा कहा जा सकता है यह आप नहीं कह सकते, क्योंकि अनेक कर्ताओं द्वारा किया जाने वाला एक वस्तु में अनेक प्रकार का ज्ञान (अर्थात् उल्लेख), जिसका विषय अन्य अलङ्कारों से पृथक् है—अर्थात् जिसको उल्लेख के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहा जा सकता, उसका चमत्कार भी यहाँ स्वतन्त्र रूप से है । तात्पर्य यह कि एक-एक भ्रम के चमत्कार को लेकर भ्रान्तिमान् जैसे होगा वैसे भ्रम-समूहकृत चमत्कारविशेष को लेकर उल्लेख भी यहाँ होगा ही ।

प्रथमोल्लेखस्य शुद्धस्य सङ्कीर्णस्य च ध्वनेरुदाहरणे प्रदर्श्य द्वितीयोल्लेखध्वनि-मुदाहर्तुमाह—

द्वितीयोल्लेखस्य ध्वनिर्यथा—

द्वितीय उल्लेख की ध्वनि, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'भासयति व्योमगता जगदखिलं कुमुदिनीविकासकृति ।
कीर्तिस्तव धरणिगता सगरसुताखननभक्तिनी नगते ॥'

राजस्तुतिरियम्—हे राजन् ! तव, कीर्तिः, व्योमगता आकाशगता सती, अखिलं

समग्रं, जगत् संसारम् भासयति प्रकाशयति, तथा कुमुदिनीः, विकासयति, धरणिगता धरातलगता सती च, सगरसुतानाम् सगरराजतनयानाम् आयासम् सागरनिर्माणप्रयासम्, अफलताम् व्यर्थताम्, नयते आपयते इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भासयति इत्यादि। हे राजन्! आपकी कीर्ति आकाशव्यापिनी होकर समग्र संसार को भासित करती है तथा कुमुदिनियों को विकसित करती है और पृथिवीगत होकर सगर राजा के पुत्रों के परिश्रम को निष्फल कर रही है।

उपपादयति—

अत्राधिकरणभेदप्रयुक्तमेकस्यामेव कीर्तौ चन्द्रिकात्वसागरत्वरूपानेकविधत्वं रूपकसङ्कीर्णं ध्वन्यते।

'भासयति—' इतिश्लोके एकस्याः कीर्तेः जगद्भासन-कुमुदिनीविकासन-सगरसुताया-सवैफल्यजननकर्तृत्वेन वर्णनात् कीर्तेश्चन्द्रिकात्वसागरत्वात्मकानेकप्रकारत्वं द्वितीयोल्लेखा-त्मकम् व्यङ्ग्यं भवति, तत्र च प्रकारभेदे व्योमधरणिरूपाधिकरणभेदः प्रयोजकः। उल्लेख-श्चायं च शुद्धः रूपकसङ्कीर्णत्वात्। रूपकञ्चात्र व्यङ्ग्यमेव कीर्तिरूपोपमेये चन्द्रसागररूपोप-मानतादात्म्यारोपो बोध्यः। शुद्धद्वितीयोल्लेखध्वनिरनुदाहृतोऽपि स्वयमूहनीय इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'भासयति—' इस पद्य में आकाश तथा धरातलरूप आधार-भेद के कारण कीर्तिरूप एक वस्तु के अनेक प्रकार—'चाँदनीपन' तथा 'समुद्रपन'—(अर्थात् द्वितीय उल्लेख) ध्वनित होता है। यह उल्लेख व्यङ्ग्यरूपक से मिश्रित है। कीर्तिरूप उपमेय में चन्द्र तथा समुद्ररूप उपमानों का तादात्म्य यहाँ रूपक का स्वरूप है।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामुल्लेखालङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

[illegible] प्रतिजानीते—

[illegible]

अपह्नुतिः अपह्नुति-निरूपणम्, [illegible] इति भावः।

उल्लेख अलंकार का निरूपण कर लेने के बाद अब अपह्नुति अलंकार के निरूपण की प्रतिज्ञा की जाती है—अथ इत्यादि। अब अपह्नुति-निरूपण का आरम्भ किया जाता है।

[illegible]—

उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादा-त्म्यमपह्नुतिः।

[illegible] (मुखत्वादेः) यो निषेधः शब्द-प्रतिपादितोऽर्थबल[illegible] सामानाधिकरण्येन तदधिकरणवृत्तित्वेन, आरोप्य-माणम् [illegible], उपमानस्य चन्द्रादेः तादात्म्यम् अभेदः, अपह्नुतिः [illegible]। [illegible] मुखत्वादिनिषेधः शब्दतोऽर्थतो वा प्रतिपाद्यते [illegible] (मुखा[illegible]) चन्द्रादेरुपमानस्य तादात्म्यारोपणम् [illegible] भावः।

अपह्नुति-अलंकार-निरूपण-प्रसङ्ग में सर्वप्रथम उसका (अपह्नुति का) लक्षण किया जाता है—उपमेयतावच्छेद इत्यादि। जिस मुख आदि अधिकरण में उपमेयवृत्ति-असा-धारणधर्म (मुखत्व आदि) का निषेध शब्दतः अथवा अर्थतः किया जाता हो उसी में

रमणीयम् सुन्दरम्, विकसितम् विकासः अस्ति, मूढः मूर्खः, मुखं, ब्रूते कथयति, नेदं मुखमिति यावत्, किं तर्हि ? उद्यतपरिमलम् प्रसरत्सुगन्धम्, कुमुदम्, इदम्, अस्ति, स्तनद्वन्द्वम् कुचयुगलं, मिथ्या, स्तनद्वन्द्वकथनमसत्यम् इति यावत् (स्तनद्वन्द्वं नास्ति), किं तर्हि ? कनकनिभम् सुवर्णप्रभम्, फलयुगम्, एतत्, अतः, इयं समक्षस्थिता, रमणी कामिनी, नास्ति अपि तु, भ्रमराणां, कुलेन समूहेन, नम्या नम्रीभावं नीयमाना, सा प्रसिद्धा, लता, इयम्, अस्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—स्मितम् इत्यादि । यह मन्दहास नहीं, अपितु स्वभाव-सुन्दर विकास है । मूर्खजन इसको मुख कहता है, वस्तुतः यह सुगन्धों को बिखेरता हुआ कुमुद-पुष्प है । स्तन-युगल कहना झूठा है, यह तो सुवर्ण सी कान्ति-वाला फलयुगल है । अतः यह भ्रमर-समूह से नम्र बनाई जानेवाली रमणीय लता है, रमणी नहीं ।

अथ स्पष्टत्वाल्लक्षणसमन्वयमुपेक्ष्य भेदमुपपादयति—

इयं चानुग्राह्यानुग्राहकभावापन्नावयवकसङ्घातात्मकतया सावयवा ।

इयं चेति । उदाहृता चेत्यर्थः । अवयवकेति । बहुव्रीहिणा सङ्घातविशेषणम् । 'स्मितम्—' इतिश्लोके उपमेयतावच्छेदकीभूतानाम् स्मितत्वादीनाम् निषेधस्याधिकरणेषु स्मितादिषु उपमानानाम् विकासादीनाम् तादात्म्यस्यारोप्यमाणत्वादपह्नुतिः स्पष्टा । सा चात्र सावयवा, साध्य-साधकभावापन्नावयवकसमूहरूपत्वादिति भावः ।

यहाँ स्पष्ट होने के कारण लक्षण-समन्वय का उपपादन न करके भेद का उपपादन किया जाता है—इयं च इत्यादि । 'स्मितम्—' इस पद्य में मन्दहास आदि रमणी पर्यन्त जिन अधिकरणों में स्मितत्व आदि उपमेयतावच्छेदकों का निषेध किया जाता है उन्हीं में विकास आदि लता पर्यन्त उपमानों का तादात्म्य आरोपित होता है, अतः अपह्नुति स्पष्ट है । यह अपह्नुति भी यहाँ 'सावयवा' है, क्योंकि यह अपह्नुति ऐसी अपह्नुतियों का समूहरूप है जो परस्पर समर्थ्य-समर्थकभाव से युक्त है, अर्थात् यहाँ चारों चरणों में चार भिन्न-भिन्न अपह्नुतियाँ हैं जिनमें प्रथम तीन अपह्नुतियाँ चतुर्थ अपह्नुति का समर्थन करती हैं ।

भेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

निरवयवैषं यथा—

निरवयवा अपह्नुतिर्यथेति भावः ।

निरवयव अपह्नुति, जैसे—

[illegible]—

'श्यामं सितं च सुदृशो न दृशोः स्वरूपं
किं तु स्फुटं गरलमेतदथामृतं च ।
नो चेत् कथं निपतनादनयोस्तदैव
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः ॥'

अन्वयादिः—सुदृशः सुलोचनायाः नायिकायाः, दृशोः नयनयोः, अंशभेदेन श्यामम्, सितम् शुक्लम्, न स्वरूपम् स्वाभाविकं रूपं नास्ति, किं तु एतत् श्यामं सितं च, गरलम् विषम्, अथ अमृतं च, स्फुटम् स्पष्टम् । विपक्षे बाधकमाह—नो चेदिति । यदि एतत् श्यामं गरलम्, सितममृतं च नास्ति तदा, अनयोः दृशोः, निपतनात् तदैव पतनकाल

चित्र तौ उभे अपि अनुवाद्ये गुणीभूते तिष्ठतः। इत्थं च बहवो भेदा अपह्नुतेर्भवितुमर्हन्तीति भावः।

अपह्नुति अलङ्कार के भेद किये जाते हैं—अस्यां च इत्यादि। इस अपह्नुति में जब 'नञ् (नहीं)' आदि शब्दों द्वारा साक्षात्, अथवा 'यह दूसरे कहते हैं, मैं ऐसा नहीं कहता' इत्यादि रीति से किसी अन्य अलंकार (भ्रान्ति आदि) को मध्य में लाकर, उपमेय का निषेध ज्ञात कराया जाता है तब प्रायः वाक्य-भेद होता है, अर्थात् उपमेय का निषेध एक वाक्य में और उपमान का ताद्रूप्य दूसरे वाक्य में रहता है। पर जब वही निषेध मिष, छल, छद्म, कपट, व्याज, वपु, आत्मा आदि शब्दों से अवगत कराया जाता है तब वाक्य की एकता होती है, अर्थात् उक्त दोनों बातें एक ही वाक्य में आ जाती हैं। इसके अतिरिक्त कहीं निषेध पहले रहता है, कहीं आरोप पहले। कहीं उपमान का तादात्म्य और उपमेय का निषेध इन दोनों में से एक शब्द द्वारा वर्णित होता है, दूसरा होता है अर्थतः प्राप्त। कहीं दोनों शब्द द्वारा ही वर्णित होते हैं, कहीं दोनों अर्थ-प्राप्त ही रहते हैं। कहीं दोनों विधेय होते हैं, कहीं दोनों अनुवाद्य। इस तरह अपह्नुति के अनेक प्रकार हो सकते हैं।

सत्स्वपि पूर्वोक्तेष्वनेकेषु प्रकारेषु न ते सर्वे प्रकारा अलङ्कारत्वेन परिगणयितुमुचिता इत्याह—

परं न ते वैचित्र्यविशेषमावहन्तीत्यगणनीयाः।

प्रागुक्ताः सर्वे प्रकाराः सम्भवन्तोऽपि नालङ्कारकोटौ प्रवेष्टुं शक्नुवन्ति, वैचित्र्यविशेषानाधायकत्वात्, वैचित्र्यविशेषस्यैव चालङ्कारजीवातुभूतत्वादिति भावः।

अपह्नुति के जितने प्रकार ऊपर बताए गए हैं, उन सबों की अलंकारश्रेणी में गणना करना उचित नहीं, क्योंकि उनमें कोई विलक्षण-वैचित्र्य (चमत्कार) नहीं होता और विलक्षण-वैचित्र्य को ही अलंकार माना जाता है।

ते प्रकारा भवन्त्येव नेति शङ्कानिरासाय तेषां दिग्दर्शनं कारयति—

एवमपि विच्छित्त्यनुपदर्शने — तत्र प्रथमोक्तायां वाक्यद्वयापह्नुतौ प्रथमावयवेऽपह्नवपूर्वकत्वमुभयोः शाब्दत्वं विधेयत्वं वाक्यभेदश्च। द्वितीयावयवे तु परकृतमतमूलतोक्त्या तद्भ्रान्तिप्रतिपत्तिनिरूहिता निषेधप्रतिपत्तिरिति निषेध आर्थः। ताद्रूप्यं शाब्दम्। निषेधवाक्यभेदापह्नवपूर्वकत्वानि पूर्ववत्। चतुर्थावयवे पुनरारोपपूर्वकोऽपह्नवः। उभयोः शाब्दत्वविधेयत्वे वाक्यभेदश्च प्रथमवदेव।

'वदने विनिवेशिता भुजङ्गी पिशुनानां रसनामिषेण धात्रा।
अनया कथमन्यथाऽवलीढा नहि जीवन्ति जना मनागमन्त्राः॥'

अत्रैकवाक्यत्वं निषेधताद्रूप्ययोरार्थत्वमनुवाद्यत्वं च, निवेशनस्य विधेयत्वात्।

एवमपीति। एवमादिप्रकारोपेतेऽपीत्यर्थः। उपदर्शने इति। तत्प्रकारजातमिति शेषः। तत्र तेषां मध्ये। प्रथमेति। निषेधविधिताद्रूप्यविधाये इत्यर्थः। अपह्नवेति। निषेधस्य प्राथम्यादिति भावः। उभयोः ताद्रूप्यनिषेधयोः। एतत्पदार्थमेवोपदर्शयन्नाह—विधेयत्वमिति। द्वितीयेति। वस्तुमिति पादप्रतिपाद्य इत्यर्थः। तुल्यत्वेऽप्यन्ये। तदेवाह—परकृतेति। तद्वेति। अभ्रमेत्यर्थः। भ्रान्तीति। भ्रान्तिमदलङ्कारेत्यर्थः। प्रतिपत्तीति। ज्ञानविशेषेत्यर्थः। पूर्ववदिति। प्रथमप्रकारवदित्यर्थः। स्तनदनमिति पादप्रतिपाद्य-[illegible] द्वितीयेन तुल्यत्वात्तदुपेक्ष्याह—चतुर्थेति। स्वीतिपादप्रतिपाद्य इत्यर्थः। पुनःशब्दो [illegible]। आरोपपूर्वक इति। उपमानताद्रूप्यस्य प्राथम्यादिति भावः।

'सङ्ग्रामाङ्गणसम्मुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वर-
व्यादीर्णीकृतमध्यभागविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा ।
अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन् सद्यो जगन्मण्डलं
मार्तण्डोऽयमुदेति केन पशुना लोके शशाङ्कीकृतः ॥'

अत्र च विरहिजनवाक्ये नायं शशाङ्कः, अपि तु सच्छिद्रो मार्तण्ड इति-च्छायामात्रमपह्नुतेः, न त्वपह्नुत्यलङ्कारः । तज्ज्ञानस्य दोषविशेषजन्यत्वेनानाहार्यत्वात्, किं तु भ्रान्त्यलङ्कार एव ।

'अलिर्मृगो वा नेत्रं वा यत्र किञ्चिद्विभासते ।
अरविन्दं मृगाङ्को वा मुखं वेदं मृगीदृशः ॥'

इत्यत्र मुखमरविन्दं वेति कविनिष्ठाहार्यसंशये मुखनिषेधसामानाधिकरण्येन विषयीभवतोऽरविन्दतादात्म्यस्य निश्चयविषयत्वाभावान्न सङ्ग्रहः । न चात्र विषयनिषेधस्यापदार्थत्वं शङ्क्यम्, वाशब्दार्थत्वात् ।

आरोप्यमाणपदस्यार्थं विवृणुते—अत्र च लक्षणे इति । निश्चये आहार्यत्वनिवेशफलमाह —तेनेति । सङ्ग्रामेति । सङ्ग्रामाङ्गणे युद्धभूमौ, सम्मुखाहताः सम्मुखयुद्धेन मृताः, ये, कियन्तः कतिपये, विश्वम्भराधीश्वरा धरापतयः, तैः, व्यादीर्णीकृतेन विदारितेन, मध्यभागेन, यद् विवरम्, तस्मात्, उन्मीलन् प्रकाशमानः, नभोनीलिमा आकाशनैल्यगुणो यस्य तादृशः, तथा, अङ्गारप्रखरैः अङ्गारवत्तीक्ष्णैः, करैः किरणैः, जगन्मण्डलम्, सद्यः साक्षात्, कवलयन् भक्षयन्, अयं प्रत्यक्षं दृश्यमानः, मार्तण्डः सूर्यः, उदेति, केन पशुना लक्षणया पशुवदज्ञानेन, लोके, अयम्, शशाङ्कीकृतः शशाङ्कश्चन्द्रः स यो न भवति तं तथा कः कृतवानित्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति । संग्रामेतिपद्य इति तदर्थः । छायामात्रम् सादृश्यमात्रम् । तज्ज्ञानस्येति । सच्छिद्रमार्तण्डज्ञानस्येत्यर्थः । दोषविशेषेति । विरहेत्यर्थः । अनाहार्यत्वात् इति । [illegible] भावः । विरहिजनोक्ते 'सङ्ग्राम—' इति-श्लोकवाक्ये 'नायं चन्द्रः [illegible]' इत्याकारकोऽपह्नवो [illegible] प्रतीयते, तथापि वस्तुतो नापह्नवः, मार्तण्डतादात्म्यनिश्चयस्य [illegible] । तथा च दोषविशेषजन्यस्य सादृश्यमूलकस्य उपमेये उपमानभ्रमस्य सत्त्वाद् भ्रान्तिमान् अलङ्कार एवात्रेति सारांशः । आरोप्यमाणपदार्थकुक्षौ ज्ञानत्वमपहाय निश्चयत्वस्य निवेश्यमानस्य फलमाह —[illegible] । [illegible] इति नेदं [illegible] । [illegible] 'अलि—' इत्यत्रापि 'मुखम् कमलम् वा' इत्याकारकं [illegible] ज्ञानं [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] में आए हुए 'आरोप्यमाण' पद के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए इसका फल दिखलाते हैं—अत्र च इत्यादि । इस अपह्नुति-लक्षण में 'आरोप्यमाण—अर्थात् आरोपित किया [illegible]' शब्द का अर्थ है '[illegible] का विषय किया जाना ।' तात्पर्य यह कि वह पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसका निश्चय अपनी इच्छा से वक्ता ने ([illegible]) कर लिया हो । उक्त पद का ऐसा अर्थ करने का फल यह हुआ कि 'संग्रामाङ्गण अर्थात् समरभूमि में सम्मुख मारे गए कितने ही राजाओं द्वारा विदीर्ण किए गए मध्यभाग

अपह्नुति में भी वैसा ही रहता है जैसा रूपक में, अतः अपह्नुति को भी रूपक का ही भेद कह दीजिए और प्राचीनों का मुँह जोहना छोड़ दीजिए। यदि आप निषेधपूर्वक आरोप में विलक्षण चमत्कार अनुभूत होने की बात कहकर उक्त प्रतिबन्दी से बचना चाहें तो बच सकते हैं, पर अन्य आपत्ति से नहीं बच सकते—अर्थात् 'प्रकृतस्य निषेधेन—' इस पूर्वोद्धृत चित्रमीमांसागत आपके लक्षण की अव्याप्ति यहाँ हो ही जायगी, तात्पर्य यह कि जब आप 'नायं सुधांशुः—' को अपह्नुति का भेद मानते हैं—तब उसमें आपका सामान्य अपह्नुति-लक्षण संघटित हो यह उचित है, पर ऐसा होता नहीं—यह दोष आपके मत में होगा ही। इतना ही नहीं, यदि आप 'नायं सुधांशुः—' में 'पर्यस्तापह्नुति' कहते हैं, तब उसी पर्यस्तापह्नुति में चित्रमीमांसागत आपका 'बिम्बाविशिष्टे—' यह रूपकलक्षण जो रूपक-प्रकरण में व्याख्यात हो चुका है—अतिप्रसक्त हो जायगा, क्योंकि वहाँ उपमान का निषेध होने पर भी उपमेय का निषेध नहीं हुआ है। इतने पर भी 'चित्रमीमांसा' में प्राचीनों के मत के अनुसार रूपक का लक्षण किया गया है और 'कुवलयानन्द' में रत्नाकर, दण्डी आदि के अनुसार इस भेद को अपह्नुति कहा गया है इस तरह किसी प्रकार समन्वय किया जा सकता है। यहाँ नागेश का कथन है कि—'सामञ्जस्यं' के बाद कुछ ग्रन्थ त्रुटित है, जो किसी भी पुस्तक में उपलब्ध नहीं होता।

भेदान्तरमुदाहरति—

'अनल्पजाम्बूनददानवर्षं तथैव हर्षं जनयञ्जनेषु।
दारिद्र्य-घर्म-क्षपणक्षमोऽयं धाराधरो नैव धराधिनाथः ॥'

कविः कमपि राजानं स्तौति—जनेषु लोकेषु, अनल्पं प्रभूतं, यज्जाम्बूनददानम् सुवर्ण-वितरणम्, स एव वर्षः वृष्टिः, तम्, तथैव, हर्षम् सुखम्, जनयन् सम्पादयन्, अयम् वर्णनीयः पुरुषविशेषः, दारिद्र्यरूपस्य घर्मस्य रौद्रस्य, क्षपणे नाशने, क्षमः समर्थः, धाराधरः मेघः, अस्ति, धराधिनाथः वसुधाधिपः (राजा) नैव, अस्तीत्यर्थः।

अपह्नुति का अन्य भेद उदाहरण द्वारा दिखलाया जाता है—अनल्प इत्यादि। कवि किसी राजा के विषय में कहता है—मानवों में अत्यधिक सुवर्णदान-रूप वृष्टि तथा हर्ष उत्पन्न करता हुआ यह दरिद्रता-रूप ताप के नाश करने में समर्थ मेघ है, राजा नहीं।

भेदं स्फुटयति—

सावयवारोपेयमपह्नुतिः।

'अनल्प—' इतिश्लोके दाने वर्षारोपेण 'धराधिनाथो न किन्तु धाराधरः' इत्यपह्नुतिः सावयवारोपा (अवयवारोपसहिता, [illegible]) व्यवह्रियत इति भावः।

भेद का स्पष्टीकरण किया जाता है—सावयवा इत्यादि। 'अनल्प—' इस पद्य में जो अपह्नुति है वह सावयवारोपा (अवयवांश में आरोपसहिता) कही जाती है। सारांश यह कि—यहाँ 'दानवर्षं' इस अवयव-भाग में आरोप हुआ है—अर्थात् दान में वृष्टि-भाव आरोपित है (फलतः रूपक है), अतः 'राजा नहीं, किन्तु मेघ है' यहाँ की यह अपह्नुति 'सावयवारोपा' कही जाती है।

पुनर्भेदान्तरमाह—

आरोपगर्भापह्नवे परम्परिताप्येषा सम्भवति।

आरोपेति। आरोपगर्भेत्यादिः। [illegible] अपह्नुत्यवयवांशे यत्र आरोपोऽन्यस्यारोपस्य [illegible], साऽपह्नुतिः परम्परिता [illegible] इति भावः।

पुनः अन्य भेद किया जाता है—आरोप इत्यादि। जिस अपह्नुति के अवयवांश में

ऐसे दो आरोप हों जिनमें एक दूसरे का उपायभूत रहे तब यह अपह्नुति परम्परिता भी हो सकती है ।

उदाहर्तुमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'मनुष्य इति मूढेन खलः केन निगद्यते ।
अयं तु सज्जनाम्भोजवनमत्तमतङ्गजः ॥'

केन, मूढेन, खलः दुष्टो जनः, 'मनुष्यः' इति पदेन, निगद्यते कथ्यते । मनुष्यो न, अपि तु अयम् सज्जनसमूहरूपस्य, अम्भोजवनस्य कमलपुञ्जस्य, कृते, मत्तः, मतङ्गजः हस्ती, अस्तीत्यर्थः । अत्र सज्जनसमूहेऽम्भोजवनत्वारोपः खले मतङ्गजत्वारोपस्योपाय इति परम्परिताऽस्या अपह्नुतेर्बोध्या ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—मनुष्य इत्यादि । कौन मूर्ख 'दुष्ट' को मनुष्य कहता है । यह तो सज्जनरूप कमल-वन के लिये मत्त हाथी है—जैसे मत्त हाथी कमलवन को तोड़-फोड़कर विनष्ट कर देता है वैसे ही दुष्ट सज्जन को नष्ट कर देता है । यहाँ दुष्ट में हाथीपन के आरोप का उपायभूत है सज्जनों में कमल-वन-भाव का आरोप, अतः 'मनुष्य नहीं, हाथी है' इस अपह्नुति का व्यवहार 'परम्परित' शब्द से किया जाता है ।

अपह्नुतिध्वनिमुदाहर्तुमाह—

अस्याश्च ध्वनिर्यथा—

अस्या अपह्नुतेः ।

अपह्नुति की ध्वनि जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'दयिते रदनत्विषां मिषादयि ! तेऽमी विलसन्ति केसराः ।
अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः ॥'

व्याख्यातमिदं प्राक् (११४ पृष्ठे) ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—दयिते इत्यादि । (इसका अर्थ ११४ पृ. में देखें) ।

उपपादयति—

अत्र 'नैता रदनत्विषः, किंतु किञ्जल्कपरम्पराः । न चैतेऽलकाः, अपि त्वलयः' इति पूर्वोत्तरार्धाभ्यां द्वे अपह्नुती वाच्यतयैव निवेदिते । ताभ्यां च 'न त्वं नारी, किं तु कमलिनी' इति तृतीयापह्नुतिर्व्यञ्जनव्यापारेण प्राधान्येन निवेद्यते, तदवच्छिन्नवस्तुनिष्ठारोपयोस्तन्निष्ठारोपनिर्वर्तकत्वस्य न्याय्यत्वात् । तुल्ययोगिता तु गुणतया स्थिता ।

तावत् आदौ । अप्राधान्ये ध्वनित्वाभावादाह—प्राधान्येनेति । तदिति । अवच्छेदार्थः । ननु [illegible] प्राधान्येन कथं ध्वनित्वम् [illegible] तुल्ययोगिता [illegible] इति । 'दयिते' इति श्लोके रदन[illegible] [illegible] एका अपह्नुतिः पूर्वार्धेन, [illegible] [illegible] च द्वितीया अपह्नुतिः द्वितीयार्धेन, [illegible] बोध्यते । [illegible] [illegible] 'न त्वं नारी, किन्तु कमलिनी' [illegible] तृतीयाऽपह्नुतिर्व्यज्यते । एतत्तृतीयापह्नुतिव्यञ्जकं प्रथमद्वितीयापह्नुतिद्वयम् [illegible]

ध्वन्यते। पुनः विष्णोरीदृशं रूपं न भवितुमर्हतीत्यभिप्रायवत्या परनायिकया तदुभयविलोपन-पूर्वकं कराधिकरणकपुष्पधनुरादिनिर्माणवर्णनेन 'नायं विष्णुरपि, अपि तु कामदेवः' इत्याका-रिकाऽपराऽप्यपह्नुतिर्ध्वन्यत इति। इति।

खण्डन करने के लिये दीक्षितजी का मत उद्धृत किया जाता है—यत्तु इत्यादि। अप्पयदीक्षित ने अपह्नुति-ध्वनि के विषय में कहा है कि—" 'चक्राभिघाते—अर्थात् उत्कण्ठा से चञ्चल बनी कृशाङ्गी नायिका द्वारा रचित तेरे चित्र में दूसरी नायिका सुदर्शन-चक्र (उसका चित्र) बनाकर गरुड़ बना रही है। और तीसरी नायिका—जिसके हाथों में प्रस्वेद आ रहे थे (इससे चित्र को मिटाने की योग्यता सूचित होती है) हाथ से चक्र और गरुड़ को मिटाकर हाथ में पुष्पमय धनुष तथा ऊपर मकर लिख रही है।' (यह किसी नायक का कविकृत वर्णन है।) इत्यादि में अपह्नुति-ध्वनि का उदाहरण देना चाहिए, क्योंकि यहाँ किसी नायिका-द्वारा चक्र तथा गरुड़ के चित्रण का वर्णन होने से 'यह साधारण पुरुष नहीं, किंतु विष्णु है' यह अपह्नुति ध्वनित होती है और पुनः अन्य नायिका द्वारा 'विष्णु का भी ऐसा रूप नहीं हो सकता' इस अभिप्राय से 'बीच चक्र तथा गरुड़ दोनों को मिटाकर पुष्पमय धनुष और मकररूप ध्वजा के चित्रण का वर्णन होने से 'यह विष्णु भी नहीं, किंतु कामदेव है' यह अपह्नुति भी ध्वनित होती है।"

खण्डयन्ति—

तदेतदापातरमणीयम्। यत्तावदुक्तं—'चक्रसुपर्णलेखनेन नायं साधारणः पुरुषः, किन्तु पुण्डरीकाक्षः' इति कथंचिद् व्यञ्जितमिति। तत्रापह्नुतेर्द्वौ भागौ—उपमेयनिषेधः, उपमानारोपश्चेति। तयोस्तावदुपमानारोपभागः पुण्डरीकाक्षोऽय-मित्याकारश्चक्रसुपर्णलेखनेनाभिव्यङ्क्तुं शक्यः, चक्रसुपर्णयोस्तदसाधारणचिह्नत्वात्। न तु नायं साधारणः पुरुष इत्युपमेयनिषेधभागोऽपि, व्यञ्जकस्यारोपमात्रव्यञ्जन-समर्थस्य तादृशनिषेधव्यञ्जने सामर्थ्याभावात्। नाप्यनुभवसिद्धः सः, येन तद्व्यञ्जनोपायो गवेष्येत। नापि गवेष्यमाणोऽपि तद्व्यञ्जनोपायः शब्दोऽर्थो वा उपलभ्यते, येनानुभवकलहोऽपि स्यात्। न च साधारणपुरुषनिषेधमन्तरेण पुण्डरीकाक्षतादात्म्यारोपो दुर्घट इति सोऽपि व्यज्यत इति वाच्यम्, रूपको-च्छेदापत्तेः। मुखं चन्द्र इत्यादौ मुखनिषेधमन्तरेण चन्द्रत्वं दुरारोपमित्यस्यापि सुवचत्वात्। तत्रापि मुखनिषेधावगमे जितमपह्नुत्या।

अथ मुखं चन्द्र इति रूपके मुखत्वसामानाधिकरण्येन चन्द्रतादात्म्यस्यारोप्य-माणतया न मुखनिषेधावगतिरिति चेत्, प्रकृतेऽपि तर्हि तादृशसाधारणपुरुषत्व-सामानाधिकरण्येन पुण्डरीकाक्षतादात्म्यारोपणादसौ राजा पुण्डरीकाक्ष इत्याकारकरूपकमेव भवितुमर्हति, नापह्नुतिः।

यदपि चोच्यते 'नायं पुण्डरीकाक्षः, अपि तु मन्मथः' इत्यादि। तत्र यद्यपि चक्रसुपर्णदूरीकरणेन नायं पुण्डरीकाक्ष इति निषेधः, पुष्पचापध्वजात्मकमकरा-लेखनेन च मन्मथोऽयमित्युपमानारोपश्च व्यङ्क्तुं शक्यते, तथापि नायमपह्नुतिः। 'प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्' इति तल्लक्षण-स्यात्राभावात्। अत्र हि निषेध्यस्य भगवतः पुण्डरीकाक्षस्याप्रकृतत्वेना-प्रकृततया प्रकृतनिषेधाभावात्। यदि पूर्वारोपितत्वमात्रेण प्रकृतत्वं वक्तुं शक्यम्। प्रकृतपदस्यारोपविषयपरतया 'निषिध्य विषयम्' इत्यादिना सर्वालङ्कार-फलं भुवता भवतैव तस्य स्फुटीकरणात्। काव्यप्रकाशकृतापि 'प्रकृतं यन्निषिध्या-

न्यस्साध्यते सा त्वपह्नुतिः' इति सूत्रं व्याचक्षाणेन 'उपमेयमसत्यं कृत्वा' इत्यादिना प्रकृतपदस्योपमेयपरतयैव व्याख्यानाच्च।

प्राचीनमतसिद्धेयमपह्नुतिर्व्यङ्ग्यत्वेनास्माभिरिहोच्यत इत्यपि कुशकाशावलम्बनमात्रम्, 'प्रकृतस्य निषेधेन' इत्यादिलक्षणं कुर्वता भवतैव तस्या बहिष्करणात्।

एवमप्युक्तपद्ये कोऽलङ्कारो व्यङ्ग्य इति चेत्? विच्छित्तिवैलक्षण्येऽतिरिक्तः, अन्यथा त्वपह्नुतिरेवास्तु। लक्षणं तु तदा प्रसक्तयत्किञ्चिद्वस्तुनिषेधसामानाधिकरण्येन क्रियमाणवस्त्वन्तरारोपत्वमेव। तस्मात् सर्वमेवेदमहृदयङ्गमं सहृदयानाम्।

तदेतदिति। पूर्वोक्तं दीक्षितमतमित्यर्थः। आपातरमणीयं बहिःसुन्दरम्। वस्तुतो दुष्टमिति यावत्। प्रथममंशविशेषमनूद्य खण्डयति—यत्तावदिति। तत्रेति। उच्यत इति शेषः। तत्सम्बन्धित्वादिति। पुण्डरीकाक्षसम्बन्धित्वादित्यर्थः। भागोऽपीति। अभिव्यङ्क्तुं शक्य इत्यनुषङ्गः। व्यञ्जकस्येति। चक्रसुपर्णलेखनस्येत्यर्थः। नन्वेवं कथं तदनुभवोऽत आह—नापीति। स इति। तादृशनिषेधभाग इत्यर्थः। उक्तपद्य इति शेषः। शब्देनेत्यभिधयेत। ननु विनिगमनाविरहोऽत आह—नापीति। उपलभ्यत इति। प्रकृतपद्य इति शेषः। अनुभवकलह इति। 'निषेधभागो नानुभूयते' इति वदता मया सह 'अनुभूयत एव स भागः' इतिवदतस्तवानुभवविषयको विवाद इत्यर्थः। निषेधभागाभिव्यक्तेः स्वीकरणीयत्वे युक्तिं शङ्कते—न चेति। दुर्घट इति। तज्ज्ञानस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वादिति भावः। सोऽपीति। निषेधभागोऽपीत्यर्थः। अनुपपत्त्येति भावः। समाधत्ते—रूपकोच्छेदेति। कथं तदुच्छेदः, 'मुखं चन्द्रः' इत्यादौ सावकाशत्वादित्यत्राह—मुखं चन्द्र इति। ननु तत्रापि तत्स्वीकारोऽत आह—तत्रापीति। [illegible] तदुच्छेदापत्तिरिति भावः। बाधज्ञानमाहार्यज्ञाने न प्रतिबन्धकमित्याशयेनाह—अपीति। सामानाधिकरण्येनेति। [illegible]। अत्र 'न त्ववच्छेदकावच्छेदेन' इति [illegible] व्याख्यानं तु न सुसङ्गतं प्रतिभाति, अप्रासङ्गिकत्वादिति सुधीभिराकलनीयम्। आरोप्यमाणतयेति। आहार्यज्ञानविषयीक्रियमाणतयेत्यर्थः। पूर्वोक्तं 'लावण्यौकसि—' इति पद्यस्यापह्नुतिध्वन्युदाहरणताकथनं न युक्तम्, यतस्तत्र प्रथमापह्नुतेर्ध्वननं न सम्भवति [illegible] रहितमभागस्य [illegible] [illegible] नत्वभिव्यक्तत्वात्। ननु कुतोऽव्यङ्ग्यत्वं तद्भागस्येति चेत्? व्यञ्जकाभावादिति बोध्यम्। [illegible] उदासीनतया तद्ग्रहणे [illegible], [illegible]। उपमेयनिषेधसामानाधिकरण्येनारोपः सम्भवत्येव नेति [illegible], तथाङ्गीकारे रूपकविरोधात्। तथा [illegible] उपमेयतावच्छेदकरूपप्रकारेणोपमानतादात्म्यावगमात् रूपकध्वनिरेव, अपह्नुतिध्वनिरेवेति तात्पर्यं बोध्यम्। द्वितीयापह्नुतिर्ध्वनेः [illegible] न सम्भवतीत्याह—अपीति। ननु निषेधसामानाधिकरण्येनोपमानतादात्म्यारोपसत्त्वात्कथं तदभावोऽत आह—अथ हीति। ननु पूर्वमारोपितत्वात्प्रकृत एव सोऽत आह—नहीति।

ह्नुतिर्ध्वनिरुदाहृत इति न सम्भाव्यते । प्रकाशविरोधपरिहारोऽपि नागेशकृतो विचारणीय एव । यतः कारिकायां 'प्रकृत'-पदं विवरणे चोपमेयपदं स्पष्टमुल्लिखतः, उपमानोपमेयभावस्थल एव चापह्नुतिभेदानुदाहरतो मम्मटभट्टस्य दण्डिमतानुयायित्वं न कथमपि सिद्ध्यति । उपमेयपदस्य पदार्थोपलक्षणत्वकथनमपि मूलाक्षरस्वारस्यप्रतिकूलमेव, प्रायो नागेशातिरिक्तटीकाकारानभिमतञ्च । "'चैरीस बला मोडिय' इत्यत्रापह्नुतिर्व्यज्यते—" इत्युक्तिस्तु 'ये दण्ड्यादय ईदृशे स्थलेऽपह्नुतिमङ्गीकुर्वन्ति तेषां मतेऽपह्नुतिरपि व्यङ्ग्यत्वेनाङ्गीकर्तुं शक्या' इत्याशयेनापि सङ्गता भवितुमर्हतीति तु बहवः ।

उक्त दीक्षितमत का खण्डन किया जाता है—तदेतत् इत्यादि। ऊपर उद्धृत किया गया अप्पयदीक्षितजी का कथन आपातमनोहर है—ऊपर से सुन्दर प्रतीत होने पर भी भीतर से परम कुरूप है (दोषयुक्त) है। देखिये, प्रथमतः यहाँ कहा जा रहा है कि—"नायिका द्वारा चक्र तथा गरुड के लेखन से 'यह साधारण पुरुष नहीं, किन्तु विष्णु है' यह अपह्नुति ध्वनित होती है।" इसके सम्बन्ध में मेरा कथन है कि—अपह्नुति के दो भाग हैं—उपमेय का निषेध और उपमान का आरोप। उनमें से दूसरा भाग अर्थात् उपमानारोपभाग—जिसका आकार है 'यह विष्णु है'—चक्र तथा गरुड के लेखन से ध्वनित हो सकता है, क्योंकि चक्र और गरुड विष्णु से सम्बन्ध रखते हैं। पर 'यह साधारण पुरुष नहीं है' यह उपमेयनिषेध-भाग भी यहाँ ध्वनित होता है यह नहीं कहा जा सकता। कारण, चक्र-गरुडलेखन-रूप व्यञ्जक केवल आरोप-भाग को ध्वनित करने में समर्थ है, उक्त उपमेय-निषेध-भाग को ध्वनित करने का सामर्थ्य उस व्यञ्जक में है ही नहीं। और यहाँ उपमेयनिषेधभाग अनुभवसिद्ध भी नहीं है—सहृदयों को यहाँ उस अंश की प्रतीति होती भी नहीं, यदि वैसी प्रतीति होती रहती तब उसको ध्वनित कर सकने वाला उपाय (व्यञ्जक) खोजा भी जाता। खोजने पर भी उस भाग का व्यञ्जक शब्द अथवा अर्थ यहाँ उपलब्ध नहीं होता, यदि वह उपलब्ध होता तब अनुभव के विषय में कलह भी हो सकता—अर्थात् व्यञ्जक के उपलब्ध होने पर 'उस अंश की भी प्रतीति यहाँ होती है' इस तरह का मतभेद भी खड़ा किया जा सकता था। साधारण पुरुष का निषेध किये बिना विष्णु के तादात्म्य का आरोप हो नहीं सकता, अतः यह अंश भी ध्वनित होता है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर रूपक का उच्छेद हो जायगा—उसके लिये संसार में कहीं स्थान ही नहीं रह जायगा। कारण, ऐसी स्थिति में 'मुख चन्द्र है' इत्यादिक में मुख का निषेध किये बिना मुख में चन्द्रत्व का आरोप कठिन है—यह भी सहज में कहा जा सकेगा। यदि वहाँ भी मुख-निषेध की प्रतीति स्वीकृत कर ली जाय तब अपह्नुति का विजय हुआ और वस्तुतः रूपक निःशेष हो गया। अब यदि आप कहें कि—'मुख चन्द्र है' इस रूपक में मुखत्व के अधिकरण में ही चन्द्र-तादात्म्य का आरोप होता है—अर्थात् मुख को समझते हुए ही चन्द्र समझा जाता है, अतः यहाँ मुख के निषेध की अपेक्षा नहीं है, तो मैं कहता हूँ कि, प्रकृत में भी प्रतीत साधारणपुरुषत्व के अधिकरण में विष्णु-तादात्म्य का आरोप होता है, अर्थात् यहाँ भी साधारण पुरुष को पुरुष समझते हुए ही विष्णु समझते हैं, फलतः 'यह राजा विष्णु है' इस तरह का रूपक ही यहाँ हो सकता है, 'राजा नहीं, विष्णु है' इस तरह की अपह्नुति नहीं। यह तो हुई एक बात। दूसरी बात उन्होंने यह कही है कि—'यह विष्णु नहीं, किन्तु कामदेव है' इत्यादि। इस कथन में यद्यपि कुछ सत्यता है—अर्थात् इस अंश में यद्यपि चक्र तथा गरुड के चिह्न को पोंछ डालने से 'यह विष्णु नहीं है' यह निषेधभाग और पुष्पमय धनुष तथा ध्वज-स्थित मकर के लेखन से 'यह कामदेव है' यह आरोपभाग—इस तरह दोनों भाग ध्वनित हो सकते हैं, तथापि यह अपह्नुति नहीं है, क्योंकि 'प्रकृतस्य—अर्थात् प्रस्तुत के निषेध द्वारा

अन्य की कल्पना अपह्नुति कहलाती है।' यह आपका अपना लक्षण भी यहाँ नहीं संघटित होता—दूसरों के लक्षण की तो बात ही क्या। कारण, यहाँ जिसका निषेध किया जा रहा है वे भगवान् विष्णु वर्णनीय नहीं हैं, किन्तु राजा वर्णनीय है, अतः विष्णु के अप्रस्तुत होने के कारण यहाँ प्रस्तुत का निषेध नहीं है। आप कहेंगे जब पहले राजा में विष्णु का आरोप किया जा चुका है तब विष्णु प्रस्तुत क्यों नहीं? पर यह कथन भी ठीक नहीं, अर्थात्—केवल पहले आरोपित हो जाने से कोई पदार्थ—प्रकृत में विष्णु—प्रस्तुत नहीं कहा जा सकता। कारण, चित्रमीमांसा में आपने ही 'निषिध्य विषयम्...' इत्यादि ग्रन्थ में निषिध्य पद में आए 'क्त्वा' प्रत्यय का फल बताते हुए 'प्रकृत' पद का अर्थ 'आरोप का विषय—अर्थात् उपमेय' होता है—इस तरह स्पष्ट किया है। स्पष्ट अभिप्राय है कि चित्रमीमांसा में दीक्षितजी ने कहा—'विषय का निषेध करके (निषिध्य) साम्यमूलक अन्य का आरोप' इस तरह 'क्त्वा'प्रत्ययघटित लक्षण नहीं किया जा सकता, क्योंकि तब जहाँ पहले आरोप करके अपह्नव किया जाता है वहाँ अव्याप्ति हो जायगी। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि वे (दीक्षितजी) प्रकृत पद का अर्थ उपमेय मानते हैं। और काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी 'प्रकृतं यन्निषिध्य—' इस कारिका की व्याख्या करते हुए 'उपमेय को असत्य बनाकर—' इत्यादि कथन द्वारा 'प्रकृत' पद का अर्थ 'उपमेय' माना है। आप कहेंगे—प्राचीनों—दण्डी आदि—के मत से तो यह अपह्नुति अवश्य है, क्योंकि उनके लक्षण में उपमेय की बात नहीं है—अर्थात् उन्होंने 'अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थसूचनम्—किसी वस्तु का निषेध करके अन्य वस्तु का सूचित करना अपह्नुति है' ऐसा ही लक्षण किया है, बस, उन्हीं के मत को मानकर मैंने भी यहाँ अपह्नुतिध्वनि लिखी है। तो यह भी 'डूबते को तिनके का सहारा' जैसा ही है। कारण, 'प्रकृतस्य निषेधेन—' इत्यादि पूर्वोक्त लक्षण बनाते हुए आपने ही उस तरह की अपह्नुति का बहिष्कार कर दिया है। तात्पर्य यह कि जब आप दण्डी आदि के लक्षण को नहीं मानते तब उनके मतानुसार उदाहरण उपस्थित करना आपका कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। इतने पर भी यदि आप पूछें कि—उक्त पद्य में कौन अलंकार व्यङ्ग्य है? तो इसका उत्तर यह है कि—यदि इसमें अपह्नुति के चमत्कार से विलक्षण चमत्कार आपको अनुभूत हो तब अन्य अलंकार—अर्थात् रूपक मानिए, अन्यथा अपह्नुति ही मानिए। पर तब आपको दण्डी आदि की तरह 'प्रकृत अथवा अप्रकृत (उपमेय अथवा सदृश) पदार्थ के निषेध के साथ किया जाने वाला अन्य पदार्थ का आरोप अपह्नुति है' ऐसा ही लक्षण बनाना चाहिए। सारांश यह सिद्ध हुआ कि इन सब गड़बड़ियों के कारण ये सब कथन सहृदयों के लिए हृदयङ्गम नहीं हैं—इन बातों से सहृदयों को सन्तोष नहीं हो सकता। यहाँ सारांश कहते हैं कि—पण्डितराज का यह कथन विचारणीय है। कारण, दीक्षितजी से पूर्व दण्डी ने तो 'अपह्नुति में प्रकृत का निषेध होने' के नियम का अनादर करके 'अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थसूचनम्' यह लक्षण बनाकर उदाहरण दिया है 'न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणां यतः। चन्दनं चन्द्रिका मन्दो गन्धवाहश्च दक्षिणः। (अर्थात् कामदेव पञ्चबाण नहीं है, क्योंकि उसके हजारों बाण हैं, चन्दन, चाँदनी, चन्द्रमा और मलयानिल आदि)।'' इत्यादि आरम्भ करके 'स्वबालेयं—' यह पूर्वोक्त उदाहरण दिया है। अतः यह ध्वनि दण्डी आदि के अनुसार कथित होने के कारण अहृदयंगम नहीं है। प्रकाशविरोध भी नहीं होता, क्योंकि प्रकाश-ग्रन्थ में 'उपमेय'पद पदार्थमात्र का उपलक्षण है। अस्तु—

> 'कैसेसु बलामोडिअ तेण समरम्मि जअसिरी गहिआ।
>
> जह कन्दराहिं विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठविआ॥'

अर्थात् उसने संग्राम में बलात्कार से जयलक्ष्मी को वैसे ग्रहण किया, जैसे कि गुफाओं ने उसके विधुर (भीरुचित्त) वैरियों को अपने कण्ठ (अन्दर के हिस्से) में दृढ़तया स्थापित कर लिया)।' इस उदाहरण में 'वैरी अपने आप भाग कर नहीं गए, किन्तु गुफाएँ उनसे

पराजय की संभावना करके उन्हें नहीं छोड़तीं—यह अपह्नुति अभिव्यक्त होती है' यह प्रकाशकार का ग्रन्थ असंगत हो जायगा, क्योंकि यहाँ उपमेय का निषेध नहीं है। बहुत लोग नागेश की आलोचना करते हुए कहते हैं कि नागेश का कथन ठीक नहीं है। कारण, पहले जो उन्होंने यह समाधान दिया कि—दण्डी के मतानुसार 'स्वदालेख्ये—' यह अपह्नुतिध्वनि का उदाहरण दिया गया है, वह संगत नहीं जँचता, क्योंकि चित्रमीमांसा में दण्डी के मत का अनुवाद पहले समाप्त हो जाता है तब 'स्वदालेख्ये—' यह उदाहरण दिया जाता है और उसके आगे 'इत्यादि स्थलों पर अपह्नुतिध्वनि का उदाहरण देना चाहिए' ऐसा लिखा जाता है, जिससे सिद्ध होता है कि यह दीक्षितजी का यह अपना मत है और यह बात जँचती भी है क्योंकि जब दण्डी के लक्षण को दीक्षितजी ने नहीं माना तब उनके मत से उदाहरण कैसे वे दे सकते हैं? और यदि यह उदाहरण दूसरे के मत से दिया गया होता तब अपने मत से दूसरा उदाहरण अवश्य देते, जैसे सभी अलंकारों में देते हैं। दूसरा समाधान जो उन्होंने दिया कि प्रकाश-विरोध-परिहार वाला, वह भी सर्वथा मानने योग्य नहीं दीख पड़ता, क्योंकि जब मम्मटभट्ट ने मूल कारिका में 'प्रकृत' पद लिखा और उसकी व्याख्या में उसका अर्थ स्पष्टतः 'उपमेय' किया तथा सभी उदाहरण भी उपमानोपमेयभावस्थल में ही दिखलाए, तब उस 'उपमेय' पद को पदार्थमात्र का उपलक्षण कहकर मम्मट को वृत्तिमतानुयायी बनाना उचित नहीं, वही बात 'केसेसु—' इस पद्य में अपह्नुतिध्वनि लिखने की। सो उसका आशय इस तरह वर्णित हो सकता है कि—उक्त पद्य में 'उत्प्रेक्षाध्वनि और काव्यलिङ्गध्वनि है' और जिन—दण्डी आदि—के मत से ऐसे स्थलों पर अपह्नुति हो सकती है उनके मत से अपह्नुतिध्वनि भी समझिए।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामपह्नुत्यलङ्कारप्रकरणं समाप्तम्।

अपह्नुतिनिरूपणानन्तरमुत्प्रेक्षाप्रकरणं आरब्धव्यतया प्रतिजानीते—

अथोत्प्रेक्षाप्रकरणम्—

उत्प्रेक्षाप्रकरणमारब्धं वेदितव्यमिति भावः।

अपह्नुतिनिरूपण के बाद अब उत्प्रेक्षानिरूपण-आरम्भ करने की प्रतिज्ञा की जाती है—अथ इत्यादि। उत्प्रेक्षाप्रकरण अब आरब्ध समझना चाहिए।

तस्याः लक्षणमाह—

तद्भिन्नत्वेन तदभाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्तितद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा।

[illegible]

'निर्मि लावण्यानाम्—' इत्यादौ (अग्रे उदाहृते पद्ये) मौढ्याभाववत्त्वेन ज्ञातस्य ब्रह्मणः मौढ्यसमानाधिकरणकार्याविचार्यकारित्वात्मकधर्मसम्बन्धप्रयुक्तम् मौढ्यवत्त्वेन सम्भावनमुत्प्रेक्षा। इयं च सम्भावनं तादात्म्येतरेण समवायसम्बन्धेन इति धर्मोत्प्रेक्षा। इति।

उत्प्रेक्षा-निरूपणप्रकरण में सर्वप्रथम उत्प्रेक्षा का लक्षण किया जाता है—तद्भिन्नत्वेन इत्यादि। जिस पदार्थ का भेद जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो उस पदार्थ की, उस पदार्थ के रूप में दोनों पदार्थों में रहनेवाले किसी सुन्दर धर्म को मूल मानकर, की जानेवाली सम्भावना, अथवा—जिस धर्म का अभाव जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो उस पदार्थ में उस धर्म से युक्त होने की ऐसी सम्भावना, जो उस धर्म के साथ रहनेवाले किसी सुन्दर धर्म को निमित्त मानकर की गई हो, 'उत्प्रेक्षा' कहलाती है। अभिप्राय यह है कि—अभाव दो प्रकार के होते हैं, एक अन्योन्याभाव और दूसरा अत्यन्ताभाव। (यद्यपि अभाव के दो अन्य प्रकार भी होते हैं, पर प्रकृत में उनका कोई उपयोग नहीं, अतः उनकी चर्चा नहीं की जाती) अन्योन्याभाव उस अभाव को कहा जाता है जो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक हो—अर्थात् जिसके द्वारा 'घट पट नहीं' इत्यादि रीति से दो धर्मियों की परस्पर अभिन्नता वारित हो—जिसका व्यवहार 'भेद' शब्द से किया जाता हो, और अत्यन्ताभाव उस अभाव को कहा जाता है जो नित्य हो—अर्थात् जो जहाँ कदापि नहीं रहे वहाँ उसका अभाव—जैसे वायु में रूप का अभाव। अब प्रकृत में कहना यह है कि—इन दोनों अभावों में से किसी एक का निवेश उत्प्रेक्षालक्षण में अवश्य करना है, क्योंकि आखिर 'अन्य में अन्य की सम्भावना' को ही सभी आलङ्कारिक उत्प्रेक्षा मानते हैं, पर इन दोनों अभावों में से किसी एक का निवेश करने में कोई खास युक्ति नहीं है, अतः पण्डितराज ने दोनों अभावों का वैकल्पिक रूप में निवेश किया है। फलतः प्रथम लक्षण अन्योन्याभाव-घटित और दूसरा लक्षण अत्यन्ताभाव-घटित बनाया गया है। प्रथम लक्षण का लक्ष्य 'मुख में चन्द्र की सम्भावना' है, क्योंकि यह सम्भावना चन्द्र से भिन्नरूप में यथार्थतया ज्ञात मुख में चन्द्रवृत्ति-आह्लादकता का सम्बन्ध रहने के कारण की जाती है। यह सम्भावना 'तादात्म्य' सम्बन्ध से की जाती है, अतः 'धर्मी की उत्प्रेक्षा' कहलाती है। द्वितीय लक्षण का लक्ष्य 'ब्रह्मा में मोह की सम्भावना' है, क्योंकि यह सम्भावना उस ब्रह्मा में उस मोह की की जाती है जिसमें जिसका अभाव सदा यथार्थतया ज्ञात है और इस सम्भावना में निमित्त होता है 'मोह' के साथ सदा रहने वाला 'अविचार्यकारित्व—बिना विचारे कार्य करना' धर्म का ब्रह्मा में सम्बन्ध। यह सम्भावना 'समवाय'सम्बन्ध से की जाती है, अतः 'धर्मोत्प्रेक्षा' कहलाती है।

लक्षणघटकपदकृत्यान्याह—

'लोकोत्तरप्रभाव! त्वां मन्ये नारायणं परम्' इत्यत्र तादृशप्रभाववत्त्वस्य नारायणत्वव्याप्यत्वज्ञानाज्जातायां सामग्र्यभावेनानुमित्यनुदयाज्जायमानायां नारायणत्वेन भावनायां वितर्करूपायां सम्भावनायामतिप्रसङ्गवारणाय तद्भिन्नत्वेन प्रमितस्येति सम्भावनाया आहार्यतां गमयति।

एतेन—

'रामं स्निग्धतरश्यामं विलोक्य वनमण्डले।
प्रायो धाराधरोऽयं स्यादिति नृत्यन्ति केकिनः॥'

इत्यत्र सम्भावनायाम्, 'धाराधरधिया धीरं नृत्यन्ति स्म शिखावलाः' इत्यत्र भ्रान्तौ च नातिप्रसङ्गः।

को वन में देखकर 'प्रायः यह मेघ होगा' इस सम्भावना से मयूर नाच रहे हैं।' इस सम्भावना (अर्थात् राम में मेघ की सम्भावना) में, एवं इसी पद्य का उत्तरार्ध 'धाराधरधिया इत्यादि अर्थात् मेघ की बुद्धि (भ्रान्ति) से मयूर मन्द-मन्द नाचते रहते थे।' यों बदल दें तो इस भ्रान्ति (अर्थात् राम में मेघ की भ्रान्ति) में अतिव्याप्ति वारित हुई-अर्थात् यह सम्भावना अथवा भ्रान्ति आहार्य (बाधकालिक ज्ञानरूप) नहीं है। यदि आहार्य होती तब उससे नाचने की प्रवृत्ति मयूरों में नहीं बन सकती थी, क्योंकि बाधितार्थ-विषयक इच्छाजन्य ज्ञान से प्रवृत्ति नहीं होती। 'वदनकमलेन—अर्थात् हे बाले! जब तू मुखकमल द्वारा मन्दहास की शोभा का एक लेश धारण करती है, मैं उसी क्षण जान लेता हूँ कि इस जगह, जगत् को कामदेव ने जीत लिया—यहाँ आनेवाला कामवशीभूत हुए बिना रह नहीं सकता।' इस पद्य में जो जगत् के जय की सम्भावना वर्णित है उसमें अतिव्याप्ति को वारित करने के लिये लक्षण में 'उन दोनों पदार्थों में रहनेवाले किसी सुन्दर धर्म को निमित्त मानकर' यह अंश जोड़ा गया है। तात्पर्य यह कि उक्त सम्भावना किसी ऐसे धर्म को निमित्त मानकर नहीं की गई है, अतः इस अंश से उसका वारण हो जाता है। यद्यपि उक्त सम्भावना का निमित्त स्मित(मन्दहास)को माना जा सकता है, पर वह मन्दहासरूप धर्म साधारण नहीं है—विषय—'जगत्' और 'जीत लिया'—विषयी में से एक में भी वह नहीं रह जाता है। इसी से—'प्रायः पतेद् द्यौः—अर्थात् सम्भव है स्वर्ग गिर जाय, चन्द्र टूट जाय, पर्वतों और समुद्रोंसहित पृथ्वी विचलित हो जाय और यह तो अत्यधिक सम्भव है कि सारी दिशाएँ जल उठेंगी, क्योंकि द्रौपदी 'हाय! मरी' कहकर रो रही है।' यहाँ भी रोदन के कारणरूप 'केश पकड़ने' आदि से उत्पन्न पाप को निमित्त मानकर उठाई गई 'स्वर्ग के गिरने' आदि की सम्भावना में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि पापरूप निमित्त उभय साधारणधर्म नहीं है—अर्थात् स्वर्गपतनविषय और पतनरूप विषयी इन दोनों में से एक में भी वह (पाप) रहनेवाला नहीं होता। 'प्रायः इसे ठूँठ होना चाहिये' 'निश्चित ही यह पुरुष हो सकता है' और 'दूर खड़ा यह देवदत्त सा ज्ञात होता है', इत्यादि में क्रमशः निश्चलता, चञ्चलता और एक विशिष्ट प्रकार के आकाररूप समानधर्म को निमित्त मानकर की जानेवाली सम्भावनाओं में लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है, अतः निमित्तभूत धर्म में 'सुन्दर—अर्थात् कवि—प्रतिभा—निर्मित' विशेषण दिया गया है। उक्त धर्म ऐसे नहीं हैं, अतः तन्मूलक उक्त सम्भावनाओं को उत्प्रेक्षा नहीं कहा जा सकता। रूपक के ज्ञान में अतिव्याप्ति न हो इसलिये लक्षण में 'सम्भावना' कही गई है। रूपक का ज्ञान सम्भावनारूप नहीं, किन्तु निश्चयरूप होता है।

ननु इयमपि [illegible]

अत्र च तादात्म्येन संबन्धेन धर्म्युत्प्रेक्षायाः संसर्गान्तरेण धर्मोत्प्रेक्षायाश्च सङ्ग्राहकत्वेन लक्षणद्वयं विनिर्मितम्।

अत्र चेति। [illegible] द्विविधा। तत्र धर्म्यन्तरे [illegible] धर्मोत्प्रेक्षायां [illegible] (गगनादिः)। [illegible]

ऊपर जो कुछ कहा गया है कि 'जिस पदार्थ का ...' इत्यादि प्रथम लक्षण के [illegible] में ही, अतः 'जिस धर्म का ...' इत्यादि द्वितीय लक्षण व्यर्थ सा प्रतीत होता है इस सन्देह की निवृत्ति के लिये कहा जाता है—अत्र च इत्यादि। अभिप्राय यह है कि उत्प्रेक्षा दो प्रकार की है—एक धर्म्युत्प्रेक्षा, जिसमें एक धर्मी की दूसरे धर्मी के रूप में उत्प्रेक्षा की जाती है, और दूसरी धर्मोत्प्रेक्षा, जिसमें धर्म की धर्मी में उत्प्रेक्षा

की जाती है। धर्म्युत्प्रेक्षा तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध द्वारा होती है और धर्मोत्प्रेक्षा अन्य सम्बन्ध (समवाय आदि) द्वारा। इन दोनों उत्प्रेक्षाओं का संग्रह करने के लिये मूल में एक उक्ति द्वारा दो लक्षणों का कथन अभीष्ट है। टीका में तो दोनों लक्षण पृथक्-पृथक् लिखे गये हैं।

उत्प्रेक्षां विभजते—

सा चोत्प्रेक्षा द्विविधा—वाच्या, प्रतीयमाना च। इव, नूनम्, मन्ये, जाने, अवैमि, ऊहे, तर्कयामि, शङ्के, उत्प्रेक्षे, इत्यादिभिः कथञ्चाचारक्विबादिभिः प्रतिपादकैः सहिता यत्रोत्प्रेक्षासामग्री, तत्र वाच्योत्प्रेक्षा। यत्र च प्रतिपादकशब्दरहितं तत्सामग्रीमात्रम्, तत्र प्रतीयमाना। यत्र तत्सामग्रीरहितं प्रतिपादकमात्रम्, तत्र सम्भावनमात्रमेव, नोत्प्रेक्षा। सापि प्रत्येकं त्रिविधा—स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा चेति। तत्र जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपाणां तदभावरूपाणां च पदार्थानां तादात्म्येनेतरेण वा सम्बन्धेन जातिगुणक्रियाद्रव्यात्मकैर्धर्मैः समुदितैरुपात्तैरनुपात्तैर्निष्पन्नैर्निष्पाद्यैर्वा निमित्तभूतैर्यथासम्भवं जातिगुणक्रियाद्रव्यात्मकेषु विषयेषूत्प्रेक्षणं स्वरूपोत्प्रेक्षा। तत्राभेदेन संसर्गेण धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा, संसर्गान्तरेण धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षेति चोच्यते। उक्तविधेषु पदार्थेषु प्रागुक्तप्रकाराणां पदार्थानां तथाविधैरेव निमित्तैर्यथासम्भवं हेतुत्वेन फलत्वेन च सम्भावनं हेतूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा चोच्यते। एताश्च कश्चिन्निष्पन्नशरीराः कश्चिन्निष्पाद्यशरीराश्चेत्येवमाद्यनल्पविकल्पाः सम्पद्यन्ते। तथापि दिङ्मात्रमुपदर्श्यते।

प्रतीयमानेति। अर्थसामर्थ्यावसेयेत्यर्थः। न तु व्यङ्ग्येति भावः। एतदग्रे मूल एव स्फुटीभविष्यति। उत्प्रेक्षासामग्रीति। सा च रमणीयतद्धर्मसम्बन्धादिरूपा। प्रतिपादकशब्देति। इवादीत्यर्थः। नोत्प्रेक्षेति। अलङ्कारत्वेनेत्यर्थः। पुनरन्यथा विभजते—सापीति। एवं च द्वादश भेदाः सम्पन्ना इति भावः। स्वरूपोत्प्रेक्षादीनां स्वरूपपरिचयमाह—तत्रेति। तासां तिसृणां मध्य इत्यर्थः। द्रव्येति। संज्ञाशब्दाभिप्रायमिदम्। एकमप्रेऽपि। व्यस्तैरिति। पृथग्भूतैरित्यर्थः। समुदितैरिति। मिलितैरित्यर्थः। उपात्तैः शब्दबोधितैः। अनुपात्तैः शब्दाबोधितैः। अर्थसामर्थ्यलब्धैरिति यावत्। निष्पन्नैः स्वतः सिद्धैः। निष्पाद्यैः कल्पनया साध्यमानैः। विषयेष्विति। प्रकृतेष्वित्यर्थः। जात्यादीन् निमित्तीकृत्य जात्यादिषु विषयेषु जात्यादिरूपाणाम् विषयिणां सम्भावनं स्वरूपोत्प्रेक्षेति सारांशः। उक्तमेव विशदयति—तत्रेति। तासां स्वरूपोत्प्रेक्षाणां मध्य इत्यर्थः। हेतूत्प्रेक्षाफलोत्प्रेक्षे आह—उक्तेति। जात्यादिष्वित्यर्थः। [illegible]। जात्यादिषु पदार्थेषु जात्यादिभिर्निमित्तैर्जात्यादेः पदार्थस्य हेतुत्वेन फलत्वेन च सम्भावना [illegible]। जात्यादिरूपः पदार्थो जात्यादिरूपं पदार्थं प्रति हेतुः फलं वा यत्र सम्भाव्यते तत्र हेतूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा इति भावः। पुनरन्यथा विभजते—एताश्चेति। पूर्वोक्ता उत्प्रेक्षा इत्यर्थः। निष्पन्नेति। स्वतःसम्भावितशरीरत्वा इति भावः। निष्पाद्येति। [illegible] इति भावः। अनल्पेति। बहव इत्यर्थः। तथापीति। तेषां सर्वेषां [illegible]।

उत्प्रेक्षा के भेद किए जाते हैं—सा च इत्यादि। पूर्वोक्त उत्प्रेक्षा दो प्रकार की है—वाच्या और प्रतीयमाना (प्रतीयमाना का अर्थ व्यङ्ग्या नहीं है, किन्तु अर्थतः अवगत होनेवाली, यह समझ रखना चाहिए)। जहाँ संस्कृत में इव आदि पूर्वोक्त उत्प्रेक्षा-बोधक शब्दों एवम् हिन्दी में मानो आदि बोधक शब्दों से युक्त उत्प्रेक्षा की सामग्री (सुन्दर विषयि-गत धर्म-सम्बन्ध आदि) हो वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा कहलाती है। और जहाँ

बोधक शब्द न हों, किन्तु केवल सामग्री हो वहाँ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा कहलाती है। जहाँ सामग्री न हो और उत्प्रेक्षा-बोधक शब्द हों, वहाँ केवल 'सम्भावना' मानी जाती है उत्प्रेक्षा नहीं—अर्थात् वहाँ सम्भावना को अलङ्काररूप नहीं माना जाता। ये उत्प्रेक्षाएँ प्रत्येक तीन-तीन प्रकार की होती हैं—स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा। फलतः उत्प्रेक्षा के बारह भेद इस तरह से सम्पन्न होते हैं। जैसे—वाच्यधर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा, प्रतीयमानधर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा, वाच्यधर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा, प्रतीयमानधर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा, वाच्य-धर्मिहेतूत्प्रेक्षा, प्रतीयमानधर्मिहेतूत्प्रेक्षा, वाच्यधर्महेतूत्प्रेक्षा, प्रतीयमानधर्महेतूत्प्रेक्षा, वाच्यधर्मिफलोत्प्रेक्षा, प्रतीयमानधर्मिफलोत्प्रेक्षा, वाच्यधर्मफलोत्प्रेक्षा और प्रतीयमान-धर्मफलोत्प्रेक्षा। संसार के सभी पदार्थ जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य(संज्ञाशब्द-स्थल में)रूप तथा इन चारों के अभावरूप हैं। इन पदार्थों की, अभेदसम्बन्ध द्वारा अथवा अन्य किसी सम्बन्ध द्वारा, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप—पृथक्-पृथक् अथवा मिलित, शब्दद्वारा वर्णित अथवा अवर्णित और सिद्ध अथवा साध्य—धर्मों को निमित्त मानकर, यथासम्भव, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप विषयों (प्रकृत पदार्थों) में, उत्प्रेक्षा करना स्वरूपोत्प्रेक्षा कहलाती है। उक्त तरह के पदार्थों की, उक्त तरह के पदार्थों में, उक्त तरह के निमित्तों द्वारा, यथासम्भव, हेतुरूप से अथवा फलरूप से सम्भावना की जाय तो क्रमशः हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा कहलाती है। इन उत्प्रेक्षाओं का शरीर (स्वरूप) कहीं सिद्ध होता है (अर्थात् सर्वांश में स्वतःसम्भवी पदार्थों को लेकर बना रहता है) और कहीं साध्य (अर्थात् अंश विशेष में अथवा सर्वांश में कविकल्पित पदार्थों को लेकर बना रहता है)। इस तरह ऐसे अत्यधिक विकल्प बन सकते हैं, तथापि यहाँ उनका दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

उदाहरणप्रदर्शनप्रसङ्गे प्रथमं जातिस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणप्रदर्शनायाह—

आख्यायिकायां जात्यवच्छिन्नस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

जात्यवच्छिन्नेति। जातिविशिष्टस्य धर्मिणो धर्म्यन्तरे तादात्म्येनोत्प्रेक्षेत्यर्थः।

जात्यवच्छिन्न पदार्थ के स्वरूप की उत्प्रेक्षा (आख्यायिका में), जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी' इति।

यमुनावर्णनम्—इयं, यमुना, तस्या भगवत्या ऐश्वर्यविशेषशालिन्याः, भागीरथ्याः गङ्गायाः, सखी, विद्यते, या, तनयस्य, मैनाकस्य तदाख्यपर्वतविशेषस्य, गवेषणाय अन्वे-षणाय, लम्बीकृतः दीर्घीकृतः, तथा जलधेः समुद्रस्य, जठरे उदरे, प्रविष्टश्च यो हिमगिरे-र्हिमालयस्य, भुजो बाहुः स इवाचरतीत्यर्थः।

उदाहरण दिखलाया जाता है—तनय इत्यादि। यमुना का वर्णन है। यह यमुना उस ऐश्वर्यशालिनी गङ्गा की सखी है, जो अपने पुत्र मैनाक (एक पर्वत) को ढूँढने के लिये लम्बी की हुई और समुद्र के उदर में घुसी हुई, हिमालय पर्वत की भुजा सा आच-रण करती है।

उपपादयति—

अत्र भागीरथ्यां द्रव्ये जातौ वा हिमगिरिसम्बन्धी भुजत्वजात्यवच्छिन्न-स्तादात्म्येनोत्प्रेक्ष्यते। तत्र च भागीरथीगतानां मैनाकान्वेषणलम्बमानत्वजलधिजठर-प्रविष्टत्वानां धर्माणां निमित्तत्वसिद्धये तदर्थं हिमगिरिभुजगतत्वमवश्यं सम्पा-दनीयम्। तेषां च मध्येऽनुगामिनोः श्वेतशैत्ययोर्हिमगिरिसम्बन्धित्वेनैव भुज-गतत्वं सम्पन्नम्। इतरयोरपि सम्पादनाय तनयमैनाकगवेषणं फलमुत्प्रेक्षितम्,

सानमूलकातिशयोक्तेरङ्गीकारेणैक्यात्साधारणता सम्पद्यते । एवञ्च साधारणीभूतान् तान् चतुरो धर्मान् निमित्तीकृत्योक्तोत्प्रेक्षा क्रियते । यद्यप्यत्र गवेषणात्मकफलस्याप्युत्प्रेक्षणमिति सत्यम्, तथापि नात्र तद्व्यवहारः, व्यवहारस्य प्रधानानुरोधित्वात् । प्राधान्यञ्चात्र चमत्कृतिविश्रमधामभूताया विधेयाया उत्प्रेक्ष्यमाणफलनिष्पादितनिमित्तोत्थापितायाः स्वरूपोत्प्रेक्षाया एव । किञ्चात्रोत्प्रेक्षा वाच्या, वाचकश्च 'भुजायमान-' पदगतः क्यङ्प्रत्ययः, तदर्थस्य च भुजपदार्थेनैवान्वयः, न फलीभूतेन गवेषणेनेति कथं फलोत्प्रेक्षाव्यवहारः स्यात् ? अत्र च भागीरथीरूपो विषय उपात्त एव, न निगीर्णः, एवम् निमित्तभूतेषु प्रागुक्तेषु धर्मेषु, लम्बत्वजलधिजठरप्रविष्टत्वरूपौ क्रियात्मकौ धर्मावुक्तौ, श्वैत्यशैत्यरूपौ च गुणात्मकौ धर्मौ अनुक्तौ इति अनिगीर्णविषया उपात्तानुपात्तोभयविधधर्मनिमित्ता चेयं जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा निष्पाद्या । ननु निष्पाद्यत्वं कुतः, विषयरूपाया गङ्गाया निष्पन्नत्वादिति चेन्न, विषयिणो हिमगिरिभुजस्य कविनैव निष्पादिततया विशिष्टस्य निष्पाद्यत्वाच्चेतः । इति ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'तनयमैनाक—' इस पद्यवाक्य में यदि भागीरथी-पद को एकव्यक्तिवाचक (अर्थात् संज्ञाशब्द) माना जाय तो गङ्गारूप द्रव्य में, और यदि कल्प-भेद से अनेक-व्यक्तिवाचक (अर्थात् जाति-शब्द) माना जाय तो जाति में हिमालय से सम्बन्ध रखनेवाले 'भुजत्व' जाति से अवच्छिन्न (विशिष्ट) पदार्थ (अर्थात् 'भुज') की, अभेदसम्बन्ध द्वारा, उत्प्रेक्षा की जाती है। इस उत्प्रेक्षा में, श्वेतता, शीतलता, लम्बता और समुद्रोदरप्रविष्टता ये चार धर्म साधारण (गङ्गा तथा भुज दोनों में वृत्ति) होकर निमित्त होते हैं। अब ये चारों धर्म साधारण कैसे होते हैं यह समझिए—गङ्गा में ये चारों धर्म स्वतः रहते ही हैं, भुज में भी हिमालय के सम्बन्धी होने से वाक्य में अनुक्त दो धर्म (श्वेतता तथा शीतलता) सिद्ध हो जाते हैं। अब बचे लंबता तथा समुद्रोदर-प्रविष्टता ये शब्दोक्त दो [illegible] भुज के ही विशेषण बनाए गए हैं वाक्य में, तथापि वस्तुतः ये [illegible] भुज के नहीं, अतः इन्हें भुजगत सिद्ध करने के लिये उपाय अपेक्षित है, वही उपाय 'तनयमैनाक-गवेषणात्मक-फल' की उत्प्रेक्षा के रूप में कविद्वारा किया गया है—अर्थात् 'पुत्र मैनाक को ढूँढने के लिये' इस रूप में की गई उत्प्रेक्षा से उक्त दोनों धर्मों की भुजवृत्तिता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि जब हिमालय को लंबे बनाए गए और समुद्र के उदर में घुसे हुए भुज में [illegible]-साधनता का ज्ञान हुआ होगा—अर्थात् जब हिमालय ने यह समझा होगा कि लंबीकृत तथा समुद्रोदरप्रविष्ट भुज द्वारा ही पुत्र मैनाक को समुद्र में खोजा जा सकता है तब उन्होंने (हिमालय ने) अवश्य ही भुज को लंबा और समुद्रोदरप्रविष्ट बनाने के उपयुक्त यत्न किया होगा यह अनुमान करना कोई कठिन नहीं है, क्योंकि 'तत्साधनता का ज्ञान [illegible] पदार्थ के उत्पादक यत्न का जनक होता है' यह एक नियम-सिद्ध बात है। [illegible] पर भी उक्त दोनों धर्म वस्तुतः साधारण हुए नहीं, क्योंकि भुज में रहनेवाले लम्बत्व और समुद्रोदरप्रविष्टत्व [illegible] से [illegible] तथा [illegible] फल वाले हैं और गङ्गा में रहने वाले वे दोनों धर्म स्वाभाविक तथा उक्त फल से शून्य हैं, फलतः ये केवल एक-एक में रहनेवाले भिन्न ही धर्म हैं—इनमें से कोई भी धर्म इन दोनों में रहनेवाला नहीं, तथापि विषयी (भुज) गत उक्त दोनों धर्मों के साथ विषय (गङ्गा) गत उक्त दोनों धर्मों का अभेदाध्यवसाय मान लिया जाता है—अर्थात् एक तरह की अतिशयोक्ति मान ली जाती है जिससे वस्तुतः भिन्न होने पर भी विषयि-गत तथा विषयगत वे धर्म एक समझ लिये जाते हैं, अतः ये दोनों धर्म भी साधारण हो जाते हैं। श्वेतता तथा शीतलतारूप धर्म साधारण हो ही चुके हैं। इस तरह ये चारों धर्म उक्त उत्प्रेक्षा में निमित्त होते हैं। यदि कोई कहे कि यहाँ स्वरूपोत्प्रेक्षा क्यों मानी जा रही है? यहाँ फल (गवेषण) की भी तो उत्प्रेक्षा है, अतः फलोत्प्रेक्षा ही क्यों

तत्सिद्धये शुक्लगुणगतत्वसिद्धये । तेषामुक्तधर्माणाम् । विषयीति । शुक्लगुणेत्यर्थः । तत्र तेषां धर्माणां मध्ये । नैर्मल्यस्य गुणात्मकस्य धर्मात्मकस्य वा द्रव्यवृत्तिता, न शुक्लादिगुणवृत्तितेत्यत आह—यथाकथंचिदिति । गुणगतदोषविशेषाभाववत्त्वस्य नैर्मल्यपदेन विवक्षणादिति भावः । नन्वेवं कूजनपुञ्जीभवनयोर्विषयिणि सिद्धत्वेऽपि विषयगताभ्यां ताभ्यां भिन्नत्वेन कथं साधारण्यमित्यत आह—इहापीति । इदमुपलक्षणम् । नैर्मल्ययोरपि विषयविषयिगतयोर्भिन्नत्वेनाभेदारोपादेव साधारण्यं बोध्यम् । ननु रूपान्तराक्रान्तगृहत्वाश्रयार्थित्वयोर्हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणे हेतूत्प्रेक्षैवेयं कुतो नेत्यत आह—पूर्वं हीति । अयं भावः—बकत्वजातिविशिष्टबकरूपद्रव्ये विषये शुक्लगुणस्य विषयिणस्तादात्म्येनोत्प्रेक्षणात् 'अम्भोजिनी—' इत्यस्य गुणस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणत्वं सम्पद्यते । अस्मिन्नुत्प्रेक्षणे कूजननैर्मल्यपुञ्जीभवनात्मका धर्माः साधारणाः सन्तो निमित्तभावं भजन्ते । ननु कथमेषां साधारण्यमिति चेदित्थम्—बकवृत्तिता स्पष्टैवैषाम् । नैर्मल्यस्य पुनः कथञ्चित् शुक्लगुणवृत्तितापि सिद्धैव । कूजनपुञ्जीभवनयोः शुक्लगुणवृत्तिता रूपान्तराक्रान्तगृहत्वाश्रयार्थित्वयोर्हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणाद्भिपद्यते, अन्याक्रान्तगृहाणामाश्रयार्थिनाञ्च शब्दायमानत्वस्य सङ्घीभवनस्य च लोकप्रसिद्धत्वात् । न चैवमपि विषयगतेभ्यस्तेभ्यो विषयिगतास्ते भिन्ना एव भवेयुरिति कथं साधारण्यमिति शङ्क्यम्, अभेदाध्यवसानेनैकत्वाङ्गीकारात् । हेतूत्प्रेक्षणे सत्यपि हेतूत्प्रेक्षाव्यपदेशस्तु न शक्यते विधातुम्, आनुगत्य हेतूत्प्रेक्षाया निमित्तमात्रनिष्पादकतया गुणत्वेनाचमत्कारित्वात् । स्वरूपोत्प्रेक्षा तु प्रधाना चमत्कृतिभूमिरिति भवति तया व्यपदेश इति ।

उपपादन किया जाता है—अत्रैकाधिकरण्यापन्न इत्यादि । 'अम्भोजिनी—' इस पद्य में 'एकत्र स्थित' और 'कूजन'-युक्त बकत्व जाति से अवच्छिन्न बगुलारूप विषय—अर्थात् आश्रिरूप पदार्थ—में इकट्ठे हो रहे शुक्लगुण की अभेदसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा होती है वहाँ बगुलों में रहनेवाले कूजन, निर्मलत्व और पुञ्जीभवन (इकट्ठे होना) इन तीन धर्मों की सिद्धि जब तक शुक्लगुण में भी न हो तब तक बगुलों और शुक्लगुण का अभेद सिद्ध होना कठिन है । अतः उन धर्मों की स्थिति विषयी (शुक्लगुण) में साधनीय है । उनमें से अनुप्रास धर्म (निर्मलत्व) की स्थिति किसी तरह विषयी (शुक्लगुण) में सिद्ध हो जाती है । ('किसी तरह' कहने का अभिप्राय यह है कि–वस्तुतः निर्मलता स्वयं गुणरूप है, अतः वह किसी द्रव्य में ही रह सकती है, पर यहाँ 'मल'—अर्थात् किसी तरह का दोष, उसका अभाव ही 'निर्मलता' से विवक्षित है जो गुण में भी रह सकता है)। शेष अवशिष्ट रहे 'कूजन' और 'पुञ्जीभवन' ये दो धर्म । इन दोनों धर्मों की सिद्धि शुक्लगुण में करने के लिये 'दूसरे रङ्ग से आक्रान्त गृह वाले होने' की और 'आश्रय की इच्छा वाले होने' की हेतुरूप से उत्प्रेक्षा की गई है । तात्पर्य यह कि हेतुरूप से उक्त दोनों बातों की उत्प्रेक्षा करने से शुक्लगुण में भी 'कूजन' और 'पुञ्जीभवन' की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि जिनका घर दूसरों से आक्रान्त हो जाता है तथा जो दूसरों के यहाँ आश्रय चाहते हैं वे जोर-जोर से शब्द करते हैं और इकट्ठे हो जाते हैं यह बात लोकप्रसिद्ध है । यहाँ भी पूर्वोक्त उदाहरण की तरह स्वाभाविक विषय बगुलागत उन धर्मों का कल्पित विषयि (शुक्ल) गत उन धर्मों के साथ अभेद मान लेने से इन धर्मों की साधारणता (दोनों में रहना) सिद्ध होती है । इसी तरह अन्यत्र भी तर्क कर लेना चाहिये । प्रथम उदाहरण में जैसे फल के उत्प्रेक्षित होने पर भी फलोत्प्रेक्षा नहीं व्यपदिष्ट होती, वैसे यहाँ भी हेतु के उत्प्रेक्षित होने पर भी हेतूत्प्रेक्षा नहीं व्यपदिष्ट होती है । अभिप्राय यह है कि यहाँ की हेतूत्प्रेक्षा भी केवल स्वरूपोत्प्रेक्षा के निमित्त को सिद्ध करने के लिये की गई है, अतः अनुवाद्य है—गौण है, उसमें कोई चमत्कार नहीं अनुभूत

अत्रेति । 'कलिन्दजा—' इत्यत्रेत्यर्थः । वादिनामिति । नैयायिकानामित्यर्थः । मते इति शेषः । अस्य 'धर्म उत्प्रेक्ष्यते' इत्यत्रान्वयः । विषयेषु इति । आरोपाधारेषु इत्यर्थः । उपमेयेष्विति यावत् । शानजर्थमाह—कर्मेति । तदभिन्नत्वेनोत्प्रेक्षितेत्यर्थः । अत्र 'अत्रोत्प्रेक्षितेत्यधिकम् । तयोरभेदस्य स्वारसिकत्वात्' इति नागेशः । वस्तुतस्तु 'शशिकिशोरा न वास्तविका अपि तु काल्पनिकाः' इति बोधनाय तदावश्यकमेवेति बोध्यम् । तत्रेति । तयोरुत्प्रेक्षयोर्मध्य इत्यर्थः । पूर्वामाह—तादात्म्येति । तादात्म्येनोत्प्रेक्षण इत्यर्थः । वस्तुतस्त्वसमस्त एव पाठो युक्तः । द्वितीयामाह—सम्बन्धेति । विषयेति । बकेत्यर्थः । तत्कृतचमत्काराभावादाह—अनुत्थायेति । उत्प्रेक्ष्यत इति । बकेष्विति शेषः । नन्वेवमपि साधारणधर्माभावात्कथं प्रधानोत्प्रेक्षानिर्वाहोऽत आह—तत्रेति । तस्मिन्सतीत्यर्थः । मूलोत्प्रेक्षेति । मूलोत्प्रेक्षाया विषयो यः शशिकिशोर इत्याद्यर्थः । क्रियोत्प्रेक्षोपपादकत्वात्तस्या मूलोत्प्रेक्षात्वम् । सिद्ध इति । धवलामित्यादिः । मुख्योत्प्रेक्षेति । क्रियोत्प्रेक्षेत्यर्थः । प्रकारान्तरेणापि साधारण्यं धर्मस्याह—कोशनेति । एवञ्च नैयायिकमते पर्यवसितबोधाकारमाह—तेनेति । किशोराभयाभिन्ना इति । सन्त इति शेषः । अत्र "'शशिकिशोराभयानुकूलकोशेति' इति पाठभ्रमं कृत्वा 'निगीर्यमाणाभिन्नशशिकिशोराभिन्नाः कोशनक्रियानुकूल—' इति युक्तः पाठः ।" इति नागेशः । वस्तुतस्तु न नागेशधृतपाठ उपलभ्यते, 'ध्वान्तनिगीर्यमाणशशिकिशोराभयाभिन्नाः' इत्याकारकपाठस्यैवोपलब्धेः । उपलब्धपाठोऽपि 'निगीर्यमाणाभिन्नाः शशिकिशोराभिन्नाश्च' इति तात्पर्यानुसारं युक्त एव प्रतिभाति । अयं भावः—'कलिन्दजा—' इत्यत्र प्रथमं तमःकर्तृकहेतुकनिगरणकर्माभिन्नकल्पितशशिशिशुतादात्म्यं बकेषु उत्प्रेक्ष्यते, ततः तादृशशशिशिशुतादात्म्यापन्नबकरूपे विषये कोशनकर्तृत्वात्मकधर्म उत्प्रेक्ष्यते । तत्र पूर्वा धर्म्युत्प्रेक्षा, तादात्म्यसम्बन्धमूलकत्वात्, द्वितीया च धर्मोत्प्रेक्षा समवायात्मकतादात्म्येतरसम्बन्धमूलकत्वात् । ननु धर्मोत्प्रेक्षानिमित्ततयाऽभिमत [illegible] विषयगतो धर्मः प्रकृते क इति चेत् ? निगरणकर्मत्वमिति [illegible] रणकर्मत्वस्य बकात्मकविषयगतत्वमिति चेत् ? [illegible] । बकेषूत्प्रेक्षणे प्राकृते बक-शशिकिशोराणामभेदेन शशिकिशोराणां ध्वान्तनिगरणकर्मत्वे बकेष्वपि तत्सिद्धेः । इयं तादात्म्योत्प्रेक्षा अनुत्थाना अचमत्कारिणीत्यन्यदेतत् । एवञ्च यथा 'कोमलातपशोणाभ्र—' इत्यादिविशिष्टोपमास्थले उपमानविशेषणोपमेयविशेषणयोरुपमानविशेषणविशेषणोपमेयविशेषणविशेषणयोश्च [illegible] अपि [illegible] बकविशेषणशशिकिशोरविशेषणयोर्ध्वान्तनिगरणयोरेवम् [illegible] शशिकिशोरविशेषण- [illegible] साधारणो धर्म उक्तो भवति । अपरविशेषोऽपि न [illegible] । [illegible] साधारण्यम् । [illegible] [illegible] इति शेषः । [illegible] इति । [illegible] इति । [illegible] इत्यर्थः । [illegible] इति । [illegible]

है। तात्पर्य यह कि 'आधे डूबने' को 'निगरण' से और 'यमुनाजल' को 'अन्धकार' से अभिन्न मान लिया जाता है। इस तरह बकों का अन्धकार द्वारा निगरण जब सिद्ध हो जाता है-अर्थात् चन्द्रमा के बच्चों का अन्धकार द्वारा निगरण जब सिद्ध है तब उनसे अभिन्न बकों का भी वह सिद्ध हो जाता है—तब मुख्य उत्प्रेक्षा-अर्थात् बकरूप विषय में क्रोशनकर्तृत्व की उत्प्रेक्षा का निर्वाह हो जाता है। यहाँ क्रोशन (चिल्लाने) और शब्दन (कोलाहल करने) का भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव के कारण अभेद है, फलतः ये दोनों पदार्थ भी एक होकर साधारणधर्म के कर्तव्य पूर्ण कर सकते हैं—यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है। उक्त रीति के अनुसार नैयायिकों के मत में प्रकृत पद्य का "यमुना-जल में आधे डूबे और अत्यधिक शब्द करते इन दोनों से अभिन्न बगुले, अन्धकार से निगले जा रहे और चन्द्रमा के बच्चे—इन दोनों से अभिन्न होकर 'क्रोशन'रूप क्रिया के अनुकूल चेष्टा से युक्त हैं।" यह शाब्दबोध होता है। यह तो हुई शाब्दबोध में प्रथमान्त पद के अर्थ को मुख्य विशेष्य माननेवाले नैयायिकों की बात। अब जो लोग 'तिङन्त'पदयुक्त वाक्यार्थ के बोध में क्रिया को प्रधान मानते हैं उन वैयाकरणों के मत की बात सुनिये। उनके विचार से यहाँ अभेदसम्बन्ध से 'क्रोशन'(चिल्लाने)-क्रिया की उत्प्रेक्षा होती है। इस उत्प्रेक्षा में विषय बगुले नहीं हो सकते, क्योंकि द्रव्य में क्रिया का अभेद बाधित है, अतः शब्दन (कोलाहल करने) को ही आक्रोशनक्रियोत्प्रेक्षा का विषय समझना चाहिए। यद्यपि शब्दन पृथक् निर्दिष्ट नहीं है, उसकी प्रतीति शाब्दबोध में बक के विशेषणरूप में होती है, अतः वह विषय नहीं हो सकता, तथापि अध्यवसान के बल से वह (शब्दन) विषय होता है-अर्थात् जिस तरह 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में मञ्चस्थ जनों का मञ्चरूप विषयी के साथ अभेदाध्यवसान होता है उसी तरह यहाँ भी शब्द करनेवाले बकों में ही शब्दन का अध्यवसान (आरोप) करके उक्त उत्प्रेक्षा की सिद्धि की जाती है। फलतः यह उत्प्रेक्षा आर्थ (अर्थतः ज्ञात होनेवाली) है। शाब्दबोध में तो उक्त विशेषणों से युक्त बगुले 'क्रोशन'क्रिया में विशेषण बनते हैं और वैसे बगुलों में उक्त विशेषणयुक्त शशिकिशोर विशेषण होते हैं। इस शाब्दबोध में शशिकिशोर ही साक्षात् क्रिया में विशेषणरूप से अन्वित नहीं हो सकते, अपितु उक्त रीति से बगुले के विशेषण बनकर ही परम्परया अन्वित हो सकते हैं, क्योंकि यदि साक्षात् शशिकिशोर का ही अन्वय क्रिया के साथ कर दिया जाय तब बगुले अनन्वित ही रह जायेंगे। फलतः वैयाकरणों के मत से प्रकृत पद्य का शाब्दबोध "अन्धकार से निगले जा रहे शशिकिशोरों से अभिन्न तथा यमुना-जल में आधे डूबे और कोलाहल करते-इन दोनों से भी अभिन्न बगुले जिसके कर्ता हैं, वह 'क्रोशन'" यह होता है। आर्थबोध के अनुसार यहाँ क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा मानी जाती है। विषय और विषयी के विशेषणों का, इस मत में भी, पूर्व मत के अनुसार ही बिम्बप्रतिबिम्बभाव माना जाता है।

क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षाया एवोदाहरणान्तरमुपदर्शयितुमाह—

यथा—

इसी तरह—

[illegible]

'राज्याभिषेकमाज्ञाय शम्बरासुरवैरिणः ।
सुधाभिर्जगतीमध्यं लिम्पतीव सुधाकरः ॥'

[illegible] वर्णयति—सुधाकरश्चन्द्रः, शम्बरासुरवैरिणः कामदेवस्य, राज्याभिषेकं [illegible], आज्ञाय विदित्वा, जगतीमध्यं धरातलान्तरालम्, सुधाभिः [illegible] लिम्पति [illegible] ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—राज्याभिषेक इत्यादि। कवि चन्द्रिका का वर्णन

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कलिन्द इत्यादि । कवि यमुना-वर्णन-प्रसङ्ग में कहता है—कलिन्द पर्वत से लेकर प्रयागपर्यन्त, किसी ने, यह लम्बी खाई खोद डाली है । मानो, इसमें अगाध होने के कारण, नीचे हिस्से के स्पर्श से रहित यह यमुनाजल के रूप में गहरा नीला आकाश शोभित हो रहा है ।

उपपादयति—

अत्र यमुनायां नीलत्वदीर्घत्वनिमित्तकमाकाशतादात्म्योत्प्रेक्षणम् । आकाशस्य स्वरूपात्मकत्वाद्द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षेयम् । अत एवाकाशपदाच्छब्दाश्रयत्वाद्यनुपस्थितिदशायामप्याकाशधीः । नीलत्वरूपनिमित्तस्य विषयिणि सिद्ध्यर्थं तृतीयचरणोपादानम् । दीर्घत्वरूपनिमित्तसिद्ध्यर्थं च पूर्वार्धम् ।

अत्रेति । 'कलिन्द—' इति श्लोक इत्यर्थः । ननु आगवज्जात्युत्प्रेक्षेयं कुतो न, अत आह—आकाशेति । नन्वाकाशत्वं शब्दाश्रयत्वादिरूपमिति कुतः स्वरूपात्मकमत आह—अत एवेति । तस्य स्वरूपात्मकत्वादेवेत्यर्थः । आदिना शब्दसमवायिकारणत्वपरिग्रहः । विषयिणि आकाशे । तृतीयेति । तलस्पर्शेत्यादीत्यर्थः । अत्र 'तलस्पर्शे सति प्रतिबिम्बासम्भव इति भावः ।' इति नागेशः । वस्तुतस्तु प्रतिबिम्बस्यात्र न कश्चन प्रसङ्गः । 'उपरितनमाकाशं गर्ते प्रतिबिम्बितं सत् विभाति' इति ग्रन्थाशयं प्रायो नागेशो वेत्ति । अहं तु मन्ये, नासौ ग्रन्थाशयः, अपि तु गर्तगते जलेऽतलस्पर्शिजलशून्यगर्तगतगगनसम्भावना ग्रन्थकृतोऽभिप्रेता । तत्र यथोपरितने महाकाशे वस्तुतोऽवर्तमानमपि नैल्यम् अपारत्वादाकाशस्य प्रतिभाति तथा गर्तगते आकाशेऽपि तलस्पर्शराहित्यहेतुको नैल्यविभ्रमः । तलस्पर्शे तु गर्तस्य घटावच्छिन्न आकाश एव न तत्रतेऽप्याकाशे नैल्यं प्रतिभायात् । इति । सिद्ध्यर्थं चेति । आकाश एवेति शेषः । अत्रापि 'गर्तोपरितनस्याकाशस्य तद्दीर्घत्वारोपादिति भावः ।' इति नागेशोक्तिर्[illegible] । उपरितने प्रसिद्धे महाकाशे नीलत्वं दीर्घत्वञ्च प्रतिभाति तद्वत् [illegible] विषयेऽपि वर्तमाने साधारणधर्मात्मकतया निमित्तीभवत् आकाशरूपद्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षां जनयति । ननु आकाशत्वं शब्दाश्रयत्वं शब्दसमवायिकारणत्वं वेति नैयायिकाः, तथा च [illegible] कुतोऽत्र द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षात्वम् इति चेन्न, नैयायिकमतस्य विचारासहत्वात्, तथाहि—यदि शब्दाश्रयत्वादिकमाकाशत्वं स्यात् तर्हि शब्दाश्रयत्वादिस्मरणदशायामेवाकाशपदादाकाशबोधो भवेत्, न चैवं दृश्यते, दृश्यते तु तादृशार्थस्मरणाभावदशायामपि आकाशपदादाकाशबोधो भवतीति स्वरूपात्मकमेवाकाशत्वम्, [illegible] इति । अन्यत् पदकृत्यप्रसङ्ग एव स्फुटीकृतम् ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'कलिन्द—' इस पद्य में 'नीलेपन' और 'लम्बेपन' को निमित्त बनाकर यमुना में आकाश के अभेद की उत्प्रेक्षा की गई है । तात्पर्य यह कि जैसे यह प्रसिद्ध महाकाश नीला और लम्बा है वैसे यमुना (खाई का जलभाग) भी नीली और लम्बी है, अतः 'नीलत्व' तथा 'दीर्घत्व' इन दो साधारणधर्मों के कारण, कवि, यमुनारूप विषय में आकाशरूप विषयी की, अभेदसम्बन्ध से सम्भावना करता है । आकाश एक है, अतः आकाशत्व आकाशस्वरूप ही पदार्थ है, जाति-रूप नहीं, कारण, अनेक में रहनेवाला धर्म ही जातिरूप हो सकता है, एक में रहनेवाला नहीं । फलतः आकाशस्वरूप आकाशत्व द्रव्यरूप होता है, अतः इस पद्य में 'द्रव्यो-त्प्रेक्षा' हुई । आप कहेंगे—नैयायिक लोग आकाशत्व को 'शब्दाश्रयत्व' अथवा 'शब्द-समवायिकारणत्व'रूप मानते हैं, ऐसी स्थिति में आकाशत्व आकाशस्वरूप हुआ

नहीं, फिर कैसे यहाँ द्रव्योत्प्रेक्षा मानी जा सकती है ? तो इसके उत्तर में हम कहेंगे कि नैयायिकों की उक्त मान्यता अनुभव-विरुद्ध है। कारण, यदि आकाशत्व शब्दाश्रयत्व जातिरूप होता तो 'शब्द का आश्रय है आकाश' इस अर्थ के स्मरण होने पर ही आकाश पद से अर्थबोध होता, पर ऐसा होता नहीं—होता तो यह है कि जो लोग 'शब्द का आश्रय आकाश है' ऐसा नहीं भी जानते रहते हैं उन्हें भी आकाश पद से आकाश का बोध होता है, अतः आकाशत्व आकाशरूप ही है, और कुछ नहीं, फलतः यहाँ द्रव्योत्प्रेक्षा सर्वथा उचित है। आकाश में 'नीलेपन'रूप निमित्तभूत धर्म को सिद्ध करने के लिये इस पद्य का तीसरा चरण ('नीचे के हिस्से के स्पर्श से रहित' यह विशेषण) रचा गया है। तात्पर्य यह कि—जैसे यह महाकाश इसलिये नीला प्रतीत होता है कि उसका कहीं आर-पार नहीं है—निरवधि है—सर्वथा शून्य है—ऊपर कहीं कोई आवरक नहीं है, उसी तरह इस लम्बी खाई के अन्दर का आकाश भी निरवधि है—सर्वथा शून्य है, क्योंकि खाई की तलहटी टूट चुकी है, अतः इस आकाश में भी 'नीलेपन' की प्रतीति होती है। यहाँ नागेश अपनी टीका में लिखते हैं कि—'तलस्पर्शे सति प्रतिबिम्बासम्भवः—अर्थात् अतलस्पर्शी न होने पर ऊपर के आकाश की तद्गत नीलिमा की परछाई नहीं हो सकती।' पर मेरे विचार से यह विवरण सङ्गत नहीं है। कारण, प्रतिबिम्ब का यहाँ कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता। प्रायः नागेशमहोदय यहाँ खाई में प्रतिबिम्बित उपरितन महाकाश की सम्भावना जल में समझते हैं। पर वस्तुतः बात यह है नहीं, अपितु यह है कि—यदि कलिन्द पर्वत से प्रयाग पर्यन्त एक अतलस्पर्शिनी खाई खोद दी जाय और उसमें जल नहीं हो, तब उस खाई के अन्दर का आकाश लम्बा और नीचे की ओर निरवधि होने के कारण ऊपर के महाकाश के समान ही नीला दीख पड़ेगा, बस, उसी स्थिति की संभावना यहाँ नीले जल में की गई है। और इस पद्य के पूर्वार्ध की रचना आकाश में 'लम्बेपन'रूप निमित्तभूत धर्म की सिद्धि के लिये की गई है—अर्थात् इतनी लम्बी खाई का खोदना वर्णित हुआ है, क्योंकि खन्दक के अनुसार ही उसके अन्दर का आकाश होता है। यहाँ भी नागेशजी ने 'गर्तोपरितना-काशस्य तद्दीर्घत्वारोपात्' लिखकर उसी प्रतिबिम्बवाली भूल को दुहराया है।

भेदान्तरमुपदर्शयति—

जात्यादीनामभावोत्प्रेक्षा यथा—

जातेर्गुणस्य च योऽभावः (अत्यन्ताभावो ध्वंसो वा) तस्यापीयं सम्भावना भवतीति भावः ।

जाति आदि के अभावों की उत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'बाहुजानां समस्तानामभाव इव मूर्तिमान् ।
जयत्यतिबलो लोके जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥'

समस्तानां सर्वेषाम्, बाहुजानां क्षत्रियाणाम्, मूर्तिमान् साकारः, अभावः ध्वंसात्मकः, इव, प्रतापवान् पराक्रमविशेषसंवलितः, अतिबलः परमपराक्रमशाली, जामदग्न्यः परशुरामः, लोके, जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—बाहुजानाम् इत्यादि : समस्त क्षत्रियों का, मानो मूर्तिमान् अभाव हो ऐसे परमप्रतापशाली अत्यधिक बलवाले परशुराम, संसार में, सर्वोत्कृष्ट हैं ।

उपपादयति—

अत्र जात्यवच्छिन्नाभावो विरोधित्वनिमित्तेन तादात्म्येनोत्प्रेक्ष्यते ।

जातीति । जातिः क्षत्रियत्वम्, तदवच्छिन्नानाम् अभाव इत्यर्थः । समग्रक्षत्रियाभाव इति यावत् । विरोधित्वेति । जात्यवच्छिन्नेत्यादि । जामदग्न्यः क्षत्रियत्वजातिमतां विरोधी । ततश्च विरोधित्वनिमित्तेन जामदग्न्ये द्रव्ये क्षत्रियत्वजातेरभावस्तादात्म्येन सम्भाव्यत इति जात्यभावधर्म्युत्प्रेक्षा सेयमिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'बाहुजानाम्—' इस पद्य में क्षत्रियत्व जाति से अवच्छिन्न के अभाव (अत्यन्ताभाव) की, क्षत्रियत्व जाति के विरोधी होने को निमित्त मानकर, उत्प्रेक्षा की जाती है ।

पाठभेदेन भेदान्तरतामापादितं प्रकृतपद्ये विशेषमुपपादयति—

विनाश इवेत्युक्तौ तु ध्वंसः । 'समस्तलोकदुःखानाम्' इति प्रथमचरणे कृते गुणाभावः ।

यदि प्रकृतपद्येऽत्यन्ताभावपदस्थाने 'विनाश'-पदं स्थापयित्वा पद्यं रचितमभविष्यत्तदा क्षत्रियत्वजात्यवच्छिन्नध्वंसोत्प्रेक्षा समपत्स्यत । यदि तु समग्रप्रथमचरणस्थाने 'समस्तलोकदुःखानाम्' इत्यपठिष्यत, तदा गुणाभावोत्प्रेक्षाऽभविष्यत्, दुःखानां गुणत्वादिति भावः ।

यदि इसी पद्य में 'अभाव इव' के स्थान पर 'विनाश इव' पाठ मान लिया जाय तब यही पद्य 'ध्वंसाभाव' की उत्प्रेक्षा का उदाहरण हो जायगा । और यदि इसी पद्य का प्रथम चरण 'समस्तलोकदुःखानाम्—सब लोगों के दुःख के' इस प्रकार बना दिया जाय तो यही पद्य गुणाभाव की उत्प्रेक्षा का उदाहरण हो जायगा, क्योंकि 'दुःख' गुण है ।

क्रियाभावोत्प्रेक्षोदाहरणमाह—

'द्यौरञ्जनकालीभिर्जलदालीभिस्तथा चक्रे ।
जगदखिलमपि यथासीन्निर्लोचनवर्गसर्गमिव ॥'

द्यौः आकाशः, अञ्जनकालीभिः कज्जलवत्कृष्णाभाभिः, जलदालीभिः मेघपङ्क्तिभिः, तथा तेन प्रकारेण, चक्रे आच्छादिता, यथा, अखिलम् सकलम्, अपि, जगत् संसारः, निर्लोचनाः नेत्ररहिताः, ये जनाः, तेषां, वर्गः समूहः, तस्य, सर्गः सृष्टिः, इव, आसीत् अभूदित्यर्थः ।

क्रिया के अभाव की उत्प्रेक्षा का उदाहरण उपस्थित किया जाता है—द्यौरित्यादि । आकाश, काजल-सी काली मेघ-पङ्क्तियों से ऐसे घिर गया, मानो सारा संसार नेत्रहीन जनों की सृष्टि हो गया । तात्पर्य यह कि घन-घटा के कारण सब लोग अंधे हो गए, कोई किसी को दिखाई नहीं पड़ता था ।

उपपादयति

अत्रापि नाढ्यान्धकारजन्यत्वेन निमित्तेन पार्यन्तिकः क्रियाभावो धर्मः ।

निमित्तेनेति । [illegible] पार्यन्तिक इति । अत्र नागेशः 'यथापि सर्गमिति [illegible] तथापि [illegible] दर्शनक्रियाभावरूपो धर्मः [illegible] ।' इति ।

उपपादन किया जाता है—'द्यौः—'इस पद्य में 'गाढ़ान्धकार से मनोभावहित होने' को निमित्त मानकर, अन्तर्गतपर्यन्त क्रिया (दर्शन) के अभावरूप धर्म की उत्प्रेक्षा की जा रही है । अभिप्राय यह है कि—'निर्लोचनवर्गसर्गमिव' का बोध पहले यद्यपि यह होता है कि-लोचनवर्ग का सर्ग (सृष्टि) निर्गत (दूर) हो गया है जिससे ऐसे जगत् के समान (अखिल

जगत्), पर वस्तुतः ऐसा जगत् कहीं प्रसिद्ध नहीं है जिसमें आँखों की सृष्टि सर्वथा हो ही नहीं, अतः अन्त में उक्त समस्त पद का अर्थ 'लोचनवर्ग का सर्ग ससर्ग (संवलन) है जिसमें ऐसी जो दर्शनक्रिया वह निर्गत (दूर) हो गई है जिससे ऐसा सारा जगत्' इस तरह से करना पड़ता है, अतएव अन्त में जगत्रूप धर्मी में दर्शनक्रियाऽभावरूप धर्म की उत्प्रेक्षा सिद्ध होती है।

अभावोत्प्रेक्षोदाहरणदानप्रसङ्गमुपसंहरन्नाह—

एवं द्रव्याभावोत्प्रेक्षाऽपि स्वयमूह्या।

एवं पूर्वोक्तरीत्यैव। ऊह्या तर्कणीया।

इसी तरह द्रव्याभाव की उत्प्रेक्षा का भी ऊह स्वयं कर लेना चाहिए।

विशेषमाह—

मालारूपाऽप्येषा सम्भवति।

एषा स्वरूपोत्प्रेक्षा।

यह स्वरूपोत्प्रेक्षा मालारूप भी हो सकती है।

उदाहरणमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'द्विनेत्र इव वासवः करयुगो विवस्वानिव
द्वितीय इव चन्द्रमाः श्रितवपुर्मनोभूरिव।
नराकृतिरिवाम्बुधिर्गुरुरिव क्षमामागतो
नुतो निखिलभूसुरैर्जयति कोऽपि भूमीपतिः॥'

द्विनेत्रः नेत्रद्वयसहितः न तु सहस्रनेत्रः, वासवः इन्द्रः, इव, करयुगः द्विकरः द्विकिरणो वा, न तु सहस्ररश्मिः (करयुगपदे करयुगम् अस्त्यस्येत्यर्श आद्यच्, करयोर्युगं यस्येति व्यधिकरणबहुव्रीहिर्वा), विवस्वान् सूर्यः, इव, द्वितीयः अपरः, चन्द्रमाः, इव, श्रितवपुः धृतशरीरः, मनोभूः कामः, इव, नराकृतिः मनुष्याकारः, अम्बुधिः समुद्रः, इव, क्षमां भुवम्, आगतः अवतीर्णः, गुरुः बृहस्पतिः, इव, निखिलैः सर्वैः, भूसुरैः ब्राह्मणैः, नुतः अभिनन्दितः, कोऽपि अनिर्वचनीयः भूमीपतिः राजा, जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—द्विनेत्र इत्यादि। मानों दो नयन वाला इन्द्र हो, मानों दो कर (हाथ अथवा किरण) वाला सूर्य हो, मानो दूसरा चन्द्रमा हो, मानो देहधारी कामदेव हो, मानो मनुष्य के समान आकारवाला समुद्र हो और मानो पृथिवी पर अवतीर्ण बृहस्पति हो ऐसा, सकल ब्राह्मणों से अभिनन्दित कोई—अनिर्वचनीय राजा सर्वोत्कृष्ट है।

सङ्गतिमावश्यकत्वमुपपादयति

अत्र प्रकरणगतो द्विनेत्रत्वादीनां वासवादिगततत्त्वनिर्णायकानां ... राजा विशेषणेषु वासवादित्वारोपेण आहार्यनिश्चयात्। न चाऽऽरोपमात्रं रूपकादि-रूपता, द्विनेत्रत्वादीनामुत्प्रेक्षाजनकत्वात्। न चोपमात्वं निषेधयितुं तेषां साधारण्यम्, वसन्तेऽपि परमैश्वर्यादिभिः ... इत्यतः। असुन्दरत्वादुपमानिष्पादकत्वेन कवेरनभिप्रेतत्वाच्च। नात्र द्विनेत्रत्वादिधर्मैः वासवादिसादृश्यं राज्ञः कवेरभिप्रायविषयः। एवं द्वितीयत्वादीना चन्द्रादित्वा-

रोपोऽप्युपमायां सत्यामनर्थक एव स्यात् । अभेदप्रतिपत्तौ तु सहस्रनेत्रेण सहस्रकरेण विधिसृष्टत्वेकेन वपुर्विहीनेन जलाकारेण स्वर्गगतेन च तेन तेन कथमस्याभेदः स्यादिति प्रतिकूलधियमपसारयतां विषयिगतानां द्विनेत्रत्वाद्यारोपाणामस्त्येवोपयोगः । अत्रैवेवशब्दस्याभावे दृढारोपं रूपकम् । विषयिगतविशेषणानामभावे उपमा । उभयेषामेकतरस्याप्यभावे शुद्धरूपकमिति विवेकः ।

ननूपमैवात्रास्तु इत्याशङ्कते—न चेति । समाधत्ते—द्विनेत्रत्वादीनामिति । पुनः शङ्कापक्षसमर्थनायोक्तमुत्तरमाक्षिपन्नाशङ्कते—न चेति । समाधत्ते—तदभावेऽपीति । तस्या उपमायाः । ननूपात्तधर्माभाव एव प्रतीयमानधर्मादरोऽत आह—असुन्दरेति । विच्छित्तिविशेषाजनकत्वादित्यर्थः । ननूत्प्रेक्षापक्षेऽपि तदुक्तिवैयर्थ्यमत आह—अभेदेति । करेण किरणेन । तेन तेनेति । वासवादिनेत्यर्थः । अस्य वर्णनीयस्य राज्ञः । उभयाभावस्यैकस्मिन्नपि सत्त्वादाह एकतरस्येति । प्रत्येकस्येति भावः । 'द्विनेत्र—' इति पद्ये एकत्र राजरूपे विषये वासवादीनां बहूनां विषयिणां तादात्म्यस्य सम्भावनान्मालारूपा द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा । तत्र द्विनेत्रत्वादिविशिष्टे विषये सहस्रनेत्रत्वादिविशिष्टानां विषयिणां कथं तादात्म्यम्, द्विनेत्रत्वादिसहस्रनेत्रत्वादीनां विरोधित्वादित्याशङ्कापनोदनाय विषयिषु द्विनेत्रत्वादिकमारोप्यते, येन विषयविषयिणोः साम्यं सङ्घटते । उपमाऽत्र नाङ्गीकर्तुं शक्या, विषयिषु द्विनेत्रत्वाद्यारोपस्य निरर्थकत्वापत्तेः । उपमासम्पादकसाधारण्यसम्पादनाय तदावश्यकत्वमपि न वक्तुं योग्यम्, प्रतीयमानपरमैश्वर्यादिसाधारण्यमादायापि उपमायाः सिद्धेः सम्भवात् । किञ्चात्र द्विनेत्रत्वादिधर्ममूलकं राज्ञि वासवादिसादृश्यं कविविवक्षाविषयीभूतमपि नास्ति, तादृशसादृश्यस्य प्राणिमात्रप्रतियोगिकत्वेनाचमत्कारित्वात् । एवमत्रोपमास्वीकारे चन्द्रमसि द्वितीयत्वारोपोऽपि व्यर्थ एव भवेत्, सादृश्यस्य द्वितीयत्वाघटितत्वात् । उत्प्रेक्षास्वीकारे तु द्विनेत्रत्वाद्यारोपः सार्थक [illegible] त्वादिविशिष्टे राज्ञि वासवादेरभेदस्य प्रतिपत्तः [illegible] भवन्ति, अतः वासवादौ द्विनेत्रत्वाद्यारोपो [illegible] अस्मिन्नेव पद्ये यदि इवशब्दा न स्युस्तर्हि दृढारोपो रूपकालङ्कारः स्यात्, यदि च इवशब्दा यथावत् भवेयुः विषयिविशेषणानि द्विनेत्रत्वादिकानि न भवेयुस्तदोपमालङ्कारो भवेत्, यदि इवशब्दा विषयिविशेषणानि च न स्युस्तदा शुद्धरूपकालङ्कारो भवेदिति शिष्यबुद्धिवैशद्याय विवेकः कृत इति बोध्यम् ।

[illegible] किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'द्विनेत्र—' इस पद्य में इन्द्र आदि का तादात्म्य राजा में कहना अभीष्ट है, पर यह तादात्म्य सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि राजा दो आँखोंवाला, दो करोंवाला, एक ब्रह्मा से भिन्न, शरीरधारी, मनुष्याकार और पृथ्वी पर स्थित है और इन्द्र हैं सहस्रनेत्र, सूर्य हैं सहस्रकिरण, ब्रह्मा हैं एक, कामदेव हैं अशरीरी, समुद्र है जलाकार एवं बृहस्पति हैं स्वर्गवासी, अतः इस विरोध को हटाने के लिये राजारूप विषय में रहनेवाले द्विनेत्रत्व आदि का आरोप इन्द्र आदि में यथायथ कर दिया गया है जिससे वे सभी साधारण होकर विषय-विषयी की समता को सिद्ध करते हैं । आप कहेंगे—यहाँ उपमा ही क्यों नहीं मान लेते ? हम कहेंगे—यहाँ उपमा का निरूपण नहीं हो सकता । कारण, उपमा मानने पर इन्द्र आदि में द्विनेत्रत्व आदि का आरोप करना व्यर्थ हो जायगा । आप कहेंगे—यह व्यर्थ क्यों होगा ? यह तो उपमा का साधक साधारणधर्मत्व ही है । तो यह ठीक नहीं । कारण, इन आरोपित धर्मों के बिना भी अनुक्त, पर प्रतीयमान परम ऐश्वर्य आदि साधारणधर्मों को लेकर उपमा सिद्ध हो सकती है । दूसरे, ये धर्म सुन्दर (चमत्कार-

विशेषजनक) भी नहीं और कवि इन्हें उपमा के साधक मानता भी नहीं—अर्थात् यहाँ द्विनेत्रत्व आदि धर्म के कारण राजा में इन्द्र आदि की तुलना करना कवि को अभिमत नहीं। ऐसा अभिप्राय कवि का हो भी कैसे सकता है ? कारण, द्विनेत्रत्व के कारण यदि इन्द्र से तुलना की जाय तब तो सभी की तुलना इन्द्र से हो जाय, क्योंकि सभी द्विनेत्र हैं। इसी तरह 'द्वितीयत्व' का चन्द्र में आरोप भी उपमा मानने पर व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि 'चन्द्र जैसा' इतना कहने पर भी उपमा बन सकती है, उसके लिये 'दूसरे चन्द्र जैसा' यह कहना आवश्यक नहीं है। हाँ, अभेद-ज्ञान में इन आरोपित विशेषणों का उपयोग सिद्ध हो सकता है, क्योंकि अभेद-ज्ञान में इसमें ये ज्ञान प्रतिबन्धक होते हैं कि—इन्द्र हजार आँखों वाला है, सूर्य सहस्रकर (हजार किरणवाला) है, चन्द्रमा विधाता की सृष्टि में एक है, कामदेव शरीररहित है, समुद्र जलरूप है एवं कल्पतरु स्वर्ग में रहता है, और राजा में ये बातें हैं नहीं, फिर उनके साथ इसका (राजा का) अभेद कैसे हो सकता है ? इस प्रतिबन्ध को दूर करने में इन विशेषणों का उपयोग है। अतः यहाँ अभेदप्रधान उत्प्रेक्षा ही है और वह भी मालारूप, क्योंकि एक विषय (राजा) में अनेक विषयी (इन्द्र आदि) के तादात्म्य की सम्भावना की गई है। इसी पद्य में यदि 'इव' पद हटा दिया जाय तो यही पद्य सारोपरूपक का, यदि इव शब्द रहे और विषयी (इन्द्रादिक) के विशेषण (द्विनेत्र आदि) हटा दिए जायँ, तो उपमा का और यदि 'इव' पद पूर्वोक्त विषयि-विशेषण दोनों हटा दिए जायँ, तो शुद्धरूपक का उदाहरण हो सकता है। यह विभाग शिष्य-बुद्धि-वैशद्यार्थ दिखला दिया गया है।

उपसंहरति—

एवं स्वरूपोत्प्रेक्षादिगुपदर्शिता।

पूर्वोक्ता स्वरूपोत्प्रेक्षाया विविधभेदाया रीतिः प्रकाशिता, अनया रीत्या स्वरूपोत्प्रेक्षायाः अनुक्ता अपि ते ते विशेषाः स्वयमूहनीया इति भावः।

उपसंहार किया जाता है—एवं इत्यादि। इस तरह स्वरूपोत्प्रेक्षा का दिग्दर्शन कराया गया है। तात्पर्य यह है कि इस सम्बन्ध की अन्य बातें स्वयं समझ लीजिए।

अवान्तरभिन्नप्रकरणारम्भं सूचयति—

अथ हेतूत्प्रेक्षा।

जात्यादीनां पदार्थानां हेतुत्वेनोत्प्रेक्षाया निरूपणमारभ्यत इति भावः।

स्वरूपोत्प्रेक्षा-निरूपण के बाद अब जाति आदि पदार्थों की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा का निरूपण किया जाता है।

उदाहर्तुमाह—

यथा—

जातिहेतूत्प्रेक्षा यथेति भावः।

जातिहेतूत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'त्वत्प्रतापमहादीपशिखाविपुलकज्जलैः।
नूनं नभस्तले नित्यं नीलिमा नूतनायते॥'

राजानं प्रति कवेरुक्तिः—हे राजन् ! त्वत्प्रताप एव महादीपस्तस्य शिखायाः, विपुलैः प्रभूतैः, कज्जलैः, नभस्तले आकाशे, नीलिमा नीलता, नूनं निश्चितम्, नित्यं प्रतिदिनम्, नूतनायते नूतन इव भवतीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—त्वत्प्रताप इत्यादि। कवि राजा से कहता है—हे राजन्! मानो, आपके प्रतापरूप महादीपक की शिखा (लौ) के विपुल काजलों से आकाश में 'नीलत्व' (कालापन) नित्य नया-सा होता रहता है।

उपपादयति—

अत्र नीलिमसामानाधिकरण्येनोत्प्रेक्षितस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणम्।

अत्रेति। 'त्वत्प्रताप' इत्यत्रेत्यर्थः। नीलिमसामानाधिकरण्येनेति। नैल्याधिकरणीभूताकाशगतत्वेनेत्यर्थः। उत्प्रेक्षितस्येति। कज्जलस्येति भावः। हेतुत्वेनेति। नूतनीभवन इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'त्वत्प्रताप—' इस पद्य में 'नीलता' की उत्प्रेक्षा जिस अधिकरण (आकाश) में की गई है उसी अधिकरण—अर्थात् आकाश—में ही उत्प्रेक्षित 'काजलों' की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है। तात्पर्य यह कि इस पद्य में दो उत्प्रेक्षाएँ हैं—एक 'नीलता' की, दूसरी 'काजलों' की। ये दोनों ही उत्प्रेक्षाएँ आकाश-रूप आधार में हुई हैं। इन दोनों उत्प्रेक्षाओं में 'नीलता' की उत्प्रेक्षा प्रधान है और 'काजलों' की उत्प्रेक्षा उसके हेतुरूप में की गई है। इसी अप्रधान उत्प्रेक्षा को लेकर यहाँ यह पद्य उदाहरण होता है। यह उदाहरण जाति-हेतूत्प्रेक्षा का है, क्योंकि 'कज्जल' जातिवाचक शब्द है।

पाठान्तरेऽस्यैव पद्यस्य हेतूत्प्रेक्षाप्रभेदान्तरोदाहरणता संभवतीत्याह—

'कज्जल-लेपनैः' इति कृते इयमेव क्रियाहेतूत्प्रेक्षा।

'विपुलकज्जलैः' इत्यस्य स्थाने 'कज्जल-लेपनैः' इति पाठे विहिते लेपनस्य क्रियारूपतया क्रियाहेतूत्प्रेक्षोदाहरणता प्रतिपद्यते पद्यमेतदिति भावः।

इसी पद्य में यदि 'विपुल-कज्जलैः' के स्थान में 'कज्जल-लेपनैः' पाठ कर दिया जाय तब यही पद्य क्रिया-हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण हो जायगा, क्योंकि 'लेपन' एक क्रिया है।

हेतूत्प्रेक्षाप्रभेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

गुणहेतूत्प्रेक्षा यथा—

गुणहेतूत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'परस्परासङ्गसुखान्नतभ्रुवः पयोधरौ पीनतरौ बभूवतुः।
तयोरमृष्यन्नयमुन्नतिं परामवैमि मध्यस्तनिमानमञ्चति॥'

नतभ्रुवः नम्रीभूतभ्रूलतायाः नायिकायाः, पयोधरौ स्तनौ, परस्परासङ्गसुखात् मिथो मिलनजन्यात् हेतोः, पीनतरौ अतिस्थूलौ, बभूवतुः संजातौ, तथा, तयोः स्तनयोः, पराम् उत्कृष्टाम्, उन्नतिम् उत्कर्षम्, अमृष्यन् असहमानः, अयं मध्यः नायिकाकटिप्रदेशः, तनिमानम् कृशताम्, अञ्चति प्राप्नोति, इति, अवैमि जानामीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—परस्पर इत्यादि। नतभ्रू नायिका के दोनों स्तन, परस्पर आसक्त होने (सट-सट कर मिल जाने) के सुख से अत्यन्त पीन (पुष्ट) हो गए हैं और उन दोनों की इस परम उन्नति को न सहता हुआ मध्यभाग (कटि-प्रदेश) कृशता को प्राप्त कर रहा है ऐसा मैं जानता हूँ, मानता हूँ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे सुखस्य गुणस्य हेतुत्वं शब्दत एव निर्दिष्टम्। अपरार्धे धर्मिविशेषणतया अनूद्यमानस्य गुणाभावस्य स्वार्थम्। यथा 'भोज्यं भुङ्क्ते मा कुप्यति' इत्यादौ भोजनादेः।

हेतूत्प्रेक्षायाः प्रभेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

क्रियाहेतूत्प्रेक्षा यथा—

क्रिया हेतूत्प्रेक्षा, जैसे—

गद्यात्मकमुदाहरणमुपन्यस्यति—

'महागुरुकलिन्दमहीधरोदरविदारणाविर्भवन्महापातकावलिवेल्लनादिव श्यामलिता' इति ।

यमुनां वर्णयति कविः—(या यमुना) महागुरोः पितुः, कलिन्दमहीधरस्य कलिन्दाख्यस्य पर्वतस्य, उदरस्य मध्यभागस्येति यावत्, विदारणेन भेदनेन, आविर्भवतः उत्पद्यमानस्य महापातकस्य, आवलेः पङ्क्तेः, वेल्लनात् प्राप्तेः हेतोः, इव, श्यामलिता संजातश्यामगुणा इत्यर्थः । अत्र वेल्लनात्मिकायाः क्रियाया हेतुत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति भावः ।

गद्यात्मक उदाहरण उपस्थित किया जाता है—महागुरु इत्यादि । यमुना का वर्णन है—(जो यमुना) महागुरु (जन्मदाता) 'कलिंद'पर्वत का उदर विदीर्ण करने से उत्पन्न होते हुए महापातकों की पङ्क्ति के प्राप्त हो जाने से, मानो, काली हो गई है । यहाँ 'वेल्लन' (प्राप्त हो जाने)-रूप क्रिया का हेतु होना उत्प्रेक्षित हुआ है ।

हेतूत्प्रेक्षाया एवावशिष्टं भेदमुदाहर्तुमाह—

द्रव्यहेतूत्प्रेक्षा यथा—

द्रव्यहेतूत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'वराका यं राकारमण इति वल्गन्ति सहसा
सरः स्वच्छं मन्ये मिलदमृतमेतन्मरुभुजाम् ।
अमुष्मिन्या कापि द्युतिरतिघना भाति मिषता-
मियं नीलच्छायादुपरि निरपायाद्गगनतः ॥'

कविः कथयति—वराकाः कृपणाः मूर्खा इति यावत्, सहसा हठात्, यं चन्द्रम्, राकारमणः पूर्णिमापतिः, इति, वल्गन्ति कथयन्ति । अहं मिलदमृतम् अमृतमयम्, मरुभुजां देवानाम्, स्वच्छम्, सरः सरोवरम्, मन्ये । अमुष्मिन् तस्मिन्, मिषतां पश्यताम्, या कापि, अतिघना निबिडा, द्युतिः नीलकान्तिः, भाति, इयं द्युतिः, उपरि वर्तमानात्, नीलच्छायात् नीलकान्तेः, निरपायात् अविनश्वरात्, गगनतः आकाशादेवोत्पन्ना [illegible] ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—वराका इत्यादि । कवि की उक्ति है—पामर लोग जिसको राकारमण—पूर्णिमापति (चन्द्र) शब्द से कहते हैं, इसे, मैं, अमृतमय देवताओं का स्वच्छ सरोवर मानता हूँ । इसके अन्दर देखनेवालों को जो अत्यन्त गहरी [illegible] काली [illegible] दिखाई पड़ती है, वह [illegible] उसके ऊपर वाले नीलकान्तियुक्त और अविनश्वर [illegible] आकाश के कारण है ।

उपपादयति—

[illegible] नीलकान्तेः [illegible] । [illegible] द्रव्यस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणं [illegible] ।

[illegible] । 'वराका—' इति [illegible] [illegible]

इत्यादि। सीमारहित शोभा के सौभाग्यस्वरूप, नताङ्गी नायिका के दोनों नेत्र, मानो, परस्परदर्शनजन्य आनन्द के अभाव से चञ्चल हो रहे हैं।

उपपादयति—

अत्र गुणाभावस्य।

'निःसीम—' इति पद्ये आनन्दरूपगुणाभावस्य नयनचाञ्चल्यहेतुत्वेनोत्प्रेक्षेति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'निःसीम–' इस पद्य में आनन्दरूप गुण के अभाव की नेत्रगत चञ्चलता के हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है।

क्रियाभावहेतुत्वोत्प्रेक्षोदाहरणमुपन्यस्यति—

'जनमोहकरं तवालि मन्ये चिकुराकारमिदं घनान्धकारम्।
वदनेन्दुरुचामिहाप्रचारादिव तन्वङ्गि नितान्तकान्तिकान्तम्॥'

सखी नायिकां प्रति ब्रूते—हे आलि! सखि! जनमोहकरं दर्शकजनमोहकम्, तव चिकुराकारं केशाकृतिधरम्, इदं घनान्धकारं निबिडं तमः, अहम्, मन्ये—अर्थात् केशसमूहो नायम्, किन्तु तमःपुञ्जम्। हे तन्वङ्गि कृशाङ्गि! इह मस्तकोपरिभागे वदनेन्दुरुचां मुखचन्द्र-ज्योत्स्नानाम्, अप्रचारात् प्रचरणाभावात् इव, नितान्तकान्त्या अतिशयितनीलप्रभया, कान्तं रमणीयम्। इदं घनान्धकारविशेषणम् इत्यर्थः।

अब क्रियाभाव की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा का उदाहरण दिखलाया जाता है—जनमनोहरम् इत्यादि। सखी नायिका से कहती है—हे सखि! लोगों को मोहित करनेवाले तेरे केशों के आकार में, मैं, इसको गहरा अन्धकार मानती हूँ—अर्थात् यह केश नहीं किन्तु अन्धकार है। हे कृशाङ्गि! मानो, यहाँ मुखरूप चन्द्र की ज्योत्स्ना का प्रचार न होने के कारण यह अन्धकार अत्यधिक कान्ति (नीली प्रभा) से रमणीय हो रहा है।

उपपादयति—

इह द्वितीयार्धे क्रियाभावस्य। प्रथमार्धे तु जात्यवच्छिन्नस्य जात्यवच्छिन्नाभावस्य वा स्वरूपोत्प्रेक्षैव।

क्रियेति। प्रचारस्य क्रियात्वादिति भावः। तुरुक्तवैलक्षण्ये। एतेन प्रासङ्गिकत्वमस्य सूचितम्। अत एव व्युत्क्रमेणोक्तिः। अन्धकारोऽतिरिक्तः पदार्थ इति मीमांसकमतेनाह—जात्यवच्छिन्नेति। तेजोऽभाव एव स इति [illegible]—जात्यवच्छिन्नाभावेति। 'जनमोहकरम्—' इति श्लोके प्रचारक्रियाभावस्य नितान्तकान्तिमत्त्वे [illegible] हेतुत्वेनोत्प्रेक्षेति [illegible]। यद्यपि पूर्वार्धेऽप्येकोत्प्रेक्षाऽस्ति, तथापि न सा हेतूत्प्रेक्षा, किन्तु स्वरूपोत्प्रेक्षैव। तत्रापि मतभेदः। येऽन्धकारमतिरिक्तं पदार्थं मन्यन्ते तेषां मते चिकुरेऽन्धकारत्वजात्यवच्छिन्नस्य तादात्म्येनोत्प्रेक्षा। ये तु तेजोऽभावमेवान्धकारं स्वीकुर्वन्ति तेषां मते चिकुरे तेजस्त्वजात्यवच्छिन्नाभावस्य तादात्म्येनोत्प्रेक्षेति भावः।

उपपादन किया जाता है—इह इत्यादि। 'जनमोहकरम्—' इस पद्य के उत्तरार्ध में क्रिया के अभाव की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की जाती है। तात्पर्य यह कि—केशाकार निबिड अन्धकार यद्यपि स्वभावतः 'नितान्तकान्तिकान्त'—सुन्दर है, तथापि यहाँ मुखरूप चन्द्र की कान्तियों के प्रचरण न होने के कारण उसको वैसा कहा गया है, अतः 'नितान्तकान्तिकान्तत्व' के प्रति मुखचन्द्रकान्तिगत प्रचरणक्रिया के अभाव की हेतुरूप में सम्भावना स्पष्ट है। यद्यपि पूर्वार्ध में भी 'केश में अन्धकार की सम्भावना'रूपा एक उत्प्रेक्षा है, पर वह हेतूत्प्रेक्षा नहीं, किन्तु स्वरूपोत्प्रेक्षा है और स्वरूपोत्प्रेक्षा भी वहाँ मतभेद से भिन्न-भिन्न रूप की है—अर्थात् जो लोग (मीमांसक) अन्धकार को एक भावपदार्थ मानते हैं उनके मत से यहाँ जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा होती है। पर जो लोग

(नैयायिक) अन्धकार को तेज का अभावमात्र मानते हैं, कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, उनके मत से यहाँ जात्यभावस्वरूपोत्प्रेक्षा होती है।

द्रव्याभावहेतूत्प्रेक्षोदाहरणमुपन्यस्यति—

'न नगाः काननगा यद्रुदतीषु त्वदरिभूपसुदतीषु।
शकलीभवन्ति शतधा शङ्के श्रवणेन्द्रियाभावात्॥'

कविः कमपि राजानं स्तौति—(हे राजन्!) तव, अरिभूपानाम्, भूपानाम्, सुदतीषु सुन्दरदन्तयुक्तासु कामिनीषु, रुदतीषु रोदनं कुर्वतीषु सतीषु, काननगाः वनस्थिताः, नगाः वृक्षाः पर्वता वा, यत्, शतधा, न, शकलीभवन्ति विदीर्यन्ते, तत्, श्रवणेन्द्रियस्य श्रोत्रस्याभावाद्धेतोरिति, शङ्के मन्ये इत्यर्थः।

द्रव्याभाव की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा का उदाहरण दिखलाया जाता है—न नगा इत्यादि। कवि किसी राजा की स्तुति करता है—(हे राजन्!) आपके शत्रुभूत राजाओं की सुन्दर दन्तावलीवाली कामिनियों के रोते रहने पर वन के वृक्षों अथवा पर्वतों के जो सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते, मानों, इसका कारण कर्णेन्द्रिय का अभाव है।

उपपादयति—

इह श्रोत्रत्वस्य जातिगुणक्रियाभ्योऽतिरिक्तस्य विवेके क्रियमाणे आकाशस्वरूपतया तदवच्छिन्नाभावस्य द्रव्याभावस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षा। निमित्तं क्रियाभावः।

श्रोत्रत्वावच्छिन्नाभावः श्रोत्रत्वादाह—विवेक इति। आकाशरूपतया व्याख्या द्रव्याभावस्येति। निमित्तमिति। तस्य सत्त्वेनोत्प्रेक्षायाँ निमित्तमित्यर्थः। क्रियेति। शकलीभवनक्रियेत्यर्थः। श्रोत्रत्वं न जातिरूपम्, न गुणरूपम्, न वा क्रियारूपम्, तस्मो विवेचने विचारे क्रियमाणे आकाशरूपमेव पर्यवस्यति, आकाशश्च द्रव्यम्, तथा च तदवच्छिन्नाभावो द्रव्याभाव एव सिद्ध्यति, अतः 'न नगाः—' इत्यत्र नगशकलीभवनाभावे तस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षा द्रव्याभावहेतूत्प्रेक्षाया उदाहरणतामासादयति। अस्यामुत्प्रेक्षायां शकलीभवनाभावो निमित्तभूत इति भावः।

उपपादन किया जाता है—इह इत्यादि। कर्णेन्द्रिय जाति, गुण और क्रियाओं से भिन्न वस्तु है। फलतः विवेचन करने पर वह आकाशरूप सिद्ध होती है, जो कि एक द्रव्य है। अतः आकाश का अभाव द्रव्याभाव हुआ, उस अभाव की 'न नगाः—' इस पद्य में हेतुरूप से उत्प्रेक्षा की गई है। उत्प्रेक्षा का निमित्त है 'टुकड़े होने'रूप क्रिया का अभाव। सारांश यह कि इस तरह यह पद्य द्रव्याभावहेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण होता है।

उपसंहरति—

एवं हेतूत्प्रेक्षादिक्।

एवम् उक्तप्रकारेण, हेतूत्प्रेक्षाया, दिक्, उपदर्शिता इति शेषः। अथवा एवम् = एतत्प्रकारा, हेतूत्प्रेक्षा, दिक् रीतिः, बोध्येति शेषः।

उपसंहार किया जाता है—एवम् इत्यादि। इस तरह हेतूत्प्रेक्षा की दिशा (रीति) दिखला दी गई।

अथावसरसङ्गत्या फलोत्प्रेक्षामाह—

अथ फलोत्प्रेक्षा—

फलोत्प्रेक्षाविचारः प्रक्रान्तो वेदितव्य इति भावः।

अब फलोत्प्रेक्षा के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

तत्र प्रथमं जातिफलोत्प्रेक्षोदाहरणमुपन्यस्यति—

'दिवानिशं वारिणि कण्ठदघ्ने दिवाकराराधनमाचरन्ती ।
वक्षोजतायै किमु पक्ष्मलाक्ष्यास्तपश्चरत्यम्बुजपङ्क्तिरेषा ॥'

दिवानिशम् अहोरात्रम् , कण्ठदघ्ने कण्ठप्रमाणे, वारिणि जले, दिवाकरस्य सूर्यस्य आराधनम् उपासनम् , आचरन्ती कुर्वती, एषा, अम्बुजपङ्क्तिः कमलमाला, पक्ष्मलाक्ष्याः सघनपक्ष्मयुक्तनेत्रायाः नायिकायाः, वक्षोजतायै स्तनतायै स्तनत्वप्राप्तये इति यावत् , तपः, चरति, किमु इत्यर्थः ।

जातिफलोत्प्रेक्षा का उदाहरण दिखलाया जाता है—दिवानिशम् इत्यादि । कवि की उक्ति है—दिन-रात गले भर पानी में सूर्य की आराधना करती हुई यह कमलों की पङ्क्ति, क्या सघनपक्ष्मयुक्त आँखोंवाली नायिका का स्तनत्व पाने के लिये तप कर रही है ।

उपपादयति—

अत्र वक्षोजत्वमवयववृत्ति । जातिस्तल्प्रत्ययार्थः । त्वतलोः प्रकृतिप्रवृत्तिनिमित्ते भावे विधानात् । स एव चात्र तपश्चरणक्रियायाः साहजिकजलावस्थानाभिन्नतयाऽध्यवसितायाः फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यते ।

अवयवेति स्तनेत्यर्थः । स एवेति । जातिरूपतल्प्रत्ययार्थ एवेत्यर्थः । वक्षोजत्वं स्तनरूपनायिकाङ्गवृत्तिपदार्थः, स च जातिरूपः, जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपेषु प्रवृत्तिनिमित्तेषु अन्येषां बाधितत्वेन जातिरूप एव वक्षोजपदप्रवृत्तिनिमित्तात्मके भावे वक्षोजपदात्तल्प्रत्ययस्यात्र विधानात् । सा जातिरेव चात्र तस्याः तपश्चरणक्रियायाः फलतयोत्प्रेक्ष्यते या तपश्चरणक्रियाऽत्र स्वाभाविकजलावस्थानेऽध्यारोप्य वर्णिता । एवञ्च जातिफलोत्प्रेक्षोदाहरणता प्रकृतपद्यस्य समुचितैवेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'दिवानिशम्—' इस पद्य में वर्णित 'वक्षोजता' (स्तनत्व) एक अङ्ग (स्तन) में रहनेवाला पदार्थ है । और वह जातिरूप ही हो सकता है, क्योंकि 'तल्' प्रत्यय का अर्थ यहाँ जाति ही है । कारण, 'त्व' और 'ता' प्रत्यय जिस शब्द से विहित होते हैं, उनका उस शब्द के प्रवृत्तिनिमित्तरूप भाव में विधान होता है । तात्पर्य यह कि—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य इस तरह कुल चार प्रकार के प्रवृत्ति-निमित्त होते हैं, उनमें से 'स्तन' का प्रवृत्ति-निमित्त जातिरूप ही है, अतः यहाँ 'ता' प्रत्यय का अर्थ जाति हुआ । उसी जातिरूप अर्थ की यहाँ कमलों के स्वाभाविक धर्म—जल में रहने—से अभिन्नरूप मानी हुई 'तपश्चरण'-क्रिया के फलरूप में उत्प्रेक्षा की जा रही है । अतः यह पद्य जातिफलोत्प्रेक्षा का उदाहरण होता है ।

आशंक्य समाधत्ते—

न चात्र प्राप्तिक्रियाभावरूपेण जातेः शुद्धाया अफलत्वात् क्रियाया एव फलत्वमिति वाच्यम् । प्राप्तेः संसर्गतया तद्द्वारैव जात्यादेः फलत्वोपपत्तेः । अन्यथा फलत्वबोधकचतुर्थ्या अनुपपत्तेः । अत एव—'ब्राह्मण्याय तपस्तेपे विश्वामित्रः सुदारुणम्' इत्यादयः प्रयोगाः ।

वाच्यमिति । [illegible] फलत्वं न संभवतीति भावः । क्रियाया इति । [illegible] इत्यर्थः । संसर्गतयेति । [illegible] भावः । अन्यथेति । [illegible] इत्यर्थः । [illegible] अत एवेति । [illegible] जात्यादेरपि [illegible] इत्यर्थः । ब्राह्मण्यायेति । [illegible] विश्वामित्रः [illegible] राजा, ब्राह्मण्याय ब्राह्मणत्वलाभाय, सुदारुणं, तपः तेपे इत्यर्थः । [illegible]

यशोजत्वजातिः तपश्चरणक्रियायाः फलं न भवितुमर्हति, अपि तु यशोजत्वप्राप्तिरिति मूले 'यशोजतायै' इत्यत्र यशोजतापदस्य स्वकर्मकप्राप्तिक्रियायां लक्षणायाः स्वीकर्तव्यतया क्रियाफलोत्प्रेक्षात्वमेव, न जातिफलोत्प्रेक्षात्वमिति शङ्का न कर्तव्या, अपदार्थस्यापि संसर्गविधया भासमानां प्राप्तिक्रियां द्वारीकृत्य नित्याया यशोजत्वजातेरपि फलत्वं संभवतीत्याशयात् , तथा च न लक्षणाया आवश्यकतेति सारांशः। अत एव यशोजतापदात् विहिता फलत्वार्थिका चतुर्थी उपपद्यते। एवंविधः प्रयोगः प्राचामपि दृश्यते यथा 'ब्राह्मण्याय—' इति। इति भावः।

एक आशङ्का करके उसका समाधान किया जाता है—न चात्र इत्यादि। आप कहेंगे-यहाँ 'प्राप्ति'क्रिया के बिना केवल 'यशस्त्व'जाति फल नहीं हो सकती, क्योंकि 'जाति' नित्य पदार्थ है और 'फलत्व' है उत्पत्तिघटित पदार्थ—अर्थात् जन्य वस्तु ही फलरूप हो सकती है, नित्य वस्तु नहीं, अतः तपश्चरणक्रिया का फल यहाँ 'प्राप्तिक्रिया' को मानना उचित है, न कि 'जाति' को। सो इसका समाधान यह है कि—'प्राप्ति'क्रिया यहाँ सम्बन्धरूप से भासित होती है, उसके द्वारा नित्य पदार्थ (जाति) भी फलरूप हो सकता है। फलतः इस पक्ष में 'यशोजता' पद की 'यशोजताप्राप्ति' में लक्षणा नहीं करनी पड़ी पूर्वपक्ष में तो वह करनी ही पड़ती। 'यशोजता' को फल मानने पर ही 'यशोजता' पद से फलत्वार्थक चतुर्थी विभक्ति का विधान सङ्गत होता है। अन्यथा यह असङ्गत हो होता। इस तरह का प्रयोग कुछ नया नहीं है—प्राचीनों ने भी इस तरह का प्रयोग किया है। देखिए—बालरामायणकार ने लिखा है—'ब्राह्मण्याय—अर्थात् विश्वामित्रजी ने—जो जन्मना क्षत्रिय थे—ब्राह्मणत्व के लिये अतिदारुण तप किया'। यहाँ का 'ब्राह्मण्याय' प्रयोग इसी तरह का है।

फलोत्प्रेक्षायाः प्रभेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

गुणफलोत्प्रेक्षा यथा—

गुण की फलरूप में उत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'वियोगवह्निकुण्डेऽस्मिन् हृदये ते वियोगिनि।
प्रियसङ्गसुखायेव मुक्ताहारस्तपस्यति ॥'

हे वियोगिनि विरहिणि ! वियोगरूपस्य वह्नेः, कुण्डे गर्ते, अस्मिन्, ते, हृदये, मुक्ताहारः मौक्तिकं दाम, मुक्तः आहारो येन स इति श्लिष्टोऽर्थः, प्रियसङ्ग एव सुखं तस्मै, इव, तपस्यति तपः करोतीत्यर्थः। अत्र सुखरूपगुणस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षणं स्पष्टमेव।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—वियोग इति। हे विरहिणि ! इस विरहाग्नि के कुण्डरूप तेरे हृदय में मोतियों का हार (मुक्त कर दिया है आहार को जिसने ऐसा—अनशनव्रती—उपवास करनेवाला) मानो, प्रियतमसङ्गरूप सुख के लिये तपस्या कर रहा है। यहाँ 'सुख'रूप गुण की फलरूप में उत्प्रेक्षा स्पष्ट ही है।

फलोत्प्रेक्षाया एव प्रभेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

क्रियाफलोत्प्रेक्षा यथा—

क्रिया की फलरूप में उत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'हालाहलकालानलकाकोदरसङ्गतिं करोति विधुः।
अभ्यसितुमिव तदीयं विलासमद्यापि हरशिरसि ॥'

विधुश्चन्द्रः, अद्यापि, हरशिरसि महादेवमस्तके, तदीयां सङ्गतिमित्यादि, विधां

मारणकलाहपाम्, अभ्यसितुम्, इव, हालाहलस्य विषस्य, कालानलस्य प्रलयाग्नेः, काकोदरस्य सर्पस्य, च, सङ्गतिं संसर्गम्, करोतीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—हालाहल इत्यादि। आज दिन भी चन्द्रमा, महादेवजी के मस्तक पर विष, प्रलयाग्नि और सर्पों की सङ्गति, मानो उनकी विद्या (मार डालने की कला) का अभ्यास करने के लिये कर रहा है।

उपपादयति—

अत्र विरहिवाक्येऽभ्यसनक्रियायास्तुमुना फलत्वं लभ्यते।

'हालाहल—' इति विरहिजनोक्तं वाक्यम्, तत्र 'तुमुन्'प्रत्ययप्रकृत्यर्थभूतायाः 'अभ्यसितुम्' इति पदबोध्यायाः अभ्यसनक्रियायाः 'तुमुन्'प्रत्ययेन हालाहलादिसङ्गतिफलत्वं लभ्यते। तथा चाभ्यसनक्रियायाः फलत्वेनोत्प्रेक्षा सिद्धेति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'हालाहल—' इस विरही के वाक्य में 'अभ्यास करने'रूप क्रिया का फलरूप होना 'तुमुन्'(के लिये)प्रत्यय द्वारा प्रतीत होता है। अतः यह पद्य क्रियाफलोत्प्रेक्षा का उदाहरण होता है।

उपसंहरति—

एवं लक्ष्यानुसारेण यथासम्भवमन्यदप्युदाहार्यम्।

पूर्वोक्तरीतिमनुसृत्य यथासम्भवं तादृशानि उदाहरणान्तराण्यपि दातुं शक्यन्ते यादृशानामुदाहरणानां लक्ष्याणि समुपलब्धानि स्युः। उक्ता यावन्त उत्प्रेक्षायाः प्रभेदास्तावन्त एव सम्भवन्तीति न कश्चन नियमः, अपि तु लक्ष्योपलब्धौ प्रभेदान्तराण्यपि सम्भवन्तीति सारांशः।

उपसंहार किया जाता है—एवं इत्यादि। इसी तरह लक्ष्य के अनुसार यथासम्भव अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। तात्पर्य यह कि जितने प्रभेद उत्प्रेक्षा के दिखलाये गये हैं उतने ही हो सकते हैं यह कोई नियम नहीं है। यदि लक्ष्य प्राप्त करा दिये जाँय तब और-और भेद भी इसी तरह माने जा सकते हैं।

स्वमतसिद्धं विशेषमाह—

एते जात्यादयो हि भेदाः प्राचामनुरोधादुदाहृताः। वस्तुतस्तु नैषां चमत्कारे वैलक्षण्यमस्तीत्यनुदाहार्या एव। चमत्कारवैलक्षण्यं पुनर्हेतुफलस्वरूपात्मकानां त्रयाणां प्रकाराणामेवेति।

प्राचामिति। अलङ्कारसर्वस्वकारादीनामित्यर्थः। [illegible] इति शेषः।

ग्रन्थकार अपने मत की विशिष्ट बातें कहते हैं—एत इत्यादि। यहाँ (उत्प्रेक्षाप्रकरण में) जाति आदि भेदों के उदाहरण अलङ्कारसर्वस्वकार आदि प्राचीन विद्वानों के अनुरोध से दिये गये हैं। वस्तुतः इन भेदों के चमत्कार में कोई विलक्षणता नहीं है—अर्थात् जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा की अपेक्षा गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा में कोई खास तरह का चमत्कार नहीं उपलब्ध होता, अपितु स्वरूप की उत्प्रेक्षाप्रयुक्त एक ही तरह का चमत्कार प्राप्त होता है, अतः इन भेदों का पृथक् पृथक् उदाहरण देना आवश्यक नहीं है। फलतः यह समझना चाहिए कि—चमत्कार की विलक्षणता केवल हेतु, फल और स्वरूप—इन तीन भेदों में ही है। तात्पर्य यह कि वस्तुतः उत्प्रेक्षा के हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और स्वरूपोत्प्रेक्षा, ये ही तीन भेद होने चाहिएँ, अन्य भेद अनुचित हैं।

अपरं विशेषमाह—

प्रागुदाहृतेष्वेव पद्येषु वाचकानामिवादीनां त्यागे प्रतीयमाना, अर्थसामर्थ्यावसेयत्वात्। न तु व्यङ्ग्येति भ्रमितव्यम्, तस्याः प्रकृते प्रसङ्गाभावात्।

गम्यमानेति । अर्थान्तरन्यासादिगमकत्वादित्यर्थः ।

दूसरा विशेष बतलाया जाता है—प्राक् इत्यादि । पूर्व में जो पद्य उदाहृत हुए हैं उन्हीं में से यदि 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्द हटा दिए जाँय तो प्रतीयमाना (गम्या) उत्प्रेक्षाएँ हो सकती हैं, क्योंकि वैसी स्थिति में केवल अर्थ के बल पर, अंततः, उत्प्रेक्षा माननी पड़ती है। किन्तु साथ ही इतना और ज्ञात होना चाहिए कि यहाँ प्रतीयमाना अथवा गम्या का अर्थ व्यङ्ग्य नहीं है, ऐसा उचित नहीं । कारण, प्रकृत में व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा का कोई प्रसङ्ग नहीं—यहाँ तो सामग्री के प्रबल होने के कारण अर्थतः प्राप्त उत्प्रेक्षा का वर्णन है ।

धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षामुदाहृत्य धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षामुदाहर्तुमाह—

धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

धर्मस्वरूप की उत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

> 'निधिं लावण्यानां तव खलु मुखं निर्मितवतो
> महामोहं मन्ये सरसिरुहसूनोरुपचितम् ।
> उपेक्ष्य त्वां यस्माद्विधुमयमकस्मादिह कृती
> कलाहीनं दीनं विकल इव राजानमतनोत् ॥'

लावण्यानां सौन्दर्याणाम् , निधिं आकरम् , तव, मुखम् , निर्मितवतः रचितवतः, सरसिरुहसूनोः ब्रह्मणः, खलु निश्चयेन, उपचितं समृद्धं महामोहम् अज्ञानान्धकारम् , मन्ये, यस्मात् , कृती कुशलः, अयं ब्रह्मा, विकलः व्यग्रः, इव इह संसारे, त्वाम् , उपेक्ष्य, कलाहीनं निष्कलम् , अथ च, दीनं दैन्यपरीतम् , अस्माहरहितमिति यावत् , विधुं चन्द्रम् , राजानम् सर्वश्रेष्ठं (चन्द्रस्य 'राजा' इति संज्ञा कल्पनामूलभूतेति स्मरणीयम्), अतनोत् अकरोत्, इत्यर्थः । विकलो विधिः 'त्वन्मुखं राजपदयोग्यम् , चन्द्रो वा तत्पद-योग्यः' इति विवेक्तुं नाशकदिति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—निधिम् इत्यादि । विधाता जब सौन्दर्यों के निधिरूप तेरे मुख को बना चुके तब उनमें महान् मोह (जड़ता) उत्पन्न आया ऐसा मैं मानता हूँ और ऐसा इसलिये मानना पड़ता है कि इसने (ब्रह्मा ने) कुशल होते हुए भी, तुम्हारी उपेक्षा करके, कलाओं से हीन और दीन चन्द्रमा को, घबराए की तरह, राजा बना दिया—उन में इतना सोचने की शक्ति ही नहीं रह गई कि राजा बनाने योग्य तेरा मुख है अथवा चन्द्रमा । (संस्कृत भाषा में चन्द्रमा का एक नाम 'राजा' भी है, उसीके आधार पर यह कल्पना खड़ी की गई है ।)

उपपादयति—

पूर्वार्धेऽभिहितमोहरूपधर्मसिद्धये द्वितीयार्धेऽविचार्यकारित्वं तत्सामानाधि-करण्येनोक्तम् ।

पूर्वार्धेति [illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] 'पूर्वार्धे [illegible]—' [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ([illegible]) [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] ।

उपपादन किया जाता है—पूर्वार्ध इत्यादि । 'निधिम्—' इस पद्य के पूर्वार्ध में 'ब्रह्म'-रूप धर्मी में 'मोह'रूप धर्म की समवायसम्बन्ध से सम्भावना की गई है, अतः वह

धर्मोत्प्रेक्षा है। अक्षा में मोहरूप धर्म की सिद्धि के लिये, उत्तरार्ध में, उस मोह के साथ रहनेवाले धर्म के रूप में 'अविचार्यकारित्व' (बिना विचारे करने) का वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह कि—धर्मोत्प्रेक्षा का निमित्त होता है 'समानाधिकरण धर्म' यह पहले कहा जा चुका है तदनुसार यहाँ उक्त मोहरूप धर्म की उत्प्रेक्षा में 'अविचार्यकारित्व' धर्म निमित्त है, क्योंकि यह धर्म मोह का समानाधिकरण है—अर्थात् मोह जिस अक्षारूप आधार में है उसी में 'अविचार्यकारित्व' भी रहता है। यह निमित्तभूत धर्म यहाँ उत्तरार्ध में 'अकस्मात्' पद से उपात्त है।

निमित्तांशे प्रागनुक्तं विशेषमुपदर्शयति—

अस्यां च स्वरूपस्य विषयित्वे निमित्तभूतो धर्म उपमायामिव बिम्बप्रतिबिम्बभावादिभिर्भिन्न उपात्तोऽनुपात्तश्च। हेतुफलयोर्विषयित्वे तु यं प्रति हेतुफले निरूपिते स धर्मः कल्प्यमानोऽपि विषयगतसाहजिकधर्माभिन्नतयाऽध्यवसीयमानो निमित्तं सम्पद्यते। स चोपात्त एव भवति। अन्यथा कं प्रति हेतुफलयोरन्वयः स्यादिति सङ्क्षेपः।

अस्यां चेति। उत्प्रेक्षात्वावच्छिन्नायामित्यर्थः। स्वरूपस्येति। धर्मिस्वरूपस्य धर्मस्वरूपस्य चेत्यर्थः। भावादिभिरिति। आदिना अनुगामित्वादिपरिग्रहः। एवं च चतुर्विध इति भावः। तदाह—भिन्न इति। कल्प्यमानोऽपीति। अपिः स्वाभाविकसमुच्चायकः। अयमाशयः—यथा 'त्वत्प्रतापमहादीप—' इत्यत्र हेतूत्प्रेक्षायाम्—नभस्तलगतं यं नीलिमधर्मं प्रतिप्रतापरूपदीपकज्जलं हेतुर्निरूपितः स नीलिमधर्मः कज्जलजन्यत्वेन कल्प्यमानोऽपि नभस्तलगतस्वाभाविकनीलिमाभिन्नतया अध्यवसीयते। स एव च नीलिमा कज्जलस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणं प्रति निमित्तं भवति। स च नीलिमा सर्वदोपात्त एव भवति। अन्यथा (तस्याऽनुपात्तत्वे) कं प्रति हेतोरन्वयः स्यात्, अर्थात् नीलिम्नः शब्दानुपात्तत्वे कज्जलरूपहेतोरन्वयः कुत्र स्यात्? एवं फलोत्प्रेक्षायामपि यस्यास्तपश्चरणक्रियायाः फलत्वेन वक्षोजता (तत्प्राप्तिः) उत्प्रेक्ष्यते स तपश्चरणरूपो धर्मः स्वभावसिद्धजलावस्थानाभिन्नतयाऽध्यवसीयते। स एव चोत्प्रेक्ष्यमाणां वक्षोजतां प्रति निमित्तं भवति। इदं निमित्तं (तपश्चरणम्) यद्यनुपात्तं स्यात् तर्हि वक्षोजताप्राप्तिरूपस्य फलस्यान्वयः कुत्र स्यात्? इति।

निमित्तभूतधर्म के विषय में कुछ नवीन विचार किया जाता है—अस्यां च इत्यादि। उत्प्रेक्षा में जब स्वरूप विषयी होता है तब—अर्थात् स्वरूपोत्प्रेक्षास्थल में—निमित्तरूप में आनेवाला धर्म, उपमा की तरह, बिम्बप्रतिबिम्बभाव आदि उपाधियों से युक्त होकर अनेक प्रकार का होता है। और अनेकप्रकारापन्न धर्म भी कहीं उपात्त और कहीं अनुपात्त रहता है। किन्तु जहाँ हेतु तथा फल विषयी होते हैं वहाँ—अर्थात् हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के स्थलों में—जो जिस धर्म के प्रति हेतु और फल का निरूपण किया जाता है वही धर्म कल्पित होने पर भी (स्वाभाविक भी हो सकता है), उत्प्रेक्षा के विषयभूत पदार्थ में रहनेवाले स्वाभाविक धर्म से अभिन्नरूप में अध्यवसित होकर उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है। अतः वह धर्म उपात्त ही होता है, अनुपात्त कभी नहीं। अन्यथा हेतु और फल का अन्वय होगा किसके साथ? उदाहरण के आधार पर इस प्रसङ्ग को स्पष्ट कर देना अच्छा होगा, अतः निम्नलिखित कुछ पङ्क्तियों पर ध्यान दीजिए—'त्वत्प्रताप—' इत्यादि पूर्वोक्त हेतूत्प्रेक्षा में आकाशगत जिस 'नीलेपन' धर्म के प्रति प्रताप-दीप-कज्जल की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा हुई है वही 'नीलापन' धर्म आकाशगत स्वाभाविक 'नीलेपन' से अभिन्नरूप में अध्यवसित होकर उक्त हेतूत्प्रेक्षा का निमित्त होता है। ऐसी स्थिति में वह 'नीलापन' सदा उक्त रहेगा ही। यदि वह उक्त न रहे तब कज्जलरूप हेतु का अन्वय हो कैसे और कहाँ होगा? इसी तरह 'पिबन्तिपयः—' इस पूर्वोक्त फलोत्प्रेक्षा में

न्यतः सूचना देकर पहले प्राचीन मत का उल्लेख करते हैं—अत्र च इत्यादि। उत्प्रेक्षा के विषय में प्राचीनों और आधुनिकों का अनेकप्रकारक मत व्यवस्थित है। उनमें से प्राचीनों का मत इस प्रकार का है—विषयी की विषय में सर्वत्र अभेदसम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा होती है, अन्य (समवाय आदि) किसी सम्बन्ध से नहीं। अभिप्राय यह कि—विषयी तथा विषय ये दोनों अथवा इन दोनों में से कोई एक धर्मीरूप हो अथवा धर्मरूप हो, इससे उत्प्रेक्षा के सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं होता—सर्वत्र एक में दूसरे की सम्भावना अभेदसम्बन्ध से ही की जाती है। देखिए—'मुख मानो चन्द्रमा है' इत्यादि धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षास्थल में तो विषयी चन्द्र का विषय मुख में अभेद स्पष्ट ही है—अर्थात् ऐसे स्थलों में अभेदसंबन्ध से ही उत्प्रेक्षा होती है यह बात सर्वसम्मत है, क्योंकि दो नामार्थों का भेदसंबन्ध द्वारा साक्षात् अन्वय व्युत्पत्ति के विरुद्ध है। और यह उत्प्रेक्षा उपात्त-(उक्त)विषया है, क्योंकि विषय मुख शब्दतः वर्णित है। कहने का तात्पर्य यह कि—धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा सर्वत्र उपात्तविषया ही होती है। कारण, इस तरह की उत्प्रेक्षा में विषय का शब्दतः वर्णित रहना निश्चित है। इसी तरह "अस्यां मुनीनाम्—(सम्पूर्ण पद्य संस्कृत टीका में उद्धृत है) दमयन्तीवर्णनप्रसङ्ग में नल की उक्ति है—दमयन्ती के विषय में मुनियों को भी मोह हो गया है ऐसा मेरा तर्क है, क्योंकि महान् (पूजनीय, वस्तुतः बहुत बड़ा) 'भृगु' (एक ऋषि, वस्तुतः बिना किनारे का तलाव) इसके स्तनरूप पर्वत का सेवन कर रहा है, मुख 'नानारदाह्लादि' (नारद को सन्तुष्ट न करे ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य सन्तुष्ट करनेवाला, वस्तुतः अनेक दाँतों के कारण आह्लादजनक) है और 'महाभारतसर्गयोग्य' (महाभारत निबन्ध बनाने की योग्यता रखनेवाला, वस्तुतः 'महाभाः'=महाकान्तियुक्त और 'रतसर्गयोग्य'=रति की सृष्टि के योग्य) 'व्यास' (कृष्णद्वैपायन, वस्तुतः-विस्तार) ने इसकी जाँघों का आश्रयण कर लिया है।" इस नैषधीय पद्य में जो धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा है वहाँ भी मुनियों से संबन्ध रखनेवाले अन्य किसी धर्म('दर्शन' आदि)रूप विषय में दमयन्तीविषयक मोहरूप विषयी की अभेदसंबन्ध से ही उत्प्रेक्षा है। तात्पर्य यह कि यहाँ भी मुनिरूप विषय में मोहरूप विषयी की समवायसंबन्ध से उत्प्रेक्षा नहीं है। आप कहेंगे-दर्शन आदि धर्म ही यदि यहाँ विषयरूप है तब यहाँ उसका वर्णन क्यों नहीं? फलतः जिसकी पद्य में चर्चा ही नहीं वह विषयरूप माना कैसे जा सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि-यह उत्प्रेक्षा साध्यवसाना है-यहाँ विषयीद्वारा विषय निगल लिया गया है, अतः उसका ग्रहण न करना सङ्गत है-अर्थात् ऐसा करने में किसी प्रकार की असङ्गति नहीं। तात्पर्य यह कि ऐसी जगहों में विषयिबोधक पद द्वारा ही विषय का बोध किया जाता है, जैसे अतिशयोक्तिस्थल में उपमानबोधक पद से ही उपमेय का भी बोध कर लिया जाता है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त गुप्त भाव है 'दमयन्ती के उन-उन अङ्गों में मुनिमनोवृत्ति का आसक्त हो जाना' जो यहाँ अपने ढङ्ग से उक्त ही है। इसी तरह 'लिम्पति—(सम्पूर्ण पद्य मूल तथा संस्कृत टीका में उद्धृत है) अन्धकार मानो, अङ्गों को पोत रहा है, आकाश, मानो, काजल बरसा रहा है।' इत्यादि किसी कवि (मृच्छकटिक-नियोजित) के पद्य में प्रथमान्त पदार्थ 'कर्ता' (अन्धकार और आकाश) में 'पोतना' तथा 'बरसाना'रूप क्रियाओं के 'कर्तृत्व'-अर्थात् उन क्रियाओं की उत्प्रेक्षा नहीं है। कारण, वह कर्ता (प्रथमान्त पदार्थ) आख्यात (तिङ्=लिम्पति आदि में 'ति' आदि प्रत्यय) के अर्थ (आश्रय) का विशेषण है, अतः वाक्यार्थ का प्रधान अंश नहीं, किन्तु एकदेश है। फलतः वहाँ उत्प्रेक्षा करके 'लेपनकर्तृत्व' का अन्वय करने में एकदेशान्वय हो जायगा जो कि 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति, न तु पदार्थैकदेशेन-अर्थात् पदार्थ पदार्थ के साथ ही अन्वित होता है, पदार्थ के एकदेश के साथ नहीं' इस सिद्धान्त से विरुद्ध होता है। और न यहाँ 'लेपनादि कर्ता' (पोतने आदि के कर्ता) की अभेदसंबन्ध द्वारा प्रथमान्त

पदार्थ अन्धकार आदि में उत्प्रेक्षा ही मानी जा सकती है, क्योंकि 'कर्ता' क्रिया का विशेषण होने के कारण अप्रधान है (यहाँ यह बात याद रखनी चाहिये कि वैयाकरणों के मत से सम्पूर्ण वाक्यार्थ में क्रिया ही प्रधान होती है और अन्य सब शब्दों के अर्थ उसके विशेषण होते हैं।) तात्पर्य यह कि अप्रधान पदार्थ विधेय नहीं हो सकता और उत्प्रेक्ष्यमाण पदार्थ विधेय ही होता है। किन्तु यहाँ, 'अन्धकार' जिसका कर्ता है और 'अङ्ग' जिसका कर्म है उस 'लेपन'(पोतने)रूप क्रिया की, तथा आकाश जिसका कर्ता है और काजल जिसका कर्म है उस 'वर्षण'रूप क्रिया की उत्प्रेक्षा की जा रही है। उन दोनों उत्प्रेक्षित किए जानेवालों-अर्थात् 'लेपन' और 'वर्षण' द्वारा, जिसका अन्धकार कर्ता है उस व्यापन(व्याप्त होना)रूप क्रिया को जो इस उत्प्रेक्षा का विषय है, निगीर्ण (उदरस्थ) कर लिया गया है, अतः उसका (विषयरूप व्यापन क्रिया का) उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है। तात्पर्य यह कि—यहाँ अन्धकारकर्तृक व्यापनरूप विषय में अन्धकारकर्तृक लेपन आदि विषयी की अभेदसम्बन्ध से संभावना की जाती है पर आवश्यकता न होने के कारण इस उत्प्रेक्षा में विषय का उल्लेख नहीं किया गया है। अतएव ऐसे-ऐसे स्थलों में यह उत्प्रेक्षा अनुपात्तविषया कहलाती है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्तभूत धर्म है 'श्यामीकारकत्व—काले कर डालना' आदि जो अनुपात्त है। सारांश यह कि—प्राचीनों के मत से धर्मोत्प्रेक्षा भी अभेदसम्बन्ध से ही होती है और उसके विषय सर्वदा अनुक्त ही रहते हैं। निमित्त कदाचित् उक्त और कदाचित् अनुक्त भी होते हैं। निमित्तभूत धर्म प्रायः दो तरह के होते हैं—गुणरूप और क्रियारूप, उनमें से गुणरूप निमित्तधर्मवाली धर्मोत्प्रेक्षा का उदाहरण है उपर्युक्त नैषध का पद्य और क्रियारूप निमित्तधर्मवाली धर्मोत्प्रेक्षा का उदाहरण है 'लिम्पतीव—' यह पद्य। अतएव मम्मटभट्ट ने—'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा—अर्थात् प्रस्तुत विषय की उसके समान के साथ सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं।' यह लक्षण बनाकर 'लिम्पतीव—' इस उदाहरण के प्रसङ्ग में कहा है कि—व्यापनादि—अर्थात् यहाँ व्याप्त होने आदि की सम्भावना 'पोतने' आदि के रूप में की गई है। अभिप्राय है कि—मम्मटभट्ट ने भी 'सर्वत्र अभेदसम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा होती है' इस तथ्य का समर्थन किया है। इसी तरह—"अस्मिन् यो मम—अर्थात् 'जो जातिवैरी रात्रि में मेरे विकास को सहन नहीं करता उस चन्द्रमा का सुन्दरताभिमान, इस कमलनयनी ने अपनी मुख-कान्ति द्वारा, बलात्, ध्वस्त कर दिया।' मानो, इस हर्ष के कारण, हे सुन्दराङ्गि ! कमल की शोभा तेरे पैरों में चिपट पड़ी है।" इत्यादिक प्राचीनों के पद्य—जिसको लोग हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण कहते हैं—में भी 'शोभा'रूप विषय में केवल 'हर्ष'रूप हेतु की उत्प्रेक्षा नहीं की जा रही है किंतु 'हर्ष' जिसका हेतु है उस 'चिपटने' आदि विषयी की, अभेदसम्बन्ध से, स्वाभाविक 'चिपटने' आदि विषय में, उत्प्रेक्षा की जा रही है। तात्पर्य यह कि—पद्म की शोभा पैरों में स्वभावतः चिपटी ही हुई है, न कि हर्ष के कारण, उस स्वाभाविक चिपटने में 'हर्ष' के कारण चिपटने (जो कल्पित है) की उत्प्रेक्षा की जा रही है। जो लोग हर्ष के कार्य कल्पित 'चिपटने' को उत्प्रेक्षा का निमित्त मानते हैं उन्हें भी विषय—शोभा—में रहनेवाले, उस कल्पित 'चिपटने' के सजातीय स्वाभाविक 'चिपटने' के साथ उस कल्पित चिपटने का आरोपित अभेद अवश्य कहना पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं करेंगे तब उक्त हर्ष-कार्य-कल्पित 'चिपटना' निमित्त हो ही नहीं सकता, क्योंकि विषयी—हर्ष—के अधिकरण में रहने वाला कल्पित 'चिपटना' विषय—शोभा—में है ही नहीं—उसमें तो स्वाभाविक 'चिपटना' ही है और जब उक्त धर्म निमित्त नहीं हो सकेगा तब यह उत्प्रेक्षा ही नहीं हो सकेगी। हाँ, उन दोनों धर्मों (कल्पित-हर्षहेतुक चिपटना तथा वास्तविक-स्वाभाविक चिपटना) में अभेद मान लेने पर सब बातें बन सकती हैं। तात्पर्य यह कि ऐसे स्थलों में सम्बन्धान्तर द्वारा हेतु-मात्र की उत्प्रेक्षा का निमित्त मिलना असं

हेतु के कार्य को ही मानते हैं और वह कार्य रहता है नियमतः कल्पित। ऐसी स्थिति में उसको निमित्त बनाने के लिये—अर्थात् उस विषयिसमानाधिकरण कार्यभूत धर्म को विषयगत सिद्ध करने के लिये (याद रहे कि-सम्बन्धान्तरद्वारक धर्मोत्प्रेक्षा में वे लोग उत्प्रेक्ष्यमाणधर्मसमानाधिकरणविषयगत धर्म को निमित्त मानते हैं) यह आवश्यक है कि विषयिसमानाधिकरण उस कल्पित कार्यरूप धर्म का विषयगततत्सजातीयस्वाभाविक धर्म के साथ आरोपित अभेद माना जाय। सारांश यह कि इस तरह का अभेद दोनों मतों में समानरूप से मानना ही पड़ता है अन्तर केवल यह होता है कि एक मत में उस अभेद के दोनों सम्बन्धी उत्प्रेक्षा के विषय-विषयी होते हैं और दूसरे मत में अभेद के दोनों सम्बन्धी एक होकर उत्प्रेक्षा के निमित्त बनते हैं। ऐसी दशा में उचित तो यही प्रतीत होता है कि अभेद के उन सम्बन्धियों को उत्प्रेक्षा के विषय-विषयी ही मान लें। इसी तरह-"चोलस्य—अर्थात् जिस (वर्णनीय नृसिंहदेव) के डर से भगे हुए चोलनरेश के ललाट की चमड़ी, कँटीले वनप्रदेशों ने, मानो, अब भी 'न जाने यह क्या अनुभव करेगा' इस रहस्य के बोधक विधाता के अक्षर को देखने के लिये, उधेड़ डाली।" इस परकीय पद्य-जिसको फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण मानते हैं-में, कँटीले वन-प्रदेशरूप विषय में ललाट की चमड़ी को उधेड़ने से होने वाले ललाटगत विधि-वर्णावली-दर्शनरूप फल की केवल उत्प्रेक्षा नहीं है, किन्तु वह ललाटगत विधि-वर्णावली-दर्शन जिसका फल है उस ललाटत्वचोत्पाटनरूप विषयी की कण्टक से होने वाले, निष्फल अतः स्वाभाविक ललाटत्वचोत्पाटनरूप विषय में अभेदसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा होती है। सारांश यह निकला कि विषय में विषयी की उत्प्रेक्षा सर्वत्र (धर्मोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा में) अभेद सम्बन्ध से ही होती है—यही है प्राचीनों का मत।

प्राचीनमतमालोचयितुं प्रथमतस्तदुक्तयुक्तीर्निरस्यति—

तत्र विचार्यते—न सर्वत्राभेदेनैवोत्प्रेक्षणमिति नियमे किञ्चिदस्ति प्रमाणम्, लक्ष्येषु भेदेनाप्युत्प्रेक्षणस्य दर्शनात्—'अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे' इत्यादौ। न च मुनिसम्बन्धिनि धर्मविशेषे मोहाभेदोत्प्रेक्षणमिति वाच्यम्। भेदेनोत्प्रेक्षणे बाधकाभावेनेदृशकल्पनाया निरर्थकत्वात्। न ह्यभेदेनैवोत्प्रेक्षणमिति वेदेन बोधितम्, यदर्थमयमाग्रहः स्यात्, लक्षणनिर्माणस्य पुरुषाधीनत्वात्। 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इत्यत्रापि लेपनादिकर्तृत्वं तमआदिषु विषयेषूत्प्रेक्ष्यत इत्येव युक्तम्। अनुकूलव्यापारात्मकस्य कर्तृत्वस्यैवाख्यातार्थत्वात्। तस्य च प्रथमान्ते विशेष्ये आश्रयतासंसर्गेणान्वयाच्च दोषः। 'भावप्रधानमाख्यातम्' इत्यस्य 'भावो व्यापारस्तदर्थकमाख्यातं तिङ्' इत्यर्थकरणान्न विरोधः। 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' [illegible] अभिप्रायपरत्वात्। फलाभाश्रयार्थस्यापि धातो [illegible] भाग्यां [illegible] कर्तृत्वव्यवहारः। नामार्थयोरभेदेनान्वयमात्रस्य [illegible] व्यापारस्य न नामार्थेऽन्वयः। अत एव च 'कर्तरि कृत्' इत्यनेन विशिष्टशक्तिबोधनेन न पचादिषु भावप्रत्ययस्य विशेषणशक्तिबोधकत्वं [illegible], शब्दानुशासनस्वीकाराच्च 'कर्तरि कृत्' इत्यत्र धर्मिपरत्वेऽपि कर्तृग्रहणस्य 'लः कर्मणि—' इत्यत्र धर्मपरतायामपि न दोषः। यथा आख्यातं [illegible] धातोः, आश्रयश्च तिङोऽर्थः। पर तु देवदत्तः पचमान इत्यादाविव देवदत्तः पचतीत्यादिष्वपि प्रथमान्तार्थ एव तिङर्थस्याभेदेन विशेषणत्वं युक्तम्, न तु भेदेन [illegible]। समानाधिकरणयोरुद्देश्यविधेयभावस्य [illegible]

सत्यां हि गतौ 'प्रत्ययार्थे प्रकृत्यर्थो विशेषणम्' इत्यस्योत्सर्गस्यानुग्रह एव न्याय्यः। 'भावप्रधानमाख्यातम्' इत्यस्य 'भावनार्थको धातुः' इत्यर्थकरणान्न विरोधः। न च वैयाकरणमतविरोधो दूषणमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रत्वेनालङ्कारिकतन्त्रस्य तद्विरोधस्यादूषणत्वात्। प्रपञ्चयिष्यते चैतदधिकमुपरिष्टादिति प्रकृतमनुसरामः। एवं च 'लिम्पतीव—' इत्यादौ भेदेनाभेदेन वा लिप्यर्थस्यैव प्रथमान्तार्थे धर्मोत्प्रेक्षणम्। न तु धात्वर्थस्य स्वनिगीर्णे व्यापनादौ, सर्वजनसिद्धाया इवार्थस्य विधेयताया अनुपपत्तेः। तमःकर्तृकं लेपनमित्येतस्मादपि उद्देश्यविधेयभावशून्याद्वाक्यादुत्प्रेक्षाप्रतीत्यापत्तेश्च। यदि च विषयिसम्बन्धिना लेपनादिना विषयसम्बन्धिनो व्यापनादेर्निमित्ततारोपणात् स्वताद्रूप्यसम्बन्धेनेन निगीर्णत्वादनुपात्तविषयत्वमध्यवसानमूलत्वं चोच्यते तदा रूपकेऽप्यनुपात्तविषयत्वमुक्तमध्यवसानमूलत्वं च। 'लोकान् हन्ति खलो विषम्' इत्यादौ खलसम्बन्धिनो दुःखदानादेर्विषसम्बन्धिहननात्मनाऽध्यवसानात्। तस्माद्भिन्नांशेऽतिशयोक्तिरेव। एवम् 'उन्मेषं यो मम न सहते' इत्यत्र लक्ष्मीरूपे विषये लगनहेतुत्वेन हर्ष उत्प्रेक्ष्यते। तत्र साहजिकसम्बन्धे तादात्म्येनाध्यवसितं लगनमेव निमित्तम्। तथा—

> 'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
> अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥'

अत्रापि मौनहेतुत्वेन नूपुरे विश्लेषदुःखमुत्प्रेक्ष्यते। तत्र निश्चलत्वनिमित्तकनिःशब्दत्वाध्यवसितं मौनं निमित्तम्, विश्लेषदुःखसमानाधिकरणत्वे सति नूपुरवृत्तित्वात्। न तु निश्चलत्वनिमित्तके निःशब्दत्वे विषये विश्लेषदुःखहेतुकमौनमभेदेन। उत्प्रेक्षायामिवशब्दान्वितयोरुत्प्रेक्ष्यतायाः उत्सर्गसिद्धत्वात्। विषयस्य निगीर्णतया विषयिणो विधेयत्वानुपपत्तेश्च। निमित्तान्तरान्वेषणापत्तेश्च। यद्यप्येककालप्रभवत्वादिरस्ति साधारणो धर्मो निमित्तम्। तथापि तस्याचमत्कारित्वादुपमायामिवोत्प्रेक्षायामप्यप्रयोजकत्वात्। एवं फलोत्प्रेक्षायामपि बोध्यम्। एतेन 'यत्र हेतुफलधर्मस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणेष्वपि ताद्रूप्येणैवोत्प्रेक्षा' इति प्राचां मतमनुसरता द्रविडपुङ्गवेन यदुक्तं तदपि परास्तम्।

दर्शनादिति। स्वरसतया प्रतीतेरिति भावः। प्रागुक्तं तदीयं प्रकारं दूषयति न चेति। ननु लक्षणानुरोधेन तथोच्यतेऽत आह—लक्षणेति। सर्वमभेदसम्बन्धेनैव विषये विषयिण उत्प्रेक्षेति नियमाङ्गीकारे प्रमाणाभावः। ननु भेदेनोत्प्रेक्षणस्य लक्षणातिरेक प्रमाणमिति चेन्न, 'अस्याम्—' इति [illegible] आप्तेः। न च तत्रापि अभेदेनोत्प्रेक्षणप्रकारः प्रदर्शित एव [illegible]। [illegible] यदि अभेदेनोत्प्रेक्षा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अन्यथा विवादे इति प्राचीनोक्तं [illegible] स्वादौ—अनुकूलव्यापारेति। यथा इत्यादि। एतेन [illegible]।

तिङित्यर्थः । प्रथमान्ते इति । प्रथमान्तार्थे इति भावः । नन्वेवं यास्कविरोधोऽत आह—भावेति । ननु प्रधानपदस्यार्थपरत्वमदृष्टमत आह—सत्त्वेति । ननु धातोर्व्यापारावाचकत्वे सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवहारोच्छेदापत्तिरत आह—फलेति । व्यापारस्योभयत्रान्वयः । अन्वय इति । आश्रयतासम्बन्धेनेति भावः । ननु 'कर्तरि कृत्' इत्यतः कर्तरीति 'लः कर्मणि—' इत्यत्रानुवर्तते । तत्र तस्यानुकूलव्यापारार्थकत्वे कृद्विधायकेऽपि तथैव स्यात् । पाचको देवदत्त इत्यादौ सामानाधिकरण्यव्यवहारस्तु लक्षणयेत्याशंकापनोदनायाह—अत एवेति । वक्ष्यमाणयुक्तेरेवेत्यर्थः । नन्वेवं लकारविधायकेऽपि तदर्थकत्वापत्तिरत आह—शब्दानुवृत्तिपक्षेति । अयमाशयः—'लिम्पतीव—' इत्यत्र समवायसम्बन्धेन लेपनादिव्यापारात्मकस्य लेपनादिकर्तृत्वस्यैव तम आदिषूत्प्रेक्षा । ननु प्रथमान्तार्थस्य तम आदेः कर्तुराख्यातार्थविशेषणत्वेनैकदेशत्वमुक्तमिति चेन्न, धातोः फलमात्रमर्थः कर्तृत्वम् (अनुकूलो व्यापारः) तिङर्थः, एवञ्च तिङर्थस्य व्यापारस्याश्रयतासम्बन्धेन प्रथमान्तार्थे कर्तरि अन्वय इति न प्रथमान्तार्थस्य कर्तृविशेषणत्वमित्याशयात् । न चैवंरीत्या तिङन्तितवाक्यजन्यबोधे प्रथमान्तार्थस्य प्राधान्ये स्वीकृते 'भावप्रधानमाख्यातम्' इति यास्कसिद्धान्तविरोध इति शङ्क्यम्, 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' इत्युत्तरवाक्ये प्रधानपदस्याभिधेयपरत्ववत् तत्पूर्ववाक्येऽपि प्रधानपदस्य तथार्थकत्वम्, आख्यातपदस्य तिङ्परत्वमङ्गीकृत्य 'भावार्थकतिङ्' इति व्याख्यानेनाविरोधात् । 'तिङर्थव्यापारव्यधिकरणफलवाचकत्वम् सकर्मकत्वम्, तिङर्थव्यापारसमानाधिकरणफलवाचकत्वमकर्मकत्वम्' इत्येवं परिष्करणेन सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवहारोच्छेदापत्तिरपि न भवितुमर्हति । ननु व्यापारात्मकस्य कर्तृत्वस्य प्रथमान्तार्थे तमसि विशेष्ये आश्रयतासम्बन्धेनान्वयमङ्गीकृत्य 'लेपानुकूलव्यापाराश्रयः तमः' इति बोधो यथा उपपादितस्तथाऽधुना कृदर्थस्यापि भावस्य (व्यापारस्य) आश्रयतासम्बन्धेन प्रथमान्तार्थेऽन्वयमङ्गीकृत्य 'तमो लिम्पति' इत्यर्थे 'तमोलेपः' इत्युक्तमिति चेन्न, 'नामार्थयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्नः' इति सिद्धान्ते नामार्थस्य तमसि आश्रयतयाऽन्वयासम्भवात् । न च व्यापाररूपार्थे तिङो विधानाय 'कर्तरि कृत्' इत्यतोऽनुवृत्तस्य 'कर्तरि' इत्यस्य 'लः कर्मणि—' इत्यत्र 'कर्तृत्वे' इत्यर्थः करणीयस्तथा च 'कर्तरि कृत्' इत्यत्रापि तस्य पदस्य तादृश एवार्थ आस्थेयः स्यात्, [illegible], तथा च ण्वुल्तृजादीनां कृत्प्रत्ययानामपि व्यापारार्थकत्वापत्तिरिति वाच्यम्, 'शब्दानुवृत्तिः' 'अर्थानुवृत्तिः' इत्युभयोः प्रतिष्ठितयोः पक्षयोः प्रथमपक्षस्यैवाङ्गीकारेण 'लः कर्मणि—' इत्यत्र कर्तृत्वार्थकतया स्वीकरिष्यमाणस्यापि 'कर्तरि' इत्यस्य 'कर्तरि कृत्' इत्यत्र व्यापाराश्रयार्थकत्वाङ्गीकारे क्षतिविरहात् । अत एव 'भावे' इति घञादिविधायकसूत्रस्थं पदं सार्थकं भवति । यदि तु 'कर्तरि कृत्' इत्यत्रापि कर्तृत्वार्थकं कर्तरीतिपदं स्यात् तदा तेनैव सूत्रेण अन्यैः कृत्प्रत्ययैः सह घञादेरपि भावार्थे विधाने सिद्धे तद्घटकं स्पष्टमेव भवेत् इति । [illegible] शब्दस्य पुनस्तदर्थबोधे करणीये [illegible] तत्र पक्षे गौरवम्, अर्थानुवृत्तिपक्षे तु न तद्वाराप्यन्यतः पक्षान्तरत्वात् [illegible] । [illegible] । [illegible]

[illegible]

निमित्तता तस्य न भवेत्, निमित्ताभावे उत्प्रेक्षापि न सिद्ध्येदित्यकामेन कामेन वा तैरपि लेपने व्यापनाध्यवसानं स्वीकार्यमेव। एवं स्थितौ यदि वयं (प्राचीनाः) उत्प्रेक्षाया विषयविषयिणोरेवाध्यवसानं स्वीकुर्महे तर्हि को नोपराधः ? इति शङ्काया इदं समाधानं— यदस्मदीयनिमित्ततासम्पादनयुक्तिमादाय भवन्तो न निजं दोषं मार्जयितुं प्रभवन्ति यतो वयं केवलं निमित्ततासम्पादनाय (उत्प्रेक्ष्यमाणधर्मसमानाधिकरणीभूतधर्मस्य विषयवृत्तितासम्पत्तये) लेपनेन व्यापनस्य निगीर्णत्वं मन्यामहे। भवन्तस्तु एतदध्यवसानमादायोत्प्रेक्षामेवानुपात्तविषयामध्यवसानमूलां चाचक्षते। यदि भवन्तो निमित्तस्यानुपात्तत्वेनाध्यवसानमूलकत्वेन च विषयस्यानुपात्तत्वमलङ्कारस्याध्यवसानमूलकत्वञ्चाभिप्रयन्तितदा रूपकस्यापि अनुपात्तविषयत्वमध्यवसानमूलकत्वञ्च भवद्भिरङ्गीकरणीयं स्यात्, यतो 'लोकान् हन्ति खलो विषम्' (खलरूपं विषं लोकान् मारयतीत्यर्थः) इत्यादौ निमित्तस्य खलगतदुःखदातृत्वस्य अनुपादानं विषगतहन्तृत्वात्मनाध्यवसानञ्चास्ति। न केवलमस्मिन्नेव रूपके एष दोषः, अपि तु 'मुखचन्द्रः' इत्यादिप्रसिद्धरूपकेऽपि, तत्रापि निमित्तस्य मुखगताह्लादकत्वस्यानुपादानात्, चन्द्रगताह्लादकत्वात्मनाऽध्यवसानाच्च। अतो निमित्तभागस्यानुपात्तत्वमध्यवसानमूलत्वञ्चादायोत्प्रेक्षायास्तत्त्वं नाङ्गीकर्तुं योग्यम्, यस्य रूपकादेस्तत्त्वं भवतामपि नाभिमतं तत्रापि भवद्रीत्या तत्प्रसङ्गात्। अतो निमित्तांशेऽतिशयोक्तिरेवालङ्कारो मन्तव्यः, तेन च निमित्तसम्पत्तौ मदुक्तरीत्योत्प्रेक्षा स्वीकार्या इति निशदोऽर्थः। हेतूत्प्रेक्षायामाह—एवमिति। तत्र तस्यामुत्प्रेक्षायाम्। सम्बन्धे शोभासम्बन्धे। लगनमेवेति। हर्षहेतुकं लगनमित्यर्थः। 'उन्मेषं य—' इत्यत्रापि पद्मलक्ष्मीरूपे विषये लगनहेतुतया हर्षस्योत्प्रेक्षा, तत्रोत्प्रेक्षायां हर्षहेतुकपादलगनं निमित्तम्, तच्च पूर्ववत्तावच्च निमत्तं भवितुमर्हति यावत्स्वाभाविके शोभालगनेऽध्यवसितं न स्यात्, अतस्तदंशे पूर्ववदतिशयोक्तिरिति भावः। हेतूत्प्रेक्षाया एवोदाहरणान्तरमाह—सैषेति। 'सैषा—' इति। लङ्कातः अयोध्यामागच्छन् रामभद्रः सीतां [illegible] गवेषयता, मया, उर्व्यां पृथिव्याम्, भ्रष्टं पतितम्, [illegible] कस्य, विश्लेषेण वियोगेन, यद्दुःखम्, तस्माद्धेतोरिव, बद्धमौनं स्वीकृतमूकत्वम्, एकम्, नूपुरं चरणाभरणविशेषः, यत्र, अदृश्यत दृष्टम्, सा, एषा, स्थली अकृत्रिमा भूमिरस्तीत्यर्थः। उपपादयति—अत्रापीति। मौनं द्विविधं निश्चलत्वहेतुकं दुःखहेतुकञ्च, तयोरभेदमाह—तत्रेति। निःशब्दत्वाध्यवसितमिति। निःशब्दत्वे तादात्म्येनाध्यवसितमित्यर्थः। [illegible] निरूपेति। 'सैषा स्थली—' इत्यत्रापि प्राचन्नूपुरे मौनकारणतया वियोगजन्यदुःखस्य [illegible] निश्चलत्वनिमित्तकमौनस्य [illegible] [illegible] नूपुर [illegible] [illegible] एवं च निमित्तांशेऽपि [illegible] ननु निश्चलत्वनिमित्त- [illegible] इति चेन्न, उत्प्रेक्षायां [illegible] 'दुःखादिव' इत्युक्तौ इवशब्दा- [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

प्रधान—अर्थात् वाच्य–'भाव' (अर्थात् व्यापार) होता है। इस अर्थ के अनुसार कोई विरोध नहीं। आप कहेंगे—'प्रधान' शब्द का अर्थ आपने 'वाच्य' किस आधार पर कर लिया? तो इसके उत्तर में मेरा कहना यह है कि–जिस आधार पर उक्त 'निरुक्त-वाक्य' के अग्रिम वाक्य 'सत्त्वप्रधानानि नामानि = प्रातिपदिक के वाच्य सत्त्व (द्रव्य) होते हैं' में प्रधान पद का अर्थ वाच्य किया जाता है। तात्पर्य यह कि इस द्वितीय वाक्य में प्रधान पद का अर्थ 'मुख्य' हो नहीं सकता, क्योंकि अनेक अर्थों के होने पर ही किसी एक अर्थ की मुख्यता कही जा सकती है और प्रातिपदिक का 'द्रव्य' से अन्य कोई अर्थ होता ही नहीं, अतः वहाँ प्रधान पद का अर्थ 'वाच्य' मानना ही पड़ता है, फिर यदि उस वाक्य के पूर्व वाक्य ('भावप्रधान—' में) प्रधान शब्द का 'वाच्य' अर्थ किया जाय तो यह कोई निराधार बात नहीं हुई। आप कहेंगे—यदि धातु का अर्थ केवल फल किया जाय, व्यापार नहीं, तब सकर्मक तथा अकर्मक धातुओं का विभाग कैसे किया जायगा? तात्पर्य यह कि जब धातु के फल और व्यापार दोनों अर्थ माने जाते थे तब 'फल जिसमें रहता हो उससे भिन्न में रहनेवाले व्यापार का वाचक धातु सकर्मक और फल जिसमें रहता हो उसी में रहनेवाले व्यापार का वाचक धातु अकर्मक' इस तरह से विभाग होता था अब तो वह नहीं हो सकेगा, क्योंकि आपके हिसाब से किसी भी धातु का अर्थ व्यापार होता ही नहीं, किन्तु तिङ् प्रत्यय का अर्थ व्यापार होता है तो इसका समाधान यह कि—सकर्मक-अकर्मक धातुओं के विभाग के लिये 'फल और व्यापार एक अंश के ही अर्थ हों' यह आवश्यक नहीं है, आवश्यक है उन दोनों (फल तथा व्यापार) का एक में रहने और न रहने का, अतः उन दोनों को भिन्न-भिन्न अंश (धातु और तिङ्प्रत्यय) का अर्थ मानने पर भी उक्त विभाग हो जायगा। तात्पर्य यह कि—अब 'तिङ्-प्रत्ययार्थ-व्यापार के अधिकरण से अन्य अधिकरण में रहनेवाले फल का वाचक धातु सकर्मक और तिङ्प्रत्ययार्थ व्यापार के अधिकरण में रहनेवाले फल का वाचक धातु अकर्मक' इस प्रकार से कहा जायगा। इस बात को स्पष्ट रूप में समझने के लिये यह समझिए कि—सकर्मक धातुओं के स्थल में 'फल' (कर्ता के व्यापार से सिद्ध होनेवाली वस्तु) कर्म में रहता है और व्यापार (फल को सिद्ध करनेवाली क्रिया) कर्ता में रहता है, जैसे—'सोहन चावल पकाता है' यहाँ 'पकाने (फूँकने) आदि' का फल (विक्लित्ति–चावल का फैलना) कर्म (चावल) में रहता है और 'पकाना (फूँकना) आदि क्रिया' कर्ता (सोहन) में रहती है और अकर्मक धातुओं के स्थल में ये दोनों (फल तथा व्यापार) कर्ता में ही रहते हैं, जैसे—'मोहन नहाता है' यहाँ 'व्यापार = गोता लगाना आदि' मोहन में रहती है और उस व्यापार का 'फल = सफाई आदि' भी उसी में रहता है। आप कहेंगे—यदि आपके कथनानुसार तिङ्प्रत्ययका अर्थ व्यापार और उसका 'आश्रयता'सम्बन्ध से 'प्रथमान्त पदार्थ' में अन्वय माना जाय तो 'भाव–अर्थात् व्यापार' अर्थ में जो कृत्-प्रत्यय–घञ् आदि होते हैं उसका भी अर्थ 'व्यापार' होता है, अतः उस व्यापार का भी 'आश्रयता'संबन्ध से अन्वय क्यों न हो जाय? अभिप्राय यह कि—'देवदत्तः पचति' की तरह उसी अर्थ में 'देवदत्तः पाकः' प्रयोग होने में क्या बाधा रही? तो इसका उत्तर यह है कि—कृत्प्रत्ययान्त शब्द प्रातिपदिक होते हैं—उनकी 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इस पाणिनि-सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होती है, और प्रातिपदिकार्थों का भेद-संबन्ध (अभेद से अतिरिक्त अन्य किसी संबन्ध) द्वारा अन्वय हो नहीं सकता यह नियम है, अतः कृत्प्रत्ययार्थ भाव (व्यापार) का प्रथमान्तार्थ के साथ 'आश्रयता'संबन्ध से अन्वय नहीं होता। अब शङ्का रही यह कि—'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इस सूत्र से 'कर्ता' अर्थ में तिङ्प्रत्यय का विधान होता है और इस सूत्र में 'कर्तरि' पद 'कर्तरि कृत्' सूत्र से अनुवृत्त होता है। अब यदि 'लः कर्मणि—' में 'कर्तृ' शब्द का अर्थ 'कर्तृत्व' (व्यापार) किया जाय तो फिर 'कर्तरि कृत्' सूत्र में भी 'कर्तृ'

शब्द का अर्थ नहीं करना पड़ेगा, क्योंकि एक ही शब्द के दो सूत्रों में दो अर्थ तो किए नहीं जा सकते और तब कृत् प्रत्यय (ण्वुल् , तृच् आदि) भी 'कर्ता' अर्थ में न होकर 'व्यापार' अर्थ में होने लगेंगे और वस्तुतः ऐसा होता नहीं अतः आपकी सारी भूमिका ही विनष्ट हो रही है। तो इसका उत्तर यह है कि—'कर्तरि कृत्' सूत्र में 'कर्तृ' शब्द का अर्थ 'कर्ता' (व्यापार का आश्रय) ही है, अतएव तो 'घञ्' आदि प्रत्ययों का 'व्यापार' अर्थ समझाने के लिए 'भावे' सूत्र बनाना व्यर्थ नहीं होता, यदि 'कर्तरि कृत्' सूत्र में 'कर्तृ' शब्द का अर्थ केवल व्यापार माना जाय तब तो उस सामान्य सूत्र के बल से ही अन्य कृत्प्रत्ययों के साथ-साथ 'घञ् आदि' प्रत्ययों का भी विधान भाव=व्यापार अर्थ में हो ही जाता, फिर 'भावे' सूत्र की सृष्टि ही निरर्थक हो जायगी। फलतः 'भावे' सूत्र की सार्थकता के लिये 'कर्तरि कृत्, सूत्र में 'कर्तरि' शब्द का अर्थ व्यापाराश्रय (कर्ता) माना जायगा, पर 'क्तः कर्मणि—' इस सूत्र में 'कर्तरि' पद का अर्थ 'कर्तृत्व=व्यापार' मानने में भी कोई उस तरह की अनुपपत्ति नहीं होती, अतः वहाँ वही अर्थ माना जायगा। बस, मेरी भूमिका ठीक रह गई। आप कहेंगे—एक ही शब्द का अर्थ दो सूत्रों में दो तरह का कैसे किया जा सकता है—अर्थात् एक ही 'कर्तरि' पद का अर्थ जो आपने 'कर्तरि कृत्' में कर्ता और 'क्तः कर्मणि च' में व्यापार कर लिया है यह तो उचित नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि व्याकरणशास्त्र में अनुवृत्ति के विषय में दो पक्ष माने गये हैं—एक शब्दानुवृत्तिपक्ष और दूसरा अर्थानुवृत्तिपक्ष, उनमें से द्वितीय पक्ष का आश्रयण करने पर आपकी कही हुई अनुपपत्ति हो सकती है—अर्थात् अर्थानुवृत्तिपक्ष के अनुसार एक शब्द के दो अर्थ नहीं हो सकते यह बात सही है, पर प्रथम पक्ष में उक्त दोष नहीं आता—अर्थात् उस पक्ष के अनुसार अन्यार्थक शब्द का भी अन्यत्र अनुवृत्त होने पर दूसरा अर्थ किया जा सकता है। फलतः 'कर्तरि कृत्' में धर्मी—व्यापाराश्रय—परक 'कर्तरि' पद को 'क्तः कर्मणि—' इस सूत्र में धर्म—व्यापार—परक मानने में कोई बाधा नहीं। यदि आप कहें कि—शब्दानुवृत्तिपक्ष में बड़ा गौरव है—अर्थात् शब्द को एक जगह से दूसरी जगह ले जाकर पुनः उस शब्द से अर्थबोध करने में अर्थबोध के कारणों—आकांक्षा, ज्ञान आदि को दुबारा जुटाना पड़ता है और अर्थानुवृत्तिपक्ष में यह गौरव नहीं है, क्योंकि अर्थ को ही एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं पुनः अर्थबोध आदि का कोई अपेक्षा ही नहीं होता। ऐसी स्थिति में अर्थानुवृत्ति ही की जायगी—अर्थात् 'कर्तरि कृत्' में 'कर्तरि' पद का जो अर्थ है व्यापाराश्रय, वही 'क्तः कर्मणि च—' में भी अनुवृत्ति होने पर होगा, होगा क्या, वह अर्थ उठकर आयगा शब्द नहीं, और जब 'क्तः कर्मणि—' से व्यापाराश्रय अर्थ में लिङ् का विधान होगा तब आपकी कही हुई सभी बातें समाप्त हो जायँगी, तो मैं कहूँगा कि—रहे आपकी ही बात—अर्थात् आपके कथनानुसार हम ने भी मान लिया है कि फल तथा व्यापार दोनों ही धातु के अर्थ हैं और लिङ् प्रत्यय का अर्थ आश्रय ही है, पर उस लिङर्थ का अन्वय अभेदसंसर्ग से समानविभक्तिक पदार्थ में ही होगा—अर्थात् 'पचमानो देवदत्तः=पकानेवाला देवदत्त' यहाँ जैसे 'आन'प्रत्ययार्थ आश्रय का अभेदेन देवदत्त में अन्वय होता है उसी तरह 'देवदत्तः पचति=देवदत्त पकाता है' यहाँ भी तिङर्थ आश्रय अभेदसंबन्ध से देवदत्त का ही विशेषण हो सकता है। (सामान्यविशेषयोरभेदान्वयः=सामान्य अर्थ और विशेष अर्थ का अभेदान्वय होता है, जैसे 'नीलं घटम्' यहाँ नील है सामान्य और घट है विशेष, उसी तरह तिङर्थ आश्रय है सामान्य और प्रथमान्त पदार्थ देवदत्त आदि हैं विशेष, अतः उन दोनों में अभेदान्वय हो सकता है।) वैयाकरणों के अनुसार आपने जो तिङर्थ आश्रय का भेदसंबन्ध (वृत्तित्व) से धात्वर्थ (व्यापार) में विशेषण होना लिखा है वह कथमपि उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर एक तो, सब लोगों को जो ऐसे वाक्यों में प्रथमान्त पदार्थ कर्ता की उद्देश्यता और तिङर्थ की विधेयता प्रतीत होती है उसका भङ्ग होता है—

अर्थात् आपके हिसाब से तिङर्थ उद्देश्य और धात्वर्थ (व्यापार) विधेय हो जाता है जो अनुभवविरुद्ध है। दूसरे 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्—अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय साथ-साथ अर्थ को कहते हैं पर उनमें प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है' इस व्युत्पत्ति से जो यह फलित होता है कि—'प्रकृति का अर्थ प्रत्यय के अर्थ का विशेषण होता है' वह यद्यपि एक उत्सर्ग (सामान्य नियम) है, तथापि गति रहने पर उसका पालन करना ही उचित है और वैयाकरणानुयायी प्राचीनों के मत में इसका पालन नहीं होता, क्योंकि वे प्रत्यय तिङ् के अर्थ (आश्रय) को ही प्रकृति (धातु) के अर्थ व्यापार का विशेषण बनाते हैं। अब रहा 'भावप्रधान—' इस पूर्वोक्त निरुक्तवाक्य से विरोध। उसका भी समाधान 'आख्यात' पद का अर्थ धातु कर लेने से हो जाता है। तात्पर्य यह कि—पूर्व मत में 'आख्यात' पद का अर्थ तिङ् किया गया था और अब उसका अर्थ 'धातु' करेंगे यदनुसार अब उस वाक्य का अर्थ होगा 'आख्यात—अर्थात् धातु का वाच्यभाव व्यापार है' इस अर्थ में कहीं कोई दोष नहीं। आप कहेंगे—ऐसा मानने से वैयाकरणों के मत का विरोध होगा—यह भी तो एक दोष ही है। तो मैं कहता हूँ—यह कोई दोष नहीं। आलङ्कारिकों का अपना एक स्वतन्त्र सिद्धान्त है, वे वैयाकरणों के मत का अनुसरण करते चलें इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस बात को हम आगे और विस्तृत करेंगे, अतः अब प्रस्तुत विषय का अनुसरण करते हैं। (यहाँ यह समझना चाहिये कि प्रायः पण्डितराज आलङ्कारिकों के स्वतन्त्र सिद्धान्त के प्रसङ्ग पर एक स्वतन्त्र प्रकरण लिखना चाहते थे पर दुर्योगवश ग्रन्थ अपूर्ण रह गया और उपलब्ध भाग में वह प्रकरण नहीं आ सका।) इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—'लिम्पतीव—' इत्यादि तिङन्तपदयुक्त वाक्यगत उत्प्रेक्षा में भेदसम्बन्ध से अथवा अभेदसम्बन्ध से तिङ्प्रत्यय के अर्थ की ही उत्प्रेक्षा प्रथमान्त-पदार्थ में होती है। 'भेदसम्बन्ध से अथवा अभेदसम्बन्ध से' इस कथन का अभिप्राय यह है कि यदि 'तिङ्प्रत्यय का अर्थ व्यापार है' यह प्रथम पक्ष माना जाय तब उस तिङर्थ की प्रथमान्तार्थ में भेदसम्बन्ध (आश्रयता किंवा आश्रयतानियामक समवाय) से उत्प्रेक्षा और यदि 'यद्वा' वाला 'तिङ् का अर्थ आश्रय है' यह द्वितीय पक्ष माना जाय तब उस तिङर्थ की प्रथमान्तार्थ में अभेदसंबन्ध से उत्प्रेक्षा। सारांश यह कि धात्वर्थ—लिप्धातु के अर्थ लेपनात्मक व्यापार की उस लेपन द्वारा निगीर्ण व्यापनात्मक व्यापार में उत्प्रेक्षा है इस बात को सिद्ध करनेवाला आपका (प्राचीनों का) पक्ष ठीक नहीं है। कारण, एक तो, 'इव' के अर्थ (संभावना) की (वस्तुतः संभावना के विषयी लेपन आदि क्रिया की) विधेयता, जो कि सर्वजनवेद्य है, उस पक्ष में नहीं बन पाती, क्योंकि उद्देश्य-विधेय-भाव के लिये उद्देश्य और विधेय का भिन्न-भिन्न पदों से प्रतिपादित होना अनिवार्य है। दूसरे, यदि आपके कथनानुसार लेपन में अध्यवसित व्यापन को विषय मानकर उसमें लेपनरूप विषयी की उत्प्रेक्षा मानी जाय तब 'अन्धकार जिसका कर्ता हो तादृश लेपन जैसा' इस वाक्य से—जिसमें उद्देश्यबोधक कोई पद नहीं—उत्प्रेक्षा की प्रतीति होने लगेगी, क्योंकि वैसा अध्यवसाय तो यहाँ भी माना जा सकता है। अब यदि प्राचीनों के मत का समर्थन करनेवाले यह कहें कि जो लोग 'भेदसंबन्ध से अन्धकार आदि में लेपनकर्तृत्व की उत्प्रेक्षा' मानते हैं वे भी उस तरह की उत्प्रेक्षा का निमित्त 'अन्धकारकर्तृक व्यापन' को ही मानते हैं और तादृश 'व्यापन' तब तक निमित्त हो नहीं सकता जब तक अन्धकारसम्बन्धी लेपन को विषयी मानकर उसमें अन्धकारसम्बन्धी व्यापन को विषय मान कर उसका तादूप्यारोप न कर दें—अर्थात् लेपन से व्यापन को निगीर्ण नहीं मान लें, क्योंकि ऐसी (भेदसम्बन्ध-मूलक) उत्प्रेक्षाओं में वह धर्म निमित्त होता है जो उत्प्रेक्षित होने वाले धर्म के साथ एक रूप विषय में भी रहे और एक 'अन्धकारकर्तृक व्यापन' स्वतः (जब तक 'अन्धकार-

कर्तृत्व' लेपन के साथ उसका आरोपित अभेद नहीं मान लिया जाता तब तक) ऐसा है नहीं। कारण 'लेपनकर्तृत्व' वस्तुतः रहता है पोतने वाले किसी मनुष्य में, न कि अन्धकार में, अतः 'व्यापन' लेपन के साथ रहने वाला ही नहीं होता। हाँ, जब 'लेपन' तथा 'व्यापन' में अभेद मान लिया जायगा—'लेपन' शब्द से ही 'व्यापन' की सूचना समझ ली जायगी तब 'व्यापन' उक्त उत्प्रेक्षा का निमित्त होगा। फलतः निमित्त बनाने के लिये आप को भी (नवीनों को भी) लेपन में व्यापन का अध्यवसाय मानना पड़ता ही है। ऐसी स्थिति में यदि हम (प्राचीनों) ने उस परस्पराध्यवसान वाले लेपन-व्यापन को निमित्त न मानकर उत्प्रेक्षा का विषयी-विषय ही मान लिया तो क्या अनुचित किया? तात्पर्य यह कि—आप लेपन और व्यापन को अध्यवसान का विषयी तथा विषय मानकर उनको उत्प्रेक्षा का निमित्त बनाते हैं और हम उन्हीं लेपन तथा व्यापन को उत्प्रेक्षा का भी विषयी और विषय भी मान लेते हैं, कोई गौरव-लाघव तो दोनों के मतों में होता नहीं, तो इसके उत्तर में नवीनों का कथन है कि—प्राचीन हमारी दी हुई निमित्तता-साधक युक्ति को लेकर, अपने पक्ष को निर्दुष्ट नहीं बना सकते, क्योंकि हम केवल निमित्त बनाने के लिये (अर्थात् धर्म के साधारणीकरण के लिये) 'लेपन' में 'व्यापन' का निगीर्ण मानते हैं, उसके चलते 'उत्प्रेक्षा' में किसी तरह की नवीनता नहीं मानते, पर आप तो इस निगरण के कारण उत्प्रेक्षा को अनुपात्तविषया और अध्यवसानमूला कह रहे हैं। यदि आप के विचार से निमित्त के अनुपात्त और अध्यवसानमूलक होने मात्र से विषय का अनुपात्त होना और अलङ्कार का अध्यवसानमूलक होना माना जाय तो रूपक को भी अनुपात्तविषय तथा अध्यवसानमूलक मानिए। कारण, 'लोकान् हन्ति खलो विषम्—अर्थात् खलरूप विष लोगों को मारता है' इत्यादि रूपक में भी 'खल का दुःख देना'रूप निमित्त अनुपात्त है और 'विषकर्तृक हनन'रूप से उस निमित्त का अध्यवसान भी है। यही नहीं, किन्तु 'मुखचन्द्र' आदि प्रसिद्ध रूपकों में भी वैसी ही स्थिति है—अर्थात् 'आह्लादकत्व'-रूप निमित्त अनुपात्त है और निमित्तरूप से अभिमत मुखगत 'आह्लादकत्व' चन्द्रगत 'आह्लादकत्व'रूप से अध्यवसित है, अन्यथा साधारणता के अभाव में वह निमित्त ही नहीं हो सकता। अतः उन प्रसिद्ध रूपकों को भी अनुपात्तविषय तथा अध्यवसानमूलक मानना पड़ेगा, जो आपको भी इष्ट नहीं, किसी का अभिमत नहीं। अतः यह मानना चाहिए कि 'लिम्पतीव—' इत्यादि में निमित्त अंश में अध्यवसान हुआ है अतः उस अंश में अतिशयोक्ति अलंकार है और उस अतिशयोक्ति द्वारा निमित्त तैयार होने पर तन्निमित्तक अन्धकार में लेपनकर्तृत्व की धर्मसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा होती है। यह तो हुई धर्मोत्प्रेक्षा की बात। अब हेतूत्प्रेक्षा को लीजिए। 'उन्मेषं यो मम न सहते—' इस हेतूत्प्रेक्षोदाहरण में भी 'पद्मलक्ष्मी (कमलशोभा)' ही उत्प्रेक्षा का विषय है और उसमें 'छिपने के हेतु' रूप से 'दर्प'रूप विषयी की उत्प्रेक्षा होती है। इस उत्प्रेक्षा में निमित्त है गौरी के मुख शोभा के स्वाभाविक संबन्ध (छिपने)' से अध्यवसित 'दर्प के कारण छिपना'। हेतूत्प्रेक्षा का एक और प्रसिद्ध उदाहरण दीजिए—'सैषा स्थली—' लंका से लौटते हुए रामचन्द्र जी सीता से कह रहे हैं—यह वही वनस्थली भूमि है, जहाँ तुम्हें ढूँढते हुए मैंने, पृथिवी पर गिरा हुआ तेरा एक नूपुर देखा था, जो मानो तेरे चरण-कमल के वियोग के दुःख से मौन साधे हुए था—एकदम चुप हो रहा था। यहाँ भी मौन के हेतुरूप से नूपुर में वियोग-जन्य दुःख की उत्प्रेक्षा की जा रही है। तात्पर्य यह कि—यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है 'नूपुर' और विषयी है 'वियोगजन्य दुःख'। इस उत्प्रेक्षा में निमित्त है 'निःशब्दता के कारण शब्दरहित होने' में तादात्म्येन अध्यवसित 'मौन'। अभिप्राय यह कि 'दुःखहेतुक मौन'—जो यहाँ उक्त है—वही निमित्त है, पर निमित्त बनाने के लिये उसका निःशब्दताहेतुक मौन में तादात्म्यारोप किया गया है। कारण,

इस तरह एकरूप माना हुआ मौन ही वियोगजन्य दुःख के साथ रहते हुए नूपुर में रहनेवाला होता है। इस तरह यह उत्प्रेक्षा भी भेदसंबन्ध से ही होती है। प्राचीनों ने जो यहाँ निश्चलता के कारण होनेवाले शब्दराहित्यरूप विषय में वियोगजन्य दुःख के कारण होनेवाले 'मौन' की अभेदसंबन्ध से उत्प्रेक्षा सिद्ध की है वह कथमपि उचित नहीं, क्योंकि एक तो, उत्प्रेक्षा में 'इव' शब्द का अन्वय जिसके साथ हो उसी की उत्प्रेक्षा होती है यह एक नियमसिद्ध बात है और यहाँ 'इव' शब्द का अन्वय 'दुःख' के साथ ही है। दूसरे, जब विषय (आपके हिसाब से निश्चलता के कारण होनेवाली निःशब्दता) को निगीर्ण मानते हैं तब विषयी (आपके हिसाब से वियोगजन्य दुःख के कारण होनेवाला मौन) विधेय नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होना अनुभव-विरुद्ध है। तीसरे, ऐसी स्थिति में अन्य किसी निमित्त को ढूँढ़ना पड़ेगा। यद्यपि यहाँ एक धर्म ऐसा है जो प्राचीनमतसिद्ध उत्प्रेक्षा के विषय तथा विषयी दोनों में रहनेवाला है और वह है 'एक काल में उत्पन्न होना' (यह धर्म निश्चलताहेतुक मौन और वियोग-दुःखहेतुक मौन दोनों में है—अर्थात् वे दोनों ही 'मौन' एक काल में उत्पन्न हुए हैं) अतः इसी धर्मको उक्त अभेदेन उत्प्रेक्षा का निमित्त मान लिया जाय ऐसा कहा जा सकता है, तथापि ऐसा कहना संगत नहीं होगा, क्योंकि जैसे उपमास्थल में उसी साधारणधर्म को उपमाप्रयोजक (साधक) माना जाता है जो चमत्कारी हो उसी तरह उत्प्रेक्षास्थल में भी उसी साधारणधर्म को उत्प्रेक्षा-साधक माना जाना चाहिए जो चमत्कारी हो और उक्त साधारणधर्म चमत्कारी है नहीं, अतः वह उत्प्रेक्षा का निमित्त नहीं हो सकता। इसी तरह फलोत्प्रेक्षा में भी समझिए—अर्थात् वहाँ भेदसंबन्ध से ही उत्प्रेक्षा होती है, अभेदसंबन्ध से नहीं। इस आलोचना से, द्रविडश्रेष्ठ (अप्पयदीक्षित) ने जो प्राचीनों के मत का अनुसरण करते हुए 'अथवा हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और धर्मोत्प्रेक्षा के उदाहरणों में भी अभेदसंबन्ध से ही उत्प्रेक्षा होती है' यह कहा है, वह भी परास्त हो जाता है।

पूर्वसूचितमर्वाचां मतमुत्थापयति—

अलङ्कारसर्वस्वकृता तावदुत्प्रेक्षाया लक्षणमित्थं निगदितम्—'विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः। स च द्विविधः—सिद्धः, साध्यश्च। तत्र साध्यत्वप्रतीतौ व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा इति।' अस्यार्थः—सिद्धत्वं निगीर्णविषयत्वम्। साध्यत्वं च निगीर्यमाणविषयत्वम्। यत्र हि सिद्धत्वं तत्राध्यवसितप्राधान्ये—अतिशयोक्तिः। यत्र साध्यत्वं तत्र व्यापारस्याध्यवसानक्रियायाः प्राधान्ये उत्प्रेक्षा इति। एवमभेदसंसर्गोत्प्रेक्षां विधाय—"'सैषा स्थली यत्र' इत्यत्र नूपुरमौनस्य मौनित्वेन हेतुनेव दुःखं गुण उत्प्रेक्ष्यते। तत्र मौनित्वमेव नूपुरनिःशब्दत्वादेरभेदाध्यवसितं निमित्तम्।" इत्युक्तम्। एवं 'यत्र धर्म एव धर्मिगतत्वे' इत्यादिना धर्मोत्प्रेक्षाप्रसङ्गे "'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इत्यत्र लेपनक्रियाकर्तृत्वोत्प्रेक्षायां व्यापनादि निमित्तम्।" इत्युक्तम्।

[illegible] । तयोर्मध्ये इत्यर्थः । [illegible] । [illegible] इति । [illegible] । [illegible] अस्यार्थः इति । निगीर्णविषयत्वमिति । निगीर्णो विषयो यत्र [illegible] इत्यर्थः । [illegible] । निगीर्यमाणो, न तु निगीर्णः विषयो यत्र [illegible] इत्यर्थः । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] परिगृहीतम् । [illegible] 'विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः' इति [illegible] । [illegible] भावः । नूपुरगतस्य

माणत्वात्पृथगुपलब्धिरिति वाच्यम्, साध्याध्यवसाये मानाभावात्। अन्यथा रूपकादेरप्यध्यवसायगर्भत्वापत्तेः। किञ्च, अध्यवसानं लक्षणाभेदः। न चात्र विधेयांशे लक्षणास्ति। अभेदादिसंसर्गैराहार्यबोधस्यैव स्वीकारात्। तस्मात्प्राचीनानामाधुनिकानां चोक्तयो न क्षोदक्षमाः।

तदेतदिति। पूर्वोक्तमलङ्कारसर्वस्वकारमतमित्यर्थः। परस्परविरुद्धत्वमेव स्फुटयति—महीत्यादिना। 'सैषा स्थली–' इत्यत्रत्यं सर्वस्वकारकृतं विचारं परीक्ष्य सम्प्रति 'लिम्पतीव–' इत्यत्रत्यं तद्विचारं परीक्षते—एवम् इत्यादि। लेपनाध्यवसायोऽपीति। अत्र सिद्धत्वादित्याद्यर्थ[illegible]। [illegible]दाह—तस्यापीति। ननु मया तथोक्तमपि नेदं खण्डितमित्युपलक्षणत्वेनोद्यमत आह—व्यापनादाविति। इदमन्यत्रापि दृष्टमित्याह—निमित्तांशेति। परस्परविरोधमुपपाद्य तदुक्तायामुत्प्रेक्षायामध्यवसानस्थितिमेव निरस्यति—किञ्चेति। अन्यथेति। पृथक्विषयवाचकपदोपलब्धावपि अध्यवसानस्वीकारे इत्यर्थः। पुनस्तामेव युक्त्यन्तरेण खण्डयति—किञ्चेति। लक्षणाभेद इति। सारोपा साध्यवसाना चेति भेदकरणादिति भावः। अत्र उत्प्रेक्षायाम्। उपसंहरति—तस्मादिति। क्षोदक्षमा इति। विचारसहा इति भावः। सर्वस्वकृता स्वकीयोत्प्रेक्षालक्षणेऽभेदगर्भोऽध्यवसायो निवेशितः, उदाहरणत्वेन च 'सैषा स्थली—' इति पद्यमुक्त्वा 'नूपुरे दुःखगुणोत्प्रेक्षाऽत्र' इति व्याख्यातम्। तच्च परस्परविरोधि वचः, सैषा स्थलीत्यत्रत्योत्प्रेक्षाविषयविषयिणोर्नूपुरदुःखगुणयोरभेदगर्भाध्यवसायाभावात्। यद्यपि मौनांशेऽभेदगर्भोऽध्यवसायो वर्तते, 'मौनित्वमेव नूपुरगतनिःशब्दत्वाभेदेनाध्यवसितं निमित्तम्' इति स्वीकारात्, तथापि निमित्तांशे सः, नोत्प्रेक्ष्यांशे, निमित्तांशगताध्यवसायमादाय च न तदुक्तलक्षणसङ्गतिः। किञ्च निमित्तांशे वर्तमानोऽप्यध्यवसायः तदुक्तपरिभाषानुसारं सिद्ध एव, न साध्य इति सोऽतिशयोक्तेर्विषयः स्यात्, नोत्प्रेक्षायाः, [illegible] तेन अवेशितत्वात्। एवं 'लिम्पतीव—' इत्यस्योत्प्रेक्षोदाहरणत्वमपि तदुक्तं स्वोक्तिविरुद्धम्, तत्रापि विषयविषयिणोस्तमोलेपनकर्तृत्वयोरभेदाध्यवसायविरहात्। निमित्तभूतव्यापने सत्यपि लेपनाध्यवसायः पूर्ववत् सिद्धत्वादतिशयोक्तेर्विषयो, नोत्प्रेक्षायाः, तत्र निमित्तता स्वीकुर्वता तेनोत्प्रेक्षता स्वीकृतापि नेति किं तत्राध्यवसायेन स्थितेनापि फलम्? तत्र निमित्ततां स्वीकुर्वताऽपि मयोत्प्रेक्ष्यता न खण्डिता, एवञ्च तदंशे एवोत्प्रेक्ष्यताऽपि ममाभिमतेति तु वक्तुमशक्यम्, 'व्यापनादौ उत्प्रेक्षाविषयतया स्वीक्रियमाणे निमित्तान्तरं गवेषणीयं स्यात्' इति [illegible] स्वयमुपन्यासात्। निमित्तांशगताध्यवसान[illegible] उपमादेरपि तदङ्गीकरणीयं स्यात्, तत्रापि निमित्तांशेऽध्यवसानस्य सत्त्वात्, 'मुखं [illegible]' इत्यादौ [illegible]गतस्य मुखगतस्य [illegible] मिथो भिन्नत्वेऽपि [illegible] निमित्तत्वसम्भवात्। [illegible] स्पष्ट इति चेन्न, 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्यादौ [illegible] स्वीकर्तव्यत्वात्। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] 'मुखं चन्द्रो नूनम्' इत्यादौ [illegible] 'न विषो [illegible]' इत्यभियुक्तोक्त्या विषयांशे [illegible]

प्रसङ्गात् । कथं तर्हि सत्यान्वयबोध इति चेत् ? अभेदादिसम्बन्धेनोत्प्रेक्षाविषयबोध इति बोध्यम् । इत्थं च प्राचामर्वाचीनां च कथनानि विचारविधुराणीत्याचार्याणामाशयः इति भावः ।

अर्वाचीनों के मत पर विचार किया जाता है—सदेतत् इत्यादि । अर्वाचीनों (अलङ्कारसर्वस्वकारादिकों) की उक्त सभी बातें परस्परविरुद्ध हैं । कारण, उन्होंने अभेदगर्भ उत्प्रेक्षालक्षण बनाया है—अर्थात् अभेदसंबन्ध से सर्वत्र उत्प्रेक्षा मानी है और उदाहरण दिया है—'सैषा स्थली—' यह पद्य और कहा है कि 'यहाँ कूजगुण की उत्प्रेक्षा नूपुर में होती है ।' यह उदाहरण लक्षण के हिसाब से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि कूजगुण की उत्प्रेक्षा में जिसके गर्भ में अभेद हो ऐसा अध्यवसान नहीं है । हाँ, 'मौन' अंश में अध्यवसान अवश्य है, क्योंकि 'निश्चलता के कारण होनेवाले' शब्दराहित्य को 'मौनित्व—मौनीपन' का अन्तःप्रविष्ट समझकर अभेद मान लिया गया है, परन्तु वह अध्यवसान सिद्धरूप है, अतः अतिशयोक्ति का विषय हो सकता है, उत्प्रेक्षा का नहीं, क्योंकि उत्प्रेक्षा का विषय साध्य अध्यवसान होता है । और आपके मत में 'मौन' को उत्प्रेक्षा का निमित्त माना गया है, अतः आपके मत में उसकी उत्प्रेक्षा मानी भी नहीं जा सकती । इसी तरह 'लिम्पतीव—' इस पद्य में जो आपने अन्धकार में लेपनकर्तृत्वरूप धर्म की उत्प्रेक्षा कही है वह भी अभेदगर्भ अध्यवसायघटित लक्षण से विरुद्ध है, क्योंकि यहाँ भी अभेदगर्भ अध्यवसान नहीं है । लेपन में व्यापन का अध्यवसान यदि है भी तो वह सिद्धरूप होने के कारण एक तो पूर्ववत् अतिशयोक्ति का लक्ष्य होगा, उत्प्रेक्षा का नहीं, दूसरे आपने उसे यहाँ की उक्त उत्प्रेक्षा का निमित्त माना है, फिर उस अंश में अध्यवसान के रहने ही से क्या ? आप उस अंश की उत्प्रेक्षा मान नहीं सकते । आप कहेंगे—"'लिम्पतीव—' में लेपनक्रियाकर्तृत्व की उत्प्रेक्षा का निमित्त व्यापन आदि होता है" इतना ही तो मैंने कहा है और उसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि 'कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा मानने पर उक्त व्यापनादि निमित्त हो सकता है' इससे यह तो सिद्ध होता नहीं कि मैं व्यापन में लेपन की उत्प्रेक्षा नहीं मानता, अतः यदि कहा जाय कि मैं वैसा ही मानता हूँ, तो इसका उत्तर यह है कि—आप वैसा कह ही नहीं सकते, क्योंकि आपने स्वयं कहा है कि—व्यापन को यदि उत्प्रेक्षा का विषय फलतः लेपन को विषयी माना जाय तब किसी अन्य निमित्त की खोज करनी पड़ेगी । तात्पर्य यह कि जब आप 'व्यापन में लेपन की उत्प्रेक्षा है' इस पक्ष की बाधिका युक्ति स्वयं दे चुके हैं तब आप उसी पक्ष को कैसे मान सकते हैं । निमित्तभागगत अध्यवसान को लेकर अलङ्कार में अध्यवसानमूलकत्व व्यवहार तो किया नहीं जा सकता, क्योंकि उपमादि अलङ्कार-स्थल में भी निमित्तभागगत अध्यवसान रहता है और फिर भी उन अलङ्कारों को दूसरों के साथ आप भी अध्यवसानमूलक नहीं मानते । अन्य उत्प्रेक्षाओं को छोड़िये । धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा में प्रायः आपको सबसे अधिक अध्यवसान का भ्रम होता है, अतः आइये, उसी पर विचार कर लिया जाय । 'नूनं मुखं चन्द्रः=मुख मानो चन्द्र है' इस उत्प्रेक्षा में भी अध्यवसान कहाँ है ? क्योंकि यहाँ विषय (मुख) सीधा शब्दतः उपस्थित है—वह जब तक विषयी द्वारा निगीर्ण न हो तब तक अध्यवसान कैसे माना जा सकता है ? आप कहेंगे—जहाँ अध्यवसान सिद्धरूप रहता है वहाँ विषय विषयी द्वारा निगीर्ण हो गया रहता है—अतः विषयी से पृथक् विषय उपलब्ध नहीं होता, पर साध्य अध्यवसान में तो विषयी से पृथक् विषय की उपलब्धि होती ही है, फिर आप विषय से पृथक् विषय की उपलब्धि होने से अध्यवसान का अस्वीकार क्यों करते हैं तो इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि साध्य अध्यवसान को मैं ही नहीं मानता, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि इस तरह से विषयी से पृथक् विषय की उपलब्धि होने पर भी साध्य अध्यवसान माना जाय तब रूपक आदि अलङ्कार भी

अध्यवसानगर्भ माने जाने लगेंगे। उत्प्रेक्षा में अध्यवसान नहीं रहता इस बात को पुष्ट करनेवाली एक तीसरी युक्ति यह भी है कि 'अध्यवसान' लक्षणा का एक प्रभेद है, क्योंकि 'सारोपा', 'साध्यवसाना' ये सब लक्षणा के ही प्रभेद कहे गये हैं। अब सोचिए कि उत्प्रेक्ष्य विधेय अंश में लक्षणा यहाँ है? कहना पड़ेगा कि 'नहीं', क्योंकि 'विधेयांश में लक्षणा नहीं होती' ऐसा सिद्धान्त है। आप कहेंगे—लक्षणा के बिना 'मुख मानो चन्द्र है' इत्यादि स्थल में शाब्दबोध हो कैसे सकता है तो इसका उत्तर यह है कि—अभेद आदि संबन्धों से आहार्य (बाधित होने पर भी इच्छाजन्य) बोध ही वहाँ माना जाता है जो लक्षणा के बिना भी हो ही सकता है। इस तरह उपसंहार में कहना यह है कि—प्राचीनों तथा आधुनिकों दोनों ही की उक्तियाँ आलोचना की कसौटी पर कसने से खरी नहीं उतरती हैं।

प्राचीनानामाधुनिकानाञ्च मतान्युपपाद्य सामान्यतः समालोच्य च सम्प्रति तद्विषये स्वसम्मतं निष्कर्षमाह—

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्र तावद्धर्म्युत्प्रेक्षानिष्कर्षः प्राचीनमतपरीक्षावसरे कृत एव। हेतूत्प्रेक्षायां पञ्चम्यर्थो हेतुः, अभेदश्च प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः संसर्ग इति पक्षे विश्लेषदुःखाभिन्नहेतुः पञ्चम्यन्तार्थः। तस्य च प्रयोज्यतासंसर्गेणोत्प्रेक्षणमिवादिना बोध्यते। प्रयोज्यत्वं पञ्चम्यर्थ इति दर्शने निरूपितत्वं प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः संसर्गः। आश्रयतासंसर्गेणोत्प्रेक्षणम्। उभयथापि पञ्चम्यर्थ एवोत्प्रेक्ष्यः, तेनैवेवाद्यर्थान्वयात्। उत्प्रेक्ष्यतावच्छेदकसंबन्धेनोत्प्रेक्ष्यसमानाधिकरणश्च धर्मोऽतिशयोक्त्या मौनाभिन्नत्वेनाध्यवसितनिश्चलत्वादिर्निमित्तम्। बद्धमौनं च विषयः। मौनद्वारकं च बद्धमौनस्य प्रयोज्यत्वं संभाव्यते। एवं प्रयोज्यधर्मके धर्मिणि सर्वत्रापि धर्मद्वारक एव पञ्चम्यर्थान्वयः। यत्र तु धर्म एव किञ्चिद्धर्माभिन्नत्वेनाध्यवसितः साक्षाद्विषयस्तत्र विषयतावच्छेदकाभावो निमित्तम्। यथा तत्रैव 'विश्लेषदुःखादिव मौनमस्य' इति निर्माणे मौनत्वम्। एवं तृतीयार्थेऽपि बोध्यम्।

एवं प्राप्ते इति। प्राचीनाधुनिकोक्तीनां क्षोदक्षमत्वाभावे प्राप्ते इत्यर्थः। 'ब्रूमः' इति क्रियायाः वक्ष्यमाणपदार्थसमूहः कर्म, अस्मदर्थभूता ग्रन्थकाराश्च कर्तृभूताः। तत्र उत्प्रेक्षानिष्कर्षमध्ये तावत् आदौ। परीक्षेति। विचारेत्यर्थः। कृत एवेति। धर्मिस्वरूपो- [illegible] सिद्धान्त इति भावः। इदमुप- [illegible] गुणात्मकधर्मोत्प्रेक्षोदाहरणे 'अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे' इत्यादौ [illegible] निष्कर्षस्तत्र कृत एव। [illegible] तद्विषयेऽपि महता [illegible] 'लिम्पतीव' इत्यादौ [illegible] प्रकृतक्रियाकर्तृत्वस्य 'आश्रयता'- संबन्धेन, [illegible] निष्कर्षो कृतायैव। [illegible]
[illegible]

उन मतों की सामान्यतः आलोचना की गई, अब अपने मत के अनुसार निष्कर्ष लिखा जाता है—एवं प्राप्ते ब्रूमः इत्यादि। जब प्राचीनों तथा आधुनिकों—दोनों की उक्तियाँ विचार करने पर टिकने योग्य नहीं हुईं, तब हम कहते हैं—उक्त उत्प्रेक्षा-प्रभेदों में से 'धर्म्युत्प्रेक्षा' का निष्कर्ष तो प्राचीनों के मत पर विचार करते समय कर ही दिया गया है—अर्थात् 'मुख मानो चन्द्र है' इत्यादिक में अभेदसम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा होती है—इस विषय में किसी का मतभेद नहीं है। [इसी तरह धर्मोत्प्रेक्षा के दो प्रकार के उदाहरणों में से गुणरूप धर्म की उत्प्रेक्षा के उदाहरण 'अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे' आदि में भेद-सम्बन्ध (समवाय आदि सम्बन्ध) से उत्प्रेक्षा होने का सिद्धान्त भी स्थिर किया जा चुका है। क्रियारूप धर्मोत्प्रेक्षा के उदाहरण 'लिम्पतीव—' आदि में विविध मतभेदों के रहने पर भी विशद शास्त्रार्थप्रक्रिया से यह सिद्ध किया जा चुका है कि यहाँ प्रथमान्त पदार्थ अन्धकार आदि में प्रकृत लेपन आदि क्रिया के 'कर्तृत्व' की 'आश्रयता'सम्बन्ध से, अथवा 'कर्ता' (तिङर्थ) की 'अभेद'सम्बन्ध से, उत्प्रेक्षा मानना समुचित है।] हेतूत्प्रेक्षा में पञ्चमी विभक्ति का अर्थ 'हेतु' होता है और प्रकृति (जिस शब्द से पञ्चमी की गई हो उस) के तथा प्रत्यय (पञ्चमी विभक्ति) के अर्थ का सम्बन्ध होता है 'अभेद'। यह एक पक्ष है। इस पक्ष में 'वियोगदुःखात्–वियोग-दुःख से' इस पञ्चम्यन्त पद का अर्थ होता है 'वियोगदुःख से अभिन्न हेतु'। इस अर्थ की 'प्रयोज्यता'सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक पदों से बोधित होती है। 'प्रयोज्यता' पञ्चमी विभक्ति का अर्थ है यह दूसरा पक्ष है। इस पक्ष के हिसाब से प्रकृति तथा विभक्ति के अर्थ का सम्बन्ध होता है 'निरूपितत्व' और उत्प्रेक्षा होती है 'आश्रयता'संबन्ध से। दोनों पक्षों में पञ्चमी के अर्थ की ही उत्प्रेक्षा होती है, प्रकृति के अर्थ की नहीं, क्योंकि 'इव' आदि के अर्थ का अन्वय उसी से होता है। उस उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है वह निश्चलताहेतुक निःशब्दत्व आदि धर्म जो उत्प्रेक्षतावच्छेदकसंबन्ध—अर्थात् जिस संबन्ध से उत्प्रेक्षा होती है उस = प्रयोज्यता अथवा आश्रयतासंबन्ध—से उत्प्रेक्ष्य—अर्थात् दुःखाभिन्न हेतु में अथवा दुःखनिरूपित प्रयोज्यता—के अधिकरण—मौनयुक्त नूपुर (यहाँ मौनयुक्त नूपुर 'मौन' द्वारा अधिकरण कहलाता है; स्वतः नहीं अर्थात् वस्तुतः अधिकरण 'मौन' है, पर उसके द्वारा मौनयुक्त नूपुर भी अधिकरण कहलाता है यह समझना चाहिए) में रहता है और जिसमें 'मौन' के अभेद का अति-शयोक्तिद्वारा अध्यवसान हुआ है। और इस उत्प्रेक्षा का विषय है 'मौनयुक्त' पदार्थ—अर्थात् नूपुर। तात्पर्य यह हुआ कि 'विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्' में एक पक्ष के हिसाब से 'मौनयुक्त' नूपुररूप विषय में 'प्रयोज्यता'सम्बन्ध से 'विश्लेषदुःखाभिन्नहेतु'रूप विषयी की और दूसरे पक्ष के हिसाब से उसी विषय में ही 'आश्रयता'सम्बन्ध से 'विश्लेषदुःखनिरूपित प्रयोज्यता'रूप विषयी की उत्प्रेक्षा होती है। यदि कोई कहे कि—यह रीति तो ठीक नहीं है, क्योंकि विश्लेषदुःखरूप हेतु से प्रयोज्य (साध्य) वस्तुतः मौन (शब्दरहित होना) है, मौनयुक्त पदार्थ नहीं, अतः प्रयोज्यतासम्बन्ध से उक्त दुःखाभिन्न हेतु की उत्प्रेक्षा (संभावना) मौन में की जा सकती है, मौनयुक्त में नहीं, इसी तरह विश्लेषदुःखनिरूपित प्रयोज्यता का वस्तुतः आश्रय मौन ही है, मौनयुक्त नहीं, अतः आश्रयतासम्बन्ध से उक्त प्रयोज्यता की भी उत्प्रेक्षा मौन में ही हो सकती है, तो मैं कहूँगा कि कथन आपका ठीक है, पर मौनरूप धर्म द्वारा मौनयुक्त धर्मी भी दुःखप्रयोज्य अथवा दुःखनिरूपित प्रयोज्यता का आश्रय होता है, अतः प्रयोज्यता-सम्बन्ध से दुःखरूप हेतु की अथवा आश्रयतासम्बन्ध से दुःखनिरूपित प्रयोज्यता की मौनयुक्त में उत्प्रेक्षा की जा सकती है। सारांश यह कि—किसी पदार्थ से प्रयोज्य (साध्य) धर्मवाले धर्मी में पञ्चम्यर्थ का अन्वय धर्म द्वारा ही स्वीकृत होता है। अर्थात् जब 'चौरात् भीतः—चोर से डरा हुआ' इस तरह का वाक्य बोला जाता है तब 'चोर से'

पक्षवदित्यर्थः । तच्चेति । फलं चेत्यर्थः । तथाभूते चेति । किञ्चिद्धर्माभिन्नत्वेनाध्यवसिते चेत्यर्थः । तद्विशेषणीभूत इति । विषयतावच्छेदकधर्म इत्यर्थः । विवेको विभागः । 'व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि' इत्यत्र फलोत्प्रेक्षा समुदाहृता । तत्र दृश्धातूत्तरवर्तिनस्तुमुन्प्रत्ययस्यार्थः फलम्, तस्मिंश्च तुमुन्प्रत्ययार्थे प्रकृत्यर्थस्य दर्शनस्याभेदेनान्वयः । तथा च 'दर्शनाभिन्नं फलम्' इति 'द्रष्टुम्' पदस्यार्थः । अस्यार्थस्य च 'साधनता(प्रयोजकता)'सम्बन्धेन वनान्तपदार्थेऽन्वयो भवितुमर्हति अतस्तेनैव सम्बन्धेन तत्रैव तस्य (फलस्य) उत्प्रेक्षापि भवति । यद्यपि ललाटाक्षरदर्शनरूपफलप्रयोजकता साक्षाल्ललाटत्वग्विपाटन एव, न वनान्तेषु, तथा च प्रयोजकतासम्बन्धेन तत्रैव फलान्वयो युक्तस्तथापि ललाटत्वग्विपाटनस्य गुणीभूततया न तत्रान्वयः सम्भवति, एकदेशान्वयस्यास्वीकारात्, अतोऽगत्या ललाटत्वग्विपाटनद्वारा वनान्तेषु फलान्वयः प्रयोजकतासम्बन्धेन विधेय एव । एतच्च ग्रन्थकृता प्राक् स्फुटीकृतम्, अग्रेऽपि स्फुटीकरिष्यतेऽनुपदम् । अस्यां चोत्प्रेक्षायामुत्प्रेक्षाविषयीभूतवनान्तविशेषणतया भासमानः (वनान्तगतश्च) स्वाभाविकललाटत्वग्विपाटनरूपो धर्मो ललाटाक्षरदर्शनफलकललाटत्वग्विपाटनाभिन्नत्वेनाध्यवसितो निमित्तम् भवति । इत्थञ्चोक्तवाक्यस्य शाब्दबोधः—"ललाटत्वग्विपाटनानुकूलव्यापाराश्रया वनान्ताः, प्रयोजकतासम्बन्धेन ललाटाक्षरदर्शनाभिन्नफलप्रकारिकायाः सम्भावनायाः विषयाः" इत्याकारः पर्यवस्यति । यदि धर्मिरूपो वनान्तपदार्थः उत्प्रेक्षाया विषयो न भवेत्, अपि तु ललाटाक्षरदर्शनफलकत्वग्विपाटनाभिन्नत्वेनाध्यवसितं स्वाभाविकं ललाटत्वग्विपाटनमेव धर्मरूपं भवेदुत्प्रेक्षाविषयः—अर्थात् यदि 'वनान्तैर्ललाटत्वचो विपाटनं अक्षराणि द्रष्टुमिव' इतीदृशं वाक्यं स्यात् तदा प्रयोजकतासम्बन्धेन तादृशे धर्मात्मके विषय एव अक्षरदर्शनरूपफलमुत्प्रेक्ष्येत, निमित्तं च तदा विषयविशेषणीभूतः—अर्थात् विषयतावच्छेदको ललाटत्वग्विपाटनत्वात्मको धर्म एव स्यादिति भावः ।

अब फलोत्प्रेक्षाविषयक निष्कर्ष दिखलाया जाता है—फलोत्प्रेक्षायाम् इत्यादि । फलोत्प्रेक्षा में 'तुमुन्' प्रत्यय (के लिये) आदि का अर्थ 'फल' होता है । और हेतूत्प्रेक्षा के प्रसंग की तरह प्रकृति (जिस धातु से 'तुमुन्' आदि प्रत्यय किए गए हों) तथा प्रत्यय ('तुमुन्' आदि) के अर्थ (फल) का 'अभेद'संबन्ध होता है । और उस फल (प्रकृत्यर्थ से अभिन्न प्रत्ययार्थ) का अन्वय ऐसी जगहों में 'प्रयोजकता'संबन्ध (साधनता'संबन्ध) से ललाटत्वग्विपाटन आदि रूप धर्म द्वारा वनान्त आदि धर्मी में होता है, अतः ऐसी जगहों में 'फल' की उत्प्रेक्षा भी उसी सम्बन्ध से होती है । तात्पर्य यह कि फलोत्प्रेक्षा सदा सर्वत्र 'साधनता'(प्रयोजकता)संबन्ध से ही होती है, पर कहीं धर्मी में और कहीं धर्म में । जिस अंश में फल की उत्प्रेक्षा होती है उस विषयांश में विशेषणरूप से भासित होने वाला धर्म उस फलोत्प्रेक्षा का निमित्त होता है । वह धर्म भी जहाँ कोई धर्मी उत्प्रेक्षा का विषय रहता है वहाँ विषयी में रहने वाले धर्म से अध्यवसान द्वारा अभिन्न होकर निमित्त होता है और जहाँ अध्यवसान द्वारा किसी धर्म से अभिन्न होकर कोई धर्म ही उत्प्रेक्षा का विषय होता है वहाँ विषय का विशेषणीभूत—अर्थात् विषयता का अवच्छेदकीभूत—कोई दूसरा ही धर्म निमित्तरूप होता है । सारांश यह कि—'व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि' यह जो फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण पहले लिखा जा चुका है वहाँ 'वनान्त' (वनप्रदेश)—जो धर्मीरूप है—विषय है उसमें 'प्रयोजकता'(साधनता)संबन्ध से ललाटाक्षरदर्शनाभिन्न फल की उत्प्रेक्षा होती है । यद्यपि उक्त फल का साक्षात् प्रयोजक वनान्त नहीं, 'ललाटत्वग्विपाटन' है, अतः उस फल का अन्वय तथा उत्प्रेक्षा उस संबन्ध (प्रयोजकतासंबन्ध) से उसी में होना उचित है तथापि वह (ललाटत्वग्विपाटन) एकदेश है—गौण है । अतः उसमें फल का अन्वय किया

अन्वय न हो सकता हो (ईदृश अन्वय के न हो सकने में 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति, न पदार्थैकदेशेन—अर्थात् किसी पद का अर्थ किसी पद के पूरे अर्थ के साथ ही अन्वित होता है, किसी पद के पूरे अर्थ के एक भाग से नहीं' इस नियम को कारण समझना चाहिए) वहाँ प्रधान पदार्थ ही उत्प्रेक्षा का विषय माना जाना चाहिये। और वस्तुतः विषय की योग्यता रखनेवाले विशेषण को द्वार मानकर 'प्रयोज्यता' और 'प्रयोजकता' संबन्धों से क्रमशः हेतु की तथा फल की उत्प्रेक्षा समझनी चाहिए। तात्पर्य यह कि—जैसे 'विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्' इस हेतूत्प्रेक्षा की जगह, उत्प्रेक्षा का वास्तविक विषय होने योग्य 'मौन' पदार्थ के बहुव्रीहि समासान्तर्गत हो जाने के कारण गौण हो जाने से 'बद्धमौन' (मौनयुक्त) रूप प्रधान पदार्थ को ही विषय माना जाता है और उसी में मौनद्वारा दुःख की उत्प्रेक्षा 'प्रयोज्यता' सम्बन्ध से मानी जाती है, उसी तरह 'अपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि' इस फलोत्प्रेक्षा की जगह में भी उत्प्रेक्षा का वास्तविक विषय होने योग्य 'भालत्वग्विपाटन' पदार्थ के सुप्तिङ् प्रत्ययों के कारण गौण हो जाने से प्रधान पदार्थ (वनप्रदेश) को ही विषय माना जाता है और उसी में उक्त वास्तविक विषय होने योग्य पदार्थ द्वारा प्रयोजकतासंबन्ध से ललाटाक्षरदर्शनरूप फल की उत्प्रेक्षा मानी जाती है। उक्त हेतूत्प्रेक्षा-स्थल में 'बद्धमौनम्' की जगह 'मौनवद्' अथवा 'मौनी' पद के रहने पर प्रत्ययप्रयुक्त गौणता होगी, इसी तरह उक्त फलोत्प्रेक्षा-स्थल में 'अक्षराणि द्रष्टुमिव विपाटितभालत्वचो वनान्ताः' ऐसे वाक्य के रहने पर समासप्रयुक्त गौणता होगी यह समझना चाहिए। ऐसी स्थिति में सर्वत्र ऐसी रीति से ही काम लेना चाहिये।

आशङ्क्य समाधत्ते—

यद्यपि विशेषणेऽपि यथाकथंचिद्धेतुफलयोरन्वयाद्विशेषणस्यापि विषयत्वमुचितम्। तथापि विषयविशेषणयोरुद्देश्यविधेयभावप्रत्ययानुरोधादियं सरणिराश्रिता। यदि च तस्य नास्त्येवानुरोधस्तदा प्राचां दर्शनमेव रमणीयं स्यात्।

यथाकथंचिद्धेतुफलयोरिति। 'शिखी ध्वस्तः', 'स्वर्गी ध्वस्तः', 'वीणावान् आगतः' इत्यादाविवेति भावः। तथेति। [illegible]। [illegible] पदार्थैकदेशतया गुणीभूतेषु धर्मेषु न सम्भवतीति धर्मद्वारा धर्मिणि प्रधानेऽन्वयः करणीय इति यदुक्तं तदकिंचित्करम्, 'शिखी ध्वस्तः' इत्यादाविव एकदेशा-न्वयस्यापि [illegible] परम्परया धर्मिण्यन्वयस्यानुभवात्। तथा च 'विश्लेषदुःखादिव—' 'अपाटयन् द्रष्टुमिव—' इत्यादौ मौनत्वग्विपाटनादीनां धर्माणां [illegible] ([illegible] पदार्थः) [illegible] (उत्प्रेक्ष्यः पदार्थः) [illegible]

तेषु प्राचीनोक्तरीत्या विश्लेषनिमित्तकनिःशब्दत्वादौ विषयेऽभेदेन विश्लेषदुःखादेः फल-मौनादेः, कण्टकजविपाटनादौ विषयेऽसमदर्शनफलकभाग्यलिपिपाटनस्य हेतोरभेदेनोत्प्रेक्षैव किं न स्वीक्रियेत, यद्यप्येवमपि अनुभवसिद्धोद्देश्यविधेयभावभङ्ग एव प्रधानो दोषः, स चेदानीमपि स्वीक्रियत एवेति प्राचाममभिप्रायोपोद्बलकयुक्तिपरतायाः 'यदि च''' रमणीयं स्यात्' इति पङ्क्तेरभिप्रायः ।

एक आशङ्का और उसका समाधान किया जाता है—यद्यपि इत्यादि । यद्यपि विशेषण में भी, किसी न किसी तरह, हेतु तथा फल का अन्वय हो जाने से विशेषण का विषय होना उचित है—अर्थात् 'विश्लेषदुःखात्—' तथा 'व्यपाटयन् ग्रन्दुमिव—' इत्यादि स्थानों में, धर्मों (मौन तथा विपाटन) में हेतु तथा फल (दुःख एवं दुर्दर्शन) का अन्वय गौण होने के कारण नहीं हो सकता, अतः धर्मद्वारा धर्मियों (मौनयुक्त तथा वनप्रदेशों) में उनके अन्वय किए जाते हैं यह जो कहा गया है सो अकिञ्चित्कर है, क्योंकि कहीं-कहीं (जैसे 'किसी ध्वस्त हुआ' आदि में) एकदेशान्वय भी देखा जाता है तदनुसार यहाँ भी उक्त धर्मों में ही हेतु तथा फल का अन्वय किया जा सकता है और जब ऐसा अन्वय किया जा सकता है तब उन धर्मों को ही विषय मानकर उनमें ही हेतु-फल की उत्प्रेक्षा भी की जा सकती है, तथापि उत्प्रेक्षा में जो विषय की उद्देश्यता और विषयी की विधेयता सर्वानुभवसिद्ध है, उसके अनुरोध से इस मार्ग का अनुसरण करना पड़ता है—अर्थात् उत्प्रेक्षास्थल में उत्प्रेक्षा का विषय (जिसमें उत्प्रेक्षा होती है वह पदार्थ) उद्देश्य और उत्प्रेक्षा का विषयी (उत्प्रेक्ष्य पदार्थ) विधेय होता है ऐसा अनुभव सभी को होता है और यह भी निश्चित है कि—किसी की उद्देश्यता सिद्ध होने पर ही किसी की विधेयता भी सिद्ध होती है—वे दोनों परस्पर सापेक्षभाव हैं, ऐसी स्थिति में यदि उक्तस्थलों में मौन तथा विपाटनरूप गौण धर्मों को उत्प्रेक्षा का विषय बनाया जायगा तब वे उद्देश्य नहीं हो सकते, क्योंकि उद्देश्य किंवा विधेय प्रधान पदार्थ ही होता है और जब वे उद्देश्य नहीं हो सकेंगे, तब हेतुफल(दुःखदुर्दर्श)-रूप उत्प्रेक्ष्य विधेय भी नहीं हो सकेंगे, फलतः अनुभवसिद्ध वस्तु का अपलाप होने लगेगा, अतः धर्म द्वारा प्रधान धर्मी (मौनयुक्त तथा वनप्रदेश) को उत्प्रेक्षा का विषय माना जाता है, जिससे उद्देश्यविधेयभावानुभव की रक्षा होती है । यदि उद्देश्यविधेयभाव का अनुरोध न किया जाय तब तो प्राचीनों का मत ही ठीक था—अर्थात् उक्त भाव का अनुरोध नहीं करने पर प्राचीनों के हिसाब से हेतु-फलोत्प्रेक्षाओं में भी अभेदसंबन्ध से ही उत्प्रेक्षा मानना उचित था—विश्लेषहेतुक निःशब्दता में दुःखहेतुक मौन की और कण्टकजन्य विपाटन में अदर्शनरूप फलवाले भाग्यलिपिपाटन की उत्प्रेक्षा अभेदसंबन्ध से मानना युक्त था, क्योंकि उद्देश्यविधेय-भाव का भङ्ग ही उस मत में प्रधान दोष होता था, वह अब भी हो ही रहा है और आप उस दोष को दोष-कोटि में गिनना नहीं चाहते ।

प्राचीनमते न केवलमुद्देश्यविधेयभावभङ्गमात्रमेव दोषः अपि तु दोषान्तरमप्याह

किञ्च प्राचां मते हेतुफलोत्प्रेक्षास्थले तद्धेतुफलयोरनयोः कार्यकारणभावेन निर्णीते विषये उत्प्रेक्षणात् स्वरूपोत्प्रेक्षात एव पर्यवसानम्, न हेतुफलयोः । एवं च विभागोऽप्यस्याः सामान्याप्रसिद्धः स्यात् । अथ स्वरूपात्मकत्वाविशेषेऽपि हेतु-फलविशेषणकस्वरूपोत्प्रेक्षायाः हेतुफलविशेषणकस्वरूपोत्प्रेक्षायाश्चेति हेतु-फलकृत एव भेद इति चेत् 'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्ट-हिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी' इति मदुदाहृतायां स्व-रूपोत्प्रेक्षायां तनयमैनाकगवेषणरूपस्य फलस्योद्देश्यविशेषणकोटिप्रविष्टस्य-

त्फलोत्प्रेक्षात्वापत्तेः, उत्प्रेक्ष्ये साक्षाद्विशेषणताया अप्रयोजकत्वात् । इत्यलं स्वगोत्रकलहेन ।

हेतुफलोत्प्रेक्षास्थले इति । हेतूत्प्रेक्षास्थले फलोत्प्रेक्षास्थले चेत्यर्थः । तद्धेतुकतत्फलकयोः कार्यकारणयोरिति । तद्धेतुकस्य कार्यस्य, तत्फलकस्य कारणस्य चेत्यर्थः । न हेतुफलयोरिति । उत्प्रेक्षायां पर्यवसानमिति पूर्वतनानुषङ्गः । तावता किं स्यादित्याह—एवं चेति । स्वरूपतादात्म्याविशेषे इति । यत्किंचित्पदार्थस्वरूपस्य तादात्म्येन (अभेदेन) उत्प्रेक्षा इत्यंशस्य तुल्यत्वे इत्यर्थः । हेतुफलाविशेषणकेति । हेतुश्च फलश्च ते न विशेषणे ययोस्तादृशी अत एव शुद्धे ये पदार्थस्वरूपे तयोरुत्प्रेक्षाया इत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । ननु तत्कोटिप्रविष्टत्वेऽपि तस्य न तत्र साक्षाद्विशेषणत्वमत आह—उत्प्रेक्ष्ये इति । अभेदसम्बन्धेनैव सर्वत्रोत्प्रेक्षां समर्थयतां प्राचां मते प्रागुक्ता दोषास्तु सन्त्येव । अपरोऽप्ययं दोषस्तन्मते यत् स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा चेति चिरन्तनाचार्यकृतो विभाग उच्छिन्नो भवेत्, यतस्ते 'ऊना मन्ये ललिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः' 'विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्' इत्यादिहेतूत्प्रेक्षोदाहरणे 'स्वाभाविके शोभाकर्तृके पादलग्ने हर्षहेतुकपादलग्नत्व, निश्चलत्वहेतुकनिःशब्दत्वे दुःखहेतुकमौनस्याभेदेनैवोत्प्रेक्षामङ्गीकुर्वन्ति, एवं 'द्रष्टुमिवाक्षराणि' इत्यादिफलोत्प्रेक्षोदाहरणेऽपि कण्टकजन्यभालत्वग्विपाटनेऽक्षरदर्शनफलकभालत्वग्विपाटनस्याभेदेनैवोत्प्रेक्षां मन्यन्ते, तथा चासामुत्प्रेक्षाणां स्वरूपोत्प्रेक्षात्वेन पर्यवसानं जातम् । ननु यत्रोत्प्रेक्ष्यताच्छेदककुक्षौ हेतुफले भासमाने भवतस्ते हेतुफलोत्प्रेक्षे, यथा 'विश्लेषदुःखात्—' 'व्यपाटयन् द्रष्टुमिव—' इत्यादौ, यत्र पुनरुत्प्रेक्ष्यतावच्छेदककुक्षौ हेतुफले न भासमाने तत्र स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा 'मुखं चन्द्रं मन्ये' इत्यादावित्येवं रीत्या चिरन्तनकृतो विभाग उपपद्यत एवेति न कश्चिद्दोष इति चेन्न, एवंरीत्या विभागे समुपपाद्यमाने 'तनयमैनाकगवेषण—' इति [illegible] फलोत्प्रेक्षात्वापत्तेः, तत्रापि [illegible] फलस्य प्रविष्टत्वात् । हेतुफलयोः [illegible] व्यापिका 'तनयमैनाक—' इत्यत्र तु प्रोक्तस्य फलस्य न साक्षादुत्प्रेक्ष्यभुजविशेषणतेति न दोष इति न शक्यं वदितुम्, तथा कल्पनायामनुकूलतर्कविरहादिति भावः ।

प्राचीनों के मत में पूर्वोक्त दोष तो हैं ही, अन्य दोष भी हैं यही अब दिखलाया जाता है—किञ्च प्राचाम् इत्यादि । प्राचीनों के मत से हेतूत्प्रेक्षास्थल में हेतु की उत्प्रेक्षा तो होती नहीं, अपितु तद्धेतुक कार्य की अनुक्त विषय में अभेदसंबन्ध से उत्प्रेक्षा होती है, जैसे 'विश्लेषदुःखादिव—' में उनके मत से अनुक्त निश्चलत्वहेतुक निःशब्दत्वरूप विषय में वियोगजन्य दुःखहेतुक मौन की उत्प्रेक्षा अभेदसंबन्ध से होती है, एवं उनके मत से फलोत्प्रेक्षास्थल में भी फल की उत्प्रेक्षा नहीं होती, अपितु तत्फलक कारण की अनुक्त विषय में अभेदसंबन्ध से उत्प्रेक्षा होती है, जैसे 'व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि—' में उनके सिद्धान्त से अनुक्त कण्टकजन्य भालत्वग्विपाटनरूप विषय में अक्षरदर्शनफलक भालत्वग्विपाटन की अभेदसंबन्ध से उत्प्रेक्षा मानी जाती है । ऐसी स्थिति में वे उत्प्रेक्षाएँ भी स्वरूपोत्प्रेक्षा के रूप में ही परिणत हो जाती हैं—अर्थात् एक धर्म की दूसरे धर्म में जब अभेदसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा हुई तब वह स्वरूप की उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त क्या कहला सकती है ? आप कदाचित् कहें कि हानि क्या है ? मान लीजिए सब को स्वरूपोत्प्रेक्षा ही । तो मैं कहूँगा—चिरन्तनों का किया हुआ विभाग समाप्त हो जायगा—अर्थात् पहले जो चिरन्तन आचार्य स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा ये तीन भेद उत्प्रेक्षा के कहते थे वह कथन मिथ्या हो जायगा—सब स्वरूपोत्प्रेक्षात्मक एक ही

इस बात का निर्णय किया जाता है—उत्प्रेक्ष्यमाणेष्वपि इत्यादि। जहाँ अनेक उत्प्रेक्षाएँ हों वहाँ भी जिस विषयी की उत्प्रेक्षा विधेयरूप से भासित होती हो उसकी उत्प्रेक्षा का ही व्यवहार करना उचित है, क्योंकि प्रधानता उसी उत्प्रेक्षा की होती है। इस अनुगम के अनुसार 'विश्लेष—' इस जगह नूपुररूप विषय में दुःखरूप गुण की उत्प्रेक्षा के व्यङ्ग्य होने पर भी, उस उत्प्रेक्षा का व्यवहार उचित नहीं होता—अर्थात् गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा यहाँ नहीं कही जाती है। कारण, यह उत्प्रेक्षा अङ्ग होने के कारण अनुवाद्य है, विधेय नहीं। किंतु पञ्चमी के अर्थ (हेतु) की उत्प्रेक्षा (हेतूत्प्रेक्षा) का व्यवहार ही उचित है, क्योंकि 'इव' शब्द से उसी का बोध होने के कारण विधेय वही है। इसी तरह 'चोलस्य यद्भीतिपलायित-स्य—' इस पद्य में भी 'वनप्रदेश'रूप विषय में 'ललाटाक्षरदर्शन' की उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य अवश्य होती है, पर व्यवहार उसका नहीं होता—अर्थात् 'क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा' यहाँ मानी नहीं जाती, क्योंकि वह उत्प्रेक्षा भी अङ्गभूत है—अनुवाद्य है। किंतु 'तुमुन्'प्रत्यय के अर्थ (फल) की उत्प्रेक्षा का ही व्यवहार होता है। कारण, 'इव'पद-बोध्य होने के कारण वही विधेय है—प्रधान है। इसी तरह 'तनयमैनाक—' इस गद्य में भी यद्यपि पुत्र-मैनाकान्वेषणरूप फल की उत्प्रेक्षा व्यञ्जनावृत्तिद्वारा प्रतीत होती है, पर व्यवहार उसका नहीं होता—अर्थात् 'फलोत्प्रेक्षा' का उदाहरण वह गद्य नहीं कहा जाता। किंतु 'भुजगत्वजात्यवच्छिन्नोत्प्रेक्षा' का ही व्यवहार होता है—अर्थात् जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण ही उस गद्य को कहा जाता है। कारण वही है जो उक्तस्थलों पर था। इसी तरह 'कलिन्दजानीर—' इस पद्य में भी यद्यपि 'बक'रूप विषय में 'चन्द्रकिशोर' की अभेदसंबन्ध से उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य होती है, और उसी उत्प्रेक्षा के बल से 'चन्द्रकिशोर'रूप विषय में 'अन्धकारकर्तृक वैरहेतुक निगरणकर्म' की अभेदसंबन्ध से उत्प्रेक्षा भी व्यङ्ग्य होती है, तथापि इन दोनों में से किसी भी उत्प्रेक्षा का व्यवहार नहीं किया जाता। किन्तु 'बक'रूप विषय में होनेवाली 'क्रोशन'-क्रियोत्प्रेक्षा का ही व्यवहार होता है। कारण यहाँ भी पूर्ववत् समझना चाहिए।

उत्प्रेक्षानिमित्तभूतधर्मसम्बन्धिविशेषमाह—

द्विविधो हि साधर्म्योऽपि—स्वत एव साधारणः साधारणीकरणोपायेना-साधारणोऽपि साधारणीकृतश्च। स चोपायः क्वचिद्रूपकम्, क्वचिच्छ्लेषः, क्वचिदपह्नुतिः, क्वचिद्बिम्बप्रतिबिम्बभावः, क्वचिदुपचारः, क्वचिदभेदाध्यवसाय-रूपोऽतिशयः।

द्विविधो हीति। हि [illegible] द्विविध इत्यर्थः। स चोपाय इति। [illegible]

उत्प्रेक्षा के निमित्तभूत धर्म के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट बात बताई जाती है—द्विवि-धो हि इत्यादि। उत्प्रेक्षा का निमित्तभूत धर्म भी दो प्रकार का है—एक स्वतः साधारण (विषय-विषयी दोनों में रहनेवाला, जिसे 'अनुगामी' कहते हैं), दूसरा साधारण बनाने के उपाय द्वारा असाधारण होने पर भी साधारण बना लिया गया। उनमें से स्वतः साधारण के विषय में तो कुछ कहना नहीं है। रहा साधारण बनाने का उपाय, सो वह कहीं रूपक, कहीं श्लेष, कहीं अपह्नुति, कहीं बिम्बप्रतिबिम्बभाव, कहीं उपचार और कहीं अभेद का अध्यवसाय (एक धर्म के प्रतिपादक शब्द में अन्य धर्म को प्रविष्ट समझ लेना) रूप 'अतिशय' होता है।

[illegible] प्रथमं रूपकोपायसाधारणी-कृतं धर्ममुदाहरति—

यथा—

'नयनेन्दिन्दिरानन्दमन्दिरं [illegible]।

इदमिन्दीवरं मन्ये सुन्दराक्षि तवाननम् ॥'

अयि सुन्दराक्षि ! नयनान्येव, इन्दिन्दिराः भ्रमराः, तेषाम्, आनन्दस्य, मन्दिरं स्थानम्, तथा मिलन्ती संयुज्यमाना, इन्दिरा लक्ष्मीः (शोभा), यस्मिन्, तादृशम्, इदम्, तव, आननं मुखम्, इन्दीवरं कमलम्, मन्ये, इत्यर्थः ।

उक्त उपायों द्वारा साधारणीकृत धर्मों के उदाहरण दिखलानेके प्रसङ्ग में सर्वप्रथम रूपकात्मक उपाय द्वारा साधारणीकृत धर्म का उदाहरण दिखलाया जाता है, यथा—नयने इत्यादि । जैसे—हे सुन्दराक्षि ! नयनरूप भ्रमरों का आनन्दस्थान तथा शोभासंयुक्त यह तेरा मुख, मानो कमल है ।

उपपादयति—

अत्र प्रथमार्धगतः प्रथमो धर्मो रूपकेण विषयविषयिसाधारणीकृतः । द्वितीयश्च विलक्षणशोभयोरभेदाध्यवसायेन ।

प्रथम इति । नयनेन्दिन्दिरानन्दमन्दिरत्वरूप इत्यर्थः । द्वितीय इति । मिलदिन्दिरत्वरूप इत्यर्थः । अध्यवसायेनेति । विषयेत्याद्यनुषज्यते । 'नयने…' इति श्लोके आननरूपे विषयेऽभेदेन इन्दीवररूपस्य विषयिण उत्प्रेक्षा । तस्यामुत्प्रेक्षायां 'नयनेन्दिन्दिरानन्दमन्दिरत्वम्' 'मिलदिन्दिरत्वम्' चैतौ धर्मौ निमित्तभूतौ । निमित्तता च तयोः प्रथमस्य रूपकेण द्वितीयस्याभेदाध्यवसायेन साधारणीकरणद्वारा । कथमिति चेत् ? इत्थम्—नयनानन्दमन्दिरत्वम् आनन एव इन्दिन्दिरानन्दमन्दिरत्वमिन्दीवर एव । नयनेन्दिन्दिररूपके कृते तु नयनेन्दिन्दिरानन्दमन्दिरत्वं तयोः साधारणं सम्पद्यते । एवम् आननगेन्दिराभिन्नाऽऽनन एव इन्दीवरगेन्दिराभिन्ना इन्दीवर एव । तयोरभेदाध्यवसाये तु मिलदिन्दिरत्वं तयोः साधारणं भवतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । अभिप्राय यह है कि—'नयने…' इस पद्य में मुखरूप विषय में कमलरूप विषयी की अभेदसंबन्ध से उत्प्रेक्षा की जाती है और उस उत्प्रेक्षा में 'नयनभ्रमरानन्दस्थानत्व' और 'शोभायुक्तत्व' ये दो धर्म निमित्त होते हैं, पर ये धर्म स्वतः निमित्त हो नहीं सकते, क्योंकि स्वतः विषय विषयी दोनों में रहनेवाले नहीं हैं—अर्थात् 'नयनानन्दस्थानत्व' मुख में है तथा 'भ्रमरानन्दस्थानत्व' कमल में है—उभयानन्दस्थानत्व किसी एक में नहीं है । इसी तरह मुख की शोभा तथा कमल की शोभा भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, अतः मुख की शोभा से युक्त मुख और कमल की शोभा से युक्त कमल ही हो सकता है—किसी एक शोभा से युक्त दोनों नहीं होते, इसलिये नयन और भ्रमर में अभेदारोपरूप रूपक मानकर और मुख-शोभा तथा कमल-शोभा में अभेदाध्यवसाय (अतिशयोक्ति) मानकर उक्त दोनों धर्मों को विषय-विषयी दोनों में रहनेवाला (साधारण) बना लिया जाता है और साधारण बन जाने पर उक्त दोनों धर्म उक्त उत्प्रेक्षा के निमित्त होते हैं ।

साधारणप्रकारातिरिक्तं निमित्तधर्मप्रकारं प्रदर्शयति—

केवलशब्दशालिनोऽप्ययं सम्भवति ।

'अङ्कितान्यक्षसङ्घातैः सरोगाणि सदैव हि ।
शङ्के पङ्कजवनानि शरीराणि शरीरिणाम् ॥'

अत्र निमित्तभूतो धर्मः उभयोः शब्दमात्रेणैव साधारणो भवतीति । तथा-हि यतः, अक्षसङ्घातैः इन्द्रियसमूहैः (अन्यत्र भ्रमरसमूहैः), अङ्कितानि चिह्नितानि, सदैव, सरोगाणि रोगसहितानि (अन्यत्र सरोवरगतानि च), शरीरिणां प्राणिनाम्,

शरीराणि, सन्ति, अतस्तानि, पङ्केरुहाणि कमलानि, इति शङ्के' इत्यर्थके 'अङ्किता—' इति श्लोके 'अक्षसङ्घाताङ्कित'शब्दः 'सरोग'शब्दश्च । अयं भावः—अर्थतः अक्षसङ्घाता-ङ्कितत्वं 'इन्द्रियसङ्घाताङ्कितत्व'रूपम्, 'बीजसङ्घाताङ्कितत्व'रूपञ्च, एवं सरोगत्वं अर्थतः 'रोगसहितत्व'रूपं 'सरोवरगतत्व'रूपञ्च । तत्र प्रथमं-प्रथमं शरीरेषु द्वितीयं द्वितीयञ्च कमलेषु इति न कोऽप्यर्थात्मको धर्मः शरीर-कमल-साधारणः । शब्दात्मकौ तु तौ द्वावपि धर्मौ 'प्रतिपाद्यता'सम्बन्धेन तदुभयसाधारणौ सन्तौ शरीरात्मके विषये पङ्केरुहात्मकस्य विषयिण उत्प्रेक्षां प्रयोजयत इति ।

उदाहरणसहित निमित्त-धर्म का एक अपर प्रकार दिखलाया जाता है—केवल इत्यादि । यह निमित्तभूत धर्म उपमा आदि की तरह उत्प्रेक्षा में भी केवल शब्दात्मक हो सकता है । जैसे—'अङ्किता'—अर्थात् मैं शङ्का करता हूँ कि–शरीरधारियों के शरीर कमल हैं । कारण, ये 'अक्षसङ्घातों' (इन्द्रियसमूहों, अन्यत्र कमलगट्टों के समूहों) से चिह्नित हैं और 'सरोग' (रोगसहित अन्यत्र सरोवरगत) हैं । इस पद्य में 'अक्षसङ्घाता-ङ्कित' और 'सरोग' ये दो शब्दरूप धर्म हैं । अभिप्राय है कि–प्रकृत पद्य में शरीरों में कमलों की उत्प्रेक्षा 'अभेद'सम्बन्ध से की जाती है और उसमें निमित्त होते हैं उक्त दोनों धर्म । पर वे धर्म अर्थतः निमित्त नहीं हो सकते, क्योंकि उक्त दोनों धर्मों में से प्रथम धर्म अर्थतः 'इन्द्रियसमूहाङ्कितत्व' तथा 'बीजसमूहाङ्कितत्व'रूप सिद्ध होता है जिनमें प्रथम रूप केवल शरीर में तथा द्वितीयरूप केवल कमल में रहनेवाला है । इसी तरह द्वितीय (सरोगत्व) धर्म अर्थतः 'रोगसहितत्व' तथा 'सरोवरगतत्व'रूप सिद्ध होता है जिनमें पहला केवल शरीर में तथा दूसरा केवल कमल में रहनेवाला है । अतः केवल शब्दतः वे दोनों धर्म निमित्त होते हैं–अर्थात् 'अक्षसङ्घाताङ्कित' तथा 'सरोग' ये दोनों शब्द ही 'प्रतिपाद्यता'संबन्ध से शरीर–कमल दोनों में रहनेवाले धर्मरूप होकर उक्त उत्प्रेक्षा के निमित्त होते हैं ।

शब्दात्मके निमित्तधर्मे यो विशेषस्तमाह—

अयमुपात्त एव भवति ।

[illegible] शब्दात्मको निमित्तधर्म उक्त एव, आनुपूर्व्या नियमत्वादिति भावः ।

उत्प्रेक्षा का यह शब्दात्मक निमित्त धर्म उक्त ही होता है, अनुक्त नहीं ।

अतश्शब्दात्मकेतरेषु धर्मेषु ततो वैलक्षण्यं दर्शयति—

अर्थमयोऽनुपात्तश्चापि भवति । यथा 'द्विनेत्र इव वासवः' इत्यादौ जगदी-श्वरत्वादिः । न चात्र द्विनेत्रत्वादिरूप उपात्त एव साधारणो धर्मः । साधार-ण्यार्थमेव तस्य विषयिण्यारोपादिति वाच्यम् । तस्यारोपेण साधारणत्वे कृतेऽपि असुन्दरत्वेनोत्प्रेक्षोत्थापकत्वविरहात् । साधारणीकरणं तु प्रतिबन्धकनिरासार्थ-मित्युक्तमेव ।

अर्थमय इति । प्रायशोऽर्थमय इत्यर्थः । शब्दातिरिक्ता ये स्वतः साधारणा उपायेन साधारणीकृताश्च धर्मास्ते प्रायशोऽप्रतिपादितास्तेऽनुपात्ता अपि भवन्ति, उपात्तास्तु भवन्त्येवेति भावः । उदाहरणप्रदर्शनेनानुपात्तत्वं द्रढयति—यथेति । 'द्विनेत्र इव—' इति पद्यं प्राग्-विनिर्णीतं व्याख्यातञ्च । तत्र राजरूपे विषये विषयिणो नारायणरूपस्य जगदीश्वर-त्वादिनिमित्तभूतो धर्मः स नानुपात्त इति भावः । शङ्कते—न चात्रेति । द्विनेत्रत्वादिरूपोऽपि तत्र [illegible] धर्मोऽपि, न [illegible] स च साधारणधर्मोऽपि [illegible] आरोपेण च साधारणीकृतो निमित्तो भवितुं योग्यः, स च अत्र [illegible] जगदीश्वरत्वादिर्निमित्तमिति भावः । समाधत्ते—तस्यारोपेणेति ।

सूर्यग्रहस्य आधारः), ते, क्रोधः, अशनिः वज्ररूपः (अन्यत्र शनिग्रहरूपः), ते, स्वान्तं हृदयम्, तु पुनः, सोमास्पदम् उमया सहितः सोमः शिवः तस्य आस्पदम् अथवा 'चन्द्रमा मनसो जातः' इति श्रुतेर्जनकतासम्बन्धेन चन्द्रविशिष्टम् (अन्यत्र चन्द्रग्रह-युक्तम्), अस्ति, अतः, हे अनल्पधिषण महामते! अनूनविक्रम महापराक्रम! राजन्! भवान्, नूनम्, सर्वग्रहालम्बनं सर्वेषां ग्रहाणाम् अवलम्बभूतो, विद्यत इत्यर्थः।

श्लेष द्वारा साधारण किए गए निमित्त धर्म का उदाहरण उपस्थित किया जाता है—दृष्टिः इत्यादि। कवि राजा की स्तुति करता है—हे देव! आपकी दृष्टि 'मङ्गल' (शुभ + मङ्गलग्रह) से परिपूर्ण है, आपकी सभा 'बुधमयी' (विबुध विद्वानोंवाली + बुधग्रहरूप) है, आपका मुख 'काव्य' (कविता + शुक्रग्रह) का आश्रय है, आपका सुन्दर अधर 'अरुण' (ललाई + सूर्यग्रह) का आधार है, आपका क्रोध '(ऽ)शनि' ('अशनि = वज्र + शनिग्रह) का स्थान है, और आपका हृदय 'सोम' (उमासहित = शिव + चन्द्रग्रह) का निवासस्थान है। अतः हे महामते! तथा महाविक्रम! राजन्! आप निश्चित ही, सब ग्रहों के आलम्बन हैं—एक भी ग्रह ऐसा नहीं जो आपसे संबन्ध नहीं रखता हो।

उपपादयति—

अत्रोत्प्रेक्ष्यमाणस्य सर्वग्रहालम्बनस्य धर्मेषु तत्तद्ग्रहाश्रिताङ्गकत्वेषु विशेषणीभूतैस्तत्तद्ग्रहैर्विषयस्य राज्ञो धर्मेषु कल्याणाश्रयत्वादिषु विशेषणानां कल्याणादीनां श्लेषेण तादात्म्यसम्पादनद्वारा तादृशधर्माणां साधारणतासम्पत्तिः।

उत्प्रेक्ष्यमाणस्येति। विषयिण इति शेषः। कल्याणाश्रयत्वादिष्विति। कल्याणाश्रिताङ्गकत्वादिष्वित्यर्थः। 'दृष्टिः—' इति श्लोके राजरूपे विषयेऽभेदसंबन्धेन सर्वग्रहालम्बनात्मकस्य विषयिण उत्प्रेक्षा। तत्र च तत्तद्ग्रहाश्रिताङ्गकत्वरूपो धर्मो निमित्तम्। ननु कथमस्य धर्मस्य प्रोक्तविषय-विषयिसाधारण्यम्? साधारण्यविरहे च कथं तस्य धर्मस्य निमित्ततेति चेत्? तत्तद्ग्रहाश्रिताङ्गकत्वानि विषयिणः सर्वग्रहालम्बनस्य धर्माः [यथा दृष्टेः संभृत-मङ्गल(भौम)त्वम्, सभाया बुध(बुधग्रह)मयत्वमीत्यादीनि]। एषु धर्मेषु विशेषणीभूतानां तत्तद्ग्रहाणां (मङ्गल-बुध-काव्यादीनाम्) राज्ञो धर्मेषु कल्याणाश्रिताङ्गकत्वादिषु विशेषणीभूतैः कल्याणादिभिः सह श्लेषेण (एकेन पदेन अनेकार्थोपस्थापनरूपेण) तादात्म्यं (अभेदः) सम्पाद्यते। अत एव तत्तद्ग्रहाश्रिताङ्गकत्वस्य विषय-विषयिसाधारणधर्मत्वम्, साधारणधर्मत्वे च चोत्प्रेक्षा-निमित्तत्वम् इति बोध्यम्। अयमाशयः—मङ्गलबुधादिग्रहाणां यद्यपि वस्तुतो राज्ञो धर्मेषु न अन्वयस्तथापि शुभार्थको मङ्गलादिशब्दः श्लिष्टतया भौमग्रहाभिधायको भवति। एवंप्रकारेण विशेषणयोरभेदे सति तत्तद्विशेषणविशिष्ट-धर्माणाम् (सम्भृतमङ्गलत्वबुधमयत्वादीनाम्) अपि अभेदेन साधारणधर्मतापत्तिः निष्प्रत्यूहेति।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'दृष्टिः सम्भृतमङ्गला—' इस पद्य में 'सब ग्रहों के आलम्बन' की 'अभेद'सम्बन्ध से राजा में उत्प्रेक्षा की जाती है। उस 'आलम्बन' के धर्म हैं 'उन-उन ग्रहों से आश्रित अङ्गों वाला होना' क्योंकि जिसके अङ्गों में ग्रह आश्रित हों वही तो 'ग्रहों' का आलम्बन कहा जा सकता है। ये धर्म "दृष्टि 'मङ्गल' से परिपूर्ण है" इत्यादि अनेक रूपों में आते हैं, उनके विशेषणरूप में आए हुए जो ये (अर्थात् मङ्गल आदि) ग्रह, उत्प्रेक्षा के विषय 'राजा' के धर्म 'शुभ से परिपूर्ण होने' आदि के विशेषण बने हुए 'शुभ' आदि धर्मों के साथ, श्लेष द्वारा अभिन्न बना दिए गए हैं। तात्पर्य यह कि—यद्यपि 'मङ्गल' आदि ग्रह का राजा के धर्म में किसी तरह प्रवेश नहीं हो सकता, तथापि मङ्गल आदि शब्द के दूसरे अर्थ 'शुभ' आदि का प्रवेश उसमें

धर्म में हो सकता है। अतः 'मङ्गल' आदि शब्द में उन-उन दोनों अर्थों का श्लेष होने के कारण वे अर्थ अभिन्न बना दिए गए हैं। और उस अभिन्नता के कारण वैसे (पूर्वोक्त) धर्मों की साधारणता सिद्ध हो जाती है। और इस तरह से साधारण बने वे धर्म उक्त उत्प्रेक्षा के निमित्त होते हैं।

श्लेषेण साधारणीकृतस्यैव धर्मस्योदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'बिभाति यस्यां ललितालकायां मनोहरा वैश्रवणस्य लक्ष्मीः।
कपोलपालिं तव तन्वि मन्ये नरेन्द्रकन्ये दिशमुत्तराख्याम्॥'

नायको नायिकां वक्ति— हे तन्वि इत्यादि। नरेन्द्रकन्ये राजपुत्रि। ललितालकायाम् ललिताः = सुन्दराः, अलकाः केशा यस्यां तथाभूतायाम्, (अन्यत्र ललिता अलका = तन्नामिका पुरी यस्यां तथाभूतायाम्) यस्याम्, कपोलपाल्याम् (अन्यत्र उत्तराख्यदिशि) मनोहरा = रमणीया, वैश्रवणस्य वै = निश्चयेन, कर्णस्य, (अन्यत्र वैश्रवणस्य = कुबेरस्य) लक्ष्मीः शोभा, बिभाति भासते, तव, कपोलपालिम्, ताम्, उत्तराख्याम् उत्तराभिधाम्, दिशम्, मन्ये, अहम् इति शेषः। इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—बिभाति इत्यादि। नायक नायिका से कहता है—हे कृशाङ्गि राजपुत्रि! 'ललितालका' (सुन्दर अलकों = केशोंवाली, अन्यत्र सुन्दर अलकापुरीवाली) जिसमें 'वैश्रवण' (निश्चितरूपेण कानों, अन्यत्र कुबेर) की मनोहर शोभा भासित होती है। ऐसी तेरी कपोलभित्ति को मैं, 'उत्तर'नामवाली दिशा मानता हूँ।

उपपादयति—

इहापि विषयविषयिधर्मविशेषणयोरलकालकयोः श्रवणवैश्रवणयोश्च श्लेषेणाभेदे धर्मस्य साधारण्यम्।

धर्मस्येति। ललितालकत्वस्य [illegible] इत्यर्थः। 'बिभाति' इति पद्ये। विषयस्य कपोलपाल्याः धर्मः ललितालकत्व (सुन्दरकेशत्वम्) श्रवणलक्ष्मीभासमानत्वञ्च तत्र अलकाः श्रवणश्च विशेषणे, एवं विषयिणः उत्तराख्यदिशः धर्मौ ललितालकत्वं (सुन्दरालकापुरीमत्त्वम्) वैश्रवणलक्ष्मीभासमानत्वञ्च तत्र अलकापुरी वैश्रवणश्च विशेषणे, तयोरुभयोः विशेषणयोः श्लेषेणाभेदः सम्पन्नः। सम्पन्नेऽस्मिंश्च तेन तेन विशेषणेन विशिष्टं धर्मद्वयं साधारणीभूतं कपोलपालीरूपे विषये उत्तराख्यदिग्रूपस्य विषयिणोऽभेदेनोत्प्रेक्षामवगमयतीति भावः।

उपपादन किया जाता है— इहापि इत्यादि। 'बिभाति—' इस पद्य में विषय (कपोलभित्ति) का धर्म है 'सुन्दर अलकों = केशोंवाली होना' तथा 'श्रवण = कान की मनोहर शोभा के भान का स्थान होना' इसी तरह विषयी (उत्तर दिशा) का धर्म है 'सुन्दर अलकापुरीवाली होना' तथा 'वैश्रवण = कुबेर की मनोहर शोभा के भान का स्थान होना'। इन धर्मों के विशेषणरूप से 'अलक' तथा 'अलका' और 'श्रवण' तथा 'वैश्रवण' आए हैं। श्लेष द्वारा ये विशेषणीभूत अर्थ (अलक-अलका तथा श्रवण-वैश्रवण) अभिन्न हो जाते हैं और इनके अभिन्न हो जाने पर इनसे सहित (युक्त) धर्म ('ललितालकत्व' तथा 'वैश्रवणलक्ष्मीभासमानत्व') साधारण हो जाते हैं और साधा-

रण हो जाने पर ये धर्म यहाँ कपोलपालीरूप विषय में उत्तरदिशारूप विषयी की अभेद संबन्ध से उत्प्रेक्षा में निमित्त होते हैं।

पुनः श्लेषेण साधारणीकृतस्यैव धर्मस्योदाहरणान्तरं प्रदर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'नासत्ययोगो वचनेषु कीर्तौ तथार्जुनः कर्मणि चापि धर्मः।
चित्ते जगत्प्राणभवो यदास्ते वशंवदास्ते किमु पाण्डुपुत्राः॥'

कवेः राजानं प्रत्युक्तिः—हे राजन्! ते, वचनेषु, यत्, नासत्ययोगः (असत्यस्य योगो न, अन्यत्र अश्विनीकुमारयोः = नकुलसहदेवयोः संयोगः), कीर्तौ यशसि, अर्जुनः (श्वेतता, अन्यत्रार्जुनः), कर्मणि, धर्मः (पुण्यम्, अन्यत्र युधिष्ठिरः), अपि च, चित्ते जगत्प्राणभवः, (जगतां प्राणभूतो भवः = परमेश्वरः, अन्यत्र भीमः = वायुपुत्रः), आस्ते, तत् किं पाण्डुपुत्राः, ते वशंवदा अधीनाः ? इत्यर्थः। (अत्र 'जगत्प्राणभव'पदस्य 'हनूमान्' अपि अर्थो नागेशमहाभागैर्व्याख्यातः, परन्तु स मूलकारस्वारस्यविरुद्धः मूलकारेणोपपादनग्रन्थे परमेश्वरस्य तदर्थतया स्पष्टमुल्लेखात्।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—नासत्य इत्यादि। राजा के प्रति कवि की उक्ति है—हे राजन्! आपके वचनों में जो 'नासत्ययोग' (असत्य-योग नहीं, अन्यत्र अश्विनीकुमारों = नकुल-सहदेव का संयोग) है, कीर्ति में 'अर्जुन' (श्वेतता, अन्यत्र अर्जुन) है, कर्म में 'धर्म' (पुण्य, अन्यत्र युधिष्ठिर) है, और चित्त में 'जगत्प्राणभव' (जगत् के प्राणभूत भव=परमेश्वर, अन्यत्र जगत्प्राण=वायु का भव=पुत्र—भीम) है, सो क्या पाण्डव लोग आप के वशवर्ती हैं? (यहाँ 'जगत्प्राणभव' पद का अर्थ नागेश ने 'हनूमान्' भी किया है, पर वह अर्थ मूलकार के स्वारस्य से विरुद्ध है, क्योंकि आगे उन्होंने उस पद का अर्थ 'परमेश्वर' स्पष्ट ही लिखा है।)

उपपादयति—

अत्र पाण्डुपुत्रेषु विषयेषु राजवशंवदतादात्म्योत्प्रेक्षायां राजाश्रितत्वरूपो विषयिधर्मः श्लेषेण विषयाणां तदाश्रितानां चासत्याभावयुक्तगुणपुण्यपरमेश्वराणामभेदाध्यवसानाद्विषयसाधारणीकृतः।

राजवशंवदेति। वर्णनीयराजवशंवदा ये राजानस्त एव विषयिणस्तत्तादात्म्येनेत्यर्थः। विषयाणां पाण्डुपुत्राणाम्। तदाश्रितानां चेति। राजाश्रितानां [illegible]। [illegible]। पाण्डुपुत्रत्वधर्मः। 'नासत्य—' इत्यत्र पाण्डुपुत्रात्मकेषु विषयेषु वर्णनीयनृपवशंवदराजविषयि[illegible] तादात्म्येनोत्प्रेक्षा भवति। तत्र च 'राजाश्रितत्व'रूपो धर्मः निमित्तम्। ननु कथमयं धर्मो विषयिणं राजवशंवद[illegible] पाण्डुपुत्रात्मक[illegible] [illegible], इति चेत्, [illegible] नासत्ययोगादिपदैः [illegible] [illegible] [illegible] पाण्डवानामपि राजाश्रितत्वं [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'नासत्य—' इस पद्य में 'पाण्डव' विषय हैं जिनमें वर्णनीय राजा के वशवर्ती अन्य राजारूप विषयी की अभेदसंबन्ध से उत्प्रेक्षा की जाती है और इस उत्प्रेक्षा का निमित्त है 'राजाश्रितत्व' (राजा का आश्रित होना) रूप धर्म। आप कहेंगे—कैसे यह धर्म उत्प्रेक्षा का निमित्त है? क्योंकि यह धर्म

निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह केवल विषयी (राजवंशवंद) का धर्म है, विषय (पाण्डवों) का नहीं, ऐसी दशा में वह साधारण हुआ ही नहीं और साधारण धर्म ही निमित्त हो सकता है यह बात बार-बार लिखी जा चुकी है। इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि—हाँ, आपकी बात ठीक है—'राजाश्रितत्व' धर्म स्वतः साधारण नहीं है, पर श्लेषरूप उपाय द्वारा उसको साधारण बना लिया गया है—अर्थात् यहाँ वस्तुतः जो राजाश्रित हैं वे असत्याभाव, शुक्लगुण, पुण्य और परमेश्वर भिन्न-भिन्न पद ('भासत्य' आदि) से उपस्थित होते हैं उन्हीं पद से श्लेषद्वारा एक-एक पाण्डव भी। फलतः श्लेष की महिमा से वे एकपदोपस्थाप्य अर्थ परस्पर अभिन्न हो जाते हैं और उनके अभिन्न हो जाने पर जैसे असत्याभाव आदि राजाश्रित होते हैं वैसे असत्याभाव आदि से अभिन्न समझे गए पाण्डव भी राजाश्रित समझे जाते हैं, अतः अन्ततः 'राजाश्रितत्व', विषय (पाण्डवों) का भी धर्म हो जाता है फिर उसकी साधारणता में बाधा क्या? उपायभूत श्लेष किसी अंश में 'सभङ्ग' और किसी अंश में 'अभङ्ग' है यह एक भिन्न बात है, उससे प्रकृत में कोई हानि या लाभ नहीं।

अपह्नुतिरूपोपायेन साधारणीकृतं धर्ममुदाहरति—

'स्तनान्तर्गतमाणिक्यवपुर्बहिरुपागतम् ।
मनोऽनुरागि ते तन्वि मन्ये वल्लभमीक्षते ॥'

सखी नायिकामाह—हे तन्वि कृशाङ्गि! स्तनान्तर्गतमाणिक्यवपुः सत् बहिरुपागतं स्तनमध्यगतमाणिक्यस्वरूपेण बहिरागतम्, अनुरागि अनुरागयुक्तम्, ते, मनः, वल्लभं प्रियतमम्, ईक्षते पश्यतीत्यहं मन्ये इत्यर्थः।

अपह्नुतिरूप उपाय द्वारा साधारण बनाए गए धर्म का उदाहरण दिया जाता है—स्तनान्तर्गत इत्यादि। सखी नायिका से कहती है—हे कृशाङ्गि! स्तनों के मध्यवर्ती माणिक्य के रूप में बाहर आया हुआ तेरा अनुरागी मन, मानो, प्रियतम को देख रहा है।

उपपादयति—

अत्र वल्लभेक्षणस्य मनस्युत्प्रेक्षायां तन्निमित्तमन्तःप्रदेशाद्बहिरागमनमपेक्ष्यम्। तच्च बहिःप्रदेशसम्बन्धरूपं माणिक्यमात्रवृत्ति मनसो न सम्भवतीति माणिक्यापह्नुत्या मनोगतं क्रियते।

'स्तनान्तर्गत—' इति श्लोके [illegible] मनसि उत्प्रेक्षा क्रियते, [illegible] निमित्तं [illegible]। परन्तु [illegible] बहिरागमनस्य निमित्तत्व [illegible] स्यात्, सा च नास्ति [illegible], अतः 'माणिक्यवपुः' इत्यत्र 'वपुः' पदेन माणिक्य[illegible] बहिरागमनस्य मनो- [illegible] भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'स्तनान्तर्गत—' इस पद्य में प्रियतम के दर्शनरूप क्रियात्मक धर्म की मनरूप विषय में [illegible] से उत्प्रेक्षा की जाती है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त 'मन का अन्दर से बाहर आना' अपेक्षित है, क्योंकि बाहर आए बिना 'देखना' नहीं बन सकता। 'बाहर आने' का अर्थ है बाहर के देश (देह के किसी भाग) से सम्बन्ध (संयोग), जो केवल 'माणिक्य' में रह सकता है, मन (अमूर्त पदार्थ) में उसका सम्भव नहीं, अतः माणिक्य की 'अपह्नुति' द्वारा (अर्थात् माणिक्य को 'वपुः' पद की उक्ति से छिपा कर) उस धर्म को 'मन में रहने वाला' बनाया गया है।

बिम्बप्रतिबिम्बभावात्मकेनोपायेन साधारणीकृतं धर्ममुदाहर्तुं प्रागुक्तं पद्यं स्मारयति—

बिम्बप्रतिबिम्बभावस्तु 'कलिन्दजानीरभरेऽर्धमग्ना' इत्यत्रैव निरूपितः।

'कलिन्दजा—' इत्यत्र बकरूपे विषये क्रियमाणायाः क्रोशनकर्तृत्वोत्प्रेक्षाया निमित्तं बिम्बप्रतिबिम्बभावेन साधारणीकृतः (क्रोशनाभेदमापादितः) शब्दनात्मको धर्मो भवतीति प्रागुपदर्शितमेवेति भावः।

बिम्बप्रतिबिम्बभावात्मक उपाय द्वारा धर्म का साधारणीकरण तो 'कलिन्दजा—' इस पूर्वोक्त उदाहरण में लिखा ही जा चुका है। तात्पर्य यह कि उक्त पद्य में 'क्रोशन' की उत्प्रेक्षा 'बक'रूप विषय में की जाती है और उस उत्प्रेक्षा का एक निमित्त होता है बिम्ब-प्रतिबिम्बभावद्वारा क्रोशन से अभिन्न बनाया गया बकवृत्ती स्वाभाविक 'शब्दन' आदि।

उपचारात्मकेनोपायेन साधारणीकृतं धर्ममुदाहरति—

'माधुर्यपरमसीमा सारस्वतजलधिमथनसम्भूता।
पिबतामनल्पसुखदा वसुधायां ननु सुधा कविता॥'

माधुर्यस्य, परमसीमा परमावधिः (यदधिकं माधुर्यं क्वचिदपि नास्तीति यावत्) सारस्वतस्य सरस्वतीसम्बन्धिनः साहित्यशास्त्रस्य तद्रूपस्येति यावत्, जलधेः समुद्रस्य, मथनेन आलोडनेन मननेनेति यावत्, सम्भूता उत्पन्ना, पिबताम् आस्वादयताम्, अनल्पसुखदा प्रभूतसुखदायिका, कविता काव्यम्, वसुधायाम्, ननु निश्चयेन, सुधा पीयूषम् अस्तीत्यर्थः।

उपचाररूप उपाय द्वारा साधारण बनाए गए धर्म का उदाहरण उपस्थित किया जाता है—माधुर्य इत्यादि। मधुरता की परमावधि (जिससे अधिक मधुरता कहीं न हो ऐसी), सरस्वतीसंबन्धी (साहित्यरूप) समुद्र को मथन करने से उत्पन्न हुई और पीनेवालों को अत्यधिक सुखदायक कविता, मानो पृथिवी पर अमृत है।

उपपादयति—

अत्र कवितायां माधुर्यपानयोर्मुख्ययोरसम्भवादास्वादश्रवणयोरमुख्ययोरुप-चारेण मुख्याभ्यां साधारणीकरणम्। लक्षणया शक्याभेदेन लक्ष्यबोधनात्।

उपचारेणेति। लक्षणयेत्यर्थः। मुख्याभ्यामिति। सहाभेदसम्पादनद्वारा तयोर्धर्मयो-रिति शेषः। 'माधुर्य—' इति श्लोके कवितारूपे विषये सुधारूपस्य विषयिणोऽभेदेनोत्प्रेक्षा विधीयते, तत्र माधुर्यं पानञ्च निमित्तम्। निमित्तता च तयोः स्वतो न सम्भवति, कविता[illegible]सम्भवात्, अतो माधुर्यपानयोः क्रमशः आस्वादश्रवणाभ्यां लक्षणया सादृ-श्यमादृत्य पानश्रवणयोरभेदः सम्पाद्यते, सम्पन्ने चाभेदे आस्वादश्रवणरूपमाधुर्यपान-योरपि प्रोक्तविषयवृत्तितया साधारण्येन निमित्ततेति भावः। ननूपचारेऽमुख्यत्वेन प्रतीत्या मुख्यप्रतीत्या दोषस्तदवस्थ एवात आह—लक्षणयेति। लक्षणया माधुर्याभिन्नतया आस्वादस्य, पानाभिन्नतया च श्रवणस्य बोध इति न दोष इति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'माधुर्य—' इस पद्य में अमृत की अभेद-सम्बन्ध से कवितारूप विषय में उत्प्रेक्षा की जाती है। उस उत्प्रेक्षा में निमित्त होते हैं 'माधुर्य' और 'पान'रूप धर्म। पर ये दोनों धर्म स्वतः निमित्त होने योग्य हैं नहीं, क्योंकि मुख्यरूप में ये दोनों धर्म केवल अमृत में ही रह सकते हैं, कविता में नहीं, अतः लक्षणा द्वारा ये दोनों धर्म आस्वाद तथा श्रवण से अभिन्न बना लिये जाते हैं और उन दोनों से अभिन्न हो जाने पर आस्वाद तथा श्रवण की तरह माधुर्य और पान भी कविता में रहने वाले हो जाते हैं। इस तरह साधारणीकृत माधुर्यपान उक्त उत्प्रेक्षा के निमित्त

अध्यवसानात्मकातिशयद्वारा स्वाभाविकवनान्तकर्तृकविपाटनाभिन्नं सन्निमित्तं भवति, तथा सर्वत्र हेतुफलोत्प्रेक्षास्थले कार्यकारणयोर्निमित्तता बोध्येति भावः ।

पर्यवसित अर्थ दिखलाया जाता है—एवम् इत्यादि । इस तरह, यह पर्यवसित हुआ कि—हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के स्थलों में जिस (कार्य) का हेतु (कारण) और जिस (कारण) का फल (कार्य) उत्प्रेक्षित होता है वह (हेतूत्प्रेक्षास्थल में कार्य और फलोत्प्रेक्षास्थल में कारण) उक्त प्रकार से (अर्थात् अभेदाध्यवसानरूप अतिशय द्वारा साधारणीकृत होकर) निमित्त होता है । यह बात पहले भी अनेक बार लिखी जा चुकी है ।

निमित्तधर्मे विशेषमाह—

एवं क्वचिदुपात्तो धर्मो विषयविषयिसाधारण्याभावादसुन्दरत्वाद्वा स्वयमुत्प्रेक्षणं साक्षादुत्थापयितुमसमर्थोऽपि तदुत्थापनक्षमधर्मान्तरोत्थापनेनानुकूल्यविधानादुपयुज्यते ।

साधारण्यसत्त्वेऽप्याह—असुन्दरेति । उपयुज्यत इति । एवं च तदानर्थक्यं नेति भावः । क्वचिदुक्तो धर्म एतादृशो भवति यो विषयविषयिणोः साधारणो न, क्वचिच्च विषयविषयिसाधारणोऽपि चमत्कारजनको नेति तौ स्वयमुत्प्रेक्षानिमित्तौ न भवितुं शक्नुतो यद्यपि, तथापि तादृशयोस्तयोर्धर्मयोरानर्थक्यं नाशङ्कनीयम्, यतस्तादृशयोरपि धर्मयोरुत्प्रेक्षानिमित्तत्वयोग्यधर्मान्तरोत्थापनद्वारा सार्थक्यं भवतीति भावः ।

निमित्त धर्म के विषय में एक विशेष बतलाया जाता है—एवम् इत्यादि । कहीं धर्म उक्त होने पर भी, या तो विषय और विषयी दोनों में साधारण न होने के कारण, या सुन्दर न होने के कारण, स्वयं उत्प्रेक्षा को उठाने में यद्यपि असमर्थ होता है—अर्थात् स्वयं निमित्त नहीं हो सकता, तथापि उत्प्रेक्षा के उठाने में समर्थ किसी अन्य धर्म के उत्थान में अनुकूलता करने के कारण उत्प्रेक्षा में उपयोगी हो जाता है ।

तत्राद्योदाहरणं सोपपादनमाह—

यथा 'सौरञ्जनकालीभिः—' इति प्रागुदाहृते पद्ये दिवो जलदालीसमावृतस्वरूपो धर्म उपात्तो जगतो निर्लोचनवर्गसर्गत्वोत्प्रेक्षायां वैयधिकरण्यादप्रयोजकोऽपि स्वप्रयोज्यनिबिडान्धकारप्रयुक्तचाक्षुषज्ञानशून्यत्वस्य तथाविधोत्प्रेक्षानिमित्तस्योत्थापनेन ।

स्वेति । जलदालीसमावृतत्वेत्यर्थः । तथाविधोत्प्रेक्षेति । जगतो निर्लोचनवर्गसर्गत्वोत्प्रेक्षेत्यर्थः । 'सौरञ्जन—' इत्यत्र जगद्रूपे विषये निर्लोचनवर्गसर्गत्वस्योत्प्रेक्षा क्रियते, तत्र योऽयम् 'आकाशस्य मेघमालासमावृतत्वरूपो' धर्मो न स्वयं निमित्तं भवितुमर्हति, तस्य उत्प्रेक्ष्यमाणनिर्लोचनवर्गसर्गत्वसमानाधिकरण्याभावात् , अतस्तस्य सार्थक्यं तदुत्प्रेक्षायां स्वप्रयोज्यनिबिडान्धकारप्रयुक्तचाक्षुषज्ञानशून्यत्वरूपस्य उत्प्रेक्ष्यमाणधर्मसमानाधिकरणस्य अत एव प्रकृतोत्प्रेक्षानिमित्तत्वयोग्यस्योत्थापनेन भवतीति भावः ।

स्वयं निमित्त नहीं होने योग्य उक्त दो प्रकार के धर्मों में से प्रथम का (विषय-विषयी में जो साधारण नहीं होता उसका) उदाहरण उपपादनसहित दिखलाया जाता है—यथा इत्यादि । 'सौरञ्जनकालीभिः—' यह जो पद्य पहले उदाहरणरूप में लिखा जा चुका है उसमें 'जगत् के नेत्रहीनों के समूह की सृष्टि से युक्त होने' की उत्प्रेक्षा की जाती है, उस उत्प्रेक्षा में पद्योक्त 'आकाश' का 'मेघमाला से आवृत होना' रूप धर्म स्वयं यद्यपि निमित्त होने योग्य नहीं है, क्योंकि वह धर्म उत्प्रेक्षित होनेवाले उक्त धर्म का समानाधिकरण नहीं है—अर्थात् जगत् रूप विषय में रहनेवाला नहीं है, तथापि उसके उपादान

तस्मिन्मातृपुरे, पित्र्यं पुरं 'शतलखा'भिधम् ।
विहाय विद्यामध्यैष्ट विशिष्टां योऽतिमिष्टवाक् ॥ ३ ॥
समाप्याध्ययनं यश्च संग्रामपुरवर्तिनि ।
विद्यालये विप्रपुत्रान् पञ्चवर्षाण्यपाठयत् ॥ ४ ॥
मुजफ्फरपुरे राजमहाविद्यालये तु यः ।
साहित्यविषयस्यास्ते प्रधानाध्यापकोऽधुना ॥ ५ ॥
रहस्यमतिसंक्षिप्तं रसगङ्गाधरस्य यः ।
प्रागुदात्तवचोभङ्ग्या प्राकाशयदुदारधीः ॥ ६ ॥
रसगङ्गाधरस्यैव प्रथमाननभागगाम् ।
हिन्दीव्याख्यां ततो यश्च विशदामुदपादयत् ॥ ७ ॥
'मदनमोहन'-नामसुधीरिमामरचयद्रुचिरां स च 'चन्द्रिकाम्' ।
बुधजनो यदि तां विनिभालयेत् , श्रम इहैष तदा सफलो भवेत् ॥ ८ ॥
यदि मनागपि सज्जनमानसे मुदमथाननियौ निजकेऽतुले ।
रुचिमुदञ्चयिता मम 'चन्द्रिका' किमपरैरपि दुर्जनदर्पणैः ॥ ९ ॥
जगन्नाथकृतस्येयं रसगङ्गाधरस्य या ।
चन्द्रिकाख्या महाभिख्या व्याख्या संख्यावतां मुदे ॥ १० ॥
प्रारब्धाऽब्धि-धरा-व्योम-नेत्र-संख्यासमन्विते (२०१४) ।
वैक्रमेऽब्दे गता पूर्तिं कृष्णोत्पत्तितिथौ तु सा ॥ ११ ॥ (युग्मकम्)

इति मैथिलब्राह्मणवंशावतंसेन विहारप्रान्तीयमुजफ्फरपुरस्थराजकीयधर्मसमाज-संस्कृतमहाविद्यालये साहित्यप्रधानाध्यापकपदमलङ्कुर्वता श्रीमदन-मोहनझा-शर्मणा कृतायां रसगङ्गाधर-चन्द्रिकायां द्वितीयाननादिरुत्प्रेक्षान्तो भागः समाप्तः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—जगदन्तर इत्यादि । अमृतमय अपनी किरणों से जगत् के मध्यभाग को अत्यन्त पूर्ण करता हुआ, यह क्या, मृगाक्षी के मुख के मिष से चन्द्र उदित हो रहा है ? यहाँ मुखरूप विषय में अभेदसम्बन्ध से चन्द्रमा की उत्प्रेक्षा की जाती है । पर मुखरूप विषय यहाँ 'व्याज' पद कहकर छिपा लिया गया है और इस छिपाने का फल है 'मुख में चन्द्रमा के अभेद की संभावना का दृढ़ हो जाना' । अर्थात् इस तरह कहने से उत्प्रेक्षा और भी दृढ़ हो जाती है ।

इति दरभङ्गामण्डलान्तर्गत 'नवानी'ग्रामनिवासी, मैथिलब्राह्मणवंशावतंस, व्याकरण-न्याय-साहित्याचार्य, मुजफ्फरपुरस्थ राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयीय साहित्य-प्रधानाध्यापक श्री मदनमोहन झा रचित रसगङ्गाधर (द्वितीय आननगत उत्प्रेक्षानिरूपणान्त भाग) की 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।

समाप्तश्चाऽयं द्वितीयाननस्योत्प्रेक्षान्तो भागः

टीकाकर्तुः परिचयः

प्रान्ते मिथिलादेशे सविशेषे सद्गुणैरखिलैः ।
सीतासम्भवभूमौ सुरमुनिलोभास्पदे पूते ॥ १ ॥
'कोइलख'पदविदितो ग्रामो गुणि-गणाश्रयो जयति ।
यत्रैकस्मिन् मञ्चे नृत्यन्तौ वाङ्-रमे दृष्टे ॥ २ ॥ (युग्मकम्)
तत्रासीदतिधीरो 'विद्यानाथो' विदां श्रेष्ठः ।
मैथिलभूसुरभूषाभूतो भवरोलगा पूतः ॥ ३ ॥
तत्तनयो 'मणि' नामा मणिरिव किरणोज्ज्वलो जातः ।
'सीमा' नाम्नि ग्रामे स्ववासमसौ कल्पयामास ॥ ४ ॥
तत्रासौ शुभशीलो निजविशुद्धबुद्धिबलमूलम् ।
धेनु-धरा-धान्य-धनं सधनयशःशोभितं लेभे ॥ ५ ॥
द्वौ कूपतडागौ लसतस्तत्र खानितौ तेन ।
अद्यापि तस्य कीर्तिं कथयन्तौ लोलकल्लोलैः ॥ ६ ॥
भ्राता तस्य कनीयानतुलबलः कोऽपि मल्लोऽभूत् ।
तद्भागेऽद्य गदानीतपृथुलशिला शोभते पृष्ठा ॥ ७ ॥
मणिरुपलेभे ललितं 'ललितलाल'नामकं तनयम् ।
विनयविभूषितहृदयं सद्गं सकलशास्त्रयोगेऽपि ॥ ८ ॥
तस्य द्वौ समभूताम् पुत्रौ जनलोचनानन्दी ।
'सिद्धेश्वर'-'कपिलेश्वर'नामानौ परिणते वयसि ॥ ९ ॥
अथ दैवाद्दुरभाग्ना राजकर्मचारिभिः प्रबलैः ।
समुपहृतं स्वकीयं ग्रामं तौ तूर्णमत्यजताम् ॥ १० ॥
मैथीयसलिलरम्ये श्वशुरपुरे 'शतलखा'संज्ञे ।
तत्र, 'सिद्धेश्वरशर्मा' कृतवसतिर्जीवितं निन्ये ॥ ११ ॥
'कपिलेश्वर'स्तदानीं बालो 'नरहा' पुरे मातुः ।
विहिताश्रयोऽधुनावधि जीवति बहुभिः सुतैः साकम् ॥ १२ ॥
पुत्रास्त्रयो विनीताः 'सिद्धेश्वर' शर्मणो जाताः ।
त्यक्त्वा यानतिबाल्ये पिता पुरन्दरपुरीं प्रास्थात् ॥ १३ ॥
पूज्यो 'युगलकिशोरो' मम तु पिता मध्यमस्तेषाम् ।
कृतकृत्योऽसौ सम्प्रति जीवति देवार्चने लीनः ॥ १४ ॥

प्रथमाननस्योदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

द्वितीयाननोत्प्रेक्षान्तभागस्योदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

प्राप्तिस्थानम्—

चौखम्बा विद्या भवन,

चौक, वाराणसी—१